कृष्णदास संस्कृत सीरीज-९०

काव्यप्रकाशः

सविमर्श 'रहस्यबोधिनी' हिन्दीव्याख्या सहित

व्याख्याकारः

डॉ॰ गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

कृष्णदास अकादमी

वाराणसी

कृष्णदास अकादमी. वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
९०
***

श्रीमम्मटभट्टविरचित:
(११वीं शताब्दी)

काव्यप्रकाश:

सविमर्श-'रहस्यबोधिनी' हिन्दीव्याख्याविभूषित:

व्याख्याकार: —
राष्ट्रपति-पुरस्कार-सम्मानित
डॉ. गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर:

सम्पादक:
आचार्य पं. सत्यनारायणशास्त्री खण्डूड़ी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

॥ सङ्गणकसंस्करणं साधुचरणरजोऽभिलाषिणा हरिपार्षददासेन कृतम् ॥

प्रकाशक : चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय. वि०सं० २०६९, सन् २०१३

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० ११९८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी—२२१००१ (भारत)

माङ्गलिकम्

ग्रन्थस्य ग्रन्थकारस्य च स्वरूपपरिचयपूर्वकं तत्पुण्यनामधेयस्मरणमङ्गलम् ।

वाग्देव्याः पुरुषावतार इति यं शंसन्ति विद्वज्जनाः
साहित्ये समुपैति यस्य वचनं प्रामाण्यमव्याहतम् ।
काश्मीरान् समभूषयत् स्वजनुषा यः शारदाधिष्ठितान्
काव्यज्ञैकशिखामणिः स नियतं जीयाच्चिरं मम्मटः ॥

काव्यस्थं गुण-दोषजातमखिलं स्पष्टं प्रकाशं नय-
न्नुद्देशं परितः समं च विषमं मार्गे प्रदीपो यथा ।
आचन्द्रार्कचिरं जगत्परिसरे बिभ्रत् प्रतिष्ठाम्परां
जीयात् काव्यपरीक्षणैकनिकषः काव्यप्रकाशश्चिरम् ॥

॥ श्रीः ॥

समर्पणम्

परमाराधनीय-पूजनीय-प्रातःस्मरणीयानां परब्रह्मणि विलीनानां श्रीमन्मातृ-पितृ-गुरुचरणानां समर्प्यमाणोऽयं निवापाञ्जलिः।

माता-पितृभ्यां शिवतां गताभ्यां
विद्यागुरुभ्यः करुणानिधिभ्यः।
काव्यप्रकाशे रचितां सुबोधां
व्याख्यां निवापाञ्जलिमर्पयामि ॥

भवच्चरण-रेणु-रञ्जितः
पुत्रः शिष्यश्च
गजाननः

ब्रह्मलीनाः पूजनीयाः श्रीमातृ-पितृचरणाः



श्रीमत्पूजनीय-मातृ-पितृचरणचिन्तनात्मकं

मङ्गलम्

यः शास्त्रेष्वखिलेष्वकुण्ठितमतिः शुश्रूषयाऽऽसीद् गुरोः
शिष्याध्यापनतत्परः स्वमनयत्सर्वञ्च यो जीवनम् ।
तं विद्या-विनयान्वितं शिवपदं प्राप्तं तपोभूषितं
तातं ख्यातगुणं सदाशिवपदप्रख्यातिभाजं भजे ।

सेवासु तत्परमतिः पतिदैवतस्य
या कार्यभारमवहत् सकलं गृहस्य ।
वात्सल्यधर्मपरतादिगुणैरुपेतां
तां पार्वतीं स्व-जननीं हृदि भावयामि ।।

●

ब्रह्मलीनाः पूज्नीयाः श्रीगुरुचरणाः



परमाराधनीयश्रीमद्गुरुचरणारविन्दाभिवादनम्

स्फूर्जद्दुर्गमशास्त्रकाननतटीसञ्चारिपञ्चाननं
गर्वद्दुर्वहवादिवृन्ददमनं वाचस्पतिस्पर्धिनम् ।
दत्वा पण्डितराजराजपदवीं विद्वज्जनैरादृतं
वन्दे द्राविडवंशभूषणमणिं राजेश्वराख्यं गुरुम् ॥

शुभाशंसा

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में श्रीमम्मटाचार्य-विरचित 'काव्यप्रकाश' का विशिष्ट स्थान है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक विस्तृत इस विशाल पुण्यभूमि के विद्वज्जनों ने इस ग्रन्थ की प्रौढिमा से आकृष्ट होकर इस उत्तम ग्रन्थ की व्याख्या की है। व्याख्याकार आलङ्कारिक ही नहीं, सभी दार्शनिकों ने भी अपने दर्शन-सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या की है। इतना ही नहीं, सभी प्रान्तों के विद्वज्जनों ने ग्रन्थ के महत्त्व को अनुभव कर व्याख्या की है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे ग्रन्थ किसी प्रान्त के व्यक्ति द्वारा प्रणीत हो, प्रान्तीय भावना को त्यागकर ग्रन्थ का आदर करना, ग्रन्थकार के महत्त्व को प्रचार करना और ग्रन्थकार के आशय को अभिव्यक्त करना, संस्कृत-समाज की एकता को अक्षुण्ण रखना, आदि में वे चिरंतन तत्परता को दिखलाते थे। संस्कृत व्याख्याओं से मात्र संस्कृत-समाज लाभान्वित होगा, यह समझकर हिन्दी क्षेत्र के मनीषियों ने राष्ट्रभाषा की पुष्टि एवं संस्कृत न जानने वालों को ज्ञान-समृद्धि के उद्देश्य से अनुवाद एवं व्याख्या के रूप में काव्यप्रकाश को प्रकाशित किया है।

इस परंपरा में दार्शनिक तथा साहित्यिक विद्वद्वर श्रीगजाननशास्त्री मुसलगाँवकर ने काव्यप्रकाश की 'रहस्यबोधिनी' नामक सविमर्श टीका लिखकर प्रकाशित की है। मैंने इस टीका का आदि से अन्त तक सावधानी से पढ़ा। मेरी दृढ धारणा है कि दार्शनिक पदार्थों के ज्ञान के बिना काव्यप्रकाश का गूढ आशय अभिव्यक्त नहीं होगा। व्याख्याकार मुसलगाँवकर शास्त्रीजी ने अपनी विस्तृत भूमिका द्वारा एवं तत्तत्स्थलों की विशद व्याख्या द्वारा विषय-प्रतिपादन सरल हिन्दी माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मराठी-भाषा-भाषी होते हुए भी हिन्दी में व्याख्या की रचना भी एकता-सूचक है। मुसलगाँवकरजी का न्याय-मीमांसादि दर्शनों में विद्यमान अगाध वैदुष्य इस व्याख्या से प्रतिफलित होता है। मैं पण्डितजी के श्रेय और प्रेय की सर्वेश्वर से प्रार्थना करता हुआ साहित्याध्ययनशील छात्रों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस व्याख्या का अध्ययन कर अलंकारशास्त्र में वैदुष्य प्राप्त करें।

वाराणसी
दीपावली, सं० २०४३ वि०

—पट्टाभिरामशास्त्री

सम्पादकीय

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः'

'काव्यप्रकाश' से सम्बन्धित यह सूक्ति अक्षरशः यथार्थ घटित होती है। अद्यावधि 'काव्यप्रकाश' की शताधिक टीकाओं का उल्लेख विद्वानों ने किया है। इतना ही नह विद्वन्मूर्धन्य कमलाकरभट्ट ने तो 'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्र सन्ति यद्यपि' इन शब्दों में सहस्रों टीका-टिप्पणियों का निर्देश किया है। पुनः निरन्तर इसकी नवीन-नवीन व्याख्याएँ तब से प्रकाशित होती रहीं। संस्कृत-साहित्य में इतनी अधिक व्याख्याएं किसी भी अन्य ग्रन्थ की आज तक नहीं लिखी गईं, भले ही अपवादस्वरूप बहुचर्चित बहुप्रशंसित सुप्रसिद्ध 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही क्यों न हो, 'सहस्रं सन्ति यद्यपि' इस प्रकार सहस्रों का उल्लेख इस प्रसङ्ग में भी किसी विद्वान् ने नहीं किया। इन सब उल्लेखों एवं व्याख्याओं से 'काव्यप्रकाश' की लोकप्रियता, सारगर्भिता. रहस्यपूर्णता एवं उपादेयता आदि ही निःसन्देह भासित होती है। यदि इसके अन्दर उपादेयता न होती, मात्र दुरूहता ही रहती, तो भारत के सम्पूर्ण प्रान्तों में ही नहीं; सर्वत्र देश-विदेश में बहुसंख्यक मूर्धन्यमनीषियों की इसकी व्याख्याओं के प्रति आकर्षण तथा प्रवृत्ति ही क्यों होती। इससे स्पष्ट है कि 'काव्यप्रकाश' की उपादेयता, अर्थ-गम्भीरता, गूढरहस्यता सर्वत्र सर्वमान्य है। और इसीसे प्रारम्भ से लेकर आज तक उसके अध्ययन-अध्यापन का क्रम अबाधगति से चलता आ रहा है, यत्किञ्चित् भी न्यूनता नहीं आयी। सर्वत्र उच्च-कक्षाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में यह आज भी स्वीकृत है।

'काव्यप्रकाश' की अतिप्राचीन टीकाओं में सर्वप्रथम 'रुय्यक'कृत 'संकेत' नामक एवं 'माणिक्यचन्द्र'कृत 'संकेत' ही नाम की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। तदनन्तर अनेकानेक टीकाएँ भी प्रारम्भ हुईं। हिन्दी टीकाकारों में 'श्रीहरिमङ्गल मिश्र' तथा अंग्रेजी टीकाकारों में 'श्रीगङ्गानाथ झा' का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी टीका 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग' से प्रकाशित हुई। अनन्तर अन्य हिन्दी-टीकाएँ भी अन्यत्र प्रकाशित हुईं।

आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के युग में इसकी हिन्दी टीकाओं का महत्त्व भी सर्वविदित ही है। इसी राष्ट्रभाषा-प्रेम एवं राष्ट्रिय भावना से अभिभूत होकर तथा सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय की उदात्त भावना से प्रेरित होकर बहुमुखी-प्रतिभासम्पन्न विद्वन्मूर्धन्य वाक्चूडामणि विद्वान् अनेकानेक-शास्त्रीयग्रन्थों के ख्यातिलब्ध-व्याख्याकार ने 'काव्य-प्रकाश' के उन समस्त विवादास्पद गूढरहस्यों का उद्घाटन करते हुए, यह अभिनव

व्याख्या विद्यानुरागी अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत की है। इसका जो वैशिष्ट्य है उसका यत्किञ्चित् सूत्ररूप से दिग्दर्शन करादेना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे इसके पठन-पाठन के प्रति छात्रों एवं विद्वानों की अभिरुचि बढ़े।

इस व्याख्या की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मूलग्रन्थ के जो तीन भाग हैं—१. कारिका एवं सूत्रभाग, २. वृत्तिभाग, ३. उद्धरण-श्लोकभाग। सर्वप्रथम इनमें-से मूल-सूत्रकारिका-भाग का हिन्दी अनुवाद देकर, वृत्तिभाग के अनुवाद द्वारा उसे स्पष्ट करते हुए तथा उद्धरण-श्लोकों का भी अनुवाद करते हुए, सूत्रकारिकावृत्ति को उस उद्धरण में अक्षरशः घटाकरके समझाया गया है। गूढ एवं सूक्ष्म विषयों को विमर्श के अन्तर्गत देकर, मतमतान्तरों का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत प्रसङ्गों का सप्रसङ्ग स्पष्टीकरण किया गया है। आवश्यकतानुसार मूल-उद्धरणों के अतिरिक्त स्वयं के उद्धरणान्तर भी दिये गये हैं, उन्हें अच्छी प्रकार घटाकर समझाया भी गया है। विद्वान् व्याख्याकार के बहुप्रतिभासम्पन्न होने के कारण तथा अनेकशः शास्त्रीयग्रन्थों के व्याख्यानुभव एवं अध्यापनानुभव-निपुण होने के कारण, जहाँ अभिधा, व्यञ्जना, लक्षणा, रस, ध्वनि, आदि-जैसे गूढ-सूक्ष्म विषयों के बृहद् विवेचनीय प्रसङ्ग हैं, वहाँ अलङ्कारशास्त्र के मतमतान्तरों के प्रतिपादन के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, दर्शन, मीमांसा, आदि शास्त्रान्तरों से सम्बन्धित सुविस्तृत व्याख्यानों द्वारा उनके सप्रसङ्ग आदर्शस्वरूप विवेचन, प्रतिपादन एवं समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। अनावश्यक विस्तारभय से भी विषय को बचाया गया है। जिससे जिज्ञासुओं की लेशमात्र भी जिज्ञासा अवशिष्ट न रहे। भाषा-शैली परिमार्जित, सरस, सरल एवं संवादरूप होने से विषयावबोधन में किसी प्रकार की कोई बाधा ही उपस्थित नहीं हो पाती। इससे छात्र, अध्यापक; विद्वान् एवं गवेषक आदि सभी वर्ग के अध्येताओं के लिए यह संस्करण समान रूप से उपादेय है।

इतना ही नहीं, अपने सुदीर्घकालीन अध्यापनानुभवों से छात्रों की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, यत्र तत्र सर्वत्र व्याख्याओं के उन समस्त ग्रहव्य द्रष्टव्य स्थलों को स्थूलाकार अक्षरों में अङ्कित कर दिया है, जिससे पृष्ठ उलटते ही उस पृष्ठ के स्मरणीय स्थूलाक्षर-अङ्कित स्थल-विशेष शीघ्र ही दृष्टिगोचर हो जायें, याद हो जायें। मात्र इतने ही अंश को यदि छात्र बुद्धिस्थ, कण्ठस्थ या अनुगम कर लें तो परीक्षोत्तीर्णता-प्राप्ति तो हस्तामलक के समान असन्दिग्ध ही समझें। योग्यता भी सहज-अर्जित सुनिश्चित है। इसके समक्ष प्रश्नोत्तरी की आवश्यकता भी व्यर्थ है। जिससे योग्यता का ह्रास होता है। उदाहरणार्थ यथा पृष्ठ १६ पर व्याख्याभाग में स्थूल अक्षरों में अङ्कित है—"शब्द की त्रिविधता—वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक"। मात्र इतने अंश पर ही दृष्टि पड़ने पर भी शब्द की त्रिविधता ज्ञात हो गयी।

इसी प्रकार गवेषकों की असुविधाओं को भी ध्यान में रखकर मतमतान्तरों, विषयान्तरों, शास्त्रान्तरों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए सभी विषयों का एकत्र समावेश कर दिया गया है। उद्धरण, उद्धरणान्तरों से भी विषयों को सुसज्जित किया गया है। जिससे गवेषकों को दुष्प्राप्य ग्रन्थों की प्राप्ति के प्रयास एवं समयसाध्य उनके आलोडन-विलोडन को क्लिष्टता से सहज मुक्ति मिल सके। इससे यह संस्करण गवेषकों के लिए भी उतना ही उपादेय है, जितना छात्रों के लिए।

साथ-साथ जिज्ञासु अध्येताओं, विद्वानों, अध्यापकों के लिए भी इसकी वही उपादेयता है, जो छात्रों एवं गवेषकों के लिए है। वे सभी अपने जिज्ञासित विषय को इसमें एकत्र समाविष्ट पायेंगे तथा यत्र-तत्र व्यर्थ श्रमभय से मुक्त रहेंगे।

इसके अतिरिक्त जो इस संस्करण का अन्य मुख्य वैशिष्ट्य है, वह है इसका भूमिकाभाग। भूमिकाभाग इस प्रकार के सप्रासङ्गिक प्रसङ्गों से युक्त है, जो सम्पूर्ण ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का तत्त्वसारस्वरूप है। मात्र भूमिका के अध्ययन से ही शास्त्र, विषय, प्रसङ्ग तथा ग्रन्थ आदि में अनायास गति सुलभ हो सकती है। अतः ग्रन्थ अध्ययन के पूर्व इसके भूमिकाभाग का अवलोकन नितान्त आवश्यक एव अनिवार्य है।

आशा है, इन समस्त विस्तृत एवं विशिष्ट विशेषताओं को समेटता हुआ यह संस्करण छात्र, गवेषक, अध्यापक, विद्वान्, सभी जिज्ञासु अध्येताओं एवं ग्रन्थागारों के लिए समानरूप से उपादेय सिद्ध होगा। अतः संग्रहणीय एवं पठनीय है।

अन्त में सहृदय सुधी पाठकों को यह स्मरण दिला देना भी उचित समझता हूँ कि जैसा सर्वविदित ही है—श्री कृष्णदास अकादमी का यह सर्वमान्य आदर्श सिद्धान्त है कि वह आर्ष, दुर्लभ एवं विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रकाशन में ही विशेष रुचि रखता है, सचेष्ट रहता है। अतः ऐसे ही विद्वान् लेखकों, व्याख्याताओं की कृतियों को ही प्रकाशन में प्राथमिकता देता है। विद्वान् लेखकों के ग्रन्थ पठनीय होते हैं, इनसे ज्ञानवर्धन होता है। विश्वास है, 'श्री कृष्णदास अकादमी' के प्रकाशन आपके लिए लाभकारी प्रमाणित होंगे। और आप इन्हें सतत अपनाते रहेंगे। इति शम्॥

—सत्यनारायण खण्डूड़ी

ग्रन्थ-ग्रन्थकारस्य व्याख्या-व्याख्याकारस्य च प्रशस्तिः

मम्मटभट्टविरचितः सहृदयसर्वस्वतां यातः
काव्यप्रकाशनामा विराजते ग्रन्थराजोऽयम् ॥ १ ॥

हिन्दीभाषाभाष्यं तस्य पुनः श्रीमुसलगांवकरै-
रारचितं तन्नूनं स्वर्णे सौरभमिवातनुते ॥ २ ॥

काव्यप्रकाशगौरवमेतेनैव स्फुटीभवति
यत्तत्रैव विरचिताः शतशष्टीकाः प्रटीकाश्च ॥ ३ ॥

वाग्देवतावतारश्चानेनैवैकमात्रग्रन्थेन
मम्मटभट्टो जातः सा सुषमा तावदस्ति रचनायाः ॥ ४ ॥

काव्यविषयका ये ये ज्ञातव्याः सन्ति सद्विषयाः
परिहृत्य विस्तरं ते संक्षेपेणात्र राजन्ते ॥ ५ ॥

अन्येषु ग्रन्थेषु च विस्ताराणां सुबहुलत्वम्
अतिसंक्षेपो वाप्यथ विक्षेपं नूनमाधत्ते ॥ ६ ॥

व्याकरणे यत् स्थानं काचित् सिद्धान्तकौमुदी धत्ते
साहित्ये तत्स्थानं मम्मटरचनेयमाधत्ते ॥ ७ ॥

हिन्दीभाषाटीका बह्वयो ह्यत्रापि दृश्यन्ते
किन्तु तदेतद्भाष्यं गजाननानां समुन्नतं स्वगुणैः ॥ ८ ॥

दार्शनिका विद्वांसश्चैते सहृदयधुरीणाश्च
निपुणाः कवयश्चैते भाषाभाष्ये प्रवीणाश्च ॥ ९ ॥

वयसश्चोत्तरभागे सेवाकार्याद्विनिर्मुक्ताः
लेखनकर्मणि सेवां वाग्देव्यास्ते प्रकुर्वन्ति ॥ १० ॥

दर्शनसद्ग्रन्थानां काव्यानां शास्त्ररत्नानाम्
निभृतं रहस्यजातं व्याख्यासु प्रकटयन्त्येते ॥ ११ ॥

अविरामधारया ननु प्रचलत्वेषां तु लेखनी रुचिरा
काव्यप्रकाशभाषाभाष्यमिदं श्लाघ्यतां यातु ॥ १२ ॥

विद्यावनतः
डॉ० शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालये संस्कृतसंकाये साहित्यविभागाध्यक्षः ।

भूमिका-विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
ग्रन्थ का नामकरण	१
ग्रन्थ की रचना का स्वरूप	१
काव्यशास्त्र और उसके अन्यान्य नाम	१
साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या	२
काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रथमतः विवेचन	२
काव्य के विषय में भरतमुनि की सृष्टि	४
काव्य की स्वतन्त्र प्रधानता	४
युगप्रवर्तक के रूप में श्री आनन्दवर्धन	४
ध्वन्यालोक से प्रभावित प्रथम ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'	५
काव्य के तीन भेद	५
बीजारोपण	६
आलङ्कारिकों का शब्दार्थविवेचन	६
काव्यमीमांसकों को अपने उत्तरदायित्व की प्रतीति	७
शब्दार्थ-विवेचन के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का कार्य	७
काव्यमीमांसकों की इस नवीन कल्पना में वैयाकरणों का आधार	८
वैयाकरणों का 'ध्वनि' और आलङ्कारिकों का 'ध्वनि'	९
स्फोट के स्वरूप का परिचय	१०
मम्मटभट्टकृत अभिधालक्षणा के विवेचन का आधार	१३

विषय	पृष्ठ
मुकुलभट्ट के द्वारा 'जात्यादिवाद' के सिद्धान्त की स्थापना	१४
मुकुलभट्ट के अनुसार 'लक्षणा' के भेद	१४
लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का अपना मत	१४
मम्मटभट्ट के द्वारा मुकुलभट्ट की मान्यताओं का खण्डन	१६
मम्मटभट्ट की गुणग्राहिता	१७
लक्षणा की विशेषता	१७
कतिपय व्याख्याकारों की उक्त व्याख्या का अनौचित्य	१७
ध्वनि के प्रकार	१८
रस की परिभाषा	२०
रस की चार व्याख्याएँ	२१
रस की अलौकिकता	२४
रसादिध्वनि का प्रपञ्च	२५
ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित रसादि ध्वनियों के उदाहरण	२६
रसादिध्वनि के अन्तर्गत होनेवाले 'भावों' के उदाहरण	२७
भट्टलोल्लट के अनुसार	२८
प्रथमसंख्यानिर्दिष्ट भट्टलोल्लट के मन्तव्य पर शंकुक का आक्षेप	२८
आचार्य शंकुक की व्याख्या का अभिनवगुप्तपाद के द्वारा समीक्षण	३१
तृतीय व्याख्याता भट्टनायक के अनुसार 'रस' को प्रतीति का विषय नहीं कह सकते	३५

विषय	पृष्ठ
रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के अपने विचार	३७
भट्टनायक के विचारों का परीक्षण	३८
रससूत्र पर अभिनवगुप्तपाद की व्याख्या	४२
रसचर्चा का सिंहावलोकन	४५
काव्यरस	४५
गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार	४६
गुणीभूतव्यंग्य के कतिपय उदाहरण	४७
'रस' के स्थलों में व्यञ्जना की सिद्धि	५०
अवशिष्ट ध्वनि-भेदों में व्यञ्जना की सिद्धि	५१
अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि का परीक्षण	५१
अन्विताभिधानवाद की दृष्टि से अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का परीक्षण	५१
अन्विताभिधानवादी का आक्षेप और उनका समाधान	५३
दीर्घ-अभिधावाद का खण्डन	५४
'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'	५६
'विष भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः'	५६
दीर्घ-अभिधावाद में उपस्थित होनेवाले दोष	५७
व्यञ्जना के अस्तित्व में कतिपय अन्य प्रमाण	५८
वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद	५८
वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद में अन्यान्य कारण	५९
लक्षणावादी की दृष्टि से 'व्यञ्जना' का लक्षणा में अन्तर्भाव	६१
व्यंग्यार्थ की लक्ष्यार्थ से भिन्नता	६२
'व्यंजना' का नाम लक्षणा नहीं	६३
स्फोटवादी वैयाकरणों को भी व्यञ्जना का स्वीकार करना अनिवार्य	६४
महिमभट्ट की दृष्टि से 'व्यंजना' का अनुमान में अन्तर्भाव	६४
अनुमान का प्रकार	६५
'व्यञ्जना' का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं	६५
चित्रकाव्य (अधम, अवर) काव्य	६६
मम्मटभट्ट-विरचित 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की विशेषता	६७
लाघवपूर्ण वृत्ति-रचना	६९
लाघवपूर्ण कारिकाएँ	७०
अन्वयमुखेन विवेचन	७०
काव्यप्रकाश में प्राकृत उदाहरणों की विपुलता	७१
मम्मटभट्ट की वाक्यरचना	७१
काव्यप्रकाशकार के विषय में विद्वानों के विचार	७२
काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मटभट्ट का परिचय	७३
'काव्यप्रकाश' पर व्याख्याओं की विपुलता	७४
'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की एक-कर्तृकता	७५
सिद्धान्तपक्ष	७७
वृत्ति और कारिका ग्रन्थ दोनों का कर्त्ता एक	७७
समस्त कारिका-भाग भरत-कर्तृक नहीं	७७
उपसंहार	७८
कृतज्ञता-प्रकाशन	८०

भूमिका

ग्रन्थ का नामकरण—

श्रीमन्महामाहेश्वर **मम्मटभट्ट** ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नामकरण **'काव्यप्रकाश'** और उसका विभाजन 'उल्लास' के नाम से किया है। उस पर थोड़ा-सा विचार, करना अनुचित न होगा। 'काव्यस्य प्रकाशः=काव्यप्रकाशः'। 'काव्यस्य' इस षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'विषय' है; और 'प्रकाश' का अर्थ होगा 'दीखने का साधन'। किन्तु यहाँ पर उसका लाक्षणिक अर्थ 'ज्ञान का साधन' करना होगा। तब सम्पूर्ण अर्थ यह होगा कि 'काव्यस्वरूप के ज्ञान का 'साधनभूत ग्रन्थ'। अनेक ग्रन्थकारों ने अपने गन्थों के नाम इसी प्रकार रखे हैं। जैसे गूढार्थप्रकाशः, शृङ्गारप्रकाशः, भाट्ट-दीपिका, शास्त्रदीपिका, ध्वन्यालोकः, काव्यप्रदीपः, सिद्धान्तकौमुदी इत्यादि।

सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम 'प्रकाश' रखने पर उसके जो 'प्रकरण' होंगे, उनकी उस प्रकाश के 'उल्लास' रूप में कल्पना करना उचित ही है, क्योंकि 'उल्लास' का अर्थ 'स्फुरण या उन्मेष' है। अनेक छोटे-छोटे स्फुरणों या उन्मेषों से 'प्रकाश' निष्पन्न हुआ करता है। अतः ग्रन्थकार के द्वारा किया गया नामकरण समुचित ही है।

ग्रन्थ की रचना का स्वरूप—

ग्रन्थ की रचना 'कारिका, सूत्र' और उस पर सोदाहरण 'वृत्ति' (विवरणात्मक संक्षिप्त व्याख्या) के रूप में की गई है। 'मूलकारिकाओं' (सूत्रों) तथा उनकी 'वृत्ति' के रचयिता श्रीमम्मटभट्ट स्वयं ही हैं, किन्तु उदाहरणों का संग्रह अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों से किया गया है। एवं च 'काव्यशास्त्र' का ज्ञान कराने वाला यह प्रस्तुत ग्रन्थ है।

काव्यशास्त्र और उसके अन्यान्य नाम—

'शब्द' और 'अर्थ' के माध्यम से साकार होने वाली 'काव्य-कला' की मीमांसा को ही 'काव्यशास्त्र' कहते हैं। इसी को अनेक नामों से भी अन्यत्र कहा गया है। इसका अत्यन्त प्राचीन नाम 'क्रियाकल्प' या 'काव्यक्रियाकल्प' (काव्यकरण-विधि) भी है। इसका निर्देश महर्षि वात्स्यायन (ई० दूसरी शता०) के कामसूत्र (१।१३।१६) में किया गया है। वाल्मीकिरामायण (९४।७) में 'क्रियाकल्प-विदश्चैव' कहा गया है। भामह ने काव्यालङ्कार (१।१०) में 'काव्यक्रिया' तथा दण्डी ने अपने काव्यादर्श (१।९) में 'क्रियाविधि' शब्द का प्रयोग करके इस प्राचीन-तम नाम को सूचित किया है। दण्डी ने इस शास्त्र के लिए एक अन्य नाम 'काव्य-

लक्षण' भी दिया है। उसी में किञ्चिन्मात्र परिवर्तन करके भामह ने 'काव्यलक्ष्म' शब्द का प्रयोग (६।६४) किया है। इसी शास्त्र का तीसरा नाम 'काव्यालङ्कार-शास्त्र' अथवा केवल 'अलङ्कारशास्त्र' भी है। काव्य की शोभानिष्पत्ति के अनुकूल सभी अर्थों के अनुरोध से 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग किया जा रहा था। अतः उसके विवेचक शास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' की संज्ञा प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भामह, रुद्रट आदि काव्यमीमांसकों ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारः', उद्भट, वामन आदि ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति रखना पसन्द किया।

आज भी इसी नाम के अनुरोध से 'भामह' आदि काव्यमीमांसकों का निर्देश 'आलङ्कारिक' नाम से किया जाता है।

तदनन्तर कुछ समय के बाद 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग 'शब्दार्थालङ्कार' के लिए ही किया जाने लगा, तथापि प्रस्तुत शास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' और भामह आदि विद्वानों को आलङ्कारिक कहने में कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंच रही है।

साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या —

भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (१।१६) इस काव्य-लक्षण का 'सहितौ' पद, काव्य के स्वरूपविवेचन में महत्त्व को प्राप्त कर भविष्य में सारगर्भित 'साहित्य' शब्द की निर्मिति में बीज बन गया। शब्द और अर्थ की परम्परानुरूप सौन्दर्य-शालिता को ही 'साहित्य' कहते हैं, प्रस्तुत शब्द से यह अभिप्राय जब स्फुट होने लगा तब 'साहित्यशास्त्र' के नाम से 'काव्य-शास्त्र' को निर्दिष्ट किया जाने लगा। राजशेखर ने 'काव्यशास्त्र' को 'साहित्यविद्या' नाम देकर अन्य प्रतिष्ठित विद्याओं की गणना में उसे स्थान दिला दिया। कतिपय काव्यमीमांसकों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों का नामकरण 'साहित्यमीमांसा', 'काव्यमीमांसा' 'साहित्यदर्पण' आदि रखकर राजशेखर का समर्थन भी किया। निष्कर्ष यह है कि 'काव्यशास्त्र' सम्बन्धी ग्रन्थों में 'काव्य का स्वरूप, उसके अङ्गों, उपाङ्गों' को बताया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि 'काव्यशास्त्र' का स्वरूप सर्वव्यापक है।

काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रथमतः विवेचन —

काव्यशास्त्रीय कतिपय तत्त्वों का विवेचन प्रथमतः भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में दृष्टिगोचर होता है। यह नाट्यशास्त्र ग्रन्थ ३६ या परम्पराभेद से ३७ अध्यायों में पूर्ण होता है। उसके श्लोकों की संख्या स्थूलतः ६००० कही जाती है, तथा इसमें उपस्थित किया गया 'गद्यभाग' भी प्रायः ५०० श्लोकों की बराबरी का माना

जाता है। इस ग्रन्थ पर एकमात्र व्याख्या 'श्री अभिनवगुप्तपाद'—विरचित 'अभिनवभारती' के नाम से आज उपलब्ध है। किन्तु वह भी काल की विकरालता तया विद्वान् व जनता और शासन की घोर अनवधानता के कारण अनेक स्थलों पर त्रुटित और मुद्रण-अशुद्धिबहुल ही है।

इस नाटचशास्त्र में 'नाटच और उससे सम्बन्धित नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्प आदि' अनेक विषयों का निरूपण किया गया है, और उसके व्याख्याकार श्री अभिनवगुप्त-पाद ने तो उसे एक समृद्ध ज्ञान-भाण्डागार का ही रूप प्रदान कर दिया है। इस ग्रन्थ के कतिपय अध्यायों में नाटचशास्त्र के अङ्गभूत काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है। 'पाठ्य, गीत, अभिनय और रस' इन चार अङ्गों से पूर्ण होने वाले 'नाटच' का जो 'पाठ्य' नामक अङ्ग है, उसका निर्देश भरतमुनि ने 'नाटच-शरीर' के रूप में किया है। और उसी को लक्ष्य कर यत्र-तत्र 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है। इस 'नाटचशरीर' के साथ अवशिष्ट तीन अङ्गों का योग प्राप्त होने पर 'नाटच' का निर्माण होता है। नाटचशास्त्र के छठे-सातवें अध्याय में 'रस' का विवेचन सविस्तर किया है। 'विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव (सञ्चारीभाव), स्थायीभाव' आदि रसमीमांसा सम्बन्धी पारिभाषिक संज्ञाएँ प्रथमतः नाटचशास्त्र में ही उपलब्ध होती हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः, रस इति कः पदार्थः? आस्वाद्यत्वात्' इत्यादि भरतवचनों की उपलब्धि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में रस की चर्चा के समय प्रायः होती है। भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट की गई रस-प्रक्रिया का अनुसरण तदुत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में किया है। यह 'रसविवेचन' काव्यशास्त्र के लिए भरतमुनि की बहुत बड़ी देन है

भरतमुनि का कहना है कि 'पाठ्य' नामक काव्यबन्ध को 'भूषण, अक्षरसंघात' आदि ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिये। उनमें से पहले 'भूषण' के लक्षण में—'उपमा, रूपक, दीपक, यमक' इन चार अलङ्कारों को और 'श्लेष, प्रसाद, समता' आदि दश गुणों को समाविष्ट कर दया है। गुणों के अनुषङ्गों से 'गुणविपर्ययात्मक दश दोषों' का भी निरूपण सतरहवें अध्याय में कर दिया है। 'अक्षरसंघात' आदि अवशिष्ट लक्षणों का स्वरूप भरत के निरूपण से पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता है। अतः उनके स्वरूप के विषय में ग्रन्थकार और व्याख्याकारों के भिन्न-भिन्न मत दृष्टि-गोचर होते हैं। काव्यशास्त्र में समाविष्ट होनेयोग्य नाट्यशास्त्र का जो—अवशिष्ट 'नाटक, प्रकरण, अङ्क' इत्यादि दश नाट्यप्रकार (दशरूपक) और उनकी बीजभूत 'भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी' नाम की वृत्तियाँ तथा 'इतिवृत्त' (काव्य-शरीरभूत कथारचना की तत्त्वभूत पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पाँच सन्धियाँ) का विवेचन बीस से बाईस तक के अध्यायों में किया गया है।

दशरूपक आदि विषय, 'काव्य' के बहिरंग हैं, यह मानकर उत्तरकालीन काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में उनका विचार प्रायः नहीं किया। उनकी दृष्टि, काव्य के अन्तरङ्ग पर केन्द्रित ही रही, किन्तु नाट्यशास्त्र के रसविवेचन का परिग्रह तो सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में न्यूनाधिकरूप में किया है।

काव्य के विषय में भरतमुनि की दृष्टि—

भरतमुनि 'काव्य' को एक नाट्याङ्ग के रूप में देखते हैं। उसे वे 'अभिनेय' मानते हैं, क्योंकि नाट्य का स्वत्व 'अभिनय' है यह बता 'न ह्यङ्गाभिनयात् किञ्चिदृते नाट्यम्प्रवर्तते'—(भ० ना० १४।८०) कहने से स्पष्ट होती है।

काव्य की स्वतन्त्र प्रधानता—

किन्तु सभी काव्यों का निर्माण 'अभिनय' के लिए नहीं होता है। वे अभिनेय न होने पर भी आस्वाद्य तो रहते ही हैं। रामायण की महाकाव्य में गणना, उसकी अभिनेयता के कारण नहीं है। हाँ, छन्दोबद्ध होने से उसको 'गेय' कहा जा सकता है। अतः उसकी आस्वाद्यता का आंशिक श्रेय कदाचित् संगीत को भी दिया जा सकता है, किन्तु प्रायः गद्यमय अतएव अगेय कही जाने वालीं कथा-आख्यायिकाओं की आस्वाद्यता का श्रेय, पूर्णतया काव्य को ही प्राप्त होता है, अन्य किसी को नहीं। इनमें एक दृष्टि से आस्वाद्य बनाने वाला उपकारक के रूप में घटनावैचित्र्यात्मक कथासूत्र भी रहता है, किन्तु वैसा कथासूत्र जिसमें नाममात्र के लिए भी नहीं है ऐसी हाल-सातवाहन की मनोरम गाथा को अथवा उसी के समान अनेक मुक्तकों को भी 'काव्य' शब्द से कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'काव्य' में अपना निजी रञ्जकत्व रहता है। उसे अभिनय या संगीत की अपेक्षा नहीं है। इस रहस्य का प्रकाशन, 'काव्य' को केवल 'नाट्याङ्ग' या 'अभिनेय' या 'गेय' अथवा 'इति-वृत्त-घटित' के रूप में देखने से नहीं होगा। इस रहस्य के प्रकाशनार्थं 'काव्य' का विचार एक स्वयं अपने आप में पूर्ण रचना की दृष्टि से करना होगा। यही सोचकर (ई० ६ श.) के भामह, दण्डी, उद्भट (ई० ८ श०) वामन, रुद्रट के समय तक शनैः-शनैः मार्गक्रमण करती हुई 'काव्यमीमांसा' को श्री आनन्दवर्धन ने तडिद्वेग से प्रगति के शिखर पर ले जाकर आसीन करा दिया।

युगप्रवर्तक के रूप में श्री आनन्दवर्धन—

काव्यशास्त्र के इतिहास में श्री आनन्दवर्धन को वस्तुतः, युगप्रवर्तक ही माना जाता है। उसने अपने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में 'वाच्य, लक्ष्य' इन प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न 'व्यङ्ग्य' संज्ञक अर्थ, भी 'शब्द' से प्रकट होता है'—इस तथ्य को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है, और व्यङ्ग्यार्थं (ध्वनि) का निकष लगाकर समस्त काव्यांगों का पुनर्विचार किया है। इस मौलिक ग्रन्थ का विलक्षण प्रभाव, उत्तर-

कालीन सभी काव्यमीमांसकों पर पड़ा दिखाई देता है। अतएव श्रीराजशेखर, पंडित-राज जगन्नाथ जैसे उद्भट विद्वन्मूर्धन्य के भी मुख से यह सूक्ति निकल पड़ी।

"ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥"

तथा— 'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्' इति।

श्री आनन्दवर्धन ने काव्य के समस्त अंगों का संग्रह करते हुए काव्य का मूल्याङ्कन करनेवाले एक व्यापक तत्त्व का अपने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है। महाभाष्यादि ग्रन्थों के समान पूर्वोत्तर पक्षों का उपस्थापन करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाला यह प्रथम काव्यमीमांसा ग्रन्थ है। एतत्पूर्ववर्ती अलङ्कार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ का वैशिष्टय यह है कि उन ग्रन्थों में अन्वयमुख से केवल निष्कर्षों को बताया गया है, किन्तु इस ग्रन्थ में जिज्ञासु विद्यार्थी को निष्कर्ष तक पहुँचानेवाले समग्रयुक्तिप्रपञ्च को सन्निविष्ट किया गया है।

ध्वन्यालोक से प्रभावित प्रथम ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'—

'ध्वन्यालोक' की शैली का अनुसरण करते हुए काव्यशास्त्र का सांगोपाङ्ग परामर्श करनेवाला प्रथम ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इसे 'ध्वन्यालोक' पर 'वार्तिक' की कोटि में रखा जा सकता है।

वाग्देवतावतार श्री मम्मटभट्ट ने अपने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ, संस्कृत ग्रन्थकारों की श्रुत्यनुमोदित भारतीय-शिष्टपरम्परा के अनुसार 'मङ्गलाचरण' से किया है। मङ्गलाचरण के द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि-निर्मित काव्यसृष्टि की श्रेष्ठता को हेतु, स्वरूप और फल की दृष्टि से सूचित किया है। तदनन्तर निष्फल कार्यों में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति न होने से काव्य के छह प्रयो-जनों—(कीर्ति, सम्पत्ति, व्यवहारज्ञान, अशुभपरिहार, परमानन्द और मिठास के साथ तत्त्वावबोध) को बताकर काव्यनिर्माण और उसकी उत्कृष्टता के लिए आव-श्यक 'शक्ति' (प्रतिभा), 'निपुणता' (बहुज्ञता) और 'अभ्यास' इन तीन उपायों से परिपूर्ण होने वाले 'काव्यसाधन' को बताया है। तदनन्तर 'काव्यलक्षण' को प्रदर्शित किया है। श्री मम्मटभट्ट के मतानुसार 'दोषरहित' 'गुणसहित' और 'स्फुट अलङ्कारों से विभूषित' हुए 'शब्दार्थ' (शब्द+अर्थ) ही 'काव्य' कहलाने योग्य होते हैं, भले ही उन शब्दार्थों में क्वचित् 'अलङ्कार' की स्फुटता न भी हो, तब भी उन्हें 'काव्य' की कोटि मान लिया जाता है।

काव्य के तीन भेद—

काव्य के—'अतिशयिव्यङ्ग्य' अर्थात् 'ध्वनि', 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'अव्यङ्ग्य' अर्थात् चित्र—ये तीन भेद किये गये हैं। इन्हीं को क्रम से 'उत्तम', 'मध्यम' और

'अधम' काव्य कहा गया है । उत्तम काव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रधानता, मध्यमकाव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' की स्फुटता रहने पर भी 'वाच्यार्थ' की प्रधानता, और अधम काव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ की अस्फुटता' व 'अलङ्कार' की प्रधानता रहा करती है । इस प्रकार प्रथम उल्लास में कहे गये 'काव्यलक्षण' और 'काव्यभेद' के प्रपञ्चार्थ ही अग्रिम ग्रन्थ की रचना की गई है ।

काव्य के लक्षण में 'शब्द, अर्थ, दोष, गुण, अलंकार' पदों का निर्देश किया है । उनमें से 'शब्द और अर्थ' का विवेचन द्वितीय और तृतीय उल्लास में किया गया है । तदनन्तर वस्तुतः दोष, गुण, अलङ्कारों का विवेचन करना प्राप्त था, किन्तु काव्यरूप धर्मी का विवेचन किये बिना दोष, गुण और अलङ्कार रूप धर्मों में से किसकी त्याज्यता एवं उपादेयता का आकलन करना कठिन होगा । अतः चतुर्थ, पञ्चम और छठे उल्लासों में यथाक्रम पूर्वोक्त तीन काव्य-भेदों का विवेचन किया गया है । यहीं पर षष्ठ-उल्लास तक के प्रथम भाग को पूर्ण करके यथावसर मुद्रित होनेवाले द्वितीय भाग में पूर्वोक्त काव्य-लक्षण के अन्य पदों का विवेचन किया है । जैसे— साँतवें उल्लास में 'दोषों' का आठवें उल्लास में 'गुणों' का नवें उल्लास में 'शब्दालङ्कारों' का और दसवें उल्लास में 'अर्थालङ्कारों' का वर्णन किया गया है ।

बीजारोपण—

ग्रन्थ की रचनाशैली से अवगत हो रहा है कि सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' का बीजारोपण प्रथम उल्लास की चतुर्थ और पञ्चम कारिकाओं में ही कर दिया गया है ।

द्वितीय उल्लास में काव्यलक्षणघटक 'शब्दार्थ' का विवेचन किया गया है । 'वाचक', 'लाक्षणिक', 'व्यञ्जक' के रूप में 'शब्द' की त्रिविधता बताई गई है । तदनुसार 'अर्थ' के भी 'वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य' के रूप में तीन प्रकार कहे गये हैं ।

उपर्युक्त 'वाचक' आदि शब्द क्रमशः अपनी 'अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना' नामक शक्ति (व्यापार) के द्वारा वाच्यादि अर्थों को बोधित करते हैं । इन तीन अर्थों के अतिरिक्त 'तात्पयर्थि' नामक एक चौथे अर्थ भी को महामीमांसक कुमारिल भट्टपाद ने माना है । यह चौथा 'अर्थ' वाक्यघटक किसी 'पद' का नहीं है, अपितु पदसमूहात्मक 'वाक्य' का है । उस 'तात्पर्यार्थ' का बोध, वाक्य में रहने वाली 'तात्पर्य' नामक शक्ति से होता है । उक्त त्रिविध अर्थों में से प्रत्येक अर्थ, यथावसर व्यञ्जकशब्द का सहायक होकर अथवा प्रधानरूप से व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करता है । अभिप्राय यह है कि ये अर्थ, 'व्यञ्जक' भी होते हैं । 'अर्थ' की व्यञ्जकता का प्रपञ्च तृतीय उल्लास में किया है

आलङ्कारिकों का शब्दार्थविवेचन—

'शब्द' और 'अर्थ'—काव्य के शरीर हैं। यह कल्पना प्रायः आरम्भ से ही

काव्यमीमांसाशास्त्र में चली आरही है। तथापि उसका तात्त्विक विवेचन, प्रस्तुत शास्त्र के आवश्यक अंग के रूप में श्री आनन्दवर्धन के समय से ही किया जाने लगा। उसके पूर्व तो आलङ्कारिकों ने इस विवेचन का भार, व्याकरण-न्याय-मीमांसा शास्त्रों पर ही सौंप दिया था, किन्तु श्री आनन्दवर्धन ने व्यञ्जनाशक्ति की नवीन उपपत्ति जब से बताई, तभी से काव्यमीमांसा में शब्दार्थ-विचार को अभूतपूर्व महत्त्व प्राप्त हुआ।

काव्यमीमांसकों को अपने उत्तरदायित्व की प्रतीति—

काव्यमीमांसकों के ध्यान में यह बात आ गई कि शब्दार्थ-विचार का भार व्याकरणादि शास्त्रों के द्वारा वहन किये जाने पर भी उनके सभी विचार काव्य-मीमांसा की भूमिका से संगत नहीं हो सकते, और कुछ विषयों पर तो उन्हीं के विचार परस्पर नहीं मिलते हैं।

अतः उनके द्वारा किये गये शब्दार्थ-विचार में से कितना अंश काव्यमीमांसा के अनुकूल है, कितना प्रतिकूल है, उनके किस अंश में काव्यमीमांसा उदासीन है ? यह बिचार काव्यमीमांसकों को ही अवश्य करना होगा।

यह ध्यान में आने पर इन विचारों का दिग्दर्शन प्रथमतः श्री आनन्दवर्धन की 'ध्वनिमीमांसा' के द्वारा किया गया और तदनुसार ही श्री मम्मटभट्ट ने उन्हीं विचारों को विशद करते हुए सबके सामने प्रथमत. प्रस्तुत किया। तदनन्तर उत्तर-कालीन आलंकारिकों ने प्रायः मम्मटनिरूपित शब्दार्थ-विवेचन का ही अनुसरण किया है।

शब्दार्थ-विवेचन के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का कार्य—

शब्दार्थ का विवेचन करते समय मम्मटभट्ट ने सर्वसम्मत अभिधा-व्यापार तथा न्याय-मीमांसादि-सम्मत लक्षणारूप शब्दव्यापारों को स्वीकार करके 'गौणी-भक्ति-उपचार' के नाम से प्रसिद्ध, किन्तु लक्षणा-मार्ग का ही अनुसरण करनेवाले व्यापारों का 'लक्षणा' में ही समावेश कर लिया और वैयाकरणों की स्फोट-कल्पना में गर्भित रहनेवाली 'व्यञ्जना' की स्थापना, लक्षण-स्वरूप के आधार पर तथा स्वतन्त्र युक्ति-वाद के बल पर भी शब्द और अर्थ के स्वतन्त्र-व्यापार के रूप में कर दी।

इन तीन व्यापारों के अतिरिक्त 'अभिधा' के पश्चात् कार्य करने वाला 'तात्पर्य' संज्ञक वाक्य-व्यापार, जिसे भाट्ट मीमांसकों ने माना है, उसका नाम-निर्देशमात्र करके मम्मटभट्ट ने उसके विषय में अपनी उपेक्षा प्रकट की है

इससे यह प्रतीत होता है कि भाषा के द्वारा अवगत होनेवाला अर्थ-प्रत्यायक व्यापार, 'शब्द' और शब्दसमुदायात्मक 'वाक्य' में रहता है। यहाँ तक निश्चित किये गये विचार में काव्यमीमांसकों ने एक और नवीन कल्पना जोड़ दी कि 'अर्थ' में भी

इस प्रकार के व्यापार की संभावना की जा सकती है, यानी अर्थ का भी ऐसा व्यापार हो सकता है।

काव्यमीमांसकों की इस नवीन कल्पना में वैयाकरणों का आधार--

काव्यमीमांसकों को उपरिनिर्दिष्ट नवीन कल्पना की गन्ध श्री भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित 'वाक्यस्फोट' में भी उपलब्ध हुई। ध्वन्यालोक में व्यञ्जना की सोपपत्तिक स्थापना करते समय एक जगह वैयाकरणों का निर्देश 'प्रथमे विद्वांसः' कहकर आनन्दवर्धन ने किया है। इस सन्दर्भ में वैयाकरणों का आधार स्वीकार कर लेने का प्रयोजन इतना ही है कि 'एक से दो भले'।

अर्थात् अपने अकेलेपन के भय को दूर करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि 'व्यञ्जना' के वास्तविक उपयोग का श्रेय व्याकरण को न होकर काव्यशास्त्र को ही है। व्याकरण में व्यञ्जना का जो निर्देश किया गया है, वह तो अर्थप्रक्रिया से सम्बद्ध 'स्फोट' के विषय में कतिपय वैयारकणों के द्वारा की गई कल्पना की उपपत्ति लगाने के लिए है. किन्तु 'स्फोट' को माननेवाले और न माननेवाले दोनों ही वैयाकरण प्राचीनता में समान हैं। अतः दोनों में से किसी को भी अनादरणीय नहीं कह सकते।

किञ्च 'स्फोट' को मानने या न मानने से व्याकरण की मुख्य उपपत्ति में कोई किसी प्रकार की हानि भी नहीं है, किन्तु काव्यमीमांसा की स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ तो 'व्यञ्जना' के मानने अथवा न मानने पर आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। इसकी प्रतीति तब होती है, जब आनन्दवर्धन-पूर्व की काव्यमीमांसा से आनन्दवर्धनोत्तर काव्यमीमांसा की तुलना की जाय। एवञ्च काव्य और काव्यमीमांसा के लिए यह 'व्यञ्जना' जीवातुभूत सिद्ध हो गई है। इस प्रकार उसकी आधारभूत अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के द्वारा काव्यमीमांसा के लिए उपकारक शब्दार्थ-विचार की पूर्णता हो पाती है।

प्रथम उल्लास में निर्दिष्ट तीन काव्यभेदों (ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र) का सविस्तर निरूपण चतुर्थ उल्लास से षष्ठ उल्लास तक किया गया है।

प्रथम उल्लास में 'इदमुत्तममतिशायिनि' कारिका पर दी गई वृत्ति में बुधैः' का अर्थ 'वैयाकरणैः ...' आदि कहा गया है। उसे पढ़कर 'बुधैः' का अर्थ ''वैयाकरणैः' समझा जाता है, किन्तु 'बुधैः' का सम्बन्ध—अग्रिम 'अन्यैरपि' के साथ करने के लिए व्याख्याकार कहते हैं। अतः 'एकवृन्तगतफलद्वय' के न्याय से—वैयाकरण और आलंकारिक दोनों का समावेश 'बुधैः' पद से यद्यपि किया जा सकता है, तथापि प्रकृत प्रसंग के अनुरोध से 'बुधैः' पद से 'आलङ्कारिकों' को ही यहाँ विवक्षित करना उचित होगा, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग 'अतिशयिव्यङ्ग्य' नामक काव्य का है। उसी को आनन्दवर्धनादि आलङ्कारिकों ने 'ध्वनि' की संज्ञा दी है, 'वैयाकरणों' ने नहीं। वैयाकरणों ने तो 'ध्वनि' की संज्ञा 'स्फोटव्यञ्जक शब्द' को दी है, 'काव्य'

को नहीं। क्योंकि 'काव्य' कोई व्याकरण का विषय नहीं है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'वृत्तिकार' ने यहाँ पर 'वैयाकरणों' का उल्लेख क्यों किया ?

इस जिज्ञासा का समाधान तो यह है कि—काव्यशास्त्रीय ध्वनि की कल्पना करने में व्याकरणशास्त्रीय ध्वनि-कल्पना का भी—इस अभिप्राय को ऐतिहासिक और तौलनिक दृष्टि प्रदर्शित करना है।

'वर्ण-समूहात्मक' अनित्य शब्द से 'स्फोटात्मक' नित्य शब्द का व्यक्त होना और सर्वसाधारण वाच्यार्थ को बतानेवाले 'शब्द' से विशेषाभिप्रायात्मक 'व्यङ्ग्यार्थ' का व्यक्त होना—इन दोनों प्रक्रियाओं में बहुत साम्य है। इस प्रकार दोनों कल्पनाओं की समानता को ध्यान में रखकर आलङ्कारिकों ने भी वाच्यातिशायिव्यङ्ग्यार्थ को 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान कर दी।

वैयाकरणों ने पहिले से ही प्रमाणपुरःसर स्फोट-कल्पना कर दी थी, जिसका प्रामाणिकत्व ही आलङ्कारिकों के द्वारा ध्वनि के अस्तित्व की कल्पना करने में एक प्रमाण है। इसी तथ्य को प्रदर्शित करना ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अतएव उन्होंने यहाँ पर वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' सञ्ज्ञा और उसकी कल्पना का इतिहास स्पष्ट शब्दों में बताया है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"

"सूरिभिः कथितः" कह कर यह बताया है कि "विद्वदुपज्ञा इयमुक्तिः न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्ता"।

'ध्वनि' संज्ञा का प्रयोग प्रथमतः 'वैयाकरणों' ने किया है। तभी से वह शब्द सर्वत्र परिचित हो चुका था। इसलिए कुछ समानता को लक्षित कर उसी 'संज्ञा' का प्रयोग, काव्य-तत्त्वज्ञों ने भी अपने काव्यविवेचन में कर लिया।

वैयाकरणों का 'ध्वनि' और आलङ्कारिकों का ध्वनि—

वैयाकरणों के 'ध्वनि' पदार्थ से काव्यतत्त्वज्ञों का 'ध्वनि' पदार्थ किस दृष्टि से भिन्न है ? इस रहस्य को मम्मटभट्ट ने सूचक विशेषणों के प्रयोग से ग्रन्थ की वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है। वैयाकरणों के मत में 'शब्द' के सुनने पर जो अर्थज्ञान होता है, वह साक्षात् उस श्रुत शब्द के योग से नहीं होता है, किन्तु उस श्रुत शब्द से व्यक्त होने वाले 'स्फोट' संज्ञक पदार्थ से होता है। अर्थात् शब्द-व्यवहार से जो अर्थबोध होता है, वह 'स्फोट' नामक तत्त्व से होता है। इसलिए प्रधानता 'स्फोट' तत्त्व की ही मानी जाती है। यह अर्थप्रत्यायक (अर्थबोधक) स्फोट और उसका आश्रयभूत शब्द, इन दोनों में 'व्यंग्य-व्यञ्जक भाव' सम्बन्ध रहता है। अर्थात्

'शब्द', 'स्फोट' को सूचित करता है और वह 'स्फोट' अर्थप्रतीति करा देता है। निष्कर्ष यह है कि वह 'स्फोट' पदार्थ, शब्द के द्वारा सूचित (अभिव्यक्त = ध्वनित) होता है। इसलिए उसके व्यञ्जक (अभिव्यञ्जक) 'शब्द' को वैयाकरणों ने 'ध्वनि' की संज्ञा दी है।

अब उत्तमकाव्य में क्या होता है ? उसे देखिये—उसमें 'वाच्यार्थ' को गौण (अप्रधान) स्थान दिया जाता है, यानी उसे 'न्यग्भावित' किया जाता है और व्यङ्ग्यार्थ' को प्रधान (प्रमुख) स्थान दिया जाता है। इस प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का कार्य, काव्य के 'शब्द' और 'अर्थ' की जोड़ी किया करती है। अतः प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति करने में उत्तमकाव्य के 'शब्दार्थों' की व्याकरण के 'शब्द' से समानता है। इसलिए आलङ्कारिकों ने वैयाकरणों का अनुसरण करके उत्तमकाव्यरूप 'शब्दार्थों' को 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान की है।

इसके अतिरिक्त 'व्यङ्ग्य अर्थ' और 'व्यञ्जनाव्यापार' के अर्थ में भी 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार अलङ्कारशास्त्र में किया जाता है। इन तीन अर्थों में 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—(१) 'ध्वनति प्रकाशयति व्यङ्ग्यम्, इति ध्वनिः'—काव्यम्। (२) 'ध्वन्यते व्यज्यते शब्दार्थाभ्याम्, इति ध्वनिः—व्यङ्ग्यार्थः। (२) 'ध्वन्यते व्यज्यते व्यङ्ग्यम् येन' इति ध्वनिः—व्यञ्जनाव्यापारः।

एवञ्च काव्य का 'ध्वनि' पदार्थ व्याकरण के 'ध्वनि' पदार्थ से भिन्न है। वैयाकरणों ने केवल 'शब्द' को 'ध्वनि' कहा है। किन्तु आलङ्कारिक जिसे 'ध्वनि' कहते हैं, वह 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों की जोड़ी है। अर्थात् काव्यतत्त्वज्ञ विद्वान् 'शब्दार्थ' रूप काव्य को 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षम शब्दार्थों' को ध्वन्यालोककार ने महाकवियों के शब्दार्थ के रूप में माना है।

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्य—योगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" (ध्व० लो० १।८)

उन महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त किये गये शब्दार्थों से साकार होनेवाले काव्य को 'ध्वनिकाव्य' यानी 'ध्वनिप्रधानकाव्य' (अतिशयिव्यङ्ग्य–काव्य) कहा जाता है— "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"—(ध्व० लो० १।१३)। ध्वन्यालोक की निर्दिष्ट कारिका का ही अनुवाद मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में 'इदमुत्तममति' इत्यादि कारिका और उसकी वृत्ति के द्वारा किया है।

स्फोट के स्वरूप का परिचय—

वैयाकरणों का जो 'स्फोट' है, वह पाणिनीय व्याकरण की महत्त्वपूर्ण अर्थबोध-प्रक्रिया है। किसी शब्द के श्रवण करने पर जो अर्थ प्रतीत होता है, वह उस शब्द

के वर्णों से तो प्रतीत हो नहीं सकता यदि वर्णोंको अर्थबोधक कहा जाय तो विचार करना होगा कि एक-एक वर्ण से अर्थबोध होता है या वर्णसमूह से अर्थबोध होता है? यदि एक-एक वर्ण से अर्थबोध हो तो 'घट' शब्द के केवल 'घ्' से अथवा उस शब्द के ही किसी अन्य वर्ण से भी 'कम्बुग्रीवादिमत्त्व' रूप अर्थ का बोध हो जाता, किन्तु होता नहीं है। इसलिए प्रथम पक्ष स्वीकार करना संभव नहीं है।

उसी तरह 'वर्णसमूह' से भी 'अर्थबोध' का होना संभव नहीं है, क्योंकि एक कालिक न रहनेवाले वर्णों का 'समूह' नहीं बनता है। क्योंकि 'घ्' का उच्चारण होते ही वह नष्ट हो जाता है। उसी तरह 'अ', उसी तरह 'ट्', तदनन्तर 'अ' ये सभी वर्ण उच्चरित होते ही नष्ट हो जाते हैं। इन भिन्नकालिक वर्णों का समूह हो पाना कभी संभव नहीं है। 'समूह' तो समकालिक वस्तुओं का ही हुआ करता है। इस प्रकार 'वर्णों' से 'अर्थबोध' का होना संभव नहीं है। अतः अर्थबोध के होने में अन्य कोई कारण होना चाहिये। एवञ्च 'अर्थापत्ति' प्रमाण से अवगत होनेवाला जो अन्य कारण है, वही 'स्फोट' है। 'वर्णात्मकशब्द' सावयव होने से अनित्य (विनाशी) है, किन्तु 'स्फोटात्मकशब्द' निरवयव होने से नित्य (अविनाशी) है।

'घ्—अ—ट्—अः'— इन अनेक वर्णों से निष्पन्न हुआ 'घटः' एक पद (इदमेकम्पदम्) है, इत्याकारक जो अनुभव होता है, वही 'स्फोट' के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण है। उक्त अनुभव का विषय होने वाला जो 'एकत्व' है, वह भिन्नकालिक होने से समूह का रूप न ले सकने वाले वर्णों पर उसका रहना संभव नहीं है। वर्णों को 'वर्णात्मक शब्द' जो कहा जाता है, वह भी औपचारिक ही है।

वैयाकरणों ने अर्थप्रत्यायक 'नित्यतत्त्व' को जो 'स्फोट' की संज्ञा दी है, उसके दो कारण हैं—'स्फुटयते व्यजते वर्णैः' (जो वर्णों से व्यक्त होता है), और 'स्फुटति स्फुटीभवति अर्थः यस्मात्' (जिससे अर्थ प्रकट होता है), इस प्रकार 'स्फोट' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति बताकर वैयाकरणों ने उसकी संगति, एक तरफ 'वर्णों' से लगाई है और दूसरी तरफ अर्थ से लगाई है। 'स्फोट' जिन वर्णों से व्यक्त होता है, उनको भर्तृहरि ने 'ध्वनि' नाम दिया है —'ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः'। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में 'स्फोट' का लक्षण — 'वर्णातिरिक्तः वर्णाभिव्यङ्ग्यः अर्थप्रत्यायकः नित्यः शब्दः स्फोटः' — बताया है।

यह नित्य, निरवयव 'स्फोटतत्त्व', वेदान्त के 'ब्रह्मतत्त्व' से अभिन्न है, और वही जगत् का कारण है, ऐसा भर्तृहरि कहते हैं—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्व तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः"॥

—(वा० प० १।१)

इस रीति से वैयाकरण, 'स्फोट' के झरोखे से वेदान्त के राजभवन में प्रवेश करना चाह रहे थे।

किन्तु वेदान्तियों ने उनको अपने राजभवन में घुसने नहीं दिया। 'शब्द इति-चेत्' (ब्र० सू० १।३।२८) इत्यादि सूत्र के भाष्य में भगवत्पूज्यपाद आचार्य शङ्कर ने 'वर्णा एव तु शब्दः, इति भगवानुपवर्षः' कहकर, 'शब्द' को वर्णात्मक ही मानने वाले महान् वैयाकरण उपवर्ष के पक्ष को स्वीकार करके 'स्फोटवाद' का खण्डन किया है।

वैयाकरणों के द्वारा कल्पित 'स्फोटवाद' को मीमांसक और भामहादि आलंकारिकों ने भी नहीं माना है। भामह कहते हैं—

"शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभः कुसुममस्तीति श्रद्दध्यात् कः सचेतनः" ॥
—(भामह ६।१२)।

इस प्रकार भामह ने अपने विचारों को निर्भयता के साथ स्पष्ट किया है। 'अमुक शब्द का अमुक अर्थ है'—ऐसा संकेत बहुत प्राचीनकाल में ही लोगों ने अपने व्यवहार-सौकर्य के लिए किया था। ऐसी स्थिति में अर्थबोधार्थ एक अन्य नित्य, अविकृत, नादभिन्न आदि-आदि स्वरूप के शब्द की, और शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने की, कल्पना करना निरा भोलापन ही है। उनका कहना है—

"इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः ॥"
"स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते।
मन्दाः सांकेतिकानर्थान् मन्यन्ते पारमार्थिकान् ॥"
—(भाम० ३।१३।१४)।

स्तंभ, भित्ति, जमीन के अतिरिक्त 'गृह' जैसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वैसे ही 'वर्ण' के अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द की कोई संभावना ही नहीं है—

"न चापि समुदायिभ्यः समुदायोऽतिरिच्यते।
दारुभित्तिभुवोऽतीत्य किमन्यत् सद्म विद्यते" ॥
"तस्मात् कूटस्थ इत्येषा शाब्दी वः कल्पना वृथा"
—(भाम० ६।१०।११)।

'तर्कसङ्ग्रह' की 'भास्करोदया' नामक उपटीका के कर्ता उपहासपूर्वक पूछते हैं कि 'आप वैयाकरण लोग 'स्फोट' को 'ब्रह्म' मानते हैं, और आपके भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द के ज्ञान से 'स्वर्ग' की प्राप्ति होती है—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'। अतः यह कथन कहाँ

तक उचित है ? क्योंकि मूर्ख से लेकर विद्वानों तक सभी लोग 'निरुपाधिक विशुद्ध ब्रह्मज्ञान' से मोक्ष प्राप्ति का होना सर्वदा से सुनते आ रहे हैं। इसलिए एक कल्पित शब्द में ब्रह्म का आरोप कर उसमें मोक्ष प्राप्ति बताना कहाँ तक उचित होगा ?'

'स्फोट' को न माननेवालों के मत में 'वर्ण' ही अर्थ-प्रत्यायक होते हैं। वर्णों को अर्थप्रत्यायक मानने में स्फोटवादियों ने जिन आक्षेपों को उपस्थित किया है, वे सभी आक्षेप, स्फोटवादियों के पक्ष में भी संभव होते हैं। वर्णों से अभिव्यक्त होनेवाला 'स्फोट', क्या एक-एक वर्ण से अभिव्यक्त होता है ? अथवा वर्णसमूह से अभिव्यक्त होता है ? इन दोनों ही पक्षों में प्रदर्शित दोषों से स्फोटवादियों की मुक्तता नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में स्फोट-कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या है ? 'एक-पदत्व' की कल्पना तो 'स्फोट' को न मानने पर ही हो सकती है। 'घ् अ ट् अ' इस वर्ण समूह में 'घट' इत्याकारक 'एक पद' का जो अनुभव होता है, वह तो वृद्धव्यवहार आदि से होने वाले अर्थसंकेत के कारण होता है।

यदि यह आशंका करें कि 'रसः' पद में जो वर्णसमूह है, वही 'सरः' पद में, तथा 'नदी' में जो वर्णसमूह है, वही 'दीन' में, तथा 'राम' में जो वर्णसमूह है, वही 'मरा' पद में, जो 'कपि' में वर्णसमूह है, वही 'पिक' पद में है। यदि वर्णसमूह से ही अर्थ होता तो, प्रदर्शित जोड़ियों का कोई भिन्न अर्थ होगा ही नहीं।

किन्तु इस आक्षेप का समाधान यह है कि प्रत्येक जोड़ी में वर्णों के समान रहने पर भी उनका क्रम भिन्न है। अतः उनसे बोधित होनेवाला अर्थ भी भिन्न होता है।

मम्मटभट्टकृत अभिधा-लक्षणा के विवेचन का आधार —

मम्मटभट्ट ने अभिधा–लक्षणा का विवेचन प्रायः मुकुलभट्ट-विरचित 'अभिधा-वृत्तिमातृका' नामक ग्रन्थ के आधार पर ही किया है। मुकुलभट्ट ने 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' नामक शब्द-व्यापार को 'मुख्य' और 'लाक्षणिक' कहते हुए तदनुसार 'अर्थ' को भी 'मुख्य' और 'लक्ष्य' बताया है। शब्द के सुनते ही जिसकी प्रतीति हो उसे 'मुख्य' अर्थ और उस मुख्यार्थ का बोध होने पर उसकी सहायता से जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे 'लक्ष्य' अर्थ कहते हैं। जैसे—'गौः अनुबन्ध्यः' इस उदाहरण में 'गौः' पद से तत्काल बोधित होनेवाली 'गोत्व' जाति, 'गौः' पद का मुख्यार्थ है। यह समझने पर 'गोत्व' जाति का हनन (अनुबन्धन) करना कैसे संभव हो सकेगा ? क्योंकि 'जाति' तो अमूर्त पदार्थ है। अतः 'गौः' पद से बोधित होनेवाली 'गो' व्यक्ति 'गौः' पद का 'लक्ष्यार्थ' समझा जाता है।

द्विविध अर्थों में से जो मुख्यार्थ है, वह 'जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा' भेद

से चतुर्विध है। इस विषय पर मम्मटभट्ट ने जो विवेचन किया है, वह प्रायः मुकुल भट्ट के ही कथन का अनुवाद-मात्र है।

मुकुलभट्ट के द्वारा 'जात्यादिवाद' के सिद्धान्त की स्थापना--

वैयाकरणों के 'जात्यादिवाद' पर मीमांसकों के 'जातिवाद' का आश्रय लेकर आक्षेप और उसका निराकरण करते हुए मुकुलभट्ट ने 'जात्यादिवाद' की सिद्धान्त के रूप में स्थापना की है।

मुकुलभट्ट के अनुसार 'लक्षणा' के भेद--

(१) शुद्धा उपादानलक्षणा—

(क) 'गौः अनुबन्ध्यः'—वैदिक उदाहरण।

(ख) 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—लौकिक उदाहरण।

(२) शुद्धा लक्षण-लक्षणा—

'गङ्गायां घोषः'—लौकिक उदाहरण।

(१) शुद्धा उपचारमिश्रा अध्यारोपलक्षणा—

'आयुघृतम्'—लौकिक उदाहरण।

(२) शुद्धा उपचारमिश्रा अध्यवसानलक्षणा—

'पश्चालाः'—देशार्थक लौकिक उदाहरण।

(१) गौणोपचारमिश्रा अध्यारोपलक्षणा—

'गौर्वाहीकः'—लौकिक उदाहरण।

(२) गौणोपचारमिश्रा अध्यवसानलक्षणा—

'राजा'—ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि को लक्ष्य कर किया गया लौकिक प्रयोग।

इनका विवेचन करते हुए मुकुलभट्ट ने इनको ३ विभागों में बाँट दिया है।

(१) शुद्धा लक्षणा।

(२) अध्यारोपलक्षणा।

(३) अध्यवसानलक्षणा।

लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का अपना मत--

(१) मुकुलभट्ट के मत से उक्त तीन विभागों में से 'शुद्धा-लक्षणा' नामक प्रथम विभाग में 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों में तटस्थता अभिप्रेत है।

(२) 'अध्यारोपलक्षणा' नामक द्वितीय विभाग में 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की एक दूसरे से अदूरता (समीपता) अभिप्रेत है।

(३) 'अध्यवसानलक्षणा' नामक तीसरे विभाग में 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की अत्यधिक समीपता अभिप्रेत है। अथवा वैसी समीपता अभिप्रेत न रहने पर भी केवल 'रूढि' से भी 'अध्यवसान' का संभव हो सकता है।

मुकुलभट्ट कहते हैं कि 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग में जब 'गङ्गाप्रवाह' और गङ्गातट' दोनों का केवल 'सम्बन्ध' मात्र ही अभिप्रेत रहेगा (यानी 'न यमुनायां घोषः' यह अर्थ निष्पन्न होता होगा) तब यह प्रयोग 'शुद्धा लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण कहलायेगा ।

'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग के समय वक्ता की विवक्षा वाच्यार्थ (गङ्गाप्रवाह) से लक्ष्यार्थ (तट) की अदूरता (समीपता) प्रकाशित करने में हो, तो 'गङ्गातटे घोषः' यही कहना होगा। तब इसे 'शुद्धा अध्यारोपलक्षणा' का उदाहरण माना जायगा। और यदि 'गङ्गायां घोषः' कहने कर वक्ता की विवक्षा 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की अत्यधिक समीपता प्रकट करने में हो तो इस प्रयोग को 'अध्यवसाना लक्षणा' का उदाहरण कहना होगा।

गौणोपचारमिश्र अध्यारोपलक्षणा का उदाहरण—'गौर्वाहीकः' है। यहाँ पर प्रयोक्ता को 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की एक-दूसरे से 'अदूरता' (समीपता) अभिप्रेत है। किन्तु यहाँ पर वक्ता को यदि 'वाच्य' और 'लक्ष्य अर्थों की अत्यन्त समीपता विवक्षित रहे तो 'गौरेवायं साक्षात्' इस 'अध्यवसानलक्षणा' का प्रयोग करना होगा।

यहाँ पर यह समझना भी आवश्यक है कि 'अध्यवसानलक्षणा में अत्यन्त समीपता की विवक्षा सर्वत्र रहती ही है, यह नियम नहीं है। अत्यन्त समीपता का भाव विवक्षित न रहने पर भी केवल 'रूढि' के बल पर भी 'पञ्चालाः' 'राजा' इस प्रकार के अध्यवसानगर्भित प्रयोग हुआ करते हैं। 'पञ्चालाः' का वाच्य अर्थ 'पञ्चाल राजा की सन्तान' होता है। किन्तु इस समय प्रयोक्ता ने 'पञ्चालाः' कहकर 'पञ्चालराज के सन्तानों की निवासभूमि' इस अर्थ को विवक्षित किया है। इसलिए 'पञ्चालाः' यह उदाहरण 'रूढिमूलक शुद्धा अध्यवसाना लक्षणा' का है। उसी प्रकार 'राजा' का वाच्य-अर्थ 'क्षत्रिय' है, किन्तु जब राजोचित प्रजारक्षण, रञ्जनादि गुणों के कारण किसी ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रादि में 'राजा' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह प्रयोग 'रूढिमूलक' 'गौणी अध्यवसाना लक्षणा' का उदाहरण कहा जाता है।

शब्द के सुनते ही उसके वाच्य (मुख्य) अर्थ की जैसे नियमतः प्रतीति होती है, वैसे 'लक्ष्य' अर्थ की नियमेन प्रतीति नहीं होती। 'लक्ष्य अर्थ' की प्रतीति होने के लिए 'वक्ता, वाक्य और वाच्य' के वैशिष्ट्य की अपेक्षा करनी पड़ती है। इस वैशिष्ट्य की अपेक्षा करके किये जानेवाले नवीन लाक्षणिक प्रयोग, वृद्धव्यवहार में होने वाले प्रयोगों की समानता पर आधारित रहते हैं। अन्यथा किसी भी शब्द का कोई भी 'लक्ष्य' अर्थ कहा जा सकेगा।

इस सम्पूर्ण लक्षणाप्रपञ्च का स्थान, 'अभिहितान्वयवाद' में 'वाच्यार्थ' के पश्चात् और 'अन्विताभिधानवाद' में 'वाच्यार्थ' के पूर्व तथा 'समुच्चयवाद' में 'वाच्यार्थ' के अनन्तर किन्तु 'वाक्यार्थ' के पूर्व रहता है। 'सखण्डवाक्यार्थवाद' में तो लक्षणा का कोई स्थान ही नहीं है।

इसी सन्दर्भ में मुकुलभट्ट ने 'मुख्य-लक्ष्य' सम्बन्धों का परिगणन करनेवाली भर्तृमित्र की एक कारिका का उद्धरण देकर उसका सोदाहरण विवेचन किया है। तदनन्तर उसने लक्षणा के विशिष्ट 'मुख्य-लक्ष्य-सम्बन्धों' को और लक्षणा प्रकारों की दृष्टि से 'वाच्यार्थ' का क्वचित् 'अत्यन्त तिरस्कृत' रहना, क्वचित् 'विवक्षित' या 'अविवक्षित' रहना बताया है और साथ ही साथ यह कह दिया है कि ध्वनिकार के द्वारा प्रतिपादित ध्वनिभेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के प्रपञ्च में ही हो जाता है।

मम्मटभट्ट के द्वारा मुकुलभट्ट की मान्यताओं का खण्डन—

मम्मटभट्ट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में 'लक्षणा' का विवेचन करते हुए मुकुलभट्ट की मान्यता के खण्डनार्थ 'व्यञ्जना' का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर दिया है। मुकुलभट्ट ने 'लक्षणा' के होने में जिन तीन कारणों को बताया है, उनमें से 'प्रयोजन' रूप तृतीय कारण ही 'व्यञ्जना' की स्वतन्त्रसिद्धि कराने में पर्याप्त है।

लक्षणा का 'प्रयोजन' और लक्षणा का 'विषय'—दोनों को अभिन्न (एक) मान लेना संभव नहीं है, क्योंकि 'विषय' का अस्तित्व लक्षणा-व्यापार के पूर्व से ही रहता है और 'प्रयोजन' की सिद्धि, लक्षणाव्यापार के पश्चात् होती है। अतः जिसे 'लक्षणा' मान्य है, उसे 'व्यञ्जना' को स्वीकार तो करना ही होगा।

किञ्च मुकुलभट्ट ने 'लक्षणा' के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वस्तुतः वे 'व्यञ्जना' के ही उदाहरण हैं। किन्तु जहाँ लक्षणा 'प्रयोजनवती' होगी, वहाँ 'प्रयोजन' का बोध करानेवाला व्यापार 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। अतः 'व्यञ्जना' को अवश्य मानना ही होगा।

इसके अतिरिक्त 'लक्षणा' के सन्दर्भ में मुकुलभट्ट के अन्य मतों का भी खण्डन मम्मटभट्ट ने किया है। जैसे—'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—इन दो उदाहरणों में मुकुलभट्ट ने 'उपादानलक्षणा' बताई है।

उस पर मम्मटभट्ट का कहना है कि मुकुलभट्ट के द्वारा प्रदर्शित किये गये दोनों उदाहरण 'उपादानलक्षणा' के नहीं हो सकते, अपितु वे दोनों उदाहरण 'अर्थापत्ति' के हैं। क्योंकि मुकुलभट्ट तो 'उपादानलक्षणा' और 'लक्षणलक्षणा' में 'वाच्य और लक्ष्य अर्थों' की 'तटस्थता' मानते हैं। किन्तु 'तटस्थता' मानने पर 'लक्षणा' के प्रयोजन का बाध ही हो जायगा। अतः उनका 'तटस्थता' का सिद्धान्त उपादेय नहीं है।

मम्मटभट्ट की गुणग्राहिता--

मुकुलभट्ट के खण्डनीय अंशों को छोड़कर उनके अन्यान्य अंशों के विवेचन का अनुसरण मम्मटभट्ट ने किया ही है। इससे स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट के साथ मम्मट-भट्ट का द्वेष नहीं था। उन्होंने किसी द्वेषभावना से उनका खण्डन नहीं किया। मम्मटभट्ट के द्वारा प्रतिपादित 'उपादान लक्षणा' आदि लक्षणा के प्रकारों का दर्शन मुकुलभट्ट के ही ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। मीमांसादि शास्त्रों के प्राचीन 'लक्षणा प्रकारों' से इन प्रकारों की सङ्गति लगाने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन 'जहल्लक्षणा' और 'अजहल्लक्षणा' को ही क्रमशः नवीन 'उपादान लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' के रूप में उपस्थित किया जा रहा है। 'प्राचीन गौणीवृत्ति' का ही रूपान्तर नवीन —'गौण अध्यारोपलक्षणा' और 'गौण अध्यवसान लक्षणा' के रूप में किया गया है। अन्तिम दो प्रकार के शुद्धभेदों से मिलते-जुलते भेद, प्राचीन 'लक्षणाप्रपञ्च में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। प्राचीन व्यवस्था में मान्य 'जहदज-हल्लक्षणा' इस नवीन व्यवस्था में नहीं दिखाई दे रही है। नवीनों ने उसका समावेश 'उपादान-लक्षणा' में कर दिया है।

लक्षणा की विशेषता--

मम्मटभट्ट ने 'लक्षणा' का लक्षण करते हुए—'आरोपिता क्रिया' शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे उसकी विशेषता अवगत होती है। शब्द के 'अभिधाव्यापार' के समान 'लक्षणाव्यापार' स्वाभाविक नहीं है, किन्तु 'आरोपित' (कृत्रिम) है। 'संकेत' के बिना तो 'शब्द' में 'शब्दत्व' ही नहीं रहता। उस पर अधिष्ठित रहने वाला 'अभिधाव्यापार' तो 'शब्द' का स्वाभाविक व्यापार है। और इसके विपरीत लक्षणाव्यापार, रूढि अथवा प्रयोजन के अनुरोध से वक्ता के द्वारा 'शब्द' के साथ जोड़ दिया जाता है। इसीलिए उसे 'आरोपित' (आगन्तुक) कहा गया है।

वस्तुतः 'लक्षणाव्यापार' वाच्यार्थ का है, क्योंकि 'वाच्यार्थ' ही 'लक्ष्यार्थ' का बोध कराता है। तथापि उसे 'शब्द' का व्यापार माना जाता है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने 'आरोपिता क्रिया' शब्दों का प्रयोग किया है, ऐसा कतिपय व्याख्याकारों का कहना है।

कतिपय व्याख्याकारों की उक्त व्याख्या का अनौचित्य—

कतिपय व्याख्याकारों की निर्दिष्ट व्याख्या से 'लाक्षणिक' यह नाम वस्तुतः 'वाच्यार्थ' का ही प्रतीत होता है। तथापि उसे 'शब्द' का हठात् मान लिया गया है, यह कहना होगा। किन्तु यह पक्ष, मम्मटभट्ट को यदि मान्य होता तो 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते' इस उक्ति के समान वे 'वाच्यार्थस्य लाक्षणि-कत्वमपीष्यते' कहते, अर्थात् 'वाच्यार्थं' को लाक्षणिक भी बताते। किन्तु उन्होंने कहीं

भी वैसा नहीं कहा है। इसलिए 'लक्षणा' को 'शब्द का व्यापार' हठात् माना गया है, यह कहना उचित नहीं है।

व्याख्याकार गोविन्दठक्कुर ने 'सान्तरार्थनिष्ठः' का अर्थ, 'लक्ष्यार्थविषयकः' किया है, जो उचित प्रतीत होता है। 'शब्द' का 'वाच्यार्थ' उसका सङ्केतित अर्थ ही होता है। उस 'वाच्यार्थ' से 'लक्ष्यार्थ' की भिन्नता बताने के लिए ही 'लक्ष्यार्थ' को 'सान्तरार्थ' कहा गया है। 'अन्तर' का अर्थ होता है कि दो पदार्थों में दैशिक अथवा कालिक अवकाश। उस अवकाश (अन्तर) से जो युक्त होता है, उसे 'सान्तर' कहते हैं। यह 'अन्तर' पद, यहाँ पर 'शब्द' और 'लक्ष्यार्थ' दोनों के 'कालिक अन्तर' को बता रहा है। शब्द का उच्चारण करने पर 'वाच्यार्थ' के समान तुरन्त बाद 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति नहीं होती है; अपितु कुछ अन्तर (व्यवधान) के बाद ही वह होती है। कितने अन्तर के बाद ? यह जिज्ञासा होने पर 'वाच्यार्थ' और उसके साथ रहने वाले 'अन्यार्थ-सम्बन्ध' की प्रतीति होने में 'आवश्यक अन्तर' के बाद ही श्रोता को 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति हो पाती है। इसलिए उसे 'सान्तर अर्थ' कहा गया है।

किन्तु इसके विपरीत, 'शब्द' का उच्चारण करने के बाद 'वाच्यार्थ' की प्रतीति तुरन्त होती है। इसलिए उस 'वाच्यार्थ' को 'निरन्तर-अर्थ' कहा जाता है। 'वाच्यार्थ' और 'लक्ष्यार्थ' के लिए 'निरन्तरार्थ' और 'सान्तरार्थ' संज्ञाओं का प्रयोग, प्रथमतः मुकुलभट्ट ने ही किया है। मम्मटभट्ट ने 'अभिधा' और 'लक्षणा' का विवेचन, प्रायः मुकुलभट्ट के ग्रन्थ के अनुसार ही किया है, क्योंकि उनकी निर्मित परिभाषाओं की समानता को देखने से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

ध्वनि के प्रकार--

प्रथम उल्लास में 'ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'चित्र' के नाम से काव्य के तीन प्रकार बताये थे। किन्तु उनका सविस्तर निरूपण चतुर्थ उल्लास से आरम्भ होता है। चतुर्थ उल्लास में 'ध्वनि' के अनेक प्रकारों को बताया गया है। 'ध्वनि' में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की जो प्रधानता रहती है, उसका सम्भव दो प्रकार से हो सकता है--(१) जब काव्य के वाच्यार्थ का बोध कराने की कवि की इच्छा ही न हो। अथवा (२) काव्य के वाच्यार्थ का बोध कराने की कवि की इच्छा रहने पर भी वह वाच्यार्थ, जब 'व्यङ्ग्यार्थ' का उपकारक (सहायक) हो। इनमें से प्रथम प्रकार को 'अविवक्षितवाच्य' और द्वितीय प्रकार को, 'विवक्षित-अन्यपरवाच्य' कहा गया है। पहिले प्रकार में 'वाच्यार्थ' या तो 'व्यङ्ग्यार्थ' में परिणत हो जाता है, अथवा सर्वथैव वह त्याज्य रहता है। इसमें विपरीत-लक्षणा के सहारे 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रवृत्त होता है।

'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के भी दो प्रकार हैं—(१) जिसमें व्यङ्ग्यार्थ के 'व्यञ्जक कारण' और उनसे व्यक्त होनेवाला 'व्यङ्ग्यार्थ कार्य' दोनों के पौर्वापर्य (क्रम) का ज्ञान नहीं हो पाता, यानी कार्य-कारणों के पूर्वापर क्रम का बोध हुए बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तत्काल होती है। यह एक प्रकार है।

(२) जहाँ 'व्यञ्जक' और 'व्यङ्ग्य' दोनों का पौर्वापर्य लक्षित होता है—यह दूसरा प्रकार है।

उनमें से पहिले का क्षेत्र 'रसादि' व्यङ्ग्य अर्थ है, उसी को उसके स्वभावानुरूप 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम से कहा गया है।

और दूसरे को 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' के नाम से कहा गया है। इसके तीन प्रकार (भेद) किये गये हैं—

(१) केवल शब्दशक्ति के (अभिधा के) आश्रय से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(२) केवल अर्थशक्ति के (सन्दर्भादिसापेक्ष वाक्यार्थ के) आश्रय से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(३) शब्दशक्ति और अर्थशक्ति दोनों के (उभय) आश्रय से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अनेकार्थक शब्दों के आधार पर अथवा भिन्नसन्धिच्छेदों के कारण भिन्नार्थक सुसंगत शब्दों को प्रकट करनेवाले वर्णसमूह के आधार पर वे जहाँ प्राकरणिक (प्रकृत) अर्थ से भिन्न अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थ को ध्वनित करते हैं, उसे 'शब्दशक्त्युद्भव' ध्वनि कहते हैं-यह एक प्रकार है। उसका पर्यवसान यदि अलङ्कार में होता हो तो उसे अलङ्कारध्वनि, और यदि वस्तु में पर्यवसान होता हो तो उसे वस्तुध्वनि कहते हैं।

'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि' के बारह प्रकार होते हैं—यह काव्यार्थ 'लोकप्रसिद्ध' रहने पर उसे 'स्वतःसंभवी' कहते हैं। और लोकप्रसिद्ध न रहनेपर भी केवल कवि-कल्पितमात्र रहने पर उसे 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं। तथा कविनिर्मित नायक, नायिका के द्वारा कहलाने पर इसे 'कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध कहते हैं। ये तीनों 'अलङ्कारप्रधान' अथवा 'वस्तुप्रधान' (रसादिरूप अथवा अलङ्काररूप न रहने वाला अर्थ) होने पर छह प्रकार (३×२) के हो जाते हैं। इन्हीं को 'अलंकार ध्वनि' और 'वस्तुध्वनि' कहते है। ये छहों परस्पर एक-दूसरे को ध्वनित करते हैं, तब द्विगुणित (६×२) बारह हो जाते हैं, और जो अंशतः 'शब्दशक्ति' तथा अंशतः 'अर्थशक्ति' के आश्रय से प्रकट होता है, उसे 'उभयशक्त्युद्भव ध्वनि' कहते हैं। यह एक ही प्रकार का होता है। सब मिलकर 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' के सोलह

भेद (प्रकार) होते हैं। इनमें 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि के दो भेदों को मिला देने पर उसके अठारह भेद हो जाते हैं।

इनमें से कुछ भेद तो केवल वाक्य में; और कुछ भेद पदों में तथा वाक्यों में, कुछ भेद पद, वाक्य, प्रबन्ध में; और कुछ वर्णरचना, पदैकदेश, पद, वाक्य, प्रबन्ध में उपलब्ध होते हैं। उन सबके कुल मिलाकर इक्यावन भेद सम्पन्न होते हैं। ये इक्यावन भेद, जैसे शुद्ध स्वरूप में होते हैं, वैसे ही संकर और संसृष्टि के रूप में भी होते हैं। यहाँ पर 'संकर' और 'संसृष्टि' नाम के अलंकारों से तात्पर्य नहीं है, अपितु उनके मूलभूत मिश्रण-तत्त्वों से तात्पर्य है। 'संकर-त्रिविध' (अंगांगिसंकर, सन्देहसंकर और एकव्यंजकानुप्रवेशसंकर) और एक प्रकार की 'संसृष्टि'। इसलिए संकर में (५१×३ =) १५३ और संसृष्टि में ५१ जोड़ने पर 'संकर-संसृष्टि' के कुल २०४ भेद हो जाते हैं। इनका शुद्ध भेदों के साथ मिश्रण करने पर (५१×२०४ = १०४०४) दसहजार चार सौ चार मिश्र भेद होते हैं। उनमें शुद्ध भेदों की संख्या इक्यावन मिला देने पर ध्वनि के कुल भेद दस हजार चार सौ पचपन (१४५५) हो जाते हैं। इस प्रकार ध्वनिभेदों की यह गणना मम्मटभट्ट ने स्वयं की है। उनके दिग्दर्शनार्थ प्रायः नब्बे उदाहरणों को भी प्रदर्शित किया है। उसमें से प्रायः पच्चीस उदाहरण 'रसादिध्वनि' के हैं। इससे ध्वनिकाव्य की व्यापकता और मम्मटभट्ट की सूक्ष्म-विवेचन शक्ति का अनुभव हो पाता है, ग्रन्थकार ने रसादिध्वनि को एकविध ही बताया है, उसके अनेक भेद नहीं किये हैं। क्योंकि उसके भेदों का विश्लेषण करने लग जाँय तो असंख्य भेद हो सकते हैं। इसलिए उसे एकविध ही मान लिया है। उत्तम काव्य के निर्माण करने में कवि को वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक सर्वत्र कितनी सावधानी रखनी पड़ती है, यह स्पष्ट हो जाता है।

रस की परिभाषा—

मम्मटभट्ट ने रसादिकों का अन्तर्भाव, उपर्युक्त काव्य भेदों में से 'अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य' नामक भेद में किया है। मम्मटभट्ट ने स्वसम्मत रसप्रक्रिया का निरूपण अभिनवगुप्तपाद की अभिनवभारती के आधार पर संक्षेप में किया है।

व्यावहारिक जीवन में जो चित्तवृत्तियाँ (प्रेम, शोक, भय आदि) स्थिर रूप में रहती हैं, उनका अनुभव सभी को हुआ करता है। उन चित्तवृत्तियों का 'उदय' और 'परिपोष' कतिपय विशिष्ट कारण तथा उनके सहकारी कारणों से होता है, तब उन चित्तवृत्तियों से कुछ कार्य होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी को किसी स्त्री के प्रति प्रेम होने लगा, और विशिष्ट परिस्थिति में वह परिपुष्ट होने लगा, उस कारण वह अपने प्रियतमा को देखकर स्मित, मधुर-भाषण आदि करने लगता है। यह प्रेमभावना उसके मन में दृढ़ होने लगती है, और वह उस प्रियतमा की प्राप्ति

में–आशा, निराशा, चिन्ता और यदि कोई प्रतिस्पर्धी हो तो मत्सर इत्यादि तात्कालिक उत्पत्ति-निवृत्तिशील चित्तवृत्तियों से–उसकी प्रेमभावना अत्यधिक बढ़ती जाती है। प्रेमी के मन में प्रेमभावना का उदय होने से 'मुख्यकारण' 'प्रेमिका' (प्रियतमा स्त्री) और विशिष्ट परिस्थिति है। आशा, निराशा आदि तात्कालिक वृत्तियाँ 'सहकारी कारण' हैं। एवं स्मित, मधुरभाषण इत्यादि उस प्रेमभावना के 'कार्य' होते हैं। इस प्रकार की स्थिर रूप में रहनेवाली 'प्रेम' आदि भावनाएँ जब नाट्य (दृश्य-श्रव्य), अथवा काव्य (श्रव्य) में चित्रित की जाती हैं, तब उन्हें 'स्थायीभाव' और उन भावनाओं के मुख्यकारणों को 'विभाव' और सहकारीकारणों को 'व्यभिचारीभाव' (संचारीभाव) तथा उन स्थिरभावनारूप स्थायीभावों के कार्यों को 'अनुभाव' नाम दिया जाता है। अर्थात् 'विभाव, व्यभिचारीभाव, अनुभाव'—ये संज्ञाएँ काव्य-नाटक में व्यवहृत होती हैं, ये उनकी पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं।

'विभाव' दो प्रकार के होते हैं—एक 'आलम्बन' और दूसरा 'उद्दीपन'। (१) मनोगत स्थिर भावना का जो 'विषय' रहता है, उसे 'आलम्बन-विभाव', (२) और उस स्थिरभावना का उद्दीपन करने वालें को 'उद्दीपनविभाव' कहते हैं। इन पारिभाषिक संज्ञाओं के सहारे 'रस' का स्वरूप बताया जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव–इनके संयोग से व्यक्त होनेवाले स्थायीभाव को ही 'रस' कहा गया है।

रस की चार व्याख्याएँ

मम्मटभट्ट के द्वारा बताये गये इस रस-स्वरूप का मूल आधार भरत का 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह सूत्र है। इसी को 'रससूत्र' कहते हैं। इस रससूत्र की व्याख्या अनेक प्रकार से व्याख्याकारों ने की है। इस प्रकार की चार व्याख्याएँ आज उपलब्ध होती हैं। उनमें पूर्व-पूर्व व्याख्याओं में दोष बताकर **अभिनवगुप्तपाद का** चतुर्थ मत सिद्धान्त के रूप में बताया गया है।

(१) मम्मटभट्ट के द्वारा उल्लिखित चार व्याख्याओं में से **प्रथम व्याख्या लोल्लट भट्ट की है**—'विभावैः ललनोद्यानादिभिः..................इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।' यहाँ 'प्रभृतयः' कहकर 'दण्डी' आदि प्राचीन आचार्यों को बताया गया है–ऐसा अभिनवभारती (पृ. २७४) से अवगत होता है। भट्टलोल्लट के मत में––'विभावों' से उत्पन्न तथा 'अनुभावों' से प्रतीतियोग्य और 'व्यभिचारीभावों' से पुष्ट होने वाले रति आदि 'स्थायीभाव' को ही 'रस' कहा गया है। इस 'रस' का अधिष्ठान 'राम' इत्यादि व्यक्ति हैं। अर्थात् अभिनेय 'राम' आदि व्यक्ति, 'रस' के मुख्य अधिष्ठान हैं, और अभिनेता 'नट' आदि, 'रस' के गौण (अमुख्य) अधिष्ठान कहे गये हैं।

(२) **द्वितीय व्याख्या शंकुक की है**—"राम एवायम्,' 'अयमेव रामः' इति, ...चर्व्यमाणः, रसः—इति शङ्कुकः।" आचार्य शङ्कुक के मत में भित्ति पर या कागज आदि पर चित्रित 'अश्व' को अश्व के रूप में ही जैसे जाना जाता है, वैसे ही

'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को भी प्रेक्षक लोग 'यह राम है' कहते हैं। प्रेक्षकों को 'नट' में होने वाला 'राम' का ज्ञान, चारों प्रकार के ज्ञानों (साम्यक्ज्ञान, मिथ्या-ज्ञान, संशयज्ञान, सादृश्यज्ञान) से भिन्न ही है। 'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को देखकर प्रेक्षकों को 'यह राम ही है, यही राम है' इस प्रकार का दृढ-दृढतर द्विबंद्ध ज्ञान यदि हुआ होता; तो उसे 'सम्यक्-ज्ञान' कहा गया होता, क्योंकि द्विबंद्ध हुए निश्चय से सामने दिखाई देने वाले व्यक्ति में 'रामत्व' के न रहने की और उसी-तरह सामने दिखाई देनेवाले व्यक्ति से भिन्न (अन्य) व्यक्ति में 'रामत्व' के रहने की व्यावृत्ति की जा रही है, यानी 'अयोगव्यवच्छेद' और 'अन्ययोगव्यवच्छेद' किया जा रहा है। नाटक देखने के पश्चात् 'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को देखकर 'यह राम नहीं हैं'—ऐसा बाधक ज्ञान यदि होता हो तो पूर्व हुए 'यह राम है' इस ज्ञान को 'मिथ्या-ज्ञान' कहा गया होता। नाटक देखते समय 'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को देखते हुए प्रेक्षकों को 'यह राम है, या नहीं' ऐसा यदि प्रतीत होता रहता तो उस प्रतीति (ज्ञान) को 'संशय-ज्ञान' कहा गया होता, और 'नट' को देखकर यदि 'यह राम के समान हैं' इस प्रकार का ज्ञान हुआ होता तो उस ज्ञान को 'सादृश्य-ज्ञान' कहा गया होता। अतः उक्त चारों प्रकार के ज्ञानों में से किसी भी प्रकार के ज्ञान में इन पुरोवर्ती नट को देखकर हो रहे ज्ञान को अन्तर्गत न कर पाने से दृश्यमान 'नट' का 'चित्रतुरगन्याय' से 'राम' के रूप में ज्ञान होता है। नाटक करते समय 'नट' में वस्तुतः अविद्यमान 'रति' आदि स्थायीभावों की प्रतीति प्रेक्षकों को जो होती है, वह 'अनुमान' से होती है। इस अनुमान में 'नट' को पक्ष, और 'स्थायीभाव' को साध्य, तथा 'विभावादिसामग्री' को हेतु (साधन) कहा जाता है।। प्रस्तुत 'साध्य' का विभावादिसामग्री के साथ 'गम्य-गमक' भाव के रूप में जो सम्बन्ध है, वही 'रससूत्र' में बताया गया 'संयोग' है। यह विभावादि जो साधन-भूत सामग्री है (स्थायीभाव के कारण, कार्य और सहकारी कारण), वह वस्तुतः कृत्रिम है, तथापि उस कृत्रिमता की प्रतीति नहीं हो पाती, क्योंकि 'नट' के द्वारा किया गया काव्यानुसंधान-अभिनय-शिक्षा, और स्वयं का परिश्रम इतना अधिक रहता है, कि फलस्वरूप वह उस विभावादि सामग्री को इतनी सफाई से प्रकट करता रहता है, जो प्रेक्षकों को वास्तविक-सा प्रतीत होता है। इस रीति से नट में 'रति' आदि स्थायिभावों की प्रतीति अनु-मान से होती है। तथापि अनुमान से प्रतीत होनेवाली धूमानुमित अग्नि आदि से एकदम भिन्न ये विभावादि पदार्थ हैं, क्योंकि ये अपने स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य रहते हैं। धूम से अनुमित होने वाला अग्नि, वैसा आस्वाद-योग्य नहीं हो पाता है। आस्वादयोग्य रहने से ही वे विभावादि पदार्थ, प्रेक्षकों की इच्छाबल-

जन्य चर्वणा के विषय हो जाते हैं और चर्वणा के विषय बन जाने से उन्हें 'रस' की संज्ञा दी जाती है।

(३) तृतीय व्याख्या भट्टनायक की है—"न ताटस्थ्येन न आत्मगतत्वेन रसः प्रतीयते······भोगेन भुज्यते—इति भट्टनायकः"। इनका कहना है कि 'रस' की उत्पत्ति न असली राम में, और न नकली राम में, किंवा प्रेक्षकसामाजिक में भी नहीं होती है, तथा अनुमान से या व्यञ्जना से भी उस 'रस' की प्रतीति नहीं होती है। अपितु काव्य में या नाट्य में 'भावकत्व' नाम के व्यापार से 'स्थायी भाव' ही एक विशिष्ट स्थिति को प्राप्त होकर 'भोजकत्व' नामक व्यापार के द्वारा प्रेक्षक सामाजिकों के आस्वाद का विषय (योग्य) बन जाता है। यह 'भावकत्व व्यापार' वह शक्ति है जो विभावादि सामग्री में रहने वाले व्यक्तिगत अंश को हटा देती है, और उसे सर्व-साधारण बना देती है। यह 'भावकत्व शक्ति' शब्दार्थ-बोधक 'अभिधाशक्ति' से भिन्न (पृथक्) है। तथा 'भोजकत्वशक्ति' (भोजकत्वव्यापार), प्रकाशमय और आनन्दमय चेतना (चैतन्य) का स्फुरणरूप है, क्योंकि इससे सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है, जिससे 'रजस्' और 'तमस्' नामके अवशिष्ट दो गुण अभिभूत हो जाते हैं।

(४) चतुर्थ व्याख्या श्रीमदभिनवगुप्तपाद की है—'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमाने अभ्यासपाटववतां·· शृङ्गारादिको रसः'। इनका कहना है कि (प्रत्येक व्यक्ति के मन में) व्यावहारिक अनुभव से और 'प्रमदा' आदि कारणों के अनुरोध से उत्पन्न होनेवाले 'रति' आदि स्थायी भावों को पहिचानने का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को रहता है। ऐसे 'अभ्यस्त' सामाजिक जब किसी नाटक को देखते हैं या किसी काव्य को पढ़ते–सुनते हैं, तब ये ही 'प्रमदा' आदि सांसारिक पदार्थ, 'विभावन, अनुभावन, व्यभिचारण' इन विशिष्ट व्यापारों से युक्त होकर क्रमशः 'विभाव, अनुभाव, व्यभि-चारीभाव' इन अलौकिक संज्ञाओं से पहिचाने जाते हैं और 'ये विभावादि केवल मेरे ही हैं' या 'केवल शत्रु के ही हैं', या 'केवल तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये केवल मेरे ही नहीं हैं' या 'केवल शत्रुके ही नहीं हैं' या 'केवल तटस्थ के ही नहीं हैं'—इस प्रकार उन विभावादिकों का विशिष्ट-व्यक्तिगत सम्बन्ध मानने या न मानने में किसी निश्चित प्रमाण (विनिगमक) के न होने से उन विभावादिकों की 'सर्वसाधारण' रूप से प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार 'साधारणीकृत' हुए ये 'विभावादि' पदार्थ ही प्रेक्षक सामाजिक पाठक आदि लोगों के मन में संस्कार (सूक्ष्म) रूप से रहनेवाले 'रति' आदि स्थायीभावों को प्रकट (अभिव्यक्त) किया करते हैं।

ये अभिव्यक्त होनेवाले 'स्थायी भाव', तत्तत् सामाजिकों में मर्यादित रहने पर भी विभावादिकों के साधारणीकरण (सर्वसाधारण रूप) के कारण उनके मर्यादित (संकुचित) रूप का भंग हो जाता है। अन्य विषयों का ज्ञान भी लुप्त हो जाता

है, यहाँ तक कि अपने व्यक्तित्व की भी सुध-बुध नहीं रहती है। ये अभिव्यक्त हुए स्थायीभाव, अमर्यादित स्वरूप के (व्यापक रूप के) प्रतीत होने लगते हैं और सभी प्रेक्षकों को उनकी (स्थायी भावों की) समान रूप से अनुभूति होने लगती है—जैसे प्रत्येक व्यक्ति का आकार उसके स्वयं से अभिन्न रहता है, उसी तरह वे स्थायीभाव भी उन सामाजिकों से अभिन्न रहते हैं, तथापि भिन्न की तरह उन सामाजिकों की प्रतीति के विषय बन जाते हैं। इन प्रतीयमान होने वाले 'स्थायी भावों' का आस्वाद वे सामाजिक लिया करते हैं, और तब उन्हें 'श्रृङ्गार' आदि इस शब्द से कहा जाता है। जैसे नीम्बू, कालीमिर्च, लाइची, शर्करा (चीनी), केशर आदि का मिश्रण करके एक शरबत तैयार किया जाता है। उसमें मिश्रित प्रत्येक वस्तु के पृथक्-पृथक् स्वाद की अपेक्षा उस शरबत का एक विलक्षण स्वाद निष्पन्न होता है. उसी तरह 'विभावादि सामग्री' और 'स्थायी भाव' के संयोग (सम्पर्क) से 'रस' की निष्पत्ति होती है। उसका आस्वादन (चर्वणा) ही 'रस' का जीवित (जीवातुभूत प्राण) है। उस जीवित का और विभावादि का काल समान ही रहता है, अर्थात् जब तक प्रेक्षकों के सामने विभावादि सामग्री उपस्थित रहती है, तभी तक उन्हें 'रस' की प्रतीति (अनुभव) होती रहती है। 'विभावादि' सामग्रीसहित 'स्थायी भाव' से जिस समय रस की अभिव्यक्ति होती है, उस समय तत्क्षण वह, अन्य समस्त ज्ञेय विषयों को मानो भुला देता है। तथा अलौकिक चमत्कार (आनन्द) का निर्माण कर मानो ब्रह्मसाक्षात्कार का ही अनुभव करा देता है। ऐसा लगता है मानो सामने वह नाच रहा है, हृदय में मानो घुसा जा रहा है, अंग अंग में मानो प्रविष्ट-सा हो रहा है, यह अवस्था जिस समय हो जाती है, उसी को 'रस की अनुभूति' कहते हैं।

विभावादि सामग्री से रस की निष्पत्ति होने पर भी उसे विभावादि सामग्री का 'कार्य' नहीं कह सकते। यदि वह विभावादि सामग्री का 'कार्य' होता, तो विभावादि के नष्ट (दृष्ट न) होने पर भी उसकी (रस की) प्रतीति (आस्वाद) होती रहती। किन्तु वैसी प्रतीति (अनुभव) नहीं होती है। अतः विभावादि सामग्री को उस (रस) का निमित्तकारण (हेतु) नहीं कह सकते। यही **मम्मटभट्टाभिमत सिद्धान्ततः स्वीकृत रस की व्याख्या एवं परिभाषा भी है।**

रस की अलौकिकता—

प्रेक्षकों के रग-रग में प्रविष्ट होने वाले उस 'रस' को हम विभावादि सामग्री का 'कार्य' भी नहीं कह सकते। अन्यथा 'विभावादि सामग्री' के आँख ओझल हो जाने पर भी उसका (रस का) अनुभव होते रहना चाहिये था, किन्तु होता नहीं है। अच्छा हम 'विभावादि सामग्री' को 'रस' का ज्ञापक हेतु कहें, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि इस पक्ष में 'रस' को विभावादि सामग्री के पूर्व से ही सिद्ध मानना होगा। अर्थात् विभावादि सामग्री के पूर्व भी उसका अस्तित्व जानना होगा। किन्तु वैसा

मानना, अनुभव के विरुद्ध होगा। अतः विभावादि सामग्री को 'रस' का न 'कारक हेतु' कह सकते हैं और न 'ज्ञापक हेतु' ही मान सकते हैं। किसी भी कार्य (वस्तु) के प्रति दो प्रकार के ही 'हेतु' (कारण) हुआ करते हैं, 'कारक हेतु' या ज्ञापक हेतु; इनके अतिरिक्त हेतु होने का अन्य कोई प्रकार नहीं है। हेतु के उक्त दोनों प्रकारों की उपपत्ति विभावादि सामग्री में समन्वित नहीं हो रही है, फिर भी रसानुभूति में विभावादि सामग्री को कारण (हेतु) कहा जाना—यही तो उसकी अलौकिकता है। उपर्युक्त द्विविध हेतुओं की उपलब्धि तो लौकिक है। किन्तु रसानुभूति तो अलौकिक है, उनमें हेतु का लौकिक प्रकार कैसे काम करेगा ? अतः रसानुभूति और विभावादि सामग्री दोनों में जो हेतु—हेतुमद्भाव है, उसे अलौकिक ही कहना होगा। फिर भी "रस-चर्वणा" का प्रयोग सुनने पर स्पष्ट होता है कि 'चर्वणा क्रिया उत्पन्न होती है, अतः उसे 'कार्य' कहना ही होगा, तब उसके साहचर्य से 'रस' को भी लक्षणावृत्ति के द्वारा (उपचार से) 'कार्य' कह सकते हैं, उसी तरह 'लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञान' तथा अपरिपक्व योगी (युञ्जान योगी) का 'इन्द्रिय-निरपेक्ष' ज्ञान और परिपक्व योगी (युक्त योगी) का एकाग्र-स्वविक्रान्त ज्ञान, इन त्रिविध ज्ञानों से भी विलक्षण अलौकिक (लोकोत्तर) ज्ञान (संवित्) का विषय होने से उस 'रस' को 'ज्ञाप्य' (ज्ञेय) भी कह सकते हैं। उसी तरह उस रसानुभूति को 'निर्विकल्प का प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' उसी को कहा जाता है, जो 'निष्प्रकारक' होता है, किन्तु रसानुभूति में तो 'विभावादि सामग्री' का परामर्श होता है। उसी तरह उस 'रसानुभूति' को 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'चर्वणा' का विषय होने वाला जो 'अलौकिक आनन्दरूप रस' है, वह तो स्वयं (स्वतः) ही सिद्ध है, अर्थात् स्वयं के संवेदन से ही सिद्ध है। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो 'अनुव्यवसाय' (तद्विषयक अन्यज्ञान) पर निर्भर होता है। एवं च 'रसानुभूति' को न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और न सविकल्पक प्रत्यक्ष ही कह सकते हैं। फिर भी उसे 'निर्विकल्पक नहीं है' कहने पर अर्थात् 'सविकल्पक है' कहने का प्रसंग स्वरसतः प्राप्त होता है; तथा 'सविकल्पक नहीं है' कहने पर अर्थात् 'निर्विकल्पक है' कहने का प्रसंग स्वरसतः प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उसको (रसानुभूति को) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं। यही इसकी अलौकिकता का बोधक है। अतः कोई विरोध नहीं है।

रसादिध्वनि का प्रपञ्च—

रसादिध्वनि के प्रपञ्च में १-शृङ्गार (संभोगशृङ्गार और विप्रलंभशृङ्गार) २—हास्य, ३—करुण, ४—रौद्र, ५-वीर, ६-भयानक, ७—बीभत्स और ८-अद्भुत, इन आठ रसों की स्थिति काव्य और नाट्य में एक-सी रहती है। तथा उक्त रसों के क्रमशः आठ 'स्थायी भावों'—१—रति, २—हास, ३-शोक, ४—क्रोध, ५—उत्साह, ६—

भय, ७–जुगुप्सा और ८–विसाय—का वर्णन, भरतनाट्यशास्त्र की कारिकाओं (ना० शा० ६।१५, १७) का उल्लेख करके ही मम्मट ने कर दिया। तथा तैंतीस व्यभिचारी भावों (संचारीभावों) को बताते हुए 'निर्वेद' नाम के भाव को दो रूपों में बताया है। जब 'निर्वेद' स्थायीभाव के रूप में होता है तब 'शान्त' नाम का नवाँ (नवम) 'रस' उससे उत्पन्न होता है। अन्यथा वह व्यभिचारी भाग के रूप में रहता है। उक्त 'रति' आदि जब देवता, नृपति, गुरु, आदि के विभावों के विषय में होते हैं, तब उन्हें (रति आदि को) 'भाव' शब्द में ही पहचाना जाता है, 'रस' शब्द से नहीं। उसी तरह विभावादिकों से अभिव्यक्त होने वाले 'व्यभिचारी' भावों को भी 'भाव' शब्द से ही पहचाना जाता है। उसी तरह 'रस' और 'भाव' के विषय, यदि अनौचित्यपूर्ण (लौकिक अथवा शास्त्रीय मर्यादा से रहित) हों तब उन रसों और भावों को 'रसाभास' एवं 'भावाभास' शब्दों से कहा आता है। जैसे—किसी नायिका की अनेक पुरुषों के साथ 'रति', गुरुपत्नी से अथवा पशु-पक्षी के साथ 'रति', गुरुविषयक 'हास', विरक्त का 'शोक', शूर पुरुष का डरपोकपना, इत्यादि—ये सब रसाभास, भावाभास, की कोटि में आते हैं। इसके अतिरिक्त 'भावों' का उपशम (शान्ति), 'भावों' का उदय (उत्थान), 'भावों' की संधि (मिश्रण), और 'भावों' की शबलता (पूर्व-पूर्व भाव को दबाकर उत्तर-उत्तर भाव का प्रकट होना)—ये भी 'व्यङ्ग्य' कोटि में आ सकते हैं। इन सब का अन्तर्भाव 'रसादिध्वनि' (अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य) में किया जाना अभीष्ट है।

ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित रसादि ध्वनियों के उदाहरण—

(१) शृङ्गार—(क) संभोग शृङ्गार—'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि।

(ख) विप्रलंभ शृङ्गार—'सा पत्युः प्रथमापराधसमये' और 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादि।

('विप्रलम्भ' शब्द का अर्थ, 'वियोग' होता है। वियोगावस्था में प्रकट होनेवाली 'रति' का पर्यवसान 'विप्रलंभ शृङ्गार' में होता है। यह 'वियोग'—देशान्तर से तथा मानसिक भी हो सकता है। यह विप्रलंभ शृङ्गार-(१) ईर्ष्या, (२) अभिलाष, (३) विरह, (४) प्रवास, (५) शाप आदि से होता है।

(२) हास्य—'आकुञ्च्य पाणिमशुचिम्'।

(इस रस के स्थायीभाव 'हास' का आश्रय 'प्रेक्षक' अथवा स्वयं 'कवि' भी हो सकता है।)

(३) करुण—'हा मातस्त्वरितासि कुत्र'।

(४) रौद्र—'कृतमनुमतं दृष्टवायैरिदम्'।

(५) वीर—'क्षुद्राः सन्त्रासमेते'।

(६) भयानक—'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्'।

(७) बीभत्स—'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्'।

(यहाँ पर इसके स्थायीभाव का आश्रय, प्रेक्षक या कवि अथवा वाचक हो सकता है।)

(८) अद्भुत—'चित्रं महानेष बतावतारः'।

(९) शान्त—'अहौ वा हारे वा'।

(यहाँ पर 'निर्वेद' = वैराग्य रूप स्थायीभाव का आश्रय, 'विरक्त' वीतराग महापुरुष है।)

रसादिध्वनि के अन्तर्गत होनेवाले 'भावों' के उदाहरण--

भाव--(क) 'हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः'।

(यहाँ 'हर्ष' व्यभिचारीभाव है।)

(ख) 'जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा'।

(यहाँ 'असूया' व्यभिचारीभाव है। यह व्यभिचारीभाव प्रधानतया अभिव्यक्त हो रहा है, अतः यह 'भाव' का उदाहरण है, 'विप्रलम्भ शृंगार' का नहीं। इस भाव का पर्यवसान अन्ततोगत्वा विप्रलंभशृंगार में होरहा है, यह अलग बात है।)

रसाभास—'स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना'।

(इसमें 'शृंगार रस' न होकर उसका 'आभास' मात्र है।)

भावशान्ति—'तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतट'।

(यहाँ पर 'कोपशान्ति' प्रधानतया व्यक्त की गई है।)

भावोदय—'एकस्मिञ्छयने विपक्षरमणीनामग्रहे'।

(यहाँ पर 'उत्सुकता' को प्रधानतया व्यक्त किया गया है।)

भावसन्धि—'उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेः'।

(यहाँ पर 'आवेग' और 'हर्ष' इन दो व्यभिचारी भावों की एक ही समय में अभिव्यक्ति की गई है।)

भावशबलता—'क्वाऽकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं'

(यहाँ पर 'वितर्क' 'औत्सुक्य' 'मति' 'स्मरण' 'शंका' 'दैन्य' 'धृति' 'चिन्ता'—ये भाव, पूर्व-पूर्व के भावों को अभिभूत करके अभिव्यक्त हो रहे हैं।)

इस चतुर्थ उल्लास में मम्मटभट्ट के द्वारा निरूपित किये गये ध्वनि के सभी प्रकार प्रायः आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोकग्रन्थ के द्वितीय और तृतीय उद्योत के पूर्वार्द्ध में बताये गये हैं। मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में 'अलक्ष्यक्रम व्यंग्य' नामक ध्वनि प्रकार के अनुरोध से 'रस' का विचार किया है। काव्यशास्त्रीय रसचर्चा का मूल-

स्रोत, भरत के नाटचशास्त्र में दृष्टिगोचर होता है। रसचर्चा करते समय भरत ने रस का स्वरूप, उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया, रस के भेद आदि बताये हैं उन्हीं के अनुरोध से उत्तरकालीन काव्य मीमांसकों ने भी अपने अपने ग्रन्थों में उसकी चर्चा की है, तथापि क्वचित्-क्वचित् अपना मतभेद भी प्रकट किया है। समस्त रसचर्चा का मूल बिन्दु भरत का 'रससूत्र' ही है। इस सूत्र की विविध व्याख्याओं का विस्तृत दर्शन, हमें 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में होता है। उत्तरकालीन 'काव्य-मीमांसा' का 'भरत' के साथ जो मतभेद है, वह 'शान्त' रस के प्रसंग में तथा भोज के द्वारा किये गये रसविवेचन में उपलब्ध होता है। काव्यप्रकाश में की गई 'रस-चर्चा' तो अभिनवगुप्तपाद का ही अनुसरण कर रही है।

भट्टलोल्लट के अनुसार—

(१) रस —परिपुष्ट हुआ स्थायीभाव ही 'रस' है। और
भाव—'अपरिपुष्ट जो स्थायी भाव' वह है।

(२) रस का आश्रय—मुख्य (असली) राघवेन्द्र राम है, और उसका अनुकरण करने वाला (नकली) नट, 'रस' का गौण आश्रय है।

(३) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ 'रस' का सम्बन्ध-यथाक्रम 'जन्य-जनकभाव, प्रत्येय-प्रत्यायकभाव (ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव), पोषकभाव' है।

प्रथमसंख्यानिर्दिष्ट भट्टलोल्लट के मन्तव्य पर 'शङ्कुक' का आक्षेप—

नाटचशास्त्र की 'अभिनवभारती' (६।३१) के अनुसार तथा 'लोचन' (२।४) के अनुसार शङ्कुक के द्वारा किये गये—आक्षेप का निष्कर्ष यह है कि 'परिपुष्ट हुए स्थायी भाव' को 'रस' समझ लेना 'भरत' को मान्य नहीं है। क्योंकि 'स्थायी भाव' के परिपोष की 'मन्दतर, मन्द, मध्य, तीव्र' आदि अनगिनती (असंख्य) अवस्थाएँ हो सकती हैं। तब एक-एक रस के अगणित भेद होने लगेंगे। इन अवस्थाओं में से पराकाष्ठा को प्राप्त हुई अवस्था के 'स्थायी' को यदि 'रस' कहें तो भरत ने 'स्थायी भाव' की तीव्रता, तीव्रतरता के अनुसार 'हास्यरस' के 'स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्' (ना शा. ६।६१)। अर्थात् 'स्मितं, हसितं, विहसितं' आदि जो छः प्रकार कहे हैं, उनकी उपपत्ति कैसे हो सकेगी ? दूसरी बात यह भी है कि —कालगति से 'स्थायी भाव' का परिपोष ही होता रहे, यह कोई नियम नहीं है, उसका ह्रास भी हो सकता है। जैसे—'शोक' स्थायी भाव, अपने उत्पत्ति काल में जितना तीव्र होता है, उतनी तीव्रता कालान्तर में उसकी नहीं रह पाती। यही स्थिति 'विस्मय, क्रोध' आदि 'स्थायी भावों' में भी दृष्टिगोचर होती है। ऐसी परिस्थिति में 'स्थायीभाव' को रस कहने का कभी प्रसंग ही नहीं आवेगा। इस प्रकार लोल्लट के प्रथम मन्तव्य पर शंकुक ने आक्षेप किया है।

लोल्लट के द्वितीय मन्तव्य पर शंकुक ने जो आक्षेप किया है उसका निष्कर्ष यह है कि प्रथम मन्तव्य (परिपुष्ट 'स्थायी' ही 'रस' है) के खण्डन से ही 'असलीराम' में ही मुख्यतया 'रस' रहता है। अर्थात् 'असली राम' ही 'रस' का मुख्य आश्रय है—इस द्वितीय मन्तव्य का भी खण्डन हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ पर स्थायी भाव के परिपोष होने की कोई संभावना ही नहीं है, तो उस 'अनुकर्तानट' को ही 'रस' का आश्रय मानना होगा।

लोल्लट के तृतीय मन्तव्य पर जो आक्षेप शंकुक ने किया है; उसका निष्कर्ष यह है कि अभिनय की दशा में 'असली राम' का सम्बन्ध कहीं भी न रहने से 'रस' का 'विभावादिसामग्री' के साथ 'जन्य-जनक-भाव' अथवा 'पोष्य-पोषक-भाव' सम्बन्ध का होना कभी संभव नहीं है। 'असली सीता' को देखकर 'असली राम' के मन में 'रति' की उत्पत्ति हो सकेगी, उसका परिपोष भी हो सकेगा, किन्तु 'सीता' का अभिनय करने वाली 'नकली सीता' को देखकर (राम का अभिनय करनेवाले) 'नकली राम' के मन में 'रति' की उत्पत्ति और उसका परिपोष होना कभी भी संभव नहीं है। अतः लोल्लटभट्ट के द्वारा की गयी 'रससूत्र' की व्याख्या उपेक्षणीय ही है।

रससूत्र पर भट्टलोल्लट-कृत व्याख्या में उपस्थित बाधाओं का परिहार करके आचार्य शंकुक ने रससूत्र पर एक दूसरी प्रकार से अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है।

आचार्य शङ्कुक की व्याख्या—''तस्मात् हेतुभिः विभावाख्यै...व्यपदिष्टो रसः" (अभि भार.) के अनुसार—

रस—'अनुकरणात्मक स्थायी भाव' को ही 'रस' शब्द से कहा जाता है।

रस का आश्रय—असली (अनुकार्य) 'राम' आदि का 'अनुकरण' करने वाला (अनुकर्त्ता) 'नट' ही है। अनुकार्य (असली) 'दाशरथी राम' आदि व्यक्ति नहीं है।

स्थायी भाव का सम्बन्ध—'स्थायी भाव' का 'विभावादिसामग्री' के साथ जो सम्बन्ध है, वह 'गम्य-गमक भाव' (अनुमाप्य-अनुमापकभाव) अर्थात् 'ज्ञाप्य-ज्ञापक' भाव है। यहाँ पर 'ज्ञापक' शब्द से प्रमुखतया 'अभिनयशक्तिः' समझनी चाहिये। इस अभिनय-शक्ति के प्रभाव से ही 'नट' अपने कृत्रिम 'स्थायी' तथा अपनी कृत्रिम 'विभावादि' सामग्री की 'कृत्रिमता' की जानकारी (ज्ञान) सामाजिकों को होने नहीं देता। 'नाट्य' और 'काव्य' में 'रति' आदि 'स्थायी' तथा उसकी 'कारणभूत सामग्री' पूर्णतया 'कृत्रिम' होने से ही उनका निर्देश 'भाव, कारण, कार्य' आदि लौकिक नामों (संज्ञाओं) से न करके 'रस, विभाव अनुभाव' आदि नामों से किया जाता है। 'रससूत्र' में भरत के द्वारा 'स्थायी' का उल्लेख न करने का कारण, आचार्य शंकुक ने यह बताया है कि 'नट' में रहने वाला 'स्थायी' भी अनुकरण-रूप ही है, इसीलिए भरत ने उसका उल्लेख 'रससूत्र' में नहीं किया है।

सामाजिकों को रसास्वाद—सामाजिक प्रेक्षकवर्ग, उक्त सामग्री के आधार पर नटगत 'स्थायी' का अनुमान करके अपनी वासना (इच्छा) के बलपर उसकी 'चर्वणा' करते हैं, यानी मन के द्वारा आस्वाद लेते हैं।

कृत्रिम साधन से साध्य की वास्तविक उपलब्धि—कृत्रिम 'गमक' (अनुमापक या ज्ञापक) से यथार्थ 'अनुमति' और उसके बलपर यथार्थ 'आस्वाद' की उपलब्धि का होना कैसे संभव होगा ? इसके समाधान में आचार्य शंकुक ने कहा कि 'चित्रतुरगन्याय' से अथवा 'संवादिभ्रम' की पद्धति से संभव हो सकता है।

घोड़े का चित्र देखकर जैसे घोड़े का ज्ञान होता है, वैसे ही कृत्रिम विभावादि-सामग्री से भी 'स्थायी भाव' का अनुमान करने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस पर यह कह सकते हैं कि घोड़े का चित्रदेखकर घोड़े का ज्ञान होने पर भी, उसपर बैठा नहीं जा सकता, उसी तरह 'कृत्रिम' विभावादिसामग्री से ज्ञात हुए 'स्थायी' भाव का 'आस्वाद' सामाजिक को कैसे हो सकेगा ? किन्तु इस आशंका का समाधान 'संवादिभ्रम' से दिया जा सकता है। जैसे किसी दूर प्रदेश में एक 'मणि' (रत्न) पड़ा है, और उसकी 'प्रभा' दूर तक फैली हुई है। आने-जानेवाले लोगों को वह प्रिय दिखाई दे रही है, किन्तु 'रत्न' दिखाई नहीं पड़ रहा है। उस 'प्रभा' को ही 'मणि' (रत्न) समझकर उसे पाने की इच्छा से चलता जाता है और अन्ततः उस मणि(रत्न) की प्राप्ति उसे हो जाती है। अभिप्राय यह है कि कभी-कभी 'भ्रमात्मक ज्ञान' भी 'फलपर्यवसायी' हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को 'संवादिभ्रम' (फलानुकूलभ्रम) कहते हैं। इसके विपरीत 'विसंवादिभ्रम' (फलप्रतिकूलभ्रम) होता है। दूरतक फैले हुए 'दीप-प्रकाश' को ही 'रत्न' समझकर उसे पाने की इच्छा से कितनी ही दूर तक क्यों न चला जाय, तो भी 'मणि' (रत्न) की प्राप्ति नहीं होती है। इसी बात को नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती (अ. ६. पृ. २७५) में कहा गया है—

"मणि-प्रदीप प्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाऽविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियाम्प्रति ॥"

एवञ्च कृत्रिम विभावादिकों से होने वाले 'स्थायी' का ज्ञान 'मिथ्याज्ञान है। यह स्वीकारने पर भी 'स्थायी' का 'आस्वाद' किया जा सकता है। वस्तुतः 'स्थायी' ज्ञान तो 'सम्यगज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान' और 'सादृश्यज्ञान' इन चतुर्विध ज्ञानों के अतिरिक्त ही है और अनुभव-सिद्ध रहने से उसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते, यह आचार्य शंकुक का कहना है, जिसे अभिनवभारती में बताया गया है—

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः ।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसंभेदादविवेचितसम्प्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥
(अभि. भार. पृ० २७५ अ० ६)

इस पर भट्टतौत ने कहा कि आपके कथनानुसार 'स्थायी' का ज्ञान हो सकने पर भी, उसकी प्रक्रिया जो आपने बताई है, वह सर्वमान्य नहीं है। 'स्थायी' के अनुकरण को 'रस' समझने की बात जो आप कह रहे हैं, वह 'प्रेक्षक' की दृष्टि से अथवा 'नट' की दृष्टि से ? सामाजिक (प्रेक्षक) की दृष्टि से यदि आप कह रहें हों तो वह असंगत है, क्योंकि प्रेक्षक-समाज ने भगवान् 'राम' का चित्तवृत्रिरूप 'स्थायी' को कब देखा है ? यदि देखा होता तो यह कहना संगत होता है कि 'नट' भगवान् राम के 'स्थायी' का अनुकरण कर रहा है। अनुकरण की प्रतीति तभी हो सकती है, जब 'मुख्य' और 'अमुख्य' दोनों का 'ज्ञान' रहे, अन्यथा अनुकरण की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त 'स्थायीभाव' तो चित्तवृत्रिरूप है। 'चित्तवृत्रि' का प्रत्यक्ष किसी को भी इन्द्रिय से नहीं हुआ करता, तब उसको 'अनुकरण' का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? इन्द्रियों से तो हावभाव-रोमांच-कटाक्ष इत्यादि बाह्य पदार्थों का ही ज्ञान हुआ करता है। 'उसी को' स्थायी का अनुकरण करना कोई नहीं कहता।

इसी अभिप्राय को अभिनवभारती में इस प्रकार बताया है—"किञ्चित् हि प्रमाणेन उपलब्धं तद् अनुकरणम्, इति शक्यते वक्तुम्। यथा'''न च रामगतां रतिम् उपलब्धपूर्विणः केचित्। एत्तेन दातानुकारी नटः इत्यपि निरस्तः प्रवादः।"[१] (अभि. भार. पृष्ठ २७६ अ० ६।) इस पर अचार्य शंकुक यदि यह कहें कि बाह्यपदार्थ के अनुकरण को तो हम भी 'स्थायी' का अनुकरण नहीं कहते, हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि 'कारण, कार्य और सहकारि-कारण' के आधार पर लोक-व्यवहार में नटगत अनुमीयमान जो 'रति' है, वही 'रति' (स्थायीभाव) का अनुकरण है, यानी 'रस' है।

इस पर भट्ट तौत का कहना है कि तुम्हारे उक्त मन्तव्य के अनुसार तो यही मानना होगा कि प्रेक्षक की जो 'प्रतीति' होती है, वह 'रति' की होती है, रति के अनुकरण की नहीं, क्योंकि ठीक व्यववहार में यह देखा जाता है कि कार्य-कारण सहकारिकारण के आधार पर दूसरे की चित्तवृत्ति का जो बोध होता है, वह अनुकरणात्मक नहीं होता है, यह सर्वानुभव-सिद्ध है। इस पर आचार्य शंकुक यदि यह कहें कि 'लौकिक कार्य-कारण-सहकारिकारण'—ये सब वास्तविक होते हैं। अतः उनसे वास्तविक 'रति' का अनुमान होता है, किन्तु नाट्यगत 'कार्य-कारण और सहकारीकारण' सभी कृत्रिम (अवास्तविक=सच नहीं) होते हैं, इसलिए उनसे 'रति के अनुकरण' का अनुमान होता ही है।

इस पर भट्टतौत का कहना है कि 'नाट्यगत कार्य-कारण' आदि के कृत्रिम रहने पर भी 'प्रेक्षकों' को उनकी कृत्रिमता प्रतीत नहीं हो पाती, यदि उनकी कृत्रिमता को प्रेक्षक जान लेता हो तो उसे वास्तविक या अनुकरणात्मक किसी प्रकार की भी 'रति' का बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनुमान हेतु (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्गी)

का ज्ञान (अनुमति) हुआ करता है। हेतु (लिङ्ग) सदृश पदार्थ से साध्य (लिङ्गी) सदृश पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है। अन्यथा धूम-सदृश कुहरे से अग्निसदृश जपा-पुष्प का भी बोध (अनुमिति) हो जाता, किन्तु वैसी अनुमिति होती नहीं है।

आचार्य शंकुक ने 'रस-प्रतीति' (रसज्ञान) को 'सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य' इन चतुर्विध ज्ञानों (प्रतीतियों) से विलक्षण (भिन्न) बताया है।

किन्तु भट्टतौत का कहना है कि नाटक देखते समय मंच पर उपस्थित हुए रामवेषधारी 'नट' को देखकर 'अयं रामः'=यह राम है—यह भावना प्रेक्षकों के मन में होती है। उस समय 'नायं रामः'—यह राम नहीं है—ऐसी बाधक-भावना किसी भी प्रेक्षक के मन में उदित नहीं होती है, तब 'अयं रामः' इस भावना (प्रतीति=ज्ञान) को 'सम्यक् ज्ञान' क्यों न कहा जाय? जिस ज्ञान के उत्तर-क्षण में बाधक ज्ञान नहीं होता, उस ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहा करते हैं। उसी तरह 'अयं रामः' इस ज्ञान को 'मिथ्या-ज्ञान' ही क्यों न कहा जाय? इस पर शंकुक यदि कहें कि बाधक ज्ञान के रहने पर ही 'पूर्व-ज्ञान' को 'मिथ्या-ज्ञान' कहा जा सकता है। मंच पर राम वेषधारी नट को देखकर 'नायं रामः'—यह राम नहीं हैं—ऐसी भावना किसी भी प्रेक्षक के मन में उदित नहीं होती है, अतः इसे 'मिथ्या-ज्ञान' कैसे कह सकेंगे?

इस पर भट्टतौत कहते हैं कुछ भी कहो तथापि वास्तविक दृष्टि से विचारने पर तो 'अयं रामः' यह मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होगा। यह विवाद तो 'राम' को एक विशेष व्यक्ति के रूप में गृहीत करने से हो रहा है। वस्तुतः नाटक में 'रामत्व' विशेषात्मक न होकर सामान्यात्मक रहता है। यही कारण है कि एक 'नट' की जगह यदि दूसरा 'नट' आ जाय तब भी 'अयं रामः' यही प्रतीति होती है।

आचार्य शंकुक ने 'स्थायी के अनुकरण' को 'रस' कहा है। किन्तु 'नट' की दृष्टि से विचारने पर शंकुक का उक्त कथन भी उचित नहीं है। अभिनय करते समय "नट' यह नहीं समझता है कि 'मैं रामका या उसकी चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा हूँ" 'अनुकरण' का अर्थ है 'सदृशकरण, क्योंकि 'अनु' का अर्थ ही 'सदृश' है। इस रीति से 'अनुकरण' का अर्थ 'सदृशकरण' करने पर भी 'नट' के अभिनय को 'अनुकरण' नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि उसने (नट ने) 'असली राम' के क्रियाकलाप को कभी भी देखा नहीं है, और देखना संभव भी नहीं है। यदि 'अनुकरण' का अर्थ 'पश्चात्करण' करें, क्योंकि 'अनु' का अर्थ, पश्चात् भी होता है। तब तो लौकिक व्यवहार को भी 'अनुकरण' शब्द से कहना होगा, यानी 'रस' कहना होगा।

इन सब दोषों के निरसनार्थ 'अनुकरण' शब्द के दोनों (सदृशकरण और पश्चात्-करण) अर्थों को छोड़कर 'अनुकरण' का अर्थ, यह करेंगे कि 'उत्तमप्रकृतिवाले पुरुष का अनुकरण' यानी उसकी चित्तवृत्ति (स्थायी) का अनुकरण (सदृशकरण) ही 'रस' है, ऐसा कहने पर कोई दोष नहीं होगा।

इस प्रकार शंकुक के कहने पर भट्टतौत ने पूछा कि 'नट' किस तरह 'अनुकरण' करता है ? जैसे 'नट' यदि शोक का अनुकरण करता है, तो क्या वह 'शोक' करता है अथवा 'अश्रुपात' करता है ? उसके द्वारा तो शोक किया जाना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उसे 'शोक' का अनुभव ही नहीं है और शोक होने का कोई प्रसंग भी नहीं है। वह 'अश्रुपात' अवश्य करता है किन्तु 'अश्रुपात' का अर्थ 'शोक' नहीं है। तब 'अश्रुपात' से 'शोक' रूप 'स्थायी' का 'अनुकरण' कैसे हो पायेगा ? इतना कह सकते हैं कि उत्तम प्रकृतिवाले पुरुष के शोक रूप स्थायी के जो 'अनुभव' (कार्य) हैं, उनका 'अनुकरण' 'नट' करता है। फिर भी प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसका अनुकरण किया जा रहा है, वह उत्तम प्रकृति पुरुष 'कौन' है। उत्तर में यदि कह दें कि 'कोई भी' है तो वह उत्तर ठीक नहीं होगा, क्योंकि किसी प्रकार की विशिष्टता के बिना अनुकरण का विषय होने वाला 'उत्तम प्रकृति पुरुष' 'अनुकर्ता नट' के चित्त में प्रविष्ट नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि 'जो कोई ऐसा रोता हो वह', तो ऐसे पुरुषों के अन्तर्गत तो 'नट' भी उपलब्ध हो सकेगा, तब 'अनुकरण' कहाँ और किसका होगा ?

उपर्युक्त भट्टतौत के अभिप्राय को अभिनवभारती में "न चापि नटस्य इत्थं प्रतिपत्तिः–'रामं तच्चित्तवृत्तिं वा अनुकरोमि" इति। सदृशकरणं हि तावत् अनुकरणं अनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणं, तत् लोकेऽपि अनुकरणात्मकता प्रसक्ता। ... ... इति गलितः अनुकार्यानुकर्तृभावः॥"

—(अभि० भार० पृ० २७७ अ० ६)

'चित्रतुरगन्याय' का जो दृष्टान्त दिया है, वह दार्ष्टान्तिक से मेल नहीं खाता है। चित्र का घोड़ा, वास्तविक घोड़े का अनुकरण रूप है, वह अनुकरणरूपता उसकी आकृति की समानता के कारण है, किन्तु विभावादि पदार्थ-कभी भी किसी भी प्रकार से वास्तविक स्थायी-जैसे किसी अन्य स्थायी को पैदा नहीं करते। जैसे दीपक 'घट' को प्रकाशित कर देता है, उसे पैदा नहीं करता; उसी तरह विभावादि पदार्थ, 'स्थायी' को 'प्रकाशित' कर देते हैं, उसका 'निर्माण' नहीं करते। किन्तु विविध रंग, उस तरह घोड़े को 'प्रकाशित' नहीं करते, अपितु उसका 'निर्माण' कर देते हैं। यानी घोड़े की आकृति-जैसी दूसरी 'आकृति' का ही 'निर्माण' करते हैं।

आचार्य शंकुक की व्याख्या का अभिनवगुप्तपाद के द्वारा समीक्षण—

आचार्य शंकुक के अनुकरणवाद का प्रतिवाद श्रीमदभिनवगुप्तपाद ने भी किया है। उनका कहना है कि वस्तुतः प्रेक्षक के मन में यह भावना कभी उत्पन्न नहीं होती है कि यह नट, किसी का अनुकरण कर रहा है'। अन्यथा उन्हें शुद्ध आस्वाद नहीं मिल सकेगा। यदि कोई किसी को किसी का अनुकरण करते हुए देखता है, तो

वह उस पर हँसने लगता है। अभिप्राय यह है कि प्रेक्षकों को हँसाने में 'अनुकरण' 'कारण' हुआ करता है। अतएव भरत ने कहा कि "परचेष्टानुकरणात् हासः समुपजायते" (भर० ना० शा० ७।१०)। यही कारण है कि अनुकार्यव्यक्ति में श्रद्धा, पूज्य भाव रखने वाले लोग, अनुकार्य की चेष्टाओं का अनुकरण करते देख क्रुद्ध हो जाते हैं। एवं च अनुकरण, 'क्रोध' का 'कारण' होता है। एक बार देव-दैत्यों की सभा के समक्ष भरतमुनि ने एक नाटक का प्रयोग प्रदर्शित किया था। जिसमें देवताओं के द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने का 'अभिनय' किया गया था, उसे देखकर दैत्यवर्ग अपने मन में सोचने लगा कि भरत ने नाटक के बहाने हम दैत्यों का 'उपहास' किया है, यह भावना पैदा होते ही समस्त दैत्य 'क्रोध' से भड़क उठे, ऐसा 'नाट्यशास्त्र' में 'प्रथमाध्याय' में बताया गया है। यदि यह कहा जाय कि किसी 'विशिष्ट महान्' व्यक्ति के चरित्र का अनुकरण भले ही न किया जाय, किन्तु 'सामान्य व्यक्तियों' के अनुकरण करने में कोई हानि नहीं है।

इस पर अभिनवगुप्तपाद का उत्तर यह है कि विशिष्ट महान् व्यक्तियों के 'नियताकार' चरित्र का अनुकरण उनके जैसी मनोभूमिका और वास्तविक परिस्थिति के अभाव में हो पाना शक्य नहीं है, तथा सामान्य (अनियताकार) बातों का अनुकरण करना तो संभव ही नहीं है। यदि 'अनुकर्ता नट' की भी वैसी ही 'मनोभूमिका' और वास्तविक परिस्थिति का होना कहें तो उसके प्रदर्शन को 'अनुकरण' (अभिनय) कैसे कहा जायगा ? क्योंकि यथार्थ (वास्तविक) 'चित्तवृत्ति' को 'अनुकरण' शब्द से नहीं कहा करते। इसलिए 'नाट्य' को अनुकरणात्मक नहीं कह सकते। अभिनवभारती में कहा भी है—"तदिदम् अनुकीर्तनम् अनुव्यवसायविशेषो वा नाट्यापरपर्यायः न अनुकारः, इति भ्रमितव्यम्..........तेन अनुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम्"। (अभि० भार० पृ० ३७, अ० १)

निष्कर्ष यह है कि 'नाट्य' को हम 'अनुव्यवसाय' का (सामाजिकों के आस्वाद का) 'विषय' कह सकते हैं। वह तो केवल 'ज्ञानाकार' है कि 'आरोपात्मक' है, कि 'सामान्यस्वरूप' है या उतने ही समय के लिए उत्पन्न हुई 'आभासात्मक' कोई वस्तु है, या 'और कुछ' है, इसके सम्बन्ध में हम अभी कुछ कहना नहीं चाहते। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अनुकरणवादियों का खण्डन किया है, तथापि इतना तो उन्होंने कह दिया है कि लोक में किये जाने वाले व्यवहार की जैसी यथार्थता हुआ करती है, उसके ठीक विपरीत, अयथार्थता नाट्य में रहती है। इस दृष्टि से 'नाट्य' को अनुकरण कहा जा सकता है। वस्तुतः 'नाट्य' को अनुकरण' से 'भिन्न' ही मानना चाहिये। यदि कोई अभ्यस्त शब्द का अनायास प्रयोग करता रहता हो तो हमारा उससे कोई विवाद नहीं है। इसी बात को अभिनवभारती में कहा है—"..........यः अनु-

व्यवसायः जन्यते·········रसनास्वादनचमत्कारचर्वणनिर्वेशभोगाद्यपरपर्यायः, तत्र यत् अवभासते वस्तु, तत् नाट्यम्।············स्थिते वस्तुतः भेदे शब्दप्रवृत्तेः अविवादास्पदत्वात्" । (अभि० भार० पृ० ३८ अ० १)

तृतीय व्याख्याता भट्टनायक के अनुसार 'रस' को प्रतीति का विषय नहीं कह सकते—

यद्यपि कालक्रम की दृष्टि से आचार्य शंकुक के पश्चात् व्यञ्जनावादी आनन्द-वर्धन के मत की (रसोपपत्तिकी) चर्चा करनी चाहिये थी, किन्तु उनका मत सिद्धान्त की कोटि में निर्धारित करने के निमित्त अभिनवगुप्त ने और तदनुरोधेन मम्मटभट्ट ने आनन्दवर्धन के पूर्व भट्टनायक के मत पर विचार किया है।

भट्टनायक का कहना है कि भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद तथा आनन्दवर्धन के व्यञ्जनावाद के आधार पर 'रसप्रतीति' की उपपत्ति नहीं लग सकती । अन्य लौकिक पदार्थों की तरह वह (रस) प्रतीति का विषय ही नहीं बन सकता । क्योंकि सोचना होगा कि वह 'प्रतीयमान रस' उन्हें 'स्वगत' होकर (स्वयं सामाजिकों में रहता हुआ) प्रतीत होता है ? या 'परगत' होकर (असली राम आदि में रहता हुआ) प्रतीत होता है ? यदि स्वगत होकर प्रतीत होता है कहें, तो उसका अभिप्राय यह होगा कि 'सामाजिक में रस की उपपत्ति' होती है । यानी 'भट्टलोल्लट' के उत्पत्तिवाद को ही तुमने मान लिया । तब 'करुणरस' की प्रतीति से 'सामाजिक में दुःखोत्पत्ति' का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु सामाजिक को वैसा 'दुःखी' होता किसी ने देखा नहीं है । 'राम' के साथ 'जानकी' का वियोग होने से सामाजिक को दुःख क्यों होगा। क्योंकि सामाजिक में रहने वाले 'स्थायीभाव' का 'विभाव' वह 'जानकी' नहीं है । सामाजिक का जानकी से क्या सम्बन्ध है ? यदि यह कहें कि नाटक देखते समय सामाजिक अपनी 'कान्ता' के 'विरह' से 'दुःखी' होता हो, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि नाटक देखते समय उसे अपनी स्त्री की 'सुखद स्मृति' होती रहती है । यदि यह कहें कि सुखद स्मृति के हो आने से स्त्री-विरह की 'भावना' जाग उठती है, और उससे वह दुःखी होता है, किन्तु यह कल्पना करना अनुभव के विरुद्ध है । दूसरी बात यह है कि आज के युग में तो नाटक देखते समय प्रायः बगल में ही स्त्री के रहने से उसके वियोग और तज्जनित दुःख होने का प्रश्न ही नहीं उठता । फिर भी सामाजिक जो दुःखी हो जाता है, वह 'साधारणीकरण' की भावना से हो जाता है । यानी नाट्यगत 'राम-सीतादि' व्यक्तियों से तथा उनकी 'भावनाओं' से अपनी भावनाओं के 'तादात्म्य' (अभिन्नता) की कल्पना वह कर लेता है। ऐसा यदि कहें तो वह भी संभव नहीं है, क्योंकि राम-सीता आदि 'दिव्य व्यक्तियों' (देवताओं) के साथ साधारणीकरण की भावना करना कैसे संभव हो सकता है ? 'हनुमान् जी' से हम अपना 'साधारणीकरण' करने लगें तो अपने शरीर

में 'समुद्रोल्लंघन' करने का सामर्थ्य विद्यमान है, यह कल्पना भी उसे (सामाजिक को) करनी होगी। एवं च सामाजिकों को 'स्वगत रूप में रस की प्रतीति' करने के विकल्प का 'निरसन' हो जाता है।

अब 'रस की प्रतीति, परगत' (रामादिगत) के रूप में सामाजिकों को होती है, कहें तो, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'रस-विशिष्ट' राम की प्रतीति जो सामाजिकों को होती है, वह क्या 'स्मृति' से, या 'शब्द' (आगमादिग्रन्थों) से, या 'अनुमान' से होती है ? यह सोचना होगा। सामाजिकों को परगतरूप में रस की प्रतीति का होना स्मृति के द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि पहिले 'अनुभूत' किये पदार्थ की 'स्मृति' हुआ करती है। सामाजिकों को कभी भी रामदर्शन का अनुभव, पहिले नहीं हुआ है। अतः 'स्मृति' से रस-विशिष्ट राम का ज्ञान (प्रतीति) हो नहीं सकता। यदि यह कहें कि शब्द (आगम) प्रमाण, अनुमान प्रमाण के आधार पर रस-विशिष्ट राम का ज्ञान होता है, तो 'परगत' रहने से 'रस का प्रत्यक्ष नहीं', तथापि उसे प्रतीति का विषय मान लें, तो नाटक देखते समय स्वयं प्रत्यक्ष अनुभूयमान होती हुई-सी रस-प्रतीति, लोगों को क्यों होती है ? 'रस' को 'नटगत' मानने पर भी यही समस्या उपस्थित होती है। दूसरी बात यह है कि परगतरूप से रसप्रतीति को मानने पर सामाजिकों को शुद्धरसास्वादन तो हो ही नहीं सकता, अपितु उससे 'लज्जा, स्वयं की इच्छा', आदि अनेक 'स्वगत भावनाओं' की ही प्रतीति होने लगेगी। जैसे किसी एकान्त स्थान में स्त्री-पुरुष को एकत्रित पाकर सभ्य पुरुष लज्जित हो जाता है, उसी तरह नाटक देखते समय भी उसे 'लज्जा' का अनुभव होगा। 'उत्पत्तिवाद' और अभिव्यक्तिवाद में भी यही दोष पैदा होते हैं। उत्पत्तिवाद में अर्थात् रस को 'सामाजिकगत' मानने पर 'करुणरस' के नाटक में सामाजिक को 'दुःखानुभव' होगा, जिस कारण वह पुनः करुणरस के नाटक को देखना नहीं चाहेगा। परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितान्त विपरीत है। करुणरस के नाटक को देखते समय अश्रुपात करते हुए भी उसे वह चाव से देखता रहता है, इतना ही नहीं, पुनः पुनः उसी नाटक को देखना भी चाहता है। अतः 'उत्पत्तिवाद' का सिद्धान्त उचित नहीं है। अब यदि 'अभिव्यक्तिवाद' पर सोचते हैं, तो उसे भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्तिवाद के सिद्धान्तानुसार यह मानना होगा कि सामाजिकों के मन में रस की स्थिति 'बीज' के रूप में रहती ही है, वही (बीजरूप में स्थित रहने वाला रस), नाट्य-दर्शन से 'अभिव्यक्ति' (प्रतीति) के योग्य हो जाता है। यह मान लेने पर भी रस की सुख-दुःख-पर्यवसायिता की दृष्टि से किसी विशिष्ट नाटक को ही देखना सामाजिक अधिक चाहेगा, अन्यान्य नाटकों की ओर उसका आकर्षण नहीं होगा यह कम होगा। किन्तु यह बात भी अनुभव के विरुद्ध है।

रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के अपने विचार—

भट्टनायक ने अन्यव्याख्याकारों के द्वारा किये गये रस-विवेचन में उपस्थित होने वाले दोषों को प्रदर्शित कर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना यह है कि रसास्वाद की उपलब्धि, दो व्यापारों से होती है। उन दो व्यापारों में से एक व्यापार तो (१) भावकत्वव्यापार (भावना) है और दूसरा व्यापार है (२) भोजकत्वव्यापार (भोग) है। इनमें से पहिले व्यापार (भावना या भावकत्वव्यापार) का स्वरूप तो 'साधारणीकरण' है। 'साधारणीकरण' का अर्थ, यह है कि 'काव्य या नाट्य के जो विभाव, अनुभाव आदि हैं, उन पर एक विशेष स्वरूप का कवच (ये विभाव-अनुभाव आदि 'राम' के हैं, इस प्रकार के विशेषस्वरूप का कवच) चढ़ा रहता है, उस कवच को दूर कर उनको सर्वसाधारण (सामान्य) रूप का बना देना'। अर्थात् पुरुषमात्र के या स्त्रीमात्र के ये विभाव-अनुभाव आदि होते हैं—ऐसा समझना ही 'साधारणीकरण' है। गाढ मोहान्धकार के निवारण के समान यह साधारणीकरण करने का कार्य है, इसके किये बिना 'रसास्वादन' हो ही नहीं सकता। यह साधारणीकरण करने का कार्य, श्रव्यकाव्य में गुण, अलंकार और दोषाभाव के द्वारा तथा दृश्यकाव्य (नाट्य) में चार प्रकार (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य) अभिनय के द्वारा किया जाता है। विभावादिकों का 'साधारणीकरण' करने से 'रस' भी 'भावित' (साधारणीकृत) हो जाता है। तब सामाजिक वर्ग उस भावित हुए 'रस' का 'भोग' (आस्वाद), 'भोजकत्व व्यापार' से लेता है। यह 'भोजकत्वव्यापार' आस्वाद लेने में हेतुभूत एक 'मानसिक-व्यापार' है। इस व्यापार का स्वरूप 'द्रुति' 'विस्तार' और 'विकास' है, क्योंकि इस व्यापार में 'सत्त्वगुण', अपनी उत्कर्षावस्था में रहता है और रजस् तमस् गुण, अभिभूत हुए रहते हैं। इस कारण तीन गुणों के तीन कार्यों (द्रुति, विस्तार और विकास) का इस 'भोजकत्व' (भोग) व्यापार में अनुभव होता है। तथापि 'सत्त्वगुण' का उत्कर्ष रहने से यह व्यापार, 'प्रकाशमय' और 'आनन्दमय' जो चैतन्य है, उसमें स्थिर हो जाता है। तब ऐसा लगता है कि यह 'भोग', मानों 'ब्रह्मास्वाद' का दूसरा सहोदर भ्राता ही है। इसी बात को अभिनव भारती में इस प्रकार बताया है—"तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा ········ परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भ्युज्यते।" (अभि० भार० पृ० २७८–७९)

'शृंगार, करुण, शान्त'—इन रसों का अनुभव करते समय क्रमशः वृद्धिगत होने वाली 'चित्तदशा' को 'द्रुति' कहते हैं। उसी तरह 'वीर, बीभत्स, रौद्र'—इन रसों का अनुभव करते समय क्रमशः वृद्धिगत होने वाली 'चित्तदशा' को

'विस्तार' यानी 'दीप्ति' कहते हैं। तथा तत्काल आत्मसात् करने वाली जो 'चित्त-दशा' है उसे 'विकास' (व्याप्ति) कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि भट्टनायक की दृष्टि के अनुसार 'नाट्य' तथा 'काव्य' में तीन व्यापार (अभिधा, भावकत्व [भावना] और भोजकत्व [भोगीकृति अथवा भोग]) रहते हैं। इन तीन व्यापारों के विषय, क्रमशः वाच्यार्थ, रस और सहृदय होते हैं। अभिधा से 'वाच्यार्थ' का बोध होता है, और भावना (भावकत्व) व्यापार से 'रसों' का 'साधारणीकरण' होता है। तथा भोग (भोगीकृति अथवा भोजकत्व) व्यापार से सहृदय लोग 'रसास्वादन' करते हैं। काव्य की असाधारण विशेषता, द्वितीय और तृतीय व्यापार में ही निहित है। उक्त भावना व्यापार के साहचर्य से काव्य की 'अभिधा' भी, शास्त्रीय अभिधा से कुछ विलक्षण ही प्रतीत होती है। वेद-शास्त्रों में 'शब्दतत्त्व' की, और इतिहास-पुराणादि आख्यानों में 'अर्थतत्त्व' की प्रधानता रहती है। ये दोनों 'तत्त्व' शुद्ध 'अभिधा' के कक्ष में आते हैं, किन्तु काव्य में इन दोनों तत्त्वों का स्थान 'गौण' (अप्रधान) है, और 'भावना तथा भोगीकृति' इन दोनों व्यापारों का स्थान 'प्रधान' होता है। काव्य का मुख्य प्रयोजन 'भोग' ही है, उसके समक्ष तत्त्वबोध 'गौंण' है। इसी को लोचनकार श्री आनन्दवर्धन ने अपनी लोचनव्याख्या में बताया है—

"किन्तु अन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य, त्र्यंशताप्रसादात्। ··· ··· व्युत्पत्तिर्नाम अप्रधानमेवेति॥ —(लोचन)

तथा—"शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्॥"

(हृदयदर्पण)

भट्टनायक के विचारों का परीक्षण—

भट्टनायक ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि 'रसः न प्रतीयते' यानी 'रस' कोई प्रतीति रूप नहीं है, अपितु वह 'भोग' है। उस पर अभिनवगुप्त ने कहा कि "प्रतीत्या दिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोगः, इति न विद्मः।"[१] ऐसा कोई भी 'भोग' सम्पूर्ण विश्व में उपलब्ध नहीं है, जो 'प्रतीति' के अन्तर्गत न आता हो। सभी दृष्टि से 'भोग' भी प्रतीति का ही एक प्रकार है। 'प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द' आदि अन्यान्य जो प्रतीतिप्रकार हैं, उनसे उसको पृथक् कहने पर भी वह 'प्रतीति' से पृथक् कैसे कहलायेगा ? अतः प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि प्रतीतियाँ भिन्न-भिन्न उपायों से होती हैं, इसलिए वे एक-दूसरे से भिन्न कही जाती हैं, तथापि अन्ततः वे सभी 'प्रतीति' की ही कक्षा में गिनी-मानी जाती हैं, वैसे ही यह 'चर्वणा' यानी

'आस्वाद' रूप जो 'भोग' है, वह भी उपायभेद के कारण 'प्रत्यक्ष, अनुमिति' आदि प्रतीति-प्रकारों से भिन्न रहने पर भी अन्ततः वह 'प्रतीति' की कक्षा में तो कहा ही जायगा। अन्यथा 'रस' को 'प्रतीति' का विषय न मानने पर (रस की प्रतीति नहीं होती है, ऐसा कहने पर) उसे पिशाच के समान अव्यवहार्य कहना होगा, यानी पिशाच की प्रतीति न होने के कारण वह 'फलानी जगह है'—ऐसा निश्चित रूप से नहीं कह सकते, वैसे ही 'रस' के सम्बन्ध में भी नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए कहना होगा कि 'भोग' (रस) भी एक प्रकार की 'प्रतीति' ही है। 'रस प्रतीत होता है'–यह सुनकर 'प्रतीति' के पूर्व 'रस' का अस्तित्व रहता है, यानी रस का अस्तित्व प्रतीति-निरपेक्ष रहता है, ऐसा समझना उचित न होगा, क्योंकि उसका (रस का) अस्तित्व, प्रतीतिकाल में ही रहता है। एवं च एक विशिष्ट प्रकार की प्रतीति ही 'रस' है। यह प्रतीति, 'लौकिक' (व्यावहारिक) प्रत्यक्षादि प्रतीतियों से भिन्न है, क्योंकि इस प्रतीति को कराने वाली जो विभावादि सामग्री (उपाय) है, वह 'अलौकिक' है, यानी 'लौकिक' कार्य, कारणादि सामग्री से भिन्न है। नाट्य में यह प्रतीति, लौकिक अनुमिति, प्रतीति से यद्यपि भिन्न है, तथापि आरम्भ में अनुमान का ही साहाय्य लेकर चलती है। यह प्रतीति, श्रव्य काव्य में लौकिक शाब्द-प्रतीति से भिन्न है। तथापि आरम्भ में उसी का साहाय्य लेकर चला करती है। इसी बात को लोचनकार अपनी लोचन-व्याख्या में इस प्रकार बताते हैं—"अप्रतीतं हि पिशाचवत् अव्यवहार्यं स्यात्, किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेन अविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिः, उपायवैलक्षण्यात् अन्यैव, तद्वत् इयमपि प्रतीतिः चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु…… ……………तां च प्रमुखे उपायतया अपेक्षमाणा।" (लोचन)। अतः भट्टनायक ने 'रसः न प्रतीयते' जो कहा है, वह नितान्त अनुचित है। 'रसः न प्रतीयते' कहकर उसने 'रसः न उत्पद्यते' और 'रसः न अभिव्यज्यते' भी कहा है। अब इन दो पक्षों को जैसा का तैसा मान लेने पर 'रस' को जीव में चैतन्य के समान नित्य कहना होगा अथवा शश के सींग की तरह मिथ्या कहना होगा। और कोई तीसरा मार्ग नहीं है। किन्तु उपर्युक्त दोनों निष्कर्ष भी अनुभव के विरुद्ध हैं। इसी बात को अभिनवगुप्त ने बताया है—"निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यः वा असत् वा रसः, इति न तृतीया गतिः स्यात्"। (अभि० भार० पृ० २७९)।

भट्टनायक ने 'रस-प्रतीति' पक्ष का निराकरण करते हुए कहा है कि 'राम-सीता' आदि दैवी व्यक्तियों के साथ सामाजिकों का 'साधारणीकरण' (हृदयसंवाद) होना संभव नहीं है। इस पर अभिनवगुप्त का कहना है कि भट्टनायक का उक्त कथन तो उनकी धृष्टता का परिचायक है। क्योंकि उनको यह समझना चाहिये कि प्रत्येक

मनुष्य के मन में 'इस जन्म' के पूर्वानुभव के 'संस्कार' तथा 'जन्म-जन्मान्तरों' के अनुभवों से उत्पन्न हुए 'असंख्य संस्कार' निहित रहते हैं, और अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होते ही वे संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। अतः 'नाट्य' की अथवा 'काव्य' की चाहे 'दैवी व्यक्तियाँ' हों अथवा 'मानवी व्यक्तियाँ' हों, उनके साथ 'सामाजिकों' का साधारणीकरण (हृदयसंवाद) होने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती। पतञ्जलि ने भी अपने योगसूत्र (४।९–१०) में संस्कारों का अनादित्व, असंख्यत्व और अनुकूल परिस्थिति में उनका उद्‌बुद्ध होना बताया है।

काव्यगत प्राथमिक 'अभिधा-व्यापार' के सम्बन्ध में तो अभिनवगुप्त का भट्टनायक से कोई मतभेद नहीं है, किन्तु भट्टनायक के द्वारा कल्पित दो नवीन व्यापारों (भावकत्व और भोजकत्व) के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का अवश्य मतभेद है। भट्टनायक ने अपने सिद्धान्त (रसास्वाद की प्रतीति-विलक्षणता) के अनुरोध से 'भोजकत्व' (भोगीकरण) व्यापार की कल्पना की है। किन्तु अभिनवगुप्त ने तो यह सिद्ध कर दिया है कि 'रसास्वाद' भी एक प्रकार की 'प्रतीति' ही है। वह 'प्रतीति' से अतिरिक्त नहीं है। अतः 'भोगीकरण-व्यापार' और 'रसः न अभिव्यज्यते' यह सिद्धान्त, निराधार है। आपका कल्पित 'भोगीकरणव्यापार' तो हमारे सर्वमान्य 'व्यञ्जनाव्यापार' से कोई पृथक् नहीं है। वह तो 'व्यञ्जना-व्यापार' ही है। क्योंकि 'व्यञ्जना-व्यापार' का जो 'विषय' और फल है, वही तुम्हारे भोगीकरण-व्यापार का भी विषय और फल है। एवं च दोनों का विषय और फल एक ही है। भट्टनायक, 'भोगीकरणव्यापार' का जो फल बताते हैं, वह मोहपटल के दूर हो जाने पर 'प्रकाशानन्दमयचैतन्य' में पर्यवसित होनेवाला, द्रुति-विस्तर-विकासात्मक 'भोग' (आस्वाद) और उससे होनेवाली 'चमत्कृति' के अतिरिक्त और क्या है? अर्थात् अन्य कुछ नहीं है। व्यञ्जना-व्यापार का भी फल वही है। इसी बात को आनन्दवर्धन भी कह रहे हैं—"भोगीकरणव्यापारश्च रसविषयः ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्।·········भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेण आस्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तर-विकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः।" (लोचन)।

भिनवभारती में 'चमत्कृति' के स्वरूप को अच्छी तरह से बताया है, जो इस प्रकार है–'निर्विघ्न, अखण्ड प्रतीति' और उससे होनेवाली जो 'कम्प-रोमाञ्च' आदि विकृति है, उसी को 'चमत्कृति' कहते हैं। यह 'चमत्कृति' रूप निर्विघ्न प्रतीति ही साक्षात्कारात्मक 'प्रतीति' है। इसको चाहे 'मानस अध्यवसाय' (गौर्वाहीकः की तरह इच्छाबलजन्य आरोप) कहिये, चाहे संकल्प (कल्पना) कहिये, चाहे किसी शब्द से कहिये, है वह 'प्रतीति' ही। इसी प्रतीति को लक्ष्य करके ही 'चमत्कार,

निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि अभिनवगुप्तपाद ने अपनी अभिनवभारती में कहा है– "सा च अविघ्ना संवित् चमत्कारः, तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिः विकारः चमत्कारः। स च साक्षात्कारस्वभावः मानसः अध्यवसायः वा, संकल्पः वा, स्मृतिः वा, तयात्वेन स्फुरन्नस्तु। यदाह—"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्" (शाकु॰-५।२), अत्र हि 'स्मरति' इति या स्मृतिः उपदर्शिता, सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वम् एतस्य अर्थस्य अननुभूतत्वात्, अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावा इयम्, इति। सर्वथा तावत् एषा अस्ति प्रतीतिः आस्वादात्मा········।" (अभि. भार. पृ. २८१)।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के बताये हुए 'अभिधाव्यापार' को तो मान्य किया है, किन्तु भट्टनायक के बताये हुए 'भोगीकरण-व्यापार' को स्वसम्मत 'व्यञ्जना-व्यापार' से अभिन्न (अपृथक्) बताया है, और मध्यवर्ती 'भावकत्व' (भावना) व्यापार का परीक्षण करते हुए उन्होंने (अभिनवगुप्त ने) कहा है कि इस व्यापार में मान्य, 'काव्योचित-गुणालंकारविशिष्टत्व' तो हमें भी अभीष्ट है, अतः आपने नवीन बात कौन-सी बताई है। गुणालंकारों से होने वाले 'साधारणीकरण' को मीमांसाशास्त्रीय पारिभाषिक 'भावना' की कल्पना करके भट्टनायक ने 'रसः न उत्पद्यते' कहकर किये हुए पक्ष को स्वयं ही पुनः उज्जीवित किया है। 'भावना' का अर्थ है—'उत्पत्त्यनुकूलव्यापार'। जैसे स्वर्गरूप फल को उद्देश्य करके, यानी स्वर्गरूप फल की उत्पत्ति के लिए स्वर्गेच्छु पुरुष के द्वारा किये जाने वाले 'याग' को ही 'भावना' शब्द से कहा जाता है। इसी रीति से 'रस' को उद्देश्य करके होनेवाला 'भावकत्व-व्यापार' भी रसोत्पत्ति-परक व्यापार ही सिद्ध होता है। इसे वे (भट्टनायक) अस्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि वे उत्पादक-व्यापार से भिन्न 'व्यञ्जना-व्यापार' को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। यद्यपि हम 'साधारणीकरण' को स्वीकार करते हैं, तथापि उपर्युक्त प्रसंग हम पर नहीं आता है, क्योंकि हम 'व्यञ्जनावादी' हैं।

मीमांसाशास्त्र-सम्मत 'भावना' का अवतरण काव्यशास्त्र में स्वीकार करने से भट्टनायक के पक्ष में एक अन्य प्रश्न भी उपस्थित होता है, जो इस प्रकार है— 'भावकत्वव्यापार' की स्थिति; 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों में 'स्वतन्त्र' रूप से (अन्योन्य-निरपेक्षतया) माननी होगी, क्योंकि मीमांसाशास्त्र की 'शाब्दीभावना', उस शास्त्र की 'आर्थीभावना' से भिन्न है। किन्तु काव्य में वे शब्द और अर्थ, स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य नहीं कर सकते। अतः काव्य में उसे (भावना को) स्वीकार करना उचित नहीं है।

व्यञ्जनावादी के मत में यह बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि काव्य में 'शब्द

और अर्थ' दोनों में व्यञ्जनाव्यापार का समुच्चय माना गया है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की कारिका १।१३ पर लोचनकार ने कहा है कि "भावकत्वमपि समुच्चित-गुणालंकारपरिग्रहात्मकम् अस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम् ? काव्यं च रसान् प्रति भावकम् इति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनात् उत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानाम् अर्थानाम्, शब्दान्तरेण अर्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वम् इति, अस्माभि-रेव उक्तम्—"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इति।"

रससूत्र पर अभिनवगुप्तपाद की व्याख्या--

इनके मत के अनुसार 'स्थायी' और 'रस' पृथक्-पृथक् हैं—'स्थायिविलक्षण एव रसः (अभि० भारती० पृ० २८५)। सभी प्राणिमात्र के हृदय में 'स्थायीभाव' जन्मतः (स्वाभाविक) ही हुआ करते हैं और वे सदा-सर्वदा के लिए रहते हैं। अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—"स्थायित्वञ्च एतावतामेव। जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतः भवति।···नहि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।' (अभि० भारती० पृ० २८४)। उत्साहादयस्तु संपादितकर्तव्यतया प्रणीनकल्पा अपि संस्कार-शेषतां न अतिवर्तन्ते, कर्तव्यान्तरविषयस्य उत्साहादेरखण्डनात्। यथाह पतञ्जलिः—"न हि चैत्रः एकस्यां स्त्रियां रक्तः इति अन्यासु विरक्तः" इत्यादि। (अभि० भार० पृ० २८४)। किन्तु 'रस' तो सहृदयों के चित्त में उत्पन्न होता है और वह तात्का-लिक स्वरूप से रहता है। जब तक 'चर्वणा' है, तभी तक 'रस' की स्थिति रहती है। चर्वणा के समाप्त होते ही 'रस' की समाप्ति हो जाती है। श्रीमदभिनवगुप्तपाद कहते हैं—"अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः" (आभि० भार० पृ० २८०)। "तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः" (अभि० भार० पृ० २८५)।

यदि 'स्थायी' ही 'रस' होता तो व्यवहार में अन्यपुरुषगत 'स्थायी' की प्रतीति भी अनुमान से आस्वाद्य (आस्वाद का विषय) हुई होती, किन्तु किसी को भी ऐसी प्रतीति न हुई है और न है ही। अतः उस प्रतीति को 'स्थायी की अनुमिति' के रूप में ही मानना होगा। इसीलिए भरतमुनि ने अपने रससूत्र में 'स्थायी' का निर्देश नहीं किया ! यदि करते तो 'रसस्वरूप' की प्रतीति में अनेक बाधाएँ उपस्थित होतीं।

'स्थायी का 'रस' में परिणत होना' जो कहा जाता है, वह तो एक औचित्य की दृष्टि से कहा जाता है। 'स्थायी' के व्यावहारिक 'कारण-कार्यों' को ही 'रस' निष्पत्ति में 'विभाव, अनुभाव' शब्दों से कहा जाता है। इसी प्रसिद्धि की ओर ध्यान रखते हुए 'स्थायी' को यदि गौणरूप में 'रस' कहा जाय तो कह सकते हैं—('तेन स्थायिप्रतीतिः अनुमितिरूपा वाच्या, न रसः। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न

कृतम्, तत् प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलम् औचित्यात् एवमुच्यते, 'स्थायीरसभूतः' इति। औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानाम् अधुना चर्वणोपयोगितया विभावत्वावलम्बनात्। तदा हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता ?" (अभि० भार० पृ० २८५)।

'स्थायी' से 'रस' जैसे भिन्न है, वैसे ही 'विभाव–अनुभाव' भी 'स्थायी' के 'कार्य–कारणों' से भिन्न हैं। 'कार्य–कारणों' का 'स्थायी' के साथ 'जन्य–जनक-भाव' सम्बन्ध है, किन्तु 'अनुभाव–विभावों' का 'रस' के साथ 'व्यङ्ग्य–व्यञ्जक-भाव' सम्बन्ध है। यदि 'अनुभाव–विभाव' को 'रस' का 'जनक' कहा जाय तो 'अनुभाव–विभाव' के दृष्टि से ओझल होने पर भी 'रस' की प्रतीति हुई होती। अभिनवगुप्त कहते हैं कि—'अत एव विभावादयः न निष्पत्तिहेतवः—रसस्य तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसंगात्' (अभि० भार० पृ० २८६)। किन्तु दृष्टि से अनुभाव-विभावों के ओझल होने पर 'रस' की प्रतीति नहीं होती। जब तक अनुभाव–विभावों की उपस्थिति रहती है, तभी तक 'रस' की प्रतीति होती है। 'अनुभाव–विभाव' जब दृष्टिगत नहीं रहते, तब 'रसप्रतीति' नहीं हो पाती। यदि कोई कहे कि विभाव–अनुभाव को 'रस' का 'कारण' न कहा जाय तो 'रससूत्र' में भरत ने कार्यकारणबोधक 'निष्पत्ति' पद का प्रयोग क्यों किया ? इस पर श्रीअभिनवगुप्तपाद ने उत्तर दिया है कि 'निष्पत्ति' शब्द से 'रसविषयकचर्वणा' की उत्पत्ति कही गई है, 'रस' की नहीं। यह 'चर्वणा' (रसना) प्रतीतिरूप है, उसी की उत्पत्ति होती है। 'रस' का जीवित उस पर केवल अवलम्बित है। इसलिए गौणतया 'रस' को उत्पन्न हुआ कहना चाहें तो कह सकते हैं, अभिनवगुप्त ने कहा है—'"तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेयं रसस्य, अपि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिः उच्यते, न कश्चिदत्र दोषः' (अभि० भा० पृ० २८६)। जैसे 'घट' के ज्ञान की उत्पत्ति होने से, उस ज्ञान के समय 'घट' के ज्ञान की उत्पत्ति होने से, उस ज्ञान के समय 'घट' की उत्पत्ति का होना नहीं कह सकते, वैसे ही 'चर्वणा' (रसना), प्रतीति (ज्ञान) रूप होने से उसकी (चर्वणा की) उत्पत्ति का होना तो उचित है, किन्तु चर्व्यमाण (चर्वणा का विषय) 'रस' की उत्पत्ति-को बताना उचित नहीं है। क्योंकि 'घट' का अस्तित्व, 'घटज्ञान' पर निर्भर नहीं है, उसी तरह 'रस' ज्ञान (चर्वणा) पर उसका (रस का) अस्तित्व अवलम्बित नहीं है।

'चर्वणा' (रसना) को 'रस' की 'प्रतीति' (ज्ञान) कहने पर, उस प्रतीत का जो विषय 'रस' है, वह क्या है ? इसका उत्तर अभिनवगुप्तपाद देते हैं कि 'रस' यानी 'साधारणीकृत' चर्वणा (रसना) गोचर (विषय) होने वाला 'स्थायी'। "सर्वथा

रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यः भाव एव रसः" (अभि० भार० पृ० २८१)। एवं च 'साधारणीकृतत्व' और 'रसनागोचरत्व' इन दो विशेषणों से रहित 'स्थायी' जब रहे तब उसे 'रस' नहीं कहा जाता। इसी अभिप्राय से पहले 'स्थायी विलक्षणो रसः' कहा था। अतः 'स्थायी रसः' और 'स्थायिविलक्षणो रसः' इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। 'रस' के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय 'साधारणीकृतत्व' जो विशेषण दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि प्रेक्षक को 'रसात्मक स्थायी' की प्रतीति जो होती है, वह किस रूप में होती है? उसे विचारना होगा। 'स्थायी' की प्रतीति 'स्व-गत, शत्रु-गत या तटस्थ-गत' रूप में नहीं होती है।

'स्थायी' यदि 'स्व-गत' रूप से प्रतीत हुआ होता तो प्रत्येक प्रेक्षक को स्वयं 'लज्जा' का अनुभव हुआ होता। क्योंकि उसके मन में यह आता कि अपने 'रति आदि भाव को अन्य प्रेक्षक देख रहे हैं', यह भाव मन में आने पर उनका (प्रेक्षकों का) लज्जित होना स्वाभाविक ही है। यदि 'स्थायी' 'शत्रुगत' रूप से प्रतीत हुआ होता तो प्रेक्षकों (सामाजिकों) के मन में 'द्वेष' उत्पन्न होता, जिससे रसास्वाद न हो पाता। यदि 'स्थायी ''तटस्थ-गत' रूप से प्रतीत होता है, कहें तो उसके साथ 'स्वय' का कोई सम्बन्ध न रहने से प्रेक्षक (सामाजिक) कों 'रसास्वाद' का अनुभव होना कभी शक्य न हुआ होता। किन्तु सामाजिक को तो रसास्वाद उपलब्ध होता है, यह निर्विवाद है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि सामाजिक को 'स्थायी' की प्रतीति, किसी नियत व्यक्ति से सम्बद्ध हुई नहीं होती है। अपितु उसकी प्रतीति 'साधारण-रूप' से होती है। इस रीति से 'स्थायी' से नियत व्यक्ति का सम्बन्ध छूट गया। उसके छूटने से नियत देश और नियत काल का सम्बन्ध भी उससे छूट जाता है। यही 'साधारणीकरण' की सामग्री है। इसी बात को अभिनवगुप्तपाद ने बताया है—"अयमत्र संक्षेपः—मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावत् नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढ-प्राक्तन-संवित्-सस्काराच्च काव्यबलाऽऽनीयमानाऽपि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एव उभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टाः, तथापि लौकिकदेशकालाऽनियमनेन तत्र रतिं गमयन्ति, यस्यां स्वात्माऽपि तद्वासनावत्त्वात् अनुप्रविष्टः। अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियत-कारणतया, येन अर्जनाभिषङ्गादिसंभावना। न च नियतपरात्मैकगततया। येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता, संतानवृत्तेः एकस्याः एव वा संविदः गोचर-भूता रतिः शृङ्गारः।"—(अभि० भा० पृ० २८७)

इस 'साधारणीकरण' का ही दुसरा नाम 'हृदयसंवाद' है। ऐसा हृदयसंवाद, जिसे होता है, उसीको 'सहृदय' शब्द से काव्यशास्त्र में संबोधित किया गया है "हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्........" (अभि० भा० पृ० २८६)। रसस्वरूप

के प्रतिपादन में 'रसगोचरता' कहकर रसविषयता को बताया है। अर्थात् 'स्थायी' की रसता स्वयं सिद्ध नहीं है। जब तक 'स्थायी' भाव रसना का विषय नहीं हो पाता, तब तक उस स्थायी भाव को 'रस' नहीं कहा जाता। रसना (चर्वणा = आस्वादन) के समय में रसना का विषय होकर जितनी देर तक स्थायीभाव रहता है, उतने ही समय के लिए वह 'रस' शब्द से कहा जाने का अधिकारी है। तदतिरिक्त समय में वह 'स्थायी' भाव ही कहलाता है। एवं च 'रस' की आयुर्मर्यादा केवल 'रसनाकाल' तक ही है।

रसचर्चा का सिंहावलोकन

'नाट्य' क्या है ? तो उत्तर होगा—'अर्थविशेष' है। यह 'अर्थविशेष' नाटक के द्वारा प्रकाशित किया जाता है, और एकाग्रचित्त से ग्रहण किया जाता है, नटों के अभिनय से प्रत्यक्षतुल्य होता है। उसके नानाविध रहने पर भी समस्त जड़ पदार्थों की सफलता संवेदना में, संवेदन की भोक्ता में, और समस्त भोक्ताओं की मुख्य भोक्ता में अन्तर्भूत होने से उपर्युक्त 'अर्थ', मुख्य भोक्ता जो नायक है, उसके स्थायीभाव के रूप में संगृहीत हो जाता है। यह स्थायीभावरूप चित्तवृत्ति, यद्यपि अपनी या दूसरे की है, इसकी पहिचान, सैंकड़ों भिन्न-भिन्न चित्तवृत्ति के स्वरूप में प्रकट होती है, तथापि लौकिक जीवन से भिन्न रहने वाले गीत-वाद्य-नृत्य-लक्षण-गुण-अंधकार आदि साधनों से वह स्व-परभाव नष्ट हो जाता है, और वह चित्तवृत्ति, साधारणरूप धारण करके अपने में सामाजिकों को अपना लेती है। अर्थात् सामाजिकों की अपने में ही स्थित वह चित्तवृत्ति है, यह संवेदना होने लगती है। किन्तु उस चित्तवृत्ति का स्वयं में और स्वयं से सम्बद्ध अनुभव न हो पाने से राग-द्वेषादि अन्य चित्तवृत्तियों का जन्म उससे नहीं हो पाता। इसलिए वह, निर्विघ्न आस्वाद का विषय होती है और उसे 'रस' नाम दिया जाता है। एवं च इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'रस' ही नाट्य है—(भार० पृ० २६८–६९)

काव्यरस—

उपर्युक्त विवेचन दृश्य-काव्य नाट्य के 'रस' की दृष्टि से किया गया है। किन्तु काव्यगत रस के विषय में भट्टतौत का कहना है कि काव्य में भी जो रस-प्रतीति होती है, वह भी प्राय: नाट्य में रूपान्तर होने पर ही होती है। अर्थात् काव्यार्थ की संवेदना, प्रत्यक्षानुभव के तुल्य होने पर ही रसानुभव हुआ करता है। काव्यार्थ की प्रत्यक्षकल्प संवेदना, कवि की वर्णन-कुशलता और प्रौढोक्ति पर निर्भर होती है।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य मत ऐसा भी है कि काव्य में जो रसचर्वणा होती है, वह गुणालंकारों से निर्मित्त होने वाले सौन्दर्यातिशय के कारण होती है।

उसके पश्चात् अभिनवगुप्त ने अपना स्वयं का मत दिया है कि वामन के मतानुसार 'देशरूपकात्मक नाट्य'—ही वस्तुतः काव्य है। क्योंकि उसमें यथोचित विविध भाषा, वृत्ति, स्वरविकृति, वेषभूषा इत्यादि साधनों से सरसता आती है। सरसता-सम्पादक ये सब साधन, 'सर्गबन्ध' आदि प्रकारों में नहीं हुआ करते। सहृदय लोग रसास्वाद के अनुकूल पीठिका का निर्माण उनमें करते हैं। इसलिए उनमें से उनको रस की प्रतीति होती है। रसास्वादानुकूल पीठिका का निर्माण करने में सहृदयों को काव्याभ्यास, पुण्यसम्पादन इत्यादि बातों का बल प्राप्त करना होता है। उसीसे उन्हें काव्य की विभावादिसामग्री के परिमित रहने पर भी रस के साक्षात्कार की स्फुट प्रतीति हो पाती है। अभिनवगुप्त ने इसी बात को कहा भी है—"न नाट्य एव रसः। काव्येऽपि नाट्यायमाने एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदयेः, इति उपाध्यायाः। यदाहुः काव्यकौतुके—"प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः" इति। "वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः। उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः॥" इति॥ अन्ये तु काव्येऽपि गुणालंकारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणम् आहुः।

वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावत् मुख्यतः दशरूपकात्मकमेव। तत्र हि उचितैः भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता'—(भार० २९१-९२)।

'तद्रूप(?)समर्पणया तु प्रबन्धे भाषावेषवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च सहृदयाः पूर्वापरम् उचितं परिकल्प्य "ईदृक् अत्र वक्ता अस्मिन् अवसरे" इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते। तेन ये काव्याभ्यास प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयाः तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति।" (भार० पृ० २८८)

अभिनवगुप्त ने और भी एक जगह कहा है कि नाट्य में जिस प्रकार 'लोकधर्मी' और 'नाट्यधर्मी' इन दो उपायों से रसास्वाद का लाभ होता है, उसी प्रकार काव्य में 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' इन द्विविध उक्तियों से अलौकिक प्रसन्न, मधुर, ओजस्वी शब्दों के द्वारा विभावादिकों की प्रतीति से रसास्वाद होता है। इसी बात को लोचनकार कह रहे हैं—'काव्येऽपि च लोक-नाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति-प्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्न-मधुरोजस्वि-शब्दसमर्प्यमाण-विभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता'। (लोचन)।

गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार—

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक जो द्वितीय काव्यभेद है, उसका आठ प्रकार से निरूपण पञ्चम उल्लास में किया गया है। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' उसे कहते हैं, जिस काव्य में

'व्यङ्ग्यार्थ' गोण (अप्रधान) रूप से रहता है। व्यंग्यार्थ की गोणता (अप्रधानता) आठ प्रकार की परिस्थिति में हुआ करती है। उनमें से—

पहिली परिस्थिति--

(१) व्यङ्ग्यार्थ का अगूढ (स्पष्ट) रहना—

दूसरी परिस्थिति--

(२) 'अलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य' अथवा 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' के प्रति या 'वाच्यार्थ' के प्रति व्यङ्ग्यार्थ का अंगभूत रहना।

तीसरी परिस्थिति—

(३) वाच्यार्थ की सिद्धि में व्यंग्यार्थ का अंगभूत होना।

चौथी परिस्थिति--

(४) व्यंग्यार्थ का अस्फुट (क्लिष्ट) रहना।

पाँचवीं परिस्थिति--

(५) व्यंग्यार्थ की प्रधानता का सन्दिग्ध रहना।

छठवीं परिस्थिति—

(६) व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ की प्रधानता समानरूप से रहना।

सातवी परिस्थिति--

(७) व्यंग्यार्थ का 'काकु' से प्रकट होना।

आठवीं परिस्थिति--

(८) वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की असुन्दरता का होना।

पूर्वोक्त ध्वनि-प्रकारों की दिशा से इन आठ प्रकारों के अन्यान्य उपप्रकारों की भी यथासंभव कल्पना की जा सकती है। इस दृष्टि से ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्यों के अगणित मिश्र प्रकार हो सकते हैं। यह सूचित करते हुए—ध्वनि के प्रकारों को सप्रमाण सिद्ध करके श्रीमम्मटभट्ट ने प्रस्तुत विषय का उपसंहार किया है।

किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने उक्त प्रकारों की असंख्यता को देखकर उनका परिगणन जो छोड़ दिया है, उसे सुधासागरकार ने पूर्ण कर दिया है। 'गुणीभूतव्यंग्य' के कुल प्रकार ८१४५ और 'ध्वनि-गूणीभूतव्यङ्ग्यों' के संकर-संसृष्टि से उद्भूत हुए प्रकार ३४०६२३९०० बताये हैं।

श्रीमम्मटभट्ट ने ध्वनि (व्यंग्यार्थ) के 'वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसादि-ध्वनि' से इन तीन भेदों को स्थूलतया बताया है।

गुणीभूतव्यंग्य के कतिपय उदाहरण—

(१) अगूढव्यङ्ग्य—'उन्निद्रकोकनद०'

(२) अपराङ्गव्यङ्ग्य--'अयं स रशनोत्कर्षी०'

इस उदाहरण में 'शृङ्गार रस', सन्दर्भप्राप्त 'करुण रस' का अंगभूत हो गया है, इसलिए इस उदाहरणभूत काव्य को 'ध्वनि' की संज्ञा न देकर 'गुणीभूतव्यंग्य' की संज्ञा दी गई है। इस रीति से जहाँ 'रस' को अंगभूत कहा जाता हो, वहाँ 'रसवत्' संज्ञक अलंकार होता है, यह बात ध्वनिकार और उनके कतिपय उनके अनुयायियों ने मानी है। उद्भटादि आलंकारिकों ने तो यह कहा है कि चाहे अंगभूत हों, चाहे अंगीभूत हों सभी 'रसों' का समावेश 'रसवत्' अलंकार में होता है, (उद्भट ४।३)।

किन्तु ये दोनों पक्ष, श्रीमम्मटभट्ट को मान्य नहीं हैं। 'रस' यदि प्रधान हो तो उसे 'अंगी' कहा जाता है, इसलिए उस समय अलंकार नहीं कहा जाता। किन्तु 'रस' जहाँ किसी दूसरे का अंगभूत हो, तब वह अंगी का साक्षात् उपकारक माना जाता है। वहाँ वह वाच्यार्थ के द्वारा उपकारक नहीं होता है, इसलिए ऐसे स्थलों पर भी उसे 'अलंकार' नहीं कहा जाता।

'रस' की तरह 'भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति' को भी उद्भट आदिकों ने क्रमशः 'प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित' नाम देकर उन्हें अलंकार ही माना है (उद्भट ४।२–७)।

किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने कहा है कि वे जब 'प्रधान' रहें तब उनकी गणना 'ध्वनि' में की जाती है, और वे जब अंगभूत हों तब उनको 'गुणीभूतव्यंग्य' में स्थान दिया जाता है। मम्मटपूर्व किसी आलंकारिक ने 'भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता' को अलंकार की संज्ञा नहीं दी है। किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने 'भाव और रसाभासादि' के तुल्य उन्हें भी 'ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्य' में ही माना है।

उपर्युक्त 'अयं स रशनोत्कर्षी' यह उदाहरण 'रसांगभूत रस' का है। तथा 'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्तिः' यह उदाहरण 'भावांगभूत भाव' का है। इस उदाहरण में पृथ्वीविषयक 'रतिभाव', राजविषयक 'रतिभाव' का अंग है। इस उदाहरण-भूत काव्य को 'गुणीभूतव्यंग्य' की संज्ञा दी गई है, यह देखकर कोई पूछ सकता है कि यहाँ पर अङ्गीभूत राजविषयक रतिभाव को लक्ष्य कर इस उदाहरणभूत काव्य को 'ध्वनि' ही क्यों न कहा जाय ? किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने उत्तर दिया है कि वस्तुतः देखा जाय तो प्रायः सभी व्यंग्य काव्यों में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के असंख्य प्रकारों में परस्पर सजातीय अथवा विजातीय संकर और संसृष्टि दृष्टि-गोचर होती है, तथापि जिन विशिष्ट उदाहरणों में जो प्रकार (भेद) प्रधानतया चमत्कृतिजनक होता हो, उसी को लक्ष्य करके उस उदाहरण को 'ध्वनि' अथवा 'गुणीभूतव्यंग्य' के नाम से कहा जाता है। उपर्युक्त दो उदाहरणों में 'व्यंग्यार्थ, दूसरे व्यंग्यार्थ के प्रति अंगभूत' हुआ है। तथा अग्रिम उदाहरण 'जनस्थाने भ्रान्तं' में कवि ने अनेकार्थक वर्णावलि का प्रयोग कर स्वयं का राम से

साम्य सूचित किया है। इस साम्य के आधार पर 'मया आप्तं रामत्वम्' यह विधान उसने किया है। अर्थात् यहाँ पर सूचित किया गया साम्य, प्रस्तुत विधान-रूप वाच्यार्थ के प्रति अंगभूत' हो गया है।

(३) वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्य — 'गच्छाम्यच्युतं' इस उदाहरण में गोपी का आशय, ध्यान में आने पर ही उसके 'वृथावस्थान' और 'खेदायस' होने की आपत्ति जग पाती है। इसलिए प्रस्तुत उदाहरण-भूत काव्य में जो 'व्यंग्यार्थ' है, वह काव्य के वाच्यार्थ की सिद्धि में अंगभूत है।

(४ अस्फुटव्यङ्ग्य—'अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा' इस उदाहरण में जो व्यंग्यार्थ है, वह सहृदयों को भी दुर्बोध है। इसलिए इस उदाहरण-भूत काव्य को 'स्फुटव्यंग्य' कहा गया है।

(५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य — 'हरस्तु किञ्चित्' इस उदाहरण में 'उमा के अधरोष्ठ का चुम्बन करने की लालसा शिव को हुई'—यह 'व्यङ्ग्यार्थ' है, और 'शिव ने उमा के ओष्ठ पर अपनी आँखें टिका दीं'—यह 'वाच्यार्थ' है। इन दोनों अर्थों में से कौन-सा अर्थ 'मुख्य' है और कौन सा 'गौण' है ? इसका निर्णय करने में किसी प्रमाण के न होने से इस उदाहरणभूत काव्य को 'सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य' नाम दिया गया है। क्योंकि यहाँ पर दोनों ही अर्थों की रमणीयता समान प्रतीत हो रही है और शिव की उमाविषयक रति को प्रकट करने की शक्ति दोनों ही अर्थों में है।

(६) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो' इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' दोनों का प्राधान्य तुल्य (समान) है, क्योंकि 'वाच्यार्थरूप' 'उत्कर्ष' और 'व्यङ्ग्यार्थरूप' 'विनाश' दोनों की प्रधानता समान है।

(७) काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य–'मथ्नामि कौरवशतं'–इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' तो यह है कि 'मैं युद्ध में क्रोध से कौरवों का संहार नहीं करूँगा' किन्तु काव्य-गत वाक्यों को अपने स्वर को बदल कर (काकु) यदि कहा जाय तो 'मैं युद्ध में क्रोध से कौरवों का संहार किये बिना नहीं रहूँगा' यह 'व्यङ्ग्यार्थ' उस परिवर्तित आवाज से प्रकट होता है। इस प्रकार जहाँ विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ, 'काकु' की सहायता से प्रकट होता है, वहाँ वह, 'निषेधरूप' वाच्यार्थ के साथ ही प्रकट होता है, इसलिए उसमें 'गौणता' आ जाने से इस उदाहरण-भूत काव्य को 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नाम दिया गया है।

(८) असुन्दरव्यङ्ग्य — 'वाणीरकुडङ्गुड्डीण' (वा नीरकुञ्जोड्डीन) इस उदाहरण में वाच्यार्थ' की अपेक्षा, 'व्यङ्ग्यार्थ' का सौन्दर्य 'न्यून' है। इसलिए इस उदाहरण को 'असुन्दरव्यङ्ग्य' के नाम से कहा गया है।

इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के आठ प्रकारों को बताकर 'ध्वनि' की तात्त्विक चर्चा की है, जो प्रतिपाद्य विषय की उपकारक है। द्वितीय उल्लास में की गई व्यञ्जनाविषयक चर्चा की अपेक्षा इस पञ्चम उल्लास में की जाने वाली चर्चा एक अलग दृष्टिकोण से की गई है। द्वितीय उल्लास में अभिधा-लक्षणा के ज्ञान की सर्वमान्य प्रक्रिया के आधार पर व्यंजनाव्यापार की चर्चा की गई है। उस व्यञ्जना व्यापार के विषय में अनेक वादियों ने आक्षेप किये हैं, उन आक्षेपों का सप्रमाण सोपपत्तिक खण्डन इस उल्लास के उत्तरार्ध में किया गया है। इस ऊहापोह का बहुत-सा भाग ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में ध्वनि-प्रकारों के निरूपण के बाद और गुणीभूतव्यंग्य के पूर्व मूलग्रंथ में की गई मीमांसा के साथ तथा प्रथम उद्योत के 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' (ध्वन्या. १।४) इस कारिका की लोचनव्याख्या के साथ तुलना करने योग्य है।

'रस' के स्थलों में व्यञ्जना की सिद्धि—

श्रीमम्मटभट्ट ने चर्चा के आरम्भ में ही ध्वनि के मुख्य प्रकारों में से एक-एक को लेकर उसमें व्यञ्जनाव्यापार के अतिरिक्त निर्वाह नहीं हो सकता, यह बताया है। समस्त ध्वनि-प्रपञ्च के संक्षेपतः तीन प्रकार होते हैं, जो व्यंग्यार्थ के तीन प्रकारों के कारण होते हैं। कतिपय 'व्यङ्ग्यार्थ', वाच्य का रूप ग्रहण कर सकते हैं, अर्थात् यदि चाहें तो 'व्यञ्जना' का आश्रय किये बिना ही साक्षात् अभिधा के द्वारा उन्हें प्रकट किया जा सकता है। तथा कतिपय 'व्यंग्यार्थ', वाच्य का रूप ग्रहण ही नहीं कर सकते, अर्थात् सर्वदा 'व्यञ्जना' के द्वारा ही वे प्रकट होते हैं। जो 'वाच्यरूप' को ग्रहण कर सकते हैं, उनके 'अविचित्र' (चमत्काररहित) और 'विचित्र' (चमत्कृतिपूर्ण) नाम से दो विभाग (भेद) होते हैं। उनमें से 'अविचित्र व्यंग्य' यानी 'वस्तुध्वनि' और 'विचित्रव्यङ्ग्य' यानी 'अलङ्कारध्वनि' कहलाती है। अब अवशिष्ट जो 'रसादिध्वनि' है, वह कभी 'वाच्य' के रूप का ग्रहण करेगा, यह आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती—'रसादिलक्षणस्तु अर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः'। क्योंकि 'रस' को यदि 'वाच्य' कहें, तो उसका वाचक शब्द 'रस' होगा ? या 'श्रृङ्गार' आदि शब्द होंगे ? इन दोनों पक्षों में से किसी भी पक्ष को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग करने पर भी यदि विभावादिकों का प्रयोग न किया जाय तो 'रस-प्रतीति' नहीं हुआ करती, प्रत्युत 'रस-श्रृंगार' आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी केवल विभावादि के प्रयोग करने मात्र से 'रसप्रतीति' हुआ करती है। इस 'अन्वय-व्यतिरेक' के बल पर यह सिद्ध हो जाता है कि केवल विभावादिकों का प्रयोग करने पर 'रस-प्रतीति' होती है। अर्थात् वह 'व्यङ्ग्य' है—यह निश्चित हो जाता है। उसी तरह यह भी स्पष्ट है कि 'रस' को 'अभिधा' का विषय नहीं कह

सकते, तथा उसे 'लक्षणा' का भी विषय नहीं कह सकते, क्योंकि लक्षणा के लिए आवश्यक जो मुख्यार्थ-बाध आदि कारण-सामग्री कही गई हैं, वह रसस्थल में उपलब्ध नहीं है। निष्कर्ष यह है कि "अलक्ष्यक्रमव्यंग्य" ध्वनि में 'व्यञ्जनाव्यापार' के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार का संभव ही नहीं है।

अवशिष्ट ध्वनि भेदों में व्यञ्जना की सिद्धि—

अवशिष्ट ध्वनि-प्रकारों (ध्वनि-भेदों) में 'अविवक्षितवाच्य' और 'विवक्षितान्यपरवाच्य'—नाम के दो भेद हैं।

उनमें भी 'अविवक्षितवाच्य' के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य' नामके दो भेद होते हैं। तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के 'शब्दशक्तिमूल' और 'अर्थशक्तिमूल' नामक दो भेद, यानी 'लक्ष्यक्रमव्यंग्य' के दो भेद होते हैं। अविवक्षितवाच्य के जो भेद बताये हैं, उनमें 'वस्तुव्यंग्य' जब तक नहीं होगा तब तक 'लक्षणा' का होना संभव ही नहीं है। उनमें रूढि का कोई सम्बन्ध न रहने से 'प्रयोजनवती' लक्षणा ही होगी। तब प्रयोजनवती लक्षणा में तो 'प्रयोजन' नित्य व्यंग्य' ही रहा करता है। इसे द्वितीय उल्लास में बता ही चुके हैं। शब्दशक्ति मूलक ध्वनि में भी अनेकार्थक शब्दों का अभिधाव्यापार, सन्दर्भादि की दृष्टि से प्रकृत अर्थ तक ही नियन्त्रित रहता है, उस कारण अप्रकृत अर्थ और प्रकृत–अप्रकृत अर्थों में प्रतीयमान उपमादि अलंकारों की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही होती है, यह निर्विवाद है।

अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि का परीक्षण—

'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि' का परीक्षण, महान् मीमांसक कुमारिलभट्ट के अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से भी किया जा सकता है। इनके अभिहितान्वयवाद में केवल सामान्यात्मक पदार्थों का (पदार्थ-सामान्य का) ज्ञान (बोध) अभिधावृत्ति से होता है, और पदार्थसंसर्गरूप विशेषात्मक वाक्यार्थ का ज्ञान (बोध) तात्पर्यवृत्ति से होता है। क्योंकि सामान्य अर्थ में ही संकेत (शक्ति) ग्रह को मानना उचित है। विशेषात्मक अर्थ में मानना उचित नहीं है और 'अभिधा' तो केवल संकेतित अर्थ का बोध करानेवाला शब्दव्यापार है। तात्पर्य यह है कि इस अभिहितान्वयवाद में भी विशेषात्मक जो वाक्यार्थ है, उसे 'अभिधा' का विषय नहीं माना जाता, तब सोचिये कि वाक्यार्थ-प्रतीति के पश्चात् प्रकट होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ, 'अभिधा' का विषय कैसे हो पायगा ?

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि से अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का परीक्षण—

अन्विताभिधानवाद में भाषा की शिक्षा प्राप्त करने वाला छोटा-सा बालक

वृद्धव्यवहार को देखकर और एक-एक पद (शब्द) को सुनकर उस एक-एक पद से विशेष रूप में ही 'यानी संसर्गयुक्त पदार्थ' को समझा करता है ।

जैसे—कोई वृद्ध आदमी किसी मध्यम वृद्ध (प्रौढ़ आदमी) से कहता है कि 'देवदत्त बैल लाओ'। यह सुनकर प्रौढ आदमी उसे ले आने की क्रिया करता है। उसकी उस क्रिया को देखनेवाले, भाषा से अनभिज्ञ छोटे बालक को अर्थापत्तिप्रमाण से 'प्रौढ आदमी के द्वारा बैल का लाना' इस अखण्ड वाक्यार्थ का ज्ञान हो पाता है। तदनन्तर वही वृद्ध आदमी किसी दूसरे प्रौढ आदमी से कहता है कि 'चैत्र ! बैल ले आओ' इस वाक्य को सुनकर वह भी 'बैल' को ले आता है। इसके द्वारा की गई लाने की क्रिया को देखता है। उन दोनों क्रियाओं के बोधक वाक्यों में 'देवदत्त और चैत्र' शब्दों का जो 'आवाप—उद्वाप' उसने क्रिया उससे उस बालक को 'देवदत्त और चैत्र' शब्द से बोध्य अर्थ का ज्ञान हो जाता है। तदनन्तर उसी वृद्ध ने कहा कि 'देवदत्त ! बैल को वापस ले जाओ और घोड़े को ले आओ' इस वाक्य को सुनकर देवदत्त बैल को वापस ले जाता है और घोड़े को ले आता है, इस वापस ले जाने की और ले आने की क्रिया को देखने से उस बालक को 'ले जाना' और 'ले आना' तथा 'बैल' और 'घोड़ा' शब्दों का अर्थ बोध, आवाप एवं उद्वाप की प्रक्रिया से हो पाता है। इस प्रक्रिया में वाक्यरूप से अवगत होनेवाली भाषा में प्रत्येक पदार्थ, अन्य किसी पदार्थ से सम्बद्ध (अन्वित) ही प्रतीत होता है, और भाषा में उसका प्रयोग भी अन्य एक या अनेक पदार्थों के साथ हुए संयोग के कारण वाक्य के रूप में ही होता है। अर्थात् सामान्यतया सम्बद्ध रहना (अन्वित रहना), यह 'विशेष', प्रत्येक पदार्थ में स्वाभाविक होने के कारण पदार्थ बोध के अनन्तर 'वाक्यार्थबोध' नाम की कोई वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती। निष्कर्ष यह है कि स्वभावतः विशिष्ट (सम्बद्ध या अन्वित) पदार्थ ही 'वाच्यार्थ' होता है, न कि सामान्य पदार्थों में बाद में होनेवाली विशिष्टता, 'वाक्यार्थ' है, "विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्" कहा गया है। इस अन्विताभिधान-वाद में यद्यपि पदार्थ को 'विशेषरूप' कहा गया है, तथापि उसे सामान्यतः एव 'विशेषरूप' कहना चाहिये।

जैसे—'बैल लाओ' इस वाक्य में 'बैल' पद का अर्थ यदि 'किसी से भी सम्बद्ध' इस 'विशेष' से युक्त (अन्वित) हुआ ही ज्ञात होगा, 'ले आओ इस पद के अर्थ से सम्बद्ध'—इस विशेष से युक्त होने की प्रतीति नहीं होगी। अन्यथा 'बैल लाओ' और 'बैल ले जाओ' इन दोनों वाक्यों से कहा गया 'बैल' एक ही पदार्थ है, यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह उपपन्न नहीं हो सकेगी। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में भी सामान्य-विशेषरूप ही पदार्थ जैसे 'बैल लाओ' इस वाक्य में 'किसी से भी

सम्बद्ध' ऐसा 'बैल'—'अभिधा' वृत्ति से बोधित होता है, उस कारण वाक्यार्थान्तर्गत ''अतिविशेष' रूप पदार्थ--जैसे 'बैल ले आओ' इस वाक्य में 'ले आओ से सम्बद्ध' ऐसा 'बैल', और 'बैल से सम्बद्ध' 'ले आओ' यह क्रिया—संकेतित न रहने के कारण 'अभिधा' की कक्षा से बाहर ही रह जाते हैं। तब इन 'सामान्य, विशेष' और 'अतिविशेष' पदार्थों से सर्वथैव भिन्न रहने वाला 'व्यङ्ग्यार्थ'—जैसे 'निःशेषच्युतचन्दनं' इस उदाहरण में 'तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि'—यह विधिरूप अर्थ अभिधा की कक्षा में कैसे आ सकेगा? निष्कर्ष यह है कि अभिहितान्वयवाद में ही नहीं, अपितु अन्विताभिधानवाद में भी 'वाक्यार्थ' 'पदार्थ' से भिन्न ही सिद्ध होता है। इसी बात को श्रीमम्मटभट्ट ने बताया है—"अनन्वितः अर्थः अभिहितान्वये, पदार्थान्तरमात्रेण अन्वितस्तु अन्विताभिधानवादे, अन्वितविशेषस्तु अवाच्य एव–इति उभयनयेऽपि अपदार्थं एव वाक्यार्थः"।

अन्विताभिधानवादी का आक्षेप और उसका समाधान--

वाक्यार्थ को जो अपदार्थ बताया है, उस पर अन्विताभिधानवादी कदाचित् यह कह सकता है कि "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"—कारण का अनुमान कार्य से होता है—इस नियम के अनुसार शब्द से प्रतीत होनेवाले सभी विशेष अर्थों का कारण, हम शब्द को ही मानेंगे, तब हमारे पक्ष में पदार्थ से वाक्यार्थ को भिन्न कैसे कहा जा सकेगा? उसे भिन्न कहने का कोई अवसर ही नहीं है।

इस पर मम्मट उनसे पूछते हैं, आपने जो कहा कि 'सभी अर्थों का कारण, 'शब्द' है, तो उसकी कारणता, क्या 'कारक रूप में' है' या 'ज्ञापक रूप में' है? 'शब्द' को 'अर्थ' का कारक हेतु कह नहीं सकते, क्योंकि वह 'अर्थ' को उत्पन्न नहीं करता है, वह तो अर्थ को केवल प्रकाशित करता है। तथा उसे 'अर्थ' का ज्ञापक हेतु भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अज्ञात अर्थ' का ज्ञान, वह करा नहीं सकता। अन्यथा भाषाविशेष के अनविज्ञ को भी उस भाषा के वाक्यों से स्पष्टतया अर्थज्ञान हुआ होता। अतः उसे ज्ञात अर्थ का ही ज्ञापक कहना होगा। अर्थ का ज्ञान 'संकेतग्रह' से हुआ करता है। अर्थात् अमुक अर्थ है—इस प्रकार सम्बन्ध ग्रहण संकेत ग्रह से होता है। शब्द का संकेत तो किसी से सम्बद्ध हुए सामान्य विशेष रूप अर्थ में ही हो सकता है, अतिविशेष रूप अर्थ में नहीं। यानी अतिविशेष रूप अर्थ, का ज्ञान 'शब्द' को नहीं रहता। अर्थात् अतिविशेष रूप अर्थ, तो शब्द को ज्ञात नहीं है, वह उसे अज्ञात है। कोई भी शब्द अज्ञातरूप रहकर अर्थ को बता नहीं सकता। जब तक यह अच्छी तरह (निश्चित) न मालूम (न ज्ञात) रहे कि अमुक कार्य का अमुक ज्ञापक-कारण है, तब तक उस कारण से उस कार्य की

प्रतीति होना संभव नहीं है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'—कार्य से कारण का अनुमान के आधार पर पदार्थ में ही वाक्यार्थ का अन्तर्भाव करने का अन्विताभिधानवादियों ने जो विचार किया है, वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

दीर्घ अभिधावाद का खण्डन--

'दीर्घ-अभिधावाद' को कुछ व्याख्याकारों ने 'भट्टलोल्लट' का बताया है, किन्तु अभिनवगुप्तपाद ने उसे 'अन्विताभिधानवादियों' का बताया है। तथाहि—"योऽपि अन्विताभिधानवादी" "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति हृदये गृहीत्वा शरवत् अभिधाव्यापारमेव दीर्घ-दीर्घम् इच्छति······। (लोचन)।" श्रीमम्मटभट्ट को भी अभिनवगुप्तपाद का मत ही उचित प्रतीत हो रहा है, क्योंकि आगे चलकर दीर्घ अभिधावाद के दोषों को बताकर उन्होंने 'इति अन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं-व्यङ्ग्यत्वम्" कहा है।

दीर्घ अभिधावाद का स्वरूप इस प्रकार है—किसी धनुर्धर के द्वारा छोड़ा गया बाण, जिस प्रकार अपने एक ही वेगाख्य व्यापार से शत्रु के कवच का भेदन और उसके मर्मस्थल का छेदन एवं प्राणहरण किया करता है, उसी प्रकार अभिधा का व्यापार भी बाण-जैसा ही अनेक लम्बे-लम्बे कार्यों को करने में समर्थ है। अर्थात् 'शब्द' की अकेली अभिधा शक्ति ही 'संकेतित अर्थ, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ' इन सभी का बोध करा देगी। तथाहि—"सोऽयम् इषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापारः"। मीमांसक भी इसी प्रकार कहते हैं कि 'जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही शब्दार्थ है'। तथाहि—"यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः" इति। मीमांसकों का उक्त कथन भी हमारे दीर्घ-अभिधावाद में ही उपोद्बलक है। अतः व्यङ्ग्यार्थबोध के लिए व्यञ्जना-व्यापार को मानने की आवश्यकता नहीं है। व्यंजना का कार्य अभिधा से ही निकल आवेगा।

परन्तु मम्मट का कहना है कि अभिधा का समर्थन करने के लिए तैयार हुए और अपने को मीमांसक समझने वाले ये कतिपय विद्वान् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य के वास्तविक अर्थ को समझ ही नहीं पा रहे हैं—"तेऽपि अतात्पर्यज्ञाः तात्पर्यवाचोयुक्तेः देवानाम्प्रियाः"।

"यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः"—इस मीमांसावचन का अर्थ वास्तव में इस प्रकार है—"जहाँ पर एकत्र दो पदार्थों का निर्देश हो, उनमें से एक सिद्ध (भूत) स्वरूप का यानी 'द्रव्य' पदार्थ हो, और दूसरा साध्य (भव्य) स्वरूप का यानी 'क्रिया' पदार्थ हो, तब उनमें से 'सिद्ध' पदार्थ, दूसरे 'साध्य' पदार्थ के लिए होता है, यानी उस

'सिद्ध' पदार्थ को 'साध्य' पदार्थ का अंग कहा जाता है"—"भूत-भव्यसमुच्चारेण भूतं, भव्याय उपदिश्यते' अर्थात् वैदिकवाक्यों में 'द्रव्य' पदार्थ, सर्वदा 'मुख्यक्रिया' के साथ अथवा उस मुख्यक्रिया के अन्तर्गत रहने वाली 'अवान्तर' क्रियाओं के साथ सम्बद्ध होकर ही सफल हुआ करते हैं, वे 'द्रव्य' पदार्थ स्वतन्त्रतया सफल नहीं होते। तथाहि—"नावान्तरक्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात्। "गुणद्रव्ये कथंभावैः गृह्णन्ति प्रकृताः क्रियाः" (तं० वा०)। ऐसे स्थलों पर 'अनुवादात्मकभाग' कौन-सा ? और 'विधेयभाग' कौन-सा ?–इस प्रश्न के निर्णयार्थ "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" यह मीमांसावचन प्रवृत्त हुआ है। तथाहि–जैसे अदग्ध (न जले हुए) भाग को ही 'अग्नि' जलाता है, दग्धभाग को नहीं, उसी प्रकार जितना भाग, किसी अन्य प्रमाण से अप्राप्त हो, यानी अन्य किसी प्रमाणान्तरादिमार्ग से उपलब्ध न हुआ हो, तो 'उतने ही भाग' का 'विधिवाक्यों' के द्वारा विधान किया जाता है—"ततश्च अदग्धदहनन्यायेन यावद् अप्राप्तं तावद् विधीयते"। जिस प्रकार ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में "सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति"–इस वचन ने ज्योतिष्टोम और उसके विकृतिभूत याग में शिरपर पगड़ी पहने हुए ऋत्वजों के सञ्चरण का विधान किया है, अर्थात् इस प्रकार से सञ्चरण करने का बोध हो जाता है। और ज्योतिष्टोमयाग के विकृतिभूत 'श्येनयाग' के प्रकरण में पठित "लोहितोष्णीषा ऋत्वजः प्रचरन्ति" इस वाक्य से इतना बताया जा रहा है कि ऋत्विजों की पगड़ियाँ 'लालरंग की होनी चाहिये'—अतः इस वाक्य से इतने ही भाग का विधान किया जाता है। क्योंकि इस दूसरे वचन (लोहितोष्णीषा) में पगड़ियों का 'लोहित्व' भागमात्र ही 'अप्राप्त' है, अर्थात् प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग में आये हुए वाक्य से ज्ञात (अवगत) न होने वाला है। अथवा जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से 'हवन' ज्ञात रहता है, तब 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य से 'दधि' के 'होमसाधनत्व' मात्र का विधान किया जाता है, इस रीति से किसी भी विधायक वाक्य से उतने ही 'अंश' का विधान किया जाता है, जितना 'अप्राप्त' हो, यानी किसी अन्य वाक्य (वाक्यान्तर) से प्राप्त (अवगत) न हुआ हो। इस प्रकार के अप्राप्त अंश, कहीं-कहीं अनेक भी हो सकते हैं। जैसे लौकिकव्यवहार में किसी ने कहा—'रक्तं पटं वय' यानी लाल कपड़ा बुनो—इस वाक्य का कोई भी अंश, यदि प्रकरणप्राप्त न हो तो इस एक ही वाक्य से तीन बातों का विधान होगा, अर्थात् 'वयन=बुनना'–इस क्रिया का, तथा 'वस्त्ररूप कर्म का' और उस वस्त्र के 'लोहितत्व' का भी विधान होगा, और यदि इन तीन अंशों में से कोई एक अंश, पहिले से प्राप्त (अवगत) रहे तो दो का ही विधान होगा, और यदि दोनों अंश, पहिले से प्राप्त रहें तो एक ही अंश का विधान होगा।

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'–

उपर्युक्त विवेचन के पढ़ने पर समझ में इतना आता है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य का अर्थ यह होगा कि जिस अर्थ में जिस शब्द का अर्थ केन्द्रित हुआ हो, वही उस शब्द का अर्थ समझना चाहिए। परन्तु किस अर्थ-विशेष में शब्द का तात्पर्य समझा जाय ? इस प्रश्न पर उत्तर यह होगा कि जो अर्थ 'विधेय' (जिस अर्थ का विधान करना अभीष्ट है) हो, उसी अर्थ में उस शब्द का तात्पर्य रहता है। तथा 'विधेय' किसे समझा जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना होगा कि 'जो प्रमाणान्तर (वाक्यान्तर) से अप्राप्त होगा, उसे 'विधेय' कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह वचन उस प्रसङ्ग का है कि जब किसी वाक्य में प्रयुक्त किये गये शब्दों के वाच्य अर्थों में से किस अर्थ में उक्त वाक्य का तात्पर्य केन्द्रित हुआ है ? उसका निर्णय उक्त वचन से किया जाता है। वाक्यगत शब्दों से प्रतीत होने वाले सभी आर्थों में, वाक्य का तात्पर्य नहीं हुआ करता है, अन्यथा 'पूर्वो धावति'—अगला (घोड़ा) दौड़ रहा है—इस वाक्य का तात्पर्य 'अपरो धावति'—पिछला (घोड़ा) दौड़ रहा है—यह भी किया जा सकेगा, क्योंकि जब तक 'पिछले' का ज्ञान नहीं रहेगा, तब तक 'पहिले'=अगले का ज्ञान नहीं हो पाता। एवं च अप्राप्त अंश ही 'विधेय' रहता है, और उसी में वाक्य का तात्पर्य रहा करता है।

'विषं भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः'––

अभी ऊपर बता चुके हैं कि किसी वाक्य का तात्पर्य, उसमें प्रयुक्त हुए शब्दों के 'वाच्य अर्थ' में ही हुआ करता है। उस पर एक आक्षेप किया जा सकता है कि 'विषं भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः—'विष खाले', किन्तु इसके घर भोजन मत कर'—इस उदाहरण में 'विष खा ले, इस वचन का तात्पर्य, वाक्य में प्रयुक्त हुए शब्दों के 'वाच्य अर्थ' में न होकर 'मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः'—इसके घर में भोजन मत करो—इसमें हैं। किन्तु 'ये शब्द' दूसरे वाक्य के हैं, 'विषं भक्षय' इस वाक्य के नहीं हैं। दोनों वाक्य भिन्न-भिन्न हैं। उस पर मम्मटभट्ट का समाधान यह है कि यद्यपि ये दोनों वाक्य एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं, तथापि दूसरे वाक्य में प्रयुक्त जो 'च' शब्द है, वह दोनों वाक्यों की 'एकवाक्यता'—(समान प्रयोजनता) को सूचित कर रहा है। इस पर कोई यह कह सकता है कि दोनों वाक्य, अपनी-अपनी 'स्वतन्त्र क्रियाओं' से युक्त हैं। इसलिए ये 'दोनों वाक्य' अपने में स्वयं पूर्ण हैं। अतः इन दोनों वाक्यों में 'अंगांगिभाव' कैसे संभव होगा ? और अंगांगिभाव हुए बिना 'एकवाक्यता' दोनों में हो सकेगी ? इस आशंका के समाधानार्थ यह कल्पना करनी पड़ती है कि 'विषं भक्षय' यह वाक्य, किसी हितू मित्र का है। इस कारण

'विषं भक्षय' यह वाक्य, अगले वाक्य का अंगभूत वाक्य है। इस कल्पित अंगांगिभाव के आधार पर प्रस्तुत वाक्य का आकार इस प्रकार होगा—'इसके घर का भोजन, विष' खाने से भी बुरा है, इसलिए तू किसी भी स्थिति में इसके घर में भोजन मत कर,—यह सम्पूर्ण वाक्य का आकार (स्वरूप) निष्पन्न होता है। अतः 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य, प्रयुक्त शब्दों के (उत्तर वाक्य के) अर्थ में ही सिद्ध होता है।

दीर्घ-अभिधावाद में उपस्थित होनेवाले दोष—

इस प्रकार मम्मटभट्ट ने प्रतिपक्षी के द्वारा किये गये आक्षेपों का निराकरण कर उसके मत में दोषों को प्रदर्शित किया है। दीर्घ अभिधावादी का कहना यह था कि 'शब्द' श्रवण के पश्चात् जितना भी अर्थ समझ में आता है, वह सब 'अभिधा' से ही समझ में आता है।

इस पर मम्मटभट्ट का कहना है कि यदि 'अभिधा' से ही समस्त अर्थ का बोध होता है, तो 'हे ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः'—हे ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र हुआ है, तथा 'हे ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जाता'—हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कन्या (कुमारी) गर्भवती है'—इत्यादि वाक्यों को सुनते ही ब्राह्मण के मुख पर उभरनेवाले हर्ष-शोकादि भावों को भी उन वाक्यों में—प्रयुक्त शब्दों के 'वाच्यार्थ' के रूप में ही क्यों नहीं मानते ? और 'लक्षणा' को भी स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि दीर्घ-दीर्घतर अर्थ को बतानेवाली 'अभिधा' जब 'व्यंजना' का भी कार्य कर सकती है, तो क्या वह अभिधा, 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति नहीं करा सकेगी ? और ऐसा होने पर मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित 'श्रुति–लिङ्ग–वाक्य–प्रकरण' इत्यादि 'अंगांगिभाव' के निर्धारक छह प्रमाणों को मानने की और उनमें पूर्व-पूर्व प्रमाणों को प्रबल मानने की भी क्या आवश्यकता है ? जैमिनिमुनि तो यह कह रहे हैं—"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यम्, अर्थविप्रकर्षात्"—(जै० सू० ३।३।१४), तथा लोचनकार अभिनवगुप्तपाद ने भी इसी बात को कहा है। प्रस्तुत 'दीर्घ अभिवादपक्ष' में 'श्रुति–लिङ्ग–वाक्य' आदि सभी प्रमाण, उद्दिष्ट अर्थ के प्रति समान रूप से समीप (क्योंकि सभी उद्दिष्ट अर्थ, एकमात्र अभिधा से ही अवगत हो जायेंगे) होने के कारण अर्थ की दूरता–समीपता के आधार पर उन प्रमाणों में बताया गया 'पारदौर्बल्य (अन्योन्य विरोध के उपस्थित होने पर उत्तरोत्तर प्रमाणों की दुर्बलता) निराधार ही कहना होगा। अन्विताभिधानवादी के मत में भी 'व्यञ्जना' की अनिवार्यता निश्चित करने में यही युक्ति है।

व्यञ्जना के अस्तित्व में कतिपय अन्य प्रमाण—

१ – 'व्यञ्जनाव्यापार' को यदि स्वीकार नहीं करेगें तो 'कुरु रुचिम्' इन पदों का क्रम, विपरीत कर देने पर अर्थात् 'रुचिम् कुरु' यह क्रम रखने पर 'चंकु' यह कश्मीरभाषा का असभ्यार्थक (अश्लील) शब्द भासित होता है, जो काव्यदोष में गिना जाता है, किन्तु अभिधावादी के पक्ष में उसे काव्यदोष के रूप में नहीं गिना जा सकेगा, क्योंकि इस भासमान असभ्य अर्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ अन्वय नहीं है, इसलिए वह अभिधेय (अभिधा का विषय) ही नहीं हो पारहा है, क्योंकि अन्विताभिधानवादी की दृष्टि से 'अन्वित अर्थ ही' अभिधेय हुआ करता है। एवं च 'व्यंजना' को मान्य न करने पर 'रुचि कुरु' यह विपरीत क्रम भी आक्षेपार्ह न होकर स्वीकार किया जासकेगा।

२—व्यञ्जनाव्यापार को स्वीकार न करने पर 'असाधुत्व' (व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग) आदि दोषों को जो 'नित्यदोष' (सर्वत्र निरपवाद रूप से माने गये दोष) माने जाते हैं और 'कष्टत्व' (दुर्बोधता-दुरूहता) इत्यादि दोषों को 'अनित्यदोष' (विशेष परिस्थिति में जिन को दोष के रूप में नहीं माना जाता, ऐसे दोष) कहेलाने की व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकेगी। किन्तु व्यञ्जनाव्यापार को मानने पर व्यङ्ग्य अर्थ का संभव अनेक प्रकार से होनेके कारण विशेष स्थानों में विशिष्ट व्यङ्ग्यार्थ का औचित्य, ध्यान में रखकर द्विविध दोषों के नित्यानित्य की व्यवस्था हो जाती है। 'व्यंजना' का यदि अस्तित्व ही न होता तो "द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः" (कु० सं० ५।७१)—इस पद्य में 'शिव' के 'पिनाकिन्' आदि कितने ही नामों के रहते हुए भी 'कपालिन्' (भिक्षा-पात्र के रूप में आदमी की खोपड़ी को हाथ में रखने वाला) नाम ही काव्यानुकूल माना गया है, क्योंकि 'कपालिनः' पद से 'शिव' का निर्देश तो होता ही है, उसके अतिरिक्त उसकी दरिद्रता और अमंगलता भी सूचित हो जाती है, जिससे वक्ता का अभिप्राय परिपुष्ट होता है। इस अर्थ की प्रतीति, व्यञ्जनाव्यापार के बिना हो नहीं सकती।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में भेद—

'वाच्यार्थ' सभी के लिए एक-सा रहता है, उसका स्वरूप निश्चित रहता है। 'गतोऽस्तमर्कः'—सूर्य अस्त हो गया—इस वाक्य का 'वाच्यार्थ' किसी भी सन्दर्भ में और किसी भी व्यक्ति को समान रूप से एक-सा प्रतीत होता है, किन्तु इसका 'व्यङ्ग्यार्थ' कहनेवाले तथा सुननेवाले व्यक्तिविशेष की सहायता से अलग-अलग अवगत होता है। जैसे–युद्धोत्सुक सैनिकों को 'शत्रुओं पर चढ़ाई करने का समय आ-पहुँचा'—इस अर्थ की प्रतीति होती है, किसी अभिसारिका को 'अपने प्रियतम से

मिलने के लिए चलो'—इस अर्थकी प्रतीति होती है, किसी विरहपीडित नायिका को 'अपना प्रियतम अपने समीप अब आनेवाला ही है'—इस अर्थ की प्रतीति होती है, कामकरनेवाले नौकरों को 'चलो, काम-काज बन्दकरो'—इस अर्थ की प्रतीति होती है, सदाचारनिष्ठ कर्मठ ब्राह्मणों को 'सन्ध्यावन्दन का समय हो गया है' - इस अर्थ की प्रतीति होती है, घर से बाहर जानेवाले किसी नवागत आदमी को 'दूर मत जाना'--इस अर्थ की प्रतीति होती है। किसी ग्वाले को--'गौओं को उनके गोठे में बान्ध दो' दिनभर धूपमें सन्तप्त हुए आदमी को 'अब ऊष्मा (गरमी) नहीं होगा किसी दूकानदार को 'विक्री की वस्तुओं को अब समेटना चाहिये', किसी प्रोषितभर्तृका को 'अभीतक प्रियतम आया नहीं'--इस अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार से प्रस्तुत वाक्य 'गतोऽस्तमर्क.' का व्यङ्ग्यार्थ, असंख्य प्रकारों से प्रतीत हो सकता है।

कहीं कहीं 'वाच्यार्थ' निषेधपरक होता है, किन्तु 'व्यंग्यार्थ' विधिरूप रहता है। जैसे—'निःशेषच्युतचन्दनं······' इस पद्य में। तथा कहीं-कहीं 'वाच्यार्थ' संशयात्मक और 'व्यङ्ग्यार्थ' निश्चयात्मक रहता है। जैसे—'मात्सर्यमुत्सार्यकार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु'—(भर्तृ० शृङ्गा० शत० ३६)। यहाँ 'व्यङ्ग्यार्थ'—शान्तवृत्ति के लोगों को चाहिये कि वे पर्वतों के 'नितम्बों' का और 'कामुक लोग' विलासिनी सुन्दरियों के नितम्बों का सेवन करें, यह निश्चयात्मक है। तथा कहीं-कहीं 'वाच्यार्थ' निन्दात्मक और 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रशंसात्मक होता है। जैसे—'हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां'—(१०।१०२)।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद में अन्यान्य कारण—

१. इसी प्रकार 'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' दोनों में 'स्वरूप' की दृष्टि से भेद रहता है। —(स्वरूप-भेद)

२. 'वाच्यार्थ' की प्रतीति पहिले और व्यंग्यार्थ की प्रतीति पश्चात् होती है। —(काल-भेद)

३. 'वाच्यार्थ' की प्रतीति—समग्र शब्द रूप एक ही आश्रय से होती है, किन्तु 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति—समग्र शब्द, शब्दांश, शब्द का अर्थ, वर्ण, रचना (समास) आदि अनेक आश्रयों से होती है। —(आश्रय-भेद)

४. शब्द का वाच्यार्थ केवल व्याकरण, कोष आदि की सहायता से समझा जा सकता है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' के समझने में उक्त सहायता के साथ ही 'प्रकरण' आदि और 'प्रतिभा' के साहाय्य की आवश्यकता होती है। —(निमित्त-भेद)

५. 'वाच्यार्थ' सभी के समझ में आ जाता है, और उसका 'फल' केवल बोध-

मात्र है, किन्तु 'व्यंग्यार्थ' केवल सहृदयों (विदग्धों–चतुरों) के ही समझ में आता है, और उसका 'फल' चमत्कारानुभव है। —(कार्य-भेद)

६. 'वाच्यार्थ' एक ही निश्चित रहता है, किन्तु 'व्यग्यार्थ' असख्य (अनेक) होते हैं। जैसे—'गतोऽस्तमर्कः' में है। —(संख्या-भेद)।

७. 'वाच्यार्थ' का विषय, केवल उद्दिष्ट व्यक्ति ही रहता है किन्तु 'व्यंग्यार्थ' अनुद्दिष्ट व्यक्तियों को भी विषय बना लेता है।—(विषय–भेद)। जैसे—

'कस्या वा न भवति रोषोः' इस पद्य का वाच्यार्थ, प्रस्तुत व्यभिचारिणी को विषय कर रहा है, किन्तु इसका 'व्यंग्यार्थ' उपस्थित हुए 'पति' को विषय बना रहा है। अर्थात् कहने वाली का उद्दिष्ट विषय 'व्यभिचारिणी' सखी है, उसका 'पति' नहीं है, तथापि 'व्यंग्यार्थ' ने उस अनुद्दिष्ट 'पति' को अपना विषय बना लिया है।

इस रीति से 'स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय' की दृष्टि से 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' भिन्न-भिन्न रहते हैं। यदि इन दोनों को एक ही (भिन्न नहीं) माना जाय तो, 'नील' और 'पीत' में भी कोई भेद नहीं माना जायगा। मम्मट भट्ट ने स्पष्ट कहा है—"वाच्य-व्यंग्ययोः स्वरूपस्य ······कालस्य ··· आश्रयस्य······ ···निमित्तस्य······ ···कार्यस्य··· ··· ···संख्यायाः··· ······ विषयस्य च भेदेऽपि यदि एकत्वं, तद् क्वचिदपि नील–पीतादौ भेदो न स्यात्"। अतः वाच्य और व्यंग्य अर्थ की भिन्नता सर्वथैव मान्य करनी ही होगी, क्योंकि 'विरुद्ध धर्मों से युक्त होना, और भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होना ही 'भेद' अथवा 'भेद का कारण' होता है। मम्मट कहते हैं—"अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद् विरुद्ध-धर्माध्यासः कारणभेदश्च"। इसी वाक्य को माधवाचार्य ने भी अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उद्धृत किया है।

'वाचक' शब्द में वाचकत्व तभी आ पाता है, जब 'संकेत' से उसका 'अर्थ' निर्धारित रहता है, किन्तु 'व्यंजक' शब्द में व्यंजकत्व होने के लिए वैसे 'अर्थ' की आवश्यकता नहीं होती। अतएव 'अर्थहीन' वर्ण और संगीत की ध्वनियाँ भी व्यञ्जक कहलाती हैं। इस कारण 'वाचक' और 'व्यञ्जक' का भेद स्पष्ट हो जाता है। इन तथ्यों पर ध्यान न देते हुए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस मीमांसा वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक न (गलत) समझकर, उसी का आधार लेते हुए 'व्यङ्ग्यार्थ' को भी 'तात्पर्य' का विषय कहने लगे और उसे 'अभिधाव्यापार' का ही विषय बताने लग गये, किन्तु स्वयं को मीमांसक समझने वाले उन विद्वानों से मम्मटभट्ट पूछते हैं कि 'वाणीरकुडङ्गुड्डीण' इस गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण में 'व्यङ्ग्यार्थ' को तात्पर्य का विषय नहीं माना जाता, क्योंकि उसमें 'वाच्यार्थ के जैसी 'चमत्कृति

जनकता' नहीं रहती। उस कारण व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करके भी अन्ततः 'वाच्यार्थ' स्वयं में ही विश्रान्त हो जाता है। एवं च व्यंग्यार्थ तात्पर्य का विषय न रहने से 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—इस न्याय को ऐसी जगह नहीं लगा सकते। उस न्याय का ठीक-ठीक अर्थ (मार्मिक अर्थ) समझिये। अन्यथा, आप शब्द की अभिधावृत्ति से गम्य न हो सकनेवाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति किस व्यापार से बता सकेंगे ?

लक्षणावादी की दृष्टि से 'व्यञ्जना' का लक्षणा में ही अन्तर्भाव—

अभिधावादी की अभिधावृत्ति में 'व्यञ्जना' का समावेश जब नहीं हो सका तब लक्षणावादी उस व्यञ्जना का अन्तर्भाव अपनी लक्षणावृत्ति में करने का प्रयत्न करने लगा।

लक्षणावादी का कहना है कि— एक शब्द के सहारे (आश्रय से) अवगत होनेवाला लक्ष्यार्थ भी 'प्रकरण' आदि के भेद से भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होता है'। जैसे—स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो' इस पद्य में 'रामः' का मुख्यार्थ (दशरथपुत्र) बाधित होता है, क्योंकि राम ने स्वयं को 'मैं राम हूँ'—इस प्रकार मुख्यतया जो कहा है, उसे कहने की आवश्यकता न होती। एवं च 'राम' शब्द का मुख्यार्थ, बाधित होने से संदर्भानुरोधेन उसका लक्ष्यार्थ अत्यन्त दुःखसहिष्णु होता है।

उसी तरह 'प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा' इस पद्यमें भी 'राम' शब्द का मुख्यार्थ बाधित रहने से सन्दर्भानुरोधेन उसका लक्ष्यार्थ—'स्वार्थी, कर्तव्य-भ्रष्ट, प्रेम के अयोग्य' होता है।

तथा 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिम्पराम्' रावण को उद्देश्य करके विभीषण के उद्गारभूत इस पद्य में 'मुख्यार्थ' बाधित होता है, क्योंकि रावण 'राम' को अच्छी तरह पहचानता है, अतः उसका (राम का) नामतः निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। एवं च उस प्रकार निर्देश करना अनावश्यक रहने से उसका मुख्यार्थ बाधित हो जाता है, और सन्दर्भानुरोधेन 'खर, दूषण आदि प्रबल राक्षसों का संहारकर्ता' यह लक्ष्यार्थ उससे जाना जाता है।

इस प्रकार 'वाच्यार्थ' से भिन्न समस्त अर्थ, 'लक्षणा' से उपपन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में 'व्यङ्ग्यार्थ' नामक एक नवीन तत्त्व की कल्पना क्यों की जा रही है ?—इसी बात को "कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम" से कहा गया है, जिसकी प्रतीति के लिए एक और अधिक 'व्यञ्जना व्यापार' मानने की आवश्यकता हो रही है। जब 'व्यंग्यार्थ' नाम का कोई नवीन अर्थ ही नहीं है, तब उसे बताने के लिए

'व्यंजना' नामक व्यापार की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लक्षणागम्य जो 'लक्ष्यार्थ' है, उसीमें सबका अन्तर्भाव हो रहा है।

व्यङ्ग्यार्थ की लक्ष्यार्थ से भिन्नता—

'लक्ष्यार्थ' में 'व्यङ्ग्यार्थ' का अन्तर्भाव करनेवाले से वाग्देवतावतार मम्मटभट्ट कहते हैं कि यद्यपि प्रकरण आदि के भेद से 'लक्ष्यार्थ' भी अनेक प्रतीत होते हैं, तथापि वह लक्ष्यार्थ, अनेकार्थक शब्द के अर्थों के समान, नियत (निश्चित) और प्रसिद्ध ही रहता है। जिस अर्थ के साथ 'मुख्यार्थ' का सम्बन्ध (योग) निश्चित नहीं रहता, उस अर्थ को 'लक्षणा' बता भी नहीं सकती। जैसे—'गंगायां घोषः' में 'गंगा' पद से जो बोध होता है, वह 'गंगा' से नियत सम्बद्ध रहनेवाले 'तट' (किनारे) का ही होता है, अन्य किसी अप्रसिद्ध सम्बन्ध वाले (अनियत सम्बन्ध वाले गधे, घोड़े का नहीं। अतएव यह नियम किया गया है कि 'मुख्यार्थ-योगे'।

किन्तु व्यंग्यार्थ के विषय में ऐसा कोई निर्बन्ध नहीं है। प्रकरण आदि के अनुरोध से प्रकट होनेवाला व्यंग्यार्थ, चाहे 'मुख्यार्थ' के साथ नियत सम्बद्ध हो, चाहे अनियत-सम्बद्ध हो, और तो क्या, 'सम्बद्ध-सम्बद्ध' भी हो, तो भी उसकी प्रतीति होती है। जैसे—

(१) 'अत्ता एत्थ निमज्जइ'—इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' (हमारे बिस्तरे पर अन्धेरे में मत गिरना) के साथ, (मेरे बिस्तरे पर आ जाना) यह 'व्यंग्यार्थ' नियत-सम्बद्ध है। अर्थात् विरोधित्व (वैपरीत्य) इस प्रसिद्ध नियत (निश्चित) सम्बन्ध से सम्बद्ध है।

(२) 'कस्स व न होइ रोसो' इस उदाहरण में नायिका को उद्देश्य कर विवक्षित रहनेवाले मुख्यार्थ (भ्रमर के द्वारा अधरोष्ठ पर किये गये व्रण के कारण प्राप्त होने वाले परिणाम को अब भोग) के साथ उस नायिका के पति को उद्देश्य कर विवक्षित रहने वाला 'व्यंग्यार्थ' अनियत-सम्बद्ध है, अर्थात् किसी भी प्रसिद्ध, निश्चित सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं है।

(३) 'विपरीतरते लक्ष्मी ब्राह्मणं' इस पद्य में 'भगवान् के दक्षिण नेत्र को ढक दिया'—यह मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) है, और 'सूर्य' और 'चन्द्र' को भगवान् विष्णु के क्रमशः 'दक्षिण' और 'वाम' नेत्र बताया गया है। उस कारण भगवती 'लक्ष्मी' के द्वारा भगवान् विष्णु का 'दक्षिण नेत्र' ढाक देते ही (पिहित करते ही) सूर्यास्त हो जाता है, सूर्यास्त होते ही विष्णु का नाभिकमल संकुचित हो जाता है, तब उस कमल में बैठे हुए ब्रह्माजी उसमें बन्द हो जाते हैं, जिससे लक्ष्मी जी की रति-क्रीडा निर्विघ्नतया चलती रही।—यह व्यंग्यार्थ है। इन दोनों अर्थों में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

'व्यंजना' का नाम लक्षणा नहीं है--

'व्यंजना' को लक्षणा शब्द से (लक्षणा के नाम से) इसलिए नहीं कह सकते कि 'लक्षणा' की प्रवृत्ति तो मुख्यार्थ का बाध होने पर ही हुआ करती है, किन्तु 'व्यंजना' की प्रवृत्ति होने में वैसा कोई नियम नहीं है। जैसे--'अत्ता एत्थ निमज्जइ' इस विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के उदाहरण में 'व्यंग्यार्थ' का बोध (प्रतीति), 'मुख्यार्थ' का बाध होने पर नहीं हो रहा है। क्योंकि यहाँ पर 'हम दोनों के बिस्तरों पर नहीं गिरना' मुख्यार्थ है। 'मेरे बिस्तरे पर मत आओ'—यह मुख्यार्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'लक्षणा' का अवसर ही कहाँ है? यदि कदाचित् कहीं पर मुख्यार्थबाध दिखाकर 'लक्षणा' का अवसर प्रदर्शन कर भी दिया जाय, तो भी व्यञ्जना के अस्तित्व में कोई किसी प्रकार का अवरोध (रुकावट) पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि जब 'रूढ़िमूलक लक्षणा' नहीं होगी। तब तो 'प्रयोजन' के लिए ही वह (लक्षणा) होगी। उसी को 'प्रयोजनवती लक्षणा' कहा गया है। तब उस प्रयोजनकी प्रतीति 'व्यञ्जना' से ही होगी, क्योंकि व्यंजनागम्य प्रयोजन के लिए ही उस (लक्षणा) की प्रवृत्ति हो रही है।

'व्यञ्जना' को लक्षणा से भिन्न बताना तो अर्थात् ही सिद्ध होता है। क्योंकि पहिले ही हमने 'व्यञ्जना' को 'अभिधा' से भिन्न बता दिया है। 'अभिधा' जिस प्रकार 'संकेत' पर अवलम्बित रहती है, उसी प्रकार 'लक्षणा' भी 'मुख्यार्थबाध' आदि तीन कारणों (हेतुओं) पर यानी एक प्रकार के संकेत (शर्त) पर ही अवलम्बित रहती है। अतएव 'लक्षणा' को 'अभिधापुच्छभूता'—अभिधा का परिशिष्ट कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'व्यञ्जना' का अर्थ 'लक्षणा' नहीं है। कारण यह है कि वह, लक्षणा के पश्चात् प्रवृत्त होती है। उस व्यञ्जना को 'लक्षणामूला व्यञ्जना' कहते हैं। किन्तु यह भी कोई नियम नहीं है कि वह लक्षणा के पश्चात् ही प्रवृत्त हो, क्योंकि वह 'अभिधा' के भी सहारे (आश्रय से) प्रवृत्त होती है, ऐसी व्यञ्जना को 'अभिधामूला व्यञ्जना' कहते हैं। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं समझना होगा कि वह दोनों (अभिधा और लक्षणा) के ही आश्रय से (सहारे से ही) प्रवृत्त होती है, क्योंकि वाच्यार्थहीन अतएव लक्ष्यार्थहीन वर्णों का आश्रय लेकर भी वह प्रवृत्त होती है। फिर भी यह नहीं कह सकते कि वह नित्य शब्दों के अथवा वर्णों के आश्रय से ही प्रवृत्त होती है, क्योंकि जो कटाक्ष आदि, वर्णरूप या शब्दरूप नहीं होते हैं, उन कटाक्ष आदिकों से भी वह प्रवृत्त होती है, इन विवेचन से समझ में आ जाता है कि 'अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा' इन तीन व्यापारों के अतिरिक्त 'ध्वनन' आदि नामों से श्रुत होनेवाले 'व्यंजना' व्यापार को स्वीकार किये बिना काम नहीं चलेगा। अतः 'व्यंजना' को मानना अत्यन्त आवश्यक है।

स्फोटवादी वैयाकरणों को भी व्यञ्जना का स्वीकार करना अनिवार्य है--

कतिपय वैयाकरणों का कहना है कि "अखण्डवाक्यार्थ ही 'वाच्यार्थ' है" अर्थात् अखण्ड रूप में सम्पूर्णतया ग्रहण किया जाने वाला वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है, और 'अखण्ड वाक्य' ही उस वाच्यार्थ का 'वाचक' है। किन्तु इस प्रकार कहने वाले वैयाकरणों को भी अविद्यामूलक व्यवहार की दृष्टि से विचार करते हुए अखण्ड-वाक्य-वाक्यार्थ की कल्पना को ताक पर रखकर पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। पद-पदार्थ की कल्पना किये बिना व्याकरण शास्त्र, एक पैर भी आगे चल नहीं सकता और एक बार पद-पदार्थ की कल्पना को स्वीकार कर लेने पर 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि उदाहरणों में 'त्वं तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि' इत्यादि अर्थ को व्यञ्जनागम्य स्वीकार किये बिना अन्य कोई उपाय नहीं है। इस विषय को 'लोचन' की सहायता से अधिक विशद रूप से समझा जा सकता है।

महिमभट्ट की दृष्टि से 'व्यञ्जना' का अनुमान में अन्तर्भाव –

महिमभट्ट का कहना है कि 'व्यञ्जना-व्यापार' अन्य कुछ न होकर वस्तुतः 'अनुमान' ही है, यानी अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव कर लेना उचित है। महिमभट्ट, व्यञ्जनावादी से पूछते हैं कि तुम पहिले यह बताओ कि जिसे तुम 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते हो, वह 'वाच्यार्थ' से सम्बद्ध रहता है या नहीं ? यदि नहीं रहता है तो किसी भी शब्द से चाहे जिस 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति हो सकेगी। अतः 'व्यङ्ग्यार्थ' को 'वाच्यार्थ' से सम्बद्ध ही मनाना होगा। ऐसी स्थिति में 'व्यङ्ग्यार्थ' यदि वाच्यार्थ के साथ नियत (अव्यभिचरित) सम्बन्ध से सम्बद्ध न रहेगा तो उस व्यङ्ग्यार्थ की उस वाच्यार्थ से नियत प्रतीति नहीं हो सकेगी। इससे यह निष्पन्न हुआ कि 'व्यङ्ग्यार्थ' की 'वाच्यार्थ' के साथ 'व्याप्ति' रहनी चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पक्ष-सपक्ष' पर रहने वाले और 'विपक्ष' पर न रहने वाले यानी सर्वांगपूर्ण 'हेतु' से होने वाला 'साध्य-ज्ञान' एवं च 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव' कुछ अन्य न होकर 'अनुमान' ही है। अनुमान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जैसे—'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः'—इस पद्य से आपाततः अवगत होने वाला वाच्यार्थ यह है कि इस प्रदेश में आने वाले लोगों को पीडित (आतङ्कित) करने वाले कुत्ते का भय (उपद्रव) अब दूर हो गया है, इसलिए यह धार्मिक पुरुष, निश्चिन्त होकर (निर्भय होकर) यहाँ पर आया करे। और इस वाच्यार्थ के पश्चात् प्रतीत होने वाला 'व्यङ्ग्यार्थ' यह है कि 'इस प्रदेश में आजकल एक मदोन्मत्त सिंह, संचार करने लगा है। अतः अपने प्राणों की रक्षा करना हो तो वह धार्मिक पुरुष इस प्रदेश में आना छोड़कर तत्काल भाग जाय'।

इस उदाहरणभूत पद्य में 'कुत्ते' से होने वाला आतंक सिंह के द्वारा दूर कर दिया गया है, इसलिए इस प्रदेश में स्वेच्छानुसार संचार (भ्रमण) का उपदेश (कथन

आदेश) किया गया है'। इस उपदेश से 'गोदावरी के तटवर्ती प्रदेश में सिंह का वास्तव्य (निवास, स्थिति) रहने से संचार (भ्रमण) न किया जाय'–इस अर्थ (साध्य) का अनुमान होता है।

अनुमान का प्रकार--

कोई डरपोक आदमी, कहीं किसी प्रदेश में भ्रमण तभी करता है, जब 'वहाँ किसी प्रकार का भी भय-कारण नहीं है'—यह ज्ञान पहिले कर लेता है। तभी वह किसी प्रदेश में स्वच्छन्द निर्भय होकर भ्रमण करता है, अन्यथा नहीं।

किन्तु यहाँ तो गोदावरी नदी के तट पर सिंह के वास्तव्य (स्थिति) का उसे ज्ञान है। अर्थात् डरपोक (भीरु) पुरुष के भ्रमणार्थ आवश्यक परिस्थिति के विरुद्ध परिस्थिति का ज्ञान (व्यापक-विरुद्धोपलब्धि) हो रहा है। यानी गोदावरी नदी का तट-प्रदेश, भीरु पुरुष के भ्रमण करने योग्य नहीं है। इसी को नैयायिक विद्वानों की पद्धति से इस प्रकार कह सकते हैं—"गोदावरीतीरं न भीरुभ्रमणयोग्यम्, भय-कारणनिवृत्त्युपलब्धेः अभावात्", यानी सिंहसद्भावात्। "यत्र-यत्र भयकारण-निवृत्त्युपलब्धिः नास्ति, तत्र-तत्र भीरुभ्रमणयोग्यत्वमपि नास्ति, यथा समरे"। यह व्याप्ति का आकार है। एवं च व्यञ्जना का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है, उसे अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

'व्यञ्जना' का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं--

व्यञ्जनावादी मम्मटभट्ट का कहना है कि पूर्वोक्त अनुमान-प्रयोग में दिया गया हेतु, 'सद्धेतु न' होकर हेत्वाभास है, यानी दूषित हेतु है। दूषित हेतु से (हेत्वाभास या असद्धेतु से) साध्य की अनुमिति नहीं हुआ करती। सभी लोग जानते हैं कि राजा या स्वामी अथवा गुरु तथा अन्य किसी पूजनीय व्यक्ति के आदेश से अथवा अपनी प्रियतमा के प्रेम के कारण डरपोक व्यक्ति भयावह स्थान में (खतरे की जगह) भी चला जाता है। इसलिए 'भीरुभ्रमणयोग्यत्वाभाव' रूप 'साध्य' के साथ 'भय कारणनिवृत्त्युपलब्ध्यभाव' रूप 'हेतु' की अव्यभिचरित व्याप्ति ही नहीं बन पा रही है। अतः यह प्रदर्शित 'हेतु', 'अनैकान्तिक' (सव्यभिचार) दोष से दूषित होने के कारण 'असद्धेतु' यानी हेत्वाभास है, वास्तविक 'हेतु' नहीं है।

तथा कोई वीर, धार्मिक पुरुष, अपनी धर्मनिष्ठा (धर्मभीरुता) के कारण कुत्ते का स्पर्श हो जाने के भय से कदाचित् डर सकता है, किन्तु अपनी वीरता के नाते वह सिंह से कभी नहीं डरता है। अतः 'सिंह' को भय का कारण समझ लेना भी उचित नहीं है। एवं च सिंह का भयकारणत्व 'निरपवाद' नहीं है। इसके अतिरिक्त 'गोदा-वरी के तटवर्ती प्रदेश में सिंह का अस्तित्व यानी 'भीरु-भ्रमण के प्रतिकूल परिस्थिति' का होना एक अभिसारिका स्त्री के शब्द से प्रतीत हो रहा है प्रत्यक्ष या अनुमान

से उसकी प्रतीति नहीं हो रही है। अभिसारिका (व्यभिचारिणी) स्त्री के शब्दों पर विश्वास कैसे किया जा सकता है? अतः ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री के शब्दों को निश्चित प्रमाण के रूप में भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए उपर्युक्त अनुमान में प्रदर्शित 'हेतु' सद्धेतु न होकर 'असिद्ध' (स्वरूपासिद्ध) हेतु नामक हेत्वाभास (असद् हेतु) है। इसके सहारे साध्य का अनुमान नहीं किया जा सकता।

प्रदर्शित रीति के अनुसार 'निःशेषच्युतचन्दनं'--इस उदाहरण में यदि अनुमान प्रयोग किया जायगा तो 'चन्दनच्युति' इत्यादि क्रियाओं को 'उपभोग' के 'गमकरूप' में मानना होगा। किन्तु ये क्रियाएँ, केवल 'उपभोग' से ही निष्पन्न होती हों, यह नहीं कहा जा सकता; क्यों कि अन्यान्य कारणों से भी उनका होना संभव है। यही कारण है कि इस उदाहरण में 'स्नानकार्य' के रूप में उन क्रियाओं का निर्देश चतुर-नायिका ने स्वयं होकर ही किया है। इसलिए 'उपभोग' से उन क्रियाओं का नियत सम्बन्ध नहीं है। अतः 'अनैकान्तिक' नाम का हेत्वाभास भी है। इसलिए उन क्रियाओं से (उस हेतु से) उपभोग रूप 'साध्य' की सिद्धि नहीं की जा सकती। अतः अनुमान में 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव नहीं कर सकते, और न ही अनुमान से 'उपभोग' की अनुमिति कर सकते हैं।

किन्तु व्यञ्जनावादी के पक्ष में 'अधम' पद की सहायता से 'चन्दनच्युति' इत्यादि कार्यों की उपभोगव्यञ्जकता निर्बाध रूप से हो सकती है। यानी 'चन्दन-च्युति' आदि कार्य अच्छी तरह से 'उपभोग' को व्यञ्जित कर देते हैं। अतः अनु-मानवादी के पक्ष में उपस्थित होने वाले दोष, व्यञ्जनावादी के पक्ष में नहीं आ पाते। यदि अनुमानवादी भी हमारा अनुकरण करके 'अधम' पद की सहायता से 'अनुमान' करने का व्यर्थ प्रयत्न करे तो वह सफल (पूर्णमनोरथ) नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'नायक का अधमत्व' प्रमाण से सिद्ध नहीं है, यानी किसी प्रमाण से प्रमित्त नहीं है। इसलिए उसके बल पर अनुमान नहीं किया जा सकेगा। उस 'अधमत्व' का अनुमान में कोई उपयोग नहीं होगा।

इस पर यदि अनुमानवादी यह कहे कि व्यञ्जना के पक्ष में भी 'अधम' पद का उपयोग कैसे हो सकेगा, तो उसका उत्तर हम यह दे सकते हैं कि किसी प्रमाण के न होने पर भी सार्वजनीन प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर अमुक चिह्नों से अमुक अर्थ, प्रकट हो जाता है। एवं च व्यंजनावादियों का सहायक 'अनुभव' होता है। इसलिए अनुमानवादी के पक्ष में उपस्थित होने वाले दोष, हमारे पक्ष में नहीं आ पाते।

चित्रकाव्य

अधम (अवर) काव्य—

इस काव्य का विवरण करने के लिए ग्रन्थकार ने षष्ठ (छठें) उल्लास का आरम्भ किया है। इस उल्लास में ग्रन्थकार ने पूर्वोक्त (प्र० उ० का० ५) 'शब्द-

चित्र' और 'अर्थचित्र' के नामों से 'चित्रकाव्य' के भेद बताये हैं। यह नामकरण, 'शब्द' और 'अर्थ' की प्रधानता के अनुरोध से किया गया है। 'शब्दचित्र' में 'शब्द' की प्रधानता और 'अर्थ' की गौणता (अप्रधानता) रहती है, तथा 'अर्थचित्र' में 'अर्थ' की प्रधानता और 'शब्द' की गौणता (अप्रधानता) रहती है।

अलङ्कारशास्त्र में बहुत प्राचीन काल से इन दो भेदों की मान्यता चली आ रही है, उसे बताने के लिए ही 'भामह' के कतिपय पद्यों का उद्धरण भी ग्रन्थकार ने दिया है। इन पद्यों के द्वारा भामह ने शब्दालङ्कार और 'अर्थालङ्कार' का विभाग बताया है। इन द्विविध चित्रकाव्यों के प्रकारों (विविध शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार) को आगे चलकर नवम और दसम उल्लास में ग्रन्थकार ने बताया है। इन सभी अलङ्कारों का अन्ततः पर्यवसान, 'विभाव-अनुभाव' आदि में ही होता है। अतः परम्परया इनका सम्बन्ध यद्यपि 'रसध्वनि' से ही है, तथापि उनमें 'रस' की स्फुटता नहीं हो पाती। इसी कारण पीछे के उल्लास में इस काव्य को अव्यंग्य (अस्फुट व्यंग्य) कहा गया था, और इसी से इसकी गणना अधम (अवर) काव्यों में की गयी है।

सप्तम उल्लास

(दोषनिरूपण)

सप्तम उल्लास में काव्य दोषों का विवेचन किया गया है। मुख्य अर्थ का जिससे 'अपकर्ष' होता है अर्थात् मुख्य अर्थ की प्रतीति होने में जिसकारण अन्तराय (व्यवधान, न्यूनता) आता है उसे 'दोष' कहते हैं। इसी अभिप्राय को श्रीमम्मटभट्ट ने 'मुख्यार्थ-हतिर्दोषः' (मम्मट ७।१) कहकर व्यक्त किया है। 'रसादि' ही मुख्य अर्थ है, अतः 'दोष' की स्थिति 'रस' के आश्रय से रहती है। अर्थात् 'दोष' रसाश्रयी हुआ करता है। यह प्रधानभूत (मुख्य) 'रसादि' अर्थ, 'वाच्यार्थ' का आधार लेकर प्रकट हुआ करता है, उसकारण 'दोष' का दूसरा आश्रय 'वाच्यार्थ' भी माना जाता है, उसी तरह 'शब्द, वर्ण और रचना' (समास) 'रसादि' प्रधान अर्थ, 'वाच्यार्थ' का उपकारक होने से उन्हें भी 'दोषों' का आश्रय कहा जा सकता है। एवंच 'रसादिदोष', 'अर्थदोष' (वाच्यार्थ दोष) तथा 'शब्दादिदोष' ये तीन वर्ग दोषों के किये जाते हैं। पददोष, पदैकदोष, वाक्यदोष, समासदोष--ये सब (दोष) 'शब्ददोषों' के ही अन्तर्गत हैं। श्रीमम्मटभट्ट ने पददोषों से आरम्भ कर 'रसदोष' तक सभी दोषों को बताकर दोष-निरूपण समाप्त किया है।

'श्रुतिकटुत्व' आदि १६ दोषों को ग्रन्थकार ने 'पददोष' के नाम पर बताया है। कुछ न्यूनाधिक रूप से वे 'समास', 'वाक्य', 'पदैकदेश' में भी प्रायः हुआ करते हैं। उसके पश्चात 'प्रतिकूलवर्णत्व' इत्यादि २१ दोष केवल 'वाक्यदोष' होते हैं, और 'अपुष्टत्व' आदि २३ दोष केवल 'अर्थदोष' हुआ करते हैं। इनमे से कतिपय 'दोषों' का दोषत्व. परिस्थिति-सापेक्ष हुआ करता है अर्थात 'विशेष परिस्थिति' में उन्हें 'दोष' माना जाता है और अन्यत्र उन्हें 'अदोष' (गुण) समझा जाता है।

तदनन्तर 'स्वशब्दवाच्यता' आदि १३ 'रसादिदोषों' का विवेचन किया है। किन्तु 'विशिष्टपरिस्थिति' में उन्हें भी 'अदोष' समझा जाता है। इस 'दोषप्रपञ्च' को सरलता से समझने के लिये कुछ दोषों का स्वरूप संक्षेप मे प्रदर्शित करना लाभ-कारक होगा—

पददोष

निर्दिश्यमान दोषों के साथ 'पद' शब्द का अध्याहार कर लेना चाहिए—

(१) श्रुतिकटु (परुषवर्ण युक्त) जैसे—

'अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥

यहाँ पर 'कार्तार्थ्यम्' (कृतार्थता) पद 'श्रुतिकटु' है।

(२) 'च्युतसंस्कृति'—अर्थात् व्याकरण-विरुद्ध। जैसे--परस्मैपदी 'धातु' का 'आत्मनेपद' में प्रयोग करना।

(३) अप्रयुक्त—शास्त्र-सम्मत रहने पर भी प्रामाणिक कवियों के द्वारा यदि उसका प्रयोग न किया गया हो तो उसे 'अप्रयुक्त' दोष कहा जाता है, क्योंकि मम्मट-भट्ट ने कहा है—"अप्रयुक्तं तथा आम्नातमपि कविभिः नादृतम्''। जैसे—'दैवत' शब्द को 'पुंलिंग' में भी 'दैवतानि' पुंसि वा'—अमरकोषकार ने बताया है। किन्तु कवियों ने 'दैवत' शब्द का प्रयोग पुंलिंग में कहीं पर भी किया नहीं है, वे नपुंसकलिंग में ही उसका प्रयोग किया करते हैं। उसकारण 'तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथवा'--यह प्रयोग 'दुष्ट' माना गया है। उसी तरह कवि-प्रयोग का प्रामाण्य 'यमक' के विषय में भी समझना चाहिए। 'चार' चरणवाले पद्य के 'तीन' चरणों के अन्त में 'यमक' की योजना करना कवि-सम्प्रदाय के विरुद्ध है 'यमकं-तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात्'। कवि लोग जब कभी 'चरण' के अन्त में 'यमक' की योजना करते हैं, तब वे कभी भी तीन चरणों के अन्त में 'यमक' की योजना नहीं किया करते। क्योंकि 'यमक' में प्रायः सर्वत्र 'समानता' ही नियामक हुआ करती है।

(४) असमर्थ—विवक्षित अर्थ का ज्ञान कराने में जो समर्थ नहीं हो। जैसे—गमनक्रिया के प्रतिपादक 'गच्छति' पद का प्रयोग न कर 'हन' हिंसा-गत्योः'—इस धातु-पाठ को देखकर 'हन्ति' पद का प्रयोग यदि किया जाय तो उसे 'असमर्थ दोष' में ही गिना जायगा। कुछ विशेष शब्दों में ही 'हन्' धातु को गत्यर्थक माना जाता है, जैसे 'पद्धति'—(पद् + हति)। (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक (पादपूरणार्थक), (८) अवाचक, (९) अश्लील शब्द (पद), यदि लज्जा, जुगुप्सा, अमंगल अर्थों का व्यञ्जक हो तो उसे भी पददोष ही समझा जायगा। जैसे--

साधनं सुमहद् यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम्॥

उक्त पद्य में 'साधन' शब्द का प्रयोग 'सैन्य' के अर्थ में किया है, तथापि 'पुरुष-का जननेन्द्रिय' अर्थ भी उसका होता है। 'साधन' शब्द का प्रयोग करने पर उसकी भी प्रतीति हो सकती है, लेकिन वह 'लज्जाजनक' होगी। जैसे--

'लीलातामरसाऽऽहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः,
कश्चित् केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता तत्र सा,
भ्रान्त्या धूर्ततयाथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता'॥

इस पद्य में 'वायुं ददती' यह पद 'अपानवायु' का भी स्मारक होने से 'जुगुप्सा' कारक है।

'गृढ़पवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद् घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्हीं' ॥

यहाँ पर 'विनाश' शब्द, 'मृत्यु' अर्थ की भी प्रतीति कराता है। अतः वह 'अमंगल' का सूचक है।

(१०) सन्दिग्ध--अनेक अर्थों की संभावना रहने से 'विवक्षित अर्थ' का निश्चय, श्रोता को नहीं हो पाता, अर्थात् 'सन्देह' हो जाता है।

(११) अप्रतीत—जैसे 'आशय' शब्द, 'वासना' के अर्थ में केवल योगशास्त्र में ही प्रसिद्ध है।

(१२) ग्राम्य—केवल लौकिक व्यवहार में जिसका प्रयोग हुआ करता है, उच्च-स्तरीय साहित्य में नहीं। जैसे—'कटिस्ते हरते मनः'—यहाँ 'कटि' शब्द, ग्राम्य है। उच्चस्तरीय काव्य मे तो 'नितम्ब' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(१३) नेयार्थ-रुढि अथवा प्रयोजन के न रहने पर भी, स्वेच्छया लक्ष्यार्थ-बोधक 'शब्द' का प्रयोग करना। जैसे—

'शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्' ॥

यहाँ पर 'चपेटापातनातिथिम्' का 'निर्जित' अर्थ में तात्पर्य है।

(१४) क्लिष्ट—दुर्बोध। जैसे—'अत्रिलोचनसंभूतज्योतिरुद्गमभासिभिः' का अर्थ 'कुमुदैः' है, जो सुबोध नहीं है।

(१५) अविमृष्टविधेयांश—'उद्देश्य-विधेय' का पूर्वापरभाव निश्चित रहने पर भी उसे न विचारना।

(१६) विरुद्धमतिकृत्—'सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे' ॥

इस विषय में मम्मटभट्ट का कहना है कि अत्र "कार्यं विना मित्रम्" इति विवक्षितम्। "अकार्ये मित्रम् इति तु प्रतीतिः"।

अथवा जैसे—'चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम्' ॥

अत्र "कण्ठग्रहम् इति वाच्यम्"। 'गल-ग्रह' का अर्थ है—कलाई पकड़ना, 'गले मिलना' अर्थ नहीं है। ऐसे अनेक दोष, वाक्य में (अनेक पदों में) उपलब्ध होने पर 'वाक्य दोष' माना जाता है। जैसे एक वाक्य में अनेक 'श्रुतिकटु' पदों के रहने पर 'वाक्य', श्रुतिकटु हो जाता है। जैसे—

'सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट, पितृनतार्प्सीत् सममंस्त बन्धून्'।

ये ही दोष यथासंभव 'पदांश' में भी होते हैं। जैसे—

'तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः'॥

यहाँ पर 'द्ध्यै, ब्ध्यै'—ये 'पदांश' श्रुतिकटु हैं।

इसी तरह ११ उपमादोषों का भी विचार किया है। जैसे—(१) जातिगतन्यूनत्व, (२) जातिगत-अधिकत्व, (३) प्रमाणगत-न्यूनत्व, (४) प्रमाणगत-अधिकत्व, (५) धर्मगत-न्यूनत्व, (६) धर्मगत-अधिकत्व, (७) लिंगभेद, (८) वचनभेद, (९) काल-पुरुषादिभेद, (१०) असादृश्य, (१) असंभव। इनमें से ३, ४ और नौ के अतिरिक्त शेष उपमादोषों का भामह ने भी सोदाहरण विवेचन किया है। किन्तु उसने पहिले दो दोषों का विचार 'विपर्यय' के नाम से ही किया है, 'दोनो दोषों' को एक ही दोष मानकर उपमादोष ७ ही बताये हैं। पाँचवें और छठे दोषों को क्रमशः 'दीनता' और 'उपमानाधिकत्व' के नाम से कहा है। इन सात दोषों में से 'लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय'–इन तीन दोषों को ही उसने स्वीकार किया है (२।३९-६५)। महाकवि दण्डी ने भी उन्हीं दोषों को बताया है (२।२२०)।

उपरि निर्दिष्ट पहिले छह दोषों को वामन ने 'हीनत्व' और 'अधिकत्व'–इन दो दोषों के भेद के रूप में माना है। शेष दोषों को उक्त नामों से ही निर्दिष्ट किया है। उपर्युक्त नवे दोष का उल्लेख उसने भी किया नहीं है। इस दोष का निर्देश प्रथमतः 'रुद्रट' ने किया है। उसने उपमादोष ४—'सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असंभव, अप्रसिद्धि'—बताये हैं। उनमें से प्रथम के भेद अर्थात् लिंग, वचन भेदों का और काल-कारक-विभक्ति भेदों का निर्देश किया है।

इन सभी उपमादोषों का संग्रह मम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में करते हुए उनका समावेश साधारण काव्यदोषों के अन्तर्गत कर दिया है।

अर्थात् ११ उपमादोषों में से छह दोषों का अन्तर्भाव इस तरह किया गया है—

'जातिगत न्यूनत्व, अधिकत्व, प्रमाणगत न्यूनत्व और अधिकत्व—ये चार दोष, 'अनौचित्य' (अनुचितार्थता, दोष के अन्तर्गत ही हैं, तथा धर्मगत न्यूनत्व और अधिकत्व ये दोष क्रमशः 'हीनपदत्व' (न्यूनपदत्व) और अधिकपदत्व--इन दो दोषों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनके उदाहरण यथास्थान दिये गये हैं।

अष्टम उल्लास

अष्टम उल्लास में गुण और अलंकार का वैधर्म्य, गुणप्रकार, उनके स्वरूप और वामन के मत का खण्डन आदि का निरूपण किया गया है।

नवम उल्लास

नवम उल्लास में शब्दालंकार और उनके भेद तथा चित्रालंकार का निरूपण किया गया है।

दशम उल्लास

दशम उल्लास में अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार सात-आठ-नौ-दस-इन चार उल्लासों में श्रीमम्मटभट्ट ने स्वकृत काव्य लक्षण को पूर्णतया समझा दिया है और ग्रन्थ को पूर्ण किया है।

मम्मटभट्ट (ग्यारहवीं शताब्दी) विरचित 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की विशेषता

'काव्यप्रकाश' ग्रंथ (ई०स० १०५०-११०० ई०) का पर्यालोचन करने पर मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिस ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया, उस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन तो श्री आनन्दवर्धन' ने ही यथावत् सम्पूर्णतया सविस्तर कर ही दिया था, उसी तरह रसविषयक उपपत्ति को भी 'भरत' से आरम्भ कर 'अभिनवगुप्त' तक के ग्रन्थकारों ने ही विशदतया स्पष्ट कर दिया था, एवं गुण-दोष-अलंकारों का निरूपण भी 'भामह' से लेकर सभी अलंकार-शास्त्रियों ने अपने-अपने विशिष्ट पक्षपात का अनुसरण करते हुए बड़े विस्तार के साथ कर ही दिया था। इन समस्त तथ्यों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र का कोई भी विषय ऐसा नहीं शेष रह जाता है, जिसके प्रतिपादनार्थ इस ग्रन्थ की रचना करने की आवश्यकता हुई हो। तब 'मम्मट' ने ऐसी कौन-सी नवीन बात इस ग्रन्थ में बताई है जिससे इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ ने सम्पूर्ण विश्व में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की है?

यह तो सत्य है कि श्रीमम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ में ऐसी कोई भी नवीन बात नहीं बताई है, तथापि उसके समय तक काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जो विचार किये गये थे, उन्हीं विचारों को प्रमाणों के निकष पर परीक्षित कर, उनमें से कौन-सा विचार कहाँ सुघटित हो सकता है, उसे निश्चित कर श्रीमम्मटभट्ट ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की सर्वस्पर्शी, सुसंगत रचना कर दी है, यही उनका कार्य है और उनके ग्रन्थ की विशेषता है।

श्री आनन्दवर्धन तक के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'व्यंजना' की तथा 'ध्वनि' की उपपत्ति नहीं बताई गई थी। स्वयं आनन्दवर्धन के ग्रन्थ में भी केवल 'ध्वनि' का ही सांगोपांग विवेचन किया गया है। आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों से लेकर श्रीमम्मटभट्ट के समय तक के ग्रंथों में केवल 'ध्वनि' का विरोध, तो कहीं केवल सर्वसंग्रह, तो कहीं केवल किसी एक अंग का एक नवीन शैली से ऊहापोह अथवा केवल अवान्तर जानकारी दी गई थी। उस कारण काव्यशास्त्र की सर्वाङ्गपरिपूर्ण निर्णायक पद्धति से प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ की न्यूनता भासित हो रही थी, उस न्यूनता की पूर्ति करने का कार्य श्रीमम्मटभट्ट ने किया है, तथा अपने ग्रंथ में किये गये समस्त प्रतिपादन के आधारभूत ध्वनि-सिद्धान्त पर अनुत्तरित आक्षेपों का भी खण्डन किया है, और चारों ओर मोर्चेबन्दी भी कर दी है।

शास्त्रीय क्षेत्र में इस प्रकार का कार्य करना वार्तिककार का हुआ करता है। इसलिए काव्यशास्त्र के कतिपय मर्मज्ञ विद्वानों ने इसे (काव्यप्रकाश ग्रन्थ को) 'ध्वन्यालोक का वार्तिक' ही कह दिया है। 'काव्यप्रकाश' के रूप में किया गया यह कार्य, इतना प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ कि तदुत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने-अपने काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में सामान्य विषयों को लेकर ही उनके निरूपण क्रम में किञ्चित् परिवर्तन कर इसी ग्रन्थ का अनुकरण-मात्र किया है। कतिपय ग्रन्थकारों ने इस तथ्य को पहिचान कर जहाँ कुछ नवीन कहने का अवकाश है, उन अलंकारों का ही उतना क्षेत्र, अपनी ग्रन्थरचना के लिए चुन लिया। इस रीति से उन विद्वानों ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अप्रत्यक्ष रूप से 'काव्यप्रकाश' की सार्वभौमता को स्वीकार कर लिया। श्रीमम्मटभट्ट के रचनावैशिष्टय का यह **अन्तरंग भाग है।**

श्रीमम्मटभट्ट के रचना-वैशिष्टय के बहिरंग भाग में काव्यप्रकाश के छन्दोबद्ध सूत्रों को ले सकते हैं। बाह्य रचनापद्धति की दृष्टि से काव्यशास्त्र-विषयक ग्रंथों के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—

(१) भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि के ग्रन्थ, केवल पद्यात्मक हैं।

(२) वामन, शोभाकर, जगन्नाथ आदि के ग्रन्थ केवल गद्यात्मक हैं।

(३) आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि, बहुसंख्य काव्यमीमांसकों के ग्रन्थ, गद्य-पद्यात्मक हैं—इन सभी वर्गों के ग्रन्थों में उदाहरण प्रायः पद्यात्मक ही हैं। केवल गद्यात्मक और गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थों में जो निरूपण-पद्धति है, वह प्रायः 'सूत्र' और 'वृत्ति' के रूप में हुई है।

सूत्रों की पद्यात्मक रचना-पद्धति, श्रीआनन्दवर्धन से आरंभ हुई होगी, ऐसा लक्षित होता है। श्रीमम्मटभट्ट ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में सूत्रों की रचना प्रायः 'अनुष्टुभ्' वृत्तों में की गई है, किन्तु दो जगह (प्रथम और सप्तम उल्लास में) 'गीति' वृत्तों में की गई है।

इन दोनों वृत्तों में की गई पद्यों (कारिकाओं) की संख्या एक सौ बयालीस (१४२) है, उनमें से बारह (१२) गीतिवृत्त वाले पद्य हैं।

विषयों की दृष्टि से इन कारिकाओं के जो छोटे-बड़े भाग हैं, उनको 'सूत्र' संज्ञा दी गई है। ये छोटे-बड़े भाग, पद्यभाग-निरपेक्ष हैं। कहीं तो एक ही पद्य में अनेक 'सूत्र' हैं, और कहीं अनेक पद्यों में एक ही सूत्र है। सूत्रों के आद्यन्त का पद्य के आद्यन्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् पद्य के किसी भी भाग में सूत्र का आरंभ होकर पद्य के किसी भी भाग में उसकी समाप्ति होती है। इससे ग्रन्थकार को लाभ यह हुआ कि कारिकाओं की रचना में कहीं भी उन्हें 'च वै तु हि' की तरह पूर्ति करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, न अनावश्यक शब्दों को ही भरना पड़ा, जैसा कि 'उद्भट' आदि ग्रन्थकारों को करना पड़ा है। उदाहरणार्थ उद्भट की एक कारिका—"प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा॥"-(उद्भट २।२)। इसमें 'इति' शब्द के बाद का भाग अनावश्यक शब्दों से पूर्ण किया गया है। किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने प्रतिपाद्य विषय को अतिसंक्षेप में बताने के लिए जितने शब्दों की आवश्यकता हुई उतने ही शब्दों की योजना, कारिका में की है। न एक शब्द, अधिक है और न एक शब्द, न्यून है। मम्मट की कारिकाओं को तो छन्दोंबद्धसूत्रों का आदर्श ही कहना चाहिये।

लाघवपूर्ण वृत्ति-रचना—

मम्मटभट्टरचित कारिकाएँ और वृत्ति भी 'लघुसन्देशपदा सरस्वती' को बता रही हैं। इसे देखकर ऐसा लगता है कि श्रीमम्मटभट्ट कदाचित् स्वभाव से ही मितभाषी रहे होंगे। पञ्चम उल्लास में की गई ध्वनिमीमांसा, नवम में श्लेषमीमांसा और दशम में की गई अलङ्कारमीमांसा को छोड़कर शेष वृत्ति ग्रन्थ को सूत्र शैली से ही उन्होंने लिखा है। जो बात प्रकरण से, अनुवृत्ति से, अर्थापत्ति से अवगत होने योग्य रहती है, उसे वे कण्ठरव (प्रत्यक्ष शब्द) से नहीं कहते। 'काव्यप्रकाश' की 'कारिकाएँ' और 'वृत्ति' दोनों ही स्वतन्त्र रूप से स्वयं में पूर्ण नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि केवल कारिकाओं को या वृत्ति को पढ़ने पर 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ समझ में नहीं आ सकता। अन्य ग्रन्थों और उनकी व्याख्याओं के समान यह ग्रन्थ नहीं है। अन्य ग्रन्थों के मूल में आये हुए प्रत्येक पद की व्याख्या होती है, तो कहीं जो व्याख्या में रहता है, वही मूल में भी होता है, कहीं व्याख्या में बड़े विस्तर के साथ बताया जाता है, तो कहीं व्याख्या में कुछ भी नहीं बताया जाता है। किन्तु इस ग्रन्थ में 'कारिका' का अर्थ, स्पष्ट रहने पर, वहाँ 'वृत्ति' को लिखा ही नहीं गया (जैसे—पूर्वार्ध १०।९, २२; सप्तम उल्लास की कई कारिकाएँ)। कारिका के किसी महत्त्वपूर्ण पद का या प्रकरण से अवगत न होने योग्य जो अर्थ हो, उसका, या किसी कठिन शब्द का ही विवरण

'वृत्ति' में किया गया है। जैसे, १—प्रथम उल्लासगत काव्यलक्षण की वृत्ति में 'क्वापि' इतने ही अंश का विवरण किया गया है। २—द्वितीय उल्लासगत 'तद्भूर्लक्षणिकः' की वृत्ति में 'तद्भूः' का ही विवरण किया गया है, उसी तरह 'हेत्वभावान्न लक्षणा' की वृत्ति में 'हेतु' का ही विवरण किया गया है। ३—तृतीय उल्लास में 'अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्' की वृत्ति में 'तेषाम्' का ही विवरण किया गया है। कारिका का वाच्यार्थ स्पष्ट रहने पर वृत्ति में केवल सूचितार्थ बताया गया है।

लाघवपूर्ण कारिकाएँ—

वृत्ति की रचना करने में ही ग्रन्थकार ने शब्दों का उपयोग इतना कम किया है, तो कारिकाओं की रचना में शब्दों का अधिक उपयोग कैसे कर सकते हैं? प्रथम उल्लास में जहाँ काव्य के प्रयोजन आदि का विचार प्रस्तुत किया गया है, वहाँ 'काव्य' शब्द का प्रयोग केवल आरंभ में एक बार ही ग्रन्थकार ने किया है। उसके बाद उसका निर्देश 'तत्', 'इदम्' इन सर्वनामों से ही किया है। जैसे—'काव्यं यशसेऽर्थकृते', 'इति हेतुस्तदुद्भवे', 'तददोषौ शब्दार्थौ', 'इदमुत्तममतिशायिनि' इत्यादि अनेक स्थल बताये जा सकते हैं। काव्य के लक्षण में भी प्रत्यक्षरूप से 'काव्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। कहीं-कहीं तो एक ही शब्द से अनेक शब्दों का काम निकाल लिया है। जैसे—'इति हेतुस्तदुद्भवे'—(१।३)। यहाँ 'उद्भव' शब्द से 'निर्माण' और 'समुल्लास' दो शब्दों की विवक्षा की गई है। इस प्रकार मम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ की रचना में 'लाघव' की ओर बहुत ध्यान दिया है। अतः लाघवपूर्ण रचना पर वैयाकरणों ने एकमात्र अपना ही अधिकार समझ कर जो कहा था—'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' उसे श्रीमम्मटभट्ट ने दूर कर दिखा दिया है कि 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते आलङ्कारिका अपि, न केवल वैयाकरणाः'।

अन्वयमुखेन विवेचन—

श्रीमम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ में जो विवेचन किया है वह अन्वयमुख से, यानी निर्णयात्मक किया है। इन निर्णयात्मक विधानों के लिए उनके आधारभूत ऊहापोह का प्रदर्शन नहीं किया। जैसे—ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रयोजनविशेषों को ही 'काव्यप्रयोजन' के रूप में क्यों कहा गया? उनकी निर्दिष्ट संख्या उतनी सीमित ही क्यों? काव्य के त्रिविध-कारण ही क्यों? ग्रन्थ में काव्य का लक्षण 'तददोषौ' कह कर ही क्यों किया गया? काव्य के तीन ही प्रकार क्यों? इत्यादि प्रश्नों के बारे में ग्रन्थकार मम्मट ने अपने आपसे ही स्वयं ऊहापोह कर लिया है, वाचकों से नहीं। कारिका और वृत्ति के रूप में सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' की रचना, सूत्रपद्धति से की गई है, तथापि कुछ स्थलों को अपवाद रूप भी कहा जा सकता है। जैसे दूसरे और पाँचवें उल्लास में

व्यञ्जना-व्यापार के स्वीकार करने की आवश्यकता पर विस्तृत चर्चा ग्रन्थकार ने की है।

इस प्रकार की अन्वयमुखी लेखन-पद्धति कतिपय शताब्दियों से चली आ रही थी, और वह सर्वमान्य भी थी। इन ग्रन्थों में अपेक्षणीय आवश्यक विषयचिकित्सा, चर्चा, ऊहापोह आदि की जो न्यूनता भासित होती थी, उसकी पूर्ति, व्याख्याकार विद्वान् किया करते थे। संस्कृत ग्रन्थ-रचनाओं की यही प्राचीन पद्धति रही। उस पद्धति के मर्मज्ञ विद्वान् व्याख्याकार उन ग्रन्थों की व्याख्या करते समय ऐसी प्रश्नात्मक अवतरणिका उपस्थित किया करते थे, जिसके उत्तर में लेखक के द्वारा प्रतिपादित अन्वयमुखी विधान ही आ सके।

काव्यप्रकाश में प्राकृत उदाहरणों की विपुलता—

काव्यप्रकाश का यह भी एक वैशिष्ट्य है कि उसमें प्राकृत भाषा के विपुल उदाहरण दिये गये हैं। काव्य का स्वरूप जैसे गद्य-पद्य-निरपेक्ष है, वैसे ही वह भाषा-निरपेक्ष भी है, इसकी साक्ष्य, प्राकृत उदाहरणों के देखने से उपलब्ध होती है। राजशेखर ने इसका समर्थन भी किया है। वे कहते हैं—'अर्थविशेषास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि। उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु'–(कर्पू०मं०१।८)।

काव्यशास्त्र में प्राकृत उदाहरणों का संग्रह, आनन्दवर्धन से आरंभ हुआ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती काव्यमीमांसकों ने भी प्राकृतग्रन्थों को 'काव्य' शब्द से संबोधित किया है। भट्टकवि दण्डी ने कहा—"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादियन्मयम् ॥"—(दण्डी १।३४)। काव्यप्रकाश में छह सौ उदाहरणों में से उनसठ उदाहरण यानी दस प्रतिशत उदाहरण प्राकृत के दिये गये हैं। मम्मट के उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने काव्यशाखा के ग्रन्थों में इस प्रथा का अनुसरण भी किया है। जो सम्बन्ध 'हिन्दी' से उसकी आवान्तर भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अवधी, बिहारी आदि भाषाओं का है, उसी तरह महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी आदि प्राकृत भाषाओं का संस्कृतभाषा से सम्बन्ध है। अतः संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह स्पष्ट होता है।

मम्मटभट्ट की वाक्यरचना—

मम्मट की वाक्य-रचना सरल, सुबोध, संक्षिप्त किन्तु अर्थगांभीर्य से परिपूर्ण है। परमत का खण्डन करने में निर्भयता तथा स्पष्टता लक्षित होती है। यही कारण है कि अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' को आदर्शग्रन्थ माना जाता है।

काव्यप्रकाशकार के विषय में विद्वानों के विचार—

कुछ विद्वान् काव्यप्रकाशकार को वैयाकरण कहते हैं। उन्हें वैयाकरण कहने का आधार यह देते हैं कि—(१) द्वितीय उल्लास में 'संकेतित' अर्थ की चर्चा करते समय वैयाकरणों के जात्यादिवाद का प्रदर्शन प्रथमतः किया है। 'विरोध' अलंकार के प्रकारों को भी उन्होंने उक्तवाद के आधार पर ही बताया है। 'शब्द-व्यापार-विचार' में भी उन्होंने 'जात्यादिवाद' के पक्ष का ही अवलंबन कर मीमांसकों के 'जातिवाद' का खण्डन किया है।

(२) 'क्लिष्टत्व' पददोष के 'काव्यलिङ्ग' अलंकार के 'एकपदार्थगत प्रकार' के उदाहरणों को दीर्घसामासिक पदों के द्वारा बताये हैं। ये सब बातें वैयाकरणों की दृष्टि से ही उपपन्न हो पाती हैं, क्योंकि वैयाकरणों ने 'पद' का लक्षण 'सुप्तिङन्तं पदम्' किया है। समास कितना ही दीर्घ क्यों न हो, तथापि उसके अन्त में 'विभक्ति-प्रत्यय' एक ही रखा जाता है, तब इनके लक्षण के अनुसार वह एक ही 'पद' समझा जाता है।

इसके विपरीत नैयायिकों ने 'पद' का लक्षण 'शक्तं पदम्' किया है। अर्थात् 'जो शक्तियुक्त हो' उसे 'पद' कहा है। इसलिए नैयायिकों की दृष्टि से समास को 'एक पद' नहीं माना गया है।

(३) मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में अनेकत्र वैयाकरणों की परिभाषा का उपयोग किया है। जैसे, 'असंगति' अलंकार का विवेचन करते समय उन्होंने वैयाकरणों के 'उत्सर्गापवादन्याय' का उपयोग किया है। 'अलंकार' का लक्षण करते समय 'क्रिया' शब्द का प्रयोग 'कारण' के अर्थ में वैयाकरणों के अनुसार किया है, ऐसा प्रदीपकार का कहना है। 'उपमा अलंकार' के प्रकारों को व्याकरण के आधार पर ही बताया है। इस विषय में उद्योतकार ने वस्तुतः "अयं पूर्णलुप्ता-विभागः शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनपरत्वात् अत्र शास्त्रे न व्युत्पाद्यतामर्हति" कहा है।

(४) बहुत-सी बातों में वैयाकरणों के मत को ही आलंकारिकों ने मान लिया है। जैसे—'परिसंख्या' में ही 'नियम' का अन्तर्भाव कर लेना, 'क्रिया' से सयुक्त 'इव' को 'उपमार्थक' न मानकर 'उत्प्रेक्षार्थक' स्वीकार करना, 'व्यंजना' को स्वतंत्र रूप में 'शब्दव्यापार' मानना। इसप्रकार कितनी ही जगह 'आलंकारियों' का "वैयाकरणों" के साथ 'मतैक्य' दृष्टिगोचर होता है।

(५) इसलिए 'अलंकारशास्त्र' को 'व्याकरणशास्त्र का पुच्छ' कहा गया है। इसे 'न्याय' अथवा 'मीमांसा का परिशिष्ट' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अलंकार-शास्त्र-संमत 'व्यंजना' नामक शब्दव्यापार का 'नैयायिकों' ने खण्डन किया है, और 'मीमांसा' में तो उसका नामोल्लेख तक नहीं है। मम्मट की विद्वत्ता जैसी व्याकरण में थी, वैसी ही अलंकारशास्त्र में भी थी। क्योंकि भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक के

काव्यमीमांसकों के विचारों का यत्र-तत्र प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अनुकरण तथा उनके विशिष्ट विचारों का खण्डन किया है।

भरत के 'नाटयशास्त्र', भामह के 'काव्यालंकार' आदि लक्षण-ग्रन्थों के समान ही 'रघुवंश', 'शांकुतल' आदि लक्ष्य-ग्रन्थों का व्यासंग भी प्रचुर मात्रा में लक्षित होता है। काव्यप्रकाश में निर्दिष्ट अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद, संकेतित अर्थ के विषय में जातिवाद, अर्थापत्ति और उसके दो प्रकार, प्रकटता को ज्ञान का फल बताना, गौणी लक्षणा की बोध-प्रक्रिया के तृतीय मत में आधारभूत कुमारिलभट्ट के वचन का उद्धरण, पंचम उल्लास में ध्वनि का विवेचन करते हुए जैमिनिसूत्र 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य' का उल्लेख, 'लोहितोष्णीशा ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य के उल्लेखों से उनका 'मीमांसाशास्त्र' का पाण्डित्य भी स्पष्ट होता है।

'मंगलाचरणश्लोक' की वृत्ति में 'न्याय-वैशेषिकदर्शन' का परमाणु-कारणवाद, समवायी–असमवायी निमित्त कारणों का, जातिबाधक के परामर्श का, 'वाचक' शब्द के विवेचन के प्रसंग में 'न्यायदर्शन' के जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद का, 'विशिष्ट-लक्षणा' के खण्डन में संवित्ति का, 'पर्यायोक्त' अलंकार के विवेचन में निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा और 'अनुमान' अलंकार के विवेचन में साध्य-साधन के स्वरूप का प्रदर्शन, आदिके उल्लेख से उनका 'न्यायशास्त्र' का पाण्डित्य दृष्टिगोचर होता है। उसी तरह 'मंगलाचरण'के श्लोक की वृत्ति में सुख-दुःख-मोह स्वभाव यानी त्रिगुणात्मक सृष्टि के निर्देश से 'सांख्यशास्त्र' का पाण्डित्य लक्षित होता है। उसी तरह 'संकेतित' अर्थ के विवेचन में निर्दिष्ट अपोहवाद, उसी तरह 'पर्यायोक्त' अलंकार के विवेचन में बौद्धों के प्रत्यक्ष-विषय-विचार का निर्देश, 'बौद्धदर्शन' के पाण्डित्य को सूचित कर रहा है। उसी तरह 'रस-विवेचन' में रसास्वाद की ब्रह्मास्वाद से तुलना की चर्चा से 'वेदान्तशास्त्र' का पाण्डित्य लक्षित होता है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि श्री मम्मटभट्ट बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अतएव सुधासागरकार ने उन्हें 'वाग्देवतावतार' के रूप में माना है। श्रीमम्मटभट्ट, केवल वैयाकरण ही नहीं थे, अपितु वे सर्वज्ञ थे, यही निश्चय है।

काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मटभट्ट का परिचय

सुधासागरकार 'भीमसेन दीक्षित' ने अपनी व्याख्या की प्रस्तावना में काव्य-प्रकाशकार का परिचय इस प्रकार दिया है—

> "शब्दब्रह्मसनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्।
> तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्॥
> श्रीमज्जयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः।
> श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन्॥"

अर्थात् शाश्वत् ब्रह्म का साक्षात्कार शास्त्रों के द्वारा किसी को नहीं हो पाया, यह देखकर, उसे स्वयं करा देने की इच्छा से भगवती सरस्वती स्वयं काश्मीर देश में श्रीमान् जैयट की पत्नी के उदर से पुरुष के रूप में प्रकट हुई। समस्त शास्त्रों की अवगति रहने पर भी लोकरीति के अनुसरणार्थ सरस्वती-स्वरूप 'मम्मट' ने काशी क्षेत्र में आकर समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया। तदन्तर उन्होंने लोक-कल्याणार्थ 'काव्यप्रकाश' नामक साहित्य-सूत्र ग्रंथ और उस पर वृत्ति ग्रन्थ की रचना की।

"श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो।
भाष्याब्धि निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धि गतः॥"

उस मम्मट से विद्याध्ययन कर उसके कनिष्ठ भ्राता कैयट और उव्वट ने भी क्रमशः महाभाष्य और वेद पर व्याख्या की रचना की। उस वाग्देवतावतार मम्मठ की प्रशंसा अथवा उसके समस्त गुणों का वर्णन इस संसार में कौन कर सकता है।

'काव्यप्रकाश' के अतिरिक्त मम्मटभट्ट के नाम के दो ग्रंथ और भी हैं। (१) 'शब्दव्यापारविचार' (२) 'संगीतरत्नावली'। 'संगीत-रत्नावली' ग्रन्थ संगीत-विषयक है, जो आज अनुपलब्ध है, तथापि गजपतिनारायण देव (ई० १८ वीं शताब्दी) ने अपने 'संगीतनारायण' ग्रन्थ में मम्मटरचित 'संगीतरत्नावली' के कतिपय अंशों को उद्धृत किया है। जैसे—"मम्मटाचार्यकृत-संगीतरत्नावल्यां" कर्नाट 'नाट-मल्लार' आदि रागों की बहुत बड़ी नामावली, और एक जगह 'टक्करागलक्षणमाह मम्मटः'—"नाट-कर्णाटयोर्योगे टक्करागो नपुंसकः" इत्यादि। इसी तरह पुरुषोत्तम-पुत्र नारायणकवि-विरचित 'संगीतसरणि' ग्रन्थ में भी मम्मट की संगीत-रत्नावली के अनेक अंशों को उद्धृत किया गया है।

'काव्यप्रकाश' पर व्याख्याओं की विपुलता—

मम्मट के काव्यप्रकाश पर सौ से भी अधिक व्याख्याओं के होने का उल्लेख श्री वामनाचार्य और म० म० पाण्डुरंग काणे और 'दे' महोदय ने किया है। आऊफ्रेक्ट के 'केटालॉग्स केटालोगोरम' नामक बृहत् सूची में भी निर्दिष्ट–अनिर्दिष्ट-कर्तृक व्याख्याओं की सूची दी गई है। इस 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ पर इतनी अधिक व्याख्याओं के होने पर भी वह आज भी गूढ रहस्यों से पूर्ण ही बना हुआ है। अतएव 'आदर्श' व्याख्या के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्यजी ने कहा है—

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः"

यह कथन पूर्णतया यथार्थ प्रतीत हो रहा है। 'काव्यप्रकाश' के व्याख्याकार कश्मीर से लेकर आन्ध्र, मद्रास तक और गुजरात से लेकर बंगाल तक भारत के सभी प्रदेशों में से हुए हैं। निष्कर्ष यह है कि यह 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ देश-काल-धर्म-पन्थ आदि की कक्षाओं का उल्लंघन कर विविध क्षेत्रों में ख्यातिप्राप्त कुशाग्र-बुद्धि विद्वन्मूर्धन्यों को सतत आकर्षित करता आ रहा है। ऐसे अनुपम प्रभावशाली

ग्रंथ के रचयिता को 'वागदेवतावतार' कहना सर्वथैव समुचित है, इसमें किसी का भी वैमत्य नहीं है।

'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की एककर्तृकता—

'काव्यप्रकाश' ग्रथ की रचना के सम्बन्ध में कतिपय प्राचीन व्याख्याकारों के लेखों ने उसकी एक-कर्तृकता के विषय में कुछ लोगों को सन्देह उत्पन्न कर दिया है।

उक्त ग्रंथ के प्राचीनतम व्याख्याकार राजानक रुय्यक (ई० स० ११५०) हैं। इनकी रचित व्याख्या का नाम 'संकेत' है। एक अन्य व्याख्याकार 'माणिक्यचन्द्र' (ई० स० ११६०) हैं। इन्होंने भी उक्त ग्रन्थ पर व्याख्या की है, जिसका नाम 'संकेत' ही रखा है। अर्जुनवर्मदेव (ई० स० १२००-५०) ने 'रसिकसंजीवनी' नाम की व्याख्या लिखी है। उसी प्रकार राजानक आनन्द (ई० स० १६६५) ने भी 'निदर्शना' नाम की व्याख्या लिखी है।

(१) इन सभी व्याख्याकारों ने उक्त ग्रन्थ को द्विकर्तृक बताया है। अर्थात् मम्मट और अल्लट (अथवा अलट या अवक) दोनों ने मिलकर उक्त ग्रन्थ की रचना करके उसको पूर्ण किया है। इन लोगों का कहना हे कि 'परिकर' अलंकार के आगे अवशिष्ट भाग को 'अल्लट' (अलट या अवक) ने पूर्ण किया है।

(२) काव्यप्रकाश 'निदर्शना' टीका के रचयिता ने एक अन्य पक्ष उपस्थित किया है। उसका कहना है कि 'काव्यप्रकाश' तो मम्मट और अल्लट दोनों की सम्मिलित कृति है।

(३) इसके अतिरिक्त एक पक्ष और भी उपलब्ध होता है। काव्यप्रकाश की 'संकेत' टीका के प्रथम तथा दशम उल्लास के अन्त की पुष्पिका "इति श्रीमद्-राजानकमल्ल-मम्मट-रुचक-विरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाश-संकेते प्रथम उल्लासः" में 'मल्ल', 'मम्मट' और 'रुचक' तीन नामों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार दशम उल्लास की पुष्पिका "राजानक-मम्मट-अलक-रुचकानाम्" तीन नामों का उल्लेख किया गया है। एवञ्च 'संकेत' टीकाकार 'काव्यप्रकाश' को, तीन लोगों की कृति मानते हैं।

(४) कतिपय बंगीय व्याख्याकारों ने एक अन्य दृष्टि से काव्यप्रकाश को द्विकर्तृक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनमें से 'आदर्श' (भावार्थ-चिन्तामणि) व्याख्याकार महेश्वर न्यायालंकार (ई० सन् १६००-५०) हैं, और दूसरे 'साहित्य-कौमुदी' व्याख्या के रचयिता बलदेव विद्याभूषण (ई० स० १७००) हैं। इन दोनों का कहना है कि काव्यप्रकाश के अन्तर्गत 'कारिकाग्रन्थ' की रचना, अग्निपुराण के आधार पर 'भरत' ने की है, और उसपर गद्यमय 'वृत्तिग्रन्थ' की रचना मम्मट भट्ट ने की है।

महेश्वर न्यायालङ्कार का कहना है कि "सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्य-प्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुम् अग्निपुराणादिभ्यः उद्धृत्य काव्यरसास्वाद-कारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।........ मम्मट-भट्टस्तु ताः कारिकाः सोदाहरणं व्याख्यातुं कारिकाग्रन्थादिभूतां "नियतिकृत" इत्यादि-कारिकामुत्थापयति—"ग्रन्थारम्भे" इत्यादि।"

—(का० प्र० कल० सं० सरीज़ पृ० २)

उसी तरह बलदेव विद्याभूषण का कहना है कि "सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां कृतवपुषां कृतौ ममास्याम्" (सा० कौमु०)। तथा "मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्। वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्"। व्याख्याकार बलदेव ने ही स्वयं अपनी व्याख्या 'साहित्यकौमुदी' पर 'कृष्णानन्दिनी' नाम की टिप्पणी लिखी है, उसमें वे लिखते हैं—"काव्य-रसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध। कारिकास्ताः व्याचिख्यासुः वृत्तिकृत् मङ्गलमाचरति"।

दूसरी बात यह है कि 'काव्यप्रकाश' की कुछ कारिकाएँ (का० प्र० ४।६-११) भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में (ना०शा० ६।१५, १७–२१) जैसी की तैसी ही उपलब्ध होती हैं।

दूसरा तर्क यह भी है कि "ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति"—इस अवतरणिका में वृत्तिकार ने प्रथम-पुरुष की क्रिया के द्वारा कारिकाकार का निर्देश किया है। वृत्तिकार के द्वारा ही यदि कारिकाओं की रचना की गई होतीं तो उत्तमपुरुष में क्रियापद को रखा गया होता। इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश की निर्मिति किसी एक के द्वारा न होकर दो लोगों के द्वारा की गई है।

एक तर्क यह भी है कि "समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा" (सू० १४०) इस सूत्र की वृत्ति लिखते हुए मम्मट लिखते हैं—'बहुवचनमविवक्षितम्' यानी 'बहु-वचन' की जगह 'द्विवचन' भी किया जा सकता है। यदि सूत्र (कारिका) और वृत्ति दोनों का कर्ता एक ही होता तो सूत्र (कारिका) में 'आरोपिताः' बहुवचन का प्रयोग करके पश्चात् 'बहुवचनम् अविवक्षितम्' ऐसी व्याख्या (वृत्ति) करने की आवश्यकता ही उसे क्यों होती? वह स्वयं ही 'श्रौतावारोपितौ यदि' यह भी लिख सकता था, किन्तु उसने वैसा नहीं किया, क्योंकि कारिका (सूत्र) उसकी (मम्मट की) बनाई हुई नहीं है, कारिका (सूत्र) भाग तो भरतमुनि का बनाया हुआ है। इस कारण उसकी वृत्ति (व्याख्या) करते समय मम्मट को 'बहुवचनमविवक्षितम्' कहना आवश्यक हो गया।

सिद्धान्तपक्ष—

काव्यप्रकाश ग्रन्थ को अनेककर्तृक माननेवाले व्याख्याकारों के तर्कों पर सूक्ष्म विचार करने पर उनके तर्क, उचित प्रतीत नहीं हो रहे हैं। तथाहि—

(१) 'अल्लट' को मम्मट का समकालिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मम्मट के पचास-पचहत्तर वर्ष के पश्चात् होनेवाले राजानक 'रुय्यक' के 'अलंकारसर्वस्व' ग्रन्थ के व्याख्याकार के रूप में उसकी (अल्लट की) प्रसिद्धि है। एवं च मम्मट का समकालिक न होने से उसे (अल्लट को) मम्मट का सहकारी नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि काव्यप्रकाश ग्रन्थ, क्या सौ वर्षतक अपूर्ण ही रहा? सौ वर्ष के सुदीर्घ काल के पश्चात् क्या 'अल्लट' ने उसे पूर्ण किया होगा? अतः यह तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अल्लट' के पूर्ववर्ती राजानक 'रुय्यक' और 'माणिक्यचन्द्र' दोनों विद्वान्, समग्र काव्यप्रकाश ग्रन्थ की व्याख्या कर चुके थे। किञ्च—'कादम्बरी' के दो भागों की भिन्न शैली के समान काव्यप्रकाश को दो भागों में विभक्त मानने में शैली की भिन्नता भी लक्षित नहीं हो रही है। किञ्च कादम्बरी के उत्तरार्ध में 'बाणभट्ट' के पुत्र ने आरंभ करते समय स्वतंत्र मंगलाचरण किया है, वैसा मंगलाचरण, अल्लट ने नहीं किया है। किञ्च विद्वानों का अधिकपक्ष सम्पूर्ण ग्रन्थ को मम्मट-कर्तृक सुदीर्घ-दीर्घतर काल से मानता आ रहा है।

समस्तकारिका-भाग 'भरत'-कर्तृक नहीं है—

किञ्च 'वृत्ति' और 'कारिका' (सूत्र) भी एक-कर्तृक ही हैं। अर्थात् दोनों के कर्ता मम्मटभट्ट ही हैं। अन्यथा कारिका-रचना के पूर्व जिस तरह मंगलाचरण उपलब्ध हो रहा है, उसी तरह वृत्ति के आरंभ में भी मंगलाचरण अवश्य पाया जाता। किन्तु 'कारिका' ही मूल ग्रंथ रहने से उसमें किये गये मंगलाचरण से ही व्याख्याभूत 'वृत्ति' के आरम्भ करते समय ग्रंथकार 'मम्मट' ने पृथक् 'मंगलाचरण' की आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि कारिकाभाग और उसकी व्याख्याभूत वृत्तिभाग दोनों का कर्ता एक ही है।

वृत्ति और कारिका ग्रन्थ दोनों का कर्त्ता एक ही है—

जो विद्वान् इस ग्रन्थ के कारिका-भाग को भरत का बताते हैं, वह भी ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि सम्पूर्ण कारिका-ग्रन्थ यदि भरतप्रणीत होता तो भरत की कारिकाओं को जहाँ-कहीं मम्मट ने उद्धृत किया है, वहाँ उन्होंने 'तदुक्तं भरतेन' भी लिख दिया है। एवं च विशेष-विशेष स्थलों पर ही 'तदुक्तं' लिखने की उन्हें क्यों जरूरत पड़ी? अतः स्पष्ट है कि भरत के कुछ ही सूत्र या कारिकाएँ थीं, जिनका निर्देश 'तदुक्तं' के द्वारा मम्मट ने किया है। शेष सभी कारिकाएँ मम्मटभट्ट की ही हैं। रूपकालंकार के निरूपण में "साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं, माला तु पूर्ववत्" अर्थात् पूर्व-प्रतिपादित 'मालोपमा' के समान 'मालारूपक' भी होता है। कारिकाभाग

को यदि भरतप्रणीत माना जाय तो उनकी 'कारिका' में 'मालोपमा' का निर्देश भी होना चाहिए था–लेकिन उसका उल्लेख किसी कारिका में न होकर 'वृत्ति' में किया गया है। अर्थात् मम्मट ने अपने वृत्तिभाग में जिस मालोपमा को बताया है, उसी का यहाँ कारिका में उसने निर्देश किया है। एवञ्च स्पष्ट है कि कारिका-भाग और वृत्ति-भाग दोनों का कर्तृत्व एक मम्मटभट्ट में ही स्थिर होता है। अतः कारिका-भाग का कर्ता 'भरत' और वृत्तिभाग का कर्ता 'मम्मट' हैं—यह कथन उचित नहीं है। अन्यान्य अनेक युक्तियाँ तथा तर्क और प्रमाण हैं, जिनके बल पर कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट-कर्तृक ही है।

उपसंहार

इस ग्रन्थ में भरत से लेकर भोजराज तक १२०० वर्षों में अलंकारशास्त्र से सम्बन्धित जो विशाल साहित्य रचा गया, उसका खूब मन्थन करके नवनीत के रूप में यह 'काव्यप्रकाश' प्रकट हुआ है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की है। उस नाट्यशास्त्रात्मक क्षीरसागर से नवनीत के रूप में 'रससिद्धान्त' प्रादुर्भूत हुआ। 'भरतमुनि' के रचित 'रससूत्र' पर बारह सौ वर्षों में होते आये ऊहापोह का 'सार' इस ग्रन्थ में रख दिया गया है। भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्य-लक्षण को ही अधिकतया निर्दुष्ट, गुणयुक्त, और सालंकृत करते हुए परिष्कृत कर "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" के रूप में उपस्थित कर दिया है।

बारह सौ वर्षों में निष्पन्न होते आये काव्य-लक्षणों के सारभूत तत्त्वों को मम्मट भट्ट ने अपने रचे काव्य-लक्षण में पूर्णरूप से भर दिया है।

भामह और दण्डी ने शब्द की शक्तियों का तो विवेचन किया, किन्तु 'रस' और 'ध्वनि' का नहीं किया। उनकी इस न्यूनता को समझकर मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में 'रस' और 'ध्वनि' का विस्तृत विवेचन कर उस न्यूनता को दूर कर दिया।

उसी तरह उद्भट भी इकतालीस 'अलंकारों' के निरूपण में ही रह गये। वामन ने 'रीति, गुण, दोष, अलंकारों' को तो बताया है किन्तु 'रस' के बारे में वे नीरस ही रहे। उन्होंने 'रीति' को ही सर्वस्व मान लिया। रुद्रट ने 'काव्यलक्षण, शब्दालंकार, अर्थालङ्कार' तथा दस प्रकार के 'रस' और 'नायक-नायिका भेदों' को बताया है। 'शब्दशक्ति, ध्वनि' आदि काव्य के अन्यान्य अंगों की उपेक्षा कर दी। उनके पश्चात् आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' का विशद विवेचन करके सहृदय विद्वानों को प्रसन्न तो कर दिया, किन्तु षड्विध रसों के बिना जैसे तृप्ति नहीं हो पाती, उसी तरह काव्य के विविध तत्त्वों के निरूपण किये बिना काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ को पूर्ण नहीं कहा

जा सकता। किन्तु मम्मटभट्ट ने 'रीति, गुण, दोष, अलंकार' आदि सभी काव्य-तत्त्वों का अच्छी तरह विवेचन किया है।

'आनन्दवर्धन' का लक्ष्यबिन्दु एकमात्र 'ध्वनि-तत्त्व ही रहा। अतएव वे सम्पूर्णतया काव्यशास्त्र का चित्रण नहीं कर पाये। आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि-तत्त्व' का परिचय कराया, और उसके प्रचार-प्रसार में भरसक प्रयत्न भी किया, किन्तु ध्वनि-विरोधी भट्टनायक और महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के 'ध्वनितत्त्व' को एक प्रकार से कुचल ही दिया था। इस 'ध्वनितत्त्व' को लेकर विद्वानों में घोर संग्राम चल रहा था। उस उग्र संघर्ष से उस ध्वनितत्त्व' को सकुशल बचाकर उसे अनेक युक्ति-संवलित पुष्ट तर्कों के आधार पर 'मम्मटभट्ट' ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में उसका सविस्तर निरूपण किया, जिससे विद्वत् समाज में उसका खूब प्रचार-प्रसार हुआ और दृढ़ता के साथ पुनः उसको प्रतिष्ठापित किया। इसी पुरुषार्थ को देखकर विद्वन् मूर्धन्यों के हृदय की वाग्देवी के मुख से 'मम्मटभट्ट' के लिए 'ध्वनिप्रतिष्ठापन-परमाचार्य' इत्यादि सम्मान-सूचक शब्द निकल पड़े।

किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के करने में 'श्रम' और 'कला' दोनों की आवश्यकता होती है। जैसे 'मधुमक्षिका' बड़े परिश्रम-पूर्वक अनेक पुष्पों से 'मधु' का संचय करती है—यह उसका 'श्रम' पक्ष है, और 'छत्ता' बनाकर उस मधु को जैसे सजाकर सँभालकर उसमें रखती है—यह उसका 'कला' पक्ष है। 'मधु' से रसना की तृप्ति होकर जैसा आनन्द होता है, वैसे ही उसके छत्ते को देखकर नेत्रों को भी आनन्द होता है। दोनों का अपना-अपना निजी सौन्दर्य है। अतः उसके 'श्रमपक्ष' और 'कलापक्ष' दोनों ही प्रशंसा के पात्र रहते हैं। मम्मटभट्ट में भी ये दोनों पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। एक हजार वर्षों तक के सुदीर्घ काल में काव्यशास्त्रीय उपवन में पराग-सम्पन्न सैकड़ों पुष्पों से 'काव्यतत्त्वरूप-मधु के संचय करने में मम्मटभट्ट ने महान् परिश्रम किया है—यह उनका 'श्रमपक्ष' अत्यन्त श्लाघनीय है, और उन तत्त्वों को यथाक्रम सजाकर संयुक्तिक तर्कों के आधार पर अपने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में जिस प्रकार निरूपित किया है—यह उनका 'कलापक्ष' है। उनका विरचित समग्र 'काव्यप्रकाश केवल एक सूत्र-"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—के आधार पर परिभ्रमण कर रहा है।

इन समस्त तथ्यों से स्पष्ट प्रमाणित है कि अमितप्रतिभासम्पन्न बहुशास्त्रश्रुत परमपण्डित महामाहेश्वर राजानक 'श्रीमम्मटभट्ट' निस्सन्देह वाग्देवतावतार थे एवं ध्वनिप्रतिष्ठापनपरमाचार्य परमालंकारिक थे। तथा उनके द्वारा प्रणीत 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ वास्तविक रूप से यथानाम काव्यविषयक अशेष-विषयों का प्रकाशक प्रतिष्ठापक अनुपमग्रन्थरत्न होने से साहित्यिक-जगत् में देदीप्यमान हो पाया है और यावच्चन्द्र-दिवाकरौ पौर्वपाश्चात्य विद्वानों के मध्य सर्वत्र सर्वदा अबाधगति से देदीप्यमान होता रहेगा। ॥ इति शम् ॥ —गजानन शास्त्री

कृतज्ञता-प्रकाशन

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र की अनुपम अनुकम्पा से 'काव्यप्रकाश' की 'रहस्यबोधिनी' नामक व्याख्या का लेखन-कार्य, प्रातःस्मरणीय परमपूज्य श्रीपितृचरण एवं प्रातः स्मरणीय परमपूज्य श्रीगुरुचरणों का प्रतिक्षण ध्यान करते हुए निर्विघ्नतया सम्पन्न हो सका, तदर्थं भगवच्चरणारविन्दों में तथा तत्स्वरूप श्रीमन्मातृ-पितृ-श्रीगुरुचरणों में पुनः पुनः अपनी प्रणामपुष्पाञ्जलि को सादर सविनय भक्ति-भाव-पुरःसर अर्पण कर कृतज्ञता का निर्वाह करके करबद्ध प्रार्थना कर रहा हूँ कि मुझ जैसे मूढमति किन्तु एकमात्र आपके चरणारविन्दों पर शरणागत हुए अपने प्रियपुत्र एवं प्रियशिष्य पर सर्वथा सर्वदा अपना वरदहस्त बनाये रखने की कृपा करते रहें।

इसके लिखते समय मेरे विद्यावंशीय और पितृवंशीय सन्तानों ने समय-समय पर मेरी सहायता की है। मेरे विद्यावंशीय सन्तानों में से उल्लेखनीय सहयोगी डॉ० विमला कर्नाटक, रीडर, बी० एच० यू०; डॉ० कमलनयन शर्मा, प्रवक्ता, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद; डॉ० मोरनाथ नेने प्रवक्ता, उज्जैनविक्रमविश्वविद्यालय, डॉ० कपिलदेव पाण्डेय, आर्य महिला विद्यालय, वाराणसी आदि को तथा पितृवंशीय सन्तानों में से उल्लेखनीय सहयोगी मेरे भ्रातृष्पुत्र डॉ० श्यामराव, चि० राजेश्वर पन्त, एम०ए०, पीएच्० डी०, सौ० श्रीकला किजवडेकर, सौ० रचना जोशी, एम०ए०, सौ० अपर्णा, श्रीरामशास्त्री, सौ० श्रीकला, श्री शेखरराव, डॉ० श्रीकृष्ण भालचन्द्रशास्त्री मुसलगाँवकर, डॉ० मुसलगाँवकर आदि सभी सन्तानों को हार्दिक शुभाशीर्वाद देकर उनके अभ्युदय की कामना भगवच्चरणारविन्दों में कर रहा हूँ।

पूर्ववर्ती व्याख्याकारों की संस्कृत टीकाओं का सम्यक् आलोडन कर उनके अंश-विशेषों को यथास्थान सन्निविष्ट कर जिज्ञासु छात्रवर्ग के उपयुक्त बनाने में उन व्याख्याओं से मुझे बहुत सहायता प्राप्त हुई है।

इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री सत्यनारायणशास्त्री खण्डूड़ीजी, साहित्याचार्य ने अथक परिश्रम और मनोयोग के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन कर मुझे यशोभाजन बना दिया है, यह निवेदन करते हुए महान् हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। सम्पादन कार्य का भार यदि ये न लेते तो इस ग्रन्थ का समुचित मुद्रण ही न हो पाता, यह यथार्थ तथ्य है। अतः ऐसे विद्वान् सम्पादक महोदय के अभ्युदय एवं दीर्घायुष्य की प्रार्थना भगवान् से करता हूँ और निरन्तर अनेकानेक ग्रन्थों का सम्पादन करने में दत्तचित्त होकर लेखकों का उत्साह-वर्धन सर्वदा करते रहेंगे यह आशीर्वाद दे रहा हूँ, भगवान् मेरे इस आशीर्वाद को सफल बनायेंगे, यह मुझे विश्वास है।

अन्त में श्रीकृष्णदास अकादमी के सञ्चालक बन्धुवर्ग को इस ग्रन्थ के प्रकाशन के निमित्त अनेकानेक धन्यवादों को देते हुए उनके अभ्युदय की कामना कर रहा हूँ।

१३, दीनदयालनगर, मीमांसाभूषण—गजानन शास्त्री
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी

ग्रन्थ-विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
प्रथम उल्लास	
[काव्य-प्रयोजन-कारण-स्वरूप-निरूपण]	
अवतरणिका	१
ग्रन्थ का लक्षण	१
मङ्गलाचरण	२
मङ्गलाचारण का प्रयोजन	२
ब्रह्मदेव की सृष्टि की अपेक्षा कवि-सृष्टि की विशेषता	२
अनुबन्धचतुष्टय	२
विषय और प्रयोजन	३
काव्य-हेतु	४
काव्य-लक्षण	६
स्फुटालङ्कार-विरहविशिष्ट काव्य का उदाहरण	६
काव्य भेद	७
१. उत्तम काव्य	७
स्फोटवाद	८
ध्वनिकाव्य का उदाहरण	९
२. गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य मध्यम-काव्य और उसका उदाहरण	११
३. अधमकाव्य (चित्रकाव्य)	१२
शब्दचित्र का उदाहरण	१३
अर्थचित्र का उदाहरण	१४
प्रथम उल्लास का सारांश	१४
द्वितीय उल्लास	
[शब्दार्थ-स्वरूप-निरूपण]	
शब्दत्रैविध्य	१६
अर्थत्रैविध्य	१७
अर्थ का चौथा भेद तात्पर्यार्थ	१७
अभिहितान्वयवाद	१७
अन्विताभिधानवाद	१९
तीनों अर्थों का व्यञ्जकत्व	२१
वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण	२१
लक्ष्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण	२२
व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण	२३
वाचक शब्द का लक्षण (स्वरूप)	२४
संकेतयुक्त अर्थ के विषय में अनेक मत	२५
उपाधि के भेद से शब्दों का चतुर्विध विभाग	२६
केवल जाति में शक्तिग्रह कहने-वाले मीमांसकों का मत	३०
यदृच्छा शब्दों में जाति का उपपादन	३१
संकेतग्रह के सम्बन्ध में नैयायिक एवं बौद्धों का मत	३३
मम्मटभट्ट का अपना मत	३४
अभिधालक्षण	३५
लक्षणानिरूपण	३६
मुख्यार्थ बाध के दो रूप	३८
लक्षणा के दो उदाहरण	३९

विषय	पृष्ठ
शुद्धालक्षणा के दो भेद	४०
उपादानलक्षणा—लक्षणलक्षणा	४१
मुकुलभट्ट की उपादानलक्षणा के दो उदाहरण	४१
मुकुलभट्ट के द्वारा उपादान-लक्षणा का निरूपण	४२
मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण का अनुवाद	४३
मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' का खण्डन	४३
मुकुलभट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन	४४
'अर्थापत्ति' लक्षणारूप नहीं है	४५
अर्थापत्ति की द्विविधता	४५
लक्षणलक्षणा का उदाहरण	४६
'गङ्गायां घोषः' के उदाहरण पर विचारात्मक विश्लेषण	४६
न्यायशास्त्र में 'लक्षणलक्षणा' का उदाहरण	४७
लक्षणलक्षणा का अधिक स्पष्ट उदाहरण	४७
शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के संबंध में मम्मटभट्ट का मत	४८
शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के संबंध में मुकुलभट्ट का मत	४९
मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन	५०
सारोपा लक्षणा	५०
साध्यवसानिका लक्षणा	५१
सारोपा और साध्यावसाना दोनों के दो भेद	५१
गौणीसाध्यवसाना-विषयक तीन मत	५२
शुद्धा-सारोपा और शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण	५३

विषय	पृष्ठ
लक्षणा तेन षड्विधा	५५
प्रस्तुत भेदों से युक्त लक्षणा के पुनः तीन प्रकार	५७
तदेषा कथिता त्रिधा	६१
लाक्षणिक-शब्द-लक्षण	६२
लक्षणामूलक-व्यञ्जना	६२
व्यञ्जनाया आवश्यकता	६३
प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण	६३
प्रयोजन की लक्ष्यता का खण्डन	६४
प्रायोजन-विशिष्ट में लक्षणा का खण्डन	६८
न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त	६९
मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त	६९
अनुव्यवसाय और ज्ञातता में अन्तर	७१
विशिष्टे लक्षणा नैवम्	७२
विशेषाः स्युस्तु लक्षिते	७२
अभिधामूलक-व्यञ्जना का लक्षण	७२
श्रीभर्तृहरि की दो कारिकाओं का अर्थ	७३
व्यञ्जकशब्द-लक्षण	८०
शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ का सहयोग	८०

तृतीय उल्लास

[आर्थी-व्यञ्जना-स्वरूप-निरूपण]

विषय	पृष्ठ
द्वितीय और तृतीय उल्लास की संगति	८१
आर्थी व्यञ्जना के भेद	८१
आर्थी व्यञ्जना के दसों प्रकार के उदाहरण	८२
आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग	९०

विषय	पृष्ठ
चतुर्थ उल्लास	
[ध्वनिकाव्यभेद(उत्तमकाव्य) निरूपण]	
उल्लास-सङ्गति	९१
ध्वनि भेद	
१. अविवक्षितवाच्य-लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद और उनके उदाहरण	९२
२. विवक्षितवाच्य-अभिधामूल ध्वनि और उसके दो भेद	९५
अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का अष्टविधत्व	९७
रसस्वरूपनिष्पत्ति	९८
१. स्थायिभाव	९९
२. विभाव	१००
३. अनुभाव	१००
४. व्यभिचारिभाव	१०१
भरतमुनि का रससूत्र	१०१
भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद	१०२
भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में अरुचि का कारण	१०४
शंकुक आचार्य का अनुमितिवाद	१०४
'एव'कार का तीन प्रकार से प्रयोग	१०८
आचार्य शंकुक के अनुमितिवाद में अरुचि	१०९
भट्टनायक का भुक्तिवाद सिद्धान्त	११०
भट्टनायक के भुक्तिवाद में सांख्य-सिद्धान्त का अनुसरण	११३
भट्टनायक के मत में अरुचि	११३
अभिनवगुप्तपाद का अभिव्यक्तिवाद	११३
रस की अलौकिकता में एक और युक्ति	१२०
रससूत्र में विभावादिकों का सम्मिलित निर्देश करने में हेतु	१२१
उद्दीपन विभावमात्र से ही रसाभिव्यक्ति	१२२
अनुभावमात्र से ही रसाभिव्यक्ति	१२३
व्यभिचारिभावमात्र से ही रसाभिव्यक्ति	१२४
रसों का नामतः परिगणन	१२५
रसों के विशेषक्रम-निर्धारण पर विचार	१२५
शान्तरस के सम्बन्ध में विचार	१२६
भक्तिरस	१२७
वात्सल्यरस	१२७
मूलरस	१२८
एकरस का सिद्धान्त	१२८
रसों की सुख-दुःखरूपता	१२९
शृङ्गाररस और उसके भेद	१३०
नायिकारब्ध-संभोगशृङ्गार का उदाहरण	१३०
नायकारब्ध-संभोगशृङ्गार का उदाहरण	१३२
विप्रलम्भशृङ्गार के भेद एवं उदाहरण	१३४
हास्यरस का उदाहरण	१४०
करुणरस का उदाहरण	१४२
करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार में भेद	१४३
रौद्ररस का उदाहरण	१४५
वीररस का उदाहरण	१४७
भयानक रस का उदाहरण	१४८

विषय	पृष्ठ
बीभत्स रस का उदाहरण	१४९
हास्य तथा जुगुप्सा का आश्रय	१५०
अद्भुतरस का उदाहरण	१५१
रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का ग्रंथकार से मतभेद	१५२
स्थायिभावों का क्रमशः नाम निर्देश	१५३
व्यभिचारिभावों का नामतः परिगणन	१५४
निर्वेद के प्रथम निर्देश में हेतु	१५७
शान्तरस का निरूपण	१५७
शान्तरस का उदाहरण	१५७
भाव-निरूपण	१६०
भाव का लक्षण	१६२
देवविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६२
मुनिविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६३
गुरुविषयक रतिभाव का उदाहरण	१६४
नृपविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६४
पुत्रादिविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६४
भाव के द्वितीय भेद—प्राधान्येन वर्णित व्यङ्ग्यव्यभिचारी का उदाहरण	१६४
रसध्वनि और भावध्वनि में पारस्परिक कुछ तारतम्य	१६५
रसाभास, भावाभासों का निरूपण	१६६
रसाभास का उदाहरण	१६८
भावाभास (ध्वनि) का उदाहरण	१६९
रौद्ररसाभास-ध्वनि का उदाहरण	१७०
भावान्तराभास का एक उदाहरण	१७०
भावशान्ति आदि चार ध्वनि	१७१
भावशान्ति का उदाहरण	१७१
भावोदय का उदाहरण	१७२
भावसन्धि का उदाहरण	१७३
भावशबलता का उदाहरण	१७४
इस विषय में ध्वन्यालोककी दृष्टि	१७५
भावस्थिति के सम्बन्ध में शंका-समाधान	१७६
अन्य शंका-समाधान	१७६
भावशान्ति आदि की भी क्वचित् प्रधानता	१७६
निरूपित अंश का सिंहावलोकन	१७७
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि और उसके मुख्य तीन भेद	१७८
उसके अवान्तर भेद	१७८
शब्दशक्त्युत्थध्वनि के दो भेद और उसके उदाहरण	१७९
विरोधाभास-अलंकार के दो उदाहरण	१८१
१. सभङ्गपदमूलक-विरोधाभास-अलङ्कारध्वनि का उदाहरण	१८२
२. अभङ्गपदमूलक-विरोधाभास-अलंकारध्वनि का उदाहरण	१८३
शब्दशक्त्युत्थ-व्यतिरेकालंकार-ध्वनि का उदाहरण	१८४
शंका-समाधान	१८५
शब्दशक्तिमूलक-वस्तुध्वनि के दो उदाहरण	१८६
अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह भेद और उनके उदाहरण	१८८

विषय	पृष्ठ
उभयशक्त्युत्थ-ध्वनि का एक भेद और उदाहरण	२०५
ध्वनि के भेदों का परिगणन	२०६
रसादिध्वनि का एक ही भेद	२०८
उभयशक्त्युत्थ-ध्वनि की वाक्य-व्यङ्ग्यता	२०९
सत्रह ध्वनिभेदों की पद एवं वाक्य-व्यङ्ग्यता	२१०
पदप्रकाश्य-लक्षणामूल-ध्वनि के सत्रह उदाहरण	२११
१. लक्षणामूल-पदप्रकाश्य अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि	२११
२. लक्षणामूल-पदद्योत्य-अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि	२१२
अभिधामूल-पदद्योत्य-असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनि के दो उदाहरण	२१३
१. अभिधामूल-पदद्योत्य-असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि	२१३
२. अभिधामूल-पदद्योत्य-असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि	२१४
पदद्योत्य-संलक्ष्यक्रमशब्द-शक्त्युत्थध्वनि के दो उदाहरण	
१. पदद्योत्यवस्तु से अलंकार-ध्वनि	११६
२. पदद्योत्यवस्तु से वस्तुध्वनि	२१७
पदद्योत्य-संलक्ष्यक्रम-अर्थशक्त्युत्थ स्वतःसंभवती ध्वनि के चार उदाहरण	२१८.
१. स्वतःसम्भी वस्तु से पदद्योत्य-वस्तुध्वनि	२१८
२. स्वतःसम्भवी वस्तु से पदद्योत्य-अलंकारध्वनि	२२०
३. स्वतःसम्भवी अलंकार से पदद्योत्य-वस्तुध्वनि	२२२
४. स्वतःसंभवी अलंकर से पदद्योत्य-अलंकारध्वनि	२२३
अर्थशक्त्थ-पदद्योत्यध्वनि	२२४
वस्तु से पदद्योत्य अलंकारध्वनि	२२५
अलंकार से पदद्योत्य वस्तुध्वनि	२२५
अलकार से अलंकार की ध्वनि	२२७
कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-पदद्योत्यध्वनि के चार उदाहरण	२२८
वस्तु से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य	२२८
वस्तु से पदद्योत्य-अलंकारव्यंग्य	२२९
अलंकार से पदद्योत्य-वस्तुव्यंग्य	२३०
इसी प्रसंगमें उदाहरणान्तर	२३२
अलङ्कार से पदद्योत्य-अलङ्कार व्यंग्य	२३३
प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि के बारह भेद	२३५
पदैकदेश-रचनावर्णादिव्यंग्यता	२३८
तिङन्तरूप-प्रकृत्यात्मक-पदैकदेश से संभोगशृङ्गाररसव्यङ्ग्य	२३९
सुबन्तरूप-प्रकृत्यात्मक पदैकदेश से संभोगशृङ्गाररसव्यङ्ग्य	२४०
तिङ्-सुप्-प्रत्ययरूप-पदैकदेश से सम्भोगशृङ्गाररसव्यंग्य	२४१
सुप्-तिङ्-प्रत्ययरूप-पदैकदेश से विप्रलम्भशृङ्गाररसव्यङ्ग्य	२४२
षष्ठी-विभक्तिरूप-प्रत्यात्मक-पदैकदेश का संभोगशृङ्गार-रस-व्यंजकत्व	२४४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रत्ययरूप-लङात्मकपदैकदेश की रौद्ररस-व्यञ्जकता	२४४	अङ्गाङ्गिभावसंकर और एकाश्रयानुप्रवेशसंकर इन दोनों संकरों का और संसृष्टि का एक ही उदाहरण	२५९
प्रत्ययरूप-वचनविशेषात्मक-पदैकदेश की विप्रलंभशृङ्गार-व्यञ्जकता	२४५	**पञ्चम उल्लास**	
पुरुषव्यत्ययरूपपदैकदेश की शान्तरस-व्यञ्जकता	२४६	[ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य (मध्यमकाव्य) भेदनिरूपण]	
पूर्वनिपातरूप-पदैकदेश की भाव-व्यञ्जकता	२४७	उल्लास-सङ्गति	२६३
उपपदविभक्तिविशेषरूप-पदैकदेश की भाव-व्यञ्जकता	२४८	गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यमकाव्य) के आठ भेद	२६३
प्रत्ययैकदेशभूत-तद्धित-प्रत्यय से विप्रलंभशृङ्गार-व्यञ्जकता	२४९	अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यरूप-व्यङ्ग्य की अगूढता	२६४
प्रत्ययैकदेशभूत-उपसर्ग से विप्रलंभशृङ्गार-व्यञ्जकता	२५०	अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप-व्यंग्य की अगूढता	२६६
निपातरूप-पदैकदेश की वीररस-व्यञ्जकता	२५०	अभिधामूलध्वनि के अर्थशक्ति-मूल-संलक्ष्यक्रमरूपव्यंग्य की अगूढता का उदाहरण	२६७
अनेकपदैकदेशरूप-प्रत्ययांशों की वीररसव्यञ्जकता	२५१	अपरांगव्यङ्ग्यरूप-गुणीभूतव्यंग्य	२६९
पदैकदेशरूप-अनेकप्रत्ययांशों की शृङ्गाररसव्यञ्जकता	२५२	रस की भावांगता में अपरांग-व्यङ्ग्यनामक-मध्यमकाव्य	२७१
ध्वनि-भेदों का उपसंहार	२५५	भाव की भावांगता में अपरांग-व्यङ्ग्यनामक-मध्यमकाव्य	२७३
ध्वनि-भेदों का संकर तथा संसृष्टि	२५७	रसाभास और भावाभास में भावांगता होने पर अपरांग व्यङ्ग्यनामक-मध्यमकाव्य	२७४
संकर तथा संसृष्टिकृतध्वनि के १०४०४ भेद	२५८	भावाङ्ग-भावशान्तिव्यङ्ग्यरूप-गुणीभूतव्यङ्ग्य	२७५
शुद्ध ५१ भेदों के साथ उपर्युक्त संख्या को जोड़ने पर १०४५५ ध्वनि के भेद	२५८	भावाङ्गभावोदयव्यङ्ग्यरूप-गुणीभूतव्यङ्ग्य	२७७
ध्वनिमांकर्य-विवेचन	२५८	भावाङ्गभावसन्धिव्यंग्यरूप-गुणीभूतव्यङ्ग्य	२७८
संशयास्पद-ध्वनिद्वयसंकर का उदाहरण	२५८	भावाङ्गभावशबलताव्यङ्ग्यरूप-	

विषय	पृष्ठ
गुणीभूतव्यंग्य	२७९
शब्दशक्तिमूलक-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-अलङ्कारध्वनि की वाच्याङ्गता	२८३
अर्थशक्तिमूलक-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-वस्तुध्वनि की वाच्याङ्गता	२८५
वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्यरूप-मध्यम-काव्य का उदाहरण	२८८
वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्य का दूसरा उदाहरण	२८९
अस्फुटव्यग्यनामक-मध्यमकाव्य का उदाहरण	२९०
सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्यनामक-मध्यमकाव्य का उदाहरण	२९१
तुल्यप्राधान्यव्यंग्यनामक-मध्यम-काव्य का उदाहरण	२९२
काक्वाक्षिप्तव्यंग्य का उदाहरण	२९२
असुन्दरव्यंग्यरूप-मध्यमकाव्य का उदाहरण	२९४
गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के भेदोपभेदों को पूर्वोक्त ध्वनिभेदों के समान ही समझना चाहिए	२९५
गुणीभूतव्यंग्यके ४२ भेद	२९६
ध्वनिकाव्य के ५१ भेद	२९६
संसृष्टि और संकर	२९६
ससृष्टि और संकर के कारण भेदों की प्रचुरता	२९७
सुधासागरकार की गणना	२९८
काव्यप्रकाशकार की गणना	३००
व्यञ्जना की अपरिहार्यता	३००
रसप्रतीति के होने में व्यञ्जना की अनिवार्यता	३०२
लक्षणामूलध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता	३०४
अभिधामूल-शब्दशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की आवश्यकता	३०५
अभिधामूलक-अर्थशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की अपरिहार्यता	३०६
अभिहितान्वयवादी और अन्विता-भिधानवादी दोनों के मत से भी व्यञ्जना की आवश्यकता	३०७
निरूपित अंश का सिंहावलोकन	३२१
नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते	३२२
मीमांसक भट्टलोल्लट की शका	३२५
व्यञ्जनावादी की ओह से उसका समाधान	३२५
भूत-भव्य-समुच्चारणे भूतं भव्या-योपदिश्यते	३२६
लोहितोष्णीशा ऋत्विजः प्रचरन्ति	३२७
उभयविधि का उदाहरण	३३१
त्रिविधि का उदाहरण	३३१
यत्परः शब्दः स शब्दार्थः	३३१
विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः	३३२
प्रश्न-उत्तर	३३५
श्रुति-लिङ्गादि छह प्रमाणों की चर्चा	३३६
'कुरु रुचिम्' के आधार पर अभिधा और व्यञ्जना की चर्चा	३४४
नित्य, अनित्य दोष व्यवस्था से भी व्यञ्जना की सिद्धि	३४५

विषय	पृष्ठ
महाकवि कालिदास के प्रयोग में नित्य-अनित्य दोष की व्यवस्था	३४६
संख्या के भेद से वाच्यव्यङ्ग्य का भेद	३४७
स्वरूप भेद से वाच्य-व्यङ्ग्य के भेद के तीन उदाहरण	३४९
वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बताने वाले अन्य सात हेतु	३५२
सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधाव्यापारः	३५९
लक्षणावादी का पूर्वपक्ष	३६१
व्यङ्ग्यार्थ की लक्षणागम्यता	३६१
लक्षणावादी के पूर्वपक्ष का खण्डन	३६१
लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना-साधक-युक्तियों का निष्कर्ष	३६९
वैयाकरणों का अखण्डार्थतावाद	३७२
वेदान्तियों का अखण्डार्थतावाद	३७५
नैयायिक महिमभट्ट का मत	३७६
महिमभट्ट के अनुमानक	३३१

षष्ठ उल्लास

[चित्रकाव्य (अधमकाव्य) भेद निरूपण]

विषय	पृष्ठ
उल्लास-प्रकृति	३९०
चित्रकाव्य के दो भेद	३९०
चित्रार्थशब्दयोः पाठ की उपादेयता	३९१
शब्दचित्र का उदाहरण	३९६
अर्थचित्र का उदाहरण	३९७
शङ्का-समाधान	३९९

सप्तम उल्लास

[दोष-निरूपण]

पृष्ठ

दोषस्वरूप-विचार ४०१

दोषप्रकार-विचार ४०७

पददोष ४०७

श्रुतिकटुत्व ४१२

च्युतसंस्कृति ४१२

अप्रयुक्तत्व ४१५

असमर्थत्व ४१७

निहतार्थत्व ४२०

अनुचितार्थत्व ४२१

निरर्थकत्व ४२३

अवाचकत्व ४२५

त्रिविधाऽश्लीलत्व ४२८

व्रीडाव्यञ्जकत्व ४२८

जुगुप्साव्यञ्जकत्व ४२८

अमङ्गलव्यञ्जकत्व ४२८

सन्दिग्धत्व ४३२

अप्रतीतत्व ४३४

ग्राम्यत्व ४३६

नेयार्थत्व ४३८

क्लिष्टत्व ४४०

अविमृष्टविधेयांशत्व ४४२

विरुद्धमतिकृत्त्व ४५५

समासगत श्रुतिकटुत्वादि पददोष ४६०

वाक्यगत श्रुतिकटुत्व ४६१

वाक्यगत अप्रयुक्तत्व ४६२

वाक्यगत निहतार्थत्व ४६३

वाक्यगत अनुचितार्थत्व ४६३

वाक्यगत अवाचकत्व ४६५

वाक्यगत त्रिविधाश्लीलत्व ४६६
व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलत्व ४६६
जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलत्व ४६७
अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलत्व ४६७
वाक्यगत सन्दिग्धत्व ४६८
वाक्यगत अप्रतीतत्व ४६९
वाक्यगत ग्राम्यत्व ४६९
वाक्यगत नेयार्थत्व ४७०
वाक्यगत क्लिष्टत्व ४७१
वाक्यगत अविमृष्टविधेयांशत्व ४७१
वाक्यगत-विरुद्धमतिकृत् ४८८
पदैकदेशगतश्रुतिकटुत्व ४८९
पदैकदेशगत निहतार्थत्व ४९१
पदैकदेशगत निरर्थकत्व ४९२
पदैकदेशगत अवाचकत्व ४९७
त्रिविध अश्लीलों में पदैकदेशस्थ अश्लीलदोष ४९८
पदैकदेशस्थ जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलदोष ४९९
पदैकदेशस्थ अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलदोष ५००
पदैकदेशगत सन्दिग्धत्व ५०१
पदैकदेशगत नेयार्थत्व ५०१
अप्रयुक्त अवाचकत्वादिदोषों का असमर्थत्वदोष से पृथक् परिगणन ५०२
वाक्यमात्रगत दोष ५०३
प्रतिकूलवर्णत्व ५०५
उपहतविसर्गत्व–लुप्तविसर्गत्व ५०९
विसन्धित्व ५११
ऐच्छिकमानुशासनिक और विश्लेषरूप विसन्धि ५११
अश्लीलत्वहेतुक सन्धिवैरूप्य विसन्धि ५१३
श्रुतिकटुत्व के कारण सन्धिवैरूप्य विसन्धि ५१४
हतवृत्तता ५१५
अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूपहतवृत्तत्व ५१९
रसाननुगुणताहेतुक हतवृत्तता ५२१
न्यूनपदता ५२२

अधिकपदता (समास में पदाधिक्य) ५२४
कथितपदता ५२५
पतत्प्रकर्षता ५२७
समाप्तपुनरात्तता ५२८
अर्थान्तरैकवाचकत्व ५२९
अभवन्मतयोगत्व ५३१
न्यूनत्वनिबन्धन-अभवन्मतयोगत्व ५३३
आकांक्षाविरहनिबन्धन अभवन्मतयोगत्व ५३५
विवक्षितव्यंग्य-सम्बन्धाभावनिबन्धन-अभवन्मतयोगत्व ५३७
समासच्छन्नतानिबन्धन-अभवन्मतयोगत्व ५३८
व्युत्पत्तिविरोधनिबन्धन-अभवन्मतयोगत्व ५३९
अनभिहितवाच्यत्व ५४०
उद्देश्य-विधेयभावादिबोधक विभक्तिन्यूनत्वनिबन्धन-अनभिहितवाच्यत्व ५४१
निपातन्यूनत्व निबन्धन-अनभिहितवाच्यत्व ५४२
असमासनिपातादिन्यूनत्वनिबन्धन के कारण अनभिहितवाच्यत्व ५४३
अस्थानस्थपदता ५४४
अस्थानस्थ समासता ५४६
संकीर्णता ५४७
गर्भितत्व (स्वभावतः एकवाक्यता में) ५४८
गर्भितत्व (हेतु-हेतुमद्भावपूर्वकवाक्यैकवाक्यता में) ५४९
प्रसिद्धिहतत्व ५५०
भग्नप्रक्रमता ५५१
अक्रमता ५६५
अमतपरार्थता ५६९
अर्थगत दोष ५७०
अपुष्टत्व ५७१
कष्टत्व ५७३
व्याहतत्व ५७५
पुनरुक्तत्व ५७७
दुष्क्रमत्व ५७९
ग्राम्यत्व ५८०
सन्दिग्धत्व ५८१

निर्हेतुत्व	५८२
प्रसिद्धिविरुद्धत्व	५८३
विद्याविरुद्धत्व	५८६
अनवीकृतत्व	५८९
सनियमपरिवृत्तत्व	५९१
अनियमपरिवृत्तत्व	५९२
विशेष परिवृत्तत्व	५९३
अविशेषपरिवृत्तत्व	५९४
साकांक्षत्व	५९५
अपदयुक्तत्व	५९६
सहचरभिन्नत्व	५९७
प्रकाशितविरुद्धत्व	५९८
विध्ययुक्तत्व	५९९
अनुवादायुक्तत्व	६०२
त्यक्तपुनः स्वीकृतत्व	६०३
अश्लीलत्व	६०३
उक्त दो उदाहरणों में निर्दिष्ट दोषों का समन्वय	६०४
उपर्युक्त दोषों का यथासम्भव समाधान	६०५
(अर्थगत दोषों का यथास्थान समाधान)	६०५
अपुष्टत्व अथवा पौनरुक्त्य	६०५
क्वचित् कविप्रयुक्त में अदोषत्व	६०९
निर्हेतुत्व का अदोषत्व	६१०
पद दोषों में अदोषत्व	६११
अकिञ्चित्करत्व	६१२
वक्तृवैशिष्ट्य के कारण कष्टत्व का गुणत्व	६१३
बोद्धव्य-वैशिष्ट्य के कारण 'कष्टत्व' का गुणत्व	६१४
वाच्य की महिमा से "कष्टत्व" का गुणत्व	६१५
प्रकरण की महिमा से 'कष्टत्व' का गुणत्व	६१६
रस-भावादिराहित्य में दोष का दोषत्व नहीं और गुण का गुणत्व नहीं (शब्दचित्र से 'कष्टत्व' का दोष-गुणाभावत्व)	६१८
अप्रयुक्त और निहतार्थ 'श्लेष' आदि में दोष नहीं है	६१९
'अश्लील' का यथासम्भव गुणत्व	६२०

वाक्यगत व्रीडाव्यञ्जक के 'अश्लीलत्व' का गुणत्व ६२१
वाक्यगत जुगुप्साव्यञ्जक 'अश्लीलत्व' का गुणरूपत्व ६२१
जुगुप्साव्यञ्जक का अदोषत्व ६२२
अमङ्गलव्यञ्जकत्व का अदोषत्व ६२२
सन्दिग्धत्व का गुणत्व ६२३
अप्रतीतत्व का गुणत्व ६२४
'ग्राम्यत्व' की गुणरूपता ६२७
कथितपद क्वचित् गुण हो जाता है
जैसे लाटानुप्रास में ६३२
अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि में ६३३
विहित के अनुवाद्यत्व में ६३४
पतत्प्रकर्षता की गुणरूपता ६३४
समाप्तपुनरात्तता का अपवाद ६३५
अस्थानस्थसमासता की गुणरूपता ६३६
गर्भितत्व का गुणरूपत्व ६३६

रसदोष ६३७

व्यभिचारिभावादि की स्वशब्दवाच्यता ६३७
(क) व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता ६३८
(ख) रस की स्वशब्दवाच्यता ६४०
(ग) स्थायिभावों की स्वशब्दवाच्यता ६४१
अनुभावादि की अभिव्यक्ति में कष्टकल्पना ६४१
विभाव की कष्टसाध्य अभिव्यक्ति ६४२
प्रकृतरस के विरुद्ध विभावादिवर्णन ६४३
प्रकृतरस के विरुद्ध अनुभाववर्णन ६४४
अनवसर में रस का वर्णन ६४५
अनवसर में रसविच्छेद ६४६
अप्रधान प्रतिनायक आदि का अतिविस्तृतवर्णन ६४६
प्रधान नायक आदि का अपरामर्श ६४७
प्रकृतिगत औचित्य का प्रतिकूलवर्णन ६४७
रस के अनुपकारक का वर्णन ६५०

रसदोषों का यथास्थान अपवाद ६५०
व्यभिचारिभाव की 'स्वशब्दवाच्यता' दोष का अपवाद ६५०

विरुद्धविभावादिग्रहण का यथास्थान में दोष नहीं ६५२
विरुद्धव्यभिचारिभाव के उपादान में गुणरूपता ६५२
ध्वनिकार से मतभेद ६५४
प्रकृतरस के विरुद्ध विभाव का बाध्यत्वरूप गुणत्व ६५५
रसविरोधपरिहार का उपाय ६५९
प्रबन्धातिरिक्त मुक्तक काव्य में रसविरोध और उसका समाधान ६६०
रसविरोधपरिहार का अन्यनिमित्त ६६२
विरुद्धरसों की साम्यविवक्षा में अविरोधिता ६६३
परस्पर-विरुद्धरसों का एकरसत्व होने पर अंगरूप से उपस्थित
दोनों रसों की अविरोधिता ६६४
रस के विरोधाविरोध का वास्तविक अभिप्राय ६६९

॥ दोषदर्शन नाम का सप्तम उल्लास समाप्त ॥

अष्टम उल्लास

	पृष्ठ
गुण और अलङ्कार का वैधर्म्य	६७१
अलङ्कार शब्दार्थ-शोभाधायक	६७६
गुणालङ्कारवैधर्म्य की समीक्षा का निष्कर्ष	६८१
भट्टोद्भटसम्मत गुणालङ्कार-विवेक का निराकरण	६८२
वामनसंमत गुणालङ्कार वैधर्म्य भी असङ्गत	६८३
गुण-प्रकारनिरूपण	६८७
क्रम से गुणत्रय निरूपण	६८८
माधुर्य-स्वरूपनिरूपण	६८९
माधुर्य का तारतम्य	६९२
तारतम्य का कारण	६९२
ओजःस्वरूप निरूपण	६९२
ओज का स्तारतम्य	६९३
तारतम्य का कारण	६९३
प्रसादस्वरूपनिरूपण	६९३
'प्रसाद' सर्वरस साधारण गुण है	६९३
वामनसम्मत दशगुणवाद का खण्डन	६९४
वामनसम्मत दशार्थगुणवादखण्डन का उपसंहार	७०४
रसधर्मरूप गुणत्रय	७०५
क्रमशः गुणत्रय के अभिव्यञ्जक का निरूपण	७०५
माधुर्यगुण का अभिव्यञ्जक	७०५
पदरचना अथवा संघटना	७०५
'ओजस्' के अभिव्यञ्जक	७०८
'प्रसाद' गुण के अभिव्यञ्जक	७०९
वर्णवृत्तिसंघटनानियम के उल्लङ्घन में निमित्त	७११

॥ अष्टम उल्लास समाप्त ॥

नवम उल्लास

(शब्दालङ्कारनिरूपण)

	पृष्ठ
शब्दालङ्कार और तत्स्वरूप भेद का विवेचन	७२१
शब्दालङ्कारों के भेद—प्रथम वक्रोक्ति अलङ्कार	७२५
वक्रोक्ति के अवान्तर भेद	७२६
अनुप्रास के अवान्तर भेद	७३२
छेकानुप्रसनिरूपण	७३२
वृत्यनुप्रास का निरूपण	७३३
वृत्तिविचार	७३५
वृत्तिविषयक अन्यमत	७३६
लाटानुप्रास	७३७
लाटानुप्रास के भेद	७३९
यमकालङ्कार	७४२
यमक के भेद-प्रभेद	७४४
श्लेष	७५७
श्लेष के भेद	७५८
चित्रालंङ्कार	७९२
(खड्गबन्धनिर्माणप्रकार)	७९४–७९५
(मुरजबन्धनिर्माणप्रकार)	७९६–७९७
(पद्मबन्धनिर्माणप्रकार)	७९७–७९९
(सर्वतोभद्रनिर्माण प्रकार)	७९९–८०१
पुनरुक्तवदाभास	८०२
पुनरुक्तवदाभास के भेद	८०३

॥ इति शब्दालङ्कारनिर्णयात्मक नवम उल्लास समाप्त ॥

दशम उल्लास

(अर्थालङ्कारनिरूपणात्मक)

	पृष्ठ
अर्थालङ्कारों के स्वरूप और प्रकार का विवेचन	८१०
उल्लाससङ्गति	८१०
अलंकारों के तीन प्रकार	८१०
पूर्ववर्ती नवम उल्लास में पाँच शब्दालङ्कार तथा उभयालङ्कार इन छह अलङ्कारों को बताया है	८१०
दशम उल्लास में ६१ अर्थालङ्कारों को बता रहे हैं	८१०
अलङ्कारों की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न विचार	८१०
अलङ्कारों का वर्गीकरण	८११
१. उपमालङ्कार	८१५
उपमा के भेद-प्रभेद	८२८
२. अनन्वयालङ्कार	८९१
३. उपमेयोपमालङ्कार	८९५
४. उत्प्रेक्षालङ्कार	९००
५. ससन्देहालङ्कार	९११
६. रूपकालङ्कार	९२६
रूपक के भेद-प्रभेद	९२९
७. अपह्नुति अलङ्कार	९४८
८. श्लेषालङ्कार	९५३
९. समासोक्ति अलङ्कार	९५५
१०. निदर्शनालङ्कार	९५९
निदर्शना का अन्य प्रकार	९६४
११. अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार	९६६
अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद-प्रभेद	९६७
१२. अतिशयोक्ति अलङ्कार	९८४
१३. प्रतिवस्तूपमालङ्कार	९९०
१४. दृष्टान्तालङ्कार	९९३
१५. दीपकालङ्कार	९९६
मालादीपक	९९९
१६. तुल्ययोगितालङ्कार	१०००
व्यतिरेकालङ्कारः	१००२

१७. व्यतिरेक के भेद-प्रभेद १००५
१८. आक्षेपालङ्कार और उसके भेद १०१७
१९. विभावनालङ्कार १०२३
२०. विशेषोक्तिरलङ्कार १०२६
२१. यथासंख्य अलङ्कार १०२९
२२. अर्थान्तरन्यासालङ्कार १०३१
२३. विरोध-विरोधाभासालङ्कार १०३७
(विरोधाभास के १० भेद) १०३९
२४. स्वभावोक्ति अलङ्कार १०५२
२५. व्याजस्तुति अलङ्कार १०५५
२६. सहोक्ति अलङ्कार १०६२
२७. विनोक्ति अलङ्कार १०६५
२८. परिवृत्ति अलङ्कार १०६७
२९. भाविकालङ्कार १०७०
३०. काव्यलिङ्गालङ्कार १०७३
३१. पर्यायोक्तालङ्कार १०८१
३२. उदात्तालङ्कार १०८५
(उदात्त का अन्य प्रकार) १०८६
३३. समुच्चयालङ्कार १०८८
(समुच्चय में मतान्तर और उसका खण्डन) १०८९
(समुच्चय का अन्य प्रकार) १०९२
३४. पर्यायालङ्कार १०९५
(अन्यप्रकार का पर्याय) १०९८
३५. अनुमानालङ्कार ११०१
३६. परिकरालङ्कार ११०५
३७. व्याजोक्ति अलङ्कार ११०९
३८. परिसंख्यालङ्कार १११४
३९. कारणमालालङ्कार ११२२
४०. अन्योन्यालङ्कार ११२५
४१. उत्तरालङ्कार ११२७
(उत्तर का प्रथम प्रकार) ११२७
(उत्तर का द्वितीय प्रकार) ११३०
प्रश्नपूर्विका परिसङ्ख्या से उत्तरालङ्कार का भेद ११३२

४२.	सूक्ष्मालङ्कार	११३४
४३.	सारअलङ्कार (सारालङ्कार)	११३८
४४.	असङ्गतिअलङ्कार	११४१
	(असङ्गति और विरोधाभास का भेद)	११४४
४५.	समाधिअलङ्कार	११४५
४६.	सम अलङ्कार	११४८
४७.	विषम अलङ्कार	११५२
४८.	अधिक अलङ्कार	११६०
४९.	प्रत्यनीक अलङ्कार	११६३
५०.	मीलित अलङ्कार	११६९
५१.	एकावली अलङ्कार	११७३
५२.	स्मरणालङ्कार	११७७
५३.	भ्रान्तिमान् अलङ्कार	११७९
५४.	प्रतीप अलङ्कार	११८२
५५.	सामान्य अलङ्कार	११८६
५६.	विशेष अलङ्कार	११९०
५७.	'तद्गुण' अलङ्कार	११९८
५८.	'अतद्गुण' अलङ्कार	१२०२
५९.	'व्याघात' अलङ्कार	१२०५
६०.	'संसृष्टि' अलङ्कार	१२०९
६१.	'संकर' अलङ्कार	१२१७
	('संकर' में त्रैविध्य का स्पष्टीकरण)	१२३४
	(अलङ्कारों के श्रेणी विभाग में आधारभूत-अन्वय-व्यतिरेकसिद्धान्त)	१२३६
	(अलङ्कारों के श्रेणीविभाग में आश्रयाश्रयिभाव-व्यवस्था)	१२३८
	अलङ्कारदोष और उनका उक्तदोषों में अन्तर्भाव	१२३९
	अनुप्रास के दोषों का उक्तदोषों में अन्तर्भाव	१२४०
	यमकगत दोषों का पूर्वोक्त सामान्य दोषों में अन्तर्भाव	१२४५
	उपमा दोषों का पृथक् परिगणन आवश्यक	१२४५
	समासोक्ति दोष का दोष सामान्य में अन्तर्भाव का समर्थन	१२६६
	अप्रस्तुतप्रशंसा के दोष का दोषसामान्य में अन्तर्भाव	१२७०
	अन्य अलङ्कार दोषों का पृथक् परिगणन अनावश्यक	१२७१
	आवसानिक मङ्गल	१२७१

॥ इति अर्थालङ्कारनिर्णय नाम का दशम उल्लास समाप्त ॥

काव्यप्रकाशगत सूत्रों की अकारादिक्रम से अनुक्रमणिका

अ

अङ्गिनोऽननुसन्धानं (सू० ८२ का० ६२ पृ० ६३७)
अगूढमपरस्याङ्गं (सू० ६६ का० ४५ पृ० २६३)
अताहशिगुणीभूत (सू० ३ का० ५ पृ० ११)
अनन्वयः (सू० १३५ पृ० ८९१)
अनुकरणे तु (सू० ८० पृ० ६११)
अनुमानं तदुक्तं (सू० १८२ का० ११७ पृ० ११०)
अनुस्वानाभ (सू० ५२ का० ३७ पृ० १७८)
अनेकार्थस्य (सू० ३२ का० १९ पृ० ७३)
अन्यत्प्रकुर्वतः (सू० २०३ का० १३६ पृ० ११९०)
अन्यस्ततोऽन्यथा (सू० १८१ पृ० १०९८)
अन्योन्ययोगादेवं (सू० ६९ का० ४७ पृ० २९७)
अपास्यच्युतसंस्कार (सू० ७४ का० ५२ पृ० ४६१)
अप्रस्तुतप्रशंसा (सू० १५१ का० ९८ पृ० ९६६)
अर्थव्यञ्जकता (सू० ३६ पृ० ८१)
अर्थशक्त्युद्भवो (सू० ५४ का० ३९ पृ० १८८)
अर्थाः प्रोक्ताः (सू० ३७ पृ० ८१)
अर्थे सत्यर्थं (सू० ११७ पृ० ७४२)
अर्थोऽपि व्यञ्जकः (सू० ३४ का० २० पृ० ८०)
अर्थोऽपुष्टः (सू० ७६ का० ५५ पृ० ५७०)
अर्थान्तरैकवाचक (सू० ७५ का० ५४ पृ० ५०३)
अलङ्कारोऽथवस्त्वेव (सू० ५३ का० ३८ पृ० १०९)
अविवक्षितवाच्यो (सू० ३९ का० २४ पृ० ९२)
अविश्रान्तिजुषामा (सू० २०८ पृ० १२१७)
असकृद्वचसंभाव्य (पृ० ११२७)

आ

आक्षेप उपमानस्य (सू० २०१ का० १३३ पृ० ११८२)
आभर्यक्ये (सू० ८५ का० ६४ पृ० ६५९)
आह्लादकत्वं (सू० ९० का० ६८ पृ० ६८९)

इ

इदमुत्तममतिशायिनि (सू० २ का० ४ पृ० ७)

उ

उत्तरश्रुतिमात्रतः (सू० १८८ पृ० ११२७)
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो (सू० १९० का० १२३ पृ० ११३८)
उदात्तं वस्तुनः (सू० १७६ पृ० १०८५)
उपकुर्वन्ति (सू० ८८ का० ६७ पृ० ६७६)
उपमानाद् यदन्यस्य (सू० १५९ पृ० १००२)
उपमानानुपादाने (सू० १२९ का० ८८ पृ० ८६३)
उपमानोपमेयत्वे (सू० १३५ पृ० ८९१)

ए

एकं क्रमेणानेकस्मिन् (सू० १८० पृ० १०९५)
एकस्य च ग्रहेऽन्याय (सू० २०९ का० १४० पृ० १२२५)
एकस्याप्य (सू० १०७ का० ७९ पृ० ७३३)
एतद्विलोपे (सू० १३१ का० ८९ पृ० ८७४)
एवमप्यनवस्था (सू० २७ पृ० ६८)
एषां दोषा यथायोगं (सू० २१२ का० १४२ पृ० १२३९)
एषां भेदा यथायोगं (सू० ६७ का० ४६ पृ० २९५)

ओ

ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु (सू० १०९ पृ० ७३५)

क

करुणे विप्रलम्भे (सू० ९१ पृ० ६९२)
कर्णावतंसादिपदे (सू० ७७ पृ० ६०५)

का

कारणान्यथ कार्याणि (सू० ४३ का० २७ पृ० ९८)
कार्यकारणयोर्यश्च (सू० १५३ पृ० ९८४)
कार्यैनिमित्तेसामान्ये (सू० १५२ का० ९९ पृ० ९६७)
काव्यलिङ्गं हेतोर्वा० (सू० १७४ का० ११४ पृ० १०७३)

कि

किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा० (सू० १८५ का० ११२ पृ० १११४)

कु

कुतोऽपिलक्षितः सूक्ष्मो (सू० १८९ का० १२२ पृ० ११३४)

के

केचिदन्तर्भवन्त्येषु (सू० ९६ का० ७२ पृ० ६९५)
केषाञ्चिदेता वैदर्भी (सू० १११ पृ० ७३६)

को

कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो० (सू० ४१ का० २५ पृ० ९६)
कोमला परैः (सू० ११० का० ८० पृ० ७३५)

क्य

क्वचिद्वाच्युपमेयासे (सू० १३३ पृ० ८७९)

क्रि

क्रियया तु (सू० १८७ का० १२० पृ० ११२५)
क्रियायाः प्रतिषेधोऽपि० (सू० १६२ का० १०७ पृ० १०२३)

क्व

क्वचिद्यदति वैधर्म्यात् (सू० १९४ का० १२६ पृ० ११५२)

ख्य

ख्यातेऽर्थे निर्हेतो (सू० ७९ पृ० ६१०)

गु

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य (सू० १९४ का० १२७ पृ० ११५२)
गुणवृत्त्या पुनस्तेषां (सू० ९५ का० ७१ पृ० ६९४)

छ

छेकवृत्तिगतो द्विधा (सू० १०५ पृ० ७३२)

ज

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैः (सू० १६७ का० ११० पृ० १०३९)

त

तच्च गूढमगूढं वा (सू० १९ पृ० ५७)
तददोषौ शब्दार्थौ (सू० १ पृ० ६)
तच्चित्रं यत्र (सू० १२१ का० ८५ पृ० ७९२)
तत्र व्यापारोव्यञ्जनात्मकः (सू० २२ पृ० ६२)
तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् (सू० १७८ पृ० १०८८)
तथा शब्दार्थयोरयम् (सू० १२४ का० ८६ पृ० ८०७)
तदाभासा अनौचित्य (सू० ४९ पृ० १६६)
तदेवं पञ्चधा मतः (सू० ११६ का० ८२ पृ० ७४२)
तदेषा कथिता त्रिधा (सू० २० का० १३ पृ० ६१)
तद्मूर्लक्षणिकः (सू० २१ मृ० ६२)
तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः (सू० ३३ पृ० ८०)
तद् रूपकमभेदो (सू० १३९ पृ० ९२६)
तद् रूपाननुहारश्चेद्० (सू० २०५ पृ० १२०२)
तद्वद् धर्मस्य लोपे (सू० १२८ पृ० ८५८)

ता

तात्पर्यार्थोऽपि० (सू० ७ का० ६ पृ० १७)

ते

तेन नार्थगुणावाच्याः (सू० ९७ पृ० ७०४)
तेनाऽसौ त्रिरूपः (सू० २११ का० १४१ पृ० १२३४)
तेषां चान्योऽन्ययोजने (सू० ६१ का० ४३ पृ० २५७)

त्रा

त्रासश्चैव वितर्कश्च (सू० ४६ का० ३४ पृ० १५६)

त्रि

त्रिलोपे च समासगा (सू० १३४ का० ९० पृ० ८८२)

दी

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतु (सू० ९२ का० ६९ पृ० ६९२)

दु

दुष्टं पदं श्रुतिकटु (सू० ७२ का० ५० पृ० ४०७)

दृ

दृष्टान्तः पुनरेतेषां (सू० १५५ का० १०२ पृ० ९९३)

ध

धर्मोपमानयोर्लोपे (सू० १३२ पृ० ८७७)

न

न दोषः स्वपदेनोक्तावपि (सू० ८३ पृ० ६५०)

ना

नाभिधा समयाभावात् (सू० २४ पृ० ६४)

नि

निगीर्याध्यवसानन्तु (सू० १५३ का० १०० पृ० ९८४)
निदर्शना (सू० १४९ का० ९७ पृ० ९५९)
नियतानां सकृद्धर्मः (सू० १५८ का० १०४ पृ० १०००)
नियतारोपणोपायः (सू० १४५ का० ९५ पृ० ९३९)
निरङ्गन्तु शुद्धम् (सू० १४३ पृ० ९३६)
निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथा० (सू० ४६ का० ३१ पृ० १५४)
निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति० (सू० ४७ पृ० १५७)
निषधो वक्तुमिष्टस्य (सू० १६१ का० १०६ पृ० १०१७)

प

पदस्यापि (सू० ११४ पृ० ७४०)
पदानां सः (सू० ११३ पृ० ७३९)
पदेप्यन्ये (सू० ५९ पृ० २१०)
पदैकदेशरचना (सू० ६१ पृ० २३८)
परिवृत्तिर्विनियमो (सू० १७२ का० ११३ पृ० १०६७)
परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः (सू० १४८ पृ० ९५५)
पर्यायोक्तं विना (सू० १७५ पृ० १०८१)

पा

पादतद्भागवृत्ति (सू० ११८ का० ८३ पृ० ७४४)

पु

पुनरुक्तवदाभासा (सू० १२२ पृ० ८०२)

पू

पूर्णा लुप्ता च (सू० १२६ पृ० ८१८)

प्र

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् (सू० १४६ पृ० ९४८)
प्रतिकूलविभावादि (सू० ८२ का० ६१ पृ० ६३७)

प्रतिकूलवर्णमुपहत (सू० ७५ का० ५३ पृ० ५०३)
प्रतिपक्षमशक्तेन (सू० १९९ का० १२९ पृ० ११६३)
प्रतिवस्तूपमा तु सा (सू० १५४ का० १०१ पृ० ९९०)
प्रत्यक्षा इव यद्भावाः (सू० १७३ पृ० १०७०)
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः (सू० ५२ पृ० १७९)
प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः (सू० ६० का० ४२ पृ० २३५)
प्रयोजनेन सहितं (सू० २८ का० १७ पृ० ७१)
प्रस्तुतस्य यदन्येन (सू० २०२ का० १३४ पृ० ११८६)

प्रो

प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये (सू० ९८ पृ० ७०५)

प्रौ

प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा (सू० ५४ का० ४० पृ० १८८)

बी

बीभत्सरौद्ररसयोः (सू० ९३ पृ० ६९३)

भ

भग्नप्रक्रम (सू० ७५ पृ० ५०३)

भा

भावः प्रोक्तः (सू० ४८ पृ० १६२)
भावस्य शान्तिरुदयः (सू० ५० का० ३६ पृ० १७१)

भि

भिन्नदेशतयात्यन्तं (सू० १९१ का० १२४ पृ- ११४१)

भे

भेदा अष्टादशास्य तत् (सू० ५६ का० ४१ पृ० २०६)
भेदाभावात् प्रकृत्यादेः (सू० १२७ पृ० ७६९)
भेदाविमौ च सादृश्यात् (सू० १६ पृ० ५१)
भेदास्तदेकपञ्चाशत् (सू० ६२ पृ० २५५)
भ्रान्तिमानन्य० (सू० २०० का० १३२ पृ० ११७९)

म

महतां चोपलक्षणम् (सू० १७७ का० ११५ पृ० १०८६)
महतोर्यन्महीयांसावाश्रिता० (सू० १९५ का० १२८ पृ० ११६०)

मा

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै (सू० १०८ पृ० ७३५)
माधुर्यौजः प्रसादाख्याः (सू० ८९ पृ० ६८७)
माव्यातु पूर्ववद् (सू० १४४ का० ९४ पृ० ९३७)
मालादीपकमाद्यं चेद् (सू० १५७ पृ० ९९९)

मु

मुख्यार्थबाधे तद्योगे (सू० १२ का० ९ पृ० ३६)
मुख्यार्थहतिर्दोषो (सू० ७१ का० ४९ पृ० ४०१)
मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं (सू० ५१ पृ० १७६)

मू

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः (सू० ९९ का० ७४ पृ० ७०५)

य

यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा (सू० २४ पृ० ८०)
यथानुभवमर्थस्य दृष्टे (सू० १९९ पृ० ११७७)
यथासंख्यं क्रमेणैव (सू० १६४ का० १०८ पृ० १०२९)
यथोत्तरं चेद् पूर्वस्य (सू० १८६ पृ० ११२२)
यदुक्तमन्यथावाक्य (सू० १०३ का० ७८ पृ० ७२५)
यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण (सू० २०६ का० १३८ पृ० १२०५)
यस्य प्रतीतिमाधातुं (सू० २३ का० १४ पृ० ६३)

ये

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः (सू० ८७ का० ६६ पृ० ६७१)

यो

योग आद्य तृतीयाभ्याम् (सू० १०० का० ७५ पृ० ७०८)

र

रतिर्देवादिविषया (सू० ४८ का० ३५ पृ० १६२)
रतिर्हासश्च शोकश्च (सू० ४५ का० ३० पृ० १५३)
रसभावतदाभास (सू० ४२ का० २६ पृ० ९७)
रसादीनामनन्तत्वात् (सू० ५७ पृ० २०८)

ल

लक्षणा तेन षड्विधा (सू० १७ का० १२ पृ० ५५)
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र (सू० २६ का० १६ पृ० ६६)

व

वक्तृवाच्यप्रबन्धानाम् (सू० १०२ का० ७७ पृ० ७११)
वक्तृबोद्धव्यकाकूनां (सू० ३७ का० २१ पृ० ८१)
वक्त्राद्यौचित्यवशाद् (सू० ८१ का० ५९ पृ० ६१२)
वर्णसाम्यमनुप्रासः (सू० १०४ पृ० ७११)
वर्णाः समासोरचना (सू० ९८ का० ७३ पृ० ७०५)
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् (सू० १८७ पृ० ११२५)
वस्त्वलङ्कारमथवा (सू० ५४ पृ० १८८)

वा

वाक्ये द्व्युत्थः (सू० ५८ पृ० २०९)
वाच्यभेदेन भिन्ना यद् (सू० ११९ का० ८४ पृ० ७५७)
वाच्यादयः (सू० ६ पृ० १७)
वादेर्लोपे समासे सा (सू० १३० पृ० ८६५)

वि

विना प्रसिद्ध (सू० २०३ का० १३५ पृ० ११९०)
विनोक्तिः सा विनाऽन्येन (सू० १७१ पृ० १०६५)
विपर्यास उपमेयोपमा तयोः (सू० १३६ का० ९१ पृ० ८९५)
विभावा अनुभावास्तत (सू० ४३ का० २८ पृ० ९८)
विरोधः सोऽविरोधेऽपि (सू० १६६ पृ० १०३७)
विवक्षितं चान्यपरं (सू० ४० पृ० ९५)
विशिष्टे लक्षणा नैवम् (सू० ३० पृ० ७२)
विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः (सू० १८३ पृ० ११०५)
विशेषाः स्युस्तुलक्षिते (सू० ३१ का० १८ पृ० ७२)
विशेषोक्तिरखण्डेषु (सू० १६३ पृ० १०२६)
विषर्ययस्तः कृतेऽन्यस्मिन् (सू० १५ पृ० ५१)

वृ

वृत्त्यावन्यत्र तत्र वा (सू० ११५ पृ० ७४०)

वे

वेदखाग्निग्निवियच्चन्द्राः (सू० ६४ पृ० २५८)

व्य

व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूत (सू० ६६ पृ० २६३)

व्यङ्ग्येन रहितां रूढौ (सू० १८ पृ० ५७)
व्यभिचारि रसस्थायिभावानां (सू० ८२ का० ६० पृ० ६३७)

व्या

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा० (सू० १६९ पृ० १०५५)
व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न० (सू० १८४ का० ११८ पृ० ११०९)
व्याप्नोत्यन्यद् (सू० ९४ पृ० ६९३)

व्री

व्रीडा चपलता हर्ष० (सू० ४६ का० ३२ पृ० १५५)

श

शब्दचित्रं वाच्यचित्र० (सू० ४ का० ५ पृ० १२)
शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो० (सू० ३८ का० २३ पृ० ९०)
शब्दस्य (सू० १२३ पृ० ८०३)
शब्दार्थचित्रं वाच्यचित्र० (सू० ४ का० ५ पृ० १२)
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थः (सू० ५२ पृ० १७८)
शरेषु युगखेन्दवः (सू० ६५ का० ४४ पृ० २५८)

शा

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो (सू० ११२ का० ८१ पृ० ७३७)

शु

शुष्केन्धनाग्निवत्० (सू० ९४ का० ७० पृ० ६९३)

शृ

शृङ्गारहास्यकरुण० (सू० ४४ का० २९ पृ० १२५)

श्रु

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु० (सू० १०१ का० ७६ पृ० ७०९)

श्रौ

श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नु० (सू० १४१ पृ० ९३३)
श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये० (सू० १२७ का० ८७ पृ० ८३०)

श्ले

श्लेषः स वाक्य एकस्मिन्नु० (सू० १४७ का० ९६ पृ० ९५३)

स्था

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि० (सू० १९८ का० १२२ पृ० ११७३)

स्थि

स्थितेष्वेतत् समर्थनम् (सू० ७८ का० ५८ पृ० ६०८)

स्फु

स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्था० (सू० २१० पृ० १२३३)

स्म

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि० (सू० ८६ का० ६५ पृ० ६६२)

स्या

स्याद्वाचकोलाक्षणिकः (सू० ५ पृ० १६)

स्व

स्वभावोक्तिस्तु (सू० १६८ का० १११ पृ० १०५२)
स्वमुत्सृज्य गुणं योगात् (सू० २०४ का० १३७ पृ० ११९८)
स्वसिद्धये पराक्षेपः (सू० १३ का० १० पृ० ४१)
स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः (सू० १५० पृ० ९६४)

हे

हेत्वभावान्न लक्षणा (सू० २५ का० १५ पृ० ६४)
हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां (सू० १६० का० १०५ पृ० १००५)

—o—

स

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या० (सू० ६३ पृ० २५७)
सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य (सू० १५६ का० १०३ पृ० ९९६)
सङ्केतितश्चतुर्भेदो (सू० १० पृ० २६)
सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य (सू० ८४ का० ६३ पृ० ५५२)
सत्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः (सू० १७९ का० ११६ पृ० १०९२)
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थं (सू० ७२ का० ५१ पृ० ४०७)
सन्दिग्धो निर्हेतुः (सू० ७६ का० ५६ पृ० ५७१)
समं योग्यतया योगो (सू० १९३ का० १२५ पृ० ११०८)
समस्तवस्तुविषयं (सू० १४० का० ९३ पृ० ९२९)
समाधिः सुकरं कार्यं (सू० १९२ पृ० ११४५)
स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो० (सू० ११ का० ८ पृ० ३५)
समेन लक्ष्मणा वस्तु० (सू० १९७ का० १३० पृ० ११६९)
सम्भावनमथोत्प्रेक्षा (सू० १३७ पृ० ९००)
सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां (सू० ८ पृ० २१)
ससन्देहस्तु भेदोक्तौ० (सू० १३८ का० ९२ पृ० ९१९)

सा

साऽग्रिमा (सू० १२७ पृ० ८३०)
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः (सू० ७६ का० ५७ पृ० ५७१)
साक्षात् संकेतितं योऽर्थं० (सू० ९ का० ७ पृ० २४)
साङ्गमेतत् (सू० १४२ पृ० ९३५)
साधर्म्यमुपमा भेदे (सू० १२५ पृ० ८१५)
सामान्यं वा विशेषो (सू० १६५ का० १०९ पृ० १०३१)
सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ० (सू० १४ पृ० ५०)
सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च० (सू० ६८ पृ० २९६)
सा सहोक्तिः सहार्थस्य० (सू० १७० का० ११२ पृ० १०६२)

सु

सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्च० (सू० ४६ का० ३१ पृ० १५५)

से

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां० (सू० २०७ का० १३९ पृ० १२०९)

काव्यप्रकाशस्थ सूत्रों की अकारादि क्रम से सूची

सूत्र	संख्या	पृष्ठ
अ		
अगूढमपरस्याङ्ग	६९	२६३
अतादृशि गुणीभूत	३	११
अनुस्वानाभसंलक्ष्य	५२	१७८
अनेकार्थस्य शब्दस्य	३२	७३
अन्योन्ययोगादेवं	६९	२९७
अर्थव्यञ्जकतोच्यते	३६	८१
अर्थशक्त्युद्भवो	५४	१८८
अर्थाः प्रोक्ताः पुरा	३५	८१
अलंकारोऽथ वस्त्वेव	५३	१७९
अविवक्षितवाच्यो	·३९	९२
इ		
इदमुत्तमतिशायिनि	२	७
ए		
एवमप्यनवस्था स्याद्	२७	६८
एषां भेदा यथायोग	६७	२९५
क		
कारणान्यथकार्याणि	४३	९८
कोऽप्यलक्ष्यक्रम	४१	९६
ज		
ज्ञानस्य विषयो	२९	७१
त		
तच्च गूढमगूढं वा	१९	५७
तत्र व्यापारो	२२	६२
तददोषौ शब्दार्थौ	१	६
तदाभासा	४९	१६६
तदेषा कथिता	२०	६१
तद्भूर्लाक्षणिकः	२१	६२
तद्युक्तो व्यञ्जकः	३३	८०
तात्पर्यार्थोऽपि	७	१७
तेषां चान्योन्य	६३	२५७
तेषां अर्थव्यञ्जकतो	३६	८१
न		
नाभिधा समयाभावात्	२४	६४
निर्वेदग्लानि	४६	१५४
निर्वेदस्थायि	४७	१५७
प		
पदेऽप्यन्ये	५९	२१०
पदैकदेशरचना	६१	२३८
प्रबन्धेऽप्यर्थं	६०	२३५
प्रयोजनेन सहितं	२८	७१
भ		
भावस्य शान्तिरुदयः	५०	१७१
भेदा अष्टादशास्य	५६	२०६
भेदाविमौ च सादृश्यात्	१६	५१
भेदास्तदेकपञ्चाशत्	६२	२५२
म		
मुख्यार्थबाधे तद्योगे	१२	३६
मुख्ये रसेऽपि	५१	१७६
य		
यत्सोऽर्थान्तरयुक्	३४	८०
यस्य प्रतीतिमाधातुं	२३	६३
र		
रतिर्देवादिविषया	४८	१६२
रतिर्हासश्च	४५	१५३
रसभावतदाभास	४२	९७
रसादीनामनन्तत्वाद्	५७	२०८

सूत्र	संख्या	पृष्ठ
ल		
लक्षणा तेन षड्विधा	१७	५५
लक्ष्यं न मुख्यं	२६	६६
व		
वक्तृ-बोद्धव्य	३७	८१
वाक्ये द्वय्युत्थः	५८	२०९
वाच्यादयस्तदर्थाः	६	१७
विवक्षितं चान्यपरं	४०	९५
विशिष्टे लक्षणा	३०	७२
विशेषाः स्युस्तु	३१	७२
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन्	१५	५१
व्यंगेन रहिता	१८	५७
वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः	६४	२५८
श		
शब्दचित्रं वाच्यचित्रं	४	१२
शब्दप्रमाण	३८	९०
शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं	७०	३९०
शब्दार्थोभय	५५	२०५
शरेषुयुगखेन्दवः	६५	२५८
शृङ्गारहास्यकरुण	४४	१२५
स		
सङ्केतितश्चतुर्भेदो	१०	२६
स मुख्योऽर्थस्तत्र	११	३५
सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां	८	२१
साक्षात्सङ्केतितं	९	२८
सारोपान्या तु	१४	५०
सालङ्कारैः	६८	२९६
स्वसिद्धये पराक्षेपः	१३	४१
स्याद्वाचको लाक्षणकः	५	१६
ह		
हेत्वभावान्न	२५	६४
हेत्वोरुक्तावनुक्तौना (सू० १६० का० १०५ पृ० १००५)		

卐

काव्यप्रकाशस्थ श्लोकों की अकारानुक्रमणिका

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
अ		
अइपिहुलं जलकुम्भं	१३	८२
अतन्द्रचन्द्राभरणा	७२	२०५
अत्ता एत्थ णिमज्जई	१३६	३६३
अत्युच्चाः परितः	११८	२७३
अत्रासीत् फणिपाश	११५	२६८
अदृष्टदर्शनोत्कण्ठा	१२८	२९०
अन्यत्र यूयं कुसुमा	२०	८८
अन्यत्र व्रजतीति का	३३	१३६
अमितः समितः प्राप्तैः	५६	१८३
अमुं कनकवर्णाभं	९६	२३७
अयं स रशनोत्कर्षी	११६	२७०
अलसशिरोमणि धुत्ताणं	६०	१९०
अलं स्थित्वा श्मशाने	९३	२३५
अविरलकरवाल	१२०	२७५
असोढा तत्कालो	१२२	२७८
अहो वा हारे वा	४४	१५७
आ		
आकुञ्चय पाणिमशुचि	३७	१४०
आगत्य संप्रति	१२५	२८६
आदित्योऽयं स्थितो	९५	२३६
उ		
उअ णिच्चलणिप्पंदा	८	२३
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्ति	४२	१४९
उत्सिक्तस्य तपःपराक्रम	५२	१७३
उद्देशोऽयं सरसकदली	१७	८५
उन्निद्रकोकनदरेणु	११४	२६६
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते	२४	९४
उल्लास्य कालकरवाल	५४	१८०
ए		
एकस्मिन् शयने	५१	१७२
एद्दहमेत्तत्थणिआ	११	७७
ओ		
ओण्णिद्दं दोब्बलं	१४	८३
ओल्लोल्लकरअरअण	७०	२०३
क		
कण्ठकोणविनिविष्टमीश	४५	१६२
कथमवनिप दर्पो	१३४	३५१
कस्स वा ण होइ रोसो	१३५	३५३
कृतं च गर्वाभिमुखं	१०८	२५०
कृतमनुमतं दृष्टं वा	३९	१४५
केसेसु बलामेडिअ	६५	१९७

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
कैलासस्य प्रथमशिखरे	६४	१९६
कैलासालयभाल	११७	२७२
क्वाकार्यं शशलक्ष्मण:	५३	१७४
क्षणदाऽसावक्षणदा	८२	२२२
क्षुद्रा: सन्त्रासमेते	४०	१४७
ख		
खणपाहुणिआ देअर	१११	२५८
खलववहारा दीसन्ति	७४	२१२
ग		
गच्छाम्यच्युतदर्शनेन	१२७	२८९
गाढकान्तदशनक्षत	६३	१९४
गाढालिंगणरहसु	६६	१९९
गाहारुहम्मि गामे	१०१	२४४
गुरुअणपरवस	२१	८८
ग्रामतरुणं तरुण्या	३	११
ग्रीवाभङ्गाभिरामं	४१	१४८
च		
चित्रं महानेष बतावतार:	४३	१५१
चिन्तयन्ती जगत्सूतीं	८१	२२०
ज		
जनस्थाने भ्रान्तं	१२४	२८४
जा ठेरं व हसन्ती	६७	२००
जाने कोपपराङ्मुखी	४७	१६४
जे लङ्कागिरिमेहलासु	६८	२०१
जोह्लाई महुरसेण	९२	२३३
ण		
णवपुण्णिमामिअङ्कस्स	८८	२२८
णोल्लेइ अणोल्लमणा	१८	८६
त		
तइआ महगण्डत्थल	१६	८५
तथाभूतां दृष्ट्वा	१५	८४
तदप्राप्तिमहादु:ख	८०	२२०
तरुणिमनि कलयति	११०	२५२
तस्या: सान्द्रविलेपन	५०	१७२
ताणं गुणग्गहणाणं	१०२	२४५
तिग्मरुचिरप्रतापो	५५	१८२
तुह वल्लहस्स गोसम्मि	८३	२२३
ते दृष्टिमात्रपतिता	१४०	३१७
त्वं मुग्धाक्षि विनैव	३१	१३२
त्वामस्मिवच्मि विदुषां	२३	९३
त्वामालिख्य प्रणयकुपिता	३६	१३९
द		
दर्पान्धगन्धगज	६२	१९३
दूरादुत्सुकमागते	२९	१२४
दैवादहमद्यतया	२३	१०५
द्वारोपान्तनिरन्तरे	२२	८९
ध		
धन्यासि या कथयसि	६१	१९१
न		
न चेह जीवित: कश्चिद्	९४	२३६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
निरुपादानसम्भार	५७	१८४
निशितशरधिया	८५	२२५
निःशेषच्युतचन्दनम्	२	९
प		
पथि पथि शुकचञ्चु	९९	२४१
पंथिअ ण एत्थ	५८	१८५
परिच्छेदातीतः	१०७	२५०
परिमृदितमृणालीम्लान	२८	१२३
पविसन्ती घरवारं	९०	२३०
पश्येत्कश्चिच्चल चपल	१२३	२७९
प्रथममरुणच्छायः	१३९	३९६
प्रधनाध्वनि धीर धनु	१०५	२४८
प्रस्थानं वलयैः कृतं	३५	१३९
प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः	३२	१३५
प्रेयान् सोऽयमपाकृतः	९८	२४०
ब		
बन्दीकृत्य नृपद्विषां	११९	२७४
ब्राह्मणातिक्रमत्यागो	१३०	२९२
भ		
भद्रात्मनो दुरधिरोह	१२	७९
भम धम्मिअ वीसद्धो	१३८	३८०
भुक्तिमुक्तिकृदेकान्त	७८	२१७
भूयो भूयः सविध	१०६	२४९
भ्रमिमरतिमलस	१२६	२८८
म		
मथ्नामि कौरवशतं	१३१	२९३
महिलासहस्सभरिए	७१	२०४
माए घरोवअरणं	६	२१
मात्सर्यमुत्सार्य	१३३	३४९
मुखं विकसितस्मितं	९	५८
मुग्धे मुग्धतयैव	७६	२१४
य		
यः कौमारहरः	१	६
यस्य मित्राणि मित्राणि	७३	२११
यस्यासुहृत्कृततिरस्कृति	११३	२६५
येषां दोर्बलमेव दुर्बलं	१०४	२४७
र		
रइकेलिहिअणिअसण	९७	२३९
राईसु चन्दधवलासु	८४	२२४
राकासुधाकरमुखी	४९	१६९
रामोऽसौ भुवनेषु	१०९	२५१
रुधिरविसरप्रसाधित	७७	२१६
रे रे चञ्चललोचनाञ्चित	१०३	२४६
ल		
लावण्यं तदसौ कान्तिः	७५	२१३
लिखन्नास्ते भूमिं	१००	२४३
व		
वाणीरकुडंगुड्डीण	१३२	२९४
वारिज्जन्तो विपुणो	८६	२२५
विनिर्गतं मानदमात्म	५	१४
विपरिअरए लच्छी	१३७	३६८

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
वियदलिमलिनाम्बु	२७	१२२
विहलं खलं तुमं सहि	९१	२३२
श		
शनिरशनिश्च तमुच्चैः	५९	१८६
शून्यं वासगृहं	३०	१३०
श्रीपरिचयाज्जडा	१०	६०
स		
सहिणवणिहुवणसमरम्मि	८९	२२५
सहि विरइऊण माणस्स	६९	२०२
साकं कुरङ्गकदृशा	१२१	२७७
सा पत्युः प्रथमापराध	३४	१३७
सायं स्नानमुपासितं	७९	२१९
साहेन्ती सहि सुहअं	७	३२
सुव्वइ समागमिस्सदि	१९	८७
सेयं ममाङ्गेषु सुधारस	२५	१०५
सो मुद्धसामलंगो	८७	२२७
स्तुमः कं वामाक्षि	४८	१६८
स्निग्धश्यामलकान्ति	११२	२६०
स्वच्छन्दोच्छलदच्छ	४	१३
ह		
हरत्यघं सम्प्रति	४६	१६३
हरस्तु किंचित्परिवृत्त	१२९	२९१
हा मातस्त्वरितासि	३८	१४२

॥ श्रीः ॥

काव्यप्रकाशः

'रहस्यबोधिनी'-हिन्दीव्याख्याविभूषितः

प्रथम उल्लासः

(मङ्गलम्)

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

रहस्यबोधिनी

महामहोपाध्याय परम-माहेश्वर मम्मट भट्ट स्वनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या करने की इच्छा से मङ्गलाचरण की अवतरणिका उपस्थित करते हैं—'ग्रन्थे'ति। सम्बन्ध और प्रयोजन के ज्ञान से आहित शुश्रूषाजन्यश्रुतिविषय-शब्द-सन्दर्भ को 'ग्रन्थ' कहते हैं, 'सम्बन्ध-प्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः'। और वाच्य - वाचकत्वरूप सम्बन्ध माना जाता है। शीघ्र विघ्न-विघात-सामार्थ्य-प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनवती लक्षणा से तत्प्राक्काल अर्थ को 'आरम्भ' शब्द से समझना चाहिए। 'विघ्नविघाताये'ति। 'प्रतिबन्धक अदृष्टविशेष' को विघ्न कहते हैं, उसका विघात अर्थात् विशेष ध्वंस, तदर्थं समुचित अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप अपने मनोनुकूल कविभारती रूप इष्ट देवता का ग्रन्थकार मम्मटाचार्य 'परामृशति' स्मरण करते हैं, अर्थात् अपने इष्ट देवता की स्तुति करते हैं। तथा च 'ग्रन्थारम्भप्राक्कालिक-विघ्नविघातफलकसमुचितेष्टदेवताकर्मकग्रन्थकृदभिन्नमम्मटकर्तृकवर्तमानकालिकपरामर्शा-नुकूलोव्यापारः' इस प्रकार से अवतरणिकावाक्य का शाब्द-बोध किया जाता है।

विशेष विवरण—श्रीमम्मटभट्ट ने स्वनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या स्वयं की है।

ग्रन्थ का लक्षणः—

रहस्यबोधिनी में बताये हुए ग्रन्थलक्षण के अतिरिक्त एक अन्य लक्षण भी सुना जाता है 'पञ्चाङ्गकम् वाक्यं ग्रन्थः'—अवयव-पञ्चक से युक्त वाक्य को ग्रन्थ कहते हैं, इन पाँच अवयवों को ही मीमांसक लोग 'अधिकरण' शब्द से कहते हैं।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

वृत्तिः-नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा, न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः । अत एव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ॥१॥

भारतीय परम्परा के अनुसार कार्य प्रारम्भ के पूर्व मङ्गलाचरण के द्वारा परमेश्वर का स्मरण किया जाता है। उससे निर्विघ्नतापूर्वक कार्य की समाप्ति हुआ करती है। अतः मङ्गलाचरण का एक मुख्य प्रयोजन विघ्नविघात भी है। ग्रन्थकार **'काव्यप्रकाश'** नामक ग्रन्थरचना का कार्य आरम्भ कर रहे हैं, उसके निर्विघ्न समाप्ति हेतु वाङ्मय की अधीश्वरी कविभारती का इष्ट देवता के रूप में स्मरण करना उचित समझते हैं। उनका विश्वास है कि ब्रह्मदेव के **जगन्निर्माण** की अपेक्षया **कविवाङ्निर्माण** उत्कृष्टतर है। इसी आशय को मङ्गलाचरण के द्वारा वे बता रहे हैं--**'नियतिकृतेति'**।

(१) नियति के द्वारा उत्पन्न किय गये बन्धनों से रहित, केवल आह्लादमय, अपने से अतिरिक्त अन्य किसी का भी अवलम्बन न करने वाली और नवरसों के कारण आकर्षक लगने वाली तथा सृष्टि का निर्माण करने वाली **कविभारती** (कविवाणी) अर्थात् कवि की सरस्वती विजय को प्राप्त होती हैं (उत्कृष्ट रहती हैं)।

ग्रन्थकार स्वयं ब्रह्मदेव की सृष्टि के स्वरूप का विवरण करते हुए अपनी मङ्गलाचरणकारिका की व्याख्या करते हैं—**'नियतिशक्त्येति'**।

ब्रह्मदेव की सृष्टि **'अदृष्ट'** अथवा **असाधारण धर्म रूप 'नियति'** की शक्ति से जकड़ी रहती है। उसका स्वरूप सुख-दुःख और मोह से पूर्ण रहता है। वह **'परमाणु'** आदि उपादान कारण तथा **'कर्म'** आदि सहकारी कारणों के पराधीन रहती है। और वह छः रसों से युक्त होती है। तथापि उसकी हृदयङ्गमता अर्थात् मनोरमता निश्चित नहीं रहती, किन्तु **कवि की वाक्सृष्टि ब्रह्मदेव की सृष्टि** से भिन्न-स्वरूप की रहती हैं, इसीलिए वह विजय को प्राप्त होती है, अर्थात् श्रेष्ठ समझी जाती है। यहाँ **'जयति'** पद के अर्थ से नमस्कार अभिव्यञ्जित होता है अर्थात् 'उसे मैं प्रणाम करता हूँ'--यह अभिप्राय प्रकट होता है ॥ १ ॥

विशेष विवरण—अनुबन्ध-चतुष्टय—

प्रथम कारिका के द्वारा मङ्गलाचरण करने के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय, प्रयोजन आदि अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण कर्त्तव्य होता है। मनुष्य की प्रवृत्ति

(विषय-प्रयोजने)

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

वृत्तिः—कालिदासादीनामिव यशः । श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम् ।

तभी हो पाती है कि जब उसे **इष्ट-साधनता** और **कृति-साध्यता** का ज्ञान रहता है। अर्थात् यह काम मेरे लिए हितकर है और मैं इस काम को अच्छी तरह कर सकता हूँ। ऐसा समझने पर ही मनुष्य उस कार्य में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। **'इदं मत् इष्टसाधनम्'** इस ज्ञान में **'इदं'** शब्द से **विषय, 'इष्ट'** शब्द से **प्रयोजन, 'साधनम्'** शब्द से **सम्बन्ध** और **'मत्'** शब्द से **अधिकारी** का ज्ञान होता है। इन चारों का ज्ञान ही मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त कराता है। अतएव **'प्रवृत्ति-प्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्'** यह **'अनुबन्ध'** का लक्षण विद्वानों ने किया है। इससे स्पष्ट है कि **विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन** और **अधिकारी** इन चारों को **'अनुबन्ध'** शब्द से कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उक्त चारों अनुबन्धों का निरूपण करना ग्रन्थकार के लिए आवश्यक माना गया है। उक्त चार अनुबन्धों में से **विषय** तथा **प्रयोजन** ये दो अनुबन्ध मुख्य होते हैं। इसलिए इनका शब्द से निरूपण करना आवश्यक है। अवशिष्ट, **अधिकारी** तथा **सम्बन्ध** ये दो अनुबन्ध पूर्वोक्त दो अनुबन्धों की अपेक्षा गौण हैं। इनका ज्ञान, बिना शब्द के भी अर्थतः हो सकता है ॥ १ ॥

इसी अभिप्राय से परम-माहेश्वर मम्मटभट्ट ने अग्रिम कारिका में **विषय** और **प्रयोजन** का प्रतिपादन किया है।

विषय और प्रयोजन—

इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया जाने वाला 'विषय' **अभिधेय** है। वह सप्रयोजन है, अर्थात् **काव्य का लक्षण, उसके भेद, गुण, दोष, अलंकार** ये सब इस ग्रन्थ के विषय हैं और ये ही काव्य के प्रयोजन की सिद्धि में प्रधान साधन हैं। इसलिए अब काव्य के प्रयोजनों को बताते हैं—

(२) काव्य का निर्माण **'यश'** के लिए, **'अर्थ (धन) प्राप्ति'** के लिए, **'लोकव्यवहार के ज्ञान'** के लिये, **'अनिष्ट** (अकल्याण) **के विनाश के लिये,** और **'तत्क्षण** (सद्यः) **परम आनन्द की प्राप्ति** के लिए' तथा **स्त्री के समान रस भरे शब्दों से उचित उपदेश** (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का उपदेश) के लिये होता है ॥२॥

काव्य रचना (निर्माण) से कवि को कालिदास आदि महाकवि के समान

राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम् । आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम् । सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥ २ ॥

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

(काव्य-हेतुः)

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

---

(१) **यश** की प्राप्ति, रत्नावली नाटिका के निर्माता राजा श्री हर्ष से धावक आदि विद्वानों के समान (२) **धन** की प्राप्ति होती है। यह काव्य ही (३) राजा आदि के साथ किये जाने वाले **उचितव्यवहार का ज्ञान** कराता है एवम् (४) सूर्य आदि ईश्वर की स्तुति से मयूर कवि के कुष्ट रोग निवारण के समान **अनर्थ का निवारण** करता है और समस्त प्रयोजनों में प्रधानभूत काव्य-पाठ या श्रवण से तत्काल ही समुत्पन्न हुए रसास्वाद से अन्यान्य विषयों के ज्ञान से रहित (५) **परम आनन्द की अनुभूति** कराता है। तथा राजाज्ञा के समान शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण, एवम् अर्थप्रधान पुराण, इतिहास आदि से भी विलक्षण, और शब्द तथा अर्थ दोनों के अप्रधान रहने से रस के साधक व्यञ्जना-व्यापार की प्रधानता के द्वारा लोकोत्तर वर्णन शैली में जो निपुण कविकर्मरूप काव्य है, वह (६) स्त्री के समान बड़ी सरसता के साथ **राम** आदि के तुल्य आचरण करना चाहिए, **रावण** आदि के तुल्य नहीं। इस प्रकार कवि तथा सहृदय पाठक आदि दोनों को यथोचित उपदेश करता है। इसलिए **काव्यनिर्माण** तथा **उसके अध्ययन** में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ॥ २ ॥

काव्यनिर्माण में कारण

इस प्रकार **'काव्य'** का **प्रयोजन** बताने के बाद स्वयं ग्रन्थकार ही काव्य निर्माण में कारणभूत तत्त्वों को बता रहे हैं—

(३) काव्य के निर्माण करने में कवि की स्वाभाविक प्रतिभारूप **'शक्ति'**, **लोक व्यवहार**, **शास्त्र** और **काव्य** आदि के अवलोकन से प्राप्त होने वाली **कुशलता**,

वृत्तिः—शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत् , प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम् , आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥ ३ ॥

काव्यनिर्माण तथा काव्य की आलोचना करने की पद्धति को जानने वाले गुरु से प्राप्त की हुई शिक्षा के अनुसार किया जाने वाला **अभ्यास**, ये तीनों सामूहिकरूप से उस काव्य के निर्माण में हेतु (कारण) हैं ॥ ३ ॥

(१) कवित्व के बीजभूत संस्कार विशेष को 'शक्ति' (प्रतिभा) कहते हैं, जिस 'शक्ति' (प्रतिभा) के बिना काव्य बनता (निर्माण) ही नहीं है, यदि कदाचित् तुकबन्दी के रूप में बन भी जाय, तो वह उपहास के योग्य हो जाता है।

(२) **लोक** अर्थात् चर-अचर (जंगम-स्थावर) सृष्टि के व्यवहार (लोकवृत्त), और **शास्त्र** अर्थात् **छन्दःशास्त्र** तथा **व्याकरण**, **अभिधान** अर्थात् संज्ञा-शब्दों के कोश (अमरकोषादि), **कला** अर्थात् भरत, कोहल, मतंग आदि के विरचित नृत्य-गीत आदि चौसठ प्रकार की कलाओं के प्रतिपादक लक्षण ग्रन्थ, **चतुर्वर्ग** अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ, गज (हाथी), तुरग (अश्व= घोड़ा) आदि पशुओं के लक्षण-प्रतिपादक शालिहोत्रादि ग्रन्थ, तथा खड्गादि लक्षणग्रन्थों और महाकवि-संबन्धी अर्थात् महाकवियों द्वारा विरचित काव्यों के, 'आदि' शब्द के ग्रहण से इतिहासादि के पर्यालोचन से होने वाली **व्युत्पत्ति** (कुशलता), तथा--

(३) जो लोग काव्य की रचना और उसकी विवेचना करना जानते हैं, उनकी सूचनाओं (उपदेशों) के अनुसार स्वयं नवीन कविता (श्लोक आदि) के रचने में और उसी में पद **योजना** के सम्बन्ध में पुनः पुनः **प्रवृत्ति** अर्थात्-- **अभ्यास**--ये तीनों **समष्टि** (समूह) के रूप में, पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) नहीं, उस काव्य के उद्भव अर्थात् निर्माण और उसको उत्कृष्ट बनाने में हेतु (कारण) है अर्थात् तीनों तत्त्वों की समष्टि (समूह) काव्यनिर्माण में तथा उसकी उत्कृष्टता में हेतु है। ये तीनों स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् कारण नहीं हैं ॥ ३ ॥

(काव्यलक्षणम्)

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(सू० १) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-
वनलङ्कृती पुनः क्वापि ॥

वृत्तिः—दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह, यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।

काव्य का लक्षण

इस प्रकार काव्य निर्माण का हेतु बताकर उसके स्वरूप को बताते हैं—

(सू० १) वह (काव्य) दोषों से रहित, और गुणों के सहित तथा साधारणतया अलंकारसहित किन्तु कहीं-कहीं अलंकाररहित भी **शब्द** और **अर्थ** (दोनों के समूह) काव्य कहलाते हैं।

दोष, गुण और **अलंकारों** को आगे चलकर क्रमशः **सात, आठ, नौ** और **दसवें** उल्लासों में कहेंगे। "अनलंकृती पुनः क्वापि" इस वाक्यांश में प्रयुक्त **'क्वापि'** अर्थात् 'क्वचित्' पद से ग्रन्थकार यह बताना चाहते हैं कि काव्य में **'शब्द'** और **'अर्थ'** सर्वत्र अलंकारों से विभूषित ही रहते हैं। किन्तु क्वचित् अलंकार के प्रकट न हो सकने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।

जैसे—स्फुटालंकारविरहविशिष्ट काव्य का उदाहरण—'मेरी कौमार अवस्था का जिसने अपहरण किया वही प्रियतम पति अब भी है और चैत्र मास की चन्द्रिका-पूर्ण वे ही रात्रियाँ हैं, विकसित हुई मालती की सुगन्ध से पूर्ण और धूलिकदम्ब की कामोत्तेजक (उन्मादक) पवन भी वही बह रही है तथा मैं भी वही हूँ। (सभी सामग्री पुरानी हैं और दीर्घकाल तक उपभुक्त होने से उसके प्रति उत्सुकता के होने का कोई अवसर भी नहीं है) फिर भी न जाने क्यों आज वहाँ नर्मदा के तट पर उस बेंत की लता से वेष्टित वृक्ष के नीचे (जहाँ कितनी ही बार अपने प्रियतम के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ) उसी काम-क्रीड़ा के विलासों के लिए मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है ॥ १ ॥

इस काव्य में **अलंकार** की स्पष्टता नहीं है और **रस की प्रधानता** होने के

तद्भेदान् क्रमेणाह—

(उत्तमकाव्यम्)

**(सू० २) इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये-
वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥**

वृत्तिः—इदमिति काव्यम् बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्य-

---

कारण उस (रस) को **'रसवत् अलंकार'** के रूप में भी नहीं कह सकते, क्योंकि **'रसवत् अलंकार'** रस के प्रधान न रहने पर ही होता है। इस काव्य की रचना **'शार्दूल विक्रीडित'** छन्द में की गयी है।

विशेष विवरण—इस काव्य में यद्यपि 'हरो' 'वरः' इत्यादि **'अनुप्रास'** की स्पष्टता रहने पर भी प्रकृत श्रृङ्गार रस के प्रतिकूल वर्ण होने से उसे अलङ्कार के रूप में नहीं गिना जा सकता है। एवं 'कारण' के न रहने पर भी 'कार्योत्पत्तिकथनरूप **विभावना**' का लक्षण यहाँ घटित होने से **'विभावनालंकार'** की स्पष्टता और कारण के रहने पर भी कार्याभाव के कथनरूप **'विशेषोक्ति'** अलंकार का लक्षण घटित होने से **'विशेषोक्ति'** अलंकार की स्पष्टता यद्यपि यहाँ प्रतीत होती है, तथापि **अभाव बोधक 'नञ्'** आदि शब्दों के उपादान करने पर ही उक्त दो अलंकारों की स्पष्टता स्वीकार की गयी है, आर्थिक प्रतीति पर नहीं। अतः दोनों में से किसी भी अलंकार की स्पष्टता (स्फुटता) न हो सकने से इस काव्य को **अस्फुट अलंकार का उदाहरण** कहा गया है। यदि यह कहें कि यहाँ पर विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस की स्फुटता रहने से **रसवदलंकार** स्फुट हो रहा है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि **'रस की अप्रधानता'** होने पर ही **'रसवदलंकार'** होता है। पञ्चम उल्लास में **'रसवदलंकार'** का उदाहरण **'अयं स रशनोत्कर्षी'** दिया जायेगा ॥ १ ॥

काव्य के प्रयोजन, काव्यनिर्माण का हेतु (साधन) तथा काव्य का लक्षण बताने के पश्चात् अब अवसर प्राप्त काव्य के भेदों को कहते हैं—

उत्तम काव्य

(सू. २) **'वाच्य' अर्थ** की अपेक्षा **व्यङ्ग्य अर्थ**, जहाँ अधिक चमत्कारपूर्ण (रंजक) हो, वह काव्य **'उत्तम'** है, विद्वानों ने उस काव्य को **'ध्वनि'** (ध्वनि-काव्य) कहा है ॥ ४ ॥

सूत्र में प्रयुक्त **'इदम्'**–पद **'काव्य'** का ज्ञापक है अर्थात् **'यह काव्य'**। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत में इस प्रकार होगा—**'वाच्याद्'** अभिधावृत्ति-प्रतिपाद्यादर्थाद् **व्यङ्ग्ये** व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थे **अतिशायिनि** अतिचमत्कारजनके सति

व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

इदम् एतत् काव्यं बुधैः पण्डितैः उत्तमं काव्यं कथितं स्वीकृतम्, तदेव बुधैः ध्वनिपण्डितैः ध्वनिः कथितः ध्वनिरित्युच्यते ॥ २ ॥

'बुधैः' वैयाकरणों ने मुख्य (प्रधान) 'स्फोट' (स्फुटयतिप्रकाशयति अर्थम् इति स्फोटः—जो अर्थ को प्रकाशित करता है उसे 'स्फोट' कहते हैं) रूप जो व्यङ्ग्य अर्थ है उसकी अभिव्यक्ति करने वाले शब्द को 'ध्वनि' कहा है। उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले (आनन्दवर्धन आदि) अन्य विद्वानों ने भी **वाच्यार्थ** को **गौण** (अप्रधान, अमुख्य) बना देने वाले और **व्यङ्ग्यार्थ** की अभिव्यक्ति करने में सशक्त (समर्थ) रहने वाले शब्द तथा अर्थ दोनों की जोड़ी (दोनों के लिये) के लिये भी अर्थात् शब्दार्थ युगलरूप उत्तम काव्य के लिये भी वही 'ध्वनि' संज्ञा दी है। अर्थात् **वैयाकरणों** के उक्त व्यवहार को ध्यान में रखकर **आलंकारिकों** ने भी वाच्यार्थ को अभिभूत करने में सशक्त रहने वाला जो व्यङ्ग्य अर्थ उसके अभिव्यञ्जक **'शब्द'** तथा **'अर्थ'** के लिए **'ध्वनि'** शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।

आलंकारिकों की ध्वनि संज्ञा का मूल आधार—'ध्वनि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **वैयाकरणों** ने किया था। उसी को 'आनन्दवर्धन' आदि **ध्वनिवादी** आलंकारिक आचार्यों ने अपना लिया। कारण यह था कि व्याकरण के अनुसार प्रधानभूत 'स्फोट' की अभिव्यक्ति शब्द से होती है, इसलिए **स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द को 'ध्वनि' शब्द से कहा जाता है।**

स्फोटवाद—

वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त **'स्फोटवाद'** है। **'स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः'** जिससे अर्थ प्रकाशित होता है उसे **'स्फोट'** कहते हैं। यह **'स्फोट'** आठ प्रकार का होता है। उनमें से पदार्थ की प्रतीति **पदस्फोट** से और वाक्यार्थ की प्रतीति **वाक्यस्फोट** से होती है। गकार, औकार, विसर्ग के योग से निष्पन्न हुआ 'गौः' पद गाय का ज्ञान कराता है। 'गौः' यह पद, सुनाई देने वाली **'ध्वनि'** नहीं है किन्तु उससे अभिव्यक्त एक **मानस स्फोट** है। क्योंकि कर्णगोचर होने वाली **'ध्वनि'** तो क्षणिक है। एक 'ध्वनि' के उच्चारण के बाद जबतक दूसरी **'ध्वनि'** का उच्चारण किया जाता है तब तक पहला **'ध्वनि'** (वर्ण) नष्ट हो जाता है। इस कारण अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की स्थिति एक साथ नहीं हो सकती। उसी प्रकार नानापदों के समुदायरूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में पदार्थ अथवा **वाक्यार्थ** की **प्रतीति** कराने के लिए **वैयाकरणों** ने **स्फोटसिद्धान्त** की कल्पना की है। वैयाकरणों का कथन है कि

यथा—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

वर्णोच्चारण के समय पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण के श्रवण से तिरोभूत हुए वर्णों को ग्रहण करने वाली 'एक पद' की प्रतीति मन में उत्पन्न होती है, उसी को 'पदस्फोट' शब्द से कहा गया है। इसी 'पदस्फोट' के द्वारा पदार्थ की प्रतीति होती है, कान से सुने गये शब्द या ध्वनि से नहीं। क्योंकि उस समय तो अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की निष्पत्ति होना असम्भव ही है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व पद के अनुभव से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के सहित अंतिम पद के श्रवण से अविद्यमान पदों को भी ग्रहण करने वाली 'एक वाक्य' की प्रतीति मन में होती है। उसी को वैयाकरणों ने 'वाक्य-स्फोट' नाम दिया है। इसी से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

वैयाकरणों के उक्त स्फोटवाद का समर्थन नैयायिक विद्वान् नहीं करते, क्योंकि नैयायिकों के मत में 'शब्द' अनित्य है और 'स्फोट' को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु वैयाकरण 'स्फोट' को नित्य कहते हैं और उसी के आधार पर शब्द को नित्य मानते हैं। नैयायिक 'सत्-असत् अनेक वर्णावगाहिनी पदप्रतीति' तथा 'सत्-असत् अनेक पदावगाहिनी वाक्यप्रतीति' को मानते हैं। किन्तु वे उसे स्फोट नहीं कहते और उसे नित्य भी नहीं मानते।

इसी तरह मीमांसकों ने भी वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है। तथापि वे शब्द को नित्य मानते हैं।

वैयाकरणों के मत में 'स्फोट' की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वन्यात्मक शब्द से होती है। इसलिए उन्होंने 'प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द' को 'ध्वनि' कहा है। उसी का अनुसरण कर आनन्दवर्धनाचार्यादि आलंकारिकों ने 'प्रधान-भूत व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ' के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण--
जैसे--

तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन सम्पूर्णतया (बिल्कुल) मिट गया है। (यदि स्नान करने से यह चन्दन मिटा होता तो केवल अग्रभाग का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण स्तन पर से मिट जाता। किन्तु ऊपर उभरे हुए अग्रभाग पर से ही यह चन्दन मिटा हुआ है, इसलिए यह निश्चित ही है कि वह परपुरुष के आलिङ्गन से ही मिटा

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

(मध्यमकाव्यम्)

वृत्तिः—अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते ॥ ४ ॥

हुआ है।) अधर की रक्तिमा (राग) बिल्कुल छूट गयी है, आँखों का काजल बिल्कुल ही पुछ गया है और तुम्हारी यह कृश तनु (शरीर) रोमाञ्चयुक्त हो रही है। अपनी बान्धवरूप सहेली की पीड़ा को न समझने वाली और मिथ्याभाषण करने वाली अरे दूती ! तू यहाँ से बावली पर स्नान करने के लिए गयी थी, उस अधम (नायक) के समीप नहीं न गयी ॥ २ ॥

यह सब कहने वाली विदग्ध उत्तम नायिका है। वह अच्छी तरह से जान रही है कि यह दूती, नायक के साथ सम्भोग करके आयी है और जिससे यह सब कहा जा रहा है वह तो जानती ही है। इसलिए वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से यह कहा जा रहा है कि 'तू उसी के पास गयी थी और रमण करने के लिए ही गयी थी', यह बात विशेषतया 'अधम' पद से अभिव्यक्त हो रही है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार है इसलिए उक्त काव्य को उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य के उदाहरण में उपस्थित किया गया है।

विशेष विवरण—इसमें (दूती से) विदग्ध उत्तम नायिका स्नान से होने वाले कार्यों को प्रकाशित करने के बहाने उसके सम्भोग को अभिव्यक्त कर रही है। 'मिथ्यावादिनि' सम्बोधन देकर उस नायक के पास बिना गयी ही 'मैं उसके पास जाकर और विविध प्रकार से उसे मनाने पर भी वह नहीं आया' इस प्रकार झूठे ही बता रही हो, यह व्यञ्जित किया गया है। 'अज्ञातपीड़ागमे' सम्बोधन से 'स्वार्थपरायणता' व्यक्त की गयी है। 'दूति' सम्बोधन देकर उसकी 'मिथ्याभाषण-शीलता' व्यक्त की गयी है, इसीलिए नायिका ने उसे 'सखि' पद से सम्बोधित नहीं किया है क्योंकि वह नायिका की प्रतारणा कर रही है। 'स्तनतट' पद से स्तन के प्रान्तभाग (तट) पर मर्दन अधिक किये जाने से उस पर से चन्दन पुछ गया है, क्योंकि अन्यत्र नायक के हाथ का स्पर्श न होने से वहाँ का चन्दन यथास्थित बना हुआ है, यह बात सूचित की गयी है। 'अधर' पद से कामशास्त्र में अधरोष्ठ का ही चुम्बन करना कहा गया है। इसलिए अधरोष्ठ की ही रक्तिमा दूर हुई है, यह बताया गया है। 'दूरमनञ्जने' इससे प्रान्त भाग में ही नेत्रचुम्बन का विधान कामशास्त्र ने बताया है, इस कारण प्रान्त भाग की ही अञ्जनशून्यता हुई है, यह

(सू० ३) अनादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

वृत्तिः—अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

बताया गया है, इन सब में प्रधानतया व्यञ्जक **'अधम'** पद ही है। क्योंकि 'अन्य नायिकासम्भोग' **विप्रलम्भ** का उद्दीपक होने से वाच्यार्थ की अपेक्षा उसमें व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त प्रतीत हो रहा है। यही उसमें प्रधानता है।

काव्य भेदः २--गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य—

इसके पूर्व **'ध्वनि-काव्य'** का लक्षण और उदाहरण कहने के पश्चात् काव्य के **'गुणीभूतव्यङ्ग्य'** नामक **द्वितीय भेद** का लक्षण बताते हुए उसका उदाहरण भी बता रहे हैं—

मध्यमकाव्य

(सू० ३)—**'व्यङ्ग्यार्थ'** वैसा न होने पर अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण न होने पर **'गुणीभूतव्यङ्ग्य'** नामक दूसरे प्रकार का काव्य होता है, जिसे **'मध्यम काव्य'** कहते हैं।

'अतादृशि' का अर्थ, वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अधिक उत्तम न होने पर'--किया गया है। इसी स्थिति में 'गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य होता है। जैसे--

अशोक वृक्ष की ताजी तोड़ी हुई मञ्जरी को हाथ में लिए हुए ग्राम के नवीन तरुण नायक को देख-देखकर तरुणी के मुख की कान्ति मलिन होती जा रही है ॥ ३ ॥

'यहाँ अशोक अथवा वेतस् के लतागृह में ग्रामतरुण के साथ मिलने और स्वयं संकेत देकर भी गृहकार्य में लगे रहने के कारण निकलने का समय न मिलने से तरुणी नायिका निश्चित समय पर वहाँ नहीं जा पाई, किन्तु ग्रामतरुण समय पर पहुँच गया। उसे देखकर तरुणी की मुखकान्ति मलिन हो रही है।'

यहां व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी प्रतीत हो रहा है। उस कारण यहां व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो गया है। इसलिये यह गुणीभूत व्यङ्ग्यार्थ-नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है ॥ ३ ॥

विशेष विवरण--'ग्रामतरुण' पद से यह व्यक्त किया गया है कि ग्राम में एक ही तरुण है। अनेक युवतियों के द्वारा चाहे जाने के कारण उससे पुनर्मिलन होना बड़ा कठिन है। इसलिए पश्चात्ताप की अधिकता व्यक्त हो रही है। **'तरुणं तरुण्या'** पद से

वृत्ति—अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ॥

(अधमकाव्यम्)

(सू० ४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

वृत्तिः—चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरमधमम् ।

दोनों के तरुण रहने के कारण परस्परानुराग का उत्कर्ष अभिव्यक्त किया गया है। इस '**मध्यम' काव्य** में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अनतिशायिता (अधिक चमत्कारक न होना) दो प्रकार से होतीं है। (१)—वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थ जहाँ तुल्य हों, और (२)—वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कार जहाँ न्यून (कम) हो। प्रस्तुत उदाहरण व्यङ्ग्यार्थ के न्यून चमत्कार का है। दोनों अर्थों की तुल्यता का उदाहरण पञ्चम उल्लास में '**ब्राह्मणातिक्रमत्यागः**' से दिया जायेगा।

ग्रन्थकार के दिये उदाहरण में "**वञ्जुललतागृह में स्वयं संकेत देने पर भी वह नहीं पहुंची**" यह व्यङ्ग्यार्थ, गुणीभूत (गौण-अप्रधान) हो गया है, क्योंकि 'तरुणी की मुखकान्ति के मालिन्य की अधिकता रूप **वाच्यार्थ**' ही पूर्वोक्त व्यङ्ग्यार्थ से अधिक चमत्कारक (आस्वादजनक) है ॥ ३ ॥

काव्य-भेद-३—चित्रकाव्य (अधमकाव्य)—

इसके पूर्व काव्य के ध्वनि (उत्तम) तथा **गुणीभूत व्यङ्ग्य** (मध्यम) भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित किये गये। अब काव्य के तृतीय भेद '**चित्र-काव्य**' का लक्षण और उदाहरण दे रहे हैं—

अधम काव्य

[सू० ४]—व्यङ्ग्यार्थ से रहित 'शब्दचित्र' और '**अर्थचित्र**' दो प्रकार का **अधमकाव्य** बताया गया है।

इस काव्य को 'गुण' तथा 'अलंकार' से युक्त होने के कारण 'चित्र' नाम दिया गया है। उसी तरह 'अव्यङ्ग्य' का अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीयमान होने वाले व्यङ्ग्यार्थ से रहित किया गया है, क्योंकि 'व्यङ्ग्यार्थ-शून्य' काव्य का होना तो सम्भव ही नहीं है। अभिप्राय यह है कि जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति स्फुट (स्पष्ट) नहीं हो पाती उसे अधम काव्य कहते हैं। '**अवर**' का अर्थ अधम किया गया है।

यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

शब्दचित्र का उदाहरण—

जैसे—

'मन्दाकिनी (गङ्गाजी) वः (तुम्हारे) मन्दताम् (पाप और अज्ञान को) अह्नाय (शीघ्र) भिद्यात् (दूर करे)'। यह उपर्युक्त उदाहरण का प्रधान वाक्य है, अवशिष्ट सभी मन्दाकिनी के विशेषण हैं।

उपर्युक्त श्लोक का भाव यह है कि गङ्गाजी तुम्हारे अज्ञान अथवा पाप को शीघ्र ही दूर करें। जो मन्दाकिनी स्वतन्त्ररूप से उछलती हुई, निर्मल (अच्छ) तट के गर्तों (कच्छ-कुहर) में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा (छातेतराम्बुच्छटा), उससे जिनके अज्ञान का (मोह का) नाश हो गया है, ऐसे महर्षियों के द्वारा जिसमें प्रसन्नतापूर्वक सन्तोष के साथ स्नान तथा सन्ध्या-वन्दनादि आह्निक अर्थात् दैनिक कार्य किये जा रहे हैं, इस प्रकार की मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता (अज्ञान) को अथवा पाप को दूर करे।)

मन्दाकिनी के लिए दिये गये विशेषणों से उसकी महर्षियों के द्वारा सेवा किये जाने की योग्यता का प्रतिपादन और दूसरे तीर्थों की अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इसके आगे अन्य नदियों से उसकी श्रेष्ठता बता रहे हैं—

'जिनमें बड़े-बड़े मेढक दिखलाई पड़ रहे हैं, ऐसी कन्दराओं से युक्त (उद्यन्तः प्रकाशमानाः उदाराः महान्तः दर्दुराः भेकाः यासु एवं विधाः दर्यः कन्दराः यस्यां सा) और दीर्घकाय तथा अदरिद्र अर्थात् बड़े ऊँचे एवं शाखा-पत्र-पुष्प आदि से लदे हुए जो वृक्ष उनके गिराने (द्रोह) के कारण ऊपर उठने वाली बड़ी-बड़ी लहरों से अत्यन्त गर्व का अनुभव करने वाली (मेदुरमदा) गङ्गाजी तुम्हारे पाप अथवा अज्ञान आदि को शीघ्र नष्ट करें ॥ ४ ॥

इस काव्य में कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है, केवल छकार का, महर्षि-हर्ष का, आह्निकाह्नाय तथा मन्द मन्द में 'दकार' का शब्दालंकारअनुप्रासजन्य चमत्कार है। इसलिए इसे चित्रकाव्य कहा गया है। यद्यपि यहाँ मन्दाकिनी विषयक 'रति' भाव और अन्य तीर्थों की अपेक्षा इसका आधिक्य वर्णन करने के कारण व्यतिरेक-

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ५ ॥

इति मम्मटभट्ट-विरचिते काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूप-विशेषनिर्णयो नाम प्रथम उल्लासः ॥

अलंकार व्यङ्ग्य कहा जा सकता है तथापि कवि का तात्पर्य **अनुप्रास** में है । इसलिए उपर्युक्त व्यङ्ग्य अलंकार और रतिभाव तिरोहित हो जाता है । अतः यह काव्य **अव्यङ्ग्य ही** है ॥ ४ ॥

अर्थचित्र का उदाहरण—

'**हयग्रीव वध**' नाटक का यह पद्य है--शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने वाले जिस 'हयग्रीव' को बिना उद्देश्य के ही परिभ्रमणार्थ अपने राजभवन से निकला हुआ सुनकर भी उद्विग्न हुए देवराज इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है उस अमरावती नगरी-रूप नायिका ने भय से द्वाररूप अपनी आँखों को मानों बन्द सा कर लिया ॥ ५ ॥

इस पद्य में 'नेत्रस्थानापन्न' द्वार हैं । भय होने पर नेत्रों को मूँद लेना स्त्रियों का स्वभाव होता है । इस पद्य में **वंशस्थ** छन्द है, और '**निमीलिताक्षीव**' यह **उत्प्रेक्षालंकार** है । कवि का तात्पर्य उत्प्रेक्षालंकार के **प्रदर्शन** मे होने से यहाँ वीर रसादि के व्यङ्ग्य रहने पर भी वे तिरोहित हो जाते हैं । इसलिये **यह अव्यङ्ग्य** काव्य है।

प्रथम उल्लास का सारांश--

विशेष विवरण--प्रथम उल्लास में (१) मङ्गलाचरण (२) काव्य के प्रयोजन (३) काव्य के साधन (४) काव्य का लक्षण (५) काव्य के भेदों का वर्णन किया है । **मुख्य रूप से काव्य के तीन भेद दिखाये गये हैं**—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य, (३) चित्रकाव्य । **ध्वनिकाव्य उसे कहते हैं,** जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो । **गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य उसे कहते हैं** जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक अथवा उसके तुल्य चमत्कारपूर्ण रहता है और **चित्रकाव्य उसे कहते हैं** जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति स्फुट न होती हो । इन तीन भेदों में से '**ध्वनिकाव्य को**' '**उत्तमकाव्य**', गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य' को '**मध्यमकाव्य**' तथा '**चित्रकाव्य**' को '**अधमकाव्य**'

कहा गया है। चित्रकाव्य की रचना में प्राथमिक विद्यार्थियों की प्रवृत्ति विशेषतया रहा करती है, महाकवियों की नहीं। महाकवियों की तो प्रधानतया ध्वनिकाव्य के निर्माण में ही प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव **चित्रकाव्य को अधम या अवर** काव्य कहा जाता है। यही कारण है कि **आन्दवर्धनाचार्य** ने ध्वन्यालोक में "प्राथमिका-नामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्।" कहा है।

मम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में काव्य के प्रयोजन-कारण तथा स्वरूप-विशेष निर्णय नामका प्रथम उल्लास समाप्त हुआ।

अथ द्वितीय उल्लासः

(शब्दार्थ-स्वरूपनिरूपणात्मकः)

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(शब्दत्रैविध्यम्)

(सू० ५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ॥

वृत्तिः—अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

द्वितीय उल्लास--

काव्य का लक्षण कहने के पश्चात् लक्षण में दिये गये 'शब्दार्थौ' का विवेचन करने के लिए ग्रन्थकार अवसर प्राप्त होने के कारण शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बता रहे हैं—

शब्द की त्रिविधता—(तीन भेद)–

[सू० ५]—यहाँ (काव्य में) **वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक-भेद से** शब्द के तीन प्रकार होते हैं ।

'अत्र=यहाँ अर्थात् 'काव्य में' यह अर्थ समझना चाहिए । इन वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्दों का स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

विशेष विवरण--शब्द के ये तीन भेद केवल साहित्य-शास्त्र में ही उपलब्ध होते हैं, अन्य शास्त्रों में वाचक और लक्षक इन द्विविध शब्दों का ही स्वीकार किया गया है । इसी कारण ग्रन्थकार को 'अत्र' शब्द का विशेषरूप से प्रयोग करना पड़ा और उसका अर्थ 'काव्य में' कहना पड़ा । क्योंकि यदि साहित्यिक विद्वान् अन्य शास्त्रों के समान 'व्यञ्जक' शब्द न बतावें तो काव्य में किसी प्रकार का चमत्कार ही न रहेगा । इन तीन प्रकार के शब्दों में 'वाचक' शब्द मुख्यार्थ को बताता है इसलिए उसे सर्वप्रथम रखा गया है । 'लाक्षणिक' शब्द 'वाचक' शब्द पर आश्रित रहने के कारण उसे वाचक के पश्चात् रखा गया तथा व्यञ्जक शब्द की पूर्वोक्त दोनों की अपेक्षा रहती है इसलिए उसे तृतीय स्थान दिया गया है । शब्द का यह त्रिविध भेद केवल उसकी उपाधि के कारण किया गया है । वह भेद शब्द का अपना निजी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का विभाग शब्दों में निश्चित नहीं किया जा सकता कि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है अथवा अमुक शब्द केवल

(अर्थत्रैविध्यम्)

(सू० ६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(चतुर्थः तात्पर्यार्थः)

(सू० ७)—तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये

व्यञ्जक है। एक ही **शब्द** तीनों प्रकार के रूपों को धारण कर सकता है। अतः उक्त त्रिविध भेद शब्द के न होकर उसकी उपाधियों के हैं।

अर्थ के तीन भेद—

उपाधि के कारण **शब्द** के जैसे तीन भेद होते हैं उसी तरह **अर्थ** के भी तीन भेद होते हैं—

[सू० ६] उन **वाचक**, लक्षक और व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं।

वाच्येति। 'वाच्य आदि' शब्द से वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य समझने चाहिएँ।

अर्थ का चौथा भेद—'तात्पर्यार्थ'—

[सू० ७] **कुमारिलभट्ट** आदि कतिपय मीमांसकों के मत में उक्त त्रिविध अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का **'तात्पर्यार्थ'** भी होता है ॥ ६ ॥

विशेष विवरण—अर्थ की विवेचना करते हुए **मम्मटभट्ट** ने 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' कहकर मीमांसकों के सिद्धान्त को बताया है। शब्दार्थ का विवेचन, व्याकरण, न्याय और मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेषरूप से पाया जाता है। **व्याकरणशास्त्र** पद-पदार्थों का विवेचन करता है, इसलिए उसे **'पदशास्त्र'** कहते हैं। **न्यायशास्त्र** प्रमाणों का विवेचन करता है इसलिए उसे **'प्रमाणशास्त्र'** कहते हैं। **मीमांसाशास्त्र** वाक्यार्थ करने की पद्धति को बताता है इसलिए उसे **'वाक्यशास्त्र'** कहते हैं। किसी भी वाक्य का वाक्यार्थ-बोध (शाब्द-बोध) करने में उक्त तीनों शास्त्रों का उपयोग होता है। यही कारण है कि शाब्द-बोध करने में कुशल विद्वानों को **'पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण'** इस अलङ्करण से विभूषित किया जाता रहा है।

वाक्यार्थ के सम्बन्ध में **मीमांसकों** की दो धारायें प्रसिद्ध हैं। **कुमारिलभट्ट** की धारा के अनुयायी विद्वान् **'अभिहितान्वयवाद'** को मानते हैं और **प्रभाकर** 'गुरु' की धारा के अनुयायी विद्वान् **'अन्विताभिधानवाद'** को मानते हैं।

अभिहितान्वयवाद—

इस सिद्धान्त में प्रथमतः **पदों** से **पदार्थों** की प्रतीति अभिधा-शक्ति से होती है।

तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

तदनन्तर उन **अभिहित पदार्थों** का परस्पर सम्बन्ध **वाक्यार्थ-मर्यादा** से उपस्थित होता है, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था। इसलिए प्रथमतः **पद** अपनी **अभिधा-शक्ति के द्वारा** पदार्थों का बोधन करते हैं। बाद में **वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से उनका आपस में अन्वय** (सम्बन्ध) होता है। तब उससे **वाक्यार्थ** का ज्ञान होता है। इस रीति से **वाक्यार्थ-बोध** होने में अभिधा-शक्ति से अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त को **'अभिहितान्वयवाद'** कहते हैं। इस सिद्धान्त में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध **वक्ता के तात्पर्य के अनुसार** होता है। इसी कारण उस सम्बन्ध (संसर्ग) को 'तात्पयर्थि' कहते हैं तथा उसी को 'वाक्यार्थ' भी कहते हैं। उस वाक्यार्थ की बोधकशक्ति को **'तात्पर्याख्याशक्ति'** कहते हैं। यह शक्ति पूर्वोक्त तीनों शक्तियों से भिन्न **चौथी शक्ति** है। इसका उल्लेख **तन्त्रवार्तिक** की व्याख्या **न्यायसुधा** में **सोमेश्वरभट्ट** ने किया है। ग्रन्थकार की दृष्टि से यद्यपि यह **तात्पर्याशक्ति** चौथी है तथापि **मीमांसकों** की दृष्टि से वह तीसरी ही है, क्योंकि मीमांसक **व्यञ्जनाशक्ति** को स्वीकार नहीं करते हैं।

ग्रन्थकार स्वयं अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का परिचय करा रहे हैं—**आकाङ्क्षेति**। मूल ग्रन्थ की इस पंक्ति को सरलता से समझने के लिए पदों का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् समन्वये'। पदार्थों के होने वाले परस्पर सम्बन्ध को यद्यपि पदों के द्वारा नहीं बताया जाता तथापि आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि के बल पर वह भासित होता है। उसी को **तात्पर्यार्थ** एवं **वाक्यार्थ** कहते हैं। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने **'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति'** शब्दों से कहा है। अब मूल पंक्ति का अर्थ यह हुआ कि जिन पदार्थों का स्वरूप आगे कहा जायेगा उन पदार्थों का आकाङ्क्षा-योग्यता और सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध (समन्वय) होने पर पदों से प्रतीत न होने वाला अर्थ भी वक्ता के तात्पर्य का विषय होने के कारण उसे **विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ** प्रतीत हुआ माना जाता है। यह **अभिहितान्वयवादियों** (कुमारिलभट्ट के अनुयायियों) का मत है।

विशेष विवरण—श्रोता की 'जिज्ञासा' को ही **आकाङ्क्षा** कहते हैं। जिन पदों के सुनने पर अन्य पदों की 'आकाङ्क्षा' होती है, उन पदों के समुदाय को ही **वाक्य** कहते हैं। जिन पदों के सुनने पर अर्थज्ञान के लिए अन्य पदों की आकाङ्क्षा जहाँ नहीं रहती, उन्हें वाक्य नहीं कहते। जैसे—'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती'

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

इस प्रकार के आकांक्षारहित पदसमुदाय को वाक्य नहीं कहा जाता। इसी प्रकार पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में किसी प्रकार की बाधा का अभाव रहना ही **'योग्यता'** शब्द से कहा जाता है। पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में जहाँ कोई बाधा होती है वहाँ उस पदसमुदाय को **वाक्य** नहीं कहते और न उससे वाक्यार्थबोध ही होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' यहाँ पद-समुदाय तो है, किन्तु 'योग्यता' नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'वह्नि' से सिंचाई नहीं कर सकता। इस कारण 'वह्नि' और 'सिञ्चन' के सम्बन्ध में बाधा उपस्थित हो जाने से उपर्युक्त पदसमुदाय में योग्यता का अभाव है। इसलिए 'वह्निना सिञ्चति' को **वाक्य** नहीं कहा जाता। एक ही व्यक्ति के द्वारा बिना विलम्ब किये अनेक पदों का उच्चारण करना **'सन्निधि'** शब्द से कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति विलम्ब से अर्थात् एक-एक, दो-दो, तीन-तीन घंटे के अन्तर से अनेक पदों का उच्चारण करे भी तो उसे वाक्य नहीं कहेंगे, क्योंकि उन पदों के उच्चारण में **'सन्निधि'** (आसत्ति) नहीं है। अतः **आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि** से युक्त **पदसमुदाय** को ही वाक्य कहते हैं और उसी से वाक्यार्थ-बोध होता है। निष्कर्ष यह है कि—**अभिहितान्वयवाद** में पहले पदों से केवल पदार्थ (अनन्वित-पदार्थ) उपस्थित होते हैं। उसके पश्चात् पदों की परस्पराकाङ्क्षा, उनकी योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याशक्ति के द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ का ज्ञान (बोध) होता है। **तात्पर्या वृत्ति** स्वीकार करने की आवश्यकता इसलिए होती है कि यदि बिना वृत्ति के अर्थ-बोध माना जाय तो अतिप्रसङ्ग होने लगेगा। इसलिए वाक्यार्थरूप संसर्ग (सम्बन्ध) के लिए शब्द की तात्पर्यावृत्ति को मानना आवश्यक हो जाता है, और उस वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'तात्पर्यार्थ' कहलाता है।

अन्विताभिधानवाद--

पहले बता चुके हैं कि वाक्यार्थबोध (शाब्दबोध) के संबंध में दूसरी धारा **'अन्विताभिधानवाद'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह धारा **प्राभाकरमत** के अनुयायियों की है। इस धारा में यह बताया जा रहा है कि प्रथमतः ही 'अभिधाशक्ति' के द्वारा वाक्यगत पद, 'अन्वित पदार्थों' को ही बताते हैं। इसी कारण इसे **अन्विताभिधान** कहा गया है, क्योंकि **'अन्वित अर्थ'** का ही इसमें अभिधान (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादन) होता है। इस सिद्धान्त में पदार्थों का अन्वय कराने के लिए 'तात्पर्या-शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि अर्थों का अन्वय तो पहले से ही सिद्ध है।

वाच्य एवेति। **प्राभाकर** के 'अन्विताभिधानवाद' को बताने वाली मूलपंक्ति का

अर्थ इस प्रकार है—'पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ'–**वाच्य ही** होता है। अर्थात् उसे बताने के लिए **तात्पर्याशक्ति** की आवश्यकता नहीं होती। यह **अन्विताभिधानवादियों** का मत है।

विशेष विवरण—भाट्टमत में 'तात्पर्याशक्ति' मानने की आवश्यकता इसलिए होती है कि वाक्यगत प्रत्येक पद, 'अभिधाशक्ति' के द्वारा अपने-अपने अर्थ को ही केवल बताते हैं। अर्थात् पहले केवल पदार्थ ही अभिहित (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादित) होते हैं, और बाद में उन अभिहित पदार्थों का **आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि** (आसत्ति) के बल पर परस्पर **अन्वय** (सम्बन्ध) किया जाता है। 'पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध', पदों के द्वारा उपस्थित न होने पर भी **आकांक्षा** आदि के द्वारा उस (सम्बन्ध) का भासित होना ही **'तात्पर्यार्थ'** (वाक्यार्थ) है। यही दोनों मतों में अन्तर है। **प्राभाकरमत में** 'वाक्यार्थ और वाच्यार्थ' **एक ही** है, भिन्न-भिन्न नहीं है। 'अभिधा शक्ति' से जो अर्थ बताया जाता है उसे ही **'वाच्यार्थ'** (शक्यार्थ, मुख्यार्थ) कहते हैं, और **'अन्वित अर्थ'** को **वाक्यार्थ** कहते हैं। उस 'अन्वित अर्थ-रूप वाक्यार्थ' को ही जब **अभिधाशक्ति** के द्वारा बताया जाता है, तब उस **वाक्यार्थ** को ही **वाच्यार्थ कहना पड़ता है**। और **भाट्टमत में वाक्यार्थ** और **वाच्यार्थ** भिन्न-भिन्न हैं, **दोनों एक नहीं हैं**। क्योंकि 'पद' अपने-अपने शुद्ध (अनन्वित) अर्थ को ही **अभिधाशक्ति** के द्वारा बताते हैं, इसलिए वे 'शुद्ध अर्थ' ही **वाच्यार्थ** हैं। बाद में उन **अभिहित अर्थों** (वाच्यार्थों) का **वक्ता के तात्पर्य** (तात्पर्यावृत्ति) के अनुसार **परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि** के अनुरोध से 'अन्वय' (सम्बन्ध) होता है। तब **अन्वितार्थ** प्रतीत होता है, जो 'किसी पदका' अपना **शुद्ध अर्थ** नहीं है, वही **'वाक्यार्थ'** कहलाता है। इसलिए इस मत में **वाच्यार्थ** और **वाक्यार्थ** भिन्न-भिन्न हैं।

प्राभाकर अपने **'अन्विताभिधानवाद'** को पुष्ट करने के लिए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि पदों से पदार्थों का ज्ञान **संकेतग्रह** के पश्चात् ही होता है। और वह **संकेतग्रह** (संकेत का ग्रहण=ज्ञान) 'लोक-व्यवहार' से होता है। जैसे—कोई **छोटा बालक** या बोलने वालों की भाषा (बोली) न समझने वाला कोई **अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति**, जिसे यह ज्ञान नहीं है कि 'किस शब्द' का क्या अर्थ है? वह देखता-सुनता रहता है कि किसी ने किसी से कहा कि 'पुस्तकम् आनय'। तब दूसरा व्यक्ति पुस्तक लाता है। किन्तु समीप बैठा हुआ बालक या अन्य-भाषा भाषी व्यक्ति न 'पुस्तक' का **अर्थ** और न 'आनय' का **अर्थ** जानता है। **तथापि** उसने एक के 'शब्दों' को सुना है और दूसरे के 'व्यापार' (कार्य) को देखा है। उससे उसके मन पर एक संस्कार पैदा होता है। तदनन्तर कहने वाला व्यक्ति पुनः किसी

(अर्थानां व्यञ्जकता)

(सू० ८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ॥

तत्र वाच्यस्य यथा—

(वाच्यार्थस्य व्यञ्जकता)

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ६ ॥
(मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी) ॥ ६ ॥

से कहता है कि--'पुस्तकं नय, वस्त्रम् आनय'। तब सुनने वाला व्यक्ति पुस्तक ले जाता है और वस्त्र ले आता है। वहाँ बैठा हुआ बालक या अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति 'बोलने वाले के शब्दों' को सुनता है। और 'दूसरे के द्वारा की जाती हुई क्रिया' को देखता है। उस कारण वह बालक या अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति धीरे-धीरे 'पुस्तक ले जाओ, वस्त्र लाओ' उक्त शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों को समझने लगता है। **इस व्यवहार** से उसे 'संकेतग्रह' होता है। यह **संकेतग्रह** केवल **'शुद्ध अर्थ'** में न होकर उस **'अन्वित अर्थ'** में ही होता है। अतः कहना होगा कि किसी भी 'पद' का 'अनन्वित अर्थ' में संकेतग्रह न होने से उस 'अनन्वित अर्थ' की उपस्थिति भी 'पद' से नहीं होती है। इसलिए **'अन्वित अर्थ'** का ही बोधन 'अभिधा-शक्ति' के द्वारा किया जाता है। अतः **अन्विताभिधानवाद** का स्वीकार करना उचित ही है।

पूर्वोक्त तीनों अर्थों का व्यञ्जकत्व—

अभी तक ग्रन्थकार ने तीन प्रकार के शब्द और उनके तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन किया। साथ ही **अभिहितान्वयवादियों** के मत में **तात्पर्यार्थ भी** होता है, यह बताया।

अब **ग्रन्थकार** यह कह रहे हैं कि उक्त तीनों प्रकार के अर्थों में **व्यञ्जकत्व** भी रहता है। अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है।

अर्थों की व्यञ्जकता—

[सू० ८] प्रायः सभी अर्थों में व्यञ्जकत्व भी माना जाता है।

तत्रेति। उनमें से **वाच्य अर्थ के व्यञ्जकत्व** का (व्यञ्जक होने का) **उदाहरण** दे रहे हैं। जैसे—

माए इति। (मातरिति)। हे मातः! आज घर में सामग्री (दाल, चावल, आटा, ईन्धन आदि) नहीं है, ऐसा तुमने कहा है, तो अब बताओ कि क्या करना है?

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

(लक्ष्यार्थस्य व्यञ्जकता)

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दुम्मिआसि मज्झकए ।
सम्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥ ७ ॥

क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा, अर्थात् थोड़ी ही देर में दिन ढल जायेगा, तब क्या होगा ॥ ६ ॥

अत्र स्वैरविहारेति । यहाँ व्यभिचारिणी रूप वक्त्री के सम्बन्ध से 'यह स्वैर-विहारार्थिनी है' यह बात 'व्यंजना' से सामाजिकों के समक्ष में आ जाती है ।

विशेष विवरण—यहाँ कहने वाली के वैशिष्ट्य के कारण वाच्यार्थ 'व्यञ्जक' बन गया है । उपनायक के साथ समागम की इच्छा रखने वाली 'कोई स्वैरिणी स्त्री' लकड़ी-ईंधन, दाल, चावल आदि लाने के बहाने बाहर जाने के लिए अपनी 'सास' से कह रही है ।

इस काव्य में **'किं करणीयम्'** अर्थात् करने के लिए कुछ नहीं है, यह सूचित किया गया है । **'किम्'** शब्द क्षेपार्थक है । दूसरी बात यह है कि **'वासर'** (दिवस) 'एवमेव' (इसी प्रकार से) 'स्थायी' (स्थिर) नहीं रहेगा । और **'मातः'** कहने से उसकी आज्ञा उल्लंघनीय नहीं है, यह सूचित किया गया है । **'गृहे'** कहने से आव-श्यकता सूचित की गयी है । **'उपकरणम्'** कहने से अन्य प्रकार से उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है, यह सूचित किया गया है । इसी प्रकार **'अद्य'** कहने से आज ही जुटाना उचित है, **'साधितम्'** कहने से घर में कुछ होने की संभावना भी नहीं है, **'त्वया'** कहने से मेरी अपनी कल्पना नहीं है, **'तत्'** कहने से तुम्हें अवश्य बताना है, **'भण'** कहने से मैं तुम्हें पूछ रही हूँ, **'एवमेव'** कहने से दिन ढल जाने पर तुम कहोगी तो भी मुझ जैसी **'कुलाङ्गना'** का बाहर निकलना ठीक नहीं होगा अर्थात् मैं बाहर नहीं ही निकलूँगी—यह सूचित किया गया है ।

इस पद्य के द्वारा कहने वाली व्यभिचारिणी अर्थात् स्वैरविहारार्थिनी यह स्त्री है अर्थात् यह कहने वाली बहू स्वच्छन्द विहार करने के लिए उपपति के पास जाना चाहती है—इस व्यङ्ग्यार्थ को व्यञ्जना के द्वारा रसिक सामाजिक लोग समझ लेते हैं । **इस वक्तृवैशिष्ट्य के कारण यहाँ वाच्यार्थ ही 'व्यञ्जक' हुआ है ॥ ६ ॥**

लक्ष्यस्येति । बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से लक्ष्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण, जैसे—

साहेन्तीति । (साधयन्तीति) । हे सखि ! उस सुन्दर नायक के पास बार-बार

(साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया) ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यं तेन च कामुक-विषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

(व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकता)

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रहेइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्ति व्व ॥ ८ ॥

जाकर मेरे लिए उसकी अनुनय विनय करते हुए तुमने बड़ा कष्ट उठाया है। मेरे प्रति अपनी सद्भावना और स्नेह के उचित जो तुम्हें करना चाहिए था वह तुमने कर लिया ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियमिति । इस पद्य में **'मेरे प्रियतम'** के साथ **'रमण'** करके तूने मेरे साथ **'शत्रुता'** निबाही है—**'यह लक्ष्यार्थ'** है और उससे 'कामुक के अपराधी होने का प्रकाशन' व्यङ्ग्य है।

विशेष विवरण--इस काव्य में सखी की थकान से अनुमित (कल्पित) 'स्वप्रियोपभुक्तत्व' रूप अर्थ से 'मित्रत्व' रूप **मुख्यार्थ** का बाध होने के कारण 'सदृश' पद से 'शत्रुत्वाचरण' रूप विसदृश अर्थ **लक्षित** होता है। **'मत्कृते'** कहने से **'स्वकृते'** और **'दूनासि'** कहने से **'हृष्टासि'** अर्थ **लक्षित** होता है। **इस लक्ष्य रूप वाक्यार्थ से** 'कामुकी और कामुक दोनों सापराध हैं'—**इस व्यङ्ग्यार्थ को सहृदय लोग व्यञ्जना के द्वारा समझ लेते हैं।**

इस काव्य के द्वारा बताया हुआ **'वञ्चिता नायिका'** का कथन प्रथम उल्लास के ध्वनि काव्य के उदाहरण **'निःशेषच्युतचन्दनं'** के समान ही प्रतीत हो रहा है। उसमें भी **'विदग्ध उत्तम नायिका'** के द्वारा भेजी हुई दूती ने उसका सन्देश उसके नायक से कहने के बजाय स्वयं उसके साथ स्वैर विहार (रति-क्रीड़ा) करके उत्तम नायिका की जैसे प्रतारणा की है, ठीक वैसे ही यहाँ पर भी इस **'वञ्चिता नायिका'** की सखी ने स्वयं ही उसके प्रियतम के साथ रतिसुख का आनन्द लेकर उसकी प्रतारणा की है। यह बात वक्ता तथा बोद्धा (कहने वाले तथा समझने वाले) के वैशिष्ट्य से व्यञ्जित होती है। इस रीति से लक्ष्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण दिखाया गया है ॥ ७ ॥

व्यङ्ग्यस्येति । अब व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण दिखा रहे हैं। जैसे—

उओति । (पश्येति) । देखो, कमलिनी के पत्र पर निश्चल और निष्पन्द (बिना हले-डुले) बैठी हुई यह बलाका (बगुली) निर्मल मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शङ्खाकार सीप की तरह शोभा दे रही है ॥ ८ ॥

(पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव) ॥ ८ ॥

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं । तेन च जनरहितत्वम् , अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित्कञ्चित्प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

(वाचकशब्दलक्षणम्)

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

(सू० ९) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥

अत्र निष्पन्दत्वेनेति । यहाँ पर 'बलाका निष्पन्द, निश्चल बैठी है' यह **'वाच्यार्थ'** है इस वाच्यार्थ से 'बलाका की आश्वस्तता' अर्थात् निर्भयता लक्षित होती है । और 'उस आश्वस्तत्व' रूप लक्ष्यार्थ से **'यह स्थान जनरहित है, एकान्त स्थान है'**, यह **व्यंग्यार्थ** निष्पन्न होता है । **इस व्यंग्यार्थ से 'यह संकेत स्थान उत्तम है' यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ** मिलता है । इस प्रकार से कोई नायिका अपने किसी कामुक प्रिय को सूचित कर रही है ।

अथवा 'तुम मिथ्या बोल रहे हो । तुम यहाँ नहीं आये' ऐसा **व्यङ्ग्यार्थ** सूचित किया जा रहा है । क्योंकि 'यदि तुम आये होते तो यह बलाका ऐसी निश्चल–निष्पन्द कदापि नहीं रह सकती थी' अतः यह अर्थ, प्रथम-व्यंग्यार्थ से व्यंजना द्वारा सूचित होता है ॥ ८ ॥

विशेष विवरण—स्थानान्तर प्रापिका शरीर-क्रिया को **'चलन'** कहते हैं और स्थानान्तर में अप्रापिका अवयव क्रिया को **'स्पन्द'** कहते हैं । अतः 'निश्चल' 'निष्पन्द' कहने से **'पुनरुक्ति'** नहीं समझनी चाहिए । **संभोग** की अपेक्षा **विप्रलंभ** को मधुरता अधिक रहने से ग्रन्थकार ने **'अथवा'** कहकर जो व्यङ्ग्यार्थ बताया है कि संकेत स्थान पर बगुले की निष्पन्दता से स्पष्ट है कि वहाँ किसी के आने की आहट तक नहीं हो पायी है । इसलिए तुम झूठ कह रहे हो कि 'मैं आया था किन्तु तुम नहीं आयी ।' इस व्यंग्यार्थ को मिथ्यावादी के प्रति वह व्यक्त कर रही है ॥ ८ ॥

वाचक शब्द का स्वरूप (लक्षण)—

वाचकादीनामिति । 'तीन प्रकार के शब्दों तथा अर्थों' को बताकर अब वाचक आदि त्रिविध शब्दों के स्वरूप को क्रमशः बताते हैं—

[सू० ९] साक्षात् संकेतित अर्थात् व्यवधान रहित 'संकेत–ग्रहण' जिसका किया गया हो, ऐसे अर्थ को जो शब्द, अभिधा शक्ति के द्वारा बताता है उसे **'वाचक'** शब्द कहते हैं ॥ ९ ॥

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

इहागृहीत० इति। लोक-व्यवहार में संकेत-ग्रहण किये बिना शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं हुआ करती। इसलिए शब्द को अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करने के लिए संकेत की सहायता लेनी पड़ती है। अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में व्यवधान से रहित संकेत-ग्रहण किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का **'वाचक'** कहा जाता है।

विशेष विवरण—शब्द के अर्थज्ञान से रहित लोगों को संकेत-ग्रह कैसे हुआ करता है? उसे हम अभी बता चुके हैं। 'किसी वस्तु को यहाँ रखो, वहाँ से उठाओ' इस प्रकार के व्यवहार में एक शब्द को हटाकर दूसरे शब्द का, वैसे ही एक अर्थ की जगह दूसरे अर्थ का रखा जाना इत्यादि प्रक्रिया को **'आवाप–उद्वाप'** कहते हैं। **'निष्कर्ष'** यह है कि लोकव्यवहार में संकेत का ग्रहण आवाप-उद्वाप के द्वारा होता है। इसलिए संकेत ग्रहण का प्रधान साधन 'लोकव्यवहार' को ही समझा जाता है। लोक-व्यवहार के अतिरिक्त अन्यान्य उपाय भी निम्नलिखित कारिका में बताये गये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध (ज्ञात) पद के सान्निध्य से 'संकेत' का ग्रहण होना बताया गया है।

इनमें 'पठ्' पढ़ना आदि धातुपाठ से अथवा 'आधारोऽधिकरणम्' आदि सूत्रों से 'पठ्' धातु तथा 'अधिकरणम्' आदि पदों का 'संकेत-ग्रहण' 'व्याकरण' से होता है। यथा—'गौः तथा गवयः' यह 'उपमान प्रमाण' का उदाहरण है। इसकी सहायता से 'गवय' शब्द का संकेत-ग्रहण हो जाता है। 'कोष' तथा 'आप्तवाक्य' से नवीन वस्तुओं के नाम का ज्ञान होना सर्वानुभव-सिद्ध ही है। 'विवृति' (व्याख्या) से भी संकेत-ग्रह होता है। उसी तरह 'वाक्य-शेष' और 'सिद्ध-पद' (ज्ञात शब्द) की 'सन्निधि' से नवीन शब्द के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। ये सब संकेतग्रह के उपाय बताये गये हैं॥ ९॥

संकेतयुक्त अर्थ के विषय में अनेक मत—

यह संकेतग्रह (शक्तिग्रह) किसमें होता है? इस प्रश्न पर अनेक लोगों के अनेक विचार हैं–कुछ लोग **'जाति'** में, कुछ लोग **'व्यक्ति'** में और कुछ लोग **'जाति-विशिष्ट व्यक्ति'** में संकेत ग्रह (शक्तिग्रह) का होना मानते हैं। यद्यपि साधारणतया सम्पूर्ण लोकव्यवहार व्यक्ति से ही सम्बन्धित देखा जाता है तथापि प्रत्येक व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने पर **'आनन्त्य'** और एक व्यक्ति में मानने पर **'व्यभिचार'** ये दो

(सङ्केतितार्थे विप्रतिपत्तिः)

(सू० १०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाऽप्यानन्त्या-द्व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्या-दीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषा-

---

दोष होते हैं। इसलिए 'व्यक्ति' मे संकेतग्रह को न मानकर महाभाष्यकार ने शब्द के--'जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द' ये चार विभाग किये हैं। यदि 'व्यक्ति' में ही संकेतग्रह मान लो महाभाष्यकार के द्वारा प्रदर्शित यह चार प्रकार का शब्दविभाग नहीं बन पायेगा, क्योंकि 'गौः' 'शुक्लः' 'चलः' 'डित्थः' इन चारों शब्दों से 'व्यक्ति' का ही बोध होगा। इसलिए 'व्यक्ति' में शक्ति न मानकर उसके उपाधिभूत 'जाति' 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छारूप' धर्मों में ही शक्तिग्रह मानना समुचित प्रतीत होता है। इस उपर्युक्त विचार से ही ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं--

[सू० १०]--'संकेतित अर्थ' जाति आदि (जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। अथवा—'मीमांसकों' के मत से केवल 'जाति' को ही संकेतित अर्थ माना जाता है।

यद्यप्यर्थेति। यद्यपि लाना, ले जाना आदि अर्थ-क्रिया का (सफल क्रिया का) निर्वाहक होने से प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार के योग्य 'व्यक्ति' ही होता है। इसलिए व्यवहार को देखकर होने वाला 'संकेतग्रह' (शक्तिग्रह) व्यक्ति में ही होना चाहिए। किन्तु आनन्त्य और व्यभिचार-दोष के उपस्थित होने के कारण उसमें (व्यक्ति में) संकेतग्रह स्वीकार करना ठीक नहीं है। और 'गौः' जातिवाचक, 'शुक्लः' गुण-वाचक, 'चलः' क्रियावाचक, 'डित्थः' संज्ञावाचक (यदृच्छावाचक), इन सब शब्दों से केवल व्यक्ति की ही उपस्थिति मानने पर उपर्युक्त चारों पदों का विषय-विभाग नहीं बनता है। इस कारण भी 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह न मानकर व्यक्ति की उपाधिभूत 'जाति', 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' रूप धर्म में ही शक्तिग्रह होता है।

उपाधि के भेद से शब्दों का चतुर्विध विभाग—

उपाधिश्चेति। यह उपाधि मुख्यतया दो प्रकार का होता है। (१)—वस्तु का यथार्थ धर्म और (२)--वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से उस अर्थ में आरो-पित। वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित उपाधि, यदृच्छात्मकरूढि शब्दों में रहता

धानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये 'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति'। द्वितीयो गुणः शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक

है। वस्तु धर्म भी दो प्रकार का होता है--(१)-सिद्धरूप (२)-साद्धयरूप। सिद्धरूप वस्तुधर्म भी दो प्रकार का होता है--(१) पदार्थ का प्राणप्रद (जीवनाधायक), और (२) विशेषता का आधान कराने का कारण।

(१) तत्राद्य इति। इनमें से पहला अर्थात् वस्तु का प्राणप्रद सिद्धधर्म 'जाति' कहलाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ में कहा है कि--'गौ' स्वरूपतः न 'गौ' होती है और न 'अगौ' होती है। किन्तु 'गोत्व-जाति' के सम्बन्ध से ही वह 'गौ' कहलाती है। इसलिए वस्तु के प्राणप्रद अर्थात् जीवनाधायक वस्तु-धर्म को ही 'जाति' कहते हैं।

(२) द्वितीय इति। दूसरा अर्थात् वस्तु का विशेषाधानहेतुभूत सिद्ध वस्तु-धर्म 'गुण' कहलाता है। क्योंकि 'शुक्ल' आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थों से भिन्नता को प्राप्त होती है। 'गौः' के साथ गुणवाचक 'शुक्ल' विशेषण दूसरी गौओं की अपेक्षा उसकी विशेषता को (भिन्नता को) सूचित करता है।

(३) साध्य इति। इनमें से साद्धयरूप वस्तुधर्म 'क्रिया' कहलाता है। यह साध्यरूप वस्तुधर्म पूर्वापरीभूत समस्त व्यापार क्रियारूप होता है, अर्थात् चावलादि के पकाने में चूल्हा जलाकर उस पर बर्तन रखने से लेकर उसके उतारने तक पहले-पीछे किये जाने वाले सम्पूर्ण व्यापार-कलाप को 'क्रिया' शब्द से कहते हैं।

(४) डित्थेति। 'डित्थ' आदि किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक रूढि शब्दों का पूर्व-प्रदर्शित स्फोट की प्रक्रिया के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णानुभव-जनित संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण के श्रवण से गृहीत होने वाला गकार, औकार, विसर्जनीय आदि के क्रम-भेद से रहित बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाले पदस्फोटात्मक स्वरूप को वक्ता की अपनी इच्छा के अनुसार डित्थ आदि पदार्थों में उपाधि रूप से (वाचक रूप से) सन्नि-विष्ट किया जाता है। अर्थात् किसी वस्तु (व्यक्ति-विशेष) का नामकरण करने वाला व्यक्ति, संज्ञारूप रूढ़ि शब्द वा उक्त वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है, अर्थात् यह व्यक्ति अमुक नाम से समझा जायेगा। इस प्रकार यह रूढ़ संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द होता है।

इस रीति से मम्मटभट्ट ने यहां तक यह बताया कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' में नहीं

इति । गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महा-

होता है किन्तु उसके उपाधिभूतधर्म—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि—में होता है। उसी के अनुसार शब्दों का चार प्रकार से विभाग किया जाता है। इस चतुर्विध विभाग की पुष्टि के लिए महाभाष्यकार **पतञ्जलि** की सम्मति भी उपस्थित कर रहे हैं—

गौः शुक्ल इति । 'सफेद रंग की', 'चलती हुई', 'डित्थ' नाम की, 'गाय' इत्यादि वाक्य में, **'जाति-शब्द'** के रूप में **'गौः'** पद का, **'गुण शब्द'** के रूप में **'शुक्ल'** पद का, **'क्रिया-शब्द'** के रूप में **'चल'** पद का, और **'यदृच्छा शब्द'** के रूप में **'डित्थ'** पद का प्रयोग करने के कारण शब्दों की प्रवृत्ति (**प्रवृत्ति**-निमित्त) चार प्रकार से होती है यह **महाभाष्यकार** ने कहा है।

'परम अणुपरिमाण' की गुणों में गणना करने का रहस्य—

विशेष विवरण—उपर्युक्त शब्दविभाजन के अनुसार वस्तु के **प्राणप्रदधर्म** का नाम **'जाति'** और उसके **विशेषाधान हेतुभूत धर्म को 'गुण'** कहना चाहिए। किन्तु **वैशेषिक-दर्शन** में 'शुक्ल आदि रूप' के समान **'परिमाण'** को भी **'गुण'** माना है। उस दर्शन में रूप-रसादि चौबीस गुणों में **'परिमाण'** की भी गिनती की गयी है। यह **'परिमाण'** मुख्यरूप से **'अणु'** तथा **'महत्'** दो प्रकार का होता है। किन्तु उन दोनों के साथ **'परम'** शब्द को जोड़कर उनका एक-एक भेद और भी हो जाता है। यानी **अणुपरिमाण के दो भेद होते हैं**—(१) 'अणु परिमाण' और (२) 'परम अणुपरिमाण'। उसी प्रकार **'महत् परिमाण' के भी दो भेद होते हैं**—(१) 'महत् परिमाण' (२) 'परम महत्परिमाण'। इनमें से **'परम अणुपरिमाण'** केवल परमाणु-संज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथ्वी आदि द्रव्यों के सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयव में रहता है। इस परम अणुपरिमाण को **'पारिमाण्डल्यपरिमाण'** भी कहते हैं। यह **'परम अणुपरिमाण'** 'परमाणुरूप सूक्ष्मतम पदार्थ' का **प्राणप्रद धर्म है**, विशेषाधान का हेतु नहीं। इस कारण आपकी दी हुई **'जाति की परिभाषा'** के अनुसार 'परमाणु परिमाण शब्द' को 'जाति' शब्द से ही कहना चाहिए। किन्तु **वैशेषिक-दर्शन** में उसे गुणों के साथ पढ़ा गया है। अतः सन्देह होता है कि उसे 'जाति' शब्द से कहें या 'गुण' शब्द से कहें ? इस सन्देह के निराकरणार्थ **मम्मटभट्ट** ने कहा कि—वस्तुतः यह **'परम-अणुपरिमाण'** शब्द **'जातिवाचक'** ही है। किन्तु जैसे **'लोक-व्यवहार में'** भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रसिद्ध **'गुण', 'वृद्धि', 'नदी'** आदि शब्दों का **'व्याकरणशास्त्र में'** स्वकल्पित 'विशेष अर्थ' में प्रयोग किया है, उसी तरह **'वैशेषिक दर्शन'** में भी **'परमाणु-परिमाण'** की गणना **'गुणों'** में की गयी है। इसी अभिप्राय को **ग्रन्थकार** स्वयं बताते हैं—

भाष्यकारः । परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।

परमाण्वादीनामिति । **'परम अणुपरिमाण'** तथा 'आदि' शब्द से **'परम महत्-परिमाण'** में **'प्राणप्रद धर्म'** होने के कारण उन्हें **'जाति'** शब्द से ही कहना उचित है, तथापि **'वैशेषिक-दर्शन' में** उसका 'गुणों' के बीच पाठ कर देने से उस शास्त्र में, **'व्याकरण-शास्त्र'** के नदी, गुण, वृद्धि आदि सांकेतिक संज्ञाओं के समान **'पारिभाषिक गुणत्व'** समझना चाहिए । अर्थात् **'परमाणु-परिमाण'** को गुण कहने में **'वशेपिक दर्शन'** की अपनी एक परिभाषा है ।

विशेष विवरण—पूर्व कह चुके हैं कि **'व्यक्ति'** में शक्तिग्रह मानने पर **'आनन्त्य'** और **'व्यभिचार'** दोष होते हैं। इसलिए **'व्यक्ति'** में **'शक्तिग्रह'** नहीं माना जाता । किन्तु **'व्यक्ति'** के **'उपाधिभूत'** 'जाति, गुण आदि धर्मों' में ही शक्तिग्रह को स्वीकार करना चाहिए । **'जातिरूप धर्म'** में शक्तिग्रह स्वीकार करने पर **'लाभ'** यह होता है कि **'सभी गोव्यक्तियों'** में एक ही **'गोत्वजाति'** समान रूप से रहती है, जिससे समस्त गोव्यक्तियों का ज्ञान हो सकता है । उसी प्रकार **'शुक्लादि गुण'** भी सर्वत्र एक रूप से समान ही है । अत: एक बार शक्तिग्रह हो जाने पर समस्त शुक्ल वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है । प्रत्येक वस्तु (व्यक्ति) में पृथक्-पृथक् शक्तिग्रह (संकेतग्रह) की आवश्यकता नहीं है ।

इस पर कोई कह सकता है कि शङ्ख, दूध, वस्त्र, सीप, मोती, चाँदी आदि भिन्न-भिन्न शुक्ल वस्तुओं में रहने वाला शुक्लरूप अलग-अलग प्रतीत होता है । किसी की शुक्लता अधिक तो किसी की शुक्लता कम प्रतीत होती है, सबकी एक-सी नहीं । इसी तरह **'चावल'** का पकाना, **'ईंटों'** का पकाना आदि **'क्रियाओं'** में **'पाकक्रिया'** भी अलग-अलग ही होती है । इसलिए किसी एक 'शुक्ल' में 'शुक्ल' पद का संकेत-ग्रह हो जाने से सबका ज्ञान नहीं हो पायेगा । जैसे—अनेक 'गोव्यक्तियों' में से किसी एक 'गोव्यक्ति' में शक्तिग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार'—दोष उपस्थित होते हैं । उसी प्रकार शङ्ख, दूध आदि वस्तुओं में आश्रित 'शुक्लादि गुणों' तथा 'पाक आदि क्रियाओं' में भी भेद होने से **'आनन्त्य'** एवं **'व्यभिचार'**–दोष उपस्थित होंगे । अतः एक जगह शक्तिग्रह मानने से काम नहीं चल सकता ।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान **भट्ट मम्मट ने** यह दिया है कि—'शुक्ल' आदि गुण और 'पाक' आदि क्रियाओं का भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो अलग-अलग रूप दिखलाई देता है, उसका कारण उन 'शुक्लादि गुणों' का वास्तविक भेद नहीं, बल्कि **'उपाधि'** का भेद है । जैसे—'मुख' एक ही है, किन्तु चमकते हुए सफेद तलवार में, त्र्यस्र-वर्तुलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार के शीशे में, अथवा तेल, पानी आदि वस्तुओं में उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई देता है । वस्तुतः 'मुख' में

गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् ।

कोई भेद नहीं है । प्रतिबिम्ब में दृष्टिगत होने वाला भेद केवल उपाधिकृत है । उसी प्रकार 'शुक्लादि गुण' और 'पाकादि क्रियाएँ' भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की भले ही दिखाई पड़ें, किन्तु उनकी यह भिन्नता वास्तविक नहीं है, अपितु **'उपाधिकृत'** है । इसलिए गुण, क्रिया आदि में शक्तिग्रह मानने पर कोई दोष प्रतीत नहीं हो रहा है । इसी अभिप्राय से **ग्रन्थकार** स्वयं लिख रहे हैं—

गुणक्रियेति । नानाविध वस्तुओं में अलग-अलग प्रकार से प्रतीत होने वाले 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' यद्यपि एक रूप हैं, तथापि आश्रय के भेद से उनमें भेद सा दिखाई देता है, वस्तुत: कोई भेद नहीं है । जैसे—एक ही मुख का खड्ग (तलवार), दर्पण तथा तेल आदि आश्रयों की भिन्नता के कारण उनमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भिन्न से प्रतीत होते हैं, किन्तु वह भेद वास्तविक न होकर औपाधिक हैं । उसी प्रकार 'गुण आदि' में प्रतीयमान भेद भी केवल **औपाधिक** है । अत: 'गुण आदि' में शक्तिग्रह मान लेने पर 'आनन्त्य' 'व्यभिचार' आदि दोषों की उद्भावना नहीं की जा सकती ।

केवल 'जाति' में शक्तिग्रह कहने वाले मीमांसकों का मत—

विशेष विवरण—'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' 'मीमांसकों का कहना है कि **'अर्थ'** में 'शब्द' की प्रवृत्ति का निमित्त केवल **'जाति'** ही है । 'गुण' 'क्रिया' और 'संज्ञा-वाचक' शब्दों का भी अर्थ 'जाति' ही है । क्योंकि परस्पर भिन्न शुक्ल (सफेद रंग की) 'वस्तु—व्यक्तियों' में सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) 'शुक्लत्व' जाति (सामान्य) ही है । जिसके प्रभाव से सर्वत्र एक ही 'शुक्ल' शब्द का प्रयोग किया जाता है और एक 'शुक्ल-गुण' का अनुभव भी सर्वत्र होता है । इसीप्रकार क्रिया-वाचक पाक आदि शब्द का अर्थ भी 'पाकत्व' जाति ही है । क्योंकि परस्पर भिन्न तण्डुलपाक, पायसपाक, गुड़पाक, आम्रपाक आदि पाक रूप वस्तु-व्यक्तियों के लिए एक ही **'पाक'** शब्द का व्यवहार किया जाता है और उसी में सबकी प्रतीति भी होती है । इसी प्रकार 'डित्थ' आदि संज्ञा शब्दों का अर्थ भी **'डित्थत्व जाति'** ही है । उसी कारण बालक, वृद्ध, शुक, सारिका आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियों में उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप होने पर भी उसे **'डित्थ'** आदि एकविध शब्द के रूप में पहचान लेते हैं । क्योंकि 'डित्थ' आदि द्रव्यों में भी **'डित्थत्व'** जाति की प्रतीति होती है । यदि इसे न माना जाय तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण परिवर्तनशील वस्तुओं में डित्थादि रूप से एकरूपता कैसे प्रतीत होती ? अत: **'डित्थादि'** संज्ञा शब्दों में 'डित्थत्व' जाति का रहना निर्विवाद सिद्ध हो जाता है ।

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'—इसमें संकेतित अर्थ के विषय में **'जात्यादिः'** और **'जातिरेव वा'** इन दो पक्षों को दिखाया गया है। उनमें **'जात्यादि'** पक्ष **'वैयाकरणों'** और उसके अनुगामी **'आलंकारिकों'** का है तथा **'जातिरेव वा'** यह दूसरा पक्ष **'मीमांसकों'** का है। 'जात्यादिः' कहने से **'जाति'** 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छारूप' वस्तु के उपाधि-भूत चार धर्मों में संकेतग्रह होता है, यह कथन 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इस **'महाभाष्य'** के आधार पर किया गया है। दूसरा पक्ष 'जातिरेव' वा **मीमांसकों** का है। अर्थात् **मीमांसक** शब्द का 'प्रवृत्ति-निमित्त' केवल **'जाति'** को ही मानते हैं। उसी के समान **'गुण' 'क्रिया'** और 'यदृच्छा' का भी **'जाति'** में ही संकेतग्रह होना कहता है। **'अनुगत-प्रतीति'** (एकाकार प्रतीति) के कारण को 'जाति' (सामान्य) कहते हैं। 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' शब्दों में भी **'जाति'** का अनुसन्धान होता है, क्योंकि सभी शुक्ल पदार्थों में 'शुक्लः, शुक्लः' यह अनुगत प्रतीति (एकाकार प्रतीति) होती है। इस एकाकार प्रतीति के होने में कारण **'शुक्लत्व'** जाति ही है। जाति (सामान्य) का लक्षण इस प्रकार है—**'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्'** अनुगत (एकाकार) प्रतीति के हेतु को सामान्य कहते हैं। जैसे—अनेक घट, पट आदि व्यक्तियों में 'घटः-घटः' या 'पटः-पटः' इस अनुवृत्तिप्रत्यय (एकाकार प्रतीति) का कारण **'घटत्व'** या **'पटत्व'** जाति ही है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में रहने वाले 'शुक्ल गुण' में अयं शुक्लः-'अयं शुक्लः'-इस प्रकार होने वाली अनुगत (एकाकार) प्रतीति का कारण **'शुक्लत्व'** जाति ही है। उसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक वस्तुओं के **'पाक'** में रहने वाली **'पाक-क्रिया'** में 'पाकः-पाकः' इस प्रकार अनुगत प्रतीति होने का कारण **'पाकत्व'** जाति ही है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित 'यदृच्छा शब्द' का प्रतिक्षण परिणाम होते रहने के कारण भिद्यमान अर्थों में भी **'जाति'** का अनुसन्धान होता है। अतः **'जाति शब्दों'** के समान ही अन्य तीनों का भी जाति में ही संकेतग्रह स्वीकार करना चाहिए अर्थात् चारों प्रकार के शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त **'जाति'** ही है। 'जाति' (सामान्य) का एक दूसरा लक्षण भी है—**'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्'** इसके अनुसार भी **'शुक्लत्व'** आदि को **'जाति'** या **'सामान्य'** कह सकते हैं। क्योंकि 'शुक्ल गुण' उन-उन पदार्थों का अपना-अपना है। **'मीमांसक'** अनेक पदार्थों में शुक्लादि गुणों को 'एक रूप नहीं मानते। वे भिन्न-भिन्न पदार्थों में शुक्लादि गुणों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। शुक्लादिगुणों को एक रूप मानना अनुभव के विरुद्ध बतलाते हैं।

यदृच्छा शब्दों मे जाति का उपपादन—

जाति के लक्षण में **'अनेकसमवेतत्व'** यह अंश भी है। **'यदृच्छा शब्द'** तो एक

हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यं गुडतण्डुला-

---

व्यक्ति का वाचक **रूढ शब्द** (संज्ञा शब्द) होता है। वह 'अनेक व्यक्तियों' का वाचक नही है। इसलिए उसमें **'अनेकसमवेतत्व'** यह अंश न रहने के कारण उसका अर्थ 'जाति' कैसे कहा जाय? क्योंकि 'जाति' तो 'अनेक–समवेत' हुआ करती है। और **'यदृच्छा शब्दों'** में स्फोट रूप शब्द भी एक है, और उससे प्रतीत होने वाला अर्थ (वाच्यार्थ) 'व्यक्ति-विशेष' भी एक है। अतः उसे जातिवाचक कैसे कहा जाय?।

इसका समाधान **मीमांसकों** ने यह दिया है कि **'डित्थ'** आदि संज्ञा शब्द का उच्चारण करने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण 'डित्थादि' संज्ञाशब्दों में प्रतिक्षण वृद्धि अथवा ह्रास रूप परिवर्तन होता रहता है। अतः 'डित्थादि' शब्दों में भेद (अनेकत्व) मानना चाहिए। भले ही वह शब्द, एक 'डित्थ' अथवा 'देवदत्त' आदि व्यक्ति रूप अर्थ का वाचक हो। किन्तु उस 'अर्थ-व्यक्ति' के वाचक 'शब्द-व्यक्ति' में अनेकत्व (भेद) माना जा सकता है। वाचक बने हुए उन अनेक शब्दों (शब्द व्यक्तियों) में अनुगत (एकाकार) प्रतीति कराने वाली **'डित्थत्व'** अथवा **'देवदत्तत्व'** जाति ही है। इसी प्रकार **'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः-ऋते चितिशक्तेः'** केवल (एकमात्र) चेतन (आत्मा) को छोड़कर संसार के समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम (परिवर्तन) होता रहता है, इस **सांख्य-सिद्धान्त** के अनुसार 'यदृच्छा (संज्ञा) शब्दों' के वाच्यार्थ रूप 'व्यक्तियों' में भी परिवर्तन होने से भेद की कल्पना कर सकते हैं। और उनमें जो **अनुगत प्रतीति** (एकाकार प्रतीति) होती है, उसका कारण **'डित्थत्व, देवदत्तत्व'** आदि **'जाति'** ही है। इसलिए **यदृच्छा शब्दों** का **संकेतग्रह जाति में ही** कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि **वैयाकरण** 'जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा' इन चारों में संकेतसंग्रह मानते हैं किन्तु **मीमांसक** उक्त चारों के बजाय 'केवल जाति' में ही उसे (संकेत-संग्रह को) कहते हैं।

ग्रन्थकार **भट्ट मम्मट ने** काव्यप्रकाश की कारिका में **'जातिरेव वा'** लिख-कर **मीमांसकों** का मत बताया है। किन्तु **ग्रन्थकार को यह मत स्वीकार नहीं** है। केवल **मीमांसकों** के मत को प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने लिखा है।

उपर्युक्त **अभिप्राय** को ही ग्रन्थकार लिखते हैं—

हिमपय इति। 'हिम' (बर्फ) 'दूध' और 'शङ्ख' आदि पदार्थों के 'शुक्ल गुणों' में जिसके कारण 'शुक्लः, शुक्लः' इस प्रकार अभिन्नताभिधान (एकाकार

दिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

तद्वान् अपोहो वाशब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

कथन) और प्रत्ययोत्पत्ति (प्रतीति की उत्पत्ति) होती है, वह **'शुक्लत्वादि' सामान्य** (जाति) है। 'गुड़' और 'तण्डुल' आदि के **पाकों में** भी इसी प्रकार **पाकत्व** आदि **सामान्य** (जाति) है। उसी प्रकार बालक, वृद्ध और शुक (तोता) आदि के द्वारा बोले गये 'डित्थादिशब्दों' में और प्रतिक्षण परिवर्तनशील 'डित्थ' आदि 'पदार्थों' में डित्थत्व आदि जाति (सामान्य) रहती है। इसलिए **समस्त शब्दों की** अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्ति का निमित्त केवल एकमात्र जाति ही है।

संकेतग्रह के सम्बन्ध में नैयायिक एवं बौद्धों का मत—

तद्वान् अपोह इति। कुछ लोगों ने **'तद्वान्'** (जातिविशिष्टव्यक्ति) और **'अपोह'** (अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व) को ही शब्द का अर्थ कहा है। **'तद्वान्'** (जातिविशिष्ट व्यक्ति) पक्ष **नैयायिकों** का है और **'अपोह'** (तद्भिन्नभिन्नत्व) पक्ष **बौद्धों** का है। ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से और प्रकृत में उसका अनुपयोग रहने से उक्त दोनों मतों का अधिक विस्तार नहीं किया है।

विशेष विवरण—संकेतग्रह के सम्बन्ध में **वैयाकरण, आलंकारिक** तथा **मीमांसकों** के मत का निरूपण अभी तक किया गया। अब **नैयायिक** और **बौद्धों** के मतों को बताया जायेगा, जो पूर्वोक्त तीनों से भिन्न है।

नैयायिक 'केवल जाति' में संकेतग्रह का होना जैसे नहीं मानते, उसी तरह वे 'केवल व्यक्ति' में भी संकेतग्रह का होना नहीं मानते। न मानने का कारण यह है कि 'केवल व्यक्ति' में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं। तथा केवल जाति में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) मानने पर 'शब्द' से केवल 'जाति' की उपस्थिति होती है, 'व्यक्ति का भान' शब्द से नहीं होता है। यदि यह कहें कि 'जाति' में शक्ति मानकर **'आक्षेप'** से 'व्यक्ति' का भान हो जायेगा, किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो पायेगा। 'शाब्दी आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' इस नियम के अनुसार शब्दशक्ति से प्राप्त हुए अर्थ का ही शाब्द-बोध में अन्वय होता है। आक्षेप से प्राप्त हुए अर्थ का शाब्द-बोध में अन्वय नहीं होता। अतः **नैयायिकों** का कहना है कि 'केवल जाति' या 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह न मानकर **'जाति-विशिष्ट व्यक्ति'** में शक्तिग्रह को मानना चाहिये।

नैयायिकों के इस मत को ग्रन्थकार ने 'तद्वान् शब्दार्थः' कहकर बताया है। 'तद्वान्' का अर्थ 'जातिमान्' है। एवञ्च नैयायिकों के मत से जाति-विशिष्ट-व्यक्ति में संकेतग्रह का होना माना जाता है।

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' माना जाता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्तिः' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार अनेक पदार्थों में एकाकार प्रतीति जो होती है, उसका कारण उन पदार्थों पर रहने वाला 'सामान्य' ही है। यह 'सामान्य' नित्य पदार्थ है, और अनेक में समवेत भी है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह सामान्य का लक्षण किया जाता है। अतः 'सामान्यवादी' दार्शनिकों का 'सामान्य' (जाति) 'नित्य' है। किन्तु बौद्धों का सिद्धान्त 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं क्षणिकं' इस प्रकार 'क्षणभङ्गवाद' का है। इस कारण बौद्ध 'सामान्यरूप नित्य पदार्थ' को नहीं मानते। सामान्य-वादियों के यहाँ अनेक पदार्थों में अनुगत प्रतीति कराने में 'सामान्य' जैसे कारण होता है, उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ सामान्य के स्थान पर 'अनुगत प्रतीति' कराने में कारण 'अपोह' होता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' है। 'अनेक घट-व्यक्तियों' में 'घटः, घटः' यह जो 'अनुगत प्रतीति' होती है, उसका कारण अघटव्यावृत्ति अथवा घटभिन्न-भिन्नत्व है। प्रत्येक घट 'अघट' से अर्थात् घटभिन्न जो सम्पूर्ण जगत्, उससे भिन्न है (व्यावृत्त है)। इस कारण 'उनमें' घटः-घटः यह एक-सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'शब्द' का अर्थ 'अपोह' ही माना गया है। उस 'अपोह' में 'संकेतग्रह' स्वीकार करना चाहिए। इस बौद्ध-सिद्धान्त को मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थः' कहकर बताया है।

मम्मटभट्ट का अपना मत—

संकेतग्रह के विषय में ग्रन्थकार ने चार मतों को प्रदर्शित किया है—पहला मत भाष्यकार का, दूसरे मत को 'इत्यन्ये', तीसरे और चौथे मत को 'कैश्चित्' शब्द से कहा है। व्याकरणशास्त्र का अनुगामी साहित्यशास्त्र है, इस बात को ग्रन्थकार ने 'बुधैर्वैयाकरणैः' कहकर सूचित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि साहित्यशास्त्र भी वैयाकरणों के अनुसार 'जात्यादि चारों' में संकेतग्रह का होना मानता है। भट्टमम्मट ने अपने एक अन्य 'शब्द-व्यापार-विचार' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि 'तत्र-मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः'—अभिधाशक्ति से प्रतिपादित मुख्य अर्थ, 'जाति' आदि के भेद से चार प्रकार का समझना चाहिए।

अभी तक 'वाच्य', 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' ये तीन भेद 'अर्थ' के बताये गये हैं, उनमें से 'वाच्य-अर्थ' को 'मुख्यार्थ' के नाम से भी कहा जाता है। इस 'वाच्य-अर्थ'

(अभिधालक्षणम्)

(सू०११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

को 'मुख्य' कहने का कारण यह है कि **'मुखमिव मुख्यः'**—शरीर के समस्त अवयवों में सबसे प्रधान 'मुख' होता है और वही सबसे पहले दृष्टिगोचर होता है। उसी तरह 'वाच्य', 'लक्ष्य', 'व्यङ्ग्य' इन तीनों अर्थों में से प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ **'वाच्यार्थ'** ही है, वह 'मुख' के तुल्य होने से उसे **मुख्यार्थ** कहा जाता है। उस (वाच्यार्थ या मुख्यार्थ) को बताने वाला जो **शब्द का व्यापार** है उसे **अभिधाव्यापार** कहते हैं।

ग्रंथकार ने **'मुख्यार्थबाधे तद्योगे'** तथा **'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः'** इत्यादि अनेक स्थलों पर 'वाच्य-अर्थ' तथा 'वाचक-शब्द' के लिए 'मुख्यार्थ' तथा 'मुख्य-शब्द' का प्रयोग किया है। अतः यहाँ 'वाच्यार्थ' को ही 'मुख्यार्थ' कहा गया है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कह रहे हैं।

(सू० ११) वह साक्षात् संकेतित अर्थ, **'मुख्यार्थ'** कहलाता है और उसका बोधन कराने में **'शब्द'** का जो व्यापार होता है, उसे **'अभिधाव्यापार'** कहते हैं। इस संकेतितार्थ के बोधजनक व्यापार को **'शक्ति'** भी कहते हैं॥ ८॥

स इतीति । सूत्र में प्रयुक्त **'सः'** पद से **'साक्षात्संकेतित'** अर्थ का ग्रहण किया गया है। और **'अस्य'** पद से **'शब्दस्य'** यानी 'शब्द' का ग्रहण किया है। अतः 'अस्य' पद से मुख्यार्थ के परामर्श का भ्रम नहीं करना चाहिये।

विशेष विवरण—सूत्रकार को **'स मुख्योऽर्थः'** कहने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि किसी को यह भ्रम न रहे कि उक्त त्रिविध अर्थ के अतिरिक्त मुख्यत्वेन ('मुख्य' नाम से) प्रसिद्ध 'मुख्यार्थ' को क्यों नहीं बताया? उस भ्रम को दूर करने के लिए अवधारणगर्भित 'सः' पद का प्रयोग किया है। उससे निश्चित हो जाता है कि 'सः' वह यानी साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यत्वेन प्रसिद्ध है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ नहीं है। 'साक्षात्संकेतित अर्थ' ही प्रथमतः प्रतीयमान होता है, उसका प्रथमतः प्रतीयमान होना ही उसकी 'मुख्यता' है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दव्यापार से जो अर्थ अव्यवधानेन (बिना किसी व्यवधान के) ज्ञात होता है, वही 'मुख्य अर्थ' माना जाता है। जैसे शरीर के हस्तादि समस्त अवयवों से पूर्व 'मुख' दिखाई देता है, वैसे ही 'लक्ष्य, व्यङ्ग्य, तात्पर्यादि' समस्त अर्थों के प्रतीयमान होने से पूर्व इस 'साक्षात्संकेतित अर्थ' की प्रतीति होती है। इस कारण 'मुखमिव मुख्यः'

(लक्षणालक्षणम्)

(सू० १२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

निरुक्ति के बलपर उसे 'मुख्य' कहा जाता है। 'मुख्यः' मे 'शाखादिभ्यो यः'– (पा. सू. ५।३।१०३) सूत्र से 'य' प्रत्यय किया गया है।

उसी प्रकार 'मुख्यार्थ' को विषय करनेवाले 'शब्द' को भी 'मुख्य' बताया गया है। अत एव आगे चलकर ग्रंथकार ने अपनी वृत्ति में **'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः'** कहते हुए 'शब्द' को भी 'मुख्यशब्द' से कहा है।

किसी व्याख्याकार ने सू० ११ वें की अवतरणिका देते हुए जो कहा है कि 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' इस अग्रिम सूत्र के उपयुक्त होने से 'वाच्य' का नामान्तर 'स मुख्योऽर्थः' सूत्र से किया जा रहा है। किन्तु उस व्याख्याकार का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि अग्रिम सूत्र 'मुख्यार्थबाधे' के बजाय 'वाच्यार्थबाधे' भी कहा जा सकता था। इस प्रकार कहने से भी अभीष्ट सूत्रार्थ की उपपत्ति हो जाती है। अतः उसके 'संज्ञान्तर' (नामान्तर) करने में गौरव होगा, इसलिए इस प्रकार कहना अनुचित है।

'स मुख्योऽर्थः' से साक्षात्संकेतित जो अर्थ यानी वाच्यार्थ, उसी को 'मुख्यार्थ' कहकर साक्षात्संकेतितार्थ-विषयक यानी साक्षात्संकेतितार्थ-बोधक जो **'शब्द'** उसी को ग्यारहवें सूत्र में 'अस्य' पद से बताया गया है। तब अर्थ यह हुआ कि साक्षात्संकेतितार्थ-बोधजनक व्यापार (वृत्ति) को 'अभिधा' कहते हैं। उस **अभिधा का ही पर्यायशब्द 'शक्ति' है।** और **शक्तिग्राहकसमय** को 'संकेत' कहते हैं। उस समय (संकेत) का आकार **'अस्मात् अयमर्थो बोद्धव्यः'** बताया जाता है। **'शक्ति'** और **'संकेत' दोनों में यही अन्तर है।** अत एव **'नाभिधा समयाभावात्'** इस चौबीसवें सूत्र में दोनों (अभिधा और समय) का निर्देश किया गया है॥ ८॥

लक्षणानिरूपण—

मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) की प्रतीति 'अभिधा' शक्ति से होती है। वही वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) को सबसे पहले बताती है। उसी की सहायता से 'शब्द' अपने 'वाच्य-अर्थ' को बता पाता है। इसीलिए उसे (शब्द को) 'वाचक' कहा गया है।

अब उद्देशक्रम के अनुसार 'वाचकशब्द' निरूपण करने के पश्चात् 'लाक्षणिक' शब्द का निरूपण करना उचित है। किन्तु 'लाक्षणिकशब्द' का निरूपण, लक्षणानिरूपण के अधीन होने से ग्रंथकार 'लक्षणा' का निरूपण पहले कर रहे हैं—

(सू० १२) (१) मुख्यार्थ का बाध (अन्वय की अनुपपत्ति अथवा तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, (२) उसके (मुख्यार्थ के) साथ (लक्ष्यार्थ—अन्य अर्थ का) सम्बन्ध रहने पर, (३) रूढि से (प्रसिद्धि से) अथवा प्रयोजनविशेष से

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह (मुख्यरूप से 'अर्थ' में रहने के कारण) शब्द का आरोपित व्यापार **'लक्षणा' कहलाता है ॥ ९ ॥**

विशेष विवरण—निर्दिष्ट किये गये बारहवें सूत्र में **'लक्ष्यते यत् सा'** में प्रयुक्त 'यत्' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। एक व्याख्या के अनुसार **'यदिति' 'यया' इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्'** अर्थात् 'यत्' पद 'यया' के अर्थ में करणविभक्ति का लोप करके निष्पन्न हुआ तृतीयांत अव्ययपद है। अतः तदनुसार **'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा'**—जिस शब्द-शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है वह **'लक्षणा'** कही जाती है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है, **'यत् लक्ष्यते'** अर्थात् **'यत् प्रतिपाद्यते'**—जो प्रतिपादित होता है, वह **'लक्षणा'** है। इन दोनों व्याख्याओं में, विशेषतः दूसरी व्याख्या में 'लक्ष्यते' में 'णिच्' प्रत्यय लगाकर आख्यातान्त रूप बनाया गया है। 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार है। **'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते'** का अर्थ यह हुआ कि **'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा'**। किन्तु इस दूसरी व्याख्या के क्लिष्ट हो जाने से 'यत्' पद को 'यया' के अर्थ में लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय समझना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

कुछ व्याख्याकारों ने **'यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा'** ऐसी भी व्याख्या की है। किन्तु यह व्याख्या अत्यन्त असंगत है। क्योंकि **'प्रतिपत्ति'** अर्थात् ज्ञान **'लक्षणा' नहीं है,** अपितु शब्द की शक्ति **'लक्षणा' है।**

महामीमांसक श्रीकुमारिलभट्टपाद ने अपने तंत्रवार्तिक में **'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते'** (तं० वा० १।४।२३) कहा है। किन्तु मूल कारिका के 'प्रतीति' पाठ के आधार पर कतिपय व्याख्याकारों ने यहाँ भी **'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा'** ऐसी व्याख्या कर डाली है। पर जिस ग्रन्थ की ऐसी व्याख्या की है, उस ग्रन्थकार मम्मट का यह सिद्धान्त नहीं है। अतः लक्षणा के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश की व्याख्या करने चले व्याख्याकारों को मूल ग्रन्थकार के सिद्धान्त को बिना जाने व्याख्या करना उचित नहीं है। **काव्यप्रकाशकार तो 'शब्दव्यापार' को 'लक्षणा' मानते हैं।** अतः 'यया' के अर्थ में ही 'यत्' अव्यय का प्रयोग है। किञ्च वहाँ भी 'प्रतीति' का अर्थ ज्ञान नहीं लिया गया है, अपितु **'प्रतीति का करणभूत व्यापार'** अर्थ किया गया है। 'करण' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'प्रतीयते अर्थः अनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह किया जाता है।

मुख्यार्थबाध के दो रूप—

(१) बारहवें सूत्र में 'लक्षणा' का मुख्य कारण (हेतु) **'मुख्यार्थबाध'** बताया है। उसकी भी व्याख्या दो प्रकार से की गई है। अधिकतर व्याख्याकार **'मुख्यार्थबाध'** का अर्थ **'अन्वयानुपपत्ति'** करते हैं। जैसे—'गंगायां घोषः' उदाहरण में 'गंगा' का अर्थ 'जलप्रवाह' है, और 'घोष' का अर्थ 'आभीरपल्ली' यानी ग्वालों की बस्ती है। तब गंगा के जल-प्रवाह पर ग्वालों की बस्ती रह नहीं सकती। अतः अन्वय के अनुपपन्न होने से 'गंगा' पद लक्षणा से 'तट' रूप अर्थ को बताता है।

(२) किन्तु **नागेशभट्ट** ने 'परमलघुमञ्जूषा' में **'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज** बताया है। उसमें हेतु यह प्रदर्शित किया है कि यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज स्वीकार करेंगे तो **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** इस प्रयोग में लक्षणा नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कहने वाले का तात्पर्य केवल कौवे (काक) से ही दही को बचाने में न होकर कुत्ते, बिल्ली आदि जितने भी दध्युपघातक प्राणी हों, उन सबसे दही की रक्षा करने में है। **इस तात्पर्य की पूर्ति 'काक' पद की दध्युपघातक अर्थ में लक्षणा करने से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।** यदि 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज न मानें तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य-प्रयोग में 'अन्वयानुपपत्ति' तो नहीं है, क्योंकि सभी पदों का अन्वय उपपन्न हो जाता है। अतः यदि **'अन्वयानुपपत्ति'** को ही **लक्षणा का बीज कहें तो यहाँ लक्षणा होगी ही नहीं।** इसी कारण नागेशभट्ट ने 'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज बताया है। तब अन्वय में किसी बाधा के न रहने पर भी 'काक' पद का 'मुख्यार्थ' मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति नहीं हो पाती। इसलिए 'लक्षणा' करना अनिवार्य हो जाता है। **अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये**—यह नागेशभट्ट का कथन है।

एवं च 'अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा' अर्थात् **'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा'**—यह 'लक्षणा' का लक्षण है। नवम कारिका में निर्दिष्ट लक्षण के साथ पढ़े गये 'आरोपिता' और 'क्रिया' दोनों पद लक्षण-घटक नहीं हैं। वे लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए पढ़े गये हैं। वह व्यापारस्वरूप लक्षणा, मुख्यार्थ से व्यवहित लक्ष्यार्थ को विषय करने के कारण 'शब्द' में कल्पित है, यानी आरोपित है। **साक्षात्संबन्ध से तो** वह 'मुख्यार्थ'-निष्ठ है, और **परम्परासम्बन्ध से 'शब्द'-निष्ठ है।** अभिप्राय यह है कि शब्द अपने 'मुख्यार्थ' के द्वारा **'अमुख्यार्थ' का प्रतिपादन करता है।** 'वह प्रतिपादन' शब्द के आरोपित (काल्पनिक) व्यापार से सम्बन्धित है। इस व्यापार को शब्द का आरोपित व्यापार इस-

कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोषः इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्यो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

लिए कहना पड़ता है कि वस्तुतः वह 'मुख्यार्थ' का व्यापार है। लेकिन 'मुख्यार्थ' अपने आपमें अनुपपन्न (अविवक्षित) होने से अपने से सम्बन्धित 'अमुख्य अर्थ' (लक्ष्य अर्थ) का बोधन करता है। इस प्रकार शब्द के अमुख्यार्थबोधक इस व्यापार को अपने और शब्द के मध्य में 'मुख्यार्थ' का व्यवधान सहना पड़ता है। 'अभिधा व्यापार' तो शब्द का अव्यवहित (साक्षात्-निरन्तरार्थनिष्ठ) अर्थविषयक व्यापार है, और 'लक्षणाव्यापार' व्यवहित (परम्परया-सान्तरार्थनिष्ठ) अर्थ विषयक व्यापार है। 'सान्तरार्थनिष्ठ' यह व्यापार का विशेषण है। 'अन्तरं व्यवधानं तेन सह वर्तते इति सान्तरः' (मुख्यार्थबाधाद्युपस्थित्या) 'व्यवहितो योऽर्थः, लक्ष्यरूपः, तन्निष्ठः तद्विषयकः तद्बोधक इति यावत् ।'

इस प्रकार लक्षणा का लक्षण और स्वरूप बताकर ग्रन्थकार उसे उदाहरण के द्वारा समझा रहे हैं।

लक्षणा के दो उदाहरण—

कर्मणीति। 'कर्मणि कुशलः' (चित्रकर्म आदि किसी विशेष) काम में कुशल हैं—इस स्थल में 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों (दर्भों) के ग्रहण करने का कोई सम्बन्ध न रहने से 'मुख्यार्थ का बाध' होता है। और 'गंगायां घोषः' इस स्थल में 'गंगा' (पद के भगीरथ-रथ-खातावच्छिन्न-जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ) में 'घोष' (ग्वालों की बस्ती) आदि का आधारत्व (अधिकरणत्व) सम्भव न हो पाने से मुख्यार्थ का बाध होता है। तब (पहले उदाहरण में) विवेचकत्वादि और (दूसरे उदाहरण में) सामीप्य सम्बन्ध रहने पर, (पहले उदाहरण में 'कुशल' पद के 'दक्ष=चतुर' अर्थ में रूढ=प्रसिद्ध होने के कारण) रूढ़िसे=प्रसिद्धि से, और (दूसरे उदाहरण में) 'गंगातटे घोषः' इत्यादि (मुख्य शब्द) के प्रयोग से जिन (शैत्य-पावनत्वादि धर्मों) की उस रूप में प्रतीति नहीं है, उन शैत्य पावनत्वादि धर्मों के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन के लिए मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है; वह शब्द का व्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' कहा जाता है।

विशेष विवरण—'गंगायां घोषः' यह उदाहरण 'प्रयोजनवती लक्षणा' का है। जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द को तथा 'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः' के सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र से लिया है, उसी तरह 'गंगायां घोष:' उदाहरण को भी व्याकरणशास्त्र से ही लिया गया है। **महाभाष्यकार ने** 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४-१-४७) सूत्र के **महाभाष्य में 'गंगायां घोषः' 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो उदाहरण लक्षणा के दिये हैं।** उसी उदाहरण को यहाँ दिखाया गया है, इससे भी साहित्यशास्त्र के व्याकरणशास्त्रानुगामी होने का प्रमाण उपलब्ध हो जाता है।

शुद्धा लक्षणा के दो भेद—

(१) श्रीमम्मटभट्ट ने **'उपादान लक्षणा'** और **'लक्षण-लक्षणा'** नाम से 'लक्षणा' के दो भेद किये हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है, और स्वयं भी बना रहता है, उसे उपादानलक्षणा कहते हैं। क्योंकि उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान (ग्रहण) रहता है। अतः 'उपादानलक्षणा' यह सार्थक संज्ञा है।

जैसे उदाहरण के रूप में **'कुंताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति'** दिये जा सकते हैं। 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द का अर्थ क्रमशः भाला और लाठी, अचेतन (जड़) पदार्थ हैं। इन जड़ पदार्थों का प्रवेशक्रिया में अन्वय नहीं बन पा रहा है। इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। तब 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द अपने अन्वय सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद का या 'पदार्थ' का आक्षेप कर लेते हैं। और 'कुन्त' तथा 'यष्टि' शब्द 'कुन्तधारी' और 'यष्टिधारी' पुरुष के बोधक हो जाते हैं, जिससे उन शब्दों की प्रवेशक्रियान्वयानुपपत्ति दूर हो जाती है, तब 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष प्रवेश कर रहे हैं'—यह सम्पन्न हो जाता है। **यहाँ कुन्तधारी पुरुषों की बहुलता का सूचन करना ही लक्षणा का प्रयोजन है। अतः यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण** कहा जाता है।

(२) इसके ठीक विपरीत जहाँ वाक्यगत कोई शब्द, अपने साथ प्रयुक्त हुए दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने **मुख्यार्थ का परित्याग कर दूसरे अमुख्यार्थ का बोधक होता है, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है।** जैसे—'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में प्रयुक्त किये गये 'घोष' पद का आधेयत्वरूप से अन्वय कराने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थ का त्याग कर 'सामीप्य सम्बन्ध' से 'तट' रूप अन्य अर्थ को बोधित करता है, जिससे 'शीतलत्व-पावनत्व' रूप प्रयोजन की प्रतीति होती है। इसलिए **यह प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा का उदाहरण है।**

(उपादानलक्षणा—लक्षणलक्षणा च)

(सू० १३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यादौ कुन्तादिभिः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा ।

शुद्धा लक्षणा के इन्हीं दो भेदों को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

(सू० १३) वाक्य में प्रयुक्त हुए किसी शब्द के द्वारा अपने-अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरे की अन्वयसिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग (समर्पण) करना 'लक्षण' कहलाता है । इस प्रकार 'शुद्धालक्षणा के ही ये दो प्रकार' बताये गये हैं । (ये भेद गौणी के नहीं हैं) ॥१०॥

उपादान लक्षणा के दो उदाहरण—

कुन्ता इति । 'कुन्ताः प्रविशन्ति' भाले प्रवेश कर रहे हैं, और 'यष्टयः प्रविशन्ति' लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं—ये दो उदाहरण 'उपादान लक्षणा' के हैं। इन वाक्यों में 'कुन्त' आदि शब्दों के द्वारा अपने अचेतन रूप से प्रवेश क्रिया में अन्वयसिध्यर्थ 'स्व-संयुक्त पुरुषों' का (कुन्तधारी पुरुषों का) आक्षेप कराया जाता है । एवं च 'स्वार्थ' को बिना त्यागे 'अन्य अर्थ' का ग्रहण करने से यह उपादान लक्षणा कहलाती है ।

मुकुलभट्ट की उपादान लक्षणा के दो उदाहरण—

विशेष विवरण—उपादान लक्षणा के उदाहरण बताने के बाद लक्षणलक्षणा का उदाहरण बताना चाहिये, परन्तु उसे न बताकर मम्मटभट्ट ने 'मुकुलभट्ट' तथा 'मण्डन मिश्रादि' मीमांसकों के द्वारा प्रदर्शित किये गये उपादान लक्षणा के दो उदाहरणों का खण्डन किया है ।

मुकुलभट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रंथ में 'अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना' इन तीनों शक्तियों के स्थान पर केवल अभिधाशक्ति को ही माना है । 'जात्यादि चार प्रकार के अर्थों' की बोधक 'चार प्रकार की अभिधाशक्ति' तथा 'लक्षणा' के छह भेदों का भी 'अभिधा में ही अन्तर्भाव करके दस प्रकार की अभिधाशक्ति उन्होंने बताई है । व्यञ्जना के सब भेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के छह भेदों में ही उन्होंने कर लिया है । और अपना सिद्धान्त घोषित कर दिया है कि दस प्रकार की अभिधाशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है । सन्दर्भ का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—

'इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्'

अपने इस ग्रन्थ में **'गौरनुबन्ध्यः'** तथा **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** ये दो उदाहरण उन्होंने **उपादान लक्षणा के** बताये हैं, जैसे—आलंकारिक आचार्य 'वैयाकरणों' के अनुयायी हैं, इसीलिए वे अन्य विषयों के साथ लक्षणा के उदाहरणों को भी 'व्याकरण शास्त्र' से लेते हैं। **'गंगायां घोषः, कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति'** इत्यादि सब उदाहरणों को **काव्यप्रकाशकार** ने 'महाभाष्य' से ही लिया है। उसी तरह **मुकुलभट्ट** 'मीमांसकों' के अनुयायी हैं, इन्होंने भी **'मीमांसा-शास्त्र'** से उदाहरणों का संग्रह किया है। **'गौरनुबन्ध्यः'** और **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** इन दोनों उदाहरणों का संग्रह 'मुकुलभट्ट' ने **मीमांसाग्रन्थों से ही** किया है।

मुकुलभट्ट के द्वारा उपादानलक्षणा का निरूपण—

'गौरनुबन्ध्यः' यह वैदिक विधिवाक्य है। इसमें प्रयुक्त 'गो' शब्द का अर्थ क्या है? इस विचार के समय समस्या यह उपस्थित हुई कि **'गो'** शब्द का मुख्यार्थ तो **'गोत्व'** जाति है, क्योंकि **मीमांसकों** का सिद्धांत **'जातिवाद'** का है। तब **'जाति'** में अनुबन्धन=आलंभन क्रिया कैसे संभव हो सकेगी? अतः **'मुख्यार्थ का बाध'** हो जाता है, और **'गो'** शब्द 'अनुबन्धन'=आलम्भन क्रिया के साथ अपने मुख्यार्थ (गोत्वजाति) की **अन्वयसिद्धि के** लिए **आक्षेप** (लक्षणा) से **'गोव्यक्ति' का बोध** करा देता है। अतः यहाँ **पद में 'उपादानलक्षणा'** हुई है।

मीमांसक विद्वान् 'अर्थवादवाक्यों' को 'प्राशस्त्य' का लक्षक मानकर **वाक्य में भी लक्षणा मानते हैं।** इसलिए **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** देवदत्त मोटा हो रहा है, परन्तु दिन में नहीं खाता है—इस लौकिक वाक्य-प्रयोग में वाक्य-लक्षणा का उदाहरण मीमांसकों ने दिया है। इस उदाहरण में **दिन में न खाने वाला देवदत्त मोटा हो** यह बात साधारणतः **संभव नहीं है।** अतः **'मुख्यार्थ'** का **बाध** हो जाता है, तब यह वाक्य अपने **'अन्वय'** की सिद्धि के लिए **'रात्रिभोजन का बोध'** **आक्षेप से (लक्षणा से)** करा देता है। अतः यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण है।

मुकुलभट्ट ने 'उपादान-लक्षणा का लक्षण' और 'उसका समन्वय' करते हुए लिखा है—

'स्वसिध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।
उपादानं लक्षणन्तु तद्विपर्यासतो मतम्॥

यत्र स्वसिध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते ।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।'

इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम् । व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियता-

---

'गौरनुबन्ध्यः' इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः ।

यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति ।

अत्र 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति। सर्वथा स्वसिध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते ।

इस प्रकार मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के जो दो उदाहरण दिये हैं उनका क्रम से निरसन करने के लिए प्रथमतः **मीमांसकमत का अनुवाद** कर देते हैं ।

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण का अनुवाद—

गौरिति । **'गौरनुबन्ध्यः'** इस वैदिक वाक्य के द्वारा बताया गया 'अनुबन्धन' मेरा ('गो' शब्द के मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति का) कैसे सम्भव हो सकेगा ? उसके उपपादनार्थ **'गो'** शब्द (पद) अपने मुख्यार्थरूप **गोत्व 'जाति'** से अमुख्यार्थभूत **गो 'व्यक्ति'** का आक्षेप करता है। क्योंकि **'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'** 'गोत्व' रूपी **विशेषण** का बोध कराने में क्षीण हुई 'अभिधाशक्ति' किसी भी प्रकार से 'गो' व्यक्तिरूपी **विशेष्य** का बोध नहीं करा सकती। अतः इस **विशेष्यभूत** 'गो' व्यक्ति का बोध **'उपादान-लक्षणा'** से ही हो सकता है।

इस प्रकार मुकुलभट्ट के मन्तव्य का अनुवाद करके अब ग्रन्थकार उसका खण्डन कर रहे हैं—**'इत्युपादानलक्षणे'**ति ।

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' का खण्डन—

इत्युपादानलक्षणा त्विति । मुकुलभट्ट को **'गौरनुबन्ध्यः'** यह वाक्य 'उपादान-लक्षणा' के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये। क्योंकि यहाँ **'लक्षणा'** के प्रयोजक दो मुख्य हेतुओं (रूढि तथा प्रयोजन) में से कोई भी नहीं है। **न विशेष 'प्रयोजन'** **ही है और न रूढि' ही है।** किन्तु जाति के बिना कभी भी व्यक्ति रह नहीं

मित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

सकता, अर्थात् 'अविनाभाव' के कारण 'जाति' से 'व्यक्ति' का आक्षेप (अनुमान) कर लिया जाता है। अतः यहाँ 'लक्षणा' है ही नहीं। तब लक्षणा का उदाहरण इसे कैसे कह सकते हैं?

जैसे कोई कहे 'क्रियताम्' करो, तब समझना होगा कि कोई भी 'क्रिया' कर्ता के बिना नहीं होती है, इसलिए ऐसी जगह 'कृतिः (यत्नः) साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमान से 'कर्ता' (त्वया) की उपलब्धि कर ली जाती है। तथा 'कुरु' करो—यहाँ पर 'कृतिः सविषया कृतित्वात्' इस अनुमान से ही 'पाकम्' आदि 'कर्म' का लाभ हो जाता है। तथा 'प्रविश' प्रवेश करो, और 'पिण्डीम्' गुड़ की भेली, इन दो शब्दों का प्रयोग करने पर 'अविनाभाव' से क्रमशः प्रविश=प्रवेश करो 'घर में' और पिण्डीं=गुड़ की भेली को 'खाओ' इत्यादि की प्रतीति होती है। इनमें से किसी भी स्थल में लक्षणा नहीं की जाती। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' में भी लक्षणा नहीं है। इसलिए 'उपादान-लक्षणा' के उदाहरण में 'गौरनुबन्ध्यः' को नहीं रखना चाहिये।

विशेष विवरण—'क्रियताम्' 'कुरु' 'प्रविश' 'पिण्डीम्' ये सब अपूर्ण वाक्यों के प्रयोग हैं। इनकी पूर्ति करने के लिए अपेक्षित 'अन्य अंशों' को 'अध्याहार' या 'आक्षेप' से लिया जाता है। 'अश्रुतपदानामनुसन्धानमध्याहारः' अश्रुत पदों के अनुसन्धान को अध्याहार कहते हैं। अतः ये दोनों 'शब्दाध्याहार' के उदाहरण हैं। मम्मटभट्ट ने इन उदाहरणों को इसलिए यहाँ पर प्रदर्शित किया है कि जैसे 'कर्त्ता' या 'कर्म' के बिना 'क्रिया' का अन्वय सम्भव नहीं है, किन्तु 'अविनाभाव' के द्वारा उन 'शब्दों' का या 'अर्थों' का अध्याहार या आक्षेप कर लिया जाता है, उसी तरह 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणों में भी 'व्यक्ति' के बिना 'जाति' नहीं रह सकती, इसलिए 'अविनाभाव' के द्वारा 'जाति' से 'व्यक्ति' का 'अध्याहार' या 'आक्षेप' किया जाता है। 'व्यक्ति' का बोध 'लक्षणा' से नहीं किया जायेगा। अतः 'उपादानलक्षणा' के उदाहरण में इसे प्रदर्शित करना उचित नहीं है।

मुकुलभट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन—

पीन इति। मुकुलभट्ट ने उसी प्रकार 'उपादानलक्षणा' का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' दिया है। प्रथम दिये गये 'उदाहरण' से इस उदाहरण में अन्तर यह है कि यह 'पदलक्षणा' के बजाय 'वाक्यलक्षणा' का

उदाहरण है। मीमांसक विद्वान् 'अर्थवादवाक्यों' की 'प्राशस्त्य' में लक्षणा मानकर 'वाक्य' में भी लक्षणा मानते हैं। 'गौरनुबन्ध्य:' के 'गोपद' में लक्षणा थी किन्तु यहाँ 'सम्पूर्ण वाक्य' में लक्षणा है। यह दिखाने के लिए ही यह दूसरा उदाहरण दिया गया है।

इस उदाहरण में 'लक्षणा' का खण्डन करते हुए मम्मटभट्ट ने 'रात्रिभोजन' को 'श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति' का विषय बताया है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'रात्रिभोजन' का 'बोध' लक्षणा से न होकर 'अर्थापत्ति' प्रमाण से होता है। इसलिए यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण नहीं है।

'अर्थापत्ति' लक्षणारूप नहीं है--

विशेष विवरण—मीमांसक विद्वान् 'प्रत्यक्ष, अनुमान' आदि प्रमाणों के समान 'अर्थापत्ति' को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उन्होंने 'अर्थापत्ति' का लक्षण 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः' किया है। किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ पर 'देवदत्त मोटा है'—यह 'अनुपपद्यमान अर्थ' है, और 'रात्रि भोजन' उसका 'उपपादक अर्थ' है। क्योंकि देवदत्त यदि 'दिन' में न खाय और 'रात' में भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता। दिन में न खाने वाला व्यक्ति 'रात्रि भोजन' के बिना मोटा (पीन) हो ही नहीं सकता। इसलिए यहाँ पर अनुपपद्यमान अर्थ (दिवा अभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व) को देखकर उसके उपपादक अर्थ 'रात्रि भोजन' की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा कर ली जाती है।

'अर्थापत्ति' की द्विविधता--

यह 'अर्थापत्ति' दो प्रकार की होती है—एक 'दृष्टार्थापत्ति' और दूसरी 'श्रुतार्थापत्ति'। जहाँ 'अनुपपद्यमान अर्थ' को स्वयं अपने नेत्रों से देखकर उसके 'उपपादक अर्थ' की कल्पना की जाती है, उसे 'दृष्टार्थापत्ति' कहते हैं और जहाँ किसी के मुख से 'अनुपपद्यमान अर्थ' को सुनकर उसके 'उपपादक' अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह उदाहरण दोनों 'अर्थापत्तियों' का हो सकता है।

मम्मटभट्ट ने 'दृष्टार्थापत्ति' शब्द का प्रयोग न कर 'अर्थार्थापत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रयोग 'अर्थाध्याहार' की दृष्टि से किया गया है। 'श्रुतार्थापत्ति' पक्ष में रात्रिभोजन का ज्ञान 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द के अध्याहार से होता है;

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

और 'अर्थार्थापत्ति' पक्ष में 'शब्द' का 'अध्याहार' न करके साक्षात् 'रात्रि-भोजन' रूप अर्थ का आक्षेप से ज्ञान होता है। इस प्रकार भट्ट और गुरु दोनों मीमांसकों के सिद्धान्त की दृष्टि से ही मम्मटभट्ट ने 'श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा' इस प्रकार 'श्रुतार्थापत्ति' तथा 'अर्थार्थापत्ति' शब्दों का प्रयोग किया है।

'देवदत्त मोटा हो रहा है, परन्तु वह दिन में नहीं खाता है' यहाँ पर 'रात्रिभोजन' की उपस्थिति लक्षणा से नहीं हो रही है, क्योंकि उसकी उपस्थिति तो श्रुतार्थापत्ति या अर्थार्थापत्ति से ही हो जाती है।

लक्षण लक्षणा का उदाहरण--

मुकुलभट्ट के द्वारा उपस्थित किये गये उपादानलक्षणा के दोनों उदाहरणों का खण्डन हो चुका। ग्रन्थकार ने अपने मत के अनुसार उपादानलक्षणा के 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि उदाहरण बता दिये। अब क्रमप्राप्त **'लक्षण लक्षणा' का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः'** दे रहे हैं। **मुकुलभट्ट** ने भी लक्षण-लक्षणा का यही उदाहरण अपने ग्रन्थ में दिया है।

गंगायामिति । 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में प्रयुक्त **'घोष' के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए 'गङ्गा' शब्द** अपने 'जलप्रवाह' रूप स्वार्थ **(मुख्यार्थ) का परित्याग कर देता है।** इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में **'लक्षणेन स्वार्थसमर्पणेन उपलक्षिता'** लक्षणरूप स्वार्थसमर्पण से उपलक्षित होने से यह **'लक्षणा' 'लक्षण-लक्षणा'** कहलाती है।

'गङ्गायां घोषः' के उदाहरण पर विचारात्मक विश्लेषण—

विशेष विवरण—इस 'लक्षण-लक्षणा' को ही **वेदान्ती लोग 'जहत्स्वार्था लक्षणा'** कहते हैं। उक्त दोनों ही नामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस लक्षणा में 'लक्षक पद' दूसरे पदों के अन्वय सिद्धि के लिए **अपने मुख्यार्थ का** त्याग कर देता है। इस 'जहत्स्वार्था' या 'लक्षणलक्षणा' के अनेक उदाहरणों में 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है।

मुकुलभट्टने भी इसी उदाहरण को दिखाया है। और उसमें 'लक्षणलक्षणा' के लक्षण का समन्वय कर दिखाया है। वे कहते हैं कि **'गंगा' शब्द से जो 'तट' अर्थ की उपस्थिति** होती है, वह केवल **'तटत्वेन' तटरूप से होती है। गंगा से सम्बद्ध तट के रूप में नहीं।** गंगा शब्द के प्रयोग से केवल इतनी विशेषता हो

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

जाती है कि यमुना नदी का तट उपस्थित नहीं होता है । मुकुलभट्ट का यह सिद्धांत 'ताटस्थ्य' सिद्धांत कहलाता है। काव्यप्रकाशकार इस सिद्धांत का खण्डन आगे करेंगे ।

न्यायशास्त्र में 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण—

परम्परा सम्बन्ध से की जाने वाली 'लक्षणा' का 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं। उसका उदाहरण 'द्विरेफ:' दिया गया है। 'द्विरेफ' शब्द का वाच्यार्थ तो दोरेफ से युक्त 'भ्रमर' शब्द होता है। उससे पुनः लक्षणा द्वारा 'भौंरा' अर्थ ज्ञात होता है। अतः परम्परया 'द्विरेफ' शब्द 'भ्रमर' अर्थ को लक्षित करता है। इसलिए यह 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण है ।

लक्षण-लक्षणा का अधिक स्पष्ट उदाहरण—

ग्रन्थकार ने 'गंगात्वेन' अर्थात् गंगा के साथ अभेद संबंध से ही 'तट' की उपस्थिति बताई है। तब 'गंगा' शब्द ने अपने वाच्यार्थ को सर्वथा त्याग दिया, यह कैसे कहा जायगा ? क्योंकि 'गंगा' का ही वह तट है, यमुना का नहीं। इस प्रतीति में गंगारूप 'लक्षक' पद की तटरूप 'लक्ष्यार्थ' के साथ सम्बन्ध की प्रतीति तो हो ही रही है। ऐसी परिस्थिति में इसे जहत्स्वार्था (लक्षण-लक्षणा) का उदाहरण कैसे कहा गया है ?

अतः स्पष्ट बोधार्थं चतुर्थ उल्लास के सू० २९ में लक्षणामूलध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद के उदाहरण 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' को 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' का स्पष्ट उदाहरण कह सकते हैं ।

यहाँ पर 'शब्द' अपने 'वाच्यार्थ' (मुख्यार्थ) को सर्वथा त्याग कर केवल 'लक्ष्यार्थ' को ही बता रहा है। यहाँ पर 'उपकृतम्' का मुख्यार्थ बाधित हो रहा है, इसलिए 'अपकृतम्' अर्थ को लक्षण-लक्षणा (जहत्स्वार्था लक्षणा) से वह बता रहा है। उसीप्रकार 'सुजनता' 'सखे' 'सुखितमास्स्व' आदि शब्द भी अपने वाच्यार्थ का सर्वथा त्यागकर अपने से विपरीत 'दुर्जनता' 'शत्रो' 'दुःखितमास्स्व' आदि अर्थों को लक्षणा से बता रहे हैं। उससे 'अपकारातिशय' को व्यञ्जित किया गया है ।

उभयरूपेति । यह दोनों प्रकार की लक्षणा 'उपचार' से मिश्रित न रहने के कारण 'शुद्धा' कहलाती है ।

विशेष विवरण--दोनों लक्षणाओं में 'उपचार' का (सादृश्य सम्बन्ध से दो भिन्न वस्तुओं में अभेद ज्ञान के अभिप्राय का) मिश्रण नहीं रहता है। 'उपादान' और

'लक्षणलक्षणा' दोनों प्रकार की शुद्धा लक्षणाओं के सम्बन्ध मे यह जो सिद्धान्त किया गया है कि वाच्यार्थ, 'लक्ष्यार्थ' से सर्वथा तटस्थ (उदासीन) रहता है क्योंकि— 'लक्ष्यार्थं' की प्रतीति होने में 'वाच्यार्थं' की प्रतीति का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि इस 'शुद्धा-लक्षणा' के द्विविध प्रकारों में भी 'वाच्यार्थं' से 'लक्ष्यार्थ' की अभिन्नता (उपरक्तता) की प्रतीति होती है। तभी उसका प्रयोग करने वाले के अभीष्ट प्रयोग का प्रकाशन सम्भव हो पाता है। जैसे—'गङ्गायां घोष:' इस प्रयोग में 'लक्षण-लक्षणा' की गई है। यहाँ पर 'गङ्गा' शब्द से 'तटरूप' लक्ष्यार्थ का बोधन किया जाता है। अत: यह समझ में आता है कि जबतक 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाहरूप' वाच्यार्थ से 'तटरूप' लक्ष्यार्थ को सम्बद्ध न माना जाय तब तक 'शैत्य-पावनत्वादि' प्रयोजन, जो वक्ता को अभीष्ट हैं, उसकी कभी भी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि 'गङ्गा' शब्द के वाच्यार्थं (प्रवाह) और लक्ष्यार्थं (तट) दोनों में जो **अभेद प्रतीति** होती है, उसी के बल पर 'प्रयोजन' की प्रतीति हो पाती है। अर्थात् **'वाच्यार्थ रूप प्रवाह' में रहने वाली पवित्रता और शीतलता, लक्ष्यार्थ 'तट' से भी सम्बद्ध प्रतीत हो जाती है।** यदि यहाँ पर 'तटरूप' लक्ष्यार्थ का 'प्रवाहरूप' वाच्यार्थ से केवल सामीप्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता तो 'गङ्गायां घोष:' इस लक्षणा के बदले 'गङ्गातटे घोष:' इस वाचक शब्द का ही प्रयोग कर लिया जाता, किन्तु 'गङ्गायां घोष:' कहने पर जिस प्रयोजन की प्रतीति होती है वह 'गङ्गातटे घोष:' कहने पर नहीं होती। लाक्षणिक प्रयोग में 'शैत्य-पावनत्वादि' प्रयोजन-विशेष की 'अभिव्यक्ति' प्रयोक्ता को अपेक्षित है। वह (अपेक्षा) वाचक प्रयोग में पूर्ण नहीं हो पाती। निष्कर्ष यह है कि-**'शुद्धा'** और **'गौणी'** दोनों लक्षणाओं में 'वाच्यार्थ' और 'लक्ष्यार्थ' के **अभेद के कारण** परस्पर समानता है। किन्तु 'शुद्धा' में **उपचार का 'अमिश्रण'** और 'गौणी' में **उपचार का 'मिश्रण'** रहता है। इसी से 'शुद्धा' 'गौणी' को एक दूसरे से भिन्न माना जाता है।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का मत—

इस प्रकार 'शुद्धालक्षणा' के उपादान तथा लक्षण दो नाम से दो प्रकार बताये गये। दोनों प्रकार की 'शुद्धा-लक्षणा' से भिन्न 'गौणी-लक्षणा' भी हुआ करती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'शुद्धा' तथा 'गौणी' लक्षणाओं का परस्पर **'भेदकधर्म'** क्या होता है ? इस विषय में **मुकुलभट्ट** तथा **मम्मटभट्ट** का मतभेद है। **मम्मटभट्ट 'शुद्धा'** और **'गौणी'** का भेदक धर्म 'उपचार' कहते हैं। अर्थात् **मम्मटभट्ट** के अनुसार 'उपचार' से रहित लक्षणा 'शुद्धा' है और 'उपचार' से युक्त लक्षणा 'गौणी' है। 'उपचार' का लक्षण यह है—**'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः**

पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्'—अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनमें भेद की प्रतीति का न होना ही 'उपचार' है। जैसे किसी बालक में वीरता, क्रूरता आदि के अत्यन्त सादृश्य के कारण 'सिंहो माणवकः' आदि प्रयोग, उपचार-मूलक ही किये जाते हैं। इसीलिए उन्हें 'गौण-प्रयोग' कहते हैं। अर्थात् 'औपचारिक प्रयोग' (गौण-प्रयोग) यहाँ पर किया गया है। ऐसे **'औपचारिक प्रयोगों' में गौणीलक्षणा** की जाती है। एवञ्च **उपचार** (सादृश्य सम्बन्ध) **के अतिरिक्त 'सामीप्य' आदि किसी अन्य सम्बन्ध से जो लक्षणा होती है उसे 'शुद्धा लक्षणा'** कहते हैं। **अभिप्राय** यह है कि **मम्मटभट्ट** ने **'उपचार' के 'अमिश्रण को 'शुद्धा'** और **'उपचार' के मिश्रण को 'गौणी'** कहा है। ये **मिश्रण** और **अमिश्रण** ही उन 'दो लक्षणाओं' के **भेदक धर्म हैं।**

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का मत—

किन्तु मुकुलभट्ट ने **'उपचार'** को **शुद्धालक्षणा** और **गौणीलक्षणा** का भेदक धर्म नहीं माना है। वे **शुद्धा** और **गौणी** दोनों में **'उपचार के मिश्रण'** को ही मानते हैं। अतएव **मुकुलभट्ट ने** 'उपचारमिश्रा लक्षणा' के **शुद्धोपचार** और **गौणोपचार** दो भेद किये हैं। तदनन्तर उनके **सारोपा** और **साध्यवसाना** दो भेद किये। इस रीति से 'उपचारमिश्र-लक्षणा' के **चार भेद** तथा 'शुद्धालक्षणा' के **'उपादानलक्षणा'** और **'लक्षण लक्षणा' दो भेद** किये हैं--इस प्रकार कुल मिलाकर उन्होंने **लक्षणा के छह भेद किये हैं।** उनके मत में **'उपचार'** का अर्थ है—**'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग'**। जहाँ **'सादृश्य' के कारण** अन्य के लिए **अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग** हो वहाँ **'गौणोपचार'** कहा जाता है। और जहाँ **'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग' सादृश्य के कारण न होकर** किसी अन्य **कार्य-कारण, जन्य-जनक आदि सम्बन्ध के कारण** होता है, उसे **'शुद्धोपचार'** कहते हैं। **'आयुर्घृतम्'** यह **शुद्धोपचार** का उदाहरण है। यहाँ पर 'आयु के' कारणभूत 'घृत' के लिए 'आयु' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा **'गौर्वाहीकः'** इस उदाहरण में **'वाहीक'** के लिए 'गौ' पद का प्रयोग गुणों के सादृश्य को देखकर किया गया है। इसलिए यह **गौणोपचार** का उदाहरण है। वाहीक देश (पंजाब देश) में रहने वाले मनुष्य में 'गौ' के सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुणों (धर्मों) का योग (सम्बन्ध) है। तात्पर्य यह है कि उपचार का भी शुद्ध और गौण रूप हैं। इस कारण 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेदक धर्म 'उपचार' नहीं हो सकता। **मुकुलभट्ट** 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेद दिखाने के लिए **'ताटस्थ्य'** को उनका **भेदक धर्म** मानते हैं। वे **'उपचार'** को उनका **भेदकधर्म नहीं** मानते। **'ताटस्थ्य'** का अर्थ है--**'लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ का भेद'**। **मुकुलभट्ट** के मत में 'सादृश्य' की अत्यधिकता से 'लक्ष्य और लक्षक' का

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यं तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

(सारोपा लक्षणा)

(सू०१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

अभेद, **गौणीलक्षणा** में प्रतीत होता है। जैसे 'गौर्वाहीकः' में 'गो' और 'वाहीक पुरुष' दोनों अर्थों का **अभेद** प्रतीत होता है। और उसी कारण उन दोनों पदों में **सामानाधिकरण्य** का प्रयोग किया गया है। किन्तु '**शुद्धालक्षणा**' (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) में लक्ष्य और लक्षक का अभेद नहीं है। वहाँ **भेद** (ताटस्थ्य) रहता है। 'उपादान-लक्षणा' के '**कुन्ताः प्रविशन्ति**' उदाहरण में और 'लक्षण-लक्षणा' के '**गङ्गायां घोषः**' उदाहरण में 'लक्ष्य और लक्षक' अर्थों का **अभेद नहीं है**, बल्कि **भेद** (ताटस्थ्य) है। अर्थात् 'शुद्धालक्षणा' में **ताटस्थ्य** (लक्ष्य और लक्षक अर्थों का भेद) प्रतीत होता है। और '**गौणीलक्षणा' में सादृश्य** (लक्ष्य तथा लक्षक अर्थों का अभेद) प्रतीत होता है। यही **शुद्धा और गौणी में भेद** है। यह **मुकुल भट्ट का सिद्धान्त है।**

मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन—

मम्मटभट्ट इस 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' के समर्थक नहीं हैं। वे 'अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च' ग्रन्थ से 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं—

अनयोरिति। 'शुद्धालक्षणा' के दोनों भेदों (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) में 'लक्ष्य' अर्थ और 'लक्षक' अर्थ का यानी गङ्गा के '**जलप्रवाहरूप**' **लक्षक अर्थ का**, तथा '**तटरूप' लक्ष्य** अर्थ का **भेदप्रतीतिरूप** 'ताटस्थ्य' **नहीं** कह सकते, क्योंकि लक्ष्यार्थरूप '**तट**' आदि अर्थों को '**गङ्गा**' आदि शब्दों से बताने पर ही '**तत्त्वप्रतिपत्ति**' अर्थात् गंगात्व की (लक्ष्य तथा लक्षक यानी तट तथा जलप्रवाह के) **अभेद की प्रतीति होने पर ही** शैत्य-पावनत्वादि **धर्मों के** '**अतिशयरूप अभिलषित प्रयोजनों**' की प्रतीति हो सकती है। यदि '**तट**' में '**तत्त्व**' अर्थात् गङ्गात्व (गंगा शब्द के मुख्यार्थ जलप्रवाह) के साथ **अभेद की प्रतीति न होकर** केवल '**गंगा का सम्बन्धमात्र**' प्रतीत होता हो तो '**गंगायां घोषः**' इस लाक्षणिक शब्द के स्थान पर '**गङ्गातटे घोषः**' गंगा के तट पर घोष है—**इस मुख्य शब्द** के द्वारा बताने में और लक्षणा के द्वारा बताने में क्या भेद रहेगा?

सारोपा-लक्षणा

(सू० १४) जिस पदार्थ का आरोप किया जाता है, वह **विषयी** और जिस

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते, सा लक्षणा सारोपा।

(साध्यवसानिका लक्षणा)

(सू०१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका॥

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

(सारोपासाध्यवसानिकयोः प्रत्येकं द्वैविध्यम्)

(सू०१६) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

(तयोः सादृश्यमूलौ भेदौ)

पदार्थ पर आरोप किया जाता है, वह विषय, इन दोनों का (सामानाधिकरण्य से) जिसमें निर्देश किया रहता है, उसे **'सारोपा'** लक्षणा कहते हैं।

आरोप्येति। **'विषयी'** और **'विषय'** (आश्रय) की **पृथक्ता** जहाँ स्पष्ट रहती है, यानी जहाँ पर दोनों को समान विभक्तिवाले पदों से दिखाया जाता है, उसे **'सारोपा'** लक्षणा कहते हैं।

साध्यवसानिका-लक्षणा

(सू० १५) जब दूसरे को (आरोप के 'विषय' आश्रय को) यानी **'उपमेय'** को **'आरोप्यमाण'** (आरोपित किया जाने वाला **'विषयी'**) अर्थात् उपमान के द्वारा अपने में समाविष्ट यानी निगल लिया जाता है (अपने भीतर अन्तर्भूत कर लिया जाता है) तब उसे **साध्यवसाना-लक्षणा** कहते हैं॥ ११॥

विषयिणेति। 'उपमान' (आरोप्यमाण विषयी) के द्वारा जब **'उपमेय'** (आरोप के विषय) को निगीर्ण कर लिया जाता है, तब **साध्यवसाना-लक्षणा** होती है। अर्थात् विषयिवाचक पद से ही विषय का **प्रतिपादन** (अध्यवसान) किये जाने पर साध्यवसाना-लक्षणा होती है।

सारोपा और साध्यवसाना-दोनों के दो भेद—

(सू० १६) **सारोपा** और **साध्यवसाना** में से प्रत्येक के (मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के) दोनों भेद जब सादृश्य पर आधारित हों तब उन्हें **'गौण'**, और जब अन्य किसी सम्बन्ध पर आधारित हों तब उन्हें **'शुद्ध'** समझना चाहिये।

गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना के सादृश्यमूलक दो भेदों के उदाहरण—

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाऽभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित **'सारोपा'** और **'साध्यवसाना'** (साध्यवसानिका) लक्षणा के ये दो भेद, क्रमशः **'गौर्वाहीकः'** वाहीक देश का निवासी पुरुष 'गो' (बैल) है, और **'गौरयम्'** यह 'गौ' (बैल) है, इन दो उदाहरणों से स्पष्ट किये गये हैं। अर्थात् **'गौर्वाहीकः'** यह उदाहरण **'सारोपा लक्षणा'** का है, और **'गौरयम्'** यह उदाहरण **'साध्यवसाना लक्षणा'** का है।

गौणी साध्यवसाना-विषयक तीन मत—

'गौरयम्' आदि **गौणी साध्यवसाना** के उदाहरणों में लक्षणावृत्ति से बोध्य लक्ष्य अर्थ क्या है ? इस विषय में **काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट** ने **'तीन पक्षों'** का उल्लेख किया है।

(१) **अत्र हीति। कुछ विचारकों का कहना** है कि यहाँ पर अर्थात् **'गौरयम्'** आदि **'गौणी लक्षणा'** के उदाहरणों में अपने अर्थ के **सहचारी 'जाड्य, मान्द्य'** (मूर्खता, आलस्य) आदि **गुण, लक्षणा** के द्वारा बोधित होकर भी, वे **'गो'** शब्द के द्वारा **'वाहिक'** रूप **'अन्य अर्थ'** को **अभिधा से** बोधित करने मे **प्रवृत्तिनिमित्त** बन जाते हैं। अर्थात् **मुख्यार्थ 'गो'** के साथ एक अधिकरण (समानाधिकरण) में रहने वाले 'मन्दता, मूर्खता' आदि गुण यद्यपि **लक्षणा के द्वारा** व्यक्त होते हैं, तथापि **'गो'** (बैल) शब्द से **'वाहीक'** रूप अन्य वस्तु का **अभिधा से बोध** करा देने में कारणीभूत होते हैं।

(२) **स्वार्थेति।** 'गो' शब्द के **'स्वार्थ-सहचारी'** (अपने अर्थ के सहचारी) 'जाड्य, मान्द्य' आदि गुणों से **अभिन्न रूप में 'वाहीक' गत गुण** ही **'लक्षित'** होते हैं, किन्तु वे **अभिधा के द्वारा** 'वाहीक' अर्थ के बोधन में **प्रवृत्तिनिमित्त नहीं** होते हैं। अर्थात् मुख्यार्थ के समानाधिकरण रहने वाले गुणों के साथ जो उनकी **एकरूपता** (अभिन्नता) है, उससे अन्य वस्तु (वाहीक) के **'गुणों'** का ही **लक्षणा से बोध** होता है, उस अन्य वस्तु (वाहीक) का **अभिधा से बोध नहीं** होता है, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

(३) **साधारणेति।** 'गौ' तथा **'वाहीक'** दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप से **'वाहीक'** अर्थ ही 'लक्षणा' से उपस्थित होता है, ऐसा **मुकुलभट्ट** और **मीमांसक**

उक्तञ्चान्यत्र—

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम् , न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्याद् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

आदि अन्य लोग मानते हैं। इस अन्तिम पक्ष के साथ 'इत्यपरे' पद का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है। व्याख्याकारों ने इस 'अपरे' पद का 'न परे' इति 'अपरे' ऐसा नञ् समास करके उसका अर्थ 'स्वीयाः' किया है ॥

उक्तञ्चेति। अन्यत्र कुमारिलभट्टपाद के श्लोकवार्तिक में कहा भी है——

विशेष विवरण—इस विषय में तीसरे पक्ष (मुकुलभट्ट के मत) को उपयुक्त समझकर उसके समर्थनार्थ कुमारिलभट्टपाद के 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ से 'अभिधेयाविनाभूत' कारिका को उद्धृत किया गया है। इस कारिका का 'पूर्व अंश' जो ग्रंथकार ने दिया नहीं है, वह इस प्रकार है——'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।' सबको मिलाकर अर्थ इस प्रकार होगा——

अभिधेयेति। मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से बाध होने पर अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ) से सम्बद्ध (अविनाभूत) अर्थ की प्रतीति (बोध) कराने वाली शक्ति, 'लक्षणा' कही जाती है, और लक्ष्यमाण जाड्य-मान्द्यादि गुणों के योग (संबंध) से अर्थात् वाहीक में रहने से इस लक्षणावृत्ति की गौणता हो जाती है, अर्थात् इसे 'गुणेभ्यः आगतत्वात्' गौणी लक्षणा कहा जाता है।

अविनाभाव इति। उक्त कारिका में प्रयुक्त 'अविनाभाव' शब्द से 'सम्बन्धमात्र' (सामान्य) ही समझना चाहिये, 'नान्तरीयकत्व' (व्याप्ति) नहीं। क्योंकि 'नान्तरीयकत्व' (व्याप्ति) अर्थ मानने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मंच पुकारते हैं—इत्यादि स्थलों में 'मञ्च' पद की 'मञ्चस्थित पुरुषों' के अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकेगी। तथा अविनाभाव (व्याप्ति) अर्थ करने पर तो आक्षेप (अनुमान) से ही लक्ष्यमाण अर्थ की सिद्धि हो जायगी, उसके लिए लक्षणा की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ग्रन्थकार ने इस तीसरे मत में अपनी रुचि प्रदर्शित की है, अन्यथा वे उसका खण्डन अवश्य करते ॥

शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण—

ऊपर गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरणों को

(तयोः सम्बन्धान्तरमूलौ भेदौ)

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम् । शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाऽव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि ।

बताने के पश्चात् अब **'शुद्धा सारोपा'** तथा **'शुद्धा साध्यवसाना'** लक्षणा के उदाहरण दे रहे हैं—

आयुर्घृतमिति । 'आयुर्घृतम्' घी आयु है और **'आयुरेवेदम्'** यह (घी) आयु ही है---इत्यादि उदाहरणों में ('आयुः' के लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में) **सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त** (सादृश्य से भिन्न) **'कार्य-कारणभाव' आदि अन्य सम्बन्ध 'लक्षणा' के प्रयोजक हैं** । अर्थात् इस प्रकार के उदाहरणों में **'सारोपा'** और **'साध्यवसानिका' लक्षणा, 'कार्यकारणभावादि' जैसे सम्बन्धों पर आधारित रहती हैं** । अर्थात् **'आयुर्घृतम्'** में 'आरोप्यमाण पदार्थ' **'आयु'** है, तथा 'आरोपविषयपदार्थ' **'घृत'** है । दोनों के अनपह्नुत-स्वरूप उपात्त होने से (शब्दतः दोनों को बताने से) यह **'शुद्धा सारोपा'** लक्षणा का उदाहरण है । तथा **'आयुरेवेदम्'** में आरोप विषय **'घृत'** को शब्दतः उपात्त नहीं किया है अर्थात् आरोप विषय का स्वरूप अपह्नुत होने से यह **'शुद्धा साध्यवसाना'** लक्षणा का उदाहरण है ।

किसी विद्वान् का कहना है कि **'आयुरेवेदम्'** में **'इदं'** सर्वनाम से आरोप विषय का संकेत हो ही जाता है, अतः वह **'साध्यवसाना'** का ठीक उदाहरण नहीं बनता है । **'आयुः पिबामि'** यह अधिक अच्छा उदाहरण है ।

अत्रेति । यहाँ इन चारों उदाहरणों में से गौणी के (**गौणी सारोपा** और **गौणी साध्यवसानिका के**) दोनों भेदों (**'गौर्वाहीकः'** तथा **'गौरयम्'**) में आरोप्यमाण **'गौ'** तथा आरोपविषय **'वाहीक'** का भेदज्ञान होने पर भी उन दोनों के **'तादात्म्य'** की प्रतीति **लक्षणा** से होती है । उन **दोनों के 'सर्वथा अभेद' का बोध करना ही इस गौणी लक्षणा का प्रयोजन है** । किन्तु 'शुद्धा सारोपा' और 'शुद्धा साध्यवसानिका' इन शुद्धा के दो भेदों में अन्य वस्तु की अपेक्षया विलक्षण रीति से एवं निश्चित रूप से विशिष्ट परिणाम पैदा करा देने का बोध कराना ही उसका फल है ।

विशेष विवरण—सादृश्य सम्बन्ध के अतरिक्त (भिन्न) सम्बन्ध रहने पर शुद्धा लक्षणा होती है, यह पहले बता चुके हैं । उस **'शुद्धालक्षणा'** के दो उदाहरण **'आयुर्घृतम्' और 'आयुरेवेदम्'** भी प्रदर्शित किये थे, उसी प्रकार के कुछ अन्य

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा—इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा—राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावाद्, यथा—अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्याद्, यथा–अतक्षा तक्षा।

(लक्षणाया भेदसंकलनम्)

(सू०१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यां सह।

उदाहरण भी दिखा रहे हैं, जिनमें **'सादृश्यसम्बन्ध'** से **भिन्न** 'अन्यान्य सम्बन्ध' भी लक्षणा के प्रयोजक हो रहे हैं, अतः ये सब **शुद्धा लक्षणा** के उदाहरण हैं।

क्वचिदिति। कहीं पर **तादर्थ्य** से 'उपचार' होता है, **अर्थात्** 'उसके लिए' होने से अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'यज्ञ में इन्द्र' की पूजा करने के लिए बनाई गई **स्थूणा** (स्तम्भ) भी **'तादर्थ्यसंबंध'** से **'इन्द्र'** कही जाती है। अर्थात् 'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः' में **'इन्द्र' और 'स्थूणा' में 'उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध' है।**

कहीं पर **'स्व-स्वामिभावसम्बन्ध'** से अन्य शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग किया जाता है। जैसे **'राजकीयः पुरुषो राजा'** राजा का विशेष कृपा-पात्र **'पुरुष'** भी **'राजा'** कहलाता है।

कहीं पर **'अवयवावयविभावसम्बन्ध'** से औपचारिक प्रयोग (अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग) किया जाता है। जैसे **'अग्रहस्तः'** यहाँ पर हाथ के केवल आगे के भाग (अंगुलि) के लिए **'हस्त'** शब्द का प्रयोग किया जाता है।

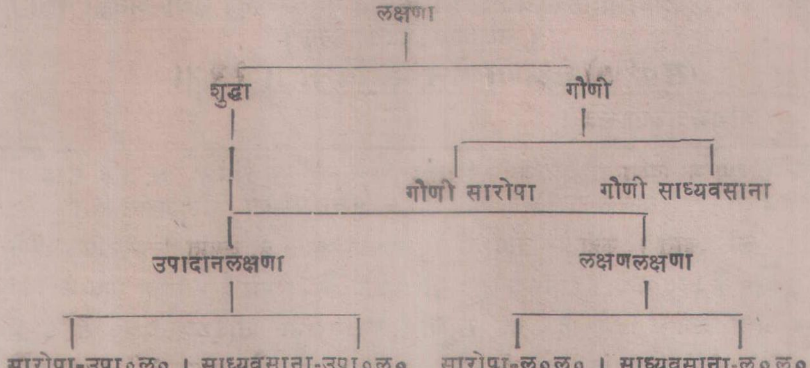
कहीं पर उस कर्म के करने के कारण अर्थात् **'तात्कर्म्यसम्बन्ध'** से औपचारिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे **अतक्षा** 'तक्षा' = बढ़ई का काम करने वाला **'अतक्षा'** अर्थात् बढ़ई के अतिरिक्त (भिन्न) ब्राह्मण आदि किसी व्यक्ति के लिए भी 'तक्षा' बढ़ई शब्द का प्रयोग **'तात्कर्म्यसम्बन्ध'** से किया जाता है।

(सू० १७) इसलिए **'लक्षणा'** छः प्रकार की हुई ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यामिति। आद्य दोनों भेदों (शुद्धा उपादान-लक्षणा तथा शुद्धा लक्षण-लक्षणा) के साथ **'शुद्धा'** तथा **'गौणी'** दोनों में से प्रत्येक के **सारोपा** तथा **साध्यवसाना** के दो-दो भेद, कुल **चारों भेदों को मिलाकर 'लक्षणा' के छह भेद होते हैं।**

लक्षणा	उदाहरण
१ उपादान सारोपा	कुन्ताः पुरुषाः प्रविशंति।
२ उपादान साध्यवसाना	कुन्ताः प्रविशंति।
३ लक्षणलक्षणा सारोपा	आयुर्घृतम्।
४ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना	आयुरेवेदम्। गंगायां घोषः।
५ गौणी सारोपा	गौर्वाहीकः।
६ गौणी साध्यवसाना	गौरयम्।

लक्षणा षड्विधा



कुछ विद्वानों का कहना है कि शुद्धात्वादि छह उपाधियों के द्वारा **लक्षणा के छह भेद बताना ठीक नहीं** है, क्योंकि (१) **निरूढात्व और (२) प्रयोजनवत्त्व** इन दो भेदों को भी मिलाना चाहिये, जिससे **लक्षणा के आठ भेद** (अष्टविधत्व) बताने चाहिये। इसका **समाधान** यह है कि प्रथमतः लक्षणा के **निरूढा और** प्रयोजनवती दो **विभाग** होंगे। तदनन्तर प्रयोजनवती के शुद्धात्वादि उपाधियों से छह विभाग करने होंगे। अतः इसे विभक्त-विभाग ही कहना होगा। इसलिए षड्विधत्व कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। **वास्तविकता** तो यह है कि **'व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ'** (सू० १८) इस अग्रिम ग्रन्थ को देखने से स्पष्ट प्रतीति होता है कि **'रूढि और प्रयोजन'** की दृष्टि से भेद को यहाँ कहा भी नहीं है, इसलिए **रूढि-प्रयोजन-कृत अधिक भेदों की कल्पना करना उचित नहीं** है। यद्यपि **'रूढितोऽथ प्रयोजनात्'** (सू० १२) से रूढि और प्रयोजन बताये गये हैं, तथापि उन्हें **विभाजक के रूप में नहीं** बताया गया है, अपितु **हेतु के रूप में** बताया गया है। अन्यथा पुनरुक्ति होगी।

अन्य आलङ्कारिक विद्वान् लक्षणा के **षड्विध विभाग** को **अनुपपन्न** बताते हैं, क्योंकि गौणी के भी उपादान और लक्षणलक्षणारूप दो भेद हो सकते हैं। जैसे–**गोर्वाहीकसाधारण्येन** 'गावः एते समानीयन्ताम्' और 'गावः समानीयन्ताम्' इसप्रकार उपादान सारोपा एवं साध्यवसाना के दो उदाहरण संभव हैं। इसलिए **'षड्विधा'** का अर्थ वे इस प्रकार करते हैं—**'षड्भिरूपाधिभिः कल्पिता विधाः प्रकाराः यस्यां सा षड्विधा'**। अर्थात् छह उपाधियों से उसके अनेक प्रकार कल्पित किये जाते हैं।

किन्तु ऐसा समझना केवल **भ्रममात्र** है, क्योंकि तेरहवें सूत्र में **'शुद्धैव'** में **'एव'** शब्द का प्रयोग और **'सारोपान्या तु'** (सू० १४) **में 'तु'** शब्द का प्रयोग

(उक्तभेदाया लक्षणायाः पुनः प्रकारत्रयम्)

सा च—

(सू०१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ॥

(सू०१९) तच्च गूढमगूढं वा—

किया गया है। ग्रन्थकार के **'एव'** और **'तु'** शब्द की ओर ध्यान न पहुँच पाने से यह भ्रम होना संभव है। किंच **'स्वसादृश्य'** कभी स्ववृत्ति नहीं होता है अतः उपादानादि का संभव ही नहीं है, और संबंधांतर से मानने पर उसमें गौणत्व नहीं कह सकते।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के सोलह भेद बताये हैं। लक्षणा के विभाग करते समय दर्पण में **'षोडश-भेदिता लक्षणा'** बताया गया है। इस प्रकार रूढि-लक्षणा और प्रयोजनवती-लक्षणा के दो भेद पहले किये। दोनों के उपादान और लक्षण भेद से दो-दो भेद कर चार भेद बताये। बाद चारों के सारोपा–साध्यवसाना भेद से आठ भेद किये। फिर आठों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद किये। सब को मिलाने से कुल १६ भेद लक्षणा के प्रदर्शित किये।

किन्तु ग्रन्थकार मम्मटभट्ट और मुकुलभट्ट दोनों ने **'उपादन और लक्षण-लक्षणा'** ये दो भेद केवल **'शुद्धा'** के ही माने हैं, **'गौणी'** के नहीं, इसलिए इन के छः ही भेद होते हैं। विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं। मम्मट के छह भेदों में जोड़ देने से **आठ (८)** भेद हो जाते हैं। पुनः उसके रूढि–प्रयोजन से दो भेद कर दिये हैं। इसलिए विश्वनाथ के मत में लक्षणा के १६ भेद हो जाते हैं।

प्रस्तुत भेदों से युक्त लक्षणा के पुनः तीन प्रकार—

सा चेति। और वह—

(सू० १८) **'रूढि'** पर जब आधारित हो तब उसमें **व्यङ्ग्यार्थ** नहीं रहता है किन्तु जब वह **'प्रयोजन'** पर आधारित रहती है, तब उसमें **व्यङ्ग्यार्थ** रहता है। अर्थात् **'रूढि'** के कारण होने वाले भेदों में **व्यङ्ग्य से रहित** तथा **'प्रयोजन'** के कारण होने वाले भेदों में **व्यङ्ग्य के सहित** वह होती है॥

प्रयोजनं हीति। क्योंकि **'व्यञ्जना'** का व्यापार होने पर ही **प्रयोजन** को जाना जा सकता है। अर्थात् **प्रयोजनवती लक्षणा** में व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है, इसलिए वह **व्यङ्ग्यसहित** ही हुआ करती है।

(सू० १९) और वह **'व्यङ्ग्य प्रयोजन'** कहीं पर **'गूढ'** अर्थात् दुर्बोध,

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥ ९ ॥

(सहृदयैकमात्रगम्य) और कहीं पर 'अगूढ' अर्थात् स्पष्ट (सर्वजनसंवेद्य) होता है ।

तच्चेति । और 'वह' अर्थात् व्यङ्ग्य । 'तच्च' में 'तत्' सर्वनाम पूर्वप्रयुक्त व्यङ्ग्य का परामर्शक है ।

गूढमिति । गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण । जैसे—

मुखं विकसितेति । किसी युवती को देखकर किसी युवक की यह उक्ति है—बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस चन्द्रमुखी के अङ्गों में यौवन का उदय मुदित हो रहा है । इसके मुख पर 'स्मित' (मुसकान) विकसित है । 'वक्रिमा' (बंकता) को वश करनेवाला 'कटाक्षपात' है । 'गति' में 'विलासों' (विभ्रमों) की उछाल है । 'बुद्धि' में 'परिमित विषयता' का त्याग है । 'कुच' अधखिली कली हैं । 'जघनस्थल' अवयवों के पुष्ट होने से उभर रहा है अर्थात् जघन प्रदेश रतिक्रीडा के योग्य हुआ है ॥ १ ॥

विशेष विवरण—कवि ने ऊपर के उदाहरण में यौवन से ओत-प्रोत हुई युवती के स्मित (मुसकान) से, उसकी दृष्टि से, उसकी हाव-भाव भरी गति से, उसके अंग-प्रत्यंग से, यौवन के प्रस्फुटित होने का सहृदयगम्य हृद्य चित्र खींच दिया है । किन्तु वह 'व्यङ्ग्यार्थ' गूढ है, इसे सहृदय काव्यमर्मज्ञ ही जान सकते हैं । यहाँ लक्षणा-मूला व्यञ्जना है । काव्यप्रकाशकार ध्वनिवादी आचार्यों के अनुयायी होने से इन्होंने भी प्रयोजनवती लक्षणा में 'प्रयोजन' को व्यञ्जनागम्य ही माना है ।

उक्त उदाहरण में आये हुए शब्द, मुख्यार्थ का बाध हो जाने से लक्षणा के विषय निम्नांकित प्रकार से हो रहे हैं—

'यौवन' (तरुणिमोद्गम) कोई चेतन वस्तु नहीं है । वह मुदित (हर्षित) नहीं हो सकता है । इस कारण यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है । इसका लक्ष्यार्थ है—यौवन अवस्था-जनित उत्कर्ष, अर्थात् अत्यन्त सौन्दर्य । तथा व्यङ्ग्यार्थ है—'नायिका में अभिलाषा का होना' ।

'विकसित' का अर्थ है 'प्रफुल्लित होना', किन्तु 'प्रफुल्लित होना' (खिलना) तो पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसकान (स्मित) का । इस कारण मुख को विकसित करने में मुख्यार्थ का बाध हो रहा है । अतः 'विकसित' का लक्ष्यार्थ है—

उत्कर्ष। मुख्यार्थ 'विकसित' के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का 'असङ्कोचरूप' सादृश्य सम्बन्ध है, क्योंकि विकास और आधिक्य दोनों में 'असङ्कोच' रहता है। और 'विकसित' का व्यङ्ग्यार्थ है—'मुख को पुष्पों के समान सुगन्धित सूचित करना।'

इसमें सादृश्य सम्बन्ध होने से 'गौणी', 'मुख' एवं 'विकसित' दोनों का कथन होने से 'सारोपा' और 'विकसित' ने अपना मुख्यार्थ त्याग दिया है, इस कारण 'लक्षण-लक्षणा' है।

'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है--'किसी को अपने वश में कर लेना', किन्तु यह चेतन का धर्म है। 'कटाक्षों' द्वारा 'वक्रिमा' (बाँकेपन) को वश में करना असम्भव है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। 'वशीकृत' का लक्ष्यार्थ 'स्वाधीन करना' यहाँ पर स्वीकार किया गया है। अपने अभिलषित विषय में 'प्रवृत्तिरूप सम्बन्ध' है। और 'अपने प्रेमी में अनुराग सूचित करना' ही उसका प्रयोजन व्यंग्य है।

'विभ्रम' अर्थात् युवतियों के हाव-भाव, यह कोई उछलनेवाली वस्तु नहीं है। 'उछलना' धर्म तो जल आदि का है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ पर 'विभ्रम' (उछलने) का लक्ष्यार्थ 'अधिकता' स्वीकार किया गया है। 'प्रेर्य-प्रेरकभावसम्बन्ध' है। 'मनोहरता' व्यङ्ग्य है।

'माति' में मर्यादा का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि 'मर्यादा' का त्याग करना 'चेतन' का धर्म है। यहाँ पर लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। 'कार्य-कारणभावसम्बन्ध' है। 'अनुराग का आधिक्य' व्यङ्ग्य है।

'मुकुलित' का मुख्यार्थ अधखिला रहना है। कुचों (स्तनों) को अधखिला कहने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि 'आधा खिलना' पुष्पों का होता है, न कि मनुष्य के अंगों का। अतः इसका लक्ष्यार्थ 'काठिन्य' (उभार) है। अवयवों की 'सघनतारूप सादृश्य सम्बन्ध' है। 'मनोहरता' या आलिंगन योग्यत्व को सूचित करना व्यङ्ग्य है।

'उद्धुरत्व' का मुख्य अर्थ 'उत्कृष्टधुरात्व' (धुरा को उठाया हुआ) है। जघनस्थल को 'उद्धुर' कहने में मुख्यार्थ का बाध होता है। 'उद्धुरत्व' का लक्ष्यार्थ 'रमणीयत्व' है। 'भार' को सहन कर पाना रूप 'सादृश्य सम्बन्ध' है। 'विलक्षणरति-योग्यता' को सूचित करना व्यङ्ग्य है।

इनमें जहाँ-जहाँ 'सादृश्य सम्बन्ध' है, वहाँ गौणी लक्षणा है, और जहाँ अन्य सम्बन्ध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इस प्रकार इस पद्य (काव्य) में जो व्यङ्ग्य

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥ १० ॥

अर्थ है, वह गूढ़ है अर्थात् वह सर्वजन-संवेद्य नहीं है। साधारण व्यक्ति इस व्यंग्यार्थ को सहज में नहीं समझ सकता है। इस व्यंग्यार्थ को 'काव्यमर्मज्ञ सहृदय' ही समझ सकता है। इसलिए 'इस पद्य' को गूढ़ व्यङ्ग्य के उदाहरणरूप में प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ गूढव्यंग्या लक्षणा है।

काव्यप्रकाश की संस्कृत टीका 'प्रदीप' के लेखक ने गूढव्यंग्या लक्षणा के उदाहरण-रूप में स्वरचित पद्य प्रस्तुत किया है—

'चकोरीपाण्डित्यं मलिनयति दृग्भङ्गिमहिमा
हिमांशोरद्वैतं कवलयति वक्त्रं मृगदृशः।
तमोवैदग्ध्यानि स्थगयति कचः, किंच वचनं
कुहूकण्ठीकण्ठध्वनिमधुरिमाणं तिरयति' ॥

इस मृगनयनी (हरिणाक्षी) के नेत्र-कटाक्षों का प्रभाव चकोरी की चतुराई को तिरस्कृत (फीका) कर देता है, इसका वदन (मुख) चन्द्रमा की अनुपमता (अद्वि-तीयता—बेजोड़पन) को ग्रस लेता है, इसका केशकलाप अन्धकार की सघनता को मात (तिरस्कृत) करता है, और इसकी ध्वनि (आवाज) कोयल के कण्ठ से निकलने-वाली ध्वनि के माधुर्य को फीका बना देती है।

इस पद में चार क्रियापद 'मलिनयति, कवलयति, स्थगयति, और तिरयति' हैं, ये सब लाक्षणिक हैं। ये चारों क्रियापद 'लक्षणलक्षणा' के उदाहरण रूप हैं ॥

अगूढ-व्यङ्ग्या लक्षणा—

जहाँ ऐसा व्यङ्ग्यार्थ हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ व्यङ्ग्या लक्षणा होती है।

अगूढमिति। 'अगूढ' व्यङ्ग्य का उदाहरण। जैसे—

श्रीपरिचयादिति। लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर (श्री से परिचय हो जाने पर) मूर्ख (जड) अर्थात् मन्दबुद्धि के मनुष्य भी चतुरों के व्यवहारों के (विदग्धों के चरित्रों के) यानी रीति-रिवाजों के जानकार (अभिज्ञ) हो जाते हैं। (उपर्युक्त कथन का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार के द्वारा कर रहे हैं) यौवन का मद ही युवतियों को विलास का पाठ पढ़ा देता है ॥ १० ॥

अत्रोपदिशतीति।

(व्यङ्ग्यगर्भिताया लक्षणायास्त्रैविध्यप्रतिपादनम्)

(सू०२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

अत्रेति। इस पद्य में **'उपदिशति'** पद का **मुख्यार्थ** है—'अज्ञात अर्थ को शब्द द्वारा बताना' अर्थात् **'उपदिशति'** का अर्थ सिखाना यानी **शिक्षा देना** है। किन्तु इस प्रकार उपदेश करना तो **चेतन का धर्म** है (कार्य है)। 'यौवन' तो जड है, उसके द्वारा उपदेश दिया जाना असंभव है। अतः **मुख्यार्थ का बाध** हो जाता है। इसलिए 'उपदिशति' का **लक्ष्यार्थ—'आविष्करोति'** (प्रकट करता है) है।

विशेष विवरण—'प्रकट करना' यह सामान्य वाक्य है, और 'उपदेश देना' (सिखाना) यह **विशेष वाक्य** है। अतः यहाँ **'सामान्य-विशेषभावसम्बन्ध'** है, इस कारण यहाँ **शुद्धा लक्षणा** है। अनायास 'लालित्य का ज्ञान होना' यह व्यंग्य **अर्थ** है **'अनाचार्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितम्'**—बिना शिक्षा प्राप्त किये ही रतिचेष्टाओं के ज्ञान को **'ललित'** कहते हैं। यह व्यंग्यार्थ **'गूढ'** नहीं है, सहज ही में ज्ञात हो सकता है। अतः **अगूढ व्यंग्य** का यह उदाहरण है। **'उपदिशति'** पद ने अपने **'मुख्यार्थ'** को **त्याग** दिया है। अतः यहाँ **लक्षण-लक्षणा** है। **'अगूढ गुणीभूतव्यंग्य मध्यम काव्य'** में **यही लक्षणा** होती है। 'गूढ' के समान 'अगूढ व्यंग्य' भी सभी लक्षणाओं के भेदों में हो सकता है। **'विदग्ध'** (वि+दह्+क्त) का मुख्य अर्थ, विशेषरूप से पका हुआ। जैसे मिट्टी का घड़ा खूब अच्छी तरह से पका हुआ टन-टन आवाज करने वाला, टिकाऊ, व्यवहार योग्य होता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र में परिपक्व हुआ सहृदय व्यक्ति, व्यवहार-कुशल होता है। अतएव **'विदग्ध'** शब्द से उसका निर्देश किया जाता है। इस **'विदग्ध'** प्रयोग को **'सादृश्य-मूलकरूढसाध्यवसाना लक्षणा'** का उदाहरण कह सकते हैं। **'प्रयोजन'** की दृष्टि से **लक्षणा** के जो तीन **प्रकार** कहे गए हैं, उनमें से **'गूढव्यंग्य'** संज्ञक प्रथम प्रकार **'उत्तम काव्य'** अर्थात् **ध्वनिकाव्य** में समझा जाता है, और जब व्यंग्यार्थ **'अगूढ'** या 'अतिगूढ' (क्लिष्ट) हो, तब वह काव्य **गुणीभूतव्यंग्य** अर्थात् **मध्यम काव्य** के रूप में कहलाता है। अत एव किसी कवि ने कहा है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥

यहाँ पर कवि ने काव्य के 'व्यंग्यार्थ' का स्वरूप विशद करने में स्त्रियों की वेषभूषा से संबंधित उनके उत्तरीय वस्त्रपरिधान के वैशिष्ट्य का चतुराई से निरूपण किया है।

(सू० २०) इस प्रकार यह **'लक्षणा'** **व्यंग्य** की दृष्टि से **तीन** प्रकार की बताई गई ॥ १३ ॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(लाक्षणिक-शब्दलक्षणम्)

(सू०२१) तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्बध्यते, तद्भूस्तदाश्रयः ।

(लक्षणामूला व्यञ्जना)

(सू०२२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

अव्यङ्ग्येति । (१) **'अव्यङ्ग्या'** व्यंग्यार्थ से रहित, (२) **'गूढव्यङ्ग्या'** गूढव्यंग्यार्थ के सहित, (३) **'अगूढव्यङ्ग्या'** प्रकट व्यंग्यार्थ वाली—यह कहकर उक्त तीन प्रकारों को स्पष्ट किया है ।

द्वितीय उल्लास के आरंभ में दी गई **'स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा'** (सू० ५) कारिका में **'वाचक'** **'लाक्षणिक'** और **'व्यञ्जक'** तीन प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया गया था । उनमें से **'वाचक'** शब्द को **"साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः'** (सू० ९) से बता दिया गया है । लक्षणा का विवेचन करने के बाद, उसके आश्रयभूत **लाक्षणिक शब्द** का लक्षण अब कर रहे हैं—

(सू० २१) **लक्षणा के** 'आश्रयभूत शब्द' को **'लाक्षणिक' शब्द** कहते हैं ।

शब्द इतीति । द्वितीय उल्लास की प्रथमकारिका अर्थात् सूत्र ५ से **'शब्द'** पद का सम्बन्ध **'मण्डूकप्लुतिन्याय'** से यहाँ पर किया गया है । **'तद्भूः'** का अर्थ है—उस लक्षणा का आश्रय ।

लक्षणामूलक व्यञ्जना

(सू० २२) उस व्यङ्ग्यार्थरूप प्रयोजन की प्रतीति कराने में **'लाक्षणिक' शब्द** का लक्षणा व्यापार से भिन्न (पृथक्) व्यञ्जनारूप व्यापार होता है ।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार की अनिवार्यता—

विशेष विवरण—मुकुलभट्ट ने **'रूढि'** तथा **'प्रयोजन'** को 'लक्षणा' का प्रयोजक हेतु कहा है । **'रूढेः प्रयोजकाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते ।'** कारिका भाग की व्याख्या में उन्होंने **'लक्षणा'** का प्रयोजन, **'पुण्यत्व, मनोहारित्वादि का प्रतिपादन'** माना है । क्योंकि उक्त प्रयोजन की प्रतीति, **'स्व'** शब्द से अभिधा के द्वारा नहीं हो पाती । किन्तु ध्वनिवादी आचार्य तो प्रयोजन की प्रतीति **'व्यंजना-व्यापार'** से ही मानते हैं । लेकिन **मुकुलभट्ट** को **'व्यञ्जनाव्यापार'** मान्य नहीं है । इनके मत में प्रयोजन की प्रतीति **'लक्षणावृत्ति' से ही होती है ।**

कुत इत्याह—

(व्यञ्जनाया आवश्यकता)

(सू०२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

इस पर ध्वनिवादी का प्रश्न है कि यदि 'लक्षणावृत्ति' से ही 'प्रयोजन' की प्रतीति कहें तो वह दो प्रकार से कही जा सकती है—एक प्रकार यह होगा कि उस 'प्रयोजन' को ही लक्ष्यार्थ कहा जाय। और दूसरा प्रकार यह होगा कि 'प्रयोजन' को यदि 'लक्ष्यार्थ' से भिन्न कहें तो 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' की उपस्थिति 'लक्षणा' से कही जायगी।

मुकुलभट्ट के ग्रन्थ—"अत्र हि गंगा-शब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीप-समीपि-भावात्मकः सम्बन्धस्तदाश्रयेण 'तटं' लक्षयति।" से प्रतीत होता है कि संभवतः वे 'तट' को लक्ष्यार्थ मानते होंगे, अतः 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने की संभावना नहीं कर सकते। तब 'पुण्यत्व, मनोहारित्व' आदि 'प्रयोजन' की प्रतीति, 'गंगा' शब्द से तभी हो सकती है कि जब 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' की उपस्थिति 'लक्षणा' के द्वारा मानी जाय। परन्तु मुकुलभट्ट ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने उक्त दोनों पक्षों की आलोचना करते हुए १६ वीं तथा १७ वीं कारिका के पूर्वार्ध में 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने की संभावना का और १७ वीं कारिका के उत्तरार्ध तथा १८ वीं कारिका में 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' में लक्षणा मानने का निरसन किया है। उनके निरसन करने का अभिप्राय यह है कि यदि 'प्रयोजन' को 'लक्षणा' का प्रयोजक मानते हैं, तो उस 'प्रयोजन की प्रतीति' 'अभिधा' अथवा 'लक्षणा' से तो हो नहीं सकती। अतः उसकी (प्रयोजन की) प्रतीति के लिए व्यंजना को अवश्य ही मानना होगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मटभट्ट 'कुत इत्याह' ग्रन्थ से बता रहे हैं।

प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण—

कुत इत्याहेति। व्यञ्जनाव्यापार ही क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

(सू० २३) जिस किसी **'प्रयोजन' की प्रतीति** कराने के लिए लक्षणा (लाक्षणिक शब्द) का सहारा स्वीकार किया जाता है ॥ १४ ॥ केवल शब्द से गम्य (अनुमान आदि से नहीं) उस प्रयोजन (फल) की प्रतीति के लिए 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त शब्द का और कोई व्यापार नहीं हो सकता है ॥

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

तथा हि—

(प्रयोजनप्रत्यायने अभिधाया अनुपयोगः)

(सू०२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।

(नापि लक्षणाविषयः)

(सू०२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषयेति । 'प्रयोजन विशेष' के प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ **लक्षणा** से (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अनुमानादि अन्य किसी उपाय (साधन) से उस प्रयोजन की प्रतीति नहीं हुआ करती, अपितु 'उसी शब्द' से होती है । उसके बोधन में 'शब्द' का **व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोइ व्यापार नहीं होता है** । इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है ।

तथा हीति । क्योंकि—

(सू० २४) संकेतग्रह के न होने से **'अभिधावृत्ति' प्रयोजन** का बोधन नहीं करा सकती ।

गंगायामिति । **'गङ्गायां घोषः'** इत्यादि स्थलों में **'पावनत्व, शीतलत्व'** आदि जो धर्म **'तट'** में प्रतीत होते हैं, उनमें 'गङ्गा' आदि शब्दों का **संकेतग्रह** (शक्तिग्रह) नहीं है । अतः उन **धर्मों का ज्ञान 'अभिधा' से नहीं हो सकता है** ।

प्रयोजन की लक्ष्यता का खण्डन—

(सू० २५) लक्षणा के प्रयोजक 'मुख्यार्थबाध आदि' हेतुओं के न होने से **'लक्षणा'** भी प्रयोजन को नहीं बता सकती ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादिति । **'मुख्याथ का बाध'** और उसके साथ-साथ **'मुख्यार्थ से सम्बन्ध'** तथा **'रूढि'** अथवा **'प्रयोजन'** में से कोई एक—ये **'तीन कारण'** 'लक्षणा' करने में कारण हुआ करते हैं । वे तीनों कारण यहाँ नहीं हैं । अतः प्रयोजक सामग्री के न होने से 'प्रयोजन' का ज्ञान 'लक्षणा' से भी नहीं हो सकता है ।

विशेष विवरण—२५ वें सूत्र में बताया है कि लक्षणा के प्रयोजक तीन हेतुओं (मुख्यार्थ बाध; मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई एक) में से कोई भी हेतु न होने से लक्षणा के द्वारा प्रयोजन का बोध नहीं कराया जा सकता । अग्रिम कारिका में इन्हीं हेतुओं के अभाव का उपपादन किया जायगा ।

(१) अभिप्राय यह है कि 'गङ्गा' पद से 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति होने के बाद जो 'शैत्य-पावनत्वादि धर्मों' की प्रतीति होती है, 'उसे' यदि लक्ष्यार्थ मान लें तो उससे पूर्व उपस्थित होने वाले 'तट' रूप अर्थ को मुख्यार्थ कहना होगा, किन्तु वह तो लक्ष्यार्थ है, अतः उसे मुख्यार्थ नहीं कह सकते, कथञ्चित् यदि उसे मुख्यार्थ मान भी लें तो 'लक्षणा' होने के पूर्व उसका बाध होना चाहिये, लेकिन उसका 'बाध' भी नहीं हो रहा है, क्योंकि 'तट' पर 'घोष' होता ही है। इसलिए भी 'लक्षणा' नहीं होगी। इस रीति से अगली कारिका (सूत्र २६) के 'लक्ष्यं न मुख्यं' 'नाऽप्यस्य बाधः' इस प्रथम चरण से 'मुख्यार्थबाध' रूप लक्षणा के प्रथम कारण का अभाव बताया गया है।

(२) 'लक्षणा' होने में दूसरा कारण 'लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' है। यदि 'शैत्य-पावनत्व' आदि धर्मों (प्रयोजन) को लक्ष्यार्थ कहा जाय तो 'तट' को मुख्यार्थ कहना होगा तब मुख्यार्थ रूप 'तट' के साथ लक्ष्यार्थ रूप 'शैत्य-पावनत्व' आदि का (प्रयोजन का) सम्बन्ध बताना होगा, किन्तु 'शैत्य-पावनत्व' का सम्बन्ध तो 'गंगा' शब्द के मुख्यार्थ रूप 'जलप्रवाह' के साथ है, 'तट' के साथ नहीं है। इसलिए 'मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' रूप दूसरा हेतु भी नहीं है। इस बात को अगली कारिका के 'योगः फलेन नो' इस द्वितीय चरण के अंश से बताया गया है। तात्पर्य यह है कि 'लक्ष्यार्थ रूप' में कल्पित किये गये 'शैत्यपावनत्व आदि' फल (प्रयोजन) के साथ कल्पित मुख्यार्थ रूप 'तट' का सम्बन्ध भी न होने से 'लक्षणा' के दूसरे हेतु (कारण) का भी अभाव बताया गया है।

(३) अब 'लक्षणा' में तीसरा हेतु (कारण) 'रूढि या प्रयोजन में से किसी एक की स्थिति' है। किन्तु इन दोनों में से कोई एक भी यहाँ नहीं है। क्योंकि 'गङ्गा' शब्द 'शैत्य-पावनत्वादिधर्मों' में रूढ़ नहीं है। यदि 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ कहें तो पुनः उसका कोई 'अन्य प्रयोजन' कहना होगा। किन्तु 'शैत्य पावनत्वादि प्रयोजन' का कोई 'अन्य प्रयोजन' नहीं माना जा सकता। यदि 'अन्य प्रयोजन' मानने का आग्रह ही किया जाय तो उस 'प्रयोजन' का भी 'प्रयोजन', पुनः उसका भी 'प्रयोजन' कहना होगा, तब तो 'अनवस्था' दोष उपस्थित हो जायगा। अतः 'प्रयोजन' का पुनः प्रयोजन मानना उचित नहीं है। इसलिए 'रूढि और प्रयोजन' में से किसी एक (अन्यतर) की उपस्थितिरूप तीसरे कारण का भी अभाव है। इस कारण 'प्रयोजन की प्रतीति' 'लक्षणा' से नहीं करायी जा सकती। इस बात को कारिका के उत्तरार्ध के 'न प्रयोजनमेतस्मिन्' इस अंश से कहा गया है। यह अभिप्राय २६ वीं कारिका के तीन चरणों का है।

'प्रयोजन' को यदि 'लक्ष्यार्थ' कहें तो उसके विषय में 'शब्द' का 'स्खलद्-

(प्रयोजनप्रतिपादने लक्षणाया असामर्थ्यम्)

तथा च—

(सू०२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ १६ ॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् , न च तटं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न

गति' होना जरूरी है। अन्यथा मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ संबंध आदि के पश्चात् ही उस अर्थ का बोध होना चाहिये। 'लक्षणा' के प्रयोजक **'मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं' के** बिना यदि उस शब्द से 'अर्थ प्रतीति' न हो सके, तब उस 'अर्थ' को 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है। जैसे—'गङ्गा' शब्द का 'लक्ष्यार्थ' 'तट' है, क्योंकि मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के उपस्थित हुए बिना 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ को बताने में समर्थ नहीं है। अर्थात् वह 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ का बोध कराने में 'स्खलद्गति' है। इसलिए उस 'तट' रूप अर्थ को वह 'गंगा' शब्द 'लक्षणा' के द्वारा बता देता है। किन्तु 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन को बताने में 'गङ्गा' आदि लाक्षणिक शब्द 'स्खलद्गति' (असमर्थ) नहीं है। तात्पर्य यह है कि **शैत्य-पावनत्वादि धर्मों को (प्रयोजन को) 'मुख्यार्थबाध' के बिना भी वह शब्द बता देने में समर्थ है,** क्योंकि 'गंगा' शब्द के 'जल-प्रवाहरूप अर्थ' के साथ वे धर्म स्वयं ही उपस्थित होते हैं। इसलिए प्रयोजन रूप अर्थ के प्रतिपादन करने में वह 'शब्द' स्खलद्गति नहीं है। अतः 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' का बोध कराने के लिए 'लक्षणा' की **आवश्यकता नहीं है**। उस अर्थ को बताने के लिए तो 'व्यञ्जनाव्यापार' को ही मानना होगा।

तथा चेति। इसी अभिप्राय को मम्मटभट्ट २६वीं कारिका के द्वारा बता रहे हैं।

(सू० २६) लक्ष्यार्थ (तट) 'मुख्यार्थ' नहीं है, और न उसका यहाँ बाध होता है, तथा न उसका 'फल' (शैत्य-पावनत्व) के साथ 'सम्बन्ध' है, और उस 'प्रयोजन को लक्ष्यार्थ' मानने में कोई 'प्रयोजन' (फल) भी नहीं है, और न 'प्रयोजन' के विषय में 'लाक्षणिक शब्द' स्खलद्गति ही है। अर्थात् मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के बिना 'प्रयोजन' का बोध कराने में वह असमर्थ भी नहीं है। 'मुख्यार्थबाधादि' के बिना भी वह 'गंगा शब्द' **शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन** को अभिव्यक्त कर सकता है। 'मुख्यार्थ बाध' होने पर तो वह गंगा शब्द 'तट' को ही बताता है, 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को नहीं ॥ १६ ॥

यथेति। जैसे—'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में 'घोष' का आधार बनने के लिए 'गङ्गा' अपने 'जलप्रवाहरूप' मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) में बाधित होता है।

च गंगाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, नापि गंगाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ।

इसलिए वह (गङ्गाशब्द) 'लक्षणाव्यापार' की सहायता से 'तट' रूप लक्ष्यार्थ को बताता है, उसी प्रकार यदि 'तट' में भी वह (गङ्गाशब्द) बाधित हो, तब वह (गङ्गाशब्द) 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को **लक्षणा व्यापार** से बता सकता है। अर्थात् पहले तो 'तट' को 'गङ्गा' शब्द का **मुख्यार्थ** माना जाय, और उसमें (तट में) 'घोष' का **आधार** बनने की योग्यता का न होना समझा जाय, तब कहीं **मुख्यार्थ का बाध** कहा जायेगा और तब 'लक्षणा' से **प्रयोजन का बोध** कहा जा सकेगा। किन्तु न तो 'तट' रूप अर्थ 'गङ्गा' शब्द का **मुख्यार्थ** है, और न उसका बाध होता है। एवं च **मुख्यार्थबाध रूप प्रथम हेतु नहीं है**। और यदि 'तट' रूप अर्थ को 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ, हठात् मान भी लें, तब भी 'गङ्गा' शब्द के **'तट'** रूप **'कल्पित मुख्यार्थ'** का उस **लक्ष्यार्थ** (जिसे आप लक्षणा से बताना चाह रहे हैं) 'शैत्य-पावनत्वादि' के साथ **संबंध भी नहीं है**। क्योंकि 'शैत्य-पावनत्वादि' का **संबंध तो जलप्रवाह से है**, 'तट' से नहीं। इसलिए 'मुख्यार्थ' के साथ 'लक्ष्यार्थ' का **सम्बन्धरूप द्वितीय हेतु भी नहीं है**। अब **लक्षणा का तीसरा हेतु** 'रूढ़ि' अथवा 'प्रयोजन' में से **किसी एक की उपस्थिति** होना आवश्यक है। किन्तु यहाँ उसका **भी अभाव है**। क्योंकि 'प्रयोजन' को **लक्ष्यार्थ** मानने में कोई **'अन्य प्रयोजन'** भी नहीं दिखाई देता, और उस प्रयोजन को बताने में 'गङ्गाशब्द' **असमर्थ** (स्खलद्गति) भी नहीं है, क्योंकि वह (गङ्गाशब्द) **'तट'** रूप अर्थ को बताने में जैसा **समर्थ** है, वैसे ही वह **'प्रयोजन'** को भी बताने में **समर्थ** है। इसलिए 'प्रयोजन का बोध' लक्षणा से नहीं हो सकता। इस रीति से **'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ समझना संभव नहीं है** ॥ १६ ॥

फिर भी व्यञ्जना-विरोधी **'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ** ही मानना चाहें और उसके लिए 'प्रयोजन' में भी कोई 'अन्य प्रयोजन' बताने का प्रयत्न भी करें, तो भी वह **निरर्थक होगा**, क्योंकि उस दशा में वह 'अन्य प्रयोजन' भी 'लक्ष्य' ही होगा, तब उस प्रयोजन के लिए 'किसी तीसरे प्रयोजन' की आवश्यकता रहेगी, पुनः उस तीसरे प्रयोजन के लिए 'चौथे प्रयोजन' की, इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रयोजन की आवश्यकता होने से **'अनवस्था'** उत्पन्न होगी। इस प्रकार का अनवस्था दोष **'मूल' का ही विनाशक** हो जाता है। इसलिए मूल-विनाशक अनवस्था दोष के भय से भी **'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ नहीं कह सकते**। इसी अभिप्राय को **ग्रन्थकार** २७ वें सूत्र से **अब बता रहे हैं—**

(लक्षणाप्रयोजनस्य लक्षणाविषयत्वे दोषः)

(सू०२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताऽप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।

(प्रयोजनविशिष्टे लक्षणाया अनुपपत्तिः)

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते, गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

(सू० २७) इस प्रकार भी अनवस्था दोष होगा, जो मूल का ही नाशक हो जाता है ।

एवमिति । इस प्रकार यदि 'प्रयोजन लक्षित' होता है—यह कहें, तो वह 'अन्य प्रयोजन' से, और वह भी 'अन्य प्रयोजन' से लक्षित मानना होगा । इस प्रकार 'प्रयोजन' की **अविश्रान्त परम्परा** की कल्पना करते रहने के कारण मूलभूत प्रथम प्रयोजनरूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में भी बाधा पहुँचाने वाली **मूलक्षयकारिणी अनवस्था** होगी ।

प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा का खण्डन—

विशेष विवरण— यहाँ तक मम्मटभट्ट ने यह बताया कि **'प्रयोजन' का ज्ञान लक्षणा से नहीं हो सकता** । 'प्रयोजन' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए **'व्यञ्जना'** को स्वीकार करना ही होगा । किन्तु **'विशिष्ट' में लक्षणा** माननेवाला एक पक्ष अभी शेष है । 'विशिष्ट-लक्षणा' कहने का तात्पर्य यह है कि 'तट' रूप लक्ष्यार्थबोध के साथ ही साथ 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन का भी बोध हो जाता है । **अभिप्राय यह है** कि **'लक्षणा'** से केवल 'तट' का ही नहीं, अपितु **'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन-विशिष्ट तट** का बोध होता है । इसलिए उसके बोध के लिए **'लक्षणामूला व्यञ्जना' को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है** । इस विशिष्ट लक्षणावादी का खण्डन **मम्मटभट्ट** ने १७ वीं कारिका के उत्तरार्ध तथा १८ वीं कारिका से किया है । इस अवसर पर **विशिष्टलक्षणावादी** के खण्डनार्थ **ग्रन्थकार के द्वारा** दी गई **युक्ति का अभिप्राय** यह है कि **'ज्ञान का विषय'** तथा **'ज्ञान का फल'**—ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं । उनको एक साथ मिलाया **नहीं जा सकता** । 'लक्षणाजन्य ज्ञान' का विषय **'तट'** है, और उसका 'फल' (प्रयोजन) **शैत्य-पावनत्व आदि का बोध होना है** । अतः इन दोनों को एक साथ न मिलाकर अलग-अलग ही उनकी प्रतीति कहनी होगी, क्योंकि **'विषय'** और **'फल'** में **कार्य-कारणभाव** हुआ करता है । **'ज्ञान का विषय' ज्ञान** को पैदा करता है अर्थात् **'ज्ञान'** का कारण होता है ।

और **'ज्ञान का फल'** (प्रयोजन) **'ज्ञान'** का **'कार्य'** होता है। इसलिए उन दोनों (कार्य-कारण) की उत्पत्ति **एक-काल** (समकाल) में नहीं हो सकती। **निष्कर्ष** यह है कि **'ज्ञान का विषय'** और **'ज्ञान का फल'** दोनों **अलग-अलग हैं**। यह बात **न्यायमीमांसादर्शन** की **प्रक्रिया** से समझी जा सकती है। **'घट-पट'** आदि विषयों का जो ज्ञान होता है, उसका विषय **'घट-पट'** आदि होते हैं, और **वे 'ज्ञानोत्पत्ति' के 'कारण'** कहलाते हैं, इसलिए **उनकी सत्ता ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व** रहती है, इसमें किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है। किन्तु **'ज्ञान'** के **'फल'** के विषय में **न्याय और मीमांसा** दर्शन के सिद्धान्त अलग-अलग हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

'घट' या **'नील'** आदि **'विषयों'** (वस्तुओं) का ज्ञान, **'प्रत्यक्षादि प्रमाणों'** से हो जाता है। अर्थात् **'विषय'** (वस्तु) को देखते ही पहले उसका **'ज्ञान'** उत्पन्न होता है। किन्तु **'ज्ञान' का ज्ञान** कैसे होता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ **नैयायिकों** ने 'अनुव्यवसाय' की कल्पना की है। **'अनुव्यवसाय' का अर्थ है 'ज्ञान का ज्ञान'**। **प्रथमतः** **'घट'** को देखने पर **'अयं घटः'** यह ज्ञान होता है। **तदनन्तर 'घटज्ञानवान् अहम्'** अथवा 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में से 'अयं घट:' यह घट है—इस प्रकार का **पहला ज्ञान 'व्यवसायात्मक'** (**व्यवसाय**) ज्ञान है। और **तदनन्तर** होनेवाला 'घटमहं जानामि' या **'घटज्ञानवान् अहम्'** मैं घट को जानता हूँ या मुझे घट का ज्ञान है—यह **दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' है**। 'अयं घट:' इस 'प्रथम ज्ञान' का विषय **'घट'** है। और 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' इस 'दूसरे ज्ञान' का विषय **'घटज्ञान'** है। जैसे पहला **'व्यवसायात्मकज्ञान'** अपने 'विषय घट' से पैदा होता है, उसी प्रकार 'दूसरा ज्ञान' अपने विषय 'व्यसायात्मक घटज्ञान' से उत्पन्न होता है। अत एव उसे **'अनुव्यबसाय'** कहते हैं। यह 'अनुव्यवसाय', 'व्यवसायात्मक घटज्ञान' का फल है। अर्थात् घटज्ञान के विषयरूप 'घट' से उस 'घटज्ञान' का फलरूप 'अनुव्यवसाय' भिन्न है। इसलिए **'विषय'** तथा **'ज्ञान के फल'** को **अलग-अलग** मानना होगा। अतः **'विषय'** और **'फल'** दोनों की **समकालीन** (एक ही काल में) **उत्पत्ति नहीं** मान सकते। यह **न्यायदर्शन** का सिद्धान्त है।

मीमांसकों का ज्ञातता-सिद्धान्त—

मीमांसकों का **सिद्धान्त** उपर्युक्त 'न्यायसिद्धान्त' से कुछ भिन्न है। क्योंकि नैयायिकों ने 'अयं घट:' इस प्रकार ज्ञान होने के बाद उससे 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' इस प्रकार 'अनुव्यवसायज्ञान' की उत्पत्ति मानी है।

किन्तु **मीमांसक** 'अनुव्यवसाय' के स्थान पर **'ज्ञातता'** नामक **'धर्म'** की उत्पत्ति

मानते हैं। **मीमांसकों** का कहना है कि **'अयं घटः'** इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद **'ज्ञातो मया घटः'** इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में 'घट' में रहनेवाला **'ज्ञातता'** नामक धर्म भासित होता है। यह 'ज्ञातता' धर्म, 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान होने के पूर्व 'घट' में नहीं था। 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद ही वह **'ज्ञातता'** धर्म उसमें आया है। इसलिए वह **ज्ञान से उत्पन्न** हुआ है—यह मानना होगा। **'पूर्वज्ञान'** ही उक्त 'धर्म' की उत्पत्ति में **कारण** है। 'कारण' के बिना कोई भी 'कार्य' उत्पन्न नहीं होता है। अतः **'ज्ञान' के बिना 'ज्ञातता' धर्म भी 'घट' में उत्पन्न नहीं हो सकता।** किन्तु 'ज्ञातता' धर्म 'घट' में उत्पन्न तो हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीति में वह भास भी रहा है। अतः उसका कारण 'पूर्व ज्ञान' है—यह अवश्य ही मानना होगा। इस रीति से **'ज्ञातता' की अन्यथा अनुपपत्ति** होने के **कारण** (अर्थापत्तिप्रमाण से) **'ज्ञातता' से ही ज्ञान का ग्रहण** (ज्ञान) **होता है—यह मीमांसादर्शन का सिद्धान्त है।**

अनुव्यवसाय और ज्ञातता में अन्तर—

नैयायिकों के सिद्धान्त में 'ज्ञान' का ग्रहण (ज्ञान) **'अनुव्यवसाय'** से होता है, और **मीमांसकों** के सिद्धान्त में 'ज्ञान' का ग्रहण (ज्ञान) 'ज्ञातता' से होता है। **नैयायिक** का **'अनुव्यवसाय'** भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से उत्पन्न होता है, और **मीमांसक** की **'ज्ञातता'** भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। तब उन **दोनों के सिद्धान्तों में मौलिक भेद क्या है?** दोनों के अलग-अलग सिद्धान्त क्यों माने जांय?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि **नैयायिकों** का **'अनुव्यवसाय'** 'आत्मा' में **रहनेवाला** (आत्मनिष्ठ) **धर्म** है, और **मीमांसकों की 'ज्ञातता'** 'घट-पट-नील' **आदि विषयों में रहनेवाला** (विषयनिष्ठ) **धर्म है।** इस भिन्नता के कारण इन दोनों के अलग-अलग सिद्धान्त माने गये हैं।

प्रकृत प्रसंग में इसकी चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि जब यह स्वीकार हो चुका है कि **'ज्ञान'** का **'विषय'** और उसका 'फल'—पुण्यत्व, मनोहरत्व, शीतलत्व, पावनत्वादि भी **अलग-अलग** ही **स्वीकार करने होंगे,** किन्तु उनकी 'उत्पत्ति' को **समानकालीन मानना उचित नहीं** होगा। इसलिए **'विशिष्ट-लक्षणा'** का कथन **स्वीकार नहीं किया जा सकता।**

(पूर्वपक्ष) **ननु पावनत्वादीति।** अच्छा, यदि यह कहें कि पावनत्वादि **धर्म से समन्वित** हुआ **'तट'** ही **लक्षणा के द्वारा उपस्थित** किया जा रहा है, और **'गङ्गायास्तटे घोषः'** गंगा के तट पर घोष है, इस 'प्रतीति' की अपेक्षा **अधिक अर्थ** (पावनत्वादि से विशिष्ट तट) **की प्रतीति कराना ही 'लक्षणा' का प्रयोजन**

(सू०२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

कुत इत्याह—

(लक्ष्यप्रयोजनयोर्भिन्नत्वम्)

(सू०२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं च प्रकटता संवित्तिर्वा ।

है। अतः 'पावनत्वादिविशिष्ट' में लक्षणा हो सकती है। तब 'व्यञ्जना' को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? तात्पर्य यह है कि विशिष्ट में लक्षणा मान लेने से ही यदि काम चल जाता है तो एक अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानना व्यर्थ है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने पूर्वपक्ष उपस्थित किया है। उक्त पूर्वपक्ष के समाधानार्थ सू० २८ कारिका १७ को उपस्थित किया जा रहा है—

(सू० २८) प्रयोजन के सहित अर्थात् 'शैत्य-पावनत्वादि-विशिष्ट' तीर को 'लक्ष्यार्थ' (लक्षणीय) कहना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

कुत इति। क्यों उचित नहीं है, उसे बताते हैं—

(सू० २९) क्योंकि ज्ञान का विषय 'घट-पट' आदि अलग हैं और 'ज्ञान' का फल (प्रयोजन) नैयायिक के मत से 'अनुव्यवसाय' तथा मीमांसक के मत से 'ज्ञातता' अलग बताया गया है। अभिप्राय यह है कि 'नैयायिक' तथा 'मीमांसक' दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का 'विषय' और उसका 'फल' दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों के मत में 'ज्ञान' का 'विषय' तो समान है, किन्तु 'फल' के विषय में मतभेद है।

प्रत्यक्षादेरिति। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न (जन्य) हुए ज्ञान का विषय 'घट-पट-नील' आदि हैं; किन्तु 'फल' मीमांसक के मत में 'ज्ञातता' (प्रकटता) और नैयायिक के मत में 'अनुव्यवसाय' (संवित्ति) है।

विशेष विवरण—दोनों के ही मतों में 'ज्ञान' का विषय 'ज्ञान' के फल से भिन्न है। ज्ञान का कारण 'विषय' होता है। अतः उसकी अवस्थिति भी 'ज्ञान' के पूर्व रहती है। और 'फल' तो ज्ञान का कार्य है। अतः उसकी उत्पत्ति ज्ञान के बाद होती है। इसलिए 'लक्षणाजन्य ज्ञान' के विषय-'तटादि' और उसके फल-'पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि' अथवा 'शीतलत्व-पावनत्व आदि' की स्थिति भी अलग-अलग है। उन दोनों की 'समानकालीन उत्पत्ति' नहीं हो सकती। इसलिए 'प्रयोजन' के सहित 'तट' आदि को लक्ष्यार्थ कहना उचित नहीं है।

(प्रयोजनविशिष्टे लक्षणाभावः)

(सू०३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(लक्ष्यार्थानन्तरं प्रयोजनप्रतीतिः)

(सू०३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् ।

(सू० ३०) इस प्रकार विशिष्ट में लक्षणा नहीं कह सकते ।

व्याख्यातमिति । इसकी व्याख्या सूत्र के शब्दों से ही (निगदेनैव) हो जाती है । अर्थात् इसका विवेचन कारिका के शब्दों से ही हो जाता है ।

(सू० ३१) किन्तु लक्षित अर्थ में 'विशेष' हो सकते हैं । अर्थात् 'विवक्षित धर्म' (गुण), 'लक्षित वस्तु' में 'लक्षणा से भिन्न व्यापार' के द्वारा प्रतीत होंगे । अभिप्राय यह है कि **'लक्षणा'** से केवल 'तट' की उपस्थिति होने के बाद **'लक्षणा मूलक व्यञ्जना' से** उस 'तटादिरूप' लक्ष्यार्थ (लक्ष्यवस्तु) में **शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनों** की प्रतीति हो सकती है ॥ १८ ॥

तटादाविति । **'तट'** आदि लक्ष्यार्थ में जो **पावनत्वादि विशेष** (प्रयोजन रूप धर्म) प्रतीत होते हैं, वे **'अभिधा, तात्पर्या** (अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट के द्वारा स्वीकृत) तथा **लक्षणा से भिन्न व्यापार'** के द्वारा प्रतीत होते हैं । अतः **व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतनादि** शब्द से कहे जाने वाले उस **व्यञ्जनाव्यापार को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये** । उसको स्वीकार किये बिना 'प्रयोजन' का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

एवमिति । इस प्रकार लक्षणामूला (लक्षणा पर अधिष्ठित) **व्यञ्जना का** विवेचन किया गया ।

अभिधामूलक व्यंजना का लक्षण—

विशेष विवरण—इस प्रकार से **मीमांसकों** के व्यंजनाविरोधी मत का खण्डन करके ग्रंथकार **मम्मटभट्ट** ने अभिधा, लक्षणा से पृथक् **व्यञ्जनावृत्ति** के स्वीकार करने की आवश्यकता का सिद्धान्त बताया और उसका अच्छी तरह उपपादन भी किया । उस व्यञ्जनावृत्ति के भी दो भेद हैं—एक **'शाब्दीव्यञ्जना'** और दूसरी **'आर्थी-व्यञ्जना'** । पुनः **शाब्दी व्यञ्जना** के भी **'अभिधामूला'** तथा **'लक्षणामूला'** व्यञ्जना ये **दो भेद** होते हैं । लक्षणा का निरूपण करते समय प्रसंगतः प्राप्त **'प्रयोजन**

अभिधामूलन्त्वाह—

(अभिधामूलव्यञ्जनालक्षणम्)

(सू०३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

बोध' के लिए 'व्यञ्जना' की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब **लक्षणामूला-व्यञ्जना** का निरूपण भी उसी के साथ ग्रन्थकार ने कर दिया। अब **शाब्दी व्यञ्जना** के द्वितीय भेद **'अभिधामूला व्यञ्जना'** का निरूपण अगली कारिका के द्वारा किया जा रहा है।

अभिधामूलमिति । ग्रन्थकार अभिधावृत्ति पर अधिष्ठित व्यञ्जकत्व को बताते हैं—

(सू० ३२) 'संयोग-विप्रयोगादि' के द्वारा **अनेकार्थक शब्दों के 'वाचकत्व'** का किसी 'एक अर्थ' में नियन्त्रण कर दिये जाने पर उससे भिन्न **'अवाच्य अर्थ'** (अभिधावृत्ति से ज्ञात न होने वाले अर्थ) **की प्रतीति** कराने वाला जो **शब्द व्यापार** होता है, उसे **'व्यञ्जना'** (अभिधामूला व्यञ्जना) कहते हैं ॥१९॥

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि जब **'अनेकार्थक शब्द'** किसी **एक अर्थ में** 'संयोगादि' कारणों से **नियन्त्रित** हो जाते हैं, तब भी उनसे किसी **'अन्य अर्थ'** की जो प्रतीति होती रहती है, वह **प्रतीति 'जिस शब्द** व्यापार' **से होती है, उस 'शब्दव्यापार'** को ही 'अभिधामूला व्यञ्जना' **कहते हैं—यही** 'अभिधामूला व्यञ्जना' का लक्षण है। अनेकार्थक शब्दों का किसी एक ही अर्थ में नियन्त्रण करने वाले 'संयोग, विप्रयोग' आदि के अभिप्राय को समझाने के लिए **श्रीभर्तृहरि के** 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ से दो कारिकाओं को उद्धृत कर रहे हैं।

श्रीभर्तृहरि की दो कारिकाओं का अर्थ—

अनेकार्थक शब्द के 'वाच्यार्थ' का निश्चय (निर्णय) न हो पाने पर 'विवक्षित (विशेष) अर्थ' का निर्णय अग्रिम **१४ कारणों** से किया जाता है—

संयोग इति । (१) संयोग, (२) विप्रयोग, (३) साहचर्य, (४) विरोधिता, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिङ्ग, (८) अन्य शब्द की सन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) पुँल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्गादि-

इत्युक्तदिशा ।

सशङ्खचक्रो हरिः अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते । रामलक्ष्मणाविति दाशरथी । रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः । स्थाणुं भज भवच्छिदे

विशिष्ट व्यक्ति और (१४) स्वर आदि अर्थात् उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर इत्यादि १४ कारण हैं ।

इत्युक्तदिशेति । भर्तृहरि के द्वारा दर्शित इस पद्धति से 'अग्रिम उदाहरणों' में अनेकार्थक शब्दों का किसी 'एक अर्थ' में 'संयोग आदि' के बल पर नियन्त्रण किया जा सकता है ।

उक्त चौदह कारणों में से प्रत्येक का उदाहरण देते हुए समझा रहे हैं । सबसे पहले 'संयोग' और 'विप्रयोग' के उदाहरण दे रहे हैं—

संयोग और विप्रयोग की नियन्त्रकता—

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ।
शुकाहिकपिभर्केषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ।।

पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त 'हरि' शब्द—यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, मेढ़क का वाचक होता है। और पीत (कपिल) अर्थ में 'हरि' शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग किया जा सकता है । इस कोश के अनुसार 'हरि' शब्द अनेकार्थक है, परन्तु उसके साथ जब शंख-चक्र के संयोग अथवा विप्रयोग को बताया जाय तो वहाँ पर 'हरि' शब्द 'विष्णु' अर्थ का ही वाचक होगा । क्योंकि शंख-चक्र का संयोग तथा विप्रयोग उसी के साथ हो सकता है ।

सशंखचक्र इति । इसलिए सशंखचक्रो हरिः-शंख-चक्र के सहित हरि—यहाँ 'संयोग' से और अशंखचक्रो हरिः—शंख-चक्र से रहित हरि—यहाँ 'विप्रयोग' से यह 'हरि' शब्द 'अच्युत'—विष्णु के अर्थ में ही नियन्त्रित होता है ।

साहचर्य और विरोध की नियन्त्रकता—

रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे ।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च वाच्यवत् ।।

इस कोश के अनुसार 'राम' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी जब 'लक्ष्मण' के साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूप में 'राम' शब्द का प्रयोग किया जाता है । तब 'साहचर्य' के कारण उससे 'दशरथपुत्र राम' का ही ग्रहण किया जाता है । किन्तु जब 'रामार्जुनौ' इस प्रकार का प्रयोग होता है, तब 'परशुराम' तथा 'कार्तवीर्य अर्जुन' का विरोध रहने से 'विरोधिता' के कारण उसका 'परशुराम' अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है ।

इति हरे। सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयि-

---

रामलक्ष्मणाविति। 'राम-लक्ष्मणौ' इस प्रयोग में 'साहचर्य' के कारण 'राम-लक्ष्मण' दोनों शब्दों का 'दशरथ के पुत्रों' में नियन्त्रण हो जाता है। और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस प्रयोग में 'राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों का 'विरोधिता' के कारण क्रमशः 'परशुराम' तथा 'कार्तवीर्थ अर्जुन' के अर्थ में नियन्त्रण होता है।

अर्थ एवं प्रकरण की नियन्त्रकता—

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द के अनेक अर्थ कोश में बताये गये हैं—

स्थाणुर्ना ध्रुवः शंकुः स्थाणू रुद्र उमापतिः

'स्थाणु' शब्द के वृक्ष का ठूठ या स्थिर खड़ा हुआ खूँटा तथा 'शिव' आदि अनेक अर्थ होते हैं।

किन्तु 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति। इसमें 'स्थाणु' का प्रयोग जब संसार से पार उतारने की प्रार्थना में किया जाय तो वह कार्य (अर्थ) केवल 'शिव' से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए उस दशा में 'अर्थ' (प्रयोजन) के कारण 'स्थाणु' शब्द 'शिव' के अर्थ में ही नियन्त्रित किया जाता है।

इसी प्रकार सर्वमिति। 'सर्वं जानाति देवः'–देव सब जानते हैं। यहाँ पर 'प्रकरण' से अनेकार्थक 'देव' शब्द का 'आप' अर्थ मे नियन्त्रण हो जाता है। यह नियंत्रण 'प्रकरण' के कारण हुआ है।

कुपित इति। 'कुपितो मकरध्वजः' यहाँ पर 'मकरध्वज' शब्द के समुद्र, औषधि-विशेष, कामदेव आदि अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु 'मकरध्वज' कुपित हो रहा है यहाँ पर 'लिङ्ग' अर्थात् 'कोप' रूप चिह्न से 'मकरध्वज' शब्द को कामदेव के अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'लिङ्ग' (चिह्न) के कारण हुआ है।

देवस्येति। 'देवस्य पुरारातेः'—पुरारि देव का। यहाँ पर अनेकार्थक 'देव' शब्द को 'पुराराति' इस अन्य शब्द की 'सन्निधि' रहने से 'शंभु' अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। अतः यह नियंत्रण 'सन्निधि' के कारण हुआ है।

मधुनेति। 'मधुना मत्तः कोकिलः'–कोकिल मधु से मत्त हो रही है। यहाँ पर कोकिल को उन्मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसंत में होने से 'मधु' शब्द को वसंत के अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'सामर्थ्य' को देखकर किया गया है। अर्थात् यह नियंत्रण 'सामर्थ्य' के कारण हुआ है।

पात्विति। 'पातु वो दयिता मुखम्'-पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे। यहाँ

तामुखमिति साम्मुख्ये । भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद् देशाद्राजनि । चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ । मित्रं भातीति सुहृदि । मित्रो भातीति रवौ । इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् ।

पर अनेकार्थक '**मुख**' शब्द को 'औचित्य' के कारण आनुकूल्य (साम्मुख्य) अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण 'औचिती' (औचित्य) के कारण हुआ है।

भातीति । '**भात्यत्र परमेश्वरः**'–यहाँ परमेश्वर सुशोभित होते हैं। यहाँ पर अनेकार्थक '**परमेश्वर**' शब्द को राजधानी रूप '**देश**' के कारण '**राजा**' अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है । यह नियन्त्रण 'देश' के कारण हुआ है ।

चित्रभानुरिति । '**चित्रभानुर्विभाति**'–चित्रभानु चमक रहा है। यहाँ पर अनेकार्थक '**चित्रभानु**' शब्द दिन में 'सूर्य' के अर्थ में और रात्रि में 'अग्नि' के अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है । यह नियंत्रण '**काल**' के कारण हुआ है ।

मित्रमिति । '**मित्रम्भाति**' – मित्र सुशोभित होता है। यहाँ पर अनेकार्थक 'मित्र' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसका नियन्त्रण 'सुहृत्' अर्थ में होता है। किन्तु '**मित्रो भाति**' – इस प्रकार जब '**मित्र**' शब्द का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया जाता है, तब उसका नियन्त्रण 'सूर्य' अर्थ में किया जाता है । यह नियन्त्रण 'व्यक्ति' – लिङ्ग के कारण हुआ है ।

श्रीभर्तृहरि ने ऊपर प्रदर्शित की गई दो कारिकाओं में अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण करनेवाले संयोग, विप्रयोग आदि चौदह कारण बताये हैं । उनमें से अभी तक तेरह के उदाहरण दिखाये गये हैं। **चौदहवाँ हेतु** (कारण) '**स्वर**' कहा गया है। उसे **उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरभेद से वेद में ही अर्थ-भेद का नियामक माना गया है, काव्य में नहीं**। इसलिए अन्य उदाहरणों के साथ उसे नहीं दिखाया गया ।

इन्द्रशत्रुरिति । इसी अभिप्राय से ग्रंथकार ने कहा है कि, '**इन्द्रशत्रुः**' इसमें स्वर-विशेष के द्वारा अर्थ-विशेष का ज्ञान जो होता है वह वेद में ही होता है, काव्य में नहीं । इसीलिए स्वर सम्बन्धि लौकिक उदाहरण नहीं बताया गया ।

विशेष विवरण—ग्रंथकार ने 'इन्द्रशत्रुः' इस वैदिक प्रयोग में स्वर-भेद से अर्थ-भेद कैसे होता है ? उसे बताने के लिए व्याकरण के महाभाष्य से यहाँ उद्धृत किया है । महाभाष्यकार ने व्याकरण के अध्ययन के चौदह मुख्य प्रयोजन बताये हैं । उनमें से 'दोष-दूषित शब्द का प्रयोग न करना' भी एक प्रयोजन बताया है । महा-भाष्यकार कहते हैं—

एदहमेत्तत्थणिआ एदहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एदहमेत्तावत्था एदहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्' ॥

यहाँ पर 'इन्द्रशत्रुः' पद से सम्बन्धित घटना का संकेत जो किया गया है उसका उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय कांड के पंचम प्रपाठक में इस प्रकार किया गया है—

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप असुरों का भांजा भी था और देवताओं का पुरोहित भी था। अतः वह प्रत्यक्ष रूप से तो देवताओं का कार्य करता था किन्तु परोक्ष रूप से असुरों का भी कार्य करता रहता था। यह जानकर इन्द्र को बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्र से उसका सिर काट दिया। उसके मारे जाने पर त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने की इच्छा से एक यज्ञ आरम्भ किया। उस यज्ञ में उसने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' आदि मन्त्र का 'ऊह' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि, 'इन्द्र को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो'। यहाँ पर 'शत्रु' शब्द 'शातयिता' मारनेवाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता = इन्द्रशत्रुः' अर्थात् इन्द्र को मारनेवाला—इस अर्थ में 'षष्ठीतत्पुरुष' समास हो सकता है। और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य सः = इन्द्रशत्रुः' इन्द्र जिसका मारनेवाला है—इस विग्रह में 'बहुव्रीहि' समास हो सकता है। इन दोनों समासों से शब्द का अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। 'षष्ठीतत्पुरुष' समास करने पर 'इन्द्र को मारनेवाले पुत्र की वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और 'बहुव्रीहि' समास में 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्र के हाथ से हो उस पुत्र की उत्पत्ति हो—यह अर्थ हो जाता है। इन दो समासों में से 'षष्ठीतत्पुरुष' समासवाला अर्थ यजमान को अभीष्ट था। उस 'षष्ठीतत्पुरुष' समास में 'अन्तोदात्त' स्वर का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द को 'आद्युदात्त' स्वर से उच्चारण किया यह 'आद्युदात्त' स्वर 'बहुव्रीहि' समास में होता है। इस स्वर के कारण अर्थ ही उलटा हो गया। इस प्रकार 'अन्तोदात्त' और 'आद्युदात्त' स्वर के भेद से अनेकार्थक 'इन्द्रशत्रु' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में नियन्त्रण वेद में ही हुआ है।

आदिग्रहणादिति। कारिका में कहे गये 'स्वरादयः' में 'आदि' पद के ग्रहण करने से अभिनयादिकृत संकेत भी नियन्त्रक होते हैं। जैसे—

एदहमिति (एतावदिति)। इतने बड़े स्तनों वाली; और इतनी बड़ी आँखों वाली तरुणी, इतने दिनों में, इतनी अवस्था की, हो गई ॥ ११ ॥

(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ।।)

इत्यादावभिनयादयः ।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः । न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद् अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः । यथा—

इत्यादाविति । इस पद्य में अभिनय आदि ने भी एक अर्थ में नियन्त्रण कर दिया है । अर्थात् अभिनयादि भी विशेष स्मरण कराने में कारण होते हैं ।

विशेष विवरण—बुद्धिस्थित तत्तदर्थों के प्रतिपादन में शक्त रहनेवाले नानार्थक 'एतत्' आदि शब्दों की वाचकता 'अभिनय' के द्वारा स्तनादिगत परिमाण-विशेष रूप अर्थ में नियमित की गई है । 'आमलक मुकुलादि आकार' के अभिनय से स्तनप्रदर्शन, इसी प्रकार 'पद्मपलाशादि के आकार' के अभिनय से अक्षिप्रदर्शन, उच्चता पुष्टि आदि का प्रदर्शन करने के अभिनय से अवस्था का प्रदर्शन, 'अंगुल्यग्रधारणादि' के अभिनय से दिवस प्रदर्शन किया गया है । 'हस्तादि क्रिया के द्वारा नायिका आदि की अवस्था' के अनुकरण करने को 'अभिनय' कहते हैं । अथवा 'आकारादि प्रदर्शक हस्तादि चेष्टा' को 'अभिनय' कहते हैं । 'अभिनयादयः' में जो 'आदि' शब्द दिया गया है, उससे 'अपदेश' का ग्रहण करना चाहिये । 'हृदय आदि पर रखे हुए हस्तादि' के द्वारा अपने अभिमत (अभीष्ट) के निर्देश करने को 'अपदेश' कहते हैं । वह भी अभिधा का नियामक होता है । जैसे—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ।। (कु० सं० २।५५)

इस पद्य में नानार्थक 'इतः' शब्द बुद्धि-स्थित अर्थ का परामर्शक होने से उसका वाचकत्व, हृदयनिहित हस्तरूप 'अपदेश' के द्वारा 'वक्ता' में नियमित किया गया है । 'अपदेश' में अनुकरण न होने से, उसको 'अभिनय' नहीं कहा जा सकता ।

इत्थमिति । इस प्रकार संयोग विप्रयोग आदि के द्वारा अर्थान्तर के बोधकत्व का निरसन हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्द, जो कहीं अर्थान्तर को बताता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती, क्योंकि उसका नियन्त्रण (नियमन) हो चुका है । और मुख्यार्थबाध आदि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है । किन्तु अञ्जन अर्थात् व्यञ्जना-व्यापार ही हो सकता है ।

यथेति । जैसे—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥ १२ ॥

भद्रात्मन इति । सुन्दर आकृतिवाले, दूसरों से अपराजेय शरीर वाले, उच्चकुल में पैदा हुए, जिसने बाणों का संग्रह अथवा अभ्यास किया है, जिसकी गति (ज्ञान) अनुपप्लुत अर्थात् अबाधित है और जो पर अर्थात् शत्रुओं का निवारण करने वाला है उस राजा का हाथ (कर) हाथी के सूँड़ के समान सर्वदा दान के (मदके) संकल्प बोलकर छोड़े जाने वाले जल से सुन्दर रहता था ॥ १२ ॥

विशेष विवरण—उक्त श्लोक में किसी राजा की **प्रशंसा** की जा रही है। अतः उक्त पद्य में जितने **'अनेकार्थक शब्द'** हैं, उन सबका **'प्रकरण'** को देखते हुए **'एक ही अर्थ'** में **नियन्त्रण** हो जाता है। तथापि उक्त पद्य से 'गज (हाथी) परक' दूसरे अर्थ और उसके साथ **'उपमान-उपमेय-भाव'** की भी प्रतीति होती है। 'राजा' के समस्त विशेषण 'हाथी' के पक्ष में भी लगते हैं। अतः यह **'दूसरी प्रतीति'** जो हो रही है, **'अभिधामूलक** व्यञ्जना' से ही होती है, उसे बताने के लिए ही यह उदाहरण दिया गया है।

गज पक्ष में उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—भद्र जाति वाले, जिसकी पीठ पर चढ़ने में कठिनाई होती है, अर्थात् बहुत ऊँचे, जिसकी पीठ की हड्डी (वंश) बहुत विशाल और उन्नत है, जिसकी गति धीर (अनुपप्लुत) है, और जिसने अपने मद-जल के कारण बहुत-से भ्रमरों का संग्रह कर रखा है, ऐसे **उत्तम हाथी (परवारण) की सूँड़ (करके समान राजा का हाथ) मदजल के बहने से सर्वदा सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १२ ॥**

विशेष विवरण—उक्त पद्य में **प्राकरणिक अर्थ** 'राजा' के पक्ष में है, और **अप्राकरणिक अर्थ** 'गज' के पक्ष में है। क्योंकि **'राजा'** वाच्य है और **'गज'**—हस्ती, प्रतीयमान है। यहाँ पर अनेकार्थक 'भद्रात्मनः' इत्यादि शब्दों की 'अभिधा' का राजा में और तदन्वय योग्य अर्थ में 'प्रकरण' के द्वारा नियन्त्रण किये जाने पर भी सहृदयों को वासना वशात् (प्रतिभा के बल पर) **'गज'** की और 'तदन्वय योग्य अर्थ' की जो प्रतीति होती है, वह 'व्यञ्जना' से ही होती है।

यद्यपि द्वितीय अर्थ तात्पर्य का विषय है, तथापि 'तात्पर्यग्राहक-प्रकरण' आदि के न होने से उसे **'व्यङ्ग्यबोध का ही विषय'** समझना चाहिए। यहाँ पर उक्त **'विशेषण-विशिष्ट गज'** की प्रतीति में 'राजा' और 'गज' के अर्थों का **परस्पर सम्बन्ध** अवगत होता है उसमें **उपमानोपमेयभाव** भी व्यंग्य हो रहा है। **अन्यथा** परस्पर असम्बद्ध अर्थद्वय का बोधक होने से **वाक्यभेद** मानना होगा।

(व्यञ्जकशब्दलक्षणम्)

(सू०३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः—

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

(शब्दस्य व्यञ्जकत्वे अर्थस्य सहकारित्वम्)

(सू०३४) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति मम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ॥ २ ॥

शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ का सहयोग—

इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों भेदों का निरूपण करने के पश्चात् उसमें अर्थ की सहकारिता का प्रतिपादन ग्रंथकार कर रहे हैं--

(सू० ३३) उस व्यञ्जनाव्यापार से युक्त शब्द को **'व्यञ्जक शब्द'** कहते हैं।

तद्युक्त इति । उस से युक्त अर्थात् व्यञ्जना व्यापार से युक्त ।

(सू० ३४) क्योंकि वह व्यञ्जक शब्द दूसरे अर्थ के योग से अर्थात् अपने मुख्यार्थ का बोधन करने के पश्चात् उस प्रकार के दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है। इसलिए उसके साथ सहकारी के रूप में (अप्रधान रूप से) अर्थ भी व्यञ्जक होता है ॥ २० ॥

तथेति । सूत्रगत 'तथा' का अर्थ 'व्यञ्जक' किया गया है ।

विशेष विवरण—'भद्रात्मन' इस उदाहरण में केवल **'शब्द'** की व्यञ्जकता रहने पर भी शब्दार्थयुगलरूप काव्य की व्यञ्जकता न रहने से काव्य में **'ध्वनि'** का व्यवहार कैसे हो सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने दिया है—

—"यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ।"

सहकारी होने से **'अर्थ'** भी व्यञ्जक माना जाता है। शब्द में परिवृत्ति (परिवर्तन) सहिष्णुता न रहने से इस व्यञ्जना को शब्दमूलक व्यञ्जना कहते हैं। **'अर्थोऽपि'** यहाँ **'अपि'** शब्द से 'शब्द' का भी समुच्चय किया गया है। सूत्रस्थित 'तथा' शब्द का अर्थ है 'व्यञ्जक'।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में काव्य के शब्द और अर्थ के स्वरूप-निरूपण नाम का द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ ।

तृतीय उल्लासः

(पूर्वोक्तरसमन्वयः)

(सू० ३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः। तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्।

(सू० ३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

कीदृशीत्याह—

(अर्थनिष्ठव्यञ्जनालक्षणम्)

(सू० ३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥

(द्वितीय और तृतीय उल्लास की संगति)

द्वितीय उल्लास में ग्रन्थकार ने 'शब्द' तथा 'अर्थ' के स्वरूप का निर्णय करते हुए 'वाचक' 'लक्षक' और 'व्यञ्जक' तीन प्रकार के शब्दों का तथा 'वाच्य' 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण किया था। 'लाक्षणिक' शब्द निरूपण के प्रसङ्ग में 'प्रयोजन' की प्रतीति होने के लिए 'व्यञ्जनावृत्ति' की अत्यन्त आवश्यकता बताई थी। वह 'व्यञ्जनाशक्ति' भी 'शाब्दी व्यञ्जना' और 'आर्थी व्यञ्जना' के भेद से दो प्रकार की होती है। उक्त 'शाब्दी व्यञ्जना' के भी 'अभिधामूला व्यञ्जना' और 'लक्षणामूला व्यञ्जना' नाम के दो भेद होते हैं। 'शाब्दी व्यञ्जना' के दोनों भेदों का प्रतिपादन द्वितीय उल्लास में कर दिया गया है।

अब इस तृतीय उल्लास में 'आर्थी व्यञ्जना' के समस्त भेदों के उदाहरणों का निरूपण किया जा रहा है। इस उल्लास के आरम्भ में पूर्वोक्त विषयों का स्मरण दिलाकर 'आर्थी व्यञ्जना' का निरूपण किया जा रहा है।

(सू० ३५) अर्थों का वर्णन पूर्व ('वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः' सू० ६ में) किया जा चुका है।

अर्था इति। उनके अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के अर्थ— 'वाच्य' 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' तीन प्रकार के बताये गये थे।

(सू० ३६) 'उनकी अर्थव्यञ्जकता' (अर्थात् उन अर्थों पर आश्रित आर्थी व्यञ्जना) का वर्णन अब कर रहे हैं।

आर्थी व्यञ्जना के भेद—

कीदृशीति। वह 'आर्थी व्यञ्जना' कैसी होती है? उसे बताते हैं—

(सू० ३७) १. वक्ता, २. बोद्धा (बोद्धव्य), ३. काकु, ४. वाक्य,

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः ।

क्रमेणोदाहरति—

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥
(अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि ! त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥)

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते ।

---

५. वाच्य, ६. अन्यसन्निधि, ७. प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, १०. अन्यविध आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभाशाली सहृदयों को अर्थान्तर (अन्य अर्थ) को प्रतीति कराने वाला 'अर्थ' का जो व्यापार होता है उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं ॥ २२ ॥

बोद्धव्य इति । 'बोद्धव्य' का अर्थ प्रतिपाद्य है, अर्थात् जिससे बात कही जाय वह है । 'काकु' ध्वनि के विकार को कहते हैं । 'काकु' का लक्षण भी इसी प्रकार किया गया है कि, 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' । 'प्रस्ताव' का अर्थ प्रकरण है । अर्थ का यानी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थ का व्यापार 'आर्थी व्यञ्जना' के नाम से कहा जाता है ॥२२॥

विशेष विवरण—इस आर्थी व्यञ्जकता को भी 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानाम् ०'-सू० ७ पर बता चुके हैं । इसलिए यहाँ पर 'कीदृशी' कहकर उसका स्वरूप पूछा जा रहा है । अर्थात् जैसे 'शब्दव्यञ्जना' का स्वरूप 'नियन्त्रितार्थबोधकत्व' है, वैसे ही इस 'अर्थव्यञ्जकता' का कोई स्वरूप बताना चाहिये । इसलिए सू० ३१ वक्तृबोद्धव्य० इत्यादि से बताया गया है । एवं च 'वक्त्रादिवैलक्षण्यहेतुका, या प्रतिभाशालिनामन्यार्थधीः तद्धेतुव्यापारत्वम्'—ही अर्थव्यञ्जकता का स्वरूप है, ऐसा उद्योतकार ने कहा है ।

क्रमेणेति । 'आर्थी व्यञ्जना' के दसों प्रकार के उदाहरण क्रम से दे रहे हैं ।

(१) वक्ता की उक्ति के वैशिष्ट्य में (वक्तृवैशिष्ट्य के कारण) व्यञ्जना —

अइपिहुलमिति (अतिपृथुलमिति) । हे सखि ! मैं पानी से (जल से) भरे हुए बहुत बड़े घड़े को लेकर बड़ी तेजी से चली आ रही हूँ । परिश्रम के कारण निःश्वास और पसीने से परेशान हो गई हूँ, इसलिए थोड़ी देर यहाँ बैठकर सुस्ताऊँगी ॥ १३ ॥

अत्रेति । उक्त पद्य में वक्ता के (वक्ता की उक्ति के) वैशिष्ट्य के कारण चौर्य-रत (गुप्त संयोग) छिपाने की प्रतीति होती है ॥१३॥

ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ॥ १४ ॥
(औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥)

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरने के बहाने उपनायक के पास गई और उसके साथ संभोग करके आ रही है। छिपकर किये गये संभोग के चिन्ह पसीना आदि उसके मुख पर स्पष्टरूप से झलक रहे हैं। उन चिन्हों को देखकर कदाचित् यह मेरी सखी, चोरी से किये गये मेरे संभोग की शंका न करे, इसलिए वह कहने वाली स्त्री संभाव्यमान शंका के निवारणार्थ पहले ही स्वयं कह दे रही है कि पानी से भरा हुआ घड़ा लेकर और जल्दी-जल्दी चलकर आने से यह पसीना, सांस फूलना आदि ये सब कष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार वह अपने चौर्य रति को छिपाने का प्रयत्न कर रही है। यह बात वक्ता के उक्ति-वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्य है। यहाँ शब्द में परिवृत्तिसहत्व होने से अर्थ का ही व्यापार (वृत्ति) है ॥ १३ ॥

(२) बोद्धा (बोद्धव्य) के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

ओण्णिद्दमिति (औन्निद्र्यमिति)। हे सखि, मुझ मंदभागिनी के कारण नींद का न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निःश्वास आदि तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं, यह बड़े दुःख की बात है ॥ १४ ॥

अत्रेति । इस पद्य में **'दूती का'** उस नायिका के कामुक के साथ **'उपभोग व्यंग्य'** है। यह **'आर्थी व्यञ्जना'** का उदाहरण है।

(३) काकु के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

'आर्थी व्यञ्जना' में 'वक्ता' तथा 'बोद्धा' के वैशिष्ट्य के दो उदाहरण बताने के बाद अब 'काकु' के द्वारा **आर्थी** व्यञ्जना का तीसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

विशेष विवरण—'काकु' शब्द का अर्थ है **'विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि'**। अर्थात् एक विशेष प्रकार का बातचीत का लहजा। बोलने के इस विशेष लहजे से (ढंग से) भी अर्थ की व्यञ्जना होती है। उसे बताने के लिए नारायणभट्टकृत **'वेणीसंहार'** नाटक के प्रथम अंक में से **'भीमसेन'** की उक्ति को उदाहरण के रूप में दिया गया है। 'भीमसेन' और 'सहदेव' के संवाद का प्रसंग है। 'भीमसेन' के क्रोध को देखकर 'सहदेव' उनसे (भीमसेन से) कहते हैं कि आप के इस प्रकार के व्यापार को (विचार को) सुनकर **'कदाचित् खिद्यते गुरुः'** शायद गुरु (युधिष्ठिर) नाराज

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ १५ ॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं, प्रश्नमात्रेणापि-काकोर्विश्रान्तेः।

हो जायेगें। उसके उत्तर में 'भीमसेन' कह रहे हैं कि **'गुरुः खेदमपि जानाति'** अच्छा 'गुरु' (युधिष्ठिर) नाराज होना भी जानते हैं ?

तथाभूतामिति। उस राज-सभा में 'पाञ्चाली' (द्रौपदी) की इस प्रकार की (केश तथा वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में वल्कल धारण कर दीर्घ काल तक (बारह वर्ष तक) व्याधों (बहेलियों) के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिप कर (अज्ञात रूप में) जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया) और आज भी **उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है, पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर वे नाराज होते हैं** ॥१५॥

अत्रेति। यहाँ पर मेरे ऊपर क्रोध करना (नाराज होना) उचित नहीं है। **कौरवों पर नाराज होना उचित है।** यह अभिप्राय **'काकु'** के द्वारा प्रकाशित हो रहा ॥१५॥

'काकु' से आक्षिप्त अर्थ की ध्वनि-रूपता में शंका-समाधान

विशेष विवरण—शंका— ग्रंथकार ने इस ग्रन्थ के पंचम उल्लास में **'गुणीभूत-व्यङ्ग्य'** काव्य के आठ भेदों को बताया है। उनमें **'वाच्यसिध्यङ्गव्यङ्ग्य'** और **'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य'** नाम से **'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य'** के दो भेद गिनाये गये हैं। वहाँ भी **'वेणीसंहार नाटक'** से उद्धृत की गई भीमसेन की इसी प्रकार की निम्नलिखित उक्ति को **'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य'** के उदाहरण में प्रस्तुत किया है—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

यदि **तुम्हारे राजा** (युधिष्ठिर) किसी शर्त पर 'कौरवों' से **संन्धि कर भी लें**, तो क्या मैं 'सौ कौरवों' का युद्ध में क्रुद्ध होकर **नाश नहीं करूँगा ?** अथवा 'दुःशासन' की छाती का रुधिर (खून) क्या नहीं पीऊँगा ? अथवा 'सुयोधन' की रुओं को गदा से क्या नहीं तोड़ूंगा ?

तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहंतेअ कवाला ण सा दिट्ठि ॥ १६ ॥
(तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥)

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते ।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।

इस पद्य का उपर्युक्त अर्थ 'वाच्यार्थ' है। परन्तु 'भीम' के बोलने के ढंग से अर्थात् 'काकु' के द्वारा यह प्रकट हो रहा है कि 'युधिष्ठिर' भले ही उनसे सन्धि कर लें किन्तु 'मैं' तो अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करके ही रहूँगा। यहाँ पर यह 'प्रतीत होने वाला अर्थ' 'काकु' से आक्षिप्त होने के कारण इस पद्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' माना गया है। 'तथाभूताम्' इत्यादि प्रकृत उदाहरण भी उसी प्रकार का है। अतः इसे भी 'काक्वाक्षिप्त' होने से अथवा 'वाक्यसिद्धि का अंग' होने से 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' मानना ही उचित है। तब इसे 'ध्वनि काव्य' के उदाहरण रूप में कैसे दिया जा रहा है ?

न चेति। समाधान—यहाँ पर 'काकु' (से लभ्य अर्थ) 'वाच्य की सिद्धि' में अंग है, इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) है, (ध्वनि काव्य नहीं है)–यह 'शंका' नहीं करनी चाहिए। क्योंकि 'प्रश्नमात्र' से भी काकु की विश्रान्ति हो सकती है। अर्थात् यहाँ 'काकु' केवल प्रश्नमात्र में ही विश्रान्त हो जाता है। उससे 'व्यङ्ग्य' आक्षिप्त नहीं हो रहा है।

(४) वाक्यवैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

तइ आ इति (तदा ममेति)। उस समय मेरे कपोल (गाल) पर गड़ाई हुई (अपनी) दृष्टि को कहीं और (अन्यत्र) नहीं ले जा रहे थे। किन्तु अब मैं भी वही हूँ, मेरे गाल भी वे ही हैं, किन्तु तुम्हारी (मेरे गाल पर ही टिकी रहने वाली) दृष्टि वैसी नहीं है ॥ १६ ॥

अत्रेति। यहाँ मेरे गाल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी, उसके चले जाने पर कुछ और ही हो गई है। इसलिए तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता पर आश्चर्य हो रहा है—यह अर्थ नायिका के वाक्य से प्रकट होता है।

(५) वाच्यवैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

उद्देशोऽयमिति। हे तन्वि ! (हे कृशोदरि) (इस विशेषण से नायिका की

किञ्चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥ १७ ॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥ १८ ॥

मदन-वेदना-ग्रस्तता सूचित होती है) सरस हरी-हरी कदली (केले) के वृक्षों की कतार से अत्यन्त सुशोभित (मनोहर) प्रतीत होने वाला और कुञ्जों के उत्कर्ष के कारण सुन्दरियों के हाव-भावों को अङ्कुरित कर देने वाला यह नर्मदा का ऊँचा प्रदेश (स्थान) है । अभिप्राय यह है कि केवल यह सामान्य नदी नहीं है, अपितु 'नर्म= रतिसुखम् ददाति इति नर्मदा' जो असाधारण रतिक्रीड़ा के सुख को देने वाली है उसी का यह ऊँचा प्रदेश है । और यहाँ 'सुरत' के मित्र (पुनः-पुनः सुरत-क्रीड़ा के लिए उत्तेजना देने वाले) वे पवन बहते हैं, जिसके आगे-आगे (वसन्तादि ऋतु का) अवसर न होने पर भी धनुष धारण किये हुए अत्यन्त उग्र रूप में उत्तेजना देने वाला कामदेव चलता रहता है ॥ १७ ॥

अत्रेति । यहाँ 'सुरत-क्रीडा' के लिए कुञ्ज के भीतर प्रवेश करो (चलो) । यह अर्थ नायक के उक्तिवैशिष्ट्य से अभिव्यञ्जित होता है ॥ १७ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'नर्मदा' के उन्नत प्रदेश (स्थानविशेष) तथा उसके विशेषणीभूत वायु, कुंज आदि 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति 'वाच्य के वैशिष्ट्य' से होती है । इसलिए यह 'वाच्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण है ।

वाक्य और वाच्यवैशिष्ट्य में भेद—

'वक्ता' और 'बोद्धा' के वैशिष्ट्य के कारण जैसे 'आर्थी व्यञ्जना' के दो भेद होते हैं उसी प्रकार 'वाक्य' और 'वाच्य' के वैशिष्ट्य के कारण होने वाले भेद से भी 'आर्थी व्यञ्जना' के दो भेद माने जाते हैं । किन्तु दोनों भेदों का एक ही उदाहरण बन सकता है । उनमें केवल प्राधान्य-अप्राधान्य की विवक्षा से ही अन्तर हो जाता है । जब 'वक्ता' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब वही पद्य 'वक्तृ-वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो जाता है । और जब 'बोद्धा' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब वही पद्य 'बोद्धव्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन जाता है । उसी प्रकार जहाँ 'वाक्य' की प्रधानता विवक्षित हो वहाँ वही पद्य 'वाक्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो जाता है । और जहाँ उसके 'वाच्य' अर्थ का प्राधान्य विवक्षित रहता है वहाँ वही 'वाच्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन जाता है । यह भेद केवल विवक्षा के अधीन है ।

(६) अन्य-सन्निधि के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

णोल्लेइ इति (नुदतीति) । निर्दय (अनार्द्रमनाः) सास घर के सम्पूर्ण कार्य

(नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥)

अत्र सन्ध्यासङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते।

सुव्वह समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।
एमे अ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥ १९ ॥
(श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि ! सज्जय करणीयम् ॥)

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते।

मुझसे ही कराती है, इसलिए समय कभी मिलता भी है तो सायंकाल के समय क्षण-मात्र (थोड़ा बहुत) विश्राम मिल जाता है, और कभी वह भी नहीं मिलता है ॥१८॥

अत्रेति। यहाँ सायंकाल का समय 'संकेत काल' है—यह बात (गुरुजनों की सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण दूत आदि किसी) तटस्थ के प्रति किसी (नायिका) के द्वारा प्रकट की जा रही है ॥ १८ ॥

विशेष विवरण—यहाँ अन्य लोगों के समीप रहने के कारण स्पष्ट रूप से संकेत काल आदि के सम्बन्ध में बात करना सम्भव नहीं है। अतः इस प्रकार से तटस्थ दूत आदि से 'संध्या के समय मिलने का अवसर निकल सकता है'—यह बात सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जना से सूचित की गई है।

(७) प्रकरणरूप प्रस्ताव के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का (वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का) उदाहरण—

सुव्वह इति (श्रूयते इति)। हे सखि, सुना जाता है कि, तुम्हारे प्रिय पति आज एक प्रहर के भीतर ही आवेंगे, तो तू योंही क्यों बैठी है, उनके लिए खाने पीने की व्यवस्था अथवा अपने शृङ्गार आदि करने योग्य कार्यों की तयारी कर ॥ १९ ॥

अत्रेति। यहाँ उपपति के पास जाने के लिए उद्यत हुई किसी अभिसारिका को उसकी सखी मना कर रही है, कि अब यह अभिसार करना इस समय उचित नहीं है ॥ १९ ॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'अद्यैव' से सूचित किया है कि 'कालान्तर' से नहीं। 'प्रहरमात्रेण' से बताया है कि 'विलम्ब' से नहीं। 'समागमिष्यति' से सूचित किया है कि 'अपना काम पूरी तरह सम्पन्न करने के कारण पुनः उसे कहीं जाना नहीं है' इस प्रकार अभिसरणोपयोगि-वेषविन्यासादि के प्रसंग में उस रहस्य को जाननेवाली उसकी सखी पति के आगमन की सूचना देकर उसके अभिसरण का निषेध कर रही है। प्रसंग जाननेवाले सामाजिक इस व्यंग्यार्थ को समझ जाते हैं ॥ १९ ॥

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥ २० ॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ॥

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥ २१ ॥
(गुरुजनपरवश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥)

---

(८) देश के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना (वाच्यार्थ की व्यंजकता) का उदाहरण-

सखीवेषधारी स्वामी के साथ आई हुई अपनी सहचरी को देखकर अन्य सखियों के प्रति नायिका की यह उक्ति है—

अन्यत्रेति । हे सखियों तुम कहीं अन्यत्र जाकर फूल तोड़ो, और यहाँ मैं तोड़ रही हूँ । मैं दूर तक चलने में समर्थ नहीं हूँ । इसलिए तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, मुझ पर कृपा करो, अर्थात् आप और कहीं जाकर अपना काम करो । यहाँ मुझे अपना काम करने दो ॥ २० ॥

अत्रेति । यहाँ यह एकान्त स्थान है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक को तुम यहाँ भेज दो—यह बात अपनी किसी विश्वस्त सखी से कोई कह रही है ॥ २० ॥

विशेष विवरण—सखियों के अन्यत्र चले जाने से यह स्थान (देश) एकान्त का है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक (सखी-वेषधारी कामुक) को तुम प्रेरित करो—इस प्रकार विश्वासपात्र प्रिय सखी के प्रति देश-वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जित किया जा रहा है । यहाँ पर 'वाच्यार्थ' तो सामान्य सखियों को विषय कर रहा है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रिय सखी को विषय कर रहा है । यहाँ पर 'कुसुमावचाय' को उद्देश्य कर अन्यदेशाधिकरणकत्व की विधेयता होने से प्रधानता है । अतः 'देश वैलक्षण्य' से ही व्यञ्जकत्व है । और पूर्व निर्दिष्ट 'उद्देशोऽयम्' (श्लो० १७) उदाहरण में 'देश' की विशेषणता होने से अप्रधानता थी, इसलिए प्रधानीभूत वाच्य की ही विलक्षणता होने से उसी में व्यञ्जकत्व माना गया था । यही दोनों में भिन्नता है ॥ २० ॥

(९) काल के वैशिष्ट्य में वाच्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण—

गुरुअणेति (गुरुजनेति) । गुरुजनों के परवश रहने वाले हे प्रिय ! मैं मन्दभागिनी तुम से क्या कहूँ (वास्तव में तो न 'तुम' जाना चाहते हो और न 'मैं' भेजना चाहती हूँ । परन्तु माता-पिता आदि गुरुजनों के आदेश के कारण) आज

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि तव तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥ २२ ॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन ।

अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

(इस वसन्त ऋतु के समय में) यदि जा रहे हो तो जाओ, (आगे) क्या करना चाहिए यह बात (मेरी मृत्यु के बाद) तुम स्वयं सुन लोगे ॥ २१ ॥

अत्रेति । यहाँ आज 'वसंत' के समय यदि तुम जा रहे हो तो जाओ, मैं तो जीवित नहीं रहूँगी, और तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नहीं जानती—यह अभिव्यक्त हो रहा है ॥ २१ ॥

(१०) 'आदि' पद से ग्राह्य 'चेष्टा' का व्यञ्जकत्व—

आदीति । कारिका में दिये गये 'आदि' पद के ग्रहण से 'चेष्टा' आदि का ग्रहण करना चाहिये । उनमें से 'चेष्टा' के वैशिष्ट्य में व्यञ्जकत्व का उदाहरण—

द्वारोपान्तेति । दरवाजे के समीप मेरे पहुँचने पर उस अनिन्द्य सुन्दरी ने अपनी दोनों ऊरुओं को फैलाकर फिर एक दूसरे से चिपका लिया, सिर पर घूँघट काढ़ लिया, आँखें नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाओं को सिकोड़ लिया ॥ २२ ॥

अत्रेति । यहाँ चेष्टा से प्रच्छन्न कान्त-विषयक अभिप्राय-विशेष व्यंग्य है ॥ २२ ॥

निराकांक्षेति । निराकांक्षता (जिज्ञासा की निवृति) के लिए और प्रसङ्ग प्राप्त होने से सब भेदों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं । वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से मिलकर भी इनके उदाहरण हो सकते हैं ।

अनेनेति । इसी क्रम से लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के व्यञ्जकत्व के उदाहरणों को भी समझना चाहिये ।

(शब्दस्यापि सहकारितया व्यञ्जकत्वम्)

(सू०३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति मम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग—

शाब्दी व्यञ्जना के निरूपण के अन्त में यह कहा गया था कि उसमें (शाब्दी व्यञ्जना में) 'शब्द' मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और 'अर्थ' उसका सहकारी होता है । उसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में 'अर्थ' मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और 'शब्द' उसका सहकारी होता है, इसी बात को ग्रन्थकार बता रहे हैं ।

(सू० ३८) क्योंकि शब्द-प्रमाण से गम्य होने वाला 'अर्थ' ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है । इसलिए उसके (अर्थ के) व्यञ्जकत्व में शब्द भी सहकारी होता है ॥ २३ ॥

शब्देति । **'शब्द-प्रमाण'** से गम्य हुआ अर्थ, **'अर्थान्तर'** को व्यक्त करता है— इस कथन से यह सूचित किया जा रहा है कि **'अनुमानादि अन्य प्रमाणों' से वेद्य अर्थ, 'व्यञ्जक' नहीं होता** है ॥ २३ ॥

इस **'तृतीय उल्लास'** में **'वक्ता बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य' से 'आर्थी व्यञ्जना' के** दस भेद और उनके उदाहरण प्रदर्शित किये गये । इसके पूर्व **'द्वितीय उल्लास'** में **'शाब्दी व्यञ्जना'** का निरूपण किया गया था । अतः 'व्यञ्जना के दोनों भेदों' के विवेचन के साथ 'ध्वनि-काव्य' का सामान्य निरूपण समाप्त हुआ है । इसके आगे चतुर्थ उल्लास में 'ध्वनि-काव्य' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य' का निर्वचन किया जायगा ।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में अर्थव्यञ्जकता-निर्णयनामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थ उल्लासः

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथाऽपि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(उल्लास-सङ्गति)

विशेष विवरण—ग्रन्थकार ने प्रथम उल्लास में **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि'** इस प्रकार 'काव्य' का लक्षण किया है। इस लक्षण में **'शब्दार्थौ'** यह पद **'विशेष्य'** है, और **'अदोषौ'** तथा **'सगुणौ'** और **'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'** ये तीन पद उसके **विशेषण** रूप में दिये हैं। 'काव्य-लक्षण' को स्पष्ट करने के लिए लक्षणगत इन चारों पदों की व्याख्या के रूप में ही ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग की रचना की गई है। अत एव ग्रन्थकार ने **द्वितीय उल्लास में सबसे पहले 'शब्द' और 'अर्थ' के स्वरूप का निर्णय किया है।** उसी प्रसङ्ग में **शब्द** (वाचक, लक्षक, व्यञ्जक) तथा **अर्थ** (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) **के भेदों का निरूपण किया है, और अन्त में 'शाब्दी व्यञ्जना' के भेदों को बताकर तृतीय उल्लास में 'आर्थी व्यञ्जना' का निरूपण किया है।** तात्पर्य यह है कि काव्य-लक्षण के विशेष्य भाग **'शब्दार्थौ'** की व्याख्या तीसरे उल्लास तक समाप्त हो जाती है। अब इसके बाद क्रम-प्राप्त **'अदोषौ'** आदि विशेषणों की व्याख्या ग्रन्थकार को करनी चाहिए थी परन्तु 'अदोषौ' 'सगुणौ' आदि विशेषणों के अवयव-स्वरूप उन दोष, गुण आदि का निरूपण न करके **इस चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-काव्य के भेदों का निरूपण ग्रन्थकार आरम्भ कर रहे हैं।**

ग्रन्थकार के द्वारा इस क्रम-भेद का कारण यह है कि **'गुण' 'दोष' 'अलङ्कार' आदि सब काव्य के 'धर्म' हैं। और 'काव्य' 'धर्मी' है। जब तक 'काव्यरूप धर्मी' का पूर्ण ज्ञान न हो तब तक उसके 'धर्मों' का स्वरूप या हेयता या उपादेयता आदि का ज्ञान भी यथार्थ रूप में नहीं हो सकता।** अतः गुण, दोष आदि धर्मों का निरूपण करने के पूर्व, भेद-प्रभेद सहित काव्य का सम्पूर्ण स्वरूप समझा देना आवश्यक है। **'काव्य का लक्षण' और उसके 'ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य तथा चित्रकाव्य' ये तीन** मुख्य भेद प्रथम उल्लास में बता दिये गये हैं, तथापि उनके प्रभेदों का निरूपण करना अवशिष्ट है। उसे चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ इन तीन उल्लासों में ग्रन्थकार करेंगे, **इस चतुर्थ उल्लास में 'ध्वनिकाव्य' के अवान्तर भेदों का वर्णन विस्तार के साथ किया जा रहा है।** पञ्चम उल्लास में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के भेदों का और षष्ठ उल्लास में 'चित्र काव्य' के भेदों का वर्णन किया जायगा। इस

(ध्वनिभेदाः)

(सू०३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥

प्रकार तीन उल्लासों में काव्य के भेद-प्रभेदों का निरूपण करने के पश्चात् सप्तम उल्लास से 'दोष', 'गुण', 'अलंकार' आदि का विचार करेंगे, इस प्रकार दशम उल्लास तक काव्यलक्षण की व्याख्या पूर्णरूप से समाप्त हो जायगी ।

क्रम-परिवर्तन करने की आवश्यकता को दिखाते हुए ग्रन्थकार इस चतुर्थ उल्लास का आरम्भ कर रहे हैं—

यद्यपीति । यद्यपि (काव्यलक्षण के विशेष्य भाग) शब्द तथा अर्थ का निर्णय कर चुकने पर (क्रमप्राप्त) दोष, गुण तथा अलङ्कारों के स्वरूप को कहना चाहिए था, किन्तु **धर्मी** (मुख्यभूत-काव्य) **का निरूपण करने पर ही** (दोष, गुण आदि) **धर्मों की हेयता अथवा उपादेयता का ज्ञान हो सकता है, इसलिए** (दोष आदि का निरूपण न करके पहले धर्मी रूप) **काव्य के भेदों को कह रहे हैं ।**

स्मर्त्तव्य—

विशेष विवरण—ग्रन्थकार 'ध्वनि-काव्य' के भेदोपभेदों को बता रहे हैं। उन्हें समझने के लिए प्रथम उल्लास में किये गये काव्य-भेदों का स्मरण करना होगा। ग्रन्थकार ने वहाँ पर काव्य के 'ध्वनि', 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'चित्रकाव्य' नाम से तीन प्रकार के भेद किये थे । इन तीनों मुख्य भेदों के अन्य अवान्तर भेद भी होते हैं। इन सभी **'भेदोपभेदों'** का क्रमशः निरूपण होगा । अतः प्रसङ्ग-प्राप्त सब से पहले **'ध्वनि-काव्य' के अवान्तर भेदों का विभाजन इस चतुर्थ उल्लास में किया जा रहा है ।**

अविवक्षितवाच्य-लक्षणामूलध्वनि के दो भेद—

यद्यपि 'ध्वनि-काव्य' के भेदोपभेदों का भी बहुत बड़ा विस्तार है, तथापि उसके मुख्य दो भेद हैं—एक **'अविवक्षितवाच्यध्वनि'** और दूसरा **'विवक्षितवाच्य-ध्वनि'** । 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' का दूसरा नाम 'लक्षणामूलध्वनि' तथा 'विवक्षित-वाच्यध्वनि' का दूसरा नाम 'अभिधामूलध्वनि' भी है । लक्षणामूलध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं की जाती । इसीलिए उसको 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' कहते हैं। इसके भी पुनः दो अवान्तर भेद होते हैं—१ **'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य'** और २ **'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'** । अब **'अविवक्षितवाच्यध्वनि'** (लक्षणामूल ध्वनि) **के दोनों भेदों के लक्षण तथा उदाहरण** प्रस्तुत कर रहे हैं—

(सू० ३९) **'अविवक्षितवाच्य'** (लक्षणामूल) **जो ध्वनि है उस ध्वनि में 'वाच्य'** (वाच्यार्थ) **'अर्थान्तर में सङ्क्रमित'** (हो जाता है) **या 'अत्यन्त**

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥ २३॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति॥

तिरस्कृत' हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अविवक्षितवाच्यध्वनि के 'अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'—ये दो भेद होते हैं॥ २४॥

लक्षणामूल० इति। अविवक्षितवाच्य-ध्वनि को ही 'लक्षणामूल-ध्वनि' भी कहते हैं, इसलिए 'लक्षणामूल-गूढव्यङ्ग्य' जहाँ प्रधान रहता है, वहीं पर 'वाक्य की विवक्षा नहीं' होती है। यह 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' का ही एक प्रकार है।

ग्रन्थकार ने कारिका में यद्यपि 'अविवक्षितवाच्यो ध्वनिः' ऐसा विशेष्य के रूप में प्रथमान्त 'ध्वनि शब्द' का प्रयोग न कर उसी का 'ध्वनौ' ऐसा सप्तम्यन्त पद का प्रयोग किया है, अतः उसी प्रयोग से पूर्व भी 'ध्वनिः' ऐसा प्रथमान्त पद का आक्षेप कर लेना उचित है। वृत्तिकार ने इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है कि 'ध्वनौ' इस सप्तम्यन्त प्रयोग से पूर्व कथित 'ध्वनि' का अनुवाद कर लिया जाता है, और अनुवाद करने के कारण ही पूर्व वाक्य में 'ध्वनिः' इस प्रथमान्त विशेष्य पद का अध्याहार भी कर लिया जाता है। इस 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' में कहीं पर 'वाच्यार्थ' यथाश्रुत रूप से अन्वित होने में उपयुक्त नहीं रहता, इसलिए वह किसी अर्थान्तर में परिणत हो जाता है। उस समय उसे 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि' कहते हैं।

अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य का उदाहरण—

त्वामस्मीति। मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय बैठा है, इसलिए अपनी बुद्धि को जरा सम्भाल कर रहना॥ २३॥

अत्रेति। यहाँ 'वच्मि' का साधारण अर्थ 'कथन', प्रकृत में अनुपयुक्त है। इसलिए वह 'उपदेश' के अर्थ में परिणत हो जाता है। अतः यह 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि' का उदाहरण है॥ २३॥

विशेष विवरण—ऊपर कही हुई उक्ति में कोई विद्वान् अपने पुत्र या शिष्य से कहता है कि 'देख, मैं तुझसे कहता हूँ'। यहाँ कहने वाला और सुनने वाला (वक्ता और बोद्धा) दोनों एक दूसरे के सामने हैं। ऐसी स्थिति में 'त्वां वच्मि' पदों को बिना कहे भी बात कही जा सकती है। अतः 'त्वाम्' पद का प्रयोग अन्य लोगों से

कचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति ।

व्यावृत्त किये हुए पुत्र या शिष्य की **'विशेषता'** को सूचित करता है। वह विशेषता **'कृपापात्रता'** रूप अथवा **'अनुभवहीनता'** रूप आदि हो सकती है। इसी प्रकार **'वच्मि'** इस क्रिया पद से उसके कर्त्ता **'अहम्'** का भी ज्ञान हो सकता है, तब **'अस्मि'** अर्थात् **'अहम्'** इस विशेष पद का प्रयोग करना अनावश्यक है, किन्तु 'अस्मि' (अहम्) पद प्रयोग कहने वाले की **'विशेष-हितकामना'** और **'अनुभव-शीलता'** आदि को सूचित कर रहा है। इसी प्रकार **'वच्मि'** पद अपने **'कथन रूप साधारण अर्थ'** को छोड़कर **'उपदेश करता हूँ'** (उपदिशामि) इस **'विशेष अर्थ'** को बता रहा है। इस रीति से उक्त पद्य के **'अनेक पद'** अपने **वाच्यार्थ को बताने में अनुपयुक्त रहने के कारण अर्थान्तर में संक्रमित हो जाते हैं।** इसलिए यह **'लक्षणामूल-ध्वनि'** (अविवक्षितवाच्यध्वनि) के **'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि'** संज्ञक अवान्तर भेद (उपभेद) का उदाहरण है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का उदाहरण—

'अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) **ध्वनि'** का दूसरा भेद **'अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि'** है। जहाँ **'वाच्यार्थ'** का वाच्यतावच्छेदक रूप से **अन्वय संगत** नहीं होता है, वहाँ **'शब्द'** अपने **'सामान्य अर्थ'** को छोड़कर **'स्व-सम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ' को बताता है,** वहाँ **'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि'** होता है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

कचिदिति। कहीं वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से **अत्यन्ततिरस्कृत** हो जाता है। (उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि कहते हैं)। जैसे—

उपकृतमिति। आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशंसा की जाय। हे मित्र ! हमेशा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक सुखी होकर इस संसार में रहो ॥ २४ ॥

एतदिति। कोई अपकृत व्यक्ति अपने अपकार करने वाले से **विपरीत-लक्षणा** के द्वारा यह कह रहा है ॥ २४ ॥

विशेष विवरण—किसी मित्र ने अपने मित्र का जब बहुत अपकार किया तब उस अपकार करने वाले मित्र के प्रति उस दुखी हुए अपकृत व्यक्ति का यह कथन है। इसमें **'उपकृतम्'** आदि शब्दों के मुख्य अर्थ की कोई भी संगति नहीं लग रही है। अतः **विपरीतलक्षणा** (वैपरीत्यसम्बंधमूलक-लक्षणा) से उन शब्दों का **अत्यन्त-**

(सू०४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

विपरीत (अत्यन्त उलटा) अर्थ होता है। इस प्रकार 'वाच्यार्थ' का अत्यन्त तिरस्कार करके 'उपकृतम्' आदि शब्द 'अपकृतम्' आदि अर्थों को बता देते हैं। तब इस विपरीत-लक्षणा के द्वारा उक्त पद्य का अर्थ बदल जाता है, जो इस प्रकार है—

तुमने बड़ा धोखा (विश्वासघात) दिया, बड़ा अपकार किया; उसकी निंदा जितनी भी की जाय कम है। तुमने सचमुच अत्यन्त दुष्टता का परिचय दिया है। अरे मित्रद्रोही अपकार करने वाले, तेरे जैसा व्यक्ति जितनी जल्दी इस संसार को छोड़ दे उतना ही अच्छा है ॥ २४ ॥

विवक्षितवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भेद—

विशेष विवरण—'अविवक्षितवाच्यध्वनि' (लक्षणामूल-ध्वनि) के दो भेद उदाहरण के साथ बताए जा चुके हैं। अब ध्वनि-काव्य का जो दूसरा मुख्य भेद 'विवक्षितवाच्यध्वनि' (अभिधामूलध्वनि) है, उसके भेद बातवेंगे। इस विवक्षित-वाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भी दो भेद होते हैं, उनमें से पहला 'असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य' है, और दूसरा भेद 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' के नाम से प्रसिद्ध है। 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'—रसादि ध्वनि को कहते हैं। इस ध्वनि के यदि अवांतर भेद (छोटे-छोटे भेद) किये जाँय तो उनकी संख्या का आकलन करना बड़ा कठिन हो जायगा। इसलिए असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेदों का अधिक विस्तार न कर केवल गिनती के लिए उसका **एक ही भेद** बताया गया है। दूसरा भेद जो 'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' के नाम से प्रसिद्ध है, उसके पुनः १. 'शब्दशक्त्युत्थ' २. 'अर्थशक्त्युत्थ' और ३. 'उभयशक्त्युत्थ' ये तीन अवांतर भेद किये जाते हैं। इनमें पहला भेद जो 'शब्दशक्त्युत्थध्वनि' है, उसके पुनः १. 'वस्तुध्वनि' और २. 'अलङ्कारध्वनि'—ये दो अवांतर भेद होते हैं। 'अर्थशक्त्युत्थध्वनि' के बारह (१२) अवांतर भेद होते हैं, तथा 'उभयशक्त्युत्थध्वनि' का एक ही भेद होता है। निष्कर्ष यह है कि 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' के कुल १५ भेद और 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' का एक भेद जोड़कर १६ भेद 'अभिधामूलध्वनि' के होते हैं। इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्य' (लक्षणामूल) ध्वनि के दो भेद, और 'विवक्षित-वाच्य' (अभिधामूलध्वनि) के १६ भेद होते हैं। कुल मिलाकर ध्वनि काव्य के २+१६ = १८ भेद होते हैं। इनमें से 'लक्षणामूलध्वनि' के २ भेदों को पहले बताया जा चुका है अब अभिधामूल (विवक्षितवाच्य) ध्वनि के १६ भेदों का वर्णन किया जायगा।

(सू० ४०) जहां पर वाच्यार्थ विवक्षित (वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् ।

स एष च ।

(सू०४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः॥२५॥

अलक्ष्येति न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।

तत्र—

के योग्य) होने पर भी वह अन्यपर (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होता है, उसे 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' (अभिधामूलध्वनि) कहते हैं। यह ध्वनिकाव्य का दूसरा भेद है ॥ ४० ॥

अन्यपरमिति । 'अन्यपर' शब्द का अर्थ है 'व्यङ्ग्यनिष्ठ' । और यह अर्थात् 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य' भी ।

विशेष विवरण—विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ विवक्षित तो अवश्य रहता है, किन्तु वह स्वनिष्ठ अर्थात् अपने आप में विश्रान्त नहीं रहता, बल्कि व्यंग्यनिष्ठ यानी व्यंग्यार्थ में रहता है । अभिप्राय यह है कि यहाँ वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ के लिए ही रहता है ।

(सू० ४१) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भी दो भेद हैं। उनमें से पहला 'कोई' अर्थात् अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर 'रसध्वनि' रूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य), जिसमें 'वाच्य अर्थ' और 'व्यङ्ग्य अर्थ' के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता है। ऐसा यह 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम का ध्वनि है। और दूसरा 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम का ध्वनि है, उसमें 'वाच्य' तथा 'व्यङ्ग्य' अर्थों का क्रम लक्षित रहता है ॥ २५ ॥

अलक्ष्येति । 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' इस नाम से यह बताया गया है कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव की प्रतीति ही 'रस' नहीं है, किन्तु उन विभावादि की प्रतीति से 'रस' उत्पन्न (अभिव्यक्त) होता है, अतः 'रस' की प्रतीति में भी 'क्रम' तो अवश्य है, परन्तु अत्यन्त शीघ्रता के कारण उसका अनुभव नहीं हो पाता है ॥ २५ ॥

विशेष विवरण—'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य' भी दो प्रकार का होता है—यह अभी कह चुके हैं । उनमें पहला प्रकार 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनिकाव्य' है, जिसे 'कोऽपि' शब्द से निर्दिष्ट करके उसकी अनिर्वचनीय चमत्कारकारिता सूचित की है । और दूसरा प्रकार 'लक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनिकाव्य' है ।

तत्रेति । उस 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' के अनेक भेदों में से—

(अलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य अष्टविधत्वम्)

(सू०४२) **रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।**
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥२६॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि ।

प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः । यथोदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः । ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते ।

(सू० ४२) **रस, भाव,** तदाभास यानी **रसाभास** तथा **भावाभास** और **भावशान्ति** आदि (आदि शब्द से **१. भावोदय, २. भावशान्ति, ३. भावसन्धि, ४. भावशबलता**) 'अलक्ष्यक्रम' (ध्वनिप्रधान होने से) अलङ्कार्य हैं। ये **'रसवत्'** आदि (अर्थात् **रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन्, समाहित** इन चारों) अलङ्कारों से भिन्न हैं ॥ २६ ॥

विशेष विवरण—रस—**शृङ्गारादि,** भाव-रति आदि, तदाभास—**रसाभास, भावाभास** और **भावशान्ति** यानी व्यभिचारी भाव की शान्ति है आदि में (**प्रथम**) जिसके ऐसा **'अक्रम'** यानी **अलक्ष्यक्रम,** 'रसादि' अलंकार से यानी रसवदादि अलंकार से भिन्न है, क्योंकि अलंकार्य रूप से यानी प्रधान रूप से वह स्थित है। इस प्रकार का 'रसादि' जिस ध्वनि में हो उसे **'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'** कहते हैं।

आदिग्रहणादिति। **'भावशान्त्यादिरक्रम'** में दिये गये 'आदि' पद से १. भावोदय, २. भावसन्धि और ३. **भावशबलत्व** को बताया गया है। **जहाँ रस आदि प्रधान रहते हैं, वहाँ वे 'अलङ्कार्य' कहलाते हैं।** जैसे कि उनके उदाहरण **'शून्यं वासगृहं'** आदि आगे देंगे। और जहाँ अन्य (वस्तु या अलंकार आदि वाक्यार्थ) के प्रधान होने पर 'वे रसादि' (उन वस्तु या अलंकार आदि के) 'अंग' होते हैं। उन **रसादि के गुणीभूतव्यङ्ग्य होने पर १. रसवत् २. प्रेय ३. ऊर्जस्विन् और ४. समाहित आदि चार प्रकार के अलंकार होते हैं।** गुणीभूत व्यङ्ग्य का जब निरूपण करेंगे तब उनके उदाहरण देंगे। जैसे—**'अयं स रशनोत्कर्षी'** में **'रस'** 'अंग' हो जाने से **'रसवदलङ्कार'** है। **'भाव'** जब अंग होता है, तब 'प्रेय' अलंकार होता है। **'रसाभास'** या **'भावाभास'** जब अंग हो जाते हैं तब **'ऊर्जस्विन्'** अलंकार होता है। **'भावशान्ति'** जब अंग होता है तब **'समाहित'** अलंकार होता है। **'आदि'** पद से **भावोदय** आदि 'अंग' होने पर **अन्य-अन्य अलंकार** हो जाते हैं, जिन्हें पंचम उल्लास में बताया जायगा ॥ ४२ ॥

विशेष विवरण—इसी रीति से **'विवक्षितान्यपरवाच्य'** या **'अभिधामूल'** ध्वनि के **दो भेद—१. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** तथा **२. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य** नाम से किये हैं। उनमें से **१. रस २. भाव ३. रसाभास ४. भावाभास ५. भावोदय**

(रसस्वरूपनिष्पत्तिः)

तत्र रसस्वरूपमाह—

(सू०४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥२८॥

---

६. भावसन्धि ७. भावशबलत्व ८. भावशान्ति—'ये आठों' जब काव्य में प्रधान रहते हैं, तब **'रसादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि-काव्य'** कहा जाता है। और जब ये किसी 'वस्तु' या 'अलंकार' आदि के अंग बन जाते हैं, तब **'गुणीभूत-व्यङ्ग्य'** नामक काव्य का दूसरा भेद हो जाता है। इस प्रकार **'असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य' के स्वरूप का सामान्य रूप से निरूपण** किया गया है ॥ ४२ ॥

तत्रेति। इनमें से 'रस' की प्रधानता रहने से उसी के स्वरूप का निरूपण प्रथम किया जा रहा है—

रसनिरूपण—

(सू० ४३) लोक-व्यवहार में 'रति' आदि स्थायी भाव के जो **कारण, कार्य,** और **सहकारी** होते हैं, उनका नाटक या काव्य में प्रयोग किये जाने पर उन्हें क्रमशः **'विभाव' 'अनुभाव'** और **'व्यभिचारीभाव'** कहते हैं। और उन विभाव (आलंबन या उद्दीपन रूप कारण) आदि (कार्य और सहकारी) के योग से **अभिव्यक्त 'रति' आदि स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है** ॥ २७–२८ ॥

विशेष विवरण—उपर्युक्त कारिकाओं के द्वारा **'विभाव' 'अनुभाव' 'व्यभि-चारिभाव'** तथा **'स्थायिभाव'** से **'रस'** की **निष्पत्ति बताई गई है**। और यह भी बताया है कि 'रति' आदि स्थायिभाव की उत्पत्ति के जो **कारण हैं** उन्हें **'विभाव'** और **कार्य** को **'अनुभाव'** तथा **सहकारी** को **'व्यभिचारिभाव'** के नाम से कहा जाता है। 'रति' आदि **स्थायिभाव के कारण** को **'विभाव'** कहा गया है। 'रति' आदि के **कारण दो प्रकार** के होते हैं। एक **'आलम्बन'** और दूसरा **'उद्दीपन'**। **शकुन्तला-दुष्यन्त, सीता-राम** आदि परस्पर एक दूसरे के प्रेम (रति) के **'आलम्बन'** रूप कारण हैं। क्योंकि शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में और सीता को देखकर राम के मन में 'रति' स्थायिभाव की उत्पत्ति होती है। अतः वे दोनों परस्पर आलम्बन विभाव कहलाते हैं। क्योंकि वे परस्पर 'रति' (प्रेम) की उत्पत्ति में 'कारण' हैं। इस 'रति' (प्रेम) को उभाड़नेवाली (उद्बुद्ध करनेवाली) **'चन्द्रिका, उपवन, नदीतट, शीतल-मन्द-सुरभित पवन'** आदि सामग्री को **'उद्दीपन' विभाव** कहा जाता है। क्योंकि वे पूर्वोत्पन्न 'रति' को उद्दीप्त करते

रहते हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन (विभाव) दोनों मिलकर 'स्थायी भाव' को अभिव्यक्त करते हैं। अभिव्यक्त होने पर उसे ही 'रस' कहते हैं।

(१) **स्थायिभाव**—

'आलम्बन' और 'उद्दीपन' दोनों विभाव रस-निष्पत्ति के बाह्य कारण हैं। 'रस' की अनुभूति का आन्तरिक कारण (मुख्य कारण) तो 'स्थायिभाव' है। मन के भीतर स्थिर (स्थायी) रूप से रहनेवाले सुप्त संस्कार को 'स्थायी भाव' कहते हैं। वह मानसिक सुप्त संस्कारस्वरूप 'स्थायी भाव' अनुकूल 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' भावरूप उद्बोधक सामग्री के पाते ही अभिव्यक्त होता है। और मन (हृदय) में अद्भुत आनन्द का संचार कर देता है। स्थायी भाव' की यह अभिव्यक्ति ही 'रस' शब्द से कही जाती है, क्योंकि वह अभिव्यक्ति ही रसास्वाद-जनक (रस्यमान) होती है। अत एव 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' कहा गया है। सबका सार यह है कि पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से अभिव्यक्त होनेवाले 'स्थायिभाव' को 'रस' कहते हैं।

मनुष्य के व्यावहारिक अनुभवों को ध्यान में रखकर साहित्यशास्त्रकारों ने प्रायः आठ प्रकार के स्थायी भाव माने हैं। मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में उनकी गणना इस प्रकार की है :—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ सू० ४५)

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह (६) भय, (७) जुगुप्सा (घृणा) और (८) विस्मय—ये आठ स्थायी भाव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त (९) निर्वेद को भी नौवाँ स्थायी भाव माना गया है। मम्मटभट्ट ने कहा है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। (सू ४७)

इस रीति से नौ स्थायी भाव हैं, और उनके अनुसार ही नौ रस माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत और (९) शान्त।

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

उपर्युक्त नौ भाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सर्वदा विद्यमान रहते हैं। इसी कारण इन्हें 'स्थायी भाव' कहते हैं। मनुष्य के हृदय में विद्यमान

रहने वाले ये स्थायी भाव, यथासमय अपने-अपने अनुकूल विभावादि उद्बोधक कारण-सामग्री के प्राप्त होने पर अभिव्यक्त हो उठते हैं। और आस्वाद्यमान (रस्यमान) होकर वे 'रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

(२) **विभाव—**

रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते **हैं**। वे विभाव दो स्वरूपों में विभक्त हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन **विभाव**। **'आलम्बन विभाव' उसे कहते हैं कि जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है।** जैसे—जानकी को देखकर श्रीरामचन्द्र के मन (हृदय) में और श्रीरामचन्द्र को देखकर श्रीजानकी (सीता जी) के मन में 'रति' स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् 'रति' की उत्पत्ति होती है। और उन दोनों को देखकर **सामाजिक (दर्शक) के मन में 'रस' की अभिव्यक्ति होती है।** इस कारण जानकी (सीता)-श्रीराम आदि 'शृंगाररस' के **'आलम्बन विभाव'** माने जाते हैं। **चन्द्रिका (चांदनी), बगीचा** (उपवन-उद्यान), **एकान्त** (निर्जन) स्थान, **शीतल मन्द समीर** (हवा), सुगन्ध आदि के द्वारा उस 'रति' का उद्दीपन होता है। इस कारण इनको शृङ्गाररस के **'उद्दीपन विभाव'** कहते हैं। प्रत्येक रस के 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' विभाव भिन्न-भिन्न होते हैं।

(३) **अनुभाव—**

रसानुभूति का अन्तरंग कारण (प्रयोजक) **'स्थायिभाव'** है। और 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' ये दोनों उसके बहिरंग कारण हैं। इसी प्रकार **'अनुभाव'** तथा **'व्यभिचारिभाव'** (सञ्चारिभाव), उस आन्तरिक रसानुभूति से उत्पन्न हुए की बाहर अभिव्यक्ति कराने में **प्रयोजक व्यापार** (शारीरिक तथा मानसिक) हैं। इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों को लोक-व्यवहार में **'कारण' 'कार्य'** तथा **'सहकारी'** कहते हैं। अर्थात् अपने-अपने आलम्बन तथा उद्दीपन कारणों से सीता-राम, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि के मन में उद्बुद्ध हुए **'रति'** आदि स्थायिभाव को जो बाहर प्रकट करता है उसे 'रति' आदि स्थायिभाव का **'कार्य'** कहते हैं, और उसे ही काव्य और नाट्य में **'अनुभाव'** कहते हैं। इसी बात को साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्य-नाट्ययोः॥

आन्तरिक रसानुभूति की बाह्य अभिव्यञ्जना के साधन 'अनुभाव' हुआ करते हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। इन अनुभावों का अभिनय, अभिनेता नट कृत्रिमरूप से करता है किन्तु अनुकार्य 'राम'

आदि की आभ्यन्तर रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति वास्तविक रूप में इन्हीं साधनों से होती है। वह रसानुभूति के पश्चात् (बाद) होती है—'अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः।' अर्थात् वे अनुभाव रसानुभूति के कार्यस्वरूप होते हैं। इस कारण उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। अथवा अनुकार्य 'राम' आदि की आन्तरिक रसानुभूति का अनुमित्यात्मक अनुभव सामाजिकों को कराते हैं इसलिए उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं।

(४) व्यभिचारिभाव—

उद्दीपन कारणों (विभावों) से उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों को पुष्ट करने में तथा उनके उपचय में जो सहकारी होते हैं, उन्हें 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। अर्थात् रसों में जो नाना रूपों से विचरण करते हैं और उन्हें पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं, उन्हें 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। 'विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः'। भरतमुनि ने रसों के हिसाब से उनका अलग-अलग वर्गीकरण करके उनको गिना दिया है—

निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १८ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १९ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैवं वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

भरतमुनि का रससूत्र—

रस-निष्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भरत मुनि ने किया है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। व्याख्याओं के कारण ही 'रस' के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त प्रचलित हुए—(१) उत्पत्तिवाद, (२) अनुमितिवाद, (३) भुक्तिवाद, (४) अभिव्यक्तिवाद। उपर्युक्त भरतसूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द दिया गया है, उसके चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' है। श्री शंकुक के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है। भट्टनायक के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' है। और अभिनवगुप्तपाद के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। उक्त प्रमुख चार आचार्यों की रससूत्रव्याख्या को ग्रन्थकार ने यहाँ पर संक्षेप में उद्धृत कर दिया है। ग्रन्थकार सर्वप्रथम भरतमुनि के 'रससूत्र' को उपस्थित कर रहे हैं।

(भरतस्य रससूत्रम्)

उक्तं हि भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि'ति ।

(भट्टलोल्लटमतम्)

एतद्विवृण्वते—विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः ।

उक्तमिति । भरतमुनि ने कहा भी है—

'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' ।

एतदिति । उपर्युक्त चार प्रमुख आचार्य इस रससूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विशेष विवरण—रस सूत्र के व्याख्याकारों में **भट्टलोल्लट 'रस'** की उत्पत्ति के पक्ष में हैं, अतः इनका **उत्पत्तिवाद** है । इनका कथन है कि **विभाव, अनुभाव** और **व्यभिचारिभाव** के संयोग से 'राम' आदि **अनुकार्य** (असली राम आदि) में **'रस'** की **उत्पत्ति** होती है । उक्त त्रिविध 'भावों' में भी 'सीता' आदि—आलम्बन-**'विभाव'** रस के मुख्य उत्पादक हैं । उस उत्पन्न हुए **'रस'** का **'बोधन'** **'अनुभाव'** कराते हैं । तथा उस उत्पन्न हुए रस का 'पोषण' **'व्यभिचारिभाव'** करते हैं । इसलिए **'रति'** आदि **स्थायिभाव** के साथ **'विभावों'** का **'उत्पाद्य-उत्पादकभाव'** सम्बन्ध, और **'अनुभावों'** का **स्थायिभाव** के साथ **'गम्य-गमकभाव' सम्बन्ध,** तथा व्यभिचारिभावों का **'स्थायिभाव'** के साथ **'पोष्य-पोषकभाव' संबन्ध** होता है । इसलिए **भरत** के **रससूत्र** में आये हुए 'संयोग' शब्द के भी **तीन अर्थ भट्टलोल्लट** के अनुसार हैं । **विभावों** के साथ संयोग यानी **उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध,** और **अनुभावों** के साथ **संयोग** यानी **गम्य-गमकभाव सम्बन्ध** तथा **व्यभिचारिभावों** के साथ **संयोग** यानी **पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध** । इस प्रकार **'संयोग'** शब्द का अर्थ इनके मत में होता है । इसी उक्त अभिप्राय को ग्रन्थकार ने अपने शब्दों में बताया है—

विभावैरिति । ललना आदि रति के कारण-स्वरूप **'आलम्बन विभावों'** से **'रति'** आदि **स्थायिभाव** की उत्पत्ति हुई । उस उत्पन्न हुए **'स्थायी'** (रति आदि) भाव को, **'उद्यान'** आदि कारणभूत **'उद्दीपन विभावों'** ने **उद्दीपित** किया । तदनन्तर उत्पन्न हुई **'रति'** के कार्यस्वरूप कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि **'अनुभावों'** ने उस **स्थायी**

(रति आदि) भाव को प्रतीति के योग्य (अभिव्यक्त) कर दिया। तदनन्तर रति आदि के सहकारी **'निर्वेदादि'** व्यभिचारिभावों के द्वारा उस स्थायी (रति आदि) को पुष्ट किया गया, और मुख्यरूप से अनुकार्यरूप **'राम'** आदि में, तथा उनके स्वरूप का अनुकरण करने से **'नट'** में प्रतीयमान (आरोप्यमाण) 'रति' आदि स्थायी भाव ही **'रस'** है—यह **भट्टलोल्लट** आदि का मत है।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित किये गये **'भट्टलोल्लट'** के मत में **'स्थायी'** (रति आदि) भाव के साथ **'विभावों'** का **संयोग** अर्थात् 'उत्पाद्य-उत्पादकभाव' सम्बन्ध रहता है, और **'अनुभावों'** का **संयोग** अर्थात् 'गम्य-गमक-भाव' संबन्ध रहता है, तथा **'व्यभिचारिभावों'** का **संयोग** अर्थात् 'पोष्य-पोषक भाव' सम्बन्ध रहता है। इस रहस्य को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थकार ने **'रससूत्र'** का विवरण देते हुए क्रमशः **'जनितः'**, **'प्रतीतियोग्यः कृतः'** तथा **'उपचितः'** पदों का प्रयोग किया है।

भट्टलोल्लट के मतानुसार **अनुकार्य** 'राम' आदि में **'रस'** की स्थिति मुख्यरूप से रहती है, उसका अनुकरण करने वाले **'नट'** में भी **'रस'** की स्थिति **गौणरूप से** मानी जाती है। किन्तु सामाजिक (दर्शक) में 'रस' की उत्पत्ति नहीं होती।

भरत-सूत्र में प्रयुक्त **'संयोग'** शब्द के तीन (त्रिविध) अर्थों के समान, उसी सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द के भी **तीन अर्थ** होते हैं। जैसे—विभाव और स्थायी भाव में—**'उत्पाद्य-उत्पादकभाव'** सम्बन्ध होने पर **'रस'** की **'निष्पत्ति'** यानी 'उत्पत्ति' होती है। यहाँ पर **'निष्पत्ति'** का अर्थ **'उत्पत्ति'** किया गया है। अनुभाव और स्थायी भाव में **'गम्य-गमकभाव'** सम्बन्ध होने पर 'रस' की निष्पत्ति यानी 'प्रतीति' होती है। यहाँ पर 'निष्पत्ति' का अर्थ **'प्रतीति'** किया गया है। तथा व्यभिचारि-भाव और स्थायिभाव मे **'पोष्य-पोषकभाव'** सम्बन्ध होने पर 'रस' की निष्पत्ति यानी 'पुष्टि' होती है। यहाँ पर 'निष्पत्ति' का अर्थ 'पुष्टि' किया गया है।

व्याख्याकारों ने भट्टलोल्लट की उक्त व्याख्या को मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार बताया है। यहाँ पर 'मीमांसा' कहने का अभिप्राय उत्तर-मीमांसा यानी वेदान्तशास्त्र से है, जैमिनीयमीमांसा से नहीं। उत्तरमीमांसा यानी वेदान्तशास्त्र में 'जगत्' की प्रतीति 'आध्यासिक' मानी गई है। जैसे—रज्जु में 'सर्प' की आध्यासिक (आरोपित) प्रतीति के समय वहाँ 'सर्प' का अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रतीति और उससे भय-कम्पादि कार्यों की उत्पत्ति होती है। वैसे ही अनुकार्य राम के हृदय में स्थित सीताविषयक अनुरागरूपा रति, अभिनय के समय नट में

(शंकुकमतम्)

राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे ।

विद्यमान न रहने पर भी उसमें उसके अभ्यास-कौशल के फलस्वरूप विद्यमान-सी प्रतीत होती है। इस कारण सामाजिकों (दर्शकों) के हृदय में चमत्कारानुभूति रूप कार्य की उत्पत्ति होती है। इसी समानता के आधार पर भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवादी सिद्धान्त को मीमांसा-शास्त्रानुसारी कहते हैं ।

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में अरुचि का कारण—

भट्टलोल्लट ने रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि को अनुकार्य राम में तो 'मुख्यरूप से' और अनुकर्ता नट में 'गौणरूप से' स्वीकार किया है। किन्तु सामाजिक दर्शकों को रसानुभव कैसे होता है? इस समस्या का समाधान नहीं किया है ।

किञ्च—अनुकार्य भगवान् राम और जानकी सीता, ये दोनों ही आज के युग में नहीं हैं और अभिनय तो आज के युग में हो रहा है। अतः इस अभिनय से उन अनुकार्य राम-सीता में 'रसोत्पत्ति' का होना कदापि संभव नहीं है। अत एव उनका अनुकरण-करने वाले नट में भी 'रस की उत्पत्ति' कैसे हो सकेगी? अर्थात् वह भी संभव नहीं है। इस कमी के कारण भट्टलोल्लट का रसोत्पत्ति का सिद्धान्त अन्य आचार्यों को मान्य नहीं है ।

शङ्कुक आचार्य का अनुमितिवाद—

शङ्कुक ने न्यायशास्त्र के मतानुसार उक्त रससूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—इन्होंने रस का सम्बन्ध सामाजिक के साथ इस प्रकार बताया है—'अनुकर्ता नट' कृत्रिम अनुभाव आदि को प्रदर्शित जब करता है, तब उसके द्वारा किये जाने वाले अनुभाव आदि उसके अभ्यास-कौशल के बल पर उसमें वास्तविक-से प्रतीत होते हैं। कृत्रिम होने पर भी वास्तविक-से प्रतीयमान होने वाले अनुभाव आदि को देखकर दर्शक (सामाजिक) लोग उस (अनुकर्ता नट) में वस्तुतः विद्यमान् न रहते हुए भी रस का अनुमान कर लेते हैं। और वे सामाजिक अपनी-अपनी वासना (संस्कार) के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वाद लेते रहते हैं। 'शंकुक' के द्वारा की गई इस व्याख्या को 'ग्रन्थकार' उपस्थित कर रहे हैं—

राम एवेति । (१) 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है'—इस आकार की सम्यक् प्रतीति। (२) 'यह राम नहीं है' इस तरह उत्तर काल में (अगले

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः ।

क्षण में) बाधित होने वाली, 'यह राम है'—इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति। (३) 'यह राम है या नहीं'—इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति। और (४) 'यह राम के समान है'—इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति कराने वाले चार ज्ञान हैं। इन (१) सम्यक्-प्रतीति, (२) मिथ्या-प्रतीति, (३) संशय-प्रतीति तथा (४) सादृश्य-प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की 'चित्र-तुरग-न्याय' से होने वाली पाँचवें प्रकार की प्रतीति से ग्राह्य जो नट, उसमें अनुमीयमान होने पर भी वस्तुसौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद्य होने से अन्य अनुमीयमान वस्तुओं से विलक्षण पदार्थ का अपने संस्कार के बल पर जो आस्वाद किया जाता है, वही रस है ।

सेयं ममाङ्गेष्विति। मेरे अंगों में सुधारस के समान आनन्द देने वाली, नेत्रों के लिए कपूर की सलाई के समान शीतलता पहुँचाने वाली और मनके लिए मूर्तिमती मनोरथश्री के समान वह प्राणेश्वरी मुझे दिखाई दे रही है ॥ २५ ॥

दैवादहमिति। चञ्चल और विशाल नयनों वाली उस अपनी प्रिया से दैववश आज ही मैं वियुक्त हुआ, और आज ही निरन्तर उमड़ते हुए बादलों से घिरा हुआ यह पीडादायक यानी मन को झक-झोरने वाला वर्षाकाल आ पहुँचा ॥ २६ ॥

इत्यादीति। इत्यादि काव्यों के अनुसन्धान (अनुशीलन) के बलपर—शिक्षा के अभ्यास से निष्पन्न हुए अपने अनुभाव आदि कार्य से, नट के ही द्वारा किये जाने वाले, उनके कृत्रिम होने पर भी अकृत्रिम के समान (स्वाभाविक से) लगने वाले अर्थात् कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्दों से बोले जाने वाले, कारण, कार्य और सहकारी कारणों के साथ 'संयोग' यानी 'गम्य-गमक भावरूप' सम्बन्ध के कारण चित्रतुरगन्याय की प्रतीति से पूर्वोक्त नट में अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के अपने निजी सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य

(रसनीय) यानी आस्वाद का विषय बनजाने के कारण अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी के रूप में संभाव्यमान **'रति' आदि भाव,** तत्र=वहाँ अर्थात् 'नट' में वस्तुत: विद्यमान न रहने पर भी सामाजिकों के अपने संस्कार के कारण (स्वात्मगत होकर) **आस्वाद्यमान** (चर्व्यमाण) **होता है,** यानी **नट में अनुमीयमान रति को ही सामाजिक स्वात्मगत समझ कर उस का आस्वाद लेते हैं।** अत: स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक के द्वारा उपर्युक्त प्रक्रिया के बल पर **आस्वाद्यमान स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है। यही श्रीशङ्कुक का मत है।**

विशेष विवरण–उपर्युक्त शंकुक के मत को हृदयंगम करने के लिए निम्नांकित छह (६) बातों को स्मरण रखना होगा।

(१) **शङ्कुक** के मत के अनुसार 'नट' में 'रस' की **अनुमिति** होती है, यानी इनके मत में **'रस अनुमेय'** है। रंगमंच पर **'नट'** के आते ही दर्शक (सामाजिक) उसे प्रत्यक्ष **'राम'** समझने लगते हैं। इस प्रकार सामाजिकों की **'नट'** में जो रामबुद्धि होती है, वह **'चित्रतुरगन्याय'** के ही तुल्य है। **यही प्रतीति** (बुद्धि-ज्ञान), सामाजिकों को 'नट' में स्थायी भाव (रति आदि) का **अनुमान** कराती है। अर्थात् **'नट'** में होने वाली सामाजिकों की **'रामबुद्धि'** ही उनके **अनुमान का कारण है।** **'चित्र-तुरगन्याय'** का स्वरूप इस प्रकार है—जब हम कहीं पर घोड़े (तुरग) का चित्र देखते हैं, तब उसे हम 'घोड़ा' (तुरग) ही कहते हैं। क्योंकि **चित्र को देखकर 'घोड़े' का ज्ञान** हो रहा है। तथापि उस तुरग (घोड़े के) ज्ञान को हम (१) **'सत्यज्ञान'** (सम्यक् प्रतीति) नहीं कह सकते। और उसे (२) न **'मिथ्याज्ञान'** कह सकते हैं। तथा उसे (३) न **'संशयज्ञान'** कह सकते हैं। और (४) न **'सादृश्यज्ञान'** ही कह सकते हैं। किन्तु **'ज्ञान'** तो हो रहा है। अत: चित्रस्थित तुरग (अश्व=घोड़े के) ज्ञान को उक्त चतुर्विध ज्ञानों से भिन्न ही कहना होगा। एवं च (१) सम्यक्, (२) मिथ्या, (३) **संशय,** (४) **सादृश्य—इन चारों ज्ञानों (प्रतीतियों) से यह 'ज्ञान' विलक्षण ही है।**

(२) **'रस'** की अनुमति करने में **'चित्र-तुरगन्याय' से** राम-सीता आदि **विभावों की प्रतीति** होती ही है, किन्तु वह प्रतीति **चतुर्विध प्रतीतियों** में से किसी के अन्तर्गत नहीं हो पाती, अपितु उसे विलक्षण प्रतीति ही कहना पड़ता है।

उसी तरह जिन-जिन 'अनुभाव' और 'व्यभिचारिभावरूप' लिङ्गों (हेतुओं) से राम-सीता के रतिमान् होने का जो **अनुमान—'इयं सीता, रामविषयकरतिमती, तस्मिन् विलक्षणस्मित-कटाक्षादिमत्वात्'**–किया जाता है, उसके लिङ्ग (हेतु) भी यथार्थ (वास्तविक) नहीं हैं। क्योंकि **वास्तविक स्मित-कटाक्षादि अनुभाव तो सीता-राम आदि अनुकार्यों में हो रहे होंगे।** किन्तु यहाँ मञ्च पर

'चित्रतुरगन्याय' से उपस्थित हुए सीता-राम का स्वरूप धारण किये **'नट' में वे वास्तविक (यथार्थ) स्मित-कटाक्षादि तो हैं ही नहीं।** रंगमंच पर आया हुआ 'नट' तो अपनी प्राप्त शिक्षा और उसके अभ्यास के बल पर उन 'कृत्रिम स्मित-कटाक्षादिकों' को 'अकृत्रिम' जैसा प्रदर्शित करता रहता है। यहाँ पर 'सीता-राम' आदि जो आलंबन विभाव हैं, वे भी 'कृत्रिम' हैं, और उनके द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले 'अनुभाव-व्यभिचारिभाव भी कृत्रिम' ही हैं। तथापि वह नट अपने अभ्यास-कौशल से उनको ऐसी सफाई से प्रदर्शित करता है कि देखने वालों को वे बिलकुल असली (अकृत्रिम) की तरह प्रतीत (भासित) होते हैं। जिस कारण दर्शक, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले 'नट' में तत्तत् स्थायी भाव का अनुमान— 'इयं सीता रामविषयक-रतिमती' अथवा 'अयं रामः सीताविषयक-रतिमान्, तत्र विलक्षणस्मित-कटाक्षादिमत्त्वात्'—करने लगते हैं। इस प्रकार 'अनुमीयमान स्थायी भाव' ही 'रस' संज्ञा को प्राप्त करता है। अर्थात् सामाजिकों को 'आनुमानिक रस' की प्रतीति होती है।

(३) अत एव भरत के 'रस-सूत्र' में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द का अर्थ 'गम्यगमकभाव सम्बन्ध' किया गया है।

(४) यही कारण है कि 'सामाजिक' (दर्शक) उस आनुमानिक रस की प्रतीति का आधार (आश्रय) भी नहीं है। वह तो 'नट' (कृत्रिम राम और सीता) में 'कृत्रिम रूप से' स्थित रहती हुई भी 'अकृत्रिमरूप' से भासित होने वाली 'रति' अथवा 'रस' का अनुमान मात्र करता है।

(५) 'सामाजिक' को उस 'अनुमित रस' का भी आस्वाद प्राप्त होता है। क्योंकि इस 'रसानुमिति' में यही तो 'विलक्षणता' है कि वह 'अनुमितिरूप' होने पर भी 'अन्य अनुमितियों' से भिन्न और 'अपरोक्ष' (प्रत्यक्ष) रूप होती है। सामान्य नियम तो यही है कि 'अनुमानादि प्रमाणों' से उत्पन्न ज्ञान 'परोक्ष' होता है, और केवल 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से उत्पन्न ज्ञान ही 'अपरोक्ष' कहलाता है। किन्तु 'नाटक' में 'अनुमान प्रमाण' से किया जाने वाला यह 'अनुमिति ज्ञान' भी 'अपरोक्ष' रहने से सामाजिक उसका रसास्वाद ले पाता है। यही उसकी विशेषता है।

(६) उस 'रसास्वाद' में सामाजिक की 'अपनी वासना' और 'रसप्रतीति में विलक्षण अपरोक्षता' की कल्पना ही कारण होती है। तथ्य की बात तो यह है कि वह 'अनुमित रस' न 'सामाजिक' में रहता है और न 'कृत्रिम राम' आदि में ही रहता है। तथापि 'अपने' में अविद्यमान एवं 'नट' में भी अविद्यमान उस अनुमीयमान रस का आस्वाद केवल 'वासना' के कारण 'सामाजिक' को प्राप्त होता रहता है। यह शंकुक आचार्य का सिद्धान्त है।

शंकुक के इस **'अनुमितिवाद'** के सिद्धान्त को 'न्यायमतानुसारी' कहते हैं। क्योंकि वह 'अनुमिति-प्रधान' है। अर्थात् 'अनुमान प्रमाण' से उसकी प्रतीति होती है। **'न्यायशास्त्र'** को **'अनुमिति-प्रधान शास्त्र'** कहते हैं। इसी के सहारे 'शंकुक' ने अपने 'रस-सिद्धान्त' को स्थापित किया है। इस कारण शंकुक के सिद्धान्त को न्याय-मतानुसारी कहा जाता है।

शंकुक ने **'चतुर्विध प्रतीतियों'** में से 'सम्यक् प्रतीति' को **'राम एवाऽयम्'** और 'अयम् एव रामः'—इन दो वाक्यों से बताया है। इन दो वाक्यों में **'राम'** पद का प्रयोग **'विशेषण'** के रूप में किया गया है, और **'अयम्'** पद का प्रयोग **'विशेष्य'** के रूप में है। प्रथम वाक्य **'राम एव अयम्'** में विशेषण के रूप में प्रयुक्त **'राम'** पद के साथ **'एव'** का प्रयोग है, और दूसरे वाक्य **'अयम् एव रामः'** में विशेष्य के रूप में प्रयुक्त **'अयम्'** पद के साथ **'एव'** का प्रयोग किया गया है। दो प्रकार से 'एव' कार के प्रयोग का रहस्य यह है कि **'विशेषणसङ्गतः 'एवकारः' अयोगव्यवच्छेदकः'**—इस नियम के अनुसार वह 'एवकार' **विशेष्य के रूप में प्रयुक्त** 'अयम्' के अर्थ में **'रामत्व' के अयोग का व्यवच्छेद** करता है। और उसमें 'रामत्व' को नियन्त्रित कर देता है। तब 'राम एवायम्' इस प्रथम वाक्य का अर्थ हो जाता है कि **'यह राम से भिन्न नहीं है'**। एवं दूसरे वाक्य 'अयम् एव रामः' में **'विशेष्यसङ्गतः एवकारः अन्ययोगव्यवच्छेकः'** इस नियम के अनुसार विशेष्य के रूप में प्रयुक्त **'अयम्' पद के साथ किया गया 'एवकार' का प्रयोग अन्ययोग का व्यवच्छेद कर देता है**। उसका परिणाम यह हुआ कि विशेष्यभूत 'अयम्' पद के अर्थ से भिन्न अर्थ में 'रामत्व' के सम्बन्ध का निवारण हो जाता है। और **'यही राम है, इस से भिन्न अन्य कोई राम नहीं है।'** इस रीति से 'अयम्' इस विशेष्य में 'रामत्व' को नियन्त्रित कर देता है। इस प्रकार **'राम एवाऽयम्' और 'अयमेव रामः' दोनों मिलकर 'सम्यक् प्रतीति' करा रहे हैं।**

'एवकार' का तीन प्रकार से प्रयोग—

'एवकार' का तीन प्रकार से प्रयोग करने पर उसके अर्थ में भी भिन्नता हो जाती है। **'एवकार' का प्रयोग कभी विशेषण के साथ, कभी विशेष्य के साथ और कभी क्रिया के साथ** भी दृष्टिगोचर होता है। **विशेष्य के साथ** जब उसका प्रयोग होता है, तब वह **अन्य-योग का व्यवच्छेद** कर देता है। जैसे **'पार्थ एव धनुर्धरः'**—यहाँ पर 'पार्थ' विशेष्य है। उसके साथ **'एव'** का प्रयोग विवक्षित है। इसलिए वह यहाँ पर 'अन्ययोग' का व्यवच्छेद कर रहा है। तब उसका अर्थ यह हुआ कि **'पार्थ एव धनुर्धरः, नान्यः' पार्थ ही एकमात्र धनुर्धर है, दूसरा कोई नहीं।** अर्थात् विशेष्यभूत पार्थ से भिन्न किसी अन्य योद्धा के साथ 'धनुर्धरत्व' धर्म का सम्बन्ध (योग) नहीं है।

एवं विशेषण के साथ 'एव'कार का प्रयोग जब विवक्षित रहता है, तब वह 'अयोग' का व्यवच्छेद कर देता है। जैसे--'पार्थो धनुर्धर एव' में विशेषण-भूत 'धनुर्धर' के साथ 'एव'कार का प्रयोग किया गया है। अतः उसने विशेष्यभूत 'पार्थ' में विशेषणभूत धनुर्धरत्व धर्म के सम्बन्धाभाव (अयोग) का व्यवच्छेद (निषेध) कर दिया है। तब उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'पार्थ धनुर्धर ही है'। इस प्रकार पार्थ रूप विशेष्य में 'धनुर्धरत्व' धर्म को नियन्त्रित कर दिया है।

एवं जब क्रिया के साथ 'एव'कार का प्रयोग किया जाता है, तब वह 'अत्यन्त अयोग' का व्यवच्छेद (निषेध) करता है। जैसे--'नीलं कमलं भवत्येव' में 'भवति' क्रिया के साथ 'एव'कार का प्रयोग किया गया है। अतः उसने 'कमल' के साथ 'नीलत्व' धर्म का जो अत्यन्त असम्बन्ध (अत्यन्त अयोग) है, उसका व्यवच्छेद (निषेध) कर दिया है। और किसी विशेष कमल में 'नीलत्वधर्म' को उसने नियन्त्रित कर दिया है। इस प्रकार 'एव'कार के तीन प्रकार से प्रयोग किये जाते हैं—

'अयोगमन्ययोगञ्चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥'

आचार्य शंकुक के अनुमितिवाद में अरुचि—

आचार्य शंकुक के सिद्धान्त में सर्वत्र कृत्रिमता का ही साम्राज्य है। उनके मत के अनुसार विभाव तो कृत्रिम, अनुभाव भी कृत्रिम, व्यभिचारिभाव भी कृत्रिम। उनके साथ स्थायिभाव का सम्बन्ध भी कृत्रिम। उस कृत्रिम सम्बन्ध से अनुकर्ता नट में राम-सीता आदि विषयक 'रति' भी कृत्रिम। और उस कृत्रिम रति का ही अनुमान बताया जा रहा है। ऐसे अनुमान से दर्शक को रस का अनुभव कैसे हो सकता है। बुभुक्षा के उद्दीप्त होने पर 'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, तथा पिपासितैः काव्यरसो न पीयते'—भूख-प्यास लगने पर तो अन्न और जल का प्रत्यक्ष अनुभव ही होना चाहिए, तभी बुभुक्षा और पिपासा की शान्ति का आनन्द प्राप्त होता है। उसी तरह सामाजिक तो 'रस' का साक्षात्कार चाहता है। साक्षात्कारात्मक प्रतीति, केवल अनुमान से होना संभव नहीं। क्योंकि अनुमान प्रमाण से होने वाला 'ज्ञान' तो परोक्ष होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। अतः अनुमितिवाद के सहारे रसास्वाद के साक्षात्कार की संगति नहीं होती है। इस अरुचि के कारण तीसरे व्याख्याकार 'भट्टनायक' अपने 'भुक्तिवाद' सिद्धान्त को उपस्थित कर रहे हैं।

(भट्टनायकमतम्)

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

भट्टनायक का भुक्तिवाद-सिद्धान्त—

न ताटस्थ्येनेति। भट्टनायक का कहना है कि **'अनुकर्ता नट'** में या **'अनुकार्य राम'** में अर्थात् तटस्थरूप में रस की अनुमिति (प्रतीति) नहीं होती है। तटस्थ (अनुकर्ता या अनुकार्य) में रस की उत्पत्ति या अनुमिति होती है—ऐसा यदि कहें तो रसास्वाद सामाजिक को नहीं हो पायेगा। यदि यह कहें कि सामाजिक के अन्तःकरण में 'रस की अभिव्यक्ति' होती है, तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'अभिव्यक्ति' उसी पदार्थ (वस्तु) की होती है, जो पदार्थ (वस्तु) पहले से स्थित (विद्यमान) हो। 'रस' तो केवल अनुभूति मात्र है। अनुभूतिकाल के अतिरिक्त काल (समय) में 'रस' की स्थिति ही नहीं है। इस रीति से भट्टनायक ने **'न प्रतीयते'** कहकर आचार्य शंकुक के सिद्धान्त (अनुमितिवाद) का खण्डन कर दिया। **'नोत्पद्यते'** कहकर भट्टलोल्लट के सिद्धान्त (उत्पत्तिवाद) का खण्डन कर दिया। और **'नाभिव्यज्यते'** कहकर आचार्य अभिनवगुप्तपाद के सिद्धान्त (अभिव्यक्तिवाद) का खण्डन कर दिया है। इस प्रकार तीनों के रससिद्धान्त सम्बन्धी मतों का खण्डन कर अब रस के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त बता रहे हैं।

अपीति। भट्टनायक का कहना है कि, सामाजिक को रस का आस्वाद तीनों व्याख्याकारों के कथनानुसार नहीं हो पाता, अपितु काव्य या नाटक में सामाजिक को रसास्वाद की प्राप्ति का प्रकार यह है—

किसी काव्य या नाटक में अभिधा, लक्षणा नामक शब्द व्यापार से भिन्न, विभावादि का साधारणीकरणरूप जो **'भावकत्व'** नाम का व्यापार है, उससे **'साधारणीकृत'** हुए रत्यादिस्थायिभाव का आस्वाद, सत्त्वगुण के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमय अनुभूति (संवित्) के समान **'भोग'** (भोजकत्व) व्यापार से किया जाता है, यह भट्टनायक का मत है।

इनके मत में **'निष्पत्ति'** का अर्थ **'भुक्ति'** और **'संयोग'** का अर्थ **'भोज्य-भोजकभाव सन्बन्ध'** कहा जाता है।

विशेष विवरण—भरत-कृत **'रससूत्र'** के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक हैं। इन्होंने 'सामाजिक' को साक्षात्कारात्मक रसानुभूति कराने की एक नवीन प्रक्रिया का आविष्कार किया है। इनकी इस प्रक्रिया को **'भुक्तिवाद'** की संज्ञा दी

गई है। विचारणीय विषय यह है कि हमारी बुद्धि (ज्ञान) में **'अनुकर्ता' 'अनुकार्य'** और **'सामाजिक'** ये तीन लोग उपस्थित हैं। तो क्या इन तीनों को रसानुभूति होती है, या इनमें से **किसी एक को?** यदि 'एक' को तो किसको? यही विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न के समाधान में **'भट्टनायक'** कहते हैं कि 'रस' की निष्पत्ति न 'अनुकार्य' में होती है और न 'अनुकर्ता' में होती है। 'अनुकार्य और अनुकर्ता' दोनों ही **'तटस्थ'** हैं। अर्थात् दोनों ही **'उदासीन'** हैं। उन दोनों में से 'किसी को' भी रसानुभूति नहीं होती। वस्तुतः 'रसानुभूति' तो **'सामाजिक'** को ही होती है। किन्तु इसका **उपपादन** किसी 'व्याख्याकार' के द्वारा नहीं किया गया है। **भट्टलोल्लट** ने तो 'तटस्थ जो अनुकार्य' **'राम'** है, उसमें 'मुख्य रूप' से और 'तटस्थ' जो 'अनुकर्ता' हैं, उसमें 'गौणरूप' से रस की उत्पत्ति का होना बताया है। 'भट्टलोल्लट' के इस व्याख्यान में **सामाजिक** की कोई चर्चा नहीं की गई है। अतः 'ताटस्थ्येन रसोत्पत्ति' को बताने वाले 'भट्टलोल्लट' का **रसोत्पत्ति सिद्धान्त** उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। उसके बाद **श्रीशंकुक** ने 'तटस्थ' में 'रस' की **'अनुमिति'** यानी प्रतीति का होना बताया है। और उस 'अनुमिति' के द्वारा सामाजिक को **'अपने संस्कारवश' रसचर्वणा** का उपपादन किया है। किन्तु इस 'अनुमितिवाद' के सिद्धान्त में भी विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अनुमिति' तो केवल **परोक्षज्ञानरूप** है। अतः उससे भी साक्षात्कारात्मक रसानुभूति नहीं हो पाती। इसलिए 'शंकुक' का यह **अनुमितिवाद** का सिद्धान्त भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। इसी अभिप्राय से 'भट्टनायक' ने स्पष्ट कह दिया कि **'न ताटस्थ्येन रसः उत्पद्यते, न प्रतीयते।'** अर्थात् 'तटस्थ' में (तटस्थ का अर्थ उदासीन है। ऐसे तटस्थ प्रकृत में दो हैं, एक 'अनुकार्य' और दूसरा 'अनुकर्ता') न 'रस' की उत्पत्ति होती है और न प्रतीति (अनुमिति) ही होती है। एवं च **'न उत्पद्यते'** कहकर **'भट्टलोल्लट'** के **उत्पत्तिवाद** का और 'न प्रतीयते' कहकर **'शंकुक'** के **अनुमितिवाद** का खण्डन किया गया है। तदनन्तर **अभिनवगुप्तपाद** के **'अभिव्यक्तिवाद'** के सिद्धान्त का भी 'भट्टनायक' ने खण्डन करने का प्रयत्न किया है। किन्तु 'भट्टनायक' के द्वारा आविष्कृत प्रक्रिया का खण्डन करते हुए **काव्यप्रकाशकार भट्टमम्मट** ने **'अभिनवगुप्तपाद'** के **'अभिव्यक्तिवाद'** को ही सिद्धान्त के रूप में निश्चित किया है।

'अभिनवगुप्तपाद' के मतानुसार **'सामाजिक' में रसकी अभिव्यक्ति** होती है। इनके मत में 'रस' की स्थिति, **तटस्थ** (राम या नट) में नहीं है, अपितु **'आत्मगत'** यानी 'सामाजिक' में उसकी स्थिति मानी गई है। और उस स्थिति को **'उत्पत्तिरूप या अनुमितिरूप'** न मानकर **'अभिव्यक्ति'** के रूप में माना है।

अर्थात् सामाजिक में 'रस' की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिनवगुप्तपाद का सिद्धान्त है।

किन्तु **भट्टनायक** उक्त 'अभिव्यक्तिवाद' के सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं है। उसे न मानने में **भट्टनायक** अपना 'तर्क' देते हैं कि **'पहले से विद्यमान रहनेवाली वस्तु की ही अभिव्यक्ति हमेशा हुआ करती है।'** किन्तु 'रस' तो **अनुभूति** रूप है। अनुभूतिकाल से **पहले** या **पीछे** उसकी **सत्ता** ही नहीं है। 'अभिव्यज्यमान (अभिव्यक्त होनेवाली) वस्तु' का अस्तित्व (सत्ता), **अभिव्यक्ति के पूर्व** भी रहता है **और पश्चात् भी** रहता है। परन्तु 'रस' की स्थिति ऐसी नहीं है। वह (रस) तो **अनुभूतिकाल** में ही रहता है। 'अनुभूतिकाल के पूर्व' या 'पश्चात्' नहीं। अतः 'रस' की **अभिव्यक्ति** का सिद्धान्त ठीक नहीं है। इसी अभिप्राय से **'आत्मगतत्वेन नाभिव्यज्यते'** कहा है। **'आत्मगत'** का अर्थ है—सामाजिकगत।

इस रीति से 'भट्टनायक' ने **उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद** और **अभिव्यक्तिवाद** तीनों का निरसन कर अपने **'भुक्तिवाद'** सिद्धान्त को उपस्थित किया है। **भट्टनायक** ने अपने 'भुक्तिवाद' के सिद्धान्त को बताने के लिए 'शब्द की **अभिधा** और **लक्षणा** शक्ति के अतिरिक्त **'भावकत्व'** और **'भोजकत्व'** नामक दो नवीन शक्तियों (व्यापारों) की अधिक कल्पना की है। इन नवीन 'दो शक्तियों' की **अधिक कल्पना** करने का प्रयोजन यह है कि 'काव्य के शब्दों' द्वारा जो 'अर्थ' **अभिधा-शक्ति** की सहायता से बताया जाता है, वह तो 'व्यक्तिविशेष' से ही सम्बद्ध रहता है। 'व्यक्तिविशेष' से सम्बद्ध रहने के कारण 'सामाजिक' के लिए उसका कोई उपयोग नहीं। अतः **अभिधा** या **लक्षणाशक्ति** से उपस्थित किये गये अर्थ को 'सामाजिक' के उपयुक्त बनाने के लिए **'भावकत्व'** व्यापार की कल्पना की गई है। वह 'भावकत्वव्यापार' उस उपस्थित हुए अर्थ में **परिष्कार** कर देता है। परिष्कृत होने पर 'वही अर्थ' सामाजिक के उपभोग लेने योग्य हो जाता है। 'शब्द' का यह **भावकत्व व्यापार,** 'उपस्थित हुए अर्थ' में से 'व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध' को हटाकर उसे 'सर्वसाधारण से सम्बद्ध' करा देता है। सर्वसाधारण से सम्बन्ध जोड़ देना ही **'साधारणीकरण'** है। यह 'साधारणीकरण' ही अर्थ में परिष्काररूप है। इस कार्य को यह **'भावकत्व'** व्यापार ही कर पाता है। 'साधारणीकरण' होने पर सामाजिक का 'उस अर्थ' (कहानी) के साथ **सम्बन्ध** जुड़ जाता है। और **'अपने संस्कार'** के अनुसार सामाजिक **स्वयं अपने को** उस कहानी का एक पात्र समझने लग जाता है। यह सब **भावकत्वव्यापार** के बल पर सम्पन्न होता है।

तदनन्तर यानी 'साधारणीकरण' होने के अनन्तर 'शब्द' का जो तृतीय व्यापार

(अभिनवगुप्तस्य मतम्)

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैर-

---

'भोजकत्व' है, वह सामाजिक को 'रस' का साक्षात्कार (भोग) करा देता है। यह भट्टनायक का 'भुक्ति' सिद्धान्त है। एवञ्च भट्टनायक ने शब्द के 'अभिधा, लक्षणा' के अतिरिक्त 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' इन दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है। और उसी से 'सामाजिक' को 'रस' की अनुभूति का होना बताया है।

भट्टनायक के इस भुक्तिवाद में सांख्यसिद्धान्त का अनुसरण—

भट्टनायक को 'सांख्यमतानुयायी' माना जाता है। सांख्यशास्त्र ने सुख-दुःखादि' को अन्तःकरण के 'धर्म' कहा है। वे 'आत्मा' के धर्म नहीं हैं। तथापि 'पुरुष' (आत्मा) का 'अन्तःकरण' के साथ सम्बन्ध रहने से उनकी औपाधिक प्रतीति 'पुरुष' (आत्मा) में होती है। उसी प्रकार सामाजिक में न रहते हुए भी 'रस' का उपभोग उसे होता है। सांख्यसिद्धान्त की इसी समानता के आधार पर भट्टनायक को 'सांख्यमतानुयायी' कहा गया है।

भट्टनायक के मत में अरुचि—

सामाजिक में 'रसानुभूति के उपपादनार्थं' इन्होने शब्द के 'दो नवीन व्यापारों' (भावकत्व, भोजकत्व) की कल्पना की है, जो लोकप्रसिद्ध नहीं है। लोक में तो 'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना' व्यापार 'शब्द' के प्रसिद्ध हैं। तथा जिस 'रति आदि स्थायिभाव' का 'भोग' बताया है, वह 'अनुकार्यगत स्थायिभाव' का है या 'अनुकर्तागत स्थायिभाव' का है? इसे स्पष्ट नही किया है। एवं च काल्पनिक 'भोजकत्व' व्यापार पर यह सिद्धान्त आश्रित होने से अरुचिकर प्रतीत होता है।

अभिनवगुप्तपाद का अभिव्यक्तिवाद—

लोके प्रमदादिभिरिति। लोकव्यवहार में 'प्रमदा आदि' (विभावादि) से स्थायी भाव (प्रमदा आदि में स्थित रति) का अनुमान करते रहने से कुशल हुए सहृदय सामाजिकों का 'काव्य तथा नाटक' में 'कारणत्व आदि' का परित्याग कर विभावन आदि व्यापार से युक्त होने के कारण 'अलौकिक विभावादि शब्दों' से व्यवहार्य होने वाले 'उन्हीं से' 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं' 'न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के 'सम्बन्धविशेष का स्वीकार अथवा परिहार' करने के नियम का निश्चय न होने से

भिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

'साधारण रूप से' प्रतीत होने वाले उन 'विभावादिकों' से ही अभिव्यक्त होने वाला और 'दर्शकसामाजिकों' में वासना (संस्कार) रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी भाव, 'नियत प्रमाता' (एक विशिष्ट सामाजिक) में स्थित होने पर भी 'व्यक्तिविशेष' के सम्बन्ध के बिना प्रतीत होने 'विभावादिसाधारणोपाय' के बल से उसी रसानुभव के समय में 'परिमित प्रमातृभाव' के नष्ट हो जाने से 'वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य' और 'अपरिमित प्रमातृभाव के' उदित हो जाने से 'सामाजिक' के द्वारा 'समस्त सामाजिकों' के हृदयों के साथ समानरूप से 'अपनी आत्मा के समान आस्वाद' से अभिन्न होने पर भी 'आस्वाद' का विषय बनकर 'आस्वादमात्रस्वरूप' (चर्व्यमाणतैकप्राण), 'विभावादि की स्थितिपर्यन्त' ही रहने वाला, 'पानकरस' के समान आस्वाद्यमान, 'साक्षात् प्रतीत होता हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, समस्त अंगों का आलिङ्गन करता हुआ-सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ-सा, ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ-सा अलौकिक आनन्द को देनेवाला (चमत्कारकारी) शृङ्गार आदि 'रस' कहलाता है।' यह अभिनवगुप्तपाद का मत है। इसी मत (अभिव्यक्तिवाद) को सभी आलङ्कारिक विद्वानों ने सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत किया है।

विशेष विवरण—लोकव्यवहार में रति के 'कारण-कार्य-सहकारिकारणस्वरूप' प्रमदा-उद्यान-कटाक्ष-निर्वेद आदि को देखते रहने से बार-बार 'रति' का अनुमान होता रहता है। अनेक बार अनुमित हुई रति के 'संस्कार' रसिकों के हृदयों में बनते जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् किसी काव्य में या नाट्य में व्यभिचारिभावों का प्रदर्शन कवि या नट के द्वारा रामादि व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित 'रति' के—'कारण-कार्य-सहकारिकारण' स्वरूप विभाव-अनुभाव किये जाने पर भी पूर्वोक्त 'भावकत्व' व्यापार से 'राम-सीतादिव्यक्तिविशेषों के' संबन्ध को भुलाकर 'रति' के कारणरूप साधारण स्त्रीत्व आदि के रूप में वे 'विभावादि' प्रतीत होते रहते हैं। इस प्रकार सर्वसाधारण जनसम्बन्धित हुए 'विभावादि' के द्वारा 'रसिक सामाजिकों' के हृदय पर पैदा हुए 'संस्कारों' के रूप में अवस्थित 'रति' ही 'व्यञ्जना' व्यापार के

द्वारा 'अभिव्यक्ति' को प्राप्त होती है। अभिव्यक्त होने पर 'वह' सामाजिकों के आस्वादन-योग्य बन जाती है। इसी आस्वाद को रसनिष्पत्ति कहते हैं।

'अभ्यासपाटववतां' का आगे आनेवाले 'सामाजिकानाम्' से अन्वय करना चाहिये। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा—'अयम् एतद्विषयकरत्यादिमान् रत्यादिकार्यरूपकटाक्षादिरत्यादिसहकारिरूपनिर्वेदादिमत्त्वात्, यो नैवं स नैवं यथा विरक्तादिः।' इति। निष्कर्ष यह है कि 'रसिक' ही रसास्वाद के योग्य होते हैं। 'यति आदि विरक्त' नहीं। क्योंकि 'वह' तो रसिकों के ही हृदय में 'संस्कार रूप' में (सूक्ष्म रूप से) पहले से ही स्थित रहता है, 'काव्य-नाटकादि के समय' तो 'साधारणीकृत विभावादि'कों से तो 'उसका' आविर्भाव मात्र होता है। अत एव यह कहा जाता है कि 'सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्मसन्निभाः॥'

शंका—'रति' के आस्वाद को ही जब 'रस' संज्ञा दी जाती है, तो 'रस का आस्वाद'-(रसस्य आस्वादः) यह व्यवहार कैसे किया जाता है? क्योंकि 'आस्वाद' और 'आस्वाद्य' दोनों में भेद (वैलक्षण्य) सर्वानुभव सिद्ध है।

समाधान—'स्वाकार इव अभिन्नः'—'स्व' शब्द से 'ज्ञान' का ग्रहण किया गया है। उस ज्ञान का 'आकार विशेष' ही 'विषय' कहलाता है। 'विषय' कोई ज्ञान से अन्य (भिन्न) नहीं है, ऐसा योगाचार बौद्ध ने कहा है। उसके मत में 'ज्ञान स्वरूप' जो विषय है, वही 'ज्ञेय' माना जाता है। उसी तरह रस के आनन्दात्मक और आस्वादरूप रहने पर भी उसके आस्वाद्य कहलाने में कोई विरोध नहीं है। 'ब्रह्मास्वादमिव अनुभावयन्' 'ब्रह्मास्वाद' के समान अपने आस्वाद का अनुभव कराता हुआ। ब्रह्मास्वाद (मुक्तिदशा) में 'ब्रह्ममात्र' प्रकाशित रहता है, किन्तु रसास्वाद में 'विभावादि' भी प्रकाशित रहते हैं, यही समानता (सादृश्य) है। दोनों में भेद रहने पर ही 'सादृश्य' बताया जा सकता है। क्योंकि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्' यह 'सादृश्य' का लक्षण है। अतः 'ब्रह्मैव रसः' 'रसो वै सः' इस 'श्रुति' के आपाततः दर्शन कर, 'रस' को ब्रह्मरूप कह देना या समझना उचित नहीं है। अन्यथा 'दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव' की अनुपपत्ति होगी। 'वह आत्मा रस है' अर्थात् रसपदवाच्य है—इतना ही श्रुति का अर्थ है। एवं च ब्रह्मसहोदर रस के आविर्भाव का प्रकार प्रदर्शित कर यह बताने का प्रयत्न किया है कि ब्रह्मावबोध (ब्रह्मज्ञान) भी 'अधिकारी-विशेष' को सामग्री-विशेष के समीप रहने पर 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा अथवा सद्गुरूपदिष्टवाक्य में स्थित 'व्यञ्जना' के द्वारा ही होता है'''ऐसा सुधासागरकार का कथन है।

अभिनवगुप्तपाद के अभिव्यक्तिवाद का स्वरूप—

अभिनवगुप्तपाद ने अपने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के 'सिद्धान्त' का अनुसरण कर **'अभिव्यक्तिवाद'** की स्थापना की है। इस वाद (सिद्धान्त) के आधार पर 'सामाजिक सहृदय' में **'रसानुभूति' का निमित्त** प्राप्त हो जाता है। वह **निमित्त** 'अन्य कुछ न होकर' सामाजिक के **हृदय में सूक्ष्मरूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव के संस्कार** ही, रसानुभूति के निमित्त हैं। सामाजिकों की 'आत्मा' में संस्कार के रूपमें स्थित रहने वाला **'रति आदि स्थायी भाव' ही 'साधारणीकरण** को प्राप्त हुए विभावादिकों' से **अभिव्यक्त** हो जाता है। और **तन्मयीभाव** हो जाने से 'वेद्यान्तर के सम्बन्ध से रहित' **ब्रह्मास्वाद के सदृश 'परम आनन्द'** के रूप में **अनुभूत** होने लगता है।

इस **अभिव्यक्तिवाद** में 'भट्टनायक' के समान **व्यापारों की कल्पना** नहीं की गई है। **'नायक'** के कल्पित **'भावकत्व'** व्यापार के स्थान पर 'सर्वानुभवसिद्ध **साधारणीकरण** व्यापार' और कल्पित **'भोग'** व्यापार के स्थानपर 'सर्वप्रसिद्ध **व्यञ्जना व्यापार'** को बताया है। इस मत में **अप्रसिद्ध कल्पना के लिए अवकाश नहीं** दिया गया है।

काव्यप्रकाशकार ने अपने 'काव्यप्रकाश' में रसोत्पत्ति से सम्बन्धित जिन **चार मतों** की **चर्चा** की है, वे 'चारों मत' मूलतः नाट्यशास्त्र की व्याख्या **अभिनवभारती** के हैं। वहीं से **मम्मटभट्ट** ने इनका संग्रह किया है। 'अभिनवभारती' में बड़े विस्तार से 'समस्त मतों' को बताकर अन्त में **अभिव्यक्तिवाद** को **सिद्धान्त** के रूप में बताया है। और 'सामाजिक' को होनेवाली 'रसानुभूति की प्रक्रिया' को स्पष्ट किया है। **सामाजिक** की रसानुभूति के उपपादन में अवशिष्ट तीनों मत सफल नहीं हो पाये हैं। इन मतों के 'उपपादन' तथा **'खण्डन'** का क्रम भी **अभिनवगुप्तपाद** ने अपनी आलोचक दृष्टि से रखा है। इन मतों में **'पहला मत'** भट्टलोल्लट का है। इसमें सामाजिक के रसानुभूति की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है। अतः **सर्वप्रथम** उसका खण्डन कर, उसे **अनुपादेय** सिद्ध किया। तदनन्तर श्री**शंकुक के 'अनुमितिवाद' में सामाजिक की रसानुभूति** को 'अनुमितिरूप' बताया गया है। वह 'रसानुभूति' साक्षात्कारात्मक नहीं है। अतः **अनुपादेय** होने से उसे **द्वितीय स्थान** में रखा। तदनन्तर **भट्टनायक** ने **'सामाजिक'** को 'रस का साक्षात्कार' होने की प्रक्रिया का उपपादन तो किया है, फिर भी उसमें 'ऋजुमार्ग का अनुसरण' न होने से वह भी **अनुपादेय** कोटि में ही रहा। तथापि 'सिद्धान्त' के समीप पहुँचने के कारण उसे **तृतीय स्थान** में रखकर उसका निराकरण किया गया है। 'नायक' को **'भावकत्व'** और **'भोजकत्व'** इन दो **नवीन शब्दव्यापारों**

स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गाद् नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क दृष्टमिति चेत् न, कचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न

की कल्पना करनी पड़ रही है। इसलिए उसे **अनुपादेय** बताकर **अभिनवगुप्तपाद** ने स्वाभाविक सरल प्रक्रिया के द्वारा '**सामाजिक** के रससाक्षात्कार' का उपपादन कर दिया है, जो **सिद्धान्त के रूप में** सर्वविद्वन्मान्य हो गया है। क्योंकि '**विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव**' तो सर्वमान्य ही हैं, उनके '**विभावन-अनुभावन-व्यभिचारण**' व्यापार भी प्रसिद्ध ही हैं। इनमें **कोई भी कल्पित, नवीन, अप्रसिद्ध नहीं है**। 'रति' आदि भावों को 'आस्वादयोग्यरूप' प्रदान करना ही '**विभावन**' **व्यापार है—'रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम्**' कहा गया है। तथा आस्वाद के योग्य 'रति आदि भावों' को **अनुभव** का विषय बनाना '**अनुभावन**' व्यापार है—'**अनुभवविषयीकरणम् अनुभावनम्**' कहा गया है। उसी प्रकार 'शरीर में रति आदि के प्रभाव का सञ्चारण' '**व्यभिचारण**' व्यापार है—'**काये विशेषेण अभितः रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्**' कहा गया है। इस मत में 'वासना' अथवा 'संस्कार' के रूप में **रत्यादिस्थायिभाव** 'सामाजिक' की **आत्मा में** स्थित है। वही, **साधारणीकृत** हुए **विभावादिक** उपायों से 'अभिव्यक्त' हो जाता है। अर्थात् **सामाजिकगत** स्थायी भाव ही 'रसानुभूति के होने' में **निमित्त है**। अब **ग्रन्थकार 'रस की अलौकिकता'** को बता रहे हैं।

स चेति। और वह **रस** '**कार्यरूप**' नहीं है। यदि उसे '**कार्यरूप**' कहें तो '**विभावादि निमित्त कारणों**' का नाश हो जाने **पर** भी '**रस**' की **स्थिति** माननी पड़ेगी। जैसे **कुंभकार** की मृत्यु हो जाने पर भी उससे निर्मित '**कार्यरूप घट**' की स्थिति रहती है। किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। विभावादि निमित्त कारणों के नष्ट होने पर '**रस**' की प्रतीति नहीं होती। इसलिए '**रस**' को **कार्यरूप नहीं** कह सकते। उसी प्रकार वह '**ज्ञाप्य**' **भी नहीं है**। क्योंकि वह अपने अनुभव होने के पूर्व विद्यमान नहीं है। वह तो '**विभाव आदि**' से **व्यञ्जित** और **चर्वणीय** (आस्वाद के योग्य) है, यानी 'आस्वादकाल में' ही वह विद्यमान रहता है।

शंका—आपका उपर्युक्त कथन परस्पर विरुद्ध-सा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि एक ओर तो आप बता रहे हैं कि **रस** न '**कार्य**' है और न '**ज्ञाप्य**' है। दूसरी ओर आप कह रहे हैं कि '**रस**' विभावादि से **व्यञ्जित** होकर **आस्वाद्य** होता है। ये **दोनों परस्पर विरुद्ध** बातें एक में संगत नहीं हो सकतीं।

संसार में **दो ही प्रकार के 'हेतु'** दिखाई देते हैं—एक '**कारक**' हेतु और दूसरे '**ज्ञापक**' हेतु। इनके अतिरिक्त '**व्यञ्जक**' आदि 'हेतु' को आपने कहाँ देखा है?

दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यांतरसंस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर

समा०—ठीक है। 'कारक' और 'ज्ञापक' हेतुओं के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का कोई हेतु नहीं देखा जाता है। तीसरे प्रकार के किसी 'हेतु' का उपलब्ध न होना, और 'उपलब्धि के योग्य' दोनों प्रकार के हेतुओं का 'रस' में न बन पाना यह तो 'उसकी' अलौकिकता की सिद्धि में 'भूषण' ही है, 'दूषण' नहीं है। एवं च 'रस' न कार्य है और न ज्ञाप्य है। वह तो अलौकिक है।

रस की अलौकिकता में एक अन्य युक्ति—

विशेष विवरण—'रस' को 'कार्य' न मानने पर उसका कोई 'कारक' हेतु नहीं है—यह स्पष्ट हो जाता है। उसी प्रकार 'रस' को 'ज्ञाप्य' न मानने पर उसका कोई 'ज्ञापक' हेतु नहीं है—यह भी स्पष्ट हो जाता है। 'कारक और ज्ञापक' इन द्विविध हेतुओं के अतिरिक्त कोई 'तीसरे प्रकार का हेतु' आज तक किसी ने सुना नहीं है। ऐसी स्थिति में 'विभावादिकों' को 'रस' का 'व्यञ्जक हेतु' कैसे कहा जायगा? क्योंकि 'तीसरे प्रकार का' हेतु कोई है ही नहीं। तब ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कहते हैं कि इसीलिए तो हम 'रस' को अलौकिक कहते हैं। संसार में 'कारक और ज्ञापक' ये द्विविध लौकिक हेतु ही सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। किन्तु 'विभावादि' जो रस के व्यञ्जक हैं, वे उक्त 'दोनों हेतुओं' से विलक्षण हैं। इसीलिए इन 'विभावादिकों' को अलौकिक कहा जाता है। अतः 'रस' को 'अलौकिक बताना' उचित ही है। एवं च 'रस' न कार्य है और न ज्ञाप्य है—इस कथन से 'रस का अलौकिक' होना सिद्ध होता है। तथा 'रस' का हेतु न 'कारक' हेतु है और न 'ज्ञापक' हेतु ही है—यह कथन 'हेतु' की अलौकिकता को सिद्ध कर रहा है। एवं च 'हेतु' की अलौकिकता से भी 'रस' की अलौकिकता सिद्ध की गई है।

चर्वणानिष्पत्त्येति। चर्वणा की निष्पत्ति यानी आस्वाद की उत्पत्ति होने से (उस) रस की उत्पत्ति को भी उपचार (लक्षणा) से कह सकते हैं। इसीलिए 'रसः उत्पद्यते' रस उत्पन्न होता है—यह व्यवहार होता रहता है। अतएव 'उपचारात्मकलक्षणा' के सहारे 'रस' को 'कार्य' भी कह सकते हैं।

लौकिकेति। तथा (१) लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण से भिन्न और (२) प्रमाणताटस्थ्य यानी प्रमाणों की सहायता लिए बिना ही होनेवाले 'मितयोगिज्ञान' यानी युञ्जानयोगी के ज्ञान से भिन्न एवं (३) वेद्यान्तर के संस्पर्श से रहित, स्वात्म-साक्षात्कारमात्र में पर्यवसित, तथा परिमित से भिन्न जो युक्त योगी, उनके

इति प्रत्ययोऽप्यभिधीयताम् । तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् । नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवे-

---

ज्ञान से भी भिन्न लोकोत्तर स्वानुभूति का वह (रस) विषय बनता है। इसलिए **'रस' को उपचार (लक्षणा) से 'ज्ञेय' भी कह सकते हैं।**

विशेष विवरण—मूलग्रन्थ की पङ्क्ति **'लौकिक प्रत्यक्षादि.............. स्वसंवेदनगोचरः'** क्लिष्ट है। अतः उसे अच्छी तरह समझना चाहिए। यहाँ पर एक ही वाक्य के तीन अंश हैं—(१) **'लौकिकप्रत्यक्षादि'** (२) **'प्रमाणताटस्थ्याव-बोधशालिमितयोगिज्ञान'** और (३) **'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसित-परिमितेतरयोगिसंवेदन'** इन तीनों अंशों से यह बताया गया है कि **'रस'** की **प्रतीति उक्त 'त्रिविध साक्षात्कारात्मक ज्ञान' से विलक्षण है।** 'रस' की **अलौकिकता** को सिद्ध करने में यह भी एक प्रमाण है।

लोकव्यवहार में जितने भी **पदार्थ** (वस्तुएँ) हैं, उनके **वर्ग दो** ही हो सकते हैं—(१) **'कार्य'** या (२) **'ज्ञाप्य'**। किन्तु 'रस' की गणना उक्त दोनों वर्गों में से किसी वर्ग में नहीं हो रही है। अतः **उसे अलौकिक** ही कहा जा सकता है।

उसकी **अलौकिकता** में दूसरी युक्ति यह भी है कि हम 'प्रत्यक्ष' ज्ञान को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) हम लोगों का प्रत्यक्ष अर्थात् **लौकिक प्रत्यक्ष**, (२) मितयोगी का प्रत्यक्ष यानी **सविकल्पक समाधि** तक पहुँचे हुए **'युञ्जानयोगी'** का प्रत्यक्ष, (३) मितयोगी से इतर यानी भिन्न योगी का प्रत्यक्ष यानी **निर्विकल्पक समाधि** तक पहुँचे हुए **'युक्तयोगी'** का प्रत्यक्ष।

इन तीन प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों में से **हम लोगों का साक्षात्कारात्मक 'ज्ञान' 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' की सहायता से** हुआ करता है, और **मितयोगियों का ज्ञान 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' की सहायता के बिना** यानी प्रमाण-ताटस्थ्यपूर्वक अपने योगज सामर्थ्य से ही हो जाता है। और 'मितेतरयोगी' अर्थात् **'युक्तयोगी' का 'ज्ञान' 'वेद्यान्तर के स्पर्श से शून्य' रहकर केवल 'आत्मानुभवमात्र' होता है।**

किन्तु 'रस' **की अनुभूति इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण ही है।** अर्थात् **न वह अस्मदादिकों के प्रत्यक्ष के तुल्य है,** क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसकी साक्षात्कारात्मक अनुभूति नहीं है। **और न वह प्रमाणताटस्थ्यवाले मितयोगी** (युञ्जानयोगी) **के ज्ञान के तुल्य है।** उसी तरह **युक्तयोगी के आत्मानुभवमात्र के तुल्य ही न उसे कह सकते हैं।** एवं च तीनों प्रकार के प्रत्यक्षात्मक अनुभवों से **'विलक्षण'** होने के कारण उसे **'अलौकिक'** ही कहना होगा।

तद्ग्राहकमिति। 'रस' की अनुभूति में 'विभावादि के परामर्श' की

दनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति **श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः**।

प्रधानता रहती है। इसलिए **'निर्विकल्पक ज्ञान'** (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) को उसका **ग्राहक नहीं** कह सकते। तथा आस्वाद्यमान, अलौकिक आनन्दमय जो 'रस' है, वह तो **स्वसंवेदनसिद्ध है**। इसलिए **'सविकल्पक ज्ञान'** (सविकल्पक प्रत्यक्ष) भी उसका **ग्राहक नहीं** कहा जा सकता। अतः उसकी (रस की) **'उभयाभाव-स्वरूपता'** (निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्नता) के कारण और उसकी 'उभयात्मकता' के कारण भी—(**'विरुद्धयोरेकतरनिषेधेऽपरस्मिन् पर्यवसानम्'** इस नियम के अनुसार उसके **'सविकल्पत्व' का निषेध** करने पर उसका 'निर्विकल्पकत्व' अपने आप सिद्ध हो जाता है। उसी तरह **'निर्विकल्पकत्व'** का निषेध करने पर उसका **'सविकल्पकत्व'** भी अपने आप **सिद्ध** हो जाता है। इस तरह उसकी **'उभयात्मकता'** समझनी चाहिये)—उसकी **अलौकिकता** ही पूर्व की तरह बोधित होती है। उससे विरोध का बोधन नहीं किया गया है। इस प्रकार श्रीमान् **अभिनवगुप्तपाद का सिद्धान्त है**।

रस की अलौकिकता में एक और युक्ति बता रहे हैं—

विशेष विवरण—पहले यह बता चुके हैं कि **'रस' न कार्य है** और न **'ज्ञाप्य' है**। अतएव उसका **न कोई कारक हेतु** है और **न ज्ञापक हेतु ही है**। अतः उसका **हेतु** भी **अलौकिक ही** है। अब **अभिनवगुप्तपाद** ने 'रस' की अलौकिकता को सिद्ध करने के लिए यह बताया है कि **'रस' का ज्ञान न निर्विकल्पक** से होता है और **न सविकल्पक** से ही होता है। इसलिए भी वह **अलौकिक** है। जिस ज्ञान में पदार्थ के स्वरूप के अतिरिक्त उसके 'नाम, जाति आदि' का भी ज्ञान होता है, उसे **'सविकल्पक ज्ञान'** कहते हैं। अर्थात् **'नाम-जात्यादि-योजना-सहितं ज्ञानं सविकल्पकम्'**—यह 'सविकल्पक ज्ञान' का स्वरूप है। जैसे—**'घट-पटादि'** के ज्ञान में उनके स्वरूप के साथ **'नाम-जाति आदि'** की प्रतीति होती है। अतः 'घट-पट' आदि ज्ञान, **'सविकल्पक ज्ञान'** कहलाते हैं। वह **'शब्द-व्यवहार'** का **विषय होता है**। किन्तु 'रसानुभूति' केवल **स्व-संवेदनमात्र** होती है। वह **'शब्दव्यवहार'** का **विषय नहीं** हुआ करती। अर्थात् 'मिठास' की तरह उसे **'शब्द' से बताया नहीं जा सकता**। इसलिए उसमें **'नाम-जात्यादि'** के भान का कोई अवसर ही नहीं है। अतः **'रस' को सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कह सकते**।

यदि **'रस'** को **'निर्विकल्पक ज्ञान'** का विषय कहें **तो वह भी नहीं** कह

(रसनिष्पत्तौ विभावादीनां संभूयैव कारणत्वम्)

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुत-रौद्राणाम् , अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीर-करुण-भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

सकते । **'निर्विकल्पक ज्ञान'** उसे कहते हैं कि जो ज्ञान, 'नाम, जाति, विशेषण-विशेष्यभाव' से रहित रहता है । **'नाम-रूप-जात्यादिविशेषशून्यं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'**—यह 'निर्विकल्पक ज्ञान' का स्वरूप है । **इसके** विपरीत **जो ज्ञान है,** उसे **'सविकल्पक'** बताया गया है । **'निर्विकल्पक ज्ञान'** तो केवल **'वस्तुमात्र'** को विषय करता है । उसको **'बाल-मूकादिविज्ञान-सदृशं निर्विकल्पकम्'** से बताते हैं । बालक को जो ज्ञान होता है, वह बड़े आदमी के समान ही होता है । अन्तर इतना ही है कि बड़ा आदमी उसे अच्छी तरह बता पाता है, और बालक उसे बता नहीं पाता । एवं च **'बालक का ज्ञान'** नाम-जाति आदि की योजना से **रहित होने के कारण 'निर्विकल्पक ज्ञान' है । और 'बड़े आदमी का ज्ञान' सविकल्पक कहलाता है ।** 'बड़े आदि का भी ज्ञान' प्रथम क्षण में 'निर्विकल्पक' ही होता है, किन्तु शब्दव्यवहार में आने के कारण वह तुरन्त 'सविकल्पक ज्ञान' में परिणत हो जाता है । इसलिए उसका 'निर्विकल्पकस्वरूप' अनुभव में नहीं आ पाता । किन्तु 'रस' की जब प्रतीति होती है, तब 'विभावादिकों' के परामर्श (सम्बन्ध) की भी प्रतीति होती रहती है । इस प्रकार **'समूहालम्बनात्मक ज्ञान' होने से 'रस' का ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता । और न सविकल्पक ज्ञान ही उसका ग्राहक हो सकता है,** क्योंकि अलौकिक आनन्दमय आस्वाद्यमान वह रस **तो 'ब्रह्म' के समान स्व-प्रकाशरूप है ।** संसार में 'संवेदन' (ज्ञान) दो ही प्रकार का होता है—एक 'निर्विकल्पक' और दूसरा 'सविकल्पक' । तीसरा प्रकार और कोई भी नहीं है । अतः **'दोनों ज्ञानों' से ग्राह्य न हो सकना भी 'रस' की अलौकिकता को सिद्ध कर रहा है ।**

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में 'अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्तपाद' ने बहुत विस्तृत चर्चा की है । उसी को सारग्राही संक्षेप के द्वारा काव्यप्रकाशकार मम्मट-भट्ट ने यहाँ पर उपस्थित कर दिया है । **'अभिनवगुप्तपाद' के** द्वारा किये गये **'रसनिष्पत्ति' के सिद्धान्त को ही मम्मटभट्ट ने स्वीकार किया है ।**

रस सूत्र में विभावादिकों का सम्मिलित निर्देश करने में हेतु—

शंका—सूत्रकार भरतमुनि ने प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव को अलग-अलग क्यों नहीं बताया ?

समा०—व्याघ्रादय इति । 'व्याघ्रादि विभाव' भयानक रस के समान वीर,

(उद्दीपनविभावमात्रेणैव रसाभिव्यक्तिः)

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥
इत्यादौ ।

अद्भुत और रौद्र रस के भी हो सकते हैं। 'अश्रुपातादि अनुभाव' शृङ्गार रस के समान करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। 'चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव' शृङ्गार के समान वीर, करुण और भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए किसी 'एक ही रस' के साथ उनका रहना निश्चित न होने से अर्थात् उनकी स्थिति अनैकान्तिक होने से सूत्रकार ने उनका निर्देश सम्मिलित रूप से ही कर दिया है।

शंका—सूत्रकार भरत ने रसनिष्पत्ति में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावों की कारणता (हेतुता) सम्मिलित रूप से बताई है। किन्तु जहाँ इन तीनों का सम्मिलित वर्णन न हो, बल्कि किसी एक का या किन्हीं दो का ही वर्णन हो, वहाँ रसनिष्पत्ति कैसे होगी ? इस शंका को प्रकट करने के लिए ही काव्यप्रकाशकार ने तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

(१) पहले उदाहरण में केवल 'मुग्धा नायिकारूप' 'आलम्बन' और 'वर्षाकालरूप' 'उद्दीपन विभाव' का ही वर्णन किया गया है। किसी मानिनी नायिका से उसकी सखी कह रही है—

वियदिति। हे मुग्धे ! आकाश, भ्रमरतुल्य श्यामल और नीर (जल) भरे हुए मेघों से आच्छादित हो रहा है, तथा भ्रमर एवं कोकिल के कूजन से दिशाएँ सुशोभित हो रही हैं, और पृथिवी, पत्थर काटने वाली लोहे की टाँकियों के समान नवीन अंकुरों वाली हो रही है। इसलिए अपने प्रियतम के प्रणाम करने पर, उस पर प्रसन्न हो जाओ। यानी अपने हठ को छोड़ दो। (क्योंकि उपस्थित हुए वर्षाकाल में तुम्हारा मान अधिक देर तक टिकने वाला नहीं है) ॥ २७ ॥

इत्यादाविति। इत्यादि पद्य में केवल 'मुग्धा दयितारूप आलम्बन विभाव' और 'वर्षाऋतु मेघरूप उद्दीपन विभाव' का ही वर्णन किया गया है। अवशिष्ट अनुभाव, व्यभिचारिभावों का आक्षेप से ज्ञान हो जाता है। 'मुग्धा' का अर्थ है विवेकरहिता।

विशेष विवरण—कवि ने वर्षाऋतु का वर्णन किया है। और भ्रमरों की गुंजार तथा कोयल का कूजन भी बता दिया है। किन्तु वर्षाऋतु में कोयल का कूजन सुनाई नहीं देता, इसलिए कतिपय व्याख्याकारों ने व्याख्या की है कि सखी ने अपनी सहेली मुग्धा नायिका को डराने के लिए ही कोयल के कूजन को भी बता दिया है। कुछ व्याख्याकारों ने 'मधुकरों पर' ही कोयल का आरोप कर दिया है

(अनुभावमात्रेणैव रसाभिव्यक्तिः)

**परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मीमभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥
इत्यादौ ।**

'मधुकरा एव कोकिलाः मधुकरकोकिलाः' । **'वर्षास्वपि कोकिलामाद्यन्ति'** वर्षाकाल में कोकिलाएँ भी उन्मत्त हो जाती हैं। इस वचन प्रसिद्धि के अनुसार **वर्षाकाल में भी कोयल का कूजन बताना अनुचित नहीं है**। यहाँ केवल **विभावों का** ही वर्णन किया गया है। **'अवहित्थ, वेगादि'** अनुभावों का तथा **'रोमाञ्च-स्तंभादि'** व्यभिचारि भावों का आक्षेप किया जाता है। तथापि रसानुभूति हो रही है।

(२) दूसरे उदाहरण में केवल **'अनुभावों'** का **वर्णन है**। माधव, मकरन्द से मालती की **अवस्था (अनुभावों) का वर्णन** कर रहा है—

परिमृदितेति। उस मालती के शरीर के अंग-अंग, हाथों से मसली हुई बाल मृणालिनी के समान म्लान हो गये हैं, तथा शरीरमात्रधारणोपयोगी भोजनादि **अनेक क्रियाओं में भी सखियों के द्वारा बार-बार प्रार्थना करने पर यथा-कथञ्चित् उसकी प्रवृत्ति होती है, अपनी इच्छा से नहीं।** (इस कथन से **आलस्यातिशय** अथवा **विषयों में वितृष्णता** व्यक्त की गई है) और अभिनव **हाथी के काटे गये दाँत के टुकड़े के समान सुन्दर** (करिशिशु का दांत कोमल होता है, अतः तत्क्षण रक्तसम्बन्ध होने से अलक्तक मिश्रित दूध के वर्ण का—यह अर्थ व्यक्त किया गया है। कुछ व्याख्याकार 'अभिनव' का सम्बन्ध 'च्छेद' के साथ करके अर्थ करते हैं कि 'अभिनव जो करिदन्तच्छेद, उसके समान सुन्दर—इस अर्थ से **गौर-वर्ण** का उत्कर्ष प्रकट किया गया है)—कपोल **निष्कलंक** यानी **कलामात्रावशिष्ट चन्द्रमा की शोभा को** धारण कर रहा है। (इस कथन से उसकी **क्षामता** व्यक्त की गई है) ॥ २८ ॥

इत्यादाविति। इत्यादि उदाहरण में केवल 'अंगम्लानि' आदि **अनुभावों का वर्णन** किया गया है। तथापि **रसनिष्पत्ति** हो रही है।

विशेष विवरण—'छिद्यते इति छेदः' यहाँ कर्मणि 'घञ्' किया है। **'मालती-माधव'** नामक प्रकरण (नाटक के ही एक भेद) के प्रथम अंक में से यह उदाहरण दिया गया है। इसमें **मालती की अवस्था** (दशा) का वर्णन किया गया है। इस पद्य में **'परिमृदितः'** इत्यादि से उसकी **'कामानलसन्तप्तता'** को **'क्रियासु०'** इत्यादि से **'आलस्यातिशय** रूप और **विषयवैतृष्ण्य** रूप कामदशा को', **'कपोलः'** इस एक वचन से 'एक करवट पर सोने से किञ्चिदवच्छेदेन **रक्तता** और किञ्चिद-

(व्यभिचारिभावमात्रेणैव रसाभिव्यक्तिः)

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

इत्यादौ च ।

वच्छेदेन पाण्डुता को' व्यक्त किया गया है। तथापि उसके सौन्दर्य में कोई कमी नहीं हुई है—यह भाव 'कान्त और लक्ष्मी' दो पदों से अभिव्यक्त किया गया है।

(३) अब तीसरे उदाहरण में केवल 'व्यभिचारिभावों' का वर्णन किया जा रहा है। अपराधी प्राणेश्वर के प्रति नायिका के नानाविध भावों को बता रहे हैं—

दूरादिति। दूर से नायक को आता हुआ देखकर नायिका की आँखें उत्सुकता से भर गईं, किन्तु समीप आने पर प्राणेश्वर ने मेरी उत्सुकता को कहीं भाँप तो नहीं लिया, इस लज्जा से अपनी आँखों को नीचे कर लिया। प्रणयालाप करने पर आँखें प्रसन्नता से खिल गईं। आलिंगन करने का यत्न करने पर क्रोध से लाल हो गईं। साड़ी का पल्ला पकड़ने पर भ्रुकुटियों को चढ़ा लिया। और उसके चरणों पर नायक जब नत हुआ, तब मानिनी नायिका की आँखें आँसुओं से भर गईं—इस प्रकार मानिनी नायिका अपने प्रियतम के द्वारा परस्त्री-संपर्करूप अपराध के करने पर नानाविध आकार धारण करने की प्रपञ्च-रचना में चतुर हो गई है॥ २९॥

इत्यादाविति। इत्यादि उदाहृत पद्य में केवल 'औत्सुक्य आदि व्यभिचारि भावों' का वर्णन किया गया है।

विशेष विवरण—अपराधी नायक के 'दूर रहने पर' 'नायिका' के नेत्रों से औत्सुक्य झलकने लगा, और उसके 'समीप आने पर' नीचे झुकी आँखों में व्रीडा झलकने लगी, 'संभाषण करने पर' उसकी विकसित हुई आँखों से हर्ष झलकने लगा, 'आलिंगन का यत्न करने पर' लाल हुई आँखों से कोप झलकने लगा, 'आँचल पकड़ने पर' भ्रुकुटियों की वक्रिमा से आँखों में असूया का भाव प्रकट होने लगा, तदनन्तर 'नायक के प्रणाम करने पर' 'नायिका के नेत्र, अश्रुपूर्ण होकर प्रसाद (प्रसन्नता) को सूचित करने लगे। कवि ने इस पद्य में औत्सुक्य, व्रीडा, हर्ष, कोप, असूया और प्रसाद आदि 'व्यभिचारि भावों' का ही वर्णन किया है। अवशिष्ट अन्य दो भावों का आक्षेप कर लिया जाता है।

(विभावादीनां संभूयकारणत्वे व्यभिचाराभावः)

यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपा-ऽसूया-प्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाऽप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ।

(रसानां नाम्ना परिगणनम्)

तद्विशेषानाह—

(सू०४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।२९।

यद्यपीति । यद्यपि उक्त तीनों उदाहरणों में क्रमशः **'विभावों'** की, **'अनुभावों'** की और **'औत्सुक्य, लज्जा, कोप, असूया और प्रसाद रूप व्यभिचारि भावों'** की ही उपस्थिति प्रदर्शित की गई है । तथापि ये सब प्रकृत **'रति' के बोधन करने में असाधारण लिङ्ग (हेतु) हैं,** उनसे ही 'अन्य दो' का **आक्षेप** हो जाता है । अतः **'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभावादि तीनों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है'**—इस सिद्धान्त का व्यभिचार नहीं हो रहा है ।

तदिति । उस (रस) के **(आठ)** भेदों का वर्णन करते हैं—

(सू० ४४) **(१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स और (८) अद्भुत**—नाट्य में (उक्त) आठ रस माने गये हैं ॥ २९ ॥

रसों के विशेष-क्रम-निर्धारण पर विचार—

विशेष विवरण—काव्यप्रकाशकार ने भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र की कारिका (अध्याय ६-१६) को उसी स्वरूप में ले लिया है । **भरत** ने अपने **'नाट्यशास्त्र'** में नाट्योपयुक्त **आठ रसों** का नामग्रहण पूर्वक क्रमशः कथन किया है । **भरत** के द्वारा रसों का क्रमशः कथन करने का रहस्य **अभिनवगुप्तपाद** ने अपनी **'अभिनव-भारती'** में बताया है—**'रति अथवा काम की उपलब्धि'** केवल मनुष्यों में ही नहीं, अपितु **'कूकर-शूकर-कृमि-कीट-देव-दानवादि सभी जातियों' में होती है** । सभी उसकी ओर आकर्षित होते हैं । इसलिए सर्वप्रथम स्थान **'शृंगार रस'** को दिया है । उसका अनुसरण 'हास्य' करता है, इसलिए शृंगार के बाद द्वितीय स्थान **'हास्यरस'** को दिया है । **(शृंगार के दो भेद हैं—(१) संभोग शृंगार और (२) विप्रलंभ शृंगार । संभोग में** नायक-नायिका का परस्पर **सम्मिलन** होता है । **विप्रलंभ में दोनों को परस्पर मिलन की आशा रहती है)** ।

'करुण' की स्थिति **'हास्य'** के विपरीत है । इसलिए **'हास्य'** के अनंतर **करुण**

रस को स्थान प्राप्त हुआ है। अपने अभीष्ट जन के **वियोग** या **विनाश** का भ्रम हो जाने पर **करुणरस** का आरंभ होता है, उसमें **'पुनर्मिलन'** की आशा नहीं रहती। अतएव **करुणरस में 'नैराश्य'** भरा होने से उसे **'निरपेक्ष रस'** कहते हैं। महाकवि **भवभूति ने** 'करुण रस' के **निराशात्मक स्वरूप** को **'तटस्थं नैराश्यात्'** कहकर सूचित किया है। **'शृंगार'** और **'हास्य'** में **आशामय सापेक्ष भाव** रहता है, किन्तु उसके विपरीत **'नैराश्यमय निरपेक्षभाव'** **'करुण'** में रहता है। इसलिए 'शृंगार और तदनुगामी हास्यरस' के पश्चात् **करुणरस** को रखा गया है। 'करुण रस' का आरंभ **मरण** या **विनाश** के बाद होता है। 'विनाश या मरण' का सम्बन्ध **रौद्ररस** से है। अतः 'करुण' के अनन्तर **रौद्ररस** का स्थान रखा गया है। 'रौद्ररस' **'अर्थप्रधान'** होता है। 'काम और अर्थ' दोनों **'धर्ममूलक'** होते हैं। इसलिए 'रौद्र' के बाद **'वीररस'** को स्थान दिया गया है। यह **'वीररस'** **'धर्मप्रधान'** होता है। **'भयभीतों' को अभय प्रदान** करना **वीररस** का कार्य है। इसलिए 'वीर' के बाद उसके विरोधी **भयानक रस** को स्थान प्राप्त हुआ है। 'भयानक रस' के समान ही **'बीभत्स रस'** के विभाव होते हैं, क्योंकि 'वीररस' के प्रभाव से ही बीभत्स के दृश्य सामने आते हैं। अतः 'भयानक' के बाद **बीभत्स रस** को स्थान दिया गया है। 'वीररस' के परिणामस्वरूप **अद्भुत रस** होता है इसीलिए कहा है कि **'पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुतः'** इति। **अन्त में** सदा **'अद्भुतरस'** को स्थान देना चाहिये। इसलिए 'वीर' के अनन्तर ही **अद्भुत** को रखा गया है। तदनन्तर **'धर्म, अर्थ, काम'** इस त्रिवर्ग के साधनभूत **'प्रवृत्ति धर्म'** के ठीक विपरीत **'निवृत्ति-धर्म'**-प्रधान **'शान्तरस'** उपस्थित होता है। **भरत** ने यद्यपि 'नाट्यप्रसंग' में **'शान्तरस'** की गणना नहीं की है, तथापि 'काव्य' में **'शान्तरस'** को भी स्वीकार किया गया है। 'शान्तरस' का **'मोक्ष' फल** होता है। अतः सब के अन्त में उसे **'शान्तोऽपि नवमो रसः'** कहकर स्थान दिया गया है।

शान्तरस के सम्बन्ध में विचार—

चिरकाल से **'शान्तरस'** के सम्बन्ध में विवाद चलता रहा है। इस **विवाद** का आधार **'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'** यह **भरतोक्ति** ही है। इस उक्ति के आधार पर ही महाकवि **कालिदास, अमरसिंह, भामह, दण्डी** आदि प्राचीन अचार्यों ने भी 'नाटक' में **आठ ही रसों** को बताया है। **'शान्त रस' को नहीं** बताया। किन्तु **उद्भट, आनन्दवर्धन** और **अभिनवगुप्तपाद** ने 'शान्तरस' का स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया है। 'नाट्य' में **'शान्तरस'** की उपयोगिता भले ही न हो, किन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। इसीलिए **आनन्दवर्धन** और **अभिनवगुप्तपाद** ने बड़े विस्तार से **'शान्तरस'** का प्रतिपादन किया है।

'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार **भट्टोद्भट, भट्टनायक, अभिनवगुप्तपाद** आदि सभी ने **'शान्तरस'** के 'अस्तित्व' को माना है। **'भरतनाट्य-शास्त्र'** के मर्मज्ञ विद्वान् **अभिनव** जैसे व्याख्याकार **भरतमुनि** के आशय को अच्छी तरह समझते हैं। उनके अनुसार **भरतमुनि** ने भी 'शान्तरस' को स्वीकार किया है। **'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'** का आशय 'केवल नाट्य' में **आठ रसों** का प्रतिपादन करना है। किन्तु 'काव्य' में **'शान्तरस'** भी हो सकता है। इसीलिए आगे चलकर 'भरत' ने **'शान्तरस' का भी प्रतिपादन किया है।** यही देखकर **मम्मटभट्ट** ने भी **'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः'** कहा है। इसलिए **'शान्तरस' को न मानना या उसके प्रतिपादन को प्रक्षिप्त बताना सर्वथा अनुचित है।**

भक्तिरस—

भक्ति सम्प्रदाय में **'भक्ति'** को भी 'रस' माना गया है। किन्तु **अलंकार-शास्त्रियों** ने देवादिविषयक 'रति' कहकर उसकी **गणना 'भाव' में की है, 'रस' में नहीं।** तथापि **'श्रीरूपगोस्वामी'** ने अपने **'भक्तिरसामृतसिन्धु'** तथा **'उज्ज्वल-नीलमणि'** ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ 'भक्ति' की चर्चा करते हुए उसे **स्वतन्त्र 'रस'** कहा है। उनका मत है कि भगवान् **श्रीकृष्ण** के अतिरिक्त **अन्य देवता विषयक 'रति'** को तो **'भाव'** कहा जा सकता है, **किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण विषयक 'रति' को 'भाव' नहीं कह सकते, क्योंकि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** 'श्रीकृष्ण' के आकार में तो साक्षात् 'भगवान्' ही प्रादुर्भूत हुए हैं। षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् **'श्रीकृष्ण'** अन्यान्य देवताओं के समान नहीं हैं। इसलिए उन्हें केवल देवता समझना अनुचित है। अतः **आलंकारिक-सम्मत** देवता-विषयक **'रति'** के तुल्य **श्रीकृष्ण-विषयक 'रति'** के न होने से उसे 'भाव' न कहकर स्वतन्त्र **'रस'** मानना ही उचित है। इस **'भक्ति रस'** को **'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभावादि'** सामग्री भी उपलब्ध हैं। 'भक्तिरस' का **'आलम्बन विभाव'** तो भगवान् **'श्रीकृष्ण'** हैं। **'उद्दीपन विभाव'**—'भक्त-परमभागवत **'वैष्णवों' की संगति,** तीर्थसेवन, एकान्तवास, **भगवत्कीर्तन आदि'** हैं। और **'अनुभाव'**–'भगवद्गुणानुवाद सुनकर गला भर आना यानी **गद्गद हो जाना,** अश्रुपात होना, नृत्य करने लगना, हँसना-रोना आदि' हैं। तथा **'व्यभिचारिभाव'**—'शंका, असूया, दैन्य, **स्मृति,** धृति, क्रोध उन्माद **आदि' हैं। 'भक्तिरस' के विस्तृत ज्ञान के लिए गौडीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों को तथा** साक्षात् शुकमूर्तिस्वरूप **परमपूज्य श्रीस्वामी करपात्रीजी का** 'भक्तिरसार्णव' **ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।**

वात्सल्य रस—

आलंकारिक विद्वान् **विश्वनाथ** ने अपने **'साहित्यदर्पण'** में 'वात्सल्य' को भी

स्वतन्त्र 'रस' माना है। इस 'रस' का 'स्थायिभाव' अपने से 'कनिष्ठ' के प्रति 'स्नेह' है। और 'आलम्बन विभाव'—कनिष्ठ 'बालक' आदि हैं। उनकी 'तुतलाती बोली, उनकी सुन्दरता, उनकी बाललीला' आदि 'उद्दीपन विभाव' हैं। उनको 'स्नेह से गोद में उठा लेना, उनका आलिङ्गन करना, उनको चूम लेना आदि' 'अनुभाव' हैं। और 'व्यभिचारिभाव' 'चपलता, हर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य, सोना, जागना आदि' हैं।

किन्तु अन्यान्य आलंकारिकों ने 'भक्ति' और 'वात्सल्य' को स्वतन्त्र 'रस' नहीं माना है। क्योंकि उनका अपना कोई मौलिक 'स्थायिभाव' नहीं है। विभिन्नलिङ्गक और समवयस्क लोगों के परस्पर 'स्नेह' को 'रति' कहते हैं। 'ज्येष्ठ' का या 'उत्तम प्रकृतिवाले' का 'कनिष्ठ' के प्रति या 'मध्यम-अधम प्रकृतिवाले' के प्रति जो 'स्नेह' है उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। 'कनिष्ठ' का 'ज्येष्ठ' के प्रति जो 'स्नेह' उसे 'भक्ति' या 'श्रद्धा' कहते हैं। तथा 'समानलिङ्गक और समवयस्क लोगों' का जो 'स्नेह' उसे 'मित्रता' कहते हैं। एवं 'चेतन' का 'जड़' वस्तु के प्रति जो 'स्नेह' उसे 'लोभ' कहते हैं। ये सब 'स्नेह' के ही रूपान्तर मात्र हैं। इन्हें वास्तविक 'मूल स्थायिभाव' के रूप में कहना उचित नहीं है—ऐसा 'आलंकारिकों' का कहना है। इसलिए आलंकारिकों ने 'भक्ति' और 'वात्सल्य' को 'भाव' के अन्तर्गत ही माना है। उन्हें स्वतन्त्र 'रस' के रूप में नहीं। अतः ग्रन्थकार ने 'रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारी तथाऽञ्जितः, भावः प्रोक्तः' कहकर देवादिविषयक 'रति' को 'भाव' ही माना है। इनके मत में 'भक्ति' और 'वात्सल्य' दोनों 'भाव' ही हैं, 'रस' नहीं।

मूल रस—

भरतमुनि ने तो 'शृंगार, रौद्र, वीर और 'बीभत्स' इन चार 'रसों' को ही मूल (प्रधान) रस माना है। अवशिष्ट 'हास्य, करुण, भयानक और अद्भुत'—इन चार 'रसों' की उत्पत्ति, उपरि निर्दिष्ट मूल चार रसों से ही होती है। यानी 'शृंगार' से 'हास्य', 'रौद्र' से 'करुण', 'वीर से 'अद्भुत' और 'बीभत्स' से 'भयानक' की उत्पत्ति होती है। विस्तृत परिचय के लिए 'नाट्यशास्त्र' का परिशीलन करना चाहिये।

एक रस का सिद्धान्त—

कतिपय प्राचीन महाकवि, आचार्यादि महापण्डितों ने 'एक ही विशेष रस' को मूल रस के रूप में मान लिया।

(१) महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र मूलरस के रूप में माना है। वे अपने करुणरसप्रधान नाटक 'उत्तररामचरित' में कहते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

(२) भोजराज ने अपने 'श्रृंगारप्रकाश' में 'श्रृङ्गार' को ही एकमात्र मूल रस के रूप में माना है। वे अपने 'श्रृङ्गारप्रकाश' में कहते हैं—

श्रृङ्गार-वीर-करुणाऽद्भुत-रौद्रहास्य-
बीभत्स वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥

(३) विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में अपने पूर्वज नारायणपण्डित के अभिमत 'अद्भुतरस' को ही एकमात्र 'मूलरस के रूप' में माना है। वे अपने साहित्यदर्पण में कहते हैं—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः ॥
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।

(४) श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य अपनी 'अभिनवभारती' में 'शान्तरस' को ही एकमात्र मूल रस के रूप में मानते हैं। नाट्यशास्त्र की व्याख्या 'अभिनवभारती' में वे कहते हैं—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्ताऽपाये च शान्त एवोपलीयते ॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

अलौकिक रस की 'सुख-दुःखरूपता' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं।

(१) धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथादि विद्वानों ने 'सभी रसों' को सुखरूप ही बताया है। इनके मत के अनुसार 'करुणरस' भी सर्वथा सुखात्मक ही है। विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में लिख रहे हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥

[सा० दर्प० ३।४।५]

१. (शृङ्गारस्य भेदनिरूपणम्)

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनाऽलिङ्गनाऽधरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गम्यते। यथा—

(संभोगश्रृंगारस्य उदाहरणम्)

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

---

(२) श्रीमदभिनवगुप्तपाद के मत में 'प्रत्येक रस' उभयात्मक है। 'प्रत्येक रस' में सुख-दुःख दोनों ही रहते हैं। किन्तु 'शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत'—इन 'चार रसों' में 'सुख' की तो प्रधानता रहती है और 'दुःख' का सम्बन्ध मात्र रहता है। तथा 'रौद्र, भयानक, करुण और बीभत्स'—इन 'चार रसों' में दुःख की प्रधानता रहती है और 'सुख का आंशिक सम्बन्ध' रहता है। एक 'शान्तरस' ही ऐसा है, जो सर्वथा सुखात्मक है। इस विषय में विस्तृत ज्ञान के लिए 'अभिनवभारती' का 'प्रथम अध्याय' पढ़ना चाहिये।

(३) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसों की उभयात्मकता और सभी की सुखात्मकता का निषेध करते हुए सभी रसों को न सुखात्मक ही माना है, और न सभी को उभयात्मक ही माना है। उन्होंने रसों के दो विभाग किये हैं। 'शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त'—इन 'पाँच रसों' को नितान्त सुखात्मक माना है, तथा 'करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक'—इन 'चार रसों' को नितान्त दुःखात्मक स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

"तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुतशान्ताः पञ्च सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः।"

(१) शृङ्गार रस और उसके भेद—

तत्र शृङ्गारस्येति। पूर्वोक्त रसों में से शृङ्गार के दो भेद किये गये हैं—(१) सम्भोग शृङ्गार और (२) विप्रलम्भ शृङ्गार। उनमें से प्रथम (सम्भोग शृङ्गार) के परस्परावलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन, आदि अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनका अन्त नहीं है, इस प्रकार वह असंख्येय है। उसके भेदों की गणना करना संभव नहीं है। इसलिए वह एक ही प्रकार का गिना जाता है। फिर भी संभोग श्रृंगार कभी नायिका के द्वारा आरंभ होता है, तो कभी नायक के द्वारा आरंभ किया जाता है, अतः संभोग के दो स्वरूप (प्रकार) हैं। जैसे—

१. नायिकारब्ध संभोगशृङ्गार का उदाहरण—

शून्यमिति। अपने प्रियतम-पति के पलंग के बराबर ही बिछे हुए अलग पलंग

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ३० ॥

पर लेटी हुई नवोढा वधू (नायिका) अपने शयनकक्ष (वासगृह) को सखीजनों से रहित हुआ अच्छी तरह से देखकर अपने पलंग पर से एक करवट के बल पर धीरे से उठकर निद्रा का बहाना करके सोनेवाले अपने प्रिय पति के मुख की ओर बहुत देर तक देखकर (पतिदेव सचमुच गाढ निद्रा में सो रहे हैं—यह विश्वास होने तक) निःशंक हुई नववधू के द्वारा पति के कपोलों का, और नेत्र-प्रान्तों का लगातार चुम्बन करते रहने से उसके पति के कपोलों पर मन ही मन में होने वाली प्रसन्नता के कारण पुलकों (रोमाञ्च) को उभरे हुए देख (नववधू यह जान गई कि पतिदेव जग रहे थे, सचमुच सोये नहीं थे, मैं धोखे में रही) वधू लजा गई, उसका मुख लज्जा से झुक गया। ('लजते इति लज्जा, पचाद्यच् साऽस्ति अस्या इति लज्जावती')। तब लज्जित हो जाने से अपने मुख को झुकाई हुई नववधू को अपने भुजपाश में जकड़ कर हँसते हुए प्रियतम ने बहुत देर तक यानी संभोग स्वीकार करने तक अर्थात् लज्जा के परित्याग होने तक उसे चूमा (चुम्बन किया) ॥ ३० ॥

विशेष विवरण—यह संभोगश्रृंगार रस का उदाहरण है। इसमें नायिका के द्वारा श्रृंगार का आरंभ किया गया है। 'आलम्बनविभाव'—'नायक' है। 'उद्दीपनविभाव'—'शून्य वासगृह, नायक की निद्रा' आदि हैं। 'अनुभाव'—'मुखनिर्वर्णन, चुम्बन आदि' हैं। 'व्यभिचारिभाव'—'लज्जा, हास और उससे अभिव्यञ्जित हर्षादि हैं।' 'स्थायिभाव'—'रति' है। उससे ही सहृदय सामाजिक को नायिकानिष्ठ रस की ही चर्वणा (आस्वाद) होती है। साहित्यशास्त्र में 'प्रथमतः स्त्री के अनुराग' का होना उचित कहा गया है—'पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात् तदिङ्गितैः।' इस साहित्यिक सिद्धान्त के अनुसार यह संभोग श्रृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इसमें नायिका की प्रथम अनुरक्ति प्रदर्शित की गई है। 'अमरुशतक' से इस पद्य को लिया गया है।

इस पद्य में 'विलोक्य' पद से सखियों के छिपकर बैठने की शंका का निरास किया गया है। 'किञ्चित्' पद से पति के निद्राभंग होने की शंका को दूर किया गया है। 'मन्दमुत्थाय' से अनुराग को प्रकट किया है। 'निर्वर्ण्य' से अनुरागातिशय और पति की निद्रा का निर्णय किया गया है। 'विस्रब्धम्' से निद्रा की वास्तविकता को बताया गया है। 'बाला' पद से लज्जा के न होने में हेतुभूत प्रौढता का निरास किया गया है। 'हसता' पद से 'पहले मेरे कहने पर भी प्रवृत्त नहीं हुई, अब कैसे आ गई?' इस प्रकार के 'नर्महास' को प्रकट किया गया है।

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

इसी पद्य का हिन्दी में अनुवाद हिन्दी के महाकवि **'बिहारीलाल'** ने एक छोटे से दोहे में कर दिया है—

"हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यो ढिग जाय ।
हस्यों, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय" ॥ ३० ॥

२ नायकारब्ध सम्भोगशृङ्गार का उदाहरण—

अब **संभोगश्रृङ्गार के दूसरे प्रकार** का उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें **नायक के द्वारा आरंभ** किया गया है—

त्वं मुग्धाक्षीति । हे सुन्दरनयनों वाली ! प्रिये ! तुम चोली पहने बिना ही बहुत सुन्दर दीख रही हो, तुम्हारी यह सुन्दरता मेरे चित्त को बरबस खींचे ले रही है । ऐसा कहते हुए नायक ने उसकी चोली के पिछले बटन या पिछली गाँठ खोलने के लिए जैसे ही छूआ, उसे छूते देख शय्या (पलंग) के आस-पास बैठी हुई अन्य सखियों ने देखा कि पति के पास सटकर बैठी हुई अपनी सखी के मुख पर स्मित की छटा बिखर रही है, और उसके नेत्रों में प्रेम उभर आया है । तब सभी अन्य सखियाँ अत्यन्त आनन्दित हो गईं, और वे सभी किसी न किसी आवश्यक कार्य का मिथ्या बहाना बनाकर धीरे-धीरे उसके विलास-भवन से बाहर निकल गईं ॥ ३१ ॥

विशेष विवरण—'नायकारब्ध-संभोगश्रृङ्गार' का यह उदाहरण है । इसमें **आलम्बनविभाव—**'मुग्धाक्षी नायिका' है । और **उद्दीपनविभाव—**'उसका नयन-सौन्दर्य तथा अंग-अंग का सौन्दर्य' है । **अनुभाव—**'प्रेमालाप, वीटिका (बटन या बन्द) का स्पर्श' है । **व्यभिचारिभाव—**'आभाषण (प्रेमालाप) और वीटिका (बटन) संस्पर्श दोनों की तुल्यकालता अवगत होने से प्रतीयमान उत्कण्ठा' आदि हैं । **स्थायिभाव—**'रति' है । **'पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात् तदिङ्गितैः'** इस नियम के अनुसार **'नायिकारब्ध-संभोगश्रृंगार'** का उदाहरण प्रथम देकर अब दूसरा उदाहरण **'नायकारब्ध-संभोगश्रृङ्गार'** का दिया है । यह पद्य भी **'अमरुशतक'** का है । इस पद्य में कुचोपपीडनपूर्वक आलिंगन के साथ रमणोत्सुक हुए नायक का वर्णन किया गया है । आलिंगन करने में कञ्चुकी को व्यवधानरूप समझकर उसे खोलने के लिए नायक प्रवृत्त हो रहा है ।

यहाँ पर **'प्रियतमे'** पद से यह व्यञ्जित किया जा रहा है कि 'नायक' अतिशय 'प्रेम का पात्र' है। अतः वह उपेक्षणीय नहीं है। **'सस्मित'** कहकर कञ्चुलिका के अपसारण में नायिका अपनी सम्मति व्यक्त कर रही है। अन्यथा भ्रुकुटियों को ही चलाकर मना कर देती। वहाँ अन्य सखियों के रहते हुए भी यह नायक इस प्रकार लीला कर रहा है, इसलिए वह लज्जा से दबी जा रही है। यही सस्मित होने में हेतु है। दोनों की परस्पर उत्कण्ठा को समझ कर सखियों ने **'अलीकवचनोपन्यास'** करना अर्थात् 'मुझे अभी 'शुक' को पढ़ाना है, 'सारिका' (मैना) को अभी खाना (भोजन) देना है, 'चकोरी' को चन्द्रिकापान करने के लिए छोड़ना है', इत्यादि मिथ्या भाषण करना आरंभ कर दिया, जिससे अपनी सखी को यह पता न चल सके कि हमारे रहस्य को ये सखियाँ समझ गई हैं। 'साथ ही **वह लज्जा के भार से न दबी रहे'**—यह सोचकर वे सखियाँ धीरे-धीरे उसके विहार-भवन से बाहर निकल गईं। यहाँ सहृदय सामाजिक को रसास्वाद प्राप्त हो रहा है। यद्यपि यहाँ पर **मुग्धाक्षी** और **प्रियतम** दोनों, 'परस्पर-रति' के **आलम्बनविभाव** हैं। 'नायकनिष्ठ रति' के **उद्दीपनविभाव** तथा **अनुभाव** और **व्यभिचारिभाव** आदि ऊपर बता ही दिये हैं। किन्तु 'नायिकानिष्ठ रति' के **उद्दीपनविभाव** तो 'नायक की रति और उसके अनुभाव' ही हैं। **'स्मितादि'** अनुभाव हैं। और उससे व्यञ्जित होने वाला **'हर्ष'** व्यभिचारिभाव है। तथापि **प्राधान्येन** आस्वाद का विषय **नायकनिष्ठरति** ही है, जिसमें **नायिका आलम्बन** है। प्रथम उदाहरण से इस उदाहरण में यही अन्तर है। एवञ्च सहृदय सामाजिक में **नायकनिष्ठरतिविषयकरसनिष्पत्ति** होती है।

हिन्दी के **महाकवि बिहारीलाल** ने भी उक्त पद्य का अनुवाद किया है—

'पति रति की बतियाँ करीं सखी लखी मुसकाय।
कै-कै सबै टला-टली अली चलीं सुख पाय॥'

संस्कृत के **महाकवि मङ्खक** ने भी उक्त पद्य का भावानुवाद अपने **'श्रीकण्ठ-चरित'** महाकाव्य (१५।१५) में किया है—

सख्योऽथ पक्ष्मलदृशां तदवेक्ष्य तन्त्रं
स्मेराननार्पितकरं शनकैर्निरीयुः।
तत्कर्पटाञ्चलसमीरविधूयमानो
दीपोऽपि निर्जिगमिषुत्वमिवाललम्बे॥

अमरुक कवि के पद्य में सभ्यता की **मर्यादा का उल्लङ्घन** हुआ-सा प्रतीत होता है, उसका **परिमार्जन** बड़ी सफाई के साथ **महाकवि मङ्खक** ने **'तदवेक्ष्य तन्त्रं'** कहकर ही कर दिया है। उसी तरह महाकवि **बिहारीलाल** ने भी **'पति रति की बतियाँ कहीं'** में ही पूरी प्रणयचेष्टाओं का संग्रह करके दिखा दिया है॥ ३१॥

(विप्रलम्भ-शृङ्गारवर्णनम्)

अपरस्तु अभिलाष-विरहेर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः। क्रमेणोदाहरणम्—

उक्त उदाहरणों में से प्रथम में नायिका के अनुराग का आरंभ प्रथमतः हुआ है। और द्वितीय उदाहरण में नायक के अनुराग का आरंभ प्रथमतः हुआ है। परन्तु कहीं-कहीं दोनों के युगपत् अनुराग का आरंभ भी उपलब्ध होता है। जैसे किसी हिन्दी पद्य में सीता और राम दोनों के युगपत् अनुराग का वर्णन किया गया है—

'दोऊ जने दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि-सागर को छोर है।
चिन्तामणि केलिकी कलानिके विलासनि सों,
दोऊ जने दोऊनके चित्तनके चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसकानि-सुधा बरसत,
दोऊ जन छके मोद, मद दोऊ ओर है।
सीता जू के नैन रामचन्द्रके चकोर भये,
राम-नैन सीतामुख-चन्द्रके चकोर हैं॥ ३१॥

विप्रलम्भशृङ्गार के भेद एवं उदाहरण—

अपरस्त्विति। दूसरा विप्रलम्भशृङ्गार—(१) अभिलाष, (२) विरह, (३) ईर्ष्या, (४) प्रवास और (५) शाप, इन पाँच हेतुओं से पाँच प्रकार का होता है।

विशेष विवरण—१. 'अभिलाष' का अर्थ है पूर्वरागमात्र। मिलन का अवसर जिनको नहीं मिल पाया है, ऐसी स्थिति में एक दूसरे को प्राप्त करने की इच्छा को अभिलाष या पूर्वराग कहते हैं।

२. **विरह**—मिलन हो जाने के पश्चात् यदा-कदाचित् समागम (मिलन) का जो अभाव रहता है, उसे विरह कहते हैं। यह विरह दोनों में से एक में अनुराग के न रहने पर भी हो सकता है। अथवा दोनों के परस्पर अनुरक्त रहने पर भी दुर्दैव के प्रतिबन्धक रहने पर अथवा गुरुजनों से लज्जा आदि के कारण समागम (मिलन) न हो सकने पर भी होता है।

३. **ईर्ष्या**—समीप रहने पर भी मानहेतुक समागम का अभाव।

४. **प्रवास**—दोनों के परस्पर अनुरक्त होने पर भी किसी कार्यवशात् विभिन्न देश में स्थिति।

१. (अभिलाषहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥ ३२ ॥

---

५. शाप—इतने समय तक तुम्हें अपनी प्रेयसी का समागम न हो, इस प्रकार की सिद्ध-पुरुष की वाणी।

इस प्रकार से पाँच प्रकार के विप्रलंभश्रृङ्गार का प्रतिपादन किया गया है। इन पाँचों प्रकार के भेदों के उदाहरणों को ग्रन्थकार क्रम से दे रहे हैं। इनमें सर्वप्रथम मालतीमाधव के पञ्चम अंक में 'मालती' को पाने के लिए 'श्मशान-साधना' करने वाले 'माधव' के 'अभिलाष' या पूर्वराग के उदाहरण को महाकवि भवभूति ने प्रदर्शित किया है।

(१) अभिलाषहेतुक विप्रलंभश्रृंगार का उदाहरण—

मालती की प्राप्ति की अभिलाषा से श्मशान-साधना में प्रवृत्त हुए माधव की यह उक्ति है—

प्रेमार्द्रा इति। कितना अच्छा होता कि उस मुग्धाक्षी (मालती) के निसर्गतः सुन्दर, प्रेम से आर्द्र, प्रणयमधुर और परस्परासक्ति के कारण समस्त हार्दिक अनुराग से ओत-प्रोत रहने वाले वे हावभाव मेरे कारण जैसे पहले कभी हुए थे, वैसे ही अब भी यदि होते तो—क्या ही अच्छा होता। मन में स्मरण हो आनेमात्र से भी वे हाव, वे भाव-भङ्गियाँ इतनी मधुर लगती हैं कि हृदय उन्हीं में लीन हो जाता है। यानी उन्हीं के आनन्द में सब कुछ सुध-बुध विस्मृत होकर मन आनन्दसागर में लीन हो जाता है ॥ ३२ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'मालती' आलम्बनविभाव है, उसके 'विलासों का अनुस्मरण' उद्दीपनविभाव है, 'आशंसा (इच्छा)' अनुभाव है, उससे व्यङ्ग्य जो 'उत्कण्ठा' वह व्यभिचारिभाव है, 'रति' स्थायिभाव है ॥ ३२ ॥

इस उदाहृत पद्य में 'प्रेम, प्रणय तथा परिचय' शब्दों का प्रयोग हुआ है। वे सब प्रायः एकार्थक ही हैं। तथापि उनमें सूक्ष्म भेद है, उसे भूलना नहीं है। अन्यथा पुनरुक्ति का दोष कवि के शिर पर स्थापित होगा। 'यह मेरा है, मैं इसकी हूँ' इस प्रकार का जो पक्षपात-विशेष उसे—'प्रेम' कहते हैं। 'परस्पर अवलोकनादि से उत्पन्न हुआ जो प्रेम, वह जब प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है और जिस प्रेम में, किसी एक के अनेक अपराध करने पर भी न्यूनता नहीं आती, उस अविरल

२. (विरहहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥ ३३ ॥

एषा विरहोत्कण्ठिता ।

प्रेम' को—**प्रणय** कहते हैं। तथा 'दीर्घ काल तक साथ रहने से **प्रणय की जो दृढ़ता** होती है'—उसे **परिचय** कहते हैं।

(२) विरहहेतुक विप्रलंभश्रृंगार का उदाहरण—

सङ्केत करने पर भी गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण रात में जब नायक नहीं आया तब अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करती हुई **विरहोत्कण्ठिता नायिका का वर्णन** कवि कर रहा है—

अन्यत्रेति। 'वह अन्यत्र किसी दूसरी नायिका के घर चला गया होगा'—यह तो मैं सोच भी नहीं सकती, फिर 'वह गया होगा'—यह कहना तो दूर ही रहा। अर्थात् मुझे छोड़कर उसका **अन्यत्र गमन तो बिलकुल अलीक ही है**—यह बात **'अपि'** शब्द से सूचित हो रही है। **'कदाचित् किसी मित्र के कहने पर रुक गया हो'**, या 'उसके कहने से कहीं चला गया हो'—**यह भी संभव नहीं है**, क्योंकि उसका कोई **अन्यत्रगमनशील मित्र भी नहीं है। 'मेरे प्रति वह विरक्त हो गया हो' यह भी संभव नहीं है।** इसी को **'यो मां नेच्छति'** से **'काकु'** के द्वारा सूचित किया गया है, अर्थात् **'यो मां नेच्छति इति न', अपितु 'इच्छत्येव'**-चाहता ही है, मुझमें अत्यन्त आसक्त है। अतः **विरक्ति की तो संभावना ही नहीं है।** ऐसी स्थिति में भी (किसी भी कारण के न होने पर भी) **'उसका न आना' असंभव है,** फिर भी 'वह नहीं आया' (यहाँ 'च'कार 'तु' के अर्थ में है)। अरे, मेरे भाग्य की यह **कैसी विडंबना है !** इस प्रकार **कितनी ही नाना कल्पनाएँ मन में उठती** रहने से **विह्वल** (आकुल-व्याकुल) हुई वह **बाला** अपने शयनागार में **पलंग पर** लेटी **करवटें बदलती** हुई रात में सो नहीं पा रही है। अर्थात् **जागते-जागते रात बिता रही है** ॥ ३३ ॥

एषेति। यह विरहोत्कण्ठिता नायिका है।

विशेष विवरण—रात्रि में अधिक देर तक बड़े लोगों के बीच बैठे रहने से संकोचवश वहाँ से उठ नहीं सका, इसलिए कृतसंकेत रहने पर भी वह नायक अपनी प्रियतमा के पास नहीं पहुँच पा रहा है। अतः नायिका 'विरहोत्कण्ठिता' है। यदि कोई कहे कि प्रिय के अनागमन में निमित्त जैसे **'प्रवास'**, वैसे ही **'विरह'**। तब

३. (ईर्ष्याहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥ ३४ ॥

'विरह' को भेदान्तर मानने की आवश्यकता नहीं। किन्तु यहाँ पर 'दूरदेश' न होने से इसे 'प्रवास-निमित्तक' नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थकार 'एषा विरहोत्कण्ठिता' लिखते हैं। यहाँ 'एतच्छब्द' का विशेषण के रूप में प्रयोग किया है, वह व्यर्थ हो जायगा। यदि विरह और प्रवास को समान (एक) ही मान लें तो 'प्रोषितभर्तृका' और 'विरहोत्कण्ठिता' दोनों में अन्तर ही क्या रहेगा? और भरतमुनि के द्वारा स्वीकृत 'स्वाधीनभर्तृकादि षोडश भेदों' की संगति नहीं लग पायेगी। विरहोत्कण्ठिता का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता मता ॥'

इसमें 'अनागतपति'—'आलम्बन विभाव' है। 'अनागमनादि' 'उद्दीपन-विभाव' है। 'विवर्तनादि'—'अनुभाव' है। 'ह ह हा' इत्यादि से सूचित 'विस्मय', 'दैन्य'—'व्यभिचारिभाव' हैं। 'रति'—'स्थायिभाव' है। 'कारणाभावेऽपि कार्यम्' कारण के बिना ही कार्य हुआ देखकर विस्मय (आश्चर्य) जो हो रहा है, उसे सूचित करने के लिए कवि ने 'ह ह हा' का प्रयोग किया है। व्याख्याकार चक्रवर्ती का कहना है कि 'ह ह हा' से दीनता प्रकट की जा रही है। 'वृत्तविवर्तनव्यति-करा'—वृत्तः सञ्जातः विवर्तनानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा ॥ ३३ ॥

(३) ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भश्रृङ्गार का उदाहरण—

उपस्थित पद्य 'अमरुकशतक' से लिया गया है। इसमें किसी नवविवाहिता की सखी, अपनी प्रिय सखी के कष्ट को सहन न कर, किसी अन्य सखी से उसके कष्टों का वर्णन कर रही है—

सा पत्युरिति। मेरी नवविवाहिता सखी अभी बाला है। अभी उतनी सयानी नहीं हो पाई है, सखियों के बताये-समझाये बिना वह पति के अन्य स्त्री समागमरूप प्रथम अपराध के समय अपने अंग-प्रत्यंगों का सविलास श्रृंगारमय चेष्टाओं के साथ संचालन करती हुई, भावगर्भित वक्रोक्तियों के द्वारा अपने मनो-भावों को सूचित करना (उलाहना देना) भी नहीं जानती। वह तो केवल इधर-उधर ताकती हुई रो रही है। उसके निर्मल कपोलों पर से अतिनिर्मल अश्रुओं

की धाराएँ बह रही हैं। और उसकी खुली हुई चञ्चल अलकावली उसके कपोलों पर बिखरी पड़ी है। तात्पर्य यह है कि वह इधर-उधर ताकती हुई केवल रोती रहती है ॥ ३४ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'नायिका' मुग्धा बाला है। और 'पति' का प्रथम अपराध है। किसी 'प्रिय' का नहीं। किसी 'प्रिय' का होता तो उसे 'अपराध' न कहते। यह 'अन्याङ्गनासमागम' रूप प्रथमापराध है। 'अपराध' 'प्रथम-प्रथम' जानकर वह अत्यन्त 'असह्य' हो रहा है। यदि द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ बार का होता तो सखियों से उपदेश पाकर वह भी अबतक चतुर हो गई होती, और उसको ऐसे ठिकाने लगाती, कि वह पुनः ऐसा अपराध करना भूल ही जाता। सखियों से अभी उपदेश न मिलने के कारण सखी अभी चतुर नहीं हो पाई है। इस प्रकार अर्थ करने में 'सख्या' पद को असमस्त कर्तृतृतीयान्त समझना चाहिये। तब अर्थ निकलेगा कि 'सखीकर्तृकोपदेशं विना'—ऐसी व्याख्या कुछ लोगों ने की है। किन्तु उसका औचित्य इसलिए नहीं है कि 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) सूत्रविहित—कर्तरि षष्ठी से तृतीया का बाध हो जाता है। और दोनों का प्रयोग न होने से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) सूत्र की प्राप्ति नहीं है। अतः 'सख्या' को 'तृतीयान्त असमस्त कर्तृपद' न मानकर 'सख्येन सौहार्देन करणेन य उपदेशः अर्थात् सखीकर्तृकः' यही व्याख्या करनी चाहिये। अञ्जन और पत्रावलि के पुछ जाने से 'अश्रु' और 'कपोल' दोनों की स्वच्छता हो गई है। उससे रोदन की अधिकता सूचित की गई है। और उत्तानशयन करने के कारण अश्रुपतन 'कपोल मूल' (प्रान्त भाग) से हो रहा है। 'अश्रुभिः' यह 'इत्थंभूतलक्षणे तृतीया' है। उससे यह अर्थ निकला कि 'अश्रुज्ञाप्यं केवलं रोदनमेव करोतीत्यर्थः।' अश्रुजनकीभूत आन्तर व्यापार को 'रोदन' कहते हैं।

यहाँ 'पति'—'आलम्बनविभाव' है, 'अपराध'—'उद्दीपनविभाव' है, 'रोदनादि'—'अनुभाव' है, उससे व्यङ्ग्य होने वाली 'असूया'—'व्यभिचारिभाव' है। और 'रति'—'स्थायिभाव' है। यहाँ पर 'पति के अन्याङ्गनासंगम' के कारण 'बाला नवोढा' को 'ईर्ष्या' हो रही है ॥ ३४ ॥

(४) प्रवासहेतुक विप्रलम्भश्रृङ्गार का उदाहरण—

यह उदाहरण भी 'अमरुकशतक' से लिया गया है। कोई 'प्रवत्स्यत्पतिका नायिका' है, उसका पति गुरुजनादि के आदेश से कार्यवश दीर्घप्रवासार्थ परदेश जा रहा है, यह सुनकर वह नायिका अपने जीवन को सम्बोधन कर सोपालंभ कह रही है—

४. (प्रवासहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

५. (शापहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानन्ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

प्रस्थानमिति । हे प्राणों ! प्रियतम के प्रवासार्थ जाने का निश्चय कर लेते ही कङ्कणों ने पहले ही प्रस्थान कर दिया । (भाव यह है कि मेरा शरीर इतना दुर्बल हो गया, जिससे कङ्कणों ने अपना स्थान छोड़ दिया और ढीले होकर नीचे गिर गये हैं) और प्रियतम को प्यार करने वाले आँसू तो तभी से निरन्तर बहे जा रहे हैं । धैर्य, क्षणभर भी नहीं रुका, और चित्त ने पहले ही जाने का निश्चय कर लिया है । हे प्राणों ! तुम्हें भी जाना अवश्य ही है, तब प्रिय मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो ? अर्थात् तुम भी शरीर से निकल चलो ॥ ३५ ॥

विशेष विवरण—नायक ने अपने चित्त में जाने का अभी निश्चय ही किया है, जाने की तैयारी नहीं की है, तो ही प्रियतम के मित्रों ने भी उसी के साथ प्रस्थान करना आरंभ कर दिया है । यह देखकर नायिका कहती है कि हे प्राणों ! प्रिय मित्र के वियोग में तुम भी तो अवश्य ही जाओगे । ऐसी स्थिति में साथी सम्बन्धियों को त्याग कर तुम्हारा विलम्ब करना व्यर्थ है ।

'गन्तव्ये सति' में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से 'अवश्य' अर्थ में 'तव्य' प्रत्यय है ।

प्रियतम—'आलम्बनविभाव' है, उसका प्रयाणादि–'उद्दीपनविभाव' हैं, कृशता-आदि–'अनुभाव' हैं, उससे व्यङ्ग्य होने वाली चिन्ता–'व्यभिचारिभाव' है, रति–'स्थायिभाव' है ॥ ३५ ॥

(५) शापहेतुक विप्रलंभश्रृङ्गार का उदाहरण—

यह उदाहरण 'महाकवि कालिदास' के मेघदूत से लिया गया है । उत्तरमेघ में बताया है कि कुबेर के शाप के कारण अपनी प्रिय पत्नी के विरह से पीडित हुआ यक्षराज, दूत बने हुए मेघ से अपनी प्रिया को उद्देश्य करके कह रहा है—

त्वामालिख्येति । पाषाण की चट्टान पर गेरू आदि धातुओं के रंगों से ही प्रणय-कुपित मुद्रा में तुम्हारी तसबीर बनाऊँ और तसबीर में बनाये हुए तेरे चरणों पर झुकी हुई (प्रणत हुई) अपनी प्रतिकृति को जैसे ही चित्रित करना चाहता हूँ, सो ही प्रवृद्ध हुए आँसू, मेरी दृष्टि को आवृत कर लेते हैं । (जिससे उस चित्र को मैं पूर्ण नहीं कर पाता हूँ) । दूसरे के सुख का विघटन करने वाला देव (भाग्य)

अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम् ।

२. (हास्यरसस्य उदाहरणम्)

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात्प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

रूप क्रूर कृतान्त (यमराज) उस चित्र में भी हम दोनों के सहवास को सहन नहीं कर सकता (तो साक्षात् संगम को भला कैसे सहन करेगा ?) ॥ ३६ ॥

विशेष विवरण—कोप का रंग 'लाल' होता है, अतएव 'प्रणयकुपित पत्नी' का चित्र गेरू से बना रहा है । शय्या छोड़कर भूमि पर शयन करता था, तथा विरह के कारण चित्त कठोर हो गया था इसलिए शिला पर ही चित्र बना रहा था । इस पद्यगत प्रबन्ध को देखने से प्रधानतया 'उन्माद' ही प्रतीत होता है, तथापि प्रबन्ध को बिना विचारे उन्मादाभास ही लक्षित होता है, इसी अभिप्राय से इसे 'रस के उदाहरण' में दिया गया है—यह दीपिकाकार का कहना है । कुबेरानुचर यक्ष को प्रिया का वियोग प्राप्त होने में यक्षराज कुबेर का शाप ही हेतु है ।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने नाट्यशास्त्र (अ० ६) और उसकी व्याख्या अभिनव-भारती के अनुसार ही श्रृंगार रस का विवेचन किया है । नाट्यशास्त्र और उसकी अभिनवभारती देखने योग्य है ।

यहाँ नायिका-'आलम्बन' है, उसका 'प्रणयकोप'-'उद्दीपन' है, चरणपत-नेच्छा-आदि 'अनुभाव' हैं, कृतान्त के प्रति असूया-'व्यभिचारिभाव' है, रति-'स्थायिभाव' है ॥ ३६ ॥

हास्यादीनामिति । संभोगश्रृङ्गार के दो भेदों और विप्रलम्भश्रृङ्गार के पाँच भेदों, तथा उनके सात उदाहरणों को ग्रन्थकार ने बता दिया । अब हास्यादि रसों के एक-एक उदाहरण क्रम से दिये जायेंगे ।

(२) हास्य रस का उदाहरण—

विष्णुशर्मा का उपहास करने वाले किसी व्यक्ति की यह उक्ति है—

आकुञ्च्येति । 'आपोहिष्ठादि' मंत्रों के अभिमन्त्रण से प्रतिपद पवित्र किये गये जल की बूंदों से मेरे शिर पर वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को आकुञ्चित कर (मुट्ठी बाँधकर) जोर से थूत्कार करते हुए प्रहार किया, तब हाय-हाय मार डाला कहते हुए विष्णुशर्मा रो रहा है ॥ ३७ ॥

विशेष विवरण—'हँसने वाले व्यक्ति' 'हास' स्थायिभाव के आश्रय हैं, उनका निबन्धन यहाँ पर नहीं किया गया है, क्योंकि 'दृश्य-श्रव्यादि काव्यों' में हासस्थायिभाव के आश्रय का साक्षात् निबन्धन नहीं हुआ करता। किन्तु शृङ्गार में 'आश्रय' का साक्षात् निबन्धन रहता है। यहाँ तो केवल आलम्बन का ही निबन्धन किया जाता है। तथापि विभावादि के सामर्थ्य से 'आश्रय' की प्रतीति हो जाती है। कहा भी है—

'यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते।
तथाप्येष　　विभावादिसामर्थ्यादवसीयते ॥'

विकृत वाक्, वेष आदि के देखने पर अवश्य ही 'हास' की उत्पत्ति होती है। अतः यहाँ पर हास-प्रकृतिक रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

यहाँ पर 'विष्णुशर्मा'–आलम्बन है, 'रोदन'–उद्दीपन है, 'उत्तम-मध्यम-अधम प्रकृति वाले लोगों का स्मित, हसित, अतिहसित, रोदन आदि'–अनुभाव है, 'देखने वालों के आवेग, चापल्यादि'–व्यभिचारिभाव हैं, 'हास'–स्थायिभाव है।

'बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले' इस प्रकार समझने वाले 'विष्णुशर्मा' की फजीहत पर सब को हँसी आती है। क्योंकि 'विष्णुशर्मा' की दांभिकता खुल जाने से सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से स्थित हासरूप स्थायिभाव उन्मुक्त रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। 'शर्मान्तनाम' का ग्रहण हास-परिपोष के लिए किया गया है ॥ ३७ ॥

हिन्दी कवियों में पद्माकर का निम्नांकित पद हास्यरस का अच्छा उदाहरण है।

हँसि हँसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
　　पाहुनो जे आवैं हिमाचल के उछाह मैं
कहै 'पद्माकर' सु काहू को कहै को कहा,
　　जोई जहाँ देखै सो हँसोई तहाँ राह मैं।
मगन भएई हँसै नगन महेस ठाढ़े,
　　और हँसे वेऊ हँसि हँसि के उमाह मैं।
सीस पर गंगा हँसै, भुजनि भुजंगा हँसैं
　　हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह मैं ॥

शिवजी के विवाह का प्रसंग है। इस पद्य में 'हास' 'स्थायिभाव' है। शिवजी 'आलम्बन विभाव' है। उनका नंगास्वरूप 'उद्दीपन विभाव' है। गंगा और भुजंगों का हँसना 'अनुभाव' है। इस दृश्य को देखने के लिए लोगों की उत्सुकता 'व्यभिचारिभाव' है। इन सबसे मिलकर 'हास्यरस' की अभिव्यक्ति हो रही है ॥ ३७ ॥

३. (करुणरसस्य उदाहरणम्)

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः काऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥ ३८ ॥

---

(३) करुण रस का उदाहरण—

हा मातस्त्वरितेति । हे मातः ! किस गन्तव्य स्थान पर जाने की तुमने इतनी त्वरा की (कि हम लोगों को भी तुमने छोड़ दिया), अकस्मात् वज्रपात के समान यह क्या हुआ । देवताओं की इतनी पूजा-आराधना करते रहने पर भी उन देवताओं ने तुम्हारी रक्षा नहीं की । देवताओं ! तुम्हें धिक्कार है, तुम्हारी पूजा-आराधना करने का क्या महत्त्व रहा ? सन्तुष्ट हुए ब्राह्मणों से प्राप्त हुए चिरजीवी होने के आशीर्वाद कहाँ चले गये ? वे आशीर्वाद सब विफल हो गये । तुम्हारी मृत्यु के बाद भी हमारे प्राण स्थिर बने हुए हैं, उन्हें धिक्कार है । अन्त्येष्टि संस्कार के समय तुम्हारे सुकुमार अवयवों पर वज्र के समान अग्नि गिरी । इस अशुभ घटना को देखने वाले हमारे दोनों नेत्र दग्धप्राय हो गये । इस प्रकार पौरांगनाओं की तारस्वर से रोने के कारण घर-घराती, बीच-बीच में रुक जाती करुणध्वनि, नर-नारियों के चित्रों को भी रुला रही है, भित्तियों को भी विदीर्ण कर दे रही है ॥ ३८ ॥

विशेष विवरण—जयन्तभट्ट के कथनानुसार **काश्मीर की राजमाता** की मृत्यु हो जाने पर **भट्टनारायण** के विलाप का यह वर्णन है । किन्तु **महेश्वर** कहते हैं कि **मदालसा** की जलकर मृत्यु होने पर **पुरवासिनि स्त्रियों का** यह विलाप है । इस पद्य में **'मृत राजमाता'–आलम्बन** है । उसका 'दाह आदि'–**उद्दीपनविभाव** है । 'रोदन'–**अनुभाव** है । 'दैन्य, ग्लानि, मूर्छा आदि'–**व्यभिचारिभाव** हैं । 'शोक' **स्थायिभाव** है । इस सामग्री से अभिज्ञ **सामाजिक के हृदय में शोक-प्रकृतिक 'करुण रस'** की अभिव्यक्ति हो रही है ॥ ३८ ॥

हिन्दी के **श्रीपति कवि** का भी करुण रस का उदाहरण देखने योग्य है । लक्ष्मण को शक्ति लगने पर **रामचन्द्र** के विलाप का प्रसंग है ।

मातु को मोह, न द्रोह विमातु को, सोच न तात के गात दहे को ।
प्रान को छोभ न, बन्धु-विछोह न, राज को लोभ न, मोद रहे को ॥
एते तै नेक न मानत 'श्रीपति'· एते मैं सीय वियोग सहे को ।
ता रनभूमि में राम कह्यो, मोहि सोच विभीषण भूप कहे को ॥

भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण के लिए विलाप कर रहे हैं । 'लक्ष्मण'–आलम्बन-

विभाव है। उसका 'निश्चेष्ट शरीर, उसका महान् पराक्रम'–उद्दीपन विभाव है। 'रामचन्द्र का विलाप करना'–अनुभाव है। इस स्थिति में भी बिभीषण को राजा बनाने का ध्यान रहने से 'मति, स्मृति, वितर्क, विषाद आदि'–व्यभिचारिभाव हैं। 'शोक'–स्थायिभाव है।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार में भेद—

'करुण रस' और 'विप्रलम्भ शृङ्गार रस' दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। तथापि मिलते-जुलते-से आपाततः प्रतीत होते हैं। अतः कभी-कभी भ्रम होने की संभावना रहती है। भ्रम की यह संभावना विशेषतः प्रेमियों के वियोग होने पर होती है। प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का होता है—(१) स्थायी वियोग और (२) अस्थायी वियोग। इसी को 'विरह' भी कहते हैं।

विप्रलंभ शृङ्गार का क्षेत्र 'अस्थायी वियोग' (विरह) होता है। यह दोनों प्रेमियों के जीवित अवस्था में प्रायः रहता है। यह किसी भी कारण से हो सकता है। और 'स्थायी वियोग' करुण रस के क्षेत्र में रहता है। दो प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने से जो 'वियोग' होता है, उसे 'स्थायी वियोग' कहते हैं। क्योंकि उससे पुनर्मिलन की कोई आशा नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि 'विप्रलंभ शृङ्गार' में मृत्यु से पूर्व तक का वियोग है और 'करुणरस' में मृत्यु के बाद का वियोग है। इस तरह दोनों रसों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

कहीं-कहीं ऐसे भी प्रसंग उपलब्ध होते हैं, कि किसी प्रेमी की मृत्यु हो जाने पर भी उसका पुनर्मिलन हो जाता है। कहीं ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ वास्तव में मृत्यु न होने पर भी उसकी मृत्यु समझ ली जाती है। इस प्रकार के स्थल भी करुण रस के अन्तर्गत ही मान लिये जाते हैं।

कुछ विद्वान् 'मृत्यु के पश्चात् पुनः समागम की स्थिति' को 'करुणविप्रलंभ' नाम से कहते हैं। किन्तु कुछ लोग इस 'करुणविप्रलंभ' को विप्रलंभ का ही एक भेद मानते हैं। साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कहते हैं—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्यो।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः॥"

इस प्रकार की घटना 'कादम्बरी' में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के प्रसंग में उपलब्ध होती है। पुण्डरीक की मृत्यु हो जाने पर कपिञ्जल और महाश्वेता जब विलाप कर रहे थे, उसी बीच किसी दिव्याकृति पुरुष ने उस मृत शरीर को उठाकर उड़ते हुए महाश्वेता को आश्वासन देकर सान्त्वना दी, कि तुम्हारा इससे पुनर्मिलन होगा। इस आश्वासन के पूर्व का महाश्वेता आदि का जो विलाप है, वह तो स्पष्ट ही 'करुणरस' है। तदनन्तर पुनर्मिलन की आशा हो जाने

से 'विप्रलंभ' भी कह सकते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में 'करुण-विप्रलंभ' की कल्पना को अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। इसी बात को 'किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रथमन्तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते' से कहा गया है।

किन्तु 'मम्मटभट्ट' ने 'करुण-विप्रलंभ' नाम से शृंगार का कोई भेद नहीं किया है। वे तो उक्त परिस्थिति को 'करुण रस' के ही अन्तर्गत मानते हैं। आकाशवाणी के पश्चात् कथञ्चित् 'करुणविप्रलंभ' की झलक रहने पर भी उक्त 'उदाहरण' में उसकी कवि-कल्पना ही कह सकते हैं। यदि वास्तव में मृत्यु न होती, केवल समझ ली गई होती तो कदाचित् कहा भी जा सकता था, किन्तु ऐसी बात नहीं है। मृत्यु तो वास्तविक रूप में हुई है। अतः 'करुणरस' का मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है। क्योंकि पुनर्मिलन भी जो हुआ है, वह अप्रत्याशित रूप से ही हुआ है। अतः 'करुणरस' की मर्यादा बनी रहती है। आकस्मिक पुनर्मिलन पर 'अद्भुत रस' प्रकट हो जाता है।

महाकवि 'भवभूति' के 'उत्तररामचरित' नाटक में सीता की वास्तविक मृत्यु नहीं हुई है, किन्तु समझ ली जाती है। रामचन्द्र की आज्ञा से गर्भवती सीता को घोर वन में लक्ष्मण छोड़ देते हैं, तब रामचन्द्र कल्पना कर लेते हैं कि उसे तो वन्य हिंसक पशुओं ने खा लिया होगा। घटना के वास्तविक न रहने पर भी उसकी कल्पना कर लेने के ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। 'करुणरस' का सर्वोत्कृष्ट रूप भवभूति ने अपने नाटक में रामचन्द्र के विलाप के माध्यम से प्रदर्शित कर दिखाया है—"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"। यह सब कल्पित धारणा पर ही निर्भर है। अतएव महाकवि ने 'एकोरसः करुण एव' कहकर 'उत्तररामचरित' को करुणरसप्रधान नाटक के रूप में उपस्थित किया है।

सीता-परित्याग के पूर्व 'सीताहरण' के कारण राम को जो सीता-वियोग हुआ था, उसमें सीता के पुनर्मिलन की राम को आशा थी। उक्त दोनों वियोगों के अन्तर को रामचन्द्र स्वयं बता रहे हैं—

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै-
विमर्दैर्वीराणां जनितजगदत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥

(उ० रा० ३।४४)

इससे स्पष्ट है कि प्रथम वियोग शत्रु-विनाश तक ही था। इस कारण उसे

४. (रौद्ररसस्य उदाहरणम्)

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ ३९ ॥

तो विप्रलंभश्रृङ्गार का उदाहरण माना जा सकता है, किन्तु **दूसरी बार** का वियोग तो **'निरवधिरयं तु प्रविलयः' है**। इसलिए **उसे करुणरस** का ही उदाहरण समझना चाहिये।

साहित्यदर्पणकार **विश्वनाथ** ने **'करुण'** और **'विप्रलंभश्रृङ्गार'** दोनों के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलंभादयं रसः।
विप्रलंभे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः ॥' (सा० द० ३।२२६)

'करुणरस' का स्थायिभाव **'शोक'** है, और **विप्रलंभश्रृङ्गार रस** का स्थायिभाव **'रति'** है, क्योंकि **पुनर्मिलन** की आशा रहती है।

नाट्यशास्त्र में 'भरतमुनि' ने भी 'विप्रलंभ' को **'सापेक्ष'** (आशामय) और **'करुण'** को **'निरपेक्ष'** (निराशामय) कहकर दोनों के भेद को स्पष्ट किया है—

'करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो 'निरंपेक्षभावः'। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भः इति। (भ० ना० शा० ६।४५)

विप्रलंभ में 'आशामय दृष्टिकोण' होता है, और **करुण** में 'निराशामय दृष्टिकोण' रहता है। अतः **दोनों का क्षेत्र** एक दूसरे से नितान्त **भिन्न** है। **दर्पणकार** ने दोनों की भिन्नता में एक और युक्ति बताई है। **'करुणरस'** के दो कारण होते हैं—(१) इष्टनाश, और (२) अनिष्टप्राप्ति। **तात्पर्य** यह है कि **'करुण' का क्षेत्र विप्रलंभ से अत्यन्त भिन्न है ॥ ३८ ॥**

(४) रौद्र रस का उदाहरण—

'नारायणभट्ट' कृत **'वेणीसंहार' नाटक** के तृतीय अंक से यह उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। 'महाभारतयुद्ध' में **द्रोणाचार्य** का वध किये जाने पर क्रुद्ध हुआ अश्वत्थामा, **अर्जुन** आदि के प्रति कह रहा है—

कृतमनुमतमिति। हाथ में शस्त्र लिये हुए **मर्यादा का पालन न करने वाले नरपशुओं** के समान जिन लोगों ने **आचार्य द्रोण का शिरश्छेदनरूप यह महान् पातक किया है,** अथवा कृष्ण-सात्यकी आदि जिन्होंने उसका **अनुमोदन किया है,** और भीम, अर्जुन आदि जिन्होंने वध करने वाले **धृष्टद्युम्न को न रोक कर खड़े-खड़े**

प्रसन्नतापूर्वक इस महापाप को देखा है, कृष्ण, भीम तथा अर्जुन के सहित उन धृष्टद्युम्न आदि के रक्त, चर्बी और मांस से यह मैं अभी दिशाओं यानी दिग्देवताओं की बलि (पूजा) करता हूँ ॥ ३९ ॥

विशेष विवरण—'मनुजपशुभिः' कहकर महापातक करने वालों की 'धर्म-अधर्मज्ञान-शून्यता' को व्यक्त किया गया है। 'गुरुवधरूप महापातक का कर्ता' धृष्टद्युम्न है, 'उसका अनुमोदन करने वाले' कृष्ण, सात्यकी आदि हैं, 'उस पातक को न रोककर उसे देखने वाले' अन्य लोग हैं। 'अयम्' कहकर 'एतत्क्षणवर्तित्व' व्यक्त किया है। 'अहम्' कहकर 'अनन्यसहायत्व' सूचित किया है। 'दिशां' का अर्थ लक्षणा से 'दिग्देवतानां' समझना चाहिये। बलि करता हूँ अथवा तृप्तिहेतुक पश्वालंभन करता हूँ। 'पशुभिः' कहने से 'बलिदान योग्यता' सूचित हो रही है : 'उदायुधैः' कहने से प्रतीकार करने में सशक्त रहने पर भी प्रतीकार न करने के कारण 'अत्यन्त दण्डनीयत्व' सूचित किया है। कर्ता, अनुमन्ता और द्रष्टा के अपराध में क्रमशः न्यूनता होती है। इस दृष्टि से ही 'कृतमनुमतं दृष्टम्' कहकर दण्डनक्रम का निर्देश किया गया है। तदनुसार 'सर्वप्रथम पापकर्ता' धृष्टद्युम्न का नाम लेना चाहिये था, किन्तु अत्यन्त क्रोध के आवेश के कारण उक्त क्रम का विस्मरण हो गया, और पहले ही नरकरिपु कृष्ण का नाम ले लिया है—ऐसा उद्योतकार श्रीवत्सलाञ्छनादि व्याख्याकारों का कहना है। किन्तु इस पर 'सुधासागर' व्याख्या के कर्ता भीमसेन का कहना है कि यद्यपि 'धृष्टद्युम्न' को सम्बोधित करना क्रमप्राप्त है, तथापि उसके महापातकी होने से उसका नाम-ग्रहण करना भी उचित नहीं है। इस कारण उसकी अवज्ञा कर 'पराक्रम योग्यता' की दृष्टि से 'अरे रे अर्जुन अर्जुन, सात्यके सात्यके' कहकर व्युत्क्रम से उन्हें सम्बोधित किया गया है। उक्त उदाहरणभूत 'श्लोक का अर्थ' तो रौद्ररस के अनुरूप है, किन्तु 'शब्द-रचना' रौद्ररस को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं है। इससे कवि की शक्तिहीनता परिलक्षित हो रही है।

यहाँ पर 'अपकारी अर्जुन' आदि—आलम्बनविभाव हैं। 'पितृहन्तृत्व, अस्त्रादि का उद्यमन' (उठाना)–उद्दीपनविभाव हैं। 'प्रतिज्ञा करना'—अनुभाव है। 'अन्य-नैरपेक्ष्यगम्य गर्व'–व्यभिचारिभाव है। 'क्रोध'–स्थायिभाव है। अभिज्ञ सामाजिक के हृदय में क्रोध-प्रकृतिक 'रौद्ररस' व्यक्त होता है ॥ ३९ ॥

हिन्दी-कवि पद्माकर का रौद्ररस का उदाहरण पढ़ने योग्य है—

'बारि टारि डारौं कुंभकर्नहि विदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आज यों बल-अनंत हौं ॥

५. (वीररसस्य उदाहरणम्)

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥ ४० ॥

कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं
डारत करेई यातुधानन को अंत हौं ॥
अच्छहिं निरच्छ कपि रुच्छ है उचारौं इत्रि,
तौं से तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं ॥
जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमत हौं ॥

(५) वीर रस का उदाहरण—

लङ्कायुद्ध के समय **'इन्द्रजित्'** कह रहा है—

क्षुद्राः संत्रासमिति । अरे क्षुद्र वानरों ! तुम डरो मत । क्योंकि देवराज इन्द्र के ऐरावत गज के गण्डस्थल को फोड़ देने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं । **हे लक्ष्मण ! तुम भी हट जाओ,** क्योंकि तुम मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो । **सुनो, मैं मेघनाद हूँ । मैं तो** किञ्चिन्मात्र टेढ़ी भृकुटी करने मात्र से ही विशाल समुद्र को वश में कर लेने वाले उस **'राम' को ढूँढ़ रहा हूँ ॥ ४० ॥**

विशेष विवरण—उपर्युक्त **'वीररस'** का उदाहरण **'हनुमन्नाटक'** के ग्यारहवें अंक से लिया गया है । **'इन्द्रजित्'** (मेघनाद) अपनी **वीरता के सामने रामचन्द्र के सैनिकों को तुच्छ समझ रहा है ।** वह अपने **क्रोध का पात्र एकमात्र राम को समझता है ।** उसके हृदय में राम की वीरता ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है ।

यहाँ 'आलम्बन विभाव'–**राम** है । 'उद्दीपन विभाव'–राम के द्वारा किया गया **समुद्रबन्धन है ।** 'अनुभाव'–क्षुद्र वानरादि **सेना की उपेक्षा** और प्रबल-प्रताप वाले **राम का अन्वेषण** है । 'व्यभिचारिभाव'–ऐरावत के गण्डस्थल के भेदन की **स्मृति** और **'सायक (बाण) लज्जित होते हैं'** इत्यादि उक्ति से गम्य होने **वाला गर्व है ।** और **'स्थायिभाव'**–राम से युद्ध करने का **उत्साह** है ।

कुछ लोगों के मत में **वीर-रस** के तीन भेद—**(१) युद्धवीर, (२) दान-वीर, (३) दयावीर** होते हैं । किन्तु साहित्यदर्पणकार **विश्वनाथ** ने **वीर-रस** के चार भेद—**(१) दानवीर, (२) धर्मवीर, (३) युद्धवीर,** और **(४) दयावीर**

६. (भयानकरसस्य उदाहरणम्)

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ४१ ॥

किये हैं। उनमें से दानवीर–बलि, कर्ण, दधीचि आदि। **दयावीर**–जीमूतवाहन आदि। **धर्मवीर**–युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध ही हैं। कुछ लोग कहते हैं कि **'वीर'** शब्द का प्रयोग, एकमात्र **युद्धवीर** के लिए ही किया जाता है। इसलिए **'वीररस'** के भेद करना उचित नहीं है। **'दया, दान, धर्म' के विषय में होने वाले 'उत्साह' की 'भाव' में ही गणना** करनी चाहिये ॥ ४० ॥

'वीर-रस' के उदाहरण रूप में एक हिन्दी पद्य को भी देख सकते हैं—लंका के युद्ध में ऋक्ष-वानरों की सेना को देखकर दशानन से लड़ने का वर्णन है।

क्रुद्ध दशानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत ॥
मारु पछारु पुकारु दुहूँ दल, रुण्डि झपट्टि दपट्टि लपट्टत।
रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्ठनि ठट्ठत ॥

यहाँ पर 'ऋक्ष तथा बन्दर'–**आलम्बनविभाव** हैं। 'वानरों की अनेक क्रीड़ाएँ'–**उद्दीपनविभाव** हैं। 'नेत्रों का आरक्त होना, शत्रुओं के शिरों को काटना'–**अनुभाव** है। 'उग्रता, अमर्ष आदि'–**व्यभिचारिभाव** हैं ॥ ४० ॥

(६) भयानक रस का उदाहरण—

आखेट (शिकार) के प्रसंग में राजा **दुष्यन्त** अपने सारथी से मृग के भागने का वर्णन कर रहे हैं—

ग्रीवाभंगाभिराममिति। वह मृग कितनी सुन्दरता के साथ अपनी ग्रीवा (गर्दन) को टेढ़ी मोड़कर, पीछा करते हुए हमारे रथ पर पुनः पुनः अपनी दृष्टि को गड़ाता हुआ, और बाण लगने के भय से अपनी देह के पिछले भाग (हिस्से) को सिकोड़ कर मानों देह के अगले हिस्से में घुसाता हुआ, थकान हो जाने से हाँफते हुए खुले मुख से अर्धचर्वित तृणों को मार्ग पर गिराता, **ऐसी चौकड़ी भर रहा है, मानो पृथिवी पर (जमीन पर) तो कम किन्तु आकाश में ही दौड़ अधिक लगा रहा है** ॥ ४१ ॥

विशेष विवरण—महाराज दुष्यन्त शिकार खेलने निकले हैं। उनका रथ, एक मृग का पीछा कर रहा है। **मृग** अपनी संपूर्ण शक्ति से आगे-आगे भाग रहा है, और सोच रहा है कि बाण अब गिरा, तब गिरा। इस प्रकार **भयाक्रान्त** होकर अपने

७. (बीभत्सरसस्य उदाहरणम्)

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

पिछले हिस्से को शरीर के अगले हिस्से में घुसाया हुआ है। उस समय की उसकी **शीघ्रगति का वर्णन** किया गया है।

यहाँ पर 'पीछा करने वाला राजा अथवा उसका रथ'–**आलम्बन** है। 'शरपतन का भय'–**उद्दीपन विभाव** है। 'ग्रीवा का मोड़ना और भागना'–**अनुभाव** हैं। 'त्रास, श्रम आदि'–**व्यभिचारिभाव** हैं। **'शरपतनभयात्'** के प्रयोग को देखकर **यदि कोई कहे** कि उक्त प्रयोग में **'भय'** शब्द का ग्रहण करने से **'भयरूपस्थायि-भाव' स्वशब्दवाच्य** हो गया है। अतः इस प्रकार से **'भाव'** का **'स्वशब्दवाच्य'** होना तो दोष है। किन्तु इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार है कि यहाँ पर **'शरपतनभय' स्थायी भाव के रूप में नहीं है,** अपितु 'वह' **उद्दीपनविभाव** के रूप में है। यहाँ पर **स्थायी भाव** तो **राजा से** अथवा **रथ से** उत्पन्न **'भय'** है। **'शरपतनभय' नहीं है** ॥ ४१ ॥

भयानक रस के उदाहरण रूप में एक **हिन्दी पद्य—**

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं
सकै न विलोकि वेष केसरी किसोर को।
मीजि-मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय
'तुलसी' तिलौ न भयौ बाहिर अगार को॥
राब असबाब डारौं मैं न काढ़ो तै न काढु
जियकी परी को सँभारै भंडार को।
खीजति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
लुनियत वयो सब याही डाढ़ी जारको॥

इसमें पवनसुत **हनुमान** जी के द्वारा 'लंका' को जलाने का वर्णन है। 'लंका' जलती देखकर **मन्दोदरी का भय**–'स्थायी भाव' है। **हनुमान्**–'आलम्बनविभाव' है। **हनुमान् का भयानक वेष, घर-असबाब का जलना**–'उद्दीपनविभाव' हैं। **घबड़ाकर भागना, हाथ का मींजना, माथा-पीटना, सामान** (असबाब) **को घर से काढ़ने के लिए तू-तू, मैं-मैं करना** आदि–'अनुभाव' हैं। **विषाद, चिन्ता** आदि–**'व्यभिचारिभाव'** हैं।

(७) बीभत्स रस का उदाहरण—

श्मशान में **मांस-भक्षण** करते हुए किसी **प्रेत** को देखकर **माधव** उसकी **बीभत्स चेष्टाओं** का वर्णन कर रहा है—

उत्कृत्योत्कृत्येति। एक शव (मुर्दा) की त्वचा (खाल) को उखाड़-उखाड़

आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥ ४२ ॥

कर, उस शव के कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों मे ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध, भयंकर दुर्गन्ध से भरे हुए सड़े मांस को खाने के बाद दूसरा छीन न ले इस आशंकापूर्ण दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ, दाँत निकालता हुआ, **भूखा, दरिद्र प्रेत, अपनी गोद में रखे हुए शव के अस्थि के भीतर लगे हुए और गढ़ों में स्थित कच्चे (क्रव्य) मांस को भी शनैः-शनैः खा रहा है ॥ ४२ ॥**

विशेष विवरण—यह उदाहरणभूत पद्य **'मालतीमाधव'** नाटक के पाँचवें अंक से लिया गया है। यहाँ पर 'दरिद्र प्रेत'–**आलम्बनविभाव** है। **'त्वचा को उखाड़ना और माँस को खाना'–उद्दीपनविभाव** है। **'उसे देखकर नाक बन्द करना, मुँह फेर लेना, थूकना'** आदि–**अनुभाव** हैं। 'उद्वेग आदि'–**व्यभिचारिभाव** हैं। 'जुगुप्सा'–**स्थायिभाव** है। इस सामग्री के द्वारा जुगुप्सा-प्रकृतिक–**'बीभत्स रस'** की अभिव्यक्ति होती है ॥ ४२ ॥

बीभत्स रस के उदाहरण के रूप में एक **हिन्दी** पद्य—**श्मशान का दृश्य है।**

सिर पै बैठो काग, आँखि दोऊ खात निकारत।
खींचति जीभहिं स्यार, अति हि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कँह खोदि खोदि के माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान विचारत॥
बहु चील्ह नोंचि ले जात तुच, मोद मढ़्यो सब को हियो।
जनु ब्रह्म भोज जिजमान कोऊ, आज भिखारिन कह दियो॥

राजा हरिश्चन्द्र श्मशान में पशु-पक्षियों की नाना प्रकार की चेष्टाओं को देख रहे हैं। उन चेष्टाओं को देखकर उनके मन में उत्पन्न हुई 'घृणा' ही–**स्थायी भाव** है। 'मुर्दों की त्वचा, हड्डी' आदि–**आलम्बनविभाव** है। 'कौवों का आँख निकालना, स्यार का जीभ को खींचना, गिद्ध का जाँघ को कुरेद-कुरेद कर मांस का नोचना, कुत्तों का अँगुलियों को काटना'–**उद्दीपन** हैं। 'राजा के द्वारा इनका वर्णन करना'–**अनुभाव** है। 'मोह, स्मृति आदि'–**व्यभिचारिभाव** हैं ॥ ४२ ॥

हास्य तथा जुगुप्सा का आश्रय—

शंका—इस विषय में **रसगंगाधरकार पण्डितराज श्री जगन्नाथ** का कहना है कि उपर्युक्त **'रति'** आदि अथवा **'शृङ्गार'** आदि **रसों** के उदाहरणों में **'स्थायिभाव'** के **'आश्रय'** तथा 'आलंबन' दोनों का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे **'भयानक' रस के उदाहरण को ही** लीजिये, उसमें 'भय' का 'आलम्बन' अर्थात् जिसे देखकर **'भय' की उत्पत्ति हो रही है**, वह **'राजा का रथ'** है, और उस **भय का आश्रय**

८. (अद्‌भुतरसस्य उदाहरणम्)

चित्रं महानेष बतावतारः क कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥ ४३ ॥

'मृग' है। इस प्रकार **'आलम्बन'** तथा **'आश्रय'** का अलग-अलग ज्ञान हो रहा है। किन्तु **'हास्य'** तथा **'बीभत्स'** रस के उदाहरणों में वैसा अलग-अलग ज्ञान नहीं हो रहा है। उनमें **'हास'** तथा **'जुगुप्सा'** के आलम्बन मात्र अर्थात् जिसको देखकर 'हास' तथा 'जुगुप्सा' की उत्पत्ति होती है, उसका वर्णन किया गया है। किन्तु उनके 'आश्रय' अर्थात् जिसमें 'हास' तथा 'जुगुप्सा' का उदय हो रहा है, उस देखने वाले 'पुरुष' का वर्णन नहीं है। यदि कहें कि 'पद्य' का **श्रोता ही लौकिक** 'हास' अथवा **'जुगुप्सा' का 'आश्रय' है, तो ठीक नहीं है,** क्योंकि वह तो सामाजिक पुरुष है, इसलिए 'वह' **अलौकिक** रसास्वाद का आश्रय है। **लौकिक 'हास' तथा 'जुगुप्सा'** का आश्रय **'कोई दूसरा पुरुष ही' होना चाहिये।** यह कथन **पण्डितराज** के शब्दों में इस प्रकार है—**"ननु क्रोधोत्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च। तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः। भयश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिक-हास-जुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेः। इति चेत् सत्यम्। तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्। तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वकान्तवर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्।**

इस प्रकार **शङ्का** का उत्थापन करके स्वयं पण्डितराज इसका **समाधान** दे रहे हैं—

आपाततः शंका होना ठीक है, किन्तु यहाँ पर इसके **आश्रयरूप में द्रष्टा पुरुष की उपस्थिति को आक्षेप से स्वीकार कर लेना चाहिये।** यदि आक्षेप से उसकी उपस्थिति मानने में संकोच होता हो तो **पद्य का श्रोता भी उस 'लौकिक हास या जुगुप्सा' का आश्रय हो सकता है। और वही 'अलौकिक रसास्वाद' का भी आश्रय हो सकता है।** जैसे किसी 'स्त्री के पति' का काव्य में यदि वर्णन किया जाय तो उसकी लौकिक 'रति' आदि का भी 'उसमें' उदय होता है, साथ ही अलौकिक रसास्वाद का भी। अतः **'आश्रय' का अलग से कथन न करने पर भी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं होगी ॥ ४२ ॥**

(८) अद्‌भुत रस का उदाहरण—

चित्रं महानिति। राजा बलि 'भगवान् वामन' को देखकर कह रहा है—यह महान् पुरुष ! कैसा आश्चर्यकारक ! यह लोकोत्तर अवतार ! कैसी यह अलौकिक कान्ति ! इसकी उठने-बैठने-चलने आदि सभी चेष्टाओं की शैली (भङ्गिमा) भी कैसी

अलौकिक ! इतना अलौकिक धैर्य ! इतना **अलौकिक प्रभाव** ! शरीर की **बनावट** (आकृति) भी कैसी **अद्भुत** ! सचमुच यह रचना (सृष्टि) अलौकिक ही है, जो **ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न ही है** । (ओह ! यह वामन ही **'विष्णु'** है क्या ?) ॥४३॥

विशेष विवरण—उपर्युक्त 'उदाहरण' **अद्भुत रस** का है । इस पद्य में **'चित्र'** आदि पद, विस्मय के वाचक नहीं है । किन्तु सम्बद्ध पदार्थ अथवा उसके अवच्छेदक-धर्म 'लोकोत्तर महत्त्व' के वाचक हैं । 'चित्रा'दि पदों को विस्मयार्थक मानने पर 'स्थायिभाव' को स्वशब्दवाच्य कहना होगा, जो दोष कहलाता है । अतः **प्रभावशाली यह महापुरुष 'चित्र' अर्थात् लोकोत्तर (अलौकिक) है** ।

यहाँ 'वामन'–**आलम्बन** है । 'कान्ति तथा गुणातिशय आदि'–**उद्दीपन** है । 'स्तुति आदि'–**अनुभाव** है । 'मति, धृति, हर्ष आदि'–**व्यभिचारिभाव** हैं । 'विस्मय'–**स्थायिभाव** है ॥ ४३ ॥

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का ग्रन्थकार से मतभेद—

पण्डितराज इस पद्य में 'अद्भुत रस' नहीं मानते । वे इसमें 'रसवदलंकार' का होना उचित कहते हैं । क्योंकि यहाँ पर **'विस्मय' प्रधान नहीं है**, अपितु वह 'स्तुति' का अंगभूत होने से अप्रधान हो गया है । अतः इसे **'रसवदलंकार'** का ही उदाहरण कहा जा सकता है । इस अभिप्राय को पण्डितराज के शब्दों में दे रहे हैं—

"यच्च सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतं 'चित्रं महानेष बतावतार' इति । तत्रेदं वक्तव्यं प्रतीयतां नामात्र विस्मयः । परन्त्वसौ कथंकारं (अद्भुतरस) ध्वनिव्यपदेशहेतुः । प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षादस्य गुणीभूतत्वात् । यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य 'पश्यामि देवाँस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्' इत्यादौ वाक्यसन्दर्भे । इत्थं चास्य रसवदलङ्कारत्वमुचितम् ।

अद्भुतरस के उदाहरण में हिन्दी कवि पद्माकर का एक पद्य पढ़ने योग्य है—

गोपी ग्वालबाल जुरे आपस में कहें आली,
कोऊ जसुदाको अवतर्यौ इन्द्रजाली है ।
कहै 'पद्माकर' करै को यौं उताली जापै,
रहन न पावै कहूँ एको फन खाली है ॥
देखें देवताली, भई विधि के खुशाली कूदि,
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है ।
जनम को चाली एरी अद्भुत है ख्याली आजु,
काली की फनाली पै नचत वनमाली है ॥ ४३ ॥

(स्थायिभावानां नामतः परिगणनम्)

एषां स्थायिभावानाह—

(सू०४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयन्तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः।३०।

स्पष्टम्।

भगवान् श्रीकृष्ण, महाभयानक कालियानाग के सिर पर नृत्य कर रहे हैं। इस भयानक दृश्य को देखकर ग्वाल-बाल आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। यहाँ पर 'विस्मय'-**स्थायिभाव** है। 'कालियानाग को नाथकर यमुना से बाहर खदेड़ना'-**आलम्बन** है। 'कृष्ण का उसके सिर पर नाचना'-**उद्दीपन** है। 'ग्वाल-बालों की विचित्र लीलाएँ'-**अनुभाव** हैं। इस सामग्री के रहने से **पूर्ण अद्भुतरस** की प्रतीति हो रही है ॥४३॥

इस प्रकार ग्रन्थकार **मम्मटभट्ट** ने 'संभोगश्रृंगार' के **दो उदाहरण**, 'विप्रलंभ श्रृंगार' के **पाँच उदाहरण**, और 'अवशिष्ट रसों' में से प्रत्येक का **एक-एक उदाहरण**, कुल मिलाकर सब रसों के **चौदह (१४)** उदाहरणों को यहाँ तक बताया है।

स्थायिभावों का क्रमशः नामनिर्देश—

एषामिति। अभीतक बताये गये रसों के **स्थायिभावों** को कहते हैं—

(सू० ४५) (१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा और (८) विस्मय—ये 'आठ,' आठों रसों के क्रमशः **स्थायिभाव** कहलाते हैं ॥ ३० ॥

स्पष्टमिति। कारिका का अर्थ स्पष्ट है।

विशेष विवरण—पूर्वोक्त रसों के स्थायिभावों का नामतः उल्लेख मात्र यहाँ पर किया गया है। उनके लक्षणों को नहीं बताया। किन्तु साहित्यदर्पणकार **श्री विश्वनाथ** ने इन सभी स्थायिभावों के लक्षणों को अपने ग्रन्थ में बताया है, जो इस प्रकार हैं—

रस	स्थायिभाव	लक्षण
(१) श्रृंगार	रति	'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।'
(२) हास्य	हास	'वागादिवैकृताच्चेतो विकासो हास उच्यते।' ॥१७६॥
(३) करुण	शोक	'इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं **शोक** उच्यते।
(४) रौद्र	क्रोध	'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः **क्रोधसंज्ञितः**।' ॥१७७॥
(५) वीर	उत्साह	'कार्यारंभेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।'
(६) भयानक	भय	'रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो **भयम्**' ॥१७८॥
(७) बीभत्स	जुगुप्सा	'**जुगुप्सा** गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात्'।

(व्यभिचारिभावानां नामतः परिगणनम्)

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(सू०४६) निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥३१॥

---

(८) अद्भुत	विस्मय	'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥१७९॥ विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात् ।'
(९) शान्त	शम	'शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥१८०॥

'चित्तवृत्तिविशेष' को ही 'भाव' कहते हैं। अभिनवगुप्तपाद ने 'भावों' की स्थायिता को इस प्रकार बताया है—

वे कहते हैं कि **'रति-हास-शोकादिरूप चित्तवृत्तिविशेष'** को **'स्थायी भाव'** की संज्ञा इसलिए दी गई है कि इनका सम्बन्ध, साक्षात् अथवा परम्परया पुरुषार्थ-चतुष्टय से है। ये **'स्थायी भाव'** संवित्स्वरूप हैं। इनकी अभिव्यक्ति का जो अनुभव होता है, वह आनन्दरूप यानी 'रसरूप' है। श्रीअभिनवगुप्तपाद के शब्द इस प्रकार हैं—

"अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद् विश्राम्यति ? तस्यैव च प्रत्ययस्य प्रधानानन्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात् । अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुख-प्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम् । तत्र पुरुषार्थ-निष्ठाः काश्चित् संविद इति प्रधानम् । तद् यथा—रतिः कामतदनुषङ्गिधर्मार्थ-निष्ठा, क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादि-पर्यवसितस्तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायोऽपि भावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् ।.........तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्याऽनन्दसारत्वात् ।"

व्यभिचारिभाव—

स्थायिभावों का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार **व्यभिचारिभावों** को बता रहे हैं—

(सू० ४६) (१) **निर्वेद**—तत्त्वज्ञान आदि से होने वाला स्वावमानन अर्थात् अपने प्रति तुच्छता-बुद्धि ।

(२) **ग्लानि**—मनस्ताप आदि से होने वाली निष्प्राणता अर्थात् उत्साह-हीनता का हेतुभूत चित्तवृत्तिविशेष ।

(३) **शङ्का**—आत्मदोष आदि से अनर्थ का चिन्तन ।

(४) **असूया**—दूसरों के गुणों का सहन न होना ।

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥३२॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥

---

(५) मद—संमोह और आनन्द का सम्मिश्रणरूप चित्तवृत्तिविशेष।
(६) श्रम—ग्लानि को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति।
(७) आलस्य—परिश्रमादि से उत्पन्न उद्योग-शून्यता की मनोदशा।
(८) दैन्य—दुर्गति आदि से मन की ओजस्विताहानि।
(९) चिन्ता—हित की अप्राप्ति में ध्यान की एकतानता।
(१०) मोह—दुःखादि चिन्तन से चित्त की शून्यता।
(११) स्मृति—सदृश अनुभव आदि से होने वाला पूर्वानुभूत वस्तु का ज्ञान।
(१२) धृति—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में स्पृहा-निवृत्ति।
(१३) व्रीडा—चित्त का संकोच।
(१४) चपलता—द्वेषादि के कारण चित्त की अस्थिरता।
(१५) हर्ष—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से मन की प्रसन्नता।
(१६) आवेग—अनर्थ की अधिकता से होने वाला चित्त-संभ्रम।
(१७) जडता—चिन्ता आदि के कारण किसी कार्य में पटुता का न रहना।
(१८) गर्व—अपने प्रभाव आदि से अन्यत्र अवज्ञा।
(१९) विषाद—कार्य की असफलता से सत्त्व का क्षय होना।
(२०) औत्सुक्य—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब को सहन न करना।
(२१) निद्रा—परिश्रम के कारण इन्द्रियों की व्यापार-शून्यता।
(२२) अपस्मार—मनोव्यथा आदि के कारण स्मृति का न रहना।
(२३) सुप्त (सोना)—निद्रावस्था में विषय का अनुभव न होना।
(२४) प्रबोध (जागना)—निद्रा समाप्त होने पर चैतन्य की उपलब्धि।
(२५) अमर्ष (क्रोध)—स्थिरतर क्रोध।
(२६) अवहित्था—लज्जा आदि के कारण प्रसन्नता आदि को छिपाना।
(२७) उग्रता—अधिक्षेप अपमानादि के कारण चित्त की प्रचण्डता।
(२८) मति—शास्त्रोपदेश मन्त्र आदि के कारण अर्थ का निर्धारण करना।
(२९) व्याधि—विरह आदि के कारण शरीर को दुःस्थित करने वाला मनस्ताप।
(३०) उन्माद—चित्त-विभ्रम।
(३१) मरण—जीव का उद्गमनारंभ अथवा मूर्छा।

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

(३२) **त्रास**—उत्पात से होने वाला मनःक्षोभ ।

(३३) **वितर्क**—सन्देह उत्पन्न होने पर विचार ।

इन तैंतीस व्यभिचारिभावों को नामग्रहणपूर्वक बता दिया है ।

विशेष विवरण—जिन 'विशिष्ट चित्तवृत्तियों' का अभिनय; नाट्य में किया जा सकता है, उनको **'भाव'** संज्ञा दी गई है । वे 'भाव' **उनचास** (४९) हैं । उनमें **'आठ' (८) स्थायिभाव** हैं । और **तैंतीस** (३३) **व्यभिचारिभाव** हैं । तथा **आठ** (८) **सात्त्विकभाव** हैं । **'विभाव'** और **'अनुभाव'** भावरूप नहीं हैं, अपितु वे **भाव-बाह्य** हैं । मूलकारिका में प्रतिपादित **'निर्वेदादि'** भी चित्तवृत्ति-विशेष ही हैं ।

'स्रक्सूत्रन्याय' से 'स्थायिभावों' का **'नियत अवस्थान'** रहता है । और **'फेनबुद्बुदन्याय'** से 'व्यभिचारिभावों' का **'अनियत अवस्थान'** रहता है । यही दोनों में भेद है ।

ये विशिष्ट चित्तवृत्तियाँ ही **'रसरूप काव्यार्थ'** की भावक (निष्पादक) **होती हैं,** इसलिए इन 'चित्तवृत्तियों' को 'भाव' कहा गया है । वस्त्रों में 'कस्तूरी' की सुगन्ध की तरह **ये वृत्तियाँ** अपनी भावना शक्ति से **'सहृदय-सामाजिकों के हृदय'** में व्याप्त हो जाती हैं । इन उनचास 'भावों' में से जिनमें **स्थिरता** (स्थायिता) की योग्यता रहती है उन्हें **'स्थायिभाव'** कहते हैं । और जो **अवशिष्ट भाव** हैं, वे 'स्थायिभावों' के **पोषक** होते हैं, उन्हें **'व्यभिचारी भाव'** कहा गया है । इसी बात को श्री **अभिनवगुप्तपाद** ने अपनी **अभिनवभारती** में कहा है—

"भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः ।···तेषां तु योग्यतावशाद् यथायोगं स्थायिसंचारिविभावानुरूपता संभवति । ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावास्ते न भावशब्दव्यपदेश्याः । ननु संवित्स्वभावे निमज्जनादत एव उन्मज्जनाच्च तेऽपि संविदात्मकाः ? एवं तर्हि विश्वमेव भावमयं स्यादुपचारात् विज्ञानवादाश्रयाद्वेति अभिनयधर्म्यादीनां पृथक्तानुपपत्तिः । तस्मात् स्थायि-व्यभिचारिसात्त्विका एव भावाः ।"— (अभि० भा० ७ अ०) "एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेष-निमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति, न तु स्थिराः । यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः, तथापि संस्काररूपतया धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव । व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति । संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति ।"–(अभि० भा० ६ अध्या०)

(निर्वेदस्य प्रथमनिर्देशे हेतुः)

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थं तेन—

(शान्तस्यापि नवमरसत्वम्)

(सू०४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

(शान्तरसस्य उदाहरणम्)

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥ ४४ ॥

तैंतीस व्यभिचारिभावों को गिनाने के बाद **'शान्तरस'** का निरूपण करने के पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि ३३ व्यभिचारिभावों की परिगणना करते समय सर्वप्रथम परिगणित जो **'निर्वेद'** है, वह **'स्थायिभाव'** तथा **'व्यभिचारिभाव'** दोनों हैं। उसकी 'स्थायिभावता' के सम्बन्ध में बता रहे हैं।

निर्वेदस्येति। 'तैंतीस व्यभिचारिभावों' मे **सर्वप्रथम** परिगणित जो **'निर्वेद'** है, वह प्रायः **अमङ्गल रूप है**। उसका **सर्वप्रथम उल्लेख** करना यद्यपि **अनुचित** है, तथापि उसका सर्वप्रथम उल्लेख इसलिए किया गया है कि उसमें **'व्यभिचारिभावता'** होने पर भी **'स्थायिभावता'** भी होती है—यह बताने के लिए उसका **उल्लेख सर्वप्रथम** वहाँ किया गया है। अभिप्राय यह है कि **'निर्वेद'** व्यभिचारी भाव तो है ही साथ ही वह **'शान्तरस' का स्थायिभाव** भी है। अवशिष्ट अन्य किसी व्यभिचारिभाव में यह बात नहीं पाई जाती। अतएव **'निर्वेद'** को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इसलिए—

शान्तरस निरूपण—

(सू० ४७) पूर्वप्रतिपादित आठ रसों के अतिरिक्त एक और भी नवाँ **'रस'** है, जिसे **'शान्त'** कहते हैं, और उसका स्थायिभाव **'निर्वेद'** है।

(९) शान्तरस का उदाहरण—

अहौ वेति। सर्प और मोतियों का हार (दोनों में समबुद्धि रखने वाले, इसी प्रकार) पुष्पशय्या और पाषाण-शिला में, (समबुद्धि) मणि और मिट्टी के ढेले में (समबुद्धि), बलवान् शत्रु तथा मित्र में (समबुद्धि), तिनके में और स्त्रियों के समूह में **समबुद्धि रखने वाले मेरे दिन** किसी भी, अर्थात् श्मशानादि अपवित्र स्थान में अथवा नैमिषारण्यादि पवित्र तपोवन में, **शिव-शिव-शिव** अर्थात् श्रेयस्कर नाम का जप या **चिन्तन** करते हुए अथवा अनर्थक **प्रलाप** करते हुए **व्यतीत** हो रहे हैं॥४४॥

विशेष विवरण—जीवन्मुक्त योगी की विद्यमान अवस्था का वर्णन उक्त पद्य में किया गया है। यहाँ पर मिथ्या प्रतीत होने वाला 'जगत्'-आलम्बन है, 'तपोवन आदि'-उद्दीपन हैं। 'सर्प और मुक्ताहार आदि में समबुद्धि'-अनुभाव है। 'धृति', 'मति' और 'हर्ष' आदि-व्यभिचारिभाव हैं। और तत्त्वज्ञानजन्य 'निर्वेद'—स्थायिभाव है। इस सामग्री से सामाजिक के हृदय में 'शान्तरस' की अभिव्यक्ति होती है ॥ ४४ ॥

शान्तरस का उदाहरणरूप एक हिन्दी पद्य—

भूखे अघाने रिसाने हितू अहितून्ह ते स्वच्छ मने हैं।
दूषन भूषन कञ्चन काँच जू मृत्तिका मानिक एक गने हैं।
सूल सों फूल सों माल प्रवाल सों 'दास' हिए सम सुक्ख सने हैं।
राम के नाम सों केवल काम तेई जग जीवन-मुक्ख बने हैं॥

इसमें जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन है। संसार की असारता–आलंबन है, 'शम'-स्थायिभाव है। 'सन्तसमागम तथा तीर्थयात्रा' आदि से 'शम' स्थायिभाव उद्दीप्त होता है। 'बुभुक्षा से अघाना, शूल को फूल समझना, मोती को कांच समझना, मिट्टी तथा हीरा को समान समझना, आदि'-अनुभाव हैं। 'मन में हर्ष, प्रबोध, वितर्क' आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सब के होने से यह शान्तरस का उदाहरण है ॥४४॥

विशेष विवरण—शंका–'निर्वेद' के संबन्ध में काव्यप्रकाश के 'प्रदीप' व्याख्याकार ने यह शंका की है कि 'शान्तरस' की भावना तो अनिवार्य है किन्तु 'निर्वेद' को उसका 'स्थायिभाव' नहीं कह सकते। उसका 'स्थायिभाव' तो 'शम' होना चाहिये। क्योंकि 'निर्वेद' तो समस्त चित्तवृत्तियों का 'अभाव' स्वरूप है। अतः अभावस्वरूप होने से उसे 'स्थायिभाव' कैसे कहा जाय। किन्तु 'शम' भावरूप है। क्योंकि निरीह अवस्था में आत्मलीन होने पर जो आनन्द होता है, उसे 'शम' कहते हैं। अतः 'शम' को ही 'शान्तरस' का 'स्थायिभाव' कहना चाहिये। और 'निर्वेद' को 'व्यभिचारिभाव' (संचारिभाव) कहना चाहिये। इसी बात को प्रदीपकार के शब्दों में देखिये, वे लिखते हैं कि—

अत्र वदन्ति--शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्नवः । न चैतस्य स्थायी निर्वेदो युज्यते। तस्य विषयेष्वलं प्रत्ययरूपत्वात्, आत्मावमानरूपत्वाद्वा । शान्तेश्च निखिलविषयपरिहारजनितात्ममात्रविश्रामानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात् । तदुक्तं (कृष्णद्वैपायनेन) 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति । अत एव 'सर्वचित्तवृत्तिविरामोऽस्य स्थायी' इति निरस्तम् । अभावस्य स्थायि-

त्वाऽयोगात् । तस्मात् शमोऽस्य स्थायी । निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः । स च शमो निरीहावस्थायामानन्दः स्वात्मविश्रामात् इति ।"

समाधान--किन्तु **प्रदीपकार** की उक्त शंका का समाधान **उद्योत** तथा **सुधासागरकार** आदि व्याख्याकारों ने किया है। उनका समाधान इस प्रकार है-- **'शान्तरस'** का **'स्थायिभाव'** **'निर्वेद'** ही है, जो **'तत्त्वज्ञानजन्य'** है। जैसे निरपेक्षभाव रूप **'शोक'** को **'स्थायिभाव'** कहा जा सकता है, उसी प्रकार **'निर्वेद'** को भी **'स्थायिभाव'** कह सकते हैं।

प्रश्न--भरतमुनि ने भी तो **'कचिच्छमः'** कहा है। तब उसके विरुद्ध **'निर्वेद'** को स्थायिभाव बताना कैसे संभव हो सकता है ?

उत्तर--भरतमुनि ने जो **'कचिच्छमः'** कहा है, वहाँ भी **'शम्यते यस्मात् इति शमः'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'शम' शब्द का वाच्यार्थ-**'निर्वेद'** ही होता है। उसी तरह **'तृष्णाक्षय'** शब्द का वाच्यार्थ भी **'तृष्णायाः क्षयो यस्मात्'** इस व्युत्पत्ति से **'निर्वेद'** ही है। अत एव **'एकोनपञ्चाशद्भावाः'** इस **भरतोक्ति** की संगति भी लगती है। क्योंकि **आठ स्थायीभाव, आठ सात्त्विकभाव** और **तैंतीस व्यभिचारीभाव**-इन सबका संकलन करने पर **उनचास** (एकोनपञ्चाशत्) संख्या निष्पन्न होती है। अन्यथा **'शम'** को भी **'भाव'** मान लेने पर अधिक संख्या अर्थात् उनचास के बजाय **पचास संख्या** हो जायगी। तब **'एकोनपञ्चाशद्भावाः'** यह **भरतोक्ति** कैसे संगत होगी ? ऐसा **उद्योतकार** ने स्पष्ट कहा है।

ग्रन्थकार **श्री मम्मटभट्ट,** नाट्यशास्त्रकार **भरतमुनि के अनुयायी हैं**। 'शान्तरस' को **भरत के अनुसार** उन्होंने भी माना है। भरतमुनिकृत **'नाट्यशास्त्र'** के व्याख्याकार **श्री अभिनवगुप्तपाद** ने भरतसम्मत 'शान्तरस और उसके स्थायिभाव' पर अनेक **पक्ष-प्रतिपक्षों** को प्रकाशित किया है। किन्तु ग्रन्थकार **मम्मटभट्ट** ने विस्तारभय के कारण यहाँ उनका उल्लेख न करके केवल **'शान्तोऽपि नवमो रसः'** कह दिया है। नाट्यशास्त्रकार **भरतमुनि** के अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले **अभिनव गुप्तपाद** के लेख के आधार पर ही **मम्मटभट्ट** ने 'शान्तरस' को माना है। **अभिनव गुप्तपाद** ने कहा है कि **तीन पुरुषार्थों** (धर्म-अर्थ-काम) की उपलब्धि के लिए **शृङ्गारादि आठ रसों** का स्वीकार जैसे किया जाता है, उसी तरह **चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए काव्य** (श्रव्य) और **नाट्य** (दृश्य) **में नवम 'शान्तरस' को मानना परम आवश्यक है**। यही बात **श्री अभिनवगुप्तपाद** के शब्दों में इस प्रकार कही गई है—

'तत्र शान्तो रस इति । अत्रोच्यते—यथा इह तावत् धर्मादित्रितयम्, एवं मोक्षोऽपि पुरुषार्थः, शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो

व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कवि-नटव्यापारेण आस्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान् प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्'–(अभि० भा० शान्तरसप्रकरणम्)।

उसी तरह श्रीमम्मटभट्ट ने शान्तरस का 'स्थायिभाव' जो 'निर्वेद' बताया है, उसमें भी अभिनवगुप्तपाद को ही आधार माना है। श्रीगुप्तपाद कहते हैं—

'या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः। एतत्तु चिन्त्यम्। किन्नामाऽसौ? तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथाहि दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिः तथा न पठेत्। जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन् मुनिर्भावानां सर्वेषामेव स्थायित्वसञ्चारित्वसात्त्विकत्वानुभावत्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दार्थबलाकृष्टानि अनुजानाति। तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमः स्थायिशीलः स एव किल स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः।'—(अभि० भा० शां० र० प्रक०)

'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव मानने का पूर्ण समर्थन स्पष्ट रूप से सुधासागरकार ने भी किया है—

'न चैतावता 'निर्वेदः स्थायिभावाख्यः' इति वदतां श्रीवाग्देवतावतारवृत्तिकाराणां प्रमादः शङ्क्यः। तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्। आपदीर्ष्यादिकारणान्तरजन्यस्य तस्य स्वावमाननरूपत्वात्। अस्यैव चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनतादिकार्योत्पादकत्वम्। न खलु ब्रह्मज्ञानजन्यनिर्वेदस्य वैवर्ण्योच्छ्वासादिकार्यजनकता स्वप्नेऽपि संभवतीति सूक्ष्मदृशावधातव्यम्। एवं च तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्य स्थायित्वं, कारणान्तरजन्यस्य व्यभिचारित्वमिति तत्त्वम्। उक्तं चान्यत्राचार्यैः—'स्थायी स्याद् विषयेष्वेष तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि। इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ॥' इत्यलं बहुना इति।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने अभी तक नौ रसों का निरूपण किया। अब 'भावों' का निरूपण कर रहे हैं। 'रसभावतदाभासः' (सू० ४२) सूत्र में 'रस' के समान 'भाव' को भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (ध्वनि) के रूप में बताया है। किन्तु उसका (भाव का) स्वरूप क्या है? यह जिज्ञासा होती है। क्योंकि 'रति' आदि तो रसरूप हैं। 'व्यभिचारियों' में रसांगत्व निश्चित होने से वे अप्रधान रहते हैं। और

'सात्त्विकों' में व्यङ्ग्यता नहीं रहती। अतः 'भाव' का लक्षण करना क्रम-प्राप्त है। वैसे तो 'स्थायिभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव' इनमें 'भाव' शब्द का प्रयोग होने पर भी प्रस्तुत निरूप्यमाण 'भाव' पूर्वोक्त 'भावों' से अलग ही है। भरत ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है—(१) भवन्तीति भावाः, और (२) भावयन्तीति भावाः।

'भाव' से तात्पर्य यह है कि 'भाव' चित्तवृत्तिस्वरूप होते हैं। 'भवन्तीति भावाः' इस प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्थित रतिभाव' का प्रकट होना अर्थ निष्पन्न होता है। अतः 'रति' के स्थित होने के कारण उस 'रति' को 'भाव' संज्ञा दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि 'भाव' अपने उत्कर्ष को प्राप्त करता है।

और 'भावयन्तीति भावाः' इस द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'भाव' शनैः-शनैः-अधिकतर-अधिकतम रूप से विकसित होता रहता है। वह एक क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता। सीमित समय में अनुभाव की प्रतीति के द्वारा ये 'भाव' चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं। इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर ये 'भाव' आस्वादनीय हो जाते हैं।

भरत ने 'भाव' का लक्षण बताया है—

> विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
> वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ १॥
> वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
> कवेश्चान्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥ २॥
> नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
> यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥ ३॥
>
> —[ना० शा० ७।१-२-३]

जो अर्थ, 'विभावों' के द्वारा प्रस्तुत होते हुए 'अनुभावों' से बोधगम्य होते हैं, वे ही 'वाणी', 'अंग' तथा 'सात्त्विक भावों' के अभिनयों से युक्त होने पर 'भाव' कहे जाते हैं॥ १॥

नाट्यकार की नाट्यरचना में निगूढ भावों को दर्शकों के लिए बोधगम्य बनाने के हेतु जो वाणी, शरीर के अवयवों तथा चेहरों के रंगों द्वारा 'भाव' का प्रदर्शन किया जाता है उसे 'भाव' जानो॥ २॥

क्योंकि ये अनेकविध अभिनयों से (युक्त) 'रसों' का भावन करते हैं, अतएव इन्हें नाट्यनिर्माता (या प्रयोक्ता) गण 'भाव' कहते हैं॥ ३॥

अतः क्रमप्राप्त 'भाव' का लक्षण किया जा रहा है।

(अलक्ष्यक्रमेषु पठितस्य भावस्य स्वरूपम्)

(सू०४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥
भावः प्रोक्तः—

आदिशब्दान्मुनि-गुरु-नृप-पुत्रादिविषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता–शृङ्गारः। उदाहरणम्—

(देवविषयकरतिभावस्य उदाहरणम्)

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥ ४१ ॥

भाव का लक्षण—

(सू० ४८) **'भाव'** ध्वनि उसे कहा गया है, जो देवादिविषयक 'रति' आदि स्थायिभावों के वर्णन में और **'व्यभिचारिभावों'** की अभिव्यंजना में प्रतीत होता है। अर्थात् देवादिविषयक 'रति' (आदि सभी स्थायिभाव), और 'व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव' को **'भाव'** शब्द से कहा गया है ॥ ३५ ॥

विशेष विवरण—इस सूत्र में **'रति'** शब्द, सकल स्थायिभावों का उपलक्षण है। 'देवादिविषया' रति भी अप्राप्तरसावस्था का उपलक्षण है। **'तथा'** शब्द 'च' (और) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इससे अर्थ यह निष्पन्न हुआ कि **'देवता आदि के विषय'** में, यहाँ तक कि **'कान्ता आदि के विषय'** में भी अपुष्ट रति और रसावस्था को प्राप्त न हुए **'हास'** आदि और **'विभाव एवं अनुभाव'** से प्रधानतया व्यञ्जित (अञ्जित) हुआ **'व्यभिचारी'—'भाव'** कहलाता है। प्रदीपकार ने कहा है—

रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा ।
अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक् ॥

आदिशब्दादिति। **'आदि'** शब्द से मुनि, गुरु, राजा और पुत्रादिविषयक **'रति'** का संग्रह किया गया है। अर्थात् 'देवताविषयक रतिभाव' का वर्णन **'भाव-ध्वनि'** कहलाता है। वैसे ही 'मुनिविषयक, गुरुविषयक, राजविषयक, पुत्रविषयक, मातृ-पितृ आदिविषयक रतिभाव' के वर्णन को भी **'भावध्वनि'** कहते हैं। किन्तु **'कान्ता (स्त्री) विषयक' 'रति'** के व्यक्त होने पर उसे **'शृंगार'** कहा जाता है। अर्थात् वह **'शृंगाररसध्वनि'** कहा जाता है।

देवविषयक रतिभाव का उदाहरण—

काश्मीर के महान् विद्वान् श्रीमदुत्पलाचार्य–विरचित **'परमेश्वरस्तोत्रावलि'** के तेरहवें स्तोत्र में से यह पद्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

कण्ठेति। हे भगवन्! हे महादेव! **आपके कण्ठ का स्पर्श पाया** हुआ वह

(मुनिविषयकरतिभावस्य उदाहरणम्)

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥

हालाहल (कालकूट) विष भी मेरे लिए अमृत के तुल्य प्रिय है। किन्तु आपके शरीर से अलग रहने वाला सिर पर धारण किया हुआ चन्द्रकलारूप अमृत भी यदि मुझे अनायास उपलब्ध हो जाय तो वह प्रिय नहीं है ॥ ४५ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में 'महादेव'—आलम्बन है। 'ईश पद से प्रतिपाद्य अव्याहत ऐश्वर्य'—उद्दीपन है। 'स्तव'—अनुभाव है। 'धृति और माहात्म्य का स्मरण' आदि—व्यभिचारिभाव हैं। इस सामग्री से भक्तनिष्ठ (स्तुति करने वाले भक्त के हृदय में स्थित) 'रति' का अनुमान करने वाले सहृदय सामाजिकों को उन्हीं विभावादिकों से व्यञ्जित 'भाव' (रति) का अनुभाव होता है। यहाँ 'रति' पूर्णतया पुष्ट न होने से उसे 'रस' नहीं कहा जा सकता। रसरूपता को प्राप्त न होने से ही उसे 'भाव' शब्द से कहा गया है। किन्तु उद्योतकार ने उसके 'भाव' कहलाने में या उसे 'रस' न कहने में मुनि की 'स्वतन्त्र इच्छा' को और 'फलबलकल्प्यसामग्रीवैलक्षण्य से तथा सहृदय संवाद से होने वाले उत्कट आनन्दांश के प्रकाशाभाव' को कारण बताया है।

देवविषयक रतिभाव के उदाहरणरूप में हिन्दी के महाकवि सेनापति का एक पद्य—

पान चरनामृत को गान गुन-गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिय को हुलासियो;
प्रभु के उतरीन की गूदरी करौं चीरन की,
भाल भुजकंठ कर छापन को लसिवो।
'सेनापति' चाहति है सकल जनम भरि,
वृंदावन सीमा ते न बाहिर निकसिवो;
राधा-मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरै गुंजन की कुंजनि में बसिबो।

यहाँ श्रीवृन्दावन-विहारी के प्रति कवि का जो प्रेम ध्वनित हो रहा है, वह 'देवविषयक रतिभाव' है।

मुनिविषयक रतिभाव का उदाहरण—

महाकवि माघ द्वारा विरचित शिशुपालवध नामक महाकाव्य के प्रथम सर्ग से यह पद्य प्रस्तुत किया गया है। भूमण्डल पर अवतरण करने वाले देवर्षि नारदजी का स्वागत करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उनकी स्तुति कर रहे हैं—

हरतीति। हे मुने! आपका दर्शन, शरीरधारी प्राणियों की योग्यता को तीनों

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

(प्राधान्येन वर्णितस्य व्यभिचारिभावस्य उदाहरणम्)

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।

कालों (वर्तमान, भविष्यत् तथा भूत) में प्रकट करता है। क्योंकि वह वर्तमान-काल में पाप का विनाश करता है, भविष्यत्काल में प्राप्त होने वाले कल्याण का हेतु (निमित्त कारण) बनता है। और पूर्वाचरित (अतीतकाल में यानी पूर्व-जन्मार्जित) सुकृतों (पुण्यों) से वह प्राप्त हुआ है ॥ ४६ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में 'मुनिविषयक श्रीकृष्णनिष्ठ रति' का आलंबन—'मुनि' है। 'दर्शनयोग्यताव्यञ्जन'—उद्दीपन है। 'श्रीकृष्ण की इस प्रकार की उक्ति'-अनुभाव है। उससे 'व्यङ्ग्य हर्ष'—व्यभिचारी है। मुनिविषयक श्रीकृष्णनिष्ठ-रति को समझने वाले सामाजिक के हृदय में भावनिष्पत्ति होती है।

एवमन्यदपीति। इस प्रकार (गुरु, राजा, पुत्र आदि विषयक रति आदि भावों के) अन्य उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिये।

विशेष विवरण—कुछ उदाहरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

गुरुविषया रतिः—

भवसागरबान्धवादुपेन्द्रप्रपदक्षालनवारितो विशिष्टम् ।
भवसागरवैरि-वंदनीयं गुरुपादोदकमेव केवलं नः ॥

नृपविषया रतिः—

संकल्पेऽङ्कुरितं द्विपत्रितमथ प्रस्थानवेलागमे
मार्गे पल्लवितं पुरं प्रविशतः शाखान्तरैरावृतम् ।
प्रादुर्भाविनि दर्शने मुकुलितं श्रीकर्णदृष्टे त्वयि
प्रोत्फुल्लं फलितं च सम्प्रति मनोराज्यद्रुमेनाद्य मे ॥

पुत्रादिविषया रतिः—

एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥
—(महावीरचरित० अंक १)

कतिपय प्रतियों में वृत्ति के अन्तर्गत इस पद्य को दिया है और सारबोधिनी-कार ने उसकी व्याख्या भी की है।

भाव के द्वितीय भेद-प्राधान्येन वर्णित 'व्यङ्ग्यव्यभिचारी' का उदाहरण—

प्रियतमा से वियुक्त हुए किसी नायक की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है—

जाने इति। हे भाई! क्रोध के कारण पराङ्मुख हुई प्रियतमा को आज मैंने

नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

स्वप्न मे देखा । 'नहीं-नहीं, मुझे मत छूओ' इस प्रकार हाथ से ही सूचित कर वह रोती हुई चल दी। उसके बाद जैसे ही मैं उसे आलिङ्गन तथा नाना प्रकार से अनुनय-विनय के द्वारा मनाने की सोचने लगा, उसके पूर्व ही धूर्त (वञ्चक) विधाता ने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी ॥ ४७ ॥

अत्रेति । यहाँ पर प्रधानतया 'विधि' के प्रति 'असूया' प्रतीत हो रही है ।

विशेष विवरण—निश्चित रूप से मैं जान रहा हूँ कि इस प्रकार का अकार्य, दूसरे का अहित करने वाले उस शठ (धूर्त-वञ्चक) विधाता का ही हो सकता है । यहाँ शठत्वोपन्यासरूप विचित्र अनुभाव से प्रतीयमानव्यङ्ग्य (विधाता के प्रति 'असूया' रूप व्यभिचारी) का अपनी चारुता के कारण मुख्यतः प्राधान्य है । 'जाने, शठ' कहकर उसकी अपकारिता का निश्चय होने से उसके प्रति 'असूया' का प्रकर्ष बताया गया है ।

यहाँ पर 'विधि'—आलम्बन है । 'विधिदौर्जन्य'—उद्दीपन है । 'शठत्वोक्ति'—अनुभाव है । और प्राधान्येन व्यञ्जित 'असूयारूप' व्यभिचारी को 'भाव' शब्द से बताया गया है । 'असूया की अभिव्यक्ति' स्पष्ट होने से यह काव्य 'भाव-ध्वनि' का आनन्द दे रहा है ।

'रसध्वनि' और 'भावध्वनि' में पारस्परिक कुछ तारतम्य होता है । वस्तुतः 'रसध्वनि' की ही एक प्रकार से स्वसंवेद्य विशेषता 'भावध्वनि' में रहती है । काव्य की आत्मा तो 'रस' ही है । और 'एकघन आनन्दानुभव' ही 'रस' का स्वरूप है । किन्तु कभी-कभी इस 'रसरूप एकघन आनन्दानुभव' में उसके किसी एक अंश का कोई 'विशेष चमत्कार' भी संभव हो जाता है । इस अवस्था में उसे 'रसध्वनि' न कहकर 'भावध्वनि' कहा जाता है। एवं च 'व्यभिचारी-भाव' अपनी 'उदय, स्थिति, अपाय' आदि अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में उपस्थित होकर जहाँ उत्कट चमत्कार की प्रतीति करावे, वहाँ आस्वाद्य रस के रहने पर भी आस्वादातिशय का हेतु व्यभिचारीभाव को ही मानना होगा । और आस्वादातिशयाधायक व्यभिचारी के होने पर उसे 'भावध्वनि' ही कहा जायगा । यही बात अभिनवगुप्तपाद ने बताई है—

"स च रसादिध्वनिर्व्यवस्थित एव, नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति । यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात् प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति । तत्र

(रसाभास-भावाभासयोर्वर्णनम्)

(सू०४९)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः । व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः ।"

—[ध्वन्यालोकलोचन–२।३]

रसाभास, भावाभासों का निरूपण—

रस तथा **भावों** को बताने के पश्चात् **रसाभास** और **भावाभासों** का निरूपण करते हैं।

(सू० ४९) पूर्वोक्त **'रस'** तथा **'भावों'** का अनुचित रूप से वर्णन **'रसाभास'** तथा **'भावाभास'** कहलाता है ।

तदाभासा इति । 'तदाभासाः' का तात्पर्य **'रसाभास'** तथा **'भावाभास'** समझना चाहिये ।

विशेष विवरण—'तत्' इस सर्वनाम पद से **'रस'** और **'भाव'** दोनों का परामर्श किया गया है । सन्निहित जानकर केवल 'भाव' का ही नहीं, इस रहस्य को बताने के लिए ही **'रसाभासा भावाभासाश्च'** कहा है । **'शृङ्गारादि' रसों अथवा 'भावों' का अनुचित रूप से वर्णन किये जाने पर 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहा जाता है** । **लोकशास्त्र-मर्यादा** का **अतिक्रमण** करके प्रतिषिद्ध विषय का वर्णन करना ही **अनौचित्य का स्वरूप है** । उसका अनुभव सामाजिकों को होता है । वह अनौचित्य अनेक प्रकार का होता है । **उद्योतकार** तो कहते हैं कि सहृदयजनों को अनुचित प्रतीत होना ही **'अनौचित्य'** है । यद्यपि वस्तुतः रस का अनौचित्य रूप में होना **रसदोष** ही है, तथापि आपातरमणीय होने के कारण इसके द्वारा भी क्षण भर के लिए 'रस के आस्वाद' का **आभास** हो ही जाता है । **'जल में सूर्य के प्रति-बिम्ब के समान अवास्तविक स्वरूप' को 'आभास' कहते हैं । आभास को 'प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्'** कहा गया है । **रसाभास** में—सीप में चाँदी की झलक की तरह, **रस की झलक मात्र** रहती है । इसलिए **रसाभास** को भी 'ध्वनि' का एक भेद माना गया है । **लोचनकार** ने स्पष्ट कहा है—**'अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्'** (लोचन २ उद्योत०) । यह **रसाभास भिन्न-भिन्न** रसों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है ।

जैसे—**शृङ्गार-रसाभास—उपनायक** (अन्य पुरुष) में अथवा **अनेक पुरुषों में नायिका की 'रति'** होना, **'नदी आदि निरिन्द्रियों' में संभोग** का आरोप करना, **'पशु-पक्षियों के प्रेम'** का वर्णन करना, **'गुरुपत्नी आदि' में अनुराग**

दिखाना, **'नायक-नायिका' में अनुभयनिष्ठ रति,** अर्थात् उभयनिष्ठ प्रेम का न होना। तात्पर्य यह है कि 'स्त्री' का प्रेम, पुरुष में हो, किन्तु 'पुरुष' का स्त्री में न हो, अथवा पुरुष का प्रेम 'स्त्री' में हो, किन्तु स्त्री का प्रेम 'पुरुष' में न हो। तथा **'नीच व्यक्ति में प्रेम होना' इत्यादि** ये सब **शृङ्गाराभास** के अन्तर्गत हैं।

हास्य-रसाभास—गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों को हास का आलम्बन बनाना।

करुण-रसाभास—विरक्त में शोक का होना।

रौद्र-रसाभास—पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना।

वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना आदि।

भयानक-रसाभास—उत्तम प्रकृति के व्यक्ति में भय का होना।

बीभत्स-रसाभास—यज्ञीय पशु में ग्लानि होना आदि।

अद्भुत-रसाभास—ऐन्द्रजालिक कार्यों में विस्मय होना।

शान्त-रसाभास—नीच व्यक्ति में निर्वेद या शम की स्थिति का वर्णन आदि।

इस अनौचित्य प्रयुक्त रसाभास और भावाभास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया है। किन्तु ग्रन्थकार **मम्मट** का निरूपण 'लोचनकार' के अनुसार है। **'यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा ……… स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः।'** इस लोचन व्याख्या को देखने से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाता है। **'रजत'** और **'शुक्तिरजत'** (रजताभास) अथवा **'सर्प'** और **'रज्जुसर्प'** (सर्पाभास) **के साधर्म्य-वैधर्म्य के समान ही 'रस' और 'रसाभास', 'भाव' और 'भावाभास' में साधर्म्य-वैधर्म्य है।** 'रजत' और 'शुक्तिरजत' अथवा 'सर्प' और 'रज्जुसर्प' के अनुभवांश में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल 'रजत' या 'सर्प' की **अबाधित स्थिति** और 'शुक्तिरजत' या 'रज्जुसर्प' की **बाधित स्थिति** में ही अन्तर है। इसी कारण 'रजत' और 'रजताभास' में भेद की प्रतीति होती है।

ठीक वैसे ही **'रस'** और **'रसाभास'** तथा **'भाव'** और **'भावाभास'** के **आस्वादन (चर्वण) अंश में कोई अन्तर (वैधर्म्य) नहीं है,** अन्तर केवल 'रस' अथवा 'भाव' के **पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति में सहायक** बनने और **'रसाभास'** अथवा **'भावाभास' के 'पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति' में विरोधक** बनने के कारण ही प्रतीत होता है। **चर्वणा की दृष्टि से** तो यही कहा जायगा कि **'भाव, भावाभास, रसाभासादि ध्वनि' उसी एक घन रसास्वाद के ही विविध रूप हैं।** और उनके पृथक् अनुभव में वैसा ही उत्कृष्ट चमत्कार भी स्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि **ये भावध्वनि आदि 'रसध्वनि' के ही निष्यन्दरूप हैं।** जैसे मृग-

तत्र रसाभासो यथा—

(रसाभासस्य उदाहरणम्)

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तथा स्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

मदादि से सम्मिश्रित एकघन सौरभ मे मृगमद के अनुभव का विशेष चमत्कार पृथक् ही प्रतीत होता है । पूर्वोक्त बहुविध आभासों के उदाहरणों को क्रमशः दे रहे हैं ।

रसाभास का उदाहरण—

स्तुम इति । हे सुन्दर-नयनी ! वह कौन भाग्यशाली है, जिसके बिना तुमको क्षण भर भी चैन नहीं है, जिसकी हम उसके सौभाग्य के लिए प्रशंसा करें । और पूर्वजन्म का वह कौन रणवीर है, (अर्थात् युद्धरूप यज्ञ में किसने अपने प्राणों की आहुति दी है), जिसकी खोज में तुम व्याकुल हुई जा रही हो । हे चन्द्र-मुखी ! ऐसा कौन भाग्यशाली है, किस शुभ घड़ी में उसने जन्म लिया है, जिसे अपने बाहुपाश से गाढ आलिंगन करने के लिए तुम इतनी उतावली हो रही हो । हे मदन की राजधानी ! यह तो बता दे, कि वह कौन-सा महान् तपस्वी है, जिसके ध्यान में तुम इतनी लीन हो गई हो ॥ ४८ ॥

अत्रेति । यहाँ 'स्तुमः कम्' इत्यादि में जिस वामाक्षी वारांगना के रमण, अन्वेषण, आलिंगन और चिन्तन आदि का वर्णन है, उस वर्णन से वामाक्षी वारांगना की 'अनेक कामुकविषयक अभिलाषा' पूर्णतया अभिव्यक्त हो रही है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में किसी 'कामुक' की वारांगना के प्रति चाटूक्ति बताई गई है—ऐसा वैद्यनाथ ने अपनी व्याख्या में कहा है । और सुधा-सागरकार कहते हैं कि अनौचित्य के आपादान की दृष्टि से किसी 'परकीया स्त्री' के प्रति किसी कामुक की यह उक्ति है । 'शशिमुखि' पद से 'अंगीकृत के अपरित्याग की युक्तता' (औचित्य) सूचित की गई है । क्योंकि शशी (चन्द्र) ने भी अंगीकृत किये हुए 'शश' का परित्याग नहीं किया है । अतएव कहा भी है कि 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' । 'मदन-नगरि' कहने से 'नगरीत्व' को आरोप कर 'अनेकविषयकमदनाश्रयत्व' सूचित किया गया है । क्योंकि वारांगना का 'अनेकाश्रय होना' स्वभाव है । यहाँ पर 'रमण, अन्वेषण, आलिंगन, ध्यान' आदि के उपादान करने से कामुक जार पुरुषों के प्रति वारांगना

भावाभासो यथा—

(भावाभासस्य उदाहरणम्)

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४९॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता। एवमन्येऽप्युदाहार्याः।

की इच्छा (अभिलाष) अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रकार अभिव्यक्त हुए अभिलाष से 'बहुविषया रति' अभिव्यक्त हो रही है। अतः बहुनायकविषयक रति के कारण 'रसाभास ध्वनि' का यह उदाहरण है ॥ ४८ ॥

इसी तरह 'बहुनायकविषयक रति' के होने से 'श्रृङ्गाररसाभास' दर्शक हिन्दी महाकवि पद्माकर का एक हिन्दी पद्य—

'यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै;
त्यों 'पद्माकर' एकन के उर में रस बीजनि वै चलै बै चलै।
एकन सौं बतराय कछू छिन एकन कौ मन लै चलै लै चलै;
एकन सौं तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखनि दै चलै दै चलै ॥'

यहाँ नायिका की 'अनेक पुरुषों' में रति व्यक्त हो रही है इसलिए 'श्रृंगार-रसाभास' है ॥ ४८ ॥

भावाभास (ध्वनि) का उदाहरण—

राकेति। पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुखवाली, चञ्चल और विशाल नयनोंवाली, और उभरते नव-यौवन से उद्‌भूत होने वाले हाव-भावों से भरे अंग-प्रत्यङ्ग वाली, 'सीता' के लिए अब मैं क्या करूँ, उसके साथ किस प्रकार से मित्रता का नाता जोड़ूँ, सीता के द्वारा मेरे अपनाये जाने का क्या कोई उपाय संभव हो सकता है ? ॥ ४९ ॥

अत्रेति। यहाँ पर सीता के प्रति 'रावण' की चिन्ता, अनौचित्य प्रवर्तित है। इसलिए यह भावाभास है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी जान लेना चाहिये ॥ ४९ ॥

विशेष विवरण—सीता को उद्देश्य कर 'रावण' कह रहा है। इस पद्य में रावण चिन्ता में डूबा जा रहा है। वह सोच रहा है कि सीता से मित्रता जोड़ने का कौन-सा उपाय हो सकता है ? कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा है। क्या ऐसा कोई उपाय संभव है, जिससे वह मुझे अपना समझने लग जाय।

'क इव' यहाँ पर 'इव' शब्द 'संभावना' अर्थ में है। कोई उपाय संभव नहीं है, यह सूचित किया गया है। यहाँ पर 'चिन्ता' व्यभिचारी भाव का अनुचित रूप में वर्णन किया गया है। क्योंकि—'आदौ वाच्यः स्त्रियो रागः पश्चात् पुंसस्त-

दिङ्गितैः'—यह औचित्य है। कामशास्त्र तथा कवि-सम्प्रदाय के नियमानुसार पहिले स्त्री के अनुराग का वर्णन और बाद में पुरुषानुराग का वर्णन होना चाहिये। किन्तु यहाँ पहले पुरुषानुराग का वर्णन किया गया है। एवं च 'अननुरक्त सीता' में अनुराग प्रदर्शन करना अनुचित है। इसलिए अनौचित्य से 'रति' के प्रवर्तित होने के कारण उसकी व्यभिचारिभावरूप 'चिन्ता' में भी अनौचित्यप्रवर्तितत्त्व कहा गया है। यहाँ पर 'चिन्ता'-रूप व्यभिचारिभाव की प्राधान्येन अभिव्यक्ति होने से उसे (चिन्ता) 'भाव' कहा गया है। उद्योतकार के मत में 'मैत्री कैसे करूँ' यह कहकर मैत्री का लाभ न हो पाने से 'चिन्ता' की अनौचित्य-प्रवर्तिता कही गई है। अतः यह 'भावाभासध्वनि' का उदाहरण है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रस और भावों के आभास-ध्वनि के उदाहरणों को स्वयं देख लेना चाहिये ॥ ४९ ॥

'भावाभास-ध्वनि' के उदाहरण रूप में एक हिन्दी पद्य—

'नृत्यत कैसे हरष ये लै गति परम विचित्र।
कैसें कड़त मृदंग तें महा मधुर धुनि मित्र॥'

यहाँ 'मृदंग की ध्वनि' के विषय में 'चिन्ता' करना अनुचित है। अतः 'चिन्तारूप व्यभिचारिभाव' का आभास मात्र है। इसलिए यहाँ भावाभास है॥ ४९ ॥

ग्रन्थकार ने 'एवमन्येऽप्युदाहार्याः' कहा है। अतः उत्साहवर्धनार्थ अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं।

रौद्ररसाभास-ध्वनि का उदाहरण—

रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तरङ्गो मुहु-
र्मुक्त्वाकर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः।
आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
न्नंसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः॥

यहाँ पर अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर जैसे पूज्य व्यक्ति पर अनुज अर्जुन का क्रोध प्रदर्शन करने के कारण यह रौद्ररसाभास-ध्वनि है।

भावान्तराभास का एक उदाहरण—

'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता, विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे, नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव॥४९॥
(भामिनीविलास)

'रति' की अनुचित प्रवृत्ति करने वाला कोई प्रवासी अपनी 'प्रिया' की स्मृति करते हुए कह रहा है—

सभी विषय भूल-से गये और विद्या भी, जिसकी सेवा मैंने दीर्घ काल तक की थी, वह भी खिन्न होकर मुझे परस्त्री-प्रणयी समझ कर ईर्ष्या से कलुषित-चित्त होकर विमुख हो गई, किन्तु बाल-हरिण के समान नयनों वाली

(भावशान्त्यादिपदानामर्थनिरूपणम्)

(सू०५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणम्—

केवल वह बाला ही हृदय की अधिष्ठात्री देवता के समान बनी बैठी है, वह हृदय से कभी निकलती ही नहीं ॥ ४९ ॥

यहाँ पर 'स्मृति' रूप व्यभिचारिभाव अनुचितविषयक तथा अनुभयनिष्ठ होने से 'भावाभास' है।

भावशान्ति आदि चार-ध्वनि—

ग्रन्थकार मम्मट रस, रसाभास, भाव तथा भावाभास का निरूपण करके अब भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का निरूपण कर रहे हैं—

(सू० ५०) भाव की शान्ति, भाव का उदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को ध्वनि कहते हैं।

विशेष विवरण—पूर्वोक्त असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि के भावशान्ति आदि चार भेद होते हैं।

(१) जब किसी एक भाव की व्यञ्जना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे भाव की व्यञ्जना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे 'भावशान्ति' ध्वनि कहते हैं। अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिये, उसके कार्य कर चुकने के बाद नहीं। क्योंकि उत्पत्ति कालीन भाव-नाश ही रसिकों को चमत्कार का अनुभव कराता है।

(२) जहाँ किसी भाव की शान्ति के अनन्तर किसी कारणवश दूसरे भाव का उदय हो, और उसी में चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' ध्वनि कहलाता है।

(३) जहाँ दो भाव एक-दूसरे से दबे हुए न हों, पर एक दूसरे के दबाने की योग्यता रखते हों ऐसे दो भावों के एक जगह रहने पर भावसन्धि कहलाती है। अर्थात् समान चमत्कार वाले दो भावों की उपस्थिति जहाँ एक ही साथ हो, वहाँ भावसन्धि होती है।

(४) जो भाव परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे के बाधक हों अथवा उदासीन हों ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं।

क्रमेणेति। क्रमशः उनके उदाहरण दे रहे हैं—

(१) भावशान्ति का उदाहरण—

निम्नलिखित पद्य 'अमरुकशतक' से उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पद्य में कोई शठ (धृष्ट) नायक अपनी 'खण्डिता नायिका' की कोपशान्ति का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है।

(भावशान्तेरुदाहरणम्)

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणाऽऽनतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अत्र कोपस्य ।

(भावोदयस्योदाहरणम्)

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥ ५१ ॥

तस्या इति । अरे भाई ! क्या कहूँ जैसे ही मेरी नायिका ने कहा कि—उस सपत्नी के गाढ चन्दन चर्चित कुचों के आलिंगन की छाप (मुद्राकार चिह्न) अभी भी तुम्हारे वक्षस्थल पर उभरी हुई है, वह मेरे पैरों पर झुकने से छिप नहीं जायगी । इस प्रकार कुपित नायिका के कहते ही मैंने 'कहाँ है' ? कहते हुए उसे मिटाने के हेतु सहसैव अपनी 'खण्डिता नायिका' को गाढ आलिंगन के द्वारा अपने बाहुपाश में कस लिया । तब वह आनन्द में मग्न होकर मानो सब भूल ही गई ॥ ५० ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'कोप' रूप व्यभिचारिभाव अपनी प्रशमावस्था में अभिव्यक्त हो रहा है । और उसी से चमत्कार की प्रतीति हो रही है ॥५०॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'तस्याः' कहकर ही सपत्नी का निर्देश किया गया है, उसका नाम निर्देश नहीं किया है, क्योंकि उसके प्रति खण्डिता नायिका के मन में अतिशय असूया है । 'तन्व्या च तद् विस्मृतम्' में 'च'कार के ग्रहण करने से 'आलिंगन' और 'विस्मृति' की एक-कालता बताकर समुच्चयालंकार की सूचना दी गई है । इस पद्य में 'कोपरूप व्यभिचारिभाव की शान्ति' में ही चमत्कार का विश्राम है । क्योंकि नायिका के प्रसाद का उदय रहने पर भी उसके ज्ञापक अनुभाव आदि का कोई उल्लेख नहीं है ॥ ५० ॥

(२) भावोदय का उदाहरण—

एकस्मिन्निति । कोई 'मुग्धा नायिका' अपने नायक के साथ एक ही पलंग पर लेटी हुई अपने नायक के मुख से सपत्नी का नाम सुनते ही तुरन्त रूठ गई । उसे प्रसन्न करने के लिए नायक जब बहुत अनुनय-विनय करने लगा, तब कोपावेश के कारण उसने अपने नायक (प्रियतम) को फटकार दिया । फटकार खाकर नायक

अत्रौत्सुक्यस्य ।

(भावसन्धेरुदाहरणम्)

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥५२॥

एकाएक चुप-चाप (स्तब्ध) हो गया। उसके चुप्पी साधने पर नायिका मन में सोचने लगी कि कहीं मेरा प्रियतम सो तो नहीं गया (मेरे प्रियतम को नींद तो नहीं लग गई), यह जानने के लिए बार-बार गर्दन घुमा-घुमा कर वह अपने प्रियतम की ओर देखने लगी ॥ ५१ ॥

अत्रेति । यहाँ पर सुरत विषयक 'औत्सुक्यरूप' व्यभिचारिभाव की उदयावस्था बताई गई है। इस उदयावस्था की अभिव्यक्ति में ही चमत्कार की पराकाष्ठा है ॥ ५१ ॥

विशेष विवरण—अमरुकशतक से ही यह पद्य लिया गया है। नायक के मुख से अपनी सपत्नी का नाम सुनने मात्र से ही नायिका एकदम रूठ गई है, क्योंकि अभी वह 'मुग्धा' है, उसे अपने 'धैर्य' का अभी परिचय नहीं है। अतएव क्रोधवश होकर उसने नायक को फटकार भी दिया। प्रियतम एकाएक इसलिए चुप हो गया कि वह जानना चाह रहा था कि मेरी प्रिया मेरे साथ ही लेटी हुई है। अतः थोड़ी ही देर में उसका क्रोध दूर हो जायगा और खुश हो जायगी। वास्तव में वह सोया नहीं था। तथापि नायक के तूष्णी भाव के कारण नायिका को यह चिन्ता हो रही थी कि कहीं वह मेरी फटकार पाकर सो न जाय, क्योंकि नायिका में सुरतोत्सव की 'उत्सुकता' वेग से जाग रही थी। इसलिए वह बार-बार गर्दन मोड़-मोड़ कर उसे देखती रहती थी।

यद्यपि यहाँ पर 'कोपशान्ति' भी प्रतीत होती है, तथापि सुरत की 'उत्सुकता' प्रधानतया अभिव्यक्त हो रही है। इसलिए यह उदाहरण 'भावशान्ति' का न होकर 'भावोदय' का ही समझना चाहिये। यद्यपि यहाँ पर 'कोप' रूप व्यभिचारी-भाव की शान्ति लक्षित हो रही है, तथापि उस 'कोप-शान्ति' में चमत्कारकता नहीं है, क्योंकि उसके अनुभावों का उपादान नहीं किया गया है। अतः यह 'भावोदय' का ही उदाहरण है ॥ ५१ ॥

(३) भावसन्धि का उदाहरण—

सीता का आलिंगन करते हुए भगवान् दाशरथी राम की, भगवान् परशुराम के आकस्मिक आगमन पर यह उक्ति है—

उत्सिक्तस्येति । जिनका अहंकार प्रसिद्ध है उन तपोबल और प्रबल पराक्रम-

अत्रावेगहर्षयोः ।

(भावशबलताया उदाहरणम्)

काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥ ५३ ॥

शाली (परशुरामजी) के आगमन से उनके 'सत्संग का प्रेम' और वीरोचित 'उत्साह का आवेग' ये दोनों ही उनकी ओर मुझे आकर्षित कर रहे हैं, तथा दूसरी ओर हरि-चन्दन तथा चन्द्रमा के समान शीतल और स्निग्ध (प्रेम-संवलित) आनन्दप्रद विदेह-राजकन्या सीता का यह आलिङ्गन, विषयान्तरों के ज्ञान से व्यावृत्त-सा करता हुआ (वहाँ जाने से) रोक रहा है। (अर्थात् जानकी का आनन्ददायक आलिङ्गन उनके पास जाने से मानो मुझे रोक रहा है) ॥ ५२ ॥

अत्रेति । इस पद्य में **'आवेग'** और **'हर्ष'** की **सन्धि है** ॥ ५२ ॥

विशेष विवरण—महावीरचरित नाटक के द्वितीय अंक से उक्त पद्य को 'भाव-सन्धि' के उदाहरण रूप में दिया गया है। यहाँ 'च'कार दोनों की तुल्यकालता सूचित कर रहा है। उक्त पद्य के पूर्वार्ध से मुनि **परशुराम के प्रति अत्यधिक आदरबुद्धि** के कारण उनके समीप पहुँचने की **विशेष त्वरा** प्रतीत हो रही है, और उत्तरार्ध से **'हर्ष' की प्रतीति** हो रही है। 'दोनों का आस्वाद' **तुल्यकाल में** ही हो रहा है। इसलिए उत्साहकृत **'आवेग'** और **'हर्ष' दोनों भावों की मिलन रूप सन्धि** यहाँ वर्णित की गई है ॥ ५२ ॥

(४) भावशबलता का उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक से यह पद्य उदाहरण रूप में लिया गया है। **उर्वशी** को देखकर **पुरूरवा** कह रहा है—

काकार्यमिति । (१) कहाँ, मुनि-कन्या में आसक्ति (प्रेम) रूप अनुचित कार्य, और कहाँ चन्द्रमा का वंश, (**तर्क**), (२) क्या पुनः वह अद्भुत सौन्दर्यशालिनी उर्वशी दृष्टिगोचर होगी ? (**औत्सुक्य**), (३) मैंने प्रमाद-आवेश आदि दोषों के आत्यन्तिक नाश के लिए ही शास्त्राध्ययन किया है; (**मति**), (४) क्रोध में भी उसका मुख कैसा मनोहर प्रतीत होता था; (**स्मरण**), (५) (मेरे इस आचरण से) विद्वान् एवं सदाचारी लोग मेरे प्रति क्या सोचेंगे ? (**शंका**), (६) अब तो स्वप्न में भी उसका समागम होना दुर्लभ है; (**दैन्य**), (७) अरे मन ! स्वस्थ हो जा, अर्थात् धैर्य रख; (**धृति**), (८) नहीं मालूम; वह कौन-सा युवा पुरुष धन्य है, जो उसके अधरा-मृत का पान करेगा, (**चिन्ता**) ॥ ५३ ॥

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

अत्रेति । यहाँ (१) वितर्क, (२) औत्सुक्य, (३) मति, (४) स्मरण, (५) शंका, (६) दैन्य, (७) धृति, (८) चिन्ता इन आठ व्यभिचारिभावों का योग होने से, उन भावों की **'शबलता' बताई गई है** ॥ ५३ ॥

विशेष विवरण--इस पद्य में आठ व्यभिचारिभावों का सम्मिश्रण उपलब्ध है। इसलिए यह **भावशबलता** का उदाहरण है। इस पद्य में **पूर्व-पूर्व भाव** का उपमर्द करके दूसरा-दूसरा भाव उठा है। जैसे—**'काऽकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलम्'** में व्यङ्ग्य—**वितर्क** है। **'भूयोपि दृश्येत सा'** में व्यङ्ग्य—**औत्सुक्य** है। **'दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो'** में व्यङ्ग्य–**मति** है। **'कोपेऽपि कान्तं मुखम्'** में व्यङ्ग्य—**स्मरण** है। **'किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः'** में व्यङ्ग्य—**शंका** है। **'स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा'** में व्यङ्ग्य—**दैन्य** है। **'चेतः स्वास्थ्यमुपैहि'** में व्यङ्ग्य – **धृति** है। और अन्त में **'कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति'** में व्यङ्ग्य—**चिन्ता** है। ये सब भाव, पूर्व-पूर्व का उपमर्द करके उपस्थित हुए हैं। इन भावों की शबलता की प्रतीति में रसिकों को रसास्वाद का अनुभव होता है। प्रथम चरण में दो बार **'क'** का उपादान करने से **ज्ञानद्वय** का सहानवस्थान बताया है। उससे **अत्यन्त अनौचित्य** व्यक्त किया गया है। अथवा दोनों का **अत्यन्त वैधर्म्य होने से 'विषमालंकार' ध्वनित किया** जा रहा है। यहाँ पर **'पूर्व-पूर्वभाव' का उत्तरोत्तर भाव से उपमर्द** किया गया है ॥ ५३ ॥

इस विषय में ध्वन्यालोक की दृष्टि—

उपर्युक्त पद्य को **ध्वन्यालोक** के तीसरे उद्योत में **आनन्दवर्धन** ने दिया है। उन्होंने विरोधी रसांगों की बाध्यता प्रदर्शित करने के लिए इसे प्रस्तुत किया है। इसमें **समसंख्या वाले चार व्यभिचारिभाव** ((२) औत्सुक्य; (४) स्मरण, (६) दैन्य, (८) चिन्ता) **श्रृङ्गार रस** के हैं। और **विषम संख्या वाले चार व्यभिचारिभाव** ((१) वितर्क, (३) मति, (५) शंका, (७) धृति) **शान्तरस** के हैं। इस प्रकार एक ही पद्य में **दो विरोधी** (शान्त और श्रृंगार) रसों का वर्णन उपलब्ध हो रहा है। किन्तु दो विरोधी रसों का **एक आलम्बन** तथा **नैरन्तर्य** (अव्यवधानेन स्थिति) न होने का नियम है। इस पद्य में दोनों विरोधी रसों का **आलम्बन भी एक है** एवं **नैरन्तर्य** भी है। अतः **दोनों का एक साथ सन्निवेश करना उचित नहीं है** ।

उक्त आक्षेप के समाधान में आनन्दवर्धन कहते हैं कि **विरोधी रसों के अंगों का 'वाच्यत्वेन' वर्णन करने पर दोष नहीं रहता** । इसे बताने के लिए ही उक्त पद्य को उदाहरण रूप में उन्होंने दिया है। इस पद्य में **'शान्तरस' के व्यभिचारि-**

भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च ।

(भावशान्त्यादीनामपि क्वचित् प्राधान्यम्)

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥

भावों का 'शृङ्गार रस' के व्यभिचारिभावों से बाध दिखाया गया है। एवं च विरोधी रसांगों का बाध्यत्वेन सन्निवेश होने से यहाँ कोई दोष नहीं है। इस पद्य में पार्यन्तिक चिन्ता के द्वारा 'शान्त' का उपमर्द कर 'शृङ्गार' में पर्यवसान हुआ है। वही शत्रुविजयपूर्वक राज्यप्राप्ति के तुल्य प्रकर्ष का निदान है।

श्रीवत्सलाञ्छन, कमलाकर, वैद्यनाथ, भीमसेन आदि कुछ व्याख्याकारों ने उक्त पद्य को **शुक्राचार्य की कन्या** को देखने पर **राजा ययाति** की उक्ति के रूप में बताया है।

शंका—भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता आदि सबके उदाहरण दिये। उसी प्रकार **'भाव-स्थिति'** का भी उदाहरण क्यों नहीं दिया ?

समाधान—'भावस्थिति'रिति। 'भावस्थिति' को तो **'व्यभिचारी तथाञ्जितः'** से (सू० ४८ वें में) बता चुके हैं। और चतुर्थ उल्लास के ४५ वें श्लोक द्वारा उसका उदाहरण **'जाने कोपपराङ्मुखी'** भी दे चुके हैं। **अभिप्राय** यह है—**'प्रशमादि चार अवस्थाओं'** से रहित **'भाव'** को ही **'भावस्थिति'** कहते हैं।

शंका—अभी तक 'रस', 'रसाभास', 'भाव', 'भावाभास' तथा 'भावशान्ति', 'भावोदय', 'भावसन्धि', 'भावशबलता' और 'भावस्थिति' को बताया गया। **सर्वत्र एकघन रसास्वाद की ही उपलब्धि हो रही है। तब उन्हें 'रसध्वनि'** ही क्यों नहीं कहते ?

समाधान—उसके समाधान में यह कहेंगे कि कहीं **'मुख्य रस'** के रहते हुए भी उन **'भावशान्ति'** आदि की **प्रधानता** हो जाती है। अर्थात् 'रस' का मुख्यतया चमत्कार रहने पर भी कभी-कभी 'भावकाव्य' में भी **'भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता'** आदि का एक विशेष चमत्कार अनुभूत होता है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव वहाँ **'रसास्वाद' के साथ-साथ उसके 'अंगभूत व्यभिचारिभावों' का चमत्कारपूर्ण आस्वाद होने से उन्हें 'रसध्वनि' न कहकर 'भावध्वनि' ही कहा जाता है।** निष्कर्ष यह है कि वस्तुतः सर्वत्र **'रस'** तो मुख्य है ही, किन्तु कवि के विवक्षा-वैचित्र्य के कारण कभी-कभी 'रस' के अंगभूत **'व्यभिचारिभाव'** भी इतने विचित्र रूप से अभिव्यङ्ग्य हो उठते हैं कि उन्हें 'अंगभूत' न मानकर 'अंगी' ही मानना पड़ता है। उस दशा में उन सब को **'रसवदलंकार'** कहा जाता है।

(सू० ५१) मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कहीं-कहीं वे **'भावशान्ति आदि'** प्रधानता (अंगित्व) को प्राप्त कर लेते हैं।

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।

ते भावशान्त्यादय इति। कारिका के 'मुख्ये रसेऽपि ते' अंश में 'ते' का अभिप्राय 'भावशान्ति आदि' से है। वे 'भावशान्ति आदि' राजा से अनुगत बिवाह के लिए 'वर' के रूप में जाते हुए भृत्य (नौकर) के समान 'प्रधानता' (अंगित्व) को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेष विवरण—तात्पर्य यह है कि राजा के अनुग्रहपात्र भृत्य के विवाह की बरात में सम्मिलित होने वाले 'राजा' की उस समय प्रधानता न होकर भृत्य की ही आपाततः प्रधानता मानी जाती है। उसी प्रकार जहाँ विभाव आदि से व्यक्त हुए 'स्थायिभाव' के उद्रेक से आस्वाद प्राप्त होता है। वहाँ तो 'रस या रसध्वनि' होती है, क्योंकि वहाँ 'रस' की प्रधानता रहती है। और जहाँ अपने 'अनुभावों' द्वारा व्यक्त हुए 'व्यभिचारिभावों' के उद्रेक से आस्वाद होता है, वहाँ 'भावध्वनि' होती है। क्योंकि वहाँ 'भाव' की प्रधानता रहती है। उसी प्रकार जहाँ 'वस्तु' या 'अलङ्कार' की प्रधानता होती है, वहाँ 'वस्तुध्वनि' और 'अलङ्कारध्वनि' मानी जाती है। इसे समझाने के लिए 'राजानुगतभृत्य' का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि थोड़ी-सी देर के लिए 'भृत्य' की 'प्रधानता' आपाततः यद्यपि प्रतीत होती है, तथापि 'वास्तविक प्रधानता' तो राजा की ही रहती है। उसी प्रकार 'रस' के संपर्क से भावशान्ति आदि की 'आपाततः प्रधानता' रहती हुई भी अन्तिम (पार्यन्तिक) प्रधानता तो 'रस' की ही रहती है। भृत्य की बरात में उपस्थित हुआ राजा, 'वर' के पीछे खड़ा दिखाई देता है, किन्तु उसके सम्पर्क से 'वर' की शोभा अधिक बढ़ जाती है, वैसे ही 'रस' भी अपने अंगभूत 'व्यभिचारिभाव' की अभिव्यक्ति को उत्कट कर देता है। अर्थात् 'रस' के संपर्क से उद्भट हुए 'भावशान्ति' आदि की 'चमत्कारकता' आपाततः ही हुआ करती है, किन्तु पार्यन्तिक चमत्कारकता तो 'रस' की ही समझनी चाहिये। जैसे हाथी, घोड़े, रथ आदि से सुशोभित हुआ 'भृत्य' आपाततः प्रेक्षकों को विस्मित करा देता है, किन्तु जब प्रेक्षक लोग 'राजा' को देख लेते हैं, तब सब लोग समझ जाते हैं कि इस भृत्य पर राजा का परम अनुग्रह है, जिसके फलस्वरूप उसने भृत्य को इस प्रकार के ऐश्वर्य से सुशोभित कर वह उसका विवाह करा रहा है। इस रीति से 'राजा' के उत्कर्ष में ही पर्यवसान होता है।

चतुर्थ उल्लास से अभीतक निरूपित अंश का सिंहावलोकन—

यहाँ तक 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि का निरूपण किया गया। इस चौथे उल्लास में 'ध्वनि' का निरूपण आरंभ किया था। उसमें प्रथमतः 'ध्वनि' के दो भेद किये थे—(१) अविवक्षितवाच्य-ध्वनि (लक्षणामूलकध्वनि) और (२)

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि-विभागनिरूपणम्)

(सू०५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥

(तस्य भेदत्रयम्—१ शब्दशक्त्युद्भवः, २ अर्थशक्त्युद्भवः, ३ शब्दार्थशक्त्युद्भवः)

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि (अभिधामूलकध्वनि)। उनमें से '**अविवक्षितवाच्य**-(लक्षणामूलक) ध्वनि के (१) '**अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य**' और (२) '**अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य**' ये दो भेद किये गये। उसी प्रकार '**विवक्षितान्यपरवाच्य**' (अभिधामूलक) ध्वनि के (१) '**असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य**' और (२) '**संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य**'—ये दो भेद बताये थे।

उनमें से '**रसादिध्वनि**' को **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य** कहते हैं। '**रसादि**' कहने का तात्पर्य '**रस**' और उसके समान, विशेष रूप से आस्वाद योग्य, जैसे—(२) रसाभास, (३) भाव, (४) भावाभास, (५) भावशान्ति, (६) भावोदय, (७) भावसन्धि और (८) भावशबलता—ये सब '**असंलक्ष्यक्रमध्वनि**' के अन्तर्गत आते हैं। इस कारण इन सभी का निरूपण अभी तक किया गया।

अब '**अभिधामूलक-विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि**' का जो दूसरा भेद '**लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः**'—(सू० ४१) से '**संलक्ष्यक्रमध्वनि**' नाम का बताया था, उसके भेदों को ग्रन्थकार बतावेंगे।

'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' का दूसरा नाम '**अनुस्वानाभध्वनि**' भी है। इस '**संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि**' (अनुस्वानाभध्वनि) के **तीन मुख्य भेद हैं**—(१) **शब्दशक्त्युत्थ**, (२) **अर्थशक्त्युत्थ**, और (३) **उभयशक्त्युत्थ**। उनमें भी 'शब्दशक्त्युत्थ' के दो भेद, 'अर्थशक्त्युत्थ' के बारह भेद और 'उभयशक्त्युत्थ' का केवल एक भेद होता है। कुल मिलाकर '**संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि**' के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि और उसके मुख्य तीन भेद—

(सू० ५२) अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो '**अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि भेद**' है, वह (१) **शब्दशक्त्युत्थ**, (२) **अर्थशक्त्युत्थ** और (३) **उभयशक्त्युत्थ** होने से तीन प्रकार का कहा गया है ॥३७½॥

शब्दशक्तीत्यादि । (१) **शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप** (संलक्ष्यक्रम)

(तदवान्तरभेदाः)

तत्र—

(शब्दशक्त्युद्भवध्वनेर्भेदनिरूपणम्)

(१. शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनिः, २. शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिः ।)

(सू०५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ ३८ ॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥

वस्त्वेवेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

व्यङ्ग्य, इसमें शाब्दी व्यञ्जना, अनुरणन के समान व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराती है। (२) अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप (संलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्य, इसमें आर्थी व्यञ्जना, अनुरणन के समान व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराती है। और (३) 'उभयशक्तिमूल अनुरणनरूप (संलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्य, इसमें शाब्दी और आर्थी दोनों व्यञ्जनायें अनुरणन के समान व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराती हैं। इस प्रकार से 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' तीन प्रकार का होता है। इन भेदों के भी अवान्तर भेद हुआ करते हैं।

तत्रेति । उनमें से—

शब्दशक्त्युत्थध्वनि के दो भेद—

(सू० ५३) जहाँ पर **'शब्द' से वस्तु या अलङ्कार** की प्रधान रूप से प्रतीति होती है, वहाँ पर वह 'शब्दशक्त्युत्थध्वनि' क्रमशः **वस्तुध्वनि** तथा **अलङ्कारध्वनि** नाम से कहा जाता है ॥ ३८ ॥

शंका—'वस्तुत्व' के **केवलान्वयी** होने से अलङ्कार (अलंकृत अर्थं) भी 'वस्तु' (अर्थवस्तु) ही है, तब **वस्तु और अलंकार को भिन्न कैसे** कहा जाय ?

समाधान—वस्त्वेवेति । 'वस्त्वेव' कहने से **अलंकाररहित केवल वस्तु** का ही ग्रहण होता है। अर्थात् गोबलीवर्दन्याय से वस्तु और अलंकार की भिन्नता समझनी चाहिये। अर्थात् 'अलङ्काररूप अर्थ' और 'अलङ्काररहित अर्थ' को पृथक् करने के लिए **अलङ्काररूप अर्थ** को **'अलङ्कार'** और **अलङ्काररहित अर्थ** को **'वस्तुमात्र'** समझना चाहिये।

विशेष विवरण—उनमें से पहिला **अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण,** जैसे—आगे दिये जाने वाले उदाहरणरूप **'उल्लास्यकाल०'** श्लोक, जो किसी राजा की स्तुति में लिखा गया है। इसमें कवि ने **'राजा'** की **'इन्द्र' के साथ तुलना** की है। **'इन्द्र'** जैसे मेघों का उदय कर उनके द्वारा जलधाराओं से दावानल के रूप में वनों में प्रज्वलित अग्नि को बुझा देता है, उसी प्रकार उस राजा ने अपने 'काल' अर्थात्

(उपमालंकारध्वनेरुदाहरणम्)

उल्लास्य कालकरवालमुखाम्बुवाहं देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥५४॥

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

काली रश्मियों वाली अथवा कालायसलोह अर्थात् फौलाद से बनी हुई अथवा कालरूप **करवाल** (तलवार) **रूप अम्बुवाह** (मेघ) को [अम्बुवाह शब्द का यौगिक अर्थ पानी को वहन करने वाला होता है, तलवार में भी एक प्रकार का 'पानी' हुआ करता है, **पानी** के **चढ़ाने** से ही वह पैनी कहलाती है। इसलिए पानीदार तलवार की मेघ के साथ उपमा भी उचित लग रही है। इस प्रकार अपने करवालरूप महान् अम्बुवाह को] **उठाकर** कठोर एवं उच्चतर गर्जना करने वाले **राजा ने संसार में शत्रुओं के प्रदीप्त प्रताप को बुझा दिया है।** इस प्रकार से कवि ने राजा का वर्णन किया है।

(१) शब्दशक्तिमूलक अलङ्कारध्वनि—

उल्लास्येति। कठोर एवं उच्चतर गर्जना करने वाले जिस (इन्द्रदेवसदृश) आपने कालरूप महान् (पानीदार) **तलवार को उठाकर** तीनों लोकों में **शत्रुओं के प्रदीप्त** हुए सम्पूर्ण **प्रताप को** ही अपनी तलवार के धारा-जल से **रणभूमि में ही बुझा दिया** ॥ ५४ ॥

यह प्राकरणिक अर्थ है। और **अप्राकरणिक 'इन्द्र' के पक्ष में** उसी श्लोक का अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है—

भयङ्कर घनगर्जना करने वाले जिस **मेघराज इन्द्र ने** वर्षासूचक नये-नये मेघाडम्बर उत्पन्न **करके** उनकी **मूसलाधार वृष्टि से** भीषण निनाद के बीच **जल के शत्रु सूर्य के प्रखर समस्त ताप को सहसा शान्त कर दिया** ॥ ५४ ॥

यह है अप्राकरणिक अर्थ। यह (अर्थ) **'शब्द की व्यञ्जकता'** के प्रभाव **से निकल रहा है।**

अत्र वाक्यस्येति। यहाँ (इन्द्र-पक्ष तथा राज-पक्ष में) यानी **अप्राकरणिक** और **प्राकरणिक** अर्थ में वाक्य की असम्बद्धार्थकता न हो जाय, इसलिए प्राकरणिक (राजपक्ष) और अप्राकरणिक (इन्द्रपक्ष) के **उपमान-उपमेयभाव** की कल्पना की गई है। अतः यहाँ **'उपमालङ्कार' व्यङ्ग्य है।**

विशेष विवरण—शंका—'प्राकरणिक' और 'अप्राकरणिक' अर्थात् राजपक्ष और **इन्द्रपक्ष** दोनों अर्थों में परस्पर कोई संबन्ध नहीं है यानी **दोनों अर्थ स्वतन्त्र** हैं। दोनों अर्थों को कहने पर वाक्यभेद हो जायगा।

समाधान—उक्त शंका के समाधानार्थं **'अत्र वाक्यस्य'**-इस वृत्तिग्रन्थ को लिखा गया है। **'करवालमुल्लास्य'** इतना कहना ही पर्याप्त था अर्थात् प्रकृत राजप्रतापवर्णनरूप प्राकरणिक (वाच्य) अर्थ सम्पन्न हो ही रहा है, तब **'काल'** **विशेषण का प्रयोग निरर्थक** ही कहना होगा। इस प्रकार **वाक्य में असम्बद्धार्थकता न हो,** इसलिए **प्राकरणिक** (राजप्रतापविषयक वाच्यार्थं) और **अप्राकरणिक** (इन्द्रप्रतापविषयक व्यंग्यार्थं) दोनों अर्थों में **'उपमानोपमेय भाव'** (सादृश्याख्य संबन्ध) का निश्चय करना पड़ता है। क्योंकि दोनों में परस्पर साधर्म्यं (परस्पर औपम्य) है। इसलिए **'इन्द्र' वारिवाह' आदि अप्राकरणिक** (**व्यङ्ग्य**) अर्थ के साथ **'राजा, करवाल आदि प्राकरणिक (वाच्य)** अर्थ की **'उपमानोपमेयभाव' संगति** निश्चित है। अतः स्पष्ट होता है कि कवि का **तात्पर्य** (विवक्षा) **'उपमानोपमेयभाव' को प्रकट करने में है।** इसलिए यहाँ पर **'उपमालंकार' व्यङ्ग्य** है। और उसीका (उपमालंकाररूप व्यंग्यार्थं का) यहाँ चमत्कार है। यह 'अलंकाररूप व्यंग्यार्थं' यहाँ **शाब्दी-व्यंजना-मूलक** है। क्योंकि उक्त पद्य में **'देवेन'** आदि पदों (शब्दों) **के स्थान पर 'नृपेण'** आदि पदों (शब्दों) का प्रयोग **करने पर प्रतीयमान 'व्यंग्यार्थ' नहीं निकल पायेगा।** क्योंकि **शब्दशक्तिमूल**-(शब्दशक्ति से उत्पन्न) होने से ही **'अलंकार ध्वनि'** (अलंकाररूप व्यंग्यार्थं) **चमत्कार को पैदा कर पाता है।** इसमें 'शब्द' की महिमा का ही वैभव है। इस ध्वनि का क्षेत्र वहीं पर होता है, जहाँ **'एक अर्थ' प्राकरणिक** होता है, किन्तु जहाँ **'दोनों ही अर्थों'** की **प्राकरणिकता** का कोई नियम न हो वहाँ **'श्लेष'** होता है॥ ५४॥

विरोधाभास अलङ्कार के दो उदाहरण—

विशेष विवरण—इसी तरह अन्य-अन्य अलंकार भी व्यङ्ग्य हो सकते हैं, यह बताने के लिए **'विरोधाभास' अलंकार के दो उदाहरण** दे रहे हैं। दिये जाने वाले **'सभङ्गपदमूलक विरोधाभास ध्वनि'** के उदाहरण रूप **'तिग्मरुचिः'** श्लोक में 'तिग्मरुचिः' अर्थात् 'सूर्य' और 'अप्रतापः' अर्थात् **'प्रतापरहित'**-ये दोनों **विरोधी** विशेषण हैं।

किन्तु जब 'तिग्मरुचिरप्रताप' का इस प्रकार हम अर्थ करते हैं कि **'दुष्ट शत्रुओं के लिए 'तिग्म'** अर्थात् प्रखर-प्रताप वाले, और **'सज्जन मित्रों के लिए 'रुचिर'** अर्थात् मनोहर-प्रताप वाले राजा,—तब **विरोध दूर हो जाता है।**

उसी तरह **'विधुरनिशाकृत्'** में **'विधुः'** का अर्थ **'चन्द्र'** है। चन्द्र को **निशाकृत्** या निशाकर भी कहते हैं। परन्तु यहाँ पर कवि ने उस **'विधु'** (चन्द्र) को **'अनिशाकृत्' कह दिया है। अतः विरोध प्रतीत हो रहा है।**

(विरोधाभासस्य उदाहरणम्)

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो ! मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥ ५५ ॥

किन्तु जब हम **'विधुरनिशाकृत्'** का अर्थ करते हैं कि **'विधुरों'** अर्थात् **शत्रुओं का 'निशाकृत्'** अर्थात् निशा के समान नाश करने वाला राजा—तब **विरोध दूर हो जाता है।**

उसी प्रकार **'मधुरलीलः'** में **'अलीलः'** का अर्थ **'लीलारहित'** और **'मधुः'** का अर्थ **'वसन्त'** करने पर विरोध उपस्थित होता है।

किन्तु **'मधुर'** का अर्थ आनन्ददायक **'लीला'** अर्थात् **चेष्टाओं** से युक्त राजा—यह अर्थ करने पर विरोध दूर हो जाता है।

उसी प्रकार **'मतिमान् अतत्त्ववृत्तिः'** का अर्थ—**बुद्धिमान् होने पर भी 'तत्त्व' को न समझने वाला,**—करने पर **विरोध की प्रतीति** होती है।

किन्तु 'मति' का अर्थ प्रतिभा और **'मान'** का अर्थ **प्रमाण** करके, उससे **'तत्त्ववृत्तिः'** का अर्थ—**'निर्णय करने वाला राजा'** – करने पर विरोध **दूर हो जाता है।**

उसी प्रकार **'प्रतिपदपक्षाग्रणीः'** में **'प्रतिपद्'** का अर्थ **प्रतिपदा तिथि** और **'अपक्षाग्रणीः'** का अर्थ—**शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष का पहिला दिन न होना—** करने पर परस्पर **विरोध उपस्थित** होता है।

किन्तु 'प्रतिपद' का अर्थ प्रत्येक स्थान पर, और **'पक्ष'** का अर्थ अपने **पक्ष के लोगों** का, तथा **'अग्रणीः'** का अर्थ **नेता,** करने पर उक्त **विरोध दूर हो जाता है।**

इस पद्य के **विरोध-परिहार पक्ष में 'राजा' का वर्णन** है, जो **प्रस्तुत अर्थ है।** और **विरोध पक्ष में सूर्यपरक अर्थ** है, जिससे **विरोधाभास** ध्वनित होता है। यहाँ **'प्रकरण' के बल पर** 'अविरुद्ध राजविषयक' अर्थ में **'अभिधा'** नियन्त्रित हो गई है, किन्तु **'शब्द की व्यंजकता के कारण 'विरोधाभासरूप अर्थ'** (**अलङ्काररूप अर्थ**) प्रतीत हो ही जाता है।

उपर्युक्त भूमिका के पढ़ने से **'तिग्मरुचिरप्रतापो'** पद्य का अर्थ समझने में सरलता का अनुभव होगा।

सभङ्गपदमूलक विरोधाभास-अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण—

(१) तिग्मरुचिरेति। (**तिग्म-रुचिर-प्रतापः**) (शत्रुओं के प्रति) तीव्र, तथा (मित्रों के प्रति) मनोहर प्रतापवाले, (**विधुर**) शत्रुओं के (**निशाकृत्**) संहारकर्ता, (**मधुर-लीलः**) मधुर चेष्टाओं वाले, (**मति-मान-तत्त्ववृत्तिः**)

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

(विरोधाभासस्य उदाहरणान्तरम्)

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो !
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ५६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

प्रतिभा तथा प्रमाणों से तत्त्व का निश्चय करने वाले, (प्रतिपद्-पक्ष-अग्रणीः) प्रत्येक स्थान पर अपने लोगों का नेतृत्व करने वाले (विभो) हे प्रभो ! राजन् ! (विभाति) आप अत्यन्त सुशोभित होते हैं ॥ ५५ ॥

अत्रैकैकस्येति । यहाँ पर (तिग्मरुचिरप्रतापः इत्यादि) एक-एक पद के विच्छेद (खण्ड) करने पर 'तिग्मरुचिः, अप्रतापः' – इस प्रकार दो-दो पद बना देने पर विरोध जैसा प्रतीत होने लगता है, इसलिए 'विरोधाभास' अलङ्कार प्राधान्येन व्यङ्ग्य होता है । इस उदाहरण में सभङ्गपदमूलक विरोधाभास-ध्वनि को प्रदर्शित किया है ॥ ५५ ॥

इसी प्रकार 'अभङ्गपदमूलक विरोधाभास अलङ्कार ध्वनि' का एक अन्य उदाहरण दे रहे हैं ।

(२) अमित इति । हे हर्षदायक राजन् ! (आप) (समितः) युद्ध से प्राप्त हुए उत्कर्षों से (अमितः) अपरिमित ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, (असतां) दुष्टों के (अहितः) शत्रु हैं, फिर भी (साधुयशोभिः सहितः) उत्कृष्ट कीर्ति से युक्त हैं ॥ ५६ ॥

अत्रापीति । यहाँ भी (अमितः और समितः पदों में तथा अहितः और सहितः पदों में) विरोधाभास व्यङ्ग्य है ।

विशेष विवरण—यह उदाहरण 'अभंगपदमूलक-विरोधाभास-ध्वनि' का दिया गया है । इस पद्य का अर्थ, 'राजा की स्तुति' है, यही प्रस्तुत अर्थ (प्राकरणिक अर्थ) है । इस प्रस्तुत (प्राकरणिक) अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर भी शाब्दिक व्यञ्जना के प्रभाव से दूसरा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) अथ भी निकलता है, जैसे—जो 'अमित' यानी अपरिमित हो वह 'समित' यानी परिमित कैसे हो सकता है ? जो 'अहित' यानी हितरहित हो वह 'सहित' यानी हितसहित कैसे हो सकता है ?—यह अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) अर्थ यानी विरोधाभास अलंकाररूप अर्थ, 'पदों' का भंग बिना किये ही तथा विरोधवाचक 'अपि' आदि किसी पद के प्रयोग बिना किये ही प्रतीत हो जाता है । जिससे आपाततः विरोध प्रतीत होता है ।

किन्तु उसके परिहारार्थ 'समित्' का अर्थ 'युद्ध' किया जाता है । 'समितः'

(व्यतिरेकालंकारस्य उदाहरणम्)

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ ५७ ॥

अत्र व्यतिरेकः ।

यह पञ्चमी विभक्ति का रूप है। इसलिए **'समितः'** अर्थात् **युद्ध से** अर्जित **'अमितः'** अर्थात् **उत्कर्ष-सम्पन्न,** यह अर्थ कर देने पर **'अमितः और समितः'** में आपाततः **प्रतीयमान होने वाला विरोध दूर हो जाता है।** उसी तरह **'साधुयशोभिः सहितः एवं असताम् अहितः असि'** ऐसा अन्वय करने पर **'अहितः-सहितः'** के विरोध का भी परिहार हो जाता है। यहाँ पर विरोधाभास अलंकार व्यंग्य होने से और उसी की प्रधानता कवि को विवक्षित होने से यह अलंकार ध्वनि का उदाहरण है।

अलङ्कार ध्वनि के तीन उदाहरणों के बाद उसी का एक और **चौथा उदाहरण** दे रहे हैं।

शब्दशक्त्युत्थ व्यतिरेकालङ्कारध्वनि का उदाहरण—

निरुपादानेति। तूलिका आदि चित्रनिर्माण के उपकरण-सम्पत्ति के बिना और आधार भित्ति के बिना भी यानी शून्य में ही नाना आकारवाले जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले उस 'कलाश्लाघ्य' (चन्द्रशेखर), उन 'शूली' (त्रिशूलधारी) शिव को प्रणाम है ॥ ५७ ॥ यह प्राकरणिक (प्रस्तुत) अर्थ है।

अत्रेति। यहाँ व्यतिरेकालंकारध्वनि का ही चमत्कार है। क्योंकि उपर्युक्त प्राकरणिक (प्रस्तुत) अर्थ का यद्यपि अभिधा ने नियन्त्रण कर दिया है, तथापि **शाब्दिक व्यञ्जना के प्रभाव से** एक अन्य अर्थ भी प्रतीत हो जाता है कि **'भगवान् शिव ऐसे विलक्षण चित्रकार हैं, जो बिना चित्रफलक और बिना तूलिका आदि सामग्री के ही इस जगच्चित्र का निर्माण करते हैं।'** इस अर्थ में शाब्दिक व्यञ्जना के प्रभाव से **'चित्र'** और **'कला'** शब्द से आलेख्य और उसके प्रावीण्य (कौशल) की प्रतीति होती है, उससे मषी-तूलिका-भित्ति आदि चित्रकारी-सामग्री की सहायता से चित्र बनाने वाले चित्रकारों की **अपेक्षा शूली शिव का उत्कर्ष प्रतीत हो रहा है।** एवं च उपमानभूत जो अन्य चित्रकार हैं उनसे उपमेयभूत शिवजी का उत्कर्ष व्यतिरेक अलंकार के द्वारा बताया गया है। **अतः यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' व्यंग्य है। यहाँ 'चित्र' और 'कला' शब्दों के स्थान पर यदि उनके पर्याय शब्दों को रख** दिया जाय तो **व्यतिरेकालङ्कारव्यङ्ग्य नहीं हो** पायेगा। प्रयुक्त शब्दों की महिमा से ही उक्त अलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है। प्रयुक्त किये गये **दोनों शब्द, अपनी परिवृत्त्यसहता के कारण ही उक्त व्यतिरेक**

अलङ्कार्यस्यापि 'ब्राह्मणश्रमण'न्यायेनालङ्कारता ।

वस्तुमात्रं—

(वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअ पओहरं पेक्खिउण जइ वससि ता वससु ॥ ५८ ॥
(पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ॥ ५८ ॥)

अलंकार को व्यञ्जित कर पा रहे हैं । अतः यहाँ पर यह व्यंग्य व्यतिरेकालंकार, 'शब्दशक्तिमूलक' समझा जा रहा है । 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः'—यह व्यतिरेकालंकार का लक्षण है । उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों का आधिक्य बताये जाने पर व्यतिरेकालंकार होता है ।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने अलङ्कार ध्वनि के चार उदाहरण प्रदर्शित किये हैं ।

शंका—पहले बताया जा चुका है कि व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) की सर्वदा प्रधानता हुआ करती है, और जिसकी प्रधानता रहती है, उसे 'अलंकार्य' कहा जाता है । ऐसी स्थिति में अभी तक के उदाहरणों में स्थित उपमा आदि व्यङ्ग्यों की प्रधानता होने से उन्हें 'अलंकार्य' कहना चाहिये । तथापि उन्हें 'अलंकार' क्यों कहा गया है ? एक ओर 'व्यङ्ग्य' (ध्वनि) कहा जा रहा है तो दूसरी ओर उसे 'अलंकार' भी कहा जा रहा है यह तो वदतो व्याघात है ।

समाधान—अलङ्कार्यस्यापीति । व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनिरूप अर्थ) अलङ्काररूप नहीं हुआ करता, वह तो सर्वदा 'अलङ्कार्य' ही होता है—यह कथन नितान्त सत्य है, तथापि 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय' से उसे (व्यङ्ग्यार्थ को) 'अलङ्कार' कहा जा सकता है ।

ब्राह्मणश्रमणन्याय का स्वरूप इस प्रकार है—कोई ब्राह्मण, बौद्धभिक्षु बन जाता है, तब अशास्त्रीय विधि से शिखा-सूत्र, नित्यकर्म आदि का परित्याग करने के कारण उसका ब्राह्मणत्व नहीं रहता है, फिर भी 'भूतपूर्वन्याय' से अर्थात् पहले कभी ब्राह्मण था, अतः उस भिक्षुवेष में भी उसे ब्राह्मणभिक्षु (श्रमण) कह देते हैं । इस व्यवहार को गौण (औपचारिक) व्यवहार कहते हैं । उसी तरह जब कोई अलंकार व्यङ्ग्य हो जाने के कारण प्रधान होने से 'अलङ्कार्य' हो जाता है, फिर भी ब्राह्मणश्रमणन्याय से अथवा भूतपूर्वगति से उसको 'अलङ्कार' भी कह सकते हैं । इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार कह रहे हैं—

अलङ्कार्यस्यापीति । अलङ्कारध्वनि के दिये गये उदाहरणों में अलङ्कारों के व्यङ्ग्य होने से वे प्रधान हो गये हैं, अतः वे अलङ्कार्य हैं फिर भी ब्राह्मण-

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

(वस्तुध्वनेरुदाहरणान्तरम्)

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥ ५९ ॥

श्रमणन्याय से उनमें अलङ्कारता की प्रत्यभिज्ञा हो ही जाती है। अर्थात् व्यङ्ग्यता की दशा में अलङ्कारत्व के न रहने पर भी वाच्यता की दशा में विद्यमान अलङ्कारत्व को लेकर 'अलंकारत्व' का व्यवहार (व्यपदेश) किया गया है।

अलङ्कारध्वनि के चार उदाहरणों को देकर अब वस्तुध्वनि के दो उदाहरणों को दिया जा रहा है।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि के दो उदाहरण—

'वस्तु' मात्र व्यङ्ग्य का उदाहरण जैसे—कोई दूती है, वह स्वयं दो अर्थों वाले शब्दों का प्रयोग करती हुई प्रच्छन्न रीति से रहस्य की बात किसी पथिक से कह दे रही है। क्योंकि यह कामशास्त्र का नियम है—"द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु"।

पथिकेति। हे पथिक ! इस पथरीले गाँव में रात को सोने के लिए जरा-सी चटाई भी बिछाने के लिए नहीं होगी। (क्योंकि भूमि यहाँ की पथरीली है, इस भूमि में तृण आदि कुछ पैदा ही नहीं होता इसलिए यह ग्राम तुम्हारे ठहरने योग्य तो नहीं है) तथापि उमड़ते हुए मेघों को देखकर रहना चाहो तो रह सकते हो ॥ ५८ ॥

उक्त अर्थ तो वाच्यार्थ है। किन्तु रसिकजन-प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि—हे पथिक ! पत्थर के तुल्य मूर्ख मनुष्यों के इस गाँव में परस्त्री-सम्भोग को निषिद्ध बताने वाला कोई शास्त्र (शास्त्रज्ञ) नहीं है। अथवा इन वज्रमूर्खों के गाँव में कामशास्त्र जरा-सा भी नहीं है, तब साहित्यादिशास्त्र तो दूर है। इसलिए आकार-इङ्गित आदि का जानने वाला कोई भी व्यक्ति यहाँ नहीं है। अतः निःशंक होकर तुम मेरे अथवा मेरी सखी के उन्नत (उभरे हुए) उरोजों (स्तनों) को देखकर यदि इस उठत यौवन के उपभोग की क्षमता रखते हो तो रुक जाओ यानी निवास करो। इसी अभिप्राय को बता रहे हैं।

अत्रेति। यहाँ 'यदि तुम में उभरते यौवन के उपभोग लेने की क्षमता हो तो ठहर जाओ'—यह 'वस्तु' मात्र व्यञ्जित की गई है। इसलिए यह 'वस्तु-ध्वनि' का उदाहरण है।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का दूसरा उदाहरण—

शनिरिति। हे नरेन्द्र ! तुम जिस पर क्रुद्ध हो जाते हो, उस शत्रु को शनि (ग्रह) और अशनि (वज्र) दोनों ही मार डालने के लिए उतावले हो जाते हैं।

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

और जिस पर तुम प्रसन्न हो जाते हो वह उदार (महान् दानी) और अनुदार (दाराओं=स्त्रियों से युक्त) होता हुआ सुशोभित होता है ॥ ५९ ॥

अत्र विरुद्धावपीति । यहाँ पर 'विरुद्ध स्वभाव वाले '**शनि**' तथा '**अशनि**' तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए तुम्हारे कोपपात्र शत्रु के '**हननरूप**' एक ही कार्य को करने लगते हैं'—यह '**वस्तुमात्र**' ध्वनित होता है ।

विशेष विवरण—यहाँ पूर्वार्ध में '**नञ्**' **का अर्थ** '**विरोधी**' है, इसलिए '**अशनि**' **पद से शनि-विरोधी रूप अर्थ** की प्रतीति होने पर '**शनि और अशनि**' **दोनों परस्पर विरोधी होने पर भी तुम्हारा अनुवर्तन करने के लिए दोनों ही** '**हनन**' **रूप एक ही कार्य करने लगते हैं**—यह '**वस्तु**' ध्वनित होती है । अतः उक्त उदाहरण के केवल पूर्वार्ध में 'वस्तु-ध्वनि' है । किन्तु उत्तरार्ध में एक कार्य करने की प्रतीति न होने से वहाँ पर **वस्तुध्वनि** नहीं है, अपितु '**उदार और अनुदार**' **पदों में विरोध की प्रतीति होने से** '**विरोधालङ्कारध्वनि**' ही समझना चाहिए ।

'नञ्' के छह अर्थ होते हैं—'**तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट्प्रकीर्तिताः** ॥" विरोधी अर्थ जैसे—'**अनुदारः**' कहने पर '**उदारात् अन्यः**' अर्थात् उदार का विरोधी अर्थ अनुदार समझा जाता है ।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि को महाकवि **बिहारी के दोहे में** भी देख सकते हैं—

"चिर जीवौ जोरी जुरे क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥"

यहाँ पर कवि ने **राधा और कृष्ण की जोड़ी के मिलन और उत्कट स्नेह के औचित्य को** '**शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि**' **के द्वारा बताया है** । राधारानी, राजा वृषभानु की कन्या है और कृष्ण, हलधर बलराम के भाई हैं । दोनों ही उच्चकुल के हैं, अतः उनकी जोड़ी उचित है । इसलिए उन दोनों में उत्कट स्नेह का होना और परस्पर मिलन होना सब-कुछ शोभनीय है । इस अर्थ की पुष्टि के लिए कवि ने '**वृषभानुजा**' और '**हलधर के बीर**' इन शब्दों का प्रयोग जानबूझ कर किया है । '**वृषभानुजा**' का अर्थ '**वृषभ**'=**बैल**-की '**अनुजा**' यानी बहिन अर्थात् 'गाय' '**हलधर के बीर**' का **अर्थ हल को धारण करने वाले बैल का भाई** अर्थात् '**साँड़**' है । गाय और **साँड़ की जोड़ी का** जुड़ना यानी 'मिलन' और उनके **उत्कट स्नेह का होना** उचित **ही है** । इस प्रकार '**वृषभानुजा**' और '**हलधर के बीर**' **शब्दों के प्रभाव से वस्तु की ध्वनि हो रही है** ।

ग्रन्थकार ने '**संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि**' के अवान्तरभेदस्वरूप '**शब्द-**

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनेर्भेद-प्रभेदाः)

(सू०५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३९॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनेर्द्वादशभेदाः)

स्वतःसम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्य-

---

शक्त्युद्भव वस्तुध्वनि' तथा 'शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए छह उदाहरण बताये ।

अब उसी **'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि'** के **'अर्थशक्त्युत्थ'** (अर्थशक्त्युद्भव) नामक द्वितीय भेद को बतावेंगे ।

इस प्रकार **'शब्दशक्तिमूल द्विविध ध्वनि'** का निरूपण करके अब **'अर्थशक्ति-मूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य'** को बारह प्रकार से प्रदर्शित कर रहे हैं—

(सू० ५४) 'अर्थशक्त्युद्भव व्यञ्जक अर्थ' भी (१) **स्वतःसम्भवी** (लोकव्यवहार में पाया जानेवाला), (२) केवल **'कवि की प्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध'** (केवल कवि की कल्पनामात्र से ही जो अर्थ हो अर्थात् जिसका होना असंभव हो, उसे **'कवि की प्रौढोक्ति'** कहते हैं । जैसे काली वस्तु को सफेद करनेवाली चन्द्रमा की चाँदनी केवल कवियों की कल्पना मात्र है । क्योंकि ऐसी चाँदनी कहीं देखी नहीं जाती । इस प्रकार के कवि-कल्पित वर्णन को **'कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध'** कहते हैं) । तथा (३) **'कवि के द्वारा निबद्ध पात्र (वक्ता) की प्रौढोक्ति से सिद्ध'** (लोकव्यवहार में उपलब्ध न रहने पर भी केवल कवि की कल्पना मात्र से वर्णित किया जानेवाला) इस प्रकार से त्रिविध होता है । वही **अर्थशक्त्युद्भव-व्यञ्जक त्रिविध अर्थ, 'वस्तु'** तथा **'अलङ्कार'** के रूप में दो प्रकार का होने पर—(३×२=६)—**छह** प्रकार का हो जाता है । इस प्रकार षड्विध हुआ, वही—**'अर्थशक्त्युद्भव-व्यञ्जक अर्थ'** कहीं पर **'वस्तु'** अथवा 'अलंकार' दोनों को व्यक्त करता है । अतः यह **'अर्थशक्त्यु-द्भवध्वनि' बारह प्रकार का** (ध्वनि ६×२=१२) होता है ॥ ३९–४०½ ॥

स्वतः सम्भवीति । 'स्वतः सम्भवी' अर्थ वह है, जो केवल कवि के कहने मात्र से ही सिद्ध नहीं होता, अपितु लोक (जगत) में भी पाया जाता है । व्यावहारिक जीवन में भी औचित्य के साथ उसका अनुभव किया जाता है । और **दूसरा कवि प्रौढोक्ति सिद्ध'** अर्थ वह है, जो कवि की कल्पना से प्रसूत रहता है, उसका अस्तित्व लोक में न रहने पर भी काव्य में अवश्य रहता है । **अथवा तीसरा** व्यञ्जक अर्थ **'कवि**

मानः। कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः। कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः। तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।

निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' होता है, जो कविनिबद्धवक्ता नायकादि के द्वारा कल्पित रहता है। एवं च कविप्रौढोक्ति और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति भेद से दो प्रकार का और एक स्वतःसंभवी मिलाकर तीन प्रकार का 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होता है। वह तीनों प्रकार का व्यंजक अर्थ 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' रूप होता है। इस कारण अर्थशक्त्युद्भवध्वनि (३ × २ = ६) छह प्रकार का हुआ। उससे भी पुनः 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' दो व्यङ्ग्य होते हैं। इस प्रकार से 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि (६ × २ = १२) बारह प्रकार का होता है।

विशेष विवरण—अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह (१२) भेद बताये गये हैं। क्योंकि यहाँ जो व्यञ्जक अर्थ है वह छह (६) प्रकार का होता है--(१) स्वतः-संभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ, (२) स्वतःसंभवी अलङ्काररूप व्यंजक अर्थ, (३) कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यंजक अर्थ, (४) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकाररूप व्यंजक अर्थ, (५) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यंजक अर्थ, (६) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-सिद्ध अलंकाररूप व्यंजक अर्थ।

निष्कर्ष यह है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेदों में से पहिले उसके ३ भेद किये जाते हैं--

(१) स्वतःसंभवी।
(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध।
(३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध।

उक्त तीनों भेदों के वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि दो भेद किये जाते हैं, अर्थात् ३ × २ = ६ भेद हो जाते हैं। उक्त छह भेदों में से प्रत्येक का व्यङ्ग्यरूप अर्थ दो प्रकार का होता है--(१) वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ और (२) अलंकाररूप व्यङ्ग्य अर्थ। इस प्रकार उस अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह (१२) भेद हुआ करते हैं। अभिप्राय यह है कि उक्त छहों भेद व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों होने से दुगने (द्विगुण) होकर ६ × २ = १२ भेद बन जाते हैं।

(१) स्वतःसम्भवी में

(१) वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य। (२) वस्तु से अलंकारव्यङ्ग्य।
(३) अलङ्कार से वस्तुव्यङ्ग्य। (४) अलङ्कार से अलंकार व्यङ्ग्य।

(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध में

(१) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य। (२) वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य।

क्रमेणोरदाहणम्—

(स्वतःसंभविना वस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्तिधणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥ ६० ॥

(अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रिमः पुत्रि ! धनसमृद्धिमयः ।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ ६० ॥)

---

(३) अलंकार से वस्तुव्यङ्ग्य। (४) अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य।

(३) कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध में

(१) वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य। (२) वस्तु से अलंकारव्यङ्ग्य।

(३) अलंकार से वस्तुव्यङ्ग्य। (४) अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य।

ध्वन्यालोककार **आनन्दवर्धन ने व्यञ्जक अर्थ के दो ही भेद** किये हैं—(१) कवि अथवा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ और (२) स्वतःसंभवी अर्थ। और प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप अर्थ के दो-दो भेद किये हैं—(१) वस्तुमात्ररूप व्यङ्ग्य-अर्थ, और (२) अलंकाररूप व्यङ्ग्य-अर्थ।

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने **कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ को पृथक् कर दिया है।** इसलिए व्यञ्जकरूप अर्थ का एक प्रकार और बढ़ गया है। आनन्दवर्धन ने 'व्यञ्जक अर्थ' के वस्तुरूप और अलंकाररूप अर्थ होने के प्रकार को स्पष्ट नहीं बताया, उसे ही काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कर दिया है। **इसलिए इनके बताये अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह भेद, आनन्दवर्धन और उनके व्याख्याकार अभिनवगुप्त के भी सम्मत हैं।**

स्वतःसंभवी के चार उदाहरण—

क्रमेणेति। क्रम से उनके उदाहरण दे रहे हैं—

(१) स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य

विवाह के प्रसंग में यौवनाक्रान्त कुमारी के प्रति उसकी उपमाता के द्वारा संभावित वर के गुणों का वर्णन करने पर वह कुमारी प्रसन्न हो रही है या अप्रसन्न हो रही है—यह जानने के लिए स्वाभाविक रूप से कुमारी के मन में उठने वाले प्रश्न का उत्तर कोई दे रही है—ऐसा **'सुधासागरकार'** बताते हैं। **'उद्योतकार'** का कहना है कि पति का स्वयं वरण करने वाली किसी कुमारी के प्रति प्ररोचनार्थ उसकी धात्री उससे बता रही है। पूर्वार्ध में उसके प्ररोचनार्थ धात्री की उक्ति है और उत्तरार्ध में कवि का वाक्य है। धात्री कह रही है—

अलसेति। हे पुत्रि ! वह तुम्हारा प्रस्तावित वर जिसे तुम अपना बनाना चाहती हो वह बड़ा श्रीमान् धनी है, उसे कुछ उद्योग-प्रयत्न करना नहीं पड़ता। महान्

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

(स्वतःसंभविना वस्तुना अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ६१

आलसी होकर पड़ा रहता है । धूर्ततापूर्ण चतुराई में तो वह सबसे बढ़कर है । इतना सुनते ही लज्जा से झुकी हुई उस नतांगी की आँखें हर्ष से खिल उठीं ॥ ६० ॥

अत्रेति । यहाँ 'स्वतःसंभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ' से (प्रसन्नता के कारण नायिका की आँखों के खिल उठने के बर्णन से) जो अर्थ, सहृदय रसिकों के हृदय में अभिव्यक्त हो जाता है, वह एक 'वस्तुरूप' अर्थ है, जो इस प्रकार है—'वह मेरे ही उपभोग के योग्य है' । इस प्रकार प्रफुल्लविलोचनत्वरूप वाच्य 'वस्तु' से 'ममैवोपभोगयोग्यः' यह 'वस्तु' व्यंग्य होती है ।

विशेष विवरण—'अलसशिरोमणि' कहने से यह सूचित हुआ कि वह कहीं बाहर प्रवास करने का इच्छुक या किसी अन्य नायिका के घर जाने का इच्छुक नहीं है । 'धूर्तशिरोमणि' कह कर यह सूचित किया गया है कि अविदग्धा (अचतुरा) नायिका के द्वारा वह अप्रलोभनीय (लुभाया नहीं जा सकता) है । 'धनसमृद्धिमयः' कहकर यह बताया है कि वह अनाकुल (निश्चिन्त) रहता है । एवं च 'अप्रवासी और निश्चिन्तता' रहने से वही उपभोग के योग्य हो सकता है । यह सुनते ही जो उसे हर्ष हुआ उससे उसकी आँखें खिल उठीं । इस 'हर्षकार्यभूत प्रफुल्लविलोचनत्वरूप' वस्तु से 'ममैवोपभोगयोग्योऽयम् , न अविदग्धायाः' – मेरे ही उपभोग करने योग्य यह हो सकता है, किसी अन्य अविदग्ध नायिका के योग्य यह नहीं है' यह वस्तु व्यंजित की जा रही है, जिसे सहृदय ही समझ सकता है ।

(२) स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य

'वस्तु'से 'अलंकार' व्यंग्य का उदाहरणरूप पद्य 'विज्जिका' नामकी कवियित्री का है, यह शार्ङ्गधरपद्धति में स्पष्ट लिखा है । इस पद्य में रतिकालीन प्रणयालाप के सुनने-सुनाने के प्रसंग पर अपनी सखी का उपहास करती हुई कोई सखी कह रही है—

धन्यासीति । हे सखि ! तुम धन्य हो जो प्रिय के साथ संगम होने पर भी और सुरत के समय भी विविध प्रकार की और विश्वासपूर्ण मीठी-मीठी बातें कर लेती हो । तेरे सौभाग्य का क्या कहना है ! किन्तु मेरा तो हाल यह है कि हे सखि ! मैं शपथ (सौगन्ध) खाकर कहती हूँ कि प्रिय का हाथ नीवी तक पहुँचते ही मैं सारी सुध-बुध पता नहीं कहाँ खो बैठती हूँ, अर्थात् मुझे तो कुछ भी स्मरण नहीं रहता है ॥ ६१ ॥

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः।

अत्रेति। यहाँ पर अपनी सखी के प्रति धन्यत्वोक्तिरूप जो वाच्य अर्थ है, वह 'स्वतःसंभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ' है, उस वस्तुरूप व्यंजक अर्थ के द्वारा अपने महान् आनन्द की प्राप्ति की सूचना देते हुए 'त्वम् अधन्या, अहं तु धन्या' अर्थात् सुध-बुध खोकर अपने प्रियतम के साथ प्रेमलीला करने का सौभाग्य तो मेरा ही है। प्रिय के संगम और सुरत के समय में भी बातें करने वाली तुम धन्य नहीं हो, अर्थात् इतना सौभाग्य मुझे कहाँ मिल सका है? इस प्रकार दूसरी सखी की अपेक्षा अपने सौभाग्य की अधिकता दिखलाने के कारण यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' व्यङ्ग्य है। 'त्वम् अधन्या संभोगवृत्तान्तस्मरणभावात्। अहं धन्या सुखातिशयेन तदानीन्तनवृत्तान्तस्मरणाऽभावात्। उपमानादुपमेयस्य आधिक्ये व्यतिरेकः। इस प्रकार व्यतिरेकालंकार को व्यञ्जित किया गया है।

विशेष विवरण—अपने प्रिय के संगमकाल तथा रतिक्रीडा के मध्यकाल में भी तुम सैंकड़ों मीठी-मीठी बातें कर लेती हो, सच-मुच तुम धन्य हो, क्योंकि प्रथमतः तो प्रियसंगम के समय ही शनैः-शनैः विलक्षण आनन्द से हृदय भरने लगता है, जिसे बताया नहीं जा सकता, फिर रतिक्रीडा के मध्यकाल में तो परमानन्द से सराबोर होती हुई भी तुम उस समय इतनी बातें कर लेती हो, और पुनः अभी तक उन सब बातों का स्मरण भी तुम्हें यथावत् बना हुआ है। इतनी तुम्हारी सावधानी! सचमुच आश्चर्यकारक है। रतिक्रीडा के आरंभ में या समाप्ति पर बातें कर लेना और उन्हें याद रखना तो संभव हो सकता है। किन्तु हे सखियों! मेरा हाल तो यह है कि नाभि के नीचे साड़ी में लगी ग्रन्थी (नावी) की ओर मेरा प्रिय अपने हाथ को बढाना ज्यों-ही चाहने लगता है त्यों-हो मैं अपने आप में खोजाती हूँ। और साड़ी की ग्रन्थी पर उसके हाथ का स्पर्श होने पर तो मुझे अपने अस्तित्व का ही पता नहीं रहता। हे सखियों! तुम लोगों की शपथ खाकर कह रही हूँ कि उस समय तो मैं अपने को ही भूल जाती हूँ, फिर उस समय बात करने की स्मृति रहना तो दूर रहा—यह 'अपि' शब्द से सूचित किया गया है। 'शपामि' पद का प्रयोग 'परस्मैपद' में किया है। यद्यपि 'शप उपलम्भने' या 'शप उपलम्भने' वार्तिक से 'आत्मनेपद' की प्राप्ति हो रही है, तथापि 'शपथकरणक प्रकाशन' की विवक्षा न रहने से यहाँ आत्मनेपद नहीं किया गया है। 'उपलम्भन' का अर्थ 'प्रकाशन' है। 'सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि' यहाँ पर 'शपथमात्र' विवक्षित है, प्रकाशन नहीं। उक्त पद्य के पूर्व-वाक्य में 'सोल्लुण्ठोक्ति' (साभिप्रायोक्ति) में सौभाग्यगर्विता 'एक ही सखी' सम्बोध्य रहने से 'धन्यासि' यह

(स्वतःसंभविना अलंकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूटसंक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥

अत्रोपमालंकारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

'एकवचन' किया गया है, और स्वोत्कर्ष की सूचना तो अनेक सखियों को देने के कारण 'अनेक सखियाँ' सम्बोध्य हो रही हैं, इसलिए उत्तर वाक्य में **'सख्यः'** यह बहुवचन किया गया है । अतः कोई असंगति नहीं है—ऐसा **उद्योतकार** ने कहा है ।

यहाँ **'धन्याऽधन्यत्व'** का कथन 'वैदग्ध्य-तदभाव' मूलक है । अतः **'अहं धन्या, त्वम् अधन्या'** इस प्रकार सखी के प्रति 'धन्यत्वोक्ति' उसकी **विप्रलिप्सा** करने के लिए की गई है । इसलिए **'विवक्षितान्वयानुपपत्या 'धन्यासि' की 'अधन्यत्व' में लक्षणा की गई'**—यह कथन **निरस्त** हो जाता है । क्योंकि उसकी विप्रलिप्सा करने के लिए **'धन्यत्व'** की विवक्षा की गई है ।

इसी प्रकार हिन्दी के कवि **'दास'** ने भी **'स्वतःसंभवी-वस्तु से अलंकार** ध्वनि के उदाहरण में एक दोहा दिया है—

'सखि तेरो प्यारो भलो दिन न्यारो ह्वै जात ।
मोते नहि बलबीर को पल बिलगाव सुहात ॥'

यहाँ राधारानी अपनी किसी सखी से कह रही है कि तेरा प्रिय बहुत भला है, जो कम से कम दिन में तुझे छोड़ देता है, पर मैं क्या करूँ, **मेरा प्रिय कृष्ण तो मुझे पलभर के लिए भी अलग नहीं रहने देता—यह स्वतःसंभवी वस्तु** बताई गई है । इससे **'तेरी अपेक्षा मैं कहीं अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ'**—यह व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है ।

(३) स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य—

दर्पेति । रणभूमि में जिसके हाथ की, मदमत्त गन्धगज के **कपाटसदृश विशाल** कुम्भस्थल में प्रविष्ट होने से प्रचुर रुधिर से लाल वर्ण की, **तलवार को वीर योद्धाओं ने भगवती दुर्गा के क्रोध से रक्तवण वाले कटाक्ष के समान** अवलोकन किया ॥ ६२ ॥

अत्रेति । यहाँ पर **'दुर्गा के कटाक्ष के समान'**—इस 'उपमा अलंकार' से **'क्षणभर में संपूर्ण शत्रुओं का यह नाश कर देगा'**—यह वस्तु व्यक्त हो रही है ।

विशेष विवरण—राजा के हाथ में स्थित जो खड्ग था वह **भगवती दुर्गा के कोपपूर्ण रक्त-कटाक्ष** की तरह, गन्धगज के कुंभस्थल के रक्त से रञ्जित रक्तवर्ण का हो गया था, उसकी भयानकता के कारण साधारण भट तो उसकी ओर देख ही नहीं सकते थे, अतः अत्यन्त शूर योद्धाओं ने ही उस खड्ग को देखा । यहाँ पर **'शोणशोचिः'**

(स्वतःसंभविना अलंकारेण अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ।। ६३ ।।

अत्र विरोधालंकारेणाऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता । मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा च । एषूदाहरणेषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

और 'कषाय कान्तिः' दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहने से समानधर्मता के कारण 'कालीकटाक्ष इव कृपाणः व्यलोकि'—यह उपमा प्रदर्शित की गई है। यह उपमा 'स्वतःसंभविनी है, क्योंकि बाहर संसार में (लोक में) भी 'सादृश्य' की सत्ता दिखाई देती है। उस उपमालंकार के द्वारा 'सकलरिपुक्षयः क्षणात् करिष्यते'—यह 'वस्तु' व्यक्त की जा रही है। यहाँ पर निर्दिष्ट साधारण धर्म के कारण 'सादृश्य' का पर्यवसान हो जाने से उक्त 'व्यंग्य' को 'वाच्यांग' नहीं कहना चाहिये ऐसा उद्योतकार ने कहा है—'अत्र निर्दिष्टसाधारणधर्मेण सादृश्यपर्यवसानान्नोक्तव्यंग्यस्य वाच्यांगतेति बोध्यम्', तथा संभावना का अभाव रहने से यहाँ 'उत्प्रेक्षा' की भी शंका नहीं करनी चाहिए—ऐसा प्रदीप में स्पष्ट कहा है—'न चोत्प्रेक्षा शङ्क्या संभावनाविरहात्'। अर्थात् 'करवृत्तित्वरूप विरुद्ध धर्म के दीखने से उक्त शंका के लिए अवकाश नहीं है—'करवृत्तित्वरूपविरुद्धधर्मदर्शनात्तदभावः' इति उद्योतः। 'गन्धगज' का यह लक्षण बताया गया है—

'यस्य गन्धं समाघ्राय पलायन्ते परे गजाः ।
तं गन्धहस्तिनं विद्यान्नृपतेर्विजयावहम् ।।'

अथवा—'स्वेदं मूत्रं पुरीषं च मज्जां चैव मतंगजाः ।
यस्याघ्राय बिमाद्यन्ति तं विद्याद्गन्धहस्तिनम् ।।'

(४) स्वतःसम्भवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

गाढेति। रणभूमि में अपने ओष्ठ को क्रोध से चबाते हुए जिस राजा ने शत्रु-ललनाओं के विद्रुम दल के समान रक्तवर्ण वाले ओष्ठों को पतियों के द्वारा जोर से काटे जाने के संकट से बचा दिया ।। ६३ ।।

अत्रेति। इस उदाहरण में (जो अपने ही ओष्ठ=अधर को काट लेता है, वह दूसरे के ओष्ठों को काटे जाने के संकट से कैसे छुड़ा सकता है? इस) विरोधालंकार से 'ओष्ठ को क्रोध से चबाने (काटने) के साथ ही शत्रुओं को मार दिया'—यह 'तुल्ययोगिता' अलंकार और 'मुझ राजा की ओष्ठदशनरूप क्षति भले ही हो किन्तु अन्य वैरि-वधूजनों की ओष्ठ (अधर) दशनरूप क्षति न हो' – इस प्रकार राजा की बुद्धि की उत्प्रेक्षा करने से 'उत्प्रेक्षा' अलंकार भी व्यञ्जित हो रहा है।

र्णाष्वति । इन चारों उदाहरणों में 'व्यञ्जक अर्थ' स्वतःसम्भवी है ।

विशेष विवरण—इस चौथे उदाहरण में 'स्वतःसंभवी अलंकार' से अलंकार की अभिव्यक्ति प्रदर्शित की गई है । इसमें ओष्ठविषयक 'दशन' और 'मोचन' का परस्पर विरोध प्रतीत होने से विरोधालंकार (विरोधाभासालंकार) का होना पाया जाता है । ओष्ठत्वेन सामानाधिकरण्य की विवक्षा रहने से विरोध स्पष्ट है, तथापि प्रतियोगी के भेद से (भिन्न होने से) विरोधाभास समझना चाहिये । और वीर के अनुभावरूप में प्रकृत स्व-अधरदशन और शत्रुव्यापादन दोनों का एक-कालरूप 'एक धर्म' सम्बन्ध रहने से तुल्ययोगिता अलंकार भी व्यंग्य है ।

ग्रन्थकार ने विरोधालंकार का लक्षण यह किया है—

'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः । (का. प्र. द. उ. सू. १६५)
जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥ ११० ॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश । (का. प्र. द. उ. सू. १६६)

जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यवाचक शब्द (यदृच्छाशब्द), और इन चार प्रकार के शब्दों के अर्थ भी चार प्रकार के बता चुके हैं । इन अर्थों का परस्पर विरोध न रहने पर भी जहाँ उनका विरोधी-जैसा वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोधालंकार या विरोधाभासालंकार का होना समझा जाता है । जाति का जात्यादि चारों के साथ, गुण का गुण आदि तीनों के साथ, क्रिया का क्रिया और द्रव्य दो के साथ तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होने की संभावना रहने से विरोधाभास अलंकार के दश भेद होते हैं । अर्थात् ४ + ३ + २ + १ = १० दस भेद उक्त अलंकार के हो जाते हैं ।

तुल्ययोगिता अलंकार का लक्षण दसवें उल्लास में सू. १५८ पर बताया गया है – 'नियतानां सकृद्धर्मः स पुनस्तुल्ययोगिता ।' नियत (केवल प्राकरणिक) अथवा केवल अप्राकरणिक अनेक अर्थों में एक धर्म यदि रहे तो तुल्ययोगिता अलंकार होता है । अर्थात् प्रकृत अथवा अप्रकृत धर्मियों के साधारण धर्म का सकृत् (एक बार) उपादान करने पर तुल्ययोगिता होती है । इस तुल्ययोगिता अलंकार को यहाँ पर विरोधालंकार से व्यंग्य हुआ बताया गया है । क्योंकि 'ओष्ठदशन' और 'दशनव्यथामोचन' इन दोनों क्रियाओं में परस्पर विरोध होने से विरोधा-लंकारव्यंजक अलंकार है, और उससे 'स्वाधरदशन तथा शत्रुविनाशन रूप दो प्राकरणिक अर्थों में 'एककालिकत्वरूप' एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता' अलंकार व्यंग्य हुआ है । यह तो काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का मत है ।

(कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का-
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥ ६४ ॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ।

किन्तु प्रदीपकारादि कतिपय व्याख्याकारों ने उसे नहीं माना है । प्रदीपकार आदि व्याख्याकारों ने 'विरोध' और 'तुल्ययोगिता' शब्दों से तन्नामक अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उन शब्दों से यौगिक अर्थ निकाला है। विरोधालंकार शब्द से विरोधगर्भित कार्यकारण के पौर्वापर्य-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति-अलंकार को तथा तुल्ययोगितालंकार शब्द से ओष्ठदशन तथा शत्रुव्यापादन दोनों कार्य, तुल्यकाल में होने से 'समुच्चयालंकार' को स्वीकार किया है। परन्तु यह व्याख्यान ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध प्रतीत हो रहा है। ग्रन्थकार ने वृत्ति में 'इत्युत्प्रेक्षा च' कहकर समुच्चयार्थक 'च' कार से तुल्ययोगिता और उत्प्रेक्षा की ससृष्टि को सूचित किया है। यहाँ तक 'स्वतःसंभवी अर्थशक्त्युत्थध्वनि' के चारों उदाहरणों को बताया गया है।

(५) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

अब कविप्रौढोक्ति सिद्ध अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि के चार उदाहरण क्रमशः दे रहे हैं।

(१) कविप्रौढोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ में प्रथमतः **'वस्तु' से 'वस्तु' की अभिव्यक्ति** का उदाहरण यह है—

कैलासस्येति । किसी राजा का वर्णन है—कैलास पर्वत के प्रथम (सबसे ऊँचे श्रेष्ठ शृङ्ग पर अथवा सब से निचले मूल) शिखर पर वेणुवाद्य की मूर्छनाओं के साथ दिव्य अप्सराओं के द्वारा गायी जाने वाली जिस राजा की कीर्ति को सुनकर (कविसमयानुसार कीर्ति की नितान्त धवलता के कारण) स्निग्ध सरस कमलिनी मृणालखण्ड की शंका हो जाने से (दिशाओं के अन्त में स्थित) ऐरावतादि आठों दिग्गज अपने नेत्र-प्रान्तों को चलायमान करके (श्रोत्रों की ओर देखने का प्रयत्न करते हुए से) अपने श्रोत्रप्रान्त में (उस मृणालखण्ड को लेने की इच्छा से अपनी शुण्डा रूप) हाथ को घुमा रहे हैं ॥ ६४ ॥

अत्रेति । यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध (काव्य में कल्पित) **वस्तु** से जिन (हाथियों) को (गीत के) अर्थ का ज्ञान (संभव) नहीं है, उनकी भी इस प्रकार की (कीर्ति की अत्यन्त धवलता के कारण मृणाल के भ्रम से युक्त) बुद्धि को

(कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।
जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥ ६५ ॥

पैदा करके तुम्हारी कीर्ति, चमत्कार पैदा करती है—यह 'वस्तु' ध्वनित होती है ॥ ६४ ॥

विशेष विवरण—यहाँ पर **'व्यङ्ग्य वस्तु'** और **'व्यञ्जक वस्तु'** दोनों ही कवि की **प्रतिभामात्र से निष्पन्न है**। प्रकृत राजा का यश, दिव्य अप्सराओं द्वारा गाया जाना, और उस यशोगीत को दिग्गजों द्वारा श्रवण करना, तथा उसमें दिग्गजों को मृणाल की भ्रान्ति होना आदि जो **कवि-कल्पना से निष्पन्न अर्थ है--वह व्यञ्जक अर्थ है,** उससे जो अर्थ व्यञ्जित हो रहा है—**'प्रकृत राजा की कीर्ति में संवेदनाशून्य पशुओं में भी संवेदना उत्पन्न कर देने की शक्ति है'--यह वस्तुरूप व्यंग्य अर्थ है**। मूर्च्छना अर्थात् रागविशेष—**'स्वरः संमूर्छितो यत्र राजतां प्रतिपद्यते। मूर्छनामिति ताम्प्राहुर्गीततत्त्वविदोजनाः ॥'** ऐसा संगीत शास्त्रज्ञ कहा करते हैं। दिग्गज आठ बताये गये हैं—**'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥'** यद्यपि यहाँ पर **'सञ्जातशंकाः'** कहने से **'भ्रान्तिमान्'** अथवा **'संदेह' अलंकार व्यञ्जक** प्रतीत हो रहा है, तब वस्तुमात्र व्यञ्जकता का उदाहरण इसे कैसा बताया जा रहा है ? यह शंका हो सकती है। तथापि उक्त अंश की अपेक्षा किये बिना भी **'किञ्चित् शुक्लं कर्णे प्रविशति'**—कोई शुक्लवर्ण की वस्तु कान में प्रवेश कर रही है—इतने ज्ञान के होने मात्र से भी कान पर शुण्डावर्तनरूप वस्तुमात्र से भी **'अर्थानभिज्ञ जड पशुओं को भी श्वैत्यमूर्तत्वादि वस्तु का ज्ञान पैदा कराने वाली तुम्हारी कीर्ति विलक्षण चमत्कार को पैदा कर रही है'** इस अर्थ की अभिव्यक्ति हो रही है, इस दृष्टि से इसे वस्तुमात्र का उदाहरण कहा गया है। किन्तु संसार में इस प्रकार की 'वस्तु' उपलब्ध नहीं होती है। इस कारण यह **कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है ॥ ६४ ॥**

(६) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

केसेस्विति। (केशेष्विति)। प्रशंसा किये जाने वाले उस राजा ने (और नायक ने) युद्ध में (और सुरत-संगर=युद्ध में) बलात्=जबरदस्ती केशों को पकड़ कर जयश्री का इस प्रकार आलिंगन किया, जिससे (उसकी रतिक्रीडा को देखकर काम से उन्मत्त होने से) **कन्दराओं ने** (कन्दरारूपी-नायिकाओं ने) **वहाँ छिपे हुए शत्रुओं को अपने गले से दृढता के साथ लिपटा कर रोक लिया ॥ ६५ ॥**

(केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता ।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥ ६५ ॥)

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा । एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ।

अत्रेति । यहाँ पर जो व्यञ्जक अर्थ है, वह तो कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु रूप अर्थ है, और उससे जो व्यंग्यार्थ निकल रहा है, वह है एक अलंकार रूप अर्थ । क्योंकि यहाँ पर या तो 'उत्प्रेक्षा' व्यक्त हो रही है,—'विजयश्री का केशाकर्षण देखने वाली, उस कारण स्वयं कामोन्मत्त नायिकाओं-सी जो कन्दरायें वे उस राजा के शत्रुओं (अपने प्रेमियों) को अपने गले लगाती-सी लग रही हैं । अथवा पलायन में विजय-दर्शन हेतु होने से काव्यहेतु (काव्यलिंग) अलङ्कार अभिव्यक्त हो रहा है, क्योंकि शत्रुगण भाग-भाग कर कन्दराओं में जा छिपे हैं, क्योंकि युद्धभूमि पर उन्होंने अपने विजेता महाराज का पराक्रम देख लिया है । अथवा यों कहिये कि शत्रुगण स्वयं भाग-भाग कर कन्दराओं में नहीं छिपे हैं, अपि तु कन्दराएँ ही उनकी प्रेमिकाएँ बनीं, और उनके पराजय की आशंका से अब उन्हें छोड़ना नहीं चाह रहीं हैं'—यहाँ 'पलायन' का अपह्नव करने से 'अपह्नुति' अलंकार को भी व्यंग्य अर्थ मान सकते हैं ॥ ६५ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में कविप्रौढोक्तिसिद्ध केशग्रहणरूप 'वस्तु' से (१) उत्प्रेक्षा, (२) काव्यलिङ्ग और (३) अपह्नुति इन तीन अलंकारों को व्यंग्य माना है । 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्'-(सू० १३७) यह 'उत्प्रेक्षा' का लक्षण है । इसका समन्वय उक्त उदाहरण में इस प्रकार हो सकता है—प्रकृत उपमेय की 'सम' अर्थात् उपमान के साथ संभावना यानी 'उत्कटैककोटिक संशय' को 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं । उक्त पद्य में बताया गया है कि 'भय के कारण कन्दराओं में शत्रुओं का निरन्तर छिपे रहना' इस प्रकृत अर्थ की–इस प्रकार से 'कन्दरारूपी नायिकाओं ने मानो उनको अपने गले से दृढ़ लिपटाकर या उनके गले में दृढ लिपटकर उन्हें रोक लिया है'—संभावना करने के कारण उत्प्रेक्षालंकार व्यंग्य हो रहा है । तथा 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता'–(सू० १७४) यह काव्यलिंग का लक्षण है । जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थ को किसी अन्य के हेतुरूप में बताया जाय, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है । इस द्वितीय पक्ष में राजा ने जयश्री को अपने स्वाधीन कर लिया है । अतएव शत्रुगण भागकर कन्दराओं में छिप गये हैं । यहाँ प्रथम वाक्यार्थ, द्वितीय वाक्यार्थ के प्रति कारण (हेतु) है । एवं च 'केशग्रहण' रूप वस्तु से 'काव्यलिङ्ग' अलंकार यहाँ व्यङ्ग्य हुआ है ।

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलंकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

गाढालिंगणरहसुज्जुअम्मि दइ लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअव्व हिअआहिं ॥ ६६ ॥
(गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥ ६६ ॥)

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिंगनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

अथवा 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः'-(सू० १४१) जहाँ प्रकृत (उपमेय) को असत्य बताकर अन्य (उपमान) को सत्यतया स्थापित किया जाता है, वहाँ 'अपह्नुति' अलंकार होता है। यहाँ 'भयभीत हुए शत्रुगण भाग कर कन्दराओं में चले गये हैं'—इस प्रकृत अर्थ को असत्य बताकर 'कन्दराएँ पहिले से ही अपने भीतर बैठे हुए शत्रुओं को उसके भय के कारण बाहर निकलने नहीं देतीं'—इस अन्य अर्थ की स्थापना की गई है। इसलिए 'अपह्नुति' अलंकार यहाँ व्यङ्ग्य है। यहाँ पलायन का अपह्नव करने से अपह्नुति अलंकार व्यंग्य है। 'तेन च समरे जयश्रीगृहीता' यहाँ 'च' कार के प्रयुक्त करने से यह सूचित किया है कि 'केशग्रहण' इत्यादि से प्रदर्शित किये गये व्यंग्य तीन अलंकारों में से किसी एक के स्वीकार करने में किसी साधक-बाधक प्रमाण के न होने से 'अनिश्चय-संकर' भी हो सकता है, ऐसा सुधासागरकार का कहना है। किन्तु सार-बोधिनी और उद्योतकार ने 'च' कार से 'एकव्यञ्जकानुप्रवेशसंकर' सूचित होना बताया है ॥ ६५ ॥

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य—

गाडेति। मानवती के प्रति उसके मानभंग के निमित्त किसी अन्य मानवती के वृत्तान्त को बताने वाली किसी सखी की उक्ति है—

अरी सखो ! प्रियतम जैसे हो उसका गाढ आलिंगन करने के लिए उद्यत हुआ, वैसे ही उस मानिनी प्रेयसी का 'मान' तो उसके हृदय से क्या बताऊँ ! ऐसा भयभीत होकर निकल भागा कि मानों कहीं दोनों के बीच दबकर वह कुचल न जाय ॥ ६६ ॥

अत्रोत्प्रेक्षयेति। यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार से 'प्रत्यालिङ्गन' आदि वस्तु व्यंग्य हो रही है ॥ ६६ ॥

विशेष विवरण—यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध 'उत्प्रेक्षालंकार' रूप अर्थ, 'व्यञ्जक' अर्थ है। उससे यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि 'मानिनी-नायिका मानरहित होकर स्वयं गाढालिंगन, चुम्बनादिरूप रति-क्रीडा में निमग्न हुई'

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलंकारेण अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहाबद्धविणिवेसा ।
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥ ६७ ॥

(या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ ६७ ॥)

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

यह 'वस्तुरूप' व्यंग्यार्थ है । मान का लक्षण है—**'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये'** । उस नायिका का मन उसके वश होता हुआ भी अर्थात् स्वाधीन चित्तवाली होती हुई भी उस नायिका का मान यदि उड़ने मात्र से ही भाग निकला तो पराधीन चित्तवाली तुझ जैसी का मान कहाँ टिक पायेगा ? अवश्य ही वह नहीं रह पायेगा, इसमें कुछ कहना ही नहीं है । अर्थात् मानभंग होना तो अवश्यंभावी है फिर क्यों झूठे ही अपने आपको स्वयं ठग रही हो । 'पीडन-भीत इव'—इस भयोत्प्रेक्षारूप अलंकार से 'आत्यन्तिकी माननिवृत्ति' रूप वस्तु व्यंजित की गई है ॥ ६६ ॥

(८) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

जा ठेरमिति (या स्थविरमिति) । कवियों के मुखकमल पर विराजती हुई जो वाणी, वह बूढ़े ब्रह्मा का उपहास करती हुई-सी सम्पूर्ण भुवन को किसी अन्य प्रकार से ही अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारजनक के रूप में प्रदर्शित करती है । ऐसी वह कविवाणी, ब्रह्मा की अपेक्षा भी उत्कृष्टतर है ॥ ६७ ॥

अत्रोत्प्रेक्षयेति । यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध उत्प्रेक्षालंकाररूप अर्थ, व्यञ्जक अर्थ है । इससे अतिशयचमत्कारजनक (प्रतिक्षण) नवीन-नवीन सृष्टि को चेतन कवि के मुखकमलरूप आसन पर बैठी हुई जो निर्माण करती रहती है । वह कविवाणी जड़ कमल पर बैठे हुए बूढ़े ब्रह्मा, जो नीरस सृष्टि का निर्माण करते हैं, उनकी अपेक्षा समुत्कृष्ट है—यह व्यतिरेकालंकार व्यंग्य हो रहा है ॥ ६७ ॥

विशेष विवरण—'हसन्तीव, अन्यदिव'-यह उत्प्रेक्षा है । 'हसन्तीव' इस उत्प्रेक्षा से चमत्कारैककारणत्व अंश का लाभ हुआ है । 'अन्यदिव' इस उत्प्रेक्षा से जगत् के नव-नवत्व का लाभ हुआ है । 'कविवदनस्था' कहने से अजडासन-स्थत्व अंश का लाभ हुआ है । उपमानापेक्षया उपमेयोत्कर्षरूप व्यतिरेकालंकार व्यंग्य हो रहा है । 'हसन्तीव और अन्यदिव' इन दो उत्प्रेक्षाओं के द्वारा भारती और उसके निर्माण की, ब्राह्मा और उसकी निर्मिति से भिन्नता व्यक्त की

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिवस्तुरूपव्यङ्ग्याद्वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्थोदाहरणम्)

जे लङ्कागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एह्णिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो-
जादा झत्ति सिसुत्तणेवि बहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥ ६८ ॥

(ये लंकागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ॥ ६८ ॥)

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

गई है। यहाँ हसनादिक, लोकसिद्ध नहीं है और न ही कविवाणी जगत् को अन्यत्र दरसाती है, अतः दोनों उत्प्रेक्षाएँ कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वतःसंभवी और कविप्रौढोक्तिसिद्ध इन दो भेदों के चार-चार अवान्तरभेद प्रदर्शित करने के बाद अब कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध नाम के तृतीय भेद को भी उसके चार अवान्तर भेद के सहित दिखावेंगे। यद्यपि यह तीसरा भेद, द्वितीय भेद के ही अन्तर्गत हो सकता है, तथापि सहृदयों को इस तृतीय भेद में द्वितीय भेद की अपेक्षा अधिक चमत्कार की प्रतीति होती है। कविनिबद्ध वक्ता में राग आदि का आवेश रहने से उसकी उक्ति में अधिक चमत्कार रहना संभव है। अतः इसको कविप्रौढोक्ति से भिन्न मानना ही उचित है ॥ ६७ ॥

(९) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य—

'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक में विचक्षणा नाम की सखी द्वारा वसन्त का वर्णन—

जे लङ्केति (ये लङ्केति)। जो 'पवन' सर्पों के भय से त्रस्त होकर हेमकूट के नितम्ब भाग में स्खलित हो रहे हैं, तथा रतिक्रीडा के श्रम से शिथिल हुई सर्पिणियों की फैली और ऊपर उठी हुई फणावली से पी जाने के कारण क्षीणता को प्राप्त हुए हैं अर्थात् स्वल्पावशेष बचे हुए हैं, वे मलयपवन, इस समय विरह-पीडित सुन्दरियों के श्वासों से किञ्चिन्मात्र सम्पर्क प्राप्त करते ही ऐश्वर्यशाली होकर शिशु अवस्था में भी तारुण्यपूर्ण हुए-से पुष्ट अवयवों वाले हो गये हैं, अर्थात् विरहिजनों के हृदय को पीडित करने में समर्थ हो गये हैं ॥ ६८ ॥

अत्रेति। यहाँ जो व्यञ्जक अर्थ है, वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है। क्योंकि यह अर्थ, राजशेखर कवि के द्वारा कल्पित 'विचक्षणा' नाम

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिवस्तुरूपव्यङ्ग्यादलङ्काररूपव्यङ्ग्यार्थोदाहरणम्)

सहि विरइऊणमाणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥ ६९ ॥

की सखी की कल्पना से प्रसूत है। इस व्यंजक अर्थ से यह व्यग्यार्थ निकल रहा है—'निःश्वासों के सम्पर्क से ऐश्वर्य (शक्ति) प्राप्त कर ये मलयानिल क्या-क्या नहीं करेंगे'—यह 'वस्तु', पद्योक्त वाच्यार्थ रूप वस्तु से व्यंजित की जा रही है ॥ ६८ ॥

विशेष विवरण--स्त्रियों का आहार द्विगुणित होता है, इस कारण 'उरगी' यह स्त्रीलिंग निर्देश किया गया है। क्षुत् की अतिशयता बताने के लिए 'संभोगखिन्ना' कहा गया है। स्फार और उत्फुल्ल इन दो विशेषणों से 'कवलन' में स्थूलता व्यक्त हो रहा है। लंकागिरि से मलयाचल तक आने में समुद्रलंघन के कारण अनिलों में शीतलता, मलय सम्बन्ध से सौगन्ध्य, स्खलन आदि से मन्दता ध्वनित हो रही है। 'लंकागिरि' शब्द से 'हेमकूट' ही समझना चाहिये। जिन लोगों ने 'लंकागिरि' की व्याख्या लंकासन्निहित गिरि अर्थात् मलय की है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'ते एण्हि मलयानिलाः' कथन की संगति नहीं लग सकेगी—ऐसा उद्योत में स्पष्ट लिखा है। उक्त पद्य के द्वारा कविनिबद्धसखीप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वाच्यार्थरूप वस्तु से 'निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्ति'–यह वस्तु व्यंजित की जा रही है। यहाँ पर 'तारुण्यपूर्णा इव'–इस उत्प्रेक्षा के रहने पर भी वह व्यजिका नहीं है। क्योंकि उसकी विवक्षा न करने पर भी वैसी अभिव्यक्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में उत्प्रेक्षा को अप्रयोजक ही क्यों न कहा जाय? उक्तिविशेष का परिपोष करने के कारण उसे अप्रयोजक नहीं कह सकते। उसी तरह 'बहलत्व' के हेतुरूप में 'निःश्वाससम्पर्क' का उपादान करने से यहाँ 'काव्यलिङ्ग' का भी संभव हो रहा है, किन्तु उसे भी व्यंजक नहीं कह सकते। क्योंकि पूर्वोक्त की हेतुत्वेन विवक्षा न करने पर भी वैसी अभिव्यक्ति हो सकती है। वस्तुतः वस्तु की प्रधानता होने से वस्तु की ही व्यंजकता मानना उचित है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से अलंकार के रहने पर भी प्रधानता 'वस्तु' की ही रहने से उसी का व्यपदेश किया गया है। ऐसा सारबोधिनी और उद्योत में स्पष्ट लिखा है ॥ ६८ ॥

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

सहीति (सखीति)। ढाड़स देने वाली सखी से कोई सखी कह रही है—हे सखि! तुम्हारे द्वारा दिये गये धैर्य ने मेरे 'मान' को बहुत-कुछ आश्वासन दिया था

(सखि ! विरचय्यमानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥ ६९ ॥)

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना प्रियदर्शनस्य सौभाग्य-बलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्यलङ्काररूपव्यङ्ग्याद्वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्थोदाहरणम्)

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं ।
रत्तंसुअं पआओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥ ७० ॥

(अरे 'मान' ! तुम दृढतापूर्वक स्थिर रहना, भाग मत जाना, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, इत्यादि ।), किन्तु प्रियतम के दर्शन होते ही, पता नहीं वह 'धैर्य' सहसा कहाँ भाग गया ॥ ६९ ॥

अत्रेति । यहाँ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप जो वाच्यार्थ है, वह 'व्यञ्जक अर्थ' है । उससे व्यंग्य अर्थ यह निकला कि 'प्रियतम के द्वारा मनाये बिना भी प्रेमिका प्रसन्न हो गयी'—इस प्रकार से 'कारण के बिना ही कार्योत्पत्ति' रूप 'विभावना' अलंकार, अथवा 'प्रियतम के दर्शन से प्राप्त सौभाग्य-शक्ति का सामना धैर्य कैसे कर पायेगा ? क्योंकि वह धैर्य तो सखी से उधार लिया हुआ जो है ।'–यह उत्प्रेक्षालंकाररूप व्यंग्य अर्थ है ॥ ६९ ॥

विशेष विवरण—यहाँ प्रियदर्शन-विश्रृंखल क्षण में यानी प्रियतमावलोकनकौतुक-तरलितकाल में 'धीरत्वेन (धैर्येण) अपसृतम्'—इस वाच्यरूप वस्तु से 'अकृतेऽपि प्रार्थने सा (वक्त्री) प्रसन्ना' – यह विभावनालंकार और 'नूनं प्रियदर्शन-सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते'—यह उत्प्रेक्षालंकार व्यंजित किया जा रहा है, अपसरण आदि क्रिया अचेतन (जड़) धैर्य में होना संभव नहीं है फिर भी अपसृतत्वरूप चेतनधर्म का अचेतन धैर्य में आरोप किया गया है इसलिए 'वस्तु' में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धत्व समझना चाहिये ॥ ६९ ॥

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य—

अल्लोल्लेति । सपत्नी के द्वारा किये गये अभिनवनखक्षतादि चिह्नों को पति के शरीर पर देखकर क्रोध से आरक्त नेत्र हुई कोई चतुर नायिका पति के प्रश्न का उत्तर दे रही है—हे प्रिय ! मेरी इन आँखों में क्रोध कहाँ ! रतिक्रीडा के समय तुम्हारी प्रेयसी के द्वारा तुम्हारे इस शरीर पर बिलकुल ताजे नखक्षत तथा दन्तक्षतों ने बड़ी प्रसन्नता से यह रक्तांशुक (लाल रंग का आवरण पट) मेरे नेत्रों को पुरस्कार में दिया है । (उसको धारण करने से ये नेत्र लाल-लाल दिखाई पड़ रहे हैं) ये क्रोध से लाल नहीं हैं ॥ ७० ॥

(आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ।। ७० ।।

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्यलङ्काररूपव्यङ्ग्यादलङ्कारध्वनेरुदाहरणम्)

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ।। ७१ ।।

(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ।। ७१ ।।

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति विशेषोक्तिः ।

अत्रेति । यहाँ 'तुम आँखें लाल क्यों कर रही हो' ? इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप यह पद्य है, अतः 'उत्तरालंकार' है । यही यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध उत्तरालंकार व्यंजक अर्थ है । क्योंकि प्रश्न का उन्नयन स्पष्ट हो रहा है । उससे 'तुम केवल अपने आर्द्रक्षतों को छिपा नहीं रहे हो, किन्तु मैं भी उनकी प्रसादपात्र हो गई हूँ ।' यह वस्तु व्यक्त की जा रही है ।। ७० ।।

विशेष विवरण—'कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते' कहकर यह बताया है कि 'अपह्नुति' - अलंकार के सहित 'उत्तरालंकार' से तुम केवल अपने नवीन नखक्षतों को ही नहीं छिपा रहे हो, अपितु मेरे ऊपर भी उनकी कृपा हो गई है, क्योंकि उनके छिपाने के लिए ही तुम मेरा आलिंगन आदि कर रहे हो—यह 'वस्तु' ध्वनित हो रही है ।। ७० ।।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य--

महिलेति । विरह से कृश हुई नायिका के बारे में नायक से कोई सखी कह रही है—अरे रसिक युवक ! तुमसे अधिक भला सौभाग्यशाली कौन हो सकता है । सहस्रों सुन्दरियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न समा सकने के कारण वह सखी सब कामकाज छोड़कर अपने दुबले शरीर को और भी अधिक दुबला कर रही है जिससे किसी तरह प्रवेश पा सकूँ ।। ७१ ।।

अत्र हेत्वलंकारेणेति । यहाँ पर हेत्वलंकार (काव्यलिंग अलंकार) से 'शरीर को कृश करने पर भी वह तुम्हारे हृदय में प्रविष्ट नहीं हो पा रही है'—अर्थात् कृशतारूपी कारण के होने पर भी 'प्रवेश' रूप कार्य के न होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार यहाँ व्यंग्य है ।। ७१ ।।

विशेष विवरण--अपने प्रेमी युवक के हृदय में प्रवेश न पाने का हेतु, यह बताया गया है कि उसके हृदय में सहस्रों सुन्दरियों का निवास हो रहा है ।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः ॥

(उभयशक्त्युत्थध्वनिः)

(सू० ५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

(उभयशक्तिमूलकध्वनेरुदाहरणम्)

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥ ७२ ॥

तथा दुर्बल शरीर को और अधिक दुर्बल बनाने में भी वही **'प्रवेश न पा सकना'** हेतु है। ये दोनों हेतु लोकव्यवहारसिद्ध नहीं हैं, अपितु काव्यसिद्ध हैं। 'सुभग' संबोधन से यह व्यक्त किया गया है कि नायिका ही तुम पर अनुरक्त है, तुम उस पर अनुरक्त नहीं हो। **'महिलासहस्र'** से तुम उन पर अनुरक्त हो, वे तुम पर अनुरक्त नहीं हैं—यह ध्वनित होता है। 'अमान्ती' में **'महिलासहस्रभरितत्व'** हेतु है, और 'तनूकरण' में 'अमान्तीत्व' हेतु है—इन दोनों हेत्वलंकारों से **'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते'**—यह विशेषोक्ति अलंकार **व्यंजित** हो रहा है। **'कारणसत्त्वेऽपि कार्यानुत्पत्तिः'**—यह विशेषोक्ति का लक्षण है ॥ ७१ ॥

एष्विति। इन चारों में व्यंजक अर्थ, कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध है। उसमें भी प्रथम और चतुर्थ उदाहरणों में कविनिबद्धा 'सखी' वक्त्री है, और द्वितीय और तृतीय उदाहरणों में कविनिबद्धा 'नायिका' वक्त्री है। इस प्रकार **अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के बारह भेद** होते हैं ॥ ७१ ॥

उपर्युक्त प्रकार से संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के (अर्थशक्त्युत्थध्वनि के १२ और शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के २ भेद) **१४ भेदों का** निरूपण कर दिया गया। अब **उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के एक** (संलक्ष्यक्रमध्वनि के पन्द्रहवें) **भेद** को बता रहे हैं।

उभयशक्त्युत्थध्वनि का भेद—

(सू० ५५) **संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का शब्द और अर्थ उभय** की शक्ति से सिद्ध (उभयशक्त्युत्थ) **एक भेद** होता है। **'अतन्द्रचन्द्राभरणाः'** पद्य से दो अर्थों की प्रतीति होती है, एक **रात्रिपक्ष में** और **दूसरा नायिकापक्ष में।**

उभयशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण—

अतन्द्रेति। (रात्रि-पक्ष में) **'अतन्द्रचन्द्राभरणा'**—मेघ आदि के आवरण से रहित होने के कारण चमकने वाले चन्द्रमा से विभूषित, **'समुद्दीपितमन्मथा'**—काम के उद्दीपन करने में समर्थ, **'तारकातरला'**—छिटपुट यानी स्वल्प नक्षत्रों वाली ऐसी **'श्यामा'—चान्दनी रात किसे आनन्ददायिनी नहीं होती।**

(नायिका-पक्ष में) आलस्य से रहित और कर्पूर के अंगराग से विलिप्त अंगों

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

(ध्वनेरष्टादशभेदाः)

(सू० ५६)—भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥

अस्येति ध्वनेः ।

वाली अथवा सुवर्ण-निर्मित शिरोभूषण से सजी हुई, और कामवासनाओं को जागरित कर देने वाली, कटाक्ष में फंसी हुई अथवा नक्षत्र की तरह चमकते हार में सुशोभित मध्य-मणि वाले हार को पहने हुई **षोडशवार्षिकी 'श्यामा' नायिका किस पुरुष को आनन्दित नहीं करती है ॥ ७२ ॥**

अत्रोपमेति । यहाँ निर्दिष्ट विशेषणों से युक्त **'श्यामा'--रात्रि के तुल्य षोडश-वार्षिकी नायिका**—इस प्रकार 'उपमा' अलंकार व्यंग्य है ।

विशेष विवरण—श्यामा नायिका का लक्षण—'**शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला । सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता ॥**' उपर्युक्त रीति से अर्थद्वय की प्रतीति होने पर '**स्त्री-विशेष इव रात्रिः**' यह '**उपमालंकार**' अथवा '**ज्यौत्स्नी रात्रिरिव नायिका**'—यह उपमालंकार प्रतीत होता है । इसी से वृत्ति में कहा गया है कि '**अत्रोपमा व्यंग्या**' इति । यहाँ पर **श्यामारूप कामिनी-विशेष और रजनी दोनों में** 'उपमा' व्यंग्य है । तथा यहाँ पर '**चन्द्रतारकातरलश्याम**' **आदि शब्द--परिवृत्त्यसहिष्णु हैं** । यदि इनकी जगह पर्याय-शब्दों को रखा जाय तो अन्यार्थ के बोध का होना संभव नहीं होगा, किन्तु '**अतन्द्राभरण, समुद्दीपितमन्मथ**' **आदि शब्द-परिवृत्तिसहिष्णु हैं** । क्योंकि इनकी जगह 'अनिद्र, भूषण, समुत्तेजित, काम' आदि पर्याय शब्दों को रखने पर भी तदर्थ प्रतीति हो सकती है—इस प्रकार उभयशक्तिमूलत्व को समझना चाहिये ।

प्रदीपकार ने जो कहा है कि '**अतन्द्रेत्यादेः परिवृत्त्यसहतया**' और '**चन्द्र-समुद्दीपिततारकाशब्दाः परिवृत्त्यसहिष्णवः, अन्ये न तथा**' यह **सारबोधिनी-कार** का कथन अनादरणीय है—ऐसा **सुधासागरकार** ने स्पष्ट कहा है । एवं च यह 'उपमा' कुछ शब्दों के परिवृत्त्यसह होने से तथा कुछ शब्दों के **परिवृत्तिसह** होने से, **प्राधान्येन दोनों की ही व्यंजकता होने से शब्दार्थोभयशक्ति-मूला है ॥ ७२ ॥**

अब शिष्यों के सुखावबोधार्थ ध्वनि के उक्त भेदों का परिगणन करते हैं—

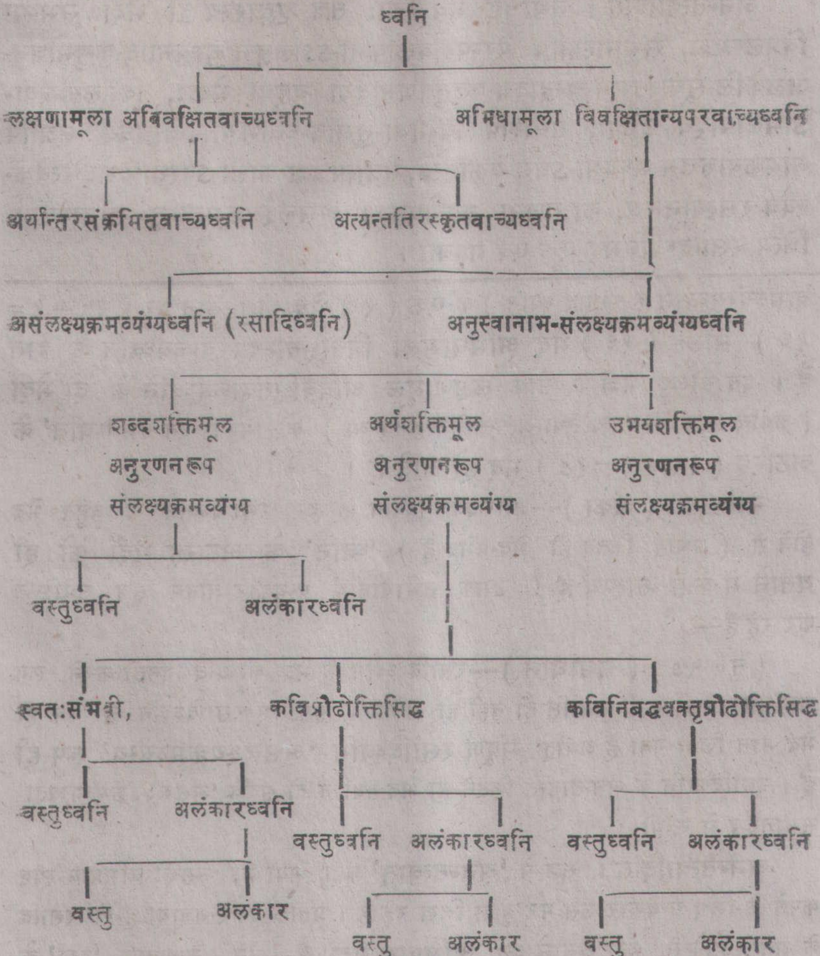
ध्वनि के अठारह मुख्य भेद—

(सू० ५६) तस्मात् इस ध्वनि के **अठारह भेद** होते हैं ।

अस्येति । इसके अर्थात् ध्वनि के ।

विशेष विवरण—सूत्र ५६ में प्रयुक्त **'अस्य'** का अभिप्राय **'ध्वनि'** काव्य से है। सन्निहित कहे गये **'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि'** से नहीं है।

ग्रन्थकार ने ध्वनि काव्य के जो अठारह भेद बताये हैं वे इस प्रकार हैं—



उपर्युक्त रेखाचित्र में 'अनुस्वानामसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' में—**शब्दशक्त्युत्थ** (शब्दशक्तिमूल-अनुरणनरूप-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के **दो (२) भेद,** और **अर्थ-शक्त्युत्थ** (अर्थशक्तिमूल-अनुरणनरूप-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के **बारह (१२) भेद,** तथा **उभयशक्त्युत्थ** (उभयशक्तिमूल-अनुरणनरूप-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) का **एक (१) भेद**—सब मिलकर **पन्द्रह (१५) भेद** हुए। इन पन्द्रह भेदों के साथ **'असंलक्ष्य-**

(रसादिध्वनेरेक एव भेदे हेतुः)

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(सू० ५७) रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथा हि नव रसाः तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ संभोगो विप्रलम्भश्च, संभोगस्यापि परस्परविलोकना-ऽऽलिङ्गन-चुम्बनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्तमय-चन्द्रोदय-षड्तुवर्णनादयो बहवो भेदाः, विप्रलम्भस्या-ऽभिलाषादय उक्ताः, तयोरपि विभावा-नुभाव-व्यभिचारि-वैचित्र्यं, तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यमा-ऽधम-प्रकृतित्वं, तत्रापि देश काला-ऽवस्थादिभेद इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यं, का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

क्रमव्यंग्यध्वनि (रसादि ध्वनि) के एक (१) **भेद** को मिलाने पर (१५ + १ = १६) **सोलह (१६) भेद अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि** के होते हैं। इन सोलह भेदों के साथ **लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेदों** (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) को मिला देने पर **'ध्वनि' के अठारह (१६ + २ = १८) भेद हो जाते हैं** ।

नन्विति । (शंका)—असंलक्ष्यक्रमध्वनि में ही 'रसादिध्वनि' के बहुत भेद होने से (अर्थात् कितने ही भेद-प्रभेद हैं) **'ध्वनि' के अठारह भेदों को ही बताने में क्या तात्पर्य है ?** उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार अग्रिम सूत्र उपस्थित कर रहे हैं—

(सू० ५७) **(समाधान)**—रसादि ध्वनि के भेदों की यदि गिनती करने लग जायँ तो उसकी कभी समाप्ति ही नहीं हो पायेगी । इसलिए रसादिध्वनि का एक ही भेद मान लिया गया है अर्थात् **संपूर्ण रसादिध्वनि–'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' रूप ही है** । रसादिध्वनि के अनन्तानन्त कितने ही भेद क्यों न हों सर्वत्र 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता' समानरूप से रहेगी ।

अनन्तत्वादिति । सूत्र में **'अनन्तत्वात्'** कहा गया है, उसका अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार उस पर वृत्ति लिख रहे हैं । प्रतीक देकर बताया है कि रसादि के अनन्त होने से **इसे बताने का अभिप्राय यह है**—जैसे, मुख्यतया **'रस' के नव भेद तो प्रसिद्ध ही हैं** । उनमें से शृंगार के दो भेद—(१) संभोग, (२) विप्रलंभ । उनमें से संभोग के भी परस्पर अवलोकन, आलिंगन, चुम्बन आदि तथा कुसुमोच्चय, जलक्रीडा, सूर्यास्तमय, चन्द्रोदय तथा षड्ऋतुवर्णन, आदि अनेक भेद हो सकते हैं । दूसरे **विप्रलंभ शृंगार के–(१)** अभिलाष, **(२) ईर्ष्या, (३)** विरह, **(४) प्रवास और (५) शाप** आदि हेतुओं से सम्पन्न **पाँच भेदों** को पहले ही

(उभयशक्त्युत्थध्वनेर्वाक्यव्यङ्ग्यतैव)

(सू॰ ५८) वाक्ये द्व्युत्थः—

बताया जा चुका है। उन दोनों में भी अनेक अवान्तर भेदों सहित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का वैचित्र्य होने से अनेक भेद हो सकते हैं। उस वैचित्र्य में भी पुनः संभोग तथा विप्रलंभ दोनों प्रकार के श्रृंगारों में नायक-नायिका की (त्रिविध प्रकृतियों के कारण) उत्तम, मध्यम और अधमादि भेद से भिन्नता भी हो सकती है। इस प्रकृति-वैचित्र्य में देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद आदि का वैचित्र्य भी होगा। इस प्रकार एक ही श्रृंगार रस के अनन्त भेद हो जाते हैं। जब एक रस की गणना का ही कोई अन्त नहीं, तब अन्य रस और भाव तथा उन दोनों के आभास आदि की गणना करने की शक्ति किसमें हो सकती है? इसलिए रसादि ध्वनि का एक ही भेद कहकर विश्राम लिया गया है। चाहे रस के कितने ही भेद-उपभेद क्यों न हों उन सभी में 'असंलक्ष्यक्रमत्व' या 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता' रूप धर्म तो समान ही है। एवं च असंलक्ष्यक्रमत्व की समानता को लेकर 'रसादिध्वनि' का एक ही भेद माना गया है।

उपर्युक्त ध्वनि के अठारह भेदों का और-भी विस्तार प्रदर्शित किया जायगा। इन मुख्य अठारह ध्वनिभेदों में द्व्युत्थ (उभयशक्त्युत्थ यानी शब्दार्थोभयमूलक) जो ध्वनिभेद है, वह केवल वाक्य में ही रहता है, अर्थात् उसे केवल वाक्य व्यंग्य ही माना जाता है। निष्कर्ष यह है कि पदसमूहरूप वाक्य की व्यंजकता पर ही द्व्युत्थ निर्भर रहता है। बाकी बचे हुए सतरह (१७) के पदगत तथा वाक्यगत भेद होते हैं। इस प्रकार अवशिष्ट सतरह ध्वनियों के द्विगुणित हो जाने से (१७ × २ = ३४) चौंतीस भेद होते हैं। उनमें से पूर्वोक्त जो बारह (१२) भेद बताये थे, वे 'प्रबन्ध' में भी होने से उसके बारह (१२) भेद और-भी हो सकते हैं। उन बारह (१२) भेदों और उभयशक्त्युत्थ के एक (१) भेद को जोड़ देने पर सैंतालीस (१ + ३४ = ३५ + १२ = ४७) भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि के पदांश, वर्ण, रचना तथा प्रबन्धगत रहने से चार (४) भेद और होते हैं, उन चारों (४) भेदों को जोड़ने पर इक्यावन (४७ + ४ = ५१) भेद हो जाते हैं।

ध्वनि के पूर्वोक्त अष्टादश (१८) भेदों का निरूपण करने के अनन्तर अब अगले इक्यावन भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

उभयशक्त्युत्थध्वनि के एक भेद की वाक्यव्यङ्ग्यता—

(सू॰ ५८) उभयशक्त्युत्थ ध्वनि केवल वाक्य में होता है।

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

(सप्तदशध्वनिभेदानां पदव्यङ्ग्यताऽपि)

(सू० ५९)—पदेऽप्यन्ये—

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि । एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्याऽपि भारती भासते ।

द्व्युत्थ इतीति । 'द्व्युत्थ' अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूल-ध्वनि का केवल 'वाक्यगत' एक ही भेद होता है ।

विशेष विवरण—'द्व्युत्थ' (द्विमूलक) कहने से यहाँ पर 'शब्दार्थोभयशक्ति-मूलक ध्वनिविशेष को ही समझना चाहिये । पूर्वोक्त शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्ति-मूलक द्विविध ध्वनियों को नहीं । इस द्व्युत्थ ध्वनि की वाक्यव्यंजकता का स्वरूप 'अतन्द्रचरणाभरणा' उदाहरण से स्पष्ट किया जा चुका है ।

सत्रह ध्वनिभेदों की पद एवं वाक्यव्यङ्ग्यता—

(सू० ५९) अन्य सत्रह भेद, 'वाक्य' के अतिरिक्त 'पद' में भी होते हैं । अर्थात् जो सत्रह ध्वनि भेद हैं, वे वाक्य-व्यंग्य तो होते ही हैं, साथ ही साथ पद-व्यंग्य भी होते हैं ।

अपिशब्दादिति । सूत्रगत 'अपि' शब्द से अन्य सत्रह (१७) भेद वाक्य में भी होते हैं । (इस प्रकार इन सत्रह भेदों के पदगत तथा वाक्यगत दो भेद हो जाने से चौतीस [१७ × २ = ३४] भेद हो जाते हैं) ।

शंका—व्यंग्यार्थ का द्योतक यदि 'पद' है तो उससे 'पदार्थ' की चारुता (सुन्दरता) होगी । अतः 'पद' को ही 'ध्वनि' कहा जाय । 'काव्य' को ध्वनि नहीं कहना चाहिये, क्योंकि काव्यरूप जो 'वाक्य' और 'वाक्यार्थ' हैं, उनमें चारुत्वाधायक चारुत्व का अभाव है । अभिप्राय यह है कि यदि 'पद' को व्यंग्य अर्थ का द्योतक माना जाय तो 'वाक्यव्यंग्य' की अपेक्षा 'पदव्यंग्य' के चमत्कारजनक (अतिशायी) होने से 'पद' को ही (वाक्यरूप काव्य के अवयव को ही) उत्तम काव्य कहना चाहिये । अतः वही ध्वनि होगा । संपूर्ण वाक्य-रूप काव्य को ध्वनि नहीं कहा जायगा । किन्तु 'ध्वनि' तो उत्तम काव्य को ही कहा करते हैं, जैसे—'इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः'—को ही ध्वनि कहा गया है ।

समा०—जिसके अन्तर्गत रहने वाले पद के द्वारा द्योत्य यानी अतिशयित अर्थ, चारुता के साथ व्यंजित किया जाता है, उसी में 'ध्वनित्व' रहता है । ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने एक दृष्टान्त देकर इसे स्पष्ट किया है । जैसे—

एकावयवस्थितेनेति । किसी एक ही अंग में धारण किये गये अलंकार

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

(पदव्यङ्ग्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः)

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥ ७३ ॥ (१)

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्व-नियन्त्रणीयत्व-स्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः ।

(आभूषण) से कामिनी सुशोभित हो उठती है, वैसे ही पद के द्वारा द्योत्य व्यंग्य से श्रोत्रग्राह्य वाक्य द्वारा कवि की स्फोटरूप व्यंग्य वाणी भी शोभित होती है ।

विशेष विवरण—'पदेऽप्यन्ये' सूत्रगत 'अन्ये' का अर्थ है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि सत्रह भेद, वाक्य में और पद में भी होते हैं। सूत्रस्थ 'अपि' शब्द को अनुक्त पदांश आदि का समुच्चायक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अलंकारादि 'पदांश' आदि से व्यंग्य नहीं हुआ करते। अभिप्राय यह है कि व्यंग्यार्थ की उपस्थिति में जहाँ प्राधान्येन एक ही पद की अनुकूलता रहे, और बाकी अन्य केवल सहकारी मात्र रहें, तब वहीं पर पदनिष्ठता मानी जाती है। और जहाँ अनेक पद वैसे हों वहाँ वाक्यगत माना जाता है। उद्योतकार ने भी इसी प्रकार कहा है।

पदद्योत्य लक्षणामूल ध्वनि के सत्रह (१७) उदाहरण—

तत्रेति। उनमें से पदप्रकाश्य सत्रह भेदों के सत्रह उदाहरणों में से सर्वप्रथम अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूलध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि, दोनों के पदद्योत्य उदाहरण क्रमशः उपस्थित कर रहे हैं।

१. लक्षणामूल-पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—

यस्य मित्राणीति—उसी मनुष्य का जन्म लेना वास्तविक जन्म कहने योग्य है; जिसके मित्र, वस्तुतः मित्र हैं, जिसके शत्रु, वस्तुतः शत्रु (दमनीय) हैं, और जिसके कृपापात्र, सचमुच कृपापात्र हैं। अर्थात् उसी का जन्म लेना और जीवित रहना सार्थक है ॥ ७३ ॥ (१)

अत्रेति। यहाँ पुनरुक्ति के भय से द्वितीय 'मित्र' आदि शब्द क्रम से (१) आश्वस्तत्व, (२) नियन्त्रणीयत्व, तथा (३) स्नेहपात्रत्व आदि 'अर्थान्तर' में संक्रमितवाच्य हैं। लक्षणामूलक ध्वनि होने से ऊपर लक्ष्य अर्थ को दिखाया गया है ॥ ७३ ॥

विशेष विवरण—पद्यगत द्वितीय 'मित्र' शब्द 'आश्वस्तत्व' अर्थ में, द्वितीय 'शत्रु' शब्द 'नियंत्रणीयत्व' अर्थ में, द्वितीय 'अनुकम्प्य' शब्द 'स्नेहपात्रत्व' अर्थ में संक्रमित वाच्य हैं। यहाँ पर द्वितीय 'मित्र' आदि शब्द, अनुपयुक्त होने के

(पदव्यङ्ग्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः)

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणं ।
हिअअवअस्सबहुमआ णहु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥ ७४ ॥ (२)
(खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथाऽपि धीराणाम् ।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥ ७४ ॥)

अत्र विमुह्यन्तीति ।

कारण अविवक्षित वाच्य होकर 'आश्वस्तत्व' आदि अर्थों को लक्षणा से बताते हैं। लक्षणा करने का फल यह हुआ कि नायक की उचित व्यवहारिता रूप व्यंग्य अर्थ, निष्पन्न हुआ,—यह फल उपादानलक्षणा से हुआ। इस पद्य में प्रत्येक वाक्यार्थ, अपने में ही विश्रान्त होने से सबकी एकवाक्यता नहीं है। उस कारण प्रत्येक वाक्य के एक-एक पद में ही व्यंजकता है। संपूर्ण वाक्य में व्यंजकता नहीं। इसलिए यह 'ध्वनि' पदप्रकाश्य है।

'त्वामस्मि वच्मि' (च० उ० श्लो० २३) यहाँ पर एकवाक्यगत सभी पदों से व्यंग्यार्थ की उपस्थिति हो रही है, इसलिए यहाँ पर 'ध्वनि' वाक्यप्रकाश्य है। यही दोनों में अन्तर है ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का एक हिन्दी पद्य भी देखने योग्य है—

'राधा अति गुन आगरी स्वर्न बरन तनु रंग ।
मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥'

इस दोहे में पहला 'मोहन' शब्द सामान्य रूप से 'कृष्ण' का वाचक है। किन्तु द्वितीय 'मोहन' शब्द सबको मोहित करने की शक्ति से युक्त 'मोहन' का सूचक है, अतः अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। इस कारण पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि का यह उदाहरण है।

२. लक्षणामूल-पदद्योत्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि—

खलववहारा इति। (खलव्यवहारा इति)। यद्यपि धूर्तों (शठों) के व्यवहार, (चरित्र) दूसरों के अभीष्टविघातक होने से दारुण (भयंकर) देखे जाते हैं; तथापि सदर्थग्राहिता के कारण हृदयरूपी मित्र के द्वारा अनुमोदित किये गये धीर पुरुषों के निश्चय, अटल ही (स्थिर ही) रहते हैं। अर्थात् धैर्यशाली महापुरुषों के व्यवसाय (उद्योग = प्रयत्न) प्रतिबद्ध (रुकते) नहीं हैं, अपि तु बराबर चलते ही रहते हैं ॥ ७४ ॥ (२)

अत्र विमुह्यन्तीति। यहाँ 'विमुह्यन्ति' पद, 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' होकर व्यञ्जक हुआ है।

(पदव्यङ्ग्योऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः)

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान्॥ ७५॥ (३ क)

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते। यथा वा—

विशेष विवरण—यहाँ पर 'विमुह्यन्ति' इस एक ही पद की व्यंजकता होने से 'पद'-प्रकाश्य ध्वनि है।

'उपकृतं बहु तत्र'—(च० उ० श्लो० २४) इसमें सभी पदों को व्यंजकता रहने से 'वाक्य'-प्रकाश्य ध्वनि निष्पन्न हुआ था। यही दोनों में अन्तर है। यहाँ अचेतन 'व्यवसाय' में 'विमुह्यन्ति' का विमोहरूप मुख्यार्थ बाधित होकर कार्य-कारणभाव संबन्ध से 'प्रतिबन्ध' अथवा 'विराम' यानी अप्रवृत्ति अर्थ को 'विमुह्यन्ति' पद लक्षणा से बता रहा है, और उससे 'सर्वथा इष्टकार्यकारित्व' रूप व्यंग्य अर्थ निष्पन्न हो रहा है—यह लक्षणा का फल है। 'व्यवसाय' के साथ 'विमोहात्यन्ताभाव' का अन्वय, अनुपपन्न नहीं है, तब लक्षणा करने की आवश्यकता क्यों हुई ? क्योंकि अन्वयानुपपत्ति होने पर ही लक्षणा की जाती है। इसका उत्तर तो यह है कि यहाँ पर अधीर लोगों की अपेक्षा धीर लोगों का वैलक्षण्य बताना है। किन्तु उसे बिना लक्षणा के बताना संभव नहीं है, क्योंकि अधीर लोगों के व्यवसाय (प्रयत्न) में भी विमोहात्यन्ताभाव दृष्टिगोचर होता है॥ ७४॥

अभिधामूल-पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के दो उदाहरण—

इसके पूर्व 'अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि के 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' दोनों भेदों के 'पदप्रकाश्य' होने वाले ध्वनि के दो उदाहरण बताये गये थे।

अब 'विवक्षितवाच्य' (अभिधामूलक) ध्वनि के 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' - का एक भेद के 'पदप्रकाश्यव्यंग्य' के दो उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं।

१. अभिधामूल-पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—

लावण्यमिति। किसी वियोगी का यह परामर्श है। वह लावण्य, जो एकमात्र अनुभवैकगम्य था, और वह कान्ति, जो आश्चर्य में डुबो देती थी, और वह अद्भुत संस्थान-सौष्ठव अथवा रंग, और बोलने की वह विलक्षण परिपाटी, ये सब उसके सन्निधान के कारण अनुभवदशा में अमृत के तुल्य लगते थे, किन्तु अब उसके वियोग में तो वे सभी महान् तापदायक ज्वर के तुल्य प्रतीत हो रहे हैं॥ ७५॥ (३ क)

अत्र तदादिपदैरिति। यहाँ 'तत्' आदि शब्दों से तत्कालीन अनुभव किये हुए अर्थ, व्यंग्यरूप से प्रकाशित हो रहे हैं॥ ७५॥

यह पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य विप्रलंभश्रृंगार का उदाहरण है।

(पदव्यङ्ग्योऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः)

मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥ (३ख)

विशेष विवरण—लावण्य का लक्षण—

'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमुदाहृतम् ॥'

उपर्युक्त उदाहरण में विप्रलंभ की प्रतीति कराने वाली विभावादि सामग्री के रहने पर भी 'तत्' 'असौ' 'स' आदि पदों की प्रधानता रहने से पदव्यंजकता है। अर्थात् 'तद्' आदि सर्वनाम पदों के संयोग से ही यहाँ आनन्दानुभव हो रहा है। क्योंकि इन्हीं सर्वनाम पदों के द्वारा वियोगी व्यक्ति की अनुभवैकगम्य अनिर्वचनीय भावनाओं की अभिव्यक्ति ही 'विप्रलंभ' को परिपुष्ट कर रही है। प्रदीप और उद्योत में कहा है कि 'अत्र विप्रलंभव्यंजके वाक्येऽनुभवैकगोचरमर्थं प्रकाशयतां तदादिपदानां प्राधान्यम् । लावण्यादेरनुभवैकगोचरत्वादिना स्मरणस्य विप्रलंभपोषकत्वात्' ॥ ७५ ॥

केवल सर्वनाम पद ही 'रस' आदि के व्यंजक नहीं होते; किन्तु 'अन्य पद' भी व्यंजक हो सकते हैं—इसे बताने के लिए 'संभोग' में भी उसी पदप्रकाश्य ध्वनि का एक उदाहरण दे रहे हैं—

२. अभिधामूल-पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि—

'अमरुशतक' से यह पद्य, उदाहरण के रूप में लिया गया है। मानोपदेश करने वाली किसी सखी के प्रति नायिका की यह प्रत्युक्ति है—

मुग्धे इति। अरी ! मेरे समझाने पर भी ध्यान न रखने वाली ! क्या तू इतने भोलेपन से ही अपना संपूर्ण जीवन अर्थात् यौवन बिता देगी? इतनी मुग्धा बनी रहना ठीक नहीं है। इस तरह तुम्हारा प्रियतम तुम्हारे अधीन नहीं हो पायगा। उसे अपने वशंगत करने के लिए 'मान' करना सीख। 'मान' करने में अपने धैर्य (धीरज) को मत खो देना। अर्थात् शीघ्र मान भंग मत कर देना। प्रियतम के सामने हमेशा ऐसी इतनी ऋजुता (सिधेपन) से काम नहीं चलता। अतः इतनी सरलता को त्याग दे। सखी के द्वारा बार-बार इतना समझाये जाने पर भी अकृत्रिमानुरागवती वह नायिका भयभीत हो उठी; और भयविह्वलमुखी होकर इतना ही अपनी सखी से कह पायी कि अरी सखी ! धीरे बोल, नहीं तो मेरे हृदय में निरंतर विराजनेवाला मेरा प्राणेश्वर यह सब कहीं सुन न ले ॥ ७६ ॥ (३ ख)

अत्र भीताननेति। एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते।

अत्र भीताननेति। यहाँ पर 'भीतानना'—यह व्यंजक पद है। उससे 'धीरे बोलने का विधान'—उचित प्रतीत हो रहा है।

विशेष विवरण—यहाँ पर नायिका ने अपनी सखी से 'नीचैः शंस' कहकर 'नीचैः शंसन'—धीरे बोलने का विधान किया है, उसने अपनी सखी से 'मा एवं शंस'-ऐसा मत कह—नहीं कहा, क्योंकि सखी का वाक्य परिहार्य नहीं हुआ करता। इस पद्य में 'अखिल' पद से 'यौवनकाल' का संग्रह किया गया है। उससे यह अभिप्राय निकला कि 'मुग्धता' का समय तो 'मुग्धता' में ही बीत चुका। चलो; जो हुआ सो हुआ। क्या अब इस 'यौवनकाल' को भी मानचातुरी के बिना ही बिता रही हो? यह अनुचित कर रही हो। ऐसी व्याख्या अमरुशतक के व्याख्याकार 'देवशंकर' ने की है।

यहाँ पर संभोग श्रृंगार रूप 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' है, उसकी प्रकर्षता में कारण 'भीतानना' यह व्यंजक पद है। क्योंकि 'नीचैः शंस' कहने का औचित्य 'भीतानना' पद से ही प्रकट किया जा रहा है। अतः 'भीतानना' से पदप्रकाश्य ध्वनि यहाँ पर दिखाया गया है।

'शून्यं वासगृहम्'—(चतु० उ० श्लो० ३०) में ऐसा कोई व्यंजकपद नहीं है, इसलिए वहाँ वाक्यप्रकाश्य ही ध्वनि है। यही दोनों में अन्तर है। इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के दो उदाहरण 'पदद्योत्यध्वनि' के दिये गये हैं। उनमें प्रथम उदाहरण 'विप्रलंभश्रृंगार' का और द्वितीय 'संभोगश्रृंगार' का है।

उदाहरण में दिये गये इसी पद्य का अनुवाद महाकवि बिहारी ने भी किया है—

'सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुए कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥

अमरुक कवि के ढाई चरणों के भाव को बिहारी ने केवल 'सखी सिखावत मानविधि' इन चार शब्दों से ही प्रकट कर दिया है। सखी के सिखाये मानविधि को सुनकर अमरुक की नायिका भयभीत होकर उससे कहती है 'प्रतिवचस्तामाह भीतानना'। किन्तु बिहारी की नायिका मुँह से नहीं बोलती है, क्योंकि मुँह से यदि कहूँगी तो हृदय में बसे प्राणेश्वर तो सुन ही लेंगे। इसलिए 'सैननि बरजति बाल'—आँख के इशारे से ही उसे रोक रही है। अमरुक की नायिका के 'प्राणेश्वर प्रियतम' उसके हृदय में बैठे हैं, किन्तु बिहारी की नायिका ने 'बिहारी जी' को बाँध-के रखा है, क्योंकि 'वे बिहारी जो ठहरे, विहार करना तो उनका काम ही है' जो एक जगह बंधकर रहते नहीं, उन्हीं बिहारीलाल को सदा के लिए बाँध लेने में और भी गौरव है॥ ७६॥

भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकन्न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

(पदप्रकाश्यवस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः)

रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः ।
झटिति भ्रुकुटितविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप ! भीम ! ॥७७॥ (४)

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम्

भावादीनामिति । 'भाव' आदि के पदप्रकाश्यत्व में अधिक वैचित्र्य नहीं रहता है, इसलिए उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

विशेष विवरण—उपर्युक्त 'आदि' पद से **'तदाभासादिकों'** का संग्रह किया गया है । **'अधिकं न वैचित्र्यम्'** कहकर यह सूचित किया है कि **वाक्य की अपेक्षा पदों में अतिरिक्त चारुता** (आस्वादजनकता) **नहीं है** । अर्थात् भावादिकों का तो वाक्य में भी रससदृश चारुत्व नहीं है, तो पदप्रकाश्यता में उनका चारुत्व कैसे हो सकता है ? अतः उनके प्रभेदों को नहीं बताया जा रहा है ।

पदद्योत्य संलक्ष्यक्रम-शब्दशक्त्युत्थध्वनि के दो उदाहरण—

१. पदद्योत्य वस्तु से अलङ्कारध्वनि—

अब **'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य'** के शब्दशक्तिमूलक भेद में **पदप्रकाश्य वस्तु से अलंकारध्वनि** का उदाहरण दे रहे हैं।

रुधिरेति । रुधिर-प्रवाह से रंगी हुई तलवार के द्वारा **शत्रु तथा मित्रों के लिए क्रमशः भयंकर और मनोहर** (सुन्दर), और शत्रुरक्ष की विजय के निरोधक होने से भुज ही जिसका परिघ (अर्गल) बन गया है ऐसे, और त्वरित हो भ्रूभंग से अंकित ललाटफलकवाले **हे भीम** (भयंकर) **राजन् ! आप सचमुच भीमसेन के तुल्य सुशोभित हो रहे हैं** ॥ ७७ ॥ (४)

अत्र भीषणीयस्येति । यहाँ पर **'भीषणीय'** अर्थ वाले **'भीम'** पद को **'नृप'** का **विशेषण** बना देने से 'भीम' पद के द्वारा **'भीमसेन'** की उपमा व्यंजित की जा रही है । अर्थात् **भीषणीय प्रकृत 'नृप' उपमेय है और 'भीमसेन' उपमान है** ॥ ७७ ॥

विशेष विवरण—'भीषणीयस्य' का अर्थ—**'भीषयतीति भीषणीयः तस्य, अर्थात् प्रकृतनृपस्य ।'** 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से बाहुलकात् कर्तरि 'अनीयर्' प्रत्यय किया गया है । तब उसका अर्थ **भयंकर** हुआ । 'भीम' पद 'अभिधा' से 'भीषणीय' को बोधित करता है । उस 'भीषणीय' का 'भीमसेन' उपमान है—यह व्यञ्जना से गम्य होता है । तथा च **'भीमसेन इव भीषणः'—यह उपमालंकार, अभिधामूल व्यञ्जना के द्वारा पदप्रकाश्य होता है** । **'भीम' का वाच्य अर्थ भयंकर है, और पाण्डव-विशेष 'भीमसेन'-व्यंग्य अर्थ है** । अर्थात् उन दोनों में जो 'उपमा' है, वह भी व्यंग्य है । एवं च यहाँ पर **'भीम' पद की महिमा से 'भीमसेनोपमा'**

(पदद्योत्यो वस्तुध्वनिः)

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥ (५)

काचित्सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति ।

व्यंग्य हो रही है, इसलिए यह पदप्रकाश्यध्वनि है। किन्तु 'उल्लास्यकाल-करवाल०'—(चतु० उ० श्लो० ५४) में जो उपमा है; वह, वाक्यव्यंग्या है, क्योंकि उसमें 'देव', 'धारा' आदि अनेक पदों के होने से, वहाँ की अभिधामूला व्यंजना, वाक्यगत ही है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'रूपकालंकार' का सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर 'त्रिमासि' क्रिया मध्यम पुरुष में है। अतः उसका अन्वय संबोध्य उपमेय के साथ तो है, किन्तु उपमान के साथ नहीं है। 'रूपक अलंकार' वहीं होता है, जहाँ विधेय के रूप में प्रधानता से अन्वित होने वाली वस्तु रहती है। रूपक में विधेयप्राधान्येनैव अन्वय होने से 'मुखचन्द्रो हसति' यहाँ पर जो 'हसन' है, वह रूपक में बाधक है, किन्तु उपमा में साधक है ॥ ७७ ॥

यह उदाहरण पदद्योत्य 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य का दिया गया है।

२. पदद्योत्य वस्तु से वस्तुध्वनि—

अब संलक्ष्यक्रमव्यंग्य प्रभेदों में शब्दशक्तिमूलपदप्रकाश्य वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत है--

अनेक लोगों के उपस्थित रहते उपनायक के आजाने पर अप्रस्तुत वेद-प्रशंसा के बहाने से उसके आगमन-जनित हर्ष को व्यक्त करती हुई नायिका कह रही है—

भुक्तीति। भुक्ति अर्थात् स्वर्गादि भोग, और मुक्ति अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यरूप मोक्ष का विधायक, अथवा नियमतः हितसाधनता का ठीक-ठीक उपदेश देने में तत्पर जो सदागम अर्थात् वेद है, वह किसे आनन्दोत्पादक नहीं होता ?—यह तो उदाहृत पद्य का वाच्यार्थ है।

उसी का व्यंग्य पक्ष में अर्थ यह होगा—भुक्ति अर्थात् सुरतभोग, और मुक्ति अर्थात् विरहदुःख से छुटकारा (मुक्ति) दिलाने वाले तथा एकान्तसमादेशन-तत्पर अर्थात् एकान्त संकेत स्थान के सेवन की प्रेरणा देने में तत्पर, सदागम; अर्थात् 'सत्' यानी सुन्दर प्रियतम का 'आगमः' यानी आगमन (आना) किस रमणी के लिए आनन्ददायक नहीं होता है ॥ ७८ ॥ (५)

काचिदिति। यहाँ पर कोई नायिका संकेत देनेवाले उपनायक को मुख्यवृत्ति अर्थात् व्यंजनावृत्ति से कह रही है।

विशेष विवरण—यहाँ मुख्यतया 'सदागम' पद से 'उपपति-स्तुति' रूप 'वस्तु' व्यंजित की गई है। वृत्ति में प्रयुक्त 'एवं' का अभिप्राय यह है कि जो प्रकृत अर्थ है, उसे यदि सभी लोग जान लें तो रहस्य खुल जायगा, इस भय से प्रथम प्रकृत अर्थ (प्राकरणिकीकृत) की प्रतीति कराते हुए व्यंजनावृत्ति से शक्यार्थ को भी अप्राकरणिक बनाकर व्यंग्य बना देने में है। अतएव इन दोनों में 'उपमा' है। प्रधानभूत व्यंग्यार्थ में ही प्रतीति के विश्रान्त होने पर तो उपमा का कोई कल्पक ही नहीं रहेगा। क्योंकि रहस्यरूप अर्थ की सुरक्षा के लिए ही प्रथमार्थ को ग्रहण किया जा रहा है। 'सदागम' पद से ही मुख्यतया 'वस्तु' की व्यंजना की गई है। यद्यपि 'भुक्ति', 'मुक्ति', 'एकान्त' पदों की भी व्यंजकता हो सकती है, तथापि उनके अभाव में भी केवल 'सदागम' पद ही व्यंग्य अर्थ की व्यंजना करने में समर्थ है। किन्तु 'सदागम' पद के अभाव में 'भुक्ति, मुक्ति, एकान्त' आदि पद व्यंजक नहीं बन पाते हैं। इस कारण प्रधानता 'सदागम' पद की ही है। इसलिए इस ध्वनि में पदप्रकाश्यता-निराबाध है।

'पन्थिअ ण एत्थ'—(चतु० उ० श्लो० ५८) में तो अनेक पदप्रतिपाद्य 'वस्तु' व्यंग्य रहने से वाक्यप्रकाश्यता ही है। यही दोनों में भेद है। यहाँ 'सदागम' पद, परिवृत्त्यसह होने से शब्दशक्तिमूलता कही जाती है। यहाँ 'वस्तु' से 'वस्तु' व्यंग्य की गई है। 'मुख्यया वृत्त्या' के अर्थ की व्याख्यायें अनेक प्रकार से की गई हैं। 'मुख्यवृत्ति' शब्द से 'अभिधा' ही समझी जाती है, तथापि 'मुख्य' शब्द का अर्थ, 'प्रधान' भी किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर सभी वृत्तियों में 'व्यंजना वृत्ति' के प्रधान होने से कुछ व्याख्याकार 'मुख्यवृत्ति' शब्द से 'व्यंजनावृत्ति' को ही कहते हैं। कुछ व्याख्याकारों का कहना है कि इस समय अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण प्रस्तुत किये जाने के कारण 'अभिधामूला व्यंजना' को भी 'मुख्यवृत्ति' शब्द से कह सकते हैं। इस पद्य के व्यंग्यार्थ को (उपपति के प्रेमपाश में आबद्ध सुन्दरी का, दत्तसंकेतानुसार उपपति के आ पहुँचने से अनुभवैकगम्य हर्ष का प्रकाशन)–'सदागम' शब्द ही व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित कर रहा है॥ ७८॥

पदद्योत्य-संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ-स्वतःसंभवी-ध्वनि के चार उदाहरण—

इनमें प्रथम उदाहरण, अर्थशक्त्युत्थ (अर्थशक्तिमूल) ध्वनि में स्वतःसंभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ से वस्तुरूप व्यंग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता का दे रहे हैं—

स्वतःसम्भवी वस्तु से पदद्योत्य वस्तुध्वनि—

उपपति के साथ संभोग करने के बाद उस थकान को दूर करने के लिए स्नानार्थ

(पदद्योत्यो वस्तुध्वनिः)

सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यन्तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥ (६)

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते ।

आयी हुई किसी नायिका से, उसके इस रहस्य को भाँप लेने वाली सखी व्यंग्यपूर्वक कह रही है—

सायमिति । हे सखी ! **सायंकाल** के समय तुमने अच्छी तरह से बहुत **देर तक स्नान किया** है, (उससे दिनभर किये घरेलू कामकाज की थकान तो अवश्य ही दूर हो गई है), और अपने **शरीर पर चन्दन का लेप** भी करवा लिया है, (वह भी तुमने स्वयं नहीं किया है, बल्कि दूसरे से करवाया है, अतः चन्दनलेपन की भी थकान तुम्हें नहीं है), और **अम्बरमणि** (सूर्य) **अस्ताचल के शिखर पर** पहुँच चुके हैं, अथवा 'अस्ताचलमौलिमतिक्रम्य यातः' अर्थात् अस्ताचल के शिखर का अतिक्रमण कर अस्त हो चुके हैं, और **तुम धीरे-धीरे टहलती हुई यहाँ तक आयी हो** (सूर्य के अस्त हो जाने से आतप का लेश भी न रहने से तथा कुंज आदि की घनी छायावाले मार्ग से धीरे-धीरे आने के कारण चलने की भी थकान नहीं है) **फिर भी तुम इतनी थक रही हो,** जिस कारण **तुम्हारी आँखे मुँदी जा रही हैं। हे सखी ! तुम्हारी इतनी अति सुकुमारता को देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है** ॥ ७९ ॥ (६)

अत्र वस्तुनेति । यहाँ पर **'तव सौकुमार्यमाश्चर्यं येन सौकुमार्येण अधुना क्लान्तासि'**—तुम्हारा सौकुमार्य आश्चर्यकारक है, जिस सौकुमार्य के कारण तुम **इतनी थकी मरी-गिरी लग रही हो—इस 'वाच्यार्थ रूप वस्तु' से 'कृत-परपुरुष-परिचया** (गाढोन्मर्दना) **क्लान्तासि' यह 'वस्तु' 'अधुना' पद की प्रधानता से व्यंजित हो रही है** ॥ ७९ ॥

विशेष विवरण—सखी कह रही है कि **तुम्हारे नेत्रों का पुनः पुनर्मीलित होना ही तुम्हारे सर्वांगीण श्रम को व्यक्त कर रहा है। सचमुच, तुम्हारी सुकुमारता, समस्त जगत् से विलक्षण ही है।** क्योंकि थकान होने की कोई भी बात नहीं है, तथा थकान को दूर करने की सारी सामग्री के समीप रहने पर भी तुम भीतर-बाहर दोनों ओर से थकी-सी लग रही हो । शाम के समय तुमने नहा भी लिया है । शाम के नहाने से दिनभर की थकान दूर हो जाती है । चन्दनलेप के करा

(पदद्योत्योऽलङ्कारध्वनिः)

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥ ८१ ॥ (७)

लेने से भीतरी उष्णता भी शांत हो गई होगी, जिससे अंगों के क्लान्त होने की कोई बात ही नहीं है। तथा स्वयं चन्दनलेप न करने के कारण वह भी थकान नहीं है। सूर्यास्त हो जाने से और 'अत्र' पद से व्यंजित कुंजादि के होने से घनी छाया वाले मार्ग से धीरे-धीरे और निर्भयता के साथ आरही हो, अतः चलने की भी कोई थकान नहीं है। इससे स्पष्ट है कि थकान पैदा करने वाली किसी सामग्री के न रहने पर भी यह थकान दिखाई दे रही है तो वह एकमात्र सुकुमारता के कारण ही है। यह सुकुमारता सचमुच दुनिया से अलग ही है, अन्यत्र ऐसी सुकुमारता दृष्टि-गोचर नहीं हो पाती है। यद्यपि **'तव सौकुमार्यमाश्चर्यं येनाधुना क्लान्तासि'**—इतना समुदाय भी व्यंजक हो सकता है, तथापि **'अधुनैव अयं क्रमः नान्यदा कदापि दृष्ट इति परपुरुषकृतनिर्दयोपभोगादेव इति गम्यते'**—इसलिए **'अधुना'** पद की ही प्रधानता स्पष्ट हो रही है। इस कारण यहाँ **'पदप्रकाश्यता'** है। **'अलसशिरोमणि धुत्ताणं'**—(चतु० उ० श्लो० ६०) में ऐसा कोई पद नहीं है, इसलिए वहां **वाक्य-प्रकाश्यता** ही मानी गई है। यही दोनों में अन्तर है। एवं च यहां पर **स्वतःसंभवी** 'वस्तुरूप' अर्थ से 'वस्तुरूप' व्यंग्यार्थ को बताया गया है ॥ ७९ ॥

स्वतःसम्भवी वस्तु से पदद्योत्य अलङ्कारध्वनि—

अर्थशक्त्युत्थध्वनि के स्वतःसंभवी भेद में **पदद्योत्य-वस्तु से 'अलंकार-व्यंग्यध्वनि'** के उदाहरण रूप में पद्ययुग्म दे रहे हैं। ये पद्य विष्णुपुराण से लिये गये हैं—

तदप्राप्तीति । उन भगवान् श्रीकृष्ण के वियोग के महान् दुःख से जिसके समस्त पापों का विनाश हो चुका है, और उन भगवान् श्रीकृष्ण के निरंतर चिन्तन करने के कारण उत्पन्न हुए **परमानन्द** से जिसका सम्पूर्ण **पुण्यपुञ्ज** विनष्ट हो गया है ॥ ८० ॥

(इस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्ति में हेतुभूत संपूर्ण पाप-पुण्यरूप कर्मों का विनाश हो जाने से और) परब्रह्मस्वरूप जगत् के उत्पादक **श्रीकृष्ण का** ध्यान करती हुई मूर्छित हो गई कोई गोपी मुक्ति को प्राप्त हो गई। अर्थात् बिना प्राण निकले ही मोक्ष पा गई हो ॥ ८१ ॥ (७)

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं चाशेष-चयपदद्योत्ये अतिशयोक्ती ।

अत्रेति । यहाँ पर 'हजारों जन्मों में भोगने योग्य पुण्य पाप के फलों को भगवान् श्रीकृष्ण के वियोगजनित दुःख में तथा निरन्तर चिन्तन करने से परमानन्द में ही पा लिया' यह बताया गया है । एवं च **'अशेष'** और **'चय'** पद से द्योत्य दो अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य हैं ॥ ८०-८१ ॥

विशेष विवरण—यहाँ श्लोक ८० और श्लोक ८१, इन दो पद्यों के द्वारा वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने से इसे 'युग्मक' नाम दिया गया है । कहा भी है—**'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥'** कोई गोपकन्या अपने प्राणवायु का निरोध करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का चिन्तन करती हुई मुक्त हो गई । क्योंकि **'नादस्य प्राणाः समुत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते'**—इस श्रुति के आधार पर मोक्षकाल में निरुच्छ्वासता हो जाती है, ऐसा **उद्योतकार** आदि कहते हैं । **सुधासागरकार 'निरुच्छ्वासतया'** का अर्थ **'प्राणायामेन'** करते हैं । **चन्द्रिकाकार** 'निरुच्छ्वासतया' का अर्थ **'प्राणोत्क्रमणं विना'** करते हैं । श्रीकृष्ण-चिन्तनजनित परमानन्द प्राप्ति से पुण्यचय विनष्ट हो गया और श्रीकृष्ण के वियोग (अप्राप्ति) से जो महान् दुःख हुआ, उससे समस्त (समग्र) पातक (पाप) नष्ट हो गये थे । एवं च **दुःख और आनन्द रूप फल की प्राप्ति से पाप-पुण्य दोनों विनष्ट हो चुके थे, 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः'** इस नियम के अनुसार पाप-पुण्य दोनों फलभोग से ही नष्ट हो पाते हैं ।

यहाँ **'अशेष' और 'चय' इन दो पदों की व्यंजनाशक्ति की महिमा से 'अतिशयोक्ति' रूप व्यंग्यार्थ व्यंजित हो रहा है** । क्योंकि **'अशेष'** पद से प्रतीत होने वाला सहस्रों जन्मों में कथंचित् संभव होने वाला **पापराशि का उपभोग**, और क्षणभर में संभाव्य भगवान् के **वियोग-दुःख का उपभोग**, दोनों का **तादात्म्याध्यवसाय** अभिव्यक्त हो रहा है । उसी तरह 'चय' पद से सहस्रावधि जन्मों में संभव होने वाला **पुण्य राशि का उपभोग**, और क्षणभर में संभव श्रीकृष्णचिन्तन के **सुख का उपभोग**, दोनों का **तादात्म्याध्यवसाय** प्रकट किया गया है । इस प्रकार से **दो अतिशयोक्ति अलंकारों की प्रतीति 'अशेष' और 'चय' दो पदों के कारण हो रही हैं** । **प्रदीपकार** ने भी इसी तरह कहा है । **तादात्म्याध्यवसाय** को देखकर इसे **'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' नहीं** समझना चाहिये, क्योंकि भगवन्माहात्म्य के अतिशय से भी वाच्यसिद्धि हो सकती है—ऐसा **उद्योतकार** ने कहा है । **'धन्यासि या कथयसि'**—(चतु० उ० श्लो० ६१) **में ऐसा कोई पद न होने से वाक्यप्रकाश्यता ही बताई गई है** ॥ ८०-८१ ॥

(स्वतःसम्भविनाऽलङ्कारेण पदद्योत्यो वस्तुध्वनिः)

क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥ (८)

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्त्तते इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

स्वतःसम्भवी अलङ्कार से पदद्योत्य वस्तुध्वनि—

क्षणदेति । हे वीर राजन् ! तुम जब पराङ्मुख (प्रतिकूल) हो जाते हो, तब सभी कुछ तुम्हारे शत्रुओं के लिए प्रतिकूल हो जाता है । जैसे—'क्षणदा' यानी आनन्ददायिनी रात्रि, उन शत्रुओं के लिए 'अक्षणदा' दुःखदायिनी हो जाती है । और 'वन' यानी अरण्य, शत्रुओं के लिए 'अवन' रक्षक हो जाता है और 'व्यसन' यानी द्यूत, मद्यपानादि मनोरञ्जन, शत्रुओं के लिए 'अव्यसन' हो जाता है, अर्थात् 'अवीनां मेषाणामसनं प्रेरणं'—इस व्युत्पत्ति से भेड़-बकरी चरानारूप 'अव्यसन', उनके जीवनयापन का साधन बन जाता है । अर्थात् अव्यसन ही अब उनका व्यसन यानी पेशा—रोजगार बन गया है ॥ ८२ ॥ (८)

अत्रशब्दशक्तीत्यादि । यहाँ पर 'क्षणदा' - 'अक्षणदा' इत्यादि प्रकार से **शब्दशक्तिमूलक** (उक्त परस्पर विरुद्ध शब्दों के सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले) **विरोध के उपपादक** (अंगभूत) **अर्थान्तरन्यास अलंकार** (तुम्हारे पराङ्मुख हो जाने से सब कुछ पराङ्मुख हो गया है) से 'विधि भी तुम्हारी इच्छा का अनुसरण करता है'—यह 'वस्तु', 'सर्व' पद से द्योत्य होने के कारण व्यंग्य है ॥ ८२ ॥

विशेष विवरण—'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥'

सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन किये जाने पर 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार होता है । यहाँ 'त्वयि' तुम्हारे प्रतिकूल होने पर—इस विशेष अर्थ से 'सबका प्रतिकूल हो जाना'—इस सामान्य अर्थ का समर्थन किया गया है । अतः यह 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । यह अर्थान्तरन्यास-'प्रधान पुरुष के प्रतिकूल हो जाने पर सभी का प्रतिकूल हो जाना'-लोकव्यवहार में दृष्टचर होने से वह 'स्वतःसंभवी' है । इस स्वतःसंभवी अर्थान्तरन्यास—'पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वं' के द्वारा 'विधिरपि त्वामनुवर्तते'—यह 'वस्तु' व्यंग्य की गई है । मुख्यरूप से 'सर्वं' पद, इसका व्यंजक है । इसलिए यहाँ 'पदद्योत्य ध्वनि' माना जाता है । अर्थान्तरन्यास में स्थित 'सर्वं' पद का पर्यवसान, 'प्रकृत अर्थ' में होने पर भी 'व्यंजना' में बिना संकोच के 'विधि' का भी वह आक्षेप करता है ।

(पदद्योत्योऽलङ्कारध्वनिः)

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसंमुहम् ॥ ८३ ॥ (९)

(तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ ८३ ॥)

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् ।

एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

अतएव 'सर्व' पद, इस व्यंग्य में प्रधान है। तस्मात् यहाँ 'व्यंग्य' को पदप्रकाश्य कहा गया है। 'दर्पगन्धगज०'–(चतु० उ० श्लो० ६२) में वैसा कोई पद नहीं है, इसलिए वहाँ वाक्यप्रकाश्यता ही समझनी चाहिये ॥ ८२ ॥

स्वतःसंभवी अलंकार से पदद्योत्य अलंकारध्वनि—

तुहेति। (तवेति)। किसी नवोढा से उसकी सखी कह रही है—आज प्रातः तेरे पति का अधरोष्ठ, प्रातः मुरझाये हुए कमलदल के रूपवाला हो रहा था। यह सुनते ही उस नवोढा वधू ने अपना मुख लज्जा से नीचे झुका लिया ॥ ८३ ॥ (९)

अत्र रूपकेणेति। यहाँ स्वतःसंभवी व्यंजक अर्थ तो 'रूपकालंकार' है। इससे व्यंग्यार्थ यह निकला कि—'पति के अधरोष्ठ को तुमने बार-बार इतना अधिक चूमा, जिससे वह मुरझा गया।'—म्लानता में परिचुम्बन के हेतु होने से यह 'काव्यलिङ्ग' अलंकार 'म्लान' आदि 'पद' से द्योत्य हो रहा है।

एष्विति। इन चारों उदाहरणों में स्वतःसंभवी व्यंजक है ॥ ८३ ॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'तव वल्लभस्य' पद से नववधू को वश में कर लेने के कारण 'नायक' का 'चातुर्य' व्यंजित किया गया है। 'प्रभाते आसीत्' से प्रातःकाल होने तक 'चुम्बन' का अविराम सूचित किया गया है। और 'अधरो म्लानकमलदलम्'—इस 'रूपक' अलंकार से 'तुमने अपने पति के अधर का इतना बार-बार चुम्बन किया, जिससे वह म्लान हो गया'—यह 'काव्यलिंग' अलंकार 'मिलाण कमलदल' पद की प्रधानता से प्रकाशित किया जा रहा है। इसलिए यहाँ पदप्रकाश्य ध्वनि है। किन्तु 'गाढकान्तदशनक्षतव्यथा'—(चतु० उ० श्लो० ६३) में ऐसा कोई पद नहीं है, इसलिए वहाँ 'वाक्यप्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये। 'अधरसदृशे कमलदले'—में सादृश्यघटक शोणत्व, लोक में दृष्ट होने से 'रूपक' स्वतःसंभवी है—यह महेश्वर का कहना है ॥ ८३ ॥

(अर्थशक्त्युत्थ: पदद्योत्यो ध्वनि:)

राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥ ८४ ॥ (१०)
(रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाण: ॥ ८४ ॥)

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ॥

अर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य वस्तुध्वनि—

मानिनी नायिका के प्रति 'माननिर्वाह कर नहीं पाओगी' कहने वाली सखी की यह उक्ति है—

राईस्विति । (रात्रीष्विति) । चाँदनी रात्रियों में बड़े अभिमान से रहने वाला (विजृम्भमाण:) जो कामदेव अपने ललित पुष्पमय (कमठपृष्ठ-कठोर नहीं) धनुष की टंकार मात्र से ही (बाण संधान किये बिना ही) समस्त भुवन पर मानो एकच्छत्र राज्य करता है । अर्थात् उसकी सानी का कोई दूसरा नहीं है, वही एकमात्र अद्वितीय है ॥ ८४ ॥ (१०)

अत्र वस्तुनेति । यहाँ जिन कामुक स्त्री-पुरुषों का यह कामदेव राजा है, उसकी आज्ञा का उल्लंघन, उनमें से कोई भी नहीं कर सकता । इस कारण सब लोग संपूर्ण रात्रि जागते हुए और उपभोग करते हुए ही व्यतीत कर देते हैं—यह अर्थ 'भुअण रज्ज' (भुवनराज्य) पद से द्योतित किया गया है । प्रदीप में 'एकच्छत्तं व कुणइ तिहुअणरज्जम्' अर्थात् 'एकच्छत्रमिव करोति त्रिभुवनराज्यम्'—यह पाठ दिया है ॥ ८४ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में 'वस्तु' से 'वस्तु' की अभिव्यक्ति बताई गई है । यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु—'धनुष के आस्फालन से मानो एकच्छत्र भुवनराज्य कर रहा है'—से (यह बात कविप्रौढोक्ति से ही कही गई है) 'कामुक लोग उपभोग में आसक्त होकर ही सारी रात बिता देते हैं'—यह 'वस्तु' अभिव्यक्त की गई है । यह अभिव्यक्ति प्रधानतया 'भुवनराज्य' पद से की जा रही है । इसलिये यह 'ध्वनि' पदप्रकाश्य है । 'कैलासस्य प्रथम शिखरे०'—(चतु० उ० श्लो० ६४) में ऐसा कोई 'पद' नहीं है, इसलिये वहाँ 'वाक्य प्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये । यही दोनों में अन्तर है । 'एकच्छत्रमिव'—यहाँ 'इव' का अर्थ 'उत्प्रेक्षा' है । वह, 'उत्प्रेक्षा' व्यंजनोपयोगी नहीं है, प्रत्युत निर्धारित अर्थ की प्रतीति कराने से तत्परित्याग की अतिशयता को ही बता रही है । ऐसा प्रदीप और प्रभा में कहा गया है ॥ ८४ ॥

(कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥८५॥ (११)

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः।

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति)

वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥ (१२)

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

निशितेति। कामदेव, अभिनव-तारुण्य का उद्‌गम होने पर अर्थात् नवयौवन की अवस्था में सुन्दरियों के कटाक्ष को ही अपना तीक्ष्ण बाण बनाकर, उसके प्रहार को सफल बनाने के लिए उसमें अपनी संपूर्ण शक्ति भर देता है। उस कारण वह कामिनी-कटाक्ष, जिस पर भी पड़ता है, वहाँ एक साथ ही समस्त कामावस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं ॥ ८५ ॥ (११)

अत्र वस्तुनेति। यहाँ पर वस्तु से, हँसना, रोना, निर्वेद, उन्माद आदि अवस्थाएँ परस्पर विरुद्ध होती हुई भी एक-साथ प्रकट हो जाती हैं—यह 'व्यतिकर' पद से द्योत्य 'विरोध' अलंकार व्यंग्य हो रहा है ॥ ८५ ॥

विशेष विवरण—काम की दश अवस्थायें इस प्रकार हैं—

'दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशतारतिः।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥'

ये दश अवस्थाएँ परस्पर मिश्रित (व्यतिकर) भाव को प्राप्त होकर बार-बार उत्पन्न होती हैं; अथवा एक साथ भी होती हैं। यहाँ पर 'व्यतिकरमेत्य अवस्थाः समुन्मिषन्ति'–इस 'वस्तु' से 'हसित-रुदित-निर्वेद-उन्मादा'दि परस्पर विरुद्ध अवस्थाएँ भी युगपत् उत्पन्न होती हैं'—यह विरोधालंकार 'व्यतिकर' पद की प्रधानता के कारण व्यंजित किया गया है। यहाँ पर योद्धा के द्वारा 'शर' में अपने बल का अर्पण, और उसके पतन की दिशा में उक्त अवस्थाओं का प्रकट होना—यह सब कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है अर्थात् कविकल्पित है। 'व्यतिकर' पद की प्रधानता रहने से यहाँ 'पदप्रकाश्यता' है। किन्तु 'केसेसु बला मोडिअ'—(चतु० उ० श्लो० ६५) में ऐसा कोई भी 'पद' व्यंजक न होने से वहाँ 'वाक्य प्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये ॥ ८५ ॥

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य—

कोई सखी, किसी अन्य-नायिका का व्यवहार बताती अपनी सखी से कह रही है—

वारिज्जेति। (वार्यमाण इति)। विपरीत रति के समय स्तनों के उपपीडन

(वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन ।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥ ८६ ॥)

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति 'ण चलइ' पदद्योत्यं वस्तु ॥

पूर्वक परिरंभण में निरन्तर बाधा पड़ने के कारण सन्ताप से पीडित हृदय हुए नायक के द्वारा बार-बार हटाये जाने पर भी विशुद्ध जाति के मोतियों से निर्मित नायिका का हार, अपने वास्तविक मित्रस्वरूप स्तनों को छोड़कर नहीं हटा। अर्थात् निरन्तर स्तनों पर झूलता ही रहा ॥ ८६ ॥ (१२)

अत्रेति। यहाँ पर 'विशुद्धजातित्वरूप हेत्वलंकार (काव्यलिंग) से 'हार झूल रहा है'—यह वस्तु, 'ण चलइ' पद से द्योत्य है ॥ ८६ ॥

विशेष विवरण—नायिका की विपरीत-रति को सूचित करने वाली यह कवि की प्रौढोक्ति है। 'हारः स्तनभरवयस्येन न चलति'–इस वाक्यांश में 'वयस्येन' में 'पंचमी' विभक्ति करनी चाहिये थी, किन्तु कवि ने 'अव्यथन' को सूचित करने के लिए ही पञ्चमी के अर्थ में यहाँ 'तृतीया' विभक्ति का प्रयोग किया है। उस कारण 'वयस्येन न चलति' का अर्थ 'वयस्यतो न चलति' किया जाता है। अतएव 'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः'—(पा० सू० ५।४।४६) इस पाणिनि सूत्र से तृतीयान्त से 'तसि' का वैकल्पिक विधान किया गया है। वैयाकरण लोग 'अव्यथन' का अर्थ 'अचलन' बताते हैं, और उसका उदाहरण भी 'चारित्र्येण न चलति और चारित्र्यतो न चलति' देते हैं। अतएव प्रदीपकार ने बताया है कि 'अत्र स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातित्वात् हारो न चलति इति हेत्वलंकारेण अनवरतं कम्पमान एव हारोऽस्तीति'–वस्तु, 'न चलति' इति पदेन व्यज्यते। कुछ व्याख्याकारों ने 'स्तनभरवयस्येन' को 'हृदय' का विशेषण बताया है—अर्थात् 'स्तनभरवयस्येन हृदयेन'। किन्तु वह अनुचित है। क्योंकि 'स्त्रियाम्' (पा० सू० ४।१।३) या 'सहि विरइ ऊण' (चतु० उ० श्लो० ६९) में स्थित 'विहलंखल' पद की तरह 'स्तनभरवयस्येन' यह भावप्रधान निर्देश किया गया है। तथा च 'स्तनभरस्य वयस्यत्वेन मित्रत्वेन हेतुना न चलति'–यह अर्थ समझना चाहिये। एवं च 'हार' यानी मौक्तिक माला 'स्तनभरवयस्येन यानी स्तनभररूपवयस्यतः न चलति नापगच्छति।' अर्थात् स्तनरूप मित्र को पीडा न हो पाये—इस अभिप्राय से स्तनरूपमित्रात्मक अपादान से वह नहीं हटता है। क्योंकि वह हार, विशुद्ध जाति (निर्दुष्ट मुक्ताजाति) का है। 'विशुद्धजातिः'—यह 'हार' का हेतुगर्भ विशेषण है। और 'श्लेष' से विशुद्ध-जन्मा भी है। विशुद्ध जाति के कुलीन लोग उत्कटक्लेश में भी मित्र का त्याग नहीं करते हैं ॥ ८६ ॥

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण अलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

सो मुद्धसामलङ्गो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसङ्गरे जअइ ॥ ८७ ॥ (१३)

(स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद् बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसंगरे जयति ॥ ८७ ॥)

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः, यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति 'खंध' पदद्योत्या विभावना ।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

सो मुद्धेति । (स मुग्धेति) । एक बार रतिक्रीडा के बाद दुबारा पुनः अपने मनोहर स्वरूप को प्राप्त हुआ नायिका का सुन्दर श्यामल वह केशपाशरूप कामदेव, उस नायिका के स्कन्ध से बल पाकर सुरतसंगर में महान् उत्कर्ष को प्राप्त करता है ॥ ८७ ॥ (१३)

अत्र रूपकेणेति । यहाँ पर 'धम्मिल्ल' रूप 'कामदेव'–इस 'रूपक अलंकार' से, पुनः पुनः आकर्षण के कारण खुला हुआ केशपाश ऐसी सुन्दरता के साथ नायिका के कन्धों पर बिखर गया है कि उस कारण 'एक बार संभोग कर चुकने पर भी नायक की संभोगाभिलाषा पूर्ण न होकर पुनः वह संभोग के लिए तत्पर हो रहा है'—यह 'विभावना' अलंकार 'स्कन्ध' पद से व्यंजित हो रहा है ॥ ८७ ॥

विशेष विवरण—कामिनी का स्निग्ध, श्यामल केशपाश ही कामदेव है, वह सुरत-संगर (सुरत-संग्राम) में कामिनी के स्कन्धरूप स्कंधावार की सहायता लेकर (कन्धों पर बिखरे हुए श्यामल स्निग्ध केशपाश से अधिकाधिक उद्दीप्त होकर) कामुक को सदैव अपने अधीन कर लेता है ।

यहाँ पर 'रूपकालंकार' से 'विभावना' अलंकार व्यंग्य है । क्योंकि 'उत्कंठा' में निमित्त 'अतृप्ति' होती है । यहाँ तो एकबार संभोग कर चुकने पर 'रतिलालसा की तृप्ति' हो चुकी है । अतः 'अतृप्ति' रूप कारण के न रहने पर भी 'रति की उत्कण्ठा' रूप कार्य का होना बताया जा रहा है, इसलिए 'विभावनालंकार' स्पष्ट है । 'कारण के न रहते कार्य का होना'—यह विभावना-लंकार का लक्षण है । 'धम्मिल्लः स्मरः' यह रूपक है । 'स्कन्धात्' 'बलम्' ये दोनों श्लिष्टरूपक हैं । 'सुरतसंगरे' यह रूपक है । 'सुरतसंगरे' पद से 'सुरत' पर संगर (युद्ध) का आरोप किया गया है । अतएव नायिका के स्कन्ध (कन्धे) पर सेना के 'स्कन्ध' (छावनी–शिबिर) का आरोप किया गया है । 'स्कन्ध' शब्द के 'छावनी' और 'कन्धा' दोनों अर्थ हैं तथा 'बल' शब्द के 'शक्ति' और 'सेना' दोनों अर्थ हैं, अतः ये दोनों शब्द श्लिष्ट हैं ।

एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ॥

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेन वस्तुना वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति)

णवपुण्णिमामिअङ्कस्स सुहअ को तंसि भणसु मह सच्चम् ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणिव्व तुह अज्ज ॥८८॥ (१४)

(नवपूर्णिमामृगांकस्य सुभग ! कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥ ८८ ॥)

जिस प्रकार युद्ध में हारकर लौटते हुए सेनापति को यदि किसी अन्य स्कन्धावार (छावनी) से सेना को सहायता प्राप्त हो जाती है, तो वह पुनः युद्ध के लिए तैयार हो जाता है, उसी प्रकार नायिका का स्निग्ध-श्यामल धम्मिल्ल (केशपाश) रूप 'कामदेव', नायिका के स्कन्धरूप स्कंधावार से बल (सेना) प्राप्त करके सुरतयुद्ध में विजयी (सर्वोत्कर्षशाली) प्रतीत होता है।

[सुरत की पूर्वावस्था में पुनः पुनः आकर्षण करने से खुलकर वह केशपाश नायिका के स्कन्धों पर गिरा हुआ है। उससे नायिका और अधिक सुन्दर लगने लगती है, जिससे सुरतभोग से निवृत्त होने पर भी स्वल्पकाल में ही नायक का सुरताभिलाष पुनः जाग उठता है।] स्कन्धपतित केशपाश साक्षात् स्मर ही है। अतएव सुन्दरी के अन्य सभी अंगों की अपेक्षा या अन्यान्य सुरत-सामग्री की अपेक्षा, वह कहीं अधिक उत्कर्ष से रहता है। इसीलिए धम्मिल्ल को स्मरत्वेन रूपित किया गया है। प्रत्यक्ष स्मर की तरह वह सुरतप्रवर्तकत्व उसमें रहता है। यहाँ 'रूपक' स्वतः असंभवी होने से कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है। धम्मिल्ल में स्कन्ध का संबन्ध रहने से शोभातिशय लब्ध हो रहा है, इस कारण 'स्कन्ध' पद की प्रधानता है। अतएव यहाँ 'ध्वनि' पदप्रकाश्य है। किन्तु 'जा ठेरं व हसंती' (चतु० उ० श्लो० ६७) में वैसा कोई पद न होने से 'वाक्यप्रकाश्यता' ही ध्वनि में मानी गई है ॥ ८७ ॥

एष्विति। इन चारों उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ कवि की प्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनि के चार उदाहरण—

इनके चारों उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य—

दूसरे की वृद्ध-वधू पर अनुरक्त रहने वाले स्वामी (पति) के प्रति खण्डिता नायिका की उक्ति है—

णवेति। (नवेति)। हे सुभग ! सच-सच बताओ कि पूर्णिमा के नवीन (सद्यः उदित हुए) चन्द्रमा के तुम कौन लगते हो ? और प्रदोष-रजनी के तुल्य आज सम्पूर्ण सौभाग्यशालिनी वह तुम्हारी कौन है ? ॥ ८८ ॥ (१४)

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति 'णवेत्यादि-पओसेत्यादि'पदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

सहि णवणिहुवणसमरम्मि अङ्कवाली सहीए णिविडाए।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम्॥ ८९॥ (१५)

अत्र वस्तुनेति। यहाँ पर **'वस्तु' से** मेरे समान **अन्य में भी पहिले तुम अनुरक्त हुए थे,** तदनन्तर अनुरक्त नहीं रहे यह **'णव'** इत्यादि और **'पओस'** इत्यादि **पदों से द्योत्य वस्तु व्यंग्य है।**

विशेष विवरण—किसी **वृद्धा**-परवधू पर अनुरक्त हुए अपने पति से **खण्डिता नायिका** कह रही है कि जैसे पूर्णमासी का चन्द्र जब उदित होता है, उस समय अर्थात् रात्रि के आरभकाल में थोड़ी-सी देर के लिए वह रक्तवर्ण का होता है, तदनन्तर वैसा 'रक्त' नहीं रहता है। इसी प्रकार यह नायक भी क्षणिक अनुराग रखने वाला है। यहाँ पद्योक्तवाक्यार्थरूप **'वस्तु' से 'मेरे में जैसे पहले अनुरक्त थे, किन्तु अब वैसे नहीं हो।'** अर्थात् **'तुम्हारा कौन ठिकाना ? तुमने जैसे कभी मुझे चाहा, वैसे आज किसी दूसरी को चाहने लगे, तुम्हारे लिए यह कोई नवीन बात तो है नहीं',—यह 'वस्तु' ही यहाँ व्यंग्य की जा रही है और इस व्यंग्यार्थ के व्यञ्जक हैं—'नवपूर्णिमामृगाङ्क' और 'प्रदोष-रजनी' पद।** यहाँ पर 'नव' कहने से **चाञ्चल्य** (क्षणिकानुरागित्व), **'पूर्णिमामृगांक'** से नायिकान्तरा**नुरागित्व** और **कलंकित्व,** 'प्रदोष' पद से प्रकृष्टदोषवत्त्व और **'रजनी'** पद से **मालिन्य** को व्यंजित किया गया है। **एवं च यथोक्तवाक्यार्थरूप 'वस्तु' से 'मयि इव अन्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वम्'**—यह, **'णव' इत्यादि पद से व्यञ्जित** हो रहा है, तथा **'पओस'** इत्यादि पद से **'न ततः'** यह **व्यंजित** हो रहा है। **'णव और पओस'** इन पदों की **प्रधानता** के कारण निर्दिष्ट व्यङ्ग्य में **पदप्रकाश्यता** है। यहाँ 'प्रदोषरजनीव' में स्थित 'इव' शब्द से 'उपमालंकार' को व्यंजक नहीं **समझना** चाहिये, क्योंकि **'इव' शब्द के न रहने पर** भी 'प्रदोष-रजनी तव का' इतने मात्र से भी **व्यंग्य-व्यंजन** हो सकता है, इसलिए **वस्तुमात्र ही यहाँ व्यञ्जक है। उपमालंकार व्यञ्जक नहीं है। 'जे लंका गिरि मेखलासु०'—** (चतु० उ० श्लो० ६८) में **कोई पद** ऐसा प्रधान न होने से **वाक्यप्रकाश्य ही व्यङ्ग्य है॥ ८८॥**

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

नवोढा नायिका की अत्यन्त विश्वस्त प्रिय सखी, उससे **सुरत की चर्चा** करते हुए कह रही है—

सहीति। (सखीति)। अरी सखी ! यह तो बता कि जब **तूने बिलकुल**

(सखि ! नवनिर्धुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निबिडया ।
हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथं रमितम् ॥ ८९ ॥)

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः 'कहं' पदगम्यः ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति)

पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम् ।
खंधे घेत्तूण घडं हाहा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किंति ॥९०॥ (१६क)

(प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम् ।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि ! किमिति ॥ ९० ॥)

नया-नया सुरतसंग्राम किया, उस समय तेरी एकमात्र सहायिका प्रगल्भ अंकपाली (आलिंगन-प्रत्यालिंगनरूपा) सखी ने स्तनों पर झूलते (दोनों में उसके तृतीय होने से अधिक प्रतीत होने वाले) रहने के कारण निधुवन में अन्तरायस्वरूप और हृदय पर अभिघात करने वाले मौक्तिक हार को जब तोड़ कर वहाँ से हटा ही दिया, तब फिर तूने कैसे रमण किया ? और कैसा आनन्द आया ? जरा बता तो दे ॥ ८९ ॥ (१५)

अत्र वस्तुनेति । यहाँ पर 'मौक्तिक हार के टूट जाने के बाद प्रौढाङ्गनाओं के सुरत से भी अधिक आनन्ददायक कुछ विलक्षण प्रकार का ही संभोग अवश्य हुआ होगा; उसे सुनाओ तो सही, वह कैसा था ?'—इस प्रश्न से उस संभोग का अन्य प्रौढांगनाओं के संभोग से अधिक 'आनन्ददायक' रूप 'व्यतिरेक' अलंकार को 'कहं' (कथं) पद से व्यंजित किया है । अर्थात् यथोक्तवाच्यार्थरूप वस्तु से 'प्रौढांगनारतादपि विलक्षणं नवोढायास्ते सुरतम् । अत एव नवोढाया ईदृशं रतमिति विस्मयः ।' यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्षरूप व्यतिरेकालंकार है । और वह विस्मयार्थक 'कहं' (कथं) पद से गम्य है । यहाँ 'कथम्' पद की प्रधानता के कारण व्यङ्ग्य में पदप्रकाश्यता है । 'सहि विरइडण'—(चतु० उ० श्लो० ६९) में ऐसा कोई 'पद' व्यंजक न रहने से वाक्यप्रकाश्यता ही वहाँ समझनी चाहिये । 'निधुवनसमरे' इस रूपकालंकार के होने पर भी वह व्यंजक नहीं है, क्योंकि उसके बिना भी व्यंग्य-व्यंजन हो सकता है । अतः यहाँ पर 'वस्तु' को ही व्यंजक कहा गया है ॥ ८९ ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य—

पविसन्तीति । (प्रविशन्तीति) । अरी सखी ! तुम अपने कंधे पर घड़ा लिये हुए घर के दरवाजे में घुसने लगी और मुँह फेरकर रास्ते को देखने लगी तो घड़े को ठोकर लगने से घड़ा गिर गया । अरी ! घड़ा फूट गया, तो हाय-हाय करती हुई क्यों रो रही हो ? ॥ ९० ॥ (१६ क)

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदाऽपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु 'किंति' पदद्योत्यम् ।

अत्र हेत्वलंकारेणेति। यहाँ पर 'घड़ा फूट गया, इसलिए रो रही है'—इस प्रकार के 'कार्य-कारणभावमूलक' काव्यलिङ्ग (हेतु) अलंकार से, 'यदि पुनः वहाँ जाना चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर चली जाओ'—यह 'वस्तु' 'किं ति' (किमिति) पद की प्रधानता से व्यंजित हो रही है ॥ ९० ॥

विशेष विवरण—जल लाने के बहाने संकेत-स्थल पर जाकर भी वहाँ अपने कामुक को न देखकर जलपूर्ण घड़े को कंधे पर रखे हुए नायिका वापस आयी और जब अपने घर के दरवाजे में घुसने लगी तब उसने अपने कामुक को संकेत-स्थान की ओर जाते हुए देखा, तो पुनः संकेत-स्थान पर पहुँचने की इच्छा हो उठी, और ज्यों ही जाने के लिए मुँह फेरा त्यों ही घड़े को दरवाजे से भिड़ाकर फोड़ दिया। और 'हाय-हाय, घड़ा फूट गया'—इस प्रकार लोकवञ्चनार्थ रोती हुई सखी को देखकर उसकी चतुर सखी ने उसके अभिप्राय को ताड़ लिया। वह उससे कहती है कि 'तुम रोती क्यों हो ? जाओ, दूसरा घड़ा लेकर दुबारा पानी भर लाओ। मैं तुम्हारे घर वालों से दुबारा जाने का समाधान कर दूँगी'—यह गूढ अभिप्राय है।

यहाँ 'रोदन' में हेतु है 'नष्टत्व' और 'घटध्वंस' में हेतु है 'विवृत्त्य पथोविलोकन' अर्थात् मुँह फेरकर मार्ग देखना। यहाँ पर 'नष्ट इति रोदिषि' इस हेत्वलंकार (काव्यलिंग अलंकार) से—'संकेत स्थान पर जाते हुए कामुक को देखकर यदि वहाँ जाना चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर जाओ' यह वस्तु 'किं ति' अर्थात् 'किमिति' पद से द्योत्य हो रही है। क्योंकि 'किं ति' इस हेतुवाचक प्रश्न से, यह निष्पन्न हो रहा है कि बिना हेतु के यह 'रोदन', आहार्य है, इसलिए 'किं ति' पद की प्रधानता प्रतीत हो रही है।

किन्तु इस उदाहरण में व्यंजक जो 'हेत्वलंकार' है, वह तो 'स्वतःसंभवी ही है। प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध नहीं है। इसलिए दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'यथा वेति'। यह प्रभाकार और उद्योतकार का कहना है। किन्तु सुधासागरकार ने संगति इस प्रकार लगायी है कि 'यहाँ गृहद्वार में प्रवेश करने' की बात यद्यपि स्वतःसंभवी है, तथापि 'एतादृश हाय-हाय करके चिल्लाना रोना' आदि व्यवहार की दुर्घटता और दुरूहता के कारण 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नता' कही जा सकती है। एवं च मधुमतीकार और सारबोधिनीकारादि व्याख्याकारों ने जो कहा है कि 'प्रकृत अर्थ' के स्वतःसंभवी होने से 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नता' उसमें नहीं है, इसलिए अन्य उदाहरण दिया जा रहा है'—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि श्रीवाग्देवतावतार मम्मटभट्ट, सर्वथा लोकबाधित प्रौढोक्तिसिद्ध

यथा वा—

विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुठेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरु ओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥ ९१ ॥ (१६ ख)
(विश्रृङ्खलां त्वां सखि ! दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥ ९१ ॥)

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्फोटित

न जानते हों, यह संभवनीय नहीं है, किन्तु लोक में अप्रसिद्ध इस प्रकार के लोकोत्तरोक्तिप्रतिपादित अर्थ में भी प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्नता हो सकती है—इस बात को समझा रहे हैं। तथापि ग्रन्थकार के संबंध में कोई अनजाने में प्रमाद की आशंका न कर सके, इसलिए अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं। इसी अभिप्राय को बताने के लिए 'यथावेति' आगे कहा जा रहा है। अर्थात् प्रस्तुत उदाहरण को पद-द्योत्य स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तुव्यंग्य का उदाहरण भी कहा जा सकता है, अतः यह उदाहरण ठीक नहीं है—ऐसी आशंका करने वालों के समाधानार्थ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य वस्तु व्यंग्य का अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं ॥ ९० ॥

यथावेति । अथवा जैसे—

नदी के किनारे स्थित लताकुंज में संकेत देने पर भी मेरा प्रिय नायक नहीं आया यह जानकर वापस हुई नायिका ज्यों ही अपने घर में घुसने लगी त्यों ही वहाँ पहुँचने के लिए आते हुए प्रिय कामुक को देखकर पुनः नदी पर जाने के लिए बुद्धिपूर्वक दरवाजे के स्पर्श के बहाने घड़े को फोड़ देने वाली नायिका से उसकी सखी कह रही है कि 'तेरे अभिप्राय को मैं समझ गई, अतः तू विश्वास के साथ निश्चिन्त होकर अपनी इष्टसिद्धि के लिए चली जा, मैं तेरी सास के सामने बात बना दूँगी, तू चिन्ता मत कर'—इस अभिप्राय से गर्भित उक्ति को अचतुर लोगों के प्रतारणार्थ उसकी सखी कह रही है—

बिहलमिति । (विश्रृङ्खलामिति) । हे सखी ! घड़े के अत्यन्त भारी होने से व्याकुल होकर जब तुम्हारी आँखों की पुतलियाँ चारों ओर भ्रमण करने लगीं, उस समय तुम्हारी उस शोचनीय दशा को देखकर, उस कष्टदायक दशा का निमित्त अपने को ही मानकर उस घड़े ने अपने मृण्मय देह को द्वार के स्पर्श के बहाने से नष्ट कर दिया है। उसे तुमने नहीं फोड़ा है ॥ ९१ ॥ (१६ ख)

अत्र नदीकूल इति । यहाँ नदी के तीर पर लताकुंज में संकेत-स्थान निश्चित करके भी समय पर वहाँ उपस्थित न होने वाले नायक को, नायिका ने अपने घर

इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेनेत्यपह्नुत्या वस्तु ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेनाऽलङ्कारेणाऽलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

जोह्नाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउस्सुअमणा सा ।

बुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥ ९२ ॥ (१०)

में घूमते समय पीछे-पीछे आते हुए देखकर पुनः नदी के 'लताकुंज' में जाने के लिए आकुल-व्याकुल होने के कारण तुमने जान बूझकर घड़ा फोड़ दिया – यह मैं समझ गयी, किन्तु 'तुम घबड़ाओ नहीं, अपने मनोरथ को पूर्ण करने के लिए निश्चिन्त होकर जाओ। तुम्हारी सास के सामने मैं सब ठीक-ठाक समाधान कर दूँगी'–यह 'वस्तु', 'द्वारस्पर्श' के बहाने (व्याज) से अर्थात् इस अपह्नुति अलंकार से अभिव्यक्त की गई है।

विशेष विवरण—तुमने जान-बूझ कर घड़े को दरवाजे की ठोकर लगाकर नहीं फोड़ा, अपितु घड़े ने ही अपने बोझ के कारण तुम्हारी उस विह्वल होती हुई दशा को देखकर अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हुए द्वारस्पर्श के बहाने अपने को गिराकर अपने मृण्मय देह को नष्ट किया है। 'शंभु' की तरह यह अन्तर्भावित ण्यर्थ है। अर्थात् द्वारस्पर्श करके तुमने घड़े को नहीं फोड़ा है, किन्तु अपनी गुरुता के कारण स्वयं को परपीडक समझ कर उस घड़े ने ही अपने स्वरूप को नष्ट कर दिया है–यह 'अपह्नुति' अलंकार है। इस 'अपह्नुति' अलंकार से 'संकेत-स्थान पर तुम जाओ, तुम्हारी सास और उसके निकटवर्ती लोगों को मैं समझा-बुझा दूँगी'–यह 'वस्तु' व्यंजित की गई है। अर्थात् 'द्वारस्पर्श' रूप 'अपह्नुति' से 'समझा दूँगी'–यह वस्तु अभिव्यक्त की गई है। यहाँ पर अचेतन घड़े में अपने आप को नष्ट करने की बात का (चेतनता का) आरोप स्वतःसंभवी नहीं है। यहाँ व्यंग्यार्थ का बोधन 'द्वारस्पर्शमिषेण'—इस व्यंजक पद से किया गया है। यहाँ अचेतन घट में स्वात्मविभेदनरूप 'चेतन धर्म' का आरोप किया गया है। अतः तन्मूलकतया अपह्नुति में प्रौढोक्तिसिद्धता समझनी चाहिये। 'बारप्फंसमिसेण'-इस पद की प्रधानता के कारण 'ध्वनि' में पदप्रकाश्यता है। 'अल्लोल्लकर अर अण' (चतु० उ० श्लो० ७०) में ऐसा कोई पद व्यंजक नहीं है, इसलिए वहाँ 'वाक्यप्रकाश्यता' ही मानी गई है। यही दोनों में अन्तर है ॥ ९१ ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

वृद्धा-परवधू में आसक्त नायक का उपहास करने वाली तरुणी की उक्ति है—

जोह्नेति। (ज्योत्स्नयेति)। चाँदनी और मधुरस अर्थात् वसन्तरस और मद्य के आस्वादन से जिसमें यौवन की उमंग आ गई है ऐसी वृद्धा परवधू भी नवोढा के समान तुम्हारे मन को आकर्षित कर रही है, कैसा आश्चर्य है ॥ ९२ ॥ (१७)

(ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥ ९२ ॥)

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः 'परवहू'पदप्रकाश्यः ।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भववस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

अत्र काव्यलिङ्गेनेति । यहाँ 'परवधू' होने मात्र से ही वह तुम्हें अच्छी लग रही है'—इस 'काव्यलिंग' अलंकार से 'तुम हमको (अस्मान्) अर्थात् हमारी जैसी नवयुवती को छोड़कर वृद्धा परवधू को चाह रहे हो, तुम्हारे इस आचरण के बारे में क्या कहा जाय, कुछ कहते नहीं बनता'-इस 'आक्षेप' अलंकार को 'परवधू' पद से प्रकाशित किया जा रहा है ॥ ९२ ॥

विशेष विवरण—परवधू होने के कारण ही तुम्हारा मन उसकी ओर आकर्षित होता है, अर्थात् वह तुम्हारे चित्त को खींचती है, तुम्हारे मन के आकर्षित होने में सुंदरता आदि कोई अन्य कारण नहीं है ।

हृदय के हर लेने में 'परवधूत्व' हेतु है, इसलिए यह काव्यलिंग अलंकार है । वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध है, क्योंकि वृद्धा परवधू को एक तरुण प्रेमी के चित्ताकर्षण का कारण बताया है । इससे जो व्यंग्य अर्थ है-वह 'आक्षेप' अलंकार है, अर्थात् 'अरे विचारशून्य ! मुझ युवती को छोड़कर तू किसी दूसरे की वृद्धा स्त्री को चाहने लगा, तेरे इस दुर्व्यवहारपूर्ण चरित्र की क्या चर्चा करें' अर्थात् तुम्हारे आचरण का क्या बखान करें—इस प्रकार से कहना एक प्रकार से निषेध (ऐसा न किया करो) करना ही है । इस 'आक्षेप' अलंकार का व्यंजक (प्रकाशक) प्रधानतया 'परवधू' पद ही है । उद्योतकार ने कहा है – 'परवधूत्वं हृदयहरणे हेतुरिति काव्यलिंगमलंकारः' । किन्तु चक्रवर्तीव्याख्याकार कहते हैं कि 'ज्योत्स्नामधुररसाभ्यां दत्तं तारुण्यं हृदयहरणे हेतुरिति काव्यलिङ्गम्' । इससे 'नायकचरितस्य अशक्यवक्तव्यत्वरूपः आक्षेपालंकारः व्यज्यते' । यहाँ पर नायिका ने नायक के चित्तहरण में जो 'हेतु' प्रदर्शित किया है, वह नायक का उपहास करने के लिए ही है, वास्तविक नहीं है । क्योंकि परवधू भी यदि वृद्धा हो, तो वह किसी के चित्त को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती । इस कारण काव्यलिंग अलंकार को यहाँ पर प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध ही समझना चाहिये । 'महिलासहस्सभरिए' (चतु० उ० श्लो० ७१) में कोई पद ऐसा व्यंजक न होने से वहाँ 'वाक्यप्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये । यही दोनों में अन्तर है ॥९२॥

एष्विति । इन चारों उदाहरणों में व्यंजक अर्थ, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त-

(अर्थशक्तिमूलो द्वादशविधो ध्वनिः प्रबन्धेऽपि भवति)

(सू० ६०)—प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ९३ ॥

मात्रसिद्ध है। (इस रीति से ध्वनिकाव्य के जो सत्रह भेद हैं, उनके पदद्योत्य सत्रह उदाहरण बता दिये) वाक्य से द्योत्य (प्रकाश्य) इन सत्रह भेदों के उदाहरण पहले इसी उल्लास के आरंभ में सोदाहरण बता दिये गये हैं। इस प्रकार यहाँ तक चौतीस (३४) प्रकार के ध्वनिकाव्य के उदाहरण दिये जा चुके हैं। शब्दार्थोभयशक्तिमूलक (शब्द तथा अर्थ दोनों की यानी उभय की शक्ति से उत्थित) जो ध्वनि है, वह तो केवल वाक्य से ही प्रकाशित होता है, वह 'पद' से व्यंग्य (पदप्रकाश्य) हो ही नहीं सकता, क्योंकि एक ही 'पद' को युगपत् (एक ही समय में) परिवृत्तिसह और परिवृत्त्यसह कैसे कहा जायगा। एवं च उक्त चौतीस (३४) भेदों में उभयशक्तिमूलक ध्वनि के एक (१) भेद को मिलाने पर ध्वनि के पैंतीस (३५) भेद हो जाते हैं।

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अलक्ष्यक्रम—ये तीन भेद। लक्ष्यक्रम में वस्तु और अलंकार के भेद से शब्दशक्तिमूलक के दो भेद। अर्थशक्तिमूलक के बारह भेद। इन सत्रह भेदों का पुनः वाक्य और पद के कारण द्वैविध्य होने पर चौतीस भेद। उभयशक्तिमूलक का एक भेद, सब मिलकर पैंतीस भेद होते हैं।

प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के द्वादशभेद—

(सू० ६०) प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद होते हैं।

यथेति। जैसे (महाभारत के शान्ति पर्व अ० १५३ में) गिद्ध और श्रृगाल के संवादादि में (प्रबन्धगत अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का) उदाहरण उपलब्ध होता है।

मृत बालक को देखकर, दिन में ही शव के मांस-भक्षण में समर्थ गिद्ध, उस बालक के संबंधियों को, उसे वहीं त्यागकर घर वापस जाने की प्रेरणा देता हुआ कहता है—

प्रबन्धगत स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य—

महाभारत शान्तिपर्व में गृद्धसंवादरूप पद्यद्वशतमक प्रबन्ध में स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु की अभिव्यक्ति का उदाहरण इस प्रकार है—

अलं स्थित्वेति। अरे मूर्खों! यह स्थान गृध्रों तथा श्रृगालों से परिपूर्ण है। तथा जिधर देखो उधर केवल अस्थिपञ्जर ही जहाँ-तहाँ पड़े हुए हैं, कितना भयंकर यह स्थान है। इस स्थान को देखकर प्राणिमात्र काँप उठता है। इस श्मशान भूमि में तुम लोग रुक कर क्या करोगे ? ॥ ९३ ॥

न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ ९४ ॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ९५ ॥

न चेति । अरे ! जो व्यक्ति एक बार मर चुका (कालधर्ममुपागतः), वह चाहे किसी का प्रिय (मित्र) हो, चाहे शत्रु (द्वेष्य) हो, पुनः जीवित नहीं हो सकता है, न आज तक जीवित हुआ है । 'सभी प्राणियों की एक दिन यही गति होनी है ।' (यह कहकर संबंधियों को समाधान कराते हुए कहता है कि संसारियों की मृत्यु के बाद अपरावृत्तिरूप ही गति (स्वभाव) है । तथा च 'स्वभावो दुरतिक्रमः' इस न्याय से स्वभाव के दुरतिक्रम होने से खेद मत करो) ॥ ९४ ॥

इति दिवेति । दिन में देखने और मृत के मांस-भक्षण में समर्थ रहने वाले गृध्र का उस मृत बालक के सम्बन्धीजनों को वहाँ से निकल कर घर चले जाने की मंत्रणा देने वाला यह वचन है । यहाँ पर स्वतःसंभवी वाच्यार्थ रूप वस्तु से 'पुरुषविसर्जन' रूप वस्तु को अभिव्यंजित किया गया है । और उसका व्यञ्जक यह पद्यद्वयात्मक गृध्रवचनरूप प्रबन्ध ही है, न कि तद्गत 'वाक्य' या 'पद' व्यंजक है । अतः इस ध्वनि में प्रबन्ध-प्रकाश्यता ही है ।

विशेष विवरण—दिन के समय मृतक के मांस-भक्षण में शूर-वीर गृध्र की यह उक्ति है, जो न वाक्यरूप है और न पदरूप ही है, अपि तु वाक्यसमुदाय-रूप है । इससे व्यंग्यार्थ यह निकल रहा है—'लोगों को वहाँ से भगाने की एक युक्ति ।' जिससे दिन रहते-रहते वह गृध्र, मृतक का माँस भरपेट खा सके ।

इसके विपरीत रात में देख सकने और गृध्र आदि के विघ्नों से रहित, निश्चिन्त होकर रात्रि में भक्षण करने में समर्थ शृगाल यह सोचता है कि ये मृतक के संबंधी लोग सूर्यास्त तक यहाँ बैठे रहें, जिससे गृध्रादि इस मृत बालक के शरीर को न खा सकें और सूर्यास्त के बाद गृध्रादिकों के असमर्थ हो जाने से सम्पूर्ण मांस मुझे निश्चिन्त होकर खाने को मिल जाय । इसलिए वह उस मृत बालक के संबंधियों को समझा रहा है । महाभारत के शान्तिपर्व में आपद्धर्मपर्व के १५३ वें अध्याय में श्लोकद्वयात्मक वचन है—

आदित्योऽयमिति । अरे मूर्खो ! उस गृध्र के बहकावे में आकर अभी से क्यों भागे जा रहे हो । अभी तो सूर्य भगवान् स्थित हैं । अभी इसको यौवन भी प्राप्त नहीं हो पाया है । इसकी शरीरकान्ति कैसी सुवर्ण जैसी सुन्दर है ! ऐसे सुन्दर-सलोने बालक को यहाँ पटक कर भागजाना उचित नहीं है । अभी इससे

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ९६ ॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात्पदवाक्ययोः ।

प्रेम करो । यह मुहूर्त अनेक विघ्नों से भरा हुआ है । क्या पता, इस पर यदि कोई भूत-प्रेत बाधा हो तो थोड़ी देर में उसके दूर होते ही यह जीवित भी हो सकता है । इसे छोड़कर जाने में क्या तुम्हें लोकलज्जा भी नहीं है, अतः तुम लोगों का जाना उचित नहीं है ॥ ९५-९६ ॥

इति निशीति । रात्रि में विशेषरूप से समर्थ रहने वाले शृगाल की मृत बालक के संबन्धीलोगों को रोक रखने की इस उक्ति के वाक्य-समूह में एक युक्ति भरी हुई है । जिससे रात होते ही केवल उसी को मांस खाने को मिल सकेगा, गृध्र तो भाग जायगा । इस प्रकार का अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि प्रबन्ध में ही प्रतीत होता है ।

अन्ये इति । प्रबन्धगत अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेदों में से यहाँ पर केवल एक भेद का ही उदाहरण प्रदर्शित किया गया है । शेष ग्यारह भेदों के उदाहरण, ग्रन्थ के विस्तर-भय से यहाँ नहीं दिये गये हैं । उन्हें लक्षण के अनुसार स्वयं काव्यों में ढूँढ़ लेना चाहिये ।

अपीति । सूत्र ६० 'प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः'—में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से यह सूचित किया है कि यह 'अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि' पद तथा वाक्य में भी होता है । यहाँ पर स्वतःसंभवी वाच्यार्थरूप 'वस्तु' से 'जनव्यावर्तन रूप वस्तु' व्यंजित की गई है । उसका व्यंजक यह पद्यद्वयात्मक गोमायुवचनरूप 'प्रबन्ध' ही है, न कि तद्गत 'पद' या 'वाक्य' व्यंजक है, अतः इस ध्वनि में प्रबन्ध-प्रकाश्यता ही है ।

विशेष विवरण—अभिनवगुप्तपाद ने 'प्रबन्ध' का लक्षण इस प्रकार बताया है—'सङ्घटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः' (श्लो० ३।२) अर्थात् परस्पर सम्बद्ध अनेक वाक्यों का समूह (समुदाय) ही प्रबन्ध कहलाता है । वह वाक्यसमुदाय एक सम्पूर्ण ग्रन्थरूप भी हो सकता है और उसका अवान्तर प्रकरण रूप भी हो सकता है । चक्रवर्ती ने 'वृत्तप्रत्यायकं वाक्यं प्रबन्धः' यह प्रबन्ध का लक्षण किया है । अन्य किसी ने 'प्रबन्धो वाक्यविस्तरः' यह भी प्रबन्ध का लक्षण किया है । भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में—

(पदैकदेश-रचना-वर्णादि-व्यङ्ग्यता)

(सू० ६१) पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

'पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थ एव च ।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रबन्धश्चाभिधीयते ॥'

यह प्रबन्ध का लक्षण किया है । यहाँ पर 'अस्याः' का अर्थ यह किया है—

'अयुज्यमानस्य मिथः शब्दस्यार्थस्य वा पुनः ।
योजना क्रियते यासौ युक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥'

पदैकदेश-रचना वर्णादि-व्यंग्यता—

(सू० ६१) (१) पद के **एकदेश—प्रकृति-प्रत्यय** आदि, (२) रचना, (३) वर्णों में और **'अपि'** शब्द से (४) **प्रबन्ध** में भी रस आदि **असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि** होता है ।

विशेष विवरण—तिङन्त-सुबन्त रूप पदों के एकदेश—प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग—इनमें तथा वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि रचनाओं में, अथवा दीर्घसमास, मध्यमसमास, असमासादि रचना (संघटना) में, और **'मूर्ध्निवर्गान्त्यगाः स्पर्शाः'** सूत्र से अष्टमोल्लास में बताये जाने वाले ककारादि अक्षरविशेषरूप वर्णों में एवं प्रबन्ध में, **'रसादि'** अर्थात् रस-भाव-तदाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसंधि-भावशबलतारूप अलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूप रसादिध्वनि की अभिव्यक्ति होती है । उपर्युक्त प्रकृति-प्रत्यय-उपसर्ग के लक्षण (स्वरूप) इस प्रकार समझने चाहिये—(१) 'प्रकृतित्वं च प्रत्ययविधावुद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वं प्रत्ययविधावधित्वं वा । (२) प्रत्येति अर्थं बोधयतीति प्रत्ययः, तथा च प्रत्ययाधिकारपठितत्वे सत्यर्थबोधकत्वं प्रत्ययत्वम् । (३) उपसर्गाः प्रादयः ।' उपसर्गों में स्वातंत्र्येण अर्थप्रत्यायकत्व न होने से पदैकदेशत्व समझना चाहिये ऐसा उद्योतकार ने कहा है । 'प्रकृति' भी दो प्रकार की होती है—(१) धातुरूपा, और (२) नामरूपा । सूत्र में 'पदैकदेश' कथन उपलक्षक है, उससे पुरुषव्यत्यय, पूर्वनिपातादि का भी ग्रहण किया जाता है । 'पुरुषव्यत्यय; पूर्वनिपातादि', पदैकदेश के धर्मरूप होने से उन्हें भी पदैकदेश के रूप में ही समझा जाता है; ऐसा प्रदीपकार और प्रभाकार ने कहा है । 'पद' दो प्रकार का होता है—(१) सुबन्त, (२) तिङन्त । उसका एकदेश—नाम, धातुस्वरूपप्रकृतिभाग है और प्रकृति का एकदेश (प्रकृत्येकदेश) सुप्, तिङ्विभक्तिभाग तथा उपसर्गादिरूप है ।

(धातुरूपप्रकृत्यात्मकपदैकदेशी सम्भोगश्रृङ्गाररसस्य व्यक्तिमुदाहरति)

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंबिअं जुअइ ॥ ९७ ॥
(रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ ९७ ॥)

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि। समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् ।

तिङन्तरूप प्रकृत्यात्मकपदैकदेश से सम्भोगश्रृङ्गाररसव्यङ्ग्य—

तत्रेति । धातुरूप प्रकृत्यात्मक पद के एकदेश में संभोगश्रृंगार रस की व्यक्ति (व्यञ्जना) का उदाहरण जैसे—

हालकवि विरचित गाथासप्तशती का पचपनवाँ (५५) पद्य है। कोई अपनी सखी को शिक्षा देने के लिए लज्जा उत्पन्न होने पर भी स्नेहाभिव्यक्ति में पार्वती के वैदग्ध्य (चातुर्य) का वर्णन कर रही है।

रइकेलीति । (रतिकेलीति) । अरी सखी ! पार्वती के साथ रतिक्रीडा करते समय पार्वती के परिधान को दूर हटाकर उन्हें नग्न करने वाले, किन्तु लज्जा परवश पार्वतीजी के करपल्लवों से पिहित [बंद] किये गये नेत्रों वाले श्री शिवजी का वह तृतीय नेत्र जो पार्वती जी के द्वारा परि चुम्बित होने से [ढक दिया गया है] अद्भुत शोभा को धारण कर रहा है ॥ ९७ ॥

अत्र जयतीति । यहाँ पर 'जयति' पद के 'जि' धातुरूप प्रकृत्यात्मक पदैकदेश का ही प्राधान्य है । अत एव कवि ने उसके समानार्थक 'शोभते' आदि पदों का यहाँ प्रयोग नहीं किया। क्योंकि वह रस का व्यंजक नहीं है। यहाँ पर श्री शिवजी के तीनों नेत्रों को बन्द करने का व्यापार समान रहने पर भी चुम्बनरूप लोकोत्तर व्यापार से इस तृतीय नेत्र को ढक दिया गया है। क्योंकि शिवजी के दोनों नेत्रों को बन्द करने में दोनों हाथों का उपयोग किया गया था, किन्तु तृतीय नेत्र तो उनका खुला ही था, उसे बन्द करने के लिए पार्वतीजी ने एक रसमय चुम्बनरूप अलौकिक उपाय को अपनाया, और उसी से उनके तृतीय नेत्र को बन्द किया । यही उस नेत्र की अन्य नेत्रों की अपेक्षा उत्कृष्टता है। क्योंकि दोनों हथेलियों से दोनों आँखों को ढक देने में वह रतिरस नहीं है, जो रसमय चुम्बन से तृतीय नेत्र को बन्द कर देने में है ॥ ९७ ॥

विशेष विवरण—चन्द्रिकाकार कहते हैं कि पार्वती जी के दोनों हाथ दो नेत्रों को मूंदने में लगे रहने से तथा अलौकिक चुम्बन के द्वारा तृतीय नेत्र को ढक दिये

(नामरूपपदैकदेशी सम्भोगश्रृङ्गारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वेव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥ ९८ ॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि । तिङ्सुपोर्यथा—

जाने से उस तृतीय नेत्र की बताई जाने वाली जो उत्कृष्टता है, वह रागातिशय, हर्ष, लज्जा आदि के द्वारा रसातिशय को पुष्ट कर रही है। 'जयति' के अर्थ से 'उत्कर्ष' का बोध होता है। तृतीय नयन का उत्कर्ष, उसकी उत्कृष्टपिधानवत्ता होने से है। पिधान का उत्कर्ष, चुम्बनरूप अलौकिक साधन के कारण है। चुम्बन से पिधान तो रसोत्कर्ष से ही हो सकता है, इस कारण 'जि' धातु ही रसोत्कर्ष की प्रतीति कराने में प्रयोजक है। और 'शोभते' कहने पर तो उत्कर्ष के कारणों की चिन्ता ही न होने से वाच्यार्थ में ही विश्रान्ति हो जाती है। यहाँ 'तिङन्त पद' के एकदेश 'जि' धातु के द्वारा रसव्यंजकता का उदाहरण बताया गया है ॥ ९७ ॥

सुबन्तरूप प्रकृत्यात्मकपदैकदेश से सम्भोगश्रृङ्गाररसव्यङ्ग्य—

नामरूप प्रकृत्यात्मक पदैकदेश में सम्भोग-श्रृङ्गार की व्यक्ति [व्यंजना] का उदाहरण, अर्थात् 'सुबन्त पद' के एकदेश अर्थात् प्रातिपदिक रूप प्रकृति की व्यजकता का उदाहरण दे रहे हैं।

यथा वा । जैसे—

प्रेयानिति । नायिका ने, शपथपूर्वक पैरों पर अवनत हुए अपने प्रेमास्पद प्रियतम को झिड़क तो अवश्य दिया, और जैसे ही खिन्न होकर वह रतिगृह से दो-तीन पग भी नही जा पाया, वैसे ही वह नायिका संभोग के उत्कट अभिलाष के कारण खुली जा रही नीवी को हाथों से थामे हुए और प्रणाम करते हुए दौड़ कर उसे रोक ली। प्रेम की विचित्र चाल भला कौन जान सकता है ? अरे प्रेम की गति बड़ी ही विचित्र है ॥ ९८ ॥

अत्र पदानीति । यहाँ पर संभोग श्रृंगार की अभिव्यक्ति होने में जो 'पद' शब्द है, वह नामरूपा प्रकृति है, अर्थात् प्रातिपदिक है । वह सुबन्त 'पदानि' शब्द का एक देश है, उसका पर्यवसान 'उत्कण्ठा' में होने से वह प्रधान है। उस 'पद' शब्द का ग्रहण करने से 'द्वार-पर्यन्त जाने की सहिष्णुता न रहना' यह व्यंग्य है, उससे उत्कण्ठातिशय व्यंजित होता है और उससे 'संभोग' व्यञ्जित

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम् निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

होता है । यहाँ 'पदानि' कहा है, 'द्वाराणि' नहीं । अर्थात् दो-तीन 'पग' कहने से नायिका की उत्कट संभोगेच्छा और उसके द्वारा संभोगशृंगार रस की अभिव्यक्ति की गई है । यहाँ 'दो-तीन द्वार' नहीं कहा, क्योंकि दो-तीन पग भी न जाने देने में जो रतिरसपराधीनता व्यक्त होती है, वह दो-तीन दरवाजे पार करने के बाद रोकने में नहीं है ॥ ९८ ॥

पद के एकदेश 'तिङ् एवं सुप्' प्रत्यय के द्वारा संभोगशृंगार की व्यंजना का उदाहरण । वसन्त का वर्णन कर रहे हैं—

पथि पथीति । वसन्त के आ जाने से प्रत्येक मार्ग पर जगह-जगह नूतन प्ररोहों की कान्ति शुकचञ्चु के समान मन को आकर्षित कर रही है । इसी प्रकार प्रत्येक दिशा में चारों ओर लताओं को नचाने वाली वायु बह रही है । कामदेव प्रत्येक पुरुष पर अपने पुष्पबाणों को फेंक रहा है । प्रत्येक नगर में मानिनी सुन्दरियों के मान की चर्चा समाप्त हो चुकी है ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति । यहाँ पर 'किरति' इस तिङन्त क्रियापद में 'तिङ्' रूप जो प्रत्ययांश है, उससे कामदेव के बाणों के विक्षेप (किरण) की साध्यमानता, क्योंकि 'क्रिया' हमेशा साध्यरूप होती है । और 'निवृत्ता' इस सुबन्त पद से मानिनियों की मानचर्चा के समाप्त हो जाने से निवर्तन का सिद्धत्व, क्रमशः, 'तिङ्' और 'सुप्' प्रत्ययों से व्यक्त किया गया है । उसमें भी 'विनिवृत्ता' पद में भूतार्थक 'क्त' प्रत्यय से 'मानचर्चा' का अतीतत्व द्योतित किया गया है ।

विशेष विवरण—कामदेव ने पुरुषों के ऊपर अपने बाणों को अभी फेंका भी नहीं है । उन पर शीघ्र ही बाण वृष्टि करेगा । अभिप्राय यह है कि पुरुषों में तो अभी कामवासना का उदय भी नहीं हो पाया है । किन्तु स्त्रियाँ उसके बहुत पहले ही अपनी मानचर्चा भूलकर संभोग के लिये आतुर हो उठी हैं । यह बात 'किरति' के 'तिङ्' और 'विनिवृत्ता' के 'सुप्' प्रत्यय से और विशेषकर 'क्त' प्रत्यय से प्रकट हो रही है । क्योंकि 'क्त' प्रत्यय 'भूते' इस पाणिनिसूत्र से भूतकाल के अर्थ में ही होता है । अतः 'विनिवृत्ता' पद के 'क्त' प्रत्यय से स्त्रियों की मानचर्चा अब कहीं नहीं रही । वह तो अतीत का विषय बन चुकी—यह बात प्रकाशित होती है । इसी तरह 'किरति' पद के प्रयोग से और क्रिया

के साध्यरूप होने से पुरुषों पर कामदेव के बाणों का प्रहार अभी 'साध्य' है, यानी आगे होगा—यह बात प्रकट होती है। वृत्ति में 'अत्र किरतीति' 'किरणस्य' कहा गया है। 'किरणस्य' का अर्थ क्षेपणस्य किया जाता है, क्योंकि 'कॄ विक्षेपणे' इस तौदादिक कॄधातु से 'कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः'—इस सूत्र से औणादिक 'क्यु' प्रत्यय करने पर 'किरण' पद की निष्पत्ति होती है, किन्तु उद्योतकार का कहना है कि 'किरति तमांसि' इस व्युत्पत्ति से क्यु प्रत्ययान्त किरण शब्द की शक्ति 'मयूख' अर्थ में होने से यहाँ 'किरण' शब्द का प्रयोग चिन्तनीय है। यहाँ पर 'विकरणस्य' कहना उचित प्रतीत होता है। 'तिङ्' प्रत्यय का प्रयोग करने पर व्यंजनया साध्यत्वेनैव धात्वर्थकी उपस्थिति होती है। और 'सुप्' प्रत्यय का प्रयोग करने पर व्यञ्जनया सिद्धत्वेनैव प्रकृत्यर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ पर 'तिङ्' और 'सुप्' से 'साध्यत्व' और 'सिद्धत्व' व्यंग्य ही है। यानी 'किरति' में 'तिङ्' प्रत्यय से और 'निवृत्ता' में 'सुप्' प्रत्यय से 'साध्यत्व'—'सिद्धत्व' व्यंग्य हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि 'किरति' क्रिया की वर्तमानकालता को प्रकाशित करते हुए तद्गत 'उत्पाद्यमानत्व' रूप जो साध्यत्व है, उसका व्यंजक 'तिङ्' प्रत्यय है। इसी प्रकार 'निवृत्ता' में जो निवृत्त पद है, वह निवृत्तिकर्त्रर्थक है, यानी निवृत्ति के कर्ता को बताता है। 'निवृत्ता' में जो 'सुप्' प्रत्यय है, वह निवृत्तिकर्ता का अनुवाद करता हुआ स्वप्रकृत्यर्थ की विशेषभूत निवृत्ति के 'सिद्धत्व' का व्यंजक है, क्योंकि इतर-असमभिव्याहृत सुप्, सिद्धत्व का व्यंजक होता है और 'निवृत्तिः' 'निवृत्तिर्भविष्यति, निवृत्तः स्यात्' इत्यादि स्थलों में उसकी प्रतीति होती है। इस चर्चा से प्रकृत में यह निष्कर्ष निकला कि माननिवृत्ति में शरकिरण (बाणक्षेपण) कारण है। उसका सिद्धत्व (उत्पन्नत्व) वक्तव्य रहने पर 'किरति' के 'तिङ्' प्रत्यय से साध्यत्व बताया गया है। और माननिवृत्ति तो कार्यभूत है, उसका साध्यत्व वक्तव्य रहने पर सुप्' प्रत्यय से सिद्धत्व बताया गया है। तथा च किरण और निवृत्ति में जो कारण-कार्यभाव है, उसके पौर्वापर्यविपर्यय से कार्य-कारण का पौर्वापर्यविपर्ययरूपअतिशयोक्ति अलंकार प्रकाशित हो रहा है। और निवृत्ति के शीघ्रत्वबोधन द्वारा वसन्त के उद्दीपकत्वातिशय की अभिव्यक्ति कराने के कारण उसका पर्यवसान रसोत्कर्ष में हो रहा है ॥ ९९ ॥

अब प्रत्ययरूप पदैकदेश जो सुप्, तिङ् विशेष, उनसे विप्रलम्भ श्रृंगार की व्यक्ति का उदाहरण। अर्थात् 'सुप् तथा तिङ्' इन प्रत्ययांशों द्वारा संभोगश्रृंगार की व्यंजनका का उदाहरण 'प्रदर्शित कर चुके। अब विप्रलंभश्रृंगार की व्यंजना का उदाहरण दे रहे हैं।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
　　निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
　　स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने ! मानमधुना ॥ १०० ॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति तथा आस्ते इति न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति, भूमिमिति न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम् ।

सम्बन्धस्य यथा—

यथा वेति । अथवा (प्रत्यय से विप्रलंभशृंगार की व्यंजना) जैसे—

यह पद्य अमरुकशतक में से लिया गया है । इस पद्य में कई दिनों से रूठी हुई नायिका को समझाते हुए उसकी सखी कह रही है ।

लिखन्निति । हे सखी ! तेरा प्राणप्रिय बाहर अवनत मस्तक होकर जमीन कुरेद रहा है, तथा तेरी सखियों ने भोजन करना भी त्याग दिया है और निरन्तर रोते रहने से उनकी आँखें सूज गईं हैं । अरी ! पींजड़े के तोतों ने हँसना और पढ़ना यहां तक की शरीर धारणोपयोगी भोजनादि सब कुछ छोड़ दिया है, अर्थात् तेरे सभी प्रिय संबंधियों की यह दुरवस्था तेरे रूठने से (मान के कारण) हो रही है । लेकिन तेरी यह अवस्था है कि तू मान त्यागने का नाम ही नहीं ले रही है । हे कठोर हृदये ! अब तो मान (रूठना) छोड़ दे । 'विहायसा तेन विहस्य भूयः'–(नैष० ३।९९) इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने पक्षियों के हास्य का भी वर्णन किया है । अतः यहां पर शुकों के हास्यत्याग को बताना अनुचित नहीं है ॥ १०० ॥

अत्र लिखन्निति । यहाँ 'लिखन्' कहा है, लिखति' नहीं । अर्थात् 'लिखन्' मे 'लिख' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करने से 'लिखन्' क्रिया की अप्रधानता प्रतीत हो रही है, उस कारण लिखन् क्रिया में 'तात्पर्यशून्यता' तथा 'अबुद्धिपूर्वकता' ध्वन्ति हो रही है । उसी प्रकार 'आस्ते'–बैठा हुआ है—कहा है, 'आसितः'—बैठ गया–नहीं कहा । 'आस्ते' कहने से प्रारंभ किये कार्य की असमाप्ति के सूचक वर्तमान कालिक 'तिङ्' प्रत्यय से यह ध्वनित हो रहा है कि 'तुम्हारे प्रसन्न होने तक वह उसी तरह बैठा रहेगा' । और 'भूमिम्'–जमीनको–कहा है, 'भूमौ'–भूमि पर–नहीं कहा । 'भूमिम्' कहने से अनुद्देश्यता ध्वनित हो रही है । अर्थात् बुद्धिपूर्वक और कुछ विशेष बात नहीं लिख रहा है । यह 'तिङ् और सुप्' विभक्तियों से ध्वनित किया गया है ॥ १०० ॥

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि ।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥
(ग्रामरुहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ।। १०१ ।।

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

षष्ठीविभक्तिरूपप्रत्ययात्मकपदैकदेश का शृंगार व्यंजकत्व—

संबन्धस्य यथेति संबन्ध का उदाहरण अर्थात् संबंधार्थक षष्ठी विभक्तिरूप प्रत्ययात्मक पदैकदेश की शृङ्गार रसव्यञ्जकता का उदाहरण दे रहे हैं।

अरी ! कलह (झगड़ा) करने में तू मेरे सामने कौन चीज है ? इस प्रकार अधिक्षेप करती हुई ग्रामीणा की किसी नागरिक स्त्री के प्रति यह उक्ति है। अथवा सुधासागरकार के व्याख्यानानुसार—

बैल पर बैठी हुई किसी स्त्री को देखकर 'नागरी' स्त्रियों ने उसे 'ग्रामीण' कहकर उसका उपहास किया, तब वह कुलटा उन नागरिकी स्त्रियों से कह रही है—

गामेति । मैं ग्राम में पैदा हुई हूँ, गाँव में रहती हूँ, इस कारण नगर की चातुर्य से भरी हुई बातों को नहीं जानती हूँ, किन्तु अपने को **गुण-आगरी** समझने वाली नगर की स्त्रियों के पतियों को उनके देखते-देखते वश में कर लेती हूँ, मैं तो जो हूँ सो हूँ ही ।। १०१ ।।

यहाँ पर 'नागरिकान्' न कहकर **'नागरिकाणां पतीन्'** कहा है। अतः पद के एकदेशभूत **संबन्धार्थक षष्ठी से 'नागरिकस्त्रियों' की अपेक्षा उनके पतियों के चातुर्यका और उनको भी अपने वश में कर लेने से अपने चातुर्यातिशय का बोधन व्यंग्य है।** अथवा अनादर षष्ठी के पक्ष में **'षष्ठी चानादरे'**–(पा० सू० २।३।६०) सूत्र से **अनादर के अर्थ में षष्ठी** विभक्ति के करने से तुम्हारी सरीखी **नागरिकता का दम भरने वालियों के सामने उनके देखते-देखते उनके पतियों को अपने वश में कर लेती हूँ**—इस प्रकार अपना उत्कर्ष व्यंग्य है। अर्थात् **सर्व व्यंग्य रस ही यहाँ पार्यन्तिक है। प्रदीप, उद्योत और सुधासागर** व्याख्याओं में इसी प्रकार बताया गया है।

अत्र नागरिकाणामिति । यहाँ 'नागरिकाणाम्' इस षष्ठीविभक्ति में रस-व्यंजकत्व है।

प्रत्ययरूपलङात्मकपदैकदेश की रौद्ररसव्यञ्जकता—

प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररस की व्यञ्जना के उदाहरण में 'वीरचरित' नाटक के द्वितीय अंक में शिव-धनुष का भंग करने वाले रामचन्द्र के प्रति कुपित हुए भगवान् परशुराम का यह वाक्य है—

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीदि'ति कालस्य । एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स ।
ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअँ जाअमवसाणम् ॥ १०२ ॥
(तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः ।
तासाम्भणितीनां सुन्दर ! ईदृशं जातमवसानम् ॥ १०२ ॥)

रमणीय इति । 'क्षत्रियकुमार राम रमणीय (सुन्दर) था'—

यहाँ तिङन्त **'आसीत्'** पद के **एकदेशभूत** अतीतकालार्थक (भूतकालार्थक) **'लङ्'** प्रत्यय, **रौद्ररस को अभिव्यंजित** कर रहा है। **'कालस्य'** का **अर्थ है** 'कालार्थक लकार', उसमें **रौद्ररसव्यंजकत्व** है। इस **प्रत्ययांशभूत 'लङ्'** लकार से ही यह प्रतीत हो रहा है कि **'शिवधनुष को तोड़ने के पूर्व रामचन्द्र रमणीय थे, अब नहीं हैं,'** । क्रुद्ध हुए परशुराम की उक्ति **'क्षण भर में ही इस रामचन्द्र को मार डालूंगा'—से परशुराम का क्रोधातिशय व्यक्त** हो रहा है। **तात्पर्य** यह है कि **'आसीत्'** इस **अतीतकालबोधक 'लङ्' से यह** ध्वनित किया गया है कि **मेरे क्रोध से कवलित हुए इस क्षत्रिय कुमार का 'रमणीयत्व' अतीत हो चुका,** अब इसकी रमणीयता न वर्तमान में है और न भविष्य में है, **वह** अब अतीत की वस्तु हो गई'—इससे **'क्षणादेनं संहरामि'- यह प्रतीति होती है,** इस प्रतीति से उनका **'क्रोधातिशय' व्यंग्य** हो रहा है। वृत्ति में **'इति कालस्य'** कहा है। **यहाँ 'कालस्य'** न कहकर यदि **'लङः'** कहते तो अतीत काल में लिट्, लुङ् आदि प्रत्ययान्तरों का भी विधान पाणिनि ने किया है। इसी तरह **'कालस्य' के बजाय 'प्रत्ययस्य'** भी नहीं कहा, क्योंकि 'प्रत्ययस्य' कहने पर प्रकृत 'प्रत्यय' में ही व्यंजकत्व होता। अतः **'कालस्य' कहने से अतीतकाल में विहित सभी प्रत्ययों की ऐसे विषय में व्यंजकता निर्बाधरूप से हो सकती है।** यह सब सोचकर ही **वाग्देवतावतार श्रीमम्मटभट्ट का 'कालस्य' कहना अत्यन्त उचित ही है ।**

प्रत्ययरूप वचनविशेषात्मकपदैकदेश की विप्रलंभश्रृंगारव्यंजकता—

वचनस्येति । **'वचन'** की व्यंजकता का **उदाहरण, जैसे—**पहले बहुतर गुणों को सुनकर उत्पन्न हुए **अनुरागातिशय को प्रकट** करती है, तदनन्तर नायक के अन्यत्र आसक्त होने पर नायिका की यह उक्ति है—

ताणमिति । हे सुन्दर ! तुम्हारे द्वारा किये गये मेरे उन गुणवर्णनों का, उन-उन उत्कण्ठाओं का, और तुम्हारे द्वारा की जाने वाली **'तुम ही मेरी जीवित-सर्वस्व हो'** इत्यादि प्रेमभरी अनेक बातों का, तथा तुम्हारे द्वारा प्रदर्शित उस

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः ! प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारान्निधौ ॥ १०३ ॥

अत्र प्रहासः ।

प्रेम का क्या आज इस प्रकार से अपराधकलुषित परिपाक (अवसान) हो गया है ॥ १०२ ॥

अत्र गुणग्रहणादीनामिति । यहाँ गुणग्रहण आदि का बहुत्व (बहुविधत्व) और प्रेम का सदा समानरूप में रहने से एकत्व (एकविधत्व) को क्रमश। बहुवचन तथा एकवचन से द्योतित किया गया है । अभिप्राय यह है कि 'प्रेम' के हेतुभूत गुणग्रहण आदि अनेक प्रकार होनेपर भी उनसे उत्पन्न कार्यभूत 'प्रेम' एकजातीय ही है, वह कभी भी अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं हुआ' अर्थात् सतत (अविच्छेदेन) प्रकर्ष-निकर्षराहित्य के कारण परमोत्कृष्ट है । इसे 'गुणग्रहण' 'उत्कण्ठा' 'भणिति' इन पदों के बहुवचन और 'प्रेम' पद के एक वचन से व्यंजित किया गया है। उससे 'विप्रलंभ' का उत्कर्ष व्यंग्य है ॥ १०२ ॥

पुरुषव्यत्यय (पुरुषपरिवर्तन) रूपपदैकदेश की शान्तरसव्यंजकता—

कोई विरक्त, किसी सुन्दरी के दर्शन से क्षुभित हुए अपने हृदय पर हँस रहा है—

'रे रे ! इति । (रे रे ! यह साक्षेप संबोधन है ।) चञ्चलनेत्रा कटाक्षमारनेवाली सुन्दरी की इच्छा करने वाले अरे दुष्ट मन ! भगवान् के प्रति स्थिर प्रेम को छोड़कर इस अत्यन्त चञ्चल मृगनयनी को देखकर क्यों नाच रहा है ? क्या तू सोच रहा है कि मैं इसके साथ विहार करूँगा ? अरे अभागे ! इस अपनी आन्तरिक अभिलाषा को छोड़ दे । इस सुन्दरी स्त्री की अथवा उसके संभोग की अभिलाषा करना सचमुच संसारसमुद्र में डुबाने वाली कण्ठ में बाँधी गई पत्थर की शिला के समान है ॥ १०३ ॥

अत्रेति । यहाँ पुरुषपरिवर्तन (पुरुषव्यत्यय) से 'प्रहास' व्यंग्य है । उदाहरणभूत उक्त पद्य का तृतीय चरण 'किं मन्ये विहरिष्यसे' है । कहने वाले का तात्पर्य 'त्वं मन्यसे, अहं विहरिष्ये' है । किन्तु यहां पर 'त्वम्' इस मध्यमपुरुष के साथ 'मन्ये' इस उत्तम पुरुष का और 'अहम्' इस उत्तम पुरुष के साथ 'विहरिष्यसे' इस मध्यम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया है । नियमानुसार तो 'त्वं

पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।
ये क्ष्माशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
स्ते स्युर्नैवभवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥ १०४ ॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते।

मन्यसे' और 'अहं विहरिष्ये' ऐसा प्रयोग होना चाहिये था। किन्तु प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च'–(पा. सू. १।४।१०६) सूत्र से प्रहास (उपहास) की विवक्षा रहने पर 'मन्यति' अर्थात् 'मन' धातु के उपपद रहते पुरुषव्यत्यय का विधान करके मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम-पुरुष का और उत्तम-पुरुष के स्थान पर मध्यम-पुरुष का प्रयोग करना चाहिये—यह बताया गया है। तदनुसार यहाँ पर पुरुष का व्यत्यय करके 'प्रहास' को व्यंजित किया है। एवं च परिणामविरस होने से हर्षित होना और नाचना उचित नहीं है। 'संसारवारांनिधौ' में 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'—(पा० सू० ६।३।१४) से बाहुलकात् षष्ठी का अलुक् हुआ है। मध्यम-उत्तम पुरुषों में विपर्यय कर देने से प्रहास की अभिव्यक्ति हो रही है। उस प्रहास से शान्तरस का उत्कर्ष हो रहा है। वृत्ति में दिये गये 'अत्र प्रहासः' के आगे 'पुरुषव्यत्ययेन व्यज्यते' यह जोडना चाहिये ॥ १०३ ॥

पूर्वनिपातरूप पदैकदेश की भावव्यंजकता—

बल और नय (नीति) उभय विशिष्ट राजा लोग ही समर्थ होते हैं, इस अभिप्राय से कोई कवि किसी राजा से कह रहा है—

येषामिति। हे राजन् ! जिन राजाओं के पास केवल बाहुबल ही है, नीतिबल नहीं है, वे भी नीतिज्ञ वृद्धों के द्वारा निर्बल माने जाते हैं, क्योंकि उन राजाओं से प्रमाद होने की संभावना रहती है। और केवल नीतिबल का ही अवलम्बन करने वाले (बाहुबल से रहित) उन राजाओं से भी क्या लाभ ? क्योंकि कोई भी बलवान् आकर किसी भी समय उन्हें धर्षित कर सकता है। किन्तु हे पृथ्वीन्द्र ! पराक्रम और नीति दोनों को स्वीकार कर सुन्दर रूप से पराक्रमपूर्वक आचरण (नीति) करने वाले आपके समान पवित्र वे राजा दो-तीन से अधिक संसार में नहीं निकलेंगे ॥ १०४ ॥

यहाँ पर 'नय' पद के पूर्व 'पराक्रम' पद का जो निपात (प्रयोग) किया है, उसी से कविनिष्ठ राजविषयक 'रतिभाव' व्यंजित हो रहा है।

अत्रेति। यहाँ पर पूर्वनिपात से पराक्रम की प्रधानता अवगत होती है। यहाँ पर 'पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमाः' इस समस्त पद में 'पराक्रम' तथा

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप ! भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपरम् ॥ १०५ ॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

'नय' पदों में से 'नय' पद 'अल्पाचतर' है, यानी उसमें स्वर-वर्ण न्यून हैं। इस लिये **'अल्पाच्तरम्'**-(पा० सू० २।२।३४) सूत्र से **पूर्व निपात** उसी का होना चाहिये था और तदनुसार 'नय-पराक्रम' ऐसा प्रयोग करना चाहिये था। किन्तु **'अभ्यर्हितञ्च'** इस वार्तिक से 'पराक्रम' को अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) मानकर उसका पूर्वनिपात किया गया है। इस कारण यहाँ पर 'पराक्रम' शब्द का पूर्वनिपात करने से उसका प्राधान्य (अभ्यर्हितत्व) व्यंग्य हो रहा है। इसके पूर्वनिपातन से ही वर्णनीय राजा के पराक्रम के प्रति कवि के हृदय में विशेष अनुरक्ति का भाव द्योतित हो रहा है। एवं च पराक्रम की प्रधानतापूर्वक जो 'नयस्वीकार' बताया गया है, वह राजा के उत्कर्ष को सूचित करता हुआ राजविषयक रति को पुष्ट कर रहा है; इसलिए उसमें असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूप भावध्वनि का व्यंजकत्व है ॥ १०४ ॥

उपपदविभक्तिविशेषरूप पदैकदेश की भावव्यंजकता—

उपपदविभक्तिविशेषरूप पदैकदेश की व्यञ्जकता से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरूप ध्वनि की अभिव्यक्ति का उदाहरण—

प्रधनेति। हे धीर राजन् (नरप) ! योद्धाओं के धनुष्टंकार की ध्वनि से गूंजती हुई रणभूमि में तुम्हारे शत्रुओं ने (विधुरैः) दिन भर युद्ध किया, तथापि वे नहीं जीत सके। परन्तु तुमने उसी दिन उन शत्रु योद्धाओं से ऐसा युद्ध किया कि ब्रह्मा और सिद्धगणों के साधुवाद के साथ एक ही दिन में विजय प्राप्त करके युद्ध समाप्त कर दिया ॥ १०५ ॥

अत्र दिवसेनेति। यहाँ पर 'दिवसेन' यह अपवर्ग-तृतीया, 'फलप्राप्ति' को ध्वनित कर रही है।

विशेष विवरण—विभक्ति दो प्रकार की होती है—(१) कारक विभक्ति और (२) उपपद विभक्ति। उनमें से 'क्रियाजनकार्थिका विभक्तिः कारकविभक्तिः। (२) उप समीपे उच्चारितं पदम् उपपदम्। तदर्थनिमित्तका विभक्तिः उपपदविभक्तिः। पद्य में प्रयुक्त 'दिवसम्' का अर्थ है 'दिवसमभिव्याप्य' अर्थात् शत्रुभिः (विधुरैः) दिवसमभिव्याप्य अयोधि, यानी निरन्तरं प्रहृतम्। 'दिवसम्' में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'-(पा० सू० २।३।५) सूत्र से अत्यन्त संयोग को सूचित करने के लिये द्वितीया विभक्ति की गई है।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥ १०६ ॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य ।

अर्थात् 'तव शत्रूणां युद्धेन न इष्टप्राप्तिरित्यर्थः ।' 'भवाँस्तु दिवसेन अयुद्ध अर्थात् युद्धं कृतवान् ।' यहाँ पर 'दिवसेन' में अपवर्गतृतीया की गई है। 'अपवर्गे तृतीया'-(पा० सू० २।३।६) सूत्र से, फल प्राप्ति को द्योतित करना हो तो तृतीया बिभक्ति करने का विधान किया गया है। इस तृतीया विभक्ति से युद्धरूप क्रिया का जो फल अर्थात् 'विजय' उसकी प्राप्ति व्यंजित की गई है। उससे राजविषयक भावप्रकर्ष व्यंग्य हो रहा है। 'अपवर्ग' का अर्थ है फल-प्राप्तौ सत्यां क्रियापरित्यागः'—फलप्राप्ति होने पर क्रिया का त्याग। क्योंकि 'फलसिद्धौ एव उपायेच्छानिवृत्तेः'। यह पद्य, विभक्तिरूप पदैकदेश की भाव-व्यंजकता का उदाहरण है ॥ १०५ ॥

प्रकृत्यैकदेशभूत तद्धितप्रत्यय से विप्रलम्भश्रृङ्गारव्यञ्जकता—

अब प्रकृति के एक देशभूत 'क' रूप तद्धित-प्रत्यय में विप्रलंभ श्रृंगार के व्यंजकत्व को बताते हैं। यह पद्य 'मालती माधव' नाटक के प्रथम अंक से लिया गया है। 'कथितमेव नो मालतीधात्र्या लवङ्गिकया' इस 'चूर्णक' नामक गद्यांश के बाद इस उदाहरण भूत पद्य को दिया गया है। इस के चतुर्थचरण के अन्त में 'अङ्गकैस्ताम्यतीति' वाक्यांश है। यहाँ 'अङ्गकैः' पद में प्रयुक्त तद्धित 'क' प्रत्यय 'अनुकम्पा' के अर्थ में है। अतः अनुकम्पा के द्योतक 'क' प्रत्यय से विप्रलंभश्रृंगार की अभि-व्यक्ति हो रही है—

भूयो भूय इति। निवासभवन के उपरितन मण्डप अथवा वलभी यानी छज्जे के उन्नत झरोखे में स्थित मालती ने समीप के नगर की सड़कपर बार-बार घूमते हुए माधव को ऐसा देखा, जैसे साक्षात् रति, कामदेव को देखती हो। तभी से अत्यन्त उत्कण्ठित होने के कारण नितान्त खिन्न (लुलित) हुई—मालती की देह अनुकम्पनीय अंगों से मुरझा रही है ॥ १०६ ॥

अत्रेति। यहाँ पर अनुकम्पाद्योतक 'क', यह तद्धित प्रत्यय, विप्रलंभश्रृंगार का व्यंजक है।

विशेष विवरण—यहाँ पर अनुकम्पा से व्यंग्य होने वाले सौकुमार्य से विप्रलंभ का परिपोष हो रहा है। अर्थात् सौकुमार्य से दुःखकी असहिष्णुता अभिव्यक्त हो रही है, और उसके द्वारा विप्रलंभ का उत्कर्ष हो रहा है। यहाँ पर

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥ १०७ ॥

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥ १०८ ॥

अल्पार्थक 'कन्' प्रत्यय नहीं है । अन्यथा 'अत्रानुकम्पावृत्तेः (अनुकम्पाद्योतकस्य) करूपतद्धितस्य' इस वृत्तिग्रंथ का स्वारस्य नष्ट हो जायगा । वृत्तिग्रन्थ के 'करूपतद्धितस्य' के आगे 'विप्रलंभ-शृंगारव्यंजकत्वम्' यह जोडना चाहिये ॥ १०६ ॥

प्रकृत्यैकदेशभूत उपसर्ग से विप्रलम्भशृङ्गारव्यंञ्जकता—

प्रकृति के एकदेशभूत उपसर्ग की विप्रलंभशृङ्गारव्यंजकता । 'मालतीमाधव' नाटक के प्रथम अंक से यह पद्य लिया गया है । इस पद्य में माधव अपने मित्र मकरन्द से अपनी कामावस्था का वर्णन कर रहा है—

परिच्छेदेति । अरे मकरन्द ! मेरे हृदय में कोई विलक्षण आश्चर्यकारक कामजविकार, भरता जा रहा है । जिसकी व्यापकता या समाप्ति का कोई ठिकाना नहीं है, जिसे बताने के लिये वाचक, लाक्षणिक, व्यंजकादि कोई भी शब्द समर्थ नहीं है । और जो इस जंन्म में कभी अनुभव में नहीं आया । फिर भी यह तो मेरे विवेक को समूल नष्ट करके और अज्ञान प्रवृद्ध करता हुआ अलंधनीय हो बैठा है । यह तो मेरे अन्तःकरण को जड़सा बना दे रहा है । यह ऐसा संताप दे रहा है कि मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है ॥ १०७ ॥

अत्रेति । यहाँ 'प्रध्वंस' पद में 'प्र' शब्दरूप उपसर्ग, विप्रलंभशृङ्गार का व्यंजक है ।

विशेष विवरण—'प्रध्वंसात्' यहाँ पर प्रकृति के एक देश भूत 'प्र' शब्द से विवेक का समूलोन्मूलनरूप ध्वंसप्रकर्ष द्योतित किया गया है । क्योंकि उपसर्गों को वाचक नहीं माना जाता, उस कारण मोहप्रकर्ष, उससे रागातिशय, उससे माधव का विप्रलंभशृङ्गारप्रकर्ष व्यंग्य हुआ है । 'प्रादि' और 'चादि' के स्वतः प्रयोगानर्ह होने से वे पदैकदेश के तुल्य माने जाते हैं ॥ १०७ ॥

निपातरूप पदैकदेश की वीररसव्यंजकता—

किसी राजा के प्रति मंत्री की यह उक्ति है—

कृतमिति । हे राजन् ! आपने अपने मन को अहंकाराभिमुख किया नहीं कि

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य ।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।
बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकवचनानां न त्व-

---

हमारे शत्रुगण विनष्ट हो ही गये । संसार में अंधकार तभी तक रहता है, जब तक सूर्य उदयाचलके शिखर पर नहीं आता है ॥ १०८ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'तुल्ययोगिता' अलंकार के सूचक 'च' निपात की वीर-रसव्यंजकता है ॥ १०८ ॥

विशेष विवरण—राजा के मन का गर्वाभिमुख होना और शत्रुओं का संहार होना दोनों की एककालिकता को 'च' निपात द्योतित कर रहा है। उदित सूर्य के विना उदयाचल जैसे अमौलिजन के समान शोभा नहीं देता, वैसे ही तुम्हारे विना यह संसार भी शोभा नहीं देता—यह ध्वनित हो रहा है। यहाँ 'च' कार से 'मनोगर्वाभिमुखीकरण और अरिहनन'-इन दोनों प्राकरणिकों में एककालत्वलक्षण 'एकधर्म' का संबन्ध होने से 'तुल्ययोगिता' कही गई है—यह प्राचीनमत से है। वस्तुतस्तु 'मन को गर्व के अभिमुखमात्र किया और शत्रुगण निहत हुए'—इस प्रकार 'तुल्यकालमेककालं योगः सम्बन्धः ययोस्तौ तुल्ययोगिनौ तयोर्भावस्तुल्ययोगिता' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'तुल्ययोगिता' पद 'समुच्चय' परक है। एवं च यहाँ पर 'चकारद्वय' से स्व-समभिव्याहृत दो क्रियाओं का तुल्यकालतालक्षण 'समुच्चयालंकार है। उसके द्वारा वीररस का प्रकर्ष ध्वनित हो रहा है। इस समुच्चय को ही 'तुल्य-कालं योगिता' इस व्युत्पत्ति से 'तुल्ययोगिता' शब्द के द्वारा कहा गया है। उसी से वीररस का प्रकर्ष प्रतीत हो रहा है ॥ १०८ ॥

अनेकपदैकदेशरूप प्रत्ययांशों की वीररसव्यंजकता—

राघवानन्दनाटक में रावण को उद्देश्य करके बिभीषण कह रहा है—

रामोऽसाविति। वह रामचन्द्र अपने निज पराक्रम तथा गुणों से तीनों भुवनों में अत्यन्त प्रसिद्धि को पा चुके हैं। और जिनके यश का गान, स्तुतिपाठक बन्दी (भाट) के समान वायु, जिसके एक बाण के प्रहार मात्र से पाङ्क्तिबद्ध सप्त विशाल तालवृक्षों में उत्पन्न हुए सात छिद्रों से निकलने वाले सप्त स्वरों से करता रहता है। उसको आप नहीं जानते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य ही है ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति। यहाँ पर 'असौ'—यह सर्वनाम, 'भुवनेषु'—यह प्रातिपदिक, 'गुणैः'—यह बहुवचन अर्थात् सर्वनाम, प्रातिपदिक, और वचन का क्रम से व्यंज-

दिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः, भाग्यविपर्ययादित्यन्यथा-संपत्तिमुखेन न स्वभावमुखेनाभिधानस्य।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना॥ ११०॥

कत्व है। इसी प्रकार 'अस्मद्भाग्यबिपर्ययात' में 'त्वत्' या 'मत्' आदेशों को न कहकर सर्वसंग्राहक 'अस्मत्' का प्रयोग किया है। और 'भाग्य' के अभाव-वाचक 'अभाग्य' पद का प्रयोग न करके 'भाग्य' के अन्यथा भाव (दुर्भाग्य) के वाचक 'भाग्यबिपर्यय' पद का प्रयोग आदि का, इसप्रकार से जो कथन (अभिधान) किया है, उसमें व्यंजना भरी हुई है, अर्थात् यह सब प्रीतिपादन, व्यंजकता का काम कर रहा है।

बिशेष विवरण—यहाँ पर सर्वनाम-प्रातिपदिक-वचन का तथा सर्वाक्षेपक (समस्तरक्षःकुलोपस्थापक) अस्मत् का और 'अभाग्यात्' इस प्रकार अभावमुखेन न कहकर 'भाग्यविपर्ययात्'—इस प्रकार अन्यथा संपत्तिमुखेन (दुर्भाग्यरूप से परिणमन) जो—व्यंग्यार्थबोधन द्वारा प्रतिपादन किया है, उससे वीर रस की व्यंजना निकल रही है। 'न तु अभावमुखेन' कहने से यह ध्वनित हो रहा है कि 'हमारा भाग्य नहीं है; ऐसा नहीं, किन्तु आप जैसे भ्राता से संबंधित रहनेवाले भाग्य से ही जन्म से सुखपूर्वक रहने वाले हम लोग थे, वही भाग्य इस समय हमारे लिये दुःखरूप फल देने वाला हो गया है।' यहाँ 'आक्षेप' का अर्थ 'व्यंजना' है। अतः सीता को नहीं लौटाओगे तो सकलरक्षःकुलक्षय होना निश्चित है—यह ध्वनित किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'असौ' इस सर्वनाम से 'राघवेन्द्र रामचन्द्र के महा-पराक्रमी महान् पुरुष होने' की ध्वनि निकलती है। 'भुवनेषु' इस प्रातिपदिक से 'किसी छोटे-मोटे गाँव या शहर अथवा एक भुवन में नहीं, अपितु संपूर्ण भुवनों में त्रिलोकी में वह विख्यात है, जिसे 'राम' नाम से कहा जाता है—यह ध्वनित हो रहा है। 'गुणैः' कहने से 'उस राम के गुण अपरिमित हैं, जिनकी इयत्ता (परिच्छेद) नहीं की जा सकती'—यह ध्वनित हो रहा है। 'अस्मत्' कहने से संपूर्ण राक्षसवंश की प्रतीति' ध्वनित हो रही है। 'भाग्य-विपर्यय' कहने से 'राम के साथ शत्रुता रखने पर दुर्भाग्य का कौन ठिकाना?-यह ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार अनेक पदार्थों से वीर रस की व्यंजना की गई है॥ १०९॥

पदैकदेशरूप अनेकप्रत्ययांशों की शृङ्गाररसव्यंजकता—

तरुणिमनीति। इस चञ्चलाक्षी मृगनयनी सुन्दरी को तो विश्व की समस्त

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य तरुणत्वे इति धनुषः समीप इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

सुन्दरियों की चूडामणि ही कहना चाहिये, क्योंकि इसका नवयौवन अपने उभार पर है, और इसकी भ्रूलताएँ, कामचाप (कामदेव के धनुष) जैसे अपने गुरुचरणों के समीप कटाक्षकला की शिक्षा का ग्रहण कर रहीं हैं॥ ११०॥

अत्रेति। यहाँ 'तरुणिमनि' में 'इमनिच्' प्रत्यय, 'अनुमदनधनुः' पद में 'मदनधनुषः समीपे इति अनुमदनधनुः' इस प्रकार का अव्ययीभाव समास; 'मौलिम्' पद में कर्मरूप आधार—इन तीनों के स्वरूप में शृङ्गार-रसव्यंजकत्व है। क्योंकि—

तरुणत्वे इति। यहाँ पर शृङ्गार रस की अभिव्यंजना में निमित्तभूत उन-उन व्यंजकों में अद्भुत शक्ति दृष्टिगोचर हो रही है। 'तरुणत्वे' में 'त्व' प्रत्यय और तरुणिमनि' में 'इमनिच्' प्रत्यय दोनों का अर्थ (वाच्यार्थ) एक (समान) रहने पर भी 'तरुणिमनि' पद का जो माधुर्य है, वह 'तरुणत्वे' में नहीं है। क्योंकि सुकुमार अक्षरों वाले 'इमनिच्' इस तद्धित प्रत्यय से वैसा ही नवीन वय प्रतीत होता है। और 'तरुणत्वे' कहने पर तो प्रौढाक्षर वाला 'त्व' प्रत्यय होने से वय की प्रौढता प्रतीत होती है। 'अनुमदनधनुः'—और 'मदनस्य धनुषः समीपे' दोनों का अर्थ, समान ही है। किन्तु 'मदनस्य धनुषः समीपे'—इस अर्थ में किये गये 'अनुमदनधनुः' पद के 'पूर्वपदार्थ-प्रधान-अव्ययीभाव-समास' से उत्तर-पदार्थीभूत धनुष का अप्राधान्य प्रकट होता है और उससे भ्रूलताग्र में तन्निरपेक्ष वश करने का असामर्थ्य बताया गया है। अर्थात् मदनधनुष के उपलक्षणभाव को प्रकाशित करने वाले पूर्वपदार्थप्रधानअव्ययीभाव के द्वारा भ्रूलताग्र का जगद्वशीकरणत्व प्रकाशित किया गया है। उसी तरह 'मौलौ वसति' और 'मौलिमधिवसति' दोनों का वाच्यार्थ समान है! तथापि 'मौलिम्' यहां पर जो कर्मप्रतीति हो रही है, उससे कर्मीभूत सकलललनामौलिव्याप्ति सूचित होने से 'सौन्दर्यातिशय' व्यंजित हो रहा है। और 'मौलौ' कहने पर 'आधार' एक-देशवृत्ति भी हो सकता है, उससे 'व्याप्ति' की प्रतीति नहीं हो पाती। तात्पर्य यह है। कि ऊपर प्रदर्शित इमनिच्, अव्ययीभाव, कर्मभूत आधार आदि के स्वरूप की 'तरुणत्वे' 'धनुषः समीपे', 'मौलौ वसति' आदि स्वरूपों से तुल्यता रहने पर भी तत्तत्स्वरूपों में ही कोई एक ऐसा विशेष है जो विलक्षण चमत्कारकारी है। अतः वही व्यंजक बन गया है। 'त्व' शब्द से प्रकृत्यर्थ का प्रौढत्व व्यंजित होता है, किन्तु इमनिच्' से प्रौढता न होने के कारण 'नवत्व' व्यंजित होता है। धनुषः

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु। एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड् भेदाः।

समीपे' यहाँ पर 'धनुष्' का अत्यन्त गुणीभाव प्रतीत होता है, किन्तु 'अव्ययीभाव' में पूर्वपदार्थ का प्राधान्य रहने पर भी उत्तर पदार्थ का किञ्चिन्मात्र ही अप्राधान्य रहता है और 'कर्मभूत आधार स्थल' में व्याप्ति का बोध होता है। एवमिति। इसी प्रकार पदैकदेश आदि की रसव्यंजकता समझ लेनी चाहिये।

वर्णरचनानामिति। 'वर्ण' एवं 'रचना' की रसव्यंजकता आगे गुणस्वरूप-विवेचन के प्रसंग में यानी अष्टम उल्लास (सू० १५) में बतावेंगे।

अपिशब्दादिति। 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि' इस कारिका में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से 'पद-पदैकदेश-वर्ण-रचना' के अतिरिक्त 'प्रबन्ध-नाटक-मुक्तक' आदि भी 'रस' के व्यंजक होते हैं—यह जानना चाहिये।

विशेष विवरण—गुणस्वरूप-निरूपण के अवसर पर वर्ण-रचना की रसव्यंजकता बताने का तात्पर्य यह है कि गुण और रचना का परिचय होने पर ही उसकी रसनिष्ठ माधुर्यादिगुणव्यंजकता का ज्ञान होना संभव है, इसलिये उनकी व्यञ्जकता यहां नहीं बताई गई है। किन्तु इमनिजादिकों की व्यंजकता तो स्वबोध्यनिष्ठतत्तद्विशेष व्यंजकता रहने से यहाँ बता दी गई है। 'अपिशब्दात् प्रबन्धेषु' की व्याख्या करते समय किसी व्याख्याकार ने यह जो कहा है कि यहाँ पुनः प्रबन्ध की व्यंजकता बताने पर भी पुनरुक्ति इसलिये नहीं होगी कि पहले 'प्रबन्ध' शब्द से संघटित अवान्तरवाक्यसमूह को कहा गया था, और यहाँ संघटित-महावाक्यरूप प्रबन्ध बताया है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले केवल अर्थशक्तिमूलक प्रबन्ध के बारे में ही कहा गया है, और यहाँ 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' की प्रबन्धविषयता कही गई है—इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। 'कविविवक्षितेतिवृत्त-प्रत्यायकं वाक्यं प्रबन्धः, और पञ्चसन्धिसमन्वितं पञ्चादिदशपर्यन्ताङ्कं ख्यातवृत्तकं काव्यं नाटकम्'—ये प्रबन्ध और नाटक के लक्षण हैं। 'आदि' शब्द से प्रकरणादि का भी संग्रह कर लेना चाहिये।

एवं रसादीनामिति। इस रीति से रसादि ध्वनि के गिनाये हुए—'पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य' इन दो भेदों के साथ, (१) पदांश, (२) वर्ण, (३) रचना, (४) प्रबन्ध गत चार (पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि) भेदों को जोड़ने पर छह भेद होते हैं। अर्थात् (१) वाक्य, (२) पद, (३) पदैकदेश, (४) रचना, (५) वर्ण, (६) प्रबन्ध के द्वारा प्रकाश्य होने से अलक्ष्यक्रमरस आदि ध्वनि के छह भेद होते हैं।

(सू० ६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्—

व्याख्याताः ।

(सू० ६२) इस प्रकार ध्वनिकाव्य के इक्यावन भेद होते हैं।

व्याख्याता इति । इन इक्यावन भेदों की व्याख्या हो चुकी है।

विशेष विवरण—ध्वनि काव्य के निर्दिष्ट इन मुख्य इक्यावन (५१) भेदों की गणना इस प्रकार से की गई है, उन्हीं को सुखावबोधार्थं बता रहे हैं। तथाहि—

सर्व प्रथम ध्वनि के दो भेद—'अविवक्षितवाच्य और 'विवक्षितान्यपर-वाच्य' यानी 'लक्षणामूल' और 'अभिधामूल'—किये गये हैं।

इनमें से 'अविवक्षितवाच्य' (लक्षणामूल) ध्वनि के भी 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'–ये दो भेद हुए।

उसी तरह 'विवक्षितान्यपरवाच्य' (अभिधामूल) ध्वनि के भी 'असंलक्ष्य (अलक्ष्य) क्रमव्यंग्य' और 'संलक्ष्य (लक्ष्य) क्रमव्यंग्य'—ये दो भेद हुए।

इनमें से असंलक्ष्य (अलक्ष्य) क्रम व्यंग्य के अनेकानेक भेद किये जा सकते हैं, इसलिये उनका विस्तार करने के बजाय उसका एक ही भेद स्वीकार किया है।

(अ) एवं च—'लक्षणामूलध्वनि' के (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य—ये दो भेद, और 'अभिधामूलध्वनि के भेदों में से 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' नाम का एक (१) भेद,—इन सबको जोडने से तीन (३) भेद सम्पन्न होते हैं।

अभिधामूलध्वनि का अवशिष्ट 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य'—नामक जो भेद था, उसके (१) 'शब्दशक्त्युत्थ' (२) 'अर्थशक्त्युत्थ' और 'उभयशक्त्युत्थ'—ये तीन (३) भेद किये गये। (१) उनमें से 'शब्दशक्त्युत्थ' के 'वस्तुध्वनि' और—'अलंकारध्वनि'—ये दो (२) भेद हुए।

(२) उसी तरह 'अर्थशक्त्युत्थ' के 'स्वतःसंभवी चार (४) भेद, कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध चार (४) भेद, और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध चार (४) भेद—ये सब कुल मिलाकर बारह (१२) भेद हुए।

(३) उभयशक्त्युत्थध्वनि का एक (१) भेद हुआ। एवं च इन तीनों के भेदों को जोडने से 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के (नंबर १, २, ३, में निर्दिष्ट) ३+१२+१ =१५ भेद सिद्ध हुए।

निर्दिष्ट पन्द्रह (१५) भेदों के साथ + (अ) चिन्हांकित तीन (३) भेदों को जोड देने पर १५+३=१८ भेद हो जाते हैं।

उक्त अठारह (१८) भेदों में से जो 'उभयशक्त्युत्थ' नाम का एक भेद है, वह तो केवल वाक्य में ही रहता है, और अवशिष्ट जो सत्रह (१७) भेद हैं, वे

(१)
अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूल)

| १ पद-प्रकाश्य-अर्थान्तरसंक्र-वाच्यध्व० | २ वाक्यप्रका अर्था-संक्र-वाच्य- | ३ पदप्र०अत्यन्ततिर-वाच्यध्व० | ४ वाक्य-प्रका-अत्य०ति वाच्य०

(२)
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि) (अभिधामूल)

| १ प. प्र. असं. क्र. व्यं. ध्व. | २ वा. प्र. असं. क्र. व्यं. ध्व. | ३ पदैकदेश प्रका. असं. | ४ रचना प्र. अ० क्र० व्यं. | ५ वर्ण प्र. | ६ प्रबंधप्र०

(३)
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि)

| १ शब्दश. मू. पद प्र. वस्तुध्व. | २ शब्दश. मू. पदप्र. अलं. ध्व. | ३ शब्दश. मू. वा. प्र. वस्तुध्व. | ४ शब्दश. मू. वा. प्र० अलं. ध्व.

(४)
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि)

| १ (१२ भे०) अर्थश. मू. पदप्र. द्वाद. वि. ध्व. (१२), | २ (१२ भे०) अर्थश. मू. वाक्य प्र. द्वाद. वि. ध्व. (१२) | ३ (१२ भे०) = ३६ अर्थ श. मू. प्रबं. प्र० द्वाद. वि. ध्व. (१२)

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि)

| १ शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि

इस रीति से शुद्ध ध्वनि के ४ + ६ + ४ + ३६ + १ = ५१ भेद होते हैं।

(सू० ६३)—तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयाऽऽस्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने ।

'पदगत' और वाक्यगत' होने से दो प्रकार के हैं। इसलिये (१७ × २ = ३४) सत्रह को द्विगुणित करने से चौतीस (३४) भेद हो जाते हैं।

नंबर दो में अंकित 'अर्थशक्त्युत्थ' के जो बारह (१२) भेद दिखाये गये थे, वे पद और वाक्य के अतिरिक्त 'प्रबन्धगत' भी हो सकते हैं। अतः उन बारह (१२) भेदों को इन चौतीस (३४) भेदों के साथ जोड़ देने से छियालीस भेद (३४ + १२ = ४६) हो जाते हैं। इन छयालीस भेदों में नंबर तीन से अंकित 'उभयशक्त्युत्थ' के एक (१) भेद को मिला देने पर (४६ + १ = ४७) सैंतालीस भेद हो जाते हैं।

इन निर्दिष्ट सैंतालीस भेदों में 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' का एक ही (१) भेद स्वीकार किया गया है, और वह 'पदगत' तथा 'वाक्यगत' रूप से इस गणना में भी आ चुका है। किन्तु उसके अतिरिक्त वह (१) पदांश, (२) वर्ण, (३) रचना, (४) प्रबन्ध में भी हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त सैंतालीस (४७) भेदों के साथ इन चार (४) भेदों को मिला देने से इक्यावन (४७ + ४ = ५१) भेद बन जाते हैं—इसी गणित का निर्देश, ग्रन्थकार ने 'भेदास्तदेकपञ्चाशत्' (सू० ६२) के द्वारा प्रदर्शित किया है।

(सू० ६३) उन **शुद्धध्वनियों के इक्यावन भेदों** को परस्पर मिलाने पर तीन प्रकार के '**संकर**' और एक प्रकार की '**संसृष्टि**' होने से और भी **अधिक भेद** हो जाते हैं।

न केवलमिति। ध्वनिकाव्य के केवल **शुद्ध इक्यावन भेद** ही नहीं हैं, बल्कि प्रत्येक भेद का अन्य सभी भेदों से **परस्पर मिश्रण** भी होता है। फिर **उनका परस्पर गुणन करने पर संकीर्ण ध्वनि के भेद और भी अधिक** हो जाते हैं। **इक्यावन** प्रकार के **शुद्ध ध्वनियों का परस्पर** जो **मिश्रण** होता है वह भी एकविध नहीं है, बल्कि **चतुर्विध** होता है, अर्थात् संशयास्पद होने से (१) **सन्देह संकर**, तथा अनुग्राह्यअनुग्राहक होने से (२) **अंगांगिभाव संकर**, और एक व्यंजक में अनुप्रवेश होने से (३) **एकाश्रयानुप्रवेशसंकर—ये त्रिविध संकर**, और **परस्परनिरपेक्ष** होने के कारण **एक प्रकार की** 'संसृष्टि'—इन **चारों से गुणन** करने पर **दस हजार चार सौ चार** (५१ × ५१ = २६०१ × ४ = १०४०४) **भेद** हो जाते हैं। इसी गणित को ग्रन्थकार ने निम्न सूत्र से बताया है—

(सू० ६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)—

शुद्धभेदैः सह ।

(सू० ६५)—शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥४४॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

खणपाहुणिआ देअरजाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥ १११ ॥
(क्षणप्राघुणिका देवरजायया सुभग ! किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी) ॥ १११ ॥

(सू० ६४) **शुद्ध** इक्यावन भेदों के साथ 'संकर तथा संसृष्टिकृत ध्वनि के १०४०४ भेद होते हैं, यानी 'वेद-ख-अब्धि-वियत्-चन्द्राः—उपर्युक्त अंकसंख्या को ग्रन्थकार ने सू० ६४ के द्वारा शब्दों के (अक्षरों के) द्वारा बताया है । शब्दों से अंकगत संख्या को 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार समझना चाहिये । 'वेद'=४, 'ख'=शून्य, 'अब्धि'=४, 'वियत्'=शून्य 'चन्द्र'-एक अर्थात् १०४०४ इस प्रकार अंकों के लिखने में वामतः (बाँई ओर से) गति रहती है ।

शुद्ध भेदैः सहेति । इन १०४०४ भेदों को शुद्ध इक्यावन भेदों के साथ जोडने पर—

(सू० ६५) 'शर'=५, 'इषु'=५, 'युग'=४, 'ख'=शून्य, 'इन्दु'=एक यानी 'अंकानां वामतो गतिः' न्याय से १०४५५ भेद होते हैं । अर्थात् शुद्ध ५१+१०४०४= १०४५५ भेद निष्पन्न होते हैं । तात्पर्य यह है कि **शुद्ध ध्वनि भेद**—५१ हैं, और संकीर्ण ध्वनि भेद १०४०४ हैं, दोनों को जोड देने पर १०४५५ भेद होते हैं ।

ध्वनिसांङ्कर्यविवेचन—

तत्रेति । इस रीति से ध्वनिकाव्य के भेदों का सविस्तर निरूपण करके अब ध्वनिसांकर्य का दिग्दर्शनमात्र कराने के लिए कुछ उदाहरण दे रहे हैं—

संशयास्पदध्वनिद्वयसंकर का उदाहरण—

देवर पर अनुरक्त रहने वाली कोई उपनायिका है, जो उसके घर के किसी उत्सव में आई, तो उसकी पत्नी ने उससे कुछ भली-बुरी (कड़वी) बात कह दी, जिससे वह रूठकर चली गई है । उसे मनाने के लिए कोई स्त्री उस देवर से कह रही है ।

खणपाहुणिआ इति । हे देवर ! तुम्हारी पत्नी ने; **'क्षणप्राघुणिका'**=घर के किसी उत्सव में अतिथिरूप में आई उस सुन्दरी से कुछ कह-सुन दिया है, उस कारण वह बिचारी दुखी होकर घर के एकान्त पिछवाडे छज्जे पर बैठी रो रही है । उस बेचारी को जाकर मना लो ॥ १११ ॥

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

अत्रानुनय इति । यहाँ पर **'अनुनय'** शब्द **'उपभोग' रूप अर्थान्तर में संक्रमित** होने के कारण क्या यह **लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भेद है?** अथवा **संलक्ष्यक्रम** (अनुरणन न्याय) की रीति से रोदननिवर्तक **'अनुनय'** ही वाच्यार्थ है, और उससे **'उपभोग' रूप** व्यंग्य का ही व्यंजन होने के कारण **'अभिधामूलध्वनि'** है यह सन्देह हो जाने से **'सन्देहसंकर'** है—इस प्रकार दो ध्वनियों का सन्देह हो रहा है और इस सन्देह में ही **एक अनिर्वचनीय विलक्षण चमत्कार** का अनुभव हो रहा है ।

विशेष विवरण—**'अनुनय'** तो रोदननिवर्तक व्यापार है, उससे **'संभोग'** **'व्यंग्य हो रहा है । 'गृहपश्चात् भागे'** से विजनता को व्यक्त किया गया है । **क्षणप्राघुणिका'** कहने से **दुःखातिशय का औचित्य व्यंजित** किया गया है । और अपने घर में **उत्सव रहने से सब लोगों की व्यासक्तचित्तता को व्यक्त** किया है । यहाँ घर के पिछवाडे छज्जे पर बैठी रोती हुई **'उपनायिका'** को मनाने के लिये प्रयुक्त **'अनुनय' शब्द स्वार्थ में अनुपपन्न होकर तद्भिन्न अर्थ-यानी लक्षणा से 'उपभोग' रूप अर्थ को ही बता रहा है?** अथवा 'अनुनय' का 'रोदन निवर्तक अनुनय' ही अर्थ है और **'उपभोग' व्यंग्य है ?** अभिप्राय यह है कि 'अनुनय' शब्द उपभोगरूप **अर्थान्तर में संक्रमित हो रहा है ?** या **संलक्ष्यक्रम के अनुसार व्यक्त हुए उपभोग रूप व्यंग्य का व्यंजक है ?** इस प्रकार दोनों व्यंग्यों में संदेह होने से **व्यंजक ध्वनि काव्य में भी संदेह** हो रहा है कि क्या यह **लक्षणामूल अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि** का उदाहरण है, **अथवा,** अभिधा मूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का उदाहरण है ? एवं च व्यंग्य के सन्दिग्ध रहने से क्या यह उदाहरण **अविवक्षितवाच्यध्वनि** का है या **विवक्षितान्यपरवाच्य** ध्वनि का है ? इस प्रकार **संदेहरूप संकरालंकार** है । **प्रभाकार** भी यही कहते हैं—**कोपस्य अभावात् व्याजरूपतया उच्यमानः अनुनयः लक्षणया उपभोगप्रतिपादकः । उपभोगगतसामञ्जस्यं व्यङ्ग्यम् । अथवा बाधाभावाद् वाच्य एव उपभोगव्यंजकः । उभयथापि उपभोगे एव तात्पर्यपर्यवसानात् संदेहस्य अदोषत्वम्'** । यह **सन्देहसंकर** ही यहाँ पर कवि को अभीष्ट है ।

अङ्गाङ्गिभावसङ्कर और एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर, इन दो सङ्करों का और संसृष्टि का एक ही उदाहरण—

अब दूसरा उदाहरण **'अनुग्राह्य-अनुग्राहक'** तथा **'एक व्यञ्जकानुप्रवेश'** रूप **संकर** और **संसृष्टि** दोनों का एक ही उदाहरण दे रहे हैं—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना-
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि! धीरा भव ॥ ११२ ॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन

विरही रामचन्द्र की उक्ति है—

स्निग्धेति। बगुलियाँ (बलाका) जिनके समीप विहार कर रही हैं ऐसे और अपनी **स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से** गगनमण्डल **को** व्याप्त **करने वाले** (लीपने वाले) **सघन मेघ** भले ही अच्छी तरह से उमड़ते रहें, तथा जल कणों से युक्त हवा भले ही बहती रहे, एवं **मेघों के मित्र मयूरों** की आनन्दभरी अव्यक्त मधुर केकाएँ (आनन्दपूर्ण शब्द) भले ही सुनाई दें, पर मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहलूँगा, किन्तु मृदुलांगी वियोगिनी वैदेही जानकी की क्या दशा होगी? हा! देवि, धीरज रखना ॥ ११२ ॥

अत्र लिप्तेति। यहाँ पर **'लिप्त'** और **'पयोदसुहृदां'** दोनों में **'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यों'** की **'संसृष्टि'** है। उन दोनों के साथ **'रामोऽस्मि'** इस **'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य'** का अंगांगिभाव से **'संकर'** तथा **'राम'** पदात्मक **एक व्यंजक** पद में अनुप्रवेश के कारण **'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि'** और **'रसध्वनि'** का **'एकाश्रयानुप्रवेश'** रूप **'संकर'** हो गया है ॥

विशेष विवरण—'लिप्त' शब्द का वाच्यार्थ 'लिपा हुआ' होता है। लेकिन **'कान्ति'** से लीपना नहीं होता है। इस कारण **'लिप्त'** पद अत्यन्त **तिरस्कृतवाच्य** होकर लक्षणा से **'व्याप्त'** अर्थ का बोध कराता है।

तथा **'सौहार्द'**—यह **चेतन** का **'धर्म'** है। वह **'सौहार्द (मित्रत्व) धर्म'** **अचेतन मेघों** में संभव न हो सकने से, 'वह' भी **अत्यन्त-'तिरस्कृतवाच्य'** होकर लक्षणा से **'सुखदायक'** अर्थ को बताता है।

इन दोनों लक्ष्यार्थों का जो अतिशय है वही व्यंग है। उन दोनों व्यंग्यों की अपनी अपनी जगह पर **निरपेक्ष-रूप** से स्थिति है। इसलिये यहाँ पर **दोनों व्यंग्यों** की **'संसृष्टि'** हो रही है।

'रामोऽस्मि' में 'राम' पद, 'अत्यन्तदुःखसहिष्णुत्व'-रूप **अर्थान्तर में संक्रमित** है। उसका 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनिभेदों' के साथ **अंगांगिभाव संकर** है, और उसी 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' का 'रसध्वनि के साथ' **'एकाश्रयानुप्रवेश-रूप' संकर** भी है।

रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः ।

अभिप्राय यह है कि 'आकाश' तो निराकार, स्पर्शरहित है, अतः उसपर 'लेपन' होना संभव नहीं है। इस कारण इस पद्य में 'लिप्त' पद का लक्षणा से 'व्याप्त' अर्थ होता है। और 'सौहार्द' (मित्रता) चेतन का धर्म है। वह पयोद (जड मेघों) में हो नहीं सकता। अतः यहाँ 'सुहृत्' का अर्थ 'आनन्द दायक' (परितोषकारित्व) है। इन दोनों में 'वाच्यार्थ'–अत्यन्ततिरस्कृत है। इसके वक्ता 'राम' हैं, अतः केवल 'अस्मि' कहने पर भी 'अहम्' पद की प्रतीति के द्वारा 'राम' का बोध हो ही जाता है। इसलिये प्रकृत में 'राम' पद का मुख्य अर्थ अनुपयुक्त होने से लक्षणा के द्वारा वह 'दुःखसहनशील' रूप अर्थ का बोधक होता है। प्रस्तुत उदाहरण में संसृष्टि (उक्त दो अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनियों) के साथ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अनुग्राह्य-अनुग्राहक और एकव्यंजकानुप्रवेशरूप संकर के द्वारा सम्मिश्रण हो रहा है।

'संसृष्टि' तो इसलिये कही जायगी कि 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' की जो अपनी-अपनी अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनियां हैं, अर्थात् 'लिप्त' में जो व्यंग्य है, वह भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप व्यंग्य है, क्योंकि 'आकाश' निराकार है, इसलिये वह अमूर्त है, और कान्ति का आश्रय भी नहीं है, ऐसे आकाश का 'लेपन' होना अनुपयुक्त होने से लक्षणा के द्वारा उसका अर्थ 'व्यापन' किया जाता है। इस लक्ष्यार्थ के बल पर 'आकाश' की अत्यधिक श्यामलता रूप व्यंग्य, सहृदयों के हृदय को चमत्कार का अनुभव कराती है।

उसी तरह 'पयोदसुहृदाम्' का भी 'व्यंग्य' अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप ही है, क्योंकि 'वृत्ति' तो चेतन प्राणी के मन में उठा करती है। 'मेघ' तो अचेतन है, चेतन नहीं। उसमें सौहार्दरूप मनोवृत्ति कैसे संभव हो सकती है? अतः 'सुहृत्' का वाच्यार्थ बाधित रहने से 'लक्षणा' के द्वारा 'केकाध्वनि का कारण'– यह अर्थ लिया जाता है, उससे मयूरों की 'निरन्तर केकाध्वनि' रूप व्यंग्य अर्थ, चमत्कारोत्पादक हो जाता है। 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदां' इन दोनों पदों में 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' परस्पर निरपेक्षभाव से स्थित है। इसलिये दोनों भेदों की 'संसृष्टि' है। 'रामोऽस्मि' इस पद में 'राम' पद, अत्यन्तदुःख-सहिष्णुत्व आदि अर्थान्तर में संक्रमित है। 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदां' पदों की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि 'रामोऽस्मि' के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि की उपकारक है। इसलिये यहाँ पर पूर्वोक्त दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियों का इस तीसरे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के साथ अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव (अंगांगिभाव) संकर है।

'राम' पद से आत्मनिन्दा की ध्वनि तो 'अनुग्राह्य' है, क्योंकि कवि की

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थोल्लासः ॥ ४ ॥

ऐसी ही विवक्षा है । और 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदाम्' की ध्वनियाँ उसकी 'अनुग्राहक' हैं, क्योंकि राम के हृदय-स्थित रति का उद्दीपन इन्ही ध्वनियों से हो रहा है। ये ही 'राम' पद' से प्रतीयमान 'आत्मनिन्दन' रूप व्यंग्यार्थ को पुष्ट कर रहीं हैं। उसी तरह 'एक व्यंजकानुप्रवेश' रूप संकर भी है । जैसे 'राम शब्द के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरूप निर्वेद आदि व्यंग्य हैं, वैसे विप्रलंभरस भी व्यंग्य है । अतः उभयसाधारण्येन व्यंजक-व्यंग्यत्वेन दोनों व्यंग्यों का एक व्यंजक में अनुप्रवेश होने से संकर हो गया है ।

अर्थात् इसी अर्थान्तरसंक्रमित 'राम' पद में दुःखपात्रता की लक्षणा द्वारा व्यज्यमान राज्यत्याग, जटा-वल्कलधारण, पितृशोक आदि से व्यंजना द्वारा प्रतीयमान शोक, आवेश, धैर्य, निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट हुआ विप्रलंभ प्रकाशित होता है । इसलिये 'राम' पद में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा रसध्वनि का 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर है ।

एवमन्यदिति । इसी प्रकार 'संसृष्टि' 'संकर' आदि के अन्य उदाहरण भी जानने चाहिये ।

विशेष विवरण—सूत्र ६२ में त्रिविध संकर, और एक प्रकार की संसृष्टि के द्वारा ध्वनिभेदों को सविस्तर बताया गया । ध्वनियों की संसृष्टि और त्रिविध संकरों के उदाहरणरूप में (१) क्षण प्राघुणिका, (२) 'स्निग्धश्यामल' आदि श्लोक १११ तथा ११२ दिये गये थे । इनमें से पहले श्लोक में दो ध्वनियों का सन्देह-संकर और दूसरे श्लोक में (१) अंगांगिभाव-संकर (२) एकाश्रयानुप्रवेश-संकर तथा (३) संसृष्टि के उदाहरण बता दिये गये । अर्थात् दो श्लोकों से ही त्रिविध संकर और एक प्रकार की संसृष्टि के उदाहरण बता दिये गये हैं ।

श्रीमम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में 'ध्वनिकाव्यनिर्णय' नामका चतुर्थ उल्लास समाप्त हुआ ।

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(सू० ६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

उल्लास संगति

इस ग्रन्थ के पहिले उल्लास में **'काव्य' के तीन भेदों** (१) ध्वनिकाव्य (२) गुणीभूतव्यंग्य, (३) चित्रकाव्य को बताया था। इन भेदों में से 'ध्वनिकाव्य' की सज्ञा उसको दी गई थी कि **'जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा 'व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारकारी होता है'** । और उसी को **'उत्तमकाव्य'** बताया गया था। उसी ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) के अनेक भेदों तथा अवान्तर भेदों का सविस्तर निरूपण 'चतुर्थउल्लास में कर दिया गया।

अब प्रस्तुत **पंचम उल्लास** में काव्य के 'द्वितीय भेद'—अर्थात् **गुणीभूतव्यंग्य**-नामक मध्यमकाव्य **के भेदों** को बताया जायगा।

गुणीभूतव्यंग्य (मध्यमकाव्य) के आठ भेद—

एवं ध्वनाविति। इस प्रकार चोथे उल्लास में 'ध्वनि' (उत्तमकाव्य) का निरूपण करने के बाद इस **पंचम उल्लास में 'गुणीभूतव्यंग्य** (मध्यमकाव्य) के प्रभेदों को बता रहे है—

(सू० ६६) (१) **अगूढ** (व्यंग्य), (२) **दूसरे का अंगभूत** (व्यग्य), (३) **वाच्यसिद्धि का अंगभूत** (व्यंग्य), (४) **अस्फुट** (गूढव्यंग्य), (५) **सन्दिग्ध प्राधान्य** (व्यंग्य), (६) तुल्यप्राधान्य (व्यंग्य), (७) **काकु से आक्षिप्त** (व्यंग्य), (८) **असुन्दर** (व्यंग्य),— ये **गुणीभूतव्यंग्य** (मध्यम-काव्य) के **आठ भेद** होते हैं।

विशेष विवरण—चतुर्थ उल्लास में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) को उसके भेद-प्रभेदों के साथ बता चुके। अब **गुणीभूत व्यंग्य** (मध्यमकाव्य) के अवान्तर भेदों को इस **पाँचवे उल्लास** में प्रदर्शित कर रहे हैं। चतुर्थ उल्लास के साथ प्रस्तुत उल्लास की अवसर संगति है। संगति छह प्रकार की हुआ करती है-**'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा। निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा संगतिरुच्यते ॥'** उपर्युक्त परिगणित आठ भेदों में 'अगूढव्यंग्य' (स्फुटव्यंग्य) और गूढव्यंग्य (अस्फुटव्यंग्य) – इन द्विविध काव्यों को **'गुणीभूतव्यंग्य'** में ही माना

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढं यथा—

गया है। क्योंकि 'ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य' काव्यों का निर्णय सहृदयों पर ही निर्भर है। 'ध्वनिकाव्य' उसे कहा जाता है, जो सहृदयमात्रसंवेद्य हो, और जिस 'व्यंग्य' को सर्वसाधारण सामान्य व्यक्ति भी समझ ले, उस 'अगूढव्यंग्य' को गुणीभूत व्यंग्य समझा जाता है, क्योंकि उसमें 'व्यंग्य' अत्यन्त स्पष्ट रहता है। अतः वह वाच्यार्थ के समान ही रहता है। उस कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा उसकी प्रधानता नहीं रहती। उसी प्रकार जिस 'व्यंग्य को सहृदय भी अनायास न समझ पाये, 'उस गूढ व्यंग्य' में भी चमत्कार न रहने से उसे भी (गूढ व्यंग्य या अस्फुट व्यंग्य को भी) गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर सहृदयों को अनायासेन 'व्यंग्य' की प्रतीति होती है उसे ही 'ध्वनि काव्य' कहते हैं। अतः काव्य की अगूढता या अतिगूढता उसके सौन्दर्य में बाधक होती है। काव्यार्थ तो कामिनी कुचकलशन्याय से होना चाहिये। जैसे—

"नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो, नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥"

न तो तैलङ्ग (आन्ध्र) देश की स्त्रियों के कुचकलश (स्तनों) के समान अत्यन्त स्पष्टतया प्रकाशमान 'अगूढ व्यंग्य' शोभा देता है, और न गुजराती (गुर्जरी) स्त्रियों के स्तनों के समान अत्यन्त अप्रकाशित (बिलकुल ही न दिखाई देने वाला) 'गूढ व्यंग्य' आनन्ददायक होता है। किन्तु महाराष्ट्र देश की स्त्रियों के कुच-कलश के समान न अधिक अस्पष्ट और न बहुत स्पष्ट, केवल सहृदयमात्र संवेद्य व्यंग्यार्थ ही सुशोभित होता है। एवं च 'कामिनीकुचकलशन्याय' से सहृदयैकवेद्य व्यंग्य को ही ध्वनि कहना योग्य है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार कह रहे हैं—

कामिनीति। 'महाराष्ट्रिय कामिनी' के कुचकलश के समान 'अंशतः-गूढ़ व्यंग्य' चमत्कारजनक होता है। 'आन्ध्रकामिनी' के कुचों के समान 'अगूढ़-व्यंग्य' तो अत्यधिक स्पष्ट होने से वाच्यार्थ जैसा प्रतीत होने के कारण वह गुणीभूतव्यंग्य ही होता है।

(१) (क) अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यरूप व्यङ्ग्य की अगूढता—

अगूढमिति। 'अगूढ व्यंग्य' का उदाहरण, जैसे—कीचक के द्वारा किये गये पराभव को बताने वाली द्रौपदी के प्रति बृहन्नलारूपधारी अर्जुन कह रहा है—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्तसूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥११३॥

यस्येति। शत्रुओं द्वारा की जाने वाली पाण्डुपुत्रों की निन्दा कानों में आकर तपी हुई सलाइयों के तुल्य जिसे चुभती है, वह मैं अर्जुन आज बृहन्नला के रूप में करधनी गूँथने का काम कर रहा हूँ। मैं तो इस समय जीवित रहते हुए भी मरे के समान हूँ, क्या करूँ, कुछ कर नहीं सकता हूँ। तात्पर्य यह है कि जब कीचक के द्वारा अपना अपमान किये जाने की चर्चा द्रौपदी ने अर्जुन से की तो उसको सुनकर बृहन्नलावेषधारी अर्जुन को ऐसी पीड़ा हुई मानों किसी ने गरम-गरम शलाका उसके कानों में डाल दी हो, किन्तु प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण वह कुछ कर नहीं सकता था। अपनी इस विवशता को इस में बता रहा है।

विशेषविवरण—'अगूढअपरस्यांगम्'-इस पैंतालिसवीं कारिका के द्वारा गुणीभूतव्यंग्य के जो भेद बताये गये हैं, उनमें से **'अगूढव्यंग्य'** का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में यह उदाहरण उपस्थित किया है। इस पद्य की अवतरणिका को उद्योतकार कुछ भिन्न प्रकार से बताते हैं—किसी ने बृहन्नलारूपधारी अर्जुन से यह पूछा कि 'तुम अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ?' तब उसके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है। पूर्व निर्दिष्ट अवतरणिका सुधासागरकार की थी।

प्राचीन व्याख्याकारों ने इस पद्य का अर्थ **भिन्न प्रकार** से किया है—'जिस अर्जुन का शत्रु उसके डर के कारण स्वयं अपने को धिक्कारता हुआ वह स्वयं ही मेरे (अर्जुन के) शरण में आकर अपने अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिये अपने कानों को गरम लोहशलाका से बार-बार छेद लेता था, वही मैं (अर्जुन) आज करधनी गूँथने का काम कर रहा हूँ। इस कारण मैं आज बड़ा ही निन्दित जीवन बिता रहा हूँ, पर क्या कर सकता हूँ ?

शरणागत आये हुए शत्रु का तप्त लोह शलाका से कर्णवेध देशाचारसिद्ध है—ऐसा बहुतों का कहना है। किन्तु **चक्रवर्ती भट्टाचार्य** का कहना है कि शरणागत की तप्तशलाका से कर्णवेधन—यह पाश्चात्यों का आचार है। अर्थात् जिस प्रतापशाली मुझ अर्जुन का पहले ऐसा प्रभाव था कि मेरे नामश्रवणमात्र से शत्रुगण अपने ही मुख से अपने को धिक्कारते हुए अपने ही हाथ से अपने कर्णों को तप्तलोहशलाका से छेद कर मेरी शरण आते थे—वह मैं इस समय करधनी गूँथने के काम पर नियुक्त हूँ। अतः जीवित रहते हुए भी नहीं के बराबर हूँ, अर्थात् मेरा जीवन श्लाघनीय नहीं है। अतः मैं क्या करूँ-ऐसा चन्द्रिका आदि व्याख्याओं में अर्थ किया गया है।

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम् ॥११४॥

उद्योतकार ने व्याख्या की है कि **"अतो जीवन्नपि न भवामि न जीवामि"**– मैं श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं हूँ ।

अत्र जीवन्निति । यहाँ पर **'जीवन्'** यह पद **'श्लाघ्यजीवित्व'** रूप (अभिमत-कार्यशक्तत्वरूप) **अर्थान्तर में संक्रमितवाच्य** है । उससे **'मरणमेव श्रेयः'**— मरना ही **श्रेयस्कर** है—यह व्यंग्य निकल रहा है । अर्थात् **कहने भर के लिये यद्यपि मैं जी रहा हूँ तथापि वस्तुतः मैं जी नहीं रहा हूँ, मेरा यह जीवन प्रशंसा के योग्य नहीं है** । इस समय मैं वह अर्जुन नहीं हूँ, क्या करूँ । यहाँ पर **'जीवन' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य गुणीभूत व्यंग्य का 'प्रशंसनीय जीवन के अभाव में अनुताप' व्यंग्य है** । यहाँ पर **'जीवन्'** इस पद का **वाच्यार्थ 'श्लाघ्यत्वविशिष्ट जीवन'** रूप **अर्थान्तर में संक्रमित** हो गया है । इसका **व्यंग्य 'अनुतापातिशय'** है । इस अनुतापातिशयरूप व्यंग्य को असहृदय साधारण लोग भी वाच्यार्थ की तरह समझ जाते हैं—इसलिये यहाँ **'व्यंग्य' अगूढ है । एवं च यह अगूढाख्यगुणीभूत व्यंग्य है** । इस कारण यह **'अगूढव्यंग्य मध्यमकाव्य'** है । यह उदाहरण—**लक्षणामूलध्वनि** का जो **'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य'** भेद है, उसके **गुणीभूत** होने का है । यहाँ 'जीवन्' पद की **'श्लाघ्यजीवित्व' रूप अर्थ में लक्षणा** हुई है । क्योंकि जो **जीवित** है, उसका **'जीवनाभावबोधन'** करने में **बाध** होता है, इसलिये **उपादान लक्षणा** हुई है । यहाँ **'श्लाघ्यजीवित्व' लक्ष्यतावच्छेदक** है । **'नञ्'** के द्वारा उसका अभाव बोधन करने से **'कष्टजीवित्व'** का **बोध** होता है, और अनुताप के कारण ही 'जीवन' की निन्दा कर रहा है, इसलिये **'अनुतापातिशय'** व्यंग्य है । **वह सर्वजन वेद्य होने से अगूढ ही है** ॥ ११३ ॥ (१ क)

(ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप व्यङ्ग्य की अगूढता—

पुनः लक्षणामूलध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यनामक भेद के गुणीभूत होने का उदाहरण दे रहे हैं । अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होने पर **अगूढ व्यंग्य** का द्वितीय उदाहरण दे रहे हैं ।

रतिश्रम से **अलसाई नायिका** को प्रातः प्रबोध का ध्यान न रहने से कोई सखी उसे कह रही है—

उन्निद्रेति । विकसित हुए लाल कमलों (कोकनद) के पराग से पिशंगित अंगों वाले ये पीले-पीले से भ्रमर घर की वापियों पर मधुर गुंजार कर रहे हैं । और सद्यो-विकसित जपापुष्प के समान यह आरक्तवर्ण सूर्यबिम्ब उदयाचल का स्पर्श करते सुशोभित हो रहा है ॥ ११४ ॥ (१ ख)

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रेति । इस पद्य में 'उदयाचलचुम्बिबिम्बम्' कहा गया है । किन्तु 'बिम्ब' अर्थात् सूर्यबिम्ब तो अचेतन (जड) है, अतः उसमें मुखसंयोगव्यापाररूप-चुम्बन का सम्बन्ध, बाधित है । इस कारण 'चुम्बि' (चुम्बन) पद, लक्षणा के द्वारा केवल संयोगमात्र (सामान्य संयोग) को बता रहा है । अतः चुम्बनरूप अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का व्यंग्य—'उदयाचल से सूर्य का संबन्ध होने पर उषः काल का आरंभ'-बताया गया है । यह व्यंजन सर्वजनसंवेद्य होने से अगूढ है । यह व्यंग्य, वाच्यार्थ के समान ही अचमत्कारकारी रहने से इसे 'ध्वनि' काव्य न कहकर 'गुणीभूतव्यंग्य मध्यम काव्य' ही कहा जाता है । यहाँ 'मधुपाः' कहकर यह सूचित किया है कि 'मत्त भी जग गये हैं ।

विशेष विवरण—'चुम्बन' का मुख्यार्थ—वक्त्रसंयोग है । अचेतन रविबिम्ब में उसका अन्वय (सम्बन्ध) न हो सकने से वह बाधित हो रहा है, अतः 'सामान्य—विशेषभावसम्बन्ध' से संयोगमात्र लक्षित होने के कारण वह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य हो गया है । यहां—व्यंग्य अर्थ है—'उष:कालारम्भ' । वह वाच्यार्थ जैसा होने से अगूढ है, इसलिये 'गुणीभूत' हो गया है । इसी अभिप्राय को प्रदीप और उद्योतकार ने भी 'संयोगत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकस्य मुख्यार्थसाधारणत्वेऽपि प्रकृतेऽनेन रूपेण मुख्यार्थस्य अचले अनन्वयात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्'—ग्रन्थ से कहा है । इसी अभिप्राय से वृत्तिकार ने कहा है—अत्रेति । वृत्तिग्रन्थमें 'चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य' के आगे 'व्यंग्यमगूढम्'-यह जोड लेना चाहिये । एवं च 'अगूढव्यंग्य' को मध्यमकाव्य के नाम से कहा जाता है । विवरण, विस्तारिका, सारबोधिनी आदि व्याख्याकारों ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है । यहाँ 'गृहदीर्घिकासु' तथा 'कोकनद' आदि पदों से ध्वनित हो रहा है कि दीर्घिका के समीप रहने से गुंजार श्रवण, सुगन्ध का आघ्राण और 'कोकनद' की यौगिक व्युत्पत्ति के बल पर उपस्थापित चक्रवाकशब्दरूप जागरणसामग्री सन्निहित है । इस पर भी आलस में भरी अंगडाई लेती हुई नायिका कहती है कि मैं सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हूँ । तब सखी कहती है—'एतच्चकास्ति''बिम्बम्' । इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनि के दोनों भेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य) से संबन्धित अगूढव्यंग्य के दो उदाहरण प्रदर्शित कर दिये ॥ ११४ ॥ (१ ख)

अब अभिधामूलध्वनि के अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमरूप व्यंग्य की अगूढता का उदाहरण दे रहे हैं—

यह पद्य राजशेखरकृत 'बालरामायण' के दशम अंक से लिया गया है । लंका से अयोध्या को लौटते समय श्री जानकी जी से भगवान् रामचन्द्र कह रहे हैं—

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ ११५ ॥ (१)

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः ।

अत्रासीदिति । हे जानकी ! हम दोनों भाइयों को यहाँ पर नाग पाश से बांधा गया था । और यहाँ पर तुम्हारे देवर लक्ष्मण के वक्षस्थल पर जब शक्ति प्रहार किया गया, तब हनुमानजी द्रोणाचल पर्वत को ले आये थे । और यहाँ पर लक्ष्मण के दिव्य बाणों ने मेघनाद को परलोक (यमपुरी) पहुँचा दिया था । और हे मृगाक्षि ! यहाँ पर किसी ने राक्षसपति (रावण) के कण्ठाटवी को काट डाला था ॥ ११५ ॥ (१ ग)

अत्रकेनापीति । यहाँ पर 'केनापि' इस पद से प्रकाश्यमान जो अर्थ-शक्तिमूल 'अनुरणनरूप' संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है, वह भी अगूढ है, यानी वाच्यार्थ की तरह ही है । अत: इसे 'ध्वनि' न कहकर 'गुणीभूत व्यंग्य' ही कहा गया है । यहाँ 'केनाप्यत्र' के स्थान पर 'तस्याप्यत्र' कहा होता तो बहुत उचित रहता ॥ ११५ ॥ (१ ग)

विशेष विवरण—राजशेखर कृत 'बालरामायण' नामक नाटक के दसवें अंक में रावण को मार कर आकाशमार्ग से पुष्पकविमान के द्वारा अयोध्या को वापस जाते हुए श्रीरामचन्द्र, अपनी पत्नी सीताजी को युद्ध के तत्तद् घटनास्थलों को बता रहे हैं । एक ही समरभूमि तत्तत् पराक्रमपूर्ण कर्म की अधिकरण होने से नवनवाय-मान अद्भुत रस की आलम्बन बन गई है, इस कारण उक्त पद्य में 'अत्र' पद का ग्रहण पुनः पुनः किया गया है । अथवा 'अनेक अत्र' पदों से भिन्न-भिन्न स्थानों को बता रहे हैं यह भी कहा जा सकता है ।

'फणिपाशबन्धनविधिः' में 'विधि' शब्द के उपादान से 'स्व-पराभव' को छिपाया है, क्योंकि 'विधि' का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, वह दुर्लङ्घ्य होता है । हनुमताद्रोणाद्रिरत्राहृतः' से हनुमान् के पराक्रम को प्रकट किया गया है । हनुमानजी उस पर्वत पर पैदा हुई केवल औषधि ही नहीं लाये, अपितु अनेक ओषधियों समेत समूचे पर्वत को ही लाकर सामने रख दिये । 'भवद्देवरे' कहकर 'भवत्' सर्वनाम के द्वारा वात्सल्योपादानत्वेन सीता के सम्बन्ध का प्रदर्शन किया गया है, जिससे 'पराभव' की जानकारी न हो सके और उपकारप्रकाशन भी हो सके । उसी तरह 'रावणपुत्र' न कहकर 'इन्द्रजित्' कहकर यह बताया कि महान् पराक्रमी देवराज इन्द्र को जिसने जीत लिया था, उस महान् प्रबल पराक्रमी वीर

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा ।

को भी लक्ष्मण ने मार दिया। इससे तुम्हारे देवर लक्ष्मण का ऐसा पराक्रम-प्रकर्ष है। अर्थात् लक्ष्मण के पराक्रम-प्रकर्ष को ध्वनित किया गया है। 'कण्ठाटवी' कह कर यह बताया है कि एक कण्ठ के कटने पर पुनः दूसरा कण्ठ उत्पन्न हो जाता था, अतः पुनः उसे काटना पड़ता था, इसलिये 'अटवी' कहा गया है। अहंकार प्रकट न हो पाये इस भय से धीरोदात्त नायकस्वरूप राम ने 'मया' न कहकर 'केनापि' कहा है।

यहाँ पर 'केनापि' पद से निष्पन्न अर्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम रामरूप व्यंग्य-अगूढ है। वृत्ति में उक्त 'अनुरणनरूपस्य' के आगे 'व्यंग्यस्य अगूढत्वम्' इतना जोडलेना चाहिये। 'तस्याप्यत्र' पाठ रहने पर व्यंग्य के गूढ़ हो जाने से उक्त पद्य 'ध्वनि' काव्य' के अन्तर्गत हो सकता है।

अभिप्राय यह है—'किम्' शब्द की शक्ति 'अनिर्धारित विशेष' में होती है। अतः उससे 'मया' इस व्यङ्ग्य की प्रतीति सहजतया सभी को स्फुट हो जाती है। अर्थात् उक्त उदाहरण में तीन चरणों के द्वारा अनुनायक हनुमान्, उपनायक लक्ष्मण, प्रतिनायक रावण का निर्देश होने पर भी चतुर्थचरण में धीरोदात्तनायक राम, अनुक्त रहने पर भी अर्थशक्ति से उसी की प्रतीति होती है। चतुर्थचरण में 'केनापि' कह देने से वह प्रतीयमान 'राम' प्रसिद्धिवशात् वाच्यायमान सा हो जाने से अगूढ़ हो जाता है, उसमे गूढ़ता नहीं रह पाती। अत: ध्वनिकाव्य की श्रेणी में उक्तपद्य की स्थिति नहीं हो पाती है, किन्तु 'केनाऽपि' के बजाय 'तस्यापि' कह देने पर वही पद्य, ध्वनिकाव्य की श्रेणी में गिना जा सकता है, क्योंकि तत्तत्प्रभावों के अतिशय के कारण विश्वविख्यात हुए रावण को भी पराजित कर देने के कारण धीरोदात्तनायक राम के उत्कर्ष की प्रतीति में कुछ गूढता रहती है। क्योंकि 'लक्ष्मणशरैः कृत्ता' ऐसा अन्वय करने का भी भ्रम, आपाततः हो सकता है। किन्तु तदनन्तर प्रबलप्रतापप्रभावशाली लंकाधिपति रावण को मारने वाला 'राम' ही हो सकता है, ऐसी पर्यालोचना करने पर समझ में आता है कि रावणहन्ता 'राम' है। एवं च रावणहननकर्ता 'राम' रूप व्यंग्यार्थ गूढ हो जाने से उक्त पद्य, 'ध्वनि काव्य' की श्रेणी में आ सकेगा-यह वृत्तिकार का अभिप्राय है॥११५॥(१ग)

ये तीन उदाहरण, गुणीभूतव्यंग्य के 'प्रथम भेद'—अगूढव्यंग्य के बताये गये।

अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

(२) अब गुणीभूत व्यग्य के 'दूसरे भेद'—अपरांग व्यंग्य' के आठ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

अपरस्येति। 'अपरस्य' रसादेः वाच्यस्यवा वाक्यार्थीभूतस्य' का अर्थ इस प्रकार है—'अपरस्य रसादेः' का अर्थ है 'रस आदि के'। यहाँ 'आदि' शब्द

यथा—

> अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
> नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ ११६॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य।

से 'भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता' रूप असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम' को समझना चाहिये। तथा वाच्यस्य-का विशेषण है 'वाक्यार्थीभूतस्य'। इस विशेषण का अर्थ है कि 'वाक्यतात्पर्यविषयतया प्रधानस्य' अर्थात् वाक्य के तात्पर्य का विषय होने से प्रधान बना हुआ। एवं च निष्पन्न अर्थ यह हुआ कि 'अपर' यानी रसादि अथवा वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत वक्तव्य (वाच्य) अर्थ का, जब असंलक्ष्य क्रम रूप 'रसादि' अंग हो, अथवा अनुरणनरूप वस्तु, अलंकार आदि संलक्ष्यक्रम, अंग (उपकारक अथवा उत्कर्षक) हो तब 'अपरांगव्यंग्य' नामक गुणीभूतव्यंग्य होता है। अभिप्राय यह है कि 'असंलक्ष्यक्रम और अनुस्वानाभ संलक्ष्य क्रम' ये दोनों 'अपरांगव्यंग्य' कहलाते हैं।

(क)—अपराङ्गरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

एक रस अन्य रस का अंग होने पर अपरांगव्यंग्यनामक मध्यमकाव्य का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

महाभारत में 'स्त्रीपर्व' के चौबीसवें अध्याय में रणभूमि पर कट कर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को उठाकर उसकी वधू प्रलाप कर रही है—'यथेति। जैसे—

अयमिति। यह वही हाथ है, जो रति क्रीडा के समय मेरी करधनी खींचा करता था, मेरे परिपुष्ट स्तनों को मसला करता था, नाभि, नितम्ब और जंघा का स्पर्श किया करता था, नीवी (वसनग्रंथी) को खोलने के लिए उत्सुक रहा करता था। (किन्तु अब वही मुझे रुलाने के लिये रणभूमि में इस दुरवस्था में कट कर गिरा हुआ है)॥ ११६॥ (२ क)

अत्रेति—यहाँ पर 'शृंगार रस', 'करुणरस' का अंग है।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में शृंगार और करुण दो रसों का वर्णन है। यहाँ स्मर्यमाण शृंगार रस, वाक्यार्थीभूत प्रकृत (प्रधान) करुणरस का अंग है। क्योंकि भूरिश्रवा की पत्नी अपने पति के कटे हुए हाथ को उठाकर प्रलाप कर रही है। इसलिए प्रकृत करुणरस ही प्रधान है, और पूर्वानुभूत रशनोत्कर्षणादि तत्तत् शृङ्गारावस्थाओं की क्रियाओं का स्मरण कर रही है। इसलिए 'शृङ्गार' स्मरणीय होकर अंग है। इसीलिये वह गुणीभूत है। यहाँ शृङ्गार का विषय 'नायिका' है और शृंगार का आश्रय 'नायक' है; क्योंकि वही तो नायिका के शोक

का प्रकर्षक है। अतः वह श्रृङ्गार, नायिकाश्रित 'करुण' का अंग है। क्योंकि वह 'करुण' का पोषक हो गया है।

'रशनोत्कर्षी' का विग्रह 'उत्कर्षतीत्युत्कर्षी', 'रशनायाः उत्कर्षी' रशनोत्कर्षी। यहां पर 'सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये'—(पा० सू० ३।२।७८) सूत्र से 'ताच्छील्य' अर्थ में णिनि' प्रत्यय किया गया है।

चान्द्रिकाकार ने 'रशनाम् उत्कर्षति'—यह विग्रह किया है। इस विग्रह की भी उपपत्ति लग सकती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि सूत्र में 'अजातौ' कहा गया है। 'रशना' शब्द तो जातिवाचक है। तब 'णिनि' प्रत्यय कैसे होगा ? क्योंकि 'अजातौ किम्' यह कह कर 'ब्राह्मणान् आमंत्रयिता' यह प्रत्युदाहरण प्रदर्शित किया गया है। तथापि इसका समाधान यह हो सकता है कि 'सुप्यजातौ' सूत्र में 'ताच्छील्य' के समभिव्याहार से और 'ब्राह्मणान् आमन्त्रयिता' के आनुगुण्य से 'प्राणि-जाति' का ही पर्युदास किया गया है। इसलिए 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' में 'ब्रह्म' शब्द जातिवाचक होने पर भी 'णिनि' प्रत्यय किया गया है। यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'वेद' है। इस बात को तत्त्वबोधिनीकार ने स्पष्ट करते हुए नवीन के मत से 'णिनि' प्रत्यय की उपपत्ति कर दी है। अतः दूसरे विग्रह में भी 'णिनि' प्रत्यय हो सकता है।

यहां 'करुण' रस ही प्रधान है, क्योंकि 'शोक' की उल्बणता (स्पष्टता) के कारण 'करुण' ही आस्वाद गोचर हो रहा है। और 'श्रृगार' अंग है, क्योंकि पूर्वानुभूत श्रृङ्गारोचित रशनाकर्षणादिविलासस्मरण करना ही 'शोक' का पोषण कर रहा है। लोक व्यवहार में दृष्टि गोचर होता है कि अत्यन्त प्रियवस्तु नष्ट होने पर शोकातिशय हुआ करता है। एवं च 'करुण' की दृष्टि से इस काव्य को 'ध्वनि' भी कह सकते हैं। किन्तु 'श्रृगार स्थायी' को लेकर इसे गुणीभूत-व्यंग्य कहा गया है। शोक के आवेशाधिक्य से 'श्रृंगार' पुष्ट नहीं हो पाया है। चतुर्थ उल्लास में 'रसस्यांगत्वात्' कहा गया था। अतः यहां पर यह 'रसवदलंकार' हो गया है। उक्त उदाहरण के द्वारा एक 'रस', दूसरे 'रस' का अंग कैसे होता है, यह बता दिया।

(ख) रस की भावाङ्गता में अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यमकाव्य—

अब द्वितीय उदाहरण में बता रहे हैं कि 'एक रस', 'भाव' का अंग कैसे बनता है। यहाँ पर रस की भावांगता में अपरांगव्यंग्य नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं।

भगवान् भव (शिव), भवानी (पार्वती) को मनाने के लिए जब उनके पादा-वनत हो गये, तब पार्वतीजी का मानभंग हो जाने से उनके नेत्रों की आरक्तता नष्ट हो जाने का वर्णन प्रस्तुत पद्य में किया जा रहा है—

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ।। ११७ ।।

अत्र भावस्य रसः ।

कैलासेति । कैलास पर्वत पर निवास करने वाले महादेव (शिवजी) के ललाट प्रदेश (भाल प्रदेश) स्थित अग्निरूप तृतीय नेत्र की अरुण (लाल) कान्ति से जिनमें आलते (लाक्षारस) की शोभा सम्पन्न हो गई है (आलता लगा हुआ-सा प्रतीत हो रहा है) इस प्रकार की पार्वती के चरणों की नखकान्ति (द्युति) तुम्हारी सर्वदा रक्षा करे ।। ११७ ।।

यहाँ कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि क्रोध के कारण पार्वती जी के नेत्रों की जो आरक्तता (लाली) है, उसको जीतने की इच्छा से ही मानों दोनों कान्तियों ने नखकान्ति से शर्त बदी हो । उस स्पर्धाबन्ध के कारण जब उन पादनखों की लाल कान्ति को अत्यधिक वृद्धिङ्गत हुई देखा तभी पार्वती जी के नेत्र, जो क्रोध के कारण लाल कमल (कोकनद) के समान सरस लाल कान्ति को धारण किये हुए थे, उस लाल कान्ति ने अपना पराजय हुआ समझ कर वह (नेत्रों की लाल कान्ति) तुरन्त भाग खड़ी हुई । अर्थात् नख की वृद्धिगत हुई लाल कान्ति ने, नेत्रगत उस लालकान्ति को तुरन्त भगा दिया । अर्थात् पार्वती जी का क्रोध शान्त हो गया ।। ११७ ।। (२ ख)

अत्र भावस्य रस इति । यहाँ पर पार्वतीविषयक भक्ति रूप 'भाव' का शिवनिष्ठ पार्वतीविषयक 'संभोग श्रृंगार रस' अंग है । 'अत्र भावस्य रसः' के आगे 'अङ्गम्' जोड़ लेना चाहिये ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में कवि ने यह भाव व्यक्त किया है कि किसी समय भगवती पार्वती रूठ गई थीं । उन्हें प्रसन्न करने के लिये भगवान् शिवजी उनके चरणों पर अपना मस्तक झुकाए हुए थे । तब शिवजी के ललाट में स्थित लाल-लाल अग्नि-रूप तृतीय नेत्र की लाल कान्ति, भगवती के नखों की स्वाभाविक लाल कान्ति पर गिरने से उन नखों की स्वाभाविक लाल कान्ति अत्यधिक लाल हो उठी । ऐसा प्रतीत होता था कि मानों दोनों कान्तियों (द्युतियों) ने आपस में होड़ (शर्त) बदी हो । अत एव उस नैसर्गिक नखकान्ति से स्पर्धा करने वाली रुठी हुई पार्वती जी के नेत्रों की क्रोधजनित लाल कान्ति, उस नख कान्ति से अपने को पराजित समझकर अविलम्ब (तत्क्षण) भाग गई । तात्पर्य यह है कि शिवजी को पादा-वनत हुए देखकर पार्वती जी का क्रोध तत्क्षण दूर हो गया ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

यहाँ पर 'त्रायताम्' कहने से पार्वती विषयक 'रति' भाव, कविनिष्ठ प्रतीत हो रहा है, वही यहाँ प्रधान है। यह 'रति' (भक्ति) देवविषयक होने से 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' के अनुसार 'भाव' रूप है। इस पद्य में महादेवनिष्ठ, पार्वतीविषयक संभोग-श्रृंगार का भी वर्णन किया गया है। क्योंकि पार्वतीजी के मानापनोदनार्थ शिवजी के जिस व्यापार का वर्णन है, वह संभोगश्रृंगार को व्यक्त कर रहा है। यहाँ पर कविनिष्ठ पार्वतीविषयक 'रति'-रूप भाव में, पार्वती-परमेश्वर का 'श्रृंगार' अंग बन गया है। क्योंकि 'कैलासालयत्व' आदि से परमैश्वर्यसंपन्न होते हुए भी अपनी नेत्रपीडा की परवाह न कर शिवजी, जिसकी प्रसन्नता प्राप्त करने के निमित्त उसके पैरों पर गिर रहे हैं, उस पार्वती के प्रति कवि के हृदय में भक्ति होना उचित ही है। अतः वही प्रधान अर्थ है, और उसी के परिपोषार्थ (भावप्रकर्षार्थं) ही यहां श्रृंगार का उपादान किया गया है। इसलिये श्रृंगार रस, यहां पर 'भाव' का अंग हो गया है। और 'रस' के अंग होने से यहां भी 'रसवदलंकार' ही है ॥ ११७ ॥ (२ ख)

(ग) 'भाव' की भावाङ्गता में अपराङ्ग व्यंङ्ग्यनामक मध्यमकाव्य—

इस तीसरे उदाहरण में यह दिखाया जायगा कि एकभाव, दूसरे भाव का अंग किस प्रकार होता है?

जयन्तभट्टकृत दीपिका व्याख्या के अनुसार पंचाक्षरी नामक कवि ने भोजराज की स्तुति में इस श्लोक की रचना की है। भाव की भावाङ्गता में मध्यमकाव्य का यह उदाहरण है—

अत्युच्चा इति। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पर्वत और विशाल समुद्र दिखाई दे रहे हैं। उन जैसे भयंकर इन भारी वस्तुओं को अपने पर धारण करती हुई भी, हे पृथ्वी! तुम किञ्चिन्मात्र भी थकती नहीं हो, ऐसी अद्भुत साहसमयी तुमको मेरा प्रणाम है। इस प्रकार आश्चर्य से अभिभूत हुआ मैं जब तक बार-बार पृथ्वी की प्रशंसा कर ही रहा था, तब तक उस पृथ्वी को भी धारण करने वाले हे राजन्! तुम्हारे भुज की याद आ गई, जो उसके भी भार को धारण किये हुए है। तब पृथ्वी की प्रशंसा (स्तुति) करती हुई मेरी वाणी कुण्ठित हो गई ॥ ११८ ॥ (२ ग)।

अत्र भूविषय इति। यहाँ पर पृथ्वीविषयक कविनिष्ठ 'रति' रूप 'भाव',

बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥ ११९ ॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ।

कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' रूप दूसरे 'भाव' का अंग हो गया है। अतः यह अपराङ्गव्यंग्य मध्यमकाव्य का उदाहरण है ॥ ११८ ॥

विशेष विवरण—इस उदारण के पूर्वार्ध में **'हे पृथ्वि'** इस संवोधन पद का अध्याहार करना चाहिये और उत्तरार्ध में 'हे राजन्' इस पद का अध्याहार करना चाहिये। इस उदाहरण में भूविषयक कविनिष्ठ रतिभाव, राजविषयक कविनिष्ठ रतिभाव का उत्कर्षक होने से अंग हो गया है। वृत्ति में दिये गये 'रतिभावस्य' के आगे 'अङ्गम्' जोड़ लेना चाहिये। यहाँ भूविषयक भाव, राजा का वर्णन करने के लिये आरोपित होने से आहार्य है। इसीलिये वह अपुष्ट है। भाव का अंग होने से यहाँ 'प्रेयोऽलंकार' है।

(घ) रसाभास और भावाभास में भावाङ्गता होने पर अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यमकाव्य—

अब रसाभास और भावाभास में भावाङ्गता होने पर अपरांगव्यंग्यसंज्ञक मध्यम काव्य का उदाहरण दे रहे हैं, जिसमें राजविषयक 'रतिभाव' प्रधान है, और पद्य के पूर्वार्ध से प्रकाश्य 'शृङ्गाराभास' तथा उत्तरार्ध से प्रकाश्य 'भावाभास' उसके अंग बन गये हैं।

बन्दीकृत्येति। कोई कवि राजा की स्तुति कर रहा है हे राजन्! आपके 'सैनिक', मृग के समान कातर दृष्टि वाली शत्रुओं की स्त्रियों को हठपूर्वक हरण करके (बन्दी बनाकर) उनके प्रियतम पतियों के सामने अर्थात् उनकी परवाह न कर उनका बलात् आलिंगन करते हैं। सैनिकों की इस धृष्टता पर जब स्त्रियाँ क्रुद्ध हो जाती हैं, तब उनके क्रोध को शान्त करने के लिए और उनको प्रसन्न करने के लिए प्रणाम करते हैं। उन सैनिकों से बचने के लिए स्त्रियों के इधर-उधर हटने पर उनको चारों ओर से पकड़ लेते हैं। और धृष्टतापूर्वक बलात् उनका चुम्बन करते हैं, और तुम्हारे शत्रु यह कहकर तुम्हारी स्तुति करते हैं कि हे औचित्य के समुद्र! अर्थात् उचित कार्य के करने वाले हे राजन्! हम सबके पुण्यपुञ्जों से हम आपको देख पा रहे हैं। अतः आपके दर्शन से अब हमारी समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं ॥ ११९ ॥ (२ घ)

अत्र भावस्येति। यहाँ पूर्वार्ध में सैनिकों का अननुरक्त पर-स्त्री-विषयक

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥ १२० ॥

शृङ्गाराभास, और उत्तरार्ध में शत्रुनिष्ठराजविषयक रतिरूप भावाभास, ये दोनों कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' भाव के अंग बन गये हैं।

विशेष विवरण—उक्त पद्य के पूर्वार्द्ध में राजा के सैनिकों का शत्रु की स्त्रियों के साथ जो शृङ्गार का वर्णन किया गया है, वह अनौचित्य से प्रवर्तित होने के कारण 'रसाभास' है। क्योंकि अनुरक्त स्त्री के प्रति की गई रति से तो रसनिष्पत्ति हो सकती है, किन्तु अननुरक्त शत्रुस्त्रियों के प्रति प्रदर्शित रति से रसाभास ही व्यक्त हुआ है, रस नहीं।

इसी तरह पद्य के उत्तरार्ध में प्रत्यर्थियों यानी शत्रुओं द्वारा प्रकृत राजा की स्तुति की गई—बताया है। किन्तु वह भी अनौचित्य से प्रवर्तित होने के कारण 'भावाभास' ही है।

इस पद्य में 'रसाभास' तथा 'भावाभास' दोनों ही अप्रधान (अंग) हैं। प्रधान (अंगी) तो कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' है। कवि, राजा की स्तुति कर रहा है; इसलिए कविनिष्ठ राजविषयक रति ही प्रधान है। इस कारण रसाभास तथा भावाभास दोनों ही उसके अंग हैं। अतः यह अपरांगव्यंग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है। यहाँ रसाभास या भावाभास के अंग बन जाने से 'ऊर्जस्वी' नाम का अलंकार है।

यहाँ 'पश्यतां प्रेयसाम' में 'षष्ठी चानादरे'—(पा० सू० २।३।३८) सूत्र से अनादर के अर्थ में षष्ठी विभक्ति की गई है। 'औचित्यवारांनिधे !' यहाँ 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'—(पा० सू० ६।३।१४) सूत्र से बाहुलकात् 'षष्ठी' का अलुक् यानी षष्ठी का लोप नहीं हुआ है। चतुर्थ उल्लास के 'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ' में भी षष्ठी का अलुक् हुआ है।

(ङ) भावाङ्गभावशान्तिव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

अब 'भावशान्ति' जहाँ 'भाव' का अंग बन जाती है ऐसे 'अपरांगव्यंग्य' नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं—

अविरलेति। हे राजन् ! तुम्हारी अनुपस्थिति में यानी तुम्हारे परोक्ष में निरन्तर तलवार चलाने, तथा भ्रुकुटियों को चढ़ाकर काटो-मारो-तोड़ो-फोड़ो आदि तिरस्कार पूर्ण वाक्यों से डराने, और पुनः पुनः हुंकार-सिंहनादरूपी गर्जनाओं के द्वारा तुम्हारे शत्रुओं का बड़ा अभिमान दिखलाई देता था, किन्तु अब तुम्हें देखते ही वह अभिमान, क्षणभर में न जाने कहाँ उड़ गया ॥ १२० ॥ (२ ङ)

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

अत्र भावस्येति । यहाँ पर शत्रुओं के 'मद' भाव का प्रशम यानी 'भावशान्ति', अंग है, और कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' भाव, प्रधान है । इसलिए 'रति' भाव का 'भावशान्ति' अंग बन गया है । अतः यह अपरांगव्यंग्य का उदाहरण है । यहाँ पर 'भाव प्रशान्ति' के अंग होने से 'समाहितालंकार' है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य मे 'कम्पनैः-गर्जनैः' इत्यादि तृतीया विभक्ति,-'अभेद' के अर्थ में 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्'—वार्तिक से की गई है, जैसे 'धान्येन स्वर्णेन वा धनवान्' में अभेदार्थक तृतीया होती है । 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः'—उक्त कोश के अनुसार 'मद' शब्द यद्यपि 'गर्व' का वाचक है, तथापि यहाँ पर अभेदार्थकतृतीयाविभक्त्यन्त 'कम्पनैः, तर्जनगर्जनैः' पदों के अर्थों के साथ सामानाधिकरण्य की उपपत्ति लगाने के लिए 'मद' शब्द को 'मदकार्य' परक समझना चाहिये—ऐसा उद्योतकार का अभिप्राय है । किन्तु चन्द्रिकाकार ने करणार्थक तृतीया मानकर 'कम्पन, तर्जन, गर्जनादि चिह्नों (लिंगों) से प्रतीयमान जो शत्रुमद, वह तुम्हें देखते ही तत्क्षण कहीं भाग गया'—ऐसी व्याख्या की है ।

वृत्तिकार ने 'अत्र भावस्य भावप्रशमः' लिखा है । 'भावप्रशमः' का अर्थ 'भावस्य प्रशमः शान्तिः' अर्थात् 'भावशान्तिः' है । वह 'भावशान्ति'—यहाँ पर 'रतिभाव' के प्रति 'अंग' हो गई है ।

(शंका)—उक्त पद्य में 'स मदो गतः' कहने से वह 'मदाख्य गर्वरूप' भाव का प्रशम तो 'वाच्य' हो गया है, तब उसे व्यंग्य कैसे कहा जायगा ?

(समा०)—कम्पनादिरूपमद के अर्थ को बतानेवाली 'कम्पनैः, गर्जनैः'—अभेदार्थक इन दोनों तृतीयाओं से 'मद' शब्द गर्वाख्यभावकार्यपरक है । अर्थात् गर्वाख्य जो भाव, उसका जो कम्पन-तर्जन-गर्जनात्मक कार्य, तत्परक है । इसलिए 'गर्वप्रशम' व्यंग्य ही है, वाच्य नहीं है । गर्व के कार्यरूप कम्पनादि का प्रशम होने पर (शान्त होने पर) गर्व का प्रशम (शान्ति) व्यंग्य है, यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है । अतीत अर्थ वाले 'ददृशे' पद का उपादान करने से 'गर्वाख्यभाव' (मद) पुष्ट नहीं हो पाया है । अथवा आहार्य होने से भी उसे अपुष्ट कह सकते हैं ।

चन्द्रिकाकार ने जो यह कहा है कि "अत्र गत इत्यनेन अचेतने मदे मुख्यार्थबाधात् 'नाशो' लक्ष्यते । तदतिशयश्च व्यङ्ग्यो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम् ।" अर्थात् 'गतः' का मुख्यार्थ गमन, अचेतन 'मद' में बाधित होने से 'गतः' पद से लक्षणा के द्वारा 'नाश' अर्थ लक्षित किया गया है; और 'उसका अतिशय'-व्यंग्य है, जो राजविषयक रतिभाव का अंग है । अतएव वृत्तिकार ने

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो ! गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥ १२१ ॥

अत्र त्रासोदयः ।

'प्रशमः' कहा है । चन्द्रिकाकार के व्याख्यान का अनुसरण करके सुधासागरकार ने भी कहा है कि "ननु गत इति प्रशमस्य वाच्यतया कथं भावप्रशमतेति चेत् ? उच्यते—गत इत्यनेन गमनस्य मुख्यार्थस्य बाधाच्छान्त इत्यर्थोलक्ष्यते । तेन प्रशमातिशयो व्यज्यते इति ।" किन्तु ये दोनों व्याख्यायें उचित प्रतीत नहीं हो रही हैं। वृत्तिकार ने 'भावस्य भावप्रशमः' कहकर 'प्र' शब्द को अतिशयार्थक बताया है । 'अतिशय' का व्यंग्य होना नहीं बताया है । किन्तु 'प्रशम' शब्द से 'शान्तिमात्र' विवक्षित है और शान्तिमात्र की व्यंग्यता विवक्षित है । अतएव 'रस-भावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः' इस बयालिसवें सूत्र में और 'भावस्यशान्ति-रुदयः' इस पचासवें सूत्र में केवल 'शान्ति' पद का ही ग्रहण किया है । इसीलिए प्रदीपकार ने—'अत्र भावस्य भावप्रशमः' इस वृत्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि "अत्र वैरिणो गर्वरूपो भावः, तस्य 'शमो' राजविषयकरतिभावे अङ्गम् इत्यत्र 'शम' पदमेवोपात्तम् , न तु प्रशमपदम् । तथा च वृत्तौ 'प्र' शब्दार्थोऽ-विवक्षित एवेत्यर्थसिद्धम् इति ॥ १२० ॥

(च) भावाङ्गभावोदयव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

भावोदय की भावाङ्गता होने पर अपराङ्गव्यंग्य संज्ञक—मध्यम काव्य का उदाहरण—

साकमिति । हे राजन् ! तुम्हारा शत्रु, अपने मित्रों सहित मृगनयनी कान्ता के साथ मद्यपान की लीला में जैसे ही प्रवृत्त हुआ, वैसे ही श्लेष से (अनेकार्थक होने के कारण) अन्य अर्थ का अभिधायक (वाचक) तुम्हारा नाम, किसी व्यक्ति के द्वारा किसी कार्यवश उच्चारण करते ही वहाँ पर (मधुपान गोष्ठी में) एकाएक विषम अवस्था पैदा हो गई । अर्थात् तुम्हारा नाम कान पर पड़ते ही सब लोग घबड़ा गये, इधर-उधर भाग खड़े हुए ॥ १२१ ॥ (२ च)

अत्रेति । यहाँ पर 'त्रास' रूप भाव का उदय, कविनिष्ठराजविषयक 'रति' भाव का अंग बन गया है । अतः यह उदाहरण भी 'अपरांगव्यङ्ग्य' नामक गुणी-भूतव्यंग्य का है ।

विशेष विवरण —यहाँ पर सहसा उत्पन्न हुई विषमावस्था से व्यंग्य होने वाले 'त्रास' रूप व्यभिचारीभाव का उदय हुआ है, और वह कविनिष्ठ राज-

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

विषयक 'रति' भावका अंग है। यहाँ पर 'भावोदय' के अंग होने से 'भावोदय' संज्ञक अलंकार है ॥ १२१ ॥

(छ) **भावांगभावसन्धिव्यंग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य—**

भावसन्धि की भावाङ्गता में अपरांगव्यङ्ग्य संज्ञक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं—भगवान् शिव की प्राप्ति के लिए तपश्चरण करती हुई पार्वती के समक्ष कपटवेष धारण कर आये हुए शिवजी का वर्णन इस पद्य में किया जा रहा है—

असोढेति। उस बाल्यकाल में पार्वती के द्वारा की जाने वाली कठोर तपस्या की असहनीयता को देखकर शिवजी द्रवित हो गये, अतएव पार्वती के द्वारा अनुभूयमान दुःख को सहन न कर सकने वाले शिवजी, तत्काल ही पार्वती जी के मनोरथ की पूर्ति कर देने के लिए उद्यत हो उठे। किन्तु साथ ही पार्वती जी की शिव के प्रति अनुरागपरक विश्वस्त रूप से की जाने वाली बातों का रस लेने वाले शिवजी, एक ओर तो पार्वती के बाल्यकाल की सुकुमारता के कारण कठोर तप की असहनीयता को देखकर अपने कपटपूर्ण ब्रह्मचारी के वेष को त्याग कर फलदान करने में विलम्ब की अक्षमता से होने वाली त्वरा, और दूसरी ओर अनुराग भरी बातों के रसास्वाद के कारण उस कपटवेष के परित्याग करने में शिथिलता, इस प्रकार त्वरा और शिथिलता दोनों से ही युगपत् आक्रान्त हुए स्मरहर शिवजी तुम्हें आनन्दित करें।

अत्रावेगेत्यादि। यहाँ पर 'त्वरा' और 'शैथिल्य' पदों से गम्यमान स्मरहरगत 'आवेग और धैर्य' इन दो भावों की सन्धि, कविनिष्ठ शिवविषयक रतिभाव की अंग है। यहाँ पर 'त्वरा' से 'आवेग' और 'शैथिल्य' से 'धैर्य' गम्य है। आवेग और धैर्य के आहार्य होने से उक्त दोनों भाव अपुष्ट हैं। भावसंधि के अंग होने से 'भावसन्धि' अलंकार है।

विशेष विवरण—यह पार्वती मुझे ही पाने के लिए इतनी कठोर तपस्या कर रही है यह देखकर शिवजी के मन में एक ओर तो यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं कपट से धारण किये हुए अपने ब्रह्मचारी के वेष को दूर कर स्वयं को क्यों न प्रकट कर दूँ कि मैं ही तो वह शिव हूँ, जिसकी प्राप्ति के लिए तुम ऐसे उग्र तप को कर रही हो।

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः कासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥

किन्तु दूसरी ओर यह भाव उत्पन्न हुआ कि पार्वती की मेरे प्रति अनुरागपूर्ण बातें इस अज्ञात रूप में ही सुनी जा सकती हैं। इसलिए पूर्वसंकल्प को रोक लेते हैं। इस प्रकार शिवजी के मन में 'त्वरा' और 'शैथिल्य' इन दो भावों की सन्धि है ।

(ज) भावाङ्गभावशबलताव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य—

भावशबलता के भावाङ्ग होने पर अपरांगव्यंग्यसंज्ञक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं। इस पद्य में कोई कवि, किसी राजा की स्तुति करता हुआ उसके वननिवासी शत्रु की उभरते यौवनवाली कन्या की अवस्था का वर्णन कर रहा है। वह उद्भिन्नयौवना कन्या जब वनमें फल-फूल, किसलिए इकठ्ठा कर रही थी, तब वहाँ किसी कामुक के प्रति उसके मन में अनुराग हो गया। उस समय कामुक से कन्या के द्वारा की जाने वाली बातों का वर्णन कवि कर रहा है—

पश्येदिति। (१) कामुक पुरुष जब उसको एकान्त में पकड़ना चाहता है तो वह कन्या उससे मना करती हुई कहती है—'अरे ! कोई देख लेगा'—(शंका)।

(२) फिर भी कामुक उसके समीप आ जाता है, तो वह कहती है—'अरे ! चपल ! हट जा'—(असूया), इससे प्रेमभरी असूया सूचित होती है।

(३) कहीं निराश होकर यहाँ से वह चल ही न दे, इसलिए कन्या कहती है—'अरे ! जलदी क्या है ? इतने अधीर क्यों हो रहे हो ?—(धृति)

(४) फिर उसे याद आती है कि 'मैं कुमारी हूँ',—इस प्रकार से प्रेमलीला करना मेरे लिए उचित नहीं है—(स्मृति)

(५) किन्तु शीघ्र ही वह कामपरवश होकर कहने लगी कि 'मुझे हाथ का सहारा दो यानी पकड़ लो—(श्रम)

(६) आत्मसमर्पण कर चुकने पर अपनी दीनता को प्रकट करने लगी कि 'ह-ह-हा'—(दैन्य)

(७) अनन्तर उसे विवेक (ज्ञान) पैदा होता है, और कहती है कि 'कुमारी-पन में कन्या का यह आचरण, कुलमर्यादा का 'अतिक्रमण यानी उल्लंघन' है।—(विबोध)

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

---

(८) जब वह कामुक निराश होकर वहाँ से चल देता है, तब उत्सुक होकर कहती है कि 'अरे, तुम कहाँ जाते हो ? (औत्सुक्य) ।

हे राजन् ! आपके भय से भाग कर बन का आश्रय लिये हुए शत्रु के भोजन, आभूषण आदि के लिये फल, फूल किसलय आदि को तोड़ती हुई कन्या अपने किसी कामुक से इस प्रकार कहती है ॥ १२३ ॥ (२ ज)

अत्रेति । यहाँ पर 'पश्येत् कश्चित्' से (१) शंका, 'चल चपलरे' से (२) असूया, 'का त्वरा' से (३) धृति, 'अहं कुमारी' से (४) स्मृति, 'हस्तालम्बं वितर' से (५) श्रम, 'ह ह हा' से (६) दैन्य, 'व्युत्क्रमः' से (७) विबोध, और 'क्वासि यासि' से (८) औत्सुक्य—इन आठ भावों की शबलता (मिश्रण) है, और यह 'भावशबलता, कविनिष्ठ स्तूयमान राजविषयक 'रति' भाव की अंग है । ये ही रसवदादि अलंकार हैं ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में 'पश्येत् कश्चित्'—कोई आदमी देखलेगा—इस शंका से 'संगोपनीय पुरुषचेष्टा' व्यंग्य हुई । चल चपल रे'—अरे चपल अर्थात् स्वच्छन्दाचरण शील चल-हट—से काकुविशेषसहकृत होने के कारण रागानुविद्ध असूया' व्यंग्य हो रही है । 'का त्वरा' यह कथन, सत्वर जिगमिषा निवारणार्थ है—इससे 'धृति' व्यंग्य है । 'अहं कुमारी' के आगे 'अस्मि' जोड़ लेना चाहिये, इससे मुझ कुमारी कन्या की ऐसी स्वतंत्रता उचित नहीं है, यह 'स्मरण' व्यंग्य है । 'हस्तालम्बं वितर'—हस्तरूप अवलम्ब दो—यह कहकर 'श्रम' को व्यंजित किया गया है । 'ह ह हा' इस प्रकार के वाक्यप्रयोगजनक भाव से 'दैन्य' व्यंग्य हो रहा है । 'व्युत्क्रम' अर्थात् कन्यागमनरूप बिपरीत आचरण हो रहा है,—यह कहकर 'विबोध' व्यंग्य हुआ है । 'क्वासि' (क्व+असि) यहाँ 'असि' पद 'त्वम्' के अर्थ में विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है । जैसे तीसरे उल्लास के बीसवें श्लोक में 'अत्रास्मि करोमि सख्यः' अंश का 'अस्मि' पद 'अहम्' के अर्थ में विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है । 'क्वासि यासि'—कहाँ जा रहे हो—से 'औत्सुक्य' व्यंग्य हुआ है । इसके द्वारा पूर्व-पूर्व भाव का उपमर्द करके उत्तर-उत्तर भाव का उदय बताया गया है । यहाँ 'भावशबलता' के अंग होने से 'भावशबलता' अलंकार है । चतुर्थ उल्लास के बयालिसवें सूत्र की बृत्ति में 'ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते' ऐसा पहिले जो कहा था, उसी को यहाँ पर 'एते च रसवदाद्यलंकाराः' से बताया गया है । अर्थात् गुणीभूत हुए ये 'रसादि' ही 'रसवद् आदि अलंकार' कहलाते हैं । (१) रसवत , (२) प्रेयस् , (३) ऊर्जस्वी, (४) समाहित, (५) भावोदय, (६) भावसंधि, (७) भावशबलता—ये सात 'रसवदलंकार'

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

हैं। चौथे उल्लास में 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' का प्रतिपादन करते समय 'रस' के साथ ही रसाभास, भाव, भावाभास और भावशान्ति आदि का भी उल्लेख किया गया था। वहीं पर यह भी बताया था कि 'जहाँ 'अन्य वाक्यार्थ' की प्रधानता रहने पर रस आदि' उसके अंग बन जाते हैं, तब वहाँ 'गुणीभूतव्यंग्य' समझा जाता है। और वहाँ पर 'रस' जब 'अन्य का अंग' हो जाता है तब वहाँ उसे 'रसवत्' अलंकार कहा जाता है। तथा 'भाव' जब 'अन्य का अंग' हो जाता है, तब उसे 'प्रेय' अलंकार कहा जाता है। और 'रसाभास तथा भावाभास' जब 'अन्य के अंग' हो जाते हैं, तब उन्हें 'भावशान्ति' अलंकार कहा जाता है, और 'भावशान्ति' आदि जब अन्य के अंग हो जाते हैं, तब उन्हें 'समाहित' आदि अलंकार कहते हैं। इनके उदाहरणों को 'गुणीभूतव्यंग्य' के प्रसंग में बताया जायगा' ऐसी प्रतिज्ञा ग्रन्थकार ने की थी। तदनुसार ग्रन्थकार ने 'अपराङ्गव्यंग्य' नामक गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण करते हुए तदनुरूप आठ उदाहरणों को बता दिया। उसी का स्मरण ग्रन्थकार एते इति। 'एते रसवदाद्यलंकाराः' से करा रहे हैं। अर्थात् ये ही पूर्वोक्त रसवदादि अलंकार हैं।

शंका—महिमभट्ट, भामह आदि प्राचीन आलंकारिक आचार्यों ने तो 'गुणीभूतो रसो रसवत्' 'भावस्तु प्रेयः' रसाभावाभासौ ऊर्जस्वि' 'भावशान्तिः समाहितः'—कह कर 'रसवत् अलंकारों' में उक्त चारों को ही गिनाया है। भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशबलता' को नहीं गिनाया है। अतः रसवदादि अलंकार के पाँच ही उदाहरण ग्रन्थकार को देने चाहिये थे। भावोदय आदि के तीन उदाहरण अधिक क्यों बताये ?

समाधान—श्रीमम्मट भट्ट ने उक्त शंका के समाधान में यह कहा है कि शंका करने वाले की शंका ठीक है। यद्यपि पूर्वोक्त चारों का परिगणन रसवदादि अलंकारों में स्पष्टतया किया गया है, तथापि जहाँ 'भावशान्ति' को 'समाहित' अलंकार' के नाम से कहा है, वहाँ 'समाहित' पद 'भावोदय आदि शेष तीनों का भी उपलक्षण हो सकता है, क्योंकि उन तीनों में भी अलंकार का 'परोत्कर्षकत्व' रूप बीज निहित है, इसलिए इन तीनों का भी रसवदादि अलंकारों में गिनना अनुचित न होगा। इसी अभिप्राय से उनके भी उदाहरणों को यहाँ बताया गया है। इसी बात को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

यद्यपीति। महिमभट्ट आदि प्राचीन अलंकारशास्त्रियों ने यद्यपि 'भावोदय 'भावसन्धि' तथा 'भावशबलता को 'रसवदादि' अलंकार नहीं कहा है, तथापि

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति, तथाऽपि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति कचित्केनचिद् व्यवहारः।

अन्य रसवदादि अलंकारों के समान ये भी दूसरे के उत्कर्षकारक होते हैं। एवं च गुणीभूत रसादि के समान भावोदय आदि में भी अलंकारत्व व्यवहार के बीजरूप परोत्कर्षकत्व के घटित होने से विनिगमनाविरहात् भावोदय आदि में भी अलंकारत्व है—ऐसा यदि कोई बुद्धिमान् कह दे, तो उन्हें क्या उत्तर दिया जायगा? इसलिये यहाँ पर रसवदादि अलंकारों के प्रसंग में उन तीनों को भी बता दिया है।

विशेष विवरण—अलंकारसर्वस्वकार ने भावोदय, भावसंधि, भावशबलता तीनों को उन्हीं के अपने नाम पर ही पृथक अलंकार के रूप में बताया है।

एवं च वृत्तिकार का आशय यह है—भावोदय आदि तीनों में अलंकारत्वव्यहार के लिये परोत्कर्षकत्वरूप बीज के विद्यमान रहने पर भी उन्हें यदि अलंकार नहीं कहें तो प्राचीन लोग कहेंगे कि इन्हें उनका ज्ञान नहीं है, अतः नहीं बता पाये—यह आक्षेप हमारे ऊपर लगाया जायगा। परन्तु वस्तुतः रसवदादि अलंकार प्राचीनों को ही मान्य हैं। ग्रन्थकार को मान्य नहीं है। अलंकार उन्हीं को जाता है, जो अगोपकार द्वारा अंगी के उपकारक होते हैं। इसीलिए अष्टम उल्लास में (सू० ८८) 'अंगद्वारेण' कहा गया है। ये तो गुणों की तरह साक्षात् उपकारक होने से इनमें अंगोपकारद्वारक अंग्युपकारकत्व नहीं है। इसलिए इनमें गुणीभूतव्यंगत्व ही है—ऐसा सुधासागरकार का कहना है। नरसिंह ठक्कुर ने भी कहा है कि वृत्तिकार ने 'कश्चित्' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह 'पर-मत' है। हमारे मत में रसवदादिकों का अलंकारत्व नहीं है। भावोदयादि में भी अलंकारता नहीं है।

शंका—'अयं स रशनोत्कर्षी' में प्रकरणगम्य करुण की प्रधानता रहने से ध्वनित्व है, तब उसे गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहा गया है? उक्त शंका का समाधान, 'यद्यपि सः' ग्रंथ से दिया जा रहा है। अथवा ऐसी भी शंका हो सकती है कि जहां रसध्वनि होती है, वहाँ भावध्वनि भी अवश्य रहता है। अर्थात् किसी प्रधान व्यंग्य को लेकर ध्वनित्व और किसी अंगभूत को लेकर गुणीभूत व्यंग्यत्व—इन दो निमित्तों का समावेश रहने से विनिगमना-विरहात् व्यपदेश (नामकरण) का नियम कैसे हो सकेगा? इस शंका के निरसनार्थ कह रहे हैं—

समाधान—यद्यपि स इति। यद्यपि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें

ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य का (उत्तम-मध्यम काव्य का) अपने अवान्तर भेद (प्रभेद) 'आदि' शब्द से विजातीय प्रभेद के साथ अंगांगिभावरूप संकर या दोनों के प्रधान रहने पर संसृष्टि न हो। फिर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' प्रधानता को ध्यान में रखकर नामकरण किया जाता है—इस नियम के अनुसार कहीं किसी विशेष नाम से व्यवहार किया जाता है। अर्थात् एक उदाहरण में दो या अधिक भेदों के होने पर भी जो प्रधान या अधिक चमत्कारजनक होता है उसी के अनुसार उसका नामकरण या व्यवहार हुआ करता है। 'यत्र यन्मुखेन चमत्कारस्तत्र तेनैव व्यवहारः'। एवं च अंगभूत रसादिकों का चमत्कृतिरूप आतिशय रहने पर गुणीभूतव्यंग्यत्व और अंगी का चमत्कृतिरूप आतिशय रहने पर ध्वनित्व का व्यवहार होता है। एवं च 'अयं स रशनोत्कर्षी' में करुणरस की ध्वनि रहने पर भी गुणीभूतव्यंग्य शृंगार का ही चमत्कारास्वादन होने से उसी के नाम से व्यवहार किया गया है; ध्वनित्वेन उसका व्यवहार नहीं किया गया। अब चमत्कारोत्पादकता किसमें है—इसका निर्णय तो सहृदयों का हृदय ही कर सकता है। अतः 'अयं स रशनोत्कर्षी' में करुण की मुख्यता रहने से उसी की प्रधानता है—यह कहने वालों का खण्डन हो जाता है। क्योंकि कवि का संरंभ, शृङ्गार के वर्णन में है—ऐसा सारबोधिनी-नरसिंहमनीषा आदि व्याख्याओं में कहा गया है।

(झ) शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य अलंकारध्वनि की वाच्यांगता—

अभी तक जो उदाहरण प्रदर्शित किये गये उनमें 'एक असंलक्ष्यक्रम रसादि-ध्वनि', दूसरे 'व्यंग्य भावादि ध्वनि' का अंग हो रहा है—यह बताया गया था। इसलिए वे 'रसवदलंकारों' के उदाहरण थे। रसवदलंकारों का विशेष महत्त्व होने के कारण ही उनके उदाहरणों को बड़े विस्तार से प्रदर्शित किया गया। अब उसी अपरांगव्यंग्य के दो उदाहरण और उपस्थित कर रहे हैं। इनमें क्रमशः संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि दोनों, वाच्य के अंग हो रहे हैं। वैसे तो वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि व्यंग्य हैं, किन्तु वे वाच्य का अंग बन गये हैं। इसलिए ये दोनों अपरांगव्यंग्यरूप गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण हैं।

शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप उपमालकार (लक्ष्यक्रम) के वाच्यांग होने पर अपरांगव्यंग्यरूप मध्यम काव्य का उदाहरण दे रहे हैं—

क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण के अनुसार भट्टवाचस्पति का यह पद्य है। राज-सेवा से निर्विण्ण हुए किसी कवि की यह उक्ति है। कवि किसी भिक्षुक के मुख से रामचन्द्रजी के साथ उनके साम्य का वर्णन करवा रहा है—

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥ ११४ ॥

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

जनस्थाने इति । भगवान् रामचन्द्र कनकमृग (सुवर्णमृग) की तृष्णा में विवेकहीन होकर दण्डकारण्य के स्थानविशेषरूप जनस्थान में उसके पीछे भागते फिरते थे, और मैं भी उनके समान कनक (सुवर्ण=सोने) की मृगतृष्णा में (धन की प्राप्ति के लिए) विवेकशून्य होकर जनस्थान में (नगरों में) भटकता फिरा । और सीता का अपहरण होने के बाद रामचन्द्र जी रोते हुए तथा बार-बार, पग-पग पर 'वैदेहि !' हे वैदेहि ! पुकारते-कहते फिरते थे, तथा मैं भी धनियों के सामने धन की याचना करते हुए आँखों में आँसू भरे हुए पग-पग पर बार-बार 'दीजिये' 'दीजिये' इस प्रकार पुकारता हुआ (वै) निश्चितरूप से कहता फिरता था । रामचन्द्रजी ने रावण की (लङ्काभर्तुः) दससंख्यावली मुखपङ्क्ति पर (वदनपरिपाटी पर), बाणों का प्रयोग (इषु घटना) किया था । उसी तरह मैंने भी धूर्त धनियों के (कामर्तुः) मुख की भावभङ्गियों पर अर्थात् इशारों पर (वदन-परिपाटी पर) उनकी इच्छानुसार सारा व्यवहार (घटना अलम्) किया (कृता) ।

इस प्रकार मैंने राम के समान ही सब कार्य किये, और रामत्व (रामसदृशता) तो प्राप्त कर लिया, किन्तु मैंने राम की तरह 'कुश-लवसुता' नहीं पाई । अर्थात्—रामचन्द्रजी ने 'कुश-लवौ सुतौ यस्याः सा'=कुशलवसुता यानी सीता को प्राप्त किया । 'तु' किन्तु मैंने 'कुशलं प्रचुरं वसु धनं यस्य तत्'=कुशलवसु, तस्य भावः=कुशल-वसुता यानी विपुलधनता को 'न अधिगता' अर्थात् नहीं प्राप्त किया ॥ १२४ ॥ (२ ब)

अत्रेति । यहाँ राम के साथ भिक्षुक का उपमानोपमेयभाव, शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है । उसको 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर वाच्यार्थ का अंग बना दिया है । इसलिए यह वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण हो गया है ।

विशेष विवरण—इसमें संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अलंकार ध्वनि, वाच्य का अंग हो रहा है । यहाँ उपमालंकार व्यंग्य है, साथ में श्लेषालंकार भी है । भिक्षुक का रामचन्द्र के साथ उपमानोपमेयभाव शब्दशक्ति के द्वारा व्यंग्य रूप से

स्वयं प्रतीत हो रहा है। परन्तु कवि ने अन्तिम चरण में 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर उस व्यंग्यरूप उपमानोपमेयभाव को वाच्यरूप 'मयाप्तं रामत्वं' का अंग बना दिया है। इसलिए यह पद्य गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण बन गया है। अन्यथा यह उत्तम ध्वनिकाव्य कहलाता। यही पद्य हनुमत्कवि के **हनुमन्नाटक** के दसवें अंक में भी उपलब्ध होता है, किन्तु इससे, **भट्टवाचस्पति** की कृति उसे कहने मे कोई बाधा नहीं होगी, क्योंकि हनुमत्कवि ने अपने नाटक में अनेक कवियों के पद्यों को यथास्थान उद्धृत किया है। जैसे **कालिदास के 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' राजशेखर के बालरामायण के 'सद्यःपुरीपरिसरेऽपि',** तथा **मुरारि कवि के अनर्घराघव के 'समन्तादुत्तालैः सुरसहचरी'** आदि पद्य भी **हनुमन्नाटक** में उपलब्ध होते हैं।

भिक्षुक ने यह बताया है कि मैंने **राम का धर्म** जो **'रामत्व'** है, उसे तो प्राप्त कर लिया किन्तु कुशल अर्थात् परिणामसुरस अथवा उद्वेगनिरास करने में निपुण अथवा **आयतिशुद्ध धन (वसु) भाव (ता)** को नहीं पाया। और रामचन्द्र ने तो **कुशलवसुता (कुशलवौ सुतौ यस्याः सा)** इस व्युत्पत्ति से अर्थ हुआ 'सीता' को पाया। एवं च **श्लेष** से उपस्थित पदार्थों के **अभेदारोप से 'रामत्व' की उपपत्ति** हो जाती है।

यहाँ पर **शब्दशक्ति की महिमा से** पादत्रयद्योत्य **प्रकृत** और **अप्रकृत** रूप **कवि** तथा **राम** में जो **उपमा है,** वह, **'मयाप्तं रामत्वम्'** इससे रामत्वप्राप्ति रूप वाच्यार्थ, **उपकारकत्वेन रूपेण** कवि को अभिप्रेत रहने से **उपमा में वाच्यांगत्व है। 'जनस्थानादि शब्दों' की परिवृत्त्यसहता होने से शब्दशक्तिमूलता है।** 'रामत्वम् आप्तम्' इस कथन से ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, इसलिए यहाँ 'उपमा', वाच्यसिद्धि में अंग नहीं है। **'इव' आदि शब्दों के न होने से 'उपमा' वाच्य नहीं है।** इस कारण यहाँ **'उपमालंकार'** नहीं है, अपि तु **'मध्यमकाव्यत्व' ही है।** यहाँ **प्रकृत कवि** है और **अप्रकृत राम है,** दोनों में **उपमानोपमेयभाव-रूपसाम्य, व्यंजना** से जाना जाता है। कवि ने 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर 'अन्यत्र अन्यतादात्म्यारोपरूप अतिशयोक्ति स्वरूप' 'मयाप्तं रामत्वं' इस वाच्य का उसे (उपमानोपमेयभावरूप साम्य को) उत्कर्षक (अंग) बना दिया है। एवं च **शब्द-शक्तिमूल - संलक्ष्यक्रमव्यंग्य - अलंकारध्वनि की वाच्यांगता** का यह उदाहरण बता दिया।

(ग) अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तुध्वनि की वाच्याङ्गता—

अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप (लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य) **वस्तुध्वनि** के वाच्यांग होने पर **अपरांगव्यंग्य नामक मध्यमकाव्य** का उदाहरण दे रहे हैं।

आगत्य संप्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥१२५॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

बिना अनुनय के ही अपने मान का त्याग कर देने वाली नायिका का उसकी सखी उपालंभ कर रही है—

आगत्येति । हे तन्वङ्गि ! यह **सहस्ररश्मि** (सूय) पता नहीं कहाँ रात्रि को बिताकर अब (प्रातःकाल) धीरे से आकर अपने वियोग में दीन-हीन बनी हुई **पद्मिनी पैरों पर गिरकर अनुनय विनय करते हुए** (किरणों को बिखेरता हुआ) उसे कैसे **मना रहा है**—जरा देख ले ॥ १२५ ॥ (२ ब)

अत्रेति । यहाँ पर **अर्थशक्ति से** प्राप्त **वस्तुरूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य**—जो **'नायक-नायिका का व्यवहार'** है, वह **ध्वनित** हो रहा है । किन्तु वह 'ध्वनि' नहीं है, अपितु **'गुणीभूतव्यंग्य'** ही है । क्योंकि इस व्यंग्यार्थ पर निर्भर न रहने वाले (अपेक्षा न करने वाले) **'रवि-अंभोजिनी' वृत्तान्तरूप (वस्तुरूप)** वाच्यार्थ का **आरोप्य-आरोप्यमाणभाव** (अध्यारोप) **संबंध से वह व्यंग्यार्थ** अंग बन गया है । अर्थात् वह **अपरांग व्यंग्यरूप** ही है । एवं च उस (नायक-नायिकाव्यवहाररूप) व्यंग्यार्थ की अपेक्षा न रखने वाले **रवि-कमलिनी** के वाच्यभूत **व्यवहार पर अर्थशक्तिमूल - वस्तुध्वनिरूप नायकव्यवहार का अध्यारोप** किया गया है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में **'रवि-कमलिनी का व्यवहार'** वाच्यार्थ है, और **'नायक-नायिका का व्यवहार'** व्यंग्यार्थ है । वह, वाच्यरूप रवि-कमलिनी व्यवहार पर आरोपित होकर ही स्थित है । इसलिए वह **वस्तुभूत व्यंग्य अर्थ**, वाच्य का अंग बन जाने से उसे **गुणीभूत व्यंग्य** कहा गया है । यहाँ जिज्ञासा होती है कि **वाच्यांग व्यंग्य** (अपरांग व्यंग्य) और आगे कहे जाने वाले **वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य में क्या भेद है** ? इसका **समाधान** यह है कि **'व्यंग्यार्थ'**, जब **निरपेक्ष-वाच्यार्थ का अंग** बन जाता है, तब वह (व्यंग्यार्थ) **'वाच्यांग' व्यंग्य** कहलाता है । और जब **'व्यंग्यार्थ'** सापेक्ष-**वाच्यार्थ** की आवश्यकतापूर्ण करने के लिए उसका **अंग बनता है**, तब वह **वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य** कहलाता है । एवं च **वाच्यार्थ की निरपेक्षता और सापेक्षता** पर ही दोनों का **भेद** (अन्तर) निर्भर है । 'वाच्य' सापेक्ष होता है यानी वाच्यार्थ **अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा करता है** ।

इसी अभिप्राय की **सूचना ग्रंथकार ने उक्त पद्य की** वृत्ति में **प्रयुक्त 'निरपेक्ष'**

शब्द से कर दी है। इस पद्य में 'सहस्ररश्मि और अंभोजिनी' (रवि-कमलिनी) के वृत्तान्त का वर्णन किया गया है, जो—वाच्यार्थरूप है। इस वर्णन के साथ ही नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति भी हो रही है, जो व्यंग्यार्थरूप है। परन्तु वहाँ पर नायक-नायिका के उपस्थित न रहने से, उनके व्यवहार की प्रतीति व्यंग्य होने पर भी उसे 'मुख्य' नहीं कह सकते। दूसरी ओर रवि-कमलिनी व्यवहार वाच्यरूप और पूर्ण है, उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तथापि नायक-नायिका-व्यवहार, जो व्यंग्यार्थ रूप है, उससे वाच्यार्थ में उत्कर्ष (चमत्कारातिशय) अवश्य हो जाता है।

यहाँ पर 'पाद' शब्द श्लिष्ट (परिवृत्त्यसह) रहने से शब्दशक्तिमूलत्व की भी संभावना की जा सकती है, तथापि परिवृत्तिसह शब्दों की अधिकता रहने से उन्हीं की प्रधानता मानी जायगी, अतः अर्थशक्तिमूलत्व का व्यवहार किया गया है। क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह नियम है।

दूसरी बात यह है कि 'पादपतन' शब्द-प्रयोग के बिना भी नायक-नायिका वृत्तान्त की प्रतीति होती है, किन्तु उसकी प्रधानता नहीं है। वस्तुतः यह भी है कि 'अंघ्रिपतन' शब्द के प्रयोग करने पर भी वृत्तान्त की प्रतीति हो सकती है। अतः परिवृत्ति-सहत्व होने के कारण शब्दशक्तिमूलत्व न हो होकर अर्थशक्तिमूलत्व का व्यवहार जो किया गया है, वह उचित ही है।

यहाँ पर बिना अनुनय-विनय कराये ही अपने मान को त्याग देनेवाली नायिका पर उसकी सखी उपालंभ दे रही है। सहस्ररश्मि' कह कर अनेक-नायिकाओं का होना ध्वनित किया गया है। अंभोजिनीम्' कह कर जो बताई जा रही है, उसमें पद्मिनीत्व सूचित किया गया है। 'क्वचिदपि' से उपनायिका के घर में ही—इस निश्चयाभाव को बताया है। तत्रापि तीन याम (प्रहर) ही, अधिक नहीं। अभिप्राय यह है कि उसके अपराध का निश्चय न रहने पर भी वह, स्वयं ही आकर उस कमिलिनी के जो (अंभोजिनी जल (३) से पैदा होने के कारण स्वयं भी जड़ है) पाद पतन के द्वारा पैरों में गिरकर अनुनय कर रहा है। अरी देखले, कामुक और कामुकी में ऐसा व्यवहार चलता है। और तू पुनः कितने ही समय से पर नायिका में आसक्त रहने वाले उस धूर्त के सामने स्वयं अपना मान त्याग कर बिना अनुनय के ही उस पर प्रसन्न हो गई। कवि का अभिप्राय यहाँ पर नायक-नायिका के व्यवहार को बताना ही है। यह नायक-नायिका का वृत्तान्त (व्यवहार) व्यज्यमान (व्यंग्य) है। रवि-कमलिनी वृत्तान्त (व्यवहार) जो वाच्य है, उस पर अभिन्नतया (अभेदेन) पूर्वोक्त व्यंग्य को आरोपित किया गया है। इस प्रकार आरोप्यमाण वह व्यंग्यार्थ, उस वाच्यार्थ का उत्कर्ष कर रहा है। इसलिये उस

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥ १२६ ॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्।

व्यंग्यार्थ में वाच्यांगता ही है। यही समासोक्ति अलकार है, ऐसा उद्योतकार ने बताया है।

वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्गरूप मध्यमकाव्यका उदाहरण—

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथेति। वाच्यसिद्धयङ्ग व्यंग्यरूप मध्यमकाव्य का उदाहरण, इस प्रकार है—नायक को नायिका की अवस्था बताने के लिये एक सखी सामान्यतः वर्षा का वर्णन कर रही है।

भ्रमिमरतिमिति। जलद-भुजग यानी मेघरूप सर्प, उससे उत्पन्न ये विषरूप वर्षा के जलकण, वियोगिनी स्त्रियों के लिये बलपूर्वक **'भ्रमि'**–मानसिक उद्विग्नता, **'अरति'**–विषयभोग की इच्छा न होना या अरुचि, **अलसहृदयता'**–उदासीनता, **'प्रलय'**–निश्चेष्टता अर्थात् वाह्येन्द्रियों का न चल पाना, **'मूछा'**–चित्त की स्तब्धता अर्थात् बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों की चेष्टा न होना अथवा चित्त का बाह्येन्द्रियों के साथ संबंध न हो पाना, **'तम'**–चारों ओर अंधेरा छा जाना, **'शरीरसाद'**–देह पीडा अथवा शरीर की कृशता, और अन्तिम अवस्था **'मरण'**–प्राणनाश कर देते हैं॥१२६॥ (३ क)

अत्र हालाहल मिति। यहाँ 'विष' पद से **हालाहल व्यंग्य** है। वह **'मेघ'** पर आरोपित **'सर्प'** रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का उपकारक (अंग) है। अतः यह **वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य** का उदाहरण है।

विशेष विवरण—यहाँ पर **'जलद् इव भुजगः'** मेघरूप सर्प,—यह **रूपण** (अभेदारोप यानी रूपक) तब तक सिद्ध नहीं हो पाता, जब तक जल वाचक 'विष' शब्द से हालाहल व्यंजित नहीं होता। इसलिए **यह व्यंग्यार्थ, प्रधानीभूत भुजगरूप वाच्यार्थ की सिद्धि में अंग** (उपकारक) **है।** इस वाच्यार्थ की प्रधानता, रूपक में ही हो पाती है। यहाँ 'जलदभुजग' में 'उपमा' नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि उपमा में पूर्व पदार्थ की प्रधानता रहती है। जिससे 'वाच्य' यानी भुजग को जलद (मेघ) रूप कहना होगा, यानी भुजग (सर्प) रूप जलद कहना होगा। अतः **जल और गरल के उद्गारित्व रूप समानधर्मता के कारण जलद-भुजग में रूपण की उपपत्ति ही संगत होती है।** इसी बात को चन्द्रिकाकार ने बताया है—'यहां पर 'व्यंग्य' जो 'हालाहल' है, वह अप्रकृत होने से 'जलद भुजग' शब्द से प्रतिपादित रूपक (वाच्यार्थ) का निश्चायक हो गया है। अन्यथा 'जलद' का 'भुजगत्व' के साथ कोई संबंध न रहने से 'भुजग इव जलदः' इस प्रकार पूर्व पदार्थ प्रधान उपमित समास करने के कारण उपमालकार कहना होगा।

यथा वा—

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपी हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥

पदार्थ प्रधान उपमित समास करने के कारण उपमालंकार कहना होगा और व्यंग्य के साथ वाच्य का अभेदेन अध्यवसाय करने पर जलद में भुजगत्व की उपपत्ति हो जाती है, तब उत्तर पदार्थ-प्रधान रूपक की उपपत्ति हो जाती है।' कवि की विवक्षा 'रूपक' के बताने में ही है। 'उपमा' के बताने में नहीं है। 'विष' शब्द का अर्थ, जल है और हालाहल रूप गरल भी है। किन्तु 'जल' अर्थ 'अभिधा' से नियंत्रित होने के कारण 'हालाहल रूप गरल' अर्थ ही व्यंग्य है। इस पद्य के वाच्य और व्यंग्य दोनों के प्रतिपादक पदों का वक्ता एक ही (कवि) है, अलग-अलग नहीं हैं।

अब वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य का एक दूसरा उदाहरण भी बता रहे हैं। इस दूसरे उदाहरण को बताने का उद्देश्य यह है कि इसके वाच्य और व्यंग्य अर्थ के प्रतिपादक पदों का वक्ता एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। एवं च अन्यवक्तृक शब्द होने पर वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्य का उदाहरण, जैसे—

गच्छामीति। गोपी कहती है कि हे अच्युत। अर्थात् हे श्रीकृष्ण, मैं जाती हूँ। अच्युत ने पूछा, कि अरी ! क्यों जा रही है ? तो गोपी ने कहा कि क्या आपके दर्शनमात्र से कोई तृप्ति हो रही है ? कोई तृप्ति नहीं हो रही है।

एवं च यहाँ एकान्त में आपके पास रुके रहना निष्फल है, कोई लाभ नहीं है। प्रत्युत इसप्रकार एकान्त में हम दोनों के साथ रहने पर दुर्जन लोग अनेक प्रकार की अन्यथा कल्पनाएँ करने लगेंगे। लोग सोचेंगे कि ये दोनों रति-संभोग के निमित्त ही इस एकान्त में एकत्रित हुए हैं—यह वाच्यार्थ है। इस प्रकार 'अच्युत' सम्बोधन से सूचित-व्यर्थ बैठे (रुके) रहने से अलसाई हुई गोपी का आलिंगन कर पुलकित हुए श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें—यह तो वाच्यार्थ हुआ।

किन्तु व्यंग्यार्थ, यह प्रकट किया गया है कि—गोपी ने उसे श्रीकृष्ण नाम से संबोधित न कर 'अच्युत' नाम से संबोधित किया, जिससे यह ध्वनित किया कि 'हे च्युति रहित ! ऐसे एकान्त में हम जैसी सुन्दर युवती नायिका को पाकर भी अपने धैर्य से स्खलित न होने वाले, क्योंकि हमसे संभोग करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हो रहे हो। हमारी तृप्ति तो संभोग द्वारा स्खलन होने पर ही हो सकती

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य।
एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।
अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्॥ १२८॥

है, केवल आपको देखते रहने से नहीं। बिना संभोग के यहाँ केवल बैठे-बैठे देखते ही रहें तो दुष्ट लोग हमारे प्रति अन्यथा संभावना भी कर सकते हैं। किन्तु यदि संभोग कर लेते तो दुर्जनकृत अन्यथा संभावना से कोई दुःख न होगा। किन्तु यहाँ तो संभोग के अभाव में व्यर्थ ही आत्मवंचना होगी—यह व्यंग्यार्थ है। इस प्रकार पूर्वार्ध में 'अच्युत' संबोधन को ऐसी स्वरभंगिमा से कहकर गोपी ने व्यंजित किया कि तुम्हारा धैर्य किञ्चिन्मात्र भी स्खलित नहीं हुआ है—इस व्यञ्जना के द्वारा यह सूचित किया कि यहाँ तुम्हारे पास बैठे रहना निरर्थक है। एवं च सम्बोधन और भंगिमा दोनों से सूचित किये गये, वृथावस्थान और खेद, उनसे अलसाई हुई गोपी को अपने भुजपाश में लेकर आनन्दित होने वाले श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करे॥ १२७॥ (३)

अत्रेति। उक्त उदाहरण में भी 'अच्युत' आदि पद से जो व्यंग्य अर्थ—'संभोग चाहने वाली सुन्दरी युवती के प्रति विमुखता'—निष्पन्न हो रहा है, वह 'गुणीभूत व्यंग्य मध्यमकाव्य' ही है, ध्वनिकाव्य नहीं है। क्योंकि इस व्यंग्य के द्वारा 'इत्यामंत्रणभंगिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्'—इस वाच्यार्थ की ही सिद्धि की गई है। अर्थात् इस विशेषण की सार्थकता, उक्त व्यंग्यार्थ पर ही निर्भर है।

एतच्चेति। यह वाच्यसिद्ध्यंग और व्यंग्य, ये दोनों अर्थ एकत्र अर्थात् 'भ्रमिमरति' उदाहरण में एकवक्तृगत हैं, और अपरत्र यानी दूसरे उदाहरण 'गच्छाम्यच्युत' में वाच्य और व्यंग्य ये दोनों अर्थ, भिन्नवक्तृगत हैं। पूर्वार्ध में वक्त्री गोपी है, और उत्तरार्ध में वक्ता कवि है। दोनों उदाहरणों में यही भेद है।

अस्फुटव्यङ्ग्यनामक मध्यमकाव्य का उदाहरण—

अस्फुटमिति। अस्फुट (अस्पष्ट) व्यंग्यनामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं। कोई प्रेयसी अपने प्रिय से कह रही है। जैसे—

अदृष्ट इति। आपके न दिखाई देने पर 'आप कब दिखाई देंगे'? इस प्रकार दर्शन की उत्कण्ठा होती रहती है, और दिखलाई पड़ने पर वियोग का भय लगा रहता है। एवं च आपके अदृष्ट या दृष्ट होने पर भी अर्थात् दोनों अवस्थाओं में सुखप्राप्ति आपसे नहीं होती है॥ १२८॥ (४)

अत्रादृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ १२९ ॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

अत्रेति । यहाँ प्रेयसी के कहने से यह सूचित किया जा रहा है कि 'हे प्रिय ! आप ऐसा कोई उपाय करें कि जिससे न तो आप अदृष्ट रहें और न आपके विश्लेष का ही भय हो, अर्थात् आप सर्वदा मेरे पास ही बने रहें'—यह व्यंग्य अर्थ है। किन्तु इस व्यंग्य को समझ पाना सहृदयों के लिए भी अधिक क्लिष्ट है।

विशेष विवरण—यहाँ पर अदर्शन और वियोगभय दोनों का परिहाररूप व्यंग्य अस्फुट है। इस पद्य में 'भवता' में हेतौ तृतीया है।

सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण—

जैसे—

हरस्त्विति । चन्द्रोदय के आरंभ में समुद्र का धैर्य जैसे किञ्चिन्मात्र च्युत हो जाता है, उसी तरह भगवान् शिव ने किञ्चिन्मात्र अधीर होकर बिम्बफल के तुल्य रक्ताधरवाली उमा के मुख पर अपने नेत्रों को सञ्चरित किया। अर्थात् उत्सुक होकर उमा के मुख को देखने लगे।

अत्रेति । यहाँ पर उमा के मुख का शिवजी चुम्बन करना चाहते थे—यह प्रतीयमान व्यंग्यार्थ-प्रधान है—या नेत्रों का व्यापार (देखना)—यह वाच्यार्थ प्रधान है, इसका निर्णय न होपाने से यह सन्देहास्पद है। अतः यह सन्दिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य का उदाहरण है।

विशेष विवरण—कुमारसंभव काव्य के तृतीय सर्ग से इस पद्य को लिया गया है। उमा के मुखारविन्द को देखकर भगवान् हर (शिव) की चेष्टा का वर्णन कवि ने किया है। 'विलोचनानि' इस बहुवचन के प्रयोग से 'उत्कण्ठातिशय' को अभिव्यक्त किया है। यहाँ पर 'अधरं परिचुम्बितुमैच्छत्'—यह व्यङ्ग्य है। और 'युगपत् लोचनत्रयव्यापारणम्'—यह वाच्य है। इन दोनों में चमत्कार-प्रयोजकत्वरूप प्राधान्य का निर्णय किसी साधक-बाधक प्रमाण के न होने से सन्देह हो रहा है कि यहाँ वाच्यार्थ प्रधान है या व्यंग्यार्थ प्रधान है? क्योंकि वाच्यार्थ अलौकिक होने से जैसा चमत्कारकारी है, वैसे ही उत्कण्ठातिशय का व्यंजक होने से भी वह चमत्कारकारी है। अतः सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य वाला यह मध्यमकाव्य है। यहाँ वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थों में समानरूप से चमत्कारप्रयोजकता

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काकाक्षिप्तं यथा—

है—क्योंकि किसी साधक-बाधक प्रमाण के न होने से किसी एक अर्थ में उसका निर्णय नहीं हो पा रहा है। यहाँ 'विलोचनव्यापारण और धैर्यपरिवृत्ति'—ये दोनों अनुभाव वाच्य हैं, यदि ये दोनों औत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव अभिव्यञ्जित होकर स्थायिचर्वणा में पर्यवसित होते हैं तो व्यंग्य की प्रधानता कही जा सकती है। क्योंकि व्यंग्यीभूत इच्छा को अभिव्यंजित करके ही औत्सुक्य आदि का व्यंजन हो सकता है। और यदि रतिकार्य होने से आहत्यैव (स्पष्टतया) स्थायिचर्वणा में उनका पर्यवसान होता है तो वाच्य का प्राधान्य कहा जा सकता है। किन्तु इसका निर्णय करने में कोई विनिगमक नहीं है। क्योंकि दोनों में ही प्रधान प्रत्यासन्नत्व और भावत्व है। इस कारण इसमें 'तुल्यप्रधानता' नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि दोनों का विश्राम पृथक् नहीं है।

तुल्यप्राधान्यव्यंग्यवाले मध्यम काव्य का उदाहरण—

ब्राह्मणेति । अरे रावण ! ब्राह्मणों के अपमान (अतिक्रमण) करने की आदत का त्याग करना आपके ही कल्याण के लिए होगा, अन्यथा यदि उस स्वभाव का त्याग नहीं करोगे तो तुम्हारा मित्र जामदग्न्य दुर्मना (दुश्मन) हो जायगा। और यदि अपनी आदत छोड़ दोगे तो जामदग्न्य (परशुराम) तुम्हारा मित्र बना रहेगा ॥ १३० ॥ (६)

अत्र जामदग्न्य इति । इस पद्य में जामदग्न्य (परशुराम) ने क्रुद्ध होकर जिसप्रकार समस्त क्षत्रियों को मार दिया था (इक्कीस बार निःक्षत्रिय पृथिवी कर दी थी) वैसे ही 'यह परशुराम समस्त राक्षसों का भी विनाश क्षण भर में कर देगा'—इस दण्डरूप व्यंग्यार्थ का और 'भूत्युपदेश तथा मित्रत्वाभिधानरूप सामोपायात्मक' वाच्यार्थ का प्राधान्य समान (तुल्य) ही है। 'दुर्मनायते' इस गंभीरोक्ति से वाच्यार्थ में भी चमत्कार भरा हुआ है। विग्रह की तरह सन्धि अनर्थनिवारक होने से विवक्षित है। इसलिए यह तुल्यप्राधान्यवाले गुणीभूतव्यंग्यरूप मध्यमकाव्य का उदाहरण है।

काकाक्षिप्त व्यंग्य का उदाहरण—

काकु (ध्वनि विकार) से आक्षिप्त अर्थात् झटिति समझ में आने वाले

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

(प्रत्यायित) **गुणीभूतव्यंग्य** (मध्यम काव्य) का उदाहरण, जैसे—वेणीसंहार नाटक के प्रथम अंक में संधिश्रवण से कुपित हुए भीमसेन की सहदेव के प्रति यह उक्ति है ।

मथ्नामीति । अरे सहदेव ! यदि आपका राजा युधिष्ठिर पाँच ग्राम की शर्त पर **कौरवों के साथ सन्धि** (मित्रता) **कर भी ले, तो क्या मैं** संग्राम में **कौरवकुल** (दुर्योधनादि सौ भाइयों) का क्रोधपूर्वक **संहार नहीं करूँगा ?** अर्थात् क्या मैं उन्हें छोड़ दूँगा ? और दुःशासन के वक्षःस्थल (हृदयस्थल) को फोड़कर क्या मैं उसका **रुधिर** (रक्त) **पान नहीं करूँगा ?** तथा दुर्योधन की **ऊरुओं** (सक्थियुग्म) **को क्या मैं गदा से भंग नहीं करूँगा ?** अर्थात् **अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह सब मैं अवश्य ही करूँगा । युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें** ॥ १३१ ॥ (७)

अत्रेति । इस पद्य में **'नाश अवश्य ही करूँगा'**—यह व्यंग्यार्थ है । वह **'काकु' से शीघ्र प्रतीत** हो रहा है । इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति **'न मथ्नामि, न पिबामि, न संचूर्णयामि'**—इत्यादि निषेधरूप वाच्यार्थ के साथ-साथ ही हो रही है ।

विशेष विवरण—यहाँ पर कुरुकुल के क्षय की प्रतिज्ञा करने वाले भीमसेन के द्वारा 'न मथ्नामि' कहना तो उसकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है । इस कारण **'नञ्' में 'काकु'** की **प्रतीति** हो रही है । तथा च काकु से प्रतीयमान होने वाला **'न मथ्नामि इति न'** इस प्रकार जो **नञर्थान्तर** है, वह प्रकृत नञर्थ में अन्वित हो—रहा है । तब **अभावाभावरूप 'मथ्नाम्येव'** इस प्रकार **व्यंग्यार्थ** के अवधारण (निश्चय) का बोध हो जाता है । **'सुयोधनोरू'**—यह द्वितीया का द्विवचन है । **'भवतां नृपतिः'** कहकर यह बताया है कि **'मेरा अथवा प्रजा का वह राजा नहीं है,** क्योंकि उसने केवल अपनी बुद्धि से राज्य का त्याग किया है, मेरी या प्रजा की सलाह से नहीं । ऐसा वह तुम्हारा राजा ग्रामपञ्चकरूप पण पर भले ही सन्धि कर ले । **'इन्द्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयन्तं वारणावतम् । देहि मे चतुरोग्रामान् पञ्चमं किंचिदेव तु'** ॥ **'पञ्चमं कञ्चिदेव तु'** यह भी पाठान्तर है । युधिष्ठिर ने उक्त पाँच ग्रामों की शर्त रखी थी । यहाँ पर **'मथ्नामि' मथन आदि में वर्तमान काल** का प्रयोग **क्रोधातिशय** के कारण किया गया है । अथवा **"वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"**—इस पाणिनिसूत्र (३।३। १३१) के **अनुसार** वर्तमान सामीप्य-

अमुन्दरं यथा—

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं॥ १३२॥
(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यङ्गानि॥ १३२॥)

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम्।

(भविष्यत्) अर्थ में 'लट्' का प्रयोग किया गया है। 'दुर्योधन' पद का प्रयोग न कर 'सुयोधन' पद का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि 'सहज ही में यानी अनायास ही ऊरुभंग करदूंगा'। सपूर्ण कुरुकुल के क्षय की प्रतिज्ञा रहने से 'कौरवशतम्' में 'शत' शब्द का अर्थ 'अनन्त' है। यहाँ पर 'मथ्नाम्येव'—यह अवधारण, 'व्यंग्य' है।

शंका—'मथ्नाम्येव' इस व्यंग्य में यदि चमत्कार है तो इसे ध्वनिकाव्य न कह कर गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहा गया है?

समा०—यहाँ मथनादिनिषेध (न मथ्नामि) रूप वाच्यार्थ के समकाल ही व्यंग्यार्थ प्रतीयमान होकर व्यवस्थित (स्थित) है। दोनों अर्थों की समकालीन प्रतीति होने से व्यंग्यकृतचारुत्व में वाच्य की अनिवार्हकता का ज्ञान न हो पाने से ध्वनित्व नहीं है, अपितु गुणीभूतत्व ही है। किन्तु जहाँ पर 'काकु' से भी विलम्बेन प्रतीति होती है वहाँ तो 'ध्वनित्व' माना ही जाता है। जैसे 'गुरुः खेदं खिन्ने' (का० प्र० तृ० उ० १५) में ध्वनित्व माना गया है।

प्रस्तुत में काकु के बिना वाक्यार्थ बाधित रहने से (अपूर्ण रहने से) उसकी प्रतीति ही नहीं हो पायेगी। किन्तु काकाक्षिप्त व्यंग्य, सिद्धरूपवाक्यार्थ का बाध दूर कर देता है। और वाच्यसिद्ध्यङ्ग तो पदार्थ की सिद्धि करता है—यही दोनों में भेद है।

असुन्दर व्यंग्यरूप मध्यम काव्य का उदाहरण—

घर के समीप ही किसी वेतस निकुञ्ज में नायक को आने का संकेत स्वयं देने पर भी गुरुजनों के परवश रहने से और घर के कामकाज में लगी रहने से वहाँ न पहुँच सकने वाली किसी नायिका का वर्णन किया गया है। जैसे—

वाणीरेति। वेतस निकुञ्ज से उड़ते हुए पक्षियों के कलरव को सुनते ही घर के काम-काज में लगी हुई वधू के अंग-अंग आकुल हो रहे हैं॥१३२॥ (८)

अत्रेति। इस पद्य में यह बताया गया है कि 'वेतसनिकुंज में जिससे मिलने का समय निश्चत किया था, वह प्रेमी नायक (कृतसंकेत) दिये गये निश्चित

(सू० ६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥४६॥

यथायोगमिति । व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥ इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ॥

समय पर उस कुंज में पहुँच गया था'—इस व्यंग्यार्थ से 'वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि'--वधू (नायिका) के अंग-अंग आकुल (शिथिल) हो रहे हैं'—यह वाच्यार्थ ही अतिशयचमत्कारकारी प्रतीत हो रहा है। इसलिए यह पद्य गुणीभूतव्यंग्यवाले असुन्दरव्यंग्यनामक मध्यम काव्य का उदाहरण है।

विशेष विवरण--'सीदन्ति' इस वर्तमानकाल के निर्देश से 'अवसाद' के 'अविराम' को सूचित किया गया है। 'शृण्वन्त्याः' और 'सीदन्ति' में वर्तमानकालिक प्रत्ययों के प्रयोग से श्रवण और अवसादरूप कारण-कार्य के पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलंकार की प्रतीति हो रही है, और उससे 'उत्कण्ठातिशय' व्यंङ्ग्य हुआ है। क्योंकि पक्षियों के उड़ने की ध्वनि को सुनते ही (शब्दश्रवण समकाल ही) समस्त अंगों के अवसाद की जो अनुपरमता (सन्तन्यमानता) वह अपने अतिशयित सौन्दर्य से 'उत्कण्ठातिशय' में पर्यवसित हो जाती है। यहाँ शरीरावसाद रूप जो अनुभाव है, वही वाच्य है। और वही अतिशय और औत्सुक्य के सहित अनुराग की अधिकताकृत मदनपारतन्त्र्य का बोधक है। और जो व्यङ्ग्य है, वह तो वाच्य का मुखप्रेक्षक हो गया है। यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी, वाच्यार्थ को उसकी अपेक्षा नहीं है। उसकी अपेक्षा बिना किये ही वह विप्रलंभ का पोषक बन गया है। अतः वाच्य में ही चमत्कार की विश्रान्ति हो गई है। एवं च वाच्य की ही प्रधानता, हो जाने से उसी में तात्पर्य की विषयता है। इसलिये असुन्दरव्यंङ्ग्ययुक्त यह मध्यम काव्य है। 'अंगानि सीदन्ति'—यह वाच्य है और 'दत्तसंकेतो लतागहनं प्रविष्टः'—यह व्यङ्ग्य है, जो असुन्दर है।

(सू० ६७) एषामिति। गुणीभूत के अवान्तर भेद यथासंभव पूर्वोक्त ध्वनिभेदों के समान ही समझने चाहिये।

यथायोगमिति। कारिका में 'यथायोगम्' कहने का अभिप्राय यह है कि—"जब वस्तुमात्र से (वाच्यालंकार-रहित प्रतिपादित अर्थ से) अलंकारों को अभिव्यंजित किया जाता है, तब उनकी (अलंकारों की) ध्वन्यंगता (ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता) निश्चितरूप से रहती है। क्योंकि 'काव्य' शब्द का व्यवहार उस अलंकार के आश्रित होता है। तात्पर्य यह है कि 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यङ्ग्य

(सू० ६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।

सालङ्कारैरिति । तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः, तदुक्तं ध्वनिकृता—

'स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सहप्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा॥' इति ॥

रहने पर उसे 'गुणीभूतव्यंग्य' नहीं कहा जाता, अपितु उसे 'ध्वनिकाव्य' ही कहा जाता है ।''

ध्वनिकार श्री आनन्दवर्धन के उक्त कथनानुसार यही निश्चित होता है कि जहाँ 'वस्तुमात्र' से 'अलंकार' व्यंग्य होता है, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य नहीं होता ।

विशेष विवरण—गुणीभूतव्यंग्य के भेदोपभेदों को पूर्वोक्त ध्वनिभेदों के समान ही बना लेना चाहिये । पहले ध्वनि के मुख्य भेद ५१ किये थे । तदनुसार ही गुणीभूत-व्यंग्य के पूर्वोक्त ८ भेदों में से प्रत्येक भेद के ५१ भेद बनने चाहिये, किन्तु वे नहीं बन पाते हैं । इसीलिये ग्रन्थकार ने ध्वन्यालोक से **'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण'** कारिका को उद्धृत करके बता दिया है कि जहाँ 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य होता है, वहाँ 'व्यंग्य' को गुणीभूत नहीं माना जाता । अर्थात् उस काव्य को 'गुणीभूतव्यंग्य' नहीं कहते । तब 'स्वतः संभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध' 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य के ३ भेदों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत रूप से प्रत्येक के ३ भेद होकर कुल ३ × ३=९ भेद होते हैं । किन्तु ये ९ भेद 'गुणीभूतव्यंग्य' में संभव ही नहीं हो सकते । अतः गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक भेद के ४२ अवान्तर भेद (उपभेद) होते हैं, क्योंकि ध्वनि के समान होने वाले ५१ भेदों में से उक्त ९ भेदों को घटाने से (५१-९=४२) सिर्फ ४२ भेद ही गुणीभूत व्यंग्य के हो पाते हैं, ५१ भेद नहीं । गुणीभूतव्यंग्य के पूर्वोक्त शुद्ध आठ (८) भेदों से उक्त अवान्तर ४२ भेदों को गुणित कर देने पर ४२×८=३३६ शुद्ध भेद गुणीतभूत व्यंग्य के हो जाते हैं । ग्रन्थकार मम्मटभट्ट का तात्पर्य यही है कि गुणीभूतव्यंग्य के मुख्य भेद ४२ होते हैं, किन्तु ध्वनिकाव्य के मुख्य भेद ५१ होते हैं ।

(सू० ६८) अलंकाररूप उन्हीं गुणीभूतव्यंग्य के भेदों के साथ ध्वनि का अपने भेदों के साथ 'संसृष्टि' और 'संकर' के रूप में मिश्रण होता है ।

सालङ्कारैरिति । 'सालंकारैः' शब्द से 'एकशेष' द्वारा दो अर्थों की प्रतीति होती है– (१) अलंकाररूप से स्थित और (२) अलङ्कारों के साथ उपस्थित । इसी बात को ध्वनिकार ने कहा है—

जब 'ध्वनि' का अलंकार सहित (सालंकार) गुणीभूतव्यंग्य के भेदोप-

(सू० ६९) अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी ॥४७॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम् , का गणना तु सर्वेषाम् ।

भेदों के साथ संकर और संसृष्टि का मिश्रण होता है, तब वह अनेक भेदों से विशिष्ट होकर अधिक सुशोभित हो जाता है ।

(सू० ६९) इस प्रकार एक-दूसरे के मिश्रण से भेदों की संख्या बहुत अधिक हो जायगी ।

एवमिति । इस प्रकार अवान्तर भेदों (उपभेदों) का परिगणन करने से ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की गणना बहुत ही अधिक वृद्धिगत होती है। जैसे—एकमात्र शृङ्गार रस के भेदोपभेदों की गणना ही इतनी बढ़ जाती है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। यदि सभी ध्वनिभेदों और गुणीभूतव्यंग्यभेदों की गणना करते बैठें तो कभी पार ही नहीं लग सकेगा ।

विशेष विवरण—ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार तो ध्वनि, और गुणीभूतव्यंग्य तथा वाच्य-अलंकारों की संसृष्टि एवं संकर के कारण इतने प्रचुर भेद हो जाते हैं, जिनका गिनना-गिनवाना कभी संभव ही नहीं हो सकता। इसी बात को ध्वनिकार ने केवल संकेत से कह दिया है। ध्वनिकार ने अपनी कारिका में 'सालंकारैः' पद का प्रयोग करके बहुत कुछ बातें बता दी हैं। व्याख्याकारों ने व्याख्या करते हुए उक्त पद को 'वाच्यालंकार' तथा 'गुणीभूतव्यंग्य' दोनों का बोधक बताया है। क्योंकि काव्य के मुख्य (प्रधान) अर्थ का उत्कर्षाधायक 'गुणीभूतव्यंग्य' होता ही है। उसके कारण काव्य की शोभा उत्पन्न होने से उसको भी 'अलंकार' शब्द से कह सकते हैं। 'उपमा' आदि वाच्य अलंकार तो अलंकार शब्द से व्यवहृत होते ही हैं। अतः 'सालंकारैः' पद से 'उपमादि वाच्यालंकार तथा गुणीभूतव्यंग्य' दोनों का बोध होता है। ये दोनों अर्थ परस्पर भिन्न हैं।

शंका—ये दो भिन्न अर्थ 'सालंकारैः' इस एक ही पद से कैसे निकलते हैं? दो भिन्न-भिन्न अर्थों को बताने के लिए 'सालंकारैः' पद का प्रयोग दो बार करना चाहिये था।

समा०—शंका करने वाले का अभिप्राय यह है कि 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस नियम के अनुसार दोनों अर्थों को व्यक्त करने के लिए 'सालंकारैः' पद को दो बार कहना चाहिये। किन्तु व्याकरण का एक नियम है कि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'। इस नियम के अनुसार भिन्नार्थक एकरूपाकार दो पदों का 'एकशेष' किया गया है। जैसे 'माता च पिता च पितरौ', 'श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ' यहाँ पर एकशेष किया जाता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। अतः एक 'सालंकार'

पद का लोप होकर एक ही 'सालंकार' पद शेष रह गया है। उसी से दोनों अर्थ निकलते हैं। एक जगह अर्थात् 'गुणीभूतव्यंग्य' के लिए जब 'सालंकारैः' शब्द का प्रयोग किया जायगा तब 'अलंकार' पद (शब्द) भावप्रधान मानकर उसका अर्थ 'अलंकारत्व' (अलंकृति, शोभा) रूप धर्म होगा। उसका विग्रह 'अलंकृतिः-अलंकारः, अलंकारेण शोभया सहिताः सालंकाराः' किया जायगा। गुणीभूत-व्यंग्य काव्य में 'व्यंग्य अर्थ' स्वयं गुणीभूत होने पर भी 'प्रधान अर्थ' का शोभाजनक हो जाता है। अतः गुणीभूतव्यंग्य के भेदों को अलंकृतियुक्त (सालंकार) कह सकते हैं। इस पक्ष में कारिका के 'सालंकारैः तैः' का अर्थ 'तैरेव अलंकारैः' होगा। अर्थात् 'शोभाजनकैः समासोक्ति-रसवदादिरूप गुणीभूतव्यंग्यै'रेव अलंकारैः किया जायगा। क्योंकि 'आगत्य संप्रति'—(का० प्र० ५।१२५) उदाहरण में गुणी-भूतव्यंग्यरूप जो नायिका-नायक वृत्तान्त है, वह वाच्यरूप रवि-कमलिनी वृत्तान्त का उत्कर्ष कर रहा है, अतः समासोक्ति अलंकार है।

दूसरे पक्ष में 'सालंकारैः' का अर्थ 'अलंकारसहित' होगा। अर्थात् 'अलंकार-सहितैः तैः' यानी 'उपमादिवाच्यालंकारसहितैश्च, गुणीभूतव्यंग्यभेदैः' होगा। इन्हीं दोनों पक्षों को वृत्तिकार ने 'तैरेव अलंकारैः, अलंकारयुक्तैश्च तैः'—से बताया है। इनके साथ 'ध्वनेः'—ध्वनि के भेदों को 'संसृष्टि' (तिल-तण्डुल के समान मिश्रण अर्थात् योग) तथा 'संकर' (नीर-क्षीर की तरह मिश्रण अर्थात् योग) हो सकता है। इस कथन में तीन बातें उपस्थित होती है—(१) ध्वनि के भेद, (२) गुणीभूतव्यंग्य के भेद, जो स्वयं अलंकाररूप हैं, (३) वाच्यालंकार—इन तीनों का संसृष्टि तथा अनेक प्रकार के संकर के हो जाने से कितने ही भेद हो सकते हैं। 'अन्योन्ययोगादेवं स्यात्'—(सू० ६९) में 'एवमन्योन्ययोगात्' कहने का तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यंग्य' के शुद्ध (सजातीय) और विजातीय संमिश्रण से भेदोपभेदों की गणना इतनी अधिक हो जायगी जिसे समझना-समझाना शक्ति के बाहर हो जायगा। अर्थात् उन भेद-प्रभेदों का अन्त ही नहीं हो पायगा। ध्वनिकार का मुख्य ध्येय तो ध्वनि के स्वरूप को बताना ही है, उनके भेदोपभेदों की असंख्य गणना का प्रदर्शन करना नहीं है। असंख्य गणना का प्रदर्शन करने पर तो अध्येता उलझन में पड़ जायगा। अतः अपने मुख्य ध्येय को ही उन्होने 'बहुधा ध्वनिः प्रकाशते' कहकर ध्वनि के अनन्त भेदों की ओर संकेत मात्र कर दिया है। उसी का अनुसरण काव्यप्रकाशकार ने भी 'भेदसंख्यातिभूयसी' कहकर किया है। उन भेदों की गणन-प्रक्रिया को बताते बैठना उन्हे अभीष्ट नहीं है।

तथापि काव्यप्रकाश के व्याख्याकार सुधासागरकार ने 'भेदसंख्यातिभूयसी' की व्याख्या स्पष्टरूप से कर ही दी, जो इस प्रकार है—

"शुद्धैः सहैकपञ्चाशद्भेदैर्भेदा यथा ध्वनेः ।
संकीर्णा हि समाख्याताः शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥
शुद्धैः शरयुगव्यक्तैः (४५) सहात्रापि तथा बुधैः ।
गुणीभूतव्यंग्यभेदा बाणाब्धीन्दुगजाः (८१४५) स्मृताः ॥
मध्यमोत्तमयोरेवं भेदयोर्गुणने पुनः ।
भूताश्वाङ्केषुशरभूबाणस्तम्बेरमा (८५१५५९७५) मताः ॥
चतुर्भिर्गुणने प्राग्वद् विज्ञेया गुणकोत्तमैः ।
खाकाशाङ्काग्निपक्षर्तुव्योमवारिधिवह्नयः (३४०६२३९००) ॥
दिक्प्रदर्शनमेतच्चालङ्कारोद्भूतसंकरैः ।
परार्धाधिकतां याति गणनेति न दर्शिता ॥"

संसृष्टि और संकर के कारण भेद संख्या—

पूर्वोक्त इक्यावन (५१) ध्वनि-भेद के त्रिविध **संकर** और एक प्रकार की **संसृष्टि** के द्वारा भेदों का विस्तार करते हुए काव्यप्रकाशकार ने गुणन प्रणाली से ५१×५१=२६०१×४=१०४०४ भेद, संकर तथा संसृष्टि से होने वाले बताये। उनके साथ पुनः **इक्यावन (५१) शुद्ध भेदों को मिलाकर** १०४०४+५१= **१०४५५ भेद, संकर और संसृष्टि के कारण ध्वनिकाव्य के बताये थे।** इसी निर्दिष्ट रीति से गुणीभूतव्यंग्य काव्य के प्रत्येक भेद के ४२×४२×४=७०५६ भेद, संकर तथा संसृष्टि के द्वारा होंगे। इनके साथ शुद्ध भेदों को मिला देने पर ७०५६+ ४२=७०९८ भेद, गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक अवान्तर भेद के होंगे। इसी प्रकार **आठों अवान्तर भेदों को मिलाकर गुणीभूतव्यंग्य के ७०९८×८=५६७८४ भेद बनाये जा सकते हैं।**

काव्यप्रकाशकार ने गुणीभूतव्यंग्य में प्रत्येक अवान्तर भेद के **शुद्ध भेद ४२** (अर्थात् ५१—९=४२) बताये हैं।

सुधासागरकार ने ४५ शुद्ध भेद स्वीकार किये हैं। उस स्थिति में ४५× ४५=२०२५×४=८१०० प्रकार के संसृष्टि, और संकर भेदों के साथ ४५ भेदों को मिला देने पर ८१००+४५=८१४५ भेद होते हैं। पुनः उनको ध्वनि के १०४५५ भेदों के साथ गुणा करके १०४५५×८१४५=८५१५५९७५ संख्या होती है। इस संख्या को पुनः ४ से (तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि से) गुणा करने पर यानी **८५१५५९७५×४=३४०६२३९०० संख्या, ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की हो जाती है।**

सुधासागरकार ने गुणीभूतव्यंग्य के **मूल भेद ४५** मानकर गणना की है।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्,

---

और काव्यप्रकाशकार ने गुणीभूतव्यंग्य के मूल भेद ४२ मानकर गणना की है। क्योंकि वस्तु से अलंकार व्यंङ्ग्य होने पर तो 'ध्वनिकाव्य' ही कहलाता है। उसे गुणीभूतव्यंङ्ग्य नहीं कहते। अतः ध्वनिकाव्य के ५१ भेदों में से वस्तु से अलकार व्यंङ्गवाले ९ भेदों को निकाल दिया जाय तो गुणीभूतव्यंङ्ग्य काव्य के ४२ भेद ही होते हैं। (वस्तु से अलंकारव्यंग्य के ९ भेद इस प्रकार होते हैं— (१) स्वतः संभवी, (२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध और (३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध। फिर इन तीनों में से प्रत्येक के (पदगत,) (२) वाक्यगत और (३) प्रबन्धगत—ये तीन-तीन भेद होकर वस्तु से अलंकारव्यंग्य के ९ भेद होतें हैं) काव्यप्रकाशकार के अनुसार गुणीभूतव्यंग्य की संख्या इस प्रकार होगी—गुणीभूव्यंग्य के मूल भेद ४२ के हिसाब से ४२ × ४२ = १७६४ × ४ = ७०५६, और संकर-संसृष्टि से होने वाले भेदों के साथ शुद्ध ४२ भेदों के जोड देने पर ७०९८ भेद, गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक अवान्तर भेद के होंगे। ध्वनि भेदों के साथ इनका गुणन करने पर १०४५५ × ७०९८ = ७४२०९५९० प्रकार की ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंङ्ग्य के भेदों की संख्या केवल संसृष्टि की होगी। संकर-संसृष्टि दोनों भेद बनाने के लिये उक्त संख्या को ४ से गुणा करने पर यह संख्या ७४२०९५९० × ४=२९६८३८३६० हो जायगी। यह संख्या गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक भेद को ध्वनि भेदों के साथ संकर तथा संसृष्टि से होगी। फिर आठों भेदों की संकर—संसृष्टि की गणना करने पर यह संख्या अठगुनी हो जायगी, अर्थात् २९६८३८३६० × ८=२३७४७०६८८० संख्या बनेगी। इन संख्याओं का निश्चय दो प्रकार से किया जाता है—(१) गुणनप्रक्रिया से और दूसरा संकलनप्रक्रिया से। गुणन का प्रकार लीलावतीकार ने बताया है—"'गुण्यान्त्यमङ्कं गुणकेन हन्यादुत्सारितेनैवमुपान्त्यमादीन्। गुण्यस्तथोऽधोगुणखण्डतुल्यस्तैः खण्डकैः संगुणितो युतो वा॥" इस प्रकार गणित करना अत्यन्तश्रम साध्य है। यह सब गणित करना प्रकृत में अनुपयुक्त होने से ग्रन्थकार ने उसे न बताकर 'भेद संख्यातिभूयसी' कह कर उसकी ओर संकेत मात्र कर दिया है।

इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेदों को बताकर अब वादियों की विप्रतिपत्तियों का परिहार करते हुए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता को बताने के लिये आरंभ कर रहे हैं।

सङ्कलनेनेति। 'संकलन' का अर्थ संग्रह (संक्षेप) है!

संक्षेप में यही कह सकते हैं कि 'व्यंङ्ग्य' तीन प्रकार का होता है। अतः ध्वनि

तथा हि—किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा, तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते।

के भी तीन प्रकार हैं। ग्रन्थकार ने **'व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्'** कहा है। व्यंग्य के **'वस्तु, अलंकार, रस'** ये तीन रूप हुआ करते हैं।

तथाहीति। जैसे—व्यंग्य के उक्त तीन रूपों में से कोई अर्थात् **'वस्तु' तथा 'अलंकार' रूप दो प्रकार का ध्वनि, वाच्यता को सहन कर सकता है,** यानी वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि के रूपमें जो अर्थ, व्यंग्यरूप से प्रतीत होता है' वह (अर्थ) कभी वाच्यरूप से भी प्रतीत हो सकता है। और कोई (रसध्वनि) अन्य प्रकार का होता है। अर्थात् कभी वाच्य न हो सकनेवाला यानी वाच्यता को न सहने वाला होता है। उनमें से वाच्यता को सहन करने वाला 'व्यंङ्ग्यार्थ भी **'विचित्र' तथा 'अविचित्र' दो प्रकार का होता है। 'अविचित्र'--वस्तुमात्र और 'विचित्र' अलंकार रूप होता है।** प्रधान होने से (व्यंग्य होने से) वह 'व्यंङ्ग्यार्थ' यद्यपि **अलंकार्य** है, अलंकार नहीं है। तथापि **'ब्राह्मण-श्रमण-'** न्याय से वैसा (अलंकार नाम से) कहा जाता है।

विशेष विवरण—वृत्ति में **'अस्य ध्वनेः'** कहा गया है। **'अस्य'** का अर्थ **गुणीभूतव्यंग्यस्य** समझना चाहिये, और 'ध्वनेः' के आगे 'च' जोड़ लेना चाहिये। यानी **'अस्य गुणीभूतव्यंग्यस्य और ध्वनेश्च'** समझना चाहिये। **ग्रन्थकार के द्वारा यहाँ 'च' का प्रयोग न करने पर भी 'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्' की तरह समुच्चयार्थक 'चकार' की कल्पना की गई है**—यह समझना चाहिये। अथवा **'ध्वनेः'** का अर्थ **'ध्वननव्यापार** (व्यंजनाव्यापार) **से उपहित (युक्त) ध्वनि का'** कर लेने पर **गुणीभूतव्यंग्य का भी संग्रह** हो सकता है।

यद्यपि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की गणना करना संभव नहीं है, तथापि संकलन की दृष्टि (समष्टि की दृष्टि) से देखने पर ध्वनि (व्यंग्य-रूप अर्थ), **वस्तु, अलंकार और रस-भाव आदि के रूप में तीन ही प्रकार** का हो सकता है। उस व्यंग्य अर्थ को कभी वाच्य की तरह भी बताया जा सकता है। अर्थात् कुछ व्यंग्यार्थ ऐसे होते हैं, जो वाच्यता को सहन कर लेते हैं। और कुछ व्यंग्यार्थ ऐसे हैं, जो स्वप्न में भी वाच्य की तरह नहीं बताये जा सकते। यानी कभी भी वाच्यता को वे सहन नहीं कर पाते। इन दोनों में से वाच्य बन सकनेवाला (वाच्यता को सहन करने वाला) **व्यंग्यार्थ, 'अविचित्र'** और **'विचित्र' भेद से दो प्रकार का होता है। 'अविचित्र' तो वस्तुमात्र** (अनलंकृत अर्थ) **है, और 'विचित्र'—अलंकार रूप अर्थ है।** तात्पर्य यह है कि ध्वनि के जितने भी भेद हैं,

रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन श्रृंगारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे

उनकी प्रतीति एकमात्र व्यञ्जनाव्यापार से ही होती है, और कोई अन्य मार्ग नहीं है। अतएव ध्वनि के 'वाच्यतासह' और 'अवाच्यतासह'—ये दो भेद किये हैं। उनमें 'वाच्यतासह' के भी 'विचित्र' और 'अविचित्र' दो भेद किये। विचित्र को 'अलंकारध्वनि' और अविचित्र को 'वस्तुध्वनि' नाम से बताया है। तीसरा 'रसादिध्वनि', जो वाच्यतासह नहीं है, अर्थात् वह कभी भी वाच्य, नहीं बनता और न बनाया जा सकता है। वह सर्वदा व्यंग्य ही रहता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने 'संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः,..................विचित्रं त्वलंकाररूपम् ,—तक के ग्रन्थ से बताया है। यहाँ 'ध्वनेस्त्रयो भेदाः' कहकर तीन में ही भेद का विश्राम, जो प्रदर्शित किया है, उसका प्रयोजन 'व्यञ्जना' की दृढता का प्रतिपादन करना ही है। भेदों को और अधिक संक्षेप में कहा जाय तो 'अविवक्षितवाच्य' और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' दो ही भेद बताये जा सकते हैं। और भी अधिक संक्षेप में बताना हो तो सर्वोत्थानबीजरूप एक ही स्फोटात्मक व्यंग्य कहा जा सकता है। उसी को 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्य सच्चिदानन्दरूप निर्गुण-सगुण-विलक्षण 'वस्तु' कहा जा सकता है। इसी रहस्य को वाग्देवतावतार श्री मम्मट भट्ट ने संकलन और व्यवकलन (समष्टि और व्यष्टि) के द्वारा ब्रह्माण्डावयवगणना में विराट् रूप से एकता की जो प्रतीति होती है, वह व्यंजना के द्वारा ही होती है, इसे सूचित किया है।

शंका—अलंकार के व्यंग्य होने पर उसमें मुख्य रूप से 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया जाता है, तब उस स्थिति में उसे 'अलंकार' क्यों कहते हैं? क्योंकि जो दूसरे को अलंकृत करता है, उसे अलंकार कहा जाता है। जब यह व्यंग्य रहता है, तब वह स्वयं ही अलंकार्य रहता है, अलंकारक नहीं।

समा०—अलंकार की प्रधानता रहने पर भी उसे ब्राह्मण-श्रमणन्याय से 'अलंकार' कहा करते हैं। ब्राह्मण-श्रमण न्याय का स्वरूप इस प्रकार है—कोई ब्राह्मण, बौद्धदीक्षा लेकर बौद्धश्रमण (बौद्ध संन्यासी) हो जाने पर भी, अन्य श्रमणों से उसे अलग बताने के लिए उसके पूर्वस्वरूप के द्वारा अर्थात् ब्राह्मणश्रमण कहकर उसे सूचित किया जाता है; उसी तरह 'अलंकार' के व्यंग्य रहने पर उसके अलंकार्य हो जाने पर भी वस्तुरूप व्यंग्यार्थ से उसको पृथक् बताने के लिए 'अलंकार' कहा गया है।

रसप्रतीति के होने में व्यंजना की अनिवार्यता—

रसादिलक्षणस्त्विति। 'लक्ष्यते ज्ञायते अनेन इति लक्षणम्'—इस व्युत्पत्ति

तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः ।

से **'लक्षण'** शब्द का अर्थ **'नाम'** है। एवं च **'रसादिलक्षणः'** का अर्थ होगा **'रसादिनामकः'**। यहाँ पर **'आदि'** शब्द से **'भाव आदि'** सभी **अलक्ष्यक्रम** का **संग्रह** किया गया है।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के **वाच्यतासह 'अविचित्र'** और **'विचित्र'** अर्थात् वस्तुरूप और अलंकाररूप अर्थों के अतिरिक्त एक ऐसा भी अर्थ है, जिसे 'रसादिरूप अर्थ' कहते हैं। जो स्वप्न में भी 'वाच्य' नहीं होता है। क्योंकि उसकी वाच्यता यदि होगी तो 'रसादि' शब्द से या **'शृंगारादि'** शब्द से ही अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा हो पायगी। किन्तु **'रसादि या शृंगारादि'** शब्द, अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'रस' को नहीं बताते। क्योंकि उन रसादि या शृंगारादि शब्दों का प्रयोग किये जाने पर भी **'विभाव'** आदि का प्रयोग न करने पर **'रस आदि'** का अनुभव नहीं होता है, **और 'रसादि या शृंगारादि' शब्दों का प्रयोग न किये जाने पर भी 'विभाव आदि' का प्रयोग करने पर 'उस रस आदि' का अनुभव होता है।** एवं च 'विभावादि के प्रयुक्त होने पर ही 'उस **रसादि' की प्रतीति** होती है'—यह बात **अन्वय-व्यतिरेक** से निश्चित होती है। अतः वह रसादिध्वनिरूप अर्थ, **'व्यंग्य'** ही होता है। अर्थात् कभी भी वाच्य नहीं होता। और उसी तरह लक्षणा के प्रयोजक हेतु मुख्यार्थबाध आदि के न होने से वह रसादिरूप अर्थ लक्षणागम्य (लक्षणीय) भी नहीं है। निष्कर्ष यह है कि **'रसादिरूप अर्थ' की प्रतीति** व्यंग्य **ही है, यानी व्यंजनाव्यापार से ही हो सकती है।**

विशेष विवरण—अभिधामूलक ध्वनि में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसादिरूप अर्थ की अनुभवात्मक प्रतीति के निमित्त **'व्यञ्जनावृत्ति'** का स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। उस रसादिरूप अर्थ की प्रतीति, क्या केवल रस-भाव आदि शब्दों के कहने मात्र से अथवा शृंगार-निर्वेदादि पदों के कहने मात्र से हो जायगी ? **'अभिधीयेत'** में प्रयुक्त 'लिङ्' लकार का अर्थ **'चर्वणारूप इष्टसाधनत्व' है।** वह चर्वणारूप इष्टसाधनत्व (रसादि) की प्रतीति तो **'विभाव-अनुभावादि'** के प्रयुक्त होने पर ही होती है, और उनके प्रयुक्त न होने पर नहीं होती है—इस **अन्वय-व्यतिरेक** के द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि 'विभावादि के अभिधान से ही उसकी (रसादि की) प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। **'नयननलिनीलीलाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः'**—और **'शृंगारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम्'**—इत्यादि उदाहरणों में विभावादि से प्रतीत का ही अनुवाद, अवशिष्ट के सम्पादन के लिए किया गया है। अतः कोई दोष

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्यं विना लक्षणैव

नहीं है। जहाँ कहीं मुख्यतः उसी के अभिप्राय से रसादि पदों का प्रयोग किया जाता है वहीं पर 'स्वपदाभिधान' दोष होता है।

शंका—अलंकारादिकों को भी 'अलंकार' शब्द से कहने पर या 'उपमा आदि' शब्द से उसका उपादान करने पर चमत्कार प्रकट नहीं होता है, तब 'रसादि' में ही क्या विशेषता है?

समा०—पदसमन्वय के आधार पर उन उपमादि अलंकारों की कचित् प्रतीति होने पर भी उनमें चमत्कार दिखाई देता है, यह बात रसादिकों में नहीं है। वहाँ तो विभावादि के द्वारा ही चमत्कार की प्रतीति होती है।

शंका—'विभावादि के वाचक शब्दों से रसप्रतीति के होने का नियम है। किन्तु उनका 'रस' में संकेत तो है नहीं, अतः शक्ति न होने से वहाँ लक्षणा व्यापार के द्वारा वे विभावादि, 'रस' को लक्षित करते हैं—यह क्यों नहीं कहा जाता?

समा०—मुख्यार्थबाधेति। मुख्यार्थबाधादि तीन हेतुओं के न रहने से वहाँ लक्षणा नहीं होती। इसलिये वे विभावादि, 'रस' को लक्षित नहीं कर सकते। यदि यह कहें कि तात्पर्य के अनुपपन्न होने से 'यष्टीः प्रवेशय' की तरह लक्षणा हो जायगी, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि 'आदि' पद से 'योग (संबन्ध), रूढि, और प्रयोजन का होना भी लक्षणा के लिए अपेक्षित होता है। इस पर यदि कहें कि विभावादि के साथ 'रस' का 'ज्ञाप्य ज्ञापकभाव' रूप योग (संबन्ध) तो है ही। तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि वृत्ति के बिना ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध को भी नहीं कहा जा सकता। तथा च तात्पर्य का विषय होने वाले रस की भी प्रतीति होने से और वह रस, स्वप्रकाश तथा आनन्दमय-संविद्विश्रान्तिरूप होता है। अतः ऐसे रस को लक्ष्य कहने पर उसका अन्य कोई प्रयोजन बताना संभव नहीं होगा। तथा विभावादिवाचक पदों की 'कुशल' आदि पदों की तरह प्रसिद्धि न होनेसे उन्हें रूढ कहना भी संभव नहीं है। इसलिये लक्षणा के द्वारा 'रस' को नहीं बताया जा सकता। रस में ही पार्यन्तिक विश्रान्ति के होने से प्रयोजनान्तर की भी कल्पना नहीं की जा सकती। और प्रयोजन आदि के प्रदर्शन किये बिना लक्षणा नहीं हुआ करती। क्योंकि लक्षणा तो हेतुत्रय के सापेक्ष होती है। अतः एक मात्र व्यंजनावृत्ति ही ऐसी है, जो 'रस' का बोध करा पाती है। तर्ककर्कश नैयायिकों ने केवल मात्सर्यवश व्यंजना का स्वीकार न कर लक्षणा कहना आरंभ कर दिया है।

अर्थान्तरसङ्क्रमितेति। अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के अर्थान्तर-

न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्, शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्।

संक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इन दोनों में वस्तुमात्ररूप व्यंग्य के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती,—इस बात को पहिले (सू० २४, २५ में) बता चुके हैं।

विशेष विवरण—जैसे अभिधामूलध्वनि (असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य) में रसादिरूप अर्थ की प्रतीति व्यंजनावृत्ति के बिना नहीं होती, उसी तरह ध्वनि के अन्य भेदों में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना के बिना नहीं होती है। इसी को बताने के लिए लक्षणामूलध्वनि के दोनों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) भेदों में भी व्यंजना की आवश्यकता होती है। लक्षणामूलध्वनि (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य) के उदाहरण 'त्वामस्मि वच्मि' और (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का) 'उपकृतं बहु तत्र' उदाहरण पहले बता दिये गये हैं। इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में 'वच्मि' आदि पद 'उपदेश' रूप अर्थान्तर में संक्रान्त हो जाते हैं, और द्वितीय उदाहरण में 'उपकृत' आदि पद अपने स्वार्थ का अत्यन्त परित्याग कर 'अपकृत' आदि अर्थों को सूचित करते हैं। इनमें लक्षणा का आधार व्यंग्य-प्रयोजन की प्रतीति ही है, क्योंकि व्यंग्यप्रयोजन के अभाव में लक्षणा ही नहीं हो पायेगी। उस व्यंग्य-प्रयोजन का ज्ञान, अभिधा या लक्षणा से नहीं हो सकेगा। इस बात को 'नाभिधासमयाभावात्' और 'हेत्वभावान्न लक्षणा' से कह चुके हैं इसलिए लक्षणामूलध्वनि के दोनों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) भेदों में प्रयोजन की प्रतीति तभी हो सकेगी जब व्यंजनावृत्ति को स्वीकार किया जायगा।

शब्दशक्तिमूले त्विति। जैसे लक्षणामूलध्वनि में 'वस्तु' 'व्यंग्य होती है, वैसे ही अभिधामूलध्वनि में भी 'वस्तु' और 'अलंकार' व्यंग्य होते हैं। अभिधामूलध्वनि के 'शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ—ये तीन भेद होते हैं। उनमें से शब्दशक्त्युत्थध्वनि में 'संयोगो विप्रयोगश्च' के अनुसार संयोगादि के आधार पर किसी एक अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण जब हो जाता है, तब उसी अर्थ को अभिधा बताती है, तदतिरिक्त दूसरे अर्थ को नहीं। दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यंजनाव्यापार से ही होती है, और उसी के साथ वाच्यार्थ (प्राकरणिक) का जो उपमानोपमेयभाव आदि प्रतीत होता है, उसका (उपमा आदि अलंकार का) व्यंग्यत्व निर्विवाद है।

अभिधामूल शब्दशक्त्युत्थध्वनि में व्यंजना की आवश्यकता—

विशेष विवरण—पहले बता चुके हैं कि अभिधामूलध्वनि के दो भेद (असंलक्ष्य-

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

क्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) होते हैं। उनमें से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य 'रसादिध्वनि' है, जो व्यंजनावृत्ति से ही गम्य होता है। दूसरा जो संलक्ष्यकमव्यंग्य है, उसके तीन भेद (शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ) होते हैं। उनमें से शब्दशक्त्युत्थ-ध्वनि में अनेकार्थक शब्द का प्रकरण आदि के अनुरोध से एक अर्थ नियंत्रित हो जाने पर जो अनियन्त्रित दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, उसे शाब्दीव्यंजना अथवा शब्दशक्त्युत्थध्वनि कहा जाता है। इस ध्वनि के दो भेद (वस्तु और अलंकार) होते हैं। इनकी प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से ही हो पाती है। उसी तरह यहाँ प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में जो उपमानोपमेयभावादि अलंकार की प्रतीति होती है, वह भी व्यंजना व्यापार से ही होती है।

अर्थशक्तिमूलेऽपीति। अर्थशक्तिमूलध्वनि में जहाँ विशेष अर्थ में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) करना उचित नहीं होता, तब सामान्य (जाति) रूप पदार्थों का परस्पर संसर्गरूप विशेष, पदों के द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के बल पर वाक्यार्थ को उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार 'अभिहितान्वयवाद' में 'व्यंग्य अर्थ' को अभिधाशक्ति के द्वारा बताने की (अभिधेय मानने की) बात ही कहाँ उपस्थित होती है ?

विशेष विवरण—अभिधामूलक ध्वनि का दूसरा भेद 'अर्थशक्तिमूलध्वनि' है। इसमें भी 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह (संकेत ग्रह) को स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष के उपस्थित होने से 'व्यक्ति' रूप विशेष अर्थ में शक्तिग्रह को उचित नहीं माना गया है, और 'सामान्य' (जाति) में ही शक्तिग्रह माना गया है। तब सामान्य (जाति) रूप पदार्थों का जो परस्पर संसर्गरूप विशेष है, वह यद्यपि वाक्यघटक किसी पद के द्वारा नहीं बताया गया है, तथापि आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के सामर्थ्य से वाक्यार्थ (परस्पर संसर्ग) के रूप में 'तात्पर्याशक्ति' से उपस्थित कराया जाता है—यही 'अभिहितान्वयवाद' है। अतः इसमें भी (इस सिद्धान्त में भी) जब 'वाक्यार्थ' ही अभिधेय नहीं हो पा रहा है; तब उसके पश्चात् (वाक्यार्थप्रतीति के बाद) उपस्थित होने वाले 'व्यंग्यार्थ' को अभिधेय कैसे कहा जा सकता है ? वृत्तिकार का अभिप्राय यह है कि अभिहितान्वयवादी श्रीकुमारिलभट्ट को भी, 'व्यंग्यार्थ-प्रतीति' के लिए 'व्यंजनाव्यापार' ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि

'अभिधा' के द्वारा तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी ही नहीं । अतः व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए व्यंजना के सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं है ।

वृत्तिकार की 'सामान्यरूपाणां············वाक्यार्थः' इस पंक्ति में थोड़ा-सा क्रमविपर्यास करना चाहिये, जिससे पंक्ति का अर्थ समझने में सरलता होगी । इस प्रकार क्रमविपर्यास करना शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध भी नहीं है । जैसे—वेद में 'अग्निहोत्रं जुहोति' के बाद 'यवागूं पचति' वाक्य पढ़ा गया है, किन्तु क्रमबोधक 'अर्थ'—प्रमाण के आधार पर (अर्थक्रम के अनुसार) अनुष्ठानक्रम में परिवर्तन कर दिया जाता है । अर्थात् पहिले 'यवागूपाक' किया जाता है, बाद में 'अग्निहोत्रहोम' किया जाता है । यानी मीमांसा के निर्णयानुसार 'पाठक्रम' को स्वीकार न कर 'आर्थक्रम' को वरीयता दी गई है । उसी तरह यहाँ भी **'सामान्यरूपाणां पदार्थानां विशेषरूपः परस्परसंसर्गः यत्र अपदार्थोऽपि आकांक्षासन्निधियोग्यतावशात् वाक्यार्थः'**—इत्यादि पदों का अन्वय उक्त क्रम से करना चाहिये । अर्थात् 'अर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रमे अनादरः' किया जाता है ।

अभिधामूलक अर्थशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की आवश्यकता—

पहिले बता चुके हैं कि लक्षणामूलकध्वनि के दोनों भेदों में, तथा अभिधामूलक-ध्वनि के—'असंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि में और संलक्ष्यक्रम के शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनिरूपभेदों में **'व्यञ्जनावृत्ति'** की ही आवश्यकता होती है । उसी तरह अब उसी अभिधामूल के **'अर्थशक्त्युत्थध्वनि'** के अठारह (१८) भेदों में भी व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता को ग्रन्थकार ने बताया है ।

अर्थशक्त्युत्थध्वनि में पहिले 'वाच्यार्थ' की उपस्थिति होती है, उसके बाद 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति होती है । अत एव उसे 'अर्थशक्त्युत्थ' कहते हैं ।

वाक्य से अर्थप्रतीति के संबन्ध में गंभीर विवेचन व्याकरण, न्याय और मीमांसाशास्त्र में किया गया है । 'व्याकरण' को पदशास्त्र', 'न्याय' को प्रमाण-शास्त्र और 'मीमांसा' को वाक्यशास्त्र कहते हैं । अतः वाक्यार्थनिर्णय में मीमांसाशास्त्र तथा उसके जानने वाले मीमांसकों की ही प्रधानता मानी जाती है । अर्थशक्त्युत्थध्वनि के विवेचन में पहिले 'वाक्यार्थज्ञान' की ही आवश्यकता होती है । वह वाक्यार्थनिर्णय मीमांसकों के अधीन है । इसीलिये ग्रन्थकार ने स्वसम्मत व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता के निरूपणार्थ मीमांसकों के दो सम्प्रदायों की चर्चा उपस्थित की है ।

श्रीकुमारिलभट्टपाद ने 'अभिहितान्वयवाद' की स्थापना की है, और श्री प्रभाकर भट्ट (गुरु) ने 'अन्विताभिधानवाद' की स्थापना की है । प्रभाकर भट्ट को कुछ लोग प्रभाकर मिश्र भी कहते हैं । वाक्यार्थ के विवेचनार्थ उपर्युक्त

येऽप्याहुः—

शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ १ ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्यावबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥

महामीमांसकों ने दो वादों को उपस्थित किया है और बड़े समारोह के साथ उनका उपपादन भी किया है ।

ग्रन्थकार ने उक्त दो वादों को इस प्रसंग में उपस्थित करके यह बताना चाहा है कि दोनों महामीमांसकों के मतों में जब कि 'वाक्यार्थ' ही 'अभिधाशक्ति' से उपस्थित (अभिधेय) नहीं होता है, तब उस अनभिहित वाक्यार्थ से प्रतीयमान 'व्यंग्यार्थ' को 'अभिधेय' बताना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् बिलकुल अनुचित है, क्योंकि कुमारिल के अभिहितान्वयवाद में—वाक्यघटक पद अपनी अभिधाशक्ति से तो अपने-अपने शुद्ध अर्थ को बताते हैं । अर्थात् अभिधाशक्ति से केवल पदार्थों की उपस्थिति होती है । उसके बाद अभिहित पदार्थों के परस्परसंसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति 'तात्पर्य' नामक शक्ति से होती है, 'अभिधा' से नहीं । जब वाक्यार्थ की प्रतीति ही अभिधाशक्ति से नहीं हो पाती, तो वाक्यार्थप्रतीति के बाद होने वाली व्यंग्यार्थ-प्रतीति को अभिधाशक्ति से गम्य (अभिधेय) कैसे कहा जायगा ? अतः 'अभिहितान्वयवाद' में भी व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये 'व्यंजना वृत्ति' को ही मानना होगा । यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है । एवं च 'व्यंग्यार्थ' को अभिधेय कहना कभी भी सम्भव नहीं है ।

अभिहितान्वयवाद में व्यंग्यार्थ के अभिधेयत्व (वाच्यत्व) का निरसन करके अन्विताभिधानवाद में भी व्यंग्यार्थ की अनभिधेयता को बताने की इच्छा से प्रथमतः उनके मत का उपपादन कर रहे हैं—

येऽप्याहुरिति । जो 'अन्विताभिधानवादी' प्राभाकरमीमांसक यह कहते हैं कि—बालक को आरंभिक (पहले पहल) ज्ञान (आद्या व्युत्पत्ति) वृद्धव्यवहार से ही होता है । इस वृद्धव्यवहार में बालक की दृष्टि से दो प्रकार के वृद्ध हैं—(१) व्युत्पादक उत्तम वृद्ध (प्रयोजक वृद्ध) और (२) प्रयोज्यवृद्ध (मध्यमवृद्ध) । व्युत्पित्सु (जिज्ञासु, शक्तिग्रहणेच्छु) बालक को वृद्धव्यवहार के देखते रहने से व्युत्पत्ति (शक्तिज्ञान, शब्दार्थज्ञान आदि) हो जाती है । इसी अभिप्राय को निम्नांकित दो कारिकाओं से ग्रन्थकार बता रहे हैं—

शब्दवृद्धेति । बालक, 'शब्दवृद्धाभिधेयान्' अर्थात् कान से सुनाई देने वाले 'देवदत्त गामानय' इत्यादि वाक्यरूप शब्द को, तथा 'प्रयोजकवृद्ध और

प्रयोज्यवृद्धों को, और 'अभिधेय' यानी गवानयनादिरूप अभिधेय अर्थ को 'प्रत्यक्षेण' प्रत्यक्ष के हेतुभूत (निमित्त) श्रोत्र, चक्षुरादि से 'पश्यति' देखता है (साक्षात् करता है)। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से 'शब्द' को और चक्षुरिन्द्रिय से दोनों 'वृद्धों तथा अभिधेय' को देखता है। एवं च 'प्रयोजकवृद्ध—प्रयोज्यवृद्ध, प्रयुज्यमान शब्द और गवानयनादि क्रिया' ये सब, प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। कारिकागत 'श्रोतुश्च' के 'च'कार को 'प्रतिपन्नत्व' के साथ जोड़ना चाहिये। 'अनुमान' पद को यहाँ पर करणल्युडन्त (अनुमीयते अनेनेत्यनुमानम्) समझना चाहिये। तब अर्थ होगा कि प्रयोज्यवृद्धश्रोता की वाक्यार्थाभिज्ञता (प्रतिपन्नत्व) को अनुमितिकरणभूत गवानयनादि रूप चेष्टा—(क्रिया–व्यापार) त्मक हेतु से वह बालक 'पश्यति' जानता है, अर्थात् अनुमान करता है। 'श्रोतुः' का अन्वय 'चेष्टया' के साथ करना चाहिये।

कारिकागत 'अन्यथानुपपत्त्या' का 'अर्थापत्त्या' के साथ अभेदेन अन्वय करना चाहिये। तब अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाण से 'द्वयात्मिकां शक्तिं बोधेत्' यानी वाचकत्व और वाच्यत्व दोनों प्रकार की शक्ति (संकेत), यानी वाक्य-वाक्यार्थ के सम्बन्ध को अन्यथानुपपत्ति—'गामानय इत्यादिवाक्यश्रवणात् गवानयनाद्यर्थज्ञानम् एतद्वाक्येन एतदर्थस्य वाच्य-वाचकसंबंधं विना अनुपपन्नम्'—रूप (अनुपपत्ति रूप) अर्थापत्ति (अर्थापत्तिनामक प्रमाणरूप हेतु) से जानना चाहिये। उसके बाद 'त्रिप्रमाणकं संबन्धम् अवबोधेत' अर्थात् उक्त रीति से प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्तिरूप तीन प्रमाणों से अवगत हुए सम्बन्ध (संकेत) को जानना चाहिये। अभिप्राय यह है कि आवापोद्वाप के द्वारा 'गो' शब्द का 'गौ' ही अर्थ है, 'अम्' विभक्ति का 'कर्मत्व' अर्थ है—इस रीति से विशेषतः पद-पदार्थ-निष्ठतया निश्चय करना चाहिये। एवं च शक्तिग्रह को त्रिप्रमाणक बताया गया है। प्रभा, चक्रवर्ती, उद्योतादि व्याख्याकारों ने भी इसी शैली से उक्त कारिकाओं की व्याख्या की है।

विशेष विवरण—ऊपर बता चुके हैं कि अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसकों को भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनाव्यापार ही मानना होगा। उसी तरह अन्विताभिधानवादी मीमांसकों को भी व्यंग्यार्थ के बोधनार्थ व्यञ्जनाव्यापार ही मानना होगा। तथाहि—

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना की अनिवार्यता—

'अन्विताभिधानवाद' के समर्थक प्रभाकर मीमांसक हैं। इनका कहना है कि 'प्रत्येक पद' अभिधाशक्ति से अन्वित अर्थ को ही बताता है, अनन्वित अर्थ को नहीं। अर्थात् सामान्यरूप से अन्वित अर्थ ही- उपस्थित होता है। किसी

विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ की उपस्थिति नहीं होती, क्योंकि एक ही शब्द का अनेक शब्दों के साथ भिन्न-भिन्न रूप में प्रयोग होता है। इनके मत में अभिधा से ही अन्वित अर्थ की उपस्थिति होने के कारण इन्हें वाक्यार्थ प्रतीति के लिए 'तात्पर्या' शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शंका—किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित हुए अर्थ को ही अभिधा-शक्ति क्यों नहीं बताती ?

समाधान—किसी विशेष अर्थ से अन्वित हुए शब्द का उस विशेष अर्थ में शक्तिग्रह मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष होंगे। इसलिए सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही शक्तिग्रह माना है। किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वितरूप में शक्तिग्रह नहीं होता है।

एवं च 'विशेष अर्थों के सम्बन्धविशेषरूप वाक्यार्थ' को ही उपस्थित करने में अभिधाशक्ति समर्थ नहीं हो पाती, तब उस वाक्यार्थ के बाद प्रतीत होने वाले 'अतिविशेषभूत व्यङ्ग्य अर्थ' की प्रतीति को अभिधा से बताना कहाँ तक उचित होगा ? अर्थात् व्यंग्यार्थ को अभिधा से बताये जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः इस अन्विताभिधानवाद में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए 'व्यंजनाव्यापार' को ही मानना होगा।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों ही में व्यंग्यार्थ के बोधन के लिए व्यञ्जनावृत्ति को माने बिना काम नहीं चलता, क्योंकि अभिधाशक्ति से वह काम नहीं हो पा रहा है। प्रभाकर मीमांसक का सिद्धान्त है कि 'अन्वित अर्थ में' ही शक्तिग्रह होता है, अनन्वित में नहीं। 'अस्माच्छब्दात् अयमर्थो बोद्धव्यः'—अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझना चाहिये—यह 'शक्तिग्रह' का स्वरूप है। इस शक्तिग्रह के कतिपय उपाय शास्त्रकारों ने बताये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वाक्यशेष, विवृति (व्याख्या), सिद्ध (ज्ञात) पद की सन्निधि आदि उपायों से किसी अर्थ में शब्द का शक्तिग्रह होता है। इन सभी उपायों में से 'व्यवहार' उपाय की प्रधानता सर्वसम्मत ही है। अन्य उपायों का उपयोग बड़ी अवस्थावाले अध्ययनशील लोगों के लिए हो सकता है, किन्तु छोटे बालक के लिए तो 'व्यवहार' संज्ञक उपाय ही शक्तिग्रह का सरल उपाय है। क्योंकि छोटा बालक अपने घर में हमेशा देखता-सुनता रहता है कि माता-पिता (उत्तमवृद्ध), अपने छोटे भाई या पुत्र या नौकर आदि (मध्यमवृद्ध) से कह देते हैं कि 'गाम् आनय'—गौ को ले आओ। तब मध्यमवृद्ध 'गौ' को ले आता

है। किन्तु वह छोटा बालक न तो 'गाम्' शब्द का अर्थ जानता है और न ही 'आनय' शब्द का अर्थ जानता है। लेकिन माता या पिता (उत्तमवृद्ध) के द्वारा कहे गये—'गाम् आनय' शब्द को उस बालक ने सुना है। और तदनन्तर ही मध्यमवृद्ध (पुत्र, नौकर या छोटे भाई) के द्वारा की जानेवाली 'गवानयन' क्रिया को देखता भी है। उसे देखकर बालक अनुमान करने लगता है कि मध्यमवृद्ध ने जो 'गवानयन क्रिया' की है, वह उत्तमवृद्ध के वाक्य को सुनने के अनन्तर ही की है। अत: मध्यमवृद्ध ने उत्तमवृद्ध के द्वारा कहे गये वाक्य का अर्थ समझा है। अनुमान का आकार यह होगा—'अयमेतच्छब्दजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान्, एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात्'—इस अनुमान से बालक को विश्वास (निश्चय) हो जाता है कि उत्तमवृद्ध के उच्चरित वाक्य (गाम् आनय) का यही (गवानयन) अर्थ है। तात्पर्य यह है कि बालक को संपूर्ण वाक्य का अर्थ अवगत हो जाता है। तथापि वाक्यघटक प्रत्येक शब्द का अर्थ अभी ज्ञात नहीं हुआ है। तदनन्तर 'गाम् नय'-गौ को ले जाओ, 'अश्वम् आनय' घोड़े को ले आओ, इन वाक्यों को सुनकर और तदनन्तर ही मध्यमवृद्ध के द्वारा की जानेवाली क्रिया (गोनयन और अश्वाऽऽनयन) को देखते रहने से उस बालक को पूर्वोच्चरित वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है। 'शक्तिग्रह' प्राप्त करने की इसी व्यावहारिक प्रक्रिया को आजकल के अंग्रेजी शिक्षादीक्षित 'इन् डायरेक्ट मेथड़' कहते हैं। इसी प्रक्रिया को ग्रन्थकार ने—'शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च········· त्रिप्रमाणकम्' इन दो कारिकाओं के द्वारा बताया है। इन कारिकाओं के अर्थ को समझने के लिए निम्नांकित शैली को बुद्धिगत कर लेना चाहिये—

(१) इन कारिकाओं में प्रत्येक वाक्य का कर्ता 'बाल' है।

(२) कारिकागत 'प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' के 'प्रत्यक्ष' शब्द से चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्ष के साधनभूत 'चक्षु' और 'श्रोत्र' होते हैं। तथा 'पश्यति' शब्द 'शृणोति' का भी उपलक्षक है। क्योंकि 'वृद्ध' और 'अभिधेय' (गवानयनानयनादि) को तो चक्षु से देखते ही हैं। किन्तु 'शब्द' का ज्ञान, चक्षु से न होकर 'श्रोत्र' से ही होता है।

(३) 'वृद्ध' शब्द से 'उत्तमवृद्ध', अर्थात् पिता, माता, गुरु आदि आज्ञा देने वाला, और 'मध्यमवृद्ध' से छोटा भाई, पुत्र, नौकर आदि को समझना चाहिये।

'येऽप्याहुः'—इस वृत्तिग्रन्थ से लेकर आगे बताये गये 'इतिविशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'—तक एक वाक्य है। इस वाक्य से 'अन्विताभिधानवाद' के स्वरूप को बताया गया है। तदनन्तर 'यद्यपि' से

इति प्रतिपादितदिशा—

देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्न इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं

लेकर 'इत्यन्विताभिधानवादिनः' तक के ग्रन्थ से 'अन्विताभिधानवाद' के सूक्ष्म रूप को बताया है। तदनन्तर ग्रन्थकार ने उसका खण्डन किया है।

इति प्रतिपादितदिशेति। वृत्तिगत 'इति प्रतिपादितदिशा' का आगे दिये गये 'अवधारयति' के साथ अन्वय करना चाहिये। उक्त दोनों कारिकाओं का विवरण ग्रन्थकार स्वयं कर रहे हैं—देवदत्तेत्यादि। 'देवदत्त गामानय'......... नयति सति' तक का अंश, 'शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। और 'अनेनास्माद् वाक्यात्'.........तच्चेष्टयानुमाय' तक का अंश, 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। तथा 'तयोरखण्ड.........बालस्तत्र व्युत्पद्यते'—तक का अंश, 'अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्। अर्थापत्त्या'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। 'वाच्य-वाचकभावलक्षणं संबन्धम्'—यह अंश, कारिकागत 'शक्ति' का विवरणरूप है। 'परतः चैत्र गामानय......तमर्थमवधारयतीति'—तक का अंश, 'त्रिप्रमाणकम्'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। इस प्रकार कारिका और उसकी वृत्ति को समझने पर अन्विताभिधानवाद के उपपादक वृत्ति-ग्रन्थ का अर्थ इस प्रकार होगा।

देवदत्त गामानयेति। 'देवदत्त'! गाय को लाओ'—इस प्रकार पिता-गुरु आदि उत्तमवृद्ध (प्रयोजकवृद्ध) के द्वारा किये गये वाक्य-प्रयोग के पश्चात् एक जगह से दूसरी जगह पर सास्ना (गलकम्बल) युक्त अर्थ (गोरूप वस्तु) को ले आते हुए मध्यमवृद्ध (पुत्र आदि प्रयोज्यवृद्ध) को देखकर 'अनेन अस्माद् वाक्यादेवं विधोऽर्थः प्रतिपन्नः'—इस मध्यमवृद्ध ने उत्तमवृद्ध के द्वारा कहे गये 'गाम् आनय' वाक्य से इस प्रकार का गवानयन रूप अर्थ, समझा है—ऐसा, उस मध्यमवृद्ध की गवानयनरूप चेष्टा से बालक ने 'अयमेतच्छब्दजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान्, एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात्'—यह अनुमान कर लिया, और अखण्डवाक्य तथा अखण्डवाक्यार्थ दोनों के वाच्य-वाचकभावरूप संबंध को 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण से निश्चित किया। इस रीति से उक्त व्युत्पित्सु बालक को अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ दोनों के वाच्य-वाचकभाव संबन्ध का ज्ञान हो जाता है। एवं च तीनों प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति) की सहायता से वाक्य और वाक्यार्थ दोनों का स्वरूप जिसमें है ऐसा शक्तिज्ञान (संकेत ग्रहण)

सम्बन्धमवाधर्या बालस्तत्र व्युत्पद्यते परतः 'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तन्तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

होता है। वह शक्ति, 'आश्रयत्वेन' शब्दों में और 'विषयत्वेन' अर्थों में रहती है।

विशेष विवरण—बालक को शक्तिज्ञान (संकेत-ग्रहण) तीन प्रमाणों के बल पर होता है—यह बताया गया है।

शंका—उपर्युक्त कथन हृदयग्राही नहीं हो रहा है, क्योंकि—जिस छोटे से बालक को अभी शब्दार्थ का भी ज्ञान नहीं है, उसे अनुमान की प्रक्रिया तथा अर्थापत्ति का ज्ञान होगा, यह कैसे संभव हो सकता है ?

समाधान—यद्यपि अनुमान की प्रक्रिया से तथा अर्थापत्ति-प्रमाण से बालक का परिचय नहीं है, तथापि उसके ज्ञान में वे सहायक होते ही हैं, भले ही उस बालक को उनकी प्रत्यभिज्ञा न हो। अतः उपर्युक्त कथन में कोई अनौचित्य नहीं है।

अब आवाप और उद्वाप के द्वारा विशेष में संकेत-ग्रह (शक्तिग्रह) के प्रकार को बताते हैं। क्योंकि शब्द से अर्थज्ञान का होना किसी वृत्ति के बिना अनुपपन्न है। अन्यथा अतिप्रसंग होगा। उस स्वाभाविक सम्बन्धरूप शक्ति का ज्ञान, आवापोद्वापदर्शनसहकृत अर्थापत्ति से होता है। आनयनान्वित 'गो' में 'गो' पद की शक्ति है। क्योंकि 'तदितराऽप्रतिपाद्यत्वे सति प्रतिपाद्यत्वरूपा' वह शक्ति है।

परत इति। 'परतः' अर्थात् क्रियान्वित कारक मे 'कारक' पद की और कारकान्वित क्रिया में 'क्रिया' पद की शक्ति का ज्ञान होने पर, उत्तमवृद्ध पुनः मध्यमवृद्ध से कहता है कि 'चैत्र ! गामानय'—चैत्र गाय को लाओ, 'देवदत्त ! अश्वमानय'—देवदत्त घोड़े को लाओ, 'देवदत्त ! गां नय'—देवदत्त ! गाय को ले जाओ—तब इन वाक्यों को सुनकर वह बालक तत्तत् शब्द के तत्तत् अर्थ को निश्चित रूप से जान जाता है। इस 'अन्वय-व्यतिरेक' से प्रवर्तक-निवर्तक वाक्य ही प्रयोग के योग्य होता है। इसलिए वाक्यगत अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेत (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि केवल शुद्ध (अनन्वित) पदार्थों का संकेत-ग्रह नहीं हुआ करता। जैसा कि अभिहितान्वयवादियों ने बताया था। अतः 'विशिष्टा एव' यानी

'अन्वयविशिष्ट (परस्परान्वित) पदार्थ' ही 'वाक्यार्थ' कहे जाते हैं। 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' वाक्यार्थः, अर्थात् शुद्ध (अनन्वित) पदार्थों का, बाद में ज्ञात होने वाला वैशिष्ट्य (सम्बन्ध, संसर्ग) वाक्यार्थ नहीं है।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार ने 'अन्विताभिधानवाद' और 'अभिहितान्वयवाद' को 'विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः' और 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' से क्रमशः बता दिया है। प्रभाकर के 'अन्विताभिधानवाद' में परस्पर अन्वित पदार्थों को ही वाक्यार्थ के रूप में, पदों के द्वारा उपस्थित किया जाता है। और 'अभिहितान्वयवाद' में प्रथमतः पदों के द्वारा केवल (शुद्ध, अनन्वित) पदार्थों को उपस्थित किया जाता है। पश्चात् आकांक्षा आदि की सहायता से उनका परस्पर अन्वय (संसर्ग) होता है।

ग्रन्थकार ने 'आवाप-उद्वाप' शब्द का प्रयोग किया है। अतः उनका स्वरूप जानना आवश्यक है। 'चैत्र गामानय'—यहाँ 'आवाप' है। 'देवदत्त गां नय'—यहाँ उद्वाप है। विशेष में शक्ति का अवधारण अन्वय-व्यतिरेक से होता है। अर्थात् 'गो' आदि पदों के आवाप-उद्वाप (गो आदि पदों के प्रयोग और अप्रयोग) से जो अन्वय-व्यतिरेक की प्रतीति होती है, उसीसे 'गो' आदि पदार्थों की प्रतीति होती है। जैसे—'गो' 'पदसत्त्वे एव गवार्थप्रतीतिः' और 'गोपदस्य असत्त्वे गवार्थस्य अप्रतीतिः'—इसलिए 'गो' पद का ही 'गौ' अर्थ है—यह निश्चय हो जाता है।

शंका—तथापि आकांक्षा आदि की महिमा से पदार्थवैशिष्ट्यरूप वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। तब 'विशिष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ कहने की और उसमें शक्ति मानने की आवश्यकता क्या है ?

समाधान—ग्रन्थकार ने इसका समाधान यह दिया है कि 'प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यम्'। 'प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि'—यह हेतुगर्भविशेषण है। अतः प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि वाक्य ही होता है, इसलिए वही प्रयोग करने के योग्य है। जैसे—'गामानय' यह वाक्य गवानयन के प्रति प्रवृत्तिकारि है। 'प्रयोग योग्यम्' कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द-प्रयोग दूसरे के लिए (परार्थ) किया जाता है। वाक्य से ही दूसरे की इष्ट-अनिष्ट साधनों में प्रवृत्ति, निवृत्ति हुआ करती है। इसलिए वाक्य का ही सर्वदा प्रयोग किया जाता है। उस वाक्य में पदों के ही उपस्थित रहने के कारण अन्वित अर्थ में उन्हीं का अभिधान-सामर्थ्य है—यह निश्चित किया जाता है।

व्युत्पत्तिग्रहण का प्रकार जो प्रदर्शित किया गया है, उस कारण यह कहा जा रहा है कि 'वाक्यस्थेन परस्परान्वितबोधकतया स्थित (वाक्यस्थित) परस्पर-

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि

साकांक्ष (अन्वित) पदों का ही अन्वित पदार्थों (पदार्थान्तर से संसृष्ट हुए) के साथ संकेत (शक्ति) ग्रहण किया जाता है। अतः 'दण्डेन गामभ्याज' में करणान्वित 'गो' में 'गो' पद की शक्ति नहीं मानी गई है, क्योंकि 'प्रत्यय' अपने प्रकृत्यर्थ के प्रति ही साकांक्ष रहता है। अर्थात् कारक को क्रिया की ही आकांक्षा रहती है। अन्वित में व्यवहार होने के कारण ही परस्पर संसृष्ट (संबद्ध, अन्वित) तथा पद-वृत्ति के विषय (पदशक्य) हुए पदार्थ ही 'वाक्यार्थ' कहलाते हैं यानी वाक्य-प्रतिपाद्य होते हैं। अर्थात् परस्परसंसृष्ट पदार्थ ही, वाक्यप्रतिपाद्य होते हैं। 'विशिष्टा एव' यहाँ 'एव'कार से व्यवच्छेद्य को बताया गया है। एवं च अभिहितान्वयवादियों ने जो यह कहा था कि—'पदैरभिधया प्रतिपादितानामर्थानामाकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद् भासमानः सम्बन्धरूपोऽर्थोऽपदार्थोऽपि तात्पर्याख्यया वृत्त्या वाक्यार्थः'—वह उचित नहीं है।

प्रदीपकार का भी यही अभिप्राय है—'उक्तरीति से संकेतग्रह तो प्रथमतः व्यवहार से ही होता है', क्योंकि व्याकरणादि अन्य संकेत-ग्राहकों को शाब्दबोध की अपेक्षा रहने से उनका प्राथम्य नहीं है। मध्यमवृद्ध का गवानयन-प्रवृत्त्यादिरूप व्यवहार हमेशा ही उत्तमवृद्धोक्त 'गामानय' वाक्य के सुनने पर ही होता है। केवल 'गो' पद के श्रवण करने मात्र से कभी नहीं होता। किन्तु वाक्यस्थित पदों के अर्थ, नियत-रूप से पर-पदार्थ के साथ अन्वित रहते हैं। जैसे—'गो' शब्द 'गामानय' में 'आनयन' के साथ, 'गां रक्ष' में 'रक्षण' के साथ अन्वित है। अतः व्यवहार-मूलक संकेतग्रह, अन्वित 'गो' आदि में ही होता है। उसी तरह तदुत्तरभावी होने वाले व्याकरणमूलक शक्तिग्रह भी अन्वितपदार्थ-विषयक ही होते हैं। इस कारण अन्वयबोधार्थ तात्पर्यावृत्ति' के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं होती।'

शंका—'गामानय' में जो 'आनयन' पद है, वही तो 'अश्वमानय' में भी है, यह निर्णय प्रत्यभिज्ञा के बल पर हम कर लेते हैं। अर्थात् दोनों वाक्यों में एक ही 'आनयन' पद है। एवं च 'आनयन' पद का 'गवान्वितत्व' या 'अश्वान्वितत्व' अर्थ नहीं है। किन्तु उभयसाधारणता लाने के लिए सामान्यतः 'अपरपदार्थान्वितानयनत्वेन अपर-पदार्थान्वितानयन ही 'आनयन' का अर्थ है। तथा च 'गामानय' इत्यादि में 'गवान्वयरूप विशेषान्वय के बोधनार्थ 'तात्पर्यावृत्ति' को स्वीकार करना ही होगा। इसी शंका को ग्रन्थकार वृत्तिग्रन्थ के द्वारा बता रहे हैं।

शंका—यद्यपीति। यद्यपि 'गामानय' इस वाक्य के अतिरिक्त 'अश्वमानय' इस दूसरे वाक्य में कहे गये (प्रयुक्त किये गये) 'आनय' आदि पद का प्रत्यभिज्ञा (तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा) की महिमा से 'यह वही पद है, जो पूर्व-

पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूत-

---

वाक्य में प्रयुक्त हुआ था'—ऐसा निश्चय किया जाता है। इसलिए सामान्यतः अन्य पदार्थ के साथ अन्वित हुए पदार्थ में ही संकेतग्रह होता है। विशेष में अन्वितरूप से नहीं। अन्वित में शक्तिग्रह मानने वाले के पक्ष में 'संसर्ग-विशेष' तो अवाच्य ही रहेगा, क्योंकि इतर-पदार्थान्वित में ही 'शक्तिग्रह' का होना बताया जा रहा है। अन्यथा 'गामानय' कहने के बाद 'गाम् अपसारय' कहने पर 'तदेव इदम्'—यह वही पद है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा तो होगी नहीं। क्योंकि गवानयन और उसका अपसारण, ये दोनों अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उनके वाचकशब्द भी भिन्न-भिन्न हैं। तब 'विशेष' का बोध कैसे होगा? जैसे नैयायिकों के मत में 'गोत्वेन सामान्यतः शक्तिग्रह' होने पर भी आकांक्षादिवशात् 'गोविशेष' का बोध होता है, उसी तरह सामान्यतः 'अपरपदार्थान्वितत्वेन विशेष' में शक्तिग्रह होने पर भी आकांक्षादिवशात् समभिव्याहृत-'गाम्' पदार्थके साथ जो अन्वय होता है, उसके बल पर 'गवान्वितत्वरूप' विशेष के साथ अन्वय का बोध हो जाता है। 'गाम्' पदार्थ के साथ अन्वित हुआ आनयन' पदार्थ ही 'गवान्वित आनयन' है—यह समाधान ग्रन्थकार के शब्दों में अब बता रहे हैं—

समाधान—तथापीति। अन्विताभिधानवादी 'विशेष' (व्यक्ति) के बोधार्थ यह समाधान दे रहा है कि 'सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एव असौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वात्'। इस ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि शंका करने वाले ने जो कहा है कि 'विशेष' में अन्वित रूप से शक्तिग्रह न होने से 'विशेष' का बोध कैसे होगा? यह शंका यद्यपि आपाततः ठीक प्रतीत हो रही है, तथापि परस्परसम्बद्ध (व्यतिषक्त) पदार्थों के तथाभूत होने से अर्थात् 'विशेषरूप' रहने से ही 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियम के अनुसार 'सामान्य से अवच्छादित (अवच्छिन्न) यानी 'गोत्वेन अवच्छिन्न समस्त गायों' में जैसे शक्तिग्रह होता है। अथवा जैसे 'घटस्य रूपम्' में षष्ठी का अर्थ संबन्ध-सामान्य है, फिर भी सम्बन्धत्वेन 'समवाय' रूप सम्बन्धविशेष में शक्तिग्रह होता ही है। उसी तरह वह शक्तिग्रह (संकेतग्रह) विशेषरूप में ही परिणत हो जाता है। अर्थात् अपर पदार्थान्वित आनयनत्वरूप सामान्यधर्म से अवच्छिन्न हुए विशेष में संकेतग्रह हो जाता है, जिससे समस्त 'आनयनादि' पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि परस्पर अन्वित (व्यतिषक्त) पदार्थ विशेषरूप (तथाभूत) ही होते हैं—यह अन्विताभिधानवादियों का कहना है। अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हुए अर्थों का ही शब्द अपनी

त्वादित्यन्विताभिधानवादिनः । तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः

अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादन (अभिधान) करता है । यही अन्विताभिधानवाद का स्वरूप है । यानी 'अन्वितानामर्थानामभिधानमन्विताभिधानम्'—यह प्राभाकर मीमांसकों का मत है ।

विशेष विवरण—पहिले बता चुके हैं कि 'अन्विताभिधानवाद' में वाक्य के द्वारा 'परस्पर अन्वित पदार्थों' को ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित किया जाता है । और 'अभिहितान्वयवाद' मे प्रथमतः पदों के द्वारा केवल (शुद्ध, अनन्वित) पदार्थों को उपस्थित किया जाता है । बाद में उनका परस्पर अन्वय (संबन्ध) होता है । व्यवहार के द्वारा शक्तिग्रह की पद्धति को भी बताया गया है । तदनुसार 'गामानय' आदि वाक्य को सुनकर किये गये 'गवानयन' आदि व्यवहार के द्वारा अन्वित-पदार्थ में ही शक्तिग्रह (संकेत-ग्रह) होता है, केवल 'पदार्थ' में नहीं, यह भी बता दिया गया है । तथापि जिज्ञासा यह होती है कि यह अन्वय (संबध) किसके साथ गृहीत होता है । किसी 'विशेष अर्थ' के साथ या 'सामान्य अर्थ' के साथ ? 'विशेष अर्थ' के साथ अन्वय मानने पर उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'गवानयन' व्यवहार से 'गोविशिष्ट आनयन' में यदि शक्तिग्रह कहें तो 'अश्वमानय' कहने पर पूर्व हुए शक्तिग्रह से अब अर्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा । अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ बोला जाता है । किसी एक अर्थ के साथ अन्वित होने वाले में शक्तिग्रह मानने पर किसी दूसरे वाक्य में प्रयुक्त उसी शब्द से अर्थबोध नहीं हो पायेगा । अतः निष्कर्ष यह निकला कि किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) नहीं हो सकता । केवल सामान्यरूप से अन्वित अर्थ में शक्तिग्रह माना जा सकता है । ऐसी परिस्थिति में 'अन्विताभिधानवाद' की सिद्धि नहीं हो पायेगी । अन्विताभिधानवाद के सिद्ध्यर्थं तो 'विशेष' के साथ अन्वित हुए अर्थ में ही शक्तिग्रह का होना आवश्यक है ।

इस पर अन्विताभिधानवादी का कहना है कि यद्यपि एक ही शब्द (पद), भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ बोला जाता है, उस कारण किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित हुए में शक्तिग्रह का होना संभव नहीं हो सकता है । इसलिए सामान्यरूप से अन्वित अर्थ में ही शक्तिग्रह मानना होगा—इतना तो वादी का कहना ठीक है, तथापि 'निर्विशेषं न सामान्यम्'-सामान्य के अन्तर्गत विशेष तो रहता ही है—इस नियम के अनुसार प्रत्येक सामान्य का विशेष में पर्यवसान अवश्य होता है । बिना विशेष के कोई सामान्य नहीं रहता है । इस कारण सामान्यरूप से अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी 'विशेष' में होता है । वाक्य में अन्वित पदार्थ

सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

'विशेष' ही **है,** वे सामान्यरूप नहीं हैं। इसलिए **विशेष के साथ अन्वित अर्थ में शक्तिग्रह** (संकेतग्रह) **के स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।** अतः विशेषान्वित में शक्तिग्रह की उपपत्ति अच्छी तरह से हो जाती है।

अन्विताभिधानवादियों को भी 'व्यंजना' की आवश्यकता—

तेषामपीति। ग्रन्थकार 'व्यञ्जना' वृत्ति की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए कह रहे हैं कि **'तेषामपि मते'** यानी अन्विताभिधानवादियों के मत में भी **'सामान्य-विशेषरूप' पदार्थ ही शक्तिग्रह** (संकेतग्रह) **का विषय होता है।** तब उससे (कर्मत्वादि रूप सामान्य-विशेष अर्थ से) भिन्न, अर्थात् उसके भी बाद में प्रतीत होने वाला (प्रतीयमान), **'गामानय'** इत्यादि वाक्यार्थ-मध्यनिविष्ट जो **'अतिविशेष' रूप अर्थ** (गो, अश्व आदि व्यक्ति-विशेष के साथ अन्वित आनयन) **संकेतित नहीं हो सका है,** इसी कारण उसे **वाच्यार्थ नहीं** (अवाच्य) माना जा रहा है, तथापि **अन्विताभिधानवादियों** के यहाँ वह, **पदार्थ के रूप में प्रतीत तो** हो रहा है, किन्तु वह **वाच्य नहीं** है। ऐसी परिस्थिति में **'निःशेषच्युत'** इत्यादि में वाच्यार्थबोध के भी बाद प्रतीयमान होने वाला **'विधि' रूप अर्थ,** जो वाच्यरूप निषेध से (तदन्तिकगमननिषेधविरोधी तदन्तिकगमनरूप अर्थान्तर) **व्यंग्य** हो रहा है, उसके (विध्यर्थरूप व्यङ्ग्यार्थ के) बारे में **'वाच्य'** होने की चर्चा (उसके वाच्यत्व का अनुसन्धान) करना तो बहुत दूर की बात है। क्योंकि **वाक्यार्थ ही जब अनभिधेय है, तब उसकी प्रतीति के अनन्तर वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से प्रतीयमान होने वाला व्यङ्ग्यार्थ तो अत्यन्त विप्रकृष्ट है।**

विशेष विवरण—ग्रन्थकार ने (१) सामान्य, (२) सामान्यविशेष, (३) अतिविशेष तीन शब्दों का उल्लेख किया है। उनमें **'सामान्य'** शब्द से **'साधारण रूप से अन्वितत्वमात्र'** में तात्पर्य है। और **'सामान्यविशेष'** का अर्थ **'कर्मत्वादिरूपसे अन्वितत्व'** है तथा **'अतिविशेष'** का अर्थ **'गो, अश्व आदि व्यक्तिविशेष के साथ अन्वितत्व'** है। व्यञ्जनावादी का कहना है कि **प्रभाकर के अन्विताभिधानवाद** को यदि स्वीकार किया जाय तो **'संकेतग्रह' 'सामान्यरूपसे अन्वित अर्थ'** में ही कहना होगा, किन्तु उससे व्यवहार नहीं हो पायगा। जैसे किसी को घड़ा मंगाना है, तो उसने **'घटमानय'**–घड़ा ले आओ—के बजाय **'वस्तु आनय'**–वस्तु ले आओ कह दिया। किन्तु सुनने वाले व्यक्ति को **'वस्तु आनय'** कहने से **'घटानयन' घट लानारूप अर्थ**—का **ज्ञान नहीं हो पायगा।** यद्यपि **'वस्तु'** शब्द से यच्च यावद् वस्तुओं का ज्ञान हो रहा है, तदन्तर्गत 'घट' भी है। अतः **'वस्तु'**

शब्द 'घट' का भी ग्राहक हो सकता है। तथापि सामान्यरूप से 'घट' के ग्राहक 'वस्तु' शब्द से युक्त हुए 'वस्तु आनय' वाक्य से 'घट लाने' का अर्थ बोध, श्रोता को नहीं हो सकेगा। उसके लिए तो विशेषरूप से 'घट' शब्द को ही कहना होगा अर्थात् 'घटमानय' वाक्य का ही प्रयोग करना होगा। इतना तो ठीक है कि 'वस्तुत्वेन'—'वस्तु' पद-वाच्य 'घट' है, किन्तु 'घटत्वेन' वह (घट) अवाच्य ही है।

उसी तरह यद्यपि **'अपरपदार्थान्वितानयनत्वेन'** (अभिहितान्वयवाद में केवल आनयनत्वेन) 'आनयन' पदवाच्य 'गवानयन' है, तथापि वह (गवानयन) 'गवानयन-त्वेन' अवाच्य ही है। अतः वह असंकेतित है। भले ही, वाक्यगम्य वह गवानयन, प्राथमिक बोध का विषय होता हो, तथापि उसे अभिधेय (अभिधाव्यापार का विषय) नहीं कहा जायगा। जब वही अभिधेय नहीं बन पाया तो तदनन्तर होने वाले व्यङ्ग्यार्थबोध को अभिधेय कैसे कहा जायगा ? उस व्यंग्यार्थबोध के लिए तो व्यंजना ही माननी होगी।

सामान्यरूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह को मानने पर यदि व्यवहार करना संभव नहीं हो रहा है तो सामान्यान्वित (सामान्यरूप से अन्वित) में संकेतग्रह मत मानिये। 'निर्विशेषं न सामान्यम्'—इस नियम के अनुसार 'सामान्य-विशेष' में संकेतग्रह को मान लीजिये। तब 'गाम् आनय' इत्यादि वाक्यों में 'आनय' आदि पदार्थों का संकेतग्रह केवल सामान्यतः अन्वित पदार्थ में नहीं, अपितु 'सामान्य-विशेष' रूप से (कर्मत्वादिरूप से) अन्वित अर्थ में ही होता है। 'आनय' के साथ जब 'गाम्' या 'अश्वम्'—ये विशेष शब्द बोले जाते हैं, तब उससे (आनय शब्द से) सामान्यान्वित (सामान्यरूप से अन्वित) अर्थ की प्रतीति न होकर 'सामान्यविशेष' (कर्मत्वादिरूप से अन्वित) अर्थ की ही प्रतीति होती है। 'गाम् आनय'–इस वाक्य में कर्मभूत 'गाम्' पद, 'सामान्यविशेष' है। इसलिए 'आनय' पद, उस 'सामान्यविशेष' से अन्वित अथ का ही बोधक होता है। जब 'गाम्' के स्थान पर 'अश्वम्' का प्रयोग करते हैं, तब 'आनय' पद, कर्मभूत 'अश्व' से अन्वित 'आनयन' का बोधक हो जाता है। क्योंकि 'अश्वम् आनय' वाक्य में 'कर्म-त्वेन अन्वित अश्व' ही 'सामान्यविशेष' है। एवं च 'सामान्यविशेष' अर्थ में संकेत-ग्रह मानने पर पूर्व उपस्थित दोष ('समान्यमात्र' में संकेत ग्रह मानने पर उपस्थित होने वाला दोष) प्राप्त नहीं होता है।

'गाम्' 'अश्वम्' आदि को 'सामान्यविशेष' कहने का कारण यह है कि यद्यपि 'गाम् आनय, अश्वम् आनय' आदि वाक्योंमें 'आनय' का सम्बन्ध 'गाम्' 'अश्वम्' आदि विशेष पदार्थों के साथ हो रहा है, तथापि वे (गाम्, अश्वम्) पद 'आनय' क्रिया के साथ 'कर्मत्व' रूप से ही (कर्मत्वेन रूपेण ही) अन्वित हो रहे हैं।

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

वह 'कर्मत्व', 'गो, अश्व' दोनों में समान रूप से (समानभाव से) रहता है। 'आनय' क्रिया, सकर्मक है। उसे 'कर्म' की अपेक्षा रहती है। इस 'आनय' क्रिया के साथ, कभी 'गाम्' तो कभी 'अश्वम्' उसके (उस क्रिया के) कर्म के रूप में अन्वित होते हैं। इस वाक्य में यद्यपि, 'गाम् , अश्वम्' पद, विशेष हैं, तथापि वे अपने विशेष-रूप से (व्यक्तिगत रूप से व्यक्तित्वेन रूपेण) अन्वित न होकर केवल 'कर्मत्व' रूप सामान्य (साधारण) संबंध से ही अन्वित हो रहे हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सामान्यविशेष' (कर्मत्वेन तो सामान्यरूप है और व्यक्तित्वेन विशेषरूप है) शब्द-प्रयोग इनके लिए किया है। एवं च 'सामान्यमात्र' में संकेतग्रह के बजाय 'सामान्य-विशेष' में संकेतग्रह का होना बताया गया है। 'गाम् आनय', 'अश्वम् आनय' आदि वाक्यों में यद्यपि 'गाम्' 'अश्वम्' पद, 'विशेष' हैं, तथापि दोनों में समानरूप से रहने वाला जो 'कर्मत्व' है, उस कर्मत्व रूप से ही वे पद 'आनय' क्रिया के साथ अन्वित हो रहे हैं। यही पदों का 'सामान्यविशेष' रूप है।

'गोत्व' और 'अश्वत्व' अथवा 'गो' और 'अश्व' आदि विशेष-व्यक्ति को यहाँ पर 'अतिविशेष' शब्द से कहा गया है। यह 'अतिविशेष'–रूप, वाक्यार्थ में प्रतीत होता है। किन्तु उसमें 'संकेतग्रह' नहीं होता है, क्योंकि 'व्यक्तिविशेष' में संकेत मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष होंगे। यह व्यक्तिरूप 'अतिविशेष' अर्थ, वाक्याथ में प्रतीत होने पर भी उसमें (अतिविशेष में) संकेतग्रह न होने के कारण वह असंकेतित अर्थ है। अतः उसे 'वाच्यार्थ' नहीं माना जा सकता। अर्थात् वह 'अनभिधेय' है। उसके ज्ञान के लिए 'अभिधा' के अतिरिक्त किसी अन्य 'वृत्ति' को ही मानना होगा। एवं च 'अन्विताभिधानवाद' को स्वीकार करने पर भी उस 'अतिविशेष' अर्थ के बोधनार्थ 'तात्पर्या' या इसी प्रकार की अन्य किसी वृत्ति को मानना होगा। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ 'बोध' के अनन्तर प्रतीत होने वाले 'व्यङ्ग्यार्थ बोध' को 'अभिधेय' समझना कैसे संगत हो सकेगा ?

एवं च 'अभिहितान्वयवाद' के समान ही 'अन्विताभिधानवाद' में भी वाक्यार्थरूप 'अतिविशेष' का ज्ञान 'अभिधा शक्ति' से नहीं हो पा रहा है। इस कारण दोनों मतों में वाक्यार्थ ही जब 'अभिधा' के द्वारा अवगत नहीं हो पा रहा है, तब 'व्यङ्ग्यार्थ' के अभिहित होने की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

अनन्वित इति। 'अभिहितान्वयवाद' में 'अनन्वित अर्थ' वाच्य होता है, और 'अन्विताभिधानवाद' में सामान्यरूप से पदार्थान्तरमात्र से 'अन्वित

अर्थ' वाच्य होता है। किन्तु 'अन्वितविशेष', अभिहितान्वयवाद में तथा 'अन्विताभिधानवाद' में कथमपि वाच्य नहीं होता है। अतः **दोनों सिद्धान्तों में वाच्यार्थ से भिन्न ही वाक्यार्थ होता है।** यानी 'अपदार्थं' (पदार्थं से भिन्न अर्थात् वाच्यार्थं से भिन्न) ही वाक्यार्थं होता है। जब 'वाक्यार्थं' ही स्वयं अपदार्थं (अनभिधेय) है, तब उसके बाद अवगत (प्रतीत) होने वाला जो 'व्यङ्ग्यार्थं' है, उसके वाच्य होने की कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। **अर्थात् 'व्यङ्ग्यार्थ' तो कभी वाच्य हो ही नहीं सकता। उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए तो इन दोनों वादियों को भी व्यञ्जना को स्वीकार करना ही होगा।**

निरूपित अंश का सिंहावलोकन—

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधान की प्रक्रिया सुकुमार-मति छात्रों को बड़ी कठिनाई से अवगत हो पाती है। उसे सुदृढ़ करने के लिये दृढ़ संस्कार की अपेक्षा होती है। तदर्थं आरंभ से अभी तक किये निरूपण को पुनः एक बार संक्षेप में बता दे रहे हैं। **ग्रन्थकार मम्मटभट्ट, लोचनकार अभिनवगुप्तपाद के अनुयायी हैं। मीमांसकों को 'वाक्यतत्त्ववित्' कहा जाता है।** अतः मीमांसकों के यहाँ वाक्यार्थंविचार कैसे किया जाता है, उसे ग्रन्थकार ने प्रकृत प्रसंग में अपनी अभिमत व्यंजनासिद्धि के निमित्त उनके सिद्धान्तों को उपस्थित किया है। **उनमें भाट्टमीमांसकों का 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त है और प्राभाकर मीमांसकों का 'अन्विताभिधानवाद' का सिद्धान्त है।** अभिहितान्वयवाद में **'वाक्यार्थ'** का स्वरूप केवल **'पदार्थ'** का स्वरूप नहीं है। क्योंकि पदार्थ (पद का अर्थ) **'सामान्य** (जाति) रूप हुआ करता है। और **वाक्यार्थ 'विशेषरूप'** हुआ करता है। पदार्थ को (पद के अभिधेय अर्थ को) समान्य (जाति) रूप नहीं मानेंगे तो **आनन्त्य और व्यभिचार दोष** प्राप्त होंगे, और **वाक्यार्थ** को **विशेषरूप** इसलिए कहा जाता है कि वह, जाति (सामान्य) वाचक पदों के अर्थों का आकांक्षादिवशात् परस्पर संसर्ग (अन्वय) रूप अर्थ है, जो 'तात्पर्यं' नामक वृत्ति से जाना जाता है। अतः **व्यङ्ग्य-रूप** अर्थं (अर्थंशक्तिमूलध्वनि में 'वस्तु' या 'अलंकार' रूप अर्थं) को **'अभिधेय'** (अभिधा से प्रतिपाद्य) नहीं कहा गया है। अतः पदार्थंसंसर्गं (अन्वय) रूप अर्थं यानी **वाक्यार्थ** ही जब **अभिधेय** (अभिधावृत्ति से बोध्य) **नहीं** हो पारहा है तो व्यंग्यार्थं, जो वाक्यार्थं (पदार्थों के परस्पर संसर्गात्मक अर्थं) से सर्वथा विलक्षण (भिन्न) है, उसे **अभिधेय कैसे** कहा जायगा? **व्यंग्यार्थ** तो विधिनिरूपक वाक्य में कहीं **निषेधात्मक** और निषेधनिरूपक वाक्य में कहीं **विध्यात्मक** भी हुआ करता है। एवं च **अभिहितान्वयवाद में भी 'व्यंग्यार्थ' अभिधेय नहीं होता है।**

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति, तत्र निमि-

---

उस व्यंग्यार्थ के बोधनार्थ, अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति को ही स्वीकार करना होगा, जिसे 'व्यञ्जना' वृत्ति के नाम से कहा जाता है।

प्राभाकरों के अन्विताभिधानवाद में परस्पर अन्वित पदार्थ (स्वभावतः एव परस्पर सम्बद्ध पदार्थ) अभिधाशक्ति से ज्ञात हुआ करते हैं। इस मत में अनन्वित पदार्थ, अभिधेय नहीं हुआ करते। ये अन्वित पदार्थ, केवल सामान्यरूप नहीं हैं, अपितु सामान्यरूप पदार्थ से आक्षिप्त 'विशेषरूप' ही हैं। ये सामान्य-विशेषरूप पदार्थ ही अभिधेय हुआ करते हैं। उस 'सामान्य-विशेष' अर्थ के अतिरिक्त और तदुत्तरवर्ती होने वाला जो 'अतिविशेषरूप अर्थ' है, वह तो अवाच्य ही है, तथापि पदार्थ के रूपमें उसकी प्रतीति होती है। जब वही अभिधेय (वाच्य) नहीं हो रहा है, तब उसके भी बाद होने वाला जो व्यंग्यार्थ है उसे वाच्य (अभिधेय) कैसे समझा जायगा ? यानी वह तो कभी अभिधेय हो ही नहीं सकता। उसके बोधार्थ इन अन्विताभिधानवादियों को भी 'व्यंजना' माननी ही होगी। दोनों मीमांसकों के सिद्धान्तों में 'वाक्यार्थ' तो 'संसर्ग' रूप ही है, वह पदार्थ (किसी पद का अर्थ) नहीं है। वह (वाक्यार्थ) तो 'अति-विशेष' रूप है।

एवं च 'अन्वितविशेषरूप' वाक्यार्थ तक भी जब 'अभिधा' नहीं पहुँच पा रही है, तब उसके बाद होने वाले व्यंग्यार्थ तक उसकी (अभिधा की) पहुँच कैसे हो पायेगी? उसके बोधनार्थ 'व्यञ्जना' को मानना होगा। उस पर मीमांसक पुनः कहता है कि जैसे वाच्यार्थ का ज्ञान एकमात्र अभिधा से ही हो जाता है, तदतिरिक्त अन्य किसी वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह 'व्यंग्यार्थ' का बोध भी एक मात्र 'अभिधा' से ही हो सकता है। उसके लिए भी तदतिरिक्त 'व्यञ्जना' आदि किसी अन्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'नैमित्तिक (कार्य) को देखकर ही उसके निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है'—इस नियम के आधार पर 'व्यंग्यार्थ' रूप नैमित्तिक (कार्य) भी 'शब्द' रूप 'निमित्त' से ही होता है। 'शब्द' और 'व्यंग्यार्थ' दोनों में निमित्त-नैमित्तिक (कारण-कार्यभाव) संबन्ध है। अतः 'अभिधा' से ही उस व्यंग्यार्थरूप नैमित्तिक का ज्ञान हो सकता है। उसके लिए व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थ से बता रहे हैं—

यद्पीति। मीमांसकों के द्वारा जो यह कहा जाता है कि 'नैमित्तिक' (कार्य) के अनुसार उसके निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है। तदनुसार 'शब्द और व्यंग्यार्थ' का 'निमित्त–नैमित्तिकभाव' संबन्ध रहने से शब्द,

त्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं, ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथं, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् ।

अपनी अभिधाशक्ति से ही उसे बताने में समर्थ है । उसे बताने के लिए अन्य वृत्ति (व्यञ्जना) की कल्पना करना उचित नहीं है ।

तत्र निमित्तत्त्वमिति । मीमांसक के उपर्युक्त कथन पर आलंकारिक उससे पूछ रहा है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में शब्द का निमित्तत्व 'कारकत्व' रूप है, या 'ज्ञापकत्व' रूप है ? 'शब्द' को आप कारक रूप से निमित्त नहीं कह सकते, क्योंकि 'शब्द' तो 'अर्थ का प्रकाशक हुआ करता है, उत्पादक' नहीं । जो 'कार्य' का उत्पादक होता है, उसे 'कारक' कहा जाता है । इसलिए व्यंग्यार्थ के प्रति 'शब्द' का निमित्तत्व 'कारकत्व' रूप नहीं है । 'शब्द' का 'ज्ञापकत्वरूप' निमित्तत्व भी तब उपपन्न होगा, जब 'अर्थ' पहले से ज्ञात रहेगा, क्योंकि 'ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथम्' ? जो ज्ञात ही नहीं है उसका ज्ञापन कौन कैसे करा पायेगा ? ज्ञात तभी कहलायेगा जब उसका ज्ञान हो । और 'ज्ञान' संकेतग्रह हुए बिना होता नहीं, वह तो संकेतग्रह से ही होता है । वह 'संकेतग्रह' आपके मत के अनुसार अन्वित मात्र में ही (सामान्यरूप से अन्वित मात्र में ही) होता है । 'विशेष' में तो होता नहीं । एवं च 'शब्द' रूप निमित्त का नियतनिमित्तत्व यानी 'विशेष' के साथ संकेत, जब तक निश्चित न हो पाये, तब तक उस शब्द से विशेष (नैमित्तिक) अर्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकेगी ? अर्थात् नहीं हो सकती । अतः 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'–नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है—यह कथन, विवेकपूर्ण नहीं है ।

विशेष विवरण—'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'–इस नियम को उपस्थित कर मीमांसक, 'व्यञ्जनावादी' को यह समझाने का प्रयत्न कर रहा है कि तुम्हारे (व्यंजनावादी के) व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी 'शब्द' से ही होती है । उसकी प्रतीति में 'शब्द' ही एकमात्र निमित्त है । तात्पर्य यह है कि व्यंग्यप्रतीति 'नैमित्तिकी' है । शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त के उपलब्ध न होने से 'शब्द' को ही व्यंग्यप्रतीति में निमित्त कहना होगा । कोई भी 'निमित्त' कारक या ज्ञापक दो ही रूपों में उपलब्ध हुआ करता है । इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई रूप नहीं है । किन्तु 'व्यंग्यप्रतीति' में शब्द को कारकनिमित्त नहीं कह सकते, क्योंकि वह 'अर्थ' का जनन, उत्पादन नहीं करता । इसलिए उसे व्यंग्यार्थ के

प्रति कारकरूप में निमित्त नहीं मान सकते। अतः ज्ञापकत्व (बोधकत्व) रूप से ही शब्द में निमित्तत्व मानना होगा। तब शब्द और व्यंग्यार्थ दोनों का 'ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव' (बोध्य-बोधकभाव) रूप जो निमित्त-नैमित्तिकभाव है, उसके उपपत्त्यर्थ किसी शक्ति (वृत्ति) को मानना होगा। बिना उसके माने 'ज्ञाप्य ज्ञापकभाव' (निमित्त-नैमित्तिकभाव) ही नहीं बन सकेगा। शब्द में 'अर्थबोधन' कराने वाली शक्ति 'अभिधाशक्ति' ही मानी जाती है। अतः वाच्यार्थ (मुख्यार्थ, शक्यार्थ) की तरह व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी 'अभिधा' शक्ति से ही हो जायगी, क्योंकि शब्दश्रवणानन्तर जितनी भी वाच्य वा व्यंग्यरूप अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधाशक्ति के द्वारा ही शब्द से होती है। उस अर्थ प्रतीति के समय शब्द तथा उसकी अभिधाशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपस्थित नहीं है। इसलिए एक अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति की कल्पना करना निरर्थक है।

इस पर व्यञ्जनावादी ने मीमांसक को उत्तर दिया कि व्यंग्यार्थप्रतीति कराने में 'शब्द' ज्ञापक रूप से निमित्त होता है। परन्तु वह, ज्ञापकरूप से निमित्त तभी हो सकता है कि जब 'अर्थ' के साथ उसका संकेतग्रह हो। आपके (मीमांसक प्राभाकर के) सिद्धान्तानुसार संकेतग्रह तो सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही होता है। 'विशेष' में संकेतग्रह तो होता ही नहीं है। अतः ज्ञापकनिमित्तरूप-शब्द का जबतक व्यंग्यार्थविशेष के साथ संकेतग्रह न हो, तब तक वह अभिधाशक्ति के द्वारा उसे कैसे बता पायेगा? एवं च मीमांसकमतानुसार जब विशेष (व्यक्ति) के साथ ही अन्वित रूप में शक्तिग्रह (सङ्केतग्रह) नहीं होता है, तो अतिविशेषरूप व्यंग्यार्थ के साथ उसका (संकेतग्रह का) होना संभव ही कहाँ होगा? इसलिए अभिधा से व्यंग्यार्थ प्रतीति नहीं हो सकती। उसके लिए तो व्यंजना ही माननी होगी। अभिप्राय यह है कि व्यंजनावादी को भी व्यंग्यार्थ की उपस्थिति कराने में शब्द का ज्ञापकत्वरूप निमित्तत्व मान्य है। किन्तु वह ज्ञापकत्वरूपनिमित्तत्व तभी संभव होगा जब व्यञ्जना को स्वीकार किया जायगा, उसके बिना नहीं। शब्द में अर्थबोधन की निमित्तता तो व्यापारसापेक्ष ही होगी। जैसे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बोधन में 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' व्यापार माने जाते हैं। उसी तरह यहाँ भी किसी व्यापार को अवश्य ही मानना होगा। अन्यथा शब्द में निमित्तता का निश्चय न होने से 'व्यंग्यार्थ नैमित्तिक' है—यह आपका कथन ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। यदि बिना व्यापार के ही शब्द को निमित्त कहें, तो अभिधा और लक्षणा को भी मानने की आवश्यकता नहीं होगी—हमारे इस अभिप्राय को बिना समझे ही व्यंजना-विरोधी मीमांसक ने व्यंजना की अनावश्यकता बताई है, यह बताने के लिए ही ग्रन्थकार ने 'अविचारिताभिधानम्' कहा है।

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोव्यापार इति', 'यत्परःशब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्ते-

अब भट्टमतोपजीवी **भट्टलोल्लट** आदि के पक्ष की ओर से पुनः शंका उपस्थित की जारही है ।

येत्विति । **भट्टलोल्लट** आदि मीमांसक जो यह कहते हैं कि **व्यंग्यार्थ के बोधन में यह 'अभिधा' व्यापार ही बाण के समान दीर्घ-दीर्घतर चल रहा है ।** और जिस अभिप्राय से 'शब्द' का उच्चारण किया गया है, वही उसका अर्थ है । अतः यहाँ अर्थात् **'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्'** इत्यादि में **'निषेध'** से **'विधि'** रूप अर्थ वाच्य ही है । उसके बोधनार्थ **'व्यञ्जना'** मानने की आवश्यकता नहीं है । उसकी प्रतीति अभिधा से ही हो जायगी । इस प्रकार व्यंजनाविरोधी मीमांसक भट्टलोल्लट के कहने पर व्यञ्जनावादी कहता है कि **'तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानाम्प्रियाः'** । अर्थात् व्यञ्जना को अनावश्यक समझने वाले वे मूर्ख, मीमांसकोक्त **'तात्पर्यबोधकयुक्ति'** यानी **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** के तात्पर्य को भी नहीं समझ रहे हैं । इसलिए व्यंजना को अनावश्यक बता रहे हैं ।

विशेष विवरण—भट्टलोल्लट का कहना है कि जैसे एक ही बार छोड़ा हुआ बाण, कवचभेदन, उरोविदारण और प्राणहरण तीनों काम करता है, उसी तरह एक ही बार उच्चारण किया हुआ **शब्द एक ही व्यापार से वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तीनों का बोध करा देता है ।** उसके लिए शब्द में भिन्न-भिन्न शक्तियों को मानने की आवश्यकता नहीं है । **व्यंग्यार्थ की प्रतीति, अभिधा से ही हो सकती है ।** अपनी बात को सिद्ध करने के लिए **एक दूसरी युक्ति** भी बता रहे हैं कि **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** जिस अर्थ के बोधनार्थ 'शब्द' को बोला जाता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है । एवं च रूढ्यर्थ के बोधनार्थ शब्दप्रयोग करने पर वह रूढ्यर्थ ही उस शब्द का अर्थ होगा, और लक्ष्य या व्यंग्य कहे जाने वाले अर्थ के बोधनार्थ शब्द का प्रयोग करने पर वही उस शब्द का 'वाच्यार्थ' कहलायेगा । **तात्पर्य यह है कि सभी अर्थ एकमात्र 'अभिधा' से ही जाने जा सकते हैं । इसलिए किसी भी अर्थ की प्रतीति कराने के लिए 'व्यंजना' आदि व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है ।**

इस पर व्यंजनावादी उसका निरसन करते हैं—

तेऽपीति । व्यंजनावादी ग्रन्थकार ने संक्षेप में इतना ही कह दिया कि भट्टमतोपजीवी **भट्टलोल्लट** मीमांसकोक्त **'तात्पर्यवाचोयुक्ति'** के अभिप्राय को नहीं समझ पाया है । व्यंजना-विरोधी **भट्टलोल्लट** ने **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'**— इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का अभिप्राय यह समझा है कि **'लक्ष्य, व्यंग्य' सभी अर्थों को**

देवानां प्रियाः। तथा हि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसंबन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं ताव-

---

वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिये। किन्तु उस **'तात्पर्यवाचोयुक्ति'** का अभिप्राय यह नहीं है। **'देवानां प्रिय'** शब्द का 'मूर्ख' के अर्थ में वार्तिककार ने निपातन किया है—**'देवानाम्प्रिय इति च मूर्खे निपात्यते'**।

'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का मीमांसासम्मत वास्तविक अभिप्राय, ग्रन्थकार बता रहे हैं—

तथा हीति। 'भूत' शब्द का अर्थ है 'सिद्ध' और 'भव्य' का अर्थ है 'साध्य' अर्थात् **क्रिया। पङ्क्ति** का अर्थ इस प्रकार होगा—**'सिद्ध और क्रियारूप साध्य दोनों के साथ-साथ पठित होने पर 'सिद्ध' पदार्थ, क्रिया के लिए** (क्रिया का अंग) **हुआ करता है।'**—इस नियम के अनुसार क्रिया के साथ अन्वित होने वाला **'कारक'** (कर्ता, कर्म, करण आदि सिद्ध द्रव्य), **प्रधान क्रिया का अंग बन जाने से, प्रधान क्रिया की सम्पादक अपनी अंगभूत क्रिया के संबंध से साध्य जैसा ही हो जाता है। कोई भी 'द्रव्य'-सिद्ध पदार्थ ही कहलाता है, साध्य नहीं।** तथापि कभी-कभी वह (सिद्ध पदार्थ), साध्य जैसा लगने लगता है। किन्तु उसकी वह साध्यता, मुख्य नहीं होती, बल्कि गौण ही रहती है।

शंका—कारकपदार्था इति। कारक पदार्थ तो क्रियारूप नहीं होते, तब उनमें **प्रवर्तना-विषयत्व** कैसे होगा?

समाधान—'गामानय' इत्यादि वाक्य में **'गाम्'** इत्यादि **कारक पदार्थ हैं।** उनका सम्बन्ध **'आनयन'** आदि क्रियापदार्थ के साथ होता है। इस प्रकार सम्बद्ध हुए (अन्वित हुए) वे कारक पदार्थ, 'आनयन' रूप प्रधान क्रिया का सम्पादन करने वाली जो 'गाय' की 'चलन' रूप क्रिया उसके आश्रय रहने से ('गो' रूप कारक, गाय की चलन क्रिया का आश्रय होने से) 'साध्य' जैसे—(साध्यायमान-से) हो जाते हैं। अर्थात् स्वरूपतः सिद्ध होने पर भी साध्यक्रिया से विशिष्ट हो जाने के कारण साध्य जैसे लगने लगते हैं। जैसे पूर्वोत्पन्न होता हुआ भी 'घट', रक्तता की दशा में **'रक्तो घटो जातः'** व्यवहार का विषय हो जाता है, उसी तरह सिद्धरूप होते हुए भी कारकों का साध्यक्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर उनमें भी लाक्षणिक (भाक्त) साध्यरूपता कही जाती है, यानी उनमें गौणरूप से साध्यता (क्रियारूपता) रहती है। उसकी भाक्तता (लाक्षणिकता) को बताने के लिए ही ग्रन्थकार ने **'साध्यायमानताम्'** में 'क्यङ्' प्रत्यय का प्रयोग किया है। यह बात **विस्तारिका, सारबोधिनी व्याख्याकारों** ने भी बताई है। **उद्योतकार** इस प्रकार समझाते हैं कि **'घटमानय'**

द्विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं हवनस्यान्यतः सिद्धेः, 'दध्ना जुहोती'त्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्।

में आनयन (समीपदेशसंयोग) प्रधान क्रिया है । उसकी हेतुभूत (निर्वतक) जो घट की स्पन्द क्रिया (पूर्वदेशसंयोगध्वंसहेतुविभागजनकस्पन्दः) है। **'घट' स्वरूपतः सिद्ध रहने पर भी स्पन्दाश्रयत्वेन उसमें साध्यत्व रहता है।** घट के आनयन के समय सर्वप्रथम **'नोदनात् अभिघाताद् वा कर्म उत्पद्यते'** घट में क्रिया होती है। उस क्रिया से 'विभाग' होता है। उस विभाग से पूर्वदेशसंयोग का नाश और उत्तरदेशसंयोग होता है।

घट में विभागोत्पादक जो कर्म है, वह अप्रधानक्रिया है, उसे 'स्पन्द' कहते हैं। यद्यपि घट अपने स्वरूप से सिद्ध है, तथापि स्पन्द का आश्रय होने से वह पूर्ण सिद्ध नहीं है। घट में 'नोदन' (ज्ञानपूर्वक) की हुई क्रिया अथवा अभिघात (टक्कर) से उत्पन्न क्रिया के होने पर वह (घट) स्पन्द का आश्रय बन जाता है। और आश्रय बन जाने से वह साध्य जैसा लगने लगता है। इसी बात को **मम्मटभट्ट** ने लिखा है कि **'प्रधान क्रिया'** (आनयन क्रिया) **की निर्वर्तक** (हेतुभूत) **जो 'स्वक्रिया',** (नोदनक्रिया अथवा अभिघात से उत्पन्न स्पन्द) **उसके संबन्ध से 'घट' आदि सिद्ध पदार्थ, साध्य जैसे लगने लगते हैं।'** यह सब कहने का अभिप्राय यही है कि 'भूत' (सिद्ध) पदार्थ में कभी भी मुख्यसाध्यता नहीं रहती, अपितु गौणसाध्यता प्रतीत होती है। 'क्रिया' में ही मुख्यसाध्यता रहती है। एवं च **लौकिक, वैदिक दोनों प्रकार के वाक्यों में प्रधानता** (मुख्यता) **'क्रिया' भाग की ही हुआ करती है।**

तत्रश्चेति। अतः **'अदग्धदहन'** न्याय से (अग्नि अदग्धभाग को ही जलाता है, दग्ध हुए को नहीं) विधिवाक्य में जितना अंश (भाग) प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं (अप्राप्त) है, उतने ही अंश का विधान किया जाता है। जैसे—ऋत्विक्-प्रचरण, प्रमाणान्तर से प्राप्त होने के कारण **'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'** इस वाक्य में **'लोहितोष्णीषत्वमात्र' का** अर्थात् उष्णीष के भी केवल 'लौहित्य' का विधान किया जाता है। इसीके समान **'दध्ना जुहोति'** इस विधिवाक्य में भी 'होम' की प्राप्ति, **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस उत्पत्तिवाक्यरूप प्रमाणान्तर ('अग्निहोत्रं जुहोति'—इस उत्पत्ति वाक्य) से होने के कारण दधि के 'करणत्वमात्र' (दधिनिष्ठ करणत्व) **का ही विधान** किया जाता है, क्योंकि हवनसाधनत्वेन आक्षेप से दधिद्रव्य की भी प्राप्ति हो जाती है। **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** यह नियम है। इसलिए 'दध्ना जुहोति' से होम का विधान नहीं किया जाता।

विशेष विवरण—भट्टलोल्लट का कहना यह था कि **'व्यंग्यार्थ' को प्रतीति तो अभिधा से ही हो सकती है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए 'व्यंजना' को मानने की आवश्यकता नहीं है,** क्योंकि **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** इस नियम के अनुसार जहाँ पर जिस अर्थ को बताने की इच्छा से 'शब्द' बोला जाय, वहाँ पर वही, उस शब्द का अर्थ होता है। अतः जहाँ केवल 'वाच्यार्थ' को बताने की इच्छा से 'शब्द' बोला गया हो, वहाँ उतना ही उसका अर्थ होगा। और जहाँ उसके अतिरिक्त 'लक्ष्यार्थ' या 'व्यंग्यार्थ' को बताने की इच्छा से शब्द बोला गया हो, वहाँ वही अर्थ (लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ ही) उस शब्द का वाच्यार्थ होगा। अतः **सभी प्रकार के अर्थों का ज्ञान, एकमात्र 'अभिधा' से ही हो सकता है। इसलिए किसी भी अर्थ को बताने के लिए 'व्यंजना आदि व्यापार' को मानने की आवश्यकता नहीं है।**

इस पर व्यंजनावादी ध्वनिकार के अनुयायी **ग्रन्थकार मम्मटभट्ट** कहते हैं कि **भट्टलोल्लट ने 'तात्पर्यवाचोयुक्ति'** का जो अर्थ समझा है कि **'लक्ष्य, व्यंग्य आदि सभी प्रकार के अर्थों को अभिधा ही बता देगी'—वह ठीक नहीं है।** क्योंकि जैसे—**'अग्निहोत्रं जुहोति'** आदि वाक्यों में **केवल 'होम' क्रिया का विधान** किया जाता है, कहीं पर 'दध्ना जुहोति' वाक्य में प्रमाणान्तर से 'होम' क्रिया की प्राप्ति होने से उस (होमक्रिया) के साधनभूत **केवल 'दधि' द्रव्य का ही विधान अभिप्रेत** होता है। कहीं पर **'सोमेन यजेत'** जैसे वाक्य में **'सोम' और 'याग'** दोनों की प्राप्ति अन्य किसी प्रमाण से न होने के कारण **दोनों का** (सोमविशिष्ट-याग का) **विधान अभिप्रेत** रहता है, कहीं पर **'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'** जैसे वाक्यों में 'प्रचरण' की प्राप्ति प्रमाणान्तर से होने के कारण **'लोहितोष्णीषत्व' का विधान अभिप्रेत रहने पर भी** 'उष्णीषत्व' की प्राप्ति को देखने से **केवल 'लौहित्य' का** (विशेषण का) **विधान ही अभिप्रेत है।**

'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य 'ज्योतिष्टोम' की विकृति जो 'श्येनयाग' है, उसके प्रकरण में पढ़ा गया है। **'उष्णीष'** कहते हैं—**शिरोवेष्टनवस्त्र** को। 'याग' दो प्रकार के होते हैं—एक **'प्रकृति' याग और दूसरे 'विकृति' याग।** प्रकृति याग उन्हें कहते हैं, जिनमें उसे अपेक्षित यच्च यावत् समग्र अंग बताये गये हों। **'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः'**—यह 'प्रकृति' का लक्षण है। और जिनमें अपेक्षित समस्त अंगों को नहीं बताया गया हो केवल विशेष-विशेष अंगों को ही बताया जाता है और कह दिया जाता है कि अन्य अवशिष्ट प्रक्रिया को प्रकृतियाग के समान ही कर लेना—**'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** ऐसे यागों को 'विकृति' याग कहते हैं।

ज्योतिष्टोम के विकृतिभूत **श्येनयाग** के प्रकरण में पठित **'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'** वाक्य को सुनने से लगता है कि इसमें **'ऋत्विक्-प्रचरण'** का विधान किया गया होगा। किन्तु यहाँ 'ऋत्विक् प्रचरण' का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि श्येनयाग के प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग में **'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति'** वाक्य से ऋत्विक्-प्रचरण का विधान हो चुका है। अतः **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** नियम (अतिदेश वाक्य) के अनुसार अपने विकृतिभूत श्येनयाग में 'ऋत्विक् प्रचरण' प्राप्त हो जाता है। उसका 'श्येन' में पुनः विधान करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अप्राप्त का ही विधान किया जाता है।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक विधिवाक्यों में जहाँ जितना अंश, किसी अन्य प्रमाण (वाक्यान्तर) से अप्राप्त रहता है, उतने ही 'अंश' का विधान, वहाँ अभीष्ट माना जाता है। क्योंकि लौकिक व्यवहार में देखा जाता है कि 'अग्नि जले हुए (दग्ध) को पुनः नहीं जलाता है, किन्तु न जले हुए (अदग्ध) को ही जलाता (दहन करता) है।' एवं च वैदिक विधिवाक्य कभी भी प्राप्त का विधान (प्रापण) या ज्ञात का ज्ञापन नहीं किया करता, अपितु अप्राप्त का ही विधान, अज्ञात का ही ज्ञापन किया करता है। **'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्'**-यह न्याय ऐसे स्थलों पर ही अनुग्राहक होता है। तात्पर्य यह है कि जितना अंश, अप्राप्त रहता है, उसीके बोधन में विधि-वाक्य का तात्पर्य रहता है। वही उस विधि का विधेय (प्रतिपाद्य) अर्थ हुआ करता है—यही 'तात्पर्यवाचो युक्ति' का अर्थ है। अतः **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का तात्पर्य (अर्थ) यह नहीं है कि सभी प्रकार के लक्ष्य, या व्यंग्य अर्थ, 'शब्द' के वाच्यार्थ (अभिधा के प्रतिपाद्य) होते हैं। अन्यथा भट्टलोल्लट के आराध्यचरण कुमारिलभट्टपाद 'लक्षणा' वृत्ति को स्वीकार क्यों करते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भट्टपाद के अनुयायी **भट्टलोल्लट** आदि मीमांसकों ने **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** इस तात्पर्य-वाचोयुक्ति के वास्तविक अभिप्राय को न समझने के कारण उसके आधार पर **'व्यंग्यार्थ'** को भी **'वाच्यार्थ'** कह डाला। उन्होंने अपने ही शास्त्र के वचन का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझ पाया। ऐसी स्थिति में उन्हें **'देवानां प्रिय'** (मूर्ख) न कहें तो क्या कहें ?

'भूत-भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'—इस वाक्य के अर्थबोधनार्थ यह समझना आवश्यक है कि **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'** (मी० सू० १।२।८१) और **'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम–'** (मी० भा० १।१।१) के कथनानुसार सम्पूर्ण वेदवाक्य कर्मपरक (क्रियार्थक) ही हैं। जो कर्मपरक न हों उन्हें अनर्थक (अप्रमाण) ही माना जायगा। यही कारण है कि—

कचिदुभयविधिः कचित् त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वये'त्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यन्न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि 'पूर्वो धावती'त्यादावपराद्यर्थेऽपि कचित्तात्पर्यं स्यात् ।

वेद में कहे गये 'यूप' 'आहवनीय' आदि अक्रियारूप सिद्ध पदार्थों को आनर्थक्य दोष से बचाने के लिए किसी विधिवाक्य अथवा निषेधवाक्य के साथ उनकी एकवाक्यता करके उन्हें कर्म (क्रिया) का अंग माना जाता है । इसी अभिप्राय को बताने के लिए 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' वाक्य को मम्मट ने यहाँ लिखा है । 'भूत' का अर्थ है—'सिद्ध अर्थ' यानी जो क्रियारूप अर्थ नहीं है, तथा 'भव्य' का अर्थ है—'साध्य अर्थ' यानी जो क्रियारूप अर्थ है । किसी वाक्य में जब 'सिद्ध और साध्य' दोनों अर्थों का एक साथ उल्लेख रहने पर उनमें से 'भूत' (सिद्ध) पदार्थ 'भव्य' के लिए (साध्यरूप क्रिया के लिए) माना जाता है । यानी उसे क्रिया का अंग कहा जाता है । अतः विधि-निषेधरूप क्रिया के प्रधान रहने से विधिवाक्य में 'सिद्धपदार्थ' के कथन करने पर भी क्रियारूप विधि की ही प्रधानता मानी जाती है । यही वास्तविक अभिप्राय उक्त दोनों का है । 'आम्नायस्यक्रियार्थत्वात्' सूत्र से क्रिया की ही प्रधानता को सूचित किया गया है । उसी बात को 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' के द्वारा बताया गया है । लौकिक वाक्य में भी 'उद्देश्य' और 'विधेय' दो अंश रहते हैं । अर्थात् 'कर्ता' को उद्देश्य और 'क्रिया' को 'विधेय' कहा करते हैं । उनमें 'विधेय' अंश ही प्रधान रहता है । निरुक्तकार यास्काचार्य ने भी 'भावप्रधानमाख्यातम् , सत्वप्रधानानि नामानि, तद्यत्र उभे भावप्रधाने भवतः' कहकर उपर्युक्त बात का समर्थन किया है । 'आख्यात' अर्थात् तिङन्तपद में 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता रहती है । और उसी धातु से बने 'नाम' पद में द्रव्य की प्रधानता रहती है । किन्तु जहाँ वाक्य में 'नाम' और 'आख्यात' दोनों होते हैं, वहाँ भाव (क्रिया) की ही प्रधानता होती है । इसी अभिप्राय को 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' वाक्य से बताया गया है ।

कचिदिति । कहीं-कहीं उभयविधि (दो का विधान) भी होता है, कहीं कहीं त्रिविधि (तीन का विधान) भी होता है । जैसे—'रक्तं पटं वय' इस वाक्य में अपेक्षा के अनुसार कभी एक का विधान, कभी दो का विधान और कभी तीन का भी विधान हुआ करता है । एवं च निष्कर्ष यह है कि जो विधेय होता है, उसमें ही तात्पर्य हुआ करता है । इसलिए वाक्य में जो शब्द 'उपात्त' (उच्चरित) हो, उसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है । किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ में नहीं । यथाकथञ्चित् प्रतीत होने वाले अर्थ में भी तात्पर्य

स्वीकार किया जाय तो 'पूर्वो धावति' पहिला दौड़ता है, इत्यादि में 'पूर्व' शब्द का तात्पर्य 'अपर' आदि अर्थ में भी कहा जा सकता है।

विशेष विविरण—ग्रन्थकार ने एक विधि, द्विविधि, त्रिविधि, उभयविधि आदि शब्दों का उल्लेख किया है, उनमें से उभयविधि का उदाहरण, जैसे—'सोमेन यजेत' यह विशिष्ट विधि है, इसमें (विशिष्टरूप में) सोम और याग उभय (दोनों) का अस्तित्व है।

त्रिविधि का उदाहरण—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' यहाँ पर 'द्रव्य, देवता और याग' तीनों का विधान किया गया है। एवं च वेद की तरह लोक में भी विधि का तात्पर्य अप्राप्त अंश में ही रहता है। जैसे—'रक्तं पटं वय' यहाँ एक का, दो का, या तीन का भी विधान अर्थात् केवल रक्तगुण की, पटभाव की, वयन की सिद्धि न रहने पर यानी जिसकी और जितने की सिद्धि न हो उतने का ही विधान किया जाता है। जैसे 'ब्राह्मणं स्नातं भुक्तं समानय' यहाँ पर स्नान और भोजन दोनों की प्राप्ति रहने से आनयनमात्र का ही विधान किया जाता है और 'ब्राह्मणं स्नातं भोजयित्वा समानय' यहाँ पर स्नान तो प्राप्त है; अतः भोजन और आनयन दो का विधान किया जाता है। तथा 'ब्राह्मणं स्नपयित्वा भोजयित्वा समानय' कहने पर किसी की भी प्राप्ति न होने से स्नान, भोजन, आनयन तीनों का विधान किया जाता है। यह सब बताने का अभिप्राय यह है कि जितना अंश अप्राप्त रहता है, उतने में ही वाक्य का तात्पर्य्य समझना चाहिये। एवं च जितना अंश विधेयकोटि में हो उतने में ही तात्पर्य्य रहता है। यह अभिप्राय 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का है। अतः वाक्यगत शब्दों में से ही किसी शब्द के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रह सकता है। किन्तु जो शब्द, वाक्य में है ही नहीं, उसके अर्थ में वाक्य का तात्पर्य कैसे समझा जा सकता है? व्यंजनावादी जिस अर्थ को व्यङ्ग्य कहना चाहता है, वह अर्थ तो येन केनापि संबंधेन ज्ञायमान अर्थात् प्रतीयमान अर्थ है, किसी उपात्त शब्द का (वाक्य में उच्चारित शब्द का) अर्थ नहीं है, यानी वृत्त्युपस्थित अर्थ नहीं है। एवं च व्यंग्य अर्थ, किसी शब्द के द्वारा वृत्त्युपस्थापित न होने से कहीं भी उसकी विधेयता नहीं कही जा सकती। अतः न तो उसमें अनधिगतार्थ-गन्तृत्वरूप प्रामाण्य नियामक तात्पर्य ही है और न शब्द की शक्ति ही है। अतः भट्ट-लोल्लट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस मीमांसाशास्त्र की युक्ति के सहारे 'व्यङ्ग्यार्थ' में तात्पर्य मानकर उसे वाच्यार्थ बनाने का जो प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हो पाया।

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था' इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते—तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः। न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम्।

शंका—यदि प्रतीतमात्र (प्रतीयमान अर्थ यानी व्यङ्ग्यार्थ) में तात्पर्य को मान लिया जाय तो क्या हानि है?

समाधान—जिस किसी सम्बन्ध से प्रतीयमान हुए अर्थ में भी तात्पर्य को यदि स्वीकार किया जायगा तो 'पूर्वो धावति' कहने से 'अपरो धावति' का भी बोध होने लगेगा। क्योंकि 'पूर्वत्व' तो निश्चित ही 'अपर' की अपेक्षा रखता है। इसलिए पूर्वत्वज्ञानकाल से ज्ञायमान 'पश्चिम' (अपर) पदार्थ भी कदाचित् तात्पर्य का विषय होता हुआ 'पूर्व' शब्द का वाच्य हो जायगा। अतएव जयन्तभटट ने स्पष्ट व्याख्या कर दी है—'यदेव वस्तु विधेयं साध्यं तत्रैव तस्मिन्नेव वस्तुनि तात्पर्यमित्युपात्तस्यैवोक्तस्यैव शब्दस्य सम्बन्धिनि, अर्थे अभिधेये तात्पर्यं पर्यवसानम्', 'ततश्च यावदेव विधेयं तावत्येव तात्पर्यं विधेयं च शब्दोपात्तमेवेति सुष्ठूक्तं 'शब्दोपात्ते, एव तात्पर्यम्' इति। 'यदि च प्रतीतमात्रे तात्पर्यं तदा 'पूर्वो धावति' इत्यादौ पूर्वादिसमानसंवित्संवेद्यतया प्रतीतेऽपराद्यर्थेऽपि कदाचित् तात्पर्यं स्यात्'-इस प्रकार प्रदीपकार ने भी इसी बात को पुष्ट किया है। उद्योतकार ने भी इसी प्रकार कहा है।

शंका—यत्त्विति। पूर्वपक्षी मीमांसक भटटलोल्लट उक्त कथन पर पूछते हैं—कि 'विषं भक्षय', 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'—विष भले ही खा लेना किन्तु इसके घर में भोजन मत करना—यहाँ पर 'विषं भक्षय' इस वाक्य का 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'—अर्थात् 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इसके घर भोजन मत करना—इस अर्थ में तात्पर्य माना जाता है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि 'उपात्त शब्द' के अर्थ से भिन्न अर्थ में 'तात्पर्य' माना गया है। और उसे ही यहाँ पर 'वाक्यार्थ' कहा गया है।

समाधान—तत्रेति। 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उदाहरण में जो 'च' का प्रयोग किया गया है, वह दोनों स्वतंत्र वाक्यों की एकवाक्यता की सूचना देने के लिए है।

शंका—न चेति। दो आख्यात (तिङन्त क्रियापदों से युक्त) वाक्यों में अङ्गाङ्गिभाव नहीं हुआ करता है।

समाधान—विषभक्षणवाक्यस्येति। 'विषं भक्षय'—यह विषभक्षण वक्य

किसी मित्र (सुहृत्) ने कहा है। इसलिए उसमें अंगत्व की कल्पना करनी चाहिये। उक्त वाक्य को अग मान लेने पर 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्थाः'—उसके घर में भोजन करना विषभक्षण से भी अधिक बुरा है, इसलिए उसके घर भोजन कदापि नहीं करना चाहिये। एवं च 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इन उपात्त शब्दों के 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' अर्थ में ही है।

विशेष विवरण—भट्ट मम्मट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' नियम के आधार पर वाक्यगत वाचक शब्द के वृत्त्युपस्थापित अर्थ में ही वाक्य का तात्पर्य होता है। अतः यथा कथञ्चित् प्रतीत होने वाले अथ में तात्पर्यनिर्णायक उक्त नियम नहीं लगता। अन्यथा 'पूर्वो धावति' का तात्पर्य 'अपरो धावति' अर्थ में भी मानना होगा।

सिद्धान्ती के उक्त कथन पर भट्टलोल्लट ने पुनः प्रश्न किया कि यदि वाक्योपात्त शब्दों के वाच्यार्थ में ही वाक्य का तात्पर्य होता है तो 'विष भले ही खा ले, किन्तु उसके घर में भोजन न करे' क्योंकि शत्रु के घर भोजन करना विष-भक्षण से भी भयंकर है, इसलिए 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्'—इसके घर में भोजन नहीं करना चाहिये—इस अर्थ में तात्पर्य है, और यही वाक्य का अर्थ भी है। किन्तु इस अर्थ का वाचक शब्द, वाक्य में उपात्त (उच्चरित-प्रयुक्त) नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यंजनावादी का जो कथन है कि 'उपात्त शब्द के अर्थ में' ही तात्पर्य होता है, उसे कैसे स्वीकार किया जाय ?

इस पर ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने उत्तर दिया कि 'विषं भक्षय' 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' ये स्वतन्त्र, परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य हैं। यहाँ पर वाक्यप्रयुक्त 'च'कार के बल पर 'दोनों वाक्यों' की एकवाक्यता होती है। एकवाक्यता होने से यहाँ पर 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य उपात्त शब्द (मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः) के ही अर्थ में है, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं है।

आक्षेप—उक्त कथन पर भट्ट लोल्लट ने पुनः आक्षेप किया कि 'एकतिङ् वाक्यम्' जिसमें एक तिङ् (तिङन्त क्रिया पद) हो उसे 'एक वाक्य' कहते हैं। अतः उक्त वाक्य में 'भक्षय' और 'भुङ्क्थाः' दो तिङन्त क्रियाएँ हैं। इसलिए यह एक वाक्य नहीं है, अपितु भिन्न-भिन्न दो वाक्य हैं। अपने में वे दोनों पूण हैं, स्वतंत्र हैं। दोनों समप्रधान हैं। इसलिए 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्'—(मी० सू० ३।१।२२) इस न्याय के अनुसार जैसे दो 'गुणों' में उनकी अपनी समता के कारण परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही दो 'प्रधानों' में भी अपनी समता के कारण ही परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा। क्योंकि संबंध

होगा तो 'अंगांगिभाव' (विशेषण-विशेष्यभाव) से ही होगा। उसके बिना एक-वाक्यता नहीं हो पायेगी। अतः दोनों ही वाक्य स्वतन्त्र होने के कारण उनमें अंगांगि-भाव का (विशेषण-विशेष्यभाव) होना संभव ही नहीं है, और उसके सम्भव न होने से दोनों की एकवाक्यता को बताना उचित नहीं है। एवं च वाक्य में जो उपात्त शब्द हैं, उनके अर्थ में तात्पर्य नहीं है।

उक्त आक्षेप पर व्यञ्जनावादी ग्रन्थकार मम्मट भट्ट समाधान दे रहे हैं कि 'विषं भक्षय' वाक्य को स्वतंत्र पृथग् वाक्य मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि सुहृद्-वाक्य होने से उसका अर्थ ही अनुपपन्न हो जायगा, अनुपपन्न होने पर वह व्यर्थ हो जायगा। अतः सुहृद्-वाक्य होने से उसका अन्वयसम्बन्ध तो होना ही चाहिये। किन्तु साक्षात् 'कर्तृ कर्मभाव' से अन्वय तो होगा नहीं, क्योंकि वह बाधित है। दोनों वाक्य परस्पर एक-दूसरे के उपपादक होने से मुख्यार्थ को लेकर यदि उनका सम्बन्ध करें तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'विष भक्षण' वाक्य किसी सुहृत् या माता का होने से वह 'मुख्यार्थ' में बाधित है। क्योंकि कोई सुहृत् (मित्र) या माता अपने मित्र अथवा पुत्र को विषभक्षण करने की सलाह नहीं दे सकती। अतः 'विष-भक्षण' वाक्य मुख्यार्थ में बाधित है। एवं च यह मान लिया जाता है कि दोनों वाक्यों 'विषं भक्षय' और 'मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः' में परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप अन्वय छिपा हुआ है। वह 'अंगांगिभावरूप अन्वय', समुच्चयबोधक 'च'कार से प्रकट हो रहा है। क्योंकि यहाँ पर दोनों वाक्यों को समुच्चित करने वाला 'च' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव मानना ही पड़ता है। किन्तु वह (अंगांगिभाव) तभी बनेगा कि जब सुहृत्-प्रयुक्त 'विषं भक्षय' वाक्य का अर्थ 'विष खालो' यह मुख्यार्थ नहीं कहा जायगा। बल्कि 'विषभक्षण' से इतना अनिष्ट नहीं है, जितना इस व्यक्ति के घर में भोजन करने पर होगा, अर्थात् विषभक्षण में 'अनिष्ट कम' है, किन्तु इसके घर भोजन करने में 'अनिष्ट अधिक' है।—इस 'लक्ष्यार्थ' को स्वीकार किया जायगा। यह 'लक्ष्यार्थ' लक्षणा के बिना नहीं बनेगा। एवं च लक्षणा के तीनों हेतु (मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और रूढि-प्रयोजनान्यतर) यहाँ विद्यमान हैं। सुहृद्वाक्य होने से 'विषभक्षण' रूप 'मुख्यार्थ का बाध' हो रहा है। तदनन्तर 'मुख्यार्थ' के साथ 'लक्ष्यार्थ' का 'विरोधितारूप सम्बन्ध' अर्थात् 'योग' भी है। और 'सर्वथा नास्य गृहे भुङ्क्थाः'—यह बोधन करना ही प्रयोजन है। अतः 'लक्षणा' को मानकर 'विषभक्षण' वाक्य में ही अंगत्व की कल्पना करनी चाहिये। एवं च 'विषं भक्षय' वाक्य की 'विषभक्षणाधिकबलवदनिष्टानुबन्धित्वविशिष्टे-तद्गृहभोजन' में लक्षणा की गई है। इस प्रकार लक्षणा करके उसका (विष-

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् , कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घ-

---

भक्षण वाक्य का) 'सर्वथा के अर्थ से गर्भित **'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'** इस **वाक्यार्थ में हेतुत्वेन अन्वय होता है।** अभिप्राय यह है कि 'विषं भक्षय' यह वाक्य, अग्रिम वाक्य (मास्य गृहे भुङ्क्था:) में हेतु बनकर उससे सम्बद्ध (अन्वित) हो जाता है। इस प्रकार दोनों वाक्य परस्पर सम्बद्ध होकर एकवाक्य हो जाते हैं। एक महावाक्य बन जाने पर उससे अर्थ यह निकलेगा कि **'विषभक्षणादपि एतद् गृहभोजनमनिष्टहेतुरतः सर्वथा नास्य गृहे भुङ्क्थाः'** अर्थात् **'विषभिक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनम्'** 'इसके घर का भोजन, विषभक्षण से भी अनिष्टकर (बुरा) है, इसलिए कभी भी इसके घर, भोजन मत करना'—यह लक्ष्यार्थ तभी निकलता है कि जब दोनों वाक्य, समुच्चित होकर (अंगांगिभावापन्न होकर) एक महावाक्य का रूप धारण कर लेते हैं। अन्यथा नहीं। तथा च यह अर्थ, वाक्योपात्त शब्द (उच्चरित शब्द) प्रयुक्त ही है यानी **उपात्त शब्द का ही यह अर्थ है। अनुपात्त शब्द का नहीं है, तब उसे (उस अर्थ को) अर्थापत्ति प्रमाण से गम्य होना कैसे कहा जायगा ?** अत: **'उपात्त शब्दार्थे एव तात्पर्यम्'**—अर्थात् उपात्तस्यैव शब्दस्य अर्थे तात्पर्यम्—**इस नियम की संगति हो जाती है।** इसलिए अब स्पष्ट हो गया कि **तद्वाक्यस्थशब्दोपस्थापित अर्थ में ही तात्पर्य है।** अतः भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः' इत्यादि वचन को प्रस्तुत करके जो कहा, वह उस वचन के तात्पर्य को न समझ कर ही कहा था। एवं च **'यत्र वाक्यं स्वार्थे न विश्राम्यति यथात्रैव सुहृद्वक्तृकत्वात् , तत्र अमुख्यार्थे तात्पर्यात् लक्षणा। यत्र तु स्वार्थबोधोत्तरमितरत् प्रतीयते तत्र व्यञ्जनैव इति।** जहाँ वाक्य का पर्यवसान अपने स्वार्थ में नहीं होता है, जैसे यहीं पर मित्रवक्तृक होने से, **वहाँ अमुख्य अर्थ में तात्पर्य होने से लक्षणा होती है। किन्तु जहाँ स्वार्थबोध हो जाने के बाद अन्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ व्यञ्जना ही होती है।**

प्रश्न—भट्टलोल्लटादि मीमांसक प्रश्न करते हैं—

यदिचेति। और यदि ऐसा मान लें कि 'शब्द' का श्रवण करने के पश्चात् जितना भी 'अर्थ' ज्ञात होता है, उस सबके ज्ञात होने में **'शब्द' का एकमात्र 'अभिधाव्यापार' ही काम करता है, तो क्या हानि है ?**

उत्तर—व्यञ्जनावादी साहित्यिक उत्तर देता है—**वैसा** मानने पर **'ब्राह्मण पुत्रस्तेजातः'** अर्थात् हे ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है, तथा **'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'** अर्थात् हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कुमारी कन्या गर्भवती हो गई है—इत्यादि

तराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वमित्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यंग्यत्वम्।

वाक्यों के सुनने से मन में क्रमशः उत्पन्न होने वाले 'हर्ष' तथा 'शोक' को भी वाच्य क्यों न माना जाय? एवं च उपर्युक्त वाक्यों से मन में उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोकादि अर्थ, जो वस्तुतः वाच्य नहीं हैं, उनको भी 'वाच्य' मानना पड़ेगा, यही हानि है। व्यञ्जनाविरोधी मीमांसक 'अभिधा' और 'लक्षणा' दो शब्द व्यापारों को तो मानता है, किन्तु 'व्यञ्जना' का विरोध करता है। अतः व्यञ्जनावादी साहित्यिक उस पर आक्षेप कर रहा है कि उसी तरह 'लक्षणा' मानने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। उसे (लक्षणा को) भी क्यों माना जाय? क्योंकि 'लक्षणीय' अर्थ में भी दीर्घ-दीर्घतर (यथेच्छ रबड़ की तरह चाहे जितनी दूर तक खींचे जा सकने वाले) अभिधा व्यापार से ही लक्षणीय अर्थ (लक्षणा से प्राप्त होने वाले लक्ष्यार्थ) भी प्रतीति (ज्ञान) हो ही जायगी। तब 'व्यञ्जना' की तरह 'लक्षणा' को भी स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। केवल 'अभिधा' व्यापार से ही आपका काम (शब्दार्थबोध) चल जायगा, तब 'लक्षणा' को आप (मीमांसक) क्यों मान रहे हो? इस प्रकार से मीमांसक के मत में 'लक्षणा' का तो उच्छेद ही हो जायगा।

इस पर भी मीमांसक यदि यह कहें कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थल में 'अभिधा' से ही 'गङ्गादि' अर्थप्रतिपादन द्वारा 'तीरादि' अर्थ का भी प्रतिपादन कर पाना असंभव नहीं है। अतः हम मीमांसकों के मत में 'लक्षणा' को अतिरिक्त वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमारे मत में 'लक्षणा' का यदि उच्छेद हो जाता है, तो भी वह 'उच्छेद' हमारे लिए दोषावह नहीं है।

उस पर व्यञ्जनावादी साहित्यिक उससे पूछता है—'किमिति चेति। आप मीमांसक लोगों को 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या'—इन छह अङ्ग-बोधक प्रमाणों में से पूर्व-पूर्व प्रमाण को प्रबल और उत्तर-उत्तर प्रमाण को दुर्बल मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि शब्दश्रवण के अनन्तर प्रतीयमान होने वाले सभी प्रकार के अर्थों की प्रतीति 'अभिधा' से ही हो जाती है, जिस कारण आपको न 'लक्षणा' की और न 'व्यञ्जना' की आवश्यकता पड़ती है। सब काम आपकी 'अभिधा' से ही हो जाता है। उसी तरह अङ्गबोधक प्रमाणों में प्रबल-दुर्बल भाव को विचारने की आवश्यकता भी आपको नहीं होनी चाहिये, क्योंकि आपके मतानुसार शब्दश्रवण के अनन्तर होने वाली सभी

'अभिधा' व्यापार से ही होगी, जब श्रुति से उपस्थापित अर्थकी तरह लिङ्गादि प्रमाणों से अनुगृहीत हुए अर्थ भी 'अभिधेय' होने से छहों श्रुति–लिङ्गादि प्रमाण, अपने-अपने अर्थों को 'खले कपोतन्याय' से समकाल में (युगपत्) ही उपस्थित कर देंगे, तब उन प्रमाणों में प्रबल–दुर्बलभाव के विचारने का कोई प्रश्न ही नहीं होगा, क्योंकि उनमें प्रबल–दुर्बलभाव का निर्णय तो 'अर्थ-सन्निकर्ष–विप्रकर्ष' के आधार पर किया जाता है। जब अर्थ–विप्रकर्ष है ही नहीं तब कोई भी प्रमाण 'दुर्बल' क्यों कहलायेगा ? सभी को प्रबल ही समझना होगा।

यदि शब्द श्रवण के अनन्तर सभी प्रतीतियों का कारण 'अभिधा-व्यापार' ही होता तो जैमिनिमुनि 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य·········अर्थविप्रकर्षात्' सूत्र के द्वारा पूर्व-पूर्व प्रमाण को प्रबल और उत्तर-उत्तर प्रमाण को दुर्बल क्यों बताते ? उससे स्पष्ट हो रहा है कि सर्वत्र 'अर्थोपस्थिति' 'अभिधाव्यापार' से ही नहीं हुआ करती। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा मीमांसक नहीं होगा कि जो 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि स्थलों में व्यज्यमान विधिरूप (तदन्तिकगमन) अर्थ को अभिधेय (वाच्य) कहने का दुराग्रह करेगा। अत एव आप के एकदेशी प्रभाकरगुरु के 'अन्विताभिधानवाद' में भी निषेधरूप वाक्यार्थ से प्रतीयमान विधिरूप जो अर्थ है, उसमें 'व्यङ्ग्यत्व' सिद्ध हो ही जाता है।

विशेष विवरण—यहाँ पर ग्रन्थकार ने श्रुतिलिङ्गादि छह प्रमाणों की चर्चा की है। मीमांसादर्शन में यह चर्चा जहाँ की है उसे 'बलाबलाधिकरण' कहते हैं। यह अधिकरण, पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीयपाद का सप्तम अधिकरण है। इस अधिकरण की रचना जैमिनिमुनि के चौदहवें सूत्र पर की गई है। सूत्र रचना इस प्रकार है—

"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थवि-प्रकर्षात्" अर्थात् उक्तसूत्र के द्वारा यथाक्रम उक्त श्रुत्यादिकों का एकत्र उपनिपात होने पर, पर-प्रमाण विलम्ब से अर्थोपस्थापक होने से, दुर्बल माना जाता है और पूर्व-पूर्व प्रमाण, प्रबल माना जाता है। उक्त सूत्र के द्वारा बताये गये श्रुतिलिङ्गादि छह प्रमाणों को 'विनियोजक प्रमाण' (अङ्गाङ्गित्वरूपविनियोगबोधक प्रमाण) कहते हैं। 'अङ्गत्व' का अर्थ है—'उपकारकत्व'। और 'अङ्गित्व' का अर्थ है—'उपकार्यत्व'। 'विनियोग' का अर्थ है—'सम्बन्ध'। एवञ्च उपकार्योप-कारकभावरूप सम्बन्ध (विनियोग) के बोधक प्रमाण—ये छह बताये हैं। जहाँ एक ही पदार्थ का सम्बन्ध, दो पदार्थों के साथ दो प्रमाणों के द्वारा बताये जाने पर दो प्रमाणों में विरोध उपस्थित होता है। उस विरोध के उपस्थित होने पर

उन दो प्रमाणों में समुच्चय या विकल्प नहीं किया जाता, अपितु एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण का 'बाध' किया जाता है। वह बाध, प्रबल प्रमाण के द्वारा दुबल प्रमाण का ही किया जाता है। श्रुत्यादि प्रमाणों में जो प्रमाण, जिससे 'पर' हो वह अपने पूर्ववर्ती प्रमाण की अपेक्षया दुबल माना जाता है। दुर्बल इसलिए माना जाता है कि उस पर-प्रमाण का विनियोज्य अर्थ (पदार्थ) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) रहता है। अर्थात् वह पर-प्रमाण अपने अर्थ का विलम्ब से प्रत्यायक (बोधक) हो पाता है। उपर्युक्त सूत्र में परिगणित प्रमाणों में से प्रथम प्रमाण 'श्रुति' है। उसका लक्षण 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' आपदेवीय आदि अनेक ग्रन्थों में किया गया है। अर्थात् स्वकरणीयशेषत्वबोध (अङ्गत्वबोधन) में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाला (निरपेक्ष) जो 'रव' (शब्द), उसे 'श्रुति' कहते हैं। लक्षण में केवल 'रव' मात्र यदि कहें तो 'वाक्य' आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'निरपेक्ष' कहा गया है। 'प्रभा' व्याख्याकार ने भी 'निरपेक्षः स्वार्थबोधे शब्दान्तरानपेक्षो रवः शब्दः श्रुतिरित्यर्थः' कह कर उपर्युक्त अभिप्राय को ही स्पष्ट किया है। कुछ लोग 'निरपेक्षत्व' की व्याख्या 'इतरप्रामाण्यानधीनप्रामाण्यकत्वं चात्र निरपेक्षत्वम्' करते हैं।

यह 'श्रुति' अनेक प्रकार की होती है। जैसे--(१) विधात्री श्रुति, (२) अभिधात्री श्रुति, (३) विनियोक्त्री श्रुति। उनमें से 'लिङ्, लोट्, तव्य' इत्यादि श्रुति को 'विधात्री श्रुति' कहते हैं। और 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादि 'अभिधात्री' श्रुति है। जिसके सुनने मात्र से 'सम्बन्ध' की प्रतीति होती है, उसे 'विनियोक्त्री' श्रुति कहते हैं।

'विनियोक्त्री' श्रुति के पुनः तीन भेद किये जाते हैं--(१) 'विभक्तिरूपा' विनियोक्त्री श्रुति (२) 'एकाभिधानरूपा विनियोक्त्री श्रुति' (३) 'एकपदरूपाविनियोक्त्री श्रुति'। (१) विभिक्तिरूपा श्रुति का उदाहरण-- 'व्रीहीन् प्रोक्षति'। यहाँ 'क्रियाजन्यफलभागित्वरूप कर्मत्व' को बताने वाली द्वितीयाविभक्तिरूपश्रुति के द्वारा 'प्रोक्षण' में व्रीह्यङ्गत्व का बोधन किया जा रहा है। यह जो 'प्रोक्षण' है, वह व्रीहि के स्वरूपसम्पादनार्थ नहीं है, क्योंकि प्रोक्षण के बिना भी व्रीहि के स्वरूप की कोई अनुपपत्ति नहीं है। अतः वह 'प्रोक्षण' व्रीहि में अपूर्वसाधनत्व के सम्पादनार्थ होने से 'अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्त' है। यहाँ 'अपूर्व' का अर्थ है 'अदृष्ट' जिसे 'पुण्य' कहा जाता है। व्रीहि पर प्रोक्षण किये बिना ही यदि 'याग' का अनुष्ठान किया जायगा तो 'अपूर्व' की उत्पत्ति नहीं होगी। इसी अभिप्राय से बालबोधिनीकार ने अनुपनीतानुष्ठितवेदाध्ययनस्यापूर्वाऽजनकत्ववत् व्रीहीणां प्रोक्षणमकृत्वा तैर्व्रीहिभिरनुष्ठितस्य यागस्याऽपूर्वानुपपत्तेरिति' कहकर

स्पष्ट किया है। तृतीयाविभक्ति का उदाहरण 'व्रीहिभिर्यजेत'–यहाँ पर तृतीया-विभक्तिरूप श्रुति के द्वारा 'व्रीहि' में यागाङ्गत्व का बोधन किया जारहा है।

सप्तमी विभक्ति का उदाहरण—'यदाहवनीये जुहोति' यहाँ पर सप्तमी-विभक्तिरूप श्रुति से 'आहवनीय' मे होमाङ्गत्व बताया गया है। कारक विभक्तियों को ही 'श्रुति' शब्द से कहा जाता है। चक्रवर्तिभट्टाचार्य कहते हैं—'अभिधातुं पदेऽन्यस्मिन्ननपेक्षो रवः श्रुतिः'। 'अभिधातुं प्रकृत्यर्थेन सह स्वार्थान्वयमनुभावयितु पदान्तरविषयाकाङ्क्षाशून्यो रवः शब्दः श्रुतिः। अतः श्रवणमात्रेणार्थमनुभावयन्ती श्रुतिरुच्यते'। 'सह', चतुर्थी आदि के अर्थ में अथवा नमः आदि शब्दों के योग में जो 'तृतीया', आदि विभक्तियाँ होती हैं, उन्हें 'उपपद विभक्ति' कहते हैं। उपपद विभक्तियों को 'सह' आदि पदों की अपेक्षा रहती है। इसलिए उपपदविभक्तियों को 'श्रुति' नहीं कहते। एतन्मूलक ही 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' वचन है। कारकविभक्तिरूपश्रुति का उदाहरण, जैसे—'व्रीहीनवहन्ति'। यहाँ द्वितीया विभक्ति के श्रवण करने मात्र से ही अवहननक्रिया में 'व्रीहियों' का विनियोग होना अवगत होता है। और 'मासं गुडधानाः' 'क्रोशं कुटिला नदी' यहाँ पर जो द्वितीया विभक्ति है, वह 'उपपदविभक्ति' है, इसलिए वह 'श्रुति' नहीं है, क्योंकि यहाँ पर 'मासम्'—इत्यादि में 'बुद्धिस्थ यावत् अवयवसम्बन्धरूप व्याप्ति' 'द्वितीया विभक्ति' का अर्थ है। तथा च व्याप्तिरूप अन्तर्भूत क्रिया की अपेक्षा रहने से 'उपपदविभक्ति' सापेक्ष हुआ करती है। इसलिए उसे 'श्रुति' नहीं माना जाता है। ये तो 'विभक्तिरूपा श्रुति' के उदाहरण हुए।

(२) एकाभिधानरूपा (समानाभिधानरूपा) श्रुति का उदाहरण, जैसे—'पशुना यजेत' इस वाक्य में 'पशुना' यह तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप है। यहाँ पर 'पशु' शब्द से तृतीया विभक्ति के एकवचन की विवक्षा होने पर 'टा' प्रत्यय किया, उसके स्थान पर पुँल्लिङ्ग को सूचित करने के लिए 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इस पाणिनिसूत्र से 'ना' आदेश करने पर 'पशुना' यह तृतीया के एकवचन का रूप बना। तब 'ना' आदेश के सुनते ही 'एकवचन' तथा 'पुँस्त्व' दोनों की प्रतीति होती है, और उसी से 'करण-कारक' का भी बोध होता है। एवं च 'पशुना' पदगत एक ही प्रत्ययरूप अंश से तीनों की उपस्थिति हो रही है। तब 'पुँस्त्व' और 'एकत्व' में (लिङ्ग और संख्या में) कारकाङ्गत्व होने का ज्ञान 'समानाभिधान' (एकाभिधान) श्रुति से होता है। उसी तरह दूसरा पद 'यजेत' है। उसमें दो अंश हैं—एक 'धातु' का और दूसरा 'प्रत्यय' का। धातु को 'प्रकृति' शब्द से भी कहा जाता है। उक्त पद में 'यज' धातु (प्रकृति) है और 'त' प्रत्यय है। 'प्रत्यय' में भी दो अंश (भाग) हैं—एक 'साधारण' अंश और दूसरा 'विशेष' अंश।

उनमें से साधारण अंश 'आख्यातत्व' है और विशेष अंश 'लिङ्त्व' है। अपने 'लिङ्त्व' अंश के द्वारा वह 'त' प्रत्यय, 'शाब्दी भावना' (प्रेरणा या प्रवर्तना) को बताता है और अपने 'आख्यातत्व' अंश से 'संख्या' आदि को बताता है। उस 'संख्या' का धात्वर्थ 'याग' में अङ्गत्वेन अन्वय होता है। अर्थात् प्रत्ययार्थ 'संख्या', अपने धात्वर्थ 'याग' को अंग बन जाती है। प्रकृति और प्रत्यय मिलकर 'एक पद' निष्पन्न होता है। यहाँ पर यागरूप 'धात्वर्थ' को बताने वाला 'यज' प्रकृति है और 'संख्या' को बताने वाला 'त' प्रत्यय है। तब प्रकृति और प्रत्यय दोनों को जोड़ देने पर 'यजेत' यह एक पद तैयार होता है। इसलिए 'याग' में 'संख्या' का अन्वय 'एकपद' नामक श्रुति से हुआ है।

एवं च अङ्गत्वबोधक (गुण-प्रधानभाव के ज्ञापक) छह प्रमाणों में से सर्वप्रथम 'श्रुति' प्रमाण है। उसके तीन भेद (तीन प्रकार) किये गये हैं--(१) विधात्री, (२) अभिधात्री और (३) विनियोक्त्री। उनमें से विधायक लिङ्, लेट्, लोट्, तव्य, अनीयर् आदि स्वरूपवाली 'श्रुति' (शब्द) को 'विधात्री श्रुति' (प्रवर्तनाबोधिका, प्रेरित करनेवाली) कहते हैं। और 'व्रीहिभिर्यजेत' में जो 'व्रीहि' पद अथवा 'यवैर्यजेत' में जो 'यव' पद, उसी तरह अन्यान्यस्थलों में अन्य अन्य पद 'अभिधात्री श्रुति' (शक्त्या अर्थबोधन करनेवाली) के नाम से कहलाते हैं। यद्यपि 'विनियोग' प्रकरण में विधात्री और अभिधात्री श्रुति का निरूपण करने का कोई औचित्य नहीं है तथापि श्रुतिनिरूपण का प्रसंग चलने के कारण और विधि के सहकारी होने के कारण उनका भी निरूपण कर दिया गया है। (३) विनियोक्त्री-श्रुति—'यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री श्रुतिः'। जिसके सुननेमात्र से सम्बन्ध की प्रतीति होती है। उसे 'विनियोक्त्री' श्रुति कहा जाता है। इस श्रुति के भी तीन भेद 'विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा और एकपदरूपा' नाम से बताये गये हैं।

'श्रुतिप्रमाण' अपने अगले लिङ्गादि' प्रमाणों की अपेक्षा अधिक प्रबल माना जाता है। क्योंकि इसे अङ्गाङ्गिभाव (गौण-प्रधानभाव) बोधनरूप कार्य के करने में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। वह स्वयं ही अङ्गाङ्गिभाव का निर्णय कर देता है। किन्तु उत्तरवर्ती लिङ्गादि प्रमाणों में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे निरपेक्ष होकर (अन्य प्रमाण की सहायता के बिना) अङ्गाङ्गिभाव का निर्णय कर सकें। उन्हें अपना कार्य करने में पूर्व-पूर्व प्रमाण की सहायता लेनी पड़ती है। अतः उन्हें अङ्गाङ्गिभाव के निर्णयरूप अपना कार्य करने में विलम्ब लगता है। इसलिए उत्तरवर्ती सभी प्रमाणों की अपेक्षा 'श्रुति प्रमाण' को प्रबल समझा जाता है। अत एव 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्य से द्वितीया श्रुति की प्रबलता

के आधार पर इन्द्रदेवतावाली 'ऐन्द्री' ऋचा का 'गार्हपत्योपस्थान' (गार्हपत्याग्नि की स्तुति) में विनियोग किया जाता है, अर्थात् 'ऐन्द्री' ऋचा, 'गार्हपत्योपस्थान' की अंग मानी जाती है। अभिप्राय यह है कि ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्योपस्थान किया जाता है, 'इन्द्र' देवता का उपस्थान नहीं।

(२) लिङ्गप्रमाण—

'शब्दस्य अर्थविशेषप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्'। शब्द का जो अर्थविशेष-प्रकाशन करने का सामर्थ्य है, उसे 'लिङ्ग' प्रमाण कहते हैं। कहा भी है—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते'। कहीं-कहीं 'सर्वशब्दानां' के स्थान पर 'सर्व-भावानां' भी पाठ है। प्रकृत प्रसंग में वह अनुपयुक्त रहने पर भी उचित प्रतीत हो रहा है। क्योंकि उससे 'अर्थसामर्थ्य' का भी ग्रहण किया जासकेगा। 'सामर्थ्यं रूढिरेव'–सामर्थ्य का अर्थ 'रूढि' है। किन्तु इसे आगे आने वाले 'समाख्या' प्रमाण से भिन्न समझना चाहिये। क्योंकि आगे बताये जानेवाले 'समाख्या' प्रमाण का अर्थ 'यौगिकशब्द' है। अतः यौगिकशब्दरूप 'समाख्या' से यह रूढिरूप 'लिङ्ग' भिन्न है। इसलिए दोनों प्रमाण परस्पर भिन्न हैं। लिङ्ग प्रमाण का उदाहरण—'बर्हि-र्देवसदनं दामि' है। 'दाप्' लवने—धातु से 'दामि' रूप सिद्ध होता है। 'देवसदनं' पुरोडाश-सदन (स्थान) भूत बर्हि' (कुश=दर्भ) को मैं 'दामि' काटता हूँ—यह अर्थ, उक्त वाक्य का है। अतः 'दामि' इस श्रुत पद के सामार्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के आधार पर उक्त 'मन्त्र' बर्हिर्लवन (बर्हिच्छेदन) का अङ्ग माना जाता है। दूसरा उदाहरण—'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'। यहाँ पर 'निर्वपामि' पद से निर्वापप्रकाशन-सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण से उक्त मन्त्र, 'निर्वाप' का अंग माना जाता है, क्योंकि 'यस्य मंत्रस्य यत्प्रकाशनसामर्थ्यं तस्य तदङ्गत्वम्' यह नियम है। प्रथम उदाहरण में 'बर्हि' शब्द से 'कुश'=दर्भ अर्थ ही लिया जाता है। कुश के सदृश 'उलप' आदि अन्य तृणों का ग्रहण नहीं किया जाता। यह 'लिङ्ग प्रमाण' अपने उत्तरवर्ती 'वाक्य' आदि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। अतः लिङ्गप्रमाण से ही उक्त उदाहरणों में अङ्गत्व का निर्णय किया गया है।

(३) वाक्यप्रमाण—

'परस्पराकांक्षावशात्कचिदेकस्मिन्नर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यम्' परस्पर आकांक्षा के कारण किसी एक अर्थ में पर्यवसित होनेवाले पदों को 'वाक्य' प्रमाण कहते हैं। 'वाक्य' का अर्थ 'समभिव्याहार' (सहोच्चारण) है। अर्थात् 'अङ्ग' और 'अङ्गी' पदार्थों का सहोच्चरण करना है। वाक्यप्रमाण का उदाहरण—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इसमें 'पर्ण' (पलाश) और 'जुहू' का समभिव्याहार (सहो-च्चारण) किया गया है। इसलिए इस–वाक्यप्रमाण के आधार पर 'जुहू' के प्रति

'पर्णता' को अंग माना गया है। 'जुहू' एक यज्ञीय पात्रविशेष है, इसमें हवि को रखकर अग्नि में आहुति दी जाती है। यह 'जुहूपात्र' पलाश की लकड़ी से बनाया जाता है। यह वाक्यप्रमाण अपने उत्तरवर्ती 'प्रकरण' आदि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल होता है। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महो-ज्यायोऽक्राताम्' यह मंत्र दर्शयाग के साथ पठित होने के कारण 'समभिव्याहाररूप वाक्य' प्रमाण से केवल दर्शयाग का ही अंग होता है। प्रकरणप्रमाण के आधार पर सम्पूर्ण दर्श-पूर्णमासयाग का अङ्ग नहीं है।

(४) प्रकरणप्रमाण--

'परस्पराकांक्षा प्रकरणम्'—अङ्ग और अङ्गी दोनों की परस्पर आकांक्षा को 'प्रकरण' प्रमाण कहते हैं। जैसे—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' यहाँ पर दर्शपूर्णमास के द्वारा स्वर्ग का सम्पादन करे, यानी स्वर्गापूर्व को प्राप्त करे। यह बोध होने पर उपकारक की आकांक्षा होती है कि 'कथमाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' यानी दर्शपूर्णमास से स्वर्गापूर्व को कैसे सम्पन्न करें? यह 'अङ्गी दर्शपूर्णमास' के सम्बन्ध में आकांक्षा हुई।

तथा फलवान् 'आग्नेय' आदि यागों के समीप 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, आज्यभागौ यजति' इत्यादि वाक्यों ने फलरहित प्रयाजादि यागों को बताया है। तब इन वाक्यों में प्रयोजन की आकांक्षा होती है। क्योंकि 'समिद्यागेन भावयेत्'—ऐसा बोध होने पर किसी फलविशेष के श्रुत न होने से उसके प्रयोजन की आकांक्षा होती है अर्थात् 'किमेतेषां प्रयोजनम्' ऐसी उपकार्याकांक्षा होती है। एवं च प्रयाजादि-यागों को 'प्रयोजन' की आकांक्षा और दर्शपूर्णमास यागों को 'कथंभावाकांक्षा' होने पर परस्पराकांक्षारूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादिकों में दर्शपूर्णमास की अङ्गता मानी जाती है। यह 'प्रकरण' प्रमाण उत्तरवर्ती स्थानादि प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल होता है। अत एव 'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति' इत्यादि पदार्थ 'अभिषेचनीय-सोमयाग' के समीप पठित हैं, तथापि 'स्थान' प्रमाण से उसके अङ्ग नहीं माने जाते, किन्तु 'प्रकरण' प्रमाण के आधार पर उन्हें राजसूय का ही अङ्ग माना जाता है।

(५) स्थानप्रमाण—

'समानदेशत्वं स्थानम्' देश की समानता को स्थान-प्रमाण कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'क्रम' भी है। यह प्रमाण दो प्रकार का है, एक 'पाठसादेश्य' और दूसरा 'अनुष्ठानसादेश्य'। कहा भी है—'तत्र क्रमो द्विधैवेष्टो देशसामान्य-लक्षणः। पाठानुष्ठानसादेश्याद्विनियोगस्य कारणम् ॥' पाठक्रम भी दो प्रकार का होता है—एक 'यथासंख्यपाठ और दूसरा 'सन्निधिपाठ'। स्थान-प्रमाण का उदाहरण, जैसे—ज्योतिष्टोम प्रकरण में उपाकरण, नियोजन आदि पश्वंग बताये गये हैं,

वे स्थानप्रमाण के आधार पर अग्नीषोमीयपशु के अङ्ग कहे जाते हैं। यह स्थान प्रमाण अपने उत्तरवर्ती समाख्या-प्रमाण की अपेक्षा प्रबल है। अत एव 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' यह मन्त्र स्थान-प्रमाण के प्रबल रहने से सान्नाय्यपात्रों के शोधन का अङ्ग माना जाता है। 'पौरोडाशिक' इस दुर्बल समाख्या-प्रमाण से यह मंत्र पुरोडाशपात्रों के शोधन का अङ्ग नहीं माना जाता।

(६) समाख्याप्रमाण--

'यौगिकः शब्दः समाख्या'। यौगिक शब्द को **'समाख्या'** कहते हैं। नाम शब्द चार प्रकार के होते हैं--(१) यौगिक, (२) रूढ, (३) योगरूढ, (४) यौगिकरूढ। आध्वर्यव, पाचक इत्यादि शब्द योगिक हैं। इसी को 'समाख्या' कहते हैं। जहाँ अवयवार्थ का ज्ञान होता है उसे 'यौगिक' कहते हैं। जो अवयवशक्ति की अपेक्षा न रखकर केवल समुदायशक्ति से ही अर्थ का बोधन करता है उस शब्द को 'रूढ' कहते हैं। जैसे—'गो' आदि शब्द, रूढ-शब्द कहे जाते हैं। जो अवयवशक्ति के विषय में समुदायशक्ति से भी प्रवृत्त होता है, उसे 'योगरूढ' कहते हैं। जैसे--'पङ्कज' आदि शब्द। पङ्कजादि शब्दों में ही अवयवशक्ति से अर्थात् पङ्क-जनि-कर्तृत्वेन रूपेण और समुदायशक्ति से अर्थात् पद्मत्वेन रूपेण पद्मबोधकत्व रहता है। जो अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनों के द्वारा रूढ्यर्थ का स्वतन्त्ररूप से बोधन करता है, उसे 'यौगिकरूढ' शब्द कहते हैं। जैसे--उद्भिद् आदि शब्द।

यह समाख्या वैदिक, लौकिक दो प्रकार की होती है। 'होतृचमस' इस वैदिक समाख्या के आधार पर 'होता' को चमसभक्षण का अङ्ग माना जाता है। 'आध्वर्यव', 'हौत्र' इन लौकिक सामाख्याओं के आधार पर 'अध्वर्यु, होता' आदि, तत्तत् पदार्थों के अङ्ग माने जाते हैं।

विनियोजक श्रुत्यादि छह प्रमाणों के लक्षण कण्ठस्थ करने के लिए निम्नाङ्कित-पद्य उद्धृत किये जा रहे हैं—

"अभिधातुं पदेऽन्यस्मिन्ननपेक्षो रवः श्रुतिः।
सर्वत्रावगता शक्तिर्लिङ्गमित्यभिधीयते॥
संहत्यार्थं ब्रवद्वृन्दं पदानां वाक्यमुच्यते।
प्रधानवाक्यस्याङ्गोक्त्याकाङ्क्षा प्रकरणं मतम्॥
स्थानं समानदेशत्वं समाख्या यौगिको रवः॥"

'निःशेषच्युतचन्दनम्' जैसे 'विधि' आदि में शक्ति है ही। उस विध्यर्थ के अप्राप्त रहने से वह विधेय के रूप में तात्पर्य का विषय हो सकता है, क्योंकि उससे प्राथमिक अर्थबोध हो ही जाता है, किन्तु वाक्य का विराम नहीं होता है, क्योंकि

किञ्च कुरु रुचिमिति पद्योर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम् ? न ह्यत्राऽसभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

उससे विवक्षित अर्थ का बोध नहीं हो रहा है। अन्यथा अवान्तरवाक्यार्थ का बोध होने पर महावाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। इस रीति से शब्दश्रवण के अनन्तर जितने अर्थ की प्रतीति होती है, वह प्रतीति केवल अभिधा से नहीं होती है, किन्तु उसके लिये आकांक्षा आदि की अपेक्षा करनी पड़ती है। इसीलिए श्रुति आदि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व प्रमाणों के सहयोग से ही उत्तर-उत्तर प्रमाणों की बोधकता हो पाती है। अतः जैमिनि सूत्र से विरोध भी नहीं हो पाता है।

वक्त्रादि के वैशिष्टय की सहकारिता से क्वचित् अज्ञात अर्थ को बताने के लिए अभिधा का भी उपयोग किया जा सकता है। ऐसी शंका उपस्थित करने पर दूषणान्तर को दिखा रहे हैं—

किञ्चेति। 'कुरु रुचिम्' इन दो पदों को विपरीत कर देने पर काव्य में (काव्यान्तर्वर्तिनि) 'रुचिङ्कुरु' पढ़ा जायगा। तब अश्लीलता दोष के स्पष्ट हो जाने पर भी उस काव्य को दुष्टकाव्य क्यों कहा जाय ? क्योंकि यहाँ पर अश्लील (असभ्य अर्थात् योनि का अंकुर अथवा भगनासा) अर्थ का काव्यान्तर्वर्ती अन्य पदार्थों के साथ अन्वय तो है नहीं। इसलिए उसे वाच्यार्थ भी नहीं कह सकते। अतः वह अश्लील अर्थ अनभिधेय ही है। इस अश्लील अर्थ को यदि व्यङ्ग्य न कहें तो उस जैसे अश्लील प्रयोगों को काव्य में परित्याज्य नहीं कहना चाहिये।

मूल में स्थित 'काव्यान्तर्वर्तिनि' के स्थान पर कहीं कहीं 'कन्तर्वर्तिनी' भी पाठ उपलब्ध होता है। तब अर्थ इस प्रकार करना होगा—'कु-शब्दः अन्तर्वर्ती यत्र तादृशे वैपरीत्ये अर्थात् 'रुचिं कुरु' इत्येवं रूपे'। 'रुचि कुरु' में सन्धि करने पर 'चिङ्कु' पद निष्पन्न होता है। लाटभाषा में 'चिङ्कु' शब्द का अर्थ—'योन्यन्तर्वर्ती अङ्कुर' होता है। यह बात सरस्वती-तीर्थ आदि अनेक विद्वानों ने बताई है। काव्यप्रकाशदर्पण में विश्वनाथ ने भी 'चिङ्कुपदं कश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थो-बोधकम्' ऐसी उसकी व्याख्या की है।

विशेष विवरण–व्यञ्जनावादी मम्मटभट्ट ने व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता को बताकर मीमांसकों का खण्डन कर दिया है। पुनः अपनी साहित्यशास्त्रीय पद्धति से भी कतिपय युक्तियों को उपस्थित कर रहे हैं, जिनसे व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता का अनुभव हो सके। उनमें से एक युक्ति तो यह दी जा रही है कि 'कुरु रुचिम्' शब्दों को यदि विपरीत क्रम से रखें, तो 'रुचिं कुरु' पढ़ना होगा। सन्धि कर देने पर 'चिङ्कु' पद सुनाई देगा। तब वह, स्त्रीगुह्याङ्गवाचक 'चिङ्कु' पद के तुल्य होने से व्यञ्जना के द्वारा स्त्रीगुह्याङ्ग का उपस्थापक हो जाने के कारण

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यंग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽ-

'अश्लीलत्व' दोष होगा, किन्तु यहाँ पर 'स्त्रीगुह्याङ्ग' (भगनासा) रूप असभ्य (अश्लील) अर्थ 'रुचि' और 'कुरु' दोनों में से किसी भी पद का वाच्यार्थ नहीं है। एवं च जब 'अश्लील अर्थ' वाच्य ही नहीं है, और 'अभिधा के सिवाय अन्य कोई अर्थबोधक वृत्ति भी नहीं है, तब अश्लील अर्थ की प्रतीति कैसे हो पायेगी ? अर्थात् असभ्य अर्थ की प्रतीति होगी ही नहीं। तब इस प्रकार के प्रयोगों को काव्य में वर्जित नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु सहृदय विद्वान् लोग ऐसे प्रयोगों को अश्लील अर्थ के व्यञ्जक मानकर उन्हें वर्जित करते हैं। किन्तु 'अन्वित एवार्थोऽभिधेयः'–अन्वित अर्थ ही अभिधेय होता है—इस अन्विताभिधान के मत में व्यञ्जना का स्वीकार न करने से अनभिधेय अश्लील प्रयोगों को वर्जित करना संभव नहीं होगा, क्योंकि वह अश्लील अर्थ, किसी से भी अन्वित नहीं है, इसीलिए वह अभिधेय नहीं है, क्योंकि अन्वित अर्थ ही अभिधेय होता है। अतः अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना को भी अवश्य मानना होगा।

अन्वित अथ का अनुभव कराने वाली 'आनुभाविकी शक्ति' ही होती है, जो अनन्वित अर्थ का अनुभव नहीं कराती। क्योंकि कोई भी पद, अपने अर्थ का अनुभव तभी करा पाता है कि जब वह दूसरे पद के अर्थ के साथ अन्वित होता है। अत एव 'पद' को अनुभावक कहते हैं। यदि किसी पद का अर्थ, किसी दूसरे पद के अर्थ से अन्वित नहीं होता हैं तो, उस 'पद' को अनुभावक नहीं कहते, यानी वहाँ शाब्दबोध नहीं हो पाता। इसीलिये यह नियम किया गया है कि 'शक्तिमत् पदमेव अनुभावकं नाऽशक्तिमत्'। एव च अन्वित शक्तिमत् पद ही 'अनुभावक' होगा, और कोई नहीं, तथापि 'स्मारिका शक्ति' तो अनन्वित पद में भी रहती है। अतः 'आनु-भाविकी शक्ति' के न रहने पर भी 'स्मारिका शक्ति' के बल पर 'चिङ्कु' आदि पदैकदेश भी असभ्य अर्थ का स्मरण कराने वाले होने से काव्य का दुष्टत्व होना संभव हो सकता है। इसलिए दूसरा दोष दिखा रहे हैं—

यदि चेति। 'यदि च' इस ग्रन्थ से दूसरी युक्ति बता रहे हैं। साहित्य-शास्त्र के दोषप्रकरण में दो प्रकार के दोष बताये गये हैं—एक तो 'नित्यदोष' और दूसरे 'अनित्यदोष'। उनमें से 'असाधुपदत्व' आदि दोष, प्रत्येक रस के अपकर्षक होने के कारण उन्हें 'नित्यदोष' माना जाता है, और 'श्रुतिकटुत्व आदि दोष', 'करुण, शृंगार' आदि कोमल रसों में ही माने जाते हैं। 'वीर, रौद्र, भयानक' आदि रसों में उनको दोष के रूप में नहीं माना जाता। इस कारण उन्हें 'अनित्यदोष' कहा जाता है।

यदि 'वाच्य-वाचकभाव' से पृथक् 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' को स्वीकार न

साधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था।

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'॥

किया जाय तो 'नित्यदोष' और 'अनित्यदोष' की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। किन्तु जब 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' को पृथक्रूप से स्वीकार करने पर व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीयमान भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल या प्रतिकूल होने के कारण नित्य-दोष और अनित्य दोषों की व्यवस्था का होना संभव हो सकता है, तब व्यञ्जनावृत्ति को अवश्य मानना ही होगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'यदि च' ग्रन्थ से बताया है।

यदि चेति। यदि वाच्य-वाचक भाव से भिन्न अर्थात् 'वाच्य-वाचकभाव' के बिना यानी 'अभिधा' के अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव को नहीं मानते हैं तो 'असाधुपदत्व' (च्युतसंस्कारत्व यानी व्याकरणाननुगतत्व अथवा व्याकरणव्युत्पत्ति-शून्यत्व) आदि 'नित्यदोष' कहे जाते हैं, और 'कष्टत्व' (श्रुतिकटुत्व) आदि 'अनित्यदोष' कहे जाते हैं—यह दोष-विभाग नहीं कह सकेंगे।

न चेति। और उक्त विभागव्यवस्था को अनुपपन्न भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि सभी सहृदय विद्वानों को नित्यदोष तथा अनित्यदोषों को पृथक् पृथक् (विभक्ततया) प्रतीति हुआ करती है। इसलिए उस दोष-विभाग को स्वीकार करना ही होगा।

वाच्य-वाचकभावव्यतिरेकेणेति। वाच्य-वाचक भाव (अभिधारूप-व्यापार) से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव (व्यञ्जनारूप व्यापार) को मानने पर तो व्यङ्ग्य (रस आदि) के अनेक प्रकार (बहुविध) होने से क्वचित् (कहीं पर ही और किसी सहृदय को ही) किसी के औचित्य के कारण दोष-विभाग की व्यवस्था उपपन्न हो ही जाती है। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना ही होगा।

यह व्यवस्था महाकवि कालिदास के प्रयोग में भी दिखाई देती है। जैसे, **द्वयमिति।**

"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमता कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥"

कुमारसम्भव काव्य के पञ्चम सर्ग में तप करती हुई पार्वती का छल करते हुए शिवजी अपनी ही निन्दा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे पार्वती! कपाल को धारण करने वाले (अस्थिविशेष को धारण करने वाले दरिद्र और बीभत्स रूप वाले) शिव के

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ?

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ।

समागम की इच्छा रखने के कारण 'चन्द्रमा की सुन्दर कला' और उससे भी 'अधिक सुन्दर तुम' (पार्वती) दोनों शोचनीय हो गये हो।

इत्यादाविति। इत्यादि काव्य में शिव के वाचक (अभिधायक) 'पिनाकी' आदि पद की अपेक्षा 'कपाली' आदि पदों में काव्यानुगुणत्व क्यों अधिक स्वीकार किया जाता है ?

विशेष विवरण—उक्त उदाहरण में 'कपाली' पद से अपवित्र 'बीभत्स' कपाल (अस्थि) धारण के कारण उसका स्पर्श करना, दर्शन करना भी उचित नहीं है, अतः वह सर्वथैव हेय (त्याज्य) है—यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है। यदि 'कपाली' पद की जगह 'पिनाकी' पद का प्रयोग करें तो कपाली और पिनाकी दोनों पदों से अभिधेय 'शिव' अर्थ की उपस्थिति में कोई अन्तर नहीं होगा, तथापि 'पिनाकी' पद से धनुर्धारिता की प्रतीति होने से वीरत्व का बोध होगा, 'निन्दा' की प्रतीति नहीं होगी। व्यञ्जनावृत्ति को मानने पर कपाल-सम्बन्ध के कारण सकल-अमङ्गलनिधानत्व, दुराचारत्व, स्पर्श-सम्भाषणादि की अयोग्यता का बोध होने से भगवान् शिव 'बीभत्सरस' के आलम्बन हो पाते हैं, तब निन्दा के अतिशय का बोधन होता है। उन शिवजी का संसर्ग चाहने वाले अत्यधिक शोचनीय प्रतीत होते हैं। उस कारण पार्वती के हृद्गत भाव का निधारण 'कपाली' पद के प्रयोग से ही हो सकता है, इसलिए उसके प्रयोग में काव्यानुगुणता (काव्योत्कर्षता) मानी गई है। अन्यथा व्यञ्जनावृत्ति को न मानने पर सभी पदों (शब्दों) का स्थान वाचकरूप से तुल्य ही है, तब 'कपाली' जैसे विशेष पद के प्रयोग मे कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होना चाहिये। किन्तु सहृदयों को चमत्कार का अनुभव तो होता है। अतः वाच्य-वाचक भाव से भिन्न 'व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव' को मानना ही होगा।

अपि चेति। व्यञ्जनावृत्ति के स्वीकार करने में एक और भी युक्ति बता रहे हैं। 'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' दोनों में से जो वाच्यार्थ है, वह सभी प्रकार के ज्ञाताओं के लिए साधारण (एकरूप) होता है, क्योंकि 'शक्यतावच्छेदक' नियत रहता है। अतः वाच्यार्थं का स्वरूप निश्चित रहता है।

नहीति। क्योंकि 'गतोऽस्तमर्कः'–सूर्य अस्त हो गया–इत्यादि स्थलों में कहीं भी और कभी भी वाच्यार्थ अनेक नहीं होते। सभी जगह और सबके लिए वाच्यार्थ का स्वरूप (आकार) एक-सा (समान) ही रहता है।

न हि 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

प्रतीयमानस्त्विति। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) तत्तत् प्रकरण के वक्ता, बोद्धा, (प्रतिपत्ता) आदि के आधार पर अनियत (पृथक्-पृथक्) अर्थात् अनेक प्रकार का हो जाता है। क्योंकि उसका व्यङ्ग्यतावच्छेदक नियत नहीं होता, यानी अनियत (अनिश्चित) होता है।

तथा चेति। जैसे—'गतोऽस्तमर्कः'—सूर्य अस्त हो गया—यह वाक्य सुनकर वीर लोग समझते हैं कि शत्रु पर (सपत्न के प्रति) प्रत्यवस्कन्दन (चढाई करने) का यह अवसर है। अभिसरणमिति। यदि रसिक नायिका उक्त वाक्य को सुनती है तो वह समझती है कि नायक के संकेतित स्थान पर अभिसरण करने का उपक्रम (तयारी) करना चाहिये। उसकी सखी या दूती कहती है कि 'प्राप्तप्रायस्ते प्रेयान्'—तुम्हारा प्रियतम संकेत स्थल पर पहुँच ही रहा है, समझो। कर्मेति। काम करने वाले नौकर, मजदूर यदि उक्त वाक्य को सुनते हैं, तो वे समझते हैं कि काम करने से छुट्टी हो गई है अर्थात् काम समाप्त करना चाहिये। सान्ध्य इति। यदि ब्राह्मणादि कोई द्विज उक्त वाक्य को सुनता है, तो वह समझता है कि सायंकालीन सन्ध्याविधि का अनुष्ठान करना चाहिये। दूरमिति। कार्यवशात् बाहर जाने वाले को उसका आप्त उक्त वाक्य को कहता है तो सुनने वाला समझता है कि दूरं मा गाः—बहुत दूर मत जाना—अन्धेरा हो रहा है। सुरभय इति। जब कोई गृहस्थी ग्वाले से उक्त वाक्य को कहता है तब ग्वाला समझता है कि 'सुरभयो (गावः) गृहं प्रवेश्यन्ताम्—गौओं को घर में ले चलो, अब हिंसकजीवों का आने का समय हो गया है, अब वन में घूमना उचित नहीं है। सन्ताप इति। दिन भर अत्यन्त सन्तप्त हुए बन्धुओं से उक्त वाक्य जब कहा जाता है, तब बन्धुजन समझते हैं कि 'सन्तापोऽधुना न भवति' अब तापदायक गरमी नहीं है। दूकानदारों में से कोई उक्त वाक्य को बोलता है, तो भृत्य (नौकर) वर्ग समझते हैं कि 'विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्'—विक्रेय वस्तुओं को समेट लिया जाय अर्थात् दूकान बन्द की जाय। नायक के आगमन के प्रसंगमें कोई प्रोषितभर्तृका नायिका 'गतोऽस्तमर्कः'

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना—
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥ १३३॥
इत्यादौ संशय-शान्त-शृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण—

वाक्य को जब सुनती है, तब वह कह उठती है कि 'नाऽगतोऽद्यापि प्रेयान्' आज भी या अभी तक मेरा प्रियतम नहीं आया। इस रीति से भिन्न-भिन्न स्थलों पर असंख्य प्रकार के व्यङ्ग्यर्था, एक ही वाक्य से तत्तत्प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य, आदि के कारण प्रकट होते हैं। इसी तरह 'उदितं मण्डलं विधोः'–चन्द्रमण्डल उदित हुआ है––इस एक ही वाक्य से दूती, अभिसारिका, विरहिणी, सखी आदि में से किसी के द्वारा जब कहा जाता है, तब उससे यथाक्रम अभिसरण-विधि, निषेध, जीवनाभाव, पतिप्राप्ति आदि अनेक व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की संख्या में भेद होने से भी व्यङ्ग्याथ को वाच्यार्थ से भिन्न ही कहना होगा।

विशेष विवरण––व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि में चार हेतुओं को बताया गया है। अब वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता बताने के लिए और आठ हेतुओं को बता रहे हैं––(१) स्वरूपभेद, (२) प्रतीतिभेद, (३) कालभेद, (४) आश्रयभेद, (५) निमित्तभेद, (६) कार्यभेद, (७) संख्याभेद, (८) विषयभेद।

स्वरूपभेद के कारण वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता के तीन उदाहरण—

(१) वाच्य-व्यङ्ग्ययोरिति। 'निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटम्' में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के क्रमशः 'निषेध' और 'विधिरूप' होने से वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ भिन्न है—यह स्वरूप भेद का उदाहरण है।

(२) मात्सर्यमिति। भर्तृहरिकृत शृङ्गारशतक का यह पद्य है—कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक में चतुर हे आर्यो! आप लोग पक्षपातरहित होकर विचार करके निर्णयात्मक बात बताइये कि मैं करूँ तो क्या करूँ? क्या पर्वतों की उपत्यकाओं (नितम्बों) की शरण लूँ अथवा हाव-भाव के साथ हँसती-हँसाती सुन्दर-रमणियों के नितम्बों की शरण लूँ?॥ १३३॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में वाच्यार्थ तो संशयरूप है, और व्यङ्ग्यार्थ शान्त और शृङ्गारी, एतदन्यतरगतनिश्चय है। यही दोनों का स्वरूपवैलक्षण्य (स्वरूपभेद) है। 'किमु' और 'उत' ये दोनों संशयार्थक हैं। आपाततः संशयरूप उत्तर से 'शान्त पुरुष पर्वत नितम्बों का ही सेवन करें और शृंगारीपुरुष

विलासिनी सुन्दरियों के नितम्बों का ही सेवन करें'—यह निश्चयात्मक उत्तर ध्वनित हो रहा है।

विशेष विवरण—कार्याऽकार्यविचारचतुर श्रद्धेय लोगों से कोई संशयित व्यक्ति कह रहा है कि आप लोग इस सन्दिग्धस्थल में दोनों पक्षों का शान्तचित्त से विचार कर लें। ऐसा न करें कि दो पक्षों में से किसी एक ओर पक्षपात करके दूसरे पक्ष को असूया से देखें। अथवा मेरे प्रश्न के उत्तर देने के परिश्रम के कारण मेरे प्रति मत्सर करें। खूब अच्छी तरह से विचार करके प्रमाणमर्यादा के साथ (समर्याद यानी सप्रमाण) मेरे कर्तव्य को सयुक्तिक बताने की कृपा करें। मेरे प्रश्न की अवहेलना न करें। कहीं-कहीं 'इदं वदन्तु' यह भी पाठ है। तब वहाँ 'निर्धार्य' ऐसा अध्याहार कर लेना चाहिये, और संशय की उभयकोटियों में किसी एक का निश्चय करके मुझ से कहें! चन्द्रिकाकार कहते हैं कि आर्यों के उत्तररूप में उत्तरार्ध की व्याख्या करने वालों का क्या अभिप्राय है? यह हम नहीं जानते।

यहाँ पर वाच्यार्थ-'संशय' है। और व्यङ्ग्यार्थ-शान्तशृगार्यन्यतरगतनिश्चय है। अतः 'वाच्यार्थ और 'व्यङ्ग्यार्थ' के स्वरूप का भेद (वैलक्षण्य) स्पष्ट है।

उद्योतकार ने इसी अभिप्राय को अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है—

"मात्सर्यम् एकतरपक्षपातेनेतरत्रासूयाम् उत्सार्य त्यक्त्वा मयि वा प्रश्नादिना क्लेशदानात् मात्सर्यं परगुणद्वेषः, तत् त्यक्त्वा विचार्य नत्ववहेलनया समर्यादं प्रमाणमर्यादासहितं यथा तथा सप्रमाणमितियावत् कार्यं कर्तव्यम् उदाहरन्तु सयुक्तिकं कथयन्त्वित्ति प्रश्ने, आर्याणामुत्तररूपमुत्तरार्धम् एते वा सेव्या एते वेति। किमु उतेति च संशयार्थकम्। अत्रापाततः संशयरूपेणोत्तरेण शान्तैः पर्वतनितम्बा एव सेव्याः, श्रृंगारिभिर्विलासिनीनितम्बा एव सेव्या इति निश्चयरूपमुत्तरं ध्वन्यते"।

उपर्युक्त समस्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर वृत्तिकार कह रहे हैं कि 'संशय' तो वाच्यरूप है, और व्यङ्ग्य, 'शान्त अथवा श्रृंगारी वक्ता पुरुष में उनके उचित एककोटिकनिश्चय' है।

शंका—'संशय' को उक्त वाक्य का वाच्य कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह (संशय) तो 'ज्ञान' है, जो उक्त वाक्य से जन्य है।

समाधान—'संशय्यते, इति संशयः' इस व्युत्पत्ति से 'संशय' शब्द 'विषय' को ही बता रहा है। उसी प्रकार 'निश्चीयते इति निश्चयः' इस व्युत्पत्ति से 'निश्चय' शब्द भी 'विषय' को ही बता रहा है। इसीलिए ज्ञानरूप संशय के लक्षणभूत गौतमसूत्र के वार्तिककार ने 'संशय्यते विषयः अनेन' यह व्युत्पत्ति 'संशय' पद की प्रदर्शित की है। प्रदीपकार ने व्यंग्य को–'तदुचितैककोटि-

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारादलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥१३४॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य,

---

निश्चयरूपः' कहा है, उसे उद्योतकार ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है — 'सेवाद्वये, एकाधिकरणकत्वाऽसंभवादैच्छिकविकल्पानुपपत्त्या शान्त-शृङ्गारिभेदेन व्यवस्थितविकल्पे पर्यवसानं, स च व्यापारान्तराविषयत्वाद् व्यङ्ग्यः' ।

दो सेवाओं में एकाधिकरणता का संभव न हो सकने से ऐच्छिक विकल्प हो नहीं सकता, तब शान्त-शृङ्गारी दोनों भिन्न व्यक्ति होने के कारण व्यवस्थित विकल्प ही दो सेवाओं में मानना होगा। वह व्यवस्थित विकल्प किसी अन्य व्यापार का विषय न होने से उसे व्यङ्ग्य (व्यञ्जनाव्यापार का विषय) ही कहना होगा। एवं च वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

(३) कथमिति। हे राजन् ! खड्ग की तीक्ष्ण धारा से जिनके मस्तक काट कर गिरा दिये हैं, उन शत्रुओं की सम्पत्ति को आपने ले लिया है, उस कारण आप को गर्व करना क्या उचित है ? क्योंकि उन क्षत-विक्षत अंग वाले शत्रुओं ने भी आपके शत्रुहन्ता होने की प्रिय कीर्ति का अपहरण कर लिया है। और वे उसे अपने साथ स्वर्ग ले गये हैं ॥ १३४ ॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' यथाक्रम 'निन्दा' तथा 'स्तुति' रूप है। अतः दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' अर्थ पृथक्-पृथक् हैं।

विशेष विवरण—उक्त पद्य का वाच्यार्थ है कि 'हे राजन् ! आपने अपने शत्रुओं के मस्तकों को काटकर उनके वैभव, (सम्पत्ति) को अपने अधीन कर लिया; यह उचित ही किया है, तथापि उसपर आपको इतना अभिमान करना उचित नहीं है, क्योंकि समस्त शत्रुओं के दिवंगत (मृत) होने पर आप उनके वैभव (लक्ष्मी) का अपहरण कर पाये हैं। आपके सभी शत्रु मर चुके थे और आप जीवित तथा सशक्त थे। ऐसी स्थिति में मृत व्यक्तियों के वैभव का अपहरण कर लेना, कौन बड़ी बात है ? किन्तु आपके शत्रु तो आपसे भी बढ़कर हैं, क्योंकि उनके मस्तक कटने पर एवं उनके मृत हो जाने पर भी वे, आपके जीवित रहते हुए तथा रक्षा करने में सशक्त रहते हुए भी आपकी उपस्थिति में आपके देखते-देखते वे अंगहीन शत्रुगण आपकी प्रिय (वल्लभा) कीर्ति को अपने साथ लेकर स्वर्ग चले गये'। अतः 'मृतशत्रुओं की श्री का हरण करने पर गर्व करना अनुचित है'—यह वाच्यार्थ आपाततः प्रतीयमान निन्दा रूप है। किन्तु इस निन्दा

शब्दाश्रयत्वेन शब्द-तदेकदेश-तदर्थ-वर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्य-सहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः—

रूप वाच्यार्थ से 'आपने अपने समस्त शत्रुओं को मार दिया, जिससे आप की कीर्ति, स्वर्गतक पहुँच (व्याप्त हो) गयी है' अर्थात् 'सकलशत्रुविनाशनेन त्रैलोक्यविश्रुतकीतिस्त्वम्'—व्यञ्जित हो रही है। यहाँ 'निन्दा' वाच्य है और 'स्तुति' व्यङ्ग्य है। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप में भेद स्पष्ट है। अर्थात् निन्दा-स्तुति वाले उनके स्वरूप (वपुष्) को तीन उदाहरणों के द्वारा बताकर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को पृथक् बताते हुए व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता को बताया गया है।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बताने वाले अन्य सात हेतु (कारण) और भी हैं।

(१) पूर्वपश्चाद्भावेनेति। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति 'पूर्वपश्चाद्भाव' के क्रम से हुआ करती है। अतः दोनों अर्थों की प्रतीति में जो 'कालभेद' है, वह भी दोनों की परस्पर भिन्नता को बता रहा है।

(२) शब्दाश्रयत्वेनेति। 'वाच्यार्थ' केवल शब्द के आश्रित रहता है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ', 'शब्द', 'शब्द के एक देश', 'शब्द के अर्थ, वर्ण और सङ्घटना के आश्रित रहता है। अतः दोनों का आश्रयभेद है, वह भी दोनों की परस्पर-भिन्नता को बता रहा है।

(३) शब्दानुशासनज्ञानेनेति। केवल शब्दानुशासन के ज्ञान से (व्याकरण और कोशादि के ज्ञान से) वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, किन्तु निर्मल प्रतिभा की सहायता से एवं व्याकरण-कोशादिके ज्ञान से 'व्यङ्ग्यार्थ' का ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों अर्थज्ञान के 'निमित्त' भिन्न-भिन्न हैं। एवञ्च 'निमित्तभेद' भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बता रहा है।

(४) बोद्धृमात्रेति। केवल वाच्यार्थमात्र का ज्ञान रहने के कारण उस ज्ञाता को सामान्य प्रकार का 'बोद्धा' कहा जाता है। किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' का अनुभव करने वाले को 'विदग्ध' (सहृदय, चतुर) कहा जाता है। इस प्रकार दोनों अर्थों के ज्ञाताओं की भिन्न-भिन्न संज्ञा से पहिचान होती है। इसलिए यह 'संज्ञाभेद' भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद का साधक होता है।

(५) वाच्यार्थ के ज्ञान से केवल प्रतीतिमात्र होती है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हि ॥ १३५ ॥
(कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ १३५ ॥)

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं, तत्कचि-

---

के ज्ञान से चमत्कार का अनुभव होता है। इसलिए 'कार्यभेद' से भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता सिद्ध होती है।

(६) 'गतोऽस्तमर्कः–सूर्यास्त हो गया––इत्यादि स्थल में पूर्व बतायी गई पद्धति के अनुसार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की संख्याओं का भेद भी उनकी भिन्नता का साधक होता है। इसलिए 'संख्याभेद' भी दोनों के भेद (भिन्नता) को बताता है ।

अब दोनों अर्थों के भिन्न होने में सातवाँ निमित्त बता रहे हैं—

कस्सवेति। किसी पर-पुरुष के द्वारा किये दन्तक्षत के कारण अपनी प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध न होगा ? अरी ! तुझे अनेकवार मना करने पर भी भीतर बैठे हुए भौंरेवाले कमल को तैंने सूँघ ही लिया तो अब उसका फल भी भोग ॥ १३५ ॥

इत्यादाविति। इत्यादि उदाहरण में 'वाच्यार्थ' तो 'सखी' विषयक है। और 'व्यङ्ग्यार्थ' उसके 'पति' से सबद्ध है। एवं च वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। अतः 'विषयभेद' भी दोनों अर्थों के भेद का साधक होता है। दोनों अर्थों में इतनी भिन्नता रहने पर भी यदि दोनों को एक ही मान लिया जाय तो 'नील-पीत' आदि पदार्थों (वस्तुओं) में भी भेद नहीं मानना चाहिये ।

विशेष विवरण—'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' की भिन्नता में सात कारण उपस्थित किये गये हैं। वे सात कारण इस प्रकार हैं—(१) कालभेद, (२) आश्रयभेद, (३) निमित्तभेद, (४) संज्ञाभेद, (५) कार्यभेद, (६) संख्याभेद और (७) विषयभेद। 'कालभेद' के सम्बन्ध में प्रदीपोद्योतकार ने स्पष्ट बताया है कि 'कालभेदस्तु सर्वत्र वाच्यप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतिकारणत्वात् पूर्वं हि वाच्यः प्रतीयते, पश्चात्तु व्यङ्ग्य इति'।

'अभिधा' और 'व्यञ्जना' के आश्रयभेद के बारे में तथा एकदेश और संघटना के सम्बन्ध में चक्रवर्ती, कमलाकरभट्ट आदि व्याख्याकारों ने कहा है कि " वाक्यस्यशब्दाश्रितत्त्वाऽभावेऽपि वृत्तिपरमिदम्। तथा च, अर्थं शब्दयन्ति ज्ञापन्ति शब्दा वाचकाः, ते अभिधाया आश्रयाः, एकदेशाः प्रकृत्यादयः, सङ्घटना पदानां पौर्वापर्येण विन्यासः। इमे व्यञ्जनाया आश्रयाः।

दपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'—इति ।

परे तु 'परम्परया वाच्यादेः, शब्दाश्रितत्वसम्भवाद्वाच्यव्यङ्ग्ययोराश्रयभेदमाह शब्देत्यादि । वाच्यस्य शब्दाश्रयत्वेन व्यङ्ग्यस्य तु शब्दः, पदं, तदेकदेशः प्रकृति-प्रत्ययादिः, तदर्थः शब्दार्थः, सच वाच्यो लक्ष्यो व्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधोऽपि, वर्णाः प्रसिद्धाः, संघटना रचना तदाश्रयत्वेन च वाच्यव्यङ्ग्ययोराश्रयस्य भेदेऽपीत्यर्थः। प्रदीपकार ने भी ऐसी ही व्याख्या की है—'वाच्यस्य शब्दमात्रमाश्रयः प्रतीयमानस्य तु शब्दैकदेशभूतकाकादितदर्थ वर्णसंघटना, इत्याश्रयभेदः'।

सातवें उदाहरण में यह बताया है कि प्रवासी पति के वापस आने पर यदि वह अपनी प्रिय पत्नी के अधर को उपपति के द्वारा दष्ट हुआ देख लेगा तो अवश्य ही रुष्ट हो जायगा। इसलिए उस नायिका की कोई सखी उसकी निरपराधिता के बोधनार्थ, उक्त पद्य के द्वारा उसके पति की प्रतारणा कर रही है। अपनी पत्नी के व्रणयुक्त अधर को देखकर किस पुरुष को क्रोध नहीं आवेगा ? क्रोध आना स्वाभाविक ही है अर्थात् हर किसी को क्रोध आवेगा। मैंने तुझ से कहा था कि 'भ्रमरयुक्त पद्म को मत सूंघ अन्यथा वह अवश्य ही काट लेगा' अर्थात् 'षिङ्गनिधुवन उस विलासी के साथ संभोग मत करना' इस प्रकार रोकने पर भी तूने नहीं माना। विरुद्ध आचरण कर ही डाला, तो अब इस अविचारदशा का फल, रुष्ट हुए पति के द्वारा जो भी दिया जायगा, उसे भोग।

यहां पर अविनीतत्व' रूप वाच्यार्थ की सम्बोध्य तो सखी (नायिका) है; अर्थात् यह वाच्यार्थ नायिका से कहा जा रहा है। और व्यङ्ग्यार्थ 'इयं भ्रमरेण दष्टाधरा न तु षिङ्गेन'–उसके पति को समझाया जा रहा है। यानी व्यङ्ग्यार्थ का विषय (सम्बोध्य) उसका पति है। निष्कर्ष यह है कि वाच्य का विषय 'नायिका' है। और 'इयं भ्रमरेण दष्टाधरा न तूपपतिना'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'नायक' है। 'आदि पद से 'ममैवं वैदग्ध्यम्' इस व्यङ्ग्य का विषय 'प्रतिवेशिनी' है ? 'इदं मया समाहितं पुनरेवं त्वया न विधेयम्'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'उपपति' है। 'भ्रमरेण अस्या अधरः खण्डितो न तु भर्त्रा इति त्वया ईर्ष्या न कार्या'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'सपत्नी' है। 'सरलतरा इयं, न किञ्चित्प्रपञ्चं जानाति'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'साध्वी स्त्री' है। 'नाऽन्यथाशङ्कनीया'–इस व्यङ्ग्य का विषय 'श्वश्रू' (सास) है। अनया विना त्वत्पतिर्न जीवतीति विदितमेव तदस्मत्समन्विते भेदो न विधेयः'—इस प्रकार अनेक प्रकार से 'वाक्य' और 'व्यङ्ग्य' का विषयभेद रहने पर (वैधर्म्य रहने

वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। किं च वाणीरकुडंग्वित्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं

पर) भी यदि वाच्य-व्यङ्ग्य का एकत्व (अभेद) रहेगा तो नील-पीतादि गुण में और तद्वान् घटादि में भी भेद की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अर्थात् **'इदं नैल्यं, इदं पैत्यं, और इदं नीलं, इदंपीतम्'** यह भेदव्यवहार नहीं हो सकेगा, क्योंकि सभी में वैधर्म्य का अविशेष है। एवं च **स्वरूपादिभेद को देखते हुए वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये।**

उक्तमिति। उपर्युक्त अर्थ में वृद्धसम्मति को बता रहे हैं—**"अय मेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च"** इति। प्राचीन लोग कहते हैं कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से जो भेद है, वह यह है कि एक वस्तु का धर्म, दूसरी वस्तु में नहीं दीखता, क्योंकि एक वस्तु का कारण, दूसरी वस्तु का कारण नहीं बन सकता। अर्थात् पदार्थों में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति और कारणों की भिन्नता ही उन पदार्थों के भेद में कारण होती है।

विशेष विवरण—'भेद' का **अर्थ—अन्योऽन्याभाव है। 'विरुद्धधर्माध्यासः'** अर्थात् **'विरुद्धस्य तद्वृतेर्धर्मस्य अध्यासः ज्ञानं भेदः'**—यह सब अन्योन्याभावत्व-वादी के मत से ज्ञात वैधर्म्यवाले के लिए कहा गया है। **कमलाकर** भी कहते हैं—**'कारणभेदो भेदहेतुः अन्योन्याभावज्ञापक इति क्रमेण योजना'**। इसी प्रकार **चक्रवर्ती भट्टाचार्य** भी कहते हैं—**'विरुद्धधर्मस्य अध्यास आश्रयत्वं यदयमेव भेदो न ततोऽन्य इति प्राचीनानां केषाचिन्मतम्। यदिति सामान्ये नपुंसकम्। अयमेवेति विधेयाभिप्रायं पुंस्त्वम्, "सा वैश्वदेवी" इतिवत्। तथा कारण भेदो भेदस्य विरुद्धधर्मरसस्य हेतुरिति प्रभाकृत्। ज्ञातवैधर्म्यमेवान्योन्याभावः इति मतेन इदम्। कारणभेदश्च विरुद्धधर्मरूपभेदस्य हेतुरिति भाव इत्युद्योतकारः। अयमेव घट-पटयोर्भेदः, जलाहरणशीतत्राणादिविरुद्धधर्माध्यासः, अयमेव भेद हेतुः, यत्कारणभेदश्चेत्यर्थ इति सरस्वतीतीर्थः।**

अभी तक **वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में दस प्रकार का भेद** बताया गया और **व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने के लिए व्यञ्जना व्यापार की अनिवार्यता** बताई गई। अब यह बता रहे हैं कि केवल वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ में ही भेद नहीं होता है, अपितु उनके **वाचक-व्यञ्जक शब्दों में भी भेद होता है।**

वाचकानामिति। वाचक शब्द, गृहीतसङ्केत वाले (संकेतित) अर्थ का ही बोधन करते हैं, इसलिए उन वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा रहती है। किन्तु व्यञ्जक-**शब्द, विना सङ्केतग्रह के** (अ-संङ्केतित) **भी अर्थ का बोधन करा देते हैं।** जैसे व्यञ्जक शब्द **'तट' में पावनत्वादि धर्मों के न रहते हुए भी उनका बोध करा**

स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति।

देते हैं। व्यञ्जक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि निरर्थक वर्ण भी व्यञ्जक माने जाते हैं। अर्थात् बिना संकेतग्रह के किसी भी अर्थ को वे बता सकते हैं। अतः **'वाचकत्व'** और व्यञ्जकत्व' दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

'सोऽयमिषोरिव' इत्यादि ग्रंथ से और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यादि से जो दो मत, पूर्व बताये थे उन्हीं को **सिंहावलोकन-न्याय** से पुनः बता रहे हैं—**किञ्चेति**। **'वाणीरकुडंगु'** (वाणीर कुञ्जोड्डीन) इत्यादि असुन्दर व्यङ्ग्य के उदाहरण (श्लो. १३२) में **'दत्तसङ्केतः कश्चित् लतागृहं प्रविष्टः'** इस व्यङ्ग्य अर्थ (प्रतीयमान अर्थ) का बोध कराकर **'अङ्गावसाद'** रूप वाच्यार्थ अपने स्वरूप में ही विश्रान्त हो जाता है। क्योंकि वहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार से भरा हुआ है। एवं च वहाँ पर आस्वाद्य (चरम आस्वाद का विषय) **'वाच्यार्थ' ही होता है, 'व्यङ्ग्यार्थ' नहीं।** 'वाच्यार्थ' ही वहाँ 'विप्रलंभ' का पोषक हो जाता है, उसे 'व्यङ्ग्य' की अपेक्षा नहीं रहती।

तत्रेति। उस गुणीभूत व्यंग्यरूप असुन्दर **मध्यमकाव्य में व्यंग्यार्थ जो है, वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक न होने से** तात्पर्य का विषय न होने वाला व्यंग्यरूप (प्रतीयमान) अर्थ भी, जो **अपने वाचक शब्द से अभिहित न होकर ही प्रतीत हो रहा है**। वह प्रतीति किसी व्यापार के बिना तो हो नहीं सकती। ऐसी स्थिति में कौन-सा वह व्यापार होगा? जिससे उसकी प्रतीति हो रही है। अतः **कहना होगा कि उस अर्थ की प्रतीति कराने वाला 'व्यञ्जनाव्यापार' ही एक मात्र हो सकता है,** अन्य किसी व्यापार से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि **अभिधाव्यापार का विषय तो 'विधेय' ही हुआ करता है। एवं च 'व्यञ्जनाव्यापार' को अलग ही मानना होगा।**

विशेष विवरण—यह भूलना नहीं होगा कि केवल 'वाच्य-व्यङ्ग्य' के अर्थों में ही वैधर्म्य नहीं होता, अपितु **वाचक-व्यञ्जक शब्दों में भी वैधर्म्य होता है।** प्रदीपकार कहते हैं—**"किंच वाचक-व्यञ्जकयोरपि वैधर्म्यादिभेदो वक्तव्यः। यतो वाचकस्य संकेतितार्थापेक्षा। संकेतिते** (गृहीतसंकेते) **एवं हि अर्थे अभिधा वर्तते। न त्वेवं व्यञ्जकः। अन्यत्रापि** (अगृहीतसंकेतेऽपि) **व्यञ्जनया प्रत्ययजननात्"**। कमलाकर भट्ट भी कहते हैं—**"अर्थः संकेतविषयः। संकेतितमेव वाचका बोधयन्ति। व्यञ्जकस्तु न तथा, अर्थस्यापि व्यञ्जकत्वात्। नहि अर्थोऽपि अर्थे संकेतितः"**।

मीमांसक **भट्टलोल्लट** ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार

'व्यंग्यार्थ' को भी तात्पर्य का विषय मानकर 'वाच्यार्थ' कहने का उपक्रम किया था। उसका खण्डन भी उसी जगह किया जा चुका है। अब यह भी हम दिखा सकते हैं कि कहीं-कहीं ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें 'व्यंग्यार्थ' तो प्रतीत होता है, किन्तु तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है। जैसे 'वाणीर कुडंगु', इस गुणीभूत व्यंग्य के 'असुन्दर व्यंग्य' नामक काव्य में व्यंग्यार्थ तो प्रतीत होता है; किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा 'असुन्दर' है। इसलिए आस्वाद की चरम विश्रान्ति 'व्यंग्य' में न होकर 'वाच्य' में ही हो जाती है। एवं इस उदाहरण को देखने से स्पष्ट होता है कि 'व्यंग्यार्थ', तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है। तथापि इसकी प्रतीति तो होती ही है, अतः उस प्रतीति की उपपत्ति के लिए 'व्यंजना' को एक पृथक् (अलग) वृत्ति के रूप में मानना ही होगा।

मम्मट भट्ट ने व्यञ्जनावृत्ति को अभिधा, लक्षणा से अलग सिद्ध करने के लिए बारह युक्तियाँ बताई हैं—

(१) लक्षणामूल-ध्वनि के 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य' और 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' दोनों भेदों में व्यङ्ग्यार्थ के बिना 'लक्षणा' हो ही नहीं सकती। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना आवश्यक है।

(२) अभिधामूलध्वनि के 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' नामक भेद में 'रसादिध्वनि' कदाचिदपि स्व-शब्दवाच्य नहीं होता है। अतः उसे 'व्यंग्य' ही मानना होगा। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना आवश्यक है।

(३) अभिधामूल-ध्वनि के 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के 'शब्द-शक्त्युत्थ' नामक भेद में 'अभिधा' व्यापार का 'प्रकरणादि' के कारण 'एक अर्थ' में नियन्त्रण हो जाने से 'अप्राकरणिक अर्थ' और उसके साथ 'उपमानोपमेयभाव' आदि की जो प्रतीति होती है वह व्यञ्जना से ही होती है, 'अभिधा' से नहीं। इसलिये व्यंजना' व्यापार का मानना आवश्यक है।

(४) अभिधामूलक 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के 'अर्थशक्त्युत्थ' नामक भेद में कुमारिलभट्ट के 'अभिहितान्वयवाद' में जहाँ 'वाक्यार्थ' ही 'अभिधा का विषय न होकर 'तात्पर्याख्यावृत्ति' से प्रतीत होता है, वहाँ 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति, अभिधा से हो ही कैसे सकती है ? उसकी प्रतीति, 'अभिधा' से होना कदापि संभव नहीं है। अतः उसकी प्रतीति के लिए 'व्यञ्जना' का मानना आवश्यक है।

(५) उसी प्रकार प्रभार-मीमांसक के 'अन्विताभिधानवाद' में भी 'संकेतग्रह', अन्वित पदार्थ-सामान्य में ही होता है, कभी भी 'विशेष' में अन्वित का संकेतग्रह नहीं होता है। अतः वहाँ भी 'अतिविशेषरूप वाक्यार्थ' की प्रतीति' 'अभिधा' से हो ही नहीं सकती। तब उसके भी अनन्तर प्रतीयमान होनेवाले 'व्यङ्-

ग्यार्थ' की प्रतीति को 'अभिघा से होना कैसे कहा जायगा ? इसलिए अन्विताभिधानवाद में भी 'व्यञ्जना' को ही मानना आवश्यक है।

(६) 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस नियम के अनुसार भी व्यङ्ग्यार्थं का ज्ञान, अभिघा व्यापार से तब तक नहीं हो सकता, जब तक शब्द का उस अर्थ के साथ संकेत ग्रह न हो। और अन्विताभिघानवादी के मत में 'संकेतग्रह' तो केवल अन्वित-सामान्य के साथ होता है, 'विशेष' के साथ नहीं। वाक्यार्थ तो 'अतिविशेषरूप' है। जब 'विशेष' के साथ भी संकेतग्रह नहीं हो पाता है, तब 'अतिविशेष' के साथ संकेतग्रह होने की बात तो दूर ही रहो। जब अतिविशेषरूप वाक्यार्थ की ही प्रतीति 'अभिघा' से नहीं हो सकती, तब उसके पश्चात् होने वाली 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति 'अभिधा' से कैसे हो पायेगी ? इसलिए उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जनाव्यापार को मानना अत्यावश्यक है।

(७) मीमांसक भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार 'व्यङ्ग्यार्थ' को अभिधा से बोध्य माना है। किन्तु वे उक्त नियम के अर्थ को समझ ही नहीं पा रहे हैं। यह भूलना नहीं होगा कि विधिवाक्य में मुख्यतया क्रिया 'विधेय' होती है। 'भूत-भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्याय उपदिश्यते'– इसका भी यही आशय है कि 'जहाँ क्रिया प्रमाणान्तर से प्राप्त होती है, वहां 'गुण' का विधान होता है। कचित् गुण और क्रिया दोनों की अप्राप्ति रहने पर दोनों का, तीनों का विशिष्ट विधान भी होता है। 'अदग्ध-दहन-न्याय' से जहाँ जितना अंश अप्राप्त रहता है, उतने ही अंश का विधान किया जाता है। यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का आशय है।

किन्तु भट्टलोल्लट उक्त 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अर्थ समझ रहे हैं कि वक्ता का जहाँ तक बोधकराने का तात्पर्य होता है, उतना 'अर्थ' प्रयुक्त शब्द का 'वाच्य' कहलाता है। उस वाच्यार्थ का बोध जब कि 'अभिधा' से ही हो जाता है, तब 'व्यञ्जना' को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किन्तु भट्टलोल्लटका उक्त प्रतिपादन उचित नहीं है, क्योंकि वे मीमांसा के उक्त नियम का अभिप्राय ही नहीं समझ पाये हैं। उनके कथन के अनुसार सभी अर्थों को यदि 'वाच्यार्थ' के रूपमें ही मान लिया जाय, तो 'लक्षणा' की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

किञ्च उक्त नियम के अनुसार वाक्य में गृहीत (उच्चरित) किसी विशेषशब्द के अर्थ में ही वाक्य के शेष शब्दों का तात्पर्य समझा जा सकता है। वाक्य में अगृहीत (अनुच्चरित) शब्द के अर्थ में वाक्य के शब्दों का तात्पर्य नहीं होता है। परन्तु व्यञ्जना' वृत्ति से जो अर्थ प्रतीत होता है, उसका वाचक कोई भी शब्द

वाक्य में नहीं होता है। इसलिए उसके विषय में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम नहीं लगता है। अतः व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञानार्थ व्यञ्जनावृत्ति को मानना आवश्यक है।

(८) 'सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधा व्यापारः' के अनुसार 'अभिधा' का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार मानकर भट्टलोल्लट ने व्यङ्ग्यार्थ को भी अभिधा का विषय होना जो बताया है, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं—

(१) लक्षणा को मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी।

(२) 'ब्राह्मण! पुत्रस्ते जातः' 'कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादि वाक्यों में हर्ष-शोक आदि अर्थों को भी वाच्य कहना होगा।

(३) मीमांसकों का जो 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्व-पूर्वबलीयस्त्वम्'-सिद्धान्त है, वह भी भंग हो जायगा।

उक्त तीनों बातों को क्या मीमांसक होने के नाते भट्टलोल्लट मानने को तैयार होंगे? अर्थात् कभी भी तैयार नहीं हो सकेंगे। इसलिए अभिधा का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार मानकर काम नहीं चल सकेगा। एवं च व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति को मानना ही होगा।

(९) यदि व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से पृथक् न माना जाय तो—

(१) 'रुचिं कुरु' आदि वाक्यों में असभ्य अर्थ की प्रतीति होने से जो अश्लीलता दोष बताया गया है, उसे नहीं बता सकेंगे।

(२) नित्यदोष और अनित्यदोष की व्यवस्था नहीं बन पायेगी।

(३) 'कपाली और 'पिनाकी' दोनों शब्दों का वाच्यार्थ समान रहने पर भी विशेष स्थल पर विशेष शब्द के प्रयोग से जो चमत्कार पैदा होता है, वह नहीं हो सकेगा।

(१०) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बोध में (१) संख्या, (२) स्वरूप, (३) काल, (४) आश्रय, (५) निमित्त, (६) व्यपदेश, (७) कार्य, (८) विषय— इनका भेद रहने के कारण भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से पृथक् (अलग-भिन्न) मानना अनिवार्य है।

साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ ने भी इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है—

"स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः"॥

(११) यह भी भूलना न होगा कि केवल वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ ही पृथक्-पृथक् नहीं है; अपितु उनके हेतुभूत वाचक तथा व्यञ्जक शब्द भी पृथक्-पृथक्

ननु—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति।'

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते, विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः

होते हैं। वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा रहती है, किन्तु व्यञ्जक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती। निरर्थक (अर्थहीन) अवाचक शब्द भी व्यञ्जक हो सकते हैं। इसलिए व्यञ्जनाव्यापार को अन्य व्यापारों (वृत्तियों) की अपेक्षा अलग ही मानना चाहिये।

(१२) 'असुन्दरव्यङ्ग्य' संज्ञक गुणीभूतव्यङ्ग्य में यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, तथापि वहां पर चमत्कार, 'वाच्यार्थ' का ही रहता है। अतः 'तात्पर्य' उस वाच्यार्थ में ही रहता है। वहां पर 'व्यङ्ग्यार्थ' कभी भी तात्पर्य का विषय नहीं रहता। फिर भी प्रतीति तो उसकी होती ही है। तब उसकी प्रतीति, व्यञ्जना से ही माननी होगी, अभिधा से नहीं।

निष्कर्ष यह निकला कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति, अभिधाव्यापार से कभी भी नहीं हो सकती। इसलिए व्यञ्जना को अभिधा से अलग ही मानना चाहिये।

शङ्का—नन्विति। (क) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'— मैं तो निष्ठुर हृदयवाला 'राम' हूँ–अतः सब कुछ सहन कर लूँगा' इस वाक्य में 'कठोर हृदय वाला राम'—यह लक्ष्यार्थ 'राम' शब्द का है।

(ख) 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'–'अपने जीवन के प्रति मोह रखने वाले इस 'राम' ने प्रेम के अनुरूप कार्य नहीं किया'–इस वाक्य में 'मिथ्या प्रेम का दम्भ भरने वाला राम'–यह लक्ष्यार्थ, 'राम' शब्द का है।

(ग) 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिम्पराम्'—'वह दया-दाक्षिण्यादि गुणों वाला 'राम' अपने शौर्य-पराक्रमादि गुणों से जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—इस वाक्य में 'दया आदि गुणों वाला राम'—यह लक्ष्यार्थ 'राम' शब्द का है।

पूर्वपक्ष-इत्यादाविति। इत्यादि उपर्युक्त वाक्यों में 'लक्ष्यार्थ' यद्यपि अनेक प्रकार से बताया जा सकता है। और व्यञ्जना की तरह वह लक्ष्यार्थ भी 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' आदि विविध प्रकार के विशेष व्यवहार का कारण (हेतु) हो रहा है, तथा उस लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के तुल्य ही शब्द और अर्थ दोनों के अधीन (आयत्त) रहती है, और उस लक्ष्यार्थ को भी 'प्रकरणादि' की अपेक्षा रहती है। अतः इन सभी कारणों को ध्यान में रखते हुए 'लक्ष्यार्थ' से पृथक् (भिन्न) 'व्यङ्ग्यार्थ' (प्रतीयमान अर्थ) कौन नया (नवीन) है ? अभिप्राय यह

प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ? उच्यते, लक्षणीय-स्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेना-ऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविषयवशेन नियत-सम्बन्धः, अनियतसम्बन्धः, सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

है कि लक्ष्यार्थ से भिन्न 'व्यङ्ग्यार्थ' नाम का कोई नवीन पदार्थ नहीं है। इसलिए व्यञ्जना को लक्षणा से अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार लक्षणावादी के द्वारा पूर्वपक्ष उपस्थित करने पर व्यञ्जनावादी उत्तर दे रहा है—

समाधान— उच्यते इति। व्यञ्जनावादी कहता है कि लक्षणावादी के कथनानुसार 'लक्ष्यार्थ' अनेकविध होने पर भी वह अनेकार्थक 'शब्द' के वाच्यार्थ के समान (अभिधेय के समान) नियतरूप ही होता है, अर्थात् उसका स्वरूप नियत रहता है। क्योंकि वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) के साथ असम्बद्ध (सम्बन्ध न रखने वाले) अर्थ को लक्षणा के द्वारा नहीं बताया जा सकता। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ), प्रकरण, वक्ता आदि 'विशेष' के कारण (१) कचित् नियत-सम्बन्धवाला, (२) कचित् अनियत-सम्बन्धवाला, (३) कचित् परम्परित-सम्बन्धवाला अर्थात् त्रिविध रूपों में द्योतित होता है। अतः 'व्यंग्यार्थ' को लक्ष्यार्थ समझ लेना उचित नहीं है।

लक्षणावादी का पूर्वपक्ष—

विशेष विवरण—कुछ लोगों का कहना है कि 'व्यञ्जना' को अभिधा से अलग मानने पर भी उसको लक्षणावृत्ति से अलग (भिन्न) नहीं मान सकते, क्योंकि 'व्यञ्जना' का काम तो लक्षणावृत्ति से भी निकल सकता है।

(१) व्यञ्जनावादी ने व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना करने में संख्या, प्रतीति, काल, व्यपदेश आदि भेदों के कारण 'व्यंग्यार्थ' की वाच्यार्थ से जो विशेषता प्रदर्शित की है, वे सभी विशेषताएँ लक्षणावृत्ति में भी उपलब्ध होती हैं। इसलिए 'व्यंजना' को लक्षणावृत्ति से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

व्यङ्ग्यार्थ की लक्षणागम्यता—

व्यञ्जनावादी ने वाच्यार्थ से व्यञ्जना को पृथक् सिद्ध करने के लिए जो यह कहा था कि 'वाच्यार्थ' एक ही नियत रहता है। किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' एक ही नियत न होकर अनेक (नाना) होते हैं। इसलिए 'व्यञ्जना' को अन्य वृत्तियों से पृथक् ही मानना चाहिये।

उस पर लक्षणावादी कहता है कि व्यञ्जनावादी ने जो बातें बताई हैं, वे सब

लक्ष्यार्थ के विषय में भी बताई जा सकती हैं। 'राम' शब्द का वाच्यार्थ, निर्दिष्ट तीनों उदाहरणों में एक (समान) ही है, किन्तु लक्ष्यार्थ उसका तीनों उदाहरणों में अलग-अलग है। पहिले उदाहरण में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ 'दाशरथी राम' है, किन्तु लक्षणावृत्ति के बल पर वही 'राम' पद, अर्थान्तर में संक्रमित होकर 'अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व धर्म से विशिष्ट राम' अर्थ का बोध करा रहा है। एवं च उक्त उदाहरण 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' में 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से पृथक् है।

द्वितीय उदाहरण 'वक्रोक्तिजीवित' से उद्धृत किया गया है। निर्दिष्ट किये गये श्लोक-चरण के पूर्ववर्ती तीन चरण इस प्रकार हैं—

प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदां साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्॥

इस द्वितीय उदाहरण में लक्षणावृत्ति के बल पर 'राम' पद (शब्द) 'निष्करुणत्व' आदि धर्म से विशिष्ट हुए 'राम' को बता रहा है।

तीसरे उदाहरण में 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'— में 'राम' शब्द, अर्थान्तर में संक्रमित होकर 'खर-दूषणादि राक्षसों का निहन्ता राम' का बोध लक्षणावृत्ति के द्वारा करा रहा है। एवं च तीनों उदाहरणों में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ तो एक ही है, किन्तु उसके लक्ष्यार्थ अलग-अलग हैं। अतः स्पष्ट है कि जैसे व्यङ्ग्यार्थ अनेक होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। इसलिए व्यञ्जनाव्यापार को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

(२) व्यञ्जनावादी ने कहा था कि 'सहृदय, विदग्ध' आदि शब्दों का किसी के प्रति व्यवहार (व्यपदेश) किये जाने में कारण, (हेतु) व्यङ्ग्यार्थ ही हुआ करता है, और उसकी प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार के बिना हो नहीं सकती। अतः व्यञ्जना को अलग से मानना आवश्यक है।

लक्षणावादी का उस पर कहना है कि उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'व्यङ्ग्यार्थ' की तरह 'लक्ष्यार्थ' भी 'अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' आदि जो रूप विशेष हैं, वे भी 'व्यपदेश' के कारण कहे जा सकते हैं। इसलिए 'लक्षणावृत्ति' से भिन्न 'व्यञ्जनावृत्ति' को मानने की आवश्यकता नहीं है।

(३) व्यञ्जनावादी ने एक बात और कही थी कि 'वाच्यार्थ' का ज्ञान, केवल 'शब्द' से ही होता है, और व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान, शब्द से और अर्थ

न च—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ इत्थ अहं दिअहए पलोएहि ।

से भी शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थी व्यञ्जना के रूप में होता है। इसलिए भी व्यञ्जना-वृत्ति को अलग से मानना चाहिये।

लक्षणावादी का उस पर कहना है कि उक्त कथन लक्ष्यार्थ में भी संभव हो सकता है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी शब्द और अर्थ दोनों से होती है। अतः व्यञ्जनावृत्ति को उससे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

(४) व्यञ्जनावादी ने जो यह कहा था कि 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति में प्रकरणादि सहायक होते हैं। अतः उसे वाच्यार्थ से पृथक् मानना चाहिये।

लक्षणावादी का उस पर कहना है कि उक्त कथन तो लक्ष्यार्थ में भी संभव हो सकता है। इस तरह जब कि व्यञ्जना का प्रयोजन 'लक्षणा' से भी निष्पन्न हो जाता है, तब उसे लक्षणावृत्ति से अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

लक्षणावादी के पूर्वपक्ष का खण्डन—

इस तरह लक्षणावादी के द्वारा व्यञ्जनावादी के समक्ष सयुक्तिक पूर्वपक्ष, उपस्थित किये जाने पर व्यञ्जनावादी मम्मटभट्ट उसका खण्डन करते हुए व्यञ्जना की आवश्यकता को बताते हैं—

मम्मट ने प्रथम युक्ति का उत्तर तो यह दिया है कि (१) यद्यपि 'लक्ष्यार्थ' अनेक (नाना) हो सकते हैं, तथापि—'अनेकार्थक शब्द के 'वाच्यार्थ' के समान वह लक्ष्यार्थ, प्रायः 'नियतस्वरूप' ही रहता है।

(२) लक्षणा के द्वारा 'उसी अर्थ' का बोधन किया जाता है, जो 'मुख्यार्थ' (वाच्यार्थ) से सम्बद्ध होता है। असम्बद्ध अर्थ को 'लक्षणा' कभी नहीं बताती। अतः लक्ष्यार्थ भी 'नियत सम्बन्ध वाला' ही है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ, कचित 'नियतसम्बन्धवाला', कचित् 'अनियतसम्बन्धवाला', और कचित् 'परम्परित-सम्बन्धवाला' भी होता है। अतः वह, लक्ष्यार्थ से भिन्न है, इसलिए व्यञ्जना को लक्षणा से भिन्न ही मानना होगा।

(३) लक्ष्यार्थ की प्रतीति, 'मुख्यार्थ बाधादि तीन हेतुओं' के होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति', उन तीन हेतुओं के विना भी होती है। अतः 'व्यञ्जना' को लक्षणा से अलग ही मानना चाहिये।

यह 'लक्ष्यार्थ' से व्यङ्ग्यार्थ का प्रथम भेद बताया गया है, अतः 'व्यङ्ग्यार्थ' को 'लक्ष्यार्थ' समझ लेना अनुचित है।

न चेति। और न ही निम्नांकित उदाहरण में—अत्तेति। (श्वश्रूरिति।) हे

मा पहिअ ! रतिअन्धअ ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥ १३६ ॥

(श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राऽहं दिवसके प्रलोकय।

मा पथिक ! रात्र्यन्धक ! शय्यायामावयोर्निमङ्क्ष्यसि ॥)

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः, तत्कथमत्र लक्षणा ? लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् ।

रतौंधी रोग से नेत्रपीड़ित पथिक ! दिन में भली प्रकार से देख-भाल लो कि यहाँ पर मेरी सास (श्वश्रू) सोती है, और यहाँ पर मैं सोती हुँ । रात में रतौंधी के कारण न दिखाई देने से कहीं मेरी खटिया पर न गिरना ॥ १२६ ॥

इत्यादाविति । इस अभिधामूल-ध्वनि के उदाहरण में न 'मुख्यार्थबाध' ही है, तब यहाँ लक्षणा कैसे हो सकती है ? उपर्युक्त 'न च' का अन्वय 'मुख्यार्थबाधः' के साथ होगा । अभिप्राय यह है कि उक्त उदाहरण में मुख्यार्थबाध के अभाव में लक्षणा नहीं हुई है । लक्षणा के बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है । इसलिए व्यङ्ग्यार्थ तो लक्ष्यार्थ से पृथक् ही सिद्ध हो रहा है ।

लक्षणायामिति । लक्षणा में भी प्रयोजन को बताने के लिए व्यञ्जना की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है, यह बता चुके हैं ।

विशेष विवरण—उक्त उदाहरण से यह बताया है कि लक्ष्यार्थ का बोध, मुख्यार्थबाध के बिना हो ही नहीं सकता, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध होने में मुख्यार्थ का बाध होना अनिवार्य नहीं है । लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का यह दूसरा भेद बताया है ।

यह प्राकृत भाषा का उदाहरण, 'हाल' कविकृत गाथा सप्तशती के सातवें शतक से लिया गया है । इसके द्वारा द्विकादि भेदों में से वक्तृत्व-बोद्धव्यरूप द्विकवैशिष्ट्य के कारण 'वाच्यार्थ' की व्यञ्जकता को बताया गया है ।

किसी कामुक पथिक के द्वारा अपने ठहरने के लिए स्थान प्राप्ति की प्रार्थना करने पर उससे कोई प्रोषितभर्तृका व्यभिचारिणी स्त्री कह रही है—वह (व्यभिचारिणी) स्त्री 'निमज्जति' कहकर बता रही है कि मेरी सास अत्यन्त बूढ़ी हो जाने से निष्पन्द (निश्चेष्ट) होकर गहरी नींद में सो जाती है । अतः 'किसी प्रकार की कोई शंका करने की बात ही नहीं है'—यह व्यङ्ग्यार्थ है । और उससे कुछ दूरी पर 'अहम्' अर्थात् मैं ही । यहाँ पर 'स्वाप' बोधक (निद्राबोधक) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । स्वापबोधक पद का प्रयोग न करके यह अभिव्यञ्जित किया है कि 'मन्मथ (काम) पीडा से मुझे नींद नहीं आती है' । 'दिवसे' न कहकर 'दिवसके' शब्द का प्रयोग किया है । यहाँ 'कुत्सा' के अर्थ में 'कन्' प्रत्यय किया है, अर्थात् 'कुत्सितो दिवसः दिवसकः तस्मिन् दिवसके' । 'कन्' प्रत्यय के

द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि 'दिन होने के कारण यह समय हम दोनों के लिए श्रेयः-प्रतिकूल है'। 'पथिक, रात्र्यन्ध'–दोनों सम्बोधन 'रहस्य-गोपनार्थ' किये गये हैं। क्योंकि 'पथिक' होने से श्रम के कारण विस्मरण होने की संभावना है, और रतौंधी के रोग से शय्या पर गिर जाने की भी संभावना हो सकती है। अन्यथा 'आवयोः शय्यायां मा निमङ्क्ष्यसि' ऐसा बिना प्रसक्ति के ही निषेध रहने पर रहस्य भंग हो सकता है। अत एव 'निमङ्क्ष्यसि' कहा गया है। 'मह' यह निपात 'आवयोः' के अर्थ में है, 'मम' के अर्थ में नहीं है। अन्यथा केवल अपना ही निर्देश करने पर 'रहस्य' खुल जाने की संभावना हो सकती है। 'अत्र गृहे श्वश्रूः अहं च, श्वश्रूश्च जरत्तरत्वेन बधिरा निष्पन्दा च। जनान्तरसञ्चारस्तु नास्त्येव। अतो यथेष्टं मम शय्यायामेव स्वपिहि'–यह व्यङ्ग्यार्थ है। वक्ता और बोद्धव्य दोनों व्यभिचारियों के वैशिष्ट्य से इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति, प्रतिभा-सम्पन्न सरस सहृदयों को हो जाती है।

उक्त उदाहरण में मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध नहीं है, अर्थात् मुख्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति नहीं हो रही है।

शंका—लक्षणावृत्ति का सहारा लेने में बीज 'मुख्यार्थबाध' नहीं है, किन्तु 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही बीज होता है। वह बीज इस 'अत्ता एत्थः' उदाहरण में है ही। अतः लक्षणा से ही काम हो जायगा, व्यञ्जना की कोई आवश्यकता नहीं है।

'न च मुख्यार्थबाधः' कहकर जो दोष दिखाया था, उसमें अरुचि हो जाने से दोषान्तर बता रहे हैं।

समाधान—लक्षणा करने पर भी व्यञ्जना की आवश्यकता होती है; यह बात द्वितीय उल्लास में 'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया'॥ (सू० २३) के द्वारा बता चुके हैं।

कमलाकर भट्ट ने भी इसी बात को कहा है—"पावनत्वादिप्रतीतेरावश्यकत्वात्तत्र च वृत्त्यन्तराभावादवश्यं व्यञ्जना, अङ्गीकार्या। न च तत्रापि लक्षणा। सा हि न निरूढा प्रसिद्ध्यभावात्। न च प्रयोजनवती प्रयोजनस्य विषयत्वाभावात् इत्युक्तं द्वितीयोल्लासे। किं च व्यङ्ग्ये लक्षणा न पदवृत्तिः, वाच्यस्यापि व्यञ्जकत्वात् पदैकदेशवर्णादौ तत्वाच्च। न च वाक्ये पदत्वं तदेकदेशादौ सत्त्वात्। न च शब्दवृत्तिः। अर्थस्यापि व्यञ्जकत्वात् इत्यादिवैधर्म्यैर्मुख्यार्थबाधाभावेऽपि तात्पर्यज्ञानं विनापि वक्तृबोद्धव्यादिसहकारेण या अन्यार्थधीः सा व्यञ्जनां साधयति"।

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा। तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा, अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः। न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शाब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरित्यभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो

यथेति। और जिस प्रकार 'अभिधा' संकेत ग्रह की अपेक्षा (समयसव्यपेक्षा) रखती है, उसी प्रकार 'लक्षणा' भी मुख्यार्थबाधादि (मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग, यानी लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध, और रूढि अथवा प्रयोजन दोनो में से कोई एक) तीन के सम्बन्धविशेष (समयविशेष) की अपेक्षा (सव्यपेक्षा) रखती है। अर्थात् मुख्यार्थबाधादि तीन कारणों के बिना, लक्षणा कभी भी अर्थ बोधन नहीं कर सकती। अत एव उसे (लक्षणा को) विद्वानों ने 'अभिधा' की पुच्छरूप बताया है। अर्थात् लक्षणा तो अभिधा की पूँछ है।

(१) नचेति। इसके अतिरिक्त चार कारण और भी हैं, जिनके आधार पर 'व्यञ्जना' को लक्षणा में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। क्योंकि लक्षणामूल-व्यञ्जना के स्थल में लक्षणा के पश्चात् ही ध्वनन (व्यञ्जना) होता दिखाई देता है। अर्थात् लक्ष्यार्थ के बाद ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है। अतः व्यञ्जना को लक्षणा से भिन्न ही समझना चाहिये।

(२) अभिधेति। अभिधा का अवलम्बन करने से ही उस अभिधामूलाव्यञ्जना का संभव होता है। उसमें लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः व्यञ्जना को लक्षणा से अलग ही मानना चाहिये।

(३) न चेति। और वह व्यंजना, उक्त दोनों 'अभिधा लक्षणा' की न अनुगामिनी ही है, क्योंकि अवाचक (निरर्थक) वर्णों के अनुसार भी 'व्यञ्जना' होती देखी जाती है। यानी 'वर्ण' तो किसी अर्थ के वाचक नहीं होते हैं, वाचक तो 'पद' होते हैं। तथापि वे 'वर्ण' भी किसी 'अर्थ-विशेष' के व्यञ्जक होते दीखते हैं।

(४) न चेति। 'व्यञ्जना' केवल 'शब्द' का ही अनुसरण नहीं करती। अभिधा-लक्षणा का सम्बन्ध तो केवल 'शब्द' से ही रहता है। 'व्यञ्जना' का सम्बन्ध अशब्दात्मक नेत्र कटाक्ष (नेत्र-त्रिभागावलोकन) आदि से भी रहता है, जिससे अभिप्राय-विशेष व्यञ्जित हो जाता है। इस रीति से उस ध्वनन (व्यंजना) की ख्याति है।

अभिधेति। अतः अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा रूप तीनों व्यापारों के पश्चात्

व्यापारोऽनपलपनीय एव। तत्र–'अत्तां एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स वा ण होइ रोसो'–इत्यादावनियतसम्बन्धः।

(तीनों का अतिक्रमण करके) होने वाले 'ध्वनन' आदि अपर पर्यायवाले व्यञ्जन या व्यञ्जना संज्ञक व्यापार को कथमपि अस्वीकार नहीं कर सकते।

तत्रेति। उन त्रिविध व्यङ्ग्यार्थों में से 'अत्ता एत्थ' (श्लो० १३६) इस उदाहरण में 'व्यङ्ग्यार्थ' का सम्बन्ध नियत है, और 'कस्स वा ण होइ रोसो' (श्लो० १३५) में 'व्यङ्ग्यार्थ' का सम्बन्ध अनियत है।

विशेष विवरण—शंका—'कर्मणि कुशलः' इत्यादि में 'निरुढ' लक्षणा के समान, अन्यत्र स्थलों में भी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं की जायगी।

समाधान—'लक्षणा' तो मुख्यार्थबाध आदि के रहने पर ही होती है, इसीलिए उसे 'अभिधा' से पृथक् माना गया है। अभिप्राय यह है कि जैसे 'अभिधा' संकेतग्रह-सापेक्ष रहती है, वैसे ही मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढि-प्रयोजनान्यतर की और मुख्यार्थ-संकेतग्रह की अपेक्षा 'लक्षणा' को भी रहती है। ऐसी स्थिति में अर्थात् रूढि अथवा प्रयोजन के अभाव में लक्षणा कैसे हो सकेगी? 'लक्षणा', संकेतग्रहसापेक्ष होने से ही उसे अभिधापृष्ठलग्ना (अभिधापुच्छभूता) कहा गया है। यानी 'लक्षणा', शक्यसम्बन्ध-निरूप्य कहलाती है। एवं च जैसे मुख्यार्थबाधादिसापेक्षत्वरूप वैधर्म्य के कारण 'लक्षणा' को 'अभिधा' से भिन्न कहा जाता है, वैसे ही मुख्यार्थबाधाद्यनपेक्षत्वरूप वैधर्म्य के कारण 'व्यञ्जना' को भी 'लक्षणा' से भिन्न माना जाता है। पीछे बता चुके हैं कि अनेकार्थक शब्द के समान लक्ष्यार्थ अनेकविध होने पर भी 'नियतरूप ही' होता है और व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) कहीं नियत सम्बन्धवाला, कहीं अनियत सम्बन्धवाला और कहीं परम्परित सम्बन्धवाला भी होता है। किन्तु उदाहरण देकर उसे स्पष्ट नहीं किया गया था। इसलिए यहाँ पर ग्रन्थकार मम्मटभट्ट उदाहरण देकर उसे समझा रहे हैं।

व्याख्याकारों ने 'नियतसम्बन्ध' और 'अनियतसम्बन्ध' की भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या की है।

कुछ व्याख्याकारों ने 'नियतसम्बन्ध' का अर्थ 'प्रसिद्धसम्बन्ध' बताया है। और 'अनियतसम्बन्ध' का अर्थ 'अप्रसिद्ध सम्बन्ध' बताया है।

कुछ व्याख्याकारों ने 'नियत सम्बन्ध' का अर्थ 'वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ' की समानविषयता, और 'अनियत सम्बन्ध' का अर्थ 'वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नविषयता बताया है। 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वा ण होइ रोसो' इन उदाहरणों में दोनों व्याख्याओं का समन्वय हो सकता है। जैसे—'अत्ता एत्थ-

विपरीअरए लच्छी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १६७ ॥
(विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥ १३७ ॥)

णिमज्जइ' (श्वश्रूरत्र निमज्जति) इस उदाहरण में **वाच्यार्थ के द्वारा 'खटिया पर गिर पड़ने का निषेध'** कर रही है, किन्तु **व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा 'पथिक को अपनी खटिया पर आने का निमन्त्रण'** दे रही है। अतः **वाच्यार्थ** तथा **व्यङ्ग्यार्थ दोनों परस्पर विरुद्ध** रहने से दोनों अर्थों का **'विरोधसम्बन्ध'** है। यह **'विरोधसम्बन्ध'–प्रसिद्धसम्बन्ध** है। इसलिए यह नियतसम्बन्ध (प्रसिद्धसम्बन्ध) वाले व्यङ्ग्यार्थ का उदाहरण है। उसी तरह **अनियतसम्बन्ध** (अप्रसिद्धसम्बन्ध) का उदाहरण (श्लो० १२५) **'कस्स वा ण होइ रोसो'** (कस्य वा न भवति रोषो०) दिया गया है। इसमें **'वाच्यार्थ'** का सम्बन्ध–**'नायिका'** से है, और **'व्यङ्ग्यार्थ'** का सम्बन्ध–**'नायक'** से, **'उपपति'** से, **'पडोसिन'** से, **'सपत्नी'** से, **'सास'** से, **'उपपति की स्त्री'** से इत्यादि कितनों ही से लगाया जा सकता है। यहाँ पर **'वाच्यार्थ'** का **'व्यङ्ग्यार्थ'** के साथ कोई **नियत (प्रसिद्ध) सम्बन्ध नहीं** बताया जा सकता है। अतः उक्त व्याख्या के अनुसार इसे **'अनियतसम्बन्ध'** का उदाहरण कह सकते हैं।

जिन व्याख्याकारों ने **'नियतसम्बन्ध'** का अर्थ, वाच्य–व्यङ्ग्य की **'समानविषयता'** और **'अनियतसम्बन्ध'** का अर्थ दोनों अर्थों की **'भिन्नविषयता'** किया है, उनकी व्याख्या के अनुसार भी **'अत्ता एत्थ'** उदाहरण में ही **वाच्य** तथा **व्यङ्ग्य दोनों अर्थों का 'विषय'** (बोद्धव्य) एक ही **पथिक** व्यक्ति है। अतः यह उदाहरण **'नियतसम्बन्ध'** (समानविषयता) का उदाहरण है।

उसी प्रकार **'कस्स वा ण होइ रोसो'** (कस्य वा न भवति रोषो) उदाहरण में **'वाच्यार्थ'** का विषय (बोद्धव्य) **'सखी'** है, और **'व्यङ्ग्यार्थ'** का विषय, **'नायक, उपपति, प्रतिवेशिनी (पड़ोसिन) सपत्नी, सास, उपपति की स्त्री'** आदि अनेक हैं। अतः **वाच्यार्थ** और **व्यङ्ग्यार्थ दोनों की भिन्नविषयता** है। इसलिए यह **'अनियतसम्बन्ध'** (भिन्नविषयता) का उदाहरण है।

विपरीअरए इति। (विपरीतरते इति।) विपरीत 'रति' के समय अथवा विपरीत रति में प्रसक्त हुई लक्ष्मी भगवान् श्रीहरि (विष्णु) के नाभिकमल में बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मदेव को देखकर लज्जित हुई, किन्तु कामावेश से व्याकुल होने के कारण वह अपनी सुरतक्रीडा को रोक न सकी। मेरे इस निधुवनविलास (सुरतक्रीडा) को यह ब्रह्मदेव कहीं देख न ले, यह सोचकर उस **लक्ष्मी** ने **कमल को बन्द कर देने**

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनं तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।

के लिए भगवान् श्रीहरि (विष्णु) के दक्षिण नेत्र (सूर्य) को आच्छादित कर दिया है, यानी ढक दिया है ॥ १३७ ॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में 'पारम्परिकसंबंध' (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का सम्बद्ध-सम्बन्ध) दिखाया गया है। यहाँ पर 'हरि' शब्द से 'विष्णु' के दक्षिण नेत्र की सूर्यरूपता अभिव्यक्त की गई है। उस दक्षिण नेत्र को ढक देने से सूर्य का अस्त होना और सूय के अस्त होने से कमल का बन्द हो जाना, और कमल के बन्द हो जाने से ब्रह्मदेव का कमल के भीतर बन्द हो जाना, इस प्रकार कमल के भीतर ब्रह्मदेव के बन्द हो जाने से गोप्य अंगों तथा तत्संबंधी गोप्य व्यापारों के न दिखाई देने से विघ्नरहित सुरतक्रीडाविलास आदि परंपरासंबन्ध से अभिव्यञ्जित होता है।

लक्षणा से पृथक् व्यञ्जनावृत्ति की साधक युक्तियों का निष्कर्ष—

विशेष विवरण—"ननु रामोऽस्मि सर्वं सहे" से आरंभ कर "विपरीतरते लक्ष्मी" तक ग्रन्थकार मम्मट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'व्यञ्जनावृत्ति' से होने वाला कार्य 'लक्षणावृत्ति' से नहीं हो सकता। अतः 'व्यञ्जनावृत्ति' को 'लक्षणावृत्ति' से अलग ही मानना होगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने छह युक्तियों को बताया है। उन छह युक्तियों का सारांश यह है—

(१) लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए 'मुख्यार्थ का बाध' होना चाहिये, किन्तु 'अत्ता एत्थ निमज्जति' इस उदाहरण में 'मुख्यार्थ का बाध' नहीं हो रहा है। तथापि 'निषेधपरक वाच्यार्थ' से 'विधिपरकनिमन्त्रण' रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। अतः यह प्रतीयमान 'व्यङ्ग्यार्थ', 'लक्षणा' का विषय नहीं है। इसलिए 'लक्षणा' से 'व्यञ्जना' को अलग ही मानना आवश्यक है।

(२) 'अभिधा' को जैसे 'संकेतग्रह' की अपेक्षा होती है, वैसे ही 'लक्षणा' को 'मुख्यार्थबाधादि हेतुओं' की अपेक्षा रहती है। इसीलिए 'लक्षणा' को 'अभिधा' की पुच्छभूत (अनुगामिनी) कहा है किन्तु 'व्यञ्जना', इन समस्त बन्धनों से रहित है। अतः 'व्यञ्जना' को 'लक्षणा' के अन्तर्गत नहीं कह सकते। उसे 'लक्षणा' से भिन्न स्वतन्त्रवृत्ति ही कहना होगा।

(३) यद्यपि 'अभिधा' और 'लक्षणा' दोनों में 'एक ही शब्द' से 'अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, तथापि उनमें 'नियतसम्बन्ध वाला अर्थ' ही रहता है। किन्तु 'व्यञ्जनावृत्ति' से जिन भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है, वे अर्थ,

'नियतसम्बन्धवाले' और 'अनियतसम्बन्धवाले' एवं 'पारम्परिकसम्बन्धवाले' भी होते हैं। जैसे—'अत्ता एत्थ निमज्जति' में 'व्यङ्ग्यार्थ', नियतसम्बन्धवाला (एक व्यक्तिविषयक अथवा प्रसिद्ध सम्बन्धवाला) प्रतीत होता है।

'कस्स वा ण होइ रोसो' में 'व्यङ्ग्यार्थ', अनियत सम्बन्धवाला (वाच्यार्थ से भिन्न विषयक अथवा अप्रसिद्ध सम्बन्ध वाला) प्रतीत होता है।

'विपरीतरते' में 'व्यङ्ग्यार्थ', 'परम्परासम्बन्धवाला' प्रतीत होता है। अतः 'व्यञ्जनावृत्ति' को 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' से अलग ही मानना चाहिये।

(४) 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति, 'लक्ष्यार्थ' के साथ न होकर उसके बाद ही होती हैं। इसलिए 'व्यञ्जनावृत्ति' को 'लक्षणावृत्ति' से पृथक् ही मानना चाहिये।

(५) 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति केवल 'लक्षणामूलक' ही नहीं होती है, अपितु 'अभिधामूलक भी' होती है। इस कारण भी 'व्यञ्जना' को 'लक्षणा' से पृथक् मानना चाहिये।

(६) 'अभिधामूलक' और 'लक्षणामूलक' व्यञ्जनाओं के अतिरिक्त कहीं कहीं 'निरर्थक वर्ण' से भी और कहीं-कहीं शब्द से भिन्न 'कटाक्षादि व्यापारों (संकेतों) से भी 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति होती है। इस कारण 'व्यञ्जना' को स्वतन्त्रवृत्ति ही कहना होगा। उसे 'लक्षणा' के अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता। इस रीति से 'व्यंजना' को 'लक्षणा' से पृथक् एक स्वतन्त्रवृत्ति के रूप में मानने के लिए ग्रन्थकार ने छह युक्तियों को बताया है। इसके पूर्व 'व्यञ्जना' को 'अभिधा' से भी पृथक् सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार मम्मट ने कितनी ही युक्तियों को बताया है। तात्पर्य यह है कि 'व्यंजना' को 'अभिधा' और 'लक्षणा' दोनों से पृथक् बताने में ग्रन्थकार ने अठारह युक्तियाँ बताई हैं। अतः 'व्यञ्जना' नाम की यह तीसरी वृत्ति है, यह मानना ही होगा।

इस प्रकार व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों का खण्डन बड़े विस्तार से ग्रन्थकार ने यहाँ तक किया है, और 'व्यञ्जना' को एक स्वतन्त्रवृत्ति के रूप में सिद्ध कर दिया है। अभिहितान्वयवादी श्री कुमारिलभट्टपाद, अन्विताभिधानवादी प्रभाकरभट्ट, दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापारवादी भट्टलोल्लट, तथा 'अभिधावृत्ति-मातृका' के रचयिता मुकुलभट्ट ये सभी महान् मीमांसक हैं।

केवल मीमांसकों का खण्डन कर देने से ही ग्रन्थकार का मार्ग अभी निष्कण्टक नहीं हुआ है। व्यञ्जना को प्रतिष्ठित करने के लिए अभी उन्हें अन्यान्य

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति

दार्शनिकों से भी संघर्ष करना है। मीमांसकों की तरह नैयायिक, वैयाकरण, वेदान्ती भी 'व्यञ्जना' के विरोधी हैं। इतना ही नहीं साहित्यशास्त्र के कितने ही सम्प्रदायों ने भी व्यञ्जना का विरोध किया है। साहित्यशास्त्र के केवल 'ध्वनि-सम्प्रदाय' वादियों ने ही 'व्यञ्जनावृत्ति' को स्वीकार किया है। ध्वनिवादी आचार्यों के मतानुसार तो 'व्यञ्जना' के बिना काव्य में कोई 'चमत्कार' अथवा 'रस' ही पैदा नहीं होता है। 'रस' के बिना जो काव्य है, वह शुष्क काव्य है। उससे सहृदयों को आनन्द का अनुभव नहीं हो पाता है। अतः काव्य में रसाभिव्यक्ति के लिए 'व्यञ्जना' की सत्ता का होना अनिवार्य है।

सत्कवियों का यह स्वभाव है कि वे किसी बात को 'अभिधा' से नहीं बताते। अभिधा से बात को बताने वाले तो सीसकाक्षरसंयोजक के समान ही हैं। इसीलिए सत्कवि अर्थात् महाकवि तो 'व्यञ्जना' के द्वारा ही अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त किया करते हैं। यह कवियों की वर्णनशैली कहलाती है। अतएव कहा भी है—

'व्यङ्ग्यप्रधानाभिनवैव भङ्गी मुख्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥'

अपनी इस शैली पर कविगणों को हर्षप्रद गौरव का अनुभव होता है। अभिधा का आश्रय करके अपनी बात बताने वाले तो वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती आदि दार्शनिक हुआ करते हैं। वे 'कवि' नहीं कहलाते। परमेश्वर की स्तुति करते समय वेदों ने भी उस परमेश्वर को वैयाकरण या नैयायिक अथवा मीमांसक या वेदान्ती नहीं कहा, अपितु बार-बार उसे 'कवि' कहकर ही निर्दिष्ट किया है।

'स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः ॥'

'व्यंजना' ही कवित्व का निकष (कसौटी) है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों से महान् संघर्ष करके 'व्यञ्जना' को प्रतिष्ठित करने का प्राणपण से प्रयत्न किया है। तथापि अभी वेदान्ती, वैयाकरण और नैयायिकों से संघर्ष करना बाकी है। अब इसके आगे वही होगा और अन्त में व्यञ्जना को प्रतिष्ठित करने का मार्ग निष्कण्टक किया जायगा।

अखण्डेति। जो वेदान्ती अथवा वैयाकरण भी यह कहते हैं कि 'अखण्ड बुद्धि से ग्राह्य होने वाला वाक्यार्थ' ही वाच्य होता है, और 'अखण्ड वाक्य' ही उस अर्थ का वाचक होता है।

येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्य-मुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव।

तैरपीति। उन वेदान्ती और वैयाकरणों को भी 'व्यवहारकालिक अविद्या' की दशा में पद-पदार्थ की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। अतः उनके पक्ष में भी 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उक्त उदाहरण में 'तदन्तिकं गतासि' इस 'विधि' को व्यङ्ग्य मानना ही होगा।

विशेष विवरण—प्रथमतः शाब्दबोध की प्रक्रिया की ओर ध्यान देना होगा। इस प्रक्रिया में 'पदार्थसंसर्गबोध' को वाक्यार्थ कहते हैं। 'वाक्यघटक पदों' से प्रथमतः 'पदार्थों की उपस्थिति' होती है, तत्पश्चात् उपस्थित हुए उन 'पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध' होता है। इसी पदार्थ-सम्बन्ध (पदार्थ-संसर्ग) को 'वाक्यार्थ' कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रायः सभी वाक्य 'पदार्थसंसर्गविषयक प्रतीति' को पैदा करते हैं।

किन्तु वेदान्तियों ने ऐसे वाक्यों की भी कल्पना की है, जो 'संसर्गविषयक प्रतीति' को नहीं कराते हैं। ऐसे वाक्यों को वे 'अखण्डार्थवाक्य' कहते हैं। अर्थात् 'अपर्यायशब्दानां संसर्गाऽगोचरप्रमितिजनकत्वम् – अखण्डार्थबोधकवाक्य-त्वम्। हस्तः करः' इत्यादि में व्यभिचार का वारण करने के लिए 'अपर्याय' कहा है। 'इन्द्रियव्यावृत्ति के लिए 'शब्द' कहा है। 'गामानय' इत्यादि में व्यभिचार-वारणार्थ 'संसर्गाऽगोचर' कहा है। वाक्याभासव्यावृत्त्यर्थ 'प्रमिति' कहा है। प्रायः लक्षणपरकवाक्य 'संसर्गाऽगोचरप्रमिति' के उत्पादक होने से 'अखण्डार्थवाक्य' कहलाते हैं। 'प्रश्नोत्तर' की विषयसमानता के आधार पर ही 'लक्षणपरक वाक्यों' को 'अखण्डार्थी वाक्य' कहा जाता है। क्योंकि यह एक सर्वसाधारण नियम है कि 'जिस विषय में प्रश्न हो, उसी विषय में उत्तर देना चाहिये'। अन्यथा 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे'–यह कहावत चरितार्थ होगी। अतएव 'प्रश्न कुछ किया जाय और उत्तर कुछ और ही दिया जाय' तो उसे शिष्ट लोग अनुचित कहा करते हैं। जैसे—कोई पूछ दे कि आकाश में उदित अनगिनती तारकादि ग्रहों में 'कतमश्चन्द्रः' चन्द्रमा कौन-सा है ? इस प्रकार चन्द्रपदार्थ के 'स्वरूप' की जिज्ञासा होने पर उत्तर देने वाला व्यक्ति 'प्रकृष्टप्रकाश-श्चन्द्रः' जो सबसे अधिक प्रकाशमान् है, वह 'चन्द्रमा' है, इस प्रकार लक्षण-वाक्य द्वारा उसको बताता है। यहाँ 'चन्द्रमा' के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया गया है, इसलिए उसका उत्तर भी स्वरूपमात्रविषयक होने से उसे उचित ही कहा जायगा। 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः' यह उत्तर-वाक्य केवल 'स्वरूपपरक' ही है। इस उत्तर से पदार्थ-संसर्ग का बोध न होने से यह उत्तर-वाक्य 'संसर्गपरक' नहीं

है। इसको भी यदि सामान्य वाक्य के समान 'संसर्ग-गोचर-प्रमिति का जनक' मान लें तो प्रश्न और उत्तर 'भिन्नविषयक' हो जाने से 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' की कहावत घटित होगी। क्योंकि 'प्रश्न' तो स्वरूपविषयक है और 'उत्तर' संसर्गविषयक दे रहे हैं। अतः ऐसा उत्तर देना उचित न होगा। इसलिए 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः' इस वाक्य को 'संसर्ग का बोधक' न मानकर 'स्वरूपमात्र का बोधक' माना गया है। इसीलिए उसे 'अखण्डार्थकवाक्य' कहा गया है। 'तत्त्वमसि', 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों को भी वेदान्ती लोग 'अखण्डार्थवाक्य' ही मानते हैं।

कुछ व्याख्याकारों ने 'अखण्डार्थ वाक्य' की व्याख्या, दूसरे ढंग से की है। 'क्रिया-कारकभावमुररीकृत्य जायमाना धीः खण्डा, तदन्या अखण्डा'। क्रिया-कारकभाव को मानकर किये जाने वाले 'शाब्दबोध' को 'सखण्ड बोध' कहते हैं। क्योंकि क्रिया-कारक भाव में अनेक खण्डों (क्रिया, कारक के रूप) में वाक्य का विश्लेषण किया जाता है।

तथा 'क्रिया-कारकभावमनङ्गीकृत्य जायमाना धीः अखण्डा'—अर्थात् जहाँ क्रिया कारकभाव रूप खण्डों में वाक्य अथवा वाक्यार्थ का विभाग (विश्लेषण) नहीं किया जा सकता, वहाँ उसे अखण्ड वाक्य अथवा अखण्ड वाक्यार्थ कहा जाता है। क्योंकि क्रिया-कारकभाव तो धर्म-धर्मिभाव को मानने पर ही संभव हो सकता है। धर्म-धर्मिभाव को माने बिना वह कदापि नहीं हो सकता। वेदान्त सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के अनुसार समस्त संसार और उसमें प्रतीयमान (अनुभूयमान) नानात्व (भेद) को मिथ्या माना जाता है। तब संसार के मिथ्या होने से उसमें धर्म-धर्मिभाव हो नहीं सकता और 'ब्रह्म' के निर्धर्मक रहने से उसमें धर्म-धर्मिभाव हो नहीं सकता। अतः 'मिथ्यात्व-सिद्धान्त के अनुसार धर्म-धर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव सभी कुछ मिथ्या ही है। इसीलिए वेदान्तियों के मत में पारमार्थिक रूप में 'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना' की सत्ता नहीं मानी जाती। तथापि व्यावहारिक रूप में वे अभिधा, एवं लक्षणा की सत्ता मानते ही हैं।

अतः पद-पदार्थ विभाग के बिना ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत् त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य, अखण्ड ब्रह्म का ही बोधन करते हैं।

उस अखण्ड बुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्म ही उक्त 'महावाक्यों का वाच्यार्थ है। अतः वे वाक्य ही 'अखण्ड ब्रह्म' के वाचक हैं। ग्रन्थकार मम्मटभट्ट की–'अखण्ड बुद्धि

निर्ग्राह्यो वाक्यार्थो एव वाच्यः', 'वाक्यमेव च वाचकम्'-लिखित पङ्क्ति का यही सरल अर्थ है। श्री व्यास चरणों ने भी यही बताया है—'अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपद-वर्णविभागमस्या निमित्तम्'। कुछ लोग 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य' का अर्थ इस प्रकार भी बताते हैं—'अखण्डबुद्धि' अर्थात् महावाक्यबुद्धि, उससे निर्ग्राह्य जो 'महावाक्यार्थ' वही उसका वाच्य है। इसलिए वेदान्तियों के अनुसार वाक्य से प्रतीयमान व्यंग्यार्थ का बोध भी वाक्य की शक्ति से ही हो सकता है। अतः 'व्यङ्ग्य अर्थ' को वाच्य कहना ही उचित है।

आलंकारिकों ने लक्षणा के दो भेद 'उपादानलक्षणा' और 'लक्षणलक्षणा' के नाम से किये हैं। इन्हीं को 'अजहल्लक्षणा' और 'जहल्लक्षणा' के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु वेदान्ती विद्वानों ने 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य के अर्थबोधनार्थ 'जहद्जहल्लक्षणा' को माना है। यह 'जहदजहल्लक्षणा' संज्ञक व्यापार, उक्त तीनों व्यापारों (अभिधा, उपादानलक्षणा = अजहल्लक्षणा, और लक्षणलक्षणा = जहल्लक्षणा) से पृथक् चौथा व्यापार है। इस चौथे व्यापार को 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। एवं च वेदान्तियों के यहाँ तो पारमार्थिक दशा में 'ब्रह्मातिरिक्त' सभी कुछ मिथ्या है। 'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, अखण्डवाक्य, सखण्डवाक्य' सब कुछ मिथ्या ही है। किन्तु व्यावहारिक दशा में तो वेदान्ती 'व्यवहारे भाट्टनयः' कहा करते हैं। अतः तदनुसार वेदान्तियों को व्यवहार-सम्पादनार्थ भाट्टमीमांसकों के समान आवश्यक बातों (पद-पदार्थ की कल्पना) को मानना ही पड़ता है। इसी दृष्टि से वेदान्तियों को अखण्डवाक्य तदर्थवादी के नाम से भी कहा जाता है। 'अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णातास्तमखण्डं प्रपेदिरे॥" इस कथन के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों से उत्पन्न हुई अखण्ड बुद्धि से निर्ग्राह्य पर-ब्रह्मरूप वाक्यार्थ ही वाच्य है और अखण्ड वाक्य ही वाचक है, जो तादृश-बुद्धि में निमित्त है।

एवं च वेदान्तियों की दृष्टि से 'वाक्यार्थ' को वाच्य और 'वाक्य' को ही उसका वाचक कहा गया है। इस प्रकार वेदान्तियों की ओर से पूर्वपक्ष किया गया है। उक्त पूर्वपक्षीय ग्रन्थ का समाधान 'तैरप्यविद्यापदपतितैः' से ग्रन्थकार ने दिया है। ग्रन्थकार का कहना है कि पारमार्थिक दशा में सभी कुछ अर्थात् दृश्यमान् सम्पूर्ण जगत् को ही मिथ्या समझने वाले वेदान्तियों को भी व्यावहारिक दशा में व्यवहारसम्पादनार्थ 'पद-पदार्थ' आदि की कल्पना करनी ही पड़ती है। तब व्यवहारकाल में वेदान्तियों को भी 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि उदाहरणों में

निषेधवाक्य से 'विधिरूप अर्थ' की जो प्रतीति हो रही है, उसे, व्यंजना को, स्वीकार किये बिना वे कैसे कर पायेंगे ? अतः उन्हें 'व्यञ्जना' को स्वीकार करना ही होगा। एवं च वेदान्तियों के लिए भी 'व्यंजना' का मानना अनिवार्य है। सारबोधिनी सुधासागरकारादि व्याख्याकारों ने भी कहा है—"वेदान्तिभिरपि दशाविशेषे व्यञ्जनाङ्गीकार्यैवेत्याह अखण्डबुद्धीत्यादि।

मूल में प्रयुक्त 'अविद्यापद' का अर्थ, 'व्यवहारमार्ग' समझना चाहिये। यदि व्यवहारदशा में भी 'भाट्टनय' को नहीं मानेंगे तो व्युत्पन्न-अव्युत्पन्न व्यवहार (साधु-असाधुशब्द व्यवहार) नहीं हो सकेगा, तत्तद्विशेषपदार्थ की उपस्थिति भी नहीं हो सकेगी। तब तो व्यवहारलोप ही होने लगेगा। इसीलिए कहा गया है कि 'व्यवहारे भाट्टनयः'। पीछे 'अर्थशक्तिमूलेऽपि' इत्यादि ग्रन्थ से भाट्टनय में व्यञ्जना की स्थापना को बता ही चुके हैं।

वेदान्तियों की तरह वैयाकरण भी 'अखण्डार्थतावादी' कहे जाते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेदान्तियों के अद्वितीय 'ब्रह्म' की जगह वैयाकरणों ने एकमात्र 'शब्दब्रह्म' को माना है। उस 'शब्दब्रह्म' को वे 'स्फोट' शब्द से कहा करते हैं। यह 'स्फोट' कई प्रकार का होता है। वैयाकरणों के मत में 'अखण्ड' इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट 'स्फोट' रूप 'शब्द ब्रह्म' ही माना जाता है।

प्रभाव्याख्याकार वैद्यनाथ का कहना है कि 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यः…… येऽप्याहुः'–यह कथन, वेदान्तियों में से भ्रान्त हुए किसी एकदेशी वेदान्ती का है। क्योंकि सिद्धान्ती वेदान्तियों ने तो लक्षणा को ही माना है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'येऽप्याहुः' इत्यादि वृत्तिग्रन्थ तो वाक्य-स्फोटवादी वैयाकरणों के अभिप्राय को बता रहा है। क्योंकि उनके मत में 'अखण्ड' इत्यादि विशेषण-विशिष्ट स्फोट अर्थात् 'आविद्यिक पद-पदार्थ-विभाग की कल्पना' व्युत्पत्ति दशा में की जाती है। भर्तृहरि ने कहा भी है—

"ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्‌ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥"

ब्राह्मण का कम्बल यानी ब्राह्मण से सम्बन्धित कम्बल–यह प्रतीत होने वाला अर्थ, समस्त (समास से निष्पन्न हुए) ब्राह्मण-कम्बल-पद का है, किन्तु 'ब्राह्मण' शब्द का कोई अलग अर्थ नहीं है। क्योंकि ब्राह्मणसम्बन्धित्वविशिष्ट-कम्बल–इस अखण्डार्थ की प्रतीति होती है। जैसे 'देवदत्तो गच्छति' इस वाक्य में देवदत्त सम्बन्धी गमन इतने अखण्ड अर्थ की प्रतीति होती है, खण्डभूत–देवदत्त आदि पद अनर्थक ही रहते हैं। उसी तरह जो 'शब्दब्रह्मवादी' भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरण हैं, वे भी प्रक्रियादशापन्न (अविद्यापदपतित) होने पर कहते हैं कि—

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गाद् । एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति । तथा हि—

"उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥"

प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग, बालकों को समझाने के लिए है । प्रथमतः असत्य मार्ग का अवलम्बन करके ही 'शाखा-अरुन्धती न्याय' से सत्य को समझा जाता है । ग्रन्थकार ने 'अविद्यापदपतितैः' कहकर 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा' को ही सूचित किया है ।

एवं च अखण्डार्थवाद, तो वेदान्ती और वैयाकरण दोनों को मान्य है । अतएव मम्मट भट्ट ने 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' के अनुसार एक साथ ही दोनों का खण्डन कर दिया है ।

नन्विति । 'वाच्य अर्थ' से असम्बद्ध वस्तु की प्रतीति नहीं होती है— यह कहकर व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ की व्याप्ति को बताया है । अन्यथा जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति हुआ करेगी ।

एवं चेति । इससे यह स्पष्ट होता है कि किसो सम्बन्ध से होने वाला जो 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव' है, वह अप्रतिबन्ध (नियत सम्बन्धरूप व्याप्ति के अभाव) में नहीं होता है । अर्थात् 'प्रतिबन्ध' (व्याप्ति) के रहने पर ही 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव' का निश्चय हुआ करता है । अतः व्याप्तत्वेन, नियतत्वेन, धर्मिनिष्ठत्वेन अर्थात् सपक्षसत्त्व (व्याप्तत्व), विपक्षव्यावृत्तत्व (नियतत्व), और पक्षवृत्तित्व (धर्मिनिष्ठत्व) इन धर्मों के कारण तीन रूपों वाले 'लिङ्ग' (हेतु) से 'लिङ्गी' (साध्य) का जो 'अनुमान' किया जाता है, उसी में 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' का भी पर्यवसान हो जाता है ।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने वाक्यतत्त्ववित् मीमांसक, वेदान्ती, और पदतत्त्ववित् वैयाकरणों के द्वारा उपस्थित की हुई व्यञ्जनाविरोधी युक्तियों का अच्छी तरह खण्डन कर दिया ।

अब उपर्युक्त ग्रन्थावतरणिका देते हुए प्रमाणतत्त्ववित् नैयायिकों के द्वारा दी जाने वाली व्यञ्जनाविरोधी युक्तियों का खण्डन ग्रन्थकार करेंगे । ये व्यञ्जना-विरोधी नैयायिक 'महिमभट्ट' हैं । इनका कहना है कि 'व्यञ्जना' को अतिरिक्त

मानने की आवश्यकता नहीं है, उसका तो **अनुमान** में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है।

'व्याप्ति' का जब तक ज्ञान नहीं होगा, तब तक 'अनुमान' नहीं होगा। अतः **अनुमान करने के लिए 'व्याप्ति' का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।**

अनुमान की प्रक्रिया में दो मुख्य अंश होते हैं—(१) व्याप्ति और (२) पक्षधर्मता।

उक्त दो अंशों में से प्रथम अंश जो 'व्याप्ति' है, वह दो प्रकार की होती है—(१) अन्वयव्याप्ति और (२) व्यतिरेकव्याप्ति। इनमें से 'अन्वयव्याप्ति' का स्वरूप और उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है—

'हेतु' और 'साध्य' के नियत-साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे—'यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः' यहाँ 'धूम' और 'वह्नि' का नित्य-साहचर्य दिखाई देता है।

इस 'अन्वयव्याप्ति' में **'हेतु' व्याप्य रहता है** और **'साध्य' व्यापक रहता है।** इस **व्याप्ति के बल पर** ही 'व्याप्य' के द्वारा 'व्यापक' का यानी **'हेतु' से 'साध्य' का अनुमान किया जाता है।**

ऊपर बताई हुई दूसरी (२) **'व्यतिरेकव्याप्ति'** का **स्वरूप और उदाहरण** क्रमशः इस प्रकार है—

अन्वयव्याप्ति में जो **'व्यापक'** होता है, **'उसका अभाव'**, व्यतिरेक व्याप्ति में 'व्याप्य' हो जाता है। और 'अन्वयव्याप्ति' में जो **'व्याप्य'** होता है, **'उसका अभाव'**, 'व्यतिरेक व्याप्ति' में **'व्यापक'** हो जाता है। **इस व्यतिरेक व्याप्ति में 'व्यापक के अभाव' से 'व्याप्य के अभाव' का अनुमान किया जाता है।** अर्थात् 'साध्याभाव' से 'हेत्वभाव' का अनुमान किया जाता है।

श्लोकवार्तिक में उपर्युक्त कथन को पद्य के रूप में बताया गया है—

व्याप्य-व्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
तद्भावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः॥

(श्लो० वा० १२१–२३)।

दूसरा अंश **'पक्षधर्मता'** है। जहाँ **'साध्य' का सन्देह रहता है, उसे 'पक्ष' कहते हैं।** अतएव 'पक्ष' का लक्षण **'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः'** किया गया है। जब

तक 'पर्वत' में 'वह्नि' का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता है, तब तक 'पर्वत', सन्दिग्ध-साध्यवान् रहने से उसे ('पर्वत' को) 'पक्ष' समझा जाता है। 'धूम' रूप 'हेतु' का उस 'पर्वत' रूप पक्ष में रहना आवश्यक है। अन्यथा 'व्याप्ति' (यत्र धूमः तत्र वह्निः) का ज्ञान रहने पर भी 'पर्वत' रूप पक्ष में 'वह्नि' की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः 'धूम' रूप हेतु (लिङ्ग) की 'पर्वत' रूप 'पक्ष' में अवस्थिति को 'पक्षधर्मता' (पक्षवृत्तित्व) कहते हैं।

ग्रन्थकार ने इन दो (व्याप्ति और पक्षधर्मता) को क्रमशः 'व्याप्तत्वेन' और 'धर्मिनिष्ठत्वेन' से बताया है। तथा 'नियतत्वेन' से 'विपक्षव्यावृत्तत्व' को बताया है, अर्थात् हेतु (लिंग) को 'निश्चितसाध्याभाव वाले विपक्ष' मे कभी भी नहीं रहना चाहिये। विपक्ष का लक्षण यही है कि 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः'। एवं च 'हेतु' (लिङ्ग) में (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्ष-व्यावृत्तत्व—ये तीन धर्म अवश्य ही होने चाहिये। पक्ष, सपक्ष और विपक्ष के लक्षण इस प्रकार किये जाते हैं—(१) सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः, (२) निश्चित-साध्यवान् सपक्षः, (३) निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। वह्निसाध्यक अनुमान में पर्वत पर 'साध्य' (वह्नि) का सन्देह रहने से 'पर्वत' को 'पक्ष' माना जाता है।

जहाँ पर निश्चित रूप से 'साध्य' के रहने का ज्ञान होता है, उसे 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे पर्वत पर वह्निसाध्यक अनुमान में 'महानस' को 'सपक्ष' कहा जाता है। क्योंकि 'महानस' (रसोईघर) मे 'वह्निरूप साध्य' की स्थिति निश्चित रहती है।

जहाँ पर निश्चित रूप से 'साध्य का अभाव' रहता है, उसे 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे—जलाशय (सरोवर, तालाब, समुद्र आदि) मे वह्निरूप 'साध्य का अभाव' निश्चित रहता है।

'शुद्ध हेतु' (सद् हेतु) को अपने 'पक्ष' तथा 'सपक्ष' में अवश्य ही रहना चाहिये। और 'विपक्ष' मे हमेशा उसका 'अभाव' ही रहना चाहिये। इन्हीं स्थितियों को 'पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व' कहते है। ये ही 'सद् हेतु' (लिङ्ग) के तीन रूप हुआ करते हैं। इन तीन रूपो से समन्वित 'हेतु' का ही सद्धेतु (शुद्ध हेतु) कहते हैं। उक्त तीन रूपों में से किसी भी एक रूप से हीन रहने वाले 'हेतु' को ही 'हेत्वाभास' (असद्धेतु) कहते हैं। ग्रन्थकार मम्मट ने 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्' कहकर हेतु के उक्त तीन रूपो को सूचित किया है।

एवं च 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' से युक्त होकर अपने त्रिविध रूपो से विशिष्ट

हुए 'लिङ्ग' (हेतु) से 'लिङ्गी' (साध्य) का जो ज्ञान सम्पन्न किया जाता है, उसे ही 'अनुमान' कहते हैं ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति' भी 'व्याप्ति' (साध्य', 'साधन' = हेतु का नियत साहचर्य सम्बन्ध), और 'पक्षधर्मता' ('हेतु' की धर्मिनिष्ठता), और 'नियतत्व' यानी नियतता = विपक्षव्यावृत्तता (विपक्ष में हेत्वभाव की नियतता) के बिना नहीं होती है । अतः 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' की प्रतीति को भी अनुमान ही कह सकते हैं । अर्थात् वह, अनुमान रूप ही है । 'अनुमानेन रूप्यते विषयीक्रियते' इस व्युत्पत्ति से 'तद्रूप' का अर्थ 'अनुमेयाऽनुमापक-भाव' किया गया है । उसे अलग समझना और उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि क्लृप्त लिङ्ग-व्यापार से ही निर्वाह यदि हो जाता है, तो अक्लृप्त-व्यञ्जना व्यापार की कल्पना क्यों कर रहे हो ? यह नैयायिक महिमभट्ट का अभिप्राय है । वे कहते भी हैं—

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमां परां वाचम् ॥"

सिद्धान्ती—उस पर सिद्धान्ती व्यञ्जनावादी कहता है—अनुमिति में तो सम्बन्ध का नियत होना जैसे आवश्यक होता है, वैसा व्यञ्जना में नहीं है, वहाँ 'सम्बन्ध का नियत होना' आवश्यक नहीं है । संभावना मात्र से भी 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति हो जाती है । तब उसका अनुमान में अन्तर्भाव कैसे कर सकते हैं ?

पूर्वपक्षी—उस पर नैयायिक महिम भट्ट कहते हैं कि हम अनुमान की तरह वहाँ भी (व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति में भी) व्याप्ति आदि अनुमान सामग्री को बता सकते हैं ।

तथा हीति । जैसे—

हालकवि विरचित 'गाथासप्तशती' के द्वितीय शतक का ७५ वाँ यह पद्य है । इस पद्य में 'वीसद्धो' के बजाय 'वीसत्थो' भी पाठ उपलब्ध होता है । 'वीसत्थो' की संस्कृत 'विश्वस्तः' होती है ।

गोदावरी नदी के तट पर किसी स्त्री के घरेलू उपवन में कोई 'धार्मिक पुरुष' पुष्पावचयन के लिए प्रायः जाया करता था, किन्तु उसके घर का वह उपवन उसका 'संकेत-स्थान' था, जहाँ उसका 'उपपति' उससे मिलने आया करता था । किन्तु उस धार्मिक पुरुष के वहाँ आने से उस नायिका के कार्य में विघ्न होता था । इसलिए उस नायिका ने अपने कार्य में पड़ने वाली विघ्न-बाधा को दूर करने के लिए एक उपाय सोचा, जिससे उस धार्मिक पुरुष का वहाँ आना हमेशा के लिए बन्द हो सकेगा । क्योंकि वह जानती है कि वह धार्मिक पण्डित जी बड़े डरपोक हैं, जो कुत्ते से इतना डरते हैं तो सिंह का नाम सुन कर तो यहाँ आना बन्द ही कर देंगे । अतः वह

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ १३८ ॥

(भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ १३८ ॥)

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

व्यभिचारिणी स्त्री उस धार्मिक पुरुष के प्रति अत्यन्त विनय प्रदर्शित करती हुई उसे डराने के लिए कह रही है ।

भ्रमेति । हे धार्मिक ! आप निर्भय होकर खूब विश्वास के साथ अपनी इच्छा के अनुसार (यथेच्छ) इस उपवन में अब घूमा करिये । क्योंकि गोदावरी नदी के तटवर्ती लता-निकुञ्ज में रहने वाले उस उन्मत्त सिंह ने मेरे घर के उपवन में रहने वाले पालतू कुत्ते (शुनक = श्वा = कुत्ता) को आज ही मार डाला है ॥ १३८ ॥

प्रश्न—प्रकृत प्रसंग में 'वाच्य' क्या है, और 'अनुमेय' क्या है ?

उत्तर—अत्रेति । उक्त पद्य में यह बताया गया है कि गोदावरी नदी के तट पर बने हुए कुञ्ज में रहने वाले उस सिंह ने कुत्ते को मार दिया है । अतः यथेच्छ विचरण करने के लिए धार्मिक पुरुष से कहा जा रहा है । अर्थात् स्वच्छन्द विचरण करने का ('भ्रम' कहकर उपवन में विधिविषयीभूत भ्रमण का) जो विधान है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'गोदावरी के तट पर सिंह के रहने' से वहाँ उसे 'विचरण' (भ्रमण) नहीं करना चाहिये । अर्थात् 'कुलटा स्त्री' के द्वारा कथित (विहित) 'भ्रमण', उस 'धार्मिक पुरुष' के 'अभ्रमण' का 'अनुमापन' (अनुमान) कराता है । यहाँ 'भ्रमण' वाच्य है और 'अभ्रमण' (भ्रमण निषेध) अनुमेय है । अनुमान करने में व्याप्ति की आवश्यकता होती है, व्याप्ति' दो प्रकार की होती है, एक अन्वय व्याप्ति और दूसरी व्यतिरेक व्याप्ति । यहाँ व्यतिरेक 'व्याप्ति' को इस प्रकार बता रहे हैं—'यद्-यद् भीरुभ्रमणं, तत्-तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्' – (अर्थात् तत्तद्भयकारणाभावज्ञानपूर्वकम्) जो भीरु पुरुष का भ्रमण है, वह भय—कारण के न रहने पर (भयकारणाऽभावज्ञानपूर्वक) ही हुआ करता है—यह व्यतिरेक 'व्याप्ति' प्रदर्शित की गई है । किन्तु 'गोदावरी नदी के तट पर' तो भय के कारणभूत 'सिंह' की उपलब्धि (ज्ञान) हो रही है । एवं च 'भीरुभ्रमण' की व्यापिका जो 'भयकारणाभावोपलब्धि' है, उसके 'विरुद्ध' (विपरीत) 'भयकारण' की ही उपलब्धि हो रही है । अर्थात् व्यापक के विरुद्ध की

(व्यतिरेक व्याप्ति की) प्रतीति हो रही है। इस व्यतिरेक व्याप्ति से अनुमिति यह हो रही है कि **'गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं, यथा गृहम्'**। इस आकार में 'भ्रमणाऽभाव' की अनुमिति हो रही है।

विशेष विवरण—उपर्युक्त ग्रन्थ को हृदयङ्गत करने के लिए अनुमान की प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' को पहले बता दिया गया है। व्याप्ति के विषय में यह भी जानना आवश्यक है कि 'व्याप्ति' दो प्रकार की होती है—(१) **अन्वयव्याप्ति**, (२) **व्यतिरेकव्याप्ति**। उनमें से 'धूम' और 'वह्नि' जैसे भाव-पदार्थों की तो 'अन्वय-व्याप्ति' हुआ करती है। तथा 'वह्न्यभाव' और 'धूमाभाव' जैसे अभाव-पदार्थों की 'व्यतिरेक व्याप्ति' हुआ करती है। **अन्वयव्याप्ति** का उदाहरण—'यत्र-तत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः' इत्यादि है। इसके विपरीत व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण—**'यत्र-यत्र वह्न्यभावः, तत्र-तत्र धूमाभावः'** इत्यादि है।

महिमभट्ट ने यहाँ पर 'व्यतिरेक व्याप्ति' का सहारा लेकर यह बताया है कि गोदावरी का तट, उस धार्मिक पुरुष के भ्रमण के योग्य नहीं है। अर्थात् 'भ्रमणाभाव' का बोधन, व्यतिरेक व्याप्ति के सहारे किया है। 'गोदावरीतीरम्' यह 'पक्ष' है, और 'भीरुभ्रमणाऽयोग्यत्व' 'साध्य' है। किन्तु उक्त पद्य में 'भ्रम' अर्थात् विचरण (भ्रमण) करो—ऐसा विधिरूप में कहा गया है यानी 'भ्रमण' का विधान किया गया है। और उसी के साथ-साथ 'गोदावरी' के तट पर दृप्त सिंह के रहने की सूचना भी दे दी है। धार्मिक पुरुष जैसे भीरु पुरुष का विचरण (भ्रमण) तो तभी हो सकता है, जब कोई भयकारण उपस्थित न हो। परन्तु वहाँ तो भय का कारण 'सिंह' उपस्थित है। अतः भयकारणानुपलब्धि रूप 'हेतु' का अभाव यानी 'भयकारणोपलब्धि' के रहने से 'साधन' (हेतु) का अभाव है। इस प्रकार हेतु का अभाव रहने से साध्य (विधिरूप भ्रमण) का अभाव ही सिद्ध हो रहा है। अर्थात् भ्रमण का निषेध ही सम्पन्न हो रहा है। उक्त बात को अनुमान के प्रयोग में इस प्रकार कहा जायगा—

(१) 'गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं, (२) भयकारणसिंहोपलब्धेः' (३) 'यद्यद्भीरुभ्रमणयोग्यं, तत्तद्भयकारणाऽभाववत्, (४) न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत्; सिंहोपलब्धेः, यथागृहम्', (५) तस्मात् इदं स्थानं भीरुभ्रमणाऽयोग्यम्।

क्रमसंख्या (१) के वाक्य में 'प्रतिज्ञा अथवा साध्य' अंश को दिखाया है। क्र० सं० (२) के वाक्य में 'हेतु अथवा साधन' को दिखाया है। क्र० सं०

(३) के वाक्य में व्यतिरेक व्याप्ति सहित 'उदाहरण' को दिखाया है। क्र० सं० (४) के वाक्य में 'उपनय' को दिखाया है। क्र० सं० (५) के वाक्य में 'निगमन' को बताया है।

इस रीति से पञ्चावयव वाक्य (अनुमान) के द्वारा महिमभट्ट ने 'भ्रमण निषेध' की अनुमिति करायी है, अर्थात् उसे अनुमान का विषय होना सिद्ध किया है। एवं च 'भ्रमण निषेध' रूप अर्थ की प्रतीति कराने के लिए 'व्यञ्जना' 'वृत्ति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है' यह नैयायिक महिमभट्ट का कहना है।

व्यतिरेकी जो व्यापकविरुद्धज्ञान (व्यापकविरुद्धोपलब्धि) है, वही अनुमिति में हेतु है। किन्तु नवीनों के मतानुसार 'भयहेतुमत्त्व के ज्ञान का अभाव' ही व्यापक है, ऐसा उद्योतकार ने बताया है।

प्रदीपोद्योत में उक्त विषय का स्पष्टीकरण सुन्दर ढंग से किया है—'तदत्र निकुञ्जवासिसिंहकृतया श्वनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधिर्वाच्यः, स एव निकुञ्ज-भ्रमणाऽयोग्यतानुमित्यै प्रभवति। यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकं, निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धौ पर्यवसानात् भ्रमणस्य व्यापकभयकारणाऽभावोपलब्धिः प्रतीता, तद्विरुद्धं यद्भयकारणं तदुपलब्धेः। यथा—नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेः। अर्थात् तुषारस्पर्शव्यापको हि वह्निभेदस्तदभावे वह्नित्वे वह्नितादात्म्ये वा तुषारस्पर्शाभावानुमितिरित्यर्थः। अत्र च भ्रमण-भयकारणाऽभावयोः सहचारः, तद्गृहे निश्चित इति सपक्षसत्त्वं, विपक्षाऽसत्त्वं व्याप्तिग्रहादेव ज्ञातम्। व्यापकाभावस्य च भयहेतुसिंहवत्त्वस्य उत्तरार्धेन निकुञ्जरूपपक्षधर्मत्वं गृहीतम्—इस प्रकार प्रभाकार ने स्पष्ट किया है।

अनुमानं च 'इदं गोदावरीनिकुञ्जं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं सिंहवत्त्वात्'। 'श्वा' अत्र गेहस्थः यद्भयात् गृहेऽपि अभ्रमणमासीत्, स एव पक्षभूते निकुञ्जे भ्रमणाऽयोग्यत्वानुमित्यै प्रभवति। ननु गृहे भ्रमणं न गोदावरी-तीराऽभ्रमणमनुमापयति व्यधिकरणत्वात्, इति चेन्न। श्लोकवाच्यस्य तदनुमितिसाध्यसाधनविरुद्धयोर्व्याप्तिप्रदर्शनरूपत्वात् यद्यप्यत्र भीरुभ्रमणवति गृहे भयकारणश्वनिवृत्त्युपलब्धिरेव वाच्या, तथापि तत्र तदुपलब्धिज्ञानाद् व्युत्पन्नेन झटिति तयोर्व्याप्तिः स्मर्यते, उत्तरार्धेन च व्यापकाभावस्य पक्ष-धर्मताज्ञानम्। एवं च भ्रमणव्यापकभयकारणाभावज्ञानाऽभावेन व्याप्य-भ्रमणाऽभावः सिध्यति। उपलभ्यमानभयकारणवत्त्वं हेतुः। यद्यदुपलभ्य-मानभयकारणवत् तद् भीरुभ्रमणाऽयोग्यम्, यथा महदरण्यमिति अन्वय-

सहचारः यद्यत् न भीरुभ्रमणाऽयोग्यं, न तदुपलभ्यमानभयकारणवत्, यथा गृहमित्येवं व्यतिरेकसहचारः।

नैयायिक महिमभट्ट का अभिप्राय यह है कि उक्त पद्य में 'भ्रमण' का विधान करने से 'भ्रमण' के निषेध का अनुमान होता है। इस पद्य के सुनने पर दो अर्थों का ज्ञान होता है। एक तो 'वाच्यार्थ' का, जिसका विधान किया जा रहा है, और दूसरा 'प्रतीयमान अर्थ' का, जो निषेध रूप है, अर्थात् खबरदार! इस कुञ्ज में मत आया करना।

कुलटा स्त्री का हृद्गत अभिप्राय उस धार्मिक पुरुष के भ्रमण का निषेध करने में ही है। तथापि वह उसे 'भ्रम' अर्थात् घूमा करो कह रही है, अतः 'विधि' के रूप में उसका यह कथन 'निषेधाभाव' का 'प्रतिप्रसव' कहा जायगा, क्योंकि "प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इस पाणिनि सूत्र से यहाँ पर अतिसर्ग, कामचार या प्राप्तकाल अर्थ में 'लोट्' लकार का प्रयोग किया गया है। अतः 'अब भय निवृत्त हो गया है, भ्रमण करना चाहो तो घूम सकते हो।

नैयायिक महिमभट्ट का कहना है कि यहाँ 'भ्रमण विधि' से 'भ्रमण के निषेध' का 'अनुमान' किया गया है। क्योंकि उक्त पद्य में 'दो अर्थ' भरे हुए हैं। एक तो 'विधिरूप वाच्यार्थ' और दूसरा 'निषेधरूप प्रतीयमान अर्थ'। 'विधिरूप भ्रमण' जो 'वाच्यार्थ' है, उसे 'भ्रम' शब्द से कह दिया गया है। किन्तु 'निषेधरूप अर्थ', जो 'भ्रमणाभाव' है, उसे 'किसी शब्द' से कहा नहीं गया है। उसे आप व्यञ्जनावादी 'व्यङ्ग्य' कहते हैं, और हम नैयायिक उसे 'अनुमेय' कहते हैं। व्यञ्जनावादी 'भ्रमण' रूप वाच्यार्थ' को 'भ्रमणाऽभाव' का 'व्यञ्जक' कहते हैं, और हम नैयायिक उस 'वाच्यार्थ' को 'भ्रमणाभाव' का अनुमापक कहते हैं।

शंका—गोदावरी तीर पर पालतू कुत्ते के डर से जिसको भ्रमण (घूमने) में हिचकिचाहट होती है, वह 'सिंहसद्भाव' के अवगत होने पर स्वयं ही वहाँ घूमना नहीं चाहेगा। अतः 'भ्रमण' को अनुमापक कहने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—महिमभट्ट कहते हैं कि हमने 'भ्रमण' को 'भ्रमणाभाव' का "अनुमापक' जो कहा है, वह उचित ही कहा है, क्योंकि 'गोदावरीतीरं कुक्कुर-भीरुभ्रमणाऽयोग्यम्, सिंहवत्त्वात्' अर्थात् गोदावरीतीर, कुत्ते से भी डरने वाले भीरुपुरुष के घूमने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ कुत्ते को भी मारने वाला सिंह रहता है। इसी आशय को ग्रन्थकार ने 'गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेः अभ्रमणमनुमापयति' के द्वारा बताया है। यहाँ पर 'अनुमापयति' क्रिया का कर्ता 'भ्रमण' है। वही 'भ्रमणाभाव' का अनुमापक है।

शंका—'भ्रमणाभाव' का अनुमापक तो वहाँ सिंह के सद्भाव का ज्ञान है। क्योंकि भय का कारण तो 'सिंह' है। अतः 'भ्रमण' को भ्रमणाभाव का अनुमापक कैसे कह रहे हैं।

समाधान—'अनुमापयति' में 'णिच्' प्रत्यय किया गया है। जो 'प्रयोजक कर्ता' को बता रहा है। 'कर्ता' दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रयोज्य कर्ता और (२) प्रयोजक कर्ता। अतः 'अनुमानकर्ता' यानी प्रयोज्य कर्ता कोई दूसरा है, और उसका 'प्रेरक' यानी प्रयोजक कर्ता 'भ्रमण' है। वह 'भ्रमण', सिंहकर्तृक-श्वनिवृत्तिसंवलित होकर 'प्रेरक' हो रहा है। 'अनुमितिसाधकव्याप्तिग्रह' का 'उपाय (साधन) बनना' ही उसका प्रेरकत्व है। प्रयोज्य कर्ता (सामाजिक), 'भ्रमणाभाव' का अनुमान अर्थात् 'गोदावरीतीरं भीरुकर्तृकभ्रमणाभाववत् भीरुकर्तृक-कुक्कुरमारकसिंहसद्भावज्ञानवत्त्वात्' करता है। यहाँ 'गोदावरी-तीर-निकुञ्ज' पक्ष है, 'भीरुकर्तृकभ्रमणाभाव'—साध्य है, और 'भीरुकर्तृक कुक्कुर-मारक सिंहसद्भावज्ञान' हेतु है। अनुमान करने वाले को 'तादृशभ्रमण' प्रेरणा देता है। इसलिए 'तादृशभ्रमण', 'भीरुभ्रमणाभाव' का अनुमापक है। प्रकृत में 'भ्रमणाभाव' साध्य (व्यापक) है, और 'सिंहसद्भावज्ञान' (भयकारणज्ञान) व्याप्य है। यहाँ पर 'अन्वयव्याप्ति' इस प्रकार बताई जायगी कि 'यत्र-यत्र भय-कारणज्ञानं, तत्र-तत्र भ्रमणाऽभावः। अतः 'भ्रमणाभाव' साध्य (व्यापक) है, उसका अभाव अर्थात् 'भ्रमणाऽभावाऽभाव' यानी 'भ्रमण', यह व्यतिरेक व्याप्ति में व्याप्य (हेतु) हो गया है। इसलिए 'भ्रमण' रूप 'हेतु' से 'भयकारणज्ञान' रूप 'साध्याभाव' का अनुमान किया गया है। यहाँ पर व्यतिरेक व्याप्ति का आकार यह होगा—'यत्र-यत्र भ्रमणम्, तत्र-तत्र भयकारणज्ञानाऽभावः' अर्थात् जहाँ-जहाँ भ्रमण है, वहाँ-वहाँ भयकारणज्ञान का अभाव रहता है, क्योंकि 'अन्वय-व्याप्ति' में जो 'व्याप्य' रहता है, उसका 'अभाव', 'व्यतिरेकव्याप्ति' में 'व्यापक' बन जाता है, और अन्वयव्याप्ति में जो 'व्यापक' रहता है, उसका 'अभाव', व्यतिरेकव्याप्ति में 'व्याप्य' बन जाता है। अतः 'जहाँ-जहाँ 'भयकारणज्ञान' है, वहाँ-वहाँ 'भ्रमणाभाव' है'। इस अन्वय व्याप्ति में जो व्यापक 'भ्रमणाभाव' है, उसका अभाव यानी 'भ्रमणाभावाभाव' (भ्रमण), 'व्यतिरेक व्याप्ति' में 'व्याप्य' होगा, और जो व्याप्य 'भयकारण ज्ञान' था उसका अभाव यानी 'भयकारणज्ञाना-भाव' है, वह 'व्यतिरेक व्याप्ति' में 'व्यापक' होगा। तब उस 'भयकारण-ज्ञानाभाव' रूप व्यापक के विरुद्ध यहाँ अनुमानबोधक पद्य में 'भयकारणसिंहो-पलब्धि' बताई जा रही है, इसलिए 'भ्रमण' नहीं होगा। ऐसा महिमभट्ट का कहना है।

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियाऽनुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः

अत्रेति। व्यञ्जनाविरोधी नैयायिक श्री महिमभट्ट के द्वारा पूर्वोक्त पूर्वपक्ष का उपस्थापन करने पर ग्रन्थकार श्री मम्मट भट्ट उस पर समाधान दे रहे हैं—

भीरुरपीति। (१) भीरुस्वभाववाला पुरुष भी गुरु की अथवा अपने स्वामी (मालिक) की आज्ञा से, अथवा अपनी प्रिया के अनुराग से, अथवा इसी प्रकार के निधिलाभादि किसी अन्य कारण से, भय पैदा करने वाले (भय के हेतुभूत) हिंस्र सिंहादि पशुओं के विद्यमान रहने पर भी भ्रमण करता है। अतः नैयायिक के द्वारा प्रयुक्त किया गया हेतु (भीरुभ्रमण) अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, कहने का अभिप्राय यह है कि 'भयकारणनिवृत्ति ज्ञान मे' 'भीरुभ्रमण' रूप जो हेतु बताया गया है, वह (हेतु) अनैकान्तिक है। अर्थात् वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है, शुद्धहेतु (सद्धेतु) नहीं है।

(२) शुनोबिभ्यदपीति। और कुत्ते के स्पर्शजनित दोष से डरता हुआ भी (कुत्ते का स्पर्श करने से पाप लगता है, अतः कुत्ते का स्पर्श, पापजनक है, अतः वीर होने पर भी उसके स्पर्श होने का डर (भय) उसे रहता है किन्तु) वीर होने के कारण उसको 'सिंह' से डर नहीं लगता है। अतः 'सिंहवत्त्व' और 'भीरुभ्रमणाऽभाव' का सामानाधिकरण्य नहीं कह सकते। इसलिए हेत्वभावरूप 'भीरुभ्रमण' से सिंहवत्त्व' के व्याप्त हो जाने से वह हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास भी है। निष्कर्ष यह है कि 'भीरुभ्रमणाभाव और सिंहवत्त्व अर्थात् सिंहसद्भाव' में व्याप्ति कहाँ है? एवं च साध्याभाव से हेतु के व्याप्त रहने के कारण यह हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास भी है। अतः उक्त अनुमान में प्रयुक्त 'सिंहवत्त्व' हेतु 'असद्धेतु' ही है, शुद्ध हेतु नहीं है।

गोदावरीतीरे इति। गोदावरी नदी के तीर पर सिंह का होना प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान प्रमाण से निश्चित भी नहीं हुआ है, वह (सिंह का वहाँ होना) तो एक कुलटा स्त्री के कहने (वचन) से अवगत हो रहा है। अवगम्यमान 'अर्थ' के साथ श्रूयमाण शब्द की व्याप्ति (प्रतिबन्ध) का ज्ञान उसको न रहने से उस कुलटा स्त्री के 'वचन' (शब्द) को प्रमाण भी नहीं कह सकते। अतः उस स्त्री के वचन का

प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च, तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

प्रामाण्य नहीं है। एवं च 'पक्ष' में 'वचन' रूप हेतु का अभाव रहने से 'स्वरूपाऽसिद्ध' हेत्वाभास भी है।

तत्कथमिति। इस प्रकार तीन दोषों (अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध) से युक्त हुए 'हेतु' के बल पर 'साध्य' की सिद्धि कैसे की जा सकती है ?

विशेष विवरण—शुद्ध हेतु (सद्धेतु) का प्रयोग करने पर ही अनुमान ठीक-ठीक हो पाता है। अन्यथा असद्धेतु का प्रयोग करने पर अनुमान ठीक नहीं हो पाता है, अर्थात् उस अनुमान से 'साध्यसिद्धि' नहीं हो पाती है। 'असद्धेतु' को 'हेत्वाभास' भी कहते हैं। 'हेत्वाभास' शब्द की दो प्रकार से निरुक्ति की जाती है— (१) 'हेतुवत् आभासते इति हेत्वाभासः'–अर्थात् वास्तव में 'हेतु' न होता हुआ भी 'हेतु की तरह' जो भासित होता है, यानी दुष्ट (दूषित) हेतु। (२) 'हेतोः आभासः इति हेत्वाभासः'–अर्थात् 'हेतु' में आभास यानी 'दोष' का होना–उसे (दोष को) भी हेत्वाभास कहते हैं, यानी 'हेतु' के दोष।

शुद्ध हेतु (दोषरहित हेतु) वही कहलाता है, जो अपने स्वरूप से रहता है। हेतु के अपने पाँच रूप (स्वरूप) हुआ करते हैं। उन्हें पहिले बता चुके हैं। सद्धेतु (शुद्ध हेतु) में (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्तत्व आदि रूपों का होना आवश्यक है, यदि किसी एक रूप की भी कमी रहे तो, उसे 'शुद्धहेतु' (सद्धेतु) नहीं कह सकते, अपि तु वह असद्धेतु यानी हेत्वाभास कहलाता है। 'हेतु' यदि 'पक्ष' में न रहे तो उस 'हेतु' को 'स्वरूपाऽसिद्ध' नामक हेत्वाभास कहते हैं, क्योंकि हेतु' का पक्ष में 'सत्त्व' होना 'हेतु' का स्वरूप ही (पक्षसत्त्व) है। अतः 'पक्षे हेत्वभावः—स्वरूपाऽसिद्धः' यह 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास का लक्षण है।

इस पर उत्तर दिया कि कुत्ते से (कुत्ते के स्पर्श से) डरता हुआ भी 'वीर पुरुष' होने के कारण वह 'सिंह' से डरता नहीं है। इस कारण 'सिंहवत्त्व' और 'भीरुभ्रमणाभाव' दोनों का 'सामानाधिकरण्य' न होने से अर्थात् 'गोदावरीतीरं शूरभ्रमणाऽयोग्यं सिंहादिसत्त्वात्' यहाँ पर 'साध्य' और 'हेतु' का 'असामानाधिकरण्य' होने से और 'साध्याऽभाव' से 'हेतु' के व्याप्त हो जाने के कारण 'विरुद्ध' हेत्वाभास भी है।

तीसरा दोष यह दे रहे हैं कि वह 'हेतु', 'असिद्ध' दोष से ग्रस्त हो जाने से 'असिद्धहेत्वाभास' भी हो जाता है। जैसे—गोदावरीतीर पर सिंह की सत्ता

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्।

(सिंहवत्त्व) रूप 'पक्षधर्मता' का अभाव भी है। क्योंकि गोदावरी के तीर पर 'सिंह' है, यह ज्ञान, न तो प्रत्यक्ष से हुआ है, और न अनुमान से ही हुआ है। वह तो कुलटा स्त्री के 'वचन' से हुआ है। उस कुलटा स्त्री के वचन का प्रामाण्य कैसे माना जाय? प्रतीयमान अर्थ से उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? और संबन्ध न हो पाने से वह उस अर्थ का ज्ञापक भी कैसे हो सकेगा? इसलिए वह 'कुलटा-वचन' रूप हेतु 'असिद्ध' हेत्वाभास ही है। एवं च 'अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध' तीन दोषों से दूषित हुए 'हेतु' से 'साध्य' की सिद्धि नहीं हो सकती।

उक्त रीति से ध्वनिकारोक्त उदाहरण में अनुमान का निरसन करने के बाद ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित किये गये उदाहरण (निःशेषच्युतचन्दनम्) में भी अनुमान का निरास करते हुए ध्वनि के लक्ष्य का समर्थन ग्रन्थकार कर रहे हैं।

तथेति। उसी प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि उदाहरण में जो 'चन्दन-च्यवन' आदि संभोग के व्यञ्जक चिह्न बताये गये हैं, वे (चिह्न) अन्य किन्हीं कारणों से भी हो सकते हैं। जैसे—उक्त उदाहरण में ही 'स्नान' आदि कारण के कार्य के रूप में बताये गये हैं। वे चिह्न, उपभोग में नियत न होने से व्यभिचारी हैं।

शंका—यदि उपर्युक्त हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, तो उन हेतुओं के आधार पर 'उस अधम के पास तुम गई थी'—इस व्यङ्ग्य की प्रतीति कैसे हो सकेगी?

समाधान—व्यक्तिवादिनेति। व्यञ्जनावादी के (व्यक्तिवादी के) मत में तो 'अधम' पद की सहायता से उक्त हेतुओं के आधार पर 'व्यङ्ग्य' की प्रतीति 'व्यञ्जनावृत्ति' से होती है, इसलिए उन हेतुओं को उसने 'व्यञ्जक' माना है।

शंका—नैयायिक कहता है कि हमारे मत के अनुसार भी 'अधम' पद की सहायता से 'अनुमिति' हो जायेगी, तब 'व्यञ्जना' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—न चेति। नायक की 'अधमता' किसी प्रमाण से अवगत नहीं है,

एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थं उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम् ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो नाम पञ्चमोल्लासः ॥ ५ ॥

इसलिए उसकी 'अधमता' 'सत्' नहीं है। तब 'असत् अधमता' से अनुमान कैसे हो सकेगा ?

शङ्का—व्यक्तिवादी (व्यञ्जनावादी) के मत में भी 'असत् अधमता' से 'व्यङ्ग्य' की प्रतीति कैसे हो सकेगी ?

समाधान—एवं विधादिति । व्यञ्जनावादी के मत में आपके कथनानुसार स्थिति के रहते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है, क्योंकि केवल 'संभावना के रहने पर भी एवंविध हेतुओं से इस तरह के अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) का प्रकाशन हो जाता है। इसलिए व्यञ्जनावादी के मत में कोई दोष नहीं है। निष्कर्ष यह है कि ध्वनिवादियों के सिद्धान्तानुसार 'अधम' पद के प्रभाव से 'चन्दन-च्यवन' आदि 'व्यञ्जक' हेतु के रूप में हैं।

और नैयायिकों का कहना है कि 'अधम' पद के प्रभाव से 'चन्दनच्यवन' आदि हेतु 'अनुमापक' हैं।

उस पर व्यञ्जनावादी का कहना है कि उन्हें (चन्दनच्यवनादि हेतुओं को) अनुमापक कहना उचित नहीं है, क्योंकि जब तक उस नायक की 'अधमता' का निश्चय, प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से न हो पावे। नायक के न आने से तथा दूती के शारीरिक चिह्नों के देखने से उसके दुराचरण की संभावना करती हुई नायिका क्रुद्ध (रुष्ट) हो रही है, उस रुष्ट हुई नायिका के कथन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? अतः क्रोधाविष्ट नायिका के द्वारा उस पर आरोपित 'अधमत्व' को 'हेतु' बनाकर यदि आप अनुमान करते हैं, तो वह नहीं कर पायेंगे, क्योंकि 'अधमत्व' हेतु के सन्दिग्ध रहने से वह स्वयं 'असिद्ध' हेत्वाभास हो गया है। उससे अनुमान कैसे हो सकेगा ?

किन्तु हमारे व्यञ्जनावादियों के मत की यह विशेषता है कि किसी उपपत्ति (किसी व्याप्य-व्यापकभाव यानी व्याप्ति) के बिना भी 'सहृदय व्यक्तियों की प्रतीति के बल पर' ही कहा जा सकता है कि 'एवंविधादर्थात् एवंविधोऽर्थः' इस प्रकार के वाच्यार्थ से (कुपित हुई नायिका के द्वारा नायक को 'अधम' कहने

के साथ-साथ दूती के चन्दनच्यवन आदि चिन्हों के प्रकाशन से) इस प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ (दूती का नायक के साथ सम्भोग रूप अर्थ) प्रतीत हो जाता है। यही व्यञ्जनावाद की विशेषता है। व्यञ्जनावाद (व्यक्तिवाद) में 'व्यञ्जक' को 'गमक' नहीं मानते हैं। अतः हमारे व्यञ्जनावादियों के मत में अनैकान्तिकता, सन्दिग्धासिद्धि, विरुद्ध आदि दोषों की उद्भावना ही नहीं हो पाती।

विशेष विवरण—पञ्चमोल्लास का सिंहावलोकन—इस पञ्चम उल्लास में ग्रन्थकार ने बड़ी ही मार्मिक युक्तियों के साथ 'व्यञ्जनावृत्ति के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। व्यञ्जनाविरोधी सभी दार्शनिकों का मुखमुद्रण कर दिया गया है। इसी प्रसंग में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद एवं अखण्ड-वाक्यार्थवाद तथा नैयायिक महिमभट्ट के व्यञ्जनाभक्षक अनुमान में प्रयुक्त हेतुओं को हेत्वाभास के रूप में प्रदर्शित कर दिया है, जिससे नैयायिक उस हेत्वाभासात्मक हेतुओं (असद्धेतुओं) से अनुमान करने में कुण्ठित हो जाता है। इस रीति से परममाहेश्वर राजानक श्रीमम्मटभट्ट ने अपनी विजयपताका फहराते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य की अभीप्सित व्यञ्जनावृत्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना बड़े समारोह के साथ कर दी है।

श्रीमम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की 'रहस्यबोधिनी' व्याख्या में 'ध्वनिगुणी-भूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णय' नाम का पञ्चम उल्लास समाप्त हुआ।

षष्ठोल्लासः

(सू० ७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

उल्लास-सङ्गति—प्रथम उल्लास में (१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य (मध्यमकाव्य) (३) चित्रकाव्य (अवर=अधम काव्य) के नाम से 'काव्य' के तीन भेदों को बताया गया। उनमें से व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) का चतुर्थ उल्लास में और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य (मध्यमकाव्य) का पञ्चम उल्लास में भेदोपभेदों के सहित सविस्तर वर्णन किया गया। अब इस षष्ठ उल्लास में व्यङ्ग्यार्थ-रहित चित्रकाव्य (अधम = अवरकाव्य) के भेदों को बताया जा रहा है।

(सू० ७०, का० ४८) कारिकागत 'शब्दार्थचित्रम्' में 'चित्र' शब्द का अन्वय, 'शब्द और अर्थ' प्रत्येक के साथ होता है। तथा च 'शब्दचित्र' और 'अर्थ-चित्र' नाम के दो काव्य, प्रथम उल्लास में ही 'स्वच्छन्देत्यादि' और 'विनिर्गत-मित्यादि' उदाहरणों के द्वारा बताये गये थे। उन उदाहरणों में क्रमशः 'शब्द-चित्र' और 'अर्थचित्र' शब्द का प्रयोग (स्थिति) 'गुण-प्रधान भाव' से होता है। अभिप्राय यह है कि शब्दचित्र और अर्थचित्र दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता (शब्दचित्रता और अर्थचित्रता) की स्थिति का संभव रहने पर भी उक्त चित्रता में से जिसकी जहाँ प्रधानता रहेगी उसी के आधार पर उस काव्य को 'शब्दचित्र' अथवा 'अर्थचित्र' कहा जाता है ॥ ४८ ॥

नत्विति। 'शब्दचित्र' या 'अर्थचित्र' नाम को सुनकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि 'शब्दचित्र' में 'अर्थ का चित्रत्व' (अलङ्कारत्व) नहीं होगा, और 'अर्थचित्र' में 'शब्द' का चित्रत्व (अलङ्कारत्व) नहीं रहेगा।

विशेष विवरण—चित्रकाव्य के 'शब्दचित्र' और 'अर्थचित्र' नाम से दो भेद किये गये हैं।

यद्यपि चित्रकाव्य के दोनों भेदों को प्रथम उल्लास में ही प्रदर्शित किया गया था, और उसके भेदों का प्रदर्शन, अलंकार प्रभेदों के दर्शन से ही हो जाता है, अतः उसके सम्बन्ध में कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं है; तथापि प्रदर्शित किये गये दो प्रभेद ही अनुपपन्न हैं। 'स्वच्छन्दोच्छलत्' में अन्य नदियों की अपेक्षा आधिक्यरूप

व्यतिरेकालंकार का, और **'बिनिर्गतं मानदम्'** इस अर्थचित्र के उदाहरण में मकार के **अनुप्रास** (वृत्त्यनुप्रास) एवं **'ससम्भ्रमेन्द्रद्रुत'** में भी **वृत्त्यनुप्रास** रूप शब्दालंकार की भी विद्यमानता रहने से **परस्पर निरपेक्ष शब्दालङ्कार** और **अर्थालङ्कार की उपलब्धि नहीं** हो पाती है, कदाचित् हो भी जाय तो उन दोनों के सद्भाव में **'शब्दार्थोभयचित्र'** इस तृतीय भेद का भी संभव हो सकता है, उसे न बताने के कारण **न्यूनता की आशंका** हो सकती है, उस आशङ्का के **निरासार्थ** इस उल्लास में उसकी चर्चा की जा रही है, ऐसा **प्रदीपकार** का कहना है।

सारबोधिनीकार का कहना है कि **शब्दों की चित्रता** का **प्राधान्य** रहने पर **अर्थचित्रता की गौणता** (अप्रधानता) होती है, और **अर्थों की चित्रता का प्राधान्य** रहने पर **शब्दचित्रता की गौणता** (अप्रधानता) रहती है, दोनों का दोनों में अभाव नहीं है, अपितु गुण-प्रधानभाव से इनकी परस्पर अवस्थिति रहने के कारण इनका विभाग होता है, यह बताने के लिए और शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही हमें अभीष्ट हैं, कोई एक नहीं, यह बताने के लिए भी इस उल्लास का आरंभ किया जा रहा है। गुण-प्रधानभाव से परस्पर एक दूसरे में ये अलंकार विद्यमान रहने पर भी **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** इस नियम के अनुसार जिस अलंकार की जहाँ प्रधानता हो उसी के आधार पर उसका नाम रखा जाता है। इसी को ध्यान में रखकर **प्रथम उदाहरण 'शब्दचित्र'** का और **द्वितीय उदाहरण 'अर्थचित्र'** का दिया गया है।

कारिकागत **'चित्रार्थशब्दयोः'** के स्थान पर किसी-किसी पुस्तक में **'शब्दार्थ-चित्रयोः'** पाठ भी उपलब्ध होता है, तथापि **'चित्रार्थशब्दयोः'** पाठ, जो पुस्तक में दिया गया है, वही **उचित** प्रतीत हो रहा है। **सरस्वतीतीर्थ, प्रभाकार** आदि अनेक प्राचीन **व्याख्याकारों** ने इसी का प्रतीक देकर व्याख्या की है। **'चित्रौ च तौ अर्थशब्दौ च तयोः = चित्रार्थशब्दयोः'**-यह विग्रह किया जाता है। **शब्द-चित्र** में **'अर्थ'** का **गुणभाव** (गुणत्व) और **'शब्द'** का **प्रधानभाव** (प्राधान्य या प्रधानत्व) माना जाता है, क्योंकि समाप्ति तक उसी में कविसंरंभ (प्रयत्न) की विषयता रहती है। तथा **'अर्थचित्र'** में **'शब्द'** का **गुणभाव** (गुणत्व) और **'अर्थ'** का **प्रधानभाव** (प्राधान्य या प्रधानत्व) माना जाता है, क्योंकि समाप्ति तक उसी में कविसंरम्भ (प्रयत्न = उद्यम) की विषयता रहती है। **वृत्तिकार** (कारिकाकार मम्मट) ने इसी को व्यतिरेक मुख से बताया है—**'न तु शब्दचित्रे अर्थचित्रस्य अचित्रत्वम्, अर्थचित्रे वा शब्दस्य'** इति। अर्थात् कवि को अपने काव्य की उत्कट चारुता (सौन्दर्य) जिसके कारण विवक्षित हो उसी की प्रधानता मानी जाती है और अन्य (दूसरे) की अप्रधानता यानी अन्य को गौण माना

तथा चोक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥

जाता है, और जिसकी प्रधानता रहती है, उसी के नाम पर उसका व्यवहार (व्यपदेश) होने लगता है, क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह नियम है। एवं च एक का दूसरे में असत्त्व होने के कारण यह चित्रता का विभाग नहीं किया गया है, अपि तु 'उत्कटचमत्कारजनकत्वरूपप्राधान्यपुरस्कारेण' यह विभाग किया गया है।

शङ्का—जिस काव्य में दोनों प्रकार की चित्रताओं में चमत्कारजनकत्व हो, वहाँ 'सङ्कर-संसृष्टिरूप' तृतीय भेद का प्रसंग प्राप्त होगा, तब क्या उत्तर दिया जायगा ?

समाधान—हमें इष्टापत्ति ही है। दो-प्रभेदों का प्रदर्शन जो किया गया है; वह, न्यूनता के निरासार्थ ही किया होने से तृतीय आदि भेद का भी उपलक्षक है। अतएव दशम उल्लास में स्वयं ग्रन्थकार ने ही शब्दालङ्कारों की अर्थालङ्कारों की शब्दार्थालङ्कारों की संसृष्टि तथा संकरों के उदाहरणों को प्रदर्शित किया है। अतः आपने जो आशङ्का उपस्थित की है, उससे हमे कोई हानि नहीं हैं, अपितु हमें वह इष्ट ही है।

शङ्का—इस प्रकार से तो 'दोष-गुण' दोनों में भी संकर, संसृष्टि की संभावना रहने से अनिष्टापत्ति का भी प्रसंग प्राप्त होगा।

समाधान—अनिष्टापत्ति का प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि चमत्कार-वैलक्षण्य के अनुरोध से वैसा स्वीकार किया गया था। काव्यलक्षण में कहे गये 'दोषाभाव' का विशेषण 'दोषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकसामान्याभाव' के होने से ही दोषाभाव के प्रतियोगी मे रहने वाले एकत्व, अनेकत्व से अधिक चमत्कारवैलक्षण्य को हम नहीं देखते हैं और रसप्रतिबन्धकतावच्छेदक जो रूप है वह श्रुतिकटुत्वादि ही होगा, न कि दोषद्वयनिष्ठ कोई धर्म होगा। इसलिए उनके सङ्कर आदि होने से दोषान्तर की आशङ्का का अवसर ही नहीं है। तथा गुण भी तत्तद् रस के नियत होने से किसी एक ही जगह 'रसद्वय' की स्थिति न होने के कारण सङ्कर आदि की आशङ्का के लिए भी अवसर नहीं है, ऐसा नरसिंहमनीषा में स्पष्ट है।

तथाचोक्तमिति। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की चमत्कारप्रयोजकता में प्रामाणिक विद्वानों की सम्मति बता रहे हैं—'तथा चोक्तम्' से लेकर 'इति' तक। जैसा कि भामह ने कहा है—

रूपकादिरिति। कुछ अन्य आलंकारिक विद्वानों ने अनेक प्रकार के रूपकादि-

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥ इति॥

अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है, क्योंकि वे समझते हैं कि काव्य में सौन्दर्य का उत्पादन रूपकादि अर्थालङ्कार ही करते हैं। निष्कर्ष यह है कि इनके विचार से समस्त अलङ्कारों में 'अर्थालङ्कार ही मुख्य अलङ्कार हैं। क्योंकि रमणी का मुख स्वतः सुन्दर रहने पर भी आभूषण के बिना आनन्ददायक नहीं लगता। उसी प्रकार अर्थालङ्कार के बिना सुन्दर शब्द-रचना वाला भी काव्य अच्छा नहीं लगता।

रूपकेति। कुछ अन्य आलंकारिक विद्वान् कहते हैं कि रूपकादि अर्थालङ्कार तो काव्यार्थ प्रतीति की दृष्टि से बहिरङ्ग हैं, अन्तरंग नहीं। अर्थात् इनके विचार से रूपकादि अर्थालङ्कार तो बाह्य अलङ्कार हैं, क्योंकि उनकी प्रतीति अर्थज्ञान के पश्चात् होती है। अतः काव्य में सुबन्त तथा तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति अर्थात् विशेषकर अनुप्रासादि के रूप से उत्पत्ति अथवा सन्निवेश को ही वाणी का अन्तरङ्ग अलङ्कार वे कहते हैं। एवं च काव्य में सौन्दर्य को पैदा करने वाले तो शब्दालङ्कार ही होते हैं। शब्दात्मक काव्य का सौन्दर्य, शब्दालङ्कार में ही निहित है, इनके समक्ष अर्थ के चमत्कार तो फीके प्रतीत होते हैं।

तदेतदिति। इन सुबन्त–तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति अथवा सुन्दर सन्निवेश को ही वे लोग 'सौशब्द्य' कहते हैं। शब्दालङ्कार के श्रवण मात्र से चमत्कार की प्रतीति होती है, अतएव ये शब्दालङ्कार ही मुख्य अलंकार हैं। 'नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी'–अर्थात् अर्थसौन्दर्य (अर्थव्युत्पत्ति) से वैसा सद्यः चमत्कार नहीं होता है। अर्थालङ्कार की प्रतीति तो अर्थज्ञान के पश्चात् होती है। इसीलिए 'अर्थालङ्कार' को गौण यानी बाह्य (बहिरंग) अलङ्कार कहा गया है।

शब्देति। किन्तु आचार्य भामह का कहना है कि 'शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार' के भेद से दोनों ही हमें इष्ट हैं।

विशेष विवरण—शङ्का—श्री मम्मट भट्ट ने 'भामह' के काव्यालङ्कारगत पद्यों को प्रमाण रूप में क्यों उपस्थित किया? क्योंकि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की चमत्कारप्रयोजकता के मानने में तो किसी का विरोध ही नहीं है, उनकी चमत्कारिता तो निर्विवाद ही है।

समाधान—'रूपकादिरलङ्कारः' इत्यादि तीन श्लोकों को भामह के 'काव्यालङ्कार' (भाम० का० अं० १।१३–१५) से श्री मम्मटभट्ट ने यहाँ पर उद्धृत किया है। उन श्लोकों के द्वारा भामह कहते हैं कि कुछ अलङ्कारशास्त्री 'अर्थालङ्कारों' को

ही प्रधान अलङ्कार मानते हैं, 'शब्दालङ्कारों' को नहीं—'अर्थालङ्कार एवादरणीयो न तु शब्दालङ्कारः'। विभावादि रूप अर्थ, रस का व्यञ्जक होने से 'रूपकादि' ही अलङ्कार हैं—'अर्थस्य विभावादिरूपस्य रसव्यञ्जकत्वेनार्थनिष्ठो रूपकादिरेवालङ्कारः। अर्थाश्रयो रूपकादिरेवालङ्कारः, विभावादिरूपार्थोपस्कारकतया मुख्यस्य रसादेरुत्कर्षकत्वात्। शब्दालङ्काराणान्तु विभावाद्युपनयनमात्रप्रयोजकशब्दधर्मतया बहिरङ्गत्वान्न मुख्यालङ्कारत्वम्।' अर्थात् अर्थ के आश्रित रहने वाला 'रूपकादि' अलङ्कार ही है, क्योंकि वही विभावादिरूप अर्थ का उपस्कारक होने से मुख्य रस का उत्कर्षक होता है। शब्दालङ्कार तो विभावादि के उपनयनमात्र मे प्रयोजक 'शब्दधर्म' होने से बहिरङ्ग है। इसलिए शब्दालङ्कार को मुख्य अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। वे तो अर्थप्रतीति कराकर उपक्षीण हो जाते हैं। अपने उक्त कथन को व्यतिरेकदृष्टान्त देकर पुष्ट कर दिया है कि जैसे किसी अङ्गना का 'आनन' लावण्यपूर्ण होने पर भी यदि वह निरलङ्कार रहे तो देखने वालों के हृदय को आह्लादित नहीं कर पाता। उसी तरह शब्दार्थशरीरवाला 'काव्य' सगुण रहने पर भी निरलङ्कार यदि रहे तो वह शोभा नहीं देता।

कुछ अलङ्कारशास्त्री 'रूपकादि' अर्थालङ्कारों को 'बाह्य अलंकार' अथवा गौण अलङ्कार कहते हैं। क्योंकि उनकी प्रतीति, अर्थप्रतीति के बाद होती है।

शब्दश्रवण के अनन्तर शब्दालङ्कार के द्वारा चित्त आकृष्ट हो जाता है, तब अर्थप्रतीति होती है, तदनन्तर 'रूपकादि' अलंकारो का अनुसन्धान होता है, इसलिए उन्हें 'बाह्य' (बहिरग) कहा जाता है। उद्योतकार ने भी कहा है—"प्रथमतः शब्दालङ्कारेण चित्तापकर्षः, अर्थप्रतीत्युत्तरं तु, अर्थालङ्कारप्रतीतिरिति तेषां बाह्यत्वम्, आस्वादोत्पत्तिपरवर्तित्वादितियावत्।" क्योंकि सुबन्त-तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति अर्थात् विशिष्टोत्पत्ति (अनुप्रास आदि से निर्माण) को ही (शब्दालंकार को ही) अत्यन्त उपादेय मानते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति को ही अलङ्कार मानने मे हेतु 'सौशब्द्य' (शब्दनिर्माण सौष्ठव) ही है। अर्थात् सुन्दर शब्द वाले काव्य का सौन्दर्य स्वतः ही है, यानी शब्दालङ्कारों में चमत्कारित्व स्वतः ही है। किन्तु अर्थव्युत्पत्ति (अर्थालङ्कार) 'न ईदृशी'—यानी वह शब्द के समान इस प्रकार की स्वतः चमत्कारिका नहीं है, अपि तु विभावाद्युत्कर्षमुखेनैव वह चमत्कारिका होती है।

काव्य के अलंकार का निर्णय करने के लिए 'काव्य' शब्द पर विचार करना होगा। 'कुङ् शब्दे' धातु से काव्य शब्द की निष्पत्ति होती है। कवि के कर्म को 'काव्य' कहते है। कविकर्म (कविसरम्भगोचर) 'शब्द' ही होता है,

शब्दचित्रं यथा—

क्योंकि 'काव्यं पठ्यते, श्रूयते, गीयते' इत्यादि व्यवहार से स्पष्ट होता है कि पठन-श्रवण का विषय 'शब्द' ही होता है। अतः उसी के धर्म को अलंकार कहना उचित होगा, 'रूपक' आदि को नहीं। क्योंकि वह तो अर्थाश्रित होने से बाह्य है, उसमें भी जो 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह 'गौण' प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि शब्दों के द्वारा अभिव्यज्यमान होने वाले आस्वादों का विभावादि अर्थों से उपचायन किया जाता है। उन शब्दों की रचना, माधुर्यादि-व्यञ्जकवर्ण-घटित अनुप्रासादि से युक्त होने पर ही आस्वादों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो पाती है। अतः शब्दालंकारों की आवश्यकता है। बाद में होने वाले अर्थालंकार तो अकिञ्चित्कर हैं। उनके बिना भी शब्दालङ्कारों से आस्वाद की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसीलिए अर्थालंकारों को बाह्य कहा गया है, क्योंकि आस्वादोत्पत्ति के समय उनकी उपलब्धि ही नहीं है।

अतः ये विद्वान् शब्दालङ्कारों को ही प्रधान अलङ्कार कहते हैं। क्योंकि शब्दालङ्कार की प्रतीति, काव्य के श्रवण करने मात्र से ही हो जाती है। किन्तु भामह अपना सिद्धान्तमत बताते हैं कि काव्य के लिए 'शब्दालङ्कार' और 'अर्थालङ्कार' दोनों की ही आवश्यकता है। क्योंकि जो भी 'सौन्दर्य' है, वह 'शब्द' से बोधित 'अर्थ' में और 'अर्थ' के बोधक 'शब्द' में विभक्त रहने से 'उभयगत' है।

अभिप्राय यह है कि 'शब्द' स्वरूपतः तो अलङ्कार है नहीं। अन्यथा 'निरर्थक शब्द' को भी 'अलंकार' कहना होगा। उसी प्रकार 'अर्थ' भी स्वरूपतः अलंकार नहीं है। अन्यथा सर्वदा ही अर्थ के विद्यमान रहने से उसे 'अलङ्कार' कहना होगा। किन्तु शब्दबोधित अर्थ में, और अर्थबोधक शब्द में चित्रता (अलङ्कार) अर्थात् सौन्दर्य रहता है। अतएव दोनों काव्य हैं, दोनों की 'आस्वादोपकारकता' सहृदयैकवेद्य है, जनसाधारणवेद्य नहीं है। 'दोनों ही काव्य' कवि-संरंभ के गोचर होते हैं। अतः दोनों ही (शब्द तथा अर्थ) अलङ्कार कहलाने योग्य हैं। उद्योतकार ने भी कहा है—"अलङ्कृतशब्दव्यङ्ग्यस्यास्वादस्य विभावाद्यप्राप्तौ शृङ्गारादिविशेषानाश्रयत्वेनाऽकिञ्चित्करत्वादलङ्कृतार्थोपजीव्यत्वाच्छब्दानामप्यावश्यकत्वेन द्वयोरप्यास्वादोपकारत्वात्कविसंरम्भगोचरत्वाच्चोपादेयता तत्र यो यदन्वय-व्यतिरेकानुविधायी स तेन व्यपदिश्यते"। अन्वय और व्यतिरेक के लक्षण—'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः', 'यदभावे यदभावो व्यतिरेकः', तदनुविधायी तदनुसारीत्यर्थः।

शब्दचित्रमिति। शब्द चित्र का उदाहरण, जैसे—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १३९ ॥

प्रथममिति। रात्रि के प्रारम्भ में उदीयमान 'चन्द्रमा' प्रथमतः लालरंग की कान्तिवाला, तदनन्तर सुवर्ण के समान पीत कान्तिवाला, उसके बाद विरह से विह्वल कृशाङ्गी सुन्दरी के कपोल (गाल) के समान श्वेत कान्तिवाला, उसके बाद सरस-मृणालिनी के कन्द के खण्ड (टुकड़े) के समान अत्यन्त श्वेत कान्ति वाला अन्धकार का नाश करने में समर्थ होकर उदित होता है ॥ १३९ ॥

विशेष विवरण—'मालतीमाधव' नामक नाटक में चन्द्रोदयवर्णन परक यह पद्य है—ऐसा चन्द्रिका व्याख्याकार का कहना है; किन्तु आजकल उपलभ्यमान पुस्तकों में यह पद्य उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस वर्णन के सम्बन्ध में उद्योतकार का कहना है कि 'अरुण' इसका विपक्षी होने से और 'सुवर्ण' की श्रेष्ठ अलंकार के रूप में गणना होने से 'चन्द्रमा' का उत्कर्ष प्रतीयमान होता है, तथा कामिनी का 'कपोल' भी उसके 'मुख' रूप प्रतिद्वन्द्वी का सम्बन्धी होने से उससे उपमा देना उचित ही है, अतएव आगे चलकर उसे 'सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविः' कहा गया है। यहाँ पर 'मृगलाञ्छनः' पद अपुष्टार्थ है, क्योंकि 'चन्द्रादि' पद प्रयोग से भी उसके अर्थ का लाभ हो सकता है। इस पद्य में 'मकार', 'तकार', 'ककार', 'धकार', 'दो क्षकार' और 'दो छकार' तथा 'सकार', 'छकार', 'लकार' आदि व्यञ्जनों के विन्यास-सौष्ठव में 'अनुप्रास अलङ्कार' की सुन्दरता यहाँ जितनी चमत्कारोत्पादिका बन पड़ी है, उतनी 'स्वभावोक्ति', 'उपमा' में चमत्कारजनकता नहीं हो पा रही है। इसलिए यहाँ 'शब्दालङ्कार' की ही प्रधानता है। पूरे पद्य में कवि का संरम्भ (प्रयत्न) इसी को प्रदर्शित करने में हुआ है। 'प्रधानता' का निर्णय, कवि की विवक्षा पर ही निर्भर होता है। अतः यह 'शब्दचित्रता' का ही उदाहरण है। यद्यपि यहाँ पर 'स्वभावोक्ति' और 'उपमा' इन अर्थालंकारों (अर्थचित्रों) का भी अस्तित्व है, उसको नकारा नहीं जा सकता, तथापि वे दोनों अर्थालङ्कार (अर्थचित्र) यहाँ 'गौण' (अप्रधान) ही हैं। क्योंकि उनके प्रदर्शन में कवि का संरम्भ (प्रयत्न) नहीं है।

सुधासागरकार ने भी कहा है कि "अत्र क्रमेण तत्तद्वर्णता स्वभावोक्तिः। यद्यपि किञ्चिद् व्यङ्ग्यमपि सम्भवति, तथा हि—प्रथमं तावत् अरुणच्छायः, अरुणस्येव छाया रक्तदीप्तिः यस्य तथाभूतः। ननु स्वोत्कर्षाऽसहिष्णोरनुकारोऽनुचितः इति विचार्य तदनन्तरं 'कनकप्रभः'। ननु प्रतिस्पर्धि कान्ता-

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति॥१४०॥

मुखमण्डनमेतदित्यस्याऽनुकारोऽनुचितः इति तदनु विरहोत्ताभ्यत्तन्वी कपोलतलद्युतिः । ननु यत्सम्बन्धात् कनकप्रभा त्यक्ता तदनुकारोऽत्यन्ताऽनुचित इति ततोऽनन्तरं ध्वान्तध्वंसेत्यादिबोधितरूपान्तरमाश्रित इति। तथाप्यत्र न कवेस्तात्पर्यमित्यधमकाव्यत्वम् ।"

अभिप्राय यह है कि कवि के तात्पर्य को ध्यान में रखकर ही उसके काव्य को देखना चाहिये । अतः यह काव्य 'शब्दचित्र' का ही उदाहरण है । यद्यपि इसमें 'चन्द्रोदय' का वर्णन जिस प्रकार किया है, उससे 'स्वभावोक्ति' 'उपमा' रूप अर्थालङ्कार का सौन्दर्य भी प्रतीत हुए बिना नहीं रहता । तथापि कवि का ध्यान इन अर्थालङ्कारों के प्रदर्शन में उतना नहीं है, जितना 'वर्णविन्यास-सौष्ठव' की ओर है ।

इस पद्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' की भी झलक मिलती है । तथाहि—'सौन्दर्य की स्पर्धा में चन्द्रमा के द्वारा क्रमशः एक के बाद एक अपने प्रतिस्पर्धी पदार्थों को त्याग कर अपने ज्योत्स्नामय स्वरूप में अन्ततः प्रकट (प्रकाशित) होना'—यही व्यङ्ग्यार्थ है । किन्तु इस व्यङ्ग्यार्थ के प्रदर्शन में भी कवि की विवक्षा नहीं है । उसकी विवक्षा 'वर्णविन्यास-सौष्ठव' (विचित्रता) के प्रदर्शन कराने में ही है । इस पद्य में जो सौन्दर्य (चारुत्व) प्रतीत हो रहा है, वह 'शब्दचित्र' का ही है ।

अर्थ चित्रमिति । अर्थचित्र का उदाहरण, जैसे—

ते दृष्टिमात्रेति । सघन पलकों से युक्त नेत्रों वाली (पक्ष्मलाक्षी) सुन्दरियों के केशपाश और दुष्ट पुरुष (खल) ये दोनों दृष्टिगोचर होते ही (दिखलाई पड़ते ही) किस के चित्त को व्याकुल नहीं बना देते हैं ? अपितु सभी के चित्त को व्याकुल कर देते हैं ।

यहाँ रमणी के केशपाश और दुष्ट पुरुष, दोनों की समानता का वर्णन कवि के द्वारा किया जा रहा है । रमणियों के केशपाश ह्रस्व (छोटे) हैं, और अत्यन्त विलास (सुन्दरता) के साथ (सविलास) ललाट (अलीक = माथे) पर बिखरे हुए रहते हैं । अथवा खूब लम्बे (नीचे) लटकने वाले केशपाश हैं, जो विलास के साथ ललाट (अलीक) पर झूलते रहते हैं । वे केशपाश अपने घुंघरालेपन की तरह (कुटिलता की तरह) अपने कालेपन को नहीं त्यागते हैं । नीच (खल = दुष्ट) पुरुष भी सर्वदा नीच कर्मों (कार्यों) में ही तत्पर रहते हैं । अर्थात् दूसरों के छिद्रान्वेषण में तत्पर रहते हैं । एवं मिथ्या (अलीक)

भाषण करते हैं। ये खल पुरुष अपनी कुटिलता की तरह हृदय की कालिमा का त्याग कभी नहीं करते हैं ॥ १४० ॥

विशेष विवरण—पक्ष्मल दृष्टि वाली सुन्दरियों के केशपाश और खल-पुरुषों की समानता का वर्णन इस पद्य में किया गया है। 'पक्ष्मल' पद से भूम (घने) अर्थ में मत्वर्थीय 'लच्' प्रत्यय किया गया हैं। इस पद्य में 'नीच', 'सविलास', 'अलीक', 'कालता' और 'कुटिलता'—ये शब्द, दो अर्थवाले हैं। एक अर्थ तो रमणियों के केशपाश के पक्ष में और दूसरा अर्थ खल पुरुष के पक्ष में घटित होता है। केशपाश के पक्ष में—'नीच' का अर्थ ह्रस्व अथवा अधोगामी अर्थात् नीचे तक लटकने वाले। 'सविलास' का अर्थ विलास के साथ। 'अलीक' का अर्थ ललाट। 'कालता' का अर्थ श्यामता। 'कुटिलता' का अर्थ वक्रता होता है। और खलपुरुष के पक्ष में—'नीचाः' का अर्थ पाप के आश्रित रहने वाले एवं उच्च आशय से रहित अथवा कृत्रिम विनय का प्रदर्शन कर नीचता को प्राप्त होने वाले। 'सविलसम्' का अर्थ, 'ब' और 'व' में भेद न मानकर 'बिलम्' अर्थात् 'बिलम्' = रन्ध्र (छिद्र) में 'आसः'=असनं (प्रहार) के सहित अर्थात् छिद्रान्वेण में तत्पर। 'अलीक' का अर्थ मिथ्याभाषण। 'कुटिलता' का अर्थ कपटता। 'कालता' दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का प्रयत्न करना अथवा भयानक रूप के कारण यमस्वरूपता, ये अर्थ किये जाते हैं।

यहाँ पर अलक और खल दोनों का 'क्षोभ पैदा करना' एक ही कार्य है—यह बताने के लिए 'समुच्चय' की उक्ति का आश्रय किया गया है। 'तत्सिद्धिहेता-वेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्'-इस सूत्र (१७८) से 'समुच्चय' नामक अर्थालङ्कार को आगे बताया जायगा। 'श्लेष' और 'उपमा' उसी के अङ्गभूत होने से उसी का (समुच्चय अलंकार का) ही प्राधान्य है। आरम्भ से लेकर समाप्ति तक काव्य में उसका पूर्णतया निर्वाह कवि ने किया है। 'अलीक' शब्द, परिवृत्त्य-सह होने से 'शब्दश्लेष' और 'अनुप्रास' का संभव रहने पर भी वे गौण ही हैं ऐसा प्रदीपकार तथा प्रभाकार का कहना है।

यहाँ पर 'कुटिलतामिव' कहकर 'सहोपमा' और उससे व्यङ्ग्य अर्थ दोनों का समुच्चय बताया है। निष्कर्ष यह है कि जैसे वे कुटिलता का त्याग नहीं करते हैं, वैसे ही 'कालता' का भी त्याग नहीं करते हैं—इस प्रकार से अर्था-लंकार की प्रधानता बताई गई है। कवि का संरंभ उसी के बताने में है—ऐसा उद्योतकार कहते हैं।

यहाँ 'अनुप्रास' के संभव होने पर भी श्लेषप्रतिभा में हेतुभूत 'समुच्चय' नामक अर्थालङ्कार ही प्रधान रहने से अर्थचित्रता (अर्थालंकार) है। कवि ने समाप्ति

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम् तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद्बहवो भेदाः, ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठ उल्लासः ॥ ६ ॥

तक उसके प्रदर्शन में ही प्रयत्न किया है ऐसा **सारबोधिनीकार** आदि व्याख्याकारों का कहना है। किन्तु **महेश्वर भट्टाचार्य** का कहना है कि प्रकृत **'खल'** और अप्रकृत 'अलक' दोनों के एक धर्मान्वयरूप 'दीपक' नामक अर्थालंकार की यहाँ प्रधानता है।

शङ्का—**'प्रथममरुण०'** इस प्रथम उदाहरण में **'चन्द्रोदय रूप उद्दीपन विभाव'** का वर्णन होने से **'शृङ्गार रस' व्यङ्ग्य है,** तथा **'नीचाः सदैव'** इस द्वितीय उदाहरण में **'खल-सदृशा अलकाः'** कहकर **'उपमा'** और **तन्मूलक विप्रलम्भ की व्यङ्ग्यता** रहने से पूर्व उदाहृत दोनों काव्यों को **'अव्यङ्ग्य'** अथवा **'अधम'** कैसे कहा गया है? क्योंकि **'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'** के द्वारा **'व्यङ्ग्य-रहित'** को ही **'अधम'** कहा गया है।

समाधान—यद्यपीति। यद्यपि सर्वत्र ही काव्यों में वर्णन किये गये **पदार्थों का अन्ततोगत्वा विभावादि के रूप में ही पर्यवसान** हो जाता है, तथापि उन वर्णित विभावादिकों से वहाँ 'रस' की स्फुटतया प्रतीति नहीं हुआ करती। अतः इन दोनों काव्यों को **'अव्यङ्ग्य'** कहा है। इन दोनों अधम काव्यों के **शब्द और अर्थ के वैचित्र्य** के कारण अनेकानेक भेद-प्रभेद होते हैं। यद्यपि उनको यहीं पर बतलाना उचित था, क्योंकि अधम काव्य के निरूपण का प्रसङ्ग चल रहा है, तथापि वे भेद-प्रभेद, अलंकारों के कारण होने से 'अलंकार' का निर्णय कर देने से ही उनका निर्णय हो जायगा।

विशेष विवरण—सर्वत्र ही जैसे **'स्वच्छन्दोच्छलत्'** उदाहरण में भी मन्दाकिनी विषयक **'रतिभाव'** व्यङ्ग्य हो ही रहा है। किन्तु उसका **'रस'** में ही पर्यवसान होता है।

शंका—'स्वच्छन्दोच्छलत्' में 'भाव' ही व्यङ्ग्य हो रहा है, 'रस' नहीं। तब 'रस' में उसका पर्यवसान कैसे होगा? अतः **'सर्वत्र काव्ये'** कहना तो असंगत है।

समाधान—'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'—इस व्युत्पत्ति से 'रस' शब्द,

'व्यङ्ग्यपरक' है। 'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' इस सूत्र मे 'अव्यङ्ग्य' शब्द से 'व्यङ्ग्यरहित' की विवक्षा नहीं है, अपितु 'स्फुटव्यङ्ग्यरहित' की विवक्षा होने से कोई विरोध नहीं है। अर्थात् अन्यान्य वैचित्र्यों को तिरोहित (अभिभूत) करके शीघ्रतर प्रतीयमान होने वाले 'रस' की उपलब्धि इन काव्यों में नहीं होती है। इन काव्यों में 'चित्र' ही अपनी उद्भटता के कारण चमत्कारक रहता है, उसी के निर्वाह में कवि का तात्पर्य रहता है, वहाँ 'रस' रूप व्यङ्ग्य में वैसी 'चमत्कारिता' न रहने से उन काव्यों को 'अधम' शब्द से कहा जाता है।

एवञ्च जहाँ व्यङ्ग्यत्वप्रयुक्त 'चारुत्व' की प्रतीति होती है उसे 'उत्तमकाव्य' कहते हैं और जहाँ 'वाच्य' की अपेक्षया 'व्यङ्ग्य' अधिक चमत्कारजनक नहीं होता या वाच्य के तुल्य ही रहता है, उसे 'मध्यम काव्य' कहते हैं और जहाँ 'व्यङ्ग्य' के रहने पर भी तत्प्रयुक्त चमत्कार का अभाव रहता है, केवल अलङ्कारमात्रकृत चमत्कार रहता है, उसे 'अधमकाव्य' कहते हैं।

श्रीमन्महामाहेश्वरराजानकवाग्देवतावतार श्रीमम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की वैद्य-मुसलगाँवकरोपनामकश्रीगजाननशास्त्रिकृत 'विवरणा-पर्याय-रहस्यबोधिनी व्याख्या में 'शब्दार्थचित्रनिरूपण' नाम का षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

अथ सप्तम उल्लासः

(दोषवर्णनात्मकः)

(दोषस्वरूपं प्रकारविवेचनञ्च)

(दोष-स्वरूप-विचारः)

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

(सू० ७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥४९॥

वृत्तिः—हतिरपकर्षः । शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।

काव्यस्वरूपमिति । काव्यस्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् काव्य के दोषों का सामान्य लक्षण बता रहे हैं—

रहस्यबोधिनी—(सू० ७१) मुख्यार्थेति । जिसके विद्यमान रहने से मुख्यार्थ का अपकर्ष होता है, उसे 'दोष' कहते हैं । 'मुख्यार्थ' कहने का अभिप्राय यहाँ 'वाच्यार्थ' नहीं है । किन्तु यहाँ 'मुख्यार्थ' कहने का अभिप्राय 'रस' है । काव्य में 'रस' ही मुख्य अर्थ होता है, और उसका (रस का) आश्रय रहने से 'वाच्य अर्थ' भी मुख्यार्थ कहलाता है । शब्दाद्या इति । शब्दादि, (रस तथा वाच्यार्थ) इन दोनों के बोधन में व्यंजक तथा वाचक रूप से सहायक (उपयोगी यानी उपकारक) होते हैं । उस कारण उनमें भी वह (दोष) रहता है और उसे 'पददोष' कहते हैं ।

अभिप्राय यह है कि 'रस' के अपकर्षक हेतु को ही मुख्यतया 'दोष' कहते हैं, तथा रस के साथ चमत्कारजनक वाच्यार्थ का अपकर्ष करने वाले को भी दोष कहते हैं, और उसे 'अर्थदोष' कहते हैं ॥ ४९ ॥

हतिरिति । कारिकागत 'हति' शब्द का अर्थ 'विनाश' नहीं है, किन्तु 'अपकर्ष' है । शब्दाद्या इति । 'शब्दाद्या' में 'आद्य' पद से 'वर्ण' और 'रचना' का ग्रहण किया गया है ।

विशेष विवरण—उल्लाससङ्गति—महामाहेश्वर श्रीमम्मट भट्ट ने अपने प्रस्तुत काव्यप्रकाश ग्रन्थ के प्रथम उल्लास में 'काव्य' का लक्षण बताया था, तदनन्तर षष्ठ उल्लास तक 'काव्य' के भेदोपभेदों का निरूपण किया । 'काव्यलक्षण' (तददोषौ शब्दार्थौ

सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि) में 'अदोषौ', 'सगुणौ' 'अनलङ्कृती' और 'पुनः क्वापि' पदों का भी निवेश किया गया है। अतः 'काव्य' रूप धर्मी के धर्मों (विशेषणों) का यानी 'दोषाभाव', गुण' और 'अलङ्कारों' का वर्णन करना अवसरप्राप्त है। उनमें भी प्रथम विशेषण 'दोषाभाव' यानी अदोषौ है। तदनुसार इस सप्तम उल्लास में 'दोषाभाव' का निरूपण करना चाहिए, क्योंकि चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ उल्लास में 'काव्यरूपधर्मी' का भेदप्रभेद के साथ निरूपण किया जा चुका है। किन्तु 'अभाव' का निरूपण, स्वरूपतः तो हो नहीं सकता। उसका (अभाव का) निरूपण, अपने प्रतियोगी के निरूपणाधीन होता है, क्योंकि त्यागने योग्य जो प्रतियोगी, उसका ज्ञान हुए बिना उसका (प्रतियोगी का) त्याग करना संभव नहीं है। अतः श्रीमम्मट भट्ट दोषों का स्वरूप बताने के लिए प्रस्तुत सप्तम उल्लास का आरम्भ कर रहे हैं। दोषों का विशेष लक्षण बताने के पूर्व उनका सामान्य लक्षण बताना उचित है। अतः उनका (दोषों का) सामान्य लक्षण प्रथमतः बताया गया है।

वामन ने जो कहा है कि 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' उसके अनुसार तो गुणों को बताना ही उचित है।

किन्तु वामन का कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि कहीं-कहीं 'व्यत्यय' करना भी उचित होता है। जैसे—किसी-किसी काव्य में प्रसाद आदि गुणों के रहने पर भी 'दोष' का अस्तित्व रहता है—ऐसा उद्योतकार ने कहा है। 'काव्य' में दोष रहने पर 'गुण' भी अकिञ्चित्कर हो जाता है। कहा भी है—'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्'—सम्पूर्ण शरीर सुन्दर रहने पर भी कुष्ठ के एक दाग से ही उसे असुन्दर माना जाता है। किञ्च, काव्य में दोष के न रहने पर गुणरहित काव्य से भी किञ्चित् चमत्कार (आह्लाद) की प्रतीति हुआ करती है, क्योंकि 'अपदोषतैव विगुणस्य गुणः—' यह न्याय है। इसी बात को ध्यान में रखकर श्रीमम्मट भट्ट ने अपने काव्यलक्षण में 'अदोषौ' कहकर दोषाभाव का ग्रहण, गुण और अलङ्कार से पहिले किया है।

कारिका में 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' कहा गया है। यहाँ पर 'मुख्यश्चासौ अर्थश्च मुख्यार्थः' ऐसा कर्मधारय समास है, और 'हति' पद का 'हननं हतिः' इस प्रकार 'भावसाधन' में प्रयोग है। इस कथन से अभिप्राय यह निकला कि 'मुख्यार्थस्य हतिरपकर्षो यस्मात्, स दोषः'—अर्थात् मुख्यार्थ का अपकर्ष—जिस निमित्त से होता है, उसे 'दोष' कहा गया है। यहाँ व्यधिकरण रहने पर भी 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ'—इस सूत्र में महर्षि पाणिनि ने 'सप्तमी' ग्रहण करके यह ज्ञापित किया है कि व्यधिकरण में भी बहुव्रीहि हो सकता है।

कुछ विद्वानों ने 'हति' पद की 'करणसाधन' व्युत्पत्ति की है—'मुखयार्थः हन्यते-ऽपकृष्यतेऽनेनेति हतिः'। एवं च 'हति' का अर्थ 'अपकर्ष' बताया है। वृत्तिकार ने भी यही बताया है। 'अपकर्ष' शब्द को भी करणसाधन ही समझना चाहिए। एवं च 'दोष'-परक उसे बताया है। वह दोष जिसमें हो वह दुष्ट होता है। अतः दोनों पक्षों में 'मुख्यार्थापकर्षकत्वं दोषत्वम्'—यही 'दोष' का लक्षण सिद्ध होता है। एवं च 'जिससे मुख्य अर्थ की हति होती है'—उसे दोष कहा गया है। यहाँ पर द्वितीय उल्लास में बताये गये 'सङ्केतित अर्थ' को 'मुख्यार्थ' शब्द से ग्रहण नहीं किया गया है। अतः 'अर्थ' की मुखयता शक्यत्वरूप नहीं है। अन्यथा ग्रन्थकारोक्त 'दोषलक्षण'-समस्त दोषों में व्याप्त न हो सकने से असंगत हो जायगा। क्योंकि ग्रन्थकार आगे बतायेंगे कि—अमुक दोष 'नित्य' है, अमुक दोष 'अनित्य' है-यह व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः यहाँ पर 'अर्थ' की मुखयता, 'इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्व' रूप समझनी चाहिए। तब यह

'इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वरूप मुखयता' ग्रन्थकार के अभिप्रेत विभावादिसमूहालम्बनरूप 'रस' (मुख्यार्थ) में संगत हो जायगी। अतः प्रकृत में 'रस' ही मुखयार्थ है। अर्थात् 'आस्वादनीय अर्थ' ही मुख्य है। यहाँ पर 'रस' शब्द 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'-इस व्युत्पत्ति से 'रस, भाव, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता' तथा रसाभास और भावाभास को भी सूचित कर रहा है। इनकी 'हति' (हनन अर्थात् अपकर्ष) करने वाले 'दोष'—मुख्य समझे जाते हैं।

प्रश्न—'रस' को मुखयार्थ मानने पर 'सरस काव्यों' में ही क्या 'दोषों' के परि-हार का ध्यान रखना होगा? अन्य नीरस 'वस्तुध्वनि' तथा 'अलंङ्कारध्वनि' नामक काव्यों में दोष-परिहार की आवश्यकता नहीं होगी? क्योंकि उनमें 'हति' के योग्य हननीय अर्थात् अपकर्षणीय 'रस' का अभाव है। यदि तुम यह कहो कि 'रस' शब्द 'व्यङ्ग्य' मात्र का उपलक्षण है। तब 'अव्यङ्ग्य' काव्यों में 'दोष' के परिहार की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अतः 'रस' को 'व्यङ्ग्य' मात्र का उपलक्षण भी नहीं कह सकते।

उत्तर—उक्त आशंका के समाधानार्थ ग्रन्थकार ने 'तदाश्रयाद्वाच्यः' कहा है। यहाँ 'आश्रय' का अर्थ है—'आश्रयः आश्रयणम् अपेक्षणम्'—अपेक्षा करना। तब अर्थ होगा कि 'रस' के द्वारा आश्रयण करने के कारण (अपने उपकारक के रूप में अपेक्षा करने से) शब्द से बोध्य 'वाच्य' अर्थ को भी 'मुख्य' समझा जाता है। अर्थात् 'वाच्य अर्थ' भी 'रस' के साहचर्य से चमत्कारजनक हो जाता है। प्रस्तुत में 'वाच्य' पद से 'लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य' का भी संग्रह किया गया है।

प्रश्न—तब तो 'रसादिप्रधान' तथा 'अर्थप्रधान' काव्यों में ही दोषों के परिहार की आवश्यकता समझी जायगी। 'शब्दप्रधान' काव्यों में दोषों के परिहार की आवश्यकता नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में पद एवं वाक्यादिरूप 'शब्द' में रहने वाले दोष जो आगे बताये गये हैं, उनका निरूपण निष्फल ही रहेगा।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन दोनों (रसादि तथा अर्थ) के उपकारक और प्रतिपादक 'शब्द आदि' को भी 'मुख्य अर्थ' समझा जाता है क्योंकि 'प्रतिपाद्य और प्रतिपादक' में भेद नहीं माना जाता। अतः उनकी 'हति' को भी 'दोष' कहते हैं।

यहाँ 'हति' (हनन) शब्द का अर्थ 'विनाश' नहीं है, अपितु—'अपकर्ष' है। प्रकृत सूत्र (७१ अर्थात् कारिका ४९) में 'शब्दाद्याः' पद के अवयवभूत 'शब्द' पद से अर्थप्रतिपादनात्मक शब्दन-व्यापार वाले पद, पदैकदेश और वाक्य का संग्रह किया गया है, और 'आद्य' का ग्रहण करने से 'वर्ण' और 'रचना' का संग्रह किया गया है। क्योंकि 'शब्द्यते बोध्यते अनेन इति शब्दः' इस व्युत्पत्ति से 'शब्द' प्रतिपादनात्मक होता है। उस कारण 'आद्यग्रहणाद् वर्णरचने संगृहीत'—यह वृत्तिग्रन्थ भी संगत हो जाता है। अन्यथा 'वर्ण' भी शब्दरूप होने से वृत्तिग्रन्थोक्त 'आद्य' पद से उसकी ग्राह्यता को असंगत ही कहना होगा। क्योंकि 'वर्ण' की प्राप्ति 'शब्द' पद से ही हो जायगी तब 'शब्दाद्याः' इस बहुवचन के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है?

एवं च 'मुख्य अर्थ'—कौन-कौन हैं? यह प्रश्न उपस्थित होने पर कह सकते हैं कि जो दोष से दूषित किये जाते हैं वे सभी मुख्य अर्थ कहे जा सकते हैं। तदनुसार 'व्यङ्ग्यरस', 'व्यङ्ग्य भाव आदि' 'व्यङ्ग्यवस्तु', 'व्यङ्ग्य अलंकार' तथा व्यञ्जक, वाच्य, लक्ष्य-वस्तु एवं अलंकार और उनके प्रतिपादक वाक्य, पद, पदैकदेश, वर्ण एवं रचना—ये सभी मुख्यार्थ हैं।

प्रश्न—जब 'मुख्य' शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है; सो 'मुख्यता' का अनुगम नहीं हो पायगा, तब मुख्यार्थ का निश्चय कैसे हो सकेगा?

उत्तर—काव्य में प्रधानतया उद्देश्यप्रतीति-विषयता जिसमें हो, वही मुख्यार्थ है—यह अनुगम हो सकता है। चमत्कारिणी प्रतीति का होना ही विषयता है। अतः 'चमत्कारिकाव्यजन्यप्रतीतिविषयता' जहाँ रहे, वहीं मुख्यार्थ है। पहले हम बता चुके हैं—कि यहाँ पर 'हति' शब्द का अर्थ 'अपकर्ष' है। यह 'रस-निष्ठ' जाति-विशेष है। यदि 'हति' शब्द का 'विनाश' रूप प्रसिद्ध (रूढ) अर्थ लिया जाय तो ठीक न होगा, क्योंकि दोषों से 'रस' का विनाश नहीं होता। दोषयुक्त काव्यों में भी 'रस' आदि का अनुगम होता है।

प्रश्न—'मुख्यार्थहतिर्दोषः'—इस दोषलक्षण में स्थित 'हति' पद का अर्थ 'अपकर्ष' करने पर भी कतिपय दोषों में इस लक्षण की अव्याप्ति ही रहो है। जैसे—शाब्द-बोध में बाधा उपस्थित करने वाले 'अभवन्मतयोगत्व', 'क्लिष्टत्व', 'च्युतसंस्कृतित्व' आदि कतिपय दोष हैं, जिनके कारण 'रस' का अनुभव ही नहीं हो पाता। तब उसके अपकर्ष का अवसर हो कहाँ रहेगा ? अतः उक्त लक्षण की ऐसे दोषों में अव्याप्ति होगी। इस पर यदि यह कहें कि 'हति' पद का अर्थ-'रसानुभवबाधाप्रयोजकत्व' करेंगे, तब उपर्युक्त अव्याप्ति नहीं हो पायेगी।

किन्तु 'हति' पद का इस प्रकार अर्थ नहीं कर सकते, क्योंकि कतिपय ऐसे भी दोष हैं, जो 'रसानुभव' में बाधा नहीं पहुँचाते। जैसे—'ग्राम्यत्व', 'नेयार्थत्व' श्रुति-कटु, प्रतिकूल वर्ण आदि। ये दोष, 'रस' का अपकर्ष कर देते हैं, उस कारण काव्य में 'वैरस्य' हो जाता है। अतः 'रसापकर्षक दोषों' में उपर्युक्त लक्षण (मुख्यार्थहतिर्दोषः) की अव्याप्ति हो जायगी।

एवं च 'रस' की अनुत्पत्ति में प्रयोजक 'च्युतसंस्कृति' आदि दोषों में उपस्थित की गई अव्याप्ति को दूर करने के लिए 'अनुत्पत्ति' को ही 'हति' शब्द का अर्थ मान लिया, और 'रसानुभवबाधाप्रयोजकत्व'—लक्षण किया। किन्तु जहाँ पर 'रस' की उत्पत्ति तो अवश्य होती है, परन्तु श्रुतिकटु, प्रतिकूलवर्ण आदि दोषों के कारण उसका (रस का) अपकर्ष हो जाता है। अतः ऐसे दोषों में इस नवीन दोषलक्षण की अव्याप्ति होती है। एवंच इस लक्षण की वही स्थिति हुई, जैसे अत्यन्त दरिद्र दम्पती को रात में ओढ़ने योग्य अत्यन्त छोटे-से वस्त्र की होती है। क्योंकि उस छोटे से वस्त्र को एक के द्वारा अपनी ओर खींच लेने पर दूसरा खुला रह जाता है। किञ्च—मुख्यार्थरूप जो अर्थ है, उसकी अनुत्पत्ति अथवा अपकर्ष, 'दोष' के अधीन नहीं है।

उत्तर—उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि 'उद्देश्यप्रतीतिविघातलक्षण अपकर्ष' ही 'हति' शब्द का अर्थ करना चाहिए। वह 'अपकर्ष'—तीन प्रकार का होता है। (१) कहीं पर सार्थक शब्दप्रधान गीतिकाव्य के दूषित हो जाने से वह 'गेय' में प्रति-बन्धक हो जाता है। (२) कहीं पर शब्दसंवलित–अर्थप्रधान 'दृश्यकाव्य' के दूषित हो जाने से 'अभिनय' में वह अपकर्ष कर देता है। (३) उभय–समकक्ष 'पठ्यकाव्य' के दूषित हो जाने से काव्यजन्य चमत्कार में वह विलम्ब कर देता है। अतः हमारे कथना-नुसार 'हति' शब्द का अर्थ—'उद्देश्यप्रतीति-विघातलक्षण अपकर्ष' ही करना चाहिए। तब सरसकाव्य में शीघ्र होने वाली 'अनपकृष्ट रसविषयक उद्देश्यरूपा प्रतीति' होती है, किन्तु नीरसकाव्य में अविलम्बित और चमत्कारिणी अर्थविषयक

प्रतीति होती है। एवंच 'तादृशप्रतीतिविघातकत्व' सभी में समान रूप से उपलब्ध होता है। क्योंकि किन्हीं दुष्ट काव्यों में 'रस' की प्रतीति ही नहीं हो पाती, और कहीं प्रतीयमान रस का अपकर्ष रहता है, और कहीं विलम्ब से प्रतीति हो पाती है। उसी तरह नीरस काव्य में कहीं तो मुख्य अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती, और कहीं विलम्ब से प्रतीति होती है, और कहीं चमत्कारिता ही नहीं होती—यह अनुभवसिद्ध तथ्य है। इस रीति से 'उद्देश्यप्रतीति' का अनुत्पाद, स्पष्ट ही है। उस प्रतीति का विघात कोई तो साक्षात् करता है, जैसे—स्व-शब्दवाच्यत्वादि रसदोष, 'प्रतीति' के साक्षात् विघातक हुआ करते हैं। यद्यपि वे रस के अपकर्षक हैं, तथापि उनमें 'प्रकृष्टरसव्यंजकत्वभाव' तो रहता ही है।

कुछ दोष तो 'प्रतीति' के परम्परया विघातक होते हैं, जैसे—शब्द, अर्थ, वर्ण-रचनागत दोष। उनमें भी कोई, 'अर्थोपस्थिति' के न होने से विघातक होते हैं। जैसे—'असमर्थत्व' आदि दोष। कुछ दोष, 'विलम्बित अर्थोपस्थिति' के कारण विघातक होते हैं। जैसे—'निहतार्थत्व' आदि दोष। कुछ दोष 'वाक्यार्थबोध' के अभाव के कारण विघातक होते हैं। जैसे—'च्युतसंस्कृति' आदि। कुछ दोष 'विलम्बितवाक्यार्थबोध' के कारण विघातक होते हैं। जैसे—'क्लिष्टत्व' आदि। कुछ दोष सहृदयों में 'विमुखता तथा व्यग्रता' पैदा करने के कारण विघातक होते हैं। जैसे—'निरर्थकत्वादि'। कुछ दोष 'विरोधी को उपस्थित' कराकर अथवा 'विपरीत अर्थ को उपस्थित' कराकर विघातक होते हैं। जैसे—'अमतपरार्थ' 'विरुद्धमतिकृत्' आदि। एवं च 'उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोषः'—यह दोष का सामान्य लक्षण है। यह 'दोष' दो प्रकार का होता है—(१) नित्य, और (२) अनित्य। नित्यदोष वह होता है, जिसका समाधान, शास्त्रीय प्रक्रियासिद्ध शब्द के अनुकरण करने से ही होता है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं। जैसे—च्युतसंस्कृति। इसलिए 'नित्यदोष'—उसे ही समझना चाहिए, जो 'अनुकरणादन्येन प्रकारेण समाधातुमशक्यः' हो। इसके विपरीत जो हो उसे 'अनित्यदोष' कहते हैं। जैसे—'अप्रयुक्त' आदि। अथवा—'सर्वदैव हेयो नित्यः'—जो हमेशा ही त्याज्य रहता है, उसे 'नित्य' कहा जाता है। जैसे—'च्युतसंस्कृति' आदि, उससे भिन्न को 'अनित्य' कहते हैं। जैसे—'श्रुतिकटु'। श्रृङ्गार में हेय रहने पर भी 'रौद्र' में वह उपादेय ही है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वृत्तिकार ने 'हतिरपकर्षः' कहा है।

(दोषप्रकारविचारः)

विशेषलक्षणमाह—

(पद-दोषाः)

(सू०७२) दुष्टं पदं श्रुतिकटु　च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥५०॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं　विरुद्धमतिकृत्समासगतमेव ॥५१॥

विशेषलक्षणमिति । इसके पूर्व काव्यदोषों का 'सामान्य लक्षण' बताया गया था, अब 'विशेषलक्षणमाह' कहकर काव्यदोषों का विशेष लक्षण बता रहे हैं—(सू० ७२) ।

दुष्टमिति । (१) श्रुतिकटु, (२) च्युत-संस्कृति (संस्कार), (३) अप्रयुक्त, (४) असमर्थ, (५) निहतार्थ, (६) अनुचितार्थ, (७) निरर्थक (८) अवाचक, (९) त्रिविध (तीन प्रकार का) अश्लील, (१०) सन्दिग्ध, (११) अप्रतीत, (१२) ग्राम्य, (१३) नेयार्थ, (ये १३ दोष, पदगत और समासगत भी होते हैं ।) (१४) क्लिष्ट, (१५) अविमृष्टविधेयांश, (१६) विरुद्धमतिकृत्—(ये तीन दोष) केवल समास में ही होते हैं ॥५०–५१॥

विशेष विवरण—सामान्यलक्षण के पश्चात् विशेषलक्षण का कथन अवसर-प्राप्त है । पहिले बता चुके हैं कि—नित्य और अनित्य के भेद से 'दोष' दो प्रकार के होते हैं । ये दोनों ही प्रकार के दोष पुनः तीन प्रकार से विभक्त होते हैं—(१) शब्ददोष, (२) अर्थदोष और (३) रसदोष । वाक्यार्थबोध के पूर्व प्रतीयमान होने वाले 'दोषों' को 'शब्दगत दोष' कहते हैं । तदनन्तर प्रतीत होने वाले परम्परया रसापकर्षक दोषों को 'अर्थगतदोष' कहते हैं । वैसे ही जो साक्षात् रसापकर्षक दोष होते हैं, उन्हें 'रसगतदोष' कहते हैं । शब्दार्थ रसों की उपस्थिति यथापूर्व होती है । अतः उसी क्रम से दोषों का निरूपण करना उचित रहने से 'शब्दगतदोषों' का निरूपण प्रथमतः किया गया है ।

शब्द के भी तीन प्रकार हैं—पद, पदैकदेश और वाक्य । अतः उनके आश्रित रहने वाला 'शब्ददोष' भी तीन प्रकार का (त्रिविध) माना गया है । वाक्य के घटक 'पद' होते हैं, उस कारण 'पदों' की प्राथमिकता रहने से प्रथमतः 'पदगतदोष' का निरूपण करना ही उचित है ।

शंका—प्राथमिकता के आधार पर यदि 'पदगत'–(शब्दगत) दोष के निरूपण को प्राथमिकता दी जा रही है, तो पद का एकदेश अर्थात् 'पदांश' 'पद' से भी प्रथम (पूर्व) है । 'पद' और 'पदांश' में यथाक्रम 'प्रकृतित्व', 'प्रत्ययत्व' आदि की प्रतीति

हुआ करती है। उस कारण 'पदांश' को 'पदनिरूप्य' नहीं कहते। इसलिए प्राथम्य की दृष्टि से 'पदांशगत दोष' का ही प्रथमतः निरूपण करना उचित होना चाहिए।

समाधान—प्राथम्य (प्राथमिकता) का विचार तो 'उपदेश' में हुआ करता है, 'उपदेश' के अनन्तर ही 'अतिदेश' होता है। दोषनिरूपण की प्रतिज्ञा (उपदेश) 'पदैक-देश' में तो नहीं की गई है, उसका लाभ तो 'अतिदेश' से ही लाघवात् हो जाता है।

प्रश्न—'उपदेश' (दोषनिरूपणप्रतिज्ञा) को पदैकदेश (पदांश) में और उसके अतिदेश को 'पद' में क्यों न मान लिया जाय?

उत्तर—कुछ दोष ऐसे भी होते हैं, जो 'पदैकदेश' में न रहते हुए भी 'पद' में विद्यमान रहते हैं। इसलिए 'पदों' में ही दोषनिरूपण का उपदेश (प्रतिज्ञा) करना आवश्यक है।

दुष्टं पदमिति। उक्त १६ दोषों में से प्रत्येक दोष के वाचक पद के साथ 'दुष्टं भवेत्' यह जोड़ना चाहिए। जैसे—'श्रुतिकटुपदं'—दुष्टं भवेत्। 'च्युतसंस्कृतिपदं' दुष्टं भवेत्' इत्यादि। प्रकृत प्रसंग में 'पद' शब्द से 'सुप्तिङन्तं पदम्' के अनुसार 'सुबन्त' और 'तिङन्त' पदों का ग्रहण किया जाता है और प्रकृतिभूत प्रातिपदिक का भी ग्रहण किया जाता है, 'विभक्ति प्रत्यय आदि'—पद के एकदेश (पदांश) कहे जाते हैं,—इस तथ्य को उद्योतकार ने स्पष्ट किया है।

(१) 'श्रुतिकटु' का अर्थ है—कान में उद्वेगजनक कठोर (परुष) वर्ण का रहना, अर्थात् 'श्रुत्युद्वेगजनकं परुषवर्णम्'।

(२) 'च्युतसंस्कृति'—व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध, अर्थात् 'व्याकरणलक्षण-हीनम्' यानी 'असाधुप्रयोग'।

(३) 'अप्रयुक्त'—किसी पद का किसी अर्थ में शास्त्रकार तथा कोषकार ने प्रयोग किया है, फिर भी कवियों ने उस अर्थ में जिस पद का प्रयोग न किया हो। उस पद को 'अप्रयुक्त' कहा जाता है। अर्थात् 'आम्नातमपि कविभिर्नादृतम्'।

(४) 'असमर्थम्'—शास्त्रकार ने किसी अर्थ में किसी 'पद' का प्रयोग किया है, तथापि उस अर्थ में उस पद की शक्ति (संकेत) का न रहना। अर्थात् जो 'पद' उस अर्थ को बताने में स्वभावतः असमर्थ हो, यानी 'तदर्थाऽबोधकम्'। उसे 'असमर्थ' कहते हैं।

(५) 'निहतार्थम्'—जो 'पद', प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों का बोधक है,

किन्तु जहाँ पर उसका प्रयोग, 'अप्रसिद्ध अर्थ' को कहने के लिए किया गया है, ऐसे स्थल में उस पद का विवक्षित अप्रसिद्ध अर्थ, 'प्रसिद्ध अर्थ' से निहत (व्यवहित) हो जाता है। अतः 'अर्थान्तरप्रतीत्या प्रकृतव्यवधायकत्वं निहतार्थत्वम्' समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि 'प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध' दोनों अर्थों को बताने में समर्थ होने पर भी अप्रसिद्ध (अविवक्षित) अर्थ में ही उसका प्रयोग कर देना 'निहतार्थ' कहा जाता है।

(६) 'अनुचितार्थ'—जिस पद का अर्थ अनुचित (विवक्षित अर्थ का तिरस्कार करता) हो। अर्थात् 'अयोग्यार्थकत्वमनुचितार्थत्वम्'।

(७) 'निरर्थकम्'—जैसे 'च, वा, ह' आदि पदों का प्रयोग केवल श्लोकपूर्ति के लिए कर देना। अर्थात् 'निरर्थकं पादपूरणमात्रार्थकम्' समझना चाहिए।

(८) 'अवाचकम्'—जो पद, विवक्षित अर्थ का अभिधायक नहीं रहता, उस 'पद' का प्रयोग कर देना। अर्थात् 'अवाचकम् अनभिधायकम्', समझना चाहिए।

(९) 'अश्लीलम्'—जिस पद से उसके अर्थबोध के साथ ही व्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गलभाव व्यक्त होता है, उसे 'अश्लील' कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है। अर्थात् 'अश्लीलं व्रीडानिन्दाऽशुभविधया त्रिधा त्रिप्रकारकं भवति।'

(१०) 'सन्दिग्धम्'—जिस पद का स्वरूप विवक्षित और अविवक्षित दोनों अर्थों को उपस्थित करके सन्देह उत्पन्न कर देता हो उसे 'सन्दिग्ध' कहते हैं।

(११) 'अप्रतीतम्'—जिस पद का अर्थ किसी शास्त्रविशेष में ही प्रसिद्ध (परिभाषित) हो, उस शास्त्र को न जानने वाले उस अर्थ को नहीं समझ सकते, ऐसे पद का प्रयोग करना 'अप्रतीत' कहलाता है। अर्थात् 'यत्किञ्चिच्छास्त्रपरिभाषितम्'।

(१२) 'ग्राम्य'—जिस पद का अर्थ केवल ग्रामीण (पामर) लोगों में ही प्रसिद्ध हो। अर्थात् 'ग्राम्यं ग्रामे भवो ग्राम्यो लोकः तन्मात्रप्रयुक्तम्'।

(१३) 'नेयार्थम्'—निषिद्धलक्षणा का आश्रय करने वाले पद का प्रयोग करना 'नेयार्थ कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिस पद का अर्थ वक्ता की इच्छा से 'नेय' हो, अर्थात् विषय के साथ किसी तरह 'संगत' किया गया हो। यानी 'नेयार्थं निषिद्धमपि लक्षणया प्रयुक्तम्'।

ये तेरह दोष केवल 'पदगत' और 'समासगत' हुआ करते हैं।

(१४) 'क्लिष्टम्'—जिस पद से विलम्बेन अर्थ प्रतीति होती है, उसे 'क्लिष्ट' दोष कहते हैं। अर्थात् 'बलाद् व्याख्येयार्थकम्'।

(१५) 'अविमृष्टविधेयांशम्'—जहाँ विधेय अंश का विमर्श (विचार) न किया गया हो। अर्थात् 'विधेय' को प्रधानरूप से कहना चाहिए, किन्तु उसे प्रधान रूप से न कह पाना ही 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है। यानी 'अविमृष्टविधेयांशम् अविमृष्टः प्राधान्येन अनुक्तः (गुणीभूतः) विधेयांशः यत्र तादृशम्'।

(१६) 'विरुद्धमतिकृत्'—जो पद 'प्रकृत अर्थ' के प्रतिबन्धक 'अप्रकृत अर्थ' का बोधन कराता है, उसे 'विरुद्धमतिकृत्' कहते हैं। अर्थात् 'विरुद्धमतिकृत् विरुद्धस्य मतिं विरुद्धां (विपरीतां) वा मतिं करोति तत् पदं विरुद्धमतिकृत्'।

ये १४, १५, १६ तीन दोष समास में ही होते हैं ॥ ५०–५१ ॥

विशेष विवरण—महामाहेश्वर राजानक मम्मटभट्ट ने दोष का विशेष लक्षण, 'पददोष' से आरम्भ किया है। यह 'पददोष', त्रिविध 'शब्ददोषों' (पद, पदैकदेश, और वाक्यदोष) में से 'प्रथम दोष' है।

उपर्युक्त कारिका में 'पददोषों' के नाम और 'लक्षण' दोनों एक साथ ही निर्दिष्ट किये गये हैं। जैसे—'दोष' का नाम है 'श्रुतिकटु', और उसका लक्षण बताया 'श्रुतिकटु होना', यानी श्रवण (श्रुति) में उद्वेग को उत्पन्न करना। इसी प्रकार अन्य दोषों के भी नाम और उनके लक्षण दोनों को ही यहाँ एक साथ बताया गया है।

किन्तु भामह आदि प्राचीन आलङ्कारिकों ने ऐसा एक साथ निरूपण न करके दोषों के नाम और लक्षण, पृथक्-पृथक् बताये हैं[1]। वामन ने भी भामह जैसा ही किया है। तथापि मम्मटभट्ट ने दोनों (लक्ष्य और लक्षण) को एक साथ ही कारिका के द्वारा बताया है।

शंका—'श्रुतिकटु' प्रभृति शब्दों को लक्षणपरक मानने पर उन्हें विभागपरक तो नहीं कह सकेंगे, तब 'लक्ष्य' की उपस्थिति भी नहीं होगी। ऐसी स्थिति में उन शब्दों को 'लक्षण' कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि 'लक्षण-वाक्य' उसी को कहा जाता है, जो 'लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध' का बोधक होता है। अतः कारिकागत 'श्रुतिकटु' प्रभृति शब्दों को 'विभागपरक' कहना ही उचित होगा। विभागपरक मानने पर 'लक्ष्य' की उपस्थिति हो सकेगी, उसकी उपस्थिति होने पर ही विशेष लक्षण की आकांक्षा होगी। उस आकांक्षा के होने पर ही 'विशेषलक्षण' को बताना उचित होगा। जब उन शब्दों को विभागपरक मानेंगे तब उन्हें लक्षणपरक नहीं कहा जायगा। एवं च दोषों का विशेष लक्षण न बता पाने से न्यूनता प्रतीत हो रही है।

समाधान—'श्रुतिकटु' आदि पदों (शब्दों) से रूढि और योग के द्वारा लक्ष्य

१. काव्यालंकार १।४७–४८–४९

तथा लक्षण दोनों की उपस्थिति होती है। अतः लक्ष्य और लक्षण दोनों ही अवगत हो सकते हैं। तब 'रूढ्यर्थ' लक्ष्य रहता है और 'श्रुतेः कटु श्रुतिकटु' यह 'योगार्थ' लक्षण होता है। जैसे महर्षि गौतम ने न्यायसूत्र (१।१।१२) में बताया है--"घ्राण-रसन-चक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः" (पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपपञ्चमहाभूतापादानकारणकानीत्यर्थः)। इस इन्द्रियलक्षण सूत्र में 'रूढ्यर्थ' को लक्ष्य और जिघ्रतीति घ्राणम्' इस योगार्थ' को लक्षण माना गया है, ऐसा प्रदीपकार ने बताया है। किन्तु उद्योतकार का कहना है कि 'योगरूढशब्दों' का प्रयोग रहने पर 'एकार्थीभाववादियों के मतानुसार 'नैकं विना कृतापरार्थोपस्थितिः' की प्रक्रिया है। अर्थात् एकार्थीभाव के बिना अन्य अर्थ की उपस्थिति में 'लक्ष्य' का ज्ञान पहिले होना कैसे संभव है? जिससे 'योगार्थ' को लक्षण कहा जायगा। अतः 'श्रुतिकटु' आदि पदों से अवगत होने वाला जो वाच्यार्थ है, उसी को 'लक्षण' माना गया है। एवंच 'श्रुतिकट्वादिपदवाच्यत्वं लक्षणमित्याहुरुद्योतकाराः।

उद्योतकार का उक्त कथन ही उचित प्रतीत हो रहा है क्योंकि 'प्रदीपकार' का कथन, 'रूढ्यर्थ-योगार्थयोरन्यतरवियोगेन अन्यत्राऽन्वयाऽयोगः'—इस नियम का उल्लंघन कर रहा है, अर्थात् उक्त नियम के विरुद्ध है।

शंका—उपर्युक्त नियम तो व्यभिचरित हो रहा है। तथा हि--'अरिमेदः पलाशश्च बाहुः कल्पद्रुमश्च ते'—प्राचीनोक्त इस 'पदश्लेष' के उदाहरण में (अरीणां शत्रूणां मेदो वपां, पलं मांसं च अश्नातीति अरिमदः पलाशः ते तव बाहुः,—'अरिमेदसंज्ञकः पलाशसंज्ञकश्च कल्पद्रुमः') परस्पर उद्देश्य-विधेयभाव से एक अर्थ के वियोग में भी अन्यत्र अन्वय होता दिखाई देता है।

समाधान—यहाँ पर 'अरिमेद' और 'पलाश' शब्द, 'मण्डप' आदि शब्द के समान 'यौगिकरूढ' हैं, 'पंकज' आदि शब्द के समान 'योगरूढ' नहीं हैं। क्योंकि 'अरिमेद और पलाश' संज्ञक दोनों वृक्ष, 'मेद' (वपा) तथा 'पल' (मांस) के भक्षक नहीं हैं। पूर्वोक्त नियम 'योगरूढ' स्थल में लगता है। अतः कोई व्यभिचार नहीं है। अर्थात् 'नियम' अव्यभिचरित है। 'यौगिकरूढ' उसे कहते हैं, जो 'परस्पर नैरपेक्ष्येण अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च अर्थप्रत्यायकं यौगिकरूढम्'--परस्पर निरपेक्ष रहकर अपनी अवयवशक्ति से और समुदायशक्ति से जो अर्थबोधन करता है, उस शब्द को 'यौगिकरूढ' कहा जाता है। जैसे--'उद्भिद्' आदि शब्द। 'उद्भिद्' शब्द जब अपनी केवल अवयवशक्ति का उपयोग करता है, तब पृथिवी का उद्भेदन करने वाले 'तरु गुल्म' आदि अर्थ का बोध उससे होता है, और जब वही शब्द अपनी समुदायशक्ति का उपयोग करता है, तब 'उद्भिद्' संज्ञक यागविशेषरूप अर्थ का बोध उससे होता है--'उद्भिदा यजेत'।

(१) श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्तार्थ्यं लभते कदा ॥१४१॥

अत्र कार्तार्थ्यमिति ।

जो अवयवशक्ति और समुदायशक्ति से अर्थप्रत्यायक होता है, उसे 'योगरूढ' कहते हैं--'अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च अर्थप्रत्यायकं योगरूढम्' । यथा 'पंकज'-शब्द । यह शब्द, 'पंकजनिकर्तृत्वेन रूपेण पद्मत्वेन रूपेण च' 'पद्म' का बोध कराता है ।

एवंच 'शब्द'--चार प्रकार के होते हैं--

(१) यौगिक, (२) रूढ, (३) योगरूढ और (४) यौगिकरूढ ।

निष्कर्ष यह है कि सूत्रगत श्रुतिकटु आदि शब्द की आवृत्ति करके एक की (रूढ की) लक्ष्यपरता और दूसरे की (यौगिक की) लक्षणपरता समझनी चाहिए ।

श्रुतिकट्विति । श्रुतिकटुत्वादि दोषों में 'श्रुतिकटुत्व' यद्यपि श्रुति (कानों) को उद्विग्न करणे वाला है, जो पुरुषभेद से (पुरुषों की अभिरुचि के भेद से) नियतरूप नहीं है, तथापि सुनने वालों के उद्वेग को उत्पन्न करता हो, उसे परुष (कठोर) वर्ण ही समझना चाहिए । अर्थात् वह बड़ी कठिनता से कहने और सुनने के योग्य होता है ।

(१) श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टम् । यथा--

(१) कठोरवर्णरूप दुष्ट (रसापकर्षक पद) श्रुतिकटु कहलाता है । यथेति । जैसे-प्रथम पददोष 'श्रुतिकटु' का उदाहरण—

अनङ्गेति । उक्त पद्य में कहा गया है कि कोई कुट्टिनी किन्हीं दो कामिनी और कामुक के समागम की चिन्ता कर रही है कि कब इन दोनों का समागम होगा और कब यह नायक (कामुक) इस तन्वङ्गी (कृशाङ्गी) के द्वारा आलिङ्गित होकर कृतार्थ होगा । इस तन्वङ्गी के कटाक्ष तो कामदेव के मङ्गलमय गृह ही हैं, उन कटाक्षों की शैलियाँ, तरंग के समान हैं अर्थात् उमङ्ग से भरी हुई हैं, (यहां उपलक्षणे तृतीया है) ॥१४१॥

अत्रेति । इस पद्य में 'कार्तार्थ्यं' पद, परुषवर्णबहुल होने से 'श्रुतिकटु' है ।

विशेष विवरण—इस पद्य में 'लभते' का अर्थ 'लप्स्यते' अर्थात् 'प्राप्स्यति' करना चाहिए । क्योंकि 'कदा' शब्द के योग में "विभाषा कदाकर्ह्योः"--(पा० सू० ३।३।५) इस पाणिनिसूत्र से भविष्यदर्थ में 'लट्' लकार का प्रयोग किया गया है । यहाँ 'कार्तार्थ्यं' पद की दूषकता में बीज यह है कि शब्दों का प्रयोग करना तो अपने अधीन होता है, तब शृङ्गार रस की रचना में कानों को फाड़ देने वाली कर्कशवर्ण-

(२) च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम् । यथा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर-
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना-
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥ १४२ ॥

अत्रानुनाथते इति सर्पिषो नाथते इत्यादाविवाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम् (आशिषि नाथ इति) अत्र तु याचनमर्थः । तस्मादनुनाथति स्तनयुगमिति पठनीयम् ।

ध्वनि उद्वेजक हो गई है, उस कारण शृङ्गार रस की प्रतीति कराने में प्रयुक्त 'कातर्थ्य' पद बाधक हो जाता है । अतः सुनने वालों को विचलित कर देने वाले कर्णोपतापक शब्द 'श्रुतिकटु' कहलाते हैं । उससे 'रसापकर्ष' हो रहा है; यही उसकी दूषकता में बीज है । अतएव 'प्रतिकूलवर्ण' से इसकी भिन्नता है । प्रतिकूलवर्णों में कर्णोपतापकता नहीं होती है । एवंच 'रसाद्यपकर्षकं श्रोतुरुद्वेगजनकत्वं श्रुतिकटुलक्षणम्' समझना चाहिए । इसी अभिप्राय से श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य कृत सारबोधिनी में कहा गया है—

"परुषवर्णत्वं मुख्यार्थापकर्षकत्वे सति ओजोव्यंजकवर्णत्वम् । वीरादिषु अदुष्टतया तदतिप्रसङ्गवारणाय सत्यन्तम्, वीरादिषु मुख्योत्कर्षकत्वादस्य अदोषत्वात् । न च प्रतिकूलवर्णेन अस्य संकर इति वाच्यम् । उपधेयसांकर्येऽपि उपाध्योरसांकर्यात् । तथा हि— अत्र प्रकृतरसव्यञ्जकवर्णाभावाद्रसोद्बोधरूपं कार्यं न जायते, प्रतिकूलवर्णे तु प्रकृतरस-प्रतिबन्धकैर्वर्णैः प्रतिबध्यते । इत्यनयोरेकत्र व्यञ्जकवर्णाऽभावात् कारणाभावप्रयुक्तकार्याऽभाववत्त्वम्, अपरत्र प्रतिकूलवर्णसद्भावात्प्रतिबद्धकार्यकत्वमेव दूषकताबीजम् । इदं मधुररसे एव दूषकम्, प्रतिकूलवर्णं तु सर्वत्र रसे इति स्मर्तव्यम् । वर्णानां रसे व्यञ्जकत्वं प्रातिकूल्यं च" ।

(२) च्युतेति । जहाँ 'संस्कृति' च्युत हो, अर्थात् व्याकरण के लक्षणों (सूत्रात्मकनियमों) का अनुसरण न हो, उस 'पद' को 'च्युतसंस्कृति' कहते हैं । निष्कर्ष यह है कि जिस भाषा को संस्कृत करने वाले व्याकरण के लक्षणों (नियमों) के विरुद्ध जो 'पद' हो उसे उस भाषा में 'च्युतसंस्कृति' कहा जायगा ।

यथेति । जैसे—

पल्लीपति की कन्या के कुचयुगल को देखने के इच्छुक किसी विदग्ध (चतुर-रसिकपुरुष) की यह उक्ति है—एतदिति । हे पल्लीपति की पुत्रि । अर्थात् छोटे-से ग्राम के प्रधान भील की कन्ये ! ये तुम्हारे दोनों स्तन, किञ्चित्-किञ्चित् पके हुए तिन्दुक के फल के समान मध्यभाग में कृष्णवर्ण एवं चारों ओर (प्रान्तप्रदेश में)

गौरवर्ण (पाण्डुरवर्ण) हो रहे हैं, जो शबरयुवक (भील के तरुणपुत्र) के हाथों से स्पर्श (मर्दन) करने योग्य दिखाई दे रहे हैं। 'हन्त'—मन में बड़ी प्रसन्नता हो रही है। अतः हाथियों का झुण्ड, अपने गण्डस्थलों के हेतु अभयदान प्राप्त करने की इच्छा से अत्यन्त विनय के साथ तुमसे यह भीख माँग रहा है कि तुम इस स्तनयुगल को वृक्षों के पत्तों से आवृत मत करो, यानी मत ढको ॥ १४२ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'याच्ञा' (याचना) के अर्थ में 'नाथते' पद, 'च्युतसंस्कृति' अर्थात् व्याकरण-संस्कार (व्याकरण के नियम) से च्युत (भ्रष्ट) हो गया है। अतः 'अनुनाथते' पद 'च्युतसंस्कृति' दोष से दूषित हो गया है। क्योंकि 'आशिषि नाथः' इस वार्तिक से आशीर्वाद अर्थ में ही 'नाथ' धातु से 'आत्मनेपद' का विधान किया गया है। जैसे—'सर्पिषो नाथते'—मेरे पास घृत रहे—"आशिषि नाथः" (२।३।५५) वार्तिक से 'आशीरर्थस्य नाथतेः कर्मणि सर्पिषि शेषे षष्ठी, सर्पिर्मे स्यात् इत्याशास्ते, इति तदर्थः।' प्रदीपकार ने जो कहा है कि "आशिषि नाथः इति सूत्रेण"—यह विचारणीय ही प्रतीत हो रहा है, क्योंकि "क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च"—(पा. सू. १।३।२१) इस सूत्र पर स्थित "आशिषि नाथः" यह कात्यायनकृत वार्तिक है। उसी से आशीर्वाद के अर्थ में ही 'नाथ' धातु से 'आत्मनेपद' का विधान किया गया है। यदि यह कहा जाय कि 'अनुनाथते' में भी 'आशीः' अर्थ मान लेंगे। किन्तु यह कहना उचित न होगा, क्योंकि तब 'त्वाम्' का 'कर्मत्व' संगत नहीं हो पायगा। आशीः (आशंसन) की कर्मता 'इष्टार्थ' में ही हुआ करती है।

इसी अभिप्राय से वृत्तिकार ने कहा है—'अत्र तु याचनमर्थः'—यहाँ तो 'याचना' अर्थ में 'अनुनाथते' का प्रयोग किया गया है, किन्तु 'याचना' के अर्थ में 'आत्मनेपद' का विधान व्याकरण नियम के विरुद्ध है। वह विधान तो 'आशीः' अर्थ में ही किया गया है। इसलिए यहाँ 'च्युतसंस्कृति' दोष हो गया है। उक्त दोष के निवारणार्थ यानी इस दोष से बचने के लिए 'अनुनाथति स्तनयुगम्' इस प्रकार 'परस्मैपद' में ही 'नाथ्' धातु का प्रयोग कवि को करना चाहिए था, जिससे 'च्युतसंस्कृति' दोष न हो पाता।

विशेष विवरण—महाकवि भारवि के किरातकाव्य में भी 'नाथसे किमु पतिं न भूभृताम्'—(किरा. १३।५९) यह 'च्युतसंस्कृति' दोष का उदाहरण उपलब्ध होता है। यहाँ पर यदि 'नाधसे' का प्रयोग कवि ने किया होता, तो 'च्युतसंस्कृति' दोष न हो पाता। क्योंकि 'नाथृ, नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' यह धातुपाठ में पठित है। आशीरर्थ में आत्मनेपद करने का नियम 'नाथृ' धातु के लिए ही है, 'नाधृ' धातु के लिए नहीं है। अतः 'नाधसे' पद का प्रयोग करने पर उक्त दोष नहीं होगा।

(३) अप्रयुक्तं तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम । यथा—

यथाऽयं दारुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।
तथा मन्ये दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा॥ १४३ ॥

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानि पुंसि वा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित्प्रयुज्यते ।

शंका–"अथ कत्थन्ताः षट्त्रिंशदनुदात्तेत" यह उपक्रम करके 'नाथृ नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु' इस प्रकार धातुपाठ में पठित किया गया है. अतः 'अनुदात्तेत्' होने से "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्"–(पा सू. १।३।१२) इस पाणिनिसूत्र से ही आत्मनेपद प्राप्त है, तब 'आशिषि नाथः' इस वार्तिक की क्या आवश्यकता हैं ?

समाधान—"आशिषि नाथः" इस वार्तिक से पुनः 'आत्मनेपद' का विधान 'नियमार्थ' (आशिषि एव आत्मनेपदम्) किया गया है ।

यह 'च्युतसंस्कृति' दोष 'पद' में ही माना जाता है, 'पद के एकदेश' में नहीं ।

शंका—'नाथते' पद तो स्वरूपत एव 'संस्कृत' है। अतः उसे 'संस्कृति' से च्युत कैसे कहा जा रहा है ? दूसरी बात यह है कि 'नाथते' पद का 'संस्कृतत्व' स्वरूपतः रहने पर भी 'अर्थविशेष' में यह 'संस्कृत' नहीं है। तब यहाँ पर उसे 'अर्थदोष' ही क्यों न माना जाय ?

समाधान—'अर्थदोष' वहाँ माना जाता है, जहाँ 'शब्द' के परिवर्तन करने पर भी 'दोष' बना रहता है, और जहाँ पर 'शब्द' का परिवर्तन करने पर 'दोष' नहीं रहता, वहाँ 'शब्ददोष' माना जाता है। इसलिए 'अप्रकृत अर्थ' में उसके 'संस्कृत' रहने पर भी 'प्रकृत अर्थ' में वह 'संस्कृत' नहीं है। एवं च 'प्रकृत अर्थ' में उसका 'संस्कृतत्व' न रहना ही 'दोष' का कारण (बीज) है। यहाँ पर वक्ता को व्याकरण के नियमों का ध्यान न रहने से उसकी 'अशुद्ध पद' के उच्चारण में प्रवृत्ति हुई है। उस कारण श्रोता को अशुद्धपदघटित पद्य को सुनने से श्रोता को विमुख होना पड़ रहा है, जिससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती। एवं च अर्थ की प्रतीति न हो पाना ही 'पद' की दूषकता में बीज है। यह नित्यदोष' है।

(३) 'अप्रयुक्तम्'—यह तृतीय पददोष है। उसी की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं—अप्रयुक्तमिति। किसी पद को शास्त्रकार अथवा कोषकारों के द्वारा तथाकथित अर्थ में कहे जाने पर भी अर्थात् अनुशासन से सिद्ध रहने पर भी कवियों ने उस अर्थ में उस पद का प्रयोग करने में यदि अनादर किया है, तो उस 'पद' को 'अप्रयुक्तदोष' से दूषित कहा जाता है। जैसे—

यथाऽयमिति। यह पुरुष सर्वदा ही, जब देखो तभी क्रूरकर्म करता हुआ प्रतीत होता है। अतः मुझे यह लगता है कि इसका उपास्य देवता, कोई पिशाच अथवा राक्षस है॥ १४३॥

अत्रेति। इस पद्य में 'दैवतः' पद का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया गया है। यद्यपि कोषकार ने 'दैवतानि पुंसि वा'—कहकर विकल्प से 'पुँल्लिङ्ग' में भी 'दैवत' (देवता) शब्द को बताया है। तथापि कोई भी कवि उसका पुँल्लिङ्ग में प्रयोग नहीं करता है। सभी कवियों ने 'पुंस्त्व' में उसके प्रयोग का अनादर किया है। इसलिए 'दैवत' शब्द का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग करना 'अप्रयुक्त' दोष कहलाता है।

विशेष विवरण—प्रयुज्यमानतावच्छेदकरूपेण कोषव्याकरणादिशास्त्र से सिद्ध (साधु) रहने पर भी कविसम्प्रदाय में निषिद्ध प्रयोग के समान यदि उसका प्रयोग कवियों (पण्डितों) ने न किया हो तो उसे 'अप्रयुक्त' दोष कहा गया है। 'अप्रयुक्त पद' दुष्ट कहलाता है। जैसे—'दैवत' शब्द को पुँल्लिग में भी कोषकारों ने कहा है, तथापि कविजन उसका पुँल्लिङ्ग में प्रयोग नहीं करते।

प्रश्न—'अप्रयुक्त' को दोष कहने में 'बीज' क्या है? 'दोष' का कारण (हेतु), 'अशक्ति' (शक्ति के अभाव) को नहीं कह सकते, क्योंकि कोष आदि के द्वारा उसका 'अर्थ' प्रतिपादित रहने से 'शक्ति' तो वहाँ है ही। यदि कहें कि 'शक्ति' के रहने पर भी 'उसका स्मरण' नहीं हो रहा है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि शब्दानुशासन से 'वाच्यवाचकभाव' का अच्छी तरह से ज्ञान हो रहा है। अतः शक्ति के स्मरण में कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है। ऐसी स्थिति में 'अप्रयुक्त' को दोष क्यों कहा गया है?

उत्तर—'पदार्थोपस्थिति का विलम्ब' से होना ही 'अप्रयुक्त पद' की दूषकता कहने में बीज (कारण) है। अतएव 'श्लेष, यमक' आदि में उसे दोष नहीं माना जाता। 'उद्भट' अलङ्कारों के चमत्कार के सामने 'प्रतीति' की शीघ्रता का होना वहाँ उद्देश्य नहीं है।

क्योंकि अनुकरण, श्लेष, यमक आदि स्थल-विशेष में कवियों के द्वारा किये गये अप्रयुक्त पद के भी प्रयोगों को देखकर किसी के चित्त में व्यग्रता नहीं होती। अतः 'मुख्यार्थविच्छित्तिः'—अर्थात् 'मुख्यार्थ का विच्छिन्न हो जाना'—दूषकता में बीज है। क्योंकि कवियों ने उस तरह के पद-प्रयोग करने में अनादर प्रदर्शित किया है। उस कविसमय के उल्लङ्घन करने का प्रयोजन क्या होना चाहिए? इस प्रकार अनुसन्धान करने में व्यग्र रहने के कारण मुख्यार्थ प्रतीति के होने में विलम्ब हो जाता है। एवं च 'मुख्यार्थप्रतीतिविलम्ब' ही दूषकता में बीज है।

(४) असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः । यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।
सुरस्रोतस्विनीमेव हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥ १४४ ॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम् ।

'अप्रयुक्त दोष' का एक अन्य उदाहरण 'रघुवंश' के द्वितीय सर्ग में भी उपलब्ध होता है । तथा हि—

"अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भविता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥"
(रघु. २।४९)

इस पद्य में 'स्पर्शयता' पद, दानार्थक नहीं है, क्योंकि 'स्पृश संस्पर्शने' धातुपाठ में पठित है । तथापि 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्'—इस प्रकार अमरकोष में उसे दानार्थक भी बताया है, किन्तु 'दान' अर्थ में सर्वत्र उसका प्रयोग न होने से उसे 'अप्रयुक्त' ही माना जाता है ।

किसी अर्थविशेष में किसी शब्दविशेष का शब्दानुशासन, कोष आदि में पाठ रहने पर भी उनके प्रयोग को 'दोष' माना जाता है, जैसे 'अप्रयुक्तत्व' और 'असमर्थत्व' । उसे दोष मानने का कारण यही है कि 'अप्रयुक्तत्व' में तो कवियों के द्वारा किसी विशेष अर्थ में उस शब्दविशेष का न करना और 'असमर्थत्व' में उस शब्द का उस अर्थविशेष में शक्ति का न होना ।

प्रश्न—'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्यात्०' के अनुसार व्याकरण, कोष आदि को तो शक्तिग्राहक प्रमाणों में बताया गया है । अतः उनके द्वारा किसी अर्थविशेष में किसी शब्दविशेष को बता दिया है तो उस अर्थ में उस शब्द की शक्ति न होने का प्रश्न ही कहाँ उठेगा ?

उत्तर—कोष आदि ने जो बताया है, वह किसी विशेष परिस्थिति में किसी विशेष उपपद के साथ रहने पर ही उस अर्थविशेष में उस शब्द को बताया है । उस स्थिति में ही उस शब्द की उस अर्थ में 'शक्ति' मानी जाती है । उक्त परिस्थितिविशेष के अभाव में अर्थात् उपपद विशेष के अभाव में वह शब्द, उस अर्थ को बताने में अशक्त (असमर्थ) रहता है । जैसे—धातुपाठ में 'हन हिंसागत्योः' पठित है । इससे ज्ञात होता है कि हिंसार्थक 'हन' धातु, गत्यर्थक भी है । किन्तु यह 'गति' अर्थ, 'उपसन्दानोपजीवी' है, अर्थात् अन्य उपपदों के योग में ही वह गत्यर्थक होता है । अन्य उपपद के अभाव में केवल 'हन' धातु, गत्यर्थक नहीं हुआ करता ।

(४) असमर्थम्—यह चतुर्थ पददोष है । उसी की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं—असमर्थमिति ।

किसी पद के किसी अर्थविशेष को शास्त्रकारों ने यद्यपि बताया है, तथापि उस अर्थविशेष को बताने की उस 'पद' में शक्ति का न होना ही उस पद की 'असमर्थता' कहलाती है। ऐसा असमर्थ पद दुष्ट कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि अभीष्ट अर्थ की प्रतीति को न करानेवाले 'पद' को 'असमर्थ' कहते हैं। जैसे—

तीर्थान्तरेष्विति। अनेकानेक तीर्थों में अवगाहन करके सत्फलोत्पादक पुण्य का सञ्चय करके यह आदमी अब श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सुरस्रोतस्विनी (गंगा) में स्नान करने जा रहा है॥ १४४॥

अत्रेति। इस पद्य में 'हन्ति' पद, 'गमन' अर्थ को बताने में असमर्थ है।

विशेष विवरण—'न समर्थम्'—असमर्थम्। यहाँ पर 'नञ्' का अर्थ 'अल्पत्व' है। 'नञ्' के छह अर्थ, होते हैं—'[1]तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥'

यहाँ पर 'नञ्' का 'अल्पत्व' अर्थ होने से प्रस्तुत 'शब्द' का 'अर्थविशेष' में पाठ किये जाने पर भी प्रकृत में वह शब्द, विवक्षित अर्थ के बताने में सामर्थ्यरहित ही है।

---

१. (१) तत्सादृश्यं यथा—अब्राह्मणः, ब्राह्मणसदृश इत्यर्थः। न हि 'अब्राह्मणमानय' इत्युक्तौ लोष्टादिरानीयते। यथा वा 'मृगं न भीमम्' इति श्रुतिः। मृगमिव भीममित्यर्थः।

(२) तदन्यत्वं यथा—अघटः पटः, घटादन्य इत्यर्थः।

(३) तदल्पत्वं यथा—अनुदरा कन्या, अल्पोदरीत्यर्थः। कृशोदरीति यावत्। यथा वा—अलवणा यवागूः, अल्पलवणेत्यर्थः।

(४) विरोधित्वं (ता) यथा—असुराः सुरविरोधिनो दैत्या इत्यर्थः। यथा वा 'अधर्मः', धर्मविरोधि पापमित्यर्थः।

(५) अप्राशस्त्यं यथा—अकालाध्यायी, अप्रशस्तकालाऽध्यायीत्यर्थः। निषिद्धकाला-ध्यायीति यावत्।

(६) अभावो यथा—घटो नास्ति। अत्र नञोऽत्यन्ताभावोऽर्थः।

अत्रेदमवधेयम्—एतेऽर्था न शाब्दाः। किन्तु प्रयोगोपाधयो भासन्ते। आरोपितत्वेन चैतेषामनुगमः। यथा 'अब्राह्मणः' इत्यादि नञ्समासे, आरोपितत्वं नञर्थः। आरोपितो ब्राह्मण इति बोधः। आरोपितब्राह्मणत्ववानिति तदर्थः। एवम् 'असर्वः' इत्यत्रापि, आरोपितः सर्व इति बोधः। आरोपितसर्वत्ववानिति तदर्थः। अत एवास्य तत्पुरुषस्योत्तरपदार्थप्राधान्यं निर्बाधम्, तत्रारोपमात्रं नञर्थे, विषयत्वं संसर्गः। तदेतदुक्तं "सर्वादीनि सर्वनामानि"—(पा. सू. १।१।२७) इति पाणिनिसूत्रे शब्दकौस्तुभे भट्टोजी-दीक्षितैः। "नञ्समासे उत्तरपदार्थप्राधान्यमेव। नञ्सूत्रे भाष्यकारेण तथैव सिद्धान्ति-

प्रश्न—अर्थविशेष के प्रतिपादन में समर्थ रहते हुए भी उसे (शब्द को) 'असमर्थ' कहना तो विरुद्ध है, क्योंकि जो समर्थ है, उसमें सामर्थ्य रहता है, उसमें 'असामर्थ्य' नहीं होता।

उत्तर—समर्थ शब्द में असामर्थ्य देखकर 'विरोध' नहीं समझना चाहिए। यहाँ पर 'सामर्थ्य' का जीवित 'उपसन्दान' है। 'उपसंदान' का अर्थ है—'संडसी'। जैसे संडसी (चीमटे) में फँसा हुआ साँप, घातक नहीं होता, उसी तरह पदादि पदों के अथवा 'मार्ग' आदि अर्थों के द्वारा जकड़ा हुआ जो 'हन' धातु है, वह, 'गति' रूप, 'विशिष्ट अर्थ' को बताने में असमर्थ नहीं है, अपितु समर्थ ही है। वह 'गति' अर्थ, उपसन्दानोपजीवी है, अर्थात् अन्य उपपदों के योग में ही वह 'गति' रूप अर्थ को बताने में समर्थ हो पाता है। अर्थात् उपपदों के सहकार (उपसन्दान) से ही 'हन्' धातु, 'गति' अर्थ का बोधक होता है। परन्तु 'हन्ति सम्प्रति सादरम' में उपपद के बिना केवल 'हन्' धातु का कवि ने प्रयोग किया है। इसलिए वह 'गति' (गमन) अर्थ के प्रतिपादन में असमर्थ है। [1]पद्धति, [2]जघन, [3]जङ्घा आदि शब्दों का घटक 'हन्' धातु, पदादिपदोपसन्दान अथवा मार्गाद्यर्थोपसन्दान केद्वारा सन्दानित होने से 'गति' अर्थ को बताने में समर्थ हो पाया है, यदि वह सन्दानितनर हता यानी अविशिष्ट होता तो गति' अर्थ को न बता पाता।

तत्वात्। आरोपितत्वं नञर्थः। तथा च मायामनुष्य-मायामृग-व्याजनिशाकर-कपटब्राह्मणादि शब्देभ्य इवारोपितो मिथ्याभूतोऽयं ब्राह्मण इत्येवं शाब्दबोधपर्यवसाने ब्राह्मणभिन्न इत्यादिक-मार्थिकार्थविवरणं, न तु शाब्दोऽयमर्थः" इति। असमस्तनञोऽत्यन्ताभावोऽर्थः। तस्य क्रियायामेवान्वयः। 'न त्वं पचसि' इत्यादौ त्वदभिन्नाश्रयक-पाकानुकूलव्यापाराभाव इति बोधः। 'घटो नास्ति' इत्यादौ घटाभिन्नाश्रयकास्तित्वाभाव इति बोधः। क्वचित्तु 'असूर्यंम्पश्या राजदाराः' इत्यादौ समस्तनञोऽपि अत्यन्ताभावोऽर्थः। नैयायिकास्तु सर्वत्र अत्यन्ताभाव एव नञ् वाच्यः। 'भूतले घटो नास्ति' इत्यादौ भूतले घटप्रतियोगिकाभावो 'घटे' भूतलनिरूपितसप्तम्यर्थवृत्तित्वाभावो वा भासते।

घटाभावो भूतलवृत्तिरिति। भूतलवृत्तित्वाभाववान् घट इति वा अभेदस्य प्रकारतामते 'नीलो न घटः' इत्यादौ स्वरूपसम्बन्धेन नीलभेदाभाववान् घट इति बोधः। संसर्गतामते अभेदसम्बन्धेन नीलाभाववान् घट इति। 'अनीलं घटमानय' इत्यादौ घटपदसामानाधि-करण्यानुरोधेन नञो भेदवति लक्षणेति वदन्ति।

१. पादाभ्यां हन्यते गम्यते, इति पद्धतिर्मार्गः। 'हन्' धातोः क्तिन् प्रत्ययः। 'हिमकाषि-हतिषु च'—(६।३।५४) इति सूत्रेण पादस्य पद्भावः।

२. वक्रं हन्ति गच्छतीति जघनम्। यङ्लुगन्तात् पचाद्यच्। 'आगमशास्त्रमनित्यम्' इति नुक् न।

३. जङ्घन्यते कुटिलं गच्छतीति जङ्घा। हन्तेर्यङ्लुगन्तात् 'अन्येभ्योऽपि' इति 'डः'।

(५) निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम् । यथा—

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ॥ १४५ ।

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते

प्रश्न—धातुपाठ में 'हन् हिंसागत्योः' ऐसा पाठ क्यों किया गया ?

उत्तर—'गमन' के अर्थ में 'हन्' धातु का पाठ, धातुपाठ में यद्यपि किया गया है, तथापि 'हन्' धातु, 'गति' रूप अर्थ का प्रत्यायन (बोधन) कराने में स्वरूपतः अयोग्य है । किन्तु 'प्रहत, उद्धत, जङ्घा' आदि शब्दों में उपसन्दान से सन्दानित हो जाने से 'गति' अर्थ का प्रत्यायक हो सकने के लिए ही धातुपाठ में 'हन् हिंसागत्योः'—यह पाठ किया गया है । अतः धातुपाठ में उसका पाठ करना व्यर्थ नहीं है ।

इसी तरह 'इङ् अध्ययने' धातुपाठ में पठित रहने पर भी 'अधि' उपसर्ग के बिना वह 'इङ्' धातु, 'अध्ययन' रूप अर्थ को बताने में असमर्थ ही रहता है । स्वरूपतः अयोग्य रहने से उसके अर्थ की उपस्थिति न हो पाना ही दूषकता में कारण (बीज) है । अतः यह नित्य दोष है । 'हन्ति' पद का एकदेशभूत रहने पर भी वह 'हन्' धातु, प्रकृतिगत होने से उसकी 'पददोषता' समझनी चाहिये ।

(५) 'निहतार्थम्'—यह पञ्चम पददोष है । उसी की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं—'निहतार्थमिति । निहतार्थ वह पद होता है, जो उभयार्थक होता है, अर्थात् प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दोनों अर्थों का बोधक है, परन्तु अप्रसिद्ध अर्थ को कहने के लिए उसका प्रयोग किया गया है । उस स्थिति में उस पद का 'विवक्षित अप्रसिद्ध अर्थ; 'प्रसिद्ध अर्थ' से निहत (व्यवहित) हो जाता है । इस प्रकार के 'निहतार्थ पद' का प्रयोग, किसी 'गूढ़ अर्थ' को बताने के लिए कवि लोग किया करते हैं ।

प्रश्न—क्या ऐसे स्थलों में 'अप्रयुक्तत्व' और 'निहतार्थत्व' दोषों का परस्पर साङ्कर्य नहीं होता है ?

उत्तर—दोनों परस्पर पृथक्-पृथक् ही हैं, उनका परस्पर सांकर्य नहीं है । जैसे—

यावकेति । किसी रूठी हुई नायिका ने महावर के रस में सने हुए अपने गीले चरणों के प्रहार से नायक के मस्तक पर प्रहार कर दिया, उस कारण नायक के सिर के बाल (केश) शोणित (लाल) हो गये । उनको शोणित (लाल) हुआ देखकर नायिका को लगा कि मेरे द्वारा किये गये पादप्रहार से इसके रक्त (खून) निकल आया है, और वह भोली नायिका भय से विह्वल हो गई । तब नायक ने उसको भयविह्वल हुई देखकर तत्काल (झट-पट) उसका चुम्बन कर लिया ॥ १४५ ॥

(६) अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्त्रिभिरिष्यते च या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥१४६॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम्।

अत्रेति—यहाँ 'शोणित' शब्द के रुधिर (रक्त-खून) रूप अधिक प्रसिद्ध अर्थ से कम प्रसिद्ध उज्ज्वलत्व (चमकना) रूप अर्थ, अभिभूत हो जाता है, यानी दब जाता है। अभिप्राय यह है कि महावर के रस-सम्पर्क से लाल हुए बालों का चमकना रूप जो अर्थ है, उसमें 'शोणित' शब्द अप्रसिद्ध है। यहाँ 'शोणित' शब्द का 'उज्ज्वलीकृतत्व' रूप अप्रसिद्ध अर्थ, 'रुधिर' रूप प्रसिद्ध अर्थ से व्यवहित हो गया है।

विशेष विवरण—'निहतार्थम्'—निहतः प्रसिद्धेन अविवक्षितेन अर्थेन अप्रसिद्धतया व्यवहितो विवक्षितः अर्थो यस्य तत्। 'अविवक्षित-प्रसिद्धार्थ-प्रत्यय-व्यवधानेन विवक्षिताऽ-प्रसिद्धार्थबोधकत्वं निहतार्थम्'। 'अविवक्षित' कहने से अप्रसिद्ध व्यञ्जकनानार्थ में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। तृतीयान्त पद से सूचित होता है कि सामग्रीसादृगुण्य से पूर्व अप्रसिद्धार्थ की प्रतिपत्ति यदि होती है तो यह दोष नहीं हो पाता। भूरि (अधिक) प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले पटुतर संस्कारों का विषय होना 'प्रसिद्धि' शब्द से कहलाता है। 'प्रसिद्धिश्च भूरि प्रयोगाहित-पटुतर-संस्कार-विषयत्वम्'। एवं च प्रसिद्ध अर्थ की उपस्थिति द्रुत (शीघ्र) हो जाने से इतर अप्रसिद्ध अर्थ का तिरोधान हो जाता है। एवं च यौगिक व्युत्पत्ति (योगमात्र का आश्रय करके) से 'कुमुद' आदि अर्थ में 'पङ्कज' शब्द का प्रयोग कर देने से भी यही दोष होता है। क्योंकि रूढ्यर्थ की उपस्थिति द्रुत (शीघ्र) हो जाती है। लक्षणा से प्रयुक्त करने पर प्रयोजन के अभाव में 'नेयार्थत्व' दोष होगा। किन्तु प्रयोजन के रहने पर दोष नहीं होगा। क्वचित् अर्थात् श्लेष, यमक आदि से इतर स्थलों में गूढ अर्थ को बताने के लिए ऐसे पद का प्रयोग करने से 'अप्रयुक्त' के साथ उसका संकर नहीं समझना चाहिए, ऐसा प्रदीपकार और उद्योतकार का कहना है।

'परिचुम्बिता सहसा'—यहाँ 'सहसा' कहने का प्रयोजन यह है कि यदि विलम्ब हो जायगा तो नायिका का भ्रमोच्छेद होने का संभव है। 'सहसा' का अर्थ है कि अप्रसाद्यैव (बिना अनुनयविनय के ही)। उक्त उदाहरण में 'आर्या' छन्द का प्रयोग किया गया है।

(६) 'अनुचितार्थम्'—यह षष्ठ (छठा) पददोष है। उसी की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं—

अनुचितार्थमिति। 'अनुचितार्थं' वह पद दोष है, जिसका अर्थ अनुचित अर्थात् 'विवक्षित अर्थ' का तिरस्कारक होता है। 'अनुचितो विवक्षितार्थतिरस्कारकधर्मव्यञ्ज-कोऽर्थो यस्य तत्'। अत एव सारबोधिनीकार वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने 'अनुचितार्थत्व' का यह लक्षण किया है—'उपश्लोक्यमानतिरस्कारव्यञ्जकार्थत्वम्'।

यथेति। जैसे—

तपस्विभिरिति। तपस्वीलोग दीर्घकाल तक तपस्या करके जिसे प्राप्त करते हैं, और याज्ञिक (यज्ञ करने वाले) लोग जिसे प्राप्त करने के लिए बड़ा प्रयत्न करते हैं, उस गति (मुक्ति) को रण (संग्राम) रूपी अश्वमेध यज्ञ में पशु के समान मारे गये अत एव संसार में यश का अर्जन करने वाले वीर तत्काल ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ १४६ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'पशु' पद, मारेजानेवाले व्यक्ति की 'कातरता' (भयत्रस्तता) को अभिव्यक्त कर रहा है। अतः 'वीरता' का वर्णन करने में उसका प्रयोग करना अनुचितार्थक' हो रहा है।

विशेष विवरण—'सुचिरेण' कहने से यह प्रतीत होता है कि ज्ञानकाण्ड के अनुयायी तपस्वियों को भी जो गति (मुक्ति) क्लेश से लभ्य होती है अर्थात् अनेक जन्म-जन्मान्तर के प्रयत्न से, बहुत देर में प्राप्त होती है। और 'यदित्रभिः' कहकर यह सूचित किया है कि कर्मकाण्ड के अनुयायी याज्ञिक लोग 'प्रयत्न' से (कर्मानुष्ठान से) जिस गति (मुक्ति) को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, अर्थात् कर्म का फल, कालान्तरभावी होने से, उसी समय अर्थात् तत्काल वह फल (गति-मुक्ति) उन्हें भी प्राप्त नहीं होता है। किन्तु रणभूमि में अपने प्राणों की आहुति देने वाले शूर-वीरों को वह गति (मुक्ति) तत्काल प्राप्त होती है। इस रहस्य को महाभारत के उद्योगपर्व में विदुरनीति के तेतीसवें (३३) अध्याय में बताया है—

> "द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
> परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥"

उक्त उदाहरण में 'शौर्य' का प्रतिपादन करना कवि को विविक्षित है, किन्तु 'पशुतामुपागताः' कह दिया है, जिससे 'यशस्वी वीरों' की 'कातरता' अभिव्यक्त होती है। अर्थात् यशस्वी शूर-वीरों में भी बलिदान के पशु के तुल्य कातरता का अभिप्राय प्रकट होता है, जो वस्तुतः अपेक्षित नहीं है, अतः 'पशु' पद का उपन्यास करना यहाँ 'अनुचित' है। यहाँ प्रतिपाद्य तो 'शौर्य' है, किन्तु 'पशु' पद के प्रयोग से 'प्रकृष्टकार्याक्षमत्व' की प्रतीति होती है। वह प्रकृष्टकार्य करने की अक्षमता ही 'कातरता' है। इस कारण विवक्षित 'शौर्य' रूप अर्थ के अपकर्षक अर्थ (कातरता) की उपस्थिति होना ही दूषकता में बीज (कारण) है। यह 'अनुचितार्थ' दोष, 'नित्यदोष' है। इसी अभिप्राय को प्रदीपकार ने इस प्रकार कहा है—"अत्र शौर्ये प्रतिपाद्ये पदान्तराऽनपेक्षमेव पशुपदं कातरतामभिव्यनक्ति पशुपदार्थे कातरताया दर्शनात्।.........दूषकताबीजं च विवक्षित-तिरस्कारकार्योपस्थितिः। अतोऽस्य नित्यदोषत्वम्" इत्याहुः।

यहाँ पर 'पशु' पद, किसी अन्य पद की सहायता के विना ही अनौचित्य को व्यक्त कर रहा है। अतः 'विरुद्धमतिकृत्' से इसका भेद है। क्योंकि 'विरुद्धमतिकृत्', पदान्तर-

(७) निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम् । यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि ! ।
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥ १४७ ॥

अत्र हिशब्दः,

सापेक्ष होकर ही 'अनौचित्य' को अभिव्यक्त करता है । उक्त उदाहरण में 'वंशस्थ' वृत्त का उपयोग किया गया है।

(७) 'निरर्थकम्'—यह सप्तम (सातवाँ) पददोष है । उसी की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं–निरर्थकमिति । जिस (च, वा, हि आदि और बहुवचनान्त पद) का प्रयोग केवल पादपूर्ति के लिए ही किया जाता है । वृत्त (छन्द) का यथाकथञ्चित् निर्वाह जिससे किया जाता है, उसे 'निरर्थक' (अविवक्षितार्थक) कहते हैं । वृत्त की न्यूनता का परिहारमात्र करना ही उसका प्रयोजन होता है ।

यथेति । जैसे—

उत्फुल्लमिति । खिले हुए कमलपुष्प–केसर के चूर्ण (पराग) के समान गौर (श्वेत) कान्तिवाली हे भगवती पार्वती ! आपके प्रसाद से मेरा अभीष्ट अर्थ (मनोरथ) सिद्ध हो जाय अर्थात् पूर्ण हो जाय ॥ १४७ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'हि' पद 'निरर्थक' है । क्योंकि प्रकृत प्रसंग में इसका अर्थ, कुछ भी विवक्षित नहीं है । केवल पादपूर्ति के लिए उसका प्रयोग किया गया है । अतः कविप्रयुक्त 'हि' पद निरर्थकदोष से दूषित हो गया है ॥

विशेष विवरण—'निरर्थक' दोष के उदाहरण (१४७) में 'हि' पद, 'निरर्थक' है, क्योंकि प्रकृत प्रसंग में उसका कोई भी अर्थ, अभिप्रेत नहीं है । यहाँ 'हि' पद का सन्निवेश तो वृत्त की न्यूनता का परिहार करना ही प्रयोजन है । इसी कारण वाक्य के अलंकारस्वरूप एवं 'यमक' आदि के निर्वाहक (संपादक) 'खलु, किल', आदि पदों को 'दूषित' नहीं कहा जाता ।

निरर्थक पद को 'पादपूरकमात्र' कहा गया है । क्योंकि 'च ह वै पादपूरणे' इत्यादि वचन से उनका प्रयोजन पादपूर्ति करना बताया गया है । 'मात्र' कहकर यह सूचित किया है कि जहाँ 'च' आदि पद 'समुच्चयार्थक' हों, वहाँ उन्हें 'निरर्थक' नहीं कहा जाता । जैसे–'कला च सा कान्तिमती' इस (२५२ वें) उदाहरण में 'च' पद, 'निरर्थक' नहीं है । अतएव 'अधिकपद' के साथ इसका 'संकर' भी नहीं है, क्योंकि उसका (अधिक पद का) अर्थ अविवक्षित रहने पर भी निष्प्रयोजन होता है । वृत्तिकार के 'चादिपदम्' कहने का अभिप्राय 'निपातरूप च' आदि पद और 'बहुवचन' आदि से है । 'पदैकदेशदोष' के निरूपण करते समय 'बहुवचन' को निरर्थकता का उदाहरण (२०० श्लो. सं.)

ग्रन्थकार ने प्रदर्शित किया है। वहाँ पर 'दृशाम्'—यह बहुवचन 'निरर्थक' हो रहा है, अतः उसे केवल पादपूरण के लिए ही समझना होगा।

शंका—'षष्ठी शेषे'–(पा. सू. २।३।५०) इस पाणिनि सूत्र से 'सम्बन्ध' के अर्थ में 'षष्ठी' का विधान किया गया है, अतः 'बहुवचन' को पादपूरणमात्र के लिए समझना उचित नहीं होगा। वह (बहुवचन), सम्बन्धार्थक भी है।

समाधान—सम्बन्ध की प्रतीति 'दृशोः'–इस 'द्विवचन' से भी हो सकती है, उसके लिए 'बहुवचन' की ही आवश्यकता नहीं है। यह बात 'प्रदीप' और 'उद्योत' में भी स्पष्ट कही गई है।

ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित किया गया 'निरर्थक' दोष का उदाहरण (उत्फुल्ल-कमल० १४७), हर्षदेवकृत 'नागानन्दनाटक' के प्रथम अंक का है। इसमें 'मलयवती' नाम की नायिका, गौरीस्तुतिरूप गान कर रही है।

उक्त उदाहरण में 'भगवति'–इस सम्बोधनपद का प्रयोग किया गया है। हे भगवति! अर्थात् हे सकलैश्वर्यसम्पन्ने! 'भगः अस्या अस्ति सा भगवती, तत्सम्बुद्धौ हे भगवति! 'भग' शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया है—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥"

उक्त उदाहरण में 'आर्या' वृत्त (छन्द) का उपयोग किया गया है।

'निरर्थक' दोष में दूषकता का बीज यदि यह कहें कि 'निरर्थक' पद से 'अर्थ' की उपस्थिति नहीं होती तो यह कहना ठीक न होगा, क्योंकि वाक्यघटक अन्य पदों से ही अपेक्षित सम्पूर्ण अर्थ की उपस्थिति हो जाती है। उस कारण प्रयुक्त निरर्थक पद से किसी अर्थ की उपस्थिति की आवश्यकता ही नहीं है।

यह परिस्थिति 'अवाचकपद' में नहीं है। क्योंकि वहाँ वाक्यघटक अन्यपदों से उस पद के प्रतिपाद्य अर्थ का उपस्थापन नहीं होता है। यह भी नहीं है कि वह 'निरर्थकपद', प्रतिकूलवर्ण की तरह 'रस' का विरोधी बनता हो। यदि इन निरर्थक 'च, वा, ह, हि' आदि पदों को 'रस' का विरोधी मानेंगे तो, जहाँ वे सार्थक हैं वहाँ भी उनको रसविरोधी कहना पड़ेगा। क्योंकि उनका यथावत् स्वरूप वहाँ भी वही है। अतः निरर्थकपद को दूषक कहने में कारण यही कहना होगा कि निरर्थकपदघटित वाक्य के श्रवण करते समय सहृदयों को विमुख हो जाना पड़ता है। उनका वैमुख्य ही उसकी दूषकता में बीज है।

अथवा प्रकारान्तर से यह भी कह सकते हैं कि कवि ने निरर्थकपद का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है? उसके अनुसन्धान में सहृदयों को व्यग्र हो जाना पड़ता है। उनकी व्यग्रता ही उसके दोष कहलाने में बीज है। 'प्रसिध्यतु' में 'प्र' और 'विनश्यतु' में 'वि' निरर्थक पद हैं।

(८) अवाचकं यथा—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्दन न विद्विषादरः ॥१४८॥

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितन्तत्र च नाभिधायकम् ।

यथा वा—

हा धिक् सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम् ।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥१४९॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थेऽवाचकम् ।

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम् । यथा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥ १५० ॥

अत्र ददिदित्यर्थे विदधदिति ।

शंका—'हि' पद जहाँ रहता है, वहाँ वह अकेला नहीं रहता । वह जहाँ भी रहता है, वहाँ वह नियमतः 'अन्य पद' की अपेक्षा रखता है । अतः अनेक पदों के होने से 'वाक्य' बन जाता है । उस स्थिति में 'हि' को 'पददोष' कैसे कहा जायगा ?

समाधान—ऐसे स्थलों में 'हि' पद ही केवल निरर्थक होता है । अपेक्षित 'अन्यपद' निरर्थक नहीं होते हैं । अतः 'हि' को पददोष ही कहना होगा ।

(८)'अवाचकम्'—यह अष्टम (आठवाँ) पद दोष है । उसी की व्याख्या करने के लिए ग्रन्थकार कह रहे हैं—अवाचकमिति । जो पद, जिस धर्म से विशिष्ट 'धर्मी' को बताना चाहता है, किन्तु उस धर्म से विशिष्ट विवक्षित धर्मी का किसी भी स्थल में वह 'वाचक' नहीं होता है, उसे 'अवाचक' कहते हैं । अतएव 'असमर्थ' से यह भिन्न समझा जाता है । क्योंकि 'अवाचक पद' की तो किसी अर्थ में 'शक्ति' मानी जाती है ।

'अवाचक'—इस पद दोष का उदाहरण बता रहे हैं ।

यथेति । जैसे—

अवन्ध्यकोपस्येति । किरातार्जुनीय महाकाव्य के प्रथम सर्ग में धर्मराज युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरित करती हुई द्रौपदी, उनसे कह रही है—जिस व्यक्ति का क्रोध सर्वदा सफल रहता है, अर्थात् व्यर्थ नहीं जाता है, और जो दूसरों की विपत्तियों को नष्ट कर सकता है, उसके अधीन 'मनुष्य' स्वयं ही हो जाते हैं । अर्थात सभी लोग, शूर-वीर

पुरुष के वशंगत (अधीन) अनायास ही हो जाते हैं। किन्तु आपके समान जिसको कभी क्रोध आता ही नहीं, ऐसे क्रोधशून्य तुच्छ व्यक्ति 'मित्र' को बनाने से न कोई उसका आदर ही करता है, और उसके शत्रु होने से न कोई उसका भय ही मानता है ॥ १४८ ॥

(१) अत्रेति। यहाँ पर 'जन्तु' पद 'अदाता' अर्थ में कवि को विवक्षित है, किन्तु उस अर्थ का वह वाचक—(अभिधायक) नहीं है। यह उदाहरण 'अपेक्षितयोग' (अपेक्षित अवयवशक्ति) वाले अवाचक पद का दिया गया है।

यथावेति। अब अनपेक्षितयोग (अनपेक्षित अवयवशक्ति) वाले अवाचक पद का उदाहरण दे रहे हैं—

हा धिगिति। विक्रमोर्वशीय नाटक का यह पद्य है। स्वप्न में उर्वशी को देखनेवाले पुरूरवा की यह उक्ति है—

'हा धिक्' कितने दुःख की बात है कि 'यत्र' जहाँ अर्थात् जब मैंने उस शशिमुखी (चन्द्रमुखी) उर्वशी को देखा था, वह तामसी अर्थात् अँधेरी रात थी। तात्पर्य यह है कि उस अँधेरी रात में भी चन्द्रमुखी का दर्शन होना, स्वयं एक आश्चर्य है। उससे भी अधिक आश्चर्य यह है कि उसके वियोग दुःख ने तो इस अभागे दिन को भी अन्धकारमय बना दिया है। पुरूरवा अपने मन में सोचता है कि हम तो यह चाहते हैं कि इस वियोगमय दिन के स्थान पर हमारे लिए वही अँधेरी रात सदा-सर्वदा बनी रहे, किन्तु क्या किया जाय, अभीष्ट कार्य में विधाता हमेशा प्रतिकूल रहता है, नहीं तो (अन्यथा) मेरे लिए यह जीवन, वैसा ही अँधेरी रात्रिमय (यामवतीमय) क्यों नहीं हो जाता है? जिससे मैं सदैव उस चन्द्रमुखी को देख पाऊँ। सचमुच विधाता विधुर है, अर्थात् दाम्पत्यजीवन की धुरीस्वरूप धर्मपत्नी से रहित है। यदि ऐसा न होता तो यह जीवलोक अर्थात् जीवन का सम्पूर्ण काल मेरे लिए इस समय उस चन्द्रमुखी का दर्शनकारी दीर्घ प्रहारों वाली जैसी रात्रि क्यों नहीं बन जाती?

(२) अत्रेति। इस उदाहरण में 'दिन' पद, 'प्रकाशमय' अर्थ का अवाचक (वाचक नहीं) है। कवि को यहाँ पर 'प्रकाशमय' अर्थ में उसकी (दिन की) विवक्षा है। अतः 'तामसी' पद से 'तमोमयत्व' के विपरीत 'प्रकाशमयत्व' को कहने के लिए 'दिन' पद का उपादान करना पड़ा है। किन्तु 'दिन' पद, 'रूढि' के अनुसार 'रविसंयुक्त काल' का 'दिनत्वेन' रूपेण वाचक होता है, अर्थात् रविसन्निहितकालावच्छिन्नस्वरूप दिनत्व के द्वारा 'दिनरूप धर्मी' में शक्त है, 'प्रकाशमयत्व' धर्म में शक्त नहीं है। अतः वह, उसका (प्रकाशमयत्व का) वाचक नहीं है। यह अभिप्राय 'प्रदीप' और 'उद्योत' में स्पष्टतया प्रतिपादित किया गया है।

(३) यच्चेति। जो 'उपसर्ग' के संसर्ग (सम्बन्ध) से अन्य अर्थ को बताता है, उसे भी 'अवाचक' पद, कहते हैं।

यथेति। जैसे—

जङ्घाकाण्डेति। अपने स्वामी शिवजी के नृत्त का अनुकरण करते समय भगवती पार्वतीजी का प्रथमवार ऊपर उठा हुआ कोमल चरण (दण्डपाद), अन्य सब दण्डपादों से अधिक उत्कृष्ट है, जो अपने (पार्वती के) शरीर के लावण्यरूपी वापी (सरोवर) से उत्पन्न कमल की शोभा को धारण कर रहा है, भगवती पार्वतीजो की 'जंघा' ही जिसमें महान् (लम्बा) नाल (मृणाल) लगा हुआ है, जो दण्डपाद रूपी कमल, नख किरणरूप केसर की पङ्क्ति से नतोन्नत (कराल) है, तथा जिस कमल में ताजी लगायी हुई महावर की कान्ति का विस्तार ही किसलय की शोभा दे रहा है, और सुन्दर नूपुर ही जिस पर भृङ्ग (भ्रमर) से प्रतीत हो रहे हैं ।। १५० ।।

अत्रेति। यहाँ पर 'विदधत्' पद 'धारण करने' के अर्थ का 'अवाचक' है। क्योंकि 'धारण करने' के अर्थ में प्रयुक्त 'विदधत्' पद, 'वि' उपसर्ग के संसर्ग से 'करने' के अर्थ में नियन्त्रित किया गया है, इसलिए वह 'धारण' या 'धारणत्व' अर्थ का 'अवाचक' है, 'असमर्थ' नहीं है।

विशेष विवरण—उक्त उदाहरण में कवि ने भगवती पार्वती के द्वारा अपने पति शिवजी के 'नृत्त' का अनुकरण करना बताया है। 'नृत्य' और 'नृत्त' में अन्तर है। संगीत-कल्पतरु में 'पदार्थाभिनयो नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रितम्' कहकर 'नृत्य' और 'नृत्त' के स्वरूप को बताया है। कवि ने भगवती भवानी के द्वारा नृत्तानुकरण करते समय उसके 'दण्डपाद' की उत्कृष्टता को बताया है। 'दण्डपाद' का अर्थ 'चरण' है। 'प्रसह्योर्ध्वीकृतः-पादो दण्डपादोऽभिधीयते'—संगीतरत्नाकरकार ने 'दण्डपाद' का यह लक्षण बताया है। श्रीकण्ठचरित के व्याख्याकार जोनराज ने भी 'स दण्डपादो भवदण्डपादमुत्खण्डयन् रक्षतु चण्डिकायाः' की व्याख्या करते हुए 'नाट्यारम्भे ऊर्ध्वोत्क्षिप्तः पादो दण्डपादः' कहकर ऊपर उठाये हुए चरण को 'दण्डपाद' शब्द से बताया है। उक्त उदाहरण में उपमान धर्मरूप अम्भोजशोभा का 'दण्डपाद' में 'आरोप किया गया है, अतः 'निदर्शना-लङ्कार' है। उक्त उदाहरण में 'स्रग्धरा' छन्द है। वृत्ति में 'अत्र दधदित्यर्थे विदधदिति'—कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि 'डुधाञ् धारण-पोषणयोः'—अर्थात् 'धा' धातु, यद्यपि 'धारण' अर्थ में शक्त है, तथापि 'वि' उपसर्ग के जुड़जाने से 'विधान' यानी 'करना' अर्थ में ही उसकी शक्ति को नियमित कर दिया गया है, अतः 'विदधाति' पद 'धारण' अर्थ का 'अवाचक' हो गया है। उसे 'धारण' अर्थ में असमर्थ' नहीं समझना चाहिए। अतएव 'धारण' को यहाँ 'व्यङ्ग्य' बताना उचित नहीं है। जो पद, अन्वयी (अन्वय के उपयोगी) अर्थान्तर का प्रतिपादन करता है, वही व्यञ्जक होता है, और अन्वय के उपयोगी अर्थ का प्रतिपादन जो पद नहीं करता, वह 'लक्षक' होता है। 'प्र' आदि उपसर्ग के संसर्ग से 'अवाचक' पद, 'अर्थान्तरगत' (अर्थान्तरवाचक) और 'अन्यथा' भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से 'अर्थान्तरगत' पद का उदाहरण बता दिया गया।

(९) 'अश्लीलं' त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वाद् यथा—

(व्रीडा-व्यञ्जकता)

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥ १५१ ॥ (१)

(जुगुप्सा-व्यञ्जकता)

लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः।
मुग्धाकुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता तत्र सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततयाऽथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥ १५२ ॥ (२)

(अमङ्गल-व्यञ्जकता)

मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥ १५३ ॥ (३)

एषु साधन–वायु–विनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः।

'अन्यथा' का उदाहरण 'वाक्य' में ही उपलब्ध होता है। जैसे—

'प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम्।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम्' ॥ १७४ ॥

इसे आगे बताया जायगा। यहाँ 'अवाचकता' दोष, वाक्य-निष्ठ है। एवं च उदाहरण गत 'विदधत्' पद, न लक्षक है और न व्यञ्जक ही है, अपितु वह 'अवाचक' ही है।

सर्वथा निर्दोष काव्यप्रकाश पर जो किसी ने आरोप लगाया है—'असमर्थे धर्मधर्मिणोर्द्वयोरपि शक्तिविरहः, अवाचके तु धर्ममात्रे सः, 'विदधत्' इत्युदाहरणं तु अवाचकप्रकरणमध्येऽसमर्थस्यैव'—वह, वाक्य की अवाचकता के उदाहरण को न देखने के कारण है, और सन्दर्भ के भी विरुद्ध है, अतः सर्वथा उपेक्षणीय ही उसे समझना चाहिए।

'अवाचक' को दोष कहने में 'विवक्षित अर्थ की अनुपस्थिति' ही बीज है। इसे 'नित्यदोष' कहा गया है।

(९) 'अश्लीलम्'—यह नवम (नवाँ) पददोष है।

सूत्र (७२) में प्रयुक्त 'त्रिधाऽश्लीलम्' के 'त्रिधा' शब्द का अर्थ बता रहे हैं—त्रिधेतीति। 'त्रिधा' शब्द का अर्थ है 'तीन प्रकार'। उसके 'प्रकार' तीन हैं, किन्तु 'अश्लील' संज्ञक वस्तु, एक ही है। 'अश्लील' शब्द की निष्पत्ति, इस प्रकार होती है—"सभ्यवशीकरणसंपत्तिः रूपा श्रीः तां लाति गृह्णातीति रश्रुतेर्लश्रुतिरिति न श्लीलमश्लीलम-

शोभनमित्यर्थः' 'जहाँ सभ्यवशीकरणसम्पत्तिरूपा 'श्री' (शोभा) नहीं है, वह 'अश्रीः', कहलाता है। तदनन्तर उससे 'सिध्मादित्वात् लच्' प्रत्यय किया गया है। और 'कपिलकादित्वात्' (वा० ८।२।१८) –'र' स्य 'लः' कपिलकादि होने से 'र' को 'ल' हो गया है, तब 'न श्लीलम् अश्लीलम्' अशोभनमित्यर्थः। एवं 'अश्लील' का अर्थ 'शोभारहित' है। 'लक्ष्मीवान् लक्ष्मणः श्लीलः श्रीमान्' इत्यमरः।

शङ्का—यदि 'अश्लील' का अर्थ, शोभारहित है, तो 'ग्राम्य' पद को भी 'अश्लील' कहना पड़ेगा। क्योंकि 'ग्राम्य' पद भी स्वतः शोभारहित रहता है।

समाधान –'ग्राम्य' पद, व्रीडाजनक न होने से उसको 'अश्लील' नहीं कह सकते। 'शोभारहित अर्थ' के व्यञ्जक पद को 'अश्लील' कहते हैं। 'व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल'—इनको 'शोभारहित अर्थ' कहा जाता है। यहाँ 'अमङ्गल' का अर्थ, 'मङ्गलविरोधी' है। जैसे—'असुराः' का अर्थ सुरविरोधी होता है, क्योंकि यहाँ विरोधार्थक 'नञ्' है। 'नञ्' के छह अर्थ होते हैं—

"तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

'व्रीडा' शब्द, लक्षणा से 'तद्धेतुपरक' है। अन्य उदाहरणों में 'व्रीडादिव्यञ्जकत्व' का असम्भव रहने से 'व्यञ्जकत्वात्' का अर्थ 'बोधकत्वात्' समझना चाहिए। अन्यथा—

"पर्दते हदते स्तन्यं वमत्येष स्तनन्धयः।
जृम्भते मुहुरासीना प्राप्तगर्भा पुनर्वधूः॥"

यहाँ अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि 'जुगुप्सा' के हेतु का अभिधान होने से व्यञ्जकता नहीं है, ऐसा सारबोधिनीकार का कहना है।

व्रीडा-जुगुप्सा-अमङ्गलात्मक शोभारहित अर्थ का व्यञ्जक होने से ही 'अश्लील' पद, अनेकार्थक है। क्योंकि इन तीनों में से अनतिप्रसक्त एवं अनुगत रहने वाला कोई एक रूप नहीं है। उन तीनों में से प्रत्येक के तीन प्रकार होते हैं। (१) कहीं पर 'विवक्षित अर्थ' ही 'व्रीडा आदि' का व्यञ्जक हो जाता है। (२) कहीं पर 'अविवक्षित, किन्तु प्रकृतान्वयी अर्थ' ही, 'व्रीडा' आदि का व्यञ्जक बन जाता है। (३) कहीं पर जो 'विवक्षित भी नहीं है', 'निर्वाही भी नहीं है', किन्तु 'व्रीडा आदि' की स्मृति करा देता है। इन तीनों में से कहीं पर किसी के और कहीं पर किसी के कतिपय उदाहरण, ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किये हैं।

उक्त तीन प्रकारों में से 'व्रीडा' की व्यञ्जना करने में अर्थान्तर के बोधक अश्लील पद का उदाहरण—

साधनमिति। जिस बुद्धिमान् नीतिज्ञ राजा का 'साधन' (सेना–लिंग) इतना बड़ा है, वैसा किसी अन्य का नहीं दिखाई देता है, उस बुद्धिमान् (नीतिज्ञ राजा अथवा नायक) की (शत्रुपराभवविषयक तथा सुरतविषयक, शत्रुविषयक क्रोधावेश से

अथवा कामावेश से) वक्र हुई भ्रूकुटियों को (नायिकाविशेष के अतिरिक्त) अन्य कौन सहन कर सकता है ? ॥ १५१ ॥ (१) उद्योतकार का कहना है कि 'कोऽन्यः' के स्थान पर 'कान्या' पाठ होना चाहिए। 'काऽन्या' पाठ के अनुसार कौन-सी वह सेना है, जो सहन कर सकती है ? कौन वह अन्य नायिका है ? अर्थात् कोई नायिका विशेष ही होगी।

यहां सैन्यार्थक 'साधन' शब्द से 'पुरुष के लिङ्ग' की व्यंजना होना ही 'अर्थान्तर' है। यह अर्थान्तर, 'प्रकृत अर्थ' से भी सम्बन्ध रखता है। एवं च यहाँ पर सैन्यार्थक 'साधन' पद, 'पुंव्यञ्जकरूप अर्थान्तर' का उपस्थापक होने से 'व्रीडादायक' है, अतः अश्लील है। 'अश्लील अर्थ' की उपस्थिति होने से श्रोता विमुख हो जाता है। श्रोता का वैमुख्य ही इसकी दूषकता में हेतु है।

किन्तु जिन शिवलिङ्ग, सुभगा, भगिनी, ब्रह्माण्ड आदि शब्दों का विवक्षित अर्थ, प्रसिद्ध है वहाँ 'अश्लील अर्थ' की उपस्थिति नहीं होती। अर्थात् जिनका अर्थ, 'समुन्नीत', 'गुप्त' एवं 'लक्षित' रहता है, उनसे 'असभ्य अर्थ' की उपस्थिति नहीं होती, ये— 'समुन्नीत' 'गुप्त' एवं 'लक्षित' शब्द, पारिभाषिक हैं। 'समुन्नीत' वह है, जिसका प्रयोग, 'अविनीत व्यक्तियों' के द्वारा अनादिकाल से किया जाता है, और भगवान् आदि का सम्बन्ध भी जिनमें अवगत होता है। 'गुप्त' वह है, जिसका प्रयोग अनादिकाल से किया जाता है, और 'रूढ अर्थ' को छोड़कर 'अश्लील' अर्थ का जिसमें सम्बन्ध रहता है। 'लक्षित' वह है, जिसका एकदेश 'ग्राम्य अर्थ' का उपस्थापक रहता है। अतः उन शब्दों में दुष्टत्व नहीं होता।

'जुगुप्सा' की प्रतीति के समय 'अश्लील अर्थ' की स्मृति जो करा दे रहा है, उसका उदाहरण, जैसे—

लीलेति। किसी दूसरे की स्त्री ने अधरपान करते समय जिसके अधरोष्ठ को निःशंक होकर काट लिया है, ऐसा कोई नायक जब अपनी पत्नी के पास पहुँचा, तब हाथ में रखे हुए रक्तवर्ण के क्रीडाकमल से उसकी पत्नी ने अपने नायक को अच्छी तरह से मार लगाई, तब उस नायक ने कमल-पराग मानों आँखों में चला गया हो, ऐसा दिखाते हुए वह अपनी आंखों को बन्द किये खड़ा रहा। किन्तु पत्नी, भोली-भाली थी, उसने यह समझा कि मेरे कमल की पराग कदाचित् इसके आँख में चली गई हो। अतः उस भोली पत्नी ने उसकी धूर्तता को न समझकर वह अपने मुख को कमल-पुष्प की कली के समान गोल बनाकर उसकी आँख में फूँक मारने लगी, क्योंकि मुख को वायु (हवा) से नेत्र की पीडा शान्त हो जाती है। पत्नी की व्याकुलता और मेरी नेत्रपीडा के शान्त्यर्थ उसके द्वारा किये जाने वाले उपाय को देखकर नायक को पत्नी का क्रोध शान्त हो जाने का भ्रम हो जाने से अथवा अपनी स्वाभाविक धूर्तता की कला से क्षमाप्रार्थना के रूप में प्रणाम किये बिना ही अर्थात् बिना क्षमा प्रार्थना के ही वह नायक चिरकाल तक उसे चूमता रहा ॥ १५२ ॥

इस अमरुशतक के पद्य में 'इव श्यामील्य'—यहाँ 'इव' शब्द से 'नेत्रनिमीलन' कपटकृत है — यह ध्वनित किया गया है।

'निःशङ्कदष्टाधरः'—यहाँ 'निःशङ्क' शब्द से व्रण की 'अतिस्पष्टता' को सूचित किया गया है। अस्याः कोपः अपगतः' इति भ्रान्तिः, धूर्तता तु कोपानपगमेऽपि एनां चुम्बेयमिति'।

अमङ्गल अर्थ की प्रतीति के समय 'विवक्षित अर्थ' ही अश्लील होने का उदाहरण जैसे—

'मृदुपवनेति'। मेरी प्रिया 'उर्वशी' के न दिखाई पड़ने से (अदृश्य हो जाने से अर्थात् मेरी प्रिया से रहित हुए जगत् में उसके समान किसी के न रहने से) मन्द-मन्द बहने वाली 'वायु' से तितिर-बितिर बिखरनेवाला सघन-सुन्दर मयूरपिच्छ, आज शत्रु रहित (निःसपत्न) हो गया है अर्थात् 'उपमान' के बिना, तुलना करने के लिए कोई नहीं है। अन्यथा सर्वदा सुन्दर-सुन्दर, सुगन्धि-पुष्पों से अलंकृत रहनेवाले और रतिकाल के समय धमिल्ल के खुलजाने से लम्बायमान बिखरे हुए घने कृष्ण केशपाश वाली उर्वशी के कुसुमसनाथ केशपाश के रहते यह मयूर किसको प्रसन्न कर सकता था? अर्थात् कोई भी उसके (मयूर के) 'कलाप' से प्रसन्न नहीं होता (अथवा अपने पिच्छों पर अखर्व-गर्व करनेवाला यह बर्हीं (मयूर) उसके सामने पानी भरता)। 'कम्=उदकं हरेत्, यह भी अर्थ, मनोविनोदार्थ किया जा सकता है ॥ १५३ ॥

यह पद्य, 'विक्रमोर्वशीय नाटक' के चतुर्थ अंक का है। उर्वशी के विरह में छटपटाते हुए पुरूरवा की यह उक्ति है। मूल में 'रतिविलुलितबन्धे' और 'रतिविगलित-बन्धे'—दोनों प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। प्रथम पाठ में तो विस्तृत कलाप की समता उपलब्ध होती है और द्वितीय पाठ में जूड़े का विस्खलित होना अर्थात् शिथिल होना अवगत होता है। इसमें कलाप की अपेक्षा 'रामणीयकता' की अधिकता और 'व्यतिरेक' की प्रतीति होती है। 'कुसुमसनाथे' कहकर 'चन्द्रक' से साम्य बताया गया है। कहीं-कहीं 'बर्हीं' के स्थान पर 'बर्हः' पाठ भी उपलब्ध होता है, किन्तु उसे अपपाठ ही समझना चाहिए, क्योंकि वह "पिच्छबर्हे नपुंसके'—इस लिङ्गानुशासन के विरुद्ध है। और उस (बर्हः) का पाठ रखने पर पुनरुक्ति भी होगी। यदि कोई यह कहता है कि 'कलाप' शब्द की मयूरपिच्छ में शक्ति है, तब 'बर्हीं' पद, 'अपुष्ट' होगा तो उसका समाधान यह है कि "कलापो भूषणे बर्हे"—इस कोशवचन को देखकर उसे यहाँ पर भूषणवाचक कोई न समझ बैठे; इसलिए 'बर्हीं' कहना ही उचित है, ऐसा उद्योत और चन्द्रिकाकार का कहना है। इस पद्य में 'मालिनी' छन्द है।

कमलाकरभट्ट—का कहना है कि इस पद्य में 'विनाश' शब्द से मरणरूप अमङ्गलात्मक 'अश्लील' अर्थ की व्यञ्जना फूट पड़ती है। यहाँ पर विनाश शब्द का विवक्षित अर्थ ही 'अमंगल' है। इन तीनों अर्थों की संगति के लिए ग्रन्थकार ने भिन्न-भिन्न प्रकार के

(१०) सन्दिग्धं यथा—

आलिङ्गितस्तत्र भवान् सम्पराये जयश्रिया।
आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥ १५४ ॥

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां किंवा नमस्यामिति सन्देहः।

उदाहरणों का प्रदर्शन कर यह बताया है कि उक्त 'व्रीडादि तीनों' में प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार समझने चाहिए। क्योंकि तीनों अर्थ, अपने-अपने स्थलों में समान हैं। इसके 'दोष कहलाने' में कारण यही है कि यह 'अनुभवसिद्ध रस के अपकर्षक अर्थ की उपस्थिति कराता है'—अर्थात् 'अश्लील अर्थ' की उपस्थिति कराता है। यहाँ दूषकता के बीज दो प्रकार के हैं, जिनमें पहिला 'सरसकाव्य' में अनुभूयमान रस के अपकर्षक अश्लील अर्थ की उपस्थिति कराना है। नीरस काव्य में तो अश्लील अर्थ की उपस्थिति, 'चमत्कार' का अपकर्ष करती है। अर्थात् चमत्कार के अपकर्ष का कारण बन जाती है, अथवा अश्लील अर्थ की उपस्थिति से उन काव्यों को सुनने के लिए श्रोता का विमुख हो जाना ही उसकी दूषकता का बीज है। अतएव 'शम' की कथा में यह दोष नहीं है। क्योंकि ऐसी उपस्थिति 'शम' का पोषण करती है। भावी अमंगल की सूचना देना हो अथवा 'शम' की स्थिति को दिखाना हो तो दोष नहीं होता, क्योंकि वहाँ विमुख होने में कोई कारण नहीं है।

एष्विति। तीन प्रकार की 'अश्लीलता के व्यञ्जक' तीनों उदाहरणों में 'साधन' शब्द ('लिंग' का अभिधायक रहने से 'व्रीडा' का), 'वायु' शब्द (अपानवायु का बोधक होने से 'जुगुप्सा' का) और 'विनाश' शब्द ('मृत्यु' का बोधक होने से 'अमंगल' का) व्रीडा आदि अर्थों के व्यञ्जक हो गये हैं॥

(१०) 'सन्दिग्धम्'—यह दसवाँ पददोष है। जैसे—

आलिङ्गित इति। सङ्ग्रामभूमि (सम्पराय) में विजयश्री के द्वारा आलिङ्गन किये जाने वाले (अनायास ही विजय प्राप्त करनेवाले) पूजनीय (तत्रभवान्) आप (हम लोगों के द्वारा की गई) जितशत्रुप्रयुक्त वन्दनीय आशीर्वादपरम्परा को सुनकर हमलोगों पर कृपा करें॥ १५४ ॥

अथवा आशीःपरम्पराओं को सुनकर इस 'बन्दी' जबरदस्ती पकड़कर लाई हुई (जबरन कैद की गई) स्त्री पर (महिला पर) कृपा करें॥ १५४ ॥

अत्रेति। यहाँपर 'वन्द्याम्' शब्द (पद), 'बन्दी' की 'सप्तमी विभक्ति' का रूप है, अथवा 'वन्द्या' शब्द की 'द्वितीया विभक्ति' का रूप है? यह सन्देह होता है। यदि 'सप्तमी विभक्ति' का रूप समझते हैं तो हठात् (जबरन) पकड़कर (कैद करके) लाई गई स्त्री (राजपत्नी) पर—यह अर्थ समझ में आता है, और यदि 'द्वितीया विभक्ति' का

रूप उसे समझते हैं तो 'नमस्कार करने योग्य' (उत्तम) ऐसी 'आशीःपरम्परा' को सुनकर—यह अर्थ समझ में आता है।

एवञ्च 'वन्द्याम्' यह रूप, 'वन्दी' शब्द की 'सप्तमी' का है, या 'वन्द्या' शब्द की 'द्वितीया' का है ? यह सन्देह 'श्रोता' को हो जाता है। अर्थात् वक्तृतात्पर्यसन्देहविषयीभूत 'दो अर्थों' की उपस्थिति होती है।

प्रदीपकार ने 'सन्दिग्धत्व' का जो स्वरूप बताया है—'विवक्षित' और 'अविवक्षित' दोनों अर्थों की उपस्थापना के अनुकूल 'दो स्वरूपों के सन्देह की विषयता' जिसमें रहे, वह 'सन्दिग्ध' कहलाता है। 'विवक्षिताऽविवक्षितोभयार्थोपस्थापनानुकूलस्वरूपद्वयसन्देह-विषयत्वं सन्दिग्धत्वम्' इति।

उसी तरह भास्करप्रभृति विद्वानों ने भी उसका जो स्वरूप बताया है कि 'अनिश्चित आनुपूर्वी' जिसकी हो उसे सन्दिग्ध कहते हैं। 'अनिश्चितानुपूर्वीकत्वं सन्दिग्धत्वम्'।

किन्तु उपर्युक्त दोनों के भी कथन उचित नहीं है। क्योंकि इसी उल्लास में वाक्यदोष के 'सुरालयोल्लासः' (श्लो० १७८) उदाहरणगत 'मार्गण' और 'भूति' इन 'दोनों पदों' के स्वरूप का निश्चय रहने पर भी (आनुपूर्वी का निश्चय रहने पर भी) उनमें 'सन्दिग्धता' रहने से (उनमें) उक्त 'सन्दिग्धत्व' कथन की अव्याप्ति होती है, ऐसा सारबोधिनीकार तथा उद्योतकार का कहना है।

'तत्र भवान्'—में 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते'-(५।३।१४) इस पाणिनिसूत्र से पञ्चमी-सप्तमीतरविभक्त्यन्त से 'त्रल्' प्रत्यय करने के बाद 'सुप्सुपा' से समास किया गया है। 'पूज्यस्तत्रभवान्' इति सज्जनकोशः। वृत्ति में 'हठहृतमहिलायाम्' कहा गया है, यहाँ 'महिला' का अर्थ 'राजपत्नी' समझना चाहिए क्योंकि 'महिषी महिला समा'-यह विश्वकोष में कहा है।

वक्ता के तात्पर्य में जो संशय होता है, वह—'व' और 'ब' में अभेदबुद्धि के कारण है। 'वन्द्याम्' की आनुपूर्वी, उभयसाधारण रहने से विनिगमनाविरह के कारण दोनों अर्थों की स्मृति हो आती है, उस कारण वक्ता के तात्पर्य को समझने में सन्देह हो जाता है। यही कारण है कि 'विधौ वक्रे' (श्लोक ३६९) में दो अर्थों की उपस्थिति होती है—ऐसा उद्योतकार कहते हैं।

प्रदीपकार के अनुसार उदाहृत पद्य में दूषकता का बीज है—'उद्देश्य का निश्चय न रहना'। क्योंकि 'हठगृहीतमहिला' एवं 'नमस्यारूप अर्थों' की उपस्थिति में कोई साधक-बाधक प्रमाण नहीं है। अतएव जहाँ 'संदेह' ही उद्देश्यकोटि में रहता है, और जहाँ वाच्यादि अर्थों के प्रभाव से अथवा 'प्रकरण' आदि के कारण 'अर्थ' का निश्चय हो जाता है, वहाँ 'दोष' नहीं माना जाता, ऐसा प्रदीपकार का कहना है। सुधासागरकार ने तो 'प्रदीपकार' का ही अनुसरण कर जो श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य के कथन का निर्देश किया है कि 'बन्दी अथवा वन्द्या', इसमें औष्ठ्य या दन्त्यौष्ठ्य का निश्चय न

११—अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । यथा—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्म बन्धनम् ॥ १५५ ॥

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः ।

हो पाने से 'अर्थ' का अनिश्चय रहता है। तथा आनुपूर्वी का निश्चय न होने से दो अर्थों की उपस्थिति कैसे हो सकती है ? किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि लाघवात् केवल आनुपूर्वी के ज्ञान पर ही आधारित होने से उसके 'संशय' की भी संभावना हो सकती है। 'श्वेतो धावति' इत्यादि में वैसा ही माना जाता है। यहाँ पर 'अर्थ' का निश्चय न होना ही 'दूषकता' का बीज है—किन्तु यह उनका कहना रमणीय नहीं है। क्योंकि 'आनुपूर्वी-निश्चय' तो अर्थोपस्थिति में कारण होता है, 'अर्थसन्देह' के प्रति वह कारण नहीं है। तथा अर्थ का अनिश्चयमात्र, दूषक होने में बीज नहीं है, क्योंकि जहाँ अर्थ का अनिश्चय ही उद्देश्य है, वहाँ भी दोष मानने का प्रसंग आवेगा।

(११) 'अप्रतीतम्'—यह ग्यारहवाँ पददोष है, जो केवल किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध हो, अर्थात् किसी विशेष शास्त्र का 'पारिभाषिक शब्द' हो, उसका प्रयोग कर देना 'अप्रतीत' दोष कहलाता है।

सम्यग्ज्ञानेति। तत्त्वज्ञान की महाज्योति से जिसके आशय (कर्म-संस्कार, वासनाएँ) नष्ट हो चुके हैं, उस महान् पुरुष के द्वारा किये जानेवाले कर्म, उसके बन्धन के कारण नहीं होते हैं ॥ १५५ ॥

अत्रेति। यहाँ 'आशय' शब्द, 'वासना' (कर्मसंस्कार) का अपर पर्याय है। कर्मसंकार के वाचकरूप में इस 'आशय' शब्द का प्रयोग केवल योगशास्त्र में ही किया गया है। लोकव्यवहार में 'वासना' के अर्थ में उसका प्रयोग होता किसी ने नहीं सुना है। इसलिये उदाहृत पद्य में 'आशय' शब्द के प्रयोग को 'अप्रतीत' नामक दोष के रूप में माना गया है।

'अप्रतीत' वह पद है, जो शब्दानुशासन 'व्याकरण' अथवा 'कोष' के अतिरिक्त, 'शास्त्र' में ही केवल प्रसिद्ध है। अतएव उसे 'अप्रयुक्त' से भिन्न कहा जाता है। क्योंकि 'शास्त्र' के अतिरिक्त अन्य—'कोष-व्याकरणादि' में भी उसकी प्रसिद्धि है। 'अप्रतीतम्' की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है—'प्रति'=प्रतिशास्त्रे, इतं=ज्ञातं—प्रतीतं, न प्रतीतम्,= अप्रतीतम्, अर्थात् यत्किञ्चिच्छास्त्रपरिभाषित, जो पद (शब्द) हो उसे 'अप्रतीत' कहते हैं, ऐसा सारबोधिनी में कहा गया है। प्रदीप और उद्योत में भी उसी तरह कहा गया है—'नञोऽल्पार्थकतया शब्दानुशासनातिरिक्तशास्त्रमात्र'प्रसिद्धम्।' अत एवाऽ-प्रयुक्ताद्भेदः, तस्याऽन्यत्रापि प्रसिद्धेः', यह प्रदीपकार का कथन हुआ। उद्योतकार कहते हैं—'शब्दानुशासनेति।' 'व्याकरणकोषादिसकलेत्यर्थः, तेन व्याकरणमात्रप्रसिद्ध-

टि–घु–भादिसंग्रहः शास्त्रमात्रेति। न तु लोक-काव्यादीत्यर्थः। अन्यत्रापि शब्दानुशासने लोके च' इति।

इसी समस्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर ही वृत्तिकार ने कहा है कि 'यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्'।

सुधासागरकार ने जो कहा है कि 'अप्रयुक्त' पदघटित 'नञ्' अल्पार्थक होने से अलंकार शास्त्र के अतिरिक्त किसी एक शास्त्र में उसका प्रसिद्ध रहना 'अप्रतीत' है। इसीलिए रविभट्टाचार्य ने कहा है कि 'उभयप्रसिद्धार्थक' अथवा 'अलंकारशास्त्रमात्र' प्रसिद्धार्थक पद के प्रयोग करने में दोष नहीं है। अतएव 'अप्रयुक्त' से इसका भेद है, क्योंकि इसकी शब्दानुशासन में तथा अलंकारातिरिक्त शास्त्रान्तर में भी प्रसिद्धि है।

सारबोधिनीकार ने और प्रदीपकार ने भी जो कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि केवल अलङ्कारमात्र में प्रशिद्ध रहने पर भी 'अप्रतीतत्व' का प्रसंग प्राप्त होगा, अतएव 'मुख' में प्रयुज्यमान 'चन्द्र' पद शास्त्रान्तर में अप्रसिद्ध रहने पर भी अलंकारशास्त्र में प्रसिद्ध रहने से उसे 'अप्रतीत' नहीं समझना चाहिए।'

किन्तु उनका यह कथन मनोहर नहीं है, क्योंकि 'मुख' आदि में 'चन्द्रत्वादि' धर्म का आरोप करके उसमें ('मुख' आदि में) 'चन्द्र' आदि प्रयोग, 'लोक व्यवहार' में किया जाता है, तथा 'शास्त्र' में भी पाया जाता है। यही कारण है कि 'गोवृन्दारकः' इत्यादि में "वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम्"—(पा. सू. २।१।६२) सूत्र से आरोपबोधनपूर्वक 'समास' का बोधन किया गया है। अतः जैसे 'गोवृन्दारकः' प्रयोग है, ठीक वैसा ही 'मुखचन्द्रः' यह प्रयोग भी है।

यदि कोई यह कहे कि "वृन्दारकनाग" इस सूत्र से उसके 'पूज्यमानत्व' (पूज्य होने) का ही आरोप बोधित किया गया है। किन्तु यह सोचना ठीक नहीं होगा, क्योंकि "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"—(पा. सू. २।१।५७) सूत्र से पूर्वसिद्ध समास का ही अनुवाद हुआ है। सिद्धान्तकौमुदी में कहा गया है कि "समासे सिद्धे विशेष्यस्य पूर्वनिपातनार्थमिदं सूत्रम्" इति।

वृत्ति में कहा गया है कि यहाँ 'आशय' शब्द, वासनार्थक है। संसारप्राप्ति के कारणभूत मिथ्याज्ञानजन्य संस्कारविशेष को 'वासना' शब्द से कहा गया है। इस प्रकार के 'आशय' शब्द की प्रसिद्धि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष-ईश्वरः" (यो. सू. १।२४) सूत्र को देखने से प्रतीत होता है कि 'योगशास्त्र' में ही है, अन्यत्र नहीं है। वृत्ति में 'योगशास्त्रादौ' कहा है। वहाँ 'आदि' शब्द से सूचित किया है कि तत्तच्छास्त्रमात्र प्रसिद्ध 'शब्द'विशेष भी समझने चाहिएँ।

'अप्रतीत' दोष में दूषकता के होने का कारण यह है कि तत्तच्छास्त्र के अनभिज्ञ व्यक्ति को प्रयुक्त शब्द के अर्थ की उपस्थिति का न हो पाना। यही कारण है कि जहाँ 'तच्छास्त्राभिज्ञ' व्यक्ति ही प्रतिपाद्य हो, (जैसे—'आत्मारामा विहितरतयो०'–(३०७)

१२—ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् ।

यथा —

राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभाकटिश्च हरते मनः ॥ १५६ ॥

अत्र कटिरिति ।

उदाहरण में) अथवा स्वयं को ही समझ लेना हो अर्थात् स्वयमेव परामर्श हो तो वहाँ अप्रतीत पद का प्रयोग दोषावह नहीं है, जैसे 'षडधिकदशनाडी०' उदाहरण में स्वयं परामर्श नहीं है, प्रत्युत व्युत्पत्तिसूचक होने से उसमें गुणत्व ही समझा जाता है ।

'असमर्थ' दोष और 'अप्रतीत' दोष में भेद यही है कि 'असमर्थ' से अभिज्ञ–अनभिज्ञ सभी शास्त्रज्ञों को 'अर्थ की अनुपस्थिति' होती है, 'अप्रतीत' में केवल 'तच्छास्त्र के अनभिज्ञ' को ही अर्थानुपस्थिति होती है,—यही दोनों में अन्तर है, यह प्रदीप और उद्योत व्याख्याओं में स्पष्ट कहा है ।

सारबोधिनीकार ने जो कहा है कि वासनार्थक 'आशय' शब्द का पारिभाषिक प्रयोग केवल 'योगशास्त्र' में ही उपलब्ध होने से अन्यत्र वह संस्कार को शीघ्र उद्बुद्ध नहीं कर पाता, क्योंकि इस प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग बहुत विरल हुआ करते हैं । संस्कार की उद्बोधक तो 'भावना' ही होती है । अतः 'भावना' के विलम्ब से, अर्थप्रतीति में भी विलम्ब हो जाता है, इस प्रकार से होने वाली 'अर्थप्रतीति की विलम्बता' ही इस दोष की दूषकता में कारण (बीज) है ।

किन्तु इस प्रकार से होनेवाले 'प्रतीतिमान्थ्यं' को दूषकता में बीज बताना, उचित प्रतीत नहीं हो रहा है । क्योंकि यह तो सकलशास्त्रों के अभिज्ञ विद्वान् के लिये ही संभव हो सकता है, न कि उस शास्त्रविशेष के अनभिज्ञ के प्रति भी । किसी भी व्यक्ति का सर्वज्ञ रहना तो असंभव ही है, ऐसा सुधासागरकार का कहना है ॥ ११ ॥

(१२) 'ग्राम्यम्'—यह बारहवाँ पददोष है । जो शब्द केवल लोक में ही प्रयुक्त (स्थित) है, 'शास्त्र' में नहीं ।

यथेति । जैसे—

राकेति । हे प्रिये ! तुम्हारे मुख में पूर्णिमा के चन्द्र की कान्ति का संक्रमण हो रहा है, अथवा तुम्हारे मुख की कान्ति का चन्द्रमा में संक्रमण हो रहा है, ऐसा तुम्हारा मुख है, और सुवर्णशिला के समान चमकती हुई तुम्हारी कमर (कटि) और नितम्ब मेरे मन को अनुरञ्जित (प्रसन्न) कर रही है ॥ १५६ ॥

अत्रेति । यहाँ 'कटि' शब्द 'ग्राम्य' है ।

ग्राम्यमिति । 'ग्रामे' भवः ग्राम्यः अविदग्धः न तु सभ्यः, तत्प्रयुक्तं ग्राम्यम् । अर्थात् ग्रामीण जनता में ही प्रयुक्त होनेवाले 'शब्द' को 'ग्राम्य' कहते हैं । उन शब्दों का प्रयोग 'सभ्य' जनता नहीं किया करती ।

'ग्राम्य' और 'अप्रयुक्त' में भेद बताते हुए 'कमलाकरभट्ट' कहते हैं कि 'आपामरं सर्वलोकप्रसिद्धं ग्राम्यम्, अप्रयुक्तन्तु शास्त्रसिद्धत्वान्न तथा'।

किन्तु प्रदीप, उद्योत और सुधासागर व्याख्याओं में कहा गया है कि 'ग्राम' में अर्थात् केवल 'लोक' में ही जो प्रसिद्ध हो; 'शास्त्र' में नहीं, उसे 'ग्राम्य' कहा है। अतएव भास्कर प्रभृतियों ने अप्रयुक्त' से उसे (ग्राम्य को) भिन्न कहा है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि "'देशी' भाषा में प्रयोग करने योग्य (देश्य). जो 'अव्युत्पन्न शब्द' हैं, उनके संग्रहार्थ इस 'ग्राम्यत्व' दोष को बताया गया है। अतः 'ग्राम्य दोष' के उदाहरण के रूप में 'कटि' शब्द को प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। 'ग्राम्य' के उदाहरण तो 'गल्ल, भल्ल' आदि हैं"।

किन्तु उपर्युक्त ये दोनों ही वक्तव्य 'असद्' हैं। क्योंकि 'शास्त्र में प्रसिद्ध' (प्रयुक्त) और 'व्युत्पन्न' 'कटि' शब्द को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके यह सूचित किया है कि उपर्युक्त दोनों ही मत, उचित नहीं हैं।

एवञ्च जिस देश में जिस नाम से जिस वस्तु का व्यवहार समस्त लोग करते हैं, उस शब्द को 'ग्राम्य' कहते हैं। अर्थात् जनता में जो प्रसिद्ध शब्द है, वही 'ग्राम्य' है। यह कहने से 'देशी' भाषा के शब्दों का भी संग्रह हो जाता है। अतएव आगे चलकर 'खादन, पान, गल्ल, भल्ल' आदि उदाहरण (ताम्बूलभृतगल्लोऽयम् -[श्लो० १८०]) दिये गये हैं, और कलम, महिषी, दधि, सर्षप, शाक आदि प्रत्युदाहरण (फुल्लुक्करं कलम०—[श्लो० ३०९]) दिये गये हैं।

अत्र कटिरिति। यहाँ पर यह 'कटि' पद, ग्राम्य है। सभ्यसमुदाय 'श्रोणि', 'नितम्ब' आदि शब्दों का प्रयोग करता है। 'कटि' शब्द का प्रयोग, केवल असभ्यलोग ही करते हैं, इसलिए उसे 'ग्राम्य शब्द' कहा गया है। 'ग्राम्य' शब्द को सुनकर श्रोता समझ जाता है कि बोलने वाला 'सभ्य' (विदग्ध) नहीं है। तब श्रोता, अपना मुख उस शब्द के सुनने से मोड़ लेता है। इसलिए श्रोता का विमुख होना (वैमुख्य) ही 'ग्राम्य दोष' के दूषक बनने में कारण (बीज) है।

प्रदीप और उद्योत में बताया गया है कि लोकव्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए वहाँ के 'शब्द-विशेष' से अर्थ की उपस्थिति का न हो पाना ही दूषकता का बीज है— यह सरल बुद्धिवालों का कथन है।

वस्तुतः शब्द (पद), तीन प्रकार के होते हैं (१) ग्राम्य, (२) नागर और (३) उपनागर। जो शब्द, विदग्धमात्र प्रसिद्ध है, उसे 'नागर' कहते हैं। 'ग्राम्यकक्षा' का अतिक्रमण करनेवाले किन्तु 'नागरभाव' को प्राप्त न करनेवाले 'शब्द' को 'उपनागर' कहते हैं। 'ग्राम्य' के विषय में तो ऊपर बता ही चुके हैं। 'नागर' और 'उपनागर' शब्दों को छोड़कर 'ग्राम्य' शब्द के प्रयोग से वक्ता की अविदग्धता का उन्नयन होने से 'श्रोता' की जो विमुखता होती है, वही दोष होने में बीज है। अतएव विदूषक आदि 'अधम वक्ता' जहाँ हों वहाँ इसे दोष नहीं माना जाता। उनको वही उचित प्रतीत होता

१३—नेयार्थम्—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥

इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम् । यथा—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम् ।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम् ॥ १५७ ॥

अत्र चपेटापातनेन निर्जितत्वं लक्ष्यते ।

है। इसलिए उस समय किसी को 'विरसता' नहीं होती। 'कटि' शब्द का प्रयोग 'ग्राम्यता' का सूचक है, इसलिए 'अश्लीलत्व' दोष का उसके साथ सांकर्य नहीं है। अर्थात् विदग्ध–'अविदग्धप्रसिद्धत्वप्रयुक्तशोभारहितत्व' ही वैमुख्य में प्रयोजक है। 'व्रीडादि-व्यञ्जक अर्थ' का उपस्थापकत्व 'वैमुख्य' में प्रयोजक नहीं है, इसलिए 'अश्लील' दोष से इसे गतार्थ नहीं कह सकते ॥ १२ ॥

(१३) नेयार्थम्—यह तेरहवाँ पददोष है।

जिस पद का अर्थ, 'वक्ता' की इच्छा से 'नेय' हो, अर्थात् 'विषय' के साथ किसी-तरह खोंच-तान कर संगत कर दिया गया हो।

निरूढा इति। कुछ लक्षणाएँ ऐसी होती हैं, जो 'अभिधा' की तुलना (बराबरी) करती हैं। अर्थात् 'अभिधा' जैसे शक्तिग्राहकों के आधार पर 'अर्थ' को बताती है, वैसे ही जो 'लक्षणा', 'प्रसिद्धि' के आधार पर 'अर्थ' को बताती है, यह—'निरूढा' अनादिसिद्ध लक्षणा कहलाती है। कुछ लक्षणाएँ 'साम्प्रतं' की जाती हैं। अर्थात् सम्प्रति उपस्थित होने वाले 'प्रयोजन' के आधार पर की जाती हैं, उसे 'प्रयोजनवती' लक्षणा कहा-गया है।

कुछ लक्षणाएँ ऐसी हैं, जो पूर्वोक्त लक्षणाओं से भिन्न हैं। ऐसी लक्षणा, बिना शक्ति के ही की जाती है। क्योंकि 'मुख्यार्थ' के बाध होने पर उपस्थित होना ही 'लक्षणा' का स्वरूप है। इस तरह उपस्थित होने वाली 'लक्षणा' के लिए 'मुख्यार्थ अवश्य अपेक्षित होता है, और 'मुख्यार्थ' तभी उपस्थित होगा, जब 'उस अर्थ' में 'उस शब्द' की शक्ति रहेगी। एवं च 'लक्षणा' की प्रवृत्ति के लिए 'अर्थ' में शब्द की शक्ति का रहना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जो 'लक्षणा', अशक्तितः, (शक्ति के बिना) ही प्रवृत्त होती है, उस 'निषिद्ध' लक्षणा का आश्रय जो 'पद' होगा, उसी को 'नेयार्थ' कहते हैं।

यथेति। जैसे—हे तन्वि ! तुम्हारा मुख, शरद् ऋतु में समुल्लसित होने वाले पूर्ण-चन्द्र को भी चपेटापातन का अतिथि बना रहा है, अर्थात् शरत्पूर्णिमा की रात्रि के प्रिय चन्द्र के मुँह पर थप्पड़ लगा रहा है ॥ १५७ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'चपेटापातन' कहकर 'निर्जितत्व' अर्थ को लक्षित किया गया है। अर्थात् चन्द्र के मुख पर 'चपेटापातन' से 'चन्द्र को जीत लिया'—यह अर्थ, 'लक्षणा'

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः, अन्यत् केवलं समासगतं च ॥

का आश्रय कर कवि ने दिखलाना चाहा है। 'निर्जितत्व' अर्थ में 'चपेटा' पद का प्रयोग 'रूढ' नहीं है, एवं लक्षणा करने में कोई 'प्रयोजन' भी नहीं है। अतः 'रूढि' और 'प्रयोजन'—इन दो हेतुओं के न रहने पर भी कवि ने अपनी इच्छामात्र से ही 'लक्षणा' कर दी है, और अपना अभीष्ट अर्थ प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। अतएव यहाँ 'नेयार्थत्व' दोष हो गया है।

नयार्थमिति। नेयः न्यायपरिहारेण कवेः स्वेच्छया कल्पनीयोऽर्थो यस्य तत्, अर्थात् 'रूढिं प्रयोजनं वा विना शक्यसम्बन्धमात्रेण अशक्यार्थोपस्थापनम्'। तथा च–'नेयत्व' वही है, जो 'निरूढा लक्षणाः काश्चित्''—इत्यादि भाट्टवार्तिक के द्वारा 'अरुणाधिकरण' में 'रूढि' या 'प्रयोजन' के विना निषिद्ध की गई लक्षणा का विषय होता है।

'चपेटापातनातिथि' पद का प्रयोग, मुख्यार्थ के बाधित रहने से 'निर्जितत्व' अर्थ में लक्षणा से किया है।

यद्यपि वैयाकरणों के समान आलंकारिकों के द्वारा भी 'वृत्ति' में 'एकार्थीभाव' का स्वीकार करके 'शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा' का उपपादन किया जा सकता है, तथापि 'निर्जितत्व' अर्थ में इस पद की 'रूढि' अथवा 'प्रयोजन' के न रहने के कारण मुख्यशब्दार्थ से अतिरिक्त, 'अर्थ' की प्रतीति न हो पाना ही 'नेयार्थत्व' है।

शंका—'निर्जितत्व' रूप अतिशय की प्रतिपत्ति (ज्ञान) होना ही 'प्रयोजन' क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान—'उपमानभूत उत्तमगुणवाले चन्द्र' पर 'उपमेयभूत न्यूनगुणवाले मुख' के द्वारा 'चपेटापातन' (करतलाघात) वर्णन करने में 'वर्ण्य' वस्तु का ही अपकर्ष होता है, उससे बचने के लिए 'जयति' कहना चाहिए था।

यहाँ दूषकता में बीज (कारण) यह है कि लक्षणा से होने वाले बोध में 'रूढि' अथवा 'प्रयोजन' दोनों में से किसी एक का ज्ञान, 'हेतु' हुआ करता है, किन्तु प्रकृत में उसके न रहने से लक्षणावृत्ति न होने के कारण 'अर्थ' की अनुपस्थिति हो रही है। अतः यही इसकी दूषकता में बीज (कारण) है। अतएव 'अप्रयुक्त' दोष से इसको भिन्न कहा जाता है। इसीलिए इसे 'नित्यदोष' कहा गया है। एवं च 'शब्द' के मुख्य अर्थ से अतिरिक्त अर्थ के उपस्थित न होने से यह 'पद' 'नेयार्थ' कहा गया है ॥ १३ ॥

अथेति। अब तक जिन दोषों को बताया गया है, वे तो 'समास' तथा 'असमास' दोनों अवस्थाओं में 'पद' के ही दोष थे, किन्तु आगे अर्थात् 'क्लिष्ट' से लेकर 'विरुद्धमतिकृत' तक जो दोष होंगे, वे 'समास' में ही 'पद' के दोष कहे जायेंगे। अर्थात् समासगत 'पद' ही दुष्ट होता है। इसी तथ्य को ''अथ भवेत् क्लिष्टम्'' इस कारिकांश की व्याख्या करते

१४—क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता । यथा—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः ।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल ! तव चेष्टितम् ॥ १५८ ॥

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः ।

हुए बताया गया है—अथेत्यादि ।

'क्लिष्ट' आदि दुष्ट पद, समासगत ही होता है-यह सम्बन्ध समझना चाहिए । क्लिष्टत्व आदि तीन दोष अन्य पद (पदान्तर) के साहित्य से ही होते हैं । अर्थात् उन दोनों पदों का समास होने पर ही वे दोनों 'एक पद' कहे जाते हैं । एवं च ऐकपद्य होने से ही 'पददोष' होगा, और 'समास' न रहने पर 'वाक्य-दोष' ही कहलाएगा । किन्तु 'श्रुतिकटु' आदि अन्य दोष तो समास में और असमास में भी 'पददोष' ही—कहलायेंगे । क्योंकि 'द्वितीय पद' की अपेक्षा किये बिना ही वे 'दुष्ट' हो गये हैं । इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'समासगतमेव' कहा है । यहाँ 'एव'कार से क्या प्रतिपाद्य है, उसे बताने के लिए ही 'अन्यत्' कहा गया है । अर्थात् 'श्रुतिकटु' आदि 'केवल' अर्थात् असमासगत और 'समासगतं च' समासगत होने पर भी पददोष कहे जाते हैं ।

(१४) 'क्लिष्टत्व'—यह चौदहवाँ 'पद दोष' है ।

यत इति । जिससे 'अर्थ' की प्रतिपत्ति, व्यवहित (विलम्ब से) हो, उस पद को 'क्लिष्ट' कहते हैं । जैसे—

अत्रीति । हे भूपाल ! अत्रिमुनि के नेत्रों से संभूत ज्योति (चन्द्रमा) के उदय होने से विकसित होने वाले कुमुदों के समान तुम्हारी क्रियाएँ अत्यन्त शोभायमान हो रही हैं ॥ १५८ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'अत्रि' मुनि के नेत्रों से सम्भूत चन्द्र (ज्योति) के प्रकाश के फैलने (उद्गम होने) से विकसित होने वाले 'कुमुद' के अर्थ की प्रतीति होती है ॥

जिस पद से 'अर्थ' की प्रतीति होने में 'क्लेश' होता है, वह 'पद' क्लिष्ट कहा जाता है । यहाँ 'शाब्दबोध' होने में विलम्ब लगता है, और 'निहतार्थ' आदि में 'पदार्थ' की उपस्थिति होने में ही विलम्ब होता है—इसलिए 'निहतार्थ' से यह 'क्लिष्ट' दोष भिन्न है । विलम्ब लगने का कारण यह है कि कहीं पर 'प्रत्यासत्ति' (सन्निधि) का अभाव रहता है और कहीं पर 'सामान्य अर्थ' में जो 'शक्त पद' है, उससे 'प्रकरण' आदि के अभाव में 'विवक्षित विशेष अर्थ' की उपस्थिति शीघ्र नहीं हो पाती । इन दोनों में से प्रथम में 'प्रत्यासत्ति' का अभाव रहने के कारण केवल 'वाक्यदोष' ही होता है, 'पद दोष' नहीं । उसके उदाहरण 'धम्मिल्लस्य०'–(श्लो० १८२) इत्यादि हैं, और दूसरे में 'पददोष' भी होते हैं, जैसे—'अत्रिलोचन' पद्य में बताया गया है ।

अत्रात्रीति। 'अत्रिलोचनसंभूत' में सामान्यतः शाब्दबोध के होने में यद्यपि विलम्ब नहीं हो रहा है, तथापि उस 'पद' से 'चन्द्र' एवं 'कुमुद' की शीघ्र उपस्थिति न हो पाना ही दोष है। अभिप्राय यह है कि यहाँ पर 'अत्रिलोचनसंभूतज्योतिरुद्गमभासिभिः–' यह समस्त पद है। इससे जो 'कुमुद' के अर्थ की प्रतीति होती है, वह विलम्ब से होती है, क्योंकि 'अत्रिलोचनसम्भूत' पद से 'चन्द्रमा' का अर्थ ही विलम्ब से प्रतीत हो पाता है, तदनन्तर 'कुमुद' के अर्थ की प्रतीति होती है, जो अधिक विलम्ब से हो पाती है। क्योंकि चन्द्र के उदित होने पर केवल विकसित कुमुद की ही प्रतीति होती है, यह बात नहीं है, अपितु अन्यान्य विकसित पुष्पों की भी प्रतीति हो सकती है। अतः यह समस्त एक पद 'क्लिष्ट' कहा गया है। नियामक प्रकरणादि के अभाव में तो अन्यत्र भी यही स्थिति होगी। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि ऐसे पदों से 'अर्थोपस्थिति' दूसरे से व्यवहित होकर ही होगी, साक्षात् नहीं।

यदि 'अत्रिलोचन' पद को पृथक् कर 'अत्रि की दृष्टि' से समुद्भूत उद्योत से विकसित होने वाले 'अत्रिदृष्टेः समुद्भूतस्योद्योतेनावभासिभिः—यह पाठ कर दें तो द्वितीयप्रभेद-वाले 'वाक्यदोष' का उदाहरण हो जायगा। इस दोष में रहने वाली दूषकता का बीज (कारण) 'विवक्षित विशिष्ट अर्थ की प्रतीति में विलम्ब लगना' ही है। किन्तु यह विलम्ब 'प्रहेलिका' और 'यमक' आदि में 'वैचित्र्य' का ही लक्ष्य रहने से 'अर्थ-प्रतीति' में विलम्ब होना इष्ट रहता है, इसलिए वहाँ इसे दोष नहीं माना जाता। उन्मत्त पुरुष की उक्ति में तो अर्थ-प्रतीति में विलम्ब का होना उचित रहने से, उसे दोष न मानकर 'गुण' ही माना जाता है।

यहाँ सुधासागरकार का कहना है कि 'जहाँ विशेषण अन्यसाधारण न हो, वहाँ यह 'क्लिष्टत्व' दोष नहीं होता। जैसे—

"शतार्धपञ्चांशभुजो द्वादशार्धार्धलोचनः'—यहाँ पर 'दशभुजत्व' और 'त्रिलोचनत्व'–क्रमशः 'रावण' और 'शिव' के ही हैं। प्राचीनों ने इसी को 'पदार्थे वाक्यरचना' कहकर 'अर्थगुण' कहा है।

किन्तु सुधासागरकार का 'रावण और शिव के ही' (रावण–शिवयोरेव) कहना चिन्तनीय प्रतीत हो रहा है, क्योंकि 'रावण' की बीस भुजा के रूप में ही प्रसिद्धि है। अतः 'शिवस्यैव' शिव के ही–कहना युक्ति-युक्त प्रतीत हो रहा है। अतएव सरस्वतीकण्ठा-भरण में प्रथमपरिच्छेद के नवम सूत्र पर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत—

"शतार्धपञ्चांशभुजो द्वादशार्धार्धलोचनः।
विंशत्यर्धार्धमूर्धा वः पुनातु मदनान्तकः॥"

पद्य की शिवपरता ही दिखाई पड़ती है॥ १४॥

१५—'अविमृष्टविधेयांश'–अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तद् यथा–

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा–
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत्फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ।। १५९ ।।

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम् । अपि तु विधेयम् ।

---

(१५) 'अविमृष्टविधेयांश'—यह पन्द्रहवां पद दोष है। जहाँ विधेय अंश के विषय में विमर्श न किया हो, उसे 'अविमृष्टविधेयांश' दोष कहते हैं। 'विमर्श' का अर्थ यह है—'विधेय को प्रधानरूप से बताना चाहिए। उसको (विधेय को) प्रधानरूप से यदि नहीं कहते हैं, तो वह 'दोष' कहलाता है। 'विधि' की 'प्रतीतियोग्यता' का होना ही 'विधेय' की प्रधानता कहलाती है। वह 'योग्यता' उसमें तभी आ सकती है, जब उसे 'उद्देश्य' के बाद रखा जाता है। वह कभी भी किसी का उपसर्जन (गुण) नहीं बनता है। विधेय अंश का बोधक पद यदि समास के अन्तर्गत हो जाता है तो वह विधेयांश का प्रधानरूप से निर्देशक नहीं हो पाता। जैसे—

मूर्ध्नेति। राम की सेना ने लङ्का को जब घेर लिया उस समय रावण कह रहा है कि मेरे मस्तकों और भुजाओं का क्या यही फल है? कि अपने मस्तकों को उद्धतरूप से काटे जाने के कारण कण्ठ से अविरल (लगातार) प्रवाहित होनेवाली रुधिर की धार के अर्घ्य से प्रसन्न किये गये भगवान् शिव की कृपा से प्राप्त त्रैलोक्य विजय की महिमा से, सम्पूर्ण जगत् में व्यर्थ ही प्रसिद्धि को प्राप्त हुए मेरे इन दस मस्तकों का, और भुजदण्डों का कैलासपर्वत को उखाड़कर उठा लेने की निरन्तर बनी रहनेवाली महत्त्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप, भयङ्कर अहङ्कार में चूर हुए भुजदण्डों का क्या यही अन्तिम फल है? कि राम की वानर सेना के द्वारा आक्रान्त हुई लंका नगरी की रक्षा का मुझे प्रयास करना पड़ रहा है।। १५९ ।।

अत्रेति। यहाँ पर मस्तकों और भुजाओं का 'मिथ्या महिमाशालित्व' उद्देश्य (अनुवाद्य) नहीं है, अपितु 'विधेय' है। इसलिए उसकी (विधेय की) 'प्रधानता' कायम रखने के लिए उसे 'समास' में नहीं रखना चाहिए था। किन्तु समास के अन्तर्गत हो जाने से उसकी 'प्रधानता' समाप्त हो गई है, वह 'उपसर्जन' बन गया है। इस कारण यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' दोष हो गया है।

इस उदाहरण में 'विधेयपद', 'बहुव्रीहिसमास' के अन्तर्गत रखा गया है। यहाँ पर कवि को मस्तकों और भुजाओं की महिमा का 'मिथ्या होना' विधेय रूप से विवक्षित था, किन्तु यह तभी संभव होता, कि जब 'महिमा' और 'मिथ्या' को क्रमशः उद्देश्य और विधेय के रूप से अलग-अलग रखा होता। किन्तु कवि ने अन्यपदार्थ-प्रधान 'बहुव्रीहि' समास करके 'मिथ्यात्व' रूप विधेयांशप्रतिपादक 'पद' को गौण

(अप्रधान) बना दिया। इस कारण अर्थात् 'अविमृष्टविधेयांश' दोष के कारण विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो पा रही है ।। १५९ ।।

'अविमृष्टविधेयांशम्'—यहाँ पर 'विधेयांश' का अर्थ है—'विधेयरूप अंश' अर्थात् वाक्यार्थ का साध्यांश भाग, उसकी प्रधानता (प्राधान्य) अर्थात् विधेयताप्रतीति की उसमें योग्यता का होना।

श्रीकुमारिलभट्टपाद ने अपने तन्त्रवार्तिक में कहा है—'यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता। तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता ।। निष्कर्ष यह है कि उद्देश्य और विधेय की पृथक्-पृथक् पदों से उपस्थिति होनी चाहिए, उन्हें समास में प्रविष्ट करके नहीं दिखाना चाहिए।

'उद्देश्य-विधेयभाव' के विषय में यह स्मरण रहना चाहिए कि जो 'यत्' शब्द से प्रतिपाद्य और सिद्ध पदार्थ के रूप में प्रतीयमान हो रहा हो, वह 'अनुवाद्य' अर्थात् 'उद्देश्य' कहलाता है, और 'तत्' शब्द से प्रतिपाद्य और उद्देश्य से सम्बन्धित होकर अपूर्वबोध का विषय बनकर जो उपस्थित हो रहा हो, वह 'विधेय' कहलाता है। जैसे—'यः क्रियावान् स पण्डितः'—यहाँ पर 'क्रियावान्' को उद्देश्य कर अभेदेन 'पण्डित' का अथवा स्वरूप सम्बन्ध से 'पण्डितत्व' का विधान किया गया है।

यद्यपि 'यत्' और 'तत्' शब्दों का सर्वत्र प्रयोग नहीं भी किया जाता है, तथापि वे गम्य रहते हैं। 'उद्देश्य-विधेयभाव'—विषयताविशेषरूप ही समझना चाहिए। 'उद्देश्य' के अनन्तर 'विधेय' तभी रखा जाता है, जब कि 'विधेय' का प्राधान्य (विधिप्रतीतियोग्यता) उपसर्जनीभूत (गौण) न हुआ हो। अतएव 'न्यक्कारो ह्ययम'–(श्लोक. १८३) और 'क्षणमप्यमुक्ता'–(श्लो. १६२) दोनों में अव्याप्ति नहीं हो पाई। क्योंकि प्रथम उदारण में उक्तरूप प्राधान्य के न रहने से और द्वितीय उदाहरण में विधेय के 'प्रसज्यप्रतिषेध' का निर्देश न रहने से विशिष्ट विरह को प्रतीति हो रही है, अतः अव्याप्ति नहीं हो पाई। 'विधेय' को समास के अन्तर्गत कर देने से वह एक ही वाक्य में अन्य का विशेषण होकर उसे रहना पड़ता है और 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इस नियम के विरुद्ध भी है।

यथेति। 'मूर्ध्नाम्' यह उदाहरण हनुमन्नाटक के अष्टम अंक का पद्य है। रामसेना के द्वारा लंकापुरी को घेर लेने पर रावण कह रहा है—अरे! अपनी लंकापुरी को रक्षा करने में मुझे 'प्रयास' करना पड़ रहा है! अर्थात् मैं इतना असमर्थ हो गया हूँ! यह 'निर्वेद (ग्लानि) सूचित कर रहा है। 'किमेतत् फलम्' यहाँ 'किम्' शब्द से अपने प्राप्त किये फल का 'अनौचित्य' व्यञ्जित किया है। प्राप्त फल का अनौचित्य रहने से मेरे दस मूर्धाओं तथा बीस भुजाओं की जो 'महिमा' सर्वत्र विश्रुत है, वह (महिमा) 'मिथ्या' है। वह 'मिथ्यात्व' ही यहाँ 'विधेय' है अर्थात् उनका 'मिथ्यात्व' बताना ही कवि को विवक्षित है। किन्तु उसकी (विधेयत्व की) प्रतीति नहीं हो रही है। उद्देश्य और विधेय

को यदि पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट कर दिया जाय तो 'उद्देश्य-विधेयभाव' की प्रतीति हो सकती है।

समास में 'एकार्थीभाव'[१] को स्वीकार करने के कारण इतरपदार्थ से अन्वित होकर ही स्वार्थ की उपस्थिति होगी, तब वह स्वार्थ 'गौण' हो जाने से उसके 'विधेयत्व' का निर्वाह नहीं हो पायेगा, उस कारण 'अविमृष्टविधेयांश' दोष हो रहा है। इस दोष से बचने के लिए 'महिमा मिथ्या'—कहना चाहिए था, तभी 'महिमा' का 'मिथ्यात्व' विधेय बन पायगा, अन्यथा नहीं। उद्देश्य और विधेय को जब पृथक्-पृथक् पदों से उपस्थित किया जाता है, तब 'प्राप्त पदार्थ' को उदेद्श्य कोटि में रखकर 'अप्राप्त पदार्थ' को विधेयकोटि में रखा जाता है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान्' में 'पर्वत' को उद्देश्य कर 'वह्निमत्त्व' का विधान किया जाता है। यह बात 'समास' करने पर नहीं हो पाती। अन्यथा 'वह्निमत्पर्वतः' कहने का प्रसंग प्राप्त होगा।

एवं च उदेद्श्य और विधेय की पृथक्-पृथक् पदों से उपस्थिति रहने पर ही 'प्राप्त' को उद्देश्य करके 'अप्राप्त' के विधान करने का उत्सर्ग (सामान्य नियम) है। 'लोहितोष्णीषा:' में समास रहने पर भी 'प्राप्त उष्णीष' को उदेद्श्य कोटि में रखकर केवल 'अप्राप्त जो 'लौहित्य' है, उसी का विधान किया गया है। एवं च प्रस्तुत उदाहरण में 'औत्सर्गिक नियम' का त्याग करना पड़ रहा है, जिससे सहृदयों के हृदय में उद्वेग उत्पन्न होता है। वही यहाँ पर दूषकता का बीज है। यहाँ पर 'अभवन्मत' दोष का सम्बन्ध रहने पर भी कोई क्षति नहीं है। क्योंकि 'अविमृष्टविधेय' दोष भी विद्यमान रहने से 'उपाधेय-सांकर्य' हो रहा है, जो दोषावह नहीं माना जाता। क्योंकि 'उपाधिसांकर्य ही दोषावह होता है, 'उपाधेय सांकर्य' नहीं। इसी 'अविमृष्टविधेयांश' को 'एकप्रसरताभङ्ग' शब्द से भी कहा जाता है। जैसे 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' में प्राप्त हुए 'भक्ष' को उद्देश्य कोटि में रखकर ('भक्ष' का अनुवाद कर) 'प्राथम्य' का यदि विधान किया जाय तो एकार्थीभाव (इतरान्वयित्व) का भंग हो जायेगा, तब समास करना उचित नहीं होगा और वैरूप्य (विरूपता) का भी प्रसंग प्राप्त होगा। अतः 'एकप्रसरता' के भंग हो जाने के भय से 'भक्ष' की प्राप्ति रहने पर भी 'प्राथम्यविशिष्ट भक्ष' का ही विधान किया जाता है। 'एकप्रसरता' का अर्थ है—'विशिष्ट एक अर्थ' को बताना। 'विधेयत्व' और 'उद्देश्यत्व' का वैशिष्ट्य (विशेष्यविशेषणभाव) नहीं होगा। वह (विशेष्यविशेषणभाव) तभी हो सकेगा, जब 'भक्ष' को भी 'विधेय' मानेंगे। किन्तु उसे 'विधेय' मानने पर एक प्रसरता (वैशिष्ट्य अर्थात् विशिष्ट एक अर्थ) का भंग होगा। अतः 'भक्ष' की प्राप्ति रहने पर भी 'प्राथम्यविशिष्टभक्ष' का ही विधान कर दिया गया है॥ १५९॥

---

१. एकार्थीभावो नाम यदितरान्वयितयैवोपस्थितिः। एवं च उपसर्जनत्वमितर-विशेषणतयैवोपस्थितिविषयत्वम्।

यथा वा—

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥ १६० ॥
अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम् , मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः ।

पूर्व उदाहरण (श्लो० १५६) में 'विधेय पद' को बहुव्रीहिसमास में रखने से 'अविमृष्टविधेयांश' दोष हो गया था। अब प्रस्तुत उदाहरण (श्लो० १६०) में 'कर्मधारयसमास' में 'विधेय' पद को रखकर 'अविमृष्टविधेयांश' दोष को दिखा रहे हैं।

यथा वेति । जैसे—

स्रस्तामिति । किस स्थान पर द्रव्य का न्यास (निक्षेप) रखना उचित होगा, यह जाननेवाले (धरोहर रखने के उचित स्थान के मर्मवेत्ता) कामदेव ने पार्वती के नितम्ब-स्थल के पास निक्षेप के रूप में रखी हुई, केसर (मौलसिरी) के पुष्पों की मालारूपकाञ्ची (करधनी), जो उसके धनुष् की मानो द्वितीय प्रत्यञ्चा (मौर्वी) ही हो, वह नितम्ब (कटि) प्रदेश से बार-बार खिसक रही थी, उस करधनी को पुनः पुनः अपनी कटि (नितम्ब) पर चढ़ाती हुई हिमालय-कन्या पार्वती दिखाई दी ॥ १६० ॥

अत्रेति । मौर्वी के 'द्वितीयत्व' मात्र की 'उत्प्रेक्षा' की गई है, उस कारण वह 'विधेय' है । किन्तु उसे 'कर्मधारय समास' के अन्तर्गत कर दिया गया है, जो उचित नहीं है । अतः यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' नामक दोष बन गया है । इस दोष को दूर करने के लिये 'मौर्वीं द्वितीयाम्'—यह पाठ रखना उचित था ॥ १६० ॥

कुमारसंभवमहाकाव्य के तृतीय सर्ग का यह श्लोक यहाँ उदाहरण के रूप में दिया गया है । भगवान् शिव के तपोभंग करने के प्रयास में कामदेव की सहायभूत पार्वती को देखा । कुमारसंभव में महाकवि कालिदास ने अपने अभिप्राय (अदृश्यत स्थावर-राजकन्या) को 'कुलक' के द्वारा आरंभ कर पार्वती का वर्णन किया है ।

'न्यासीकृताम्'—में 'न्यास' का अर्थ है—'पुनर्ग्रहणाय समर्पितं द्रव्यं, तदेव निक्षेप इत्युच्यते' पुनः वापस लेने के लिए समर्पित द्रव्य (वस्तु) को न्यास अथवा निक्षेप कहते हैं । 'न्यासीकृताम्' में 'अभूततद्भावे च्विः'—से 'च्वि' प्रत्यय, 'अस्य च्वौ'—सूत्र से 'अवर्ण' को 'ईकार' हुआ है ।

'केसरदामकाञ्ची' के निक्षेपार्थ, अन्य किसी को न चुनकर पार्वती को (पार्वती के 'नितम्ब भाग' को) ही उसने क्यों चुना ?

कवि ने ही उत्तर दिया कि 'स्थानविदा स्मरेण' । कामदेव समझ रहा है कि 'पार्वती' ही मेरा 'अस्त्र' है । अतः अपनी 'मौर्वीस्थापन का स्थान', उसी को बनाना उचित होगा, अथवा कदाचित् मैं नष्ट भी हो जाऊँ, तो भी इसी के द्वारा 'शिव' को वश कर लूँगा, अथवा—'आश्रयगुणप्रकर्षेण, आधेयगुणप्रकर्षः'—आधार के गुणप्रकर्ष

के अनुसार ही आधेय के गुणों का प्रकर्ष हुआ करता है—इस नियम के अनुसार 'यही स्थान उचित है'—यह उसने निश्चय किया।

'मौर्वीमिव कार्मुकस्य'–यहाँ पर 'मौर्वी' पद से ही 'कार्मुक' के सम्बन्ध की उपलब्धि हो रही है, अतः 'कार्मुक' पद, 'अपुष्ट' है।

इस उदाहरण में मौर्वीगत केवल 'द्वितीयत्व' की उत्प्रेक्षा की गई है, और वही 'विधेय' है। 'द्वितीय मौर्वीमिवकार्मुकस्य'–में 'इव' को देखकर 'उपमा' नहीं समझनी चाहिये, किन्तु 'न्यासीकरण' में यह 'हेतूत्प्रेक्षा' है। 'अपनी वस्तु' को ही धरोहर रखा जाता है, 'तत्सदृश वस्तु' को नहीं। अतः यहाँ 'उपमा' नहीं हो सकती। 'न्यासीकरण' में हेतु 'द्वितीयत्व' ही है, 'मौर्वीत्व' नहीं, वह तो न्यासीकरण में अप्रयोजक है। 'द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम'–में 'मात्र' पद देकर 'विशिष्टोत्प्रेक्षा' का निरसन किया है। 'कर्मधारय' समास में 'उत्तरपदार्थ' की प्रधानता रहती है। अतः 'विधेयभूतद्वितीयत्व' गौण हो गया है, जिससे उसके 'विधेयत्व' का निर्वाह नहीं हो पा रहा है, इसलिए 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष हो गया है। किन्तु 'मौर्वीं द्वितीयाम्'—यह पाठ कर दिया जाय तो 'प्रतीति' में कोई बाधा नहीं होगी।

शङ्का—यदि 'काञ्ची' में 'द्वितीय मौर्वीत्व'—ऐसी–'विशिष्ट' की ही उत्प्रेक्षा करें तो उक्त दोष नहीं होगा।

समाधान—किन्तु उपर्युक्त आशंका करना उचित नहीं है। किसी अन्य पदार्थ के रहने पर 'एक का न्यासीकरण' उचित रहने से विशेषणांश 'द्वितीयत्व' की प्रधानता तो रहेगी ही। 'मौर्वीत्व' उसकी प्रधानता में प्रयोजक नहीं होगा, क्योंकि 'किसी अन्य सद्वितीय' की भी प्रधानता हो सकती है। अतः उसे, 'वस्तुविशेष' का परिचायकमात्र कहना होगा।

अभिप्राय यह है कि मौर्वीभिन्न जिस किसी भी सद्वितीय पदार्थ का 'न्यासीकरण' करने से 'मौर्वीत्व' को 'न्यासीकरण' का प्रयोजक नहीं कह सकते, किन्तु 'ज्यारूप वस्तु-विशेष' का परिचायकमात्र ही 'उसे' कह सकते हैं। अतः विशिष्ट विधान करने पर भी प्रधानतया विशेषणमात्र को ही कहना होगा।

अत एव 'आकडारादेका संज्ञा'—(पा. सू. १।४।१) इस सूत्र में 'एकत्व' की अप्राधानता की प्राप्ति के भय से समास नहीं किया गया—ऐसा व्याख्याकारों का कहना है। अन्यथा वहाँ भी एकत्र संज्ञो को उद्देश्य बनाकर 'एकत्वविशिष्ट संज्ञा' का बिधान करने पर दोष की संभावना न रहती–ऐसा प्रदीप–सुधासागरकार का कहना है।

चक्रवर्तीप्रभृति व्याख्याकारों का कहना है कि द्वितीयमौर्वीत्वविशिष्ट' को ही 'विधेय' बनाया जाय, जिससे उक्त दोष नहीं होगा।

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि बकुलमाला 'मौर्वी' की आकारवाली होने से 'मौर्वीत्व' तो प्राप्त ही है, अतः 'द्वितीयत्व' ही विधेय है।

यथा वा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ १६१ ॥

अत्रालक्षिता जनि'रिति वाच्यम् ।

किन्तु यह समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि तब 'द्वितीयत्व' भी प्राप्त रहने से 'उत्प्रेक्षा की संभावना ही नहीं की जा सकेगी।

वास्तविकता तो यह है कि 'कामु`क' पद की सन्निधि से 'मौर्वी' के 'आरूढत्व' का बोध होता है। उस कारण 'धनुष् पर आरूढ हुई मौर्वी' में ही वशीकरणरूप कार्यकारित्व के रहने से 'अन्यत्वेन'–अन्यरूप से उत्प्रेक्षा की गई है। जैसे—'अयं राजा, अपरः पाकशासन इव'—यह राजा, मानो दूसरा इन्द्र ही है–यह उत्प्रेक्षा की जाती है। अथवा जैसे—राजकर्म के सम्पादक प्रतिनिधि महापात्र के विषय में प्रजा 'उत्प्रेक्षा' (संभावना) करती है कि 'मानो यह दूसरा, सिंहासनारूढ राजा ही राजकर्म कर रहा है।

बहुव्रीहि समास में ही जहाँ 'तद्धितार्थ' गुणीभूत हो जाता है, ऐसे अन्य पदार्थ में, 'विधेय पदार्थ' जब गौण हो जाता है, तब 'अविमृष्टविधेयांश' (विधेयाऽविमर्श) दोष होता है।

यथा वेति। अथवा जैसे—समासगत–'अविमृष्टविधेयांश' का एक अन्य उदाहरण।

वपुरिति। हे बालमृग के समान नेत्रों वाली पार्वती ! कन्या और बन्धुओं के द्वारा 'वरणीय वर' में जो बातें रूप, कुल, धन आदि खोजी (देखी) जाती हैं, वे सभी अथवा उनमें से एक भी क्या उस 'शिव' में है ? उस 'शिव' को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए जो तुम इतनी कठोर तपस्या कर रही हो। अपेक्षणीय बातों में से उस शिव में एक बात भी नहीं है, उसी को एक-एक करके बता रहे हैं—

जिसका शरीर 'विरूपाक्ष' है, अर्थात् उसके शरीर में 'तीन नेत्र' (विरूपाक्ष) हैं, जिसका जन्म अलक्ष्य है, अर्थात् उनके माता-पिता का किसी को ज्ञान नहीं है, कहाँ, किस कुल में किससे पैदा हुए ? इस बात का किसी को भी पता नहीं है, और दरिद्रता के कारण नंगे रहते हैं, इसी से उनके धन की सूचना मिल जाती है, अर्थात् खाने-पीने तक का कोई साधन उनके पास नहीं है। ऐसी स्थिति में 'वर' में रूप, कुल और धन आदि जो बातें माता-पिता तथा कन्या के द्वारा भी देखी जाती हैं, उनमें से कोई एक भी बात क्या उस तीन आँख वाले (त्रिलोचन) में है ? अर्थात् एक भी नहीं है, तो सभी बातों का एक साथ होना तो दूर ही रहा। तब तुम उसके लिए क्यों इतनी आकुल-व्याकुल हो रही हो ? ॥ १६१ ॥

कुमारसंभव काव्य के पञ्चम सर्ग का पद्य, उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्मचारी बटु का वेष धारण किये हुए 'शिव' ही पार्वती के सङ्कल्प की दृढता

यथा वा—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त-
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता
तान्तिं तनोति तव सम्प्रति धिग् धिगस्मान् ॥ १६२ ॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः ।

के परीक्षणार्थं उसे कह रहे हैं। 'बालमृगाक्षि' इस सम्बोधन के द्वारा पार्वती जैसी सुन्दरी के द्वारा विरूप वर की इच्छा करने का अनौचित्य व्यञ्जित किया है। विवाह के समय 'वर' में कौन-कौन व्यक्ति किन-किन बातों को देखता है, उसे एक पद्य के द्वारा ही किसी ने व्यक्त किया है—

"कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥"

अत्रेति। इस उदाहृत पद्य के द्वारा 'वर' में अपेक्षणीय धर्मों (बातों की) विफलता प्रदर्शन के प्रस्ताव से 'जन्म' में 'अलक्ष्यत्व' का विधान करना चाहते हैं। परन्तु वह जन्मगत 'अलक्ष्यत्व' समास में 'गुणीभूत' हो गया है, अतः वह 'विधेय' नहीं बन सकता इसलिए—'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष है।

इस पर यदि कोई कहे कि उक्त दोष को दूर करने के लिए कैसे पढ़ना चाहिए ? यह आशंका होने पर शिष्यशिक्षार्थं कहते हैं—अत्रेति। यहाँ पर 'अलक्षिता जनिः' कहना चाहिए। 'जनिः' अर्थात् उत्पत्तिः 'अलक्षिता' अर्थात् न ज्ञाता।

शङ्का—'अलक्षिता जनिः'—यह पाठ कर देने पर 'पौर्वापर्यविपर्यय' के रहने पर भी 'समासनिबन्धन अप्राधान्य' तो दूर हो जाता है। किन्तु 'पददोष' के दूर होने पर भी 'वाक्यविधेयाविमर्श' तो दूर नहीं हुआ, वह तो पूर्ववत् ही रहा।

समाधान—केवल पददोषोद्धार के अभिप्राय से ही ग्रन्थकार ने यह पाठकल्पना की है। अन्यथा—'अलक्षित' का पहले उपादान करने से 'वाक्यगतविधेयाविमर्श' तो पूर्ववत् ही अवस्थित रहता है। यह 'समाधान' सारबोधिनीकार ने दिया है। वस्तुतः त्रिलोचन शिव का जन्म ही असिद्ध रहने से 'विशिष्ट अलक्षित जन्म' की विधेयता होने के कारण 'अलक्षित' विशेषण का पूर्वोपादान करना उचित ही है, इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'अलक्षिता जनिः' पाठ की कल्पना की है, जो उचित प्रतीत हो रही है। यह भी बहुव्रीहि समास का उदाहरण है।

यह उदाहरण 'नञ् समास' में 'विधेय' का गुणीभाव हो जाने से 'अविमृष्टविधेयांश' का है।

यथा वेति। जैसे—

विरक्त नायक से नायिका की सखियाँ कह रही हैं—आनन्दसिन्धुरिति। जो आपके लिए कभी आनन्द की सिन्धु (समुद्र) थी, जो आपके अत्यन्त चपल चित्त को चपलता

से रोकने का एकमात्र स्थान थी, और जिसे आप क्षणभर के लिए भी कभी नहीं छोड़ते थे, किन्तु आज उसके समाचार जानने की चिन्ता, आपको हर-समय दीन-हीन बना दे रही है, अर्थात् 'चिन्ता' आपकी ग्लानि का कारण बन रही है, और हम सखियाँ, कुछ नहीं कर पा रहीं हैं, अतः धिक्कार है, हमलोगों को ॥ १६२ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'न मुक्ता'—यह निषेध 'विधेय' है। अर्थात् 'नञ्' के साथ समास न होने पर 'न मुक्ता'—यह निषेध 'विधेय' की कोटि में आसकता है। किन्तु नञ् के साथ समास कर देने पर—'निषेध' गौण (गुणीभूत) हो जाने से उसकी (निषेध की) 'विधेयता' प्रतीत नहीं हो पाती। अतः 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष हो गया है। विवक्षित 'विधेयता' की अनुपपत्ति ही यहाँ दूषकता में बीज है। इसी अभिप्राय से वृत्तिकार ने 'न मुक्ता'—इति निषेधो विधेयः'—कहा है।

अभिप्राय यह है कि यहाँ अवान्तर वाक्य में 'अमुक्ता' पद से 'नवजलधरः संनद्धोऽयम्' (श्लो० १६३) इस वक्ष्यमाण पद्य में जैसे 'प्रसज्यप्रतिषेध' को विधेय माना गया है, वैसे ही यहाँ भी 'प्रसज्यप्रतिषेध' को ही विधेय कहना चाहिए। क्योंकि 'जुगोपात्मानमत्रस्तः' (श्लो. १६४) इस वक्ष्यमाण पद्य में जैसे 'अत्रस्तत्व'-आदि को 'उद्देश्य' करके 'गोपन' आदि के समान यहाँ 'अमुक्तता' को उद्देश्य कर, अन्य कुछ 'विधेय' बताने के लिए नहीं है।

एवं च 'मुक्ता न भवति' यही अर्थ यहाँ विवक्षित है, किन्तु 'नञ् समास' कर देने से उस 'विवक्षित अर्थ' की यहाँ प्रतीति नहीं हो पा रही है।

किञ्च–समास करने पर 'नञ्' का अर्थ–'प्रसज्यप्रतिषेध' नहीं हुआ करता, अपितु 'पर्युदास' ही उसका अर्थ होता है। कहा भी है—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥'

अर्थात् 'भेदप्रतियोगी विधि' का जहाँ 'प्राधान्य' (विशेष्यता) रहे, और 'नञर्थ' जो प्रतिषेध' है, उसका 'अप्राधान्य' रहे, वहाँ 'पर्युदास' समझा जाता है। यह स्थिति कब होती है? यह प्रश्न उपस्थित होने पर, कहा गया है कि 'यत्रोत्तरपदेन नञ्'—उत्तर पद के साथ जुड़ा हुआ जब 'नञ्' हो, अर्थात् 'समस्तनञ्' हो। 'उत्तरपद' शब्द 'समास के चरमावयव' का वाचक है (समास के चरमावयव में रूढ है)।

जैसे 'अब्राह्मणमानय'—यहाँ पर 'अब्राह्मण' का अर्थ 'आरोपितब्राह्मणत्वविशिष्ट' किया जाता है, अर्थात् 'ब्राह्मणभिन्न-ब्राह्मणसदृश-क्षत्रियादिक' को लाना–यह अर्थ समझ में आता है। इसी अभिप्राय से महाभाष्यकार ने "भृशादिभ्यो भुवि"—(पा. सू. ३।१।१२) सूत्र पर कहा है—"अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृश एवानीयते, नासौ लोष्टमानीय कृतीभवति" इति।

कुछ व्याख्याकार 'पर्युदास' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—जहाँ 'विधेः' कर्तव्य की 'प्रधानता' रहे, और 'निवर्तनारूपप्रतिषेध' की 'अप्रधानता' (अविवक्षा) रहे, वहाँ 'पर्युदास' हुआ करता है। जैसे—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'—यहाँ पर 'अनीक्षण संकल्परूप कर्तव्य' की प्रधानता रहने से और 'ईक्षणप्रतिषेध' की अविवक्षा होने से 'पर्युदास' माना जाता है। 'नञ्' की कैसी स्थिति रहने पर 'पर्युदास' माना जाता है? उत्तर में कहा है—'यत्रोत्तरपदेन नञ्'। 'उत्तरपदेन' का अर्थ करते हैं—स्वोत्तर-नामधात्वन्यतरपदार्थेन'—'स्व' पद से 'नञ्' का ग्रहण करना है। तब 'नञ्' के आगे (उत्तरवर्ती) स्थित 'नाम' या 'धातु' दोनों में से किसी एक के साथ (अन्यतर), उसका (नञ् का) सम्बन्ध किया जाता है, तब 'पर्युदास' होता है। समास के अन्तर्गत 'नञ्' के रहने पर ही—'नञ्' का अर्थ—'पर्युदास' होता है। किन्तु 'प्रसज्यप्रतिषेध' 'असमास' में ही होता है। अर्थात् 'नञ्' जब समासान्तर्गत (समस्त) नहीं रहता, तब 'वह' प्रतिषेधार्थक हुआ करता है।

इसके विषय में भी कहा है—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥'

अर्थात् जहाँ 'विधि' की अप्रधानता और 'प्रतिषेध' की प्रधानता रहती हो वहाँ 'नञ्' का अर्थ—'प्रसज्यप्रतिषेध' होता है। उस समय वह 'नञ्' क्रियान्वयी अर्थात् क्रिया के साथ अन्वित (सम्बद्ध) रहता है। उस कारण वह (नञ्), धात्वर्थ रूप—'क्रियाभाव' का बोध कराता है।

जैसे—'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति? 'कलञ्ज' शब्द का अर्थ, इस प्रकार बताया गया है—

'विषसम्पृक्तबाणेन हतौ यौ मृगपक्षिणौ।
तयोर्मांसं कलञ्जं स्याद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥'

तथा च—प्रसज्यप्रतिषेध में 'भवति' क्रिया के साथ अन्वय रहने से असामर्थ्य के कारण 'मुक्ता' पद के साथ समास नहीं होगा। एवं च 'समस्त नञ्' पर्युदासार्थक ही होता है, तब 'अश्राद्धभोजी में 'प्रसज्यप्रतिषेध' का लाभ कैसे हो सकेगा? तथा 'असूर्यंपश्या' आदि उदाहरणों की तरह 'अश्राद्धभोजी' का अर्थ—'श्राद्धात् इतरभोजित्व' नहीं किया जाता। क्योंकि 'भोजन' की प्राप्ति तो 'रागतः' रहती है। अतः 'भोजन' को 'व्रतरूप' नहीं कह सकते। 'व्रतरूप' न होने से व्रताधिकार में पठित 'णिनि' प्रत्यय करना अनुपपन्न होगा, किन्तु 'अश्राद्ध' उपपद रहने से वह 'श्राद्धभोजनाऽभाव' व्रतरूप ही है। अतएव 'णिनि' प्रत्यय अनुपपन्न नहीं हो रहा है।

किन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि 'पर्युदासार्थक नञ्' से प्रसज्यप्रतिषेध का आक्षेप किया जाता है। 'अश्राद्धभोजी' का वाच्यार्थ—'श्राद्धभोजिभिन्न' होता है।

उससे 'श्राद्धभोजनाभाववत्त्व' का आक्षेप किया जाता है। 'णिनि'—प्रत्ययविधायक सूत्र का अर्थ है कि 'व्रत' गम्यमान रहने पर 'णिनि' किया जाता है। 'णिन्यन्त' के साथ नञ् समास करने पर उसकी (व्रत की) गम्यता होती है। वस्तुतः 'असूर्यंललाटयोः'—(पा० सू० ३।२।३६) इस पाणिनिसूत्र के ज्ञापक होने से असामर्थ्य में भी क्वचित् अर्थात् सूर्यं न पश्यन्तीति 'असूर्यंपश्याः राजदाराः' की तरह 'अश्राद्धभोजी' इत्यादि में भी समास हो सकता है। तो प्रकृत प्रसंग में भी वैसा किया जाय ? यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि वैसा करने पर भी उससे सहृदयों का 'वैमुख्य' टल नहीं सकता। अतः 'अशब्दोऽयं निषेधार्थकः, तेन असमास एव' यह कहना निरस्त हो जाता है। समास में सन्देह रहने से पर्युदास में भी सन्देह होना स्वाभाविक है, उस कारण पौर्वापर्यविपर्यय का परिहार नहीं हो पाता है। इसी अभिप्राय को सारबोधिनीकार ने भी कहा है—"नन्वत्र नञभिन्नस्याकारस्य निषेधार्थकत्वात् समासाभावेन नात्रायं दोष इति चेन्न। एवमपि पर्युदाससन्देहाऽनपायात् नञभिन्नस्याकारस्याऽसत्त्वाच्च। 'अमानोनाः प्रतिषेधे' इत्यस्य समासाऽसमासभेदेन द्वैविध्यकथनपरत्वात्।" इस प्रकार 'द्वितीयमौर्वीम्' में विशिष्ट को विधेय बनाने पर भी वहाँ प्रसिद्ध सादृश्य के कारण प्रधान मौर्वीत्व प्राप्त होने से प्राप्ताऽप्राप्तविवेकन्याय' से 'द्वितीयत्व' में पर्यवसान होने से शब्दतः गुणभूत हुए 'द्वितीयत्व' को न्यासीकरण में हेतु कहने पर सहृदयों की विमुखता ही दूषकता का कारण (बीज) बन जाती है, यह समझना चाहिए।

शंका—इस परिस्थिति में 'फल' की विलक्षणता न रहने से 'पर्युदास' के निमित्त 'अमुक्तत्व' को ही विधेय' मान लिया जाय।

समाधान—ऐसा तभी हो सकता है, जब 'क्षणमपि' के साथ 'अमुक्तत्व' का सम्बन्ध किया जा सके। किन्तु 'वह सम्बन्ध' तो 'अमुक्तत्व' के प्रतियोगी 'मुक्तत्व' के ही साथ विवक्षित है।

किञ्च—पर्युदास में वैसा होना संभव नहीं है, क्योंकि समास में 'एकार्थीभाव' होता है। अतः 'एकदेश' में अन्वय नहीं किया जा सकता। 'विशिष्ट' (आरोपित-मुक्तत्व) के साथ ही अन्वय होता है।

शंका—'पर्युदास' में यदि वैसा होना संभव नहीं है, तब तो 'विधेय' की उपस्थिति की वहाँ आवश्यकता ही नहीं है, अतः 'अविमृष्टविधेयांश' दोष होगा ही नहीं।

शंका—'सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादोभवान्याः-(श्लो० १५०) यहाँ 'धारण' अर्थ को बताने में जैसे 'विदधत्' पद 'अवाचक' है, उसी तरह प्रकृत प्रसंग में भी 'अमुक्त' पद को भी 'अवाचक' ही मान लीजिए. क्योंकि 'समासे खलु भिन्नैव शक्तिः'—समास में पृथक् ही शक्ति होती है—इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ 'अमुक्त' पद अर्थान्तर में निरूढ हो गया है।

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः। यथा—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी॥ १६३॥

इत्यत्र, न त्वमुक्तानुवादेनान्यदत्र किञ्चिद्विहितम्।

समाधान—अर्थान्तर में निरूढ होने पर भी उसका 'प्राधान्येन अनिर्देश' तो बना ही रहा, उसमें कोई क्षति नहीं हुई। अतएव (१५ अविमृष्टविधेयांशम' की) वृत्ति में 'प्राधान्येन अनिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र' अर्थात् प्रधानतया अनिर्दिष्ट है विधेयभूत अंश जिसमें, यही कहा गया है, न कि 'अप्रधानतया निर्देश'।

शंका—तब तो 'विदधत्'—इस अवाचक पद का भी इसी में 'अन्तर्भाव' कर देंगे।

समाधान—'अन्तर्भाव' नहीं कर सकेंगे, क्योंकि प्रधानतया अनिर्दिष्ट रहने पर भी उसका वह 'अर्थ' विधेय नहीं है।

शंका—'अमुक्ता'–इस अविमृष्टविधेयांश का 'अवाचक' में प्रवेश मान लिया जाय।

समाधान—उसका 'अवाचक' में प्रवेश नहीं मान सकते, जब दोनों का असंकीर्ण-स्थल (शुद्ध स्थल) का संभव हो, तब किसी संकीर्ण स्थल में भी (संकर में भी) 'दोष का अभाव' माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। यहाँ विवक्षित उद्देश्य-विधेय भावरूप अर्थ की प्रतीति न हो पाना ही दूषकता में कारण (बीज) है। अतः यह 'नित्यदोष' है। वाक्यार्थ की प्रतीति में 'विशेष्य-विशेषणभाव' की तरह 'उद्देश्य-विधेयभाव' की भी प्रतीति हुआ करती है। यद्यपि वह अपदार्थ है, तथापि 'विषयता-विशेषरूप' है। चक्रवर्तिभट्टाचार्य कहते हैं कि 'अनूद्यविधेयभावः (उद्देश्य-विधेय-भावः) संसर्गो विशेष्य-विशेषणभाव इव अपदार्थोऽपि वाक्यार्थप्रतीतौ भासते'।

कुछ व्याख्याकारों का कहना है कि वह भी 'पदार्थ' ही है। 'उद्देश्यत्व' और 'विधेयत्व'—'विशेष्यत्व–विशेषणत्वरूप' हैं अथवा 'तत्समनियत' ही हुआ करते हैं। किन्तु उनकी यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि 'पर्वते वह्निः' इत्यादि स्थल में उसका व्यभिचार दिखाई देता है। 'अभवन्मत' और 'अविमृष्टविधेयांश' दोनों में भिन्नता है, दोनों को एक ही नहीं समझना चाहिए, क्योंकि–'अभवन्मतयोग' में तो पदार्थों का 'परस्पर सम्बन्धरूप अन्वय' भी भासित होता है, किन्तु यहाँ भासित नहीं होता॥ १६२॥

'निषेध' रूप अर्थ की प्रधानता रहने पर (निषेधरूप अर्थ यदि विधेय रूप में विवक्षित होने पर) 'नञ् समास' नहीं किया जाता (समासाऽभाव रहता है), इसी को दृष्टान्त के द्वारा बता रहे हैं—यथेति। जैसे—

यथा—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ १६४ ॥

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक का यह पद्य है। पुरूरवा राजा को ऊर्वशी के विरह में दिखाई पड़ रहे मेघ आदि में अनेक भ्रम होने के पश्चात् जब विशेषदर्शन होता है, तब वह कह रहा है—नवजलधर इति। आकाश में उठा हुआ यह तो नूतन जलधर है, वह कोई क्रुद्ध राक्षस नहीं है, यह दूर तक खींचा हुआ इन्द्रधनुष है, वह उस राक्षस का धनुष नहीं है. यह जल की धाराओं का तीव्र वर्षण है, वह उस राक्षस की बाणपरम्परा नहीं है, और सुवर्ण के निकष (कसौटी) की रेखा के समान यह दीप्तिमती विद्युत् है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है ॥ १६३ ॥

इत्यत्रेति। इस उदाहरण में समासरहित प्रसज्यप्रतिषेधार्थक 'नञ्' का प्रयोग किया गया है। अतः यहाँ पर जैसे 'निषेध' विधेय है, उसी तरह 'आनन्दसिन्धुः' इस उदाहरण में भी 'निषेध' को ही 'विधेय' होना चाहिए था, तभी 'अविमृष्टविधेयांश' दोष नहीं हो सकेगा।

शंका—जैसे 'जुगोपात्मानमत्रस्तो०' (श्लो० १६४) पद्य में 'अत्रस्तत्व' को अनुवाद्य (उद्देश्य) माना है, वैसे ही 'क्षणप्यमुक्ता'—(श्लो० १६२) में भी 'अमुक्तत्व' को यदि अनुवाद्य हो मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'क्षणमप्यमुक्ता'—(श्लो० १६२) में 'अमुक्तत्व' का अनुवाद करके अन्य कोई 'विधेयान्तर' उपलब्ध नहीं है ॥ १६३ ॥

यथेति। जैसे—

जुगोपेति। वह राजा दिलीप निर्भयता के साथ अपनी रक्षा करता था, नीरोग रहकर धर्म का सेवन करता रहता था, लोभरहित रहकर अर्थ (धन) का आदान (ग्रहण) किया करता था, और अनासक्तभाव से सुख का अनुभव करता था ॥ १६४ ॥

इत्यत्रेति। इस पद्य में 'अत्रस्तत्व' आदि का अनुवाद करके 'अपनी रक्षा करना' आदि विधेय है। उसी तरह पूर्वोक्त पद्य में 'अमुक्तत्व' का अनुवाद कर 'विधेय' बताने के लिए कुछ भी नहीं है।

'जुगोप०'—(श्लो० १६४) यह पद्य, रघुवंश के प्रथम सर्ग का है। इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि 'अत्रस्तोऽपि त्रस्तवत् सम्यक्तया सदैव आत्मानं जुगोप।' इससे 'नयप्रकर्ष' की प्रतीति होती है। वृत्ति लिखते हुए 'अत्रस्तत्वादि०' से यह बताना चाह रहे हैं कि यहाँ पर्युदास करने पर गुणीभूत 'निषेध' अनुवाद्य है, 'विधेय' नहीं है, और 'आत्मगोपन'—आदि 'विधेय' है। इस तरह 'आनन्दसिन्धुः' पद्य में अन्य कोई विधेयान्तर न होने से 'निषेध' ही विधेय है।

प्रदीपकार ने भी यही कहा है—

"इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेन आत्मगोपनादिवत् अमुक्ततानुवादेन न किञ्चिद् विधेयमस्ति। न च समासे नञः प्रसज्यप्रतिषेधोऽर्थः, किन्तु पर्युदास एव" इति। निष्कर्ष यह है कि 'जुगोपात्मान-' में 'अत्रस्त' पद से 'निषेध' का अभिप्राय 'नञ्' समास में गौण (अप्रधान) भले ही अवगत हो रहा हो, तथापि 'विधेयाऽविमर्श' दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर 'अत्रस्त' को उद्देश्य बनाकर 'जुगोप' को विधेय के रूप में रखा गया है। किन्तु 'आनन्दसिन्धुः' में 'अमुक्ता' को उद्देश्य के रूप में रखा तो है, परन्तु उसके लिए 'विधेय' के रूप में 'किसी को नहीं रख पा रहे हैं। अतः 'विधेयाऽविमर्श' दोष वहाँ से नहीं हट पा रहा है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वाक्य के दो अंश होते हैं—(१) उद्देश्य और (२) विधेय। उनमें 'विधेय अंश' (साध्य अंश) हमेशा प्रधान रहता है। कुमारिलभट्टपाद अपने तन्त्रवार्तिक में कहते हैं—

'यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता॥'

अर्थात् उद्देश्य और विधेय दोनों अंशों का उपस्थापन पृथक्-पृथक् पदों से करना आवश्यक है। समास आदि के द्वारा उन्हें 'गौण' बनाकर रखना नहीं चाहिए। 'पृथक्-पृथक् पदों' के अर्थरूप में यद्यपि 'उद्देश्य-विधेयभाव' की प्रतीति नहीं हुआ करती, तथापि 'वाक्यार्थ प्रतीति' में 'विशेष्य-विशेषणभाव' की तरह उसकी प्रतीति होती है। चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने कहा भी है—"अनूद्यविधेयभावः (उद्देश्य-विधेयभावः) संसर्गो विशेष्य-विशेषणभाव इव अपदार्थोऽपि वाक्यार्थप्रतीतौ भासते"। 'यत्' शब्द से जो प्रतिपाद्य रहता है, वह सिद्ध रूप से प्रतीत होता है, और वह अनुवाद्य रहता है, तथा 'तत्' शब्द से जो प्रतिपाद्य रहता है अथवा 'उद्देश्य' से सम्बद्ध रहता है, वह विधेय रहता है। उद्देश्य' का ज्ञान पहिले होता है, बाद में 'विधेय' का ज्ञान होता है। उद्देश्य-विधेयभाव बताने के लिए 'यत्-तत्' शब्दों का प्रयोग करना सर्वत्र आवश्यक नहीं है, उसके बोधनार्थ, 'यत्-तत्' रूप 'अर्थप्रतीति' का होना ही पर्याप्त है। वह 'अर्थप्रतीति' 'यत्-तत्' शब्दों के प्रयोग के विना स्वभावतः भी होती है। वाक्यरचना के समय 'उद्देश्य-विधेयभाव' का ध्यान अवश्य रखना चाहिए, अर्थात् उद्देश्य का कथन किये विना 'विधेय' का कथन नहीं करना चाहिए। कहा भी है—'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्'।

काव्यनिर्माण के समय छन्दःपरवशता के कारण क्वचित् उक्त नियम का उल्लंघन भी कर दिया जाता है। छन्दोभंग के भय से कभी-कभी कविलोग 'विधेयांश' को समास में भी रख देते हैं, तब 'विधेयाविमर्श' दोष से छुटकारा नहीं मिल पाता। अतएव काव्यप्रकाशकार ने इसे बहुत ऊहापोह से बताया है। निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत प्रसंग में

१६—विरुद्धमतिकृद्यथा—

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥ १६५ ॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम् । अकार्ये मित्रमिति तु प्रतीतिः ।

समासगत 'अविमृष्टविधेयांश' दोष के प्रदर्शित उदाहरणों में 'नञ् समास' की बात चलाई गई है । जब कभी 'नञ्' के साथ समास किया जाता है तब 'नञ्' का 'प्रसज्यप्रतिषेध-वाला रूप' समाप्त हो जाता है और उसका 'पर्युदासात्मकरूप' ही रह जाता है ।

'नञ्' के 'प्रसज्यप्रतिषेधरूप' तथा 'पर्युदासरूप' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्' ॥

जहाँ 'विधि' को प्रधानता न रहकर 'प्रतिषेध' की प्रधानता रहती है, वहाँ 'नञ्' का अर्थ 'प्रसज्यप्रतिषेध' होता है और 'क्रिया' के साथ 'नञ्' का अन्वय (सम्बन्ध) किया जाता है ।

ठीक इसके विपरीत—

'प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्' ॥

जहाँ 'विधि' की प्रधानता रहकर 'प्रतिषेध' की प्रधानता नहीं रहती है, और 'नञ्' का अन्वय (सम्बन्ध), क्रिया के साथ न होकर अपने से 'उत्तरपद' के साथ होता है, वहाँ 'नञ्' का अर्थ 'पर्युदास' होता है ।

उपरि निर्दिष्ट तीन उदाहरणों में से १६३ वें पद्य में—'प्रसज्यप्रतिषेध' के अर्थ में और १६४ वें पद्य में 'पर्युदास' के अर्थ में 'नञ्' का उचित प्रयोग हुआ है, किन्तु १६२ वें पद्य में 'अमुक्ता'—यह पर्युदास के अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग अनुचित हुआ है ॥ १५ ॥

(१६) 'विरुद्धमतिकृत्'—अब 'विरुद्धमतिकृत्' नामक सोलहवें 'पददोष' को बता रहे हैं—'प्रकृतार्थप्रतिबन्धकीभूताऽप्रकृतार्थधीजनकं विरुद्धमतिकृत्' । 'विरुद्धमतिकृत्'—पद उसे कहा जाता है, जो 'विरुद्ध' बुद्धि को पैदा करे । क्योंकि वह, 'पदान्तर' को सन्निधि से 'प्रकृतार्थ' की प्रतीति को तिरस्कृत करनेवाली प्रतीति कराता है । अर्थात् वह पद उस 'अप्रकृत अर्थ' का बोधन कराता है, जो अप्रकृत अर्थ 'प्रकृत अर्थ' की प्रतीति में प्रतिबन्धक है । अतः 'विरुद्धस्य मतिः, विरुद्धा वा मतिः'—में से किसी भी समास को किया जा सकता है ।

यथेति । जैसे—

सुधाकरेति। चन्द्रमा के किरणों के तुल्य निर्मल (निर्दोष) और प्रगल्भ (विशारद) व्यवहार करनेवाला तथा स्वार्थशून्य (अकारण) मित्र वह एक ही (अद्वितीय) है, उसके गुणों का क्या वर्णन किया जाय ? ।। १६५ ।।

अत्रेति। इस उदाहरण में 'अकार्यमित्रम्' पद का प्रयोग किया है। 'अकार्यमित्र' कहकर 'कवि' यह बताना चाह रहा है कि 'बिना किसी अपने कार्य के अर्थात् किसी तरह के अपने 'स्वार्थ' के बिना ही (निःस्वार्थ) मित्र है। परन्तु उसी 'अकार्यमित्रम्' पद से 'अन्य विरुद्ध अर्थ'—बुरे कामों (कार्यों) में सहायक—की भी प्रतीति हुए बिना नहीं रहती। अतः 'अकार्यमित्रम्' पद का प्रयोग, 'विरुद्धबुद्धि' का उत्पादक होने से 'विरुद्धमतिकृत्' दोष से दूषित है।

'विरुद्धमतिकृत' दोष भी दो तरह से हुआ करता है। एक में 'प्रकृत के उपयुक्त-समास' होता है, और दूसरे में 'प्रकृत के अनुपयुक्त समास' होता है।

जैसे—'अकार्यमित्रम्'—यहाँ पर 'कार्यस्य प्रयोजनस्य अभावः'–अकार्यम्, यह 'अर्थाभाव' में 'अव्ययीभाव' समास है, जैसे—'मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्'। अतः 'अकार्यमित्रम्—अकार्यमित्रम्। अर्थात् यही एक ऐसा व्यक्ति है, जो 'अकार्यमित्र' है, यह अर्थ विवक्षित है। यहाँ बिना कार्य के ही अर्थात् किसी तरह के स्वार्थ के बिना ही मित्र है—अतः 'अकार्यमित्रम्-अकार्यमित्रम्' यह मयूरव्यंसकादि समास है, जो 'प्रकृत' के उपयुक्त है।

दूसरा प्रकार यह है—'न कार्यम्–अकार्यम्' यह नञ्समास करने पर 'अकार्य' में (दुष्कर्म, कुकार्य में) मित्र है, अर्थात् सहयोगी है—यह अर्थ भी 'अकार्यमित्र' कहने से निकलता है। इस 'नञ् समास' में–'नञ्' अल्पार्थक है। 'नञ्' के छह अर्थ होते हैं–

"तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट्प्रकीर्तिताः ।।"

इस प्रकार 'नञ् समास' करके जो अर्थ निकल रहा है, वह प्रकृत में अनुपयुक्त है। अतः 'अकार्यमित्रम्' शब्द के श्रवण से प्रकृत अर्थ के विरुद्ध, 'बुद्धि' उत्पन्न होती है।

शंका—'अकार्यमित्रम्' में उक्त दोनों समास क्यों करें, एक समास से 'दूसरे-समास' का बाध कर देंगे।

समाधान—अव्ययीभाव और नञ्समास–दोनों तुल्यकक्ष होने से 'नञ् समास' की भी प्राप्ति है, उस कारण 'अकार्यमित्रम्' सुनने से 'कुकार्य मित्रम्' इस अर्थ की भी प्रतीति होती है

'नञ् समास' से 'अव्ययीभाव' समास का बाध तो होता ही नहीं है। 'नञ्'—(२।२।६) सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदी में कहा है—"अर्थाऽभावेऽव्ययीभावेन सहायं (नञ्समासः) विकल्प्यते, 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्', 'अद्भुताया-मसंहितम्', इति च भाष्यवार्तिकप्रयोगात्। तेन 'अनुपलब्धिः', 'अविवादः',

यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम्॥ १६६॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम्।

'अविघ्नम्', इत्यादि सिद्धम्। अतः दोनों समास तुल्यकक्ष हैं। यह उद्योतकार का अभिप्राय बताया गया है।

सारबोधिनीकार का कहना है कि 'कार्यस्य अभावः अकार्यं, तेन मित्रम् अकृत्रिममित्रम्'—इस प्रकार अव्ययीभाव में 'अकार्यं' पद का 'अकृत्रिमत्व' में अनुसन्धान 'लक्षणा' से करने में विलम्ब लगता है, उसकी अपेक्षा नैयायिक के मत से समास में शक्ति का अभाव रहने से शक्ति और लक्षणा दोनों में से एक का अभाव होने के कारण कर्मधारय से शीघ्र ही 'कुकार्य' की प्रतीति हो जाती है। यहाँ पर 'कर्मधारय' शब्द से 'नञ् तत्पुरुष' का ग्रहण करना चाहिए'—ऐसा वामनाचार्य का मत है। यहाँ पर 'उपश्लोकनविरोधो नञ् समासावयवभूत 'नञ्', अप्रशस्तार्थक है। एवं च प्रकृतानुपयोगी 'नञ् घटितसप्तमीतत्पुरुष' से विरुद्धार्थ की प्रतीति भी होती है। अतः 'विरुद्धमतिकृत्' नाम का पददोष है॥ १६५॥

कहीं पर 'दो पदों' का समास कर देने पर 'विरुद्ध अर्थ' में 'निरूढ पद' की रचना करने से वह समस्त पद, विरुद्धार्थ को बताने लगता है।

यथेति। जैसे—

चिरकालेति। दीर्घकाल के बाद आये हुए, तथा पत्नी के नेत्रों को प्रसन्नता से पूर्ण कर देने वाले पति के गले में पत्नी, सहसैव (तत्काल ही) लिपट जाती है॥ १६६॥

उक्त पद्य में प्रयुक्त 'गलग्रह' शब्द के 'कण्ठालिङ्गन' और 'गलग्रह' रोग, 'गला दबोच देना', 'अर्धचन्द्र' (गर्दनिया अथवा गलबाह) देकर निकाल बाहर करना' इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं।

प्रकृत प्रसंग में 'गलग्रह' शब्द 'कण्ठग्रहण' (आलिङ्गन) के अर्थ में कवि को विवक्षित है, किन्तु 'गलग्रह' पद (शब्द) 'रोगविशेष' में निरूढ (प्रसिद्ध) है। तथा च 'रूढिर्योगमपहरति' इस न्याय से 'कण्ठग्रह' रूप अर्थ का अपहार होकर उससे 'रोगविशेष' की ही प्रतीति होती है। अतः 'गलग्रह' पद 'विरुद्धमतिकृत् है।

अत्रेति। कवि को यहाँ पर 'कण्ठग्रहम्' पद का प्रयोग करना चाहिए था, तब यह दोष न हो पाता। यही व्याख्या सारबोधिनीकार ने की है—"गलग्रहो रोगविशेषः। तत्र समुदाये शक्तिः, आलिङ्गने च योगः, समुदायशक्तेर्बलवत्त्वात् रोगस्यैव प्रतीतिरिति विरुद्धस्य मतिः। न च रूढ्यर्थबोधेऽवयवशक्त्या परिरम्भप्रतीतौ निहतार्थत्वमेव स्यादिति वाच्यम्। विलम्बेनापि गलग्रह-पदात् तदप्रतीतेः, रूढ्या योगप्रतिबन्धात्। 'शोणितादौ (श्लो० १४५) तु अर्थद्वयस्य रूढिसाम्येऽपि भूरिप्रयोगादप्रकृतार्थस्य प्राक् प्रतीतिरिति"।

यथा वा—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मन-
स्तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः ।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथवा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥ १६७ ॥

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति ।

अभिप्राय यह है कि 'गलग्रह' नामक रोगविशेष को पत्नी अपने पति' के गले में पैदा कर देती है। (यह गलग्रह रोग बैलों को हुआ करता है। गले में जूए की रगड़ से वह पैदा होता है)। प्रकृत में भी पत्नी ने (नायिका ने) पुनः-पुनः इतना अधिक आलिंगन किया, जिससे 'पति' (नायक) के गले में 'गलग्रहरोग' उत्पन्न हो गया।

किन्तु उद्योतकार ने इस प्रकार व्याख्या की है कि यहाँ पर 'प्रकरण' की दृष्टि से 'रूढ़ि' की प्रबलता का बाध करके यद्यपि 'योगार्थ' की उपस्थिति होती है, तथापि 'अविवक्षित अर्थ' की व्यञ्जना हो जाती है, जिससे 'विवक्षित अर्थ' का तिरस्कार हो रहा है। इस प्रकार उसका तिरस्कार होना ही यहाँ 'विरोध' पदार्थ है। अतएव 'प्रकरण की उत्कटता' में निहतार्थ को दोषावह नहीं माना जाता।। १६६ ॥

क्वचित् पद्यगत 'शब्द' (पद) को विवक्षित 'विशेष अर्थ परक' मानने में वह 'शब्द' (पद) व्यर्थ हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है, उस कारण उस शब्द (पद) को 'अविवक्षित विशेष अर्थपरक' मानना आवश्यक हो जाता है, तब वह शब्द, 'विरुद्धबुद्धि' को पैदा करता है। अतः वह 'विरुद्धमतिकृत्' हो जाने से 'विरुद्धमतिकृत्' दोष हो जात है। उसी का 'यथा वा' कहकर उदाहरण दे रहे हैं—

न त्रस्तमिति। सर्वविजयी देवाधिदेव महादेव के 'अजगव' संज्ञक धनुष का भंग करने वाला 'राम' उन महादेव जी से नहीं डरा। संभवतः वह इसलिए नहीं डरा होगा कि जोवों पर अनवरत दया करने की दीक्षा ग्रहण करने के कारण शान्तस्वभाव वाले उनसे (महादेव से) क्या डरना? और उनके पुत्र 'स्कन्द' से भी वह नहीं डरा, जो स्कन्द, सम्पूर्ण जगत् का आस्कन्दन करने में (अखिल विश्व को रौंद देने में) समर्थ और देव-सेना के सेनापति हैं, उनसे भी नहीं डरा। संभवतः इसलिए उनसे नहीं डरा होगा कि उस मदान्ध तारकासुर के वध से समस्त विश्व को ही जिसने आनन्दित कर दिया था। उस कारण उस विश्व के आनन्ददायक से भी क्या डरना? किन्तु उस स्कन्द के ही तुल्य अथवा धनुर्वेद में उनका एकमात्र प्रिय शिष्य मुझ परशुराम को वह कैसे भूल गया? अर्थात् मेरा भय भी उसे नहीं लगा?। १६७ ॥

अत्रेति। इस पद्य में प्रयुक्त 'भवानीपति' शब्द, 'विरुद्धमतिकृत' दोष से दूषित हो गया है, क्योंकि 'भवस्य (शिवस्य) पत्नी भवानी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार महादेव (शिव) और पार्वती का जो 'पति-पत्नी सम्बन्ध' है, वह तो 'भवानी' शब्द (पद)

यथा वा—

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥ १६८ ॥

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति ।

से ही स्पष्ट प्रतीत होता है । इस परिस्थिति में 'भवानी' के साथ पुनरपि 'पति' शब्द को जोड़कर कवि ने 'भवानीपति' शब्द का जो प्रयोग किया है, उससे भवानी (पार्वती) के किसी अन्य 'पति' की प्रतीति हो जाती है । अतः कवि के द्वारा 'भावानीपति' पद का प्रयोग करना, विरुद्धमतिकारी होने से 'विरुद्धमतिकृत्' दोष हो गया है ॥

विवरण—इस पद्य में कवि को 'शिव' वाचक केवल 'भव' शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए था, किन्तु उसने 'भवानीपति' शब्द का प्रयोग किया है । 'भवानी' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार होती है—'भवस्य महादेवस्य पत्नी' इस अर्थ में "पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० सू० ४।१।४८) सूत्र से 'भव' शब्द के आगे 'ङीष्' प्रत्यय और "इन्द्रवरुणभवशर्व०"–(पा० सू० ४।१।३०) सूत्र से 'आनुक्' आगम करने पर 'भवानी' शब्द निष्पन्न होता है । उस कारण 'भवानी' का अर्थ 'भव' (शिव) की पत्नी' होता है इस स्थिति में 'भवानीपति' कहने से 'देवदत्तपत्न्याः पतिः' अर्थात् देवदत्त की पत्नी का पति' के समान 'भवानी' के पत्यन्तर (अन्यपति) की प्रतीति होती है । एवं च आराधनीय भगवती की इस प्रकार से प्रतीति होना, आतङ्क अधर्मदायक ही कहा जायगा । इस प्रकार की 'विरुद्धमति' होने से यहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष हो गया है । प्रदीप और उद्योतकार ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है ।

कुछ व्याख्याकारों का कहना है कि 'भवानी' शब्द से 'दुर्गात्वप्रकारक' ही बोध होता है, अन्यथा 'भवानी, अपर्णा, दुर्गा' शब्दों का पर्यायत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा । यौगिक व्युत्पत्ति तो 'शब्दसाधुत्वार्थं' है । इसी प्रकार 'पङ्कज' आदि शब्दों में भी समझना चाहिए । एवं च 'भवानी' शब्द 'दुर्गात्वविशिष्ट' में रूढ ही है । अतः इस पद्य में उक्त दोष नहीं है ॥ १६७ ॥

कहीं पर समस्यमान दो पदों में समास तो एक ही है, किन्तु वे पद 'नानार्थक' हैं, उस कारण वे 'विरुद्धमतिकृत्' (विरुद्ध बुद्धि के जनक) हो जाते हैं ॥ १६७ ॥

उसी को अब ग्रन्थकार बता रहे हैं—

यथा वेति । अथवा इसी विरुद्धमतिजनकता का चतुर्थ उदाहरण, जैसे—

गोरिति । जिनके वाहनभूत नन्दी के समीप गिरिसुता पार्वती का वह अतिक्रूर सिंह भी अपने अहंकार को त्याग देता है, वे अम्बिकारमण महादेव जी तुम लोगों की रक्षा करें ॥ १६८ ॥

अत्रेति । यहाँ 'अम्बिकारमण' पद, 'माता का जार'–इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराकर 'विरुद्ध बुद्धि' को पैदा कर रहा है ।

(समासेऽपि श्रुतिकट्वादयः पददोषाः)

श्रुतिकटु समासगतं यथा—

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्लादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ।। १६९ ।।

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

विवरण—इस पद्य में समस्यमान 'अम्बिका' और 'रमण' दोनों पद 'नानार्थक' हैं। 'मृडानी चण्डिकाम्बिका'' इस अमरकोषवचन के अनुसार 'अम्बिका' पद का अर्थ 'गौरी' होता है। उसी तरह "अम्बा माता'' इस अमरकोष के अनुसार और 'अम्बैव अम्बिका' इस व्युत्पत्ति से 'अम्बिका' शब्द का अर्थ 'माता' भी होता है। अतएव "अम्बिका पार्वतीमात्रोधृ॑तराष्ट्रस्य मातरि" यह कोशवचन भी है।

एवं 'रमण' पद का अर्थ 'प्रीतिकर' होता है। उसी तरह 'जार'–यह असभ्य अर्थ भी 'रमण' पद का हुआ करता है।

तथा च 'अम्बिकारमण' पद से 'गौरीपति'–अर्थ की तरह 'मातृपति' अर्थ भी प्रतीत होता है। अतः विरुद्धमतिकारिता (विरुद्धमतिकृत्त्व) दोष हो रहा है। सार यह है—'अम्बिकारमण' कहने से 'गौरी-प्रीतिकर' अर्थात् 'गौरीपति'––अर्थ की जैसी प्रतीति होती है, वैसे ही 'मातृस्वामी'—अर्थात् 'मातृपति'–अर्थ की भी प्रतीति होती है। 'अम्बिका' शब्द के मातृवाचक होने में नृसिंहपुराण का यह वचन है—"शक्तित्वाल्लोक-मातृत्वादम्बिका त्वं भविष्यसि" । एवं च 'विवक्षित अर्थ के तिरस्कारक अर्थ की उपस्थिति होना' ही यहाँ दूषकता का बीज है। अतः जहाँ 'विरुद्ध अर्थ' ही विवक्षित रहे, वहाँ यह दोष नहीं होता है। 'अभवन्मत' दोष में इष्टान्वयाऽबोधः—इष्टान्वय का बोध नहीं होता है और यहाँ 'विरुद्धमतिकृत्त्व' में तो 'अनिष्ट बोधः'–'अनिष्ट' का बोध होता है—ऐसा कमलाकरभट्ट कहते हैं ।। १६८ ।।

'श्रुतिकट्विति । अब ग्रन्थकार 'समास' में 'श्रुतिकटु' का उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं।

यथेति । जैसे—

सा दूरे चेति । विरही राघवेन्द्र रामचन्द्र कह रहे हैं—जिसकी आँखें मानों अमृत से भरी हुई हैं, तथा तरङ्ग की तरह चञ्चल हैं, वह जानकी दूर है, और मयूरों के केकारव को आरम्भ कराने वाला वर्षाकाल उपस्थित हो गया है ।। १६९ ।।

इस पद्य में 'बर्हिनिर्ह्लादनार्हः'––यह समस्त-पद 'श्रुतिकटु' है। एवमिति। इसी प्रकार अन्य दोषों के समासगत उदाहरणों को भी जानना चाहिए ।। १६९ ।।

विवरण—सप्तम उल्लास के आरम्भ में ही (७२) वें सूत्र के द्वारा 'क्लिष्ट', 'अविमृष्टविधेयांश' और 'विरुद्धमतिकृत्'–ये तीन दोष, 'समासगत' होने पर ही होते हैं––यह नियम कर देने से 'श्रुतिकटु' प्रभृति पदों में उपयुक्त नियम के अभाव की

(वाक्यगतश्रुतिकटुत्वादिदोषाः)

(७४) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

केचनः, न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम् ।

(वाक्यगतश्रुतिकटुत्वदोषः)

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनताप्र्सीत्सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥ १७० ॥

अभ्यनुज्ञा कर दी गई है । तदनुसार असमासगत (असमस्त) 'श्रुतिकटु' आदि पदों के उदाहरण प्रदर्शित किये जा चुके हैं । अब समासगत पददोषों में से 'श्रुतिकटु' पद का उदाहरण 'बर्हिनिर्ह्लादनार्हः' दिया जा रहा है । यहाँ समास करने से वह 'एकपद' बन गया है । अतः इस पद में 'श्रुतिकटुत्व' दोष है । इस समस्तपदगत 'श्रुतिकटुत्व' दोष की तरह 'च्युतसंस्कृति' आदि दोषों के उदाहरणों को भी जानना चाहिए । निष्कर्ष यह है कि जैसे 'श्रुतिकटु' आदि १३ पददोष, 'असमासगत पद' के दोषरूप में प्रदर्शित किये ये गये थे, वैसे ही 'समासगत पद' के भी वे दोष हुआ करते हैं, जिसका उदाहरण 'सा' दूरे च सुधा०' (श्लो० १६९) बताया गया है ।। १६९ ॥

(सू० ७४) पूर्वोक्त 'पद दोषों' का 'वाक्य' एवं 'पदों' के एकदेश में भी अतिदेश करते हैं । अपास्येति । 'च्युतसंस्कार, असमर्थ और 'निरर्थक' इन तीन 'पददोषों' को छोड़कर शेष जो १३ पददोष हैं; वे 'वाक्य' में भी हुआ करते हैं, और इनमें कतिपय ऐसे भी 'दोष' हैं, जो 'पदैकदेश' अर्थात् पद के एकदेश में भी हुआ करते हैं । 'पद' के एकदेश में 'केचन' अर्थात् कुछ ही 'दोष' होते हैं, 'सब' नहीं । यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'च्युतसंस्कार' दोष को 'वाक्य' में इसलिए नहीं माना जाता कि अलंकारशास्त्रियों को 'पदसंस्कार पक्ष' ही मान्य है, 'वाक्यसंस्कारपक्ष' उनको मान्य नहीं है ।

अब वाक्यगत दोषों के उदाहरण क्रमशः दे रहे हैं--

(वाक्यगत 'श्रुतिकटुत्व'–१)

सोऽध्यैष्टेति । उस राजा दशरथ ने वेदों का अध्ययन किया, यज्ञों के द्वारा देवताओं का अर्चन किया, श्राद्ध-तर्पण आदि से पितरों को तृप्त किया, दान आदि देकर बन्धु-बान्धवों को सम्मानित किया, काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के षड्वर्ग पर विजय प्राप्त किया, राजनीति के आनन्द का अनुभव किया, और शत्रुओं का समूल विध्वंस किया ।। १७० ॥

विवरण--उक्त उदाहरण भट्टिकाव्य के प्रथम सर्ग से प्रस्तुत किया गया है । इसमें अयोध्याधिपति दशरथ राजा का वर्णन है । 'समूलघातम्' में 'समूलाकृतजीवेषु हन्-

(वाक्यगतः 'अप्रयुक्तत्व' दोषः—२)

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम्।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान्॥ १७१॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः अनेडमूको मूकबधिरः।

कृञ्ग्रहः'—(पा० सू० ३।४।३६) इस पाणिनिसूत्र से 'णमुल्' प्रत्यय किया है। उक्त उदाहरण के अनेक पदों में 'श्रुतिकटुत्व' के रहने से वह 'वाक्यदोष' हो गया है।

जहाँ पर वक्ता और श्रोता दोनों ही 'वैयाकरण' हों उस अवस्था में 'श्रुतिकटुत्व' को 'दोष' नहीं माना जायगा। किन्तु जब वैयाकरण के अतिरिक्त श्रोता-वक्ता रहें, तब तो 'श्रुतिकटुत्व' को 'दोष' ही कहा जायेगा।

उक्त उदाहरण में राजा दशरथ का वर्णन है। उसने प्रथमतः वेदाध्ययन किया, देवताओं के उद्देश्य से याग किये, एवं पितरों का तर्पण किया, इस प्रकार करने से विशुद्ध अन्तःकरण होने से कामादि अन्तरंग षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त कर लिया, शिष्ट लोगों को सम्मानित किया, तदनन्तर राजनीति शास्त्र की पद्धति से राज्य का सञ्चालन करते हुए बहिरंग शत्रुओं का समूलोन्मूलन किया। इस प्रकार उक्त पदों के द्वारा स्वार्थ का बोध कराकर निराकांक्ष हुए सात वाक्यों में 'अंगांगिभाव' अर्थात् 'पूर्ववाक्य अंग' और 'उत्तर-वाक्य अंगी' हो जाने से पुनः मेल हो जाने के कारण एक 'महावाक्य' बन गया। 'महा-वाक्य' का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—"स्वार्थबोधसमाप्तानामंगांगित्वव्य-पेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते"॥ इसी को वाक्यैकवाक्यता कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि यहाँ वाक्यगत 'श्रुतिकटुत्व' दोष है।

दूसरे पद की सन्निधि से जहाँ 'पद' दुष्ट हो जाता है; वहाँ 'वाक्यदोष' कहा जाता है। 'च्युतसंस्कृति' (असाधुपद), 'असमर्थ' और 'निरर्थक'—पदों की दुष्टता में 'अन्य पद की सन्निधि' की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिए इन तीनों का परित्याग किया गया है, अर्थात् ये तीनों 'वाक्यदोष' के रूप में नहीं माने जाते॥ १७०॥

(वाक्यगत 'अप्रयुक्तत्वं' दोष—२)

स रात्विति। वह प्रसिद्ध दुश्च्यवन इन्द्र, हम आप सभी का सतत मंगल करता रहे, और हमसे तथा आपसे द्वेष रखनेवाले शत्रुओं में मूकता और बधिरता आदि दोषों को पैदा कर उनको नष्ट करता रहे॥ १७१॥

अत्रेति। यहाँ पर 'अप्रयुक्त' दोष वाक्यगत है। क्योंकि कोष में यद्यपि 'इन्द्र' का वाचक—'दुश्च्यवन' शब्द तथा 'मूक-बधिर' का वाचक 'अनेडमूक' शब्द पठित है, तथापि कवियों ने 'इन्द्र' के अर्थ में तथा 'मूक-बधिर' के अर्थ में 'दुश्च्यवन' और 'अनेडमूक' शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं किया है।

विवरण—अमरकोषकार ने 'संक्रन्दनो दुश्च्यवनस्तुराषाण्मेघवाहनः' तथा मेदिनी-कोषकार ने 'अनेडमूक उद्दिष्टः शठे वाक्-श्रुतिवर्जिते' रभसकोष में भी 'त्रिलिङ्गोऽनेड-

(वाक्यगतः 'निहतार्थत्व'दोषः–३)

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्ष्माधिपतेः ।
अब्जरुचिभास्वरस्ते　भातितरामवनिपश्लोकः ॥ १७२ ॥

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

(वाक्यगतः 'अनुचितार्थत्व'दोषः—४)

कुविन्दस्त्वं तावत् पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि　त्वत्कीर्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥ १७३ ॥

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन् उपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः ।

मूकः स्याच्छठे वाक्श्रुतिवर्जिते' उक्त शब्दों का उल्लेख किया है, किन्तु कवियों ने उन शब्दों का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया है । एवं च कवियों के द्वारा अप्रयुक्त रहने से 'उन शब्दों' का प्रयोग यदि किया जाय तो उसे 'अप्रयुक्त' दोष कहा जाता है ॥

(वाक्यगत 'निहतार्थत्व' दोष–३)

सायकेति । 'सायक' (खड्ग) से भूषित भुजदण्डवाले तथा 'मकरध्वज' (समुद्र) से परिवेष्टित 'क्ष्मा' (पृथिवी) के अधीश्वर, आपका यह 'श्लोक' (यश), जो 'अब्ज' (चन्द्र) की कान्ति के समान सर्वत्र प्रकाशमान बहुत शोभा दे रहा है ॥ १७२ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'सायक' आदि (मकरध्वज, क्ष्मा, अब्ज और श्लोक) शब्द, जिनका प्रयोग 'खड्ग, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा और यश' के पर्याय के रूप में किया गया है । उस कारण 'निहतार्थ' दोष हो गया है । क्योंकि 'सायक' आदि शब्दों के उक्त अर्थों को (सायक आदि शब्दों के) लोकप्रसिद्ध अर्थों (बाण, कामदेव, सहनशीलता, कमल और पद्य) के द्वारा कुचल दिया गया है, अर्थात् दबा दिया गया है ।

विवरण—'शरे खड्गे च सायकः'—इत्यमरः, 'सायकः शरखड्गयोः'—इति विश्वकोशः, 'पुष्पधन्वा रतिपतिर्मकरध्वज आत्मभूः', क्षितिक्षान्त्योः क्षमा', 'पद्ये यशसि च श्लोकः'–इत्यमरः । 'अब्जोऽस्त्री शङ्खेन्ना निचुले धन्वन्तरौ च हिमकिरणे । क्लीबे पद्मे'—इति मेदिनीकोषः । उक्त उदाहरण में कविप्रयुक्त शब्दों के लोकप्रसिद्ध अर्थों के समक्ष कविविवक्षित अर्थ तिरोभूत हो गये हैं । अतः 'निहतार्थ' दोष से दूषित यह काव्य है ॥

(वाक्यगत 'अनुचितार्थत्व' दोष—४)

कुविन्दस्त्वमिति । राजा से कवि कह रहा है—हे विभो ! अर्थात् हे प्रभो ! आप 'कुविन्द' हैं, 'राजा' को कुविन्द कहकर 'कुं–पृथिवीं विन्दति = लभते इति कुविन्दः–

भूपतिः'—इस यौगिक अर्थ का आश्रय करके उसे 'भूपति' – राजा कहना चाह रहा है। तथा 'पटयसि गुणग्रामम् अभितः' --कहकर आप विद्या-शौर्य आदि गुणों (गुण-समूह) का यथोचित सम्मान के साथ सर्वत्र प्रसार किया करते हैं'–यह कहना चाह रहा है, 'एते नग्नाः (वन्दिनः = स्तुतिपाठकाः) दिशि–दिशि तव यशो गायन्ति'—कहकर स्तुतिपाठक चारणगण सर्वत्र ही तुम्हारे यश का गान करते रहते हैं—यह कहना चाह रहा है, किन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी आपकी 'शरज्ज्यो-त्स्नागौरस्फुटविकट-सर्वाङ्गसुभगा'—कहकर शारदी चान्दनी-जैसी निर्मल-प्रकाशमान गौर वर्णवाले सम्पूर्ण अंगों से सुन्दर जो तुम्हारी सुन्दर कीर्ति है, वह इस लोक में 'विगताच्छादन' कहकर स्पष्टतया परिलक्षित होती हुई परिभ्रमण (विचरण) करती दिखाई दे रही है—यह कविका विवक्षित 'वाच्यार्थ' है।

अत्रेति। किन्तु कवि के प्रयुक्त किये गये 'कुविन्द', 'गुण' और 'नग्न'–शब्दों से एक अन्य अर्थ (अप्रशस्त अर्थ) की भी प्रतीति होती है, जो प्रशंसनीय राजा के तिरस्कार को व्यक्त करती है। जैसे—'हे राजन् ! आप सूत का कपड़ा बुनते हैं, अतः आप बुनकर (तन्तुवाय = जुलाहा) हैं। ये वस्त्रहीन (नंगे) लोग आपसे वस्त्र पाकर चारों तरफ आपकी कीर्ति का गान करते फिरते हैं। आपके पास वस्त्रों की समृद्धि रहने पर भी तुम्हारी कीर्तिरूपा स्त्री, बिना कपड़े के नंगी घूम रही है—यह व्यङ्ग्यार्थ भी प्रतीत होता है, जो प्रशंसनीय (उपश्लोक्यमान) राजा के अपमान को व्यक्त करता है। अतः इस उदाहरण में 'अनुचित' अर्थ की प्रतीति होने से अनुचितार्थत्व दोष है॥ १७३ ॥

विवरण—शंका—उक्त पद्य में 'निहतार्थत्व' दोष क्यों न माना जाय ? क्योंकि 'कुविन्द' शब्द तन्तुवाय के अर्थ में रूढ (प्रसिद्ध) है, अतः वह उसी अर्थ को प्रथमतः उपस्थित करेगा। तदनन्तर योगमर्यादा से 'राजा' के अर्थ की उपस्थित होगी। अतः 'प्रसिद्ध अर्थ' के समक्ष कविविवक्षित अर्थ तिरोभूत हो जाने से 'निहतार्थत्व' दोष की प्रतीति होती है उसे न मानकर यहाँ 'अनुचितार्थत्व' दोष कैसे बताया जा रहा है ?

समाधान—यहाँ 'श्लेष' है, उसमें निहतार्थ तथा अप्रयुक्तार्थपद के प्रयोग को 'दोष' में नहीं गिना जाता। अर्थात् उन पदों को श्लेष, यमक आदि में निर्दुष्ट समझा गया है। किन्तु 'अनुचितार्थ' को तो सर्वत्र ही 'दोष' माना जाता है। 'अनुकरण' की बात छोड़ दीजिए, उसमें सभी 'निर्दोष' समझा जाता है। श्लेष, यमक आदि में 'अप्रयुक्त, निहतार्थ' पदों के निर्दुष्ट रहने का उदाहरण पद्य संख्या ३०२ में द्रष्टव्य है। 'अनुचि-तार्थत्व' में 'प्रसिद्ध'–'अप्रसिद्ध' दोनों अर्थ विवक्षित रहते हैं और 'अप्रयुक्त' तथा 'निहतार्थत्व' में 'प्रकृत' अर्थ ही विवक्षित रहता है–यही दोनों में अन्तर है ॥१७३॥

(वाक्यगतः अवाचकत्वदोषः–५)

प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ॥ १७४ ॥

अत्र प्राभ्रभ्राड्-विष्णुधाम-विषमाश्व-निद्रा-पर्ण-शब्दाः प्रकृष्टजलद-गगन-सप्ताश्व-सङ्कोच-दलानामवाचकाः ।

(वाक्यगत अवाचकत्वदोष–५)

प्राभ्रेति । यह विषमाश्व, 'प्राभ्रभ्राड्विष्णुधाम'–मेघाच्छन्न आकाश में, 'आप्य'–पहुँचते ही, 'सहस्रपर्णानां निद्रां पलायनपरायणां करोति'–सहस्रदलकमलों की निद्रा को, तत्काल (तुरन्त) भगाने के लिए उन्हें (कमलों को) व्यग्र कर देता है अर्थात् कमलों को विकसित कर देता है ॥ १७४ ॥

वस्तुतः 'प्राभ्रभ्राट्' शब्द, 'आकाश में स्थित' का वाचक होता है, उसी तरह 'विष्णुधाम' शब्द, विष्णु के स्थान का वाचक होता है, 'विषमाश्व' शब्द, विषम संख्यावाले अश्वों का वाचक होता है, 'निद्रा' शब्द, 'पुरीतत' संज्ञक नाडी में 'मनोयोग' का वाचक होता है, और 'पर्ण' शब्द, 'पत्रों' (पत्तों) का वाचक होता है, किन्तु—

अत्रेति । इस उदाहृत पद्य में ये शब्द, क्रमशः **'प्रकृष्टजलद'** (मेघ), 'गगन' (आकाश), 'सप्ताश्व' (सूर्य), 'सङ्कोच' (निद्रा), 'सहस्रदल' (सहस्रपर्ण)–अर्थों के (जो उक्त पद्य में कवि के द्वारा विवक्षित हैं)–अवाचक ही हैं। अर्थात् 'प्राभ्रभ्राट्' शब्द–प्रकृष्ट जलद का, 'विष्णुधाम' शब्द–विष्णुपद का, 'विषमाश्व' शब्द–सप्ताश्व का, 'निद्रा' शब्द–संकोच का, 'सहस्रपर्ण' शब्द–सहस्रदल का ('प्रकृष्टजलदत्वा'दि प्रकार से) अवाचक ही है। अर्थात् प्रयुक्त हुए ये सभी शब्द वस्तुतः 'प्रगताभ्रस्थानिकत्व, विष्णुस्थानत्व, अयुग्मसंख्यावच्छिन्नाश्वत्व, निद्रा पुरीतत्-नाडीमनोयोगत्व, पत्रसहस्रवत्त्व प्रकार (धर्म) के रूप में वाचक हैं ।

विशेष विवरण—'अभ्रभ्राट्' शब्द संज्ञाशब्द (द्रव्यशब्द) होने से उसके साथ 'प्र' उपसर्ग का अन्वय (सम्बन्ध) करना उचित नहीं है । क्योंकि 'उपसर्गाः क्रियायोगे'–(पा० सू० १।४।५९) इस सूत्र के अनुसार उपसर्गरूप 'प्र' शब्द का धातुयोग (क्रियायोग) में ही अन्वय हुआ करता है। तथा च 'प्रकर्ष' की उपस्थिति नहीं हो सकती। उसी प्रकार 'विष्णुपद' शब्द ही 'गगन' का वाचक होता है। 'हरिपद' या 'विष्णुधाम' शब्द 'गगन' के वाचक नहीं हुआ करते। उसी प्रकार एक–तीन–पाँच अश्वों को भी 'विषमाश्व' कहा जा सकता है, केवल 'सप्त अश्व' ही 'विषमाश्व' शब्द के वाच्य नहीं है ।

विषमाश्वः—विषमसंख्याका अश्वा यस्य सः सप्ताश्वः सूर्यः। प्राभ्रभ्राट् = अभ्रे आकाशे भ्राजते शोभते इति प्राभ्रभ्राट् = जलदः। प्रकृष्टोऽभ्रभ्राट् यत्र तदिति विष्णुधामेत्यस्य विशेषणम्, तादृशमपि विष्णुधाम विष्णुपदम् = आकाशम् आप्य प्राप्य सहस्रं पर्णानि पत्राणि दलानि येषां, तेषां कमलानां

(वाक्यगतः त्रिविधाश्लीलत्वदोषः–६)

(व्रीडाव्यञ्जकः अश्लीलत्वदोषः)

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥ १७५ ॥

अत्रोपसर्पण-प्रहरण-मोहनशब्दा व्रीडादायित्वादश्लीलाः ।

निद्रां संकोचं पलायनपरायणां पलायनतत्परां करोति, दूरीकरोतीत्यर्थः, तत्कालविनश्वरां करोतीति यावत् । "अभ्रं मेघे च गगने धातुभेदे च काञ्चने" इति कोशः ॥ १७४ ॥

(व्रीडाव्यञ्जक अश्लील का उदाहरण)

भूपतेरिति । इस राजा की 'वामलोचना' जो नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग करने में उत्साह से भरी हुई है, शत्रुओं का संहार करने के लिए उन पर भयंकर दृष्टिपात करके युद्धभूमि में बढ़ती हुई उस सेना (कम्पना) ने शत्रुओं को मूर्च्छित कर दिया ॥१७५॥

वामलोचना—वामे = शत्रून् प्रति विरुद्धे, लोचने यस्याः तादृशी । अथवा वामं = भ्रुकुटीविषमं लोचनं यस्याः तादृशी । उपसर्पन्ती=द्विषदभिमुखं गच्छन्ती, भूपतेः कम्पना= सेना, शत्रुकम्पजनकत्वादितिभावः । तत्तत्प्रहरणे=तत्तच्छस्त्रादिप्रक्षेपे, उत्साहवती – उत्साहो यस्याः तथाभूता सती । 'तत्तत्प्रहणनोत्साहवती' इति पाठे तत्तत्प्रहणने=तस्य-तस्य प्रहणने अर्थात् तस्य-तस्य मारणे उत्साहो यस्याः तथाभूता सती । मोहनं = विपक्ष-संमोहनम् आदधौ = चकार इति विवक्षितवाक्यार्थः । 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चाति-सुन्दरे' इति विश्वः । आदधौ इत्यत्र 'आदधे' इति प्रदीपे पाठः ।

अत्रेति । यहाँ पर 'उपसर्पण', 'प्रहरण' और 'मोहन' शब्द, 'अश्लीलता' के व्यञ्जक रहने से वे 'व्रीडा' के व्यञ्जक हैं, अर्थात् इन शब्दों से लज्जास्पद (व्रीडास्पद) अर्थ की भी प्रतीति होती है—जैसे, 'उपसर्पन्ती' अर्थात् रतिक्रीडा में तत्पर, 'कम्पना' अर्थात् रतिप्रसंग में आनन्द से काँपती हुई, 'तत्तत्प्रहरणोत्साहवती' अर्थात् कामशास्त्र-प्रतिपादित उन-उन जघनताडनादि कार्यों में उत्साह से भरी हुई 'वामलोचना' किसी नायिका ने 'भूपतेः मोहनमादधौ' अर्थात् इस राजा को अत्यधिक रतिसुख में निमग्न कर दिया । अभिप्राय यह है कि रमण को इच्छुक होने से 'कम्पप्रभृति सात्त्विकभावों से सम्पन्न हुई कामशास्त्रप्रतिपादित चुम्बन, आलिंगन, नखक्षत, जघनताडन आदि क्रियाओं को बड़े उत्साह से करती हुई सुन्दर नेत्रोंवाली नायिका ने 'राजा' को अपनी ओर मोहित कर लिया । यहाँ पर 'उपसर्पन्ती' पद सुरतारम्भ का, 'प्रहरण' पद कामशास्त्रप्रसिद्ध क्रियाओं का और 'मोहन' पद सुरत का प्रतिपादन करता है । अतः ये सभी शब्द व्रीडा के उत्पादक हैं । अतः यह पद्य विवक्षितवाक्यार्थ की प्रतीति के समय अर्थान्तर का भी व्यंजक होने से व्रीडाव्यञ्जक अश्लील का उदाहरण है ॥ १७५ ॥

(जुगुप्साव्यञ्जकः अश्लीलत्वदोषः)

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते ।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात्प्रवर्त्तनम् ॥ १७६ ॥

अत्र वान्तोत्सर्गप्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

(अमङ्गलव्यञ्जकः अश्लीलत्वदोषः)

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशेषितशोकशल्यकम् ॥ १७७ ॥

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थम् ।

(जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलदोष)

तेऽन्यैरिति । जिन कवियों की किसी अन्य कवि के वर्णित अर्थ के ग्रहण (अपहरण) करने में प्रवृत्ति रहती है, वे कवि वस्तुतः दूसरे के द्वारा भुक्त किये गये पदार्थ को, जो मुख से त्यक्त किया गया है, अर्थात् वान्त (छर्दित) पदार्थ को ही खाया करते हैं, और दूसरों के उत्सर्ग (पुरीष) को ही, जो अधोभाग (गुदा) से त्यक्त की गई विष्ठा है, उसको ही मानो खाते हैं ॥ १७६ ॥

अत्रेति । इस पद्य में प्रयुक्त 'वान्त' और 'उत्सर्ग' शब्द 'छर्दित' (वान्ति=उलटी अर्थात् कय) और 'पुरीष' अर्थ के वाचक होने से वे 'जुगुप्सा' को प्रकट करते हैं, तथा 'प्रवर्तन' शब्द प्रवृत्ति के अर्थ का वाचक रहने पर भी उसका एक अन्य अर्थ 'पुरीष-त्याग (विष्ठा) भी है, उस 'अन्य अर्थ का प्रकाशक होने के कारण उससे भी 'जुगुप्सा' की प्रतीति होती है, अर्थात् ये तीनों शब्द, सुननेवाले के मन में 'जुगुप्सा' पैदा कर देते हैं । अभिप्राय यह है कि ये तीनों शब्द 'घृणा' के जनक हैं ॥ १७६ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'वान्त' और 'उत्सर्ग' शब्द, अपने वाच्यार्थ से ही 'जुगुप्सा' को प्रकट करते हैं, और 'प्रवर्तन' शब्द 'पुरीषोत्सर्ग' रूप व्यंग्यार्थ को व्यञ्जित करने से जुगुप्सादायी हो रहा है । अतः 'जुगुप्सादायि अश्लील वाक्य' का यह उदाहरण बन गया है ॥ १७६ ॥

(अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलदोष)

पितृवसतिमिति । पतिगृह में रहते-रहते उदास होने वाली किसी स्त्री की यह उक्ति है—मैं अब अपने परिवार (बालबच्चों) के सहित उस अपने 'पितृवसति' अर्थात् पिता के घर जाती हूँ, जहाँ पवित्रताकारक (पावक) वंश (अन्वय) में जाने से अथवा पवित्रता-कारक (पावक) पूज्य पिता माता आदि परिवार के लोगों के साथ मिलने से (अन्वय= सम्बन्ध से) तत्काल ही (सपदि) मेरे हृदय का 'शोकशङ्कु' हमेशा के लिए सम्पूर्णतया निकल जायेगा ॥ १७७ ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'पिता के घर जाना'—यह अर्थ, कवि को प्रदर्शित करना है । इस विवक्षित अर्थ की प्रतीति के साथ ही 'अमङ्गलरूप द्वितीय अर्थ' की भी प्रतीति होने लगती है । क्योंकि यहाँ 'पितृवसति', 'पावकान्वय' और 'अशेषितशोक-

(वाक्यगतः सन्दिग्धत्वदोषः–७)

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ॥ १७८ ॥

अत्र किं सुरादिशब्दा देव-सेना-शर-विभूत्यर्थाः किं मदिराद्यर्थाः, इति सन्देहः ।

शल्यक' – ये तीनों शब्द, अमङ्गल अर्थ को भी व्यञ्जित कर देते हैं। 'पितृवसति' शब्द का अर्थ, 'श्मशान', 'पावकान्वय' शब्द का अर्थ, 'अग्निसम्बन्ध' और 'अशेषित-शोकशल्यक' शब्द का अर्थ, 'भस्मीभूत होना' है। एवं च 'विवक्षित अर्थ' के बोध के साथ ही 'उस पितृवसति'=श्मशान स्थान को जा रही हूँ, जहाँ 'पावकान्वय' = अग्नि-सम्बन्ध अर्थात् चिताग्नि का सम्बन्ध होने पर मेरा हृदय 'अशेषितशोकशल्यक'= भस्म हो जायगा अर्थात् अग्नि में जल जाने से मेरे हृदय में स्थित 'शोक-शङ्कु' हमेशा के लिए निकल जायगा–इस अर्थान्तरकी व्यञ्जना भी होने लगती है, उस कारण 'पितृवसति', 'पावकान्वय' 'अशेषितशोकशल्यक'—ये शब्द अमंगलार्थक होने से अश्लील हैं। अतः यह अमंगलार्थक अश्लील का उदाहरण है। इस पद्य में 'अपरवक्त्र' वृत्त है।

शंका—उक्त पद्य में 'पावक' शब्द का अमङ्गलार्थकत्व कैसे हो सकता है? क्योंकि वह भी 'वह्नि' शब्द के समान ही है।

समाधान—पद्यगत 'यत्र' शब्द से 'श्मशान' को आकृष्ट किये जाने से उससे सम्बन्धित जो 'वह्नि' है, उसमें 'चिता की अग्नि' की ही प्रतीति होती है। एवं च श्मशान के सान्निध्य से चिता की वह्नि की ही प्रतीति हो रही है। इसलिए 'पावक' शब्द में अमङ्गलता समझनी चाहिए॥ १७७ ॥

(वाक्यगत सन्दिग्धत्वदोष–७)

सुरेति। देवताओं के मन्दिरनिर्माण करने में जो उत्साहपूर्ण रहता है, और शत्रुओं के संहार करने में समर्थ सेना, जिसके पास है, तथा बाणों की वर्षा करने में जो कुशल हैं, उस विपुल ऐश्वर्यशाली राजा को देखो॥ १७८ ॥

क्या यह उक्त अर्थ विवक्षित है? अथवा एक अन्य अर्थ भी 'सुरा', 'कम्पन', 'मार्गण' और 'भूति' शब्दों से निकलता है, यह विवक्षित है? यह सन्देह उत्पन्न होता है।

अन्य अर्थ इस प्रकार है—

मदिरालय (मधुशाला) में जाने का जिसे उल्लास रहता है, अथवा आनन्द मनाने वाला, मद्यपान अधिक कर लेने से जिसके पैर लड़खड़ाते हैं अर्थात् पैर कम्पित होते हैं, तथा इधर-उधर अन्वेषण अर्थात् खोज करने वाला, अथवा 'याचना करने में' न हिचकने वाला, और जिसका शरीर, उज्ज्वल (स्पष्ट) भूति (भस्म=राख) से सना हुआ है, उस मद्यपी को देखो॥ १७८ ॥

(वाक्यगतः अप्रतीतत्वदोषः–८)

तस्याधिमात्रोपायस्य　　तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ॥ १७९ ॥

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दा योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः ।

(वाक्यगतः ग्राम्यत्वदोषः–९)

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥ १८० ॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः ।

अत्रेति । इस पद्य में प्रयुक्त 'सुरालय', 'कम्पन' 'मार्गण' तथा 'भूति' शब्द, क्या देव, सेना, शर और विभूति अर्थ को बता रहे हैं, अथवा 'मदिरा, कम्प, अन्वेषण=याचन, और राख=भस्म अथवा 'भू'=पृथिवी, उस पर 'ऊति'=क्षरण,–अर्थात् पतन (गिरना) अर्थ को बता रहे हैं ? यह 'सन्देह' उत्पन्न होने से यह सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण है ।

विशेष विवरण—यहाँ पर प्रकरण आदि के न रहने से सन्देह उत्पन्न होता है कि स्तुति की जा रही है अथवा निन्दा की जा रही है । यदि 'एकार्थविषयक प्रकरण' होता तो 'उल्लास्य कालकरवाल०' (च० उ० ५४) के समान 'उपमाध्वनि' ही कहा जाता । यदि दोनों अर्थ प्राकरणिक होते तो 'पृथुकार्तस्वरपात्रम्'—(नव० उ० ३७०) की तरह श्लेषालङ्कार ही हो जाता ।। १७८ ॥

(वाक्यगत अप्रतीतत्वदोष–८)

तस्येति । हे मित्र ! उस 'तीव्र संवेग' (परम वैराग्य) वाले, तथा 'अधिमात्रोपाय' (दृढज्ञानकारी यम-नियमादि उपाय) वाले, योगी का अपनी 'प्रियप्राप्ति' (आत्म-साक्षात्कार) में 'दृढभूमि' (दृढ संस्कार) वाला 'यत्न' (निदिध्यासन अथवा चित्तै-काग्र्यविषयक यत्न) अब तो सफल होता दिखाई दे रहा है ।। १७९ ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'अधिमात्र', 'तीव्रसंवेग', 'दृढभूमि' आदि शब्द 'योग-शास्त्र' के पारिभाषिक हैं । अतः उस शास्त्र के विद्वान् ही उन्हें तत्काल समझ सकते हैं । सर्वसाधारण को उन अर्थों की प्रतीति नहीं हो सकती । अतः यहाँ पर 'अप्रतीतत्व'दोष है ।

विशेष विवरण—'मृदु, मध्य, अधिमात्र'—इन तीन उपायों का उपयोग करनेवाले तीन प्रकार के योगी होते हैं । मृदु, मध्य, तीव्र के भेद से तीन प्रकार का ही संवेग (वैराग्य) होता है । तीव्रसंवेग वाले योगी यह समझ पाते हैं कि ये विषय मेरे अधीन हैं, मैं इनके अधीन नहीं हूँ । 'दृढ भूमि' उसे कहते हैं, जो दीर्घकाल, नैरन्तर्य एवं सत्कार-पूर्वक सुसेवित है ।। १७९ ॥

(वाक्यगत ग्राम्यत्वदोष–९)

ताम्बूलेति । ताम्बूल से गल्ल (कपोल) को भरे (फुलाए) हुए यह मानुष, 'भल्ल' (सम्यक्) बोलता है, और सर्वदा खाना-पीना पूर्ववत् ही करता है ।।१८०।।

(वाक्यगतः नेयार्थत्वदोषः–१०)

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुद्धं वेदय साम्प्रतम् ॥ १८१ ॥

अत्राम्बर-रत्नपादैः क्षततमा अचला भूःकृता नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता ।

अत्रेति । इस पद्य में 'गल्ल', 'भल्ल', 'मानुष' एवं 'खादन', 'पान' शब्द 'ग्राम्य' हैं, अर्थात् ग्रामीण लोगों के व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं । अतः ये शब्द, 'ग्राम्य' हैं । 'गल्ल' आदि शब्दों का प्रयोग विदग्ध लोग (सभ्य लोग) नहीं किया करते । वे 'कपोल' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं । वे उन शब्दों को असभ्य समझते हैं ॥१८०॥

(वाक्यगत नेयार्थत्वदोष–१०)

वस्त्रेति । सोई हुई सखी को जगाती हुई किसी सहेली की यह उक्ति है—हे सखि ! यह 'निष्कम्पा' (अचला) पृथिवी, 'वस्त्रवैदूर्यचरणैः'—'वस्त्र' (आकाश अर्थात् अम्बर) के 'वैदूर्य' (रत्न = मणि अर्थात् सूर्य) के 'चरण' (किरण-समूह) के द्वारा 'क्षत-सत्त्वरजःपरा' (सत्त्व-रजः-पर अर्थात् सत्त्व और रजस् के पर यानी अतिरिक्त अर्थात् तम = अन्धकार से सम्पूर्णतया रहित) 'रचिता' = कर दी गयी है, इसलिए 'सम्प्रतम्' अब 'नेत्रयुद्धम्' = नेत्रद्वन्द्व यानी अपने दोनों नेत्रों को 'वेदय' = खोल दो अर्थात् नेत्रों का उन्मीलन करो यानी आँखें खोलो । अभिप्राय यह है कि सूर्य के किरणों से पृथिवी पर से अन्धकार दूर हो गया है, अतः आँखों को खोलो । अर्थात् सूर्य का उदय हो गया है, अतः जागो ॥ १८१ ॥

अत्रेति । यहाँ पर उक्त अर्थ, पद्यगत पदों से हठात् (जबरदस्ती) नेय (प्राप्य) है । अतः ये शब्द 'नेयार्थ' हैं । अर्थात् 'वस्त्र' शब्द से 'अम्बर' (आकाश), और 'वैदूर्य' शब्द से 'मणि' उससे सूर्य' विवक्षित है । अतः 'वस्त्र' आदि शब्दों का 'आकाश' आदि अर्थ, कथञ्चित् 'नेय' प्राप्त किया जा रहा है ।

विशेष विवरण—पद्यगत वस्त्र, वैदूर्यचरण, सत्त्वरजःपर, निष्कम्पा, नेत्रयुद्ध, वेदय—शब्दों की उक्त अर्थों में शक्ति नहीं है, और शक्ति के विना वे अर्थ, शक्य यानी शक्ति के विषय नहीं हो सकते । शक्य न होने से 'वाचकत्व' संज्ञक शक्यसम्बन्ध से वे शब्द, 'अम्बर, मणि' अर्थों को 'लक्षणा' से नहीं बता सकते । तब उनसे 'आकाश' आदि अर्थों की प्रतीति नहीं हो सकती । तथापि यथाकथञ्चित् (किसी तरह) 'नेय' अर्थात् उक्त अर्थों को उपस्थापित कर देते हैं । अभिप्राय यह है कि वस्त्रादि पदों से लक्षित हुए अम्बरादिपदों से आकाश आदि का बोध हो पाता है—यह एक मत है । इस प्रकार यह लक्षित-लक्षणा है ।

दूसरा मत यह है कि वस्त्रादि पदों से ही 'स्ववाच्यवस्त्रादिवाचकाम्बरादिपदवाच्यत्वसम्बन्ध' से 'आकाश' आदि ही लक्षित किये जाते हैं । इस रीति से यह

(वाक्यगतः क्लिष्टत्वदोषः–११)

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्॥ १८२॥

अत्र धम्मिलस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धे क्लिष्टत्वम्।

(वाक्यगतः अविमृष्टविधेयांशत्वदोषः–१२)

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥ १८३॥

'लक्षणा' है। अभिप्राय यह है कि 'स्व' पद से 'वस्त्रादि' शब्द, उनके वाच्य जो वस्त्रादिरूप अर्थ, उनके वाचक अम्बरादि पद, उनके वाच्य 'आकाशादि' अर्थ हैं। अर्थात् 'स्वबोधकपर्यायबोध्यत्व'–सम्बन्ध से 'वस्त्रादि पदों' की आकाशादि में लक्षित-लक्षणा है, अतः 'लक्षणा' ही है। इस प्रकार 'वैदूर्य' की 'मणि' में, 'चरण' की 'पाद' में, 'सत्त्व-रजःपर' की 'तम' में, 'निष्कम्पा' की 'अचला' में, युद्ध' की 'द्वन्द्व' में, 'वेदन' की 'विकासन' में लक्षणा है, उनसे पुनः, क्रमशः 'सूर्य', 'किरण', 'अन्धकार', 'भूमि', 'युगल' एवं 'खोलों'—इन अर्थों की प्रतीति होती है। किन्तु दोनों मतों में 'शक्ति' का अभाव होने से 'शक्ति के विषय (शक्य)' का अभाव है। अतः शक्य-सम्बन्धरूपा लक्षणा कैसे हो सकती है? 'लक्षणा' के अभाव में लक्षणा के हेतु जो रूढि और प्रयोजन हैं, उनमें से किसी एक के भी न रहने से, उनका विचार करने का अवसर ही कहाँ है? अतः यहाँ 'नेयार्थता' दोष ही है॥ १८१॥

(वाक्यगत क्लिष्टत्वदोष–११)

धम्मिल्लेति। इस हरिणाक्षी सुन्दरी के 'अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः'=विलक्षण बन्ध के कारण सुन्दर, 'धम्मिल्लस्य'=मौक्तिक लड़ियों से सुशोभित संयत कचों के जूड़े की 'शोभा प्रेक्ष्य'= सुन्दरता को देखकर 'कस्य मानसं निकामं न रज्यति'=किसका मन मुग्ध नहीं होगा? (किसका मन नहीं ललचाता है) अर्थात् सबका मन ललचाता है॥ १८२॥

अत्रेति। इस पद्य में पदों की आसत्ति का ज्ञान विलम्ब से होने के कारण 'कुरङ्ग-शावाक्ष्याः, धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यति'–धम्मिल्ल की सुन्दरता को देखकर किसका मन मुग्ध नहीं होता है—यह अन्वय-बोध भी विलम्ब से हो पाता है। अर्थात् अन्वय की प्रतीति में बड़ा व्यवधान है। अतः यहाँ 'क्लिष्टत्व' दोष है॥ १८२॥

(वाक्यगत अविमृष्टविधेयांशत्वदोष–१२)

न्यक्कार इति। पहिले तो मेरा यही तिरस्कार है, अर्थात् मेरे लिए निन्दा की बात है कि मुझसे भी शत्रुता रखनेवाला कोई व्यक्ति है, यानी मेरे शत्रु हैं, और वह भी मनुष्य, और उसमें भी एक तपस्वी! और वह भी यहीं है, दूर नहीं है, और वह तपस्वी

अत्र 'अयमेव न्यक्कारः' इति वाच्यम्। उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यम्, न वृथात्वविशेषितम्। अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो; न वाक्यार्थस्य।

शत्रु मेरे राक्षसवंश को नष्ट कर रहा है अर्थात् मृत्युमुख में पहुँचा रहा है, और फिर भी यह रावण जी रहा है, कैसा आश्चर्य है! देवराज इन्द्र को जीतनेवाले 'मेघनाद' को धिक्कार है, 'कुम्भकर्ण' को जगाने से भी क्या लाभ है? तथा 'स्वर्ग' जैसे छोटे-से गाँव को लूट लेने मात्र से व्यर्थ फूली हुई भुजाओं से भी क्या लाभ है? अर्थात् उनका फूले रहना व्यर्थ है ॥ १८३ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'न्यक्कारो ह्ययमेव'–धिक्कार की बात तो यही है—कहा गया है, किन्तु कहना चाहिए था—'अयमेव न्यक्कारः'–यह ही धिक्कार की बात—, (क्योंकि 'अयम्'–इस 'उद्देश्य' के बाद ही यदि 'न्यक्कारः'–इस 'विधेय' को कहा जाय, तभी वास्तव में 'अयम्' और 'न्यक्कार' में 'उद्देश्य-विधेयभाव' की प्रतीति हो सकेगा, अन्यथा नहीं। 'अयम्' और 'न्यक्कारः'–इन दोनों पदों में 'उद्देश्य' और 'विधेय' के पौर्वापर्य (क्रम) का विपर्यय (वैपरीत्य) करके अर्थात् 'न्यक्कारः अयम्' कह दें तो '**अविमृष्टविधेयांश**' नामक 'वाक्यगत दोष' कहा जायगा। उसी प्रकार उक्त पद्य में 'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनोच्छूनैः'–को 'उद्देश्यकोटि' में रखना चाहिए था, किन्तु वैसा न करके कह दिया गया है कि 'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः'। इस प्रकार कहने में 'वृथा' पद जो 'वधेय' है, उसे 'उच्छून' पद का 'विशेषण' बना दिया है, तब विधेय की आवश्यकता रहने पर कोई 'विधेय' उपलब्ध नहीं होता। यदि पद्यगत 'किम्' को 'विधेय' कहें तो 'वृथा' विशेषण, सर्वथा व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि 'किम्' का भी अर्थ, 'व्यर्थ' ही होता है। अन्ततोगत्वा यदि 'वृथा' को ही विधेय मान लें, तो—'अविमृष्टविधेयांशता' दोष कायम रहता है। और यहाँ पर शब्दरचना, विपरीत हो जाने से यह दोष 'वाक्यगत' ही है, वाक्यार्थ का नहीं ॥ १८३ ॥

विशेष विवरण–वाक्यगत 'अविमृष्टविधेयांश' दोष के उदाहरण में दिया गया यह पद्य, हनुमन्नाटक के चौदहवें अंक का है। रामचन्द्र के द्वारा जब राक्षसों का विनाश होने लगा, तब क्षुब्ध हृदय होकर रावण स्वयं अपनी निन्दा कर रहा है। मेरे लिए यही बात अपमानजनक है कि त्रिलोकी को अपने वश में रखने वाले मुझसे शत्रुता करने की कोई क्षमता रखता हो।' अरयः' इस बहुवचन से ध्वनित हो रहा है कि पहिले एक भी शत्रु नहीं था, किन्तु अब युगपत् अकस्मात् ही अनेक शत्रु हो गये हैं, और उनमें भी जो प्रधान है वह मनुष्य, और वह भी तपस्वी! 'मनुष्य' और 'तापस' इन दो शब्दों से सूचित किया है कि वह जो हमारा भक्ष्य है, और शस्त्रास्त्र-विद्या को न जानने वाला है। तथा च–हजार-हजार तपस्वियों के भक्षक मुझ जैसे का एक मनुष्य और वह भी तपस्वी मुख्यशत्रु रहना यह मेरा अत्यन्त ही अपमान (न्यक्कार) है। औरव ह शत्रु कहीं दूर रहकर नहीं, अपि

तु मेरे समीप ही स्थित होकर राक्षसों के बालक, वृद्ध, स्त्रियों को, यहाँ तक की सम्पूर्ण राक्षसकुल को ही सर्वथा मार रहा है, यह बताकर न्यक्कार की अत्यधिकता को सूचित किया है। इतना अधिकतर अपमान होकर भी यह रावण जी रहा है। अर्थात् कितना निकृष्टतर जीवन बीता रहा है। 'रावण' का विग्रह—'विश्रवस: अपत्यं पुमान् रावणः' — किया जाता है। 'अपत्य' अर्थ में 'विश्रवस्' शब्द से 'तस्यापत्यम्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय, 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' से प्रकृति (विश्रवस्) को 'रवण' आदेश, और आदि वृद्धि होती है। 'अहो' से महान् आश्चर्य को बताया जा रहा है कि इस प्रकार के अत्यधिक पराभव के कारण उत्पन्न क्रोधाग्नि से निर्दग्ध हुआ रावण अभी भी भस्मावशेष क्यों नहीं हो गया ?

अथवा—'अहो' से अत्यधिक निर्वेद को सूचित किया गया है। 'रावण' की व्युत्पत्ति –'रावयति, आक्रन्दयति लोकान्' इति रावण:—यह भी हो सकती है। रामायण के उत्तरकाण्ड में कहा है —

"यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम्।
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि॥"

रौतेर्ण्यन्तात् कर्तरि ल्युट्। इससे न्यक्कार के सहने में अत्यधिक अनौचित्य को सूचित किया गया है। 'जीवति' कहने से 'काकु' यह निकल रही है कि 'न जीवति'। 'शक्रजितं धिक्-धिक्'–इस प्रकार वीप्सा करके निन्दातिशय को व्यक्त किया है। अत एव 'शक्रजितम्' कहा है, अर्थात् शक्र (इन्द्र) को भी जिसने पराजित कर दिया था, उसका एक मनुष्य से जीता जाना (पराजित होना) कितनी निन्दा की बात है। 'प्रबोधितवता'—में णिजन्त से भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय है, तदनन्तर 'मतुप्' प्रत्यय है। यहाँ 'क्तवतु' प्रत्यय नहीं है, क्योंकि 'कर्मणि' में उसका विधान नहीं है। 'वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः'—कहकर यह बताया है कि वृथा पुष्ट हुई इन बीस भुजाओं से अथवा प्रसिद्ध-पराक्रमवाली भुजाओं से क्या लाभ ? अर्थात् कोई फल नहीं है। क्योंकि दो भुजाओं वाले शत्रु को भी नहीं जीता जा सका। 'ग्रामटिका'—में 'ग्राम' शब्द से 'अल्प' अर्थ में "तद्धिताः"–(पा. ४।१।७६) इस पाणिनि सूत्रस्थित बहुवचन से बोध्य 'टिकच्' प्रत्यय हुआ है। 'किम्' और 'वृथा' शब्द से क्रमश: 'भुजों' की व्यर्थता और 'उच्छूनता' की व्यर्थता को कहा गया है, अत: 'पुनरुक्ति' नहीं समझनी चाहिए।

अत्रेति। "उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यं न तु वृथात्वविशेषितम्" इस वृत्ति ग्रन्थ की व्याख्या अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। जैसे—प्रदीप, उद्योत, प्रभाकार ने यह व्याख्या की है–इस पद्य में प्राप्त रहने वाली 'अरि' की सत्ता का 'अयम्' पद से अनुवाद करके अप्राप्त जो 'न्यक्कार' है, उसका विधान किया गया है। अत: 'अयमेव न्यक्कारः' यह कहना चाहिए था, क्योंकि 'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्'–ऐसा वृद्ध-विद्वान् कहते आये हैं। अर्थात् 'उद्देश्यविधेयताशालिबोधे विधेयवाचकप्राग्वर्त्युद्देश्य-

यथा वा—

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम्।
विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः॥ १८४॥

वाचकपदजोपस्थितिर्हेतुः', इत्यभिप्रायः। अन्यथा 'उद्देश्य-विधेयभाव' की प्रतीति, विपरीत अथवा विलम्ब से होगी। 'अयं न्यक्कारः'–ये दोनों पद, 'दुष्ट' होने से यह 'वाक्यदोष' है। अत एव 'पददोष' को समासगत ही बताया है। अर्थात् अविमृष्ट-विधेयांशत्व दोष 'पद' में तभी रहेगा, जब समास में 'एकपद' यहाँ होगा।

किञ्च यहाँ 'वृथोच्छूनैः'–यह कहना अनुचित है, क्योंकि केवल 'उच्छूनत्व' का ही 'अनुवाद' करना उचित था, न कि 'वृथात्वविशिष्ट उच्छूनत्व' का। क्योंकि 'इनसे क्या लाभ है'—यह कहकर 'वृथात्व' को ही 'विधेय' बनाया जा रहा है। अतः 'उच्छूनत्व' को उद्देश्य दिखाकर 'वृथात्व' को ही 'विधेय' दिखाना है, किन्तु समास में आ जाने के कारण वह 'गुणीभूत' (गौण) हो गया है। उस कारण 'समस्त-पद'गत 'अविमृष्ट-विधेयांशत्व' दोष है, जिसको यहाँ पर प्रसंगवश कह दिया है।

किं वा—'वृथोच्छूनैः किमि'ति पदद्वयावलम्बनाद्वाक्यदोषता–इसी बात को न 'वृथात्वविशेषितम्' से कहा गया है। वृथात्व को विशेषण न बनाने पर विधेयत्व की प्रतीति में कोई प्रत्यूह नहीं है। यदि यह कहें कि 'उच्छूनता'गत 'वृथात्व' और 'भुज'-गत वृथात्व; भिन्न–भिन्न है, तब 'किम्' पद और 'वृथा' पद की 'पुनरुक्ति' नहीं होगी—इस प्रकार से 'अर्थभेद' के रहने पर भी 'व्यर्थ पुष्ट हुए भुजों से क्या लाभ'–इस 'विफलता' का विरोध तो रहेगा ही, क्योंकि 'व्यर्थ पुष्ट हुए वृथा हैं'–यह कौन-सी संगति है ?

शंका—'न्यक्कार यही है'—यहाँ पर विपरीत प्रकार से 'विधेयत्व' की प्रतीति होने से 'अर्थ-दोष' ही कहलायेगा, 'वाक्य-दोष' नहीं कहा जा सकेगा।

समाधान—यहाँ पर 'विवक्षित अर्थ' दुष्ट नहीं है, किन्तु 'शब्दों का स्थानक्रम' विपर्यस्त हुआ है, उस कारण 'अविवक्षित अर्थ' की प्रतीति हो रही है। अतः 'शब्दों के पौर्वापर्यक्रम' का ही अपराध है, 'अर्थ' तो निरपराध है। उसी क्रम को बदल देने पर 'उद्देश्य–विधेय भाव' की प्रतीति यथोचितरूप से होने लगेगी। जैसे 'विरुद्धमतिकृत्' में –ऐसा प्रदीपकार का कहना है।

निष्कर्ष यह है कि यहाँ पर जो 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष है, वह 'वृथोच्छूनैः'–इस समासगत 'पद' का दोष नहीं है, तथा 'उद्देश्य' और 'विधेय' रूप अर्थ के विपर्यय की प्रतीति से होने वाले 'वाक्यार्थ' का भी दोष नहीं है, अपि तु 'उद्देश्य' और 'विधेय' के बोधक पदों की विपरीत रचना होने से 'वाक्य' का ही दोष है॥ १८३॥

'विधेय' की उपसर्जनता (गौणता) एवं उद्देश्य–विधेयभाव में 'व्युत्क्रम' हो जाने से ही यह 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष होता है—ऐसी बात नहीं है, अपितु 'विधेय' के अनुपस्थिति रहने से भी यह दोष होता है।

यथावेति। जैसे—

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत्। तथाहि–प्रक्रान्तप्रसिद्धाऽनुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते।

नायक के आगमनोत्सव को निवेदन करने वाली सखी की उक्ति है—

अपाङ्गेति। हे सुन्दरि! जो तुम्हारे नयनों में कटाक्षों की चञ्चलता का सञ्चार कर देता है, तथा जो तुम्हारी भ्रुकुटियों के कुटिलप्रान्तभाग में सविलास अधिक वक्रता अथवा नृत्य को विलसित कर देता है, और जो तुम्हारे शरीर में रोमाञ्चों की कञ्चुक पहिना देता है, वह तुम्हारा नायक आ गया है॥ १८४॥

अत्रेति। इस पद्य में 'योऽसौ' अर्थात् 'यः' और 'असौ' इन दो पदों का ग्रहण, 'अनुवाद्य' और 'विधेय' रूप अर्थों को बताने के लिए किया गया है। किन्तु प्रकृत में निर्दिष्ट 'असौ' पद, 'विधेय' अर्थ को नहीं बता रहा है, क्योंकि 'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धः'–नियम के अनुसार 'यत्' और 'तत्' ('यः' और 'सः') में परस्पर आकांक्षा हुआ करती है, 'यः' और 'असौ' (यत् और अदस्) में परस्पर 'आकांक्षा' नहीं रहती है। अतः 'यः' को 'उद्देश्य' मानकर 'असौ' को 'विधेय' नहीं मान सकते। अभिप्राय यह है कि उद्देश्यवाची 'यत्' शब्द, स्वार्थपरामर्शक 'तत्' शब्द की अपेक्षा किया करता है। 'यत्' शब्द के समीप स्थित 'अदस्' आदि शब्द तो 'प्रसिद्ध अर्थ' का परामर्शक हुआ करता है। इसके अतिरिक्त ये दोनों पद, सन्धि के कारण 'एकरूप' हो गये हैं। एवं च 'यत्' शब्द केवल 'अनुवाद्य' (उद्देश्य) मात्र का बोधक होने से वह, 'उद्देश्यरूप' से ही यहाँ उपस्थित है, क्योंकि 'योऽसौ' में 'असौ' पद 'यः' के अर्थ का ही विशेषण हो गया है, वह पृथक् रूप से 'विधेय' पद नहीं है। ऐसी स्थिति में 'उद्देश्य-विधेयभाव' का बोधन कैसे हो सकेगा? अतः 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष का रहना निश्चित ही है।

शंका—'यत्' और 'तत्' पदों का स्वतन्त्ररूप से भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् कहीं पर केवल 'यत्' पद का तो कहीं पर केवल 'तत्' पद का ही प्रयोग हुआ करता है, तब इन्हें परस्पर 'साकांक्ष' कैसे कहा जा रहा है?

समाधान—इन पदों में परस्पर 'अर्थ' की आकांक्षा रहती है। अतएव कहा गया है कि 'यत् और तत्' का 'नित्य अभिसम्बन्ध है'। वह 'अभिसम्बन्ध' कहीं तो 'शाब्द' होता है, और कहीं 'आर्थ' होता है। जहाँ पर 'यत्' और 'तत्' दोनों पदों का उल्लेख रहता है, वहाँ पर वह सम्बन्ध 'शाब्द' है। जैसे—'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः'–अर्थात् वह दुर्मति है, जिसका कल्याण में आदर (प्रेम) नहीं है। तथा 'एक' के अथवा 'दोनों' के अनुपादान में वह सम्बन्ध 'आर्थ' होता है। क्योंकि 'अनुपात्त' का भी सामर्थ्य से आक्षेप हुआ करता है। जहाँ 'प्रसिद्ध प्रक्रान्त' और 'अनुभूत अर्थ' का बोधक 'तत्' शब्द रहता है, वहाँ वह (तच्छब्द), 'यत्' शब्द के उल्लेख की अपेक्षा

क्रमेणोदाहरणम्—

> कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
> अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ १८५ ॥

नहीं करता। क्योंकि उन अर्थों के बोधक 'तत्' शब्द से 'यत्' शब्द का आक्षेप हो जाता है ॥ १८४ ॥

'यत्' और 'तत्' पदों की 'परस्पर साकांक्षता' तो सर्वानुभव सिद्ध ही है, अतएव उनमें 'उद्देश्य-विधेयभाव सम्बन्ध' स्वभावसिद्ध ही है। केवल 'यत्' या 'तत्' पद के प्रयोग को देखकर उन्हें निराकांक्ष नहीं समझना चाहिए। अन्यथा 'अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितम्' में दोष ही नहीं माना जायगा। यह अवश्य समझना होगा कि 'यत्' और 'तत्' शब्द को वहीं पर परस्पर अपेक्षा (साकांक्षता) नहीं रहती, जहाँ पर किसी 'प्रक्रान्त' (पूर्वप्रतीत) विषय अथवा 'प्रसिद्ध' (सर्वजनविदित), अथवा 'अनुभूयमान' (अनुभव का विषय) अर्थ (विषय) के वे बोधक हुआ करते हैं।

क्रमेणेति। अब क्रम से उदाहरणों को बताते हैं—

(१) प्रक्रान्तार्थक 'तत्' शब्द का उदाहरण—

रघुवंश के सतरहवें सर्ग के श्लोक ४२ में कवि कहता है—कातर्यमिति। केवल अर्थात् शौर्यरहित 'राजनीति' भीरुता है, और केवल नीतिरहित 'शूरता' पशुता है, अर्थात् केवल 'शौर्य' का प्रयोग करना हिंसक पशुओं की चेष्टा के तुल्य ही है। यह विचार कर 'नीति' और 'शौर्य' दोनों के सहयोग से वह महाराज 'अतिथि' अपनी कार्यसिद्धि में सर्वदा तत्पर रहता है ॥ १८५ ॥

इस पद्य में 'तत्' अर्थात् 'सः' शब्द, पहिले से ही प्रक्रान्त अर्थरूप 'राजा अतिथि' को बता रहा है। अतः प्रसिद्धार्थक 'तत्' शब्द, 'यत्' शब्द की आकांक्षा नहीं कर रहा है।

चक्रवर्तिभट्टाचार्य का कहना है कि 'उक्त उदाहरण के 'तत्' शब्द में जो 'प्रक्रान्त-परामर्शित्व' कहा गया है, वह भी 'दो प्रकार' का होता है। कहीं तो 'विधेयरूप से विवक्षित' का और कहीं पर 'केवल' का। इनमें से 'प्रथम प्रकार' में 'यत्' शब्द का उपादान करना आवश्यक है, उसके बिना 'तत्' शब्द में 'विधेयत्वबोधकता' नहीं हो-सकती, क्योंकि व्युत्पत्तिमर्यादा ही उस प्रकार की है। जैसे—'यदुवाच न तन्मिथ्या'—(रघु. १७।४२) में। द्वितीय प्रकार के उदाहरण 'कातर्यं केवला नीतिः' में 'अतिथि' नामक राजा का वर्णन है। 'केवला' अर्थात् शौर्यरहित, सामदानादिरूप नीति, 'कातरता' यानी भीरुतारूप है, उदाहरण में प्रयुक्त 'केवला' पद को लिंगविपरिणाम (लिंगविपर्यास) करके 'शौर्यम्' के साथ भी अन्वित किया जाता है। अर्थात् 'केवलं शौर्यम्' यानी नीति-रहित केवल शूरता, हिंसक व्याघ्रादि पशुओं की चेष्टा के समान होती है। इस कारण

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ १८६॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि॥ १८७॥

'सः' अर्थात् प्रक्रान्त, अतिथि नाम का राजा, 'नीति' और 'शौर्य' दोनों से युक्त रहकर जयप्राप्तिरूप कार्यसिद्धि का अन्वेषण किया करता था। कहा भी है—

'तीक्ष्णादुद्विजते लोको मृदुः सर्वत्र बाध्यते।
एतद् बुद्ध्वा महाराज मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भव॥

उक्त उदाहरण में 'उभाभ्याम्' कहने से ही सामर्थ्यवशात् 'परस्परसाहित्य' की उपलब्धि हो ही जाती है, तब 'समेताभ्याम्' कहने का प्रयोजन विचारणीय प्रतीत हो रहा है।

उक्त उदाहरण में 'सः' शब्द प्रक्रान्त अतिथिसंज्ञक राजा को बता रहा है। तथा च यहाँ पर 'सः'–यह तच्छब्द, प्रक्रान्तार्थक रहने से 'यत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे रघुवंश में चतुर्थ सर्ग के 'स राज्यं गुरुणा दत्तम्' में 'सः' शब्द को 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं हो रही है क्योंकि 'आक्षेप' से ही उसकी पूर्ति हो जाती है। आक्षेप करने में कारण (बीज), 'व्युत्पत्तिवैचित्र्य' अथवा 'पदस्वभाव' को ही समझना चाहिए–ऐसा उद्योतकार ने बताया है। एवं च यहाँ प्रक्रान्तार्थक 'तत्' शब्द से 'यत्' शब्द का आक्षेप होने से 'सम्बन्ध' (अन्वय) का बोध हो जाता है॥ १८५॥

(२) प्रसिद्धार्थक 'तत्' शब्द का उदाहरण—

कुमारसम्भव काव्य के पञ्चम सर्ग का यह पद्य, उदाहरण के रूप में दिया गया है। तपस्या करती हुई पार्वती का वटुवेष से छल करते हुए शिव की स्वनिन्दापरक यह उक्ति है। मुण्डमालाओं को धारण करने वाले से समागम की प्रार्थना करने के कारण 'कलाधारी चन्द्र' और 'कान्तिमती कला' दोनों ही 'शोचनीय अवस्था' में पड़ गये, अर्थात् कलामयचन्द्र की वह 'कान्तिमती कला', और दूसरी, इस लोक की 'नेत्र-कौमुदी तुम' अर्थात् पार्वती॥ १८६॥

यहाँ पर 'सा' यह 'तच्छब्द' प्रसिद्धार्थक होने से 'यत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं कर रहा है। उसकी पूर्ति, 'आक्षेप' से ही हो जाती है। जैसे—'सोऽपि गिरिसुतासिंहः' में 'आक्षेप' से पूर्ति की गई है। एवं च इस उदाहरण में प्रसिद्धार्थक 'तत्' शब्द से 'यत्' शब्द का आक्षेप होने से अन्वय-बोध हो जाता है॥ १८६॥

(३) अनुभूतार्थक 'तत्' शब्द का उदाहरण—

हर्षदेवरचित रत्नावली नाटिका में 'वासवदत्ता रानी' के दग्ध हो जाने की

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तः सामर्थ्यात्पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते। यथा—

संभावना से उसके चिन्तन में शोक करनेवाले वत्सराज की यह उक्ति है—इस प्रकार अनेक व्याख्याकार जयन्त, महेश्वर, कमलाकर, वैद्यनाथ, नागेशभट्ट आदिकों ने कहा है, किन्तु आजकल की उपलब्ध रत्नावली पुस्तक के चतुर्थ अङ्क में यह पद्य उपलब्ध नहीं है।

हे प्रिये ! कंप-कपाती हुई, भय के कारण जिसका उत्तरीयवस्त्रप्रान्त नीचे गिर गया हो, तथा मैंने जिनकी सुन्दरता का अनुभव किया था उन निराशा पूर्ण कातर नयनों से क्या कोई मुझे बचा सकेगा? यह सोचकर चारों ओर देखती हुई तुझे अत्यन्तप्रज्वलित निर्दय अग्नि ने बिना सोचे-समझे सहसा जला ही दिया, धूम से अन्धे हुए उस अग्नि ने तुझे देख नहीं पाया, उस कारण तू दग्ध हो गई। यदि वह तुझे देखलेता तो न जलाता॥ १८७॥

क्रूर पुरुष में विलम्ब की क्षमता का न होना, और अन्धपुरुष का न देख पाना उचित ही है। अन्यथा तेरा सौन्दर्य देखने पर वह तुझे कैसे जला सकता? यहाँ—'असि'—इस मध्यमपुरुष से 'त्वम्' का आक्षेप किया जाता है।

इस उदाहरण में 'ते' पद 'अनुभूत अर्थ' को बता रहा है। तथा च—यहाँ पर 'ते' अर्थात् 'तत्' शब्द, अनुभूतार्थक होने से; वह, 'यत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं करता। जैसे—"तेन तेन वचसैव मघोनः" में 'तत्' शब्द को 'यत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं है। एवं च तीनों उदाहरणों में 'यत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा आवश्यक नहीं समझी गई है। 'यत्' शब्द का उपादान न होने पर भी 'आक्षेप' से ही उसकी प्रतीति हो जाती है। जैसे—'यः पूर्वोक्तगुणवान्', 'या प्रसिद्धा', 'ये अनुभूते'—इस प्रकार की प्रतीति होने में किसी तरह की कोई अड़चन नहीं होती। ऐसा प्रदीपकार का कहना है॥ १८७॥

'तत्' शब्द के प्रयोग का अन्य अपवाद—

इस प्रकार 'तत्' शब्द को 'यत्' शब्द का उपादान करने की अनपेक्षता प्रदर्शित करके अब 'यत्' शब्द को भी क्वचित् 'तत्' शब्द का उपादान (ग्रहण) करने की अनपेक्षता हुआ करती है, यह कहने के लिए ग्रन्थकार 'यच्छब्दस्त्विति'। इस वृत्ति ग्रन्थ को उपस्थित कर रहे हैं। उक्त उदाहरण के प्रथमचरण का उत्तरार्ध अर्थात् जो उत्तरवाक्य है, उसमें प्रयुक्त 'यत्' शब्द ही सर्वत्र 'तत्' शब्द का आक्षेप करने में समर्थ है। इसलिए पूर्ववाक्य में अनुगतरूप से 'तत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं करता है।

यथेति। जैसे—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः ॥ १८८ ॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः । यथा तत्रैव श्लोके आद्यपादयोर्व्यत्यासे । द्वयोरुपादाने तु निराकांक्षत्वं प्रसिद्धम् । अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद् द्वयमपि गम्यते यथा—

साधु चन्द्रमसीति । अपने से अधिक सौन्दर्यशाली चन्द्रमा के उदित होने पर कमलों ने अपने को मुकुलित (संकुचित) करलिया, यह अच्छा ही किया, किन्तु उस चन्द्रमा के भी सौन्दर्य को जीतलेने वाले उत्कर्षशाली अर्थात् सर्वविजयी कामिनी के मुख के रहते उदित होकर उस 'चन्द्रमा ने' तो दुःसाहस ही किया, अर्थात् अविचारपूर्ण ही कार्य किया ॥१८८॥

इस उदाहरण में 'यन्मीलितम्'—इस उत्तरवाक्य में प्रयुक्त 'यत्' शब्द, पूर्ववाक्य में 'तत् साधुकृतम्' इस प्रकार 'तत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि आक्षेप से ही उसकी सिद्धि हो जाती है। एवं उसके अनुपादान में भी कोई दोष नहीं है। चन्द्रिकाकार ने कहा भी है—"अत्रोत्तरवाक्यगतेन यच्छब्देन पूर्ववाक्ये 'तत्साधुकृतम्' इति तच्छब्दाक्षेपः" इति।

प्रागुपात्त इति। किन्तु पूर्ववाक्य में प्रयुक्त 'यत्' शब्द, 'तत्' शब्द का आक्षेप करने में असमर्थ रहने से उसके (तत् शब्द के) उपादान की अपेक्षा रखता ही है। क्योंकि 'तत्' शब्द के उपादान के बिना पूर्ववाक्योपात्त 'यत्' शब्द, साकाङ्क्ष ही रहता है। अतः 'तत्' शब्द का प्रयोग अवश्य करना ही चाहिए। जैसे इसी श्लोक 'साधुचन्द्रमसि' में प्रथम और द्वितीय चरण के क्रम को व्यत्यस्त (परिवर्तित) कर देने पर अर्थात् "मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्' इस प्रकार विपर्यास कर देने पर प्रथम चरण में 'यत्' शब्द का प्रयोग हो जाता है, तब द्वितीयचरण में 'तत्' शब्द का प्रयोग अनिवार्यरूप से होना ही चाहिए था। किन्तु वैसा न होने से यहाँ 'यत्' शब्द साकांक्ष ही रह जाता है। उसी प्रकार 'तनोति योऽसौ सुभगे'—(७।१८४) इस उदाहरण में पूर्वगृहीत 'यत्' शब्द, 'साकांक्ष' ही रह गया है। अतः ऐसे स्थलों में 'दोष' ही समझा जाता है। उस दोष के निराकरणार्थ ('यत्' शब्द को निराकांक्ष करने के लिए) 'तत्' शब्द का प्रयोग करना ही चाहिए, तब दोष नहीं समझा जायगा।

द्वयोरुपादाने इति। दोनों ('यत्' और 'तत्' शब्दों का ग्रहण (उल्लेख) होने-पर वे दोनों (यत् और तत्) ही निराकांक्ष हो जाते हैं। 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः'—यह नियम तो प्रसिद्ध ही है।

अनुपादानेऽपीति। यत्र क्वचित् 'यत्' और 'तत्' दोनों का उल्लेख (उपादान) न रहने पर भी सामर्थ्यवशात् दोनों की प्रतीति (ज्ञान) हो जाती है। ऐसी स्थिति में दोनों का आर्थ सम्बन्ध हो जाता है। जैसे—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ १८९ ॥

यत्र य उत्पत्स्यते तं प्रति, इति । एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकांक्षत्वम् । न चासाविति तच्छब्दार्थमाह ।

मालतीमाधवनाटक के प्रथम अंक में उसके रचयिता महाकवि भवभूति की यह उक्ति है—ये नामेति । जो पण्डितम्मन्य लोग हमारी इस 'मालतीमाधव' की कृति को तथा 'महावीरचरित' की कृति को तिरस्कार (अवज्ञा) की दृष्टि से देख कर कहें कि यह रचना बड़ी क्लिष्ट है, वे लोग कुछ न जानते हुए भी अपने को बड़ा विद्वान् समझते हैं । अतः उन लोगों के लिए मेरा यह यत्न नहीं है । क्योंकि 'वस्तुतः वे मूर्ख हैं'—यह व्यंजित किया गया है । अथवा वे लोग कुछ थोड़ा सा अल्प-स्वल्प जानते हैं, अर्थात् उन्हें गम्भीर ज्ञान नहीं है । ऐसे लोगों के लिए मालतीमाधव या महावीर-चरित की रचना का प्रयत्न मैंने नहीं किया है । तब कैसे लोगों के लिए इस रचना का प्रयत्न आपने किया है ? इस प्रश्न का उत्तर कवि स्वयं दे रहा है—काल की कोई सीमा (अवधि) नहीं है, वह तो अनन्त है, और यह पृथिवी भी अत्यन्त विस्तीर्ण (विपुल) है । अतः इस विस्तीर्ण पृथिवी के किसी भाग में और किसी-न-किसी काल में मेरे-समान-धर्म का अर्थात् मेरे परिश्रम का मूल्यांकन करनेवाला कहीं कोई-न-कोई कभी अवश्य ही उत्पन्न होगा ॥ १८९ ॥

अत्रेति । इस पद्य के पूर्वार्ध में 'यत्' और 'तत्' दोनों का उल्लेख (उपादान) कर देने से निराकांक्ष प्रतीति हो जाती है । और उत्तरार्ध में 'यत्' और 'तत्' का उल्लेख (प्रयोग) न करने पर भी स्पष्टतया अवगत हो जाता है कि 'यः उत्पस्यते'–जो उत्पन्न होगा 'तं प्रति'–उसके लिए । इस रीति से 'यत्' और 'तत्' दोनों का अध्याहार हो जाता है । उससे दोनों का 'आर्थसम्बन्ध' समझ में आ जाता है । अतः 'कः उत्पत्स्यते' ? और 'कं प्रति' ?–यह आकांक्षा शान्त हो जाती है ।

एवं चेति । 'तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः' (श्लो० १८४)–इस पद्य में 'तत्' शब्द का उल्लेख किये बिना 'योऽसौ' शब्द साकांक्ष ही रह गया है । क्योंकि 'तत्' शब्द का उल्लेख (उपादान) किये बिना, पूर्व प्रयुक्त 'यत्' शब्द को आकांक्षा बनी ही रहती है ।

प्रश्न—आपने जो कहा कि 'तत्' शब्द का उपादान किये बिना 'यत्' शब्द साकांक्ष है । किन्तु वह कथन तब उचित होगा कि जब 'यत्' शब्द की आकांक्षा को शान्त करनेवाला 'असौ' शब्द, अर्थात् 'अदस्' शब्द का प्रयोग (उल्लेख) यदि न रहता । किन्तु उक्त 'तनोति योऽसौ' पद्य में 'यत्' शब्द की आकांक्षा को शान्त करनेवाला 'अदस्' शब्द का उल्लेख तो किया ही है ।

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः ।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥ १९० ॥

अत्र हि न तच्छब्दार्थप्रतीतिः ।

प्रतीतौ वा—

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः ।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्येत ततः कृतं कृतं स्यात् ॥ १९१ ॥

उत्तर—उक्त पद्य में प्रयुक्त 'असौ' (अदस्) शब्द, 'तत्' शब्द के अर्थ का बोधक नहीं है, क्योंकि 'अदस्' शब्द, 'तत्' शब्द का पर्याय नहीं है। अतः उक्त पद्य में 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष को मानना ही पड़ेगा। क्योंकि उक्त पद्य (श्लो० १८४) में 'विधेयांश' के बोधनार्थ 'तत्' शब्द का उपादान नहीं किया गया है। अतः प्रयुक्त 'यत्' शब्द, साकांक्ष ही है। 'अदस्' शब्द, 'यत्' शब्द की आकांक्षा को शान्त नहीं कर सकता। क्योंकि—

मरुच्चुम्बितचारुकेसरः—वायु (दक्षिणानिल) जिसके सुन्दर केसरों का स्पर्श कर रहा है, (वसन्तऋतु के पक्ष में मौलश्री के पुष्पों के केसरों का, अथवा नागकेसरों का और हनुमान् के पक्ष में—उनके बालों का), प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः—उज्ज्वल चन्द्रबिम्ब, जिस वसन्तऋतु का नायक है (हनुमान् के पक्ष में—जो हनुमान्, प्रसन्नताराधिप सुग्रीव के राष्ट्र में अग्रणी है), वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितः—और जो, (वसन्तऋतु) वियोगिनी सुन्दरियों के द्वारा आतुर अर्थात् खिन्न अथवा कातर दृष्टि से देखा गया है (हनुमान् के पक्ष में—जानकी के वियोग से आतुर (उत्सुक) दृष्टि से रामचन्द्र जिस हनुमान् को देख रहे हैं)।

हनुमानिव वसन्तकालः आगतः—ऐसा यह वसन्तऋतु का समय, (लंका से) हनुमान् की तरह आ ही पहुँचा ॥ १९० ॥

अत्रेति। इस पद्य में प्रयुक्त 'प्रत्यक्षबोधक असौ' (अदस्) शब्द से, 'परोक्षबोधक तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती। वह 'असौ' शब्द तो 'इदम्' शब्द के अर्थ की प्रतीति कराता है। सारबोधिनी में कहा है कि 'पुरोवर्तित्वमात्रमदःशब्दार्थः'। चन्द्रिकाकार ने भी कहा है—"अत्रासावित्यस्मात्तच्छब्दार्थाऽप्रतीतेर्नादसस्तदर्थकत्वम्" इति।

प्रतीतौ वेति। अथवा 'असौ' (अदस्) शब्द को 'तत्' शब्द का पर्याय मानने पर अर्थात् 'असौ' शब्द से 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति का होना स्वीकार करने पर—करवालेति। जो यह प्रसिद्ध कर्ण, खड्ग के धारण करने से भयजनक अपनी भुजाओं की सहायता से युद्ध में विजय प्राप्त करने में 'अर्जुन' का अद्वितीय प्रतिद्वन्द्वी है, उस प्रसिद्ध कर्ण को राजा दुर्योधन यदि सेनापति के कार्य पर (सेनापतिपदपर) नियुक्त कर दे तो समस्त कार्य का सम्पन्न होना निश्चित ही है ॥ १९१ ॥

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं स्यात् । अथ—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश ! निखिलं भवद्वपुः ।
आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥ १९२ ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'सः' शब्द पुनरुक्त हो जायेगा, और 'पुनरुक्त' होने से उसे अनर्थक कहना होगा । 'पुनरुक्त' इसलिए होगा कि 'असौ' (अदस्) शब्द ने उसके (तत् शब्द के) अर्थ को बता ही दिया है । अभिप्राय यह है कि 'योऽसौ' कहकर 'असौ' (अदस्) का प्रयोग अव्यवहितरूप से किया है । उस कारण 'सः' का प्रयोग अनर्थक हो जायगा । अतः कहना होगा कि 'यद्' (यः) के साथ, अव्यवधानतया उल्लिखित 'असौ' (अदस्) शब्द, 'तत्' (सः) शब्द के अर्थ को नहीं बताता है ॥ १९१ ॥

प्रश्न—अथेति । वृत्ति में प्रयुक्त 'अथ' शब्द 'मंगलानन्तरारंभप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इस कोष के अनुसार प्रश्नार्थक है ।

इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदोरूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥

इस वाक्य के अनुरोध से विप्रकृष्टार्थक (दूरार्थक) 'अदस्' शब्द का 'तत्' शब्द से प्रतिपाद्य 'परोक्ष'रूप अर्थ भी हो सकता है । अभिप्राय यह है कि 'करवालकरालदोः सहायो युधि योऽसौ'–(श्लो. १९१) में 'सः' की अनर्थकता के भय से 'अदस्' शब्द, 'तत्' शब्द का समानार्थक न रहने पर भी 'तनोति योऽसौ सुभगे'–(श्लो० १८४) में नानार्थक होने के कारण उसे 'तत्' शब्द की समानार्थकता 'इदम्' आदि शब्दों की तरह हो सकती है, क्योंकि 'इदम्', 'एतद्', 'अदस्' शब्दों की समानार्थकता रहने से–यह आशंका वृत्तिकार ने 'अथ' से लेकर 'अभिधत्ते' तक के ग्रन्थ से की है ।

सारबोधिनीकार इस प्रकार कहते हैं—"ननु न वयं अदःशब्दस्य अर्थान्तरं निरस्यामः, किंतु इदं शब्दवत् तच्छब्दार्थताऽपि अस्ति, इत्याह 'अथेति' । यहाँ अथ' शब्द 'प्रश्नार्थक' है । अर्थात् हम क्या उसके अन्यार्थप्रतिपादन का निषेध करते हैं ? निषेध तो नहीं करते, अपितु अनुज्ञा देते हैं कि वह 'अदस्' शब्द, 'तत्' शब्द का समानार्थक भी है । 'इतीदं शब्दवददः शब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते' के साथ पूर्वोक्त 'अथ' शब्द का अन्वय हो रहा है ।

अब 'इदम्' शब्द का 'तत्' शब्द के अर्थ में प्रयोग बता रहे हैं–'योऽविकल्पमिति' । हे ईश ! जो व्यक्ति, 'निखिलं इदम् अर्थमण्डलम्'—अर्थात् इस प्रसिद्ध सम्पूर्ण प्रमेय-समुदाय (जगत् यानी वस्तुसमूह) को 'अविकल्पम्' (यथा स्यात् तथा) सन्देहरहित होकर 'भवद्वपुः' आपका ही स्वरूप (आप से अभिन्न रूप में) देखता है, अर्थात् 'जगत्' वस्तुतः भगवत्स्वरूप न होने पर भी उसे जो भगवत्स्वरूप समझता है, उस नित्यसुख का अनुभव करने वाले अर्थात् आत्मैक्यदर्शी पुरुष को 'आत्मपक्षपरिपूरिते जगति' आत्मस्वरूप से परिपूर्ण हुए उस जगत् (प्रपञ्च) में किससे भय हो सकता है ? अर्थात् उसे किसी से

इतीदंशब्दवददःशब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति उच्यते तद्यत्रैव वाक्यान्तरे उपादानमर्हति न तत्रैव। यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितः प्रसिद्धिं परामृशति—यथा—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताऽक्षैस्तदाऽनेन नूनं तदपि हारितम्॥ १९३॥

इत्यत्र तच्छब्दः।

भी भय नहीं होता है। क्योंकि 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' यह श्रुति बताती है कि दूसरे से भय हुआ करता है॥ १९२॥

प्रश्न—इतीदंशब्दवदिति। यहाँ जैसे 'अस्य'–इस 'इदं' शब्द का 'तत्' शब्द के अर्थ में प्रयोग किया गया है, अर्थात् उक्त श्लोक में 'इदम्' शब्द भी 'तत्' शब्द से प्रतिपाद्य 'परोक्ष अर्थ' का बता रहा है—इससे प्रतीत होता है कि 'इदम्' और 'अदस्' शब्द दोनों समान शक्तिवाले हैं। उस कारण 'इदम्' शब्द के समान 'अदस्' शब्द, 'तत्' शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को कहता है। एवंच 'तनोति योऽसौ सुभगे' (श्लो. १८४) में 'अदः' शब्द, 'तत्' शब्द के अर्थ को बता सकता है, क्योंकि दोनों समानशील हैं।

तथा च 'तनोति योऽसौ' में 'विधेयाऽविमर्श' दोष नहीं है, यह शंका करने वाले का अभिप्राय है।

उत्तर—उच्यते इति। 'अत्रेव' अर्थात् 'योऽविकल्पम्' के समान अथवा 'अत्रैव' पाठ होनेपर 'तनोति योऽसौ' यहीं पर जैसे प्रथमवाक्य में 'यः' शब्द है और उत्तरवाक्य में 'अस्य' शब्द है, उसी तरह 'अदः' शब्द भी, वाक्यान्तर में अपना उपादान चाहता है, न कि उसी एक ही वाक्य में, क्योंकि 'यत्' शब्द के व्यवधान से रहित, अनन्तरवर्ती समान लिंग, समानवचन और समान विभक्तियों वाला व एकवाक्य में उपात्त 'तत्' शब्द भी जब प्रसिद्धि मात्र में निरूढ है। अर्थात् प्रसिद्धि मात्र का ही बोध करा सकता है, न कि विधेयस्वरूप का समर्थक हो सकता है, तब 'इदम्', 'अदस्' और 'एतत्' शब्दों के विषय में तो कहना ही क्या है। वे तो समानशक्तिवाले हैं ही।

यथेति। जैसे 'प्रसिद्धि' के अर्थ में 'तत्' शब्द के प्रयोग को बता रहे हैं—

यत्तदिति। वेणीसंहारनाटक के प्रथम अंक में युधिष्ठिर की निन्दा करते हुए भीमसेन 'सहदेव' से कह रहे हैं। इस राजा का अपना अर्जित एवं उग्र जो क्षात्रतेज था, उस तेज को तो उसने द्यूत (जूआ) खेलकर सचमुच नष्ट कर ही दिया यानी खो दिया॥ १९३॥

इत्यत्रेति। यहाँ पर जैसे 'यत्' शब्द के अव्यवहित अनन्तर स्थित और एक ही वाक्य में उपात्त और समान लिंग, विभक्ति तथा वचनवाला 'तत्' शब्द 'प्रसिद्धि' के अर्थ में ही निरूढ है, 'विधेय' का समपंक नहीं है, उसी तरह अर्थात् वही परिस्थिति 'तनोति योऽसौ' में भी है। इसलिए 'योऽविकल्पं' के समान 'योऽसौ' में भी व्यवधान से 'अदः' शब्द का प्रयोग करना उचित है, न कि अव्यवधान से।

ननु कथं—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्त्ते !
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव ! प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥ १९४ ॥

अत्र यद्यदित्युक्त्या तन्मे इत्युक्तम् । उच्यते—यद्यदिति येन केन चिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते । यथा वा—

प्रश्न—'यत्' शब्द के समान अधिकरण में प्रयुक्त हुआ 'तत्' शब्द 'प्रसिद्धि' रूप अर्थ का बोधक है तो 'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्'—अर्थात् जो बड़ों की निन्दा करता है, वह तो पापी है ही, किन्तु वह भी पापी है, जो उनकी निन्दा को उनसे सुनता है—यहाँपर 'तत्' शब्द, 'प्रसिद्धि' रूप अर्थ को नहीं बता रहा है । प्रसिद्धिरूप अर्थ तो उक्त अवस्थावाले 'तत्' शब्द को कहना चाहिए था ।

उत्तर—यहाँ पर 'यः' में विसर्ग और यति का व्यवधान है, और 'योऽसौ' में सन्धि-वशात् 'यत्' शब्द के स्वरूप में निविष्ट है । अतः एकदेश होने से अव्यवहित हो गया है ।

हे विश्वमूर्ते ! आप प्रचुरकल्याणकारी तेज के आश्रय हैं । अतः हे देव ! आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों । नृत्य का आरंभ करते समय नृत्यभारवहन करने में समर्थ सम्पत्ति (लक्ष्मी) को मुझमें अच्छी तरह से भर दें । हे जगन्नाथ ! आपके समक्ष प्रणत हुए मेरे जो भी ज्ञात–अज्ञात पाप हों उनको नष्ट कर दें । हे भगवन् ! मेरे मंगलमय कल्याण के लिए अर्थात् आशंसनीय कर्म के लिए मुझे मेरे अत्यन्त अभीष्ट को (भद्रं भद्रं) दें (वितर) ॥ १९४ ॥

'मङ्गलाय' में 'तादर्थ्ये–चतुर्थी' का प्रयोग किया गया है, अथवा 'मङ्गलाय' अर्थात् 'मङ्गलं कर्तुम्' अर्थ करें तो 'क्रियार्थोपपदस्य च' से चतुर्थी का प्रयोग समझना चाहिए ।

शंका—यदि 'यत्' और 'तत्' का नित्य सम्बन्ध होता तो आपका उक्त कथन मान्य किया जा सकता था, किन्तु उनका नित्यसम्बन्ध तो है नहीं । यदि नित्य संबन्ध होता तो 'कल्याणानां त्वमसि' ।

अत्रेति । इस पद्य में दो बार कहे हुए 'यत्–यत्' की प्रतिद्वन्द्विता में अर्थात् 'यत्–यत्', ऐसा दो बार कहकर 'तन्मे'–अर्थात् एक ही बार 'तत्' पद का प्रयोग कैसे किया गया है ?

समाधान—उच्यते इति । उत्तर दे रहे हैं कि 'यत्–यत्'–कहने से जिस किसी रूप में स्थित सम्पूर्ण वस्तु प्रतीति होती है उसी प्रकार की समष्टि (सम्पूर्णता) 'तत्' शब्द से गृहीत होती है ।

विशेष विवरण—मालतीमाधवनामक प्रकरण के प्रथम अंक में—सूत्रधार 'सूर्य' की प्रार्थना कर रहा है–कल्याणानामिति । हे विश्वमूर्ते अर्थात् सर्वात्मक सूर्य ! संबोधन

के द्वारा सूर्य को सर्वात्मक कहा है, क्योंकि "सूर्य आत्मा जगतस्तयुषश्च" यह श्रुति कह रही है। 'आयुर्घृतम्' की तरह 'कारण' में कार्योपचार करके सूर्य को कल्याणरूप अर्थात् कल्याण का हेतु (कारण) कहा है। अर्थात् कल्याणकारी तेजों का उसे आश्रय (भाजन) कहा है।

शंका–अत्रेति। उक्त पद्य में 'यत्-यत्'–कहकर 'यत्पद' का दो बार प्रयोग करके 'तन्मे' कहकर 'तत्पद' का एक ही बार प्रयोग करना ठीक नहीं है, क्योंकि 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्'—यह नियम है। अभिप्राय यह है कि 'यत्' शब्द नियतरूप से (निश्चित ही) 'तत्' शब्द की आकांक्षा रखता है, तब इस पद्य में निराकांक्षता का निर्वाह कैसे किया जायगा? यद्यपि यहाँ पर 'तत्' पद से एक 'यत्' पद की निराकांक्षता हो जाने पर भी द्वितीय 'यत्' पद की तो साकांक्षता बनी ही रहती है। तथा च 'अविमृष्टविधेयता' तो दुर्वार ही रह गई।

समाधान–उच्यते इति। 'येन केनचित् रूपेण' अर्थात् ज्ञातत्व-अज्ञातत्व (ज्ञात-अज्ञातरूप से), अथवा उपपातक–महापातक रूप से किये गये समस्त पाप रूप वस्तु का एक ही 'तत्' शब्द से आक्षेप किया गया है। क्योंकि बुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्न में 'तत्' आदि शब्दों की शक्ति मानी गई है। अतएव—

"यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुबलः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी मयि चरति रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥

वेणीसंहार नाटक के तृतीय अङ्क में क्रुद्ध हुए अश्वत्थाम की इस उक्ति में 'यत्' शब्द को आठ वार कहने पर भी 'तस्य-तस्य के द्वारा 'तत्' शब्द को दो बार ही कहा गया है।

उसी प्रकार—

"स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स शूरः स च पण्डितः।
स कुलीनः स विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः॥

इस पद्य में अनेक 'तत्पदों' से परामृष्ट का एक ही 'यत्' पद से प्रतीसि करा दी गई है।

अभिप्राय यह है कि दो बार प्रयुक्त 'यत्' पद के द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूपों से परामृष्ट सकल पाप का एक ही 'तत्' पद से 'पापत्वेन रूपेण' परामर्श कर दिया गया है, उसके लिए द्वितीय 'तत्पद' की अपेक्षा नहीं है। 'यत्-तद्भ्यां एकरूपेणैव परामर्शः'—इस नियम में कोई प्रमाण नहीं है। नियम तो इतना ही है कि 'यत्पदार्थः तत्पदेन परा-

मृश्यते'। 'यावन्तो यच्छब्दाः तावन्तः तच्छब्दाः प्रयोक्तव्याः'—यह नियम नहीं है। एवं च वहाँ पर 'अविमृष्टविधेयत्व' की आशंका तक नहीं की जा सकती। तथा च 'अपाङ्गसंसर्गि'—इस प्रकृत उदाहरण में 'यः तनोति असौ समागतः'—इस प्रकार से उद्देश्य-विधेयभाव की विवक्षा की गई है, किन्तु उसकी प्रतीति नहीं हो पा रही है। केवल 'योऽसौ प्रसिद्धः'-इतनी ही प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ पर दोष मानना ही होगा। इसी बात को प्रदीपकार तथा उद्योतकार ने भी कहा है। यह सम्पूर्ण कथन मूलकार के अनुसार किया गया है।

प्रदीप और उद्योत में अन्य प्रकार से भी समाधान किया गया है। तथा हि—"वस्तुतः 'यत्-यत्'—ये दो पद नहीं हैं, अपितु 'नित्यवीप्सयोः'–(८।१।४) इस पाणिनिसूत्र से वीप्सा में 'यत्' को द्वित्वापन्न आदेश हुआ है। तथा च आदेशी यत् और तत् पद दोनों से एक रूप में ही पाप का परामर्श किया गया है।

जहाँ 'तत्' पद का प्रथम प्रयोग हो वहाँ 'तत्' पद को ही द्वित्वापन्न आदेश होता है, 'यत्' पद को नहीं।

जैसे—क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहवात शीततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं न च पुनर्विष्णोः पदं शाश्वतं
तत् तत् कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम्॥

जहाँ 'यत्' पद का प्रथम प्रयोग हो वहाँ 'यत्' पद को ही द्वित्वापन्न आदेश होता है, अनन्तर प्रयुक्त 'तत्' पद को नहीं। आदेश यदि यहीं करें तो दो पद पृथक् ही समझने चाहिए। जैसे—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ (रघु.६।६७)

तथा—"यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव" (माघ)
तथा—"यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः" इत्यादि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं॥ १९४॥

(समासरहित स्थल में वाक्यगत अविमृष्टविधेयांशको बताने के पश्चात्—अब समास में भी अनेक पदों के रहने से यह वाक्य दोष है, जिसका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—यथा वेति।

अथवा जैसे—

(भगवान् राम को वनवास की आज्ञा जो दी गई, उसके विषय में लक्ष्मण अपने मन में यह तर्क-वितर्क कर रहे हैं।)

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथ वा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥ १९५ ॥

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यं न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः। एवं समासान्तरेऽप्युदाहार्यम् ॥

किं लोभेनेति। क्या भरत को लोभ ने अभिभूत कर दिया? जिस कारण उसने माता के द्वारा राम को वनवास की आज्ञा दिलवा दी? अथवा मेरी मध्यमा (मझली) माता कैकेयी ही अपने स्त्री-स्वभाव-सुलभ लघुता (क्षुद्रता) पर उतर आई? (यह वितर्क है)। किन्तु यह दोनों प्रकार का मेरा सोचना (अर्थात् भरत का लोभाक्रान्त होना और माता की क्षुद्रता) नितान्त मिथ्या है, क्योंकि मेरे ज्येष्ठ भ्राता गुरु भरत, आर्य रामचन्द्र के अनुज हैं, वे ऐसा क्षुद्र कार्य नहीं कर सकते। तथा माता, पूज्य दशरथ जैसे मेरे पिता की पत्नी हैं, अतः वे भी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकतीं। क्योंकि 'कलत्र' उसी को कहते हैं, जो पति के कला (प्राण) की रक्षा करती है, अतः वह ऐसा क्षुद्र काम नहीं कर सकती। तब यह अनुचित (क्षुद्र) कार्य किसने किया? मुझे तो यही समझ में आता है कि यह अनुचित (क्षुद्र) कार्य, विधाता ने ही किया होगा ॥ १९५ ॥

अत्रेति। इस पद्य के द्वारा 'अनुज' में 'आर्य' के सम्बन्ध को और 'कलत्र' में 'तात' के सम्बन्ध को उत्कर्षाधायक के रूप में 'विधेय' बनाना कवि को अभीष्ट है, किन्तु समास के कारण वह सम्बन्ध 'गुणीभूत' हो गया है, अतः वह 'विधेय' नहीं बन सकता। इसलिए यहाँ पर 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष है। चन्द्रिकाकार ने भी ऐसा ही कहा है।

इस पद्य में कवि को 'आर्यानुज' न कहकर 'आर्यस्य (अनुजः)' और 'तात-कलत्रं' न कहकर 'तातस्य (कलत्रं) कहना चाहिए था। इन दोनों को समास में रखकर 'गौण' (गुणीभाव) नहीं करना चाहिए था। एवमिति। इसी प्रकार अन्य समासों में भी ऐसे उदाहरण ढूँढ लेने चाहिए ॥ १९५ ॥

विशेष विवरण—उपर्युक्त उदाहरण षष्ठीतत्पुरुष समास का दिया है। समासान्तर में भी इसी प्रकार वाक्यगत दोषों को समझ लेना चाहिए।

बहुव्रीहिसमास में जैसे—

'यः स्थलीकृतविन्ध्याद्रिराचान्तापरवाग्धिः।
यश्च तापितवातापिः स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः ॥'

'वातापिः'=असुर विशेष है, "आतापिर्भक्षितो येन वातापिश्च महासुरः'—इस उक्ति के अनुसार।

मुनिः अर्थात् अगस्त्यमुनि।

(वाच्यगत १३ विरुद्धमतिकृत्)

विरुद्धमतिकृद्यथा—

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिङ्गितमूर्त्तयः।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥ १९६ ॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः।

उपर्युक्त श्लोक में बहुव्रीहिसमास के कारण गुणीभाव हो गया है—उस कारण 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष हो गया है। यदि उसी पद्य को 'येन स्थलीकृतो विन्ध्यो येनाचान्तः पयोनिधिः। वातापिस्तापितो येन स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः' ॥ इस तरह यदि कहें तो समास न रहने के कारण 'गुणीभाव' नहीं हो सकेगा, जिससे 'अविमृष्ट-विधेयांशत्व' दोष नहीं हो सकेगा।

इसी तरह तृतीया समास में, जैसे—'धात्रा स्वहस्तलिखितानि ललाटपट्टे को वाक्षराणि परिमार्जयितुं समर्थः'—यहाँ पर 'स्वहस्तेन' कहना चाहिए था।

द्वंद्व समास में—'सीताया ऊर्मिलायाश्च सदृशौ राम-लक्ष्मणौ'—यहां पर 'रामो लक्ष्मणश्च' कहना चाहिए था।

द्विगुसमास में—'ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च त्रिलोकीमधिकुर्वते'—यहाँ पर 'त्रीन् लोकान्' कहना चाहिए था। ये सब 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष के उदाहरण हैं ॥ १९५ ॥

विरुद्धमतिकृदिति। वाक्यगत 'विरुद्धमतिकृत्' दोष का उदाहरण—

साम-दानादिचतुर्विध उपायों में से 'साम' रूप उपाय का अवलम्बकर सफलता (सिद्धि) को प्राप्त करनेवाले राजाओं का वर्णन किया जा रहा है—

श्रितक्षमा इति। क्षमादि गुणों के आश्रयदाता भूमिनिवासी, समस्त जनता के स्नेहपात्र, और कल्याणमूर्ति वे राजा लोग, युद्ध का त्याग कर देने से दुःखरहित होकर सुख-नींद सो रहे हैं। अर्थात् युद्ध के टल जाने से निद्रा-सुख का अनुभव कर रहे हैं ॥ १९६ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'विरुद्धमतिकृत्' दोष हो रहा है, क्योंकि कवि को यद्यपि 'क्षमा आदि गुणों से युक्त हुए राजा लोगों का सुखपूर्वक रहना'—इत्याकारक अर्थ, विवक्षित है, तथापि उस विवक्षित अर्थ के साथ-साथ ही, एक विरुद्ध अर्थ की भी प्रतीति होती है—'वे राजा लोग, 'विग्रहक्षपणेनाद्य'=युद्ध में शरीर के संहार के द्वारा आज 'श्रितक्षमाः'=भूमि पर पड़े हुए, 'रक्तभुवः'=रुधिर से सने हुए, 'शिवालिङ्गितमूर्तयः' = जिनके शरीरों को गीदड़ खा रहे हैं, 'गताऽसुखाः'=शरीर के विनष्ट होने से प्राण एवं इन्द्रियों से रहित होकर सो रहे हैं' इत्याकारक विरुद्ध अर्थ भी प्रतीत होता है। अर्थात् 'सुखमासते'—यह विवक्षित अर्थ है, साथ ही साथ 'हताः'—इस अविवक्षित अर्थ की भी

पदैकदेशे यथासम्भवं क्रमेणोदाहरणम्—

(१–पदैकदेशगतश्रुतिकटुत्वम्)

अलमतिचपलत्वात्स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात्सङ्गमेनाङ्गनायाः ।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥ १९७ ॥

अत्र त्वादिति ।

प्रतीति होती है । एवं च विवक्षित अर्थ–'अन्य' है. और विरुद्ध (अविवक्षित) अर्थ अन्य है । अतः उक्त उदाहरण में 'विरुद्धमतिकृत्' दोष है ॥ १९६ ॥

विशेष विवरण—'गताऽसुखाः'–गतम् असुखं सुखविरुद्धं (दुःखं) येषां ते । यहाँ 'असुखम्' में 'नञ्' विरुद्धार्थक है । क्योंकि 'नञ्' के छह अर्थ होते हैं—"तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥"

उक्त पद्य में दूषकता का बीज यही है कि 'प्रकृत अर्थ की प्रतीति से जन्य (उत्पन्न) चमत्कार का अपकर्ष हो रहा है' । यहाँ 'अमंगल' की भी प्रतीति होने से 'अश्लीलत्व' समझना उचित नहीं होगा, क्योंकि 'उपाधेयसांकर्येऽप्युपाधेरसंकीर्णत्वात्'=उपाधेय-सांकर्य रहने पर भी उपाधि की असंकीर्णता है । उस कारण 'अश्लीलत्व' दोष नहीं कह सकते । 'उपाधेय'=का अर्थ है—धर्मी, कार्य, और 'उपाधि' का अर्थ है—धर्म, कारण । 'अमतपरार्थ' दोष में 'विरुद्ध अर्थ' भी विवक्षित रहता है, उस कारण 'विरुद्धमतिकृत्' और 'अमतपरार्थ' दोनों परस्पर भिन्न हैं । उसी तरह 'प्रकाशितविरुद्धत्व' के साथ 'विधेयाऽविमर्श' का सांकर्य भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वहाँ 'अर्थ' की व्यञ्जकता रहती है, और यहाँ तो 'शब्द' की व्यंजकता रहती है । एवं च वहाँ 'अर्थ' व्यञ्जक रहने से वह अर्थगत दोष है और यहाँ 'शब्द' व्यञ्जक रहने से यह शब्दगत दोष है । विरुद्धमति-कारिता दोष का एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

"तव कण्ठासृजा सिक्ता करवाललता द्विषाम् ।
प्रसूते समरारण्ये यशः कुसुमसञ्चयम् ॥"

तेरह प्रकार के वाक्यदोषों को उदाहरण के द्वारा बताकर अब 'पदस्यांशेऽपि केचन'–इस सुत्रांश के उदाहरण को दिखाते हुए कहते हैं—'पदैकदेशे' इति । पद के एकदेश में रहनेवाले दोषों का यथासंभव उदाहरण दे रहे हैं ।

अब पदैकदेश में 'श्रुतिकटुत्व' का उदाहरण—अलमिति । अंगनासंगमसुख, क्षणिक होने से और स्वप्न के समान चित्तवृत्तिमात्रकल्पित पदार्थ के सदृश मिथ्या होने से, तथा माया के तुल्य आपातरमणीय होने से, और अन्त में दुःखदायी (विरस) होने से, सर्वथा निष्फल (व्यर्थ) है, इस प्रकार सैकड़ों बार तत्त्व की आलोचना करता हूँ, तथापि मेरा अन्तःकरण, उस हरिणाक्षी को नहीं भूलता है ॥ १९७ ॥

अत्रेति। यहाँ पदैकदेशगत 'श्रुति कटुत्व' है, क्योंकि शान्तरस को अभिभूत करके अपने रमणीयरूप में उदित होने वाले मुख्यरस शृङ्गार के लिए 'चलत्वात्, स्वप्नमायोपमत्वात्, परणतिविरसत्वात्', आदि पदों के एकदेश में श्रुत होने वाली 'त्वात्' की ध्वनि, 'श्रुतिकटु' (कर्णकटु) प्रतीत होती है॥ १९७॥

विशेष विवरण—यह उदाहृत पद्य, 'विह्वलणचरित' में उपलब्ध होता है ऐसा कहते हैं। किसी कामिनी में अनुरक्त हुए किसी पुरुष की यह उक्ति है। किन्तु कमलाकर भट्ट इस पद्य को मकरन्द के प्रति माधव की उक्ति कहते हैं, किन्तु उनका यह कथन भ्रान्तिमूलक है। मालतीमाधवप्रकरण में उक्त पद्य अनुपलब्ध है।

'अंगनायाः संगमेन अलम्'—स्त्री-समागम की निष्फलता (व्यर्थता) सिद्ध करने में 'चपलत्वादि' हेतुओं को प्रदर्शित किया है। एवं च 'अंगना-समागम में कोई स्थिर प्रयोजन निष्पन्न नहीं होता है'–इस परमार्थतत्त्व को अनेकशः (बार–बार) सोचने पर भी यह मन, उस हरिणाक्षी को नहीं भूल रहा है। चित्तवृत्तिमात्रपरिकल्पिता–'सृष्टिः' और मन्त्रादिसामर्थ्यादविद्यमानार्थप्रकाशनं–'माया'। स्वप्नश्च माया चेति द्वन्द्वः। तदुपमत्वात् अर्थात् तत्सदृशत्वात् परिणतौ परिणामे विरसत्वात् विरहादिदुःखानुबन्धित्वाच्च, अङ्गनायाः संगमेन अलं प्रयोजनाभावः इत्याकारकं तत्त्वं परमार्थं शतकृत्वः अनेकवारं यदि यद्यपि आलोचयामः विचारयामः तदपि तथापि अन्तरात्मा जीवः, हरिणाक्षीं न विस्मरति।

'माया' तथा इन्द्रजाल के स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है—

"असतो वस्तुनो माया सद्रूपोद्भावना तथा।
इन्द्रजालः स्थितार्थस्य मन्त्रचूर्णौषधादिभिः॥"
अदर्शनमपारोक्ष्यमन्यथाकृति रुच्यते।

'असत वस्तु' का 'सत्' रूप में उद्भावन 'माया' है। और विद्यमान पदार्थ को लुप्त कर देना और अविद्यमान पदार्थ को साक्षात् दिखा देना एवं अन्यथा कर देना ही 'इन्द्रजाल' है।

उक्त उदाहरण में 'चपलत्वात्' इत्यादि पदों का एकदेश'त्वात्' है, वह श्रुतिकटु है। किसी एक पद में 'दो वर्णों के दुष्ट रहने पर 'पददोष' होता है, क्योंकि वहाँ पद में ही कटुत्व (कटुता) की प्रतीति होती है। और जहाँ किसी पद का 'एक ही वर्ण' दुष्ट होता है, तब उसे 'पदैकदेश-दोष' कहा जाता है।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो 'सोऽध्यैष्ट' यहाँ पर प्रत्येक पद में दोष के न रहने से वहाँ 'वाक्यदोष' कैसे कहा जायगा?

उत्तर—अनेक पदों के दुष्ट रहने पर ही 'वाक्य-दोष' होने का कोई नियम नहीं है किन्तु नानापदवृत्तितामात्रेण अर्थात् नाना पदों में रहने मात्र से उसे वाक्यदोष कहा जाता है। उसका रहना (उसकी वृत्तिता) कहीं पर पद के अवच्छेद सम्बन्ध से और कहीं पर पद के एकदेश के सम्बन्ध से हुआ करता है।

यथा वा—

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः॥ १९८ ॥

अत्र द्ध्यै ब्ध्यै इति कटुः ।

(२–पदैकदेशगतं निहतार्थत्वम्)

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ १९९ ॥

यहाँ पर विरोधी शान्तरस का उपमर्द कर स्व-विश्रान्त शृङ्गार रस के अतिमधुर रहने से क्षुद्र अपचार भी असहनीय होने के कारण पदैकदेशगत श्रुतिकटुत्व भी अपकर्षक हो जाता है ॥ १९७ ॥

'दवात्' को 'श्रुति कटु' स्वीकार करने में 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' नियम के अनुसार रुचिभेद से अनुभव-विरोध हो सकता है । इस प्रकार विप्रतिपत्ति उपस्थित होने पर अन्य उदाहरण दे रहे हैं—यथा वेति ।

जैसे—कुमारसंभवकाव्य के तृतीय सर्ग में 'काम' के प्रति 'इन्द्र' की यह उक्ति है । तद् गच्छेति । हे कामदेव ! कार्य सिद्ध करने के लिए जाओ, समस्त देवताओं का यह कार्य है, उसे सम्पन्न करो, न कि मेरे अकेले का ही यह कार्य है । यह स्कन्दजन्म का कार्य यद्यपि शिव-पार्वती के समागम से ही होना संभव है, और वह तुम्हारे अभिष्ट रूप अर्थान्तर से ही लभ्य है, यह सब हम जान रहे हैं, तथापि बीज से उत्पन्न होने वाला अंकुर, अपनी उत्पत्ति से पूर्व जैसे 'जल' की अपेक्षा करता है, वैसे ही यह देवकार्य भी अपनी स्वरूपसम्पत्ति के लिए तुम-जैसे कारण की अपेक्षा कर रहा है ॥ १९८ ॥

अत्रेति । शिव-पार्वती-समागमार्थं कामदेव को प्रेरणा देने वाले देवराज इन्द्र के कथन में मधुर वर्णों का श्रवण होना आवश्यक था, किन्तु यहाँ तो 'सिद्ध्यै' और 'लब्ध्यै' इन चतुर्थ्यन्त पदों के अंशभूत 'द्ध्यै' और 'ब्ध्यै' वर्णों की ध्वनि, 'श्रुतिकटु' प्रतीत हो रही है ॥ १९८ ॥

विशेष विवरण—यहाँ नायक-नायिका-वृत्तान्तरूप रस का संभव है, किन्तु उसके अभिव्यंजक वर्णों के न रहने से यह दूषित हो गया है ॥ १९८ ॥

पदैकदेश में 'निहतार्थत्व' का उदाहरण बता रहे हैं । कुमारसंभव काव्य के प्रथम सर्ग में हिमालय का वर्णन किया जा रहा है—यश्चाप्सर इति । जो पर्वतराज हिमालय, अपने शिखरों पर अप्सराओं के अंगसौन्दर्य के प्रसाधनों को सम्पन्न करने वाली उस धातुमत्ता को धारण किया करता है, जिसका रंग, मेघखण्डों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिबिम्बित होकर बिना सायंकाल के भी चारों ओर सायंकाल का दृश्य उपस्थित किया करता है ॥ १९९ ॥

अत्र 'मत्ता' शब्दः क्षीबार्थे निहतार्थः ।

(३–पदैकदेशगतं निरर्थकत्वम्)

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित-
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम् ।
संप्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
मल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरंगेक्षणा ॥ २०० ॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकं, कुरंगेक्षणाया एकस्या एवोपादानात् । न चालसवलितैरित्यादिवद् व्यापारभेदाद्बहुत्वम् व्यापाराणामनुपात्तत्वात् । न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्त्तते । अत्रैव कुरुते इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम् , प्रधान-क्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात् ।

अत्रेति । यहाँ 'मत्ता' शब्द, मदिरा को पीकर मत्त होने के अर्थ में (क्षीब अर्थ में) प्रसिद्ध है, किन्तु 'युक्तत्व' अर्थ में अप्रसिद्ध है । अतः 'प्रसिद्ध अर्थ' से 'अप्रसिद्ध अर्थ' 'निहत' है । अर्थात् तिरोहित कर दिया जाता है ।। १९९ ॥

विशेष विवरण—'धातुमत्ताम्' में 'धातवः अस्य सन्तीति धातुमान्' । 'नित्ययोगे मतुप्'-से 'मतुप्' प्रत्यय होता है । धातुमतो भावः धातुमत्ता ताम् । 'सुवर्णरौप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला । गैरिकाञ्जनकासीसलौहवङ्गाः सहिङ्गुलाः । गन्धकोऽभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसंभवाः"—ये सब 'धातु' शब्द से कहे जाते हैं ॥ १९९ ॥

पद के एकदेश में 'निरर्थकत्व' का उदाहरण दे रहे हैं । इसमें भाविविरह के कारण रुदन करती हुई किसी नायिका का वर्णन किया जा रहा है–आदाविति । मृगी (कुरंगी) के समान ईक्षणवाली (मृगनयनी) वह सुन्दरी नायिका अजनपुंज के लेप से पहिले काले किये गये और शोकोच्छ्वास के कारण सर्वत्र व्याप्त विरहाग्नि से बाद में तपाये गये आसुओं से अपने नेत्रों का इस समय निषेक कर रही है, मानो कामदेव के बाणों को सान पर चढ़ाकर पानी में बुझा रही है ॥ २०० ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'दृशाम्' कहकर जो बहुवचन का प्रयोग किया है, वह निरर्थक है, क्योंकि 'कुरंगेक्षणा' नायिका तो एक ही है और उसके 'नेत्र' भी दो ही हैं, बहुत नहीं । अतः छन्द के पद की पूर्ति करने के उद्देश्य से बहुवचन किया जान पड़ता है, जो कवि की दुर्बलता को ही प्रकट करता है ।

प्रश्न—आखें, दो रहने पर भी उसके व्यापार अनेक रहने से कदाचित् बहुत्व हो सकता है । अतः बहुवचन के प्रयोग को निरर्थक कहना ठीक नहीं है । जैसे 'अलसवलितैः' में व्यापारभेदात् बहुत्व हुआ है, वैसे ही यहाँ पर भी बहुत्व को समझना उचित हो सकता है ।

उत्तर—अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुहुर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः ।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाऽद्य विलोक्यते ॥

अलसवलितैरिति । हे मुग्धे ! भोली भाली ! यह तो बता दे कि अलसाये रहने पर भी चञ्चल, प्रेमरस से आर्द्र हुए, बार-बार मुकुलित हो रहे, लज्जा के कारण इतने चञ्चल हो जाते हैं कि क्षणभर के लिए सम्मुख हुए नहीं सो दूसरे ही क्षण पराङ्मुख (अधोमुख) हो जाने वाले, निर्निमेष (अपलक) होकर निहारनेवाले, हृदय के सम्पूर्ण गूढ रहस्यों को प्रकट करनेवाले, इन विलक्षण ईक्षणों (दृष्टिपातों) से जिसको तुम आज देख रही (कृतार्थ कर रही) हो, वह कौन सुकृती (सौभाग्यशाली) है ? इस अमरुकशतक के पद्य में ईक्षण (दृष्टिपात) के अनेक व्यापार बताये गये हैं, वैसे 'आदावञ्जनपुञ्ज' में नहीं बताये गये हैं ।

क्योंकि 'अलसवलितैः' में निबद्ध ईक्षणों के व्यापार की तरह प्रस्तुत 'आदावञ्जन-पुञ्ज०' में नेत्र के अनेक (बहुत) व्यापारों का उपादान नहीं किया गया है । अतः यहाँ बहुत्व का प्रयोग निरर्थक ही है ।

शंका—'व्यापार' अर्थ के प्रतिपादक 'दृक्' शब्द का उपादान (ग्रहण) 'आदा-वञ्जनपुञ्ज' में किया ही है, 'दृक्' शब्द की निष्पत्ति, भाव अर्थ में संपदादित्वात् 'क्विप्' प्रत्यय के जोड़ने पर हुई है। एवं च 'दृक्' शब्द, भावसाधन होने से, वही व्यापार के अर्थ का प्रतिपादन कर रहा है । और व्यापार तो बहुत-से होते ही हैं । अतः बहुवचन के प्रयोग को निरर्थक कहना ठीक नहीं है ।

समाधान—यदि 'दृशाम्' पद को भावार्थक कहेंगे तो 'अञ्जनलेप', 'विरहानल में तपाना' इन विशेषणों का संभव न हो सकने के कारण 'व्यापार' में अन्वय नहीं होगा । एवं च यहाँ पर 'दृक्' शब्द को 'दृश्यते अनया' व्युत्पत्ति से करण साधन ही समझना चाहिए, 'भावसाधन' नहीं । तब 'दृक्' शब्द नेत्रपरक ही कहलायेगा, 'व्यापारपरक' नहीं । और नेत्र' तो दो ही होते हैं, दो से अधिक बहुत से तो होते नहीं । अतः बहुवचन का प्रयोग निरर्थक ही है ।

अत्रैवेति । इसी 'आदावञ्जनपुञ्ज' पद्य में ही कुरुते' यह 'आत्मनेपद' भी निरर्थक है । क्योंकि मुख्यतया अभिप्रेत क्रियाफल (युवकों के हृदय को जीतना) का कर्तृकारक (कुरङ्गेक्षणा) से कोई सम्बन्ध नहीं है । निष्कर्ष यह है कि 'कुरुते'-क्रिया का फल तो 'कामदेव' से सम्बन्ध रखता है, 'कुरङ्गेक्षणा' से नहीं । अतः कर्ता का अभिमत क्रिया का फल, यहाँ कर्तृगामी न होने से 'कुरुते'—यह आत्मनेपद निरर्थक है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में जो नायिका है, वह 'भविष्यत् प्रवासपतिका' है । इस पद्य में प्रयुक्त 'दृशाम्' पद में जो 'बहुवचन' है, वह अविवक्षितार्थक ही है, अतः

वृत्तपूरणार्थं ही उसका प्रयोग किया गया है। एक कुरङ्गेक्षणा को 'दृग्बहुत्व' का होना संभव नहीं है, उस कारण 'दृशाम्' पद में प्रयुक्त बहुवचन 'निरर्थक' है।

शंका—'ब्राह्मणाः पूज्याः' के समान यहाँ पर प्रयुक्त 'बहुवचन' है, यह क्यों न समझा जाय ?

समाधान—'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) इस पाणिनिसूत्र ने यद्यपि 'एकत्व' में बहुत्व का विधान किया है, तथापि 'द्वित्व' में 'बहुत्व' का विधान नहीं किया है।

शंका—'द्वित्व' में भी बहुत्व का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे—नेत्रों में द्वित्व रहने पर भी उनके व्यापार-भेद के कारण उनमें बहुत्व का प्रयोग कवियों ने किया है। अमरुशतक के पद्य–"अलसवलितैः'–में 'ईक्षणैः' इस बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया है।

समाधान—'ईक्षणैः' इस भावसाधन पद से अनेक व्यापारों का जैसे निर्देश किया गया है, वैसा प्रस्तुत उदाहृत पद्य 'आदावञ्जन' में नहीं है। क्योंकि 'ईक्षणैः' के समान यहाँ पर व्यापारों का उपादान नहीं किया गया है।

शंका—'दृश्' धातु से 'सम्पदादित्वात्' भावार्थ में 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'दृक्' शब्द भावसाधन हो जायगा, तब वही 'व्यापार' अर्थ का वाचक हो जायगा। और 'व्यापार' एक ही नहीं होता, अपितु अनेकानेक व्यापार हुआ करते हैं। अतः 'दृशाम्' के बहुवचन को निरर्थक कह देना उचित नहीं है।

समाधान—'दृक्' को व्यापारार्थक मानने पर 'दर्शनात्मकव्यापाररूपक्रिया' में 'अञ्जनलेप' आदि विशेषणों का अन्वय नहीं हो सकेगा। अतः यहाँ पर 'दृक्' शब्द, 'दृश्यतेऽनया' व्युत्पत्ति के अनुसार 'करणसाधन' मानकर 'नेत्रपरक' ही है, व्यापारपरक नहीं है। तभी उक्त विशेषणों का अन्वय भी उसके साथ हो जाता है। एवं च 'दृक्' दो ही होने से बहुवचन का प्रयोग करना निरर्थक ही है।

इसी के साथ इसी श्लोक में पदान्तरांश की निरर्थकता का उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं—**अत्रैवेति**। 'आदावञ्जनपुञ्ज०' में 'कुरुते' कहकर आत्मनेपद का जो प्रयोग किया है, वह भी 'निरर्थक' है। तथा हि—"स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले"—(पा० सू० १।३।७२) इस पाणिनिसूत्र का अर्थ इस प्रकार है—स्वरितेत् संज्ञक और ञकारेत् संज्ञक जो धातु, उससे आत्मनेपद होता है, यदि क्रियाफल, कर्तृगामी (कर्त्रभिप्राय) हो तो। जैसे–'यजमानो यजते'–यहाँ पर 'यजति' क्रिया का फल 'यजेत स्वर्गकामः'–इस श्रुति से बोधित 'स्वर्ग' है। वह फल, यजमानगामी रहने से 'यजते-यजेत' में आत्मने पद का प्रयोग होता है। "प्रधानाऽप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः"–इस नियम के अनुसार यहाँ 'फल' शब्द से प्रधान का ही ग्रहण किया जाता है। अतएव 'ऋत्विजो यजन्ति' में, दक्षिणादिरूप फल, कर्तृगामी रहने पर भी आत्मनेपद नहीं

हुआ, क्योंकि वह दक्षिणादानादिरूप फल 'प्रधान' नहीं है। इसी रहस्य को शब्देन्दुशेखर में भी कहा गया है--"क्रियाफलं च श्रुत्या लोकतो वा यदुद्देशेन क्रियाप्रवृत्तिरवगता तदेव, न दक्षिणादानादिरूपम्। तच्च पच्यादौ भोजनादि लोकतोऽवगतम्, यज्यादौ स्वर्गादि श्रुत्यावगतम्" इति।

उक्त व्याकरणानुशासन के अनुसार 'सकलविलासिजनविजय'–रूप जो मुख्य (प्रधान) क्रियाफल है, उसका 'कुरङ्गेक्षणा' रूप कर्तृकारक के साथ सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् वह (फल), कर्तृगामी नहीं है। कर्तारम् अभिप्रैति गच्छति तत् कर्त्रभिप्रायं कर्तृगामि, यहाँ पर 'कर्मण्यण्' इस पाणिनिसूत्र से 'अण्' प्रत्यय किया गया है। तथाविधं यत् क्रियायाः फलं तस्य अभावादित्यर्थः। एवं च 'कुरुते' में आत्मनेपद का प्रयोग निष्प्रयोजन (निरर्थक) है। क्योंकि उत्प्रेक्षित भल्लीपानकर्मसाध्यमन्मथसम्बन्धिजगद्विजयरूप कार्य उस मृगनयनी का अभिप्रेत न रहने से और उससे असम्बद्ध रहने से भी उसे (फल को) कर्तृगामी नहीं कह सकते, अर्थात् क्रियाफल, कर्तृगामी न होने से आत्मनेपद का प्रयोग अनुपपन्न है, अतएव उसे निरर्थक कहा जा रहा है। क्योंकि उससे द्योत्य क्रियाफलगत-कर्तृगामित्व की प्रतीति नहीं हो रही है। इसे 'निरर्थक' न कहकर 'असाधुत्व'–(च्युत-संस्कृतित्व) दोष से दूषित नहीं कह सकते। क्योंकि मयूरकविकृत सूर्यशतक के द्वितीय पद्य के एकवाक्य 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये'–की तरह कामदेवगत फल का तत्संबन्धित नायिका में आरोप करने मात्र से और 'दृग्द्वय' में भी बहुत्व का आरोप करने से उसे यथाकथञ्चित् 'साधु' कहा जा सकता है। 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वते'–यहाँ तो सुगन्धा-घ्राणादिरूप जो विकास फल है, उसका आरोप 'किरणों' पर किया गया है, यह शब्देन्दु-शेखर में स्पष्टतया कहा गया है। उस कारण सूर्यशतक के 'कुर्वते' में प्रयुक्त आत्मनेपद की साधुता तो कही जा सकती है, किन्तु 'आदावञ्जन' पद्यगत 'पानकर्म कुरुते' में आरोप करने का कोई प्रयोजन निष्पन्न न हो पाने से 'निरर्थकत्व' कहना ही उचित है। प्रयोजन (फल) की संभावना रहने पर ही आहार्यारोप किया जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'कुरुते'–इस क्रिया का फल तो कामदेव से सम्बन्ध रखता है, न कि कुरंगेक्षणा से। यदि कामदेवगत विजयरूप क्रियाफल का कुरंगेक्षणा में आरोप भी माना जाय और 'दृशाम्' के बहुवचन का कथंचित् समर्थन किया जाय तब निरर्थकत्व दोष को दूर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि इस आहार्यारोप का कोई प्रयोजन (फल) नहीं है। एवं च 'कुरुते' में आत्मनेपद, निरर्थक ही है।

शंका—जैसे 'दीनं त्वाम् अनुनाथते'–में 'नाथते' यह जो आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है, वह 'असाधु' (च्युतसंस्कृति) है, उसी तरह यहाँ भी 'पानकर्म कुरुते' में 'कुरुते' यह आत्मनेपद का प्रयोग 'असाधु' ही है। उसे 'निरर्थक' कहना ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया के जिस फल को कर्ता चाहता है, उस कर्त्रभिप्रेत क्रियाफल के रहने पर ही 'आत्मने-

पद को 'साधु' कहा जाता है, अन्यथा 'असाधु' कहा जाता है। अतः निरर्थक न कहकर 'असाधु' कहना चाहिए।

अथवा—'कुरुते' में जैसे 'आत्मनेपद' का प्रयोग निरर्थक है, वैसे ही 'नाथते' पद में भी आत्मनेपद का प्रयोग निरर्थक कहा जाय। क्योंकि दोनों की स्थिति एक-सी ही है।

उसी प्रकार नेत्रद्वय के वाचक 'दृक्' का 'दृशाम्' यह बहुवचन प्रयोग भी 'असाधु' ही है, उसे 'निरर्थक' कहना ठीक नहीं।

समाधान—'आशिषिनाथः'—यह वार्तिक आशीर्वाद के अर्थ में ही 'नाथ' धातु से आत्मनेपद का नियम करता है। अर्थात् आशीर्वाद से भिन्न 'याचनादि' अर्थ रहने पर आत्मनेपद का निषेध बोधन करता है। उस कारण 'याचना' के अर्थ में 'नाथ' धातु से आत्मनेपद करना 'असाधु' (च्युतसंस्कृति) कहलाता है।

तथा 'स्वरितञितः'—यह सूत्र क्रिया के फल के साथ कर्ता के अतिरिक्त किसी अन्य का सम्बन्ध विवक्षित होने पर आत्मनेपद का निषेध करता है। यह नियामक सूत्र है—'जहाँ क्रिया का फल, कर्ता को इष्ट हो वहीं पर आत्मनेपद हो', अन्यत्र नहीं, यह नियम विधान इस सूत्र ने किया है। अतः कर्ता के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ सम्बद्ध क्रिया-फल को बताने पर ही 'आत्मनेपद' को असाधु कहा जाता है। न कि क्रिया का फल, जहाँ कर्ता को अभिप्रेत नहीं है, वहाँ भी उसे असाधु कहा जाय।

शंका—तब क्रिया का फल कर्ता को अभीष्ट हो वहीं पर आत्मनेपद करने का विधान क्यों किया है?

समाधान—इसलिए किया है कि जहाँ क्रिया का फल, कर्ता के अतिरिक्त किसी अन्य को अभीष्ट हो, वहाँ आत्मनेपद न होने पाये। न कि कर्ता से अभिप्रेत क्रियाफलत्व के अभाव को उसने बताया है। प्रकृत प्रसंग में पराभिमत क्रियाफलत्व द्योत्य नहीं है, अपितु क्रिया के फल में कर्त्रभिप्रेतत्व की प्रतीति नहीं हो रही है, इसलिए यहाँ 'असाधुत्व' नहीं है। इसी प्रकार 'बहुषु बहुवचनम्'—यह सूत्र बहुत्व की विवक्षा रहने पर ही 'बहुत्व' का नियम करता हुआ 'द्वित्व' एवं 'एकत्व' की विवक्षा में 'बहुवचन' का निषेध करता है। न कि बहुत्व की विवक्षा के अभाव में बहुवचन का निषेध करता है। प्रकृत प्रसंग में 'दृशाम्' के द्वित्व या एकत्व की विवक्षा नहीं है, जिससे इस बहुवचन को असाधु कहा जाय। यहाँ तो केवल 'बहुत्व' की विवक्षा नहीं है। अतः यहाँ 'अनर्थकत्व' मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है। चण्डीदास आदि कुछ लोगों का जो यह कहना है कि अवयव के अभिप्राय से (प्रत्ययांश के अभिप्राय से) 'निरर्थकत्व' है, और समुदाय के अभिप्राय से (पद के अभिप्राय से) 'असाधुत्व' है, वह उचित नहीं है। क्योंकि उक्त रीति से 'असाधुत्व' की प्रसक्ति नहीं हो पा रही है॥ २००॥

(४ पदैकदेशगतम् अवाचकत्वम्)

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
　शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
　बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥ २०१ ॥

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

४—पदैकदेशगत 'अवाचकत्व' का उदाहरण

राजशेखरकृत बालरामायण के द्वितीय अंक में रावण, श्री परशुरामजी से कह रहा है—चापाचार्य इति । हे परशुरामजी ! तुम्हारी और सब बातें तो ठीक हैं कि तुम्हारी धनुर्विद्या के गुरु, त्रिपुरविजयी साक्षात् भगवान् शंकर थे, और देवसेनानी स्वामी कार्तिकेय को भी तुमने पराजित कर दिया था, तथा अपने शस्त्र से समुद्र को भी हटाकर दूर फेंक दिया (ध्वस्त कर दिया), तब वह तुम्हारा निवासस्थान बन गया, सम्पूर्ण क्षत्रियवंश का विनाश करने में यह समस्त पृथिवी तुम्हारे लिए हन्तकार अर्थात् षोडशग्रासात्मिका अतिथिभिक्षा के रूप में हो गई । इस तरह तुम्हारा सम्पूर्ण अद्भुत पराक्रमात्मक व्यवहार बहुत ही उत्तम अर्थात् सचमुच श्लाघनीय (प्रशंसनीय) रहा है, किन्तु अपनी माता रेणुका के कण्ठ को काटने वाले तुम्हारे परशु (फरसे) के साथ स्पर्धा करने में यह मेरा चन्द्रहास (खड्ग = तलवार) लज्जा का अनुभव कर रहा है ॥ २०१ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'विजेयः' में 'कृत्य-संज्ञक यत्' प्रत्यय किया गया है, जो 'क्त' प्रत्यय के अर्थ को अर्थात् 'विजितः' पद के अर्थ को बताने के लिए कवि ने किया है, किन्तु वह संभव नहीं है, क्योंकि अर्हार्थक अर्थात् भाविकालविषयक योग्यता के वाचक 'यत्' प्रत्यय को अतीतकाल (भूतकाल) विषयक 'क्त' प्रत्यय के अर्थ का वाचक नहीं कहा जा सकता । अतः यहाँ 'अवाचकत्व' दोष हो गया है ॥ २०१ ॥

विशेष विवरण—अमूर्तिमान् समुद्र का अपने शस्त्र से निराकरण कर देना, सचमुच तुम्हारे पराक्रम की उत्कृष्टता को ही व्यक्त कर रहा है । 'हन्तकार' का अर्थ—षोडशग्रासात्मिका अतिथिभिक्षा है । मार्कण्डेय पुराण में इसके सम्बन्ध में कहा गया है—

"ग्रासप्रमाणा भिक्षा स्यादग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः ॥" इति ॥

चक्रवर्ती आदि व्याख्याकारों ने 'हन्तकार' का अर्थ, 'अतिथि-बलि' किया है । यह कहने से परशुराम 'सकलनरपतिविजेता' हैं, यह ध्वनित होता है । पद्यप्रयुक्त समस्त विशेषणों से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् परशुरामजी देव, असुर, मनुष्य सबके विजेता हैं । अपनी माता का गला (कण्ठ) काटने के पूर्व तुम्हारे परशु से मेरा खड्ग, स्पर्धा रखता था, किन्तु गला काटने के पश्चात् अर्थात् घृणास्पद काम करने के पश्चात् मेरे उसी

(५ त्रिविधेषु अश्लीलेषु पदैकदेशस्थः अश्लीलदोषः)

(पदैकदेशस्थः व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलदोषः)

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥ २०२ ॥

अत्र पेलवशब्दः।

खड्ग को अब उससे स्पर्धा करने में लज्जा लग रही है। इस प्रकार के निन्द्य कर्म करनेवाले तुमसे स्पर्धा करने में मुझे लज्जा लग रही है—इस तथ्य को 'मम चन्द्रहासो लज्जते' कहकर व्यक्त किया है।

अत्रेति। यहाँ पर कवि ने 'यत्' प्रत्यय का प्रयोग, 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में किया है, किन्तु वह (यत् प्रत्यय) 'क्त' प्रत्यय के अर्थ का वाचक नहीं है। 'यत्' प्रत्यय, कृत्यसंज्ञक प्रत्यय है। 'क्त' प्रत्यय, भूतकाल (अतीत काल) के अर्थ में होता है।

अभिप्राय यह है कि 'विजेयः' में 'जि जये' धातु से "अर्हे कृत्यतृचश्च"—(पा० सू० ३।३।१६९) से 'अर्ह' अर्थ में "अचो यत्'–(पा० सू० ३।१।९७) सूत्र से कृत्यसंज्ञक 'यत्' प्रत्यय किया गया है। 'अर्हत्व' का अर्थ है—भाविविषया योग्यता। किन्तु यहाँ कवि को विवक्षित है 'अतीतत्व'। अन्यथा 'सिद्धत्व' की प्रतीति न हो पाने से उत्कर्ष की प्रतीति नहीं हो सकेगी। 'अवाचकत्व' दोष 'यत्' प्रत्ययमात्रगत रहने से 'पद' के एकदेश में हुआ है। उस कारण पदैकदेश में यह 'अवाचकत्व' दोष हुआ है।

शंका—'विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः'—(स० उ० श्लो० १५०) में जैसा 'पददोष' बताया गया है, वैसा यहाँ क्यों नहीं बता रहे हैं ?

समाधान—'विदधदभिनव०' में 'धातु और उपसर्ग' के सम्बन्ध से उस दोष को 'पददोष' कहा गया है। क्योंकि वह 'उभयगत' हो गया है। और यहाँ केवल 'प्रत्यय' में दोष रहने से इसे 'पदैकदेशदोष' कहा जा रहा है। उपर्युक्त अभिप्राय को चक्रवर्ती व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में सुचारुतया व्यक्त किया है—"क्तप्रत्ययार्थे, प्रतीतकाले अवाचक इति। अनिर्दिष्टार्थप्रत्ययस्य कालत्रयविधाने योग्यतावच्छेदकतयाऽतीतत्वेनान्वयः। तद्रूपेण च कृत्यप्रत्ययस्य ! त्तिविरहः, अर्हार्थे कृत्यप्रत्ययस्य विधानादिति भावः"। इति ॥ २०१ ॥

५ पदैकदेशगत अश्लीलदोष

पद के एकदेश में व्रीडादायक अश्लील का उदाहरण

अपने मित्र के प्रति किसी आप्त की उपदेशोक्ति है—

अतिपेलवमिति। शठ (दुष्ट) व्यक्ति, अत्यन्त कोमल और बहुत स्वल्प शब्दों में बहुत मन्दतया बात करता है, किन्तु वस्तुतः उसका हृदय, मानो कालकूटसंज्ञक भयंकर विष से भरा रहता है ॥ २०२ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'पेलव' शब्द का एकदेश 'पेल', गुह्यांग में उपस्थ (शिश्न = लिंग) को ढकेलने के अर्थ का स्मरण कराता है। अतः वह 'व्रीडा' (लज्जा) दायक है।

(पदैकदेशस्थः जुगुप्साव्यञ्जकः अश्लीलदोषः)

यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ-
　　स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन।
सौजन्यमान्यजनिरूर्जितमूर्जितानां
　　सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ २०३ ॥

अत्र पूयशब्दः।

विशेष विवरण—'लघुत्तरमुदाहरति शठः'—अपने पर सचाई का विश्वास पैदा कराने के लिए अत्यन्त मन्दरीति से बोलता है, तत्त्वतः तो उसका हृदय, मानो उत्कट विष से ही निर्मित हुआ रहता है। एवं च उसके बोलने में जो मधुरता, परिमितता, मन्दता आदि जो कुछ भी है, वह सब कृत्रिम ही रहती है, अतः उसके वचनों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह 'गीति' छन्द है। उसका लक्षण—

आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजङ्गेशः॥

किन्तु उक्त उदाहरण में द्वितीयपाद, एकमात्रा से न्यून हो गया है। यदि 'शठ' की जगह 'शब्दम्' पाठ कर दिया जाय तो 'न्यूनता' दूर हो सकती है। तब पूर्व प्रक्रान्त 'सः'–इस 'तद्' शब्द से परामृष्ट 'शठ' ही दोनों वाक्यों में 'कर्त्ता' रहने से कोई अनुपपत्ति भी नहीं हो पायेगी।

अत्रेति। 'पेलव' शब्द का एकदेशभूत 'पेल' शब्द, 'लाटभाषा' में वृषणरूप गुह्याङ्ग का बोधक (स्मारक) होने से व्रीडाजनक है—ऐसा उद्योत-चन्द्रिका आदि व्याख्याओं में स्पष्ट है॥ २०२॥

पद के एकदेश में जुगुप्साव्यंजक अश्लील का उदाहरण

किसी महान् पुरुष की प्रशंसा की जा रही है—**यः पूयते इति**। जो गंगा आदि प्रमुख तीर्थों में अवगाहन करने से, और वेदान्त आदि अध्यात्मशास्त्रों के अभ्यास करते रहने से, सुदृढ़ संस्कारों के कारण पवित्र बन पाया है, तथा जिसका जन्म, सुजनता के कारण मान्य है, अर्थात् जिसका कुल (वंश), उसकी अपनी सज्जनता के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध (मान्य) है, तथा जिसे बलवान् लोग भी अपना बल समझते हैं, ऐसा महान् पुरुष, क्वचित् कदाचित् ही किसी के दृष्टिगोचर हो पाता है। सर्वत्र सभी को उसके दर्शन नहीं हुआ करते ॥ २०३ ॥

अत्रेति। यहाँ 'पूयते' में 'पूय' रूप पदांश, अश्लील है, क्योंकि 'पूय' शब्द 'व्रण-क्लेद' (घाव से निकलने वाला मवाद) रूप जुगुप्सित अर्थ का स्मरण करा देता है। अतः 'पूय' शब्द जुगुप्सादायी है॥ २०३॥

विशेष विवरण—'यः पूयते··· ··· ···कीलनेन—' यहाँ तृतीयान्त पद कर्तृवाचक हैं। 'यः' पद कर्मवाचक है और 'पूयते' पद क्रियावाचक है। 'पूङ् पवने'–अर्थात्

(पदैकदेशस्थः अमङ्गलव्यञ्जकः अश्लीलदोषः)

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग! तादृशः।
कथमद्य स तद्वदीक्ष्यतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥ २०४ ॥

अत्र प्रेतशब्दः।

पवित्रीक्रियते। इस भौवादिक धातु से कर्मणि लट् हुआ है। प्रभाव्याख्याकार का कहना है कि 'पूयते पवित्रीभवति'। इनके मत के अनुसार 'लूयते केदारः स्वयमेव' की तरह पूर्वोक्त 'पूङ् पवने' धातु से ही 'कर्मकर्तरि' प्रयोग समझना चाहिए। यदि कहें कि इनके मत से 'पूयी' धातु से यह 'कर्तृलडन्त' प्रयोग है, तो यह कहना उचित नहीं होगा। क्योंकि 'पूयी विशरणे दुर्गन्धे च'—ऐसा ही धातुपाठ में पठित रहने से वह धातु (पूयी-धातु) पवित्रार्थक नहीं है। यदि कहें कि 'धातूनामनेकार्थत्वम्'—तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि धातुओं की अनेकार्थत्वकल्पना वहीं की जाती है, जहाँ 'अगतिकगति' रहती है। 'पूयते' पद के एकदेशभूत 'पूय' शब्द से 'व्रणक्लेद' रूप अर्थ व्यञ्जित होता है। अतः जुगुप्सादायी होने से वह 'पूय' शब्द अश्लील दोष से युक्त हो गया है। वह 'पूय शब्द' 'पूयते' पद का एकदेश होने से शक्तिविरह होने के कारण 'व्यञ्जक' बन गया है ॥ २०३ ॥

पदैकदेशस्थित अमङ्गलव्यञ्जक अश्लील का उदाहरण

विनयेति। कोई आदमी, अपने मित्र से कह रहा है कि वह सत्स्वभाव का सज्जन व्यक्ति, आज नीच पुरुष के सम्पर्क में आने पर भी उसे नीचपुरुष के समान कैसे समझा जाय? क्योंकि अभी तक जो पुरुष सतत नम्रता और प्रेम (प्रणय) का मुख्य स्थान के रूप में स्थित था। अर्थात् जो आदमी अभी तक अत्यन्त विनम्र और प्रेमार्द्र-हृदय का था वह अब नीचसम्पर्क से स्वयं नीच कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। क्योंकि 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'—यह नियम है।

कुछ लोगों का कहना है कि उक्त पद्य के द्वारा कोई नायिका अपनी सहेली (सखी) से अपने नायक के बारे में बता रही है—विनयेति। हे अंग अर्थात् हे सखि! जो नायक अभी तक वैसा (मेरे वश में) था, वही आज मेरी सपत्नी के वशीभूत हो गया है, अतः उसे मैं अब पहले की तरह कैसे समझूँ? अर्थात् वह आज अन्यथा ही दिखाई दे रहा है ॥ २०४ ॥

इस पद्य में 'अपरवक्त्र' छन्द का प्रयोग किया गया है। अपरवक्त्रच्छन्द का लक्षण—"अयुजिननरला गुरुः समे नजमपरवक्त्रमिदं ततो जरौ"—है।

अत्रेति। इस पद्य में प्रयुक्त 'तदभिप्रेतपदम्' में पदैकदेशभूत 'प्रेत' शब्द 'अश्लील' है। क्योंकि वह (प्रेत शब्द) 'मृतक' रूप अमङ्गल अर्थ का व्यञ्जक है। क्योंकि 'अभिप्रेतपदम्' में 'प्रेत' शब्द से 'मृतक' रूप अर्थ का स्मरण हो आता है। तब 'अभिप्रेतपदं समागतः' का अर्थ 'श्मशान' में पहुँचा हुआ हो जाता है। क्योंकि 'अभितः सर्वतः

(६ पदैकदेशगतं संदिग्धत्वम्)

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम् ।
अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥ २०५ ॥

अत्र किं पूर्वं साधुः, उत साधुषु चरतीति सन्देहः ।

(७ पदैकदेशगतो नेयार्थत्वदोषः)

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोबाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ॥ २०६ ॥

अत्र वचःशब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते । अत्र खलु न केवलं पूर्वपदं यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते । जलध्यादावुत्तरपदमेव बडवानलादौ पूर्वपदमेव ।

प्रेताः कुणपाः यस्मिन्'—तत् पदं स्थानम्, अभिप्रेतपदं अर्थात् श्मशानम्'—यह प्रतीति होती है । यह प्रतीति होना ही दूषकता का बीज है । तथा च नायक का गतासुत्व (प्राणरहितत्व) अभिव्यक्त होता है ।। २०४ ।।

६ पदैकदेशगत सन्दिग्ध दोष का उदाहरण

कस्मिन्निति । इस व्यक्ति का सामर्थ्य किस कार्य में प्रकट नहीं होता है ? अर्थात् कोई भी कार्य हो, सभी में इसकी अकुण्ठित गति है । यह एक 'साधुचर' अर्थात् सत्संग-प्रेमी व्यक्ति है । इसलिए यह प्रणाम करने योग्य है । अतः इसे प्रणाम करो ।। २०५ ।।

अत्रेति । इस पद्य में 'साधुचरः' पद के 'चरः' अंश से सन्देह होता है कि यह व्यक्ति 'साधुषु चरतीति साधुचरः' अर्थात् साधुओं (महात्माओं) की संगति में रहने वाला है, अथवा 'भूतपूर्वः साधुः इति साधुचरः' अर्थात् पहले कभी 'साधु' (सज्जन = महात्मा) रह चुका है, अर्थात् अब वैसा नहीं है । यह सन्देह 'साधुचरः' पद के श्रवण से होता है : अतः यहाँ 'सन्दिग्धत्व' दोष है ।। २०५ ।।

विशेष विवरण—'साधुचर' पद में 'चरः' यह एकदेश है । इस 'साधुचरः' पद में 'आढ्यो भूतपूर्वः' 'आढ्यचरः' की तरह "भूतपूर्वे चरट्" (पा० सू० ५।३।५३) सूत्र से विहित 'चरट्' प्रत्यय किया गया है, अथवा कुरुषु चरतीति 'कुरुचरः' की तरह "चरेष्टः" (पा० सू० ३।२।१६) सूत्र से विहित 'ट' प्रत्यय किया गया है ? यह सन्देह हो जाता है । फलतः यह व्यक्ति, पहले कभी साधु था, या आजकल 'साधु' हो गया है— इस प्रकार अर्थ में सन्देह हो जाता है अर्थात् किसी प्रकरण-विशेष के अभाव में वक्ता के तात्पर्य में सन्देह होता है ।। २०५ ।।

७ पदैकदेशगत नेयार्थत्व दोष का उदाहरण

किमुच्यते इति । राजाओं के मुकुटों में मेरुस्थानीय मणि के तुल्य इस राजा का वर्णन कहाँ तक किया जाय, अर्थात् इसके गुणों का वर्णन करना अशक्य है । जिसका तेज, 'वचोबाण' अर्थात् गीर्बाणों (देवगणों) को भी सुदुर्लभ है अर्थात् प्राप्त होना कठिन ही है, ऐसा मैं समझता हूँ ।। २०६ ।।

अत्रेति । इस पद्य में 'वचोबाण' पद का अंशभूत जो 'वचः' है, वह 'नेयार्थ' है ।

(अप्रयुक्तावाचकत्वादिदोषाणामसमर्थत्वदोषात् पृथक्परिगणनम्)

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः, तथाप्यन्यैरालङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ताः॥

क्योंकि यहाँ 'वचः' शब्द से 'स्व-शक्यनिरूपितवाचकत्व' सम्बन्ध से 'गीः' शब्द ही लक्षित किया जाता है। 'गीर्—बाण' ये दो शब्द मिल कर ही 'देव' के अर्थ में रूढ हैं। अभिप्राय यह है कि 'वचः' के साथ इसके (वचः के) अर्थ का 'वाचकत्व' संबंध है, यानी 'स्व वाच्य-वाचकत्व' सम्बन्ध है। उस संबंध के कारण 'वचः' शब्द के द्वारा 'गीः' शब्द, लक्षित होता है। एवं च 'गीर्वाण'—इस शब्द का ज्ञान, लक्षणा से हो पाता है। किन्तु रूढि अथवा प्रयोजन के अभाव में अथवा दोनों के अभाव में लक्षणा के द्वारा उस ज्ञान का कराना अनुचित ही कहा जायगा। एवं च 'वचः' शब्द से लक्षित होने वाला 'गीः' शब्द, 'नेयार्थ' है। क्योंकि लक्षणा करने में न 'रूढि' है, और न कोई 'प्रयोजन' ही है। कवि का विवक्षित अर्थ तो 'गीर्वाण = देवता' है। किन्तु उस विवक्षित अर्थ को बनाने में यह 'वचोबाण' शब्द समर्थ नहीं है। उस विवक्षित अर्थ को बताने में तो सम्पूर्ण 'गीर्वाण' शब्द ही रूढ है। देवतावाचक 'गीर्बाण' पद की जगह 'वचोबाण' इस 'नेयार्थ' पद का प्रयोग कवि ने किया है।

अत्र खल्विति। 'गीर्बाण' पद का 'गीः' पूर्वपद है, उसे किसी पर्याय शब्द के द्वारा परिवर्तित नहीं किया जा सकता, तथा उत्तरपद (बाण) को भी किसी पर्याय शब्द 'शर' आदि से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अर्थात् 'वचोबाण' का पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों ही पर्यायपरिवर्तन को नहीं सह पाते हैं।

इस प्रकार के कुछ अन्य पद (जलधि-वडवानल) हैं, जिसमें उनके अंशभूत 'उत्तर-पद' का किसी पर्याय शब्द से परिवर्तन नहीं किया जा सकता। जैसे—'जलधि' पद। तथा कुछ पद ऐसे भी हैं, जिनमें उनके अंशभूत 'पूर्वपद' को किसी पर्यायशब्द से परि-वर्तित नहीं कर सकते। जैसे 'वडवानल' पद।

'जलधि' पद के 'धि' के स्थान पर 'धर' रख दें तो 'जलधर' पद, 'जलधि = समुद्र' का वाचक नहीं बन पायेगा। उस कारण समुद्र के अर्थ में वह 'जलधर' शब्द 'नेयार्थ दोष' से दूषित हो जायेगा।

तथा 'वडवानल' पद का अंशभूत 'वडवा' पूर्वपद है। उसकी जगह 'अश्व' इस पर्याय शब्द को नहीं रख सकते। क्योंकि 'अश्वानल' शब्द से 'वडवानल' अर्थ का बोध नहीं हो सकता। उस कारण वडवानल के अर्थ में 'अश्वानल' शब्द नेयार्थ दोष से दूषित हो जायेगा।

अप्रयुक्तत्वादि दोषों के पृथक् परिगणन का रहस्य

शंका—पूर्ववर्ती आलंकारिक रुद्रट के मतानुसार 'अप्रयुक्त', 'अवाचक', 'निहतार्थ' आदि जो दोष हैं, वे 'असमर्थ' दोष के ही अवान्तर भेद हैं, तब इनका पृथक् परिगणन क्यों किया है?

(वाक्यमात्रगता दोषाः)

(७५) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५३ ॥
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ५४ ॥
भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

समाधान—यद्यपीति । अप्रयुक्तत्वादि दोष 'असमर्थ' के ही भेद हैं, तथापि पूर्ववर्ती अन्य आलंकारिकों ने भी इन दोषों को 'असमर्थत्व' दोष से पृथक् करके ही बताया है । उन्हीं भेदों को उदाहरणों के सहित बताने की इच्छा से हमने उनका विभाग करके उन्हें यहाँ बताया है । यदि इन भेदों का 'असमर्थत्व' दोष में ही अन्तर्भाव करना अभीष्ट होता तो सभी दोषों का अन्तर्भाव 'रसापकर्षकत्व' रूप दोष-सामान्य में ही कर दिया होता, किन्तु वैसा किया नहीं है । अतः अप्रयुक्तत्वादि दोषों का 'असमर्थत्व'—दोष से पृथक् परिगणन किया गया है ॥ २०६ ॥

विशेष विवरण—**शंका**—'विवक्षितार्थप्रतीतिसामर्थ्यविरह' को ही 'असमर्थत्व' दोष कह सकते हैं । वह 'सामर्थ्यविरह' प्रसिद्धि के अथवा समयादि के अभाव में हुआ करता है । अतः अप्रयुक्त, अवाचक, निहतार्थ आदि दोष 'असमर्थ' के ही विभाग कहे जा सकते हैं । तब उसके सूक्ष्म भेद करने की क्या अवश्यकता ?

समाधान—उक्त शंका का समाधान 'तथापि' ग्रन्थ से किया गया है । 'अप्रयुक्तादयः' —यह भावप्रधान निर्देश किया गया है । अतः उसका अर्थ 'अप्रयुक्तत्वादयः' समझना चाहिए । कमलाकर भट्ट ने अपनी व्याख्या में कहा है—"आदिपदादवाचकत्वनिहतार्थकत्वनेयार्थकत्वरूपा दोषा ग्राह्याः, तेष्वप्यर्थाप्रतीतेरर्थाप्रसिद्धेरसामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्" । तथापि प्राचीन प्रणाली के अनुसार शिष्यों की बुद्धि को विशद बनाने के हेतु, प्रभेद-प्रदर्शन के द्वारा तथा उनके उदाहरणप्रदर्शन के द्वारा ये भेद-प्रभेदादि किये गये हैं । अन्यथा रसापकर्षकत्व की समानता से देखने पर तो 'दोषैक्य'—सब मिलकर एक ही दोष है, कहना होगा । च्युत-संस्कृति, असमर्थ, अनुचित, अर्थावाचक, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, क्लिष्ट, अविमृष्ट-विधेयांश, विरुद्धमतिकृत्—ये दोष काव्य-अकाव्यसाधारण हुआ करते हैं, ऐसा प्रदीप और उद्योत दोनों में कहा गया है ।

'इति भेदप्रदर्शनेन उदाहर्तव्याः' यहाँ आवश्यक अर्थ में 'कृत्य' (कृत्यसंज्ञक-'तव्य' प्रत्यय) प्रत्यय किया है । अन्यथा रसापकर्षक रूप स्थूलोपाधि की दृष्टि से 'दोषैकत्व' की प्रसक्ति होने लगेगी ॥ २०६ ॥

वाक्यगतदोष

(सू० ७५) प्रतिकूलवर्णेति । (१) प्रतिकूलवर्णत्व, (२) उपहतविसर्गत्व, (३) लुप्तविसर्गत्व, (४) विसन्धित्व, (५) हतवृत्तता, (६) न्यूनपदता, (७) अधिकपदता, (८) कथितपदता, (९) पतत्प्रकर्षता, (१०) समाप्तपुनरात्तता, (११) अर्धान्तरैकवाचकत्वं, (१२) अभवन्मतयोगत्व, (१३) अनभिहितवाच्यत्व, (१४) अपदस्थपदता (अस्थानस्थपदता), (१५) अपदस्थसमासता (अस्थानस्थसमासता), (१६) सङ्कीर्णता, (१७) गर्भितत्व, (१८) प्रसिद्धिहतत्व, (१९) भग्नप्रक्रमता, (२०) अक्रमता, (२१) अमतपरार्थता ।

ये इक्कीस दोष केवल वाक्य में ही रहते हैं, क्योंकि इनका लक्षणसमन्वय वाक्य में ही संभव रहता है, अन्यत्र नहीं । पूर्वोक्त 'श्रुतिकटुत्व आदि जो १६ (सोलह) दोष बताये गये हैं, उनमें से 'च्युतसंस्कृतित्व, असमर्थत्व और निरर्थकत्व, इन तीन दोषों को छोड़कर 'श्रुतिकटुत्वादि' तेरह दोषों को मिलाकर ३४ (चौंतीस) वाक्यदोष हुआ करते हैं ।

विशेष विवरण—पूर्वोक्त रीति से 'पद', 'पद के एकदेश' और 'वाक्य' में रहनेवाले दोषों का निरूपण करने के पश्चात् केवल समस्तपद में रहनेवाले 'क्लिष्टत्व', 'विधेयाविमर्शत्व' तथा 'विरुद्धमतिकृतत्व'—इन तीन दोषों को छोड़कर शेष उक्त १३ दोष, केवल असमस्त एवं समस्त पद दोनों में रहते हैं, यह भी कह दिया है ।

अब केवल वाक्य में ही रहनेवाले 'प्रतिकूलवर्णत्व' आदि २१ दाषों को बता रहे हैं । ये २१ दोष और पूर्वोक्त १३ दोष, दोनों को मिलाकर ३४ दोष, वाक्यगत दोष कहलाते हैं ।

यहाँ पर भी पूर्वोक्त रीति के अनुसार 'रूढि' के कारण 'लक्ष्य' और 'योग' के कारण 'लक्षण' से दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है । अतः 'लक्षणवाक्यत्व' का निर्वाह हो जाता है । 'उपहत-लुप्तविसर्ग'—शब्द के विसर्ग का 'उपहत' और 'लुप्त' दोनों के साथ सम्बन्ध रहने से 'उपहतविसर्ग' और 'लुप्तविसर्ग'—भेद से दो प्रकार के वाक्य होते हैं ।

न्यूनाधिककथितपद—इसमें 'पद' का 'न्यून' 'अधिक' और 'कथित' पद से सम्बन्ध रहता है । अतः 'न्यूनपद', 'कथितपद' और 'अधिकपद' के भेद से तीन प्रकार के वाक्य होते हैं ।

अपदस्थपदसमास—इसमें अपदस्थ का 'पद और समास' दोनों से सम्बन्ध रहता है । अतः 'अपदस्थपद' और 'अपदस्थसमास' के भेद से दो प्रकार के वाक्य होते हैं ।

अर्धान्तरैकवाचक—जिस काव्य के पूर्वार्ध का 'एकपद' दूसरे अर्ध (उत्तरार्ध) में चला जाय, उस वाक्य को 'अर्धान्तरैकवाचक' कहते हैं ।

पतत्प्रकर्ष—जिस काव्य की रचना में उत्तरोत्तर प्रकर्ष गिरता चला जाय, उस वाक्य को 'पतत्प्रकर्ष' कहते हैं ।

समाप्तपुनरात्त—जो वाक्य 'क्रिया-कारकभाव' से अन्वित होकर समाप्त (पूर्ण)

(१ प्रतिकूलवर्णत्वम्)

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।

यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि ! माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर ॥ २०७ ॥

हो गया है, उसी को किसी आशयविशेष के प्रतिपादनार्थ पुनः ग्रहण (आत्त) करना 'समाप्तपुनरात्त' कहलाता है ।

अनभिहितवाच्य—अवश्यवक्तव्य को जहाँ न कहा जाय, उसे 'अनभिहितवाच्य' कहते हैं ।

भग्नप्रक्रम—आरंभ में जिस क्रम का स्वीकार किया हो, उसका मध्य में या अन्त में भंग कर देना ही 'भग्नप्रक्रम' कहलाता है ।

इस प्रकार के वाक्य ही दूषित (दुष्ट) कहे जाते हैं । 'प्रतिकूलवर्णत्व' आदि दोष, 'वाक्य' में ही रहते हैं, 'पद' में नहीं ।

अभिप्राय यह है कि 'वर्णों' में जो प्रतिकूलत्व या अनुकूलत्व रहता है, उसका सम्बन्ध 'रस' के साथ रहता है, और 'रसप्रतीति' कराने में कारण 'वाक्यार्थ' ही होता है । अतः 'प्रतिकूलवर्णत्व' दोष का होना वाक्य में ही संभव रहता है, अतः उसे वाक्यदोष ही कहते हैं ॥ ७५ ॥

(१ प्रतिकूलवर्णत्व)

रसानुगुणत्वमिति । 'अनुकूलवर्णत्व' गुणस्वरूप है, अतः गुण विवेचन के अवसर पर वर्णों के अनुगुणत्व को कहा जायगा । विवक्षित रस-भाव आदि तथा व्यंग्य वस्तु के प्रतिकूल (विवक्षित रस आदि के आस्वादोद्बोध में प्रतिबन्धक) वर्ण जिस वाक्य में रहते हैं, उस वाक्य को 'प्रतिकूलवर्ण' कहा जाता है । श्रुतिकटुत्व के साथ 'प्रतिकूलवर्ण' का 'सांकर्य' नहीं समझना चाहिए, क्योंकि दो उपाधियों के असांकर्य को पूर्व बता चुके हैं । श्रुतिकटुत्व में 'परुषवर्ण' मात्र दुष्ट होते हैं, किन्तु प्रतिकूलवर्ण में सुकुमार वर्ण भी रौद्रादिरस में दूषित समझे जाते हैं । अतः दोनों में भेद है ।

यथेति । जैसे, शृङ्गाररस में प्रतिकूलवर्णत्व का उदाहरण—

उत्कण्ठोत्कण्ठेति । नायिका समागम के लिए उत्सुक हुए किसी की यह उक्ति है । वह अपनी किसी दूती अथवा सखी से कह रहा है—हे कलकण्ठि ! अर्थात् हे मधुरध्वनि के स्वरव्यञ्जक कण्ठवाली दूति अथवा सखि ! अप्रतिहत (अकुण्ठ) उत्कण्ठा (उत्तरोत्तर वर्धमान उत्सुकता) से कण्ठ तक भरे हुए मुझको कम्बु (शंख) के सदृश कण्ठवाली उस नायिका के कण्ठ (गले) से क्षणभर के लिए (थोड़ी देर के लिए) मिला दो, और मेरी कण्ठार्ति (कण्ठपीड़ा) को दूर कर दो, अर्थात् उससे मेरा आलिंगन करा दो, जिससे आलिंगन करने की मेरी बढ़ती हुई उत्सुकता दूर हो जाये ॥ २०७ ॥

इस उदाहृत पद्य में 'टवर्गीय वर्ण' शृङ्गाररस के प्रतिकूल हैं । अतएव अग्रिम अष्टम उल्लास के ९९ सूत्र (गुणव्यञ्जकवर्णप्रकरण) में "अटवर्गाः" कहकर 'टवर्ग' का

रौद्रे यथा —

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन्ह्रदाः पूरिताः
क्षत्त्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।
तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोपनः ॥ २०८ ॥

अत्र हि विकटवर्णत्वं दीर्घसमासत्वं चोचितम् । यथा—

पर्युदास (निषेध) किया है । 'टवर्ग' तो शृङ्गार के परिपन्थी 'ओजोगुण का व्यंजक है । एवं च शृङ्गाररस के अनुसार कोमल वर्णों का उच्चारण कर्तव्य रहने पर, उसके विपरीत 'ठकार' का उच्चारण करने से 'प्रतिकूलवर्णत्व' वाक्य-दोष हुआ है । सारबोधिनीकार कहते हैं– 'अत्र शृङ्गारपरिपंथिन ओजसो व्यञ्जकवर्णानां शृङ्गारव्यञ्जने प्रतिबन्धकता" इति ॥ २०७ ॥

रौद्रे इति । रौद्ररस में प्रतिकूलवर्णत्व का उदाहरण । जैसे—

वेणीसंहार के तृतीय अंक में क्रुद्ध हुए अश्वत्थामा की कर्ण के प्रति यह उक्ति है—

देश इति । यही वह कुरुक्षेत्र है, जहाँ शत्रुओं के रुधिर (शोणित) रूपी जल से भार्गव परशुराम ने पाँच ह्रदों को भर दिया था । और यहीं पर मेरे पूज्य पिता द्रोणाचार्य का केशाकर्षण (केशग्रहण) रूप अपमान, और वह भी क्षत्रिय से ही (धृष्टद्युम्न से ही) हुआ था । अरे ! मैं द्रोण का पुत्र हूँ, क्रोध का दूसरा अवतार हूँ और मेरे शस्त्र भी वे हैं, जो शत्रुओं के शस्त्रों-अस्त्रों को भस्म कर देने में पूर्णतया समर्थ रहने से श्रेष्ठ (गुरु) हैं, और शिला पर तीक्ष्ण किये जाने से चमकते रहते हैं । अर्थात् मृत्युतुल्य भयंकर हैं । अतः परशुराम ने क्षत्त्रक्षयरूप पितृवैरनिर्यातन जैसे किया था, ठीक वैसे ही यह अश्वत्थामा भी पितृवैरनिर्यातन करने जा रहा है ॥ २०८ ॥

अत्रेति । यहाँ रौद्ररस में मृदु (कोमल) वर्ण, प्रतिकूल रहने से 'विकटवर्ण' का विन्यास करना और दीर्घ (लम्बा) समास करना ही समुचित रहता है । तभी 'रौद्र' का परिपोष हो पाता है, अन्यथा नहीं । रौद्ररस 'ओजस्वी' रस है ।

विशेष विवरण—क्षत्त्रादेवेति । क्षतात् त्रायते इति क्षत्त्रः, पृषोदरादित्वात् साधुः । क्षत्त्रात् = क्षत्रियादेव, अर्थात् कार्तवीर्य और धृष्टद्युम्न से । परशुराम के पिता जमदग्नि और मेरे (अश्वत्थामा के) पिता द्रोणाचार्य का केशाकर्षणरूप परिभव (अनादर) तुल्य ही (एकसा = समान ही) है । परशुराम के पिता जमदग्नि का भी केशाकर्षण कार्तवीर्यार्जुन ने किया था और मेरे पिता द्रोण का भी केशाकर्षणरूप परिभव धृष्टद्युम्न ने किया, अर्थात् बाल पकड़कर उनका शिर काट डाला । दोनों के परिभव में केशग्रह की तथा क्षत्रिय के द्वारा किये जाने की समानता हुई है । तान्येवेति । मेरे पूज्य पिता द्रोण ने अपने गुरु परशुराम से जिन अस्त्रों (ब्रह्मास्त्रादि) को प्राप्त किया था, वे ही अस्त्र मेरे पास हैं ।

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ २०९ ॥

यत्र तु न क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैव शब्दप्रयोगः ।

रौद्ररस में मृदुवर्णों को प्रतिकूल माना जाता है, क्योंकि ओजस्वी रस में विकट (उद्धत = ओजोगुणव्यञ्जक) वर्ण और दीर्घसमास ही उसके अनुगुण (अनुकूल) रहते हैं। अतएव अष्टम उल्लास में "वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि"–यह ७५ वीं कारिका में कहा गया है।

एवं च 'मृदुवर्ण' रौद्ररस के पोषक नहीं है। अतः वे इस रस के प्रतिकूल हैं। रौद्ररस में विकट-वर्ण और दीर्घ-समास करना चाहिए, क्योंकि ओजस्वी रस में विकट-वर्णत्व और दीर्घसमासत्व ही उचित है ॥ २०८ ॥

विकटवर्णत्व और दीर्घसमासत्व को रौद्र के अनुकूल कहाँ देखा है? इस प्रश्न के उत्तर में बता रहे हैं—यथेति। जैसे –

महावीरचरितनाटक के द्वितीय अंक में पिनाकी (शिवजी) के धनुष् का भंग करने वाले श्रीराम के प्रति क्रुद्ध हुए पिनाकिशिष्य परशुराम की यह उक्ति है—

प्रागप्राप्तेति। जो शाम्भव धनुष्, पहिले किसी के द्वारा नमाया (निशुम = नम्रत्व अथवा मर्दन = भङ्ग) नहीं गया, उस शांभव धनुष् को दो टुकड़ों में देखने से उत्पन्न हुए क्रोध के कारण प्रेरित हुआ भयंकर भार्गवभुजरूप स्तंभ के द्वारा चलाया (अपविद्धः) हुआ या फेंका हुआ अतएव चारों ओर ज्वालाओं को बिखेरने वाला यह परशु (मेरा कुठार) अरे क्षत्रियकुमार! अब क्षणभर में ही तुम्हारे कण्ठरूपी पीठ का अतिथि के समान बन जाय। जिस परशु के कारण भगवान् 'हर' संसार में 'खण्डपरशु' के नाम से ख्याति को प्राप्त हुए ॥ २०९ ॥

यहाँ तीन चरणों (पादों) में रौद्ररस की प्रधानता रहने से उसके उचित विकटवर्ण और दीर्घसमास का विन्यास किया गया है।

शंका—यह दृष्टान्त तो 'साध्य-विकल' है। क्योंकि चतुर्थपाद में न दीर्घ समास है, और न विकट वर्ण ही है। अपि तु कोमल वर्ण हैं।

समाधान—यत्रत्विति। जहाँ क्रोध नहीं है वहाँ चतुर्थ (तुरीय) चरण के कथन में 'तथैव' अर्थात् शिथिल शब्दों का ही प्रयोग है ॥ २०९ ॥

विशेष विवरण—परशुराम की इस उक्ति में दीर्घसमास और विकटवर्ण हैं। किन्तु जहाँ गुरु का स्मरण हो आने से भक्ति-भाव का उद्रेक हो जाता है, वहाँ क्रोध के न रहने से चतुर्थपाद में शिथिल शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सुधासागरकार का कहना है कि यहाँ वर्ण, अपरुष (कोमल) हैं, तथापि (रौद्रादि ओजस्वी रस के विरुद्ध होने पर भी) इसे 'श्रुतिकटु' का भेद नहीं कह सकते। प्रत्युत 'श्रुतिकटु' ही 'प्रतिकूल वर्ण' का एक भेद है—यह नहीं कहा जा सकता।

क्योंकि उद्वेजक वर्णों का एक बार (सकृत्) प्रयोग करने से 'श्रुतिकटुत्व' का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। किन्तु 'प्रतिकूलवर्णत्व' की ऐसी बात नहीं है। इसे तो अपने स्वरूप का लाभ तभी होगा, जब वैसे (प्रतिकूल) वर्ण सम्पूर्ण वाक्य में रहें। वाक्यव्यापी रहने से इसे 'पददोष' भी नहीं कह सकते। एक पद में 'प्रतिकूल वर्णों के रहने पर भी वे 'रसविरोधी' नहीं होते हैं। इसकी दूषकता का बीज भी 'रसविरोधित्व' ही है। इसीलिए इसे 'नित्यदोष' कहा गया है। नीरस काव्य में इस दोष को अपने स्वरूप का लाभ नहीं हो पाता। अर्थात् वहाँ यह दोष नहीं होता। किन्तु 'श्रुतिकटुत्व' तो नीरस काव्य में भी होता है। अतएव 'श्रुतिकटुत्व' को अनित्यदोष कहा गया है। यही दोनों में महान् भेद है। किन्तु यह विचारणीय है कि जैसे रौद्र, वीर, बीभत्स रस-प्रधान काव्यों में श्लोक का पूर्ण अर्धभाग समस्त कर दिया गया हो, तब 'श्लोकार्ध' को 'एक पद' ही कहा जायेगा। उस पद में रौद्रादि रसों के प्रतिकूल यदि 'मृदुवर्ण' हों तो वहाँ 'पददोष' क्यों नहीं माना जाता? 'अथ अन्यसाहित्येन दोषत्वं वाक्यदोषत्व, निरपेक्षदाषत्वं तु पददोषत्वम्'–ऐसा मानने पर 'क्लिष्टत्वादि' दोषों को भी 'पददोष' नहीं कह सकेंगे। किं बहुना जिस तरह की विवक्षा से 'क्लिष्टत्व' को 'पददोष' माना है, वैसी विवक्षा यदि यहाँ भी करेंगे तो इसे भी 'पददोष' कहना होगा। ऐसी स्थिति में यहाँ का 'पददोष-विभाग' न्यून ही है—यह कहना ठीक नहीं है।

स्वयं सुधासागरकार ने ही उक्त आशंका का समाधान किया है एकपद में 'कथित-पदत्व' की संभावना स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। क्योंकि पद के अवयवों में पदत्व नहीं रहता। किन्तु उपात्तपद का प्रयोजन के बिना पुनः उपादान करने पर सजातीयपद और व्यवहारयोग्य पद में ही पदत्व माना जाता है। तादृश पदान्तर्गत अखण्डपद के अभिप्राय से 'पदत्व' कहेंगे तो उस विवक्षा से तो नानापदवृत्तिता में भी कोई क्षति नहीं है। अतः वाक्यदोषत्व ही है।

भगवान् शिव का 'खण्डपरशु' नाम पड़ने का कारण यह है कि 'खण्डः भिन्नः (अर्धी-कृतः) परशुः यस्य तादृशः प्रसिद्धः क्रियते'। परशु के दो टुकड़े करके भगवान् शिव (हर) ने अपने परशु का एक खण्ड (अवयव) अपने शिष्य परशुराम को दिया था—ऐसी प्रसिद्धि है।

अथवा 'खण्डयति (शत्रून्) नाशयतीति खण्डः, तथाभूतः परशुः यस्य एवं ख्याप्यते'। अर्थात् शत्रुओं का संहार करने वाला परशु जिसका है, उस कारण शिव का नाम 'खण्ड-परशु' पड़ा है।

(२ उपहतविसर्गत्वम् ३ लुप्तविसर्गत्वम्)

(२) उपहत उत्वं प्राप्तो (३) लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् । यथा —

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविताः ॥ २१० ॥

'त्वत्कण्ठपीठातिथिः' – तुम्हारे कण्ठपीठ पर आने वाले परशु को तुम निवारण नहीं कर सकते हो अर्थात् वह तुम्हारे लिए अनिवारणीय है—यह सूचित करने के लिए 'परशु' को 'अतिथि' कहा गया है, यानी अतिथि का रूपक दिया गया है। और अतिथि को पीठ (आसन) पर बैठाना (आरोहण कराना) उचित ही है। इसलिए कण्ठ को पीठ का रूपक दिया गया है।

अतिथिः—अतति (सततं गच्छति) इति अतिथिः। जो सतत जाता है, उसे अतिथि कहते हैं। 'अत सातत्यगमने' धातु से औणादिक 'इथिन्' प्रत्यय किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति में अतिथि का लक्षण—"अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः" किया है। भगवान् व्यास ने अतिथि का लक्षण–"दूराच्चोपगतं श्रान्तं वैश्वदेवे उपस्थितम्। अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः ॥"

अथवा 'अनित्यावस्थानात्, न विद्यते द्वितीया तिथिः अस्य इति अतिथिः।' मनु ने कहा है—"एकरात्रं तु निवसन् अतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥" इति। एवं च 'प्रागप्राप्तनिशुम्भः' के चतुर्थ चरण में परुष वर्ण (कठोर वर्ण) का न होना और दीर्घसमास न करना उचित ही है। किन्तु 'देशः सोऽयम्' में यह बात नहीं है। इसमें क्रोधावेश का पूर्णतया प्रकाशन है। और 'प्रागप्राप्त के चौथे चरण में गुरुभक्ति-भाव का प्रकाशन है ॥ २०९ ॥

(२ उपहतविसर्ग, ३ लुप्तविसर्ग)

(२) उपहत इति। जहाँ 'विसर्ग उपहतः' उपघात को प्राप्त हुआ हो, 'उपघात' का अर्थ है—'उत्व' या 'ओत्व' की प्राप्ति। स्वरूपभ्रंशरूप अन्य प्रकार के उपघात को 'लुप्तत्व' रूप अन्य दोष (दोषान्तर) के रूप में माना है। और (३) 'लुप्तविसर्गत्व' का अभिप्राय यह है कि 'विसर्जनीय' के अर्थात् 'अच्' (स्वर) के आगे 'बिन्दुद्वय' रूप वर्ण का न दिखाई देना (अदर्शन होना)। निष्कर्ष यह है कि जहाँ विसर्ग' उपहत अर्थात् 'उत्व' या 'ओत्व' को प्राप्त हो गया हो अथवा 'लुप्त' हो गया हो, वहाँ 'उपहतविसर्गत्व' और 'लुप्तविसर्गत्व'—ये दो दोष माने जाते हैं। यहाँ 'विसर्ग' में 'उत्व' या 'ओत्व' की प्राप्ति एवं 'लुप्तता' जब अधिक अंशों में रहेगी, तभी ये दोष होंगे। अन्यथा एक–दो विसर्गों को वसा होने पर दोष (वैरस्य) नहीं माना जाता। जहाँ बहुत-से विसर्गों में निरन्तर 'उत्व' या 'ओत्व' की प्राप्ति रहे, तथा जहाँ बहुत-से विसर्गों का लोप हो गया हो तब इन दोषों के 'निरन्तर ओत्वप्राप्त बहुविसर्गत्व' तथा 'लुप्तबहुविसर्गत्व'–ये दो लक्षण बनाये गये हैं। अन्यथा 'वाक्यदोषता' नहीं बन पायेगी।

उक्त दोनों दोषों को एक ही श्लोक के दो अर्ध भागों से बताया जा रहा है। जैसे–

धीर इति। वही राजा धीर-प्रकृति, विनयशील, कुशल और प्रियदर्शन है, जिसके सेवकगण सभी बलवान्, सभी राजभक्त एवं बुद्धिमान् हों ॥ २१० ॥

यहाँ दूषकता का बीज 'रचना' की कठोरता है, जिससे सहृदयों को उद्वेग होता है। अतएव यह 'दोष' है। इस श्लोक के पूर्वार्ध में 'धीरो, विनीतो, निपुणो, वराकरो, नृपोऽत्र'– में 'उपहतविसर्गत्व' है। क्योंकि यहाँ पर जो 'विसर्ग' था, उसका 'नृपोऽत्र' में 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' सूत्र से 'उत्व' हो गया है, और अन्यत्र 'हशि च' सूत्र से 'उत्व' हो गया है। उस कारण ('रु' को उत्वप्राप्तिरूप विसर्गोपघात से उपहतविसर्गत्व के कारण) 'बन्धशैथिल्य' हो गया है, और उससे सहृदयों के हृदय में उद्वेग पैदा होता है। उसी तरह उतरार्ध में 'भृत्या, बलोत्सिक्ता, भक्ता, बुद्धिप्रभाविताः' में 'सकार' के स्थान में 'ससजुषो रुः' सूत्र से 'रुत्व' और 'भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि' सूत्र से 'यत्व' और 'हलि सर्वेषाम्' सूत्र से 'यकार' का लोप हो गया है, जिससे विसर्ग का लोप हो गया है, अतः लुप्तविसर्गत्व है। उस कारण (उपहतविसर्गत्व और लुप्तविसर्गत्व के कारण) रचना-(बन्ध)-शैथिल्य हो गया है, उस कारण चमत्कार का भी अभाव हो गया है। बन्ध की गाढता में जैसा चमत्कार रहता है, वैसा बन्ध की शिथिलता में नहीं रहता—ऐसा सुहृदयों का अपना अनुभव है। अतएव यह नित्यदोष है।

'उपहत ओत्वं प्राप्तः' यदि पाठ हो तो 'आद्गुणः' सूत्र से 'ओत्व' की प्राप्ति समझनी चाहिए।

विशेष विवरण—'विसर्ग' और 'विसर्जनीय'–ये पर्याय शब्द है। 'विसर्ग' शब्द से 'अः' में अच् (स्वर) से आगे 'बिन्दुद्वय' रूप 'वर्ण' समझना चाहिए। 'विसर्ग' शब्द से यहाँ पर लक्षणा से विसर्गस्थानीय 'रेफ' का ग्रहण करना चाहिए। 'उपहतः' में एकवचन का प्रयोग 'जाति' के अभिप्राय से किया है। तथा च 'उपहताः उत्वं प्राप्ताः, लुप्ता वा विसर्गा यत्र (यस्मिन् वाक्ये) तत्'–ऐसा बहुवचनान्त विग्रह करना चाहिए।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि 'भूयो महीयोऽतियशो विभूषितः' में इसे पददोष क्यों नहीं कहा? जहाँ भूयस्त्व, महीयस्त्व और अतित्व तीनों एकार्थकों को 'एक यश' में हो अन्वित कर दिया है। सारबोधिनीकार ने प्रतिकूल आदि पाँचों में और पतत्प्रकर्ष में बन्धशैथिल्यकारित्व को ही दूषकता में बीज कहा है। इसी तरह 'विसर्गबहुत्व' भी दोष है। जैसे—'स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कृशतरः सखि' में विसर्गबहुत्व के कारण दोष है।

कुन्तक ने कहा भी है—

"अत्राऽप्लुतविसर्गान्तैः पदैः प्रोतैः परस्परम्।
ह्रस्वैः संयोगपूर्वैश्च लावण्यमतिरिच्यते ॥"

(४ विसन्धित्वम्)

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम् , विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च । तत्राद्यं यथा—

(ऐच्छिकमानुशासनिकं च विश्लेषरूपं विसंधि)

राजन् ! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः ।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥ २११ ॥

'यमक' में यह दोष नहीं माना जाता। जैसे, नलोदयकाव्य के द्वितीय सर्ग में 'पिकोऽपि कोऽपि कोपिको वियोगिनीरभर्त्सयत्'—कोपिकः कोपोऽस्यास्तीतिकोपी, कोपी एव कोपिकः सकोप इत्यर्थः । यद्वा—कोपयतीति कोपिकः, तासामेव कोपकर्तेति यावत् । 'अपि:' संभावनायाम् । एतादृशः कोऽपि पिकः कोकिलः, ताः वियोगिनीः विरहिणीः, अभर्त्सयत् भर्त्सितवानिति तदर्थः ॥ २१० ॥

(४ विसन्धित्व)

'विसन्धि' का अर्थ होता है 'विश्लेष' (सन्धि का अभाव) अर्थात् 'परः सन्निकर्षः संहिता' के अनुसार वेर्णों के अत्यन्त सन्निकर्ष (सन्धि) में जहाँ वेरूप्य हो, तब उसे 'विसन्धि' कहते हैं । यह विसंधि (संधि की विरूपता) तीन प्रकार की होती है—विश्लेष-अश्लीलत्व-कष्टत्व । 'विश्लेष' का अर्थ है—जो श्लेष (संहिता = सन्धि) कार्य प्राप्त है, उसका न होना । 'विगतः श्लेषः–विश्लेषः' । विश्लेष भी दो प्रकार का होता है—

"सन्धिरेकपदे नित्यो, नित्यो धातूपसर्गयोः ।
नित्यः समासे द्रष्टव्यः, अन्यत्र तु विभाषया ॥"

इस वचन के अनुसार 'संधि का अभाव'—कहीं पर ऐच्छिक और कहीं पर 'आनुशासनिक' (अनुशासन से प्राप्त) रहता है, यह आनुशासनिक सन्ध्यभाव, कहीं पर प्रगृह्यादि संज्ञा प्रयुक्त प्रकृतिभाव के कारण अथवा 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' सूत्र से 'विसर्ग-लोप' के असिद्ध हो जाने के कारण होता है । 'अन्यत्र' का अर्थ 'वाक्य' में। इनमें से 'पहला' एक बार (सकृत्) भी यदि हो जाय तो उसे दोषाधायक माना जाता है । क्योंकि ऐच्छिक होने पर कवि की अशक्तता प्रकट होती है अर्थात् आनुशासनिक सन्ध्यभाव भी दो प्रकार का है—(१) प्रगृह्यहेतुक और (२) असिद्धिहेतुक । ऐच्छिक सन्ध्यभाव से सहृदयों को आरम्भ से ही उद्विग्नता होने लगती है । अन्तिम दोनों अर्थात् प्रगृह्यहेतुक और असिद्धिहेतुक सन्ध्यभाव जब बार-बार प्रयुक्त होता है तभी उसे दोष के रूप में समझा जाता है । 'आनुशासनिक सन्ध्यभाव'—अनुशासनलब्ध रहने से अशक्ति का उन्नायक न होने के कारण वहाँ 'रचना की कठोरता' (बन्ध की शिथिलता) ही दोष का हेतु (निमित्त) बनती है । अतः उसका पुनः पुनः प्रयोग करना ही दूषकता का बीज है ।

(आनुशासनिकमसिद्धिहेतुकं विश्लेषरूपं विसन्धि)

यथा वा—

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः !
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्वत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥ २१२ ॥

तीन प्रकार के विश्लेषों में से ऐच्छिक और प्रगृह्यहेतुक दो प्रकार के संध्यभाव (विश्लेष) को एक ही श्लोक के दो अर्धभागों के द्वारा बता रहे हैं। जैसे—

राजन्निति। हे राजन् ! आपके वे चरित (सत्कर्म) शोभा दे रहे हैं। (शोभायमान हो रहे हैं), जो रसातल (पाताल) में पहुँचकर चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे हैं, और औचित्य का अनुसरण करनेवाले ये आपके 'धीबल' (बुद्धिबल) और दोर्बल (भुजबल) अर्थात् आपकी राजनीति का अनुसरण करनेवाली आपकी बुद्धि और शूरता-वीरता ये दोनों, विजयलक्ष्मी को प्राप्त कर सुशोभित हो रहे हैं। अर्थात् उचित अवसर प्राप्त होने पर परस्पर एक-दूसरे के सहायक होते हैं ॥ २११ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में 'तानि इन्दोः'–यहाँ पर "अन्यत्र (वाक्ये) तु विभाषया"—इस वचन के अनुसार 'सन्धि' की अनित्यता के कारण 'ऐच्छिक विश्लेष' (संध्यभाव) सकृत् होने पर भी दोषाधायक हो गया है। और उत्तरार्ध में 'धीदोर्बले अतितते'—यहाँ पर तथा 'अतितते उचितानुवृत्ती'—यहाँ पर और 'उचितानुवृत्ती आतन्वती'—यहाँ पर भी 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्'—(पा. सू. १।१।११) सूत्र से 'द्विवचन' को प्रगृह्यसंज्ञा और उस प्रगृह्यसंज्ञक को 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'–(पा. सू. ६।१।१२५) सूत्र से 'प्रकृतिवद्भाव' का विधान किया गया है। उस कारण प्रगृह्यहेतुक आनुशासनिक विश्लेष (संध्यभाव) असकृत् (बार-बार) होने से ही दोषाधायक हो गया है। ऐच्छिक विश्लेष में यदि 'खेद' (थकान) आदि के कारण विच्छिद्य पढ़ा जाय तो वह ऐच्छिक विश्लेष दोषावह नहीं माना जाता। जैसा 'एका एका शिरोरुहा' में विश्लेष को दोष नहीं माना गया है।

अब असिद्धिहेतुक आनुशासनिक विश्लेष (संध्यभाव) का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यथावेति। जैसे—

पति का वरण करने के लिए उद्यत्त हुई सखी से उसकी सखी बता रही है—

तत उदित इति। यह वह राजा है, जो अत्युन्नत उदयाचल से उदित होने वाले चन्द्रमा के तुल्य, एक महान् राजवंश से उत्पन्न हुआ है, यह राजा 'उदारहारहारिद्युति' है अर्थात् महान् मोतियों का हार गले में पहना हुआ है, जिससे इसकी कान्ति कैसी मनोहारिणी हो रही है। इधर इन्दु भी 'उदार–हार–हारिद्युति' है, अर्थात् महान् मौक्तिक की तरह उसकी भी कान्ति मन को बर-बस हर लेती है। अतः यह विशेषण उभयसाधारण है। ऐसा यह राजा अपने वंश (कुल) में मुक्तामणि के समान उद्भट (उदग्र) मनोहारिणी सुन्दरता के कारण सर्वश्रेष्ठ और अमूल्य समझा जाता है। अतएव सुशोभित हो रहा है। मुक्तामणि भी 'स्वजनकवंश (वेणु) में सुन्दर दिखाई देता है।

संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः । प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत् ।

(अश्लीलत्वहेतुके सन्धिवैरूप्ये विसन्धिः)

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।

अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ।। २१३ ।।

अत्र सन्धावश्लीलता ।

संहितामिति । यहाँ पर जो संधिवैरूप्य (संध्यभाव) दिखाई दे रहा है, अर्थात् संधि को अनित्य मानकर संधि नहीं की, यानी उसे ऐच्छिक मान लिया, उस कारण 'तानि इन्दोः' में सन्ध्यभाव किया, यानी सन्धि नहीं की है । एवंच 'संहितां न करोमि' यह निश्चय कर अपनी इच्छा से सन्धि न करना (सन्ध्यभाव को अपनाना) सकृत् रहने पर भी (जानबूझकर एकबार भी संधि न करना) दोषावह ही समझा जाता है ।

प्रगृह्यादीति । 'तत उदित' 'उदित उदार' 'वंश उदात्त'–में "लोपः शाकल्यस्य"–(पा. सू. ८।३।१९) सूत्र से विहित 'लोप'–'पूर्वत्राऽसिद्धम्'–(पा. सू. ८।२।१) सूत्र के नियमानुसार 'आद्गुणः'–(पा. सू. ६।१।८७) सूत्र के द्वारा विहित 'गुण' के प्रति असिद्ध है अर्थात् पूर्वोक्त 'लोप' नहीं हुए के समान है ('यकार' का अस्तित्व कायम है) अतः यहाँ सन्ध्यभाव (विश्लेष) आनुशासनिक (व्याकरण-सम्मत) है, तथापि उसे बार-बार (पुनः पुनः) करते रहने पर वह आनुशासनिक होकर भी दोषाधायक ही समझा जाता है । क्योंकि बार-बार सन्ध्यभाव करने पर काव्यबन्ध (काव्यरचना) में शैथिल्य उत्पन्न होता है । वह शैथिल्य (पारुष्य) दूषकता में बीज है । क्योंकि वह पारुष्य (शैथिल्य) सहृदयों के मन में उद्वेग पैदा करता है ।

निष्कर्ष यह है कि जान-बूझकर 'मैं सन्धि नहीं करता हूँ' इस तरह अपनी इच्छा से एकबार भी 'सन्धि न करना' दोष है, और प्रगृह्यसंज्ञाहेतुक एवं असिद्धिहेतुक सन्ध्यभाव (सन्धिविश्लेष) तो बार-बार करने पर दोष कहलाता है ।। २१२ ।।

(अश्लीलहेतुक सन्धिवैरूप्य विसन्धि)

'अश्लीलत्व' का उदाहरण दे रहे हैं—नायक से अधिष्ठित संकेतस्थान को बतानेवाली दूति की यह उक्ति है—वेगादिति । हे सखि ! यह बाज पक्षी (पत्त्री) वेग से उड़कर आकाश में चलता हुआ उत्तप्त हो रहा है, अर्थात् विकट (उद्भट) चेष्टा कर रहा है अथवा चमक रहा है । 'उत्तपते'–में "उद्विभ्यां तपः"–(पा. सु, १।३।२७) सूत्र से आत्मनेपद हुआ है । तब तक तू इसी स्थान पर ठहर जा ।। २१३ ।।

अत्रेति । यहाँ पर 'चलन् + डामर' और 'रुचिम् + कुरु' में सन्धि करने पर 'चलण्डा' और 'रुचिङ्कु' स्वरूप निष्पन्न होता है । तब 'लण्डा' और 'चिङ्कु'–दो शब्दों से 'पुंव्यञ्जन' (शिश्नेन्द्रिय) और 'योन्यङ्कुर' इन दो अर्थों की प्रतीति होती है । अतः यहाँ सन्धि करना ठीक नहीं है, क्योंकि अश्लीलार्थ की अभिव्यक्ति होने लगती है । काशी की देशभाषा में 'लण्डा' शब्द 'शिश्न' का वाचक है । 'लण्ड' शब्द जुगुप्सा का व्यंजक है ।

(श्रुतिकटुत्वहेतुके सन्धिवैरूप्ये विसन्धिः)

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।
नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ २१४ ॥

तथा लाट देश की भाषा में 'चिङ्कु' शब्द 'योनि' के अग्रभाग का वाचक है। अतः 'चिङ्कु' शब्द भी व्रीडाव्यञ्जक है, यह सब चन्द्रिका आदि व्याख्याओं में कहा गया है। काश्मीर में 'दुड्डी' 'लण्ड' 'चिङ्कु' शब्द, क्रमशः वराङ्ग (योनि) मेण्ढ् (शिश्न), योनिमणि (योन्यन्तर्गत अङ्कुर) के वाचक हैं, ऐसा जयन्तभट्टकृत दीपिकाव्याख्या में भी बताया है। यहाँ पर 'चलन्, डामर, रुचिम्, कुरु'—इन अनेक पदों का अवलम्बन करने से वाक्यदोष है, यह समझना चाहिए ॥ २१३ ॥

(श्रुतिकटुत्वप्रयुक्त सन्धिवैरूप्य विसन्धि)

श्रुतिकटुत्व (कष्टत्व) हेतुक 'विसन्धि' दोष का उदाहरण दे रहे हैं। किसी पथिक के प्रति कोई कह रहा है—उर्व्यसाविति। इस मरुप्रान्त (मर्वन्त) में एक बड़ी भारी (उर्वी) तरुपङ्क्ति (तर्वाली) है। जिसकी अवस्थिति सुन्दर (चारु) है। यहाँ पर सरल होकर चलना उचित नहीं है। अतः अपने शिर (मस्तक) को किञ्चित झुका लो ॥ २१४ ॥

यहाँ पर 'उर्व्य', 'तर्वा', 'मर्व', 'चार्वव', 'त्रर्जु'—इन शब्दों में 'श्रुतिकटुत्व' दोष है, जो अनेक (नाना) पदों में रहने के कारण 'वाक्यदोष' हो गये हैं।

विशेषविवरण—'उर्वी + असौ = उर्व्यसौ, 'तरु + आली = तर्वाली, मरु + अन्ते = मर्वन्ते, चारु + अव = चार्वव, नात्र + ऋजु = नात्रर्जु—ये सन्धियाँ 'श्रुति-कटुत्वरूप कष्टत्व' का अनुभव कराती हैं। यहाँ पर 'तरुश्रेणी' का 'विशेषण-विशेष्यभाव' से अन्वय होने के कारण 'वाक्यदोषता' हो गई है।

यहाँ विचारणीय विषय यह भी है कि जहाँ समास के कारण अनेक पद मिलकर 'एक पद' हो जाते हैं, वहाँ 'अश्लील', 'कष्ट' और ऐच्छिक विश्लेष–(सन्ध्यभाव) का 'अश्लील-कष्ट-असाधु' दोषों के मध्य में प्रवेश रहने पर भी तथा 'लोप' की असिद्धि के कारण होनेवाले विश्लेष का 'पद' 'में सद्भाव (अस्तित्व) होने पर भी उसे पद-दोष क्यों नहीं कहा गया ? जैसे 'भूय उच्चैर्मह उदात्तयश उदारः' इत्यादि में 'पददोष' माना गया है।

किन्तु उक्त आशंका का समाधान यह है कि सम्पूर्ण भेदोंवाले ये दोष, 'अन्य दोषों' के साथ संकीर्ण न होकर 'वाक्य' में ही रहते हैं। अतः इनको 'वाक्यदोष' ही कहना उचित है। अतः 'पददोष' के विभाग की 'न्यूनता' नहीं समझनी चाहिए। क्योंकि उक्त प्रकार के ही दोष 'पदों' में रहते हैं, और इसी प्रकार के दोष 'वाक्य' में रहते हैं—ऐसा विभाग वहाँ किया गया है—ऐसा प्रदीपकार का कहना है ॥ २१४ ॥

(५ हतवृत्तता)

हतं लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्। क्रमेणोदाहरणम्—

(लक्षणानुसारयतिभङ्गहेतुका अश्रव्यत्वरूपहतवृत्तता)

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्॥ २१५॥

अत्र 'यदिहान्यत्स्वादु' स्यादित्यश्रव्यम्।

(५. हतवृत्ततादोष)

(५) 'हतवृत्तता' का उदाहरण प्रदर्शित करने के पूर्व 'हत' पदार्थ के तीन प्रकारों (त्रिविधता) को बताते हुए 'हत-वृत्तम्'-पद में विग्रह प्रदर्शित कर रहे हैं—हतमिति। 'मारिते कुत्सिते हतम्'—इस कोशवचन के अनुसार 'हतं निन्दितं वृत्तं छन्दो यत्र वाक्ये तत्—हतवृत्तम्'।

अब प्रथम प्रकार (प्रथमविध) के 'हतपदार्थ' को बता रहे हैं—लक्षणानुसरणेऽपीति। 'लक्षण' शब्द का अर्थ है—'लक्षणं गुर्वादिनियामकं पिङ्गलमुन्यादिप्रणीतं छन्दःशास्त्रम्' अर्थात् गुरु-लघु आदि का नियामक छन्दःशास्त्र, जो पिङ्गल मुनि आदि के द्वारा प्रणीत है। 'अपि' शब्द के उल्लेख से छन्दःशास्त्र (लक्षण) के अननुसरण का भी समुच्चय किया जा रहा है। अन्यथा छन्दोभङ्ग रहने पर भी 'काव्य' को अदुष्ट कहना पड़ेगा। अभिप्राय यह है कि कोश के अनुसार 'हत' शब्द 'कुत्सित' के अर्थ में है। एवं च 'हत' का अर्थ 'कुत्सित' (निन्दित) है। अतः हत (कुत्सित) अर्थात् लक्षण का अनुसरण करने पर भी 'अश्रव्य'—यह प्रथम 'हत पदार्थ' है।

अब द्वितीय 'हतपदार्थ' बताते हैं—अप्राप्तेति। वृत्तरत्नाकर के प्रथम अध्यायगत नवम श्लोक में—"वा पादान्ते" का उल्लेख किया गया है। उससे अवगत होता है कि 'पादान्त' (श्लोकचरणान्त) में वर्तमान 'लघु' वर्ण विकल्प से 'गुरु' होता है। अर्थात् लघु की अपेक्षा रहने पर वह लघु वर्ण का काम करता है, और गुरुवर्ण की अपेक्षा रहने पर गुरुवर्ण का काम करता है। इस छन्दःशास्त्र के नियम के अनुसार पादान्त के लघुवर्ण में भी गुरुत्व का अतिदेश किया जाता है, फिर भी वह गुरुवर्ण की तरह कार्य करने में समर्थ नहीं हो पाता। तथा च "वा पादान्ते" की उक्ति के अनुसार 'अप्राप्तः गुरुभावः गुरुत्वं येन तथाभूतः, अन्ते लघुः लघुवर्णः यस्य यत्र वा' उसे 'अप्राप्तगुरुभावान्तलघु' कहते हैं—ऐसा बहुव्रीहिगर्भ बहुव्रीहि समझना चाहिए।

तीसरा 'हत पदार्थ' वह है, जिस वाक्य में 'रस' के अनुकूल 'वृत्त' न हो। अर्थात् प्रकृत रस के प्रतिकूल वृत्त (छन्द) हो। इस प्रकार 'वृत्त' (छन्द) में 'हतत्व' तीन प्रकार से होता है।

वृत्त में अश्रव्यता भी तीन प्रकार की होती है। 'लक्षणाननुसरणे छन्दोभङ्गात्, लक्षणानुसरणे तु यतिभङ्गात्, स्थानविशेषे च गणविशेषयोगाच्चेति त्रिविधम्। यतिः स्थानविशेषे विच्छेदः।' 'यतिर्विच्छेदः'—ऐसा पिङ्गल-सूत्र के छठे (षष्ठ) अध्याय में कहा है। कुछ लोग 'उपरम' को 'यति' कहते हैं। 'गण' शब्द से यगण, रगण, तगण आदि समझने चाहिए। पहिली 'अश्रव्यता' तो वह है, जहाँ गुरु और लघु वर्णों का अथवा मात्राओं का विन्यास यथोचित पौर्वापर्य से न होने के कारण 'लक्षण' के समन्वय (अनुगम) का अभाव रहे।

दूसरी अश्रव्यता 'यतिभंग' के कारण होती है।

तीसरी अश्रव्यता 'स्थानविशेष' में अनुचित 'गणविशेष' का सम्बन्ध (विन्यास) कर देने के कारण होती है। जैसे 'आर्या' छन्द के पूर्वार्धगत विषमस्थल में 'जगण' का विन्यास नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि उसका विन्यास कर दिया जाता है तो अश्रव्यता होती है।

उक्त तीनों में से प्रथम अश्रव्यत्व (छन्दोभंग से होने वाले) की सर्वत्र प्रसिद्धि के कारण उसका उदाहरण न देकर ग्रन्थकार ने उसकी उपेक्षा की है, और अन्तिम दो अश्रव्यत्वों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

प्रथम अश्रव्यत्व का उदाहरण काव्यप्रदीपकार ने अपने ग्रन्थ (काव्यप्रदीप) में दिया है। जो इस प्रकार है—

"यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः"।
"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः"।

बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की सत्ररहवीं कण्डिका में उपर्युक्त प्रथम वाक्य आया है—यस्मिन्निति। और इक्कीसवीं कण्डिका में दूसरा वाक्य आया है—तमेवेति। यहाँ का 'पञ्चजन' शब्द 'प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, मन' के अर्थ में रूढ है। अतः रूढ्या वह प्राणादिकों को ही बताता है। क्योंकि 'वाक्यशेष' भी वैसा ही कह रहा है—"प्राणस्य प्राणमुतचक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः"। अतः तदनुसार ही 'पञ्चजन' शब्द भी उन्हीं को बताता है। पञ्चजन कितने हैं?—यह अपेक्षा होने पर 'पञ्च' यह विशेषण बताया गया है। तथाच जिस परमेश्वर में प्राणादि पाँच 'पञ्चजन' नाम वाले और आकाश प्रतिष्ठित रहता है, उसी को निश्चित-रूप से जानकर धीर (विद्वान्) ब्राह्मण तत्त्वज्ञान (प्रज्ञा) का अभ्यास (निदिध्यासन) करे, ऐसा प्रभाकार ने कहा है। किन्तु उद्योतकार नागेश ने 'पञ्चजन' का अर्थ, ब्राह्मणादि चारवर्ण और रथकार (बढई) सहित पाँचवाँ वर्ण–अर्थात् 'ब्राह्मणादिरथकारान्त पाँचवर्ण'–यह अर्थ किया है।

यहाँ श्लोकरूप छन्द (वृत्त) में प्रथमवाक्य के प्रथम पाद में और द्वितीयवाक्य के प्रथम और द्वितीय पाद में 'पञ्चम' वर्ण (अक्षर) के 'गुरु' हो जाने से यतिभंग होने के

कारण छन्दोभङ्ग हो गया है। क्योंकि 'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पञ्चमम्"— इस छन्दःशास्त्र के नियम के विरुद्ध हो गया है। तथा सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथम-परिच्छेद में भोजराज ने भी कहा है—"अत्र पञ्चमवर्णस्य लघोः स्थाने गुरोः करणाच्छन्दोभङ्गः" इति। एवं च यहाँ पर छन्दःसूत्र का अनुसरण न करने से छन्दोभङ्ग हो जाने के कारण 'अश्रव्यत्व' दोष हो गया है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन काव्यप्रदीप के अनुसार ही किया गया है, जो मूलकार (ग्रन्थकार) को भी सम्मत होगा, यह नहीं कह सकते। छन्दोभंग के कारण 'अश्रव्यत्व' का तो वक्ष्यमाण 'विद्याविरुद्धत्व' में अन्तर्भाव हो जाता है। 'विद्याविरुद्धः' में 'विद्या' शब्द से 'शास्त्र' कहा गया है। काव्यगत वर्ण आदि के नियमबोधक पिंगलमुनि आदि विद्वानों के प्रणीत ग्रन्थ को 'शास्त्र' शब्द से नहीं कहा जा सकता, यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि "शक्तिर्निपुणता"—इस कारिका में 'शास्त्र' शब्द से छन्दोव्याकरणादि का ग्रहण करना मूलकार ने पहले ही बता दिया है। अतएव 'छन्दोभंग' हो जाने से—अश्रव्यत्व का उदाहरण मूलकार ने नहीं बताया है—यह भी नहीं समझना चाहिए। क्योंकि 'अश्रव्यत्व' वाक्यनिष्ठ होने से 'शब्ददोष' होने के कारण उसका अन्तर्भाव, 'विद्याविरुद्धत्व' रूप अर्थदोष में नहीं हो सकता। अतः मूलकार ने जैसा कहा है, वही उचित प्रतीत होता है ॥ २१४ ॥

(लक्षण का अनुसरण करने पर भी वर्णवृत्त में यतिभङ्ग के कारण होनेवाले अश्रव्यत्वरूप हतवृत्तता का द्वितीय उदाहरण—)

कोई रसमर्मवेत्ता व्यक्ति प्रिया के अधर की स्वादिष्टता को बताने की इच्छा से स्वादुतया प्रसिद्ध तत्तत् पदार्थों को बता रहा है—अमृतमिति। अमृत (पीयूष) तो अमृत (स्वादुतर) ही है अर्थात् अत्यन्त मधुर ही है, इसमें कोई किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं है। उसी प्रकार मधु (माक्षिक = शहद) भी अन्यथा (अमधुर) नहीं है, वह भी अत्यन्त मधुर ही है। तथा 'आम्र' के स्वच्छ रस (प्रसन्नरस) का फल भी अधिक मधुर ही है, उसे भी अन्यथा नहीं कह सकते। किन्तु रसों के तारतम्य को जाननेवाला रसमर्मज्ञ व्यक्ति मध्यस्थ बनकर (पक्षपातरहित होकर तटस्थभाव से) एक बार (सकृत्) कहे तो सही कि प्रेयसी के अधरोष्ठ (दशनच्छद) के अतिरिक्त (बढ़कर) कोई अन्य वस्तु भी इस संसार में अधिक मधुर हो सकती है। अर्थात् प्रेयसी के अधरपान से बढ़कर मधुर वस्तु संसार में कोई है ही नहीं है ॥ २१५ ॥

यह काव्य 'हरिणीछन्द' में रचा गया है। हरिणीछन्द के प्रत्येक पाद में 'षष्ठ' अक्षर और दशम अक्षर पर 'यति' होनी चाहिए। किन्तु उक्त उदाहरण के चौथे पाद 'वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' में 'हकार' षष्ठ अक्षर है, वह 'अन्यत्' इस पर पद के अनुसन्धान की अपेक्षा करता है, उस कारण 'यतिभङ्ग' दोष हो गया है। अतः "यदिहान्यत् स्वादु स्यात्' यह अश्रव्य है। 'हतवृत्तता' दोष इस कारण स्पष्टतया प्रतीत

यथा वा—

जं परिहरिउँ तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरँ जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥ २१६ ॥
(यत्परिहर्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन ।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः) ॥ २१६ ॥ इति संस्कृतम् ।

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारभकारौ ।

हो रहा है । किन्तु इस चतुर्थचरण को यदि इस तरह परिवर्तित कर दें—'वदतु मधुरं यत् स्यादन्यत् प्रियादशनच्छदात्'—तो उक्त दोष नहीं हो पायेगा ॥ २१५ ॥

तृतीय अश्रव्यत्व—(लक्षण का अनुसरण करने पर भी मात्रावृत्त में स्थान-विशेष में गणविशेष के योग से अश्रव्यत्व)

यथा वेति । अथवा जैसे—

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन कृत पञ्चबाणलीला में यह गाथा दी गई है—किसी मानिनी नायिका को उसकी दूती समझा रही है—जं परीति । (यत् परिहर्तु-मिति ।) कामचेष्टाएँ (कामविलास) एक ऐसा विलक्षण रमणीय पदार्थ हैं, जिससे अपने आपको किञ्चिन्मात्र भी पृथक् रखना कभी संभव नहीं है । क्योंकि विरक्त यतियों ने भी इसके इस दोष की प्रशंसा ही की है । उन्होंने भी इसका निषेध नहीं किया है ॥ २१६ ॥

अत्रेति । 'ज परिहरिउँ' इस आर्या में द्वितीय अर्थात् 'हरिउ'—इस अन्तगुरु 'सगण' और तृतीय अर्थात् 'तीरइ'—इस आदिगुरु 'भगण' का जो 'बिना व्यवधान' के श्रवण है, उसमें 'अश्रव्यत्व' दोष की प्रतीति सभी को होती है ॥ २१६ ॥

विशेषविवरण—यह 'कामचेष्टित' कुछ ऐसा विलक्षण है, जो अपने सुन्दरत्व (रमणीयत्व) गुण के कारण, सभी के स्वीकारार्ह बन गया है । उसका किञ्चिन्मात्र भी परिहार करने में कोई समर्थ नहीं हो पाता अर्थात् उससे अपने को बचा पाना असंभव ही है ।

किञ्च—जिसके अपरिहार्यत्व रूप दोष को प्रतिपक्षी विरक्त यति आदि लोगों ने भी स्वीकार कर लिया है, उसका निषेध (परिहार) नहीं किया है । ऐसी स्थिति में तुम्हारे कान्त की तो बात ही क्या है ? दैववशात् उसे किसी अन्य वनिता से समागम भी हो जाय, तो भी उस पर तुम्हें इतना अधिक क्रोध नहीं करना चाहिए—ऐसी व्याख्या कुछ लोगों ने की है । कुछ दूसरे व्याख्याकारों ने इसी की व्याख्या अन्य प्रकार से की है—'जो परिहरिउम्'—ऐसा 'प्राकृत' पाठ किया है । यद्यपि 'जं परिहरिउम्'—ऐसा पाठ है, तथापि 'प्राकृत' में लिंग का अनियम समझकर 'यः परिहर्तुम्'—यह संस्कृत बनाया है । तदनुसार 'जो नायक अपराधशील रहने पर भी अपनी सुन्दरता के गुण से उसका किञ्चिन्मात्र भी परिहार (त्याग) नहीं किया जा सकता और जिस नायक का

(अप्राप्तगुरुभावान्तलघुरूपहतवृत्तत्वम्)

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥ २१७ ॥

अत्र हारिशब्दः । हारिप्रमुदितसौरभेति पाठो युक्तः ।

अपराध, हम जैसे प्रतिपक्षियों ने भी केवल पूर्वोक्त प्रकार से स्वीकार कर लिया है, अर्थात् क्षमा कर दिया है। अर्थात् उस नायक को त्याज्य नहीं समझा। कुछ लोगों ने एक अन्य प्रकार से भी व्याख्या की है—'जस्स' की जगह 'तस्स' पढ़कर और संस्कृत में उसे 'तस्य' कहकर प्रदर्शित किया है। 'यो नायकः' इत्यादि व्याख्या करके उस नायक-शिरोमणि में केवल एक ही दोष (अपराध) है, जिसे सपत्नियों (प्रतिपक्षियों) ने भी क्षमा कर दिया है। अलग-अलग ढंग की इन सभी व्याख्याओं को उद्योत-चन्द्रिका-सुधासागरादि व्याख्याओं में बताया गया है।

यहाँ पर वर्णत्रयात्मक (मात्राचतुष्टयात्मक) एक-एक गण है। 'हरिउं'—यह द्वितीय-गण है, 'सोऽन्तगुरुः' इस वचन के अनुसार 'सगण' है। 'तीरइ'—यह तृतीयगण है, इसमें 'भ आदिगुरुः'—इस वचन के अनुसार 'भगण' है। इस आर्या में द्वितीय 'सगण' और तृतीय 'भगण' 'अश्रव्यत्व' है, जो छन्दःशास्त्रसिद्ध है—ऐसा प्रभा तथा चन्द्रिका-व्याख्याकार ने बताया है।

सुधासागरकार इस आर्या की प्रदीपव्याख्या के अंश—"अत्रार्यायां द्वितीय-तृतीयगणौ सगण-भगणौ, तौ च तथाविधौ (अव्यवधानेन पठितौ) छन्दःशास्त्रेण दुःश्रवत्वेन प्रतिपादितौ"—को लेकर अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं—अन्तगुरु और आदिगुरु जो सगण और भगण हैं, उनमें 'यति' न रहने से वे अश्रव्य हो गये हैं। 'सगण' का पूर्व उपादान करना तो उचित है। क्योंकि 'गाथा' के लक्षण में कहा गया है कि "पढमं बारहमत्ता बीए अट्ठारहे हिं संजुत्ता। जह पढमं तह तीअं पंचदह विहूसिआ गाहा"॥ अतः 'सगण' का पूर्वग्रहण करना उचित ही है।

हमें तो यह प्रतीत होता है कि इस गाथा छन्द में द्वितीय 'हरिउँ' इस अन्त गुरुवाले सगण का और तृतीय 'तीरइ' इस आदि गुरुवाले भगण का अव्यवधान रहने से 'अश्रव्यत्व' सभी को अनुभूत होता है, क्योंकि 'उँती'—इन दो गुरु वर्णों का उच्चारण अव्यवधान से हुआ है। अतएव ग्रन्थकार ने वृत्ति में कहा है—"लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यत्वम्" इति ॥२१६॥

(अप्राप्तगुरुभावान्त लघुरूप हतवृत्तता)

अप्राप्तगुरुभावान्तलघुवृत्त—अर्थात् जिस वृत्त में पाद (चरण) के अन्त्य लघुवर्ण में 'गुरुवर्ण के कार्य की असमर्थता (अक्षमता) रहती है, उस उदाहरण को बता रहे हैं—

विकसितेति। विकसित हुए सहकारों (आम्रों) का परिमल (सौरभ) इतना मनोहर एवं उत्कट है कि जिसमें द्विरेफ (भ्रमर) एकत्रित होकर गुञ्जन कर रहे हैं, और अभिनव किसलयरूपी चामर (चँवर) की चारु (कमनीय) श्री (शोभा) से सम्पन्न हुआ वसन्त ऋतु मुनियों के भी मन को हठात् (बरबस) हरण कर ले रहा है ॥२१७॥

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात्स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च॥ २१८॥

अत्र वस्त्राण्यपि इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते।

अत्रेति। यह 'पुष्पिताग्रा' छन्द है। इसमें "वा पादान्ते"–इस नियम के अनुसार 'हारि' के लघु 'रि'कार को 'गुरु' मानलेना उचित है, उस कारण छन्दोभङ्ग तो नहीं है, किन्तु रचना (काव्यबन्ध) की शिथिलता हो जाने से उसमें 'गुरुता' के अनुकूल कार्य करने की क्षमता नहीं है। यह बन्धशैथिल्य ही दूषकता (दूषक होने) में बीज है। उस गुरुकार्याऽक्षमत्वरूप दोष को दूर करने के लिए काव्य में 'हारि-परिमल' की जगह 'हारि-प्रमुदित' पाठ करना उचित होगा॥ २१७॥

विशेषविवरण—'नवकिसलयचारुचामरश्रीः' कहकर कवि ने वसन्त का ऋतुराजत्व अभिव्यक्त किया है। उस कारण मुनियों के भी मनको हर लेने की उसमें शक्ति है, यह ध्वनित होता है।

शंका–पादान्त में स्थित लघुवर्ण में गुरुकार्यकरणाक्षमत्व मानने पर "वा पादान्ते" यह शास्त्र व्यर्थ हो जायगा।

समाधान—"वा पादान्ते"–यह शास्त्र, वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा आदि छन्दों में ही चरितार्थ हो जाता है।

चन्द्रिका व्याख्याकार ने कहा भी है—"अत्राद्यपादान्तस्थस्य रिकारस्य गुरुत्वानुशासनेऽपि तत्कार्याऽक्षमतयाऽश्रव्यत्वम्" इति। दोष (अश्रव्यत्व) के परिहारार्थ 'हारि-प्रमुदित'–पाठ कर देना चाहिए, जिससे बन्धशैथिल्य नहीं हो पायेगा। 'प्रमुदित' में भौवादिक 'मुद हर्षे' धातु से 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च"—(पा० सू० ३।४।७१) सूत्र से कर्तरि 'क्त' प्रत्यय किया गया है, जैसे—'मासं प्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः'—इस वाक्य में स्थित 'प्रमित' के समान, बन्धशैथिल्य को दूर करने के लिए 'हारि च प्रमुदितं' कहने पर 'प्र' से पूर्ववर्ण को 'संयोगे गुरु'–(पा० सू० १।४।११) सूत्र से 'गुरुत्व' का लाभ हो जाने से बन्धशैथिल्य दूर होकर 'बन्धदार्ढ्य' होने से दोष नहीं हो पाता॥ २१७॥

पुष्पिताग्रावृत्त में दोष प्रदर्शन और उसका अपाकरण प्रदर्शित कर अब शार्दूलविक्रीडित में भी एक अन्य उदाहरण प्रदर्शित किया जा रहा है—यथावेति। अथवा केवल प्रथम-तृतीय पाद में ही यह दोष नहीं होता, किन्तु अन्य पादों में भी यह दोष होता है। अतः चतुर्थपाद में उक्त दोष का उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—यथावेति। जैसे किसी राजा के वर्णन में कवि कह रहा है—

(रसाननुगुणताहेतुक-हतवृत्तता)

हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्रसहस्रसमाश्रय ! देव !
मुग्ध ! विदग्ध ! सभान्तररत्न ! क्वासि गतः क वयं च तवैते ॥ २१९ ॥
हास्यरसव्यञ्जकमेतद् वृत्तम् ।

अन्यास्ता इति । विधि ने जिन संभारों (उपकरणों) के द्वारा इस युवा (तरुण) पुरुष का निर्माण किया, उन गुणरूपीरत्नों की उत्पत्ति करनेवाली (उत्पत्ति के हेतुभूत) रोहणपर्वत की भूमियाँ दूसरी (अन्य) ही हैं, तथा वह मिट्टी (मृद्) अर्थात् समवायिकारणरूप पार्थिवभाग भी अन्य ही (भिन्न-विलक्षण ही) है, वह भी धन्य है क्योंकि उस युवा से उसने सम्बन्ध प्राप्त किया है । अर्थात् वे सभी संभार, उपकरण (इतर कारणकलापभूतसामग्रीरूप) अन्य ही (भिन्न-भिन्न ही) हैं, यानी वे सभी धन्य हैं । वह युवा कौन है ? यह जिज्ञासा होने पर कवि कह रहा है—दृष्टे यत्रेति । जिसको देखते ही मोहित हो जानेवाले (हो जानेवाली) श्री से समृद्ध और तेजस्वी (सौन्दर्य और लावण्य से भरी हुई) शत्रुओं के हाथ से शस्त्र (हथियार) छूटकर नीचे गिर पड़ते हैं, उसी तरह सुन्दर युवतियों के नितम्बभाग से वस्त्र गिरने लगते हैं, वही यह युवा पुरुष (राजा) है ॥ २१८ ॥

अत्रेति । यहाँ शार्दूलविक्रीडितछन्दवाले पद्य में 'वस्त्राणि च' का 'चकार', पूर्वोदाहरण की तरह 'वा पादान्ते'–से कथित गुरुत्वनियामक लक्षण का अनुसरण यद्यपि कर रहा है, तथापि बन्धशैथिल्य के कारण 'गुरुत्व' का कार्य करने में असमर्थ हो गया है, अतः 'दोष' रूप हो गया है ।

किन्तु यहीं पर यदि 'वस्त्राण्यपि' पाठ कर देने पर लघु 'पि' भी गुरुत्व का कार्य करने में समर्थ हो जाता है । क्योंकि 'णकार और यकार' के संयोग के बाद 'पि' की स्थिति है । अतः दोष नहीं है, क्योंकि बन्ध (रचना) की दृढता हो गई है । उस कारण पदान्त लघु वर्ण गुरुत्व कार्य करने में समर्थ हो गया है । इसी प्रकार अन्य पादों में भी समझना चाहिए । इन उदाहरणों में सहृदयों के चित्त को उद्विग्न बनानेवाली 'अश्रव्यता' ही दोष का बीज है । अतः यह नित्यदोष है ॥ २१८ ॥

विशेष विवरण—'यैरेव' यहाँ पर 'पुमान् स्त्रिया' (पा० सू० १।२।६७) सूत्र से 'याभिश्च यथा च यैश्च यैरिति' स्त्री-पुंलिङ्ग यच्छब्दैकशेषः । उक्त शार्दूलविक्रीडितछन्द में 'हतवृत्तता' का दोष नष्ट हो गया है ॥ २१८ ॥

(रसाननुगुणताहेतुक हतवृत्तता)

प्रकृत रस के अननुगुणवृत्त (छन्द) का उदाहरण—हा नृपेति । राजा के मृत हो जाने पर उसके अनुरक्तलोगों की यह विलापोक्ति है । जैसे—हाय राजन् ! हाय विद्वन् ! हाय कविबन्धो ! हाय हजारों विप्रों को आश्रय देनेवाले ! हाय देव ! हाय सुन्दर ! हाय विद्वत्समाज के रत्न ! तुम कहाँ चल दिये ? तुम्हारे आश्रय से रहनेवाले हमलोग अब कहाँ जाँय ? क्या करें ? ॥ २१९ ॥

(६ न्यूनपदता)

न्यूनपदं यथा—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ २२० ॥

अत्रास्माभिरिति खिन्ने इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च ।

हास्येति । उक्त पद्य 'दोधकछन्द' में रचा गया है । यह छन्द (वृत्त) प्रकृत करुणरस (शोक) के अनुगुण नहीं है, क्योंकि यह छन्द अपने विरोधी हास्यरस का व्यञ्जक है । अतः हास्यरसोचित यह वृत्त (दोधकवृत्त) प्रकृत 'करुणरस' के अननुगुण है । किन्तु उधर ध्यान न देकर 'करुण' रस में उक्त छन्द का उपयोग किया है । उस कारण यह 'दोष' हो गया है ।

विशेष विवरण—करुणरस में—मन्दाक्रान्ता एवं पुष्पिताग्राछन्द का प्रयोग करना चाहिए । श्रृंगाररस में—पृथ्वी एवं स्रग्धराछन्द का प्रयोग करना चाहिए । 'दोधक' छन्द प्रतिपद-विच्छेदी होने से 'हास्यरस' के अनुगुण है । अतएव नाट्यशास्त्र के सतरहवें (१७ वे) अध्याय में भिन्न-भिन्न रसों में भिन्न-भिन्न छन्दों का नियमन करके शेषरसों के अनुयोग एवं सामञ्जस्य से छन्दों का प्रयोग करना चाहिए । तथा हि—करुणे मन्दाक्रान्ता–पुष्पिताग्रादीनामेवानुगुणत्वम् श्रृङ्गारादौ पृथ्वी-स्रग्धरादीनां, वीरादौ शिखरिणी-शार्दूलविक्रीडितादीनामानुगुण्यम्, हास्ये च दोधकस्य प्रतिपदविच्छेदित्वेनानुगुण्यमिति । अत एव सप्तदशेऽध्याये तत्तद्रसे तत्तच्छन्दो नियम्य 'शेषाणामनुयोगेन छन्दः-कार्यंप्रयोक्तृभिः' इति भरतोऽप्याह । 'अनुयोगः' पारुष्यादिवाच्यस्य योग्यता सामञ्जस्यम् ।

सरस्वतीकण्ठाभरण के कर्ता महाराज भोज ने भी कहा है—

"येषु श्रुतेषु चित्तस्य वैराग्यं न च हृद्यता ।
तानि वर्ज्यानि वृत्तानि प्रसिद्धिप्रच्युतानि च ॥"

प्रकृतरसाननुगुणत्वरूपभेदस्यास्य च प्रतिकूलवर्णत्वं दुष्टताबीजम् ।

नीरसे च नास्यात्मलाभ इति नित्यदोषतेति ।" यह सब रहस्य प्रदीप-उद्योत-सुधासागरव्याख्याओं में स्पष्ट है ।

दोधकवृत्त का लक्षण —"दोधकवृत्तमिदं भभभाद्गौ" किया गया है ॥ २१९ ॥

(६ न्यूनपदता दोष)

(६) पूर्वोक्त न्यूनाधिककथितपदम्' का अर्थ —न्यूनपदम्, अधिकपदम्, कथितपदम्' करना चाहिए । 'पद' शब्द का प्रत्येक के साथ अन्वय करना चाहिए, क्योंकि 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदम् प्रत्येकमभिसम्बध्यते' यह नियम है ।

अबः 'न्यूनपद' का उदाहरण दे रहे हैं—न्यूनपदमिति । जैसे—तथाभूतामिति । वेणीसंहारनाटक का यह पद्य है । भीमसेन कह रहा है कि ज्येष्ठभ्राता धर्मराज युधिष्ठिर

तो हमारे पूजनीय ठहरे। वे भला राजसभा में पाञ्चालराजकन्या की (द्रौपदी की) उस दुर्दशा को देखकर, वनों में वल्कल पहनकर, व्याधों के साथ दीर्घकाल तक हमलोगों को घूमते देखकर, और विराटराज के गृह में उस प्रकार के अनुचित काम करने में चुपचाप तत्पर हुए हमलोगों के जीवनयापन को देखकर भी उन्हें कौरवों पर क्रोध क्यों होगा? उन्हें तो इन सभी बातों से खिन्न हुए मुझ भीम पर ही क्रोध है ॥ २२० ॥

अत्रेति। वेणीसंहार के उक्त पद्य में 'न्यूनपदता' का दोष है। क्योंकि 'वल्कलधरैः' इस विशेषण को विशेष्य की आवश्यकता है, उसी तरह 'उषितम्' और 'स्थितम्' को कारक की अर्थात् 'अस्माभिः' इस करण कारक की आवश्यकता है, किन्तु कवि ने उसे प्रदर्शित नहीं किया है। उसी तरह 'खिन्ने' इस पद के पूर्व 'इत्थम्'—इस पद को प्रदर्शित करना चाहिए था, किन्तु कवि ने उसे प्रदर्शित नहीं किया है। यही 'न्यूनपदता' दोष हो गया है।

विशेष विवरण—द्योतक और वाचक के भेद से 'पद' दो प्रकार के होते हैं। उनमें से 'द्योतकपद' की न्यूनता रहने पर 'अनभिहितवाच्यत्व' दोष को आगे चलकर बतावेंगे। प्रस्तुत उदाहरण तो 'वाचकपद' की न्यूनता का है। उक्त उदाहरण के 'तीनों पादों' में 'अस्माभिः' पद की आकांक्षा है। यहाँ पर 'वल्कलधरैः'—वल्कल पहने हुए—यह 'विशेषण' है। इस विशेषण को देखने पर यह जिज्ञासा होती है कि 'वल्कल किसने परिधान किया'? किन्तु परिधान करने वाले 'विशेष्य' का उल्लेख कवि ने नहीं किया। उसी तरह 'उषितम्'—निवास किया एवं 'स्थितम्' रहे, किन्तु किसने निवास किया और कौन रहे? यह जिज्ञासा होती है। किन्तु कवि ने निवास करनेवाले एवं रहनेवाले 'विशेष्य' का प्रदर्शन नहीं किया। कवि को चाहिए था कि वह द्वितीय एवं तृतीय पाद में 'अस्माभिः'—इस विशेष्य पद का उल्लेख करता, किन्तु उसने वैसा नहीं किया। द्वितीय और तृतीय पाद में 'अस्माभिः' पद का उल्लेख उसे करना चाहिये था, क्योंकि तभी वे 'खेद' के हेतु बन सकते हैं।

प्रथम पाद में यद्यपि 'गुरु' का कर्तृत्वेन रूपेण अन्वय हो सकता है, तथापि उस व्यथित अवस्थावाली द्रौपदी को देखकर भी हमलोग चुप-चाप रहे। इस उक्ति से 'खेदातिशय' की प्रतीति हो रही है। इसलिए यहाँ पर भी—'अस्माभिः' इसी कर्तृपद की अपेक्षा है।

'व्यथित अवस्था में पड़ी हुई पाञ्चालराजतनया को देखकर भी ताकते ही रह गये, कुछ कर नहीं पाये'—इस अर्थ का संकेत करने वाला 'इत्थं' पद भी 'खिन्ने' के पूर्व अवश्य रखना चाहिए था, क्योंकि तीनों पादों में 'अस्माभिः' और 'खिन्ने' के पूर्व 'इत्थम्' के न रहने पर कर्ता की उपलब्धि न हो सकने के कारण एकवाक्यता का होना संभव नहीं है। उक्त पद्य में आकांक्षित अर्थ का कहना आवश्यक है, किन्तु उस अर्थ के

(७ अधिकपदता)

अधिकं यथा—

(समासे पदाधिक्यम्)

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसंक्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तिः प्रतिमल्लास्तमयोदयः स कोऽपि ।। २२१ ।।

अत्राकृतिशब्दः ।

वाचक 'शब्द' का कवि ने ग्रहण नहीं किया है । अतः यहाँ पर 'शब्द' की न्यूनता है, उस कारण विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती—यही इसकी दूषकता में बीज है। जहाँ पर आक्षेप से झटिति अर्थ की प्रतीति हो जाती है, वहाँ यह दोष नहीं होता है। जैसे—'मा भवन्तमनलः पवनो वा' में, 'अधाक्षीत् अभाङ्क्षीत्'—इस प्रसिद्ध क्रिया का झटिति आक्षेप से लाभ हो जाता है। अथवा जैसे—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' (रघु० स० ३ श्लो० ९) में अव्यभिचारि विशेषण से 'पृथ्वी' का झटिति आक्षेप से लाभ हो जाता है ।। २२० ।।

(७. अधिकपदता दोष)

(७) 'अधिकपदत्व' का उदाहरण—अधिकं यथेति । अर्थात् अधिक पदवाला वाक्य, जैसे—यह तात्पर्य है। 'अधिकपदत्व' कहने का अभिप्राय यह है कि 'वाक्य' में अविवक्षितार्थक पद का होना। कुछ लोगों ने 'अधिकम्' का अर्थ 'अन्वयाऽप्रतियोग्युपस्थापक' किया है।

(समासगत अधिकपदत्व)

अधिकपद के उदाहरण में किसी विद्वान् का वर्णन किया जा रहा है। समास में पदाधिक्य का उदाहरण दे रहे हैं।

स्फटिकेति । यह कोई विद्वान्, असाधारण व्यक्ति है, जिसका हृदय स्फटिक की आकृति के समान निर्मल है। अर्थात् इसका हृदय राग-द्वेषादि से रहित है, उसके निर्मल हृदय में शास्त्रों के दुरूह (निशात = तीक्ष्ण) तत्त्व अथवा गूढ रहस्यवाले सम्पूर्ण शास्त्र-तत्त्व आदर्श में प्रतिबिम्ब के समान स्पष्टतया प्रतिफलित (प्रतिबिम्बित) हुए हैं, जिसकी उक्तियाँ तथा युक्तियाँ, लोक और शास्त्र से अविरुद्ध होने के कारण अकाट्य हैं तथा परस्पर समन्वय रखने वाली हैं, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी-प्रतिस्पर्धी विद्वानों को सर्वदा पराजित करता रहता है, ऐसा यह कोई महापुरुष है ।। २२१ ।।

अत्रेति । यहाँ पर 'स्फटिकाकृतिनिर्मलः'—में 'स्फटिक' पद ही 'निर्मलता' में उपमान है। 'स्फटिक' पद से ही 'निर्मलता' की प्राप्ति हो जाने से 'आकृति' पद की अधिकता प्रतीत हो रही है। यहाँ पर 'स्फटिक' और 'वर्णनीय व्यक्ति' में ही उपमानोपमेयभाव है। अतः 'आकृति' पद की कोई आवश्यकता नहीं है। फिर भी इसे 'अपुष्टार्थ' दोष नहीं कह सकते, क्योंकि 'अपुष्टार्थ दोष' तभी होता है, जब 'पद' व्यर्थ रहे ।। २२१ ।।

यथा वा—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्मथा विकाराः।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥ २२२ ॥

अत्र, कृतमिति, कृतं प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति तथा च 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानामि'ति पाठे निराकाङ्क्षैव प्रतीतिः।

(८ कथितपदता)

कथितपदं यथा—

(समासगतपदाधिक्यम्)

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला-
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम् ॥ २२३ ॥

अत्र लीलेति।

पद की अधिकता 'समास' में ही होने का कोई नियम नहीं है, वह 'असमास' में भी होती है। यथा वेति। जैसे—इदमिति।

वृद्धावस्था में भी जो कामविकार हुआ करते हैं, वे लोकविरुद्ध हैं तथा शास्त्रविरुद्ध भी हैं। उसी प्रकार विधाता ने स्त्रियों का जीवन अर्थात् कामसेवन उनके स्तन शिथिलता (स्तन-पतन) तक नहीं बताया है, वह भी वैरस्याधायक होने से अनुचित है।

अर्थात् स्तनों की शिथिलता होने के पश्चात् भी उनमें जो कामवासना होती है, वह भी अनुचित है ॥ २२२ ॥

अत्रेति। यहाँ तीसरे चरण में 'कृतम्' यह पद अनावश्यक होने से अधिक है। यह पद केवल अनावश्यक ही नहीं है, अपितु वह (कृतम् पद) 'भग्नप्रक्रम' दोष को भी उपस्थित कर देता है। क्योंकि पद्य के पूर्वार्ध में 'मान्मथा विकाराः' के साथ 'कृताः' पद का उल्लेख नहीं किया गया है, उस कारण उत्तरार्ध में—'जीवितं रतं वा' के साथ भी 'कृतम्' पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए था। किन्तु 'कृतम्' पद का प्रयोग कर देने से 'भग्नप्रक्रम' (प्रक्रमभङ्ग) दोष भी हो गया है। उन दोनों दोषों के निरसनार्थ यहाँ पर 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा' यह पाठ कर दिया जाय तो 'कृतम्' पद की आकांक्षा के बिना ही प्रतीति हो जाती है। अर्थात् अनौचित्य की प्रतीति निराकांक्ष हो जायगी। निष्प्रयोजन शब्द के श्रुत होने पर श्रोता का विमुख हो जाना ही 'दोष' का कारण है। किन्तु जहाँ 'हर्ष' आदि अभिव्यङ्ग्य हो वहाँ यह दोष नहीं माना जाता ॥ २२२ ॥

(८. कथितपदता दोष)

(८) कथितपदता वाले वाक्य का उदाहरण—कथितपदमिति। किसी वाक्य में किसी प्रयोजन के बिना ही समानार्थक अथवा समान वर्णों की आनुपूर्वी वाले किसी पद

का प्रयोग करना 'कथित पद' कहलाता है। यथेति। जैसे—

(समासगत पदाधिक्य)

अधिकरतलतल्पमिति। हे सुन्दरी। यह तो बता दे कि करतल रूपी शय्या पर शयन करने के कारण जिसका पीलापन दूर हो गया है अर्थात् कर-कपोल के दृढ संबन्ध (घर्षण) होते रहने के कारण रक्तिमा (लाली) उदित हो जाने से विरहजन्य पीतिमा जिसकी तिरोहित हो गई है। अतः वह तुम्हारी कपोल-स्थली, किस सौभाग्यशाली स्मररूपी राजा की चुम्बनादि लीलाओं के विषय में किसके यौवराज्याभिषेक को अभिव्यक्त कर रही है॥ २२३॥

अत्र लीलेति। उक्त पद्य में 'लीला' पद का दो बार (स्वापलीला और स्मरनरपतिलीला) प्रयोग किया है। अतः 'कथित-पदता' दोष हो गया है। क्योंकि एक ही पद की द्विरावृत्ति करने से कवि की अशक्ति का भान हो जाता है। इस द्विरावृत्तिरूप पिष्टपेषण से कोई नवीन प्रयोजन निष्पन्न नहीं हो रहा है। एक ही पद का दो बार प्रयोग करना, 'उद्देश्य–प्रतिनिर्देश्य भाव' से 'अभेद' को ही प्रत्यभिज्ञा कराता है। इस कारण 'स्वापलीला' में प्रयुक्त 'लीला' की ही प्रत्यभिज्ञा 'स्मरनरपतिलीला' में प्रयुक्त 'लीला' पद से हो रही है। इस प्रकार स्वापलीला में यौवराज्य पद पर अभिषेक की प्रतीति हो रही है, जो प्रस्तुत में विवक्षित नहीं है। प्रस्तुत में तो कामनरपति की लीलाचुम्बनादि के यौवराज्य पर तरुण नायक का अभिषेक विवक्षित है। अतः 'स्मरनरपतिलीला' के स्थान पर 'स्मरनरपतिलक्ष्मी' पाठ कर दिया जाय तो 'कथितपदता' दोष नहीं हो पायेगा।

एक ही पद की दो बार निष्प्रयोजन आवृत्ति के कारण कवि की अशक्ति का प्रतीत होना ही श्रोताओं के वैमुख्य का कारण है, अतः 'कथितपदता' को दोष में गिना गया है। किन्तु 'लाटानुप्रास' में 'कथितपदता' को दोष नहीं माना जाता। क्योंकि वहाँ कवि की अशक्ति का उन्नयन नहीं होता है। प्रस्तुत में तो कवि की अशक्ति का उन्नयन होता है, उस कारण उपभुक्तभोग के समान श्रोताओं की विमुखता हो जाती है।

शंका—समास के कारण जहाँ एक पद हो जाता है, वहाँ बीच में व्यवधान होने से 'लाटानुप्रास' नहीं हो पाता। उसके न होने पर भी एक ही पद में यह 'कथितपदत्व' दोष जब हो गया, तब इसे 'पददोष' क्यों नहीं कहते?

समाधान—एक पद में 'कथितपदत्व' दोष का होना स्वप्न में भी संभव नहीं है। क्योंकि 'पद के अवयवों' में 'पदत्व' नहीं होता है। किन्तु प्रयोजन के बिना ही उपात्त पद का पुनरुपादान करने पर सजातीय पद और व्यवहार योग्य पद दोनों में ही पदत्व रहता है। यदि कहें कि तादृशपदान्तर्गत अखण्डपद के अभिप्राय से उसे पददोष कहते हैं, तो वैसी विवक्षा से अनेक पदों की वृत्तिता भी अक्षत रहेगी, तब उसे 'वाक्य दोष' ही कहना चाहिए, यह सुधासागरकार ने स्पष्ट कहा है॥ २२३॥

(९ पतत्प्रकर्षता)

पतत्प्रकर्षं यथा—

कः कः कुत्र न घुर्घुरायितघुरीघोरो घुरेत्सूकरः
कः कः कं कमलाकरं विकमलं कर्तुं करी नोद्यतः ।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यतः
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसतिः पञ्चाननो वर्त्तते ॥ २२४ ॥

(९. पतत्प्रकर्षता दोष)

(९) पतत्प्रकर्षमिति । 'पतन् ह्रसन् प्रकर्ष उत्कर्षो यत्र (वाक्ये) तत्–पतत्प्रकर्षम्' । अलंकारकृत अथवा बन्ध (रचना) कृत उत्कर्ष जहाँ उत्तरोत्तर गिरता हुआ (कम = न्यून होता हुआ) चला जाय, वहाँ पतत्प्रकर्ष दोष माना जाता है । यथेति । जैसे—कः क इति ।

क्योंकि आज अपनी सिंहिनी के प्रेमविलास के आनन्द में सिंह (पञ्चानन) एक स्थान में बँध गया है, उस कारण (उस सिंह की अनुपस्थिति में निश्शंक होकर) घुर्घर शब्द करने वाली नासिका के कारण भयंकर प्रतीत होने वाला कौन-कौन-सा वराह (सुअर) नहीं घुर्रा रहा है, कौन-कौन-सा हाथी कमलों से परिपूर्ण किस सरोवर को कमलों से रहित करने के लिए उद्यत नहीं हो गया है ? तथा कौन-कौन-से आरण्यक महिष (जंगली भैंसे) किन वनों का उन्मूलन नहीं करेंगे ? अर्थात् सभी कुछ कर देंगे ॥ २२४ ॥

विशेष विवरण—क्योंकि इस समय सिंह अपनी सिंहिनी के साथ प्रेमपूर्ण विलास करने के लिए किसी एक स्थान को नियत करके वहीं स्थिर होकर बैठ गया है ।

यहाँ पर सिंह के पराक्रम के समक्ष जिनका पराक्रम तुच्छ है, उनका निरूपण करते समय 'रचना' में उत्कर्ष था, किन्तु सिंह का वर्णन करते समय 'रचना' का वैसा उत्कर्ष नहीं रहा, अर्थात् उत्कर्ष का पतन हो गया है । यही 'पतत्प्रकर्ष' दोष है । क्योंकि उससे काव्यरचना में कवि की अशक्ति का परिचय प्राप्त होता है, यही दूषकता में बीज है । किन्तु जहाँ इस प्रकार का पतन 'रस' के अनुकूल रहता है, वहाँ इसे दोष नहीं माना जाता ।

विशेष विवरण—'पञ्चाननः' पञ्चयतीति पञ्च विस्तृतं आननं मुखं यस्य सः पञ्चाननः 'पचि' विस्तारवचने (चुरा०) 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१।३४) इति सूत्रेण कर्तरि पचादित्वादच् प्रत्ययः । अथवा मुखं पादाश्चेति पञ्चाननानीव (युद्धे मुखवत्त्वात्) यस्य सः पञ्चाननः । 'घुर्घुरायिता' घुर्घरः शब्दविशेषः तद्वती, घुरी = घोणा (नासिका) तया घोरः = भीमः (भीषणः) । 'घुर' भीमार्तशब्दयोः (तुदा०) 'घुर्घुरायितघुरीघोरः' इत्यादित्रिषु पादेषु वर्णितैः स्वाश्रयोन्मूलकतया तेषां मदोत्कटत्वं ध्वनितम् । एवं चात्र 'राजनि व्यसनशीले क्षुद्रा अपि भौमिका निर्मर्यादा भवन्ति' इति

(१० समाप्तपुनरात्तता)

समाप्तपुनरात्तं यथा—

क्रेङ्कारः स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीडापिकीनां रवो
झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनिः।
तन्व्याः कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कणः
क्वाणः प्रेम तनोतु वो नववयोलास्याय वेणुस्वनः ॥ २२५ ॥

प्रस्तुतध्वननात् अप्रस्तुतप्रशंसालंकारः। 'कः कः' इत्यत्र कस्कादित्वात्तु 'कस्कः' इति युक्तम् शार्दूलविक्रीडितं छन्दः।

अत्र सूकरेभ्यः परपक्षविनाशोद्योगितया करिणाम्, तेभ्यश्च देवीप्रतिपक्षजातीयतया यमवाहनजातीयतया च महिषाणाम्, तेभ्यः कर्यादिहिंसकत्वेन सिंहानाम् उत्कृष्टतयाऽभिधाने तथैव बन्धदार्ढ्यादिकमुचितम्, सूकराद्यभिधानेऽपि विकटबन्धकृतोऽनुप्रासकृतश्च प्रकर्षः सिंहाभिधाने पतितः इति पतत्प्रकर्षत्वम्। अत्र दूषकताबीजं तु कवेरशक्त्युन्नयनेन श्रोतुर्वैरस्यम। क्वचित् रसानुगुणतया प्रकर्षपातेऽपि न दोषः। यथा 'प्रागप्राप्ते'त्यादौ (२०९ पद्ये) येनानेनेत्यादि चतुर्थपादे, इति प्रदीपोद्योतप्रभासु स्पष्टम्। "अत्र वाच्यस्य सूकरादेरुत्तरोत्तरमुत्कृष्टतया तथैव समुचितस्य बन्धप्रकर्षस्य भङ्गः (पातः), उत्तरोत्तरं तदपकर्षस्य स्फुटत्वात्" इति चन्द्रिकायामपि स्पष्टम्। सारबोधिनीकारादयस्तु अत्रानुप्रासकृतस्य प्रकर्षस्य पतनं व्यक्तमेव। अत्र पूर्वापेक्षयोत्तरत्र बन्धशैथिल्यमेव दूषकताबीजमित्याहुः।

(१०. समाप्तपुनरात्तता दोष)

(१०) समाप्तपुनरात्तता—यथा, समाप्तपुनरात्तमिति। जहाँ क्रियाकारकभाव से पदों अथवा पदार्थों का अन्वय समाप्त हो गया है, उस कारण 'वाक्य' पूर्णतया समाप्त हो चुका है, फिर भी प्रयोजन के बिना ही किसी 'पद' अथवा 'पदार्थ' का पुनः उपादान किया जाता है, तो वहाँ 'समाप्तपुनरात्तत्व' नाम का वाक्यदोष माना जाता है।

यथा अपने-अपने घर जाने वाले पथिकों के प्रति किसी कवि की उक्ति है—क्रेङ्कार इति।

अरे पथिकों! घर पहुँचने पर अपनी-अपनी नायिका से मिलते समय उस कृशांगी की चोली के निकालते समय (त्रपावश उसे) रोकने के लिए प्रयत्नपूर्वक नायिका के हाथों के हिलने से क्वणित कङ्कणों की वह मधुर ध्वनि, जो कामदेव के चाप (धनुष) की प्रत्यञ्चा की टंकार है, अथवा सुरत क्रीडारूप कोयलों की वह कूक (कूजित) है, अथवा रतिरूपी मंजरी के भौंरों (भ्रमरों) की झंकार है, अथवा कटाक्ष-विक्षेपलीला रूपी चकोरी की ध्वनि (चुलबुलाहट) है, वह आपके प्रेम की वृद्धि करे। पुनः यह जो नव अवस्था का यौवन है, उसे लास्यनृत्य की शिक्षा देने के लिए वेणु की मधुर तान है। अर्थात् नवीन-तरुणों को नचाने के लिए वह वेणु (बाँसुरी) की टेर (ध्वनि) है। वह ध्वनि, नवयौवन के उद्दाम नृत्य के लिए तुम लोगों के हृदय में प्रेम को विपुलतया वृद्धिगत करे ॥२२५॥

विशेष विवरण—उक्त पद्य के चतुर्थ चरण में 'तनोतु वः' कह देने से वाक्य की

(११ अर्धान्तरैकवाचकत्वम्)

द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्धं यथा—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥ २२६ ॥

समाप्ति हो गई थी, किन्तु 'नववयोरूप विशेषण' को कहकर पुनः उस वाक्य का उपादान किया गया है, उस कारण 'निराकांक्ष' हुआ वाक्य, पुनः साकांक्ष बना दिया गया है। अतः यहाँ पर 'समाप्त-पुनरात्तत्व' दोष हो गया है। किन्तु यदि किसी 'विलक्षणता' को बताना हो तो इसे दोष नहीं कहा जाता। इस कारण यह 'अनित्य दोष' है। उक्त पद में 'मालारूपक' अलंकार है। यहाँ पर क्रेङ्कार पर 'रवत्व' का आरोप करना विरुद्ध है। उसी तरह पिकादिकों का 'कूजित' ही प्रसिद्ध है, 'रव' नहीं। यहाँ पर 'निराकांक्षत्व' ही दूषकता का बीज है। यह अनित्य दोष 'वाक्यान्तर' के आरंभ में नहीं हुआ करता। जैसे—'येनानेन जगत्सु' (श्लो० २०९) में 'येन' पद से आकांक्षा का उत्थापन किया गया है। यदि 'यो नववयो लास्याय' पाठ कर दिया जाय तो यहाँ पर भी दोष नहीं होगा ॥ २२५ ॥

(११) अर्धान्तरैकवाचकत्व। 'द्वितीयार्धगतमेकं वाचकं शेषमवशिष्टं यस्य तादृशं प्रथमार्धं यत्र वाक्ये तत् इत्यर्थः। अर्थात् यत्र प्रथमार्धगतं वाक्यं द्वितीयार्धगतेनैकेन पदेन पूर्यते तत् अर्धान्तरैकवाचकमिति भावः।' जिस वाक्य का 'प्रथमार्ध' द्वितीयार्धगत किसी पद के द्वारा पूर्ण होता हो, अर्थात् प्रथमार्ध की रचना से शेष (पदों की नियतता के कारण रचना में प्रवेश पाने से अवशिष्ट) बचा हुआ एक वाचक पद जहाँ द्वितीयार्ध में चला जाय, तो 'अर्थान्तरैकवाचकत्व' नाम का दोष कहलाता है। उसी तरह द्वितीयार्धगत एक वाचक शेष पद प्रथमार्ध में चला जाय तब भी 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' दोष कहलाता है। अभिप्राय यह है कि 'अर्धान्तरैकवाचकत्व'—दो प्रकार का होता है—(१) जिसमें प्रथमार्ध का वाक्य ऐसा लगे, जो द्वितीयार्धगत किसी वाचक पद की आकांक्षा कर रहा है। (२) द्वितीयार्ध का वाक्य ऐसा प्रतीत हो, जो प्रथमार्धगत किसी वाचक पद की आकांक्षा कर रहा है। इस प्रकार के दोनों स्थलों में 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' दोष का होना माना जाता है।

उन दोनों में से 'द्वितीयार्धगत एकवाचकशेष प्रथमार्ध' का उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं। जैसे—राजशेखरकृत बालरामायण के छठे अंक में श्रीरामचन्द्र के साथ जनकतनया जानकी (सीता) जब बनवास के लिए चली गई, उस समय के वृत्तान्त को दशरथ का अमात्य सुमन्त्र दशरथ को बता रहा है—मसृणेति। जनक-कन्या-जानकी वनगमनार्थ मार्गक्रमण कर रहीं थीं, उस करुण दृश्य को देखनेवाली पथिकों की वधुओं ने अश्रुपूर्ण

नयनों से सुकुमार राजकुमारी जानकी को देखा और उससे उन्होंने कहा कि हे राजकुमारी! मार्ग में कुशों के अंकुर बिखरे हुए हैं, अतः धीरे-धीरे (हलके-से) पैर रखते चलना, तथा रविकिरणों का प्रखर आतप रहेगा (धूप भी तेज होगी) इसलिए सिर पर अपनी साड़ी का पल्ला डाल लेना ॥ २२६ ॥

उक्त पद्य में 'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः'—यह प्रथमार्ध का वाक्य है, उसे द्वितीयार्ध 'तदिति' के 'तत्' पद की आकांक्षा रहती है। द्वितीयार्धगत 'तत्' के बिना, पूर्वार्ध की आकांक्षा शान्त नहीं हो सकती। उस 'तत्' पद के ग्रहण करने पर ही प्रथमार्ध के वाक्य की पूर्ति होती है। क्योंकि 'भूः सदर्भा, तत् अर्थात् तस्मात् मसृणचरणपातं गम्यताम्'—इस प्रकार वाक्य पूर्ण हो पाता है। उसकी पूर्ति के लिए द्वितीयार्ध 'तदिति-जनकपुत्रीलोचनैरश्रुपूर्णैः' से 'तत्' पद को लेना पड़ रहा है। इस कारण 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' दोष हो गया है।

वस्तुतः 'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा'—यह वाक्य निराकांक्ष है, क्योंकि व्यंजना से ही 'भूः सदर्भा' तथा 'मसृणचरणपातं गम्यताम्'—में 'हेतु-हेतुमद्भाव' की प्रतीति हो जाती है, तथापि यदि 'तत्' इस वाचक पद का प्रयोग किया जाय तो इसे उसी वाक्य में रहना चाहिए था। दूसरे वाक्य से उसे खींचना उचित नहीं है।

कुछ लोगों का कहना है कि 'भूसदर्भत्व और मसृणचरणपात तथा 'कठोरघर्मत्व मूर्धावगुण्ठन' में 'हेतु-हेतुमद्भाव' से अन्वय की उपपत्ति हो जाने से 'तत्' शब्द की अपेक्षा करना आवश्यक नहीं है। और 'तत्' यह अखण्ड निपात ही है, अतः वह प्रागुक्त परामर्शक है। तथा च 'भूः सदर्भा' में जैसे आर्थहेतुत्व है, वैसे ही अगले में (उत्तरत्र) समझ लेना चाहिए। अतः यहाँ कोई दोष नहीं है।

किन्तु उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि "शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यते"–इस न्याय से 'शाब्दहेतुत्व' की संभावना रहते 'आर्थहेतुत्व' को स्वीकार करना अन्याय है। और 'तत्' को अखण्ड निपात मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है ॥ २२६ ॥

(१२) अभवन्मतयोगत्व—अभवन्निति। 'न भवतीत्यभवन्, अविद्यमानः मतः अभिमतः (इष्टः) योगः सम्बन्धः यत्र वाक्ये तत् अभवन्मतयोगम्।' जहाँ अभिमत सम्बन्ध नहीं हो रहा है, वहाँ 'अभवन्मतयोगत्व' दोष होता है। इसका अन्तर्भाव 'अविमृष्टविधेय' में नहीं हो सकता, क्योंकि 'अविमृष्टविधेय', इसका (अभवन्मतयोग का) 'उपजीव्य' है। तब उपजीव्य से उपजीवक का भेद तो अर्थात् सिद्ध हो जाता है—यह किसी का कहना है।

वस्तुतस्तु 'अविमृष्टविधेयांश' में उपस्थित पदार्थों का यद्यपि अन्वय होता है, तथापि उद्देश्य-विधेयभाव का अवगम नहीं हो पाता। वह अप्रधानरूप से होता है, और 'अभवन्मतयोग' में तो सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता है। यही दोनों में महान् भेद है। एवं च 'अविमृष्टविधेयांश' में 'अन्वयविशेषाभाव' है, और 'अभवन्मतयोग' में तो—

(१२ अभवन्मतयोगत्वम्)

अभवन्मत इष्टो योगः सम्बन्धो यत्र तद् यथा—

(विभक्तिभेद-निबन्धन-अभवन्मतयोगत्वम्)

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनतरुच्छायासु यैः कल्पिताः ।
येषां हुंकृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
किन्तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ॥ २२७ ॥

'अन्वयसामान्याभाव' है, प्रकृत में वाक्यार्थविधया पदार्थों के भासमान संसर्ग का ही भान नहीं है, किन्तु उसमें उद्देश्यत्वादिशालिबोध का ही उदय नहीं हो पाता, यही दोनों में भेद है। अतएव यहाँ पर 'योग' पद चरितार्थ है।

शंका—'अभवन्मतयोगम्'—यहाँ पर 'योग' में 'मतत्व' विशेषण देना व्यर्थ है।

समाधान—यहाँ पर 'मतत्व' का अर्थ है—'अन्वयबोधविषयत्व' और 'योग' का अर्थ है—एक वाक्य में रहनेवाले पदों से 'अर्थों' का उपस्थित होना। इसलिए विशेषण देना व्यर्थ नहीं है। एवं च प्रकृत में अर्थों की उपस्थिति तो होती ही है, किन्तु 'अन्वय' संगत नहीं होता है। और वहाँ उद्देश्य-विधेयरूप से पदार्थों की उपस्थिति नहीं होती, तब अन्वय कैसे होगा ?

एक वाक्य में स्थित पदों से उपस्थित होनेवाले अर्थों में 'अभीष्ट अन्वय' न होने के छह (६) कारण हैं—(१) कहीं पर विभक्तिभेद (२) कहीं पर उपयुक्त पदों की न्यूनता, (३) कहीं पर आकांक्षा का अभाव, (४) कहीं पर वाच्य और व्यंग्य में विवक्षित योग का अभाव, (५) कहीं पर समास से पिहित होने के कारण अभीष्ट योग का अभाव, (६) कहीं पर व्युत्पत्तिविरोध।

(विभक्तिभेदनिबन्धन अभवन्मतयोग)

इनमें से विभक्तिभेदनिबन्धन अभवन्मत योग का उदाहरण दे रहे हैं।

हनुमान् के द्वारा लंका को जलाये जाने पर बड़े-बड़े वीर-राक्षसों का अधिक्षेप करनेवाले किसी व्यक्ति की रावण के प्रति यह उक्ति है—येषामिति। जिन राक्षसों के प्रताप की ऊष्मा (गरमी) ने, देवताओं के ऐरावत हाथी के मदजल की लोकोत्तर नदियों के जल को सुखा डाला था (पोलिया था, क्योंकि ऊष्मा से नदी का सूखना युक्त ही है), जिन राक्षसों ने देवेन्द्र के क्रीडावन (नन्दनवन) के तरुओं की छाया में सविलास मद्य-पान करने के निमित्त मधुशालाओं का निर्माण किया था, (इस उक्ति से यह सूचित किया है कि स्वर्ग भी जिनके लिए पृथ्वी के तुल्य था), तथा जिन राक्षसों की हुङ्कारों से देवराज इन्द्र भयभीत हो जाता था, (किन्तु यह सब तुम्हारा आश्रय करने से हुआ था), उन राक्षसों ने आपको परितोष देनेवाला जो सभा में कहने योग्य अथवा अपनी ख्याति (प्रसिद्धि) के उचित क्या कोई कार्य किया ? अर्थात् कुछ भी नहीं किया ॥ २२७ ॥

अत्र 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्या'दित्युक्तनयेन यच्छब्द-निर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति। 'क्षपा-चारिभिरि'ति पाठे युज्यते समन्वयः।

अत्रेति। 'अत्र' से लेकर 'अप्रतीतिः' तक के ग्रन्थ से यहाँ पर 'दोष' बता रहे हैं—उक्त पद्य में विशेष्यरूप, षष्ठीविभक्त्यन्त 'क्षपाचारिणाम्' पद के साथ, विशेषणरूप, तृतीयाविभक्त्यन्त 'यैः' पद का सम्बन्ध, जो यहाँ वस्तुतः अभिमत है, किन्तु 'विभक्ति-भेद' के कारण वह नहीं हो पा रहा है। क्योंकि 'विभक्तियाँ' भिन्न-भिन्न हैं। उस कारण उक्त अभिमत सम्बन्ध (योग) नहीं हो रहा है। 'यैः' में तृतीया विभक्ति है, और 'क्षपाचारिणाम्' में षष्ठीविभक्ति है। अतः भिन्नविभक्तिवाले पदों में अभेद सम्बन्ध से अन्वय प्राप्त करने की (अन्वित होने की) स्वरूपयोग्यता नहीं है। क्योंकि 'अभेदान्वय' के लिए समानविभक्तिक होना आवश्यक है।

शंका—स्वरूपयोग्यता के अभाव में उक्त पदों का परस्पर सम्बन्ध (योग) नहीं हो सकता है, तो न हो, किन्तु 'यैः लीलापानभुवः कल्पिताः', 'येषां प्रतापोष्मभिः'—इन वाक्यों में स्थित 'जिन्होंने' 'जिनके'—इत्यादि प्रकार से दोनों यच्छब्द के अर्थों का ही अभेद संसर्ग से परस्पर 'विशेषण-विशेष्यभाव' रूप में अन्वय कर दिया जाय। 'यो धूमवान् तत्र वह्निः' इत्यादिस्थलों में अन्वयानुरोध से व्युत्पत्ति-वैचित्र्य होता ही है। अतः 'यत्-तत्' शब्दों के अर्थों का परस्पर अभेदान्वय होने में विरुद्ध विभक्तियों के अभाव की विवक्षा नहीं की जाती। एवं च तृतीयान्त 'यत्' पदार्थ का षष्ठ्यन्त 'यत्पदार्थ' में अभेदान्वय हो सकता है। उस कारण राक्षसों के अभेदबोध में भी हो सकता है, इस प्रकार तृतीयान्त के अर्थ में भी अभेदलाभ हो जायगा। अतः विशेष्यान्तर की विवक्षा करने की क्या आवश्यकता? अभिप्राय यह है कि तृतीयान्त 'यत्' पदार्थ का षष्ठ्यन्त 'यत्' पदार्थ के साथ अभेदान्वय हो जायगा। उसका परिणाम यह होगा कि 'क्षपाचारिणाम्'–इस षष्ठ्यन्त का अभेद से बोध होने पर तृतीयान्तार्थ में भी अभेद सम्बन्ध का लाभ हो जायगा।

समाधान—उक्त कथन समुचित नहीं है क्योंकि 'यत्' पद से निर्देश्य अनुवाद्यों का 'तत्' शब्द के अर्थ (विधेय) के ही साथ साक्षात् अन्वय होता है, उसमें अन्तर्भूत न होनेवाले भिन्न-भिन्न अनुवाद्यों के साथ साक्षात् अन्वय नहीं होता है। क्योंकि जब अनुवाद्य 'यत्' पद के अर्थ, सभी समान होने के कारण 'गुण' हैं, तब किसी विनिगमक के अभाव में किसी एक को विशेष्य बनाना संभव नहीं है। अतएव पूर्वमीमांसा में तीसरे अध्याय के प्रथम पाद के बाईसवें सूत्र—गुणानां च परार्थत्वात् असम्बधः समत्वात् स्यात्'—में कहा गया है कि गुणीभूत वस्तु, दूसरे के लिए (प्रधान के लिए) ही हुआ करती है। अतः सभी गुण-तुल्य होने के कारण उनका (गुणीभूतों का) परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता है। इस नियम के परिणामस्वरूप ही 'अरुणया एकहायन्यया पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति'–(मी० ३।१।६) इस अधिकरण में उक्त वाक्य के अन्तर्गत आनेवाले 'अरुणा' आदि का 'एकहायनी' आदि के साथ सम्बन्ध नहीं किया जाता, और न इनका

(न्यूनत्व-निबन्धन-अभवन्मतयोगत्वम्)

यथा वा—

त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः ।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥ २२८ ॥

अन्वय (सम्बन्ध) 'गो' से ही होता है । क्योंकि 'क्रयण' में जैसे आरुण्यगुण, हायनगत एकत्व संख्या, और नेत्रों का पीलापन—(पिंगत्व) साधन है, वैसे ही 'गो' भी 'क्रयण' का साधन होने से 'गुण' ही है । एवं च ये सभी 'गुण' हैं । अतः इन सबका प्रधानभूत 'क्रयण' के साथ ही अन्वय होता है ।

शंका—तब 'वाससा क्रीणाति' वाक्य में भी क्रयसाधनीभूत वस्त्र के परिच्छेदक होकर 'आरुण्य' आदि भी 'क्रय' के अंग हो सकेंगे ? अर्थात् वस्त्ररूपी अन्य धर्मी के साथ 'आरुण्या'दि का अन्वय क्यों नहीं होता ?

समाधान—'आरुण्य' से लेकर 'गो' पर्यन्त पदार्थों का एक समूह (समाज) है यद्यपि किसी शब्द के द्वारा यह नहीं कहा गया है कि इनका कोई समूह (समाज) है, तथापि अर्थात् सिद्ध है कि 'आरुण्यादि गवान्त' पदार्थों का एक समाज (वर्ग, समूह) है । अतएव 'आरुण्येन' ऐसा धर्मविधया निर्देश नहीं किया, अपितु 'अरुणया' पद के प्रयोग से 'धर्मों' के रूप में निर्देश किया है । क्योंकि 'धर्मों' के रूप में कहने से ही उनमें 'एकता' हो सकती है । और तभी वे 'क्रयण' के साधन भी बन सकते हैं ।

शंका—उक्त कथन के अनुसार ही प्रस्तुत में भी आर्थ (अर्थतः प्राप्त) समाज मान लिया जाय, क्या हानि है ?

समाधान—यदि प्रस्तुत में भी उसी तरह समान विभक्तियाँ रहतीं तो 'आर्थ समाज' माना जा सकता है । 'विभक्तियों को बदलकर अन्वय हो सकता है'—यह आप नहीं कह सकते, क्योंकि विभक्तियों का विपरिणाम तभी होता है, जब वे चरितार्थ रहें । प्रधान के साथ अन्वय प्राप्त करना ही 'चरितार्थता' का स्वरूप है, वह प्रस्तुत में नहीं है ।

शंका—तब अभिमतयोग कैसे बन सकेगा ?

समाधान—यदि 'क्षपाचारिभिः'—पाठ कर दे तो अन्वय हो सकता है ।

शंका—पाठान्तर कर देने पर भी अन्वय कैसे हो सकेगा ?

समाधान—'यत्' पदों से निर्दिष्ट सम्पूर्ण पदार्थों का 'तत्' पद से परामर्श हो जायगा, और तत्पश्चात् 'तत्' पद से अवगत हुए उन सबका 'क्षपाचारी' (राक्षसों) के रूप में बोध हो जायगा । इस प्रकार 'अभिमतयोग' से होने में कोई बाधा नहीं होगी ।। २२७ ॥

(न्यूनतानिबन्धन अभवन्मतयोग)

यथावेति । जैसे—चन्द्रिकाकार के मतानुसार प्रस्तुत पद्य में कोई दूति, 'नायिका से कह रही है, और कमलाकरभट्ट के मतानुसार क्रुद्धा सखी के प्रति उसकी सखी का

अत्र यदित्यत्र तदिति तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति। चेत्स्यादिति युक्तः पाठः।

यह वाक्य है--त्वमेवमिति। हे सुभगे! तुम ऐसी विलक्षण सुन्दर हो, (जिसका अनुभव ही किया जा सकता है, केवल शब्दों से बताया नहीं जा सकता), उधर वह नायक भी सुन्दरता (रुचिरता) को पहिचाननेवाला (परिचित) है, इस संसार में अथवा रसिक-कामीजनों के बीच चातुर्य (वैदग्धी) की अथवा चौसठ कलाओं की सीमा (पराकाष्ठा) पर तुम ही दोनों पहुँच पाये हो, तुम दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई भी उस सीमा तक नहीं पहुँच सका, अर्थात् तुम समस्त कलाओं की पारगामिनी हो, उधर वह कलाओं का पारखी है। हे सुभगे! इस प्रकार की तुम दोनों की जोड़ी बड़े भाग्य से हो जुड़ पाई है अर्थात् मिलान पा रही है। अब जो अवशिष्ट कार्य है, वह यदि हो जाय तो समझना चाहिए कि सौन्दर्यादि गुणों ने विजय प्राप्त करली। अन्यथा अर्थात् योग्य समागम के न हो पाने पर समस्त गुणवत्ता विफल ही है॥ २२८॥

अत्रेति। इस पद्य में 'शेष कार्य' अर्थात् तुम दोनों 'दाम्पत्यसूत्र में बँध जाओ तो गुणों की विजय हुई समझो'--इस प्रकार 'गुणों' के विजय के प्रयोजक के रूप में (मंगल) 'शेष सम्पत्ति' का अन्वय विवक्षित है। उसके लिए 'शेष' (यत्) की पूर्ति करने में 'तत्' 'यदा' 'स्यात्' पदों की आवश्यकता है। और 'तदानीम्' की पूर्ति में 'यदा' की आवश्यकता है, किन्तु उन्हें यहाँ पर कवि ने नहीं कहा है, उस कारण वाक्य में 'न्यूनता' रह गई है, क्योंकि अभिधित्सित अन्वय के लिए इन पदों की अपेक्षा है। एवं च अतः शेषं चेत् स्यात्, इस प्रकार 'यत्' के स्थान पर 'चेत्' के कहने से न्यूनत्व नहीं रहता। निष्कर्ष यह है कि उक्त पद्य के चतुर्थ चरण में 'अतः शेषं यत् स्यात्' की जगह 'अतः शेषं यत्, तत् यदा स्यात्'--यह होना चाहिए था, किन्तु कवि ने वैसा नहीं किया, अर्थात् 'यत्' को अपेक्षित 'तत्' पद का प्रयोग नहीं किया है। उसी तरह 'जितमिह तदानीं गुणितया' में 'तदानीम्' को अपेक्षित 'यदा' पद है, किन्तु कवि ने उसका (यदा पद का) प्रयोग नहीं किया है। कवि ने 'यत्' और 'तदानीम्' को निरपेक्ष की तरह प्रयुक्त कर दिया है, अर्थात् वे साकांक्ष ही रह जाते हैं। उस कारण अर्थात् आकांक्षापूरक पदों का प्रयोग न करने के कारण प्रयुक्त पदों का अभीष्ट सम्बन्ध नहीं हो रहा है। क्योंकि अभीष्ट संबंध के लिए अपेक्षित पदों का प्रयोग न करने के कारण न्यूनपदत्व है। पूर्व स्थित 'तत्' पद का यहाँ पर अनुषंग भी नहीं कर सकते, क्योंकि 'व्यवायान्नानुषज्येत' यह नियम है। यहाँ पर 'अथ, आदि' के सामान 'अतः' शब्द से पूर्वविच्छेद हो गया है। अतः यहाँ पर 'अतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया'--यह कह दिया जाय तो 'पद की न्यूनता' नहीं रहेगी, क्योंकि 'चेत्' का अर्थ, 'यदा' होगा। न्यूनपदता के दूर हो जाने से 'अभवन्मतयोगत्व' दोष का स्वयं ही निरसन हो जायगा॥ २२८॥

(आकांक्षाविरह-निबन्धन-अभवन्मतयोगत्वम्)

यथा वा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥ २२९॥

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादिवाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम् न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादिप्रश्नः।

(आकांक्षाविरहनिबन्धन अभवन्मतयोग)

यथा वेति। जैसे हनुमत्कविनिबद्ध खण्डप्रशस्ति नामक ग्रन्थ से लिये गये उक्त पद्य में आकांक्षा-विरह-मूलक अभवन्मतयोग को दिखा रहे हैं—**सङ्ग्रामेति।** हे देव। (राजन्!) संग्राम भूमि में जब आप पहुँचे, और आपने अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढाई, तब किस-किसने सहसा (झटिति) क्या-क्या पाया? उसे सुनिए—धनुष (कोदण्ड) ने शरों (बाणों) को, शरों ने शत्रुओं के शिरों को, शिरों ने भूमण्डल को, भूमण्डल ने आप को, आपने अतुल यश (कीर्ति) को, और कीर्ति ने तीनों लोकों को पाया॥ २२९॥

'अत्र' से लेकर 'प्रश्नः' तक के ग्रन्थ से 'अभवन्मतयोग' को दिखा रहे हैं—

अत्रेति। उक्त पद्य में पूर्वार्ध के साथ उत्तरार्ध का योग (सम्बन्ध) होना अभीष्ट है, किन्तु वह किसी प्रकार भी नहीं हो पा रहा है। क्योंकि पदार्थों का वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध तब होता है, जब 'क्रिया' अथवा 'कारक' अथवा 'सम्बन्धी' अथवा इनके 'विशेषण' अथवा 'हेतु' अथवा 'लक्षण' अथवा 'तदादि'—इन सात (७) प्रकारों से 'पूर्ववाक्यार्थ' का अनुवाद करके 'वाक्यान्तर' के साथ 'वाक्यैकवाक्यता' होती है। इनमें से प्रथम 'क्रियात्वेन', तृतीय 'सम्बन्धित्वेन', चतुर्थ 'विशेषणतया', पञ्चम 'हेतुत्वेन' (लक्षणत्वेन), षष्ठ 'तदादित्वेन' पूर्ववाक्यार्थ का अनुवाद करके 'वाक्यान्तर' का उत्थान हो सकता है। किन्तु उक्त पाँचों पक्षों की यहाँ संभावना नहीं की जा सकती। अब शेष रहे दो पक्ष—'कारकत्वेन' और 'वाक्यैकवाक्यत्वेन'। इनमें से 'कारकत्व' पक्ष भी 'कर्तृ—कर्मभाव' के बिना बन नहीं सकता। उनमें से प्रथमतः 'कर्मत्वेन' यदि 'आकर्णन क्रिया' में प्रत्येक 'कोदण्ड' आदि का अन्वय करें तो 'कोदण्डं शरान्'—इस रूप से 'कोदण्डादि' प्रत्येक में 'द्वितीया' विभक्ति होनी चाहिए।

अथवा 'कोदण्डादि' प्रत्येक का अन्वय यदि न करें तो प्रत्येक में 'कर्मविभक्ति—द्वितीया' नहीं होगी।

ऐसी परिस्थिति में 'पश्य मृगो धावति' के समान 'वाक्यार्थ' को ही 'कर्म' मानना पड़ेगा।

यदि 'वाक्यार्थं' को 'कर्म' मानते हैं तो 'कोदण्डाः शराः'–के समान प्रातिपदिकार्थं-मात्र में प्रथमा विभक्ति करनी होगी।

यदि 'समासादन' क्रिया में 'कोदण्ड' आदि का 'कर्ता' के रूप में, और 'शर' आदि का 'कर्म' के रूप में अन्वय करें, तो भी उचित न होगा, क्योंकि 'शराः समासादितम्'–यह अन्वय नहीं बन सकता।

किञ्च—जिसने जिसका समासादन किया, जैसे–'कोदण्ड' ने 'शरों' का समासादन किया उसे सुनिए'—ऐसा कहने पर पर्यवसान में 'कर्ता' और 'कर्म' की भेद प्रतीति होगी, फिर भी 'यत्पदार्थों की आकांक्षा, निवृत्त नहीं हो पायेगी, क्योंकि–'कोदण्डादि' 'कर्तृ-कर्मों की अपेक्षा, 'यत्पदार्थ' कर्तृ-कर्म भिन्न ही रहेंगे।

शंका—यदि यह कहें कि 'यत्' शब्द 'बुद्धिस्थ–अर्थ' का वाचक है। और प्रकृत में 'कोदण्डादि' पदार्थ ही 'यत्' शब्द के अर्थ हैं। इस रीति से 'यच्छब्दार्थं' का 'क्रिया' में अन्वय हो जायेगा। तब 'कोदण्डादि का अन्वय भी स्वत एव हो जायेगा।

समाधान—किन्तु यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि वैसा मानने में 'कोदण्ड' आदि का पुनरुपादान करना व्यर्थ हो जायेगा। अतः कहना होगा कि उन 'यत्' शब्द के अर्थों के 'कोदण्डत्व' और 'बुद्धिस्थ कोदण्डत्व' के स्वरूपों में 'प्रकारकृतभेद' अवश्य है। अतः 'कोदण्डत्व' रूप प्रकार और 'बुद्धिस्थत्व' रूप प्रकार इन दोनों से अवच्छिन्न पदार्थों के योग का उपपादन किसी तरह करना ही होगा।

इसलिए यदि ऐसा कहें कि 'कोदण्डादि' कर्ता और कर्म के विशेषण हैं। तब भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'जिस कोदण्ड ने जिन शरों का आसादन किया–उसको सुनो'–इस रूप में वाक्यार्थं निष्पन्न होगा। फिर भी 'अमुक कोदण्ड ने अमुक शरों का आसादन किया'–इस तरह विशेष पदार्थों को कहे बिना 'किस कोदण्ड' ने 'किन शरों' का इत्यादि आकांक्षा की निवृत्ति तो हुई ही नहीं तथा 'शरा, यत्' इत्यादि अन्वयों को भी अनेक बार करना पड़ेगा।

अतएव यह जो कहते थे कि 'कोदण्डादि और शरादि' कर्ता और कर्म हैं, तथा उनके 'विशेषण' 'यत्' शब्दों के अर्थ हैं—यह कहना भी निरस्त हो गया।

शंका—हम ऐसा कहेंगे कि 'जिसने जिनका'–इस रूप में प्रथमतः सामान्यतया बोध होने के बाद 'किसने किसको' इत्यादि 'विशेष प्रश्न' के होने पर 'कोदण्ड ने शरों को'–इत्यादि 'उत्तर' के रूप में भिन्न-भिन्न वाक्य हो जायेंगे।

समाधान—किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा प्रश्न ही प्रस्तुत में नहीं है।

शंका— प्रस्तुत प्रसंग में वैसा प्रश्न न रहने पर भी उसका हम उन्नयन करलेंगे। प्रश्न का उन्नयन करने से लाभ यह होगा कि उक्त पद्य में 'उत्तरालंकार' की भी उपलब्धि हो जायेगी।

(विवक्षितव्यङ्ग्य -सम्बन्धाभावनिबन्धन-अभवन्मतयोगत्वम्)

यथा वा --

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी ॥ २३० ॥

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्, कृतवतेति परशौ सा प्रतीयते कृतवत इति तु पाठे मतयोगो भवति।

समाधान--उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'येन यत् आसादितं, तत् आकर्णय'--'जिसने जिसका आसादन किया, उसको सुनिये'--ऐसी प्रतिज्ञा करने पर 'प्रश्न' के बिना भी 'कोदण्ड' आदि का निर्देश किया जा सकता है। अतः प्रश्न का उन्नयन ही नहीं किया जा सकता, जिससे उत्तरालंकार की उपलब्धि होगी। अर्थात् सामान्यतया कहे हुए अर्थ की समाप्ति के लिए 'प्रश्न' के न करने पर भी 'उत्तर' वाक्य कहा जा सकता है। अतः प्रश्न का उन्नयन असंभव है। क्योंकि प्रश्न का उन्नयन तब होता है, जब 'प्रश्न' के बिना 'वाक्य' की उपपत्ति नहीं होती है।

शंका--'आसादितम्'-इस क्रियापद का वचनादि विपरिणाम करके अनुषङ्ग करेंगे और 'कोदण्डेन शराः समासादिताः' इत्यादि वाक्यान्तर का आरम्भ कर देंगे तो क्या हानि है?

समाधान--उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के अन्वय सम्पादनार्थ इतना सब प्रपञ्च करने पर भी उनका अन्वय नहीं हो पा रहा है उस कारण 'वाक्यभेद' दोष है। लोक में वैसा वाक्यभेद रहने पर भी दोष के न रहने से व्यवहार चलता रहता है। एवं च उपस्थित 'अभवन्मतयोग' दोष के निरसनार्थ उक्त पद्य के द्वितीयपाद-'देवाकर्णय, येन येन सहसा यद् यत् समासादितम्'--की जगह 'सम्प्राप्ते परिपन्थियोधनिवहे साम्मुख्यमासादितम्'--यह पाठान्तर कर दें तो 'अभवन्मतयोग'-दोष नहीं होगा ॥ २२९ ॥

यथा वेति। अथवा

(विवक्षितव्यङ्ग्यसम्बन्धाभावनिबन्धन अभवन्मतयोग)

अर्थात् प्रस्तुत अभवन्मतयोग का चतुर्थ उदाहरण--'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी'-इस पद्य का अर्थ, उदाहरण श्लोक संख्या २०१ में किया जा चुका है। २३० ॥

इत्यादाविति। इस पद्य में युयुत्सु भार्गवपरशुराम के प्रति रावण की उक्ति है। यहाँ अपनी माता रेणुका के कण्ठ को काट देने वाले तुम परशुराम हो, अतः तुम्हारे साथ युद्ध करने में हमें लज्जा लग रही है। इस तरह भार्गव परशुराम की निन्दा में इसका तात्पर्य है। किन्तु 'कृतवता'-इस तृतीयान्त इस विशेषण पद का 'परशुना' पद से अन्वय हो रहा है, उस कारण उक्त निन्दा से 'परशु' की प्रतीत हो रही हैं। इसलिए 'अभिमत सम्बन्ध' नहीं बन पा रहा है।

यदि तृतीयान्त 'कृतवता' के स्थान पर 'तव' के साथ अन्वित होने वाले षष्ठ्यन्तः

(समासच्छन्नतानिबन्धन-अभवन्मतयोगत्वम्)

यथा वा—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान्कर्मोपदेष्टा हरिः
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥ २३१ ॥

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते ।

'कृतवतः' पद का पाठ कर दिया जाय तो 'परशुराम' की निन्दा, जो वस्तुतः यहाँ अभिमत है, संगत हो जायगी। तभी 'अभिमतयोग' हो सकता है। अर्थात् निन्दा का परशुराम के साथ अभिमत सम्बन्ध बन सकता है।

यद्यपि 'परशु' की निन्दा करने से परशुस्वामी भार्गव परशुराम की भी निन्दा की प्रतीति हो सकती है, तथापि अवश्य-वक्तव्य का परित्याग करके अनावश्यक को कहने का दोष तो प्राप्त हो ही जायगा। अतः उसी का यह उदाहरण है, न कि 'अभवन्मत' का। क्योंकि 'स्पर्धा' की योग्यता को बताने के लिए जैसे 'शिवशिष्यत्व' आदि 'परशु-स्वामी परशुराम' के विशेषण कहे गये हैं, उसी तरह 'अयोग्यता' को बताने के लिए भी उसी परशुराम के विशेषणों को कहना चाहिए था, तभी 'कृतवत्त्व' का विवक्षित अन्वय हो सकेगा। अन्यथा 'प्रक्रमभंग' दोष होगा।

किञ्च दूसरे के 'विशेषण' को किसी अन्य का विशेषण बनाना नियमविरुद्ध भी है। समास में एकार्थीभाव माना है, अतः वह दूसरे का विशेषण हो जाता है ॥ २३० ॥

(समासच्छन्नतानिबन्धन अभवन्मतयोग)

अर्थात् समास में छिपजाने से भी अभिमत योग के अभाव का यह पञ्चम उदाहरण बता रहे हैं—जैसे—नारायणभट्टकृत वेणीसंहार नाटक के प्रथम अंक में दुन्दुभि की ध्वनि को सुनकर 'प्रिये रणयज्ञः प्रवर्तते' कहते हुए भीमसेन की यह उक्ति है—चत्वारि इति। इस रणयज्ञ में हम (भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव) चारों भाई मुख्य 'ऋत्विक्' हैं, और कर्तव्य का उपदेश देनेवाले सर्वज्ञत्वेन प्रसिद्ध भगवान् श्रीकृष्ण, उपद्रष्टा (सदस्य) हैं, महाराज युधिष्ठिर इस रणयज्ञ के दीक्षित यजमान हैं, और यजमान की पत्नी द्रौपदी ने दुर्योधन आदि के मरने तक केशसंयमन आदि विषय-भोगों से विरक्ति के व्रत का ग्रहण किया है, कुरुकुल के दुर्योधन दुःशासन आदि उस रणयज्ञ में मारे जाने वाले पशु हैं, प्रिया द्रौपदी के अपमानजनित क्लेश की शान्ति प्राप्त होना उस रणयज्ञ का फल है। अतः अनेक क्षत्रिय राजाओं को निमन्त्रित करने के लिए बजाया जाने वाला यह नगाड़ा (दुन्दुभि) तीव्रतर ध्वनि कर रहा है ॥ २३१ ॥

अत्रेति। 'यज्ञ' में ऋत्विक् आदि हुवा करते हैं, अतः ऋत्विगादि सभी के साथ 'यज्ञ' का अन्वय विवक्षित है। किन्तु 'संग्रामाध्वरदीक्षितः' इस समस्त पद के समास

(व्युत्पत्तिविरोधनिबन्धन-अभवन्मतयोगत्वम्)

यथा वा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥२३२॥

में 'अध्वर' शब्द, 'गुणीभूत' हो गया है। अतः उसके अर्थ का ऋत्विक् आदि सबके साथ सम्बन्ध नहीं हो रहा है। अर्थात् 'अध्वर' शब्द समासान्तर्गत हो जाने से केवल 'दीक्षित' के साथ ही अन्वित हो रहा है। उस कारण यहाँ 'अभवन्मत' दोष हो रहा है।

विशेष विवरण—'ऋत्विजः' का तात्पर्य 'मुख्यऋत्विजों' को सूचित करने में है, अतः यज्ञ की दीक्षा लिये हुए दीक्षित के सोलह ऋत्विजों के रहने पर भी 'ऋत्विक् चतुष्ट्व' के कथन से कोई विरोध नहीं है, 'अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा' ये चार तो प्रसिद्ध ही हैं। यजुर्वेद के अनुसार कर्म करने वाले को 'अध्वर्यु' कहते हैं। ऋग्वेद के अनुसार कार्य करने वाले को 'होता' तथा सामवेद के अनुसार कार्य करनेवाले को 'उद्गाता और तीनोंवेदों के अनुसार अथवा यजमान की शाखा के अनुसार कार्य करनेवाले को 'ब्रह्मा' कहते हैं। यज्ञ में एक उपद्रष्टा नाम का सदस्य होता है। आश्वलायन सूत्र (अध्याय १३, खण्ड २३) में कहा है—'सदस्यं सप्तदशं कौषीतकिनः समामनन्ति स कर्मणामुपद्रष्टा भवति'। 'स भगवान्' कहकर सूचित किया गया है कि श्रीकृष्ण के उपद्रष्टा बनने से कार्यसिद्धि अवश्य ही होनी है। 'राजा सार्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत' इस श्रुतिवचन के अनुसार सार्वभौम राजा ही अश्वमेधयज्ञ करने का अधिकारी होता है, अन्य नहीं। यजमान की पत्नी को भी यज्ञ में व्रतग्रहण करना पड़ता है। अतः यज्ञ करने का अधिकार 'सपत्नीक पुरुष' को ही होता है, विधुरपुरुष को नहीं। अश्वमेध के मध्ययूप में सौ वध्य पशु बन्धे रहते हैं। अतः इस रणयज्ञरूप अश्वमेध में दुर्योधनादि शत (सौ) भ्राता, वध्य पशु के रूप में हैं क्योंकि वे भी पशुतुल्य होने से वध्य हैं और क्लेशशोक आदि की शान्ति होना ही इस रणयज्ञ के अनुष्ठान का फल है। क्योंकि 'तरति मृतिं तरति शोकं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते'–इस श्रुतिवचन से अश्वमेधयज्ञ का फल बताया गया है। दुन्दुभिताडन से होनेवाले स्निग्ध ध्वनि से विजय की सूचना प्राप्त हो रही है ॥ २३१ ॥

(व्युत्पत्तिविरोधनिबन्धन अभवन्मतयोग)

अर्थात् व्युत्पत्ति के विरोध के कारण अभिमत सम्बन्ध के अभाव का षष्ठ उदाहरण।

यथावेति। जङ्घाकाण्डेति (स० उ० श्लो० १५०) इस पद्य की व्याख्या इसी उल्लास में पीछे हो चुकी है। इस पद्य में 'निजतनुः' पद का 'दण्डपाद' से अन्वय प्रतीत हो रहा है। किन्तु 'भवानी' के साथ उसका सम्बन्ध होना चाहिए था। अतः यहाँ पर

(१३ अनभिहितवाच्यत्वम्)

अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र, यथा—

भी 'अभवन्मत योग' नामक दोष हो रहा है। अभिप्राय यह है कि 'निजतनुस्वच्छलावण्यवापीसम्भूताम्भोजशोभां विदद्धदभिनवो दण्डपादो भवान्याः'—इस वाक्य में 'निजतनु' का अन्वय 'भवानी' (पार्वती) के साथ विवक्षित है, किन्तु 'सम्बन्धिनां निजस्वात्मादि पदार्थानां प्रधानक्रियान्वयिकारकपदार्थं एव अन्वयः'—'निज', 'स्व', 'आत्मा'—आदि पदार्थों का अन्वय, वाक्यगत प्रधानक्रिया से अन्वित हुए कारक पदार्थ में ही होता है—इस व्युत्पत्ति (नियम) के अनुसार निजपदार्थ का 'दण्डपाद' में ही अन्वय होगा, 'भवानी' में नहीं। किन्तु 'भवानी' में अन्वय करना विवक्षित है। यह विवक्षित सिद्धि न हो पाने से यहाँ 'अभवन्मतयोगत्व' दोष है। प्रदीप और सुधासागरकार ने कहा है—"अत्र तनुपदार्थस्य पार्वत्या योगोऽभिमतः, दण्डपादेन प्रतीयते, वाक्ये यत् प्रधानं तत्रैव निजादिपदव्युत्पत्तेः। अत एवोक्तं मिश्रप्रमुखैः 'निजस्वात्मादिशब्दानां प्रधानक्रियाकर्त्रन्वयित्वव्युत्पत्तिः', इस प्रकार 'इष्ट प्रतीति का न होना ही दूषकता में बीज है, यह नित्यदोष है ॥ २३२ ॥

(१३ अनभिहितवाच्यत्व)

अर्थात् 'वाच्यस्याऽनभिधान। अवश्यवक्तव्यमिति। जहाँ वाक्य में उद्देश्य-विधेयभाव के बोधक विभक्ति अथवा निपात आदि पद, जिनका प्रयोग करना आवश्यक है उनका प्रयोग न करने पर वहाँ 'अनभिहितवाच्यत्व' दोष होता है। 'अनभिहितवाच्य' की ही व्याख्या की गई है कि 'अवश्यवक्तव्यमनुक्तं' इति 'वाच्यम्' में 'कृत्याश्च'-(पा० सू० ३।३।१७१) सूत्र से 'आवश्यक' अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय किया गया है। 'वाच्य' शब्द को यहाँ पर 'शब्दपरक' समझना चाहिए, 'अर्थ'-परक नहीं। अर्थपरक मानने पर 'वाक्य-दोष' नहीं बन पायेगा। 'तथा च अनभिहितम् अनुक्तं वाच्यं (वाचक पदातिरिक्तं) अवश्यवक्तव्यं यत्र (वाक्ये) तदित्यर्थः। वाचकपदातिरिक्तं तु (अर्थात्) द्योतकमेव।' एवं च वाचक पद के अतिरिक्त अवश्यवक्तव्य द्योतक पद को जहाँ नहीं कहा है, वहाँ 'अनभिहितवाच्यत्व' दोष होता है। और जहाँ 'वाचक पद' का अभिधान नहीं किया जाता, वहाँ 'न्यूनपदत्व' दोष होता है। अर्थात् उद्देश्य-विधेयभावादिद्योतक विभक्तियों की और निपातों की न्यूनता में 'अनभिहितवाच्यत्व' दोष होता है, और वाचकपद की न्यूनता रहने पर 'न्यूनपदत्व' दोष होता है, यही दोनों में भेद है।

किसी व्याख्याकार ने जो यह कहा है कि "न्यूनपदे अप्रतीतिमात्रम् अत्र तु विरुद्धाप्रतीतिः, इत्यनयोर्भेदः"—न्यूनपद में 'केवल अप्रतीति' रहती है, और यहाँ पर 'विरुद्ध प्रतीति' रहती है, यही दोनों में भेद है। 'अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च' इस उदाहरण में 'मत्सम्बन्धित्वेन वीर शिशु प्रतीति का होना ही विरुद्धप्रतीति है।" किन्तु यह जो व्याख्या है, वह अनुभव के विरुद्ध होने से उपेक्षार्ह है। क्योंकि 'मत्सम्बन्धितया वीर-

(उद्देश्यविधेयभावादिबोधक-विभक्तिन्यूनत्वनिबन्धन-अनभिहितवाच्यत्वम्)

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै-
रत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय-
सौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥ २३३ ॥

अत्रापहृतोऽस्मि इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः। तथापीत्यस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः।

शिशुकानुभवस्य अप्रतीतेः'—यह बात प्रदीप-उद्योत-प्रभाकारों ने स्पष्टतया कही है। यह अनभिहितवाच्यत्व दोष दो प्रकार से होता है—(१) अन्यथा कहने के योग्य को अन्यथा कह देने से। (२) अवाचक (द्योतक पद) को न कहने से।

(उद्देश्य-विधेयभावादिबोधक विभक्तिन्यूनत्वनिबन्धन अनभिहितवाच्यत्व)

प्रथमतः विभक्तिशून्यत्व में अनभिहितवाच्यत्व का उदाहरण दे रहे हैं—जैसे, वीरचरितनाटक के द्वितीय अङ्क में सीतास्वयंवर के समय श्रीराम ने जब धनुर्भङ्ग किया, तब परशुराम की स्वगतोक्ति इस पद्य के द्वारा बताई जा रही है—अप्रकृतस्येति। अनन्यसाधारण (लोकोत्तर) श्रीरामचन्द्र के अति अद्भुत (अमानुष) एवं अत्युत्कृष्ट चरितों का श्रवणकर यद्यपि मेरा हृदय आकृष्ट (वशीभूत) हो गया है, तथापि मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि दशरथ-पुत्र इस बालक ने ही उस पाशुपत धनुष का भंग किया होगा। क्योंकि मेरे सामने खड़े हुए (पुरोवर्ती) इस श्रीराम की आकृति वीर-शिशु के सदृश अवश्य है, किन्तु सर्वसाधारण लोगों से अगम्य (अचिन्तनीय), अलौकिक सौन्दर्यसुधासार समुदाय से निर्माण हुआ यह कोई विलक्षण पदार्थ प्रतीत हो रहा है। अतः कोमल से कठोर धनुष का भंग होना असंभव है ॥ २३३ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'अपहृतोऽस्मि'-मैं अपहृत (विवश) हो गया हूँ—इस प्रकार 'अपहृतत्व' का विधान करना चाहिए था। इस तरह कहने पर जब दो वाक्य होंगे तभी 'तथापि' पद की संगति हो सकेगी। क्योंकि यह 'तथापि' पद द्वितीय वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही उपपन्न हो सकता है। 'अहम्' के अर्थ में 'अस्मि' यह विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। जैसे 'कुरुष्वमत्रास्मि करोमि सख्यः'।

शंका—तब तो यहाँ पर 'अविमृष्टविधेयांशत्व' दोष ही हुआ, न कि 'अनभिहित-वाच्यत्व' दोष।

समाधान—अविमृष्टविधेयांशत्व' तो 'तथापि' पद की असंगति के कारण प्राप्त हो रहा है। क्योंकि उसी के अनुरोध से 'अपहृतत्व' को विधेय माना जा रहा है, न कि उसके अपने 'प्राधान्य' से। अतः किसी व्याख्याकार ने जो यह कहा है कि 'अवान्तरवाक्यों में अविमृष्टविधेयांशत्व (विधेयाविमर्शत्व) दोष नहीं होता'—यह कथन उचित नहीं है, उस कारण वह उपेक्षणीय है क्योंकि इसमें कोई बीज नहीं है। "क्षणमप्यमुक्ता"—(स० उ० श्लो० १६२) यह अवान्तर वाक्यगत का ही उदाहरण है।

(निपातन्यूनत्व-निबन्धन-अनभिहितवाच्यत्वम्)

यथा वा—

एषोऽहमद्रितनयामुखपद्मजन्मा
प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती।
स्वप्नेऽनिरुद्धघटनाधिगताभिरूप-
लक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय॥ २३४॥

तात्पर्य यह है कि 'तथापि' पद में जो 'तद्' शब्द का अर्थ छिपा है, उसके लिए इस 'तथापि' के पूर्ववर्ती 'वाक्य' में वर्णित किसी 'अर्थ' की अपेक्षा है, किन्तु वह तभी संभव है जब कि यहाँ एक वाक्य के बजाय दो वाक्य बना दिये जाँय। जैसे—"अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरार्कणितैरपहृतोऽस्मि' को पृथक् (अलग) कर दिया जाय। तब 'अस्मि' (अहम् के अर्थ में विभक्ति रूपक अव्यय) और 'अपहृत:' में 'उद्देश्य–विधेयभाव' बन जायगा। किन्तु कवि ने ऐसा नहीं किया है। अतः उद्देश्य–विधेयभाव की द्योतक विभक्ति की न्यूनता के कारण 'अनभिहितवाच्यत्व' दोष हो गया है। निष्कर्ष यह है कि यहाँ पर कवि को वाक्यरचना ऐसी करनी चाहिए थी—'यद्यपि चरितातिशयैः अपहृतोऽस्मि, तथापि नाऽऽस्था' अर्थात् इसके अद्भुत लोकोत्तर चरित्र को देखकर मैं मुग्ध हो गया हूँ, तथा विश्वास नहीं हो रहा है कि यह शिव-धनुष इसने ही तोड़ा होगा। उत्तर-वाक्य में 'तथापि' शब्द का प्रयोग करने से पूर्ववाक्य में 'यद्यपि' शब्द का प्रयोग अनिवार्य तो नहीं है, किन्तु 'तथापि' शब्द का प्रयोग द्वितीय वाक्य में ही किया जा सकता है। इसलिए प्रथम वाक्य को पृथक् ही रखना चाहिए उसे पृथक् करने के लिए 'अपहृतस्य' इस षष्ठ्यन्त पद के स्थान पर 'अपहृतोऽस्मि'—यह प्रयोग करना उचित होगा। इस अवश्यवाच्य प्रथमा विभक्ति का प्रयोग न करने के कारण इस पद्य वाक्य में 'वाच्यस्य अनभिधान' नामक वाक्यदोष हो गया है।

इस दोष के पूर्व बताये गये 'न्यूनपदता' दोष से और इस 'वाच्यस्य अनभिधान' दोष का अन्तर (भेद) यही है कि अपेक्षित स्थान पर 'वाचक पद' का प्रयोग न करने पर 'न्यूनपदता' दोष हो जाता है। और वाचक पद से भिन्न 'द्योतक अपि आदि निपात, अथवा विभक्ति' का प्रयोग न होने पर यह दोष हो जाता है।

यह 'वाच्यस्य अनभिधान' दोष दो प्रकार से होता है—एक प्रकार तो यह है कि 'द्योतक विभक्ति' आदि के अन्यथा अभिधान से यह दोष होता है, और दूसरा प्रकार यह है कि 'द्योतक अपि' आदि निपात के कथित न होने के कारण यह दोष होता है। उनमें से यहाँ पर यह दोष 'प्रथमा' विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के कर देने से अन्यथा अभिधान हो गया है, इस कारण 'वाच्यस्य अनभिधान' दोष हो गया है, यह दोष समास-गत' और 'असमासगत' भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से 'समासगत' का उदाहरण आगे दे रहे हैं।

अत्र मनोरथानामपि दूरवर्त्तीत्यर्थो वाच्यः।

(असमास-निपातादिन्यूनत्व-निबन्धनेनाभिहितवाच्यत्वम्)

यथा वा—

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि! दासजनं यतः ॥२३५॥

(निपातन्यूनत्वनिबन्धन अनभिहितवाच्यत्व)

यथा वेति। अथवा इसी अवश्यवक्तव्य के अनभिधान का समासगत उदाहरण। यथेति। जैसे—श्रीमद्भागवतपुराण के अन्तर्गत हरिवंशपुराण में दी गई कथा के आधार पर रचे गये उदाहरण नाटक से इस पद्य को दोष के उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। एक बार समस्त कलाओं में कुशल सुर-असुर-राक्षस-गंधर्व आदि की कन्यायें भगवान् शिव-पार्वती के समीप नृत्य कर रहीं थीं। उस समय बाणासुर की कन्या 'उषा' की नृत्य-कुशलता को देखकर सन्तुष्ट हुई पार्वती ने उसे वरदान दिया कि कुछ ही समय के बाद रात में तुम्हारे योग्य पति तुम्हारे पास आवेगा। उस वरदान के प्रभाव से उचित समय आने पर श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ रात्रि-स्वप्न में उषा का समागम हुआ। समागम के बाद पार्वती के दिये गये वरदान ने शरीर धारण कर उषा की सखी चित्र-लेखा से कहा कि **एषोऽस्मिति**। देवताओं और राक्षसों के मनोरथों से दूर रहने वाला और पर्वतराज-कन्या पार्वती से मुखवदनारविन्द से उत्पन्न हुआ यह मैं, (वरदान), असुरराज बाणासुर की कन्या 'उषा' को स्वप्न में श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ समागम करा के उसके अनुपम सौन्दर्य का फल उसे प्राप्त कराकर उसके व्यभिचार आदि की शंका का निवारण करने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ ॥ २३५ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'सुरासुरमनोरथदूरवर्ती' के स्थान पर 'सुरासुरमनोरथानामपि दूरवर्ती' कहना चाहिए था, क्योंकि उसके बिना 'समुच्चय' अर्थ की प्रतीति नहीं हो पा रही है। एवं च 'सुरासुराणामपि मनोरथानामपि दूरवर्ती'—अर्थात् सुरासुरों के भी मनोरथों से भी दूरवर्ती (दुष्प्राप्य)–इस प्रकार 'अपि' के दो अर्थों को अवश्य कहना चाहिए था, अन्यथा अन्यमनोरथविषयत्व की और सुरासुरबहिरिन्द्रियविषयत्व की भी प्रतीति हो सकती है। इसलिए अनभिहितवाच्यत्व दोष हो रहा है। 'अपि' का अर्थ, 'समुच्चय' है। 'केवल बहिरिन्द्रियों का ही विषय नहीं'–यह समुच्चयरूप अर्थ 'अपि' का उपादान न करने के कारण अनुपपन्न हो रहा है। अतः 'अपि' शब्द को भी अवश्य कहना चाहिए। अर्थात् 'मनोरथों से भी दुष्प्राप्य' इस अर्थ को बताने के लिए 'अपि' शब्द के अर्थ को अवश्य कहना चाहिए। किन्तु उसे नहीं कहा गया है। अतः विधेयाविमर्श से असंकीर्ण अनभिहितवाच्य का यह उदाहरण बन गया है ॥ २३५ ॥

(समास के अभाव में निपातादिन्यूनत्वनिबन्धन अनभिहितवाच्यत्व)

अर्थात् असमास में वाच्य के अनभिधान का तृतीय उदाहरण—

यथावेति। विक्रमोर्वशीयनाटक के चतुर्थ अंक में गिरिनदी (पहाड़ीनदी) में उर्वशी की कल्पना कर उसके प्रति पुरुरवा की यह उक्ति है—त्वयीति। हे मानिनि! तेरे

अत्रापराधस्य लवमपीति वाच्यम् ।

(१४ अस्थानस्थपदता)

अस्थानस्थपदं यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने ।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ॥२३६॥

अत्र काचिन्न विजहाविति वाच्यम् ।

प्रेमपाश से बँधे हुए, मधुरालाप करनेवाले और प्रणयभङ्ग की बात को कभी मन में भी न लानेवाले मुझ पुरुरवा जैसे दास का कौन-सा लेशमात्र भी अपराध तुम देख रही हो, जो इस प्रकार रुष्ट होकर तुम अपने दयनीय इस सेवक को त्याग रही हो ॥ २३५ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'कमपराधलवं' के स्थान पर 'अपराधस्य लवमपि'—अपराध का लवलेश भी इस प्रकार 'अपि' का अर्थ अवश्य कहना चाहिए था, अन्यथा 'अपराधलवं न पश्यसि किन्तु महान्तमपराधं पश्यसि'—यह प्रतीति भी हो सकती है । अतः 'अपि' शब्द के अर्थ को न कहने से दोष हो गया है । प्रथम उदाहरण में 'अभिमत' की प्रतीति न होना और अन्तिम दो उदाहरणों में विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होना—दूषकता का कारण (बीज) है । अतः यह नित्य दोष है । अत्र विशेषणत्रयस्य अपराधलेशाभावोपपत्त्यभिप्रायगर्भत्वात् 'परिकर' नामालंकारः ।

(१४—अस्थानस्थपदता)

'अपदस्थपदसमासम्'—(सू. ७५) में पहिला 'पद' शब्द स्थानार्थक है । एवं च (१) अस्थानस्थपद और (२) अस्थानस्थसमास—ये दो दोष हैं । 'अस्थानस्थत्व का अभिप्राय है कि अयोग्यस्थानस्थत्व । उनमें से 'अस्थानस्थपद' का उदाहरण दे रहे हैं । जैसे—किरातार्जुनीयमहाकाव्य के अष्टम सर्ग में जलक्रीडावर्णन के समय किसी नायिका का वर्णन कर रहे हैं—

प्रियेणेति । सपत्नी के समक्ष अपने प्रियतम के द्वारा आदर के साथ गूँथी गयी स्थूल एवं उच्चकुचवाले वक्षःस्थल पर अपना करस्पर्श करते हुए पहनाई गई पुष्पमाला (पुष्पों के गजरा से) जलक्रीडा करते समय जल के अधिक स्पर्श से कान्तिहीन हो जाने पर भी (म्लान हो जाने पर भी) उस नायक की प्रियतमा नायिका ने उस गजरे को (पुष्पमाला को) फेंका नहीं, अर्थात् अपने वक्षःस्थल से उतारा नहीं, क्योंकि प्रेम में गुण (उत्कर्ष) रहते हैं, 'वस्तु' में नहीं । प्रेमसंयुक्त हुई वस्तु में ही उत्कर्ष रहता है, केवल वस्तु में नहीं ॥ २३६ ॥

अत्रेति । यहाँ पर कवि को 'काचित् न विजहौ'—यह कहना चाहिए था, किन्तु वह न कहकर उसने 'न काचिद्विजहौ' कह दिया है । उस कारण 'नकार', अस्थानस्थ हो जाने से 'न काचिद्विजहौ, अपितु सर्वा एव विजहुः'—किसी एक नायिका ने ही नहीं त्यागा, बल्कि सभी नायिकाओं ने त्यागा—ऐसे विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है । क्योंकि

यथा वा—

लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालम्बेन निद्रान्तरे
　　मुद्राङ्कः शितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तःकपोलस्थलम्।
पार्वत्या नखलक्ष्मशंकितसखीनर्मस्मितह्रीतया
　　प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः॥ २३७॥

अत्र नखलक्ष्मेत्यतः पूर्वं कुटिलाताम्र इति वाच्यम्।

कविने 'नञ्' को उसके योग्य स्थान पर नहीं रखा, अर्थात् 'न काचित्' कह दिया। कवि को कहना चाहिये था–'न विजहौ'। क्योंकि 'प्रतियोगी' के समीप ही 'नञ्' का रहना उचित होता है। इसलिए 'काचित्' के पूर्व उसको (नञ् को) स्थान देना उचित नहीं है। 'काचित्' के पूर्व उसको (नञ् को) स्थान देना तो अनौचित्य का कारण हो रहा है, क्योंकि किसी एक ने नहीं छोड़ी, अपितु सबने छोड़ी–ऐसी विरुद्ध प्रतीति को वह करा देता है। अतः अयोग्य स्थान में 'नञ्' को रखा गया है, यह कहना पड़ता है। निष्कर्ष यह है कि 'नञ्' उसी का निषेध करता है, जिसे वह अपने साथ सम्बद्ध देखता है—'नञश्चैष स्वभावः यत् स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधकत्वम्'। कवि ने यहाँ पर 'नञ्' को 'काचित्' से सम्बद्ध कर दिया है, उस कारण उसकी सार्थकता 'काचित्' पदार्थ का निषेध करने में अर्थात् 'सर्वाः' इस पदार्थ के बोधन में ही है। किन्तु यहाँ प्रतीयमान यह अर्थ कदाचिदपि विवक्षित नहीं है। यहाँ पर यदि 'काचित् स्रजं न विजहौ' कर दिया जाय तो 'नञ्' को विवक्षितार्थोपयोगी स्थान मिल जाता है, जिससे अभिप्रेत अर्थ, प्राप्त हो जाता है और दोष के लिए कोई अवकाश नहीं रहता है॥ २३६॥

जैसे 'विरुद्धप्रतीति' का प्रत्यायक होने से 'अस्थानस्थ पद' होता है, उसी तरह उपयोगी पद का उपयोग न हो सकने पर भी 'स्थान अयोग्य' समझा जाता है। यह अस्थानस्थपदता का द्वितीय उदाहरण है—

लग्न इति। एक बार भवानी और शिव दोनों में रात्रि के समय प्रणय-कलह चलने लगा। तब उसने शिवजी की जटा को खींच लिया, और चन्द्रखण्डसहित उस जटा को अपने कपोल तल के नीचे रखकर वह सो गई। तदनन्तर प्रातःकाल जब वह उठी तो उनके कपोल पर जटास्थितचन्द्रखण्ड की मुद्रा अङ्कित हो गई थी। उस मुद्रा से अङ्कित हुए भवानी के कपोल को देखकर उसकी सखियों ने समझा कि भवानी के कपोल पर यह 'नखक्षत' का चिह्न है, उस कारण सभी सखियाँ स्मित (मुस्कुराने) लगीं। उनके स्मित (मुस्कुराने) से लजा गई पार्वती ने अपने कपोल पर उभरे हुए कुटिल एवं आताम्र चन्द्रमुद्रा के चिह्न को हाथ से पोंछकर मिटा दिया, वह कुटिल आताम्रच्छवि से युक्त चन्द्रमुद्रांक तुम्हारी रक्षा करे। इस प्रकार कवि ने अपनी कल्पना से यह वर्णन किया है॥ २३०॥

अत्रेति। उक्त पद्य में 'कुटिल आताम्रछवित्व' नखचिह्न की शंका पैदा करने में कारण है। इसलिए 'नखलक्ष्मशंकित' के पूर्व ही विशेषण के रूप में 'कुटिलाताम्रच्छवि'

(१५—अस्थानस्थसमासता)

अस्थानस्थसमासं यथा—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥ २३८ ॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरुक्तौ तु कृतः ।

का प्रयोग करना चाहिए था, तभी वह उपयुक्त होता, अर्थात् 'नखक्षत' की शंका और कुटिल तथा ईषद्रक्त चन्द्रकला की छाप में हेतु-हेतुमद्भाव की प्रतीति शीघ्र हो पाती है, जो यहाँ अपेक्षित है । प्रयुक्त होने पर उसकी उपयुक्तता नहीं रहती । अत 'अपदस्थपदत्व' दोष हो गया है । यह नित्यदोष है ॥ २३७ ॥

(१५—अस्थानस्थ समासता)

अस्थानस्थ समासता दोष का उदाहरण—

अद्यापीति । अद्यापि मेरे उदित होने पर भी यह 'मानिनी का मान', स्तनरूपी पर्वतों (शैलों) से नायिकाओं के विषम दुर्ग स्वरूप हृदय में रहने की इच्छा कर रहा है, अर्थात् छिपकर बैठना चाह रहा है ! धिक्कार है इसे । ऐसा कहकर क्रोध से मानो लाल तमतमाता हुआ यह चन्द्रमा (शशी), अपने हाथों (करों = किरणों) को दूर-दूर तक फैलाकर तुरन्त ही खिलते हुए कैरव पुष्प की कलीरूपी म्यान (कोश) से निकलनेवाले भ्रमर-पङ्क्तिरूपी तलवार (कृपाण) खींच रहा है ॥ २३८ ॥

अत्रेति । यहाँ पूर्वार्ध में कुद्ध हुए शशी की उक्ति है, इसलिए वहाँ दीर्घसमास करना चाहिए था, क्योंकि वहीं पर दीर्घ समास से अभिव्यक्त होनेवाले (व्यङ्ग्य) ओजोगुण का औचित्य है । किन्तु कवि ने दीर्घ समास वहाँ नहीं किया, और उत्तरार्ध में दीर्घसमास कर दिया, जो व्यर्थ है । क्योंकि उत्तरार्ध में 'कवि' की उक्ति है, उसमें दीर्घसमासव्यङ्ग्य-ओजोगुण की अप्रयोजकता रहने से यह अस्थानस्थ समास है ।

अभिप्राय यह है—क्रुद्धचन्द्रमा की उक्ति है—"अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि स्थातुं वाञ्छति, मान एष धिगिति'—इसमें कवि को दीर्घसमास करना चाहिए था । क्योंकि क्रोध का भाव प्रकाशन करने के लिए ही 'दीर्घसमास' और 'ओजस्वीदृढबन्ध' की आवश्यकता है । किन्तु कवि ने इधर ध्यान न देकर अपने द्वारा किये गये चन्द्र के वर्णन में—'प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः' तथा 'फुल्लत्कैरवकोशनिः-सरदलि-श्रेणीकृपाणम्' में दीर्घसमास करके बन्धदाढर्य प्रदर्शित किया है, जो अनुपयुक्त स्थान पर किया गया है, अतः यह 'अस्थानस्थसमासता' दोष का उदाहरण हो गया है ॥ २३८ ॥

(१६—संकीर्णता)

संकीर्णं यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति। यथा—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम्।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम्॥ २३९॥

अत्र पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि इमं कण्ठे गृहाण मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्चेति। एकवाक्यतायां तु क्लिष्टमिति भेदः।

(१६—संकीर्णता)

संकीर्णमिति। जहाँ दूसरे वाक्य के पद, दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, वहाँ संकीर्ण दोष कहा जाता है। 'वाक्यान्तरपदैर्मिश्रं संकीर्णम्'। यथेति। जैसे—रुद्रट के काव्यालंकार का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। किसी मानिनी के प्रति उसकी सखी की उक्ति है—किमिति। अपने पैरों पर प्रणत हुए और अनेक गुणों से सम्पन्न इस प्राणनाथ की ओर क्यों नहीं देख रही हो? इस प्राणनाथ को अपने गले से लगाओ, अर्थात् उसका आलिंगन करो, अपने मन के तमोरूप मान का त्याग कर दो॥ २३९॥

अत्रेति। यहाँ पर तीन वाक्य हैं—(१) 'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि'—यह प्रथम वाक्य है, किन्तु उसका 'हृदयनाथं' पद तृतीय वाक्य में चला गया है और तृतीयवाक्य का 'कोपं' पद प्रथमवाक्य में आ गया है। उसी प्रकार 'इमं कण्ठे गृहाण'—यह दूसरा वाक्य है। इसका 'कण्ठे' पद तीसरे वाक्य में चला गया है। 'मनस्तमोरूपं कोपं मुञ्च'—यह तीसरा वाक्य है। प्रथम वाक्य का 'हृदयनाथं' पद तथा द्वितीयवाक्य का 'कण्ठं' पद, इस तृतीय वाक्य में आ गये हैं। इन तीनों वाक्यों के पदों को एक-दूसरे के साथ मिलाकर जो एक वाक्य बनाया गया है, उससे अभिप्राय की प्रतीति बहुत विलम्ब से होती है। इस प्रकार का 'पदसांकर्य' वाक्यगतदोष है। अर्थात् तीनों वाक्यों के पदों को एक-दूसरे वाक्य के भीतर खींचने से 'संकीर्णत्व' दोष हुआ है। किन्तु जहाँ एक ही वाक्य में इधर-उधर के पद संकीर्ण हो जाते हैं, वहाँ 'क्लिष्टत्व' दोष होता है—यह इन दोनों में भेद है। 'अनेकवाक्यतायां संकीर्णत्वम्'—'एकवाक्यतायां तु क्लिष्टत्वम्'—अतः दोनों भिन्न-भिन्न दोष हैं।

जहाँ अध्याहृत क्रिया पद के साथ एकवाक्यता होकर पद-प्रतीति होती है, वहाँ 'संकीर्णत्व' दोष नहीं माना जाता। जैसे—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि।
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवाऽस्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते'॥

(१७—गर्भितत्वम्)

गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति । यथा—

(स्वभावतः एकवाक्यतायाम्)

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥ २४० ॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः । यथा वा—

यहाँ पर तो 'बाले शृणु, नाथ वद'—इस प्रकार दोनों की प्रतीति, 'अध्याहृत क्रिया पद' के साथ एकवाक्यता करने से होती है, इसलिए संकीर्णत्व दोष की यहाँ शंका भी नहीं की जा सकती ।

(१७—गर्भितत्वदोष)

गर्भितमिति । जहाँ एकवाक्य के भीतर दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाता है, वहाँ 'गर्भित' दोष होता है । गर्भितं सञ्जातगर्भं अन्तःस्थितवाक्यान्तरं वाक्यम्' इत्यर्थः । यह गर्भितदोष, दो प्रकार से होता है । एक वह है जो स्वभावतः एकरूप है, और दूसरा वह है जो वाक्यैकवाक्यता से एकरूप होता है । एक वाक्य के भीतर दूसरे सम्पूर्ण वाक्य के प्रविष्ट होने का उदाहरण ।

(स्वभावतः एकवाक्यता में गर्भितत्व दोष)

यथेति । जैसे—परापकारेति । मैं तुमसे तत्त्व की बात (यथार्थ बात) बता रहा हूँ कि दूसरे के अपकार करने में तत्पर रहनेवाले दुष्ट लोगों के साथ कभी भी संगति नहीं करनी चाहिए ॥ २४० ॥

अत्रेति । यहाँ तृतीयपाद 'वाक्यान्तर' में प्रविष्ट है । यहाँ प्रथम वाक्य 'परापकार-निरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः, न विधेया कदाचन' के बीच में ही 'वदामि भवतस्तत्त्वम्'—यह तीसरा चरण, जो एक पृथक् ही वाक्य है, प्रविष्ट हो गया है । 'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः' के बाद 'वदामि भवतस्तत्त्वम्' कहा गया है । अतः मन में सन्देह होने लगता है कि यहाँ दुष्टसंगति को प्रशंसनीय बताया जा रहा है, या निन्दनीय बताया जा रहा है । तथा 'न विधेया कदाचन'–इस चतुर्थपाद में 'कर्म' की स्वाभाविक आकांक्षा, तब तक शान्त नहीं होती, जब तक 'वदामि भवतस्तत्त्वम्'–यह वाक्य, उसके बाद न आवे । यही इसके दूषकता का बीज है । यहाँ पर 'संगतिर्न विधेया'–यह वाक्य 'वदामि' इस वाक्यान्तर से गर्भित है । अतः गर्भितत्व दोष है—ऐसा चन्द्रिकाकार कहते हैं । यदि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध क्रम को बदल दें अर्थात्—

'वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ।
परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह संगतिः ॥'

यह पाठ करदें तो कोई दोष नहीं रहता ॥ २४० ॥

(हेतुहेतुमद्भावपूर्वकवाक्यैकवाक्यतायाम्)
लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिव यथैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥ २४१ ॥

(हेतु–हेतुमद्भावपूर्वक वाक्यैकवाक्यता में गर्भितत्वदोष)

जैसे—लग्नमिति ।

यह वह राजा है, जिसकी राजलक्ष्मी की दूती बनकर 'कीर्ति' उसकी (राजलक्ष्मी नायिका की) आज्ञा से लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास इसलिए पहुँची कि वहाँ जाकर यह कहे कि महाराज ने अपनी पाणिगृहीता राजलक्ष्मी की ओर से अपना ध्यान हटा लिया है, और अपने सेवकों को उसे सौंपना आरंभ कर दिया है, क्योंकि उनका मन तो उस असिलता (प्रतिनायिका) में सतत रमण कर रहा है, जो रणभूमि में रक्त (प्रेम) से रंजित होकर शत्रुओं के गले (काटने के लिए और आलिंगन के लिए) लगा करती है, और जिसे लोगों ने (शत्रुओं ने और तटस्थ व्यक्तियों ने) मातंगों (हाथियों और अन्त्यजों) के भी ऊपर (काटने और रतिलीला के लिए) गिरते पड़ते देखा है ।

जो (मेरी सपत्नी) असियष्टि (तलवार) अनुराग से परिपूर्ण (दूसरे पक्ष में—शत्रुओं के रक्त से रंगी हुई) शत्रुओं के गले में चिपट लग जाती है। जिसको अन्य लोगों ने (किसी भले आदमी के साथ नहीं, अपितु मातंग अर्थात्) चाण्डालों (दूसरे पक्ष में—हाथियों) के ऊपर गिरते हुए (विपरीत रति के लिए उद्यत) देखा है। (उस दुराचारिणी सौत) तलवार पर रीझा हुआ यह (आपका जामाता और मेरा पति) कुछ नहीं सोचता-समझता है, और उसने (उदारतावश) मुझ (लक्ष्मी) को अपने सेवकों के हाथ में (मेरा यथेष्ट भोग करने के लिए) सौंप दिया है। यह भी आप (मेरे पिता) को विदित हो। (राजा की पत्नी) लक्ष्मी की आज्ञा से यह कहने के लिए ही मानों जिसकी कीर्ति, लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास गयी है ॥ २४१ ॥

उक्त पद्य में किसी राजा की स्तुति करते हुए उसकी कीर्ति समुद्रतक फैल गयी है। राजा की युद्धप्रियता और उदारता आदि को देखकर राजा की पत्नी लक्ष्मी ने अपने पिता समुद्र के पास राजा की शिकायत करने के लिए 'कीर्ति' को दूती बनाकर भेजा है, और उसके द्वारा यह सन्देश अपने पिता के पास भिजवाया है कि यह तो मेरी सौत असियष्टि (तलवार) पर रीझ रहा है, मुझे तो पूछता ही नहीं, बल्कि मुझे (लक्ष्मी को) तो भोग करने के लिए अपने भृत्यों को दे दिया है। इस शिकायत के साथ उसने अपनी सौत तलवार की दुश्चरित्रता का भी सुन्दर चित्र खींच दिया है तथा विशेषभङ्गि के सहारे शौर्य-दातृत्व-यश के उत्कर्ष का वर्णन कवि ने कर दिया है। 'यथैव'–यहाँ के 'एवकार' ने 'एक ही का' अनेक के साथ संबंध सूचित किया है। 'अरिकण्ठे' कहकर जो राजा के प्रति अत्यंत विरक्त है–यह ध्वनित किया है यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है।

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्येतत्कृतम्। प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत्।

(१८—प्रसिद्धिहतत्वम्)

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥ २ ॥'

अत्रेति। यहाँ 'विदितं तेऽस्तु' आपको विदित हो—इस वाक्य को दूसरे वाक्य के अन्तर्गत प्रयोजन के बिना ही कर दिया है। इसलिए 'गर्भितत्व' दोष हो गया है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मी उसको छोड़ (घटस्फोट = तलाक = डायवोर्स) दे रही है इस 'विरुद्धमतिकृत (विरुद्धबुद्धि) नाम का अन्य दोष भी हो रहा है। 'विदितं तेऽस्तु' कहने से 'स्वापराधेन नाहमपसरामि'—अर्थात् मेरे अपसरण करने में मेरा कोई अपराध नहीं है, किन्तु राजा का ही अपराध है—यह प्रतीत हो रहा है। अतः 'लक्ष्मीस्ततोऽपसरति'—इससे उसकी स्तुति के विरुद्ध ही प्रतीति हो रही है। किञ्च—'विदितं तेऽस्तु'—यह कहने से अर्थ शक्ति की महिमा से 'बाद में पतिपरित्याग के कारण मुझे कोई दोष मत देना 'उत्तरकालं पतिपरित्यागोत्थमपराधं त्वं माभिदध्याः'। इसीलिए पहिले ही मैंने 'पति की दुश्चरित्रता तुम्हें बता दी थी'—इस प्रकार की अर्थाभिव्यक्ति के द्वारा 'ततः अपसरति' यह अभिव्यक्त हो रहा है। उस कारण 'प्रकाशितविरुद्धत्व' नाम का दोष भी हो रहा है।

एवं च उक्त पद्य में (१) गर्भितत्व, (२) प्रकाशितविरुद्धत्व, (३) अक्रमत्व, (४) त्यक्तपुनःस्वीकृतत्व, ये चार दोष हो रहे हैं। अभिप्राय यह है कि 'आपको विदित हो,—यह वाक्य निष्प्रयोजन ही अन्य वाक्यों के बीच में प्रविष्ट करा दिया है। अर्थात् उसमें आसक्त हुआ वह राजा मेरी कुछ भी परवाह नहीं करता। इसने मुझे 'भृत्यों को उपभोग के लिए सौंप दिया है—इस तरह दूसरे वाक्य से एकवाक्यता करने वाले वाक्य के बीच में ही 'विदितं तेऽस्तु'—यह वाक्य समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार कहने से विवक्षित एकवाक्यता की ही केवल प्रतीति नहीं होती, बल्कि उलटा यह प्रतीत होता है कि लक्ष्मी वहाँ से (राजा के पास से) अपसरण कर रही है। इस अविवक्षित प्रतीति से अन्य दोष भी हो रहे हैं। एवं च कवि जिस बात को प्रकाशित करना चाहता है, उसके विरुद्ध ही उक्त वाक्यों से प्रकाशित हो रहा है। इस कारण प्रतीति में विच्छेद होना ही दूषकता का बीज है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ प्रतीति का विच्छेद नहीं होता वहाँ दोष नहीं होता। अतः यह अनित्य दोष है ॥ २४१ ।'

(१८—प्रसिद्धिहतत्वदोष)

'प्रसिद्धिहतत्व'—दोष वहाँ होता है, जहाँ प्रसिद्धि का अतिक्रमण किया जाता है। जैसे —मञ्जरादिष्विति। मञ्जीरों के शब्द को 'रणन', तथा पक्षियों के शब्द को 'कूजन', सुरतकालीन शब्द को 'मणित', मेघों के शब्द को 'स्तनित', सिंह के शब्द को 'गर्जित', और मण्डूक (मेढक) के शब्द को 'रव' कहना चाहिए, यह प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्धि का उल्लंघन करने पर 'प्रसिद्धिहतत्व' दोष कहा जाता है।

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः ।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः ॥ २४२ ॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तूक्तविशेषे सिंहनादे ।

(१९—भग्नप्रक्रमता)

भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा—

जैसे वेणीसंहार नाटक के तृतीय अंक में रण के कोलाहल का श्रवण करने पर अश्वत्थामा कह रहा है । व्याख्याकार महेश्वर ने इसे 'भीम की उक्ति' बताई है । इससे प्रतीत होता है कि महेश्वर जी ने उक्त नाटक को देखा ही नहीं है । अतः एतन्नाटकानवलोकनमूलक ही उनका उक्त कथन है ।

महाप्रलयेति । आज ही अर्थात् पहिले कभी न सुना गया अभूतपूर्व ऐसा, महाप्रलय की वायु से क्षुब्ध हुए पुष्कर एवं आवर्तक मेघों के प्रचण्ड (भीषण), तथा घन (मेघ) के गंभीर गर्जन की प्रतिध्वनि का अनुकरण करने वाला, कानों के लिए भीषण, एवं आकाश तथा पृथिवी में व्याप्त होने वाला यह समर-सागर से उत्पन्न शब्द (ध्वनि) बार-बार सामने से किस कारण हो रहा है ? ॥ २४२ ॥

सुधासागरकार ने 'अभूतपूर्वो हरेः'—यह पढा है । और 'हरेः, रवः सिंहनादः'–यह व्याख्या की है ।

अत्रेति । कवि ने 'रव' शब्द का जो उपादान किया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि मण्डूक आदि के शब्द में 'रव' का प्रयोग करने की कविप्रसिद्धि है । इस प्रकार के वीरगर्जन में 'रव' शब्द का प्रयोग कवि लोग नहीं किया करते । अतः कविप्रसिद्धि का अतिक्रमण करने के कारण 'प्रसिद्धिहतत्व' दोष, यहाँ पर हो गया है । अर्थात् श्रवण-भैरवता आदि की विशेषताओं से विशिष्ट सिंहनाद के प्रसंग में 'गर्जित' आदि पद प्रसिद्ध हैं, किन्तु कवि ने 'रव' शब्द का प्रयोग किया है, जिसे मण्डूक के शब्द के लिए कवि-लोग प्रयुक्त किया करते हैं ।

यहाँ पर 'अवाचकत्व' दोष का सांकर्य नहीं समझना चाहिए, क्योंकि 'अवाचकसांकर्य' वहाँ होता है, जहाँ समानरूप से दोनों अर्थों में शक्ति के रहने पर भी किसी एक ही अर्थ में कवियों के द्वारा प्रयोग करने का नियम है । इसलिए यह 'वाक्य-दोष' है । दूसरा हेतु यह भी है कि 'विशेषण' किसी उल्लेखनीय पदार्थ की सन्निधि में विशेष अर्थ का ही बोधक होता है । यहाँ पर प्रसिद्धित्यागकृत सहृदयोद्वेग ही दूषकता में बीज है ॥ २४२ ॥

(१९–भग्नप्रक्रमता)

भग्न इति । जहाँ प्रस्ताव (प्रकरण) का भंग हो जाता है, उसे 'भग्न-

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तंगते हन्त निशाऽपि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ॥ २४३ ॥

अत्र 'गते'ति प्रक्रान्ते 'याते'ति प्रकृतेः। 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम्।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र कथितपदं दुष्टमिति चेहैवोक्तम् तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः। उच्यते–उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तो विषय एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः। तथा हि—

प्रक्रमता' दोष कहते हैं। जिस रूप से वाक्य का शब्द या अर्थ उपक्रम हो उसी रूप से उसका शब्द किंवा अर्थ उपसंहार करना चाहिए। अन्यथा 'प्रक्रमभंग' दोष होता है। क्योंकि वाक्य-रचना का भी कोई नियम रहता है, अर्थात् 'येन रूपेण उपक्रमः, तेनैव उपसंहारः'—'प्रक्रम' का अर्थ—प्रस्ताव है। जहाँ 'प्रस्ताव' के औचित्य का भंग हो जाता है, वहाँ 'भग्नप्रक्रम दोष' माना जाता है। 'औचित्य' शब्द के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि प्रस्ताव के औचित्य का निवेश नहीं करेंगे तो प्रक्रमभंग दोष के निवारणार्थं कहे हुए पद को पुनः कहना गुण हो जायगा। औचित्य तो क्वचित् ही रहता है। अतः औचित्यातिरिक्त स्थल में 'कथित-पदत्व' को दोष ही माना जाता है।

किञ्च—यदि प्रक्रम का अर्थ 'प्रस्ताव' न मानकर 'पूर्वप्रकान्त' मानेंगे तो 'महीभृतः पुत्रवतः'–यहाँ पर 'पुत्र' पद में 'प्रक्रमभंग' नहीं होगा। क्योंकि आरंभ किये हुए मार्ग का यदि किसी से भंग किया जाता हो तो वहाँ प्रक्रमभंग दोषाधायक होता है। किन्तु आरंभक से वैसा नहीं होता। अतः उक्त स्थल में प्रक्रमभंग नहीं होगा।

यदि औचित्य को उसका कारण मान लेते हैं तो औचित्य-प्राप्त प्रस्ताव का अन्यथा-भाव 'प्रक्रमभंग' बन सकता है। तभी उत्तरार्धोपात्त दृष्टान्त की संगति उस वक्ष्यमाण पद्य में हो सकेगी, अन्यथा नहीं। पौर्वापर्य की विघटक सामग्री भी इसी में अन्तर्भूत हो जाती है।

इस औचित्यानुस्यूत प्रस्ताव का भंग 'प्रकृति, प्रत्यय, सर्वनाम और पर्याय आदि' अनेक प्रकार से होता है।

उनमें से 'प्रकृति' के प्रक्रमभंग का उदाहरण दे रहे हैं—नाथे इति। दैववशात् (अदृष्ट की आज्ञा से) (निशानाथ) रात्रि के पति चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर उसकी वधू रात्रि (निशा) भी चली गई (नष्ट हो गई), यह उचित ही है। कुल वधुओं के लिए (पतिव्रतास्त्रियों के लिए) अपनी वैधव्यदशा के अनुरूप उसके अनुगमन के अतिरिक्त अत्यधिक कल्याणकारी आचरण अन्य कोई नहीं हो सकता ॥ २४३ ॥

अत्रेति। 'अस्तं गते' में 'गमि' रूप प्रकृति का प्रस्ताव (प्रारंभ) किया और 'याता' में 'या' रूपा प्रकृति का प्रयोग किया है। उस कारण 'प्रकृति-प्रक्रमभंग' दोष हो गया है। यहाँ पर 'गम्' इस प्रकृति के प्रस्ताव में 'याता'–इस 'या' रूप प्रकृति का प्रयोग

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥ २४४ ॥

करना 'प्रकृतिप्रक्रमभंग' कहलाता है। क्योंकि लोकव्यवहार में कोई ज्ञान ऐसा नहीं है, जिसमें शब्द का भान नहीं होता है। अतः ज्ञान में विशेषण-विधया 'शब्द' का भी भान होता है। उसमें यदि 'उपात्त शब्द' भिन्न हो, तो उससे उपस्थापित अर्थ भी भिन्न होगा। एवं च भिन्न आनुपूर्वी वाले 'गम्' और 'या' इन प्रकृतियों से उपस्थित हुआ अर्थ, भिन्न-भिन्न हो गया, जिससे कुलांगनाओं में दशा के अनुरूप प्रतीति नहीं हो पाती—उस कारण यहाँ 'प्रक्रमभंग' दोष हो गया है।

शंका—वामन ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में प्रथमाध्याय के पंचमाधिकरण में कहा है कि "एकं पदं द्विः, द्विवारं न प्रयोज्यं न प्रयोक्तव्यं प्रायेण"—अर्थात् प्रायः एक पद का दो वार प्रयोग नहीं करना चाहिए। और मम्मट भट्ट ने भी अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास के (७५) वें सूत्र में 'कथितपदत्व' को दोष बताया है। तब 'एक पद' का दो बार प्रयोग करना कैसे उचित होगा।

समाधान—'एक पद' का दो बार प्रयोग करने का जो निषेध बताया गया है, उसका स्थल, 'उद्देश्य एवं प्रतिनिर्देश्य' से व्यतिरिक्त है। अतः जहाँ उद्देश्य (वक्तव्य अर्थ) प्रतिनिर्देश्य (पुनः आवश्यक भाव रूप से वक्तव्य अर्थ हो, अर्थात् पहले बताये हुए को पुनः बताना उचित आवश्यक हो (पूर्वोक्त-परोक्त अर्थ की एकरूपता के लिए) वहाँ विशेषतया उसी पद का अथवा सर्वनाम का प्रयोग न किया जाय तो उसे दोष कहा जाता है। 'उद्देश्यः प्राक् प्रत्यायित एव प्रतिनिर्देश्यः पुनः प्रत्याय्यः यत्र, तस्माद् व्यतिरिक्तः—उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्य—व्यतिरिक्तः। उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्यकादतिरिक्तं हि, एकपदद्विः—प्रयोगनिषेधस्य विषय इत्यर्थः।'

निष्कर्ष यह है कि वामन ने जो निषेध किया है—"एक पद का दो बार प्रयोग प्रायः नहीं करना चाहिए" वह और श्रीमम्मट भट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में स्वयं ही "कथितपद (पुनरुक्त) दोष होता है"—कहा है। तब 'गता'—इस एक ही पद का दो बार प्रयोग कैसे हो सकता है?

उच्यते इति। उत्तर दे रहे हैं—वामन ने एक पद के दो बार प्रयोग करने का जो निषेध किया है, वह 'उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यभाव' से भिन्न स्थल में किया है। तद्ब्रवीति। 'उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्य' के स्थल में नहीं। उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्य—भाव से युक्त स्थल में तो उसी कथित (उक्त-प्रयुक्त) पद का, अथवा उसी के निर्देशक 'सर्वनाम पद' के प्रयोग न करने पर तो उलटा (प्रत्युत) दोष होता है।

तथाहीति—जैसे—

उदेतीति। उदय के समय भी सूर्य का वर्ण लाल (ताम्र) ही रहता है, और अस्त होते समय भी उसका वर्ण लाल (ताम्र) ही रहता है। दोनों समय उसके वर्ण में कोई

अत्र रक्त एवास्तमेतीति यदि क्रियते तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति । यथा वा—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसङ्ख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥२४५॥

अन्तर नहीं आता है। क्योंकि महान् पुरुषों का रूप, सम्पत्ति तथा विपत्ति दोनों परिस्थियों में एक-सा (समान) ही रहता है ॥ २४४ ॥

अत्रेति। यहाँ उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य में अर्थात् दोनों जगह एक ही 'ताम्र'—इस विशेषण पद का प्रयोग किया गया है। यदि यहाँ 'प्रतिनिर्देश्य में (उक्त ताम्र पद के स्थान पर) 'ताम्र' पद के पर्याय 'रक्त' पद का प्रयोग करके 'रक्त एवास्तमेति च'—कर दें तो 'एव'—इस अन्यपद से अभिहित वही 'ताम्र' अर्थ, भिन्न अर्थ के समान प्रतीत होता है, और सम्पत्ति-विपत्ति दोनों में एकरूपता की प्रतीति को बाधा पहुँचाता है। अतः इसे दोष कहा गया है। अर्थात् जहाँ दो वाक्य में जो उद्देश्य है एवं विधेय है, वे ही उद्देश्य एवं विधेय, द्वितीय वाक्य में भी होने चाहिए। यहाँ 'उदेति सविता ताम्रः' में दोनों वाक्यों में 'सविता तो उद्देश्य है और ताम्रत्व विधेय है।

जहाँ प्रथम वाक्य में जो 'विधेय' है, वहाँ उत्तर वाक्य में वही उद्देश्य हो, जैसे "कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्' (स० उ० श्लो० २२९) यहाँ पर पूर्ववाक्य में जो 'शराः' विधेय है, वही (शराः) उत्तरवाक्य में उद्देश्य है। आगे यदि सर्वनाम (तेन) का प्रयोग न करें तो 'अभेदप्रायाभिज्ञानापत्ति' रूप दोष का प्रसंग प्राप्त होगा। उसी तरह जहाँ प्रथम वाक्य में जो उद्देश्य है, वही उत्तर वाक्य में विधेय होना चाहिए, जैसे—"शुक्लायते शुक्लरुचापि हंसः हंसायते चारुगतेन कान्ता"—यहाँ पर पूर्ववाक्य में 'हंसः' जो उद्देश्य है, वही उत्तरवाक्य में विधेय है। अर्थात् उद्देश्य-विधेय के अन्तर्गत जहाँ उद्देश्य-विधेयभाव हो, वहाँ एकरूपता का होना परम आवश्यक है, अन्यथा भग्नप्रक्रमता दोष हो जाता है।

"भातीन्दुस्तस्य चेन्दोः करनिकर"—में पौनरुक्त्यदोष हो गया है, क्योंकि 'तद' पद से ही 'इन्दु' का परामर्श हो सकता है।

किन्तु 'स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभः'—में पौनरुक्त्य नहीं है, क्योंकि 'स्थाणु' पद का उपादान न करने पर 'सत्' शब्द के अर्थ का परिच्छेद कर पाना संभव नहीं है ॥२४४॥

यथा वेति। अथवा जैसे 'प्रत्यय-प्रक्रम' के भंग का उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं। किरातार्जुनीय महाकाव्य के तृतीय सर्ग में अर्जुन से पाञ्चाली कह रही है—'यशोऽधिगन्तुमिति'। यश की प्राप्ति के लिए, अथवा सुख पाने के लिए, अथवा साधारण लोगों की गणना का अतिक्रमण करने के लिए जो लोग अनासक्त रहते हुए भी निरन्तर उद्योग (अभियोग) करते रहते हैं, उनके अङ्क (गोद) में सिद्धि (सफलता) स्वयं ही उत्सुक होकर आती है ॥ २४५ ॥

अत्र प्रत्ययस्य । सुखमीहितुं वा इति युक्तः पाठः ।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ २४६ ॥

अत्र सर्वनाम्नः । अनेन विसृष्टा इति वाच्यम् ।

अत्र प्रत्ययस्येति । इस उदाहरण में 'प्रत्यय' की भग्नप्रक्रमता है । उक्त पद्य में 'सुखलिप्सया' न कहकर 'सुखमीहितुं वा' कह दिया होता, तो प्रत्यय का प्रक्रम भंग न होता । 'अधिगन्तुम्' के जैसा ही 'तुमुन्' प्रत्ययान्त पद को ही रखना चाहिए था । ऐसा करने से उपक्रम और उपसंहार में एकरूपता प्रतीत होती है । किन्तु कवि ने 'तुमुन्' प्रत्यय के प्रक्रम में 'लिप्सया' कहकर 'सन्' प्रत्यय का उपादान किया है, उस कारण 'प्रत्ययप्रक्रमभंग' नामक दोष हो गया है । 'तुमुन्' प्रत्ययान्त से तो प्रक्रम (उपक्रम = आरंभ) किया, किन्तु आगे चलकर 'सुखलिप्सया' कह दिया, अर्थात् सन् प्रत्यान्त का प्रयोग कर दिया । 'सन्' प्रत्यय में 'क्रिया' की प्रधानता नहीं रहती, अपितु 'इच्छा' की प्रधानता रहा करती है । अतः भिन्न प्रत्यय के कारण उपक्रम से उपसंहार तक एकरूपता की प्रतीति नहीं हो सकी । इससे 'प्रत्ययप्रक्रमभंग' नाम का दोष हो गया है ।। २४५ ।।

सर्वनाम के प्रक्रमभंग का उदाहरण—कुमारसंभव काव्य के षष्ठ सर्ग का यह पद्य है—ते हिमालयमिति । उन मरीचि आदि मुनियों ने प्रस्थान करने के लिए हिमालय से अनुज्ञा लेकर वहाँ से वे चल दिये, और शूली (महादेव) से मिले । शूली को देखकर उनसे कहा कि आपका मनोरथ सफल हो गया है । तदनन्तर उनसे अनुज्ञा प्राप्त कर वे सब मुनि आकाश में उड़ गये, और अपने-अपने आश्रमों में चले गये ।।२४६।।

अत्र सर्वनाम्न इति । इस पद्य में 'इदम्'— इस सर्वनाम के प्रक्रम का भंग हो गया है । अर्थात् 'सिद्धं चास्मै'—में पूर्वानुभूत अथवा पुरोवर्तिविषयक 'इदम्'—इस सर्वनाम के उपक्रम का आगे चलकर 'तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः'— में पूर्वानुभूत किन्तु अप्रत्यक्षविषयक 'तत्'—इस सर्वनाम का प्रयोग किया गया है, उस कारण यहाँ पर 'इदम्' इस सर्वनाम के प्रक्रम का भंग हो गया है । क्योंकि 'अस्मै' कहने से 'महादेव' के निर्देश की प्रतीति होती है । किन्तु आगे चलकर 'तत्' का जो प्रयोग किया गया है, उससे 'महादेव' की तथा 'हिमालय' की भी प्रतीति का निर्देश हो सकता है । अतः इस सन्दिग्ध अवस्था में अर्थात् 'किं हिमालयेन, आहोस्वित् शूलिना विसृष्टाः' इस अनिश्चय की स्थिति में कवि की अभिप्रेत प्रतीति स्थगित हो जाती है । अतः उक्त दोष के निवारणार्थ 'तद्विसृष्टाः' में 'तत्'-सर्वनाम के बजाय 'इदम्'—सर्वनाम का ही उपादान करना चाहिए । अर्थात् 'अनेन विसृष्टाः'—यह कहना चाहिए । तब सर्वनाम के प्रक्रम का भंग नहीं होगा ।

यद्यपि 'तत्' और 'इदम्'—ये दोनों ही सर्वनाम हैं, तथापि 'इदम्' सर्वनाम प्रस्तुत प्रत्यक्ष का परामर्शक है । अर्थात् 'इदम्' सर्वनाम 'पूर्वानुभूतपुरोवर्तिविषय' का

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥ २४७ ॥

अत्र पर्यायस्य । महीभृतोऽपत्यवतोऽपीति युक्तम् । अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूदिति केचित् समर्थयन्ते ।

वाचक होता है । और 'तत्' सर्वनाम, 'अप्रत्यक्षपूर्वानुभूत विषय' का परामर्शक (वाचक) होता है । यह यदि न स्वीकार किया जाय तो 'दोनों' एक दूसरे के पर्याय कहलायेंगे । अत एव वत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने भी अपनी व्याख्या में उक्त तथ्य को ही स्पष्ट किया है ॥ २४६ ॥

पर्याय के प्रक्रमभंग का उदाहरण, कुमारसंभव-काव्य के प्रथम सर्ग के पद्य में उपलब्ध होता है—महीभृत इति । 'मैनाक' आदि पुत्रों के रहने पर भी उस पुत्रवान् हिमालय की दृष्टि, गौरीनामक कन्या रूप अपत्य में ही लगी रहती थी उस कन्या-अपत्य को निरन्तर देखते रहने पर भी उसकी दृष्टि स्नेहातिशय के कारण कभी तृप्त नहीं हो पाती थी । कवि ने अपनी उक्ति की यथार्थता सिद्ध करने के लिए यह दृष्टान्त दिया है कि 'अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा'—अर्थात् ऋतुराज वसन्त में अनन्त पुष्पों की बहार रहने पर भी वसन्त की दृष्टिरूपा भ्रमरावलि (द्विरेफमाला) की विशेष आसक्ति, आम्रमञ्जरी (सहकार के पुष्प) में ही हुआ करती है ॥ २४७ ॥

अत्र पर्यायस्येति । इस पद्य में 'पर्याय' के प्रक्रम का भंग हो गया है । क्योंकि 'अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसंगा'—कवि के द्वारा दिये गये इस दृष्टान्त वाक्य में 'पुष्पसामान्य' और 'पुष्पविशेष' और उनमें भ्रमरों के स्नेह का तारतम्य बताया गया है, वैसे ही 'दार्ष्टान्ति' में अर्थात् 'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्'—में सामान्य अपत्य के सद्भाव (सत्ता) को बताने के लिए यदि कवि 'पुत्रवतः' के बजाय 'अपत्यवतः' कह देता तो यहाँ पर्याय का प्रक्रमभंग न होता ।

किन्तु कुछ साम्प्रदायिक (केचित्) विद्वान् कहते हैं कि 'अपत्यवतोऽपि' इस पाठान्तर के रखने पर भी 'बहुत्व' की अवगति न हो पाने से उक्त दृष्टान्त यहाँ पर संगत नहीं हो पायेगा । क्योंकि 'अपत्यानि अस्य सन्ति'—इस बहुत्व के अर्थ में ही 'मतुप्' प्रत्यय का विधान बताया गया है । इसलिए 'पुत्रवतः' यह प्रयोग, जो महाकवि ने किया है, वही उचित प्रतीत हो रहा है । साम्प्रदायिक अर्थवाले 'केचित्' के प्रयोग से यह प्रतीति हो रही है कि 'वृत्तिकार' को भी महाकवि का किया प्रयोग सम्मत है—चण्डीदास के इस मत को प्रदीपकार ने अपनी व्याख्या में बताकर उसे अनादरणीय कहा है ।

शंका—'सामान्य' और 'विशेष' अर्थ के वाचक 'अपत्य' और 'पुत्र' शब्द को एक दूसरे का पर्याय कैसे कहा जा सकेगा ? क्योंकि समान अर्थवाली भिन्न वर्णानुपूर्वी से विशिष्ट शब्द ही पर्याय होते हैं । किन्तु यहाँ पर तो 'जन्यप्राणित्व' और 'जन्यपुंस्त्व'—ये दोनों शक्यतावच्छेदक भिन्न-भिन्न हैं । अतः इन्हें पर्याय कहना उचित नहीं है ।

समाधान—कुछ विद्वान् 'पुत्र' और 'अपत्य' शब्दों का 'पर्यायत्व' इस प्रकार सिद्ध करते हैं—पर्याय होने के कारण ही अमरकोशकार ने "आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः स्त्रियां त्वमी। आहुर्दुहितरं सर्वेऽपत्यं तोकं तयोः समे"। अर्थात् आत्मजः, तनयः, सूनुः, सुतः, पुत्रः—ये पाँच पर्यायशब्द 'पुत्र' के हैं। ये आत्मज आदि सभी शब्द, स्त्रीलिंग में होने पर 'दुहिता' (कन्या) को बताते हैं। जैसे—आत्मजा, तनया, सूनुः, सुता, पुत्री और ऋदन्त 'दुहिता'। 'दुहिता' शब्द ऋदन्त होने से स्त्रीत्वबोधक 'ङीप्' प्रत्यय नहीं किया जाता, क्योंकि "न षट् स्वस्रादिभ्यः"–(पा० सू० ४।१।१०) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय करने का निषेध किया गया है। 'अपत्यं' और "तोकं' ये दोनों शब्द 'पुत्र' और 'दुहिता' को समानरूप से बताते हैं, ये दोनों शब्द नपुंसकलिंग ही रहते हैं। एवं च 'पुत्र' और 'अपत्य' दोनों को परस्पर पर्याय मानने पर ही अमरकोशकार का वचन संगत हो पाता है।

यदि इन दोनों को पर्याय नहीं मानेंगे तो 'प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वम्'—अर्थात् सभी 'प्रत्यय' प्रकृत्यर्थ से अन्वित हुए स्वार्थ को ही बताते हैं—इस नियम (व्युत्पत्ति) के अनुसार 'पुत्री' शब्द में विहित जो 'ङीप्' स्त्रीप्रत्यय है, वह 'स्त्रीत्व' का अभिधान किसमें करेगा ?

शंका—यदि 'अपत्य' और 'पुत्र' शब्दों को पर्याय मानते हैं तो 'सापत्य' के समान 'सपुत्र' शब्द का प्रयोग करने पर भी 'कन्या या पुत्र' का संदेह तो बना ही रहेगा।

समाधान—पुंस्त्व में तात्पर्य का ग्रहण करानेवाले 'विसर्ग' के रहने से और स्त्रीत्व में तात्पर्य का ग्रहण करानेवाले 'ईकार' के न रहने से सन्देह नहीं होगा। इसलिए 'वंशायतनहेतुत्वरूप' जो 'अपत्यत्व' है, वही 'अपत्य' शब्द का 'शक्यतावच्छेदक' है, और वही 'पुत्र' शब्द का भी है। उस कारण 'पुत्र' और 'अपत्य' दोनो शब्द परस्पर पर्याय हैं।

उक्त रीति से 'पुत्र' और 'अपत्य' शब्दों में परस्पर पर्यायता सिद्ध करना योग्य नहीं है। क्योंकि यदि ये दोनों शब्द 'अपत्यसामान्य' के वाचक होंगे तो दोष का प्रसंग ही नहीं होगा। अर्थात् दृष्टान्त के अनुरोध से 'अपत्य' की प्रतीति जो सामान्य-विशेषभाव से विवक्षित है, वह तो भिन्न-भिन्न शब्दों के रहने पर भी उपपन्न हो सकती है। उस कारण दोषप्रसक्ति की संभावना ही नहीं होगी। दोषप्रसक्ति तो उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य स्थल में ही एकरूपता की प्रतीति के अनुरोध से जब शब्दभेद रहता है, तभी दोष की संभावना होती है, किन्तु यहाँ तो वैसी स्थिति न रहने से दोषप्रसक्ति कैसे हो पायेगी। अभिप्राय यह है कि उद्देश्य–प्रतिनिर्देश्यस्थल में 'एकरूपार्थप्रतीति' का विघात होना ही दूषकता का बीज है। अतएव 'गता' यह उपक्रम किया और उपसंहार में 'याता' कह दिया था, उस कारण वहाँ दोष बताया गया था। प्रकृत उदाहरण में दूषकता का बीज वह नहीं है, अपि तु 'दृष्टान्त–दार्ष्टान्तिक' में वैषम्य है। 'पुत्र' शब्द को 'अपत्य' का पर्याय मानने पर

सामान्य-विशेषभाव से प्रतीति की उपपत्ति हो जाने से दूषकता के बीज का अभाव है, अतः दोष का प्रसंग नहीं है। इसलिए 'एकार्थप्रतिपादकत्वमात्रं पर्यायत्वम्'—समान अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले शब्द ही पर्याय कहलाते हैं। 'न तु एकप्रकारकप्रतीतिजनकत्वं पर्यायत्वम्'—समान प्रकार की प्रतीति को पैदा करनेवाले शब्दों को पर्याय नहीं समझना चाहिए। अतएव 'विपदोऽभिभवन्ति' (श्लो० २४८) इस पद्य में 'लघुता' शब्द से उपक्रम करके 'अगरीयान्' कह दिया है, जिससे समानप्रकारक प्रतीति होती है, तथापि 'पर्यायप्रक्रमभंग' दोष हो जाता है, उसे आगे बतावेंगे। उपर्युक्त 'पर्यायत्व' सामान्य-विशेष बोधक शब्दों में भी अक्षत उपलब्ध होता है। अर्थात् दृष्टान्त में सामान्य-पुष्पों के सद्भाव में विशेष पुष्प में आदर होना जैसे स्वाभाविक है, उसी तरह दार्ष्टान्तिक में भी 'सामान्य अपत्य' की सत्ता को कहने के लिए 'पुत्रवतः' के स्थान पर 'अपत्यवतः' कहना उचित है।

किंच—पुत्र और अपत्य दोनों शब्द, एकप्रकारक प्रतीति के जनक होने से 'पर्याय' हैं, तब उपक्रमानुरोधेन ही उपसंहार का निर्वाह करना चाहिए। अतः 'तस्यां हि पुत्र्याम्'—यह कहना उचित होगा, यही बात वृत्तिकार ने कही है।

चक्रवर्तिकृत विस्तारिका में भी कहा है कि 'जन्यप्राणित्वेन' और 'जन्यपुंस्त्वेन' के कारण 'शक्यतावच्छेदक' का भेद रहने से—'अपत्य' और 'पुत्र' शब्द को एक-दूसरे का 'पर्याय' कैसे कहा जायगा ?

इस पर कुछ लोगों का कहना है कि 'पुत्रश्च दुहिता च' इस प्रकार 'एकशेष' करने से 'पुत्र' पद, 'कन्या' और 'पुत्र' दोनों का बोधक रहने से उनमें 'अपत्यपर्यायता' कही जा सकती है।

किन्तु यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि 'जन्यस्त्री' और 'जन्यपुंस्त्व' इन दोनों से 'जन्यप्राणित्व' भिन्न है। अतः प्रकारभेद के रहने से 'पुत्र' और 'अपत्य' दोनों में पर्यायता नहीं कही जा सकती।

यदि 'विषयमात्र' की एकता से उनमें पर्यायता कहें तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'षण्ढ' में भी अपत्यत्व के रहने से 'विषय' की भी एकता नहीं है।

यदि यह कहें कि 'षण्ढ' में 'अपत्यत्व' नहीं होता है, क्योंकि उसमें सन्तति का अनारंभकत्व रहता है। उस कारण 'अपत्य' शब्द की व्युत्पत्ति उसमें संगत नहीं हो पाती है। 'अपत्य' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'पतति वंशो येन तत् पत्यं, न पत्यम् अपत्यम्'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयैक्य नहीं बन पा रहा है।

किन्तु यह भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'षण्ढ' में भी 'अपत्य' शब्द का व्यवहार (प्रयोग) किया जाता है। तथा आजन्म अविवाहित (अनूढ) को भी 'अपत्य' कहा करते हैं। अतः 'अपत्यत्व' में उक्त व्युत्पत्ति को प्रयोजक बताना ठीक नहीं है। इसलिए केवल 'विषयैक्य' के बल पर पर्यायता कहना ठीक नहीं है। अन्यथा 'घटो

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥ २४८ ॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिं लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इति युक्तम् ।

द्रव्यम्' में भी पर्यायता कहनी होगी । क्योंकि वहाँ भी विषयैक्य का अभाव नहीं है । अतः पूर्वोक्त रीति से ही पर्यायता को समझना चाहिए ॥ २४७ ॥

अब उपसर्ग तथा पर्याय के प्रक्रमभंग को एक ही पद्य के द्वारा बता रहे हैं । किरातार्जुनीय महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में 'युधिष्ठिर' से 'भीम' कह रहा है ।

चन्द्रिका और उद्योतकार ने इस उदाहृत पद्य को 'द्रौपदी' की उक्ति के रूप में जो बताया है, वह ठीक नहीं है ।

विपद इति । विक्रम न करनेवाले पराक्रमरहित कातर व्यक्ति को विपत्तियाँ दबोच देती हैं अर्थात् उसे तिरस्कृत कर देती हैं । विपत्तियों से घिरे हुए व्यक्ति को उत्तरकाल-शुद्धि (आयति) त्याग देती है (रहयति) । अर्थात् उसका शुभोदर्क नहीं हो पाता है । (निरायतेः) शुभोदर्करहित व्यक्ति की लघुता का होना अवश्यंभावी है । इस प्रकार गौरवहीन (अगरीयान्) व्यक्ति (लघुता को प्राप्त हुआ व्यक्ति) राजा बनने के योग्य नहीं रहता । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को पौरुष (प्रयत्न) अवश्य ही करना चाहिए ॥ २४८ ॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य चेति । इस पद्य में जो 'विपदः' पद है, उसका आरंभ (उपक्रम) 'वि' उपसर्ग से किया है, और उपसंहार में 'आपदुपेतम्' कहा है । 'आपद' में 'आङ्' का उपादान (ग्रहण) किया है । उस कारण 'उपसर्ग' का 'प्रक्रमभंग' दोष हो गया है । तथा 'लघुता' इस पर्याय-प्रक्रम का 'अगरीयान्' इस पर्यायान्तर के प्रयोग से 'पर्याय' के प्रक्रम का भंग हो गया है । उक्त 'उपसर्ग–पर्यायप्रक्रमभंग' दोष को हटाने के लिए कुछ पाठान्तर कर दिया जाय तो उक्त दोष नहीं होगा । पाठान्तर इस प्रकार करना चाहिए—

"विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं तदभिभवः कुरुते निरायतिम् ।
लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान् न पदं नृपश्रियः ॥"

विशेष विवरण—कुछ लोगों का कहना है कि 'नृपश्रियः' में युधिष्ठिर के संबोधनार्थ 'नृप' यह सम्बोधन है । प्रदीपकार ने 'नृपश्रियाम्' यह पाठ दिया है ।

इस पद्य में उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व में कारणता रहने से 'कारणमाला' नाम का अलंकार है । 'सुन्दरी' अथवा 'वैतालीय' छन्द है । "अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा"—(छन्दोमं० स्तब० ३) । तथा "षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयन्ते रलौ गुरुः" ॥—

(वृत्तरत्नाकर) अर्थात् विषम पाद में छह मात्रा। तदनन्तर रगण लघु गुरु होते हैं। समपाद में आठ कला (मात्रा) तदनन्तर रगण लघु गुरु होते हैं।

किंच—समपाद में छह कला छह लघु निरन्तर नहीं होते हैं। तथा इस वैतालीय में सभी पादों में सम कलाएँ, सम लघु के पराश्रित नहीं होतीं। अर्थात् समा लघुकला, परकला के साथ गुरु नहीं होती है।—यह वैतालीय छन्द का वृत्तरत्नाकरोक्त लक्षण है।

यहाँ पर 'आपत्' कहकर 'उपसर्ग' का प्रक्रमभंग और 'अगरीयान्' कहकर 'पर्याय' का प्रक्रमभंग बताया गया है।

द्वितीयादि तीन पादों में वृत्तिकार ने 'तदभिभवः' कहकर उचित पाठ का 'तदिति' से निर्देश किया है। तासां विपदामभिभवः विपत्कर्तृकाभिभव इत्यर्थः।

प्रदीपकार का प्रस्तुत प्रसंग में यह कहना है कि "तदभिभवः कुरुते निरायतिम्। लघुतां भजते निरायतिर्लघुताभागपदं नृपश्रियाम्॥—यदि छन्दोभंग न होता हो तो यह पाठ उचित प्रतीत हो रहा है।"

प्रदीपकार के कहने का आशय यह है कि 'विपदोऽभि'—इस पद्य में यदि 'सुन्दरी' छन्द हो तब उक्त पाठ रखने से छन्दोभंग हो जाता है, उस कारण वृत्तिकार के प्रदर्शित किये पाठ को अयुक्त कहा जायगा।

किन्तु जब वैतालीयछन्द हो तब छन्दोभंग न होने के कारण वृत्तिकार के पाठ को युक्त ही कहना होगा।

विवरणकार ने 'तदभिभव'—इस वृत्ति में 'तत्' को 'तस्मात्' के अर्थ में 'अव्यय' बताया है। उसका 'युक्तम्' के साथ अन्वय है। 'अभिभवः' से आरंभ करके ही वृत्तिकार के कल्पित द्वितीयचरण के पाठ को मानकर ही यह कहा है कि 'प्रकृतदोषपरिजिहीर्षयैव कल्पितेऽस्मिन् पाठे छन्दोभंगो न दोषाय, निर्दोषवाक्यमात्रसमर्थनपरत्वादस्य। वस्तुतः द्वितीयपाद में 'अभिभूतिः कुरुते निरायतिम्' इसी पाठ की कल्पना करना उचित होगा।"

किन्तु विवरणकार का उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। उनके कल्पित पाठ में छन्दोभंग न होने पर भी विकसितसहकारतारहारिन—(श्लो० २१७) के समान 'हतवृत्तत्व' नामक दोष होने लगेगा।

वस्तुतस्तु वृत्तिकार के कल्पित पाठ में छन्दोभंग है ही नहीं। तच्छब्दघटित द्वितीय-चरण के पाठ की कल्पना वृत्तिकार ने की है, क्योंकि 'वैतालीय छन्द' यहाँ पर है। इस कथन से यह स्पष्ट हो रहा है कि चक्रवर्ती ने जो कहा है—"वृत्तौ (काव्यप्रकाशे' युक्त-मित्ययुक्तम् छन्दोभंगप्रसंगात्। अतः शेषं पूरयति यदि न छन्दोभंग इति"—प्रभाकार के द्वारा उल्लिखित जो यह प्रदीपकार का अवतरण है, उसका "तदिति शोधकमाम्, न पाठकल्पनम् छन्दोभंगापाता"—से खण्डन हो जाता है॥ २४८॥

अब वचन के प्रक्रमभंग का उदाहरण दे रहे हैं। माघकाव्य के पन्द्रहवें सर्ग में युद्धार्थ प्रस्थान करने के लिए उद्यत हुए शिशुपालपक्ष के राजाओं की पत्नियों की अमंगलचेष्टाओं का वर्णन किया जा रहा है।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः॥ २४६॥

अत्र वचनस्य, 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा-निःश्रीका' इति, 'कम्पमाना' इत्यत्र 'कम्पमापुरि'ति च पठनीयम्।

काचिदिति। चेदिराज शिशुपाल के पक्षवर्ती राजालोग जब युद्धार्थ प्रस्थान के लिये उद्यत हुए, तब किसी राजा की पत्नी (नायिका) आर्तव (मासिक धर्म) से व्याप्त (कीर्णा) अर्थात् रजस्वला होने के कारण कान्तिहीन हुए मुखचन्द्र के द्वारा (रज=धूलि से आच्छादित हो जाने के कारण मन्दकान्ति वाले चन्द्र से युक्त) आकाश का अनुकरण कर रही थी। और कुछ नायिकायें, शोभा से हीन हो गई थीं, और अपने मन (चित्त) में घबड़ाती हुई (दिग्दाह के समय घबड़ाये हुए सत्त्वों [प्राणियों] से युक्त दिशाओं के समान अपने हृदय में (अन्तः) सन्तप्त हो रही थीं। अन्य (अन्याः) नायिकायें वायुचक्र (वात्या = आंधी) के समान चक्कर काट रही थीं। और दूसरी (अपराः) कुछ नायिकायें पग-पग पर (प्रतिपदं) भूकम्प के समय की भूमि के समान कांप रही थीं। इस प्रकार रणभूमि पर शिशुपालपक्षीय राजाओं के प्रस्थान करते समय भविष्य में होने वाले अनिष्ट को स्त्रियों ने पहिले से ही प्रकट कर दिया, अर्थात् सूचित कर दिया॥ २४९॥

अत्र वचनस्येति। इस पद्य में 'वचन' की भग्नप्रक्रमता हो गई है। पद्य के आरंभ में तो काचित्'—इस एकवचन का प्रयोग किया है, आगे चलकर द्वितीयादिचरणों में 'काश्चित् दधिरे; और 'काश्चित् भ्रेमुः' आदि बहुवचनों का प्रयोग किया है। उस कारण 'वचनकृत-भग्नप्रक्रमता' दोष हो गया है।

इस दोष को दूर करने के लिये प्रथम चरण में भी बहुवचन का प्रयोग कवि को करना चाहिये था। अर्थात् 'काश्चित् कीर्णा रजोभिः' 'दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभाः', 'निःश्रीकाः' और 'कम्पमानाः' के स्थानपर 'कम्पमापुः' कहना चाहिये था।

विशेष विवरण—युद्ध भूमि पर जाने वाले राजाओं के प्रस्थान करते समय राजपत्नियों की अमंगल चेष्टाओं से भविष्य में अनिष्ट की सूचना के वर्णन का प्रसंग है। इस प्रसंग को देखते हुए प्रतीत होता है कि उद्योतकार ने 'पार्थिवानां त्वद्द्विषाम्'—यह जो व्याख्या की है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वजनसाधारणतया पूर्ववृत्तान्त का ज्ञापन करनेवाले माघकवि की इस सूक्ति में 'त्वद्' शब्द से बोध्य होनेवाला कोई सम्बोध्य है ही नहीं। 'अनुविदधौ' का अर्थ है—'अनुकृतवती' अर्थात् अनुकरण करने-

लगी। जैसे रजस्वला स्त्री के मुख की शोभा म्लान हो जाती है, वैसे ही रज (धूल) से भरे आकाश में चन्द्र की शोभा म्लान हो गयी थी—यह कथन, समस्त राजाओं के क्षयरूप उत्पात की सूचना दे रहा है।

कुछ लोगों ने यहाँ नायिका के पक्ष में ऐसी भी व्याख्या की है कि पतिवियोग के दुःख से दुःखी होकर भूतल पर गिर जाने से उस नायिका का मुख; धूल से धूसरित हो गया था।

'उद्भ्रान्तसत्त्वाः'—जिनका व्याकुल न होनेवाला सत्त्वगुण 'उद्भ्रान्तं' व्याकुलीभूतम् अर्थात् व्याकुल हो गया है। अथवा जिनका चित्त (सत्त्व) उद्भ्रान्त हो गया है, अर्थात् जिन स्त्रियों के चित्त में घबराहट (आकुलता-व्याकुलता) होने लगी है। ऐसी कुछ नायिकाओं ने शोभाहीन (अश्रीकाः) होती हुई दिशाओं की तरह अपने हृदय में (अन्तःमन में) सन्ताप को धारण कर लिया। अर्थात् राजाओं के प्रस्थान करते समय विक्षिप्त (उद्भ्रान्त) की तरह हुए प्राणिवर्ग इधर-उधर दिशाओं में (चारों ओर) घूमने लगे—ऐसी दिशाओं ने 'दाहं दधुः' अग्नि को धारण किया अर्थात् हेतुलक्षणा से दाह का अर्थ 'अग्नि' समझना चाहिये। यह कहकर दिग्दाहरूप अमंगल की सूचना व्यक्त की गई है।

कुछ नायिकायें बातसमूह (बात्या) के समान पग-पग पर (प्रति पदं) भ्रमण करने लगीं, अर्थात् नायिकाओं को पदे-पदे (पग-पग पर) चक्कर आने लगे। 'वात्या' में 'वात' शब्द से समूह के अर्थ में 'पाशादिभ्यो यः'—(पा. सू. ४।२।४९) सूत्र से 'य' प्रत्य किया गया है। यह बताकर प्रस्थान के समय आँधी (वात्या) भी चलने लगी। आंधी का बहना भी अमंगल सूचक है। कुछ नायिकाएँ भूमि के समान कम्पयुक्त (कम्पमान) हो गईं। यह कहकर कवि ने सूचित किया है कि उस समय 'भूकम्प' भी हो गया था। यह भूकम्प होना भी अमंगल का सूचक है। एवञ्च वात्या, भ्रमण, भूकम्प'—ये सब अशुभ सूचक होते हैं।

एवञ्च आकाश का धूलिमय कान्तिहीन नक्षत्रों से युक्त हो जाना, तथा दिशाओं का अन्धकारपूर्ण हो जाना, अथवा सन्त्रस्त होकर जीव-जन्तुओं, श्वापदों का चारों ओर भागना (भगदौड़) होना; तथा चक्कर खा-खाकर पग-पगपर गिरना तथा भूडोल (भूकम्प-भूचाल) होना—ये सब अमंगल (अशुभ) सूचक हुआ करते हैं। वचनभंगदोष को जैसे हटाया है, उसी तरह 'कम्पमाना' की जगह 'कम्पमापुः' कर देना चाहिये, क्योंकि 'अनुविदधुः' के आख्यातप्रक्रम का 'कम्पमानाः' के शानच् प्रत्ययान्त नाम पद के प्रयोग में जो भंग हो रहा है, वह नहीं हो पाएगा।

'असिद्धिहेतुक-विसन्धि' दोष के निवारणार्थ 'अश्रीकाः' के स्थान पर 'निःश्रीकाः' कर देना चाहिये। उसी तरह 'आख्यातप्रक्रमभंग' दोष के निवारणार्थ 'कम्पमानाः'

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम्।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥ २५० ॥

अत्र कारकस्य। 'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिमि'त्यदुष्टम्।

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा-
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति।

को जगह 'कम्पमापुः' कर देना चाहिये। अन्यथा 'अनुविदधौ', 'दधिरे'—इत्यादि क्रिया-प्रधान तिङन्त का उपक्रम करके द्रव्यप्रधान शानजन्त 'कम्पमानाः'—इस नामपद का उपादान करने से 'आख्यातप्रक्रमभंग'-नामक दोष हो जायगा। तिङन्तपदों में क्रिया-प्रधानता और नामपदों में द्रव्यप्रधानता होती है—यह बात यास्कमुनि ने निरुक्त में कही है—"भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि" 'भाव' शब्द का अर्थ, यहाँ पर 'क्रिया' है। आख्यात' का अर्थ 'तिङन्त' है, 'सत्त्व' का अर्थ, 'द्रव्य' है और 'नाम' का अर्थ 'प्रातिपदिक' है। प्रदीपकार ने कहा भी है कि 'शतृ—शानच्'—ये दोनों गुणी-भूत क्रियान्तर के अभिधायक हुआ करते हैं, "शतृशानचोर्गुणीभूतक्रियान्तराभिधाय-कत्वात्"। प्रस्तुत में कोई क्रियान्तर 'प्रधान' नहीं है। 'गुणीभूतक्रियान्तर' का अर्थ है कि क्रियान्तर के प्रति गुणीभूत रहनेवाले स्वार्थ के अभिधायक। एवञ्च आख्यात-प्रक्रमभंगप्रसंग के निवारणार्थ 'कम्पमापुः' कहना ही उचित है ॥ २४९ ॥

अब कारक के प्रक्रमभंग का उदाहरण दे रहे हैं। शाकुन्तलनाटक के द्वितीय अंक में महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखते ही मृगया की अभिलाषा से विरत-हुआ राजा दुष्यन्त अपने सेनापति से कह रहा है। इस प्रसंग में उपक्रमस्थ "अद्य-तावत्" का अन्वय, पद्यगत सभी वाक्यों के साथ समझना चाहिये।

गाहन्तामिति। ये महिष (भैंसे) अपने मन से शिकार का भय आज त्याग दें, और शरीर पर बैठने वाली मक्खियों को उडाने के लिये सींगों से बार-बार उछाले गये कूपके समीपवर्ती क्षुद्र जलाशय (आहाव = निपान) के जल में यथेच्छ अवगाहन करें। तथा वन के वृक्षों की छाया में झुण्ड बना कर बैठा हुआ हरिणों का समूह निर्भय-होकर यथेष्ट जुगाली (रोमन्थ) करे। तथा वराहपति भी चिन्ता रहित होकर पोखर के किनारे होने वाले नागरमोथे को खोदकर खायें, तथा हमारा शिथिलप्रत्यञ्चावाला यह धनुष भी आज विश्राम ग्रहण करे ॥ २५० ॥

अत्र कारकस्येति। इस पद्य में कारक की भग्नप्रक्रमता है। उसके निवारणार्थं 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले'—यह पाठ रखना चाहिये। अर्थात्

अभिनवधनुर्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरति रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥ २५१ ॥

अत्र क्रमस्य । पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम् एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम् ।

'गाहन्ताम्०' इस 'कर्तृकारकवाचक तिङ्' से तो आरम्भ किया है, और आगे चलकर 'अभ्यस्यताम्' तथा 'क्रियताम्'—इन 'कर्मकारकवाचक का उपादान किया गया है। अतः 'कारक-प्रक्रमभंग' हो गया है। एवं च यहाँ पर 'गाहन्ताम्'—इस 'कर्तृतिङ्' का प्रारम्भ करके आगे 'क्रियन्ताम्' कह दिया है। अतः 'कारकप्रक्रमभंग' दोष हो गया है। वृत्तिकार ने 'सूकरवराः'—प्रयोग में दन्त्यसकार का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं 'शूकरवराः'—ऐसा तालव्य शकार का भी पाठ उपलब्ध होता है। "तालव्या अपि दन्त्याश्च संबसूकरपांसवः" वृत्तिकार ने दन्त्यसकार का ग्रहणकर 'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' जो कहा है, उसके स्थान में 'विश्रब्धः कुरुतां वराहनिवहो मुस्ताक्षतिम्पल्वले'—यदि कहते तो अधिक उचित होता, जिससे 'आत्मनेपदप्रक्रमभंग' भी नहीं होगा। वृत्तिकार के पाठ में 'सूकर' शब्द, 'ग्राम्य' है और 'बंधशैथिल्य भी है।

अब क्रम के प्रक्रमभंग का उदाहरण दे रहे हैं। वीरचरित नाटक के द्वितीय अंक में धनुर्भङ्ग किये जाने के कारण क्रुद्ध हुए भार्गव–परशुराम जब आये, तब उनसे श्रीरामचन्द्र कह रहे हैं—

अकलितेति । जिसके अचिन्तनीय तप और तेज के पराक्रम का आकलन नहीं किया जा सकता, तथा अमोघ एवं वास्तविक पराक्रम के मद से भरे हुए मुनि परशुराम क्रोध के साथ इधर हो आ रहे हैं। अतः मेरा भी हाथ, अभिनव (नवीन शिक्षित अथवा अलौकिक) धनुर्विद्या के उचित (युद्ध अथवा बाण के आकर्षण) कर्म का प्रदर्शन करने हेतु प्रतीक्षा कर रहा है। किन्तु साथ ही साथ मन में श्रद्धा उत्पन्न होने के कारण उनके चरणों का स्पर्श करने के लिये आवेग से फड़क भी रहा है, अर्थात् स्फुरित हो रहा है ॥

विशेष विवरण ॥ यहां सर्वत्र 'एकरूपेण प्रसृत होने वाली प्रतीत्ति का 'स्थगन' अथवा 'उपघात' (चमत्कारापकर्ष) होना ही दूषकता में बीज है। प्रदीपकार ने कहा भी है—"प्रक्रमस्याऽन्यथात्वेन प्रतीतौ प्रस्खलद्गतौ । ह्लादः स्फुरन्ननास्वादी यत्र ग्लानत्वमश्नुते ॥ दोषः प्रक्रमभेदाख्यः शब्दानौचित्यभूश्च सः" अत एव यह 'नित्य-दोष' है।

जैसे—उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्यस्थल में "नाथे निशायाः"—(श्लोक २४३) में एकरूपता की ही प्रतीति विवक्षित है। तथा "यशोऽधिगन्तुम्'—(श्लोक २४५) में भी, यशःप्रभृति आदि फलों को बताकर 'एकरूपता' की प्रतीति कराना ही अभीष्ट है। तथा "महीभृतः"—(श्लोक २४७) में भी अपत्य के रूप की एकता को बताना

(२० अक्रमता)

अविद्यमानः क्रमो यथा—

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ २५२ ॥

अत्र त्वंशब्दानन्तरं चकारो युक्तः।

ही दृष्टान्त के कारण इष्ट ही है। तथा "काचित् कीर्णा"—(श्लोक २४९) में भी अशुभ सूचक के रूप में एकरूपता बताना ही अभीष्ट है। तथा "गाहन्ताम्"(२५०)में भी तत्तत् क्रियाकर्तृत्व को एकरूपता में (मृगयानिवृत्तिप्रयुक्तत्वेन) ही बताना अभीष्ट है। एवं "अकलित०"—(श्लोक २५१) में भी 'यथासंख्यन्याय' से पूर्वोक्त क्रम-की एकरूपता का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। यहां तक 'भग्नप्रक्रमता' ('संख्या १९) दोष के (१) प्रकृतिगत, (२) प्रत्ययगत, (३) सर्वनामगत, (४) पर्यायगत, (५) उपसर्गगत, (६) वचनगत, (७) कारकगत, (८) क्रमगत—इन आठ उदाहरणों को बताया है।

अत्र क्रमस्येति। उक्त पद्य के प्रथम तथा द्वितीय चरण के अर्थ, यथाक्रम 'चरणा-भिवादन' और 'बाण का आकर्षण' करने में 'हेतु' बताये गये हैं। उस कारण तीसरे चरण में 'पादोपसंग्रहणाय' को कहना चाहिये था और उसके बाद 'अभिनवधनु-र्विद्यादर्पक्षमाय च कर्मणे' कहना चाहिये था। किन्तु कवि ने यथाक्रम नहीं कहा, उस-कारण यहाँ 'क्रमप्रक्रम' का भंग हो गया है।

विशेष विवरण—यहाँ पर एकरूपता की प्रतोति का स्थगन अथवा उपघात का होना ही दूषकता का बीज है। "प्रक्रमस्यान्यथात्वेन प्रतीतौ प्रस्खलद्गतौ। ह्लादः स्फुर-न्नास्वादो यत्र ग्लानत्वमश्नुते ॥ दोषः प्रक्रमभेदाख्यः शब्दानौचित्यमूश्च सः।" इसलिये यह नित्य दोष है ॥ २५१ ॥

(२०) अक्रमता दोष—'अक्रम' शब्द की व्याख्या करते हैं—अविद्यमान इति। जिस पद के अनन्तर जिस पद का उपादान करना उचित है, वहाँ उसका उपादान न करके अन्यत्र कहीं उसका उपादन कर देना ही 'अक्रम' दोष कहलाता है।

'अक्रम' नामक पददोष के उदाहरण को बताते हैं 'यथे'ति। जैसे—कुमारसम्भव-काव्य के पञ्चम सर्ग में "द्वयं गतमिति"। कपालों की माला पहने हुए (कपाली) के साथ समागम की कामना (प्रार्थना) करने से उस कलाधर चन्द्रमा की कान्तिमती 'कला' और सम्पूर्ण जगत् के नेत्रों की चन्द्रिका स्वरूप तुम (पार्वती)—ये दोनों ही सचमुच शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो गई हो ॥ २५२ ॥

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ ! दोषाकरश्री-
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्गयष्टिः।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्रोच्येवेत्थं प्रकोपाच्छशिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥ २५३ ॥

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति वाच्यम् । तथा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या" इत्यादौ 'इति श्रीनियोगादिति' वाच्यम् ।

अत्रेति । इस "त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी" पद्य में कवि को 'लोकस्य' के बाद 'च' कार–नहीं कहना चाहिये अपितु 'त्वं' के वाद कहना चाहिये था । 'च' कार की गणना 'निपात' में की जाती है। उसका उचित स्थान पर प्रयोग नहीं किया गया है। क्योंकि यहां पर 'च' से 'समुच्चय'—अर्थात् 'कलाधर' को 'कला', और 'त्वं' (पार्वती) इन दोनों की 'शोचनीयता' अभिप्रेत है। 'लोक' पदार्थ की शोचनीयता में उसका अभिप्राय नहीं है। वास्तव में समुचयद्योतक 'च' का प्रयोग तो 'त्वं' के साथ करना चाहिये था ॥ २५२ ॥

विशेष विवरण– 'भग्नप्रक्रमता' और 'अक्रमता'—इन दोनों में अन्तर यह है— 'उपक्रम' की शैली के अनुरूप ही 'उपसंहार' की भी शैली को अपनाना चाहिये। उपक्रम की शैली का त्याग कर बीच में ही 'शैली' को बदल देने से 'भग्नक्रमता' दोष कहलाता है। किन्तु 'अक्रमता' दोष तब होता है, जब 'प्रयुज्यमान' पद को उसके 'उचित स्थान' पर न रखकर उसे कहीं भी 'अनुचित स्थान' पर प्रयुक्त किया जाता है।

शंका—'अपदस्थ पद' से इसका क्या अन्तर है ?

समाधान—जहाँ अव्यवधान से 'अभिमत अर्थ' की प्रतीति नहीं होती है वहां 'अक्रम' (अपदस्थपद) दोष होता है। और अन्यत्र 'सुबन्त एवं तिङन्त' पदों की अपदस्थता में उसे 'अपदस्थ पद' कहते हैं। क्योंकि यह नियम है कि—'उपसर्गों' का तो 'धातु' के पूर्व में ही प्रयोग हुआ करता है। किन्तु 'एव' आदि का 'व्यवच्छेद्य' के अनन्तर, 'पुनः' आदि का 'व्यतिरेच्य' के अनन्तर, 'इव' आदि का 'उपमान' के अनन्तर, 'च' आदि का 'समुच्चेतव्य' के अनन्तर ही प्रयोग हुआ करता है।

जहाँ काव्य की रचना 'प्रस्तुत अर्थ' को बताने में असमर्थ रहे वहाँ 'अक्रमत्व' दोष होता है, और जहाँ 'अर्थ' को बताने में समर्थ होती हुई भी 'अनुचित' स्थान में प्रयुक्त हुई हो, वहाँ 'अपदस्थपदत्व' दोष होता है। तथा 'अर्थक्रम' में जहाँ अनुचित्त हो, वहाँ दुष्क्रमत्व' दोष, और 'उपक्रमोपसंहार' के अननुरूप जहाँ हो, वहाँ 'प्रक्रमभंग' दोष होता है।

शंका—'अनभिहितवाच्यत्व' और 'न्यूनपदत्व' में क्या भेद है ?

समाधान—'द्योतक' पद का प्रयोग न करने पर 'अनभिहितवाच्यत्व' दोष होता है, और 'वाचक' पद का प्रयोग न करने पर 'न्यूनपदत्व' दोष होता है।

मतान्तर—कुछ लोगों का कहना है कि 'अपदस्थपदता' और 'अक्रमपदता' में यह भेद है कि पहिले में 'प्रतीत्यन्तर' होता है और दूसरे में 'प्रतीति' तो वही होती है जो होनी चाहिये, किन्तु विलम्ब से होती है।

खंडन—किन्तु उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है क्योंकि 'कुटिला ताम्रच्छविः'—(श्लो. २३७) पद्य में 'अपदस्थ पद के रहने पर भी 'प्रतीत्यन्तर' नहीं हो रहा है।

अतः हमारा पूर्वोक्त कथन 'अव्यवधान से ही अभिमत प्रतोति जहाँ होती है वहीं 'अक्रमपद' दोष का वारण हो जाता है। अन्य दोष का अन्य उदाहरण है। 'च' आदि निपातों की अव्यवहित पदार्थों में ही समुच्चयादि की द्योतकता होती है। महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में कहा भी है—"अतएव व्यवहितैर्बुधा नेच्छन्ति चादिभिः। सम्बन्धं ते हि स्वां शक्तिमुपदध्युरनन्तरे" ॥

शंका—तब तो अव्यवहित रहनेवाले 'नञ्' से भी अभिमत प्रतीत होती है। अतः 'स्रजं न काचिद् विजहौ'—(श्लो. २३६) में भी 'अक्रमपदता' (अपदस्थपदता) दोष नहीं होना चाहिये।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'न खलु न खलु बाणः संनिपात्योऽयमस्मिन्'—में व्यवधान रहने पर भी प्रतीतिविशेष नहीं हो पाता है—यह प्रदीपकार का कहना है। एवञ्च द्वयं गतं सम्प्रति–'—(श्लो. २५२) में 'त्वम्' के बाद 'च' का प्रयोग करना उचित है। केवल 'च' आदि पदों में ही यह 'अक्रमता' दोष होता है, यह तात्पर्य नहीं है, अपितु 'इत्थम्' आदि पदों को अनुचित स्थान पर रख देनेसे भी यह 'अक्रमता' दोष होता है।

उक्त कथन को ही एक दूसरे उदाहरण के द्वारा बताते हैं—

यथावेति। जैसे—'शक्तिरिति'। यस्य=जिसकी (किसी राजा की) शशिकरसितया=चन्द्र के किरणों के तुल्य धवल कीर्ति, प्रकोपात्=क्रोध से, इत्थं=इस प्रकार प्रोच्येव=कहकर ही मानों प्रयातम्=बहुत दूर भाग गई, अर्थात् राजा की कीर्ति चतुर्दिक् चारों ओर फैल गई ॥ इस चतुर्थचरणगत कीर्ति में 'स्त्रीत्व' के रहने से पत्नीत्व' का अध्यवसाय किया गया है। तथा इसके पूर्व चरणों में प्रयुक्त 'शक्ति' आदिकों में 'असती नायिकाओं' का अध्यवसाय किया गया है। क्या कहती हुई सी भाग गई ? इसके उत्तर में कहते हैं कि हे नाथ ! यह प्रत्यक्ष है—आपके भुजयुगल, (बाहुयुगल, में

निवास करनेवाली 'शक्ति', 'निस्त्रिंशजा' है। निर्गतः त्रिंशतः अङ्गुलिभ्यः—अर्थात् तीस से भी अधिक आदमियों से सम्बन्ध रखनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री से उत्पन्न है, जो तुम्हारा आलिंगन कर रही है। अर्थात् यह 'शक्ति' (सामर्थ्य) रूपी 'नायिका; हे राजन्! तुम्हारे एक भुज में ही नहीं, अपितु 'भुजयुगल' (बाहुयुग्म में = दोनों भुजाओं में) प्रतिवसति = निवास कर रही है। तथा=उसी तरह यह 'दोषाकरश्रीः' अर्थात् 'चन्द्र' की शोभा, अर्थात् चन्द्रमा का सौन्दर्य आपके मुखमण्डल पर विराज रहा है, और दूसरे पक्ष में—दोषाणाम् आकरस्य = महान् मूर्ख की शोभा, अथवा 'दोषाकरा' अर्थात् दूषणाश्रया (अनेक दोष जिसमें भरे हुए हैं) ऐसी 'श्री' अर्थात् 'शोभा; तव= तुम्हारे, वक्त्रे = मुख में प्रतिवसति = निवास कर रही है—अर्थात् तुम्हारे मुखका चुम्बन कर रही है। तथा तव पार्श्वे तुम्हारे = पार्श्व प्रदेश में अर्थात् पार्श्वभाग में एषा = यह प्रत्यक्ष, महाकुट्टनी = अत्यन्त दुश्चरित्रा, और दूसरे पक्ष में—बड़ा आघात पहुँचाने वाली और शम्भली=पर स्त्री-पुरुषों का संघटन करा देने वाली खड्ग यष्टि = तलवार प्रतिवसति = रहाकरती है अर्थात् लटकी रहती है—यह कह-कर पर-स्त्री में आसक्तता व्यक्त की गई है। तथा यह आज्ञा, अर्थात् आदेश, सर्वगा = सर्वगामिनी अर्थात् सभी के पास पहुँचने वाली (सबके द्वारा ग्राह्य अर्थात् सर्वोपभोग्या, कुलटा है), अर्थात् व्यभिचारिणी होने पर भी, ते पुरः = तुम्हारे सामने, विल-सति = विलास करती रहती है। कहीं-कहीं 'प्रसरति' पाठ भी है, तदनुसार इधर-उधर संचार करती रहती है अर्थात् जाती रहती है—यह अर्थ किया जायगा। (ते मया-वृद्धया किम् = इस प्रकार के तुझ जैसे दुश्चरित्र को मुझ जैसी बूढ़ी = कीर्ति से क्या प्रयोजन है? दूसरे पक्ष में दूर-दूर तक वृद्धिगत हुई (प्रसृत हुई) मुझ कीर्ति से तुम्हें अब क्या प्रयोजन है? यह कहकर चन्द्रकरणों के तुल्य निर्मल-उज्ज्वल कीर्ति वहाँ से चली गई अर्थात् सर्वत्र प्रसृत हो गई ॥ २५३ ॥

अत्रेत्थमित्यादि। उक्त पद्य में चतुर्थ चरणगत 'प्रोच्येवेत्थं' की जगह 'इत्थं प्रोच्येव' कहना चाहिये था, क्योंकि 'इत्थं' शब्द, 'अव्यवहित पूर्व का परामर्शक होने से 'पादत्रय' का ही 'परामर्श' करेगा, 'वचन' का नहीं। अर्थात् पूर्वपरामर्शक 'इत्थं' शब्द का सम्बन्ध तीनों चरणों से है, न कि 'प्रोच्येव' पद से। एवंच कबि के द्वारा 'अन्यथाकरण' किये जाने से 'अक्रमत्व' दोष हो गया है।

उसी प्रकार 'गर्भितत्व' के द्वितीय उदाहरण के रूप में प्रदर्शित 'लग्नं रागावृता-ङ्ग्या' (श्लो-२४१) इस पद्य में भी 'अक्रमत्व दोष' हो गया है। इसी बात को ग्रन्थ-कार 'तथेति' से कह रहे हैं। 'लग्नं रागावृताङ्ग्या' में भी 'इति श्रीनियोगात्' कहना चाहिये था, क्योंकि 'इति' शब्द भी 'अव्यवहित पूर्व' का परामर्शक होता है। यहाँ पर 'उद्देश्य' की प्रतीति का न होना ही 'दूषकता' का बीज है। अतः यह 'नित्यदोष' है।

(२१ अमतपरार्थता)

अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र । यथा—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २५४ ॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ॥

'आकांक्षा' के न हो पाने से अथवा 'आसत्ति' के न होने से भी 'उद्देश्यप्रतीति' न ही हो पारही है। 'शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं'—यह उदाहरण 'आकांक्षा विरह' का है, और 'लग्नं रागावृताङ्ग्या'—यह उदाहरण 'आसत्ति' न होने का है—यह तथ्य, 'पदीपोद्योत' में स्पष्टतया कहा गया है ॥

'निस्त्रिंशजा'—निर्गतः त्रिंशतः अंगुलिभ्यः निस्त्रिंशः खड्गः, तज्जा = निस्त्रिंशजा। यहाँ पर 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या'—इस वार्तिक से 'तत्पुरुषसमास' हुआ है, और 'संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः'—इस वार्तिक से 'डच्' प्रत्यय हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि 'बहुव्रीहौ संख्येये''—(पा. सू. ५।४।७३) इस पाणिनिसूत्र से 'डच्' होता है, किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ 'बहुव्रीहि' समास नहीं है। 'खड्ग' का परिमाण तीस अंगुलि का होता है।

अथवा 'निस्त्रिंशजा'—त्रिंशद्भ्यो निर्गता निस्त्रिंशाः, त्रिंशदधिकाः, तज्जा तदुत्पन्ना। एवं च नानापितृजन्या वेश्यापुत्रीत्वाद् वेश्या इति फलितम्। अथवा "निस्त्रिंशो निघृणे खड्गे"—इस हैमकोश के अनुसार निस्त्रिंशः खलः, तज्जा तदुत्पन्ना इत्यर्थः। एवं च 'खलजन्यायाः खलस्वभावत्वात् 'असती' इति फलितम्।

'महाकुट्टनी'—'कुट्टयति' छिनत्ति इति कुट्टनी, 'कुट्ट छेदने' इति चौरादिकात् धातोर्ल्युट्, टित्वात् ङीप्, छेदिका, शम्भली चेति बोध्यम्। 'कुट्टनी शम्भली समे'—इत्यमरः ॥ २५३ ॥

(२१—अमतपरार्थता)

(२१) अमतपरार्थ की व्याख्या करते हैं—अमत इति। 'अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र'। अर्थात् जिस वाक्य में 'परार्थ' = द्वितीय अर्थ, 'अमत' = प्रकृत अर्थ के विपरीत (विरुद्ध) हो, वहाँ 'अमतपरार्थता' नामक दोष होता है। अर्थात् जहाँ-'प्राकरणिक रस', अपने 'विरुद्ध रस' का अभिव्यञ्जक होता है, वहाँ यह 'अमतपरार्थता' नामक दोष होता है।

'परस्पर विरुद्ध रस' नीचे दिये जा रहे हैं, जैसे—

(१) शृङ्गार—बीभत्स।
(२) वीर—भयानक।
(३) रौद्र—अद्भुत।
(४) हास्य—करुण।

(अर्थगतदोष)

अर्थदोषानाह—

(७६) अर्थोऽपुष्टः पुष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥ ५५ ॥

इसी को एक पद्य के द्वारा भी बताया गया है—

"ज्ञेयौ शृङ्गार-बीभत्सौ तथा वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्य-करुणौ वैरिणौ मिथः" ॥

जैसे—'भद्रात्मनो०' (द्वि० उ० के १२ वे पद्य) में प्राकरणिक (प्रकृत) राजरूप अर्थ के अतिरिक्त, द्वितीय अप्राकरणिक (अप्रकृत) गजरूप परार्थ व्यङ्ग्य हो रहा है । उसी प्रकार से प्रकृत पद्य को उदाहरण के रूप में प्रदर्शित कर रहे हैं—

"राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा" ॥ २५४ ॥

रघुवंशमहाकाव्य के एकादश सर्ग का यह पद्य है । इसमें श्रीरामचन्द्र के द्वारा मारी-गई 'ताटका राक्षसी' का वर्णन किया गया है—

रामेति । वह 'ताटका' नामकी राक्षसी कामदेव के समान मनोहर रामचन्द्र (दूसरे पक्ष में—रामरूपी कामदेव) के असह्य बाण से उरःस्थल और (दूसरे पक्ष में—मन में) आहत होकर दुर्गन्ध से युक्त (दूसरे पक्ष में सुगन्ध से युक्त लालचन्दन से) रुधिर-रूप—[रक्त रूप] चन्दन से चर्चित [लिप्त] होकर जीवितेश यम की पुरी [नगरी] को (दूसरे पक्ष में—अभिसारिका के रूप में प्राणनाथ की पुरी को) चली गई ॥ २५४ ॥

अत्रेति । इस पद्य से प्रकृत 'बीभत्स रस' के विपरीत [विरुद्ध] 'शृङ्गार रस' का व्यञ्जक दूसरा [अभिसारिकापरक] अर्थ भी प्रतीत हो रहा है । इसलिये उक्त पद्य में 'अमतपरार्थता' नामक दोष हो गया है । अर्थात् प्रकृत 'बीभत्स रस' है, उसका विरोधी रस 'शृङ्गार' है । उस शृङ्गार रस का व्यञ्जक द्वितीय अर्थ है । अर्थात् प्राकरणिक ताटका रूप अर्थ के विपरीत अप्राकरणिक अभिसारिका रूप द्वितीय अर्थ है, उसकी उपस्थिति, 'प्रकृत बीभत्स रस' की अपकर्षक हो रही है, यही दूषकता का बीज है । अतः यह 'नित्य दोष' है । अर्थात् 'बीभत्स रस' के वर्णन करनेवाले वाक्य से जो परार्थ [शृङ्गार-रसरूप अर्थ] प्रतीत हो रहा है, वह 'अमत' [विरुद्ध] है, उस कारण वह, प्रकृत 'बीभत्स रस' का अपकर्षक हो गया है ॥ २५४ ॥

इस प्रकार 'शब्द दोषों को (पद, पदांश, तथा वाक्य—इन तीनों में रहने वाले १६ दोषों को बताया, तदनन्तर 'वाक्य' में रहने वाले २१ दोषों को बता चुके) अब आगे २३ 'अर्थदोषों' को और उनके लक्षणों को बता रहे हैं ।

सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ताः॥ ५६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥ ५७ ॥

दुष्ट इति सम्बध्यते ।

(१ अपुष्टत्व)

क्रमेणोदाहरणम् ।

(१) अतिविततगगनसरणिप्रसरणपरिमुक्तविश्रमानन्दः ।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥ २५५ ॥

क्योंकि 'अर्थ' तो 'शब्द' के अधीन रहता है । 'शब्ददोषलक्षण' बताने के पश्चात् ही 'अर्थदोष-लक्षण' को बताना उचित है । अतएव सारबोधिनीकार ने भी कहा है कि "सम्प्रति वाक्यार्थप्रतीतिपश्चाद्भावित्वेन वाक्यदोषानन्तरमर्थदोषानाह" इति ।

अर्थदोषानाहेति । २३ अर्थदोषों को कहते हैं—(सू० ७६) (१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम, (६) ग्राम्य, (७) सन्दिग्ध, (८) निर्हेतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, (१२) नियम में अनियम, (१३) अनियम में नियम, (१४) विशेष में अविशेष, और अविशेष में विशेष (१५) विशेष परिवृत्त, (१६) साकांक्षता, (१७) अपदयुक्तता, (१८) सहचरभिन्नता, (१९) प्रकाशितविरुद्धता, (२०) विध्ययुक्तत्व, (२१) अनुवादायुक्तत्व, (२२) त्यक्त पुनः स्वीकृत, (२३) अश्लील—ये सब अर्थ, दुष्ट (दूषित) कहलाते हैं ॥ ५५–५७ ॥

'व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम और ग्राम्य'—ये चार दोष, प्रसिद्धिविरुद्ध, विद्याविरुद्ध—ये दो दोष, तथा 'सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, विशेष परिवृत्त, और अविशेष परिवृत्त—ये चार दोष, और विध्ययुक्त, अनुवादायुक्त—ये दो दोष, इन सबका स्वरूप, विशेषतः तत्तदुदाहरणों को देते समय स्पष्ट किया जायगा ।

दुष्ट इतीति । 'पददोषों' के 'लक्षणबोधक' सूत्र में कथित 'दुष्टं' पद को 'पुंल्लिग बनाकर यहाँ सम्बद्ध करना चाहिये । तब समझ में आवेगा कि—यह २३ प्रकार का अर्थ 'दुष्ट' होता है । उपरि कथित दोषयुक्त अर्थों में से 'अपुष्ट अर्थ' 'पुष्ट से भिन्न होता है ।

'रूढि' और 'योग' के द्वारा दोनों अर्थों की उपस्थिति होने पर 'लक्ष्य' और 'लक्षण' दोनों की उपस्थिति होती है । उनमें 'रूढ्यर्थ' तो 'लक्ष्य' होता है, और 'योगार्थ'—लक्षण होता है ।

अत्रातिविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानमर्थं न बाधन्त इत्यपुष्टाः, न त्वसङ्गताः पुनरुक्ता वा ।

तथाकथित 'वाक्यदोषों' में से 'न्यूनपदत्व', 'कथितपदत्व', 'अभवन्मतयोगत्व', 'अविमृष्टविधेयांशत्व', अस्थानस्थपदत्व' और 'अक्रमता'—ये दोष, 'काव्य' तथा काव्यभिन्न—'शास्त्र' और 'लोक' में भी होते हैं, अतः ये सर्वसाधारण दोष हैं ।

'अर्थोऽपुष्ट' इति । 'अपुष्ट अर्थ उसे कहते हैं, जो 'पुष्ट' से भिन्न होता है । 'अपुष्टः—पुष्टाद्भिन्नः' । 'पुष्टत्वं च विवक्षितार्थबाध-प्रयोजकानुपादानकत्वम्'—'पुष्टत्व' का अर्थ है—जिस अर्थ को हम कहना चाहते हैं, उसको बाधित करने वाले का उपादान (ग्रहण) न करना । वह अनुपादान (उपादान न करना) भी दो प्रकार का होता है—(१) अप्रयोजकत्वात्, (२) प्रयोजकत्वेऽपि अन्यलभ्यत्वात् । अर्थात् बाध करनेवाला 'बाध' का प्रयोजक नहीं हो पाता है, अर्थात् 'प्रयोजन शून्य' हो जाना, यह प्रथम हुआ । दूसरे प्रकार का अनुपादान यह है कि 'बाध' का प्रयोजक होने पर भी किसी दूसरे से 'बाध्य अर्थ' के मिल जाने से 'बाध' का न होना । 'अन्यलभ्यत्वात्'—अर्थात् 'शब्देन अनुक्तौ अपि अर्थगम्यत्वात्' । 'प्रभा' व्याख्या में 'पुष्टत्व' का अर्थ किया है—'यस्यार्थस्य अनुपादाने (शब्देन अप्रतिपादने) विवक्षितार्थस्य बाधः (असिद्धिः) तत्त्वं पुष्टत्वम् ।

अपुष्टार्थ का उदाहरण दे रहे हैं—अतिविततेति ।

(१) अत्यधिक दीर्घतम लम्बे आकाश मार्ग में गमनागमनार्थ प्रतिक्षण चलते रहने के कारण विश्रामसुख का परित्याग कर देने वाले और पवन के द्वारा जिसका सौरभ, सर्वत्र प्रकाशित अथवा प्रसारित किया जा रहा है, उस पद्मसमूह को विकसित करने वाला भगवान् सूर्य, सर्वोत्कर्षशाली है ॥ २५५ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'अतिविततत्व, सरणित्व, मरुदुल्लासितसौरभत्व—इन आकाश-विशेषणों का ग्रहण यदि न भी किया जाय तो प्रतीयमान अर्थ में कोई बाधा नहीं हो पाती है । एवंच 'अतिविततत्वादि' विशेषणों का उपयोग न होने से वे 'अपुष्टार्थ' हैं । निष्कर्ष यह है—'आकाश' को 'अतिवितत' (अत्यधिक लम्बत्व) कहें या न कहें, 'अग्नि' में उष्णता की तरह आकाश में 'अतिविततत्व' धर्म तो रहता ही है अर्थात् गगन के स्वरूप से ही वह प्राप्त है । तथा गगन को 'सरणि' कहने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो रहा है । तथा 'मरुदुल्लासितसौरभत्व' के कहने से भी कोई प्रयोजनो-पलब्धि नहीं होती है ।

'अतिवितत' का अर्थ, 'दीर्घत्व = लम्बत्व' समझना उचित है, 'विस्तृतत्व' (विस्तीर्ण) नहीं, क्योंकि 'विस्तीर्णमार्गसंचार' श्रमहेतु (श्रमोत्पादक) नहीं हुआ करता ।

(२ कष्टत्व)

(२) सदा मध्ये यासामियममृतनिस्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम्।
प्रसादं ता एता घनपरिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥ २५६ ॥

इस 'अपुष्टत्वदोष' को रुद्रटनिर्दिष्ट 'असंगत'(असम्बद्ध),अथवा कारिका में परिगणित 'पुनरुक्त भी नहीं कहा जा सकता। 'असंगत इसलिये नहीं कह सकते कि 'पदार्थों' का अन्वय, निर्बाध हो जाता है। तथा 'पुनरुक्ति' (पुनरुक्त) इसलिये नहीं कह सकते कि कथित अर्थ का कथन नहीं है। 'कथित शब्द' के पुनः कथन में 'कथितपदत्व' दोष होता है और 'कथित अर्थ' के पुनः कथन में 'पुनरुक्ति' दोष हुआ करता है। अतएव मम्मट ने रुद्रटनिर्दिष्ट दोष के स्वरूप का विचार करके ही 'अपुष्टत्व' दोष को स्वतन्त्ररूप में ही बताया है। एवंच अतिविततत्वादि अर्थों का उपादान न करने पर भी वे विवक्षित अर्थ की प्रतीति में न बाधा पहुँचाते हैं और उपादान करें भी तो वे विवक्षित अर्थ की न पुष्टि ही करते हैं, अतः वे 'अदुष्ट' हैं ॥२५५॥

(२ कष्टत्वदोष)

(२) कष्टार्थ दोष का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

'कष्टत्वदोष' से युक्त 'अर्थ'; वह है, जिसकी प्रतीति में क्लेश हो, अर्थात् जो 'दुरूह' हो।

गंभीर चमत्कृत अर्थपूर्ण अपने काव्य की स्फुटार्थता न हो सकने पर भी उसमें निर्दोषता के समर्थनार्थ किसी कवि की यह उक्ति है। जैसे—

सदेति। महाकवियों (बड़े-बड़े कवियों और द्वादश आदित्यों) की वे रुचियाँ (कवितारूपी अभिप्राय) अभिलाषायें तथा प्रभाकिरणें, जिनसे अमृतनिस्यन्दसुरसा (सुधारस के समान शृङ्गारादि रसों से परिपूर्ण और मधुर जलप्रवाह वाली), उद्दामा (प्रौढ़ तथा बहुत बड़ी) उसी प्रकार बहुमार्गा (वक्रोक्तिजीवित के अनुसार विचित्र, मध्यम तथा सुकुमार रूप वैदर्भी, गौड़ी, पाँचाली रीति से त्रिपथगामिनी) अनेक मार्गों से बहनेवाली, यह उद्दाम सरस्वती (प्रौढ़ कवि-वाणी और सरस्वती) अद्भुत परिमल (चमत्कार तथा पुण्यरुप सौगन्ध्य = सौरभ) का अनुभव कराती रहती है, और जो घन-परिचित (परिश्रमपूर्वक अभ्यस्त अथवा मेघसम्बद्ध) होनेपर स्फुरित मधुर (रस का अनुभव होते रहने से रमणीय तथा विद्युत्स्फुरण से सुन्दर) प्रतीत होती है, इस प्रकार की महाकवियों की रुचियाँ (काव्यरूप अभिप्राय), आकाश के समान अत्यन्त अपरिच्छेद्य महाकाव्य (काव्यमार्ग) में किस प्रकार से प्रसाद (सुबोधता = स्पष्टता) को प्राप्त हों? अर्थात् अन्य काव्यों की तरह महाकवियों के वे महाकाव्यरूप

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं बहति ताः गम्भीरकाव्यपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु। यासामादित्यप्रभाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति सङ्क्षेपार्थः। इति कष्टम्॥

अभिप्राय कैसे सुबोध हों? अर्थात् कभी सुबोध नहीं हो सकते यह प्रकृत-पक्ष का अर्थ है।

अप्रकृत पक्ष में अभिप्राय यह है कि जिन महाकवियों की रुचियों में सुकुमार-विचित्र और मध्यम अर्थात् वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चालीरूप तीन मार्गों (रीतियों) से प्रवाहित होने वाली 'भारती,' चमत्कार को धारण करती है। वे रुचियाँ, (काव्य), अन्य साधारण काव्य की तरह कैसे सुबोध हो सकती हैं? द्वादशादित्यों की जिन प्रभाओं के भीतर मधुर, निर्मल हुई त्रिपथगा (आकाश गंगा) बहती है। किन्तु मेघाच्छन्न होने पर अर्थात् वर्षाकाल में द्वादशादित्यों की वे प्रभाएँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं? अर्थात् शरदादि अन्य-काल की प्रभा की तरह स्वच्छ कभी नहीं हो सकतीं।

द्वादशादित्यों के नाम, पुराणों में बताये गये हैं—

'विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः। धाताविधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः'॥ इसी प्रकार कूर्मपुराण में भी बताये हैं—'धातार्यमा च मित्रश्च वरुणश्चेन्द्र एव च। विवस्वानथ पूषा च पर्जन्यश्चांशुरेव च। भगस्त्वष्टा च विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः'॥

अत्र यासामिति। इस पद्य के अर्थ में क्लेश (दुरूहता) की अनुभूति होती है। उक्त पद्य का 'प्रकृत' अर्थ तो वह है—गम्भीर काव्यों से सम्बन्ध रखने वाली महाकवियों की 'रुचियाँ' (कवितायें), जिनमें वक्रोक्तिजीवित के रचयिता श्री कुन्तक की बताई हुई 'सुकुमार, विचित्र, और मध्यम' इन तीन पथों (मार्गों) से प्रवाहित होंने वाली कवि-भारती (कवियों की वाणी) अपना असाधारण चमत्कार रखती है। वे रुचियाँ (महाकाव्य), एक सामान्य काव्य की भाँति अनायास ही जनसाधारण के-लिये सुबोध (सहज गम्य) कैसी हो जाँय?

इसी पद्य का अप्रकृत अर्थ यह है कि—द्वादशादित्यों की वे प्रभाएँ (रश्मियाँ) जिनके भीतर त्रिपथगा आकाश-गंगा विराजती है। वे प्रभाएँ (रश्मियाँ) मेघ-सम्बद्ध होने पर भला, कैसे स्वच्छ निर्मल प्रतीत हो सकेंगी? यह संक्षिप्त अर्थ है। यहाँ प्रकृत पक्ष में वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाली अथवा सुकुमार-विचित्र-मध्यमा इन मार्गों से अथवा वैदर्भी आदि रीतियों से विशिष्ट कविरुचियाँ—यह प्रथम अर्थ है।

उसी प्रकार अप्रकृत पक्ष में—'आदित्य-प्रभारूप' द्वितीय अर्थ है, जो 'उपमान' है, उसके साथ 'वाच्यार्थ' की उपमा व्यङ्ग्य है। अर्थात् दोनों अर्थों में उपमानोपमेय-भाव का व्यङ्ग्य अर्थ निहित है।

(३ व्याहृतत्व)

(३) जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः॥ २५७॥

इस पद्य में इस विवक्षित अर्थ की योजना शब्दान्तरों के द्वारा किसी प्रकार करने पर भी 'क्लेश' की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। अतः यहाँ पर 'अर्थ' ही दुष्ट है। 'क्लिष्टत्व' आदि तो 'शब्ददोष' हैं। यदि उक्त पद्य की 'रचना' परिवर्तित की जाय तो सुखपूर्वक अर्थ-प्रतीति हो सकेगी। अतः सम्यक् प्रतीति का न हो पाना ही यहाँ दूषकता का कारण (बीज) है। इसलिये यह नित्यदोष है॥

(३—व्याहतत्व)

(३) 'व्याहतत्व' नामक अर्थदोष को बता रहे हैं–'व्यावहृत' अर्थ वह होता है, कि जिसका पहले 'उत्कर्ष' अथवा 'अपकर्ष' बताया जाय, किन्तु बाद में उसी का 'अपकर्ष' अथवा 'उत्कर्ष' कहा जाय। एवंच पूर्वोक्त का जो विरोधी (विपरीत) कथन हो, उसे 'व्याहृत' कहते हैं। इसी आशय को प्रदीपकार ने एक पद्य के द्वारा बताया है––उत्कर्षो वाऽपकर्षो वा प्रग्यस्यैव निगद्यते। तस्यैवाथ तदन्यश्चेद् व्यांहृतोर्थस्तदा भवेत्'॥

एवंच निन्दित्वा पुरस्कृत्य वा तदन्यथाकरणं व्याहृतत्वम्। इस रीति से यह 'व्याहृतत्व'––दो प्रकार का बताया है।

उनमें से प्रथम का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं––

'मालती-माधव' नामक प्रकरण के प्रथम अंक में 'माधव' कह रहा है—जगतीति। नवीन चन्द्रमा की यह कला, चन्द्रिका, कमल आदि रमणीय पदार्थ संसार में लोगों के मन को लुभाते हैं, अतः वे पदार्थ उन लोगों के मन को अच्छे लगते हैं, तो भले ही लगा करें, किन्तु मुझे वे अच्छे नहीं लगते। तथा प्रकृति-मधुर अन्यान्य वस्तुएँ यदि लोगों के चित्त को आनन्द से भर देती हैं, तो भले ही भरती रहें, किन्तु उनमें से कोई भी वस्तु, मेरे मन को कथमपि आनन्दित नहीं कर सकती। मुझ माधव के लिये तो वह 'मालती' ही एकमात्र इन नेत्रों की चाँदनी है। इन नेत्रों से उसे एक बार देख-लेना ही मेरे जीवन का एक मात्र महोत्सव है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं॥२५७॥

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पस्पशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थमारोपयतीति व्याहतत्वम्।

अत्रेन्दुकलादय इति। इस पद्य के पूर्वार्धं में जो व्यक्ति साधारण चन्द्रिका-चन्द्रकला आदि पदार्थो को अपने लिये निःसार (सारहीन) बता रहा है, वही व्यक्ति

उत्तरार्ध में उत्कर्ष के लिये चन्द्रिकात्व का आरोप कर रहा है। अर्थात् पहले स्वयं के द्वारा निःसार बताई चन्द्रिका का 'मालती' में उसके उत्कर्षार्थ आरोप कर रहा है।

इस 'व्याघात' दोष को 'अनुचितार्थत्व' नहीं कह सकते। क्योंकि 'अनुचितार्थत्व' में 'पशु', 'कुविन्द' आदि शब्दों से उपश्लोक्यमान की स्वार्थोपस्थिति के समय ही तिरस्कार का प्रतीति होती है। और 'व्याघात' में चन्द्रिका सहजतः उपादेय रहने से वाक्यार्थ-प्रतिसंधान करने के बाद चंद्रकला आदि जिसके प्रति, इत्यादि अर्थ की पर्याप्ति होनेपर होती है—यह दोनों में भेद है।

श्रीकमलाकर भट्ट कहते हैं—"अत्र हेयोपादेयत्वविरोधो दूषकताबीजम्" इति। किन्तु प्रदीपकार 'वाक्यार्थप्रतीति का न हो पाना'—दूषकता बीज बताते हैं। यह नित्य दोष है। यहाँ पर वाक्यार्थ-मर्यादा से इस 'तिरस्कार' का बोध हो जाता है। अतः अर्थदोष ही है-यह चक्रवर्ती का कहना है। शब्द की परिवृत्ति-सहता रहने से 'अर्थदोष' ही है—यह भी समझना चाहिये ॥२५७॥

'तदन्यथाकरणरूप'—द्वितीय व्याहतत्व दोष का यह उदाहरण होगा। जैसे—

"देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा ते परिवार-वारवनितागीतानि भृगाङ्गना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः संजातलज्जा इव ॥

—(रत्ना० नाटि० १।२५)

वत्सराज उदयन कह रहा है--हे देवि ! देखो, चन्द्रमा के सौन्दर्य का तिरस्कार करने वाले तुम्हारे मुखकमल से तिरस्कृत (पराजित) कमल, सहसा मलिन होते जा रहे हैं, तुम्हारी सेविकाओं तथा नर्तकियों के गीतों को सुनकर भ्रमरियाँ (भृङ्गाङ्गनायें) भी लज्जित होकर मुकुलित कमल की कलियों में छिपी जा रही हैं॥

इस पद्य के पूर्वार्ध में 'मुख' के उपमानरूप पङ्कजों का उत्कर्ष बताकर उन्हीं का आगे चलकर द्वितीय चरण में 'विनिर्जितानि' कहकर 'अपकर्ष' वर्णन कर दिया है। एवंच यहाँपर 'मुख' का उत्कर्ष बताने के लिये 'पङ्कजत्व' का आरोप किया,और तदनन्तर 'अब्जानि विनिर्जितानि' कहकर उन्हीं की निन्दा कर दी है। उस कारण यहाँ 'व्याहतत्व' दोष हो गया है।

किन्तु प्रमाद से उन्मत्त हुए बालकों की उक्ति में 'अभवन्मतयोग' आदि दोष नहीं माना जाता, क्योंकि उनका सम्बन्ध, उद्देश्यकोटि में नहीं है, प्रत्युत उन्माद का व्यंजक होने से उसे 'गुण' का व्यञ्जक ही कहा जाता है।

(४ पुनरुक्तत्वम्)

(४क) कृतमनुमतमित्यादि ॥ २५८ ॥

अत्रार्जुनार्जुनेति भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति किरीटिपदार्थः पुनरुक्तः ॥

यथा वा—

(४ख) अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्यशङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥ २५९ ॥

(४—पुनरुक्त्व)

(क) कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्भेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥–(वेणी०अंक० ३।२४)

जिन नर-पशुओं ने मर्यादा की सीमा को लाँघकर इस ब्रह्महत्यारूप महापातक को स्वयं किया है, अथवा उसे करने की अपनी सम्मति दी है, अथवा शस्त्रों से सम्पन्न रहते हुए भी खुली आँखों से देखते रहे, वासुदेव, भीम और अर्जुन के साथ-साथ उनके माँस, मज्जा और रुधिर आदि से मैं (अश्वत्थामा), दिक्पालों को बलि, अर्पण करूँगा ॥ अर्थात् दिक्पालों की तृप्ति के लिये पश्वालंभन करूँगा ।

'पुनरुक्त' अर्थ, उसे कहते हैं, जिसे पहले किसी दूसरे शब्द से कह दिया गया है, उसी अर्थ को पुनः किसी दूसरे शब्द से कहना ।

अत्रेति । इस पद्य में 'पुनरुक्तत्व' दोष, इसलिये हो गया है कि पहले ही 'अर्जुन' को अर्जुन ! अर्जुन ! इस प्रकार सम्बोधन करके और उसका (अर्जुन का) भी 'भवद्भिः'– इस पद से परामर्श करके 'सभीमकिरीटिनाम्' में पुनः 'किरीटी' शब्द से उसी(अर्जुनरुप) शब्दार्थ (पदार्थ) को बताना 'निष्प्रयोजन' ही है। अतः 'अर्जुन'—(किरीटी) पदार्थ 'पुनरुक्त' हो गया है ॥२५८॥

अब 'वाक्यार्थ की पुनरुक्तता' का उदाहरण दे रहे है—यथावेति । वेणीसंहार-नाटक के तृतीय अंक के ७ वें श्लोक में अश्वत्थामा कौरव-सेना की भगदड़ को देखकर कह रहा है—अस्त्रज्वालेति । हे कर्ण ! दिव्यास्त्रों की ज्वाला से व्याप्त,विपक्षरूप पाण्डव-सेना के सागर को अन्तस्तल में वाडवाग्नि के समान सन्तप्त करने वाले, सेनापति के पद पर विद्यमान, सम्पूर्ण धनुर्धारियों में श्रेष्ठतम मेरे पिता (द्रोण) की उपस्थिति में अब अधिक उद्वेग (भय) की आवश्यकता नहीं है। हे कृप ! सङ्ग्राम में जाइये,

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः ।

हे हार्दिक्य ! (कृतवर्मानाम का यादवविशेष) किसी प्रकार का सन्देह मत करो, जब तक धनुष के साथ मेरे पिता के हाथ में 'रण' का भार है, तब तक भय की सम्भावना ही कहाँ है ? ॥ २५९ ॥

यहाँ पर 'सेना' को जलधि (समुद्र) के रूप में और 'पिता' को 'और्वायमाण' अर्थात् 'वाडवाग्नि' के रूप में बताकर 'बध्य-घातकभाव' को सूचित किया गया है, 'अस्त्रज्वाला' कहकर प्रसिद्ध वाडवाग्नि की अपेक्षा 'व्यतिरेक' व्यञ्जित किया है, क्योंकि प्रसिद्ध वाडवाग्नि तो केवल 'जलधि' का ही भक्षक है, किन्तु यह तो अग्निसहित सेना-सागर का भक्षक है—यह प्रतीत कराया गया है। 'मम पितरि'—यह कह कर जिसका पुत्र, ऐसा प्रबल पराक्रमी है, उसके पिता की महत्ता तो वर्णनातीत ही होगी, यह ध्वनित किया गया है । 'सर्वधन्वीश्वराणां गुरौ' कह कर 'न कोऽपि तस्य हन्ता'—कोई भी उनको मार नहीं सकता—यह ध्वनित किया गया है ।

अत्र चतुर्थेति । यहाँ पर 'अलं सम्भ्रमेण' 'मुञ्च शङ्काम्' कहकर जो अर्थ बताया गया है, उसी अर्थ को पुनः 'को भयस्यावकाशः' के द्वारा किसी विशेष प्रयोजन के बिना ही बताया जा रहा है। 'अलं सम्भ्रमेण', 'मुञ्च शङ्काम्' 'को भयस्यावकाशः'—इनसे 'एक ही वाक्यार्थ' की प्रतीति हो रही है, किन्तु 'वाक्य', पृथक्-पृथक् हैं । अतः 'वाक्यार्थ'—पुनरुक्त हो गया है ।

अतएव कहा करते हैं कि शब्द की पुनरुक्ति—'पुनरुक्ति' नहीं होती । क्योंकि 'अर्थ-बोधनार्थं', शब्द का प्रयोग किया जाता है । अतः 'तत्र यावन्त एवार्थाः शब्दास्तावन्त एव हि' इस नियम के अनुसार और 'अर्थभेदेन शब्दभेदः'—इस उक्ति के अनुसार 'अर्थ' के अधीन 'शब्द' होते हैं । 'शब्दों' की स्वतन्त्रता नहीं होती ।

किञ्च—यदि 'अर्थ' भिन्न है, तब 'शब्द' पुनरुक्त भी हो तो 'लाटानुप्रास' निष्पन्न हो जाता है । दूसरी बात यह भी है कि जहाँ पर 'जिस अर्थ' को एकबार समझाने के लिये 'एक शब्द' का प्रयोग किया गया है, यदि 'उसी अर्थ' को पुनः समझाना हो तो पुनः 'उसी शब्द' का प्रयोग करना उचित ही है । अतः यहाँ 'कथित अर्थ' के पुनः कथन में 'पुनरुक्त' दोष नहीं हो सकता । इसी को 'उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्यस्थल' कहते हैं ।

'शब्दपुनरुक्ति' दोष का स्वरूप है—'कथितपदत्व' । 'अपुष्टार्थत्व'—स्थल में कथित 'अर्थ' पुनः कथित (उक्त) नहीं है । अतः 'कथितार्थत्व' नहीं है । जैसे—'अतिवितत–गगन–सरणि' में 'अतिवितत' शब्द से कथित 'अतिविततत्वरूप अर्थ' को बताने वाला अन्य शब्द कोई नहीं है, और जो 'गगन' शब्द है, उसका अर्थ है—'शब्द-का समवायिकारणरूप द्रव्य', न कि 'अतिविततत्व' रूप अर्थ ।

(५ दुष्क्रमत्वम्)

(५) भूपालरत्न ! निर्दैन्यप्रदानप्रार्थितोत्सव ! ।
विश्राणय तुरङ्गं मे मातङ्गं वा मदालसम् ॥ २६० ॥

यदि कोई यह कहे कि 'गगन' का स्वरूप—'अतिवितत' है, अतः 'गगन' कहने से 'अतिविततत्व' तो अर्थात् लभ्य है। तब तो 'जीव' के कहने से 'ब्रह्म' का भी ज्ञान हो जाना चाहिये, क्योंकि श्रुति कहती है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। अथवा—'अंशी' के कहने से 'अंशभूत पदार्थ' स्वतः उपस्थित होना चाहिये। क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता बता रही है—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ॥ अंशी ब्रह्म के कह देने से अंशभूत जीव का बोध स्वतः ही होना चाहिये। यदि कहें कि हाँ, होता है, तो 'घटः' 'कलशः' की तरह 'ब्रह्म' और 'जीव' ये दोनों शब्द एक दूसरे के 'पर्याय' कहलायेंगे। अतः प्रस्तुत 'अस्त्रज्वालावलीढ'—में 'वाक्यार्थ'-पुनरुक्ति दोष के समाधानार्थ कहें कि 'वक्ता, रौद्ररसाविष्ट होकर कह रहा है, अतः वाक्यार्थ को पुनरुक्त न समझा जाय। किन्तु यह समाधान उचित नहीं है, क्योंकि 'वीर' की 'अयुक्तकारिता' का वर्णन नहीं किया जाता।

निष्प्रयोजन ही दूसरी बार उसी अर्थ के कथन से 'श्रोता का विमुख होना ही यहाँ पर 'दूषकता' का बीज है। अतएव प्रयोजन के रहने पर 'अर्थ' की पुनरुक्ति को दोषावह नहीं माना जाता, उस कारण यह 'अनित्यदोष' है।

(५—दुष्क्रमत्व)

(५) दुष्क्रम अर्थात् अनुचित अर्थक्रम वहाँ होता है, जहाँ पदार्थों का पूर्वापरीभावरूप क्रम, अनुचित अर्थात् लोक तथा शास्त्र के विरुद्ध हो। एवं च लोकशास्त्रविरुद्ध होना ही 'क्रम' का दुष्टत्व है।

'अक्रम' और 'दुष्क्रम' में भेद यह है कि 'पदसन्निवेशरूप रचना, जहाँ प्रस्तुत अर्थ की प्रत्यायक नहीं हो पाती, वहाँ तो 'अक्रम' दोष होता है, और 'प्रत्यायक' होने पर भी वह 'पदसंन्निवेश' (रचना) अनुचित रीति से हो तो 'अस्थानस्थपदता', और 'अर्थक्रम' के अनुचित होने पर 'दुष्क्रमत्व' होता है। तथा 'उपक्रम' में प्रदर्शित क्रमका 'उपसंहार' में भङ्ग होने पर 'प्रक्रमभंग' होता है। एवं च 'अक्रम' में 'पदों की रचना' में और 'दुष्क्रम' में 'अर्थों' के विषय में 'क्रम' नहीं रहता है।

लोकविरुद्ध 'दुष्क्रम' (अनुचित अर्थक्रम) का उदाहरण, जैसे—राजा से कोई याचक कह रहा है—भूपालेति। संकोचरहित होकर (उदारता से) प्रचुर दानमहोत्सव करने में प्रख्यात नृपश्रेष्ठ ! मुझे एक अश्व दीजिये अथवा मदमाता हाथी दीजिये ॥ २६० ॥

'विश्राणय' में 'वि' पूर्वक 'श्रण दाने' प्रायेणायं 'वि' पूर्वः, चौरादिक धातु है।

अत्र मातङ्गस्य प्राङ्निर्देशो युक्तः।

(६ ग्राम्यत्वम्)

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपति ते।
तदयि ! साम्प्रतमाहर कूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम्॥ १६१॥

अत्रेति। इस पद्य में तुरङ्गं मातङ्गं वा' कहकर 'लोकविरुद्ध क्रम' को अपनाया गया है। जिसके पास 'असंख्य तुरङ्ग (अश्व) हैं, उससे 'मातङ्गं देहि, तुरङ्गं वा' कहने का लौकिक क्रम होता है। क्योंकि बहुत बड़ी वस्तु देने में असामर्थ्य रहने पर लघुवस्तु के देने का औचित्य हुआ करता है। किन्तु यथास्थित क्रम की ही वक्ता को विवक्षा रहने से यहाँ 'अर्थदोष' ही है—ऐसा प्रदीपकार कहते हैं। सारबोधिनीकार कहते हैं कि 'मातङ्ग' (हाथी) बहुमूल्य होने से वह यदि न मिल पाय, तब 'तुरंग' (अश्व) की याचना करना उचित था, किन्तु जहाँ हाथी का पाना सुलभ हो, वहाँ के लिये यह उदाहरण नहीं है।

एवं च यहाँ पर मातङ्ग' (हाथी) का निर्देश पहले करना चाहिये था, उसके न करने से यह 'दुष्क्रम' दोष हो गया है।

इसी रीति से शास्त्र-विरुद्ध क्रम रूप 'दुष्क्रम' का उदाहरण। जैसे—

'काराविऊण खउरं गामउलो मज्जिउण जेमिअ अ।
णक्खत्तं तिहिवारे जोइसिअं पुच्छिदुं चलिदो'॥

उक्त आर्या का संस्कृत अनुवाद—

(कारयित्वा क्षौरं ग्रामवृद्धो मङ्क्त्वा (स्नात्वा) भुक्त्वा च। नक्षत्रं तिथि-वारौ ज्यौतिषिकं प्रष्टुं चलितः॥)

नक्षत्रादि-ज्ञानपूर्वक क्षौर करने का धर्मशास्त्र ने बताया है। किन्तु कवि ने यहाँपर धर्मशास्त्र-विरुद्ध क्रम को अपनाया है। अतः यह 'क्रम' शास्त्रविरुद्ध होने से 'दुष्क्रम' कहा गया है। शास्त्र-विरुद्ध अर्थप्रतीति का होना अथवा सहृदयोद्वेग होना यहां पर दूषकता में बीज है। अतः यह नित्य दोष है।

सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथम परिच्छेद में भोजराज ने इसी को 'अपक्रम' शब्द से कहा है—"वाक्यं यत्तु क्रमभ्रष्टं तदपक्रममुच्यते।

यथा—

'काराविऊण खउरम्०' अत्र क्षुरकर्मणोऽनन्तरं नक्षत्रादि प्रश्नादिदमपक्रमम्"॥

(६—ग्राम्यत्व)

(६) 'ग्राम्य' का अर्थ है—अविदग्ध (निपट गँवार) ग्रामीण लोगों की रिरंसा (रमणेच्छा) प्रतिपादनपरक बातें (वार्तालाप)। इसी को 'ग्राम्य अर्थ' कहते हैं। तदुक्तम्—

एषोऽविदग्धः ॥

(७ संदिग्धत्वम्)

(७) मात्सर्यमुत्सार्येत्यादि ॥ २६२ ॥

"स ग्राम्योऽर्थो रिरंसादिः पामरैर्यत्र कथ्यते ।
वैदग्ध्यवक्रिमबलं हित्वैव वनितादिषु" ॥

ग्राम्य अर्थ का उदाहरण । नववधू (नवोढा) के प्रति रमणेच्छु ग्रामीण पति कह रहा है—स्वपितीति । पास में ही सोया हुआ आदमी जब तक निद्रापरवश है अर्थात् खूब गाढ निद्रा में घर्राटे ले रहा है, तब तक अरी ! मैं तुम्हारे निकट सो-जाता हूँ । (लक्षणया तुम्हारे साथ रमण कर लेता हूँ) । ऐसा करने में तेरा क्या बिगड़ेगा ? इसमें तुम्हारी कोई क्षति नहीं होनी है । अतः तुम अपनी कोहनी (कफोणि=कूर्पर) को जल्दी से हटा ले और संकुचित की हुई (सिकुड़ी हुई) अपनी जाँघों (सक्थि = ऊरू) को जल्दी फैला दे ॥ २६१ ॥

एषोऽविदग्ध इति । यह कहने वाला अविदग्ध (अनाड़ी ग्रामीण) 'ग्राम्यनायक' है, 'ग्राम्य पद' और 'ग्राम्य अर्थ' के उदाहरणों में कोई भेद नहीं है । ऐसी ग्राम्य बातों को सुनकर अश्लील के समान ही सहृदयों के हृदय उद्विग्न (विमुख) हो जाते हैं । यही इसकी दूषकता में बीज (कारण) है ।

किञ्च—भ्रष्ट बीज जैसे अंकुरोत्पत्ति में समर्थ नहीं होता, वैसे ही ऐसी ग्रामीण उक्तियों से कवलित हुआ बिभावादि रूप अर्थ, 'रस' की उत्पत्ति नहीं कर पाता । हाँ, विदूषक यदि ऐसी बातें करें तो वहाँ दोष नहीं होगा । क्योंकि उसके लिये वैसा करना ही उचित है, अतः उसमें 'वैरस्य' नहीं होता । उस कारण यह 'अनित्य दोष' है । यहाँ 'अर्थ' का ही दोष है, 'शब्द' का नहीं, क्योंकि शब्दों में परिवृत्ति सहिष्णुता होती है ।

'रिरंसादिः'—इत्यादि शब्दग्राह्य का उदाहरण, यह होगा—

"गोरपत्यं बलीवर्दो घासमत्ति मुखेन सः ।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन, अपानेन तु गोमयम्" ॥

(७–सन्दिग्धत्व)

(७. सन्दिग्धत्व—'सन्देह के विषय' को सन्दिग्ध कहते हैं । अर्थात् जिसका स्वरुप, ही 'सन्देह' की उत्पत्ति में कारण होता है । निष्कर्ष यह है कि प्रकरणादिके न रहने पर 'सन्दिह्यमान अर्थ' को 'सन्दिग्ध' कहते हैं । जैसे—

मात्सर्यमिति । कार्याकार्य के बिचारने में कुशलों हे आर्यों ! आप लोग निष्पक्षतया विचार करके प्रमाणमर्यादा के सहित (सप्रमाण) अर्थात् सयुक्तिक बात बताइये कि क्या पर्वतों के 'नितम्बों' (मध्यभागों) का सेबन करना योग्य है, अथवा कामवासना-

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृङ्गार्यन्यतराभिधाने तु निश्चयः।

(८ निर्हेतुत्वम्)

(८) **गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि**
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयाद्
विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥ २६३ ॥

से स्मित करती हुई (मुस्कुराती हुई) विलासिनी सुन्दरियों के 'नितम्बों' (कटि-प्रदेशों) का सेवन करना योग्य है ? ऐसा संशय (सन्देह) होने पर 'मात्सर्य' अर्थात् एकतर पक्षपात रहने के कारण अन्यत्र असूया को त्यागकर, अथवा प्रश्न के उत्तर देने का जो कष्ट मैंने आप लोगों को दिया है,उस कारण मेरे प्रति 'मात्सर्य' को त्यागकर और अच्छीतरह विचार करके अर्थात् अवहेलनापूर्वक = टालमटोल करके नहीं, जो 'कर्तव्य' हो, उसे आप लोग बतावें ॥२६२॥

'किमु','उत'—ये दोनों संशयार्थक अव्यय हैं।

अत्रेति। इस पद्य में 'सन्दिग्धत्व' दोष बन गया है। क्योंकि यहाँ 'प्रकरण' आदि कोई नियामक नहीं है। अतः 'भूधरनितम्ब' का सेवन और 'कामिनी के नितम्ब' का सेवन—ये दोनों परस्पर विरुद्ध अर्थ हैं। अतः इस पद्य को पढ़कर सहृदय पाठक का मन इस पद्य में 'शान्ति' रस है अथवा 'शृङ्गार' रस है ? इनमें से किसी एक का निश्चय नहीं कर पाता है। 'यदि 'शमप्रधान' वक्ता अथवा 'शृङ्गारप्रधान' वक्ता में से किसी एक के वर्णन का निश्चय हो जाता तो सहृदय पाठक के मन में सन्देह न रहता, और निश्चित अर्थ की प्रतीति हो जाती। अर्थात् शान्त-शृङ्गारित्वान्यतरस्वरूप-वक्तृविशेष का निश्चय ही सन्देह के न होने में कारण है। वक्तृविशेष का निश्चय रहने पर 'एकतर नितम्ब' का सेव्यत्वनिर्णय सरलतया हो जाता है, जिससे सन्देह नहीं हो सकता ॥२६२॥

(८–निर्हेतुत्व)

(८) निर्हेतुत्व—निष्क्रान्तो हेतुः यस्मात् स निर्हेतुः। हेतु रहित ही (बिना हेतु के ही) कोई बात कहना 'निर्हेतु' दोष कहलाता है। इस 'निर्हेतुत्व' दोष का उदाहरण, वेणीसंहार नाटक के तीसरे अंक में द्रोणाचार्य के मारे जानेपर अपने शस्त्र के प्रति क्रोध से सन्तप्त हुए अश्वत्थामाके उद्गारों का वर्णनात्मक पद्य दिया गया है—गृहीतमिति।

हे शस्त्र ! जिस मेरे पूज्य पिता द्रोणाचार्य ने ब्राह्मणवृत्ति के विरुद्ध होने पर भी क्षात्रकृत अनादर के भय से तुझे धारण किया, उन मेरे पूज्य पिता के प्रभाव से विश्व-का कोई भी महारथी, अतिरथी योद्धा तेरे लिये 'अजेय' नहीं रहा, जिस पूज्य पिता ने अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु का झूठा समाचार सत्यवादी युधिष्ठिर के मुख से

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

(९ प्रसिद्धिविरुद्धत्वम्)

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने !
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद्दुःसाध्याक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥ २६४ ॥

सुनकर पुत्रशोक के कारण तेरा परित्याग कर दिया । अतः हे शस्त्र ! मैं भी तुम्हारा परित्याग कर रहा हूँ, जाओ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ २६३ ॥

अत्रेति । इस पद्य में कवि ने 'द्रोणाचार्यकर्तृकशस्त्रपरित्याग' में 'सुतशोकात्'—यह हेतु (कारण) बताया, वैसे 'अश्वत्थामकर्तृकशस्त्रपरित्याग में कोई हेतु' (कारण) नहीं बताया । कवि को 'पितृशोकात्'—यह कारण बताना चाहिये था । उसे न बताने के कारण यहाँ 'निर्हेतुत्व' दोष हो गया है ।

यदि कहें कि 'पितृशस्त्रत्यागात् अहमपि त्वां विमोक्ष्ये' इस प्रकार 'हेतु' का उपादान हो ही जाता है । किन्तु यह समाधान उचित नहीं है । क्योंकि उतना मात्र 'हेतु' नहीं हो सकता । पिता ने पुत्रशोकजन्य भ्रम (मूर्छा) के कारण शस्त्र का त्याग किया, तथापि पुत्र जैसे वीर को तो शस्त्रग्रहण करना ही उचित था । पिता की मृत्यु का यदि शोक हुआ है, तो उसके निवारणार्थ शोकास्वस्था में भी शस्त्रग्रहण करने में ही औचित्य था, तथापि पिता ने पुत्रशोक के कारण जैसे शस्त्रत्याग किया उसी तरह मैं भी पितृशोक के कारण तुम्हारा त्याग कर दूँगा—इस प्रकार 'पितृशोक' को ही 'हेतु' कहा जाय, क्योंकि चित्त के शोकाविष्ट होने पर उत्साह नहीं होता है, किन्तु कवि ने उसका ग्रहण (निर्देश) नहीं किया है—यह उद्योतकार ने भी कहा है । 'नोचितम्'—में 'न' शब्द के साथ 'सह सुपा' (पा० सू० २।१।४) सूत्र से समास किया गया है, 'नैकधा', 'नारायणः' के समान । 'यतः'—में 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्'–इस वार्तिक से सार्वविभक्तिकस्तसिः' । 'भवते' में 'नमः स्वस्ति, सूत्र से 'स्वस्ति' के योग में 'चतुर्थी' है ॥ २६३ ॥

(९—प्रसिद्धि-विरुद्धत्व)

(९) प्रसिद्धिविद्याविरुद्धः—यहाँ पर 'प्रसिद्धि' और 'विद्या'—दोनों पदों के साथ अर्थात् प्रत्येक के साथ 'विरुद्ध' पद का अन्वय (सम्बन्ध) होगा । क्योंकि 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'—यह नियम है । तथाच—(१) प्रसिद्धिविरुद्ध और (२) विद्याविरुद्ध— ये दो दोष हैं । प्रसिद्धिविरुद्ध दोष वह है, जहाँ लोकप्रसिद्ध अथवा कविप्रसिद्ध अर्थ के विरुद्ध 'अर्थ' को बताया हो । अर्थात् जिस विषय की लोक में तथा कविसम्प्रदाय में प्रसिद्धि न हो । इन दो में से प्रथम 'लोकप्रसिद्धिविरुद्ध अर्थ' का

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम्।

यथा वा—

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः!
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम्।

उदाहरण दे रहे हैं—इदं ते इति। हे कमलातङ्कवदने! कमलानामातङ्को (भयं) यस्मात् तादृशं वदनं यस्याः तथाभूते! अर्थात् कमलों को आतङ्कित करने वाले मुखवाली हे नायिके! यह कहकर 'वदन' का 'चन्द्रत्व' अभिव्यञ्जित किया है।

अथवा—कमलानामातङ्को भयं यस्मात् स 'चन्द्रः', तद्वत् वदनं यस्यास्तथाभूते! अरी, यह तो बता कि यह तुझे किस प्रतारक (वञ्चक) व्यक्ति ने कह दिया है, जो तुम इस वस्तु को (करस्थित कटकाकार चक्रको) सुवर्ण का 'कङ्कण' समझ बैठी हो।

तो यह क्या है? यह जानना चाहती हो तो सुनो—इदमिति। यह तो दुराराध्य (दुःसाध्य) जो युवक और जितेन्द्रिय हैं, उनको अपने वशंगत करने का 'परम अस्त्र' है, जिसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक कामदेव ने तुम्हारे प्रकोष्ठ में स्थापित किया हुआ उसका-अपना यह 'चक्र' है ॥ २६४ ॥

अत्रेति। 'कामदेव' का चक्र, तो लोक में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः 'लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ' का वर्णन करने से 'दोष' हो गया है। 'चक्र' तो भगवान् विष्णु का ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। कामदेव के तो 'पञ्चशर' प्रसिद्ध हैं, 'चक्र' नहीं ॥ २६४ ॥

(९ अ) कविप्रसिद्धिविरुद्ध अर्थ का उदाहरण—

यथाग्रेति। जैसे—

अशोक वृक्ष के पुष्प की कली को देखकर मूर्छित हुए किसी तरह घर पहुँचने वाले पथिक की, उसी पथ से जाने वाले अन्य पथिकों के प्रति यह उक्ति है—उपपरिसरमिति। अरे पथिकों! गोदावरी नदी के तट के पास का मार्ग अब तुम छोड़ दो अर्थात् उस मार्ग से तुम लोग मत जाना। किसी दूसरे मार्ग से जाओ। अरे! यहाँ पर किसी स्वैरिणी सुन्दरी ने अपने चरणकमल के प्रहार से 'रक्ताशोक' को ऐसा बना दिया है कि उसे नवीन-नवीन अंकुरों का 'कवच' पहना दिया है। अतः इस सुन्दर दृश्य को कौन विरही मनुष्य सह सकेगा? ॥ २६५ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'कविप्रसिद्धिविरुद्धत्व' दोष हो गया है क्योंकि कविसमाज में सुन्दरी के चरणप्रहार से 'अशोक वृक्ष' में पुष्पों का उद्गम (उत्पन्न) होना प्रसिद्ध है। 'अंकुरों' का उत्पन्न होना नहीं। किन्तु यहाँ 'अंकुरोद्गम' बताया गया है। एवंच कविप्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से 'दोष' माना गया है। यद्यपि 'पुष्पोद्गम' भी नव अङ्कुरोद्गम के बिना नहीं होता, अतः नवाङ्कुरोद्गम भी

इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥ २६५ ॥

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो न पुनरङ्कुरोद्गमः ।

हुआ ही होगा, उस कारण कोई बाधा नहीं है, तथापि कविजनों की परिपाटी में वैसा वर्णन नहीं किया जाता, इसलिये 'कविप्रसिद्धिविरुद्ध' कहा गया है। कविजनों की गोष्ठी में सुन्दरियों के पादताड़न से होने वाली कतिपय बातें परम्परया प्रसिद्ध हैं, जो इस प्रकार हैं—

'स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्,
पादाघातादशोकस्तिलक–कुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारोनर्मवाक्यात् पटु-मधुमहनाच्चम्पको वक्त्रवाताच्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः ॥

उद्दीपक सामग्री की कोई न्यूनता नहीं है—पहले तो 'नदी का तट', उस पर भी 'रक्ताशोक', 'रक्त' पद से नवपल्लवता को सूचित किया गया है। तत्रापि 'पुष्पों' से लदा हुआ इस प्रकार उद्दीपनातिशय को प्रकट किया है।

कविप्रसिद्धि के विरुद्ध अंकुरोद्गम का उल्लेख करने के कारण, 'अर्थप्रतीति' का न हो पाना ही यहाँ 'दोष' का कारण है।

इस प्रसंग में सुधासागरकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि 'लोकप्रसिद्धिभ्रान्त्याप्रयुक्तं 'लोकाप्रसिद्धं'—लोकप्रसिद्धिविरुद्धमित्युच्यते । कविसम्प्रदायप्रसिद्धिभ्रान्त्या अशोकाङ्कुरोद्गमः 'कविसम्प्रदायाऽप्रसिद्धो वर्णितः इति कविप्रसिद्धिविरुद्धोऽर्थः । लोकस्तु पुष्पाङ्कुरोद्गमयोर्द्वयोरपि अदर्शनात् तत्रोदासीन एव । एवंच यत् प्रदीपकारैरुक्तम्—'यत्तु 'उपपरिसरमि'ति कविसमयसिद्धोदाहरणम् । तदयुक्तम्, चरणन्यासेन अशोकांकुरस्य कवीनामपि असंगतेः, पुष्पोद्गम एव तेषां समयात्' इति तद्रिक्तं वचः । न हि श्रीवृत्तिकारैः कविप्रसिद्धेर्बलवत्त्वदर्शनाय उपपरिसरमित्युदाहृतम्, किंतु कविप्रसिद्धिविरोधदर्शनायैव । नच पूर्वोदाहरणेन गतार्थता शङ्क्या, उदाहरणयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात् ।

कथमन्यथाग्रे 'सुसितवसने' त्युदाहरणं संगच्छेत ? तस्मान्महामहोपाध्यायानाम्प्रदीपकाराणामीर्ष्यामात्रमत्रावशिष्यते । न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतावतारोक्तिम् (मम्मटोक्तिम्) आक्षेप्तुं प्रभवन्ति, किं पुनर्मानुषा मशकाः ।

सुष्ठूक्तं खलु देवनाथतर्कपञ्चाननैः—

"य एष कुरुते मनो विपदि गौरवीणां गिरां—
स वामन इवाम्बरे हरिणलाञ्छनं वाञ्छति ।
लिलङ्घिषति सिंहिकारमणकेसरं फेरुवत्
पतङ्ग इव पावकं नृहरिमावकं धावति" ॥ २६५ ॥

सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ता शङ्का क्व नासि शुभप्रदः॥ २६६ ॥

अत्रामूर्तापि कीर्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।

(१० विद्याविरुद्धत्वम्)

सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नानाविधानि शास्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥ २६७ ॥

कहीं-कहीं 'लोकप्रसिद्धिविरुद्ध कथन' भी 'कविसम्प्रदाय के विरुद्ध, न रहने से अर्थात् कविसमयप्रसिद्धि के कारण, 'विरुद्ध' नहीं माना जाता। जैसे,

(९ आ)—किसी राजा से कवि कह रहा है—

सुसितेति। हे राजन्! एक समय की घटना है कि चान्दनी के अथवा चन्द्रमा के धवल प्रकाश में धवल (शुभ्र = श्वेत) वस्त्रधारण कर एवं मोती, हीरे आदि श्वेत-रत्नों के अलंकार पहनकर कोई मृगनयनी नायिका, अभिसार कर रही थी, उसी समय चन्द्रमा का अस्त हो गया। चन्द्रमा के अस्त होते ही किसी ने आपके यश (कीर्ति) का गान किया, गाते ही चांदनी की तरह ही सर्वत्र शुभ्र प्रकाश चमचमाने लगा।

उस कारण वह नायिका, शंका रहित होकर अपने प्रियतम के घर पहुँची॥

हे राजन्! कौन सी ऐसी जगह है, जहाँ आप अपनी प्रजा के लिये हितकारक तथा शुभप्रद नहीं हैं ? ॥ २६६ ॥

अत्रेति। इस पद्य में अमूर्त एवं अप्रकाश रूप कीर्ति को मूर्त एवं ज्योत्स्ना की तरह प्रकाशरूप कहा गया है। एवञ्च यह कथन लोकविरुद्ध रहने पर भी कविसम्प्रदायगत प्रसिद्धि के कारण दोषावह नहीं हो पाया।

कीर्ति में धवलतागुण का आश्रयत्वरूप मूर्तत्व, और ज्योत्स्ना की तरह प्रकाशकता दोनों बातें लोकविरुद्ध हैं, तथापि दोनों बातें कविसमयसिद्ध हैं। अतः कोई दोष नहीं है। जहाँ लोकप्रसिद्धि और कविप्रसिद्धि दोनों में विरोध हो, वहाँ कविप्रसिद्धि को प्रबल माना जाता है। क्योंकि काव्य में कविप्रसिद्धि का ही प्राधान्य रहता है ॥ २६६ ॥

(१०—विद्याविरुद्धत्व)

(१०) 'विद्याविरुद्धः'—यहाँ विद्या शब्द से 'शास्त्र' को बताया गया है। अतः 'विद्याविरुद्ध' का अर्थ हुआ शास्त्रविरुद्ध बात कहना। वह शास्त्रविरूद्ध बात (विद्या-विरुद्ध), भिन्न-भिन्न शास्त्रों के कारण, भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। उनमें से यहाँ

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम् ।

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते ।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥ २६८ ॥

एतद् अर्थशास्त्रेण ।

'धर्मशास्त्रविरुद्ध' का उदाहरण दे रहे हैं—सदास्नात्वेति । यह विद्वान् प्रतिदिन अर्धरात्रि में स्नान करके सम्पूर्ण दिन (दिनभर) अनेक शास्त्रों का प्रचन करता है और श्रवण भी करता रहता है । 'निशीथिनी' शब्द का अर्थ, 'अर्धरात्रि' है । 'अर्धरात्रि'—'रात्रि के मध्य यामद्वय' को कहते हैं । मध्य रात्रि के दो प्रहर में स्नान का निषेध, धर्मशास्त्र में किया है—

"महानिशा तु विज्ञेया मध्ययामद्वयं निशि ।
तत्र स्नानं न कुर्वीत काम्य-नैमित्तिकादृते ॥"

एवंच रात्रिस्नाननिषेधक सभी वचनों में 'रात्रि' शब्द, मध्ययामद्वयपरक ही समझना चाहिये ।

'ग्रहोपरागादिकमिति । धर्मशास्त्र ने रात्रिस्नान, का निषेध, किसी निमित्त के न होने पर किया है, किसी निमित्त के रहने पर नहीं ।

एवंञ्च यहाँ पर धर्मशास्त्रविरुद्ध अर्थ का उल्लेख होने से 'विद्याविरुद्धत्व' दोष हो गया है ॥ २६७ ॥

(१० अ)—अर्थशास्त्र विरुद्ध प्रयुक्त 'विद्या विरुद्धत्व' । जैसे—अनन्यसदृशमिति । जिसका 'बाहुवल' असाधारण (बेजोड़) है, उसके लिये 'संधि' विग्रह, यान, आसन, द्वैध, और संश्रय' रूप 'षाड्गुण्य' का अनुसरण करना व्यर्थ है ॥ २६८ ॥

एतदिति । अत्यधिक शारीरिक बलशाली पुरुष को भी 'सन्धि' आदि 'षड्गुणों' का अनुसरण करना, 'अर्थशास्त्र' ने बताया है । अतः उसका अनुसरण न करना 'अर्थशास्त्र' के विरुद्ध है । एवञ्च इस पद्य में अर्थशास्त्र के विरुद्ध बात कही गई है, उसकारण यहाँ 'विद्याविरुद्धत्व' दोष हो गया है । क्योंकि अर्थशास्त्र में प्रतिपादित 'षाड्गुण्य', 'बाहुबल' से गतार्थ नहीं होता ।

एवञ्च प्रस्तुत पद्य के द्वारा प्रतिपादित अर्थ, 'नीतिशास्त्र' के विरुद्ध है, क्योंकि 'समर्थपुरुष' के लिये भी 'षाड्गुण्य' का उपदेश किया गया है । 'अर्थशास्त्र' को ही' 'नीतिशास्त्र' कहते हैं । गर्ग-भार्गबादि-प्रणीतशास्त्र को 'अर्थशास्त्र' कहते हैं ।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' में इसी विरोध के प्रदर्शनार्थ एक अन्य पद्य, 'उदाहरण' के रूपमें प्रदर्शित किया गया है—

"कामोपभोगसाकल्यफलो राज्ञां महीजयः ।
अहङ्कारेण जीयन्ते द्विषन्तः किं नयश्रिया"॥

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥ २६९ ॥

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण।

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन दुःसाध्यसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे।
आसादयन्नभिमतामधुना विवेकख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥२७०॥

यहाँ पर 'कामोपभोगों' से 'महीजय' (पृथ्वी का विजय) रूप फल बताया गया है, जो अर्थशास्त्रकारों को अभिमत नहीं है। और केवल 'अहङ्कार' से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की बात यहाँ कही गई है, जो 'अर्थशास्त्र' के विरुद्ध है, क्योंकि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में 'अहङ्कार' कारण नहीं है। अतः अर्थशास्त्र के विरुद्ध बात कहने से यहाँ पर 'विद्याविरुद्धत्व'—दोष बन गया है ॥

(१०–आ)–'कामशास्त्रविरुद्ध' का उदाहरण—

विधायेति। कन्दर्प विलास की लीला भूमिरूप किसी सुन्दरी ने अपने बाहुभूषण 'केयूर' को हटाकर (दूर करके) अपने प्रियतम के द्वारा किये गये 'नखक्षतों' की शोभा को धारण किया ॥ २६९ ॥

अत्रेति। इस पद्य में कवि ने 'केयूर, नामक आभूषण पहनने (धारण करने) के स्थान पर 'नखक्षतों' का वर्णन किया है, जो वात्स्यायन मुनि के प्रणीत 'कामशास्त्र' के विरुद्ध है। कामशास्त्र में 'नखक्षत' करने के स्थान बताये हैं—

"नखक्षतस्य स्थानानि कक्षौ वक्षस्तथा गलः।
पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्डललाटिकाः" ॥

किन्तु कवि के द्वारा वर्णित स्थान 'वात्स्यायनोक्त स्थानों' से भिन्न होने के कारण 'कामशास्त्र' के विरुद्ध होने से यहाँ पर 'विद्याविरुद्धत्व' दोष हो गया है।

इसी प्रसङ्ग में 'सरस्वती कण्ठाभरण' में एक अन्य उदाहरण दिया है—

"तवोत्तरोष्ठे बिम्बोष्ठि दशनाङ्को विराजते।
पूर्णसप्तस्वरः सोऽयं भिन्नग्रामः प्रवर्तते" ॥

इस पद्य में कवि के द्वारा वर्णित उत्तरोष्ठ (ऊर्ध्वोष्ठ) पर 'दशनाङ्क' करना, कामशास्त्रकारों के द्वारा अनुज्ञात नहीं है। उस कारण कामशास्त्र के विरुद्ध वर्णन हो गया है। तथा 'भिन्नग्रामों' में 'पूर्ण सप्तस्वरों' का होना सम्भव न रहने से 'कलाशास्त्र' से भी विरोध हो गया है और यह 'कलाशास्त्र' भी उसी का अंगभूत होने से यहाँ भी 'कामशास्त्रविरोध' ही समझना चाहिये ॥२६९॥

(१०इ) योगशास्त्रविरुद्ध का उदाहरण दे रहे हैं—अष्टाङ्गेति। योगके धनी योगियों में शिरोमणि इस योगिराज ने 'यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान' और समाधिरूप अष्टांग योग के निरन्तर दृढ़ अभ्यास से दुःसाध्य मुक्तिरूप

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः पश्चादसंप्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतत् योगशास्त्रेण। एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम्।

(११ अनवीकृतत्वम्)

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥ २७१ ॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम्।

सिद्धि के समीपवर्ती 'असम्प्रज्ञात' योग की आवश्यकता को तो नहीं समझा और उसकी उपेक्षा करके अपनी अभिमत 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' रूप 'विवेकख्याति' को प्राप्त कर अब 'मुक्ति' प्राप्त कर ली ॥ २७० ॥

अत्रेति। इस पद्य में कवि ने 'मुक्ति' के समीपतर स्थित 'अम्प्रज्ञातयोग' को अपनाये बिना ही (उसकी उपेक्षा करके ही) उस योगी का 'विवेकख्याति' से ही मोक्ष प्राप्त कर लेने की बात कही है किन्तु वह 'योगशास्त्र' के विरुद्ध है। क्योंकि योग-शास्त्रोक्त क्रम तो यह है—प्रथम 'विवेकख्याति', (प्रकृति-पुरुष का भिन्नत्व-ज्ञान), तदनन्तर वितर्क-विचार आदि का अनुसरण करने वाला 'सम्प्रज्ञातयोग' (सबीज योग = समाधि), तदनन्तर 'पुरुषमात्रावलम्बनस्वरूप असम्प्रज्ञातयोग (निर्बीज योग = समाधि) पश्चात् 'मुक्ति' का लाभ होता है। केवल 'विवेकख्याति' से ही 'मुक्ति' नहीं होती है। अतः योगशास्त्र-विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से यहाँ 'विद्याविरुद्धत्व' दोष हो गया है।

सम्प्रज्ञात समाधि को ही 'सविकल्पक समाधि'—और सर्ववृत्तिनिरोधरूप 'असम्प्रज्ञात समाधि' को निर्विकल्पक समाधि कहते हैं।

इसी प्रकार अन्य विद्याओं (गज-तुरग-खड्गादि के लक्षण शास्त्रों) के विरुद्ध उदाहरणों का अनुसन्धान कर लेना चाहिये। एवं च यहाँ पर—'अभिमतप्रतीतिविरह' ही 'दूषकता' में बीज है। कुछ लोग 'सहृदय-हृदयवैरस्य' को 'दोष' का कारण बताते हैं ॥ २७० ॥

(११—अनवीकृतत्व)

(११—अनवीकृतः—'अनवीकृत' का अर्थ है—पिष्टपेषण करते रहना। जैसे—

प्राप्ता इति। समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी को प्राप्त कर भी लिया, तो उससे क्या हुआ? शत्रुओं के मस्तक पर पैर रख भी दिया, तो उससे क्या हुआ? अपने वैभवों से प्रेमीजनों को तृप्त कर देने पर भी क्या मिला? शरीरधारियों का यह शरीर, कल्पान्त तक सुरक्षित रहा भी तो उन्हें क्या मिला! अर्थात् 'तत्त्वज्ञान' के बिना वह सब अकिञ्चित्कर ही है ॥ २७१ ॥

तत्तु यथा—

यदि दहत्यनलोऽत्रकिमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥२७२॥

अत्रेति। वैराग्यशतक में भर्तृहरि की इस उक्ति में 'ततः किम्' को पुनः पुनः दुहराने से 'अनवीकृत' दोष हो गया है। क्योंकि भिन्न-भिन्न अर्थों के प्रतिपादन में एक ही प्रकार अपनाया गया है। उनके प्रतिपादन में प्रकारान्तर न रहने से 'नवीकृतत्व' नहीं है।

'पिष्टपेषणन्याय' से अथवा अशक्तिप्रकाशन के कारण 'सहृदयोद्वेजकत्व' ही दूषकता में बीज है। अतः यह नित्यदोष है।

'कथितपद' में इस दोष का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'ततः किम्'—के स्थान पर 'एतस्मात् किम्', 'इतः किम्'—इत्यादि पर्यायों का भी प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु पर्यायान्तर का प्रयोग करने पर भी चारों वाक्यों में एक-सी ही शैली है, उसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। उस कारण 'कथितपद' में इसका अन्तर्भाव नहीं कह सकते। अतः उससे यह 'अनवीकृतत्व' दोष भिन्न ही है। 'अनवीकृतत्व' में 'एकप्रकारकार्थाभिधान' रहता है।

उसी को 'भिन्नधर्मप्रकारेण अर्थाभिधान' करने पर 'नवीकृतत्व' हो जाता है। अतएव यह 'अनवीकृतत्व' दोष, 'अर्थदोष' कहा गया है।

विवरणकार ने भी कहा है—'किं ततः' के स्थान पर 'किं तस्मात्' इत्यादि रूप-से शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी किसी 'उत्कर्ष' के न हो पाने से 'अनवीकृतत्व' ही रहता है। यही इसकी 'कथित पद' से भिन्नता है। श्रीकमलाकर भट्ट कहते हैं—"अत्र वाक्यभेदात् न कथितपदेऽन्तर्भावः, तस्यैकवाक्यनिष्ठत्वात्"। 'अनवीकृत' में भिन्न-भिन्न वाक्य रहते हैं, और 'कथितपद'—एक वाक्य में ही स्थित रहता है।

तत्तु यथेति। वह 'नवीकृतत्व' तो इस प्रकार होता है। जैसे, आनन्दवर्धनाचार्य-विरचित देवीशतक का पद्य है—यदि दहतीति। यदि अग्नि, जलाता है, तो उसमें आश्चर्य की कौन सी बात है? जला देना तो उसका स्वभाव है, अतः कोई अद्भुत बात नहीं है। यदि पर्वतों में गुरुत्व (भारीपन) है, तो उससे हुआ क्या? पर्वतों का भारी रहना तो उनका स्वाभाविक धर्म है। उसमें कोई अद्भुतता नहीं है। समुद्र के जल का सदैव खारा रहना, वह भी उनका स्वभाव सिद्ध (स्वाभाविक) ही है, उसमें भी कोई अद्भुत बात नहीं है अर्थात् नवीन बात नहीं है। जो महान् पुरुष होते हैं, उनमें विषण्णता का न होना (कभी दुःखी न होना) तो उनका स्वभाव ही है।

यहाँ पर 'किमद्भुतम्' से बताये गए अर्थ को ही द्वितीयचरण में 'ततः किम्' के द्वारा नवीनता से प्रकट किया है। वैसे ही 'किं ततः' से प्रतिपादित अर्थ को 'तृतीय

(१२ सनियमपरिवृत्तत्व)

यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।

चरण' में 'सदैव' के द्वारा नवीनता से प्रकाशित किया है। तथा पूर्वोक्त 'ततः किम्' के अर्थ को ही चतुर्थ चरण में 'प्रकृतिः' कह कर नवीनता से प्रकट किया है। अर्थात् चारों चरणों में नये-नये पदों का प्रयोग किया है। उस कारण इस पद्य में 'अनवीकृतत्व' दोष नहीं है, अपितु 'नवीकृतत्व' ही है। इसलिये यह पद्य, 'अनवीकृत' दोष का 'प्रत्युदाहरण' है। निष्कर्ष यह है कि 'आश्चर्याभावरूप एक ही अर्थ को 'किमद्भुतम्' 'किं ततः' 'सदैव' और 'प्रकृतिरेव'—इन भिन्न-भिन्न भङ्गियों से भिन्न-भिन्न प्रकार = शैली से) बताया गया है—इस प्रकार 'नवीकृतत्व' के रहने से यहाँ 'अनवीकृतत्व' रूप दोष नहीं है।

(१२—सनियमपरिवृत्तत्व)

(१२) सनियमपरिवृत्तत्व नामक अर्थ-दोष वहाँ होता है, जहाँ पर जिस बात को किसी नियम के साथ कहना चाहिये था, उसे वैसा न कहना।

'सनियम' का अर्थ है—नियम सहित अर्थात् 'नियत'। एवं च 'नियत' होकर भी जो 'परिवृत्त' अर्थात् बदला हुआ हो, उसे 'सनियम परिवृत्त' कहते हैं।

यत्रानुल्लिखितार्थमिति। जिस अनुपम 'चिन्तामणि' के सामने ब्रह्मदेव की यह सम्पूर्ण सृष्टि रचना निष्प्रयोजन सी (अनुल्लिखित अर्थ सी) लग रही है। जिसमें उसके उत्कर्ष के उस प्रतियोगी की कल्पना करना भी जिसका अत्यन्त अपमान है। जिस चिन्तामणि की गुणनिधानादि सम्पत्तियाँ, प्राणियों के मनोरथों की गति को भी पार कर गयी हैं। जिसकी छायामात्र से 'मणि' बनजाने वाले पत्थरों के बीच अर्थात् अन्य पत्थरों के साथ उसकी तुलना करने की अपेक्षा उनके बीच—उस 'चिन्तामणि' का 'पत्थर' के रूप में परिगणित होना ही उचित है ॥ २७३ ॥

अत्रेति। इस पद्य में जिस चिन्तामणि का उल्लेख 'यत्रानुल्लिखितार्थमेव' आदि में किया जाता है उसका 'सनियमत्व' रूप से अर्थात् 'छायामात्रमणीकृताश्मसु-मणेस्तस्याश्मतैवोचिता'—इस रूप में ही उल्लेख करना चाहिये था, जिसमें 'आभास-मात्रेण मणीकृतेषु'—इस रूप से अन्य निन्दनीय पत्थर-खण्डों का बोध नियमतः हो सके। अन्यथा अन्य पत्थरों के टुकड़ों में 'चिन्तामणि' के गुणों के न होने की प्रतीति हो सके। तभी अन्य प्रस्तर-खण्डों में 'चिन्तामणि' के गिने जाने का उपालंभ रूप अभिप्राय का बोध नहीं हो सकेगा। अन्यथा 'तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्व-मेवोचितम्'—से 'चिन्तामणि' और 'अन्य मणियों का तारतम्य कैसे प्रतीत हो सकेगा? किन्तु यहाँ तो अपकृष्ट प्रस्तर खण्डों के बीच 'चिन्तामणि' का भी एक अपकृष्ट प्रस्तर-

याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंध्य यत्संपद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेश्श्मत्वमेवोचितम् ॥ २७३ ॥

अत्र 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति सनियमत्वं वाच्यम् ।

(१३ अनियमपरिवृत्तत्वम्)

वक्त्राम्भोजे सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः ।

खण्ड के रूप में परिगणन ही प्रतीत हो रहा है ।

अभिप्राय यह है कि जिसकी अल्प सी चमक से भी अन्य पत्थर 'अमणि' मणि न रहने पर भी 'मणि' हो जाते हैं, उस 'चिन्तामणि' को क्या 'पत्थर ही कहना उचित है ?—यह अर्थ 'प्रश्नकाकु' से उपलब्ध होता है। यहाँ पर कवि को 'जिसकी अल्प-चमकमात्र' से ही, न कि 'पूर्ण चमक' से अथवा 'प्रकाशपुञ्ज' से—ऐसा नियम करना चाहिये था। अतः यह नियम व्यक्त करने के लिये 'तस्याभास' पद की जगह नियम सूचक 'छायामात्र' पद कहना चाहिये था। जिससे 'सनियमत्व' हो जाता है।

जब 'अल्पगुण' का ही इतना प्रभाव है, तब अधिकगुणों का तो कहना ही क्या है—यह 'व्यङ्ग्य', प्रतीति तो 'नियम' करने पर ही हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

एवं च 'छायामात्र' न कहने के कारण यहाँ 'सनियमपरिवृत्ति रूप 'अर्थदोष' हो गया है। यहाँ पर 'सनियमपरिवृत्तत्व' दोष इसलिये हो गया है कि यहाँ जिस अद्वितीय (अनुपम) चिन्तामणि का उल्लेख 'यत्रानुल्लिखितार्थमेव' कहकर किया जा चुका है, उसका 'सनियमत्व' रूप से (छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' रूप से ही करना चाहिये था। जिससे—'आभासमात्रेण मणीकृतेषु' इस रूप से अन्य निन्दनीय पत्थरखण्डों का बोध नियमतः हो जाय। 'शब्दगतदोष' और 'अर्थगतदोष' में भेद यह है कि 'अर्थविशेष' की विवक्षा रहने पर भी उसके 'प्रतिपादक शब्द' को न कहने से 'न्यूनपदत्व' और 'अनभिहितवाच्यत्व' ये दोष 'शब्दगत' समझे जाते हैं, और 'अर्थविशेष' की अविवक्षा रहने पर अर्थगत दोष होता है ॥ २७३ ॥

(१३—अनियमपरिवृत्तत्वम्)

(१३) 'अनियमपरिवृत्तत्व'—यह भी 'अर्थदोष' है। जहाँ 'नियम' नहीं कहना (करना) चाहिये था, वहाँ नियम (अवधारण) करना—इस दोष का स्वरूप है। बल्लालविरचित भोजप्रबन्ध से 'अनियमपरिवृत्त' दोष का उदाहरण जो दिया जा रहा है, उसका सन्दर्भ यह है कि मृगया (शिकार) करते समय राजा विक्रमार्क (विक्रमादित्य) को प्यास लगी, तो उसने 'एलोशीरलवङ्गचन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-जातीपाटलकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्'—कहकर जल (पानी) लाने के लिये कहा।

वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चन्त्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते ! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥२७४॥

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः।

(१४ विशेषपरिवृत्तत्वम्)

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः ! सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम्।

तब उस राजा से 'मागध' कह रहा है—वक्त्राम्भोजमिति। हे राजन् ! आपका मनरूपी मानस-सरोवर स्वयं इतना स्वच्छ आपके पास है, तब भला आपको जल पीने की इच्छा क्यों हो रही है ? आपके मुखकमल में तो सर्वदा सरस्वती (नदी–देवी) निवास करती है, आपका अधरोष्ठ सर्वदा शोण (शोणनद–लाल रंग का) ही रहता है, काकुत्स्थ भगवान् राम के पराक्रम का निपुण स्मारक आपका दक्षिण बाहु, 'दक्षिण समुद्र' (राजचिह्न मुद्रा से अंकित) ही है, ये वाहिनियाँ—(नदियाँ—सेनायें) क्षण भर के लिये भी आपका साथ नहीं छोड़ती हैं ॥ २७४ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'शोण एव'—आपका अधर 'शोण' ही है—यह कह कर कवि ने 'अनियमपरिवृत्तत्व' दोष, पैदा कर दिया है। उसे 'आपका' अधर 'शोण' ही हैं—ऐसा निर्धारण (नियम) नहीं करना चाहिये था। निर्धारण करने से कवि को—विवक्षित जो 'जलपानाभिलाष का अनौचित्य' है, उसकी प्रतीति नहीं हो पा-रही है, प्रत्युत 'औचित्य' की ही प्रतीति हो रही है, जो कवि को विवक्षित नहीं है। अतः 'शोण एव'—यह 'नियम' करना उचित नहीं है, अपितु अनुचित है॥ २७४ ॥

(१४-विशेषपरिवृत्तत्व)

(१४) विशेषपरिवृत्ति अथवा परिवृत्तरूप 'अर्थदोष' को बता रहे हैं। 'विशेषपरिवृत्ति'—का अर्थ यह है कि जहाँ किसी अर्थ को 'विशेषरूप' से कहना चाहिये, वहाँ उसे वैसा न कह कर 'सामान्यरूप' से कह देना।

जैसे—राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका के तृतीय अंक का पद्य, उदाहरण के रूप में दे रहे हैं। नायिका मृगाङ्कावली के वियोग में आकुल-व्याकुल हुआ राजा विद्याधर मल्लदेव आकाशभाषित करते हुए अपने सेवकों को 'भोः' शब्द से सम्बोधन करके कह रहा है—श्यामामिति।

हे सेवकों ! गाढ़ी काली स्याही की कूचियों से 'रात्रि' को और भी काला कर दो। तथा वैद्यकादिशास्त्रोक्त औषधि का प्रयोग करके अथवा मन्त्र या तन्त्र का प्रयोग करके श्वेत कमलों की शोभा को नष्ट कर दो। तथा पाषाण की शिला पर जितनी

चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्रांकिताः ॥ २७५ ॥

यत्र 'ज्यौत्स्नीम्' इति श्यामाविशेषो वाच्यः।

(१५ अविशेषपरिवृत्तत्वम्)

कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकरालय ! मावमंस्थाः
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥ २७६ ॥

शीघ्रता से हो सके चन्द्रमा को पटक कर चूर-चूर कर दो। जिससे मैं उस प्रेयसी के मुख से मुद्राङ्कित हुई दसों दिशाओं को देख सकूँ ॥ २७५ ॥

अत्रेति। यहाँ पर कवि को चाहिये था कि वह 'ज्यौत्स्नी 'श्यामलिमानमानयत' कह कर 'रात्रि-विशेष' का कथन करता, किन्तु वैसा न कर रात्रिवाचक साधारण (सामान्य) 'श्यामा' शब्द का प्रयोग कर रहा है। 'श्यामा' तो शुक्ल-कृष्ण दोनों पक्षों की रात्रियों को कहा जाता है। अतः 'श्यामा' शब्द, सामान्य-'रात्रि' का वाचक है। एवं च इस पद्य में 'विशेष-परिवृत्ति' दोष हो गया है ॥ २७६ ॥

(१५-अविशेष-परिवृत्तत्व)

(१५) अविशेष-परिवृत्त (सामान्य-परिवृत्त) उसे कहते हैं, जहाँ सामान्य-वाचक शब्द का प्रयोग करना चाहिये, वहाँ विशेष-वाचक शब्द का प्रयोग करना।

जैसे—भल्लट कविकृत 'भल्लट-शतक' का ६२वाँ पद्य—

कल्लोलेति। हे मकरालय वारिधे ! अपनी उत्ताल तरङ्गों से इधर-उधर फेंके गए पत्थरों के प्रहारों से तू अपने आश्रित 'रत्नों' का अपमान मत कर। इन्हीं रत्नों में से अकेले एक कौस्तुभ ने क्या पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् को भी तुम्हारे सामने याचना के लिये हाथ नहीं फैलवा दिया था ? अर्थात् उसे तुम्हारा याचक नहीं बना दिया था ?

अत्रेति। यहाँ पर कवि को 'रत्नसामान्य' के अपमान का अनौचित्यरूप अर्थ, प्रकट करना अभिप्रेत है। तदर्थं एक रत्नविशेष 'कौस्तुभ' का नाम लेना उचित नहीं है। कवि को तो यहाँ 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम। याच्ञाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि' ॥—यह कहना चाहिये था। तब कवि का अभिप्रेत अर्थ प्रकट हो पाता कि 'इन्हीं रत्नों में से 'एक' ने जब तुम पर इतना उपकार किया तब अन्य सभी 'रत्न' कैसे होंगे ? सभी में अपनी-अपनी विशेषता अवश्य है। अतः सभी आदर के पात्र हैं। उनका अनादर करना अनुचित है। अतः यहाँ 'अविशेषपरिवृत्तत्व' दोष

अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम् ।

(१६ साकांक्षत्वम्)

अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो ! प्रत्युत-
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नञ्च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥ २७७ ॥

बन गया है । कवि के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ का निर्वाह न कर पाना ही दूषकता का बीज है, यह नित्यदोष है ।

(१६-साकांक्षत्व)

(१६) 'साकांक्षत्व'—दोष वहाँ होता है, जहाँ ऐसा अर्थ बताया गया हो, जिसे किसी अनुपात्त अर्थ की आकांक्षा बनी रहती है । 'आकांक्षया सह वर्त्तते-साकांक्षः । 'साकाङ्क्षत्वं च अनुपात्तार्थाकाङ्क्षाविषयार्थकत्वम्' । जैसे—वीरचरितनाटक के द्वितीय अङ्क में वर्णित जनकनन्दिनी जानकी की प्राप्ति में निराश हुआ रावणामात्य माल्यवान् कह रहा है—अर्थित्वे इति । हे प्रभो ! 'जनकनन्दिनी जानकी के प्राप्त्यर्थं जनक से याचना करने पर भी जानकीरूप फल को प्राप्ति नहीं हो पाई'—यही बहुत बड़ा अपमान हुआ, किन्तु उससे भी अधिक अपमान तो यह हुआ कि अपनी कन्या आपको न देकर आपके विरोधी अर्थात् आपके शत्रु रामचन्द्र को उसे (कन्या को) दे दिया । अर्थात् मुझ जैसे अमात्य की मन्त्रणा से याचक बनकर भी हमारे राक्षसराज रावण को 'फल' तो कुछ मिला नहीं । 'फल' पाया उसने, जो हमारा द्रोही है, क्योंकि जिसने ताटका का बध किया था । जो हम दानवों के विरुद्ध आचरण करनेवाला है, अर्थात् यज्ञ-आदि का संरक्षण करता है,उस दाशरथी अर्थात् दशरथ-पुत्र श्रीराम को कन्या की इच्छा के अनुसार उसे (सीता को) दे दिया । 'दाशरथी' कहने से पितृसम्बन्ध का उत्कीर्तन अर्थात् दशरथ की प्रसिद्धि के कारण उस रामचन्द्र को जनक ने अपना जामाता बना लिया, वस्तुतः उसकी स्वयं की कोई ख्याति (प्रसिद्धि) नहीं हैं, इस अभिप्राय से उसका अपकर्ष सूचित किया है । स्वप्रार्थित का स्वयं को लाभ नहीं हो पाया, अपितु शत्रु को उसका लाभ हुआ—यह वैपरीत्य सूचित किया गया है । ऐसी स्थिति में अपने शत्रु श्रीराम के सम्मान और उत्कर्ष को और अपने सम्मान और यश के भ्रंश को तथा स्त्रीरत्नरूपा सीता की उपेक्षा को दशमुख रावण कैसे सहन कर सकता है ? 'दशमुख' कहकर उसकी सकल-लोक-विलक्षणता को ध्वनित किया गया है । जो रावण सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है, तथा देवताओं पर विजय प्राप्त करने का इच्छुक रहता है । अर्थात् जगत्पति, देव दशमुख, शत्रु के उत्कर्ष, अपनी यशोहानि, और स्त्रीरत्न की उपेक्षा को कैसे सह सकता है ? (इन उक्त तीन बातों को वह सहन करनेवाला नहीं है)

अत्र स्त्रीरत्नश्च 'उपेक्षितुम्' इत्याकांक्षति। नहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः।

(१७ अपदयुक्तत्वम्)

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।

अत्रेति। इस पद्य में 'साकांक्षत्व' दोष है। क्योंकि 'स्त्रीरत्नं कथं मृष्यते' स्त्रीरत्नके सहन न करने का अभिप्राय प्रकट करना कवि को विवक्षित नहीं है, अपितु 'स्त्रीरत्न की उपेक्षा को सहन न करने का' अभिप्राय प्रकट करना कवि को विवक्षित है। अतः 'स्त्रीरत्नं' शब्द को 'उपेक्षितुं' के अर्थ की आकांक्षा बनी हुई है। यदि कोई यह कह दे कि तीसरे चरण में स्थित 'परस्य' के साथ 'स्त्रीरत्नं' का अन्वय कर देने से उसे (स्त्री-रत्नं को) 'उपेक्षितुं' के अर्थ की आकांक्षा नहीं रहेगी। किन्तु यह नहीं सकते, क्योंकि 'परस्य' के साथ 'स्त्रीरत्नं' का अन्वय—इसलिये नहीं हो सकता, कि 'परस्य' का अन्वय, 'मान–यशसोः' के साथ पहले ही हो चुका है। उस कारण किसी दूसरे के साथ अन्वय के लिये वह सर्वथा निराकांक्ष है। एवं च 'स्त्रीरत्नं' शब्द का अर्थ 'उपेक्षितुं' शब्द के अर्थ की आकांक्षा, रखता है। अतः यहाँ 'साकांक्षत्व' दोष बन-गया है ॥ १६ ॥

(१७—अपदयुक्तत्व)

१७—अपदयुक्तत्व-नामक अर्थ-दोष वहाँ होता है, जहाँ अनुचित स्थान (अपद) में अनावश्यक पद को रख दिया जाता है। 'अपदे अस्थाने युक्तः सम्बद्धः। एवं च—(क) जैसे—राजशेखरकृत बालरामायण नाटक के प्रथम अंक में जानकी के लिये वर-के रूप में रावण के प्रस्ताव पर विवेचना करते हुए राजा जनक के पुरोहित शतानन्द, 'रावण के दूत' से कहते हैं—आज्ञेति। जिसकी आज्ञा को देवराज इन्द्र भी मानता है, और शास्त्र ही जिसकी दिव्यदृष्टि अर्थात् चर्मचक्षु से भिन्न एक नवीन दृष्टि है, तथा भूतपति देवाधिदेव महादेव (पिनाकी) में जिसकी सुदृढ़ भक्ति है, और लंका के नाम से विख्यात दिव्य नगरी जिसका निवास स्थान है, और ब्रह्मा (द्रुहिण) के वंश में जिसका जन्म हुआ है, इसके समान और कोई दूसरा वर कहाँ प्राप्त हो सकता है ?

किन्तु ये सब बातें तभी ठीक लगतीं, यदि यह रावण प्राणिमात्र का उत्पी-डक न होता। किन्तु ऐसा हो भी तो कैसे हो ! सभी गुण सब में कहाँ होते हैं ? ॥ २७८ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'अपदयुक्तत्व' दोष हो गया है। क्योंकि 'एकोऽपि गरीयान् दोषः समग्रमपि गुणग्रामं दूषयति'—इस चूर्णिकावचन के अनुरोध से कवि के मन में

उत्पत्तिर्द्रहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ २७८ ॥

अत्र 'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्यत एव समाप्यम् ।

(१८ सहचरभिन्नत्वम्)

श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥२७९॥

विवक्षित अभिप्राय, जो रावण की उपेक्षा दिखाने का है, वह तो 'स्याच्चेदेष न रावणः'—इतना कहने से ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि 'रावण' पद तो 'जगदाक्रन्द-कारित्वरूप अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य हो गया है। तब पुनः 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः'—यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि 'क्व नु पुनः'—से कहा जाने वाला अर्थ, तो 'रावण की वररूप में त्याज्यता' के विरुद्ध है अर्थात् विवक्षित जो 'रावणोपेक्षा' की प्रतीति है, उसे स्थगित कर देता है।

अभिप्राय यह है—'जगत् को रुला देने वाला रावण, 'वर' के योग्य नहीं है, अपितु वस्तुतः त्याज्य है, अतः उसके साथ 'सीता' का सबन्ध नहीं किया जा सकता। हाँ, एक बात है, 'यदि यह रावण न होता तो सम्बन्ध कर सकते थे, किन्तु यह तो रावण है।' इतना कह कर ही पद्य की समाप्ति कर देनी चाहिये थी। किन्तु कवि ने उसके आगे कह दिया है—"क्व नु पुनः", यह कहने से पूर्वोक्त 'उपेक्षा' का तो समाधान ही कवि ने कर दिया, किन्तु कवि को स्वयं ही यह समाधान विवक्षित नहीं है। 'क्व नु पुनः' कहने से 'सभी गुण, सब में कहाँ मिलते हैं? अतः सम्बन्ध कर लो'—इस प्रकार उपेक्षा के विरुद्ध मन्तव्य प्रकट कर दिया है। एवं च 'क्व नु पुन.' इत्यादि पदों का उपन्यास अनुचित स्थान पर हो गया है, उस कारण 'अपदयुक्तत्व'—दोष हो गया है।

(१८—सहचरभिन्नत्व)

(१८) सहचरभिन्नः—सहचरेषु समभिव्याहृतेषु सहचरेभ्यः समभिव्याहृतेभ्यो वा भिन्नो विजातीयः। विजातीयत्वं च उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वाभ्याम्। एवं च—समभि-व्याहृत-विजातीयार्थकत्वं सहचरभिन्नत्वम्। 'सहचरभिन्नत्व'—दोष वहाँ होता है, जहाँ किसी अर्थ का प्रतिपादन, जो अन्य समभिव्याहृत सजातीयभूत अर्थों में विजातीय-रूप से प्रतीत हो रहा हो। एवं जहाँ 'उत्कृष्ट पदार्थों' के साथ 'निकृष्ट पदार्थ' का कथन किया जाता है, वहाँ यह 'सहचरभिन्नत्व' दोष हुआ करता है।

जैसे—श्रुतेनेति। वेद-शास्त्र के श्रवण (अध्ययन) करने से 'बुद्धि' की शोभा होती है, दुर्व्यसन से मूर्खता, यौवन के मद से स्त्री, जल से नदी, चन्द्रमा से रात्रि, धर्म

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम् ।

(१९ प्रकाशितविरुद्धत्वम्)

लग्नं रागावृताङ्ग्या ॥ २८० ॥

के मनन से तथा योग से धैर्य, और नीति के मार्ग से 'राजपद' सुशोभित प्रतीत होता है ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'बुद्धि' और 'शास्त्र' आदि के 'भूष्य-भूषकभावरूप उत्कृष्ट सजातीय अर्थों के साथ ही 'मूर्खता' और 'व्यसन' के 'दूष्य-दूषकभावरूप निकृष्ट 'विजातीय' अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, उस कारण यहाँ 'सहचरभिन्नत्व' दोष हुआ है। क्योंकि 'सहचरितानां हि प्रायश' एकरूपतया सर्वेषामुपादेयत्वं त्याज्यत्वं वा प्रतीयते । तथाहि—श्रुतादिसमभिव्याहारेण मूर्खस्य व्यसनं कर्तव्यमित्यपि स्यात्', व्यसनादिसमभिव्याहारेण बुद्धिशालिनः श्रुतमपि त्याज्यं स्यात्' । यही यहाँ पर दूषकता का बीज है । यह नित्य दोष है ।

(१९—प्रकाशितविरुद्धत्व)

(१९) 'प्रकाशितविरुद्धत्व'–नामक अर्थ–दोष का स्वरूप इस प्रकार है— प्रकाशितः व्यञ्जितः, 'विरुद्धः विवक्षितार्थस्य प्रतिकूलः अर्थः येन वाक्यार्थेन सः प्रकाशितविरुद्धः । तथा च—प्रतिपादितविवक्षितार्थविरोधिव्यञ्जकार्थकत्वम् प्रकाशित-विरुद्धत्वम् । अर्थात् जिस वाक्यार्थ के द्वारा, 'प्रकाशित अर्थ, के विरुद्ध अर्थ' का प्रकाशन किया गया हो, उस वाक्यार्थ को प्रकाशित-विरुद्ध कहते हैं ।

जैसे—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्टयारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेऽस्तुतेनाऽस्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥२८०॥

(स० उ० २४१)

जो असियष्टि [तलवार] (मेरी सपत्नी) शत्रुओं के रुधिर से रंगी हुई (अनुराग से भरी हुई , शत्रुओं के कण्ठ में लग (चिपट) जाती है, जिसको अन्य लोगों ने हाथियों के ऊपर (मातङ्ग आदि चाण्डालों के ऊपर) गिरते हुए (विपरीत रति के लिये उद्यत हुए) देखा है । उस तलवार अर्थात् असियष्टि पर (व्यभिचारिणी-सपत्नी पर) मुग्ध अर्थात् रीझा हुआ यह (आपका जामाता अर्थात् मेरा पति) कुछ विचार ही नहीं करता है, और उसने (उदारता के कारण) मुझ लक्ष्मी को अपने सेवकों को (यथेष्ट भोग करने के लिये) सौंप दिया है । यह आपको (मेरे

इत्यत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतोति विरुद्धं प्रकाश्यते।

(२० विध्ययुक्तत्वम्)

प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा-
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम्।

पिता को) अवगत हो जाय। राजा की पत्नी लक्ष्मी की आज्ञा से मानो यह बताने के लिये ही जिसको कीर्ति (राजा की पत्नी लक्ष्मी के पिता) समुद्र के पास पहुँची है। अर्थात् राजा की प्रशंसा करती हुई उसकी कीर्ति समुद्र तक फैल गई है। कवि ने उत्प्रेक्षालंकार के द्वारा राजा की युद्धप्रियता और उदारता को देखकर राजा की पत्नी लक्ष्मी ने अपने पिता समुद्र के पास राजा से शिकायत करने के लिये कीर्ति को अपनी दूती बनाकर भेजा है, और उसके द्वारा यह सन्देश अपने पिता के पास भिजवाया है कि यह तो मेरी सौत असियष्टि (तलवार) पर रीझ रहा है, मुझे तो कुछ पूँछता ही नहीं। मुझे तो अपने भृत्यों के पास मेरा यथेष्ट उपभोग लेने के लिये भेज दिया है। इस शिकायत के साथ उसने अपनी सौत 'असियष्टि' की दुश्चरित्रता का भी सुन्दर चित्र अंकित कर दिया है॥ २८०॥ (स० उ० २४१)॥

इत्यत्रेति। इस पद्य का 'विदितं तेऽस्तु'—तुम्हें यह सब विदित रहे—यह वाक्यार्थ है। किन्तु यह अर्थ, 'श्री वहाँ से अपसरण कर रही है'—इस विरुद्ध अर्थ को प्रकाशित (सूचित) कर रहा है। इस प्रकार 'राजस्तुतिविरोधी अर्थ प्रकाशित होने से यहाँ पर 'प्रकाशित-विरुद्धत्व' दोष बन गया है। एवं च 'विरुद्धार्थ-प्रकाशन' होना ही दूषकता का बीज है। विरुद्धमतिकृत्' दोष में शब्दशक्ति-मूलकविरुद्धार्थ को प्रतीति हुआ करती है, किन्तु 'प्रकाशित विरुद्धत्व' दोष में 'अर्थसामर्थ्य-निबन्धन विरुद्धार्थ की प्रतीति होती है—यही दोनों में भेद है॥ २८०॥

(२०—विध्ययुक्तत्व)

(२०) 'विध्ययुक्तत्व' अर्थात् अयुक्तविधि। अयुक्त की विधि दो प्रकार से होती है—(१) जहाँ 'अविधेय' ही विधेय हो, (२) जहाँ विधेय का क्रम युक्त (उचित) न हो। 'विध्यनुवादायुक्तः'—इस सूत्रांश में 'अयुक्त' पद का अन्वय 'विधि' और अनुवाद'—इन प्रत्येक से होगा। क्योंकि 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'—यह नियम है। उस कारण 'विध्ययुक्तः' और 'अनुवादायुक्तः'—ये दो दोष हैं।

अविधेय अर्थ का विधेय अर्थ के रूप में उदाहरण दे रहे हैं। जैसे—वेणीसंहार-नाटक के तीसरे अंक में द्रोणवध से कुपित होकर शत्रुओं का बदला लेने की इच्छा रखनेवाला अश्वत्थामा, 'दुर्योधन' को आश्वासन दे रहा है—प्रयत्नेति। हे दुर्योधन! अपने शत्रुओं का उन्मूलन करके निश्चिन्त हो जाओ। आज की रात ऐसे सुखपूर्वक सो-

इयं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना-
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ॥ १८१ ॥

अत्र 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे'—इति विधेयम् ।

पाओगे कि प्रातः उच्चस्वर से निरन्तर चारणों के द्वारा की जानेवाली स्तुतियों से प्रयत्नपूर्वक जागाये जा सकोगे। आज यह सम्पूर्ण संसार, श्रीकृष्ण और पाण्डव तथा द्रोण का वध करनेवाले धृष्टद्युम्न के सोमवंश से रहित हो जायगा। ये तीन ही नहीं, अपितु यह समझ लो कि अपने भुजबल पर गर्व करनेवाले इन क्षत्रियों की यह युद्धकथा ही आज से समाप्त हो जायगी। अर्थात् परशुराम की तरह मैं आज सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश कर दूँगा। जब कोई क्षत्रिय ही शेष नहीं रहेगा, तो युद्ध की कथा स्वयं ही समाप्त हो जायगी। आज इस पृथ्वी का शत्रुसमूह रूप महान् भार दूर हो जायगा ॥२८१॥

अत्रेति। इस पद्य में 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे'—प्रयत्न से जगाये जाओगे—यह 'विधेय' है,उसे 'समास' के द्वारा नहीं कहना चाहिये था। एव च यहाँ जो विधेय अर्थ—'निःशंक होकर निद्रा में स्थित हुए तुम, वैतालिकों (चारणों) के स्तुतिपाठ से जगा करोगे'—है, उसे 'अविधेय' रूप से अर्थात् 'स्तुति पाठकों के द्वारा जगाये जाने पर भी सोते रहोगे कह कर बताया गया है। उस कारण विवक्षित अर्थ का निर्वाह नहीं हो रहा है, इसलिये यहाँ पर 'सुखेन शयितश्चिरादुषसि बोध्यसे मागधैः'—इस प्रकार यदि कवि कहता तो 'विध्ययुक्तत्व' दोष न हो पाता। अभिप्राय यह है कि 'आपको जगाना पड़ेगा, ऐसी नींद सोएँगे'—यह 'विधि' अयुक्त है। कवि को यह कहना चाहिये था कि 'सोये हुए (शयित) आप, बड़े प्रयत्न से जगाये जाएँगे'—यह विधान (विधि) करना चाहिए था। क्योंकि पाण्डवों के भय से अद्यावधि दुर्योधन को नींद नहीं आती थी। किंतु आज मेरे (अश्वत्थामा के) द्वारा पाण्डवों के नष्ट किये जाने पर निःशंक होकर सोते हुए तुम्हें वैतालिकगण स्तुति-पाठ के द्वारा बड़े प्रयत्न से जगा पाएँगे, अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक जग पाओगे। तथा च 'शयितस्त्वं प्रयत्नेन बोध्यसे' यह विधान (विधि) करना युक्त है, न कि 'शेषे' अर्थात् 'शयन' का विधान (विधि) करना। क्योंकि 'शयित'—सोये हुए को ही 'बोध्यते'—जगाया जाता है, 'न तु बोधितः शेते'—जगाया हुआ आदमी सोता नहीं है। इसलिये 'अयुक्तविधित्व' दोष हो गया है।

'हे राजन्! अद्य त्वं निशां रात्रिं व्याप्य शेषे निद्रास्यसि' यह अन्वय है। पाणिनि के अनुसार 'निशा' शब्द की निष्पत्ति 'णिश समाधौ'—इस भौवादिक 'निश्' धातु से 'इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः'—(सू० ३।१।१३५) सूत्र के द्वारा 'क' प्रत्यय करने पर 'अदन्तत्वात्' अदन्त हो जाने से ही 'टाप्' प्रत्यय किया गया है। तब 'निशा' शब्द बना है। और 'भागुरि' आचार्य के मतानुसार 'निश्' शब्द से 'क्विप्' करने पर उसके

यथा वा—

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिकातीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै-
र्दम्भस्य स्फुरितं बिदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ॥ २८२ ॥

क्विबन्त हो जाने से हलन्त से भी 'टाप्' हो सकता है । शब्देन्दुशेखर के अव्ययप्रकरण में कहा है—"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।

अपि चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥४॥

निशाम्'—यह द्वितीया, 'अत्यन्त संयोग' बताने के लिये—'कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे'—(सू० २।३।५) सूत्र से की गई है ।

'शेषे'—'शीङ् स्वप्ने'—इस अदादि 'शी' धातु से 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'—(सू० ३।३।१३१) सूत्र से वर्तमान के समीप भविष्यत् अर्थ में 'लट्' लकार का प्रयोग और मध्यमपुरुष का एकवचन किया गया है । 'सोमक' शब्द का अर्थ—'पाञ्चाल' है ।

इस पद्य के प्रत्येक पाद में 'अद्य' का कथन, 'कालान्तरकर्तव्यत्व संभावना का सर्वथैव निरास करने के लिये किया गया है । 'अयुक्त की विधि—दो प्रकार से होती है—(१) जहाँ अविधेय को ही विधेय बना दिया जाय और (२) जहाँ विधेय का क्रम, युक्त नहीं हो । इन दो में से प्रथम का उदाहरण 'प्रयत्नपरिबोधितः' है ॥२८१॥

अब विधि की अयुक्तता में 'अयुक्तक्रमत्व' का उदाहरण भल्लट-कविकृत भल्लट-शतक में से ८७वाँ पद्य दे रहे हैं । यथावेति । जैसे —

वाताहारतयेति । विषधर सर्पों ने अपने वायुमात्र भक्षण के व्रत से सबको विश्वास दिलाकर, सबका नाश कर दिया । मयूरों ने मेघनिर्मुक्त जलमात्र भक्षण के उग्र व्रत से विश्वास दिलाकर विषधर सर्पों का संहार कर दिया, और चमूरु अर्थात् चित्रमृग के कठोर मृगचर्म मात्र के परिधान करने का व्रत करनेवाले व्याधों ने विश्वास दिलाकर मयूरों का अन्त कर दिया । इस प्रकार दांभिक लोगों के दांभिक (ढोंगी) व्यवहार को जानते हुए भी यह मूर्ख संसार उन गुणों को चाहता है ॥

अत्रेति । इस पद्य में प्रतिपादित व्रतों में 'मृगचर्मवसन, मेघतोयकणिकापान, वायुभक्षण'—ये उत्तरोत्तर तीव्र हैं, अतः उसी क्रम से उनका विधान (कथन) करना चाहिये था, किन्तु उस क्रम को अन्यथा कर देने (व्युत्क्रम कर देने) से 'विध्ययुक्तत्व' दोष हो गया है ।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यासरूप अन्यापदेशभूत चतुर्थचरण के स्वारस्य से 'दम्भाधिक्य' वाच्य होने पर 'तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम'—इस क्रम से ही उसका विधान (विधि) करना चाहिये था । इस प्रकार करने से 'दुष्क्रमत्व' की शंका नहीं हो पाएगी । क्योंकि

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।

(२१ अनुवादायुक्तत्वम्)

अरे रामाहस्ताभरणभसलश्रेणिशरण !
स्मरक्रीडाव्रीडाशमन ! विरहिप्राणदमन ! ।
सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदलनीलोत्पलसखे !
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ॥ २८३ ॥

'दुष्क्रम' में 'क्रम' की दुष्टता रहती है, किन्तु यहाँ पर क्रम के दुष्ट रहने से 'विधि' की अयुक्तता हुई है । अतएव यह अर्थ-दोष है । यथाश्रुत वाक्यार्थ की उपपत्ति होने पर भी चतुर्थ चरण के अपदेशानुसार तीव्रादि क्रम से ही विधि में तात्पर्यग्रह होता है । किन्तु लोकप्रसिद्ध क्रम के उल्लंघन करने से विवक्षितार्थ की अप्रतीति होती है, उस कारण श्रोता का उद्विग्न होना ही दोष का बीज है । यह नित्यदोष है ॥ २८२ ॥

(२१ —अनुवादायुक्तत्व)

(२१) 'अनुवादायुक्तत्व' दोष वहाँ होता है, जहाँ 'विधेय' के प्रतिकूल 'उद्देश्य' (अनुवाद्य) को बताया जाता है । 'अनुवादायुक्तः' अयुक्तानुवाद इत्यर्थः । अयुक्तत्वं चात्र विध्यननुगुणत्वम् । अनुवादश्च सिद्धस्य उपन्यासः कथनम् । इस दोष के प्रदर्शनार्थ उदाहृत पद्य के सम्बन्ध में चक्रवर्ती, महेश्वर, श्रीवत्सलाञ्छन, वैद्यनाथ, भीमसेन, नागोजी भट्ट आदि व्याख्याकारों ने इस पद्य को 'विक्रमोर्वशीय' का बताया है, किन्तु विक्रमोर्वशीय में यह पद्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है ।

अरे इति । अरे नीलकमल ! उस सुन्दरी के हाथ के आभूषण ! शरण में आये हुए भ्रमरों के रक्षक ! रतिक्रीडा की लज्जा के निवारक ! विरहीजनों के प्राणों के सन्त्रासक ! श्रेष्ठ सरोवर के भूषण ! मन्द मारुत से चञ्चल दल वाले ! सखे नीलोत्पल ! मैं बहुत दीन (खिन्न) हो गया हूँ, वह चन्द्रमुखी, कहाँ है ? बताओ न, मेरे मोह को दूर कर दो न, विरही पुरूरवा इस प्रकार 'नीलोत्पल' से कह रहा है ॥२८३॥

अत्रेति । यहाँ पर 'कथय क्वेन्दुवदना'—इस विधेय रूप अभिप्रेत अर्थ के लिये, 'विरहिप्राणदमन'—इस उद्देश्य (अनुवाद्य) भूत प्रतिकूल अर्थ को बताना उचित नहीं है । विधेय अर्थ के अनुकूल (अनुगुण) उद्देश्यभूत अर्थ को कहना चाहिये था । वैसा न कहने से 'अनुवादायुक्तत्व' दोष हो गया है । वह विरहातुर पुरूरवा, अपनी मोह-शान्ति के लिये, जिससे दीन होकर प्रार्थना कर रहा है, उसी को 'विरहिप्राण-सन्त्रासक' कहकर सम्बोधित कर रहा है, जो अत्यन्त प्रतिकूल है । क्योंकि अपने प्रार्थनीय रक्षक को 'ध्वंसक' कहना अत्यन्त अनुचित है । एवं च 'विरहिप्राणदमनत्व' को उद्देश्य कोटि (अनुवाद्य कोटि) में नहीं रखना चाहिये । यहाँ 'विधिविरुद्धत्व'

अत्र 'विरहिप्राणदमन' इति नानुवाद्यम् ॥

(२२ त्यक्तपुनः स्वीकृतत्वम्)

लग्नं रागावृताङ्ग्येत्यादि ॥ २८४ ॥

अत्र विदितं तेऽस्तु इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरुपात्तः ।

(२३ अश्लीलत्वम्)

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।

ही दूषकता में बीज है । यह नित्यदोष है । प्रकरण का अनुसन्धान करने पर 'अनुवादायुक्तता' की प्रतीति होने से यह अर्थदोष है ॥ २८३ ॥

(२२—त्यक्तपुनः स्वीकृतत्व)

(२२) 'त्यक्तःपुनः स्वीकृतः—पूर्वं त्यक्तः अनन्तरं पुनः स्वीकृतः पुनरुपात्तः' । क्रिया—कारकान्वयेन निराकांक्षतया समाप्तेऽपि वाक्ये पुनः कारकान्तराभिधानं त्यक्तपुनः स्वीकृतत्वम्' इत्यर्थः । 'समाप्तपुनरात्ते' तु पूर्वोक्तस्यैव कारकस्य विशेषणदानमिति भेदः ।

जैसे—'लग्नं रागावृताङ्ग्या०'—(२८४, स. उ. २४१) में 'विदितं तेऽस्तु'—कहकर 'राजा की गलती (शिकायत) का उपसंहार (समाप्ति) कर दिया गया है, किन्तु पुनः 'तेनाऽस्मि दत्ता भृत्येभ्यः'—उसने भृत्यों को उपभोग करने के लिये मुझे उनके हाथ सौंप दिया है अर्थात् मेरा दान कर दिया है—यह कह कर पुनः उसका उपादान (उल्लेख) कर दिया है । अर्थात् 'न किञ्चिद् गणयति' तक के वाक्य के द्वारा 'कर्म कारक' का 'विदिक्रिया' के साथ अन्वय करके वाक्यसमाप्ति हो गई है, फिर भी 'भृत्येऽभ्यः' इत्यादि वाक्य से पुनः 'कर्मकारक' को कहा गया है—अतः 'त्यक्त पुनः स्वीकृतत्व' दोष हो गया है । यहाँ पर 'समाप्तपुनरात्त' की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'समाप्तपुनरात्त' में पूर्वोक्त 'कारक' में ही पुनः 'विशेषण' जोड दिया जाता है, किन्तु प्रकृत दोष में अन्य वाक्यार्थ का ही उपादान किया जाता है—यही दोनों में भेद है—

लोकव्यवहार में भी त्यक्त किये हुए भक्ष्य आदि पदार्थों का पुनरुपादान, वैरस्योत्पत्ति का कारण हो जाता है । यह 'नित्यदोष' है । एवं च 'सहृदयवैरस्याधान' अथवा अप्रयोजकत्व' ही दूषकता में बीज है । 'अत्र विदितं तेऽस्तु' कहकर राजा के दोष का उपसंहार कर दिया गया है, किन्तु उसी को (राजदोष को) पुनः 'तेनाऽस्मि दत्ता भृत्येभ्यः' से कह दिया है, जो 'अप्रयोजक' है ॥ २८४ ॥

(२३—अश्लीलत्व)

(२३) 'अश्लीलत्व' उसे कहते हैं, जहाँ अभिहित अर्थ में व्रीडा आदि अर्थ की प्रतीति होती है ।

यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥ २८५ ॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

(उक्तोदाहरणयोर्निर्दिष्टानां दोषाणां समन्वयः)

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

जैसे—हन्तुमिति । दूसरे की हिंसा करने के लिये प्रवृत्त, और दूसरों के दोषों का ही अन्वेषण करने में लगा हुआ (तत्पर रहने वाला) तथा उद्धत-उद्दण्ड दुष्ट मनुष्य का जैसा पतन होता है, वैसा पुनः शीघ्र उत्थान नहीं होता है ॥ २८५ ॥

अत्रेति । इस पद्य के द्वारा अभिहित अर्थ को सुनने पर पद्यप्रयुक्त शब्दों से पुरुष के शिश्न (लिंग) की तथा स्त्री के गुह्यांग की प्रतीति होने लगती है ।

क्योंकि 'हन्तुं' आदि पदों के सुनने पर 'हिंसा' तथा 'सुरतक्रियारूपयोनिताडन' करने में ही लगे हुए पुरुष का 'लिङ्ग' उन्नत रहने पर भी निष्क्रिय रहता है, वह योनि के छिन्द्र के अन्वेषण में ही लगा रहता है, अन्वेषण करते-करते ही उसके लिङ्ग का जैसे पतन (पात) हो जाता है, अर्थात् वीर्यपतन जनित शैथिल्य हो जाता है, वैसे पुनः उसका शीघ्र उत्थान रागोद्रेकजनित दृढता नहीं हो पाती है—इस व्रीडाजनक अश्लील अर्थ की प्रतीति भी होती है । एवं च यहाँ पर 'पुंव्यंजन' की भी प्रतीति होने से 'अश्लीलत्व' दोष है । यहाँ पर 'पदपरिवृत्तिसहिष्णुता' के रहने से 'अर्थदोष' है । प्रदीपोद्योतकार ने कहा है–"शब्दान्तरेणाऽपि उपादीयमानोऽयमर्थः पुंव्यंजनादिसाधारण्येन प्रतीतेर्व्रीडादायी" । यत्रैक इति । अभी तक प्रदर्शित सभी उदाहृत पद्यों में जहाँ 'एक दोष' ही दिखाया गया है, वहाँ अन्यान्य दोष भी हो सकते हैं, किन्तु यहाँ उनका प्रसंग न रहने से उनको नहीं बताया गया है ॥ २८६ ॥

अभी तक दोषों को बताया गया, किन्तु अब उनके 'अपवादस्थलों' को बता रहे हैं । जिन दोषों को अभी तक बताया गया है, उनमें से कतिपय दोष, ऐसे भी हैं, जो सभी जगह 'दोष' के रूप में नहीं माने जाते, अर्थात् कहीं-कहीं उन दोषों को 'गुण' भी मान लिया जाता है । ऐसे 'दोषों' को 'अनित्य दोष' कहा जाता है । और कतिपय 'च्युतसंस्कार' आदि दोष, ऐसे हैं, जिनको सर्वदा 'दोष' ही माना जाता है, ऐसे दोषों को 'नित्यदोष' कहते हैं । यह 'नित्य' और 'अनित्य' दोष की व्यवस्था, 'रसापकर्षत्व' के ऊपर निर्भर होती है । 'च्युतसंस्कारादि' जो नित्य दोष हैं, वे सर्वदा ही 'रसके अपकर्षक' रहते हैं । इसलिये उन्हे हमेशा 'दोष' ही माना जाता है । और 'श्रुतिकटुत्व' आदि—दोष, केवल 'शृङ्गार' आदि कोमल रसों के अपकर्षक हुआ करते हैं । अतः वहीं पर इन्हें 'दोष' के रूप में माना जाता है । किन्तु 'रौद्र, वीर' आदि—कठोर रसों

(उपर्युक्तानां दोषाणां यथासंभवं समाधानम्)

(अर्थदोषाणां यथास्थानं समाधानम्)

(७७) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः । सन्निधानादिबोधार्थम् ।

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते, तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थिति-प्रतिपत्त्यै ।

यथा—

(अपुष्टत्वम् अथवा पौनरुक्त्यम्)

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥ २८६ ॥

में 'श्रुतिकटुत्वादि' दोषों से 'रस' का अपकर्ष न होने के कारण वहाँ 'श्रुतिकटुत्वादि' को दोष के रूप में नहीं माना जाता। इसलिये वे दोष, 'अनित्यदोष' कहे जाते हैं। इन अनित्य दोषों को आगे बताया जायगा।

यद्यपि उक्तदोष, कहाँ-कहाँ किस विषयविशेष में यथा संभव 'दोष' नहीं माने जाते, यह बताना चाहिये था, तथापि 'अर्थदोषों के सन्निधान को देखते हुए प्रथमतः अर्थदोष की ही अदोषता को दिखाते हैं। ऐसा उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं, जिसमें 'अर्थदोष' की अदोषता बताई गई है—

(सूत्र ७७) **कर्णावतंसादीति**। 'कर्णावतंस' में 'अवतंस' पद का अर्थ ही 'कर्णभूषण' है, तथापि 'कर्ण' पद का उपादान, सन्निधान को बताने के लिये किया गया है। (अर्थात् 'अवतंस' के साथ 'कर्ण' पद का प्रयोग) ध्वनिनिर्मितिः—ध्वनि की (पद की) निर्मिति (प्रयोग), का प्रयोजन इतना ही है कि उसके सन्निधान का बोधन कराने के लिये है। अतः उसको दोष नहीं माना जाता। 'ध्वनिः' = शब्दः, 'निर्मितिः' = उपादानं प्रयोगो वा, 'संन्निधानम्' = सांन्निध्यम्। तथा च—'कर्णावतंसा'दिपदे 'कर्णा'दि शब्द प्रयोगः सन्निधानादिबोधार्थं अर्थात् कर्णस्थित्यादिरूपाधिकार्थप्रतिपत्त्यर्थं क्रियते, इत्यर्थः।

अवतंसादीनीति। कर्णादिशब्दों का वैयर्थ्यपूर्वक सार्थकत्व प्रदर्शित करते हुए सूत्र की व्याख्या स्वयं कर रहे हैं। 'आदि' पद से शेखर आदि को समझ लेना चाहिये। उत्तंस, अवतंस—दोनों शब्द 'कर्णपूर' के वाचक हैं। 'कर्णादिशब्दाः' के 'आदि' शब्द से शिर आदि को जानना चाहिये। एवंच अवस्थिति प्रतिपत्तिरूप प्रयोजन के निमित्त 'कर्ण' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः 'पौनरुक्त्य' की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि पुनरुक्त के लक्षण में 'प्रयोजनं विना—यह विशेषण दिया गया है। दूर स्थित में 'अवतंस' आदि शब्द का प्रयोग होने से 'अपुष्टत्व की भी शंका नहीं करनी चाहिये।

जैसे—**अस्या इति**। इस सुन्दरी के कर्णाभरण ने समस्त आभूषणों को जीत लिया, उससे प्रतीत होता है कि इसका श्रवण-कुण्डल अत्यधिक सुन्दर है (शोभा दे रहा है)२८६

अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुभृङ्गमुखराः शिरः शेखरशालिनः ॥ २८७ ॥

अत्र कर्ण-श्रवण-शिरःशब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिह्नेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥ २८८ ॥

अत्र धनुःशब्द आरूढत्वावगतये—

यहाँ पर 'अवतंस' और 'कुण्डल' पदों से ही 'कर्णाभरण' अर्थ उक्त है, तथापि 'कर्ण, श्रवण'—पद, कर्ण—श्रवण में उसकी स्थिति के व्यञ्जक हैं। अतः पुनरुक्तत्वादि-दोष की आशंका नहीं हो सकती।

केवल 'कर्ण' और 'श्रवण' पदों की ही यह महिमा नहीं है, किन्तु अन्य पदों की भी यही महिमा है, उसे भी एक अन्य उदाहरण के द्वारा बताते हैं—अपूर्वेति। हृदय को लुभानेवाले मधुर गन्ध-पुष्पादि के परिमलसे दिशाओं को सुगन्धित करते हुए भ्रमरों की गुञ्जार से युक्त शिरःशेखरधारी पुरुष, आ पहुँचे ॥ २८७ ॥

अत्रेति। यहाँ भी 'शिखास्वापीडशेखरौ'—इत्यादि कोश के अनुसार 'शेखर' शब्द से ही 'शिरोभूषण' का अर्थ उक्त होने पर भी 'शिरः' शब्द का प्रयोग, शिरः-स्थिति का व्यञ्जक रहने से 'पुनरुक्तत्वादि' दोषों की शंका नहीं की जा सकती। प्रदीपकार कहते हैं कि "अत्र शिरः पदस्य अदाने शेखरस्वाम्यमात्रं लभ्यते, न तु तदलंकृतत्वम्। तथाच तत्प्रतीतेरदोषत्वम्" इति। अर्थात् यदि 'कर्ण, शिरस्, श्रवण आदि शब्दों का उपन्यास न करते तो यही समझ में आता कि इस व्यक्ति के पास ये आभूषण हैं, किन्तु उन आभूषणों को यह पहना हुआ नहीं है ॥ २८७ ॥

सूत्र (७७)—गत 'सन्निधानादि बोधार्थम्' के 'आदि' शब्दार्थ को प्रदर्शित करते हुए अन्य उदाहरण दे रहे हैं—विदीर्णेति। हे राजन्! युद्ध करने के लिये सामने आने वाले शत्रुओं को विदीर्ण करने के कारण भयंकर रणभूमि में आपकी भुजा धनुष की प्रत्यञ्चा के व्रण से विभूषित होकर विलक्षणता के साथ फड़कने लगी ॥ २८८ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'धनुः' शब्द का प्रयोग, धनुष पर प्रत्यञ्चा की आरुढता को बताने के लिये किया गया है। क्योंकि 'मौर्वीज्या शिञ्जिनी गुणः'—इस कोशवचन के अनुसार 'ज्या' शब्द से ही 'धनुर्गुण' के उक्त होने पर भी 'धनुः' शब्द का प्रयोग 'ज्या' की आरुढता बताने के लिये और उसके द्वारा व्रण (किण) का 'प्रहारजनित' होना प्रतीत होता है। यह अवगत होने से 'वर्णनीय राजा' का उत्कर्ष प्रतीत होता हैं। अतः पुनरुक्तत्वादि दोष नहीं हैं ॥ २८८ ॥

अन्यत्र तु—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥ २८९ ॥

इत्यत्र केवलो ज्याशब्दः।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः।
मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥ २९० ॥

जहाँ पर 'आरुढत्व-प्रतीतिरूप प्रयोजन' नहीं है, वहाँ 'धनुः' शब्द के उपादान की आवश्यकता नहीं है। केवल 'ज्या' शब्द का ही वहाँ उपादान करना पर्याप्त है। इसी आशय को 'अन्यत्र तु' से बताया है। अर्थात् आरूढत्वावगतिरूप प्रयोजनशून्य स्थल में उक्त आशय को बताया है।

उस स्थल का उदाहरण दे रहे हैं—रघुवंश महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती से सुनन्दा कह रही है—ज्याबन्धेति। प्रत्यश्चा के आघातों को सहन करते-करते जिसकी भुजा स्पन्दशून्य हो गई है, तथा दुःख से सन्त्रस्त होने के कारण जिसके दसों मुखों से श्वासोच्छ्वास चल रहा है, ऐसा और देवराज इन्द्र को भी जीतने वाला यह लंकाधिपति रावण, जब तक सहस्र बाहु कार्तवीर्यार्जुन प्रसन्न नहीं हुआ तब तक उसके यहाँ कारागार में रहा ॥ २८९ ॥

इत्यत्रेति। यहाँ पर 'आरूढत्वप्रतीतिरूप प्रयोजन' के न रहने से 'धनुः' शब्द का उपादान नहीं किया है, किन्तु केवल 'ज्या' शब्द का ही उपादान किया गया है।

सहस्रार्जुन के द्वारा लंकाधिपति रावण को जीतने की कथा वाल्मीकी रामायण के उत्तरकाण्ड के इकत्तीस और बत्तीस सर्गों में दी गई है एक समय—नलकेलिलोलविलासिनीजनों के अवगाहनार्थ अर्जुन ने परिघ के समान अपनी भुजाओं से रेवा (नर्मदा) नदी के जल-प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया था। तब रावण, शिवलिङ्ग की पूजा के लिये अपेक्षित पुष्पोपहार के अपहार से क्रुद्ध हो उठा, और युद्धार्थ आ धमका। उस युद्ध में सहस्रार्जुन ने रावण को जीत लिया और उस माहिष्मती नगरी के राजा सहस्रबाहु कार्तवीर्यार्जुन ने अपने धनुष की प्रत्यश्चा से ही उसको बांध लिया ॥ २८९ ॥

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी है—

प्राणेश्वरेति। प्राणेश्वर प्रियतम के आलिंगन से होनेवाली शृङ्गारमय हाव-भावों की स्मृति के कारण नायिका के दोनों स्तन, अपने ऊपर शोभित होने वाले मुक्ताहार के मिष (बहाने) से मानों हँस रहे हैं ॥ २९० ॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नामिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः।

सौन्दर्यसम्पत्तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः।
षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ! ॥ २९१ ॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः। निरुपपदो हि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते।

(७८) स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥ ५८ ॥

अत्रेति। यहाँ पर "हारो मुक्तावली"—"मुक्ता ग्रैवेयकं हारः"—इत्यादि कोश के अनुसार 'हार' कहने से ही 'मोतियों का हार'—यह अर्थ प्रतीत होता है, तथापि यहाँ 'मुक्ता' शब्द का उपन्यास करने से सूचित हो रहा है कि 'इस हार' में अन्य रत्नों का मिश्रण नहीं है, यह केवल—(शुद्ध) मोतियों का ही बना हुआ है। उस कारण यहाँ—'अपुष्टत्व' किं वा 'पुनरुक्तत्व' नहीं है। क्योंकि यहाँ 'मुक्ताहार' कहने से एक विशेष अर्थ की अर्थात् 'शुद्ध' (अमिश्रित) मोतियों के माला की प्रतीति कराना विवक्षित है, जो हो रही है, श्वेत होने के कारण 'मुक्ताहार' ही मानों 'स्तनद्वय' का 'हास' है ॥ २९० ॥

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण और भी है—सौन्दर्येति। हे सखे ! जैसे पुष्पमाला भ्रमरों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, उसी प्रकार जिस सुन्दर युवतीका वह यौवन, वह सौन्दर्य, और हाव-भाव भरे वे शृङ्गार चेष्टाएँ किसको भला अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया करतीं ॥ २९१ ॥

अत्रेति। उपपदरहित 'माला' शब्द से ही 'पुष्पमाला' की प्रतीति हो जाती है, उस कारण 'पुष्प' पद 'उत्कृष्ट पुष्प' के अर्थ में 'संक्रमित वाच्य' है। अर्थात् 'माला'-शब्द यद्यपि 'पुष्प की माला' में ही शक्त है, तथापि 'पुष्प' शब्द 'अपुष्टार्थ' नहीं है, क्योंकि लक्षणा से वह 'उत्कृष्टत्व' का प्रतिपादक है। इसी को 'करिबृंहितन्याय' कहते हैं।

किञ्च—निरुपपद माला शब्द 'पुष्पमाला' को ही कहता है—यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'निरुपपद माला' शब्द 'रुद्राक्ष', 'तुलसी', स्फटिक आदि सभी मालाओं को भी बता सकता है। 'रत्नमाला', 'शब्दमाला', 'काव्यमाला' आदि प्रयोग किये ही जाते हैं।

इस स्थिति में तो भिन्न-भिन्न विशेषताओं को बताने के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है—यह कहें तो उन पदों को प्रयुक्त न करने पर सर्वत्र ही 'अपुष्टार्थत्वदोष' हो जायगा। तब तो 'कर्णावतंस' आदि पदों के समान 'जघनकांची' भी कहना होगा।

(क्वचित्कविप्रयुक्तावदोषत्वम्)

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते।
जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥ २१२ ॥

(क्वचित् महाकवियों के प्रयोग में अदोषत्व)

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार के प्रयोग करे और कोई उसे 'दोष' न कहे। उपर्युक्त 'कर्णावतंस' 'श्रवणकुण्डल', 'धनुर्ज्या', 'मुक्ता-हार', 'पुष्पमाला' आदि शब्दों के जो उदाहरण हैं, वे प्राचीन महाकवियों के काव्यों में उपलब्ध होते हैं। उस कारण उन प्रयोगों के समर्थन का यह मार्ग बताया गया है। परन्तु उन्हीं का अनुकरण करके यदि कोई आधुनिक कवि, नवीन प्रयोग करेगा, तो उसका समर्थन नहीं किया जायगा। इसी तथ्य को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

(सू० ७८) स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥ ५८ ॥ अर्थात् केवल प्राचीन काव्यों में स्थित प्रयोगों का ही यह समर्थन किया गया है ॥ ५८ ॥'

न खल्विति। 'कर्णावतंस' आदि प्राचीन प्रयोगों के समान 'जघनकाञ्ची' आदि नवीन प्रयोग आधुनिकों को नहीं करने चाहिये। क्योंकि महाकवियों के प्रयोग किसी न किसी विशेष अभिप्राय से ही हुआ करते हैं। वे 'जघनकांची' आदि 'अपुष्ट' अथवा, 'पुनरुक्त' पदों का प्रयोग, मनमाने नहीं किया करते। कदाचित् कर भी दें तो उसे दोष ही कहा जायगा।

श्री मम्मटभट्ट ने वामन के काव्यालंकार सूत्रवृत्ति के अनुरोध से यह सब लिखा है। किन्तु वामन ने 'विशेषणस्य च'—(२।२।२२) इस सूत्र में गतार्थ 'विशेष्य' के प्रयोग का भी समर्थन किया है, क्योंकि उसमें 'विशेषण' देना है। उसके उदाहरण के रूप में—

"जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्'—यह पद्यांश दिया है। यहाँ पर 'जगाद' पद, 'गद व्यक्तायां वाचि'—धातु से निष्पन्न होता है। अतः 'वाचं' का अर्थ 'जगाद' पद के गर्भ (भीतर) में ही समाविष्ट है। 'जगाद' (बोला) कहने से ही 'वाणी' के अर्थ की प्रतीति हो जाती है। अतः 'वाचं जगाद' (वाणी बोला)—यह कहने की आवश्यकता नहीं है। तथापि उस 'वाणी' के साथ अर्थात् 'वाचं' के साथ 'मधुरां' वशेषण जोड़ने के लिये 'वाचं'—इस गतार्थ पद का भी प्रयोग कर सकते हैं—यह 'वामन' का अभिप्राय है।

परन्तु मम्मट भट्ट उसे मानने के लिये तैयार नहीं है। मम्मट भट्ट का कहना है कि यहाँ पर 'मधुरां' का 'वाचं' का विशेषण न बनाकर—'मधुरं जगाद' इस तरह 'क्रियाविशेषण' के रूप में 'मधुरं' को रखना चाहिये। क्रिया-विशेषण के रूप में 'मधुरं' का प्रयोग करने से भी अभीष्ट प्रयोजन की उपलब्धि हो सकती है। अतः 'जगाद मधुरां वाचं' जैसे प्रयोग करना उचित नहीं है। एवं च वामन का यह कहना—

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित्प्रयोगः कार्यः'—इति न युक्तम् । युक्तत्वे वा,

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम् ।
पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेव न खिद्यते ॥ २९३ ॥

इत्युदाहार्यमिति—

(निर्हेतुत्वस्यादोषत्वम्)

(७९) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता ।

"गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थी क्वचित् प्रयोगः कार्यः"—अर्थात् विशेषण जोड़ने के लिये कहीं-कहीं गतार्थ हुए विशेष्य का भी प्रयोग किया जा सकता है—यह कथन उचित नहीं है ॥२९२॥

युक्तत्वे वेति । वामन के कथन को यदि उचित ही कहा जाय तो उसका कोई अन्य उदाहरण देना चाहिये । जैसे—

चरणत्रेति । 'चरणौ त्रायते इति चरणत्रम् उपानत्' । अर्थात् पैरों की रक्षा करने वाले जूतों को पहने बिना ही नंगे पैरों से लम्बे मार्ग को शीघ्र गति से पार करता हुआ भी यह व्यक्ति थकता नहीं है ॥ २९३ ॥

वामन के कथन (विशेषण जोड़ने के लिये गतार्थ विशेष्य का भी क्वचित् प्रयोग किया जा सकता है) को यदि उचित माना जाय तो 'जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्'—यह उदाहरण न देकर 'चरणत्रपरित्राण'—यह उदाहरण देना उचित है । कहने का अभिप्राय यह है कि 'जगाद मधुरां वाचं' में 'मधुर' को 'वाचं' का विशेषण न बनाकर उसे 'जगाद'—क्रिया का विशेषण बना दिया जाय, तब 'मधुरं जगाद' कहा जायगा । तब 'जगाद' कहने से ही गतार्थ हुए 'वाचं'—इस विशेष्य पद को पृथक्तया प्रयुक्त करने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

किन्तु 'चरणत्र-परित्राण' में 'पादाभ्यां व्रजन्' कहने से चलने की क्रिया पैरों से ही होती है । उस कारण 'पादाभ्यां'—इस पद का प्रयोग किये बिना भी 'पाद' रूप अर्थ की प्रतीति हो सकती है । किन्तु यहाँ पर 'व्रजन्' के साथ 'पादाभ्यां' पद, जो दिया गया है, उसको 'क्रियाविशेषण' नहीं बनाया जा सकता । इसलिये यहाँ पर 'पादाभ्यां' पद, 'व्रजन्' कहने से गतार्थ हो जाने पर भी उसका (पादाभ्यां पद का) प्रयोग करना उचित ही है ॥ २९३ ॥

(निर्हेतुत्व की अदुष्टता)

(सू० ७९) ख्यातेऽर्थे इति । निर्हेतुत्व—लोकप्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतुत्व (हेतु का न होना) को दोष नहीं माना जाता ।

यथेति । जैसे—कुमारसम्भव काव्य से प्रथम सर्ग का पद्य दिया गया है ।

यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुंक्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥२९४॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुं नापेक्षते ।

(पददोषाणामदोषत्वम्)

(८०) अनुकरणे तु सर्वेषाम् ॥

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् ।

चन्द्रमिति । यह चञ्चला लक्ष्मी जब चन्द्र का आश्रय करती है, तब 'पद्म' के सौरभादि गुणों का भोग नहीं ले पाती, और कमल का आश्रय करने पर चन्द्र के सौन्दर्य चान्दनी का भोग करने में समर्थ नहीं हो पाती । किन्तु वही चंचला लक्ष्मी, जब उमा के मुख का आश्रय लेती है, तब उसने दोनों में रहने वाले (चन्द्र की चान्दनी के सौन्दर्य तथा कमल में रहने वाले सौरभ) आनन्द का उपभोग प्राप्त किया । २९४ ॥

अत्रेति । रात में कमल, बन्द हो जाते हैं अर्थात् कमलों का संकोच हो जाता है । और दिन में चन्द्रमा, कान्तिहीन (निष्प्रभ) हो जाता है—उस कारण क्रमशः कमलों का सौरभ और चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (कान्ति) उसे मिल नहीं पाती । एवं च रात में कमलों का संकुचित होना और दिन में चन्द्र का निष्प्रभ रहना—लोक-प्रसिद्ध है । अतः कमल के पास जाने पर भी 'सौरभ' का और चन्द्र के पास जाकर भी 'चांदनी' का भोग, वह लक्ष्मी क्यों नहीं ले पाती ? अर्थात् 'न भुङ्क्ते' इस कथन में 'हेतु' की आवश्यकता नहीं है । इसलिये उक्त अर्थ, लोकप्रसिद्ध रहने से 'निर्हेतुत्व' को दोष नहीं माना गया ॥

उमामुखमिति । उमा (पार्वती) का मुख तो सर्वदा ही चन्द्रमा के समान सुन्दर तथा कमल के समान सौरभयुक्त रहता है । उस कारण उसके पास पहुँचने पर दोनों के गुणों को प्राप्त कर चञ्चला-लक्ष्मी, आनन्द का अनुभव करती है । 'लोला'—कह कर यह सूचित किया है कि लक्ष्मी जैसी चञ्चला को भी विलक्षण आनन्द प्रदान करने से उमा का मुख, सर्वतोपरि उत्कृष्ट है ॥ २९४ ॥

(कहीं-कहीं पदादिदोषों की अदुष्टता)

अनुकरणे इति । अनुकरण करने में तो सब दोषों की अदोषता है । अर्थात् अनुकरण करने में श्रुतिकटुत्व आदि सभी दोष दूर रहते हैं । अर्थात् दूसरों के दूषित पदों के प्रयोग का अनुसरण करके बताते समय जो वक्ता, उन दोषयुक्त पदों का उच्चारण करता है, उनसे वक्ता, दोषी नहीं कहा जाता है । 'अनुकरणं नाम शब्दस्य ताद्रूप्येण ऽभिधानमिति'—सरस्वतीतीर्थाः । कुछ लोगों ने 'अनुकरण' को इन शब्दों से बताया है—'स्वसदृशशब्दमात्रबोधतात्पर्यकोच्चारणविषयत्वम्' ।

यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादिकथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥ २९५ ॥

(अकिञ्चित्करत्वम्)

(८१) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्क्वचिन्नोभौ ॥५९॥

वक्तृ-प्रतिपाद्य-व्यङ्ग्य-वाच्य-प्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद्-गुणः क्वचिन्न दोषो न गुणः । तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः । क्रमेणोदाहरणम् ।

जैसे—मृगेति । 'मैंने मृगनयनी को देखा था'—ऐसा वह कहता है । तथा 'गौ को देख'—ऐसा वह कहता है । और 'सुत्रामा' (इन्द्र) की पूजा कर'—ऐसा वह कहता है ॥ २९५ ॥

उक्त उदाहरण में पूर्वार्ध के 'शृङ्गार रस' में 'अद्राक्षम्'—इन श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग किया गया है, अतः 'दोष' होना चाहिये । तृतीय चरण में 'गवित्याह'—इसमें विभक्तिरहित केवल प्रातिपदिक 'गो' शब्द का प्रयोग किया गया है । किन्तु 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलं प्रत्ययः' इस नियम के विरुद्ध वह प्रयोग है । अतः वह प्रयोग 'च्युतसंस्कृति' दोष से युक्त हो गया है । चतुर्थ चरण में 'सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री' इत्यादि कोषवचन के अनुसार 'सुत्रामा' शब्द को 'इन्द्र' के अर्थ में बताया गया है, तथापि कवियों के द्वारा उस अर्थ में उसका प्रयोग न होने से वह 'अप्रयुक्तत्व' दोष से युक्त हो गया है ।

किन्तु यहाँ पर अनुकर्ता जो कह रहा है, वह मूलवक्ता नहीं है । वह तो किसी अन्य के द्वारा प्रयुक्त किये हुए उन शब्दों का अनुकरण मात्र करके बता रहा है कि अमुक व्यक्ति इस प्रकार कहता है । उस कारण अनुकरण में उक्त दोषों में से कोई दोष नहीं माना जाता ॥ २९५ ॥

(अकिञ्चित्करत्व)

(सू० ८१) वक्ता के औचित्य के अनुसार 'दोष' भी क्वचित् 'गुण' हो जाता है, अथवा क्वचित् वह न 'दोष' माना जाता है, और न 'गुण' ही माना जाता है ॥ ५९ ॥

वक्तृप्रतिपाद्येति । वक्ता, बोद्धा (प्रतिपाद्य अर्थात् जिसको लक्ष्य करके कहा जाता है), व्यंग्य, वाच्य और प्रकरण आदि की महिमा (वैशिष्ट्य) से 'दोष' भी क्वचित् 'गुण' हो जाता है और क्वचित् वह, न 'दोष' माना जाता है और न 'गुण' ही माना जाता है । यदि कोई 'वैयाकरण' आदि वक्ता या प्रतिपाद्य (बोद्धा) हो, अथवा 'रौद्रादिरस' व्यंग्य हो तो 'कष्टत्व' दोष, 'गुण' हो जाता है ।

(वक्तृवैशिष्ट्येन 'कष्टत्व'स्य गुणत्वम्)

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद्गुणवृद्धयोरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥ २९६ ॥

(वक्तृवैशिष्ट्य से कष्टत्व की गुणरूपता)

क्रमेणेति । अब क्रमशः उनके उदाहरण दे रहे हैं—इस ग्राम में कैसे लोग हैं ? इस प्रश्न का उत्तर 'दीधीङ् वेवीङ्' पद्य से दिया गया है—दीधीङ् वेवीङिति । कोई आदमी तो 'दीधीङ्,वेवीङ्' धातु के तुल्य है, जो 'गुण' (पाण्डित्य, दान, शौर्यादिगुण) और 'वृद्धि' (धन-धान्यादि की समृद्धि) का पात्र नहीं है । और कोई आदमी 'क्विप्' प्रत्यय के समान है, उसे ये गुण—वृद्धि झाँकते तक नहीं हैं । अर्थात् क्विप्-प्रत्यय जैसे आदमी के पास आ जाने पर गुण और वृद्धि के प्राप्त रहने पर भी वे उससे दूर भागते हैं ॥ २९६ ॥

'गुण' और 'वृद्धि' शब्द, व्याकरण शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं । महर्षि पाणिनि ने 'अदेङ्गुणः' (पा० सू० १।१।२) सूत्र से अकार, एकार और ओकार को 'गुण' शब्द से कहा है, अर्थात् उक्त तीन वर्णों की 'गुण' संज्ञा की है । उसी तरह "वृद्धिरादैच्"—(पा० सू० १।१।१) सूत्र से 'आ, ऐ, औ' की 'वृद्धि' संज्ञा की है अर्थात् इन तीन वर्णों का नाम 'वृद्धि' है । अतः 'गुण—वृद्धि' आदि शब्दों से उनके पारिभाषिक अर्थ का ज्ञान वैयाकरण को ही हो सकता हैं, अन्य को नहीं । 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' और 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये' ये दो धातु 'द्वितीयगण' के धातु पाठ में पढ़ी गईं हैं । इन दोनों धातुओं में "दीधीवेवीटाम्"—(पा० सू० १।१।६) सूत्र से 'गुण' तथा 'वृद्धि' का निषेध किया गया है । इसलिये 'आदीध्यनम्, आवेव्यनम्' में आदिध्यकः—आवेव्यकः' इन प्रयोगों में क्रमशः गुण—वृद्धि का निषेध (अर्थात् 'आदीध्यनम् और आवेव्यनम्' में गुण का निषेध और 'आदिध्यकः', आवेव्यकः में वृद्धि का निषेध) और 'भविता' में इडागम को गुण का निषेध होता है । 'क्विप्' प्रत्यय का 'वेरपृक्तस्य'—(पा०सू० ६।१।६७) सूत्र से सर्वापहारी लोप होता है, उसका कोई भी अंश, शेष नहीं रहता । किन्तु उसके (क्विप् प्रत्यय के) सन्निहित अर्थात् परे (आगे) रहने पर 'क्ङिति-च' (पा० सू० १।१।५) सूत्र से 'गुण' और 'वृद्धि' का निषेध हो जाता है । जैसे 'लिट्भित्' आदि प्रयोगों में 'पुगन्तलघूपस्य च'—(पा० सू० ७।३।८६) सूत्र से प्राप्त होने वाले 'गुण' का निषेध हो जाता है । तथा 'मृट्' आदि प्रयोगों में 'मृजेर्वृद्धिः'—(पा० सू० ७।२।११४) सूत्र से प्राप्त होने वाली 'वृद्धि' का निषेध होता है ।

उक्त पद्य में यद्यपि 'कष्टत्व' दोष अथवा अप्रतीतत्व दोष स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है, तथापि यहाँ पर वक्ता 'वैयाकरण' होने से एवं उसकी व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति की प्रतीति होने से सहृदय श्रोता उद्विग्न नहीं होता है । अतः उस दुरूहत्वरूप 'कष्टत्व' को यहाँ पर 'दोष' न मानकर 'गुण' मानना ही उचित समझा जाता है । यद्यपि यहाँ पर विलम्ब से अर्थ-प्रतीति हो पाती है, तथापि वक्ता की व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति का आधिक्य प्रतीत होने से 'कष्टत्व' को 'गुण' ही कहा जाता है ॥२९६॥

(बोद्धव्य-वैशिष्ट्ये 'कष्टत्वस्य' गुणत्वम्)

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥ २९७ ॥

(रसभावादिव्यङ्ग्यार्थं—वैशिष्ट्ये 'श्रुतिकटुत्वस्य' गुणत्वम्)

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कंकण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥ २९८ ॥

(बोधव्यवैशिष्ट्य से कष्टत्व की गुणरूपता)

अब प्रतिपाद्य (बोद्धा) यदि वैयाकरण हो तब भी—'कष्टत्व' दोष, 'गुण' में परिवर्तित हो जाता है ।

जैसे—यदेति । जब मैंने पदविद्याविशारद—(व्याकरणशास्त्रनिपुण) आप जैसे विद्वान् को देखा तब मुझे अपने उपाध्यायजी (गुरुजी का) स्मरण हो आया, और मुझे महान् हर्ष (सम्मद) हुआ ॥ २९७ ॥

यहाँ पर बोधनीय व्यक्ति (प्रतिपाद्य) वैयाकरण है । वही श्रोता है । उस कारण 'अद्राक्षम्, अस्मार्षम्, समस्प्राक्षम्' ये सभी शब्द यद्यपि श्रुतिकटु हैं, तथापि श्रोता (प्रतिपाद्य-सम्बोध्य) वैयाकरण रहने से 'श्रुतिकटुत्व' दोष, 'गुण' में परिवर्तित हो गया है । क्योंकि श्रोता, स्वयं वैयाकरण है ॥२९७॥

(रसभावादि व्यङ्ग्यार्थ के वैशिष्ट्य से 'श्रुतिकटुत्व' की गुणरूपता)

रसरूपव्यङ्ग्य की महिमा से 'श्रुतिकटु दोष' के भी 'गुण' होने का उदाहरण दे रहे हैं । वीरचरित नाटक के प्रथम अंक में 'का पुनरियम्' ?—यह कौन है—यह उपक्रम करके लक्ष्मणकर्तृक ताटकावर्णन को इस उदाहरण में दिया जा रहा है—अन्त्रप्रोतेति । अंतड़ियों में पिरोये हुए बड़े-बड़े कपाल और जंघा (नलक) की हड्डियों के ही भयानक रूप से परस्पर टकराने के कारण बजनेवाले कङ्कण जिसमें प्रधान हैं, इस प्रकार के अस्थिनिर्मित नाना प्रकार के आभूषणों की ध्वनियों से आकाश को आघोषित (कोलाहलमय) करती हुई, और विपुलमात्रा में मद्यपान करने के पश्चात् वमन किये हुए और रुधिर के पंक से सने हुए ऊपरी भाग (प्राग्भार अर्थात् छाती आदि) के बीच में भयानक रूप से उभरे हुए (भारी-भारी) हिलते हुए स्तनों के भार से भयानक देहवाली, अभिमान से उद्धत होकर यह कौन दौड़ रही है ? ॥२९८॥

इस उदाहरण में 'बीभत्स रस' व्यङ्ग्य है । अतः रस के अनुरोध से 'श्रुतिकटु' दोष, यहाँ पर 'गुण' में परिवर्तित हो गया है ।

बीभत्स रूप से सामने भागती हुई ताटका राक्षसी को देखकर विश्वामित्र के सामने

(वाच्यस्य महिम्ना 'कष्टत्वस्य' गुणत्वम्)

वाच्यवशाद्यथा—

मातङ्गाः! किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः!
सारङ्गा! महिषा! मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद्गर्जितं गर्जितम् ॥२६१॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषाः शब्दाः।

उसके बीभत्स रूप का वर्णन करते हुए लक्ष्मण, उनसे पूछते हैं कि यह कौन दौड़ रही है? इस काव्य में 'प्रश्न भाग' नहीं दिया गया है, किन्तु इस काव्य के पूर्ववर्ती गद्य-भाग में 'का पुनरियम्' कह कर उसे बताया गया है। काव्य में तो केवल उसके बीभत्स रूप का ही वर्णन किया गया है। यह भयंकर 'ताटका' राक्षसी 'मारीच की माता है और सुकेतु की कन्या है और सुन्दासुर की पत्नी है। यहाँ बीभत्स रस के व्यङ्ग्य रहने से 'दोष' भी गुण हो गया है। अर्थात् 'श्रुतिकटु' वर्ण और दीर्घसमास से युक्त कठोर रचना भी 'गुण' हो गई है ॥२९८॥

(वाच्यार्थ की महिमा से कष्टत्व के गुणत्व का उदाहरण)

मातङ्गा इति। अरे हाथियों! सिंह की अनुपस्थिति में झूम-झूम कर चलने मात्र से अथवा चिघाड़ने से क्या होता है? अरे शृगालों! (गीदड़ों), व्यर्थ के आडम्बर से क्या लाभ? अर्थात् अपनी चपलता तथा वीरता का मिथ्या दिखावा करने से क्या लाभ होना है? अरे मृगों! और अरे भैंसों! तुम क्यों अपनी इतनी मस्ती दिखा रहे हो? अर्थात् अभिमान दिखा रहे हो? शून्य स्थानों में जहाँ कोई वीर नहीं है, वहाँ कौन नहीं अपने को वीर कहता? किन्तु क्रोध के आवेग में खड़े हुए भयंकर सटाओं के अग्रभाग वाले और समुद्र के समान दहाड़ने वाले सिंह के हुङ्कारने पर भी जो गर्जन हो, वही 'गर्जन' कहलाने योग्य है ॥ २९९ ॥

अत्रेति। यहाँ 'सिंह' वाच्य है, अतः 'परुषशब्दों' का प्रयोग, 'गुण' स्वरूप है।

वाच्यार्थ की महिमा से 'कष्टत्व' का भी 'गुणत्व' में परिवर्तित होना प्रदीपकार ने बताया है—'ओजस्विनि सिंहादौ वाच्येऽपि तस्य (कष्टत्वस्य) गुणत्वम्, यतो मसृणशब्दप्रयोगेणोर्जितोऽप्यर्थो मृदुवद्भासते, ऊर्जितशब्दप्रयोगे त्वौर्जित्येन'।

'बृंहितैः' पाठ यदि हो तो 'गर्जितैः' अर्थ होगा। करिगर्जित को ही 'बृंहित' कहते हैं—'बृंहितं करिगर्जितम्' यह अमरकोष है। किन्तु 'विशिष्टवाचकानां पदानां पृथग् विशेषणसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वम्'—इस नियम के अनुसार प्रकृत में 'बृंहित' शब्द से 'गर्जित मात्र' समझना चाहिये। 'सिंधुध्वानिनि'—ध्वानो ध्वनिः (शब्दः),

(प्रकरणस्य महिम्ना 'कष्टत्वस्य' गुणत्वम्)

प्रकरणवशाद्यथा—

रक्ताशोक ! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद-
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥ ३०० ॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि ।

सः अस्मिन् अस्तीति ध्वानि सिन्धुः, स इव ध्वानि ध्वनिशालि तस्मिन् । यहाँ 'उप-मानानि सामान्यवचनैः'—(पा० सू० २।१।५६) सूत्र से, घन इव श्यामो 'घनश्यामः' के समान कर्मधारय समास है । अथवा सिन्धुरिव ध्वानः सिन्धुध्वानः, सः अस्मिन्नस्तीति सिन्धुध्वानि तस्मिन् । इस पक्ष में 'सिन्धु' शब्द से लक्षणा से 'सिन्धुध्वान' समझना चाहिये । दोनों पक्षों में मत्वर्थीय इनि प्रत्यय हुआ है ।

कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ पर 'कर्तर्युपमाने' (पा० सू० ३।२।७९) सूत्र से 'उष्ट्र इव क्रोशति 'उष्ट्रक्रोशी' के समान 'सिन्धुरिव ध्वनति' सिन्धुध्वानि में 'णिनि' प्रत्यय होता है ।

किन्तु उनका यह कहना ठीक नही है । क्योंकि 'ध्वन' 'धात्वर्थ के प्रति 'हुङ्कृत' को कर्तृत्व नहीं है । तथा च समुद्रध्वनिसदृशगम्भीरध्वनिशालिनीति । चन्द्रिकाकार ने द्वितीय गर्जित शब्द, सार्थकत्वविशिष्ट में लाक्षणिक रहने से 'तद्गर्जितसार्थकमित्यर्थः' कहा है ॥ ९९ ॥

(प्रकरण की महिमा से 'कष्टत्व' के गुणत्व का उदाहरण)

महाकवि कालिदासकृत विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में विरहातुर 'पुरूरवा' की यह उक्ति है—**रक्ताशोक इति** । हे रक्ताशोक ! अनुरक्त रहनेवाले मुझ जैसे सेवक को त्यागकर वह कृशोदरी उर्वशी कहाँ चली गई ? (यह प्रश्न, पुरुरवा ने रक्ताशोक वृक्ष से किया, तब वृक्ष को अपनी शाखारूपी गर्दन को हिलता हुआ देखकर स्वयं ही उसके उत्तर की कल्पना करके कहता है) मैंने नहीं देखी यह सूचित करने के लिये वायु से कम्पित होकर शिर को क्यों हिला रहा है ? इस प्रकार तेरे सिर हिला देने मात्र से कैसे मान लूंगा कि तूने उसे नहीं देखा है, क्योंकि उसके चरणप्रहार के बिना तेरे विकसित पुष्पों के समीप उत्सुक होकर इकट्ठे हुए भ्रमरों के समूह से जिनकी पँखुडियाँ झडी जा रही हैं, ऐसा पुष्पोद्गम तुझे कहाँ से प्राप्त हुआ ? ॥ ३०० ॥

हे रक्ताशोक ! सम्बोधन से 'रक्तवर्ण का अशोकवृक्ष, और 'रक्तानामनुरक्तानां मादृशानाम् अशोकः यस्मात्'—इस व्युत्पत्ति से अनुरक्तजनों के शोक का अपनोदन

करने वाले हे अशोकनामक वृक्ष! यह अर्थ भी सूचित किया गया है। 'मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः'–से वात से कम्पित शिर को क्रोध से जनित वातव्याधि के कारण शिर हिलाने को सूचित किया है। 'तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः' से उस कृशोदरी के चरणताडन के बिना तुम्हारा यह अदृष्टपूर्व पुष्पोदय कैसे हुआ ? यह बताया गया है। क्योंकि यह कविप्रसिद्धि है कि—

"स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलक-कुरबकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमधुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः" ॥

पुष्पोद्गम कैसा ? तो कहते हैं—'उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छदः'। उत्कण्ठया घटमानाः युक्ताः मिलिता वा ये षट्पदाः, तेषां या घटा समूहः तस्याः यः संघट्टः गाढमिलनं यत्र, स चासौ दष्टच्छदः खण्डितदलश्चेत्यर्थः।

अथवा षट्पदानां या घटा समूहः तस्याः संघट्टनेन निविडसम्बन्धेन परस्परोपमर्दन वा दष्टाः खण्डिताश्छदाः पत्राणि यस्य तथाभूत इत्यर्थः।

'घटा' में 'घट संघाते'—इस चुरादि 'घट' धातु से 'अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः'—"ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः"–(पा० सू० ३।१।११०) सूत्रस्थ वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के अनुसार 'णिच्' के अभाव में "घटादयः षितः" इस गणसूत्र से 'षित्' होने के कारण "षिद्भिदादिभ्योऽङ्"—(पा० सू० ३।३।१०४) सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में भावार्थक 'अङ्' प्रत्यय करने पर अदन्त हो जाने से 'टाप्' प्रत्यय करने पर 'घटा' शब्द निष्पन्न होता है।

अथवा—'घट चेष्टायाम्'–इस भौवादिक 'घट' धातु से पूर्ववत् 'अङ्' और 'टाप्' करने से भी 'घटा' शब्द की निष्पत्ति हो सकती है। 'धातवोऽनेकार्थाः'–इस न्याय से 'घट' धातु 'संघात' अर्थ को बता रहा है। घटः समाधिभेदेभशिरःकूटकुटेषु च। घटा-घटनगोष्ठीभघटनासु च योषिति" इस मेदिनीकोश के अनुसार कूट (समूह) के अर्थ में 'घटः' ऐसा पुंस्त्व निर्देश किया गया है, किन्तु महाकवियों ने 'घटा' ऐसा 'स्त्रीत्व' निर्देश भी किया दिखाई देता है।

अत्रेति। यहाँ मिथ्या शिरोधूनन से 'कोप-प्रकरण' है। उसके औचित्य से 'कष्टत्व' गुण हो गया है। प्रदीप—उद्योतकार कहते हैं कि 'अत्र प्रकरणगम्यविप्रलम्भानौचित्येऽपि प्रस्तुतशिरोधूननप्रतिपादितदर्शनापलापप्रादुर्भूतक्रोधप्रकर्षकत्वाद् दीर्घसमास-विकटवर्णयोर्गुणत्वं, तेन अङ्गस्य क्रोधस्य प्रकर्षात् अङ्गिनो विप्रलम्भस्यापि प्रकर्षः। न चास्य व्यङ्ग्यौचित्ये एव प्रवेशः कोपस्य व्यङ्ग्यत्वादिति वाच्यम्। वक्त्राद्यौचित्य-

(रसभावादिराहित्यस्य न दोषत्वं न च गुणस्य गुणत्वम्)

(शब्दचित्रेण 'कष्टत्वस्य' दोष-गुणाभावत्वम्)

क्वचिन्नीरसे न गुणो न दोषः । यथा—

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन् व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः ।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम् ॥ ३०१ ॥

व्यतिरिक्तस्थानीयस्य व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यपदेन उपादानात् गोबलीवर्दन्यायात् । दोषत्वाभावश्चैतेषु गुणत्वप्राप्तेः स्फुट एवेति । दोषत्वाभावे हेतुः 'उद्वेगाभावात्' । स एव संक्षेपेण प्रतिपाद्यते 'गुणत्वप्राप्तेः' इति ॥ ३०० ॥

(रसभावादि के अभाव में न दोष व गुण)

(शब्दचित्र से कष्टत्व का दोषगुणाभाव)

इस प्रकार 'दोषोऽपि क्वचिद् गुणः'—इसका सविस्तर उदाहरण बताकर अब 'क्वचित् दोषो न गुणः'—का उदाहरण बता रहे हैं—क्वचिदिति । कहीं नीरस काव्य में क्लिष्टरचना, न 'दोष' होती है, न 'गुण' होती है । उसका उदाहरण मयूरकविकृत सूर्यशतक में से दे रहे हैं ।

सूर्य भगवान् की स्तुति का पद्य है—शीर्णघ्राणेति । अनेक जन्मार्जित पापकर्मवशात् जिनके नाक, पैर और हाथ, कुष्ठरोग से गल जाने के कारण चौड़ी हुई नाकवाले और घर्घर अस्पष्ट बोलने वाले, व्रणपूर्ण शरीर से युक्त कुष्ठियों को जो स्वयं अकेला ही नीरोग बनाकर नवीन अंगों से पूर्ण कर देता है । जिसके हृदय में स्थित द्विगुणित गाढ कृपा से युक्त निर्विघ्न चित्तवृत्तियाँ हैं और सिद्धगणों ने जिसके लिये अर्घ्य-प्रदान किये हैं, ऐसी सूर्य-किरणें तुम्हारे तथा मेरे भी पापों का शीघ्र ही विनाश करें ॥ ३०१ ॥

इस अनुप्रासमय काव्य में यद्यपि कवि का भाव, सूर्यविषयक है, तथापि उसकी प्रधानता न होने से उनके नाम से व्यवहार नहीं हो सकता । तथा 'अनुप्रास' प्रदर्शन ही कवि को विवक्षित रहने से 'दयावीर रस' भी नहीं है । अतः यह 'नीरस काव्य' है । इसलिये यहाँ 'कष्टत्व' न तो 'गुण' है और न 'दोष' ही है ।

'शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्'—घ्राणं (नासिका) च अङ्घ्री चरणौ च पाणी (हस्तौ) च एषां समाहारो घ्राणाङ्घ्रिपाणि, शीर्णं (विदीर्ण—विगलित) घ्राणाङ्घ्रिपाणि येषां तान् । व्रणिभिः व्रणयुक्तैः अपघनैः अङ्गैः अर्थात् शेषावयवैः उपलक्षितान् । 'अपघनैः' यहाँ पर "इत्थं भूतलक्षणे"—(पा० सू० २।३।२१) सूत्र से उपलक्षण अर्थ में 'तृतीया' है । अतएव इसी दुःख से 'घर्घराव्यक्तघोषान्' घर्घरः 'घर्घरो बलवद्वारिध्वानः' इस विश्वकोष के अनुसार बलवान् वारिध्वनि के समान

अप्रयुक्तनिहतार्थौ श्लेषादावदुष्टौ। यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गंगां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः॥ ३०२॥

अव्यक्त अर्थात् वर्णप्रतिभारहितः 'घोषः' शब्दः येषां तथाभूतान्। तथा 'दीर्घाघ्रातान् अघौघैः'—दीर्घम् आघ्रातं श्वासो येषां तान्। अथवा अघौघैः दीर्घाघ्रातान् दृढव्याप्तान्' अथवा अघौघैः दीर्घकालं व्याप्य आघ्रातान् आक्रान्तान्'। इस 'शब्दचित्र' काव्य में कविनिष्ठ सूर्यविषयक भाव के रहने पर भी उसका प्राधान्य न होने से 'इस काव्य' को 'नीरस' कहा गया है। यदि कोई यह कहे कि 'सूर्य' तो दयावीर है, अतः यहाँ 'दया-वीररस' होने से इस काव्य को 'सरस' कहना उचित है। किन्तु उसका यह कहना उचित न होगा, क्योंकि कवि की लगन केवल अनुप्रासमात्र के प्रदर्शन में है। उसका तात्पर्य, 'दयावीर रस' दिखाने में नहीं है। तथा च यहाँ पर अनुप्रास-प्रदर्शन में कवि के संलग्न रहने से 'रस' में उसका तात्पर्य नहीं है॥ ३०१॥

अप्रयुक्तेति। 'अप्रयुक्तत्व' और 'निहतार्थत्व'—इन 'दोषों को 'श्लेष' और 'यमक' आदि में 'दोष' नहीं माना जाता। चन्द्रकवि के पद्य को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं—

येनेति। (विष्णु के पक्ष में)—'येन अभवेन'—जिस अजन्मा विष्णु ने 'अनो-ध्वस्तम्'—'पुरा'—बाल्यावस्था में ही 'अनः'—शकट अर्थात् शकटासुर का नाश किया। तथा 'बलिजित्'—राजा बली को जीतने वाले अथवा बलवान् दैत्यों को जीतने वाले विष्णु ने 'पुरा'—अमृत-हरण के समय अपने शरीर को मोहिनी-स्त्री के रूप में परिवर्तित कर लिया। तथा 'यश्चोद्वृत्तभुजंगहा' जिसने दुराचारी (दृप्त) कालिय नाग को कुचल दिया है। और 'रवलयः'—रवाणां शब्दानां नामात्मक शब्दों का (यह जगत् केवल नाम-रूपात्मक ही तो है) लय, जिसमें होता है, 'नामरूपात्मक जगत्' का ब्रह्म में लय होता हैं—यह वेदान्तसिद्धान्त है। और 'यः'—जिसने अगं—गोवर्धन गिरि को तथा 'गां—पृथ्वी को अधारयत्—धृतवान्, धारण किया था। (अर्थात् विष्णु ने श्रीकृष्ण तथा वराह का रूप धारण कर, कर=हाथ से, तथा दंष्ट्राङ्कुर से गोवर्धन पर्वत को और पृथिवी को धारण किया था)। अमराः—देवगण, जिसका स्तुत्य-स्तवनीय नाम—नामधेय, 'शशिमच्छिरोहर' कहा करते हैं। 'शशिमच्छिरोहरः'—शशिनं चन्द्रं मथ्नातीति शशिमत् राहुः, तस्य शिरः हरतीति शशिमच्छिरोहरः। तथा जिसने यादवों के निवास के लिये 'द्वारका-रूप गृह का निर्माण किया। अन्धकाः यादवाः तेषां क्षयं निवासं द्वारकारूपं गृहं कृतवान्

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दावप्रयुक्तनिहतार्थौ।

('अश्लीलत्वस्य' यथासम्भवं गुणत्वम्)

अश्लीलं क्वचिद् गुणः। यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम्,

'द्वयर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु'

वह, सर्वदः—सर्वप्रदाता अर्थात् चतुवर्गप्रदाता, माधवः लक्ष्मीपतिः, मा लक्ष्मीः तस्याः धवः पतिः विष्णुः, त्वां—तुम्हारी, स्वयं—स्वयं पायात्—रक्षतु, रक्षा करे ॥

(शिव पक्ष में)—येन ध्वस्तमनोभवेन कामदेव को नष्ट करने वाले जिस शिव ने, पुरा—त्रिपुरनामक दैत्यवध के समय बलिजित्कायः—बलिजितः नारायणस्य कायः अस्त्रीकृतः—नारायण विष्णु के शरीर को बाणरूप बना दिया था। महिम्नः स्तोत्र में पुष्पदन्त ने कहा है—"रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्राकौं रथ-चरणपाणिः शर इति" ॥ (शतधृतिः = ब्रह्मा, अगेन्द्रः = मन्दरपर्वतः, रथचरणपाणिः = विष्णुः) ॥ और यः—जो उद्वृत्तभुजङ्गहारवलयः—उद्वृत्ताः = उद्धताः ये भुजङ्गाः = वासुक्यादयः, ते एव हाराः = वलयानि च यस्य तादृशः—उद्धत वासुकी आदि सर्पराजों को ही कङ्कण की जगह धारण करता है। और यः = जिसने गङ्गाम् = भागीरथी को अपने 'उत्तमाङ्ग (शिर) पर अधारयत्—धारण किया है। और देवता लोग, जिसका प्रशंसनीय नाम 'हर' कहा करते हैं। ब्रह्मादिकों का संहारक होने से उसका नाम 'हर' है। और यस्य=जिसका शिरः=मस्तक, शशिमत् = चन्द्रमा से युक्त है। तथा जो अन्धकक्षयकरः = अन्धक नामक दैत्य का क्षय कर अर्थात् विनाशकर्ता है। ऐसा सः—उमाधवः—वह पार्वतीपति शिव, सर्वदा = सर्वकाल, त्वां = तुम्हारी स्वयं = स्वयं, पायात् = रक्षा करे ॥ ३०२ ॥

अत्रेति। माधव (विष्णु) के पक्ष में—'राहु' के अर्थ में 'शशिमत्' शब्द 'अप्रयुक्तत्व' दोष से दूषित है। और 'गृह' के अर्थ में 'क्षय' शब्द, 'निहतार्थत्व' दोष से दूषित है। तथापि उन्हें दोषावह नहीं माना गया है, क्योंकि वे यहाँ पर 'श्लेष' के निर्वाहक हैं।

(अश्लील भी कहीं-कहीं 'गुण' बन जाता है)

अश्लीलमिति। 'अश्लीलता' को भी कहीं-कहीं 'गुण' मान लिया जाता है। किन्तु अनुचितार्थक = निरर्थक अश्लील शब्दों को तो 'नित्यदोष' के रूप में ही माना गया है। अतः उन्हें छोड़कर 'अश्लील' का प्रतिप्रसव बता रहे हैं। जैसे 'सुरत' का आरम्भ करने के लिये की जाने वाली गोष्ठी में कामशास्त्र की मर्यादा से ही बर्ताव करना चाहिये। कामशास्त्र में कहा गया है—

"ताम्बूलदानविधिना विसृजेद् वयस्यां-
द्वयर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु" ॥

इति कामशास्त्रस्थितौ--

(वाक्यगतस्य व्रीडाव्यञ्जकस्य 'अश्लीलत्वस्य' गुणत्वम्)

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥ ३०३ ॥

(वाक्यगतजुगुप्साव्यञ्जक 'अश्लीलत्वस्य' गुणरूपता)

शमकथासु—

वयस्यां सखीं ताम्बूलदानरूपेण विधिना प्रकारेण विसृजेत् तथा द्व्यर्थैः अनेकार्थैः पदैः रहस्यं गोप्यं वस्तु योनि-लिङ्गादिकं पिशुनयेत् सूचयेदित्यर्थः ।

(व्रीडाव्यञ्जक अश्लील की गुणता)

तीन प्रकार के अश्लीलों में व्रीडाव्यञ्जक 'वाक्यगत अश्लील दोष' के 'गुण' होने का उदाहरण—करिहस्तेनेति । करी=हाथी, घोड़े, रथ और पदातियों से अन्तः संकीर्ण अतएव करिहस्त (सूण्ड) से अन्तर्विलोडित सेना-समूह के भीतर घुसकर इधर-उधर घूमता हुआ पुरुष का ध्वज (पताका) सुशोभित हो रहा है—यह बाहरी लोगों के समझ में आने वाला अर्थ है ।

किन्तु कामी-कामिनी (नायक-नायिका) के समझने योग्य आन्तरिक अर्थ यह है—पुंसः कामी पुरुष का ध्वजः=लिङ्ग (शिश्न), साधनस्य=मदनमन्दिर (स्त्री के वराङ्ग=गुह्यांग) के अन्तः=भीतर प्रविष्ट होकर कामशास्त्रोक्त रीति के अनुसार 'करिहस्त' से संकुचित योनि को क्लिन्न (आर्द्र) करते हुए उसके भीतर गतागत करता हुआ प्रतीत हो रहा है । इस अर्थ को बाहरी लोगों से छिपाते हुए अन्तरंग अश्लील अर्थ को श्रृङ्गारमयी वार्ताओं के प्रसंग में कहना 'गुण' है । कामशास्त्र में कहा है—

'प्रागेव पुंसः सुरते न यावन्नारी द्रवेद् भोगफलं न तावत् ।
अतो बुधैः कामकलाप्रवीणैः कार्यः प्रयत्नो वनिताद्रवत्वे' ॥

कामशास्त्र के इस प्रमुख सिद्धान्त के अनुसार वनिताद्रवत्व के सम्पादनार्थ इस उदाहरण में 'करिहस्त' का प्रयोग करना बताया गया है । 'करिहस्त' का लक्षण निम्नलिखित प्रकार से है—

'तर्जन्यनामिके युक्ते मध्यमा स्याद् बहिष्कृता ।
करिहस्तः समुद्दिष्टः कामशास्त्रविशारदैः' ॥

अर्थात् तर्जनी मध्यमा तथा अनामिका तीनों अंगुलियों को मिलाकर 'करिहस्त' होता है ।

उक्त उदाहरण में सुरतारम्भ गोष्ठी के समय व्रीडाव्यञ्जक 'अश्लीलता' भी 'गुण' में परिवर्तित हो गई है ॥ ३०३ ॥

(जुगुप्साव्यञ्जकत्वस्यादोषत्वम्)

उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे ।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥ ३०४ ॥

(अमङ्गलव्यञ्जकत्वस्यादोषत्वम्)

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥ ३०५ ॥

अत्र भाव्यमङ्गलसूचकम् ।

शमकथास्विति । इसी प्रकार वैराग्य-विषयक चर्चा के प्रसंग में जुगुप्साव्यंजक 'अश्लील' भी 'गुण' में परिवर्तित हो जाता है। उसका उदाहरण दे रहे हैं—**उत्तानेति** । **उत्तान** = ऊपर पेट करके पड़े हुए, और **उच्छून** = फूले हुए अथवा किसी रोग के कारण सूजे हुए, मेंढ़क के **पाटितोदरसन्निभे** = फाड़े हुए पेट के समान **क्लेदिनि**—मवाद बहते हुए (मदनजल से युक्त) **स्त्रीव्रणे** = स्त्री की योनि में **अकृमेः** = कीड़ों के अतिरिक्त, **कस्य सक्तिः जायते** = किसकी आसक्ति हो सकती है ॥ ३०४ ॥

यहाँ **शमकथासु** = शान्तिवार्ता के प्रसंग में भी = वैराग्यहेतुभूत घृणा (जुगुप्सा) का उत्पादन कर शान्ति का पोषक होने से 'अश्लीलत्व' का 'गुण' में परिवर्तन हो गया है ॥ ३०४ ॥

(अमंगलव्यञ्जक की अदोषता)

अब वाक्यगत अमंगल व्यञ्जक अश्लील के भावी अर्थ का सूचक होने से उसके 'गुण' होने का उदाहरण दे रहे हैं। नारायणभट्टकृत वेणीसंहार नाटक के प्रथम अंक में सूत्रधार कह रहा है—**निर्वाणेति** । शत्रुओं के नष्ट हो जाने से जिनका वैराग्नि शान्त हो गया है, वे पाण्डव, कृष्ण के सहित आनन्द मनावें। और **रक्तप्रसाधित भुवः**—रक्तेभ्यः प्रसाधिता भूः यैः ते = अर्थात् अपने अनुरक्त मित्रादिकों को भूमि-प्रदान करने वाले तथा **क्षतविग्रहाः** = युद्ध को समाप्त कर देने वाले कौरव, भृत्यों के सहित स्वस्थ हो जाँय। यह अर्थ तो दोनों पक्षों के प्रति शुभकामनापरक है। तथापि उत्तरार्ध का दूसरा अर्थ भी निकल रहा है—**रक्तप्रसाधितभुवः** = रक्तेन प्रसाधिताः भूः यैः ते—अपने रुधिर से पृथवी को रंग देने वाले और **क्षत-विग्रहाः** = जिनके शरीर क्षत-विक्षत (घायल) हो गये हैं, वे कौरवगण अपने भृत्यों के सहित **स्वस्थाः** = स्वः=स्वर्ग में स्थित हों अर्थात् स्वर्ग को प्रस्थान करें (मर जाँय)। इस अमंगल अर्थ को सूचित कर रहा है। तथापि यह अमंगलव्यञ्जक अश्लीलता, यहाँ पर 'दोष' नहीं है, अपितु 'गुण' में परिवर्तित हो गई है।

अत्रेति । यहाँ पर भावी अमंगल की सूचक अश्लीलता 'गुण' हो गई है ॥ ३०५ ॥

('संदिग्धत्वस्य' गुणत्वम्)

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुति-पर्यवसायित्वे गुणः। यथा—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव!।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥ ३०६॥

(असंदिग्धत्व का दोषाभाव)

सन्दिग्धमपीति। 'सन्दिग्धत्व' दोष भी कहीं-कहीं वाच्यार्थ के प्रभाव से नियत अर्थ की प्रतीति करा कर 'व्याजस्तुति' में पर्यवसायी हो जाता है, उस कारण वह भी 'गुण' में परिवर्तित हो जाता है। यथेति। जैसे—किसी राजा से 'कवि' कह रहा है—पृथुकेति।

हे राजन्! इस समय मेरा और आपका घर समान है। क्योंकि दोनों घर 'पृथुकार्तस्वरपात्र' हैं, तथा 'भूषितनिःशेषपरिजन' हैं एवं 'विलसत्करेणुगहन' हैं—इस प्रकार से 'शब्दतः' साम्य है। किन्तु दोनों का अर्थ भिन्न-भिन्न है।

(१) राजा के पक्ष में—आपका राजभवन पृथुकार्तस्वरपात्र है। पृथु+कार्तस्वर+पात्र है। अर्थात् बड़े-बड़े स्वर्ण-पात्रों से भरा हुआ है।

(२) निर्धन याचक कवि के पक्ष में—मेरा भवन (घर) भी, पृथुकार्तस्वरपात्र है, पृथुक+आर्तस्वर+पात्र है। अर्थात् भूख और प्यास से चीखते-रोते बच्चों से भरा है।

राजा के पक्ष में—आपका राजभवन 'भूषितनिःशेषपरिजन' है।

भूषित+निःशेष+परिजन है, अर्थात् आभूषणों (अलङ्कारों) से विभूषित परिजनों (परिचारकों=सेवकों) से युक्त (व्याप्त) है।

कवि के पक्ष में—मेरा भवन (घर) भी 'भूषितनिःशेषपरिजन है। भू+उषित+निःशेषपरिजन है। अर्थात् भूमि पर ही लेट लगाते हुए बच्चे आदि सभी लोगों से व्याप्त है।

राजा के पक्ष में—आपका राजभवन 'बिलसत्करेणुगहन' है। 'बिलसत्+करेणु+गहन' है, अर्थात् सुन्दर-सुन्दर हाथी-हथिनियों से भरा है।

मेरा भवन भी 'विलसत्करेणुगहन' है। विलसत्क+रेणु+गहन'—अर्थात् बिलों में घर बनाये हुए चूहों की धूल से भरा पड़ा है। इस रीति से राजन्! इस समय मेरा और आपका अर्थात् हम दोनों का घर समान है। अतः हे राजन्! मुझे क्या चाहिये? मेरा घर (सदन) तो अब इस समय राजभवन का अनुकरण कर रहा है।

उक्त पद्य में 'पृथुकार्तस्वरपात्र' आदि जो विशेषण (सदन के) दिये गये हैं, वे 'सन्दिग्ध' हैं। क्योंकि क्या यहाँ पर 'पृथूनि कार्तस्वरस्य पात्राणि यत्र तत्'—

('अप्रतीतत्वस्य' गुणत्वम्)

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः ।

यह अर्थ लिया जाय ? अथवा 'पृथुकानाम् आर्तस्वरस्य पात्रं' यत्र तत्—यह अर्थ लिया जाय ?

तथा 'भूषिताः निःशेषाः परिजनाः यत्र तत्'—क्या यह अर्थ लिया जाय ? अथवा 'भुवि उषिताः निःशेषाः परिजनाः यत्र तत्'—यह अर्थ लिया जाय ?

तथा 'विलसन्तीनां करेणूनां सदनं यत्र तत्'—क्या यह अर्थ लिया जाय ? अथवा 'बिलसत्काः मूषकाः तेषां रेणवः तैः गहनं = व्याप्तम्'—यह अर्थ लिया जाय ?

तथापि ये विशेषण, सन्दिग्ध होने पर भी उनके दोनों अर्थ, दो भिन्न-भिन्न स्थितियों के बोधक हैं। अतः व्याजस्तुति के द्वारा राजा की निन्दा को सूचित कर रहे हैं। अर्थात् आपका भवन सम्पूर्ण ऐश्वर्य से भरा-पूरा रहने पर भी आप याचकजनों को कुछ देते नहीं हैं। अतः आपकी प्रशंसा कैसे करें ?—यह 'व्याजस्तुति अलंकार' का विषय हो जाता है। अतः यहाँ 'सन्दिग्धत्व' दोष भी 'गुण' में परिवर्तित हो गया है।

सुधासागरकार भी कह रहे हैं कि यहाँ राजा और कवि दोनों ही प्रस्तुत रहने से 'पृथुकार्तस्वर' आदि शब्द, आपाततः यद्यपि सन्दिग्ध प्रतीत हो रहे हैं, तथापि वाच्यार्थ के प्रभाव (महिमा) से (वर्णनीय राजा वाच्य है, अकिञ्चित्कर रहने से 'कवि' वाच्य नहीं है। और राजवर्णन दैन्यनाशक है, अतः उसकी महिमा से) नियत अर्थ, राजानुरूपोत्कर्षरूप है, उसका निश्चय (प्रतीति) करके ही व्याजस्तुति में पर्यवसान होने से गौण हो गया है।

'ब' और 'व' का अभेद होने से 'बिले' छिद्रे सीदन्तीति 'बिलसत्कराः' मूषकाः। कुत्सायां स्वार्थे वा 'कन्' प्रत्ययः। अथवा 'सन्तीति सन्तः, सन्त एव सत्काः बिले सत्काः विद्यमाना ये रेणवः, तैर्गहनं व्याप्तम्। अथवा 'बिले सत् विद्यमानं कं जलं रेणुश्च ताभ्यां गहनं व्याप्तमित्यर्थः ॥ ३०६ ॥

(अप्रतीतत्व दोष का 'गुण' में परिवर्तन)

'अप्रतीतत्व' दोष का भी क्वचित् गुणत्व होना पाया जाता है—प्रतिपाद्येति। जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों जानकार हों वहाँ 'अप्रतीतत्व' 'दोष न होकर 'गुण' हो जाता है। (प्रतिपाद्य = श्रोता, और प्रतिपादक = वक्ता)। 'ज्ञत्वे' अर्थात् शास्त्रपटु रहने पर। जानातीति ज्ञः 'ज्ञः' 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इस पाणिनि सूत्र से 'क' प्रत्यय किया गया है।

यथा—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
　ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
　तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥ ३०७ ॥

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा
　हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
　स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ॥ ३०८ ॥

जैसे—वेणीसंहारनाटक के प्रथम अंक में श्रीकृष्ण को बान्धने के लिये उद्यत हुए दुर्योधन को सुनकर 'आर्य ! किमसौ दुरात्मा सुयोधनो वासुदेवमपि भगवन्तं स्वेन रूपेण न जानाति' ? यह पूछने वाले सहदेव से भीमसेन कह रहा है—आत्मारामा इति । सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा में जो रमण करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार को रोककर भगवान् में ही जो एकतान होते हैं, तथा निर्विकल्पक अर्थात् भेद-संसर्गशून्य निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधि में जिनकी निरन्तर प्रीति है, तथा ज्ञान के उद्रेक से जिनकी तमोग्रन्थियाँ अर्थात् मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार नष्ट हो गये हैं, ऐसे सत्त्वनिष्ठ अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण के कार्यों से रहित होकर केवल सत्त्व में ही निष्ठा रखने-वाले पुरुष, जिसको 'तम' एवं 'ज्योतियों' से परे देखते हैं, इस प्रकार से अनुभूयमान पुराणपुरुष श्रीकृष्ण को यह मोहान्ध कैसे देख सकता है ? ॥ ३०७ ॥

पद्य के तृतीयचरण में 'वीक्षन्ते' के स्थान पर प्रदीपकार ने 'ध्यायन्ते' पाठ दिया है, किन्तु 'आत्मनेपद' की प्राप्ति न हो सकने से वह पाठ उचित नहीं है । उद्योतकार ने 'ध्यायन्ति' पाठ दिया है, किन्तु छन्दोभंगापत्ति के कारण वह भी उचित नहीं है । अतः 'वीक्षन्ते' = पश्यन्ति, साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः, यही उचित प्रतीत हो रहा है ।

निर्विकल्पक समाधि, आत्मरमण, सत्त्वनिष्ठ आदि—शब्द, योगशास्त्र में प्रसिद्ध हैं । योगशास्त्र में प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से यहाँ 'अप्रतीतत्व' दोष की संभावना हो, सकती है, किन्तु वक्ता भीम और बोद्धा सहदेव दोनों ही योगशास्त्र के परिणिष्ठित पण्डित (ज्ञाता) हैं, उसकारण प्रतीति में विलम्ब न होने से दोष नहीं है । अतः यह 'अप्रतीतत्व' दोष, यहाँ पर 'गुण' हो गया है क्योंकि जिसे अन्यलोग नहीं जानते, उसके ज्ञाता होने के भाव का उत्कर्षक हो गया है ।

स्वयं वेति । स्वयं चिन्तन (परामर्श) करने में भी 'अप्रतीतत्व' दोष, 'गुण' हो जाता है ।

जैसे—भवभूतिकृत मालतीमाधव प्रकरण के पञ्चम अंक में कपालकुण्डला स्वयं परामर्श कर रही है—**षडधिकेति** । (१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) अपराजिता, (५) गान्धारी, (६) हस्तिजिह्वा, (७) पूषा, (८) अलम्बुसा, (९) कुहू, (१०) शंखिनी, (११) तालुजिह्वा, (१२) इभजिह्वा, (१३) विजया, (१४) कामदा, (१५) अमृता और (१६) बहुला नामक सोलह नाडियों के हृदयस्थित मणिपूरचक्र के मध्य में जिसकी आत्मस्वरूप से (अपने आकार से) स्थिति है । अर्थात् जिसका ज्योतिः-स्वरूप आकार प्राणियों के हृदयों में स्थित है, उस स्वरूप को जाननेवालों के लिये जो अणिमादि अष्टसिद्धियों को देता है । अविचलित अर्थात् विषयान्तरों से व्यावृत्त मनवाले (स्थिर चित्तवाले) साधक जिसका अनुसन्धान (खोज) किया करते हैं, और जो ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, धर्म, यश और श्रीरूप शक्तियों से अथवा ज्ञान, इच्छा एवं कृतिरूप शक्तियों से युक्त (परिणद्ध) है, ऐसा वह शक्तिनाथ (पार्वतीनाथ) परमशिव, सबसे उत्कृष्ट (बड़े) सर्वत्र व्याप्त हैं ॥ ३०८ ॥

इस पद्य में नाडी, चक्र, शक्ति, शक्तिनाथ आदि शब्द आगमशास्त्र (हठयोग) में प्रसिद्ध हैं । अतः उनका काव्य में प्रयोग करना 'अप्रतीतत्व' दोष का उत्पादक हो सकता है, किन्तु कपालकुण्डला स्वयं उनका परामर्श (चिन्तन) कर रही है । अतः 'अप्रतीतत्व' को दोष न मानकर उसे 'गुण' कहा गया है । कमलाकरभट्ट ने भी इसका समर्थन किया है—"शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः" यह केवल आगम-शास्त्र में ही प्रसिद्ध है तथापि कपालकुण्डला को स्वयं ज्ञात रहने से अप्रतीतत्व को गुण कहा गया है ।

उपर्युक्त सोलह नाडियाँ एक पद्य में संगृहीत हैं—

"इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चापराजिता ।
गान्धारी हस्तजिह्वा च पूषा चैव तथा परा ॥
अलम्बुसा कुहुश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
तालुजिह्वेभजिह्वा च विजया कामदापरा ॥
अमृता बहुला नाम नाड्यो वायुसमीरिताः ॥"—(गोर० सं०)

अष्टसिद्धियाँ निम्नलिखित हैं—

"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥"

कुछ लोग अष्टशक्तियों को अन्य प्रकार से बताते हैं—

'ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही माहेन्द्री चामुण्डा चण्डिका'—इन

('ग्राम्यत्वस्य' गुणरूपता)

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः ।

यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहन्ति
जे सिन्धुवारविडवा मह वल्लहादे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा
दे किं च मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥ ३०६ ॥

(पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं बहन्ति
ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षा-
स्ते किञ्च मुग्ध विचकिलप्रसूनपुंजाः ॥ ३०९ ॥)

शक्तियों से वेष्टित (परिणद्ध) अथवा नित्ययुक्त, क्योंकि वह शिव 'भैरवमूर्ति' है । अतः इन शक्तियों का जो नाथ वही परमशिव भैरव है ॥ ३०८ ॥

अधमेति । अधमप्रकृति अर्थात् 'विट, चेट, विदूषक' आदि नीच पात्रों की उक्तियों में 'ग्राम्यत्व' दोष भी 'गुण' में परिवर्तित हो जाता है । क्योंकि विट,चेट,विदूषक आदि नीच पात्रों की उक्तियाँ (कथन, बातचीत) हास्यरस-प्रधान हुआ करती हैं । अतः हास्यकर उक्तियों में 'ग्राम्यत्व' का ही औचित्य रहने से वहाँ उसे 'दोष' के रूप में नहीं माना जाता, उसका हास्यरस में ही पर्यवसान हो जाता है, उस कारण 'ग्राम्यत्व' को ऐसे स्थलों में 'गुण' ही कहा गया है ।

नीचपात्रोक्तियों में 'ग्राम्यत्व' के 'गुणत्व' का उदाहरण राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी नामक 'सट्टक' में प्रथमजवनिका (अंक) के बाद विदूषक कह रहा है—फुल्लुक्करमिति । उक्त पद्य की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी —

"पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं वहन्ति ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षास्ते किं च मुग्धविचकिलप्रसूनपुञ्जाः ॥"

इति संस्कृतम् ।

पुष्पोत्करमिति । जो शालिधान्य (कलम) के (साठी चावल के) भात (ओदन) के तुल्य पुष्पों के गुच्छों को धारण किये हुए हैं, वे निर्गुण्डी (सिधुवार) के वृक्ष, मुझे अत्यन्त प्रिय लगते हैं,उसी प्रकार निचोड़े हुए (निर्जल किये गये), भैंस के दूध से जमाये हुए दही के समान मल्लिका के सुन्दर पुष्पों के पुञ्ज भी मुझे प्रिय लग रहे हैं ३०९॥

अत्र कलम-भक्त-महिषी-दधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ।

न्यूनपदं क्वचिद् गुणः। यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥३१०॥

अत्रेति। इस पद्य में 'कमल', 'भक्त', 'महिषीदधि—शब्द 'ग्राम्य' हैं। अर्थात् 'भात' के समान, दही के समान—'पुष्पों' को बताना 'ग्राम्यता' पूर्ण है। तथापि अधमपात्र विदूषक की उक्ति होने से विदग्ध सहृदयों को रसास्वाद प्राप्त होता है। अतः यहाँ पर 'ग्राम्यत्व' दोष भी अपनी 'हास्यरसपरिपोषकता' के कारण 'गुण' में परिवर्तित हो जाता है। विदूषक उसे कहते हैं, जो अपने वेष, भाषा आदि के द्वारा दूसरों को हँसाता है—'स पुनर्वेषभाषाभिर्हास्यकारी विदूषकः'। तथा 'सट्टक' का लक्षण, साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में इस प्रकार कहा गया है—

"सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः॥
अंका जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम्।" ॥ ३०९ ॥

न्यूनपदमिति। 'न्यूनपदत्व दोष' भी कहीं-कहीं 'गुण' हो जाता है, यह कहकर 'न्यूनपद' दोष की अनित्यता प्रदर्शित की गई है। जहाँ पर 'न्यूनता' से ही 'अभिमत-विशेष' की सिद्धि होती हो वहाँ 'न्यूनपद' भी 'गुण' कहलाता है।

यथेति। जैसे—अमरुशतक में शृङ्गाररसातिरेक की सीमा पर पहुँचा हुआ कोई नायक, सुरत के अन्त में रतिश्रम से श्रान्त हुई अपनी प्रेयसी का अनेक प्रकार से उल्लेख करके वितर्क कर रहा है—

गाढेति। जिसके पीनोच्चकुच, दृढ परिरंभण (गाढ आलिंगन) करने से (अधिक दब जाने से) कुछ नीचे (नत = झुक गये हैं) की ओर हो गए हैं। अथवा कठोर होने के कारण यथा कथञ्चित् झुका दिये हैं। जिसका शरीर आनन्दातिरेक से रोमाञ्चित हो उठा है। और सान्द्र स्नेह के अत्यधिक आनन्द के कारण जिसके सुन्दर नितम्बों पर से वस्त्र खिसका जा रहा है। तथा मेरे 'मान' को दूर कर देने वाले एवं सम्मान देने वाले हे प्रिय! बस करो, बस करो, अब मुझे और अधिक पीडित मत करो, बस-बस हो गया—इस प्रकार आधे-आधे अक्षरों का उल्लाप (बोलने वाली) करने वाली (धीरे-धीरे कहती हुई) यह प्रेयसी नायिका प्रेमानन्द की चरम भूमि में (पराकाष्ठा पर) पहुँच कर एकदम चुप हो गई। तब वह नायक—वितर्क करने लगा कि 'क्या यह सो गई? अथवा क्या यह मर गई? अथवा क्या यह मेरे मन में लीन हो

क्वचिन्न गुणो न दोषः ।

यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनी
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥ ३११ ॥

अत्र पिहितेत्यतोऽनन्तरं 'नैतद्यतः' इत्येतैर्न्यूनैः पदैर्विशेषबुद्धेरकरणान्न गुणः । उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधते इति न दोषः ।

गई ? अर्थात् क्या मेरे मन में समा गई ? अथवा दूध में जल की तरह अथवा जल में नमक की तरह अपने आप में ही विलीन हो गई ? कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ ॥ ३१० ॥

इस पद्य में 'मा-मा' के बाद 'आयासय' और 'माति' के बाद 'पीडय'—ये पद, न्यून हैं, अर्थात् इन पदों की कमी है, किन्तु 'अध्याहार' से उनकी शीघ्र प्रतीति हो जाती है, अतः 'न्यूनत्व' दोष नहीं है । किन्तु हर्ष एवं सम्मोह के अतिशय को सूचित करने के कारण रसातिरेक का व्यञ्जक होने से वह 'न्यूनत्व', यहाँ पर 'गुण' हो गया है ॥ ३१० ॥

कहीं-कहीं 'न्यूनपदत्व' न 'गुण' होता है,—न 'दोष' होता है ।

यथेति । जैसे—विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में विरही पुरूरवा अनेक शंकाओं से आकुल होकर कह रहा है—

तिष्ठेदिति । (शंका)—वह उर्वशी क्या मुझ पर कुपित होकर अन्तर्धानकरण-विद्या से अथवा अन्य किसी अपनी दिव्य-शक्ति के प्रभाव से छिप कर बैठी है ?

(समा०)—किन्तु वह इतनी देर तक कभी कुपित नहीं हुआ करती ।

(शंका)—क्या 'स्वर्ग' जाने के लिये कहीं उड़ तो नहीं गई ?

(समा०)—किन्तु यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका मन तो, सर्वदा मुझ में ही रमना चाहता है ।

(शंका) अथवा कोई राक्षस तो नहीं उठा ले गया ?

(समा०)—नहीं-नहीं, यह तो कभी सम्भव ही नहीं है । आः ! मेरे सामने से उसे उठाकर ले जाने की किसकी शक्ति है ?

फिर भी वह कहीं पर भी नहीं दिखाई दे रही है । यह क्या हो गया ! और क्या होने को है ? समझ नहीं पा रहा हूँ ॥ ३११ ॥

अत्रेति । उक्त पद्य में 'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता'—के अनन्तर 'नैतद् यतः' = ऐसा नहीं—ये पद न्यून (कम) हैं । अर्थात् इन पदों को कहना चाहिये था ।

अधिकपदं क्वचिद् गुणः । यथा—

तथा 'स्वर्गायोत्पतिता भवेत्' के अनन्तर भी 'नैतद् यतः' ये पद न्यून हैं। इन पदों को कहना चाहिये था।

किन्तु इन पदों की 'न्यूनता' को यहाँ पर 'गुण' भी नहीं कह सकते। क्योंकि इनके द्वारा यहाँ जो 'वितर्क विवक्षित' है, उसमें किसी प्रकार की कोई 'विशेषता' (चमत्कार) उत्पन्न नहीं हो रही है। तथा पदों की न्यूनता से कोई 'दोष' भी नहीं है। क्योंकि 'दीर्घं न सा कुप्यति', और 'मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः'—यह जो उत्तरभाविनी प्रतीति है, उसके द्वारा 'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता' और 'स्वर्गायोत्पतिता भवेत्'—यह जो 'पूर्वभाविनी' प्रतीति है, वह स्वयं ही अर्थात् 'नैतद्-यतः'—इन निषेधार्थक पदों के बिना ही बाधित हो रही है। अभिप्राय यह है कि जब 'दीर्घं न सा कुप्यति', अथवा 'मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः' कहने से ही 'तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता' अथवा 'स्वर्गायोत्पतिता भवेत्' का निषेध 'वाच्यार्थ' के समान प्रतीत हो रहा है। अर्थात् 'नैतद् यतः'—इन पदों के न रहने पर भी कोई क्षति (हानि) नहीं हो रही है। अतः 'न्यूनपदता' रहने से 'दोष' भी नहीं है॥

यहाँ पर 'स्वर्गाय'–यह कर्मणि चतुर्थी, 'फलेभ्यो याति' के समान 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः'—(पा० सू० २।३।१४) इस पाणिनि सूत्र से की गई है। कमलाकरभट्ट, चन्द्रिकाकार आदि व्याख्याकारों ने 'स्वर्गाय' में जो 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' (पा० सू० २।३।१५) से चतुर्थी बताई है, वह उचित प्रतीत नहीं हो रही है। क्योंकि 'सुष्ठु अर्ज्यते इति स्वर्गः'। 'अर्ज अर्जने' इस भौवादिक 'अर्ज' धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'—(पा० सू० ३।३।१९) सूत्र से कर्मणि 'घञ्' करके 'स्वर्ग' शब्द की निष्पत्ति की जाती है। अथवा 'सुष्ठु' 'ऋज्यते अस्मिन्निति स्वर्गः। 'ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु'—इस भौवादिक—'ऋज' धातु से 'हलश्च'—(पा० सू० ।३।१२१) सूत्र से 'अधिकरण' अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करके 'स्वर्ग' शब्द की निष्पत्ति होती है। एवं च दोनों दृष्टियों से 'स्वर्ग' शब्द, 'भाव प्रत्ययान्त' न होने से 'तुमर्थाच्च०' सूत्र की यहाँ प्राप्ति ही नहीं है। अतः 'स्वर्गाय' का अर्थ 'स्वर्गं गन्तुम्' उत्पतिता अर्थात् ऊर्ध्वगमनानुकूल-व्यापारवती भवेत्। 'पिहिता'—यहाँ पर 'वष्टिभागुरिरल्लोपम्'—इस वचन से 'अपि' के 'अकार' का लोप हो गया है॥ ३११॥

अधिकपदमिति। कहीं-कहीं अर्थात् जहाँ विशेष प्रतिपत्ति हो वहाँ अधिकपदत्व' भी 'गुण' हो जाता है।

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥ ३१२ ॥

अत्र 'विदन्ति'—इति द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् ।

यथेति । जैसे—यद्वञ्चनेति । सज्जन पुरुष को ठगने के लिये (धोखा देने के लिये) तत्पर हुआ दुर्जन, अपने स्वार्थसिध्यर्थ, जो बनावटी चापलूसी की बातें करता है, क्या उन बातों को सज्जन पुरुष नहीं समझते हैं ? अर्थात् सब समझते हैं, तथापि अपनी सज्जनता के परवश रहने से उसकी प्रार्थना अस्वीकार करने में असमर्थ हो जाते हैं। वे सज्जन पुरुष उस दुर्जन व्यक्ति के विपरीत कोई कार्य इसलिये नहीं करते कि 'प्रेम' चाहे बनावटी ही क्यों न हो, आखिर है तो 'प्रेम' ही ॥ ३१२ ॥

अत्रेति । इस पद्य में द्वितीय 'विदन्ति' पद 'अन्ययोग-व्यवच्छेदार्थक' है। 'न-न विदन्ति' के बाद पुनः जो द्वितीय 'विदन्ति' (खूब समझ रहे हैं) पद दिया गया है, वह अन्य व्यक्तियों के साथ उस ज्ञान के सम्बन्ध के निषेध का सूचक है, अर्थात् सज्जन पुरुष, दुर्जन की स्वार्थभरी चापलूसी के द्वारा की जाने वाली प्रतारणा को अच्छी तरह समझ तो जाते हैं, परन्तु किसी अन्य व्यक्ति पर उस बात को प्रकट होने नहीं देते हैं। अर्थात् साधव एव विदन्ति, न ज्ञापयन्ति, इत्यर्थकं द्वितीयं 'विदन्ति पदम्'। इस रीति से 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' होने से अधिक पद के रूप में उसके रहने पर भी उसकी अधिकता 'दोष' नहीं है। प्रदीपोद्योतकार भी उक्त आशय का समर्थन कर रहे हैं—

"द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सातिशयं गमयतः" इति न्यायात् ज्ञानातिशये लब्धे पुनर्विदन्तीति पदम् 'एते एव जानन्ति न त्वन्यं ज्ञापयन्ति' इति विशेषकत्वाद् गुणः' इति ।

शंका—जब कि द्वितीय 'विदन्ति' पद,—'एते एव जानन्ति न त्वन्यं ज्ञापयन्ति'— इस अर्थ में विवक्षित है, तब उसे 'अधिक पद' के रूप में कैसे कह सकते हैं ? किसी पद के अविवक्षितार्थक रहने पर ही 'अधिक पदत्व' हुआ करता है, विवक्षितार्थक होने पर नहीं ।

समा०—जहाँ आपाततः देखने पर 'अधिक पद' की प्रतीति होती है वहाँ वह आपाततः प्रतीयमान होने वाला 'अधिक-पदत्व' क्वचित् 'गुण' हो जाता है यह

यथा वा—

बद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे ॥ ३१३ ॥

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि ।

कथितपदं क्वचिद् गुणः लाटानुप्रासे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्यत्वे च । क्रमेणोदाहरणम् ।

(लाटानुप्रासे)

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥ ३१४ ॥

हमारा अभिप्राय है। अतः उक्त शङ्का को अवकाश ही कहाँ है ? अन्यथा 'पापस्य पुण्यत्वमिव'—पाप को पुण्य के समान 'दोष' को 'गुण' कैसे कहा जा सकेगा ? ॥३१२॥

इसी प्रकार 'वक्ता' जब 'हर्ष', 'भय' आदि से युक्त हो तब भी 'अधिक पद' की 'गुण' में गणना हो जाती है। अतः 'अधिक पद' के 'गुण' कहलाने का अन्य उदाहरण दे रहे हैं—

यथावेति । अथवा जैसे—युद्ध-भूमि से लौटे हुए सैनिक से राजा पूछ रहा है—

वद वदेति । बताओ, बताओ, वह शत्रु जीता गया या नहीं ? सैनिक ने कहा कि जीतने की क्या बात है, वह तो आपकी शरण में आकर 'मैं आपका दास हूँ'—यह कहने लगा, इसलिये मारा नहीं गया। किन्तु उसका पुत्र तो युद्ध में मारा ही गया। पुत्र के मरने पर वह हाय-हाय करते हुए फूट-फूटकर रो रहा था ॥ ३१३ ॥

इत्येवमिति । इत्यादि उदाहरणों में, हर्ष-भय आदि से युक्त 'वक्ता' के होने से अधिकपदत्व' दोष, 'गुण' में परिवर्तित हो गया है। इसी बात को सारबोधिनी कार ने भी एक पद्य का उल्लेख कर स्पष्ट किया है—

"विषादे विस्मये हर्षे दैन्ये कोपेऽवधारणे ।
प्रसादनेऽनुकम्पायां द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति ॥"

उदाहृत पद्य में 'वद-वद जितः स शत्रुः'—में 'हर्ष', 'तव तवास्मीति'—में 'भय', 'चित्रं चित्रमरोदीत्'—में विस्मय और 'हा हेति'–में विषाद से भरा हुआ 'वक्ता' है। अतः 'अधिकपदत्व'—दोष न होकर 'गुण' हो गया है ॥ ३१३ ॥

कथितपदमिति—'कथितपदत्व'–(पुनरुक्तत्व), कहीं पर अर्थात्–(१) लाटानुप्रास, (२) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि और (३) विहित के अनुवाद्य में, अर्थात् पूर्ववाक्य के 'विधेय' का जहाँ उत्तर वाक्य में अनुवाद (पुनः कथन) हो, क्योंकि तभी अभीष्ट अभिप्राय का निर्वाह हो सकता है। अतः ऐसे स्थानों में 'कथित पदत्व' दोष न होकर 'गुण' कहलाता है।

क्रमेणेति। इन तीनों के क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं—(१) लाटानुप्रास में 'कथित-पद' के 'गुणत्व' होने का उदाहरण—सितकरेति। हे 'विभाकराकार'—सूर्य के समान

(अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनौ)

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति ।
रइकिरणणुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥ ३१५ ॥
तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयंगृ ह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥

प्रतापशालिन् ! (प्रचण्ड प्रताप !), हे 'धरणिधर' राजन् ! आपकी कीर्ति (यश), 'सितकर-कररुचिरविभा' चन्द्रमा की किरणों के तुल्य आह्लादजनक कान्ति से सम्पन्न है, और आपकी 'पौरुषकमला'—पराक्रमलक्ष्मी तथा 'कमला'—राजलक्ष्मी दोनों आप ही की हैं, अन्य की नहीं । अर्थात् आपकी कीर्तिलक्ष्मी, पराक्रमलक्ष्मी और राजलक्ष्मी ये तीनों ही ऐसी हैं, जो किसी दूसरे की नहीं ॥ ३१४ ॥

कथितपदमिति। यहाँ पर 'कर-कर', 'विभा-विभा' तथा 'कमला-कमला'—इन तीनों के तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द तथा अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से 'लाटानुप्रास' अलंकार है । 'शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः'— यह उक्त अलंकार का लक्षण है । यहाँ पर 'कथितपदत्व'—लाटानुप्रास का निर्वाहक होने से 'गुण' माना गया है ॥३१४॥

अब **'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि'** में 'कथित पद' के 'गुणत्व' का उदाहरण दे रहे हैं । ग्रन्थोक्त प्राकृत पद्य की संस्कृत छाया इस प्रकार है—

"तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैंगृ ह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ ३१५ ॥

तदेति । 'गुण' तभी 'गुण' कहलाते हैं, जब उनको सहृदयरसिक लोग ग्रहण करते हैं, क्योंकि यह सभी का अनुभव है कि रवि-किरणों से अनुगृहीत होने पर ही 'कमल'-कमल कहलाते हैं ॥ ३१५ ॥

यहाँ पर द्वितीय 'कमल' पद, 'विकास' एवं 'सौन्दर्य' सौरभविशिष्ट 'कमल' रूप अर्थ का बोधक है, जो 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य' होने से 'व्यञ्जना' के उपयुक्त है, यह 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता'—कथित-पदता के बिना संभव नहीं है । अतः 'कथितपद' यहाँ पर 'गुण' कहा गया है, 'दोष' नहीं । उदाहृत पद्य 'आनन्दवर्धनकृत 'पञ्चबाण-लीला' (विषमबाण-लीला) में 'गाथा' के रूप में दिया गया है । यह उल्लेख, जयन्तकृत दीपिका में और सोमेश्वरकृत संकेत में किया है । ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में आनन्दवर्धन ने भी "यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्" कहकर स्पष्टतया कहा है ॥ ३१५ ॥

(विहितस्य अनुवाद्यत्वे)

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ ३१६ ॥

(पतत्प्रकर्षताया गुणरूपता)

उदाहृते 'प्रागप्राप्ते'त्यादौ ॥ ३१७ ॥

अब विहित के अनुवाद्य होने पर 'कथितपद' की 'गुणता' का उदाहरण दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि जिस पद का अर्थ, 'पूर्ववाक्य' में विधेय था, उसी अर्थ को जब उत्तरवाक्य में 'अनुवाद्य' के रूप में कहा जाय तो वह 'कथितपद'—गुण कहलाता है, 'दोष' नहीं।

जैसे—जितेन्द्रियत्वमिति। जितेन्द्रिय होना 'विनय' का कारण है, विनय से 'गुणों' का प्रकर्ष होता है, 'गुणप्रकर्ष' से लोग अनुरक्त होते हैं, और लोकानुराग से 'सम्पत्तियाँ' प्राप्त होती हैं ॥ ३१६ ॥

यहाँ पर पूर्ववाक्य में जो विहित है, उसी को उत्तर वाक्य में 'अनुवाद्य' के रूप में बताया है। अभिप्राय यह है कि पूर्ववाक्य में 'जितेन्द्रियता' को कारण बताकर 'विनय' (नम्रता) का विधान किया, अर्थात् उसे 'विधेय' के रूप में रखा, तदनन्तर उसे ही उत्तरवाक्य में अनुवाद्य (उद्देश्य) के रूप में रखकर 'गुणप्रकर्ष' का विधान किया। इसी प्रकार से उत्तरोत्तर किया गया है। अतः यहाँ 'कारणमाला' अलंकार बन गया है। अर्थात् जितेन्द्रियत्व से विनय, उससे गुणप्रकर्ष, उससे जनानुराग, उससे सम्पत्तियाँ— इस प्रकार पूर्व-पूर्व को उत्तर-उत्तर के प्रति कारणत्व बताने से 'कारण-माला' अलंकार निष्पन्न हो गया है। अतः कारणमालालंकार का निर्वाहक 'कथित-पदत्व' दोष न रहकर 'गुण' हो गया है। कारणमालालंकार का संपादन ही 'कथितपद' के गुणत्व में निमित्त है ॥ ३१६ ॥

"पतत्प्रकर्षमिति। 'पतत्-प्रकर्ष' दोष भी कहीं 'गुण' बन जाता है। जैसे—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भव-
त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धःक्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि-
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥ ३१७ ॥

—(सप्त० उ० २१०)

पूर्वोदाहृत इस पद्य के चतुर्थ पाद में भगवान् शंकर को गुरु के रूप में जो स्मरण किया गया है, उसमें 'क्रोध' का भाव न होने के कारण कोमल (मसृण) पदों का होना ही उचित होने से दोष न होकर 'गुण' हो गया है, क्योंकि परशुस्वामिविषयकवक्तृनिष्ठ-विषयप्रकाशक होने से 'परशु' का उत्कर्ष प्रतीत हो रहा है ॥ ३१७ ॥

(समाप्तपुनरात्ततायाः अपवादः)

पतत्प्रकर्षमपि क्वचिद् गुणः । यथा—

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषः । यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम् अपि तु वाक्यान्तरमेव क्रियते । यथा अत्रैव 'प्रागप्राप्तेत्यादौ' ॥३१८॥

समाप्तपुनरात्तमिति । समाप्तपुनरात्त भी क्वचित् ऐसा होता है कि जहाँ पर वह न दोष समझा जाता है और न गुण ही कहलाता है । उक्त कथन वहीं चरितार्थ होता है, जहाँ 'पूर्वसमाप्त का पुनर्ग्रहण, केवल 'विशेषण' को ही कहने के लिये नहीं किया हो, अपितु पृथक् रूप से एक नये वाक्य को बनाने के लिये किया गया हो ।

जैसे—अभी उदाहृत किये गये इसी 'प्रागप्राप्त' (श्लो० सं० ३१७) पद्य में 'येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते'–यहाँ पर 'समाप्तपुनरात्तता' है । किन्तु वह, यहाँ पर 'दोष' इसलिये नहीं है कि 'येनानेन'–यह एक 'भिन्न वाक्य' है । 'पूर्वसमाप्तविषय' में 'विशेषण' रूप से उसका ग्रहण नहीं किया है । इसलिये यहाँ पर 'समाप्तपुनरात्तता' को दोष नहीं माना गया है, किन्तु उसे यहाँ पर 'गुण' भी नहीं माना है । क्योंकि उससे (येनानेन० से) किसी विशेष अभिप्राय की प्रतीति नहीं हो रही है ।

वाक्य समाप्त होने पर पुनः उसमें विशेषण जोड़ने में दोष इसलिये होता है कि 'विशेषण' हमेशा 'विशेष्य' के प्रति साकांक्ष रहने से तज्जनित अन्वयबोधार्थं 'विशेष्य-पद' की आवृत्तिकल्पना करनी होती है । अतः प्रतीति में विलम्ब का होना और विशेषण का निराकांक्षा होना दूषकता में कारण है । उसकी स्पष्टता 'क्रेङ्कारः स्मरकामुकस्य'—(स० उ० श्लो० २२५) में हो चुकी है ।

किन्तु 'प्रागप्राप्त'—में तो 'येनानेन'–इस अन्य वाक्य का आरम्भ किया होने से पूर्वोक्त जैसा दूषकता का बीज यहाँ नहीं है । यद्यपि पदों में भी आकांक्षा नहीं है अर्थात् पदों के अनाकांक्ष रहने पर भी 'सर्वनाम 'तत्' शब्द के द्वारा पूर्वापर वाक्यों में आकांक्षा का उत्थापन होता है ।

किञ्च—'प्रागप्राप्त' में तो प्रत्युत (उलटे)–'समाप्ति' ही 'अंग' है । श्रीकुमारिलभट्टपाद ने तन्त्रवार्तिक (१।४।२३) में कहा भी है—

"स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते" ॥ इति ।

इसी कारण 'यो नववयो लास्याय वेणुस्वनः' तथा 'क्रेङ्कार' में भी दोष नहीं है—इसे उद्योतकार एवं सुधासागरकार ने स्पष्टतया कहा है ॥ ३१८ ॥

(अस्थानस्यसमासतया गुणरूपता)

अपदस्थसमासं क्वचिद् गुणः । यथा—उदाहृते 'रक्ताशोके'त्यादौ ॥३११॥

(गर्भितत्वस्य गुणरूपता)

गर्भितं तथैव यथा—

हुमि अवहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओ वि ।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्ति ण पसुमरामि ॥ ३२० ॥

भवाम्यपहस्तितरेखो निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्ति न प्रस्मरामि ॥

अत्र प्रतीहीति मध्ये दृढप्रत्ययोत्पादनाय । एवमन्यदपि लक्ष्याल्लक्ष्यम् ।

अपदस्थ समासमिति । अपदस्थ समास अर्थात् अस्थान में समास कर देना भी कहीं-कहीं 'गुण' हो जाता है ।

यथेति । जैसे इसी सप्तम उल्लास में 'रक्ताशोककृशोदरी'—(स० उ० ३००) में की गई दीर्घ समासमयी रचना 'शृङ्गाररस' में, रक्ताशोक के प्रति कोप को अभिव्यक्त कर रही है । उस कारण विप्रलंभ की पोषक होने से 'गुण' हो गयी है । वस्तुतः शृङ्गार में दीर्घसमास करना अनुचित है, अपदस्थ समास भी है, किन्तु उद्दीपक जो रक्ताशोक है, उसके प्रति कोप का उत्कर्ष करने से वह विप्रलंभ को ही पुष्ट कर रहा है, उस कारण वह 'गुण' है ॥ ३१९ ॥

गर्भितमिति । गर्भितत्व दोष भी कहीं गुण हो जाता है । जैसे—आनन्दवर्धनकृत विषमबाणलीला में 'स्मर' से 'यौवन' कह रहा है—**हुमीति** । ग्रन्थगत प्राकृत पद्य की संस्कृत छाया इस प्रकार है—

यथा—'भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्ति न प्रस्मरामि' ॥ ३२० ॥

भवामीति । हे स्वामिन् ! भलेही मैं मर्यादा का उल्लङ्घनकर जाऊँ(अपहस्तितरेखः), निरंकुश हो जाऊँ अथवा विवेकशून्य हो जाऊँ, किन्तु आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, उसे मैं स्वप्न में भी नहीं भूलूंगा—इस बात का आप विश्वास रखें ॥ ३२० ॥

अत्रेति । यहाँ वाक्य के बीच में (वाक्यगर्भित) आया हुआ **'प्रतीहि'**—पद, दूसरे वाक्य में दृढ विश्वास पैदा कराने के लिये कहा गया है। उस कारण यह 'गर्भितत्व' 'दोष' न रहकर 'गुण' हो गया है । **एवमिति** । इसी प्रकार अन्य दोषों को भी कहीं वे गुण हो जाते हैं और कहीं गुण भी नहीं और दोष भी नहीं होते—यह अन्यान्य उदाहरणों को (लक्ष्यात्) देखकर समझ लेना चाहिये (लक्ष्यम् ऊहनीयमित्यर्थः) । 'लक्ष्यात्'—यह 'ल्यब्लोपे पञ्चमी' है । 'लक्ष्यात्' अर्थात् लक्ष्यं दृष्ट्वा—यह अर्थ है ॥३२०॥

(रस-दोषाः)

(८२) व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥ ६० ॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः । ६१ ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥ ६२ ॥

(१. व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यता)

(रसदोषनिरूपण)

अब साक्षात् रस-विरोधी दोषों को बता रहे हैं—

(सू० ८२) व्यभिचारीति । "निर्वेदग्लानि"—(सू० ४६,का० ३१)इत्यादि ग्रन्थ से कहे गये 'व्यभिचारि-भावों का, और "शृङ्गारहास्यकरुण"—(सू० ४४, का० २९) इत्यादि ग्रन्थ से कहे गये 'शृङ्गारादि रसों का, तथा "रतिर्हासश्च"—(सू० ३३, का० ३०) इत्यादि—ग्रन्थ से कहे गये 'रति' आदि स्थायिभावों का सामान्यतः अथवा विशेषतः 'स्व' शब्द से उपादान करना (स्वशब्दवाच्यता) 'दोष' माना जाता है। अर्थात् (१) 'व्यभिचारियों' का 'व्यभिचारी' शब्द से अथवा 'निर्वेद' आदि शब्द से, तथा (२) 'रसों' का 'रस' शब्द से अथवा शृङ्गार आदि शब्द से,तथा (३) 'स्थायिभावों' का स्थायिभाव शब्द से अथवा 'रति' आदि से उपादान करने पर (बताने पर) ये तीनों 'दोष' कहे जाते हैं। इन्हीं को 'स्वशब्दवाच्यता'—दोष कहते हैं। (४) अनुभाव, और (५) विभाव की 'कष्ट-कल्पना' से अभिव्यक्ति (व्यक्ति) होना भी 'दोष' है। (६) रस के प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण करना, तथा (७ रस की पुनः-पुनः दीप्ति अर्थात् सहृदयहृदयोद्वेजनपर्यन्त दीपन करना, (८) रस का अनवसर में विस्तार कर देना, (९) अनवसर में विच्छेद कर देना, (१०) अप्रधान अर्थात् अंगभूत रस का भी अत्यधिक विस्तार कर देना, (११) प्रधान (अंगी) रस का त्याग कर देना (भूलजाना), (१२) पात्रों (प्रकृतियों) का विपर्यय (अनुचित वर्णन) कर देना, (१३) अनंग (प्रकृत रस का अनुपकारक) का वर्णन करना—ये तेरह (१३) 'रस-दोष' कहलाते हैं। (६०-६१-६२) ॥

व्यभिचारिभावों को 'स्वशब्द' से न कहने पर ही केवल उनके 'अनुभावों' से ही उनकी अभिव्यक्ति होने पर वे 'भावध्वनि' कहलाते हैं, और 'रस' का आस्वादन कराने

(क–व्यभिचारिभावस्य स्वशब्दवाच्यता)

स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥ ३२१ ॥

में पर्याप्त होते हैं। अतएव "व्यभिचारी तथाञ्जितः"—(सू० ४८, का० ३५) कहा गया है। तथा 'रस' शब्द से अथवा 'शृङ्गारादि' शब्द से 'रस' का उपादान करने पर भी 'विभावादिकों' से जब तक 'रस' की अभिव्यक्ति नहीं होती, तब तक उसमें (रस में) 'चर्वणीयता' नहीं आती। अतएव 'व्यञ्जितश्चर्वणीयः" वृत्तिकार ने कहा है। यही कारण है कि 'नयन-नलिनीलीलाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः' में तथा 'शृङ्गारस्योपनत-मधुना राज्यमेकातपत्रम्'—(दश० उ० श्लो० ५३५) में 'विभावादिकों' से प्रतीयमान का ही अनुवाद किया गया है। इसलिये वहाँ 'दोष' नहीं माना गया है। तथा 'स्थायि-भाव' भी अभिव्यक्त होने पर ही 'रस' के रूप में परिणत हो जाता है, 'स्वपदोपात्त' होने पर नहीं। इसे "व्यक्तः स तैः'—(सू० ४३, का० २८) से बताया गया है। यह सब 'व्यञ्जनावृत्ति' का ही माहात्म्य है। अतः साहित्य शास्त्र का सिद्धान्त है कि आस्वादात्मक रस, 'सामाजिकनिष्ठ' रहने से और 'रस' शब्द से अवाच्य रहने से ही वह 'आस्वाद्यमान हो पाता है। एवं च 'विभावानुभावादिकों' से संवलित 'स्थायिभाव' ही 'रस' शब्द से कहा जाता है। क्योंकि 'रस्यते आस्वाद्यते'—इस व्युत्पत्ति से 'रस' शब्द की 'स्थायिभाव' में ही 'शक्ति' है।

(१) व्यभिचारिभाव की 'स्वशब्दवाच्यता' होने पर दोष का उदाहरण दे रहे हैं— सव्रीडेति। भगवती पार्वती की दृष्टि जब अपने प्रियतम शिवजी के मुख पर पड़ी, तब वह लजा गई, अर्थात् सलज्ज हो गई। तदनन्तर उनके परिधान किये हुए गजचर्म पर जब उसकी दृष्टि पड़ी, तब वह सकरुण (करुणा से भर गयी) हो गयी। शिवजी के द्वारा धारण किये हुए आभूषणरूप सर्पों पर जब दृष्टि गयी तब वह त्रासयुक्त (भययुक्त) हुई। तदनन्तर शिवजी के शेखर पर स्थित अमृत को प्रवाहित करने वाले चन्द्रमा पर दृष्टि पहुँची तब वह विस्मित हुई अर्थात् आश्चर्यचकित हो गयी। तदनन्तर शिवजी के मस्तक पर स्थित जह्नुकन्या गंगाजी पर जब दृष्टि गई तब पति के अन्यस्त्री-संगदर्शन से वह ईर्ष्याभाव से पूर्ण हुई। तदनन्तर मणि के स्थान पर शिव के द्वारा

अत्र व्रीडादीनाम्।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे,

इत्यादि तु युक्तम्।

धारण किये हुए कपाल के भीतर जब दृष्टि पहुँची तब वह दीनता से भर गई—इस प्रकार नवमिलन के लिये उत्सुक पार्वती की दृष्टि, तुम्हारा कल्याण करे ॥३२१॥

अत्रेति। यहाँ पर 'व्रीडा' आदि व्यभिचारिभाव का अपने वाचक शब्द से ही कथन किया गया है। उस कारण व्यभिचारिभाव, 'स्वशब्दवाच्य' होने से 'दोष' हो गया है। अतः यहाँ पर 'स्वशब्दवाच्यतारूप दोष' को हटाने के लिये तत्र-तत्र 'पाठान्तर' करना उचित होगा, जो इस प्रकार है—व्यानम्रेति। 'सव्रीडा' के स्थान पर 'व्यानम्रा' कहना चाहिये, 'सकरुणा' के स्थान पर 'मुकुलिता', 'सत्रासा' के स्थान पर 'सोत्कम्पा', 'सविस्मयरसा' के स्थान पर 'निमिषरहिता', 'सेर्ष्या' के स्थान पर 'मीलद्भ्रूः' तथा 'दीना' के स्थान पर 'म्लाना'—इस प्रकार पाठान्तर कर देने से 'तत्तद्व्यभिचारिभावों' की 'स्वशब्दवाच्यता' का दोष हट जाता है। क्योंकि 'नम्रतादि'—अनुभावों से उनकी अभिव्यक्ति की जा रही है, उस कारण 'भावध्वनि' हो जाता है। एवं च अनुभावों के द्वारा व्रीडादि व्यंग्यों की प्रतीति, अत्यन्त चमत्कारकारिणी हो जाती है।

इस सन्दर्भ में प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर का कहना है कि जहाँ 'व्यभिचारिभावों' को उनके अपने शब्दों से ही कहा जाता है, वहाँ 'आस्वाद' का अनुभव नहीं हो पाता। वह तो विभाव-अनुभाव के द्वारा उनके व्यक्त होने पर ही हो पाता है। अतः उनको 'स्वशब्द' से कहने पर आस्वाद का न हो पाना ही उनकी दूषकता का कारण (बीज) है—यह सम्प्रदाय चला आ रहा है।

किन्तु यहाँ विचारणीय विषय यह है कि 'व्यभिचारियों' को 'स्वशब्द' से कहने में जो 'रस-प्रतिबन्धकत्व' है, क्या वह 'विभाव' एवं 'अनुभावों' की उपस्थिति में होता है; अथवा उनकी उपस्थिति न होने पर भी होता है?

यदि उनकी उपस्थिति न होने पर भी होता है, तब तो उचित ही है, क्योंकि अनुभावों की 'उपस्थितिरूप कारण' के अभाव में 'आस्वादरूप कार्य' का अभाव होना स्वाभाविक ही है, उसमें 'व्यभिचारियों' का 'स्वशब्द' से कथन, 'कारण' नहीं है। क्योंकि 'कारणचक्र' के रहने पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति न हो, तभी अमुक व्यक्ति या अमुक वस्तु, 'अमुक' का प्रतिबन्धक है—यह व्यवहार किया जाता है। अतः उनका अपने शब्द से कहा जाना 'दोष' नहीं है, अपितु यहाँ 'न्यूनपदत्व' अथवा 'अनभिहितवाच्यता' (अवश्य वक्तव्य का अकथन) दोष है।

(ख–रसस्य स्वशब्दवाच्यता)

रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम् —

(सामान्यतः रसशब्देन रसस्याभिधानम्)

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोप्यजायत रसो निरन्तरः ॥ ३२२ ॥

(विशेषतः शृङ्गारादिशब्देन रसस्याभिधानम्)

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त-
व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम् ।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥ ३२३ ॥

यदि यह कहें कि उनकी उपस्थिति में भी वैसा कहना 'रस' का प्रतिबन्धक माना गया है । तब यदि 'अनुभाव' आदि से ही 'रस' की अभिव्यक्ति होती है, तो 'स्वशब्द'-से उसको बताने का क्या प्रयोजन है ? अतः यहाँ 'व्यर्थत्व' दोष है । 'स्वशब्द' से कथन 'दोष' नहीं है ।

प्रदीपकार इस प्रसंग में अपना विचार बताते हैं कि 'अनुभावादि' की उपस्थिति में ही 'व्यभिचारियों' की 'स्वशब्दवाच्यता', 'रसास्वाद' की प्रतिबन्धक होती है । अतः 'स्वशब्दवाच्यता'—एक पृथक् स्वतन्त्र दोष है । अतएव 'औत्सुक्यादिकों' की स्वशब्दवाच्यता को दोष नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ 'रसास्वाद' के विघात की प्रतीति नहीं होती ॥ ३२१ ॥

क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं–'रस' की स्वशब्द से अर्थात्(१) रस शब्द से अथवा (२) शृङ्गारादि शब्द से वाच्यता होने पर दोनों ही रस दोष कहलाते हैं ।

(१) सामान्यतः 'रस' को 'रस' शब्द से वाच्य बनाने पर 'दोष' का उदाहरण—तामिति । कामदेव को विजय प्राप्त कराने में मंगलकारिणी सहायिका लक्ष्मी एवं भुजमूल को कुछ ऊपर की ओर करके कुचभाग को प्रदर्शित करनेवाली नायिका को देखकर नायक के हृदय में एक अनिर्वचनीय अविच्छिन्न 'रस' का आविर्भाव हुआ॥ ३२२॥

यहाँ पर 'रस' का निर्देश, सामान्यतः (सामान्यतया वाचक) 'रस' शब्द से ही करने से 'दोष' हो गया है । 'कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः'—के स्थान पर यदि 'कोऽप्यजायत विकार आन्तरः'—कहा जाय तो उचित विभावादि के आक्षेप से शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति भी होगी और आस्वाद का उत्कर्ष भी होगा तब उक्त दोष हट जाएगा ॥ ३२२ ॥

विशेषतः (विशेषतया वाचक) 'शृङ्गार' शब्द से वाच्य हुए 'रस' के दोष का उदाहरण—

आलोक्येति । कोमल कपोलतल पर उद्गत हुए रोमांचों(पुलकों)से जिसका 'रिरंसा' रूप अनुराग प्रकट हो रहा है,अतएव प्रियदर्शना तथा रमणीयतर अवयवों से सुघड,सुगठित)

(ग—स्थायिभावानां स्वशब्दवाच्यता)

स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणाम्परस्परम् ।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥ ३२४ ॥

अत्रोत्साहस्य—

(२ अनुभावादीनामभिव्यक्तौ कष्टकल्पना)

(४) कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-
दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति-
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नवयौवनां सा ॥ ३२५ ॥

शरीरवाली नायिका को देखकर बाल्यावस्था को पार कर यौवन की अवस्था में पहुँचा हुआ यह युवक (तरुण) शृङ्गार रूपी समुद्र की सीमा में तरंगित हो रहा है, अर्थात् पुलक, कटाक्षादि शृङ्गारमयी भावनाओं के कारण कैसा अधिक चञ्चल हो रहा है, हे सखे ! उसे देखो ॥ ३२३ ॥

यहाँ पर विशेषतः शृङ्गारपदवाच्यत्व दोष हो गया है। यद्यपि 'शृङ्गार' शब्द के उपादान से 'संभोगोचित विभावादि' के आक्षेप में 'संभोगशृङ्गार' की अभिव्यक्ति होती है, तथापि 'शृङ्गार' शब्द उसके आस्वाद को बढ़ाने के बजाय 'घटाने' का ही कार्य करता है ।

(३) स्थायिन इति। स्थायिभाव की भी उसके पारिभाषिक शब्द द्वारा वाच्यता होने पर 'दोष' का उदाहरण—

सम्प्रहारे इति। रणभूमि में शस्त्रों के परस्पर टकराने से होने वाले ठणत्कार (ठन-ठन) शब्दों को सुनकर उस वीर के मन में किसी अपूर्व (अनिर्वचनीय) उत्साह का सञ्चार हुआ ॥ ३२४ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'वीररस' का स्थायी भाव 'उत्साह', स्वशब्द-वाच्य होने से 'दोष' माना गया है। इसके द्वारा वीररस की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति का होना सम्भव नहीं है। यदि यहाँ 'उत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्' कहा जाय तो 'उक्त दोष' नहीं हो पायेगा ॥ ३२४ ॥

(अनुभावादि की अभिव्यक्ति में कष्टकल्पना)

(४) 'कष्टकल्पनया व्यक्तिः'—का अभिप्राय यह है कि 'अनुभाव'—और 'विभाव' की कष्टकल्पना से अर्थात् श्लोक, प्रकरण आदि की पर्यालोचना करते हुए विलम्ब से अभिव्यक्ति होती है, झटिति नहीं हो पाती ।

अनुभाव की कष्टकल्पना से होने वाली अभिव्यक्ति का उदाहरण—कर्पूरेति। जब निशानायक चन्द्रमा, कर्पूर पराग के समान अपनी धवल चन्द्रिका से दिङ्मण्डल

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपाः शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिनः स्थिता इति कष्टकल्पना।

(ख-विभावस्य कष्टसाध्याभिव्यक्तिः)

(५) परिहरति रतिं मतिं लुनीते
स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं
परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥ ३२६॥

अत्र रतिपरिहारादीनामनुभावानां करुणादावपि सम्भवत्कमिनीयरूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः।

को खो रहा था, अर्थात् चन्द्रमा के पूर्णतया उदित होने पर शिर पर पल्ला डालने के विशेष प्रकार से अपने कुचों के उभार को स्पष्टतया व्यक्त करने वाली यह 'नायिका' उस युवक के दृष्टिगोचर हुई। अर्थात् युवक ने उसे उस समय देख लिया॥ ३२५॥

अत्रेति। यहाँ पर 'अनुभाव' की अभिव्यक्ति बड़ी कष्टप्रद कल्पना से हो रही है, शीघ्रता से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो रही है। क्योंकि यहाँ पर सम्भोगशृङ्गारोचित 'चन्द्र, चन्द्रिका' रूप 'उद्दीपन विभाव', और 'नवयुवती नायिका' 'आलम्बन विभाव' दोनों के विद्यमान रहने पर भी 'नायकगत स्तम्भ, स्वेदादिरूप अनुभाव' सहजतया अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। एवं च चन्द्र, चन्द्रिका रूप उद्दीपन विभाव, और नायिका रूप आलम्बन विभाव, 'अनुभाव' को पर्यवसित करते हैं, अर्थात् प्रकरणादि के अनुसन्धान की अपेक्षा करने के कारण विलम्ब से 'अनुभाव' को अवगत कराते हैं। अभिप्राय यह है कि यदि 'युवक' रसिक नहीं है तो चन्द्र और चन्द्रिका के देखने पर उसमें 'रति' का उदय नहीं हो सकता, अतः प्रथमतः उसके 'रसिकत्व' का अनुसन्धान करना तदनन्तर 'रति' के अनुभाव की प्रतीति होना, ये सब प्रतीतियाँ विलम्ब से होती हैं, शीघ्र नहीं। एवं च अनुभाव की अभिव्यक्ति, कष्ट कल्पनापूर्वक हो रही है। अतः इसे 'दोष' माना गया है॥ ३२५॥

(५) अब 'विभाव' की कष्ट कल्पनापूर्वक अभिव्यक्ति का उदाहरण—परिहरतीति। कामिनी के विरह की यह विषमा दशा, युवक (प्रेमी) के शरीर की ऐसी दुर्दशा कर रही है कि न तो उसको किसी वस्तु में अभिरुचि ही है, और न वह किसी वस्तु को पहचान ही पाता है, तथा न वह स्वयं अपने को सम्हाल ही पाता है, बार-बार करवटें बदलता रहता है। ये विषम दशाएँ नायक के शरीर को बेचैन कर रही हैं। हम समझ नहीं पा रहे हैं कि इस नाजुक परिस्थिति में क्या करें॥ ३२६॥

अत्रेति। यहाँ 'रति' के जो 'परिहारादि' अनुभाव बताये हैं, वे केवल 'शृङ्गार

(३ प्रकृतरसविरुद्धविभावादिवर्णनम्)

(६) प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये ! शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे ! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥ ३२७ ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशिनो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः ।

रस' में ही नहीं, अपितु 'करुण' 'भयानक' तथा 'बीभत्स रस' में भी हो सकते हैं। अतः यहाँ पर नायकनिष्ठ विप्रलम्भ शृङ्गार रस का 'कामिनी रूप आलम्बन विभाव' अभिप्रेत है, यह कष्ट से प्रतीत होता है। इसलिए यहाँ 'विभाव' की कष्ट कल्पनारूप दोष माना गया है ॥ ३२६ ॥

(६) 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' संज्ञक दोष को बताते हैं। अर्थात् जहाँ 'प्रकृत रस' के विरुद्ध विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव का वर्णन किया जाता है, वहाँ यह दोष होता है।

प्रकृत रस के विरुद्ध 'विभाव' और 'व्यभिचारिभाव' के वर्णन करने से होने वाले 'रसदोष' का उदाहरण दे रहे हैं। कोई नायक, प्रणय-कलह से रूठी हुई अपनी नायिका को मनाते हुए कह रहा है—

प्रसादे इति। हे प्रिये ! प्रसन्न हो जा (प्रसादे वर्तस्व), तनिक मुस्कुरा कर आनन्द को प्रकट कर (प्रकटय मुदं), गुस्सा छोड़ दे—(सन्त्यज रुषं), हे प्रिये ! तुम्हारे इस गुस्से (रोष) के कारण मेरे समस्त अंग सूखते जा रहे हैं, उन पर अपनी प्रसन्नता से पूर्ण वचनामृत का सिञ्चन कर दे (प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः), अर्थात् अमृततुल्य तुम्हारे वाक्य, शुष्क हो रहे इन अंगों को सींच दें। और मेरे सम्पूर्ण सुखों के एकमात्र आधार अपने इस सुन्दर मुखड़े को जरा मेरे सामने तो कर दे, (निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं), हे भोली-भाली ! (हे मुग्धे !) गया हुआ यह समय रूप मृग, पुनः लौट कर आने वाला नहीं है, (न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः) ॥ ३२७ ॥

अत्रेति। यहाँ पर प्रकृत शृङ्गार रस है, उसके विरुद्ध 'शान्त' रस के 'उद्दीपन विभाव' का अर्थात् 'न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः'—कह कर काल (समय) की क्षणभंगुरता को बता दिया है, 'काल' में 'हरिणत्व' का आरोप करने से 'चञ्चलत्व को ध्वनित किया गया है तथा उससे प्रकाशित निर्वेद रूप व्यभिचारि भाव को भी प्रकट किया गया है। यह निर्वेद रूप व्यभिचारिभाव 'शान्त' रसका स्थायिभाव है। उस कारण प्रकृत शृङ्गार रस के प्रतिकूल 'विभाव' तथा

(ख—प्रकृतरस-विरुद्धानुभाववर्णनम्)

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअण मज्झम्मि ।
सअलपरिहारहिअआ वणगमणं एव्व महइ वहू ॥ ३२८ ॥
निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥ ३२८ ॥)

अत्र सकलपरिहार—वनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेत् न दोषः ।

(४ अङ्गभूतरसस्य पुनः पुनः दीप्तिः)

(७) दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।

'व्यभिचारि भाव' का ग्रहण किये जाने के कारण, अनास्वाद अर्थात् इन विभावादिकों से प्रतिकूल रस की भी उपस्थिति होने से विरोध होने के कारण प्रकृत रस को सदोष माना गया है ॥ ३२७ ॥

अब प्रकृत रस के विरुद्ध 'अनुभाव' का ग्रहण करने से होने वाले 'रसदोष' का उदाहरण दे रहे हैं—'णिहुअरमणम्मि' इति ।

उक्त प्राकृत पद्य की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—

'निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥

निभृतरमणे इति । घर के बड़े-बूढ़े सास, ससुर आदि गुरुजनों की उपस्थिति में अपने गुप्त प्रेमी के दिखलाई देने पर कोई एक वधू, घर के सब-कुछ कार्य छोड़ कर अर्थात् कामकाज की कोई परवाह न करके वन में ही जाना चाहती है ॥ ३२८ ॥

अत्रेति । 'सकलपरिहार'—सब-कुछ छोड़ देना और 'वनगमनमेवेच्छति' वन में निकल जाना—ये दोनों 'शृङ्गार रस' के विरोधी 'शान्त' रस के अनुभाव हैं । प्रकृत पद्य में 'किसी बहाने' (व्याज) को बताया नहीं है । उस कारण प्रकृत 'शृङ्गाररस' का विच्छेद हो गया है । एवं च प्रकृत रस के प्रतिकूल 'अनुभाव' को बताने से 'दोष' हो गया है । यदि 'इन्धन आदि लाने' के बहाने (व्याज) को बता कर 'सम्भोग' के लिए वन में जा रही है' यह कह दिया होता, तो 'इस अनुभाव' को 'शान्तरस' का अनुभाव न समझा जाता । तब यहाँ पर 'दोष' भी न हो पाता ॥३२८॥

(७) यह 'दीप्तिदोष'—सप्तम रसदोष है । अपनी सामग्री से परिपुष्ट होनेवाले की पुनः पुनः दीप्ति अर्थात् प्रवाहित होनेवाले 'रस' को बीच में ही वेद्यान्तर के सम्बन्ध से विच्छिन्न करके पुनः 'दीप्त' करना भी 'दोष' है । पुनः पुनः दीप्ति तो अंगभूत रसादिकों की ही हुआ करती है, 'अङ्गी' रस की नहीं । उक्त दीप्ति तो 'प्रबन्ध'

(५ अनवसरे रस-वर्णनम्)

(८) अकाण्डे प्रथनं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भत्या सह दुर्योधनस्य शृङ्गारवर्णनम् ।

में ही हो सकती है। महाभारत आदि में अङ्गीभूत शान्तरस की जैसी पुनः पुनः दीप्ति की गई है, वैसे ही अङ्गीरस की पुनः-पुनः की गई दीप्ति, सहृदयों के हृदय में 'वैरस्य' पैदा नहीं करती।

'दीप्ति' दोष का उदाहरण, कुमारसम्भव में 'रति-विलाप' के प्रसंग में दिया गया है। कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग में 'कामदेव' को भस्म कर देने पर 'रति' के विलाप का वर्णन महाकवि कालिदास ने किया है। उसमें "अथ मोहपरायणा सती"—(कु० सं० ४।१) से 'करुण रस' का आरम्भ किया है, क्योंकि आरम्भ में ही 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है। वह 'रस' की प्रारम्भिक 'दीप्ति' का सूचक है। उसके बाद "अथ सा पुनरेव विह्वला"—(कु० सं० ४।४) में 'अथ' तथा 'पुनः' शब्दों के प्रयोग से पुनः उसी रस की 'दीप्ति' की है। तदनन्तर "तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्"—(कु० सं० ४।२६) से उसी करुण रस को पुनः उद्दीप्त किया है। इस प्रकार एक ही उपभुक्त रस का पुनः पुनः वर्णन करना उपभुक्त पुष्प-परिमल के तुल्य सहृदयों के हृदय में वैरस्य पैदा करता है, उस कारण इसे 'दोष' कहा गया है।

आनन्दवर्धन ने भी कहा है—

"परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च" ॥

—(ध्व० लो० ३।१९)

एवं च अंगभूत रस की अभिव्यक्ति की 'अविच्छिन्न धारावाहिकता' को 'दोष' ही कहा जायगा ॥

(८) अनवसर में (अकाण्डे) 'रस' का विस्तार से वर्णन करना भी 'दोष' माना जाता है। जैसे—वेणीसंहार के द्वितीय अंक में अनेक बड़े-बड़े भीष्म जैसे महान् वीरों का विनाश आरम्भ होने पर भानुमती के साथ दुर्योधन के सम्भोग शृङ्गार रस का वर्णन करना उचित नहीं है, अतः उसे 'दोष' कहा गया है। क्योंकि रणभूमि पर संग्राम चलते और बड़े-बड़े वीरों के विनाश के प्रसंग में तो 'करुण', 'वीर' रस ही आस्वाद्य होता है, 'शृङ्गार' नहीं, उस कारण यहाँ 'दोष' हो गया है। इस सन्दर्भ में उद्योतकार ने स्पष्ट कहा है—"तदा करुणस्य वीरस्य वाऽवसरो, न शृङ्गारादेः। न हि शोकोत्साहवासनानिरुद्धे प्रतिपत्तृचेतसि शृङ्गारादिः पदमपि लभते, सुतरामास्वादः" ॥

(६ अनवसरे रसविच्छेदः)

(९) अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इति राघवस्योक्तौ ।

(७ अप्रधानस्य प्रतिनायकादेः अतिविस्तृतं वर्णनम्)

(१०) अङ्गस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य ।

---

(९) अकाण्डे छेद इति । अनवसर में (अवसर के विना ही) 'रस' का विच्छेद कर देना, अर्थात् अनुचित स्थान पर 'रस' का भंग करना (अकाण्डच्छेद) को भी 'रसदोष' कहा गया है ।

उक्त दोष का उदाहरण दे रहे हैं । जैसे—महावीरचरित के द्वितीय अंक में श्रीराम और परशुराम (राघव-भार्गव) की वीरता का प्रसंग धारावाही अर्थात् अविच्छिन्न प्रसरता से (धाराधिरूढ होकर) चलता-चलता 'वीररस' (युद्धोत्साह) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका है, उस समय 'कंकणमोचन' की बात अर्थात् 'मैं कङ्कण खोलने जा रहा हूँ'—यह श्रीराम के द्वारा कहलाना 'दोष' हो गया है । अनवसर में इस प्रकार कहना तो यही समझा जायगा कि बहाना बना कर निकल गये । अतः राम के द्वारा 'कङ्कण मोचन' की बात कहलाना राम की कातरता (अवीरत्व) की द्योतक होती है । उस कारण नायक श्रीराम के वीररस का आस्वाद, सामाजिकों को नहीं मिल सकेगा । और राम की युद्धसामर्थ्य के विषय में लोगों को सन्देह होने लगेगा । उस कारण राम की अकीर्ति ही सर्वत्र फैलेगी । अतः 'अकाण्डे रसच्छेद' को दोष कहा गया है ॥

(१०) अंगस्येति । 'अंग' अर्थात् अप्रधान 'पात्र' अथवा 'रस' का बहुत अधिक विस्तार से वर्णन करना भी 'रसदोष' कहलाता है । यथेति । जैसे—काश्मीर के भर्तृमेण्ठकविकृत 'हयग्रीववध' नाटक में 'प्रधान नायक विष्णु' के बदले प्रतिनायक (अप्रधान) हयग्रीव का अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया है । कवि ने प्रथमतः 'हयग्रीव' का महत्त्व और उसके प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया, तदनन्तर विष्णु के द्वारा उसके वध का वर्णन किया । तदनन्तर विष्णु के प्रबल प्रताप को प्रकाशित करने के लिए हयग्रीव का पुनः अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया है ।

यद्यपि "वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि"—(का० द० प्र० परि०) शत्रु के वंश, वीर्य, अध्ययन (श्रुत) आदि को बता कर भी प्रधान नायक का उत्कर्ष सिद्ध करना चाहिये—यह कहा गया है, तथापि शत्रु का वर्णन उतनी ही मात्रा में करना चाहिये, जिससे प्रधान नायक के प्रभाव-प्रताप को प्रकाशित करने में सहायता मिल सके । किन्तु कवि ने प्रधान नायक विष्णु का वर्णन करना तो त्याग दिया, और अप्रधान पात्र हयग्रीव दैत्य की जयकेलि, वनविहार, रतोत्सव आदि का इतना

(८ प्रधाननायकादेः अपरामर्शः)

(११) अङ्गिनोऽननुसन्धानम् यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः ।

(९ प्रकृतिगतौचित्यस्य प्रतिकूलवर्णनम्)

(१२) प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रश्रृङ्गारशान्तरस-प्रधाना धीरोदात्त धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्ताः, उत्तमाधममध्यमाश्च । रतिहासशोकाद्‌भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि । किन्तु रतिः सम्भोग-श्रृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्ण-नमिवात्यन्तमनुचितम् ।

अधिकतर विस्तार से वर्णन कर दिया है, जिससे लगता है कि 'हयग्रीव' ही 'प्रधान नायक' है । उसका परिणाम यह होता है कि तद्‌गत रस ही प्रधानतया आस्वाद्य लगने लगता है, प्रधाननायकगत 'रस' की प्रधानता को भूल ही जाते हैं । एवं च प्रति-नायक का अतिशयित वर्णन करना 'प्रधान' के प्रतापातिशय का तिरोधायक होने से 'दोषकोटि' में गिना गया है ॥

(११) अंगी (प्रधान) नायक अथवा नायिका का अननुसन्धान—(विस्मरण) होना भी 'रसदोष' कहलाता है ।

यथेति । जैसे—'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक में—सिंहलेश्वर के 'बाभ्रव्य' नामक 'कञ्चुकी' के आ जाने पर विजयवर्मा के समाचार सुनने में आसक्त हुए राजा वत्सराज ने अर्थात् 'प्रधान नायक' ने 'सागरिका' का नाम तक नहीं लिया, अर्थात् उसे भूल गया अर्थात् सागरिका की विस्मृति से नाटिका में प्रतिपाद्य 'श्रृङ्गाररस' विच्छिन्न-प्राय हो गया है । उस कारण 'दोष' माना गया है ॥ ११ ॥

(१२) 'प्रकृतीनां विपर्ययः'—अर्थात् जिसमें जिसका वर्णन नहीं करना चाहिये, उसमें उसका वर्णन करना 'प्रकृतिविपर्यय' कहलाता है । इस प्रकृतिविपर्यय को समझाने के लिए—उसके (विपर्यय के) प्रतियोगिभूत 'प्रकृतियों' को बताते हैं—प्रकृतय इति । प्रकृतियाँ (नायक आदि) 'दिव्य', 'अदिव्य' और 'दिव्यादिव्य' के भेद से तीन प्रकार की होती हैं । 'दिव्य' अर्थात् 'मर्त्य' से भिन्न । अतः पातालीय पात्रों का संग्रह हो जाता है । इन तीनों प्रकृतियों (पात्रों) के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त—ये चार भेद होते हैं । ये भेद, वस्तुतः वीररसप्रधान, रौद्ररस-प्रधान, श्रृङ्गाररसप्रधान और शान्तरसप्रधान प्रबन्धों से सम्बन्ध रखते हैं । ये बारह प्रकार के प्रकृतिभेद 'गुणोत्कर्ष', 'गुणापकर्ष' और 'गुणोत्कर्षापकर्ष' के कारण 'उत्तम, मध्यम और अधम' के भेद से (३६) छत्तीस प्रकार के होते हैं । अतः प्रकृतिगत औचित्य को ध्यान में रख कर 'रति, (सम्भोग श्रृङ्गार), हास, शोक और अद्‌भुत'

क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
यावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥ ३२९ ॥

इत्युक्तवद् भ्रुकुटयादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपातालगगन-समुद्रोल्लङ्घनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव । अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम् । अधिकं तु निबध्यमानमसत्यप्रतिभासनं नायकवद्वर्तितव्यम् न प्रतिनायकवत् इत्युपदेशेन पर्यवस्येत् ।

आदि का वर्णन, दिव्य और अदिव्य उत्तम प्रकृति में करना उचित है। तथापि दिव्य प्रकृतियों में भी जो उत्तम दिव्य प्रकृति (पात्र) हैं, उनके प्रसंग में 'सम्भोग-श्रृङ्गाररूपरति' का वर्णन कदापि नहीं करना चाहिये। उनके प्रसङ्ग में सम्भोग-श्रृङ्गार का वर्णन करना 'माता–पिता' के सम्भोग वर्णन के जितना ही नितान्त अनुचित है, अर्थात् घोर पापजनक है। अतएव कुमारसम्भव में भगवान्—'शिव–पार्वती' के सम्भोग का वर्णन महाकवि कालिदास ने जो किया है, वह नितान्त अनुचित समझा गया है। श्रृङ्गार, हास्य, करुण और अद्‌भुत—इन चार रसों के वर्णन का औचित्य दिव्य तथा अदिव्य प्रकृति वाले नायकों में बता दिया। अब भ्रुकुटि-विकार-रहित क्रोध तथा स्वर्ग लोक में पाताल लोक में जाना–आना, समुद्र लांघना आदि के उत्साह का वर्णन केवल दिव्यप्रकृति के पात्रों में ही करना चाहिये। अदिव्य प्रकृति के पात्रों में अधिक नहीं करना चाहिये। इसी तथ्य को बता रहे हैं—

क्रोधमिति। हे भगवन् शिव ! क्रोध को शान्त कीजिये, शान्त कीजिये—इस प्रकार आकाशस्थित देवताओं की वाणी कान पर पड़ने के पूर्व ही शिव जी के तृतीय नेत्र से प्रकट हुई अग्नि ने कामदेव को भस्मावशेष कर ही दिया॥ ३२९ ॥

इत्युक्तवदिति। इस प्रकार कथित क्रोध के समान भ्रुकुटी आदि शारीरिक विकारों से रहित, तथा तत्काल फल देने वाले क्रोध का वर्णन तथा स्वर्ग-पाताल में गमना-गमन, तथा समुद्रोल्लंघन के उत्साह आदि का वर्णन दिव्य प्रकृतियों वाले पात्रों के विषय में ही करना चाहिये। अदिव्य प्रकृतियों में ऐसा वर्णन करना उचित नहीं है। अदिव्य प्रकृतियों के विषय में जितना उनका 'अवदान' प्रसिद्ध है, अर्थात् 'अवदानं कर्म वृत्तम्'—इस कोश वचन के अनुसार उनके लोकप्रसिद्ध भूतपूर्व चरित्र (वृत्त कर्म) अथवा मानने के लिए जो उचित हो सकता है, उतना ही वर्णन करना चाहिये। अन्यथा, अधिक वर्णन करने पर वह असत्य प्रतीत होगा। तत्र 'रामादिवद् वर्तितव्यं, न रावणादिवत्' इस प्रकार के उपदेश में उसका पर्यवसान नहीं हो पायेगा।

रुद्रभट्ट ने कहा है—'कुलशैलाम्बुनिधीनां न ब्रूयाल्लंघनं मनुष्येण ।
आत्मीययैव शक्त्या सप्तद्वीपावनिक्रमणम् ॥'

यहाँ उक्त कुलशैलों के नाम 'विष्णुपुराण' में बताये हैं—

दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि। एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः। तत्रभवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ, भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम्। एवं देशकालवयोजात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोपनिबद्धव्यम्।

'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥

रुद्रभट्ट ने 'आत्मीयया' कह कर यह बताया है कि हनूमान् का अब्धिलंघन, और अर्जुन का देवविमान पर आरोहण करना परमेश्वर की शक्ति से उपबृंहित होने से, तथा देवावतार होने से, और दिव्यादिव्य-प्रकृतिक होने से दोषावह नहीं है। एवं च मनुष्य के लिए असाध्य प्रतीत होने वाले अधिक उत्साह आदि का वर्णन अदिव्य प्रकृति के विषय में नहीं करना चाहिए।

दिव्याऽदिव्येष्विति। दिव्यादिव्य-प्रकृतिरूप नायकों के विषय में उनके योग्य दोनों प्रकार के कार्यों का वर्णन कर सकते हैं।

एवमिति। इस प्रकार निर्दिष्ट औचित्य के विपरीत अर्थात् दिव्य, अदिव्य अथवा दिव्यादिव्य पात्रों के समान 'धीरोदात्त' आदि का वर्णन करने पर 'प्रकृतिविपर्यय' दोष होता है। अभिप्राय यह है कि जैसे दिव्यादिव्यादि प्रकृतिभेदगत औचित्य के विपरीत वर्णन करने पर 'प्रकृतिविपर्यय' दोष माना जाता है, वैसे ही उनके धीरोदात्तादि अवान्तर भेदों में भी औचित्यविरुद्ध वर्णन करने पर 'प्रकृतिविपर्यय' दोष माना जाता है।

प्रकृतिविपर्यय का एक प्रकार और भी है—देश, काल, अवस्था जाति के औचित्य के अनुरूप ही वेष, आचार, व्यवहार आदि का वर्णन करना चाहिए; अन्यथा 'प्रकृतिविपर्यय' दोष माना जाता है।

तत्र भवन्निति। अब किसको कैसा सम्बोधन करने में औचित्य है, उसे बता रहे हैं—

(१) 'तत्र भवन्, भगवन्'—यह सम्बोधन 'मुनि' आदि के लिए ही 'उत्तम-पात्र' के द्वारा ही कहे जाने चाहिए। 'राजा' आदि के लिए इस सम्बोधन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। तथा 'अधम पात्र' के द्वारा इनका प्रयोग नहीं होना चाहिए।

(२) 'राजा' आदि के लिए 'अधम पात्र' 'भट्टारक' शब्द से सम्बोधन करे। 'उत्तम पात्र', 'राजा' आदि के लिए 'भट्टारक' शब्द से सम्बोधन न करे। अन्यथा 'प्रकृतिविपर्यय' दोष होगा।

(१० रसानुपकारकस्य वर्णनम्)

(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारस्य वर्णनम् । यथा—कर्पूरमञ्जर्यां नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य वन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम् । 'ईदृशा' इति । नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ इति ॥

(रस-दोषाणां यथास्थानमपवादः)

इदानीं क्वचिददोषा अप्येते–इत्युच्यन्ते ।

(व्यभिचारिभावस्य 'स्वशब्दवाच्यता' दोषस्यापवादः)

(८३) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित् ।

एवमिति । इसी तरह देश, काल, अवस्था, जाति आदि, तथा वेष, व्यवहार आदि का उचित रूप से ही वर्णन करना चाहिए । अन्यथा 'प्रकृतिविपर्यय' दोष होगा ।

(१३) अनङ्गस्येति । अनङ्ग अर्थात् प्रकृत रस के अनुपकारक का वर्णन करने से भी 'रसदोष' होता है ।

यथेति । जैसे—राजशेखर कृत कर्पूरमञ्जरी नामक सट्टक में प्रथम जवनिका के बाद नायिका (देवी विभ्रमलेखा) के किये हुए और स्वयं किये हुए वसन्त वर्णन की उपेक्षा करके वन्दियों द्वारा किये गये वसन्तवर्णन की राजा के द्वारा प्रशंसा की गई है । ईदृशेति । इससे 'नायिका' के पादप्रहार आदि से 'नायक' के कोप आदि का वर्णन करना भी 'रसदोष' में समझा जाता है ।

इस प्रकार 'रसदोष' निरूपण का उपसंहार करते हुए अनौचित्य से वर्णन करने पर 'रसदोष' हुआ करता है । इस तथ्य को ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी कहा है ।

अनौचित्यादिति । अनौचित्य से वर्णन करने के अतिरिक्त 'रसभंग' (रस दोष) का अन्य कोई कारण नहीं है । और औचित्य से वर्णन करना ही 'रसपरिपोष' का परम रहस्य है अर्थात् रसोपस्थिति का निदान है ।

इदानीमिति । अब रसदोषों के यथास्थान अपवाद (प्रतिप्रसव) भी होते हैं अर्थात् कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में उपर्युक्त रसदोषों में से कुछ ऐसे भी हैं जिन (दोषों) को 'दोष' के रूप में नहीं माना जाता । उन विशेष परिस्थितियों को बता रहे हैं—

(सू० ८३) न दोष इति । कहीं-कहीं 'संचारिभाव' (व्यभिचारिभाव) का 'स्वशब्द' से कथन करने पर भी 'दोष' नहीं होता है । जैसे—

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥ ३३० ॥

अत्रौत्सुक्यशब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत्। अत एव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां विवलितत्वादीनामिवौत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम्।

रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक के मंगलाचरण पद्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है--

औत्सुक्येनेति। प्रथम मिलन (नव समागम) के अवसर पर अपने 'पति शिव जी' से मिलने की 'उत्सुकता' के कारण शीघ्रता भी हो रही थी किन्तु नवोढा वधू स्वाभाविक लज्जा के कारण पीछे लौटने भी लगी। तब अपने वधूजनों (भौजाई आदि) के उस समय के उचित समझाने–बुझाने से पुनः पति (शिव जी) के सम्मुख पहुँचायी गई। तब एकान्त में अपने पति शिव जी को देख कर भय से ग्रस्त हो गई, किन्तु शिव जी ने हँसते-हँसते ही पार्वती का आलिगन कर लिया, उस कारण पार्वती का शरीर रोमाञ्च से भर गया। इस प्रकार रोमाञ्चित हुई पार्वती तुम सबका कल्याण करें ॥ ३३० ॥

अत्रौत्सुक्यशब्द इवेति। यहाँ पर 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारि भाव का अनुभाव 'त्वरा' है, किन्तु 'त्वरा' तो 'रोष-भय' आदि से भी हो सकती है। अतः समान 'अनुभाव' होने के कारण निःसन्दिग्धतया उसी की (औत्सुक्य की) ही प्रतीति नहीं करा सकता। अतः यहाँ पर 'औत्सुक्य' तथा 'ह्री' (लज्जा)—इन व्यभिचारि भावों को 'स्व' शब्द से कहना आवश्यक हो गया है। इसलिए यहाँ 'स्वशब्दवाच्यता' का दोष नहीं है। अर्थात् 'त्वरा' रूप अनुभाव, 'औत्सुक्य' व्यभिचारी को निश्चित रूप से व्यक्त करने में अक्षम रहने से ही 'दूरादुत्सुकमागते विवलितं'—(उ० ४, प० २९) में अमरुककवि ने 'औत्सुक्य' व्यभिचारी को 'स्वशब्द से ही कहा है' क्योंकि 'उत्सुकता' रूप व्यभिचारि भाव का, उसके 'त्वरा' रूप अनुभाव द्वारा नियत रूप से (नियमतः) अभिव्यञ्जन न हो पाने से, क्योंकि 'त्वरा' के द्वारा 'भय' 'रोष' आदि की भी प्रतीति हो सकती है। इसलिए साक्षात् 'दूरादुत्सुकमागते' इस प्रकार 'स्वशब्द' के द्वारा 'व्यभिचारी (औत्सुक्य) को बताना पड़ा है। किन्तु 'व्रीडा', 'प्रेम' आदि व्यभिचारिभावों का तो 'विवलन' आदि असाधारण 'अनुभावों' द्वारा अभि-

(विरुद्धविभावादिग्रहणस्य यथास्थानमदोषता)

(८४) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥ ६३ ॥

(विरुद्धव्यभिचारिभावस्य उपादाने गुणरूपता)

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोषः, यावत्प्रकृतरसपरिपोषकृत् ।

यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्--इत्यादौ ॥ ३३१ ॥

अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरस-परिपोषः ।

व्यञ्जन सहजतया हो जाता है। अतः उनका उपादान 'स्वशब्द' से करने की आवश्यकता ही नहीं है।

अब 'विरुद्ध' (प्रतिकूल) विभावादि के ग्रहण करने पर 'रसदोष' नहीं होता है, अर्थात् 'रसदोष' का अपवाद बता रहे हैं—

(सू० ८४) सञ्चार्यादेरिति । 'प्रकृत रस' के विपरीत (प्रतिकूल) संचारि भाव (व्यभिचारि भाव), और 'आदि' शब्द से सूचित 'अनुभाव' तथा 'विभाव' का 'बाध्यत्वेन' कथन भी दोषावह न होकर 'गुणावह' (गुणाधायक) ही माना जाता है ॥ ६३ ॥

बाध्यत्वेनेति । अर्थात् विरुद्ध रस के 'व्यभिचारी' तथा 'विभाव' और 'अनुभावों का बाध्य रूप से कथन करना केवल 'निर्दुष्ट' ही नहीं है, अपितु 'प्रकृत रस' का परिपोषक भी है । यथेति । जैसे—

क्वाकार्यम् इस पद्य में अत्रेति । यहाँ पर पद्य के 'प्रत्येक चरण' के 'पूर्वभाग' में निर्दिष्ट 'शान्तरस' के अंगभूत 'वितर्कादिव्यभिचारिभावों' के बाधक, उसी पद्य के 'उत्तरभाग' में कथित 'शृङ्गाररस' के 'अंगभूत औत्सुक्य' आदि व्यभिचारी भावों को बता दिया है। उनमें भी अन्तिम चरण के अन्तिम भाग में कथित 'चिन्ता' सभी की बाधिका है, जो 'भावबलता' की पोषिका होने से 'गुण' हो गई है, 'दोष' नहीं।

निष्कर्ष यह है कि 'क्वाकार्यम्'—इस उदाहृत पद्य में 'शान्तरस' के (१) वितर्क, (२) मति, (३) शङ्का, (४) धृति—इन चार व्यभिचारिभावों का और 'शृङ्गाररस' के (१) स्मरण, (२) दैन्य, (३) औत्सुक्य, (४) चिन्ता—इन चार व्यभिचारिभावों का इकट्ठा वर्णन किया गया है। 'शान्तरस' और 'शृङ्गाररस' दोनों का 'परस्पर विरोध' है, क्योंकि उनका न 'आलम्बन' एक है और न उनका 'नैरन्तर्य' ही है। 'क्वाकार्यम्'—यह पद्य, वस्तुतः 'शृङ्गाररस' का है। क्योंकि 'उर्वशी' के वियोग में 'पुरुरवा' कह रहा है। उस कारण उसमें 'शान्तरस' के 'वितर्कादि' चार व्यभिचारिभावों को बताना उचित नहीं था। तथापि वहाँ इसे 'दोष' नहीं माना गया है, अपितु उसे 'गुण' ही माना गया है। क्योंकि 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्'—

इस 'वितर्क' से अर्थात् 'शान्तरस के व्यभिचारिभाव' से पद्य का आरम्भ किया है, किन्तु उसके आगे 'भूयोऽपि दृश्येत सा'—इस 'औत्सुक्य' से अर्थात् 'शृङ्गार रस के व्यभिचारि भाव' से पूर्वोक्त 'वितर्क' का बाध कर दिया है। तदनन्तर 'दोषाणां प्रशमाय न श्रुतमहो'—इस 'मति' का अर्थात् 'शान्तरस' के 'व्यभिचारिभाव' को बताया है। किन्तु उसके अनन्तर ही 'कोपेऽपि कान्तं मुखम्' से 'स्मरण' को अर्थात् 'शृङ्गाररस के व्यभिचारिभाव' को बता कर उससे पूर्वोक्त 'मति' रूप व्यभिचारी का बाध कर दिया है। तदनन्तर 'किं वक्षन्त्यकल्मषाः कृतधियः—से 'शङ्का' को अर्थात् 'शान्त' रस के व्यभिचारिभाव को बताया है। किन्तु आगे 'स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा'—से 'दैन्य' को अर्थात् 'शृङ्गार रस' के 'अनुभाव' को बताया है, और उससे पूर्वोक्त 'शङ्का' रूप व्यभिचारी भाव का बाध कर दिया है। अन्त में 'चेतः स्वास्थ्यमुपैहि'—से 'धृति' को अर्थात् 'शान्तरस' के व्यभिचारिभाव को बताया है। किन्तु आगे 'कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति'. से 'चिन्ता' को अर्थात् 'शृङ्गार रस के व्यभिचारिभाव' को बता दिया है, जो 'चिन्ता रूप, शृङ्गार रस का व्यभिचारिभाव' पूर्वोक्त 'धृति' का बाध कर देता है। इस रीति से शृङ्गार रस के व्यभिचारिभाव रूप 'चिन्ता' में ही सम्पूर्ण पद्य का पर्यवसान हो जाता है। एवं च दो रसों के संघर्ष में 'प्रकृत रस' के विरोधी रस के व्यभिचारिभावों का बाध हो जाने से 'प्रकृत रस' की विजय हो गई है। इसलिए विरोधी रस के व्यभिचारिभावों का 'बाध्यरूप' से जो वर्णन किया गया है, वह दोषावह नहीं है, अपितु 'प्रकृत शृङ्गाररस' का परिपोषक होने से 'गुण' हो गया है।

एवं च 'विरोधीरस के विभावादि अंगों का बाध्यरूप से यदि वर्णन किया जाय तो वह दोषावह नहीं होता'—इस नियम का वर्णन बड़े विस्तार के साथ ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है कि 'समारोपितायामप्यविरोधो यथा "पाण्डुक्षामाम्" इत्यादौ।' इस 'पाण्डुक्षामाम्'—पद्य में 'करुणरस' के उचित 'व्याधि' का मुख्यतया वर्णन किया गया है। तथापि 'श्लेष' की महिमा से 'विप्रलंभ शृङ्गार' में भी अर्थात् जो नायिका है, उस पर करुणरसोचित 'व्याधि' अर्थात् 'पाण्डुत्वादि धर्म' का आरोप कर दिया जाता है। एवं च 'प्रकृत शृङ्गाररस' के विरोधी 'करुणरस' के 'पाण्डुक्षामवदनत्वादि अंगों' की 'विप्रलम्भ शृङ्गार' में जो अंगता है, वह 'आरोपित' है। अतः उसका वर्णन करना दोषावह नहीं है—ध्वन्यालोककार के 'उक्त विचार', काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट को मान्य नहीं है। मम्मटभट्ट कहते हैं कि 'पाण्डुत्व' आदि धर्म, करुणरसोचित राजयक्ष्मारूप व्याधि के तो होते ही हैं, किन्तु उसी तरह वे धर्म 'शृङ्गाररस' के 'अनुभावों' में भी हो सकते हैं। इसीलिए दोनों रसों में 'उक्त धर्मों' का सम्भव रहने से शृङ्गाररस प्रधान इस पद्य में उन धर्मों का

(ध्वनिकारात् मतभेदः)

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥ ३३२ ॥

इत्यादौ साधारणत्वं पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम् ।

वर्णन करना 'दोषाधायक' (दोष) नही है । अतः वस्तुतः विरोध न होने से उनके विरोधपरिहार का ध्वन्यालोककार ने जो प्रयत्न किया है वह व्यर्थ है ॥३३१॥

अपने इन विचारों को व्यक्त करने के लिए काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मट उदाहरण के रूप में एक पद्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

पाण्डुक्षाममिति । कोई सखी अपने सहेली से कह रही है कि हे सखि ! तेरा यह मुख, पीला पड गया है, और मुरझा गया है, और सरस अर्थात् प्रेम से सना हुआ और अन्तरस से युक्त तेरा हृदय तथा अलसाई हुई तेरी यह शरीरयष्टि, स्पष्टतया बता रही है कि तुम्हारे हृदय में किसी क्षेत्रीय असाध्य रोग ने अपना स्थान जमा लिया है ॥३३२॥

व्यभिचारिभावों का वर्णन 'शृङ्गाररस' में नहीं करना चाहिए । तदनुसार 'आलस्य' केवल 'पाण्डुरोग' का चिह्न है । किन्तु कवि लोग 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' में 'आलस्य' का भी वर्णन किया करते हैं । जैसे—'गमनमलसशून्या दृष्टिः' । 'कथमपि परिवार-प्रार्थनाभिः क्रियासु प्रवृत्तिः' । यहाँ 'अभंगश्लेष' है । एवं च श्लेषनिमित्तक अभेदा-ध्यवसान से 'पाण्डुत्वादि विशिष्टत्व'—उभय-साधारणधर्म है, जो 'करुणोचित रोग और वियोग'—दोनों में रहता है । उस कारण—'वियोग' में 'रोग' का अभेद अर्थात् आरोप किया गया है । इस 'आरोप' के कारण 'रोग' तो 'वियोग' का अंग बन गया है । उस कारण 'वियोग' के साथ 'रोग' का कोई विरोध ही नहीं है । इस व्याख्या के अनुसार 'मम्मट भट्ट' तो 'आनन्दवर्धन' के अनुयायी ही प्रतीत हो रहे हैं । अतः प्रदीपकार ने जो कहा है—'इति ध्वनिकारः, तदयुक्तम्' इत्यादि, वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है ।

किन्तु काव्यप्रकाश ग्रन्थ को देखने से लगता है कि मम्मट भट्ट ध्वनिकार आनन्द-वर्धन के विचार से सहमत नहीं हैं । उनका कहना है कि 'समारोपित अंगत्व' को मान कर 'विरोध' का परिहार करना उचित नहीं है । क्योंकि 'करुण रस' के उचित जो 'राजयक्ष्मादि' व्याधि है, उसके धर्म 'पाण्डुत्व' आदि तो होते ही हैं । तथापि 'शृङ्गार रस' के 'अनुभावों' में भी उन 'पाण्डुत्वादि धर्मों' का होना असम्भव नहीं है । अतः इन दोनों रसों में उन धर्मों का सम्भव रहने से 'शृङ्गाररसप्रधान' इस पद्य में उनका वर्णन करना दोषाधायक नहीं है । एवं च—वस्तुतः विरोध न रहने से आनन्दवर्धन ने उनके विरोध का जो परिहार किया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं अर्थात् अनावश्यक है ।

इत्यादाविति । 'पाण्डुक्षामं' पद्य में 'पाण्डुता' आदि धर्मों का दर्शन दोनों में

(प्रकृतरस-विरुद्धविभावस्य बाध्यत्वरूपे गुणत्वम्)

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ ३३३ ॥

इत्याद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम्। जीवितादपि अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गाप्रतिपत्तेः। न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्त-शृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याभावात्। नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथा भावात्।

(राजयक्ष्मारूप करुणरसोचितव्याधि में तथा शृङ्गाररस में) समान रूप से हो सकता है। अतः शृङ्गाररस के उचित राजयक्ष्माव्याधि के 'अंगरूप' में पाण्डुता आदि की प्रतीति का वर्णन करना 'शृङ्गाररस' के प्रतिकूल नहीं है। अतः उसके परिहारार्थ, ध्वन्यालोककार ने जो प्रयत्न किया है, वह व्यर्थ है।

प्रकृत रस के विरुद्ध 'रस' के 'विभाव' का 'बाध्य' के रूप में वर्णन करने से भी 'प्रकृत रस' का परिपोष ही होता है, अतः उसे दोष न मानकर 'गुण' ही कहा जाता है ॥ ३३२ ॥

जैसे—'सत्यमिति'। यह सच है, अर्थात् इसमें कोई सन्देह नहीं है कि रमणियाँ (स्त्रियाँ) बड़ी मनोमोहक हैं। तथा यह भी सच है कि वैभवविलास (सम्पत्तियाँ) भी बड़े होते हैं। किन्तु उनके भोग करने का साधनभूत यह 'जीवन' तो युवतियों के (तरुणियों के) अपाङ्गभंग (चञ्चल कटाक्ष) के समान क्षणभंगुर (अस्थिर) हुआ करता है ॥३३३॥

सूत्र ८४ कारिका ६३ में 'सञ्चार्यादिः' कहा गया है। अतः 'आदि' पद से ग्राह्य 'विरुद्धरस' के विभाव का 'बाध्यत्वेन' रूपेण करने पर उसे 'दोष' न कहकर 'गुण' कहा जाने का उदाहरण 'सत्यम्०' से बताया गया है। इस पद्य में 'रामाः', 'विभूतयः' ये पुरुषनिष्ठशृङ्गार के 'विभाव' हैं। 'रामाः'—यह 'आलम्बन विभाव' है और 'विभूतयः'—यह 'उद्दीपन विभाव' है। अपरार्ध में 'जीवितस्य लौल्यं'—यह 'शान्तरस का विभाव' है। इन दोनों में परस्पर विरोध रहने पर भी 'पूर्वार्ध' का कथन 'बाध्य' रूप से करने के कारण 'दोष' नहीं है, अपितु 'गुण' है। क्योंकि शान्तरस का परिपोष हो जाता है। रमणियाँ, तथा सम्पत्तियाँ सभी वैभव, 'जीवित' (जीवन) के रहने पर ही उसके सौकर्यार्थ उपादेय (ग्राह्य) हुआ करती हैं। किन्तु जीवित (जीवन) तो अतिभंगुर है, अतः उनका उपादेयत्व किस कारण से किया जाय? अर्थात् उनकी उपादेयता व्यर्थ है। एवंच वह सब रम्य होने पर भी अन्ततोगत्वा 'निष्फल' ही हैं। इसी रहस्य को 'इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम्०' से कहा गया है। 'इत्यत्राद्यमर्थं'—इस पद्य में शृङ्गार रस के द्योतक पूर्वार्ध को अर्थात् पूर्वार्ध प्रतिपाद्य

'शृङ्गार' शान्त रस के प्रतिपादक उत्तरार्ध के द्वारा 'बाध्य' बना कर ही बताया है। शृङ्गार का विभाव बाधित होने के कारण 'शान्त रस' का और भी अधिक चमत्कार-जनक परिपोष करता है।

शंका—पूर्वार्ध में प्रतिपादित 'मनोरम रमणी' और 'मनोहर विलास'—ये शृङ्गार रस के 'विभाव' हैं। इनकी स्थिति 'बाध्यरूप' से रहने पर भी उत्तरार्ध में प्रतिपादित 'मत्ताङ्गनापाङ्गभंग' जो शृङ्गार का अनुभाव है, उससे पुनः स्त्रीलिङ्ग शृंगार की प्रतीति होती है, और साथ ही साथ 'शान्तरस' के साथ 'विरोध' की भी प्रतीति हो जाती है। अतः 'विरोध' तो है ही। वहाँ शृंगार की प्रतीति नहीं हो रही है—यह भी नहीं कह सकते। अन्यथा—उसका उपादान करना ही निष्प्रयोजन हो जायगा।

समाधान—वृत्तिकार (ग्रन्थकार मम्मट भट्ट) स्वयं ही 'जीवितादपि' से लेकर 'तदङ्गाऽप्रतिपत्तेः'—तक के ग्रन्थ से पूर्वोक्त आशंका का समाधान कर रहे हैं। उक्त पद्य के उत्तरार्ध से 'मत्तांगनापांगभंग'—इस पद को जो रखा गया है, वह उचित ही है, क्योंकि 'जीवन' की चञ्चलता से भी अधिक 'नारी-कटाक्ष' की चञ्चलता अधिक हुआ करती है। अतः 'कटाक्ष' के द्वारा शृंगार की प्रतीति होना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि लोकप्रसिद्ध अस्थिरता के आधार पर ही 'कटाक्ष' को उपमान बताया गया है। उस 'उपमान' से शृंगार के अंगभूत 'विभाव' आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शृंगारा से तो उस उपमान का सम्बन्ध तब होता, जब उसे 'रतिरूप स्थायिभाव' का अनुभाव बनाकर बताया होता। वैसा तो उसे बताया नहीं है। अतः यहाँ उक्त 'उपमान' के द्वारा केवल 'शान्तरस' का ही परिपोष हो रहा है। जैसा 'अपाङ्गभङ्ग' अस्थिर है, वैसे ही 'जीवित' भी अस्थिर है। एवंच 'जीवित' में 'क्षणस्थायित्वप्रत्यय' (क्षण स्थायित्व प्रतीति) होता है। वैसा प्रत्यय होने पर 'अपांगभंग' आदि की निष्फलता प्रतीत होती है। अतः वह 'शान्तरस' को ही पुष्ट करता है। एवंच शान्तरस का परिपोषक होने से 'अपाङ्गभङ्ग' पद का उपादान करना व्यर्थ नहीं समझना चाहिए।

शंका—शान्त और शृंगार दोनों ही 'रस' हैं। तब एक के द्वारा दूसरे का बाध करने में क्या प्रमाण है ?

समा०—उक्त प्रश्न का उत्तर 'न पुनः शृंगारस्यात्र प्रतीतिः तदंगाप्रतिपत्तेः'—इस ग्रन्थ से दे रहे हैं। न पुनरिति। शृंगाररस के अंगों की प्रतीति न होने से यहाँ पर शृंगाररस की प्रतीति भी नहीं हो रही है। उस कारण दोनों रसों के विरोध-परिहारार्थ 'नवीन नियम' बनाने की आवश्यकता नहीं है। अतः ध्वनिकार आनन्दवर्धन का नवीन नियम के निर्माण का प्रयास करना व्यर्थ है। अभिप्राय यह है कि 'आश्रय' के अभाव में रति की प्रतीति नहीं हो रही है। जब 'रति' की ही

प्रतीति नहीं हो रही है, तब उसके 'अंगों' की प्रतीति का होना कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् असम्भव ही है। क्योंकि 'कारण' के बिना 'कार्य' की प्रतीति नहीं हुआ करती।

प्रश्न—'रमणीय स्त्रियाँ'—आलम्बन और 'रम्य विभूतियाँ'—उद्दीपन विभाव तथा 'अपांगभंग' का सञ्चालन (कटाक्ष)—अनुभाव का उपादान करने के कारण 'श्रृंगार' की प्रतीति तो हो रही है। तब कैसे कह रहे हैं कि 'श्रृंगार' की प्रतीति नहीं हो रही है?

उत्तर—न पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिरिति। यहाँ 'श्रृंगार की प्रतीति नहीं हो रही है। यदि उसकी प्रतीति होती तो—उसके 'अंगों' की प्रतिपत्ति अवश्य हुई होती। अंगों की प्रतीति (प्रतिपत्ति) न होने से अर्थात् श्रृंगार के उचित विभावादिकों के न होने से श्रृंगार की प्रतीति नहीं हो रही है। अभिप्राय यह है कि यहाँ पर 'अपांगभंग' (कटाक्ष) का उपादान 'अनुभाव के रूप में नहीं बताया है अर्थात् 'रति' के कार्य के रूप में नहीं बताया है किन्तु 'चञ्चलत्व' के साधर्म्य से 'उपमान' के रूप में उसे बताया गया है। एवं च यहाँ पर विरोध का परिहार इसी से हो जाता है। श्रृंगार के 'अनुभाव' आदि की प्रतीति न होने से केवल 'अपांगभंग' मात्र के कह देने से 'श्रृंगार' की प्रतीति का होना नहीं माना जायगा; अतः कोई विरोध नहीं है, प्रत्युत 'अपांगभंग' का उपमान के रूप में उपादान किया गया है। 'अपांगभंग' का जो प्रसिद्ध भंगुरत्व (चञ्चलत्व-अस्थिरत्व) और उसका आधिक्य उपस्थापित करने के कारण वह 'शान्त रस' का उपकारक हो गया है। निष्कर्ष यह है कि 'भंगुरत्व' को बताने के लिए यदि कोई 'उपमा' देनी हो तो 'प्रसिद्ध भंगुरत्व' को ही 'उपमान' कहना होगा—यह नियम है। 'उपमान' में 'आतिशय्य' नियत रहता है। उसको 'उपमान' रखने से ही 'प्रसिद्ध भंगुरत्व और आतिशय्य' दोनों उपस्थित हो जाते हैं।

प्रश्न—शृङ्गार के अंगभूत विभावादिकों के रहने से शृङ्गार की प्रतीति हो ही रही है।

उत्तर—शान्तरस से विमुख रहने वाले शिष्यों (विनेयों) को 'शान्तरस' की ओर अभिमुख करने के लिए 'गुडजिह्विका न्याय' से अर्थात् जिह्वा को गुडमयी (मधुर) बनाकर कड़वी औषधि जैसे बच्चों को पिला दी जाती है, उसी प्रकार 'शृङ्गार' का उपादान किया गया है, जिससे शिष्य 'शान्त' की ओर अभिमुख होकर उसमें (शान्तरस में) प्रविष्ट हो सकें, अतः कोई दोष नहीं है। एवं च 'शान्तरस' के प्रसंग में 'शृङ्गार' का उपादान करना यहाँ विरुद्ध नहीं है। अथवा ध्वनिकार ने एक अन्य समाधान भी प्रस्तुत किया है—काव्य की शोभा के लिए भी 'विरोधी रस' का

उपादान (ग्रहण) किया जा सकता है। ध्वनिकार ने कहा है कि 'काव्यशोभानिमित्त-मेव तदुपादानम्' 'अतोऽदोषता' इति। अर्थात् 'शृङ्गार रस' सकलजन-मनोभिराम होने से उसके अंगों का समावेश, काव्य की शोभा के अतिशय को और पुष्ट ही करता है। उक्त समाधानों को ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के तीसरे उद्योत में बताया है—

"विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति" ॥

इस प्रकार ध्वनिकार ने दो प्रकार के समाधान दिये हैं। उनमें से प्रथम समाधान का खण्डन काव्यप्रकाशकार श्री मम्मट भट्ट कर रहेहैं— नत्विति। 'न तु विनेयोन्मुखी-करणमत्र परिहारः, शान्तशृङ्गारयोर्नैरन्तर्यस्याऽभावात्'।

श्री मम्मट भट्ट का कहना है कि ध्वनिकार ने 'विनेयोन्मुखीकरण' बता कर जो परिहार किया है वह ठीक नहीं है।

क्योंकि यह कहने से परिहार नहीं हो रहा है। परिहार तो तभी हो सकता है, जब 'शृङ्गार' के अव्यवहितोत्तर 'शान्तरस' का उपादान किया जाय, किन्तु वैसा नहीं कर सकते। क्योंकि 'शान्त' और 'शृङ्गार' का 'नैरन्तर्य' नहीं है। अर्थात् 'शान्त' और 'शृङ्गार' दोनों के विरोध का आपादक हेतु 'नैरन्तर्य' है, उसका 'अभाव' होने से यहाँ उनका परस्पर विरोध ही नहीं है। तब परिहार के हेतुरूप में 'विनेयोन्मुखीकरण' को बताना उचित नहीं है।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि 'रसों' का परस्पर विरोध तीन प्रकार से हुआ करता है।

(१) कुछ 'रस' तो ऐसे हैं, जिनका 'आलम्बन विभाव'—'एक' रहता है। अर्थात् 'आलम्बन का ऐक्य' होने से उनका परस्पर 'विरोध' होता है। जैसे—'वीर' और 'शृङ्गार' के आलम्बन का 'ऐक्य' होने से 'विरोध' रहता है।

(२) कुछ रस ऐसे हैं, जिनका 'आश्रय एक' रहने से विरोध होता है। अर्थात् 'आश्रय' का 'ऐक्य' होने से परस्पर विरोध रहता है। जैसे—'वीर' और 'भयानक' इन दो रसों का 'एक आश्रय' में रहना सम्भव न होने से उनके 'आश्रयैक्य' के कारण विरोध रहता है।

(३) कुछ रस ऐसे हैं, जिनका नैरन्तर्य से वर्णन किये जाने पर विरोध होता है। जैसे—'शान्त' और 'शृंगार' का 'नैरन्तर्येण' वर्णन होने से विरोध होता है।

प्रस्तुत में 'शान्त' और 'शृंगार' रस के 'विरोध' की चर्चा (प्रसंग) है। किन्तु इन दोनों का विरोध तभी हो सकता है, जब इन दोनों का 'नैरन्तर्येण' (नैरन्तर्य से) वर्णन किया जाय।

किन्तु यहाँ पर इन दोनों (शान्त और शृंगार) का—'नैरन्तर्येण' (नैरन्तर्य से) वर्णन नहीं है। अतः यहाँ उनमें विरोध होने का कोई अवसर ही नहीं है, जिसका

(रस-विरोधपरिहारस्य उपायः)

(८५) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥ ६४ ॥

(आश्रयैक्य-विरोधस्य नैरन्तर्यविरोधस्य च समाधानम्)

वीर-भयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः। शान्तशृङ्गारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्। यथा—नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्'-इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः।

परिहार करने के लिए 'विनेयोन्मुखीकरण' की नवीन युक्ति (नियम) का सहारा लिया जाय। यह कहकर ध्वनिकारोक्त 'एक हेतु' का निरसन कर दिया गया।

अब 'काव्यप्रकाशकार' ध्वनिकारोक्त द्वितीय समाधान का भी खण्डन कर रहे हैं—नाऽपि काव्यशोभाकरणमिति। 'दूसरे रस' के सम्पर्कमात्र से 'काव्य' की शोभा हो भी नहीं सकती। अर्थात् 'काव्यसौन्दर्य (शोभा) का उत्पादन' रूप अन्य मार्ग बताना भी उचित नहीं है,क्योंकि 'रसान्तरादिति'। काव्यशोभा का उत्पादक अन्य रस (शान्तरस) भी हो सकता है। ध्वनिकाराभिमत—'शृंगार' की अपेक्षया 'शान्त' भी रसान्तर ही है। अनुप्रासमात्राद्वेति। अर्थात् 'मत्तांगनापांगभंग'—पद के कोमल अनुप्रासमात्र से भी 'काव्य' की शोभा का सम्पादन किया जा सकता है। अतएव चित्रकाव्य में 'अलंकार' से ही 'चारुत्व' की प्रतीति होती है।

अब रसों के विरोध परिहार का अन्य प्रकार बता रहे हैं—

(सू० ८५, कारि० ६४) आश्रयैक्ये इति। आश्रय के 'एक' रहने के कारण जहाँ 'रस विरोध'—की प्रतीति होती है, वहाँ उन 'रसों' का वर्णन 'भिन्न-भिन्न आश्रय' में करना चाहिए।

'रसान्तरेणेति'। और जहाँ 'नैरन्तर्य' के कारण 'विरोधी रस' की प्रतीति हो रही है, वहाँ उस 'विरोधी रस' को 'अन्य-अविरोधी रस' से व्यवहित कर देना चाहिए ॥ ६४ ॥

वीरभयानकयोरिति। 'वीर' और 'भयानक' रस का परस्पर विरोध 'एक आश्रय' के कारण है। अतः 'भयानक रस' का 'आश्रय' प्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिनायक बनाकर उसका वर्णन करने पर 'विरोध' का परिहार हो जाता है।

शान्त-शृङ्गारयोरिति। तथा 'शान्त' और 'शृङ्गार' रस का परस्पर विरोध 'नैरन्तर्य' के कारण है। अतः उन दो रसों के बीच में किसी अन्य रस (रसान्तर) का वर्णन कर देना चाहिए।

यथेति। जैसे—नागानन्दनाटक में 'शान्तरसप्रधान जीमूतवाहन' का 'मलयवती'

(प्रबन्धातिरिक्ते मुक्तककाव्ये रस-विरोधः तस्य च समाधानम्)

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते । यथा—

के प्रति 'अनुराग' का वर्णन करने से अर्थात् जीमूतवाहन नायक का 'शान्तरस' और 'मलयवतीनामकनायिकाविषयक' 'श्रृङ्गाररस' का वर्णन करने से 'विरोध' की आशंका होती है। किन्तु इस विरोध के परिहारार्थ 'अहो गीतम् अहो वादित्रम्' कह कर दोनों रसों के बीच में व्यंग्य 'अद्भुत रस' का 'निवेश' कर दिया गया है, जिससे 'विरोध' का परिहार हो जाता है। एवं च 'अद्भुतरस' को बीच में निविष्ट करके 'मलयवती' के प्रति 'श्रृङ्गार' का वर्णन किया गया है। अतः विरोध नहीं है।

न परं प्रबन्धे इति। यह अविरोध केवल 'प्रबन्ध' (दीर्घ काव्य में अथवा नाटक) में ही नहीं, किन्तु 'एकवाक्य' (एक ही प्रकरण रूप छोटे भाग) में भी 'रसान्तर' का व्यवधान कर देने से हो जाता है। अर्थात् वहाँ भी विरोध की आशंका दूर हो जाती है।

निष्कर्ष यह है कि 'विरोधी' एवं 'अविरोधी' रसों के विषय में 'अविरोध' के प्रकार बताकर अब केवल 'विरोधी रसों' में परस्पर होने वाले विरोध के परिहार को 'आश्रयैक्ये विरुद्धो यः'—से बताया है।

रसों में 'देश' और 'काल' के भेद से 'विरोध' दो प्रकार का हुआ करता है। 'एक आश्रय' एवं 'एक काल' में जो रस विरुद्ध हों, उनको भिन्न-भिन्न आश्रयों में एवं 'भिन्न-भिन्न कालों' में निबद्ध कर देना चाहिए तथा जिन 'रसों' का विरोध 'नैरन्तर्य' के कारण (अव्यवधान से) होता है, वहाँ उनको 'किसी अविरोधी रस' से व्यवहित करके निबद्ध करना चाहिए। 'वीर' और 'भयानक' का 'एक आश्रय' में और 'एक काल' में विरोध होता है। जिस समय जो अपनी वीरता की डींग मारता है उसी समय उसमें 'भय' का सन्निवेश नहीं करना चाहिए। यद्यपि एक व्यक्ति में भी क्वचित् इसका समावेश किया जा सकता है। जो गुरुजनो से डरता है (भयभीत रहता है) वही शत्रुओं को अपनी वीरता से प्रभावित भी करता है। तथापि वैसा वर्णन किया नहीं जाता, अतः भिन्न-भिन्न आश्रयों में ही उनका निवेश करना चाहिए। अर्थात् 'वीर' को 'नायक' में और 'भयानक' को 'प्रतिपक्षी नायक' में बताना चाहिए। 'शान्त' और 'श्रृङ्गार' में 'नैरन्तर्य' के कारण विरोध होता है। अतः उनके बीच में 'रसान्तर' का वर्णन कर देना चाहिए। इस प्रकार से विरोध परिहार (अविरोध) 'प्रबन्ध' की तरह 'एक वाक्य' में भी 'रसान्तर' का व्यवधान कर देने से हो जाता है।

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥ ३३३ ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥ ३३४ ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥ ३३५ ॥
अत्र बीभत्स-शृङ्गारयोरन्तर्वीररसो निवेशितः ।

यथेति । जैसे—भूरेणुदिग्धानिति । ताजे पारिजात पुष्पों की माला के मकरन्द से सुगन्धित वक्षःस्थल वाले एवं भूमि की धूल से सने हुए और अप्सराओं के द्वारा समालिङ्गित वक्षःस्थल वाले वीरों ने, शृगालियों के द्वारा खाने की इच्छा से दृढ़तापूर्वक दबाये हुए—॥ ३३३ ॥

सशोणितैरिति । 'चन्दनवारिसेकैः' चन्दन मिश्रित जल से सिक्त होने के कारण सुगन्धित हुए कल्पवृक्षोद्भूतपट्टवस्त्रों से देवांगनाओं के द्वारा पंखा किये जाते हुए वीरों ने मांसभक्षी गृध्रादिपक्षियों के रक्तरञ्जित हिलते हुए पंखों से जिन पर हवा की जा रही है ॥३३४॥

विमानेति । युद्ध में हत होने के पश्चात् देवत्व की प्राप्ति होने से 'विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः'—विमानों में बिछे हुए पर्यङ्कों (पलंगों) पर बैठे हुए वीरों ने अपने पास बैठी हुई स्वर्गीय वेश्याओं के द्वारा अंगुलियों के संकेतों से प्रदर्शित किये जाने वाले रणभूमि में पड़े हुए अपने मृत शरीरों को आश्चर्य से देखा ॥ ३३५ ॥

अत्र बीभत्स-शृङ्गारयोरिति । यहाँ पर 'नैरन्तर्य' के कारण विरोधी प्रतीत होनेवाले 'बीभत्स' और 'शृङ्गार' के बीच में 'वीर रस' का निवेश कर दिया गया है । उस कारण 'एक वाक्य' में भी 'विरोधी रसों' का विरोध दूर हो जाता है । निष्कर्ष यह है कि 'कर्मविशेषण'—'भूरेणुदिग्ध' इत्यादि से—'बीभत्स', और 'कर्तृविशेषण'—'नवपारिजात' इत्यादि से 'शृंगार'—इन दोनों की प्रतीति, 'निर्देशक्रम' से हो रही है । अर्थात् 'एक वाक्य' में विरोधी शृङ्गार तथा बीभत्सरस का 'नैरन्तर्य' से एकसाथ समावेश किया गया है ।

'वाक्यार्थ' की समाप्ति 'तीन श्लोकों' में हो रही है, अतः इसे 'विशेषक' कहते हैं । इन तीन श्लोकों से निर्मित 'विशेषक' का 'मुख्य वाक्य'—अन्तिम श्लोक है । ऊपर के दो श्लोकों में 'वीर' तथा 'स्वदेह' के विशेषण बताये गये हैं । अन्तिम श्लोकरूप मुख्यवाक्य में 'शृंगार' रस है । 'स्वदेहान् पतितानपश्यन्'—रणभूमि में पड़े हुए अपने मृतशरीरों को उन्होंने देखा—इस रूप में 'मृतशरीर' के जो विशेषण दिये गये हैं—वे 'बीभत्स' के व्यञ्जक हैं, और 'वीरा' के जो विशेषण हैं, वे वीररस के अभिव्यञ्जक हैं ।

(रस-विरोध-परिहारस्य अन्यनिमित्तम्)

(८६) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५ ॥

(विरुद्धरसस्मृतिरूपस्य उपनिबन्धे दोष-परिहारः)

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ ३३६ ॥

एतद् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालोक्य तद्वधूरभिदधौ । अतः पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति ।

एवं च इस एक वाक्य में 'नैरन्तर्य' से स्थिति रहने से शृंगार और बीभत्स का विरोध प्रतीत हो रहा है, किन्तु नैरन्तर्य से विरोधी 'शृंगार और बीभत्स रस' के श्लोकों के बीच में 'वीर' रस का व्यवधान हो जाने से एक वाक्य में ही उनका समावेश हो जाने पर भी विरोध नहीं है ॥ ३३५ ॥

(सूत्र ८६, कारि० ६५) स्मर्यमाण इति । 'विरोधी रस' भी (१) स्मर्यमाण-रूप में अथवा (२) 'साम्य' से विवक्षित होने में, दोषावह नहीं कहा जाता है। उसी प्रकार 'दो विरोधी रस' यदि (३) किसी तीसरे प्रधान रस के 'अंग' बन जाँय तो वे परस्पर एक-दूसरे के विरोधी नहीं होते हैं ॥६५॥

(१) स्मर्यमाण विरोधी रस का अविरोध—जैसे अयमिति । अपनी जीवित अवस्था में मेरे प्रिय पति का पूर्वानुभूत यह वही हाथ है, जो संभोग के समय कमर की करधनी को एक तरफ हटा देता था, मेरे बड़े-बड़े पुष्ट (पीन) स्तनों का मर्दन किया करता था और नाभि, ऊरु, तथा जघनों का स्पर्श किया करता था और नीवी (साड़ी की गाँठ अथवा पैजामा या सलवार का नाड़ा') को खोला करता था ॥ ३३६ ॥

एतदिति । रणभूमि में भूरिश्रवा के गिरे हुए हाथ को देखकर उसकी पत्नी कह रही है—अत्रेति । इस पद्य में 'करुणरस' की प्रधानता है, और पूर्वावस्था के शृंगार के अंगों की स्मृति होने से 'शृंगार' को भी स्मृति हो रही है । किन्तु 'स्मृत हुए शृंगार' की प्राधान्येन आस्वाद्यता न रहने से अविरोध है । यहाँ पर 'करुण'—प्रकृत होने से प्रधान है और 'शृंगार'—अप्रकृत होने से, 'हीन बल' होने के कारण 'अंग' है । एवं च रशनोत्कर्षणादि पूर्वावस्था का स्मरण, शृंगार का अंग (शृंगार का अनुभाव) होने पर भी 'करुण' को पुष्ट कर रहा है । अर्थात् 'शोच्यावस्था' में पूर्वावस्था का स्मरण 'करुण' का उद्दीपक हो गया है । एवं च यहाँ पर स्मर्यमाण 'शृंगार', 'करुण' का उद्दीपक होने से 'करुण' का अंग हो गया है (करुण का उत्कर्षक

(विरुद्धरसानां साम्यविवक्षायामविरोधिता)

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलकैर्भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥ ३३७ ॥

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा जिनस्य। यथा वापरः शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वत् एतद्दृशो मुनय इति साम्यविवक्षा।

हो गया है)। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् '१करुणरस' के साथ 'शृंगाररस' का समावेश होने पर भी दोष नहीं है ॥ ३३६ ॥

(२) 'साम्य की विवक्षा' में भी विरोधी रसों का अविरोध। जैसे—दन्तक्षतानीति। हे मुने! रुधिरमय भोजन चाहनेवाली मृगराजवधू सिंहिनी (उसी तरह मृगराजनामक राजा की अनुरक्ता रानी) ने रोमाञ्चयुक्त हुए आपके शरीर में जो दन्तक्षत किये (दाँतों से काटा), और नखक्षत किये, उसे मुनियों ने भी सस्पृह दृष्टि से देखा। अर्थात् मुनियों ने अपने मन में सोचा कि 'दूसरे के प्राणों' की रक्षा के लिए 'अपने को' समर्पित कर देने का यह सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ।

दूसरे पक्ष में (शृंगार पक्ष में) अनुरक्त राजवधू के द्वारा संभोग क्रीडा के समय किये हुए दन्तक्षत तथा नखक्षत हमें प्राप्त नहीं हो सके—यह सस्पृह (सतृष्ण) होकर मुनियों ने भी देखा ॥ ३३७ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'कामुकी' से उपभुक्त 'कामुक' के दन्तक्षत, जैसे—कामुकी के लिए आनन्ददायक (चमत्कारयुक्त) प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार 'जिन' भगवान् के शरीर पर सिंहिनी के द्वारा किये गये दन्तक्षत तथा नखक्षत उनके लिए ('जिन' भगवान् के लिए) आनन्ददायक और चमत्कारपूर्ण हैं। इसलिए 'शान्त' और 'शृंगार' की 'साम्य' से विवक्षा की गई है।

यथा वेति। अथवा जैसे कोई अन्य शृंगारी कामुक, दूसरे के दन्तक्षत आदि को देखकर स्वयं भी उनको प्राप्त करने के लिए समुत्सुक हो जाता है, उसी प्रकार 'जिन' संज्ञक भगवान् के इन दन्तक्षतादिकों को देखकर मुनिगण उन्हें प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। इस प्रकार से दोनों रसों की साम्य विवक्षा की गई है। उस कारण यहाँ पर 'शान्त' तथा 'शृंगार' रसों का परस्पर विरोध नहीं है।

प्रसूति के कारण बुभुक्षा से व्याकुल हुई सिंहिनी अपने ही बच्चे को खाने के लिए उद्यत हुई देखकर 'जिन' संज्ञक भगवान् अथवा 'बुद्ध' भगवान् स्वयं अपना ही शरीर सिंहिनी को अर्पित कर दे रहे हैं, जिससे उसकी भूख शान्त हो जाय, और उसके

(परस्पर-विरुद्धरसानाम्-एक-रसभावे अङ्गरूपेण उपस्थितौ अविरोधिता)

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥ ३३८ ॥

अपत्यों की रक्षा हो सके। उस कारण उनकी (जिन अथवा बुद्ध की) इस पद्य के द्वारा स्तुति की गई है—यह चक्रवर्ती श्री वत्सलाञ्छन भट्टाचार्य आदि अनेक व्याख्याकारों ने कहा है। और माणिक्यचन्द्र–जयन्तभट्ट आदि का कहना है कि स्वडिम्भ के भक्षणार्थ प्रवृत्त हुई सिंहिनी को अपने शरीर का समर्पण करने वाले बुद्ध की, चाटुकारी कोई कवि कर रहा है। तथा ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत के 'लोचन' में श्री अभिनवगुप्त पाद कहते हैं कि स्वकिशोरों के भक्षणार्थ प्रवृत्त होने वाली सिंहिनी के प्रति अपने शरीर को ही अर्पण करने वाले 'बोधिसत्त्व' की कोई प्रशंसा कर रहा है। प्रदीपकार का कहना है कि प्रसवजनित बुभुक्षावशात् निज अपत्य के ही भक्षणार्थ प्रवृत्त होने वाली सिंह-वधू के लिए उसके अपत्यरक्षणार्थ अपना शरीर समर्पण करने वाले 'जिन' के प्रति कोई कह रहा है। इस प्रकार से अनेक व्याख्याकारों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार उक्त पद्य की अवतरणिका प्रदर्शित की है।

ध्वन्यालोककार ने इस पद्य में "दयावीर" (वीर रस) तथा 'शृङ्गार' रस के अविरोध को बताया है। माणिक्यचन्द्र आदि व्याख्याकारों ने इस पद्य में शान्त' तथा 'शृङ्गार' रस के अविरोध को बताया है। सारबोधिनी तथा सुधासागरकार ने 'बीभत्स' तथा शृङ्गार के अविरोध को बताया है। 'जिन' भगवान् के शरीर पर 'सिंहिनी' ने किये हुए 'दन्तक्षतादि', 'बीभत्स रस' के व्यञ्जक होने पर भी 'कान्त' के किये हुए 'दन्तक्षतादि' के समान वर्णित होने के कारण उसी के उत्कर्ष को बता रहे हैं। अतः 'साम्य विवक्षा' के कारण 'शान्त' अथवा 'बीभत्स' के साथ शृङ्गार के अनुभावों का वर्णन दोषजनक नहीं है।

(३) प्रधानभूत तृतीय रस के 'अङ्गभूत रसों' में अविरोध—किसी एक 'अंगी रस' (प्रधान रस) के प्रति परस्पर विरोधी भी दो व्यक्तियों में (दो रसों में) 'अंगता' रहने पर उनमें विरोध नहीं होता है। उस विरोध के दूर होने के दो प्रकार हैं—(१) जैसे एक राजा के दो सेनापति परस्पर विरोधी होते हुए भी 'राजकार्य' में दोनों की कक्षा समान होने से उनका विरोध नहीं रहता है। (२) जैसे राजा के सेनापति एवं उस सेनापति के 'भृत्य' में कोई विरोध नहीं रहता है, क्योंकि 'भृत्य' उस 'सेनापति' का अंग है।

इन दो प्रकारों में से पहले का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—क्रामन्त्यः इति।

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते। तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः। यथा—

हे राजन्! आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ, जिनकी दर्भ के अंकुरों से क्षत हुई कोमल अंगुलियों से रुधिर बह कर गिर रहा है, जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानों महावर (आलता) से रञ्जित किये पैरों से दर्भमयी भूमि को हवन (होम) की वेदी के चारों ओर परिस्तृत दर्भवाली भूमि को वे लांघ रही हों)। दर्भजनित क्षत से होने वाली पीडा के कारण नीचे गिरने वाले आँसुओं से जिनके मुख धुल गये हैं, (एवं होम के धुएँ से निकलने वालें बाष्पों से जिनके मुख (आनन) धुले जा रहे हैं)। शत्रु कहीं अकस्मात् आ न जाय, हम लोगों को कहीं देख न लें, इस भय से वे स्त्रियाँ डरी हुई हैं। (वेदी के चारों तरफ चलते समय कहीं गिर न जाँय, इस डर से डर रही हैं)। अतएव पति ने अपने हाथ से जिनके हाथों को पकड़ रखा है, अर्थात् (पति के हाथ में अपने हाथ को दे रखा है)। उससे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों वे स्त्रियाँ पुनः बिवाह करने के लिए उद्यत हो रहीं हैं। अतएव दावाग्नि के चारों तरफ वे भ्रमण कर रही हैं ॥ ३३८ ॥

अत्रेति। यहाँ पर किसी चापलूस व्यक्ति (खुशामती व्यक्ति) की 'राजा' में 'रति' प्रतीत हो रही है। उस 'रति' में 'करुण रस' की तरह 'शृङ्गार रस' भी 'अंग' है। अतः 'करुण' और 'शृङ्गार' में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त प्रकार से रस के (१) स्मर्यमाण रूप में वर्णन के, तथा (२) साम्य-प्रदर्शन के द्वारा किये गये वर्णन के 'अविरोध' के उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है।

अब 'प्रस्तुत पद्य' के द्वारा 'रसों के विरोध परिहार' का तीसरा प्रकार बताया जा रहा है। इस तीसरे प्रकार में विरोधी रसों में से कोई 'प्रधान रस' नहीं रहता है। ये दोनों 'विरोधी रस' किसी तीसरे 'प्रधानभूत रस' के अंगभूत होकर स्थित रहते हैं। उसका उदाहरण—'क्रामन्त्यः'—दिया गया है। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में यह पद्य दिया गया है। किसी राजा की स्तुति करते हुए कवि ने 'राजा' से कहा है—आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ पुनः विवाह के लिए तत्पर हुई-सी दावाग्नि की परिक्रमा कर रही हैं, जैसे बिवाह के समय सप्तपदी के फेरे किये जाते हैं। वही अवस्था इस समय आपके शत्रुओं की स्त्रियों की हो रही है।

यह वर्णन शत्रुओं की स्त्रियों की दुर्दशा का है, अतः 'करुण रस' है। और उनके पुनः विवाह का वर्णन होने से 'शृङ्गार रस' की भी प्रतीति हो रही है। इन 'दोनों रसों' का आलम्बन विभाव—'शत्रु-स्त्रियाँ' हैं। 'करुण' तथा 'शृङ्गार' का विरोध 'आलम्बन के ऐक्य' में हुआ करता है। परन्तु यहाँ पर इन दोनों में से

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ ३३९ ॥

इत्यत्र एहीति क्रीडन्ति गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमन-गमनयोर्न विरोधः।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शांभवो वः शराग्निः ॥ ३४० ॥

काव्य का 'प्रधान रस' कोई भी नहीं है। कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' ही यहाँ प्रधान है, और 'ये दोनों' उसके 'अंग' हैं। अतः 'इन दोनों' में परस्पर विरोध नहीं है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि 'करुण' एवं 'शृङ्गार' दोनों परस्पर विरोधी हैं, तथापि 'प्रधान' के साक्षात् अंग बन जाने के कारण उनमें कोई विरोध नहीं है।

कोई 'दो रस' परस्पर विरोधी रहने पर भी किसी 'एक प्रधान' के अंग होने से अविरोध का दृष्टान्त बता रहे हैं।

शंका—'विरुद्ध स्वभाव वाले दो रस; भले ही किसी 'प्रधान' के अंग बन जाँय, तथापि वे अपने-अपने स्वभाव को कैसे त्याग सकेंगे ?

समाधान—उक्त आशंका का परिहार 'एक दृष्टान्त' देकर कर रहे हैं—एहीति। यहाँ आओ। अच्छा, अब तुम जाओ। अच्छा, बैठो। नहीं-नहीं, अब तुम यहाँ से उठो। अच्छा कहो क्या कहना है ? चुप रहो, मत बोलो। इस प्रकार धनी आदमी आशारूपी ग्रहों से ग्रस्त रहने वाले याचक लोगों के साथ खेलते रहते हैं ॥ ३३९ ॥

इत्यत्रेति। यहाँ 'आओ'—यह कहकर क्रीडा करते हैं और 'जाओ'—यह कहकर भी क्रीडा करते हैं। इस प्रकार 'क्रीडा' के अंगभूत 'गमन' 'आगमन' में कोई विरोध नहीं होता है ॥ ३३९ ॥

तृतीय प्रकार के द्वितीय भेद का उदाहरण दे रहे हैं—सेनापति एवं उसके भृत्य के समान दूसरे के अंग बन जाने से निर्विरोध हुए दो रस व्यक्तियों का उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं। जैसे—'क्षिप्तो हस्तावलग्न' इति।

त्रिपुरदाह के समय भगवान् शंभु के शर (बाण) से उत्पन्न हुआ वह अग्नि, तुम्हारे पापों (दुरितों) को जलाकर भस्म कर दे। जिस अग्नि को त्रिपुरासुर की कामिनियाँ (स्त्रियाँ) तत्काल कृतापराध (तत्कालकृत पराङ्गनोपभोग रूप अपराध

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम् तस्य तु श्रृङ्गारः तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गतैव। अथवा प्राग् यथा कामुक आचरतिस्म तथा शराग्निरिति श्रृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते। उक्तं हि—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥ इति।

करनेवाले) कामुकपुरुष की तरह हाथ से छूने पर (स्पर्श करने पर) झटक देती हैं। जबरन (हठात्) साड़ी के पल्ले को पकड़ लेने पर मार देती हैं। चुम्बनार्थं केशों को पकड़ते समय दूर हटा देती हैं। चरणों में गिरने पर संभ्रम (घबराहट) के कारण प्रेमभरी (आदरपूर्ण) दृष्टि से देखती ही नहीं हैं। आलिंगन करने का प्रयत्न करने पर अश्रुपूर्ण नेत्र-कमलों (नेत्रों) से अर्थात् रोती हुईं वे स्त्रियाँ उसे तिरस्कृत कर देती हैं ॥ ३४० ॥

इत्यत्रेति। यहाँ पर त्रिपुरारि शम्भु के 'प्रतापातिशय' का त्रिपुरासुर की युवतियों की दुर्दशा से अभिव्यञ्जित 'करुणरस'—अंग बन गया है, और 'कामीवार्द्रापराधः' से अभिव्यञ्जित 'श्रृङ्गाररस' पूर्वनिर्दिष्ट उस 'करुणरस' का 'अंग' हो गया है।

यद्यपि 'श्रृङ्गार' की अपेक्षा 'करुणरस' यहाँ प्रधान (अंगी) है, तथापि 'करुणरस' में 'श्रृङ्गाररस' विश्रान्त (प्रकर्ष-पर्यवसान) नहीं हुआ है। उस कारण वह 'श्रृङ्गार' भी त्रिपुरारि शिव के 'प्रतापातिशय' का 'अंग' ही है। उक्त अर्थ में हेतु दे रहे हैं— अथवेति। 'यतः' के अर्थ में यहाँ पर 'अथवा' अव्यय है। क्योंकि 'अव्ययानामनेकार्थत्वम्'— यह न्याय है। एवं च 'करुण' में 'श्रृङ्गार' की विश्रान्ति न होने में 'अथवा' कहकर 'हेतु' को बताया है। 'अथवा'—यह अव्यय-समुदाय 'यस्मात्' के अर्थ में है। जैसे— 'अथवा श्रेयसि केन तृप्यते'—(माघ १। २९)।

अथवा—पहले कभी कोई कामुकपुरुष जैसा आचरण किया करता था, वैसे ही शिव-का 'शराग्नि' भी आचरण कर रहा है, उस कारण श्रृङ्गार से पुष्ट हुए करुणरस के द्वारा त्रिपुरारि का प्रतापातिशय रूप मुख्य अर्थ ही परिपुष्ट किया जा रहा है। यद्यपि 'श्रृङ्गार' यहाँ पर 'अंगांग' है अर्थात् शिव के प्रतापातिशय का अंगभूत 'करुण' और उस अंगभूत 'करुण' का अंग—'श्रृङ्गार' है, तथापि वह प्रधानभूत 'प्रतापातिशय' का 'अंग' है, अर्थात्—'प्रतापातिशय' रूप 'मुख्यार्थ' का पोषक (उत्कर्षाधायक) है। इस कथन का समर्थन 'एक न्याय' से भी हो रहा है, उसे बता रहे हैं—उक्तं हीति। कहा भी है—

गुण इति। 'गुण' अर्थात् अंग = अप्रधान, (विशेषण), जब 'कृतात्मसंस्कार' अर्थात् परिपोषणरूप संस्कार से युक्त हो जाता है, तब वह परिपुष्ट होकर प्रधान (त्रिपुरारि–प्रतापातिशयरूप मुख्य) का 'अंग' बन जाता है। इस रीति से प्रधान (रस) के संस्कार में उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है।

'स्वयं नष्टः परान् नाशयति'—अर्थात् स्वयं तो नष्ट (असमर्थ) है ही, अर्थात् स्वयं अयोग्य होने के कारण, 'कार्य' करने में असमर्थ है, उसे यदि किसी जगह नियुक्त कर दिया जाय तो वह दूसरों को भी अपने जैसा ही अयोग्य बना देता है। किन्तु भाग्य-बशात् यदि वह 'आत्मसंस्कार' से सम्पन्न हो जाता है अर्थात् 'योग्यता' प्राप्त कर लेता है और कार्य-सम्पादन में समर्थ हो जाता है, तो उसकी पहुँच 'प्रधान' तक हो जाती है। और आत्मसंस्कार के कारण 'अंगी' अर्थात् प्रधान का महान् उपकारक हो जाता है एवं च इस न्याय से शृङ्गार के द्वारा उपकृत हुआ 'करुण' उपकार-विशेष का आधायक होने से शृङ्गार का भी उपकारक बनकर 'प्रतापातिशय' का 'अंग' बन जाता है। प्रदीपकार ने भी यही बात कही है—"न च अंगांगस्य (प्रभावातिशयाङ्गकरुणाङ्गस्य शृङ्गारस्य) कथमङ्गत्वम् (प्रभावातिशयाङ्गत्वम्) इति वाच्यम्, तदुपकृतस्य (शृङ्गारोपकृतस्य) अंगस्य (करुणस्य), उपकारविशेषाधायकतया तस्यापि (शृङ्गारस्यापि) उपकारकत्वात्।

पूर्वोक्त "दन्तक्षतानि" से इस "क्षिप्तो हस्तावलग्नः" उदाहरण में यही भेद है कि वहाँ पर (दन्तक्षतानि में) 'प्रतीतयोः साम्यम्'—प्रतीतहुओं का साम्य बताया गया है, और यहाँ पर (क्षिप्तो हस्तावलग्नः में) 'कामुकीव' कहकर "साम्येनैव प्रतीतिः"-साम्य (समानता) को प्राप्त हुओं की ही प्रतीति हो रही है। इस सन्दर्भ में सरस्वतीतीर्थ का कहना है कि "ननु गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्"—(जै० सू० ३।१।२२) इस न्याय से 'करुण' और 'शृङ्गार'—इन दो में परस्पर 'अंगांगिभाव' कैसे हो सकेगा? अर्थात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि परस्पर 'अंगांगिभाव' से सम्बद्ध हुए दो रसों को 'प्रकृत रस' के उत्कर्षाधाय के रूप में उपस्थित करने में मीमांसाशास्त्र की युक्ति का उपयोग किया गया है। मीमांसा की 'गुणानां च' इस युक्ति का अभिप्राय यह है कि दो अंगभूत पदार्थों में उनकी परस्पर समानता (साम्य) के कारण उन दोनों में 'अंगांगिभाव-सम्बन्ध' का होना संभव नहीं है।

इस आशंका के समाधानार्थ 'उक्तं हि'—ग्रन्थ दिया गया है। अभिप्राय यह है कि "गुणानां च"—इस न्याय का "गुणः कृतात्म"-यह न्याय 'अपवाद' है। किन्तु यह नियम तो औत्सर्गिक है अर्थात् सामान्य विषयक (सामान्य) है। और 'गुणः कृतात्म-संस्कारः'-यह नियम पूर्वोक्त सामान्य नियम का अपवादक है। अतः "प्रकल्प्य चापवाद-विषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते"—इस न्याय से 'अपवादविषय' को छोड़कर (त्यागकर) 'उत्सर्ग' की प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः जहाँ पर दोनों ही अंगों का 'प्रधान' के प्रति साक्षात् 'अंगत्व' रहता है, वहीं पर 'गुणानां च'—न्याय की प्रवृत्ति होती है। यहाँ तो 'प्रधान' के प्रति 'शृङ्गार' परम्परया 'अंग' बन रहा है, साक्षात् नहीं। अतः एक 'गुण' भी दूसरे गुण से सम्बद्ध होकर प्रधान का उत्कर्ष कर सकता है।

(रसस्य विरोधाविरोधयोः वास्तविकोऽभिप्रायः)

प्राक्प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते ।

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः ॥ ७ ॥

शंका—'रस' का स्वरूप तो 'विगलितवेद्यान्तरत्व' अर्थात् वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यत्व है । अतः एक ही समय में 'द्वितीय' का अभाव रहने से एक 'रस' का दूसरे 'रस' के साथ विरोध कैसे हो सकता है ? तथा 'अंगांगिभाव' भी कैसे हो सकता है ? एवं च पूर्वोक्त सम्पूर्ण कथन असम्बद्ध ही है ।

समाधान—उक्त आशंका के समाधानार्थ 'प्राक् प्रतिपादितस्य' ग्रन्थ दिया जा रहा है—प्रागिति । पूर्व चतुर्थ उल्लास में 'लोके प्रमदादिभिः' से लेकर 'अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः'—तक के ग्रन्थ से प्रतिपादित मुख्य रस का दूसरे रस के साथ न 'विरोध' ही हो सकता है, और न 'अंगांगिभाव' ही होता है। उस कारण इस प्रकरण में 'रस्यते,आस्वाद्यते' इति व्युत्पत्त्या अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाता है—इस व्युत्पत्ति से 'रस' शब्द यहाँ पर 'स्थायीभाव' का वाचक है । क्योंकि किसी भी रस के अनुभवकाल में उसके अतिरिक्त अन्य किसी का भान नहीं होता है—इस सिद्धान्त के अनुसार जब एक साथ दो रसों की अनुभूति ही नहीं हो सकती, तब उनका विरोध अथवा अविरोध या अंगांगिभाव का होना संभव ही कहाँ है ? अतः यहाँ पर 'रस' शब्द से 'मुख्य रसों' का ग्रहण न करके केवल 'स्थायीभावों' का ग्रहण करना चाहिए । 'रस्यते आस्वाद्यते' इति 'रसः—इस व्युत्पत्ति से 'रस' शब्द 'स्थायीभाव' का वाचक है ।

किञ्च—'रसो वै सः'—श्रुति के अनुसार 'रस' को 'आनन्द' रूप माना जाता है । तब 'एक आनन्दमय' का 'दूसरे 'आनन्दमय' के साथ विरोध होना संभव ही नहीं है ।

किञ्च—'रस' तभी कहलाता है, जब वह 'प्रधान' होता है । ऐसी स्थिति में उसे (रस को) प्रधान भी कहना और 'अंग' भी कहना उचित नहीं है । अतः उन 'रसों' में अंगांगिभाव को बताना भी उचित नहीं है । इसलिए यहाँ पर (प्रकृत सन्दर्भ में) 'रस' शब्द से 'स्थायी भावों' को समझना चाहिए । एवं च मम्मटभट्ट के अनुसार यहाँ पर 'रसविरोध' और 'रस का अविरोध'—कहने का आशय, 'स्थायी का विरोध' और 'स्थायी का अविरोध' ही समझना चाहिए—यह एक मत है ।

कुछ लोगों के मत में 'एक रस', 'दूसरे रस' का व्यभिचारी होता है—इनके कहने का आशय यह है कि चित्तनिष्ठ बहुत-से भावों (चित्तवृत्तियों) के मध्य में 'जिस भाव' का (चित्तवृत्ति का) रूप, 'बहु' अर्थात् 'वाक्य-व्यापक' अथवा 'प्रबन्धव्यापक' हो जाय, उस 'भाव' को 'स्थायी' कहते हैं, और वही 'रस' है । क्योंकि 'स्थाय्येव रसो भवेत्'—इस सिद्धान्त के अनुसार 'स्थायी' ही 'रस' होता है और जिन भावों (चित्तवृत्तियों) का रूप 'बहु' अर्थात् वाक्यव्यापक अथवा प्रबन्धव्यापक नहीं होता,

उन 'भावों' को 'संचारी' (व्यभिचारी) कहते हैं। अतः आधिकारिक इतिवृत्तव्याप्त 'चित्तवृत्ति' अवश्य ही 'स्थायी' होती है और 'व्यभिचारीभाव' का उसके साथ कोई विरोध भी नहीं है। इन 'रसों' में कोई 'रस' स्थायी और कोई 'रस' व्यभिचारी होते हैं।

नाटचशास्त्र में कहा है—

"बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥
रसान्तरेष्वपि रसा भवन्ति व्यभिचारिणः।
तथाहि— हासः शृङ्गारे रतिः शान्ते च दृश्यते॥
क्रोधो वीरे भयं शोके जुगुप्सा च भयानके।
उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणः॥"

यह भरत की उक्ति है। 'अयं स रशनोत्कर्षी'—में 'रत्यादि' का स्थायित्व भी नहीं है, तथापि किञ्चित्प्राधान्य की विवक्षा से 'स्थायित्व' का व्यवहार किया गया है—यह उद्योतकार ने कहा है।

विरुद्ध रस का स्मर्यमाणरूप में वर्णन करके प्रकृत रस का परिपोष तथा साम्य। विवक्षा करके विरुद्ध रसों का अविरोध, तथा दो परस्पर विरुद्ध रसों का समावेश अंगी (प्रधान) रस के उपकारक के रूप में करके—'रसों' के अविरोध को ग्रन्थकार के द्वारा बताने में ध्वनिकार आनन्दवर्धन ही उनके मार्गप्रदर्शक हैं॥

॥ इति मुसलगाँवकरोपनामक-श्रीगजाननशास्त्रिविरचितायां
सविवरणायां रहस्यबोधिन्यां दोषदर्शनो-
नाम सप्तम उल्लासः॥ ७॥

अथाऽष्टम उल्लासः

एवं दोषानुक्त्वा गुणालङ्कारविवेकमाह--

(गुणाऽलङ्कारयोर्वैधर्म्यम्)

(८७) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ६६ ॥

पूर्वोत्तर उल्लासों की संगति बताने के लिए वृत्तिकार कहते हैं–एवं दोषानुक्त्वेति। सप्तम उल्लास में दोषों का निरूपण किया गया। अब "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"—इस प्रकार प्रथम उल्लास में कहे गये काव्यलक्षण में कथित उद्देशक्रम के अनुसार 'गुण' और 'अलङ्कार' का वैधर्म्य इस अष्टम उल्लास में बता रहे हैं। अर्थात् 'गुण' और 'अलङ्कार' में भेद बता रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रथम उल्लास में प्रतिपादित काव्यलक्षण में 'अदोषौ' और 'सगुणौ' ये विशेषण, 'शब्दार्थौ' के दिये गये हैं। उसी क्रम के अनुसार पिछले सप्तम उल्लास में 'दोषों' के बारे में पर्याप्त विवेचन किया गया। अब इस अष्टम उल्लास में काव्यलक्षणगत द्वितीय विशेषण को ध्यान में रखकर 'गुणों' का विवेचन किया जा रहा है।

(सूत्र ८७, कारि० ६६) ये रसस्येति। जैसे 'शौर्यादि' धर्म 'आत्मा' के होते हैं, उसी तरह 'काव्य' के आत्मस्थानापन्न 'प्रधान रस' के जो 'अपरिहार्य' और 'उत्कर्षाधायक' धर्म होते हैं, और जिनकी स्थिति अचल होती है, वे ही 'गुण' कहे जाते हैं ॥६६॥

आत्मन एवेति। जैसे—'शौर्य आदि धर्म' (गुण), आत्मा (जीवात्मा) के ही होते हैं, 'शरीर' (आकार) के नहीं होते, उसी प्रकार 'माधुर्य' आदि (माधुर्य, ओज, प्रसाद) गुण रस के ही धर्म (गुण) होते हैं, 'वर्णों' के नहीं। परन्तु कहीं-कहीं 'शौर्य' आदि जो 'आत्मगुण' हैं, उनके योग्य 'शरीर' (आकार) की 'लम्बाई-चौड़ाई' (महत्त्व) को देखकर 'आकार एव अस्य शूरः—इसका आकार (शरीर) ही शूर-वीर है—यह व्यवहार होता है, और अन्यत्र 'अशूर' में भी केवल लम्बी-चौड़ी आकृति (आकार) को देखकर ही यह 'शूर' है—यह व्यवहार लोग किया करते हैं। तथा कहीं-कहीं 'शूर' को भी केवल उसके छोटे-से शरीर को देखकर ही उसे 'अशूर' (यह डरपोक है, शूर नहीं है) समझने का 'भ्रम' लोगों को होता रहता है। अर्थात् तत्त्वज्ञानियों को तो 'विश्रान्त प्रतीति होती है, किन्तु भ्रान्त लोगों को 'अविश्रान्त प्रतीति' होती रहती है, उस कारण वे भ्रान्तलोग 'शूर' को भी 'अशूर' कहा करते हैं।

तद्वदिति। उसी तरह 'रस' के धर्मभूत 'माधुर्यादि गुणों' के अभिव्यञ्जक 'सुकुमार' 'कठोर' आदि 'वर्णों' को ही 'मधुर' (माधुर्यगुण से युक्त), 'ओजस्वी'(ओजोगुण से युक्त) कह देते हैं और कहीं 'रस' के अंगभूत 'अमधुर' आदि वर्णों की केवल 'सुकुमारता'

आदि को देखकर 'माधुर्य' आदि का व्यवहार करते हैं और कहीं 'रस' के अंगभूत 'मधुर' आदि वर्णों की 'असुकुमारता' (कठोरता) देखकर रस की मर्यादा के ज्ञान से रहित व्यक्ति (रसपर्यन्त प्रतीतिवन्ध्य व्यक्ति) अर्थात् भ्रान्तव्यक्ति, उनमे 'अमाधुर्य' आदि को कहा करते हैं। अतः यह ध्यान में रखना चाहिए, अर्थात् भूलना नहीं चाहिए कि वस्तुतः 'माधुर्य' आदि 'गुण' रस के ही धर्म हैं। वे 'माधुर्यादिगुण' अपने उचित वर्णों' से अभिव्यक्त हुआ करते हैं। वे माधुर्यादि गुण, केवल 'वर्णों' के आश्रित नहीं हुआ करते। यथेति। ये 'वर्ण' किस प्रकार उन 'माधुर्यादि गुणों' के व्यञ्जक होते हैं, उसका 'उदाहरण' हम आगे बतायेंगे ॥६६॥

श्रीमम्मटभट्ट के अनुसार 'गुण' के लक्षण में 'रसोत्कर्षकत्व' तथा 'रसनिष्ठत्व'—ये 'दो धर्म' समाविष्ट हैं। अतः गुण के ये दो लक्षण निष्पन्न हुए—(१) 'रसोत्कर्षकत्वे सति रसाऽव्यभिचारित्वम्' और (२) 'अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वम्' ये दोनों लक्षण 'गुण' के हैं।

'अलंकारों' में उक्त दोनों बातें नहीं हैं। 'रस' के न रहने पर भी 'शब्दालंकार' की स्थिति काव्य में रहती है। अतः 'गुणों' में 'रसाऽव्यभिचारित्व' नहीं रहा। और 'अव्यभिचारेण' वे 'गुण','रस' के उपकारक भी नहीं हुआ करते। उस कारण 'अलंकार' में उक्त 'गुणलक्षणों' की अतिव्याप्ति नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जो 'रस' के धर्म नहीं हैं—वे 'अलंकार हैं। शब्दालंकार 'शब्द' के और 'अर्थालंकार' 'अर्थ' के धर्म होते हैं।

'शौर्यादि'–आत्मा के ही धर्म होते हैं, आकार के नहीं, उसी तरह जो 'रस' के ही धर्म होते हैं, 'वर्णों' के नहीं, उन्हीं को 'माधुर्यादिगुण' कहा गया है।

शंका—काव्यलक्षण को देखते हुए यहाँ 'गुण' का निरूपण करना ही उचित है, न कि 'गुण' और 'अलंकार' में भेद बताना। तब ग्रन्थकार यहाँ पर 'गुण' का निरूपण न करके 'गुण' और 'अलंकार' में भेद क्यों बता रहे हैं ?

समाधान—उपर्युक्त आशंका यद्यपि आपाततः उचित प्रतीत हो रही है, तथापि 'भेद' को बताये बिना 'गुण' तथा 'अलंकार' का बताना संगत नहीं होगा। दोनों में से किसी एक के बता देने से ही चरितार्थता हो सकती है। अतः उसका विवेचन करना आवश्यक है।

किञ्च—गुण तथा अलंकारों के भेद के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का वैमत्य है। भामह के 'काव्यालंकार' पर अभेदवादी भट्टोद्भट्ट ने 'भामहविवरण' नाम से व्याख्या लिखी है। उसमें भट्टोद्भट्ट ने कहा है कि जो लोग गुण और अलंकार में भेद की कल्पना करते हैं—वह मिथ्या है। उनके (भट्टोद्भट्ट के) मत में 'गुण' और 'अलंकारों' में कोई भेद नहीं है।

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । क्वचित्त् शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि विततार्कृतित्वमात्रेण 'शूर' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवह-

लौकिक गुण तथा अलंकारों में तो यह भेद बताया जा सकता है कि 'हार' आदि अलंकारों का 'शरीर' के साथ 'संयोग' सम्बन्ध होता है और 'शौर्यादि' गुणों का 'आत्मा' के साथ 'समवाय' सम्बन्ध रहता है, संयोग' सम्बन्ध नहीं । उस कारण लौकिक 'गुण' तथा 'अलंकार' में भिन्नता (भेद) मानी जा सकती है ।

किन्तु काव्य में तो 'माधुर्य', 'ओज' आदि गुण तथा 'अनुप्रास' 'उपमा' आदि अलंकार दोनों ही 'समवाय' सम्बन्ध से रहते हैं । इसलिए काव्य में उनके भेद को बताना संगत नहीं है । यही बात भट्टोद्भट्ट के शब्दों में इस प्रकार है—"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनां अनुप्रासो मादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः"। एवं च भट्टोद्भट्ट के अनुसार 'गुण' और 'अलंकार'—में कोई भेद नहीं है । उनमें 'भेद' बताना भेडचाल मात्र (गुड्डलिका-प्रवाह) है। अतः भट्टोद्भट्ट का मत 'अभेदवादी' है ।

भेदवादी वामन—गुण और अलंकार के भेदाभेद के सन्दर्भ में काव्यालंकार सूत्र के रचयिता वामन का मत भेदवादी है । 'गुण' तथा 'अलंकार'-दोनों में वामन के विचार से भिन्नता है । उनका कहना है कि 'जो धर्म, काव्य की शोभा के उत्पादक होते हैं, उन्हें 'गुण' कहा जाता है । अर्थात् शब्द अथवा अर्थ के जो धर्म, काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं, उन्हें 'गुण' शब्द से कहा जाता है, और वे 'गुण' 'ओज', 'प्रसाद' आदि ही होते हैं । 'यमक' आदि शब्दालंकार और 'उपमा' आदि अर्थालंकार काव्य की शोभा के उत्पादक न होने के कारण 'गुण' नहीं कहे जाते । क्योंकि 'ओज-प्रसाद' आदि गुणों के न रहने पर केवल 'यमक' अथवा 'उपमा' आदि अलंकारों से—'काव्य' की शोभा (सौन्दर्य) नहीं होती है, किन्तु केवल 'ओज-प्रसाद' आदि गुण के रहने मात्र से काव्य में शोभा आ जाती है, भले ही यमक-उपमा आदि अलंकार न हों । एवं च अलंकार के बिना भी केवल 'ओज-प्रसाद' आदि के रहने मात्र से ही काव्य की शोभा हो जाती है। अतः काव्य के शोभाधायक होने से ओज-प्रसादादिकों को ही 'गुण' शब्द से कहा जाता है ।

'गुणों' के कारण उत्पन्न हुई काव्य-शोभा को वृद्धिगत करने वाले 'धर्मों' को 'अलंकार' शब्द से कहा जाता है । जैसे युवती स्त्री के सौन्दर्यादि गुणों के रहने पर ही 'अलंकार' (आभूषण), उसकी शोभा को बढ़ाते हैं । और शारीरिक सौन्दर्य के न रहने

पर धारण किये हुए सुन्दर अलंकार भी व्यर्थ हो जाते हैं, अर्थात् भारभूत होते हैं। वे अलंकार, उसके सौन्दर्य के न उत्पादक होते हैं और न वर्धक ही होते हैं। उसी प्रकार काव्य में 'ओज-प्रसादादि गुणों' के न रहने पर 'यमक-उपमा' आदि अलंकार उसके शोभावर्धक नहीं हो पाते।

किञ्च—गुण और अलंकार में यह भी एक और भेद है कि 'गुण' का काव्य में होना अपरिहार्य है (आवश्यक है) किन्तु 'अलंकार' का होना अपरिहार्य नहीं है, अर्थात् आवश्यक नहीं है। काव्य में 'अलंकार' के न होने पर भी उसे 'काव्य' शब्द से कहा जा सकता है। किन्तु काव्य में यदि 'गुण' न हो तो उसे 'काव्य' ही नहीं कहा जाता। इसी बात को भेदवादी वामन ने अपनी शब्दावली में इस प्रकार कहा है—

"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः"—(काव्यालङ्कार—३।१।१-२)। ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणाः। ते च ओजःप्रसादादयः। न च यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजःप्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति ॥ १ ॥ 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'—(का० सू० ३।१।२)। तस्याः काव्यशोभायाः अतिशयस्तदतिशयः, तस्य हेतवः। तु शब्दो व्यतिरेके। अलंकाराश्च यमकोपमादयः। अत्र श्लोकौ—

"युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्करणविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥

"पूर्वे नित्याः"—(३।१।३)।

पूर्वे गुणा नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।

काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले 'धर्मों' को 'गुण' कहते हैं। अर्थात् 'शब्द' अथवा 'अर्थ' के जो 'धर्म' काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं उन्हें 'गुण' शब्द से कहा जाता है और वे 'गुण'—ओज, प्रसाद आदि ही होते हैं। 'यमक' आदि शब्दालङ्कार तथा 'उपमा' आदि 'अर्थालङ्कार' काव्य की शोभा को उत्पन्न न कर सकने के कारण उन्हें 'गुण' शब्द से नहीं कहा जाता। क्योंकि 'प्रसादादि' गुणों के न होने पर केवल 'यमक' अथवा 'उपमा' आदि अलङ्कार काव्य की शोभा को उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु 'ओज, प्रसाद' आदि गुण, 'यमक, उपमा' आदि अलंकारों के बिना भी 'काव्य' की शोभा को उत्पन्न कर देते हैं। अतः उन्हें ही 'गुण' शब्द से कहा जा-सकता है।

रन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति। अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। यथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते।

उस काव्यशोभा को वृद्धिगत करने वाले 'धर्मों' को 'अलङ्कार' शब्द से कहा जाता है। जैसे युवती स्त्री में 'सौन्दर्यादि' गुणों के रहने पर ही 'अलङ्कार' उसकी शोभा को और अधिक वृद्धिगत कर पाते हैं। यदि युवती में शारीरिक सौन्दर्य न हो तो, पहने हुए सुन्दर अलङ्कार भी व्यर्थ हो जाते हैं, वे उसके सौन्दर्य को वृद्धिगत नहीं कर पाते। उसी प्रकार काव्य में 'ओज, प्रसाद' आदि गुणों के न रहने पर 'यमक–उपमा' आदि अलङ्कार उसके शोभावर्धक नहीं हो पाते।

'गुण' तथा 'अलङ्कार' का एक भेद और भी है। 'गुण' नित्य (अपरिहार्य) हैं, किन्तु 'अलंकार' का होना 'अपरिहार्य' (नित्य) नहीं है। अर्थात् काव्य में 'अलंकारों' के बिना भी काम चल सकता है, यानी काव्य के काव्यत्व की हानि नहीं होती, उसे 'काव्य' शब्द से तो कहा ही जाता है, परन्तु 'गुणों' के न रहने पर उसमें 'काव्य' शब्द का व्यवहार नहीं किया जाता—यह 'मत' (उक्त कथन) 'वामन' का है।

इसी मत को आधार मान कर श्री मम्मट भट्ट ने भी अपने काव्यलक्षण में 'सगुणौ' कह कर काव्य में 'गुणों' की 'अपरिहार्यता' को सूचित किया है, किन्तु 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'—कह कर 'अलंकारों' की 'अपरिहार्यता' के अभाव को सूचित किया है। एवं च वामन के मत के अनुसार 'गुण' तथा अलङ्कार में दो प्रकार से भिन्नता बताई गई है। (१) काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्मों को 'गुण' कहते हैं, और गुणों के द्वारा उत्पन्न की गई उस काव्यशोभा को वृद्धिगत करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं। एवं च 'गुण' तो 'काव्य' के 'स्वरूपाधायक' धर्म हैं, और 'अलङ्कार' उसके 'उत्कर्षाधायक' धर्म हैं। (२) 'काव्य' में 'गुणों' का होना 'अपरिहार्य' है। किन्तु 'अलङ्कारों' का होना 'अपरिहार्य' (आवश्यक) नहीं है।

भेदवादी आनन्दवर्धन का मत—उद्भटभट्ट तथा वामन के पूर्वोक्त मतों से भिन्न ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी 'गुण' तथा 'अलङ्कार' के भेद के विषय में अपना मत उपस्थित किया है। गुण तथा अलङ्कार के भेद को बताते हुए वे कहते हैं—

"तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्"॥

(अलङ्कारः शब्दार्थशोभाधायकः)

(८८) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

काव्य के आत्मस्थानापन्न रसादिरूप ध्वनि के आश्रित रहने वाले 'धर्मों' को 'गुण' कहते हैं। और 'काव्य' के अंगभूत 'शब्द' तथा 'अर्थ' के जो धर्म होते हैं, उनको 'अलङ्कार' कहते हैं। एवं च आनन्दवर्धन ने 'गुणों' को 'रस' के आश्रित माना है, और 'अलङ्कारों' को 'शब्द' तथा 'अर्थ' के आश्रित माना है। यही 'गुण' और 'अलङ्कार' में भेद है।

श्रीमम्मटभट्ट का मत—भट्टोद्भट, वामन और आनन्दवर्धन के मतों में से वामन और आनन्दवर्धन के मतों का आधार लेकर श्री मम्मट भट्ट ने अपने मत को प्रकट किया है। अभेदवादी—'भट्टोद्भट्ट' के मत का तो 'मम्मट' ने पूर्णतया खण्डन कर दिया है। वामन के मत में से 'गुणों' के शोभाजनकत्व, अलङ्कारों के शोभा-वर्धकत्वविषयक विचार को मम्मट ने त्याग दिया है। मम्मट ने गुणों' को 'शोभा-जनक' न मानकर 'उत्कर्ष हेतु' ही कहा है।

वामन के द्वारा कही गई 'गुणों' की 'अपरिहार्यता' को मम्मट ने स्वीकार कर लिया है। तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की बताई गुणों की 'रसधर्मता' और 'अलङ्कारों' की 'शब्दार्थ-धर्मता' को स्वीकार कर लिया है। इन दोनों तथ्यों को मिला कर 'गुण' और 'अलंकार' के भेद को श्रीमम्मट भट्ट ने बताया है। गुण और अलंकार के भेद को बताना ही इस अष्टम उल्लास का 'प्रतिपाद्यविषय' है।

मम्मट भट्ट के मतानुसार—(१) "रसोत्कर्षकत्वे सति रसाऽव्यभिचारित्वम्' और (२) "अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वं गुणत्वम्"—ये दोनों ही 'गुण' के लक्षण हैं। अर्थात् 'गुण' के लक्षण में 'रसोत्कर्षकत्व' तथा 'रसनिष्ठत्व'—इन दो धर्मों का समावेश किया गया है।

किन्तु 'अलंकारों' में उक्त दोनों बातें उपलब्ध नहीं हैं। 'रस' के अभाव में भी 'शब्दालङ्कारों' की स्थिति रहती है, उस कारण उनमें 'रसाऽव्यभिचारित्व' नहीं है। और वे, 'अव्यभिचारेण रसोपकारक' भी नहीं हैं। अतः 'गुणलक्षण' की 'अलंकार' में अतिव्याप्ति भी नहीं हो पाती। इसी तथ्य (अलंकारों में उक्त धर्मों के अभाव) को प्रकट करने के लिये ग्रन्थकार 'अलंकार' के स्वरूप को बता रहे हैं।

(सूत्र ८८, कारि० ६७) उपकुर्वन्तीति। जो धर्म, काव्य में स्थित 'अंगी' (रस) को अंगभूत शब्द और अर्थ के द्वारा कभी-कभी उपकृत (उत्कर्ष से युक्त) करते हैं, वे अनुप्रास-उपमा प्रभृति हार आदि के तुल्य काव्य के अलंकार कहे जाते हैं। अर्थात्

('अलङ्कारस्य रसेन परम्परया सम्बन्धः 'अयं सम्बन्धो न नियतः, अनियतः)

ये वाच्य-वाचकलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः। यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।

मुक्ताहार आदि अलंकार (आभूषण) 'कण्ठ' आदि तत्तदङ्गों के उत्कर्ष द्वारा 'शरीरी' के भी उपकारक हो जाते हैं, उसी तरह काव्यगत अलंकार भी शब्द–अर्थरूप अंगों की शोभा बढ़ाते हुए काव्य के आत्मभूत 'रस' आदि के भी कदाचित् उपकारक (उत्कर्षाधायक) हो जाते हैं। अर्थात् वे नियमतः उपकारक नहीं हुआ करते ॥६७॥

इसी सूत्रार्थ को प्रदर्शित करते हुए प्रथमतः 'अंगद्वारेण' पद की व्याख्या करते हैं– ये वाचकेति। (१) अंगभूत शब्द तथा अर्थ के उत्कर्ष को साधते हुए (शब्दार्थ रूप अंग के उत्कर्ष द्वारा) जो धर्म, अंगीभूत (मुख्य) रस का भी उपकार (उत्कर्षाधान) करते हैं, उन धर्मों को परम्परया उत्कर्षाधायक 'हार' आदि अलंकारों के समान 'अलंकार' कहा जाता है। जैसे हार आदि अलंकार 'कण्ठ' आदि अंगों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी (आत्मा) के भी परम्परया उत्कर्षाधायक होते हैं। अतएव उन्हें 'अलंकार' कहा जाता है, उसी प्रकार अनुप्रास-यमक-उपमा आदि को भी अलंकार शब्द से कहा जाता है।

'शब्द' को वाचक और 'अर्थ' को वाच्य कहा गया है। 'तल्लक्षणं' तद्रूप जो अंग, तदतिशयमुखेन उसमें अतिशयाधान के द्वारा। सूत्रगत 'तम्' पद के 'तत्' सर्वनाम शब्द से 'अङ्गी' का परामर्श किया गया है। इसलिए वृत्ति में 'मुख्य' कहा गया है। प्रकृत में मुख्य 'रस' है, इसलिए वृत्ति में 'रसं' कहा गया है। अर्थात् काव्योपात्त विभावादिकों से जिसे स्वरूप प्राप्त हुआ है, उस प्रधानभूत रस के जो उत्कर्षक होते हैं, उन्हें अलंकार कहा जाता है।

(२) यत्र तु नास्तीति। जहाँ 'रस' नहीं है,वहाँ कुरूप युवती के द्वारा धारण किये हुए अलंकारों के समान उत्कर्षाधायक (शोभावर्धक) न होकर केवल दृष्टिवैचित्र्य मात्र के प्रयोजक होने के समान केवल 'उक्तिवैचित्र्य' के रूप में प्रतीत होते हैं।

(३) क्वचित्त्विति। और कहीं 'रस'के होने पर भी जैसे विलक्षण सौन्दर्य से सम्पन्न किसी युवती नायिका के शरीर पर धारण कराये गये 'ग्रामीण अलंकार', उसकी शोभा (सौन्दर्य) के वर्धक नहीं हो पाते,उसी प्रकार अलंकार भी उसके (रसमयी कविता के) उत्कर्षाधायक नहीं होते हैं। एवंच कविता में जो 'महत्त्व' 'गुण' का है, वह 'अलंकार' का नहीं है। तीन प्रकार से अलंकारों की स्थिति हुआ करती है। उन्हीं के क्रमशः

यथाक्रममुदाहरणानि—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ३४१ ॥

इत्यादौ वाचकमुखेन।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।

उदाहरण दे रहे हैं—यथाक्रममिति।

दामोदरगुप्त विरचित 'कुट्टिनीमतम्' संज्ञक काव्य से यह पद्य लिया गया है। इसमें किसी बिरहिणी का वर्णन किया गया है। किसी विरहिणी सहेली के विरह-जन्य सन्ताप को दूर करने के लिए विविध उपचार करती हुई सखी से विरहिणी की सहेली कह रही है—अपसारयेति। हे सखि ! (हे आलि !) मेरे विरहसंताप को दूर करने के निमित्त जो कपूर (घनसार) तुमने रखा है, उसे हटा दे। क्योंकि उससे मेरा विरह-सन्ताप दूर नहीं हो पायेगा। इस मौक्तिक हार (मोतियों की माला) को भी दूर ही रख। जल से उत्पन्न हुए इन कमलपुष्पों से भी कोई लाभ नहीं होगा। इन मृणालों को भी दूर ही रहने दे। क्योंकि इनमें से कोई भी मेरे संताप को हरण करने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार से वह वियोगिनी बाला नायिका, हर समय सतत (दिवानिशं) कहती रहती है, क्योंकि तथाविध दुःख को सहने में असमर्थ हो गई है ॥३४१॥

इत्यादाविति। इस पद्य में 'अनुप्रास' अलंकार है, इस अनुप्रास के द्वारा ही इस पद्य के शब्द रूप (वाचक) अंग की 'शोभावृद्धि' हो रही है। क्योंकि 'अनुप्रास'—शब्दालंकार कहलाता है। वह पद्य (काव्य) में विस्थत 'विप्रलम्भशृङ्गार' रूप अंगी रस (प्रधान) का उत्कर्षकारक हो गया है ॥३४१॥

उक्त पद्य में 'आलिः सखी'—इस अमरोक्त 'आलि' शब्द से 'शकटी शकटिः' की तरह 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके'—इस गणसूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय और 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (पा० सू० ७।३।१०७) इस सूत्र से 'ह्रस्व' किया गया है।

'अलमलमालि मृणालैः'—'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तिप्रयोजिका'—इस नियम के अनुसार 'करणत्वात् तृतीया' हुई है। अन्यथा 'नमः स्वस्ति०'—(पा० सू० २।३।१६) सूत्र से 'उपपदविभक्ति चतुर्थी' होगी। 'अलम्-अलम्'—यह द्विरभिधान 'अवधारणार्थं' किया गया है ॥ ३४१ ॥

अब 'अर्थ' के द्वारा अर्थात् 'अर्थालंकार' के द्वारा प्रधानभूत 'रस' के उत्कर्ष का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस उदाहरण रूप पद्य को महाकवि भवभूति विरचित 'मालतीमाधव' नाटक के द्वितीय अंक से लिया गया है।

'माधव' के प्रति अनुरक्त हुई 'मालती' अपनी सखी 'लवंगिका' से कह रही है—मनोराग इति। हे सखि ! 'माधव' जो मेरा प्रियतम है, उसके प्रति जो मेरा

हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥३४२॥

इत्यादौ वाच्यमुखेनालङ्कारौ रसमुपकुरुतः ।

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसुं
सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसुं ।
बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे
झाणेन टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥ ३४३ ॥

'मनोराग' है वह तीव्र विष के समान मेरे अंग-अंग में सर्वत्र फैल रहा है, वह मनोनुराग हवा किये हुए धूमरहित प्रज्वलित अग्नि के समान मेरे सम्पूर्ण शरीर को जला दे रह है, और भयंकर ज्वर के समान (सान्निपातिक ज्वर के समान) कभी किसी अंग को तो कभी किसी अंग को पीडित कर रहा है । अतः इस दुःसहतर अनुराग के कारण मुझे अब न पिता, न माता तथा न तुम ही बचा सकती हो ॥ ३४२ ॥

इत्यादाविति । इस पद्य में जो उपमाएँ दी गई हैं, जैसे—'विषमिव', 'पावक इव' 'ज्वर इव'—इन सब उपमाओं को 'अलंकार' इसलिए कहा जा रहा है कि वह उपमा प्रस्तुत 'वाच्य' (अर्थ) रूप अंग की शोभा को वृद्धिगत कर रही है और अन्त में 'विप्रलम्भ शृङ्गाररस' का उत्कर्ष करती प्रतीत हो रही है ॥ ३४२ ॥

पूर्वपद्य 'अपसारय घनसारम्' और प्रस्तुत 'मनोरागस्तीव्रम्'—इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में 'वाचक' (अनुप्रासरूप शब्दालंकार) तथा दूसरे उदाहरण में 'वाच्य' (अर्थ) के द्वारा (मालोपमारूप) अर्थालंकार—ये दोनों अलंकार, पद्यगत 'विप्रलम्भ शृङ्गाररस' के उत्कर्षाधायक हो रहे हैं ।

'अलंकार' तो 'रस' के न होने पर भी रह सकते हैं । जैसे—'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ' (प्र० उ० श्लो० ४) आदि पद्यों में 'रस' के न रहने पर भी 'अलंकार' विद्यमान है । इन नीरस काव्यों में विद्यमान अलंकार, कुरूप स्त्री के द्वारा पहने हुए अलंकारों के समान उत्कर्षाधायक नहीं हुआ करते, वहाँ वे केवल 'उक्तिवैचित्र्य' का प्रदर्शनमात्र कर देते हैं ॥ ३४२ ॥

अब ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें 'रस' के विद्यमान रहने पर भी 'शब्दालंकार' उस 'रस' का 'उत्कर्ष' (उपकार) नहीं कर पा रहा है ।

यह उदाहरण राजशेखर-विरचित 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक की द्वितीय जवनिका (अंक) के बाद "दंसणक्खणादो पहुदि कुरङ्गच्छी" (दर्शनक्षणात् प्रभृति कुरङ्गाक्षी) से लेकर देवी कर्पूरमञ्जरी के विषय में राजा 'चण्डपाल' कह रहा है—

चित्ते विहट्टदीति । (चित्ते विघटते इति ।) वह प्रतिभाशालिनी (प्रगल्भा) तरुणी (युवती) अर्थात् देवी कर्पूरमञ्जरी मेरे चित्त (मन) में समा गई है । वह गुणों में

(चित्ते विघटते त्रुटयति सा गुणेषु
शय्यासु लुण्ठति विसर्पति दिङ्मुखेषु ।
वचने वर्त्तते प्रवर्त्तते काव्यबन्धे
ध्यानेन त्रुटयति चिरं तरुणी प्रगल्भा ॥ ३४३ ॥)

इत्यादौ वाचकमेव ।

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ॥ ३४४ ॥

भी कम (न्यून) नहीं है, अर्थात् अनेकानेक गुण उसमें हैं। कभी तो वह मुझे शय्या पर पार्श्वपरिवर्तन करती (करवटें लेती) हुई (सोती हुई नहीं) दिखती है, और कभी कभी वह सर्वत्र सब दिशाओं में (चारों ओर) दिखाई देती है। और कभी मुझसे निरंतर बात करती हुई प्रतीत होती है। कभी मेरे साथ काव्यरचना करने लगती है। कभी तो वह मुझे ध्यान में दीखती है,और तत्काल ही ध्यानातीत भी हो जाती है अथवा 'ध्याने न' इस पाठ में मेरे ध्यान से बाहर वह कभी भी नहीं रहती, अर्थात् निरन्तर मुझे उसी का ध्यान बना रहता है। यानी कभी एक क्षण के लिए भी मैं उसे भूल नहीं पाता॥३४३॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में 'टवर्गानुप्रास शब्दालंकार' है। वह केवल 'शब्द-मात्र' को अलंकृत कर रहा है। 'विप्रलंभशृङ्गाररस के विद्यमान रहने पर भी उसे अलंकृत नहीं कर रहा है। क्योंकि 'टवर्ग' का प्रयोग करना 'शृङ्गाररस' के प्रतिकूल है। अतएव आगे चलकर "मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शाः"—इस ७४वीं कारिका में 'अटवर्गाः' कहकर 'पर्युदास' बताया है ॥३४३॥

अब 'रस' के रहने पर भी उसके अनुपकारक—'अर्थालंकार' का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस उदाहरण में चक्रवाक की संध्याकालिक चेष्टा का वर्णन किया गया है—मित्रे इति। मित्रे क्वापि गते—'मित्र' अर्थात् कमलों को विकसित करने वाले 'सूर्य' के कहीं चले जाने (अस्त हो जाने) पर अर्थात् किसी अज्ञात देश में चले जाने पर सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति—कमलवन संकुचित हो गया अथवा मौन हो गया, और शोकमग्न हो गया। भ्रमर क्रन्दन करने लगे। सामने अपनी कान्ता से सम्पृक्त 'सारस' पक्षी को एवं 'रसिक' व्यक्ति को देखकर वियोगी 'चक्रवाक'ने न तो 'बिसलता' का आस्वादन ही किया, और न उसको त्याग ही, किन्तु निकलते हुए 'जीव' को रोकने के लिए उसे केवल, 'कण्ठ' में 'अर्गला' की तरह रख लिया। अभिप्राय यह है कि जैसे ही प्रियावियोगविधुर चक्रवाक ने सायंकाल के समय 'सारसी' के साथ 'सारस' को देखा, और उसका मित्र 'सूर्य' इस दुःखप्रद दृश्य को देखते ही, कहीं अन्यत्र चला गया,

इत्यादौ वाच्यमेव न तु रसम्। अत्र बिसलता न जीवं रोद्धुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा।

(गुणालङ्कारवैधर्म्यसमीक्षया निष्कर्षः)

एष एव च गुणालङ्कारप्रविभागः।

तथा उसका पड़ोसी कमलवन अपना मुख बन्द किये शोकमग्न होने लगा, और उसको देखने वाले 'भ्रमर' गुञ्जन करते रो उठे, तब उस परिस्थिति में मुख में पकड़ी हुई मृणाललता को वह चक्रवाक न खा सका और न ही फेंक सका, वह मृणाल-लता, ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो उस चकवाक के निकलते प्राणों को रोकने के लिए, गले (कण्ठ) के द्वार पर अर्गला-सी लगा दी हो ॥३४४॥

इत्यादाविति। इस पद्य में 'अर्गलेव'—यह 'उपमा'—अर्थालंकार है। वह 'जीव-निरोध' रूप अर्थ की ही उपकारक हो रही है, विद्यमान 'विप्रलम्भ शृङ्गाररस' की उपकारक नहीं है। क्योंकि 'मृणाललता' जीव को रोकने में असमर्थ है। 'विप्रलम्भ' की अवस्था में 'प्राणपरित्याग' की ही इच्छा रहती है, उसे 'रोकने' की नहीं। अतः यहाँ पर 'उपमा' अलंकार 'रस' का उपकारक (उत्कर्षाधायक) नहीं है। एवं च 'मृणाल-लता' को 'अर्गला' बनाकर उसके द्वारा प्राणों को निकलने से रोकने का वर्णन करना उचित नहीं है। उस कारण यह 'उपमा', प्रकृत के अनुरूप नहीं है, अपितु अननुरूप (अयोग्य) है। वृत्तिकार 'बिसलता न जीवं रोद्धुं क्षमा'—कह कर अपना (ग्रन्थकार का) अभिप्राय बताना चाहते हैं कि 'अर्गला' से जो 'उपमा' दी गई है, उससे 'निकलते हुए' 'प्राणों' के 'मार्ग' में 'रुकावट' डाली गई है। इस प्रकार की प्रकावट डालना, विप्रलम्भ शृङ्गार में उचित नहीं है। अतः वह 'उपमा', प्रकृत रस के अननुरूप है। उससे 'रस' का परिपोष नहीं हो रहा है। "बिसलता" (मृणाललता), 'जीव' को रोक नहीं सकती (असमर्थ है) इस प्रकार वृत्तिग्रन्थ का केवल अक्षरार्थ करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त गुणालंकार-वैधर्म्य की समीक्षा का निष्कर्ष बता रहे हैं—एष एव-चेति। गुण और अलंकार दोनों में परस्पर यही भेद है कि 'गुण', सर्वदा 'रस' के ही धर्म होते हैं, वे 'रस' से पृथक् नहीं रहते। किन्तु 'अलंकार' कभी भी 'रस' के धर्म नहीं हैं, और 'रस' से पृथक् रहते हैं।

अब भामह के काव्यालंकार के विवरण में 'भट्टोद्भट' ने 'गुण' तथा अलंकारों के अभेद को जो बताया है, उसका खण्डन कर रहे हैं—एवं चेति। नैयायिकों का सिद्धान्त है कि 'गुण' और 'गुणी' में 'समवाय सम्बन्ध' हुआ करता है। तदनुसार 'शौर्यादि गुण' 'आत्मा' (गुणी) में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। और दूसरा सिद्धान्त 'द्रव्य-द्रव्ययोरेव संयोगः'—संयोग सम्बन्ध, द्रव्यों का ही होता है। तदनुसार

(भट्टोद्भटसम्मतस्य गुणालंकार-विवेकस्य निराकरणम्)

एवं च 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः' इत्यभिधानमसत्।

'अलंकार' रूप द्रव्य, शरीर के अवयवरूप द्रव्यों में 'संयोग सम्बन्ध' से रहते हैं। इस प्रकार 'गुण' और 'अलंकार' दोनों का भेद लोकसिद्ध है। उस कारण लोकव्यवहार में लौकिक 'गुण' और 'अलंकारों' का भेद भले ही स्वीकृत हो, तथापि काव्य में अलौकिक 'माधुर्य-ओज' आदि 'गुणों' की तथा 'अनुप्रास', 'उपमा' आदि शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों की स्थिति तो—'समवाय सम्बन्ध से ही होती है। उस कारण उनमें 'भेद' स्वीकार करना केवल भेडचाल मात्र (अन्ध-परम्परा मात्र) ही हैं। वस्तुतः 'गुण' तथा 'अलंकार' में कोई भेद नहीं है। किन्तु यह उनका कथन 'असत्' (असंगत) है।

अभिप्राय यह है कि शौर्यादि लौकिक गुण, 'आत्मा' में—समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और हार आदि अलंकार, शरीर पर संयोगसम्बन्ध से रहते हैं। दोनों के रहने का 'सम्बन्ध' पृथक्-पृथक् होने से उनका भेद मानना तो ठीक है, किन्तु काव्य में 'गुण' तथा 'अलंकार' को एक दूसरे से भिन्न मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ये दोनों 'काव्य' (शब्द और अर्थ) में 'समवायवृत्ति' से (अपृथक् सिद्धिरूप सम्बन्ध से) ही रहते हैं। अर्थात् एक ही सम्बन्ध से दोनों रहते हैं। दोनों, पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) संबन्ध से नहीं रहते हैं। अतः दोनों में भेद मानना केवल अन्धपरंपरा मात्र है।

वृत्तिग्रन्थ में 'समवाय वृत्त्या'—पद का प्रयोग किया है। उसे 'अयुत सिद्धरूप' (अपृथक् स्थिति रूप) 'समवाय वृत्ति' समझना है अथवा 'तत्सत्तानियतसत्ताकत्व' रूप समझना है। यह एक 'संबन्ध विशेष' है। इसे वैशेषिकों के द्वारा कल्पित समवाय नहीं समझना है। इस रहस्य को उद्योतकार ने बताया है—"समवायपदं नित्यसंबन्धोपलक्षणम्, तेन सामान्यादिगतसादृश्यसंग्रहः"। यह जो वैशेषिककल्पित 'समवाय' है, उसे प्रस्तुत में नहीं लिया है।

सारबोधिनीकार ने कुछ भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। वे कहते हैं—"यत्तैरुक्तं समवाय-संयोगाभ्यां गुणालंकारयोर्भेद इति लौकिकी स्थितिस्तद्वदत्रापि समवायसंयोगकृत एव भेदो भविष्यति गुणालंकारयोरिति। तद्दूषयति—ओजः प्रभृतीनामिति। काव्ये गुणालंकाराणां शब्दार्थाभ्यां पृथक्सिद्धिराहित्येन संयोगाभावात् अपृथक् सिद्धत्वेन समवाये सिद्धे दृष्टान्तस्य वैषम्येण न तथात्वमित्यर्थः। इति हेतोः हेतुशून्यवचसां भेदाभिधानं तत् असत् इति। गड्डरिका प्रवाह इति। भेदकं विना भेदवादा-

(वामनसम्मतगुणालङ्कारवैधर्म्यमपि असंगतम्)

यदप्युक्तम् 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति तदपि न युक्तम्, यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः। यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौडी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा।

अथ कतिपयैः, ततः—

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥ ३४५ ॥

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः।

दिदमित्थमिति हेतुशून्यं वचो गड्डरिका, तस्य गुरुगौरवेण अनुमोदनं प्रवाहः। यद्वा गड्डरिका मेषी, अविच्छेदेन तदनुगमनं प्रवाहः ॥ इति। इस प्रकार भट्टोद्भटसम्मत गुणालंकारविवेक का निराकरण किया।

(२) अब वामनसम्मत गुणालंकार वैधर्म्य भी उचित नहीं है, यदप्युक्तमिति। गुण और अलंकार का भेद माननेवाले वामन ने काव्यालंकार सूत्र के तृतीयाधिकरण के प्रथम अध्याय में जो यह कहा है कि "काव्य की शोभा (सौन्दर्य) के उत्पादक जो धर्म होते हैं, वे तो 'गुण' हैं। और काव्य की शोभा (सौन्दर्य) को वृद्धिगत करने वाले जो धर्म है, वे 'अलंकार' हैं, यही दोनों में भेद है—यह वामन का कथन भी अनुचित है।

यत इति। क्योंकि अब दो विकल्प हो सकते हैं। (१) क्या समस्त (वामनाभिमत दसों) गुणों के रहने पर ही उसे काव्य कह सकते हैं? अथवा (२) कुछ (कतिपय) गुणों के रहने पर भी उसे काव्य कह सकते हैं?

यदि समस्तैरिति। प्रथम विकल्प को यदि स्वीकार करते हैं, अर्थात् समस्त दसों गुणों के रहने पर ही उसे 'काव्य' कह सकते हैं, तो 'समस्त गुणों से रहित 'गौडी' अथवा 'पाञ्चाली' रीति को 'काव्य' की आत्मा है—यह आप (वामन) कैसे कह सकेंगे?

वामन ने 'रीति' को ही काव्य की आत्मा माना है–"रीतिरात्मा काव्यस्य" (१।२।६)।

यदि द्वितीय विकल्प को स्वीकार करते हैं, अर्थात् कतिपय गुणों के रहने पर भी उसे 'काव्य' कह सकते हैं, तो—

आद्राविति। इस पर्वत पर अग्नि प्रचण्ड रूप धारण कर प्रज्वलित हो रहा है, यह बड़ प्रचुर (प्राज्य-अदभ्र) है, जो ऊपर उठता दिखाई दे रहा है ॥३४५॥

इत्यादाविति। यह नीरस-भावहीन होने से काव्यलक्षणरहित वाक्य को भी 'ओज' आदि कतिपय गुणों के होने के कारण इसे 'काव्य' कहना होगा। किन्तु इस वाक्य को कोई भी 'काव्य' कहने के लिए तयार नहीं है।

विवरण—वामन का सिद्धान्त है—'रीतिरात्मा काव्यस्य'। वामन ने 'रीति' को ही काव्य का आत्मा माना है। ये रीतियाँ तीन प्रकार की हैं—'सा च पदसंघटनात्मिका त्रिविधा, वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली च। (१) सर्वगुणव्यञ्जकवर्णवती वैदर्भी। (२) प्रसादौजोव्यञ्जकवर्णवती गौडी। (३) माधुर्यप्रसादवदक्षरयुता पाञ्चाली। अर्थात् 'वैदर्भीरीति' तो समस्त गुणों से युक्त रहती है,और केवल 'ओज' तथा 'कान्ति'–इन दो ही गुणों से युक्त 'गौडीरीति' होती है। तथा 'पाञ्चालीरीति' में केवल 'माधुर्य' तथा 'सौकुमार्य' ये दो गुण ही रहते हैं।

रीतियों के सम्बन्ध में दो श्लोक भी हैं—

"अस्पृष्टा दोषमात्राभिः, समग्रगुणगुम्फिता।
विपंचीस्वरसौभाग्या, वैदर्भीरीतिरिष्यते" ॥

सभी कविजन एवं रसिक सहृदय लोग इस वैदर्भीरीति की प्रशंसा करते हैं—

'सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु" ॥

अर्थात् ओज-प्रसाद आदि सभी गुणों से युक्त और दोष के लेशमात्र से भी शून्य, वीणा के नाद के समान मन को हर लेने वाली 'वैदर्भीरीति' होती है।

काव्यनिर्माण कुशल कवि, सुन्दर चमत्कारपूर्ण अर्थ और कवि का शब्दशास्त्र पर पूर्ण अधिकार रहने पर भी यदि वह इस वैदर्भीरीति का प्रयोग नहीं करता है, तो उसकी वाणी अमृतस्राविणी नहीं हो पाती। उदाहरणार्थ, जैसे—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं कुरुतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिल-ज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

वामन ने 'गौडीरीति' का लक्षण किया है—'ओजःकान्तिमती गौडी'।

'समस्तात्युद्भटपदां ओजःकान्तिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः' ॥

जैसे— दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्यत-
टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक् पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत् पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

वामन ने पाञ्चालीरीति का लक्षण किया है—

'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली'।

"अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययान्विताम्।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥ ३४६ ॥

जैसे– ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करण्डदण्डपतनाशंकी जनस्तिष्ठति ॥

एवं च यह स्पष्ट हो गया कि 'वैदर्भीरीति' में सभी गुण रहते हैं, और गौडीरीति तथा पाञ्चालीरीति में दस गुणों में से केवल दो-दो गुण ही रहते हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का कहना है कि यदि समस्त (सम्पूर्ण) गुणों के रहने पर ही 'काव्य' शब्द से कहा जाय तो 'काव्य' की 'आत्मा' केवल 'वैदर्भीरीति' को ही कह सकेंगे। क्योंकि उसी में वामनोक्त 'दसों गुण' उपलब्ध होते हैं। किन्तु केवल दो-दो गुणों वाली गौडी तथा पञ्चाली रीतियों को काव्य की 'आत्मा' कहना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि ये दोनों रीतियाँ 'समस्त गुणों' से रहित हैं। ऐसी स्थिति में वामन का सिद्धान्त—'रीतिरात्मा काव्यस्य' कैसे स्थिर रह सकेगा ?

इसी प्रकार 'कतिपय गुणों के होने पर भी 'काव्य' शब्द का व्यवहार कर सकते है'—इस द्वितीय विकल्प को स्वीकार करते हैं, तो 'अद्रावत्र' (श्लोक ३४५) को भी 'काव्य' शब्द से कहना होगा। किन्तु उसे 'काव्य' कहना किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

अतः वामन ने जो कहा है कि "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" और 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' अर्थात् "काव्य-शोभा के उत्पादक धर्मों को गुण और काव्य शोभा के संवर्धक धर्मों को 'अलंकार' कहना चाहिए"—वामन का यह उक्त कथन अनुचित है।

निष्कर्ष यह है कि 'अद्रावत्र'—(श्लो० ३४५) में 'गुणों' के विद्यमान रहने पर भी 'काव्य' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया है ॥ ३४५ ॥

अब उसके विपरीत 'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव'—(श्लो० ४६) में 'गुणों' के विद्यमान न रहने पर भी उसे 'काव्य' शब्द से कहा गया है। उस कारण 'अन्वयव्यभिचार' तथा 'व्यतिरेकव्यभिचार' दोनों के होने से 'गुणों' को 'काव्यव्यवहार' का प्रयोजक नहीं कह सकते। अतः वामनोक्त 'गुणलक्षण' निर्दुष्ट नहीं है।

इस प्रकार वामनोक्त गुणलक्षण को दूषित बताकर अब उसके 'अलंकारलक्षण' को भी दूषित सिद्ध कर रहे हैं—स्वर्गप्राप्तिरिति। वरवर्णिनी सुन्दरी की प्राप्ति तो इसी मनुष्यशरीर से, 'स्वर्ग' की प्राप्ति के तुल्य है। इस वरवर्णिनी सुन्दरी के अधर-पान का रस तो, सुधा (अमृत) रस के आस्वादनजन्य आनन्द को भी तिरस्कृत कर

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ ।

देता है। अर्थात—इसके अधरामृत के समक्ष स्वर्गीय अमृत भी कुछ नहीं है, अर्थात् फीका है ॥३४६॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में 'गुणों' के न रहने पर भी 'विशेषोक्ति' तथा 'व्यतिरेक' अलंकार के रहने मात्र से ही उसे 'काव्य' कहा गया है।

विवरण—इस उदाहरण में वरवर्णिनी स्त्री की प्राप्ति को सदेह स्वर्गप्राप्ति के समान बताया है।

वरवर्णिनी नारी का लक्षण—

'शीते सुखोष्णसर्वांगी, ग्रीष्मे च सुखशीतला।
कर्तृभक्ता च या नारी, विज्ञेया वरवर्णिनी' ॥

उदाहृत पद्य के पूर्वार्ध में 'विशेषोक्ति' अलंकार है, और उत्तरार्ध में 'व्यतिरेक' अलंकार है।

'विशेषोक्ति' का लक्षण—

"एकगुणहानिकल्पनया शेषगुणदार्ढ्यकल्पना विशेषोक्तिः"।

और व्यतिरेक अलंकार का लक्षण—

'उपमेयस्य गुणातिरेकत्वं व्यतिरेकः'। ये उक्त लक्षण, 'वामन' के ही निर्मित हैं।

उदाहृत पद्य में 'दिव्यदेहरूप एक गुण' की हानि की कल्पना से 'सुखदायकत्वरूप शेष गुणों' के दार्ढ्य की कल्पना के होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार है।

और उपमेय रूप 'अधर' के द्वारा, उपमान रूप 'सुधारस' का तिरस्कार प्रतिपादित होने से 'उपमेय' के आधिक्य के कारण 'व्यतिरेक' अलंकार है। एवं च उदाहृत पद्य में दो अलंकार उपलब्ध हो रहे हैं।

वामन के मत के अनुसार 'अलंकार' तो 'काव्य' की शोभा के वर्धक हुआ करते हैं-'काव्यशोभावर्धका अलंकाराः'। वे (अलंकार) काव्य की शोभा के उत्पादक नहीं होते।

प्रस्तुत उदाहृत पद्य (स्वर्गप्राप्तिरनेनैव) में माधुर्यव्यञ्जक वर्णों के न रहने से 'माधुर्यगुण' का अभाव है, तथा 'ओजोगुण' भी प्रकृतरस का विरोधी होने से वह भी काव्य की शोभा को पैदा नहीं कर रहा है। उसी तरह 'प्रसादगुण' भी नहीं है। अतः 'गुणों' की अविद्यमानता में वामन के अनुसार काव्यशोभा की उत्पत्ति ही नहीं हुई है, उस स्थिति में 'विशेषोक्ति और व्यतिरेक'—ये दोनों अलंकार 'किस शोभा' का संवर्धन करेंगे? तात्पर्य यह है कि वामन ने 'काव्यशोभा के अतिशयजनक धर्मों' को 'अलंकार' कहकर 'गुण' और 'अलंकार' में जो 'भेद' बताया है, वह अनुचित है। इस प्रकार काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने वामनोक्त 'अलंकारलक्षण' का भी खण्डन कर दिया।

(गुण–प्रकार–निरूपणम्)

इदानीं गुणानां भेदमाह—

(८९) माधुर्य्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

एवं च 'गुण' और 'अलंकार' में अभेद मानने वाले भट्टोद्भट और 'गुण' तथा 'अलंकार' में भेद मानने वाले वामन—दोनों के मतों का खण्डन करके ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के अनुयायी ध्वनिप्रस्थापनाचार्य काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने अपने मत के अनुसार गुण और अलंकार के भेद को अच्छी तरह बता दिया ।

प्रदीपकार ने स्पष्ट कहा है—"गुणजन्यां शोभामनपेक्ष्यैव अलंकाराभ्यां शोभा-सम्पत्तिः ।" उद्योतकार ने भी कहा है—"वस्तुतोऽत्र शृङ्गारे माधुर्यमेव शोभाधायकं, न विद्यमानमपि ओज इति, ओजोनुविद्धत्वात्प्रसादोऽपि न तच्छोभाहेतुः । एवं च काव्यव्यवहारनिमित्तगुणजन्यशोभाभावात्तस्य काव्यत्वमेव न स्यात् । न चेष्टापत्तिः, नायकयोरनुरागातिशयस्य रदच्छदरसास्वादातिशयस्य च काव्योपात्ततया रसानुभवस्य सर्वसहृदयसिद्धत्वात्" ।

एवं च काव्यव्यवहारनिदान शोभाजनक कोई भी गुण यहाँ नहीं पाये जा रहे हैं । जो भी वामन के अनुसार प्रसादादि गुण हैं भी, वे रौद्रादिरस के व्यञ्जक हैं, वे इस शृङ्गारप्रधान श्लोक में काव्यव्यवहार कराने में समर्थ नहीं हैं, अपितु ये (विशेषोक्ति व्यतिरेक ही) दो अलंकार ही इसमें 'काव्य' शब्द का व्यवहार कराते हैं—यह तथ्य, वामन को अवश्य स्वीकार करना होगा । एवं च इन दो अलंकारों में 'गुणलक्षण' की अतिव्याप्ति और 'अलंकारलक्षण' की अव्याप्ति हो रही है ।

काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने काव्यस्वरूप की निरुक्ति करते समय जो 'सगुणौ' यह विशेषण दिया है, वह 'वामनोक्तगुण' के अभिप्राय से नहीं है, अपितु 'स्वोक्तरस-धर्मगुण' के अभिप्राय से है । उस कारण रसवत्ता में कोई क्षति नहीं आ पाती ।

ग्रन्थकार ने अपनी रीति से 'गुण' और 'अलंकार' का भेद (भिन्नता) सिद्ध कर दिया ।

इदानीमिति । अब वामन के बताये हुए गुणों के 'दशविधत्व' का खण्डन (व्युदसन) करने के लिए गुणों के भेदों को बता रहे हैं—

(सूत्र ८९) माधुर्येत्यादि । ग्रन्थकार के मतानुसार वे 'गुण'—(१) 'माधुर्य', (२) 'ओज' (३) और 'प्रसाद' नामक तीन ही 'गुण' होते हैं । वामन के अभिमत 'दस गुण' नहीं होते हैं ।

विवरण—वामन के मतानुसार 'ओज, प्रसाद' आदि दस 'बन्ध' के (पदरचना अर्थात् 'शब्द' के) गुण हैं । वे 'दस गुण' ये हैं—(१) ओजः, (२) प्रसाद, (३) श्लेष, (४) समता, (५) समाधि, (६) माधुर्य, (७) सौकुमार्य, (८) उदारता,

(क्रमशः गुणत्रय–निरूपणम्)

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

---

(९) अर्थव्यक्ति, (१०) कान्ति। इसी को इस प्रकार बताया है—

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा मताः"।

रीतिवादी वामन ने शब्दार्थधर्मरूप दस गुणों को काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में बताया है—

"ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः"। (का०ल०सू० वृ० ३।२।४)। और "त एवार्थगुणाः"—वे ही ओज, प्रसाद आदि दस, 'अर्थगुण भी कहलाते हैं। अर्थात् शब्दगुण तथा अर्थगुण दोनों के नाम एक से ही हैं, किन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

शब्द गुणों के लक्ष	अर्थ गुणों के लक्षण
(१) गाढबन्धत्वमोजः।	(१) अर्थस्य प्रौढिरोजः।
(२) शैथिल्यं प्रसादः।	(२) अर्थवैमल्यं प्रसादः।
(३) मसृणत्वं श्लेषः।	(३) घटना श्लेषः।
(४) मार्गाभेदः समता।	(४) अवैषम्यं समता।
(५) आरोहावरोहक्रमः समाधिः।	(५) अर्थदृष्टिः समाधिः।
(६) पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।	(६) उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्।
(७) अजरठत्वं सौकुमार्यम्।	(७) अपारुष्यं सौकुमार्यम्।
(८) विकटत्वमुदारता।	(८) अग्राम्यत्वमुदारता।
(९) अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः।	(९) वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।
(१०) औज्वल्यं कान्तिः।	(१०) दीप्तरसत्वं कान्तिः।

वामन के द्वारा किया हुआ 'शब्दगुण' और 'अर्थगुण' का विभाजन, श्री मम्मटभट्ट को स्वीकार नहीं है। काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट तो 'गुणों' को 'रस' का धर्म मानते हैं। वे 'गुणों' को 'शब्द' अथवा 'अर्थ' का धर्म नहीं मानते। अतः शब्दगुण तथा अर्थगुण के रूप में गुणों का विभाजन करना उचित नहीं है।

किञ्च—वामन के अभिमत दस गुणों के स्थान पर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'तीन' ही गुण बताये हैं।

एषां क्रमेणेति। अब काव्यप्रकाशकार अपने अभिमत तीन गुणों के लक्षणों को क्रमशः बताते हैं। तदनन्तर वामन के द्वारा कहे गये 'शेष गुणों' का (खण्डन करेंगे।)

अब 'माधुर्य' के स्वरूप को बता रहे हैं—

(माधुर्य-स्वरूपनिरूपणम्)

(९०) आह्लादकत्वं माधुर्य्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥६८॥

शृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे द्रुतिर्गलितत्वमिव । श्रव्यत्वं पुनरोजःप्रसादयोरपि ।

(सूत्र ९०) आह्लादकत्वमिति । चित्त के द्रवीभाव (द्रुति) का कारण, तथा शृङ्गार में रहने वाला जो आह्लाद है उसी को 'माधुर्य गुण' कहते हैं ।

कारिका में प्रयुक्त जो 'आह्लादकत्व' पद है, उसका अर्थ 'आह्लादजनकत्व' नहीं है, किन्तु 'आह्लादस्वरूपत्व' है । क्योंकि 'शृङ्गार' आदि रस 'आह्लादजनक' नहीं होते, अपितु 'आह्लादस्वरूप' हुआ करते हैं। अतः 'शृङ्गार' में जो 'आह्लादकत्व' है, वही 'माधुर्य गुण' है । एवं च शृङ्गार के आह्लाद-स्वरूप होने से 'आह्लादकत्व' का अर्थ, 'आह्लादजनक' न करके 'आह्लादस्वरूप' ही समझना चाहिए । अतएव 'आह्लादनं आह्लादः' भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्ययान्त बनाकर उससे स्वार्थं में 'क' प्रत्यय करके 'आह्लादक' रूप बना है । एवं च 'आह्लादयतीति आह्लादकः' ऐसी व्युत्पत्ति नहीं करनी चाहिए ।

शृङ्गारे इति । शृङ्गार में अर्थात् सम्भोग शृङ्गार में । द्रुतिरिति । 'द्रुति, अर्थात् चित्त का 'विगलितत्व' सा (पिघलने जैसा), द्रवीभाव । श्रव्यत्वमिति । यहाँ पर 'द्रुति' का अर्थ 'श्रव्यत्व' नहीं है । भामह ने 'माधुर्य' का लक्षण 'श्रव्यत्व' किया है, जो उचित नहीं है, क्योंकि 'श्रव्यत्व' तो 'ओज' और 'प्रसाद' गुणों में भी रहता है । अतः भामह का 'श्रव्यत्वं माधुर्यम्'—यह लक्षण, अतिव्याप्तिदोष से युक्त होने के कारण ठीक नहीं है । इस प्रकार मम्मटभट्ट ने भामह के द्वारा बताये गये माधुर्य लक्षण का खण्डन कर दिया है ।

भामह ने भी मम्मट की तरह 'माधुर्य' 'ओज' और 'प्रसाद' इन तीन ही गुणों को बताया है । उनमें से भामहोक्त माधुर्य लक्षण—"श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुर-मिष्यते"—(भामह काव्यालंकार, २।३) अर्थात् 'समास किये हुए समस्त पद अधिक न हों, और सुनने में प्रिय लगने वाला जो श्रव्य काव्य हो, उसे मधुर (माधुर्य गुण से युक्त) कहते हैं । एवं च 'श्रव्यत्वं माधुर्यम्'—यह लक्षण, माधुर्य गुण का भामह के माधुर्य मत में निष्पन्न होता है । किन्तु मम्मट ने उस भामहोक्त लक्षण की 'ओज' और 'प्रसाद'—इन दो गुणों में अति-व्याप्ति दिखाकर उसे खण्डित कर दिया है । मम्मटोक्त ६८वीं कारिका का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—'द्रुतिकारणमाह्लादकत्वं माधुर्यम्, तच्च शृङ्गारे' ।

विवरण—'गुण और अलंकार' इन दोनों में परस्पर भिन्नता सिद्ध होने पर वामनोक्त गुणों के दशविधत्व का खण्डन करने के लिए 'गुण-भेद' को सू० ८९ के द्वारा बताया है । किन्तु चक्रवर्ती व्याख्याकार का कहना है कि "गुणानां

सामान्यलक्षणानन्तरं विशेषलक्षणे निर्वक्तव्ये तत्सौकर्यायोद्देशमाह—'माधुर्येत्यादि' इति।

'माधुर्यौजःप्रसादाख्याः'—यहाँ पर 'आख्या' पद का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि 'परमत' के साथ 'संज्ञा मात्र' से अभेद है, अर्थात् दूसरों के बताये हुए और हमारे बताये हुए 'नाम' ही केवल एक-से (समान) हैं। इस प्रकार 'नाम' की अभिन्नता रहने पर भी 'नामी' (संज्ञी) में तो भिन्नता (भेद) है ही। 'त्रयः' कहकर ग्रन्थकार ने अधिक संख्या का व्यवच्छेद प्रदर्शित किया है। 'न पुनर्दश' कहकर व्यवच्छेद्य' का प्रदर्शन किया है। वामन ने 'श्लेष, प्रसाद, समता०' आदि जो दश गुण कहे हैं, वे 'शुब्दगुण' हैं, अर्थात् 'अर्थगुण' नहीं हैं। यद्यपि उसी नाम के 'अर्थगुण' भी दश हैं तथापि उनके स्वरूप, शब्द-गुणों के स्वरूप से भिन्न हैं। दस शब्द-गुणों के कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिकों की नवरसजन्य तीन प्रकार की अवस्थायें होती हैं—(१) द्रुति, (२) विस्तार और (३) विकास। उद्योतकार ने कहा है—"सामाजिकानां नवरसजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः'। यहाँ पर 'नवरसजन्याः' के स्थानपर 'नवरसीजन्याः' पढना उचित होगा। अथवा 'नवसंख्याकाः अवयवाः यस्य स नवावयवः, स चासौ रसश्च नवरसः' ऐसा कर्मधारय करना चाहिए। यहां 'द्विगु' समास नहीं है।

पूर्वोक्त द्रुति, विस्तार और विकास—इन तीन अवस्थाओं में से 'चित्त' की 'द्रुति' तो—शृङ्गार, करुण, शान्त रस से होती है तथा 'चित्त' का विस्तार वीर, रौद्र, बीभत्स रस से होता है, तथा 'चित्त' का विकास—हास्य, अद्‌भुत, भयानक रस से होता है। हास्य में मुख का विकास, अद्‌भुत में नेत्रों का विकास, भयानक में द्रुतापसरस रूप गमन का विकास होता है। वह विकास विभाव वैचित्र्य के कारण कहीं पर 'द्रुति' से और कहीं पर विस्तार से युक्त रहता है। और 'प्रसाद' सभी में 'अधिकता' पैदा करता है। इस रीति से अवस्थात्रय रूप कार्यवैचित्र्य के नियामक रूप से तीन ही कारणों की कल्पना की गई है। क्योंकि कारणवैचित्र्य से तीन की ही उपलब्धि स्पष्टतया होती है और अवान्तर गुणों की तो अंगाङ्गिभाव के वैचित्र्य के कारण आनन्त्य होने से अस्पष्टता रहती है।

शंका—'आह्लादकत्वं माधुर्यम्'—यहाँ पर 'आह्लादयतीति–आह्लादकः'—यह विग्रह क्यों न किया जाय ? इस विग्रह से आह्लादकत्व का अर्थ, 'आनन्दहेतुत्व अर्थात् आनन्दजनकत्व' अर्थ हो क्यों न किया जाय ?

समाधान—ऐसा विग्रह करने पर 'शृङ्गार' में वह संगत नहीं हो पायेगा। क्योंकि 'शृङ्गार' तो 'आह्लादस्वरूप' ही है। वह 'आह्लादहेतु' नहीं है। यदि आह्लादकत्व को केवल आह्लादस्वरूप ही कहें तो सभी रसों में अतिव्याप्ति होगी।

क्योंकि सभी 'रस' आह्लादस्वरूप ही होते हैं। अतः इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'द्रुतिकारणम्' कहा गया है। 'द्रुति' का अर्थ है—'चेतसो गलितत्वमिव द्वेषादिजन्यकाठिन्याभावः'। चित्त का पिघलने जैसा हो जाना। अर्थात् द्वेष से उत्पन्न हुए काठिन्य का न रहना। एवं च जिसके होने से श्रोता निर्मनस्क-सा हो जाता है, वही आह्लादकत्वस्वरूप माधुर्य है। कहा भी है—

"गलितत्वमिवाह्लादपदव्याहृदये ददत्।
माधुर्यं नाम शृङ्गारे प्ररोहं गाहते गुणः" ॥

ऐसी अवस्था कहाँ होती है? इसके उत्तर में कहा गया है—शृङ्गारे इति। अर्थात् 'सम्भोगे'—शृङ्गार पद यहाँ पर सम्भोगपरक है। क्योंकि अगले ९१वें सूत्र के द्वारा विप्रलम्भशृङ्गार में उसके अतिशय को बताया जायगा। 'द्रुतिः' का अर्थ 'चेतसः गलितत्वमिव'—यह अर्थ इसलिए किया गया है कि 'चित्त' में 'मुख्य द्रवत्व' का होना सम्भव नहीं है। चित्त का गलितत्व अर्थात् द्रवीभूतत्व क्या है? उसका उत्तर यह है कि 'शौर्य, क्रोध' आदि से उत्पन्न हुए 'दीप्तत्व' का तथा 'विस्मय-हास' आदि से उत्पन्न हुए विक्षेप का परित्यागपूर्वक चित्त की आर्द्रतासंज्ञक, नेत्र से प्रवाहित जल, शरीर के रोमाञ्च (पुलक) आदि सात्त्विक वृत्तिविशेष रूप ही वह द्रुति पदार्थ है। उस द्रुति का कारण, सुखविशेषवृत्ति-रूप आह्लादगत वैजात्य ही है। उसी को 'माधुर्य' के नाम से कहा गया है। विभावादि चर्वणाजन्यवृत्ति से उत्पन्न हुए आनन्दांश में जो भग्नावरणक-स्वप्रकाश सुख है वही 'रस' पदार्थ है। करुण-विप्रलम्भ-शान्त रसों में विजातीय-विजातीय द्रुति होती है। उस कारण 'आह्लाद' भी विजातीय ही होता है। उन सब में 'माधुर्य' शब्द का ही व्यवहार किया जाता है। अन्यान्य व्याख्याकारों ने भी कहा है—"सामाजिकानुभवसिद्धः सुकुमारश्चित्तस्यावस्थाविशेषो द्रुतिः, स च मधुररसास्वादादेव, मनःकाठिन्याद्यपगमे जायते, न तु माधुर्यमेव सः इति"।

भामह ने 'श्रव्यत्वं माधुर्यम्'—यह जो 'माधुर्य' का लक्षण किया है, वह उचित नहीं है। क्योंकि 'ओजस् तथा प्रसाद में भी 'श्रव्यत्व' के रहने से भामहोक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। दूसरी बात यह भी है कि वह 'श्रव्यत्व' माधुर्यादिनिष्ठ न होकर शब्दनिष्ठ' है। श्रव्यत्व का अर्थ है—श्रवणानुदेजकत्व। 'ओजस्' गुण में क्रोधादिकृत 'दीप्तत्व' की ही प्रतीति होती है। माधुर्य की प्रतीति नहीं होती। प्रसाद गुण के वर्ण नियत न होने से इसमें भी माधुर्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है, इसे प्रदीप और उद्योत में स्पष्टतया कहा गया है। सारबोधिनीकार ने भी—'श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते'—यह भामहकृत लक्षण उपेक्षणीय है,

(माधुर्यस्य तारतम्यम्)

(९१) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

(तारतम्यस्य कारणम्)

अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वात् ।

(ओजःस्वरूपनिरूपणम्)

(९२) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥६९॥

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

कहा है । भामह ने 'माधुर्य' को भी 'शब्दवृत्ति' बताया है, किन्तु वह उचित नहीं है । क्योंकि 'श्रव्य' तो वही होता है, जो श्रवणानुकूल होता है । ओजस् गुण में जैसे—'यो यः शस्त्रम्' में क्रोधकृत दीप्तत्व का ही अनुभव होता है, माधुर्य का नहीं । प्रसादगुण में जैसे—'परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगात्' में भी 'माधुर्य' का अनुभव नहीं होता है । क्योंकि माधुर्य में नियतवर्णों के न रहने से उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती । अतः 'माधुर्य' गुण—शब्द के आश्रित नहीं है—यह चक्रवर्ती व्याख्याकार का कहना है ।

अब 'माधुर्य' के तारतम्य को बता रहे हैं—

(सू० ९१) करुणे इति । इस 'माधुर्य' संज्ञक गुण की अधिक चमत्कारजनकता, संभोगश्रृंगाररस की अपेक्षा 'करुणरस' में, उससे भी अधिक 'विप्रलंभ श्रृंगाररस में, उससे भी अधिक 'शान्तरस' में रहती है । अर्थात् उक्त रसों में यह माधुर्यगुण, उत्तरोत्तर अतिशयान्वित (अधिक चमत्कारजनक) होता है । 'अत्यन्तद्रुतिहेतुत्वादिति' क्योंकि उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक होने में कारण 'चित्त' का अत्यन्त द्रवीभाव होना ही है ॥ ९१ ॥

अब ओजःस्वरूप को बता रहे हैं—

(सूत्र ९२) दीप्त्यात्मेति । 'वीररस' में विद्यमान रहने वाले चित्त (आत्मा) की विस्तार प्राप्ति में कारणीभूत 'दीप्ति' को 'ओज' कहते हैं ।

चित्तस्येति । 'चित्त' के विस्ताररूप 'दीप्तत्व' का जो धधक (उत्पादक) हो, उसे 'ओजस्' गुण कहा गया है ।

विवरण—वीररस में मनुष्य का चित्त (हृदय) स्वभावतः धधक उठता है, ऐसा लगने लगता है कि मानो 'चित्त' की संपूर्ण शीतलता सहसा नष्ट हो चुकी हो, और वह चित्त 'उद्दीप्त' (प्रज्वलित) हो गया हो । एवं च मनुष्य के चित्त का प्रज्वलित हो उठना ही 'ओज' है, उसी को ओजोगुण कहते हैं । ध्वन्यालोक के व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद ने भी यही कहा है कि 'ओज' का स्वरूप, 'चित्त' की दीप्ति का ही स्वरूप है । "दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा । सा च मुख्यतया

(ओजस्तारतम्यम्)

(९३) वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

(तारतम्यस्य कारणम्)

वीराद्बीभत्से, ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

(प्रसादस्वरूपनिरूपणम्)

(९४) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥ ७० ॥
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

(प्रसादः सर्वरससाधारणो गुणः)

अन्यदिति । व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति । सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च ।

(रसधर्मरूपो गुण उपचारतः अर्थशब्दार्थयोर्गुणा वक्तुं शक्यन्ते)

ओजःशब्दवाच्या" । ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के अनुसार तथा उसके व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद के अनुसार 'दीप्ति' सर्वप्रथम 'रौद्ररस' के आस्वाद में प्रतीत होती है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार 'दीप्ति' का अनुभव 'वीररसास्वाद' में किया जा सकता है ॥ ९२ ॥

अब 'ओजस्' का तारतम्य बताते हैं—

(सूत्र ९३) बीभत्सेति । सामान्यतः यह 'ओजस्', 'बीररस' में रहता है किन्तु 'बीभत्स' और 'रौद्र' रस में उसका आधिक्य अर्थात् 'विशेष चमत्कारजनकता' क्रमशः रहती है । अर्थात् 'बीररस' की अपेक्षा 'बीभत्सरस' में और उससे भी अधिक 'रौद्ररस' में उस 'ओज' का चमत्कारातिशय होता है ।

वीरादिति । 'बीररस' तो स्वभावतः 'ओजस्वी' है ही, किन्तु 'बीभत्सरस' में वह उससे भी अधिक 'ओजस्वी' हो जाता है, और उससे भी अधिक 'ओजस्वी' वह 'रौद्ररस' में हो जाता है । क्योंकि 'वीररस' की अपेक्षा 'बीभत्सरस' में और उसकी अपेक्षा 'रौद्ररस' में सामाजिक पुरुष का चित्त अधिक उद्दीप्त हो उठता है । ध्वन्यालोककार 'रौद्र' को 'ओजस्वी' और 'वीररस' को 'रौद्ररस' से भी अधिक 'ओजस्वी' कहते हैं, किन्तु 'काव्यप्रकाशकार मम्मट, 'वीररस' की अपेक्षा अधिक 'बीभत्स' को और 'बीभत्स' की अपेक्षा 'रौद्र' को अधिक 'ओजस्वी' बताते हैं । अर्थात् दोनों ने अपने-अपने अनुभव को बताया है । वस्तुतः सिद्धान्त में कोई भेद नहीं है ॥ ९३ ॥

अब 'प्रसाद' गुण के स्वरूप को बताते हैं—

(सूत्र ९४) शुष्केन्धनेति । सूखे (शुष्क) इन्धन में अग्नि के समान अथवा धुले हुए स्वच्छ वस्त्र में 'जल' के समान 'चित्त' में जो सहसा व्याप्त हो जाता है ॥

(९५) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥

गुणवृत्त्या उपचारेण । तेषां गुणानाम्—आकारे शौर्यस्येव ।

(वामन-सम्मतस्य 'दशगुण' वादस्य खण्डनम्)

(सूत्र ९५) अर्थात् सभी 'रसों' में (सर्वत्र) रहने वाले को 'प्रसादगुण' कहते हैं॥७०॥

अन्यदितीति । कारिकागत 'अन्यत्' पद से 'व्याप्य चित्त' का ग्रहण किया गया है तथा 'सर्वत्र' पद से 'सभी रसों' और 'सभी रचनाओं' का ग्रहण किया गया है॥७०॥

विवरण—अग्नि तथा जल का उदाहरण देकर यह सूचित कर रहे हैं कि जब 'वीर', 'रौद्र' जैसे 'उग्ररसों' में 'प्रसादगुण' होता है, तब वह शुष्क इन्धन में अग्नि के समान 'चित्त' में व्याप्त होता है, और जब 'श्रृंगार', 'करुण' आदि 'कोमल रसों' में होता है, तब वह स्वच्छ वस्त्र में जल के समान चित्त में व्याप्त होता है। अर्थात् चित्त में जो, अनायास (सहसा) व्याप्त हो जाता है, उसे 'प्रसादगुण' कहते हैं, और वह सभी रसों में तथा सभी रचनाओं में रहता है। एवं च 'माधुर्य, ओज, प्रसाद' तीनों गुणों से क्रमशः 'द्रुति, दीप्ति, विकास' नाम की तीन चित्तवृत्तियाँ होती हैं। यह 'प्रसादगुण' सर्वरससाधारण 'गुण' है।

शंका—उपर्युक्त विवेचन से तो यही प्रतीत हुआ कि 'माधुर्यादि तीनों गुण' 'श्रृंगारादिरसों' में ही रहा करते हैं, किन्तु 'प्रसादगुण' के विषय में जो यह कहा कि 'वह (प्रसादगुण) सभी रचनाओं' में रहता है—यह तो पूर्वापर विरुद्ध प्रतीत हो रहा है। क्योंकि 'रचना' तो 'रस' की श्रेणी में नहीं है, वह तो 'शब्दरूप' ही है।

समाधान—गुणवृत्त्येति। गुणों की 'शब्दार्थधर्मता' औपचारिक है। 'गुण' मुख्यतया यद्यपि 'रस' के ही धर्म हैं, तथापि 'शब्द' और 'अर्थ' में भी उनकी स्थिति, 'गौणीवृत्ति' से रहती है। अर्थात् इन गुणों की वृत्ति (स्थिति) शब्द और अर्थ में 'गुणवृत्ति' से ही मानी जाती है ॥ ७१ ॥

गुणवृत्त्या उपचारेणेति। 'गुणवृत्ति' अर्थात् उपचार से। 'तेषां' उनकी अर्थात् गुणों की। आकारे शौर्यस्येव अर्थात् शरीर (आकार) में आत्मा के धर्म 'शौर्यादिगुणों' की स्थिति उपचार लक्षणा) से मानी जाती है, उसी प्रकार 'रस' के धर्मरूप 'माधुर्यादि' गुणों की 'शब्द' और 'अर्थ' में तथा पदरचना की भी स्थिति, उपचार (लक्षणा) से ही मानी जाती है ॥ ७१ ॥

विवरण—गुणों की 'रसधर्मता' को जानने वाले विद्वान् भी शब्द तथा अर्थ में 'मधुरादि' व्यवहार क्यों करते हैं? अर्थात् यह 'मधुर शब्द' है, यह 'मधुर अर्थ' है, ऐसा क्यों कहा करते हैं? और काव्य के लक्षण में—'शब्दार्थौ सगुणौ' क्यों कहा गया है?

यह जिज्ञासा होने पर मम्मटभट्ट ने "गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता"

कुतस्त्रय एव न दश इत्याह—

(९६) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।७२॥

बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः,यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः,

---

कहकर उसका समाधान किया है। जैसे 'शौर्यादि' आत्मगुणों का 'स्थूल शरीर' में लाक्षणिक (गौण) प्रयोग किया जाता है; उसी तरह 'माधुर्य-ओज-प्रसाद' नामक 'रसवृत्ति गुणों' के व्यञ्जक सुकुमारादि वर्णों में, अर्थों में और रचनाओं में भी उन गुणों का गौण प्रयोग किया करते हैं। उपचारेण का अर्थ है—स्वव्यञ्जकतादिसम्बन्धेन लक्षणया ॥७१॥

अब वामन के द्वारा बताये गये 'दस शब्दगुणों' का खण्डन कर रहे हैं—

कुतस्त्रय इति। तीन ही गुण क्यों बताये जा रहे हैं? 'दशगुण' क्यों नहीं हैं?

(सूत्र ९६) केचिदिति। इस बहत्तरवीं (७२वीं) कारिका से वामन के बताये हुए 'दशगुण' वाद का खण्डन कर रहे हैं। वामनसम्मत दशगुणों में से (१) 'कतिपय गुणों' का तो मम्मट के बताये हुए 'माधुर्य, ओज और प्रसाद' इन तीन गुणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। (२) और कुछ 'गुण' तो 'दोषाभाव' रूप ही हैं। (३) और कुछ 'गुण' दोषरूप ही माने जाते हैं। इस प्रकार वामनोक्त 'दशगुणो' का अन्तर्भाव, काव्यप्रकाशकार मम्मट के 'तीन गुणों' में हो जाने से वामन के 'दशगुणों' को मानना उचित नहीं है ॥७२॥

बहूनामपीति। वामन के बताये हुए 'शब्द' के निम्नलिखित गुणों का मम्मट के 'ओज' आदि में अन्तर्भाव हो जाता है।

(१) 'श्लेष' का संधिसौष्ठव अथवा एकस्थानीय वर्णपदोपन्यास के कारण 'बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः'—अर्थात् 'अनेकपदों' की एकपदवत् प्रतीति को जो 'श्लेष' के नाम से कहा गया है, वह 'ओजोगुण' की अभिव्यञ्जक 'रचना' के ही अन्तर्गत आ जाता है। अर्थात् 'गाढबन्धता' रूप 'ओज' के अन्तर्भूत ही है। क्योंकि वामन ने स्वयं ही अपने ग्रन्थ में कहा है—"मसृणत्वं श्लेषः" कहकर 'मसृणत्व' का अर्थ किया है—"यस्मिन् सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते"।—इसलिए काव्यप्रकाशकार का कहना है कि वह 'श्लेष', गाढबन्धता अर्थात् 'ओजोगुण' की अभिव्यञ्जक रचना में ही समा जाता है। उससे पृथक् नहीं है।

(२) वामन का 'समाधि' नामक गुण, जिसका लक्षण उन्होंने (वामन ने) 'आरोहावरोहक्रमः समाधिः' किया है, अर्थात् 'आरोह' = गाढबन्धता और 'अवरोह' = बन्धशिथिलता के सुन्दर सम्मिश्रित विन्यास को ही 'समाधि' के नाम से कहा है। काव्यप्रकाशकार ने उस 'समाधिगुण' का भी अन्तर्भाव, स्वसम्मत—'ओजोगुण' में ही अर्थात् ओजोव्यञ्जक पदरचना में ही कर लिया है। अतः उसे (समाधि को) भी पृथक् 'गुण' नहीं कहा जा सकता।

तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम् प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता। मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः। तथा हि 'मातङ्गाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात्तन्निराकरणेनापारुष्यरूपं सौकुमार्यम् औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। एवं न दश शब्दगुणाः।

---

(३) वामन का 'उदारता' नामक गुण, जिसका लक्षण वामन ने अपने ग्रन्थ में 'विकटत्वमुदारता' कहकर 'विकटत्व' का अर्थ किया है—'यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तत् विकटत्वं लीलायमानत्वम्'—अर्थात् 'पदों की विकटता अर्थात् सुन्दर विच्छेद के कारण उनकी नृत्यत्प्रायता। इस प्रकार के 'उदारता' नामक गुण का अन्तर्भाव,काव्यप्रकाशकार ने अपने 'ओजोगुण' में ही अर्थात् आजोव्यञ्जक पदरचना में ही कर लिया है। अतः वह 'उदारता' नामक गुण भी, काव्यप्रकाशकार के 'ओजोगुण' से पृथक् नहीं है।

(४) वामन का 'प्रसाद' नामक गुण, जिसका लक्षण, उन्होंने अपने ग्रन्थ में 'शैथिल्यं प्रसादः' बन्धस्य शैथिल्यं शिथिलत्वं प्रसादः' किया है। वामन ने 'ओजोमिश्रित शैथिल्य' को 'प्रसादगुण' माना है। क्योंकि 'सर्वशैथिल्य' रहने पर तो 'दोष' ही हो जायगा। इसलिए 'गाढबन्धता' के साथ बन्धशैथिल्य' को 'प्रसादगुण' कहा है। किन्तु काव्यप्रकाशकार ने उनके 'प्रसाद गुण' को भी अपने सम्मत 'ओज' में अर्थात् ओजोगुण की अभिव्यञ्जक पदरचना में ही अन्तर्भूत कर लिया है। अतः उनके 'प्रसाद गुण' को अपने ओजोगुण से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

(५) वामन का 'माधुर्य' नामक गुण, जिसका लक्षण उन्होंने अपने ग्रन्थ में 'पृथक्पदता असमस्तपदता अथवा 'अदीर्घसमस्तपदता' किया है, और उसे ही 'माधुर्य' के नाम से कहा है। "पृथक्पदत्वं माधुर्यम्"। बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत् तत् माधुर्यम्"। पृथक्पदानि यस्य सः पृथक्पदः, तस्य भावः पृथक्पदत्वम्। अर्थात् 'दीर्घसमासाऽभावरूपः, अर्थात् जिसमें लम्बे-लम्बे समास न हों उसे 'प्रसाद' गुण के नाम से बताया है। उसे काव्यप्रकाशकार ने भी 'अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा'—इस सूत्र में 'अवृत्ति' अर्थात् 'समासरहितरचना' को माधुर्यव्यञ्जक बता कर प्रकारान्तर से साक्षात् मान ही लिया है। अर्थात् वामनोक्त माधुर्य गुण को अपने 'माधुर्य गुण' में स्पष्टतया ग्रहण कर ही लिया है।

(६) वामन के बताये हुए 'अर्थव्यक्ति गुण' को (पदों की शीघ्रतया अर्थोपस्थापकता को) जिसका लक्षण उन्होंने अपने ग्रन्थ में "अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः—यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणः अर्थव्यक्तिरिति" किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार

मम्मट ने उसका अन्तर्भाव अपने 'प्रसादगुण' में कर लिया है। क्योंकि वह तो सर्वरस-साधारण अथवा सर्वरचनासाधारण 'प्रसाद' गुण ही है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

(७) वामन ने 'समता' अर्थात् 'मार्गाऽभेद' को 'गुण' माना है, जिसका लक्षण उन्होंने अपने ग्रन्थ में "मार्गाऽभेदः समता—मार्गस्य अभेदः मार्गाऽभेदः समता, येन मार्गेण उपक्रमः तस्य अत्यागः इत्यर्थः, श्लोके प्रबन्धे चेति' किया है। अर्थात् जिस वैदर्भी आदि रीति से आरम्भ किया हो, उसी से उपसंहार (समाप्ति) भी जहाँ हो उसे 'समता' गुण कहा है। इस पर काव्यप्रकाशकार मम्मट का कहना है कि वह सर्वत्र 'गुण' न होकर यत्र-तत्र 'दोष' भी हुआ करता है। तथा हीति। जैसे—

'मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद् गर्जितं गर्जितम्' ॥

—(स० उ० २९९)

इस उदाहरण में 'सिंह' का वर्णन किया गया है। इसके तीसरे चरण में 'कोमल मार्ग' का परित्याग, जो कवि ने किया है वह 'गुण' बन गया है। यदि कवि इस तृतीय चरण में 'कोमल मार्ग' का परित्याग न करके 'मार्गाऽभेदरूपसमता' को बनाये रखता, तो वह (मार्गाऽभेदरूप समता) 'दोष' हो जाता। अतः 'समता' को गुण नहीं माना जा सकता। कवि ने यहाँ उपक्रम में अपनाई हुई मसृण (कोमल) वर्ण युक्त पदशय्या का परित्याग करके सिंह वर्णन के अवसर पर उसके उचित वर्णयुक्त पदरचना करके सिंह वर्णन के सौन्दर्य को निखार दिया है। अतः वामन का 'समता गुण' तो यहाँ दोष हो जाता। किन्तु कवि ने 'मार्गभेद' का आश्रय कर अपनी प्रतिभा के कौशल का परिचय दिया है। एवं च काव्यप्रकाशकार की दृष्टि में 'समता' गुण, न होकर 'दोष' ही है।

कुछ 'शब्दगुण' ऐसे भी हैं, जो 'गुण' न होकर 'दोषाभाव' रूप ही होते हैं। जैसे—

(१) 'सौकुमार्य' को वामन ने 'गुण' माना है, जिसका लक्षण उन्होंने अपने ग्रन्थ में 'अजरठत्वं सौकुमार्यं' अर्थात् बन्धस्य त्वजरठत्वम् अपारुष्यं यत्, तत् 'सौकुमार्यम्' किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट का कहना है कि वामन-सम्मत 'सौकुमार्य' गुण, तो 'कष्टत्व' (श्रुतिकटुत्व) नामक जो 'दोष' है, उसका 'अभाव' ही तो है। उससे पृथक् कुछ नहीं है।

(२) उसी प्रकार वामन ने जो 'कान्ति' गुण माना है, जिसका लक्षण उन्होंने अपने ग्रन्थ में 'औज्ज्वल्यं कान्तिः, बन्धस्य उज्ज्वलत्वं नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते' किया है। अर्थात् 'औज्ज्वल्य' को (सहृदयहृदयहारिणी पदशोभा

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥

इति या प्रौढिः ओजः इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः। तदभावेऽपि काव्य-

---

को) 'कान्ति' गुण के नाम से बताया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट का कहना है कि वामनोक्त 'कान्ति' गुण, 'ग्राम्यत्व' नामक दोष का अभाव रूप ही तो है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। अर्थात् 'दोषाभाव' रूप होने से उसको एक 'पृथक् गुण' बताना उचित नहीं है। एवं च वामन ने जो 'दस शब्दगुण' बताये हैं, वे दस न होकर 'गुण' केवल तीन ही हैं। अर्थात् 'माधुर्य' 'ओज' और 'प्रसाद'—ये तीन ही गुण हैं। वामनोक्त 'दस शब्दगुण' नहीं हैं।

अब वामनोक्त दस अर्थगुणों का भी खण्डन, काव्यप्रकाशकार कर रहे हैं। अर्थात् वामनोक्त 'दस शब्दगुणों' को अनुपपन्न बताने के पश्चात् अब उनके 'दस अर्थगुणो' की भी अनुपपन्नता को काव्यप्रकाशकार बता रहे हैं—

पदार्थे वाक्यरचनमिति। वामनोक्त 'दस अर्थगुणों' में भी कुछ 'अर्थगुण' ऐसे हैं जो 'माधुर्य' आदि में ही अन्तर्गत हो जाते हैं, कुछ ऐसे हैं, जो 'गुण' न होकर केवल 'दोष' रूप ही हैं, और कुछ ऐसे हैं, जो 'गुण' न होकर 'दोषाभाव' रूप ही हैं। उसी को काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट स्पष्ट कर रहे हैं—

"पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यास-समासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥"

(१) पद के प्रतिपाद्य अर्थ के बोधनार्थ 'वाक्य' की रचना।

(२) वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ के बोधनार्थ 'पद' का प्रतिपादन करना।

(३) विस्तार करना।

(४) संक्षेप करना। अर्थात् अनेक वाक्यों के अर्थों को एक ही वाक्य से बता देना। इसी को 'समास' (संक्षेप) कहते हैं।

(५) अर्थ का विशेषरूप से साभिप्रायत्व अर्थात् सार्थकत्व (प्रकृतोपयुक्तत्व) । यह पाँच प्रकार की 'प्रौढि' कहलाती है।

(१) वामन ने 'ओज' नामक जो 'अर्थगुण' बताया है, वह पञ्चविध 'प्रौढि' (प्रौढता) ही है। इतीति। अर्थात् जिस 'प्रौढि' की 'ओजगुण' के नाम से वामन ने बताया है, वह केवल 'वैचित्र्यमात्र' (विचित्रता मात्र) है, 'गुण' नहीं है। तदभावेऽपीति' क्योंकि उसके बिना भी 'काव्य' शब्द से व्यवहार किया जाता है।

(क) पदार्थ (एक पद का अर्थ) बताने के लिए 'वाक्य' की रचना करना (एक पदार्थ के प्रतिपादनार्थ, अनेक पदों का प्रतिपादन करना)। जैसे—'अथ

व्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लील-ग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः, उक्तिवै-चित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृ-

---

नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः'—यहाँ पर 'चन्द्र'—इस एक पद के वाच्य अर्थ को बताने के लिए 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' इस वाक्य का प्रयोग कवि ने किया है।

(ख) वाक्यार्थ (एक वाक्य का अर्थ) बताने के लिए 'पदरचना' करना, अर्थात् 'एक पद' से ही 'अनेक पदों के अर्थों को (अनेक पदार्थों को) बताना। जैसे—'कान्तार्थिनी संकेतस्थानं गच्छति'—इस वाक्यार्थ को बताने के लिए 'अभिसारिका'—इस एक पद का ही प्रयोग करना। अथवा 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च'—इस वाक्यार्थ को बताने के लिए केवल 'स्वर्गः' पद को ही बताना।

(ग) व्यास—एक वाक्यार्थ को अनेक वाक्यों द्वारा बताना। जैसे—'परस्वं नापहर्तव्यम्'—इस एक पाक्यार्थ को बताने के लिए 'परान्नं नापहर्तव्यम्, परवस्त्रा-पहारोऽनुचितः, पराभरणहरणमिहाऽमुत्रानिष्टकरम्'—इत्यादि अनेक वाक्यों को बताना। अथवा 'अदृष्टवैचित्र्यात् सुख-दुःखवैचित्र्यम्'—इस एक वाक्य के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को 'अयं नानाकारो भवति सुखदुःखव्यतिकरः', 'सुखं वा दुःखं वा भवति न भवत्येव च ततः'। 'पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति सुख-दुःखं किमपि तत्, पुनस्तस्मादूर्ध्वं न च भवति दुःखं न च सुखम्'—इत्यादि अनेक वाक्यों से बताना। अर्थात् 'सुख-दुःखव्यतिकरः नानाकारो भवति'—इस एक वाक्यार्थ को द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ चरणों में अनेक वाक्यों के द्वारा बताया गया है।

(घ) समास अर्थात् एक वाक्य के द्वारा अनेक वाक्यार्थों को बताना। जैसे—'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेष्य च शूलिनम् सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः' ॥—यह सम्पूर्ण श्लोक 'एक वाक्य' है, किन्तु वह एक ही वाक्य, नाना वाक्यों के अर्थरूप आमन्त्रणादि को बता रहा है, अर्थात् अनेक वाक्यार्थों का संक्षेप (समाहार) इस एक ही वाक्य में किया गया है। एकवाक्ये बहुवाक्यार्थनिबन्धनात् समासः इत्यभिप्रायः।

(ङ) साभिप्रायत्व अर्थात् ऐसा 'पदप्रयोग' करना, जो अप्रयुक्त पदों के भी विवक्षित अभिप्राय को प्रकट करता हो। जैसे—'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः'—यहाँ पर 'पिनाकपाणेः'—यह विशेषण 'साभिप्राय' है, अर्थात् इसमें कवि का मनोगत अभिप्राय भरा हुआ है। 'पिनाकपाणेः अपि हरस्य धैर्यच्युतिं कुर्यामन्येषां का कथा'—यह कहकर कामदेव ने अपना उत्कर्ष प्रकट किया है। यह अभिप्राय 'पिनाकपाणि' पद में भरा रहने से वह पद साभिप्रायः है। अथवा 'रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः'—में 'सुकेशी'—यह एक पद ही केशसौन्दर्य की विचित्रता और शक्तिमत्ता का अभिप्राय

तानि। अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृता। क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् अवैषम्यस्वरूपा समता दोषभावमात्रं न पुनर्गुणः। क खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् अर्थस्यायोनेरन्यच्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम्—इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः।

प्रकट कर रहा है। अथवा 'सुधांशु कलितोत्तंसन्तापं हरतु वः शिवः'—में 'सुधांशुकलितोत्तंस'—यह 'विशेषण पद' 'तापहरणरूप प्रकृतार्थ' में उपयुक्त है। अतः साभिप्राय (सार्थक, प्रकृतोपयुक्त) है।

एवं च वामन ने 'ओज' को 'अर्थगुण' के रूप में जो बताया है, वह 'अर्थगुण' नहीं है, अपितु वह केवल 'उक्तिवैचित्र्य' ही है। 'गुण' तो 'काव्यव्यवहार' करने में प्रयोजक होता है। वामन का 'ओज' नामक अर्थगुण तो केवल उक्तिवैचित्र्यरूप है। केवल उक्तिवैचित्र्य से किसी रचना को काव्य नहीं कहा जा सकता और उक्तिवैचित्र्य के न रहने से कोई अकाव्य नहीं होता। अन्तिम 'साभिप्रायत्व' रूप 'प्रौढि' को भी 'ओज' नामक अर्थगुण के रूप में नहीं कहा जा सकता। वह तो 'अपुष्टार्थत्व' नामक दोष का अभाव मात्र है। एवं च पाँच प्रकार की 'प्रौढि' को जो 'ओज' कहा है, वह केवल उक्ति वैचित्र्य ही है, 'गुण' नहीं है।

अपुष्टार्थत्वेति। अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गलरूप-अश्लीलत्व, और ग्राम्यत्व के निराकरण द्वारा साभिप्रायत्वरूप ओज, अर्थवैमल्यरूपप्रसाद, उक्तिवैचित्र्यरूप माधुर्य, अपारुष्यरूप सौकुमार्य, और अग्राम्यत्वरूप उदारता—इन गुणों को 'दोषाभाव' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

अभिधास्यमानेति। आगे बताये जाने वाले स्वभावोक्ति अलंकार से और रसध्वनि तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य के द्वारा वस्तु के स्वभाव की स्पष्टतारूप अर्थव्यक्ति तथा दीप्तरसत्व रूप कान्ति को स्वीकार किया गया है।

क्रमकौटिल्येति। क्रम (क्रियापरम्परा), कौटिल्य (चातुर्य), अनुल्बणत्व (ज्ञात न होने देना), उपपत्ति (युक्ति)—इनका सम्मेलन जिसमें रहे, ऐसा घटनास्वरूप (रचनास्वरूप) 'श्लेष' भी केवल विचित्रता मात्र ही है, 'गुण' नहीं है। अवैषम्यस्वरूपेति। अवैषम्यरूपा (विषमता की अभावस्वरूपा) समता, केवल दोषाभावरूप ही है, 'गुण' नहीं है। कः खल्विति। क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् (जो उन्मत्त अर्थात् पागल नहीं है) व्यक्ति होगा, जो अन्य के प्रकरण में अन्य का प्रतिपादन करे। अर्थस्याऽयोनेरिति। और यदि अयोनि अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन न हो, अर्थात् काव्य में जिस अर्थ का वर्णन करते हैं, उस अर्थ का कोई भी

कारण (योनि) नहीं है, अथवा किसी अन्य (दूसरे) की छाया ही कारण (योनि) है, अर्थात् किसी की छाया को लेकर काव्य का निर्माण है, यह ज्ञान जब तक नहीं होगा, तब उसे 'काव्य' कैसे कहा जायगा ? अतः 'अर्थदृष्टिरूप समाधि' भी गुण नहीं है।

(१) समाधि—वामन ने 'अर्थदृष्टिः समाधिः'—यह समाधिगुण का लक्षण का लक्षण किया है, और उसके दो भेद उसने किये हैं—'अर्थो द्विविधः, अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा'—अर्थात् 'अर्थ के दर्शन' को समाधि कहते हैं। वह अर्थ दो प्रकार का होता है—(१) अयोनि अर्थात् अकारण (कवि की कल्पना मात्र से प्रकट होने वाला) अर्थ, और (२) अन्यच्छाया को लेकर कहा हुआ अर्थ। इस द्विविध अर्थ के दर्शन को वामन ने 'समाधि' नामक गुण शब्द से कहा है।

इस पर काव्यप्रकाशकार का कहना है कि उपरिनिर्दिष्ट इन दो प्रकार के अर्थ के बिना तो किसी भी काव्य की रचना, कवि नहीं कर सकता। उस कारण वह तो काव्य के कारणों में ही अन्तर्गत होता है। उसे काव्य का 'गुण' कहना व्यर्थ है।

(२) प्रसाद—वामन ने 'प्रसाद' नाम का अर्थगुण बताया है। उसका लक्षण उसने अपने ग्रन्थ में दिया है—'अर्थवैमल्यं प्रसादः, अर्थस्य वैमल्यं प्रयोजकमात्रपदपरिग्रहे प्रसादः'। यथा—'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भशालिनी'।

इस पर काव्यप्रकाशकार का कहना है कि—वामनोक्त यह 'प्रसाद' तो केवल 'अधिक पदत्व' नामक दोष का अभाव मात्र है वह 'अर्थ' का गुण नहीं है।

(३) माधुर्य—वामन ने 'माधुर्य' नामक अर्थगुण बताया है। उसका लक्षण 'उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्' किया है। अर्थात् उक्ति की विचित्रता ही 'माधुर्य' नामक अर्थगुण है। जैसे—

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥

किन्तु काव्यप्रकाशकार का कहना है कि यहाँ 'अनवीकृतत्व' दोष का अभाव मात्र है। इस 'दोषाभाव' को ही वामन-'माधुर्य' समझ रहा है। अतः 'माधुर्य' नामक कोई अर्थगुण नहीं है।

(४) सौकुमार्य—वामन ने 'सौकुमार्य' संज्ञक 'अर्थगुण' भी बताया है। उसका लक्षण 'अपारुष्य सौकुमार्यम्'—परुषे अर्थे अपारुष्यं सौकुमार्यमिति। यथा 'मृतं यशःशेषमित्याहुः, एकाकिनं देवताद्वितीयम्' इति। 'गच्छेति साधयेति च'।

इस पर काव्यप्रकाशकार का कहना है कि इन उदाहरणों में 'अमंगल' रूप 'अश्लीलत्व दोष' का अभाव मात्र है, जिसे वामन 'सौकुमार्य' नामक गुण समझ रहे हैं।

अतः उसे पृथक् 'अर्थगुण' कहना उचित नहीं है। अपितु वह 'अश्लीलत्व दोष' का अभाव रूप ही है।

(५) उदारता—वामन ने 'उदारता' नामक 'अर्थगुण' बताया है। उसका लक्षण उन्होंने किया है—'अग्राम्यत्वमुदारता'। अर्थात् 'ग्राम्यत्वप्रसंगे अग्राम्यत्वम्' अर्थात् 'ग्राम्यत्व' के अवसर में 'आग्रम्यत्व' का उपयोग करना। जैसे—

'त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं चेत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया॥

इस पर काव्यप्रकाशकार का कहना है कि वामन के दिये हुए 'उदारता' के इस उदाहरण में 'ग्राम्यत्वदोष' का अभाव मात्र है। अतः वामनसम्मत 'उदारता' नामक अर्थगुण का अन्तर्भाव 'ग्राम्यत्वदोषाभाव' में ही हो रहा है। अतः उसे पृथक् रूप में 'अर्थगुण' कहना उचित नहीं है।

(६) अर्थव्यक्ति—वामन ने 'अर्थव्यक्ति' नामक 'अर्थगुण' बताया है। उसका लक्षण भी किया है—'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः।' वस्तूनां भावानां स्वभावस्य स्फुटत्वं यदसौ अर्थव्यक्तिः। अर्थात् 'वस्तु के स्वभाव की स्फुटता' को 'अर्थव्यक्ति' कहा है। जैसे—

'प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रं स्थितं पृथुकेसरै-
र्विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाङ्मिलितं ततः।
तदनुवलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहि-
र्दलैर्मुकुलनविधौ वृद्धाब्जानां बभूव कदर्थना'॥

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार का कहना है कि यहाँ तो—'स्वभावोक्ति' अलंकार ही स्पष्ट हो रहा है। अतः—वामन-सम्मत 'अर्थव्यक्ति' नामक अर्थगुण का अन्तर्भाव 'स्वभावोक्ति' अलंकार में ही हो रहा है। इसलिए उसे अलग से 'अर्थगुण' कहना उचित नहीं है।

(७) कान्ति—वामन ने 'कान्ति' नामक 'अर्थगुण' बताया है। और उसका लक्षण अपने ग्रन्थ में किया है—"दीप्तरसत्वं कान्तिः"—दीप्ताः रसाः शृङ्गारादयो यस्य सः दीप्तरसः, तस्य भावः दीप्तरसत्वं कान्तिः'। अर्थात् 'दीप्तरसता' को 'कान्ति' कहा है। जैसे—

'प्रेयान् सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनात् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत् प्रत्युतपाणिसम्पुटलसन्नीवीनितम्बं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणाममहहा प्रेम्णो विचित्रा गतिः'॥

इस पर काव्यप्रकाशकार का कहना है कि 'रसध्वनि' में अथवा 'रसवदलंकार' रूप 'अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य' में वामनसम्मत 'दीप्तरसत्वरूप कान्ति' का अन्तर्भाव जैसा जहाँ संभव हो अनायास किया जा सकता है। अतः 'दीप्तरसत्व' रूप 'कान्ति' को अलग से 'अर्थगुण' कहना उचित नहीं है।

(८) श्लेष—वामनेन 'श्लेष' नामक 'अर्थगुण' बताया है और उसका लक्षण किया है–'घटना श्लेषः'। 'क्रमकौटिल्यानुल्बणत्वोपपत्तियोगो घटना'। अर्थात् एक ऐसी 'घटना' (अर्थयोजना), जिसमें 'क्रम' (परिपाटी) का अनुसरण और 'कौटिल्य' उस क्रम (परिपाटी) का उल्लंघन, इन दोनों का ऐसा संयोग दिखाई देना, जिसमें कोई बढ़ना या घटना न दिखाई दे।

घटना (अर्थयोजना) रूप 'श्लेष' का उदाहरण, जैसे—

"दृष्ट्वैकासनसंगते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहीतक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥"

इस पर मम्मट का कहना है कि वामनसम्मत 'श्लेष' नामक कोई 'अर्थगुण' नहीं है, क्योंकि 'गुण' तो वही होता है, जो किसी का 'उपकारक' हो। उक्त उदाहरण में वह न 'रस' का उपकार करता है और न 'भाव' का उपकार कर रहा है। यहाँ केवल 'कविचातुर्य रूप वैचित्र्य' है, और वह भी रस या भाव के प्रतिकूल ही है। अतः 'श्लेष' को अर्थगुण कहना उचित नहीं।

(९) 'समता'—वामन ने 'समता' नाम का अर्थगुण माना है। 'समता' का अर्थ 'अविषमता' बताया है। समता का लक्षण वामन ने 'अवैषम्यं समता'। 'अवैषम्यं प्रक्रमाभेदः समता'। 'समता' नामक अर्थगुण को 'अवैषम्य' रूप माना है। 'वैषम्य' का अर्थ है—'उपक्रान्तस्य उपसंहारे परित्यागः'—अर्थात् 'प्रक्रमभंगदोष' रूप 'वैषम्य' है। 'न वैषम्यम्–अवैषम्यम्' अर्थात् 'प्रक्रमाऽभेदः समता'।

काव्यप्रकाशकार का कहना है कि वामनसम्मत 'समता' को 'अर्थगुण' नहीं कह सकते। यह 'समता' तो 'प्रक्रमभंग' रूप 'दोष' का अभाव मात्र है। अतः 'दोषाभाव' में ही 'समता' का अन्तर्भाव करना उचित है। उसे अलग से अर्थगुण बताना उचित नहीं है।

कः खल्विति। कौन ऐसा प्रकृतिस्थ पुरुष (अनुन्मत्त) होगा जो आरम्भ कुछ करे और कहे कुछ और ही।

(१०) समाधि—वामन ने 'समाधि' को 'अर्थगुणः' कहा है। उसका लक्षण—"अर्थदृष्टिः समाधिः' किया है। 'अर्थस्य दृष्टिः दर्शनं' अर्थात् 'अयोनि'–

(वामनसम्मतस्य दशार्थगुणवादखण्डनस्य उपसंहारः)

(९७) तेन नार्थगुणा वाच्याः ॥

वाच्याः वक्तव्याः ।

तथा 'अन्यच्छायायोनि' रूप द्विविध अर्थ की जो दृष्टि (दर्शन) है, उसे 'समाधि' नामक गुण वामन ने कहा है ।

इन दो प्रकार के अर्थों में से 'अयोनि' अर्थ, वह है, जो कविसम्प्रदायपरिशीलित-पद्धति के बिना ही स्वबुद्धिविभवमात्रप्रादुर्भावित हो । जैसे उपमानोपमेय भाव आदि । उदाहरणीय—'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारङ्गम्' । यहाँ पर 'नारङ्क' का पाश्चात्य यवनविशेष (हूण) के 'चिबुक' के साथ 'उपमानोपमेयभाव' बताया गया है, किन्तु किसी प्राचीन कविपरम्परा के द्वारा ऐसा व्यवहार नहीं किया गया है । यह कवि का अपना कल्पित है । अतः यह अयोनि अर्थ है । दूसरा अन्यच्छायायोनि अर्थ—इस द्विविध अर्थदर्शन को वामन ने 'समाधि' नाम का अर्थगुण बताया है । किन्तु काव्यप्रकाशकार का कहना है कि काव्य-निर्माण का आधार तो 'अयोनि' अर्थ, अथवा 'अन्यच्छायायोनि अर्थ' ही हुआ करता है । बिना उसके काव्य का निर्माण होना सम्भव ही नहीं है । काव्य में या तो कविकल्पना प्रसूत नवीन अर्थ, अथवा प्राचीन महाकवि के द्वारा व्यवहृत अर्थ, अथवा पुराण–इतिहास वर्णित अर्थ, अभिनव काव्य में दृष्टिगत होना चाहिए, तभी उसे काव्य कहा जाता है । अयोनि रूप अथवा अन्य-च्छायायोनि रूप अर्थ तो 'काव्य शरीर' का निर्वाहक होता है । इसलिए 'अर्थदृष्टि रूप समाधि' को 'काव्य' निष्पत्ति का 'कारण' कह सकते हैं । उसे 'गुण' कहना उचित नहीं है । अर्थात् 'वह' अर्थमात्र है, उसे 'अर्थ' का गुण नहीं कहा जा सकता ।

(सूत्र ९७) अतः वामन ने जो 'दश अर्थगुण' और 'दश शब्दगुण' बताये हैं, उन्हें मानना उचित नहीं है । 'तेन नार्थगुणा वाच्याः'—यहाँ पर 'वाच्याः' का अर्थ वक्तुं शक्याः' नहीं है, अपितु 'वक्तुं योग्याः वक्तव्याः' है । अर्थात् वामन के द्वारा स्वीकृत अर्थगुणों को उपर्युक्त युक्तियों को ध्यान में रखते हुए पृथक् बताना अनुचित है । अतः 'अर्थ' के गुणों को नहीं कहना चाहिए ।

सरस्वती तीर्थ ने बताया है कि किसने कितने 'गुण' माने हैं—

"राजा भोजो गुणानाह विंशतिं चतुरश्च यान् ।
वामनो दश तान् वाग्मी भट्टः त्रीनेव भामहः ॥"

शंका—"गुणवृत्त्या पुनस्तेषाम्"—इस इकहत्तरवीं (७१) कारिका में 'गुणवृत्त्या' अर्थात् शब्दगुणत्वेन रूपेण कहे गये 'माधुर्यादिकों' के अभिव्यञ्जक हैं ?

(रसधर्मरूपगुणत्रयम्)

(९८) प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ॥

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यंजकतामिताः ॥ ७३ ॥

(क्रमश गुणत्रयस्याभिव्यञ्जकनिरूपणम्)

के कस्त इत्याह—

(माधुर्यगुणस्य अभिव्यञ्जकः)

(९९) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ७४ ॥

(पद-रचना अथवा संघटना)

ट-ठ-ड-ढ-वर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफ-

---

(सू० ९८) समा०—यह शंका होने पर ग्रन्थकार उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए बता रहे हैं—प्रोक्ता इति । और जो पहिले 'शब्दों के गुण' कहे हैं, उनके व्यञ्जक 'वर्ण', 'समास', 'रचना' हैं । 'तेषां = गुणानां, व्यञ्जकतां वर्णादयः इताः गताः प्राप्ता इत्यर्थः' । 'वर्णाः = अक्षराणि, समासः = बहूनामेकपदता', इसे 'वृत्ति' मात्र का उपलक्षण समझना चाहिए । 'रचना = पदसंघटना' अर्थात् पदों की पौर्वापर्यरूपा आनुपूर्वी । 'शब्दगुणाः' कहने का तात्पर्य यह है कि शब्दात्मकवर्णादिकों में 'व्यञ्जकता' का होना सम्भव है । 'वर्णाः'—इस बहुवचनान्त प्रयोग से यह सूचित किया है कि 'एक, दो या तीन' वर्णों में व्यञ्जकता नहीं होती है ॥ ७३ ॥

के कस्येति । कौन वर्ण आदि किस गुण के व्यञ्जक होते हैं ? यह आकांक्षा होने पर कहते हैं—

(सू० ९९) अपने शिर पर स्थित अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, ट वर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण, अर्थात् 'क' से लेकर म तक के सभी वर्ण 'स्पर्श' कहे जाते हैं—'कादयो मावसाना स्पर्शाः' । ह्रस्व 'रकार' तथा 'णकार' और अवृत्ति अर्थात् समास रहित अथवा अल्प समासवाली (मध्यवृत्ति) 'रचना', 'माधुर्य' गुण की व्यञ्जक होती है ॥ ७४ ॥

ट ठ ड ढेति । चौहत्तरवीं कारिका में प्रयुक्त 'अटवर्गाः' की व्याख्या वृत्तिकार करते हैं—'ट ठ ड ढ वर्जिताः' । अर्थात् 'ट ठ ड ढ' को छोड़कर 'स्पर्शा' की व्याख्या करते हैं—'कादयो मान्ता' इति । "कादयो मावसानाश्च स्पर्शाः स्युः पञ्चविंशतिः''—

लकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः तथा माधुर्यवतो पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका।

यह चारायणीय शिक्षा के अनुसार 'ककार' से लेकर 'मकार' तक, अर्थात् कवर्ग, चवर्ग तवर्ग तथा पवर्ग'—इन चारों वर्गों के सभी अक्षर। 'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः—की व्याख्या करते हैं—'शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः'—इससे यह बता रहे हैं कि कौन किसके व्यञ्जक होते हैं। 'कवर्ग, चवर्ग, तवर्ग एवं पवर्ग' के अन्तिम 'ङ्', 'ञ्', 'न्' और 'म्'—इनमें से किसी वर्ण का किसी स्ववर्गीय वर्ण के मस्तक पर (शिर पर) रहना। 'रणौ' की व्याख्या करते हैं—'रेफणकारौ' अर्थात् रेफ तथा णकार ये वर्ण। 'लघू' की व्याख्या करते हैं–'ह्रस्व-स्वरान्तरितौ' अर्थात् ह्रस्व स्वर से व्यवहित वर्ण। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का लक्षण—"एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते। त्रिमात्रस्तु प्लुतश्चैव व्यञ्जनन्त्वर्धमात्रकम्" ॥—किया गया है। 'ह्रस्वान्तरितौ'—अर्थात् ह्रस्वेन अन्तरितौ व्यवहितौ। यह कह कर 'र, ण' आदि का व्युदास (निषेध) सूचित किया है। निषिद्ध वर्णों का असकृत् (बार-बार) उपादान करना दोष माना जाता है। अब 'अवृत्तिः' की व्याख्या करते हैं—'समासाभावः', अर्थात् समास का अभाव (समास-रहित)। यहाँ 'अभाव' पद 'ईषदर्थक' है, अर्थात् 'कारिकागत' 'अवृत्ति' पदगत 'नञ्' ईषदर्थक है। जैसे 'अनलंकृती' में ईषदर्थक 'नञ्' है। उसी तरह 'अलवणा यवागूः', 'अनुदरा कन्या' में भी 'ईषदर्थक' 'नञ्' का प्रयोग होता है। विद्वानों का कहना है कि–

"तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥"

इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार 'नञ्' के 'छह अर्थ' हुआ करते हैं। 'तत्सादृश्यम्' का उदाहरण–'अब्राह्मणः' = ब्राह्मणसदृशः। 'तदन्यत्वं' का उदाहरण—'अघटः पटः' = घटादन्यः। 'तदल्पत्वं' का उदाहरण—'अनुदरा कन्या' = अल्पोदरी, कृशोदरी इत्यर्थः। 'अलवणा यवागूः' = अल्पलवणा। 'विरोधित्वं' का उदाहरण 'असुराः' = सुरविरोधिनो दैत्याः, अथवा 'अधर्मः' = धर्मविरोधि पापमित्यर्थः। 'अप्राशस्त्यं' का उदाहरण—'अकालाध्यायी' = अप्रशस्तकालाध्यायी, निषिद्धकालाध्यायीत्यर्थः। 'अभाव' का उदाहरण–'घटो नास्ति'। यहाँ पर नञ् का अर्थ–'अत्यन्ताभाव' है।

एवं च 'अवृत्ति' पद का अर्थ, समासाभाव होने पर भी वह 'अभाव' ईषदर्थक होने से 'अल्पसमास' अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। यह 'अर्थ' करने से 'वर्णाः समासो रचना'—(सूत्र ९८) सूत्र से उक्त हुए 'समास' के साथ विरोध नहीं होगा। 'अवृत्तिः' कह कर कारिकाकार ने 'वैदर्भी रीति' को सूचित किया है।

'मध्यमवृत्तिः' पद की व्याख्या करते हैं–मध्यमः समासो वा इति। इस समास की

उदाहरणम्—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः ।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥३४७॥

'मध्यमता'—'दो-तीन-चार, पदों तक के समास' तक ही समझनी चाहिए। एवं च 'मध्यवृत्तिर्वा' कह कर शृङ्गार-करुण-शान्त रस में 'पाञ्चाली' रीति को सूचित किया है।

कहा भी है—"द्वि-त्रिपदा पाञ्चाली लाटी या पञ्च सप्तधा यावत् । शब्दैः समासवद्भिर्यथाशक्तिगौडी या" ॥ द्वित्रीत्युपलक्षणं चतुःपर्यन्तापि विज्ञेया ।

"वैदर्भी पाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटी गौडी रौद्रे कुर्याद् यथा यथैवोचितं सुकविः ॥"

'माधुर्ये घटना तथा'—यहाँ 'तथा' का अर्थ 'माधुर्यवती' अर्थात् 'सौकुमार्यवती'। शेषपूरण-लब्ध को बताने के लिए कहते हैं—'पदान्तरयोगेन' अर्थात् पदान्तर के साथ सन्धि करके जो रचना होगी, वह 'माधुर्य' की व्यञ्जिका अवश्य रहेगी। जैसे—'अलं कुरु' में दो पदों (अलम्+कुरु) में सन्धि करने पर मधुर वर्ण की उत्पत्ति होती है तथा 'प्रतिमं + तदङ्गम्' इन दो पदों में सन्धि करने पर 'न्त' इस मधुर वर्ण की उत्पत्ति होती है। (प्रतिमन्तदङ्गम्)।

कुछ लोगों का कहना है कि सन्धि न करने पर भी 'पौर्वापर्यविशेष' से ही 'रचना' मधुर हो जाती है। 'वर्णसौकुमार्यवती' रचना तो वर्णों के सौकुमार्य से ही लब्ध हो जाती है। अतः पदान्तर के योग में सौकुमार्यलाभार्थ 'घटना तथा' कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि—

(१) वर्ण—जैसे, 'ट ठ ड ढ'—इन चार वर्णों को छोड़ कर केवल स्पर्शसंज्ञक वर्ण (क से लेकर म तक), जो अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण (ङ् ञ् ण् न्) से संयुक्त होकर 'मधुर वर्ण' की ध्वनि को उत्पन्न करते हैं।

उसी तरह 'लघु स्वर' (ह्रस्व स्वर) से व्यवहित हुए 'रेफ' और 'णकार' भी मधुर ध्वनि को उत्पन्न करते हैं।

(२) समास—अवृत्ति अथवा मध्यवृत्ति अर्थात् असमास अथवा मध्यमसमास ।

(३) रचना—माधुर्यव्यञ्जक वर्णावलि ।

ये सब मधुर ध्वनि के उत्पादक होते हैं। अर्थात् माधुर्यादि गुणों के व्यञ्जक होते हैं।

अब उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिए कहा 'उदाहरणम्' इति।

अनङ्गरङ्गेति। कुचभार से 'किञ्चिन्मात्र झुके हुए अंगों वाली नायिका के 'हाव-भावों' से उसकी 'देहलता' तो अनंग (कामदेव) की रंगभूमि (नृत्यस्थली)

(ओजसः अभिव्यञ्जकाः)

(१००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीय-चतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र

सी बन गई है, उसके हाव-भावों को देख कर तो नवयुवकों के हृदय सब-कुछ भूल कर एकमात्र उसी में रम जाते हैं ॥ ३४७ ॥

यहाँ पर 'अनङ्ग', 'तदङ्ग', 'भङ्गीकृत'—आदि में 'गकार' तथा 'स्वान्त', 'शान्त', 'चिन्तन' आदि पदों में 'तकार' अपने-अपने वर्गों के 'अन्तिम' वर्ण से युक्त हैं, और 'रङ्ग' आदि पदों के 'ह्रस्व' से व्यवहित 'रेफ' हैं। अतः ये सब वर्ण 'माधुर्यगुण' के व्यञ्जक बन गये हैं। 'अनङ्गरङ्गप्रतिमं'—यह 'मध्यमवृत्ति' अर्थात् 'स्वल्पसमासवाली' रचना भी 'माधुर्यगुण' की व्यञ्जक है। अतः ये तीनों 'विप्रलंभ शृङ्गार' में 'माधुर्यगुण' के व्यञ्जक हो गये हैं।

'माधुर्यगुण' के अभिव्यञ्जक 'वर्णः', 'समास' और 'रचना' को बताकर अब 'ओजोगुण' के व्यञ्जक 'वर्ण' आदि का निरूपण अग्रिम कारिका के द्वारा किया जा रहा है—

(सूत्र १००) योग इति। 'कवर्ग', 'चवर्ग', 'तवर्ग' और 'पवर्ग'—इन चारों वर्गों के 'आद्य' अर्थात् (१) प्रथम 'क-च-त-प' और 'तृतीय' अर्थात् 'ग-ज-द-ब' वर्णों के साथ, उनके बाद के 'अन्त्ययोः' अर्थात् 'ख-छ-थ-फ' आदि 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' के बाद के 'चतुर्थ' अर्थात् 'घ-झ-ध-भ' वर्णों का योग, अर्थात् 'अव्यवधान' से प्रयोग (नैरन्तर्य) तथा (२) 'रेफ' के साथ 'योग', अर्थात् 'ऊपर' या 'नीचे' किसी भी रूप में 'रकार' का किसी भी 'वर्ण' के साथ योग रहना, जैसे—'वक्त्र', 'वज्र', 'निर्ह्राद' आदि और (३) 'तुल्यवर्णों' का योग रहना, जैसे—'वित्त, उच्च, उद्दाम' आदि में देखा—जाता है। (४) 'टादि' अर्थात् 'ट-ठ-ड-ढ' वर्ण तथा (५) 'श-ष'—ये सब वर्ण तथा (६) 'दीर्घ समास' एवं (७) 'उद्धत रचना' (गुम्फ), 'ओजोगुण' के व्यञ्जक होते हैं। इस पचहत्तरवीं (७५) कारिका का अन्वय, 'व्यञ्जकतामिताः—इस त्रिहत्तरवीं (७३) कारिका के साथ होता है।

इसी पचहत्तरवीं(७५वीं)कारिका की व्याख्या 'वृत्तिकार' कर रहे हैं–वर्गप्रथमेति। (१) वर्ग के 'प्रथम' तथा 'तृतीय' वर्ण के साथ, उनके बाद के अर्थात् 'द्वितीय' और 'चतुर्थ' वर्णों का, (२) ऊपर-नीचे अथवा 'दोनों जगह' विद्यमान 'रेफ' के साथ, जिस-किसी 'वर्ण' का, (३) दो तुल्य वर्णों का अर्थात् 'वित्त, उद्दाम' आदि के समान, उसका उसी वर्ण के साथ योग, (४) 'टवर्ग' अर्थात् 'ण'कार को छोड़कर

वा यस्य कस्यचित् तुल्ययोस्तेन तस्यैव सम्बन्धः टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः शकारषकारौ दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः ।

उदाहरणम्—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्तेत्यादि ॥ ३४८ ॥

('प्रसाद'गुणस्याभिव्यञ्जकाः)

(१०१) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥

समग्राणां रसानां सङ्घटनानां च ।

'ट-ठ-ड-ढ' का प्रयोग, (५) 'शकार' तथा 'षकार' का प्रयोग, (६) दीर्घसमास और (७) 'विकटरचना'—ये सब 'ओजोगुण' के अभिव्यञ्जक होते हैं । जैसे—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ता विरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा-
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम् ।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत् फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ॥ ३४८ ॥

यहाँ पर 'मूर्ध्नाम्', 'उत्सर्पिदर्प' में ऊपर 'रेफ' के साथ योग है । 'अङ्घ्रि' में नीचे (अधः) योग है, 'उद्वृत्त', 'कृत्त' में 'तकार' का 'तकार' से ही योग है । 'ईश', 'पिशुन' शब्दों में 'शकार', 'दोष्णाम्' में 'षकार' का प्रयोग, दीर्घसमास, उद्धतसंघटना (रचना)—ये सब 'ओजोगुण' को अभिव्यक्त कर रहे हैं, तथा 'पटुरटत्क्रूरधारः कुठारः'—में 'टवर्ग' का प्रयोग है ॥ ७५ ॥

'माधुर्य' तथा 'ओजोगुण' के व्यञ्जक वर्ण आदि का निरूपण करने के बाद अब 'प्रसादगुण' के व्यञ्जक 'वर्ण आदि' का प्रतिपादन अग्रिम सूत्र से कर रहे हैं—

(सूत्र १०१, कारि० ७६) श्रुतिमात्रेणेति । जिस 'शब्द' अथवा 'समास' अथवा 'रचना' के श्रवणमात्र से ही 'शब्द' के 'अर्थ' की प्रतीति हो जाय, तो उन सब को अर्थात् 'वर्ण', 'समास', 'रचना' में स्थित 'प्रसादगुण' का अभिव्यञ्जक कहा जाता है । अर्थात् (१) 'वर्ण' चाहे सुकुमार हों चाहे विकट हों; सभी प्रकार के वे वर्ण, श्रवणमात्र से यदि अर्थ प्रतीति कराते हों तो वे 'प्रसाद गुण' के अभिव्यञ्जक कहे जाते हैं ।

उसी तरह (२) वह वृत्ति (समास), जो श्रवणमात्र से अर्थप्रत्यायक होती हो तो वह भी 'प्रसाद गुण' की अभिव्यञ्जक कहलाती है । (३) रचना (संघटना) भी श्रवणमात्र से यदि अर्थप्रतीति कराती हो तो वह भी प्रसादगुण की व्यञ्जक कहलाती है ॥७६॥

समग्राणामिति । समग्राणां अर्थात् 'समस्त रसों' और 'रचनाओं' का साधारण धर्म 'प्रसादगुण' हुआ करता है । उसका उदाहरण, जैसे—

उदाहरणम्—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥ ३४९ ॥

(वर्ण-वृत्ति-संघटनामुपर्युक्तस्य गुणाभिव्यञ्जन-नियमस्यापवादः)

"परिम्लानं पीन-स्तन-जघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम् ॥ ३४९ ॥"

यह श्लोक महाकवि श्री हर्ष की रत्नावली नाटिका के द्वितीय अंक से लिया गया है । सागरिका के विषय में वत्सराज उदयन कह रहे हैं कि कृशांगी सागरिका के सन्ताप को कमलदलों से निर्मित यह शय्या, स्पष्टतया अभिव्यक्त कर रही है—

परिम्लानमिति । कमल पत्रों से बनाई गई यह शय्या कृशाङ्गी सागरिका के विरहजन्य सन्ताप को बता रही है, क्योंकि उसके पुरिपुष्ट स्तनों एवं परिपुष्ट जघनों के संपर्क से दोनों ओर वह शय्या सूख गई है, और उसकी कृशकटि का संपर्क न हो पाने से उतना भाग (मध्य भाग) हरा दिखाई दे रहा है, तथा शिथिल भुजाओं के इधर-उधर पटकने तथा करवटों के बदलने से (वलनैः) जिस शय्या की बनावट अस्त-व्यस्त हो गई है ॥ २४९ ॥

इस उदाहरण में 'वर्ण', 'समास' और 'रचना' के द्वारा शीघ्र ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है । अतः इसमें 'प्रसादगुण' स्पष्टतया अभिव्यक्त हो रहा है ।

प्रश्न—गुणों की व्यञ्जक 'रचना' आदि जिस तरह बताई गई है, तदनुसार सभी काव्य तो उपलब्ध नहीं होते हैं, उनमें परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है ।

उत्तर—यद्यपि 'संघटना' (रचना) आदि, 'गुणों' के अधीन होती हैं, तथापि 'उत्सर्ग' एवं 'अपवाद' भी सर्वत्र रहते ही हैं ।

गुणानुसार 'रचना' आदि के अपवाद—

वामन ने 'गुणों' के साथ 'वैदर्भी', 'गौडी' तथा 'पाञ्चाली' इन त्रिविध रीतियों को भी बताया है । और 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—कह कर 'रीति' को ही 'काव्य' का 'आत्मा' माना है ।

वामन ने जिसे 'रीति' शब्द से बताया है, उसी को 'दण्डी' तथा 'कुन्तक' ने 'मार्ग' शब्द से बताया है, और ध्वन्यालोककार 'आनन्दवर्धन' ने उसी को 'संघटना' शब्द से कहा है ।

(वर्णवृत्ति-संघटनानियमस्योल्लंघने निमित्तानि)

(१०२) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित्क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

वामन की 'त्रिविध रीतियों' की तरह ही 'आनन्दवर्धन' ने 'संघटना' को भी तीन प्रकार का बताया है—

"असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा संघटनोदिता ॥
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसान् तन्नियमने हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥"

(ध्व० लो० ३।५,६) ।

वामन ने (१) समासरहिता (अल्पसमासवाली) वैदर्भीरीति, (२) मध्यम समासवाली पाञ्चालीरीति, (३) दीर्घसमासवाली गौडीरीति—के भेद से 'रीति' (संघटना) के तीन प्रकार बताये हैं ।

यह रीति (संघटना) 'गुणों' से पृथक् है, या नहीं ? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ आनन्दवर्धन ने तीन पक्षों को उपस्थित किया है । उनमें से प्रथम पक्ष तो 'अभेद पक्ष' है, अर्थात् 'गुण' और 'रीति' (संघटना) में कोई भेद (पृथक्त्व) नहीं है । दूसरा पक्ष 'भेद पक्ष' है, अर्थात् 'गुण' से 'रीति' पृथक् भिन्न) है ।

उपर्युक्त अभेदवादी के सिद्धान्त में भी 'दो पक्ष' हैं । उनमें से 'एक पक्ष'—'रीति' (संघटना) को 'गुण' के आश्रित मानता है । किन्तु द्वितीय (दूसरा) पक्ष, उसके विपरीत मानता है, अर्थात् वह 'गुण' को 'रीति' (संघटना) के आश्रित मानता है ।

किन्तु आनन्दवर्धन ने 'गुणों' को 'रीति' (संघटना) के आश्रित नहीं माना है । वे तो 'रीति' को 'रस' के आश्रित बताते हैं । यही कारण है कि आनन्दवर्धन 'रीति' (संघटना) को 'गुणों' के आश्रित मानते हैं । इसी अभिप्राय को 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा । रसान्०'—इसमें स्पष्टतया कहा गया है ।

'गुणों' के अतिरिक्त 'वक्ता' आदि का 'औचित्य' भी 'रीति' (संघटना) का नियामक हुआ करता है ।

आनन्दवर्धनोक्त इन्हीं कारिकाओं को ध्यान में रख कर ग्रन्थकार मम्मट भट्ट अपने काव्यप्रकाश ग्रन्थ में उसी विषय को बता रहे हैं—

यद्यपीति । यद्यपि 'संघटना' (रीति) आदि 'गुणों' के आश्रित रहती हैं, तथापि—

(सू० १०२, कारि० ७७) वक्तृवाच्येति । क्वचित्, क्वचित् (१) वक्ता,

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः ।

यथा—

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ॥ ३५० ॥

---

(२) वाच्य (प्रतिपाद्य विषय) और (३) प्रबन्ध के औचित्य के अनुरूप 'रचना', समास तथा 'वर्णों' का अन्य प्रकार से प्रयोग करना उचित माना गया है, अर्थात् 'वर्णों' (अक्षरों) का 'गुणपारतन्त्र्याभाव' भी सम्मत है ॥ ७७ ॥

क्वचिदिति । कहीं-कहीं 'वाच्य' तथा 'प्रबन्ध' की भी उपेक्षा करके केवल 'वक्ता' के 'औचित्य' का अनुसरण करके ही 'रचना' की जाती है ।

यथेति । वेणीसंहारनाटक के प्रथम अंक में रणस्थली पर होने वाली दुन्दुभिध्वनि को सुन कर भीमसेन पूछ रहा है (प्रश्न कर रहा है)—

मन्थायस्तेति । अरे छोटे भैया सहदेव ! यह रणदुन्दुभि (भेरी वाद्य) किसने बजाई है ? यह दुन्दुभिध्वनि तो हमारे सिंहनाद के प्रतिध्वनि जैसी ही भयंकर है, अरे ! यह दुन्दुभि ध्वनि तो द्रौपदी के क्रोध की सर्वप्रथम सूचना देने वाला अग्रदूत-सा प्रतीत हो रहा है, अरे ! यह दुन्दुभि ध्वनि तो कुरुकुल-विनाश का सूचक उत्पात के रूप निर्घातयुक्त झंझावात के ध्वनि जैसा सुनाई दे रहा है, अरे यह दुन्दुभिध्वनि तो अनेकानेक मुरज—आदि वाद्यों का वादन करते समय अकस्मात् सुनाई देने वाले गरजते प्रलयकालीन मेघमण्डल की ध्वनि-सा प्रतीत हो रहा है, अरे ! यह दुन्दुभिध्वनि तो समुद्र-मन्थन के समय विक्षुब्ध होकर कल—कल-ध्वनिबहुल समुद्र को बिलोने के कारण जल से व्याप्त गुफाओं वाले मन्दराचल की गम्भीर ध्वनि के समान भयंकर ध्वनि-से भरा हुआ-सा प्रतीत हो रहा है ॥ ३५० ॥

पूर्वोक्त 'माधुर्य', 'ओज', 'प्रसाद' संज्ञक 'गुणों' की अभिव्यञ्जक 'वर्ण', 'वृत्ति' और 'रचना' (पदरचना) अलग-अलग (भिन्न-भिन्न) प्रकार की जैसे बताई गई है और 'परिम्लान' आदि उदाहरणों में देखी भी गई है, किन्तु उसका अपवाद भी कहीं-कहीं देखा जाता है अर्थात् अन्य प्रकार के औचित्य को ध्यान में रख कर, उक्त गुणाभिव्यञ्जन करने में समर्थ 'वर्ण', 'वृत्ति', 'रचना' (संघटना) के नियम का उल्लंघन भी किया जाता है ।

कहीं-कहीं 'गुणाभिव्यञ्जन-नियम' के उल्लंघन करने में तीन 'कारण' प्रदर्शित किये गये हैं—

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम् अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धता रचनादयः। वक्ता चात्र भीमसेनः।

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः।

यथा--

---

(१) वक्ता का (वक्तृगत) औचित्य, अर्थात् कविगत अथवा कविनिबद्ध वक्तृगत औचित्य।

(२) वाच्यगत औचित्य, अर्थात् प्रतिपाद्य (वर्णनीय) विषयगत औचित्य।

(३) प्रबन्धगत औचित्य अर्थात् भिन्न-भिन्न महाकाव्य, मुक्तक, नाटक, कथा, आख्यायिका चम्पू आदिगत औचित्य।

अत्र हीति। यहाँ पर वेणीसंहार नाटक से प्रस्तुत किये गये उदाहरण (मन्थायस्तार्णवाम्भ०) में जो 'वर्ण' तथा 'वृत्ति' और 'संघटना' है, वह एकमात्र वक्ता भीमसेन के व्यक्तित्व का ही अनुसरण कर रही है। क्योंकि यहाँ पर जो 'वाच्यार्थ' है, वह 'प्रश्न' रूप है। वह 'क्रोध' (रौद्रादि वीररस) आदि का अभिव्यञ्जक नहीं है। तथा यह भीमसेनोक्ति भी अभिनेय प्रबन्ध (नाटक) की है। अतः अभिनेयार्थ काव्य (प्रबन्ध) में दीर्घ समास आदि की रचना नहीं करनी चाहिए, अन्यथा 'अर्थ' की प्रतीति शीघ्र नहीं हो पाती। उस कारण यहाँ पर 'वाच्य' तथा 'प्रबन्ध'—दोनों के औचित्य को दृष्टिगत करके 'दीर्घसमासवाली उद्धत रचना' का प्रयोग नहीं करना चाहिए था।

किन्तु उन दोनों की उपेक्षा करके केवल भीमसेन जैसे 'उद्धत वक्ता' के मुख से शोभा देने के कारण 'वक्ता' के औचित्य को देखकर 'दीर्घ समासवाली इस उद्धत रचना' का प्रयोग किया गया है। इसलिए 'दीर्घ-समासवाली उद्धत रचना' उन 'वाच्य' तथा 'प्रबन्ध'–दोनों के प्रतिकूल हो गई है। तथापि यहाँ पर 'भीमसेन' 'उद्धत स्वभाव' का 'वक्ता' है। इसलिए उसके मुख से यह 'उद्धत दीर्घ समासवाली' रचना शोभा दे रही है। अतः 'वाच्य' तथा 'प्रबन्ध' दोनों की उपेक्षा करके यह रचना की गई है।

क्वचिदिति। और कहीं-कहीं 'वक्ता' तथा 'प्रबन्ध' दोनों की उपेक्षा करके केवल 'वाच्य' के 'औचित्य' की ओर दृष्टि देकर ही 'रचना' की जाती है।

इसके उदाहरण रूप में 'प्रौढच्छेदानुरूप' यह काव्य प्रस्तुत किया जा रहा है। 'चन्द्रिका' आदि व्याख्याकारों ने इस पद्य को 'महावीरचरित' का बताया है, किन्तु 'महावीरचरित' में यह पद्य उपलब्ध नहीं है। अतः कुछ विद्वानों ने इसे 'छलितराम'-नाटक का बताया है।

कुम्भकर्ण के कटे हुए शिर के ऊपर से गिरने का वर्णन इस पद्य में किया गया है।

यथेति। जैसे—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात-
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम् ।
कुर्वत्काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजाम्
झाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥ ३५१ ॥

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षाः प्रबन्धोचिता एव ते । तथा हि-आख्यायिकायां

प्रौढेति । कुम्भकर्ण का यह भयानक शिर (मस्तक) आकाश से गिर पड़ा, जो शिर, मानो कटी हुई गर्दन (कण्ठ) के छिद्र में प्रवेश करती हुई वायु (हवा) के 'झाँय-झाँय' शब्द के द्वारा प्रबल पराक्रमी राघवेन्द्र रामचन्द्र के पराक्रम की स्तुति कर रहा हो, कुम्भकर्ण के उस शिर (मस्तक) को मानो सूर्य का सारथी 'अरुण' इस प्रकार देख रहा है, मानों उस मस्तक के सहसा कट जाने के कारण उसकी आकस्मिक वेगपूर्ण उछाल से उस सूर्यसारथी अरुण को 'राहु' (सैंहिकेय) का-सा भ्रम हो रहा हो, अतएव अश्वों (घोड़ों) की घबराहट रोकने के लिए अपने रथ को तिरछा करके उसे (मस्तक को) निर्निमेष दृष्टि से (एक-टक दृष्टि से) भय तथा आश्चर्ययुक्त होकर देखता हुआ वह जा रहा हो ॥ ३५१ ॥

('छिद्यते अनेन इति छेदः'—इस करणव्युत्पत्ति से 'छेद' शब्द 'खड्ग' का वाचक है ।

यहाँ पर 'वक्ता'—'वैतालिक' है, और अभिनेयात्मक प्रबन्ध है—इसको ध्यान में रखने पर 'परुषवर्ण, दीर्घसमास, उद्धत रचना (गुम्फ)' का यहाँ पर कोई औचित्य नहीं है । किन्तु कुम्भकर्ण के 'शिर' की भयानकता, ओजस्विता के कारण उस शिर के पतनरूप वाच्यार्थ (वर्णनीय विषय) के औचित्य को देखते हुए, उसके वर्णन में दीर्घ समासवाली उद्धत रचना ही शोभा दे रही है । उस कारण 'वक्ता' तथा 'प्रबन्ध' दोनों की उपेक्षा करके केवल वाच्यार्थ के औचित्य के कारण ही यहाँ 'दीर्घ-समासवाली उद्धत रचना' का प्रयोग कवि ने किया है । अर्थात् 'वर्णनीय विषय (वाच्यार्थ) का औचित्य' ही इस प्रकार की 'वर्ण', 'वृत्ति', 'संघटना' का नियामक, यहाँ हो गया है ॥ ३५१ ॥

क्वचिदिति । इसी प्रकार कहीं-कहीं वक्ता और 'वाच्य'—दोनों की उपेक्षा करके केवल 'प्रबन्ध' के 'औचित्य' की ओर दृष्टिपात करके 'रचना' आदि का प्रयोग किया जाता है ।

तथा हीति । जैसे—'आख्यायिका' (प्रबन्ध-विशेष) में शृङ्गार रस के वर्णन में भी 'कोमल' (मसृण) वर्ण, वृत्ति, रचना आदि का प्रयोग नहीं किया करते । अर्थात् वर्ण, वृत्ति, रचना का विपर्यय दृष्टिगोचर होता है, जिसे उचित माना जाता है ।

शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ

कथायामिति । जैसे—

(१) शृङ्गार रस के विद्यमान होने पर भी यदि प्रबन्ध 'आख्यायिका' (हर्षचरित आदि) हो तो, वहाँ कोमल (मसृण) वर्ण, अल्प अथवा मध्यम समास तथा मधुर पदरचना (संघटना) का कोई नियम नहीं है।

(२) रौद्ररस के विद्यमान होने पर भी यदि प्रबन्ध 'कथा' रूप हो, जैसे क्षेमेन्द्र कृत 'पद्यकादम्बरी' तो वहाँ भी परुष वर्ण, दीर्घ समास तथा उद्धत पदरचना का कोई नियम नहीं है।

(३) रौद्रादि रस के विद्यमान होने पर भी यदि प्रबन्ध 'नाटकादि' रूप हों तो वहाँ भी दीर्घसमास, कठोरवर्ण, और विकट पदबन्ध का कोई नियम नहीं है।

इसी प्रकार अन्यत्र मुक्तक, सन्दानितक, कलापक, कुलक आदि प्रबन्धों में भी 'संघटना' आदि के नियम को नहीं माना जाता। एवमिति। इसी प्रकार अन्य औचित्यों का भी अनुसरण करना चाहिए।

विवरण—ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने 'वृत्ति' में 'आख्यायिका' तथा 'कथा' शब्द का प्रयोग किया है। प्रायः दोनों को समानार्थक ही लोग समझा करते हैं। किन्तु साहित्य-शास्त्र में ये दोनों शब्द 'भिन्न रचनाशैली' के सूचक हैं। ये दोनों शब्द 'गद्यकाव्य' के भेद को बताते हैं। 'आख्यायिका' की रचना 'उच्छ्वास' आदि भागों में विभक्त होती है। 'कथा' में इस प्रकार का विभाग नहीं होता है। 'आख्यायिका' का उदाहरण—'हर्षचरित' है और 'कथा' का उदाहरण—'कादम्बरी' है। 'आख्यायिका' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

"आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशादिकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं गद्यं क्वचित् क्वचित् ॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्या वक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम् ॥"

—जैसे–हर्षचरित आदि।

सुधासागरकार ने 'आख्यायिका' का लक्षण साहित्यमीमांसा में इस प्रकार दिया है—

"कविसाहित्यसहितं नरपालकथान्वितम् ।
विचित्रवर्णनाचारुदशोच्छ्वासमनोरहम् ॥
उच्छ्वासान्ते वक्त्रयुक्तं रचितापरवक्त्रकम् ।
उच्छ्वासादौ च पद्यार्थयुक्तमाख्याभिधायकम्" ॥

रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः । एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्तव्यम् ।

इति मम्मटभट्ट-विरचित-काव्यप्रकाशे गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णयो नाम अष्टम उल्लासः ॥ ८ ॥

'कथा' का लक्षण इस प्रकार है—

"कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदत्र भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके ॥
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ।"

—जैसे–कादम्बरी आदि ।

अग्निपुराण में 'कथा' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

"श्लोकैर्वंशं तु संक्षेपात् कविर्यत्र प्रशंसति ।
मुख्यार्थस्यावताराय भवेदत्र कथान्तरम् ॥
परिच्छेदो न यत्र स्याद्भवेद्वा लम्भकः क्वचित् ।
सा कथा नाम तद्गर्भे निबध्नीयाच्चतुष्पदीम् ॥"

मूलगत 'नाटकादौ' में 'आदि' शब्द से 'प्रकरण' आदि को समझना चाहिए । नाटकादि 'दश' होते हैं । भरतमुनि ने कहा है—

"नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च ।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ॥
ईहामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाटयलक्षणे ॥"

एवमिति । एक-एक छन्द में 'वाक्यसमाप्ति' को 'मुक्तक' कहते हैं । दो छन्दों में वाक्य समाप्ति को 'सन्दानितक' कहते हैं । तीन छन्दों में वाक्यसमाप्ति को 'विशेषक' कहते हैं । और चार छन्दों में वाक्यसमाप्ति को 'कलापक' कहते हैं । तथा पाँच से लेकर चौदह छन्दों तक में होने वाली वाक्यसमाप्ति को 'कुलक' कहते हैं । दो छन्दों में वाक्यसमाप्ति को 'युग्म' भी कहते हैं ।

"द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥"

मुक्तकों में कवि का अभिनिवेश 'रस' में होने से 'औचित्य', रस के आश्रित होता है । जैसे—'शून्यंवासगृहम्'—(उ० ४, श्लो० ३०) । यदि रसाभिनिवेश न हो तो कामचार (स्वेच्छा) बताया गया है ।

काव्यप्रकाशकार ने इस सम्पूर्ण प्रकरण को आनन्दवर्धन के अधोलिखित लेख के अनुसार ही लिखा है—

"विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥"—(ध्व० लो० ३।६३)

वक्तृ-वाच्यगतौचित्ये सत्यपि, विषयाश्रयमन्यदौचित्यसंघटना नियच्छति। । यतः काव्यस्य प्रभेदाः—(१) मुक्तकं, संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशनिबद्धं, (२) सन्दानितक-विशेष-कलापक-कुलकानि, (३) पर्यायबन्धः, (४) परिकथा, (५) खण्डकथा-सकलकथे, (६) सर्गबन्धः, (७) अभिनेयार्थं, (८) आख्यायिका-कथे, इत्येवमादयः, तदाश्रयेणाऽपि संघटना विशेषवती भवति।

तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम्। तच्च दर्शितमेव, अन्यत्र कामचारः। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्वपि रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा हि अमरुकवेः मुक्तकाः शृङ्गार-रसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव। सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमास-दीर्घसमासे एव संघटने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तं प्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्।

पर्यायबन्धे पुनरसमास-मध्यमसमासे एव संघटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घ-समासायामपि संघटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः। तत्र इतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रससम्बन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथा-सकलकथयोस्तु प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वात् दीर्घसमासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौ-चित्यन्तु यथारसमनुसर्तव्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यम्। अन्यथा तु कामचारः। द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनात् रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिका-कथयोस्तु गद्यनिबन्धन-बाहुल्यात्, गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते'' ॥ अर्थात् 'विषयाश्रयमपि' से 'संघटना' के अन्य नियामकों को भी बताया गया है। 'वक्ता' और 'वाच्य' के औचित्य के अतिरिक्त 'संघातविशेष' रूप 'सन्दानितक' आदि प्रबन्धात्मक विषयनिष्ठ 'औचित्य' भी 'संघटना' को नियन्त्रित करता है, क्योंकि 'मुक्तक' आदि काव्यविशेष के आश्रयण से भी 'संघटना' व्यवस्थित होती है। वैसे ही 'मुक्तक' आदि के भेद से विषयों के वैचित्र्य से उनके अनुसार भी संघटना व्यवस्थित होती है।

उक्त कारिका की व्याख्या, वृत्तिकार ने संक्षेपतः की है—वक्तृ-वाच्यगतौचित्ये इति। 'वक्ता' एवं 'वाच्यगत औचित्य' और 'विषयगत औचित्य—ये तीनों ही संघटना को नियन्त्रित करते हैं। नियन्त्रण करने में हेतुरूप विषयप्रभेदों को बता रहे हैं—यतः काव्यस्येति। क्योंकि काव्य के बहुत-से विषयप्रभेद हैं, जैसे—स्वतन्त्र रूप से वाक्यार्थबोधन में समर्थ एकमात्र श्लोकात्मक 'मुक्तक', संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में रचित होने से तीन प्रकार का है। 'युग्म' श्लोकरूप 'सन्दानितक' एवं पद्यत्रयात्मक

'विशेषक', पद्यचतुष्करूप कालापक, पद्यपञ्चकरूप 'कुलक', खण्डकाव्यात्मक 'पर्यायबन्ध', अनेकवृत्तान्तवर्णनात्मक 'परिकथा'; फलपर्यन्तवृत्तान्तवर्णनात्मक 'सकलकथा'-'खण्डकथा'। सर्गबन्धरूप श्रव्य 'महाकाव्य'—नाटकादि दृश्यकाव्य, गद्यप्रचुरात्मक आख्यायिका-कथा और गद्य-पद्यात्मक चम्पू आदि विषयों के अनेक प्रभेद हैं। इन काव्यप्रभेदरूप विशेष विषयों के भेद से सभी संघटना विशेष प्रकार की होती है।

मुक्तक का विषय बताते हैं—तत्रेति। कवि यदि 'रस-भाव' के अभिव्यञ्जक रूप से 'मुक्तक' की रचना करना चाहता हो, तो 'मुक्तक' के औचित्यानुसार 'संघटना' की जानी चाहिए, जिसे संघटनानियामक के प्रदर्शन करते समय बता चुके हैं। परन्तु सरस निबन्धन के लिए कवि का अभिप्राय नहीं हो तो यथेच्छ (मन-मानी) संघटना की जा सकती है। जिस प्रकार बड़े-बड़े प्रबन्धों में सामग्री के संघटन से कवि को रसबन्ध (रसनिर्माण) में अभिनिवेश (अनुराग) होता है, वैसे ही मुक्तक मात्र में भी अतिशय प्रतिभासम्पन्न कवि का रसबन्धविषयक अभिनिवेश हो सकता है। जैसे अमरुक कवि का शृङ्गार-रस को व्यञ्जित करनेवाला 'मुक्तक' छोटा होने पर भी अधिक व्यंग्यार्थ के होने से महाप्रबन्ध की तरह विख्यात है। जैसे—'अलसवलितैः'—इस श्लोक में नायक रूप आलम्बन विभावादि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के द्वारा पूर्वरागाख्य विप्रलंभ-शृङ्गार का द्योतक 'मुक्तक' प्रसिद्ध है। एवं 'लिखन्नास्ते' इस श्लोक में ईर्ष्याख्य विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यञ्जक मुक्तक प्रसिद्ध है।

स्वतन्त्र 'सन्दानितक' आदि में केवल बन्धदृढ़ता के लिए मध्यम-समास एवं दीर्घ-समासात्मक संघटना का ही अनुसरण करना चाहिए। किन्तु प्रबन्धान्तर्वर्ति सन्दानितक आदि में प्रबन्ध के अनुरूप ही यथासंभव संघटना का आश्रयण करना उचित है, अर्थात् स्वतन्त्र सन्दानितक आदि में बन्ध की दृढ़ता के उचित संघटना का होना आवश्यक है, और प्रबन्धघटक सन्दानितक आदि में प्रबन्धोचित ही संघटना होनी चाहिए। निष्कर्ष यह है कि स्वतन्त्र सन्दानितिक से लेकर कुलकपर्यन्त असमासात्मक संघटना होने पर इतस्ततः दूरवर्ती 'क्रिया' आदि के ढूंढ़ने में विक्षेपजनित शैथिल्य होने से वाच्यार्थ में ही प्रतीति का पर्यवसान होकर 'रसतत्त्व', चर्वणा के योग्य नहीं रहता। अब उक्त स्थल में असमासात्मक संघटना वर्जित है।

खण्डकाव्यात्मक पर्यायबन्ध में असमास एवं मध्यमसमासात्मक संघटना होनी चाहिए, क्योंकि इस सम्बन्ध में शृङ्गार रस का ही प्रधानतया आस्वादन होने से दीर्घ-समास को वर्जित माना गया है। कदाचित् उद्धत अर्थादि के औचित्यानुसार दीर्घ-समासात्मक संघटना होने पर भी परुषावृत्ति एवं ग्राम्यवृत्ति का सर्वथा परित्याग करना चाहिए, क्योंकि इन दोनों के मानने पर प्रकृत रस ही नष्ट हो जायगा।

विचित्र प्रकारक अनेक वृत्तान्त वर्णनात्मक 'परिकथा' में तो संघटना का कामचार रहता है। क्योंकि इसमें इतिवृत्त (कथानक) मात्र का वर्णन होने से विशेष (खास) कर किसी रसविशेष के प्रति अत्यन्त आग्रह नहीं रहता है।

प्रकृति से प्रसिद्ध खण्डकथा एवं सकलकथा में कुलक आदि के निरूपण का अधिक्य रहने से अर्थप्रतीति का विलम्ब होना स्वाभाविक है, और रसप्रतिपादनार्थं अधिक अभिनिवेश भी नहीं रहता, इसलिए असमास, मध्यमसमास और दीर्घसमासात्मक तीनों संघटनाओं का निर्माण किया जा सकता है।

परन्तु प्रबन्धगत रस के अनुसार परुषादि वृत्तियों के औचित्य का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

सर्गबन्धात्मक महाकाव्य को यदि कवि, रसनिवेश के अभिप्राय से रचता है, तो रसानुसार ही संघटना की व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु यदि रस की उपेक्षा कर 'इतिवृत्तमात्र' के वर्णन करने के उद्देश्य से महाकाव्य की रचना करनी हो तो पुष्ट करने योग्य 'रस' के न रहने से 'संघटनात्मकवृत्तियों' की भी कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती, अपितु कामचार ही रहता है।

'रसवर्णन एवं इतिवृत्तवर्णन'—इन दोनों के तात्पर्य से सर्गबन्धरूप महाकाव्य के निर्माण में कवियों की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे—'रस' तात्पर्य से कालिदासादिकृत 'रघुवंश' आदि और 'कथानकरूप' इतिवृत्तमात्र के तात्पर्य से भट्टजयन्त कृत 'कादम्बरी-कथासार' आदि हैं।

परन्तु इन दोनों में रसतात्पर्य से रचित 'काव्य' ही श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि रसास्वादन कराने के लिए ही काव्य में कवियों की प्रवृत्ति होती है।

यदि नाटकादि दृश्य काव्य में 'रस' के प्रति अभिनिवेश न हो तो विलक्षण चमत्कार-रहित हो जाने के कारण उस काव्य का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इसलिए विशेष करके 'दृश्यकाव्य' में 'रसतात्पर्य' से ही कवि की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

आख्यायिका और कथा में अधिकांश गद्यभाग रहता है। और गद्य में छन्दोबन्ध से भिन्न ही मार्ग है। इसलिए गद्य विषय में संघटना के नियम का कथन न होने पर भी संक्षेपतः किया ही जाता है।

"एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि च्छन्दोनियमवर्जिते॥"

पद्यकाव्य के प्रकरण में कथित वक्ता, वाच्य और प्रबन्धात्मक विषय का औचित्य ही 'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यम्'—के अनुसार छन्दोबन्धनियमरहित सभी गद्यकाव्य में भी संघटना का नियामक होता है। अर्थात् किसी का वहाँ पर विशेष उल्लेख न रहने से तुल्ययुक्त्या गद्य-पद्य दोनों ही प्रबन्धों में संघटना का नियामक तुल्य ही समझना चाहिए। तथापि गद्यांश स्थल में विशेषकर प्रबन्धात्मक विषयगत औचित्य के आधार पर ही संघटना निर्भर रहती है। गद्य काव्य में भी जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता, रस-भावरहित होता है, तब संघटना का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। परन्तु इन दोनों के रस-भाव युक्त होने पर पूर्वोक्त वक्तृ आदिगत औचित्य ही संघटना को नियन्त्रित करता है।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की 'रहस्यबोधिनी' व्याख्या में गुणालङ्कारभेदनियतगुणनिर्णय नाम अष्टम उल्लास समाप्त हुआ।

नवम उल्लासः

(शब्दालंकारनिरूपणात्मकः)

(शब्दालंकारस्तत्स्वरूपभेदयोर्विवेचनम्)

गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह—

पूर्व उल्लास के साथ नवम उल्लास की सङ्गति—प्रथम उल्लास में "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—यह काव्यलक्षण बताया गया है। इस काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ' का अन्तिम विशेषण "अनलङ्कृती" दिया गया है। 'शब्दार्थरूप काव्य' में साधारणतया 'अलङ्कार' का प्रयोग तो होना ही चाहिए, किन्तु जहाँ 'रस' आदि की प्रतीति स्पष्ट होती है, वहाँ यदि कदाचित् अलङ्कार न भी रहे अर्थात् काव्य-शरीररूप 'शब्द' और 'अर्थ' अलङ्काररहित भी हों, तो भी उसे लोग 'काव्य' कहते हैं। अर्थात् शब्दार्थ के 'सरस' रहने मात्र से ही उन्हें 'काव्य' कहते ही हैं। अतः काव्यलक्षणगत 'शब्दार्थौ' के अन्तिम विशेषण 'अनलङ्कृती' पदगत 'अलंकृति' (अलंकार) को समझने के लिए 'अलङ्कारों' का निरूपण करना आवश्यक है। काव्यलक्षण में 'अलङ्कार' का सम्बन्ध 'शब्द' तथा 'अर्थ' दोनों के साथ बताया गया है। इसीलिए 'अलङ्कारों' के दो विभाग—'शब्दालंकार' और 'अर्थालङ्कार' के रूप में किये गये हैं। उसी को बताने के लिए काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मटभट्ट ने 'नवम' और 'दशम'—इन दो उल्लासों की रचना की है। 'नवम उल्लास' में केवल 'शब्दालङ्कारों' का निरूपण और 'दशम उल्लास' में 'अर्थालङ्कारों' का निरूपण किया है।

अष्टम उल्लास में अलङ्कारों का 'सामान्य लक्षण' "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्"—बता चुके हैं। अतः पुनरुक्ति न करके प्रस्तुत उल्लास में 'अलङ्कारों' का निरूपण ही किया जा रहा है। पूर्वोक्त 'काव्यलक्षण' में 'गुण' को 'अलङ्कार' की अपेक्षा पहले कहने से और वह 'रस' का धर्म रहने के कारण उसका 'प्राधान्य' रहने से उसकी जिज्ञासा प्रथमतः होती है। अतः उसका (गुण का) निरूपण करने के बाद ही अवसर प्राप्त होने से अब 'अलङ्कार' का निरूपण किया जा रहा है। एवं च गुणनिरूपणात्मक 'अष्टम उल्लास' के साथ अलङ्कार निरूपणात्मक 'नवम उल्लास' की 'अवसर संगति' समझनी चाहिए।

'अलङ्कार' शब्द का अर्थ समझने के लिए 'अलङ्कार' शब्द की निरुक्ति पर ध्यान देना होगा। अलङ्करोति इति अलङ्कारः—यह उसकी निरुक्ति है। इस निरुक्ति से

यह प्रतीत होता है कि जो 'शरीर' को अलंकृत (भूषित) करता है अर्थात् जिसके धारण करने से शरीर विभूषित कहलाता है, उसे 'अलंकार' कहते हैं। उसी प्रकार 'काव्य' में अनुप्रास, उपमा आदि, 'काव्य' के शरीरभूत 'शब्द' और 'अर्थ' को विभूषित करते हैं। उस कारण वे (शब्द तथा अर्थ) अलंकार कहलाते हैं।

कोई भी 'तत्त्व' (पदार्थ) हो, या तो वह उत्कर्ष का आधान करता है अर्थात् उत्कर्षाधायक होता है या वह जीवन (स्वरूप) का आधान करता है अर्थात् जीवनाधायक (स्वरूपाधायक) होता है। इस दृष्टि से 'अलंकार तत्त्व' को जब हम देखते हैं, तब ज्ञात होता है कि वह (अलंकार) तो 'अलंकार्य' में 'उत्कर्ष' का आधान मात्र करता है, अर्थात् उसका 'उत्कर्षाधायक' बनता है। वह 'अलंकार्य' में उसके 'स्वरूप' (जीवन) का आधान नहीं करता, अर्थात् उसका 'स्वरूपाधायक' (जीवनाधायक) नहीं बनता।

कोई स्त्री या पुरुष, 'अलङ्कार' (आभूषण) से रहित रहने पर भी 'मनुष्य' ही कहलाता है। किन्तु जो अलङ्कार (आभूषण) पहने रहता है अर्थात् अलङ्कार के सहित (अलङ्कार से युक्त) रहता है, उसे अधिक 'उत्कृष्ट' समझा जाता है। उसी प्रकार 'काव्य' में 'अलंकार' का विद्यमान रहना अनिवार्य नहीं है। वे (अलंकार) यदि काव्य में उपलब्ध होते हैं, तो वे 'काव्य' के 'उत्कर्षाधायक' समझे जायेंगे। यदि वे काव्य में उपलब्ध नहीं हों, तो भी काव्यत्व की कोई हानि नहीं है। अतएव 'अलङ्कार' को 'काव्य' का 'अस्थिर धर्म' कहा गया है।

किन्तु पूर्व के अष्टम उल्लास में बताये गये 'गुण' तत्त्व तो 'काव्य' के 'स्थिर धर्म' है, अर्थात् 'काव्य' में 'गुण' का होना अनिवार्य है, अर्थात् काव्य में 'गुणों' की स्थिति आवश्यक है। अलङ्कार के विषय में ऐसी बात नहीं है। काव्य में 'अलंकार' का होना अनिवार्य नहीं है।

यही 'गुण' और 'अलङ्कार' में भेदक तत्त्व है। 'गुण' और 'अलङ्कार' को अभिन्न नहीं समझना चाहिए। अतएव मम्मट भट्ट ने काव्य लक्षण में "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" कह कर 'अलंकार-रहित' को भी 'काव्य' कहा है। 'अलङ्कार' तो 'काव्य' के केवल 'उत्कर्षाधायक' हैं। वे 'स्थिर' या 'अनिवार्य धर्म' नहीं हैं।

इसी अभिप्राय से मम्मट भट्ट ने अष्टम उल्लास में 'अलंकार' का लक्षण किया था कि—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥"

'अलंकार', 'जातुचित्'–कभी-कभी ही (क्वचिदेव) उस 'रस' को अलंकृत करते हैं। सर्वदा (हमेशा) अलंकृत नहीं करते। इस कारण उन्हें (अलंकारों को) 'काव्य' का 'अस्थिर धर्म' कहा गया है।

इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अलंकार का लक्षण इसी प्रकार किया है—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्'' ॥—(सा० द० १०।१)।

यह उपर्युक्त 'सिद्धान्त' 'ध्वनिवादियों' का है। 'अलंकार' को 'काव्य' का अस्थिर धर्म मानने का सिद्धान्त, 'सर्वमान्य' नहीं है। अलङ्कारसम्प्रदाय के आचार्य—भामह का कहना है कि 'अलंकार' तो काव्य के अनिवार्य, स्थिर तत्त्व हैं।

अलङ्काररहित 'शब्दार्थ' को 'काव्य' कहने वालों की कल्पना तो, उष्णतारहित 'अग्नि' की कल्पना करने के तुल्य ही कही जायगी।

महाकवि जयदेव अपने 'चन्द्रालोक' में कहते हैं—

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥

अर्थात् जो विद्वान् 'अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थ' को काव्य कहता है, वह 'उष्णता-विहीन अग्नि' को क्यों नहीं मानता ? अर्थात् कोयेलों को 'अग्नि' क्यों नहीं कहता ?

अलङ्कारों का विभाजन रने वाले तत्त्व—

काव्य का शरीर—'शब्द ौर 'अर्थ' है, इस 'सिद्धान्त' को प्रायः सभी लोग मानते हैं। और 'शरीर' के भाधायक 'अलंकार' होते हैं—यह भी सर्वविदित ही है। अतः 'काव्य' में 'शब्दार्थ 'उत्कर्षाधायक तत्त्व' को ही 'अलंकार' कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि 'शब्द' और 'अर्थ'—ये दोनों, 'अलंकार' के आधारभूत हैं। इसी अभिप्राय से तीन प्रकार के 'अलंकारों' की कल्पना की गई है–(१) शब्दालंकार, (२) अर्थालङ्कार और दोनों के मिश्रण से बने हुए (३) उभयालङ्कार।

शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का मानना शब्द के 'अपरिवर्तनसहिष्णुत्व' और शब्द के 'परिवर्तनसहिष्णुत्व' पर निर्भर रहता है। अर्थात् जहाँ पर 'शब्द' का परिवर्तन (दूसरा पर्याय शब्द) कर देने से 'अलङ्कार' नष्ट हो जाता है, अर्थात् जिस 'शब्द-विशेष' के कारण ही 'अलंकार' की स्थिति बनी हुई थी, वहाँ पर 'शब्दालङ्कार' माना जाता है।

और जहाँ पर 'शब्द' का परिवर्तन (पर्याय) कर देने पर भी 'अलङ्कार' की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है, वह नष्ट नहीं होती, क्योंकि वहाँ 'अलंकार'

'शब्द' के आश्रित नहीं है, अपितु 'अर्थ' के आश्रित है। अतः उसे अर्थालङ्कार माना जाता है। निष्कर्ष यह है कि जो अलङ्कार 'शब्द' के परिवर्तन (पर्याय) को सहन नहीं करता है 'उस अलङ्कार को शब्दालङ्कार' कहा जाता है। और जो 'अलङ्कार' शब्द के परिवर्तन (पर्याय) को सहन कर लेता है, उस 'अलंकार' को 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों में यही भेद (अन्तर) है।

अलङ्कारों की संख्या—

'शब्दालङ्कारों' तथा 'अर्थालङ्कारों' की संख्या में विद्वानों का मतभेद है। वामन आदि विद्वानों ने 'अनुप्रास' और 'यमक'—इन दो को ही शब्दालङ्कार माना है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट ने उक्त 'दो अलङ्कारों' के साथ वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास—इन चारों को भी शब्दालङ्कार के रूप में माना है। अतः मम्मट भट्ट के मतानुसार ६ (छह) शब्दालंकार हैं।

इसी बात को काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने अपनी 'काव्यादर्श' (संकेत) टीका में लिखा है—

"वक्रोक्तिरप्यनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालङ्कृतयस्तु षट्" ॥

उपर्युक्त 'श्लेष' और 'पुनरुक्तवदाभास'—इन अलङ्कारों के विषय में भी विद्वानों का मतभेद है।

श्लेष अलङ्कार के दो भेद कहे गये हैं—(१) सभंगश्लेष, (२) अभंगश्लेष। इनके विषय में तीन प्रकार के मत उपलब्ध हो रहे हैं—

(१) अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक आदि कुछ विद्वानों ने 'सभङ्गश्लेष' को तो शब्दालङ्कार माना है, और 'अभङ्गश्लेष' को अर्थालङ्कार माना है।

(२) कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित आदि कुछ विद्वानों ने दोनों प्रकार के श्लेषालङ्कारों को 'अर्थालङ्कार' ही माना है।

(३) काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट आदि कुछ विद्वानों ने सभंग और अभंग—दोनों प्रकार के श्लेषालङ्कारों को 'शब्दालङ्कार' ही माना है।

तथापि यह ध्यान रखना है कि मम्मट भट्ट ने 'श्लेष' को 'अर्थालंकार' भी कहा है। किन्तु यह 'श्लेष' उन 'दोनों भेदों' से भिन्न है। जहाँ पर 'शब्द' का परिवर्तन (पर्याय) कर देने पर भी 'द्वितीय अर्थ' की प्रतीति होती है वह 'अर्थश्लेष' उन दोनों प्रकार के 'शब्दश्लेषों' से भिन्न है। शब्दालंकार रूप 'श्लेष' में 'जतु-काष्ठ' न्याय से दो शब्दों का श्लेष होता है। किन्तु 'अर्थश्लेष' में 'एकवृन्तगतफलद्वय'—न्याय से

(शब्दालंकाराणां भेदाः—प्रथमो वक्रोक्तिरलंकारः)

(१०३) यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ७८ ॥

'एक शब्द' में 'दो अर्थों' का श्लेष होता है। यही शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में अन्तर (भेद) है।

एवं च—काव्यप्रकाशकार मम्मट के मत में छह शब्दालङ्कार, इकसठ (६१) अर्थालङ्कार और एक (१) 'उभयालङ्कार' है। सरस्वतीकण्ठाभरण में चौबीस अलङ्कारों के नाम दिये गये हैं, जिनको बहुत-से विद्वान् 'शब्दालङ्कार' मानते हैं। किन्तु उनमें 'शब्दपरिवृत्यसहिष्णुत्व' रूप शब्दालङ्कार का लक्षण का समन्वय न हो-पाने से उन्हें शब्दालङ्कार कहना उचित नहीं होगा। इसी बात को एक पद्य में कहा गया है—

"पठन्ति शब्दालङ्कारान् बहूनन्यान् मनीषिणः।
परिवृत्तिसहिष्णुत्वात् न ते शब्दैकभागिनः" ॥

प्रयुक्त शब्द के परिवर्तन की असहनशीलता (असह्यता) ही 'शब्दालङ्कार' की पहचान है।

अष्टम उल्लास में 'गुणों' का विवेचन कर चुके हैं। अतः अब 'अलंकारों' के निरूपण का अवसर प्राप्त हुआ है। "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"—इस काव्य लक्षण में 'अलङ्कार' से पूर्व 'गुण' को कहा गया है। और 'गुण', रसधर्म भी हैं। इस कारण 'गुण' की प्रधानता रहने से उसकी जिज्ञासा प्रथम होती है। इसलिए अष्टम उल्लास में 'गुण' का निरूपण किया गया है। तदनन्तर 'अलंकार' को कहा होने से अब इस नवम उल्लास में अलङ्कारनिरूपण कर रहे हैं। एवं च पूर्व उल्लास के साथ इस उल्लास की 'अवसर-संगति' सिद्ध हो रही है।

गुणविवेचने इति। गुणनिरूपण विवेचनपूर्वक कर चुकने पर 'अलङ्कारों' का निरूपण अवसर प्राप्त है। अतः अब 'शब्दालङ्कारों' को प्रथमतः बता रहे हैं—

(सू० १०३, कारिका ७८)। यदुक्तमिति। किसी वक्ता के द्वारा बोले गये एक अभिप्राय वाले वाक्य की योजना जब किसी श्रोता के द्वारा अन्य अभिप्रायपरक की जाती है, तब वह योजना चाहे 'श्लेष' (प्रयुक्त शब्द के अन्य अर्थ) के आधार पर वह करे, अथवा 'काकु' (ध्वनिविकार) के द्वारा करे, तब उसे 'वक्रोक्ति अलङ्कार' कहा जाता है। वह 'वक्रोक्ति अलङ्कार' दो प्रकार का होता है—(१) 'श्लेषवक्रोक्ति' और (२) काकुवक्रोक्ति।

(वक्रोक्तेरवान्तरभेदाः)

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥ ३५२ ॥

अर्थात् 'एकेन अन्याभिप्रायेण उक्तं वाक्यम्, अन्येन यदि अन्याभिप्रायकं कल्प्यते तदा वक्रोक्तिरलङ्कारः'—इति भावः । एवञ्च वक्तृ-श्रोतृ-निर्वाह्योऽयमलङ्कारः । कारिकाकार ने 'योज्यते' तक 'सामान्य लक्षण' बताया है और 'श्लेषेण काक्वा वा'—कह कर योजनाहेतुकथनपूर्वक दो 'विशेष लक्षणों' को बताया है।

कारिका में 'अन्येन' कहने से 'अपह्नुति' अलङ्कार में 'अतिव्याप्ति' नहीं है। क्योंकि 'अपह्नुति अलंकार' में 'स्वोक्तेः स्वयमेव अन्यथाकरण' किया जाता है। अर्थात् वक्ता स्वयं के कथन का स्वयं ही अन्यथाकरण करता है। यथा—

"काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्थाः" ॥

यहाँ पर 'अपतितया' अर्थात् 'पति विना'—इस अभिप्रायवाले 'स्व-वचन' अपने वचन को 'पतनाभाव' के अर्थ में उसने स्वयं ही अन्याभिप्रायपरक (अन्यथाकरण) कर दिया है।

तथेति । 'तथा' पद से 'ताभ्यामुपाधिभ्याम्'—उन 'दो उपाधियों' से—यह अर्थ करना चाहिए। अर्थात् 'श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति'। यह 'श्लेषवक्रोक्ति' दो व्यक्तियों के जहाँ संवाद होते हैं, वहीं हुआ करती है। जैसे—वक्ता तो 'शृङ्गार' के अभिप्राय से बात कर रहा है, किन्तु श्रोता उसका वीरपरक अर्थ लगाता है।

अभिप्राय यह है—'श्लेष' दो प्रकार से होता है । (१) सभंगपदश्लेष और (२) अभंगपदश्लेष । इस अलङ्कार में तत्तत् शब्द 'परिवृत्त्यसह' रहने से 'चमत्काराधायक' होते हैं। इसलिए इसे 'शब्दालंकार' ही समझना चाहिए।

इन द्विविध श्लेषों में से 'सभंगपदश्लेष' के कारण जो 'वक्रोक्ति' होती है, उसका उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा—जैसे —

नारीणामिति । 'नारीणाम् अनुकूलम् आचरसि चेत् जानासि' अर्थात् विज्ञोऽसि (अभिज्ञोऽसि)। यदि तुम स्त्रियों के अनुकूल (अनुगुण) आचरण करते हो तो—'जानासि'—अर्थात् बुद्धिमान् (समझदार) हो—यह 'प्रथम वक्ता' ने कहा।

इस पर 'द्वितीय वक्ता' ने, 'प्रथम वक्ता' के द्वारा 'स्त्री' के अर्थ में प्रयुक्त 'नारीणाम्'—इस 'एक पद' को 'न अरीणाम्'—इन 'दो पदों' में विभक्त करके कहा

कि 'चेत्'—यदि तुम 'शत्रुओं' के अनुकूल आचरण नहीं करते हो तो 'जानासि' समझदार (बुद्धिमान्) हो—यह 'अर्थ' करके उत्तर देता है कि 'कः चेतनः वामानां प्रियम् आदधाति'—कौन बुद्धिमान् (समझदार) व्यक्ति, 'वामानाम्'—शत्रुओं का 'प्रियम्'—हित (अनुकूल कार्य) करता है ? 'काकु' से अर्थ निकला कि 'कभी नहीं करता'। अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अपने शत्रुओं के अनुकूल आचरण नहीं करता है।

इस पर 'प्रथम वक्ता' ने 'वामानाम्' का 'स्त्री-परक' अर्थ लगाकर 'कोई बुद्धिमान् स्त्रियों का प्रिय कार्य अर्थात् स्त्रियों के शासन में रहना नहीं चाहता है'—इस अभिप्राय से वह द्वितीय वक्ता को पूछता है—'हितकृत् नैवाऽबलानां भवान्'—तो क्या आप अबलाओं (स्त्रियों) के 'हितकृत्' प्रिय करने वाले नहीं है ?

यहाँ पर प्रथम वक्ता ने 'अबलानां हितकृत्' का प्रयोग स्त्रियों का प्रिय (हित) करने वाले के अर्थ में किया था। किन्तु द्वितीय वक्ता, 'अबलानां हितकृत्' का अर्थ—'अबलानाम्'—दुर्बलों के 'हितकृत्'—'हितं कृन्तति विनाशयति इति हितकृत्'—हितों (अभीष्ट प्रिय) का नाश करनेवाले नहीं हो ?—'हितकृत् नैवाऽबलानां भवान्'—यह अर्थ कर रहा है।

इस पर अर्थात् उक्त प्रश्न का उत्तर वह देता है—'युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः'—बल के अभाव (दुर्बलता) के लिए प्रसिद्ध स्वरूप वाले (दुर्बल व्यक्ति) के 'हित' का नाश करना 'किं युक्तम्' ?—क्या उचित है ? अर्थात् कभी उचित नहीं है।

प्रथम वक्ता ने 'बलाभावप्रसिद्धात्मनः' पद का प्रयोग 'दुर्बल' के अर्थ में किया था, परन्तु द्वितीय वक्ता उसका अर्थ—'बल' नामक असुरविशेष के 'अभावेन'—(हननेन-नाशेन) मार डालने के कारण प्रसिद्धस्वरूप वाला 'इन्द्र'—कर रहा है। तब प्रथम वक्ता के वाक्य का अर्थ, यह होगा—'क्या इन्द्र के हित का नाश करना उचित है ? अर्थात् इन्द्र के हित का नाश करना उचित नहीं है। उस कारण 'मैं उसे नहीं कर रहा हूँ'।

इस पर प्रथम वक्ता पुनः उससे कह रहा है—

"सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः"

आपमें इन्द्र के अभिमत प्रिय (मत = हित) का विनाश करने का सामर्थ्य ही कहाँ है ? ॥३५२॥

'सामर्थ्ये सति युक्ताऽयुक्त विचारः'—शक्ति होने पर ही औचित्य, अनौचित्य का विचार किया जाता है। किन्तु आप में तो वह सामर्थ्य ही नहीं है। उद्योतकार का कहना है कि 'सामर्थ्यं तु युक्तायुक्तविचारानुकूलव्यापारः'।

अभङ्गश्लेषेण यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्॥ ३५३ ॥

उक्त काव्य में 'वक्रोक्ति' अलंकार है। क्योंकि 'वक्त्रा, अन्याभिप्रायेण उक्तस्य वाक्यस्य, श्रोत्रा अन्यार्थकतया योजितत्वात्'—अर्थात् प्रथम वक्ता के 'अन्यार्थक शब्दों' का 'अन्य अर्थ' लगाकर द्वितीय वक्ता प्रश्नोत्तर कर रहा है। अतः यह 'वक्रोक्ति' का उदाहरण है। इस काव्य में 'नारीणाम्', 'बामानाम्', 'हितकृत्', 'बलाभाव-प्रसिद्धात्मनः'—ये शब्द (पद) श्लिष्ट हैं। इसलिए यह 'श्लेषवक्रोक्ति' का उदाहरण है। इनमें भी 'नारीणाम्', 'अबलानाम्'—'एक पक्ष' में 'नारीणाम्' तथा 'अबलानाम्'—ये पद, 'स्त्री' के अर्थ में लिये गये हैं किन्तु 'दूसरे पक्ष' में 'न अरीणाम्', 'न बलं यस्यां सा अबला'—इस प्रकार समास करके निष्पन्न हुए 'अबला' पद का 'अबलानाम्' रूप बनाया है। उस कारण इन दोनों पदों में 'सभङ्गश्लेष' है।

यद्यपि 'बामानाम्' आदि पदों में 'सभङ्गश्लेष' नहीं है, तथापि इस संवाद का आरंभ 'नारीणाम्'—इस 'सभङ्गश्लेष' से ही हुआ है। इसलिए यह सम्पूर्ण संवाद 'सभङ्गश्लेष' पर आधारित होने से इसे 'सभङ्गश्लेष' का उदाहरण कहा गया है।

इसी तरह किसी हिन्दी कवि का भी 'सभङ्गश्लेष मूलक वक्रोक्ति' का उदाहरण उपलब्ध होता है—

"गौरवशालिनी प्यारी हमारी, सदा तुम्हीं इक इष्ट अहो।
हौं न गऊ, नहि हौं अवशा, अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहो ॥"

इस पद्य में 'शिव-पार्वती' के संवाद को कवि ने बताया है। पद्य का 'पूर्वार्ध', 'शिव' का वचन है। शिव के वचन में जो 'गौरवशालिनी' पद का प्रयोग किया गया है, उसको 'पार्वती' ने 'गौः + अवशा + शालिनी'—इन तीन विभागों में विभक्त किया है।

शिवजी ने 'पार्वती' को अपनी 'गौरव-शालिनी प्रिया' कहा है, किन्तु 'पार्वती' उक्त पद का अन्य अर्थ करके कह रही है कि 'न तो मैं गऊ (गाय) हूँ, न अवशा (इन्द्रियों की दास) हूँ, और न 'अलिनी'—(भ्रमरी) हूँ, तब आप ऐसा क्यों कह रहे हैं ?

वक्रोक्ति में यही चमत्कार रहता है कि वक्ता और श्रोता परस्पर एक के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ में प्रयुक्त पदों को दूसरे अर्थों में लेकर अपनी-अपनी बुद्धि और उक्ति की सूक्ष्मता को प्रदर्शित करते हैं।

अभङ्गश्लेषेणेति। अभङ्गश्लेष के द्वारा वक्रोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यथेति। जैसे—

अहो इति। आश्चर्य है, किसने तुम्हारी बुद्धि को दारुण (निर्दय-क्रूर-कठोर)

काक्वा यथा—

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥ ३५४ ॥

बनाया है ? यहाँ पर 'दारुणा' पद को 'प्रथमान्त' मानकर कहा गया है । विश्व-मेदिनी कोषकारों ने कहा है—"दारुणो रसभेदे ना त्रिषु तु स्याद् भयावहे" । किन्तु श्रोता, उसे 'दारु' शब्द का तृतीयान्त पद मान कर उसका अर्थ बदल देता है । 'दारु' का अर्थ होता है—'काष्ठ' (लकड़ी) । तब उसका अर्थ यह हुआ कि 'किसने तुम्हारी बुद्धि को लकड़ी से बनाया है' ? क्योंकि 'बुद्धि' तो 'त्रिगुणात्मिका' सुनी जाती है । क्या किसी की बुद्धि भी कभी दारुमयी (काष्ठ की बनी हुई) किसी ने सुनी है ? ॥३५३॥

बुद्धितत्त्व तो सत्त्वरजस्तमोरूप गुणत्रयात्मक है । वह बुद्धि, 'प्रकृति' का परिणाम है । अतः सांख्यदर्शन ने उसे त्रिगुणात्मक माना है । अथवा 'बुद्धि' में सूक्ष्म-ग्राहित्व, आशुग्राहित्व और गृहीतग्राहित्वरूप 'तीन गुणों' के रहने से भी उसे 'गुणत्रयवती'कह सकते हैं ।

प्रथम वक्ता को 'दारुणा' इस प्रथमान्त पद से 'क्रूरा' यह अर्थ, अभिप्रेत है, किन्तु द्वितीय वक्ता, जो श्रोता है, उसने 'दारुणा' को तृतीयान्त पद मान कर 'काष्ठेन' (लकड़ी से)—इस अर्थ में 'दारुणा' पद की योजना कर दी है । इस पक्ष में "प्रकृत्या-दिभ्य उपसंख्यानम्'—इस वार्तिक से विहित 'दारुणा'—इस तृतीया का अर्थ 'अभेद' ही है । जैसे—'धान्येन धनवान्, सुवर्णेन धनवान्' ।

यहाँ पर 'दारुणा' इस एक ही पद से 'क्रूर' और 'काष्ठ'—ये दोनों अर्थ उपलब्ध हो रहे हैं । इसलिये यहाँ—'अभंगश्लेष' है । 'दारुणा' पद में किसी प्रकार का कोई भङ्ग नहीं किया गया है । अतः अभङ्ग पदश्लेष से यह वक्रोक्ति' है ॥

काक्वा यथेति । अब 'काकु' (ध्वनिविकार) के कारण होने वाली वक्रोक्ति का उदाहरण । जैसे—

गुरुजनपरतन्त्रतयेति । अरी सखि ! माता-पिता आदि गुरुजनों के आज्ञा धारक (पराधीन) होने के कारण बहुत दूर किसी देश में जाने के लिए उद्यत हुआ वह मेरा कान्त, भ्रमरों की गुञ्जार एवं कोयलों की मधुर कूक से रमणीय प्रतीत होने वाले इस वसन्त के समय में वापस नहीं आयेगा ॥ ३५४ ॥

उक्त उदाहरण में नायिका और उसकी सखी के परस्पर संलाप का वर्णन है । नायिका अपने प्रियकर को गुरुजनों की आज्ञा से (अपनी स्वेच्छा से नहीं) बहुत दूर परदेश जाने के लिए तैयार हुआ देख कर निराशापूर्ण भाव से बता रही है कि मेरा प्रियकर, गुरुजनों (माता-पिता) का आज्ञापालक है, उसे मेरी कोई चिन्ता नहीं है । उस कारण इस रमणीय वसन्त के समय उसके लौटने की आशा नहीं है ।

इस पर उसकी सखी इसी वाक्य (अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ') को अपनी कण्ठ ध्वनि बदल कर, अर्थात् एक भिन्न लहजे से बोलती है—क्या वह नहीं आवेगा ? अर्थात् अवश्य आवेगा। इस प्रकार निराशा को आशा में परिवर्तित कर दिया गया है। यह परिवर्तन 'काकु' के बल पर हुआ है। अतः यह काकुवक्रोक्ति का उदाहरण है।

नायिका ने 'न एष्यति'—कह कर निषेध का अभिप्राय व्यक्त किया था, किन्तु उत्तर देने वाली सखी ने उसी के निषेधार्थक वाक्य को दुहरा कर कहा कि 'यह बात नहीं है। वह आवेगा, अवश्य ही आवेगा— यह बात ध्वनि-विकार (काकु) के द्वारा सखी ने कही। 'परतन्त्रता' सार्वदिक (सर्वदा) नहीं रहती।

यहाँ पर 'काकु' में शब्दधर्मता होने से शब्दालङ्कारता है, और 'अन्यथा योजन' 'व्यञ्जना' से है—यह प्रदीप तथा उद्योतकार का कहना है॥

इस नवम उल्लास में 'वक्रोक्ति' नामक शब्दालङ्कार का निरूपण सर्वप्रथम किया गया है। यह करने में मम्मटभट्ट का विशेष अभिप्राय है।

श्री भामह—'वक्रोक्ति' को अलंकारों के रहस्य रूप में मानते हैं। ये कहते हैं—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः अनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥"

—का० लं० (२।८५)

और कुन्तक ने तो 'वक्रोक्ति' को काव्य का सर्वस्व ही माना है। वे कहते हैं—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥"

—वक्रो० जी० (१।७)

किन्तु मम्मटभट्ट का अपना पृथक् विचार है। उनका कहना है कि 'वक्र उक्ति' अथवा 'उक्तिवक्रता' तो शब्द की ही चारुता है। अर्थात् उसे काव्य की आत्मा कह-देना उचित नहीं है। वह तो एक शब्दालङ्कार है, अर्थात् शब्द का चमत्कार है।

(१) पहले उदाहरण (नारीणामनुकूलम्) में जो 'श्लेषवक्रोक्ति' है, वह पदों का भंग (खण्ड) करने के कारण है।

(२) द्वितीय उदाहरण (अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा०) में केवल अभंग पदश्लेष के कारण 'वक्रोक्ति' को बताया गया है। यहाँ पर 'दारुणा' पद से ही वक्ता-प्रतिवक्ता ने पृथक्-पृथक् अर्थ निकाल लिये। 'दारुणा' पद का भंग (खण्ड) नहीं किया गया है।

(३) तृतीय उदाहरण (गुरुजनपरतन्त्रतया) में 'काकु' के आधार पर वक्रोक्ति को बताया गया है।

(द्वितीयः—अनुप्रासोऽलङ्कारः)

(१०४) वर्णसाम्यमनुप्रासः ।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

नायिका ने तो बिना किसी 'काकु' के 'नैष्यति' पद का प्रयोग किया था, उसका अभिप्राय यह था कि—"नहीं आवेंगे ।" किन्तु उसकी सखी ने 'काकु' से (उच्चारण के अन्य लहजे से) पृथक् अभिप्राय प्रदर्शित कर दिया–'अरी' ! कैसे नहीं आवेंगे' अर्थात् अवश्य आवेंगे । यहाँ केवल 'काकु' (ध्वनिविकार, उच्चारण के लहजे) से ही अर्थ बदल गया । अतः यह 'काकुवक्रोक्ति' का उदाहरण है ।

(दूसरा अनुप्रास अलङ्कार)

(सू० १०४) वर्णों की समानता (आवृत्ति) को 'अनुप्रास' कहते हैं ।

स्वरवैसादृश्येऽपीति । स्वरों की भिन्नता रहने पर भी केवल व्यञ्जनों की समानता ही, मूलगत 'वर्णसाम्य' कहने का तात्पर्य है। रसाद्यनुगत इति । रसादि के अनुकूल वर्णों का प्रकृष्ट सन्निवेश ही 'अनुप्रास' कहा जाता है । 'रसादिभिरनुगतः प्रकृष्टः आसः न्यासः—अनुप्रासः ।' अर्थात् शब्दों का चयन ऐसा हो, जिसमें सदृश व्यञ्जनों का रसभावादि के अनुकूल अव्यवहित विन्यास किया गया हो, जो मनोरञ्जक प्रतीत हो ।

यह 'अनुप्रास'—'वर्णानुप्रास' और 'पदानुप्रास' के भेद से दो प्रकार का होता है । इनमें 'वर्णानुप्रास' भी 'छेकानुप्रास' और 'वृत्त्यनुप्रास' के भेद से दो प्रकार का होता है । व्यवधानरहित वर्णमात्र विन्यास को वर्णानुप्रास कहते हैं और वाचक पदों की आवृत्ति को पदानुप्रास कहते हैं । 'पदानुप्रास' को ही 'लाटानुप्रास' भी कहते हैं । यह 'पदानुप्रास' भी पाँच प्रकार का होता है—(१) अनेक पदों की आवृत्तिरूप, (२) एक पद की आवृत्ति रूप, (३) एक समास में आवृत्ति रूप, (४) भिन्न समास में आवृत्तिरूप, (५) समास तथा असमास दोनों में आवृत्तिरूप ।

अभिप्राय यह है कि स्वरों की भिन्नता रहने पर भी, केवल व्यञ्जनों की सदृशता (समानता) ही 'वर्णसाम्य' शब्द से यहाँ अभीष्ट है । रस आदि के अनुकूल 'वर्णों' के प्रकृष्ट सन्निवेश को 'अनुप्रास' कहा जाता है । स्वरों के विसदृश होने पर भी 'व्यञ्जनों' का सादृश्य (समान) होना आवश्यक है । उस सादृश्य (आवृत्ति) में बहुत व्यवधान नहीं होना चाहिए, और वह आवृत्ति (समानता) रस-भाव आदि के अनुकूल भी होनी चाहिए ।

(अनुप्रासस्य अवान्तरभेदाः)

(१०५) छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

छेका विदग्धाः, वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः । गत इति छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च ।

(छेकानुप्रास-निरूपणम्)

किन्तयोः स्वरूपमित्याह—

(१०६) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ।

अनेकस्य अर्थाद् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः ।

उदाहरणम्—

(अनुप्रास के अवान्तर भेद)

(सू० १०५) यह अनुप्रास दो प्रकार का होता है--(१) 'छेकगत' और (२) वृत्तिगत । 'छेकगत' अर्थात् चतुर कवि के द्वारा प्रयुक्त और वृत्तिगत अर्थात् वृत्ति (शब्दसंघटना) पर आश्रित । 'छेक' शब्द का अर्थ होता है—'विदग्ध (चतुर), और 'वृत्ति' का अर्थ होता है—वर्णविशेष के रसाभिव्यञ्जन का व्यापार । सूत्रस्थित 'गत' का अर्थ है-आश्रित । 'गत'-पद "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते"—इस नियम के अनुसार 'छेक' और 'वृत्ति'—इन दोनों पदों के साथ उसे (गत को) जोड़ना चाहिए। अर्थात् छेकगत और वृत्तिगत अनुप्रास । एवं च—छेकानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास—के भेद से वर्णसाम्यरूप वर्णानुप्रास दो प्रकार का होता है ।

दोनों सूत्रों को एक साथ ही अवतरित करते है—किं तयोरिति । छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास दोनों का स्वरूप क्या है ? 'स्वरूप'—पद में 'स्व' का अर्थ है 'लक्ष्य' पदार्थ । और 'रूप्यते लक्ष्यते अर्थात् इतरव्यावृत्ततया ज्ञायते'-इस व्युत्पत्ति से 'स्वरूप' का अर्थ—'अक्षण', अर्थात् इतरभेदक । एवं च दोनों अनुप्रासों के स्वरूप को पूछने पर उक्त दोनों सूत्रों के द्वारा क्रमशः उसे बता रहे हैं—

(सू० १०६) अनेक वर्णों का (व्यञ्जनों का) एक बार (सकृत्) आवृत्तिरूप साम्य (समानता) रहने पर 'पूर्व' (आद्य) अर्थात् 'छेकानुप्रास' कहलाता है ।

वृत्तिकार 'सूत्र' की व्याख्या करते हैं—अनेकस्येति । 'अनेकस्य' अर्थात् स्वरसाम्य अनियामक रहने से अनेक व्यञ्जनों का एक बार (सकृत्) सादृश्य होने पर 'छेकानुप्रास' कहा जाता है ।

उदाहरणमिति । जैसे—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥ ३५५ ॥

(वृत्त्यनुप्रास-निरूपणम्)

(१०७) एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥

एकस्य अपिशब्दादनेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः।

तत इति। तब प्रातः काल होते ही सूर्य के सारथी 'अरुण' के किञ्चिन्मात्र चलने से (परिस्पन्द से) अर्थात् पूर्णोदय भी नहीं हो पाया था, तभी म्लान हुआ चन्द्रमा, कामोपभोग से परिक्षाम (क्षीण) हुई कामिनी के कपोलस्थली के समान सफेद (पाण्डु) पड़ गया ॥ ३५५ ॥

कमलाकर भट्ट तथा चक्रवर्ती ने महाभारत के द्रोणपर्व का रात्रियुद्ध के अन्त में उक्त पद्य को प्रभातवर्णनपरक बताया है, किन्तु महाभारत के द्रोणपर्व के १८४ वे अध्याय में रात्रियुद्ध के अन्त में यह पद्य अनुपलब्ध है।

इस पद्य में 'स्पन्दमन्दी' का नकार-दकारात्मक, 'गण्डपाण्डु' का णकार-डकारात्मक अनेक व्यञ्जनों का सकृत् साम्य रहने से 'छेकानुप्रास' है, ऐसा प्रदीप, चन्द्रिका आदि व्याख्याकारों ने कहा है। व्यवहित होने पर भी अनेक व्यञ्जनों का सकृत् साम्य रहने पर छेकानुप्रास कहने वाले सारबोधिनी व्याख्याकार ने 'स्पन्दमन्दी' में तथा 'काम-कामी' में अनेक 'नकार-दकार का तथा ककार-मकार का भी 'सकृत् साम्य' बताया हैं। इसी प्रकार उद्योतकार भी अनेक 'नकार-दकार का तथा णकार-डकार-ककार-मकार' व्यञ्जनों का सकृत् साम्य बताते हैं। अतः यह छेकानुप्रास का उदाहरण है।

वृत्त्यनुप्रास—

(सू० १०७) एकस्येति। 'एक वर्ण' का तथा 'अनेक वर्णों' का भी अनेक बार का (असकृत्) आवृत्तिसाम्य रहने पर दूसरा (अपरः) अर्थात् 'वृत्त्यनुप्रास' कहलाता है।

वृत्तिकार उक्त सूत्र की व्याख्या करते हैं—एकस्येति। 'एक वर्ण' का तथा सूत्रगत 'अपि' शब्द से अनेक व्यञ्जनों का भी दो बार अथवा अनेक बार के सादृश्य (आवृत्ति) को 'वृत्त्यनुप्रास' कहते हैं। अर्थात् सूत्रगत 'अपि' शब्द, 'उक्त समुच्चयार्थक' है। सूत्रगत 'असकृत्' शब्द की ही व्याख्या 'द्वि-र्बहुकृत्वो वा' से की गई है।

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने जो यह कहा है कि "अत्रैकस्य सकृत्साम्येऽपि वृत्त्यनुप्रासमिच्छन्ति"। यथा—"व्याधूतचूताङ्कुर" में 'तकार' का सकृत् साम्य है।

किन्तु उनका यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि 'उत-उत' की आवृत्ति को देखकर 'छेकाभास' प्रतीत होता है। क्योंकि केवल 'एक व्यञ्जन' की सकृत् आवृत्ति होने पर कोई चमत्कार अनुभूत नहीं हो रहा है। एवं च प्रदीपकार ने 'वृत्ति' की व्याख्या करके जो कहा है कि "वस्तुतस्तु छेकानुप्रासभिन्नं लक्ष्यम् अन्यथैकस्य, सकृदावृत्तेरसंग्रहापत्तेः,एवं चैकस्य वर्णस्य सकृदसकृद्वानेकस्य त्वसकृत् साहश्यं वृत्यनुप्रास इति पर्यवसन्नम्" इति। किन्तु यह कथन ईर्ष्या मात्र है। सुधासागर में स्पष्ट कहा है कि वाग्देवता के अवतारस्वरूप वृत्तिकार के कथन का उल्लंघन, प्रत्यक्ष ब्रह्मा भी नहीं कर सकता।

वृत्यनुप्रास में 'गुण', 'वृत्ति', 'रीति' का समन्वय—

वृत्यनुप्रास का उदाहरण देखने के पहले 'वृत्ति' का तात्पर्य समझना आवश्यक है। इसी अभिप्राय से मम्मटभट्ट 'वृत्तियों' को बता रहे हैं। 'वृत्ति', 'रीति', 'मार्ग' 'संघटना' तथा 'शैली'—ये सभी शब्द समानार्थक हैं। तत्तद् आचार्यों ने एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न नामों से बताया है। आचार्य उद्भट ने 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। वे स्वरचित 'काव्यालङ्कारसंग्रह' ग्रन्थ में 'उपनागरिका', 'परुषा', 'कोमला'—इन तीन वृत्तियों का निरूपण करते हैं—

"शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्ह्लह्वाभ्याद्यैश्च संयुता॥
स्वरूपसंयोगयुतां, मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते, उपनागरिकां बुधाः॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं, ग्रथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥"

—का०लं०सं० (६-८-१०)

इन्हीं तीन प्रकार की 'वृत्तियों' को वामन ने तीन प्रकार की 'रीतियों' के रूप में, और कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के मार्गों के रूप में, और ध्वनिप्रवर्तक आनन्दवर्धन ने तीन प्रकार की 'संघटना' के रूप में स्वीकार किया है।

एवं च उद्भट की 'वृत्तियाँ', वामन की रीतियाँ, दण्डी और कुन्तक के 'मार्ग' और आनन्दवर्धन की 'संघटना'—ये सब समानार्थक हैं।

उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों में 'वर्णसाम्य' को वृत्यनुप्रास कहा है—

"सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा" ॥ उद्भट (१२ ॥

वृत्यनुप्रास में घटकतया उल्लिखित वृत्ति का विभाग बता रहे हैं— तत्रेति। तत्र अर्थात् वृत्यनुप्रास में।

(वृत्ति-विचारः)

तत्र—

(१०८) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

(१०९) ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् ।

(११०) कोमला परैः ॥ ८० ॥

परैः शेषैः । तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति ।

(सू० १०८) माधुर्येति । "माधुर्यव्यञ्जकैः" अर्थात् "मूर्ध्निवर्गान्त्यगाः स्पर्शाः ।" (सू० ९९) सूत्र के द्वारा बताये गये 'वर्णैः' अक्षरों से युक्त जो वृत्ति, उसे उपनागरिका कहते हैं । 'नागरिकया चतुरया स्त्रिया उपमिता उपनागरिका' । कहा भी है—

"स्वरूप संयोगयुतां मूर्ध्निवर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ॥"

इसी को कुछ लोग (वामन आदि) वैदर्भीरीति कहते हैं । उद्भट ने माधुर्यव्यञ्जक वर्णों की वृत्ति को उपनागरिका कहा है, और उसी को वामन ने वैदर्भीरीति कहा है ।

(सू० १०९) ओजःप्रकाशक अर्थात् "योग आद्यतृतीयाभ्याम्" (सू० १००) के द्वारा प्रतिपादित ओजोव्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति को परुष (कठोर) वर्ण घटित होने से 'परुषा' कहा है । इसी को वामन ने 'गौडीरीति' कहा है । अर्थात् उद्भट के मत से ओजोव्यञ्जक वर्णोंवाली वृत्ति, 'परुषावृत्ति' है और उसी को वामन ने 'गौडीरीति' कहा है ।

इस उपनागरिका और परुषावृत्ति का उदाहरण जानने की इच्छा होने पर कहते हैं—उभयत्रापीति । अर्थात् दोनों जगह यानी उपनागरिका और परुषा दोनों के उदाहरण पहले बता दिये हैं । अर्थात् अष्टम उल्लास के माधुर्य और ओजस् की व्याख्या के प्रसंग में 'अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गम्'—(उ० ८, श्लो० ७५) तथा 'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्त०'—(उ० ७, श्लो० १५९) उदाहरणों को दिया गया है ।

(सू० ११०) तृतीय वृत्ति को बता रहे हैं—कोमलेति । परैः शेषैः अर्थात् ओजो-माधुर्यव्यञ्जकातिरिक्त प्रसादगुण वाले वर्णों से युक्त वृत्ति को 'कोमला' कहते हैं । इसी को वामन ने पांचालीरीति कहा है । 'कोमला परैः'—इस (८० अशीतितम कारिका के 'परैः' का अर्थ 'शेषैः' ग्रन्थकार (वृत्तिकार) ने किया है । अर्थात् शेष वर्णों वाली तीसरी वृत्ति को उद्भट ने कोमलावृत्ति कहा है और वामन ने उसी को पांचाली रीति कहा है । एवं च 'शेष' का अर्थ यह हुआ कि उपनागरिका और परुषा वृत्ति अथवा माधुर्य तथा ओज के व्यञ्जक वर्णों को छोड़कर 'शेष' बाकी बचे हुए वर्णों से युक्त वृत्ति को कोमलावृत्ति कहा गया है, उसी को किसी ने 'ग्राम्यावृत्ति' के नाम से भी कह

उदाहरणम्—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥ ३५६ ॥

(वृत्ति-विषयकमन्यमतम्)

(१११) केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

दिया है । अर्थात् इस कोमलावृत्ति को ही उद्भटादि कुछ लोगों ने अतिशयित कान्ति के न रहने से ग्राम्यस्त्री के समान (अविदग्ध = अचतुर स्त्री के समान) 'ग्राम्यावृत्ति' के नाम से भी कह दिया है । कहा भी है—

"शेषैर्वर्णैर्यथायोगं ग्रथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्ये निष्णातबुद्धयः ॥"

कोमलावृत्ति का उदाहरण—

अपसारयेति । 'अपसारय घनसारम्'—अर्थात् कर्पूर को हटा दे, 'कुरु हारं दूर एव' अर्थात् हार को दूर ही रख, 'किं कमलैः' अर्थात् इन कमलपुष्पों से कोई लाभ नहीं है,'अलम् अलम् आलि मृणालैः'अर्थात् हे सखि ! मृणालों को रहने दे-इस प्रकार वह वियोगिनी बाला,अहर्निश (दिन-रात) कहती रहती है ॥३५६॥ (उ० ८,श्लो० ३४१) ।

इस उदाहरण में मधुरवर्णों के (स्पर्श संज्ञक 'क' से 'म' तक के वर्ण अपने वर्ग के अन्त्यवर्ण से संयुक्त होकर मधुरध्वनि के उत्पादक हुआ करते हैं) न रहने से और आद्य-तृतीयादि योग के न रहने से अर्थात् कवर्गादिवर्गों के प्रथम—क-च-ट-त-प और तृतीय ग-ज-ड-द-ब अर्थात् वर्णों के प्रथम वर्ण के बाद द्वितीय वर्ण (ख-छ-ठ-थ-फ) के साथ तथा कवर्गादि वर्गो के तृतीय वर्णों (ग-ज-ड-द-ब) के साथ वर्गों के तृतीय वर्णों के अन्त्य वर्ण (घ-झ-ढ-ध-भ) वर्णों से संयोग के न रहने से अर्थात् आद्य-तृतीयादि योग के न होने से 'कोमलावृत्ति' है ।

उक्त उदाहरण में कोई भी वर्ण 'माधुर्य' का व्यञ्जक नहीं है । जो भी तीन लघुरेफ हैं, वे भी अतिव्यवहित होने के कारण माधुर्य को व्यञ्जित करने में समर्थ नहीं हैं उक्त पद्य को अष्टम उल्लास में जो बताया था, वह माधुर्य-ओजस् के व्यञ्जक के रूप में नहीं बताया था । अपितु यहाँ नवम उल्लास में उसे बताया है ।

यहाँ पर सरस्वती तीर्थ का कहना है कि रेफ का लकार का अनेक बार सादृश्य होने से वृत्त्यनुप्रास है । उपनागरिका-परुषा-कोमला वृत्तियाँ तो अनुप्रास की अंगभूत हैं ।

इन वृत्तियों के नामान्तर (अन्य संज्ञाएँ) कुछ लोगों के मतानुसार इस प्रकार है—

(सू० १११) केषाञ्चिदिति । उद्भट की मानी हुई उक्त तीन वृत्तियों को ही वामन प्रभृति कुछ आचार्यों ने वैदर्भी-गौडी-पञ्चाली के नाम से बताया है ।

एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः ।

(लाटानुप्रासः)

(११२) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥

एतास्तिस्र इति । उपनागरिका-परुषा-कोमला संज्ञक ये तीन वृत्तियाँ ही वामन प्रभृति आचार्यों के मत में क्रमशः वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं । वृत्तियों में स्थित होने से ही इस अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रास कहा गया है।

अभी (१) छेकानुप्रास, (२) वृत्त्यनुप्रास कह आये हैं। जो वर्णसाम्यरूप वर्णानुप्रास के ही छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास—ये दो भेद थे। अब तीसरा लाटानुप्रास बता रहे हैं जो वर्णसाम्यरूप अनुप्रास का ही भेद है । इसी को 'पदानुप्रास भी कहते हैं । लाटानुप्रास में वर्णों की आवृत्ति न होकर पदों की आवृत्ति हुआ करती है। इस प्रकार पदों की आवृत्ति होने पर पुनरुक्ति दोष तथा पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार भी होने की संभावना रहती है। अतः लाटानुप्रास को उनसे भिन्न सिद्ध करने के लिए यहाँ पर आवृत्त हुए पदों में भिन्नतात्पर्य का होना आवश्यक होता है । पदों के उद्देश्य विधेयभाव में अव्यवस्था होने पर भी तात्पर्य का भेद माना जाता है। यह लाटानुप्रास पाँच प्रकार का होता है। उनमें से पहिला प्रकार—पदों की आवृत्ति का होना है। दूसरे प्रकार में केवल एक ही पद की आवृत्ति की जाती है। तीसरे प्रकार में समासगत एक ही पद की आवृत्ति होती है। चौथे प्रकार में भिन्न-भिन्न समासों में एक ही पद की आवृत्ति की जाती है। पाँचवें प्रकार में आवृत्त पद, किसी समास में और वही पद असमास में भी होता है। इन पाँचों प्रकारों को उदाहरण देकर स्पष्ट कर रहे हैं।

(सू० ११२) वर्णानुप्रास को बताने के पश्चात् अब शब्दानुप्रास को बता रहे हैं—शाब्दस्त्विति। शब्द्यते प्रकाश्यते अनेनेति शब्दः शब्दनारूपव्यापारवान् । स च प्रातिपदिकसंज्ञको विभक्त्यन्तश्चेति द्विविधः तद्गतः शाब्दः। शब्दनारूपव्यापारश्च अर्थबोधानुकूलः शक्त्यादिरिति बोध्यम् । भेदे तात्पर्यमात्रतः इति । तात्पर्यम् अन्वय-भेदः, स कः ? तात्पर्यविषयसंसर्गः तन्मात्रतः । तन्मात्रात् भेदे सति अर्थात् न तु स्वरतः अर्थतः क्रमतश्च भेदेऽपि । तथा च भिन्नतात्पर्यकतुल्यार्थकशब्दसादृश्यं शब्दानुप्रासः, स तु लाटानुप्रास इत्युच्यते । 'तु' शब्दो वर्णानुप्रासस्य लाटीयत्वव्यवच्छेदकः ।

कुछ लोगों का कहना है कि यह 'लाटानुप्रास', अनुप्रास से भिन्न ही है। इसमें अनुप्रासत्व ही नहीं है। इसी आशय का सूचक कारिकागत 'तु' शब्द है। तब 'लाटानुप्रास'—यह व्यवहार क्यों किया जाता है? उसका समाधान यह है कि

शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः। एष पदानुप्रास इत्यन्ये।

'पिष्टकमय्यो गावः' की तरह वह व्यवहार मात्र है। अत एव "वर्णसाम्यमनुप्रासः"—यही कहा गया है, 'वर्णानुप्रासः' नहीं कहा है। मूल में 'तात्पर्यमात्रतः' के 'मात्र' पद से 'यमक' की व्यावृत्ति की गई है, क्योंकि वहाँ अर्थभेद रहता है। मूलकार ने 'भेदे' कहकर 'पुनरुक्तत्व' की व्यावृत्ति सूचित की है। क्योंकि दोनों जगह अर्थ के एक रहने पर अभिन्नतात्पर्यक 'शब्द' का प्रयोग रहने पर 'पुनरुक्तत्व' और 'कथितपदत्व' का प्रसंग प्राप्त होगा—यह कहकर 'पुनरुक्तत्वव्यवच्छेद' के लिए 'भेदे तात्पर्यमात्रतः' कहा गया है—इस प्रकार किसी ने व्याख्या की है, उसका खण्डन ग्रन्थकार ने कर दिया है। समुदाय में पुनरुक्तत्वव्यावृत्यर्थकत्व की कल्पना करना उचित नहीं है—ऐसा प्रदीपोद्योतकारों का कहना है।

विवरणकार ने कहा है कि—"शब्दः सार्थकवर्णगतः। उद्देश्यविधेयभावादिः कर्तृ-कर्मत्वादिरूपश्च पदार्थयोः सम्बन्धोऽन्वयः तदेवात्र तात्पर्यम्, तन्मात्रस्य भेदे। अत्रापि वर्णसाम्यम् इति अनुषज्यते। तेन विभिन्नान्वयपराणां समानानुपूर्वीकाणां तुल्यस्वरूपाणामेकार्थकानां वर्णानां वर्णयोर्वा अनतिव्यवधानेन आवृत्तिः शब्दानुप्रासः, स च लाटानुप्रास इत्युच्यते"।

इसी आशय से वृत्तिकार सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं—शब्दगत इति। शब्दगत अनुप्रास को लाटानुप्रास कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनों में अभेद रहने पर भी अन्वय (उद्देश्य-विधेयभाव अथवा तात्पर्य) मात्र के भेद से और लाटदेश के विदग्ध लोगों में यह रुचिकर रहने से इसे लाटानुप्रास के नाम से कहा गया है। कुछ लोग इसी को 'पदानुप्रास' भी कहते हैं।

इस लाटानुप्रास में निरर्थक वर्णों की आवृत्ति नहीं हुआ करती, किन्तु सार्थक वर्णों की आवृत्ति हुआ करती है। इसमें शब्द और अर्थ का भेद न रहने पर भी तात्पर्य का भेद रहा करता है।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने 'वर्णानुप्रास' और 'पदानुप्रास' नाम देकर 'अनुप्रास' के दो ही मुख्य भेद किये हैं। उनमें वर्णानुप्रास वही है, जिसमें अवाचक (निरर्थक) वर्णों की आवृत्ति रहती है। इसी के छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास नाम के दो भेद किये गये हैं।

किन्तु पदानुप्रास (लाटानुप्रास) में वाचक (सार्थक) पद की आवृत्ति की जाती है। इस विषय में आचार्य उद्भट का कहना है—

"स्वरूपार्थाऽविशेषेऽपि पुनरुक्तिफलान्तरम्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इत्यपि॥"

(लाटानुप्रासस्य भेदाः)

(११३) पदानां सः।

स इति लाटानुप्रासः।

उदाहरणम्—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥ ३५७॥

(लाटानुप्रास के भेद)

(सू० ११३) वह लाटानुप्रास, पदों के साम्य (आवृत्ति) से होता है, 'वर्णों' के साम्य (आवृत्ति) से नहीं।

स इति। वह (लाटानुप्रास) पदावृत्ति करने पर होता है।

प्रथमतः यह शब्दानुप्रास दो प्रकार का होता है—(१) पदगत और (२) नामगत। पदगत भी अनेक पदों की आवृत्ति और एक पद की आवृत्ति के कारण दो प्रकार का होता है। दूसरा 'नामगत', समासाऽसमासगत होने से तथा एक-समासगत होने से और विभिन्न समासगत होने से तीन प्रकार का (त्रिविध) होता है। इस रीति से कुल मिलाकर शब्दानुप्रास पाँच प्रकार का होता है। इसी आशय को "पदानां सः" कहकर "तदेवं पञ्चधा मतः" तक के सन्दर्भ से दिखाते हुए आद्यभेद को कहते हैं—पदानामिति। 'पदानाम्'–यह बहुवचन 'अनेक' का उपलक्षण है, अन्यथा दो पदों की आवृत्ति करने पर षष्ठभेद मानने का प्रसंग आवेगा।

इसका उदाहरण, जैसे—

यस्येति। जिसके समीप उसकी प्रियतमा कान्ता के न होने पर उसके लिए 'तुहिनदीधिति' अर्थात् शीतकिरणचन्द्र भी विरहोद्दीपक होने के कारण दावानल के समान सन्तापदायक होता है। किन्तु जिसके समीप उसकी प्रियतमा कान्ता रहती हो, उसके लिए 'दवदहन' अर्थात् दावानल भी 'शीतकरण-चन्द्रमा'(तुहिनदीधिति) के समान शीतल और आनन्ददायक हो जाता है॥३५७॥

उक्त उदाहरण में सविधे-दयिता इत्यादि एक से अधिक (अनेक) समानार्थक पदों की आवृत्ति,तात्पर्यमात्र का भेद रखकर की गई है। पूर्वार्धं के 'तुहिनदीधिति' में 'दवदहनत्व' विधेय है, और उत्तरार्ध के 'दवदहन' में 'तुहिनदीधितित्व' विधेय है। इस कारण उद्देश्य-विधेयभाव में भेद होने से तात्पर्यमात्र का भेद हो गया है। अतः यह अनेकपदगत 'लाटानुप्रास' का उदाहरण है। यहाँ पर 'तुहिनदीधितिर्दवदहनः' और 'दवदहनस्तुहिनदीधितिः'—ये दोनों ही रूपक हैं।

किन्तु चन्द्रिकाकार ने तो प्रदीप के अनुसार उन दोनों में ही उपमानोपमेय भाव स्वीकार करके 'तुहिनदीधितिर्दवदहनतुल्यः' तथा 'दवहनः तुहिनदीधितितुल्यः'—यह व्याख्या की है।

(११४) पदस्यापि ।

अपिशब्देन स इति समुच्चीयते ।

उदाहरणम्—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥ ३५८ ॥

(११५) वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च

एकस्मिन् समासे भिन्ने वा समासे समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् ।

(सू० ११४) पदस्यापीति । यह लाटानुप्रास अनेक पदों की आवृत्ति करने पर ही होता है—यह नियम नहीं है, अपितु एक पद की आवृत्ति करने पर भी होता है ।

अपिशब्देनेति । सूत्रगत 'अपि' शब्द के द्वारा पूर्वसूत्र से अनुवृत्त 'लाटानुप्रास' का परामर्शक 'सः' का संग्रह (समुच्चय) किया गया है । इसका उदाहरण, जैसे—

वदनमिति । उस वरवर्णिनी का (उत्तम स्त्री का) मुख सचमुच चन्द्रमा है । अथवा वह मुख 'चन्द्रमा' नहीं, अपितु चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है, क्योंकि चन्द्रमा (सुधाकर), निष्कलंक (कलंकरहित) कहाँ हो सकता है ॥३५८॥

उक्त उदाहरण में केवल 'सुधाकर'—इस एक पद की ही आवृत्ति की गई है, अतः यहाँ 'एकपदगत लाटानुप्रास' माना जाता है । पूर्वार्धगत 'सुधाकर' पद 'विधेय' है, और उत्तरार्धगत 'सुधाकर' पद 'उद्देश्य' है । इस कारण यहाँ तात्पर्यभेद माना गया है । यहाँ व्यतिरेकालंकार व्यंग्य हो रहा है ।

वरवर्णिनी का लक्षण यह किया गया है—

"शीते सुखोष्णसर्वांगी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
भर्तृभक्ता च या नारी विज्ञेया वरवर्णिनी ॥"

अब नामगत अर्थात् प्रातिपदिकगत लाटानुप्रास के तीन प्रकार बता रहे हैं—

(सू० ११५) वृत्ताविति । किसी प्रातिपदिक (नाम) की एक समास में, अथवा भिन्न समास में, अथवा समास और असमास में (वृत्त्यवृत्त्योः) आवृत्ति करने पर नाम (प्रातिपदिक) गत लाटानुप्रास कहा जाता है ।

एकस्मिन्निति । इस लाटानुप्रास में 'पद' का सादृश्य (सारूप्य) अपेक्षित नहीं है, अपितु नाम (प्रातिपदिक अर्थात् धातुभिन्न और प्रत्ययभिन्न सार्थक शब्दस्वरूप) का ही सादृश्य (सारूप्य-आवृत्ति) अपेक्षित है । वह चाहे एक समास में हो, चाहे भिन्न समास-

उदाहरणम्—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥ ३५९ ॥

में हो, अथवा समास और असमास में हो। पदानुप्रास से इसका भेद सूचित करने के लिए ही सूत्रकार ने 'नाम्नः' कहा है। 'नाम' का ही अर्थ 'प्रातिपदिक' है। प्रत्यय-रहित प्रकृतिभाग को 'प्रातिपदिक' कहते हैं।

शंका—'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि प्रत्ययः'—इस नियम के अनुसार केवल 'प्रातिपदिक' का प्रयोग नहीं किया जाता। तब प्रातिपदिक की आवृत्ति करने पर 'लाटानुप्रास' कैसे हो सकता है ?

समाधान—समास में 'विभक्ति' का लोप हो जाने के कारण 'प्रातिपदिकमात्र' की आवृत्ति हो सकती है। यह आवृत्ति तीन प्रकार से हो सकती है (१) एक बार उसी समस्त पद में उसकी आवृत्ति हो सकती है। (२) 'एक पद', एक-समास में हो और आवृत्त प्रातिपदिक किसी दूसरे समास में हो। (३) एक प्रातिपदिक समास में हो, और आवृत्त प्रातिपदिक 'समास' में न हो। उक्त लाटानुप्रास के ये तीन प्रकार हैं।

यहाँ पर 'समास'—यह उपलक्षण है। अर्थात् कृत्, तद्धित, समास, एकशेष, सनाद्यन्त धातुरूप पञ्चविधवृत्ति का भी संग्रह किया गया है।' इस कथन से 'हंसायते चारुगतेन कान्ता कान्तायते स्पर्शं सुखेन वायुः' का भी संग्रह हो सका है। इसी तरह 'नाम्नः' भी उपलक्षण है, उस कारण—

'जित्वा विश्वं भवानद्य विहरत्यवरोधनैः ।
विहरत्यप्सरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवंगतः ॥'

का भी संग्रह हो जाता है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है।

उक्त तीनों प्रकारों (भेदत्रय) को एक ही पद्य का उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—सितेति। हे विभाकराकार ! (सूर्य के तुल्य प्रखर प्रतापशालिन् हे धरणिधर) महाराज ! धवलकिरणवाले सितकर-कररुचिः सितकर—चन्द्रमा की करवत्—किरणों के समान रुचिरा—आह्लादिका, विभा, कान्ति है जिसकी वैसी कीर्ति-यश तथा श्वेत (१) कीर्ति और (२) पौरुष-पराक्रम लक्ष्मी तथा (३) सा कमला अपि वह प्रसिद्ध लक्ष्मी—ये तीनों लक्ष्मियाँ भी तवैव अस्ति आपकी ही हैं, नान्यस्य-अन्य किसी की नहीं हैं ॥ ३५९ ॥

पौरुष कमल ही पौरुषं कमलमाश्रयो यस्याः सापमेव पौरुषकमला जिसका-अधिष्ठान आश्रय है वह लक्ष्मी इस प्रकार का अर्थ भी चक्रवर्ती, श्रीवत्सलाञ्छन आदि विद्वानों ने किया है। किन्तु, वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि वैसा अर्थ करने पर अर्थात् 'कमल'-पद से आश्रय का और 'कमला' पद से लक्ष्मी का कथन करने से अर्थभेद से और शब्दभेद से 'कमला कमला' में लाटानुप्रास नहीं बन पायेगा। इस कारण

(११६) तदेवं पञ्चधा मतः ॥ ८२ ॥

(यमकालङ्कारः)

(११७) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ॥
यमकम्

लाटानुप्रास में कथितपदगुणत्व के उदाहरण की संगति नहीं बैठ सकेगी। उद्योतकार तथा चन्द्रिकाकार ने स्पष्टतया कहा है कि अन्वयमात्र का भेद रहने पर ही उसे (लाटानुप्रास को) आगे बताया जायेगा।

इस पद्य में 'कर'—इस प्रातिपदिक की 'कर-कर' के रूप में जो आवृत्ति की गई है, वह (१) एक ही समास में है। 'विभा'—इस प्रातिपदिक की 'विभा-विभा' के रूप में जो आवृत्ति की गई है, वह (२) दो भिन्न समासों में है। तथा 'कमला'—इस प्रातिपदिक को (३) प्रथमतः समास में और दूसरी बार असमास (स्वतन्त्र पद के रूप) में कहा है अर्थात् आवृत्ति की गई है। उस कारण यह एक ही पद्य, तीनों भेदों का उदाहरण हो गया है। एवंच 'कर-कर', 'विभा-विभा', 'कमला-कमला'—कहने से लाटानुप्रास है और लाटानुप्रास का निर्वाहक होने से 'कथितपद' में गुणत्व की प्रतीति हो पाई है ॥३५९॥

लाटानुप्रास के पञ्चविधत्व का उपसंहार कर रहे हैं—

(सू० ११६) तदेवमिति। इस प्रकार (लाटानुप्रास) पाँच प्रकार का माना गया है। पञ्चधेति। (१) अनेक पदों की अथवा (२) एक पद की, (३) एक समासगत प्रतिपादिक की (४) भिन्न समासगत प्रातिपादिक की, (५) समासाऽसमासगत प्रातिपादिक की आवृत्ति होने पर लाटानुप्रास पाँच प्रकार का हो जाता है।

(यमक अलंकार)

अब यमक अलंकार को बताते हैं—

(सू० ११७) अर्थे सतीति। अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से अर्थात् पूर्वक्रम के अनुसार ही आवृत्ति जब होती है तब उसे 'यमक अलंकार' कहते हैं। 'अर्थभिन्नानाम्' भिन्ना अर्था येषां ते अर्थभिन्नाः, तेषाम्। यहाँ पर 'वाहिताग्न्यादिषु' (पा० सू० २।२।३७) सूत्र से निष्ठान्त का परनिपात हुआ है। 'यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रतिकृति यमकम्'। 'इवे प्रतिकृतौ' (पा०सू० ५।३।९६) सूत्र से 'कन्' प्रत्यय किया गया है। सूत्रकार ने 'वर्णानाम्'—यह बहुवचन में प्रयोग किया है, किन्तु 'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'—इस न्याय से 'बहुवचन' अविवक्षित है।

'समरसमरसोय'मित्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम् इति अर्थे सतीत्युक्तम्। सेति 'सरो रस' इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता।

अन्यथा 'दो' में यमक का व्यवहार न होता। तथा च—'एकेन क्रमेण असमानार्थकानां समानवर्णानां वर्णयोर्वा आवृत्तिर्यमकनामालंकारः'।

यमकालंकार के सम्बन्ध में चक्रवर्ती तथा उद्योतकार आदि का कहना है कि कहीं कहीं वर्णभेद (भिन्न-भिन्न वर्णों) के रहने पर भी श्रुतिसाम्य के कारण यमकालंकार माना जाता है। तदुक्तम्—

"यमकादौ भवेदैक्यं डलयोः रलयोर्बवोः।
शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः॥
सबिन्दुकाबिन्दुकयोः स्यादभेदप्रकल्पनम्॥"

जैसे—'भुजलतां जडतामबलाजनः'—(रघु० ९।४६) में डकार और लकार वर्णों का भेद रहने पर भी केवल श्रुतिसाम्यमात्र से ही 'यमक' माना गया है। यमक का प्रयोग एक पाद में अथवा दो अथवा चार पादों में करना चाहिए। 'तीन पादों' में यमक का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार निषेध किया गया है—"यमकं तु विधातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात्"। अतएव दशमोल्लास के अलंकारदोष प्रकरण में ग्रन्थकार कहेंगे "यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः"। एकार्थक लाटानुप्रास में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'अर्थभिन्नानाम्' कहा गया है। केवल 'अर्थभिन्नानाम्'—इतना ही कहने पर 'समरसमरसोऽयम्'—में द्वितीयावृत्ति अर्थहीन है, और 'शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे'–(रघु० ९।४) में दोनों ही अनर्थक हैं, उस कारण अव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'अर्थे सति' कहा गया है। 'यदि अर्थः तदा अर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः'–यमकम्। 'सरोरस'—में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'सा' कहा गया है। 'सरोरस' में अक्षर (वर्ण) साम्य रहने पर भी क्रमभेद रहने के कारण अतिव्याप्ति नहीं होगी। एवं च—'समानार्थकत्वाभाववत्-समानानुपूर्वीकानेकवर्णावृत्तिर्यमकम्'—यह लक्षण यमक का है।

अभिप्राय यह है कि 'लाटानुप्रास' में 'पदों' की आवृत्ति होती है और उन आवृत्त पदों में 'पद' या 'प्रातिपदिक' का अर्थभेद नहीं, केवल तात्पर्यमात्र में भेद होता है।

किन्तु 'यमक' में 'वर्णों' की आवृत्ति होती है, वे आवृत्त वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थ का भेद होना आवश्यक है। अन्यथा कहीं एक सार्थक, दूसरा अनर्थक भी हो सकता है। किन्तु जहाँ दोनों भाग सार्थक हों, वहाँ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है। 'लाटानुप्रास' और 'यमक' में यही भेद है। इसी भेद को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने यमक

(यमकस्य भेद-प्रभेदाः)

(११८) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ ८३ ॥

का लक्षण बनाया है। लक्षण में 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' कहा है, केवल 'अर्थभिन्नानां (भिन्नार्थानां) नहीं कहा है, क्योंकि यदि केवल 'अर्थभिन्नानां (भिन्नार्थानां) कहते, तो 'आवृत्त पद' का दोनों स्थलों पर सार्थक होना आवश्यक हो जाता। क्योंकि दोनों के सार्थक होने पर ही 'एकार्थकता' अथवा 'भिन्नार्थकता' हो सकती है, अन्यथा नहीं। किन्तु 'यमक' में यह आवश्यक नहीं है कि 'आवृत्तवर्ण' दोनों स्थानों पर 'सार्थक' ही हों। इसलिए सूत्रकार ने यमक के लक्षण में केवल 'भिन्नार्थानां' न लिखकर "अर्थे सति अर्थभिन्नानां" कहा है।

अपने आशय को ग्रन्थकार ही वृत्तिकार बनकर स्वयं प्रकट कर रहे हैं— समरसम-रसोऽयमिति। अर्थात् यह राजा 'समर-समरस' (युद्ध में एक रस) है। उक्त पद्य में पहिली बार के 'समर' वर्ण, सार्थक हैं, किन्तु दूसरी बार के 'सम-रस' को मिलाकर निष्पन्न हुए 'सम-र' वर्ण 'अनर्थक' हैं। उस कारण यहाँ 'भिन्नार्थानां' नहीं कह सकते। अतः यमक के लक्षण में 'अर्थे सति' कहा गया है। 'सा' अर्थात् उसी रूप में यानी उसी आनुपूर्वी (क्रम) से आवृत्ति का होना आवश्यक है। अतः 'सरः—रसः' यहाँ भिन्न क्रम से वर्णों की आवृत्ति होने के कारण 'यमक' नहीं माना जाता। एवं च भिन्न रूप से आवृत्ति करना 'यमक' में अभीष्ट नहीं है। यमक में आवृत्ति का क्रम समान (एक-सा) होना अभीष्ट है, तब यमक माना जाता है। 'सरोरसः' में सरः का अर्थ तडाग है, और 'रस' का अर्थ 'जल' है अथवा 'सरः' 'रसः'—यहाँ दो भिन्न पद मान लिये जाँय। मूलगत 'आदि' शब्द से 'नदी-दीन' आदि का संग्रह कर लेना चाहिए। यहाँ अक्षरों (वर्णों) का साम्य होने पर भी 'क्रमव्यत्यय' होने से 'यमक' नहीं माना गया है।

(यमक के भेद-अवान्तरभेद)

(सू० ११८) पादतद्भागेति। पद्य के चतुर्थांश भाग को 'पाद' कहते हैं। पाद और उसके एकदेश (भाग) आदि में स्थित रहने के कारण यह 'यमक' अनेक प्रकार का हो जाता है। अर्थात् 'यमक' के अनेक भेद हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

एवंच 'यमक'—(१) पादवृत्ति, (२) तद्भागवृत्ति होने से दो प्रकार का हो जाता है। और वह प्रत्येक यमक अनेक रूपता को प्राप्त होता है। पादवृत्ति यमक के एकादश (ग्यारह) भेद होते हैं। उसी को वृत्तिकार बता रहे हैं—'प्रथमो द्वितीयादौ' इति। 'प्रथम पाद' द्वितीयादि (द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ) पादों के स्थान पर, और 'द्वितीय पाद' तृतीयादि (तृतीय और चतुर्थ) पादों के स्थान पर,

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमश्चतुर्थे, द्वितीयस्तृतीये इति द्वे तदेवं पादजं

और 'तृतीय पाद' चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त किया जा सकता है। इस प्रकार सात भेद बन जाते हैं।

प्रथम पाद, द्वितीय पाद के स्थान पर तथा तृतीय पाद, चतुर्थ पाद के स्थान पर अथवा 'प्रथम पाद', चतुर्थपाद के स्थान पर और 'द्वितीय पाद' तृतीय पाद के स्थान-पर आवृत्त करने पर दो भेद बन जाते हैं।

एवंच 'पाद' की आवृत्ति करने से नौ भेद बनते हैं। अर्धावृत्ति तथा सम्पूर्ण श्लोक को आवृत्ति करने से दो भेद बनते हैं। कुल मिलाकर ग्यारह भेद होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि पाद (पद्य का चतुर्थ भाग अर्थात् चरण) की आवृत्ति करने पर नौ भेद तथा श्लोकार्ध की आवृत्ति एवं सम्पूर्ण श्लोक की आवृत्ति करने पर दो भेद होते हैं। एवं च पादावृत्तिरूप यमक के ग्यारह भेद होते हैं।

'प्रथम पाद' की द्वितीय आदि अर्थात् द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ चरण में आवृत्ति कर सकते हैं। इस रीति से तीन भेद हो जाते हैं।

अर्थात् 'प्रथम पाद' की द्वितीय पाद के स्थान पर आवृत्ति करने पर (१) 'मुख' नाम का 'यमक' होता है। उसी की तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्ति करने पर (२) 'सन्दंश' नाम का यमक होता है। उसी प्रथम पाद की चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्ति करने पर (३) 'आवृत्ति' नाम का यमक होता है।

उसी प्रकार द्वितीयपाद की तृतीय तथा चतुर्थपाद के स्थान में आवृत्ति करने पर दो भेद निष्पन्न होते हैं। अर्थात् द्वितीयपाद की आवृत्ति जब तृतीय पाद के स्थान पर की जाती है, तब (४) 'गर्भ' नाम का यमक होता है, और उसी द्वितीयपाद की आवृत्ति जब चतुर्थपाद के स्थान पर की जाती है, तब (५) 'सन्दष्ट' नामक यमक होता है।

'तृतीयपाद' की आवृत्ति चतुर्थपाद के स्थान में जब की जाती है तब (६) 'पुच्छ' नाम का 'यमक' होता है।

'प्रथमपाद' की आवृत्ति द्वितीयपाद, तृतीयपाद और चतुर्थपाद के स्थान में की जाती है, तब (७) 'पंक्ति' नाम का 'यमक' होता है।

जब 'प्रथमपाद' की आवृत्ति द्वितीयपाद के स्थान में और 'तृतीयपाद' की आवृत्ति चतुर्थपाद के स्थान में की जाती है, तब (८) 'युग्मक' नाम का 'यमक' होता है।

'प्रथमपाद' की आवृत्ति चतुर्थपाद के स्थान में और 'द्वितीयपाद' की आवृत्ति,

नवभेदम् । अर्धावृत्तिः श्लोकावृत्तिश्चेति द्वे । द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिभेदाः । श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः । त्रिखण्डे त्रिंशत् चतुःखण्डे चत्वारिंशत् ।

तृतीयपाद के स्थान में जब की जाती है तब (९) 'परिवृत्ति' नाम का 'यमक' होता है। निष्कर्ष यह है कि दो-दो पादों की आवृत्ति करने पर यह एक-एक भेद निष्पन्न होता है। एवंच 'पाद' की आवृत्ति करने से ये नौ भेद बनते हैं।

उसी तरह 'श्लोकार्ध' की आवृत्ति तथा संपूर्ण श्लोक की आवृत्ति करने पर जो दो भेद बनते हैं, उनको जोड़ने पर पादावृत्ति रूप यमक के 'ग्यारह' भेद होते हैं।

द्विधा विभक्ते पादे इति। एक पाद के दो भाग करने पर पहिले (प्रथम) आदि पाद-भाग की आवृत्ति पूर्ववत् अर्थात् पहले के समान दूसरे (द्वितीय) पादादि भागों के स्थान में, और प्रथम आदि पादों के उन दो-दो बिभागों में से अन्तिम भाग की आवृत्ति अन्तिम भागों के स्थान में भी हो सकती है। ऐसा करने पर 'पाद' को दो भागों में बिभक्त करने पर 'पादभागात्मक यमक' के बीस भेद होते हैं। श्लोकान्तरेहीति। क्योंकि श्लोकावृत्तिरूप दूसरे श्लोक में 'भागावृत्ति' रूप भेद नहीं होता। उस कारण पादावृत्ति के ग्यारह भेदों के बजाय 'पादभागावृत्ति' के दस ही भेद रह जाते हैं। एवंच 'पाद' को दो भागों में विभक्त करने पर 'पादभागावृत्ति' रूप यमक के बीस ही भेद होते हैं। इसी प्रकार 'पाद' को तीन भागों (खण्डों) में विभक्त करने पर तीस भेद, और चार भागों में (खण्डों में) विभक्त करने पर पादभागावृत्ति रूप यमक के चालीस भेद हो जाते हैं। इस रीति से पादावृत्ति या पादभागावृत्ति के जो भेद प्रदर्शित किये गये हैं, उनमें प्रथम पाद के आदि भाग की आवृत्ति, द्वितीय पाद के आदि भाग की जगह और प्रथम पाद के अन्तिम भाग की आवृत्ति, द्वितीय पाद के अन्तिम भाग की जगह कही गई है। अतः ये 'सजातीय भागावृत्ति रूप यमक बताये गये हैं।

तात्पर्य यह है कि श्लोक के चतुर्थांश में रहने वाला 'पादवृत्ति' और दूसरा पदांशवृत्ति अर्थात् श्लोक के चतुर्थांश के भी अंश मे रहने वाला 'यमक' होता है, उस कारण यमक के दो भेद हैं। और भी अन्य उपभेदों के साथ उक्त दो भेदों के अनेक प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं।

पादवृत्ति (पादगत) यमक ग्यारह प्रकार का होता है। तथाहि—(१) प्रथम पाद की द्वितीय पाद में आवृत्ति कर सकते हैं। (२) प्रथम पाद की तृतीय पाद में भी आवृत्ति कर सकते हैं। (३)प्रथम पाद की चतुर्थ पाद में भी आवृत्ति कर सकते हैं।(४) द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति कर सकते हैं। (५) द्वितीय पाद की चतुर्थ पाद-

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभागो द्वितीयपादादिगते आद्यार्धादिभागे यम्यते इत्याद्यन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम् । अन्तादिकम् आद्यन्तिकम् तत्समुच्चयः,

में भी आवृत्ति कर सकते हैं। (६) तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में भी आवृत्ति कर सकते हैं। (७) प्रथम पाद की ही द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पाद में आवृत्ति कर सकते हैं। (८) प्रथम पाद की द्वितीय पाद में, और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति कर सकते हैं। (९) प्रथम पाद की चतुर्थ पाद में और द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति कर सकते हैं। (१०) अर्धश्लोक की आवृत्ति, (११) संपूर्ण श्लोक की आवृत्ति।

पादभागवृत्ति (पादांशगत) यमक के अनेक भेद होते हैं।

तथा हि—यदि श्लोक के प्रत्येक पाद के दो भाग कर दिये जाँय, तब 'पादवृत्ति' (पादगत) के ही समान यहाँ भी आवृत्ति होने से पहले तो ये बीस भेद बनेंगे। जैसे—(१) प्रथम पाद के आद्य भाग की द्वितीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति,(२) प्रथम पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (३)प्रथम पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (४) द्वितीय पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (५) द्वितीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (६) तृतीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (७) प्रथम पाद के आद्य भाग की द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों के आद्य भाग में आवृत्ति, (८) प्रथम पाद के आद्य भाग की द्वितीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति और तृतीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (९) प्रथम पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के आद्य भाग में और द्वितीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति, (१०) इन सबके साथ अर्धभाग की आवृत्ति, इसी प्रकार प्रथमादि पादों के अन्त्य भाग की द्वितीयादि पादों के अन्त्य भाग में आवृत्ति करने से दस भेद और हो जाते हैं। दोनों मिलकर बीस भेद हो जाते हैं। यहाँ पर पादगत यमक के समान ग्यारह-ग्यारह भेद मिलाकर बाईस भेद नहीं होते हैं, क्योंकि यहाँ 'श्लोकावृत्ति' नामक भेद, भाग की आवृत्ति के श्लोकान्तर में रोचक न होने से नहीं माना जाता। इसलिए बीस ही भेद बताये गये हैं।

इसी प्रकार यदि पाद के तीन खण्ड किये जाँय तो उनमें आवृत्ति होने से तीस भेद होंगे। यदि पाद के चार खण्ड किये जाँय तो चालीस भेद होंगे। ये भेद तो सजातीय भागावृत्ति के अर्थात् एक पाद के आद्यभाग की दूसरे पाद के आद्यभाग में आवृत्ति के कारण बताये गये हैं।

अब विजातीय भागावृत्ति रूप यमक को बता रहे हैं-प्रथमपादादिगतान्त्यार्धादिभाग इति। प्रथम पादादिगत अन्तिम अर्धादि भाग की द्वितीय पादादिगत आद्य

मध्यादिकम्, आदिमध्यम्, अन्तमध्यम्, मध्यान्तिकम् तेषां समुच्चयः। तथा तस्मिन्नेव पादे आद्यादिभागानां मध्यादिभागेषु अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम्। तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम्।

अर्धभाग के स्थान में आवृत्ति नियत रूप से हो सकती है। उस स्थिति में अन्वर्थता (सार्थकता) के अनुसार 'अन्तादि', 'आद्यान्तिक', अनेक भेद किये जा सकते हैं। जैसे—'अन्तादिक' यमक का अभिप्राय यह है कि 'प्रथम पाद के अन्त्य अर्धभाग की द्वितीय पाद के आद्य अर्धभाग में आवृत्ति करना। 'आद्यन्तिक' यमक का अभिप्राय यह है कि 'प्रथम पाद के आद्य अर्धभाग की द्वितीय पाद के अन्त्य भाग में आवृत्ति करना।

'अन्तादिक और आद्यन्तिक'—इन दोनों का 'समुच्चय' अर्थात् 'प्रथम पाद के आद्य-भाग और अन्त्यभाग की द्वितीय पाद के अन्त्य और आद्य भाग में आवृत्ति करना, इसे 'उभय समुच्चय' कहते हैं।

'मध्यादिकम्, आदिमध्यम्, अन्तमध्यम्, मध्यान्तिकम्, तेषां समुच्चयः' इति। अर्थात् मध्यादिक (श्लोक के तीन-तीन अथवा चार-चार खण्डों में पूर्व पाद मध्यभाग की उत्तर पाद के आदि भाग में आवृत्ति करना)। तथा 'आदिमध्य' (पूर्व पाद के आदिभाग की उत्तर पाद के मध्यभाग में आवृत्ति करना), तथा 'अन्तमध्य' (प्रथम पाद के अन्त्य भाग की द्वितीय पाद के मध्यभाग में आवृत्ति करना), तथा 'मध्यान्तिक' (पूर्व पाद के मध्य भाग की द्वितीय पाद के अन्त्य भाग में आवृत्ति करना), और 'अन्तमध्य तथा मध्यान्तिक'—इन दोनों का समुच्चय (पूर्व पाद के अन्त्य और मध्यभाग की द्वितीय पाद के मध्य और अन्त्यभाग में आवृत्ति करना)।

तथेति। उसी प्रकार यह भी किया जा सकता है कि किसी एक ही पाद में आद्यादिक भागों की मध्यादिक भागों में आवृत्ति की जाय और पादादि व्यवस्था से रहित गद्य आदि में तो किसी वर्णपरिपाटी की कहीं भी आवृत्ति हो सकती है। इस रीति से इस पादभागावृत्तिरूप यमक के भेद-अवान्तर भेद कितने ही किये जा जा सकते हैं। किन्तु वे सभी, काव्य के रसास्वादन में बाधक हैं।

तदेतदिति। जैसे इक्षु (गन्ने) की गाँठ (पर्वग्रन्थि) उसके रसास्वाद लेने में बाधक होती है, उसी प्रकार यमक के पादभागावृत्तिरूप आदि उक्त भेद, काव्य के अन्तर्गड्डु अर्थात् अन्तर्गत गड्डु (ग्रन्थि) के समान रस प्रतीति के व्यवधायक (बाधक) बन जाते हैं। उस कारण उन भेदों के लक्षण नहीं किये गये हैं।

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

(१) सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥ ३६० ॥

दिङ्मात्र (कुछ थोड़े-से) उदाहरण दे रहे हैं—

१. सन्दंशयमक—इसमें प्रथम पाद की आवृत्ति तृतीय पाद के स्थान पर जब की जाती है, तब 'सन्दंश' नाम का यमक होता है। उसी का उदाहरण सर्वप्रथम प्रस्तुत कर रहे हैं।

सन्नारीति। हे राजन् ! 'सन्नारीभरणोमायम्'—सन्नारीभरणा, (सतीः नारीः बिभर्ति पुष्णातीति सन्नारीभरणा) अथवा 'सतीनां नारीणां भरणम् आभरणस्वरूपा या उमा गौरी तां याति, शरीरार्धरूपेण प्राप्नोति यः। यद्वा तां अयते प्राप्नोति यः तं विधुशेखरं चन्द्रशेखरं शिवं आराध्य, ततः तदाराधनात् हेतोः त्वं सन्नाः, अपसन्नाः अवसादं गताः (मृताः), अरीणां शत्रूणां इभाः गजाः यत्र तादृशः रणः युद्धं यस्य तथाभूतः सन् पृथिवीं जय, सार्वभौमो भवेत्यर्थः। कीदृशः त्वम् ? 'अमायः' अकपटः अर्थात् सती स्त्रियों का भरण-पोषण करने वाली अथवा सती स्त्रियों कीआभरण (आभूषण) रूप जो उमा अर्थात् गौरी (पार्वती), उसको प्राप्त करनेवाले चन्द्रशेखर शिव की आराधना करके शत्रुओं के हाथियों का विनाश करने वाले युद्ध के प्रवर्तक तथा निष्कपट कहलानेवाले आप संपूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त करें अर्थात् अब आप सार्वभौम (सम्राट्) हो जांय ॥३६०॥

इस उदाहरण में 'सन्नारीभरणोमाय'—इस 'प्रथम चरण' की पुनरावृत्ति, तृतीय चरण (पाद) में भी (तृतीय पाद की जगह पर भी) की गई है—उस कारण यह 'संदंश यमक' नामका अलंकार है।

२, युग्मयमक—इसमें 'प्रथम पाद' की पुनरावृत्ति, 'द्वितीय पाद' में और तृतीय-पाद की पुनरावृत्ति, 'चतुर्थ पाद' में की जाती है। अतः उसे 'युग्मयमक' नाम से कहा जाता है। इसी का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

विनेति। विना अयम् एनः, नयता, असुरवादिना विना यमेन, ऊनयता सुर-वादिना। महाजनः अदीयत मानसात् अरम् महाजनोदी यतमान सादरम्–इति पदच्छेदः।

अयम् = यह 'विश्वासी ना च विना पक्षिस्वरूपः पुरुषः, हंसाख्यो जीव इत्यर्थः (कर्म), यह हंसाख्य जीवात्मा कैसा है ? यह बताने के लिए उसके विशेषणों को दे रहे हैं—(१) 'महाजनः' अर्थात् महात्मा (उत्कृष्ट गुणों की खान)—यह एक विशेषण हुआ। अब दूसरा विशेषण दे रहे हैं—(२) 'महाजनोदी'—'महान् उत्सवान् अजन्ति गच्छन्ति–महाजाः सज्जनाः, तान् नोदयति प्रेरयति इति महाजनोदी = शुभ

(२) विनायमेनो नयताऽसुखादिना बिना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥३६१॥

(३) स त्वारम्भरतोऽवश्यमबलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥ ३६२ ॥

अवसरों पर सम्मिलित होने वाले सज्जनों का प्रेरक । अथवा—'महान् उत्सवान् अजन्ति क्षिपन्ति विनाशयन्ति इति महाजाः दुर्जनाः, तान् नोदितुं दूरीकर्तुं शीलमस्य इति महाजनोदी=शुभ कर्मों में विघ्न डालने वाले दुर्जनों (दुष्टों) का विनाश करने वाले–हंससंज्ञक (नाम के) जीवात्मा को (यह कर्म है), 'एनो विना' अपराधमन्तरेण = बिना अपराध के 'नयता' अपने स्थान (यमलोक) पर ले जाने वाले 'असु-खादिना' प्राण-भक्षकेण—प्राणों का भक्षण (नाश) करने वाले और 'सुखादिना ऊनयता' हीनं कुर्वता–सुख आदि से रहित करने वाले (बनाने वाले), 'यमेन' कृतान्तेन—यमराज ने (यह कर्ता है), 'मानसादरं' 'यतमानसादरम्'—'मानसं चित्तं तदेव मानस-सरः (सरोवरम्), तस्मात् 'अरं' शीघ्रं—चित्त (हृदय) रूप मानसरोवर से प्राणों की रक्षा के लिए 'यतमानानां रक्षितुं प्रयत्नवतां (रक्षितुमिच्छतां) सादम् अवसादं (विषादं) राति ददाति इति तत् यथा स्यात् तथा, प्रयत्न करनेवालों को दुःख देकर (यह क्रिया-विशेषण है), अरम् शीघ्रं, तत्काल ही अदीयत अखण्डयत् ('दो अवखण्डने'—यह दैवादिक अर्थात् दिवादिगण का धातु है ।) अलग कर दिया । 'अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्'—इस श्रुति के अनुसार यमराज ने हंस नाम के जीवात्मा को शरीर (हृदय = मन) से पृथक् कर दिया । 'आत्म-मनसोः संयोगध्वंसो मरणम्' । तात्पर्य यह है कि मानस-सरोवर पर अपनी रक्षा करने के इच्छुक हंस नामक जीव को बिना किसी अपराध के ही यमराज ने मानस सरोवर से अलग कर दिया । कुछ लोग 'मानसात्' में 'प्रासादात् प्रेक्षते' के समान 'ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी' मानकर 'मानसमाक्रम्य' अर्थ भी करते हैं ॥३६१॥

इस उदाहरण में प्रथम पाद की द्वितीय पाद में और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद-में पुनरावृत्ति की गई है, इस कारण यह युग्मक नाम का यमक है ।

३. महायमक—सम्पूर्ण श्लोक की ही जहाँ पुनरावृत्ति की जाती है, उसे महायमक कहा जाता है । जैसे श्लोक संख्या ३६२ में सम्पूर्ण श्लोक की अविकल पुनरावृत्ति, श्लोक संख्या ३६३ में की गई है । उस कारण उक्त संख्या के दोनों श्लोक, 'श्लोकावृत्ति रूप महायमक' के उदाहरण माने गये हैं ।

स त्वेति । सः, तु, आरम्, भरतः, अवश्यम्, अबलम्, विततारवम् । सर्वदा रणम् आनैषीत् अवान् अलसम् अस्थितः ॥३६२॥

सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलम्बिततारवम्।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥ ३६३ ॥

सत्त्वारम्भतः, अवश्यम् अवलम्बिततारवम् । सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥३६३॥

'सः तु'—प्रक्रान्तः राजा, वह (प्रकरण प्राप्त) राजा, 'आरम्'—अरिसमूहम् शत्रु-समूह को, 'सर्वदा'—सर्वकाले सभी समय, अवश्यम्—निश्चयेन अवश्य ही 'भर-तः'—अतिशयेन बलपूर्वक हठात्, 'रणम्'—युद्धम् रणभूमि में (युद्ध क्षेत्र में) 'आनैषीत्'—प्रापयामास खींच ले जाता था, अर्थात् शत्रुओं को युद्ध करने के लिए बाध्य कर-देता था ॥ ३६३॥

कीदृशम् आरम् ? इस प्रश्न के उत्तर में द्वितीय श्लोक दे रहे हैं—अवलम् बल रहितम् आरम् शत्रुसमूहम्, बल रहित शत्रुओं को 'विततारवम्'—अतिशयकृत हा-हा-शब्दम् हाय-हाय शब्द करके जोर-जोर से चीखने वाले शत्रुओं को (आरम्)।

कतिपय व्याख्याकार—अबलं का अर्थ सैन्य शून्यम् यथा स्यात्तथा इति 'विततारवं'—विस्तृतार्तनादं यथा स्यात्तथा कह कर दोनों को क्रियाविशेषण मानते हैं।

कुछ व्याख्याकार 'अबलम्' और 'विततारवम्' दोनों को क्रिया-विशेषण मान कर 'सैन्यं' विनैव सिंहनादं विस्तीर्य रणसञ्चरेण चकार—यह अर्थ करते हैं।

कुछ व्याख्याकार 'अवलम्बिततारवम्'—अवलम्बः अस्य अस्ति इति अवलम्बि—ससहायम्, अत एव 'ततारवं'—विस्तृतसिंहनादं—यह व्याख्या करते हैं।

कीदृशः राजा ? इसके उत्तर में कहते हैं—'अलसम्' मन्दं यथा स्यात्तथा 'अवान्'—अगच्छत्, शीघ्रं गच्छन्नित्यर्थः। 'वा गतिगन्धनयोः' इति धातुः।

पुनः कीदृशो राजा ? 'अस्थितः'—'ए' विष्णौ स्थितः विष्णुभक्तो वैष्णवः इत्यर्थः। अथवा—अस्थीनि तस्यति उपक्षिपति इति अस्थितः रौद्रः इत्यर्थः 'तसु उपक्षये' इति धात्वनुसारात्।

'अस्थितस्' इति असन्तत्वेऽपि धातुत्वादुपधादीर्घाभावः। "अत्वसन्तस्य चाधातोः" (पा० सू० ६।४।१४) इति पाणिनिसूत्रे अधातोरित्युक्तत्वात्। एवं च दूसरे श्लोक का अर्थ यह हुआ कि 'सत्त्वारम्भरतः'—सात्त्विक कार्यों के करने में लगा हुआ, अर्थात् सात्त्विक कर्मानुष्ठान में निरत, और 'सर्वदारणमानैषी'—सर्वेषां दारणे विदारणे यो मानः तदैषी—अर्थात् समस्त शत्रुओं का विध्वंस करने के कारण सम्मान को चाहने वाला (अभिलाषी) तथा 'दावानलसमस्थितः'—शत्रुओं के सामने दावानल के समान अवस्थित (उपस्थित) 'सः'—वह राजा 'अवलम्बिततारवम्'—अर्थात् अवलम्बितं तारवं तरुसमूहो (वनं) येन तथाभूतम् (जंगलों में भटकने वाले) अथवा अवलम्बितानि वस्त्रतया स्वीकृतानि तारवाणि तरुसम्बन्धीनि (वल्कलानि)

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
यां च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ॥ ३६४ ॥

येन तथाभूतम्—अर्थात् तरुत्वचा (वल्कल) को धारण करने वाले, अथवा—'अवलम्बितं आश्रितं तारनं तरोर्भाव: अनम्रत्वं येन तथाभूतम्'—अर्थात् तरुओं के समान अनम्रभाव (उद्धत = ऐंठ दिखाने वाले) को प्रदर्शित करने वाले 'आरं' अरिसमूह (शत्रुओं) को 'सर्वदा रणम् आनैषीत्' अर्थात् युद्ध में उपस्थित होने के लिए (युद्ध करने के लिए) विवश कर देता था । अथवा 'आरम्' अर्थात् (अवश्य) जो वश में नहीं हो रहे थे (अपने सामने सिर नहीं झुका रहे थे) उन शत्रुओं को सिर झुकाने के लिए विवश कर देता था ॥ ३६३ ॥

उक्त दोनों श्लोकों में राजा का वर्णन किया गया है । दोनों का स्वरूप (पद-विन्यास) एक-सा ही है, तथापि अर्थ भिन्न है,इस कारण श्लोकावृत्तिरूप महायमक का यह उदाहरण हो गया है । 'महायमक' और 'शब्दश्लेष' में यह अन्तर है कि शब्द-श्लेष में एक ही प्रयत्न से दो वाक्यों का उच्चारण होता है, किन्तु महायमक में दो प्रयत्नों से दो वाक्यों का उच्चारण होता है ।

४—पादभागावृत्ति 'सन्दष्टक' यमक—

इसके पूर्व 'पादावृत्ति' और 'श्लोकावृत्ति' यमक के उदाहरण प्रदर्शित किये गये थे । अब 'पाद' के भाग की आवृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं । प्रस्तुत उदाहरण के द्वितीय पाद के 'अन्तिम अर्धभाग' को ही चतुर्थ पाद के अन्तिम अर्धभाग के स्थान पर दोहराया गया है (पुनरावृत्ति की गई है) । अतः इसे 'सन्दष्टक' यमक के नाम से कहा जाता है । प्रस्तुत उदाहरण श्री आनन्दवर्धनाचार्य विरचित 'देवीशतक' काव्य का प्रथम पद्य है ।

अनन्तेति । जिसने अपनी अनन्त महिमा से सम्पूर्ण विश्व (जगत्) को व्याप्त कर दिया है, जिस भगवती दुर्गा को ब्रह्मा भी (वेधा भी) तत्त्वतः नहीं जान सका है, जो भगवती अपने सामने विनम्रभाव से शरण आये हुए मानव पर माँ के समान दया (कृपा) करती है—'उस माँ की पादधूलि हमारी अभीष्टसिद्धि करे' ।

यह वहीं के पञ्चम श्लोक के अंश—"तस्याः सिद्धयै धियां मातुः कल्पन्तां पदरेणवः" के साथ अन्वय समझना चाहिए ॥३६४॥

विवरणकार ने जो कहा है कि 'तां स्मरामि'—'इस उत्तर श्लोक के साथ अन्वय होता है'—वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है ।

प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय पाद के अन्तिम भाग 'न वेदयाम्' को ही चतुर्थपाद के अन्तिम भाग में 'वे दयाम्' इस प्रकार से दोहराया है । अतः यह 'सन्दष्टक यमक' है ।

यदानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥ ३६५ ॥

५—आद्यन्तिक यमक—

'आद्यन्तिक यमक' में पद्य के एक ही पाद (चरण) में भागावृत्ति करनेपर अर्थात् आदिभाग की अन्तिमभाग में आवृत्ति करनेपर आद्यन्तिक यमक होता है।

इस प्रसंग में उदाहृत पद्य भी आनन्दवर्धनाचार्यविरचित देवीशतक से ही लिया गया है। यह पद्य देवीशतक का उनंचासवाँ (४९ वाँ) है।

यदानत इति । 'यदानतः'—यस्यां पार्वत्यां आनतः प्रणतः–अर्थात् जिस पार्वती-के सामने प्रणत (विनम्र) हुआ 'अयं'—यह भक्तजन 'नयात्ययम्'—'नयस्य नीतेः अत्ययं नाशं, नीतिविश्लेषमित्यर्थः'। अर्थात् सदाचार=सद्व्यवहार के मार्ग का-उल्लंघन 'न याति' =नहीं करता है। उल्लंघन क्यों नहीं करता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

'अयदानतः'—अयस्य=शुभावहविधेः, दानतः=दानात्, अर्थात् तयैव पार्वत्या अस्य शुभावहविधिदानात् इत्यर्थः। 'अयः शुभावहोविधिः' इत्यमरः। भगवती ने ही अपने भक्त को उसके कल्याण करने का वचन देकर उसे अभयदान दिया है।

'शिवेहितां'—शिवेन ईहितां—अर्थात् शंकर जी के द्वारा प्रार्थित, तथा 'शिवे, हितां'—अर्थात् शिव के प्रति कल्याण करने में 'हितां' अनुकूल रहने वाली अर्थात् कल्याणकारिणी, 'स्मरामितां'—'स्मरेण=कामेन स्नेहेन अमितां'—अर्थात् शिव के प्रति अथवा भक्तों के प्रति अमित स्नेह से पूर्ण रहनेवाली उस पार्वती का मैं स्मरण करता हूँ ॥ ३६५ ॥

इस उदाहृत पद्य में प्रत्येक पाद के आदिभागकी उसी के अन्तभाग में आवृत्ति की गई है, उस कारण इसे 'आद्यन्तिक यमक' कहा जाता है ॥

६—केवल उत्तरार्ध में समुच्चय—

प्रस्तुत उदाहरण भी आनन्दवर्धन के 'देवी शतक' का पचासवाँ (५० वाँ) पद्य है। यहाँ पर पूर्वार्ध के 'प्रथम पाद' के आदिम (पूर्व) भाग—'सरस्वति'—शब्द को 'द्वितीय पाद' के अन्तिम भाग में (अन्त में) दोहराया गया है ('आवृत्त' हुआ है), उस कारण यह 'आद्यन्तिक यमक' का उदाहरण है। तथा उत्तरार्ध में 'तृतीय-पाद' (चरण) के आदिम (पूर्व) भाग—'सरस्वतिं'—को, चतुर्थ पाद (चरण) के अन्तिम भाग में (अन्त में) दोहराया गया है, और तृतीय पाद (चरण) के अन्तिम-भाग 'कुरुक्षेत्र' को, चतुर्थ पाद (चरण) के आदिम भाग में (आरम्भ में) दोहराया गया है (आवृत्त हुआ है)। उस कारण इसमें 'आद्यन्तिक यमक तथा अन्तादिक

सरस्वति ! प्रसादं मे स्थिति चित्तसरस्वति !
सर स्वति कुरु क्षेत्रकुरुक्षेत्र-सरस्वति ! ॥३६६॥
ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाबिभ्राणा शरन्नवा ॥ ३६७ ॥

यमक'—का अर्थात् दोनों का समुच्चय बताया गया है। इसलिये यह केवल उत्तरार्ध भाग में 'आद्यन्तिक और अन्तादिक'—दोनों के समुच्चय का उदाहरण है।

सरस्वतीति। क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति (यह विशेषण है,—हे सरस्वति ! का) क्षेत्रं=शरीरं, तदेव कुरुक्षेत्रं, तत्र सरस्वति = सरस्वत्याख्यनदीरूपे—शरीररूपकुरुक्षेत्रात्मकपवित्रभूमिकी सरस्वतीनदीरूप, हे सरस्वति = वाग्देवि ! प्रसादं = प्रसन्नतां सर=गच्छ (प्राप्नुहि), अर्थात् तुम, प्रसन्ना भव = प्रसन्न हो जाओ। 'सृ गतौ' इति भौवादिको धातुः। मे 'मम' = मेरे, चित्तसरस्वति = चित्तरूपसमुद्र में ('सरस्वति—यह शब्दरूप, 'सरस्वत्' शब्द के सप्तमी विभक्ति का एक वचन है)। स्थिति अवस्थानं, स्वति = सुष्ठु अर्थात् अतिशयेन=अच्छी तरह से कुरु=करो। नदी की स्थिति समुद्र में होना उचित ही है। 'सरस्वान् सागरोऽर्णवः'—इत्यमरः।

कुछ व्याख्याकार 'प्रसादं स्वति सुष्ठु (अतिशयेन) सर=गच्छ'—इस प्रकार अन्वय करते हैं।

कुछ व्याख्याकार 'स्वतिप्रसादं = सुन्दरातिप्रसादं, सर'—इस प्रकार अन्वय करते हैं।

७—पूर्वार्ध-उत्तरार्ध दोनों में समुच्चय—

प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में 'आद्यन्तिक' और 'अन्तादिक' यमक का समुच्चय प्रदर्शित किया है।

पूर्वार्ध में प्रथम पाद के आद्यार्ध भाग 'ससारसा' को द्वितीय पाद के अन्त में दोहराया गया है। उस कारण 'आद्यन्तिक यमक' है तथा प्रथमपाद के अग्रिम अर्धभाग-'कन्दर्पेण' को द्वितीयपाद के आदि में दुहराया गया है, उस कारण "अन्तादिक" यमक है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में तृतीय चरण के आद्यार्ध भाग 'शरन्नवा' को चतुर्थ-पाद के अन्त में दुहराया गया है, उस कारण 'अन्तादिक यमक' है। निष्कर्ष यह है कि पद्य के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में 'आद्यन्तिक' यमक तथा 'अन्तादिकयमक' का समुच्चय दिखाया गया है।

ससारेति। ससारसा=कमलों अथवा सारसों के साथ, नवानः-नवं=नूतनं, अनः= शकटं (कर्दमाभावेन पथि) यस्यां सा—अपंकिल पथ होने से शकट की नवीनता जिसमें प्रतीत हो रही है, अथवा नवं (कर्दमाभावात्) अनः=शकटं, तन्मार्गश्च यस्यां

सा—पंक न रहने से शकट और मार्ग दोनों, जिसमें नवीन (शकटके यातायात के लिये नवीन) अर्थात् वर्षा के अनन्तर पुनः व्यवहार योग्य हुए मार्गों से युक्त, शरं= काशाख्यं तृणं, काश के पुष्पों को विभ्राणा=पोषयन्ती, परिपाकं प्रापयन्ती त्यर्थः। अर्थात् परिपक्व कराने वाली,नाविभ्राणा—वीनां=पक्षिणां, भ्राणः=शब्द ,यत्र सा विभ्राणा, न विभ्राणा अविभ्राणा, न अविभ्राणा-नाविभ्राणा पक्षिशब्दसहिता इत्यर्थः। पक्षियों के कलरव से युक्त, नवा=प्रशस्ता अथवा नूतना=नवीन, शरत्—शरत् नामक ऋतु-शरद्दतु, कन्दर्पेण–कं ब्रह्माणं अपि दर्पयति कामवेगमुत्पादयति इति कन्दर्पः=कामः, तेन मदनेन, 'दर्पः अस्य अस्ति' इति दर्पः, अर्शादित्वादच् प्रत्ययः। तेन=दर्पेण=दर्पवता कामदेव के साथ, सगर्व, ससार=गतवती; प्राप्तवतीत्यर्थः आजगामेतियावत् ॥३६७॥

निष्कर्ष यह है कि कमलों अथवा सारसों के साथ, कर्दमरहित मार्गों के हो जाने से रमणीय, पक्षियों के मधुर-कलरव के कारण मनोमोहक, काशपुष्पों की वृद्धि-से नयनाभिराम नूतन शरदृतु, उन्माद पैदा करानेवाले मदन के साथ गर्वित होकर आ ही पहुँची ॥ ३६७ ॥

इस पद्य के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों में आद्यन्तिक और अन्तादिक का समुच्चय दिखाया गया है। उक्त पद्य, रुद्रट के काव्यालंकार से प्रस्तुत किया गया है।

८—अनियत पादभागावृत्ति यमक—

प्रस्तुत पद्य महाकवि रत्नाकर के 'हरविजय' नामक महाकाव्य के तृतीयसर्ग में दिये गये बसन्तवर्णन से लिया गया है। इसमें कवि ने पाद-भागों की आवृत्ति, अनियत-स्थान में की है, उस कारण 'अनियत पादभागावृत्तिरूप यमक' दिखाई दे रहा है।

किन्तु प्रदीपकार ने 'चारखण्डवाले पाद में द्वितीय भाग' के स्थान पर 'आवृत्ति'का उदाहरण माना है। 'अनियतस्थानावृत्ति' यकका नहीं।

परन्तु प्रदीपकार का उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत किये गये श्लोक-के प्रत्येक पाद में बारह-बारह वर्ण (अक्षर) हैं। अर्थात् द्वादशाक्षरवृत्ति द्रुतबिलम्बित छन्द (वृत्त) में कवि ने पद्यरचना की है। प्रदीपकार के कथनानुसार यदि पाद को चार भागों में विभक्त किया जायगा तो प्रत्येक भाग, तीन-तीन वर्णों का होगा। उक्त पद्य में यद्यपि 'पराजि-पराजि', 'मनःसु मनःसु', आदि तीन-तीन वर्णों की आवृत्ति की गई है, तथापि वह प्रथम-चतुर्थ भाग की द्वितीय-चतुर्थ भाग के स्थान-पर आवृत्ति नहीं है। उस कारण प्रदीपकार का कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

सुधासागरकार ने भी यही कहा है—"चतुः-खण्डे पादे द्वितीयभागस्य तृतीयभागे यमनं यथा मधुपराजीत्यादि, इति प्रदीपकाराः प्राहुः, तत् अज्ञानविजृम्भितम्। न हि उदाहरणे वर्णत्रयात्मकद्वितीयभागस्य पुनः श्रुतिः, न वा भागान्तरकल्पनाऽपि संभवति, वर्णस्य सिद्धत्वेन भागत्वाभावात्। किन्तु भागमनपेक्ष्य अनियतस्थानयमकभेदा अपि भवन्तीति सूचनाय पादेषु आद्यवर्णद्वयानन्तरं वर्णत्रयावृत्ति यमकमिदमुदाहृतं श्रीवृत्तिकारै-रिति तत्त्वम्"।

मधुपराजिपराजित-मानिनीजनमनः सुमनःसुरभिश्रियम् ।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटितताम्रतताम्रवणं जगत् ॥३६८॥
एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्वदुन्नेयम् ।

मधुपेति । मधुपराज्या=भ्रमरपङ्क्त्या, पराजितानि=धैर्यच्च्यावितानि, मानिनीजनानां मनांसि याभिः,एवं भूताः याः सुमनसः पुष्पाणि ताभिः सुरभि=सुगन्धि यत्,तत् । वारितः=तुषारापगमेन निवारितः, वारिजानां=कमलानां,विप्लवः=नाशः अभावो वा यत्र, तत् । स्फुटितानि = विकसितानि, ताम्राणि = (पल्लवोद्भवैः) आरक्तानि, ततानि = विस्तीर्णानि च, आम्राणां रसालानां वनानि यत्र तथाभूतं जगत् (कर्तृ) श्रियं=शोभां अभृत = दधार ॥

भृंगावलियों के द्वारा चारों ओर सर्वत्र पुष्पों की सुगंध ही सुगंध ऐसी फैलाई जा-रही थी,जिससे मानिनी सुन्दरियाँ धैर्य धारण करने में असमर्थ हो रही थीं,और हिमपात-के समाप्त होजाने के कारण कमलों का विनाश होना बन्द हो गया था; और आम्रवनों-में लाल कोपलों से भरे हुए आम्रवृक्षों की पङ्क्तियाँ सुशोभित हो रही थीं । इस प्रकार-से विकसित होने वाले सम्पूर्ण जगत् ने वासन्तिक अभिनव शोभा को धारण किया था ॥ ३६८ ॥

महाकवि रत्नाकर के 'हरविजय महाकाव्य' के प्रस्तुत पद्य में उन यमक भेदों का समुच्चय है,जिनमें वर्णों की 'आवृत्ति' अनियत स्थान में हो रही है । कुछ व्याख्याकारों-ने 'एवंभूताः सुमनसः=पुष्पाणि यत्र, तादृशस्य सुरभेः वसन्तस्य श्रियं=लक्ष्मीं' तक एक पद माना है ।

किसी ने जो यह कहा है कि 'तादृशसुमनसां सुरभिश्रियं सौरभसम्पदं'—यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि 'सुरभि' पद का 'सौरभविशिष्ट द्रव्य' में ही प्रयोग कवियोंने किया है, केवल 'सौरभगुण' में नहीं ।

उक्त पद्य में 'अभृत वारितवारिजविप्लवम्' की जगह 'वारिज-वारिजविप्लवम्' पाठ मानकर 'वारि=जलं तस्माज्जायते उत्पद्यते यः तादृशो, वारिजानां = कमलानां विप्लवः=नाशः यत्र'—ऐसी व्याख्या श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य आदि कतिपय व्याख्या-कारों ने की है, किन्तु वह समञ्जस नहीं है ।

'आम्रवणम्'—में "प्रनिरन्तः शरेक्षुप्लक्षाम्र०"—(पा० सू० ८।४।५) सूत्र से 'वन' शब्द के 'न' कार को 'ण' कार हुआ है ।

एवमिति । इसी प्रकार सहस्रशः वैचित्र्यों से पूर्ण भरे हुए यमक के अन्यान्य उदाहरणों को स्वयं पहिचान लेना चाहिए ।

जैसे महाकवि माघने अपने 'माघ'—(शिशुपालवध) महाकाव्य में "नव पलाशपलाश वनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्" । मृदुलतान्तलतान्त-

(श्लेषः)

(११९) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ ८४ ॥

मलोकयत् ससुरभि सुरभि सुमनोहरैः ॥ (मा० ६।२) । यथा वा—'तन्व्यां तन्व्यां न सम्माति तस्या लावण्यसम्भवः' इत्यादि ॥

मम्मट का मन्तव्य है कि कवियों को काव्यसौन्दर्य की रक्षा के लिये 'यमकबन्ध' में अभिनिवेश रखना उचित नहीं है । मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में प्राचीन आलंकारिकों की मान्यता की दृष्टि से 'यमक' के कतिपय भेदों का दिग्दर्शन मात्र कर दिया है ।

'यमक' को बताने के बाद शब्दालंकाररूप 'श्लेष' का निरूपण कर रहे हैं—

(सूत्र ११९) वाच्यभेदेनेति । 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' अथवा 'सुकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति'—इस सिद्धान्त के अनुसार 'अर्थ' का भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक; समान आकार के भिन्न-भिन्न शब्द, समानानुपूर्वीक-समानाकार होने से एक साथ उच्चारणरूप; दोषघटित सामग्री के कारण 'जतु-काष्ठन्याय' से जब परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं तब वह 'श्लेष' नामक शब्दालंकार कहलाता है, और वह अक्षर आदि के श्लेष के भेद से आठ प्रकार का होता है ॥ ८४ ॥

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है—प्रायः 'सकृत् प्रयुक्तः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति'—अर्थात् एक बार प्रयुक्त किया गया शब्द, एक ही अर्थ का बोधन कराता है । इसलिए किसी भी एक शब्द से दो अर्थों का बोध नहीं होता है । जहाँ दो अर्थों-का बोध कराना हो, वहाँ 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते'—इस नियम के अनुसार पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न) शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है । परन्तु कहीं कहीं दो भिन्न-अर्थों का बोध करानेवाले शब्द, समानाकार, एक से वर्णविन्यासवाले (समानानुपूर्वीक) प्रयुक्त रहते हैं, तब उन समानाकार दो शब्दों को वक्ता, दो बार नहीं बोलता । उस कारण उन स्थलों में एक ही शब्द का प्रयोग प्रतीत होता है । वस्तुतः अर्थ की दृष्टि से वहाँ दो शब्द हैं, जो भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक हैं, तथापि 'जतु-काष्ठ' न्याय-से दोनों परस्पर मिलकर (चिपककर) एकाकार हो जाते हैं । जैसे—लाख (जतु) और लकड़ी (काष्ठ) दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु कभी-कभी 'लाख'—'लकड़ी' से चिपककर एक ही हो जाती है । उसी प्रकार दो समानाकार-समानवर्णानुपूर्वीवाले शब्द, एकबार (सकृत्) उच्चारण किये जाने के कारण जहाँ 'एक शब्द' के रूप में प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्दों का श्लेष होने से उसे श्लेष नामका शब्दालंकार कहते हैं ।

इसी आशय को वृत्तिकार बता रहे हैं—

(श्लेषस्य भेदाः)

अर्थभेदेन शब्दभेदः इति दर्शने काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते इति च नये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः। स च वर्ण–पद–लिङ्ग–भाषा–प्रकृति–प्रत्यय–विभक्ति–वचनानां भेदादष्टधा।

क्रमेणोदाहरणम्—

अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः।

अर्थभेदेनेति। शब्दों की भिन्नता, अर्थ के भेद से होती है। 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते'—प्रत्येक अर्थ को बताने के लिये अलग-अलग शब्दों को बोला जाता है—इस सिद्धान्त के अनुसार 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते'–काव्य मार्ग में उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों का विचार नहीं किया जाता। स्वरभेदों के आधार पर शब्दार्थों के भेद का विचार केवल वेदार्थ करते समय ही किया जाता है। अर्थभेद के कारण, समानानुपूर्वीक—समानाकार शब्द भिन्न होने पर भी उनका उच्चारण जब एक साथ किया जाता है, तब वे, जतु-काष्ठ की तरह ऐसे जुड़ जाते हैं कि एकाकार प्रतीत होते हैं, वे अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपों को त्याग देते हैं, तब वह 'श्लेष' नामक शब्दालंकार कहा जाता है। सुधासागरकार ने 'श्लेष' का लक्षण इस प्रकार किया है—'एकोच्चारणाऽपह्नुतभेदकभिन्नार्थकसदृशनानाशब्दत्वं श्लेषत्वम्'।

स चेति। वह श्लेषालंकार आठ प्रकार का होता है–(१) वर्णश्लेष, (२) पदश्लेष, (३) लिङ्गश्लेष, (४) भाषाश्लेष, (५) प्रकृतिश्लेष, (६) प्रत्ययश्लेष, (७) विभक्तिश्लेष, (८) वचनश्लेष। इन भेदों के कारण सभंगश्लेष आठ प्रकार का होता है। क्रम से श्लेषालंकारों के उदाहरण दे रहे हैं—

(१) वर्णश्लेष का उदाहरण—

विधाविति। विधौ वक्रे = चन्द्रे-दैवे च, कुटिलाकारे = प्रतिकूले, मूर्ध्नि=मस्तके स्थितवति सति=तिष्ठति सति सर्वाऽमरगुरोः = सकलदेवश्रेष्ठस्य, स्थाणोः अपि= महेश्वरस्यापि इयं वक्ष्यमाणा अवस्था=दशा भवति, अमी कीटकल्पाः वयं पुनः के ? न केऽपीत्यर्थः। अवस्थां दर्शयति—अलंकार इत्यादि ना।

शङ्काकरं = भयजनकं यत् नरकपालं = मनुष्यशिरोऽस्थि, अलङ्कारः = भूषणम्। विशीर्णानि = गलितानि, अङ्गानि = अवयवा यस्य स, यद्वा विशीर्णानि = बुभुक्षावशात् स्वयमेव भक्षितानि, अङ्गानि=स्वावयवाः येन तथाभूतः भृङ्गी=गणविशेषः, परिजनः= सेवकलोकः, च = परं वृषः = वृषभः, वसु=धनं, सोऽपि वृषः एकः, सोऽपि बहुवयाः= जरत्तरः इत्यर्थः। जरत्तरत्वेन मूल्याल्पत्वं सूचितम्।

अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥ ३६९ ॥
पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषित-निःशेषपरिजनं देव ! ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥ ३७० ॥

अर्थात् मनुष्यों की डरावनी खोपड़ी ही उनका अलङ्कार है, गलित अङ्गों वाला भृङ्गी नाम का उनका सेवक (परिजन) है, तथा एक अत्यन्त बूढा बैल ही उनका धन है, ऐसी दशा शिवजी की है। सम्पूर्ण देवताओं के आदरणीय गुरु शिवजी के मस्तक पर टेढे (वक्र) चन्द्रमा (भाग्य) के स्थित होने से स्वयं उनकी यह दुरवस्था है तो हम जैसे कीट सदृश लोगों की दुरवस्था के विषय में कहना ही क्या है ? भाग्य के प्रतिकूल होने पर बड़े से बड़े व्यक्ति की दुरवस्था हो जाती है, साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ? इस तथ्य को कवि ने शिवजी का उदाहरण देकर बताया है ॥ ३६९ ॥

प्रस्तुत पद्य के 'विधौ' पद में 'वर्णश्लेष' है,'विधि' और 'विधु' दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। 'विधि' शब्द का अर्थ—भाग्य और 'विधु' शब्द का अर्थ—चन्द्रमा है। इन दोनों शब्दों का सप्तमी-विभक्ति के एक वचन में 'विधौ'—यह समानाकार (एक-सा) ही रूप बनता है। केवल 'इ' कार और 'उ' कार वर्णों के भेद से अर्थ में भेद होता है। यहाँ 'विधौ' में 'इ' एवं 'उ' वर्ण का श्लेष है। उस कारण यह 'वर्णश्लेष' का उदाहरण है।

(२) पदश्लेष—

कोई याचक कवि, किसी प्रतिभाशाली राजा से कह रहा है—इस समय मेरा और आपका घर (गृह) एक-सा ही (समान अवस्था में) है। वह याचक कवि, दोनों के घरों की समता को तीन श्लिष्ट पदों द्वारा बता रहा है। उसकी कविता में 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' 'भूषितनिःशेषपरिजनं' और 'विलसत्करेणुगहनं'--इन तीन पदों में श्लेष है।

उक्त तीन श्लिष्ट पदों में से पहिला पद 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' है। दोनों के पक्ष में इस पद के भिन्न-भिन्न अर्थ इस प्रकार होते हैं—(याचक के पक्ष में) 'पृथुकानां=बालानां आर्तस्वरस्य पात्रं'—अर्थात् मेरा (याचक का) घर, बालकों के रोने का स्थान है। मेरे घर में भूखे बालक रो रहे हैं।

(राजा के पक्ष में)—आपका (राजा का) घर—'पृथूनि=महान्ति कार्तस्वरस्य = सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिन् तत्—पृथुकार्तस्वर-पात्रम्। सुवर्ण के बड़े-बड़े बर्तनों से युक्त है।

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वतो
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३७१॥

एष वचनश्लेषोऽपि।

द्वितीय पद—'भूषितनिःशेषपरिजनं' है। (याचक के पक्ष में)—'भुवि= पृथिव्यां उषिताः सर्वे परिजनाः यस्मिन् तत्—भूषितनिःशेषपरिजनम्। जिसमें परिवार के समस्त लोग जमीन पर पड़े हुए हैं, अर्थात् जमीन पर सो रहे हैं, बिस्तर तक नहीं है। (राजा के पक्ष में)—भूषिताः=अलंकृताः निःशेषाः=सकलाः परिजनाः= परिचारकजनाः सेवकाः यत्र तत्; भूषितनिःशेषपरिजनम्—आपके घर में समस्त-परिजन सेवक आदि, अलङ्कार पहने हुए अलंकृत हैं। यहां पर 'भूषित' इस एक पद को अथवा 'भूषितनिःशेषपरिजनं'—इस समस्त पद को श्लिष्ट मानकर 'पदश्लेष' कहा गया है।

तीसरा पद है—'विलसत्करेणुगहनम्'। (याचक के पक्ष में)—बिले सीदन्ति इति बिलसत्काः=मूषकाः, तेषां रेणुः=धूलिः; तस्याः सदनं—बिलसत्करेणुसदनम्। चूहों के द्वारा खोदे गये बिलों की धूल से भरा हुआ मेरा (याचक का) घर है। 'व' कार और 'ब' कार का अभेद माना जाता है।

अथवा—'सन्तीति सन्तः, सन्तः एव सत्काः, बिले सत्काः=विद्यमानाः ये रेणवः, तैः गहनं=व्याप्तम्—एतादृशं मम याचकस्य गृहमस्ति।

अथवा—बिले सत्=विद्यमानं कं=जलं रेणुश्च, ताभ्यां गहनं व्याप्तम्—एवंभूतं मम याचकस्य गृहं विद्यते।

(राजा के पक्ष में)—विलसन्त्यः=शोभमानाः करेणवः=करिण्यः ताभिः; गहनं संकीर्णं=व्याप्तम् इति विलसत्करेणुगहनम्—अर्थात् आपका (राजा का) घर, झूमती हुई हथिनियों से भरा हुआ है। एवंच दोनों का घर—उक्त तीनों विशेषणों से युक्त रहने के कारण समान हो रहा है ॥ ३७० ॥

उक्त रीति से अपने घर की राजा के घर से समता दिखाकर 'सम्प्रति समभावयोः सदनम्' इस चतुर्थचरण के उत्तरार्ध में 'सम्प्रति' पद का निवेश करके यह सूचित किया है कि 'त्वत्तोधनलाभानन्तरं न समम् स्यात्'। यहाँ पर क्रमशः पदभेद होने से 'पदश्लेष' है। प्रदीपोद्योतकार ने कहा है—'समासघटकत्वेन पदानां श्लेषोऽत्र बोध्यः, समासस्य पदत्वाद्वा तत्त्वमिति"।

(३) लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष—

पद्यावली में उल्लिखित भागवतामृतवर्धन कवि का पद्य, उदाहरण के रूप में दिया जा रहा है। इसमें लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष दोनों दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रस्तुत पद्य में मुख्य वाक्य "युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं, नेत्रे तनुर्वा हरेः" है। हरेः नेत्रे तनुर्वा युष्माकं भवार्तिशमनं कुरुताम्—यह अन्वय है। अर्थात् श्रीहरि के नेत्र अथवा मूर्ति (विग्रह), तुम्हारी भव-बाधा को शान्त करे—(सांसारिक दुःखों का नाश करे), प्रस्तुत पद्य का यह चतुर्थ चरण है। ऊपर के शेष तीन चरणों में, चतुर्थ चरणोक्त 'नेत्रे' तथा 'तनुः' के विशेषण हैं। 'नेत्रे'—नपुंसकलिंग 'नेत्र' शब्द की प्रथमाविभक्ति के द्विवचन का रूप है, और 'तनुः'—स्त्रीलिङ्ग 'तनु' शब्द की प्रथमा विभक्ति का एकवचन का रूप है। ये दोनों ही 'भवार्तिशमन' की क्रिया के 'कर्ता' हैं। ऊपर्युक्त शेष तीनों चरणों में जो विशेषण उल्लिखित हैं, वे एक बार नपुंसकलिंग की प्रथमा विभक्ति के द्विवचन के रूप में, और दूसरी बार स्त्रीलिंग की प्रथमाविभक्ति के एकवचन के रूप में अन्वित होते हैं। उस कारण यह प्रस्तुत पद्य 'लिङ्गश्लेष' तथा 'वचनश्लेष' दोनों का उदाहरण बन गया है।

'कुरुतां'—पद में 'आत्मनेपद' तथा 'परस्मैपद' का भी श्लेष है। 'नेत्रे'—इस 'द्विवचनान्त कर्ता के साथ अन्वय करने पर 'कुरुतां' —को परस्मैपदी प्रथमपुरुष के द्विवचन का रूप समझना चाहिए और 'तनुः' इस एकवचनान्त कर्ता के साथ अन्वय करने पर 'कुरुतां'–को आत्मनेपदी प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप समझना चाहिए।

भक्तीति। हरेः = विष्णोः नेत्रे = चक्षुषी, तनुः–मूर्तिश्च युष्माकं भवस्य=संसारस्य आर्तेः=पीडायाः शमनं=शान्तिं कुरुताम्। उभयोः श्लिष्टविशेषणानि आह—किंभूते नेत्रे ? भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी—भक्तिः = परानुरक्तिः "अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे—(भ० सू० १।१।१) इतिशाण्डिल्यप्रणीतभक्तिसूत्रात्। तया भक्त्या ये प्रह्वाः=नम्राः, तेषां विलोकने=सदयावलोकने प्रणयः=अनुरागः ययोः, ते भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी = भक्तावलोकनकर्तृणी इत्यर्थः।

किंभूता तनुः ? भक्तिप्रह्वानां विलोकनप्रणयः = दर्शनानुरागः यस्यां सा, भक्तावलोकनकर्मभूतेत्यर्थः। 'प्रणयिनी' इति नपुंसके द्विवचनं स्त्रियामेकवचनं च। नीलोत्पलस्पर्धिनी—नीलोत्पलं स्पर्धितुं शीलं ययोस्ते नीलोत्पलस्पर्धिनी नेत्रे'। तनुपक्षे—नीलोत्पलं स्पर्धितुं शीलं यस्याः सा 'तनुः'। पक्षद्वयेऽपि ताच्छील्ये णिनिः। नीलोत्पलस्पर्धित्वं च–नेत्रपक्षे सन्निवेशवैशिष्ट्येन,तनुपक्षे श्यामलत्वमात्रेण। केचित्तु नीलोत्पलस्पर्धिनी इन्दीवरानुकारिणी, मतुबर्थे इनिः, तनुपक्षे ताच्छील्ये णिनिरित्याहुः। समाधिनिरतैः योगिभिः हितप्राप्तये = शुभावाप्तये; ध्यानालम्बनतां ध्यानविषयतां नीते प्रापिते 'नेत्रे' इत्यर्थः।

तनुपक्षे—ईहितप्राप्तये = वाञ्छितसिद्धये ध्यानालम्बनां नीता 'तनुरि'त्यर्थः। लावण्यस्य=सौन्दर्यस्य महानिधी=अपरिमिताधारभूते, नेत्रशब्दस्य नपुंसकत्वेऽपि निधिशब्दस्य अजहल्लिङ्गत्वान्महानिधी इति द्विवचनम्।

तनुपक्षे—महानिधिः इति च्छेदः। "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (पा० सू० ६।३।१११) इति पाणिनिसूत्रेण रेफे परे दीर्घः। लक्ष्मीदृशोः = लक्ष्मीनयनयोः रसिकतां तन्वती = कुर्वाणे। 'तन्वती' इति शत्रन्तनपुंसकस्य द्विवचनम्। तनुपक्षे—स्त्रियामेकवचनम् ॥

प्रस्तुत पद्य का अर्थ इस प्रकार है—

भगवान् श्री हरि के नेत्र तथा उनकी मूर्ति (तनु), तुम सब की भवबाधा (सांसारिक पीडा) को शान्त करे। श्री हरि के नेत्र और मूर्ति (तनु) कैसी है ?—'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी'—भगवान् के नेत्र, भक्ति से विनम्र हुए लोगों को कृपापूर्वक देखने के लिये अनुरागपूर्ण हैं।

(तनुपक्ष में)—श्रीहरि के मंगलमय विग्रह (मूर्ति) को भक्त लोग अनुरागपूर्वक देखते हैं।

'नीलोत्पलस्पर्धिनी'—(नेत्रपक्ष में)—रंग तथा सौन्दर्य में श्रीहरि के नेत्र, नीलकमल के समान हैं। उनके नेत्र कज्जलाक्त होने से नीलकमल के सदृश लगते हैं।

(तनुपक्ष में)—श्रीहरि के शरीर का वर्ण ही नीलकमल के समान श्याम है।

'ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये'—(नेत्र पक्ष में) परम पद के अभिलाषी, समाधि में मग्न रहने वाले योगीन्द्रों के द्वारा कल्याणकामना से जिन श्रीहरि के नेत्रों का ध्यान किया जाता है।

(तनुपक्ष में)—अभीष्ट मोक्षपदको चाहने वाले योगिराज, समाधिस्थ होकर श्रीहरि की मूर्ति का ध्यान करते रहते हैं।

'लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती'—(नेत्रपक्ष में)—भगवान् श्रीहरि के नेत्र, सौन्दर्यसार—सुधारस के अपार निधिस्वरूप हैं।

(तनुपक्ष में)—श्रीहरि का मंगलमय विग्रह (मूर्ति), सौन्दर्य का अक्षय निधि है, और श्रीहरि के सुन्दर नेत्र, भगवती लक्ष्मी की दृष्टि (नेत्रों) में रतिभाव को प्रकाशित करते हैं और उनकी मंगलमयी तनु (देह) भगवती लक्ष्मी के हृदय में रतिभाव को अंकुरित करती है ॥ ३७१ ॥

उक्त पद्य में लिंग-श्लेष और वचन-श्लेष दोनों उपलब्ध हो रहे हैं।

महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे ।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥ ३७२ ॥

यथा—'प्रणयिनी' इत्यादि पदों में रूप की समानता के कारण नपुंसकलिग और स्त्रीलिग का तथा द्विवचन और एकवचन का श्लेष है। एवं च दोनों का यहाँ संकर है। 'महानिधी' में प्रथमा के द्विवचन-एकवचन का श्लेष है। 'कुरुताम्' में परस्मैपद और द्विवचन आत्मनेपद और एक-वचन मात्र का श्लेष है। यहाँ लिंगश्लेष नहीं है। इसी प्रकार 'हरिस्तन्नामचाघनुत्'—यहाँ पर केवल लिंगश्लेष है। वचनश्लेष नहीं हैं। अतएव वृत्तिकार ने दोनों को पृथक्-पृथक् बताया है।

श्री रुद्रट ने लिंगश्लेष का लक्षण, अपने काव्यालङ्कार में बताया है—

"स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारुप्यम् ।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः ॥"

(काव्यालंकार ४/८)

दीर्घ के ह्रस्व होने, ह्रस्व के दीर्घ होने अथवा समास के कारण जो स्त्रीलिंग, पुंल्लिग और नपुंसकलिग के शब्दों का समान रूप हुआ करता है, उसे 'लिंगश्लेष' कहते हैं। इसी पद्य में वचनश्लेष का प्रदर्शन हो जाने से अब आगे 'वचनश्लेष' रूप आठवे भेद का उदाहरण नही दिया है।

(४) भाषा श्लेष—

'संस्कृत' आदि भाषाओं का श्लेष–जयन्तकृत दीपिका में तथा सोमेश्वरकृत 'संकेत' में भाषा के छह प्रकार कहे गये हैं—

"संस्कृत-प्राकृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥

संस्कृत, प्राकृत भाषाओं के श्लेष का उदाहरण—आनन्दवर्धनप्रणीत 'देवी-शतक' में से छहत्तरवाँ (७६ वाँ) पद्य, प्रस्तुत कर रहे हैं। इस पद्य का अर्थ, संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं में होता है। उसकारण प्रस्तुत पद्य को 'भाषा-श्लेष' का उदाहरण कहा गया है।

महदे इति। (संस्कृतपक्षे)—

महदे सुरसन्धम् मे तम् अव समासङ्गम् आगमाहरणे। हर बहुसरणम् तम् चित्त-मोहम् अवसरे, उमे सहसा—इति पदच्छेदः।

हे उमे !=गौरि ! मे=मम आगमाहरणे=वेदविद्योपार्जने तं=प्रसिद्धं समासंगं=संसक्तिम् अव=रक्ष, अवसरे=मोहापचयोचितकाले तं=प्रसिद्धं चित्तमोहं; सहसा=झटिति हर=अपनय।

कीदृशे आगमाहृरणे ? महृदे !=उत्सवदे ! (यह सम्बोधन का विशेषण है ।), किंभूतं समासंगम् ? सुरैः=देवैः सन्धा = सन्धिः (मिलनं) यस्मात्तथाभूतम् । यद्वा सुराणां = देवानां सन्धा=सन्धानं (सम्यक् ज्ञानं) यस्मात् तथाभूतम् । किंभूतं चित्तमोहम् ? बहु = अनेकधा सरणं = प्रसरणं यस्य तथाभूतम् । यद्वा बहु=वारं-बारं सरणं=संसारः यस्मात् तथाभूतम् इत्यर्थः ।

(प्राकृतपक्षे)—

मह देसु रसम् धम्मे तमवसम् आसम् गमागमा हर णे । हरवहु सरणम् तम् चित्त-मोहम् अवसरउ मे सहसा —इति पदच्छेदः ।

इसी की संस्कृत छाया इस प्रकार होगी—मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् आशां गमागमात् हर नः । हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ॥ इति पद-च्छेदः ।

हे हरवधु ! पार्वति ! त्वं मे शरणं 'भवसि' इति शेषः । मम धर्मे=पुण्ये कर्मणि रसं=प्रीतिम् उत्पादय । नः=आत्मसम्बन्धिनी तमोवशां=तमोगुणयुक्ताम् आशां, गमा-गमात्—गमः = गमनम् (मरणम्) आगमः = आगमनं (पुनर्जन्म) यस्मिन्, तादृशात् संसारात् हर । मे चित्तमोहः सहसा = शीघ्रम् अपसरतु दूरीभवतु इत्यर्थः ॥

मूल में उल्लिखित प्राकृतभाषामय पद्य का अर्थ—

हे आनन्ददायिनि (महृदे) गौरि ! (आगमाहृरणे) वेद-विद्या के उपार्जन में (समासङ्गम्) मेरे उस अनुराग को बनाये रखो, और अवसर पर, क्वचित्—कदाचित् उत्पन्न होनेवाले उस चित्त के अज्ञान को (मोह को) तत्काल दूर कर दो ॥

उसी प्राकृतभाषामय पद्य की संस्कृतच्छाया—

मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् (आशां) गमागमात् हर नः ।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ॥ इति पदच्छेदः

हे हरवधु ! पार्वति ! आप मेरी एकमात्र शरण (रक्षक) हो, आप धर्म में मेरा प्रेम सर्वदा बनाये रखें, और (गमागमात्) संसार (जन्ममरण) के प्रति हमारी (तमोवशां) अज्ञानमयी सुखप्राप्ति की आशा को मिटा दो, जिससे मेरे चित्त का अज्ञान तत्काल दूर हो जाय ॥ ३७२ ॥

यहाँ पर 'सहसा' पद को छोड़कर सर्वत्र ही संस्कृत और प्राकृत भाषा का श्लेष हैं । प्रदीपकार ने कहा भी है—"प्राकृत में पदों का अन्य अर्थ है, किन्तु उन्हीं पदों का संस्कृत में अन्य अर्थ है ।

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥ ३७३ ॥
रजनिरमणमौलेः पादपद्मावलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम् ।

---

(५) प्रकृतिश्लेष—

अब प्रकृतिश्लेष का उदाहरण दे रहे हैं। इसमें 'वक्ष्यति'–रूप, 'वह्' धातु तथा 'वच' धातु दोनों का ही 'लृट्' लकार में एक-सा ही बनता है। उस कारण 'वक्ष्यति' के 'धारण करेगा' और 'कहेगा —दोनों ही अर्थ, हुआ करते हैं। उसीतरह 'सामर्थ्य-कृत्'—इस पद में 'सामर्थ्य' के उपपद रहते 'डुकृञ् करणे' और 'कृती छेदने'—दोनों धातुओं से 'सामर्थ्यं करोति इति सामर्थ्यकृत्' तथा 'सामर्थ्यं कृन्ततिणछिनत्ति; विनाशयति इति सामर्थ्यंकृत्'—एक सा ही रूप बनता है। दोनों जगह 'लट्' लकार के 'प्रथम पुरुष' के 'एकवचन तिप्' प्रत्यय के समान रहने पर भी केवल 'धातुओं' का भेद होने से यह 'प्रकृतिश्लेष' का उदाहरण है। 'कृन्तति' और 'करोति' का 'कृत्'—यह रूप 'क्विप्' प्रत्यय करने पर एक सा ही बनता है। अतः यहाँ पर 'वह्' और 'वच्' तथा 'कृती' और 'डुकृञ्'—इन धातुओं (प्रकृतियों) की ही भिन्नरूपता है, 'प्रत्यय' की भिन्नता नहीं है। उस कारण 'वक्ष्यति' और 'सामर्थ्यंकृत्'—दोनों में 'प्रकृतिश्लेष' है।

उसका (प्रकृतिश्लेष का) उदाहरण—

अयं सर्वाणीति। (अमित्राणां मित्राणां च सामर्थ्यंकृत् अयं नृपात्मजः) शत्रुओं के सामर्थ्य का विनाशक और मित्रों के सामर्थ्य का विकासक अर्थात् वर्धक, यह राजकुमार (सर्वाणि शास्त्राणि हृदि, ज्ञेषु च वक्ष्यति) समस्त शास्त्रों को अपने हृदय में धारण करेगा और शास्त्रज्ञ विद्वानों की सभा में उन शास्त्रों का प्रवचन भी करेगा ॥३७३॥ उक्त पद्य में 'प्रकृतिश्लेष' है।

'प्रकृतिश्लेष' का लक्षण रुद्रट ने बताया है—

"सिद्ध्यन्ति यत्रानन्यैः सारुप्यं प्रत्ययागमोपपदैः।
प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ॥–(काव्यालंकार ४।२४)

नाना प्रकार की 'प्रकृति' की प्रत्यय, आगम, उपपद के कारण जो समानरूपता होती है, उसे 'प्रकृतिश्लेष' कहते हैं॥

(६) प्रत्ययश्लेष—

अब प्रत्ययश्लेष का उदाहरण दे रहे हैं। कोई शिवभक्त शिव की उपासना करते-हुए अपने भविष्य की प्रार्थना कर रहा है—रजनीति। (रजनिरमणमौलेः)—

प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥ ३७४ ॥

रजनिरमणः=चन्द्रः मौलौ=किरीटे यस्य तस्य शिवस्य, (पादपद्मावलोकक्षणसमय-परातापूर्वसम्पत्सहस्रम्) पादपद्मयोः = चरणकमलयोः अवलोकनमेव क्षणः=उत्सवः तत्समये=तत्काले एव पराप्तं=सम्यगाप्तम् अपूर्वायाः संपदः सहस्रं यस्मिन् कर्मणि, यद्वा अपूर्वम्=अदृष्टं सम्पत् सहस्रं च यस्मिन् कर्मणि तद् यथा भवति तथा । (प्रमथनिवहमध्ये) प्रमथाः=गणविशेषाः तेषां निवहः=समूहः तन्मध्ये (जातु-चित्) कदाचित् त्वत्प्रसादात् अहम् (उचितरुचिः) उचिता रुचिः=दीप्तिः यस्य तथाभूतः सन् (नन्दिता) नन्दकः= आनन्दकः स्याम् इत्याशंसा, तथा एवंसति सा गणमध्यगणनैव मे=मम नन्दिता नन्दिनः= तन्नामकगणाधिपस्य भावः नन्दित्वं स्यात् भवेदित्यर्थः ।

उद्योतकारास्तु प्रमथाः गणाः तत्समूहमध्ये जातुचित् कदाचित् उचिता रुचिः प्रीतिः यत्र ईदृशी सा (नन्दिता मे स्यात्) नन्दिनो भावः नन्दिता शिवसेवक-विशेषता मम स्यात् । अथ च अहं त्वत्प्रसादात् त्वद्गणमध्ये उचितरुचिः नन्दिता नन्दकः स्याम् इति आशंसा—इस प्रकार अन्वय करते हैं ।

(जातुचित् त्वत्प्रसादात्) हे भगवति मां ! आपकी दया से कभी मैं भी भगवान् शिव के पादारविन्द के दर्शन से अपरिमित अपूर्व आनन्द को प्राप्तकर उनके गणों के मध्य में उचित अनुरागपूर्ण आनन्दपानेवाला बनजाऊँ, तथा उनके गणों में मेरी गणना होजाना भी मेरे लिये 'नन्दी' पद की प्राप्ति के तुल्य होगा ॥ ३७४ ॥

यहाँ पर 'स्यान्नन्दिता' में 'प्रत्ययश्लेष' है। 'स्यात्' और 'नन्दिता'—दोनों पदों में सन्धि की गई है। पदच्छेद करने पर 'स्यात्' और 'नन्दिता' दो पदों के रूप स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं,तथा 'स्याम् और नन्दिता'—इन दो पदों के रूप भी स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं। अर्थात् 'स्यान्नन्दिता' में दो प्रकार से पदच्छेद किया जा सकता है। एक 'स्यात्–नन्दिता' और दूसरा 'स्याम्–नन्दिता'। 'अहं नन्दिता स्याम्' और 'सा मे नन्दिता स्यात्'--इस प्रकार से दो तरह से उसके अन्वय होते हैं। अभिप्राय यह है कि 'स्याम्' और 'स्यात्' पदों में 'उत्तमपुरुष' तथा प्रथम-पुरुष के 'प्रत्यय'–भाग मात्र का भेद होने से यहाँ 'प्रत्ययश्लेष' है। इसीप्रकार 'नन्दिता' पद में 'नन्दिनो भावः नन्दिता'--इस विग्रह में 'तद्धित' का 'तल्' प्रत्यय है, और 'नन्दकः स्याम्'--इस अर्थवाले पक्ष में 'कृत्' संज्ञक 'तृच्' प्रत्यय है।

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥ ३७५ ॥

अतः दोनों पदों में 'प्रत्यय'–मात्र का भेद होने से यह प्रत्ययश्लेष है । 'स्यान्नन्दिता' में उत्तमपुरुष और प्रथमपुरुष का श्लेष है और 'नन्दिता' में तृच्–तल् का अर्थात् कृत्–तद्धित प्रत्ययों का श्लेष है ।

प्रत्ययश्लेष का लक्षण रुद्रट ने बताया है—

"यत्र प्रकृति–प्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम् ।
सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः" ॥

—(काव्यालंकार ४।२६) ।

यदि प्रत्यय के कारण भिन्न-भिन्न प्रकृति–प्रत्ययसमुदायों में सारूप्य हो जाय-तो उसे 'प्रत्ययश्लेष' कहते हैं । 'नन्दिता' पद, 'तृच्' (कृत्) और 'तल्' (तद्धित) दोनों प्रत्ययों से निष्पन्न होता है । किन्तु अर्थ, उसका भिन्न-भिन्न होता है । जैसे—'नन्द + तृच् = नन्दिता' का अर्थ 'आनन्ददायक' होता है, और 'नन्दिन् + तल् = नन्दिता' अर्थात् नन्दित्व (गणों के आधिपत्य का वाचक) होता है ।

(७) विभक्तिश्लेष—

सुप्–तिङ्रूप विभक्तिश्लेष का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है । कोई दस्युराज शिवभक्त है, वह अन्य लोगों के सामने भगवान् शिव की प्रार्थना करते हुए, अपने समीप ही स्थित हुए पुत्र को दस्युकर्म का उपदेश, शिवोपासनापरक श्लेष से दे रहा है—

(शिवपक्षे) हे हर ! शंभो ! त्वं सर्वस्य सर्वस्वं, यतः भवस्य = संसारस्य, छेदे विनाशे तत्परः = आसक्तः, संसारनिवर्तकः मुक्तिप्रद इति यावत् । अतः नयः = नीतिः, उपकारश्च = दुःखत्राणं, तयोः सांमुख्यं = आनुकूल्यं यस्मात् तादृशं––तनुवर्तनं = शरीरावस्थितिम् आयासि प्राप्नोषि इत्यर्थः ।

(पुत्रपक्षे) हे पुत्र ! त्वं सर्वस्य जनस्य सर्वस्वं = ग्राम–हिरण्यादिकं हर = अपहर; चोरयेत्यर्थः । त्वं छेदे = भित्तेः ग्रन्थेश्च छेदने तत्परः भव । उपकारसांमुख्यं, प्रत्युपकारकरणं नय = अपनय; दूरीकुरु इत्यर्थः । आयासि = परेषाम् आयासदायकं = क्लेशकारकं वर्तनं जीविकां तनु विस्तारय इत्यर्थः ।

(शिवपक्ष में) हे हर शंभो ! आप सभी के सर्वस्व हैं । क्योंकि आप संसाररूप बन्धन के काटने में तत्पर रहते हैं अर्थात् भक्तों को मुक्तिप्रदान करते हैं । अतएव आप नीति और उपकार करने के लिये वैसी ही शरीरस्थिति को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् अवतार धारण करते हैं ।

(पुत्र के पक्ष में)--हे पुत्र ! तू सभी लोगों के ग्राम-सुवर्ण आदि सर्वस्व को छीन लियाकर अर्थात् लूट लियाकर । तू दूसरों के घरों में सेंध डालने के लिये, और लोगों ने धन को जो वस्त्र की गाँठ में बाँध रखा हो, उसे लेने के लिये गाँठ (जेब आदि) के काटने में तत्पर रहा कर । किसी पर भी उपकार न किया कर । तू अपनी जीविका-वृत्ति ऐसी बना ले, जो दूसरों के लिये कष्ट कर हो ॥ ३७५ ॥

कुछ लोगों ने 'आयासि तनुवर्तनम्' की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है—'आयासि=आयासयुक्तं, वर्तनम्=आचरणं, तनु=विस्तारय, श्रमजितो भव इत्यर्थः । अर्थात् श्रमपूर्वक आचरण करो, श्रम से जीतो, अर्थात् पुरुषार्थ-पराक्रम से दूसरे को जीतो । उद्योतकार 'भवच्छेदतत्परः' की व्याख्या करते हैं--छेदतत्परः = बन्धच्छेदपरः भव, 'उपकार--सांमुख्यं नय'=प्रापय, अर्थात् दूसरों के बन्धनों को काटो (दूसरों के दुःखों को दूर करो), उपकारी बनो, किसी का अपकार मत करो । 'आयासः अस्य अस्ति' इति आयासि वर्तनं तपश्चर्यादियोगिजीवितं, तनु=विस्तारय, अभ्यास परिश्रमपूर्वक तप के योग्य जीवन को बनाओ । अर्थात् दूसरों के सर्वस्वादि का हरण करके उनसे तप करवाओ, जिनसे उन्हें मोक्षप्राप्ति हो ।

सरस्वतीतीर्थ कहते हैं--"यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य वित्तं हराम्यहम्"—इस नियम के अनुसार सर्वस्वादि के अपहरणद्वारा दूसरों पर अनुग्रह करो ।

यहाँ पर 'हर' तथा 'भव' पदो में 'विभक्तिश्लेष' है । ये दोनों पद 'शिव' के पर्याय हैं । इसलिए शिवपक्ष में ये दीनों सम्बोधन विभक्ति में 'सुबन्त पद हैं । दूसरे-पक्ष में वे दोनों 'तिङन्त—क्रियापद हैं । उसकारण इन दोनों में विभक्तिश्लेष है । यद्यपि यह विभक्तिश्लेष, 'प्रत्ययश्लेष' के अन्तर्गत हो सकता है तथापि यह विशेष-चमत्कारजनक होने से इसे पृथक् कहा गया है । इसी प्रकार 'आयासि' क्रियापद में और 'णिन्यन्त आयासि' पद में भी विभक्तिश्लेष है ।

रुद्रट ने विभक्तिश्लेष का लक्षण कहा है—

'सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति सोऽत्र विभक्तिश्लेषः' । उक्त उदाहरण में 'हर' 'भव', 'आयासि' इत्यादि पद 'सुबन्त' और 'तिङन्त' दोनों हैं और भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक हैं, किन्तु उनका उच्चारण एक-सा समान होने के कारण एकरूप हो गये हैं ।

आठवाँ 'वचनश्लेष' पूर्व बता चुके हैं ।

ये आठों प्रकार के श्लेष 'सभंगपदश्लेष' कहे जाते हैं प्राचीन आलंकारिकों ने 'सभंगपदश्लेष' को ही 'शब्दालंकार' कहा है । उसकी रचना करने के लिए कवियों को उत्साहित भी किया है । यह तथ्य रुद्रट की उक्ति से स्पष्ट होता है—

"शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्यगालोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः ।
यत्नादधीत्य विविधानभिधानकोषान् श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात्" ॥
—(काव्यालंकार ४।३५) ।

(१२०) भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः ।

उदाहरणम्—

योऽसकृत्परगोत्राणां　पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद् विबुधेन्द्रः स राजते ॥३७६॥

(सूत्र १२०) भेदाभावादिति । पूर्वोक्त प्रकृति-प्रत्यय आदि भेदकों के न होने-पर भी जहाँ पर दो अर्थों में युगपत् तात्पर्यबोध होता है, उसे भी श्लेष का नवम-प्रकार समझना चाहिए, अर्थात् वह 'अभंगश्लेष' है । क्योंकि पहिले कारिका-चौरासी—सू. ११९ के द्वारा 'अक्षरादिभिरष्टधा' कहा गया है । 'भेदाभावात् प्रकृत्यादेः' की जगह 'भेदाऽभावादक्षरादेः'—पाठ होता तो उचित रहता । 'भेदोऽपि नवमो भवेत्'-यहाँ पर 'अपि' शब्द का अन्वय, व्युत्क्रम से करना चाहिए, अर्थात् 'नवमोऽपि' कहना चाहिये । इसी आशय को बृत्तिकार ने 'नवमोऽपीत्यपिर्भिन्नक्रमः' से कहा है । एवंच प्रकृत सूत्र (१२०) का अर्थ हुआ कि पूर्वोक्त आठ भेदों के अतिरिक्त नवमभेद भी हो सकता है ।

(९) अभङ्गश्लेष— 'श्लेष' के आठ भेदों को पूर्व बता चुके हैं । उनमें 'प्रकृति-प्रत्यय' आदि का भेद रहने से उनको 'सभङ्ग-श्लेष' कहा गया है । सभंग-श्लेष के उदाहरणों में दोनों भिन्न-भिन्न पक्षों के अनुकूल अर्थ करते समय, पदों का भिन्न-भिन्न-प्रकार से विश्लेषण करना होता है । परन्तु इन अष्टविध श्लेषोंके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार-का भी 'श्लेष' हो सकता है, जिसे नवम प्रकार का श्लेष कह सकते हैं । इस नवम-प्रकार के श्लेष में प्रकृति-प्रत्ययादि के भेद किये बिना ही स्वरभेद के कारण भिन्न-प्रयत्न से उच्चार्यमाण अथवा स्वरभेद के न रहने पर भी अभिन्न प्रयत्न (एक प्रयत्न) से उच्चार्यमाण अनेक पदों का श्लेष होता है, उसे 'अभङ्ग श्लेष' कहते हैं ।

अभङ्गश्लेष का उदाहरण—

इस उदाहरण में देवराज इन्द्र के साथ समानता प्रदर्शित करते हुए राजा पर 'इन्द्रत्व' का आरोप कर अभंगश्लेष के द्वारा राजा का वर्णन कवि ने किया है— योऽसकृदिति । (राजपक्ष में)—यः=जो राजा असकृत्=अनेक बार, परगोत्राणां= शत्रुकुलों के,पक्षच्छेदक्षणक्षमः-पक्षस्य=सहायस्य मतस्य-वा=सहायकों के अथवा उनके सम्मत लोगों के, छेदे=खण्डन करने में, क्षणेन=क्षणभर में ही, क्षमः=समर्थ है । अथवा 'छेदरूपे क्षणे=उत्सवे' क्षमः', अर्थात् शत्रुकुल के सहायकों का अल्प-स्वल्पकाल में ही नाश करने का उत्सव मनाने में समर्थ रहता है । शतकोटिदतां-शतकोटिना=वज्र-तुल्येन अस्त्रेण द्यति=शत्रून् खण्डयति इति शतकोटिदः, तस्य भावः तत्ता तां, छेदकतां

अत्र प्रकरणादिनियमाभावात् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।

ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दाऽलङ्कारः ।

बिभ्रत्=दधानः । अर्थात् वज्रतुल्य अस्त्र से जो शत्रुओं को नष्ट कर देता है, इस प्रकार की शत्रुविनाशक शक्ति को (शतकोटिदता को) धारण करने वाला । अथवा 'शतकोटीः=कोटिशतं ददाति इति शतकोटिदः तस्य भावः तत्ता ताम्–शतकोटेर्दातृताम् अर्थात् शतकोटिधन की दातृता (दातृत्वशक्ति) को बिभ्रत्=दधानः—धारण करनेवाला अर्थात् दातृत्वशक्ति रखने वाला, सः=वह, विबुधेन्द्रः=पण्डितश्रेष्ठ, देवराज इन्द्र के समान राजते=शोभते, शोभा दे रहा है । (इन्द्रपक्ष में)—यः=जो इन्द्र, शतकोटिदतां—शतकोटिः=वज्रं, तेन द्यति=खण्डयति इति शतकोटिदः, तस्य भावः शतकोटिदता, तां–बिभ्रत्–वज्र से नाश करने का सामर्थ्य रखने वाला, असकृत्=अनेक बार परगोत्राणां=बड़े-बड़े पर्वत-श्रेष्ठों के पक्षच्छेदक्षणक्षमः=एक क्षणभर में ही पंखों के काटने में क्षणेन=क्षणमात्रेणैव क्षमः=समर्थ रहता है—ऐसा वह 'देवराज इन्द्र' शोभा देरहा है ॥ ३७६ ॥

अत्रेति । यहाँ पर प्रकरणादिके द्वारा 'अनेकार्थक' गोत्रादि शब्दों के 'एकार्थ' का नियमन न होनेसे राजपरक और इन्द्रपरक 'दोनों अर्थ' वाच्य ही हैं । उस-कारण यहाँ अभङ्गश्लेष अलङ्कार है ।

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोः' की तरह द्वितीय अर्थ को लेकर 'ध्वनित्व' की आशंका इसमें नहीं करनी चाहिये ।

किन्तु प्रदीपकार का कहना है कि 'उपमा को लेकर यहाँ भी ध्वनित्व इष्ट है । एवंच यहाँ पर 'प्रकरण' का 'अवतरण' हो चाहे न हो, दोनों अर्थों की 'युगपत् प्रतीति' होने से 'श्लेष' है ।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रकरण' आदि के कारण 'अनेकार्थक शब्द' का 'किसी एक अर्थ में' नियन्त्रण हो जाने पर भी जहाँ 'अन्य अर्थ' की भी प्रतीति होती है, वहाँ वह अन्य अर्थ (द्वितीय अर्थ) 'वाच्य' न होकर 'व्यङ्ग्य' माना जाता है । जैसे 'भद्रात्मनो-दुरधिरोहतनोः' में है ।

किन्तु जहाँ 'प्रकरण' आदि नियामक न हो, वहाँ दोनों अर्थ 'वाच्य' माने जाते हैं, वहीं पर (उन्हीं स्थलों पर) श्लेषालङ्कार होता है ।

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दोनों में अन्तर—पूर्वोक्त 'शब्दालङ्कार' के रूप में शब्दश्लेष (वर्णश्लेष) के आठ भेद बताये गये हैं, इनमें 'प्रकृति-प्रत्यय' आदि का भेद रहता है । उस कारण 'वे सभी' सभंगश्लेष के उदाहरण हैं ।

तदनन्तर मम्मट ने 'अभंगश्लेष' को भी 'श्लेषरूप शब्दालंकार का नवम भेद स्वीकार कर उसका उदाहरण प्रस्तुत किया है।

किन्तु अलंकारसर्वस्वकार ने 'अभंगश्लेष' को अर्थालंकार माना है, उसे शब्दालंकार नहीं माना। उन्होंने 'शब्दालंकार' में केवल सभंगश्लेष की गणना की है। अतः उनकी समीक्षा करने के लिये उन्हीं की ओर से 'अभंगश्लेष' शब्दालंकार कैसे हो सकता है?—इस पूर्वपक्ष का उत्थापन कर, ग्रन्थकार मम्मट उसका उत्तर देंगे।

पूर्वपक्ष इस प्रकार है—

अलंकार-सर्वस्वकार और काव्यप्रकाशकार मम्मट दोनों का वाद-विवाद—ननु इति। (१) स्वरित आदि स्वरात्मक जो 'गुण', उसके भेद के कारण भिन्न-प्रयत्न से उच्चारण किये जाने वाले, (२) और जहाँ स्वर का भेद नहीं है, वहाँ उसके (स्वरभेद के) न रहने से अभिन्न (एक ही) प्रयत्न से उच्चारण करने-योग्य, दोनों प्रकार के शब्दों की रचना में 'रूपक, उपमा' आदि अन्य अलंकारों के 'प्रतिभासमात्र' का हेतु, 'शब्दश्लेष' (भिन्न प्रयत्न से उच्चार्यमाण शब्दों का जतु-काष्ठन्याय से होने वाला शब्दश्लेष), तथा स्वरभेद के अभाव में 'अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य' समानाकारवाले शब्दों में दो अर्थों का 'एकवृन्तगत-फलद्वय'—न्याय से होनेवाला 'अर्थश्लेष'—इन दोनों प्रकार के अभंगश्लेषों को अलंकारसर्वस्वकार आदिकों ने 'अर्थालंकार' में गिनाया है। तब इन दोनों अभंगश्लेषों को 'शब्दालंकार' कैसे कह सकते हैं?

'समाहारः स्वरितः'—(पा. सू. १।२।३१) पाणिनि के इस सूत्र से 'स्वरित'-का अर्थ 'समाहार स्वर' है। 'स्वरितादि' के आदि शब्द से उदात्त-अनुदात्त का भी ग्रहण किया गया है। स्वरित आदि स्वरों के लिये 'गुण' शब्द का प्रयोग, इसलिये किया है कि वे स्वरितादि स्वर 'अपने सजातीय समानाकार वाले' दूसरे शब्दों से 'भेद' कराने वाले होते हैं और विशेषाधान के हेतु रहते हैं, उस कारण स्वर-को 'गुण' कहा गया है। अतएव द्वितीय उल्लास में वृत्तिकार ने कहा है—'विशेषा-धानहेतुर्गुणः' इति।

अभिप्राय यह है कि—

स्वरित और 'आदि' पद से उदात्त एवं अनुदात्त इन गुणों के भेद से भिन्न-प्रयत्नों के द्वारा उच्चारणीय शब्दों की रचना में सभंग श्लेष, और स्वरितादि गुणों-के भेद के अभाव में अभिन्न प्रयत्न से उच्चारणीय शब्दों की रचना में अभंग-अर्थश्लेष तथा भिन्न-भिन्न अलंकारों की प्रतिभा के हेतु उक्त शब्दश्लेष एवं

अर्थश्लेष दोनों का, अन्य आचार्यों ने अर्थालंकारों में परिगणन किया है। तब इसको शब्दालंकार कैसे कहा जा रहा है ?

एवंच (१) 'अभंग श्लेष'—अर्थालंकार है।

(२) 'श्लेष' को उपमा आदि अलंकारों का बाधक कहा है।

(३) उभयरूप श्लेष, अर्थालङ्कार है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के तीन अंश हैं।

अभिप्राय यह है कि 'सभंग पदश्लेष' को कथंचित् भले ही शब्दालंकार कह लीजिए किन्तु 'अभंगपदश्लेष'को कथमपि 'शब्दश्लेषालंकार'नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उद्भट-रुय्यक आदि प्राचीन आलंकारिकों ने उसे 'अर्थश्लेषालंकार' बताया है। उसे अर्थश्लेषालंकार कहने में उनका अभिप्राय यह है कि जब 'स्वरितादि-स्वरभेद' के कारण 'भिन्न-भिन्न प्रयत्नों' से उच्चारित शब्दों में एकरूपता-प्रतीति-रूप 'शब्दश्लेष', अन्य अलंकारों का आभास उत्पन्न कराता है, उस कारण जब वह 'अर्थश्लेष' है, तब बिना किसी स्वरभेद के होनेवाले एक ही प्रयत्न से 'भिन्न-भिन्न अर्थ' के प्रत्यायक एकशब्दरूपश्लेष (अभंगपदश्लेष), जिसमें 'अन्य अलंकारों' के आभास कराने का भी सामर्थ्य है, उसे अर्थश्लेष क्यों न कहा जाय ? उसे अर्थश्लेषा-लंकार कहना ही उचित है—इस तरह पूर्वपक्ष उत्थापित करके ग्रन्थकार ने उद्भट और उसके व्याख्याकार श्रीप्रतीहार इन्दुराज की ओर संकेत किया है। उद्भट ने 'श्लिष्ट अलंकार' का स्वरूप बताया है—

"एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥
अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम्॥
—(काव्यालंकारसारसंग्रह ४।९-१०)

श्रीप्रतीहार इन्दुराज की व्याख्या—

"एवञ्च श्लिष्टं द्विविधमप्युपमाद्यलंकार-प्रतिभोत्पादनद्वारेण अलंकारतां प्रतिपद्यते।······अलंकारान्तराणामत्र प्रतिभानमात्रं न तु पदबन्धः"।

अभिप्राय यह है कि 'श्लिष्ट', चाहे वह 'शब्दश्लिष्ट' हो'—[अर्थात् स्वरादिभेद-से द्विविधरूप के शब्द अथवा वस्तुतः द्विविध शब्द परस्पर सादृश्य के कारण एकरूप (अभिन्न) प्रतीत हों] अथवा अर्थश्लिष्ट' हों (अर्थात् जहाँ पर भिन्नार्थक किन्तु समानाकार शब्द, भिन्न-भिन्न अर्थ का बोधन करते हों) वे, अर्थ के ही अलंकार हैं, क्योंकि उनमें उपमादि अलंकारों को भासित करने की शक्ति रहती है। अतः श्लेष-को अर्थालङ्कार ही कहना चाहिए।

उच्यते—इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यः विभागः सः अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथा हि—कष्टत्वादिगाढत्वाद्यनुप्रासादयः, व्यर्थत्वादिप्रौढ्याद्युपमादयस्तद्भाव-तदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

इसपर ग्रन्थकार मम्मटभट्ट समाधान दे रहे हैं--

उच्यते इति। अलंकारशास्त्र में 'दोष, गुण एवं, अलंकारों' का जो विभाजन किया जाता है अर्थात् अमुक अलंकार, 'शब्द' में रहता है और अमुक अलंकार 'अर्थ' में रहता है—यह व्यवस्था 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' के द्वारा ही की जाती है।

तथाहीति। जैसे—'कष्टत्व' आदि दोष तथा 'गाढत्व' आदि गुण एवं अनुप्रास-आदि अलंकार, 'तद्भाव' (शब्द की सत्ता) और 'तदभाव' (शब्द की असत्ता) का अनुसरण करते हैं। अतः वे, 'शब्द' में रहते हैं—यह व्यवस्था की गई है। उसी तरह—'व्यर्थत्व' आदि 'दोष', 'प्रौढि' आदि 'गुण' एवं 'उपमा' आदि-'अलंकार' 'तद्भाव' (अर्थ की सत्ता) और 'तदभाव' (अर्थ की असत्ता) का अनुसरण करते हैं। अतः वे, अर्थ में रहते हैं—यह व्यवस्था की गई है।

'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः और 'तदसत्त्वे तदसत्त्वम्'—व्यतिरेकः (व्यभिचारः), यही 'अन्वय' और व्यतिरेक (व्यभिचार) का स्वरूप है। इस अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही 'श्रुतिकटुत्वादि' दोष, 'ओज (गाढबन्ध) आदि' गुण एवं 'अनुप्रास आदि' अलंकार—ये 'शब्द' के कहे जाते हैं तथा 'अपुष्टार्थत्व आदि' दोष, 'ओज (प्रौढि) आदि गुण, और 'उपमा आदि' अलंकार—ये अर्थ के कहे जाते हैं। एवं च शब्दगत और अर्थगत रूप से जो विभाग-व्यवस्था है, वह अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही की गई है। 'श्लेष' के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था लागू होती है।

निष्कर्ष यह है कि 'श्रुतिकटुत्व आदि शब्ददोष' और वामन के अभिमत 'दश-शब्दगुण' तथा 'अनुप्रासादिशब्दालंकार' उन शब्दों के रहने पर ही रहते हैं, उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके 'पर्यायवाची' अन्य शब्दों के रखने पर नहीं रहते हैं। इसलिए वे शब्ददोष, शब्दगुण तथा शब्दालंकार कहे जाते हैं।

इसके विपरीत 'अपुष्टार्थत्वादि अर्थदोष, 'अर्थ-प्रौढि आदि वामनाभिमत दश अर्थगुण, तथा 'उपमा आदि' अर्थालंकारों में शब्दों का परिवर्तन करके उनके पर्याय-वाची दूसरे शब्दों को रख देने पर भी वे दोष, गुण तथा अलंकार बने रहते हैं। इसलिये वे दोष, गुण तथा अलङ्कार अर्थनिष्ठ कहे जाते हैं।

अतः अभिप्राय यह हुआ कि दोष, गुण तथा अलंकारों की शब्दनिष्ठता अथवा अर्थनिष्ठता का निर्णय 'अन्वय-व्यतिरेक' के आधार पर ही करना आवश्यक है।

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता । इत्यभङ्गः ।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥ ३७७ ॥ इति सभङ्गः ॥

इस आधार पर केवल 'सभंगश्लेष' ही नहीं, अपितु 'योऽसकृत्परगोत्राणां' इत्यादि उदाहरणों में अभंगश्लेष के दोनों भेद भी शब्द-परिवर्तन को नहीं सह सकते। उस कारण वे शब्दालङ्कार ही माने जा सकते हैं, अर्थालङ्कार नहीं।

सभंग तथा अभंग दोनों प्रकार के 'श्लेषों' में शब्द-परिवर्तन की 'असहिष्णुता' को प्रदर्शित करने के लिये प्रतीहारेन्दुराज-विरचित 'उद्भटालंकारसारसंग्रह-लघुवृत्ति' के चतुर्थवर्ग में से 'पार्वतीवर्णन'-परक 'पद्य' प्रस्तुत किया जा रहा है—

स्वयं चेति । 'स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—'अर्थात् पल्लव के समान अरुणवर्ण और दीप्तिमय करों से सुशोभित, अथवा 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' अर्थात् कष्टलभ्य (मोक्षरूप) फल के इच्छुक लोगों की कामनापूर्ति करने वाली यह भगवती गौरी उस प्रभातसन्ध्या की भाँति है जो, पल्लवाताम्रभास्वत्कर-विराजिता'—पल्लव के समान अरुणवर्ण की रविकिरणों से सुशोभित है, किंवा 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'—जागरण के फल (स्नान-सन्ध्योपासनादि) के इच्छुक लोगोंकी अभीष्टदायिनी यह प्रातःसन्ध्या है ॥३७७॥

प्रभात-संध्या और पार्वती में क्रमशः उपमानोपमेयभाव है। अतः एक अर्थ—प्रातः-सन्ध्या के पक्ष में होगा और दूसरा अर्थ—पार्वती के पक्ष में रहेगा। प्रातःसंन्ध्या के पक्ष में—पल्लव के समान लाल-लाल सूर्यकिरणों से शोभायमान। एवं 'अस्वापफल०'—"स्वाप' का अर्थ है 'सोना' (निद्रा), तब 'अस्वाप' का अर्थ होगा 'नही सोना' अर्थात् जागना। अतः नहीं सोने से (जागने से) मिलने वाले फलों के (अभीष्ट पदार्थों के) लोभी लोगों को उनके अभीष्ट (ईहित) का प्रदान करनेवाली यह प्रातःकालिक सन्ध्या है।

भगवती पार्वती का माहात्म्य केवल उनके स्वामी शिवजी के प्रभाव के कारण-ही नहीं है, अपितु पार्वतीजी स्वयं भी प्रभातसन्ध्या के समान महत्त्वशालिनी हैं—यह भाव, इस पद्य में बताया गया है।

श्लेष का 'तद्भाव और तदभावानुविधायित्व (शब्दान्वय-व्यतिरेकानुसारित्व) का दर्शन प्रस्तूयमान पद्य में हो रहा है।

'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—में 'अभङ्गश्लेष' है, तथा 'अस्वाप-फललुब्धे हितप्रदा'—में 'सभङ्गश्लेष' है।

इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम्; न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयः; यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना। यथा—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥३७८॥

इति द्वावपीति। ये दोनों ही, 'अन्वय-व्यतिरेक' के नियमानुसार एकमात्र 'शब्द पर' आश्रित हैं। उसकारण इन दोनों को 'शब्द-श्लेष' मानना ही युक्ति-युक्त हैं। अतः पहले अर्थात् 'अभंगश्लेष' (पल्लवाताम्र०) को अर्थश्लेष कहना और दुसरे 'सभंगश्लेष' (अस्वापफल) को शब्दश्लेष कहना नितान्त अनुचित है।

पार्वती के पक्ष में—पल्लव के जैसे लाल और चमकनेवाले हाथों से सुन्दर प्रतीत होनेवाली, तथा सरलतया (सुख से) प्राप्त न हो सकनेवाले फलों के (मोक्ष के) लोभियों के लिये ईहित (अभीष्ट) का प्रदान करनेवाली पार्वती हैं।

प्रथम पक्ष में—'भास्वान् कर' = सूर्य की किरणें, और द्वितीय पक्ष में—'भास्वान् कर' = चमकीले हाथ।

प्रथम पक्ष में—'अस्वाप'=नहीं सोना, और द्वितीय पक्ष में—'अ' का अर्थ-'नहीं', और 'स्वाप' का अर्थ-सुख से (अनायास) प्राप्य, 'सुखेन आप्यते इति स्वापम्' अर्थात् सुलभम्। यहाँ पर 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्,"-(पा. सू. ३।३।१२६) इस सूत्र से कर्मणि 'खल्' प्रत्यय किया हैं। 'न स्वापम् अस्वापम्'—दुर्लभं मोक्षफलम्।

इस प्रकार दोनों पक्षों में 'दो-दो अर्थ हैं, किन्तु 'भास्वत्कर' एवं 'अस्वाप'—इन पदों को बदला नहीं जा सकता। क्योंकि 'इनके समान अर्थवाले पदों' का अभाव है। यहाँ समझने की बात यह है कि 'भास्वान्' = सूर्य, और कर = किरण दोनों का षष्ठी समास है। 'भास्वतः कराः—भास्वत्कराः तैः विराजिता'। और 'भास्वान् = चमकीले, 'कर' = हाथ—में 'कर्मधारय समास है—भास्वन्तः कराः—भास्वत्कराः।

यदि इन भिन्न समासों के आधार को देखें तो 'भास्वत्कर'—पद में भी, 'सभंगश्लेष मानना पड़ेगा। किन्तु 'स्वाप' शब्द की तरह 'भास्वत्' एवं 'कर'—इन शब्दों का 'भङ्ग' नहीं हो सकता। अतः वहाँ "अभंग' है। इन दोनों ही श्लेषों को एकमात्र 'शब्द ही का आधार है। इसलिए इन दोनों को 'शब्दश्लेष' मानने की यही युक्ति' है।

इस पर भी यह नहीं कह सकते कि प्रथम जो-अभंगश्लेष है, इसको अर्थश्लेष माना जाय, क्योंकि अर्थश्लेषस्येति। 'अर्थश्लेष' वहाँ होता है, जहाँ शब्द के बदल देने पर भी 'श्लेष' खण्डित नहीं होता।

यथेति । जैसे—स्तोकेनेति । आश्चर्य है कि तराजू की दण्डी और दुर्जनपुरुष की वृत्ति समान ही (तुल्य हो) रहती है । अर्थात् दोनों थोड़ेही में ऊपर चढ जाते हैं और थोड़े ही में नीचे उतर आते हैं । अर्थात् तराजू की दण्डो तनिक में ऊपर चढ़ जाती है, और तनिक में ही अधोगति को प्राप्त हो जाती है ॥ ३७८ ॥

इस पद्य में, 'स्तोक' पद के बजाय 'अल्प' शब्द और 'उन्नति' के स्थान पर 'उत्थान' तथा 'अधोगति' की जगह 'नीचैः' कर दिया जाय तो भी अर्थात् 'अल्पेनोत्थानमायाति' इस प्रकार पदों का परिवर्तन करने पर भी अर्थद्वय (दो अर्थ) ही निकलते हैं, अर्थात् तुला कोटि के सम्बन्ध में 'ऊर्ध्वगमन और अधोगमन रूप अर्थ और खलजन के सम्बन्ध में 'अहङ्कार और 'दर्पनाश' रूप अर्थ । अतः 'श्लेष में कोई बाधा नहीं पड़ती । उस कारण यह 'श्लेष', 'शब्द' पर आश्रित नहीं है, अपितु 'अर्थ' पर आश्रित है । अतः यहाँ अर्थालङ्कार है ।

श्लेष के साथ रहने वाले अन्य अलङ्कारों की प्रधानता—

पूर्वनिर्दिष्ट अलङ्कार-सर्वस्वकार के 'पूर्वपक्ष' का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर विचारणीय अंश 'तीन' प्रतीत होते हैं—(१) अभंगश्लेष--'अर्थालंकार' है, (२) 'श्लेष'–'उपमादि अर्थालङ्कारों' का बाधक है, (३) भिन्नप्रयत्नोच्चार्य अथवा अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य 'दोनों प्रकार का श्लेष'—'अर्थालङ्कार' है ।

इन तीन अंशों में से 'प्रथम अंश' का विवेचन तो अभी तक कर दिया गया । 'तृतीय अंश' का विचार आगे 'शब्दश्लेष इति चोच्यते०' कहकर करेंगे । ग्रन्थकार मम्मट के मतानुसार 'श्लेष' को केवल उसी स्थिति में 'अर्थालङ्कार' कहा जा सकता है, जहाँ शब्दों के परिवर्तन कर देनेपर भी 'श्लेष' की हानि नहीं होती । अन्य स्थिति में 'अभङ्गश्लेष' भी शब्दालङ्कार ही होता है ।

अलङ्कार-सर्वस्वकार के मत का दूसरा विचारणीय अंश यह है कि 'श्लेष' के साथ जहाँ 'उपमा' आदि अन्य अलङ्कारों की प्रतीति होती है, वहाँ वे, श्लेष' को अन्य अलङ्कारों का प्रतिबन्धक मानते हैं । उनके अनुसार ऐसे स्थलों पर अन्य अलङ्कारों का 'अस्फुट आभास मात्र' होता है, उनकी पूर्णता नहीं रहती है । मुख्य अलङ्कार तो 'श्लेष' होता है, और वह, अन्य अलङ्कार के प्रतिभासमात्र कराने में कारण (हेतु) होता है ।

उदाहरणार्थ जैसे—'स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' आदि में अलंकारसर्वस्वकार 'श्लेष' को मुख्य अलंकार मानते हैं और 'उपमा' का केवल आभास मानते हैं । उनका कहना है कि 'श्लेष' के साथ कोई अन्य (दूसरा) अलंकार रहता ही है । यदि सर्वत्र उस 'अन्य अलंकार की ही प्रधानता (मुख्यता) स्वीकार कर ली जाय तो 'श्लेष' के लिए कहीं अवसर ही नहीं मिलेगा ।

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा ।

इसके विपरीत 'उपमा' आदि अन्य अलङ्कार तो 'श्लेष' के बिना भी रह सकते हैं। इसलिए जहाँ 'श्लेष' के साथ अन्य अलङ्कार होते हैं, वहाँ 'श्लेष' को ही प्रधान (मुख्य) अलंकार मानना चाहिए।

किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का मत, 'अलंकारसर्वस्वकार' के कथन के विपरीत है। मम्मट का कहना है कि 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' में 'श्लेष' नहीं है, अपितु उपमालंकार' की ही प्रधानता है। श्लेष' का तो वहाँ आभासमात्र हो रहा है; वह 'प्रधान' नहीं है।

अलंकारसर्वस्वकार ने 'श्लेष' के साथ 'अन्य अलङ्कारों' के रहने पर 'श्लेष' को 'उनका बाधक कहा है। और उसे (श्लेष को) 'हेतु' के रूप में प्रदर्शित किया है। अलंकार-सर्वस्वकार ने जो यह कहा है कि अन्य अलङ्कारों से रहित 'श्लेष' की स्वतन्त्र रूप से स्थिति होना कहीं भी संभव नहीं है। किन्तु अन्य अलङ्कार 'श्लेष'-से रहित स्वतंत्र रूप से भी रह सकते हैं। अतः जहाँ पर 'श्लेष' के साथ 'अन्य-अलंकारों' की स्थिति हो, वहाँ पर अन्य अलङ्कार की प्रधानता न मानकर 'श्लेष' की ही प्रधानता माननी चाहिए। अन्यथा 'श्लेषालङ्कार' के लिए कहीं अवसर ही नहीं रहेगा।"

किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार की युक्ति से काव्यप्रकाशकार सहमत नहीं हो रहे हैं। इनके मतानुसार तो 'श्लेष' भी 'अन्य अलङ्कारों' से रहित होकर स्वतन्त्र रूप से रह सकता है। मम्मट ने 'देवत्वमेवपातालम्'—इस अग्रिम पद्य को इसी प्रकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें अन्य अलङ्कारों से रहित 'श्लेष' की स्वतंत्र स्थिति मानी जा सकती है। उस कारण अन्य अलङ्कारों के साथ रहने पर 'श्लेष' को अन्य अलङ्कारों का बाधक कहना उचित नहीं है। अतएव 'पल्लवाताम्र-भास्वत्करविराजिता' आदि विवादास्पद स्थल में भी 'श्लेष' को 'उपमा' का बाधक नहीं माना गया है।

एवं च इस उदाहरण में 'उपमा' ही 'प्रधान अलङ्कार' है। 'श्लेष' का तो कवल आभास हो रहा है—यह मम्मटभट्ट का मत है।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो यह कहा है कि 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—आदि उदाहरण में 'श्लेष' ही 'प्रधान' (मुख्य) अलंकार है, और वही, 'उपमा' रूप गौण अलङ्कार का आभास कराने में हेतु (कारण) है।

उस पर काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का कहना है कि "नचायमुपमा-प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः"—यह श्लेष, 'उपमालङ्कार' का आभास कराने में हेतु

तथा हि—यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्कचतितराम्' इत्यादौ गुणसाम्ये, क्रियासाम्ये, उभयसाम्ये वा, उपमा ।

तथा—

'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव ।'

इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव ।

नहीं है,अपितु 'उपमालङ्कार' ही 'श्लेषालङ्कार' का आभास कराने में हेतु है । अतः यहाँ पर 'उपमा' ही प्रधान (मुख्य) अलङ्कार है, और 'श्लेष' गौण अलङ्कार है ।

शंका–उदाहृत पद्य में 'पार्वती' का 'प्रभात-सन्ध्या' के साथ 'भास्वत्करविराजितत्व' रूप साधर्म्य (समानता) प्रदर्शित किया है । परन्तु वह साधर्म्य (समानता) वास्तविक नहीं है । क्योंकि 'भास्वत्कर'–यह पद श्लिष्ट है । उस कारण केवल 'शब्दसाम्य' प्रतीत होता है । वस्तुतः उन दोनों में कोई यथार्थ समानता (साम्य) नहीं है । ऐसी परिस्थिति में केवल शब्दसाम्य के आधार पर प्रतीयमान उपमा को अलंकार नहीं कह सकते ।

समा०—काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार उदाहृत पद्य में 'उपमा ही मुख्य अलंकार है, और वही 'श्लेष' का प्रतिभास कराने में हेतु है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार के कथन का जो दूसरा अंश है,जिसमें 'श्लेष' को अन्य अलङ्कारों का बाधक बताया है । अर्थात् 'श्लेष' को 'उपमा' आदि अन्य अलङ्कारों का प्रतिभास उत्पन्न कराने में हेतु (कारण) बताया है । क्योंकि वह (श्लेष), अन्य अलंकारों की स्फुट प्रतीत नहीं होने देता (अस्फुट प्रतीति कराता है) । उसका उत्तर काव्यप्रकाशकार ने तथाहि—यथा से दिया है जैसे—तथाहीति । "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितराम्" इस उदाहरण में 'कमल' और 'मुख' दोनों में 'मनोज्ञत्व' रूप गुणसाम्य तथा 'कचति' अर्थात् 'दीप्यते' (शोभते) रूप 'क्रिया' का साम्य अथवा उभयसाम्य रहने से 'उपमा' प्रतीत होती है ।

तथेति । उसी प्रकार 'सकलकलं पुरमेतत् जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव" इत्यादि उदाहरणों में 'चन्द्रमा' और 'पुर' का सकलकलत्व' रूप शब्दमात्र का 'साम्य' होने पर भी 'उपमा' कही जा सकती है । चन्द्रमा के पक्ष में—'सकल-कलत्वं' अर्थात् सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा है उसी तरह पुर के पक्ष में—'पुर' (नगर) भी 'सकलकल' है अर्थात् 'कल-कल' शब्द से पूर्ण है (युक्त है) । इस प्रकार 'चन्द्रमा' और 'पुर' (नगर) में वास्तविक 'साम्य' (समानता) न रहने पर भी केवल 'सकलकलत्व' रूप 'शब्दसाम्य'के आधार पर भी 'उपमा'कही जा सकती है । क्योंकि 'उपमा के लक्षण-में साधारणतया 'साम्य' का ही निर्देश किया गया है । 'शाब्दसाम्य' अथवा 'वास्तविक-

तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

"स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः" ॥ इति

न च 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः साधारणधर्मप्रयोगशून्य उपमाविषय इति वक्तुं युक्तम् पूर्णोपमाया निर्विषयत्थापत्तेः।

साम्य' का निर्देश नहीं किया गया है। उस कारण केवल 'शब्दसाम्य' रहने पर भी जैसे 'सकलकल'—इत्यादि उदाहरण में 'उपमा' अलंकार होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भी 'भास्वत्करविराजितत्व' रूप शब्दसाम्य होने के कारण 'उपमालंकार' का होना कह सकते हैं।

एवंच काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट के मत में "पल्लवाताम्रभास्वत्करबिराजिता'— इस उदाहरण में 'उपमा' ही मुख्य अलंकार है, 'श्लेष' नहीं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने जो कहा था कि 'शब्दमात्र के साम्य में भी 'उपमा' हो सकती है'—उसके समर्थनार्थ अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट की सम्मति को प्रमाण के रूप में दे रहे हैं—'तथा ह्युक्तं रुद्रटेन' इति। जैसे रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में कहा है—

स्फुटमिति। यद्यपि उपमा तथा समुच्चय ये दोनों स्पष्टतया 'अर्थालङ्कार हैं, तथापि केवल शब्दमात्र (साधारण धर्म) साम्य के द्वारा यहां पर शब्दालंकार भी वे हो सकते हैं ॥ इति। निष्कर्ष यह है कि जैसे गुणादि का साम्य होने पर भी उपमा होती है, वैसे ही शब्द का साम्य होने पर भी उपमा हो सकती है वैसे ही 'शब्दसाम्य' होने पर भी 'उपमा' हो सकती है। एवंच शब्दमात्र का साम्य रहने पर भी रुद्रट तथा मम्मट 'उपमालंकार' मानते ही हैं। किंतु अलंकार-सर्वस्वकार 'शब्दमात्र' के साम्य में उपमा नहीं मानते। उस कारण वे, साधारणधर्म से रहित अर्थात् धर्मलुप्ता के उदाहरणों को ही उपमा का विषय मानते हैं। अलंकार-सर्वस्वकार के इसी मत को पूर्वपक्ष के रूप में ग्रन्थकार दे रहे हैं—'न च कमलमिव मुखम्' इति। अर्थात् 'मुख' कमल के समान है—इत्यादि 'साधारणधर्म' के प्रयोग से रहित वाक्य ही 'उपमा' का विषय होता है।"

इस पर काव्यप्रकाशकार, कहते हैं कि "न च इति वक्तुं युक्तम्, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः"—उपर्युक्त अलंकारसर्वस्वकार का कथन उचित नहीं है। अन्यथा 'पूर्णोपमा,निर्विषय हो जायगी। उस कारण "पल्लवाताम्रभास्वत्करबिराजिता" में शब्द-मात्र का साम्य रहने पर भी 'उपमा' हो सकती है। अतः वहाँ श्लेष' को प्रधान (मुख्य) अलंकार मानना उचित न होकर 'उपमा' को ही प्रधान (मुख्य) अलंकार मानना चाहिये। उस उपमा के कारण 'श्लेष' का क्षणिक आभासमात्र होता है। अन्तिम

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥ ३७९ ॥

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषय इति । द्वयोर्योगे

विश्रान्ति तो 'उपमा' में ही होती है । 'श्लेष' में अन्तिम विश्रान्ति नहीं होती । इसलिये यहाँ 'उपमा' को ही मुख्य अलंकार मानना चाहिये—यह मम्मट भट्ट का मत है । ऐसे विवादास्पद स्थलों पर अलंकारसर्वस्वकार 'श्लेष' को अन्य अलङ्कारों का बाधक मानकर उसे मुख्य (प्रधान) अलंकार मानते हैं । अपने इस कथन में वे, कारण (हेतु) यह बताते हैं कि 'श्लेष', अन्य अलंकारों के बिना नहीं रह सकता, किन्तु अन्य अलंकार 'श्लेष' के बिना भी रह सकते हैं । इसलिये जहाँ पर 'श्लेष' के साथ 'अन्य अलंकार' उपस्थित रहते हों, वहाँ अन्य अलंकारों की 'उपेक्षा' करते हुए 'श्लेष' को ही मुख्य (प्रधान) अलंकार कहना चाहिये । अन्यथा यदि उन विवादास्पद-स्थलों में भी 'अन्य अलंकारों' को ही 'मुख्य' माना जाय तो 'श्लेष' के लिये कोई अवसर ही नहीं मिलेगा । उस कारण ऐसे स्थलों में 'श्लेष', अन्य अलंकारों का बाधक बन जाता है ।

अलंकार-सर्वस्वकार के उपयुक्त मत के निरसनार्थ ग्रन्थकार 'मम्मट' एक ऐसा उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं, जिसमें किसी अन्य अलङ्कार के साहचर्य के बिना ही 'श्लेष' अलङ्कार 'स्वतन्त्र' रूप से विद्यमान है ।

देव त्वमेवेति । (विष्णु के पक्ष में)—(देव ! त्वमेव पातालम्) हे भगवन् ! आप ही 'पाताल' हैं, (त्वमेव आशानां निबन्धनम्) आप ही दिशाओं के नियमस्थान अर्थात् 'भूर्लोक' हैं क्योंकि भूर्लोक में ही सूर्य की गति से दिङ्नियम किया जाता है । (त्वमेवाऽमरमरुद्भूमिश्च) और आप ही स्वर्गलोक हैं, अर्थात् देवताओं की और मरुद्गणों की निवास भूमि (स्वर्गलोक) हैं, (त्वमेव एको लोकत्रयात्मकः) वास्तव-में आप एक ही भुवनत्रयात्मक हैं । विष्णु का त्रिभुवनमयत्व श्रुतिसिद्ध है ।

(राजा के पक्ष में)—(देव ! त्वमेव पाता+अलाम्) हे महाराज ! आप ही एक मात्र परम रक्षक है, (आशानां त्वं निबन्धनम्) आप ही याचकों की याचना (इच्छाओं) के पूरक हैं, (त्वं चामर-मरुद्भूमिः) आप ही चँवरों की हवा के पात्र हैं, और आप ही (एको लोकत्रयात्मकः) अकेले सब के रक्षक, सबके दाता, और सर्व सुखों से सम्पन्न हैं ॥ ३७९)

इत्यादिरिति । इत्यादि वाक्य उपमादि अलंकारों से विविक्त (रहित) शुद्ध 'श्लेष' के विषय हैं अर्थात् शुद्ध श्लेष का स्वतन्त्र उदाहरण है । ऐसी परिस्थिति में जहाँ ये दोनों होंगे, वहाँ दोनों के योग में 'संकरालंकार' ही होगा । अर्थात् "पल्लवा-

सङ्कर एव। उपपत्तिपर्यालोचने तु, उपमाया एवायं युक्तो विषयः। अन्यथा विषयापहार एव पूर्णोपमायाः स्यात्।

ताम्रभास्वत्करविराजिता" इत्यादि विवादास्पद उदाहृत पद्य में 'श्लेष' को 'उपमा' का बाधक मानने में कोई आधार नहीं है। अतः वहाँ 'श्लेष' को मुख्य (प्रधान) अलङ्कार नहीं कह सकते। प्रधान अलङ्कार तो 'उपमा' को ही कहना होगा। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अप्रधान रूप से ही क्यों न हो, 'श्लेष' का भी आभासमात्र होता है उस कारण दोनों का योग होने से 'संकर' अलंकार ही हो सकता है।

शंका—जहाँ पर 'साधारणधर्म' का उपादान (ग्रहण) नहीं है, वहाँ 'श्लेष माना जा सकता है। किन्तु जहाँ 'धर्म' का उपादान रहेगा, वहाँ तो 'उपात्त धर्म' ही 'सादृश्य' का प्रयोजक होगा, और उसी का बोज 'इत्यादि' से होगा। जन्यथा 'हंसीव धवलश्चन्द्रः' में दुष्ट उपमा नहीं मानी जाएगी, क्योंकि 'धावल्य' रूपी गुण तो 'धवल'-शब्द से उपस्थित हो ही जाता है। यहाँ तो पुंस्त्वोपस्थापक धवल शब्द से उपस्थित हुए 'धावल्य' का 'चन्द्र' ही से अन्वय होगा, 'हंसी से नहीं, और स्त्रीत्वोपस्थापक 'धवला' शब्द से उपस्थित हुए 'धावल्य' का 'हंसी' से ही अन्वय होगा, 'चन्द्र' से नहीं। ऐसी परिस्थिति में उपमाप्रयोजक धर्म के 'साधारण' न होने से 'उपमा' नहीं बन-सकी। अतः 'हँसीव धवलश्चन्द्रः'—यह वाक्य दुष्ट हो गया। उस कारश यही कहना उचित होगा कि यहाँ 'श्लेष' निरपेक्ष उपमा नहीं है।

समा०—उपपत्तिपर्यालोचने तु इति। 'उपपत्ति'का पर्यालोचन यदि करें तो यही कहना उचित होगा कि यह विषय 'उपमा' का ही है। अन्यथा 'पूर्णोपमा' के विषय-का अपहार (समाप्त) ही हो जायगा। क्योंकि 'श्लेष' तो केवल 'भास्वत्करविराजितत्व'-रूप साधारण धर्म की प्रतीति को उद्भावित करता है, उसका अन्य कोई उपयोग नहीं है। उस 'साधारण धर्म' की प्रतीति कराने के कारण यदि 'श्लेष' की स्थिति 'मुख्य' मानी जाय, तो 'पूर्णोपमा' के सभी उदाहरणों में उपमानगत तथा उपमेयगत साधारण-धर्म के स्वरूपतः भिन्न होने पर भी 'एक शब्द' से अभिहित होने के कारण 'श्लेष' से ही सर्वत्र साधारण धर्म का बोध होता है, उस जारण सर्वत्र 'श्लेष' की स्थिति ही 'मुख्य' हो जाएगी। एवंञ्च 'पूर्णोपमा' का विषय ही कहीं नहीं रहेगा। अतः यहाँ 'श्लेष' की प्रधानता नहीं है, अपितु 'उपमा' अलंकार की ही प्रधानता माननी चाहिये, 'श्लेष' तो उस उपमा का अंग है। क्योंकि वह उपमा का निर्वाहक है। श्लेष के बिना 'सादृश्य' के प्रयोजक 'साधारण धर्म' का निर्वाह नहीं होगा, अतः वह (श्लेष) तो उपमा का ही निर्वाहक है। तब साधारण धर्म के बिना 'उपमा' कैसी ? अतः श्लेष ही 'उपमा' का अंग है, 'उपमा' श्लेष की अंग नहीं है—यह काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का मत है।

न च 'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका'।

इत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः, अपि तु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्विरोधः। नह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य

विरोधाभास भी 'श्लेष' का बाधक—

अभी तक काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट ने यह बताया कि "पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' में 'उपमा' को ही 'श्लेषालङ्कार' का बाधक मानना चाहिये। न कि 'उपमा' का बाधक श्लेषको।

इसी तरह 'अन्य-अन्य अलंकार' भी 'श्लेष' के बाधक होवे हैं, उसे प्रदर्शित करने के लिये ग्रन्थकार अगला उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इस उदाहरण में 'विरोधाभास अलंकार के साथ 'श्लेष' विद्यमान है।

अलंकार सर्वस्वकार के मतानुसार 'श्लेषालंकार' को 'विरोधाभास' अलंकार का बाधक होना चाहिये था, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट ने यहाँ पर 'विरोधाभास' को ही मुख्य (प्रधान) माना है। यहाँ पर 'श्लेष' का केवल आभासमात्र हो रहा है। उसी को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

अविन्दुसुन्दरीति। "अप्सु प्रतिबिम्बितः इन्दुः—अबिन्दुः, तद्वत् सुन्दरी"—अर्थात् "जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान सुन्दरी के मुख से निरन्तर लावण्य की बून्दें गिरती रहती हैं।"

'इत्यादौ विरोध-प्रतिभोत्पत्ति-हेतुः श्लेषः' इति। उक्त उदाहरण में 'अबिन्दुसुन्दरी' अर्थात्—बिना 'बिन्दु' के (बिन्दुरहित) सुन्दरी, और गलल्लावण्यबिन्दुका'—अर्थात् लावण्य-सहित बिन्दु वाली सुन्दरी—इस विरोध की 'प्रतिभोत्पत्ति' का (गौण-प्रतिभास का) 'हेतु' मुख्य 'श्लेष अलंकार' नहीं है, अपितु गौणरूप से आभासित होने वाले 'श्लेष' के 'प्रतिभासमात्र की उत्पत्ति में हेतु 'विरोधालंकार' है। क्योंकि यहाँ पर 'बिन्दुरहित' और 'बिन्दुसहित रूप' 'द्वितीय अर्थ' के प्रतिपादक शब्द का 'श्लेष' नहीं है। अपितु द्वितीय अर्थ' का प्रतिभास मात्र होता है। उसका प्ररोह नहीं होता है। अर्थात् अन्तिम (चरम रूप से) अन्वय में सम्बद्ध न होने से यहाँ पर 'श्लेष', वास्तविक नहीं है। केवल कुछ क्षण के लिये प्रतिभासित मात्र होता है।

अभिप्राय यह है कि यहाँ पर 'विरोध' का जनक 'स्लेष' नहीं है, अपितु 'श्लेष'-का जनक 'विरोध' है। क्योंकि जिससे 'बिन्दु' झर रहे हैं, वह 'बिना बिन्दु' के सुन्दरी है। इस उक्ति में 'अभाव' एवं 'भाव' का विरोध है। अतः इस विरोध का परिहार करने के लिये 'अबिन्दु' पद में 'श्लेष' है। 'अप्'—जल में प्रतिबिम्बित इन्दु के सदृश वह सुन्दरी है—यह 'मुख्य अर्थ' करने से 'विरोध' का परिहार हो जाता है।

प्ररोहाभावात् । न च विरोधाभास इव विरोधः श्लेषाभासः श्लेषः । तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरमेव ।

द्वितीय जो 'विरुद्ध' (बिन्दुरहित एवं बिन्दुसहित) अर्थ है वह ती केवल प्रतिभात ही होता है। वह प्ररुढ नहीं है। उस कारण 'अर्थद्वय' का प्रतिपादक 'श्लेष' नहीं है। 'विरोधाभास' ही के द्वारा यहाँ 'श्लेष' का आभास हो रहा है। क्योंकि यहाँ जो 'शब्द' है, उसके द्वारा 'दोनों अर्थों' को नहीं बताया जा रहा है। यहाँ तो वस्तुतः 'बिन्दुरहित होने पर भी बिन्दुसहित होने का' जो द्वितीय अर्थ (दूसरा अर्थ) है, वह शब्दशक्ति की महिमा से 'आपाततः' प्रतीयमान भले ही हो जाय, तथापि शाब्दबोध-का विषय नही है।

यदि श्लेष का पर्यवसान अन्तिम अन्वय में होता, तब तो यहाँ पर श्लेषालंकार-को माना जा सकता था। पर उक्त वाक्य का अन्तिम अर्थ तो यह होता है कि 'जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान उस सुन्दरी के मुख से लावण्य बिन्दु निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं'। 'अबिन्दु' अर्थात् बिन्दु-रहित से बिन्दुओं का प्रवाह कैसे उत्पन्न हो सकता है ? यह विरोधसूचक अर्थ 'अबिन्दु' पद के श्लेष से एक बार प्रतीत अवश्य होता है, किन्तु 'अबिन्दु' का अर्थ, 'जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा' है—यह तथ्य प्रतीत हो जाने पर वह 'श्लेष' समाप्त हो जाता है। अन्तिम अन्वय के समय तक श्लेष की स्थिति ही नहीं रहती। हाँ बीच में केवल उसका प्रतिभास मात्र होता है। इसलिए श्लेष-का प्ररोह न होने से वहाँ श्लेषालंकार नही कह सकते।

'न च विरोधाभास इवेति'।

जैसे 'विरोध' का आभास मात्र 'विरोधालंकार' कहलाता है। वास्तविक विरोध को अलंकार न कहकर उसे 'दोष' कहा जाता है। उसी तरह 'श्लेष' के भी आभास-में 'श्लेषालंकार' होता है, यह कहा जाय, किन्तु ऐसा नही माना जाता। वास्तविक श्लेष जहाँ रहता है, वहीं पर श्लेषालंकार माना जाता है। 'अबिन्दुसुन्दरी' इस उदाहरण में 'श्लेष' का आभासमात्र है, वास्तविक श्लेष नहीं है। उस कारण इस उदाहरण में भी 'श्लेष' को प्रधान (मुख्य) अलंकार न मानकर—'विरोधाभास' को ही मुख्य अलंकार कहा गया है :

तदेवमादिषु इति। अतः 'इस प्रकार के वाक्यों' में अर्थात् 'जहाँ पर अन्य-अलंकारों के साथ श्लेष की स्थिति रहती है, वहाँ पर 'अन्य अलंकार ही मुख्य होते हैं, ओर वे 'श्लेष' की गौण रूप से प्रतीति कराते हैं।'

तथा च—

सद्वंशमुक्तामणिः ॥ ३८० ॥

नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव ! महान् भवान् ॥ ३८१ ॥

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।

अहो दैवगतिश्चित्रा तथाऽपि न समागमः ॥ ३८२ ॥

इस नियम को अन्य चार अलंकारों में अन्वित करके बता रहे हैं—तथाचेति । जैसे, (१) "सद्वंशमुक्तामणिः" ॥ ३८० ॥

अर्थात् यह राजा 'सद्वंश' में अर्थात् 'सत्कुल रूप 'सद्वेणु' में 'मुक्तामणि' है । 'बाँस में मोती पैदा होते हैं'—यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है । कहा भी है—

"करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्या हि शुक्त्युद्भववेणुजानि ।

मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि" ॥

यहाँ पर 'वंश' शब्द में जो 'श्लेष' है, उस कारण 'कुल' में वेणुत्व का अभेदारोप किया गया है, जो 'राजा' में 'मुक्तामणित्व' का आरोप करने में 'हेतु' है । अतः श्लेष-के साथ 'परम्परितरूपक' अलंकार भी है । 'श्लेष' का यहाँ पर प्रतिभासमात्र हो रहा है । मुख्य अलंकार तो 'परम्परितरूपक' ही है । 'वंश' शब्द श्लिष्ट है, इसके दो अर्थ होते हैं—(१) कुल और (२) बाँस । वंश शब्द का श्लेष तो रूपक अलंकार का उपयोगी (उपकारक) होने से उसका (रूपक का) अंग है । अतः उसे ही श्लेषप्रतिभोत्पत्ति में 'हेतु' माना गया है । 'श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुः'—यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास है । बहुव्रीहिसमास नहीं है । बहुव्रीहिसमास करने पर अलंकारान्तर का विशेषण हो जायगा, तब नपुंसकलिंग में प्रयोग करना पड़ेगा ।

माणिक्यचन्द्र कहते हैं कि "भामहोक्तैकदेशविवर्तिरूपकस्य मम्मटमते परम्परित-मिति संज्ञा । अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो मुक्तामणित्वरूपणान्यथानुपपत्त्या वंशस्य (गोत्रस्य) वेणुत्वरूपणं साक्षादनुक्तमपि श्लेषबलादवगम्यते, इत्येकदेशविवर्तित्वम्" इति ।

(२) "नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव ! महान् भवान्"—हे महाराज ! आप साधारण कवि के समान स्वल्पश्लोक नहीं हैं—॥ ३८१ ॥

यहाँ पर 'पद्ये यशसि च श्लोकः'—इस अमरानुशासन के अनुसार 'श्लोक' शब्द-के दो अर्थ हैं,(१) कीर्ति और (२) पद्यरचनारूपश्लोक । अतः 'श्लोक' शब्द श्लिष्ट है । एवंच यहाँ पर 'स्वल्पश्लोक' में जो 'श्लेष' है, उसके द्वारा 'कवि' की अपेक्षा 'राजा' में 'व्यतिरेक' सिद्ध हो रहा है, जो श्लेषमूलक है । क्योंकि अन्य कविरूप उपमान की अपेक्षा राजारूप उपमेय का आधिक्य बताया जा रहा है । अतः व्यतिरेक अलंकार की प्रधानता (मुख्यता) प्रतीत हो रही है । 'श्लेष' का तो केवल आभासमात्र हो रहा है । वह मुख्य अलंकार नहीं है ।

(३) अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरः सरः ।

अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥ ३८२ ॥

आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो　　लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥ ३८३ ॥

अर्थात् 'सन्ध्या'—(सायंकाल और सन्ध्यारूप नायिका) 'अनुराग' (लालिमा और स्नेह) युक्त है, और नायकरूप 'दिवस'(दिन), तत्पुरःसरः=उसके आगे-आगे चल रहा है अर्थात् उसकी ओर बढ़ रहा है। तथापि न समागमः=फिर भी उन दोनों का समागम=मिलन(स्त्री नायिका और पुरुष नायक का संयोग)नहीं हो पा रहा है। अहो ! आश्चर्य है, दैवगतिः चित्रा = यह दैवगति कैसी विचित्र है ? ॥३८२॥

इस पद्य के दो-दो अर्थ हैं—(१) सन्ध्यापरक अर्थ और (२) नायक-नायिकापरक अर्थ, इसमें प्रयुक्त 'अनुराग','पुरःसरः' और 'समागमः' ये पद श्लिष्ट हैं। अनुराग=प्रेम और लालिमा,पुरःसर=अग्रगामी और सम्मुख, समागम=मिलन और स्त्रीपुरुष सम्बन्ध। 'सन्ध्या'—लाल है और 'नायिका' अनुरक्त है। 'दिवस'—अग्रगामी है और 'नायक'—सम्मुख है। तथापि'समागम'–दिन और रात दोनों का मिलन तथा'नायक और निायिका'-का संगम नहीं हो पा रहा है—यह 'दैवगति' अर्थात् दैव के द्वारा की गई दिन एवं रात्रि-की संचाररूप गति, कैसी विचित्र (विलक्षण) है, अर्थात् भाग्य की कैसी बिडंबना है। यह बिडंबना आश्चर्यजनक है।

यहाँ पर 'एक अर्थ' में 'अभिधा' का नियमन हो गया है, अतः दोनों अर्थ 'वाच्य' नहीं है। इसलिए यहाँ 'श्लेष' नहीं है। किन्तु श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से नायक एवं नायिका के वृत्तान्त की प्रतीति हो रही है। अतः 'समासोक्ति' अलङ्कार है। यहाँ पर 'श्लेष' का प्रतिभासमात्र हो रहा है, किन्तु परमविश्रान्ति 'श्लेष' में नहीं है, अपितु 'समासोक्ति' अलङ्कार में है। उस कारण यहाँ 'श्लेष' की प्रधानता नहीं है। अपितु 'समासोक्ति' ही प्रधान है।

(४) आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो　　लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥ ३८३ ॥

अर्थात् यः विषमदृष्टिः—विषमा अयुग्मा दृष्टिः यस्य सः—विषमदृष्टिः=त्रिलोचनः शिवः, अचलं=पर्वतं (मन्दराख्यं) चापं=धनुः, आदाय=गृहीत्वा, अहीनं = सर्पाणाम् इनं प्रभुं (वासुकिं), गुणं=मौर्वीम्, कृत्वा=विधाय, चित्रम्=आश्चर्यम्, अच्युतो = विष्णुः शरो= बाणो यस्य तथाभूतः सन्, लक्ष्यं = त्रिपुरासुररूपं, शरव्यम् = लक्ष्यम्, अभाङ्क्षीत् = भञ्जितवान्, जघानेतियावत्, तस्मै महाधानुष्काय नमः इति प्रकृतोऽर्थः ।

उस महान् धनुर्धारी को हमारा प्रणाम है, जो विषमदृष्टि—त्रिनयन है, और जिसने 'अचलं चापं'—मन्दरनामक पर्वतरूपी धनुष को हाथ में लेकर अहीनं = सर्पराज वासुकि को उस धनुष में 'गुण' = प्रत्यञ्चा के रूप में कसकर 'अच्युतशर'

विष्णु को बाण बनाया और उससे 'लक्ष्यं' त्रिपुरासुररूप लक्ष्य का ऐसा वेधन किया कि सभी आश्चर्य से दंग रह गये यह मुख्य (प्रकृत) अर्थ है।

इसी तरह एक अन्य अर्थ भी स्फुरित होता है—विषमदृष्टिः—विषमा = लक्ष्यात् अन्यत्र निहिता दृष्टिः येन तादृशो यो धन्वी, अचलं = चलनशून्यं निष्क्रियं, चापम् आदाय, हीनं=जीर्णं निकृष्टं वा, अथवा अहीनं=धनुर्दण्डात् अन्यूनपरिमाणं गुणं कृत्वा, अच्युतः = गुणात् अनिर्गतः शरो यस्य तथाभूतः सन्नपि लक्ष्यं = शतसहस्रीरूपं शरव्यम्, अभाङ्क्षीत् ॥३८३॥

अर्थात् लक्ष्य से अन्यत्र दृष्टि रखनेवाले धनुर्धर ने, न चल सकने वाले (क्रियाशून्य) धनुष के 'हीन'=जीर्ण-शीर्ण निकृष्ट 'गुण' (प्रत्यञ्चा) को लेकर उस (गुण) से 'अच्युत'= न निकलने वाले बाण के द्वारा (सौ सहस्ररूप लाख निशानों) लक्ष्य को बेध दिया—यह अमुख्य अर्थ है। अर्थात् बाण को बिना छोड़े ही जिसने लक्ष्य का वेध कर दिया-कितना आश्चर्य है ?

इस श्लोक में 'अचलं', 'अहीनं', 'विषमदृष्टिः', 'अच्युतशरः' तथा 'लक्ष्यम्'—ये पद 'श्लिष्ट' हैं। 'अचलं' के 'मन्दराचल' और 'निष्क्रिय'—दो अर्थ होते हैं। 'अहीनं' का अर्थ, सर्पराजवासुकि है, दूसरे पक्ष में सन्धिविच्छेद करने पर 'अहीनं' के बजाय 'हीनं' पद निकलता है। उसका अर्थ, 'निकृष्ट' होता है। 'अहीनं'—पदच्छेद मानकर धनुष् के दण्ड से जो कम न हो—यह अर्थ होता है। प्रत्यञ्चा की लम्बाई, धनुष् के दण्ड की लम्बाई से न्यून (कम) ही होनी चाहिए। अन्यथा 'अहीन' प्रत्यञ्चा वाले धनुष् से 'लक्ष्यवेध करपाना संभव नहीं है। 'अच्युतशरः' का अर्थ 'बाण को छोड़े विना'—होता है। दूसरे पक्ष में 'अच्युत' अर्थात् 'विष्णु जिसके बाण हैं'—यह अर्थ होता है।

इनमें से एक अर्थ तो विरोध का सूचक है और दूसरा अर्थ, उसके परिहार का सूचक है। इस प्रकार 'श्लेष' के रहते हुए भी श्लोक की चरम विश्रान्ति, 'विरोधाभास' की प्रतीति में ही होती है। 'श्लेष' तो केवल प्रतिभासमात्र होकर समाप्त हो जाता है। उस कारण चरम विश्रान्ति का स्थान रहने से 'विरोधाभास' ही मुख्य अलंकार है। यद्यपि यह विरोध भी वास्तविक 'विरोध' नहीं है, अपितु केवल 'आभासमात्र' ही है, तथापि वास्तविक विरोध न होने पर भी विरोध का आभासमात्र होना ही तो अलंकार कहलाता है। वास्तविक विरोध यदि रहे तो उसे अलंकार कौन कहेगा ? उसे अलंकार नहीं कहा जाता, अपितु उसे 'दोष' कहा जाता है। इसलिए यहाँ विरोधाभास को ही 'विरोध' के नाम से कहा जाता है। यह विरोसाभास ही मुख्य-अलंकार है, 'श्लेष' का तो केवल आभास मात्र है, अतः यह श्लेष, उसका अंगमात्र है। उस कारण वह मुख्य नहीं है।

इत्यादावेकदेशविवर्तिरूपक--श्लेष-व्यतिरेक--समासोक्ति-विरोधत्वमुचितम् न तु श्लेषत्वम् ।

इत्यादाविति ।

(१) 'सद्वंशमुक्तामणिः'—

(२) 'नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव महान् भवान्',

(३) 'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरः सरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः' ॥

(४) 'आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै' ॥

उपर्युक्त चारों उदाहृत पद्यों में क्रम से (१) एकदेशविवर्तिरूपक, (२) श्लेषमूलक-व्यतिरेक, (३) श्लिष्टविशेषणसमासोक्ति, (४) श्लेषमूलक विरोध (विरोधाभास) अलंकारों को ही मुख्य अलंकार मानना उचित है। 'श्लेष' अलंकार को मुख्य कहना उचित नहीं है। सर्वस्वकार ने जिसे 'एकदेशविवर्ति' कहा है, उसीको मम्मटभट्ट 'श्लिष्ट-परम्परितरूपक' कहते हैं। प्राचीनों की दृष्टि से 'वृत्ति' में 'एकदेशविवर्तिरूपक' लिखा है। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इस नियम के अनुसार 'त्व' शब्द का सम्बन्ध सभी से करना चाहिए।

'न तु श्लेषत्वमिति । 'श्लेष' से ही अन्य अलंकारों का निर्वाह होता है, उन अन्य अलंकारों से 'श्लेष' का निर्वाह नहीं हो रहा है।

इस सन्दर्भ में प्रदीपकार ने भी कहा है—

"कवीनां सन्तापो भ्रमणमभितो दुर्गतिरिति
त्रयाणां पञ्चत्वं रचयसि न तच्चित्रमधिकम् ।
चतुर्णां वेदानां व्यरचि नवता वीर भवता
द्विषत्सेनालीनामयुतमपि लक्षं त्वमकृथाः" ॥

अत्र मदीये पद्ये 'काव्यलिङ्गस्य' अंगं 'श्लेषः' इतिकृत्वा 'श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुः 'काव्यलिङ्गम्' । तस्मात् "अलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः 'श्लेषः' इति रिक्तं वचः" ॥

कवीनामिति । अभितो भ्रमणं याचनाय । पञ्चत्वं नाशं, पञ्चसंख्यां च नवता—उच्छिन्नसम्प्रदायस्य पुनरुज्जीवनात् नूतनता, नवसंख्याता च । लक्ष संख्याविशेषं लक्ष्यं च । "लक्षं व्याजशरव्ययोः । संख्यायामपि" इति हैमः । लक्षं लक्ष्यं शरव्यञ्चेत्यमरः अत्र त्रयाणां पञ्चत्वकरणं न चित्रमित्यर्थे चतुर्णां नवत्वकरणस्य, अयुतलक्षीकरणस्य च हेतुत्वेन विवक्षणात्—काव्यलिङ्गमलंङ्कारः, तत्र 'श्लेषः' अंगमिति प्रभायां स्पष्टम् ॥

पूर्वनिर्दिष्ट अलंकारसर्वस्वकार के मत को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पूर्वपक्ष में रखकर उसमें तीन अंशों को सार के रूप में बताया था। पहला अंश तो 'अभंगश्लेष'

शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते, इति कोऽयं नयः।

को 'अर्थालंकार' कहने का था (अर्थात् अभंगश्लेष 'शब्दालंकार' नहीं है), और दूसरा अंश, 'श्लेष अलंकार' को 'उपमा' आदि अन्य अलंकारों का 'बाधक' कहने का था।

इन 'दोनों अंशों का खण्डन, काव्यप्रकाशकार के द्वारा यहाँ तक किया गया।

अब सर्वस्वकार के पूर्वपक्ष का 'तीसरा अंश' बाकी बचा है। इस तीसरे अंश का निष्कर्ष यह है—'उदात्तानुदात्तादिस्वरभेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से उच्चार्यमाण शब्दों का जतु-काष्ठन्याय से निष्पन्न होनेवाला 'शब्दश्लेष', और उसी प्रकार उदात्तानुदात्तादि-स्वरभेद के न रहने पर (स्वरभेद के अभाव में) एक प्रयत्न (अभिन्न प्रयत्न) से ही उच्चार्यमाण शब्दों में 'एकवृन्तगत फलद्वय'—न्याय से 'दो अर्थों' के होने के कारण निष्पन्न जो 'अर्थश्लेष'–इन दोनों को ही सर्वस्वकार ने 'अर्थालंकार' कहा है—

"शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्च द्विविधोऽपि अर्थालंकारमध्ये परिगणितोऽन्यैः"।

उसका (इस तृतीय अंश का) खण्डन करने के लिए ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कह रहे हैं–

शब्दश्लेष इति चोच्यते इति। यह कैसी आश्चर्यजनक विचित्र बात है कि अलंकार का नामकरण तो किया जाय 'शब्दश्लेष' और गणना उसकी 'अर्थालंकारों' में की जाय। इससे अधिक आश्चर्यजनक व्यवहार और क्या हो सकता है? जब आप 'श्लेष' के एक भेद को स्पष्टतया 'शब्दश्लेष' के नाम से कह रहे हैं, तब आपको उसे शब्दालंकार ही कहना चाहिए। उसे 'अर्थालंकार' में मिलाना ठीक नहीं हैं।

इस सन्दर्भ में प्रदीपकार ने भी कहा है—

किंच "प्रभातसन्ध्येव" इत्यादौ शब्दश्लेषस्य अर्थालंकारत्वमिति वचनं भवतां विरुद्धम्, शब्दानाश्रितत्वे तेन व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्"।

यहाँ 'शब्दानाश्रितत्वे'—यह सति सप्तमी है। एवंच प्रकृते शब्दाश्रितत्वात् भवद्भिश्च, आश्रयाश्रयिभावस्यैव लोके, 'इव शब्दार्थालंकारव्यपदेशबीजत्वेन अभ्युपगमात् तद्विरुद्धमिदमभिधानमित्यर्थः इति प्रभाकाराः। प्रदीपकारोक्त 'वचनं भवतामिति'—की व्याख्या उद्योतकार ने की है कि "शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्ययमर्थश्लेषः" इत्यत्र शब्दश्लेषत्वमभिधाय अर्थश्लेषत्वाभिधानं व्याहतमित्यर्थः। तथा च शब्दमपि अदुष्टं वक्तुमसमर्थः कथमर्थमदुष्टं ब्रूयादिति भावः॥

निष्कर्ष यह है—काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मटभट्ट का कहना है कि जैसे 'सहोक्ति, विनोक्ति, व्याजोक्ति'—इन अलंकारों की निष्पत्ति, 'सह', 'विना' एवं 'व्याज' परक शब्दों का प्रयोग किये बिना नहीं हुआ करती, अर्थात् उक्त शब्दों का प्रयोग करने पर ही उन अलंकारों की निष्पत्ति हो पाती है। फिर भी उन अलंकारों की गणना,

किं च वैचित्र्यमलङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता,

---

सर्वस्वकार ने 'अर्थालंकारों' में ही की है। उसी तरह 'स्वभावोक्ति' अलंकार भी है। इसमें 'स्वभाव' का कथन आवश्यक माना गया है। फिर भी उसे सर्वस्वकार ने 'अर्थालंकार' ही माना है। 'श्लेषवक्रोक्ति' को शब्दालंकार बताना ठीक है, क्योंकि उसका आधार 'श्लिष्ट शब्द' ही है। उसके बिना उसका स्वरूप निष्पन्न नहीं हो पाता। किन्तु समासोक्ति, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति में तो केवल 'संज्ञा' के लिए ही 'उक्ति' शब्द का उपन्यास किया गया है। उनमें 'समास', 'अतिशय', 'विशेष'—इन शब्दों का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं रहती।

काव्यप्रकाशकार बता रहे हैं कि 'सर्वस्वकार' यदि यह कहें कि 'शब्दश्लेष'—यह नाम तो इसलिए रखा गया है कि इसमें 'विजातीय शब्दों' की 'एकरूपता' प्रतीत होती है, और 'अर्थालंकारो' में उसका परिगणन (लक्षण), इसलिए किया गया है कि वह 'अर्थ'-का अलंकार है।

निष्कर्ष यह है—उसकी शब्दालंकारता के कारण उसे 'शब्दश्लेष' नहीं कहा गया-है अपितु विजातीय दो शब्दों की श्लेषरूपता के कारण उसे 'शब्दश्लेष' के नाम से व्यवहृत किया गया है, और उसमें 'अर्थालंकाररूपता' होने से 'अर्थालंकार' में उसे गिनाया गया है, अतः कोई दोष नहीं है।

इस पर काव्यप्रकाशकार कह रहे हैं—'किञ्च वैचित्र्यमलङ्कारः इतीति। एक अन्य कारण यह भी है कि 'वैचित्र्य' (चमत्कार) ही तो अलंकार कहलाता है। और वैचित्र्य उसे कहते हैं; जो कवि के संरंभ का गोचर हो। अर्थात् शब्द या अर्थ दोनों में से जिसमें भी कवि की प्रतिभा (कविबुद्धि-कौशल) का पर्यवसान (संरंभ) हो, उसी में चमत्कार (वैचित्र्य) रहता है, और उसी के नाम से अलंकार बोला जाता है। जहाँ कवि का विशेष बल 'शब्द' पर रहता है, वहाँ शब्द का ही वैचित्र्य (चमत्कार) रहता है। उस शब्द को परिवर्तित कर देने पर वह चमत्कार नहीं रहता। उसकारण वैसे स्थल पर 'शब्दालंकार' कहना उचित होता है, और जहाँ शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी वैचित्र्य (चमत्कार) की हानि नहीं होती, वहाँ कवि का विशेष बल, 'शब्द' पर न होकर 'अर्थ' पर रहता है। उसकारण ऐसे स्थलोंपर 'अर्थालंकार' कहना उचित होता है। शब्द या अर्थ में विचित्रता रहने के कारण वही, (शब्द या अर्थ) अलंकार का आश्रय (अलंकारभूमि) कहलाता है। विचित्रता में ही अलंकारता रहने से जहाँ विचित्रता पाई जाय वहीं पर अलंकार के स्वरूप का निश्चय कर लेना चाहिए। एवंच उभयविध श्लेषस्थल में कविप्रतिभासंरंभविषयता होने से शब्द का ही वैचित्र्य प्रतीत होता है, उसकारण शब्दगत ही श्लेष है। 'सैव अलंकार-

इति सैवाऽलङ्कारभूमिः । अर्थमुखप्रेक्षित्वमेतेषां शब्दानामिति चेत्, अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालङ्काराः किं नोच्यन्ते । रसादिव्यञ्जक-

---

भूमिः'—'सैव' यह स्त्रीलिंग निर्देश, 'अलंकारभूमिः'—इस विधेय की दृष्टि से किया गया है। अतएव अभियुक्तों का कथन है कि—"उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्ययोरैक्यमापादयत्-सर्वनाम पर्यायेण तत्तल्लिङ्गभाक्" । प्रदीप तथा उद्योत में भी "अपिच यस्य वैचित्र्यं कविप्रतिभासंरंभगोचरः स एव अलंकारस्थानम् । 'स्वयं च पल्लवाताम्र०' इत्यादौ शब्दवैचित्र्यमेव तादृक् तस्यैव कविप्रतिभया उट्टङ्कनात् इति शब्दालंकारत्वमेवोचितम्" इति प्रदीपकाराः ।

ननु शब्दवैचित्र्येण शब्दश्लेष उच्यते, अलंकारत्वं पुनः अर्थस्यैव इत्यत आह—कविप्रतिभासंरंभेति । प्रतिभा शक्तिर्निपुणतैव वा । संरंभो यत्नः । अनयोः प्रतिभा-संरंभयोर्मध्ये एकं विना अपरस्य अकिञ्चित्करत्वादुभयमुपात्तम् । तथाच कविप्रति-भायत्नगोचरत्वं यत्र, तत्रैव विचित्रता, तत्त्वं च प्रकृते शब्दे एव, इति तद्गतविचित्रता श्लेषणरूपा तदाश्रयः शब्द एवेति उद्योतकाराः ।

शंका—निरर्थक शब्दों का 'श्लेष' असंभव रहने से 'श्लेष' में अर्थसापेक्षता रहती है। सर्वस्वकार के कहने का अभिप्राय यह है कि दोनों प्रकार के श्लेषों को 'अर्थालंकार' कहने में युक्ति यह है कि 'श्लेष' सर्वदा 'अर्थमुखापेक्षी' रहता है। क्योंकि जब तक दो अर्थों की प्रतीति न हो, तब तक 'श्लेष' का होना कभी संभव ही नहीं है। दो अर्थों की प्रतीति कराना ही तो वैचित्र्य (चमत्कार) है। एवंच अर्थमुखापेक्षी होने-के कारण दोनों प्रकार के श्लेषों को हम (सर्वस्वकार) 'अर्थालंकार' में गिन रहे हैं।

उपर्युक्त वक्तव्य का खण्डन करने के लिए काव्यप्रकाशकार मम्मट कह रहे हैं—(२) अर्थमुखप्रेक्षित्वमेतेषामिति । श्लेषगोचर (श्लेषपरक) शब्दों में अर्थमुखप्रेक्षित्व (अर्थसापेक्षत्व अथवा अर्थापेक्षित्व) रहता है अर्थात् उन शब्दों से दो अर्थों की प्रतीति हुए बिना श्लेष का होना कभी संभव ही नहीं है। उसकारण श्लेष के दोनों भेदों को हमने 'अर्थालंकार माना है—यदि आप यह कहते हैं, तो वर्णानुप्रास, लाटानुप्रास आदि (प्रसिद्ध शब्दालंकारों) में भी अर्थसापेक्षता रहने से उन्हें भी 'अर्थालंकार' कहना चाहिए।

उन अनुप्रासादि प्रसिद्ध शब्दालंकारों को भी आप 'अर्थालंकार' क्यों नहीं कहते ? 'आदि' पद से 'वक्रोक्ति' आदि का ग्रहण करना चाहिए। 'तथैवेति' अर्थमुखप्रेक्षित्व-मेवेत्यर्थः ।

शंका—अनुप्रासादिकों में 'अर्थापेक्षित्व' किस प्रकार है ?

समा०—रसादिव्यञ्जकस्वरूपेति । रस-भाव आदि के व्यञ्जकरूप 'वाच्य अर्थ'

स्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता। शब्दगुण-दोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता। अर्थगुणदोषालङ्काराणां शब्दापेक्षयैव

की अपेक्षा रहने पर ही 'अनुप्रास' आदि को भी अलंकार कहा जाता है। अर्थात् जहाँ 'रस' के अनुरूप 'वर्णसाम्य' रहता है, वहीं पर 'अनुप्रास' अलंकार कहा जाता है। रसविरोधी वर्णों का साम्य होने पर 'अनुप्रास' अलंकार नहीं कहा जाता। अतएव अनुप्रास आदि शब्दालंकारों में भी 'अर्थमुखापेक्षिता' आजाती है। तब उनको भी अर्थालंकार क्यों नहीं मानते ? उन अनुप्रास आदि को तो अलंकारसर्वस्वकार भी 'शब्दालंकार' ही मानते हैं। वे अनुप्रासादिकों को 'अर्थालंकार' नहीं मानते। उसी प्रकार 'शब्दश्लेष' में अर्थापेक्षिता रहने पर भी उसे 'अर्थालंकार' न मानकर 'शब्दालंकार' ही स्वीकार करना योग्य है—इस प्रकार काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने अपना वक्तव्य, सिद्धान्त के रूप में स्थापित कर दिया।

निष्कर्ष यह है—'अनुप्रासो' हि रसादिव्यञ्जकस्वरूपमपेक्षते, अनुप्रासपदस्य 'रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासः अनुप्रासः' इतिव्युत्पत्तेः। रसादयश्च असति अर्थे न संभवन्तीति, अनुप्रासस्य अर्थापेक्षा। लाटानुप्रासवक्रोक्त्यादयश्च वाच्यविशेषं साक्षादेव अपेक्षन्ते। रसादिव्यञ्जकस्वरूपं यत् वाच्यं, तत्सापेक्षत्वेन अनुप्रासादीनामपि अलंकारता। शृङ्गारव्यञ्जकार्थनिबन्धे तदनुगुणवैदर्भ्याख्यवृत्त्यनुगुणो हि अनुप्रास उच्यते। एवं वीरादौ गौडीवृत्तिरिति तदनुगुणो हि अनुप्रास उच्यते। वृत्तिर्वैदर्भ्यादिरीतिः इति प्रभा। उद्योतकार ने भी स्पष्ट कह दिया है कि—'उभयमपि अर्थालंकार इति, स्वाभिप्रायः'—इति कुवलयानन्दोक्तिः परास्ता।

शंका—श्रुतिवैचित्र्य के कारण ही अनुप्रासादिकों में अलंकारता रहने से, उन्हें 'शब्दालंकार' क्यों नहीं कह सकते ?

समा०—शब्दगुणदोषाणामपीति। उक्त शंका के समाधानार्थं एक दोषान्तर दे रहे हैं। 'शब्दगुण' तथा 'शब्ददोषों' की गुण-दोषता, अर्थसापेक्ष ही हुआ करती है। उसी प्रकार अर्थगत 'गुण-दोष' तथा अलंकारों की स्थिति में भी 'शब्द' की अपेक्षा रहती है। अभिप्राय यह है कि शब्दों में रहनेवाले गुण एवं दोषों को 'अर्थ' की अपेक्षा करके ही 'गुण' और 'दोष' कहा जाता है। अतः सर्वस्वकार को उन्हें 'अर्थगत' (अर्थ के) गुण-दोष, कहना चाहिए, 'शब्द' के नहीं। उसी तरह 'अर्थ' में रहनेवाले 'गुण' और 'दोषों' को 'शब्द' की अपेक्षा करके ही अर्थ के गुण और दोष कहा जाता है। अतः सर्वस्वकार को उन अर्थगत गुण-दोषों को 'शब्द' के गुण-दोष कहना चाहिए, किन्तु सर्वस्वकार भी अर्थगत गुण-दोषों को 'शब्द' की अपेक्षा रहने पर भी 'अर्थ' के ही गुण-दोष मानते हैं, तथा कहते भी हैं। अतः सर्वस्वकार का किया हुआ

व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम् । 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ च वर्णादिश्लेषे, एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्येवमादि स्वयं विचार्यम् ।

(चित्रालंकारः)

(१२१) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥८५॥

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्ग-मुरज-पद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् ।

'शब्दार्थविभाग' संगत नहीं है । हमारा (काव्यप्रकाशकार का) किया हुआ शब्दार्थ-विभाग ही सुव्यवस्थित है । एवंच सर्वस्वकार ने 'अर्थापेक्षी' कहकर (अर्थापेक्षित्व को हेतु बनाकर) 'शब्दश्लेष' की गणना, 'अर्थालंकार' में की है, वह सर्वथैव असंगत है ।

सर्वस्वकार ने पूर्व में कहा था कि 'अर्थश्लेष' में 'एकप्रयत्नोच्चार्यत्व' ही नियामक होता है । अर्थात् अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य (एक प्रयत्न से उच्चार्यमाण) पदों में 'एक-वृन्तगत फलद्वय'—न्याय से होनेवाले 'श्लेष' को 'अर्थश्लेष' ही कहते हैं ।

सर्वस्वकार के उक्त मन्तव्य के खण्डनार्थ—"विधौ वक्रे मूर्ध्नि" इत्यादौ चेति । ग्रन्थ उपस्थित किया जा रहा है । "विधौ वक्रे मूर्ध्नि"—(श्लोक ३६९) में 'विधि' तथा 'विधु'—इन पदों में 'इकार-उकार' वर्णों का श्लेष होने पर भी 'अभिन्न-प्रयत्नोच्चार्य' होने से 'विधि' तथा 'विधु' शब्दों का भेद होने पर भी 'अर्थश्लेष' होने-का प्रसंग प्राप्त होगा । अतः अभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्व (एक प्रयत्नोच्चार्यत्व) को अर्थश्लेष में नियामक बताना उचित नहीं है । एवंच सर्वस्वकार का मत अनेक दोषों से दूषित है । उनका श्लेषविषयक सम्पूर्ण विचार ही दूषित है । इस 'तथ्य' को उन्हें स्वयं भी सोचना चाहिए था । हमारे विचारों को 'परमत' मानकर हमसे अथवा हमारे विचारों से द्वेष करना उचित नहीं है ।

(चित्रालंकार)

(सू० १२१) तच्चित्रमिति । जिस पद्यरचना में वर्णरचना के कारण 'खड्ग' आदि चित्र की आकृति बन जाती है, तब वहाँ पर 'चित्र' संज्ञक शब्दालंकार कहा जाता है ॥ ८५ ॥

शंका—'वर्ण' तो अमूर्त हैं, उनकी कोई आकृति नहीं होती । तब वे 'खड्ग' आदि के आकार में कैसे होंगे ?

समा०—सन्निवेशविशेषेणेति । यद्यपि अमूर्त रहने से वर्णों की कोई आकृति नहीं होती, तथापि जहाँ विशेष प्रकार की रचना से निकाले गये (लिपिबद्ध किये गये) 'वर्णों' से खड्ग, मुरज, कमल (पद्म) आदि की आकृति प्रकट हो जाती है, तब उस काव्य को 'चित्र' (चित्रालंकार-विशिष्ट) काव्य कहते हैं ।

कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रम्प्रदर्श्यते ।

उदाहरणम्—

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदार्तिहरणक्षमा ॥ ३८४ ॥

माता नतानां सङ्घट्टः श्रियां बाधितसम्भ्रमा ।
मान्याऽथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ॥३८५॥

(खड्गबन्धः)

यह काव्य बड़ा क्लिष्ट (कष्टकर) होता है। और रस-भाव आदि की दृष्टि से अनुपयुक्त भी है। अतः उसका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया जा रहा है।

(क) खड्गबन्ध—

उदाहरणमिति। उदाहरणार्थं, दो पद्यों के द्वारा 'खड्गबन्ध' को प्रस्तुत कर रहे हैं। रुद्रटालंकार में इन दो पद्यों को उदाहृत किया गया है। जैसे—

(खड्गबन्ध)

माराराीति। "माराारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसासारारब्धस्तवा"। (मार)-= कामदेव के, (अरि)=शत्रु (शक्र)=इन्द्र (राम)-भगवान् रामचन्द्र अथवा श्रीपरशुराम तथा (इभमुख)=गणेशजी के द्वारा (=आसार - रंहसा)- धाराप्रवाहसे, 'आसार' का अर्थ है—वर्षाधारासम्पात, 'धारासम्पात आसारः'—इत्यमरः। उसका 'रंह'—उद्रेक अर्थात् अविच्छेद। अभिप्राय यह है कि मनोवेग से अनवरत (आरब्ध-स्तवा)=उत्कृष्ट स्तुति, जिसकी आरंभ की गई है, 'सारम् = अतिशयं यथा स्यात् तथा, अथवा सारः=उत्कृष्टः, आरब्धः=उपक्रान्तः स्तवः=स्तोत्रं यस्याः सा, और (नित्यं-तदार्तिहरणक्षमा)-उन 'शिव' आदि की पीड़ा को नित्य निवारण करनेवाली—'नित्यं'= अनवरतं, तदार्तिहरणक्षमा, तेषां मारारि (शिव) शक्रादीनां=इन्द्रादीनां या आर्तिः=पीडा, तस्याः हरणे = दूरीकरणे (नाशने) क्षमा = समर्था ॥ ३८४ ॥

और (नतानां माता)=विनम्र रहनेवाले भक्तजनों की माँ, (श्रियां सङ्घट्टः)=सब-प्रकार की विभूतियों की संगमस्थली, (बाधितसंभ्रमा) = भक्तों के भय को दूर कर-देनेवाली, (मान्या)=सभी के द्वारा पूजनीय, (आदिमा) = सर्वादिभूता, जगज्जननी, (अथ) शब्द 'समुच्चय' के अर्थ में है। (रामाणां सीमा) = स्त्रियों की मर्यादा की परमावधिरूपा अथवा रमणीयता की पराकाष्ठारूप (उमा)=पार्वती, (मे शं दिश्यात्) मेरा कल्याण करे ॥ ३८५ ॥

नतानां=नम्राणां जनानां, माता=वत्सला । श्रियां, संघट्टः=सम्मेलनस्थानम्, सर्वासां सहवासात् सङ्कीर्णस्थानमित्यर्थः । बाधितसम्भ्रमा—बाधितः=निरस्तः सम्भ्रमः=उद्वेगो यस्याः सा, यद्वा दूरीकृतनतजनभया । "सम्भ्रमः साध्वसेऽपि स्यात् संवेगादरयोरपि" इति मेदिनी । मान्या = सर्वैर्माननीया । अथशब्दः समुच्चये, रामाणां=नारीणां, सीमा = पराकाष्ठा । यद्वा रामाणां=रमणीयानां सीमा = अवधिः, अतःपरं रमणीयता, नान्यत्रेति भावः । आदिमा सर्वादिभूतेत्यर्थः ।

केचित्तु 'संघट्ट-श्रियाम्' इत्येकं पदं मन्यमानाः सङ्घट्टेन लोकविमर्दैन श्रीः सम्पत्तिर्येषां तादृशानां महिषासुरप्रभृतीनां बाधितः सम्भ्रमः=संरंभः यया सा इति व्याचक्षते । दो छन्दों से वाक्यार्थसमाप्ति हो रही है, उस कारण यह 'युग्म' है । उसका लक्षण यह है—

"द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं, त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्" ॥

खड्गबन्धनिर्माण का प्रकार

१—प्रथमतः दो खड्गों का एक चित्र बनाओ । उसकी मूठ (मुष्टि) के अधोभाग के (निचले भाग के) मध्य (बीच) में 'पद्य' का प्रथम अक्षर 'मा' लिखो ।

२--खड्ग की सबसे निचली 'नोंक' के बीच में प्रथम श्लोक (पद्य) के पूर्वार्ध का अन्तिम अक्षर 'सा' लिखो ।

३—तदनन्तर प्रथम पद्य (श्लोक) के शेष (बाकी बचे हुए) अक्षरों (वर्णों) को 'मा' के बाद से आरम्भ करके खड्ग के एक ओर लिखते हुए चलो तो खड्ग की निचली नोक पर पद्य का पूर्वार्ध, 'सा' अक्षर पर समाप्त हो जायगा ।

४—वहीं से अर्थात् उसी 'सा' अक्षर से पद्य के उत्तरार्ध को खड्ग के दूसरे भाग पर लिखना आरम्भ करके खड्ग के एक ओर लिखते चलो, तो मूठ के अधोभाग के बीच में पूर्व लिखित 'मा' अक्षर पर आकर वह उत्तरार्ध समाप्त हो-जायगा ।

५—इसी 'मा' वर्ण' को केन्द्र मान कर मूठ के निचले दोनों फलकों में 'दूसरे श्लोक' (पद्य) का 'प्रथम चरण' एक ओर, तथा 'दूसरा चरण' भी लिख दो ।

६—इसी प्रकार दूसरे पद्य के तृतीय तथा चतुर्थ दोनों चरण, 'मूठ' के ऊर्ध्व-भाग के (ऊपर वाले भाग के) दोनों फलकों में लिख दो—तब दोनों पद्य (श्लोक) खड्ग (तलवार) के आकार में दिखाई देंगे ।

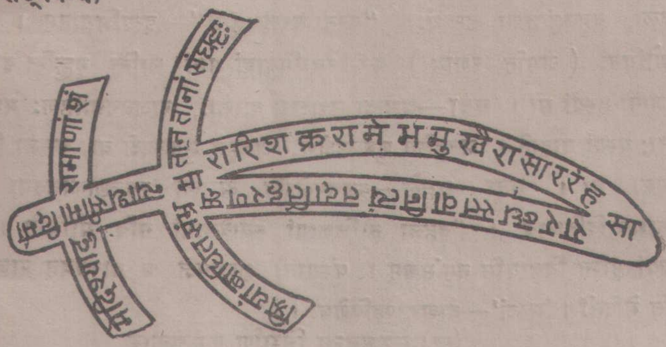
सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा ।
वारलाबहुलामन्दकरलाबहुलामला ॥ ३८६ ॥ (मुरजबन्धः)

(क) खड्गबन्ध के 'युग्म-पद्य'

(३८४) मा रा रि श क्र रा मे भ मु खैं रा सा र रं ह सा ।
सा रा र ब्ध स्त वा नि र्त्यं त दा ति ह र ण क्ष मा ॥
(३८५) मा ता न ता नां सं घ ट्टः श्रि यां बा धि त सं भ्र मा ।
मा न्या ब सी मा रा मा णां शं मे दि श्या दु मा दि मा ॥

(क) 'खड्ग-बन्ध' की आकृति

(क) (१) खड्गबन्धः



(ख) मुरजबन्ध—

'खड्ग बन्ध' के समान 'रुद्रट' के निर्देशानुसार ही 'मुरजबन्ध' का उदाहरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं ।

जैसे—सरलेति ।

(ख) मुरजबन्ध

(सरला)—मेघादि के कौटिल्य से रहित अर्थात् मेघ आदि के आडम्बर-से शून्य । यदि 'शरला' पाठान्तर हो [दन्त्य सकार के बजाय तालव्य शकार हो] तो काश-पुष्पों को प्रकट करने वाली, (बहुलारम्भतरलालिबलारवा) विविध प्रकार-के आरम्भों (व्यापारों) के कारण चञ्चल (इधर-उधर भ्रमण करनेवाले) अथवा विविध प्रकार के पुष्पों के लोभी भ्रमर सेनाओं के (भ्रमरों के) गुञ्जार-रव से सुशोभित (वारलाबहुला)—जिसमें हंसियों की बहुलता है, (अमन्दकरला)—राजाओं की बिजय यात्रा में उनकी उद्योगशीलता को प्रकट करनेवाली अथवा जिसमें अनेक राज-पुरुष, राजकीय कर उगाहने में प्रयत्नशील हैं, (बहुलामला)—और आकाश मेघाच्छन्न

न होने से जो अत्यधिक अमल है, अर्थात् कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी तारकाओं से सुशोभित होने के कारण स्वच्छ (उज्ज्वल) आकाशवाली यह शरद् ऋतु सर्वोत्कृष्ट प्रतीत हो रही है ॥ ३८६ ॥

अत्र उदाहृते पद्ये प्रकरणगम्या 'शरत्' विशेष्या शरत् 'जयति' इति शेषः। किं भूता ? सरला—मेघादिकौटिल्यरहिता। 'शरले'ति तालव्यपाठे शरं—शरकाण्डं लाति = आदत्ते-गृह्णाति, इति व्युत्पत्त्या शरकाण्डोद्गमयतीत्यर्थः। शरदि शरकाण्ड-सम्पत्तेः। बहुलैः आरम्भैः—प्रचुरैः संरम्भैः, तरलानां—चञ्चलानां, यद्वा बहुला-रम्भाणां—नानाकुसुम-लम्पटानाम् अतएव तरलानां—चञ्चलानाम् अलिबलानां—भ्रमरसैन्यानां आरवः—कोलाहलः यस्यां तादृशी। वरला एव वारलाः, स्वार्थे प्रज्ञादि-त्वादण् प्रत्ययः, वारलाः—हंस्यः; बहुला यस्यां सा, यद्वा वारलाभिः—हंसीभिः बहुला, बहुलहंसीका इत्यर्थः। "वरटा वरला हंसी"—इत्यभिधानम्। अमन्दा—उद्योगिनः (अर्थात् रणाय) करं स्वामिग्राह्यं भागं लान्ति गृह्णन्ति इति करलाः, राजानो यस्यां सा। यद्वा—अमन्दा उद्युक्ताः करलाः, राजधनग्राहिणः मार्गे अधिकृता जनाः यस्यां तादृशी। अबहुलेन शुक्लपक्षेण, अबहुले शुक्लपक्षे वा, अमला निर्मला तद्वत् अमला वा। यद्वा—बहुले—कृष्णपक्षेऽपि अमला स्वच्छाकाशतया तारकाभिः प्रकाशनादितिभावः। "बहुला नीलिकायां स्यादेलायां गवि योषिति। कृत्तिकासु स्त्रियां भूम्नि विहायसि नपुंसकम्। पुंस्यग्नौ कृष्णपक्षे च वाच्यवत् प्राज्यकृष्णयोः" इति मेदिनी। 'मुरजं'—वाद्यभाण्डविशेषः।

(ख) मुरजबन्ध निर्माण का प्रकार

१—पद्य (श्लोक) के चारों पादों (चरणों) के 'वर्णों' को अलग=अलग करके चार पङ्क्तियों में लिखो।

२—तदनन्तर उनको रेखा-विशेष से जोड़ देने पर मुरजवाद्य की आकृति बन-जाती है।

मुरजबन्धस्य न्यासप्रकारस्त्वयम्

पङ्क्तिक्रमेण प्रथमपादवर्णान् लिखित्वा तेषामधोऽधस्तथैव अपरपादत्रयवर्णान् लिखेत्। ततस्तेषु रेखाविशेषदानेन श्लोकोद्धारो मुरजोत्पादनं च कार्यम्।

यथा—प्रथमादिपादचतुष्टयस्य यथाक्रमं प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थवर्णेषु, अधो-गत्या एका रेखा देया। ततश्च तद्रेखाग्रतः, चतुर्थादिपादचतुष्टयस्य व्युत्क्रमेण पञ्चम षष्ठ-सप्तमाऽष्टमेषु, ऊर्ध्वगत्या, एका रेखा देया। एवं रेखाद्वयेन प्रथमपादोत्पत्तिः। ततश्च द्वितीयपाद प्रथमवर्ण-प्रथमपाद द्वितीयवर्णयोः एका रेखा देया, तदग्रतः प्रथमपाद-तृतीयवर्ण-द्वितीयपाद-चतुर्थवर्णयोः एका रेखा देया, तदग्रतः द्वितीयपाद-पञ्चमवर्ण-

प्रथमपाद-षष्ठवर्णयोः एका रेखा देया, तदग्रतः प्रथमपादसप्तमवर्ण–द्वितीयपादाऽष्टमवर्णयोः च एका रेखा देया, इत्येवं रेखाचतुष्टयेन द्वितीयपादोद्धारः। यथैव प्रथम-द्वितीयपादयोः येषु येषु वर्णेषु रेखाचतुष्टयदानेन द्वितीयपादोद्धारः, तथैव तृतीय-चतुर्थपादयोः तेषु तेषु वर्णेषु रेखाचतुष्टयेन तृतीयपादोद्धारः कार्यः। एवं चतुर्थादिपादचतुष्टयस्य व्युत्क्रमेण प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थवर्णेषु, ऊर्ध्वगत्या, एकारेखा, एका च रेखा तदग्रतः प्रथमादि-पाद-चतुष्टयस्य क्रमेण अधोगत्या पञ्चम-षष्ठ-सप्तमाऽष्टमवर्णेषु देया, एवं रेखाद्वयेन चतुर्थपादोत्पत्तिः। एवं कृते रेखाभिः मुरजषट्कस्य उत्पत्तिरिति विवरणे स्पष्टम्।

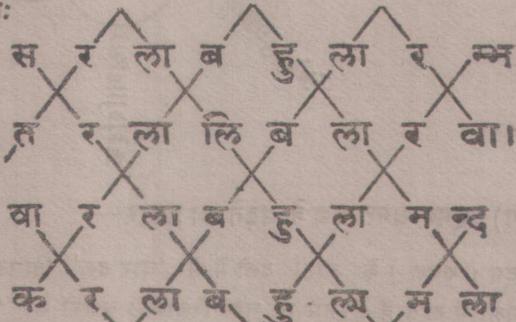
अत्रोक्तं सुधासागरकारैः—"अथ न्यासः प्रथमपादस्य वर्णाष्टकं पङ्क्तिक्रमेण अभिलिख्य तेषामधोऽधोऽपरपादत्रयवर्णान् पङ्क्तिक्रमेण विलिखेत्। ततः प्रथमपाद-प्रथमाक्षरपार्श्वतः एकैकवर्णाधिकसंग्रहेण चतुर्थचरणचतुर्थाक्षरपर्यन्तं दक्षिणतो रेखां कुर्यात्। एवमुत्तरपार्श्वे चरमचरणतृतीयाक्षरपर्यन्तम् ईशानादारभ्य विदिक्षु एवमेव कुर्यात्। ततो दिग्-विदिक्षु रेखाष्टके दत्ते मुरजत्रयाकारो भवति'' इति॥

(ख) मुरजबन्ध का उदाहृत पद्य—

स र ला ब हु ला रं भ त र ला लि ब ला र वा।
वा र ला ब हु ला मं द क र ला ब हु ला म ला॥

(ख) 'मुरजबन्ध' की आकृति—

(२) मुरजबन्धः



(ग) पद्मबन्ध—

अब 'पद्मबन्ध' की आकृतिवाले पद्य का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पद्मबन्ध-की आकृति के निर्माण का प्रकार यह है—

(१) अष्टदल कमल का चित्र बनाइये।

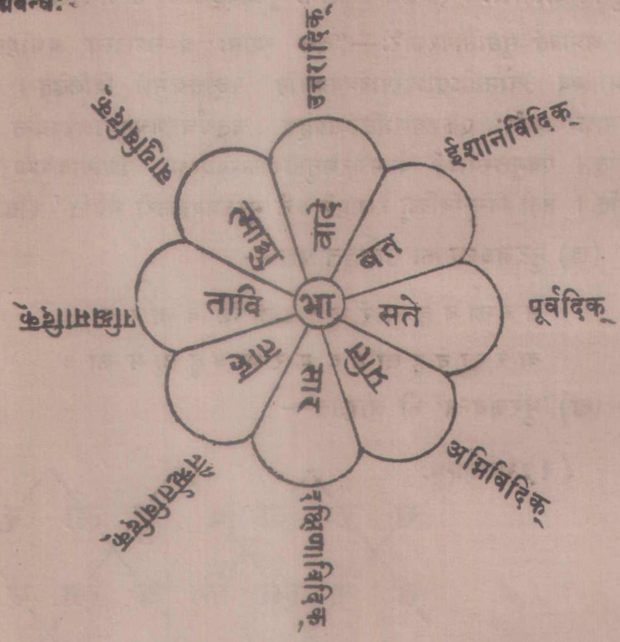
(२) उस कमल (पद्म) के केन्द्र में प्रस्तुत पद्य का प्रथम अक्षर 'भा' रखिये।

भासते प्रतिभासार ! रसाभाताहताविभा ।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥ ३८७ ॥ (पद्मबन्धः)

(३) तदनन्तर पद्य के दो-दो अक्षर (वर्ण) आठों दलों में रखिये । तब पद्य के बत्तीस अक्षर के चार चरण पढ़ने में आ जाएँगे ।

(ग) 'पद्मबन्ध' की आकृति

(३) पद्मबन्धः-



(ग) पद्मबन्धगत पद्य के पढ़ने का प्रकार—

पद्म (कमल) के आठों दलों में से 'चार दल' दिशाओं में और 'चार दल' उपदिशाओं में रहते हैं । इनमें से चार दिशावाले अक्षरों को 'दो बार' पढ़ा जायगा । एक बार उनको बाहर की ओर से पढ़ते हुए केन्द्र (कर्णिका) में पवेश करना है । और दूसरी बार केन्द्र (कर्णिका) से निकलते हुए भी उनको पढ़ना पड़ता है । इस रीति से इन 'चार दलों' में लिखे हुए आठ अक्षरों को पढ़ने पर उनकी संख्या, सोलह हो जाती है । शेष उपदिशाओं के चार दलों के आठ अक्षर मिलाकर चौबीस अक्षर हो जाते हैं । केन्द्र में स्थित 'अक्षर' आठों दलों के अक्षरों के साथ 'आठ बार' पढ़ा जाता है । इस रीति से लिखे हुए सतरह अक्षर, पढ़ने पर 'बत्तीस अक्षर' हो जाते हैं ।

रसासार ! रसा सारसायताक्ष ! क्षतायसा ।
सातावात ! तवातासा रक्षतस्त्वस्वतक्षर ! ॥ ३८८ ॥

(सर्वतोभद्रम्)

(ग) पद्मबन्ध में रचित पद्य—

भा सते प्रति भा सार रसा भा ताहृ ताविभा ।
भा विता त्माशु भा वादे देवा भा बत ते स भा ॥३८७॥

भासते इति । हे प्रतिभासार–प्रज्ञाश्रेष्ठ राजन् ! अर्थात् अत्यधिक प्रतिभाशालिन् राजन् ! (रसाभाता)—प्रीतिरूप अथवा शृङ्गारादि रसों से (आभाता)–सुशोभित, और (आहृता)—अप्रतिहृत एवं (अविभा) अत्यन्त दीप्तिमती; अथवा (हृता अविभा)—जिसकी 'अदीप्ति' अर्थात् कान्तिहीनता नष्ट हो चुकी है, अभिप्राय यह है कि 'निर्दोष' है और जिसमें (भाविताात्मा) आत्मा का चिन्तन किया जाता है । और (वादे शुभा)—तत्त्वकथा में निपुण, (ते)- आपकी (सभा)- परिषद् (देवाभा बत)- देवसभा के तुल्य है, यह महान् हर्ष अथवा आश्चर्य का विषय है ॥ ३८७ ॥

हे प्रतिभासार प्रज्ञाश्रेष्ठ राजन् ! ते सभा भासते । किं भूता ? रसैः प्रीतिरूपैः शृङ्गारादिभिर्वा, आभाता शोभिता, रसिकेति यावत् । आहृता, अप्रतिहता, आविभा सम्यग्दीप्तिर्यस्याः सा, यद्वा हृता, अविभा, अदीप्तिर्यस्याः सा निर्दोषेति यावत् । भावितः, निर्णीतः आत्मा परमात्मा यस्यां सा तत्त्वज्ञविशिष्टेत्यर्थः । भावितो वशीकृतः आत्मा ययेति वार्थः । वादे तत्त्वकथायां शुभा निपुणा । देवाभा देवतुल्या । बतेत्याश्चर्ये ।

(घ) ४ सर्वतोभद्र

'सर्वतोभद्र' बन्ध के निर्माण में पद्य के चारों चरणों के वर्णों को चार पङ्क्तियों में अलग-अलग लिखना चाहिए ।

सर्वतोभद्र के पद्य लिखने का प्रकार

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते।

यह पद्य भी रुद्रट के काव्यालङ्कार से लिया गया है। प्रकरणगम्य 'राजा' से कोई राजभक्त कह रहा है—

(हे रसा-सार)—पृथ्वी के सारभूत हे राजन्! अर्थात् सर्वतोवरिष्ठ भूपते! (रक्षतः तव)- सुरक्षा करनेवाले आपकी, (रसा)- पृथिवी, (क्षतायसा)-दुर्जनों-का विध्वंस करने वाली-'क्षतः=नाशितः, अयः=शुभावहविधिः येषां ते क्षतायाः=दुर्जनाः, तान् स्यति=अन्तं प्रापयति या तादृशी, क्षतायसा। 'षोऽन्तकर्मणि'—धातु का रूप है 'स्यति'। 'तु' शब्द 'च' के अर्थ में हैं—(तु)—और, (अतासा)—निरुपद्रव और स्थिर (अस्तु)—हो 'न विद्यते तासः उपक्षयः यस्याः सा अतासा। 'तसु-उपक्षये'—धातु से 'अतासा' पद बनाया गया है। अब शेष बचे—'सारसायताक्ष', 'सातावात' और 'अतक्षर' ये तीनों विशेषण, 'रसासार' के समान 'राजा' के हैं।

(१) सारसायताक्ष—'सारसं=कमलं तद्वत् आयते=विशाले अक्षिणी यस्य सः, तत्सम्बुद्धौ—हे सारसायताक्ष इति। अर्थात् कमल-दल के तुल्य विशाल नेत्रवाले राजन्!

(२) सातावत—'सातं=नाशितं अवातम्=अज्ञानं येन सः, तत्सम्बुद्धौ-हे सातावात इति। अर्थात् अज्ञानान्धकार के विनाशक राजन्! 'वा गतिगन्धनयोः'—पठित 'वा' धातु, गत्यर्थक होने से उसे 'ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः' इस न्याय से ज्ञानार्थक भी माना जाता है तथा 'गतेस्त्रयोऽर्था भवन्ति-'ज्ञानं गमनं प्राप्ति'श्चेति। अथवा-सातावात—'साते'=सुखे, 'अवात'=अचञ्चल अर्थात् अनासक्त हे राजन्! 'शर्मसातसुखानिचेत्यमरः'।

(३) अतक्षर—'अतक्षरम्—अनल्पं राति=ददाति यः सः अतक्षरः, तत्सम्बुद्धौ हे अतक्षर राजन्! हे महादानी महाराज! (आपकी छत्रछाया में सुरक्षित यह भूमि 'क्षतायसा' और 'अतासा', 'अस्तु'—अर्थात् दुर्जनों के उपद्रवों से रहित और सर्वविध उपद्रवों से भी रहित होकर स्थिर बनी रहे ॥ ३८८ ॥

'सर्वतोभद्र' की रचना में विशेषता—

(१) प्रत्येक चरण को बाईं ओर से तथा दाहिनी ओर से अर्थात् सीधा या उलटा पढ़ने पर भी एकसा ही पढ़ने को मिलता है।

जैसे—अधोलिखित उदाहरण में प्रस्तुत किये गये पद्य को पढ़िये-(सीधी ओर से) 'रसासार रसासार सायताक्ष क्षतायसा'। इसी को (उलटी ओर से) 'सायताक्ष क्षतायसा रसासार रसासार'।

यह पद्य का प्रथम चरण है, इसे अनुलोम (सीधा) पढ़ने पर अथवा विलोम (उलटा) पढ़ने पर भी एकसा ही पाठ सुनाई देगा।

(२) उसी तरह प्रत्येक चरण (पाद) के प्रारम्भिक चार वर्णों' (अक्षरों) को तथा 'अन्तिम चार वर्णों' (अक्षरों) को भी अनुलोम या प्रतिलोम (सीधे-उलटे) किसी रूप से पढ़ने पर भी एकसा ही पाठ सुनाई देगा।

(३) चारों पादों के 'प्रथम' और 'अष्टम' अक्षर की पङ्क्तियों को ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर की ओर पढ़ने पर पद्य (श्लोक) का आठ अक्षरों वाला 'पहिला चरण' बन जाता है।

(४) इसी प्रकार प्रत्येक पाद के द्वितीय तथा सप्तम वर्णों को ऊपर से नीचे की ओर अथवा नीचे से ऊपर की ओर किसी रूप में भी पढ़ने पर पद्य का द्वितीय चरण बन जाता है।

(५) इसी प्रकार प्रत्येक पाद के तृतीय तथा षष्ठ अक्षरों को ऊपर से नीचे की ओर अथवा नीचे से ऊपर की ओर किसी रूप में पढ़ने पर पद्य का तृतीय चरण बन जाता है।

(६) इसी प्रकार प्रत्येक पाद के चतुर्थ तथा पञ्चम वर्णों (अक्षरों) को ऊपर से नीचे की ओर या नीचे से ऊपर की ओर किसी भी प्रकार से पढ़ने पर पद्य का चतुर्थ चरण बन जाता है।

सर्वतोभद्र-बन्ध की यही विशेषता है कि उलटा-सीधा अथवा ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर किसी प्रकार से घुमा फिरा कर पद्य को पढ़ सकते हैं। अतएव इसे 'सर्वतोभद्र' नाम दिया गया है। इसका लक्षण—"तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः" उक्त अभिप्राय को ही प्रकट करता है।

सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदा इति।

इसी प्रकार चित्रालंकार के अन्य भी बहुत से भेद किये जा सकते हैं। परन्तु ये सभी 'चित्रकाव्य', शब्द-शिल्पी कवि की केवल शक्तिमात्र का ही प्रदर्शन कराने में समर्थ रहते हैं। लोकोत्तर चमत्कारजनक न होने के कारण 'काव्य' के स्वरूप का प्रकाशन नहीं कर पाते हैं। क्योंकि वे 'अतिनीरस' होते हैं। इसलिये चित्रालंकार (चित्रकाव्यों) के उन अन्यान्य भेदों को नहीं दिखा रहे हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट के पूर्ववर्ती रुद्रट आदि आलंकारिकों ने चित्रालंकार के भेद-प्रभेदों को प्रदर्शित करने में यद्यपि अपनी अभिरुचि व्यक्त की है तथापि काव्य-प्रकाशकार मम्मट, उन सब चित्रकाव्यों की 'नीरसता' को देखकर उन्हें हेय (त्याज्य) समझते हैं। अतएव उन्होंने चित्रकाव्य की रचना के लिये कवियों को उत्साहित नहीं किया है।

(पुनरुक्तवदाभासः)

(१२२) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः ।

श्रीरुद्रट ने चित्रबन्ध के अनेक भेदों को बताया है—

"तच्चक्रखड्गमुसलैर्बाणासनशक्तिशूलहलैः ।
चतुरंगपीठविरचितरथतुरगजादिपदपाठैः ॥
अनुलोम-प्रतिलोमैरर्द्धभ्रममुरजसर्वतोभद्रः ।
इत्यादिभिरन्यैरपि वस्तुविशेषाकृतिप्रभवैः ॥
भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्ति नैवालम् ।

—काव्यालङ्कार (५।२–४)

चित्रकाव्य के निर्माण की ओर रुद्रट ने कवियों को उत्साहित भी किया है—

"इत्थं स्थितस्यास्य दिशं निशम्य शब्दार्थविच्चोदितचित्रवृत्तः ।
आलोच्य लक्ष्यं च महाकवीनां चित्रं विचित्रं सुकविर्विदध्यात्" ॥

(पुनरुक्तवदाभास)

(सू० १२२)—पुनरुक्तवदिति । भिन्न-भिन्न आकार के शब्दों में, उनका अर्थ, एक (समान) न होने पर भी एकार्थता (समानार्थता)–सी जो भासित होती है, उसे 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार कहते हैं ।

'एकार्थतेव'—में जो 'इव' शब्द है, वह औपम्य का प्रतिपादक न होकर 'आभास' का ही प्रतिपादक है । एवं च 'एकार्थकता' (समानार्थता) वास्तविक नहीं है, किन्तु वे शब्द 'एकार्थक' हैं-ऐसा आभासमात्र होता है । अन्यथा 'पौनरुक्त्य' दोष का प्रसङ्ग प्राप्त होगा । तथाच 'विभिन्नाकारो विजातीयानुपूर्वीको यः शब्दः तद्गा=तद्गता या एकार्थतेव आभासीभूता एकार्थकता(एकार्थकत्वेन आपाततो भासनं)पुनरुक्तवदाभासः इति सूत्रार्थः । 'यस्य मित्राणि मित्राणि'—(उ० ४ । श्लो० ७३) जैसे 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' में अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'विभिन्नाकारशब्दगा' कहा है । 'यस्य मित्राणि मित्राणि' में आनुपूर्वीभेद नहीं है, उस कारण अतिव्याप्ति नहीं है । 'विभिन्नाकारत्वं' का अर्थ है—विभिन्नानुपूर्वीकत्वम् । 'यमक', 'लाटानुप्रास' में विभिन्नानुपूर्वीकत्व नहीं है । उस कारण वहाँ अतिव्याप्ति नहीं हो सकती ।

भिन्नरूपसार्थकेति । कहीं क्वचित् परस्पर भिन्न रूपवाले सार्थक अथवा निरर्थक शब्दों में आपाततः जो सामानार्थकता की प्रतीति होती है, उसी को 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार कहते हैं—इस प्रकार वृत्तिकार ने 'सूत्र' की व्याख्या की

स च—

(पुनरुक्तवदाभासस्य भेदाः)

(१२३) शब्दस्य

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः ।

उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः ।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः ॥ ३८९ ॥

है। कहीं-कहीं दोनों शब्द सार्थक रहते हैं, और कहीं—कहीं दोनों अथवा एक अनर्थक रहता है।

सचेति। यह पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार दो प्रकार का है। (१) केवल शब्द-गत तथा (२) शब्द और अर्थ दोनों में रहता है। उनमें से प्रथम को (शब्दगत को) बता रहे हैं—

(सू॰ १२३)—शब्दस्येति। केवल शब्दगत पुनरुक्तवदाभास।

सभङ्गेति। यह केवल शब्दगत पुनरुक्तवदाभास, दो प्रकार का होता है—(१) सभङ्ग और (२) अभङ्ग अर्थात् केवल शब्दगत 'पुनरुक्तवदाभास', 'सभंग-शब्दनिष्ठ', और 'अभङ्गशब्दनिष्ठ' दो प्रकार का होता है :

केवल सभङ्गशब्दगत पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण दे रहे हैं—अरिवधेति। (अरिवधदेहशरीरः)—अरिवधदा=शत्रुविनाशिनी, ईहा=चेष्टा येषां ते अरिवधदेहाः, ये शरिणः=शरयुक्ताः बाणवर्षिणः योधाः, तान् ईरयति=प्रेरयति इति अरिवधदेहशरीरः। अर्थात् शत्रुविनाशक चेष्टा करनेवाले योद्धाओं को प्रेरित करने वाला, (सहसा-रथिसूततुरगपादातः)—सहसा = शीघ्रं हठेन बलात् वा रथिभिः सुष्ठु उताः = सम्बद्धाः, तुरगाः = अश्वाः, पादाताः = पदातिकाः च यस्य सः—रथिसूततुरगपादातः। अर्थात् बलपूर्वक अपने रथारोहियों के साथ अपने अश्वारोहियों और पदातियों को सन्नद्ध रखने वाला, और (स्थिरतायाम् अगः)—युद्धभूमि में पर्वत के समान अडिग रहते वाला, (अवनितल-तिलकः)—भूमितलतिलक [पृथ्वी का भूषण स्वरूप] राजा (सदानत्याभाति)—सर्वदा सज्जनों के विषय में विनम्र-भाव से, अथवा दुर्जनों के सामने 'सदा अनत्या'—सर्वदा अनम्रभाव (औद्धत्य) से सुशोभित रहता है।

इस पद्य में 'देह-शरीर, सारथि-सूत, दान-त्याग,—इन शब्दों के सुनने पर अर्थैक्य (पुनरुक्ति) की सी आपाततः प्रतीति होती है। वस्तुतः ये सब 'सभङ्ग' हैं। 'देह-शरीर' ये दोनों शब्द तो सार्थक और सभङ्ग हैं। 'सारथि—सूत' में प्रथम शब्द

चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः ।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः ॥ ३९० ॥

'अनर्थक' है और दूसरा शब्द 'सार्थक' है और दोनों 'सभङ्ग' हैं । 'दान-त्याग मे दोनों 'अनर्थक' हैं, और 'सभङ्ग' हैं, 'शब्दस्य सार्थकत्वं च विवक्षितार्थकत्वम् । निरर्थकत्वं-तु विवक्षितार्थाभाववत्त्वम्' । इनमें से किसी शब्द का परिवर्तन करदेने पर 'पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार' नहीं कहा जा सकेगा । उस कारण अर्थात् 'शब्द परिवृत्ति' को न सह सकने के कारण इसे शब्दालङ्कार कहा गया है ।

किसी ने जो यह व्याख्या की है—'अरिवधदेहं शरीरं यस्य सः'—वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'द्वितीय पद' में परिवृत्तिसहत्व रहने से 'उभयालङ्कार' कहना होगा, तब 'शब्दमात्रालङ्कार के रूप में इसे उदाहरण नहीं कहा जायगा । इस सन्दर्भ में चन्द्रिकाकार ने स्पष्ट कहा है—"अरिवधदेहं शरीरमस्येति व्याख्यानमयुक्तम्, तथा सति शरीरपदस्य परिवृत्तिसहत्वेन, देहपदस्य तदसहत्वेन च उभयालङ्कारत्वापत्त्या, शब्दमात्रालङ्कारोदाहरणत्वाऽनुपपत्तिप्रसङ्गात्" इति ।

एवं च 'देह-शरीर' शब्दों में, 'सारथि-सूत' शब्दों में, 'दान-त्याग' शब्दों में आपाततः पौनरुक्त्य है और ये शब्द 'सभङ्ग' हैं, उस कारण 'सभङ्गशब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार इस पद्य में हुआ है । पर्यायपरिवृत्त्यसहत्व के कारण दोनों ही शब्दों में 'शब्दमात्रालङ्कारत्व है ।

प्रदीप व्याख्या में कहा है—"अत्र देह-शरीरशब्दयोः पुनरुक्तत्वधीः, सभङ्गौ च तौ, 'अरिवधदा, ईहा यत्र तादृशान् शरिणः ईरयतीत्यर्थकत्वात् । एवं 'सारथि—सूत' शब्दयोः सहसा हठेन रथिना सुष्ठु, उतं तुरगपादातं यस्येत्यर्थकत्वात् । 'दानत्यागयोश्च सदा नत्या भाति, स्थिरतायाम् अगः पर्वत इवेत्यर्थकत्वात् सभङ्गः पुनरुक्तवदाभासः । शब्दालङ्कारत्वं चोभयोरपि शब्दयोः पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वात्" इति ।

अब अभंगशब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण दे रहे हैं—चकासतीति । (तस्य राज्ञः)—उस राजा के ('अङ्गनारामाः)—सुन्दरियों के साथ रमने वाले [विहार करने वाले], (कौतुकानन्दहेतवः)—नृत्य गीतादि के द्वारा सभी को प्रसन्न करदेने वाले, और (सुमनसो विबुधाः)—सबके शुभचिन्तक अथवा प्रखर बुद्धिमान् (पार्श्ववर्तिनः) समीपवर्त्ती सेवक अथवा मित्रगण सुशोभित हो रहे हैं ॥ ३९० ॥

अङ्गनारामाः—(कल्याणानि प्रशस्तानि) अङ्गानि अवयवाः यासां ताः अङ्गनाः । 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः'—(पा० सू० ५।२।१००) इस पाणिनिसूत्रस्थित "अङ्गात्कल्याणे"—इस गण सूत्र से 'अङ्ग' शब्द से 'न' प्रत्यय हुआ है ।

'कौतुक' शब्द की व्याख्या उद्योतकार ने 'नृत्य-गीतादि' की है, और चक्रवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन, भीमसेन आदि ने 'कौतुक' शब्द की व्याख्या 'विवाह सूत्र' की है। तथा प्रभाकार ने 'कौतुक' शब्द की व्याख्या 'काव्यादिचर्चा' की है, और चन्द्रिका-कार ने 'कौतुक' शब्द की व्याख्या 'उत्सवविशेष' की है।

"कौतुकं नर्मणीच्छायामुत्सवे कुतुके मुदि" इति हेमचन्द्रकोशः। तथा "कौतुकं मंगले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले" इति शाश्वतकोशः।

इस पद्य में 'अङ्गना और रामा'—दोनों शब्द, 'स्त्री' के अर्थ में हैं, 'कौतुक और आनन्द'—दोनों शब्द 'सन्तोष' के अर्थ में हैं तथा 'सुमनसः और विबुधाः'—दोनों शब्द देवता के अर्थ में हैं। अतः आपाततः सुनते ही पौनरुक्त्य की प्रतीति होने लगती है। ये सभी शब्द 'अभङ्ग' हैं, इसलिये अभङ्गशब्दनिष्ठपुनरुक्तवदाभास है। चक्रवर्ती प्रभृति व्याख्याकारों ने कहा है—"अत्राङ्गनादिपदान्यखण्डान्येव" इति। यहाँ पर ये सभी शब्द पर्यायपरिवृत्त्यसह रहने से इनमें 'शब्दमात्रालङ्कारत्व' हैं। यहाँ पर सभी शब्द 'सार्थक' हैं।

शंका—'अंगना और रामा'—यहाँ पर 'अंगना' शब्द के स्थान पर 'महिला' आदि 'पर्याय' शब्द भी रखा जा सकता है। अतः 'पर्यायपरिवृत्तिसहत्व' होने से 'उभया-लङ्कार' कहना चाहिये, किन्तु इसे 'शब्दमात्रालङ्कार' का उदाहरण बताया जा रहा है, उसे कैसे संगत कहा जाय ?

समा०—"विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना"—इस अमरकोष-वचन के अनुसार 'महिला'—आदि शब्द, 'स्त्रीसामान्य' के वाचक हैं, अतः 'महिला' शब्द, 'अङ्गना' शब्द का पर्याय नहीं हो सकता। इन दोनों शब्दों में परस्पर 'पर्यायत्व' नहीं है।

शंका०—'आनन्द' शब्द के स्थान पर 'आमोद, हर्ष, सन्तोष आदि पर्याय शब्दों को भी रख कर काम चल सकता है। अतः 'परिवृत्तिसहत्व' रहने से 'कौतुकानन्द' को शब्दमात्रालङ्कार का उदाहरण बताना कैसे संगत हो सकता है ?

समा०—उक्त आशंका, उचित प्रतीत नहीं हो रही है। 'आनन्द-आमोद-हर्ष' आदि शब्दों में आपाततः पर्यायत्व भासित होने पर भी 'आनन्द' शब्द, 'सुखविशेष' के अर्थ में है। अतः 'आमोद-हर्ष' आदि शब्दों को 'आनन्द' का पर्याय समझ लेना उचित नहीं है।

"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च सम्पदः।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते ध्रुवाः"॥

इस प्रकार उत्तर-रामचरित के द्वितीय अङ्क में शम्बूक' से भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कहा है। भगवान् की इस उक्ति में 'आनन्द' और 'मोद' का पृथक् निर्देश किया गया है।

किञ्च—"अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतं मलम्।
··· ··· ··· ईदृशं परमं स्थानम्॥"

इस प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व में मोक्ष-धर्म के जापकोपाख्यान (१९८ अध्याय) में 'प्रहर्ष' और 'आनन्द' का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है।

अपि च—"अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः।··· ··· ···तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा" इति। इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के पञ्चम अनुवाक में 'मोद', 'प्रमोद' और 'आनन्द'—शब्दों का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है।

शंका०—आनन्द-हर्ष-सन्तोष-मोद-प्रमोद-आमोद आदि शब्दों में पर्यायत्व न मानने पर "मुत्प्रतीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसम्मदाः। स्यादानन्दथुरानन्दशर्मशातसुखानि च"॥ इस प्रकार कोषकार अमरसिंह ने जो पर्यायत्व प्रदर्शन किया है, उसे विरुद्ध कहना होगा?

समा०—अमरसिंह का यह स्वभाव है कि वह 'सामान्यवाचक शब्दों' को तथा 'विशेषवाचक शब्दों' को भी कहीं-कहीं पर्यायों के रूप में गिनवा देता है। जैसे—'बुद्धिर्मनीषाधिषणाधीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः''—इत्यादि शब्दों को पर्याय के रूप में बता दिया है। सुधासागरकार ने जो कहा है कि "कौतुकानन्देत्यत्र नायमलंकारः कौतुकानन्दशब्दयोः क्वचिदपि अर्थे, पर्यायत्वाऽदर्शनात्"। किन्तु पूर्वप्रदर्शित हेमचन्द्र और शाश्वतकोश में सन्तोष' रूप अर्थ में पर्यायत्व प्रदर्शित करने के कारण उनका यह कथन, परास्त हो जाता है। 'अंगनारामाः' की व्याख्या, प्रदीपकार तथा उद्योतकार ने इस प्रकार की है—'अत्राङ्गनारामाशब्दयोः स्त्र्यर्थकतया पुनरुक्तत्वधीः। वस्तुतस्तु 'अङ्गने, आरमन्ति' अथवा 'अङ्गनानाम् आरामाः'—ऐसा अर्थ करने पर 'पुनरुक्ति' नहीं होती है। 'न चात्र सभंगः। शब्दमात्रालंकारत्वं च एकस्यापि परिवृत्त्यसहत्वात्। एवं 'कौतुकानन्दशब्दयोः' सुमनसो विबुधा इति शब्दयोश्च द्रष्टव्यम्' इति प्रदीपः। (अंगनासु रमन्ते, इत्यङ्गनारामाः, विरहशून्याः। अंगने, आरमन्तीति वा, अंगनेषु, आरामाः क्रीडावनानि येषामिति वा) इत्युद्योतः। एतयोः प्रदीपोद्योतयोः कठिनत्वाद् भ्रामकत्वाच्च तदाशयं यथामति प्रकटयामः–अंगने इति। अंगनम् अजिरम्। "अंगनं प्राङ्गणे याने कामिन्यामंगना मता" इति नान्तवर्गे विश्वः।

आरमन्तीति। आ, अत्यन्तं क्रीडन्तीत्यर्थः, अप्रवासिन इति भावः। एवं चात्र पक्षे, 'अंगनारामा' शब्दौ द्वावपि निरर्थकौ इति निरर्थकशब्दनिष्ठः पुनरुक्तवदाभासः इति

(१२४) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

उदाहरणम्—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजोधाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः॥ ३११ ॥

भावः। "व्याङ्परिभ्यो रमः"—(पा० सू० १।३।८३) इति सूत्रेण 'आरमन्ति' इति परस्मैपदम्। एतेन 'अंगने एव, आ सम्यक् रमन्ते' इति विवरणकारोक्तमात्मनेपदं परास्तम्। नचायमाकारोऽङिदिति वाच्यम्, वाक्यस्मरणयोर्द्योतकस्यैव 'आकारस्य' अङित्वात्। तदुक्तं "निपात एकाजनाङ्" (पा० सू० १।१।१४) इति महाभाष्ये "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौच यः। एतमातंङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्" इति बोध्यम्।

शंका—ननु 'अंगने आरमन्ति' इत्यर्थे यद्यपि रामाशब्दोऽभंग एव, तस्य आरामशब्दैकदेशत्वेऽपि अभंगत्वाऽनपायात्, तथापि आरामशब्दैकदेशस्य आकारस्य संयोजनेन अंगनाशब्दस्य अनुसंधानात् तस्य सभंगत्वापत्त्या अभंगोदाहरणत्वमनुपपन्नमित्यरुचिं मनसि निधाय अर्थान्तरं दर्शयति—'अंगनानामारामा' इति वार्थ इति। अंगनानामिति, आबन्तस्य अंगनाशब्दस्यैव षष्ठ्यन्तम्, न तु 'अंगन' शब्दस्य। अन्यथा अस्मिन्नपि अर्थे सभंगत्वस्य तदवस्थत्वापत्तेः। तथा च अंगनानां स्त्रीविशेषाणाम् आरामाः क्रीडास्थानभूता इत्यर्थः। सभंगत्वभ्रमं वारयति अत्रेति। अंगनानामारामा इत्यर्थपक्षे इत्यर्थः। सभंग इति। किन्तु अभंग एवेत्यर्थः। 'शब्द' इति शेषः। 'सभंगौ च तौ' इति पूर्वोदाहरणस्थस्वग्रन्थस्वरसात्। अथवा 'पुनरुक्तवदाभासः' इति शेषः। "सभंगः पुनरुक्तवदाभास," इति पूर्वोदाहरणस्थस्वग्रन्थस्वरसात्। तथा च अलंकारघटकयोरंगनारामाशब्दयोरुभयोरपि, अभंगत्वमुपपन्नमिति भावः। एवं च अत्र पक्षे अंगनारामाशब्दौ द्वावपि निरर्थकाविति निरर्थकशब्दनिष्ठः पुनरुक्तवदाभास इति फलितम्। एकस्यापि परिवृत्त्यसहत्वादिति। एकस्यापि शब्दस्य परिवृत्तिसहत्वाभावादित्यर्थः इति वामनाचार्याः।

(सू० १२४) तथा शब्दार्थयोरिति। यहाँ 'तथा' शब्द समुच्चयार्थक है उसी प्रकार यह द्वितीय पुनरुक्तवदाभास अलंकार', शब्दार्थोभयनिष्ठ (शब्द और अर्थ दोनों में रहनेवाला) भी होता है। उभयनिष्ठ अलंकार के रूप में उदाहरण दे रहें हैं—

तनुवपुरिति। (असौ हरिः) यह सिंह (तनुवपुः)—कृश-शरीर होता हुआ-भी (अजघन्यः)—श्रेष्ठ, अप्रमेय बलशाली है, अर्थात् प्रसिद्ध सिंहों से विलक्षण है। (करि-कुञ्जर-रुधिररक्तखर-नखरः)—श्रेष्ठगजों के रुधिर से रंगे हुए तीक्ष्ण नखोंवाला, (तेजोधाम) तेज का एकमात्र आश्रय अर्थात् निवासस्थान, (महः पृथुमनसाम् इन्द्रः)

तेज अथवा शक्ति के कारण गर्वीले स्वाभिमानी प्राणियों में सबसे महान् (बड़ा) और (जिष्णुः) अस्ति इति शेषः—सब को पराजित करनेवाला है ॥३९१॥

'हरि' शब्द के अनेक अर्थ हैं—"हरिर्वाताकंचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु । सिंहाश्व-कपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च । हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः" इति विश्वः । 'तनु' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं—"तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात् त्रिष्वल्पे विरले कृशे" इति विश्वमेदिन्यौ । तथा 'जघन्य' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं—"जघन्योऽन्त्येऽधमेऽपि-च"—इत्यमरः । "जघन्यं चरमे शिश्ने जघन्यं गर्हितेऽन्यवत्" इति विश्वः ।

'कुञ्जर' शब्द श्रेष्ठवाचक है । "स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः । सिंह शार्दूल-नागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः' इत्यमरः ।

कुछ विद्वानों ने 'तेजोधाममहःपृथुमनसाम्'—इतना एक ही पद माना है, और व्याख्या की है कि 'तेजसः परोत्कर्षाऽक्षमतायाः धाम स्थानं यन्महः बलविशेषः तेन पृथु प्रशस्तम्, अथवा पृथु विपुलं सगर्वमिति यावत् मनो येषां तेषाम् इन्द्रः श्रेष्ठः ।

इस पद्य में शब्दार्थोभयनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है। यहाँ पर 'तनु-वपु' शब्द, 'शरीर' के अर्थ में, 'करि-कुञ्जर' शब्द, गज के अर्थ में, 'रुधिर-रक्त' शब्द, शोणित के अर्थ में, 'तेजोधाम'—महः शब्द, तेजस्विता के अर्थ में और 'इन्द्र-हरि-जिष्णु" शब्द देवराज इन्द्र के अर्थ में आपाततः प्रतीत होते हैं, उस कारण "पौनरुक्त्य" सा लगता है । किन्तु वास्तव में "पौनरुक्त्य' है नहीं ।

उक्त पद्य में यदि 'तनु', 'कुञ्जर', 'रक्त', 'धाम', 'हरि', 'जिष्णु' शब्दों के स्थान-में उनके पर्याय शब्द रख दिये जाँय (परिवृत्ति कर दीजाय) तो 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार ही नही बन पायेगा । एवं तनु आदि प्रयुक्त शब्दों में 'परिवृत्त्यसहता' रहने से यह अलङ्कार 'शब्दनिष्ठ' है तथा 'वपु-करि-रुधिर-इन्द्र'—इन शब्दों के स्थान में यदि पर्यायशब्दों को रख दें तो भी पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार बना ही रहेगा, वह नष्ट नहीं होगा । उस कारण वह अलङ्कार यहाँ 'अर्थनिष्ठ' है । एवं च 'वपु' आदि शब्दों में 'परिवृत्ति-सहता' रहने से यह अलङ्कार 'अर्थनिष्ठ' भी हो गया है। उस कारण उक्त पद्य, 'शब्दार्थोभयनिष्ठ' (शब्दार्थोभयगत) पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार का उदाहरण बन गया है । 'इन्द्र' शब्द में परिवृत्तिसहत्व 'वृष' शब्द से समझना चाहिये। 'वृष' शब्द, श्रेष्ठवाची तथा देवेन्द्रवाची भी है । "वृषो गव्याखुधर्मयोः । पुंराशिभेदयोः शृङ्ग्यां वासवे शुक्रलेपि च । श्रेष्ठे स्यादुत्तरस्थे च" इति हेमचन्द्रकोशे । "वृषः स्याद् वासवे धर्मे सौरभेये च शुक्रले । पुंराशिभेदयोः शृङ्ग्यां मूषकश्रेष्ठयोरपि" इति विश्वकोषे । 'धाम महः' में और 'हरिर्जिष्णुः' में 'शब्दगतत्व' ही है। क्योंकि दोनों शब्दों में परिवृत्त्यसहता है ।

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्त्तिते नालङ्कार इति शब्दाश्रयः,अपरस्मिंस्तु परिवर्तितेऽपि स न हीयते, इत्यर्थनिष्ठ इत्युभयालङ्कारोऽयम् ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दालंकारनिर्णयो नाम नवम उल्लासः ॥ ९ ॥

अब वृत्तिकार इस अलङ्कार में शब्दार्थाश्रयता को बता रहे हैं—अत्रैकस्मिन्निति । इस पद्य में, (एकस्मिन्) 'तनुकुञ्जररक्त' इत्यादि रूप एक पद में परिवर्तन कर देने पर (नालंकारः) यह अलंकार नहीं बनेगा, अपितु 'पुनरुक्ति'-नाम का दोष बन जायगा, और (अपरस्मिन्) 'वपुः करिरुधिरादि' रूप अर्थात् 'वपुः' प्रभृति शब्दों के स्थान में 'शरीर' आदि शब्दों को रख देने पर भी उक्त अलंकार बना ही रहेगा, वह नष्ट नहीं होगा । अतः अर्थान्वयव्यतिरेकानुविधान होने से 'अर्था-श्रयता' भी स्पष्ट है । इसी आशय को वृत्तिकार ने 'अर्थनिष्ठः' कह कर बताया है ।

इस प्रकार 'अन्वय-व्यतिरेक' का अनुसरण करके ही 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व और असहत्व के कारण अर्थाश्रयता को समझना चाहिये । एवं च पुनरुक्तवदाभास को शब्दार्थद्वयगत कहना उचित ही है ।

उद्भट ने अपने काव्यालंकार संग्रह में पुनरुक्तवदाभास का लक्षण "पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम्" किया है । भिन्न रूपवाले दो पदों की 'एकार्थ'-रूप से जहाँ प्रतीति होती है वहीं यह अलंकार होता है । किन्तु उन्होंने उसके 'शब्दालंकार' अथवा 'अर्थालंकार' होने की स्पष्ट चर्चा नहीं की है । किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने स्पष्ट कहा है कि वह 'शब्दालंकार' है तथा 'उभयालंकार' भी है । अलंकार-सर्वस्वकार ने 'पुनरुक्तवदाभास' को अर्थालङ्कार माना है । काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा, एकार्थतेव' कह कर 'सर्वस्वकार' द्वारा-निर्मित "आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्"—लक्षण का खण्डन कर दिया है ।

श्रीमम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की 'रहस्यबोधिनी' व्याख्या में
शब्दालङ्कारनिर्णय नामक नवम उल्लास समाप्त हुआ ।

दशम उल्लासः

(अर्थालङ्कारनिरूपणात्मकः)

(अर्थालङ्काराणां स्वरूपं प्रकार-विवेचनं च)

अर्थालङ्कारानाह—

उल्लास-संगति—

काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट ने काव्य का लक्षण—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"—किया है। उसमें 'शब्दार्थौ' के दो विशेषणों—'अदोषौ' और 'सगुणौ'—के समान ही 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि—' यह भी एक विशेषण दिया है। उसके स्पष्टीकरणार्थ 'अलङ्कारों' को भी बताना आवश्यक है।

अलङ्कारों के तीन प्रकार हैं—(१) शब्दालङ्कार तथा (२) अर्थालङ्कार और (३) उभयालङ्कार। जो अलङ्कार किन्हीं विशेष शब्दों के रहने पर ही होते हैं, अर्थात् जो अलङ्कार 'शब्दपरिवृत्त्यसह' होते हैं, उन्हें 'शब्दालङ्कार' कहते हैं। अर्थात् उन शब्द-विशेषों को हटा कर उनके स्थान पर उनके पर्यायरूप अन्य शब्दों को रखने पर उन अलङ्कारों की निष्पत्ति नहीं होती। अर्थात् वे अलङ्कार उन विशेष-शब्दों के आश्रित रहने से 'शब्दालङ्कार' कहे जाते हैं।

जो अलंकार 'शब्दपरिवृत्तिसह' होते हैं, अर्थात् यदि उन शब्दों के स्थान पर (उन-शब्दों को हटाकर) उनके समानार्थक अन्य शब्दों को रखने पर भी विवक्षित अलंकार की कोई हानि नहीं होती, वे अलंकार 'अर्थ' के आश्रित होते हैं, अर्थात् वे अलंकार 'शब्द' के आश्रित नहीं होते हैं। इसलिए उन अलंकारों को 'अर्थालंकार' कहा जाता है।

पूर्ववर्ती 'नवम उल्लास' में मम्मटभट्ट ने—(१) वक्रोक्ति, (२) अनुप्रास, (३) यमक (४) श्लेष और (५) चित्र नामक पाँच शब्दालंकार तथा (६) पुनरुक्तवदाभास नामक 'उभयालंकार' इन छह अलंकारों को बताया है। अब प्रस्तुत दशम सल्लास में ६१ प्रकार के 'अर्थालंकारों' को बता रहे हैं।

अलङ्कारों की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न विचार—

भरत ने 'उपमा', 'रूपक', 'दीपक', यमक—इन चार अलंकारों का ही निरूपण अपने नाटयशास्त्र में किया है।

वामन ने अलंकारों के ३३ भेद प्रदर्शित किये हैं।

दण्डी ने अलंकारों के ३५ भेद प्रदर्शित किये हैं।

भामह ने अलंकारों के ३९ भेद प्रदर्शित किये हैं।

उद्भट ने अलंकारों के ४० भेद प्रदर्शित किये हैं।

रुद्रट ने अलंकारों के ५२ भेद अपने काव्यालंकार में प्रदर्शित किये हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने अलंकारों के ६७ भेद, अपने काव्यप्रकाश में प्रदर्शित किये हैं। अर्थात्—(५) शब्दालंकार, (६१) अर्थालंकार और (१) उभयालंकार कुल-मिलाकर ६७ प्रकार के अलंकारों को बताया है। जयदेव ने अलंकारों के १०० भेद अपने चन्द्रालोक में प्रदर्शित किये हैं।

अप्पयदीक्षित ने अलंकारों के १२४ भेद अपने कुवलयानन्द में प्रदर्शित किये हैं। काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट के अनुसार ६१ अर्थालंकार—

प्रस्तुत दशम उल्लास में निरूप्यमाण ६१ अर्थालङ्कारों के नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) उपमा, (२) अनन्वय, (३) उपमेयोपमा, (४) उत्प्रेक्षा, (५) असन्देह, (६) रुपक, (७) अपह्नुति, (८) श्लेष, (९) समासोक्ति, (१०) निदर्शना, (११) अप्रस्तुत-प्रशंसा, (१२) अतिशयोक्ति, (१३) प्रतिवस्तूपमा, (१३) दृष्टान्त, (१५) दीपक, (१६) तुल्ययोगिता, (१७) व्यतिरेक, (१८) आक्षेप, (१९) विभावना, (२०) विशेषोक्ति, (२१) यथासंख्य, (२२) अर्थान्तरन्यास, (२३) विरोधाभास, (२४) स्वभावोक्ति, (२५) व्याजस्तुति, (२६) सहोक्ति, (२७) विनोक्ति, (२८) परिवृत्ति, (२९) भाविक, (३०) काव्यलिङ्ग, (३१) पर्यायोक्ति, (३२) उदात्त, (३३) समुच्चय, (३४) पर्याय, (३५) अनुमान, (३६) परिकर, (३७) व्याजोक्ति, (३८) परिसंख्या, (३९) कारणमाला, (४०) अन्योन्य, (४१) उत्तर, (४२) सूक्ष्म, (४३) सार, (४४) असंगति, (४५)समाधि, (४६) सम, (४७) विषम, (४८) अधिक, (४९) प्रत्यनीक, (५०) मीलित, (५१) एकावली, (५२) स्मृति, (५३) भ्रान्तिमान्, (५४) प्रतीप, (५५)सामान्य, (५६) विशेष, (५७) तद्गुण, (५८) अतद्गुण, (५९) व्याघात, (६०) संसृष्टि, (६१) सङ्कर।

अलङ्कारों का वर्गीकरण—

'अलंकारसर्वस्व' के रचयिता 'रुय्यक (बारहवी शताब्दी का मध्यभाग) ने ६७ अलंकारों को बताया है। इन समस्त अलंकारों का वर्गीकरण, रचनाशैली के आधार-पर आठ मुख्य भागों में इन्होंने किया है।

इनमें प्रथमवर्ग के पुनः चार अवान्तर विभाग किये हैं। इस प्रकार अलंकारों के ४+७=११ वर्ग बन जाते हैं।

उनके नाम और उनके अन्तर्गत अलंकारों की संख्या नीचे दी जा रही है—

(१) सादृश्यमूलक अलङ्कार (४+६+२+१७=२९)		(२) विरोधमूलक अलङ्कार	११
(क) भेदाभेद प्रधान	४	(३) शृङ्खलाबन्धमूलक अलंकार	३
(ख) आरोपमूलक अभेद प्रधान	६	(४) तर्कन्यायमूलक अलंकार	२
(ग) अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान	२	(५) वाक्यन्यायमूलक अलंकार	८
(घ) गम्य औपम्यमूलक अलंकार	१७	(६) लोकन्यायमूलक अलंकार	७
		(७) गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार	७
सादृश्यमूलक अलङ्कार २९,		सादृश्यातिरिक्त मूलक अलङ्कार ३८	
		एवं च—२९+३८=६७ कुल अलङ्कार	

इस प्रकार रुय्यक ने ६७ अलंकारों का वर्गीकरण किया है। इन वर्गों के अन्तर्गत होनेवाले अलकारों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

१—सादृश्यमूलक उनतीस (२९) अलङ्कार—

(क) अभेद प्रधान सादृश्यमूलक चार अलंकार—(१) उपमा, (२) उपमेयोपमा, (३) अनन्वय, (४) स्मरण।

(ख) आरोपमूलक अभेदप्रधान छह (६) अलंकार—(१) रूपक, (२) परिणाम, (३) ससन्देह, (४) भ्रान्तिमान्, (५) उल्लेख, (६) अपह्नुति।

(ग) अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान दो (२) अलंकार—(१) उत्प्रेक्षा, (२) अतिशयोक्ति।

(घ) गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक सत्रह (१७) अलंकार—

(१) तुल्ययोगिता, (२) (पदार्थगत) दीपक, (३) प्रतिवस्तूपमा, (४) दृष्टान्त, (५) (वाक्यार्थगत) निदर्शना, (६) व्यतिरेक, (७) (श्लेषप्रधान) सहोक्ति, (८) विनोक्ति, (९) समासोक्ति, (१०) (विशेषणविच्छित्याश्रय) परिकर, (११) (विशेष्यविच्छित्याश्रय) परिकराङ्कुर, (१२) (विशेषण-विशेष्यविच्छित्याश्रय) श्लेष, (१३) अप्रस्तुतप्रशंसा, (१४) अर्थान्तरन्यास, (१५) पर्यायोक्ति, (१६) व्याजस्तुति, (१७) आक्षेप।

२—विरोधमूलक ग्यारह (११) अलङ्कार—

(१) विरोध (विरोधाभास), (२) विभावना, (३) विशेषोक्ति, (४) असङ्गति, (५) विषम, (६) सम, (७) विचित्र, (८) अधिक, (९) अन्योन्य, (१०) विशेष, (११) व्याघात।

३—शृङ्खलाबन्धमूलक चार (४) अलङ्कार—

(१) कारणमाला, (२) एकावली, (३) मालादीपक, (४) सार।

४—तर्कन्यायमूलक दो (२) अलङ्कार—

(१) काव्यलिंग, (२) अनुमान।

५—वाक्यन्यायमूलक आठ (८) अलङ्कार—

(१) यथासंख्य, (२) पर्याय, (३) परिवृत्ति, (४) परिसंख्या, (५) अर्थापत्ति; (६) विकल्प; (७) समुच्चय, (८) समाधि।

६—लोकन्यायमूलक सात (७) अलङ्कार—

(१) प्रत्यनीक, (२) प्रतीप, (३) मीलित, (४) सामान्य, (५) तद्गुण, (६) अतद्गुण, (७) उत्तर।

७—गूढार्थप्रतीतिमूलक सात (७) अलङ्कार—

(१) सूक्ष्म, (२) व्याजोक्ति, (३) वक्रोक्ति, (४) स्वभावोक्ति, (५) भाविक, (६) संसृष्टि, (७) संकर।

उपर्युक्त प्रकार से अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने ६७ अलंकारों का वर्गीकरण किया है।

किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने केवल ६१ अर्थालंकार बताये हैं।

एवंच काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा रुय्यक ने छह 'अर्थालंकार' अधिक बताये हैं, जिन्हें काव्यप्रकाश में मम्मट ने नहीं बताया है।

वे 'छह अलङ्कार' ये हैं—

(१) परिणाम, (२) परिकराङ्कुर, (३) विचित्र, (४) अर्थापत्ति, (६) विकल्प।

काव्यप्रकाशोक्त 'इकसठ अर्थालंकारों' का संकलन काव्यप्रदीपकार गोविन्दठक्कुर ने निम्नांकित प्रकार से किया हैं—

१　२　३
उपमानान्वयस्तद्वदुपमेयोपमा　ततः।
४　५　६　७
उत्प्रेक्षा च ससन्देहो रूपकापह्नुती तथा ॥ १ ॥
८　९　१०
श्लेषस्तथा समासोक्तिः प्रोक्ता चाथ निदर्शना।
११　१२
अप्रस्तुतप्रशंसासातिशयोक्ती　परिकीर्तिते ॥ २ ॥

१३ १४ १५
प्रतिवस्तूमा तद्वद् दृष्टान्तो दीपकं तथा।
१६ १७
तुल्ययोगितया चैव व्यतिरेकः प्रकीर्तितः॥ ३॥
१८ १९
प्रकीर्तितस्तथाक्षेपस्तथैव च विभावना।
२० २१
विशेषोक्तिर्यथासंख्यं तथैव परिकीर्तितम्॥ ४॥
२२ २३
तथाचार्थान्तरन्यास विरोधाभाससंज्ञको।
२४ २५ २६
स्वभावोक्तिस्तथा व्याजस्तुतिः प्रोक्तं सहोक्तियुक्॥ ५॥
२७ २८ २९ ३०
विनोक्ति-परिवृत्ती च भाविकं काव्यलिंगयुक्।
३१ ३२ ३३
पर्यायोक्तमुदात्तं च समुच्चय उदीरितः॥ ६॥
३४ ३५ ३६
पर्यायश्चानुमानं च प्रोक्तः परिकरस्तथा।
३७ ३८ ३९
व्याकोक्ति-परिसंख्ये च माला कारणपूर्विका॥ ७॥
४० ४१ ४२ ४३ ४४
अन्योऽन्यमुत्तरं सूक्ष्मसारौ तद्वदसंगतिः।
४५ ४६ ४७ ४८
समाधिश्च समेन स्याद् विषमस्त्वधिकेन च॥ ८॥
४९ ५० ५१ ५२
प्रत्यनीकं मीलितं च स्यातामेकावली-स्मृती।
५३ ५४ ५५ ५६
भ्रान्तिमांश्च प्रतीपेन सामान्यं च विशेषयुक्॥ ९॥
५७ ५८ ५९
तद्गुणाऽतद्गुणौ चैव व्याघातः परिकीर्तितः'
६० ६१
संसृष्टिसंकरौ चैवमेकषष्टिः क्रमोदिता॥ १०॥

अब काव्यप्रकाशोक्त उपमा-अनन्वय से लेकर संसृष्टि-संकर तक कुल 'इकसठ-अर्थालंकारों' का क्रमशः निरूपण कर रहे हैं—

पूर्वोक्त 'सादृश्यमूलक अलंकारों' का मूलकारणभूत (आधारभूत) तथा 'काव्य-के सौन्दर्य' में विशेषरूप से सहायक एवं अन्य अलंकारों की अपेक्षया स्फुटतया विभावादिकों के उत्कर्षक (सौकुमार्य का अतिशय) होने से और 'उपमेयोपमा—अनन्वय-प्रतीप-स्मरण-रूपक—ससन्देह--भ्रान्तिमान्अपह्-्नुति—उत्प्रेक्षा—अतिशयोक्ति—तुल्योगिता,

(१-उपमाऽलङ्कारः)

(१२५) साधर्म्यमुपमा भेदे

दीपक-प्रतिवस्तूपमा--निदर्शना-व्यतिरेक-सहोक्ति-समासोक्ति—आदि अनेक अलंकारों की मूलभूत होने से सभी अलंकारों से पूर्व उपमा अलंकार का निरूपण किया जा रहा है। नवम उल्लास में शब्दालंकारों को बता देने के पश्चात् दशम उल्लास में अर्थालंकारों को बताने का अवसर प्राप्त होने से दोनों उल्लासों की 'अवसरसङ्गति' है।

अर्थालङ्कारानिति। प्रस्तुत दशम उल्लास में अर्थालङ्कारों का निरूपण किया जारहा है—

१—उपमा

(क) 'भेदे (सति) साधर्म्यम् उपमा'—यह उपमा का लक्षण है।

(सू० १२५) साधर्म्यमिति। (क) उपमान— उपमेयभूत दो वस्तुओं में 'भिन्नता' रहते हुए भी उनमें 'समानधर्मता' (साधर्म्य) को बताना ही 'उपमा' अलङ्कार कहलाता है। 'उपमा' में जिन दो बस्तुओं की 'समानधर्मता' दिखाई जाती है, उन वस्तुओं की 'उपमान' और 'उपमेय' यह पारिभाषिक संज्ञा है।

(ख) सामान्यतया 'उपमान' अप्रकृत रहता है और 'उपमेय'—प्रकृत (प्रस्तुत-विषय) रहता है। जैसे 'चन्द्रः इव मुखम्' — (मुख, चन्द्र के समान है)—में 'चन्द्र'-उपमान है, और 'मुख' उपमेय है। क्योंकि 'मुख' के विषय में बात चल रही है। अर्थात् 'मुख' के आल्हादकता,वर्तुलता, तेजस्विता आदि धर्म, 'चन्द्र' के आल्हादकतादि-धर्मों के समान है—यह कहा जा रहा है। उक्त वाक्य में जिनका साधर्म्य बताया जा रहा है वे 'मुख' और 'चन्द्र' दोनों पदार्थ, एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं, दोनों का अपना-अपना 'अस्तित्व' स्वतन्त्र है। अतः 'चन्द्र इव मुखम् जैसे प्रयोग को उपमा कहा जाता है।

किन्तु 'अनन्वय' अलंकार में ऐसा नहीं है। 'अनन्वय' में जो 'बस्तु' उपमान रहती है, वही 'बस्तु' उपमेय हो जाती है। अर्थात् 'एक ही वस्तु', उपमान और उपमेय का रूप धारण कर लेती है। अनन्वय में 'उपमान' और 'उपमेय' परस्पर भिन्न नहीं रहते। जैसे—'मुखम् इव मुखम्'—(मुख, 'मुख' जैसा ही है) अर्थात् मुख से तुलना करने योग्य दूसरी वस्तु, दृष्टिगोचर नहीं हो रही है।

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा । भेदग्रहणमनन्वयव्यवच्छेदाय ।

उपमानोपमेययोरिति । उक्त 'समानधर्मता (साधर्म्य) उपमान और उपमेय— इन्हीं दो में होती है, 'कार्य-कारण' आदि में नहीं । अतः उन्हीं दोनों उपमान-उपमेयों में 'समानधर्म' के द्वारा जोड़े जाने वाले 'सम्बन्ध' को 'उपमा' कहा गया है । भेदग्रहणमिति ।

(ग) उपमा के लक्षण में 'भेदे' पद का प्रयोग करके 'उपमालंकार' के क्षेत्र से 'अनन्वय' अलंकार को पृथक् कर दिया गया है । इसी अभिप्राय को 'भेदग्रहणम् अनन्वयव्यवच्छेदाय' कहकर व्यक्त किया गया है ।

किञ्च 'अनन्वय'–इस नामकरण से भी उक्त अभिप्राय सूचित होता है । 'अन्वयः'= सम्बन्धः । अनन्वयः=असम्बन्धः=उपमानान्तरेण असम्बन्धः । अतएव अनन्वय के लक्षण पर वृत्तिकार ने कहा है–'उपमानान्तरसम्बन्धाभावः अनन्वयः । उपमा, उपमान, उपमेय—ये तीनों संज्ञाएँ 'उप + मा' अर्थात् 'उप' उपसर्गपूर्वक परिमाणार्थक 'माङ्' धातु (जुहोत्यादि) से निष्पन्न होती हैं । अतः 'उपमा' 'उपमान' और 'उपमेय' की निरुक्ति इस प्रकार होगी—

उपमा—उप (= समीपे) मीयते (= तुल्यतया परिच्छिद्यते) उपमानेन (कर्त्रा), उपमेयं (कर्म) अस्याम् (अथवा अनया) इति उपमा ।

उपमानम्—उपमीयते अनेन इति उपमानम् ।

उपमेयम्—उपमीयते इदम् इति उपमेयम् ।

अर्थात् दो वस्तुओं को एक-दूसरे के समीप लाने पर उनमें से एक के द्वारा जहाँ दूसरी मापी जाती है वहाँ 'उपमा' होती है । उप उपसर्गपूर्वक 'माङ् माने' धातु से 'आतश्चोपसर्गे' (सू० ३।३।१०६) सूत्र से करण अर्थ में 'अङ्' प्रत्यय करने बर 'उपमा' पद निष्पन्न होता है । पंकजादि पद के समान यह 'योगरूढ' पद है । इसमें मापने वाली वस्तु को उपमान और मापी जानेवाली वस्तु को उपमेय कहा जाता है । मापने का अर्थ होता है 'तोलना' । अर्थात् 'समतोलपने' का (समानता का) बोध कराना ही 'उपमा' का कार्य है ।

जैसे—चन्द्रः इव मुखम्' में 'चन्द्र', अपने जैसा ही मुख का स्वरूप आह्लादक है—यह निर्धारित करता है । जिस विशिष्ट धर्म के कारण 'उपमान-उपमेय' की समानता प्रदर्शित की जाती है, वह धर्म, 'उपमान' में प्रकृष्टतया रहता है, और 'उपमेय' में वह धर्म, निकृष्टतया रहता है अर्थात् उपमानमें वह धर्म, अधिक रहता है, और उपमेयमें न्यून (कम) रहता है । किञ्च—उस विशिष्ट धर्म का आश्रयभूत 'उपमान', प्रसिद्ध रहता

है, अर्थात् लौकिक या शास्त्रीय प्रमाण से सिद्ध रहता है। प्रसिद्ध वस्तु के साथ तुलना करके वर्ण्यवस्तु का बोध करा देना,भाषा का काम है। उसी का प्रतिरूप यह काव्यशास्त्र की 'उपमा' है।

निष्कर्ष यह है—जो प्रकृष्ट गुण (विशिष्ट गुण) का प्रसिद्ध आश्रय, एवं अप्रकृत, और दूसरी वस्तु के वर्णन में अङ्गभूत रहता है उसे 'उपमान' समझना चाहिये, और जो निकृष्ट गुण (न्यून गुण) का अप्रसिद्ध आश्रय एवं प्रकृत और स्वयं ही वर्ण्यविषय रहता है उसे 'उपमेय' समझना चाहिये। इन उपमान–उपमेयों के समान गुण 'धर्म' के बल पर एक-दूसरे के साथ परस्पर स्थापित होने वाले सम्बन्ध को ही 'उपमा' समझना चाहिये। (तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्धः उपमा) कारिकागत 'साधर्म्यम्' में बहुव्रीहि समास है—समानः एकः, तुल्यो वा धर्मः गुण-क्रियादिरूपः ययोः (अर्थात्-उपमानोपमेययोः), तौ सधर्माणौ, तयोर्भावः 'साधर्म्यम्', अर्थात् उपमानोपमेययोः समानधर्मेण सह सम्बन्ध इत्यर्थः।

जिनका समान धर्म (तुल्य धर्म) अर्थात् गुण, क्रिया, शब्द एवं शुद्ध सामान्य-रूपत्व है, ऐसे समान धर्माओं का जो सादृश्य सम्बन्ध (उपमान–उपमेयभाव) उसीको 'साधर्म्य' कहते हैं। 'समान धर्म' शब्द से 'भाव' अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय जोड़ कर 'साधर्म्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। तब 'साधर्म्य' का अर्थ हुआ 'सादृश्य सम्बन्ध'। क्योंकि "कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन"—यह नियम महावैयाकरण भर्तृहरि ने बताया है, 'कृत्'–तद्धित एवं समास से विहित 'भाव' प्रत्यय का अर्थ 'सम्बन्ध' होता है। वह सम्बन्ध 'सादृश्य' है। इस नियम के अनुसार 'उपमान' और 'उपमेय' का 'समानधर्मप्रयोज्य' सादृश्य सम्बन्ध' ही 'साधर्म्य' शब्द का अर्थ है। उद्योतकार ने 'साधर्म्य' पद की व्याख्या की है—"साधर्म्यमिति। साधारणधर्मवत्त्वमित्यर्थः"। तत्र साधारणधर्मवत्त्वं च साधारणधर्मसम्बन्ध एव मतुब्रूपतद्धितप्रत्ययोत्तरवर्तिभावप्रत्ययस्य प्रागुक्तन्यायेन सम्बन्धबोधकत्वात्। तथा च उपमानोपमेययोर्यत्सादृश्यं तत्प्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धः उपमा इति फलितम्। अर्थात् समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा' इति। भेद रहने पर 'साधर्म्य' उपमा कहलाता है। वह हृद्य तथा उपकारक होने पर 'उपमालङ्कार' कहलाता है। यहाँ 'हृद्यत्व' के निवेश का प्रयोजन यह है कि 'गौरिव गवयः' 'घट इव पटो द्रव्यम्', 'घट इव पटो जातिमान्' 'अस्थिवद्दधिवत् कीर्तिः'—इत्यादि में 'साधर्म्य' के रहने पर भी 'हृद्यत्व' (वैचित्र्य) के न होने से 'उपमालङ्कार' नहीं कहा जाता। 'साधर्म्य' की अलौकिकता प्रदर्शित करने के लिये ही अलङ्कारशास्त्री उपमा के लक्षण में 'हृद्य', चमत्कारि, चारु, सुन्दर' इनमें से किसी न किसी विशेषण का प्रयोग अवश्य किया करते हैं।

जैसे—'चमत्कारि साम्यम् उपमा' 'यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययोः'। 'हृद्यं साधर्म्यम् उपमा' आदि। और 'उपकारकत्व' के निवेश का फल यह हैं कि "कण्ठे केवलमर्गलेवनिहिता' में उपमालङ्कार नहीं माना जाता। क्योंकि यह नियम है—'रस एवं भाव आदि के अनुगत निर्दिष्ट किये गये अलङ्कार ही 'अलङ्कारत्व' के साधन होवे हैं, अन्य नहीं'। इस नियम के अनुसार उक्त पद में 'इव' से बोध्य जो 'सादृश्य' है, वह प्रकृत 'रस' के अनुगत (अनुकूल) नहीं है, अतः अलङ्कार नहीं है। इसी तरह रूपकादि स्थल में भी रूपकादिकृत वैचित्र्य (हृद्यत्व) चमत्कारातिशय-जनकता रहने से 'उपमा' का वैचित्र्य तिरोहित हो जाता है, अतः उसे 'उपमा-लङ्कार' नहीं कहा जाता।

(घ) काव्यप्रकाशोक्त "साधर्म्यमुपमाभेदे"—इस उपमा लक्षण में 'संकेत' व्याख्या-कार माणिक्यचन्द्र ने 'उपमा + अभेदे' यह पदच्छेद किया है। और उसका निष्कर्ष बताया है कि 'ततश्च भेदाभेदप्राधान्ये उपमा इति लब्धम्'। तदनुसार उपमा का लक्षण इस प्रकार निष्पन्न—"उपमानोपमेययोः भेदे अभेदे च सति साधर्म्यम् उपमा" और यही अभिप्राय ग्रन्थकार मम्मट का है—यह समझ लिया है। प्रायः इसी प्रकार रुय्यक का भी अभिप्राय है। रुय्यक ने 'साधर्म्य' को 'भेदप्रधान' अभेदप्रधान, और उभय प्रधान' त्रिविध माना है। उन्हीं पर यथा क्रम 'व्यतिरेक' आदि, 'रुपक' आदि, और 'उपमा' आदि अलङ्कारों को आधारित बताया है "साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः"—भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्। अभेदप्राधान्यं रुपकादिवत्। द्वयोः तुल्यत्वं यथा अस्याम् (= उप-मायाम्)। यदाहुः "यत्र किञ्चित् सामान्यं कश्चिच्च विशेषः, स विषयः सदृश-तायाः" इति।

इसी सन्दर्भ में—'उपमानोपमेययोः भेदः चतुर्धा (रुय्यक पृ० २५–२६) उपात्तः, अनुपात्तः, आरोपितः, तिरोहितश्च इति। तत्र आद्ये वाच्योपमा ··· ··· ···द्वितीये व्यङ्ग्योपमा·········तृतीये अनन्वयालङ्कारः, चतुर्थे रुपकम्'—(भीमसेन, 'सुधासागर' व्याख्या)। उपमागत भेदाभेदप्रधान्य को कतिपय अन्य आलङ्कारिकों ने भी बताया है।

शंका—ननु साधर्म्यं हि सम्बन्धविशेषः, सम्बन्धश्च एकप्रतियोगिकोऽपरानुयोगिक-एव नियतः। यथा—'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र राजपुरुषयोः स्व-स्वामिभावः सम्बन्धः, तस्य च 'राजा' प्रतियोगी, 'पुरुषः' अनुयोगी तथा अत्र 'साधर्म्याख्य' सम्बन्धस्य कौ प्रतियोग्यनुयोगिनौ? उक्त व्याख्या के अनुसार 'समानधर्मप्रयोज्य 'सादृश्य' नामक सम्बन्ध ही 'साधर्म्य पदार्थ सिद्ध होता है। यह 'सम्बन्ध' द्विष्ठ अर्थात् दो में रहता है। उसका एक 'अनुयोगी' होता है और दूसरा 'प्रतियोगी' होता है। यह 'सम्बन्ध'

'जिसमें' रहता है, वह उस सम्बन्ध का 'अनुयोगी' कहलाता है, और 'जिसका' रहता है वह उस सम्बन्ध का 'प्रतियोगी' कहलाता है।

जैसे 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ पर 'राजा' और 'पुरुष' में 'स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध' है। उस सम्बन्ध का 'प्रतियोगी राजा और 'अनुयोगी' पुरुष है। क्योंकि 'राजपुरुषः' इस शब्दप्रयोग में 'राजन्' यह 'पुरुष' का विशेषण है। वह 'पुरुष' को विशेषित करता है, अर्थात् अन्यपुरुषों से उसकी पृथक्ता को बताता है। उक्त परिभाषा के अनुसार उपमान-उपमेय के लक्षण-'सादृश्य प्रतियोगि उपमानम्' और 'सादृश्यानुयोगि उपमेयम्' किये जाते हैं।

उसीतरह प्रकृत में 'साधर्म्याख्य सम्बन्ध' के 'अनुयोगी' और 'प्रतियोगी' कौन है? यह समझने के लिये 'प्रतियोगी', 'अनुयोगी' किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है। अनुयोगी, प्रतियोगी, सम्बन्ध—ये तीनों, 'दो वस्तुओं' की अपेक्षा रखते है। सम्बन्ध हमेशा दो वस्तुओं पर आधारित रहता है, एक वस्तु पर नहीं। जिन दो वस्तुओं पर 'सम्बन्ध' रहता है, उन वस्तुओं को 'सम्बन्धी' कहते हैं। 'सम्बन्ध' के ज्ञान को 'विशिष्ट ज्ञान' कहते। इस विशिष्ट ज्ञान में जो 'सम्बन्धी' विशेष्य होगा, उसे 'अनुयोगी' कहा जायगा। और जो सम्बन्धी, विशेषण होगा, उसे 'प्रतियोगी' कहा जायगा। प्रतियोग्यनुयोगिनौ सम्बन्धिविशेषौ विशिष्टबुद्धौ प्रकारतया भासमानं सम्बन्धस्य प्रतियोगीत्युच्यते, विशेष्यतया भासमानं सम्बन्धस्याऽनुयोगीत्युच्यते'। 'अनुयोगी' तथा प्रतियोगी'—ये शास्त्रीय संज्ञाएँ हैं।

शंका०—यदि जिस किसी को भी उस 'सम्बन्ध' के 'अनुयोगी' एवं 'प्रतियोगी' बना दें, तो 'कार्य' एवं 'कारण' भी उसके 'अनुयोगी' एवं 'प्रतियोगी' हो सकते हैं।

समा०—'साधर्म्य' भी एक सम्बन्ध है, उसकारण वह भी अनुयोगी-प्रतियोगी के आश्रय से रहता है। 'चन्द्र इव मुखम्' से बोधित होने वाले साधर्म्य का अनुयोगी 'मुख' और प्रतियोगी 'चन्द्र' होता है। एवं च साधर्म्यसम्बन्ध के 'साधारण धर्म'—प्रतियोगी और 'उपमान तथा उपमेय दोनों ही—अनुयोगी होते हैं। साधर्म्य और सादृश्य दोनों को एक नहीं समझना चाहिये, दोनों पृथक्-पृथक् हैं। परमानन्दचक्रवर्ती-भट्टाचार्य अपनी 'विस्तारिका' व्याख्या में बताते हैं—"सादृश्यस्य प्रतियोग्युपमानम्, अनुयोग्युपमेयम्। अस्य च साधर्म्यस्य, उपमानमुपमेयं च द्वावप्यनुयोगिनौ" इति। एवं च 'यः साधारणधर्मप्रतियोगिकः, उपमानोपमेयोभयानुयोगिकः सम्बन्धः स साधर्म्यमित्युच्यते। यश्च उपमानप्रतियोगिकः उपमेयानुयोगिकः सम्बन्धः स सादृश्यमित्युच्यते इति साधर्म्य—सादृश्ययोर्भेदः। अतएव—"सादृश्यं च साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्यो धर्मविशेषः" इति उद्योतोक्तं सादृश्यलक्षणं संगच्छते।

साधर्म्याख्य सम्बन्ध का प्रतियोगी—'साधारण धर्म' होता है, और अनुयोगी—उपमान-उपमेय दोनों ही होते हैं। चक्रवर्तीभट्टाचार्य ने विस्तारिका व्याख्या में कहा है—'सादृश्य' का प्रतियोगी—'उपमान' होता है और 'अनुयोगी'—'उपमेय' होता है। किन्तु 'साधर्म्य' के अनुयोगी—'उपमान' और 'उपमेय' दोनों ही होते हैं। यह कहने से 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् साधारण-धर्मप्रतियोगिक और उपमानोपमेयोभयानुयोगिक जो सम्बन्ध हो, उसे 'साधर्म्य' कहा-धाता है और जो, उपमानप्रतियोगिक एवं उपमेयानुयोगिक सम्बन्ध हो, उसे 'सादृश्य' कहा जाता है, यही 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' में भेद है। अतएव उद्योतकार के द्वारा किया गया सादृश्यलक्षण—'साधारणधर्मसम्बन्धप्रयोज्य धर्मविशेष ही 'सादृश्य' पदार्थ है—सङ्गत हो जाता है। एवं च सम्बन्धों के अनुयोगी एवं प्रतियोगी जिस-किसी को भी नहीं कहा जाता है। किन्तु प्रत्येक सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी, तत्तत्सम्बन्ध के अनुकूल नियत ही हुआ करते हैं। अत: 'कार्य-कारणभाव' सम्बन्ध के अनुयोगी एवं प्रतियोगी बनने वाले 'कारण' एवं 'कार्य', प्रस्तुत 'साधर्म्य'—सम्बन्ध के अनुयोगी-प्रतियोगी नहीं कहे जा सकते। अतः उनकी यहां कल्पना नहीं की जाती। किन्तु 'सादृश्य' के योग्य 'उपमान' एवं 'उपमेय' का ही नियमतः 'प्रतियोगी' एवं 'अनुयोगी' के रूप में आक्षेप किया जाता है। अतएव प्रकृत उपमा के 'लक्षण' में उनका उपादान न करना दोषावह नहीं है।

उपमालङ्कार में 'उपमान' एवं 'उपमेय' का ही 'साधर्म्य' रहता है। 'कार्य' एवं 'कारण' का 'साधर्म्य' नहीं होता। अतः भेद रहने पर 'उपमान' (प्रतियोगी) एवं 'उपमेय' (अनुयोगी) में ही रहने वाले 'समानधर्म' से 'प्रयोज्य' सम्बन्ध को 'उपमा' कहा गया है। 'समानेन धर्मेण' में 'तृतीया' का अर्थ; 'प्रयोज्य' है।

'उपमा' के लक्षण में 'भेद' पद का ग्रहण, 'अनन्वय' में अतिव्याप्ति के निवारणार्थं किया गया है। क्योंकि 'अनन्वय' में 'उपमान' को ही 'उपमेय' बनाया जाता है। अनन्वय में उपमान और उपमेय की भिन्नता (भेद) नहीं रहती है किन्तु 'उपमा' में उपमान और उपमेय भिन्न रहते हैं।

शंका—'अनन्वय' भी 'उपमा' की तरह 'सादृश्य' स्वरूप ही है, और 'सादृश्य' सर्वदा 'भेद' में ही रहता है। जब 'उपमान' को ही 'उपमेय' बनाते हैं तब वे दोनों 'एक' ही हुए। ऐसी स्थिति में उनमें 'अभेद' ही रहेगा, 'भेद' नहीं रहेगा। फलतः 'भेदघटित सादृश्य' के अभाव में 'अनन्वय' कैसा ?

समा०—'उपमा' में 'भेद' स्वाभाविक होता है। किन्तु 'नितम्बिनी सैव-नितम्बिनी'—इस 'अनन्वय' में 'भेद' कृत्रिम है। 'स्वाभाविकाद् कृत्रिममन्यदेव'।

किञ्च—'नितम्बिनी सैव नितम्बिनी'—में 'उपमा' इसलिये भी नहीं मानी जाती कि यहाँ 'साधर्म्य' में चमत्कारजनकता नही है। यहाँ तो उपमानान्तर का व्यवच्छेद प्रदर्शन करने में ही चमत्कारोत्पादकता है।

यदि कोई यह कहे कि अनन्वय में 'एक ही धर्म' रहता है, दूसरा कोई सजातीय धर्म न रहने से उसमें 'उपमा' की शंका कैसे की जा सकती है ?

इस पर समाधान यह होगा कि धर्मिभेद की तरह धर्मभेद भी काल्पनिक हो-सकता है, उस कारण सजातीय धर्म का अभाव नहीं हो सकता।' 'साधर्म्य' शब्द, आरोपित–अनारोपित साधारण समानधर्मसम्बन्धमात्रपरक रहने पर भी उपमालंकार 'अनारोपित साधर्म्य निबन्धन ही माना गया है।

इस प्रसंग में सुधासागरकार कहते हैं—"उपमानोपमेययोर्भेदश्चतुर्धा—उपात्तः अनुपात्तः, आरोपितः, तिरोहितश्चेति। तत्र आद्ये वाच्योपमा, यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्'। द्वितीये व्यङ्ग्योपमा, यथा 'उल्लास्य कालकरवालः। तृतीये अनन्वया-लंकारः, चतुर्थे रूपकम्'" इति। प्रदीपोद्योतकार ने इसका समर्थन भी किया है।

मम्मट ने कारिका में 'उपमा' का लक्षण बताते हुए किसका 'साधर्म्य—यह बताया नहीं है। उसका कारण यह है कि अलंकारशास्त्र में उपमान-उपमेय का ही साधर्म्य हुआ करता है—'उपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं भवति इति'। क्योंकि कोई भी 'कार्य-कारण' या एक ही कारण से होनेवाले अनेक कार्य (एक ही साचे से निकाली-हुई अनेक मूर्तियाँ) अथवा एक ही जाति की व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होनेवाले साधर्म्य-की विवक्षा कोई भी नहीं करता 'न तु कार्य-कारणादिकयोः'। विवक्षा न करने का कारण यह है कि 'कार्यकारण आदि' में दृष्टिगत होनेवाला 'साजर्म्य' लौकिक है, किन्तु काव्यगत वस्तुओं में अवगत होनेवाला 'साधर्म्य' अलौकिक रहता है। अतएव 'काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म' तथा 'वैचित्र्यं च अलंकारः' कहा गया है। तन्तुओं का रंग, वस्त्रों में उतरता है, अग्नि में परिपक्व हुए सभी घट, कृष्णवर्ण और खनखन बोला करते हैं, मुद्रित पुस्तकों की प्रतियाँ, पेड़ों के पुष्प, पत्तियाँ एक-दूसरे के सदृश (समाव) रहती है, गोएँ,भैंसें एक-दूसरे जैसी हुआ करती हैं—यह साधर्म्य 'नियति-कृत नियम' के अनुसार होनेवाला और लोगों को सहजतया प्रतीत होनेवाला रहता है। उसे बताने के लिये किसी कवि की या काव्य की आवश्यकता नहीं होती। एक गाय दूसरी गाय जैसी ही होती है—यह कहने से काव्य का कौन सा प्रयोजन निष्पन्न होना है ? अतएव उद्भट ने (१।१५ वृत्ति) में कहा भी है—"गौः इव अयं गौः' इत्यभिधाने तु न प्रवृत्तिनिमित्तभेदः, गोत्वस्य एकस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्। तेन एवंविधः, उपमानोप-मेयभावः न भवति"। किञ्च लौकिक साधर्म्य को ही बताना होता तो 'शक्ति, निपुणता,

अभ्यास' की क्या आवश्यकता है ? एवंच कार्य-कारणादिकों में रहनेवाला 'साधर्म्य' उत्तान (सहज) प्रतीत होनेवाला, कहने-सुनने से फलपद न होनेवाला होता है। अतः 'लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म' रूप काव्य में उससे कोई किसी प्रकार की प्रयोजन-निष्पत्ति नहीं हो पाती। परिशेषात् उपमान-उपमेय का ही साधर्म्य, 'काव्य' में उपपन्न होने योग्य है। उसकारण शब्दशः कारिका में निर्देश न करने पर भी सहजगत्या उसकी प्रतीति हो जाती है। एवंच बाग्देवतावतार श्रीमम्मटनिर्मित, 'उपमालक्षण' सर्वथा निर्दुष्ट है।

काव्यप्रकाशकार ने 'उपमा के लक्षण' में 'साधर्म्य'—शब्द का प्रयोग किया है, 'सादृश्य' पद का नहीं। अनेक व्याख्याकारों ने लक्षणगत 'साधर्म्य' पद की उपयोगिता का समर्थन किया है। किन्तु कतिपय व्याख्याकारों ने 'साधर्म्य' को 'सादृश्य' का पर्याय माना है। वस्तुतः काव्यप्रकाशकार मम्मट 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' को एकार्थक नहीं मानते, अपितु दोनों का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है।

'सादृश्य' का अभिप्राय है 'समान दीखना' और 'साधर्म्य' का अभिप्राय है—'समान गुणों' का रहना। दो वस्तुओं के समान दीखने में कारण है— उनमें समान गुणों का रहना। अर्थात् 'सादृश्य' का मूल, 'साधर्म्य' है। 'चन्द्र' और 'मुख' का 'सादृश्य सम्बन्ध' होने पर 'चन्द्रसदृशं मुखम्' यह फलितार्थ होगा। 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्'—वह शास्त्रीय लक्षण सादृश्य का कहा गया है। किन्तु यह लक्षण 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' को पर्याय मानकर किया गया है। इन दोनों शब्दों का पर्याय के रूप में प्रयोग प्रायः किया जाता है। नैयायिकों के मत से साधर्म्य और सादृश्य में कोई भेद नही है। किन्तु वैयाकरण और आलङ्कारिक विद्वान् 'साधर्म्य' से 'सादृश्य' को भिन्न मानते हैं।

'सादृश्य' एक अतिरिक्त पदार्थ होने के कारण 'अनेन अयं सदृशः'—यह इसके सदृश (समान) है। यह कहते समय मन में यह जिज्ञासा होती है कि 'केन धर्मेण अनयोः सादृश्यम्'—दोनों में जो 'सादृश्य' है, वह किन धर्मों के कारण है ? अर्थात् दो पदार्थों के 'सादृश्य' में उनका 'साधर्म्य' (उनका परस्पर समान अर्थात् साधारण धर्म से सम्बन्ध) 'प्रयोजक' रूप से अवगत होता है। 'न तु को धर्मः अनयोः सादृश्यम्'—इन दोनों में कौन सा धर्म है, जिसे 'सादृश्य' कहा जा रहा है, ऐसी जिज्ञासा मन में नहीं होती है। अतएव 'क्षमया पृथ्वीसदृशः', 'धर्मतः सादृश्यम्'—इत्यादि प्रयोग, सरल तथा उपपन्न हो जाते हैं। 'व्यञ्जकधर्मभेदात् निरूपकभेदाच्चभिन्नं तद् भवति'—व्यञ्जक धर्म के भेद से,आश्रय के भेद से,निरूपक के भेद से वह सादृश्य भी भिन्न-भिन्न होता है। अतएव उद्योतकार ने कहा है—'सादृश्यं च साधारणधर्म-प्रयोज्यो धर्मविशेषः' अर्थात् दो पदार्थों का (उपमान और उपमेय का) जो परस्पर

'सादृश्य' है, वह उनका अपना विशेष धर्म है, जो उनमें साधारण धर्म के रूप में अनुगत रहता है।

काव्यप्रकाशकार का कहना है कि साधारण धर्म के रूप में अनुगत रहने के कारण सादृश्य की प्रतीति होती है। अर्थात् 'साधारणधर्म सम्बन्ध' सादृश्य प्रतीति कराने में प्रयोजक है। साधारणधर्मसम्बन्ध स्वयं 'सादृश्यरूप' नहीं है। अन्यथा 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (पा. सू. २।१।५५) सूत्रस्य भाष्य में किया गया शंका—समाधान संगत नहीं हो सकेगा।

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी 'तुल्ययोगितालंकार' के प्रसंग में कहा है—"औपम्यं चात्र गम्यं तत्प्रयोजकस्य सामानधर्मस्य उपादानात्, वाचकाभावाच्च। अतएव आलंकारिकाणामपि सादृश्यं पदार्थान्तरम्,न तु साधारणधर्मरूपम् इति विज्ञायते। अन्यथा औपम्यस्यात्र गम्यत्वोक्तेरनुपपत्तेः"।

काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्टकृत 'उपमालक्षण' पर रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का आक्षेप—उनका कहना है कि 'भेद के रहते समान धर्म से प्रयोज्य 'सादृश्य' उपमा है'—यह काव्यप्रकाशोक्त 'उपमालक्षण' मनोरम नहीं है। क्योंकि इस लक्षण को 'निष्कलंकं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते' से जुड़े 'व्यतिरेक' अलंकार में (निषेधप्रतियोगी सादृश्य में) अतिव्याप्ति हो रही है।

यदि यह कहें कि 'साधर्म्य' में 'पर्यवसितत्व' विशेषण जोड़ देंगे, अर्थात् ऐसा 'साधर्म्य' लेंगे जो 'पर्यवसित' होता हो (सम्पन्न होता हो)। तब व्यतिरेकघटक 'सादृश्य' नहीं लिया जायगा, क्योंकि वह 'निषिध्यमान' होने से 'पर्यवसित' नहीं हो पाता है। अतः लक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि व्यतिरेक अलंकार में भी 'उपमान-उपमेय' का भेद विद्यमान रहते हुए उनका 'साधर्म्य' अनुभूत होता है। उसपर यदि यह कहें कि 'उपमा में साधर्म्य का पर्यवसान स्वयं में ही (साधर्म्य में ही) होता है, किन्तु व्यतिरेकालंकार में साधर्म्य का पर्यवसान, वैधर्म्य में होता है'—उसकारण उपमालक्षणगत 'साधर्म्य' पद से ही 'व्यतिरेकालंकार' की व्यावृत्ति हो जाती है। अतः व्यतिरेक में उपमालक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

उस पर पण्डितराज का कहना है कि 'अपर्यवसायी' होने से व्यतिरेक के लक्ष्य में 'उपमालक्षण' की अतिव्याप्ति नहीं होगी और इसी 'अपर्यवसितत्व' के कारण 'अनन्वय-घटक सादृश्य' का भी वारण हो जायगा। ऐसी स्थिति में 'अनन्वय' में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'उपमालक्षण' में 'भेद' विशेषण देना व्यर्थ है। लक्षण में 'भेद' के निवेश की कोई आवश्यकता नहीं है। पण्डितराज के कहने का तात्पर्य यह है कि उपमालक्षणगत-'साधर्म्य' पद से ही 'व्यतिरेक' की व्यावृत्ति मान लेने पर उसी 'साधर्म्य' पद से 'अनन्वय अलंकार' की व्यावृत्ति हो जायगी, क्योंकि अनन्वय में 'साधर्म्य' का पर्यवसान,

द्वितीय सदृशवस्तु के व्यवच्छेद में है। तब अनन्वय की व्यावृत्ति के लिये 'भेदे' इस पद को भी क्या आवश्यकता है?

किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'सादृश्य' वह पदार्थ है,जो 'स्व-सदृश' अनेक (भिन्न-भिन्न) पदार्थों में रहता है। जहाँ 'भेद' रहेगा, वहीं पर 'सादृश्य सम्बन्ध' रहेगा'—यही 'सादृश्य' का स्वरूप है। अतः 'सादृश्य प्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धः उपमा'—लक्षण में 'सादृश्य' पद का उपन्यास कर देने से 'सादृश्य' के स्वरूप में निविष्ट 'भेद' की स्वतः प्राप्ति हो जाती है, तो भी काव्यप्रकाशकार ने 'उपमालक्षण' में 'भेदे' पद का उल्लेख जो किया है, उसका अभिप्राय यह है कि जो 'असत् सादृश्य' है, उसे 'उपमा' में स्वीकार नहीं किया जाता। क्योंकि 'असत्' का अर्थ है—जिसकी सत्ता न हो (जो अविद्यमान हो)। इस प्रकार से 'सादृश्य' का निषेध कर दिया गया है। अर्थात् कल्पित (कल्पनाप्रसूत) अथवा 'संभाव्यमान' जो 'सादृश्य' है, वह 'उपमा' के बहिर्भूत है, इस प्रकार का 'सादृश्य' होना 'उपमा' का स्वरूप नहीं है। फलतः 'व्यतिरेक' में अतिव्याप्ति नहीं है। अतः 'अनन्वय' में अतिव्याप्ति के वारणार्थं 'भेदे' विशेषण की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। एवंच 'भेदे' विशेषण देना व्यर्थ नहीं है।

किञ्च—काव्यप्रकाशकार की लेखनशैली सूत्रात्मक है। किन्तु आक्षेपकर्ता उस बात को भूल जाते हैं; उसकारण उन्हें उपमालक्षण की अतिव्याप्ति अन्य अलंकारों में आपाततः दिखाई देती है। किन्तु तत्तत् अलंकारों के लक्षणों से ही उन अतिव्याप्तियों-का परिहार हो जाता है। जैसे—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"—उपमान की अपेक्षया उपमेय की अधिकता बताना—यही तो 'व्यतिरेक' का व्यवच्छेदक लक्षण है। इस लक्षण से ही यह प्रतीत हो जाता है कि 'उपमेय की अधिकता जिसमें नहीं रहती वह 'उपमा' होती है। एवंच तत्तल्लक्षणों से ही अतिव्याप्ति की संभावना दूर हो जाती है। तदनुसार उपमालक्षण भी आक्षेपकों के सन्तोषार्थ किया जा सकता है—"व्यतिरेकभिन्नत्वे सति भेदे साधर्म्यम् उपमा" इति।

इस पर यदि कहेंकि अनन्वय की भी व्यावृत्ति उसके (अनन्वय के) लक्षण से ही हो जायगी, तब उपमालक्षण में अनन्वय की व्यावृत्ति के लिये 'भेदे' पद देने की क्या आवश्यकता हैं?

इसका समाधान इस प्रकार होगा कि अनन्वय के लक्षणगत 'एकस्य एव' कहने से 'उपमान-उपमेय' का भेद बता दिया जाता है, उसी तरह 'एकवाक्यगे' पद से 'उपमा' का साकार होना अनेक वाक्यों के सहारे बनपाता है, यह भी प्रकट हो ही जायगा। इस आपत्ति के कारणार्थ अनन्वय से उपमा की पृथक्ता जिस कारण से है, उसे प्रत्यक्ष शब्दप्रयोग के द्वारा स्पष्ट बतादेना ग्रन्थकार ने समझा होगा, इसलिये उन्होंने 'भेदे' पद को लक्षण में कहा है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने "त्वयि कोपोऽयमाभाति सुधांशाविव पावकः" तथा "स्तनाभोगे पतन् भाति" में जो 'उपमा' का होना बताया है वह बालक्रीडाकार के मत-से उचित नहीं है। क्योंकि पण्डितराज जगन्नाथ स्वयं कहते हैं—'कवि ने अपनी इच्छा से संभावना करके पदार्थों की कल्पना की है, उसकारण 'साम्य' कल्पित है।

अतः 'संभावित' एवं 'असत् साम्य' को 'उपमा' नहीं कहा जाता। इसलिये उन्होंने 'भेदे' पद को लक्षण में कहा है। बालक्रीडाकार का कथन, चिन्तनीय प्रतीत हो रहा है-क्योंकि 'सत्' तथा 'असत्' भी उपमानादिचतुष्टय, 'वाच्य' और 'प्रतीयमान' भी होता है। अतएव 'त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः' इत्यादि में 'सुधांशु' में 'पावक' के 'असत्' रहने पर भी उपमानत्व की सिद्धि मानी जाती है। तथा कमलमिव मुखम्' इत्यादि लुप्तोपमा में साधारण धर्म, प्रसिद्ध रहने के कारण अनुपात्त होने पर भी 'उपमा' की सिद्धि मानी जाती है।

काव्यप्रकाशकार के उपमालक्षण में 'भेदे' विशेषण के देने से उपर्युक्त उदाहरणों में 'उपमा' का वारण हो जाता है। अतः 'कल्पित' या 'संभावित सादृश्य' के रहने पर 'उपमा' नहीं कही जाती। रसगंगाधरकार ने 'उपमा' का जो लक्षण—"सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः" किया है, वह भी बालक्रीडाकार के मत से उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। इस लक्षण में 'सुन्दर', 'वाक्यार्थ' एवं 'उपस्कारक' ये 'तीन पद' हैं, जो 'पुनरुक्त' हो रहे हैं। क्योंकि दोनों विशेषण 'अलंकार के स्वरूप' में ही आ जाते हैं। अन्यथा पण्डितराज जगन्नाथ बार-बार अलंकारों के सामान्य लक्षण लिखकर "हृद्यत्वमुपस्कारकत्वं तु अलंकारसामान्यलक्षणायातम्"—न लिखते। अलंकार वही है, जो सहृदयों को चमत्कृत कर देता है, अर्थात् उनके हृदय को स्पर्श करता है और अलंकार्य को उपस्कृत करता है।

किञ्च अलंकार्य, 'वाक्यार्थ' ही हो'—यह कोई नियम नहीं है। अलंकार्य 'वाच्यार्थ' भी हुआ करता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं कहा है—"अमृतद्रवमाधुरीमृतः" में 'नयनशिशिरीकरणरूप 'वाच्यवस्तु' की उपस्कारिका 'शरदिन्दुपमा' है। वह 'वाक्यार्थ' की उपस्कारिका नहीं है। अतः रसगंगाधरोक्त 'उपमालक्षण' चिन्तनीय प्रतीत होता है।

इसीतरह अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक ने जो उपमालक्षण—"उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा,"—किया है, और उस लक्षण से 'उपमानोपमेययोः' पद का समर्थन किया है। वह भी बालक्रीडाकार के मत से चिन्तनीय प्रतीत हो रहा है।

क्योंकि सर्वस्वकार 'प्राप्त उपमान एवं उपमेय' के बोधक पदों का उपादान, 'अप्रतीत उपमान एवं उपमेय का निषेध करने के लिये कर रहे हैं।

इस पर बालक्रीडाकार का कहना है कि जो वस्तु 'अप्रतीत' (अज्ञात) हो उसका निषेध तो 'गर्भस्रावेण गलितम्' के समान है। क्योंकि प्राप्ति होसे पर ही निषेध किया जाता है। प्राप्ताऽप्राप्तविवेक न्याय से अप्रतीत 'विधेय' तो हो सकता है, किन्तु निषेध्य नहीं होता। अतः यह लक्षण भी इस अंश में चिन्त्य है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उपमा के लक्षण में ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे उपमा,अपने आप ही अन्य अलंकारों से पृथक् प्रतीत हो जाती है। दर्पणकार-का उपमालक्षण इस प्रकार है—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैके उपमा द्वयोः'। और उसका विवरण उसी ने इस प्रकार किया है—'रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्यापि उक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये तु एकस्यैव साम्योक्तिः इति अस्या भेदः'। उपमा को अन्य अलंकारों से पृथक् करनेवाले उसके इन विशेषों को ध्यान में रखना आवश्यक है। 'प्रतीप' अलंकार के दूसरे प्रकार में उपमा जैसा ही 'साधर्म्य रहता हैं, 'भेद' भी रहता है, किन्तु उसमें प्रसिद्ध उपमान को ही उपमेय (निकृष्टगुण) मान कर उसका अधिक्षेप किया जाता है। 'चन्द्रः इव मुखम्' यह उपमा है। और 'मुखम् इव चन्द्रः'—यह प्रतीप है।

बालक्रीडाकार ने साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के 'उपमालक्षण' को भी चिन्तनीय बताया है। दर्पणकार ने उपमा का लक्षण—"वाच्यं साम्यमवैधर्म्यं वाक्यैके उपमा-द्वयोः"—किया है ' इसमें 'वाच्यम्' पद का उपन्यास चिन्तनीय है। क्योंकि 'वाच्यम्' पद का उपन्यास करने पर अव्याप्ति होगी।

दर्पणकार ने 'उपमा के 'श्रौती' और 'आर्थी' दो भेद किये हैं। उनमें से जहाँ 'श्रौत (श्रुतिजन्य बोधविषय) वाच्य का साम्य' होगा, वहीं पर उक्त लक्षण घटित होगा, किन्तु जहाँ 'श्रौत वाच्यसाम्य' नही होगा, किन्तु 'आर्थसाम्य' रहेगा, वहाँ उक्त लक्षण घटित नहीं होगा, तब अव्याप्ति होगी। ऐसी स्थिति में उक्त 'दो भेद' नहीं बन पायेंगे। अतः यह लक्षण चिन्तनीय है।

अलंकार-रत्नाकरकार ने उपमालक्षण के द्वारा "प्रसिद्धगुणवाले के साथ अप्रसिद्ध गुण-वाले के सादृश्य को उपमा" कहा है।

किन्तु यह लक्षण भी चिन्तनीय है। यहाँ पर बालक्रीडाकार का कहना है कि 'उपमा' में 'मा' शब्द का अर्थ 'परिमाण' है। वह दो तरह का होता है—एक 'पूर्ण' और दूसरा 'अपूर्ण' (अधूरा)। जैसे एक सेर 'बाट' का गुण 'एक सेरपना' प्रसिद्ध है। उससे 'गेहूँ-चावल' आदि का परिमाण जहाँ किया जाता है, वहाँ पर परिमाण सबके लिये समान रूप से माना हुआ 'परिमाण' है, उसे 'पूर्णपरिमाण' कहा जाता है। और जहाँ 'परिमाण' के समीप पहुँचना चाहते हैं (अर्थात् पहुँचे नहीं हैं)। वह 'अपूर्ण' (अधूरा) परिमाण कहलाता है।

जैसे—'यह मुख,चन्द्र' के जैसा आकर्षक है'–यह कहने पर भी वह विरक्त संन्यासी के लिये आकर्षक नहीं होता, किन्तु नायक के लिये मुख में रहनेवाला आकर्षकगुण, आकर्षक रहता है, अतः वह आकर्षकत्व गुण पृथक् ही है और पिता-माता-भाई-पुत्र-कन्या आदि के लिये जो आकर्षकत्व गुण है, वह पृथक् है। अर्थात् मुख का वह आकर्षकत्व सबके लिये एकसा नहीं है। अतः वह अपूर्ण (अधूरा) है। और 'कमल के समान मुख सुरभि है'—इसमें दोनों समान नहीं है,—क्योंकि 'मुख' में 'सौरभ' कहाँ है ? फिर भी उसे 'सुरभि' कहते हैं। तथा 'सकल-कल'इत्यादि श्लेषमूलक उपमा के उदाहरणों में 'श्लिष्ट सकलकल' शब्द, उपमेय (पुर) में और उपमान (सुधांशु) में प्रसिद्ध है। 'पुर' में 'कलकल सहितत्व' है, और 'सुधांशु' में 'कलासाकल्य' है। अतः लक्षण में 'अप्रसिद्ध गुण एवं प्रसिद्ध गुण'—(विशेषणों) का उपादान करना व्यर्थ है।

यह 'उपमा' कवि की व्यक्तिगत विशेषता पर निर्भर रहती है। यदि कवि रागी-रसिक हो तो वह किसी स्त्री के स्वरूप एवं स्वभाव का वर्णन, अपने रसिकस्वभाव के अनुसार ही करेगा। जैसे—

"अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः। रतेरिव निधानानि योषितः केन निर्मिताः"।

यदि कवि वीतराग (विरक्त स्वभावका) होगा, तो वह किसी 'स्त्री' का वर्णन इस प्रकार करेगा—

"एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्थहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्या श्मशानसुमना इव वर्जनीया"॥

यदि कवि, तटस्थ (उदासीन) स्वभाव का हो तो वह किसी स्त्री का वर्णन इस प्रकार करेगा—

"दर्शनादेव नटवद् हरन्ति हृदयं स्त्रियः। सुविश्वस्तेऽप्यविश्वस्ता भवन्ति च चरा इव"॥

उपमा का प्रभाव–अर्थालंकारों में से यह उपमालंकार अत्यधिक सुन्दर(सुकुमार), प्रसिद्ध, लोकप्रिय एवं अनेक अलंकारों का मूलभूत है। अतएव अलंकारशास्त्रियों ने अलंकार विवेचन का आरंभ 'उपमा' से ही किया है। उपमा के विषय में राजशेखर का मन्तव्य, केशवमिश्र ने 'अलंकारशेखर में उद्धृत किया हैं—"अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्। उपमा कविलोकस्य मातैवेति मतिर्मम"॥ अप्पय दीक्षित ने उपमा को अनेक अलंकारों का मूल समझकर ही उसे काव्य के रंगमंच पर विविध प्रकार की भूमिका को धारण कर रसिकों को सन्तुष्ट करनेवाली नटी कहा है—

"उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्। रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः"

—(चित्र मी.)

तथा उपमा का प्राणभूत तत्त्व सुरक्षित रखकर उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से बताकर बीस-बाईस अलंकार कैसे साकार हो जाते हैं, उन्हें एक ही उदाहरण में घुमा-फिराकर

(उपमाया भेद-प्रभेदाः—१ पूर्णोपमायाः षट् प्रकाराः)

(१२६) पूर्णा लुप्ता च ।

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा, एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता ।

दिखाया है। उसके देखने से 'एकविज्ञानेन सर्वंविज्ञानम्'—इस औपनिषद तत्त्वज्ञान की प्रतिज्ञा, ब्रह्मज्ञान के समान उपमाज्ञान में लागू होती है, यह स्पष्ट हो जाता है—"तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात् । ज्ञातं भवतीत्यादौ निरुप्यते निखिलभेदसहिता सा" ॥—(चित्र मी.) ।

उपमा का घुमाव-फिराव—'चन्द्रः इव मुखम्'–(उपमा) । 'चन्द्रः इव मुखम्, मुखम् इव चन्द्रः—(उपमेयोपमा) । 'मुखं मुखमिव'—(अनन्वय) । 'मुखम् इव चन्द्रः'-(प्रतीप) । 'चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि'--(स्मरण) । 'मुखम् एव चन्द्रः'-(रूपक) । 'किमिदं मुखम् उताहो चन्द्रः—(ससन्देह) । 'चन्द्रः इति चकोराः त्वन्मुखम् अनुधावन्ति'—(भ्रान्तिमान्) । 'चन्द्रः अयम्,न मुखम्'—(अपह्नुति) । 'नूनं चन्द्रः'—(उत्प्रेक्षा) । 'चन्द्रः अयम्'—(अतिशयोक्ति) । 'मुखेन चन्द्र-कमले निर्जिते'—(तुल्ययोगिता) । 'निशि चन्द्रः त्वन्मुखं च हृष्यति'—(दीपक) । त्वन्मुखे एव अहं रज्यामि, चन्द्रे एव चकोरः रज्यते'—(प्रतिवस्तूपमा) । 'दिवि चन्द्रः, भुवि त्वन्मुखम्'–(दृष्टान्त) । 'मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्ति'—(निदर्शना) । 'निष्कलङ्कं मुखं, चन्द्रात् अतिरिच्यते'—(व्यतिरेक) । 'त्वन्मुखेन समं चन्द्रः निशासु हृष्यति'—(सहोक्ति) । 'मुखं नेत्राङ्कुरुचिरं स्मितज्योत्स्नोपशोभितम्—(समासोक्ति) ।—इन सभी उदाहरणों में प्रस्तुत विषय 'रमणी का मुख' है ।

(उपमा के 'पूर्णा और 'लुप्ता' दो भेद)

(सूत्र १२६) पूर्ववर्णित 'उपमा' (१) पूर्णोपमा और 'लुप्तोपमा' दो प्रकार की होती है ।

उपमानोपमेयेति । (१) उपमान, (२) उपमेय, (३) साधारण धर्म और (४) उपमावाचक 'इव' आदि पद—इन 'चारों का ग्रहण किये जाने पर 'पूर्णा उपमा' और इन चारों में से 'एक' या 'दो' या 'तीन' का लोप होने पर 'लुप्ता' उपमा होती है। अर्थात् जहाँ 'उपमान', 'उपमेय', 'साधारणधर्म' और 'उपमावाचक शब्द'—ये चारों अंग स्पष्टतया निर्दिष्ट रहते हैं, उसे 'पूर्णोपमा' (पूर्णावयवा) कहा जाता है । और जहाँ उक्त चारों अंगों में से 'एक' अथवा 'दो' या 'तीन' अंगों का निर्देश नहीं किया जाता, उसे 'लुप्तोपमा' (लुप्तावयवा) कहते हैं ।

विवरण—'उपमा' के घटक चार होते हैं—(१) उपमान, (२) उपमेय, (३) साधारण धर्म, (४) उपमावाचक शब्द। जैसे 'चन्दः इव मुखं रमणीयम्'—में चन्द्र'—उपमान है, और 'मुख'—उपमेय है, 'रमणीयता'—साधारण धर्म है। और 'इव'—उपमावाचक शब्द है। 'उपमान' तथा 'उपमेय' में जिन गुणों की तुलना करनी होती है, वह उनका साजारण (दोनों में समान रूप से रहनेवाला) धर्म कहलाता है। दोनों में उस धर्म की समानता का बोध करा देनेवाले 'यथा', 'इव' आदि शब्दों को उपमावाचक शब्द कहते हैं। महाकवि दण्डी ने उपमावाचक शब्दों का सङ्ग्रह इस प्रकार किया है—

'इव वद्वा यथा शब्दाः समाननिभसंनिभाः।
तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥
प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिनः ।
सदृक्सदृशसंवादिसजातीयानुवादिनः ॥
प्रतिबिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमसंमिताः ।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमाः ॥
कल्पदेशीयदेश्यादिः प्रख्यप्रतिनिधी अपि ।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये चान्यूनार्थवादिनः ॥
समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु ।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ॥
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति ।
विडम्बयति सन्धत्ते हसतीर्ष्यत्यसूयति ॥
तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्ति विलुम्पति ।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति ॥
तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते ।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति ॥
तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः' ॥

(दण्डी का०द० २।५७-६५)

'सादृश्यसूचकाः' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'अभिधालक्षणाव्यञ्जनामर्यादया सादृश्यबोधकाः। तत्र 'इवादयो' वाचकाः। तत्रापि 'यथेवादिशब्दप्रयोगे साधर्म्यं वाच्यम्············तुल्यास्सदृशादिपदानां प्रयोगे साधर्म्यम् आर्थम्।··· ···स्पर्धते इत्यादयः लक्षकाः। तस्य मुष्णाति सौभाग्यम्'—इत्यादीनि वाक्यानि तु व्यञ्जकानि'।

(१२७) साऽग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ ८७ ॥

अग्रिमा पूर्णा ।

यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा ।

'पूर्णोपमा' में उक्त चारों घटक साक्षात् उपस्थित रहते हैं। अर्थात् उनमें से कोई घटक अध्याहृत नहीं रहता है। किन्तु 'लुप्तोपमा' में उक्त चारों में से एक, दो या तीन घटक (अवयव = अंग) अनुपस्थित रह सकते हैं, अर्थात् साक्षात् शब्दोपात्त न रहने पर भी (शब्द से न कहे जाने पर भी) अर्थपूर्ति के निमित्त उनका अध्याहार किया जाता है। लुप्तोपमा में किन्हीं भी तीन घटकों का लोप नहीं होता, किन्तु उपमेय के अतिरिक्त शेष तीन का लोप होता है। 'उपमेय' का लोप उपमा के पच्चीस प्रकारों में से केवल एक ही प्रकार (२४वें) में होता है। 'उपमा' के पूर्णा और लुप्ता—इन मूलभूत दो भेदों के अनेक अवान्तर भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा के ६ और लुप्तोपमा के १९ अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार उपमा के कुल प्रकारों की संख्या २५ तक पहुँची है। एवंच 'पूर्णा' उपमा तु सर्वावयवा, लुप्ता च अनुपात्तयत्किञ्चिदङ्गा'। चक्रवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने जो कहा है कि "उपमानादीनां चतुर्णां मध्ये त्रयाणामुपमानेतरेषामिति तत्रैव वक्ष्यामः। लोपे अनुपादाने। तच्च क्वचित् न्यायकृतम् क्वचन आनुशासनिकमिति यथायथं दर्शयिष्यामः" यहाँ 'त्रयणामुपमानेतरेषाम्'—यह कथन चिन्तनीय प्रतीत हो रहा है। क्योंकि आगे सूत्र १३४ की वृत्ति "त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम्"—के साथ विरोध का प्रसंग प्राप्त होगा।

(पूर्णोपमा १–६)

साऽग्रिमेति। पूर्वोक्त 'पूर्णा और लुप्ता'—इन दो में से पहली 'पूर्णा' के छह विभाग कर रहे हैं।

पूर्वोक्त दो में से पहली अर्थात् 'पूर्णोपमा'—'श्रौती और आर्थी'—दो प्रकार की होती हैं। उन दोनों में से प्रत्येक के 'वाक्यगत', 'समासगत' तथा 'तद्धितगत'—ये तीन भेद होते हैं। अर्थात् 'पूर्णोपमा' ३ × २ = ६ प्रकार की होती है। कारिकागत 'अग्रिमा' शब्द का अर्थ—'पूर्णा' है।

यथेववादिशब्दा इति। यथा, इव, वा इत्यादि शब्द, जिसके आगे प्रयुक्त किये जाते हैं, उसी की उपमान के रूप में प्रतीति होती है। उस कारण यद्यपि ये 'यथा, इव, वा' आदि शब्द 'उपमान' के विशेषण प्रतीत होते हैं, फिर भी 'शब्दशक्ति' की

तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

'तेन तुल्यं मुख'मित्यादावुपमेये 'एव तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव 'इदं च तच्च तुल्य'मित्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्य-पर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात्तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी ।

महिमा से वे 'षष्ठी' विभक्ति के समान, श्रवण-समकाल (तत्काल) ही 'सादृश्य'-सम्बन्ध का प्रतिपादन कर देते हैं । अतः उन शब्दों का प्रयोग रहने पर 'श्रौती'(वाच्य) उपमा होती है ।

तथैवेति । उसी प्रकार 'तत्र तस्येव'—(पा. सू. ५।१।११६) सूत्र से 'इव' के अर्थ में (सादृश्यप्रयोजक साधारणधर्मसम्बन्धरूप अर्थ में) षष्ठ्यन्त अथवा सप्तम्यन्त पद से विहित 'वति' प्रत्यय का उपादान करने पर 'तद्धितगत श्रौती' उपमा होती है ।

तेन तुल्यं मुखमिति । 'तेन तुल्यं मुखम्'—उस कमल के समान मुख है—यहाँ पर उपमावाचक 'तुल्य' पद का सम्बन्ध, मुखरूप 'उपमेय' में ही प्रतीत होता है । और 'तत् तुल्यमस्य'—वह कमल इस मुख के तुल्य है–इत्यादि उदाहरणों में उपमावाचक 'तुल्य' पद का सम्बन्ध कमलरूप 'उपमान' में ही प्रतीत होता है । और इदं च तच्च तुल्यम्'—यह कमल तथा वह मुख समान है–यहाँ मुख तथा कमल दोनों के साथ सम्बन्ध में 'तुल्य' आदि पदों की विश्रान्ति होती है । अतः साधारणधर्म' के सम्बन्ध का विचार करने पर ही 'तुल्यता' (तुल्ययोर्भावः) की प्रतीति होती है । उसकारण 'तुल्यादि' पदों के प्रयोग में 'साधर्म्य', इव आदि शब्दों के समान वाच्य न होकर 'आर्थ' होता है । इसलिये 'तुल्यादि' पदों के प्रयुक्त होने पर आर्थी उपमा होती है । अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की उपमा में जो 'तुल्य' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उससे 'साधर्म्य' की प्रतीति, साक्षात् नहीं होती, किन्तु 'आक्षेपगम्य' हुआ करती है । क्योंकि—'तेन तुल्यं मुखम्'—में 'तुल्य' शब्द, केवल 'उपमेय' (मुख) का ही निर्देश करता है '

'तत्तुल्यमस्य'—में 'तुल्य' शब्द,केवल 'उपमान' (कमल) का ही निर्देश करता है ।

'इदं च तच्च तुल्यम्'—में 'तुल्य' शब्द, 'उपमान' और 'उपमेय' दोनों का निर्देश करता है ।

इन उदाहरणों से यह समझ में आता है कि 'साधर्म्य' (साधारण धर्मरूप सम्बन्ध) का अनुसन्धान करने के पश्चात् ही 'तुल्यता' (सादृश्य) की प्रतीति होती है । एवंच 'साधर्म्य' का प्रतिपादन किसी 'शब्द' से नहीं किया गया है, वह 'अर्थलभ्य' रहता है । उस कारण ऐसी उपमा को 'आर्थी' कहा जाता है ।

तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिरि'त्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ ।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चे'ति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा ।

तद्वदिति । उसी प्रकार "तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः"—(पा० सू० ५।१।११५) सूत्र से क्रियामात्र के साम्य में ('तुल्य' के सामान्य सादृश्यरूप अर्थ में) तृतीयान्त से विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग करने पर भी (आर्थी उपमा) होती है ।

वाक्यगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा—

इवेनेति । "सह सुपा"—(पा० सू० २।४।७१) सूण पर दिये गये महाभास्य में कात्यानकृत वार्तिक—"इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च"—से 'इव' के साथ 'उपमान' पद का 'नित्य समास' होने पर 'विभक्ति' का अलोप (लोप नहीं) होता है और पूर्वपद में प्रकृतिस्वरत्व होता है, अर्थात् पूर्वपद में 'प्रकृतिस्वर' होता है । 'प्रकृतिस्वर' का अभिप्राय यह है कि 'समास' न करने की दशा में जो स्वर था, वही 'स्वर', समास करने पर भी होगा । इस वार्तिक के अनुसार 'इव' शब्द के योग में समास होने पर 'समासगा श्रौती' और 'तुल्य' आदि पदों के साथ समास होने पर 'आर्थी समासगा' उपमा कहलाती है ।

विवरण—(सूत्र १२७) साऽग्रिमेति । 'सा' = उपमा, 'अग्रिमा'=पहली । पूर्वोक्त 'पूर्णा' और 'लुप्ता' इन दो प्रकारों में से पहली, अर्थात् 'पूर्णा' । 'अग्रिमा सा' = पूर्णा उपमा । यह 'पूर्णा उपमा', श्रौती और आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है । 'इव', 'यथा' इत्यादि शब्दों से जिसका बोध कराया जाता है, उसे 'श्रौती' कहते हैं, तथा 'तुल्य', 'सदृश' इत्यादि शब्दों से जिसका बोध कराया जाता है, उसे 'आर्थी' कहते हैं । 'श्रौती' और 'आर्थी' में से प्रत्येक के तीन प्रकार होते हैं—'वाक्यगत', 'समासगत' और 'तद्धितगत' । 'वाक्यगत उपमा' उसे कहते हैं, जिसके घटक, एक-दूसरे से परस्पर समस्त न होकर अलग-अलग रहते हैं, अर्थात् समास के रूप में परस्पर संलग्न नहीं रहते । "वाक्यं विग्रहः । तेन उपमानादिपदानि चत्वारि अपि यत्र असमस्तानि······ सा वाक्यगा ।

और जिसके कोई भी 'दो घटक' समस्त रहते हैं, वह 'समासगत' कहलाती है । समास का अर्थ है—जुड़े हुए शब्द । जैसे—राजपुरुष, देवदूत आदि । 'यत्र तु तेषु कयोरपि समासः, सा 'समासगा' ।

'तद्धितगत' समझने के पूर्व 'तद्धित' का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है । 'तद्धित' यह, 'एक प्रत्ययवर्ग' की संज्ञा है । इस वर्ग के प्रत्यय, 'नाम' (संज्ञा) तथा विशेषणों के साथ जुड़ते हैं, और उनसे अन्य संज्ञाएँ (नाम), विशेषण, और अव्यय सिद्ध किये जाते हैं । जैसे 'सुन्दर' इस विशेषण के साथ 'ष्यञ्' (य) प्रत्यय जोड़ देने पर

'सौन्दर्य'—यह भाववाचक संज्ञा (नाम) सिद्ध होती है। 'मृद्' (स्त्री०) इस नाम के साथ 'मयट्' (मय) प्रत्यय जोड़ देने पर 'मृण्मय' (मिट्टी से बनाया हुआ) यह 'विशेषण' सिद्ध होता है। इसी तरह 'काव्य' (कवि + अ), बालक (बाल + क), पाणिनीय (पाणिनि + ईय), राष्ट्रिय (राष्ट्र + इय), कुलीन (कुल + ईन), सैनिक (सेना + इक), जनता (जन + ता), शब्दशः- (शब्द + शस्), तद्वत् (तद् + वत्) ये सभी शब्द, तद्धित प्रत्ययों को जोड़ने पर बने हैं। संस्कृत भाषा में तद्धित प्रत्ययों का क्षेत्र बहुत विशाल है। उतना ही विशाल क्षेत्र 'कृत्'—प्रत्ययों का भी है। 'कृत्' प्रत्ययों को 'धातु' से जोडा जाता हैं। उससे धातुसाधित नाम, विशेषण, अव्यय सिद्ध किये जाते हैं। जैसे—कृति, कर्तव्य, कर्तुम्—ये सब 'साधित' शब्द हैं। 'साधितशब्दनिर्माण की प्रक्रिया' को संस्कृत व्याकरण में 'वृत्ति' के नाम से कहा जाता है। 'वृत्ति'—'कृत्', 'तद्धित', 'समास', 'धातु', 'एकशेष' के भेद से पाँच प्रकार की है। कृत्-तद्धित-समासवृत्ति के विषय में पहले बता चुके हैं। भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के योग से साधित धातु (मूलभूत-धातु नहीं) के निर्माण की प्रक्रिया को 'धातुवृत्ति' कहते हैं। 'साधित धातु'—चार प्रकार के होते हैं—'प्रयोजक' 'इच्छार्थक', भृशार्थक', और 'नामधातु'। जैसे—'दृश्' धातु—दर्शयति, दिदृक्षते, दरीदृश्यते, पुत्र—पुत्रीयति, एकशेषवृत्ति' का अभिप्राय-यह है कि प्राय: अनेक समान रूपों में से 'एक रूप' को शेष रखने की प्रक्रिया। यह शेष बचा हुआ 'रूप', अपने पूर्ववर्ती लुप्त हुए रूपों के अर्थ का बोध करा देता है। जैसे—'रामौ' (= रामः + रामः), पितरौ (= माता + पिता), हंसौ (= हंसी + हंसः)। इस 'एक शेष वृत्ति' का ही निर्देश, कभी-कभी 'एक शेष-द्वन्द्व' के नाम से भी किया जाता है।

'उपमा' का भेद, जो 'श्रौती' और 'आर्थी' के नाम से किया गया है,उसका रहस्य यह है कि 'इवादि' शब्द (यथा, इव, वा इत्यादि), 'उपमान-उपमेय' के 'साधर्म्य' का बोधन केवल श्रुति से ही (शब्दश्रवणमात्र से हो) करा देते हैं—'श्रुत्यैव सम्बन्धं प्रतिपादयन्ति'। और 'तुल्यादि' (तुल्य इत्यादि) शब्द, 'अर्थ' के बल पर 'उपमान-उपमेय के साधर्म्य' का बोध कराते हैं। अतः जिसमें 'साधर्म्य' का बोध, 'श्रवण मात्र' से (श्रुति समकाल में) ही हो जाता है, अर्थात् 'इव आदि' शब्दों से युक्त उस 'उपमा' को 'श्रौती'— यह सार्थक नाम दिया गया है।

'वत्'—इस तद्धित प्रत्यय का प्रयोग 'इव' के अर्थ में भी होता है, और 'तुल्य' के अर्थ में भी होता है। अतः 'इव' के अर्थ में 'वत्' का प्रयोग होने पर 'उपमा' को 'श्रौती' कहा जाता है। और 'तुल्य' के अर्थ में 'वत्' का प्रयोग होने पर 'उपमा' को 'आर्थी' कहा जाता है।

'इव' के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय का प्रयोग—"तत्र तस्येव"-इस पाणिनि सूत्र को प्रमाण मान कर किया जाता है। सूत्रगत 'तत्र' पद से 'सप्तम्यन्त पद' समझा जाता है। क्योंकि 'तत्र'—इस अव्यय से 'अधिकरण' का बोध होता है, और 'अधिकरण'-रूप अर्थ, 'सप्तमी विभक्ति' का प्रसिद्ध ही है।

उसी तरह सूत्रगत 'तस्य' पद का अभिप्राय है—'षष्ठ्यन्त पद'। क्योंकि 'तस्य'—यह, स्वयं ही षष्ठ्यन्त पद है। इस सूत्र में 'वतिः' पद, स्व-पूर्ववर्ती "तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः"—सूत्र से अनुवृत्त होता है। उस कारण सम्पूर्ण सूत्र इस प्रकार तत्र तस्य इव-अर्थे वतिः'-निष्पन्न हो जाता है और उससे अर्थ, यह निकलता है कि 'सप्तम्यन्त' और 'षष्ठ्यन्त पद, अभिप्रेत रहने पर उससे 'इव' (= समान) के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय किया जाता है—"तत्र इति सप्तमीसमर्थात्, तस्य इति षष्ठी-समर्थात् च, इवार्थे 'वतिः' प्रत्ययो भवति"।—(काशिका)। प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण—'मथुरावत् (= मथुरायामिव) स्रुघ्ने प्राकारः', और 'देवदत्तवत् (= देवदत्तस्य इव) यज्ञदत्तस्य गावः'।

तथा 'क्रिया की समानता (सदृशता) बतानी हो तो 'तृतीयान्त पद' से "वत्" प्रत्यय "तुल्य" (= सदृश-समान) के अर्थ में करने के लिये—"तेन तुल्यं क्रिया-चेद् वतिः"—सूत्र के द्वारा कहा गया है। "तेन इति तृतीयासमर्थात् 'तुल्यम्' इति अर्थे वतिः प्रत्ययो भवति, यत् तुल्यं क्रिया चेत् सा भवति"—(काशिका)। इसका उदाहरण—'ब्राह्मणवत्' (= ब्राह्मणेन तुल्यम्) अधीते क्षत्रियः।

'श्रौती' के विषय में पूर्वपक्षी का आक्षेप—

शंका—पूर्वपक्षी, प्रस्तुत विषय को उपस्थित कर रहा है—'श्रौती' इस संज्ञा का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती ने कहा था कि—"इवादि शब्द, 'उपमान-उपमेयों' के सम्बन्ध को 'श्रुति' से बोधित कर देते हैं।" इस प्रकार सिद्धान्ती के पूर्वोक्त कथन का अनुवाद करके उस पर अपना आक्षेप (पूर्व पक्ष) उपस्थित कर रहा है—

सिद्धान्ती के मन्तव्य पर 'प्रश्न' यह उपस्थित होता है कि 'इवादि' शब्द, 'उपमान' के विशेषण होकर रहते हैं—'उपमान विशेषणानि एते'। क्योंकि वे शब्द, जिस पदार्थ से सम्बद्ध रहते हैं—(यत्पराः), उसी पदार्थमात्र का 'उपमान' के रूप में बोध होता है। (तस्यैव उपमानता प्रतीतिः)। 'यद् हि यदर्थे धर्मविशेषं प्रतिपा-दयति, तत् तद्विशेषणम्'।—(वामनाचार्य झलकीकर)।

इस स्थिति में 'उपमान' का विशेषण बन कर रहनेवाला 'इवादि' शब्द, 'उपमान'-उपमेयों के सम्बन्ध को भी बोधित कैसे कर पायेगा? क्योंकि एक पदार्थ-

का बनाहुआ विशेषण, दूसरे पदार्थ की भी सेवा नहीं कर सकता । 'एकविशेषणं न अपरत्र स्वार्थं प्रत्याययति'—(वामनाचार्य झलकीकर) ।

'नीलम् उत्पलं सरसि विजृम्भते'—इस वाक्य मे 'नीलम्'-पद, 'उत्पलम्' पद के साथ सम्बद्ध है, अतः वह केवल 'उत्पल' के ही नीलतारूप गुणविशेष को बतावेगा, 'सरस्' के गुण को नहीं । अर्थात् उक्त वाक्य से 'कमल नीला' है–इतना ही बोध होता है । 'सरोवर नीला है'—यह बोध उससे नहीं होता । क्योंकि 'नील' पद, 'उत्पल' का विशेषण है । उसी तरह 'चन्द्रः इव मुखं रमणीयम्'—इसमें भी 'इव' पद, 'चन्द्रः' के साथ सम्बद्ध है । क्योंकि 'चन्द्रः' पद को यदि हटा दिया जाय तो 'इव' पद उक्त वाक्य में रह ही नहीं सकता । उसका काम तो 'चन्द्र' की विशेषता बता कर समाप्त हो जाता है, अर्थात् 'चन्द्र उपमान है'—इतनी प्रतीति करा देने मात्र से ही 'इव' पद, कृतार्थ हो जाता है ।

किन्तु 'चन्द्र उपमान हैं'—इतनी प्रतीति होने मात्र से उक्त वाक्यगत 'उपमा' को पूर्णतया प्रतीति नहीं हो पाएगी । क्योंकि 'उपमा का सत्त्व—(अस्तित्व) तो उपमान–उपमेय के संबन्ध की प्रतीति पर निर्भर है । केवल 'अमुक वस्तु उपमान है'—इतनी प्रतीति पर निर्भर नहीं है । अतः 'उपमान–उपमेय' गत संबन्ध की प्रतीति किससे होगी ? और उसकी प्रतीति हुए बिना 'उपमा' की सिद्धि भी कैसे हो पाएगी ?

समा॰—पूर्वपक्षी की शंका (आक्षेप) का समाधान 'मम्मटभट्ट ने इस प्रकार किया है—

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि 'इवादि' शब्द, 'उपमान' के विशेषण होते हैं, और किसी एक के विशेषण, दूसरे की सेवा नहीं कर सकते'—उसका यह कहना प्रायः (आपाततः)सत्य ही है । किन्तु उसे यह भी भूलना नहीं चाहिए कि भाषा में कुछ शब्दों का सामर्थ्य, अन्य शब्दों की अपेक्षया महान् होता है—(शब्दशक्तिमहिम्ना) । जैसे—'राज्ञः पुरुषः' इस वाक्य में 'राज्ञः' पद में षष्ठी का 'अस्' प्रत्यय है । वह,'राजन्' शब्द-से सम्बद्ध होने के कारण 'राजन् का 'विशेषण' है। वह 'राजन्' पदार्थ की विशेषता–'राजा स्वामी है'—बता रहा है । किन्तु इतना ही बताकर वह विश्रान्त नहीं हो रहा-है । वह उसी के साथ 'यह पुरुष, सेवक है'—यह भी बता दे रहा है, तथा 'राजा' और 'पुरुष' दोनों में 'स्वामि-सेवकभाव सम्बन्ध' का भी बोध करा दे रहा है ।

उसी तरह 'इवादि' शब्द भी 'उपमान' के विशेषण होने से उपमान का 'उपमान' के रूप में मुख्यतया बोध करा दे रहे हैं तथापि वे श्रवण मात्र से अर्थात् अपने अस्तित्व-मात्र से 'उपमान-उपमेय' के सम्बन्ध को भी बोधित कर देते हैं । क्योंकि 'उपमानता'

धर्म, 'सापेक्ष' है। अर्थात् 'उपमेय' नाम की कोई वस्तु, सम्बद्ध रहने पर ही 'उपमान'-की 'उपमानता' निश्चित हो पाती है,अन्यथा नहीं। जैसे 'पिता' की 'पितृता' (पितापन) 'पुत्र' के सम्बन्ध से निश्चित की जाती है, स्वतन्त्ररूप से नहीं। उस कारण 'इवादि'-शब्द, यद्यपि मुख्यार्थ के रूप में 'उपमानत्व' को बताते हैं, तथापि 'उपमानत्व', उपमेय-सापेक्ष होने से 'इवादि शब्दों' के केवल श्रवणमात्र से ही (अभिधा से नहीं), 'उपमान-उपमेय के सम्बन्ध का भी बोध हो जाता है, तभी 'उपमा' की पूर्णतया प्रतीति होती है। अतः वे 'इवादिशब्द' जिस उपमा में उपस्थित रहते हैं उस उपमा को 'श्रौती' नह अन्वर्थक नाम दिया गया है। तुलना की दृष्टि से "अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा"—(ब्र० सू० १।१।१) सूत्र के शाङ्करभाष्य पर दृष्टिपात करना उचित होगा—"अत्र अथ शब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते··· ···। अर्थान्तरप्रयुक्तः एव हि अथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनः भवति"। इस भाष्य की 'भामती' टीका--"न च इह मङ्गलम् अथ-शब्दस्य वाच्यं लक्ष्यं वा, किन्तु मृदङ्ग-शङ्ख-ध्वनिवत् अथ-शब्दश्रवणमात्रकार्यम्।··· ··· अर्थान्तरेषु आनन्तर्यादिषु प्रयुक्तः अथशब्दः श्रुत्या श्रावणमात्रेण वेणु-वीणाध्वनिवत् मङ्गलं कुर्वन् मङ्गलप्रयोजनः भवति, अन्यार्थम् आनीयमान-उदकुम्भदर्शनवत्"। इस प्रकार 'श्रौती उपमा' का समर्थन करने के पश्चात् 'श्रुति' से अर्थबोध होने का भी समर्थन किया गया है। तथाहि—'शब्द', अपने 'अभिधाव्यापार' से प्रायः अर्थ की प्रतीति करा देते हैं, तथापि कुछ शब्द, अपनी 'ध्वनि' से भी एक अलग अर्थ की प्रतीति करा देते हैं। जैसे मृदंग की ध्वनि सुनने पर किसी मंगल कार्य की प्रतीति होती है। वह प्रतीति, मृदंगध्वनि के 'अभिधाव्यापार' से नहीं हो रही है। मृदङ्गध्वनि में अभिधा-व्यापार का होना संभव ही नहीं है। क्योंकि ये 'मृदङ्गध्वनियाँ', भाषा के शब्द नहीं हैं। मंगलरूप अर्थ का बोधन कराने का कार्य, ये ध्वनियाँ स्वयं ही करती हैं। उसी-तरह भाषा के कयिपय शब्द अपनी ध्वनि से ही अर्थ की प्रतीति करा देते हैं। 'ॐ', 'श्रोः इत्यादि शब्दों से तथा वेदघोष से मंगलमय अर्थ का जो बोध होता है, वह उनके ध्वन्यात्मक स्वरूप से ही होता है। उन शब्दों की अभिधाशक्ति से बोधित होनेवाले अर्थ, कुछ अलग ही हैं। उसी तरह उपमानपरक 'इवादि' शब्दों से 'उपमान-उपमेय' के 'साधर्म्य रूप सम्बन्ध' का बोध जो प्रमुखतया होता हैं,वह इवादि शब्दों के ध्वन्यात्मक स्वरूप से ही होता है। भाषा के कतिपय शब्द, अपने ध्वन्यात्मक स्वरूप से भी किसी अन्य अर्थ की प्रतीति करा दिया करते हैं, इस तथ्य का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि एक का विशेषण, दूसरे का कार्य कैसे कर-यकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि 'शब्द' की अपार शक्ति होती है'। इस तथ्य को अनेक व्याख्याकारों ने व्यक्त किया है—"विचित्राः शब्दशक्तयः"–(वामनाचार्य झलकीकर), "शब्दशक्तेः महिमा न पर्यनुयोगम् अर्हति"।—(भट्ट गोपालकृत-'साहित्यचूडामणि ई० स० १४००)। "शब्दशक्तेः खलु अयं महिमा यत् नियमेन

उपमानविशेषणाश्च भवन्ति इवादयः,द्विष्ठमपि सम्बन्धं श्रुत्यैव प्रतिपादयन्ति षष्ठीवत्"।–(श्रीविद्याचक्रवर्तीकृतसम्प्रदायप्रकाशिनी–ई० स० १३००)। इस विवेचन से 'श्रुत्या' शब्द का मर्म अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

कुछ व्याख्याकार 'आर्थी'—इस संज्ञा के साहचर्य से 'श्रौती' इस संज्ञा का अर्थ 'शाब्दी' बताते हैं। किन्तु उनका अभिप्राय 'शक्तं पदम्' से न होकर 'ध्वनि' के अभिप्राय से ही है।

ग्रन्थकार मम्मट ने वृत्ति लिखते हुए 'यथेववादिशब्दाः' कहा है। उनमें से 'यथा', 'इव'—शब्द तो उपमाप्रतिपादक के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। उनके बाद का तीसरा 'वा' शब्द भी उपमाप्रतिपादक के रूप में माना जाता है। उसके आगे 'आदि' शब्द से उक्त तीनों के अतिरिक्त उपमावाचक के रूप में एक और 'व' शब्द का भी निर्देश किया गया है। इनमें से 'वा' शब्द, विकल्पबोधक के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध है। और 'व' शब्द 'इव' के अर्थ में ही है, जो, सर्वत्र रूढ 'इव'—अव्यय का संक्षिप्त रूप होगा ऐसा प्रतीत हो रहा है। अमरकोशकार "व वा यथा तथेवैवं साम्ये······।" यथा—"नारिकेलासवं योधाः शात्रवं व पपुर्यशः"–(रघु· ४।४२), "मणि वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम"—(महाभारत), "कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि"। 'इव' का संक्षिप्तीकरण 'व' है, इसकी अनुभूति के लिये 'अस्' धातु से तुलना की जा सकती है। जैसे,—'अस्—अस्ति, (अ) स्तः, (अ) सन्ति। तथा (अ) पिधान, (अ) वगाह्य। उपमा-प्रतिपादक के रूप में 'वा' अव्यय के प्रयोगों के जो उदाहरण दिये जाते हैं, उनमें से बहुत उदाहरणों में 'व' शब्द को भी माना जा सकता है। जैसे—"जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम्'—(मेघ-उत्तर २०), 'स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते'—(माल० मित्र ५।१२), 'हृष्टो गर्जतिचातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शशी'–(मृच्छ० ५।६)।

श्रौती संज्ञा के बारे में बताकर अब आर्थी के बारे में बता रहे हैं। 'तुल्य' आदि शब्दप्रयोगों को देखने पर यह अनुभव होता है कि 'कमलेन तुल्यं मुखम्'—ऐसे प्रयोग में 'तुल्य' (तुलना करने योग्य, समान) आदि शब्द, 'उपमेय' का बोध करा देते ही अपना काम समाप्त कर देते हैं, अर्थात् उतना बोध करा देते ही उनका अभिधाव्यापार रुक जाता है। क्योंकि 'तुल्य' आदि शब्द 'उपमेय' के विशेषण होकर रहते हैं। अर्थात् उपमेय के समानविभक्तिक होते हैं। उक्त उदाहरण में उपमानवाचक शब्द के साथ तृतीया विभक्ति लगाकर 'तुल्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। तुल्य शब्द का और तदर्थक अन्य शब्दों का प्रयोग, 'उपमेय' वाचक शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति लगाकर भी किया जाता है। उस समय वह 'तुल्य' शब्द उपमान का बोध कराते ही अपने कार्य को

समाप्त कर रुक जाता है। जैसे—'कमलं मुखस्य तुल्यम्'—में 'तुल्य' शब्द, 'उपमान'-का विशेषण है। और 'मुखंच कमलं च तुल्यम्'—में 'तुल्य' शब्द, 'उपमान' और 'उपमेय' दोनों का ही 'विशेष्य' के रूप में बोध करा देता है। तथापि उपमान-उपमेय दोनों की विशेष्य के रूप मे प्रतीति कराने पर भी अथवा प्रयोग के अनुरोध से उपमेय को या उपमान की प्रतीति होने से भी 'उपमा' की प्रतीति पूर्णतया नहीं होती है। उसका कारण यह है कि उपमा का अर्थ है—'साधर्म्य' और 'तुल्यता' का अर्थ होता है—'सादृश्य'। 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' दोनों एक नहीं हैं। 'सादृश्य' जो है, वह 'साधर्म्य'-पर अधिष्ठित रहता है। दो पदार्थ, एक से (समान) क्यों दिखाई देते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि दोनों पदार्थ, 'सधर्म' हैं अर्थात् समान धर्मों के आश्रय हैं। उस-कारण 'चन्द्र के समान मुख', या 'मुख के समान चन्द्र' तथा 'चन्द्र और मुख दोनों एक-समान'—इनमे से किसी भी प्रयोग में 'चन्द्र' और 'मुख' की समानधर्मता (साधर्म्य) का बोध, साक्षात् शब्द से नहीं होता है। साक्षात् शब्द से बोध होता है 'सादृश्य' का। किन्तु यह सादृश्य 'मन' में दृढ़ कब हो पाता है?—(तुल्यताप्रतीतिः) तो कहना पड़ता है कि 'चन्द्र और मुख की सधर्मता (समानधर्मता) जब ध्यान मे आ जाती है—(साम्यपर्यालोचनया), 'साम्य' का अर्थ है—'साधर्म्य'। ध्यान में 'साधर्म्य' के बैठ जाने पर ही 'सादृश्य' मन में उतर पाता है : साधर्म्य के समझे बिना 'सादृश्य' का मन-मे उतर पाना संभव ही नहीं है। एवंच 'तुल्यादि' शब्दों के प्रयोग से होनेवाली 'उपमा' में 'उपमान उपमेयों' के साधर्म्य की प्रतीति, 'तुल्यादि' शब्दों के अर्थबल से (अर्थापत्ति से) कर लेनी पड़ती है। अतः इस प्रकार की 'उपमा' को 'आर्थी' यह अन्वर्थक नाम दिया गया है। ग्रन्थकार ने 'श्रौता आर्थाश्च ते……' इस कारिका की वृत्ति में बताया है-'केचित् आरोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः, केचित् अर्थसामर्थ्यात् अवसेयाः'। इस विवेचन से स्पष्टतया समझ में आजाता है कि उपमा का 'प्राणभूत तत्त्व' जो 'साधर्म्य' है, उसकी प्रतीति होने के लिये 'आर्थी' उपमा में बिलम्ब लगता है। श्रौती उपमा से आर्थी उपमा को पृथक् करने का यही कारण है।

शंका—श्रौती तथा आर्थी दोनों ही उपमाएँ 'वाक्यगत', समासगत और तद्धित-गत रहने से तीन प्रकार की होती हैं। 'श्रौतीउपमा' में 'इवादि' शब्दों का होना आवश्यक रहता है। किन्तु इवादि शब्दों का अन्य शब्दों के साथ 'समास' का होना प्रायः दिखाई नहीं देता। 'यथाशक्ति', 'यथेच्छम् आदि समास में 'यथा'—अव्यय, 'उपमा-वाचक' नहीं है। अतः 'श्रौती समासगा उपमा'—कैसे सिद्ध हो सकेगी?

समा०—ग्रन्थकार मम्मट ने कारिका की वृत्ति करते हुए कात्यायन के वार्तिक—"इवेन (नित्य) समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च"—(वार्ति० २।१।४) का उल्लेख किया है।

इस वार्तिक का अर्थ यह है कि (उपमानवाचक) नाम का उसके आगे स्थित रहने वाले 'इव' (उपमावाचक) अव्यय के साथ समास होता है। इस समास में 'पूर्वपद' की विभक्ति का लोप नहीं होता, और उस पूर्वपद का अपना जो मूल स्वर (आघात) हो, वही सम्पूर्ण समास का स्वर माना जाता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। इस समास को 'सुप्-सुप् समास' के नाम से कहा जाता है। यह समास 'तत्पुरुष', 'बहुव्रीहि' आदि किसी समास के अन्तर्गत नहीं हो पाता। यह 'सुप्-सुप् समास'[१] अर्थात किसी भी सुबन्त (= विभक्त्यन्त) शब्द का किसी भी सुबन्त (अन्य विभक्त्यन्त) शब्द के साथ समास कर देना। यह कहना तो 'रूढ' प्रयोगों का समर्थन करना है। तथापि यह यथेच्छ नवीन समासों के निर्माण करने का परवाना (लायसेन्स) नहीं है। 'इव' से होनेवाला इस प्रकार का समास ऋग्वेद में प्रचुरतया उपलब्ध होता है। जैसे—'जीमूतस्येव'—(ऋ० वे० ६।७५।१ यहाँ 'जीमूतस्य' और 'इव'—इन दो पदों की सन्धि केवल नहीं है, अपितु 'समास' है। अतएव ऋग्वेद के 'पदपाठ' में यह समास 'जीमूतस्यऽइव', इस प्रकार से कहा जाता है। यदि ये दोनों पद, अलग-अलग होते तो पदपाठ में 'जीमूतस्य। इव।' इस प्रकार कहे जाते। इसी प्रकार 'पिसेव'—(ऋ० १।१।९) उस्राइव-(ऋ० १।३।८), सुदुघाभिव-(ऋ० १।४।१) इत्यादि।

जब भी पदों में समास किया जाता है, तब पूर्वपद के विभक्ति-प्रत्यय का लोप किया जाता है। जैसे—'देवदत्तस्य गृहम् = देवदत्तगृहम्। किन्तु 'इव'—इस अव्यय के साथ किये जाने वाले समास में पूर्वपद के 'विभक्तिप्रत्यय' का लोप नहीं किया जाता। यदि उसका लोप होता तो 'जीमूतस्येव' के बजाय 'जीमूतेव' यह समस्तपद बनता।

इस समास में यह विशेषता है कि जब समास किया जाता है, तब समासों के नियमानुसार समासगत एक पद के स्वर (आघात) का लोप किया जाता है। और दूसरे (प्रायः समासघटक प्रधान) पद का स्वर विद्यमान रहता है। इस प्रकार स्वर-विषयक सामान्य नियम 'अनुदात्तापदमेकवर्जम्' अबाधित रहता है।

जो 'स्वर' शेष विद्यमान रहता है, उसे उस सामासिक पद का स्वर कहा जाता है। बहुव्रीहि समास में 'पूर्वपद' का स्वर, 'शेष' (विद्यमान) रहता है, तथा 'तत्पुरुष' समास में प्रायः 'उत्तर पद' का स्वर, 'शेष' (विद्यमान) रहता है। तथा द्वन्द्वसमास यदि देवता नामों का हो, तो उसमें दोनों पदों का 'मूल स्वर' कायम रहता है। पूर्वपद अथवा उत्तर पद के 'स्वर' को 'शेष' रखने के नियम के अनुसार 'इन्द्रशत्रुः' में बहुव्रीहि या तत्पुरुष समास का निश्चय किया जाता है। समास-

१. 'यस्य समासस्य अन्यत् लक्षणं नास्ति,इदं तस्य लक्षणं भविष्यति'।
—(महाभाष्य २।१।४)

के स्वरों के विषय में भिन्न-भिन्न नियम किये गये हैं। अतः प्रस्तुत 'इव' के समास का 'स्वर' निश्चित करना आवश्यक है। इसलिये वार्तिक में कहा गया है कि ऐसे समास में 'पूर्वपद' का स्वर कायम रहता है। इस कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि 'इव' के स्वर का लोप होता है। क्योंकि 'इव' अव्यय, अन्य अनेक अव्ययों के समान 'अस्वर' है, अर्थात् उसके 'दोनों अक्षर' अनुदात्त हैं। उक्त वार्तिक के द्वारा 'इव' के साथ किये जाने वाले समास को 'नित्य समास' कहा गया है। किन्तु महाभाष्य में अथवा कौमुदी में दिये गये इस वार्तिक में 'नित्य समासः'—इस शब्द-का उल्लेख नहीं है। रघुवंश के मंगल श्लोक की टीका में मल्लिनाथ ने प्रस्तुत वार्तिक, 'इवेन सह नित्यसमासः··· ··· ···इति वक्तव्यम्'—इस तरह उद्धृत किया है। 'स नः पितेव सूनवे'—(ऋ० वे० १।१।९) की इस ऋचा के सायण भाष्य में प्रस्तुत वार्तिक का निर्देश करते हुए 'नित्य समासः' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु इस सन्दर्भ में 'नित्य' शब्द का मेल बैठ नहीं रहा है। प्रत्युत वस्तुस्थिति के साथ विरोधी प्रतीत हो रहा है। क्योंकि उपमानवाचक नाम का 'इव' 'अव्यय' के साथ समास, वैदिक—वाङ्मय में अथवा तदुत्तर 'संस्कृत–वाङ्मय' में 'नित्य' अर्थात् 'निरपवाद' नहीं है, अपितु वैकल्पिक है। ऋग्वेद में यह समास सर्वत्र होता पाया जाता है, किन्तु कृष्णयजुर्वेद की 'तैत्तिरीय संहिता' में 'इव' पद, 'स्वतन्त्र' माना जाता है। अर्थात् 'पूर्वपद' के साथ 'इव' का समास नहीं माना गया है। एवं च 'इव' के साथ 'समास' नित्य न होकर वैकल्पिक है। संस्कृत साहित्य में 'इव'-अव्यय, 'उपमानवाचक पद' के साथ जब आता है, तब तो वहाँ 'समास' मानने का अवसर मिल जाता है, किन्तु जब वह 'अन्य पद' के साथ आता है, तब उसका 'पूर्वपद' के साथ समास नहीं हो सकेगा, क्योंकि उस 'पूर्वपद' के साथ वह अन्वित नहीं है। जैसे—"वागर्थाविवसम्पृक्तौ··· ··· ···' (रघु० १।१) में 'वागर्था-विव'—यह समास कहा जा सकेगा। किन्तु 'प्रांशुलभ्ये फले लोभाद् उद्बाहुरिव वामनः'—(रघु० १।४) में 'उद्बाहुरिव' को 'समस्त पद' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'इव' का सम्बन्ध 'वामनः' पद से है। 'उद्बाहुः' से नहीं है। परस्पर 'असम्बद्ध' पदों का समास नहीं हुआ करता। जैसे—'भार्या राज्ञः, पुरुषो देव-दत्तस्य'—इस वाक्य में 'राज्ञः पद का 'पुरुषः' पद के साथ कभी भी समास नहीं होगा। अतएव यहाँ पर 'नित्य समास' शब्द को किसी एक समासवर्ग की संज्ञा भी नहीं मान सकते। संस्कृत भाषा में कुछ ऐसे समास हैं कि उनका कोई एकाद पद 'स्वतन्त्र' होकर आता ही नहीं। जब भी वह आवेगा, तब समास में ही आवेगा। ऐसे समासों का विग्रह करते समय उस पद के 'पर्याय' का प्रयोग करना पड़ता है। जैसे—'ग्रामान्तरम्'—(= अन्यः ग्रामः), 'चिन्मात्रम्'—(= चित् एव)।

क्रमेणोदाहरम् —

१ (वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा)

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति ।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥ ३९२ ॥

ऐसे 'समासों' को 'अ-स्वपद विग्रह समास' भी कहा जाता है। 'इव' अव्यय का स्वतन्त्र प्रयोग भी उपलब्ध होने से यहाँ पर 'नित्य समास' शब्द, उपपन्न नहीं हो रहा है। अतएव हमने 'नित्य' को कोष्ठ में दिया है। प्रस्तुत विचारणीय विषय तो यह है कि समास में 'श्रौती उपमा' का होना संभव है अथवा नहीं ? समास-में उसका संभव प्रदर्शित करने के लिये 'इव' अव्यय का 'उपमान वाचक पद' के साथ विकल्प से समास हो सकता है—इतना कहना पर्याप्त है। एवं च 'इव' के साथ किये जाने वाले 'समास'—को 'नित्य समास' कहना चिन्तनीय है।

'जीमूतस्येव' में 'समास' मानने का फल यह है कि ऋग्वेदियों के मत में 'समासस्वर' का बाध करके 'प्रकृतिस्वर' की सिद्धि हो जाती है तथा 'अग्निरिव राजः'—में "राजाहः सखिभ्यष्टच्" (पा० सू० ५।४।९१) इस पाणिनिसूत्र से विहित समासान्त 'टच्' प्रत्यय की भी सिद्धि हो जाती है। 'इव' से होने वाले 'समास' को 'नित्य समास' कहने में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव कृष्णयजुर्वेदियों की 'संहिता' के अनुसार 'जीमूतस्येव' में 'समास' नहीं है, क्योंकि वह वैकल्पिक है। उद्योतकार ने स्पष्ट कहा है—"व्याकरणे समासस्य वैकल्पिकत्वाङ्गीकारात् वार्तिके नित्यपदघटितपाठाभावाच्चात्र नित्यपदप्रक्षेपोऽप्राभाणिकः"। यही कारण है कि "जीमूतस्येव भवति प्रतीकम्" में तैत्तिरियों के यहाँ 'इव' पद का पृथक् पाठ किया जाता है। अत एव 'अनयेनेव राज्यश्रीः' इस 'मालोपमा' के उदाहरण में, तथा 'भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भाः'—इस 'यमकदोष' के उदाहरण में, और 'उद्बाहुरिव वामनः तथा 'जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्'—इस रघुकाव्य में किये गये व्यस्त प्रयोग उपपन्न होते हैं। प्रथम उदाहरण में 'अनयेन राज्यश्रीः इव', द्वितीय उदाहरण में 'भुजङ्गमस्य सदम्भाः, मणिः इव', तीसरे उदाहरण में 'उद्बाहुः, वामनःइव', चौथे उदाहरण में 'गोरूपधराम् उर्वीमिव'—इस प्रकार अन्वय विवक्षित है।

(१) 'स्वप्नेपि'—क्रमेणोदाहरणम्—

यह 'वाक्यगा श्रौती पूर्णा उपमा का उदाहरण है-यथा स्वाधीनपतिका प्रभाव-प्रभवं कान्तं स्वप्नेऽपि न मुञ्चति, (तथा) 'विजयश्रीः' प्रभावप्रभवं त्वां समरेषु स्वप्नेऽपि न मुञ्चति। अपने आश्रयदाता 'राजा' को लक्ष्य करके कोई कवि कह रहा है—स्वप्नेऽपीति। 'स्वाधीनपतिका नायिका' के समान 'विजयश्री', भी युद्ध में 'प्रभाव' (प्रभुशक्ति) के 'प्रभव'=कारणभूत 'आपका' त्याग स्वप्न में भी नहीं करती ॥३९२॥

विवरण—इस उदाहरण में 'वाक्यगा श्रौती पूर्णा उपमा' है। इसमें 'स्वाधीन-पतिका'—उपमान है। 'विजयश्रीः'—उपमेय है। 'न मुञ्चति' (न छोड़ना), यह 'अपरित्यागरूप साधारण धर्म' है,और 'यथा'-यह उपमावाचक शब्द' है। इस उदाहरण में उपमा के चारों घटक (अवयव) उपस्थित हैं,अर्थात् उपमा के चारों अवयव 'असमस्त' पद के द्वारा बताये गये हैं। उस कारण इसे 'पूर्णा' कहा गया है, और वे घटक (अवयव) एक दूसरे से अलग-अलग हैं—इसलिये इसे 'वाक्यगा' कहा गया है। और 'यथा' शब्द, 'इवादिवर्ग' में से है, उस कारण इसे 'श्रौती' कहा गया है। एवंच यह उदाहरण 'वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा' का है—यह निर्विवाद सिद्ध हो रहा है।

शंका-'यथा'-इस 'अव्यय शब्द' का प्रयोग रहने पर प्रायः 'अव्ययं विभक्ति०'-(पा० सू० १।१।६) सूत्र से 'नित्य अव्ययीभाव' समास हुआ करता है। तदनुसार अव्ययीभाव समास करने पर इसे 'समासगा श्रौती पूर्णोपमा' कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में इस 'पूर्णा श्रौती उपमा' को वाक्यगा का उदाहरण कैसे कहा जा रहा है?

समा०—इस प्रकार शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि 'अव्ययं विभक्ति०' से 'यथा' के साथ जो समास कहा गया है, वह 'सादृश्य' से भिन्न अर्थ होने पर ही कहा गया है। 'सादृश्यपरक' यथा शब्द के प्रयोग में यह समास (अव्ययीभाव समास) नहीं किया जाता। इस 'तथ्य को 'यथा सादृश्ये' (पा० सू० २।१।७) सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अतः 'शक्तिमनतिक्रम्य' इति 'यथाशक्ति' इत्यादि प्रयोगों में ही 'यथा' शब्द के साथ 'अव्ययीभाव समास होता है। सादृश्य के अर्थ में 'यथा' शब्द का प्रयोग होने पर समास नहीं होता है। 'यथाऽसादृश्ये' इति सूत्रेण असादृश्ये एव समासनियमनात् सादृश्ये समासाऽप्राप्तेः। उपर्युक्तसूत्रे 'असादृश्ये' इति छेदः। योग्यता वीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानीति चत्वारो यथाशब्दार्थाः। तत्र 'अव्ययं-विभक्ति०' इति सूत्रेण सादृश्यार्थकत्वात् यथार्थकत्वाद्वा सादृश्ये असादृश्ये च अर्थे अव्ययीभावसमासे सिद्धे 'असादृश्ये एव' इति नियमार्थमिदं सूत्रम्। तथाच असादृश्ये एव वर्तमानो 'यथा' शब्दः समस्यते इति सूत्रार्थः। उदाहरणम्—'यथा हरिस्तथा हरः' अत्र 'यथा' शब्दस्य सादृश्यार्थकत्वात् 'हरि' शब्देन' सह न समासः। योग्यतादिषु त्रिषु अर्थेषु तु समासो भवत्येव। तत्र योग्यतायां 'यथा कालं वर्तते'—कालस्य योग्यमित्यर्थः। वीप्सायां 'यथोत्तरं हेतुता' उत्तरमुत्तरं प्रति इत्यर्थः। पदार्थानतिवृत्तौ 'यथाशक्ति-भुङ्क्ते' शक्तिमनतिक्रम्य इत्यर्थः। इसलिये प्रस्तुत उदाहरण 'वाक्यगा' का ही है। 'समासगा' का नहीं। अत्र यत्तत्पदप्रकृतिक-प्रकारवाचिथाल्प्रत्ययान्तयथाशब्दयोगे यद्धर्मवती स्वाधीनपतिका तद्धर्मवती विजयश्रीः इति उभयविशेष्यको बोधः। पश्चात् यत्-तद्भ्यां धर्मस्यैक्यबोधात् सादृश्यं फलति। राज्ञः कान्तस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावः। तदालिङ्गितस्वप्नाधिकरणकत्यागाभावोऽनुगामी साधारणधर्म इति बोध्यम्'—यह उद्योतकार ने स्पष्ट किया है।

नाटयशास्त्र में नायिकाओं के 'आठ प्रकार' कहे गये हैं। उनमें से यहाँ 'स्वाधीनरतिका' (स्वाधीनभर्तृका) नायिका कही गई है।

स्वाधीनपतिका नायिका का लक्षण 'सरस्वतीकाटाभरणकार' ने बताया है—

"स्वाधीनपतिका सा तु यस्याः पार्श्वं न मुञ्चति।
पतिश्चित्ररतक्रीडारसास्वादनलोलुपः॥"

—(सर० कण्ठा० ५।११८)

'प्रभाव प्रभव'—यह विशेषण जब 'स्वाधीनपतिका' के साथ अन्वित होता है, तब 'प्रभाव' का अर्थ—'अनुराग' और वही जब 'बजयश्री' के साथ अन्वित होता है, तब 'प्रभाव' का अर्थ—'पराक्रम' समझना चाहिये। दोनों पक्षों में 'प्रभव' का अर्थ—'उद्गम स्थान' है। अभिप्राय यह है कि 'स्वाधीनपतिका नायिका' अपने 'पति' पर केवल 'हुकूमत' ही नहीं किया करती, अपितु उस पर हृदय से 'प्रेम' भी किया करती है और 'विजयश्री' भी पराक्रम को छोड़कर किस पर लुब्ध होगी? अतएव कहा जाता है—'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैतिलक्ष्मीः'।

'स्वप्नेऽपि'—यहाँ पर 'स्वप्न' किसका? 'उपमान' पक्ष में 'स्वाधीनपतिका नायिका' के—सपत्नियों का। और 'उपमेय' पक्ष में 'राजा' के शत्रुओं का। स्वाधीनपतिका नायिका का 'पति' इतना उसके वंशगत है, कि नायिका के 'सपत्नियों' को स्वप्न में भी 'राजा' अपनी नियिका से वियुक्त (अकेला) नहीं दिखाई देता। तथा राजा के पराक्रम का इतना प्रभाव है कि उसके (राजा के) 'शत्रुओं' को स्वप्न में भी अपना पराभव ही दिखाई देता है। अर्थात् 'राजा' का पराजय तो उन्हें स्वप्न में भी नहीं दिखाई पड़ता।

अथवा 'स्वाधीन पतिका' और 'विजयश्री' को पड़ने वाला स्वप्न भी कहा जा सकता है। अर्थात् 'उपमान' पक्ष में 'मुख्यार्थ' से और 'उपमेय' पक्ष में 'लक्षणा' से। स्वाधीनपतिका नायिका को 'पति' का विरह, स्वप्न में भी असह्य हो जाता है। और 'विजयश्री' 'राजा' को विजयमाला पहिनाने में कभी भी चूकती नहीं।

'विजयश्रीः'—विजयः एवश्रीः। 'श्रीः' का अर्थ—'शोभा' है। 'विजय' और 'शोभा' में 'जन्य-जनकभाव सम्बन्ध है। अतः 'विजयश्रीः' में शुद्धा सारोपा-लक्षणा है। 'शोभा' पदार्थ, वस्तुतः 'अचेतन' है, अमूर्त है। उस पर 'न मुञ्चति'—इस चेतन धर्म का आरोप किया गया है। 'समरेषु'—यह बहुवचन साभिप्राय है। शत्रुओं के साथ राजा का युद्ध अनेक बार होता रहता है। परन्तु शत्रुओं को एक बार भी विजय नहीं प्राप्त होता था।

(२ वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा)

चकितहरिणलोललोचनायाः
क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः
सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥ ३९१ ॥

२–वाक्यगा आर्थी पूर्णा उपमा—

यह वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण है।

क्रुधि तारुणारुणतारहारकान्ति तस्याः चकितहरिणलोललोचनायाः आननम्, इदं च (तरुणारुणतारहारिकान्ति) सरसिजं समम् इति (कश्चित्) चेतसि संमदं विधत्ते ॥

चकितेति । भयभीत अर्थात् चकित हरिणी के समान चञ्चल नेत्रोंवाली उस नायिका का क्रोध में प्रातःकालिक (तरुण) अरुण (सूर्य-सारथी) के समान (तार) अत्यन्त सुन्दर कान्ति वाला (क्रोध से आरक्त) मुख और यह (हाथ में लिया हुआ) कमल दोनों एक से (सम) हो रहे हैं। उस कारण (क्रोध से आरक्त हुआ नायिका का मुख भी नायक के) मन में आनन्द उत्पन्न करता है ॥ ३९३ ॥

इस उदाहृत पद्य में 'सरसिज' (कमल)—उपमान है। 'आनन' (मुख)—उपमेय है, 'तरुणारुणतारहारिकान्तिमत्त्व'—साधारण धर्म है, और 'समम्'—उपमा वाचक शब्द है। इस उपमा में चारों उपमाघटक विद्यमान हैं, उस कारण यह 'पूर्णोपमा' है। ये सब असमस्त अर्थात् अलग-अलग हैं उस कारण यह 'वाक्यगा' है। उपमावाचक शब्द 'समम्' यह तुल्यादि वर्ग का है, उस कारण यहाँ आर्थी उपमा है।

विवरण—

कोई सखी अपनी सखी से किसी नायिका के सौभाग्य का वर्णन इस पद्य में कर रही है। 'चकित-हरिण-लोललोचनायाः'—चकितः (त्रस्तः = भीतः) यः हरिणः (कुरङ्गः) तस्य लोले (चञ्चले) लोचने (नेत्रे) इव लोचने यस्याः, तस्याः। अथवा 'हरिण' शब्दस्य तल्लोचने लक्षणा। तथा च 'चकित-हरिणवत् लोले लोचने यस्याः तथाभूतायाः तस्याः (प्रक्रान्तः-नायिकायाः) क्रुधि (क्रोधे) सति तरुणः यः अरुणः (सूर्य-सारथिः) तद्वत् तारा (उद्भटा, उत्कटा, पुष्टा वा) हारिणी (मनोहरा) अथवा तरुणारुणः (गाढरक्तः) यः तारः (शुद्धमौक्तिकं) तस्य हारिणी (अनुकारिणी) कान्तिः (शोभा) यस्य तादृशम् आननम्, इदं हस्तस्थं सरसिजं (रक्तोत्पलं) च समं (समानं तुल्यमिति हेतोः) चेतसि (नायकचित्ते) सम्मदं (हर्षं) विधत्ते (कुरुते) ॥

अर्थात् क्रोध के समय चकित भयभीत हरिण की भाँति चञ्चल नेत्रवाली नायिका का तरुण (गाढ) अरुण (लाल) मोती की सी (मोती को अनुकारिणी) कान्ति से युक्त मुख और हाथ में लिया हुआ यह रक्त-कमल—ये दोनों समान (एक से) लग रहे हैं, उस कारण नायक के चित्त में आनन्द पैदा कर रहे हैं ॥

यहाँ 'सरसिजम्'—उपमान है। 'आननम्' उपमेय है। 'तरुणारुणसदृश-कान्तिमत्त्व'— 'साधारण धर्म' है। 'समम्' शब्द,'अर्थबलात्' उपमा का प्रतिपादन कर रहा है। और 'समम्' के साथ किसी का भी समास नहीं है, अतः यह वाक्यगा-आर्थी पूर्णा उपमा है। यहाँ पद्य श्रवण के समनन्तर ही प्रथमतः 'उभयं समम्' यह प्रतीति होती है, पश्चात् 'व्यञ्जना' के द्वारा परस्पर निरूपित 'सादृश्य' की प्रतीति होती है। अर्थात् यहाँ पर साधर्म्य से(उपमान और उपमेय के परस्पर साधारणधर्म से) सम्बद्ध होना साक्षात् शब्द-प्रतिपाद्य नहीं है, अपितु अर्थ-सामर्थ्य लभ्य है। इसी तथ्य को उद्योतकार ने भी बताया है—'अत्र सरसिजमाननं च सममित्यत्र प्रथमं सादृश्यवत् अभिन्नमिदं द्वयमिति बोधे पश्चान्मनसा व्यञ्जनया वा परस्परनिरुपित-साधारणधर्मसम्बन्धप्रतीतिरिति ध्येयम्' इति। अर्थात् क्रोध से रक्त (लाल) हुआ 'नायिका का मुख' और 'लाल कमल'—इन दोनों में तरुण अर्थात् नवोदित अरुण की (अरुण = सूर्य सारथी, स्थूल अर्थ 'उषःकान्ति) तार अर्थात् उत्कट और 'हारि' अर्थात् मनोवेधक 'लाल कान्ति जैसी कान्ति का होना'—यही दोनों का साधारण-धर्म है। यहाँ पर 'उपमेय' का स्मरण हो रहा है, उसे 'तस्याः' पद से बताया गया है, क्योंकि 'तत्' इस सर्वनाम का प्रयोग आँख से ओझल रहनेवाली वस्तु के निर्देशार्थ किया जाता है। और 'इदम्' इस सर्वनाम का प्रयोग समीपस्थिति वस्तु के निर्देशार्थ किया जाता है। 'उपमेय' स्मर्यमाण होने से यहाँ पर 'स्मरण' अलंकार का भ्रम नहीं करना चाहिए। 'स्मरण अलंकार में स्मरणार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है, 'तुलनार्थक शब्द' का प्रयोग नहीं किया जाता। 'इदम्', 'एतद्' और 'अदस्' तथा 'तद्' सर्वनाम शब्दों का प्रयोग कब किया जाता है, उसे एक कारिका के द्वारा बताया गया है—

"इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदोरूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्" ॥

उदाहृत पद्य में 'इदम्' का प्रयोग, 'सरसिजम्' का निर्देश कर रहा है। 'इदम्' का अन्वय, 'आननम्' के साथ नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह आँख से ओझल (परोक्ष) है। विरहपीडित प्रेमी को अपनी प्रियतमा के 'कुपित मुख' का स्मरण भी अच्छा लगता है, उसे वह पीडादायक नहीं प्रतीत होता। जैसे उत्तर मेघ के ४२वें

३ (समासगा श्रौती पूर्णोपमा)

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥ ३६४ ॥

श्लोक—"त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायामात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् । अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः" ॥ में बताया गया है ।

'चकितहरिणलोल-' इस उदाहृत पद्य में नायिका के नेत्रों में भयभीत होने से किंकर्तव्यविमूढ (चकित) मृगी के नेत्रों की समानता का उल्लेख, 'उपमानभूत-कमल' में मंडराने वाले भ्रमरों को सूचित कर रहा है। एवं "चकित हरिणं" (चकितहरिणस्य कोललोचने इव लोललोचने यस्याः सा तस्याः) और "तरुणारुण०" (तरुणारुणस्य तारहारिकान्तिः इव तारहारिकान्तिः यस्य तत्)—इन दो विशेषणों में 'त्रिलुप्ता उपमा' है ।

जहाँ 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः'—(पा. सू. ५।१।११५) सूत्र से 'तुल्य के (सामान्य-साहश्यरूप) अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है वहाँ भी 'उपमा' को 'आर्थी' ही समझना चाहिए। अभी तक किये गये विवेचन का निष्कर्ष इस प्रकार है ।

पूर्णोपमा में—उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमानवाचक शब्द—इन चारों को शब्द के द्वारा स्पष्टतः कहा जाता है। वाक्यगा उपमा में—उक्त 'चारों अवयव' अलग-अलग (असमस्त) कहे जाते हैं। समासगा पूर्णोपमा में चारों से से किन्हीं दो का समास किया जाता है। अभी तक 'वाक्यगाश्रौती तथा आर्थी उपमा' के उदाहरणों को समझाया गया। अब समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण बतावेंगे ।

(३—समासगा श्रौती पूर्णा उपमा का उदाहरण)

अत्यायतैरिति यह 'समासगा श्रौती उपमा' का उदाहरण है। शौरिः (अत्यायतैः उद्धतानां नियमकारिभिः, दिव्यैः, प्रभाभिः (युक्तैः) अनपायमयैः, लक्ष्मीविलासभवनैः, चतुर्भिः)भुजैरिव,यः(प्रकृतो राजा)अत्यायतैः···चतुर्भिः उपायैः सदा अदः भुवनं बभार ॥

शौरि अर्थात् श्रीकृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूप में) अपनी चार भुजाओं से संसार को धारण करते हैं, उसी प्रकार राजा भी (साम-दान-दण्ड-भेदरूप) चार उपायों से सर्वदा संसार का पालन करता था—(यह मुख्य वाक्यार्थ है)। शेष पाँच विशेषण

हैं, जो विष्णु की भुजाओं और सामादि उपायों दोनों पक्ष में लगते हैं। जैसे—(१) 'अत्यायतैः' अर्थात् (बाहुपक्ष में) बहुत लम्बे [आजानुलम्बी] बाहुओं और (उपाय पक्ष में) अतिशुभ परिणाम वाले, उपायों से, (२) उद्धतों का नियन्त्रण करने वाले ('उद्धतानां नियमकारिभिः'—यह विशेषण दोनों पक्षों में समान ही है)। (३) (दिव्यैः) दिव्य अर्थात् अलौकिक (बाहुओं, तथा उत्कृष्ट उपायों से)। (४) (प्रभाभिः) कान्तियों (से युक्त बाहुओं से तथा प्रभावशील उपायों से, अथवा 'प्रकर्षेण भान्तीति प्रभाः तैः'—इस व्युत्पत्ति से दोनों पक्षों में प्रकृष्ट शोभा से युक्त बाहुओं तथा उपायों से। (५) अनपायमयैः = अपायाभावप्रचुरैः अर्थात् सर्वदा सफल होने वाले और (६) लक्ष्मीविलासभवनैः अर्थात् लक्ष्मी (विष्णुपत्नी तथा सम्पत्ति) के आधार भूत 'चतुर्भिः भुजैरिव' चार बाहुओं के समान (सामादि चार) उपायों से (जो राजा संसार का पालन सर्वदा करता था) ॥ ३९४ ॥

विवरण—प्रस्तुत उदाहरण 'समासगा श्रौतीपूर्णा उपमा' का है। शूरनामक यादव का गोत्रापत्य पुरुष 'शौरि' कहलाता है अर्थात् श्रीकृष्ण है। अमरकोश में भगवान् कृष्ण के अनेक नामों में से एक नाम 'शौरि' भी बताया है—"देवकीनन्दनः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः"। राजनीति के चार उपाय 'साम-दान-भेद-विग्रह' हुआ करते हैं। उदाहृत पद्य में 'भुज' और 'उपाय' के छह विशेषण दिये गये हैं। ये सब श्लिष्ट हैं। इस पद्य में किसी राजा का वर्णन है, जिसने राजनीति के सिद्धान्तों का अनुसरण करके पृथ्वी का पालन किया है।

इस पद्य में 'भुज'—उपमान हैं, 'उपाय'—उपमेय हैं, 'अत्यायतत्व' आदि—साधारण धर्म हैं, और 'इव'—उपमावाचक शब्द है। "इवेन (नित्य) समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च"—इस वार्तिक के अनुसार 'भुजः' इस उपमान-के साथ 'इव'—इस उपमावाचक पद का समास होने से यह 'समासगा श्रौती पूर्णा 'उपमा' का उदाहरण है। उपमा के चारों घटक विद्यमान रहने से यह उपमा 'पूर्णा' है, 'इव' शब्द घटित होने से 'श्रौती' है, और 'भुजैरिव' में 'उपमान' और 'उपमा-वाचक 'इव' का समास होने से ('भुजैरिव' पद 'समस्त पद' हैं, 'व्यस्त पद' नहीं है) 'समासगा' है। 'इवेन समासो विभक्त्यलोपः'—इस वार्तिक के अनुसार 'सुप्-सुप्' समास और विभक्ति का अलोप, दोनों हो रहे हैं। किन्तु यह समास वैकल्पिक (ऐच्छिक) होने से जब समास नहीं करेंगे तब इसे 'वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा' ही कहना होगा। और समास करने पर इसे 'समासगा श्रौती पूर्णोपमा' कहना होगा। उपमान और उपमेय के साथ 'अत्यायतैः' आदि विशेषणों के भिन्न-भिन्न अर्थों को लेकर अन्वय होता है। जैसे—(१) अत्यायतैः अर्थात् अतिदीर्घ (आजानुलम्बी) भुजाओं (बाहुओं) से। आजानुलंबी भुजाओं का होना 'महापुरुषों' का लक्षण माना

गया है महापुरुषों के हाथ, 'घुटनों' तक लम्बे होते हैं। (२) दूर तक अर्थात् भविष्यत्-काल में भी परिणामकारक 'उपायों' से।

'उद्धतानां नियमकारिभिः—(१) उन्मत्त दानवों का निर्दंबन करनेवाले बाहुओं (भुजाओं) से, (२) कुमार्ग पर चलने वाले उन्मत्त लोगों का अथवा उद्धत शत्रुओं का शासन करने वाले 'उपायों' से, दिव्यैः—(१) अलौकिक, स्वर्गीय भुजाओं से, (२) उत्कृष्ट उपायों से।

प्रभाभिः—(युक्तैः, उपलक्षितैः)—(१) तेजस्वी भुजाओं से, (२) प्रभावशाली उपायों से। 'प्रभाभिः' यह उपलक्षणे तृतीया है, जैसे–'जटाभिस्तापसः' अर्थात् जटाभिः उपलक्षितः तापसः।

अनपायमयैः—(नञ्+अपायमयैः)—(१) अविनाशी बाहुओं (भुजाओं) से, (२) अकुंठित, (अनिरुद्ध या विफलतारहित अर्थात् सफल) उपायों से।

लक्ष्मीविलासभवनैः—(१) सागरकन्या लक्ष्मी के विलासों की आश्रयभूत भुजाओं से, क्योंकि लक्ष्मी को 'शौरी' (विष्णु) की पत्नी कहा गया है। (२) राजश्री के उत्कर्ष के उपायों से।

चतुर्भिः—(विष्णु को चतुर्भुज कहते हैं, क्योंकि उन्हें चार भुजाएँ हैं), और राजनीति के अंगभूत भी चार ही उपाय (साम-दान-भेद-दण्ड) हैं। कोई पिता, अध्ययन न करनेवाले अपने पुत्र से कहता है—

"अधीष्व पुत्रकाधीष्व, तुभ्यं दास्यामि मोदकान्।
यद्वान्यस्मै प्रदास्यामि, कर्णमुत्पाटयामि ते'॥

इस श्लोक में उपर्युक्त चारों उपायों को क्रम से बताया गया है।

शंका०–'भुजैरिव' पद को यदि 'समस्तपद' मानते हैं तो 'अत्यायतैः' आदि विशेषणों का अन्वय, पूर्वोक्त पद के एकदेशभूत 'भुजैः' के साथ कैसे होगा? क्योंकि 'पदार्थः, पदार्थेन अन्वेति, न तु पदार्थैकदेशेन' कहकर एक देशान्वय का निषेध किया गया है। अर्थात् एक पदार्थ, दूसरे पदार्थ के साथ तो अन्वित हो सकता है, किन्तु दूसरे पदार्थ के एक देश के साथ कभी भी अन्वित नहीं होता। इस नियम के अनुसार जब 'अत्यायतैः' आदि विशेषणों का पदैकदेशभूत 'भुजैः' के साथ 'अन्वय' का होना संभव ही नहीं तो 'अत्यायतत्व' आदि को 'साधारणधर्म' भी कैसे कहा जायगा? तब तो 'उपमा' का निष्पन्न होना ही संभव नहीं होगा। तब 'समासगा' उपमा को यहाँ बताना उचित नहीं है। अतः 'स्वप्नेऽपि समरेषु त्वाम्'—की तरह यह उदाहरण भी 'वाक्यगा उपमा' का ही है, 'समासगा उपमा' का नहीं।

५ (समासगा आर्थी पूर्णोपमा)

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः ।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ॥ ३९५ ॥

समा०—यहाँ यद्यपि 'भुजैः' यह 'पदार्थ' नहीं है, वह 'पदार्थैकदेश है, क्योंकि 'भुजैरिव'—इस पदार्थ का ही वह अंग (एकदेश) है। उस कारण 'अत्यायतैः' आदि विशेषणों का 'शाब्दिक अन्वय' नहीं कर सकते हैं, तथापि 'आर्थिक अन्वय' करने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि 'उपमेय' में ही 'विशेषणों' का शाब्दिक अन्वय किया-जाता है, किन्तु 'उपमान' में 'आर्थिक' अन्वय भी किया जाता है—'उपमेये एव शाब्दो विशेषणानामन्वयः, उपमाने तु आर्थिकोऽपोति सम्प्रदायः'। अतएव—

'एतस्मिन्नधिकपयःश्रियं वहन्त्यः संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः ।
वाल्मीकेररहितरामलक्ष्मणानां साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः' ॥
—(माघ० ४।५९)

इसमें महाकवि माघ ने विशेषणों का आर्थिक अन्वय किया है तब भी यहाँ 'उपमा' मानी गई है। इसलिए प्रस्तुत उदाहरण में 'समासगा श्रौती पूर्णोपमा' स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। महाभाष्यकार ने भी इसी तरह कहीं-कहीं प्रयोग किया है—"सक्त्वाढकमापणीयानाम्", "किमोदनः शालीनाम्"—यहाँ एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थैकदेश का अन्वय किया गया है। अतः पदार्थैकदेश 'भुजैः' के साथ उसके 'अत्यायतैः' आदि विशेषणों का अन्वय करना अनुचित नहीं है।

कुछ व्याख्याकारों ने उक्त शंका का समाधान इस प्रकार भी किया है—इन 'इव-आदि' को 'उपमान' के विशेषण मानकर मूलकारोक्त सिद्धान्त के अनुसार 'इव' शब्द-के 'साधर्म्य' रूप अर्थ का विशेषणतया भान होने के कारण 'भुजैरिव' इस समस्त पद से 'साधर्म्यविशिष्टैः भुजैः' इस प्रकार अर्थ प्रतीत होता है। तब विशेष्यभूत 'भुज'-के साथ 'विशेषणों' का अन्वय सरलतया हो जाने से कोई किसी प्रकार की शंका के लिये अवकाश नहीं रहता। एवं च प्रस्तुत उदाहरण 'समासगा श्रौती पूर्णोपमा' का ही है।

(४—समासगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण)

कोई कवि किसी उदार राजा को लक्ष्य कर कह रहा है—अवितथेति। हे-क्षितीश्वर ! अवितथमनोरथपथप्रथनेषु ....गीतश्रीः सुरतरुसदृशः सः भवान् कस्य न अभिलषणीयः ?। हे पृथ्वीपालक राजन् ! लोगों के मनोरथों की सफलता के मार्गों-का विस्तार करने में अपने प्रकृष्ट गुणों के कारण सर्वलोक-प्रशंसनीय लक्ष्मी की समृद्धि-से सम्पन्न कल्पवृक्ष के तुल्य रहने वाले आपको कौन नहीं चाहता है ? अर्थात् सभी-लोग आपको चाहते हैं ॥ ३९५ ॥

६ (तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा)

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत् ।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥ ३९६ ॥

विवरण—यहाँ पर 'सुरतरु'—उपमान है । 'भवान्'—उपमेय हैं । 'प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व' अथवा 'अभिलषणीयत्व' साधारणधर्म है । 'सदृश' शब्द—उपमाप्रतिपादक है । 'सुरतरु-सदृशः' में उपमान और उपमाप्रतिपादक पदों का समास हुआ है । उस कारण यह समासगा, और 'सदृश' शब्द-तुल्यादि वर्ग का होने से आर्थी, तथा उपमाके चारों अंग विद्यमान होने से पूर्णा है ।

एवं च प्रस्तुत उदाहरण में समासगा आर्थी पूर्णोपमा है । याचक(प्रार्थी) जनों के मन में किसी वस्तु की इच्छा उत्पन्न होते ही स्वर्गीय कल्पवृक्ष के समान उस इच्छाको पूर्ण करदेनेवाला यह राजा, उदारशिरोमणि-दानवीर है । कल्पवृक्ष के समान ऐसे राजा को कौन नहीं चाहेगा ? अर्थात् सभी कोई चाहेगा, सभी को वह स्पृहणीय रहता है । 'अवितथ' का अर्थ—सत्य, सफल, पूर्णकरना । 'सफल'—आशाओं का मार्ग प्रशस्त बना देना, अर्थात् आशापूर्ति को सब तरह से सरल बना देना । 'प्रगुण'=प्रकृष्टगुण । गरिमन् का अर्थ है--माहात्म्य । यहाँ पर 'सः' पद, केवल सम्बन्ध बोधक है । 'सः भवान्' अर्थात् 'वह तू' इसका तात्पर्य है—एवंगुणविशिष्ट ऐसा तू ॥३९५॥

(५-६—तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण)

तद्धितगा श्रौती उपमा का उदाहरण दे रहे हैं—गाम्भीर्येति ।

वास्तव में उस राजा की गाम्भीर्य-गरिमा गङ्गा-भुजङ्ग (समुद्र) की तरह है । (गंगा का उपपति 'समुद्र' है, क्योंकि गंगा के वास्तविक पति तो 'शन्तनुराजा' थे ।) 'भुजङ्गवत'—यह तद्धितप्रत्ययान्त है । उस कारण—यह पूर्वार्ध, तद्धितगा श्रौतीपूर्णोपमा का उदाहरण है ।

दुरालोकेति । वह राजा संग्राम में ग्रीष्मकालीन अम्बरमणि (सूर्य) की तरह दुर्दर्शनीय है । ग्रीष्म में सूर्य का तेज असह्य हो जाता है ॥३९६॥

'अम्बररत्नवत्' यह तद्धितान्त है, उस कारण यह उत्तरार्ध, 'तद्धितगा आर्थीपूर्णोपमा' का उदाहरण है ।

विवरण—प्रस्तुत पाँचवे उदाहरण के पूर्वार्ध में 'श्रौती' और उत्तरार्ध में 'आर्थी' उपमा को बतामा गया है । किसी राजा की विलक्षण गंभीर प्रतिभा तथा तेजस्विता का वर्णन इस पद्य में किया गया है ।

पद्य के पूर्वार्ध में 'गङ्गाभुजङ्ग'—उपमान है, 'तस्य' पद से निर्दिष्ट 'राजा'—उपमेय है, 'गाम्भीर्यगरिमा'—साधारण धर्म है, और इवार्थक 'वति' तद्धित प्रत्यय उपमाप्रतिपादक शब्द है ।

तथा उत्तरार्धं में 'निदाघाम्बररत्न'—उपमान है, 'सः' पद से निर्दिष्ट 'राजा'—उपमेय है, 'दुरालोकत्व साधारण धर्म है, और तुल्यार्थक 'वति', यह तद्धितप्रत्यय—उपमाप्रतिपादक शब्द है।

गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति 'गङ्गाभुजङ्गवत्'—इस प्रकार विग्रह करने पर 'गङ्गाभुजङ्गस्य' इस षष्ठ्यन्त पद से 'इव' के अर्थ में 'तत्र तस्येव—(पा. सू. ५।१।११६) सूत्र से 'वति' प्रत्यय जोड़ा गया है। अतः 'पूर्वार्धं' में तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

उसी तरह 'निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम् इति निदाघाम्बररत्नवत्'—इस प्रकार विग्रह करने पर तृतीयान्त 'निदाघाम्बररत्नेन' पद से 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः'—(पा. सू. ५।१।११५) सूत्र से 'वति' प्रत्यय जोड़ा गया है। अतः 'उत्तरार्धं' में 'तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा' का उदाहरण है।

(अलङ्कारों के उदाहरणों पर आक्षेप)

शंका—काव्यप्रकाशकार मम्मट ने प्रथम उल्लास में बताया था कि "गुणालङ्कारयुक्तम् अव्यङ्ग्यं चित्रम्" अर्थात् 'गुण' और 'अलङ्कार' से युक्त काव्य, 'व्यङ्ग्यरहित' होने के कारण 'चित्रकाव्य' कहलाता है। इसी प्रकार षष्ठ उल्लास के अन्त में कहा था कि "तत्र च (चित्रकाव्ये) शब्दार्थालङ्कारभेदात् बहवो भेदाः, ते च अलङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते"। अभिप्राय यह है कि 'शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार आदि के भेद से चित्रकाव्य के अनेकानेक भेद हो सकते हैं, उनका निरूपण अलङ्कारनिर्णय करने के प्रसङ्ग में करेंगे। इन दोनों उल्लेखों से यह समझ में आता है कि (१) सभी अलङ्कार 'चित्रकाव्य' के उदाहरण होते हैं और (२) वे सब 'व्यङ्ग्य' से रहित होते हैं। इन दोनों का प्रकृत उदाहरणों में विरोध उपलब्ध हो रहा है। क्योंकि 'स्वाधीनपतिका यथा' (३९२ श्लो०) इत्यादि उपमालङ्कार के उदाहरण में "स्वाधीनपतिका नायिका", पति के साथ रमण करती हुई जिस प्रकार अलौकिक आनन्द का अनुभव करती है उसी प्रकार 'विजयश्री' भी तुम्हारा सेवन करती हुई अलौकिक आनन्द का अनुभव करती है,"—इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति इस उदाहरण में भी हो रही है। इस व्यङ्ग्यार्थ को यदि 'प्रधान' माना जाय तो यह काव्य, 'ध्वनिकाव्य' का उदाहरण कहलायेगा, और इस व्यङ्ग्यार्थ को यदि अप्रधान माना जाय तो यह 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का उदाहरण कहलायेगा। इसलिये यह उदाहरण अलङ्कारयुक्त रहने पर भी 'चित्रकाव्य' का उदाहरण नहीं बन सकता। अतः इस उदाहरण को 'ध्वनिकाव्य' अथवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' का उदाहरण कहना चाहिये। एवं च अलङ्कारों को 'व्यङ्ग्यरहित' और 'चित्रकाव्य' कहना ठीक नहीं है।

(अत्राऽऽशङ्का समाधानञ्च)

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम् । वैचित्र्यंचालङ्कारः तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः । न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्श-

---

क्योंकि पूर्वापर का विरोध दिखाई दे रहा है । अर्थात् चित्रकाव्य के प्रकारों के निरूपण का प्रस्ताव और बाद में व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा रखने वाले सन्दर्भों का उदाहरण—यही पूर्वापर विरोध है ।

उक्त आशङ्का का निरसन करने के लिये ग्रन्थकार मम्मट कह रहे हैं—

समा०—स्वाधीनपतिका कान्तमिति । स्वाधीनपतिका नायिका 'पति' के साथ रमण करती हुई जिस प्रकार लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करती है, उसी प्रकार 'जयश्री' आपका सेवन करती हुई लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करती है—इस व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अर्थ के बिना यद्यपि 'उक्ति' में चमत्कार उपलब्ध नहीं होता है, और 'उक्ति का वैचित्र्य' ही अलङ्कार कहा जाता है ।

तथापि नेति । तथापि उक्त उदाहरण में 'ध्वनि' अथवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का व्यवहार नहीं किया जाता । यदि "व्यङ्ग्य" अर्थ का 'स्पर्श' यहाँ न हो तो 'अलङ्कार' भी नहीं हो सकेगा, और यदि 'व्यङ्ग्य' अर्थ का स्पर्श हो तो इसे 'ध्वनिकाव्य' अथवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' कहना होगा । किन्तु वैचित्र्य रूप अलङ्कार के रहने पर भी इसे 'ध्वनिकाव्य' अथवा 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' नहीं कहा गया है, क्योंकि यहाँ 'व्यङ्ग्यार्थ' के संस्पर्शमात्र से 'चारुता' का अनुभव नहीं हो रहा है, अपितु 'यथा' आदि 'उपमावाचक' पदों से वाच्य होनेवाले 'उपमा अलङ्कार' के वैचित्र्य से ही 'चारुता' का अनुभव हो रहा है । उस कारण 'व्यङ्ग्यार्थ' का संस्पर्श होने पर भी 'यहाँ' उपमालङ्कार ही माना गया है ।

इस समाधानपरक ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि उक्त उदाहरण में 'व्यङ्ग्यार्थ'-का संस्पर्श है—यह कहना सत्य है, तथापि काव्य का चमत्कार, उस व्यङ्ग्यार्थ के संस्पर्श के कारण नहीं है, अपितु उपमावाचक 'यथा' आदि पदों से वाच्य जो वैचित्र्य है, उसीके कारण 'चमत्कार' का अनुभव हो रहा है । इसलिये उक्त उदाहरण को ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं माना जा रहा है, उसे तो 'अलङ्कार' की प्रधानता रहने से 'उपमा चित्र' ही कहना उचित है । अतः उक्त उदाहरण में पूर्वापरविरोध-की आशंका करना उचित नहीं है ।

शंका—उक्त उदाहरण (स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां) में 'शृङ्गार' रस की प्रतीति हो रही है, और काव्य में 'रस' की ही प्रधानता हुआ करती है, उसकारण इसे 'ध्वनि' काव्य क्यों नहीं कहा जाता ?

परामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः, अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीत्यगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

किञ्च उक्त उदाहरण में 'उपमालङ्कार' के साथ ही 'स्वप्नेऽपि समरेषु' तथा 'प्रभावप्रभवं' इन अंशों में 'अनुप्रास' अलंकार भी विद्यमान है। अतः इस काव्य को 'उपमालंकार' का उदाहरण न कह कर 'सङ्कर' अथवा 'संसृष्टि' अलंकार का उदाहरण मानना उचित होगा।

ग्रन्थकार इस आशंका का समाधान दे रहे हैं—रसादिस्त्विति। ये जो उदाहरण दिये गये हैं, वे रसादिरूप व्यङ्ग्यार्थ अथवा अन्य किसी अलङ्कार का अस्तित्व दिखाने के लिये नहीं दिये गये हैं, क्योंकि अलङ्कारों के सभी उदाहरणों में 'रस' आदि 'व्यङ्ग्य' अर्थ, और अन्यान्य अलङ्कार निश्चित रूप से (अव्यभिचरित रूप से) (सर्वत्राऽव्यभिचारी)रहते ही हैं। इसलिये उनकी'उपेक्षा' करते हुए ही(इति अगणयित्वैव) अर्थात् प्रसंग के अनुसार अनावश्यक समझकर अलङ्कारों के उदाहरणों को दिया है। 'अलङ्कारों' के उदाहरण इसलिये प्रस्तुत किये गए हैं कि इनमें वाच्य-वैचित्र्य को बताना अभीष्ट है। क्योंकि रसभावादिकों से रहित अलङ्कारों के उदाहरण देने पर तो वे सब नीरस ही हो जाएँगे, और नीरस उदाहरण देना तो उचित नहीं होगा। इसलिये हमने दिये हुए उदाहरणों में 'रस' तथा अनुप्रासादि अन्य अलङ्कारों की विद्यमानता रहने पर भी उनको 'उपमादि विशेष अलङ्कार' के उदाहरण के रूप में जो कहा है, उसमें 'पूर्वापरविरोध' की आशंका करना उचित नहीं है। जो पीछे 'अलङ्कारनिर्णयेन निर्णेष्यन्ते'—कहा था, उसका समाधान तो यह है कि जब अलङ्कारों का निरूपण होगा, उसे ही 'चित्रकाव्य' का निरूपण समझना। इसी आशय से 'निर्णेष्यन्ते' कहा है, 'उदाहरिष्यन्ते' नहीं कहा।

विवरण—उपर्युक्त आक्षेप (आशंका) और उसके समाधान का अभिप्राय यह है, अर्थात् अलङ्कारों के उदाहरणों पर आक्षेप करनेवाले का आशय यह है कि—पूर्णोपमा के उदाहरणों को पढ़ कर किसी के भी मन में यह आ सकता है कि 'अलङ्कार' अर्थात् 'चित्रकाव्य' (अव्यङ्ग्य काव्य) के प्रकार। ग्रन्थकार ने भी यही कहा है 'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'। किन्तु वही ग्रन्थकार यहाँ अलङ्कारनिरूपण में 'सव्यङ्ग्य काव्य' के अर्थात् 'ध्वनि' अथवा 'गुणीभूत व्यंग्य' काव्य के उदाहरणों को प्रस्तुत कर रहा है। 'चित्रकाव्य' तो 'अव्यङ्ग्य' रहता है, यह बात 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्'—(१-५) से बता चुके हैं। तथा 'अत्र (= चित्रकाव्ये) च शब्दार्थालङ्कारभेदाद्बहवो भेदाः, ते च अलङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते'—(का० प्र० ष० उ० के अन्त में)

यह कह कर अलङ्कारों को चित्रकाव्य के प्रकार स्वरूप ही बताया है। 'ते च अलङ्कार-निर्णये निर्णेष्यन्ते'—यह उक्ति, शब्द और अर्थालङ्कार के निरूपक नवम और प्रस्तुत दशम उल्लास को लक्ष्य करके ही कही गई है।

अब 'स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां' उदाहरण पर विचार करें। अपने पति को अहर्निश अंगुली पर नचानेवाली स्वाधीनपतिका नायिका, कदाचित् तन-मन से अर्थात् अन्तःकरण से यदि प्रेम (भक्ति) करती दिखाई दे तो देखनेवाले को विलक्षण आश्चर्य हो जाता है (लोकोत्तरचमत्कारम्), उसी प्रकार का विलक्षण आश्चर्य—यह विजयश्री भी तेरा ही निदिध्यास करती हुई तेरी सेवा में सतत निरत हुई (त्वत्-आसेवनेन) देखकर होता है। क्योंकि यह विजयश्री, मनुष्यमात्र को अपने पीछे दौड़ाती है, वह अपने प्रति मनुष्य की उत्सुकता को वृद्धिङ्गत किया करती है, विजयश्री स्वयं किसी के पीछे नहीं दौड़ती, न उत्सुक ही रहती है, यह सभी जानते हैं—यह 'व्यंग्यार्थ' इस काव्य में गर्भित है। इस व्यंग्यार्थ का बोध यदि न हो पाया तो 'स्वप्नेऽपि समरेषु'—इस उक्ति में किसी प्रकार का कोई वैचित्र्य (आह्लादकता) प्रतीत नहीं होगा, और जिसमें वैचित्र्यरूप आह्लादकता न रहे, उसे अलंकार भी कैसे कहा जायगा ? क्योंकि 'वैचित्र्यं च अलङ्कारः'। निष्कर्ष यह है कि इस उदाहरण में 'व्यंग्यार्थ' गर्भित होने के कारण और उसकी प्रतीति हुए बिना 'उपमा' का आह्लादकत्व अर्थात् अलंकारत्व ही सिद्ध नहीं हो पारहा है; उस कारण यह उदाहरण 'सव्यंग्य काव्य' का है-यह क्यों नहीं कहते ? तब इस सव्यंग्य काव्य को 'ध्वनि' अथवा 'गुणीभूतव्यंग्य' के क्रम को देखते हुए प्रथम या द्वितीय श्रेणी के स्थान में कहा जाना चाहिए। 'चित्र' नामक तृतीय श्रेणी में इसकी गणना नहीं की जानी चाहिए। तब पहले की हुई प्रतिज्ञा—'अव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्' अर्थात् अव्यंग्य काव्य का ही एक प्रकार है, जिसे अलंकार अर्थात् चित्र काव्य कहते हैं—की गति (निर्वाह) कैसे होगी ? इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा आक्षेप किये जाने पर=ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने उक्त आक्षेप का समाधान यह दिया है कि 'स्वप्नेऽपि समरेषु'—इस उदाहरण में पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित गर्भित व्यंग्यार्थ वस्तुतः है, उसे हम अस्वीकार नहीं कर रहें हैं, तथापि प्रस्तुत उक्ति में जो चारुता (सौन्दर्य) अनुभूत हो-रही है, वह उस व्यंग्यार्थ के कारण नहीं है। किन्तु प्रस्तुत उक्ति में जो चारुता (सौन्दर्य) प्रतीत हो रही है, वह उसके वाच्यार्थ में रहनेवाली रञ्जकता ज्ञात रहने-से (रञ्जकता समझ में आने से) हो रही है। लौकिक दृष्टि से जिनका परस्पर कथमपि कोई सम्बन्ध नहीं है, उन—'विजयश्री और स्वाधीनपतिका'—में यदि कोई 'साधर्म्य' प्रदर्शित कर दे, तो वही (साधर्म्य ही) दूसरे के मन को रञ्जित कर सकेगा।

किञ्च—यहाँ पर 'साधर्म्य' ही प्रमुखरूप से मनोरञ्जक है, क्योंकि इस काव्य में 'स्वाधीनपतिका' पद के स्थान पर 'सारङ्गनयना (कोई भी सुन्दरी) रख कर उसे

उपमेय भी बना लिया जाय तो भी इनके साधर्म्य में रञ्जकता नहीं रहेगी, और तब प्रदर्शित व्यंग्यार्थ भी उत्पन्न नहीं हो पाएगा। एवं च प्रस्तुत उक्ति (कथन) की रञ्जकता 'व्यंग्यार्थ-निरपेक्ष' रहने से उसके अलंकार कहलाने में कोई बाधा नहीं है। निष्कर्ष यह है कि 'स्वप्नेऽपि समरेषु'—इस उक्ति में जो 'चारुता' का अनुभव हो-रहा है, वह 'वाच्य-वैचित्र्य' (उपमावैचित्र्य) के कारण ही हो रहा है। उस उक्ति में छिपे 'व्यंग्यार्थ' के कारण नहीं है।

पुनरपि एक शंका यह भी है कि चित्रकाव्य के भेद-प्रभेदों का निरूपण उनके लक्षण तथा उदाहरणों के साथ करना चाहिए था, क्योंकि ग्रंथकार ने चित्र (अव्यंग्य) काव्य के प्रकारों के निरूपण करने का प्रस्ताव किया था, उसे यहाँ न करके व्यंग्यार्थ-की अपेक्षा रखनेवाले सन्दर्भों के उदाहरणों को देना आरंभ कर दिया है, तो क्या यह परस्पर विरुद्ध नहीं है ?

इस पर ग्रन्थकार ने समाधान यह दिया है कि हमने ऐसी कोई बात नहीं कही है, जो परस्पर विरुद्ध हो। यहाँ जो उदाहरण दिये गये हैं, वे रसादिरूप व्यंग्यार्थ अथवा अन्य किसी अलंकार का अस्तित्व बताने के लिये नहीं दिये गये हैं,क्योंकि रसादि-रूप व्यंग्यार्थ को तो सर्वत्र ही अव्यभिचरित सत्ता रहती है। हमें तो उन उदाहरणों में वाच्यार्थ-वैचित्र्य बताना है। अतः पूर्वापर विरुद्ध कोई बात नहीं की गई है।

इस पर पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि आपने ऐसे उदाहरणों को क्यों नहीं दिया, जो केवल चित्रकाव्य के ही हों ?

केवल चित्रकाव्य के उदाहरणों को न देने का कारण यह है कि सर्वथा रस-भावादि से रहित अथवा अलंकारान्तरशून्य उदाहरणों को देते तो उनमें काव्य का आस्वाद कैसे मिलता ?

पूर्वपक्षी के कथनानुसार व्यंग्यार्थ और अन्य अलंकारों से रहित केवल प्रकृत अलंकार-के ही उदाहरण तयार कर सकते थे, परन्तु वैसे उदाहरण सहृदय पाठकों को नीरस (आस्वादशून्य) उबा देने वाले लगते (विरसताम् आवहन्ति)।

नीरस उदाहरण जैसे—'गौः इव गवयः'—(उपमा); 'नूनं स्थाणुना अनेन भवित-व्यम्'—(उत्प्रेक्षा), 'लोष्ठ पाषाणः'—(रूपक), 'स्थाणुः वा पुरुषः वा ?'–(स-सन्देह), 'न इदं रजतम्'—(अपह्नुति), 'दण्डेन घटः'—(काव्यलिङ्ग), 'जनेन गम्यते (= जनः गच्छति'—पर्यायोक्त), 'गौः अयम्'—(अतिशयोक्तिः—पुरुष को लक्ष्य करके); 'पर्वतः वह्निमान्, धूमात्'—(अनुमान); 'आद्यन्तौ टकितौ'—(यथासंख्य); 'पुत्रेण सह आगतः पिता'—(सहोक्ति); 'रजतम् इदम्'—(भ्रान्तिमान्—शुक्ति को लक्ष्य करके)।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रकृत अलंकार के सिवाय अन्य किसी का भी समावेश नहीं

है। किन्तु ऐसे उदाहरणों से किसी को भी सन्तोष नहीं होगा। अतः ऐसे उदाहरणों को न देकर काव्य में जिस तरह अलंकार होते हैं, उन्हें यहाँ पर उदाहरणों के द्वारा बताया गया है। उन काव्यों में प्रकृत अलंकार समझने के समय प्रकृत अलंकारातिरिक्त अन्य अंगों की ओर ध्यान नहीं देना है। तभी समझ में आ सकेगा कि पूर्वापरविरोध-का आक्षेप करना व्यर्थ है, (पूर्वापरविरुद्धाभिधानम् इति न चोदनीयम्) 'अलंकार्य'-के सिवाय 'अलंकार' कैसा ?

नमूने के लिये प्रदर्शित किये गये केवल प्रकृत अलंकारों के उदाहरणों को रुचिकर कहना तो दूर ही रहा, सर्वप्रथम तो वह सोचना होगा कि उन उदाहृत विधानों को 'अलंकार' शब्द से कहना भी संभव है या नहीं ?

जिस अलंकार के लिये कोई 'अलंकार्य' न हो, उस अलंकार को 'अलंकार' नाम देना कैसे संभव होगा ? जिस रसादि—व्यंग्यार्थ को सजाने के कारण 'उपमा' आदि को 'अलंकार' नाम से कहा जाता है। काव्यप्रकाशकार मम्मट कहते हैं—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥"

—(का. प्र. उ. ८, सू. ८८, का. ६७)

उक्तकारिका में 'तम्' = रसादिव्यंग्यम्।

वह 'रसादिव्यंग्यार्थ' ही (काव्य की आत्मा हो) जहाँ नहीं है, वहाँ केवल अलंकारों से कौन-सी शोभा होगी ? किसी कवि ने कहा है—

"रसध्वनिर्नं यत्रास्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसम्पदा ॥"

रसादिशून्य अर्थ पर उपमा आदि आभूषण (अलंकार) चढ़ाना और मृत रमणी के कलेवर पर आभूषणों का भार लादने के बराबर ही है।

इसी अभिप्राय से ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी कहा है—

"रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥" (ध्वन्यालोक २।६)।

अभिप्राय यह है कि अलङ्कारों का अलङ्कारत्व सिद्ध होने के लिये किसी 'अलंकार्य'-का होना आवश्यक रहता है, और अलङ्कार को उस अलंकार्य के अनुरूप होना भी आवश्यक होता है। केवल शरीर को अलंकार्य नहीं कह सकते। किन्तु जिसे अपने अलंकृत होने का अभिमान रहता है, वह 'आत्मा' ही वस्तुतः अलंकार्य है। उसे अलंकृत करने में भी 'औचित्य' को देखना होता है। अन्यथा 'अलङ्कार' हास्यास्पद हो-जाता है। अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—'वस्तुतः ध्वन्यात्मा एव अलंकार्यः।··· ··· ··· अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्य अभावात्। यतिशरीरं

कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति; अलंकार्यस्य अनौचित्यात् । न च देहस्य किंचित् अनौचित्यम्, इति वस्तुतः आत्मैव अलंकार्यः, "अहमलंकृतः"—'इत्यभिमानात्'— (लोचन २।६) एवं च रसादिव्यङ्ग्यार्थरूप अलंकार्य के बिना 'अलंकार' निष्प्रयोजन रहने से 'अलंकारों के उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ क्यों ?'–यह प्रश्न करना, अज्ञता का हो सूचक हो जाता है ।

लुप्तोपमा के उन्नीस भेद

यहाँ तक 'पूर्णोपमा' के छह भेदों को प्रदर्शित करने के पश्चात् काव्यप्रकाशकार 'लुप्तोपमा' के उन्नीस भेदों को बता रहे हैं—

'पूर्णोपमा' में उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा उपमावाचक पद, चारों को शब्दतः बताया जाता है । अर्थात् उपमा की सम्पूर्ण सामग्री शब्दतः उपस्थित होने के कारण ही उसे 'पूर्णोपमा' कहा जाता है ।

किन्तु 'लुप्तोपमा' में सम्पूर्ण सामग्री को शब्दतः नहीं बताया जाता । उपमान-आदि चारों में से किसो-न-किसी का लोप अवश्य रहता है, इसीलिये उसे 'लुप्तोपमा' कहा गया है । यह लोप 'उपमान' आदि चारों में से कभी किसी एक का, कभी किन्हीं दो का और कभी किन्हीं तीन का भी हो सकता है । इसलिये 'लुप्तोपमा' के १९ भेद हो जाते हैं । उसी का निम्नांकित विवरण है—

पाँच प्रकार की धर्मलुप्ता

(१) वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्ता
(२) वाक्यगता आर्थी धर्मलुप्ता
(३) समासगा श्रौती धर्मलुप्ता
(४) समासगा आर्थी धर्मलुप्ता
(५) तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता

छह प्रकार की वाचकलुप्ता

(१) समासगा वाचक लुप्ता (कामिनी गण्डपाण्डुना) ।
(२) कर्म में 'क्यच्' प्रत्यय होने पर वाचक लुप्ता (सुतमिवाचरति सुतीयति) ।
(३) आधार में 'क्यच्' प्रत्यय होने पर (अन्तःपुरे इव आचरति अन्तःपुरीयति) ।
(४) 'क्यङ्' प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (नारी इव आचरति नारीयते) ।
(५) कर्म में 'णमुल्' प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यति) ।
(६) कर्ता में 'णमुल्' प्रत्यय होने पर वाचकलुप्ता (पार्थसञ्चारं सञ्चरति) ।

(२ लुप्तोपमायाः १९ प्रकाराः)

(१२८) तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

(धर्मलुप्तोपमायाः पंचप्रकाराः)

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव, तेन पञ्च ।

दो प्रकार की उपमानलुप्ता

(१) वाक्यगा उपमानलुप्ता ।

(२) समासगा उपमानलुप्ता ।

धर्म तथा वाचक दो के लोप में दो प्रकार

(१) क्विप्गता धर्मवाचकलुप्ता

(२) समासगा धर्मबाचक लुप्ता

धर्म तथा उपमान के लोप में दो प्रकार

(१) वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता

(२) समासगा धर्मोपमानलुप्ता

बाचक तथा उपमेय दो के लोप में एक भेद—

(१) 'क्यच्' प्रत्यय होने पर बाचकोपमेयलुप्ता

उपमान, उपमावाचक तथा साधारणधर्म तीनों के लोप में एक भेद—

(१) तीनों का लोप होने पर समासगा ।

इस प्रकार 'लुप्तोपमा' के १९ भेद होते हैं। इन्हीं उन्नीस प्रकारों को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

(सू० १२८) तद्वद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबादौ त्वार्थ्येव । तेन पञ्च । उदाहरणम्—

(२—लुप्तोपमा और उसके १९ प्रकार)

(सू० १२८) तद्वदिति । उसी प्रकार (पूर्णोपमा के छह भेदों के समान ही) 'धर्म' का लोप होने पर तद्धितगत श्रौती को छोड़ कर (यह धर्मलुप्ता, छह के बजाय पाँच प्रकार की) होती है ।

(धर्मलुप्तोपमा के ५ प्रकार)

धर्म इति । 'धर्म' = साधारण धर्म (का लोप होने पर) तुल्य के अर्थ में 'कल्पप्' आदि तद्धित प्रत्ययों के होने पर तो 'आर्थी' (धर्मलुप्ता) ही होती है, (श्रौती 'धर्मलुप्ता' नहीं होती)। उस कारण श्रौती धर्मलुप्ता उपमा का तद्धितगत भेद न होने से 'धर्मलुप्ता उपमा' छह प्रकार की न होकर, केवल 'पाँच प्रकार' की ही होती है ।

विवरण—'धर्मलुप्ता तद्धितगा उपमा' 'श्रौती' नहीं हुआ करती, क्योंकि 'इव' के अर्थ में विहित 'तद्धित प्रत्यय' के प्रयोग करने पर ही उसे 'श्रौती' कह सकते हैं। 'इव' के अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय–'वति' को 'साधारण धर्म' की आकांक्षा रहती है। 'धर्मलुप्ता तद्धितगा उपमा' में साधारण धर्म (साधर्म्य) का उपादान (ग्रहण) न किये जाने के कारण 'वति' तद्धित प्रत्यय का भी उपादान नहीं होता है। इसलिये 'धर्मलुप्ता तद्धितगा उपमा' को 'श्रौती' नहीं कहते। यह 'धर्मलुप्ता तद्धितगा उपमा' तो 'आर्थी' ही कही जाती है। इसमें 'कल्पप्', 'देश्य', 'देशीयर्', 'बहुच्' प्रत्यय हुआ करते हैं। 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्–देश्य-देशीयरः' (पा० सू० ५।३।६७) और 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् तु' (पा० सू० ५.३।६८) उक्त प्रत्ययों का विधान इन सूत्रों ने किया है। एक पदार्थ, दूसरे पदार्थ के करीब–करीब (लगभग) समानता को जब बताते हैं, अर्थात् एक पदार्थ, को दूसरे पदार्थ से किञ्चिन्मात्र ही न्यून (कम) बताना हो तो उक्त चार प्रत्ययों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है। उक्त चार प्रत्ययों में से पहिले तीन प्रत्यय, 'सुबन्त' पदों (नाम—विशेषणों) के अन्त में, उसी तरह 'तिङन्त' पदों (क्रियापदों) के अन्त में जोड़े जाते हैं। किन्तु चोथा 'बहुच्' प्रत्यय केवल सुबन्त पदों में उनका आद्य घटक बनकर जुड़ता है। जैसे—'पटुकल्पः' (= ईषत् असमाप्तः पटुः) अर्थात् करीब–करीब (लगभग) निपुण (कुशल), उसी तरह 'पटुदेश्यः, पटुदेशीयः, पचतिकल्पम्, बहुपटुः' आदि। अतः इसे 'आर्थी' कहा गया है। 'तेन तुल्यं क्रियाचेद् वतिः' (पा० सू० ५।१।११५) सूत्र से होने वाले 'वति' प्रत्यय को 'क्रियासाम्य' की अपेक्षा रहती है। तथा 'तत्र तस्येव' (पा० सू० ५।१।११६) सूत्र से 'इव' के अर्थ में (समानता के अर्थ में) सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त पद से 'वति' प्रत्यय होता है। अर्थात् द्रव की तुल्यता बताने में इस सूत्र से 'वति' प्रत्यय होता है, 'क्रिया' की तुल्यता में नहीं। प्रकृत में साधारण धर्म (साधर्म्य) के अनुपादान करने के कारण 'वति' प्रत्यय करना संभव नहीं है। उसी तरह 'तत्र तस्येव' से होनेवाला 'वति' प्रत्यय, षष्ठ्यर्थ संबंध को नित्य साथ लेकर ही रहता है। वह साधारणधर्मप्रयोज्य सादृश्य, 'संबंध' रूप होने से, जब-तक उसका उपादान नहीं करेंगे, तब-तक साधारण धर्म के अधीन रहनेवाला संबंध भी नहीं मिलेगा। अतः धर्म के अनुपादान में 'तद्धितगा श्रौती' नहीं होगी। अपितु 'कल्पप्' आदि प्रत्ययों के योग में 'आर्थी' लुप्तोपमा ही कही जायगी। एवंच 'श्रौती' न बन सकने के कारण 'धर्मलुप्ता उपमा' के पाँच ही प्रकार (भेद) होते हैं, अर्थात् वाक्यगा श्रौती और आर्थी, समासगा श्रौती और आर्थी तथा तद्धितगा केवल आर्थी—ये धर्मलुप्ता उपमा के पाँच भेद (प्रकार) बताये गये हैं।

उदाहरणम्—

(१ धर्मलुप्ता वाक्यगा श्रौती उपमा)

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृतं यथा ॥ ३९७ ॥

(२ धर्मलुप्ता वाक्यगा आर्थी उपमा)

आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ॥ ३९८ ॥

धन्यस्येति । इस काव्य के द्वारा किसी सज्जन पुरुष के वचनोपदेशों की हितकारिता का वर्णन किया गया है—हे चेतः ! धन्यस्यानन्य-सामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः तस्य वचः सत्यम् अमृतं यथा करणीयम् । अर्थात् असाधारण सौजन्य के उत्कर्ष से शोभायमान उस महात्मा सज्जन का अमृत के समान (परिणाम-मधुर और आनन्ददायक) वचन, हे चित्त ! सचमुच पालन करना ही चाहिए ॥ ३९७॥

(१) प्रस्तुत उदाहरण में 'अमृत'–उपमान है, और 'वचन'—उपमेय है, 'परिणाम-मधुरत्व' (परिणाम-सुरसत्व या परिणामसुखकरत्व) उनका साधारण धर्म है। किन्तु उसके अतिप्रसिद्ध होने के कारण यहाँ उसको शब्दशः बताया नहीं है, उस कारण यह 'धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण है और 'यथा' शब्द, उपमावाचक है। उस 'यथा'-शब्द के साथ 'समास' न होने से यह 'वाक्यगा' उपमा है, और 'यथा' शब्द का प्रयोग करने से यह 'श्रौती' उपमा है। इस प्रकार यह 'वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता उपमा' का उदाहरण है। यहाँ पर 'करणीयत्व' को साधारण धर्म नहीं कह सकते, क्योंकि वह 'अमृत' में बाधित है। 'अनन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः'—समानमेव सामान्यं साधारणम् "ब्राह्मणादिषु चातुर्वर्ण्यादीनामुपसंख्यानम्"—इस वार्तिक से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय किया गया है। "साधारणं तु सामान्यम्" इत्यमरः। अन्यसामान्यम् अन्यसाधारणं यन्न भवति, तत् अनन्यसामान्यं, तादृशं यत् सौजन्यं सुजनत्वं तस्य उत्कर्षेण आधिक्येन शालते शोभते, इति तच्छाली तस्य । उद्योतकार ने 'अनन्यसामान्यस्य' में बहुव्रीहि समास बताया है—

"समानयोः सदृशयोः भावः सामान्यं सादृश्यम् । 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" (पा. सू. ५।१।१२४) सूत्र से ब्राह्मणादि आकृतिगण होने से 'भाव' अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है। न विद्यते अन्यसामान्यम् अन्यसादृश्यम् (अन्यगतसौजन्यसादृश्यं) यस्य । चन्द्रिकाकार ने 'अनन्यसामान्य' को 'उत्कर्ष' का विशेषण बताया है।

अब 'वाक्यगा आर्थी' धर्मलुप्ता उपमा का उदाहरण दे रहे हैं—

(२) आकृष्टकरवाल इति । आकृष्टकरवालः सम्पराये परिभ्रमन् असौ प्रभुः प्रत्यर्थिसेनया कृतान्तेन समः दृष्टः । अर्थात् म्यान से तलवार खींचकर संग्राम में चारों ओर सर्वत्र घूमता हुआ यह राजा, शत्रुसेना को यमराज के समान दिखाई देने लगा ॥ ३९८॥

प्रस्तुत उदाहरण में 'प्रभुः' (=राजा)-उपमेय है, और 'कृतान्त' (=यम)—उपमान है, 'समः' 'तुल्यादि' वर्ग का उपमावाचक शब्द है, अर्थात् 'उपमान'—'उपमेय'—उपमावाचक शब्द तीनों के विद्यमान रहने पर भी 'उपमान' और 'उपमेय' के 'साधर्म्य' अर्थात् सामान धर्म 'क्रूरत्व' को शब्दशः नहीं बताया है, क्योंकि वह क्रूरता-धर्म, अति प्रसिद्ध है। अतः यहाँ जो उपमा है, वह 'धर्मलुप्ता' कही गई है। तथा उपमावाचक 'सम' शब्द का उपमान 'कृतान्त' के साथ समास न करने के कारण यह 'उपमा' वाक्यगा कही गई है। तथा तुल्यार्थक 'सम' शब्द,अपने अर्थ के द्वारा 'साधर्म्य' का आक्षेप करा दे रहा है, इसलिये यह 'उपमा' 'आर्थी' कही गई है। एवंच यह उदाहरण 'धर्मलुप्ता-वाक्यगा-आर्थी उपमा का है।

यहाँ 'आकृष्टकरवालत्व' को साधारण (समान) धर्म, नहीं कह सकते, क्योंकि कृतान्त (यमराज) का शस्त्र, 'दण्ड' है, करवाल (तलवार) नहीं।

तथा 'दृष्टत्व' को भी 'साधारण धर्म' नहीं कह सकते, क्योंकि वह (दृष्टत्वधर्म) केवल राजा पर ही रहता है, 'कृतान्त' (यमराज) पर नहीं, क्योंकि यमराज, 'अदृश्य' रहता है, दीखता नहीं है। 'सम्पराये परिभ्रमन्' को भी 'साधारण धर्म' नहीं कह सकते, क्योंकि यमराज मृत प्राणियों को अपने स्थान पर (यमालय में) ले आने के लिये दूतों को भेजा करता है, स्वयं नहीं जाता। जब कोई महान् पुण्यात्मा ही मृत होता है, तब उसे लाने के लिये ही वह स्वयं जाता है। महाभारत के सावित्री-उपाख्यानान्तर्गत सावित्री-यमसंवाद से उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट होता है। सावित्री, 'यम' से पूछती है—

"श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान्।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतो सि स्वयं प्रभो ॥"

इस पर यमराज ने उत्तर दिया—

'अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः।
नाऽर्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः ॥'

—(महाभारत वनप० २९७।१४,१६)

सम्पराय=युद्ध, प्रत्यर्थिन्=शत्रु (पुं०)।

शंका—उपमानभूत 'कृतान्त' पद में 'तृतीया' विभक्ति के होने से "उपमानोपमेययोः समानविभक्तिकत्वम्"—इस नियम का उल्लंघन कवि ने कर दिया है। क्योंकि 'प्रभुः (=राजा) उपमेय है, उसे प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त किया है। अर्थात् 'उपमान' तृतीयान्त है और 'उपमेय' प्रथमान्त है : अतः समानविभक्तिकत्व नहीं है।

समा०—'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' (पा. सू. २।३।७२) सूत्र से तुला और उपमा शब्द को छोड़कर तुल्यार्थक शब्द के योग में तृतीया अथवा षष्ठी का

(३ धर्मलुप्ता समासगा श्रौती तथा आर्थी किंवा तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा)

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे !॥ ३९९ ॥

विशेष विधान किया है। अतः तदतिरिक्तस्थले समानविभक्तिकत्व का उक्त नियम प्रवृत्त होता है। इसलिये कवि पर नियमोल्लंघन का आरोप नहीं कर सकते।

धर्मलुप्ता उपमा के पाँच भेदों में से 'दो भेदों के उदाहरणों को अलग-अलग बताकर अवशिष्ट तीन भेदों को निम्नांकित एक ही श्लोक में बता रहे हैं। श्लोक के 'पूर्वार्ध' में 'समासगा श्रौती' तथा 'समासगा आर्थी' धर्मलुप्ता को बताया है, तथा 'उत्तरार्ध' में 'तद्धितगा धर्मलुप्ता' को बताया है। इस प्रकार यह एक ही श्लोक तीन प्रकार के भेदों का उदाहरण बन गया है।

(समासगा श्रौती, आर्थी, तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता उपमा)

(३) करवाल इवेति। यह किसी दुष्ट पुरुष का वर्णन है। हे सखे ! तस्य आचारः करवाल इव, तस्य वाक् अमृतोपमा (तस्य) मनः विषकल्पम् (इति) यदि वेत्सि, तत् जीवसि। हे मित्र ! (उस दुष्ट के चक्कर में पड़कर भी) यदि जीवित रहते हो, तो तुम देखोगे कि उसका आचरण (बर्ताव) तलवार के समान और वाणी अमृत के समान और मन 'विष' के समान है॥ ३९९ ॥

(१) 'जीवसि' = जीविष्यसि के अर्थ में है, 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'—(पा. सू. ३।३।१३१)। उत्तरार्ध के 'वेत्सि……तत्'—इन पदों का अन्वय 'यदि-जीवसि, तत् वेत्सि'—ऐसा भी किया जा सकता है। इस पक्ष में यदि जीवित रह-पाओगे तभी तुम्हें यह सब समझ में आ सकेगा। अर्थात् 'वह दुष्ट है, यह समझपाने के-पहले ही प्रायः दूसरा आदमी, उसके द्वारा मार दिया जाता है।

इस श्लोक के 'करवाल इवाचार' में 'करवाल'—उपमान है, 'आचार'—उपमेय है, इन उपमान तथा उपमेय दोनों का साधारण (समान) धर्म—'घातुकत्व' है। यह धर्म अति प्रसिद्ध होने से उसको 'शब्दतः' नहीं बताया है। उस कारण 'धर्मलुप्ता' और 'इव' के साथ उपमान का समास करने के कारण यह 'समासगा तथा उपमाबोधक-'इव' के कारण 'श्रौती उपमा' का उदाहरण है। इसलिये यह धर्मलुप्ता, समासगा श्रौती-उपमा का उदाहरण है।

(२) 'वागमृतोपमा' में 'वाक्'—उपमेय है, 'अमृत'—उपमान है, और दोनों का साधारण धर्म 'माधुर्य' है। किन्तु उसे शब्द से बताया नहीं गया है, उस कारण 'धर्मलुप्ता'। 'उपमा' शब्द 'सदृश' अर्थ को बता रहा है, तुल्यादि वर्ग का उपमावाचक है उस कारण आर्थी, उपमान के साथ समास करने के कारण 'समासगा'। इसलिये यह धर्मलुप्ता, आर्थी, समासगा उपमा का उदाहरण है। अमृतोपमा = 'अमृतेन उपमीयते

(उपमानलुप्तोपमायाः २ प्रकारौ)

(१२६) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥ ८८ ॥

इति' अथवा 'अमृतम् उपमा (=उपमानं) यस्याः सा'।

(३) 'विषकल्पं मनः' में 'विष'—उपमान है, 'मन'--उपमेय है, और तद्धित-प्रत्यय है, उस कारण तद्धितगा, उपमावाचक 'कल्पप्' और वह तद्धित 'कल्पप् प्रत्यय' तुल्यादि वर्ग का होने से 'आर्थी', उपमान तथा उपमेय दोनों का साधारण धर्म—'नाशकत्व' है, उसे शब्द के द्वारा नहीं कहा गया है,उस कारण 'धर्मलुप्ता' है। इसलिए यह 'तद्धितगा आर्थी-धर्मलुप्ता' उपमा का उदाहरण है।

शंका०—द्वितीय चरण में 'उपमा' शब्द का साक्षात् प्रयोग किया गया है, अतः इस उपमा को 'आर्थी' कैसे कहा जायगा ?

समा०—साधर्म्य को जब साक्षात् शब्द के द्वारा बताया जाता है, तभी 'श्रौती' उपमा होती है। 'उपमा शब्द साधर्म्य' का वाचक नहीं है। 'साधर्म्य तो उपमालंकार-का लक्षण है। यह 'उपमा शब्द का अर्थ नहीं है। 'उपमा शब्द का अर्थ 'सदृश' है। 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः—इत्यमरः।

इस प्रकार यहाँ तक छह प्रकार की पूर्णा और पाँच प्रकार की धर्मलुप्ता कुल मिलाकर ११ प्रकार की 'उपमा' को बताया गया,अब उपमानलुप्ता के दो भेदों को बता रहे हैं।

उपमानलुप्ता के दो भेद—

(सूत्र १२९ कारि० ८८) उपमानानुपादाने इति। 'उपमान' का उपादान (ग्रहण) न करने पर (१) 'वाक्यगा' तथा (२) 'समासगा'–दो प्रकार की 'उपमान-लुप्ता उपमा' होती है।

विवरण—उपमानलुप्ता उपमा, 'तद्धितगा' नहीं हुआ करती, क्योंकि उपमावाचक 'वति आदि तद्धित' प्रत्यय 'उपमान' वाचक पद से ही हुआ करते हैं। जब 'उपमान' का ही लोप हो गया है तब 'वति' आदि तद्धित प्रत्यय भी कैसे हो सकेंगे ? अर्थात् नहीं होंगे। अतः उपमान का लोप होने पर 'उपमानलुप्ता' के तद्धितगत श्रौती-आर्थी दोनों भेद नहीं होते हैं। इसी प्रकार 'श्रौती उपमा' में भी 'इव' आदि उपमावाचक पदों का उपमानवाचक पद के साथ ही अन्वय होता है, किन्तु उपमानवाचक पद के लुप्त होने पर श्रौती के भी वाक्यगत तथा समासगत दोनों भेद नहीं हो सकेंगे। अतः उपमानलुप्ता के केवल वाक्यगत तथा समासगत आर्थी उपमा—ये दो ही भेद बन सकते हैं। उन्हीं दोनों भेदों के उदाहरण अब दिये जा रहे हैं—

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसंसमेत्तेण ॥ ४०० ॥
(सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥)

(संस्कृते)
सजलकरणपरबिश्रामश्रीबितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्ययेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥४००॥-(सन्त सई)

सअलकरणेति । (सकलकरणेति) । सरसकाव्यस्य अंशांशमात्रेण (अपि) सदृशं सकलकरणपरबिश्रामश्रीवितरणं न दृश्यते अथवा निशम्यते । समस्त इन्द्रियों को बिश्राम पहुँचाने वाले सरसकाव्य के समान अंशांश मात्र से भी न तो कोई दिखाई देता है और न सुनाई देता है ॥ ४०० ॥

कव्वस्सेति । (काव्यस्येति ।) 'कव्वस्स' के बजाय (स्थान पर) 'कव्वसमम्' (काव्यसमम्) तथा सरिसम् के बजाय 'णूणम्' (नूनं) पढ़ दिया जाय तो यही 'समासगा' उपमानलुप्ता का उदाहरण बन जाएगा ।

विवरण—इस उदाहरण में 'काव्य'—उपमेय है। 'सकलकरणपरविश्रान्ति-श्रीवितरण'—साधारण धर्म है। 'सदृश'—उपमावाचक शब्द है। यहाँ 'उपमान' का उपादान (ग्रहण) न करने से यह 'उपमानलुप्ता' है। उपमावाचक 'सदृश' पद के साथ उपमेयभूत 'काव्य' शब्द का समास न करने से यह 'वाक्यगा' है, और उपमावाचक 'सदृश' शब्द 'तुल्यादि' वर्ग का होने से यह 'आर्थी' है। 'उपमान'-बोधक पद, कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। अतः कहाँ से दिया जायगा ? फिर भी दृश्य अथवा श्रव्य न रहने पर भी किसी 'एकाद उपमान' का अस्तित्व संभव हो सकता है। उसके होने की संभावना का निषेध नहीं किया गया है। अनन्वय-अलङ्कार में जैसे अप्रत्यक्षतया (परोक्षतया) उसका निषेध रहता है। एवंच संभाव्य उपमान से भी 'उपमा' सिद्ध हो सकती है। जैसे 'इव' आदि शब्दों का 'उपमान' के बाद प्रयोग होता है और वे 'उपमान' के प्रत्यायक होते हैं, उसी तरह 'तुल्य, सदृश' आदि शब्दों का भी 'उपमान' के बाद प्रयोग होता है और वे 'उपमान' के प्रत्यायक होते हैं। 'तत् तुल्यम् अस्य' में 'तुल्य' शब्द 'उपमान' का बोध करा-रहा है। अर्थात् यहाँ पर भी 'सदृश' शब्द के बलु से 'अज्ञात उपमान' का ग्रहण होकर 'उपमा' सिद्ध हो सकती है। 'तेन तुल्यं मुखम्', 'इदमाननं च सरसिजञ्च समम्' 'इदञ्च तच्च तुल्यम्', 'तत्तुल्यमस्य'—ये सब वाक्यगता आर्थी के उदाहरण हैं। 'सुरतरुसदृशः स भवान्'—यह समासगा आर्थी का उदाहरण है। 'कृतान्तेन समः-प्रभुः'—यह वाक्यगता लुप्तधर्मा आर्थी का है। 'तस्य वाक् अमृतोपमा'—यह समासगा लुप्ता धर्मा आर्थी का है। यहाँ पर 'उपमा' शब्द का अर्थ—'तुल्य' है। 'अमृतस्य उपमा तुल्या वाक्'—ऐसा समास करना चाहिए। 'तुल्यार्थैस्तुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्'—इस सूत्र में 'तुला' एवं 'उपमा' शब्द यदि तुल्यार्थक नहीं होते तो तृतीया का 'विकल्प' ही नहीं होता, तब 'अतुलोपमाभ्यां'—ऐसा निषेध

(सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ॥)

कव्वस्सेत्यत्र कव्वसममिति सरिसमित्यत्र च णूणमिति पाठे एषैव समासगा ।

(वाचकलुप्तोपमायाः ६ प्रकाराः)

(१३०) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि । कर्मकर्त्रोर्णमुलि

क्यों होता ? इससे प्रतीत होता है कि 'तुला' और 'उपमा' शब्द भी तुल्यार्थक हैं। इन शब्दों की 'तुल्यार्थकता' तो प्रसिद्ध ही है। उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि सम, सदृश, तुल्य, निभ, इव, यथा आदि शब्दों का प्रयोग 'उपमान' के बाद ही होता है, 'उपमेय' के बाद नहीं। अतः 'सरसकाव्यस्य सदृशं नास्ति'—यह उदाहरण 'लुप्तोपमा' का नहीं हो सकता। प्रस्तुत उदाहरण में कुछ पाठान्तर कर देने पर लुप्तोपमान का उदाहरण हो सकेगा। 'ण सरसकव्वन्तु सरिसं जस्स-अंसमेतेण'। (यस्य समं सरसं काव्यं स्यात् तन्न दृश्यते अथवा निशम्यते) अर्थात् जिसके सदृश सरस काव्य हो वह न दिखाई पड़ता है और न सुनाई पड़ता है। यद्यपि 'सदृश' पद से सामान्यतः 'उपमान' उक्त होनेपर भी विशेषतः अर्थात् उपमानता-वच्छेदक अमृतत्वादि रूप से 'उपमान' का ग्रहण नहीं हुआ है इसलिये यह उपमालुप्ता है।

महेश्वरभट्टाचार्य का कहना है कि उपमानवाचक 'यत्' पद के बाद 'इव' आदि का संभव है, किन्तु उसका जो अनुपादान है, वही 'उपमानानुपादान' है, इस कारण 'सदृश' पद से सामान्यतः 'उपमान' के उक्त होने पर भी कोई क्षति नहीं है।

'यस्य' में यच्छब्दार्थ उपमान है, तथापि विशेषतः उपमानतावच्छेदक रूप से 'उपमान' का उपादान नहीं है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'सरसकव्वसमम्' और 'नूणं अंसंसमेतेण'—यह परिवर्तन कर देने पर यही 'उपमानलुप्ता' 'समासगा' बन सकती है। ऐसा करने से उपमाबोधक 'समम्' शब्द का 'उपमेय' के साथ समास होता है। यहाँ पर 'णूणं' = नूनम् = बहुधा' यह केवल संभावनार्थक है, उत्प्रेक्षार्थक नहीं है।

वादिलुप्तोपमा

(वाचकलुप्ता उपमा के छह प्रकार)

(सू० १३०, कारि० ८९) वादेर्लोपे इति। उपमावाचक 'वा' आदि का लोप होने पर वह वादिलुप्तोपमा ('वाचकलुप्ता उपमा) समास में और कर्म में,

वाशब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट् समासेन कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा कर्तुः क्यङा कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत् ।

क्यच् प्रत्यय, आधार में क्यच् प्रत्यय, और क्यङ् प्रत्यय में तथा कर्म में णमुल् और कर्त्ता में णमुल् करने पर होती है। अर्थात् वादिलुप्तोपमा पाँच प्रकार की होती है।

'वा' शब्दः उपमाद्योतक इतीति। 'वा' शब्द, 'उपमा' का द्योतक है, उस-कारण 'वा' इत्यादि उपमावाचक शब्दों का लोप होने पर 'लुप्तोपमा' के निम्नांकित छह प्रकार होंगे—

समास में दृष्टिगोचर होने वाली, कर्म या अधिकरण के योग से होने वाले 'क्यच्' में प्रकट होने वाली, कर्ता के अर्थ में किये गये 'क्यङ्' में आविर्भूत' होने वाली तथा कर्म उपपद या कर्ता उपपद रहने पर किये जाने वाले 'णमुल्' में आविष्कृत होने वाली वह वादिलुप्तोपमा छह प्रकार की होती है।

विवरण—'वा' आदि उपमा बोधक पदों का लोप करने पर 'वाक्यगा वाचकलुप्ता उपमा नहीं हुआ करती तथा 'तद्धितगा वाचकलुप्ता उपमा भी नहीं होती है। केवल 'समासगा-वाचकलुप्ता' उपमा ही होती है। इस वाचकलुप्ता के छह भेद हैं, जो ऊपर प्रदर्शित किये गए हैं। अर्थात् 'वा' आदि उपमाबोधक पदों के लोप में, अर्थात् 'समास' में, तथा कर्मकारक से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में एवं अधिकरण कारक से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में, 'क्यङ्' प्रत्यय के प्रयोग में, कर्मोपपदक 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में और कर्तृकारकोपपदक 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग में हुआ करती है।

ऊपर प्रदर्शित छह प्रकारों में उल्लिखित 'क्यच्', 'क्यङ्', 'णमुल्'—ये पाणिनीय-व्याकरण में दिये गये कतिपय प्रत्ययों के पारिभाषिक नाम हैं।

'वादिलुप्तोपमा'—इस संज्ञा में 'वादि' का अर्थ है—'वा' आदि उपमाबोधक शब्द। उस उपमाबोधक शब्द के लुप्त रहने पर 'उपमा' के छह प्रकार होते हैं। (१) समासगा, (२) कर्मक्यच्-गा, (३) आधारक्यच्-गा, (४) क्यङ्-गा, (५) कर्म-णमुल्-गा, (६) कर्तृ-णमुल्-गा—ये सभी प्रकार (भेद) 'आर्थी उपमा' के हैं। क्योंकि इस उपमा में 'इव' आदि शब्दों का अथवा इवार्थक 'वत्' प्रत्यय का कहीं भी प्रयोग नहीं है। ये प्रकार (भेद)—समासवृत्ति, धातुवृत्ति और कृत् प्रत्यय-के योग से सिद्ध होते हैं, उस कारण इस उपमा में 'वाक्यगा' और 'तद्धितगा' के लिये कोई अवसर ही नहीं है।

ऊपर प्रदर्शित 'क्यच्', 'क्यङ्'—प्रत्यय 'नामधातु' से जोड़े जाते हैं, 'णमुल्'—प्रत्यय, 'धातुओं' से विशिष्ट अर्थ के धातुसाधित 'त्वान्त, तुमन्त' जैसे अव्ययों को बनाने के लिये धातुओं से जोड़ा जाता है।

'उपमानादाचारे'—(पा० सू० ३।१।१०) सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय का विधान किया गया है। अर्थात् 'उपमान' वाचक सुबन्त 'नाम', जब आचार-क्रिया का अर्थात् आचरण करना = व्यवहार करना—क्रिया का 'कर्म' रहता है, तब उससे (उपमान-बोधक सुबन्त नाम से) 'क्यच्' प्रत्यय होता है। यह 'आचार क्यच्' तभी होगा, जब वह सुबन्त नाम, 'आचार' क्रिया का 'कर्म' होता हुआ 'उपमान' भी रहे। जैसे—पुत्र—पुत्रीय 'पुत्र की तरह व्यवहार करना', 'गुरुः छात्रं पुत्रीयति' = गुरुः छात्रं पुत्रमिव आचरति'। यहाँ पर 'कर्मक्यच्' किया गया है। क्योंकि यहाँ पर 'पुत्रम्'—यह सुबन्त नाम, 'क्यच्' प्रत्यय के अर्थरूप 'आचरति' क्रिया का 'कर्म' है और उपमान भी है।

इसी सूत्र पर 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्'—यह वार्तिक है। इस वार्तिक से 'आधारक्यच्' किया जाता है। जैसे—प्रासाद—प्रासादीय 'प्रासाद में रहने के समान रहना',—संन्यासी पर्णकुट्यां प्रासादीयति'=संन्यासी पर्णकुट्यां प्रासादे इव आचारति। यहाँ पर 'क्यच्' प्रत्यय के अर्थभूत 'आचरण' क्रिया का 'अधिकरण'—प्रासाद है। अधिकरण = आधार।

'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'—(पा. सू. ३।१।११) सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय किया जाता है। उपमानबोधक 'नाम' जब 'आचरण क्रिया' के कर्ता के रूप में अभिप्रेत हो, तब उस नाम से 'आचरण = व्यवहार' करने के अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय जोड़ा जाता है। यदि 'नाम' स-कारान्त हो तो अन्त्य 'स्' का लोप, 'क्यङ्' प्रत्यय जोड़ने के पूर्व ही कर दिया जाता है। जैसे—श्येन—श्येनाय आचरति अर्थात् 'श्येन की तरह (समान) बर्ताव (आचरण करता है', 'काकः श्येनायते' = काकः श्येनः इव आचरति। उसी-तरह अप्सरस्—अप्सरायते = अप्सराः इव आचरति। तथा 'उपमाने कर्मणि च'—(पा. सू. ३।४।४५) सूत्र से 'णमुल्' प्रत्यय किया जाता है। उपमानबोधक 'नाम', 'कर्म' या 'कर्ता' के रूप में अभिप्रेत रहने पर तत्संबद्ध क्रियावाचक 'धातु' से अव्यय-साधक 'णमुल्' प्रत्यय किया जाता है। इस 'णमुल्' के लगाने पर सिद्ध होनेवाले 'णमुलन्त' अव्यय के आगे प्रकृतोपयोगी 'णमुलन्त धातु' का रूप ही प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—'घृतनिधायं निहितः' = घृतम् इव निहितः', में 'घृतम्' यह उपमानबोधक पद, निधायम्' (< नि + √धा) इस णमुलन्त क्रिया का 'कर्म' है। इसलिये इसे 'कर्मणमुल्' कहते हैं। उसी तरह 'अजकनाशं नष्टः' = अजकः इव नष्टः' में 'अजकः'—यह उपमानबोधक पद, 'नाशम्' (< √नश्) इस 'णमुलन्त क्रिया' का 'कर्ता' है। इसलिये इसे 'कर्तृणमुल् कहा गया है। 'णमुल्'—यह 'कृत् प्रत्यय' हैं। कृत् प्रत्यय से सिद्ध होने वाले धातुसाधित से जोड़कर प्रयुक्त होने वाले शब्द को व्याकरण में 'उपपद' कहा करते हैं। जैसे—'कुम्भकारः' में—'कुम्भ'—यह 'उपपद' है। उपर्युक्त उदाहरण-

उदाहरणम्—

(समासगा वाचकलुप्ता आर्थी उपमा)

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥ ४०१ ॥

में 'घृत' और 'अजक'--ये उपपद हैं। णमुलन्त जैसे 'कृदन्त शब्द' हमेशा 'उपपद' से संयुक्त होकर ही प्रयुक्त होते हैं। उनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ करता।

तदनन्तर 'असौ समरान्तरे अन्तःपुरीयति। (= अन्तःपुरे इव अचरति स्वच्छदं विचरति) में अधिकरण पद 'अन्तःपुर' से 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्'—इस वार्तिक से 'क्यच्' प्रत्यय किया गया है, तब 'अन्तःपुरीयति' पद बनता है। अतः यहाँ पर 'आधारवाचक' पद से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में 'वाचकलुप्ता' उपमा बन गई है।

उदाहरणमिति। उदाहरण, जैसे—

(१ द्विपदसमासगा-वाचकलुप्ता-आर्थी-उपमा)

(१ क) ततः कुमुदनाथेनेति। उसके अनन्तर ही रात में कामिनी के कपोल-स्थल के समान पीतवर्ण, नयनानन्दकारी, और कुमुद-पुष्पों के विकासक चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को सुशोभित कर दिया अर्थात् चन्द्रोदयो जातः=चन्द्रोदय हो गया है॥४०१॥

विवरण—उपर्युक्त उदाहरण, महाभारत के द्रोणपर्व (१८४।४६) में रात्रियुद्ध के प्रसंग में चन्द्रोदयवर्णनपरक है।

(१) इस पद्य के 'कामिनीगण्डपाण्डुना' पद में 'कामिनीगण्ड'—उपमानबोधक है, और 'पाण्डु' साधारण धर्मवाचक है। इन दो पदों में समास किया गया है। अर्थात् 'उपमान' तथा 'साधारणधर्मवाचक' दो पदों का समास होने से यह 'द्विपद–समासगा' है। 'कामिनीगण्डः इव पाण्डुः अथवा कामिनीगण्डवत् पाण्डुः = कामिनीगण्डपाण्डुः। यहाँ 'उपमानानि सामान्यवचनैः'—(पा० सू० २।१।५५) सूत्र से समास होने के कारण 'इव' का लोप हो गया है। क्योंकि समासविधायक सूत्र में 'उपमानानि' कहने से समास से ही उपमा की प्रतिपत्ति होने के कारण 'उक्तार्थानामप्रयोगः'—इस न्याय से 'साधर्म्य' की प्रतीति हो जाती है, तब उपमावाचक 'इव' आदि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिये यह वादि–(वाचक) लुप्ता' उपमा बन गई है। 'माहेन्द्री' = महेन्द्रस्य इयम्। इन्द्र को पूर्व दिशा का लोकपाल कहते हैं, उस कारण 'माहेन्द्री दिक्' = पूर्व दिशा। कुमुद = श्वेत कमल, इनका विकास रात्रि में चन्द्र-की चाँदनी के प्रकाश से होता है। उस कारण चन्द्रमा को 'कुमुदनाथ' या 'कुमुदिनीनायक' कहा करते हैं। एवं च यह उदाहरण द्विपद-समासगा-वादि–(वाचक) लुप्ता, आर्थी उपमा का बन गया है॥

तथा—

(२ बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता आर्थी उपमा)

असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥ ४०२ ॥

तथा—असितेति ।

(२ बहुपदसमासगा वादि (वाचक) लुप्ता आर्थी उपमा)

अयं प्रतिभटविक्रमदर्शने असितभुजगभीषणासिपत्रः ।
रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः पुलकिततनुः उत्कपोलकान्तिः आसीत् ॥

अर्थात् यह प्रबल पराक्रमशाली वीर योद्धा राजा, कृष्ण सर्प के तुल्य भीषण खड्ग लिया हुआ, शत्रुओं को सम्मुख देखकर इस राजा का चित्त (रुह-रुहिका) उत्कट-उत्सुकता से व्याप्त हो जाने के कारण रणभूमि में शीघ्र गति से संचार करने लगा, उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया, और कपोलकान्ति उल्लसित हो उठी ॥ ४०२ ॥

इस पद्य में जो वादिलुप्ता (वाचकलुप्ता) उपमा है, वह 'बहुपदसमासगा' है, क्योंकि 'असितभुजगः कृष्णसर्पः इव भीषणः असिः खड्गः एव पत्रं (तदाकारत्वात्), यस्य सः'—इस विग्रह वाक्य में 'असितभुजग'—उपमान है, तथा 'असिपत्र' उपमेय है, और 'भीषणता'—साधारणधर्म है। इन तीनों (उपमान-उपमेय-साधारणधर्म) का समावेश किया गया है।

पिछले (१ क) उदाहरण में 'उपमान' और 'साधारण धर्म'—इन दोनों का ही समास में अन्तर्भाव किया था। 'चन्द्रेण'—यह उपमेय बोधक पद, उक्त दोनों से बिलकुल अलग था।

विवरण—उपर्युक्त दो उदाहरणों के विषय में नागेश और भीमसेन ने किसी अन्य व्याख्याकार के मत का उल्लेख किया है—'कामिनीगण्डपाण्डुना'—यह उदाहरण 'वादिलुप्ता श्रौती' का है, और 'असितभुजग'—यह उदाहरण 'वादिलुप्ता आर्थी' का है। क्योंकि पहले उदाहरण में "उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र से समास होने के कारण अर्थात् 'इव' आदि शब्दों का लोप होने के कारण वह पहला उदाहरण, 'श्रौती' उपमा का है, और दूसरे उदाहरण में 'असितभुजगवत् भीषणः'—इस प्रकार 'मध्यमपदलोपी समास' होने के कारण 'आर्थी' उपमा है।

किन्तु मधुमती व्याख्याकार का उक्त व्याख्यान युक्तियुक्त न होने से अनुचित है, क्योंकि जो 'इवादि', तथा 'तुल्यादि', 'लुप्त' ही हैं, उनकी चर्चा करना ही व्यर्थ है।

(३ कर्माधिकरणयोः क्यचि-क्यङि च तथा अधिकरणकारकाद् विहितस्य क्यचः प्रयोगे तथा कर्तृकारकाद् विहितस्य क्यङः प्रयोगे वाचकलुप्तोपमा)

मधुमती व्याख्याकार यह कह सकते हैं कि यहाँ जो 'उपमा' है, वह 'तुल्य' आदि शब्द के कारण नहीं है, अपितु 'अर्थबलात्' प्रतीत होने से उसे 'आर्थी' कहा है। तब किसी से कोई विवाद नहीं है।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि इस समास में 'उपमाप्रतिपादक शब्द 'मूलतः था, और बाद में उसका 'लोप' किया गया,—यह बात नहीं है, किन्तु 'समास' ही स्वयं 'उपमा' का बोध करा देता है। अतः 'उक्तार्थानाम् अप्रयोगः'—अर्थात् जिनका अर्थ उपायान्तर से बता दिया जाता है, उन शब्दों का पुनः प्रयोग नहीं किया जाता। इस न्याय से इनमें उपमाप्रतिपादक शब्द का प्रयोग ही नहीं किया जाता। जब उसका प्रयोग ही नहीं है, तब वह 'इव' आदि है या 'तुल्य' आदि है, इसका निश्चय करने में क्या प्रमाण होगा ? किञ्च—'वादिलुप्ता' को 'श्रौती' स्वीकारने पर लुप्तोपमा के २० भेद हो जायेंगे। किन्तु ग्रन्थकार तो उसके १९ भेद बताते हैं।

इसी अभिप्राय को सुधासागरकार ने अभिव्यक्त किया है—"यत्तु मधुमतीकारादिभिर्व्याख्यातम् असितभुजगतुल्यभीषणोऽसिरिति समासे शाकपार्थिवादित्वात्[1] तुल्य शब्दलोपात् समासगा आर्थी, पूर्वत्र श्रौतीत्वप्रयोजकयथाशब्दादिलोपः, द्वितीये त्वार्थीत्वप्रयोजकतुल्यादिशब्दलोप इत्युदाहरणयोर्भेदः, इति तत्प्रामादिकम्। उभयत्रोपमानधर्मयोः समासस्य तुल्यत्वेन शाकपार्थिवादित्वकल्पनस्याऽन्याय्यत्वात्। अपि च द्योतकमादायैव श्रौतार्थविभागः, तस्य च लोपे क्व श्रौतीत्वसम्भवः ? आर्थीत्वमर्थापत्तिगम्यत्वेन सिद्धमेव। किञ्च न खलु समासे तुल्यादिरिवादिर्वा लुप्यते, किन्तु समासेनैवोपमाभिधानात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन द्योतकं न प्रयुज्यते, इति लोपव्यवहारः तत्रेवादेस्तुल्यादेर्वा विनिगन्तुमशक्यत्वात्। अपि च द्योतकलोपेऽपि श्रौतीत्वांगीकारे भेदाधिक्यं स्यात्। तथा च 'ऊनविंशतिर्लुप्ता भेदाः' (एकोनविंशतिर्लुप्ताः)' इति श्रीवाग्देवतावतारोक्तिः (मम्मटोक्तिः) विरुद्धयेतेति विद्वद्भिर्विभाव्यम्"।

(३ कर्मकारक से तथा अधिकरणकारक से विहित 'क्यच्' एवं कर्तृकारक से विहित 'क्यङ्' के प्रयोग में वादिलुप्ता (वाचकलुप्ता उपमा)।

---

१. "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये, उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्" इति कात्यायनकृतेन वार्तिकेन।

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥ ४०३ ॥

पौरं सुतीयतीति । विचित्र-चरित्रचुञ्चुः असौ पौरं जनं सुतीयति, समरान्तरे अन्तःपुरीयति, समरसीम्नि कृपाणपाणेः तस्य चरितानि आलोक्य सपत्नसेना नारीयते । यह अद्भुत चरित्रवाला भूपति (राजा) अपने राज्य में रहनेवाली प्रजा का 'पुत्र' के समान पालन करता है और युद्धभूमि में 'अन्तःपुर' के समान विचरण करता है। रणभूमि में खड्गधारी उस राजा के चरित्र को देखकर शत्रुसेना भय के कारण स्त्री के समान आचरण करती है ॥ ४०३ ॥

विवरण—प्रजारक्षण तथा युद्धकौशल में प्रथित यशवाले किसी राजा का वर्णन उक्त पद्य में किया गया है। इस पद्य में 'सुतीयति' (= सुतम् इव आचरति) यह 'कर्मक्यच्-गा' का उदाहरण है, और 'अन्तःपुरीयति' (= अन्तःपुरे इव आचरति) यह 'आधारक्यच्-गा' का उदाहरण है, और 'नारीयते' (= नारी इव आचरति) यह 'क्यङ्-गा' का उदाहरण है।

इन तीनों में क्रमशः 'सुत', 'अन्तःपुर' और 'नारी'—ये 'उपमान' हैं। तथा 'पौरजन', 'समरान्तर', 'सपत्नसेना'—ये क्रमशः उनके 'उपमेय' हैं।

(१) पौरं जनं सुतीयति' में 'सुतीयति' पद से 'सुतमिव आचरति पालयति'—इस अर्थ का बोध होता है। यहाँ पर 'उपमानादाचारे'—(३।१।१०) इस सूत्र से उपमानवाचक कर्मभूत 'सुत' पद से 'क्यच्' प्रत्यय विहित होने के कारण, उपमावाचक 'इव' पद का लोप हुआ है। अतः यहाँ पर 'कर्म' पद से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग-में 'वाचकलुप्ता' उपमा बन गई है।

(२) तदनन्तर 'असौ समरान्तरे अन्तःपुरीयति' (अन्तःपुरे इव आचरति स्वच्छन्दं विचरति) में अधिकरण पद 'अन्तःपुर' से अधिकरणाच्चेतिवक्तव्यम्'—इस वार्तिक से 'क्यच्' प्रत्यय किया गया है, तब 'अन्तःपुरीयति' पद बनता है। अतः यहाँ पर 'आधारवाचक'पद से विहित 'क्यच्' प्रत्यय के प्रयोग में 'वाचकलुप्ता' उपमा बन गई है।

(३) तदनन्तर 'सपत्नसेना नारीयते' (=नारी इव आचरति) में उपमानवाचक कर्तृभूत 'नारी' पद से आचार के अर्थ में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च'—(सू० ३।१।११) सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय किया गया है, तब 'नारीयते' पद बना है और उसका अर्थ होता है—'नारी इव आचरति बिभेति' इत्यर्थः।

एवं च 'सुतीयति', 'अन्तःपुरीयति', 'नारीयते'—इन पदों की निष्पत्ति (रूपसिद्धि)

(४ कर्मोपपदकस्य तथा कर्तृकारकोपपदकस्य 'णमुलः प्रयोगे 'वाचकलुप्तोपमा)

मृधे निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसञ्चारं संचरत्यवनीपतिः ॥ ४०४ ॥

में उपमावाचक 'इव' पद का लोप हो गया है। अतः तीन प्रकार की वादिलुप्ता (वाचकलुप्ता) उपमा के तीन उदाहरण एक ही पद्य में उपलब्ध हो रहे हैं।

उक्त 'उपमान-उपमेयों' की जोडियों का 'साधारण धर्म'—आचार है, उसका बोध, 'सुतीयति'—'अन्तःपुरीयति'—'नारीयते' इन कर्मवाचक 'क्यच्', 'आधारवाचक' 'क्यच्' और 'क्यङ्'—प्रत्ययों से होता है। इन प्रत्ययों से सामान्यतया ज्ञात होनेवाला यह 'आचार' भिन्न-भिन्न सन्दर्भ के अनुरोध से भिन्न-भिन्न स्वरूप का होता है—'सुतीयति' से 'प्रेमपूर्वक परिपालन' का आचार, 'अन्तःपुरीयति' से 'स्वच्छन्द और निर्भय संचार का आचार, और 'नारीयते' से 'घबराहट', 'शरणागति' का साधारण धर्मरूप आचार प्रतीत होता है। 'विचित्रचरित्रचुञ्चुः'—चुञ्चुः = प्रसिद्ध। 'वित्त = प्रसिद्ध'—इस अर्थ में 'चुञ्चु (प्)' और 'चण (प्)'—ये तद्धित प्रत्यय 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्-चणपौ'—(पा० सू० ५।२।२६) सूत्र से प्रसिद्धि करनेवाले वाचक पद से जोड़े जाते हैं। जैसे—अस्त्रचुञ्चुः, विद्याचणः।

(कर्मोपपदक तथा कर्तृकारकोपपदक 'णमुल्' के प्रयोग में आर्थी वाचकलुप्ता उपमा)

मृधे निदाघेति। 'मृधे' = युद्ध में 'तम्' = उस राजा को, 'परे' = शत्रुगण, निदाघ-घर्मांशुदर्शम् = ग्रीष्मीकालीन सूर्य के समान, असह्य-प्रबल-प्रतापशाली, 'पश्यन्ति' = देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। 'सः अवनीपतिः = और वह राजा,–'पुनः', 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः–तो, (मृधे = युद्ध में), 'पार्थसंचारम्' = अर्जुन के समान (निर्भयता-के साथ) संचार करता रहता है ॥ ४०४ ॥

विवरण—प्रस्तुत उदाहरण के पूर्व तक (श्लोक ४०१–४०३ तक) चार उदाहरण बता दिये हैं, अब इस उदाहरण में 'कर्म' और 'कर्ता' में 'णमुल्' प्रत्यय के करने पर 'दो प्रकार की वाचकलुप्ता उपमा' के उदाहरण इस एक ही पद्य में बता रहे हैं—'निदाघघर्मांशुदर्शम्' पद में 'निदाघघर्मांशुमिव पश्यन्ति' इस विग्रह में 'उपमाने कर्मणि च'—(पा० सू० ३।४।४५) सूत्र से 'णमुल्' प्रत्यय किया गया है। इसलिये यह 'कर्मणमुल्' का उदाहरण है। यहाँ 'निदाघघर्मांशुम्'—इस 'कर्म' के 'उपपद' रहते 'दृश्' धातु से भाव के अर्थ में 'णमुल्' प्रत्यय जोड़ने पर 'निदाघघर्मांशुदर्शम्'—यह 'मान्त अव्यय' पद बनता है। उसके साथ 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः'—(पा० सू० ३।४।४६) सूत्र से जिस धातु से 'णमुल्' किया जाता है, उसी के अनुप्रयोग का विधान

होने से 'दृश्' धातु का ही अनुप्रयोग किया गया है, तब 'निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति'— यह प्रयोग, कर्म के उपपद रहते 'णमुल्' प्रत्यय जोड़कर किया गया है। श्लोक के इस पूर्वार्धं में 'नदाघघर्मांशु' = (ग्रीष्मकालीन सूर्य)—यह 'उपमान' है, जो 'दर्शम्' इस 'णमुलन्त क्रिया' का 'कर्म' है। 'दर्शम्' गत, जो 'दर्शन' (अर्थात् दृष्टिदुःसहता) है, वही 'साधारणधर्म' है, और 'तम्'—यह 'उपमेय' है, यह 'दर्शम्' का अनुकरण करने के कारण आनेवाली 'पश्यन्ति' क्रिया का 'कर्म' है। 'इव' अथवा 'यथा'—इस उपमावाचक शब्द का लोप हो गया है, क्योंकि 'णमुलन्त' रूप की 'निष्पत्तिप्रक्रिया' के कारण 'उपमावाचक इव आदि' शब्द लुप्त हो गया है। इस कारण यह 'वादिलुप्ता-उपमा' हो गई है। एवंच 'निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति' = निदाघघर्मांशुमिव (अथवा यथा निदाघघर्मांशुं पश्येत् तथा) पश्यन्ति। एवंच 'निदाघघर्मांशुदर्शम्'—पद में 'निदाघघर्मांशु'—यह 'उपमान' है, और 'तम्' (राजा)—उपमेय है, 'पश्यन्ति' = दर्शन करना—यह साधारण धर्म है। ये तीनों (अर्थात् 'उपमान-उपमेय-साधारण धर्म) विद्यमान हैं। किन्तु उपमावाचक 'इव' पद लुप्त है। इसलिये 'निदाघघर्मांशुदर्शं पश्यन्ति'—में जो 'उपमा' है, वह 'वाचकलुप्ता उपमा' है।

प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध में 'पार्थ इव संचरणं' इस विग्रह में उपमानवाचक 'पार्थ' रूप 'कर्ता' के उपपद रहते 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय जोड़कर 'पार्थसंचारम्'—यह 'मान्त अव्यय' निष्पन्न हुआ है, और इसके साथ 'संचरति' का अनुप्रयोग किया गया है। यहाँ पर 'पार्थ'-'उपमान' है। 'राजा'—'उपमेय' है। 'सञ्चरण' यह—'साधारण धर्म' है। एवंच उपमान, उपमेय और 'साधारणधर्म'—तीनों विद्यमान हैं, किन्तु उपमावाचक 'इव' पद का लोप हो गया है। इसकारण 'पार्थसञ्चारं सञ्चरति' में भी 'वाचकलुप्ता' उपमा है।

एवंच 'सञ्चारम्'—इस णमुलन्तगत क्रिया का कर्ता—'पार्थ' है। और 'सञ्चारम्'-गत 'सञ्चार' (अर्थात् सहजतया निर्भय सञ्चार) साधारण धर्म है। 'अवनीपतिः'—यह उपमेय है, और वही 'दर्शम्' के अनुकरण के कारण आनेवाली 'सञ्चरति' क्रिया का कर्ता है और 'णमुलन्त' शब्द की निष्पत्ति में उपमावाचक शब्द 'इव' या 'यथा' लुप्त हो गया है। अतः यह उदाहरण 'कर्मणमुल्गा' 'कर्तृणमुल्गा आर्थी उपमा का है।

यहाँ तक छह प्रकार की 'पूर्णोपमा' को बताया गया, तदनन्तर पाँच प्रकार की 'धर्मलुप्ता', दो प्रकार की 'उपमानलुप्ता' और छह प्रकार की 'वाचकलुप्ता'-इस प्रकार 'एकलुप्ता' के 'तेरह प्रकार बताये जा चुके।

अब 'पाँच प्रकार की द्विलुप्ता उपमा' को बता रहे हैं। प्रथमतः 'धर्मवाचकलुप्ता के दो प्रकारों को बता रहे हैं—

(द्विलुप्तोपमा अर्थात् धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता च)

(१३१) एतद्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥

एतयोर्द्धर्मवाद्योः ।

उदाहरणम्—

(१ क्विप्गा धर्मोपमावाचकलुप्तोपमा)

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥ ४०५ ॥

(द्विलुप्ता अर्थात् धर्मलुप्ता और वाचकलुप्ता–उपमा के २ भेद)

(सू० १३१ कारि० ८९) एतद्द्विलोपे इति । धर्म तथा वाचक इन दो का लोप होने पर (१) क्विप्गता तथा (२)समासगता,दो प्रकार की द्विलुप्तोपमा होती है ॥८९॥

एतयोर्धर्मवाद्योरिति । 'धर्म' तथा 'वादि' (उपमावाचक पदों), इन दोनों का लोप होने पर दो प्रकार की 'लुप्तोपमा' होती है ।

उदाहरणमिति । उदाहरण, जैसे—सविता विधवतीति । मनसि सुख-दुःखवशीकृते (सति) सविता विधवति, विधुरपि, सवितरति तथा यामिन्यः दिनन्ति,दिनानि च यामिनयन्ति । अर्थात् मनुष्य का मन जब सुख के अधीन(सुख से पूर्ण अर्थात् भरा)रहता है, तब प्रखर सूर्य भी चन्द्र के (विधु के) समान हो जाता है, अर्थात् आह्लादकारक लगता है, और मन जब दुःख के अधीन (दुःख से पूर्ण अर्थात् भरा) रहता है, तब चन्द्रमा भी (विधुरपि), सूर्य के समान (असहनीय दुःखकारक) हो जाता है । इसी प्रकार सुख के समय अन्धकारमयी रात्रियाँ भी दिन (प्रकाशमय) बन जाती हैं, और दुःख के समय प्रकाशमय दिन भी अन्धकारमयी रात्रि की तरह लगने लगते हैं ॥ ४०५ ॥

विवरण—प्रस्तुत उदाहरण 'क्विप्-गा, आर्थी, धर्मवादिलुप्ता उपमा का है । इस पद्य में (१) विधवति, (२) सवितरति, (३) दिनन्ति, (४) यामिनयन्ति'—इन चार क्विबन्त पदों का प्रयोग किया गया है ।

'विधवति' (< विधु = चन्द्र), 'सवितरति' (< सवितृ =सूर्य), दिनन्ति (< दिन) और यामिनयन्ति (< यामिनी = रात्रि)। उक्त चारों प्रयोगों में 'विधुरिव आचरति विधवति','सविता इव आचरति सवितरति','दिनानि इव आचरन्ति दिनन्ति', यामिन्यः इव आचरन्ति यामिनयन्ति ।

इन विग्रहों में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (पा० सू० ३।१।११) इस सूत्र के महाभाष्य-स्थित 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः'–कात्यायन कृत इस वार्तिक से 'आचार' के अर्थमें 'विधु', 'सवितृ', 'दिन' और 'यामिनी'—शब्दों से 'क्विप्' प्रत्यय किया गया है,

(२ समासगा धर्मोपमावाचकलुप्तोपमा)

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥ ४०६ ॥

तब 'विधवति, सवितरति, दिनन्ति और यामिनयन्ति'—इन रूपों की निष्पत्ति हुई है। यह 'क्विप्' प्रत्यय 'आचार' के अर्थ में हुआ है। इसी 'आचार' को 'समान धर्म' भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह 'क्विप्' प्रत्यय 'तुल्याचाररूढ साधारण धर्म का वाचक है। इस स्थिति में यह उदाहरण 'धर्मलोप' का कैसे कहा जा सकेगा ? यह आशंका हो सकती है।

किन्तु यहाँ आचारार्थसूचक 'क्विप्' प्रत्यय का 'वेरपृक्तस्य' (पा० सू० ६।१।६७) सूत्र से सर्वापहारी लोप हो जाता है। उसका कोई अंश शेष नहीं रहता। उस कारण यह 'धर्मलुप्ता उपमा' का उदाहरण बन गया है। 'विधवति, सवितरति, दिनन्ति, यामिनयन्ति—ये रूप, उपमानवाचक विधु, सवितृ, दिन, यामिनी—इन नामों के साथ 'क्विप्' प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न हुए हैं। इन क्रियापदों के विधु, सविता, दिन, यामिनी, ये 'कर्ता' हैं और वे ही यहाँ पर 'उपमेय' भी हैं। 'विधवति' आदि चार क्विबन्त रूपों में यथाक्रम 'आह्लादकत्व, तापकरत्व, उत्साहजनकत्व, नैराश्य-जनकत्व—ये साधारणधर्म अभीष्ट हैं।

इस श्लोक में उपमा के अतिरिक्त 'यथासङ्ख्य' अलङ्कार भी स्फुट हो रहा है। क्योंकि 'सविता विधवति' तथा 'दिनन्ति यामिन्यः' का 'सुखवशीकृते मनसि' से सम्बन्ध है, और 'विधुः सवितरति' तथा 'यामिनयन्ति दिनानि' का 'दुःखवशीकृते मनसि' से सम्बन्ध है।

इसी तरह अश्व इव आचरति—अश्वति, गर्दभ इव आचरति—गर्दभति, रामः इव आचरति रामति, कृष्णः इव आचरति—कृष्णति आदि क्विबन्त रूप बनाये जाते हैं। यह क्विप् प्रत्यय अपना कार्य करने के पश्चात् लुप्त हो जाता है, वह 'क्यच्' आदि प्रत्ययों की तरह फलित रूप में स्वरूपतः शेष नहीं रहता।

इसके बाद 'धर्म' तथा 'इव' आदि के लोप होने पर 'समासगा लुप्तोपमा' का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२) परिपन्थीति । 'परिपन्थिमनोराज्यशतैः अपि'—'परिपन्थि' = शत्रुगण सैकड़ों मनोरथ करने पर भी 'दुराक्रमः' = जिस पर विजय प्राप्त नहीं कर पाते हैं, 'सम्परायप्रवृत्तः' इस प्रकार के युद्ध में प्रवृत्त हुआ अर्थात् युद्ध करने वाला 'असौ राज-कुञ्जरः' = वह राजश्रेष्ठ 'राजते' = सुशोभित हो रहा है ॥ ४०६ ॥

विवरण—यहाँ पर 'राजा कुञ्जरः इव—राजकुञ्जरः (कुञ्जर = हाथी), में "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'—(पा० सू० २।१।५६) सूत्र से समास हुआ है। इस उपमित समास में 'साधारणधर्मवाचक शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, केवल 'उपमेयवाचक शब्दों' का 'व्याघ्र' आदि उपमानवाचक शब्दों के साथ समास किया जाता है। जैसे—'पुरुषव्याघ्रः'—पुरुषः व्याघ्र इव। इसी तरह 'भरतर्षभः', 'रघुपुंगवः', 'राजमणिः:' 'राजेन्द्रः', 'नरसिंहः' 'नरशार्दूलः' आदि में भी समझना चाहिए।

'पुरुषः व्याघ्रः इव शूरः—इस प्रकार के प्रयोग में यह 'उपमित समास नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रयोग में 'सामान्य' का अर्थात् 'साधारण धर्म' का निर्देश किया गया है। इस प्रकार के प्रयोग में 'उपमान' के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्द—'व्याघ्र, सिंह, ऋषभ, वृष', आदि अनेक हो सकते हैं। 'करकमलम्', 'मुख-पद्मम्'—आदि प्रयोगों में 'कमल' 'पद्म' आदि शब्दों का समावेश भी उसी में माना गया है।

प्रस्तुत श्लोक में 'राजकुञ्जरः' = राजा कुञ्जरः इव—में 'राजा' उपमेय है, और 'कुञ्जर' उपमान है। इस समास में उपमावाचक शब्द लुप्त है। इस समास में 'साधारण-धर्म' का निर्देश नहीं किया जाता। इसलिये यह 'धर्मवादिलुप्ता' उपमा है। इस समास के अन्तर्गत रहने वाली 'उपमा' में 'दुराधर्षत्व'—यह 'साधारणधर्म' गृहीत है।

इस श्लोक में 'परिपन्थि······दुराक्रमः' तथा 'सम्परायप्रवृत्तः'—ये विशेषण, केवल 'राजा' के लिए ही उपपन्न हो सकते हैं, इस कारण उन विशेषणों को 'साधारण-धर्म नहीं कह सकते। यदि इन विशेषणों को साधारण-धर्म मान लें तो 'राजकुञ्जरः' यह समास ही नहीं किया जा सकेगा। इसमें प्रयुक्त 'उपमान' और 'उपमेय' का प्रयोग 'स्वतन्त्र पदों के रूप में करना होगा। अतएव यहाँ पर 'राजकुञ्जरः'—यह समास, 'राजा एव कुञ्जरः' के अभिप्राय से अर्थात् रूपक के अभिप्राय से नहीं किया जा सकता। यद्यपि उक्त उदाहरण में 'राजते' को साधारणधर्म कहा जा सकता है, किन्तु समास-विधायक सूत्र में 'सामान्याऽप्रयोगे'—सामान्यधर्म का प्रयोग न करने पर ही समास का विधान किया गया है। अतः 'राजते' इस सामान्य-धर्म की विवक्षा नहीं की गई है। एवं च 'धर्म' तथा 'वादि' के लोप में यह समासगा लुप्तोपमा का उदाहरण बन गया है। क्योंकि 'राजकुञ्जरः'—राजा अयं-कुञ्जरः इव—में 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे' सूत्र से साधारण-धर्म के अप्रयोग में समास करने से उपमावाचक 'इव' पद का भी लोप हो गया है।

(द्विलुप्ता अर्थात् धर्मोपमानलुप्तोपमयोः २ प्रकारौ)

(१३२) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

टुण्टुण्णन्तो मरिहसि कण्टअकलिआइँ केअइवणाइँ ।
मालइकुसुमसरिच्छं भमर ! भमन्तो ण पाविसिहि ॥ ४०७ ॥

(सूत्र १३२) धर्मोपमानयोरिति । 'धर्म' तथा 'उपमान' का लोप होने पर 'समासगा' तथा 'वाक्यगा'—'दो प्रकार की द्विलुप्ता उपमा हुआ करती है ।

अर्थात् 'धर्म' और 'उपमान'—ये दो घटक (अवयव) जिस उपमा में लुप्त रहते है, वह 'उपमा', 'वृत्तौ' वृत्ति में अर्थात् 'समास' में तथा 'वाक्य' में ही संभव रहती है । व्याकरणशास्त्र में 'वृत्ति' पाँच प्रकार की बताई गई है । 'कृत्-तद्धित-समासैकशेष—सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः' । अर्थात् कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्त-धातुरूप—ये पाँच वृत्तियाँ कहलाती हैं । कृदन्तप्रकरण के 'प्रत्ययों' को 'कृत् प्रत्यय' कहते हैं । तद्धित प्रकरण के प्रत्ययों को 'तद्धितप्रत्यय' कहते हैं । समास और एकशेष को समास-प्रकरण में बताया है, सनाद्यन्तधातुरूप वृत्ति को नामधातु के प्रकरण में बताया है । 'सन्', 'क्यच्' आदि प्रत्यय इस वृत्ति के कार्य हैं । वृत्ति के अर्थ का बोध-करानेवाले वाक्य को 'विग्रह' कहते हैं- 'वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः' ।

इन पाँच प्रकार की वृत्तियों में से 'समास' रूप वृत्ति ही यहाँ पर 'वृत्ति' शब्द से अभिप्रेत है । क्योंकि 'धर्म' और 'उपमान', इन दोनों का एक-कालिक लोप, अन्य-किसी वृत्ति में संभव नहीं है । ये दोनों प्रकार 'आर्वी' के हीं होते हैं । क्योंकि इनमें उपमाप्रतिपादक 'इव' आदि के प्रयोग का संभव नहीं है । एवंच यह 'लुप्तोपमा', साधारण धर्म और उपमानवाचक पद, दोनों के लुप्त रहने पर होती है, यह 'समास' तथा 'वाक्य' इन दोनों में दृष्टिगोचर होती है । उदाहरण, जैसे—

(३) टुण्टुण्णन्त इति । (टुण्टुणायमान इति ।) अरे भ्रमर ! काँटों से भरे हुए केतकी के वनों में टुन-टुन याचना करते हुए घूम-घूम कर मर भले ही जाओगे, किन्तु मालती पुष्प के समान सुन्दर अन्य कोई पुष्प कहीं पर भी न पाओगे ॥४०७॥

यहाँ पर 'मालइकुसुमसरिच्छम्' (मालती-कुसुमसदृक्षम्) में जो 'लुप्तोपमा' है, वह 'समासगा धर्मोपमानलुप्ता उपमा' है । क्योंकि 'उपमेय' मालती है, और उपमा-वाचक पद 'सदृश' है । ये दोनों विद्यमान हैं, किन्तु उपमान (कोई अन्य पुष्प) तथा साधारणधर्म (सौरभ आदि) का लोप है ।

(टुण्टुणायमानो मरिष्यति कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृक्षं भ्रमर ! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥ ४०७ ॥)

कुसुमेण सममिति पाठे वाक्यगा ।

प्रस्तुत उदाहरण 'टुण्टुणायमानो मरिष्यति०' यह 'भ्रमरान्योक्ति' (अन्योक्ति = अप्रस्तुत प्रशंसा) का है। किसी सद्गुणगणशालिनी नायिका की उपेक्षा करके अन्य गुणहीन स्त्रियों के फेर में फँसे हुए नायक की किसी नायिका के द्वारा अथवा उसकी सखी के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से भर्त्सना की गई है।

इसमें 'मालतीकुसुमसदृक्षम्' (मालतीकुसुमस्य सदृक्षम्)—यह प्रस्तुत उपमाप्रकार-का उदाहरण है। 'मालतीकुसुम'—यह 'उपमेय' है। 'सदृक्ष'—यह तुल्यादि वर्ग का उपमा-प्रतिपादक पद है, अतः 'आर्थी' है। इस उपमा-प्रतिपादक शब्द का उपमेयवाचक पद के साथ समास हुआ है, इसलिए 'समासगा' है। 'न पाविसिहि' कहकर उपमान-का दृष्टिगोचर होना नकारा गया है। तथा 'साधारणधर्म' का भी साक्षात् निर्देश नहीं है, इस कारण 'धर्मोपमानलुप्ता' है। 'कण्टकरहितत्व, सौरभ' आदि साधारण धर्म, अर्थबलात् प्रतीयमान है। 'टुण्टुणायमानः' पद, ध्वन्यनुकारी 'टुण्टुणाय'—धातु से निष्पन्न है। कुसुमेण सममिति पाठे वाक्यगेति। प्रस्तुत उदाहरण 'मालइकुसुमसरिच्छं' के स्थान पर 'मालइकुसुमेण समम्'—पाठ किया जाय तो यही उदाहरण 'वाक्यगा उपमा' का बन जायगा। क्योंकि 'उपमेय' और 'उपमावाचक' दोनों अलग हो जाते हैं अर्थात् असमस्त हो जाते हैं।

उद्योत में कहा गया है कि 'अत्र वर्णनीयत्वेन प्रकृतत्वात् मालती उपमेया, कुसुमान्तरस्य अप्राप्त्युपदेशेन त्वदप्राप्यमुत्कृष्टगुणमस्योपमानमिति प्रतीतेरस्त्युपमिति-क्रियानिष्पत्तिः'।

प्रभा में भी कहा गया है—"अत्रापि दुर्लभतयोत्कृष्टं कुसुमान्तरमप्रकृतं प्रकृत-मालत्युपमानतया विवक्षितम्"।

रसगङ्गाधर में भी कहा गया है—"मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर भ्रमन्नपि न प्राप्स्य-सीत्युक्त्या 'वर्ततां नाम तत्सदृशं क्वापि त्वया तु दुष्प्रापमेव' इति प्रत्ययादात्यन्तिकोप-माननिषेधाभावादुपमानलुप्तोपमैवेयं भवितुमर्हति नासमालङ्कारः। अन्यथा मालती-कुसुमसदृशं नास्तीत्येव ब्रूयात् न तु 'प्राप्स्यसि' इति"। तथा च मालतीकुसुमस्य सदृशं—मालतीकुसुमसदृक्षमिति समासः सौरभादिधर्मस्योपमानस्य च लोप इति धर्मोपमानयोर्लोपे समासगेयमुपमा।

(द्विलुप्तोपमाया अर्थात् उपमेयोपमावाचकलुप्ताया एक एव प्रकारः)

(१३३) क्यचि वाद्युपमेयासे ।

आसे-निरासे—

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥ ४०८ ॥

अत्रात्मा उपमेयः ।

(सूत्र १३३)—क्यचि वाद्युपमेयासे इति । उपमावाचक 'वा' आदि शब्द तथा उपमेय इन दोनों का लोप होने पर जो 'उपमा' होती है, वह केवल 'क्यच्'-प्रत्ययान्त नामधातुओं के प्रयुक्त होने पर हुआ करती है, और उसे 'आर्थी' कहा-जाता है। ['आसे' (∠√ असु = क्षेपणे फेंकना, त्यागना) = निरासे = लोपे] सूत्रगत 'आसे' पद का अर्थ—'निरासे', अर्थात् 'लोप' होने पर समझना चाहिए ।

'वाद्युपमेयासे'–यहाँ पर 'वाद्युपमेययोः आसे'–यह विग्रह करना चाहिये । "तथा च उपमाबोधकस्य वादेः, उपमेयस्य च, आसे = निरासे = लोपे, अनुपादाने सति 'क्यचि' क्यच्प्रत्ययविषये लुप्ता उपमा भवति । 'असुक्षेपणे' इति दैवादिकात् अस्-धातोर्भावे घञ् प्रत्ययः ।"

इसका उदाहरण, जैसे—

(द्विलुप्ता–उपमेयोपमावाचकलुप्ता–उपमा का १ प्रकार)

अरातिविक्रमालोकेति । शत्रुओं के पराक्रम को देखकर जिसके नेत्र विकसित हो जाते हैं, अर्थात् मेरे सामने भी शत्रुओं का यह पराक्रम ? इस प्रकार की भावना से जिसके नेत्रों का विकास हो जाता है, और कृपाण धारण करने से जिसका भुजदण्ड, उद्भट अथवा भीषण हो जाता है, ऐसा यह पराक्रमी राजा स्वयं को सहस्रायुध कार्तवीर्यार्जुन के समान समझता है । अर्थात् कार्तवीर्यार्जुन जैसे दुर्जय है उसी तरह वह राजा अपने को भी दुर्जय समझता है ॥ ४०८ ॥

विवरण—प्रस्तुत उदाहरण 'क्यच्गा, आर्थी' उपमेय वादि लुप्ता उपमा का है । इस उदाहरण में 'सहस्रायुधीयति' का प्रयोग किया गया है । 'सहस्रायुधीयति' अर्थात् 'सहस्रम् आयुधानि यस्य सः सहस्रायुधः, कार्तवीर्यार्जुनः तमिव आत्मानम् आचरति इत्यर्थः ।' राजा को इस प्रकार का जो अभिमान है, उसका फल यह है कि वह निःशंक होकर 'रण' में प्रवेश करता है, और शत्रुओं का उत्सारण कर देता है । आयुधसहस्र-निर्वाह्य प्रतिपक्षोत्सारण का निर्वाह वह 'राजा' एक कृपाणमात्र से ही कर देता है । इससे राजा में 'वीर-रस' का प्रकर्ष सूचित हो रहा है ।

यहाँ पर 'सहस्रायुध' अर्थात् सहस्रार्जुन—'उपमान' है। 'क्यच्' प्रत्यय का अर्थ जो 'आचार' है (यहाँ पर 'अजेयता'), वह 'साधारण धर्म' है। 'उपमानात्-आचारे'—सूत्र में 'उपमानात्' कहने से 'इवार्थ' का 'वृत्ति' में प्रवेश सूचित हो रहा है। अर्थात् उपमावाचक शब्द का लोप, प्रस्तुत नामधातु की निष्पत्ति में हो गया है। प्रस्तुत 'सहस्रायुधीयति' में जो 'क्यच्' है, वह 'कर्मक्यच्' है। अर्थात् उपमानभूत सहस्रायुध, यहाँ पर 'आचरति' का 'कर्म' है, किन्तु उदाहृत श्लोक में उपमानभूत कर्म का कहीं पर भी साक्षात् निर्देश नहीं किया गया है। पूर्वोक्त श्लोक (संख्या-४०३) 'पौरं सुतीयति जनम्' में भी 'कर्मक्यच्' किया गया था, किन्तु वहाँ 'पौरं जनम्' इस कर्म का साक्षात् निर्देश किया गया था। तदनुसार यहाँ भी 'कर्म' का अध्याहार किया जाना चाहिए। किन्तु वह 'कर्माध्याहार', सन्दर्भ के अनुरोध से 'सहस्रायुधीयति' के कर्ता (सः) से भिन्न उपलब्ध होना सम्भव नहीं हो रहा है, क्योंकि प्रस्तुत श्लोक-में 'कर्ता' की वीरता का ही बखान किया गया है। एवं च यहाँ पर 'कर्ता' को ही 'कर्म' कहना होगा। किन्तु 'सः' को उपमेयवाचक पद नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि 'सः' तो कर्तृकारक है, अतएव उसे प्रथमान्त रखा गया है, और 'सहस्रायुधीयति' का 'कर्म' जो होगा उसे तो द्वितीयान्त ही रखना होगा, क्योंकि 'उपमान' और 'उपमेय'-दोनों समानविभक्तिक हुआ करते हैं। एवं च यहाँ पर 'उपमेयभूत कर्म' के रूप में 'आत्मानम्' का अध्याहार किया गया है। उस कारण यह 'उपमेय-वादिलुप्ता' उपमा है। यदि यहाँ पर 'आत्मानम्' पद का प्रत्यक्ष प्रयोग हुआ होता तो यह 'वादिलुप्तोपमा' हुई होती।

एतावता निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि 'सः सहस्रायुधीयति' = 'सः (आत्मानं) सहस्रायुधम् इव आचरति', अर्थात् वह वीर राजा, जैसे ही रणभूमि पर युद्ध करने लगता है, तत्काल उसमें इतना आवेश भर जाता है कि सहस्रार्जुन के समान स्वयं में भी हजार बाहुओं का बल समा गया-सा समझने लगता है, उस कारण वह 'स्वयं'-को 'सर्वजित' होने का विश्वास करने लगता है।

'सहस्रायुध' = एक ही समय में हजार आयुधों को धारण करने वाला, अर्थात् 'सहस्रार्जुन'। हैहय कुल में उत्पन्न 'अर्जुन' राजा को भगवान् दत्तात्रेय के अनुग्रह से एक सहस्र बाहु प्राप्त हुए थे। उन्हीं हजार बाहुओं के सामर्थ्य से वह तीनों लोकों में सर्वजित हो गया था। महाकवि कालिदास ने उसके सम्बन्ध में कहा है—

"संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किलकार्तवीर्यः" ॥(रघु० ६।३८)

उसकी मृत्यु, भगवान् परशुराम के हाथ से ही हुई है।

प्रस्तुत श्लोक में प्रदीपकार ने 'सहस्रारायुध्रीयति' पाठ स्वीकार किया है। इस पाठ के अनुसार 'सहस्रार-आयुध' अर्थात् 'विष्णु', क्योंकि विष्णु का आयुध (चक्र) अराओं से युक्त कहा गया है।

कतिपय विद्वानों का कहना है कि प्रस्तुत पद्य में 'कर्ता' से भिन्न कोई अन्य कर्म न रहने पर भी पद्यगत 'सः' को ही 'उपमेयभूत कर्म' माना जाय।

किन्तु यह कथन, उचित नहीं है। 'सः' को ही 'उपमेयभूतकर्म' नहीं मान सकते। उपमेयभूत कर्म के वाचक 'आत्मानम्' पद का ही अध्याहार करना पड़ता है। क्योंकि उपमानभूत 'सहस्रायुध' कर्म के साथ उसे समान विभक्तिक होना आवश्यक है। किन्तु इस नियम की ओर दृष्टिपात न हो पाने से कतिपय व्याख्याकारों ने उपमेय वाचक पद 'सः' को ही समझ कर उन्हें 'वादिलुप्तोपमा' हो जाने की आशंका हुई होगी, उसे दूर करने के लिये उन्होंने 'सहस्रायुधीयति' को एक ही पद मानकर 'स सहस्रायुध' (सहस्रायुधैः सहितः-अर्जुनः) को ही 'उपमान' के रूप में स्वीकारा। इतना करने पर भी अनिष्ट प्रसंग दूर नहीं हो सका, क्योंकि उस पक्ष में 'अराति··· ···' और 'कृपाणोदग्रदोर्दण्डः' इन विशेषणों से ही प्रस्तुत श्लोक में 'कर्ता' का काम सम्पन्न होने लगेगा, क्योंकि 'विशेषणमात्रप्रयोगे विशेष्य प्रतिपत्तिः', और 'उपमेय' फिर भी अलुप्त ही रहेगा। अर्थात् अज्ञानमूलक जिस प्रसंग से बचने के लिये 'स सहस्रायुधीयति' को 'एक ही पद' माना था, वह प्रसंग तो पूर्ववत् अनिराकृत ही रहता है। अर्थात् 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः'—लहसुन भक्षण नहीं करना चाहिये, किन्तु रोग को दूर करने की इच्छा से अभक्ष्य लहसुन को भी खालिया, फिर भी रोग से छुटकारा नहीं मिला, यह स्थिति उन व्याख्याकारों की हुई है।

प्रस्तुत 'उपमेयवादिलुप्तोपमा', जैसे 'क्यच्-प्रत्ययान्त नामधातु में होती है, उसी तरह पूर्वोक्त 'क्यङ्-प्रत्ययान्त नामधातु में भी हो सकती है या नहीं ? अर्थात् 'सहस्रायुधीयति' की तरह 'स-सहस्रायुधायते'—(तुलनार्थं-'नारीयते'-श्लोक ४०३) 'उपमेयवादिलुप्तोपमा का उदाहरण हो सकेगा या नहीं ?

उत्तर यही होगा कि—'नहीं हो सकेगा'। क्योंकि 'क्यङ्' प्रत्यय 'कर्तरि' है, अर्थात् वह 'क्यङ्' प्रत्यय, जिस उपमानभूत नाम से जुड़ता है, वह 'उपमानभूत-नाम', उस 'क्यङ् प्रत्यय' से बोधित होने वाले 'आचार' का 'कर्ता' रहता है, उस-कारण 'स सहस्रायुधायते' में 'सः' को 'उपमेयभुत कर्ता' कहा जाता है। 'सहस्रायुध' तो उपमानभूत कर्ता और 'आचार' (क्यङ् प्रत्यय का अर्थ)—'साधारण धर्म' है। उस कारण यह केवल 'वादिलुप्तोपमा' का उदाहरण हुआ। 'उपमेयवादिलुप्तोपमा' का उदाहरण नहीं। प्रदीपकार कहते हैं—'हंसायते'—इत्यादौ कर्तैव उपमेयः, तस्य च अनुपादाने वाक्यमेव न पर्याप्यते, इति विशेषात्, 'क्यङि' नेयं सम्भवति'।

(त्रिलुप्तोपमाया अर्थात् धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमाया एक एव प्रकारः)

(१३४) त्रिलोपे च समासगा ॥ ९० ॥

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् ।

उदाहरणम्—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥ ४०९ ॥

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदेदमुदाहरणम् ।

(त्रिलुप्ता—धर्मोपमानवाचकलुप्ता–उपमा का १ प्रकार)

(सूत्र १३४) त्रिलोपे चेति । तीन अर्थात् 'साधारण धर्म', 'उपमान' तथा 'उपमाप्रतिपादक शब्द'—इन तीनों के लुप्त होने पर जो लुप्तोपमा होती है, वह 'समासगा' ही होती है । क्योंकि 'उपमा' के तीन घटक = अवयव = अङ्ग, (साधारण धर्म, उपमान पद तथा उपमावाचक शब्द) जब लुप्त हो जाते हैं, तब उस लुप्तोपमा का 'वाक्य' में, अथवा 'तद्धित' में होना तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वहाँ 'औपम्य' की प्रतीति तो हो ही नहीं सकती । केवल 'समास' में ही 'औपमम्य' की प्रतीति होती है, उस कारण यह त्रि–'लुप्तोपमा' समासगा कहलाती है ।

त्रयाणामिति । यहाँ 'त्रयाणाम्' का अभिप्राय, 'उपमावाचक वादि पद, साधारण-धर्म, और उपमान—इन तीनों से समझना चाहिये ।

उदाहरण, जैसे—

तरुणिमनीति । नव यौवन में पदार्पण (झाँकती अर्थात् प्रवेश) करने वाली, किशोरी, अतएव लुभानेवाले सुन्दर हाव-भावों के अधीन अपने शरीर को कर देने-वाली (विलासपूर्ण सुन्दर हाव-भावों को प्रदर्शित करने वाली), और कामदेव के पुष्पबाणों से बिद्ध हृदय (मन) वाली मृगनयना (हरिणाक्षी-किशोरी) महान् तपस्वी (मुनि) के भी मन को लुभा लेती है अर्थात् चुरा लेती है ॥ ४०९ ॥

अत्र सप्तम्युपमानेत्यादिनेति । प्रस्तुत पद्य में 'मृगनयना'—यह सामासिक-पद है । 'मृगस्य नयने इव नयने यस्याः सा'—इस विग्रह में 'अनेकमन्य-पदार्थे'—(पा० सू० २।२।२४) इस सूत्र पर दिये गये 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य-बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः'—वार्तिक से 'उपमानवाचक पूर्वपद 'मृगनयने' का 'नयने' के साथ बहुव्रीहि समास किया है, और उत्तर पद 'नयने' का लोप करके 'मृगनयना' पद बना है ।

(१) उपमेय, (२) चञ्चलत्व आदि सामान्य धर्म, तथा (३) उपमावाचक 'वादि' पद—तीनोंका लोप होने के कारण यह 'त्रिलुप्ता उपमा' का उदाहरण हो

गया है। अर्थात् उक्त वार्तिक के अनुसार जब 'मृगनयना' में समास तथा उत्तर पद का लोप होगा तभी यह उदाहरण त्रिलुप्तोपमा का हो सकेगा।

उपर्युक्त वार्तिक—'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य'—का अर्थ यह है कि 'सप्तम्यन्त' पूर्वपद अथवा उपमानवाचक पूर्वपद का 'उत्तरपद' के साथ 'बहुव्रीहि' समास होता है और पूर्वपदस्थ उत्तरवर्ती पद का (उत्तरपद का) 'लोप' हो जाता है। 'यहाँ पर 'मृगनयने इव नयने यस्याः'—इस विग्रह में 'मृगनयने'—यह उपमान-वाचक 'पूर्वपद' है। उसका उपमेयभूत 'नयने' के साथ 'बहुव्रीहि समास', और पूर्वपदस्थ उत्तरवर्ती पद (उत्तरपद) 'नयने' का लोप करदेने पर 'मृगनयना' पद निष्पन्न हुआ है।

इसी प्रकार सप्तम्यन्त पूर्वपद का उदाहरण—जैसे 'कण्ठे स्थितः कण्ठेस्थः, कण्ठेस्थः कालः यस्य सः—कण्ठेकालः (= शिवः) है। 'कण्ठेस्थः'—यह जो सप्तमी पूर्वपद समास है, उसमें कण्ठ से परवर्ती 'स्थ' पद का (उत्तर पद का) लोप हुआ है। तथा 'उष्ट्रस्य मुखम्—उष्ट्रमुखम्' (= ऊँट के समान जिसका मुख हो), यह षष्ठी 'उष्ट्रमुखमिव' तत्पुरुष समास है, तदनन्तर पुनः पूर्वपदस्थ उपमानवाचक 'मुख' शब्द का लोप और बहुव्रीहि समास 'मुखं यस्य सः—उष्ट्रमुखः'। यहाँ पर 'उष्ट्रमुखम्' यह 'उपमान पूर्वपद समास' है, उसके उत्तरपद का अर्थात् 'मुख' का लोप हुआ है। यदि उत्तरपद का लोप न हुआ होता तो 'उष्ट्रमुख-मुखः' कहना पड़ता। 'कण्ठेस्थः' इस समास को 'सप्तमी पूर्वपद' कहना तो उचित है, किन्तु 'उष्ट्रमुखम्' इस समास को 'उपमान पूर्वपद' कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि इसमें उत्तरपद जो 'मुख' है, वह 'उपमान' है। 'उष्ट्र' जो पूर्वपद है, वह 'उपमान' नहीं है। कदाचित् 'उष्ट्रमुखम्'—इस सम्पूर्ण समस्त पद को ही यथा-कथंचित् 'उपमान' मान भी लें तो भी उसे 'उपमान पूर्वपद' तो नहीं कहा जा सकेगा। इस संकट से उद्धारार्थ महाभाष्य के प्रदीप-व्याख्याकार कैयट ने एक युक्ति प्रदर्शित की है—'उष्ट्रमुखम्'—में 'मुख' तो उसका एक अवयव है, तब 'उपमानत्व' धर्म, उसके एक अवयव का ही होगा, यह कहना यद्यपि सत्य है तथापि अनेकशः क्वचित्-क्वचित् एक अवयव के धर्म का सम्बन्ध अवयव-समुदाय पर भी आरोपितकर दिया जाता है। उस कारण यहां 'उष्ट्र' को भी उपमान कहा जा सकता है।

कैयट की प्रदर्शित युक्ति को 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से मान लेने-पर भी 'उष्ट्रस्य मुखम्' = 'उष्ट्रमुखम्', इस समास को 'उपमान-पूर्वपद' कैसे कहा जायगा? क्योंकि यहाँ समस्यमान पूर्वोत्तर पदों में 'उपमान-उपमेय-भाव' ही नहीं है। किञ्च 'उष्ट्र' को आरोपित धर्म से ही क्यों न हो 'उपमान' मान लेने पर भी 'मृगनयना' को 'त्रिलुप्ता' का उदाहरण कैसे कहा जायगा?

जब 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च'—वार्तिक से समास, और उत्तरपद का लोप होता है, तब यह 'त्रिलुप्ता उपमा' का उदाहरण होता है।

ऐसे स्थलों पर 'कातन्त्र व्याकरण' के अनुसार 'मृग' पद की 'मृगनयन' अर्थ में 'लक्षणा' मानकर 'मृग इव नयने यस्याः सा मृगनयना'—समास करने पर 'मृग' पद और उपमेयवाचक नयन पद दोनों ही उपमानवाचक हो जाते हैं। तब 'धर्मवादिलुप्ता' अर्थात् द्विलुप्ता उपमा का उदाहरण कहलायेगा, अतः उपमान लुप्ता नहीं हो सकती।

कातन्त्र व्याकरण के अनुसार 'मृग' का अर्थ 'लक्षणा' से 'मृगनयन' कहने में, और कैयट के अनुसार 'नयन' के उपमानत्व धर्म का 'मृग' पर आरोप करना, यह कहने में कोई 'अधिक अन्तर' प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि 'एक के धर्म का दूसरे पर आरोप करना भी लक्षणा ही है'।

इसी प्रकार कुछ लोग उपमानमात्र का उपादान होने पर भी 'त्रिलुप्ता उपमा' मानते हैं। जैसे—'आयः=साहसिकः शूलिकः'—

'तेन अन्विच्छति' के अधिकार में 'अयः शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक् ठञौ'—(पा० सू० ५।२।७६) सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय किया गया है, तब अयः-शूल + ठक् = आयः शूलिकः'—शब्द निष्पन्न होता है। अयः-शूलमिव अयः-शूलम् = साहसम् तेन अन्विच्छति = व्यवहरति, इति 'आयः—शूलिकः'। महाभाष्यकार ने कहा है—'यो मृदुना उपायेन अन्वेष्टव्यानर्थान् तीक्ष्णेन उपायेन अन्विच्छति स आयः-शूलिकः'। अर्थात् जो मृदु उपाय से होने वाले अर्थ के लिये साहसपूर्ण तीक्ष्ण उपायों का प्रयोग करता है, उसे 'आयः शूलिकः' = साहसिक (साहसी) कहते हैं। एवं च यहाँ पर 'अयः-शूल शब्द, लक्षणा से 'क्रूर आचार' को बता रहा है। अर्थात् 'अयः-शूल' के समान क्रूर आचार का व्यवहार करने वाला 'आयः-शूलिकः' कहलाता है।

यहाँ पर 'अयः शूल' शब्द 'उपमान' है, उसका उपादान (ग्रहण) किया गया है। 'क्रूर आचार'—उपमेय है और 'तीक्ष्णत्वादि'—साधारण धर्म' हैं, एवं—'इव' आदि शब्द—उपमा-वाचक हैं। इन तीनों का उपादान (ग्रहण) नहीं किया गया है। अतः यह उपमान मात्र के उपादान में 'त्रिलुप्ता' का उदाहरण है—ऐसा पूर्वपक्षी का कहना है।

किन्तु काव्यप्रकाशकार श्री मम्मट भट्ट 'आयः-शूलिकः' प्रयोग को 'त्रिलुप्तोपमा' का उदाहरण नहीं मानते। श्री मम्मट भट्ट ने यहाँ पर ('आयः-शूलिकः' प्रयोग में) 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार माना है क्योंकि उपमेयभूत 'क्रूराचार' का निगरण करके 'अयः-शूल' के रूप में उसका अध्यवसान करने के कारण यहाँ 'निगीर्णाध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति' बन गई है।

(उपमेयवाचक धर्मलुप्तोपमायाः खण्डनम्, अर्थात् प्रतिहारेन्दुराजमतखण्डनम्)

क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाऽध्यवसायात् आयःशूलेअन्विच्छति आयःशूलिक-इत्यतिशयोक्तिर्न तु क्रूराचारोपमेय तैक्ष्ण्यधर्म-वादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा ।

(उपमायाः पञ्चविंशतिभेदाः)

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

प्रतिहारेन्दुराज की अभिमत 'त्रिलुप्तोपमा' यहाँ नहीं बन रही है। इसी अभिप्राय को काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट 'क्रूरस्याचारस्य', इत्यादि ग्रन्थ से बता रहे हैं।

क्रूरस्याचारस्यायः-शूलतयेति । 'आयः शूलिकः' (= साहसिकः) उपमेय, धर्म और वाचक शब्द के लोप में भी त्रिलुप्तोपमा मानने वाले प्रतीहारेन्दुराज के मत-का खण्डन।

इस प्रयोग में 'क्रूर आचार'—इस 'उपमेय' का निगरण करके उसका अध्यवसान 'अयः-शूल' के रूप में करने से 'अयः-शूलेन अन्विच्छति' = आयः शूलिकः इस विग्रह के द्वारा निष्पन्न हुआ 'आयः शूलिकः' पद 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार का उदाहरण है। अयः-शूलेन = तीक्ष्ण उपाय (तीव्र साहस) से जो अन्विच्छति = व्यवहार करता है, उसे 'आयः-शूलिक' कहते हैं।

न तु क्रूराचारेति । 'क्रूर आचाररूप उपमेय' और 'तीक्ष्णता आदि साधारण-धर्म' तथा 'वा' आदि उपमावाचक शब्द के लोप में होने वाली 'त्रिलुप्ता' उपमा का उदाहरण यह नहीं है।

एवमिति । इस प्रकार उन्नीस प्रकार की 'लुप्ता', और छह प्रकार की 'पूर्णा' उपमा, को जोड़कर पच्चीस प्रकार की उपमा होती है।

'त्रिलुप्ता उपमा' का उदाहरण 'मृगनयना' है। क्योंकि इसमें केवल 'उपमेय' मात्र का उपादान किया गया है, शेष तीनों (१) उपमान (२) चञ्चलत्व धर्म (३) 'वा' आदि उपमा-वाचक शब्द तीनों का लोप होने से यह 'त्रिलुप्ता उपमा' का उदाहरण माना गया है।

इसी के समान कुछ विद्वान् केवल 'उपमान' का उपादान करने पर भी 'त्रिलुप्ता-उपमा' का होना मानते हैं।

रुद्रट ने अपने विरचित 'काव्यालङ्कार' में 'उपमा' के उक्त भेदों के अतिरिक्त दो प्रकार की 'मालोपमा' तथा दो प्रकार की 'रशनोपमा' भी बताई है।

किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उन दो प्रकार की उपमाओं का अन्तर्भाव अपने उक्त भेदों में ही कर दिया है। अतएव रुद्रट-सम्मत उन उपमाओं के लक्षणों

अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥ ४१० ॥

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे ।

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥ ४११ ॥

इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा ।

को मम्मट ने नहीं बताया । इसी अभिप्राय से मम्मट ने 'मालोपमा' तथा 'रशनोपमा' इन दोनों के चार उदाहरण अर्थात् 'अभिन्न धर्मों वाली' और 'विभिन्न धर्मोंवाली मालोपमा के दो उदाहरण तथा 'अभिन्न धर्मोंवाली और विभिन्न धर्मोंवाली रशनोपमा' के दो उदाहरण, अर्थात् दोनों उपमाओं के चार उदाहरणों को मम्मट ने बताया है, साथ ही अपने विचार को भी प्रस्तुत किया है ।

(१) अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।
मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ॥ ४१० ॥

अनयेनेवेति । यह 'अभिन्न धर्मोंवाली मालोपमा' का उदाहरण है । वह नायिका, विषाद से इस प्रकार म्लान हो गई, जैसे अनीति से राज्यश्री, दीनता से मनस्विता, एवं पाले से पद्मिनी म्लान हो जाती है ॥ ४१० ॥

इस उदाहरण में 'म्लानि' रूप 'अभिन्न धर्म' को लेकर एक नायिका का अनेक (बहुत) उपमानों राज्यश्री, मनस्विता, एवं पद्मिनी के साथ सम्बन्ध बताया गया है । उसकारण यह उदाहरण एक (अभिन्न) धर्मगा मालोपमा का बन गया है ।

इत्यभिन्ने इति । इस उदाहरण में एक ही 'म्लानता' रूप साधारण धर्म का उपादान किया गया है ।

(२) ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥ (४११) ॥

ज्योत्स्नेवेति । यह विभिन्न धर्मोंवाली मालोपमा का उदाहरण है । यह नितम्बिनी, ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) की तरह नयनों (नेत्रों) को आनन्द देती है । तथा मदिरा (सुरा) की तरह मस्ती को पैदा करती है, और प्रभुत्व शक्ति की तरह सब लोगों को आकर्षित करती है ॥ ४११ ॥

इति भिन्नेचेति । इस उदाहरण में भिन्न-भिन्न साधारण धर्मों का उपादान किया गया है । एक ही उपमेय के लिये अनेक उपमानों के (सजातीय एवं विजातीय पुष्पों के समान गुम्फन के कारण इसे मालोपमा कहा गया है । अतः इस मालोपमा को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है ।

यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नाभिन्नधर्मत्वे—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणतिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला ॥४१२॥

मतिरिव मूर्त्तिर्मधुरा मूर्त्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥ ४१३ ॥

यथोत्तरमिति । इसी प्रकार जहां उपमेय को ही, उत्तरोत्तर उपमान बना दिया जाय तो रशनोपमा होती है । यह भी मालोपमा की तरह 'एक धर्मगता' और 'भिन्न धर्मगता' होती है । इसे रुद्रट ने माना है । किन्तु इसे भी अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है । जैसे—

'अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणतिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्तिरतिविमला' ॥४१२॥

निरन्तर सुवर्ण का दान करने के लिये करतल में रखे हुए संकल्प जल की बूंदों में याचकों का समुदाय, तरंग बन गया है । अर्थात् एक के पीछे एक याचक जल के तरंग की तरह निरन्तर आता ही रहता है ।

हे राजन् ! आपके वचनों के समान आपकी मति; मति के समान 'चेष्टा' (कृति) और चेष्टा के समान 'कीर्ति', अत्यन्त निर्मल है ॥ ४१२ ॥

यहां पर 'भणितिरिव मतिः' में 'मति'—उपमेय है, वही; 'मतिरिव चेष्टा'—इस दूसरी उपमा में 'उपमान' बन गई है और 'चेष्टा'—उपमेय है । वही 'चेष्टा', आगे 'चेष्टेव कीर्तिः'—इस तीसरी उपमा में 'उपमान' बन गई है । इस प्रकार उत्तरोत्तर 'उपमेय' को उपमान बनाकर रुद्रट ने उसे 'रशलोपमा' नाम दिया है। इन तीन उपमाओं में 'अतिबिमलत्व' रूप साधारण धर्म 'अभिन्न है । उस-कारण 'साधारण धर्म' की अभिन्नता में यह 'रशनोपमा' का उदाहरण दिया गया है ।

इसी प्रकार 'साधारण धर्म' को भिन्नता में भी एक उदाहरण प्रदर्शित किया है—

'मतिरिव मूर्तिर्मधुरा मूर्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम्' ॥ ४१३ ॥

मतिरिवेति । मति के समान उस राजा की मूर्ति मधुर है, मूर्ति के समान उसकी सभा; प्रभाव से युक्त है, अर्थात् प्रभाव-शालिनी है, और उसकी सभा के समान उसकी जयश्री को अन्य शत्रुओं के द्वारा जीत लेना सम्भव नहीं है ॥ ४१३ ॥

इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसम्भवात् उक्त-भेदानतिक्रमाच्च।

इत्यादिका रशनोपमेति। यहां तीनों उपमाओं में उत्तरोत्तर 'उपमेय' के उपमान हो जाने पर भी 'साधारण धर्म' भिन्न-भिन्न हो गया है। अतः यह दूसरे प्रकार की 'रशनोपमा' हुई है। किन्तु इस प्रकार की रशनोपमा तथा मालोपमा–दोनों-का लक्षण हमने (काव्यप्रकाशकार ने) नहीं किया है। क्योंकि ऐसे तो अनन्त वैचित्र्य हो सकते हैं। इन सबको ध्यान में रख कर 'उपमा' के भेद यदि किये जाँय, तो उनकी गणना करना असम्भव ही हो जायगा।

किञ्च वे सब भेद, हमारे बताये हुए पचीस भेदों के अतिरिक्त नहीं हैं। उस-कारण काव्यप्रकाशकार ने दोनों प्रकार की मालोपमा तथा दोनों प्रकार की रशनो-पमाओं को नहीं बताया है।

'उपमा' मालात्मक हो अथवा रशनात्मक हो, उसके (उपमा के) जो उपमान, उपमेय, साधारण धर्म, और उपमावाचक आदि चार घटक (अवयव) हैं, वे तो विद्यमान रहेंगे ही, उन्हें तो त्यागा नहीं जा सकता। तब 'पूर्णा–लुप्ता' इत्यादि उपमाघटकानुसारी प्रकारों को बता देने पर 'मालोपमा' इत्यादि प्रकारों को अलग से गिनने की कौन सी आवश्यकता है ?

'मालोपमा' इत्यादि अन्य कल्पित प्रकारों में उपमाघटक तत्त्व अव्यभिचरित रूप से रहते हैं, उस कारण उन कल्पित प्रकारों का अन्तर्भाव, हमारे पचीस उपमा-प्रकारों में हो जाता है, मालोपमा में प्रस्तुत, एक उपमेय में अनेक उपमानों को ग्रथित किया जाता है। ये अनेक उपमान, कभी तो उस उपमेय के साथ 'एक ही साधारण धर्म' से सम्बद्ध हुए रहते हैं, और कभी प्रत्येक उपमान का भिन्न-भिन्न साधारण धर्म, उस उपमेय के साथ सम्बद्ध रहता है।

उपमानों का एक साधारण धर्म, उदाहरण संख्या ४१० में दिखाया गया है, और उपमानों के भिन्न-भिन्न साधारण धर्मों को उदाहरण संख्या ४११ में दिखाया गया है। श्लोक संख्या ४१० वाले उदाहरण में 'सा'—यह उपमेय है, और 'राज्यश्री, मनस्विता, पद्मिनी'–ये सभी उपमान हैं, तथा 'मम्लौ'—यह 'एक ही साधारण धर्म' है, एवं 'इव'—यह उपमावाचक शब्द है। अर्थात् यह 'श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा' ही कही जा सकती है। निष्कर्ष यह है कि मालोपमा आदि प्रकारों का अन्तर्भाव 'पूर्णा', 'लुप्ता' आदि प्रकारों में से किसी न किसी में हो ही जाता है।

श्लोक संख्या ४११ वाले उदाहरण में 'नितम्बिनी'—यह उपमेय है, और 'ज्योत्स्ना, सुरा, प्रभुता'—ये सब उपमान हैं, इन उपमानों से क्रमशः 'नयनाह्लादकता,

मादकता, आकर्षकता'—इन भिन्न-भिन्न साधारण धर्मों के द्वारा वह 'उपमेय' सम्बद्ध हो रहा है। इस उदाहरण में तीन बार आया हुआ उपमावाचक 'इव' शब्द का उन उपमानों के साथ समास हुआ है। उस कारण यह 'उपमा', 'श्रौती समासगा पूर्णोपमा' ही कही जा सकती है। अतः उसे अलग समझना उचित नहीं है। एवंच मालोपमा के दोनों प्रकारों का अन्तर्भाव हमारी उपमाओं में ही हो जाता है।

रशनोपमा—'रशना' का अर्थ होता है—श्रृङ्खला, उस श्रृङ्खला की तरह रची हुई उपमा को 'रशनोपमा' कहते हैं। अर्थात् जिसमें पूर्वप्रोक्त 'उपमेय को ही अग्रिम कथन में 'उपमान' बना दिया जाता है (यथोत्तरम् उपमेयस्य उपमानत्वे)। एवंच इस प्रकार की 'उपमान-उपमेयपरम्परा' को ही 'रशनोपमा' शब्द से कहा गया है। इसमें किये जानेवाले प्रत्येक कथन में 'उपमान-उपमेयों' की जोड़ी, जिस साधारण धर्म से निगडित रहती है, वह 'धर्म' सभी जोड़ियों में समान (एक) भी हो सकता है, अथवा प्रत्येक जोड़ी का 'धर्म' पृथक्-पृथक् भी हो सकता है। उसकारण मालोपमा के समान रशनोपमा के भी दो भेद होते हैं।

जैसे श्लोक संख्या ४१२ वाले उदाहरण में 'भणिति-मति', 'मति-चेष्टा', 'चेष्टा-कीर्ति'—ये 'उपमान-उपमेयों की जोड़ियाँ हैं। उनमें 'अतिविमलत्व'—यह एक साधारण धर्म है। जैसे—'भणितिरिव मतिः अतिविमला' इत्यादि। 'मति' और 'चेष्टा' (=कृति) ये क्रमसे पूर्वकथन में और उत्तरकथन में 'उपमेय तथा उपमान' के रूप में बताये गये हैं, इस कथन की यही रशनात्मक रचना है। रशना में प्रत्येक जोड़ी का एक छोर, पीछे की जोड़ी में तो दूसरा छोर अगली जोड़ी में गुथा हुआ रहता है। इन जोड़ियों में स्थित रहनेवाले 'उपमान-उपमेयों के साधर्म्य का बोधन, तीन बार प्रयुक्त हुए और उपमानों के साथ समस्त हुए 'इव' शब्द से किया गया है। उसकारण यह 'श्रौती समासगा पूर्णोपमा' ही कही जा सकती है।

श्लोक संख्या ४१३ वाले उदाहरण में प्रत्येक उपमान-उपमेय की जोड़ी का 'साधारण धर्म' भिन्न-भिन्न है। यहाँ पर 'मति-मूर्ति', 'मूर्ति-सभा', 'सभा-जयश्री'—इन 'उपमान-उपमेयों' की जोड़ियों में यथाक्रम-'मधुरता, प्रभावशालित्व, अजेयत्व'—ये साधारण धर्म हैं। तीनों जगह उपमावाचक 'इव' शब्द ही है, जो 'उपमान' के साथ समस्त है। उसकारण यह 'श्रौती समासगा पूर्णोपमा' ही है। अतः 'रशनोपमा' को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

'उपमा' अलङ्कार की परम्परा--

सभी अलङ्कारों में 'उपमा' अलङ्कार प्राचीनतम अलङ्कार है। वैदिक वाङ्मय में इसका प्रचुर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद संहिता में यत्र-तत्र पग-पग पर

'उपमा' का प्रयोग उपलब्ध होता है। वेद में अन्य अलङ्कारों को तो खोजना ही पड़ेगा। ऋग्वेद की उपमाएँ, काव्यदृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं हृदयंगम हैं। जैसे—

(१) "परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये। वयो न वसतीरूप"-(ऋ.१।२५।४)

यहाँ पर ('न = इव') इव के अर्थ में 'न' का प्रयोग हुआ है।

(२) "सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येतिपश्चात्"-(ऋ. १।११५।२)

यहाँ पर ('न = इव') इव के अर्थ में 'न' का प्रयोग हुआ है।

(३) "न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून् त्स वनान्यृञ्जते ॥"

(ऋ. १।१४३।५)

यहाँ पर ('न = इव) इव के अर्थ में 'न' का प्रयोग हुआ है।

(४) "श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः" (ऋ. २।१२।४)

(५) "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥" (ऋ. १०।७१।४)

महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त (१।४) में उपमार्थक अनेक निपातों का परिगणन किया है। 'सर्वं शून्यं' कहनेवाले बौद्धों के पालि-वाङ्मय में 'उपमा' का प्रचुर-प्रयोग किया गया है। जैन विद्वानों ने तो उपमा का केवल प्रयोग ही नहीं, अपितु 'अलङ्कार-शास्त्र' पर ग्रन्थरचना भी की है। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र (१७।४३) में 'उपमा, रूपक, दीपक, यमक'—इन चार अलङ्कारों को ही बताया है। उसने 'उपमा' के पाँच प्रकार भी बताये हैं। प्राचीन-अर्वाचीन सभी आलङ्कारिकों ने इस उपमालङ्कार की न्यूनाधिकरूप से चर्चा की है। आचार्य वामन ने तो 'प्रतिवस्तु' आदि २८ अलङ्कारों को 'उपमाप्रपञ्च' की संज्ञा ही दे दी है। कवियों को महत्त्व देनेवाली यह 'उपमा' ही है। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में अनेकानेक अलङ्कारों का प्रयोग किया है, तथापि उसे विश्वकीर्ति का लाभ 'उपमालङ्कार' ने ही कराया—'उपमा कालिदासस्य' काव्य में 'उपमा' को उपलब्ध हुआ—'अनन्य साधारण स्थान' आज भी अक्षुण्ण है।

प्रस्तुत दशम उल्लास में काव्यप्रकाशकार श्री मम्मट को जिन ६१ अर्थालङ्कारों का परिगणन करना है, उनमें से प्रथम 'उपमा' अर्थालङ्कार को यहाँ तक सविस्तर बताया। अब 'सादृश्यमूलक अनन्वय' अलङ्कार को बता रहे हैं—

(२ अनन्वयालङ्कारः)

(१३५) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वयः ।

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः ।

उदाहरणम्—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासाः ॥ ४१४ ॥

(२ सादृश्यमूलकः अनन्वयालङ्कारः)

२—सादृश्यमूलक 'अनन्वय' अलङ्कार—

(सूत्र १३५) उपमानेति । जहाँ एक ही वाक्य में (न कि उपमेयोपमा की तरह दो वाक्यों में) एक ही का (न कि उपमा की तरह दो का) उपमानोपमेय-भाव रहता है, वहाँ 'अनन्वय' अलङ्कार कहा जाता है । अर्थात् जहाँ एक ही वाक्य में जो उपमान है, वही यदि उपमेय भी हो तो अनन्वय अलङ्कार होता है । इस अलङ्कार में उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न नहीं हुआ करते ।

उपमानान्तरेति । 'अनन्वय' यह संज्ञा यौगिक है । 'सम्बन्ध' का अर्थ है—'अन्वय' । 'उपमानान्तरसम्बन्धस्य अभावः यत्र'—ऐसा बहुव्रीहि समास करने से यह 'अनन्वय' शब्द, यहाँ 'योगरूढ' माना गया है । एवं च दूसरे उपमान के साथ अन्वय (सम्बन्ध) न होना ही 'अनन्वय' अलङ्कार है ।

उदाहरण—

न केवलमिति । विलक्षण कान्ति से निखरी हुई वह सुन्दरी नितम्बिनी नायिका, नितम्बिनी नायिका ही है, इतना ही नहीं अपितु कामदेव के नृत्य के लिये रंगमंच बने हुए उसके विलास भी उसी के विलास हैं ॥ ४१४ ॥

यहाँ पर औपम्य-प्रतिपादक एक ही वाक्य में 'एक ही वस्तु', उपमान और उपमेय—दोनों रूपों में प्रतीत हो रही है ।

विवरण—'अनन्वय' का शब्दशः अर्थ यह होगा कि 'न विद्यते अन्वयः सम्बन्धः अर्थात् उपमानान्तरेण यत्र स अनन्वयः'—अर्थात् किसी 'उपमेय' का अपने से भिन्न किसी 'उपमान' से 'साधारण-धर्मता' रूप 'सम्बन्ध' का न रहना । निष्कर्ष यह है कि किसी प्रकार का भेद न रहने पर भी 'भेदमूलक सादृश्य' का उपचार करके जहाँ एक-

ही वस्तु (धर्मी) में 'उपमानोपमेयभाव' बताया जाय, जिससे वह प्रतीत हो कि 'उसके समान (सदृश) अन्य कोई 'वस्तु' नहीं है और न उसका अन्यत्र कोई साधर्म्य ही है, वहाँ पर यह 'अनन्वय' नामका अलङ्कार माना जाता है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं—'स्वेन स्वस्य उपमा अनन्वयः' अर्थात् अपने से ही अपनी उपमा रखना 'अनन्वय' है।

अनन्वय और उपमा—सूत्र में 'उपमानोपमेयत्वे' और 'एक वाक्यगे'—ये नपुंसकलिंग, प्रथमा द्विवचन के रूप हैं। सप्तमी एक वचन के रूप नहीं हैं। 'अनन्वय' अलङ्कार में प्रकृत उपमेयभूत वस्तु ही 'उपमान' के रूप में निर्दिष्ट की जाती है। जैसे—'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' ॥ (वामन ४।३।१४)। इस अनन्वयालङ्कार में मूलभूत तत्त्व यद्यपि 'साधर्म्य' है, तथापि इसमें उपमान और उपमेय परस्पर 'अभिन्न' हुआ करते हैं, 'उपमालङ्कार' की तरह वे भिन्न नहीं हुआ करते। 'साधर्म्यमुपमा भेदे'—भेदग्रहणम् अनन्वयव्यवच्छेदाय'—यह पीछे कहा गया था। किन्तु परस्पर अभिन्न रहनेवाले 'उपमान-उपमेय' में 'उपमान-उपमेयभाव' सम्बन्ध ही कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि सम्बन्ध तो हमेशा अन्योन्य भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव रहता है।

इस आक्षेप का समाधान सुधासागरकार' ने यह दिया है कि 'कल्पित सम्बन्ध' के लिये 'कल्पित आधार' ही पर्याप्त होता है। अर्थात् 'उपमालंकार' में 'उपमान-उपमेय' का भेद वास्तविक होता है किन्तु 'अनन्वयालङ्कार' में 'भेद' कल्पित होता है।

'लाटानुप्रासअलङ्कार'[1] से 'अनन्वयालङ्कार' का भेद—

'अनन्वयालङ्कार' में 'उपमान-उपमेय-भूत वस्तु' की केवल 'अभिन्नता' प्रदर्शन कर देने से काम नहीं चलता, किन्तु उसका दो बार किया जानेवाला निर्देश भी 'अभिन्न शब्दों' से ही करना पड़ता है, 'पर्यायी शब्दों से नहीं',—इस रहस्य को 'एकस्य एव' पद से सूचित किया गया है—यह विस्तारिका व्याख्याकार परमानन्दचक्रवर्ती भट्टाचार्य ने बताया है। तदनुसार 'अनन्वय' में 'मुखम् इव मुखम्'—यही कहा जायेगा। 'मुखम् इव वदनम्' कहने से काम नहीं चलेगा।

१. लाट देश के निवासियों को प्रिय लगनेवाले 'लाटानुप्रास' में 'एक ही शब्द' भिन्न-भिन्न विभक्तियों में अथवा 'भिन्न-भिन्न पदों' से अन्वित होकर दो बार जब प्रयुक्त होता है तब 'लाटानुप्रासालङ्कार' होता है। जैसे—'स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते'—(विश्वनाथ १०।७)।

किन्तु 'विश्वनाथ' के मतानुसार 'मुखम् इव वदनम्'—इस प्रकार पर्यायी शब्दों का प्रयोग करने से भी 'अनन्वय' में कोई बाधा नहीं है, तथापि अनन्वय में 'एक शब्द का प्रयोग ही प्रशस्ततर होता है—यह भी वह बताता है। इस प्रकार करने से ही 'अनन्वय' की 'लाटानुप्रास'—इस शब्दालङ्कार से 'भिन्नता' प्रतीत होती है, यह उसने (विश्वनाथ १०।२६ वृत्ति में) कहा है।

किन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण भेदबीज यह है कि 'लाटानुप्रास' के 'आवृत्त शब्दों' में 'उपमान-उपमेयभाव' नहीं रहता, अर्थात् 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेद' का अभिप्राय भी नहीं है। अतः उपर्युक्त 'विस्तारिकाकार के अनुसार 'एव' पद का व्याख्यान स्वीकार, करने पर भी तथाकथित महत्त्वपूर्ण 'भेदबीज' से 'लाटानुप्रास' को व्यावृत्ति, 'अनन्वय' से होने में कोई बाधा नहीं होती।

रशनोपमा, उपमेयोपमा और असम अलङ्कारों से 'अनन्वय' की भिन्नता—'रशनोपमा' में एक ही शब्द से निर्दिष्ट होनेवाली एक ही वस्तु में 'उपमानत्व और उपमेयत्व' रहता हैं—जैसे, 'भणितिरिव मतिः; मतिरिव चेष्टा···' में 'मति'—उपमेय भी है, और 'उपमान' भी है तथा 'उपमेयोपमा' में भी, जैसे—'कमलेव मतिः, मतिरिव कमला' कहा जाता है। इन दोनों अलंकारों से 'अनन्वय' की भिन्नता इस प्रकार होती है कि 'अनन्वयालंकार' एक ही वाक्य में पूर्ण हो जाता है। अर्थात् एक ही शब्द से निर्दिष्ट होनेवाली 'एक ही वस्तु' का 'उपमानत्व' तथा 'उपमेयत्व' को जब एक ही वाक्य के द्वारा बताया जाता है, तभी 'अनन्वयालंकार' निष्पन्न होता है। किन्तु 'रशनोपमा' और 'उपमेयोपमालंकार' तो अनेक वाक्यों में पूर्ण हुआ करते हैं।

इस पर एक जिज्ञासा होती है कि 'प्रकृत वर्ण्य वस्तु' के लिये अन्य वस्तुओं की उपमा यदि दी जा सकती है, तो उसी वस्तु की उपमा देने में कौन सा औचित्य है ?

उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि उसी वस्तु की उपमा देने में औचित्य यह है कि 'प्रकृत वस्तु' अपने विशिष्ट गुणों से इतनी बढ़-चढ़कर सरस है कि अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है। अर्थात् उस वस्तु का अन्य उपमानभूत वस्तुओं के साथ सम्बन्ध (अन्वय) हो पाना संभव ही नहीं है—

'उपमानान्तरसम्बन्धाऽभावः'।—भामह ने (३।४५ में) और उद्भट ने (६।४ में) कहा है—

'यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता। असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥'

रुय्यक ने भी कहा है—'एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गः द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः। अत एव अनन्वयः इति योगोऽपि अत्र संभवति'। अर्थात् 'अनन्वयालंकार' का मर्म, 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेद' ही है। अतएव प्रस्तुत अलंकार को 'अनन्वय' (=असम्बन्ध) यह अन्वर्थक नाम दिया गया है।

यद्यपि 'असम अलंकार' में भी 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेद' रहता है, तथापि उसमें वह 'व्यवच्छेद', साक्षात् 'निषेधवाचक पद, से किया जाता है, जैसे—'मुखस्य सदृशं नास्ति'।

किन्तु 'अनन्वयालंलार' में 'एक वस्तु' की उसी वस्तु से तुलना करके उक्त 'व्यवच्छेद' को अप्रत्यक्षतया सूचित किया जाता है।

काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने 'असम' अलंकार को नहीं माना है, तथापि उसे स्वीकार करने पर भी उससे अथवा बहुत अंशों में उसके समान प्रतीत होनेवाली 'उपमानलुप्तोपमा' से 'अनन्वयालंकार' की भिन्नता उपर्युक्त विवेचन से निश्चित होती है।

'अनन्वयालंकार' को भामह, उद्भट, वामन और मम्मटभट्ट आदि आलंकारिकों ने 'स्वतन्त्र' माना है।

महाकवि दण्डी ने इस अलंकार को 'असाधारणोपमा' नाम देकर 'उपमा' में ही इसकी गणना की है (दण्डी—२।३७, ३।५८)।

रुद्रट ने 'अनन्वय' और 'उपमेयोपमा' (=उभयोपमा) का समावेश 'उपमा' में ही किया है—(रुद्रट ८।९-१२)।

उदाहरणभूत श्लोक संख्या ४१४ के द्वितीयचरण में 'नितम्बिनी' का उस 'नितम्बिनी' से ही तथा चतुर्थचरण में उसके 'विलासों' का उसके 'विलासों' से ही 'साधर्म्य' बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि उस 'नितम्बिनी' की और उसके 'विलासों' के बराबरी की जोड़, विश्व में कहीं पर भी नहीं है।

'अनन्वय' अलंकार के विषय में शोभाकर का कहना है कि 'एक ही वस्तु के एक भाग (अंश) की दूसरे भाग के साथ 'सधर्मता' तथा किसी वस्तु को उसके 'प्रतिबिम्ब' के साथ 'सधर्मता' दिखाने पर भी 'अनन्वय' अलंकार निष्पन्न होता है। अपने इस कथन में उसने 'युक्ति' दी है कि—

'उपमानान्तरविरहस्त्रिष्वपि भेदेषु गम्यते येन।
तदनन्वयस्त्रिधाऽसौ, असमे स तु मुख्यतो वाच्यः॥'

इन दो अधिक 'अनन्वयप्रकारों' की कल्पना निम्नांकित उदाहरणों से होती है—

(१) एद्दहमेत्ते भुवणे सुन्दरमहिलासहस्ससंकिण्णे।
अणुहरइ णवर तिस्सा वामद्धं दाहिणद्धस्स॥"

(२) "गन्धेन सिन्धुरधुरन्धरवक्त्रमैत्रीमैरावणप्रभृतयोऽपि न शिक्षितास्ते।
तद् त्वं कथं त्रिनयनाचलरत्नभित्तिस्वीयप्रतिच्छविषु यूथपतित्वमेषि॥"

(रत्ना० पृ० १०)

(३ उपमेयोपमालंकारः)

(१३६) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥

तयोरुपमानोपमेययोः परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा ।

'उपमा' का सौन्दर्य तो 'साम्य' की प्रतीति में होता है, किन्तु 'अनन्वय' का सौन्दर्य, उपमानान्तरों से 'साधर्म्यसम्बन्ध' के व्यवच्छेद में होता है। अनन्वयालंकार की निष्पत्ति में यह आवश्यक है कि 'उपमानरूप पद' भी एक ही हो, भिन्न नहीं। अन्यथा 'अस्याः वदनमिव अस्या वक्त्रम्'—इसका मुख, इसके मुख के सदृश है—इस वाक्य को भी 'अनन्वय' कहना पड़ेगा। किन्तु यह 'अनन्वय' नहीं है। अतएव चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने कहा है—'एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः शब्दतोऽर्थतश्चैकत्वस्य विवक्षितत्वात्'—यदि 'शब्द भेद' कर दिया जाय तो कहीं 'अर्थभेद' का आभास न हो जाय, इसलिये 'अनन्वय' में 'उपमेय' और 'उपमान' वाचक पदों को अभिन्न रखा जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'उपमा' में उपमान और उपमेय का वास्तविक भेद रहता है, और 'अनन्वय' में 'आहार्यभेद' रहता है। अतः दोनों का चमत्कार अलग-अलग है।

(३—उपमेयोपमा अलंकार)

(३) सादृश्यमूलक 'उपमेयोपमा' अलंकार—

(सूत्र १३६) उन दोनों 'उपमान और उपमेय' का परिवर्तन होजाना अर्थात् 'उपमान' का 'उपमेय' तथा 'उपमेय' का 'उपमान' के रूप में वर्णन करने पर 'उपमेयोपमा' अलंकार निष्पन्न होता है ॥९१॥

तयोरिति। उन दोनों का अर्थात् 'उपमान' और 'उपमेय' का 'विपर्यास' अर्थात् दो वाक्यों में परिवर्तन (उपमानोपमेयभाव का उपमेयोपमानभाव के रूप में बदलना) अन्य उपमान का निराकरण करने के अभिप्राय से उपमेय के साथ 'उपमान' की समानता जहाँ दिखाई जाती है, वहाँ 'उपमेयोपमा' अलंकार होता है।

'विपर्यास' का अर्थ, 'परिवृत्ति' (परिवर्तन) है, जो एक वाक्य में असंभव होने से 'दो वाक्यों में होती है। तीसरा कोई व्यक्ति 'उपमान' नहीं बन सकता ?—इस आशय को पुष्ट करने के लिये जहाँ 'उपमेय' से ही 'उपमा' की जाती है, वहां 'उपमेयोपमा' होती है। विपर्यास का अर्थ 'परिवृत्ति' (परिवर्तन) इसलिए है कि—

'विपरि' = उलटा, 'आस' = गमन। यह उलटा गमन, जहाँ स्वतः होता है, वहाँ 'उपमा' होती है। जैसे 'चन्द्र इव मुखं सुन्दरम्'—चन्द्र की तरह मुख सुन्दर है—यहाँ पर स्वतः यह प्रतीत होता है कि 'मुख की तरह चन्द्र है'। ऐसे स्थलों में 'उपमेयोपमा' नहीं होती। क्योंकि यदि 'मुख' के समान 'चन्द्रमा' नहीं रहेगा तो चन्द्रमा के समान 'मुख' भी कैसे रहेगा? यह स्थिति स्वतः ही है। इसलिए यहाँ 'उपमा' ही है। इसी कारण 'विपर्यास' का अर्थ, 'परिवृत्ति' (परिवर्तन) किया गया है। परिवर्तन वस्तुओं का स्वतः नहीं होता हैं। उसमें परिवर्तनकर्ता का आशय रहता है। यहाँ पर आशय यह है कि इसका उसके साथ साम्य है, अर्थात् ये ही दो पदार्थ, परस्पर में बराबरी के हैं, इनके जैसा तृतीय पदार्थ कोई नहीं है, जो इनकी समानता में आ सके। इसीलिए 'सविता विधवति विधवति सविता'—में 'उपमेय' के साथ 'उपमा' किसी ने नहीं की है। वह तो सुख तथा दुःख की परिस्थिति आने पर 'सूर्य' स्वतः 'विधु' प्रतीत होता है, और 'विधु' स्वतः 'सूर्य' प्रतीत होता है। उनमें परिवर्तन किसी कविने नहीं किया है। अतः वहाँ 'उपमेयोपमा' नहीं है।

विवरण—यह 'उपमेयोपमा' अलंकार 'अनन्वय' अलंकार के समान एक वाक्य में पूर्ण होनेवाला नहीं है। यह दो वाक्यो में पूर्ण होता है। 'प्रकृत वर्ण्य वस्तु के लिए विश्व में कोई उपमान ही नहीं है'—यह दृष्टिकोण 'अनन्वय' का है, और 'प्रकृत वर्ण्य-वस्तु के लिए सम्पूर्ण विश्व में एक ही उपमान है'—यह दृष्टिकोण 'उपमेयोपमा' का है। यह उक्त आशय—पूर्व (प्रथम) वाक्य के उपमान और उपमेय को द्वितीय वाक्य में यथाक्रम उपमेय और उपमान बना देने से अभिव्यक्त होता है। जैसे—'कमलमिव मुखम्, मुखमिव कमलम्'—इस द्विगुणित उपमा के दोनों कथनों में 'साधारणधर्म' एक ही रखना होता है। उसकारण साधारणधर्म, जिनमें एक नहीं रहता, उन 'सविता-विधवति, विधुरपि सवितरति' उदाहरणों की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि 'सविता-विधवति' में साधारणधर्म 'शैत्य' है, और 'विधुरपि सवितरति' में औष्ण्य (उष्णता) साधारणधर्म है। 'एकेन हि धर्मेण तस्य साम्ये अपरत्र वर्णिते, तेन धर्मेण अपरस्य तत्र साम्यमर्थप्राप्तमपि पुनः शब्देन उच्यमानं तेन धर्मेण तयोः सदृशं तृतीयं वस्तु व्यवच्छिनत्तीति' अतएव 'सविता विधवति, विधुरपि सवितरति' इत्यादौ सत्यपि उपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये विपर्यासे साधारणधर्मस्य भिन्नतया नोपमेयोपमा, तत्र हि 'सविता विधवति' इत्यत्र शीतकरत्वादिः साधारणोधर्मः, विधुरपि सवितरति' इत्यत्र तु उष्णकिरणत्वादिः साधारणोधर्मः अयमत्रनिष्कर्षः—पूर्ववाक्योक्तसाधारणधर्ममेव साधारणधर्मीकृत्य पूर्ववाक्योक्तेन उपमेयेन पूर्ववाक्योक्तस्य उपमानस्य उपमा, उपमेयोपमाः'' ।

इस अलंकार के युग्मवाक्य में से पूर्ववाक्य के उपमेय को ही उत्तरवाक्य में उसके उपमान का उपमान बनाया जाता है, अर्थात् उपमेय की सहायता से इसमें उपमा बनाई जाती है, 'उपमान' की सहायता से नहीं। अतः इस अलंकार को 'उपमेयोपमा' यह अन्वर्थक नाम दिया गया है। अभिप्राय यह है कि दो वाक्यों में ऐसी दो वस्तुओं का परस्पर साधर्म्य बताने से उन दो वस्तुओं जैसी तीसरी वस्तु, संसार में कहीं भी नहीं है, अर्थात् 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' सूचित होता है (इतर-उपमान-व्यवच्छेद-परा)।

अनन्वय का तात्पर्य, 'द्वितीयसदृशव्यवच्छेद' में रहता है, और उपमा का तात्पर्य केवल 'सादृश्य' के प्रदिपादन में रहता है।

'उपमेयोपमा' जिन दो वाक्यों में पूर्ण होती है, वे दो वाक्य 'शाब्द' न भी हो तो 'आर्थ' भी चल सकते हैं—यह उद्योतकार का कहना है। अर्थात् आपाततः एक ही वाक्य दीखने पर भी किसी विशिष्ट शब्द के अर्थबल से उसमें दो वाक्यों का समावेश प्रतीत होता है—ऐसे स्थलों में भी 'उपमेयोपमा' का संभव हो सकता है। जैसे—'राम-रावणौ मिथः तुल्यौ = 'रामः रावणतुल्यः, रावणः रामतुल्यः'। इस प्रकार से वाक्यार्थभेद की प्रतीति होती है।

शंका—एक वाक्य में 'उपमेयोपमा' का पूर्ण होना असंभव क्यों बताया गया है ? क्योंकि मुखमरविन्दं च परस्परेण समम्' इस एक वाक्य में भी 'उपमेयोपमा' है ही। अतः एक वाक्य में 'उपमेयोपमा' को असंभव कहना उचित नहीं है।

समा०—उक्त वाक्य में भी 'अरविन्देन मुखं समम्, मुखेन च अरविन्दं समम्'—इस प्रकार अर्थतः वाक्यभेद है। वृत्तिकार ने 'अर्थात् वाक्यद्वये' कहा है, उस कारण 'अनन्वय' से इसको भिन्न ही मानना होगा।

शंका—दो वाक्यों में ही 'परिवृत्ति' का होना यदि संभव हो तो 'मुखमिवचन्द्रः' यहाँ कौन सा अलंकार होगा ? क्योंकि 'उपमेयोपमा' को तो कह नहीं सकते।

समा०—यहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति होने से 'प्रतीप' अलंकार कह सकते हैं।

'इतरोपमानव्यवच्छेदपरा'=कहकर वृत्तिकार ने इस अलंकार को 'उपमा' से भिन्न बताया है—'प्रकृताभ्यामितरत् अन्यत् यत् उपमानं तस्य यो व्यवच्छेदः व्यावृत्तिः तत्परा इत्यर्थः, इतरोपमानव्यवच्छेदेनैव चमत्कारिकेति यावत्।

तथाच 'उपमेयोपमा' का निष्कृष्ट लक्षण यह हुआ कि 'उपमानान्तरव्यवच्छेदफलकः उपमानोपमेययोर्विपर्यासः' उपमेयोपमा' ॥

उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥ ४१५ ॥

वृत्तिकार ने 'उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा' कहकर 'उपमेयोपमा' संज्ञा को 'यौगिकी संज्ञा' कहा है।

उद्योतकार ने 'उपमेयेनोपमा यत्र' कहकर उसे यौगिकी संज्ञा बताया है।

कुवलयानन्दकारिका के व्याख्याकार आशाधरभट्ट ने 'उपमेयोपमा' की व्युत्पत्ति 'उपमेयाभ्यामुपमा उपमेयोपमा' कहकर की है।

(उपमेयोपमा का उदाहरण)

उदाहरणम्—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥ ४१५ ॥

कमलेवेति। अहो, इस राजा की 'कमला' जैसी 'मति' है, और 'मति' जैसी 'कमला' है। शरीर जैसी 'कान्ति' है, और 'कान्ति' जैसा 'शरीर' है। तथा 'धरणी' के समान 'धैर्य' है, और 'धैर्य' के सदृश 'धरणी' निरन्तर शोभित होती है, ऐसा प्रभावशाली यह राजा है ॥ ४१५ ॥

इसमें 'हर्ष' सूचक 'बत' अव्यय है। 'बतखेदेऽनुकम्पायां हर्षे सम्बोधनेऽद्भुते'—(अजयकोशः)।

यहाँ पर तीन वाक्य हैं, इनमें 'स्पृहणीयत्व-प्रचितत्व-विस्तृतत्व'–तीन साधारण धर्म हैं यह उद्योत में बताया है।

जो; सारबोधिनी-सुधासागरकार का कहना है कि 'कमला' को उपमान बनाने पर 'मति' में सर्वजनोपास्यत्व' साधारण धर्म है, 'मति' को उपमान बनाने पर 'कमला' में 'स्थिरत्व' साधारण धर्म है, 'तनु' को उपमान बनाने पर 'विभा' में 'अनभिभवनीयत्व' साधारण धर्म है, 'विभा' को उपमान बनाने पर 'तनु' में 'निर्मलत्व' साधारण धर्म है, 'धरणी' को उपमान बनाने पर 'धैर्य' में विपुलत्व साधारण धर्म है, 'धैर्य' को उपमान बनाने पर 'धरणी' में निरुपद्रवत्व' 'साधारण धर्म है, जो 'अन्य उपमान' के साथ सम्बन्ध न रखने से उत्कृष्ट प्रतीत होता है।

किन्तु उनका यह कहना मनोरम प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि यहाँ एक ही

साधारण धर्म का स्वीकार किया जाता है। अन्यथा 'सविता विधवति' इत्यादि में 'अतिव्याप्ति' होगी।

काव्यप्रकाशकार ने सादृश्यमूलक 'उपमा-अनन्वय-उपमेयोपमा और आगे बताये जाने वाले उत्प्रेक्षालंकार को भी लेकर चार अलङ्कारों को बताया है। ये चारों 'सादृश्यमूलक' ही हैं तथापि इनमें परस्पर भिन्नता है। अतएव सबके 'लक्षण', अलग-अलग किये हैं। इनमें से 'उपमा' और 'अनन्वय' का परस्पर भेद, इसलिये है कि 'उपमा' में 'उपमान और उपमेय'—दोनों भिन्न-भिन्न (अलग-अलग) होते हैं। किन्तु 'अनन्वय' में 'उपमान और उपमेय'—एक ही होता है। यही 'उपमा और अनन्वय का भेद है।

इसी प्रकार 'उपमेयोपमा' का भी 'उपमा' और 'अनन्वय' दोनों से भेद है। उपमा में 'उपमान' तथा 'उपमेय'—स्वत एव परिवर्तनीय होते हैं, किन्तु 'उपमेयोपमा' में उपमानोपमेयभाव, कविकृत परिवर्तनीय होता है।

तथा 'अनन्वय' का 'तात्पर्य' द्वितीयसदृशव्यवच्छेद' में रहता है, किन्तु 'उपमेयोपमा' का 'तात्पर्य' 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' में रहता है। यही 'उपमेयोपमा' का 'उपमा और अनन्वय' से भेद है।

शंका—काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'उपमालङ्कार' का मूलभूत (आधारभूत) सिद्धान्त 'सादृश्य' माना है, उसी आधार पर मालोपमा—रशनोपमा आदि अन्यान्य उपमा-प्रकारों का परिचय कराने पर भी उन्हें स्वतन्त्र रूप में नहीं माना, सभी को उपमा के ही अन्तर्गत माना है, तब मम्मट ने 'उपमा' से 'उपमेयोपमा' को अलग क्यों मान लिया ?

समा०—'उपमेयोपमा' में उपमानान्तर (उपमेय से भिन्न अन्य उपमान) का जो तिरस्कार किया जाता है, उसमें कुछ अलग ही चमत्कार रहता है। किन्तु 'उपमा' में दो भिन्न वस्तुओं में सादृश्य के आधार पर केवल 'उपमानोपमेयभाव' विवक्षित रहता है। अतः मम्मट ने 'अनन्वय' के समान ही 'उपमेयोपमा' को भी 'उपमा' से पृथक् माना है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'साधारण धर्मों को शब्दतः न कहने से ऐसे उदाहरणों को 'व्यक्तधर्मा उपमेयोपमा' नाम देकर और शब्दतः कथित 'साधारणधर्मवाले' उदाहरणों को 'उक्तधर्मा उपमेयोपमा' नाम से पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है।

उक्त धर्मवाली उपमेयोपमा का उदाहरण, जैसे—

(४ उत्प्रेक्षालंकारः)

(१३७) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

समेन उपमानेन ।

उदाहरणम्—

"शिव इव गुरुर्गरीयान् गुरुरिव सोऽयं सदाशिवोऽपि तथा" ।

—(पं० रा०)

'उपमेयोपमालङ्कार' को भामह, उद्भट, वामन, मम्मट आदि आलङ्कारिकों ने स्वतन्त्र माना है, किन्तु दण्डी और रुद्रट ने उसका समावेश 'उपमा' में ही किया है । दण्डी (२।१८) ने इसे 'अन्योन्योपमा', और रुद्रट (८।९) ने 'उभयोपमा' नाम से कहा है ।

४—सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालङ्कार—

(सूत्र १३७)—जहाँ 'प्रकृत' (उपमेय) को 'अप्रकृत'—(उपमान) के साथ 'तादात्म्य' की सम्भावना की जाती है,वहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार माना जाता है ।

निष्कर्ष यह है कि 'संशय' का ही रूपान्तर 'संभावना' कहलाती है । 'संभावना' को 'तर्क' का रूपान्तर नहीं समझना चाहिए । क्योंकि 'तर्कः शङ्कावधिमंतः'—'तर्क' को 'शंका' का अवधि (समाप्तिकारक) कहते हैं । कोटिद्वयावगाही 'ज्ञान' को 'संशय' कहते हैं, किन्तु उत्कटैककोटिक 'शंका' को 'संभावना' कहा जाता है । संशय में 'दो कोटियाँ हुआ करती हैं, जैसे—'अयं पुरुषो न वा' यह आदमी है या नहीं । यहाँ पर एक कोटि 'पुरुष' की है, जो 'विधिकोटि' है, और एक कोटि 'न वा' की है, जो 'निषेधकोटि' है, वह 'पुरुष' का निषेध करती हैं । जिस संशय की दो कोटियों में से एक कोटि 'उत्कट' हो, अर्थात् निश्चितप्राय हो उसी 'संशय' को 'संभावना' कहते हैं उसी को बाधज्ञानकालिक इच्छाजन्य ज्ञान आहार्यज्ञान कहते हैं । अर्थात् एवंच निश्चय और संशय के मध्य की ज्ञानावस्था को 'संभावना' कहते हैं ।

सूत्रार्थ इस प्रकार होगा प्रकृतस्य उपमेयस्य, समेन समात्मतया अर्थात् उपमेयस्य उपमानत्वेन संभावना उत्प्रेक्षा । प्रकृतम् आत्मनः समयति(समं करोति) इति समम् उपमानम् । समशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे'इति ण्यन्तात् कर्तरि पचाद्यच् प्रत्ययः । 'समेन' के बाद 'सह, एकरूपतया'—यह जोड़ लेना चाहिए । उत् उत्कटा प्रकृष्टस्य उपमानस्य,ईक्षा ज्ञानम् 'उत्प्रेक्षा' पदार्थः । संभावनं च उत्कटकोटिकः सन्देहः । तथाच–

सम्भावनमिति । 'प्रकृतस्य उपमेयस्य समेन उपमानेन सह,एकरूपतया(तादात्म्येन)

यत् संभावनम् सा उत्प्रेक्षा, उत्प्रेक्षानामकोऽलङ्कारः इति सूत्रार्थः। एवंच उत्कटोपमान-कोटिकं प्रकृतविषयकं संशयज्ञानम् उत्प्रेक्षेति भावः।

एवंच सादृश्यातिरिक्तमूलकस्मरण के समान दो असदृश पदार्थों की संभावना को उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं कहा जाता, अपितु वह तो 'वस्तुमात्र' है। अतएव रसगंगाधर के पद्य में—

"वदनकमलेन बाले स्मितसुषमालेशमावहसि यदा।
जगदिह तदैव जाने दशार्धबाणेन विजितमिति॥"

यहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं माना गया है, क्योंकि 'स्मित' में 'संभावनोत्थापकत्व' के रहने पर भी जगद्विजितरूपविषय-विषयिसाधारणत्व नहीं है। उदाहृत वृत्त के द्वितीयचरण में 'एकमात्रा' की न्यूनता प्रतीत हो रही है।

पूर्वकथित तीन अलंकारों में 'साधर्म्य' को साक्षात् शब्द से बोधित किया गया है, कतिपय अग्रिम अलंकारों में वह 'व्यङ्ग्य' भी होता है—इस प्रकार व्याख्याकारों ने 'उत्प्रेक्षा' के विषय में कहा है।

यह 'उत्प्रेक्षा' अलंकार, 'उपमा' से न्यून और 'रूपक' अलंकार के तुल्य कहा जाता है, जो कवियों को बहुत प्रिय लगता है। उसे कवियों की प्रतिभा का 'निकष' कहा जाता है। अलंकारशेखरकार ने तो 'उत्प्रेक्षा' को समस्त अलंकारों का 'सर्वस्व' कहा है। कवियों के यशोबर्धन में 'उत्प्रेक्षा' को प्रमुख कारण बताया गया है। इस अभिप्राय के समर्थनार्थ ही स्मितमुखी नववधू के समान उसे 'चितचोर' भी कहा गया है। जैसे 'स्थाणुरयं पुरुषोवा'—यह संशय है। इसमें दोनों पर्याय समबल रहते हैं। उनमें से एक पर्याय की प्रबलता होते ही वह 'संभावना' हो जाती है।

जयरथ ने 'संभावना' को ही 'तर्क' कहा है (रुय्यक पृ० ५४)। जैसे 'यह बहुधा मनुष्य होगा'—इस कथन में सामने दिखाई देनेवाली 'वस्तु' मनुष्य के रूप में ज्ञाता (देखनेवाले) को प्रबलतया प्रतीत होती है, तथापि वह 'वस्तु' मनुष्य से भिन्न नहीं है यह निश्चित ज्ञान भी नहीं हो रहा है, यह स्पष्ट समझ में आ रहा है। जब दूसरे पर्याय के यथार्थ होने की अस्पष्ट शक्यता शिथिल रहती है, तब शेष बचे एक ही पर्याय का ज्ञान होता है, इसे ही 'निश्चय' कहते हैं। जैसे—'अयं मनुष्यः'—यह मनुष्य है—यह निश्चय जब वस्तुस्थिति का संवादी रहता है, तब उसे 'यथार्थ ज्ञान' कहा जाता है, और जब वह वस्तुस्थिति का संवादी नही होता, तब उसे 'अयथार्थज्ञान' कहा जाता है। जैसे—सामने वस्तुतः 'मनुष्य' के विद्यमान रहने पर, उसे देखकर जो 'यह मनुष्य है'—ज्ञान होता है, उसे 'यथार्थज्ञान' कहा गया है। और सामने 'वृक्ष' के

विद्यमान रहने पर उसे देखकर यदि 'यह मनुष्य है'—इस प्रकार का ज्ञान होता है, तो उस ज्ञान को 'अयथार्थज्ञान' कहा जायगा। अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति, प्रमाणदोष (दृष्टिदोष) से होती है। उस अयथार्थज्ञान को ही 'मिथ्याज्ञान' कहते हैं।

तथा प्रमाणदोष के न रहने पर भी केवल ज्ञातापुरुष की इच्छा से भी उक्त 'मिथ्याज्ञान' की उत्पत्ति हुआ करती है। ज्ञातापुरुष की इच्छा से ही जब 'मिथ्याज्ञान' होता है, तब उसे 'आहार्यज्ञान' (आरोपित ज्ञान) कहा जाता है। जैसे—सामने 'मनुष्य' खड़ा है' यह प्रत्यक्ष दीखते हुए भी, देखनेवाला व्यक्ति, जब उसे 'यह वृक्ष है'—ऐसा समझता है, और उसे 'वृक्ष' कह देता है, तब उस ज्ञान को 'आहार्यज्ञान' कहते हैं। क्योंकि उसे 'वृक्ष' समझते हुए भी सामने की वस्तु 'वृक्ष' न होकर मनुष्य है—यह उसे ज्ञात रहता है। व्यावहारिक सृष्टि के ज्ञान की 'संशय, संभावना, आहार्य निश्चय'—जो अवस्थाएँ है, उन्हीं के आधार पर क्रमशः 'ससंदेह, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति' का निर्माण काव्यसृष्टि में किया जाता है। 'उन्ही के आधार पर' इसलिए कहा है कि काव्यसृष्टि में 'संशय, संभावना' भी प्रायः 'आहार्य' ही होती है। 'संभावना' के 'आहार्य' होने पर ही 'उत्प्रेक्षा' अलंकार निष्पन्न होता है। 'संभावना' यदि 'प्रमाण-दोष' से जन्य हो तो 'भ्रान्तिमान्' अलंकार निष्पन्न होता है, 'उत्प्रेक्षा' नहीं।

'उत्प्रेक्षा' के निष्पन्न होने में उसके 'घटक' के (अवयव के) रूप में 'संभावना' को जितना महत्त्व दिया जाता है, उतना ही महत्त्व उसके दूसरे घटक (अवयव) को अर्थात् 'उपमानोपमेयभाव' को दिया जाता है। 'उत्प्रेक्षा' में जिसकी जो संभावना की जाती है, उसका उससे 'सादृश्य' भी होना आवश्यक होता है। यह शर्त 'प्रकृतस्य समेन' इन कारिकागत शब्दों से बताई गई है। इस कथन से यह प्रतीत होता है कि 'उत्प्रेक्षा' में 'उपमा' छिपी रहती है, यह ग्रंथकार का अभिप्राय प्रतीत होता है। अभिप्राय यह है कि 'कदाचित् यह कमल हो'—ऐसा लगता है—यह कथन दूरस्थित अतएव स्पष्टतया न दिखाई देनेवाले कमल को लक्ष्य करके ही यदि हो तो उसे 'उत्प्रेक्षा' नहीं कहा जायगा, क्योंकि उस कथन में 'उपमानोपमेयभाव' गर्भित नहीं है।

कमल से भिन्न कोई वस्तु, निश्चित रूप से ज्ञात रहने पर ही अर्थात् तत्सदृश 'मुख' आदि वस्तु को लक्ष्य करके ही यदि कथन हो, तभी उस कथन को 'उत्प्रेक्षा' के नाम से कहा जायगा। अभिप्राय यह है कि 'उत्प्रेक्षा' सर्वदा 'आरोपात्मक' हुआ करती है। इस 'उपमा' के 'विषय-विषयी' परस्पर एक-दूसरे से 'उपमान-उपमेयभाव' के रूप में सम्बद्ध रहते हैं।

उत्प्रेक्षागत यह आरोप, अनिश्चयात्मक होता हुआ 'विषयी' की ओर झुका हुआ रहता है। यह 'आरोप' विषयी के अनुकूल निश्चयात्मक रहने पर 'रूपक' और

'अतिशयोक्ति' अलंकार निष्पन्न होते हैं। 'रूपक' में 'विषय' उक्त रहता है, किन्तु 'अतिशयोक्ति' में वह (विषय) उक्त नहीं रहता।

वृत्तिकार ने 'समेन' का अर्थ 'उपमानेन' किया है। अर्थात् 'अलोकसिद्ध (कवि-कल्पित) उपमानेन' समझना चाहिए। चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने कहा है--

"यदाऽयमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव यनेव शव्दः साधर्म्यव-चबः॥"

यदा पुनरयं (उपमानांशः) लोकादसिद्धः कविकल्पितः। तदोत्प्रेक्षैव येनेव शब्दः संभावनापरः॥ इदं चेवशब्दसमभिव्याहारे एव, अन्यत्र तु लोकसिद्धेनाऽपि। तेन 'मुखं चन्द्रं मन्ये'—इत्यादेः संग्रहः। 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादौ तु 'उपमैव' इति बोध्यम्। 'प्रकृतस्य' का अर्थ, 'प्रकृततावच्छेदकरूपेण ज्ञातस्य' समझना चाहिए। आगे दिये जानेवाले उदाहरण में 'पादशोभात्व' को तथा प्रत्युदाहरण में 'रामत्व' को 'प्रकृतता-वच्छेदक' समझना चाहिए। एवंच 'प्रकृतस्य' का अर्थ प्रकृततावच्छेदकरूप से ज्ञातस्य' करने के कारण जहाँ 'आहार्य संभावना[1]' की जाती है, वहीं पर 'उत्प्रेक्षा' होती है, अन्यथा नहीं। यह कहने से—

"रामं स्निग्धघनश्यामं विलोक्य वनमण्डले।
प्रायो धाराधरोऽयं स्यादिति नृत्यन्ति कोकिनः॥"

यहाँ 'अनाहार्य संभावना' में 'उत्प्रेक्षा' की अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि यहाँ पर केकियों को (मयूरों की) नृत्यप्रवृत्ति की संभावना में 'आहार्यत्व' नहीं है, अर्थात् 'अनाहार्यत्व' है। उक्त पद्य में 'प्रायः' और 'इति स्यात्' ये पद 'संभावना'के प्रतिपादक हैं। 'प्रायः' पद के होने से वक्ष्यमाण 'भ्रान्तिमदलंकार' भी यहाँ नहीं है।

'संभावनम्' कहने से 'रूपकवित्ति' (रूपकप्रसिद्धि) में 'अतिव्याप्ति' का निवारण हो जाता है। रूपक में 'तत्त्वेन अवधारण' होता है। 'स सन्देह' में 'समकोटिक संशय' होता है। किन्तु यहाँ तो उपमानकोटिक है, यही दोनों में भेद है। यहाँ भी 'अलङ्कारत्वे सति' यह विशेषण, प्रकरण से प्राप्त ही है। उस कारण 'प्रतिभानुत्थापित' वास्तविक सम्भावना और असुन्दरसाधारणधर्ममूलक सम्भावना चमत्कार जनक न होने से अलङ्कारत्व नहीं है, इसलिये उनमें उत्प्रेक्षात्व नहीं है। एवं च रमणीय साधारणधर्मनिबन्धन कविप्रतिभोत्थापित सम्भावना में चमत्कारजनकता होती है, उस कारण उसे हो 'अलङ्कार' शब्द से कहा जाता है। कुछ लोगों ने कहा भी है कि

१. बाधकालिकेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्। अत्र 'बाध' शब्देन बाधत्ते प्रतिबध्नाति इति बाधः इति व्युत्पत्त्या बाधकं प्रतिबन्धकं ज्ञानं विवक्षितम्। तच्च प्रकृते 'मुखं-चन्द्रो न' इति ज्ञानम्, तत्कालिकी या इच्छा 'मुखे चन्द्रत्वज्ञानं मे जायताम्' इति, तज्जन्यं यत् ज्ञानं 'मुखं चन्द्रः' इति तद् आहार्यमित्युच्यते।

"सम्भावना च रमणीयधर्मनिमित्तका ग्राह्या, तेन "नूनं स्थाणुनाऽनेन भाव्यम्" में निश्चलत्वादिसाधारणधर्मनिमित्तकसम्भावनायां नातिव्याप्तिः"।

उत्प्रेक्षा वहीं पर होती है, जहाँ 'उत्प्रेक्षा सामग्री' 'इव, ध्रुवम्, प्रायः, नूनं, मन्ये, शङ्के, अवैमि, ऊहे, तर्कयामि, जाने, इत्यादि उत्प्रेक्षा प्रतिपादक शब्दों के सहित होती है। और जहाँ प्रतिपादक शब्दों से रहित केवल उत्प्रेक्षा सामग्री रहती है, वहाँ 'उत्प्रेक्षा'—व्यङ्ग्य रहती हैं। 'उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैः'—में 'व्यज्यते' का अर्थ, 'बोध्यते' है। श्री अप्पयदीक्षितेन्द्र ने लिखा है—'एता एव उत्प्रेक्षाः "मन्ये शङ्के' इत्याद्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वेन परिगणितानां शब्दानां प्रयोगे वाच्याः, तेषामप्रयोगे गम्याः।

इस तरह इनके प्रयोग में 'वाच्याः' कहने का आशय यह है कि 'ये वाचक' हैं।

इत्युत्प्रेक्षाबोधकत्वेन परिगणितानां शब्दानां प्रयोगे वाच्या, तेषामप्रयोगे गम्योत्प्रेक्षा।

शंका—जब ये वाचक हैं, तब इनको 'व्यञ्जक' कैसे कहा? क्योंकि 'व्यञ्जक' तो वह होता है, जो 'व्यञ्जना वृत्ति' से अर्थ का बोधक होता है।

समाधान—'मन्ये' इत्यादि शब्द, जब 'स्वतन्त्र रूप' से प्रयुक्त होते हैं, तब उनका अर्थ 'सम्भावना' नहीं होता। अतः वे वाचक नहीं है, यह सिद्धान्त किया गया है। 'अभिधाशक्ति से जो, 'अर्थ' का बोधक होता है, उसे 'वाचक' कहते हैं।

जहाँ उत्प्रेक्षा सामग्री रहती है, वहाँ रहने वाली उत्प्रेक्षा के ये शब्द बोधक होते हैं। अतः 'इनको' व्यञ्जक भी कह दिया है। जैसे उपसर्गादि के रहने पर ही 'धातु' में अर्न्तनिहित अर्थ, व्यक्त होता है, अन्यथा नहीं। 'आस्यते' एवं 'उपास्यते' का विचार करने पर उक्त रहस्य स्पष्ट होता है। 'उप' के लगाने पर वही 'धातु', सकर्मक कहलाता है। अन्यथा 'अकर्मक' है। 'इनका' और 'उनका' इतना ही साम्य है, अधिक नहीं। क्योंकि 'उपसर्गों' का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हो सकता, किन्तु इनका स्वतन्त्र प्रयोग भी होता है।

'इवशब्दोऽपि तादृशः' कहने का आशय यह है कि 'इव' शब्द, 'तिङन्त' के साथ प्रयुक्त होने पर 'सम्भावना' का बोधक होता है, और किसी अन्य के साथ प्रयुक्त होने पर 'सादृश्य' का बोधक होता है।

शंका—यदि 'संकेत' के अभाव में 'मन्ये' आदि शब्द, उत्प्रेक्षा के वाचक नहीं होते हैं, तब यह कैसे कहा जा रहा है कि इनके प्रयोग में 'वाच्या उत्प्रेक्षा' होती है?

१. "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः" ॥

समाधान—जैसे 'हन्' धातु का स्वतन्त्र प्रयोग करने पर वह 'गमन' अर्थ को नहीं कह सकता, किन्तु किसी अन्य के साथ प्रयुक्त होने पर 'गमन' अर्थ को बताता है। जैसे 'पद्धति जङ्घा' में 'जङ्घा' शब्द के साथ प्रयुक्त हुआ 'हन्' धातु 'गमन' अर्थ को बता रहा है। यहाँ पर वह 'वाचक' ही है, 'व्यञ्जक' नहीं है। इस प्रकार अर्थ बोधन करना उसका स्वभाव ही है। उसी तरह 'मन्ये' आदि शब्दों की स्थिति है। 'हन्' धातु में तो गमनरूप अर्थ बताने की 'शक्ति' भी हैं, किन्तु 'मन्ये' आदि में तो वह भी नहीं है, तब भी वे शब्द, अपने स्वभाव के कारण अर्थबोध करा देते हैं।

फलतः यह सिद्धान्त निष्पन्न होता है कि मन्ये आदि शब्द, अपने स्वभाववश उपसंदानित अवस्था में ही 'संभावना' को बताते हैं। अतः 'इनके प्रयोग' में वह 'उत्प्रेक्षा' 'वाच्या' कहलाती है, और जहाँ 'इव' के बिना वाक्यार्थ की समाप्ति नहीं है. तथा शीघ्रही 'इव' आदि शब्दों की प्रतीति हो जाती है, वहाँ 'व्यंग्या उत्प्रेक्षा' कही जाती है।

'इव शब्द' 'तिङन्त के साथ होने पर ही 'संभावनापरक' होता है। इसीलिये

"बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्॥"

कुछ लोगों का कहना है कि 'वनस्थलीनां नखक्षतानि इव पलाशानि बभुः'—(कुमा० संभ० स० ३ श्लो० २९) इस पद्य में 'उपमा' अलंकार ही है, 'उत्प्रेक्षा' नहीं है।

किन्तु दीक्षितेन्द्र अप्पयदीक्षितजी ने यहाँ 'उत्प्रेक्षा' मानी है। यद्यपि जहाँ कहीं भी स्थित 'नखक्षतों' से हुए 'वक्रत्व', 'लौहित्यादि' को देखकर 'उपमा' भी कही जा सकती है, तथापि 'सद्यः वसन्तनायकसमागतवनस्थलीसम्बन्धित्वरूपविशेषण' की कल्पना जो की गई है, वह 'उत्प्रेक्षा' की गमक (सूचक) हो रही है, क्योंकि 'उपमा' में उस कल्पना का कोई उपयोग नहीं है। किन्तु 'अन्यस्थल' में 'इव' शब्द, 'उपमा' का ही बोधक होता है। और उत्प्रेक्षाबोधक 'इव' शब्द, कहीं-कहीं 'प्रतीयमान' भी होता है। जैसे—

"तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया॥"

यहाँ पर 'लज्जया इव'—इस प्रकार 'उत्प्रेक्षा' बोधक 'इव' शब्द की झटिति प्रतीति होती है। क्योंकि 'स्तनों' में 'लज्जा' का होना कदापि संभव नहीं है। तथा 'इव' शब्द के बिना 'वाक्यार्थ' की प्रतीति भी नहीं हो पा रही है।

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया
मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः।
नीतः शान्ति प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पद्मलक्ष्मीः ॥ ४१६ ॥

इस उत्प्रेक्षा में 'स्वरूप, हेतु और फल'—इन तीन की 'उत्प्रेक्षा' होती है। अतः यह 'स्वरूपोत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा के नामों से कही जाती है। ये सभी उत्प्रेक्षाएँ 'जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य एवं अभाव के संभाव्य होने से प्रत्येक 'उत्प्रेक्षा' के पाँच प्रकार होते हैं। इस उत्प्रेक्षा के निमित्तभूत 'धर्म' के उपादान एवं अनुपादान के करने पर अनेकानेक भेद (प्रकार) हो सकते हैं। किन्तु इनमें कोई विशेष चमत्कार के न होने से काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उनको उपेक्षा करके 'हेतूत्प्रेक्षा' और क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का एक-एक उदाहरण प्रदर्शित किया है। उनमें से 'हेतूत्प्रेक्षा' का उदाहरण 'मन्दाक्रान्ता' वृत्त में दे रहे हैं, जैसे—

उन्मेषमिति। (मम) जातिवैरी निशायां मम उन्मेषं न सहते, तस्य इन्दोः सौन्दर्यदर्पः अनया इन्दीवरदलदृशा वक्त्रकान्त्या प्रसभं शान्ति नीतः इति हर्षात् (हे) ललिततनु ! पद्मलक्ष्मीः ते पादयोः लग्ना मन्ये ॥

कोई नायक अपनी नायिका के प्रति चाटुकारी कर रहा है। (हे) यह हर्षबोधक अव्यय है। जो मेरा जातिवैरी (सहजशत्रु) है, अतएव रात्रि में मेरे (पद्मशोभा = लक्ष्मी के) उन्मेष = विकास को सहन नहीं करता है, उस चन्द्रमा के सौन्दर्यदर्पको = लावण्यगर्व को, 'इन्दीवर-दलदृशा'—'इन्दीवरदले इव दृशौ चक्षुषी यस्याः तथाभूतया' —मुझ नीलकमल (इन्दीवर) दल के सदृश नयनों वाली इस नायिका ने अपनी 'मुखकान्ति' से 'प्रसभं' = हठात् (जबरदस्ती) बलात्कारपूर्वक 'शान्ति नीतः' = शान्त कर दिया, अर्थात् दूर कर दिया, इति हर्षात्' = इसी हर्ष (आनन्द) के कारण हे ललिततनु ! हे सुन्दरशरीरे प्रेयसि ! यह पद्मलक्ष्मी = कमलशोभा आपके (तुम्हारे) 'चरणों' में संलग्न हो गई है, अर्थात् लग गई (आसक्त हो गई) है, पतित = प्रणत हो रही है, (चिपट गई है) इत्यहं मन्ये = तर्कयामि, अर्थात् इस प्रकार मैं कल्पना करता हूँ ॥ ४१६ ॥

विवरण—काव्यप्रकाशकार ने अभी तक चार अलंकारों का (उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा) विवेचन किया है। ये 'चारों अलंकार' 'सादृश्यमूलक' हैं। तथापि उनमें परस्पर भिन्नता उपलब्ध होती है। 'उपमा' और 'अनन्वय' का भेद यह है कि 'उपमा' में—'उपमान' और 'उपमेय' दोनों पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) होते हैं, किन्तु 'अनन्वय' में 'उपमान' और 'उपमेय' दोनों 'एक' ही होते हैं।

तथा 'उपमेयोपमा' भी 'उपमा' तथा 'अनन्वय' दोनों से बिलकुल भिन्न है। उपमेयोपमा अलंकार में 'उपमान' का 'उपमेय' के रूप में तथा 'उपमेय' का 'उपमान' के रूप में परिवर्तन (वर्णन) किया जाता है। यह परिवर्तन 'अन्य उपमान' का निराकरण करने के लिये किया जाता है। उपमेयोपमा अलंकार, एक वाक्य में पूर्ण नहीं होता, उसकी पूर्ति दो वाक्यों में होती है।

किन्तु 'अनन्वय' अलङ्कार का रुख (दृष्टिकोण) 'प्रकृत वस्तु' के लिये संसार में कोई 'उपमान' ही नहीं है'—कहने में रहता है और उपमेयोपमा का दृष्टिकोण—'प्रकृत वस्तु' के लिये संसार में एक ही 'उपमान' है—यह कहने में रहता है। यही दोनों में भेद है।

'उत्प्रेक्षा' और 'उपमा' का भेद पहिचानना क्वचित्–क्वचित् कठिन हो जाता है। इन दोनों की भिन्नता इस प्रकार पहिचाननी चाहिये—

(१) 'मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनं'—ये 'उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग 'उपमा' में नहीं किया जाता है। अतः जहाँ पर इन शब्दों का प्रयोग दिखाई दे, वहाँ 'उत्प्रेक्षा' समझनी चाहिये।

(२) 'इव' शब्द, ऐसा है, जो 'उपमा' तथा 'उत्प्रेक्षा' दोनों का वाचक है। तथापि उसकी पहिचान इस तरह कर लेनी चाहिये कि जहाँ पर 'इव' शब्द का प्रयोग क्रियापद के साथ हुआ हो, वहाँ पर 'उत्प्रेक्षा' समझनी चाहिये। जैसे—'लिम्पतीवतमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः'। उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का प्रयोग प्रायः क्रियापद के साथ होता है।

(३) जब उत्प्रेक्षावाचक 'इव' शब्द का सम्बन्ध 'क्रिया' के साथ न होकर किसी अन्य पद के साथ हो, वहां उत्प्रेक्षा का निर्णय करना कठिन हो जाता है, तब उत्प्रेक्षा के लक्षण से सहायता लेनी चाहिये। 'उपमा का प्राण 'सादृश्य' है, और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। सादृश्य के 'उपमान पदार्थ' की सत्ता 'वास्तविक' होती है। और 'सम्भावना' में 'उपमान' पदार्थ, 'काल्पनिक' होता है। 'उपमेय' का वास्तविक विद्यमान रहने वाले उपमान के साथ सादृश्य रहने पर 'उपमा' कहलाती है। और 'उपमेय' की 'कल्पित उपमान' के रूप में 'संभावना' करने पर 'उत्प्रेक्षा' होती है। अतः—

"बालेन्दुवक्राण्यविकासभावात् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्योवसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव बनस्थलीनाम्॥

बालचन्द्रमा के समान अर्धचन्द्राकार और अत्यन्त लालवर्ण के पलाश (ढाक) के पुष्प, वसन्त के समागम से उत्पन्न बनस्पतियों के नखक्षतों के समान प्रतीत होते थे।

वनस्थलियों के 'नखक्षत' वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं उसकारण 'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' में 'इव' शब्द, 'सादृश्य' का वाचक नहीं है, किन्तु 'सम्भावना' का बोधक है। अतः यहाँ 'उपमा' नहीं है, अपितु 'उत्प्रेक्षा' है।

'उन्मेषं यो मम न सहते—इस पद्य में कवि ने किसी सुन्दरी के मुख का और उसके चरणों के सौन्दर्य का वर्णन किया है। दोनों अंगों के सौन्दर्य का वर्णन करने पर भी कवि का मुख्य लक्ष्य चरण-सौन्दर्य के वर्णन में ही मुख्यतया प्रतीत हो रहा है, और 'मुखसौन्दर्य' का जो वर्णन किया है, वह तो उसके चरणसौन्दर्य के वर्णन का 'अंगभूत' है।

उस 'सुन्दरी के चरण', 'आरक्त' रहने से 'लाल कमल' जैसे प्रतीत हो रहे थे। लालकमल जैसे उसके 'चरणों' को देखकर कवि के मन में प्रथमतः वह कल्पना स्फुरित हुई कि इस सुन्दरी के 'चरणों' में 'पद्मलक्ष्मी चिपट गई है'—(यह 'अतिशयोक्ति' अलंकार है, इसमें 'समासोक्ति' भी गर्भित है)। इस 'कल्पना' के आधार पर ही उसी कवि की नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा में 'कल्पना' की दूसरी तरंग उठी कि 'सुन्दरी के चरणों' में चिपटने का 'कारण', 'पद्मलक्ष्मी' के मन में उत्पन्न होनेवाला 'हर्षातिरेक, ही है—(यह 'उत्प्रेक्षा' अलंकार है)। किन्तु पद्मलक्ष्मी के मन में इतना 'हर्षातिरेक' होने का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर, कवि ने यह दिया है कि इस सुन्दरी ने तो 'पद्मलक्ष्मी' के प्रतिस्पर्धी 'चन्द्रमा' का सम्पूर्ण नशा (सौन्दर्यगर्व) ही एकदम (बिलकुल) फीका कर दिया, उसकारण 'पद्लक्ष्मी' के मन में हर्षातिरेक हो रहा है।

क्योंकि 'सूर्यविकासी कमल को' दिन भर अपने 'सौन्दर्य का अखर्व-गर्व' रहता है, किन्तु सूर्य का अस्त हो जाने पर जब 'चन्द्र' का उदय होता है, तब कमलों का 'सम्पूर्ण गर्व' नष्ट हो जाता है। इस प्रकार दिन भर अपने सौन्दर्य की डींग मारनेवाली पद्लक्ष्मी को रात में 'अपना 'मुख' छिपा लेने के लिए 'चन्द्रमा' बाध्य कर देता है। अतः यह चन्द्रमा, 'पद्मलक्ष्मी' का सहजशत्रु (वैरी) सिद्ध होता है। उस सहजशत्रु (वैरी) चन्द्रमा का, अच्छी तरह से बदला लेने की प्रबल भावना उसके (पद्मलक्ष्मीके) 'मन' में अहर्निश रहती है, किन्तु वह पामर (बेचारी) अनाथ अबला कर ही क्या सकती है? इस परिस्थिति में उसे एक दिन ऐसा अनुभव हुआ कि किसी एक सुन्दरी ने अपनी अनुपम 'मुखकान्ति' से पद्मलक्ष्मी के सहजशत्रु उस 'चन्द्रमा' को, कान्तिहीन (निष्प्रभ) कर दिया है अपने सहजवैरी (शत्रु) का यह 'पराभव' (पराजय) हुआ, और वह भी अपनी जैसी 'एक स्त्री' के ही हाथ से हुआ, यह देखते ही 'पद्मलक्ष्मी' (कमलश्री) हर्षातिरेक से पागल हो उठी, और सोचने लगी कि मेरी एक जाति

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ४१७ ॥

इत्यादौ व्यापनादिलेपनादिरूपतया सम्भावितम् ।

भगिनी ने यह अद्भुत पराक्रम कर मुझे इतना सुख पहुँचाया है । इस प्रकार परमानन्द की भावना के वशीभूत (परवश) होकर, अपनी उस जातिभगिनी सुन्दरी के चरणों में दृढ़तया बिलग गई (चिपट गई) । अब चन्द्रमा, उसे अपना मुख छिपा लेने के लिए रात के समय बाध्य नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसने अब चन्द्रमा से भी बढ़कर बलशालिनी सुन्दरी का आश्रय लिया है ।

ललिततनु नायिका के पैरों में स्वाभाविक लावण्य (लालित्य) है, यही उपमेय है । इस लालित्य को देखकर, मुझे तो यह लग रहा है कि (मैं यह मान रहा हूँ कि) कमलों के वैरी (शत्रु) को तुमने पराजित कर दिया—इसकारण हर्ष रूप हेतु से यह 'कमलश्री' तुम्हारे पैरों में झुकी हुई है, अतः यह 'हेतूत्प्रेक्षा' का उदाहरण है ।

प्रदीपकार ने भी यही कहा है—'अत्र पद्मलक्ष्म्याः कामिनीचरणयोः स्वभावलग्नत्वं यथोक्तहर्षहेतुकलग्नत्वतादात्म्येन संभावितमिति हेतूत्प्रेक्षेयम्' ।

(२) अब 'क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा' का उदाहरण दे रहे हैं—लिम्पतीवेति । ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे अन्धकार (तम) अंग-अंग पर लेप लगा रहा हो, आकाश काजल बरसा रहा हो, अतः दृष्टि (नेत्र) दुर्जनपुरुष की कीगई सेवा के समान व्यर्थ हो गयी हो ॥ ४६० ॥

इत्यादाविति । इस पद्य में अन्धकार (उपमेय) के प्रसार की 'लेपन-अञ्जनवर्षण (उपमान) के साथ एकरूपता की संभावना की गई है ॥ ४६६ ॥

किसी व्याख्याकार ने प्रस्तुत पद्य की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है— 'नभ', तम का लेप मानों अंगों पर कर रहा है,और वही 'नभ', काजल की मानों वृष्टि कर रहा है, इस तरह समस्त संसार में अन्धकार के व्याप्त हो जाने से जैसे असत् पुरुष की सेवा व्यर्थ हो जाती है, वैसे ही 'दृष्टि' विफल हो गई है ॥ ४६६ ॥

यहाँ 'नभ' को कर्ता, और 'अंग' को कर्म, तथा 'तम' को करण माना है । जैसे—'सुधाभिर्जगतीमध्यं लिम्पतीव सुधाकरः' में अन्वय होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत पद्य में भी अन्वय करना चाहिये । अतः यहाँ 'तमःकरणकव्यापन'—तमः करणकलेपनरूप से, और 'अञ्जनकर्मकअधःप्रसरण—'अञ्जनकर्मकवर्षण' रूप से 'सम्भावित' है । इन दोनों में निमित्त है—क्रमशः अन्धकार के बाहुल्य से सकल वस्तुओं का सान्द्र मलिनीकरण, तथा धारा रूप से 'तम' का अधः सम्पात ।

किन्तु अन्य सभी व्याख्याकारों ने 'तम' को ही कर्ता मानकर प्रस्तुत पद्य का अन्वय किया है।

विवरण—'शूद्रक' कविकृत मृच्छकटिकनामक 'प्रकरण' के प्रथम अंक में दिये गये 'गाढ अन्धकार' का वर्णन, प्रस्तुत पद्य के द्वारा किया जा रहा है–

'तमः अन्धकारः अङ्गानि अवयवान् लिम्पतीव, नभः आकाशः अञ्जनं कज्जलं वर्षतीव, अतो दृष्टिः नेत्रम् असत्पुरुषस्य दुर्जनस्य सेवेव विफलतां (प्रसाराभावात्) व्यर्थतां गता प्राप्तेत्यर्थः।

यहाँ पर उत्तरार्ध में 'उपमालङ्कार' है। अतः 'पूर्वार्धं' को ही उत्प्रेक्षा का उदाहरण समझना चाहिये। सम्पूर्ण श्लोक में सघन अन्धकार का वर्णन है। उपमा-वाचक के रूप में 'इव' शब्द की प्रसिद्धि रहने पर भी वह 'उत्प्रेक्षा' का भी बोधक हो सकता है—यह बताने के लिये ग्रन्थकार ने प्रस्तुत पद्य को उद्धृत किया है।

प्रस्तुत पद्य के प्रथम चरणगत 'उत्प्रेक्षा' में 'अन्धकार' वस्तुतः अङ्गों (अवयवों) को व्याप्त कर रहा है फिर भी उसमें 'लेपन करने' की (लेपक होने की) कल्पना की गई है। अर्थात् वृत्तिकार के कथनानुसार यहाँ पर 'व्यापन' क्रिया में 'लेपन' क्रिया की सम्भावना की गई है। इस प्रकार सम्भावना करने में आधारभूत 'व्यापन' और 'लेपन' की समानता यही है कि दोनों क्रियाओं के कारण उनके विषय बने हुए पदार्थों का मूल (असली) स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं हो पा रहा है।

द्वितीय चरणगत उत्प्रेक्षा में 'आकाश' वस्तुतः—'अन्धकार' का प्रसारण कर रहा है, तथापि उस पर 'कज्जल की वृष्टि' करते रहने की सम्भावना की गयी है। यहाँ पर 'अन्धकार' को 'कज्जल' कहा गया है—यह 'अतिशयोक्ति' ही है। अर्थात् अवशिष्ट 'प्रसरण' और 'वर्षण'—ये, प्रस्तुत उत्प्रेक्षा में की गयी सम्भावना के 'विषय'—'विषयी बनते हैं। एवं च सम्पूर्ण पद्य से निष्कर्ष यह निकला कि 'चारों ओर सघन अन्धकार भर गया है और आकाश उसे शीघ्रता के साथ सर्वत्र फैला रहा है। उस कारण 'दृष्टि' (दृष्टि का सामर्थ्य) निरुपयोगी हो गयी है—इस द्वितीय चरण के विवेचनार्थ—वृत्तिगत 'व्यापनादि'—इस प्रतीक पर 'उद्योतकार' कहते हैं—'आदि-पदेन कविकल्पितं नभःकर्तृकमञ्जनकर्मकं प्रसरणं गृह्यते'।

'प्रसरणम्'—यह अपपाठ प्रतीत हो रहा है। तथापि सभी प्रतियों में यह अप पाठ ही उपलब्ध है। हमें लगता है कि 'प्रसारण' के स्थान में यह 'प्रसरण' अपपाठ, प्रमादवश हो गया होगा। क्योंकि 'प्रसरण'—अकर्मक रहने से उसको 'अञ्जनकर्तृक' तो कहा जा सकेगा किन्तु 'नभःकर्तृकम् अञ्जनकर्मकम् नहीं कहा जा सकेगा। 'प्रसारण'—यह शुद्ध पाठ रखने पर उद्योतकार का अभिप्राय उनके विवेचन के अनुरूप

निष्पन्न हो पाता है। जगन्नाथ पण्डितराज ने दोनों उत्प्रेक्षाओं में 'तमः कर्तृक-व्यापन' को ही 'आरोप' का विषय माना है।

मम्मट भट्ट कृत 'उत्प्रेक्षालक्षण' और उदाहरण दोनों के विवेचन पर दृष्टिपात करने से अवगत होता है कि 'केवल तादात्म्य सम्बन्ध' पर ही 'उत्प्रेक्षा' का अधिष्ठित होना उन्हें अभीष्ट है। अर्थात् मम्मटोक्त उत्प्रेक्षा तादात्म्याधिष्ठित है। जिसकी जिस पर सम्भावना करनी है, उन दोनों में 'उपमान-उपमेयभाव' होना आवश्यक है। इस तथ्य को 'प्रकृतस्य समेन' कह कर सूचित किया है। यह 'उपमान-उपमेयभाव'—सम्बन्ध, 'तादात्म्य सम्बन्ध' के समीपतर रहता है। क्योंकि 'उपमान-उपमेय भाव' गत 'भेद' का लोप करते ही उसमें 'तादात्म्य सम्बन्ध' उत्पन्न होता है। 'तादात्म्य' का अर्थ है—'तदात्मता' अर्थात् एक वस्तु का जो 'आत्मा' वही दूसरी वस्तु का 'आत्मा'—इस स्थिति को 'एकात्मकता' (पूर्ण अभेद) कहते हैं। 'उपमा' में दो वस्तुगत जो 'अभेद' माना जाता है, वह केवल 'विशिष्ट धर्म' का निर्देश मात्र कराने के लिये ही होता है, किन्तु 'रूपक'—अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में 'सर्वथा अभेद' माना जाता है। 'कमलमिव मुखम्—मुख, कमल जैसा है—इस उपमा में 'मुख' और 'कमल' दोनों में 'रमणीयता' जैसे विशिष्ट धर्म का अभेद गृहीत किया गया है। और 'मुखमिदं कमलम्', 'इदं कमलमस्ति'—मुख मानो 'कमल' है, 'यह कमल है'—इस 'रूपक' तथा अतिशयोक्ति में 'मुख' और 'कमल' का सर्वथा 'अभेद' बताया जाता है, अर्थात् 'तादात्म्य' गृहीत होता है। 'मुखं नु कमलम्'—मुख मानों कमल है—इस उत्प्रेक्षा में 'प्रकृत' और सम्भावित वस्तु में 'तादात्म्य सम्बन्ध' का ग्रहण निरप-वादतया' होता है, इस प्रकार मम्मट का मत है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'—इस उदाहरण के द्वारा जो 'व्यापनादिलेपनादिरूपतया सम्भावितम्' कहा है, वह भी मम्मट के उपर्युक्त मत का ही निदर्शक है।

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ आदि नव्य आलङ्कारिकों को मम्मटभट्ट का मत मान्य नहीं है। नव्य आलङ्कारिकों का कहना है कि जैसे—'उत्प्रेक्षा' तादात्म्य-सम्बन्धा-धिष्ठित हो सकती है उसी प्रकार वह 'अन्य सम्बन्धाधिष्ठित' भी हो सकती है। 'तादात्म्य-सम्बन्धाधिष्ठित उत्प्रेक्षा' को 'धर्म्युत्प्रेक्षा' (धर्मी की उत्प्रेक्षा) कहना चाहिये। 'मुखं नु कमलम्'—मुख मानो कमल है—यह 'धर्म्युत्प्रेक्षा' है, क्योंकि वह, 'मुख' और "कमल"—इनके 'तादात्म्य-सम्बन्ध' पर आधारित है। इस 'उत्प्रेक्षा' का उद्भव, 'मुख' और 'कमल' इन दोनों में रहने वाले 'रमणीयता' आदि 'साधारण धर्म' से हुआ है। अतः 'रमणीयता' आदि साधारण धर्म, 'उत्प्रेक्षा' के उद्भव में निमित्त कारण हैं।

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि:'—यह उदाहरण, पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार 'धर्मोत्प्रेक्षा' का है। क्योंकि इसमें 'लेपन' का आरोप 'व्यापन' पर न करके 'अन्धकार' पर (तमस् पर) उसके धर्म के रूप में किया है।

'लेपन' का आरोप यदि 'व्यापन' पर कहा जाय तो उन दोनों में 'तादात्म्य सम्बन्ध' मानना होगा। किन्तु 'लेपन' का आरोप 'तमस्' पर करने पर उन दोनों में 'गुण-गुणिभाव' अथवा 'आश्रयाश्रयिभाव' निश्चित होता है, 'तादात्म्य' नहीं। यहाँ पर आरोप का विषय 'व्यापन' नहीं है, वह तो 'निमित्त' है।

शंका—नवीनों ने 'लेपन' के आरोप का विषय 'व्यापन' को मानकर उसे (व्यापन को) निमित्त माना है। और उस आरोप का विषय 'तमस्' को माना है, इस रीति से इस उत्प्रेक्षा को 'धर्मोत्प्रेक्षा' कहने में कौन सा लाभ उन्हें हो रहा है?

समा०—लाभ यह है कि 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' में 'धर्मोत्प्रेक्षा' कहने से सर्वानुभवसिद्ध, 'तम' और 'लेपन'—इन दोनों में स्थित 'उद्देश्य-विधेयभाव' की स्थिति निर्बाध रह पाती है।

विषय-विषयिणोः उद्देश्य—विधेयभावप्रत्ययस्य अनुरोधात् इयं सरणिराश्रिता। यदि च तस्य नास्त्येव अनुरोधः, 'तदा प्राचां दर्शनमेव रमणीयं स्यात्'—(जगन्नाथ)। आरोप का विषय और विषयी क्रमशः उद्देश्य और विधेय हुआ करते हैं। उस कारण यहाँ पर लेपन के आरोप का विषय 'व्यापन' को कहने पर उसी में 'उद्देश्यता' आवेगी, तब 'तमस्' की प्रतीतिसिद्ध उद्देश्यता का बाध होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

किञ्च—उत्प्रेक्षा के 'विषय-विषयी' को तादात्म्य-सम्बन्ध से सम्बद्ध रखने का आग्रह क्यों किया जा रहा है।

२—'उत्प्रेक्षा' को 'अभेदाधिष्ठित होना चाहिये'—यह कोई वेदाज्ञा अथवा राजाज्ञा तो नहीं है।

३—उत्प्रेक्षा को अन्य सम्बन्धाधिष्ठित भी स्वीकार करने में कौन सी हानि है?

यदि यह कहा जाय कि बड़े-बड़े विद्वानों के द्वारा उत्प्रेक्षा का लक्षण 'अभेद-सम्बन्ध' पर ही आधारित किया गया है, अतः अन्य सम्बन्ध पर आधारित मानने पर उन लक्षणों का बाध होगा, अर्थात् उन लक्षणों से विरोध होगा।

४—उत्प्रेक्षा का लक्षण इसी प्रकार करना चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं—ऐसी कठोर आज्ञा तो किसी ने दी नहीं है। "न सर्वत्र अभेदेनैव उत्प्रेक्षणम् इति नियमे

किञ्चिद् अस्ति प्रमाणम्। लक्ष्येषु भेदेनापि उत्प्रेक्षणस्य दर्शनात्''' '''न हि अभेदेनैव उत्प्रेक्षणम् इति वेदेन बोधितम्; यदर्थम् अयम् आग्रहः स्यात्। लक्षणनिर्माणस्य पुरुषाधीनत्वात्''—(जगन्नाथ)।

५—पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि 'उत्प्रेक्षा' में सर्वत्र 'अभेद सम्बन्ध' को ही मानने पर 'उत्प्रेक्षा' को सभी जगह 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही कहना होगा, तब— 'हेतूत्प्रेक्षा', 'फलोत्प्रेक्षा' नामक किये गये अन्य दो भेद व्यर्थ ही होंगे। "किंच प्राचां मते हेतुफलोत्प्रेक्षास्थले तद्धेतुकतत्फलकयोः कार्यकारणयोरेव निगीर्णे विषये उत्प्रेक्षणात् स्वरूपस्य उत्प्रेक्षायामेव पर्यवसानम्, न हेतु-फलयोः। एवं च विभागः चिरन्तनानाम् उच्छिन्नः स्यात्''—(जगन्नाथ), इस प्रकार नव्य आलङ्कारिकों ने अपने विचार के समर्थन में यह युक्तिवाद उपस्थित किया है।

रुय्यक—आदि अनेक आलङ्कारिकों ने 'हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और स्वरूपोत्प्रेक्षा'—के नाम से तीन प्रकार 'उत्प्रेक्षा' के बताये हैं। इसके अतिरिक्त जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य—इन भेदों के आधार पर उत्प्रेक्षा के कितने ही भेदों को कुछ आलङ्कारिकों ने बताया है। रुय्यक और तदनुसारी विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा के १७६ भेद बताये हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि—

"इह जात्यादयो हि भेदाः प्राचाम् अनुरोधात् उदाहृताः। वस्तुतस्तु नैषां चमत्कारे वैलक्षण्यमस्ति इति अनुदाहार्यतैव चमत्कारवैलक्षण्यं पुनः हेतु-फल-स्वरूपात्मकानां त्रयाणां प्रकाराणामेव इति''।—(जगन्नाथ)

उत्प्रेक्षा की सामग्री के रूप में—'विषय, विषयी और निमित्त' हुआ करते हैं। इस सामग्री का अवयवभूत 'विषयी'—जब किसी निमित्तभूत अर्थ का 'कारण' हो, या 'फल' (प्रयोजन) हो, अथवा 'स्वरूप' हो, तब तदनुसार उत्प्रेक्षा को 'हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, स्वरूपोत्प्रेक्षा' कहा जाता है। जैसे—

१—"सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥'' (रघु. १३।२३)

रावणवध के पश्चात् पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या में वापस जाते हुए राघवेन्द्र राम, जानकी को अन्तरिक्ष से, भूमि पर स्थित परिचित-स्थलों को दिखा रहे हैं। उसी सन्दर्भ में उनके ये उद्गार हैं—इसमें सीता जी के निकल पड़े नूपुर की निःशब्दता में 'सीता-वियोगजनित दुःख' को 'अलौकिक कारण' बताया गया है। इस कारण यह 'हेतूत्प्रेक्षा' है।

'हेतूत्प्रेक्षा' में उत्प्रेक्षित अर्थ के वाचक पद में 'पञ्चम्यन्त' अथवा तृतीयान्त

हुआ करता है। क्योंकि 'पञ्चमी' तथा 'तृतीया' विभक्ति, 'कारण' का बोध कराती है।

२—रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।

विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ (रघु० १२।९१)

इस पद्य के द्वारा महाकवि ने रावण-वध का वर्णन किया है। यहाँ पर महाकवि ने अद्भुत कल्पना की है—रावण के हृदय का भेदन करके रामबाण, भूमि (जमीन) में प्रविष्ट हो गया। उसके भूप्रवेश करने का अलौकिक प्रयोजन महाकवि के द्वारा कल्पित है—'पाताललोक में रहने वाले सर्पों तक रावणवध की हर्षप्रद वार्ता पहुँचाना'। इस अलौकिक प्रयोजन (फल) के कारण यहाँ पर 'फलोत्प्रेक्षा' बन गई है। फलोत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षित अर्थ का वाचक पद, प्रायः 'तुमुनन्त अव्यय अथवा चतुर्थ्यन्त पद हुआ करता है।

३—'इदं मुखं नु कमलम्'—यह मुख मानों कमल है—यह 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' है। क्योंकि इस वाक्य में 'कमल' (विषयी) की कल्पना, 'मुख' (विषय) के स्वरूप के रूप में की गई है। पण्डितराज के मतानुसार यह 'धर्म्युत्प्रेक्षा' है। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' में पण्डितराज के मतानुसार 'तमस्' (विषय) पर 'लेपन' का आरोप 'धर्म' के रूप में किया गया है। उस कारण यह 'धर्मोत्प्रेक्षा' है। ये दोनों 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' ही हैं, क्योंकि 'कमल' और 'मुख' को किसी के 'हेतु' अथवा 'फल' के रूप में कल्पना नहीं की गई है।

प्राचीनों के मतानुसार सभी 'उत्प्रेक्षाएँ'—'स्वरूपोत्प्रेक्षा' की कोटि में ही मानी जाती हैं।

अब 'उत्प्रेक्षा' को केवल तादात्म्याधिष्ठित मानने वालों के मत में उपर्युक्त हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा की उपपत्ति के विषय में विचार करें।

'सैषा स्थली यत्र'—इस उदाहरण में 'निश्चलता' के कारण प्राप्त हुआ नूपुर का 'निःशब्दत्व'—यह 'आरोप' का विषय है, और 'वियोग' दुःख के कारण होने वाला 'मौन'—यह आरोप का विषयी है। 'सीता-वियोग' और 'निःशब्दत्व'—इन दोनों की एककालिकता, अथवा इसके समान ही, 'उत्प्रेक्षा' का अन्य कोई निमित्त, अर्थात् 'निश्चलत्व' के कारण प्राप्त (नूपुर का) 'निःशब्दत्व' ही मानों 'वियोग-दुःख' से होने वाला 'मौन'—इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा कह सकते हैं अर्थात् यहाँ जो आरोप है, वह 'विशिष्ट मौन' का विशिष्ट 'निःशब्दत्व' पर है।

तथा 'रावणस्यापि'—इस उदाहरण में भी 'विषय-विषयी' में 'तादात्म्य सम्बन्ध' इस प्रकार दिखाया जा सकता है—'अदर्शनफलक भूप्रवेश' पर 'प्रियकथनफलक भूप्रवेश'

का आरोप करना होगा, अर्थात् यहाँ विशिष्ट भूप्रवेश पर, विशिष्ट भूप्रवेश का आरोप हो रहा है, यह मानना होगा। तब प्रस्तुत उदाहरणगत हेतु और फल को 'आरोपित अर्थ' नहीं कह सकते, वे तो केवल आरोपित अर्थ के 'अंगभूत' होते हैं, जिसमें हेतु अथवा फल, मुख्यतया उत्प्रेक्षित नहीं रहते, उन उत्प्रेक्षाओं को 'हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा' के नाम से कैसे कहा जायगा ?

उक्त आशंका का समाधान यह है कि उपर्युक्त उदाहरणों में 'हेतु' और 'फल' ही उत्प्रेक्षित हैं। उनसे अन्वित होने वाले उत्प्रेक्षावाचक 'इव' शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है—'उत्प्रेक्षायाम् 'इव' शब्दान्वितस्य उत्प्रेक्ष्यतायाः उत्सर्गसिद्धत्वात्'। एवं च सर्वत्र 'उत्प्रेक्षा' अभेदाधिष्ठित ही हुआ करती है।

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ को मम्मट का उपर्युक्त सिद्धान्त मान्य नहीं है। अतएव उन्होंने उत्प्रेक्षा की चर्चा के अवसर पर मम्मटादि प्राचीन तथा रुय्यकादि[1] अर्वाचीन विद्वानों के विचारों को असमाधान-कारक बताया है। पण्डितराज ने 'उत्प्रेक्षा' का अपना लक्षण, अलग से ही बनाया है—"तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीय-तद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा सम्भावनम् उत्प्रेक्षा।'—(जगन्नाथ)

पण्डितराज का कहना है कि 'उत्प्रेक्षा' जैसे अभेदाश्रित रहती है, वैसे ही वह भेदाश्रित भी रह सकती है।

---

१. रुय्यकोक्त उत्प्रेक्षास्वरूप का संक्षेप पण्डितराज ने इस प्रकार किया है—"विषय-निगरणेन अभेदप्रतिपत्तिः विषयिणः अध्यवसायः। स च द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च। तत्र साध्यत्वप्रतीतौ व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति। अस्यार्थः—सिद्धत्वं निगीर्णविषयत्वम्। साध्यत्वं च निगीर्यमाणविषयत्वम्। यत्र हि सिद्धत्वं, तत्र अध्यवसितप्राधान्यम्, यथा अतिशयोक्त्यादौ। यत्र साध्यत्वं तत्र व्यापारस्य अध्यवसानक्रियायाः प्राधान्ये उत्प्रेक्षा इति"।

(रुय्यक पृ० ५६–५७ तथैव जगन्नाथ पृ० ३०१)

रुय्यकोक्त उत्प्रेक्षा—स्वरूप का प्रतिवाद करते हुए शोभाकर ने कहा है कि 'उत्प्रेक्षा'—सन्देहमूलक होती है, वह अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं हुआ करती।—(रत्ना० पृ० ४७)

शोभाकर के कथन पर गम्भीर चर्चा करते हुए जयरथ ने उत्प्रेक्षागत सम्भावना को सन्देह और निश्चय दोनों की मध्य अवस्था रूप बताया है।

(रुय्यक पृ० ५४–५५)

भामह, उद्भट का उत्प्रेक्षा-निरूपण, पण्डितराज की प्रासङ्गिक भूमिका के अनुकूल प्रतीत होता है।

"अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥" (भाम० २।९१)
"साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता' ॥

... ...'सम्भावनेयमुत्प्रेक्षा... ...'—(उद्भट ३।३-४) केवल इस अन्तिम अंश को मम्मट ने स्वीकार किया है।

किन्तु वामन ने 'उत्प्रेक्षा' को सादृश्याधिष्ठित' ही माना है। 'अतद्रूपस्य अन्यथा-ध्यवसानम् अतिशयार्थम् उत्प्रेक्षा।... ...अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। सादृश्यात् इयमुत्प्रेक्षा इति'।—(वामन ४।३।९)

इस मत पर व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से आक्षेप करने वाले आक्षेपकों को करारी फटकार भी लगा दी है। पण्डितराज का कहना है कि 'अलङ्कार शास्त्र'—स्वतन्त्र शास्त्र है, उस कारण वैयाकरणों के विशेष नियमों के बन्धनों को स्वीकार नहीं किया जा सकता, और न किसी को उनके स्वीकार करने का दुराग्रह ही करना चाहिये। 'न च वैयाकरणमतविरोधः दूषणमिति वाच्यम्। स्वतन्त्रत्वेन आलङ्कारिकतन्त्रस्य, तद्विरोधस्य अदूषणत्वात्'।—(जगन्नाथ पृ० ३००)

'लिम्पतीव तमोङ्गानि'—इस उदाहरण में 'इव' शब्द, 'उत्प्रेक्षाबोधक' है। 'क्रियापद' से अन्वित होने वाला 'इव' शब्द, 'उपमाबोधक' नहीं हुआ करता। जैसे—प्रस्तुत 'लिम्पतीव', 'वर्षतीव' में 'लिम्पति', 'वर्षति'—क्रिया के साथ 'इव' शब्द, अन्वित हुआ है। उस कारण यह 'इव' शब्द, 'उत्प्रेक्षा' बोधक ही है। व्याख्या-कारों ने महाभाष्य और उसके कैयटकृत 'प्रदीप' व्याख्या के द्वारा तथाकथित 'इव' के उत्प्रेक्षाबोधक होने का समर्थन किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—"न वै तिङन्तेन उपमानमस्ति"।—(पा० ३।१।७)

तथा कैयट—"किन्तु तत्र सम्भावनार्थकः इव शब्दः"।

'तिङन्त' क्रियापद के साथ अन्वित हुआ 'इव' शब्द, 'उपमा' का बोध नहीं कराता है। उसके 'उपमाबोधक' न होने में कारण यह है कि 'तिङन्त' पद से 'क्रिया' का बोधन होता है।

और 'क्रिया' हमेशा 'साध्य' रहती है किन्तु 'उपमान-उपमेयभाव' सम्बन्ध रूप होने से उसका सम्भव, 'सिद्धवस्तु' में ही होगा, अर्थात् पूर्ण रूप से अस्तित्व में आयी हुई वस्तु में ही होगा। कैयट ने कहा है—

"क्रियायाः साध्यैकस्वभावत्वात् अनिष्पन्नरूपत्वात्··· ··· ···इदं तद् इति परामर्शाभावात्" इति । तथा—

"सिद्धमेव समानार्थमुपमानं विधीयते । तिङन्तार्थस्तु साध्यत्वादुपमानं न जायते ॥" तिङन्तसमभिव्याहृतस्य इवशब्दस्य सम्भावनाबोधकत्वादेव ।' अर्थात् क्रियापद से अन्वित 'इव' शब्द, 'सम्भावना' का बोधक होने से ही 'रोदितीव पठति', 'नृत्यतीव गच्छति'—यहाँ पर 'उपमा' का बोधन 'इव' शब्द नहीं कर रहा है, अपितु वह 'उत्प्रेक्षा' को बता रहा है । अतः इसे 'क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा' कहना चाहिए । इस रीति से 'क्रिया' उपमान न हो सकने पर भी वह उपमेय हो सकता है—यह एक उदाहरण से स्पष्ट होता है—'ब्राह्मणवत् अधीते क्षत्रियः' = ब्राह्मणाध्ययनतुल्याऽध्ययनकर्ता क्षत्रियः । प्रस्तुत उदाहरण के पूर्वार्ध में 'लिम्पति' पद से 'गौरयम्' के समान 'साध्यवसान' लक्षणा[1] से उपमेयभूत 'व्यापन', इसी प्रकार 'वर्षति' पद से भी उपमेयभूत 'अधःप्रसरण, की उपस्थिति हो रही है । तथा च "तमःकर्तृकाऽङ्गकर्मकव्यापनं श्रमातिशयकारकत्वसकलवस्तुमलिनीकरणत्वादिनिमित्तेन लेपनरूपतया सम्भावितम्, एवं नभःकर्तृकाऽञ्जनकर्मकाधःप्रसरणं पूर्वोक्तेनैव निमित्तेन वर्षणरूपतया सम्भावितमित्युभयत्र क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षैव ।" तथापि उद्योत और सुधासागरकार ने दोनों उत्प्रेक्षाओं में कुछ भेद (विशेष) बताया है—'तमः कर्तृकाङ्गकर्मकव्यापनं 'स्वतः-सम्भवि (लोकप्रसिद्ध)' है, और 'नभःकर्तृकाञ्जनकर्मकाधःप्रसरणं'—कविकल्पित है ।

कुछ लोग, साहित्य शास्त्र से परिचित न होने के कारण वे 'इव' शब्द को सर्वत्र उपमाबोधक ही समझते हैं । 'इव' शब्द का उत्प्रेक्षा बोधकत्व उन्हें ज्ञात नहीं है । महाकवि दण्डी ने 'इव' शब्द का उत्प्रेक्षाबोधकत्व, सविस्तर बताया है । उत्प्रेक्षाबोधक शब्दों का संग्रह भी उसने किया है, जिसे हमने पूर्व बताया है । भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा है कि उत्प्रेक्षावाचक शब्द की कहीं पर अपेक्षा रहने पर भी यदि उसका प्रयोग न हुआ हो तब 'उत्प्रेक्षा' प्रतीयमान (गम्य = आर्थी) समझी जाती है, 'वाच्य' (शाब्दी अथवा श्रौती) नहीं ।

जैसे—'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम् ।
हाराय गुणिते स्थानं न दत्तमिति लज्जया ॥'

यहाँ पर 'लज्जया' से 'लज्जया इव' समझ लेना चाहिये । अतः यहाँ 'हेतूत्प्रेक्षा' है ।

---

१. अचेतने तमसि चेतनधर्मस्य लेपनस्य असम्भवात् मुख्यार्थबाधः, सकलवस्तुमलिनीकरणत्वाद्येकधर्माश्रयत्वं सम्बन्धः सर्वथैव अभेदावगमः प्रयोजनञ्च ।

उपमा और उत्प्रेक्षा की पहिचान

पहले बता चुके हैं कि 'क्रिया पद' से अन्वित रहने पर 'इव' शब्द 'उत्प्रेक्षा-बोधक' रहता है। किन्तु उसके 'उपमाबोधक' होने में यह नहीं कहा जा सकता कि 'इव' शब्द जब 'नाम', 'विशेषण' आदि से अन्वित रहे तब वह उपमाबोधक ही होता है। क्योंकि 'इव' शब्द जिसके साथ अन्वित रहता है, वह पदार्थ, किसी विशिष्ट साधारण धर्म से युक्त होकर किसी प्रमाणान्तर के द्वारा पूर्व से ही सिद्ध होगा, तो उस स्थिति में 'इव' शब्द, उस 'पदार्थ' को उपमान के रूप में ही बतावेगा।

और वह पदार्थ, प्रमाणान्तर से सिद्ध (विद्यमान) न हो, केवल कवि-कल्पना के बल पर ही सिद्ध होने वाला हो (बताया जाने वाला हो) तो 'इव' शब्द, उस पदार्थ का उत्प्रेक्षितत्व ही बतावेगा। "यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति। तदोपमैव येनेव शब्दः साधर्म्यवाचकः॥ यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः। तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः सम्भावनापरः॥"—(चक्रवर्तिभट्टाचार्यः, उद्योत्तोद्धृतः)

जैसे—१. 'छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्'—(रघु० २।६) में 'अनुगमन' धर्म से युक्त हुई 'छाया' सर्वानुभवसिद्ध है।

२. "तदन्वये शुद्धिमतिप्रसूतः शुद्धिमत्तरः। दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥"—(रघु० १।१२) में 'इन्दु' का क्षीरनिधिप्रसूतत्व, पौराणिक प्रमाण से सिद्ध है।

३. "यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः। अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥"—(रघु० १५।७) में 'अपवाद' का 'उत्सर्गव्यावृत्तिसमर्थत्व', शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है। अतः इन सभी उदाहरणों में निर्दिष्ट पदार्थों के उपमानत्व का बोध 'इव' शब्द करा रहा है।

इनके विपरीत—

१. "व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥" —(रघु० १।१३)

यहाँ दिलीप के वर्णन में 'इव' शब्द से अन्वित हुआ 'क्षात्रधर्म' है, उसका 'देहाश्रित' मूर्तिमान् होना किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं है। उसकी सिद्धि, कवि-कल्पना से ही होने वाली है। उस कारण इस उदाहरण में यह 'इव' शब्द, 'मूर्तिमान् क्षात्रधर्म' के उत्प्रेक्षित होने का बोध करा रहा है।

(२) 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥—(कु० सं० १।१)।

(५ ससन्देहाख्यः अलंकारः)

(१३८) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥ ९२ ॥

भेदोक्तौ यथा—

इस हिमालय पर्वत के वर्णन में 'पृथिवी के मानदण्ड' के रूप में कोई वस्तु 'प्रमाणसिद्ध नहीं है, अतः उसे उत्प्रेक्षित ही समझनी होगी।

(३) "बालेन्दुवक्राण्यविकाशभावात्'···नखक्षतानीववनस्थलीनाम्' ॥"

(कु० सं० ३।२९)

इस पलाशवर्णन में ऋतुराज वसन्त के द्वारा वनस्थलियों पर जो नखक्षत किये गये हैं, वे वास्तविक न होकर कविकल्पना से ही सिद्ध हैं। अतः उसे उत्प्रेक्षित ही कहा गया है। इसी तरह बाणभट्ट की कादम्बरी के आरम्भ में राजा शूद्रक का वर्णन करते हुए 'पाकशासन इवाऽपरः'—यह कथन भी उत्प्रेक्षात्मक ही है, क्योंकि उसे 'दूसरा इन्द्र' कहना—किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं है।

इस रीति से 'इव' शब्द, किसी नाम से सम्बद्ध होकर वह नाम, किसी अन्य नाम का समानविभक्तिक रहने पर 'उपमा या उत्प्रेक्षा' का निर्णय किया जा सकता है।

किन्तु जब 'इव' शब्द, केवल किसी 'विशेषण' के ही साथ अन्वित हो, तब वह 'उत्प्रेक्षा' बोधक ही होता है। जैसे—'गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव'—(रघु० १।२२)। तथा 'पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः उपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्' (रघु० २।१९) तथा 'चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे' (रघु० २।३१) तथा 'सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य' (रघु० ५।६९) इन सभी उदाहरणों में 'इव' शब्द 'उत्प्रेक्षा' वाचक ही है।

अथवा जो नाम किसी अन्य नाम का समानविभक्तिक नहीं है, उसके साथ 'इव' शब्द अन्वित रहने पर भी वह 'उत्प्रेक्षावाचक' ही होता है। उसका 'उपमावाचक' होना इन उदाहरणों में सर्वथा असंभव है।

जैसे—'सैषा स्थली···त्वच्चरणारविन्द-विश्लेष दुःखादिव बद्धमौनम्।'(रघु.१३।२३) तथा तुमुनन्त अव्यय के साथ 'इव' यदि अन्वित हो तो वह 'उत्प्रेक्षाबोधक' होता है। जैसे—'विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्'—(रघु० १२।९१)

५. ससन्देहालङ्कार—

(सूत्र १३८, कारि० ९२) उपमेय में उपमानरूप से संशय करना, 'सन्देह' नाम का अलङ्कार कहलाता है।

भेदोक्ताविति। वह ससन्देहनामक अलङ्कार उपमेय-उपमान दोनों के भेद का कथन करने से तथा न करने से दो प्रकार का होता है।

उपर्युक्त सूत्र में 'ससन्देह' तथा 'संशय' दोनों शब्द, समानार्थक हैं। इनमें से 'ससन्देह' शब्द, 'अलङ्कार' (लक्ष्य) का वाचक है, और 'संशय' शब्द 'लक्षण' परक है। अतः पुनरुक्ति की शंका नहीं करनी चाहिये। एवंच 'ससन्देहः संशयः'—इतना ही लक्षण है और 'भेदोक्तौ तदनुक्तौ च' यह कथन 'ससन्देह' के दो प्रकार होने में 'बीजरूप' है। सूत्र में पूर्वसूत्र (१३७) से 'प्रकृतस्य समेन यत्' इतने अंश की अनुवृत्ति की जाती है। तब सरल अर्थ यह हुआ कि 'प्रकृतस्य'=उपमेयस्य, अर्थात् उपमेय का 'समेन' = उपमानेन (उपमानरूपत्वेन) उपमान के रूपमें सादृश्यप्रयोज्यः यस्तु संशय ', अर्थात् सादृश्यप्रयोज्य जो सादृश्यज्ञान (समानकोटिक संशय) होता है, उसे 'स-सन्देह अलंकार' कहते हैं।

निष्कर्ष यह है—जहाँ उपमेय की उपमान के साथ प्रतीयमान एकरूपता में सादृश्य-मूलक (सादृश्य-प्रयोज्य) संशय रहता है उसे 'ससन्देह' अलंकार कहते हैं। पूर्वसूत्रगत 'यत्' का लिंग-विपर्यय करके 'यः' का अन्वय करना चाहिए। अर्थात् 'यः संशयः' कहना चाहिए और 'ससन्देह' के आगे उक्त 'तु' के स्थान में 'यः' रखकर बाद में 'तु' कहना चाहिए।

इस अलंकार के दो प्रकार हैं—१ भेदोक्ति और २ भेदानुक्ति। जब उपमेय और उपमान में किसी प्रकार के वैधर्म्य का स्पष्टतया कथन किया जाता है, तब 'भेदोक्ति' प्रकार का वह (स-सन्देह) रहता है और जब उपमेय और उपमान में किसी वैधर्म्य को नहीं बताया जाता, तब वह 'भेदानुक्ति' प्रकार का अलंकार होता है। यह ससन्देह 'निश्चयगर्भ', 'निश्चयान्त' और 'शुद्ध' (केवल संशयरूप) भेद से तीन प्रकार का (त्रिविध) होता है, इसे आगे बतावेंगे।

शंका—'उत्प्रेक्षा' (संभावना) में भी 'संशयात्मक' प्रतीति होती है, तब 'उत्प्रेक्षा' से 'ससन्देह' अलंकार को पृथक् क्यों कहा जा रहा है?

समा०—उत्प्रेक्षा और ससन्देह में भिन्नता इसलिए है कि 'उत्प्रेक्षा' में 'संभावना' का पक्ष, उपमेय की उपमानरूपता की प्रतीति के समय प्रबल रहता है। किन्तु 'ससन्देह' में उपमेय और उपमान को परस्पर तादात्म्यप्रतीति के दोनों पक्ष समान रहते हैं। अतएव कहा है कि 'संशयश्चात्र समकोटिको ग्राह्यः इत्युत्प्रेक्षाव्युदासः'। 'प्रकृत' और 'अप्रकृत' में तादात्म्य (एकरूप्य) की सादृश्यज्ञान-प्रयोज्य सन्दिग्ध-प्रतीति कवि-प्रतिभोत्थापित ही होनी चाहिए, अन्यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' तथा 'इतो गता सा क्वगता न जाने, गेहं गता मे हृदयं गता वा।' जैसे प्राकृत पुरुषों के वाक्य में भी 'ससन्देह' अलंकार कहना होगा।

यहाँ पर 'प्रेम' का उत्कर्षकत्व होने पर भी 'वर्णनीय' का उत्कर्षकत्व नहीं है। असत् विषय में भी किसी का प्रेम हो सकता है। यहाँ पर दोनों पक्षों में संशय

को तुल्य रूप ग्रहण करना है। उस कारण संभावना में संशयविशेषरूपता रहने से उत्प्रेक्षालंकार में 'ससन्देह' की अतिव्याप्ति नहीं हो सकी। संभावना के स्थल में एक पक्ष की अधिकता रहने से उभयत्र तुल्यरूपता नहीं है। यहाँ भी 'अलंकारत्वे सति' यह विशेषण, प्रकरण-प्राप्त है ही, उस कारण कवि-प्रतिभानुत्थापित, चमत्काररहित जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' संशय में 'अलंकार' नहीं माना जाता। अर्थात् 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' में निश्चलत्वादिसाधारणधर्मनिमित्तक संशय होने से उसमें यद्यपि सादृश्यज्ञान-प्रयोज्यता है, तथापि अचमत्कारी होने से उसमें अलंकारत्व नहीं है।

'सादृश्यज्ञान-प्रयोज्य संशय' के यहाँ न रहने से (सादृश्यमूलकत्वाभावात्) इसमें 'ससन्देह' अलंकार नहीं कह सकते। 'समकोटिक अनिश्चयात्मक ज्ञान' को संशय कहते हैं। अर्थात् 'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः।' यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा', किन्तु यह संशयात्मकज्ञान (संशय), लौकिक व्यवहार में जो अहर्निश होता रहता है वह यहाँ अभीष्ट नहीं है, अपितु अलौकिक कवि-सृष्टि में जो संशयात्मकज्ञान अर्थात् 'आहार्य संशय' (कल्पित संशय) यहाँ अभीष्ट है। यह बात, अलंकार के सामान्य लक्षण से ही सिद्ध है। तथा यह 'संशय', 'उपमान-उपमेय-विषयक ही हुआ करता है। यह रहस्य, पूर्वसूत्र से यहाँ अनुवृत्त हुए 'प्रकृतस्य समेन यत्' शब्दों से बताया गया है। एवंच प्रस्तुत अलंकार का परिष्कृत लक्षण 'प्रकृतस्य समेन सादृश्यज्ञान-प्रयोज्यः यस्तु संशयः'—निष्पन्न होता है। इस लक्षण के अनुसार ससन्देह अलंकार का सीधा-सादा उदाहरण–'किमिदं मुखम् अथवा कमलम्' दिया जा सकता है। 'उपमेय' को [1]अनुक्त रखकर भी 'किमेष चन्द्रः, अथवा कमलम्'—इस प्रकार केवल उपमानों का कथन करके भी ससन्देह अलंकार को निष्पन्न किया जा सकता है। यदि 'इदं मुखं चन्द्रो वा कमलं वा' कहें तो उसे 'ससन्देह' अलंकार नहीं कहा जायगा। क्योंकि 'इदं मुखम्'–इस उपमेय का निर्धारण तो पहले ही हो चुका है, तब 'चन्द्रो वा कमलं वा'—इस संशय के लिए अवकाश ही कहाँ रहता है?

'ससन्देह' संज्ञा का इतिवृत्त—

प्रथमतः भामह ने 'ससन्देह' संज्ञा का प्रयोग 'वचः' पद के विशेषण के रूप में किया है—"उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः। ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्बुधाः[2] ॥"—(भामह ३।४३)

१. उपमेय को प्रायः प्रारम्भ में तो अनुक्त ही रखा जाता है।

२. उद्भट ने 'सन्देह' संज्ञा का भी प्रयोग किया है–"असन्देहेऽपि संदेहरूपं सन्देहनाम तत्"—(उद्भट ६।३)।

अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥ ४१८ ॥

भामह के अनुसार 'ससन्देह' संज्ञा का विवरण 'सन्देहेन सह ससन्देहम् (वचनम्)' कहना होगा। आगे चल कर इसी 'ससन्देहम्' संज्ञा का 'अलंकार' संज्ञा के साथ अभेद समझा जाने लगा, उस कारण उसका पुंलिंग में प्रयोग होने लगा होगा। परन्तु कतिपय आलंकारिकों को यह द्राविड-प्राणायाम अनावश्यक प्रतीत होने लगा, तब उन्होंने (वामन-रुय्यक-विश्वनाथ ने) उसे 'सन्देह' और 'रुद्रट' ने उसे 'संशय' के नाम से कहना आरंभ किया। मम्मटभट्ट के अनुसार प्रतीत होता है कि भामह के द्वारा किये गये 'ससन्देह' नाम की परम्परा को हेमचन्द्र, जगन्नाथ आदि आलंकारिकों ने अक्षुण्ण रखा। मम्मट ने 'ससन्देह' के पर्यायी नाम 'सन्देह' का भी प्रयोग किया है— 'यावत् निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः'। यह देखने से लगता है कि प्रस्तुत अलंकार के लक्षणगत आरंभक शब्द 'स, सन्देहस्तु' भी ग्रन्थकार को अभीष्ट हो सकता है।

सूत्रगत 'भेदोक्तौ' में 'भेद' का अर्थ 'वैधर्म्य' है। 'उपमान-उपमेय' में जो 'सन्देह', निर्माण होता है, वह 'उपमेय' के स्वरूप का निर्धारण न हो सकने से होता है, और 'उपमान' के 'साधर्म्य' के कारण भी हुआ करता है। अर्थात् किसी विशेष उपमान का वैधर्म्य प्रतीत होने पर, उस उपमान से सम्बन्धित 'सन्देह' ही दूर हो सकता है, किन्तु उपमेय के 'असाधारणधर्म' की ओर दृष्टिपात करने पर 'उपमेय' के स्वरूप का निर्धारण होने तक अन्य सन्देह के लिए तो अवकाश रहेगा ही। इस प्रकार की 'सन्देह-परम्परा', उपमेय के स्वरूप का निर्धारण होने तक सतत चलती रहेगी।

यह 'उपमेयस्वरूप-निर्धारण' का कथन, अन्त' में होने पर 'ससन्देह' को निश्चयान्त समझा जाता है और 'स्वरूपनिर्धारण' अन्त में न कर केवल 'उपमानों' का वैधर्म्य मात्र बताया हो तो उसे 'निश्चयगर्भ' समझा जाता है। क्योंकि इसमें 'उपमेय का यथार्थस्वरूप' अतद्व्यावृत्ति के द्वारा अर्थात् किसी भिन्न वस्तु का संभव न रहने से अप्रत्यक्षतया निर्धारित होता है। और उपमानों का वैधर्म्य भी कथित न रहने से उस 'ससन्देह' का 'संशय' में ही विराम होने से वह 'अनिश्चय' रूप रहता है। अर्थात् पूर्व में संशय और उत्तर में भी संशय, किन्तु मध्य में 'निश्चय' रहता है, उस कारण इसे 'निश्चयगर्भ' कहा जाता है। एवंच भेदोक्तियुक्त ससन्देह के 'निश्चयान्त' और निश्चयगर्भ' ये दो भेद होते हैं। और 'भेदोक्तिरहित ससन्देह' का एक ही प्रकार (एकविध ही) है। अर्थात् 'शुद्ध' (केवल संशयरूप) उसे कहा गया है।

इसी ससन्देह को क्वचित् 'सन्देह', 'संशय' शब्दों से भी कहा जाता है।

भेदोक्तौ यथेति । उपमान तथा उपमेय दोनों के भेद को बताते हुए 'ससन्देह' का उदाहरण । जैसे—

अयं मार्तण्ड इति। प्रबल-प्रतापशाली, प्रखर तेजस्वी होने से यह राजा, 'सूर्य' है क्या ? (यह संशय है), इस संशय का निराकरण अगले वाक्य से किया जा रहा है—नहीं; क्योंकि सूर्य तो सप्ताश्व (सात घोड़ों से युक्त) होता है, इसलिए यह 'सूर्य' नहीं हो सकता है । तब क्या यह कृशानु (अग्नि) है ? (यह संशय है), इस संशय का निराकरण अगले वाक्य से किया है—नहीं; अग्नि तो निश्चित रूप से सब दिशाओं में नहीं फैलता, उसका (अग्नि का) स्वभाव तो 'ऊर्ध्वज्वलन' का है, किन्तु इस राजा का तेज चारों ओर फैल रहा है । तब यह क्या यमराज है ? (यह संशय है), इस संशय का निराकरण अगले वाक्य से किया है—नहीं; उसका (यमराज का) वाहन तो महिष (भैंसा) है, अतः यह यमराज भी नहीं हो सकता । इस तरह रणभूमि में तुमको देखकर शत्रुसेना के वीर योद्धागण अनेक प्रकार के विकल्प (संशय) करते रहते हैं ॥ ४१८ ॥

उक्त पद्य में प्रत्येक संशय (विकल्प) का निराकरण भी किया गया है । उस कारण 'भेदोक्ति का निश्चयगर्भ' वाला यह उदाहरण है । 'भेदोक्ति' शब्द से केवल निश्चयगर्भ नाम का एक ही प्रकार नहीं है, किन्तु निश्चयान्तसन्देह को भी स्वीकार किया गया है ।

विवरण—उदाहृत पद्य में कवि ने किसी राजा की प्रशंसा की है । इसमें 'त्वाम्' पद से निर्दिष्ट जो 'राजा' है, वह 'उपमेय' है । रणभूमि पर प्रकट होनेवाले (निर्दिष्ट न होने पर भी अर्थबल से प्रकट होने वाले) 'देदीप्यमानता, दुःसहता, बिनाशकता' रूप गुणों के कारण, उसके शत्रुओं ने क्रमशः 'सूर्य, अग्नि, यम'—इन 'उपमानों' के साथ संशयात्मक तादात्म्य की कल्पना की है। राजा की 'देदीप्यमानता को देखकर उसके शत्रुओं ने प्रथमतः उसे 'सूर्य' समझा । किन्तु तत्क्षण ही शत्रुओं के समझ में आया कि 'सूर्य के रथ में सात अश्वों के जुतने की प्रसिद्धि है । और इसके (राजा के) रथ में तो उतने घोड़े जुते हुए नहीं दिखाई दे रहे हैं । अतः यह 'सूर्य' नहीं है, यह उन्हें विश्वास हो गया । किन्तु इतने मात्र से वह वस्तुतः कौन है ? यह उनके समझ में नहीं आया । इस कारण उन्हें पुनः संशय हुआ कि कहीं यह अग्नि तो नहीं है ? यह संशय होने का कारण उसका 'दुराधर्षत्व' (अनाक्रम्यत्व) अथवा 'दुःसहत्व' का उन्हें अनुभव हो रहा था, किन्तु उसी समय उनके ध्यान में आया कि 'अग्नि' तो केवल 'ऊपर की ओर जाता है' अर्थात् 'उर्ध्वज्वलन' होता है, किन्तु यह (राजा) सब ओर (चारों ओर) अनिरुद्ध संचार कर रहा है । उस कारण यह 'अग्नि' नहीं है, यह विश्वास उन्हें हो गया । शत्रुपक्षीय वीरों का संहार वह सतत कर रहा था उसकी उस अजस्र संहार शक्ति को देखकर शत्रुओं को ऐसा लगने लगा कि 'यह कदाचित् यम हो सकता है', किन्तु 'यम' महिष पर बैठकर घूमा करता है,यह प्रसिद्धि है । और यह तो रथ में बैठकर

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः।

तथा—

इन्दुः किं क्व कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम्।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि! निश्चितं परतः॥ ४१९॥

रणभूमि पर संचार करते हुए सबके नाक में दम कर रहा है। यह ध्यान में आते ही 'यह यम नहीं है' यह विश्वास उन्हें हुआ।

कवि राजा से कह रहा है कि 'हे राजन्! तुम्हें देखकर तुम्हारे शत्रु, अनेक विध संशयों में डूब जाते हैं'। (इस पद्य में 'इतः = युतः, कृशानुः = अग्निः, आजौ = युद्धे, विदधति = कुर्वन्ति)।

इस उदाहृत पद्य में प्रत्येक दो संशयों के मध्य (गर्भ) में 'अतद्व्यावृत्तिरूप निश्चय' के रहने से इसे 'निश्चयगर्भ ससन्देह' यह नाम दिया जाना अन्वर्थक ही है।

तथा उपमेयस्वरूप का निर्धारण, अन्त में होने पर ससन्देह को 'निश्चयान्त' कहते हैं।

निश्चयान्त ससन्देह में किया गया उपमेयस्वरूप का निश्चय, 'निश्चयगर्भ' की तरह संशय से आरोपित 'उपमान' पर विशेषधर्म से भिन्न धर्म के रूप में प्रतीत नहीं होता और 'अतद्व्यावृत्तिरूप भी नहीं होता। अपितु उपमेय के अपने असाधारण धर्म मात्र की प्रतीति हुआ करती है। 'अतद्व्यावृत्ति' = तदितरव्यावृत्ति अर्थात् प्रकृतेतरनिवृत्ति, 'तन्मात्र प्रतीति' = प्रकृतमात्र (उपमेयमात्र) का ज्ञान होता है। 'भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं'—इस वृत्ति में प्रयुक्त 'यावत्' का अर्थ 'किन्तु' समझना चाहिए। जैसे उदाहरण (४१४) 'यावद्विलासायुधलास्यवासाः' में 'यावत्' = किन्तु है।

पहले बता चुके हैं कि 'भेदोक्तावित्यनेन' में 'भेदोक्ति' पद से केवल 'निश्चयगर्भ' एक ही प्रकार नहीं समझना चाहिए, किन्तु 'निश्चयान्त ससन्देह' भी समझना चाहिए। अतः 'निश्चयान्त ससन्देह' का उदाहरण दे रहे हैं। तथेति जैसे—

इन्दुरिति। इस पद्य में 'नायिका' से कोई कह रहा है—हे हरिणाक्षि! मृगनयने! तुम्हारा यह 'मुख' क्या चन्द्रमा है? यदि चन्द्रमा है, तो उसमें दिखाई देनेवाला 'कलङ्क' कहाँ चला गया, अर्थात् 'कलङ्क' क्यों नहीं दिखाई दे रहा है? क्या यह मुख 'कमल' है? तो 'जल' कहाँ गया? क्योंकि 'कमल' को 'सरसिज' कहते हैं। अर्थात् वह तो 'सरोवर' में उत्पन्न होता है। इस प्रकार संशय (विकल्प) करके हे हरिणाक्षि! तुम्हारे सुन्दर विलास भरे वचनों से 'यह तुम्हारा मुख' है, यह निश्चय, मुझे अन्त में हो पाया॥ ४१९॥

किन्तु निश्चयगर्भं इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन ।

तदनुक्तौ तथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्रृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥ ४२० ॥

किन्त्विति । परन्तु 'निश्चयगर्भ ससन्देह' के समान यहाँ (निश्चयान्त ससन्देह में) 'निश्चय'—प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) नहीं है । उस कारण भट्टोद्भट ने इस 'निश्चयान्त' नामक प्रकार (भेद) की 'उपेक्षा' की है । अर्थात् इस 'निश्चयान्त' को 'ससन्देहालंकार' का भेद उन्होंने नहीं माना है । क्योंकि निश्चयगर्भ में 'वैधर्म्य' बताने के कारण 'निश्चय' व्यङ्ग्य रहता है, उसके व्यङ्ग्य होने पर ही उसमें चमत्कारित्व आता है । और निश्चयान्त में 'निश्चत' शब्द से ही निश्चय उक्त होने के कारण वह (निश्चय) वाच्य बन जाता है,वाच्य बनने पर उसमें वैसा चमत्कारित्व नहीं रहता । उस कारण ही भट्टोद्भट ने 'निश्चयान्तप्रभेद' की उपेक्षा कर दी है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'निश्चयान्त-ससन्देह' की उपेक्षा नहीं की है । एवंच 'निश्चयगर्भ' में 'निश्चय' पद से पूर्वोक्तोपमान-भिन्नत्वेन रूपेण 'निश्चय' को वाच्य रूप में अथवा प्रतीयमानरूप में (व्यंग्यरूप में) ग्रहण करना है । किन्तु 'निश्चयान्तस्थल में 'निश्चय' पद से 'उपमेयरूप' में ही 'निश्चय' का ग्रहण करना है, जो नियत रूप से 'वाच्य' ही रहता है ।

अब सूत्रकार के 'तदनुक्तौ च संशयः'—अर्थात् भेदानुक्तिवाले 'ससन्देह' का उदाहरण दे रहे हैं । यथेति । जैसे—विक्रमोर्वशीय के प्रथम अंक में 'उर्वशी' को उद्देश्य कर 'पुरुरवा' राजा कह रहा है—

अस्याः सर्गविधाविति । इस सुन्दरी उर्वशी के निर्माण में जो निर्माणकर्ता (प्रजापति) था, क्या वह कान्तिदायक चन्द्रमा था ? क्योंकि ऐसी अपूर्व कान्ति 'चन्द्र' से ही प्राप्त हो सकती है । अथवा रसराज श्रृङ्गार को ही प्रधान रूप से अपनाने वाला क्या 'मदन' (कामदेव) स्वयं 'प्रजापति' बनाया ? क्योंकि श्रृङ्गारोद्दीपक ऐसा रूपलावण्य उसी से ही (मदन से ही) प्राप्त हो सकता है, अन्य से नहीं । अथवा पुष्पाकरमास (मधुमास = वसन्त) स्वयं, इस सुन्दरी का निर्माणकर्ता (प्रजापति) बना था ? क्योंकि 'अधर-दशन' आदि पुष्पों का होना 'वसन्त' से ही संभव हो सकता है । क्योंकि वेदाभ्यास के कारण कुण्ठित-बुद्धि हुआ, तथा वनितादि विषयों के प्रति कौतुक (औत्सुक्य) रहित रहनेवाला, वृद्ध (जरठ) मननशील (मुनि) जो प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्मा है, वह, ऐसे अनुपम मनोहर रूपसौन्दर्य के निर्माण में कैसे समर्थ हो सकता है ?॥४२०॥

(६ रूपकाख्यः अलंकारः)

(१३९) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

यहाँ प्रजापति कौन था ? क्या चन्द्र या मदन या वसन्त था ? इस प्रकार नाना-कोटिक संशयात्मक ज्ञान है। यह 'शुद्ध संशय' है—इसमें भेद का कथन नहीं है। अतः यह 'निश्चयशून्य' है।

शुद्ध निश्चयान्त ससन्देह का उदाहरण इस प्रकार है—

"चपला जलदाच्च्युता लता वा तरुमुख्यादिति संशये निमग्नः ।
गुरुनिश्वसितैः कपिर्मनीषी निरणैषीदथ तां वियोगिनीति ॥"–(जगन्नाथ)

अशोक वन में सीता को देखने पर हनुमान् के मन में उठे हुए वितर्कों का वर्णन उक्त पद्य में है।

शंका—यदि 'ससन्देह अलङ्कार' निश्चयान्त भी होता है तो प्राचीन आचार्यों ने उसका उल्लेख क्यों नहीं किया ?

समा०—निश्चयगर्भ ससन्देह में जैसे 'निश्चय' व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) रहता है, उस तरह 'निश्चयान्त ससन्देह' में 'निश्चय' व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) नहीं रहता, अपितु वह 'वाच्य' रहता है, किन्तु चमत्कार तो व्यङ्ग्य में ही रहता है, 'वाच्य' में चमत्कार नहीं रहता। अतएव प्राचीन आचार्यों ने इस निश्चयान्त ससन्देह की उपेक्षा की है, और उल्लेख भी नहीं किया। भेद के नहीं कहने से ही 'शुद्ध संशय' में निश्चय-गर्भ' और निश्चयान्त दोनों भेद नहीं होते हैं। अतएव 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ'—यह एक लक्षण है, और 'भेदानुक्तौ तु संशयः'—यह दूसरा लक्षण है।

६. रूपकालङ्कार—

(सूत्र १३९) तद्रूपकमिति। 'उपमान' और 'उपमेय' में अभेद वर्णन करने पर 'रूपक' अलङ्कार होता है।

'रूपक' शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। 'रूपयति एकतां नयतीति रूपकम्—एकता (अभेद) की प्रतीति करना ही रूपक है। अर्थात् 'उपमान' और 'उपमेय' दोनों के स्वरूप भिन्न-भिन्न दिखाई दे रहे हैं, तथापि दोनों में अत्यधिक समानता (सादृश्य) दिखाने के लिए 'काल्पनिक अभेद' कहना ही 'रूपक' है। जैसे—'मुखं चन्द्रः'—'मुख, चन्द्र' है—इस वाक्य में मुख और चन्द्र दोनों अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप से प्रकाशित हो रहे हैं, तथापि अत्यधिक सादृश्य को बताने के लिए दोनों पर 'अभेद' का आरोप किया गया है। यह काल्पनिक अभेद भी कवि की प्रतिभा से प्रसूत होना चाहिए, तभी उसे 'रूपक' अलंकार के नाम से कहा जायगा। अन्यथा

अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः ।

'मृल्लोष्ठः पाषाणः' में भी आरोपित अभेद होने से उसे 'रूपक' अलंकार कहना होगा, किन्तु कोई भी 'मृल्लोष्ठः पाषाणः' में रूपकालंकार को नहीं मानता । क्योंकि वह 'अभेद' कविप्रतिभाप्रसूत नहीं है ।

अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेद इति । अनपह्नुत भेद वाले (प्रसिद्ध भेद वाले) उपमान और उपमेय का अत्यधिक साम्य (समानता = सादृश्य) रहने के कारण, जो अभेद वर्णन किया जाता है, उसे रूपकालंकार कहते हैं ।

विवरण—'उपमा', 'उत्प्रेक्षा' के समान ही प्रस्तूयमान यह 'रूपक' भी प्रसिद्ध अलंकार है । यह भी 'उपमानोपमेयभाव' पर ही अधिष्ठित रहता है । वैदिकवाङ्मय के आलोडन से प्रतीत होता है कि कवियों ने 'उपमा' के बाद उपमेय को ही महत्त्व दिया है । आचार्य भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में 'रूपक' की सोदाहरण चर्चा की है, एवं सभी आलंकारिकों ने इस 'रूपक अलंकार' को मान्यता भी दी है । उपमानोपमेयभावगत 'भेद' को यहाँ (रूपक में) छिपाया नहीं जाता । (अतिशयोक्ति के प्रथम भेद में 'भेद' को छिपाया जाता है) अथवा 'भेद' का निषेध भी यहाँ नहीं किया जाता, (अपह्नुति में 'भेद' का निषेध किया जाता है) उक्त प्रकार के उपमानोपमेयभाव में जो अभेद की कल्पना की जाती है, उसे 'रूपक' अलंकार कहते हैं । उपमानोपमेय का भेद, इसलिये छिपायी नहीं जाता, कि दोनों के ही स्वतन्त्र वाचक शब्दों का प्रयोग 'रूपक' में किया जाता है । तथापि उनके 'अभेद' का बोध, सामानाधिकरण्य के द्वारा अर्थात् उन दोनों के वाचक शब्दों का प्रयोग 'एक ही वस्तु' को लक्ष्य करके किया जाता है, कराया जाता है । क्योंकि उन दोनों में इतना गुण-साम्य रहता है, जिस कारण उन्हें अभिन्न मानना पड़ता है । अर्थात् दोनों के स्वरूपभेद को जानते हुए भी उनमें 'अभेद' की कल्पना करने के कारण उस 'अभेद' को आहार्य (आरोपित) कहा जाता है । ('भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में 'अभेद' आहार्य नहीं होता, अपितु मिथ्या-ज्ञानजन्य रहता है । किन्तु 'रूपक अलङ्कार में 'अभेद' श्रौत रहता है । अर्थात् शब्द श्रवणमात्र से ही उसकी (अभेद की) प्रतीति होती है ।) ('निदर्शना' अलंकार में 'अभेद' आर्थ रहता है, अर्थात् अर्थानुसन्धान के पश्चात् उसकी प्रतीति हो पाती है । इस प्रकार दोनों का भेद, पण्डितराज जगन्नाथ ने बताया है । उदाहरणार्थ जैसे—'मुखं कमलम्', इस कथन में पृथक्-पृथक् शब्दों से निर्दिष्ट किये गये 'मुख' और 'कमल'—इन दो वस्तुओं में 'अभेद' की कल्पना की गई है । यहाँ पर 'मुख'—उपमेय है, और 'कमल'—उपमान है । इन दोनों में 'इव' जैसा भेद सम्बन्धबोधक कोई शब्द भी नहीं है । और इनके वाचक शब्द, 'समानविभक्तिक' हैं, 'मुख'—इस

एक ही वस्तु को लक्ष्य करके उनका प्रयोग किया गया है। उस कारण उन दोनों में 'अभेद' सिद्ध होता है। उपमान-उपमेयगत इस अभेद को लक्ष्य करके ही प्रस्तुत अलङ्कार को 'रूपक'--यह अन्वर्थक नाम दिया गया है। 'रूपयति' (रूपवत् करोति) उपमानं (कर्तृ), उपमेयं (कर्म) अस्मिन्, इति 'रूपकम्'--अर्थात् जहाँ पर उपमान अपना रूप 'उपमेय' को दे-देता है, वहाँ 'रूपक' कहा जाता है।

एवं च 'अभेद सम्बन्ध' से उपमान का उपमेय पर आरोप करना ही रूपक है। उस कारण इसे 'गौणीसारोपा लक्षणा' कह सकते हैं।

अप्पयदीक्षितेन्द्र आदि नवीन आलङ्कारिकों ने 'रूपक' स्थल में 'लक्षणा' नहीं मानी है।

उनका परामर्श, पण्डितराज जगन्नाथ ने सविस्तरतया और उद्योतकार ने संक्षेपतया किया है,[1] और प्राचीनों के मत को युक्ततर बताया है।

'रूपक' शुद्धा सारोपालक्षणा पर आधारित नहीं हुआ करता, क्योंकि रूपक के लक्षण से ही स्पष्ट है कि वह (रूपक) उपमान-उपमेय में होता है, और उपमान-उपमेय में 'सादृश्य सम्बन्ध' हुआ करता है। 'शुद्धा लक्षणा'—सादृश्येतर सम्बन्ध पर अधिष्ठित रहती है।

'सुखं मनोरमा रामा'—इस कथन में 'रामा' (रमणी) 'विषय' है, और 'सुख'—विषयी है, और 'विषय' पर 'विषयी' का आरोप किया गया है।

तथापि इस कथन को 'रूपक' नहीं कह सकते, क्योंकि इन दोनों में 'कार्य-कारण-भाव' सम्बन्ध है, 'उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध' नहीं है।

'रूपक' को सादृश्याधिष्ठित ही होना चाहिए—इस प्राचीनतम को 'दुराग्रह' की संज्ञा देने वाले 'रत्ना र' के मत[2] को पण्डितराज जगन्नाथ ने बताया है; और उसकी

१. जगन्नाथ (पृ० १४९-१५५, २४०-२४२), उद्योतव्याख्याकार (उल्लास २, गौणी सारोपालक्षणा)।

२. "इह अन्ये" सादृश्यनिमित्तः एव आरोपः रूपकम्, न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि, तेन सम्बन्धान्तरपूर्वक आरोपः वैचित्र्यमात्रम्, न तु अलंकारः कश्चित्", इति मन्यते। यत् पठन्ति च "उपमैव तिरोभूतभेदाद्रूपकमिष्यते--(दण्डी--२।६६) इत्यादि॥ तन्न नयनिपुणहृदयावर्जकम्। तथाहि—इह द्विविधा लक्षणा। प्रयोजनरहिता रूढा, तद्युता च कार्या। तत्र रूढायां प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यार्थाभावात् अभिधावत् वैचित्र्यचारुताविरहात् न सहृदय-हृदयाह्लादकारितया रसपरिपोषकत्वम्, इति न अलंकारता। कार्या पुनः तद्वैलक्षण्येन काव्यजीवितायमाना सर्वथा कविभिः

(रूपकस्य भेद-प्रभेदाः)

(१ साङ्गरूपक-समस्तवस्तुविषय-प्रकारः)

(१४०) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥ ९३ ॥

विसंगति भी प्रदर्शित की है। आगे चलकर 'रत्नाकर' के मत का खण्डन भी किया है– "अत्र उपमेये उपमानस्य नारोपः, अपितु कारणे कार्यस्य, इति रूपकं न भवतीति प्राञ्चः।......उच्छृङ्खलाः पुनः आरोपमात्रं रूपकं वदन्तः इहापि रूपकमाचक्षते ॥"

(रूपक के भेद–अवान्तर भेद)

(१ साङ्गरूपक–समस्तवस्तुविषय–प्रकार)

(सूत्र १४०) समस्तवस्तु विषयमिति। 'समस्तं वस्तु, आरोप्यमाणं विषयः शब्दप्रतिपाद्यः यत्र'—इस व्युत्पत्ति से जो आरोप्यमाण हैं, वे सभी यदि 'आरोप-विषयों' की तरह 'शब्द' ही रहते हैं, तब 'समस्तवस्तुविषय' नामक रूपक होता है।

अर्थात् यस्मिन् रूपके आरोपिताः आरोप्यमाणाः यदा श्रौताः शाब्दाः (शब्दोपात्ताः) तदा तद् रूपकं 'समस्तविषयमि'त्युच्यते इत्यर्थः। अर्थात् जब 'आरोपविषय (उपमेय) की तरह 'आरोप्यमाण' (उपमान) भी शब्द के द्वारा बताये जाते हैं, तब 'समस्तवस्तुविषय' रूपक अलंकार होता है। सूत्र में 'आरोपिताः' में जो बहुवचन किया गया है, वह 'अविवक्षित' है। क्योंकि सूत्र में 'वचन' तथा 'लिंग' किसी विशेष अभिप्राय को नहीं बताया करते—'सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्'। अर्थात् जहाँ दो भी आरोप्यमाण रहेंगे वहाँ भी यह 'रूपक' कहा जायगा।

विवरण—'रूपक'—साङ्ग, निरङ्ग और परम्परित के भेद से तीन प्रकार का होता है। अर्थात् 'सांग' = सावयव, 'निरंग' = निरवयव, परम्परित—ये तीन भेद 'रूपक' के हुआ करते हैं। इनमें से 'साङ्ग'—'समस्तवस्तुविषय' और 'एकदेशविवर्त्ती' के भेद से दो प्रकार का होता है। 'निरङ्ग' भी—'शुद्ध' (केवल) और 'मालारूप' के भेद से दो प्रकार का होता है। और 'परम्परित'—श्लिष्ट शब्दोत्थ, तथा अश्लिष्ट शब्दोत्थ के भेद से दो प्रकार का होता है, साथ ही साथ इसके दो भेदों में से प्रत्येक के 'केवल' और 'मालारूप'—ये दो भेद और भी होते हैं, अर्थात् कुल ४ भेद इसके होने से 'रूपक' के आठ भेद होते हैं। उनमें से 'साङ्ग'

आदरणीया इति सर्वेषां ध्वनिकारादीनाम् अविप्रतिपत्तिः। नच तस्याः सादृश्ये सम्बन्धान्तरे वा कश्चिद् विशेषः, येन एकत्र अलंकारता, अपरत्र तदभावः इति स्यात्। न च सम्बन्धान्तरनिमित्तः आरोपः अलंकारतया लक्षितः। नापि तत् युज्यते, रूपकसाजात्येन तदन्तर्भावस्यैव उचितत्वात्"॥–(रत्नाकर पृ० ३२-३३)

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम् । आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

रूपक के दो भेदों को क्रमशः दिखाते हुए प्रथमतः 'समस्तवस्तुविषय' को दिखा रहे हैं—जब आरोपित 'श्रौत' रहे, तब 'समस्तवस्तुविषय रूपक' होता है। अर्थात् आरोप के विषय 'उपमेय' की तरह आरोप्यमाणविषयी 'उपमान' भी शब्द प्रतिपाद्य रहे तब उस रूपक को 'समस्तवस्तुविषय' कहा जाता है।

'रूपक' हमेशा आरोपात्मक हुआ करता है। आरोप के लिये 'विषय' और 'विषयी' की अपेक्षा रहती है। जिस पर आरोप किया जाता है उसे 'विषय' कहते हैं, और जिसका आरोप किया जाता है, उसे 'विषयी' कहते हैं।

जिस 'सांग रूपक' में 'समस्त विषयी' (आरोपिताः = आरोप्यमाणाः) अपने वाचक शब्दों से साक्षात् निर्दिष्ट रहते हैं (श्रौताः = शब्दोपात्ताः) उसे 'समस्त वस्तुविषय'—यह अन्वर्थक नाम दिया गया है।

शंका—यहाँ पर 'विषयी' के बारे में तो अच्छी तरह सब कुछ बता दिया, किन्तु 'विषय' के बारे में कुछ नहीं बताया, ऐसा क्यों ?

समा०—'सांगरूपक' चाहे 'समस्तवस्तुविषय' हो, या 'एकदेशविवर्त्ति' हो, उनमें आरोप का विषय 'श्रौत' ही होना चाहिए। एवं च 'सांगरूपक' के दोनों प्रकारों में 'आरोप विषयों का श्रौतत्व' अबाधित (अनिवार्य) रहने के कारण 'विषय' के बारे में कुछ नहीं कहा गया है।

जिनका 'श्रौतत्व' वैकल्पिक हो सकता है, उन 'विषयी' के श्रौतत्व का ही केवल अग्रिम कारिका में निर्देश किया गया है। उनके (विषयी) के वैकल्पिक श्रौतत्व के निर्देश से ही 'विषयों' का श्रौतत्व स्वत एव सिद्ध हो जाता है। यह बताने के लिये ही वृत्ति में वृत्तिकार ने वृत्ति में 'आरोप विषयाः इव' कहा है। अर्थात् आरोप के विषय, जैसे सर्वत्र श्रौत हुआ करते हैं, वैसे आरोप के विषयी भी जब श्रौत रहें, तब यह रूपक प्रस्तुत समस्त विषय प्रकार वाला समझा जाता है।

मूलकारिका में आरोप विषयों का निर्देशक—'आरोपिताः' यह शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, उस कारण किसी को भ्रम होना सम्भव है कि सांग रूपक के दोनों प्रकारों में 'विषय' और 'विषयी' तीन या उससे भी अधिक होने चाहिये, किन्तु ग्रन्थकार का अभिप्राय ऐसा नहीं है, क्योंकि (बहुवचनम् अविवक्षितम्) यह वृत्तिकार ने वृत्ति में भ्रमनिराकरणार्थं ही लिखा है।

'आरोपिताः' यह पद प्रयोग भी 'विषयी' पदार्थों का सामान्यतया निर्देश करने के लिये ही किया है। उनकी अर्थात् विषयी पदार्थों की संख्या बताने के लिये

यथा—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥ ४२१ ॥

अत्र पादत्रये अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहे साधकमस्तीति तत्सङ्कराशङ्का न कार्या ।

नहीं है । एवं च सांगरूपक में जहाँ दो भी 'आरोप्यमाण' रहेंगे वहाँ भी 'रूपक' होगा ।

'समस्तवस्तुविषय' रूपक का उदाहरण, यथेति । जैसे—

ज्योत्स्नेति । चन्द्रिकारूप भस्म से लिप्तांग होने के कारण 'धवल वर्ण' तारागण रूप अस्थियों को धारण किये हुए और तिरोधान करने (सब वस्तुओं को छिपा लेने) के व्यसन को रसिका अर्थात् तत्पर रहने वाली यह रात्रिरूप 'कापालिकी' (योगिनी) चन्द्रकलारूप कपाल में कलङ्क के व्याज़ (मिष) से सिद्धाञ्जन चूर्ण को (आविर्भाव-तिरोभावसाधनीभूतवस्तु को) रखे हुए द्वीप-द्वीपान्तरों में घूमती फिरती है ॥ ४२१ ॥

अत्र पादत्रये इति । यहाँ पहिले तीन पादों में प्रयुक्त ज्योत्स्ना-भस्मच्छुरण-धवला आदि पदों में रूपक कहने में विनिगमक (साधक) हेतु विद्यमान है । क्योंकि यहाँ पर 'अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व' 'धर्म' रात्रि में स्वाभाविक नहीं है, अपितु आरोपित धर्म है । अतः उसके बल पर 'रूपक' अलङ्कार के पक्ष में निर्णय हो जाने से 'उपमा' तथा 'रूपक' के 'सन्देह सङ्कर' की शंका करना उचित नहीं है ।

विवरण—प्रस्तुत उदाहरण में 'रात्रि', 'ज्योत्स्ना', 'तारक', 'चन्द्र' एवं 'लाञ्छन'—ये सब 'उपमेय' हैं, तथा 'कापालिकी', 'भस्म', 'अस्थि' 'मुद्राकपाल' और 'सिद्धाञ्जन चूर्ण'—ये सब उपमान हैं । ये सभी आरोप्यमाण शब्द से उपात्त हैं । अतः यह 'समस्तवस्तु विषय' रूपक है ।

यहाँ 'रात्रि' ही कापालिकी (योगिनी) है, उस कारण यह अंगी (प्रधान) रूपक है, अन्य सब अंग (उपकारक) रूपक हैं । इसलिये यह 'सांग रूपक' है । 'साङ्ग' का अर्थ है—'परस्पर सापेक्ष रूपकसमूह' ।

यहाँ 'सांग रूपक' के सभी अंगों में यद्यपि 'समर्थ्य-समर्थक भाव' तुल्य है, तथापि कवि, जिसको 'समर्थ्य' बनाना चाहता है, उसे 'समर्थ्य' माना जाता है, और अन्य, उसके 'समर्थक' कहलाते हैं । प्रकृत में 'रात्रिगत कापालिकी (योगिनी) रूपण ही

समर्थ्य है, और अन्य सब उसके समर्थक हैं। किन्तु 'चतुर्थ पाद' के अन्त में 'छल' पद का उपन्यास कर देने से यहाँ (चतुर्थ पाद में) 'अपह्नुति हो गई है।

शंका—यहाँ पर 'ज्योत्स्ना एव भस्म, तारकाः एव अस्थीनि, रात्रिः एव कापालिकी, चन्द्रः एव मुद्राकपालम्'—अर्थात् ज्योत्स्ना से अभिन्न 'भस्म', तारकाओं से अभिन्न 'अस्थि', रात्रि से अभिन्न 'कापालिकी', चन्द्र से अभिन्न 'मुद्राकपाल'—इस प्रकार अभेद सम्बन्ध से विग्रह किये गये हैं। किन्तु 'ज्योत्स्ना भस्म इव; तारकाः अस्थीनि इव; रात्रिः कापालिकी इव; चन्द्रः मुद्राकपालम् इव'—अर्थात् चाँदनी (ज्योत्स्ना); भस्म के तुल्य है; रात्रि; योगिनी (कापालिकी) के समान है—इस प्रकार 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' सूत्र से उपमेयसमास करने पर यहाँ 'उपमा' भी कह सकते हैं। तथा 'मयूरव्यंसकादयश्च' सूत्र से समास करने पर यहाँ 'रूपक' भी कह सकते हैं। तब यहाँ पर 'रूपक' कहा जाय, अथवा 'उपमा' कही जाय ? यह सन्देह होता है। अतः 'उपमा' के साथ 'रूपक' का 'सन्देहसंकर' ही मान लेना चाहिए, 'शुद्धरूपक' नहीं। क्योंकि जब किसी वर्णन में एक से अधिक अलंकारों की संभावना रहने पर किसी एक अलंकार का निश्चय करने में साधक-बाधक प्रमाण नहीं रहता, तब 'सन्देहसंकर' नामक मिश्र स्वरूप का अलंकार होता है, यह आगे बताएँगे।

समा०—उदाहृत पद्य के प्रथम तीन चरणों में 'रूपक' ही है, 'उपमा' नहीं। यह कहने में साधक प्रमाण 'अन्तर्धानव्यसनरसिका'—यह 'विशेषण' है (रूपकपरिग्रहे साधकम् अस्ति)। 'अन्तर्धानव्यसनरसिका' अर्थात् जिसे अचानक गुप्त हो जाना, पुनः प्रकट होना, पुनः गुप्त हो जाना, इस प्रकार के व्यसन में ही अभिरुचि है। यह 'अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व' धर्म एवं 'द्वीपान्तरभ्रमणकर्तृत्व' धर्म, आरोपित अर्थात् आरोप्यमाण कापालिकी के ही हो सकते हैं, (आरोपित धर्म, एव), आरोप की विषयभूत अचेतन 'रात्रि' के नहीं। क्योंकि उक्त धर्म, 'चेतन' का ही हो सकता है। इसलिये 'रात्रिकापालिकी' में 'समास' वही करना होगा, जिसके करने से 'कापालिकी' पद की 'मुख्यता' अक्षुण्ण रहकर उक्त विशेषण (अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व—द्वीपान्तर-भ्रमणकर्तृत्व) की 'विशेष्यता' उसमें निश्चित की जा सके।

यह अभीष्टसिद्धि तभी होगी, जब 'रूपक' मानकर समास किया जायगा, अर्थात् 'रात्रिः एव कापालिकी'—इस प्रकार 'अवधारणापूर्वपद' कर्मधारय समास किया जायगा। अन्यथा यदि 'उपमा' मानकर 'रात्रिः कापालिकी इव' इस प्रकार समास किया जायगा तो उपमेयभूत 'रात्रि' में ही मुख्यता आवेगी, तब 'अन्तर्धान व्यसनरसिका'—इस विशेषण को 'रात्रि' में लगाकर दिखाना होगा। किन्तु 'रात्रि' तो अचेतन होने के कारण उसमें यह विशेषण मुख्यार्थ की दृष्टि से उपपन्न नहीं हो सकता। उस कारण 'रात्रिकापालिकी' में रूपकसमास ही करना श्रेयस्कर होगा।

(साङ्गरूपक-एकदेशविवर्ति-प्रकारः)

(१४१) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।

केचिदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः इत्येकदेशविवर्त्तनात् एकदेशविवर्त्ति ।

इस रीति से मुख्य उपमान-उपमेयों में 'रूपक' के सिद्ध हो जाने पर, उनके अवयवों में भी वही अलंकार होगा, यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है ।

'रात्रिकापालिकी' में रात्रिसदृशीकापालिकी (शाकपार्थिवादिकर्मधारयसमास) इस उपमा के अर्थ को दिखाते हुए समास करने पर 'अन्तर्धानव्यसनरसिका' विशेषण को 'कापालिकी' के साथ कदाचिदपि अन्वित करना संभव नहीं है ।

किञ्च—उपमा के पक्ष में उक्त वर्णन 'रात्रि' का न होकर 'कापालिकी' का होने लगेगा । किन्तु कवि ने यह वर्णन 'रात्रि' का किया है । इसके अतिरिक्त 'कापालिकी' का वर्णन यदि माना जाय तो 'लाञ्छनस्य छलेन'—इस 'अपह्नुति' प्रदर्शन के विरुद्ध होगा । 'छल' शब्द से जिसका निषेध (अस्वीकार) अपह्नुति में हुआ करता है, वह पदार्थ (वस्तु) 'प्रकृत' रहता है—इस न्याय से यहाँ पर 'कापालिकी' को 'वर्ण्य वस्तु' मानने पर उससे सम्बद्ध 'सिद्धाञ्जनपरिमल' से 'छल' शब्द का अन्वय करना होगा, किन्तु वैसी स्थिति, यहाँ न रहने से इस वर्णन में 'उपमालंकार' को सिद्ध करने का यह उक्त प्रकार व्यर्थ ही है ।

एवंच 'अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व' तथा 'द्वीपान्तरभ्रमणकर्तृत्व' धर्म आरोपित (आरोप्यमाण) कापालिकी के ही हैं । आरोप की विषयभूत 'रात्रि' के नहीं हैं । ये धर्म, उक्त पद्य के तीनों पादों में 'रूपक' के स्वीकार करने में साधक प्रमाण हैं, इसलिए 'उपमा' के साथ 'रूपक' के संकर की शंका नहीं करनी चाहिए । यहाँ उपमान एवं उपमेय दोनों में स्थित (उभयनिष्ठ) साधारणधर्म 'श्वेत्वादि' है ।

(सांगरूपक—एकदेशविवर्ति)

(सूत्र १४१) वे आरोप्यमाण जहाँ श्रौत और आर्थ हों वहाँ 'एकदेशविवर्तिरूपक' होता है । अर्थात् जहाँ 'आरोपित' उपमान, 'शब्दगम्य' तथा 'अर्थगम्य' दोनों प्रकार का होता है, वहाँ 'एकदेशविवर्तिरूपक' अलंकार माना जाता है ।

वृत्तिकार सूत्रगत 'ते' की व्याख्या करते हैं—केचिदारोप्यमाणाः और 'श्रौताः' की व्याख्या करते हैं–शब्दोपात्ताः तथा 'आर्थाः' की व्याख्या करते हैं–केचिदर्थसामर्थ्यादवसेयाः । 'अवसेयाः' = निश्चेयाः । 'एकदेशविवर्ति' पद की व्युत्पत्ति बताते हैं—एकदेशविवर्तनात् । निष्कर्ष यह है—केचिदिति । कुछ 'आरोप्यमाण' 'शब्द' से गृहीत

यथा—

जस्स रणन्ते उरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम्।
रससंमुहीवि सहसा परंमुही होइ रिउसेणा ॥ ४२२ ॥
(यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।
रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥)

अत्र रणस्यान्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम् मण्डलाग्रलतायाः नायिका-

---

होते हैं और कुछ 'आरोप्यमाण' 'अर्थ' के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं, तब 'एकदेशविवर्ति' रूपक होता है। एवंच एकदेश में स्पष्टतया विद्यमान होने के कारण उसे एकदेशविवर्तिरूपक कहा गया है। एवंच एकदेश के किसी अवयव में विशेष रूप से अर्थात् 'व्यङ्ग्य' रूप से रहने के कारण 'एकदेशविवर्तिरूपक' कहलाता है। 'एकदेशविवर्तनात्' का अभिप्राय उद्योतकार ने बताया है कि 'एकदेशे' (रूपकसंघातस्य अवयविनः) अवयवे कस्मिश्चिद् रूपके विशेषेण शब्दमुखेन स्फुटतया वर्तनात् प्रकाशनादित्यर्थः। अर्थात् किसी रूपक संघात के किसी एक अवयव में विशेष रूप से अर्थात् शब्दतः स्फुट रूप में प्रकाशित होते रहना, किन्तु यह तभी संभव है, जब कुछ आरोप्यमाण (उपमान) तो शब्द से बताये गये हों और कुछ ऐसे हों, जो 'अर्थ' के सामर्थ्य से प्रतीत होते हों, अर्थात् अर्थगम्य हों।

किन्तु कुछ विद्वान् 'एकदेशविवर्तनात्' का अभिप्राय यह बताते हैं कि "एकस्मिन् देशे, एकस्मिन् अंशे विवर्तनात् विशेषेण वर्तनात् अर्थात् आरोप्यमाणस्य सर्वत्र वाच्यत्वे एकांशे प्रतीयमानत्वरूपस्य विशेषस्य सत्त्वात् एकदेशविवर्ति, इति नाम सार्थकम्।" अर्थात् एकदेश के किसी अवयव में विशेष रूप से अर्थात् व्यङ्ग्य रूप से रहने के कारण उसे 'एकदेशविवर्तिरूपक' यह सार्थक नाम दिया गया है। यथेति। जैसे—

जस्सेति। जस्स = यस्य, रणन्तेउरए = रणान्तःपुरे, करे = करे, कुणन्तस्स = कुर्वतो, मण्डलग्गलअम् = मण्डलाग्रलताम्, रससंमुही वि = रससंमुख्यपि, सहसा = सहसा, परंमुही = पराङ्मुखी, होइ = भवति, रिउसेणा = रिपुसेना ॥४२२॥

अर्थात् रणरूपी अन्तःपुर में मण्डलाग्रलतारूपी तलवार को युद्ध के लिए और नायिका को सुरत के लिए कर में ग्रहण करनेवाले जिस राजा के रिपुओं (शत्रुओं) की सेना युयुत्सा से वीर-रसाविष्ट होती हुई भी भय के कारण युद्ध से और प्रतिनायिका रिरंसा से शृङ्गार-रसाविष्ट होती हुई भी कोप के कारण प्रियसंगम से पराङ्मुख हो जाती है ॥४२२॥

अत्र रणस्येति। यहाँ पर 'रण' में 'अन्तःपुरत्व' का आरोप 'शब्दोपात्त है, और 'मण्डलाग्रलता' में 'नायिकात्व' तथा 'रिपुसेना' में 'नायिकात्व' और

त्वम् रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वञ्च अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्त्तनादेकदेशविवर्ति ।

(१४२) साङ्गमेतत् ।

उक्तद्विभेदं सावयवम् ।

'रिपुसेना' में 'प्रतिनायिकात्व' का आरोप 'शब्दोपात्त' नहीं है, किन्तु 'अन्तःपुरत्व' के आरोप के सामर्थ्य से अर्थतः (अर्थात्) प्रतीत होता है। अन्तःपुर में नायिका एवं प्रतिनायिकाओं का ही होना उचित है। उनका आरोप किये बिना 'अन्तःपुरत्व' का आरोप ही अनुपपन्न हो जाएगा। इस प्रकार एकदेश में अर्थात् 'रण' में, 'अन्तःपुरत्व' का आरोप, विशेषरूप से 'शब्द' के द्वारा स्पष्टरूप से किये जाने के कारण यह 'एकदेश-विवर्तिरूपक' बन गया है। 'रण' में तलवार आदि आयुध एवं 'अन्तःपुर' में स्त्रियाँ ही प्रधान होती हैं। 'अन्तःपुर' का अर्थ—'स्त्रियों का आवासस्थान' है। अतः 'मण्डलाग्रलता' में 'नायिका' का आरोप 'अंगी' है; क्योंकि अन्तःपुर में वही वर्णनीय मुख्य रूप से है, अन्य सब 'अंग' हैं।

'ईर्ष्याहेतुः सपत्नी प्रतिनायिकेत्युच्यते'—ईर्ष्या होने में हेतुभूत सपत्नी को प्रति-नायिका कहते हैं।

ऊपर बताये हुए दो प्रकार 'सांग' (अंगसहित) अर्थात् 'सावयव' रूपक के हैं। 'सांगरूपक' में 'एक अंगी' का अर्थात् अंगयुक्त पदार्थ का और विशिष्ट अंगों का क्रमशः अन्य 'अंगी' पर और उसके अनुरूप अंगों पर आरोप किया हुआ रहता है, उस कारण उसे 'सांग' यह अन्वर्थक नाम प्राप्त हुआ है।

(सूत्र १४२) साङ्गमिति। यह समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति 'साङ्गरूपक' है। दोनों भेदों वाला उक्त रूपक 'सावयवरूपक' कहा जाता है।

अंगी (प्रधान) स्वत एव वर्णनीय होने से और 'अवयवों' (अंगों) की वर्णनीयता मुख्यतया न होने से अप्रधानों का अभेदारोप करते हुए जो अंगी का रूपण किया जाता है, उसे सावयव रूपक कहते हैं। अर्थात् अंगरूपक-सहित अंगी के रूपण करने को सावयवरूपक कहते हैं।

इस प्रसंग में सुधासागरकार कहते हैं—"सांगत्वमनेकरूपकसमुदायः, एकस्मिन् रूपके द्वितीयस्य अंगत्वेन अवस्थानात् अंगशब्दस्य हेत्वर्थत्वात्। अत एवोक्तं मधुमती-कारैः अंगमारोपकारणम्" इति।

(२ निरङ्गरूपक-शुद्धनिरङ्ग-प्रकारः)

(१४३) निरङ्गन्तु शुद्धम्

यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥४२३॥

(सूत्र १४३) निरङ्गमिति । अंगों के आरोप से रहित केवल 'अंगी' का जो रूपण है, वही रूपक, अन्य रूपकों के मिश्रण से रहित रहने के कारण 'शुद्ध' (केवल) है । 'निरङ्गरूपक' (निरवयव) अर्थात् अवयवरहित (अखण्ड, केवल, अकेला) रहता है । इसमें केवल एक अंगी का अन्य (दूसरे) अंगी पर आरोप किया जाता है । उस 'अंगी' के अवयवों (अंगों) का अन्य अवयवों पर आरोप नहीं किया जाता । अर्थात् निरंगरूपक में केवल अंगी का ही निर्देश किया जाता है, 'अंग' का नहीं । इस निरंगरूपक का एक प्रकार अर्थात् 'शुद्ध' नाम का निर्देश यहाँ किया गया है । निरंगरूप का जो दूसरा प्रकार 'माला' नाम का है, उसे आगे चलकर बतावेंगे । अतः 'शुद्ध' का अर्थ 'अमालारूप' समझना चाहिए । अर्थात् एक उपमेय पर एक ही उपमान का आरोप करने मात्र से पूर्ण होनेवाले को 'शुद्ध' कहा गया है ।

यथेति । जैसे—कोई धात्री किसी किशोरी के वृत्तान्त को बता रही है—

कुरङ्गीति । हे सखि ! यह किशोरी बाला, जो गीत की ध्वनि सुनने पर मृगी के समान अपने अंगों को निश्चल कर लेती है, और अपने प्रियतम के वृत्तान्त को सुन लेने पर भी पुनः-पुनः सखी से पूछती रहती है, तथा यह किशोरी अन्तःपुर में पलंग पर पड़ी रहती है, किन्तु उसे नींद नहीं आती, इन सभी चिह्नों से मैं समझ रही हूँ कि इस किशोरी के हृदय में नवीन अंकुरित हुई प्रेम की लता को कामदेव ने सींचना आरंभ कर दिया है ॥ ४२३ ॥

यहाँ पर 'प्रेमलतिकाम्' इतना ही अंश, उदाहरणार्थ लिया गया है । इसमें उपमेय केवल 'प्रेम' ही है, उस पर 'लतिका' रूप अकेले उपमान का आरोप किया गया है । आरोप करने का आधार 'सुकुमारता' जैसा कोई भी साधारण धर्म गृहीत किया जा सकता है ।

'प्रेम' में 'लता' का आरोप जो कवि ने किया है, उसके परिपोषणार्थं अन्यत्र कहीं भी उसने दूसरे का आरोप नहीं किया है । इसलिए यह रूपक 'निरङ्ग' (केवल,

(निरङ्गरूपक-मालानिरङ्ग-प्रकारः)

(१४४) माला तु पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहवः आरोपिताः ।

अंगांगिभावरहित) रूपक है। प्रदीपोद्योतकार ने भी कहा है–"अत्र प्रेममात्रे लतिकात्व-मात्रारोपः, न तु तदुपपादकत्वेन क्वचिदपि अन्यारोपः" ।

'उदन्तम्' में 'णिचः इष्टवद्भावात्' 'विन्मतोर्लुक्' (पा. सू. ५।३।६५) सूत्र से 'मतुप्' का लुक् हो जाता है। कान्तोदन्तं प्रश्नविषयं करोतीत्यर्थः। प्रश्नयति, प्रश्नवन्तं करोतीति यावत् ।

(सूत्र१४४)मालेति । पूर्ववत् अर्थात् मालोपमा के समान 'मालारूपक' होता है॥९४॥

मालोपमायामिति। मालोपमा के समान जब एक पर, अर्थात् 'आरोपविषय' पर बहुतों का आरोप होता है, तब उसे मालारूपक कहते हैं। अर्थात् एक ही 'उपमेय' पर अनेक 'उपमानों' का 'आरोप किये जाने पर 'मालारूपक' कह-लाता है।

इसके विपरीत अनेक उपमेयों पर एक ही उपमान का आरोप करने पर उसमें रोचकता प्रतीत नहीं होती—यह पण्डितराज ने कहा है। अतएव इस प्रकार के रूपक को किसी आलङ्कारिक ने बताया नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रकार के आरोप का उदाहरण भी दिया है—

"काव्यं सुधा रसज्ञानां कामिनां कामिनी सुधा ।
धनं सुधा सलोभानां शान्तिः संन्यासिनां सुधा ॥"

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'कारिका' में 'पूर्ववत्' पद का प्रयोग, पूर्वोक्त 'वृत्ति' के अनुरोध से किया है, 'कारिका' के अनुरोध से नहीं। क्योंकि मालोपमा का विचार पहिले 'वृत्ति' में आ चुका है, 'कारिका' में नहीं। इस शैली को देखने से स्पष्ट होता है कि काव्यप्रकाश को 'कारिकाओं' और उनकी 'वृत्ति' दोनों का कर्ता (रचयिता) एक ही है, अर्थात् मम्मट भट्ट ही है। यदि 'वृत्ति' के कर्ता को कारिका के कर्ता से भिन्न माना जाय तो कारिकाओं को पूर्ववर्ती और वृत्ति को पश्चात्वर्ती मानना होगा। तब पूर्ववर्ती कारिकाकार को बाद में लिखी गई वृत्ति का ज्ञान होना कैसे सम्भव होगा ? किन्तु 'माला तु पूर्ववत्' कहने से स्पष्ट होता है कि पहिले लिखी हुई स्वयं की वृत्ति का ज्ञान, कारिकाकार को है। इसलिये कारिका और वृत्ति दोनों का कर्ता एक ही है।

यथा—

> सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
> कान्तेः कार्मणकर्मनर्मरहसामुल्लासनावासभूः ।
> विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्राबीण्यसाक्षात्क्रिया
> बाणाः पञ्च शिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥४२४॥

कुछ लोग भ्रान्त होकर कहा करते हैं कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओं को भरत-मुनि ने रचा है और उस पर वृत्ति की रचना मम्मट ने की है।

किन्तु उक्त कथन भ्रान्त लोगों का होने से उपहासास्पद ही है, विश्वासार्ह नहीं है।

निरङ्ग मालारूपक का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे है, यथेति। जैसे—कोई विरही अपनी प्रेयसी के बारे में सोच रहा है--

सौन्दर्यस्येति। मेरी प्रियतमा (प्रेयसी), सौन्दर्य की तरङ्गिणी (नदी) है। 'तरङ्ग' पद के प्रयोग से उत्तरोत्तर अविच्छेद को सूचित किया है। अर्थात् उत्तरोत्तराऽविच्छिन्नलावण्य की नदी है। अपरिमित सौन्दर्य से भरी है। यहाँ सौन्दर्य अर्थात् 'लावण्य', जलस्थानापन्न है, अतः 'नदी' (तरङ्गिणी) कहा है। और 'तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः' = समुचित स्थान प्राप्त होने से तारुण्यातिशय के हर्ष का उद्गम अर्थात् आनन्द प्रकट हो रहा है। अर्थात् मेरी प्रेयसी, यौवनोद्गम का आनन्द है। कुछ लोगों ने 'हर्षोद्गमः' की व्याख्या 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' नियम के अनुसार इस प्रकार की है—'उद्गतोहर्षः'। यह प्रेयसी 'कान्ति' की वशीकरण क्रिया है, अर्थात् कार्मणकर्म है। कार्मणकर्म—कार्मणं वशीकरणमन्त्रः तस्य कर्म सम्यक् प्रयोगः। कान्ति (अवयवशोभा) सभी को वश में कर लेती है, किन्तु इस प्रेयसी ने तो उलटे 'कान्ति' को ही अपने वश में कर लिया है, इस प्रकार सुधासागरकार ने व्याख्या की है। यह प्रेयसी 'रतिविलास' की निवासभूमि है। नर्मरहसामुल्लासनावासभूः- नर्मरहसां क्रीडारहस्यानां रहस्यपरिहासानां वा उल्लासनायाः विजृम्भणस्य आवासभूः वसतिस्थानम्। यह प्रेयसी, वक्रोक्तियों की विद्या है। वक्रगिरां साकूतवचसां विद्या उपदेशिका अथवा वक्रगिरां व्यञ्जकवाचां विद्या अलंकारशास्त्ररूपा अस्ति। अर्थात् विद्या में—विद्या का विषय जैसे समग्रतया रहता है उसी प्रकार विदग्धसंभाषणचातुरी उस प्रेयसी में समग्रतया वास करती है। यह प्रेयसी तो विधाता की निस्सीम निर्माणकला की प्रत्यक्ष अनुभूति है (विधाता की निर्माणकला के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण है)। विधेः ब्रह्मणः अनवधि निःसीमं यत् प्रावीण्यं निर्माणकौशलं तस्य साक्षात्क्रिया, (करणव्युत्पत्त्या) प्रत्यक्षहेतुः। अर्थात् प्रत्यक्ष करानेवाली, पञ्चबाण (कामदेव) की

(३ परम्परित रूपक श्लिष्टपरम्परित-प्रकारः)

(१४५) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥ ९५ ॥

शरसमष्टि है, अर्थात् कामदेव के समस्त बाणरूप है। पञ्चशिलीमुखस्य पञ्चबाणस्य कामस्य बाणाः, तरुणानां हर्षण-रोचन-मोहन-शोषण-मारणजनकत्वेन स्मरशरसमष्टिरूपा। तदुक्तम्—"उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा। सम्मोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥" अन्यच्च—'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।

नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः' ॥

ललनाचूडामणिः—स्त्रीजाति की तो वह शिरोमणि ही है। अर्थात् मुकुटजटित मणि, मुकुटधारी व्यक्ति को जैसे विभूषित करता है, उसी प्रकार वह प्रेयसी, स्त्रीजाति के लिए भूषणावह है। ललनानां = स्त्रीणां चूडामणिः = शिरोमणिः सा प्रिया—एतादृशी सा मदनुभूता प्रिया प्रेयसी आसीदितिशेषः। 'लावण्यं' सौन्दर्यम् अनुभवैकगोचरम्—'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तराः। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमुदाहृतम्' ॥ 'कान्तिः' उज्ज्वलता, अवयवशोभा ॥ ४२४ ॥

इस उदाहृत पद्य में एक प्रेयसी रूप उपमेय पर (आरोपविषय पर) सात आरोप्यमाणों का (सात उपमानों का) आरोप किया गया है, और उन सातों में परस्पर अंगाभिभाव नहीं है, इसलिए यह 'निरङ्गमालारूपक' है।

(परम्परितरूपक)

(सूत्र १४५) 'नियतारोपणोपाय' इति। श्लिष्ट अथवा अश्लिष्ट भेदभाजि शब्दों के होने पर जो अन्य का आरोप 'वर्णनीय' होने से अवश्य अपेक्षणीय 'अन्य अर्थ' के आरोप का कारण होता है, उसे 'परम्परित रूपक' कहते हैं, और वह 'श्लेषमूलक' तथा 'अश्लेषमूलक' भेद से दो प्रकार का होता है।

(९५) 'नियतारोपणोपाय' इस कारिका का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—

'यः परस्य आरोपः नियतारोपणोपायः स्यात्, तत् परम्परितम्। (तच्च) वाचके श्लिष्टे (सति), भेदभाजि वा (सति, संभवति) नियतं वर्णनीयतया अवश्यापेक्षणीयं यत् आरोपणं तस्य उपायः (साधारणधर्मसम्पादकतया) निमित्तं यः परस्य अन्यस्य आरोपः तत् परम्परितम्, कार्यकारणभावरूपा, आरोपपरंपरा संजाता अस्य इति व्युत्पत्तेः। एवंच यत्र वर्णनीयारोपणं प्रति, अन्यारोपणमेव केवलं कारणतया विवक्षितम् तत् परम्परितम्। नियत = विशिष्ट, आरोपणं = आरोप; 'उपाय', साधन, कारण = हेतु। अतः 'नियतारोपणोपायः' का अर्थ हुआ कि 'विशिष्ट आरोप के प्रति कारणभूत

जो अन्य का आरोप किया जाता है, उसे परम्परित रूपक कहते हैं। अर्थात् इस परम्परितरूपक में एक रूपक के आधार पर दूसरे रूपक की कल्पना की जाती है।

निष्कर्ष—यह है—जिसमें किसी प्रमुख (वर्णनीय) रूपण (आरोप) के प्रति निमित्तभूत जो अन्य (आनुषङ्गिक) रूपण (आरोप) किये जाते हैं, उसे परम्परितरूपक कहते हैं। एवंच यत्र वर्णनीयारोपणं प्रति, अन्यारोपणमेव केवलं कारणतयाबिवक्षितं तत् परम्परितम्। वह दो प्रकार का होता है—(१) जिसमें निमित्तभूतरूपक के उपमेय और उपमानवाचक शब्द, श्लिष्ट हों, उसे 'श्लिष्ट शब्द निबन्धन परम्परितरूपक' कहते हैं, तथा (२) जिसमें इस प्रकार के पद (शब्द) श्लिष्ट न हों अर्थात् अश्लिष्ट (भिन्न शब्द निबन्धन) हो, उसे 'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परंपरितरूपक' कहते हैं।

'एवं च यत्र वर्णनीयोपणम्प्रति, अन्यारोपणमेव केवलं कारणतया विवक्षितं तत् परम्परितम्।' 'परम्परित' विशेषण देने का रहस्य यह है कि 'परम्परा सञ्जाता यस्य तत् परम्परितम्', अर्थात् जिस रूपक में आरोप की एक परम्परा प्रतीत होती है, अर्थात् जहाँ एक प्रमुख रूपक और उसके अन्य आनुषङ्गिक रूपकों में 'कार्यकारणभाव' प्रतीत होता है उसे परम्परित कहा गया है। अर्थात् जहाँ आरोपों की परम्परा कार्यकारणभाव रूप हो, उसे परम्परितरूपक समझना चाहिए।

पूर्वोक्त सांगरूपक और यह परम्परितरूपक दोनों को एक ही नहीं समझना चाहिए, अपितु ये दोनों परस्पर भिन्न (पृथक्) हैं। क्योंकि 'परम्परितरूपक' में वर्णनीय (मुख्य) आरोप के लिए अन्य (आनुषङ्गिक) आरोप को पूर्व किये गये आरोप के प्रति कारण रूप में करना पड़ता है।

किन्तु 'सांगरूपक' में जो 'अंगरूपक' हैं, वे 'अङ्गिरूपक' के परिपोषणार्थ हुआ करते हैं। अभिप्राय यह है कि 'परम्परित रूपक' के अवयव (घटक) भूत रूपकों में 'उपाय-उपेय संबंध' रहता है, यही 'सांगरूपक' से पृथक् होने का 'बीज' है।

'सांगरूपक' के घटकी (अवयव) भूत रूपकों में परस्पर 'अंगांगिभाव' संबंध रहता है। इसमें घटकीभूत रूपक, अपने विषय-विषयी के सादृश्यसंबंध पर आधारित होते हैं। जैसे—'ज्योत्स्नाभस्म' इस उदाहृत पद्य में 'रात्रिकापालिकी'—यह रूपक, 'ज्योत्स्ना-भस्म' इस रूपक का आधार लिए बिना भी स्वतन्त्रतया 'सादृश्यसम्बन्ध' के आधार पर भी सिद्ध हो सकता है।

किन्तु परम्परितरूपक में ऐसी स्थिति नहीं है। जैसे 'उदयशैलो मित्रमण्डलस्य' इस वक्ष्यमाण उदाहरण में देख सकते हैं। इस उदाहरण में 'मित्रमण्डल' पर मित्रमंडल का आरोप यदि नहीं करते हैं तो 'शूद्रक' पर उदयशैल का आरोप कर ही नहीं सकेंगे। क्योंकि 'शूद्रक' और 'उदयशैल' दोनों में स्वतन्त्रतया प्रतीत होनेवाला कुछ भी 'सादृश्य' नहीं है।

यथा—

(श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परितः)

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर ! ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम ! प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्च मुच्चैः क्रियाः ॥४२५॥

महाकवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी के आरंभ में ही 'उदयशैल: मित्रमंडलस्य (राजा शूद्रको नाम)' कहा है। यहाँ पर सहजभाव से 'परम्परित रूपक' बन गया है। यहाँ पर 'मित्रमंडल' पर अर्थात् सुहृदों के समूह पर उसी शब्द से वाच्य रहने वाले सूर्यमंडल का आरोप कर दिया है। (सुहृद्मंडल और सूर्यमंडल) दोनों में 'साधारण धर्म' (एकशब्दवाच्यता) है। इस आरोप के आधार पर ही शूद्रक राजा पर 'उदयशैल का आरोप' किया गया है। क्योंकि ये दोनों ही 'मित्रमण्डल' के उत्कर्ष में कारणीभूत होने से समान (सदृश) हैं। इन दो आरोपों में से उदयशैल का (शूद्रक पर किया गया) आरोप मित्रमंडल के आरोप के बिना संभव नहीं है, अतः दोनों आरोपों में 'उपाय-उपेय सम्बन्ध' है। 'मित्रमण्डल' का आरोप 'उपाय= साधन' है, और 'उदयशैल' का आरोप 'उपेय=साध्य' है, इस 'उपाय-उपेय सम्बन्ध' से निगडित दो रूपकों का समुदाय ही 'परम्परितरूपक' है। परम्परा में 'अगला सम्बन्धी', 'पिछले सम्बन्धी' के आश्रय से रहता है, उस कारण इस रूपक को 'परंपरित' कहा गया है। अर्थात् 'परंपरा संजाता अस्य इति परम्परितम्'—यह अन्वर्थक नाम दिया गया है।

किञ्च—परम्परितरूपक—दो ही घटकरूपकों से निष्पन्न हो जाता है। किन्तु सांगरूपक में 'घटकरूपक' दो से अधिक भी हो सकते हैं।

नियतारोपणोपाय:। नियतं यत् आरोपणं तस्य उपायः—इस प्रकार कर्मधारय समास मानना चाहिए। 'नियत आरोप' = उपायभूत आरोप, जैसे—'मित्रमण्डल' का मित्रमण्डल पर आरोप, और 'परस्य आरोप:' = उपेयभूत आरोप, जैसे—'उदयशैल' का शूद्रक पर आरोप।

(श्लिष्टशब्दनिबन्धनमालारूप परम्परितरूपक का उदाहरण)

यथेति। जैसे—किसी राजा से कवि कह रहा है—

विद्वन्मानसहंसेति। हे वरवीर ! श्रेष्ठजनों में वीर ! राजन् ! विद्वानों के मानस (मन तथा मानसरोवर) के हंस ! शत्रुओं की कमला के संकोचरूप, कमलों के असंकोच (विकास) के लिए सूर्यरूप, दुर्गों (किलों) के अमार्गणरूप, दुर्गा (पार्वती) के मार्गण

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः सङ्कोच एव कमलानामसङ्कोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः, एवमारोपणनिमित्तो हंसादेरारोपः ।

(प्राप्ति) के लिए शिवरूप, युद्ध (समित्) का स्वीकार करनेवाले, समिधाओं (काष्ठ = लकड़ी) के स्वीकारने में अग्निरूप, सत्यभाषण में प्रीतिरूप और सतीपार्वती की अप्रीति के करने में दक्ष (प्रजापति) रूप, विजय (शत्रुओं) के पराभवरूपी विजय (अर्जुन) के पहिले पैदा होनेवाले हे भीम ! हे प्रभो ! हे वर-वीर ! (श्रेष्ठों में वीर) आप ब्रह्मा के सौ वर्षों तक साम्राज्य को करें ॥ ४२५ ॥

इस पद्य में अनेक श्लिष्ट पद हैं, उस कारण यह श्लिष्ट मालारूप परम्परितरूपक का उदाहरण है। इसमें विद्वानों के 'मनोरूप उपमेय' पर 'मानससरोवररूप मानस' का आरोप होने से ही 'राजा' पर 'हंस' का आरोप किया जा सकता है। 'मानस' शब्द श्लिष्ट है। एक पक्ष में उसका अर्थ 'मन' और दूसरे पक्ष में 'मानस-सरोवर' है।

इसी प्रकार शत्रुओं की 'कमला' (लक्ष्मी) के 'संकोच' (विलाप) के निमित्त 'कमलों' का 'असंकोच' (विकास) करने के लिए सूर्य (दीप्तद्युति) रूप हैं। यहाँ पर शत्रुओं की 'कमला' के 'संकोच' पर 'कमलों' के 'असंकोच' का (विकास का) आरोप होने से ही 'राजा' पर 'सूर्य' का आरोप हो सकता है, उस कारण 'परम्परितरूपक' और 'कमलासंकोच' पद के 'श्लिष्ट रहने से 'श्लिष्ट परम्परितरूपक' का उदाहरण है।

इसी प्रकार 'दुर्ग' के 'अमार्गण' (युद्ध के लिए किले की शरण न लेना) पर, दुर्गा (पार्वती) के मार्गण (प्राप्ति) का आरोप होने से ही 'राजा' के ऊपर 'नीलालोहित' (शिव) का आरोप हो सकता है। अतः यहाँ परम्परितरूपक और 'दुर्गामार्गण' शब्द से श्लिष्ट रहने से 'श्लिष्ट परम्परितरूपक' हुआ है।

इसी प्रकार अन्य विशेषणों में भी 'श्लिष्ट परम्परितरूपक' को प्रदर्शित करते हुए काव्यप्रकाशकार बता रहे हैं—

अत्रेति। इस उदाहृत पद्य में 'मन' (मानस) ही 'मानसरोवर' है, अर्थात् 'मन' पर 'मानसरोवर' का आरोप किया गया है, तथा वैरियों की (शत्रुओं की) 'कमला' का 'संकोच' ही कमलों का 'असंकोच' अर्थात् वैरियों की कमला के संकोच पर कमलों के असंकोच का आरोप किया गया है, तथा दुर्गों (किलों) का अमार्गण (शरण न लेना) ही दुर्गा का मार्गण अर्थात् दुर्गों के मार्गण पर अर्थात् दुर्गों (किलों) के उपयोग न करने के ऊपर दुर्गा (पार्वती) के अनुसंधान (मार्गण) अथवा प्राप्ति का

आरोप किया गया है, 'समित् (युद्ध) का स्वीकार करना ही समिधाओं (काष्ठों) का स्वीकार है, अर्थात् युद्ध के स्वीकार पर समिधाओं के स्वीकार का आरोप किया गया है, तथा सत्य को प्रीति ही सती पार्वती की अप्राप्ति है, अर्थात् सत्य को प्रीति पर सती पार्वती की अप्रीति का आरोप किया गया है, तथा विजय अर्थात् शत्रुओं का पराभव ही विजय अर्थात् अर्जुन है, अर्थात् शत्रुपराभव के ऊपर, अर्जुन का आरोप किया गया है—इन आरोपों के कारण ही 'राजा' के ऊपर 'हंस' आदि का आरोप हुआ है। अतएव यह परम्परितरूपक हुआ है और उसमें 'मानस' आदि पद श्लिष्ट हैं, इस कारण यह श्लिष्टपरम्परितरूपक का उदाहरण कहलाता है।

विवरण—उक्त पद्य में 'वरवीर' इस सम्बोधन पद से निर्दिष्ट 'राजा' 'विषय' = उपमेय है, उस एक ही विषय (उपमेय) पर 'हंस', 'सूर्य', 'शिव', 'अग्नि' 'दक्ष', 'भीम'—इन छह विषयी पदार्थों का (उपमानों का) आरोप किया गया है। यह आरोप, विद्वन्मानस', 'कमलासंकोच', 'दुर्गमार्गण', 'समित्', 'सत्यप्रीति', 'विजयप्राग्भाव'—इन छह आरोपों पर आधारित है। यहाँ पर किये गये जो 'आरोप', आधारभूत (उपायभूत या निमित्तभूत) हैं, उनमें आरोप का 'विषय और विषयी दोनों' का निर्देश, एक ही वर्णसमुदाय से एक बार ही किया गया है। 'एक ही वर्णसमुदाय' से कहने का आशय यह है कि यहाँ पर 'विषय-विषयी' की निर्देशक वर्णावलि यद्यपि वही है (एक ही है), तथापि कुछ आरोपों में 'विषयों का (क्वचित् उनके धर्मों के साथ) परामर्श करते समय उस वर्णावलि में किया जानेवाला 'पदच्छेद', 'विषयी पदार्थों' का (क्वचित् उनके धर्मों के साथ) परामर्श करते समय किये जाने वाले 'पदच्छेद' से भिन्न रहता है। जैसे—पहिले 'आरोप' में 'मानस' शब्द, 'मन' (विषय) का और 'मानससरोवर' (विषयी) का परामर्शक है, किन्तु दूसरे आरोप में 'कमलासंकोच' की 'वर्णावलि', 'विषय' (कमला+संकोच) का और 'विषयी' (कमल+असंकोच) का परामर्श, 'भिन्न पदच्छेद' के द्वारा कर रही है।

स्वयं काव्यप्रकाशकार ने ही प्रस्तुत उदाहरणगत सभी उपायभूत आरोपों के विषय-विषयीपदार्थों का विवेक, उक्त उदाहरण की वृत्ति में कर दिया है। एवंच ऐसी परिस्थिति में 'विषय-विषयी'-गत सामर्थ्य, केवल शब्दात्मक अर्थात् 'समानवर्णावली-बोध्यत्व' रहता है, 'अर्थात्मक' नहीं। उपेयभूत आरोपों के विषय-विषयी पदार्थों में जो साधर्म्य रहता है, वह भी 'शाब्द' अर्थात् 'समानवर्णावलीबोध्यधर्मवत्त्व' होता है। जैसे—'वरवीर' और 'हंस' —इन दोनों का समानधर्म—'मानसवास', 'वरवीर' और 'सूर्य'—इन दोनों का समान धर्म—'कमलासंकोचकरत्व' इत्यादि।

यद्यपि शब्दार्थालङ्कारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च तथापि प्रसिद्धानुरोधादत्रोक्तः एकदेशविवर्त्ति हीदमन्यैरभिधीयते । भेदभाजि यथा—

इस उदाहरण में 'हंस' इत्यादि छह आरोपों का विषय 'वरवीर' एक ही रहने से यह उदाहरण मालात्मक है । 'श्लिष्ट परम्परितरूपक का शुद्ध (अमालात्मक) उदाहरण, आगे श्लोक संख्या ४२७ में बताया जायगा ।

शंका—यद्यपीति । 'मानस' आदि श्लिष्ट पदों में 'परिवृत्तिसहिष्णुता' नहीं है, अर्थात् वे मानसादि श्लिष्ट पद 'परिवर्तन' को सहन नहीं कर सकते, और 'हंसादिपद' परिवृत्ति (परिवर्तन) को सहन कर सकते हैं, उस कारण इस 'श्लिष्ट परम्परित' को उभयालंकार (शब्दार्थोभयालंकार) होने के कारण 'पुनरुक्तवदाभासादि' के ही प्रस्ताव में कहना उचित है, तब 'उपमादि' अर्थालंकारों के प्रस्ताव में क्यों कह रहे हैं ?

समा०—यद्यपि यह श्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परितरूपक, 'शब्द' एवं 'अर्थगत' होने से उभयालंकार है—यह बात नवम उल्लास में श्लेष के निरूपण में 'इह दोष-गुणालङ्काराणां' का उल्लेख करते हुए बताई है, और आगे चलकर 'संकरालंकार' के निरूपण में भी 'उक्तमत्र यथा काव्ये' से आरम्भ कर 'एवं च पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारौ' के द्वारा भी बतावेंगे तथापि प्राचीन 'भामहादि' की प्रसिद्धि के अनुरोध से यहाँ पर कह दिया है अर्थात् भामहादि आचार्यों की दृष्टि में यह 'अर्थालङ्कार' ही प्रसिद्ध है । सम्भवतः इसीलिये इस अलङ्कार को अन्य लोग 'एकदेशविवर्ती' कहा करते हैं जिसका अर्थालङ्कारत्व सर्वसम्मत है, क्योंकि 'मनःप्रभृति' में आरोप्यमाण सरोविशेषादि 'आर्थ' हैं और कुछ उपमान, यहाँ पर शब्दप्रतिपाद्य भी हैं । जैसे 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि में 'हंस' आदि । अतः स्पष्टतया 'अर्थालङ्कार' प्रतीत हो रहा है, किन्तु काव्यप्रकाशकार उक्त लक्षण के अनुसार इसको 'एकदेशविवर्ती' नहीं मानते ।

प्रस्तुत पद्य 'विद्वन्मानसहंस को रुय्यक ने श्लिष्टपरम्परित रूपक के उदाहरण रूप में दिया है, उसी को मम्मट ने भी उद्धृत कर दिया है । मम्मट भी इसे उभया-लङ्कार ही मानते हैं, किन्तु रुय्यक ने अपने अलङ्कारसर्वस्व में—'श्लेषगर्भे तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षायां रूपक एव विश्रान्तिरिति रूपकेण श्लेषो बाध्यते' कहा है, उस दृष्टि से ही मम्मट ने इस अलङ्कार को अर्थालङ्कार के प्रकरण में लिख दिया है ।

भेदभाजीति । मुख्य रूपण के निमित्तभूत रूपण में आरोप्यमाण (उपमान) और आरोप-विषय (उपमेय) के भेदभाजि अर्थात् वाचक पदों के भिन्नरूप (अश्लिष्ट) रहने पर 'माला परम्परित रूपक' होता है। यथेति । जैसे—

(अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमाला-परम्परितरूपकम्)

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
सङ्ग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः॥ ४२६॥

अत्र जयादेर्भिन्नशब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानत्वाद्यारोपो युज्यते।

यहाँ पर किसी राजा के बाहु की स्तुति की गई है—

आलानमिति। हे राजन्! वैरियों की वनिताओं को वैधव्य प्रदान करने वाला अर्थात् शत्रुओं का विनाश करने वाला भुज (बाहु) दण्ड है, जयरूपी हाथी को बाँधने के लिए बन्धन-स्तम्भ (आलान) है, तथा विपत्तिरूपी सागर का सन्तरण करने में पाषाणों का दृढ सेतु है, और खड्ग (करवाल = तलवार) रूपी रवि (सूर्य) के उदय के लिए उदयाचल है, राजलक्ष्मी (श्री) सुखपूर्वक शयन के लिए लीलोपधान (तकिया) है, तथा संग्रामरूपी अमृतसागर की मन्थनक्रीडा करने में जो मन्दराचल रूप है, इस प्रकार का आपका यह भुजदण्ड (बाहुदण्ड) सुशोभित हो रहा है॥ ४२६॥

अत्र जयादेरिति। यहाँ पर अश्लिष्ट (भिन्न-भिन्न = अलग-अलग) शब्दों से वाच्य (प्रतिपाद्य) 'जय' आदि अर्थों पर, अश्लिष्ट शब्दों द्वारा ही प्रतिपाद्य 'कुञ्जर' आदि अर्थों के जो आरोप किये गये हैं; वे, 'भुजदण्ड' रूप उपमेय पर 'आलान' (गज-बन्धनस्तम्भ) आदि पाँच उपमानों का आरोप करने के लिए सर्वथैव युक्तियुक्त निमित्त हैं, उस कारण यहाँ पर 'मालापरम्परितरूपक' कहा गया है। इन सब उपमेय-भूत रूपकों के आधारभूत 'जयकुञ्जर, विपद्वारिधि' आदि पाँच रूपक हैं। अर्थात् 'जय' पर 'गज' का आरोप करने से उस गज को अपने अधीन रखने वाले 'भुज' पर 'आलान' का आरोप किया जा सका है। 'श्रियः लीलोपधानम्' में उपायभूत रूपक 'श्लिष्ट' है, क्योंकि 'श्री' पर (सम्पत्ति पर) 'श्री' का (लक्ष्मी देवी का) आरोप एक ही श्लिष्ट शब्द से किया है।

उक्त दोनों उदाहरण (विद्वन्मानस० और आलानं जयकुञ्जरस्य०) परम्परित रूपकों के 'मालात्मक' हैं। अब अग्रिम दो उदाहरण, श्लिष्ट और अश्लिष्ट परम्परित रूपक 'अमालात्मक' भी होता है, यह बताने के लिए दिये जा रहे हैं।

(अमाला-केवलपरम्परितरूपकम्)

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव ! सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥ ४२७ ॥

(अश्लिष्टशब्दनिबन्धनममालापम्परितरूपकम्)

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिर्वात्तितकौतुकप्रपञ्चम् ।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥ ४२८ ॥

(श्लिष्ट अमाला (केवल) परम्परित रूपक)

अलौकिकेति । लोकोत्तर (असाधारण) महादीप्ति से (महान् आलोक से) अथवा महद् यश से तीनों लोकों को प्रकाशित (सन्तुष्ट) करने वाले हे देव ! उत्तम वंश (कुल तथा बाँस) के मौक्तिक रत्नरूप अर्थात् 'सद्वंश मुक्तारत्न' महान् राजवंश के मौक्तिक मणिरूप आपकी प्रशंसा कौन नहीं करता है ? ॥ ४२७ ॥

इस पद्य में श्लिष्ट शब्दनिबन्धन अमाला (केवल) परम्परित रूपक है, क्योंकि आरोपविषय (उपमेय राजवंश) तथा आरोप्यमाण (उपमानभूत प्रशस्त वेणु) दोनों एक ही श्लिष्ट 'सद्वंश' शब्द से बताये गये हैं । उसके द्वारा वंश अर्थात् कुल के ऊपर 'वंश' अर्थात् बाँस का आरोप किया गया है । यह आरोप, 'राजा' के ऊपर 'मुक्तारत्न' के आरोप का निमित्त भी है । अतः यह श्लिष्ट परम्परितरूपक का उदाहरण है । इसमें अनेक आरोप नहीं किये गये हैं, इसलिए यह अमालारूप केवल श्लिष्ट परम्परितरूपक का उदाहरण है । निष्कर्ष यह है कि 'राजा' में 'मुक्तात्व' का आरोप करने के लिए 'कुल' में 'वेणुत्व' का आरोप निमित्त है । इसलिए यह श्लिष्टपरम्परित रूपक है । 'अलौकिक' आदि शब्द 'राजा' पर 'मुक्तात्व' का आरोप करने में निमित्त नहीं हैं, क्योंकि मोती की कान्ति से तीनों लोकों का प्रकाशित होना सम्भव नहीं है, किन्तु 'मुक्ता' की अपेक्षा 'राजा' में उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है ॥ ४२७ ॥

अब अश्लिष्ट अमालारूप केवल परम्परितरूपक का उदाहरण दे रहे हैं—

निरवधि चेति । जिस (भगवान् विष्णु) की अवधिरहित (निरवधि) अर्थात् देश-काल आदि से अपरिच्छिन्न, और आश्रयरहित (निराश्रय) अर्थात् कूर्मावतार के रूप में सम्पूर्ण जगत् को धारण करने के लिए सबसे नीचे स्थित होकर भी किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न होने से असीम आश्चर्यमय स्थिति है, अर्थात् कौतुक प्रपञ्चमय आश्चर्य के आधिक्य को अनिर्वर्तित अर्थात् समाप्त न करने वाले अवस्थान के रूप में आपकी स्थिति है । इस संसार में सबसे प्रथम और चतुर्दश भुवनरूप दीर्घ-

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम् ।

(रशनारूपकम्)

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥ ४२९ ॥

इत्यादिरसनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम् ।

शृङ्खलात्मक लता के मूल (कन्द) के रूप में आप सर्वोत्कर्ष से युक्त हैं, आपकी जय हो ॥ ४२८ ॥

इस पद्य में अश्लिष्टशब्द-निबन्धन अमाला-परम्परित रूपक है। 'अश्लिष्ट' इसलिए है कि 'चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः' में आरोपविषय 'लोक' पद है, तथा आरोप्यमाण 'वल्लि' पद श्लिष्ट नहीं है। 'अमाला' इसलिए है कि विष्णुरूप उपमेय-सूत्र में 'कन्द' के अतिरिक्त अन्य उपमान-पुष्प गुम्फित नहीं किये गये हैं और 'परम्परित' इसलिए है कि 'विष्णु' में 'कन्द' के आरोप के निमित्तरूप से 'लोक' में 'बल्ली' का आरोप स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहा है।

इति चेति। इस प्रकार यह अश्लिष्ट अमालारूप परम्परितरूपक (केवल-परम्परित) का उदाहरण समझना चाहिए।

रशनारूपक की अनावश्यकता—

यद्यपि मालारूपक के समान 'रशनारूपक' भी हो सकता है, किन्तु उसमें विशेष चमत्कार न होने से और उक्त रूपक-भेदों में उसका अन्तर्भाव सम्भव हो सकने के कारण उसे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है, इसे बताने के लिए ही रशनारूपक के सम्भावित उदाहरण को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

किसलयकरैरिति। लताओं के किसलय (कोपल) रूप हाथों से, योषितां अर्थात् कामिनियों के कर-कमलों से, कमलिनियों के कमलरूप मुखों से और योषितां अर्थात् कामनियों के मुखचन्द्रों से कामदेव, कामियों (कामीजनों) के मन को अपने वश में कर लेता है ॥ ४२९ ॥

इत्यादीति। इत्यादि रशनारूपक चमत्कारजनक नहीं है, इसलिए उसका लक्षण नहीं किया गया है।

जैसे पूर्व उपमान, आगे चलकर उपमेय हो जाता है, तब 'रशनोपमा' होती है, उसी प्रकार पूर्व का 'आरोप्यमाण' आगे चलकर 'आरोपविषय' हो जाता है, तब 'रशनारूपक' हुआ करता है।

इस पद्य के 'किसलयकरैः' में 'किसलय' आरोपविषय है, उसपर 'कर' का आरोप

(७ अपह्नुतिरलङ्कारः)

(१४६) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः । उदाहरणम्—

किया गया है ? इसलिए 'कर' आरोप्यमाण' है । वही 'कर' आगे 'करकमलैः' इस रूपक में 'आरोपविषय' बना दिया गया है, उसपर 'कमल' का आरोप किया गया है । इसलिए यह रशनारूपक का उदाहरण बन गया है ।

इसी प्रकार 'कमलमुखैः' पद में 'मुख' आरोप्यमाण है, वही आगे 'मुखेन्दुभिः' इस रूपक में 'आरोपविषय' बना दिया गया है, इस कारण यह भी 'रशनारूपक' का उदाहरण है, किन्तु इसमें कोई अतिरिक्त चमत्कार न होने से उसका लक्षण बनाना अनावश्यक समझा गया ।

मम्मट ने 'मालोपमा' को 'उपमा' का अलग से भेद नहीं माना है, किन्तु 'मालारूपक' को 'रूपक' का अवान्तर भेद मान लिया है । लेकिन 'रशनारूपक' को 'रूपक' का भेद नहीं माना है । इससे प्रतीत होता है कि मम्मटभट्ट ने रुद्रट का खण्डन कर दिया है, क्योंकि रुद्रट ने 'रशनारूपक' को माना है ।

(७) अपह्नुति अलंकार

(सूत्र १४६) प्रकृतमिति । जहाँ प्रकृत (उपमेय) की असत्यता बताकर अन्य (उपमान) की सिद्धि की जाती है, वहाँ 'अपह्नुति' संज्ञक अलंकार माना जाता है ।

उपमेयमिति । 'उपमेय' की 'असत्यता' स्थापित करके 'उपमान' को ही 'सत्य' सिद्ध करने पर 'अपह्नुति' अलंकार कहा जाता है ।

विवरण—'निषिध्य' का अर्थ यदि 'निषेध करके' किया जायगा तो "शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः" में 'निषेधार्थक शब्द' न रहने के कारण 'अपह्नुति' अलंकार नहीं बन पायगा । अतः निषिध्य का अर्थ—'असत्य' करना चाहिए । इसलिए उपर्युक्त सूत्र का अर्थ किया कि—'उपमेय' को असत्यरूप में व्यवस्थापित करके और उपमेय से भिन्न (अतिरिक्त) जो 'उपमान' है, उसे सत्यरूप में व्यवस्थापित (आहार्य निश्चय का विषय) जब किया जाता है, तब 'अपह्नुति' अलंकार कहलाता है । 'असत्यं कृत्वा' = असत्यतया व्यवस्थाप्येत्यर्थः, असत्यतां प्रतिपाद्येतियावत् ।

'निषिध्य' पद में 'क्त्वा' प्रत्यय है, उसका अर्थ—'पूर्वकालिकत्व' है, जो यहाँ पर 'विवक्षित' नहीं है, अर्थात् उस अर्थ में कवि का तात्पर्य नहीं है । उस कारण "पूर्वं पश्चाद् वा उपमेयस्वरूपनिषेधसहितमुपमेयस्योपमानरूपताव्यवस्थापनमपह्नुतिः" अर्थात्

'उपमेय' का निषेध करके 'आहार्यनिश्चय' (आरोप) करिये, अथवा 'आरोप' करके पश्चात् निषेध करिये—'दोनों पक्ष' स्वीकृत कर सकते हैं। इस प्रकार विकल्प स्वीकार करने के कारण ही—

"मन्थानभूमिधरमूलशिलासहस्र-संघट्टजव्रणकिणः स्फुरतीन्दुमध्ये।
छायामृगः शशक इत्यतिपामरोक्तिः तेषां कथञ्चिदपि तत्र हि न प्रसक्तिः॥"

इस पद्य में 'आरोपपूर्वक निषेध' होने पर भी अव्याप्ति नहीं हो पायी। यहाँ पर पामरजनों के वचन का उपन्यास करने से 'निषेध' तो अर्थात्-सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—

"आरुरोह चितामेष मालतीविरहादलिः।
न किंशुकस्य कुसुमे वर्तते जीवितेश्वरि॥"

यहाँ पर प्रथम 'आरोप' किया है, पश्चात् 'निषेध' किया गया है। इस पद्य में 'अपह्नुति' अलङ्कार है, क्योंकि 'नेदं कुसुमं, किन्तु चिता'—यह प्रतीति हो रही है। 'प्रकृतं यन्निषिध्य' कह कर 'रूपक' अलङ्कार का व्युदास किया गया है, क्योंकि 'रूपक' में 'प्रकृत' का 'निषेध' नहीं हुआ करता। 'प्रकृतं निषिध्य' इतना ही यदि कहें, तो 'आक्षेप' अलङ्कार में अतिव्याप्ति हो जायगी, उसके निवारणार्थ 'अन्यत् साध्यते' कहा गया है। ससन्देह' और 'अपह्नुति' में भेद इसलिए है, कि 'ससन्देह' में संशय रहता है, और 'अपह्नुति' में निश्चय रहता है। एवं च 'अपह्नुति' का लक्षण यह निष्पन्न हुआ कि "किञ्चिदपह्नुत्य (निषिध्य = असत्यं कृत्वा) कस्यचित् प्रदर्शनमपह्नुतिः'। 'साध्यते' का अर्थ 'आहार्यनिश्चयविषयीक्रियते'—करने से "न पद्मं मुखमेवेदं भृङ्गौ चक्षुषी इमे" यहाँ 'अनाहार्य' में अतिव्याप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार किसी विरही मनुष्य के द्वारा कहे गये 'नाऽयं चन्द्रोऽपितु मार्तण्डः'—वाक्य में भी 'अपह्नुति' नहीं हो पायी, क्योंकि विरही मनुष्य को जो 'ज्ञान' हो रहा है, वह 'दोषविशेषजन्य' है, इसलिए 'अनाहार्य' है।

"नाऽयं चन्द्रोऽरविन्दं वा मुखं वेदं मृगीदृशः"—यहाँ 'अपह्नुति' नहीं है। क्योंकि यहाँ 'निश्चयविषयत्व' नहीं है। यह 'अपह्नुति' दो प्रकार की है—(१) 'शाब्दी' अपह्नुति, जिसे 'निषेधवाचक शब्द' से कहा जाता है। अर्थात् 'शब्द' के द्वारा जहाँ असत्यत्व बताया जाता है। (२) 'आर्थी' अपह्नुति, अर्थात् जो आक्षेपलभ्या होती है। इसका उपनिबन्धन अनेक शैलियों से किया जाता है। अर्थात् आर्थी अपह्नुति में प्रकृत का निषेध करने के लिए कहीं पर 'छल-कपटादि' अर्थ वाले, कहीं पर 'परिणति' अर्थ वाले, कहीं पर अन्य प्रकार के शब्दों से (अन्य उपायों से) किया जाता है। इसका स्पष्ट अनुभव उदाहरणों को देखने से होगा।

'शाब्दी अपह्नुति' का उदाहरण, जैसे—

पूर्णचन्द्र में कलङ्क को देखकर पार्वती से शिवजी कह रहे हैं।

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥ ४३० ॥

इत्थं वा—

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथाहि ।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥ ४३१ ॥

अवाप्त इति । हे शैलतनये = पार्वति !, परिणतरुचः = परिपूर्ण, शशांकस्य वपुषि = चन्द्रमा के शरीर अर्थात् वक्षःस्थल में, प्रागल्भ्यम् अवाप्तः = प्रगल्भता को प्राप्त हुआ (अत्यन्त प्रौढ), नैवाऽयं कलङ्कः = यह कलंक नहीं, विलसति = शोभा दे रहा है, अर्थात् यह कलङ्क नहीं है, किन्तु इयं रजनीरमणी = यह चन्द्रकामिनी रात्रिरमणी, अमुष्य = इस चन्द्रमा के, विगलदमृतस्यन्दशिशिरे = द्रवीभूत अमृत के प्रवाह से शीतल हुए, उरसि = वक्षःस्थल पर, रतिश्रान्ता = विपरीत सुरतक्रीडा से परिश्रान्त होकर, गाढम् शेते = निश्चेष्ट सो रही है, ऐसा मुझे मन्ये = प्रतीत हो रहा है ॥ ४३० ॥

इस पद्य में उपमेयभूत 'कलङ्क' का निषेध करके (असत्य बताकर) उपमानभूत 'रात्रि' की सत्यता को स्थापित किया गया है । अतः यहाँ 'अपह्नुति अलङ्कार' है । 'कलङ्को नैवायं' कहकर शब्दतः 'उपमेय' का निषेध किया है, उस कारण यह 'शाब्दी अपह्नुति' है । अतएव प्रदीपकार ने कहा है—"अत्र कलङ्को नैवायमिति शाब्दोऽपह्नवः" इति । सारबोधिनी में भी कहा है—"अत्र नैवायमित्यनेन कलङ्कस्याऽसत्यतायाः शब्देन बोधनम्" इति ।

जहाँ 'प्रकृत' का निषेध 'शब्दतः' न होकर अर्थतः आक्षिप्त होता है, वहाँ 'आर्थी' अपह्नुति होती है । इस आर्थी अपह्नुति में कभी कपटार्थक शब्द का प्रयोग करके कभी परिणामार्थक शब्दों का प्रयोग करके 'प्रकृत' का निषेध किया जाता है । इन दोनों प्रकार की आर्थी अपह्नुति के दो उदाहरण आगे दे रहे हैं ।

कपटार्थक शब्द का प्रयोग करके 'आर्थी अपह्नुति' का उदाहरण—

इत्थं वेति । जैसे कोई विरहिणी अपनी सखी से कह रही है—बतेति । 'बत' इति खेदे । खेद के अर्थ में 'बत' अव्यय का प्रयोग किया है । हे सखि ! हाय-हाय; देखो तो, पतिसान्निध्य के अभाव में क्षीण अर्थात् अस्थि-चर्मावशेष हुई मुझ जैसी कामुक

अत्र हि न सभृङ्गाणि सहकाराणि अपितु सकालकूटाः शरा इति प्रतीतिः। एवं वा—

अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखाधूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः॥ ४३२॥

अबला के साथ यह कामदेव कितनी शत्रुता रखता है; बगीचे में आम के वृक्षों पर बैठे हुए (शोभा देनेवाले) भौंरों (भ्रमरों) के बहाने (छल = छद्म = कपट) से इस कामदेव ने अपने सहकारपुष्परूप प्रत्येक बाण पर 'कालकूटविष' (दुर्निवार उत्कटविष) लगा दिया है॥ ४३१॥

'सहकारः' = आम्रवृक्षः, तस्य पुष्पाणि सहकाराणि 'सहकार' + 'अण्'— 'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' (पा० सू० ४।३।१३५) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय हुआ है, पश्चात् 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' वार्तिक से उसका 'लुक्' किया है।

अत्र हीति। इस पद्य में यह बताया है कि—ये आम्र की मंजरियाँ 'भ्रमरों' से युक्त नहीं हैं, अपितु ये कालकूट बिष से सनो हुईं कामबाण-जैसी प्रतीत हो रहीं हैं। एवं च सभ्रमर सहकारों का निषेध करके कालकूट लगे बाणों को बताने से यह आर्थी अपह्नुति है।

कपटार्थक 'छल' शब्द से 'भ्रमरों' को असत्य बताकर 'कालकूट' में 'सत्यता' को स्थापित किया है। 'सत्य' में बहाना नहीं होता, अतः 'नञ्' आदि के अभाव में भी 'निषेध' की प्रतीति 'आक्षेप' से हो रही है। अतः यहाँ 'आर्थी अपह्नुति' है।

एवं वेति। क्वचित् परिणामर्थक शब्द का ग्रहण करने से (परिणामादिशब्दवशात्) आर्थी अपह्नुति होती है। जैसे—

कोई वेश्यादासी किसी धनिक लम्पट कामुक से वेश्या का वर्णन कर रही है—

अमुष्मिन्निति। हे रसिक ! नायिका के नाभिरूपी गुहा के ऊपर जो रोमावली दिखाई दे रही है, वह भगवान् शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि से कामदेव जलने लगा तब वह, मृगनयनी नायिका के स्थूल जघनभाग अर्थात् कटि के अगले भाग में स्थित अमृतरूपी लावण्य के सरोवर (तालाब) में अर्थात् वरांगरूप सरोवर में तापशान्ति के लिए गिर गया, उसी के अंगरूपी अंगारों के बुझने को सूचक यह धूमशिखा इस नायिका के नाभिकुहर में रोमावली के आकार में परिणत (प्रादुर्भूत = प्रकट) हो गई है॥ ४३२॥

अत्र न रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः एवमियं भङ्ग्यन्तरैरप्यूह्या ।

अत्रेति । "अत्र धूमशिखा रोमावलिवपुः रोमावल्याकारा परिणमति प्रादुर्भवति"—अर्थात् यह 'रोमावली' नहीं है, अपितु 'धूमशिखा' है—यह प्रतीति होती है । इस उक्ति में प्रकृत 'रोमावलि' का अर्थतः निषेध सूचित किया गया है । इसलिए परिणामार्थक शब्द का उपादान करने से यह 'आर्थी अपह्नुति' का उदाहरण है ।

एवमिति । क्वचित् प्रकारान्तर से भी अपह्नुति होती है,यह समझ लेना चाहिए। जैसे, सप्तम उल्लास में—

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने !
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद् दुःसाध्याक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥ २६५ ॥

यहाँ पर 'इदं ते केनोक्तम्'—कहकर प्रकृत का निषेध किया है, इसलिए 'आर्थी अपह्नुति' हो गई है ।

कहीं व्यञ्जना से भी निषेध बताया जाता है । जैसे—

अङ्के केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परे मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन् परे ।
इन्दौ यद् गलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत् सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥

यहाँ पर 'निषेध', 'वाच्य' न होकर अर्थबलात् प्रतीत हो रहा है । इस प्रकार 'प्रकृत' का निषेध करने की अन्य शैली भी हो सकती है ।

साहित्यदर्पणकारादि कुछ विद्वानों ने अपह्नुति का एक अन्य स्वरूप भी माना है—

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ।
यदि श्लेषेणान्यथा वाऽन्यथयेत् साऽप्यपह्नुतिः ॥

यदि किसी गोपनीय अर्थ को कहकर बाद में श्लेष के द्वारा अथवा किसी अन्य प्रकार से उसको छिपाने का प्रयत्न किया जाने पर भी 'अपह्नुति' होती है । जैसे—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥

'वर्षाकाल' में 'अपतितया' (बिना पति के) नहीं रह सकती हूँ—यह कहकर

(८ श्लेषः अलङ्कारः)

(१४७) श्लेषः स वाक्य एकस्मिन् यथानेकार्थता भवेत् ॥९६॥

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः ।

किसी नायिका ने अपनी सखी के सामने 'पतिमिलन' की उत्सुकता प्रकट की, किन्तु जब उसकी सखी ने उपहास करते हुए उससे पूछा कि 'तुम पति से मिलने के लिए क्या अब आकुल-व्याकुल हो रही हो !' तब नायिका ने 'अपतितया' शब्द में 'श्लेष' का सहारा लेकर 'बिना गिरे' (बिना फिसले) यह 'अर्थ' बताकर अपने उस 'उत्सुकता-व्यञ्जक भाव' को छिपाने का प्रयत्न किया है। अतः यह भी 'अपह्नुति' अलंकार का उदाहरण है। जयदेव आदि कुछ आलङ्कारिकों ने अपह्नुति के अनेक प्रकारों में 'छेकापह्नुति' की भी गणना की है। छेकापह्नुति का लक्षण सहित उदाहरण भी उन्होंने बताया है—

छेकापह्नुतिरन्यस्य शङ्कातस्तथ्यनिह्नवे ।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः कान्तः किम् ? न हि नूपुरः ॥
(चं० लो० ५।२७)

किसी व्यक्ति को श्लिष्ट वर्णन से 'प्रकृत' का बोध होने पर अन्य व्यक्ति उसका निषेध कर अप्रकृत का निर्देश करता है, तो छेकापह्नुति (विदग्धापह्नुति) कहलाती है। जैसे–'अनुनय-विनय करते हुए (अन्य पक्ष में—झुन-झुन, छुन-छुन करते हुए) वह मेरे पैरों में चिपट गया'—नायिका के इन शब्दों को सुनकर सखी पूछती है—'क्या तेरा प्रियकर ?' उस पर युक्तिपूर्वक अपने 'मनोभाव' को छिपाकर नायिका बताती है—'अरी नहीं; 'नूपुर'।

इसी तरह अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे—

सीत्कारं शिक्षयति व्रणयत्यधरं तनोति रोमाञ्चम् ।
नागरिकः किं मिलितः ? न हि न हि सखि हैमनः पवनः ॥ (कुव० पृ० २९)

किन्तु कुछ आलङ्कारिक विद्वान्, ऐसे पद्यों को 'व्याजोक्ति' के उदाहरण मानते हैं।

(८) अर्थश्लेष अलङ्कार

(सूत्र १४७) श्लेष इति। जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हों उसे 'श्लेष' कहा जाता है ॥ ९६ ॥

एकार्थप्रतिपादकानामिति। जहाँ 'एक ही अर्थ' को बताने वाले शब्दों के 'अनेक अर्थ' होते हैं, वहाँ 'शब्दपरिवृत्तिसहता' होने के कारण 'अर्थालङ्काररूप' श्लेष होता है।

उदाहरणम्—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्त्तयति क्रियाः।
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनं
बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः॥ ४३३॥

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ।

'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते'—इस नियम के अनुसार प्रत्येक शब्द, 'एक ही अर्थ' को बताता है। जहाँ कहीं दो या अनेक अर्थों की प्रतीति 'एक ही शब्द' से होती है, वहाँ वस्तुतः 'एक शब्द' नहीं है, अपितु समानाकार के अनेक शब्दों का 'श्लेष' जतु-काष्ठन्याय से होता है।

नवम उल्लास में (सूत्र ११९) 'श्लेष' नामक शब्दालङ्कार को बताया था, और यहाँ दशम उल्लास में 'श्लेष' नामक अर्थालङ्कार को बता रहे हैं। 'श्लेष' के शब्दालङ्कार अथवा अर्थालङ्कार कहलाने में नियामक 'शब्दपरिवृत्त्यसहत्व' तथा 'शब्द-परिवृत्तिसहत्व' ही है। जहाँ शब्द का पर्याय-शब्द (समानार्थक शब्द) रखने पर 'श्लेष' नहीं रहता, वहाँ श्लेष की शब्दनिष्ठता के कारण उसे (श्लेष को) 'शब्दा-लङ्कार' कहा जाता है। और जहाँ शब्द का पर्याय-शब्द रख देने पर भी 'श्लेष' कायम रहता है, अर्थात् उसके चमत्कार में कोई कमी (न्यूनता) नहीं होती वहाँ श्लेषालङ्कार को अर्थनिष्ठ (अर्थालंकार) कहते हैं।

उदाहरणमिति। अर्थनिष्ठश्लेष (श्लेष नामक अर्थालङ्कार) का उदाहरण—

उदयमयते इति। 'विभाकर' = सूर्य और 'विभाकर' नामक राजा, उदित हो रहा है, अर्थात् (यथाक्रम) उदयाचल के सन्निहित हो रहा है, और समृद्धि को प्राप्त कर रहा है, तथा दिशाओं के मालिन्य (अन्धकार) को और पापाचरण को नष्ट करता है, अथवा प्रजाजनों के दुःख-दारिद्रय को दूर कर रहा है। निद्रा से होने वाली नयन-निमीलन रूप मुद्रा, एवं निद्रा के सदृश निरुत्साह का विनाश (निधन) कर रहा है। यातायातरूपी क्रियाओं में प्रवृत्ति करा देता है, तथा स्वैराचार (अभि-सार) एवं स्वेच्छया वेदनिषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति को रोकता है। अत्यधिक हर्ष का विषय है कि चमकते हुए तेज का यह पुञ्ज सुशोभित हो रहा है॥ ४३३॥

अत्रेति। यहाँ प्रकरण आदि के द्वारा 'अभिधा' का नियन्त्रण न होने से 'सूर्य' एवं 'राजा' दोनों अर्थ 'वाच्य' हो गये हैं।

(९ समासोक्तिरलङ्कारः)

(१४८) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात्समासोक्तिः ।

विवरण—जहाँ नियामक 'प्रकरण' आदि के रहने पर 'परिवृत्ति' को सहने वाले 'शब्द' होते हैं, वहाँ 'अर्थशक्तिमूलध्वनि' होता है, और जहाँ नियामक प्रकरण आदि के रहने पर परिवृत्ति (परिवर्तन) को सहन न करने वाले शब्द होते हैं, वहाँ 'शब्दशक्तिमूलध्वनि' होता है, और जहाँ 'नियामक प्रकरण' आदि नहीं रहते, वहाँ 'दोनों अर्थ' वाच्य होते हैं। और वहाँ 'शब्द' के परिवर्तन स्थल में 'अर्थश्लेष' और 'शब्द' के अपरिवर्तनस्थल में 'शब्दश्लेष' होता है।

उक्त पद्य में 'विभाकर' नाम के राजा की 'सूर्य' के साथ समानता प्रदर्शित करते हुए स्तुति की गई है 'विभाकर' शब्द, 'विभाकर' नाम के राजा का तथा 'सूर्य' का भी वाचक है। यदि 'विभाकर' शब्द की जगह उसका पर्याय शब्द रख दें तो दोनों अर्थों की (सूर्य और राजा की) प्रतीति नहीं हो सकेगी, उस कारण 'श्लेष' नहीं रहेगा। एवं च 'विभाकर' शब्द 'परिवृत्त्यसह' है, अर्थात् 'विभाकर' शब्द, परिवर्तन को सहन नहीं करता है। अतः इस अंश में 'शब्दश्लेष' है, और शेष सभी विशेषण, 'राजा' तथा 'सूर्य' दोनों के पक्षों में घटित हो जाते हैं, उनके पर्याय-शब्दों का प्रयोग करने पर भी 'श्लेष' का चमत्कार नष्ट नहीं होता, इसलिए उनमें 'अर्थश्लेष' है ॥ ४३३ ॥

(९) समासोक्ति अलङ्कार

(सू० १४८) परोक्तिरिति। श्लेषयुक्त विशेषणों के (भेदकों के) द्वारा अप्रकृत (पर) के व्यवहार को बताना 'समासोक्ति' अलंकार है। 'समासेन (संक्षेपेण) उक्तिः = समासोक्तिः।

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येनेति। ग्रन्थकार मम्मट भट्ट उक्त लक्षण का विवरण स्वयं कर रहे हैं—'प्रकृत' अर्थ के प्रतिपादक जो वाक्य कहे गये हैं, उन्हीं वाक्यों के द्वारा केवल 'विशेषणों' के ही महात्म्य से, न कि 'विशेष्य' के भी सामर्थ्य से जो 'अप्रकृत अर्थ' का अभिव्यञ्जन है, वह 'समास' (संक्षेप) से दो अर्थों को (अर्थद्वय को) बताता है, इसलिए उसे 'समासोक्ति' कहते हैं।

सूत्रगत 'परोक्ति' पद का अर्थ है—'परम्' अप्रकृतम् अर्थात् अप्रकृत व्यवहार, और

'उक्तिः' का अर्थ है—वचन (बोधन) अर्थात् व्यञ्जना के द्वारा प्रतिपादन करना। 'भेदक' का अर्थ है—विशेषण, भेदयन्ति व्यवच्छेदयन्तीति 'भेदकानि'। 'श्लिष्ट' का अर्थ है—अनेकार्थक अर्थात् प्रकृत-अप्रकृत दोनों अर्थों में संगत होने वाले। 'समासोक्तिः' का अर्थ है—समासेन (संक्षेपेण) अर्थद्वयस्य उक्तिः, अर्थात् प्रकृत-अप्रकृत—दोनों वृत्तान्तों का प्रतिपादन करने पर समासोक्ति नाम का अलंकार होता है। एवं च 'श्लिष्ट (प्रकृत-अप्रकृत दोनों) अर्थों में संगत होने वाले भेदक शब्दों के (विशेषण-वाचकमात्र शब्दों के) द्वारा जो 'परोक्ति' अर्थात् 'पर' (अप्रकृत) अर्थ की (अप्रकृतगतव्यवहाररूप अर्थ को) 'उक्ति' अर्थात् बोधन (प्रकृत वृत्तान्त पर आरोप = व्यञ्जना से बताना) किया जाता है, उसे 'समासोक्ति' कहते हैं। इसी को संस्कृत में इस प्रकार कह सकते है—"प्रकृतार्थविशेषणवाचिमात्रशब्दस्य श्लेष-महिम्ना यत्र प्रकृतार्थकेन वाक्येन अप्रकृतगतव्यवहाररूपार्थस्य व्यञ्जनया बोधनं समासोक्तिरलङ्कारः।"

विवरण—संक्षेप से जो बात कही जाती है, उसे 'समासोक्ति' कहते हैं। समासोक्ति में वाचक शब्द से निर्दिष्ट 'प्रकृत वस्तु' का ही साक्षात् वर्णन किया जाता है। समासोक्ति में 'प्रकृतवस्तु' का वाचक शब्द 'श्लिष्ट' नहीं रहता, किन्तु उसके (प्रकृत वस्तु के) 'विशेषण' श्लिष्ट रहते हैं। ये श्लिष्ट विशेषण 'अप्रकृत वस्तु' पर भी लागू होते हैं, उस कारण 'अप्रकृत वस्तु' की भी प्रतीति होती है, तथापि समासोक्ति अलंकार में 'अप्रकृत वस्तु' को नामतः निर्दिष्ट नहीं किया जाता। समासोक्ति अलङ्कार में 'प्रकृत वस्तु' की प्रतीति, उसके वाचक शब्द से तथा विशेषणों से हुआ करती है। और 'अप्रकृत वस्तु' की प्रतीति, केवल विशेषणों के द्वारा होती है, क्योंकि वे विशेषण 'श्लिष्ट' रहते हैं।

प्रायः भामहादि सभी आलङ्कारिकों ने 'समासोक्ति' के इस वैशिष्ट्य को बताया है। महाकवि दण्डी ने इस प्रकार की 'समासोक्ति' को अपनी अभिप्रेत 'समासोक्ति' का 'एक प्रकार' कहा है।

एवं च 'समासोक्ति' में 'अप्रकृत' के वर्णनार्थ स्वतन्त्र रूप से विशेषणों का प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु 'प्रकृत' का ही वर्णन करने वाले वाक्यों में प्रयुक्त श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा 'अप्रकृत' का बोध हो जाता है। अर्थात् 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'—न्याय से समासोक्ति में एक ही विशेषणावली से 'प्रकृत-अप्रकृत' दोनों अर्थों का वर्णन हो जाता है, अलग-अलग वर्णन स्वतन्त्रतया करने की आवश्यकता नहीं रहती, इस प्रकार 'संक्षेप' होने से इस अलङ्कार को 'समासोक्ति' के नाम से कहा जाता है, 'संक्षेपेण अर्थद्वयकथनात् समासोक्तिः'।

समासोक्ति में 'विशेषण' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। अर्थात् "प्रकृत-अप्रकृतों का व्यवहार = विशिष्ट आचरण का वर्णन करने वाले शब्द ही वे

उदाहरणम्—

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स कोवि उल्लासो ।
जअलच्छी तुह विरहे ण हूज्जला दुब्वला णं सा ॥ ४३४ ॥
(लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः ।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ॥ ४३४ ॥)

विशेषण हैं। 'स्वरूपमात्रेण अवगतस्य वस्तुनः यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यम् अवगम्यते तत् विशेषणम्'। यथा—'शुक्लः पटः, राज्ञः पुरुषः, पाचकः देवदत्तः, पचति यज्ञदत्तः, गम्यते चैत्रेण इति वा'। (रत्नाकर पृ० ७२)। कारिकागत 'भेदक' शब्द का अर्थ 'विशेषण' है। क्योंकि 'विशेष्य' पदार्थ को अन्य पदार्थों से भिन्न प्रदर्शित करने वाला 'विशेषण' ही होता है। अर्थात् 'श्लिष्टैः भेदकैः' = श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्—इस उक्ति (कथन) में गर्भित आशय को 'न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि'—इन शब्दों से 'वृत्ति' में स्पष्ट किया है। समासोक्ति में अप्रकृत की प्रतीति, केवल 'प्रकृत' के श्लिष्ट विशेषणों से होती है; विशेष्यवाचक शब्दों से नहीं होती है। क्योंकि 'अप्रकृत विशेष्य' के वाचक शब्द का प्रयोग, समासोक्ति में नहीं किया जाता। और 'प्रकृत विशेष्य' के 'वाचक शब्द' का प्रयोग रहने पर भी वह श्लिष्ट न होने से 'अप्रकृत विशेष्य' का बोध करा देने में समर्थ नहीं हो पाता।

'श्लेष' अलङ्कार में 'समासोक्ति' की तरह परिस्थिति नहीं है। श्लेष अलङ्कार में 'प्रकृत' और 'अप्रकृत' दोनों पदार्थों का स्वतन्त्रतया [1]निर्देश अथवा 'एक ही श्लिष्ट पद' से [2]निर्देश किया जाता है।

'परोक्तिः' = अप्रकृतस्य अभिधानम्। अप्रकृत का अभिधान, अर्थात् ही 'प्रकृतार्थ प्रतिपादकवाक्य' से हो जाता है, क्योंकि समासोक्ति में नामतः निर्देश 'प्रकृतार्थ' का ही रहता है।

समासोक्ति अलङ्कारगत 'श्लेष' के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि यहाँ प्रयुक्त श्लिष्ट विशेषणों में जो 'श्लेष' है, वह 'शब्दश्लेष' नहीं है, अपितु 'अर्थश्लेष' है। क्योंकि 'समासोक्ति' की गिनती 'अर्थालङ्कार' में की गई है। और अर्थालङ्कार 'शब्दपरिवृत्तिसह' हुआ करते हैं।

उदाहरण, जैसे—

लहिऊणेति। (लब्ध्वेति)। तुम्हारे बाहु-स्पर्श को प्राप्त कर जिसे कोई अनिर्वचनीय आनन्द (उत्फुल्लता) हुआ करता था, वह 'जयलक्ष्मी' तुम्हारे विरह में उज्ज्वल नहीं है, प्रत्युत दुर्बल ही है ॥ ४३४ ॥

---

१. 'स्तोकेनोन्नतिमायाति··· ···'।
२. 'उदयमयते··· ···'।

अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति ।

अत्रेति । यहाँ पर विशेष्यवाचक 'जयलक्ष्मी' शब्द, ही केवल ऐसा है जो अप्रकृत 'कान्ता' का वाचक नहीं है । अन्य जो विशेषणवाचक-श्लिष्टशब्द हैं, उनके द्वारा 'जयलक्ष्मी' शब्द उस 'अप्रकृत कामिनी' का भी बोधक है । युद्ध में स्वपक्ष का विजय होने पर भी विजय-प्राप्ति कराने में जिसने रणभूमि पर अपना अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित करके अपने को बलि चढ़ा दिया था, उस वीर पति के लिए शोक करती हुई पति के शव को देखकर अतीत युद्धों में अनेक बार उसके प्राप्त किये हुए विजयों की याद, उसे (पत्नी को) आ रही है । जब पति ने विजय प्राप्त किये थे, तब उन विजयों को सुनकर पत्नी को बहुत-बहुत आनन्द हुआ था, परन्तु इस समय युद्ध में पति का निधन हो जाने के कारण, युद्ध में हुई विजय-प्राप्ति, उसे आनन्द देने में असमर्थ हो गई है ।

विजय से सम्बन्धित अपने मन की प्रतिक्रिया का आरोप 'विजय' पर ही करके, 'विजय' को विजयश्री का रूप देकर वह (पत्नी) उसकी दीनता का वर्णन कर रही है ।

यहाँ पर केवल 'जयलक्ष्मी' शब्द ही प्रस्तुत 'विजय' का वाचक है, तथापि 'बाहुस्पर्शं लब्ध्वा, उल्लासः, न उज्ज्वला, दुर्बला'—जयलक्ष्मी के विशेषधर्मवाचक जो ये शब्द हैं, उन्हें सुनकर तथा 'जयलक्ष्मी'—इस स्त्रीलिंग से 'नायक के समागम से उल्लसित होने वाली और उसके वियोग से विषण्ण होने वाली नायिका (कान्ता) की सहज प्रतीति हो जाती है । यहाँ नामतः निर्देश न रहने पर भी, उक्त वर्णन क सुनकर प्रतीति तो हो ही जाती है । अभिप्राय यह है कि इस वर्णन में 'जयलक्ष्मी' शब्द को छोड़कर अवशिष्ट भाग, 'कान्ता' का भी बोध करा देता है । अकेले 'जय-लक्ष्मी' शब्द से अप्रकृत कान्ता का बोध नहीं हो पाता । (अत्र जयलक्ष्मीशब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति) यहाँ पर 'केवलम्' का सम्बन्ध 'जयलक्ष्मी' के साथ ही है ।

'लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शम्··· ···' आदि वर्णन लक्षणा से प्रकृत विषय (विजय) में और अभिधा से (वाच्यार्थ से) अप्रकृत विषय (कान्ता) में उपपन्न होता है । क्योंकि 'स्पर्शलाभ, उल्लास आदि धर्म, चेतनमूर्त के हुआ करते हैं, और 'जयलक्ष्मी' तो अचेतन अमूर्त है । समासोक्ति को पहिचानने की यह सरल युक्ति है कि समासोक्ति में 'अप्रकृत व्यवहार' का 'प्रकृत' पर आरोप किया जाता है । समासोक्ति अलङ्कार प्रायः अन्य अलङ्कारों का विशेषतः 'अर्थान्तरन्यास' और 'उत्प्रेक्षा' का उपकारक हुआ करता है । उत्प्रेक्षा में जब चेतन के धर्मों का अचेतन पर अथवा अचेतन के धर्मों का चेतन

(१० निदर्शनाऽलङ्कारः)

(१४९) निदर्शना ।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ९७ ॥

निदर्शनं दृष्टान्तकरणम् ।

पर आरोप किया जाता है,तब 'उत्प्रेक्षा' का मूल 'समासोक्ति' हो रहती है, यह पण्डितराज ने कहा है ।

समासोक्ति पर आधारित 'अर्थान्तरन्यास' का उदाहरण पण्डितराज ने दिया है—

'स्थितेऽपि सूर्ये' पद्मिन्यो वर्तन्ते मधुपैः सह ।
अस्तं गते तु सुतरां स्त्रीणां कः प्रत्ययो भुवि ॥'

यहाँ पर प्रथम तीनों चरणों में वर्णित विशेष अर्थ का, चतुर्थ चरण के सामान्य अर्थ से समर्थन किया गया है । उसी तरह—

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत् सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः ॥'

यहाँ पर सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ के द्वारा समर्थन किया गया है ।

रूपकालङ्कार और समासोक्ति अलङ्कार का भेद—

'प्रकृत' पर 'अप्रकृत' का आरोप जहाँ किया जाता है, वहाँ 'रूपक' अलङ्कार होता है । और 'प्रकृत व्यवहार' में 'अप्रकृत व्यवहार' का जहाँ आरोप किया जाता है, वहाँ 'समासोक्ति' होती है । यही दोनों अलङ्कारों में भेद है । इसी कारण 'यस्य रणान्तःपुरे' (उ० १०।४२२ श्लोक) पद्य में 'समासोक्ति' नहीं है, किन्तु 'एकदेश-विवर्तिरूपक' है, और 'लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शम्'० में—'विशेष्य' का आरोप न होकर केवल 'व्यवहार मात्र' का आरोप किया गया है । अतः यहाँ 'रूपक' न होकर 'समासोक्ति' हो गई है ।

(सू० १४९, कारि० ९७) अभवन्निति । जहाँ न होने वाला वस्तुसम्बन्ध (पदार्थों एवं वाक्यार्थों का सम्बन्ध), 'उपमा' का परिकल्पक होता है, वहाँ 'निदर्शन' अलंकार होता है ॥ ९७ ॥

निदर्शनमिति । निदर्शन का अर्थ है—'दृष्टान्तकरण' । अर्थात् 'उदाहरण' प्रदर्शित करना ।

विवरण—'निदर्शना' में दो अंश रहते हैं—(१) दो वस्तुओं में असम्भवनीय (अभवन्) सम्बन्ध की कल्पना; (२) इस प्रकार के सम्बन्ध से 'उपमा' की प्रतीति होना । 'निदर्शयति इति निदर्शना' इस निरुक्ति से निदर्शना का अर्थ है—'दृष्टान्त-करण' अर्थात् दृष्टान्त देना । 'निदर्शना' में दृष्टान्तप्रदर्शन को सुनकर उसे 'दृष्टान्त' अलङ्कार नहीं समझना है । निदर्शना और दृष्टान्त अलङ्कार दोनों एक दूसरे से नितान्त

उदाहरणम्—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ ४३५ ॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यवस्यति । यथा वा—

भिन्न हैं। 'दृष्टान्त' अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ वास्तविक धर्मों वाले दो धर्मियों के तथा उनके धर्मों के सादृश्य के आधार पर वह प्रकट होता है। वह सर्वदा 'दो वाक्यों' से आकार को प्राप्त करता है। उन दो वाक्यार्थों में 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' सम्बन्ध रहता है। किन्तु 'निदर्शना' तो धर्मी और धर्म के असम्भाव्य सम्बन्ध पर आधारित रहती है, और एक ही धर्मी का वास्तविक (सम्भाव्य) धर्म तथा आरोपित असम्भाव्य धर्म, दोनों में 'उपमानोपमेयभाव' रहता है। यह निदर्शना, एक वाक्य में भी पूर्ण हो सकती है।

हेमचन्द्र ने 'निदर्शना' और 'दृष्टान्त' दोनों को मिलाकर 'निदर्शना' के नाम से ही प्रदर्शित किया है।

उदाहरणमिति । उदाहरण, जैसे—

(१) क्व सूर्यप्रभव इति । कहाँ सूर्य से उत्पन्न होने वाला कुल (वंश) अर्थात् 'सूर्यवंश', और कहाँ मेरी स्वल्पविषया क्षुद्र बुद्धि ! निष्कर्ष यह है कि इन दोनों का सम्बन्ध होना कभी सम्भव नहीं, अर्थात् असम्भव है। मेरी अल्प-स्वल्प बुद्धि के लिए इतने महान् सूर्यवंश का वर्णन करना कभी भी शक्य नहीं है। फिर भी सूर्यवंश की महिमा पर अत्यधिक मोहित होने के कारण सूर्यवंश के वर्णन करने की जो मेरी प्रबल इच्छा हो रही है, वह वास्तव में मोहवश होकर छोटी-सी नाँव के द्वारा सागर को पार करने के समान ही है ॥ ४३५ ॥

अत्रोडुपेनेति । इस पद्य में 'मेरी क्षुद्र अल्प बुद्धि के द्वारा उस महान् सूर्यवंश का वर्णन करना, छोटी-सी नौका (उडुप) से महान् सागर को पार करने के तुल्य (समान) है।' इस 'उपमा' में उक्त पद्य वाक्य का पर्यवसान हो रहा है। अर्थात् उडुप (छोटी-सी नाँव) के द्वारा सागरतरण के समान ही मेरी स्वल्प बुद्धि के द्वारा महान् सूर्यवंश का वर्णन करना होगा। अर्थात् 'अल्पसाधनैरधिकारंभो न सुकरः' इति भावः। इस उपमा में ही उक्त पद्य का पर्यवसान है।

निर्दिष्ट उदाहरण में पूर्वार्ध उपमेयांश एवं उत्तरार्ध उपमानांश है। दोनों अंश, वाक्य रूप हैं। दो वाक्यों का उपमानोपमेयभाव में पर्यवसान हुआ है। उस कारण इसे 'वाक्यार्थ-निदर्शना' के नाम से कहा है। इसी बात को चक्रवर्ती आदि व्याख्या-

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ ४३६ ॥

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम्।

कारों ने भी कहा है "अत्राल्पविषयकमन्मत्या रघुवंशवर्णनं न स्यादित्येकी वाक्यार्थः, अपरस्तु उडुपेन सागरतरणमिति न चोपमानोपमेयभावं विना अनयोः परस्परवैशिष्ट्यं (परस्परसम्बन्धः) इति व्यङ्ग्योपमया स्थिरीकरणम्। तदाह उडुपेनेत्यादि" एवं चात्र वाक्यार्थ उपमाक्षेपक इति वाक्यार्थनिदर्शनेयमिति।

जहां केवल 'दो पदार्थों' का उपमानोपमेयभाव में पर्यवसान होता है, वहां 'पदार्थनिदर्शना' होती है यहां उपमानोपमेयभाव दो पदार्थों में है। वाक्यार्थ में नहीं है। इसे निदर्शना का अन्य भेद कहा जा सकता है।

यथावेति। इस पदार्थ-निदर्शनानामक द्वितीय भेद का उदाहरण दे रहे हैं—

पदार्थ निदर्शना के उदाहरणरूप में दिया जाने वाला पद्य 'शिशुपाल बध' नामक महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग से लिया गया है। इसमें रैवतक-पर्वत के वर्णन के सन्दर्भ में महाकवि माघ कह रहे है कि प्रातः रैवतक पर्वत के एक ओर उदय होते हुए रवि का बिम्ब और दूसरी ओर अस्त होते समय चन्द्र का बिम्ब दोनों, किसी हाथी के दोनों ओर लटकते हुए दो घण्टों के समान प्रतीत हो रहे हैं। यह आशय पद्य के द्वारा महाकवि ने प्रकट किया है।

(२) उदयतीति। जिसकी किरणरूप, रस्सियाँ ऊपर की ओर बिखर रही हैं, उस सूर्य (अहिमधामन्) के उदित होने के समय और चन्द्र (हिमधामन्) के अस्त होने के समय, यह रैवतक पर्वत दोनों ओर लटकते दो घण्टों से युक्त हुए हाथी की शोभा को धारण कर रहा है ॥ ४३६ ॥

महाकवि को इस समय 'रैवतक पर्वत' कैसे दीख रहा है, उसी का वर्णन महाकवि ने किया है। जिसके पीठ पर दोनों ओर लटकने वाली रस्सी के दोनों छोरों में प्रचण्ड घण्टे लटक रहे हों ऐसे भव्य प्रचण्ड हाथी की तरह वह रैवतक पर्वत, कवि को दीख रहा है।

संस्कृत साहित्य में इस वर्णन की बड़ी प्रसिद्धि रहने से महाकवि को 'घण्टा माघ' की [1]उपाधि ही प्राप्त हो गई है।

---

१. इसी प्रकार भारवि कवि की 'छत्र भारवि'; तथा कवि कालिदास की 'दीपशिखा कालिदास' के रूप में प्रसिद्धि हुई, उसके सूचक दो श्लोक है—

उदाहृत पद्य में बताया गया है कि "रैवतक पर्वत, गजराज की शोभा को धारण कर रहा है"। किन्तु गजराज की शोभा, 'गजराज' में ही रहेगी, वह पर्वत में कैसे रहेगी? जिसकी शोभा, उसी के साथ रहती है, वह शोभा दूसरे में नहीं हो सकती। (कथम् अन्यस्य लीलाम् अन्यः वहति?)। क्योंकि पर्वत की शोभा', जैसा पर्वत का 'असाधारण धर्म' है, वैसे ही 'गजराज की शोभा', गजराज का 'असाधारण धर्म' है। फिर भी 'पर्वत' पर गजराज की शोभा का आरोप करके पर्वत और गजराज की शोभा दोनों में 'आधाराधेय भाव' सम्बन्ध दिखाया गया है। किन्तु वह अत्यन्त असम्भव है, उस कारण वाक्यार्थ की संगति नहीं हो पा रही है। उसकी संगति बैठाने के लिये इस प्रकार कहना होगा—यह रैवतक पर्वत, गजराज की शोभा जैसी शोभा को धारण कर रहा है। ऐसा कहने पर 'पर्वत' की शोभा और गजराज की शोभा'—दोनों में, और उनके द्वारा 'पर्वत-गजराज', 'रश्मि-रज्जु', 'सूर्यचन्द्रघण्टा'—इनमें 'उपमान-उपमेयभाव' की प्रतीति हो पाती है। यहाँ पर 'रश्मिरज्जु'—यह रूपक है किन्तु वह विवक्षित नहीं है।

उस कारण दोनों प्रकार से कह सकते हैं—वितताः ऊर्ध्वाः रश्मयः एव रज्जवः यस्य तादृशे—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ। अथवा—विततः ऊर्ध्वः रश्मिः रज्जुरिव यस्य तादृशे अहिमरुचौ (सूर्ये) उदयति सति।

'उदयति' में भ्वादिगण पठित 'अय गतौ' धातु है। यद्यपि यह 'अनुदात्तेत्' होने से आत्मनेपदी है, तथापि 'चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकात् अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्'। उस कारण धातु से परे लट् के स्थान में परस्मैपदसंज्ञक 'शतृ' आदेश हुआ है—ऐसा कुछ लोग कहते हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि 'अय' धातु, स्वरितेत् होने से उभयपदी है, उस कारण धातु से परे लट् के स्थान में 'शतृ' आदेश हुआ है।

चान्द्र आदि व्याकरण के अनुसार सभी धातु उभयपदी हुआ करते हैं। उस कारण उक्त धातु से परे लट् के स्थान में 'शतृ' आदेश हुआ है। कुछ लोग कहते है 'इट किट कटी गतौ' यहाँ पर प्रश्लिष्ट 'इ' अथवा 'ई' धातु, परस्मैपदी होने से उससे परे लट् के स्थान में 'शतृ' आदेश हुआ है।

"उत्फुल्लस्थलनलिनी वनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥"

(किरा० ५।३२)

"संचारिणी दीपशिखेव रात्री यं यं व्यतीयाय पतिवंरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥"

(रघु० ६।३७)

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्ग-
मादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम्।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव!
यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति ॥ ४३७ ॥

'वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वय परिवारितवारणेन्द्रलीलाम्' यहाँ पर समस्त एक पद से बोध्य 'वारणेन्द्रलीला' पदार्थ के साथ 'गिरि' पदार्थ का अन्वय, उपपन्न नहीं हो सकता। क्योंकि एक की लीला को दूसरा नहीं कर सकता और अन्य लीला का तादात्म्य अन्य लीला में होना असम्भव भी है। अतः वारणेन्द्रलीला' पदार्थ का पर्यवसान 'वारणेन्द्रलीलासदृशीं लीलाम्'—इस उपमा में होता है। अतः यह 'पदार्थनिदर्शना' है।

यहां रहस्य यह है कि 'वारणेन्द्रलीलाम्' का अर्थ 'वारणेन्द्रस्य लीलाभिन्नां लीलाम् है। श्लेष के बल पर 'लीला' पद से लीलाद्वय की उपस्थिति होती है। श्लेष का आश्रय करने में कारण 'अत्र कथमन्यस्य लीलामन्योवहतीति' कहकर वृत्तिकार ने प्रदर्शित किया है। अन्य की लीला में अन्य की लीला का तादात्म्य होना सम्भव नहीं है। आरोप करके अन्वय की उपपत्ति होने से अन्वयानुपपत्ति को बताकर 'लीला' पद, की तत्सदृश लीला में लक्षणा नहीं की जा सकती। वस्तुमाहात्म्य से ही लीला पद सादृश्य का व्यंजक है—इसे 'उपमायां पर्यवसानम्' कहकर बताया है। यहाँ पर उपमानोपमेय धर्मों का अभेदज्ञान होता है। उसकारण इसी को पदार्थ निदर्शना कहा गया है। एवं च पहले उदाहरण में 'उपमा' का आक्षेपक वाक्यार्थ था, किन्तु यहाँ उपमा का आक्षेपक केवल 'पदार्थ' है। यही दोनों में भेद है।

प्रदीपकार एवं प्रभाकार ने जो यह कहा है कि "इह पदार्थमात्रमुपमाक्षेपकमिति व्याख्यानमनादेयम्; अत्रापि लीलापदार्थमात्रस्याऽनाक्षेपकत्वात्, किन्तु लीलोद्वहनरूप-वाक्यार्थस्यैवाक्षेपकत्वात्, तस्मात् पूर्वोदाहरणे उडुपेन सागरतरणरूपमुपमानमप्रसिद्धम्, इह तु वारणेन्द्रलीलारूपमुपमानं प्रसिद्धमित्येव भेदः" इति तच्चिन्त्यम्। अर्थात् यह चिन्तनीय है, क्योंकि वारणेन्द्रलीलामित्यस्य समस्ततयैकपदत्वेन तत्पदबोध्यस्य वारणेन्द्र-लीलापदार्थमात्रस्याप्युपमाक्षेपकत्वात्, यह उद्योतकार ने कहा है। "अत्रान्यलीलाया अन्यत्रारोपो लीलासदृशीं लीलामित्युपमां गमयति। तत्र चन्द्रसूर्यघण्टयोश्च बिम्बप्रति-बिम्बभावः, तत्समर्थं वाचक रश्मिषु रज्जुत्वारोप इति बोध्यम्" यह चन्द्रिकाकार ने भी कहा है।

यहां तक 'वाक्यार्थ निदर्शना' तथा 'पदार्थ निदर्शना'—इन दो भेदों के उदाहरणों को बताया गया। अब ग्रन्थकार कह रहे हैं कि मालारूप में भी 'निदर्शना' हो सकती है। उसे उदाहरण के द्वारा बता रहे हैं—

(३) दोर्भ्यामिति। हे देव! अर्थात् हे राजन्! यः ते गुणान् गदितुम् उद्यमम्

इत्यादौ मालारूपाऽप्येषा द्रष्टव्या ।

(निदर्शनाया अन्यः प्रकारः)

(१५०) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।

क्रिययैव स्वस्वरूप-कारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते साऽपरा निदर्शना। यथा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥ ४३८ ॥

आदधाति = जो तुम्हारे गुणों को बताने का प्रयत्न करता है, वह मनुष्य निश्चित ही 'तरङ्गवती-भुजङ्गम्' = समुद्र को 'दोर्भ्याम् तितीर्षति' = बाहुओं से पार करना चाहता है, चन्द्रबिम्ब को हाथ से पकड़ना चाहता है, तथा सुमेरु पर्वत को लांघना चाहता है, हे राजन् तुम्हारे गुणों का अन्त नहीं है ॥ ४३७ ॥

इत्यादाविति । इत्यादि उदाहरणों में यह निदर्शना 'माला' के रूप में समझनी चाहिये ।

यहां पर 'यः तव गुणान् गदितुम् उद्यमम् आदधाति'—यह एक वाक्यार्थ हुआ, 'एषः तरङ्गवतीभुजङ्गं दोर्भ्यां तितीर्षति'—यह दूसरा वाक्यार्थ हुआ । इन दोनों सम्बन्धोंके उपपन्न न होने से 'सागरतरणादिसदृशं त्वद्गुण-गणभाषणम्'–इस उपमा में, दोनों वाक्यार्थों का पर्यवसान होता है, उस कारण 'वाक्यार्थ', 'उपमा' का आक्षेपक होने से यह 'वाक्यार्थ-निदर्शना' है । 'गुणगणनोद्यम' रूप एक ही 'उपमेय' के 'समुद्र-तितीर्षादि' अनेक 'उपमान' होने से यह निदर्शना 'मालारूप' है : चन्द्रिकाकार ने भी कहा है—"दोर्भ्यां सागरतरणवत् त्वद्गुणभाषणमशक्यमित्यनेकोपमानकल्पनान्मालारूपेयं निदर्शना" ।

(सू० १५०) स्व-स्वेति । क्रिया (कार्य) के द्वारा ही अपना और अपने कारण का सम्बन्ध जब बताया जाता है, तब एक अन्य प्रकार की 'निदर्शना' होती है ।

क्रिययेति । क्रिया (कार्य) के ही द्वारा अपने स्वरूप एवं अपने कारण का सम्बन्ध जब ज्ञात होता है, तब वह अपरा (दूसरी) निदर्शना है ।

यथा—

(४) उन्नतमिति । कोई क्षुद्र पुरुष, ऊँचे पद को पाकर भी अनायास ही उसका पतन होना निश्चित रहता है । इस तथ्य की सूचना देते हुए पर्वत शिखर पर स्थित पाषाण-कण, वायु के मन्द झोके से भी हिलकर नीचे गिर जाता है ॥४३८॥

'उच्चैरधिष्ठानं पतनहेतुः पर्वतशिखरस्थपाषाणवत्' न्यायसे ।

अत्र पातक्रियया पतनस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य च सम्बन्धः ख्याप्यते ।

अत्र पातक्रियथेति । यहाँ 'पतति'—पतन रूप क्रिया के द्वारा पतन रूप 'कार्य' और उसके 'कारण' (क्षुद्र रहने पर भी उन्नत पद की प्राप्ति) का जो परस्पर कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है, उसे बताया गया है । तथा च—लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिः पाते हेतुः, यथा दृषत्कणस्येति दृष्टान्तपर्यवसानात् इयमपि निदर्शना ।

यह 'निदर्शना'—सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिबन्धना, कहलाती है । इस बात को 'क्रिययैव' कहकर 'एव' कार से बताया गया है । एवं च 'पूर्वा निदर्शना' असम्भवद्-वस्तुसम्बन्धनिबन्धना है, यही दोनों में भेद है । तदुक्तम्—

'अभवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा निदर्शना ॥'

विवरण—'दूसरी निदर्शना' को थोड़े शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि 'स्वयं के व्यवहार से किसी 'तत्त्व' का स्पष्टीकरण करना' । सूत्रगत 'स्व' का अर्थ है—'क्रिया' । उसी का अनुवाद वृत्तिकार ने 'स्व-स्वरूप' (अर्थात् क्रिया का स्वरूप) शब्द से किया है । इसी सूत्र (सूत्र १५०) में 'क्रियया एव' कह कर 'क्रिया' शब्द का प्रयोग किया है । उसकारण 'स्व' शब्द का अर्थ 'क्रिया' है,यह निश्चित है । 'स्वहेतु' का अर्थ है—'स्वकारण', अर्थात् क्रिया का कारण । उन दोनों का 'अन्वय' अर्थात् 'सम्बन्ध' । उस सम्बन्ध का ज्ञान, उसी क्रिया की सहायता से जब कोई करा देता है, तब यह दूसरी (अपरा) निदर्शना होती है । सूत्र १५० में प्रयुक्त 'क्रियया'—यह 'करणे तृतीया' है । 'उक्तिः' का कर्ता 'वर्ण्य वस्तु', अध्याहृत है । 'अवगम्यते' यह प्रयोजक का कर्मणि रूप है । इस प्रक्रिया के अनुसार 'अपरा निदर्शना' का परिष्कृत लक्षण यह होगा कि—'वर्ण्यं वस्तु स्वयमेव क्रियां कुर्वत् तस्याः क्रियायाः तत्कारणेन सह सम्बन्धम् अवगमयति इति यत्, सा अपरा निदर्शना' ।

उद्भट, रुय्यक आदि आलंकारिकों ने पूर्वकथित निदर्शना को 'अभवन्-वस्तु सम्बन्ध (अथवा असम्भवत् वस्तुसम्बन्ध निदर्शना) और प्रस्तुत निदर्शना का 'भवन् वस्तु सम्बन्ध' (अथवा सम्भवद्-वस्तुसम्बन्धनिदर्शना) कह कर बताया है ।

'अपरा निदर्शना' को शोभाकर ने नहीं माना है । उसका अन्तर्भाव उन्होंने "स्मरण' अथवा 'विशेष' अलंकारों में किया है ।

इस अपरा निदर्शना का अन्य उदाहरण—

'अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥'

(भामह ३।४)

(११ अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः)

(१५१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥९८॥

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा ।

यहां पर 'पतन' क्रिया का सम्बन्ध, 'उदय' रूप कारण के साथ रहता है,—इस नियम का बोध 'सूर्य' अपनी 'कृति' से लोगों को समझा दे रहा है। प्रातः उदय को प्राप्त होकर सायं अस्त को प्राप्त होना—यह सूर्य को कृति है। सूर्य का अस्तगमन, 'पतन' ही है।

अन्य उदाहरण—

"चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम् ।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः ॥" (रुय्यक)

यहां 'आतिथ्य' क्रिया का सम्बन्ध, 'अभ्यागत की सत्पात्रता' रूप कारण के साथ रहने का बोध, पद्यगत 'यत्' शब्द से निर्दिष्ट उदयाचल, स्वयं 'सूर्य' का आतिथ्य करके अर्थात् उसे चूडामणि के स्थान पर धारण करके लोगों को करा रहा है।

११—अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार—

(सूत्र १५१) 'प्रस्तुताश्रया'—प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली 'या अप्रस्तुतप्रशंसा'—जो अप्रस्तुत अर्थ का वर्णन है, उसी को 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार कहते हैं ॥ ९८ ॥

अप्राकरणिकस्येति। अप्राकरणिक अर्थ को बताकर प्राकरणिक अर्थ का जो आक्षेप किया जाता है, उसी को 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलंकार कहते हैं। (प्रशंसा = वर्णन, अप्राकरणिक = अप्रस्तुत, प्राकरणिक = प्रस्तुत, बुद्धिसन्निहित,)।

शंका—सूत्रकार ने इतना बड़ा लक्षण क्यों किया? 'अप्रस्तुतप्रशंसनम्'—इतना ही लक्षण करते। 'प्रस्तुताश्रया'—कहने की क्या आवश्यकता है?

समा०—'अप्रस्तुतप्रशंसनम्'—इतना ही लक्षण करने पर 'समासोक्ति' में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। उसके निवारणार्थ 'प्रस्तुताश्रया' कहना आवश्यक है। तब अतिव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि 'अप्राकरणिक' से 'प्राकरणिक' (बुद्धि-सन्निहित) का आक्षेप (व्यञ्जन) जहाँ होता है, वहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' होती है, और 'प्राकरणिक' से 'अप्राकरणिक' का आक्षेप जहाँ होता है, वहां 'समासोक्ति' होती है, यही दोनों में अन्तर है। इस प्रकार अन्य के वृत्तान्त से प्रकृत वृत्तान्त का आक्षेप (व्यञ्जन) करना ही अलङ्कार होने में बीज है।

(अप्रस्तुतप्रशंसाया भेद-प्रभेदाः)

(१५२) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ ९९ ॥

तदन्यस्य कारणादेः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ 'कार्ये' प्रस्तुते अप्रस्तुतकारणवर्णनम्)

याताः किं न मिलन्ति सुन्दरि ! पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सबाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥ ४३९ ॥

'प्रस्तुत' एवं 'अप्रस्तुत' दोनों के सम्बन्ध के बिना 'प्रस्तुत' का व्यञ्जन (आक्षेप) करना सम्भव नहीं है, इसलिये उन दोनों का सम्बन्ध दिखाते हुए 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का पाँच प्रकार से विभाजन करते हैं ।

(सूत्र १५२) कार्ये निमित्ते इति । (१) कार्य, (२) कारण, (३) सामान्य, (४) विशेष के प्रस्तुत होने पर, उससे भिन्न अर्थात् (१) 'कार्य' के प्रस्तुत होने पर 'कारण' का (२) 'कारण' के प्रस्तुत होने पर, उससे भिन्न 'कार्य' का, (३) 'सामान्य' के प्रस्तुत होने पर 'विशेष' का और (४) 'विशेष' के प्रस्तुत होने पर 'सामान्य' का तथा (५) 'तुल्य' के प्रस्तुत होने पर उससे भिन्न दूसरे 'तुल्य' का कथन करना—इस रीति से 'अप्रस्तुतप्रशंसा' पाँच प्रकार की होती है ॥९९॥

तदन्यस्येति । उससे भिन्न अर्थात् उपर्युक्त 'कार्य' आदि से भिन्न, याने 'कारण' आदि का जो कथन, उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार कहते हैं ।

क्रमेणेति । पाँचों भेदों के उदाहरणों को क्रमशः प्रदर्शित कर रहे हैं ।

(१) 'कार्य' के प्रस्तुत रहने पर 'कारण' के वर्णन (अभिधान)करने का उदाहरण–

याताः किं नेति । हे सुन्दरि ! कार्यवश परदेश गये हुए व्यक्ति क्या पुनः वापस नहीं आते हैं, अर्थात् पुनः नहीं मिलते हैं ? उनका पुनर्मिलन अवश्य होता है । अतः मेरे लिए तुमको चिन्ता नहीं करनी चाहिए । क्योंकि तुम तो वैसे ही बहुत दुबली (कृश) हो, चिन्ता करने से और अधिक कृश हो जाओगी । यह कहते समय मेरी आँखें आँसुओं से डब-डबा गईं । तब मेरी प्रिया ने, लज्जा के कारण जिसकी कनीनिका (आँख की पुतली) स्थिर (शिथिल) हो गई है, और गिरते हुए आँसुओं को जिसने पी लिया है, अर्थात् रोक लिया है, ऐसे नेत्रों से मेरी तरफ ताका । ताककर उसने भावी-मरण के प्रति अपना उत्साह सूचित किया ॥४३९॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

(२ 'कारणे प्रस्तुते सति अप्रस्तुतकार्यस्य वर्णनम् ।)

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमार ! सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥ ४४० ॥

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् !

अत्र प्रस्थानादिति । इस पद्य में 'यात्रा' का विचार क्यों त्याग दिया ? इस प्रकार 'कार्य' रूप अर्थ को मित्र ने पूछा, किन्तु उसके मित्र (नायक) ने 'कारण' का कथन किया । पूछा, 'कार्य' और बताया, 'कारण' ।

रहस्य बो०—उपर्युक्त पद्य 'अमरुशतक में से लिया गया है । वहाँ का सन्दर्भ यह है —'प्रस्थानात् निवृत्तोऽसि किम्' इति मित्रेण पृष्टो यियासुः गमननिवृत्तिहेतुं स्वप्रिया-वृत्तान्तं वर्णयति । एवं च निवृत्तिरूपे कार्ये पृष्टे, कारणस्य (प्रियाभाविमरणोत्साहस्य) वर्णनम् । अर्थात् 'प्रस्थाननिवृत्तिरूपे कार्ये प्रस्तुते सति,अप्रस्तुतस्य प्रियाभाविमरणोत्साह-रूप कारणस्य अभिधानम् इति अप्रस्तुतप्रशंसाख्योऽयमलङ्कारः ।

(२) कारणे प्रस्तुते कार्यस्य वर्णनम्—कारण के प्रस्तुत रहने पर 'कार्य' का वर्णन करने वाले पद्य को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं ।

राजन्निति । हे राजन् ! आपके आक्रमण के भय से सूने-उजाड़ पड़े हुए शत्रु राजाओं के राजभवनों में आते-जाते पथिकों के द्वारा पींजडे (पञ्जर) से मुक्त किया गया पालतू तोता (शुक) उड़कर ऊपरी सूनी अटारी (वलभी) पर अर्थात् ऊपर के घर (सौध) में जाकर बैठा है। "शुद्धान्ते वलभीचन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेश्मनि''—इति रभसः । उस सौधागार में राजाओं की तसवीरें (चित्र) लगी हुई थीं । उन तसवीरों में दिखाई देने वाले प्रत्येक राजा से पूंछ रहा है—हे राजन् ! जो राजकन्या मुझे प्रतिदिन पढ़ाया करती थी, वह राजकन्या आज मुझे नहीं पढ़ा रही है, वे रानियाँ भी चुपचाप हैं, उनके बोलने की आवाज तक नहीं सुनाई दे रही है, अरी कुब्जा ! दासी, मुझे खाना तो दे दे, क्या राजकुमार और उनके मन्त्रियों, मित्रो ने अभी तक खाना नहीं खाया है? जो मेरे खाने में इतनी देर कर दी है ॥४४०॥

अत्र प्रस्थानोद्यतमिति । हे राजन् ! आप आक्रमण करने के लिए तैयार हो गए हैं, यह जानकर शत्रु राजा, अपने-अपने महलों (राजभवनों) को त्यागकर भाग गये । इस प्रकार 'शत्रुपलायन' रूप 'कारण' के प्रस्तुत रहने पर पथिकों के द्वारा मुक्त किये

(३ 'सामान्ये' प्रस्तुते सति 'विशेषस्य' वर्णनम् ।)

एतत्तस्य मुखात्कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन् यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥ ४४१ ॥

अत्रास्थाने जडानां ममत्वसम्भावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः ।

गये शुक (तोते) के आभाषण रूप अप्रस्तुत कार्य को बताया गया है, इसलिए यहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलंकार हो गया है । यह अप्रस्तुत प्रशंसा का दूसरा भेद बताया गया ।

यहाँ पर पथिक-मुक्त शुकाभाषणरूप अप्रस्तुत कार्य से शत्रुपलायनरूप प्रस्तुत कारण की अभिव्यक्ति हो रही है, तथापि—'व्यङ्ग्यार्थ' की अपेक्षा 'वाच्यार्थ' ही अधिक चमत्कारजनक होने से इसे 'ध्वनि' की संज्ञा नहीं दी गई । अतः इसे अलंकार शब्द से ही कहा गया है । रुय्यक ने यहाँ पर 'पर्यायोक्त' अलंकार माना है ।

३—तीसरा प्रकार—सामान्य के प्रस्ताव में उससे भिन्न 'विशेष' का कथन करना—इस अप्रस्तुतप्रशंसा के तीसरे भेद का उदाहरण भल्लटकवि विरचित 'भल्लट-शतक' से दे रहे हैं—

किसी मूर्ख के वृत्तान्त को कहीं से सुनकर कोई व्यक्ति किसी को बता रहा है—मूर्ख लोगों को व्यर्थ की बातों में बड़ी अभिरुचि हुआ करती है—यह सामान्य बात 'प्रस्तुत' है उसके चलते किसी विशेष व्यक्ति का कथन कर रहे हैं । जैसे—

एतदिति । कमल के पत्ते पर पड़े हुए जल की बूँद को उस मूर्ख ने 'मोती' समझा । यह समझना तो उसके मुख से बहुत छोटी सी मूर्खतापूर्ण बात है । इससे भी बड़ी मूर्खता की बात तो यह सुनो कि अंगुली के अगले हिस्से से (अग्रभाग से) वह जब उसे उठाने लगा, तब वह जलबिन्दु, उसके अंगुली में लगकर ही सूख गया और लुप्त हो गया । तब वह मूर्ख कहने लगा कि 'मेरा मोती उड़कर कहाँ चला गया ? इस चिन्ता के कारण वह मूर्ख, रात-दिन सो नहीं पा रहा है ॥४४१॥

अत्राऽस्थाने इति । मूर्ख लोगों को अयोग्य स्थान में ही (अस्थान में ही) ममत्व (आत्मीयत्व) हुआ करता है—इस 'सामान्य' के प्रस्तुत रहने पर जडविशेष 'जल की बूंद को 'मोती' समझता है—इस अप्रस्तुत ममत्व 'विशेष' का कथन किया गया है । इस कारण यह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है । 'जडानां ममत्वसम्भावना भवति'—

(४ 'विशेषे' प्रस्तुते सति 'सामान्यस्य' वर्णनम् ।)

सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः ।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य स भाजनं श्रियः ॥४४२॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःखं प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य इति विशेषे प्रकृते सामान्यमभिहितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः–श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः ।

यहाँ पर ममत्व का अर्थ 'आत्मीयत्व' है 'मम' यह विभक्तिप्रतिरुपक आत्मीयार्थक 'अव्यय' है, उससे 'भाव' के अर्थ में 'त्व' प्रत्यय किया गया है ।

४—चौथा प्रकार—'विशेष' के प्रस्तुत रहने पर 'सामान्य' का वर्णन (कथन) करना । जैसे—

श्रीकृष्ण ने जब नरकासुर को मार दिया तब उसके मन्त्री, इसका बदला लेने के लिये 'शाल्व' नामक राजा को उत्साहित करते हुए कह रहे हैं—

सुहृदिति । जो पुरुष, वैर (शत्रुता) का प्रतियातन करके (बदला चुका कर), अपने मित्र की स्त्रियों के नेत्राश्रुओं को पोंछ सकता है, वही 'पूज्य' है, वही 'पुरुष' है, वही 'नीतिकुशल' है, उसी का जीवन सार्थक (सफल) है, और वही लक्ष्मी का अधिकारी (पात्र) है ॥ ४४२ ॥

अत्र कृष्णमिति । इस शुद्ध विराट् (वंशस्थ) वृत्तवाले पद्य में बताया गया है कि यदि तुम कृष्ण को मारकर नरकासुर की स्त्रियों के दुःख को दूर कर सकते हो तो तुम ही प्रशंसा के योग्य हो सकते हो—इस 'विशेष' के 'प्रस्तुत' होने पर 'सामान्य' का वर्णन किया गया है, अर्थात् 'जो व्यक्ति, वैर का बदला लेकर मित्र की स्त्रियों का दुःख दूर करता है, वही श्लाघ्य (प्रशंसनीय) होता है—इस सामान्य बात को बताया है । इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के चतुर्थ भेद को बताया है ।

५—तुल्ये प्रस्तुते इति । 'तुल्य' के प्रस्ताव में उससे भिन्न दूसरे 'तुल्य' को बताने के तीन प्रकार हैं—

(१) श्लेष, (२) समासोक्ति और केवल सादृश्य ये तीनों 'तुल्य' से 'तुल्य' के आक्षेप में हेतु होते हैं ।

अर्थात् किसी एक वस्तु के प्रस्तुत रहने पर, उसी के जैसी अप्रस्तुत अन्य वस्तु का वर्णन करना, यह पांचवा प्रकार है । उसे तीन प्रकार से बताया जा सकता है । (१) विशेषण और विशेष्य दोनों के ही स्थानों में श्लिष्ट पदों का प्रयोग करके

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ श्लेषहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा)

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
याायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥ ४४३ ॥

अप्रस्तुत का वर्णन करने पर 'श्लेषहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा' कही जाती है। क्योंकि श्लिष्ट पद के कारण तुल्य अर्थ से तुल्य का आक्षेप कराया गया है, इसलिये 'श्लेष' ही आक्षेप कराने में हेतु है। यहां पर 'श्लेष' का अर्थ 'श्लेषालंकार' नहीं है किन्तु अनेकार्थक श्लिष्ट पद अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के ही वाचक पद। उस कारण श्लेषालङ्कार में अतिव्याप्ति की आशंका नहीं है। क्योंकि श्लेषालङ्कार में प्रतीयमान दोनों अर्थ; 'प्रस्तुत', अथवा दोनों अर्थ; 'अप्रस्तुत' हुआ करते हैं, किन्तु 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' में वाच्यार्थ, 'अप्रस्तुत' और व्यङ्ग्यार्थ 'प्रस्तुत' रहता है।

'अभिधामूल व्यञ्जना' में वाच्यार्थ 'प्रस्तुत' और व्यङ्ग्यार्थ 'अप्रस्तुत' रहता है; उस कारण उसमें भी अतिव्याप्ति नहीं हो रही है।

इसी प्रकार समासोक्ति और केवल सादृश्य भी तुल्य से तुल्य के आक्षेप में 'हेतु' होते हैं। तब समासोक्तिहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा, तथा सादृश्यमात्रहेतुका अप्रस्तुत-प्रशंसा होती है।

क्रमेणोदाहरणमिति। उन तीनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः आगे दिये जा रहे हैं—

श्लेषहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण भल्लटकविकृत भल्लटशतक से दे रहे हैं। शत्रु के द्वारा अपहरण किये हुए राज्य का पुनरुद्धार करने के लिये किसी राजा को उत्तेजित करते हुए उसका मन्त्री राजा से कह रहा है—

(५क) पुँस्त्वादिति। यदि 'पुरुषत्व' का भी त्याग करना पड़े—(जैसे मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंसे अमृत को छीनकर विश्वकी रक्षा की थी, यदि पातालादि अधोलोक में भी जाना पड़े—(जैसे पृथ्वी की रक्षा करने के लिये कूर्मरूप धारण करके पाताल में गये, अथवा वराह अवतार धारण कर पाताल में चले गये और पृथ्वी की रक्षा की), याचना के कारण, महत्त्वरहित क्षुद्र भी होना पड़े—(जैसे राजा बलि से याचना करते समय वामन अवतार धारण कर विश्व की रक्षा की) तो भी संसार (विश्व) का उद्धार (रक्षा) करनी ही चाहिए, अर्थात् विपत्ति का विनाश करके जगत् की (सम्पूर्णजनों की) रक्षा करनी चाहिए। यह मार्ग (दिशा, रीति) अनिर्वचनीय (अपूर्व) पुरुषोत्तम ने (भगवान् विष्णु ने) दिखाया है ॥४४३॥

(२ समासोक्तिहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा)

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्ति रवौ तत्र ते
युज्येत प्रतिकर्त्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।
क्षीणेनैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना-
गस्त्येवं जडधामता तु भवतो यद्व्योम्नि विस्फूर्जसे ॥४४॥

यह अर्थ—अप्रस्तुत विष्णु के पक्ष में हुआ।

'नमहान्'—में 'न' शब्द के साथ समास हुआ है, जैसे 'नैकधा', 'नारायणः'।

प्रस्तुत राजा के पक्ष में—पुँस्त्वात्'—पौरुष से अर्थात् शौर्य से भी यदि बिचलित होना पड़े, 'अधः' सम्पत्ति का भ्रंश भी यदि हो जाय, तो भी, याचना अर्थात् प्रार्थना करने में स्वयं का महत्त्व भी यदि समाप्त हो जाय, तो भी शत्रु के द्वारा अपहृत किए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करना चाहिए यह रीति सत्पुरुष के द्वारा बतायी गई है।

यहाँ पर किसी सत्पुरुष के प्रस्ताव में उसके तुल्य भगवान् श्रीविष्णु का अभिधान किया गया है। उसमें 'पुँस्त्वाद्' इत्यादि विशेषणों में और 'पुरुषोत्तम'—इस विशेष्य में रहने वाले 'श्लेष' से प्रस्तुत 'विष्णुतुल्य सत्पुरुष' का आक्षेप किया गया है। उस कारण यह 'श्लेषहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा' कही गई है।

शंका०—इस पद्य में प्रकरण को देखते हुए प्रस्तुत (राजरूप) अर्थ ही प्रथमतः उपस्थित होता है, तब यहां पर 'अप्रस्तुतप्रशंसा' कैसे हो सकती है ?

समा०—'योगाद्रूढिर्बलीयसी'—योगशक्ति की अपेक्षा रूढिशक्ति प्रबल होती है। इस न्याय के अनुसार अथवा 'अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसी'—नियम के अनुसार 'पुरुषोतम' शब्द, 'विष्णु' के अर्थ में रूढ है। राजा के अर्थ में 'पुरुषोत्तम' शब्द को यौगिक मानना होगा। अतः उक्त नियम के अनुसार अवयव शक्ति से (योगशक्ति से) गम्य यौगिक राजा रूप अर्थ की अपेक्षा, समुदायशक्ति से (रूढि शक्ति से) गम्य बिष्णुरूप रूढ अर्थ ही प्रथम उपस्थित होता है, उस कारण 'राजा' रूप अर्थ, आक्षेप से ही लब्ध हो जाता है। अतः यहाँ पर 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार ही माना गया है। अतएव दोनों अर्थ तुल्यरूप से वाच्य न होने के कारण यहाँ 'श्लेष' अलंकार मुख्य नहीं है अपितु अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार की निर्मिति में वह हेतु (कारण) बन गया है।

समासोक्तिहेतुक (मूलक) अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण—

(५ख) येनास्यभ्युदितेनेति। हे चन्द्र ! येन अभ्युदितेन क्लान्ति गमितः असि, तत्र रवौ ते प्रतिकर्तुमेव युज्येत, न पुनः तस्यैव पादग्रहः। यदि क्षीणेन एतत् अनुष्ठितं ततः मनाक् किं नो लज्जसे ? अस्तु एवं, यत् व्योम्नि विस्फूर्जसे तत् भवतः जडधामता एव॥ अपने अपकारी धनीपुरुष का अनुसरण करने वाले किसी निर्धन दरिद्र पुरुष को कोई

(३ नादृश्यमात्रहेतुका अप्रस्तुतप्रशंसा)

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किन्तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च बड़वादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ॥ ४४५ ॥

व्यक्ति फटकार लगा रहा है। यह फटकार (निर्भर्त्सना), आपाततः अप्रस्तुत चन्द्र और व्यञ्जना से प्रस्तुत दरिद्र व्यक्ति में घटित होती है।

(५ ख) येनेति। हे चन्द्र! जिस सूर्य ने अपने उदय मात्र से ही तुम्हारी कान्ति को म्लान (फीका) कर दिया, उस सूर्य से (अपने इस अपमान और अपकर्ष का) बदला (प्रतिशोध) लेना ही तुम्हें उचित था, न कि उसी सूर्य के पैरों (पादों का अन्य पक्ष में किरणों) का ग्रहण करना। फिर भी क्षीण (दुर्बल और दरिद्र) होने से यह (अपमान करने वाले का पादग्रहण) भी यदि किया, तो क्या तुम्हें थोड़ी सी भी लज्जा नहीं लगी? तुम बड़े ही निर्लज्ज हो। अरे! इतना अपमान सहकर भी जो तुम आकाश में चमक रहे हो, इससे तुम्हारी मूर्खता (जडधामता, तेजोहीनता) ही प्रकट होती है ॥४४४॥

यहाँ पर विशेष्यवाचक 'चन्द्र' पद, श्लिष्ट नहीं है, केवल श्लिष्ट विशेषणों के प्रभाव से अप्रस्तुत विशेष्यवाचक चन्द्र और सूर्य के व्यवहार पर प्रस्तुत सधन और निर्धन के अथवा विजयी और पराजित राजाओं के व्यवहार का आक्षेप किया गया है उसकारण अर्थात् अप्रस्तुत से प्रकृत का आक्षेप होने पर समासोक्ति की छाया ही यहाँ है, न कि समासोक्ति। क्योंकि यहाँ पर प्रकृत में अप्रकृत के व्यवहार का आरोप किया गया है। समासोक्ति छायाहेतुक (मूलक) अप्रस्तुतप्रशंसा का यह उदाहरण माना गया है।

इस पद्य में 'अभ्युदितेन, क्लान्ति गमितः'—आदि विशेषण, श्लिष्ट है, किन्तु 'चन्द्र, सूर्य (रवि) ये विशेष्य, श्लिष्ट नहीं हैं। उसकारण पूर्वोक्त कथन के अनुसार यह अप्रस्तुत प्रशंसा का समासोक्तिनिबद्ध पाँचवा प्रकार माना गया है।

रात भर अपने वैभव को दिखाने वाले चन्द्र की कान्ति को प्रातः उदित होते ही सूर्य नष्ट कर देता है। इस घोर अपमान का बदला चन्द्र को लेना चाहिए था। किन्तु बदला लेना तो एक तरफ रहा, उलटे वही चन्द्र उस सूर्य का 'पादग्रहण' (किरणग्रहण), करने लगता है। (कृष्ण पक्ष में क्षीण होता हुआ चन्द्र, अमावास्या के दिन सूर्य से भेंट होते ही उससे नवीन तेज लेता है, और शुक्ल पक्ष में पुनः वृद्धिगत होने लगता है।) इस प्रकार का व्यवहार, विपदग्रस्त होने पर कभी-कभी अगतिकगति होकर करना पड़ता है। तथापि स्वाभिमानी व्यक्ति को उसमें भी लज्जा का अनुभव हुआ करता

इयं च काचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थाऽनध्यारोपेणैव भवति यथा—

अब्धेरम्भः स्थगितभुवनाभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लंघनेऽपि क्षमन्ते ।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥ ४४६ ॥

है । किन्तु चन्द्र को सूर्य का 'पादग्रहण' करने में किञ्चिनमात्र भी लज्जा नहीं लगती । लाज नहीं तो नहीं, इस प्रकार की दुर्दशा में उसे भूषण तो न समझे । किन्तु सूर्य से भीख माँगकर प्राप्त हुआ जो तेज है, उसी को इस विशाल आकाश में दिखाता फिरता है । इस प्रकार दिखाते घूमना; उस चन्द्र की जडधामता ही समझनी चाहिए, इसके अतिरिक्त और क्या कहा जाय । 'जडधामता' = जलधामता = शीतप्रभता, श्लिष्ट पदों में 'ड-ल', 'र-ल', 'ब-व' का अभेद माना जाता है ।

अप्रस्तुत के वर्णन से सूचित होने वाले प्रस्तुत निर्धन का चित्र इस प्रकार सामने आता है—जिस धनी पुरुष के उत्कर्षमात्र से (प्रत्यक्ष अपकार से भी नहीं) प्रकृत निर्धन की दुरवस्था हो गई, उस धनी पुरुष के साथ, निर्धन व्यक्ति को तो झगड़ते रहना चाहिए । किन्तु यह निर्धन व्यकित उससे झगड़ा न करके उलटा उस धनीपुरुष के पैर छूने लगता है । यदि यह कहें कि उस निर्धन ने अपनी विपन्न स्थिति के कारण निरुपाय होकर उसके पैर छुए, तो उसे यह करने में कम से कम लाज लगनी चाहिए थी । किन्तु लाज लगना तो दूर रहा, वह तो उस धनी पुरुष के उपकारों को अपने सिरमाथे करके उसके गुणगान करने लगा, उसी में वह अपने को धन्य समझने लगा । ऐसी स्थिति में उसे 'कायर' के सिवाय और क्या कहा जाय ?

इस वर्णन में 'पादग्रह, नो लज्ज से, जडधमिता' आदि पदों से ज्ञात होने वाली व्यावहारिक विसंगति की उपपत्ति निर्धन पक्ष में ही हो पाती है । क्योंकि यह निर्धन, स्वाभिमानशून्य व्यक्ति (पुरुष) ही प्रकृत (प्रस्तुत) माना गया है । चन्द्र पर निर्धन पुरुष का आरोप करने पर ही 'विसंगति' का बोध हो पाता है ।

इस पाँचवें प्रकार के एक अन्य रीति से तीन भेद—

अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँचवें प्रकार के उदाहरणों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ध्यान में आवेगा कि उसका वाच्यार्थ कभी तो व्यंग्यार्थ से पूर्णतया भिन्न रहता है, और कभी-किसी अंश से भिन्न रहकर किसी अंश में व्यंग्यार्थ से समरस रहता है । जैसे—'पुंस्त्वादपि प्रविचलेत्' इस उदाहरण के पदों का वाच्यार्थ, अप्रस्तुत और व्यंग्यार्थ, प्रस्तुत अलग-अलग ज्ञात होता है । उस समय 'व्यंग्यार्थ, और वाच्यार्थ, एक दूसरे में मिश्रित नहीं रहते । किन्तु 'येनास्यभ्युदितेन'इस उदाहरण में प्रस्तुत'निर्धन-स्वाभिमान-

क्वचिदध्यारोपेणैव यथा—

कस्त्वं भोः ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥ ४४७ ॥

शून्य पुरुष का आरोप, अचेतन चन्द्र पर किये बिना पद्य का संगठन ही नहीं हो पाता है। क्योंकि अचेतन (जड़) वस्तुओं को सम्बोधित करके कभी भी कोई बोलता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'पादग्रहः', नो लज्ज से, 'जडधामता' शब्दों से प्रदर्शित की जाने वाली व्यावहारिक विसंगति, चन्द्र के विषय में प्रतीत ही नहीं हो पाएगी। उसके लिए तो निर्धन के धर्मों को 'चन्द्र' पर आरोपित करना ही पड़ेगा। अर्थात् इस पद्य के वाच्यार्थ में व्यंग्यार्थ, पूर्णरूपेण मिश्रित हुआ है। इस रहस्य को ध्यान में रखकर ही मम्मटभट्ट ने इस पाँचवें प्रकार के तीन भेदों की कल्पना की है—(१) जब वाच्यार्थ पर व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) का आरोप (अध्यारोप) न करने पर भी वाच्यार्थ की उपपत्ति संभव रहती है, तब यह पहला भेद होता है। (२) जब वाच्यार्थ पर व्यंग्यार्थ का पूर्ण रूप से आरोप करने पर ही वाच्यार्थ की उपपत्ति संभव रहती है, तब यह दूसरा भेद होता है। (३) जब वाच्यार्थ पर व्यंग्यार्थ का आरोप कुछ भाग तक ही (आंशिक ही) किया जाता है, अर्थात् अवशिष्ट भाग पर नहीं किया जाता, तब यह तीसरा भेद होता है। इनके उदाहरण क्रमशः अग्रिम तीन पद्यों में दृष्टिगोचर होते हैं। इस नवीन विभाजन के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँचवें प्रकार में नौ भेद (३ × ३=९) होते हैं।

अब सादृश्यमात्रहेतुक (केवल सादृश्य के कारण) अप्रस्तुत प्रशंसा के अर्थात् अनध्यारोपमूलक तीसरे भेद को उदाहरण के द्वारा बता रहे हैं।

(५ ग) आदायेति। चारों ओर से नदियों के द्वारा जल को लेकर के इस दुष्ट समुद्र ने, विश्व का कौन सा उपकार किया ? अर्थात् कुछ भी उपकार नहीं किया, उस संगृहीत मधुर जल को खारा कर दिया, अर्थात् अपेय कर दिया, उसे बडवाग्नि में जला दिया, और जो कुछ शेष जल बचा रहा उसे पाताल के पेट में डाल दिया ॥४४५॥

यहाँ पर अप्रस्तुत क्षार समुद्र के वर्णन से प्रस्तुत असत् पुरुष का वर्णन किया गया है। यहाँ पर न तो विशेष्य और विशेषणवाचक शब्द श्लिष्ट हैं और न श्लिष्ट विशेषण का ही कोई प्रभाव छिपा हुआ है।

अभिप्राय यह है कि सभी स्थानों से धन संग्रह करके और उसका मनमाना यथेष्ट अपव्यय करने वाले प्रस्तुत पुरुष की अप्रस्तुत समुद्र के साथ तुलना की गई है। अर्थात्

क्वचिदंशेष्वन्यारोपेण यथा—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टि सा: मदविस्मृतस्वपरदिक् किंभूयसोक्तेन वा।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर! हे यद्वारणोऽद्याप्यसौ
अन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः! क एष ग्रहः॥ ४४८॥

निर्धन प्रजाजनों के मुख के ग्रास को अर्थात् अल्प-स्वल्प धन को अनुचित करों (टेक्सों) आदि के द्वारा उसका अपव्यय करने वाले किसी प्रकृत राजा (शासक) का वर्णन प्रस्तुत होने पर उसके तुल्य अप्रकृत समुद्र का वर्णन किया है। यहाँ पर श्लेष न रहने पर भी केवल सादृश्य के आधार पर असत् पुरुष का आक्षेप किया गया है। अतः यह सादृश्यमात्रहेतुक 'अप्रस्तुत प्रशंसा' कही गई है। इस सन्दर्भ में उद्योतकार ने भी कहा है—"अत्र ग्रासकल्पं परधनमपहृत्य विफलव्ययकर्तरि दुरीश्वरे प्रकृते तत्सदृशस्य अप्रकृतस्य अर्णवस्य कथनम्" इति। इसी तरह एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

कोई सखी, नायिका से कह रही है—

"कौटिल्यं नयने निवारयतरां शीघ्रां गतिं शीलय
व्यक्तार्थां कुरु भारतीं विहसितेऽप्यौद्धत्यमायोजय।
कुग्रामप्रमदाविलासरसिकः कान्तस्त्वयासादितो
नायं नन्दिनि नागरीजनसमाचारैः समाकृष्यते॥"

अस्यार्थः—हे नन्दिनि। कौटिल्यं वक्रतां निवारयतराम् अतिशयेन निवारयां निवारणप्रयत्नातिशयबोधनाय तरामिति। गतिं गमनं शीघ्रां शीलय अभ्यस्य, अभ्यासं विना स्वाभाविकमन्दगमनस्य निवर्तनासंभवादितिभावः। भारतीं वाणीं व्यक्तार्थां स्पष्टार्थां कुरु वदेत्यर्थः। यत्नातिशयसूचनाय कुर्वित्युक्तम्। विहसिते मधुरस्वरसहितहासे, औद्धत्यम् उद्धतत्वम् आयोजय नियोजय। अत्र हेतुरुत्तरार्धम्। नागरीजनानां समाचाराः व्यवहाराः, नेत्रकौटिल्य-मन्दगमन-अस्पष्टार्थभाषण-अनौद्धत्यरूपाः, तैः, कुग्रामप्रमदा-विलासरसिकः त्वया आसादितः, अयं कान्तः, न समाकृष्यते, न वशीक्रियते॥ अत्र एतद्दृष्टान्तेन मूर्खप्रभुसंगतः कविरुपदिश्यते इति॥

अनध्यारोपमूलक भेद—

इयं चेति। और यह तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य के कथनात्मक पाँचवें प्रकार की अप्रस्तुत प्रशंसा, 'वाच्यार्थ' में व्यंग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) के अध्यारोप के बिना भी होती है। जैसे—

(५ घ) अब्धेरिति। इस संसार में ऐसे बहुत से सांयात्रिक (समुद्रव्यापारी-पोतवणिक्) पुरुष हैं, जिनके पास यातायात के साधनभूत (उपाय) पोत (यानपात्रे शिशौ पोत-इत्यमरः), हैं जो इस विशाल भुवन (भूमि के विस्तार) तथा पाताल

की कुक्षि (मध्य) को अपने जल से आच्छादित करने वाले समुद्र को लाँघने में भी समर्थ हैं। दैवदुर्विपाक से यदि कदाचित् यह समुद्र सूख जाय, तब उस समय इसके गर्त (अवट) एवं छिद्र (कुहर-गम्भीर भाग) अर्थात् भयानक गढ्ढे को पार करने की (लांघने की) तो दूर रही, उसे देखने में भी कोई समर्थ नहीं है ॥ ४४६ ॥

अप्रस्तुत प्रशंसा का यह अनध्यारोपमूलक भेद है। इस समुद्रान्योक्ति के द्वारा प्रकृत राजा की सम्पन्नता का समर्थन किया गया है। समुद्र, अथाह जल से भरा हुआ है। उस कारण सामुद्रिक नौका के द्वारा इधर-उधर यातायात भी किया जा सकता है, लेकिन दुर्दैव से यदि यही समुद्र सूख जाय, तो उसे लांघ जाना तो दूर ही रहा,—उसके भयानक रूप को किसी से देखा भी नहीं जा सकेगा। इस उक्ति का दृष्टिकोण, जिस व्यङ्गचार्थ से प्रतीत हो रहा है वह इस प्रकार है कि 'दुष्टप्रकृति व्यक्ति जब तक सुसमृद्ध रहता है, तब तक उसके आश्रित लोग उसकी दुष्टता को भी किसी तरह सहन करते रहते हैं किन्तु उसकी समृद्धि दैववशात् नष्ट होने पर उसकी दुष्टता, लोगों को असह्य हो जाती है ॥

अर्थात् उसकी ओर कोई थूक कर भी देखने के लिये तैयार नहीं होता। अभिप्राय यह है कि प्रजा का उत्पीड़न करने वाला शासक राजा जब तक समृद्ध, धनधान्य से भरा रहता है तभी तक प्रजा उसका मुख ताकती रहती है। किन्तु जब उसके कोष में धन की कमी हो जाती है, तब वह प्रजाजनों पर धनप्राप्ति के लिये अत्याचार करने लगता है—यह व्यङ्गचार्थ (प्रतीयमान अर्थ) है। इस व्यङ्गचार्थ का (प्रतीयमान अर्थ का) यहाँ 'वाच्यार्थ' पर आरोप इसलिये नहीं किया गया है कि वह वाच्यार्थ, स्वतः सम्भवी (स्वत एव सम्भाव्यमान) अर्थात् उत्पन्न हो रहा है। इसलिये प्रकृत प्रतीयमान अर्थ (व्यङ्गचार्थ) के आरोप (अध्यारोप) की आवश्यकता नहीं है।

क्वचिदध्यारोपेणैवेति। कहीं-कहीं वाच्यार्थ पर प्रतीयमान (व्यङ्गच) अर्थ के अध्यारोप से ही अप्रस्तुत प्रशंसा होती है।

यथेति। जैसे—(५ ङ) कस्त्वं भोः ? इति।

प्रश्न—अरे तू कौन है ?

उत्तर—बताता हूँ कि मुझको अभागा शाखोटक (श्मशान की अग्नि से जले हुए पत्ते आदि से रहित सिहोरा का वृक्ष समझो।

प्रश्न—लगता है कि कुछ वैराग्य के कारण यह बात बोल रहे हो ?

उत्तर—तुमने ठीक समझा है।

प्रश्न—ऐसा क्यों कह रहे हो ?

उत्तर—यहीं पर मेरे वाम भाग में बड़ का पेड़ (वट वृक्ष) खड़ा है। पथिक लोग (आने-जानेवाले लोग) उसी का सब प्रकार से आश्रय ले रहे हैं, और मैं मार्ग के मध्य में खड़ा हूँ, फिर भी मेरे पास परोपकार करने के लिये फल आदि तो दूर रहे, छाया भी नहीं कर पा रहा हूँ। इसलिये मैं अपने को अभागा कह कर परिचय दे रहा हूँ॥ ४४७॥

यह पद्य, आनन्दवर्धनरचित ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में दिया गया है। इस पद्य में शाखोटक वृक्ष के साथ किसी व्यक्ति के वार्तालाप का वर्णन किया गया है। काव्यप्रकाश की उद्योत व्याख्या में शाखोटक को भूताधिवास का वृक्षविशेष बताया है। इस पद्य को पढ़ने पर किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति हो रही है, जो किसी न किसी प्रकार दूसरों की सहायता करने के लिये उत्सुक रहता है, किन्तु या तो वह धन आदि से हीन (निर्धन) हो गया है, अथवा अधम (नीच) जाति का है, इसलिये वह सहायता नहीं कर पाता है, और न लोग ही उसकी सहायता को स्वीकार करते हैं। उस कारण वह दुःखी है। वस्तुतः शाखोटक वृक्ष के साथ वार्तालाप करना सम्भव नहीं है, इसलिये उक्त वाच्यार्थ पर, प्रतीयमान नीच जाति अथवा धनहीन (निर्धन) दाता आदि जो प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ है, उसका आरोप (अध्यारोप) करके ही अर्थ की प्रतीति हो रही है। उस कारण यह अध्यारोपमूलक 'अप्रस्तुत प्रशंसा' का उदाहरण माना गया है।

उद्योतकार ने उपर्युक्त उदाहरण में 'अतिशयोक्ति' के संभव की शंका की है। क्योंकि 'प्रस्तुत' विषय को अप्रस्तुत विषय ने निगीर्ण कर लिया है। तथाहि—अप्रस्तुत 'शाखोटक' और 'बट' ने प्रस्तुत 'निर्धन' अथवा 'हीनजाति' तथा 'सधन' अथवा 'उच्चजाति' के व्यक्ति को निगीर्ण कर लिया है।

इस पर ऊत्तर देते हुए यह कहा है कि 'अतिशयोक्ति' में 'अप्रस्तुत' की प्रधानता रहती है। अतः 'कस्त्वं भोः'—इस उदाहरण में यदि 'अतिशयोक्ति' को मान लिया जाय तो प्रधानता 'शाखोटक' की होगी, तब पद्यवर्णित सभी धर्मों को मुख्यतया उसी के कहने होंगे। किन्तु पद्यगत 'संभाषण' रूप पहले धर्म का होना ही 'शाखोटक' में संभव नहीं है। उस कारण उक्त पद्य में 'अतिशयोक्ति' का होना कैसे संभव हो सकता है ? यदि कदाचित् उसके होने का दुराग्रह ही करें तो वह, अप्रस्तुत-प्रशंसा की अंगभूत ही रहेगी, उस कारण मुख्य अलंकार 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' ही रहेगा।

किञ्च—अतिशयोक्ति में वाच्यरूप 'अप्रस्तुत' के धर्म से युक्त होकर 'प्रस्तुत' की प्रतीति हुआ करती है, और वह भी 'लक्षणावृत्ति' से होती है, किन्तु अप्रस्तुत-प्रशंसा में 'प्रस्तुत' की प्रतीति, वाच्यरूप 'अप्रस्तुत' के साथ प्रायः तटस्थ रूप से होती है और वह भी 'व्यञ्जनावृत्ति' से होती है।

इसी अभिप्राय से पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का निगरण (ग्रसन) न होकर अप्रस्तुत से प्रस्तुत का 'आगूरण' (सूचन) हुआ करता हैं।

अप्रस्तुत-प्रशंसा के किसी-किसी उदाहरण में (जैसे—'कस्त्वं भोः' में) प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ अभेद कल्पना किये बिना वाक्यार्थं उपपन्न ही नहीं हो पाता। उस कारण वहाँ पर निगरण माना जा सकता है, किन्तु अभेद कल्पना के बिना भी उपपन्न होने वाले सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा के कितने ही उदाहरण हैं—यह पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है। 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में इस प्रकार का संकर, 'अतिशयोक्ति' से ही हो सकता है, 'रूपक' से नहीं। 'रूपक' में आरोप का 'विषय' और 'विषयी' दोनों ही स्व-वाचक शब्दों से निर्दिष्ट रहते हैं, किन्तु यहां आरोप का केवल 'विषयी' ही 'वाचक शब्द' से निर्दिष्ट रहता है।

क्वचिदंशेऽध्यारोपेणेति। कहीं-कहीं आंशिक अध्यारोप से भी अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। यथेति। जैसे—(५ च) सोऽपूर्वं इति। भ्रमरान्योक्ति—हे भ्रमर? क्या तुम हाथियों की जिह्वा के उस अद्‌भुत परिवर्तन को (पलट जाने को), और कानों की असाधारण चपलता को तथा मद के कारण अपने और दूसरे के मार्ग का ध्यान न रखने वाली दृष्टि को, और अधिक क्या कहें! अरे तुम इन सभी बातों को भूल गये हो। क्योंकि जो आज भी अर्थात् इतना अपमान सहकर भी जिसकी सूंड (कर) भीतर से पोली (खाली) है, अर्थात् खाली हाथ है, देने के लिये जिसके हाथ में कुछ भी नहीं है, जो निरन्तर तुम्हें दूर हटाता रहता है, उसी (हाथी) की तुम सेवा करते रहते हो, अरे भैया! यह तुम्हारा कैसा अनुचित आग्रह है? अर्थात् तुम इसको (हाथी को) छोड़कर कहीं अन्यत्र क्यों नहीं चले जाते ॥ ४४८ ॥

अत्र रसनाविपर्यास इति। यहाँ 'रसना (जिह्वा) का विपर्यय' (विपर्यास) तथा 'अन्तः शून्यकरत्व', ये दोनों अंश, भ्रमर के द्वारा हाथी की सेवा न करने में हेतु (कारण) नहीं हैं। केवल कानों की चपलता ही उसके समीप न जाने में हेतु है; किन्तु हाथी के गण्डस्थल से बहने वाला 'मद', असेवन का तो कारण (हेतु) है ही नहीं, प्रत्युत हाथी की सेवा करने का ही वह हेतु (कारण) है। इस रीति से यहाँ कुछ अंश में प्रतीयमान अर्थ का अध्यारोप किया गया है, और कुछ अंश में नहीं। उस कारण यह आंशिक आरोप का उदाहरण है।

निष्कर्ष यह है कि अप्रस्तुत 'हाथी' एवं 'भ्रमर' के कथन से तुल्य प्रस्तुत 'सेव्य' एवं 'सेवक' (निवारक एवं अनुगत) दो पुरुषों का 'श्लेष' से आक्षेप है। कर्णचापलांश में वाच्यरूप 'हाथी' और 'भ्रमर' में, 'सेव्य' एवं 'सेवक' (निवारक एवं अनुगत) दो पुरुषों का 'श्लेष' से आक्षेप है। 'पुरुष' रूप 'प्रतीयमान' के आरोप

करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु 'रसनाविपर्यय आदि तीन स्थलों' में उसके आरोप की आवश्यकता है। भ्रमर को हाथी की सेवा नहीं करनी चाहिए। सेवा न करने में हाथी की 'रसना' का विपर्यास (विपर्यय) एवं 'शून्यकरत्व' ये दोनों ही हेतु नहीं हैं। क्योंकि उन दोनों से 'भ्रमर' का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु 'कर्णचापल' (कानों का बार-वार हिलाना-फड़फड़ाना, 'सेवा' न करने में हेतु है। क्योंकि कानों के फड़फड़ाने से भ्रमर को चोट लग सकती है। तथापि हाथी के गण्डस्थल से चूनेवाला 'मदजल' ही, भ्रमर के द्वारा हाथी की सेवा करने में हेतु है। उस कारण गज-भ्रमर रूप 'वाच्यार्थ' में सेव्यसेवक रूप 'व्यंग्यार्थ' का आरोप करना समुचित है। प्रदीप और उद्योत में कहा गया है—"अत्र हस्तिनो रसनाविपर्यासः, शून्यकरत्वं मदश्च, वाच्यस्य भ्रमरस्य सेवनाऽभावहेतुत्वेन वाच्यानि वक्तव्यानीत्यर्थः। 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्'—(१।२।६९) इति पाणिनिसूत्रेणैकशेषः। न च तद्धेतवः। मदस्तु प्रत्युत सेवने हेतुरिति तदंशे प्रतीयमानपुरुषाध्यारोपापेक्षा। कर्णचापलन्तु भ्रमरस्याऽसेवने हेतुरेवेति तदंशे नाध्यारोपः ॥" इति।

'अप्रस्तुत' पद से—'मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ से भिन्न अर्थ समझना चाहिए। जिससे 'किं भृङ्ग सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया' —यहाँ पर 'अपने प्रियतम के साथ बगीचे में बिहार करती हुई कोई नायिका, भृङ्ग से कह रही है'— इस 'प्रस्तुत' से प्रस्तुतान्तर को सूचित करने पर प्रस्तुताङ्कुरनामक भिन्न अलंकार का होना कुवलयानंद कार ने बताया है, किन्तु कुवलयानन्दकार का यह कहना ठीक नहीं है। काव्यप्रकाश-कार की रीति से ही संभव हो सकता है। जब मुख्यतात्पर्यविषय जो प्रस्तुत है. वह, नायिका-नायक वृत्तान्त का उत्कर्षक होने से गुणीभूत व्यंग्य है,तब तो यहाँ सादृश्यमूलक समासोक्ति ही होगी। अप्रस्तुत प्रशंसा शब्द का अर्थ—'अप्रस्तुतेन-प्रशंसा'—अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ से प्रशंसा (वर्णन) करना। एवंच वाच्य अथवा व्यक्त रूप 'प्रस्तुत' को जहाँ पर सादृश्यादि किसी एक प्रकार से बताया जाता है, वहाँ पर भी यही अर्थात् अप्रस्तुत-प्रशंसा ही मानी जाती है। अभिप्राय यह है कि इस भ्रमरान्योक्ति के द्वारा कवि ने आपाततः भ्रमर के व्यवहार को गलत (प्रमादपूर्ण)बताया है। अपने अपमान की ओर ध्यान न देकर(परवाह न कर)हाथी के चारों ओर मण्डरानेवाले भ्रमर की ओर व्यञ्जना से बार-बार मानहानि को सहन करते हुए भी दुष्ट स्वामी की सेवा (नौकरी) करनेवाले सेवक (नौकर) की गलती बताई है। अर्थात् ऐसे दुष्ट स्वामी की सेवा करना सर्वथा अनुचित है। कवि के कथन में 'भ्रमर' और 'हाथी' दोनों 'अप्रस्तुत' हैं, और 'सेवक' तथा उसका 'स्वामी' दोनों 'प्रस्तुत' हैं। कवि ने सेवा को अनुचित बताने में चार कारण बताये हैं—(१) 'रसना विपर्यय', (२) कर्णचापल, (३) मद, (४)

अन्तःशून्यकरत्व' ये चारों शब्द, श्लिष्ट हैं। पृथक् पृथक् अर्थों को बताकर 'अप्रकृत' में तथा 'प्रकृत' में भी ये उपपन्न होते हैं। अप्रकृत अर्थात् 'हाथी' के पक्ष में उपपन्न होने वाले अर्थ इस प्रकार हैं—(१) रसना (जीभ) का उलटा रहना। एक बार देवताओं को भुलावा देकर पीपल (अश्वत्थ) वृक्ष में अग्नि छिपकर बैठा। उसे खोजने के लिये देवता निकल पड़े। अग्नि के छिपने की खबर एक हाथी और एक तोते ने (शुक ने) उन्हें दी। तब अग्नि को बड़ा क्रोध आया और उसने दोनों को शाप दिया। उस कारण हाथी की जीभ, उलटी हो गई। अर्थात् मुख के भीतर अगले भाग में जीभ का मूल और पिछले भाग में जीभ का टोक हो गया तथा तोते का बोलना अस्पष्ट हो गया, यह कथा पुराणों में वर्णित है। (२) शरीर पर बैठी हुई मक्खियों को उड़ाने के लिये हाथी अपने शूर्पाकार कानों को निरन्तर डुलाता रहता है। (३) हाथी की एक अवस्था होती है, जिसमें उसके गण्डस्थल से एक विशिष्ट द्रव बहने लगता है, उस अवस्था में हाथी मदोन्मत्त हो जाता है, उस कारण उस द्रव को 'मदरस' कहा जाता है। उस मदरस से हाथी उन्मत्त हो जाता है। उसे दिशाओं का भी भान नहीं रहता है। (४) सूंड (कर) भीतर से पोली रहती है—इस 'अप्रस्तुत' पक्ष में 'वारण' शब्द, हाथी का नाम है।

इन चारों शब्दों का प्रस्तुत पक्ष में दुष्टस्वामी (धनी) की ओर उपपन्न होने वाला अर्थ इस प्रकार है—(१) शब्द की परवाह न करना अर्थात् दिये हुए वचन का पालन न करना। (२) कान का कच्चा होना, अर्थात् जो कुछ भी झूठ-सच सुनाई दे, उस पर अविचार पूर्वक विश्वास कर लेना। (३) गर्व, उन्मत्त रहना, उस कारण आत्मीय तथा परकीय(हितू एवं शत्रु)को पहिचानने की शक्ति नष्ट हो जाती है। (४) हाथ का दानशून्य हो जाना अर्थात् कृपणता का होना—इस 'प्रस्तुत पक्ष' में 'वारण' शब्द, 'धनी' (स्वामी) का विशेषण बन जाता है, और उसका अर्थ—'निकाल देनेवाला' अर्थात् अपमान का व्यवहार करने वाला' होता है।

एवं च उक्त चार कारणों में से एक ही 'कर्णचापल' रूप कारण, भ्रमर को हाथी की सेवा से मुक्त कराने वाला प्रतीत होता है। हाथी अपने कानों को निरन्तर हिला कर चारों ओर मण्डराने वाले भ्रमरको झिडकार के साथ दूर हटा देनेपरतो उसे चाहिए कि वह हाथी के पास कभी भी न जाय। इसके अतिरिक्त जो तीन कारण हैं, वे भ्रमर को हाथी से दूर हटाने में संगत नहीं हैं। क्योंकि हाथी की रसना (जीभ) उलटी होना तथा सूंड पोली रहना भ्रमर के लिए किसी प्रकार भी हानिकारक नहीं है। अब बचा एक कारण 'मद' जो भ्रमर को हाथी से दूर तो करता ही नहीं, प्रत्युत उसे हाथी के पास जाने के लिए प्रेरित करता है। हाथी के मदजल की पिपासा के लोभ से ही तो भ्रमर, हाथी के गण्डस्थल के चारों ओर मण्डराता रहता है। इससे

यह प्रतीत होता है कि 'कर्णचापल' को छोड़कर अन्य तीन कारणों की 'अप्रस्तुत विषय' के साथ संगति लगाने के लिए 'प्रस्तुत स्वामि-सेवक' का अप्रस्तुत हाथी-भ्रमर' पर अभेदारोप करना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि 'हाथी' की जगह (हाथी के स्थानापन्न) दुष्ट स्वामी (मालिक-धनी) और 'भ्रमर' की जगह (भ्रमर के स्थानापन्न) 'सेवक' को समझने पर ही 'कर्णचापल' को छोड़कर अन्य 'तीन कारणों' की 'अप्रस्तुत पक्ष' के साथ संगति लग पाती है। किन्तु 'कर्णचापल' रूप कारण, भिन्न भिन्न अर्थों के माध्यम से दोनों पक्षों के साथ स्वतन्त्र तथा सुसंगत होता है। उस कारण उक्त कारण की संगति लगाने के लिये 'प्रकृत' का 'अप्रकृत' पर अभेदारोप करने की आवश्यकता नहीं होती। अतः उक्त पद्य 'आंशिक अध्यारोप' से होनेवाली 'अप्रस्तुत प्रशंसा' का उदाहरण माना गया है।

यही परिस्थिति पूर्वोक्त (येनास्यभ्युदितेन चन्द्र०-श्लो० ४४४) उदाहरण में भी है। प्रस्तुत के पक्ष में चारों कारण, संगत होते हैं। 'जो आदमी, अपने वचन पर नहीं टिकता (अर्थात् अपने वचन का पालन नहीं करता), और कान का कच्चा है, उन्मत्त एवं हितू—(आत्मीय) अहितू (अनात्मीय) को नहीं पहचान पाता, और कृपण है। वह प्रतिक्षण, निकल जाओ, निकल जाओ कहता रहता है, फिर भी उसकी नौकरी (सेवा) करते रहना, हठ के सिवाय और क्या है? प्रस्तुत उदाहरण पद्य) 'वारण' शब्द की दृष्टि से श्लेषमूलक है, क्योंकि 'वारण' पद, विशेष्य और श्लिष्ट है।

किन्तु 'भ्रमर' शब्द की दृष्टि से समासोक्तिमूलक है, क्योंकि 'भ्रमर'—यह विशेष्य-वाचक शब्द का एक ही (भौंरा) अर्थ है। अर्थात् चारों विशेषण श्लिष्ट हैं।

'अप्रस्तुत प्रशंसा' के पाँचों प्रकारों का निरूपण हो चुका। फिर भी पाँचवें प्रकार का स्वरूप अच्छी तरह समझाने के लिये 'उद्योतकार' ने 'अप्रस्तुत' शब्द के अर्थ को बताया है। उक्त अलङ्कार के कतिपय उदाहरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं, जिनके सन्दर्भ के बल पर उदाहृत पद्य के वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों को 'प्रस्तुत' बताया जा सकता है। जैसे—'सोऽपूर्वो रसना०'—यह उक्ति, (भ्रमरान्योक्ति) किसी ने दुष्ट स्वामी के सेवक को उद्देश्य कर कही है। इस उक्ति का वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों 'प्रस्तुत' ही प्रतीत होते हैं। तब इसे 'अप्रस्तुत प्रशंसा' कैसे कहा जाय? ऐसे उदाहरणों के संग्रहार्थ 'अप्रस्तुत' का अर्थ—'प्रमुखता बताने के लिये वक्ता को जो अभिप्रेत न हो'—करना चाहिये। तात्पर्य की दृष्टि से अप्रस्तुत अर्थ, सन्दर्भ की दृष्टि से अत्यन्त अप्रस्तुत रहे या प्रस्तुत रहे, वक्ता को प्रमुखतया विवक्षित, किसी अन्य (दूसरे) अर्थ का सूचक रहने से वह, 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में बाधक नहीं है। उस कारण 'ध्वनि' के सभी उदाहरण, अप्रस्तुत प्रशंसा में ही अन्तभूत हो जाने की शंका नही करनी चाहिये। क्योंकि 'अप्रस्तुत प्रशंसा' का क्षेत्र, 'कार्य-कारण, सामान्य-

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः कर्णचापलं तु हेतुः मदः प्रत्युत सेवने निमित्तम् ।

विशेष, सादृश्य' तक ही मर्यादित है। इसकी तरह ध्वनि का क्षेत्र मर्यादित नहीं है।

अप्रस्तुत प्रशंसा का यह पाँचवाँ प्रकार, कवियों को अत्यधिक प्रिय रहता है। इसे 'अन्योक्ति' के नाम से भी कहा जाता है। मम्मटोत्तरवर्ती आलंकारिकों ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' का निरूपण प्रायः मम्मट के अनुसार ही किया है। किन्तु शोभाकर, जयरथ आदिकों के सामान्य-विशेषात्मक अप्रस्तुत प्रशंसा के कतिपय उदाहरण, 'दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास' जैसे प्रतीत होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के मत से 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में 'प्रस्तुत' का बोध व्यंजना से होता है। किन्तु शोभाकर का मत, उसके विरुद्ध है। उसके मत के अनुसार अप्रस्तुत प्रशंसा में मुख्यार्थभूत प्रस्तुत का बाध होकर 'लक्षणा' से अप्रस्तुत का बोध होता है।

अप्रस्तुत-प्रशंसा और समासोक्ति की समानता और दोनों की भिन्नता—अप्रस्तुत-प्रशंसा और समासोक्ति दोनों को 'गम्य-औपम्याश्रित' माना गया है। दोनों में एक अर्थ तो 'वर्णित' रहता है, और वह दूसरे अर्थ को आक्षेप के द्वारा बताता है—यह दोनों की समानता है और दोनों में भेद यह है कि 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में 'अप्राकरणिक अर्थ' से 'प्राकरणिक अर्थ' का आक्षेप किया जाता है किन्तु 'समासोक्ति' में प्राकरणिक अर्थ से 'आप्राकरणिक अर्थ' का आक्षेप किया जाता है।

अतिशयोक्ति अलंकार—

'अतिशयोक्ति'—अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान अलंकार होता है। महाकवि दण्डी ने 'अतिशयोक्ति' को 'अलंकारोत्तमा' कहा[1] है। 'अतिशयोक्ति' शब्द से ही ज्ञात हो जाता है कि 'अतिशय से भरी हुई उक्ति'। लोक-प्रसिद्धि के उल्लंघन (अतिक्रमण) को ही 'अतिशय'—शब्द से कहा जाता है। इस अतिशय का सहारा लेकर किये गये विधान को अतिशयोक्ति कहते हैं। अर्थात् लोकविलक्षण, अवास्तविक वर्णन। इस प्रकार के वर्णन में वास्तविकता की उपेक्षा कर देने पर भी किसी विशेष अभिप्राय को प्रकाशित करने का लक्ष्य कवि का रहता है। विशेषकर वर्ण्य वस्तु का गुणोत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है। इसीलिए भामह और उद्भट ने 'अतिशयोक्ति' का स्वरूप 'निमित्ततो वचो यत् तु लोकातिक्रान्तगोचरम्'—बताया[2] है।

---

१. दण्डी २।२१४।

२. भामह २।८१, उद्भट २।११।

(१२ अतिशयोक्ति-अलङ्कारः)

(१५३) निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १०० ॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा

(सूत्र १५३) निगीर्येति । (परेण) उपमान के द्वारा (प्रकृतस्य) उपमेय का (निगीर्य) निगरण करके अर्थात् अन्तर्भाव करके (अलग से न बताकर) अध्यवसान करना यानि आहार्य अभेद का निश्चय (कल्पित अभेद बताना) जहाँ किया जाता है, वहाँ (१) प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति होती है ।

द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्ति को बताते हैं—

(२) प्रस्तुतस्येति । (प्रस्तुतस्य) प्रस्तुत अर्थ का अर्थात् बुद्धिस्थित (बुद्धिसन्निहित) उपमेय का अन्य रूप से बर्णन जहाँ किया जाता है, वहाँ द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । जब कवि अपनी वर्ण्य (प्रस्तुत) वस्तु को लौकिक प्रसिद्धि की अपेक्षया कुछ अलग ही (अन्यत्वम्) बताना चाहता है, तब अतिशयोक्ति का यह दूसरा प्रकार समझना चाहिए ।

(३) तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति को बताते हैं—

यदन्यत्वमिति । 'यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'—अर्थात् 'यदि' शब्द अथवा 'चेत्' शब्द को कहकर किसी ऐसे अर्थ की कल्पना करना, जिसकी संभावना न हो, वहाँ तृतीय प्रकार की 'अतिशयोक्ति' होती है ।

(४) चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति को बताते हैं—

कार्यकारणयोश्चेति । कार्य और कारण के पौर्वापर्य का अर्थात् कारण के पश्चात् (बाद) कार्य हुआ करता है, इस प्रसिद्धि का विपर्यय (वैपरीत्य) जहाँ बताया जाता है (अर्थात् कारण से पूर्व 'कार्य' को बताया जाता है) वहाँ चौथे प्रकार की 'अतिशयोक्ति' होती है ।

'अतिशयोक्ति' को निरुक्ति इस प्रकार की जाती है—

'अतिशयः अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः अतिशयोक्तिः'। उक्त चारों भेद, परस्पर अत्यन्त विलक्षण रहने पर भी उन सभी में यह निरुक्ति संगत हो जाती है, उस कारण उक्त चारों भेदों को साधारणतया 'अतिशयोक्ति' के नाम से ही कहा जाता है । अतएव काव्यप्रकाशकार ने इसका अलग से लक्षण न बताकर उसके प्रकारों को ही बताया है और उन्हीं प्रकारों को इस एक ही संज्ञा से बता

(प्रथमा अतिशयोक्तिः)

उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका,

यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥ ४४९ ॥

दिया । जैसे 'कमलों' के अनेक भेद रहने पर भी सभी को साधारणतया 'पङ्कज' नाम से ही कहा जाता है । 'अतिशयोक्ति'—यह नाम योगरूढ है । 'अतिशयोक्ति' पद की यौगिक व्युत्पत्ति से उसके 'अतिशयप्रतिपत्तये अन्यस्य अन्यतादाम्यप्रतिपादकोक्ति' रूप सामान्य लक्षण का भी लाभ हो जाता है—यह चक्रवर्ती का कहना है ।

प्र०—चारों प्रकार की अतिशयोक्ति में किसी एक प्रयुक्ति-निमित्त के अनुगत न रहने से उन्हें 'अतिशयोक्ति' के नाम से क्यों कहा जाता है ?

उ०—सर्वानुगत अतिशयोक्तिपदप्रवृत्तिनिमित्त 'प्रभेदान्यतमत्व' ही है और उसी को 'सामान्य लक्षण' भी समझो—यह कुछ लोगों का कहना है ।

(१) उपमानेनेति । उपमान के द्वारा भीतर निगल लिये की तरह (अन्तर्गिलितस्येव = स्व-स्वरूपेण अनुपस्थितस्य) अर्थात् स्व-वाचक शब्द से न बताये हुए उपमेय का (समभिव्याहारात् प्रकृत का) जो अध्यवसान (उपमान के साथ आहार्य = कल्पित अभेद निश्चय) किया जाता है, (सा एका)—वह निगीर्याध्यवसानरूपा प्रथमातिशयोक्ति समझनी चाहिए । अतिशयोक्ति का यह पहिला प्रकार 'सादृश्याधिष्ठित' सादृश्य पर अधिष्ठित होता है । इस रहस्य को 'पर' और 'प्रकृत' शब्दों का 'उपमान' और 'उपमेय' अर्थ बताकर ग्रन्थकार ने ही स्पष्ट कर दिया है । यह 'निगीर्याध्यवसान रूप प्रथमातिशयोक्ति' वहीं पर होती है, जहाँ 'गौणीसाध्यवसानालक्षणा' का संभव रहता है । इस अतिशयोक्ति में 'अलंकारत्वेसति'—यह 'सत्यन्त विशेषण' जोड़ना चाहिए, क्योंकि वह प्रकरण प्राप्त है । ऐसा करने से 'गौरयम्' में गौणीसाध्यवसानालक्षणा के रहने पर भी उसकी अतिप्रसक्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि वहाँ कोई चमत्कार नहीं है । इस निर्दिष्ट प्रकार में 'उपमेय' का बोध गौणीसाध्यवसानालक्षणा स्वत एव करा देती है । परन्तु कतिपय व्याख्याकारों ने मूलकारिकागत 'पर' और 'प्रकृत' शब्दों का 'अप्रस्तुत' और 'प्रस्तुत' यह सामान्य अर्थ करके 'शुद्धा साध्यवसानालक्षणा' को भी इस अतिशयोक्ति के प्रकार में घसीटने की चेष्टा की है । एवं च इनके मत के अनुसार अतिशयोक्ति का पहिला प्रकार सादृश्य की तरह 'धर्म-धर्मिभाव,कार्यकारणभाव' आदि संबंधों पर भी अधिष्ठित रह सकता है ।

प्रथमातिशयोक्ति का उदाहरण दे रहे हैं । जैसे अपनी प्रेयसी को देखकर उसकी सखी से नायक अपनी प्रेयसी का वर्णन कर रहा है ।

अत्र मुखादि कमलादिरूपतयाऽध्यवसितम् ।

(द्वितीया अतिशयोक्तिः)

यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते साऽपरा । यथा—

कमलमिति । बिना जल (पानी) के नायिका का मुखरूप कमल, उस कमल में दो नेत्ररूप नीलकमल (आँखें) जो नायिका के गौरवर्ण के शरीररूप सुवर्ण लता में लगे हुए हैं, और वह शरीररूप सुवर्णलता जो सुकुमार तथा मोहक (सुन्दर) है—कैसी यह अद्भुत परम्परा है ॥४४९॥

अत्रेति । यहाँ उपमान (कमल आदि) ने उपमेय (मुख आदि) का निगरण करके उसे (उपमेय को) कमल आदि उपमान से अभिन्न निश्चित कर दिया है । अर्थात् धर्मी का अभेद बताया है , अभिप्राय यह है कि प्रकरण-प्राप्त नायिका के वक्त्र आदि का कमल आदि के साथ तादात्म्य का निश्चय करलेने के कारण मुख आदि का अतिशय प्रतीत हो रहा है, इस कारण निगीर्याध्यवसानरूप भेद में अभेदाध्यावसायात्मिका यह प्रथमातिशयोक्ति हैं । इसमें 'कमल, कुवलय (नीलकमल), कनकलतिका' पदों से मुख, नेत्र, तनु (शरीर) को कमल आदि के रूप में दृढतया समझ लिया है, उस कारण यह अतिशयोक्ति अलंकार है । यहाँ उपमेय में उपमानतादात्म्य बताया जाता है । यहाँ 'उत्पात' शब्द का प्रयोग अद्भुत के अर्थ में किया जाता है । वस्तुतः उपमेय (मुखादि) उपमान (कमल आदि) से भिन्न हैं, तथापि उन्हें 'उपमान' से अभिन्न समझ लिया है । इसलिए इस प्रकार को 'भेदेऽपि अभेदः' यह संज्ञा रुय्यक ने दी है । इसी को जयदेव ने 'रूपकातिशयोक्ति' नाम दिया है ।

काव्यप्रदीपकार ने इस प्रथमातिशयोक्ति का एक अन्य उदाहरण दिया है—

"कलशे परममहत्त्वं तिमिरस्तोमस्य सोमसहवासः ।
वियति च शैवलवल्ली शिव शिव कुसुमेषु सर्गसौभाग्यम् ॥"

कलशे इति । कलशे-स्तने, तिमिरस्तोमस्य-केशसंघातस्य, सोमसहवासः-मुखसहवासः, वियति-मध्यप्रदेशे शैवलवल्ली-रोमावली, कुसुमेषुः–मदनः, तत्संबन्धी यः सर्गः-सृष्टिः, तस्य सौभाग्यं-सौन्दर्यं सुभगत्वमित्यर्थः ।

अत्र कलशत्वेन स्तनयोरध्यवसानम्, तिमिरसंघातत्वेन केशपाशस्य, सोमत्वेन (चन्द्रत्वेन) मुखस्य, आकाशत्वेन मध्यस्य, वल्लीत्वेन रोमवल्ल्या इति विज्ञेयम् ।

इस अतिशयोक्ति से संबंधित किये गये पहिले प्रकार में जो 'उपमेयनिश्चय' किया जाता है, वह 'आहार्य (कल्पित) रहता है । उस कारण 'भ्रान्तिमान्'––अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती । शोभाकर ने भी अतिशयोक्ति को 'भ्रान्तिमान्' से भिन्न बताया है ।[1]

---

१. रत्नाकर पृ० ५८।८० ।

अण्णं लडहत्तणअं अण्ण विआ का विवत्तणच्छाआ।
सामा सामण्णापआवइणो रह च्चि अ ण होई ॥ ४५० ॥

(अतिशयोक्ति का दूसरा प्रकार)

(२) यच्चेति । और जो उसी 'प्रस्तुत' का अन्य रूप से आहार्य (कल्पित) भेद, जहाँ किया जाता है, अर्थात् सजातीय वस्तु को जहाँ विजातीय बताया जाता है, वहाँ यह दूसरे प्रकार की अतिशयोक्ति समझी जाती है।

अतिशयोक्ति के प्रथम प्रकार में 'उपमान' के द्वारा 'उपमेय' का निगरण किया गया था, और उपमान के साथ उपमेय का आहार्य (कल्पित) अभेदनिश्चय किया गया था। अर्थात् धर्मी का अभेद बताया गया था।

किन्तु इस द्वितीय प्रकार में 'धर्मी' का अभेद नहीं होता। अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप अवगत रहने पर भी कल्पना के आधार पर उसी वस्तु का एक विलक्षण स्वरूप निश्चित जहाँ किया जाता है, वहाँ अतिशयोक्ति का यह दूसरा (द्वितीय) प्रकार माना जाता है। यथेति। जैसे—

अण्णं लडहत्तणअं अण्णेति। इस उदाहृत पद्य की संस्कृतच्छाया इस प्रकार है—

"अन्यत् सौकुमार्यम् अन्येव कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव न भवति" ॥४५०॥

(सत्तसई ९६३)

नायिका की सखी नायक को बता रही है—

अरे ! उस सुन्दरी नायिका का सौन्दर्य, अनिर्वचनीय लोकोत्तरही (कुछ और ही) है, उसके देह की कान्ति भी कुछ और ही अलौकिक है। ग्रीष्म में (उष्णकाल में) उसके देह का स्पर्श शीतल रहता है, और हेमन्त में (शीतकाल में) उसके देह का स्पर्श उष्ण (गरम) लगता है। ऐसी वह सोलह वर्ष की श्यामानायिका की रचना साधारण जगत् के रचयिता ब्रह्मदेव की तो हो ही नहीं सकती ॥४५०॥

कवि ने लोकप्रसिद्ध सौन्दर्य तथा देह कान्ति को ही अलौकिक (लोकोत्तर) रूप में बताया है। वास्तविकता तो यह है कि जगत् के रचयिता ब्रह्मा ने अन्य स्त्रियों की तरह 'श्यामा' नायिका की भी रचना की है। तथापि 'श्यामा' की सृष्टि वैसी न बताकर उसे कुछ और ही अलौकिक बताना, उसीतरह उसकी सुकुमारता और देहकान्ति भी लोकप्रसिद्ध सौकुमार्य तथा शरीरकान्ति के समान ही है, किन्तु इस वास्तविकता को न बताकर उसे भी कुछ विलक्षण लोकोत्तर ही बताया है, यह सब जान-बूझकर बुद्धिपूर्वक ही वर्णन कवि ने किया है। कवि ने उसका गुणोत्कर्ष, आकर्षक-मोहक रीति से प्रकट किया है। इस प्रकार यह श्यामा, ब्रह्मा की सृष्टि से

(अन्यं यत्सौकुमार्यमन्यैव च काऽपि वर्तनच्छाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥)

(तृतीया अतिशयोक्तिः)

'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । यथा—

राकायामकलङ्कं चेदमृतांशोर्भवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥ ४५१ ॥

अलग (पृथक्) नहीं है, फिर भी उसे 'अलग' सृष्टि के रूप में बताया गया है। इस प्रकार को 'उद्भट' ने 'अभेदेऽपि भेदः' नाम दिया है। जयदेव ने इसी को 'भेदकातिशयोक्ति' शब्द से कहा है।

वर्तनम्—वर्तते जीवति इति वर्तनं शरीरम् ।

श्यामा—शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता ॥

मूलगत 'अण्णा विअ'—इस प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया, व्याख्याकारों ने 'अन्यैव च' दी है। किन्तु 'विअ' शब्द का अर्थ 'इव' है। संस्कृतच्छाया में व्याख्याकार 'अन्यैव' यदि देते हैं, तो उसका मूल 'प्राकृत' में 'अण्णच्चिअ अ' दिया गया होता किन्तु ऐसा नहीं दिया गया हैं। इस प्राकृत पद्य के उत्तरार्ध में 'रह च्चिअ' कहा है, तो उसकी संस्कृतच्छाया 'रेखैव' की जाती है। इसलिए 'अन्य+इव='अन्येव' पाठ हमने रखा है।

अतिशयोक्ति का तीसरा प्रकार—

इसमें 'यदि' अथवा 'चेत्' शब्द से किसी असंभाव्य अर्थ को कल्पना की जाती है। जैसे—राकायामिति। यदि पूर्णमासी की रात्रि में ऐसा चन्द्रमा का बिम्ब उदित हो, जिसमें कलङ्क न हो, तभी उस नायिका का मुख, उस चन्द्र की समानता के कारण पराभव को प्राप्त कर सकता है ॥४५१॥

इस उदाहृत पद्य में 'चेत्' इस अव्यय के बल पर पूर्णमासी (राका) के चन्द्र की असंभाव्य निष्कलंकता की कल्पना की गई है, उस निष्कलंक (कलंकरहित) चन्द्र से ही रमणी (सुन्दरी) के मुख की तुलना करना, अर्थात् रमणी के निरुपम मुख का पराभव करने के समान ही होगा। पूर्णिमा का चन्द्र और उसका निष्कलंक रहना सर्वथा असंभव है, उस कारण रमणीमुख की निरुपमता में किसी प्रकार की हानि का संभव ही नहीं है। उक्त पद्य का केवल पूर्वार्ध ही उदाहरण के रूप में अभिप्रेत है। क्योंकि 'चेत्' पद से असंभाव्य अर्थ की कल्पना पूर्वार्ध मे ही की गई है। इस कल्पना के आधार पर सम्पूर्ण श्लोक में 'व्यतिरेक' अलंकार प्रतीत हो रहा है। उद्योतकार ने भी "राकायाम् इत्युदाहरणे व्यतिरेकालंकारगर्भ इयम्' कहा है।

(चतुर्थी अतिशयोक्तिः ।)

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी, यथा—

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥ ४५२ ॥

उत्तरकालीन रुय्यकादि अलंकारशास्त्रियों के द्वारा कल्पित प्रकारों के साथ मम्मटोक्त प्रकार की संगति बैठाने के लिए उद्योतकारादि व्याख्याकारों ने प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्धं में 'असम्बन्धेऽपि सम्बन्धः' और उत्तरार्धं में 'सम्बन्धेऽपि असम्बन्धः' कहकर अतिशयोक्ति के इस प्रकार को बताया है। चन्द्र में वस्तुतः कलंकाभाव के न रहने पर भी उसके अस्तित्व की कल्पना की है, अर्थात् चन्द्र और कलंकाभाव—इन दोनों में सम्बन्ध न रहने पर भी उसके अस्तित्व की कल्पना पूर्वार्धं में की गई है, पश्चात् उत्तरार्धं में चन्द्र और कलंकाभाव इन दोनों में साम्य सम्बन्ध का अस्तित्व वस्तुतः रहने पर भी, उसके न रहने की बात कही है। काव्यप्रकाशकार ने जो तीसरा प्रकार बताया है, उसमें 'सम्बन्धे असम्बन्धः' और 'असम्बन्धे सम्बन्धः' इन दोनों का समावेश होने में कोई बाधा नहीं है। ग्रन्थकार ने दो ही शर्तें रखी हैं—(१) यद्यर्थंक उक्ति होनी चाहिए और (२) असंभाव्य अर्थं की कल्पना होनी चाहिए। यह प्रकार मिश्रवाक्य में संभव रहता है। क्योंकि 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इस नियम के अनुसार 'यदि'—घटित वाक्य के साथ 'तर्हि'-घटित वाक्य का आना सुनिश्चित है।

शंका—जिनमें 'यदि, तर्हि'—घटित वाक्य न हों उन उदाहरणों को क्या कहा जायगा ?

समा०—उन उदाहरणों को मम्मटोक्त दूसरे अतिशयोक्ति प्रकार में समाविष्ट कर लेना चाहिए।

अतिशयोक्ति का चौथा प्रकार—

(४) कारणस्येति। 'कारण' की शीघ्रकारिता को बताने के लिए 'कार्यं' को पहिले कहना अर्थात् 'कार्यं-कारण विपर्यय' रूप चौथे प्रकार की अतिशयोक्ति कही जाती है। यथेति। जैसे—

हृदयमधिष्ठितमिति। हे रमणीवल्लभ ! नायक ! जिसका धनुष तथा बाण, पुष्पों से निर्मित है, उस कामदेव ने मालती के हृदय को अपना अधिष्ठान पहिले ही बना लिया, अर्थात् उसके हृदय पर पहिले ही आक्रमण (अधिकार) कर लिया और तुमने बाद में उसके हृदय पर अधिकार जमाया, क्योंकि उसने जब तुमको देखा तब अपने हृदय में तुम्हें बैठाया ॥४५२॥

(१३ प्रतिवस्तूपमालंकारः)

(१५४) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १०१ ॥

सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

यहाँ पर 'वल्लभ' (प्रियतम) पर दृष्टिपात होना अर्थात् 'प्रियतम' का दिखाई पड़ना'—यह 'कारण' है, और 'मालती' के हृदय में 'कामभावना' का उत्पन्न होना, यह 'कार्य' है। 'कारण' सर्वदा 'कार्य' के पूर्व, विद्यमान रहा करता है—यह नियम है। किन्तु यहाँ पर 'कारण' के परिणाम की अद्भुत विलक्षणता को अभिव्यक्त करने के लिए अर्थात् रमणीवल्लभाधिष्ठानरूप कारण की शीघ्रकारिता को बताने के लिए 'कारण' के पूर्व ही 'कार्य' (कन्दर्पाधिष्ठान) की सम्पन्नता बताई गई है, अर्थात् मालती के हृदय में 'वल्लभ' का प्रवेश होने के पूर्व ही तद्विषयक (उसके प्रति) अभिलाष, (मालती के हृदय में) प्रकट हो गया। अतः 'कार्य' को पहिले कहा और कारण को बाद में कहा—यही यहाँ पर पौर्वापर्य का विपर्यय है।

'कार्य-कारण' का विपर्यय दो प्रकार से हो सकता है—(१) 'कार्य' के प्रथम होने से और (२) कार्य के साथ होने से भी। कार्य के प्रथम होने का उदाहरण तो ग्रन्थकार ने 'दामोदरगुप्तरचित कुट्टनीमत काव्य के ९६वें पद्य का दिया है। इस पद्य को कोई मालविकाग्निमित्र नाटक का बताता है, कोई मालतीमाधव नाटक का बताता है, किन्तु दोनों नाटकों में यह पद्य, उपलब्ध नहीं है। यह पद्य तो दामोदरगुप्तकृत काव्य में उपलब्ध है।

कार्य के सहभाव से पौर्वापर्यविपर्यय का उदाहरण, जैसे—

"सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डनं च महीभृताम् ॥"

यहाँ पर 'सिंहासनाक्रमण'—कारण और 'महीभृन्मण्डलाक्रमण'—कार्य, दोनों की सम्पन्नता एक साथ ही बताई गई है, आगे-पीछे नहीं।

(१३) प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार—

प्रतिवस्तूपमेति। 'प्रतिवस्तूपमा'—वह अलंकार है, जहाँ एक ही 'साधारण धर्म' को दो वाक्यों में (उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य में) दो बार, भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाता है ॥१०१॥

साधारणो धर्म इति। एक ही साधारण धर्म को दो वाक्यों में (उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य में) भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा जहाँ बताया जाता है, वहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' होती है। यदि दोनों वाक्यों में 'साधारण धर्म' को एक ही शब्द से

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाऽभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा—

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥ ४५३ ॥

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥ ४५४ ॥

कहा जाय तो 'कथितपदता' (पुनरुक्ति) दोष हो जायगा। उसके निवारणार्थं 'भिन्न-भिन्न शब्दों से साधारण धर्म को बताना आवश्यक है। 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार गत 'वस्तु' (वाक्यार्थ) में 'उपमान-उपमेयभाव' के रहने से उसे 'वस्तूपमा' संज्ञा अन्वर्थक प्राप्त हुई है। आरंभ का 'प्रति' शब्द, साधारण धर्म की आवृत्ति का सूचक है। इसी अभिप्राय से अप्पयदीक्षितजी ने उक्त संज्ञा का विवरण 'प्रतिवस्तु प्रति-वाक्यार्थम् उपमा समानधर्मः अस्याम् इति' (कुवलयानन्द) किया है। 'उपमीयते अनेन' के अनुसार 'उपमा' शब्द से 'साधारण धर्म' का भी बोध हो सकता है। जैसे—

(१) महारानी की सखी, राजा से कह रही है—देवीभावमिति। हे राजन्! देवी भाव को (पट्टाभिषिक्त) प्राप्त होने पर 'महिषी' (महारानी) पद को प्राप्त हुई यह आपकी महारानी, अब परिवार पद को (अन्तःपुर की साधारण स्त्री के स्थान को) कैसे स्वीकार कर सकती है? अर्थात् वह अब अन्तःपुर की साधारण स्त्री कैसे समझी जा सकती है? जैसे सुवर्णादि धातु, देवता के रूप में अंकित होने पर, अर्थात् जो देवता की प्रतिमा के रूप में गढ़ दिया गया, वह साधारण आभूषण के रूप में उपभोग के योग्य नहीं समझा जाता ॥४५३॥

इस पद्य में उत्तरार्ध (वाक्यार्थ) उपमान रूप है, उसी तरह पूर्वार्ध (वाक्यार्थ) उपमेय रूप है। उस कारण 'वस्तु' (वाक्यार्थ) के उपमान-उपमेय रूप बन जाने से तथा उनके 'अनौचित्य' रूप एक ही धर्म को पूर्वार्ध में 'कथं भजतु' कहकर तथा उत्तरार्ध में 'न खलु परिभोगयोग्यं' पद से बताया गया है।

प्रतिवस्तूपमा की 'मालारूप' में भी रचना दृष्टिगोचर होती है। जैसे—
(२) यदि दहतीति। यदि अग्नि में दाहकत्व है, तो कौन सा आश्चर्य है यदि पर्वतों में गुरुता (भारीपन) है, तो क्या हुआ? यदि समुद्र का जल, क्षार (खारा) है, तो कौन सी नयी बात है? विपत्ति की परिस्थिति में दुःख न मानना तो महान् पुरुषों (सज्जनों) का स्वभाव ही है, इसमें सन्देह कैसा? ॥४५४॥

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या । एवमन्यत्राप्यनुसर्त्तव्यम् ॥

इत्यादिकेति । इत्यादि में मालारूप प्रतिवस्तूपमा समझनी चाहिए । इसी तरह अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए । उपर्युक्त उदाहरण में 'प्रकृतिरेव सतामविषादिता'-यह 'उपमेय वाक्य' है और 'यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतम्', 'यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः', 'लवणमम्बु सदैव महोदधेः'—ये तीन उपमानवाक्य हैं । एवंच एक उपमेय वाक्य की तीन उपमान वाक्यों से समानता (औपम्य) दिखाई जा रही है । 'बस्तुओं' के स्वभाव में किसी तरह का आश्चर्य न करना'-यह जो साधारण धर्म है, वह तो एक प्रकार का (समान)ही है किन्तु चारों वाक्यों में इसको भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा जैसे—'किमद्भुतम्', 'किं ततः', 'सदैव' और 'प्रकृतिरेव' के द्वारा कहा गया है । अतः यह मालारूप प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण कहलाता है । 'प्रतिवस्तूपमा' शब्द का अर्थ यह है कि 'प्रति वस्तु प्रतिवाक्यार्थं उपमा साधर्म्यं साधारणधर्मो यस्यां सा'—अर्थात् जिसमें प्रत्येक वाक्यार्थ (उपमेयविषयक अथवा उपमानविषयक) में उपमा अर्थात् साधर्म्य को बताया गया हो । अभिप्राय यह है कि 'उपमा' में पदार्थों का साम्य, बाच्यरूप से विवक्षित है, किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वाक्यार्थो का साम्य 'वाच्यरूप' से विवक्षित न होकर साम्यरूप से विवक्षित रहता है । उपमा में पदार्थों का 'औपम्य' (सादृश्य) शाब्दिक रहता है किन्तु प्रतिवस्तूपमा में वाक्यार्थों का 'औपम्य' आर्थिक रहता है । यह प्रतिवस्तूपमा 'केवल' और 'माला' दोनों प्रकार से होती है । जैसे यह 'साधर्म्यं' में होती है, उसी तरह वैधर्म्यं में भी होती है । यथा—

चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकापानकर्मणि ।
विनाऽवन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रत-नर्मणि ॥

राजशेखरकृत बालरामायण का यह पद्य है । यहाँ अवन्तीदेशोत्पन्न नारियाँ ही रति नर्मक्रीडा में निपुण होती हैं—इत्याकारक वैधर्म्यविपर्यय में साधर्म्य का पर्यवसान होने से यह 'प्रतिवस्तूपमा है । प्रतापरुद्रयशोभूषण में कहा गया है—'प्रतिवस्तूपमा-साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां द्विविधा ।

दूसरी इस प्रकार है—

'प्रतापरुद्रएश्चैकः पटीयान् जनरञ्जने ।
चन्द्रादृते क्षमो नान्यश्चकोरपरितोषणे ॥

यहाँ यह बताया गया है कि चन्द्र के द्वारा जैसे चकोर का परिपोष किया जाता है तथा वीररुद्र के द्वारा जनरञ्जन किया जाता है । इस प्रकार वैधर्म्य के द्वारा औपम्य ज्ञात होता है ।

एवम् अन्यत्रापि अनुसर्तव्यम्—अर्थात् अन्यत्र=वैधर्म्यस्थल में भी जानना चाहिए । जैसे प्रतिवस्तूपमा, दो वाक्यार्थगत साधर्म्य पर अधिष्ठित रहती है, वैसे ही वैधर्म्य पर भी अधिष्ठित हो सकती है । जैसे—

(१४ दृष्टान्तालंकारः)

(१५५) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥ १०२ ॥

एतेषां साधारणधर्मादीनाम् दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।

'वंशभवो गुणवानपि संगविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥'

यहाँ पर उपमेयभूत पहिले वाक्यार्थ में विशिष्ट वस्तु के साहचर्य से (संगविशेषेण) प्राप्त होनेवाला पूज्यता धर्म बताया गया है, और उपमानभूत दूसरे वाक्यार्थ में विशिष्ट वस्तु के वियोग से (तुम्बीफलविकलः) प्राप्त होनेवाला पूज्यत्वाभाव (महिमानं न प्रयाति) रूप धर्म बताया गया है। तथापि यह सब कुछ बताने पर भी विपरीत सम्बन्ध से दूसरे वाक्य में भी विशिष्ट वस्तु के साहचर्य से प्राप्त होनेवाली पूज्यता का (तुम्बीफलसहितः वीणादण्डः पूज्यते) अर्थात् तुम्बीफलवद्वीणादण्डसदृशः संगविशेषवान् पुरुषः। अथवा पहिले वाक्य में भी विशिष्ट वस्तु के वियोग से प्राप्त होनेवाली अपूज्यता का (संगविशेषरहितः पुरुषः न पूज्यते) अर्थापत्तिप्रमाण से अर्थात् 'तुम्बीफल-राहित्यवद्वीणादण्डसदृशः संगविशेषाभाववान् पुरुषः' यह बोध होकर पूर्वापर वाक्यों में उपमान-उपमेयभाव सिद्ध होता है। उक्त पद्य में 'वंशभवः, गुणवान्' शब्द श्लिष्ट हैं, किन्तु वे यहाँ पर उदाहरण के रूप में विवक्षित नहीं है। इस प्रकार से वैधर्म्याधिष्ठित प्रतिवस्तूपमा भी मालात्मक होती है—उक्त वाक्य का यह अर्थ उद्योतकार ने किया है।

(१४) दृष्टान्तालङ्कार

'प्रतिवस्तूपमा' के समान 'दृष्टान्तालङ्कार' को भी 'गम्य औपम्याश्रित' माना जाता है।

(सू० १५४) दृष्टान्त इति। प्रतिवस्तूपमा में तो एक साधारणधर्म की दो बार स्थिति है किन्तु दृष्टान्त में उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्म सबकी दो बार स्थिति है। अर्थात् एक वाक्य में उपमान, उसके अंग और धर्म, उसी तरह दूसरे वाक्य में भी उपमेय, उसके अंग, और धर्म—इनकी एक–दूसरे से सादृश्यप्रतीति जिस प्रकार हो सके, उस प्रकार से उनकी स्थिति जब की जाती है, तब उस वाक्ययुगल को 'दृष्टान्त' कहते हैं ॥ १०२ ॥

दृष्टान्त के लक्षण में 'वाक्य द्वये' शब्द की 'प्रतिवस्तूपमा' के लक्षण से अनुवृत्ति की जाती है। एतेषामिति। उपर्युक्त प्रकार से दो वाक्यों में उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म के रखने की पद्धति को ही 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' कहा जाता है। क्योंकि 'प्रतिबिम्ब' जैसे सर्वथा बिम्बानुकारी हुआ करता है. वैसे ही इसमें

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥ ४५५ ॥

एष साधर्म्येण, वैधर्म्येण तु—

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।
भटाः परेषां विशरारुतामगुर्दधत्यवाते स्थिरतां हि पासवः ॥ ४५६ ॥

एक वाक्य, दूसरे वाक्य का अनुकरण करता हैं । यही कारण है कि 'दृष्टान्त', को 'प्रतिवस्तूपमा से भिन्न माना गया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि 'दृष्टान्त' और 'प्रतिवस्तूपमा'—ये एक ही अलंकार के दो भेद हैं—

"एकस्यैव अलंकारस्य द्वौ भेदौ—प्रतिबस्तूपमा, दृष्टान्तश्च । यच्च अनयोर्वैलक्षण्यं, तत् प्रभेदतायाः एव साधकम्, न अलङ्कारतायाः इति सुबचम्''—(जगन्नाथ)

दृष्टान्तालंकार में प्रतिबिम्बभूत वाक्य से बिम्बभूत वाक्य के अर्थ का निश्चय किया जाता है । क्योंकि उदाहरण के आधार पर ही प्रकृत अर्थ में दृढ़ता आती है । उसी कारण इस अलंकार को 'दृष्टान्त' नाम अन्वर्थक प्राप्त हुआ है । 'दृष्टः अन्तः = निश्चयः यत्र सः दृष्टान्तः' । इस अलंकार के दो भेद हैं—

(१) साधर्म्याधिष्ठित दृष्टान्त और (२) वैधर्म्याधिष्ठित्त दृष्टान्त ।

साधर्म्याधिष्ठित दृष्टान्त का उदाहरण—

नायक से नायिका की सखी कह रही है—त्वयीति । तुमको (नायक को) देखते ही उसका (नायिका का) काम से सन्तप्त हुआ मन, शान्त हो जाता है । अर्थात् प्रसन्न हो उठता है ।

दृष्टान्त दे रहे हैं—आलोके हीति । हिमांशु को (चन्द्र को) देखते ही कुमुदिनी को कली खिल जाती है अर्थात् विकसित होती है ॥ ४५५ ॥

यहां पर 'नायक–चन्द्रमा', 'नायिका–कुमुदिनी', 'मन–कुसुम' 'मनोभव-ज्वलितत्व–सूर्यसन्तप्तत्व', 'निर्वाण—विकास'–इनमें 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है,—उस कारण यहाँ दृष्टान्तालङ्कार है । एषः साधर्म्येणेति । 'साधर्म्य' के कारण यह दृष्टान्तालङ्कार का उदाहरण है ।

वैधर्म्येणेति । वैधर्म्य से दृष्टान्तालङ्कार का उदाहरण—

(२) तवाहवे इति । हे राजन् ! दुष्कर कर्मों के करने में सुख की प्राप्ति करनेवाले आप अपने हाथ (कर) को कृपाण (तलवार) की ओर जब बढ़ाते हैं तब शत्रुओं के सैनिक बितर-बितर हो जाते हैं । क्योंकि वायु के न चलने पर ही

धूलिकण स्थिर रह सकते हैं, किन्तु वायु का सञ्चार होने पर (आँधी चलने पर) तो धूलिकण स्थिर नहीं रह पाते अर्थात् इधर-उधर उड़ने लगते है ॥ ४५६ ॥

यहाँ पर 'धूल' तथा 'शत्रुभटों' का, और 'पलायन' तथा 'अस्थिरत्व' का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है। 'पांसवः अवाते स्थिरतां दधति'—इस कथन का पर्यवसान 'वाते स्थिरतां न दधति'—के रूप में होने के कारण, यह पद्य, वैधर्म्य से (वैधर्म्याधिष्ठित) दृष्टान्त का उदाहरण माना जाता है ॥ 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' रहने पर ही दृष्टान्तालङ्कार हुआ करता है। बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का तात्पर्य, 'एकरूपता' नहीं है, अपितु इनका (उपमान, उपमेय, उनके बिशेषण, और साधारण धर्म) भिन्न-भिन्न रहना है। उपमेय-वाक्य और उपमान-वाक्य इन दो वाक्यों में उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारणधर्म इन सबका प्रतिविम्बन होना ही 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' कहलाता है। विम्बं शरीरम्, प्रतिबिम्बं तच्छाया, तयोर्भावः बिम्ब-प्रतिबिम्बत्वमित्यर्थः। आकार-प्रत्याकारतुल्यत्वमिति यावत्। उपमेय का उपमान के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव, तत्सम्बधियों का तत्सम्बन्धियों के साथ, साधारणधर्म का साधारणधर्म के साथ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होना चाहिए।

वैधर्म्याधिष्ठित उदाहरण का तीसरा पाद ('भटाः परेषां··· ···') उपमेय वाक्य है, और चौथा पाद ('दधत्यवाते··· ···') उपमान वाक्य है। इसमें उपमेय का धर्म 'विशरारुता' (प्राण बचा कर घबड़ाते हुए जिधर रास्ता दिखे उधर भागना) है, और 'स्थिरता' (अपनी जगह पर डटे रहना) रूप उपमानधर्म केवल भिन्न ही नहीं है, अपितु उसके बिरुद्ध है। इसीलिये उक्त उदाहरण को वृत्तिकार ने 'वैधर्म्याधिष्ठित' कहा है। इसी प्रकार का विरोध 'युद्धोत्सुकराजा' और 'अवात' इन दोनों में है। तात्पर्य को न बदलते हुए उक्त बिरोध को हटा देने पर चौथा पाद 'स्थैर्यं न वाते दधते हि पांसवः' होगा, और 'युद्धोत्सुक राजा-वात,शत्रुभट-पांसु,और विशरारुता-स्थैर्यहानि, इन युगलों में 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव' की प्रतीति होगी। इससे स्पष्ट होता है कि 'दृष्टान्त' को बताने की दो पद्धतियां होती हैं—(१) या तो वस्तुतः आपाततः ही भिन्नता दिखाई देगी। एक विशिष्ट परिस्थिति में उपमेय जिस धर्म से युक्त रहता हैं, तत्समान परिस्थिति में 'उपमान', तत्समान धर्म से युक्त होता है—यह एक प्रकार है। और किसी एक विशिष्ट परिस्थिति में 'उपमेय'—जिस धर्म से युक्त रहता है, तद्विरुद्ध परिस्थिति में 'उपमान', तद्विरुद्ध धर्म से युक्त होता है—यह दूसरा प्रकार है।

इस दूसरे प्रकार में उपमान की परिस्थिति और धर्म को उलटा कर देने पर अर्थात् ही तात्पर्यार्थ कायम रहना-यह इस दूसरे प्रकार का रूपान्तर, पहिले प्रकार में हो जाता है। जैसे गणित में दो ऋण संख्याओं का गुणा, धनसंख्यारूप होता है

(१५ दीपकालंकारः ।)

(१५६) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु वह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ १०३ ॥

उसी प्रकार इसे समझना चाहिए। जैसे—(— २) × (— २) = (+ २) × (+ २) = ४। वैधर्म्याधिष्ठित दृष्टान्त को व्यतिरेकी दृष्टान्त' भी कहा जाता है।

पूर्वोक्त प्रतिवस्तूपमा से दृष्टान्तालंकार का भेद—प्रतिवस्तूपमा में एक ही सामान्य धर्म को उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में कहा जाता है, इसी को 'वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहते हैं। किन्तु दृष्टान्तालंकार भी उपमान-वाक्य तथा उपमेयवाक्य में दो भिन्न-भिन्न धर्म, सादृश्य के कारण दो वाक्यो में पूर्ण होने वाला अलंकार है। इसमें भी दो वाक्यों में उपमान-उपमेय भाव रहता है, किन्तु यह उपमान-उपमेयभाव, 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' पर अधिष्ठित रहता है। एक वाक्य में प्रतिपादित धर्मी और उसके धर्मों की दूसरे वाक्य में प्रतिपादित धर्मी और उनके धर्मों के साथ अनुरूपता के रहने को ही बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के नाम से कहा गया है। जैसे—'भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः⋯ ⋯अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः'।

यहाँ पर 'भवन्ति नम्राः' से बोधित होनेवाले अर्थ को ही 'अनुद्धताः' पद, बता रहा है, इसलिए इन दोनों में 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' है। किन्तु 'तरु' और 'सत्पुरुष' उसीतरह 'फलागम और समृद्धि'—इन दोनों में 'बिम्बप्रतिबिम्बभाव' है, क्योंकि से भिन्नार्थक हैं, और उभयवाक्यगत कारकसम्बन्ध समान (सदृश) होने के कारण एक-दूसरे के अनुरूप है, तथापि इतने मात्र से 'भवन्ति नम्राः⋯⋯ ⋯' यह उदाहरण, 'दृष्टान्त' अलंकार का नहीं हो सकता। इसे 'प्रतिवस्तूपमा' का ही उदाहरण कहना उचित होगा, क्योंकि यहाँ पर जो आंशिक 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' है, वह 'दृष्टान्त' का बाधक है।

(सू० १५६) १—सकृदिति। प्रकृत (प्राकरणिक अर्थात् उपमेय) तथा अप्रकृत (अप्राकरणिक अर्थात् उपमान) के गुण-क्रियादिरूप धर्म का एकबार ग्रहण (वृत्ति = ग्रहण) जहाँ किया जाता है उसे क्रिया 'दीपक' कहते हैं। यह 'दीपक अलंकार' का प्रथम भेद है।

२ –सैवेति। उसी तरह जहाँ एक ही कारक (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप छह कारकों में से किसी भी एक) का बहुत सी क्रियाओं में एक बार ग्रहण ('सैव' अर्थात् सकृद्वृत्ति) किया जाता है, वहाँ दीपक अलंकार का

(१ क्रियादीपकः ।)

प्राकरणिकाप्राकरणिकानामर्थादुपमानोपमेयानां धर्मः क्रियादिः एकवारमेव यदुपादीयते तत् एकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद् दीपकम्, यथा—

किवणाणं धणं णाआणं फणमणी केशराइँ सीहाणं ।
कुलवालिआणं त्थणआ कुतो छिप्पन्ति अमुआणम् ॥ ४५७ ॥

दूसरा भेद अर्थात् 'कारक दीपक'माना जाता है । 'दीपक अलंकार'की लक्षणभूत कारिका के पूर्वार्ध में प्रयुक्त 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' पद का संबंध, पूर्वार्ध में ही होता है, उत्तरार्ध के साथ नहीं। तब अर्थ होगा—प्रकृत तथा अप्रकृत अर्थों के साथ 'एक धर्म' का संबंध होने पर 'दीपक' होता है । उत्तरार्ध में अनेक क्रियाओं के साथ 'एक कारक' का संबंध होने पर दूसरे प्रकार का कारक दीपक होता है ॥१०३॥

प्राकरणिकेति । कारिकागत 'प्रकृताऽप्रकृतात्मनाम्' पद का विवरण देकर उसे स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रकृत अर्थात् प्राकरणिक (उपमेय) और अप्रकृत अर्थात् अप्राकरणिक (उपमान) का, धर्म अर्थात् क्रिया आदि (क्रिया और गुण) का एक ही बार उपादान (ग्रहण सकृद्वृत्ति) जहाँ किया जाता है, तो वह (वाक्य में केवल एक धर्म) एक ही बार ग्रहण किया गया क्रियादि रूप धर्म (क्रियारूप धर्म अथवा गुण), द्वार की देहली पर रखे हुए दीपक की तरह समस्त वाक्य का (प्रकृत तथा अप्रकृत का) प्रकाशक हो जाता है—अर्थात् दोनों में अन्वित हो जाता है ।

यथेति । क्रियादीपक और गुणदीपक में से आद्य क्रियादीपक का उदाहरण देते हैं—

यथेति । जैसे—१ क्रियादीपक—

(१) किवणाणमिति (कृपणानामिति) । जीते जी कृपणों का धन, सर्पों के फण की मणि, सिंहों के केसर (स्कन्धलोम), कुलाङ्गनाओं के (पतिव्रताओं के) स्तनों को उनके जीवित रहते कैसे स्पर्श किया जा सकता है ? ॥४५७॥

यहाँ पर 'स्पृश्यन्ते' यह एक ही क्रिया है । इस एक ही 'क्रिया' के साथ 'धन', 'फणमणि', 'केसर' और 'स्तन'—इन अनेक कारकों का संबंध बताया गया है । अर्थात् प्रकृत (प्राकरणिक) अर्थात् उपमेय है—'कुलबालिकानां स्तनाः' और 'कृपणों का धन, सर्पों का फणमणि, सिंहों के केसर'—ये सब अप्रकृत (अप्राकरणिक) अर्थात् 'उपमान' हैं । इनमें अर्थात् प्रकृत (उपमेय), और अप्रकृत (उपमान) में 'स्पर्श-क्रिया-रूप साधारण धर्म' का वर्णन एक ही बार किया गया है, फिर भी वह सभी के साथ समन्वित हो रहा है । उसकारण यहाँ 'क्रियादीपक' अलंकार माना गया है ।

इसी प्रकार 'गुणदीपक अलंकार' का भी उदाहरण समझना उचित है—

(कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम् ।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥)

(२ कारकदीपकः ।)

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम्, यथा—

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥ ४५८ ॥

(१—गुणदीपक)

'श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपङ्क्तिभिः ।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥''

यहाँ पर साधारणधर्म—'श्यामलत्व' है । उत्तरार्धगत 'भुवश्च' के 'च' कार से पूर्ववाक्यगत गुणवाचक 'श्यामल' पद का परामर्श किया गया है । एवं च 'दिशः' और 'भुवः' दोनों का 'श्यामलत्व' समान धर्म (साधारण धर्म) गुणात्मक है, जिसका निर्देश, सकृत् (एक बार) ही किया गया है, इसलिए यह 'गुणदीपक' अलंकार का उदाहरण है ।

(२—कारकदीपक)

कारकस्य चेति । अनेक क्रियाओं में 'कारक' का एक बार ग्रहण करने पर (अनेक क्रियाओं के साथ एक ही कारक का संबंध होने पर) 'कारकदीपक' अलंकार होता है, जो 'दीपक' का दूसरा भेद है ।

यथेति । जैसे—

स्विद्यतीति । नवपरिणीता (नवविवाहिता) वधू, पर्यङ्क पर पति के पास पहुँचने पर कभी तो पसीने से तर हो जाती है, और पति जब उसे आलिङ्गन करने के लिए तत्पर हो जाता है, तब वह संकुचित हो जाती है, फिर भी पति के न मानने पर आलिंगन से अपने को बचाने के लिए अंगों को सिकुड़ लेती है, अथवा मुँह फेर लेती है, करवट बदल लेती है, आँखें बन्द कर लेती है, किन्तु उत्सुकता रहने से तिरछी आँख से देखने लगती है,मन ही मन प्रसन्न होती है और पति का चुम्बन करना चाहती है, किन्तु चुम्बन करने का साहस नहीं होता है । अर्थात् न तु चुम्बतीति यावत् ॥ ४५८ ॥

'कूणति' संकुचति, 'कूण संकोचने' चुरादिगण का धातु है । 'वेल्लति' वृत्तावर्तनं करोति । 'विचलति' परिवृत्य शेते । 'निमिषति' मृषा नेत्रे मुद्रयति । 'विलोकयतितिर्यक्' वक्रतया नेत्रत्रिभागेन मुखमवलोकयति । 'अन्तर्नन्दति' हृष्यति, नवोढात्वेन बहिरानन्दाऽप्रकाशात् । अतएव चुम्बितुमिच्छाति, न तु चुम्बति इत्यर्थः ।

उदाहृत पद्य में स्विद्यति, कूणति, वेल्लति आदि आठ प्रकृत क्रियाएँ दी गई हैं,

(मालादीपकालङ्कारः)

(१५७) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरमुत्तरं चेदुपक्रियते तन्मालादीपकं, यथा—

और उन सभी प्रकृत क्रियाओं के साथ 'नवपरिणया वधूः'—इस एक ही 'कर्तृकारक' का अथवा 'शयने'—इस 'अधिकरण कारक' का सकृत् प्रयोग (उपादान) किया गया है, उसकारण यह 'कारकदीपक' अलंकार कहा गया है।

इसी तरह अप्रकृत क्रियाओं के साथ एक ही कारक का संबंध वर्णित होने पर भी 'कारकदीपक' अलंकार होता है। जैसे—

"दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकीकरोति ।
भूतेषु किञ्च करुणां बहुलीकरोति सङ्गः सतां किमु न मङ्गलमातनोति ॥"

उक्त पद्य में सभी क्रियाएँ वर्ण्य न होने से 'अप्रकृत' हैं। इन सभी क्रियाओं में 'सत्सङ्ग' रूप एक ही वर्ण्य होने से प्रकृत कर्तृकारक को उसमें अन्वित किया गया है, इसलिए 'कारकदीगक' अलंकार है।

जहाँ पर प्रकृत—अप्रकृत दोनों प्रकार की क्रियाओं के साथ एक ही कारक का अन्वय होने पर भी कारकदीपक अलंकार होता है। जैसे—

"वसु दातुं यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम् ।
त्रातुं च मादृशान् राजन् अतीव निपुणो भवान् ॥"

इस पद्य में 'वसुदान' और 'स्वत्राण' रूप प्रकृत क्रियाओं में तथा 'अरिमर्दन' और 'यशोधान' रूप अप्रकृत क्रियाओं में 'नृप' रूप एक ही कारक का अन्वय होने से 'कारकदीपक' अलंकार है। यहाँ पर 'तुमुन्' प्रत्यय, असत्त्वभूत 'भाव' को ही बता रहा है, न कि 'पाकः' में घञादि प्रत्यय की तरह 'सत्त्वभूत भाव' को बता रहा है। नागोजी भट्ट ने वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा के कदर्थ विचार में कहा है—"तुमुनादीनामसत्त्वरूपोभाव एवार्थः 'अव्ययकृतो भावे' इत्युक्तेः पाक इत्यादाविव तुमुनर्थे वैलक्षण्याऽननुभवात् । एवं च अयं धात्वर्थानुवादक एव"

(सू० १५७) यदि पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु, उत्तरोत्तर वर्ण्यवस्तु में उत्कर्ष का आधान करती है, तो 'मालादीपक अलंकार' कहलाता है।

पूर्वेणेति। पूर्व-पूर्व की वस्तु के द्वारा यदि उत्तर-उत्तर की वस्तु का उपकार (गुणाधान) किया जाय तो 'मालादीपक अलङ्कार' होता है। यथेति। जैसे—सङ्ग्रामाङ्गणमिति। हे राजन् ! रणस्थली में आये हुए आपके द्वारा जब धनुष की प्रत्यञ्चा को चढाया गया, तब जिसने-जिसने, जो-जो सहसा पाया, उसे सुनो—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥४५९॥

(१६ तुल्ययोगितालंकारः)

(१५८) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१०४॥

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा, क्रमेणोदाहरणम्—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥ ४६० ॥

सर्वप्रथम तो आपके धनुष ने 'बाण' प्राप्त किये, बाणों ने शत्रुओं के मस्तक प्राप्त किये, शत्रुओं के मस्तकों (शिरों) ने पृथ्वी पायी, उस पृथ्वी ने राजा के रूप में तुमको पाया, और आपने अनुपम यश (कीर्ति) को प्राप्त किया, और उस कीर्ति (यश) ने तीनों लोक पाये, अर्थात् तुम्हारी कीर्ति तीनों लोकों (स्वर्ग-भू-पाताल) में व्याप्त हो गई है ॥ ४५९ ॥

यहाँ पर पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु, उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के उत्कर्ष में उपकारक प्रतीत हो रही है, उस कारण अन्ततोगत्वा कवि का विवक्षित मुख्य विषय 'राज-कीर्ति' का उत्कर्ष अधिक चमत्कारपूर्ण हो गया है । जिस प्रकार पुष्पमाला में पूर्व-पूर्व ग्रथित पुष्पों के द्वारा उत्तरोत्तर ग्रथ्यमान पुष्पों के ग्रन्थन में सहायता प्राप्त होती है, वही प्रकार इस मालादीपक अलङ्कार में उपलब्ध हो रहा है ।

नियतानामिति । 'नियतानाम्' पद में बहुवचन अविवक्षित है । अतः 'दो' भी हो सकते हैं । नियत (वर्ण्यरूप से स्वीकृत केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत पदार्थ के गुणरूप अथवा क्रियारूप 'साधारण धर्म' का एकबार (सकृत्) ग्रहण करने पर 'तुल्ययोगिता' अलंकार होता है ।

नियतानामिति । कारिका में प्रयुक्त 'नियतानाम्' का अभिप्राय है कि नियत दो या बहुतों के साधारण धर्म का एकबार जहाँ ग्रहण किया जाता है, वहाँ 'तुल्य-योगिता अलङ्कार' होता है । 'नियत' का अर्थ है—केवल प्राकरणिक ही अथवा केवल अप्राकरणिक ही । नियत (वर्णनीय रूप से स्वीकृत) केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत के ही गुण अथवा क्रियारूप साधारण धर्म का सकृत् ग्रहण करने पर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ।

क्रमेणेति । क्रमशः उदाहरण दे रहे हैं—

कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥ ४६१ ॥

---

(१) पाण्डुक्षाममिति । हे सखि ! तेरा पीला पड़ा हुआ सूखा-रूखा मुख, (चेहरा) और स्नेह से पूर्ण (भरा) हृदय,और अलसाया हुआ शरीर, ये सब तेरे असाध्य रोग (क्षेत्रिय रोग) को सूचित कर रहे हैं ॥ ४६० ॥

यहाँ पर विरह के अनुभाव अर्थात् मुख की पाण्डुता, तथा क्षामता, हृदय की सरसता और शरीर की अलसता आदि 'वर्ण्य' (प्रकृत = प्राकरिक) अर्थ हैं। सभी के साथ 'आवेदयति'—इस एक क्रिया का (आवेदन क्रियारूप साधारण धर्म का) सम्बन्ध सकृत् बताया है। उस कारण यहाँ 'तुल्ययोगिता अलङ्कार' माना गया है।

पूर्वकथित 'दीपक' और 'तुल्योगिता' में भेद—

दीपक अलङ्कार में 'एक प्रकृत' और 'एक अप्रकृत' अर्थ के साथ 'एक धर्म' का सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है। किन्तु तुल्ययोगिता अलङ्कार में दोनों अर्थ, या तो 'प्रकृत' अथवा सभी 'अप्रकृत' होते हैं—यही दोनों में भेद है। 'पाण्डुक्षामम्'—उदाहरण में सभी प्रकृत अर्थों के साथ 'एक धर्म' का सम्बन्ध बताया गया है।

पाणिनि ने 'क्षेत्रिय' शब्द के सम्बन्ध में 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः'—(पा० सू० ५।२।९२) सूत्र से क्षेत्रिय का अर्थ, 'असाध्य रोग' बताया है। क्षेत्र = शरीर। गीता में कहा है—'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'—(गीता १३।१)। 'परक्षेत्र' = दूसरा शरीर अर्थात् जन्मान्तर।

सभी 'अप्रकृत अर्थों' के साथ 'एक धर्म के सम्बन्ध' का उदाहरण दे रहे हैं, नायक, नायिका से कह रहा है—

(२) कुमुदेति। सुन्दर और मनोहर हाव-भावों से भरी हुई तुम्हारी इन आँखों के सामने कुमुद, कमल या नीलकमल क्या हैं ? अर्थात इनमें से कोई भी तुम्हारी' आँखों की बराबरी नहीं कर पा रहा है। तुम्हारे 'मुख' ने तो 'अमृत', 'अमृतरश्मि अर्थात चन्द्र तथा कमल को तो एक साथ ही जीत लिया है अर्थात् पराजित कर दिया है ॥ ४६१ ॥

यहाँ पर कवि का वर्ण्य विषय नायिका के नेत्र एवं मुख के सौन्दर्य का वर्णन करना है। उस कारण पूर्वार्ध में 'नेत्र' और उत्तरार्ध में 'मुख'—वर्ण्य होने से 'प्रकृत' हैं। पूर्वार्ध में प्रयुक्त कुमुद, कमल, नीरजालि—ये सब नेत्र के 'उपमान' हैं अर्थात् अप्रकृत हैं। तथा उत्तरार्ध में असृत, अमृतरश्मि, अम्बुजन्म,— ये सब 'मुख' के उपमान हैं, अर्थात् अप्रकृत हैं। पूर्वार्ध में प्रयुक्त उन सब अप्रकृत अर्थों (पदार्थों) के साथ,

(१७ व्यतिरेकालंकारः)

(१५९) उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥ ४६२ ॥

'का' पद से अभिव्यज्यमान तिरस्काररूप एक धर्म का सम्बन्ध बताया गया है। उसी तरह उत्तरार्ध में 'आनन' के उपमानभूत अमृत, अमृतरश्मि, एवं अम्बुजन्म— इन सभी अप्रकृत अर्थों के साथ 'प्रतिहतत्व' रूप एक धर्म का सकृत् सम्बन्ध दिखाया गया है, उसी तरह वाणी के माधुर्य को समानता अमृत से है, मुख के आकर्षकत्व की तुलना चन्द्र से है, एवं हृदय की सरसता की उपमा 'अम्बुज' से है। इस प्रकार प्रतीयमान साम्य एवं सकृद् वृत्ति धर्म दोनों का चमत्कार, 'तुल्ययोगिता अलङ्कार' में दृष्टिगोचर हुआ करता है। 'तुल्ययोगिता' शब्द से प्रतीत होता है कि 'तुल्य' अर्थात् एक--दूसरे का परस्पर समान योग (सम्बन्ध) होना। जहाँ प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत में एक धर्म का अन्वय (सम्बन्ध) दिखाया जाता है, उसे तुल्ययोगिता अलङ्कार कहते हैं।

प्रथम प्रकार के 'दीपक अलङ्कार' में भी 'एक धर्म' का सकृत् निर्देश रहता है, जो प्रकृत और अप्रकृत दोनों में रहता है, किन्तु तुल्योगिता में एक धर्म का संबंध, या तो केवल प्रकृत (प्राकरणिक) में अथवा केवल अप्रकृत (अप्राकरणिक) में विवक्षित रहता है, उपमानोपमेयभाव का अन्तर्भाव यहाँ भी है, किन्तु यहाँ साधारण धर्म, उभयगत (उपमान तथा उपमेयगत) न होकर केवल प्रकृतगत अथवा केवल अप्रकृतगत रहता है। यही दोनों में भेद है।

(सूत्र १५९) उपमानादिति। यत् उपमानात् अन्यस्य (=उपमेयस्य) व्यतिरेकः (=आधिक्यम्), स एव सः (='व्यतिरेकः')। उपमान से बढ़-चढ़कर 'उपमेय' को बताना ही व्यतिरेक अलंकार है। 'उपमेय' का बढ़-चढ़कर कथन करने के कारण ही उसे 'व्यतिरेक' के नाम से कहा जाता है। क्योंकि 'व्यतिरेक' (<अति+√रिच्) इसका अर्थ है—आधिक्य, श्रेष्ठता अर्थात् बढ़-चढ़कर रहना। मूलकारिका में 'व्यधिरेक' पद का प्रयोग 'श्रेष्ठता' के अर्थ में किया गया है।

क्षीण इति। हे सुन्दरि ! 'विरम मानात्' अर्थात् मान को त्याग दे, मान जा, और 'प्रसीद'–मुझ पर प्रसन्न हो जा। क्षीणः क्षीणोऽपि–अत्यन्त कृश हुआ भी चन्द्रमा, भूयो भूयः पुनः पुनः वृद्धिङ्गत (पूर्ण) होता रहता है, यह सच है, किन्तु बीता हुआ यौवन तो पुनः (फिर से) वापस नहीं आता है (अनिवर्ति है)। अभिप्राय यह है कि हे सुन्दरि ! मान को छोड़ दे और इस यौवन का उपभोग करने के लिए प्रसन्न हो जा ॥ ४६२ ॥

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं तदयुक्तमत्र यौवनगता स्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ।

उक्त पद्य के द्वारा यह बताया गया है कि चन्द्रमा चाहे जितना भी क्षीण (कला रहित) क्यों न हो जाय, तो भी वह पुनः कलापूर्ण हो जाता है, किन्तु यह यौवन, यदि एक बार बीत गया तो फिर कभी वह लौटता नहीं है ।

इत्यादावुपमानस्येति । किसी ने अर्थात् अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने जो यह कहा है कि उपमानभूत चन्द्रमा की क्षीणता होने पर भी पुनः-वृद्धि होना यही उसका उत्कर्ष है और उपमेयभूत यौवन की पुनरावृत्ति न होना—यही उपमेय का अपकीर्ष है। किन्तु इस प्रकार उपमान का ऊत्कर्ष प्रदर्शित करना उचित नहीं है, क्योंकि उक्त पद्य में उपमेयभूत यौवन की ही अस्थिरता का व्यतिरेक (उत्कर्ष) बवाया गया है। उपमानभूत चन्द्रमा का व्यतिरेक (उत्कर्ष) नहीं बताया है । उसकारण अर्थात् उपमान की अपेक्षा उपमेय का ही आधिक्य (उत्कर्ष) बताने के कारण यह प्रथम प्रकार के व्यतिरेक का ही उदाहरण है । उपमानभूत चन्द्रमा के उत्कर्ष (आधिक्य) का वर्णन उक्त पद्य के द्वारा नहीं किया गया है । उसकारण इसे डुसरे प्रकार के व्यतिरेक का उदाहरण मानना उचित नहीं है । इस प्रकार काव्यप्रकाशकार ने रुय्यक के मत का खण्डन कर दिया है ।

निष्कर्ष यह है कि 'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी' इस उदाहरण में उपमेय (यौवन) की अपेक्षा उपमान का (चन्द्रमा का) ही उत्कर्ष बताया गया है—यह जो रुय्यक ने कहा है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त उदाहरण में उपमेय का ही (यौवन की अस्थिरता का ही) उत्कर्ष (आधिक्य) बताना कवि को विवक्षित है ।

उसकारण अलंकार सर्वस्व में रुय्यक ने जो कहा है–"उपमानादुपमेयस्य आधिक्ये,विपर्यये उपमेयादुपमानस्य आधिक्ये वा व्यतिरेकः, तत्र विपर्यये उपमेयादुपमानस्य आधिक्ये 'क्षीणः क्षीणोऽपि' 'इत्युदाहरणम्'—इस कथन का खण्डन हो जाता है ।

एवं च 'क्षीणः क्षीणः'—यह पद्य 'उपमानादुपमेयस्यआधिक्यम्' का ही उदाहरण है । उपमेय से उपमान की अधिकता का यह उदाहरण नहीं है—यह मम्मट का आशय है । यहाँ पर 'चन्द्र' और यौवन' का सादृश्य नहीं बताया जा रहा है किन्तु चन्द्र और यौवन के 'क्षय' का सादृश्य बताया जा रहा है । चन्द्र का क्षय तो वृद्धि से बाधित रहने के कारण उसकी (चन्द्रक्षय की) न्यूनता है, और यौवनक्षय 'बाधित' न रहने के कारण उसकी (यौवनक्षय की) अधिकता है—यह प्रकृतवाक्यार्थ हो अनुकूल रहने से इसकी मानप्रसादनानुगुणता प्रतीत हो रही है ।

एवं च वाक्यार्थ यह हुआ कि 'चन्द्रो हि पुनः पुनरागमनेन लोके सुलभः, अतो न तादृशमाहात्म्यशालो,इदं पुनः यौवनम् अपुनरागमनेन अतिदुर्लभमिति मानादिभिरन्तरायै-

विदग्धतया भवत्या मुधा गमयितुं न योग्यम्, अन्यथा चन्द्रस्य आधिक्ये 'किमिति अस्य क्षुद्रस्य यौवनस्य कृते मया मानात् विरंस्यते, गच्छतु नाम यौवनम्'—इति प्रतिकूलेन अर्थेन प्रकृतार्थस्य अपुष्टतापत्तेः—प्रियहितकारिण्या दूत्याः इदं वचनम्। तस्मात् 'उपमानस्य उत्कर्षे व्यतिरेकालंकारः' इति खण्डितं वचः।

अब कुवलयानन्दकार का खण्डन कर रहे हैं—उपर्युक्त कथन से ही कुवलयानन्दोक्त

"रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः।
सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥"

इस पद्य में उपमेयन्यूनतापर्यवसायी 'व्यतिरेक' का भी खण्डन हो जाता है। अशोकवृक्ष को उद्देश्य करके किसी विरही व्यक्ति की यह उक्ति है—हे अशोक! अपन दोनों का सब कुछ समान है फिर भी विधाता ने केवल मुझे ही सशोक (शोकसहित) बनाया है, किन्तु तुम्हें अशोक (शोकरहित) बनाया है—यह अशोक पद के श्लेष से ज्ञात हो रहा है। अशोक से अपनी समानता बता रहा है—

रक्तस्त्वमिति। हे अशोक! तू नूतन पल्लवों के (कोपलों के) कारण 'रक्त' अर्थात् लालवर्ण का है, और मैं भी अपनी प्रिया के सौन्दर्यादि श्लाघनीय गुणों से 'रक्त' अर्थात् उस पर अनुरक्त हूँ। हे मित्र! तुम्हें उद्देश्यकर अर्थात् तुम्हारी ओर 'शिलीमुख' (भ्रमर = भौंरे) आते हैं—(मँडराते रहते हैं), और मुझे उद्देश्य (लक्ष्य) करके भी कामदेव के (स्मर के) द्वारा धनुष से छोड़े गये शिलीमुक्त (बाण = कामबाण) आते हैं। इसी प्रकार कामिनी के पादतल के आघात से तुम्हें जैसे सन्तोष होता है, उसी तरह मुझे भी उससे सुख-सन्तोष होता है। ये सभी बातें हम दोनों को तुल्य होती हुई भी विधाता ने मुझे सशोक बनाया।

क्योंकि 'सशोक' होने के कारण, तत्गम्यचेतनत्व-सहृदयत्वादि गुणों की अधिकता ही प्रतीत होती है।

इस पर यदि यह कहें कि 'वाच्यार्थबोधकालिक उत्कर्षापकर्ष ही अलंकार होते हैं। 'उपमेयन्यूनतापर्यवसायी व्यतिरेकः'—यहाँ 'न्यूनता' पद से 'अपकर्ष' विवक्षित है। 'शोक' तो स्वरूपत एव अपकृष्ट रहने से 'अपकर्ष' में कोई सन्देह ही नहीं है।

किन्तु इसप्रकार कहना उचित नहीं हैं क्योंकि 'प्रकृतवाक्यार्थानुगुणधर्मवत्त्व' ही यहाँ 'आधिक्य' पदार्थ विवक्षित रहने से 'परमचेतनत्वमेव सम्यक्, न पुनः प्रियावियोगादि-जन्यशोकास्पदं चैतन्यादि'—इस प्रकार पर्यवसान होने से प्रकृतवाक्यार्थभूत 'विरह' के अनुकूल ही वह 'शोक' है। इसी कारण 'प्रियावियोगादि भी तुल्य है'—इस अर्थ को

(व्यतिरेकस्य भेद-प्रभेदाः)

(१६०) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १०५ ॥
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।

बतानेवाले 'आवयोः सर्वं तुल्यम्'—यह वाक्य चरितार्थं होता है। यह कहने से 'उपमालंकार' को न होने देना ही यहाँ चमत्कार है; जैसे 'रति' की अनुकूलता के लिए कभी-कभी शरीर के अलंकारों का अपसारण करना भी आवश्यक होता है उसी तरह रस के अनुसार कहीं-कहीं अलंकार का बियोग भी शोभावह होता है—यह जो ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है, उसका भी खण्डन हो जाता है।

(सू० १६०) हेत्वोरुक्ताविति। दोनों हेतुओं के (उपमेयाधिक्य का हेतु तथा उपमानापकर्षक का हेतु-इन दोनों हेतुओं के) उक्त रहने पर 'व्यतिरेक' का पहिला (१) भेद कहा जाता है।

२—उपमेय का उत्कर्ष हेतु जब 'अनुक्त' रहता है, तब दूसरा (२) भेद कहा जाता है।

३—'उपमान' का अपकर्ष हेतु जब अनुक्त रहता है, तब तीसरा (३) भेद कहा जाता है।

४—'उपमेय' का उत्कर्ष हेतु तथा 'उपमान' का अपकर्ष हेतु—इन दोनों के एक साथ अनुक्त रहने पर चौथा (४) भेद कहा जाता है। एवं च 'व्यतिरैक' के 'चार (४) भेद' हुए।

इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद होते हैं—

१—तथाहि—'इव' शब्द के द्वारा अर्थात् 'शब्दतः'।

२—'तुल्य' आदि शब्द के द्वारा 'अर्थतः' (अर्थ के बल पर) साधर्म्य (साम्य) को बताये जाने पर।

३—साम्य' (साधर्म्य) के आक्षिप्त (व्यञ्जित) होने पर प्रत्येक के तीन-तीन भेद (४ × ३ = १२) होने से बारह (१२) भेद हुए। अर्थात् 'इव' शब्द का प्रयोग करके साम्य निवेदन, 'तुल्य' आदि का प्रयोग करके 'आर्थं' (अर्थतः) साम्य निवेदन, और 'जयति' आदि का प्रयोग करके 'आक्षेप' (व्यञ्जना) से साम्य निवेदन करने पर बारह भेद होते हैं। ये बारह भेद, 'प्रत्येक' में, अश्लिष्ट शब्द के होने पर तथा 'श्लिष्ट शब्द' के होने पर भी हो जाते हैं। उस कारण 'त्रिरष्ट' अर्थात् चौबीस (२४) भेद, 'व्यतिरेक' के सम्पन्न होते हैं।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम् उपमानगतमपकर्षकारणम् तयोर्द्वयोरुक्तिः एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यनुक्तित्रयम्। एतद्भेदचतुष्टयमुपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव, एवं द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिर्भेदाः क्रमेणोदाहरणम्—

(१ उत्कर्षनिमित्तोक्तौ शब्द-साधर्म्य-प्रयोज्याश्लिष्टः शब्दनिबन्धनः व्यतिरेकः)

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः॥ ४६१॥

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त 'चारों भेदों' में कहीं पर 'साम्य' शाब्द रहता है, तथा कहीं पर 'शाम्य' आर्थ रहता है और कहीं पर 'साम्य', आक्षिप्त रहता है। ये बारहों भेद, 'श्लेष' मूलक होते हैं और 'अश्लेष' मूलक भी होते हैं। उस कारण व्यतिरेक के १२ × २ = २४ भेद हो जाते हैं।

व्यतिरेकस्येति। व्यतिरेक के हेतु—'उपमेय' गत उत्कर्ष का निमित्त (कारण), और 'उपमान' गत अपकर्ष का निमित्त (कारण), ये दो होते हैं। 'इन दोनों' का कथन (उक्ति) करने पर 'व्यतिरेक' का एक (पहिला) भेद होता है।

एकतरस्येति। उक्त दोनों में से 'किसी एक' की अथवा 'दोनों' की अनुक्ति (अकथन)—इस प्रकार से तीन तरह की 'अनुक्ति' हुई। उपर्युक्त एक (पहिला) भेद तथा 'एकतरस्येति' प्रतीक को देकर बताये गये तीन भेदों को जोड़कर 'चार भेद' हुए। ये चारों भेद ऐसे हैं, जिनमें 'उपमानोपमेयभाव' को उपमाबाचक 'इवादि' शब्द से स्पष्ट बताया जाता है। यदि इसी 'उपमानोपमेयभाव' को आर्थ-सामर्थ्य से अर्थात् 'तुल्य' आदि शब्द का अथवा तुल्यार्थबोधक 'वति' प्रत्यय का प्रयोग करके बताया जाता है तो 'औपम्य' को आर्थ माना जाता है, 'शाब्द' नहीं। क्रमेण दोनों प्रकार से पूर्वोक्त चार-चार भेद ही होते हैं। एवं च कुल मिलाकर आठ भेद हुए।

'इव' तथा 'तुल्य', 'वति' शब्दों का प्रयोग न करके 'औपम्य' का आक्षेप करने पर उतने ही अर्थात् चार ही भेद होते हैं। एवमिति। इस रीति से बारह भेद हुए। एते इति। ये अश्लेष में होने वाले बारहों भेद, 'श्लेष' में भी होते हैं। उस कारण सब मिलाकर (१२ × २ = २४) चौबीस भेद सम्पन्न होते हैं।

'व्यतिरेकस्य हेतुः' कह कर जब 'निमित्त' तथा 'कारण' के बोधक 'हेतु' शब्द का उपन्यास कर ही दिया है, तब 'उत्कर्षनिमित्तम्', 'अपकर्षकारणम्'—पदों में 'निमित्तम्' और 'कारणम्' कहने की आवश्यकता, स्पष्ट प्रतीति के लिये ही समझनी चाहिए।

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपादानेऽन्यत् भेदत्रयम्। एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम् अत्रेवशब्दस्य सद्भावाच्छाब्दमौपम्यम्।

क्रमेणोदाहरणम् इति। क्रमशः उदाहरणों को दिया जा रहा है—

(उपमेयगत उत्कर्ष और उपमानगत अपकर्ष की उक्ति)

असिमात्रसहायस्येति। शौर्यातिशय के कारण अत्यधिक धीरप्रकृति (धैर्यशाली) इस राजा ने केवल खड्ग (तलवार) मात्र को ही अपना सहायक बनाकर अर्थात् सेनारहित अकेले ने ही अनेक प्रबल शत्रुओं को पराजित कर दिया, तथापि अन्य क्षुद्र लोगों के समान उसे अभिमान (गर्व) नहीं हुआ॥ ४६३॥

इस उपर्युक्त पद्य में 'राजा'—उपमेय है, उसके 'उत्कर्ष' का कारण—'महाधृति' है, जो 'उक्त' (कथित) है। उसी प्रकार 'अन्यतुच्छजनरूप उपमान के 'अपकर्ष' का कारण—'तुच्छत्व' है, जो उक्त है। अतः 'दोनों हेतुओं' की उक्ति में 'व्यतिरेक' के प्रथम भेद का यह उदाहरण है। 'प्रभूतारिपराभवत्व'—यह सामान्य धर्म है, और 'श्लेष' भी नहीं है।

अत्रैवेति। इसी उदाहृत पद्य में यदि केवल 'उपमान के अपकर्षहेतुरूप 'तुच्छत्व' की उक्ति न हो, अथवा केवल महाधैर्यरूप उपमेयगत 'उत्कर्ष' की उक्ति न हो, अथवा इन दोनों का अर्थात् उत्कर्षहेतु और अवकर्षहेतुका कथन युगपत् (एक साथ ही) न किया हो–तो; 'व्यतिरेकनिमित्त' की अनुक्ति के तीनों भेदों का लक्षण, घटित हो जायगा। एवमिति। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानना चाहिये। अत्रेति। 'अन्य तुच्छजनस्येव' में 'इव' शब्द का ग्रहण किया गया है, उस कारण 'उपमानोपमेयभाव'—शाब्द (शब्द से उक्त) माना गया है।

(१) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति का उदाहरण—

"नान्यराजजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः"।

(२) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति का उदाहरण—

"अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः"।

(३) दोनों की अनुक्ति का उदाहरण—

"नूनमन्यजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः"।

अग्रिम उदाहरणों में भी क्रमशः 'उत्कर्षनिमित्त का अनुपादान', 'अपकर्षनिमित्त का अनुपादान' और 'एक ही साथ दोनों का अनुपादान' (अनुक्ति) के तीनों प्रकारों का स्वरूप एक ही उदाहरण में पहिचानना सरल होगा, यह जानकर दिखा दिया है। उपर्युक्त उदाहरण में जो 'उपमानोपमेयभाव' है, वह, उपमावाचक 'इव' शब्द के प्रयोग से शब्दलभ्य अर्थात् शाब्द हो गया है।

(२ उत्कर्ष-निमित्तोक्तौ आर्थ-साधर्म्य-प्रयोज्यः श्लिष्ट-शब्दनिबन्धनो व्यतिरेकः)

असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैनान्यत्तुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥ ४६४ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम् ।

उपर्युक्त 'असिमात्रसहायस्य' उदाहरण के उत्तरार्ध में प्रयुक्त 'अन्यतुच्छजनस्येव' पदगत उपमावाचक 'इव' शब्द के स्थान में 'तेन तुल्यं क्रियाचेद् वतिः'—इस पाणिनि-सूत्र से 'वति' प्रत्यय को रखकर 'नैनान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः'—ऐसा पाठ यदि करते हैं, तो तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय के कारण 'उत्कर्षनिमित्त (हेतु) की उक्ति में आर्थ-साम्य (साधर्म्य) प्रयोज्य, अश्लिष्टशब्दनिबन्धन-व्यतिरेक का उदाहरण बन जाता है । एवंच—

(२) "असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे ।
नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥" ४६४॥

अर्थात् यह महान् धैर्यशाली राजा, जिसके पास एकमात्र खड्ग ही सहातक है, अर्थात् सेना के न रहने पर भी उसने प्रबल शत्रुओं को हरा दिया, फिर भी अन्य तुच्छजनों की तरह उसे किञ्चिन्मात्र भी अधिमान (दर्प) नहीं हो रहा है ॥४६४॥

श्लोक संख्या ४६३ और ४६४ दोनों श्लोक समान ही हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि ४६३ संख्यावाले श्लोक में सब विशेषण षठ्यन्त थे, और ४६४ संख्यावाले श्लोक में सब विशेषण प्रथमान्त हैं। और 'वति' प्रत्यय के प्रभाव से वही पद्य आर्थसाम्य (सादृश्य = औपम्य) में 'हेत्वोरुक्तौ' का उदाहरण हो गया है । यहाँ शब्दों में श्लेष नहीं है । 'अरिपराभवत्व' रूप साधर्म्य 'शब्द' के द्वारा बताया गया है । उपमानगत अपकर्ष हेतु 'तुच्छत्व है । उपमेयगत उत्कर्ष हेतु 'महाधैर्य' (महाधृति है—ये दोनों 'व्यतिरेक के निमित्त (हेतु) स्पष्टतया बताये गये हैं और जो 'औपम्य' है, वह अर्थसामर्थ्यलभ्य (आर्थ) है, क्योंकि 'अन्यतुच्छजनवत्' में जो 'वति' प्रत्यय है, वह 'तुल्य' के अर्थ में है । अर्थात् यहाँ जो 'औपम्य' (उपमानोपमेयभाव) है, वह शब्दसम्य नहीं है, किन्तु तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय के कारण 'आर्थ' है (अर्थसामर्थ्य के द्वारा प्रतीत हो रहा है) । एवंच श्लोक संख्या ४६४ वाला उदाहरण भी, अपने पूर्व श्लोक के समान ही 'हेत्वोरुक्तौ' का है । इस पद्य में भी पूर्व पद्य की तरह 'उत्कर्ष' और 'अपकर्ष' के हेतुओं का 'पर्याय' (बारी-बारी) से अथवा 'युगपत्' (एकसाथ) अनुपादान रहने पर तीन भेद हो जाते हैं। अर्थात् 'नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः'—इस प्रकार पढ़ने पर 'उपमानगत अपकर्षहेतु' की अनुक्ति है, और 'नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः'—इस प्रकार पढ़ने पर 'उपमेयगत उत्कर्षहेतु'

(३ उत्कर्षहेतूक्तौ व्यङ्ग्यसाधर्म्य-प्रयोज्याऽश्लिष्टशब्द-निबन्धनो व्यतिरेकः)

इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥ ४६५ ॥

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

की अनुक्ति है, और 'नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः'—इस प्रकार पढ़ने पर दोनों ही हेतुओं की अनुक्ति है। सगर्वत्वाभाव का पर्यवसान 'उत्कर्ष' में होने से वह (सगर्वत्वाभाव) आधिक्यरूप है।

एवंच 'आर्थ औपम्य' के 'चार उदाहरण' हो जाते हैं। इसके पूर्ववर्ती उदाहरण में 'शाब्द औपम्य' के 'चार उदाहरण' हुए थे। इस रीति से ग्रन्थकार ने व्यतिरेक के 'आठ भेदों' को प्रदर्शित कर दिया है।

अब 'अश्लिष्ट' भेदों में 'दो' प्रकार के हेतुओं का उपादान (उक्ति) रहने पर आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) साम्यवाले व्यतिरेक का उदाहरण बता रहे हैं—

(३) इयं सुनयनेति। यह सुनयना नायिका, कमललक्ष्मी को भी दासी बना देने वाले (पद्मश्री को भी पराजित करनेवाले) अपने निष्कलङ्क (अतिशय सुन्दर) मुख से, उस कलङ्कयुक्त चन्द्रमा को पराजित (तिरस्कृत) कर रही है ॥ ४६५ ॥

अत्रेवेति। इस पद्य में 'शाब्द उपमा' के प्रयोजक 'इव' आदि शब्द तथा 'आर्थ उपमा' के प्रयोजक 'तुल्य' आदि शब्द अर्थात् दोनों प्रकार के शब्द, न रहने से 'उपमा' (औपम्य = सादृश्य) आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) ही है।

विवरण—उक्त पद्य में 'श्लेषाऽसत्त्व' है अर्थात् 'श्लेष' का अभाव है, 'आनन'—उपमेय है, 'इन्दु'-उपमान है,'अकलङ्कित्व' और 'कलङ्कित्व'—दोनों उत्कर्षापकर्षहेतुओं का उपादान किया गया है, 'इव' आदि अथवा 'तुल्य' आदि शब्दों (पदों) के न रहने पर भी 'जयति' पद (शब्द) से 'साम्य' (औपम्य) आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) है।

यहाँ पर भी पूर्ववत् 'उत्कर्षापकर्षहेतुओं' का पर्याय से अथवा युगपत् अनुपादान रहने पर 'तीन भेद' होंगे। जैसे—(१) 'आननेन मनोज्ञेन जयतीन्दुं कलङ्किनम्'—ऐसा पाठान्तर कर देने पर 'उपमेयगत उत्कर्षहेतु' की 'अनुक्ति' हो जाती है, उसीतरह (२) 'आननेनाऽकलङ्केन जयत्यमृतदीधितिम्'—ऐसा पाठान्तर कर देने पर 'उपमानगत अपकर्षहेतु' की 'अनुक्ति' हो जाती है। (३) 'आननेन मनोज्ञेन जयत्यमृतदीधितिम्'—ऐसा पाठान्तर कर देने पर 'दोनों ही हेतुओं' की 'अनुक्ति' हो जाती है। यहाँ पर 'जय' में ही आधिक्य का पर्यवसान होने से वही 'व्यतिरेक' का सम्पादक है।

(४ उत्कर्ष-निमित्त-शाब्दसाम्य-प्रयोज्यश्लिष्ट-शब्दनिबन्धनव्यतिरेकः)

जितेन्द्रियतया सम्यग्विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥ ४६६ ॥

'इयं सुनयना' (श्लोक सं० ४६५) में 'साम्य' (औपम्य) को आक्षिप्त (व्यङ्ग्य), इसलिए कहा गया है कि 'इव' आदि शब्द का प्रयोग न होने से 'साम्य' को शाब्द नहीं कह सकते, उसी तरह 'तुल्य आदि' का प्रयोग न करने से उसे 'आर्थं' भी नहीं कह सकते, ऐसी स्थिति में 'मुख-चन्द्रयोरौपम्यं'—जयति इति पदेन आक्षिप्तमेव, व्यङ्ग्यमेवास्तीतियावत् । एवं च यहाँ 'साम्य' को जयति पद से व्यंजित किया गया है । इसलिए वह व्यंग्य (आक्षिप्त) ही है ।

अभिप्राय यह है कि उदाहृत पद्य में उपमेय (मुख) के 'उत्कर्ष' का हेतु (कारण) 'अकलङ्कित्व' है, उसी तरह उपमान (चन्द्र) के 'अपकर्ष' का हेतु (कारण) 'कलङ्कित्व' है, इन दोनों का ग्रहण (कथन) कवि से किया है। उस कारण यह उदाहृत पद्य 'हेत्वोः उक्तौ' का समझना चाहिए, यह एक प्रकार हुआ ।

यदि इसी पद्य में 'अकलङ्कित्व' उसी प्रकार 'कलङ्कित्व'—इन 'दोनों हेतुओं' को अलग-अलग पर्याय से न कहें, अथवा दोनों को युगपत् (एकसाथ) न कहें तो यही उदाहृत पद्य, 'अनुक्तीनां त्रये'—तीन प्रकार की अनुक्तियों का उदाहरण (तीन प्रकार का) बन जायगा । इन चारों में सादृश्य (साम्य = औपम्य) आक्षिप्त (व्यंग्य) समझा जायगा । उस कारण 'आक्षिप्त सादृश्य'(साम्य) वाले 'व्यतिरेक' के श्लेषरहित बारह भेदों के उदाहरण हो जाते हैं ।

अब श्लेषयुक्त व्यतिरेक का उदाहरण—

(४) जितेन्द्रियतयेति । अपनी इन्द्रियों पर निग्रह करके यथाविधि, मनोयोग से परिश्रमपूर्वक विद्याध्ययन तथा पूजनीय वृद्ध विद्वानों की सेवा करने के कारण अत्यधिक सुदृढ गुणों से युक्त इस महान् पुरुष के गुण, 'कमल' के समान भंगुर नहीं है । अर्थात् तत्काल टूट जाने वाले नहीं हैं ॥४६६॥

'अब्जवत्' में 'तत्र तस्येव'—सूत्र से 'इव' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय किया गया है। उस कारण यहाँ 'औपम्य' शाब्द है । इस पद्य में प्रयुक्त 'गुण' शब्द 'श्लिष्ट' है । अतः 'राजा' के पक्ष में गुण के धैर्य, शौर्य, पाण्डित्य' अर्थ हैं । और 'कमल' के पक्ष में 'तन्तु' (सूत्र) अर्थ है ।

यहाँ उपमेय—'राजा' है, और उपमान—'अब्ज' (कमल) है । उपमेय का 'उत्कर्षहेतु'—अतिगाढगुणत्व है, और उपमान का उत्कर्षहेतु—भंगुरत्वगुण है । दोनों का उपादान यहाँ पर किया गया है । उस कारण यह पद्य 'हेत्वोरुक्तौ' का

अत्रेवार्थे वतिः गुणशब्दः श्लिष्टः शाब्दमौपम्यम् ।

(५ उत्कर्षनिमित्तोक्तौ आर्थसाम्य-प्रयोज्यश्लिष्टशब्दनिबन्धनो व्यतिरेकः)

अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैष पृथिवीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥ ४६७ ॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः कलाशब्दः श्लिष्टः ।

उदाहरण है । इन दोनों हेतुओं का 'अनुपादान' यदि 'पर्याय' से अथवा 'युगवत्' कर दिया जाय तो यही पद्य, 'अनुक्तीनां त्रये' के तीन उदाहरणों के रूपों को धारण कर लेगा । तथाहि—(१) 'सत्कर्मनिरतस्यास्य नाब्जवद् भंगुरा गुणाः' इस प्रकार पढ़ने पर, उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति है ।

(२) 'अतिगाढगुणस्यास्य न तामरसवद्गुणाः'—इस प्रकार पढ़ने पर उपमानगत अपकर्षहेतु की अनुक्ति है ।

(३) 'सत्कर्मनिरतस्यास्य न तामरसवद्गुणाः'—इस प्रकार पढ़ने पर दोनों ही हेतुओं की अनुक्ति हो रही है—यह समझना चाहिए ।

एवंच यह श्लेषमूलक शाब्द औपम्य व्यतिरेक, 'हेत्वोरुक्तौ' भेद का उदाहरण है । इसी को न्यूनाधिक परिवर्तित करने पर 'अनुक्तीनां त्रये' के तीन उदाहरण भी बताये जा सकते हैं, जो ऊपर दिखाये गये हैं ।

श्लिष्ट भेदों में से 'हेत्वोरुक्तौ' में 'साम्य' के आर्थ रहने पर व्यतिरेक का उदाहरण (५) अखण्डेति । देखो, अखण्ड मण्डल से युक्त और श्री से परिपूर्ण यह राजा, 'चन्द्रमा' के समान कभी भी कलाओं से विकल (रहित) नहीं होता ॥४६७॥

अत्रेति । यहाँ 'तुल्य' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय है । उसकारण यहाँ 'औपम्य'—आर्थ है । कलेति—'कला' शब्द, 'श्लिष्ट' है । राजा के पक्ष में—कला शब्द, चौंसठ प्रकार की कलाओं का वाचक है, और 'चन्द्रमा के पक्ष में—सोलह कलाओं का वाचक है ।

उक्त पद्य में उपमान—'चन्द्रमा' है, उसके 'अपकर्ष' का हेतु—'कलावैकल्य' है । उसी तरह उपमेय 'राजा' है, उसके 'उत्कर्ष' का हेतु—'कलावैकल्य का अभाव' है । ये दोनों हेतु, यहाँ पर 'उक्त' हैं । उसकारण यह पद्य 'हेत्वोरुक्तौ' का उदाहरण है । इन दोनों हेतुओं में से 'प्रत्येक के क्रमशः अनुक्त होने पर अथवा दोनों के युगपत् अनुरक्त रहने पर यही पद्य, 'अनुक्तीनां त्रये' का भी उदाहरण बन जायगा ।

(१) 'बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥'

इस प्रकार पढ़ने पर 'उपमेय' गत 'उत्कर्ष हेतु' की अनुक्ति प्रतीत होती है। इस पाठ में 'कला' शब्द 'श्लिष्ट' है।

(२) 'अखण्डमण्डलो ह्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः।
न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः॥'

इस प्रकार पढने पर उपमानगत 'अपकर्ष हेतु' की अनुक्ति प्रतीत होती है। इस पाठ में 'अखण्डमण्डल' शब्द श्लिष्ट है।

(३) 'बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः।
न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः॥'

इस प्रकार पढ़ने पर 'अखण्डमण्डलत्व' और 'कलावैकल्य' दोनों ही हेतुओं की अनुक्ति प्रतीत होती है। इस पाठ में 'बहुल' शब्द' 'श्लिष्ट' है।

एवं च उपमेय—'राजा' है, और उपमान—'चन्द्र' है। 'तुल्य' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय है। 'अखण्डमण्डलत्व' और 'सकलकलावत्व' रूप 'उत्कर्ष' तथा 'ईषत् खण्ड-मण्डलत्व' और 'कलाविकलत्व' रूप अपकर्ष, इन दो 'व्यतिरेकहेतुओं' का उपादान किया गया है। 'अखण्ड' में 'निषेधार्थक' 'नञ्' है और 'ईषदर्थक' है। 'श्री' शब्द, 'सम्पत्ति' एवं 'शोभा' के अर्थ में है, तथा 'कला' शब्द, 'षोडशकला' और चतुष्षष्टि कलाओं के अर्थ में हैं। उसकारण 'अखण्ड', 'श्री' और 'कला' ये शब्द 'श्लिष्ट' हैं। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' सूत्र से तुल्यार्थं में विहित 'वति' प्रत्यय रहने से 'साम्य' आर्थ है।

व्यतिरेक के प्रकारों को निम्नलिखित पद्धति से सरलता के साथ समझा जा सकता है—

उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य 'दो कारणों' से हो सकता है—

(१) उपमेय में उत्कर्षकारक धर्म के रहने पर।

(२) उपमान में अपकर्षकारक धर्म के रहने पर कुछ उदाहरणों में उक्त 'दोनों कारण' निर्दिष्ट रहते हैं। कुछ उदाहरणों में केवल 'उपमेय' का उत्कर्षकारण ही निर्दिष्ट रहता है (अर्थात् उपमान का अपकर्षकारण अनिर्दिष्ट रहता है)। कुछ उदाहरणों में केवल 'उपमान' का अपकर्षकारण निर्दिष्ट (कथित) रहता है (अर्थात् उपमेय का उत्कर्षकारण निर्दिष्ट नहीं रहता)। कुछ उदाहरणों में दोनों कारण अनुक्त (अर्थात् अध्याहृत) रहते हैं। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यही है कि 'आधिक्य' के कारणरूप बीज से 'व्यतिरेक' के चार प्रकार होते हैं।

यह जो कहा जाता है कि 'उपमेय' पदार्थ, 'उपमान' पदार्थ की अपेक्षया बढ़-चढ़कर (उत्कृष्ट) रहता है—इस कथन का अभिप्राय यह है कि दो पदार्थों में 'कुछ

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि सम्भवति तस्यापि भेदा एवमूह्याः, दिङ्मात्रमुदाह्रियते ।

आंशिक 'उपमानोपमेयभाव' रहता है। अर्थात् उस 'उपमानोपमेयभाव' को कहीं पर उपमाप्रतिपादक 'इव' शब्द से बताया जाता है, उसकारण उसे 'शाब्द' (श्रौत) कहा जाता है और कहीं पर उसे 'तुल्य' आदि शब्दों से कहा जाता है। अर्थात् 'अर्थानुसंधान' से प्रतीत होने के कारण उसे 'आर्थ' कहा जाता है और कहीं पर दोनों प्रकार के उपमाबोधक शब्दों का प्रयोग न होने के कारण उसे 'आक्षिप्त' (व्यञ्जना से गम्य) माना जाता है। इस प्रकार 'व्यतिरेकगत साम्य' के कारण 'व्यतिरेक' के तीन प्रकार हो जाते हैं। अतः पूर्व प्रतिपादित चार प्रकारों के साथ उक्त तीन प्रकारों का गुणा करने से उसके १२ प्रकार हो जाते हैं।

व्यतिरेक के कुछ उदाहरणों में 'उपमान-उपमेय' बोधक, कारणबोधक अथवा 'साम्यधर्म' के बोधक शब्द, एकार्थक' (अश्लिष्ट) रहते हैं, और कहीं पर वे द्व्यर्थी (श्लिष्ट) रहते हैं। एवंच श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण 'व्यतिरेक' के 'श्लिष्ट शब्दसहित' और 'श्लिष्टशब्दरहित' दो प्रकार उसके बन जाते हैं। पूर्वोक्त बारह प्रकारों के साथ गुणा करने पर उसके चौबीस प्रकार हो जाते हैं। मम्मट ने इन चौबीस प्रकारों को बताया है।

निम्नांकित सारणी को ध्यान से देखने पर व्यतिरेक के प्रकार, सहजतया ध्यान में आ सकते हैं—

व्यतिरेक के प्रकार—

		१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
श्लेष—	(क) अश्लिष्ट / (ख) श्लिष्ट	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
हेतु—	(क) उत्कर्ष—	उ	उ	अ	अ	उ	उ	अ	अ	उ	उ	अ	अ
	(ख) अपकर्ष—	उ	अ	उ	अ	उ	अ	उ	अ	उ	अ	उ	अ
साम्य—		शा	शा	शा	शा	आ	आ	आ	आ	आं	आं	आं	आं

(उ=उक्त; अ=अनु, शा=शाब्द; आ=आर्थ; आं=आक्षिप्त)

यथा—अश्लिष्ट १—उत्कर्ष हेतु उक्त, अपकर्षहेतु उक्त, साम्य शाब्द।
अश्लिष्ट २—उत्कर्षहेतु उक्त, अपकर्षहेतु अनुक्त, साम्य शाब्द।
श्लिष्ट— उत्कर्षहेतु उक्त, अपकर्षहेतु अनुक्त, साम्य आर्थ।

उपर्युक्त सारणी के प्रकारों के क्रमांक—अश्लिष्ट (१-१२) और श्लिष्ट (१-१२) ध्यान में रखना आवश्यक है।

मालेति। माला,प्रतिवस्तूपमा की तरह इसी व्यतिरेक का एक रूप 'मालाव्यतिरेक'

यथा—

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥ ४ ८॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः।

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः॥ ४ ९॥

भी संभव हो सकता है। इसके भी भेद, अवान्तर भेद होते हैं, उन्हें स्वयं समझ लेना चाहिए। अर्थात् मालाव्यतिरेक के भी २४ भेद होते हैं। दिग्दर्शन के लिए तीन उदाहरण दे रहे हैं।

यथेति। जैसे—

(६-१) हरवदिति। हे राजन्! आप कभी भी 'हर' की तरह 'विषमदृष्टि' नहीं हैं तथा न हरि की तरह विततवृष का विधूनन ही करते हैं और न सूर्य की तरह दुःसह करों से भूमि को सन्तप्त करते हैं॥४६८॥

(हर=शिवजी, विषमनेत्र अर्थात् तीन नेत्रोंवाले है, इसलिए उन्हें 'विषमदृष्टि' कहा गया है। 'विषमदृष्टि' का दूसरा अर्थ—'असमदर्शी' भी है। 'विधूतविततवृषः'=व्यापक धर्म का निर्दलन करनेवाला। (वृष=धर्म)। हरि=विष्णु ने कृष्णावतार में 'वृषासुर' का निर्दलन किया है (भागवत १०।३६) 'अतिदुःसहकरतापितभूः=रवि अपने अतिदुःसह किरणों से भूमि को अत्यन्त सन्तप्त कर देता है। दूसरा अर्थ यह भी है कि बहुत-से असहनीय 'करों'=टेक्सों को लगाकर पृथ्वी=प्रजाजनों को सन्तप्त पीड़ित करना।

अत्रेति। यहाँ पर तुल्यार्थक (उपमाबोधक) 'वति' प्रत्यय (वत्) है। और विषमादि शब्द 'श्लिष्ट' हैं।

उक्त पद्य में 'विभु'–उपमेय है, और 'हर, हरि, रवि' उपमान हैं। और उपमानगत अपकर्षहेतु–क्रमशः 'विषमदृष्टित्व, विधूत-वितत-वृषत्व तथा अतितापितभूत्व' हैं। श्लिष्ट शब्द—'विषम, वृष, कर' हैं। 'औपम्य'—आर्थ है। यहाँ पर एक साथ 'हर-हरि-रवि' तीनों के साथ 'राजा' का 'व्यतिरेक' प्रदर्शित किया गया है। उसकारण यह 'मालाव्यतिरेक' का उदाहरण कहा गया है। क्योंकि उपमेयगत उत्कर्ष के हेतु नहीं बताये गये हैं, अपितु उपमानगत अपकर्ष के हेतु 'असमदृष्टित्व' आदि बताये गये हैं। एवंच यह 'अनुक्ति' का उदाहरण है।

अब 'हेत्वोरुक्तौ' के 'आक्षिप्त साम्य' का श्लेषमूलक उदाहरण दे रहे हैं—

(७-२ क) नित्योदितेति। जिसका प्रताप नित्य (अहर्निश=रात-दिन) उदित रहता है अर्थात् देदीप्यमान रहता है। अतएव रात में भी जिसकी कान्ति विलीन नहीं

अत्र ह्याक्षिप्तैवोपमा भास्वतेति श्लिष्टः।

यथा वा—

स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं
बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम्।
यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र
तृष्णां जहार मधुनाननमङ्गनानाम् ॥ ४७० ॥

होती, अर्थात् नित्य चमकनेवाले इस राजा ने 'भास्वान् सूर्य' को भी पराजित कर दिया है ॥४६९॥

अत्रेति। यहाँ पर 'इव' आदि एवं 'तुल्य' आदि दोनों प्रकार के पदों के 'अभाव' के कारण 'साम्य' (उपमा) आक्षिप्त (व्यंग्य) ही है। 'प्रताप' तथा 'प्रभा' शब्द 'श्लिष्ट' हैं। राजा के पक्ष में—'प्रताप' का अर्थ 'पौरुष' है (पराक्रम है)। सूर्य के पक्ष में—'प्रताप' का अर्थ 'प्रकृष्ट ताप = आतप है। 'प्रतापः पौरुषातपौ' इति यादवः। राजा के पक्ष में—'प्रभा' का अर्थ 'प्रकृष्ट भाव' है। सूर्य के पक्ष में—'प्रभा' का अर्थ सूर्य के किरणों की कान्ति है।

यहाँ पर 'भास्वता' और 'प्रताप' शब्द 'श्लिष्ट' हैं। व्यतिरेक से दोनों निमित्त—अर्थात् 'उपमानगत (भास्वान्‌गत) अपकर्ष (रात में सूर्य की किरणों का नष्टप्रायः हो जाना) और 'उपमेयगत (भूपगत) 'उत्कर्ष' अर्थात् 'भूप' पद-उपमेय है और 'भास्वान्' (सूर्य) पद उपमान है। उपमान (भास्वान्) का अपकर्ष हेतु—'त्रियामामीलित प्रभात्व' तथा 'उपमेय' (भूप) का 'उत्कर्षहेतु'—नित्योदित प्रतापत्व'—दोनों उक्त हैं। इसलिए यह उदाहरण 'हेत्वोरुक्तौ' का है। 'विनिर्जितः' पद से इन दोनों का 'साम्य' आक्षिप्त (व्यंग्य) हो रहा है।

निष्कर्ष यह है—भूप उपमेय है और भास्वान् (सूर्य) उपमान है। साधारण धर्म—'भास्वत्व' (=१—तेजस्विता, २—सूर्यत्व)। उपमेयगत उत्कर्षहेतु-'नित्योदित-प्रतापत्व' है, और उपमानगत अपकर्षहेतु—'त्रियामामीलितप्रभत्व' है। श्लिष्ट शब्द 'भास्वता' (=१ तेजस्विना, २ सूर्येण)। 'सूर्य' भास्वान् होता हुआ भी रात में निष्प्रभ हो जाता है, किन्तु 'राजा' भास्वान् रहता हुआ सर्वदा प्रतापशाली है। उसी तरह 'प्रताप' शब्द भी श्लिष्ट है।

इसके बाद एक अन्य उदाहरण दे रहे है, जिसमें 'साम्य' का आक्षेप करानेवाले 'विनिर्जित' जैसे शब्दों का भी प्रयोग नहीं किया गया है। केवल श्लिष्ट विशेषणों का ही प्रयोग किया गया है। उन विशेषणों से ही 'साम्य' का आक्षेप हो जाता है।

यथावेति। जैसे—

(८—२७) स्वच्छात्मतेति। यत्र रजनीषु स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं

अत्रेवादीनां तुल्यादीनां च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते एवञ्जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति तेऽप्यनयैव दिशा द्रष्टव्याः ।

बिम्बप्रभाधरम् अकृत्रिमहृद्यगन्धं मधु अङ्गनानाम् आननं (च) अतीव पिबतां यूनां तृष्णां मधु जहार, अङ्गनानाम् आननं न जहार—यह अन्वय है।

अर्थात् जिस वसन्तऋतु की रात में निर्मलता गुण के कारण जिस मद्य में चन्द्रबिम्ब का प्रतिबिम्ब प्रकट हो रहा है, बिम्बफल (कुन्दुरु करौंदा) के तुल्य रक्तवर्ण (लाल रंग) की कान्ति को धारण किया है। लाल रंग का तथा स्वाभाविक आकर्षक मधुर गन्ध से पूर्ण उस मद्य को और अंगनाओं (कामिनियों) के आनन को अत्यधिक पान करने की इच्छा रखनेवाले युवकों की तृष्णा को तो उसने (मद्य ने) तृप्त कर दिया, किन्तु अङ्गनाओं के आनन की (अधरपान की) तृष्णा को तृप्त नहीं किया ॥४७०॥

अभिप्राय यह है—वसन्त की रात्रियों में अधिक मद्यपान करने के इच्छुक युवकों की इच्छा को 'मधु' ने तो पूर्ण कर दी, किन्तु अंगनाओं के आनन ने पूर्ण नहीं की। अर्थात् मद्यपान तो अपनी मात्रा में ही किया जा सकता है, अतः मद्यपान की इच्छा का तो मधु ने पूर्ण कर दिया, किन्तु अङ्गनाओं के आनन को तो चूमते ही रहे। निर्मल मद्य तथा निर्मल गौरवर्ण के आनन में निर्मलता (स्वच्छता)के कारण चन्द्रबिम्ब, का प्रतिबिम्ब उल्लसित हो रहा है। मद्य तथा अङ्गनाओं के अधर, बिम्बफल के तुल्य रक्तवर्ण हैं और मद्य तथा आनन दोनों हो स्वाभाविक लुभावनी गन्ध से सम्पन्न हैं। फिर भी सुन्दरियों के मुख, अत्यधिक अधरामृत पान करनेवाले युवकों की तृष्णा को तृप्त करने में समर्थ नहीं हो पाये यह अभिप्राय है।

अत्रेवादीनामिति। उक्त पद्य में शाब्द औपम्य के प्रयोजक 'इवादि' तथा आर्थ औपम्य के प्रयोजक 'तुल्यादि' पदों के न रहने पर भी 'श्लिष्ट विशेषणों' से 'मधु' तथा 'आनन' की सादृश्य (साम्य) रूप 'उपमा', आक्षेप (व्यञ्जना) से प्रतीत हो हो जाती है, अर्थात् यहाँ जो 'उपमानोपमेयभाव' है, वह श्लिष्टविशेषणों के द्वारा आक्षिप्त (व्यंग्य) होकर प्रतीत हो रहा है।

एवञ्जातीयका इति। इस प्रकार के भेद, श्लेष-योग्य पदों को—'उपमान के विशेषण तथा उपमेय के विशेषण बनाकर अलग-अलग भी ग्रहण किया जा सकता है।

प्रस्तुत पद्य में जो श्लिष्ट पद हैं, वे उपमान तथा उपमेय दोनों के सम्मिलित रूप से विशेषण हैं, वे अलग-अलग नहीं हैं। इसे हो प्रदर्शित करने के लिए वृत्तिकार ने 'पृथक्' पद का प्रयोग किया है। अर्थात् केवल उपमान के विशेषण अथवा केवल उपमेय के विशेषण के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। तब अन्यान्य भेद,

(१८ आक्षेपालंकारस्तस्य भेदाश्च)

(१६१) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥१०६॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमतिप्रसिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः ।

उपभेद भी दिखाये जा सकते हैं। उन उदाहरणों को प्रदर्शित दिशा में स्वयं समझ लेना चाहिए।

प्रस्तुत उदाहरण में अङ्गनाओं का आनन 'मधु' के सदृश है, क्योंकि स्वच्छेत्यादि विशेषणों से युक्त है। इस प्रकार केवल विशेषणों के द्वारा औपम्य के आक्षिप्त होने पर भी मधु से तो तृप्ति हुई, किन्तु आनन के चुम्बन से नहीं हुई। इस तरह के वैलक्षण्य के कारण यहाँ व्यतिरेक अलंकार निश्चित किया जा रहा है।

भामह,दण्डी,रुद्रट आदि प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों के मार्ग से भिन्न मार्ग अपनाकर मम्मटभट्ट ने व्यतिरेक अलंकार का निरूपण किया है।

(१८ आक्षेपालङ्कार)

(सूत्र १६१) निषेध इति। कुछ विशेष कहने की इच्छा से वक्तुमिष्ट (विवक्षित) का जो निषेध किया जाता है, उसे 'आक्षेप' अलंकार कहते हैं ॥१०६॥

वक्ष्यमाणेति। (१) वक्ष्यमाणविषयक अर्थात् जो बात आगे कहनी है, उसका पहिले से निषेध कर देना और (२) उक्तविषय अर्थात् पूर्व कथित का निषेध कर देना, इस प्रकार 'आक्षेपालंकार' दो प्रकार का कहा गया है।

'वक्ष्यमाणोक्त विषयः'—वक्ष्यमाणश्च उक्तश्च वक्ष्यमाणोक्तौ, तौ विषयौ यस्य निषेधस्य तादृशः। यह कहने का फल यह हुआ—'स आक्षेपो द्विधा मतः।' ग्रन्थकार मम्मटभट्ट स्वयं ही कारिका का विवरण कर रहे हैं—विवक्षितस्येति। कारिकागत 'वक्तुमिष्ट' का अर्थ—'विवक्षित' है। उसका भी स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि 'यह विवक्षित' प्राकरणिक होने से 'अनुपसर्जनीकार्य' है, अर्थात् उपसर्जनीकर्तुमयोग्य (उपसर्जन बनाने के योग्य नहीं है) अनुपेक्षणीय है तथा कारिकागत 'विशेष' का विवरण करते हैं।

अशक्येति। 'विशेष' का अर्थ है—अशक्यवक्तव्य। जिसे कह नहीं सकते, अथवा अतिप्रसिद्ध है। उसे कहने चले, किन्तु निषेध कर दिया, अथवा नहीं कहेंगे, अथवा रहने दीजिए, इस प्रकार निषेध के जैसा कर दिया, पूर्ण निषेध नहीं किया।

क्रमेणोदाहरणम्—

ए एहि किंपि कोएवि कएण णिक्किव भणामि अलमहवा ।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सम् ॥४०१॥

(ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप ! भणामि अलमथवा)
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥४७१॥

अभिप्राय यह है कि 'विवक्षित' (प्रकृत) होने से उसे गौण अथवा उपेक्षित नहीं किया जा सकता उस अर्थ के अवर्णनीयत्व अथवा अतिप्रसिद्धत्वरूप विशेषता को बताने के लिए जो निषेध अर्थात् निषेध-सा (वास्तविक निषेध नहीं) करना । वह आक्षेप दो प्रकार का होता है—(१) वक्ष्यमाणविषयक अर्थात् आगे कही जानेवाली बात को कहे बिना, पहिले ही निषेध-सा कर देना, और (२) उक्तविषयक अर्थात् बात बताकर उसका निषेध कर देना। इस प्रकार 'आक्षेप' का स्वरूप और उसके दो प्रकारों को बताया गया ।

क्रमेणेति । अब क्रमशः उनके उदाहरणों को प्रदर्शित कर रहे हैं ।

विरहिणी नायिका की सखो की यह उक्ति है—

(१) ए एहीति । नायक को देखकर अमर्ष भरे शब्द से उसे वह सम्बोधन कर रही है—

अरे निष्कृप (निष्ठुर) ! जरा यहाँ तो आओ, मुझे किसी के विषय में तुमसे कुछ कहना है । अथवा जाने दो (रहने दो), तुमसे यह सब क्या बताऊँ ? बिना सोचे-समझे मन-माने काम करनेवाली वह है, उसका मरना ही अच्छा है, (उसे मरने ही दो), उसके विषय में कुछ भो नहीं कहूँगी ॥४७१॥

पद्य में 'अलम्' शब्द के प्रयोग से हो 'नहीं कहूँगो' यह 'निषेध' कर दिया है, तथापि 'न भणिष्यामि' भी कहा है, उससे 'खेद' की अधिकता प्रतीत हो रही है। विरहिणी नायिका की सखो उसका सन्देश लेकर नायक के पास आई है । नायिका को बिरह-जनित कामपीडा से जो अत्यधिक सन्ताप हो रहा है, उसे बताना वह चाह रही है अर्थात् अवश्य वक्तुमिष्ट (विवक्षित) है, किन्तु उसे खुलकर कहना, उसकी शक्ति के बाहर है । इस मर्मान्तिक पीडा को अभिव्यक्त करने के लिए उसने 'अलम्' कहकर निषेध कर दिया है । यह निषेध करना ही 'आक्षेपालंकार' है ।

इस रीति से सब-कुछ तो कह दिया, फिर भी 'म्रियताम्, न भणिष्यामि'—कहकर वेदनातिशय व्यक्त कर रही है । सखो ने नायिका की बिरहपीडा को सुनाने के पहिले ही उसका निषेध कर दिया है, उसकारण यह उदाहरण, 'वक्ष्यमाणविषयक निषेधरूप आक्षेप' का हैं ।

ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर-
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ॥४७२॥

अब उक्तविषयक आक्षेप का उदाहरण दे रहे हैं—

(२) नायक के प्रति दूति की उक्ति है—

ज्योत्स्नेति । जिसके हृदय में (मन में) तुम अपने निवास का स्थान बनाकर विराज रहे हो और इस प्रकार सन्तप्त कर रहे हो उस कारण यह चान्दनी (ज्योत्स्ना), मोतियों की माला, चन्दन रस, चन्द्रकान्तमणि का शीतलजल, कर्पूर, कदली, मृणाल के कङ्कण (वलय), तथा कमलिनी के पल्लव (पत्र) भी उसके लिए आग बरसाने का काम कर रहे हैं । अरे ! इन सब बातों को तुम्हें सुनाकर भी (कहने से) क्या लाभ ? अच्छा तो यही है कि मैं कुछ न कहूँ ॥ ४७२॥

इस पद्य में विरहपीडा के कारण चान्दनी आदि शीतल वस्तुएँ भी सन्तापदायक हो गई हैं, यह सब पूरी तरह से बताकर भी बाद में उसका निषेध किया गया है । उसकारण यह 'उक्तविषयक' निषेधाभासमूलक 'आक्षेप' अलंकार का उदाहरण है । अर्थात् विरहिणी नायिकाओं के लिए चन्द्रिका आदि तापहारक पदार्थ भी अङ्गारों का काम करते हैं—इस 'अतिप्रसिद्ध (लोक-प्रसिद्ध) विशेष' को अभिव्यक्त करने के लिए 'ज्योत्स्ना' आदि को कहकर उनका निषेध अर्थात् उक्तविषयक निषेध करने के कारण यह उक्तविषयक आक्षेप है ।

एवंच प्राचीन आलंकारिक भामह, उद्भट के समान ही मम्मट का आक्षेपलक्षण है ।

उद्योतकार का कहना है कि इस 'आक्षेप अलंकार' को गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का ही एक प्रकार-विशेष कहा जा सकता है । क्योंकि आक्षेप अलंकार के दोनों प्रकारों में साध्यभूत अर्थ, (वक्तव्य कथन की अशक्यता, अनावश्यकता, अयोग्यता) व्यञ्जनागम्य हैं, वे 'निषेधरूप वाच्यार्थं' से प्रतीत (सूचित) होते हैं । वह साध्यभूत अर्थ, 'वाच्यार्थ' को सप्रयोजन बनाता है । अन्यथा विवक्षित विषय का निषेध करना असंगत होगा । अतः वह व्यञ्जनागम्य साध्यभूत अर्थ, 'वाच्यार्थ' का अंग है ।

आक्षेप के सम्बन्ध में अन्यान्य आलंकारिकों के मत—

(१) भामह और उद्भट का लक्षण काव्यप्रकाशकार के समान ही है । आक्षेप में औपम्य की आवश्यकता को न बताने पर भी उनके उदाहरणों में आक्षेपगत विशेष को उपमान के द्वारा ही सूचित किया है ।

(२) दण्डी—'प्रतिषेधोक्तिराक्षेप' (२।१२०) सामान्य लक्षण किया है और कालभेद

के अनुसार उसके तीन (वृत्ताक्षेप, वर्तमानाक्षेप, भविष्यदाक्षेप) भेद किये हैं, और प्रतिषिद्ध विषय के अनुसार अनंत प्रकार (भेद) बताये हैं। उनमें से 'धर्माक्षेप,अनादराक्षेप, मूर्च्छाक्षेप' आदि इक्कीस भेदों का दिग्दर्शन करा दिया है।

(३) वामन—'उपमानाक्षेपश्च आक्षेपः' (४।३।२७) लक्षण है। आक्षेप को औपम्य से सम्बद्ध माना है और उसके दो भेद भी किये हैं। वे दोनों भेद क्रमशः काव्यप्रकाशकार के 'प्रतीप' और 'समासोक्ति' से भिन्न नहीं है।

(४) रुद्रट—वस्तु प्रसिद्धमिति यद् विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य। अन्यत् तथात्वसिद्धयर्थं यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः॥ (८।८९)। अर्थात् 'प्रसिद्धत्व' अथवा 'विरुद्धत्व'—इन हेतुओं से किसी विषय के कथन का निषेध करने पर निषिद्ध वस्तु के स्वरूप की समर्थक अन्य तत्समान वस्तु का प्रदर्शन करना ही 'आक्षेप' है। इसप्रकार स्वरूपकथन तथा उसके उदाहरण[1] से रुद्रट को आक्षेप में 'औपम्य' का होना अभीष्ट प्रतीत होता है। इसका 'आक्षेप' दृष्टान्त अलंकार से मिलता-जुलता-सा प्रतीत होता है: काव्यप्रकाशकार का आक्षेपलक्षण, प्रायशः भामह-उद्भटकृत लक्षण के अनुसार ही है। तथापि भामह-उद्भट के द्वारा लक्षण में अप्रदर्शित किन्तु उनके दिये उदाहरण में अस्पष्टतया प्रतीयमान औपम्यांश को काव्यप्रकाशकार ने स्वीकार नहीं किया है। उसकारण काव्यप्रकाशकार का 'आक्षेप अलंकार'—'दृष्टान्त, प्रतीप, समासोक्ति' अलंकारों से स्पष्टतया पृथक् दिखाई देता है।

(५) रुय्यक—काव्यप्रकाशकार के 'आक्षेप' को 'इष्टनिषेधाभासात्मक आक्षेप'—की संज्ञा दी है। रुय्यक ने आक्षेप का एक और नवीन प्रकार 'अनिष्टविध्याभास' नाम से बताया है। जैसे—

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्॥'

अर्थात् पति जब देशान्तर के प्रवासार्थ उद्यत हुआ, तब 'वह देशान्तर का प्रवास न करे' यह चाहनेवाली उसकी प्रिया ने प्रस्तुत पद्योक्ति के द्वारा उसे विदाई का संदेश दिया है। 'यहाँ से तुम्हारे जाने के बाद मेरा जीवित रहना संभव नहीं है'—यह अभिप्राय, प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्ध से स्पष्ट हो रहा है। उसकारण पत्नी के द्वारा दी गई जाने की अनुज्ञा, वस्तुतः अनुज्ञा न होकर अनुज्ञा का केवल आभासमात्र है। यह तत्काल अवगत होता है उक्त विदाई अंश में 'अनिष्ट' का आभासात्मक विधान करने से यह आक्षेप, 'अनिष्टविध्याभासात्मक' प्रतीत हो रहा है। क्योंकि 'विवक्षित वक्तव्य' के

१. जनयति सन्तापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः॥ (८।९०)

विरुद्ध कथन करना, जो आक्षेप का सामान्य लक्षण है, वह यहाँ घटित हो रहा है। रुय्यक ने निषेधाभासात्मक प्रथम आक्षेप के चार प्रकार बताये हैं—

(क) उक्तविषय—(१) वस्तुनिषेध, (२) वस्तुकथननिषेध। (ख) वक्ष्यमाणविषय (यह वस्तुकथननिषेधात्मक ही होता है), (३) सामान्य उक्त, विशेषनिषिद्ध,(४) एक अंश उक्त, दूसरा अंश निषिद्ध। मम्मटोक्त दोनों प्रकार 'वस्तुकथननिषेधात्मक' ही हैं। रुय्यक ने उनके उदाहरणों को क्रमशः बताया है।

(१) 'बालअ नाहं दूई तीअ पिओ सि त्ति न मह वावारो।
सा मरइ तुज्झ अयसो ए अंधम्मक्खरं भणिमो॥' (सत्तसई–२।७७)

संस्कृतच्छाया—
'बालक नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसीति न मम व्यापारः।
सा म्रियते तवाऽयशः—एतद् धर्माक्षरं भणामः॥'

यह कहकर दूती ने स्वयं के दूतीत्व होने का निषेध किया है, किन्तु उत्तरार्ध में 'नायिका के आसन्नमरण होने का जो कथन किया है, उससे निषेध की असत्यता प्रतीत हो रही है

(२) 'प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे॥ —(रत्नावली २।१९)

इस पद्य के तीन चरणों में रूठी हुई नायिका (वासवदत्ता) का अनुनय करनेवाला नायक (उदयन) स्वयं किये हुए विधानों का प्रतिवाद स्वयं ही कर रहा है। काव्य-प्रकाशकार मम्मटभट्ट का 'ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम' उदाहरण इसी प्रकार का है।

(३) 'सुहअ विलंबसु थोअं जाव इमं विरहकाअरं हिअअं।
संठविउण भणिस्सं अहवा वोलेसु किं भणिमो॥'

संस्कृतच्छाया—'सुभग विलम्बस्व स्तोकं यावदिदं विरहकातरं हृदयम्।
संस्थाप्य भणिष्यामि—अथवा गच्छ किं भणामः॥'

इस पद्य के पूर्वार्ध में विवक्षित विषय 'विरह दुःख' को सामान्यतया बताया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का—'ए एहि किं पि कीए'—उदाहरण भी इसी प्रकार का है।

(४) 'ज्योत्स्ना तमः पिकवचः क्रकचस्तुषारः क्षारो मृणालवलयानि कृतान्तदन्ताः।
सर्वं दुरन्तमिदमद्य शिरीषमृद्वी सा नूनमाः किमथवा हतजल्पितेन॥'

इसमें 'नूनम्' पद के बाद वाक्य को अधूरा ही छोड़ दिया है, उसे पूर्ण करने के लिए 'म्रियते' जैसे किसी पद की आवश्यकता है। किन्तु वैसा बिना किये ही यहाँ पर

पूर्वविधान का निषेध किया गया है। इन सब प्रकारों में 'इष्टार्थ, उसका निषेध, निषेध की अनुपपत्ति, विशेषप्रतिपादन'—ये चार अंश अवश्य अपेक्षित रहते हैं। उसकारण किये हुए 'निषेध' का पर्यवसान 'विधि' में हुआ करता है। उक्त चारों अंशों में से अन्तिम अंशगत 'विशेष' सर्वत्र 'गम्य' रहता है। अर्थात् यह 'अशक्यवक्तव्य' अथवा 'अतिप्रसिद्ध' हुआ करता है—ऐसा काव्यप्रकाशकार ने कहा है। किन्तु उसके अतिरिक्त 'वास्तविकता', 'अवश्यस्वीकार्यत्व', 'कोपजनकत्व' आदि 'विशेषों' को भी रुय्यक ने बताया है।

(५) शोभाकर—रुय्यक के द्वारा प्रतिपादित दो प्रकार के आक्षेपों की गणना, दो स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में की है[1]—(१) 'आक्षेप' (इष्टनिषेधाभास),(२) 'विध्याभास' (अनिष्टविध्याभास)। इसके अतिरिक्त शोभाकर ने 'निश्चय' संज्ञक एक स्वतन्त्र अलंकार की कल्पना की है—"आदौ भ्रमवशात् अन्यथा अवभासस्य पश्चात् अन्यथा निश्चयनं निश्चयः।' इस निश्चयालंकार को 'आक्षेप' से भिन्न कहा है—

'विहितेऽर्थे निषेधस्य स्याच्चेत् आभासमानता।
आक्षेपोऽसौ तदा ज्ञेयः प्ररूढत्वे तु निश्चयः॥'[2]

उसके द्वारा दिया गया 'निश्चय' का एक उदाहरण—

'सतां कदर्थनं व्यर्थं सखे दुर्जन मा कृथाः।
अथवा नोपदेशेन माधुर्यं भजते विषम्॥'[3]

शोभाकर के 'विध्याभ्यास' में—

'आभोगिनौ कुण्डलिनौ तत्क्षणोन्मुक्तकञ्चुकौ।
वरमाशीविषौ स्पृष्टौ न तु तन्व्याः पयोधरौ॥

उदाहरण का समावेश किया जा सकता है। इस विध्याभास जैसे ही 'संदेहाभास', 'विकल्पाभास' आदि अन्य अलंकारों की भी कल्पना की है।[4]

(७) पण्डितराज जगन्नाथ—"निषेधमात्रम् आक्षेपः। चमत्कारित्वं च अलंकार सामान्यलक्षणप्राप्तमेव। तच्च व्यङ्ग्यार्थे सति सम्भवति, इति सव्यङ्ग्यो निषेधः सर्वोऽपि आक्षेपालंकारः। एवं च

(१) उपमेयकृत-उपमानकैमर्थक्य, (२) पक्षान्तरालम्बनकृतप्राचीनपक्षकैमर्थक्य, (३) विशेषप्रतिपादनप्रयोजक-उक्तवक्ष्यमाणकथनकैमर्थक्यानाम्, (४) अनुपदोक्तनिषेध-विध्याभ्यासयोश्च संग्रहः। (पण्डितराज जगन्नाथ, पृ० ४२४) 'कैमर्थक्य' का अर्थ है—किमर्थता, अर्थात् 'किमर्थम्' शब्द से सूचित की जानेवाली 'अनावश्यकता'।

१. रत्नाकर पृ० ८३-८६। २. रत्नाकर पृ० ८५।
३. रत्नाकर पृ० ८३। ४. रत्नाकर पृ० ८८-९०।

(१० विभावनाऽलंकारः)

(१६२) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १०७ ॥

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना ।

यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टोऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥४७३॥

उपर्युक्त चार पक्षों में से पहले 'दो पक्ष' क्रमशः वामन और दण्डी के हैं। तीसरा और चौथा क्रमशः मम्मट और रुय्यक का है। मम्मट के मत का समावेश रुय्यक के मत में होता है, रुय्यक के मत में जो 'निषेधाभास' का अंश है, वह मम्मट को भी मान्य है। 'निषेधमात्रम् आक्षेपः' यह पक्ष—आनन्दवर्धन का होने से पण्डितराज को अभीष्ट होगा, वह उनकी आक्षेपध्वनिविषयक चर्चा से प्रतीत होता है।

आनन्दवर्धन ने आक्षेप ध्वनि का जो उदाहरण दिया है, उसे रुय्यक ने अमान्य किया है। उस पर पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है—"नहि आभासरूप एव निषेधः आक्षेपः" इत्यस्ति वेदाज्ञा, नापि प्राचामाचार्याणाम्। न चापि युक्तिः। येन ध्वनिकारोक्तमुपेक्ष्य त्वदुक्तं श्रद्दधीमहि, प्रत्युत वैपरीत्यमेवोचितम्। ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्। नहि—अस्मिन् शास्त्रे आक्षेपादिशब्दसंकेतग्राहकं प्रमाणान्तरमस्ति, ऋते प्राचीनवचनेभ्यः। अन्यथा सकल विपर्यासापत्तेः। (पण्डितराज पृ. ४२५) इससे स्पष्ट हो रहा है कि पण्डितराज का झुकाव पूर्णतया आनन्दवर्धन की ओर है।

क्रियाया इति। 'क्रियते अनयेति क्रिया'—जिससे कार्य किया जाता है—इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'क्रिया' शब्द का अर्थ होगा—'प्रसिद्धकारण'। 'कारण' का निषेध (अभाव) होने पर भी उसके फलस्वरूप 'कार्य' की व्यक्ति अर्थात्—प्रकाशन (कथन) करने पर 'विभावना' अलङ्कार कहलाता है। विरोधमूलक अलङ्कार वर्ग में इसे गिना जाता है।

हेतुरूपेति। हेतुरूप क्रिया (कारण) का अभाव (निषेध) रहने पर भी फल (कार्य) का प्रकाशन (उत्पत्ति) जहाँ किया जाता है, वहाँ 'विभावना' नाम का अलङ्कार माना जाता है।

यथेति। जैसे, विरहिणी नायिका का वर्णनपरक पद्य है—

कुसुमितलतेति। सा नायिका कुसुमितलताभिः अहताऽपि रुजम्, अधत्त, अलिकुलैः अदष्टाऽपि परिवर्तते स्म, नलिनीयुक्ताभिर्लहरीभिः अलोलिताऽपि अघूर्णत। अर्थात् पुष्पित कोमल लताओं से ताडित न होने पर भी वह नायिका पीडा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमरों से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी, तथा कमलिनियों से युक्त लहरियों के भँवर में पड़े बिना भी वह चक्कर खा रही थी ॥ ४७३ ॥

रहस्यबोधिनी—सूत्रगत 'क्रिया' शब्द, 'प्रसिद्ध कारण' परक है। उसी तरह 'विभावना' शब्द का अर्थ है—केवल विदग्धजन संवेद्य उस अप्रसिद्ध कारण की कल्पना करना। अभिप्राय यह है कि 'विभावयति कारणान्तरम् अप्रसिद्धकारणं विदग्धमात्रवेद्यं कारणं कल्पयतीति व्युत्पत्त्या विभावना-शब्दोऽपि अन्वर्थः। प्रसिद्ध-कारणाऽभावेऽपि कार्योत्पत्तिर्हि कार्यस्य कारणान्तरं कल्पयति। एवं च प्रसिद्धकारण-निषेधेऽपि तत्कार्यरूपफलस्य व्यक्तिः प्रकाशनं कथनं विभावनालङ्कार इत्यर्थः। अर्थात् प्रसिद्ध कारण के प्रतिषेध में भी फल की व्यक्ति होना विभावना अलङ्कार कहलाता है।

वैयाकरणों के मत में 'क्रिया' ही 'हेतु' होती है। अन्यथा धात्वर्थ रूप क्रिया का निषेध अकिञ्चित्कर हो जाने से असङ्गति होगी। अतएव वृत्तिकार ने कहा है कि हेतुरूप क्रिया के निषेध में भी उस क्रिया के फल का प्रकाशन 'विभावना' है।

शङ्का—कारण के अभाव में होनेवाली जो कार्योत्पत्ति है, उसमें 'विरोध' की स्फूर्ति होती है, उसके पश्चात् 'स्फुरित हुए विरोध' का 'प्रसिद्ध कारण' की अपेक्षा 'अतिरिक्त कारण' से परिहार होता है। अतः यह 'विभावना' न होकर 'विरोध' अलङ्कार ही प्रतीत हो रहा है।

समा०—'विरोध' तुल्य बल वाले पदार्थों में ही होता है। उस कारण 'विरोधा-भास' में 'दोनों पदार्थ' परस्पर बाधित रहते हैं। किन्तु 'विभावना' में 'कारणाभाव' से 'कार्य' ही बाध्य होता है, न कि 'कार्य' से 'कारणाभाव' बाध्य होता है। क्योंकि 'कारणाभाव' तो 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' से निश्चित है, अर्थात् 'इस कार्य' का 'यह कारण' नहीं है। किञ्च 'प्रमाण' से प्रमित (निश्चित) का बाध नहीं हुआ करता।

विभावनालङ्कार के उदाहरण का विचार करने पर ध्यान में आ जाता है कि 'लताओं की चोट', 'पीडा' का कारण बन सकती थी, तथा 'भ्रमर' के द्वारा काटा जाना 'तड़पने' का कारण हो सकता था, और कमलिनियों से युक्त तरंगों (लहरियों) के चक्कर (भँवर) में फँस जाना 'चक्कर' आने का कारण हो सकता था, किन्तु उन कारणों का निषेध करने पर भी 'कार्य' का प्रकाशन कवि ने किया है। अर्थात् 'लता' से हनन 'पीडा' का हेतु है, भ्रमर के द्वारा दशन, 'परिवर्तन' का हेतु है, और तरङ्ग सम्बन्ध 'घूर्णन' का हेतु है। किन्तु यहाँ तो उन 'हेतुओं' (कारणों) का अभाव है, फिर भी पीडा आदि कार्यों का कवि ने प्रकाशन किया है। अतः उक्त पद्य में 'विभावना' अलङ्कार ही है। क्योंकि 'विरहातिशयरूप अप्रसिद्ध कारण' की कल्पना यहाँ कवि ने की है।

रुय्यक आदि अलंकारशास्त्रियों ने 'विभावना' के 'उक्तनिमित्तक' और 'अनुक्त-निमित्तक' कह कर—'दो भेद' किये हैं। तदनुसार मम्मटोक्त उदाहरण 'अनुक्त-निमित्तक' विभावना का है। क्योंकि वास्तविक कारण–'विरहातिशय' का निर्देश नहीं किया गया है।

उक्तनिमित्तक विभावना का उदाहरण—पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रदर्शित किया है—

'यदवधि विलासभवनं यौवनमुदियाय चन्द्रवदनायाः।
दहनं विनैव तदवधि यूनां हृदयानि दह्यन्ते॥'

यहाँ पर 'तरुण पुरुषों' का 'हृदयदाह' रूप 'कार्य', 'अग्नि' (दहन) रूप 'प्रसिद्ध कारण' के अभाव में ही हो रहा है। युवकों के 'हृदयदाह' का अप्रसिद्ध कारण 'चन्द्रवदना का यौवन' है उसका पूर्वार्ध में उल्लेख मात्र किया गया है, किन्तु उसका प्रस्तुत कार्य के साथ 'कारणत्वेन' सम्बन्ध नहीं बताया है।

कुवलयानन्दकार ने 'विभावना' के अनेक प्रकार बताये हैं। 'कारण' के अभाव में 'कार्य' की उत्पत्ति होना यह 'विभावनालक्षण' उन्होंने किया है। 'कारण का अभाव' अनेक प्रकार से संभव होता है। जैसे—

(१) क्वचित् 'कारण' का साक्षात् अपलाप किया जाता है।
(२) क्वचित् 'प्रतिबन्धक कारण' का अपूर्ण होना बताया जाता है।
(३) क्वचित् 'प्रतिबन्धक कारण' का निर्देश किया जाता है।
(४) क्वचित् वास्तविक कारण के अतिरिक्त अन्य कारण का निर्देश किया जाता है।
(५) क्वचित् कार्य के प्रति सर्वथा विरुद्ध कारण को निर्दिष्ट किया जाता है।
(६) क्वचित् 'कार्य' को ही 'कारण' का कारण बताया जाता है।

उक्त छहों प्रकार के क्रमशः उदाहरण इस प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं—

(१) 'अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्।'
(यह नायिका के स्वभावत एव रक्त चरणों का वर्णन है)।
(२) 'अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः।'
(विश्व पर विजय पाने में अस्त्रों का उपयोग होता है, किन्तु वे यदि सुकुमार (नाजुक) हों तो कैसे काम चलेगा ?)
(३) 'सातपत्रं दहत्याशु प्रतापतपनस्तव।'
(छत्र धारण किये हुए पुरुष को वास्तव में आतप से सन्ताप न हो)।
(४) 'शङ्खाद् वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्।'
(वीणा का निनाद वीणा से निकलेगा, 'शंख' से कैसे निकल पायेगा ? यहाँ पर 'शंख = रमणीय शंखाकृति कण्ठ)।

(२० विशेषोक्तिरलंकारः)

(१६३) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

(विशेषोक्तेस्त्रयो भेदाः)

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः । अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिः)

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥४७४॥

---

(५) 'शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त सन्तापयन्ति ताम् ।'

(कितने दुःख की बात है कि उस तन्वङ्गी को चन्द्र की ठण्डी-ठण्डी किरणें सन्तप्त कर रही हैं । चन्द्र की किरणों से तो ताप मिटना चाहिए, किन्तु यहाँ विपरीत हो रहा है ।)

(६) 'यशः पयोराशिरभूत् करकल्पतरोस्तव ।'

(कल्पवृक्ष का कारण वस्तुतः समुद्र है । यह दानशील राजा के हाथ का वर्णन है) ।

इनकी लक्षण-विसंगतियों को पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में दिखाया है ।

(२० विशेषोक्ति अलंकार)

विशेषोक्तिरिति । सम्पूर्ण प्रसिद्ध कारणों के विद्यमान होने पर भी 'फल' (कार्य) का न होना विशेषोक्ति अलंकार कहलाता है ।

'कारणेषु अखण्डेषु=कारणेषु मिलितेषु अपि ।'

मिलितेष्विति । प्रसिद्ध कारण सभी एकत्रित रहने पर भी 'कार्य' का कथन न करना, अर्थात् कार्य की उत्पत्ति न होने पर विशेषोक्ति अलंकार होता है । यह विशेषोक्ति तीन प्रकार से होती है—(१) अनुक्तनिमित्ता, (२) उक्तनिमित्ता, (३) अचिन्त्यनिमित्ता ।

क्रमेणेति । क्रम से तीनों के उदाहरण—

(१ अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण)

निद्रानिवृत्ताविति । नींद भी खुल गई, सूर्य का उदय भी हो गया, सहेलियाँ भी शयनकक्ष के दरवाजे पर आ-धमकी और उप-पति (भुजङ्ग-प्रेमी) ने भी आलिंगन के रस को शिथिल कर दिया तब भी वह नायिका (अंगना), आलिंगन से विरत नहीं हुई, अर्थात् आलिंगन करती ही रही ॥४७४॥

(२ उक्तनिमित्ता विशेषोक्तिः)

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥४७५॥

यहाँ पर 'निद्रानिवृत्ति', 'सूर्योदय', 'दरवाजे पर सखीजनों का उपस्थित होना' आदि कारणों के विद्यमान (सद्भाव) होने पर भी 'आलिंगन-परित्याग' रूप 'कार्य' के अभाव का कथन किया गया है, इसलिए यहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार बन गया है। यह 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति है, क्योंकि 'अनुरागातिशय' रूप 'निमित्त' का कथन 'कवि' ने नहीं किया है। अर्थात् कारण सामग्री के सिद्ध रहने पर भी 'कार्य' की निष्पत्ति नहीं हुई है। कार्य की निष्पत्ति न होने में कारण—वर्णनीय स्वैरिणी स्त्री (नायिका) का 'अनुरागातिशय' ही है। कार्य-प्रतिबन्धक इस कारण का निर्देश, कवि ने किया नहीं है।

'सखीजने पराप्ते सति' = सखीजनों के वापस आने पर। क्योंकि अपनी सखी को शयनकक्ष में छोड़कर सखियाँ निकल गई थीं।

(२ उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण)

कर्पूर इवेति। जो कामदेव कर्पूर (कपूर) के समान भस्म हो जाने पर भी वह प्राणिमात्र के हृदय पर अपना वर्चस्व जमाये हुए है। क्योंकि उसका सामर्थ्य अकुण्ठित (अप्रतिहत) है। उस अप्रत्याहृत पराक्रम वाले कामदेव(मकरकेतु)को नमस्कार है॥४७५॥

यहाँ पर 'शरीर' का दाह,'शक्ति' के ध्वस्त होने में कारण है। उस 'कारण' के रहने पर भी 'शक्तिध्वंस' रूप कार्य के अभाव का कथन किया गया है। अतः यहाँ पर 'विशेषोक्ति' अलंकार है, और 'शक्तिध्वंस' रूप कार्य के अभाव का कारण (निमित्त) 'अवार्यवीर्यत्व' है, जिसका कथन (निर्देश) कवि ने किया है, इसलिए यहाँ 'विशेषोक्ति', 'उक्तनिमित्ता' है। एवंच 'उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति' का यह उदाहरण है॥

उक्त पद्य में कवि ने 'कामदेव' को 'कर्पूर' की उपमा दी है, जो बहुत ही सार्थक प्रतीत हो रही है। प्रदीप-व्याख्याकार ठक्कुर का कहना है कि 'कपूर' के जल जाने पर भी उसका 'सुगन्ध' आता ही रहता है। क्योंकि 'कपूर' में उसका अपना 'असाधारण गन्धसामर्थ्य' रहता है।

आर्थी विशेषोक्ति और आर्थी विभावना—

प्रस्तुत उदाहरण में 'कार्याभाव' का निर्देश, स्पष्टरूप से नहीं किया है। अर्थात् निषेधार्थक 'न' आदि 'अव्यय' का प्रयोग करके 'कार्याभाव' को नहीं बताया है। किन्तु अपेक्षित कार्य के विरुद्ध कार्य का होना बताकर 'कार्याभाव' को बताया गया है। इसकारण यहाँ की 'विशेषोक्ति' को 'आर्थी' समझना चाहिए, 'शाब्दी' नहीं।

(३ अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्तिः)

स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम् ॥४७६॥

(३ अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण)

पुष्पों के अस्त्रों को अपने पास रखनेवाला वह कामदेव स्वयं अकेला ही त्रिलोकी को (तीनों लोकों को) पराजित कर देता है, जिसके शरीर को नष्ट करनेवाला शिव उसकी शक्ति को नष्ट नहीं कर सका ॥४७६॥

यही युक्ति 'विभावना' में भी लगाई जा सकती है। अर्थात् जिस 'विभावना' में 'कारण' का साक्षात् निषेध किया जाता है, उस विभावना को 'शाब्दी' और जिसमें परम्परया निषेध किया जाता है, उस विभावना को 'आर्थी' समझना चाहिए।

आर्थी विभावना और आर्थी विशेषोक्ति—इन दोनों को एक-दूसरे से अलग दिखाना संभव न हो सकने से जहाँ पर ये दोनों अलंकार 'आर्थ' हों, वहाँ दोनों का 'सन्देहसंकर' मानना होगा। इसी अभिप्राय से काव्यप्रकाशकार मम्मट ने प्रथम उल्लास में 'यः कौमारहरः……' आदि उदाहरणों में 'अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः' कहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

आर्थी विशेषोक्ति का आर्थी विभावना से भेद—

आर्थ विभावना या 'विशेषोक्ति' का अर्थात् 'विभावना-विशेषोक्ति' का 'सन्देह-संकर' का होना निरपवाद नहीं है, क्योंकि अनेक बार कौन-सा 'कारण' है, और कौन-सा 'कार्य' है– यह निश्चित होने पर ही किसी विशिष्ट उदाहरण को 'विभावना' का या 'विशेषोक्ति' का हम कह सकते हैं।

'कर्पूर इव दग्धोऽपि'—इसी उदाहरण को देखिए। इसमें 'कारण' और 'कार्य' क्रमशः 'दग्धत्व' और 'शक्तिवैकल्य' को मानने पर यह उदाहरण 'विशेषोक्ति' का होगा, तथा 'अदग्धत्व' और 'शक्तिमत्त्व' को क्रमशः कारण और कार्य मानने पर यही उदाहरण 'विभावना' का हो जायगा।

किन्तु 'दग्धत्व' जैसे 'शक्तिवैकल्य' का अकाट्य कारण है, क्या उसी प्रकार 'अदग्धत्व' को 'शक्तिमत्त्व' का कारण कह सकते हैं ? यदि वह कारण होता तो अशक्त को शक्तिमान् होने का अनुभव होता। इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पर 'दग्धत्व' ही 'कारण' है, और 'शक्तिवैकल्य' को ही 'कार्य' समझना चाहिए। तब 'विशेषोक्ति' को ही अलंकार कहना होगा। किन्तु यहाँ पर यह युक्ति उपपन्न नहीं हो सकेगी। अतः पण्डितराज के कथनानुसार 'विभावना-विशेषोक्ति' का 'सन्देहसंकर' ही मानना होगा। 'यः कौमारहरः……' इस उदाहरण में जिस प्रकार कारण 'प्रिय वस्तुओं के अनुभूतत्व' को और उसके अपेक्षित कार्य 'उत्कण्ठाभाव' को माना जा सकता है, उसी प्रकार 'कारण' प्रियवस्तुओं के अननुभूतत्व का कार्य 'उत्कण्ठा' को माना जा सकता है, क्योंकि इनमें से कोई भी 'कार्य-कारण' की जोड़ी अनुभव के विरुद्ध नहीं है। इस उदाहरण में 'सन्देह-संकर' को स्वीकार करके भी मम्मटभट्ट के कथनानुसार यहाँ पर अलंकार को

(२१ यथासंख्यमलंकारः)

(१६४) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥

एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव ! द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥४७७॥

अस्फुटता को विश्वनाथ ने माना नहीं है । क्योंकि 'उपमा-उत्प्रेक्षा' की तरह 'सन्देह-संकर' को भी एक स्वतन्त्र अलंकार उसने माना है । और यह 'सन्देह संकर' उक्त उदाहरण में 'स्फुट' रूप से प्रतीत हो रहा है । किन्तु विश्वनाथ का यह कथन तर्कसंगत प्रतीत नहीं हो रहा है । क्योंकि 'सन्देह' को भी 'स्फुट-अस्फुट' के रूप में द्विविध मानने पर 'अस्फुट सन्देह' का प्रतिपादन करना होगा, तब 'निश्चय' की अस्फुटता जैसे 'सन्देह' में परिणत होती है, वैसी 'सन्देह' की अस्फुटता 'निश्चय' में परिणत होने लगेगी । और जिस उदाहरण में अनेक विशिष्ट अलंकारों को निश्चित रूप से बताया जा सकता है, उनमें भी 'संसृष्टि' को न मानकर 'अस्फुट सन्देह-संकर' को स्वीकार करने का प्रसंग प्राप्त होगा । और 'अस्फुट संसृष्टि' को भी 'स्फुट सन्देह-संकर' में ही मानना पड़ेगा । अतः उक्त युक्तिवाद उचित प्रतीत नहीं हो रहा है ।

(२१ यथासंख्यसंज्ञकालङ्कार)

(सूत्र १६४) यथासंख्यमिति । क्रम से कथित पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय (सम्बन्ध) करने पर 'यथासंख्य' नाम का अलंकार होता है । अर्थात् प्रथम का प्रथम से द्वितीय का द्वितीय से, तृतीय का तृतीय से समन्वय करने पर 'यथासंख्य' नाम का अलंकार होता है ।

एकस्त्रिधेति । हे देव ! अर्थात् हे राजन् ! आप एक (अकेले) होते हुए भी (१) 'शत्रुओं', (२) विद्वानों तथा (३) मृगनयनियों के मन में अर्थात् (१) शत्रुओं के मन में 'शौर्य' की गरमी से 'सन्ताप' को उत्पन्न करते हैं, (२) विद्वानों के मन में 'विनय' से 'आनन्द' को उत्पन्न करते हैं, और 'सौन्दर्य' से 'मृगनयनियों' के मन में 'रति' को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् आप तीनों में तीन रूपों से रहते हैं—यह आश्चर्य है ॥४७७॥

यहाँ पर 'द्वितीय चरण' में क्रम से कहे गये 'तापं', 'सम्मदरसं' और 'रतिं' के साथ, 'तृतीयचरण' में कहे गये 'शौर्योष्मणा', 'विनयेन' और 'लीलया' का उसी क्रम से 'अन्वय' किया गया है । अतः यह 'यथासंख्य' अलंकार का उदाहरण हो गया है ॥

'संख्याम् अनतिक्रम्य यथासंख्यम्' (अव्ययीभाव) ।

प्रस्तुत अलंकार और उसके नामकरण का मूल, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्'—(पा० सू० १।३।१०) सूत्र से उक्त 'यथासंख्य' के तत्त्व में है। सूत्रगत 'संख्या' शब्द का अर्थ 'काशिकाकार' ने 'क्रम' ही बताया है।

'यथासंख्य' को 'अलंकार' माना जाय अथवा नहीं ? 'यथासंख्य' को प्रायः सभी आलंकारिकों ने 'अलंकार' के रूप में माना है, और उसका 'नामकरण'—'संख्यान' या 'क्रम' किया है। वामन का कहना है कि इस अलंकार में 'उद्दिष्टों' का 'अनूद्दिष्टों' के साथ 'उपमानोपमेयभाव' होना चाहिए। किन्तु अन्य आलंकारिकों ने इस शर्त को नहीं माना है। तथापि इस अलंकार के उदाहरणों को देखने पर प्रतीत होता है कि यह अलंकार अन्य स्फुट अथवा अस्फुट अलंकारों के साथ मेल-जोल रखता है। भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिकों के द्वारा प्रदर्शित 'यथासंख्य' के उदाहरणों में 'उपमा', 'उत्प्रेक्षा', 'व्यतिरेक', 'दीपक', 'तुल्ययोगिता', 'प्रतीप' अथवा किसी 'शब्दालंकार' का मिश्रण हुआ दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

'पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीवालैस्त्वया जिताः॥'—(भामह २।९०)।
'ध्रुवं ते चोरिता तन्वि स्मितेक्षणमुखद्युतिः।
स्नातुमम्भःप्रविष्टायाः कुमुदोत्पलपङ्कजैः॥'—(दण्डी २।२७४)।
'मृणालहंसपद्मानि बाहुचङ्क्रमणाननैः।
निर्जयन्त्यानया व्यक्तं नलिन्यः सकला जिताः॥'—(उद्भट ३।२)
'कज्जलहिमकनकरुचः सुवर्णवृषहंसवाहनाः शं वः।
जलनिधिगिरिपद्मस्था हरिहरचतुराननाः ददतु॥'—(रुद्रट ७।३६)
'लावण्यौकसिः' (मम्मट, रुय्यक)। 'शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय'
(कुवलयानन्द)।

मम्मट के दिये उदाहरण में भी 'दीपक' किंवा 'तुल्ययोगिता' अलंकार अप्रत्यक्षतया है ही।

निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत अलंकार में स्वतन्त्र या 'रंजक' होने की शक्ति है या नहीं ? यदि नहीं है तो उसे 'अलंकार' क्यों कहा जाय ? इस विषय पर 'शोभाकर' ने विस्तृत चर्चा करके 'यथासंख्य' के अलंकारत्व का सयुक्तिक खण्डन किया है। उसका कहना है कि 'उद्दिष्ट वस्तुओं' के क्रम को त्यागकर 'अनुद्दिष्ट वस्तुओं' के क्रम को रखने पर 'प्रक्रमभंग' दोष होता है। अतः जिसे 'यथासंख्य' कहा जा रहा है, वह केवल 'दोषाभाव' रूप है, 'अलंकार' नहीं है। यदि 'दोषाभाव' को ही 'अलंकार' कहना हो तो किसी भी 'पद' के 'सकृत् प्रयोग' को भी 'अलंकार' कहने में क्यों संकोच हो रहा है ? क्योंकि ऐसे प्रयोग में 'पुनरुक्ति' दोष का अभाव रहता ही है। 'यथासंख्य' को

(२२ अर्थान्तरन्यासाऽलंकारस्तस्य चत्वारो भेदाश्च)

(१६५) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥१०९॥

यदि 'अलंकार' कहा जाय तो तत्तद् विशेष्यों के साथ तत्तद् विशेषणों को जोड़ देने से भी 'यथायोग' अलंकार उसे क्यों न कहें ? इस प्रकार की रचना में किसी प्रकार का वैचित्र्य न होने से 'यथायोग' को अलंकार कहने में संकोच हो रहा हो तो उसी तरह 'यथासंख्य' को भी अलंकार नहीं मानना चाहिए । क्योंकि 'विशेषण-विशेष्यों' का एक साथ या यथाक्रम ज्ञान--इन दोनों में वैचित्र्य की दृष्टि से कोई भेद नहीं है । अतएव यह कहा गया है कि 'क्रमेण युगपद्वाऽपि नहि बुद्धिर्विशिष्यते' । शोभाकर ने कहा है कि 'क्रम' तो वस्तुतः 'उच्चारण' का धर्म है । 'शब्द' या 'अर्थ' का धर्म नहीं है । इसकारण तथाकथित 'यथासंख्य' न शब्दालंकार है,न अर्थालंकार ही है ।(रत्नाकर पृ० १६१-६२)। जयरथ का भी मत 'यथासंख्य' के विरुद्ध ही है (रुय्यक १४९-५०) । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कहा है कि प्रस्तुत अलंकार को नव्य आलंकारिकों ने नहीं माना है । क्योंकि अलंकार को अलंकारत्व प्रदान करनेवाली कविप्रतिभा का लेशमात्र भी स्पर्श इसमें नहीं है-"न हि अस्मिन् लोकसिद्धे कविप्रतिभानिर्मितत्वस्य अलंकारजीवातोः लेशतोऽपि उपलब्धिः अस्ति, येन अलंकारव्यपदेशो मनागपि स्थाने स्यात्' (जगन्नाथ, पृ० ४७८) । 'यथासंख्य' के अलंकारत्व पर जो आक्षेप किया गया है, वह सुदृढ युक्तिवाद पर अधिष्ठित होने से 'उद्योतकार' ने भी 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' परम्परा का समर्थन कुछ दबकर (हलकी आवाज से) ही 'तथापि एकत्र पद्ये बहूनां क्रमान्वये वैचित्र्यात् अलंकारत्वेन उक्तः' कहकर किया है ।

'यथासंख्य' के प्रकार—

प्रस्तुत अलंकार की विविध पदावलियों के पदार्थ, व्यस्त (अलग-अलग) अथवा समस्त (समासान्तर्गत), जैसे भी हों, तदनुसार इस अलंकार के 'रुय्यक' ने 'शाब्द' और 'आर्थ' दो भेद किये हैं ।

मम्मट का निर्दिष्ट उदाहरण 'शाब्द यथासंख्य' का है, और भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट के निर्दिष्ट उदाहरण 'आर्थ यथासंख्य' के हैं ।

(२ अर्थान्तरन्यास अलंकार और उसके चार प्रकार)

(सू० १६५) सामान्यमिति । किसी सामान्य कथन का विशेष कथन से अथवा विशेषकथन का सामान्य कथन से समर्थन (प्रतिपादन) करने पर 'अर्थान्तरन्यास' नाम का अलंकार होता है ।

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ साधर्म्यदृष्टया विशेषेण सामान्यस्य समर्थनम्)

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥४७८॥

(२ साधर्म्यदृष्टया सामान्येन विशेषस्य समर्थनम्)

सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्त्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः ॥ ४७९ ॥

साधर्म्येणेति। साधर्म्य या वैधर्म्य को बताते हुए 'विशेष' जहाँ 'सामान्य' का समर्थन (प्रतिपादन) करता है, अथवा 'सामान्य' भी उसी तरह जहाँ 'विशेष' का समर्थन करता है, तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। यह अलंकार २ × २ = ४ प्रकार का होता है।

क्रमेणेति। क्रमशः उदाहरणों को प्रदर्शित कर रहे हैं।

(३ साधर्म्य के द्वारा 'विशेष' से 'सामान्य' का समर्थन)

निजदोषेति। जिन व्यक्तियों का 'मन' अपने ही दोष से आवृत (आच्छादित) अर्थात् दूषित रहता है, उन व्यक्तियों को अत्यन्त सुन्दर वस्तु (पदार्थ) भी विपरीत (असुन्दर) ही अर्थात् बुरी ही प्रतीत होती है। जैसे पित्तदोष से दूषित हुआ व्यक्ति चन्द्रमा की तरह श्वेत (शुभ्र=सफेद) शंख को भी पीले रंग का ही देखता है ॥४७८॥

यहाँ पर 'अपने मन में दोष रहने पर अच्छी बात भी बुरी प्रतीत होती है'—इस 'सामान्य सिद्धान्त' का समर्थन, 'पीलिया रोग' से पीड़ित (दूषित) रोगी को 'शंख', श्वेत रहता हुआ भी 'पीला' दिखाई देता है—इस 'विशेष उदाहरण' के द्वारा किया गया है। अतः इस उदाहरण में 'साधर्म्य' के द्वारा 'विशेष' से 'सामान्य' का समर्थन किया गया है।

(२ साधर्म्य के द्वारा 'सामान्य' से 'विशेष' का समर्थन)

सुसितवसनेति। कभी ऐसा हुआ कि कोई गौरवर्णा सुनयना अभिसारिका श्वेतवस्त्र तथा श्वेत आभूषणों से सज-धजकर, चन्द्रमा की छिटकती चान्दनी में अभिसार के लिए प्रियतम के घर जा रही थी, किन्तु मार्ग में ही चाँद डूब गया (अस्त हो गया) तब वह घबड़ा गई, किन्तु जैसे ही किसी ने हे राजन् ! आपकी कीर्ति का गान किया,

(३ वैधर्म्यदृष्ट्या विशेषेण सामान्यस्य समर्थनम्)

गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियोज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः ॥ ४८० ॥

सोही तत्काल, चारों ओर श्वेत प्रकाश हो गया,जिससे वह शंकारहित होकर प्रियतम के घर पहुँच गई। हे राजन् ! भला आप कहाँ और कब कल्याणकारी नहीं हैं ? ॥४७९॥

उक्त पद्य में 'क्व नासि शुभप्रदः'—इस 'सामान्य' से अभिसारिका के उपकाररूप 'विशेष' का समर्थन किया गया है। उसकारण 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार का यह विदिष्ट उदाहरण 'साधर्म्य' के द्वारा 'सामान्य' से 'विशेष' के समर्थन में बताया गया है।

(३ वैधर्म्य के द्वारा 'विशेष' से 'सामान्य' का समर्थन)

गुणानामेवेति। गुणों के ही दौरात्म्य (अपराध) के कारण उत्तम बैल अथवा कार्यकुशल व्यक्ति (धुर्यं = धुरं वहतीति धुर्यः), सर्वदा जुए में (धुरी में) जोता जाता है (नियुक्त किया जाता है), किन्तु दुष्ट बैल के कन्धे पर दाग भी नहीं लगता और वह आनन्द से सोता रहता है ॥४८०॥

यहाँ पर यह बताया गया है कि गुणवान् 'उत्तम पुरुष ही सर्वदा कार्य में पीस दिये जाते हैं; इस 'सामान्य' का, 'दुष्ट बैल' का उदाहरण रूप 'विशेष' से समर्थन किया गया है। उसकारण यह उदाहरण 'वैधर्म्य' से 'अर्थान्तरन्यास' का है।

'गलिः गौः'—में 'गलि' का अर्थ, भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है—आसञ्जितं युगं बलात् पातयति स गौर्गलिरिति उद्योतः। धूः-स्पर्शमात्रेण यः स्वयमेव पतति स गौर्गलिनामा वृषभ इति सुधासागरः। 'गलिः कुत्सितगल' इति चन्द्रिका। कुत्सितो गलः अस्यास्तीति गलिरिति सरस्वतीतीर्थः। गलिः कार्यकुशलो वृष इति माणिक्यचन्द्रः। समर्थोऽप्यधूर्वहो दुष्ट इति महेश्वरः। अलस इति विवरणकारः। अत्र महेश्वरोक्तं सम्यक् इति झलकीकरः—'अथ गलिर्दुष्टवृषः शक्तोऽप्यधूर्वहः' इति हेमचन्द्रकोशात्। हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि कोश में—"धुरीण-धुर्य-धौरेय-धौरेयक-धुरंधराः। धूर्वहेऽथ गलिर्दुष्टवृषः शक्तोऽप्यधूर्वहः ॥" यह शब्द 'अमरकोष' में नहीं है, और संस्कृतवाङ्मय में भी प्रायः कहीं दृष्टिगोचर नहीं है। हेमचन्द्र के द्वारा दिया गया अर्थ,'सरस्वतीकण्ठाभरण' (४।५६) और काव्यप्रकाशकार के प्रस्तुत उदाहरण के आधार पर ही प्रतीत हो रहा है।

उक्त पद्य में 'धुरि धुर्यो नियुज्यते'—यह अंश, विशेषार्थक (जुए में बैल जोता जाता है—इस अर्थ को) मानकर शोभाकर ने उक्त उदाहरण को 'साधर्म्य' के द्वारा 'सामान्य' का 'विशेष' से समर्थनपरक बताया है।

(४ वैधर्म्यदृष्ट्या सामान्येन विशेषस्य समर्थनम्)

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥ ४८१ ॥

(४ वैधर्म्य के द्वारा 'सामान्य' से 'विशेष' का समर्थन)

अहो हि मे इति । अरे, यह तो मेरे दीर्घजीवी होने का ही पाप है कि ऐसी अप्रिय (कड़वी) बात मुझे ही कहनी पड़ रही है । सचमुच वे लोग ही धन्य हैं, जो इस संसार में अपने मित्र का दुःख देखने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ॥४८१॥

इस पद्य में 'ते एव धन्याः' इस 'सामान्य' कथन के द्वारा 'अहो हि मे बह्वपराद्ध-मायुषा'—इस 'विशेष' का समर्थन किया गया है । यहाँ जो 'समर्थन' का 'हेतु' है, वह 'वैधर्म्य' रूप है ।

रहस्यबोधिनी—सामान्य और विशेष—ये दोनों जब अन्वयमुख अथवा दोनों व्यतिरेकमुख हों तब उसे 'साधर्म्याधिष्ठित' कहा जाता है । किन्तु इनमें से यदि एक 'अन्वयमुख' और दूसरा 'व्यतिरेकमुख' हो तो उसे 'वैधर्म्याधिष्ठित' कहा जाता है ।

अर्थान्तरन्यास के विषय में भिन्न-भिन्न मत—

'अहो हि मे'—इस अन्तिम उदाहरण में 'हि' इस 'अव्यय' का प्रयोग कवि ने किया है । 'हि, यत्, यतः'—ये अव्यय समानार्थक हैं । इनका प्रयोग करने पर यह 'अर्थान्तरन्यास' शाब्द कहलाता है । और उक्त अव्ययों का प्रयोग न करने पर यही अलंकार 'आर्थ' कहलाता है—ऐसा भामह (२।७३) उद्भट (२।४) आदि आलंकारिकों का कहना है । परन्तु उक्त भेदों में किसी प्रकार की कोई विचित्रता न होने से मम्मट ने उन भेदों की उपेक्षा की है । रुय्यक ने तो उक्त विभाग के सम्बन्ध में अपनी अरुचि प्रदर्शित की है—'हि शब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी' वैचित्र्यस्य अभावात् । (रुय्यक पृ० १०९) । तथापि पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि अलंकारों के प्रकारों को सर्वदैव वैचित्र्याधिष्ठित सिद्ध करना कठिन है, अनेकत्र तत्तद् अलंकारों के क्षेत्र-निर्धारणार्थ भी उन प्रकारों की कल्पना की जाती है । उसकारण प्रस्तुत अलंकार के जो भेद निर्दिष्ट किये हैं, उन्हें अमान्य करने में कोई प्रबल हेतु नहीं है ।

साधर्म्य-वैधर्म्याधिष्ठित प्रकार को प्रथमतः रुद्रट ने बताया है । प्रस्तुत अलंकार में वर्तमान 'समर्थ्य-समर्थकभाव' के विषय में मम्मट का मत इस प्रकार है कि 'प्रकृत कथन' चाहे सामान्यात्मक हो या विशेषात्मक हो—'समर्थ्य' होता है, और 'अप्रकृत-कथन' 'समर्थक' हुआ करता है । किन्तु उद्भट का कहना है कि 'विशेषकथन' सर्वत्र 'समर्थ्य' होता है, और 'सामान्यकथन' सर्वत्र 'समर्थक' हुआ करता है । रुय्यक और

उसके अनुयायी विश्वनाथ ने 'अर्थान्तरन्यास' के कार्य-कारणभावाधिष्ठित चार प्रकार (भेद) बताये हैं। इनके मत के अनुसार 'कार्य' का 'कारण' से अथवा 'कारण' का 'कार्य' से समर्थन किये जाने पर भी यह अलंकार निष्पन्न होता है। यथा—'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥' (भारवि २।३०)। यहाँ पर 'किसी क्रिया (काम) को सहसा न करना' और 'विमृश्यकारिता'—इन 'कारणों' का समर्थन, 'सम्पत्तिलाभ' रूप 'कार्य' से 'साधर्म्य' के द्वारा किया गया है। उसी तरह 'विपत्तिप्राप्ति' रूप 'कार्य' से 'वैधर्म्य' के द्वारा भी होता है। इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि 'कार्य-कारण-भावाधिष्ठित समर्थन' करने का क्षेत्र तो 'काव्यलिंग' अलंकार का होता है। अतः रुय्यक का मत उन्हें मान्य नहीं है।

'अर्थान्तरन्यास' और 'उदाहरण अलंकार'—

शोभाकर ने 'सामान्य' का 'विशेष' के द्वारा समर्थन किये जाने को 'अर्थान्तरन्यास' न मानकर उसे 'उदाहरण' अलंकार कहा है। यह अलंकार 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग किये जाने पर 'शाब्द' कहलाता है और 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग न किये जाने पर उसे 'आर्थ' कहा है। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शाब्द उदाहरण' को 'उदाहरण अलंकार' के नाम से कहा है। और 'आर्थ उदाहरण' को 'अर्थान्तरन्यास' के नाम से कहकर 'प्राच्य और नव्य' मतों का समन्वय किया है। पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि—'उदाहरण अलंकार' तब कहा जाता है, जब 'अर्थान्तरन्यास' के पहिले उदाहरण जैसी परिस्थिति रहने पर 'विशेष कथन' का 'इव, यथा, निदर्शन, दृष्टान्त' आदि शब्दों के द्वारा 'सामान्य कथन' के साथ अन्वय बताकर उन दोनों का 'अवयवावयविभाव' (सामान्य तो 'अवयवी' और विशेष 'अवयव') बताया जाता है। जैसे—"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्। एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥"—(कुमारसंभव १।३)। इस पद्य में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'उदाहरण अलंकार' माना है। एक अन्य उदाहरण भी उन्होंने बताया है—"अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति। निखिलरसायनराजो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥"(पंडितराज जगन्नाथ)।

ऐसे उदाहरणों में प्रतीयमान 'समर्थ्य-समर्थकभाव' को देखकर कुछ विद्वानों ने इस 'उदाहरण अलंकार' का समावेश 'अर्थान्तरन्यास' में किया है। कुछ आलंकारिकों ने 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग देखकर उसका 'उपमा' में 'अन्तर्भाव' किया है—इन दोनों पक्षों को उद्योतकार ने बताया है। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि 'अर्थान्तरन्यास' में 'सामान्य [विशेषों' का 'अवयवावयविभाव' आर्थ होता है। किन्तु 'उदाहरण अलंकार' में 'इव, यथा' आदि शब्दों का प्रयोग करके उसे साक्षात् बताया जाता है अर्थात् 'शाब्द' रहता है।

ये सादृश्यबोधक 'इवादि' शब्द, 'लक्षणा' के द्वारा 'अवयवावयविभाव' के भी बोधक होते हैं।

अतः 'अर्थान्तरन्यास' और 'उदाहरण अलंकार' दोनों में यही भेद है। इसी तरह 'उपमा' का संभव 'दो विशेषों' में हुआ करता है, 'सामान्य-विशेष' में नहीं। अतः यह 'उदाहरण अलंकार' उपमालंकार से भिन्न है—यह पण्डितराज जगन्नाथ का मत है। इसी तरह प्राचीनों के पक्ष का समर्थन करने में भी पण्डितराज ने युक्ति बताई है—सामान्य 'प्रकृत' हुआ करता है। उसमें 'विशेष' का अंश रहना अनिवार्य है। क्योंकि 'निर्विशेषं न सामान्यम्'—इस नियम के अनुसार आपाततः सामान्य-विशेष रूप से प्रतीयमान दो पदार्थों में 'उपमा' का भी संभव हो सकता है—यह निष्कर्ष पण्डितराज ने निकाला है।

अर्थान्तरन्यास और विकस्वर अलंकार—

जयदेव तथा अप्पय दीक्षित दोनों ने अर्थान्तरन्यास में से ही एक मार्ग निकाल कर 'विकस्वर' नामक अलङ्कार निष्पन्न किया है।

विशेष का समर्थन 'सामान्य' से और उस 'सामान्य' का समर्थन; पुनः विशेष' के द्वारा किये जाने पर 'विकस्वर०' अलङ्कार का होना बताया है–"यस्मिन् विशेषसामान्य-विशेषाः स विकस्वरः"। इसका उदाहरण—"स न जिग्ये, महान्तो हि दुर्धर्षाः, सागरा इव"।—(कुवल० कारि० १२३)। पूर्वोदाहृत 'अनन्तरत्नप्रभवस्य०' श्लोक को कुवलयानन्द के अनुसार 'विकस्वर' अलङ्कार का उदाहरण कहा जा सकता है। किन्तु उद्योतकार का कहना है कि इस श्लोक में दो अर्थान्तरन्यासों को 'संसृष्टि' प्रतीत हो रही है।

अर्थान्तरन्यास और अन्य अलंकार—

जैसे—'दृष्टान्त', 'प्रतिवस्तूपमा', 'अप्रस्तुतप्रशंसा', 'निदर्शना' आदि अलङ्कारों से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार भिन्न है। क्योंकि 'दृष्टान्त' अलङ्कार में 'दोनों कथन', सामान्यरूप अथवा विशेषरूप हुआ करते हैं, और उन दोनों में प्रमुखरूप से 'बिम्ब-प्रतिबिम्बभावात्मक' 'उपमान-उपमेयभाव' रहता है, और उसी के द्वारा 'समर्थ्यसमर्थकभाव' बताया जाता है।

किन्तु अर्थान्तरन्यास में एक कथन—'सामान्यरूप', और दूसरा कथन—'विशेष रूप' हुआ करता है और उन दोनों में केवल 'समर्थ्य-समर्थकभाव' मात्र रहता है। अर्थान्तरन्यास का शाब्दिक अर्थ यह है कि सम्भाव्यमान एक अर्थ, अनुपपन्न होने के कारण अपनी उपपत्ति के लिए जहाँ किसी दूसरे अर्थ का 'न्यास' (स्थापन) किया जाता है, तब अर्थान्तरन्यास कहा जाता है। यहाँ पर दो अर्थों में जो परस्पर

(२३ विरोधाविरोधाभासऽलंकारः)

(१६६) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

सम्बन्ध है, वह 'समर्थ्य-समर्थकभाव' सम्बन्ध है। यद्यपि 'दृष्टान्त' अलङ्कार में भी 'समर्थ्य-समर्थकभाव' सम्बन्ध रहता है, किन्तु वहाँ 'सामान्य' का समर्थन 'सामान्य' से और 'विशेष' का समर्थन 'विशेष' से हुआ करता है और अर्थान्तरन्यास में 'सामान्य' का समर्थन 'विशेष' से तथा 'विशेष' का समर्थन 'सामान्य' से किया जाता है।

काव्यलिंग अलंकार में भी दो अर्थों में समर्थ्य-समर्थकभाव रहता है लेकिन कार्य का समर्थन 'कारण' से और कारण का समर्थन 'कार्य' से किया जाता है।

'प्रतिवस्तूपमा' में भी दो कथनों में यद्यपि 'समर्थ्य-समर्थकभाव' है, तथापि 'दोनों कथन', औपम्याधिष्ठित रहकर विशेषात्मक हुआ करते हैं, उनमें 'वस्तु-प्रतिवस्तुभाव' से एक 'सामान्य धर्म' बताया जाता है।

किन्तु अर्थान्तरन्यास तो केवल 'समर्थ्य-समर्थकभाव' पर अधिष्ठित होकर 'सामान्य-विशेषात्मक' हुआ करता है। इसलिए 'अर्थान्तरन्यास' को 'प्रतिवस्तूपमा' से भिन्न माना जाता है।

अर्थान्तरन्यास की तरह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार के भी दो प्रकार (अर्थात् तीसरा और चौथा)यद्यपि 'सामान्य-विशेषभाव' पर अधिष्ठित हैं,तथापि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के सामान्य अथवा विशेष में से जो कुछ भी प्रस्तुत रहता है, वह सर्वथा 'अनुक्त' ही रहता है, केवल प्रस्तुत (सामान्य या विशेष) मात्र ही 'उक्त' रहता है।

किन्तु अर्थान्तरन्यास में 'सामान्य' और 'विशेष' दोनों ही साक्षात् निर्दिष्ट रहते हैं—यही दोनों में भेद हैं। अर्थान्तरन्यास की विपुल प्रसिद्धि 'उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक' अलङ्कार की तरह न रहने पर भी अपनी लोकप्रियता के कारण उसकी पर्याप्त प्रसिद्धि का अपलाप नहीं किया जा सकता। विश्वप्रसिद्ध कालिदास जैसे महाकवि ने भी अपने काव्य में अर्थान्तरन्यास का उपयोग किया है, जिससे इस अलङ्कार को महती प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। 'गुमानीशतक' जैसे लघुकाव्य तो अर्थान्तरन्यासमय ही हैं।

(२३ विरोधालंकार--विरोधाभासालंकार)

(सूत्र १६६) विरोध इति। वास्तविक विरोध न रहने पर भी विरोध की प्रतीति करनेवाले दो पदार्थों का विरुद्ध रूप से जो वर्णन किया जाता है, उसे 'विरोध' या 'विरोधाभास' अलंकार कहते हैं।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः।

वस्तुवृत्तेनेति। दो पदार्थों में वस्तुतः विरोध न रहने पर भी उनके दिखावटी (आपाततः) विरोध के प्रदर्शन का वर्णन जहाँ किया जाता है, वहाँ 'विरोध' या 'विरोधाभास' नाम का अलंकार होता है। ऐसे आभासात्मक विरोध में ही 'चमत्कार' का अनुभव हुआ करता है। वास्तविक विरोध तो टिकाऊ (स्थिर) रहा करता है, उसकारण उसे तो 'दोष' माना जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है—"स च (विरोधः) द्विविधः, प्ररूढः, अप्ररूढश्च। प्ररोहश्च बाधबुद्धयनभिभूतत्वम्। तद्वैपरीत्यम् अप्ररोहः। तत्र आद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्च अलंकारस्य। अत एव इमं विरोधाभासम् आचक्षते। 'आ ईषद् भासते इति आभासः, विरोधश्चासौ आभासश्च इति।'

रुय्यक ने भी कहा है—'स च विरोधः समाधानं विना प्ररूढः दोषः। सति तु समाधाने प्रमुखे एव आभासमानत्वात् विरोधाभासः'। उद्योतकार ने भी कहा है कि 'विरोधश्च एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोः अर्थयोः भासमानैकाधिकरणाऽसम्बद्धत्वम्' 'एकाधिकरणाऽसम्बद्धत्वेन प्रसिद्धयोः एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादनं वा'—'विरोध' अलंकार में जो विरोध निर्माण होता है, उसका कारण यही है कि एकत्र रहनेवाले दो पदार्थों का एकत्र न रह सकने की प्रतीति का होना। अथवा दूसरे प्रकार से भी कह सकते हैं कि कभी भी एकत्र न रहनेवाले पदार्थों का एकत्र रहना जब बताया जाता है। यह विरोध, आभासात्मक होता है। आभासात्मक होने का कारण यह है कि जिन दो पदों के अर्थों में वह विरोधाभास प्रतीत होता है, उनमें से एक पद वस्तुतः एक अलग अविरुद्ध अर्थ के माध्यम से किसी अन्य पद के साथ अन्वित रहता है। अर्थात् उस पद के भिन्न अर्थ का बोध होते ही, पूर्व प्रतीत विरोध दूर हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रकृतस्य वाक्यार्थस्य विरोधे एव विरोधालंकारः, व्यङ्ग्यार्थस्य विरोधे तु नायमलंकारः, किन्तु विरोधालंकारध्वनिः। यथा 'तिग्मरुचिरप्रतापः' (उ० ४।५५), विरोधश्च तत्रैव स्फुटं प्रतीयते यत्र विरोधसूचकः अपि शब्दः। यथा द्वितीयादिषु उदाहरणेषु। यत्र वा क्रिययोविरोधे तयोः समुच्चयबोधकः चकारः। यथा, अष्टमे उदाहरणे। यत्र वा 'अभूत् भवति भविष्यति' इत्यादिभिः क्रियापदैः, विरुद्धयोरैक्यं साध्यतया प्रतीयते। यथा प्रथम-पञ्चम-सप्तमेषूदाहरणेषु। सप्तमे,अभूदिति क्रियापदमस्ति। अन्ययोस्तु वाक्यसमाप्त्यर्थं कयोश्चिदपि क्रियापदयोरूह्यत्वम्। अत एव प्रथम-सप्तमयोरुदाहरणयोर्न रूपकम्,आरोपस्य साध्यत्वात्, तस्य सिद्धत्वे एव रूपकातिशयोक्त्योः स्वीकारात्, मुखचन्द्रमित्याद्युदाहरणेषु तथैव दर्शनात्। अपिशब्दादेरभावे विरोधस्य अस्फुटत्वम्, यथा नवमोदाहरणे।'

पहले बता चुके हैं कि शब्द के चार प्रकार होते हैं—(१) जातिशब्द, गुणशब्द,

(विरोधाभासस्य १० भेदाः)

(१६७) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः ॥११०॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(जातेः जात्या सह विरोधः)

अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग ! कुरंगदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥ ४८२ ॥

क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द (द्रव्यशब्द) । अतः जाति, गुण, क्रिया, द्रव्यात्मक पदार्थों का परस्पर दस प्रकार से विरोध होने की संभावना रहती है ।

तथाहि—'जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य'— इन चारों के साथ 'जाति' का । 'गुण, क्रिया, द्रव्य'—इन तीनों के साथ 'गुण' का । 'क्रिया और द्रव्य'—इन दोनों के साथ 'क्रिया' का । 'द्रव्य' के साथ 'द्रव्य' का विरोध होता है, इस रीति से विरोध के दस प्रकार होते हैं । अर्थात् जाति के 'चार', गुण के 'तीन', क्रिया के 'दो' और द्रव्य का 'एक' सब मिलाकर विरोध के ४+३+२+१=१० भेद होते हैं ।

(सू० १६७) जातिश्चतुर्भिरिति । उक्त भेदों को कारिका के द्वारा बताया जा रहा है । 'जाति' का जाति आदि चार (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य) के साथ विरोध का रहना संभव होता है, 'गुण' का गुण आदि तीन (गुण, क्रिया और द्रव्य) के साथ विरोध का रहना संभव होता है, 'क्रिया' का क्रिया तथा द्रव्य—इन दो के साथ विरोध का रहना संभव होता है, और 'द्रव्य' का केवल द्रव्य के साथ ही विरोध संभव होता है । इस प्रदर्शित रीति से ये दशविध (दसप्रकार के) विरोध (विरोधाभास) अलंकार हुआ करते हैं । यथा—

(१ जाति का जाति से विरोध का उदाहरण)

(१) अभिनवेति । हे सुभग ! हे प्रेमी युवक ! दुर्भाग्यवशात् तुम्हारे वियोगरूपी वज्रपात से इस मृगाक्षी नायिका के लिए कमलिनी के अभिनव किसलय तथा मृणाल से बनाये गये कङ्कण (वलय), जो उष्णता को शान्त करने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं, वे सभी के सभी दावाग्निपुञ्ज हो रहे हैं ॥४८२॥

उक्त उदाहरण के द्वारा बताया गया है कि अपने प्रियतम नायक के वियोग में नायिका की कैसी आर्त स्थिति हुआ करती है । उस वियोगिनी नायिका की करुणाजनक आर्त स्थिति का वर्णन, उसकी सखी, अपनी सहेली नायिका के समक्ष ही नायक

से कर रही है। नायक के विरह में नायिका की दुर्धर स्थिति जो हो रही है, वह नायक-विषयक प्रेमातिशय को सूचितकर रही है—यह अभिप्राय 'सुभग' सम्बोधन में गर्भित है। उक्त पद्य में वर्णित कमलपत्र, कमलनाल (मृणाल) आदि शीतल पदार्थ, नायिका को 'दावाग्नि' की तरह प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु इस प्रकार कहना असंगत-सा प्रतीत हो रहा है, क्योंकि 'नलिनीपत्रत्व' और 'दवहृदनत्व' ये दो जातियाँ, 'एक ही वस्तु' पर कैसी रहेंगी ? अर्थात् इस वर्णन में 'जाति' का 'जाति' के साथ विरोध बताया गया है, क्योंकि 'नलिनीकिसलय, मृणालवलय और दवदहनराशि'—ये सभी जातिशब्द हैं। कमलपल्लवों की शय्या, मृणाल के कंकण, चन्दन, कर्पूर आदि के उबटन, ये सब शीतल हुआ करते हैं, तथापि विरह-पीडितों के लिए वे तापदायक प्रतीत होते हैं। अत एव उन्हें यहाँ पर 'दवदहनराशि' कहा गया है, क्योंकि वे विरहोद्दीपक होने से अत्यन्त तापदायक हुआ करते हैं—इस अभिप्राय की ओर ध्यान देने पर उक्त वर्णन में प्रतीयमान 'विरोध' दूर हो जाता है। अर्थात् किसलय आदि विरहोद्दीपनकारक होने से 'दवदहनत्व' का आरोप उस पर किया गया है, उसकारण विरोध हट जाता है। 'दवदहनराशि-शब्द का जो 'विरोधनिवारक' अर्थ किया गया है, वह उस शब्द का लाक्षणिक अर्थ है। इस अर्थ में 'दवदहनराशि' की उसके 'तापहेतुत्व' धर्म में लक्षणा, अर्थात् मीमांसकाभिमत 'गौणी वृत्ति', अथवा आलङ्कारिकाभिमत 'गौणी सारोपा लक्षणा' समझनी चाहिए। उक्त पद्य में प्रयुक्त 'कुरंगदृशः' और 'त्वद्वियोगपवि' शब्दों में यथाक्रम 'त्रिलुप्ता उपमा', और 'रूपक' अलङ्कार है, किन्तु वे यहाँ विवक्षित नहीं हैं। यह 'शुद्ध विरोध' का उदाहरण है।

शंका—जब विरोध हटने में किसलय आदि पर दवदहनत्व का आरोप कारण (मूल) है, तब यहाँ पर 'रूपक अलङ्कार' को ही स्वीकार करना उचित है, न कि 'विरोधालङ्कार' को। अथवा यदि यहाँ 'विरोध' को ही स्वीकार करते हैं तो 'मुखं चन्द्रः' आदि स्थलों में भी 'विरोध' को ही मानिये।

समा०—नहीं। यहाँ 'विरोध' ही है, 'रूपक' नहीं है। क्योंकि 'विरोध' में दो अर्थ होते हैं उनमें एक 'विरोध' का उल्लासक होता है। जिसके लिए 'अभेद' किया जाता है, और दूसरा 'विरोध' का 'निवारक' होता है, जिससे 'अभेद' समाप्त हो जाता है।

किन्तु 'रूपक' में 'उल्लासक' तथा 'निवारक' अर्थ में से कोई भी नहीं होता। 'रूपक' में तो केवल 'अभेद' ही होता है, उसी में 'चमत्कार' होता है। किन्तु यहाँ तो 'विरोध' में ही चमत्कार होता है।

(२ जातेः गुणेन सह विरोधः)

गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यगम्भीराः ।
विश्वम्भराऽप्यतिलघुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ॥ ४८३ ॥

(२ 'जाति' का 'गुण' के साथ विरोध का उदाहरण)

गिरयोऽपीति । हे राजन् ! तुम्हारे सामने ऊँचे-ऊँचे पर्वत भी सचमुच छोटे प्रतीत होते हैं, झकझोरने वाला झंझावात भी निश्चल हो जाता है, महान् गम्भीर समुद्र[1] भी गम्भीरता से रहित होकर छोटी-सी तलैया का रूप धारण कर लेता है, और विश्व को धारण करने वाली अतएव अत्यन्त भारी पृथ्वी भी एकदम हलकी हो जाती है ॥ ४८३ ॥

इस पद्य में 'गिरित्व' आदि जातियों का 'अनुन्नतत्व' आदि गुणों के साथ 'विरोध' प्रदर्शित किया गया है ।

उसका परिहार वर्णनीय राजा का उत्कर्ष बताने से हो जाता है । इस प्रकार परिहार हो जाने से यह 'विरोधाभास' अलङ्कार का उदाहरण बन गया है ।

इस श्लोक में 'गिरि' आदि शब्द जातिवाचक हैं, और 'अनुन्नति' आदि शब्द गुणवाचक हैं । उस कारण यहाँ का 'विरोध' 'जाति' और 'गुण' का है । इस उदाहरण में गुणवाचक शब्द 'श्लिष्ट' होने से यह 'श्लेष' मूलक उदाहरण है ।

शंका—'वायु' और 'पृथ्वी'—ये पदार्थ एक-एक ही हैं, अतः उनके वाचक 'मरुत्' और 'विश्वम्भरा' शब्दों को 'जाति' कैसे कहा जा रहा है ? क्योंकि 'जाति'

१. पुराणों में सात समुद्र प्रसिद्ध हैं—(१) लवण, (२) इक्षुरस, (३) सुरा, (४) घृत, (५) दधि, (६) क्षीर, (७) स्वादु जल । इनसे वेष्टित सात द्वीप—(१) जम्बु, (२) प्लक्ष, (३) शाल्मल, (४) कुश, (५) क्रौंच, (६) शाक, (७) पुष्कर । तत्तद् द्वीपों के समुद्रों के नाम उनके जल के स्वाद अथवा स्वरूप के आधार पर हैं, और द्वीपों के नाम उनमें होने वाली विशिष्ट वनस्पतियों के आधार पर दिये गये हैं ।
(चित्रावशास्त्रिकृत प्राचीन चरित्रकोष—पृ० ६६५-६६) ।
तथा—
"जम्बूद्वीपः सर्वमध्ये ततश्च प्लक्षो नाम्ना शाल्मकोऽतः कुशोऽतः ।
क्रौञ्चः शाकः पुष्करश्चेत्यथैषां बाह्या बाह्या संस्थितिर्मण्डलीभिः ॥
लावणो रसमयः सुरोदकः सार्पिषो दधिजलः पयःपयाः ।
स्वादुवारि दधिश्च सप्तमस्तान् परीत्य त इमे व्यवस्थिताः ॥"
—राजशेखर अ० १७

तो अनेकों में अनुगत रहने वाला समान धर्म है। उस कारण प्रस्तुत शब्द 'जाति शब्द' न होकर 'द्रव्य' शब्द हैं। अतः इनके विरोध को 'द्रव्य और गुण' का विरोध कहना चाहिए था।

समा०—इसका समाधान व्याख्याकारों ने इस प्रकार किया है कि 'मरुत्' की संख्या पुराणों में ४९ बताई गई है। तथा प्रत्येक सृष्टि में 'पृथ्वी' उत्पन्न होकर उसके नष्ट होने का भी वर्णन किया गया है। अतः अनेक सृष्टियों में अनेक पृथ्वियों का होना सिद्ध होता है। अथवा 'पृथ्वी' शब्द से यहाँ पर विश्व के पृथक्-पृथक् खण्ड (अथवा द्वीपान्तर) समझने चाहिए। इस रीति से उपर्युक्त शब्द को जाति शब्द माना जा सकता है। अतः प्रस्तुत श्लोक के चारों उदाहरण 'जाति और गुण' के ही हैं।

कवि ने समुद्रों का अगाम्भीर्य तथा पृथ्वी का हलकापन (अतिलघुत्व) बताया है, किन्तु आपाततः यह असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि पर्वतों का अत्युन्नतत्व (बहुत ऊँचाई), वायु की वेगशालिता, समुद्र की गम्भीरता और पृथ्वी का भारीपन (गुरुत्व) सर्वप्रसिद्ध है। तथापि कवि ने उनके बौनेपन आदि विरुद्ध गुणों (धर्मों) को बताया है। यह सब बताने में कवि का तात्पर्य यह है कि उनकी अपेक्षया राजा ऊँचा, वेगशाली आदि गुणों से युक्त है। यह अभिप्रायः ध्यान में आने से वर्णन में प्रतीयमान विरोध दूर हो जाता है।

उक्त उदाहरण में 'अनुन्नतिगुणः' आदि गुणवाचक शब्दों का 'बौना' आदि अर्थ, जो बताये हैं, वे 'नञ्' के छह अर्थों में से 'विरुद्ध' अर्थ को लेकर हैं।

जैसे—अधर्मः = धर्म-विरुद्ध पदार्थ बताया जाता है। 'नञ्' के छह अर्थ— 'तत्साहश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता। अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥' जैसे—'अब्राह्मणः' = ब्राह्मण-सदृश क्षत्रिय आदि, 'अघटपटः' = घट से भिन्न पट, 'अनुदरा कन्या' = कृशोदरी कुमारी, 'अनीतिः' = नीतिविरुद्ध आचरण, 'अकार्यम्' = बुरा कार्य (काम), 'अज्ञान' = ज्ञान का अभाव।

प्रस्तुत पद्य में 'अनुन्नतिगुणः' आदि गुणवाचक शब्दों का 'बौना' (ठिगना) आदि जो अर्थ बताया है, उसे 'नञ्' के 'विरुद्ध' अर्थ को लेकर कहा गया है।

चक्रवर्ती आदि कुछ व्याख्याकारों ने यहाँ पर 'नञ्' का 'अल्प' अर्थ, गृहीत कर 'अनुन्नतियुजः' = अल्पोच्चतायुक्ताः, अचलः = अल्पवेगः, अगम्भीराः = अल्पगम्भीराः— यह व्याख्या की है। क्योंकि 'गुण' अभावात्मक न हो सकने से यहाँ पर 'अनुन्नतियुजः= उन्नत्यभावयुक्ताः—यह व्याख्यान नहीं हो सकता। किन्तु चन्द्रिकाकार, सुधासागरकार का कहना है कि 'गुण' अभावात्मक भी हो सकता है। क्योंकि व्याकरण के अनुसार

(३ जातेः क्रियया सह विरोधः)

येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां सम्प्राप्य धाराधर-
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च ।
तेषां संगरसंगसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते !
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥ ४८४ ॥

(४ जातेः द्रव्येण सह विरोधः)

सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥ ४८५ ॥

'जाति, क्रिया, द्रव्य' से भिन्न पदार्थ ही 'गुण' होता है । अन्यथा 'अभाव' के साथ विरोध का उद्‌भव होने से अभी तक के विवेचन से सिद्ध किये गये 'विरोध अलंकार' की चर्चा नहीं हो सकेगी, तब 'विरोध' के विवेचन में न्यूनता का प्रसंग प्राप्त होगा—यह वामनाचार्य झलकीकर का कहना है । यह श्लेषमूलक 'विरोध' का उदाहरण है ।

(३ 'जाति' का 'क्रिया' के साथ विरोध का उदाहरण)

येषामिति । आपकी जो तीक्ष्ण (निष्ठुर) तलवार (धाराधर) 'धाराधरासि-मेघयोरिति' कोषः है, वह भी जिन शत्रु राजाओं के गले के आलिंगन प्रेम को पाकर अनुरक्त (अनुराग से युक्त और दूसरी ओर खून से लाल) हो जाती है। और किसी अपूर्व स्नेह (प्रेम तथा अन्य पक्ष में रक्त से होनेवाली चिकनाई) को भी प्राप्त करता है। युद्धभूमि के लिए उत्सुक उन शत्रुओं की सजावट, आप धूलि से करते हैं अर्थात् उन्हें आप धूल में मिला देते हैं । यह महान् आश्चर्य है ॥४८४॥

यहाँ पर 'धाराधर' अर्थात् खड्ग (तलवार), जातिवाचक शब्द हैं, उसका 'अनुराग' तथा 'स्नेहप्राप्ति' रूप क्रिया के साथ 'विरोध' प्रदर्शित किया गया है, परन्तु उसका अर्थ जब रुधिरसम्पर्कक्रृत 'लौहित्य' तथा 'चिकनापन' करते हैं,तब विरोध का परिहार हो जाता है, उसकारण 'विरोधाभास' अलंकार का यह तीसरा उदाहरण है ।

(४ 'जाति' का 'द्रव्य' के साथ विरोध का उदाहरण)

सृजतीति । जो बिना आयास के हेला से ही नियमपूर्वक इस जगत् का सर्जन, पालन एवं संहार करता है, वह जनार्दन भी अवसर के अधीन होकर 'मत्स्य' बन जाता है, यह आश्चर्य है ॥४८५॥

इस पद्य में भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार का वर्णन है । यहाँ पर जो 'जनार्दन' द्रव्य है, वह शफर (मछली) जाति का कैसे हो सकता है ? अर्थात् देवाधिदेव विष्णु पर 'मत्स्यत्व जाति' का संभव कैसे हो सकता है ? इस प्रकार शफरत्वजाति का

(५ गुणस्य गुणेन सह विरोधः)

सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते!
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥ ४८६ ॥

'जनार्दन' रूप 'द्रव्य' के साथ विरोध है। किन्तु 'विष्णु ने विश्वकल्याणार्थ माया से मत्स्यरूप धारण किया है' अर्थात् अघटितघटनापटीयान् भगवान् की लीला से सब-कुछ हो सकता है,अतः वे विष्णुभगवान् मत्स्यावतार भी धारण कर सकते हैं—यह गर्भितार्थ ध्यान में आते ही 'विरोध' दूर हो जाता है। अतः यहाँ पर 'जाति' का 'द्रव्य' के साथ विरोध का यह उदाहरण है।

'जनार्दन'—शब्द केवल विष्णु (परमेश्वर) का वाचक होने से 'द्रव्य' शब्द है। सभी विशेषनाम (संज्ञाशब्द, यदृच्छाशब्द) 'द्रव्यशब्द' हुआ करते हैं। परमेश्वर = ब्रह्म ही 'विश्व' की उत्पत्ति, स्थिति और लय किया करता है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति' ॥(तै.उ.भृगुव. १)

एवंच 'जनार्दन' शब्द 'आत्मपरक' होने से द्रव्यशब्द है। चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने भी कहा है—'जनार्दनपदं' चाशरीरेश्वरात्मपरम्, अन्यथा शरीरभेदेन जनार्दनत्वजातिसंभवेन जातिद्वयोदाहरणतापत्तेः।

'गुण' का 'गुण, क्रिया, द्रव्य' के साथ विरोध—

(५ 'गुण' का 'गुण' से विरोध का उदाहरण)

सततमिति। हे राजन्! धान आदि कूटने के लिए मूसल में लगे रहनेवाले तथा घर के अनेकानेक कार्यों के करते रहने से कठोरता को प्राप्त हुए हाथों (करों)वाली ब्राह्मणों की पत्नियों के 'हाथ' आज आपके रहते कमल के समान सुकुमार (कोमल) हो गये हैं, अर्थात् आपने ब्राह्मणों को इतना दान दिया है कि अब उन ब्राह्मण-पत्नियों को कोई काम नहीं करना पड़ रहा है, इसलिए उनके हाथ कमल के समान कोमल हो गये हैं ॥४८६॥

उक्त पद्य में 'कठिनत्व' और 'सुकुमारत्व'—गुणों का विरोध है। किन्तु राजा ने उन ब्राह्मणों को इतना दान दिया है कि अब उन ब्राह्मणों के यहाँ धन की कमी नहीं है, अतः दास-दासियों द्वारा गृहकार्यों का सम्पादन होता रहता है, उस कारण उन ब्राह्मण-पत्नियों को गृहकार्य के संपादन में व्यस्त नहीं रहना पड़ता। इसलिए अब उनके हाथ सुकुमार हो गये हैं—यह अर्थ,ध्यान में आने पर पूर्वोक्त विरोध का परिहार हो जाता है। यह विरोधाभास का पाँचवाँ उदाहरण प्रदर्शित किया गया।

(६ गुणस्य क्रियया सह विरोधः)

पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम् ।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ॥ ४८७ ॥

(७ गुणस्य द्रव्येण सह विरोधः)

क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते ।
अभून्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥ ४८८ ॥

अभिप्राय यह है—ब्राह्मण-पत्नियों के हाथों में 'कठिनता' गुण और 'सुकुमारता' गुण दोनों को बताने पर 'विरोध' प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों धर्म एक साथ एक ही आश्रय पर रह नहीं सकते। किन्तु इन दो गुणों में से 'कठिनता' गुण, पूर्व अवस्था अर्थात् दारिद्र्यावस्था में था और 'सुकुमारता' गुण, बाद की अवस्था का अर्थात् संपन्नावस्था का है—यह ध्यान में आने पर 'विरोध' दूर हो जाता है। क्योंकि एक ही पदार्थ में कालभेद मे विरुद्ध दो गुणों का रहना असंभव नहीं है।

(६ 'गुण' का 'क्रिया' के साथ विरोध का उदाहरण)

पेशलमिति। खलजनों का (दुष्ट पुरुषों का) मधुर (पेशल) वचन भी, उनके मधुर भाषण के रहस्य को जानने वालों के मन को अत्यन्त संतप्त करता है और सज्जन पुरुषों का कठोर (परुष) वचन भी, उस कठोरता के रहस्य को जाननेवालों के मन को चन्दन के रस के समान प्रसन्न कर देता है ॥४८७॥

उक्त पद्य में 'पेशलत्व' गुण का 'दहन' क्रिया के साथ विरोध है, तथा 'परुष' गुण का 'प्रमोदन' क्रिया के साथ विरोध है। क्योंकि 'पेशल' पदार्थ से 'दाह' होना संभव नहीं है, तथा 'परुष' पदार्थ का 'आनन्दप्रद' होना संभव नहीं है। किन्तु 'पेशल' और 'परुष' इन शब्दों का अभिप्राय केवल 'श्रवणरमणीय' और 'श्रवणकटु' है—यह ध्यान में आते ही 'विरोध' दूर हो जाता है। क्योंकि 'श्रवणरमणीय' वचन भी यदि अकल्याण-कारी हो तो अन्त में (परिणाम में) तापदायक होता है, और 'श्रवणकटु' भी वचन यदि अन्त में 'हितप्रद' हो तो आनन्ददायक होता है—यह सभी को अनुभूत है। सतत्त्व=तत्त्व। 'तत्त्व-सतत्त्वशब्दौ गोत्र-सगोत्रशब्दवत् पर्यायौ' (वामनाचार्य झलकीकर)। इस शब्द का प्रयोग मम्मट ने चौथे उल्लास (पृ० ६६७) में भी इसी अर्थ में किया है। 'सुतत्त्वविदाम्' पाठ भी कतिपय मुद्रित पुस्तकों में उपलब्ध होता है। उसका अर्थ—'सु'=श्रेष्ठ, तत्त्वज्ञों के मन को करना चाहिए।

(७ 'गुण' का 'द्रव्य' के साथ विरोध का उदाहरण)

क्रौञ्चाद्रिरिति। बड़ी-बड़ी शिलाओं से अत्यन्त सुदृढ यह क्रौञ्च पर्वत भी जिसके अप्रतिहत वज्र के तुल्य बाणों की तीक्ष्ण वृष्टि से नवीन कमल के पात्र के समान कोमल हो गया, सच-मुच वह 'भार्गवराम' ब्रह्मा की लोकोत्तर (अपूर्व) सृष्टि है ॥४८८॥

(८ क्रियायाः क्रियया सह विरोधः)

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥ ४८१ ॥

इस पद्य में भार्गव परशुराम के एक पराक्रम का वर्णन है। भार्गव परशुराम, भगवान् शिव के पास जब धनुर्विद्या का अध्ययन कर रहे थे, उस समय भगवान् शिव के ज्येष्ठ पुत्र 'स्कन्द' ने केवल एक ही बाण मारकर 'क्रौञ्च पर्वत' में एक आर-पार छेद कर दिया था। अतएव 'स्कन्द' को 'कौञ्च-दारण' के नाम से भी कहा जाता है। तब परशुराम ने भी ईर्ष्या से उसी क्रौञ्च पर्वत में एक बाण मारकर एक और आर-पार छेद कर दिया। परशुराम के द्वारा किये गये छेद से 'हंस' मानस सरोवर को जाया करते हैं। मेघदूत के यक्ष ने 'मेघ' को इसी मार्ग से 'अलकापुरी' जाने के लिए कहा है—"हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत् क्रौञ्चरन्ध्रम्। तेनोदीचीं दिशमनुसरेः॰॰॰॥(पू.मे. ५७)। यह क्रौञ्चपर्वत, 'हिमालय पर्वत की राजियों' में है। इसे हिमालय का पुत्र या पौत्र कहते हैं।

उक्त पद्य में 'क्रौञ्चाद्रि'—द्रव्य है और 'कोमलत्व' गुण है—अतः विरोध प्रतीत हो रहा है। क्योंकि उद्दामशिलाओं वाले पर्वत में 'कोमलत्व' गुण का होना कैसे संभव हो सकता है? किन्तु उस क्रौञ्च पर्वत में छिद्र (विवर) करने के लिए परशुराम को किञ्चिन्मात्र भी आयास नहीं करना पड़ा। कमल की पंखुड़ी में जैसे अनायास छिद्र किया जा सकता है, उतनी ही सहजता से भार्गव राम ने कठोर विशाल पाषाणवाले क्रौञ्चपर्वत में एक ही बाण से विवर (छिद्र) का निर्माण कर दिया, अर्थात् यह विवर (छिद्र) निर्माण करना तो भार्गवराम के लिए साहजिक लीलामात्र था—यह अभिप्राय ध्यान में आते ही पूर्वोक्त विरोध का परिहार हो जाता है। अर्थात् भार्गवराम की महिमा से 'अभिजात' पद का 'सुखवेध्यत्वपरक' अर्थ करने से प्रतीयमान विरोध दूर हो जाता है।

(८ 'क्रिया' का 'क्रिया' के साथ विरोध का उदाहरण)

परिच्छेदातीत इति। यह श्लोक 'मालतीमाधव' नाटक के प्रथम अंक (१-३०) का है। 'मालती' पर प्रथम दृष्टिपात होते ही 'मन' की जो अवर्णनीय अवस्था हुई उसे 'माधव' अपने मित्र 'मकरन्द' को बता रहा है—'मालती को जब से मैंने देखा है, तभी से मेरे मन में कोई एक विलक्षण (कोऽपि) वृत्ति (विकार) उछल रही है, जिसका जन्म-जन्मान्तर से लेकर अभी तक की आयु में कभी भी अनुभव नहीं

(९ क्रियायाः द्रव्येण सह विरोधः)

अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥ ४९० ॥

हुआ है। उसे बताने के लिए मेरे पास कोई 'शब्द' भी नहीं है, अर्थात् वर्णनातीत है। इतना ही नहीं, अपने इस अदम्य मनोवृत्ति को में स्वयं भी नहीं समझ पा रहा हूँ (परिच्छेदातीतः)। इस अदम्य मनोवृत्ति के कारण सारासार विचार करने की शक्ति, सम्पूर्णतया नष्ट हो चुकी है, और उद्वेलित हुए महान् मोहसागर में मेरा 'मन' डूब गया है। अर्थात् मन में महान् मोह सर्वथा व्याप्त है। आश्चर्य तो यह है कि इस वृत्ति से मेरा 'मन', सुख से ओत-प्रोत हो गया है अर्थात् वह वृत्ति, मेरे मन को शीतल कर रही है (जडयति) और व्यथा से मन को व्याकुल भी कर रही है (तापं कुरुते)॥४८९॥

इस श्लोक में 'जडयति च तापं च कुरुते'—इन दोनों क्रियाओं का परस्पर विरोध है। क्योंकि एक ही विषय को लक्ष्य करके परस्पर विरुद्ध दो क्रियाओं का होना संभव नहीं है। किन्तु इनमें पहिली क्रिया (जडयति = जलयति, शीतलयति) दृष्टि के सामने मालती के होने पर की है, और दूसरी क्रिया (तापं च कुरुते) जब 'मालती', माधव की दृष्टि से परे हो जाती है, तब की है। अर्थात् दोनों क्रियाएँ 'कालभेद' से माधव के 'मन' को अपना विषय बनाती हैं। इस अभिप्राय की ओर ध्यान देने पर पूर्वोक्त विरोध दूर हो जाता है। 'च' अव्यय का दो बार प्रयोग किया गया है, जो 'दो घटनाओं' की एककालिकता को प्रदर्शित करता है।

यह 'एककालिकता' विरोधाभास को ही प्रदर्शित करने के लिए कवि ने 'च' की द्विरुक्ति की है, यह समझना चाहिए।

(९ 'क्रिया' का 'द्रव्य' के साथ विरोध का उदाहरण)

अयं वारामिति। यह समुद्र, 'जल' का अपूर्व (मुख्य) केन्द्र है, तथा रत्नों का आकर (खान) है, यह जानकर ही तृष्णा (प्यास) से व्याकुल चित्त होकर हम लोगों ने इसका आश्रय लिया था, पर यह कौन जानता था कि अगस्त्य मुनि अपने हाथ की अञ्जलि के एक कोने में समाये हुए उस समुद्र को जिसमें बड़े-बड़े मगर-मत्स्य तड़प रहे हैं—क्षणभर में पी जायेंगे ॥४९०॥

इस पद्य में 'पानक्रिया' का 'अगस्त्य' रूप कर्ता और 'समुद्र' रूप कर्म के साथ अर्थात् 'द्रव्य' के साथ विरोध है, क्योंकि एक मानवविशेष अगस्त्य के द्वारा अगाध एवं विशाल समुद्र का 'पान करना' असम्भव है—यही 'विरोध' है। किन्तु महर्षि

(१० द्रव्यस्य द्रव्येण सह विरोधः)

समदमतंगजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शङ्करचूडापगाऽपि कालिन्दी ॥ ४९१ ॥

अगस्त्य के तपःप्रभाव की अधिकता के कारण कोई बात असंभव नहीं है, अर्थात् सब-कुछ संभव हो सकता है—यह सोचने पर विरोध का परिहार हो जाता है।

यह पद्य भल्लटशतक का है। इसमें प्रथमतः समुद्र की महत्ता को बताया है, उस महत्त्वशाली संपूर्ण समुद्र को भी जिसने अपनी एक अञ्जलि में लेकर आचमन की तरह पी लिया, ऐसे अगस्त्य मुनि का तपःप्रभाव कितना महान् होगा–यह सूचित किया है।

'कालकेय' नामक दैत्यों ने समुद्र का आश्रय लेकर लोगों को प्रपीडित करना जब आरंभ किया, तब अगस्त्यमुनि ने अपने तपःप्रभाव से समुद्र का प्राशन कर दैत्यों को निराश्रित (आश्रयरहित) कर दिया,तब देवताओं ने उन्हें मार दिया। यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'समुद्र' (द्रव्य) और 'पान' (क्रिया) का विरोध है, उसी प्रकार 'अगस्त्य' (द्रव्य) और 'समुद्रपान' (क्रिया) का विरोध है, अर्थात् दो प्रकार से यहाँ 'विरोध' है। प्रथम पक्ष की दृष्टि से प्रदीपकार का कहना है कि समुद्रों की अनेकता के कारण यहाँ पर विरोध 'जाति' और 'क्रिया' का प्रतीत हो सकता है, किन्तु यहाँ पर 'समुद्र' शब्द से 'क्षार समुद्र' स्वीकार करने पर 'जलनिधि' को 'द्रव्य' समझने में कोई बाधक नहीं है।

दूसरे पक्ष में भी इसी प्रकार का आक्षेप किया जा सकता है–'मुनि'–यह 'द्रव्य' शब्द नहीं है, अपितु 'जाति' शब्द है। किन्तु यहाँ पर 'मुनि' शब्द का प्रयोग जिस-किसी 'मुनि' को लक्ष्य करके नहीं किया गया है, अपितु 'अगस्त्य' को लक्ष्य करके ही किया गया है। अतः उसे द्रव्यशब्द कहने में कोई बाधक नहीं है। एवं च दोनों पक्षों की दृष्टि से 'विरोध' स्पष्ट है। क्योंकि एक मानवव्यक्ति के द्वारा संपूर्ण समुद्र को एक आचमन में पी लेना असंभव है, किन्तु अगस्त्यमुनि के तपःप्रभाव की ओर ध्यान देने पर इस विरोध का परिहार हो जाता है।

(१० 'द्रव्य' का 'द्रव्य' के साथ विरोध का उदाहरण)

समदेति। हे क्षितितिलक राजन् ! तीर पर आपके पहुँच जाने पर अर्थात् भागीरथी गंगा के तट पर आपकी सेना का पड़ाव लग जाने के कारण उस सेना के मदोन्मत्त हाथियों के मदजल के बहने से उत्पन्न मदधारा की श्यामवर्ण नदी के मिल जाने से शिवजी के शिर से बहने वाली गंगाजी की श्वेतिमा भी कृष्णमा में परिणत हो गई है अर्थात् यमुना (कालिन्दी) बन गई है ॥४९१॥

यहाँ पर गंगा और यमुना नदी रूप द्रव्यों का परस्पर बिरोध है, क्योंकि जो गंगा है वह यमुना नहीं हो सकती। किन्तु 'मदजल की नीलिमा' से गंगा नदी का जल नीला हो गया है—यह अर्थ ध्यान में आने पर उस विरोध का परिहार हो जाता है।

विवरण—इस पद्य में किसी राजा की सेना के सामर्थ्य का वर्णन किया गया है। इस राजा के गजसैन्य का बल इतना बड़ा है कि राजा की सेना का पड़ाव, गंगा (शंकर-चूडापगा) के किनारे लग जाने पर उस सेना के असंख्य मदमत्त गजों (मतंगज) के गण्डस्थलों से कृष्णवर्ण (नीलवर्ण) मदजल के प्रवाह बहते हुए गंगानदी के जल से मिल गये, उस कारण गंगाजी का श्वेतवर्ण का जल नीलवर्ण का हो गया, जिससे वह गंगा नदी, कालिन्दी अर्थात् यमुना नदी-सी भासित होने लगी।

इस वर्णन में 'शंकरचूडापगा' (द्रव्य) और 'कालिन्दी' (द्रव्य) का विरोध प्रदर्शित किया गया है। क्योंकि जो 'गंगा' है, वह 'यमुना' कैसे हो सकेगी ? किन्तु गंगाजी का 'नील-जल' (कृष्णजल) देखकर उसे यहाँ पर 'यमुना' कहा गया है—यह समझ में आने पर भासमान विरोध दूर हो जाता है। अर्थात् यहाँ पर 'यमुना' शब्द का प्रयोग, लक्षणा के द्वारा 'काले रंग की'—इस अर्थ में किया गया है। इस अर्थ के आधार पर 'तद्गुण' अलंकार को भी यहाँ कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में वह यहाँ पर विवक्षित नहीं है।

'शाब्द विरोध' और 'आर्थ विरोध'—'विवरणकार' आदि कतिपय व्याख्याकारों का कहना है कि 'अपि, च-च' आदि किसी 'अव्यय' का अथवा 'भू' धातु के किसी रूप का प्रयोग करने पर 'विरोध' की प्रतीति स्पष्टतया होती है, उस कारण ऐसे स्थलों में 'विरोध' अलंकार को 'शाब्द' समझना चाहिए। जैसे—'गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो' (१०।९२), 'सृजति च जगदिदं' (१०।९४), 'पेशलमपि खलवचनं' (१०।९६) आदि उदाहरणों में शाब्द विरोध है। और 'च-च, अपि' आदि का प्रयोग न करने पर 'विरोध' अलंकार को 'आर्थ' समझना चाहिए। प्राचीन आलंकारिकों के द्वारा यह विभाग किया गया है—ऐसा पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है (जगन्नाथ पृ० ४२८), किन्तु मम्मटभट्ट तक के उपलब्ध ग्रन्थों में ऐसा विभाग, दृष्टिगोचर नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि 'अपि' इत्यादि शब्द 'निपात' होने के कारण और व्याकरण के अनुसार 'निपातों, की अर्थबोधक शक्ति, 'व्यञ्जना होती है। उसकारण यहाँ पर 'अपि' आदि शब्दों से 'विरोध' का बोध 'व्यञ्जना' से समझना होगा। तब 'शाब्द' और 'आर्थ' विभाग कैसे उपपन्न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितराज कहते हैं कि 'अपि' आदि शब्दों की 'व्यञ्जना' को 'निरूढव्यञ्जना' माना जाता है, और 'निरूढलक्षणा' एवं 'निरूढ-व्यञ्जना' ये दोनों 'वृत्तियाँ' अभिधा के समकक्ष हुआ करती हैं। उसकारण 'अपि' आदि शब्द, फलतः 'विरोध' के 'वाचक' समझे जाते हैं— "निरूढलक्षणाया इव निरूढद्योतनाया

अपि शक्तिसमकक्षत्वात् ।''—(जग० पृ० ४२९) अतः उनका प्रयोग करने पर 'विरोध' को 'शाब्द' कहा जाता है।

शंका—विरोध अलंकार में 'जाति × जाति' तथा 'द्रव्य × द्रव्य' के प्रकार का संभव हो सकता है या नहीं ? क्योंकि 'मृणालवलयादिदवदहनराशिः' (४०।४८२), 'शंकर-चूडापगाऽपि कालिन्दी' (१०।४।९१) इन उदाहरणों में 'प्रकृत' और 'अप्रकृत'—इन दो वस्तुओं का 'अभेदारोप' किया गया है, उसकारण इन उदाहरणों में 'रूपक' क्यों न समझा जाय ? और यदि इनको 'विरोध' ही कहना हो तो 'मुखं चन्द्रः' जैसे रूपक के उदाहरणों में भी 'विरोध' अलंकार क्यों न माना जाय ?

समा०—उक्त आशंका का समाधान पण्डितराज ने यह किया है कि किसी भी उदाहरण मे अलंकार का निर्णय करने की रीति यह होती है कि उदाहृत पद्य में कौन-सा 'अंश' सहृदयरसिकों को 'चमत्कारजनक' प्रतीत होता है। यह देखना आवश्यक है और यही पद्धति सभी आलंकारिकों को मान्य भी है। 'मुखं चन्द्रः'—इस उदाहरण में कवि को 'मुख' का आह्लादकत्व बताना है या 'मुख' और 'चन्द्र' दोनों में 'विरोध' बताना है ? तब कहना होगा कि कवि को 'आह्लादकत्व' बताना ही अभीष्ट है (लक्ष्य = उद्देश्य है)। यह अभीष्ट (लक्ष्य) तभी सिद्ध हो सकेगा, जब 'मुख' का 'चन्द्र' से 'अभेद' रहेगा। इस अभेद की सिद्धि 'रूपक' से ही हो सकती है, अतः मुख और चन्द्र का 'अभेद' ही यहाँ पर 'चमत्कारजनक' है। 'मुख और चन्द्र' इन दोनों का विरोध यहाँ पर चमत्कृतिजनक तो है ही नहीं, प्रत्युत कवि के उद्देश्य (लक्ष्य) का विघातक है। उसकारण वह उपेक्षणीय ही है। किन्तु 'मृणालवलवादिदवदहनराशिः' इस उदाहरण में विरहिणी नायिका की लोकविलक्षण अवस्था, प्रतिपिपादयिषित होने से वस्तुद्वयगत विरोध ही 'अभीष्ट (उद्दिष्ट) अर्थ को पुष्ट कर पाता है, इसलिए यह 'विरोध' का उदाहरण है। एवंच 'रूपक' वहीं माना जाता है, जहाँ विरोध, अभीष्ट न होकर प्रकृत और अप्रकृत (उपमान-उपमेय) का अभेद रहता है। 'विरोध अलंकार' में भी 'प्रकृत-अप्रकृत' का अभेद अभीष्ट ही है, किन्तु वह विरोध प्रदर्शित करने के लिए ही होता है। इसलिए वहाँ पर रूपक को अलंकार नहीं माना जाता। रूपक और विरोध के भेद का अवसर वहीं होता है, जहाँ 'अपि' आदि शब्दों का प्रयोग न किया गया हो, क्योंकि 'अपि' आदि शब्दों का प्रयोग करने पर तो विरोध की स्पष्टता ही सिद्ध हो जाती है। किन्तु 'अपि' शब्द का प्रयोग न रहने पर कवि के लक्ष्य (उद्देश्य) के अनुसार कदाचित् कोई उदाहरण 'रूपक' अथवा 'विरोध' कुछ भी कहा जा सकता है। जैसे—'मृणालवलयादिदवदहनराशिः' में विरहिणीनायिका की लोकविलक्षण अवस्था को बताना कवि को विवक्षित न हो केवल 'मृणालवलय' आदि वस्तुओं को तापदायक ही बताना हो तो वह 'रूपक' ही कहा जायगा। इसके विपरीत

किसी नगर का वर्णन करते समय वर्णनीय नगर की अद्भुतता विवक्षित होने से 'यत्र हि नारीणां मुखं चन्द्रः'—कवि कह दे तो वह 'विरोध' का ही उदाहरण कहलायेगा, 'रूपक' का नहीं। सन्दिग्ध स्थलों में अलंकार का निर्णय करने में कवि की विवक्षा को ही प्रमाण माना जाता है। अतएव 'गङ्गायां घोषः' 'मञ्चाः क्रोशन्ति','कुन्ताः प्रविशन्ति' जैसे उदाहरणों में दो पदार्थों में विरोध रहने पर भी उन्हें विरोध अलंकार नहीं कहा जाता।

'विरोध' और अन्य अलंकार—

एक साथ कभी न रह सकनेवाले प्रसिद्ध पदार्थों का एक साथ रहना जब बताया जाय, तब उसे **'विरोध'** अलंकार कहा जाता है। किन्तु इसके ठीक 'विपरीतस्थिति' असंगति अलंकार में रहती है। अर्थात् सर्वथा एक साथ रहनेवाले दो पदार्थों का जहाँ पृथक्-पृथक् रहना बताया जाता है तब 'असंगति' अलंकार होता है। इसके अतिरिक्त 'असंगति अलंकार' में स्थित दो पदार्थों में 'कार्यकारणभाव' का रहना आवश्यक होता है, वह 'विरोध' में नहीं है।

'विभावना' और 'विशेषोक्ति'-ये दोनों अलंकार 'कार्यकारणभाव' पर अधिष्ठित हुआ करते हैं और इन दोनों में स्थित कार्य-कारणों का विरोध प्रतीत होने पर भी उन दोनों में (कार्य-कारण में) समानबलता नहीं होती है, क्योंकि 'कारण' तो 'प्रमाण-सिद्ध' रहता है, उसकारण वह सर्वदा 'बाधक' माना जाता है और 'कार्य' सर्वदा ही 'बाध्य' समझा जाता है। किन्तु 'विरोध' अलंकार में 'कार्य-कारणभाव' नहीं होता और सम्बद्ध दोनों पदार्थ तुल्यबलवाले होने से वे एक दूसरे के 'बाधक' रहते हैं।

"कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः।
विभावनायामाभाति विरोधेऽन्योऽन्यबाधनम् ॥"

निष्कर्ष यह है कि 'विरोध' के व्यापक क्षेत्र से 'रूपक' 'असंगति', 'विभावना', 'विशेषोक्ति' आदि विरोधाश्रित अलंकारों को पृथक् कर देने पर जो क्षेत्र बचा रहता है वही क्षेत्र 'विरोध अलंकार' का होता है। क्योंकि यह नियम ही है कि अपवाद क्षेत्र से बचा हुआ क्षेत्र ही 'सामान्य' का हुआ करता है-'अपवादविषयपरिहारेण उत्सर्गस्य व्यवस्थितेः।' जब 'विरोध', श्लेष पर अधिष्ठित रहता है, तब वहाँ 'श्लेष' अलंकार अथवा श्लेष-विरोध का 'संकर' अलंकार माना जाता है।

'विरोध' के विषय में दण्डी और वामन के विचार—'विरोध' के संदर्भ में दण्डी और वामन के विचार, मम्मट से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं। दण्डी ने 'विरोध' का जो लक्षण "विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् विशेषदर्शनायैव" (दण्डी २।३३३) किया है, उसका मम्मट के विचार के साथ कोई साक्षात् विरोध नहीं प्रतीत हो रहा है। तथापि दण्डी के दिये हुए उदाहरणों में से केवल दो ही उदाहरण मम्मटाभिमत 'विरोध'

(२४ स्वभावोक्तिरलंकारः)

(१६८) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोः ! रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

के अन्तर्गत प्रतीत होते हैं (दण्डी २।३३७, ३३९)। दण्डी का (२।३३८) उदाहरण मम्मट की 'विभावना' का प्रतीत होता है। उसी तरह वामन का भी 'विरोधलक्षण' मम्मट जैसा ही है—'विरुद्धाभासत्वं विरोधः'। तथापि उसके द्वारा दिये गये दोनों उदाहरण मम्मट के 'असंगति' अलंकार के प्रतीत होते हैं। विरोधालंकार को 'वाच्य' का अलंकार कहते हैं, क्योंकि शब्दों के श्रवणमात्र से तो 'विरोध' की प्रतीति होती है, किन्तु उन शब्दों का तात्पर्य अन्यत्र रहता है, उसकी ओर ध्यान पहुँचते ही विरोध का परिहार हो जाता है। तब सहृदयरसिकों को चमत्कार का अनुभव होता है। विरोध-दर्शक 'अपि', 'च' आदि शब्दों के रहने पर वाच्यार्थ में विरोध की प्रतीति होती है, तभी विरोध को 'वाच्यालंकार' समझा जाता है। और व्यंग्यार्थ में जब विरोध प्रतीत होता है तब उसे 'ध्वनि' कहते हैं।

(२४ स्वभावोक्ति अलंकार)

(सू० १६८) स्वभावोक्तिरिति। डिम्भ (बालक) आदि को अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप का वर्णन करना 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहलाता है। यहाँ 'डिम्भ' शब्द का अर्थ—शिशु है, 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। 'आदि' शब्द से 'हाथी, घोड़ा आदि' पशु तथा कबूतर, चिड़ियाँ, युवती, मुग्ध, कातर, भ्रान्त, हीनपात्र आदि का संग्रह समझना चाहिए।

स्वयोरिति। 'स्व' का अर्थ है—तदेकाश्रय अर्थात् वे डिम्भादि ही आश्रय हैं जिनके ऐसी क्रियाएं (चेष्टाएँ) और रूप (नील-पीत) आदि और संस्थान अर्थात् अवयव सन्निवेश (अंग-उपांग-प्रत्यंग का विन्यास)। एवंच किसी भी वस्तु का जो साधारणधर्म वर्णन किया जाय, उसे स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं। वह साधारणधर्म वर्णन भी 'चमत्कृतिजनक' होना चाहिए, तभी उसे अलंकार कहा जायगा, अन्यथा नहीं। क्योंकि अलंकार का सामान्यलक्षण 'चमत्कृतिहेतुत्व' ही है। अतएव

'गोरपत्यं बलीवर्दो घासमत्ति मुखेन सः।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन, अपानेन तु गोमयम् ॥

तथा—'द्विहस्तं च द्विकर्णं च द्विनेत्रं चैकनासिकम्।
शरीरं मे शिवः पायात् सशिश्नवृषणोदरम् ॥

इस प्रकार के वर्णन को अलंकार नहीं माना जाता। क्योंकि यह साधारणस्वभाववर्णन 'स्फुट' है। यद्यपि असाधारण स्वभाववर्णन लोकसिद्ध है, तथापि वह प्रतिभामात्र

पश्चादंघ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४९२॥

संवेद्य होने से अलौकिक-सा प्रतीत होता है, उसकारण उसे अलंकार कहा जाता है। अतएव सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रथमपरिच्छेद में भोजराज ने भी कहा है कि—

'दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुद्मान् लम्बकम्बलः ।
गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणमत्ति मुखेन सः ॥'

यह पद्य अपुष्टार्थक होने से यहाँ प्रयुक्त विशेषण अनुत्कृष्ट हैं, अनुदार होने से इसे निरलंकार ही कहा गया है।

'स्वभावोक्ति'—यह संज्ञा अन्वर्थक है। तथाहि—'स्वभावस्य वर्णनीयतत्तद्वस्तुमात्रगतस्य प्रकृतिसिद्धस्य धर्मस्य उक्तिः स्वभावोक्तिः। सूत्रगत 'स्व' शब्द 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' है, क्योंकि 'डिम्भादेः' कहने से ही 'सम्बन्ध' का ज्ञान हो जाता है। तथा च डिम्भादेर्वस्तुनः स्वयोः स्वमात्राश्रयकयोः (स्वमात्रगतयोः) क्रियारूपयोर्वर्णनम् अभिधानं स्वभावोक्तिरित्यर्थः। इसीको कुछ लोग 'जाति' शब्द से भी कहते हैं।

स्वभावोक्ति अलंकार का उदाहरण जैसे–बाणभट्टकृत हर्षचरित के तृतीय उच्छ्वास का पद्य है—

पश्चादिति। सोकर उठा हुआ घोड़ा पिछले पैरों को फैलाकर तीन हड्डियों के जोड़ से बने हुए 'त्रिकपृष्ठवंश' को झुकाने के कारण विस्तृत हुए अंग को और भी अधिक फैला रहा है, और ग्रीवा को टेढ़ी करके मुख को छाती से लगाकर धूल से सनी हुई (धूमिल) सटाओं (आयालों) को हिला रहा है, तथा घास (तृण) खाने की इच्छा से नासापुटों और मुख को निरन्तर चलाता हुआ मन्द-मन्द हिन-हिनाहट के साथ खुरों से भूमि को कुरेदता है ॥४९२॥

यहाँ पर सोकर उठे हुए घोड़े की स्वाभाविक क्रिया (अर्थात् प्रोथ-तुण्ड का सञ्चालन, मन्द-मन्द हिन-हिनाहट के साथ भूमि को कुरेदना, पैरों को फैलाना, त्रिक का दीर्घीकरण, मुख का उर में आसञ्जन तथा सटाविधूनन) का वर्णन करने से 'स्वभावोक्ति अलंकार' है। प्रदीपकार ने कहा है कि यहाँ पर अश्वमात्रगत क्रिया और संस्थान का वर्णन किया गया है। उद्योतकार ने बताया है 'पश्चात्' इत्यादि से 'संस्थान' का और 'घासग्रासाभिलाषात्' आदि से 'क्रिया' का वर्णन किया गया है।

स्वभावोक्ति के असंकीर्ण उदाहरण भी मिलते हैं। यथा—

कलक्वणनगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः।
पारावतः परिभ्रम्य रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम्॥

उक्त पद्य में पारावत (कबूतर) के क्रियात्मक असाधारण धर्म का वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ पर 'क्रियास्वभावोक्ति' अलंकार है। 'वर्णस्वभावोक्ति' का उदाहरण, जैसे—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः॥ (उ० ६।१३९)

यहाँ पर 'वर्णस्वभावोक्ति' अलङ्कार है।

रुय्यक ने 'स्वभावोक्ति' का लक्षण 'सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनम्' किया है। 'सूक्ष्म' पद का प्रयोजन बताते हुए उसने कहा है—

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालङ्कारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यम् अलङ्कारः स्यात्॥ न हि तत् काव्यमस्ति, यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम्। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्, 'सूक्ष्मः' कवित्वमात्रस्य गम्यः॥ अत एव तन्निर्मित एव यो 'वस्तुस्वभाव.' तस्य 'यथावत्' 'अन्यूनानोतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलङ्कारः।' (रुय्यक)।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'स्वभावोक्ति' का लक्षण, मम्मट और रुय्यक दोनों के लक्षणों के अनुवादरूप में किया है—'स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।'

इस अलङ्कार के विषय में भामह का कहना है कि इसे कतिपय लोग ही अलङ्कार के रूप में मानते हैं। दण्डी का कहना है कि किसी भी वस्तु का विविध अवस्थाओं में जो स्वरूप होता है,उसको दृष्टि के सामने यथावत् उपस्थित कर देना ही 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार है। यह—'जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य' के भेद से चार प्रकार का होता है। भोज ने 'स्वरूपस्य साक्षात् कथनम्'—(सर० क० भ० २।८१) कहकर बताया है कि अर्थव्यक्ति गुण का 'स्वभावोक्ति' (जाति) से भेद यह है कि 'अर्थव्यक्ति' में 'वस्तु' (पदार्थ) के सार्वकालिक स्वरूप का वर्णन रहता है, और 'स्वभावोक्ति' (जाति) में जायमान अर्थात् आगन्तुक (तात्कालिक) स्वरूप का वर्णन किया जाता है। (सर० क० भ० ३।५)

वामन ने अपने विचार के अनुसार उपमा से सम्बद्ध २८ अलङ्कारों को ही बताया है, उनमें 'स्वभावोक्ति' नहीं है। किन्तु 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् अर्थव्यक्तिः'—कहकर इस गुण की कल्पना और उसके जो उदाहरण दिये हैं, वे 'स्वभावोक्ति' के बहुत

(२५ व्याजस्तुतिरलङ्कारः)

(१६९) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः ।

निकट प्रतीत होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने गुणनिरूपण के प्रसंग में प्राचीनों के मत को उपस्थित करते हुए 'स्वभावोक्ति' का समावेश 'अर्थव्यक्ति' नामक अर्थ गुण में ही किया है—'वस्तुनो वर्णनीयस्य असाधारणक्रियारूपयोः वर्णनम् अर्थव्यक्तिः' अयमेव इदानींतनैः स्वभावोक्त्यलंकार इति व्यपदिश्यते' (पण्डितराज जगन्नाथ)।

कुन्तक का कहना है कि 'स्वभावोक्ति' की गणना अलंकारों में नहीं की जा सकती—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ (कुन्तक १।१२-१४)।

'स्वभावोक्ति' को अलंकार मान लेने पर काव्य में सर्वत्र ही उसका रहना स्वाभाविक है, क्योंकि वह तो 'वस्तुस्वभाववर्णनात्मक' ही है। तब काव्यमात्र में 'शुद्ध अलंकार' का होना असंभव ही होगा।

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टशंकरस्ततः।
अलंकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥ (कुन्तक १।१६)

(२५ व्याजस्तुति अलंकार)

(सू० १६९) व्याजस्तुरिति। (मुखे) आरम्भ में आपाततः 'स्तुति' अथवा निन्दा प्रतीत होती है, किन्तु उस 'स्तुति' अथवा निन्दा का यथाक्रम 'निन्दा' में अथवा 'स्तुति' से पर्यवसान होने पर 'व्याजस्तुति' नाम का अलंकार होता है।

व्याजरूपेति। 'व्याजस्तुति' शब्द का अर्थ, दो प्रकार से किया जाता है—(१) व्याजरूपा स्तुति अर्थात् आपाततः तो 'निन्दा' प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः वह 'स्तुति' ही रहती है, अतः वह व्याजरूपास्तुति होने से उसको 'व्याजस्तुति' कहा जाता है। तथा जहाँ आपाततः तो 'स्तुति' प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः वह 'निन्दा' ही रहती है, अर्थात् 'व्याजेन स्तुति' करने के कारण इसे भी 'व्याजस्तुति' ही कहते हैं। 'व्याज' शब्द का अर्थ है—'कपट, बहाना, स्वांग, ढोंग'।

प्रश्न—सूत्रक्रमानुरोधेन और वक्ष्यमाण उदाहरण क्रम के अनुरोध से भी 'व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिः' ऐसी व्याख्या करनी चाहिए थी।

क्रमेणोदाहरणम्—

हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परो
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४९३॥

(निन्दापर्यवसायिनी स्तुतिः)

हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तोयधे !
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।
तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥ ४९४ ॥

उत्तर— निषादस्थपतिन्याय से 'कर्मधारय' समास की पूर्व उपस्थिति होने के कारण ग्रन्थकार ने जो व्याख्यान किया है, वही उचित है।

क्रमेणेति। सूत्रोक्त क्रम से उदाहरण बता रहे हैं, वृत्त्युक्तक्रम से नहीं।

स्तुतिपर्यवसायिनी 'नन्दा' का उदाहरण दे रहे हैं—

हित्वेति। हे राजन् ! अपने आश्रित रहनेवाले का अनुवर्तन न करनेवालों में शिरोमणि (मौलि), आपके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं है, और निर्लज्जों में लक्ष्मी के अतिरिक्त अन्य कोई भी स्त्री दृष्टिगोचर नहीं हो रही है, क्योंकि शतशः उपायों से स्वयं होकर ही वह लक्ष्मी आपकी आश्रित हुई है जिसका आप परित्याग कर रहे हैं, फिर भी वह लक्ष्मी, अपने परित्यागरूप अपमान को सहती हुई भी आप ही के पास स्थिर रहती है ॥४९३॥

यहाँ पद कवि ने 'आश्रितपरित्यागरूप निन्दा' के बहाने (व्याज के द्वारा) आप 'महान् दानी' हैं, अर्थात् लक्ष्मीवान् हैं—यह 'स्तुति' की है। अर्थात् 'आश्रित परित्यागरूपनिन्दाव्याजेन महादातृत्वेऽपि लक्ष्मीपत्याभिधानात् स्तुतिरिति व्याजेन स्तुतिरियम्। चन्द्रिकाकार ने भी कहा है—"इयं निन्दापूर्विका व्याजस्तुतिः" इति।

अब निन्दापर्यवसायिनी 'स्तुति' का उदाहरण दे रहे हैं—हे हेलेति। हेला (अनायास) से ही बोधिसत्त्व को भी जीतने वाले हे क्षारसमुद्र ! अधिक कहने की आवश्यकता नही है, केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि दूसरों पर परोपकार करते रहने का व्रत ग्रहण करनेवाला आपके सदृश अन्य कोई नहीं है। क्योंकि आप तृषित हुए (प्यासे) पथिकों पर उपकार करने में अपना मुँह मोड़ लेते हैं। इस प्रकार की

विमुखता के कारण ही 'मरु' प्रदेश, अपयश का भार ढो रहा है। उस भार के ढोने में आप भी 'मरु' को सहायता कर रहे हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे मरुभूमि में प्यासे को भी पानी नहीं मिलपाता, अर्थात् प्यासे की प्यास शान्त करने में तुम समर्थ नहीं हो ॥ ४९४ ॥

यहाँ पर आरंभ में समुद्र की 'स्तुति' प्रतीत होती है, किन्तु उसका पर्यवसान 'निन्दा' में किया गया है। अर्थात् समुद्र की 'स्तुति' के बहाने 'निन्दा' का वर्णन करने में अधिक चमत्कार है।

उक्त पद्य, भर्तृहरिप्रणीत वाक्यपदीय की पुञ्जराजकृत टीका के द्वितीय काण्ड में (कारि० २४९ की व्याख्या में) दिया गया है। 'म्रियते पिपासया जन्तुर्यस्मिन्निति मरुः'। मरुदेश अर्थात् निर्जल देश, 'मारवाड' नाम से प्रसिद्ध देश। 'साहायकम्' में 'योपधाद्गुरुपोतमाद् वुञ्' (पा० सू० ५।१।३२) सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय किया गया है।

चन्द्रिकाकार ने कहा है—

"स्तुतिपूर्विकेयं व्याजस्तुतिर्निन्दापर्यवसायिनी" इति।

उद्योतकार ने भी कहा है—"अत्र मरुदेशेन एकाकिना निर्जलत्वात् तृषितपान्थोपकाराभावजन्याऽयशोभारो गृहीतः त्वयापि क्षारजलत्वात् तं भारं गृह्णता तस्य सहायकेन उपकारः, इति स्तुत्या तृषितपान्थानुपकारेण निन्दायां पर्यवसानम्।"

निष्कर्ष यह है कि 'कपट, बहाना, स्वाँग, ढोंग' आदि—व्याज के गर्भित रहने पर यह 'व्याजस्तुति' अलङ्कार होता है। 'मुखे निन्दा, स्तुतिः' = आपाततः निन्दा, या स्तुति। 'अन्यथा रूढिः' = पर्यवसान, अर्थात् 'निन्दा' का पर्यवसान 'स्तुति' में अथवा 'स्तुति' का पर्यवसान 'निन्दा' में रहता है। तब (१) 'व्याजेन स्तुतिः' (तृ० तत्पु०), अर्थात् निन्दा के बहाने प्रशंसा (स्तुति) की जाती है, अथवा स्तुति का पर्यवसान जब निन्दा में रहता है, तब स्तुति के बहाने निन्दा की जाती है, यह समझना चाहिए।

भामह, दण्डी, उद्भट आदि ने 'व्याजेन स्तुतिः व्याजस्तुतिः' यह एक ही प्रकार बताया है।

जब किसी पदार्थ की (मुखे स्तुतिः) आपाततः स्तुति की जाती है, किन्तु उसका पर्यवसान, उस पदार्थ की निन्दा में रहता है (अन्यथा रूढिः), तब यह अलङ्कार 'व्याजरूपा स्तुतिः' (शाकपार्थिवादि कर्मधारय अर्थात् मध्यमपदलोपी समास) होता है। अर्थात् निन्दापर्यवसायी बहाना, बनाई हुई प्रशंसा (छद्मो या ढोंग रची हुई स्तुति) समझी जाती है।

---

१. भामह ३।३१, दण्डी २।३४३, उद्भट ५।९

'व्याजस्तुति' के इन दोनों प्रकारों को 'व्याजश्लेष' के नाम से प्रथमतः रुद्रट ने बताया है।

मूलगत कारिका की वृत्ति में 'व्याजरूपा व्याजेन वा' कहा गया है, किन्तु प्रदीपकार ने 'व्याजेन व्याजरूपा वा' इस प्रकार कहकर विपरीत क्रम का प्रदर्शन किया है, जो आगे दिये हुए उदाहरणों के क्रम से सुसंगत भी प्रतीत होता है। 'व्याजरूपा व्याजेन वा'—इस क्रम का समर्थन झलकीकर वामनाचार्य ने यह किया है कि 'कर्मधारय' और 'तत्पुरुष' दोनों में से सामानाधिकरण्य से होने वाले कर्मधारय समास को, वैयधिकरण्य से होने वाले तृतीया तत्पुरुष के पूर्व बताना ही उचित है।

किन्तु यही विचार यदि मम्मट का भी होता तो उदाहरणों को भी उसी क्रम से वह अवश्य देता, किन्तु उसने वैसा नहीं किया। अतः प्रदीपकार को सम्मत (व्याजेन व्याजरूपा वा) जो क्रम है, वही उचित प्रतीत हो रहा है।

अतः निन्दा के व्याज (बहाने) से स्तुति (व्याजेन स्तुति) का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें किसी राजा के औदार्य तथा अक्षय्य ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है।

(१) हित्वेति। हे राजन्! अपने आश्रितों का स्वीकार न करने वालों में आप मूर्धन्य (मौलि शिरोमणि) हैं, अर्थात् आपके सिवाय अन्य कोई नहीं है और निर्लज्जों में लक्ष्मी के सिवाय कोई दूसरी स्त्री नहीं दिखाई देती। क्योंकि युद्धादि सैकड़ों उपायों से आकर आपके आश्रय में आई हुई लक्ष्मी का परित्याग आप कर देते हैं, किन्तु त्यागरूप अपमान को सहकर भी पुनः आप ही के पास वह स्थिर रहती है॥ ४९३॥

यहाँ पर व्याजेन स्तुति अर्थात् आश्रित-परित्याग रूप निन्दा के बहाने कवि सूचित कर रहा है कि राजा महान् दानी है, तथापि अक्षय्य लक्ष्मी से युक्त है अर्थात् महान् दातृत्व होने पर भी वह सतत लक्ष्मीवान् रहता है। यह निन्दापूर्वक व्याजस्तुति अर्थात् स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा का उदाहरण है।

अब निन्दापर्यवसायिनी व्याजरूपा स्तुति का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर कवि ने समुद्र को 'महान् परोपकारी' कहा है।

(२) हे हेलेति। करुणासागर भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) को भी परोपकार व्रत में बिना आयास के ही जीत लेने वाले हे तोयनिधि समुद्रदेव! परोपकाररूप व्रत लेने का संकल्प करने वाला आपके सिवाय कोई अन्य दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। जैसे

१. रुद्रट १०।११

मरुदेश ने तृषार्त पथिकजनों पर जलदान द्वारा उपकार करने से अपना मुंह मोड़ लिया है अर्थात् विमुखता अपनाई है, उस कारण 'मरुदेश' की बहुत बड़ी अपकीर्ति (बदनामी) हो गई है अर्थात् मरुदेश के मस्तक पर अपयश का महान् भार लद गया है, जिसे वह सतत ढो रहा है। किन्तु हे परोपकारी समुद्रदेव! तुम भी अपने परोपकारी स्वभाव के कारण उसके महान् भार को उठाने में सहायता कर रहे हो। अर्थात् मरुभूमि में तृषार्त पथिक को जैसे जल नहीं मिलता वैसे ही हे समुद्र! तुम भी जल के प्यासे (तृषार्त) पथिकजन की प्यास को अपने क्षार जल के द्वारा शान्त करने में समर्थ नहीं हो ॥ ४९४ ॥

यहाँ पर आपाततः प्रतीयमान होने वाली स्तुति के व्याज से समुद्र की 'निन्दा' का प्रतिपादन करने से चमत्कारातिशय की प्रतीति हो रही है, अतः यह द्वितीय प्रकार की व्याजरूपा स्तुति है।

चन्द्रिकाकार ने कहा है—"स्तुतिपूर्विकेयं व्याजस्तुति निन्दापर्यवसायिनी"। उद्योतकार ने भी कहा है—"अत्र मरुदेशेन एकाकिना निर्जलत्वात् तृषितपान्थोपकाराभावजन्यायशोभारो गृहीतः, त्वयाऽपि क्षारजलत्वात् तं भारं गृह्णता तस्य साहायकेन उपकारः कृतः, इति स्तुत्या तृषितपान्थानुपकारेण निन्दायां पर्यवसानम्।"

इस पद्य में 'व्याजस्तुति' के अतिरिक्त 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार भी रहने से दोनों का 'अंगाङ्गिभावसंकर' यहाँ हो गया है। उक्त पद्य के द्वारा किये गये 'समुद्र-मरु वर्णन' से यह सूचित किया गया है कि धन की प्रतिक्षण अपेक्षा करने वाले अर्थात् धन के लिए तिल-मिलाने वाले धनरहित लोगों को शान्त-चित्त से देखने वाले धनिक लोग, अपने वैभव का ढिण्ढोरा पीटकर प्रसन्नता का अनुभव करते रहते हैं, किन्तु वास्तव में वे निन्दनीय हैं। यह भाव, अप्रकृत समुद्रवर्णन पर, प्रकृत धनिक वर्णन पर आरोप करने से उपपन्न होता है। क्योंकि समुद्र तो अचेतन है, अतः उसे 'सम्बोध्य' नहीं माना जा सकता है। अर्थात् प्रथमतः वाच्य समुद्रवर्णन से व्यञ्जना के द्वारा धनिक का वर्णन प्रतीत होता है। समुद्र, पान्थ, मरु आदि अप्रकृत प्रतीकों से प्रकृत धनिक आदिकों का बोध, व्यञ्जना से होने के पश्चात् अवशिष्ट अंश, प्रकृत-अप्रकृत की ओर समान रूप से ही उपपन्न होता है। 'अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति' आदि अन्य अलङ्कारों से संकीर्ण हुई भी 'व्याजस्तुति' क्वचित् दृष्टिगोचर होती है। व्याजस्तुति के प्रस्तुत उदाहरण में अप्रस्तुतप्रशंसा के संकर का बात किसी व्याख्याकार ने कही नहीं है।

'व्याजस्तुति' तथा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' आदि में भेद—

उद्योतकार ने प्रस्तुत पद्य का व्याख्यान करने के बाद 'व्याजस्तुति' का 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' से भेद प्रदर्शित किया है। दोनों की भिन्नता में 'दो हेतु' बताये हैं।

(१) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के समान 'व्याजस्तुति' में भी 'अप्रकृत' के व्यवहार से 'प्रकृत' का बोध होने पर 'कार्य-कारण, सामान्य-विशेष, तुल्य-तुल्य' की तरह 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में 'प्रकृत-अप्रकृत' में रहने वाला 'सम्बन्ध' 'व्याजस्तुति' में नहीं हुआ करता। प्रकृत-अप्रकृत विषय का निन्दा-स्तुति, अथवा 'स्तुति-निन्दा' के रूप में परस्पर विरुद्ध रहना ही व्याजस्तुति का चमत्कृतिजनक वैशिष्टच है और वही उसे अप्रस्तुतप्रशंसा से पृथक् करता है।

(२) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में 'अप्रकृत' से 'प्रकृत' का बोध, 'शुद्धव्यञ्जना' से होता है। किन्तु 'व्याजस्तुति' में उसका बोध, 'विपरीतलक्षणा' से होता है। क्योंकि व्याजस्तुति में 'वाच्यस्तुति अथवा निन्दा' का बाध हुआ करता है। उद्योतकार के मतानुसार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में 'प्रस्तुत' का बोध 'व्यञ्जना' से होता है। शोभाकर के मतानुसार 'अप्रस्तुतप्रशंसा और व्याजस्तुति' दोनों में 'प्रकृत' बोध 'लक्षणा' से होता है।

'व्याजस्तुति' और 'ध्वनि'—'ध्वनि' से भी व्याजस्तुति का भेद है—यह भूलना नहीं चाहिए। दोनों में ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, तथापि 'व्याजस्तुति' में 'दूसरा अर्थ', पूर्व (पहिले) अर्थ का (वाच्यार्थ का) बाध करके उपस्थित होता है, किन्तु 'ध्वनि' में दूसरा (व्यङ्गच) अर्थ, कभी भी पहिले अर्थ (वाच्यार्थ) का बाध करके उपस्थित नहीं होता है। अर्थात् पहिले अर्थ को बिना धक्का दिये ही उपस्थित होता है। व्याजस्तुति के उपर्युक्त दो उदाहरणों में प्रयुक्त शब्दों के 'अपने आश्रितों की चिन्ता न करना, निर्लज्जता, परोपकार' इत्यादि वाच्य अर्थ का बाध करके उन शब्दों के 'लक्ष्य अर्थ' (अर्थात् अपने आश्रितों पर दया करना, गुणनिष्ठता, परद्रोह' आदि) प्रकट होते हैं।

इसके विपरीत 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि 'ध्वनि' काव्य के उदाहरण में 'वापीस्नान'—इस वाच्य अर्थ को धक्का (बाध) बिना दिये ही उसका 'सम्भोग' रूप व्यङ्गचार्थ प्रकट होता है। क्योंकि 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि परिणामों का होना 'स्नान' से सम्भव है।

'व्याजस्तुति' में 'विपरीतलक्षणा के रहने पर भी 'व्याजस्तुति' का स्वरूप 'विपरीतलक्षणा' नहीं है। क्योंकि 'व्याजस्तुति' तो निन्दा और स्तुति के विपर्यय तक ही मर्यादित मानी जाती है, और 'विपरीतलक्षणा' का क्षेत्र तो निन्दा-स्तुति की अपेक्षा बहुत व्यापक है।

व्याजस्तुति के ऊपर दिये गये उदाहरणों से अवगत होता है कि व्याजस्तुति

अलंकार में आपाततः स्तुति या निन्दा जिसकी रहती है, उसी की वह प्रतीत होती है। अर्थात् व्याजस्तुति में स्तुति या निन्दा का 'सामानाधिकरण्य' अभीष्ट रहता है। शोभाकर का कहना है कि स्तुति या निन्दा का जहाँ सामानाधिकरण्य न हो (किसी की निन्दा–स्तुति से किसी अन्य की स्तुति-निन्दा की प्रतीति होती हो तो) वहाँ स्तुतिनिन्दा के आधिक्य (अतिशय) की विवक्षा रहने पर 'अतिशयोक्ति' और अतिशय की विवक्षा न रहने पर 'अप्रस्तुतप्रशंसा' होती है। "यस्यैव स्तुतिनिन्दे तस्यैव निन्दास्तुतिप्रतीतौ तु अतिशयविवक्षायां व्याजस्तुतिः।"—(रत्नाकर)।

अप्पय दीक्षित ने 'व्याजस्तुति' को वैयधिकरण्य पर (अर्थात् जहाँ किसी की निन्दा–स्तुति से अन्य किसी की वह समझी जाती है।) भी आधारित माना है। और उस (व्याजस्तुति) का एक 'स्तुति–स्तुति' नाम का भेद भी बताया है (कुवलयानन्द)।

वैयधिकरण्य पर अधिष्ठित 'व्याजस्तुति' का उदाहरण भी दीक्षित ने प्रदर्शित किया है—भगवान् रामचन्द्र की ओर से 'अंगद' शिष्टाई करने के लिए रावण के समीप गया है, तब वहाँ के राक्षसों के साथ उसकी बातचीत (संवाद) हो रही है—

कस्त्वं वानर' ? रामराजभवने लेखार्थसंवाहकः
यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दग्धलङ्कापुरः ?
बद्धोराक्षससूनुनेति कपिभिः सन्ताडितो भर्त्सितः
स व्रीडान्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते ॥

इस पद्य में अंगद ने यह बताया है कि हनुमान् के द्वारा 'अशोकवाटिका' का विध्वंस किये जाने पर रावण के पुत्र इन्द्रजित् ने उसे पकड़ लिया था। इस सन्दर्भ में हनुमान् की निन्दा के द्वारा अन्य वानरों की प्रशंसा सूचित की गई है। अर्थात् राक्षसों के द्वारा पकड़े जाने की कल्पना भी वानरों के लिए असह्य है। यह कहने से अंगद का यह भी अभिप्राय व्यक्त हो रहा है कि—'लंका में तहस-नहस करने वाले हनुमान् से भी सवाई कहलाने वाले वानरों से मुकाबला अर्थात् उन वानरों का सामना राक्षसों को अब करना है, इस बात को मन में सोच लो। एवं च हनुमान् की निन्दा के द्वारा अन्य वानरों की स्तुति (प्रशंसा) को सूचित किया गया है—यह श्री अप्पय दीक्षित का कहना है। किन्तु उनका इस प्रकार से सोचना (विचार करना), आलङ्कारिक परम्परा के विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय ही समझना चाहिए—यह पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं।

अप्पय दीक्षित के द्वारा कल्पित अतिरिक्त प्रकारों को 'ध्वनि' के प्रकारों में ही परिगणित करना चाहिए, यह पण्डितराज जगन्नाथ का मत है। पण्डितराज का कहना

(२६ सहोक्तिरलंकारः)

(१७०) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलाद् यद् उभयस्याप्यवगमकं सा सहोक्तिः। यथा—

है कि दीक्षित के द्वारा कल्पित प्रकारों को यदि 'व्याजस्तुति' के अन्तर्गत मान लें तो अन्य सभी 'ध्वनि-प्रकारों' और 'गुणीभूतव्यंग्य' के प्रकारों को भी 'व्याजस्तुति' के ही अन्तर्गत क्यों नहीं माना जाता ? पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं कि "न हि व्यंग्यभेदाः सर्वेऽपि अपरिमिताः, अलंकारगोष्पदे अन्तर्भावयितुं शक्यन्ते ।"

अप्पय दीक्षित ने 'व्याजस्तुति' की तरह 'व्याजनिन्दा' नाम का भी एक अलंकार माना है। वे कुवलयानंद में कहते है—

'निन्दाया निन्दया व्यक्तिर्व्याजनिन्देति गीयते।
विधेः स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिरः ॥'

'अत्र हरनिन्दया विषमविपाकं संसारं प्रवर्तयतो विधेः अभिव्यंग्या निन्दा व्याजनिन्दा' (कुवलयानन्द)। ब्रह्मदेव को पहले पाँच मुख थे, किसी कारण से क्रुद्ध होकर भगवान् शिवजी ने उनका एक शिर तोड़ दिया, ऐसी कथा पुराणों में पाई जाती है।

(२६ सहोक्ति अलंकार)

(सू० १७०) सहोक्तिरिति। जहाँ पर एक ही पद 'सहार्थ' के बल से अर्थात् 'सह' शब्द के सामर्थ्य से 'दो' का वाचक (दो पदों से सम्बद्ध) होता है, वहाँ 'सहोक्ति अलंकार' होता है।

एकार्थाविधायकमपीति। एकार्थ के वाचक होने पर भी जो 'सह' शब्द के अर्थ के बल पर दोनों का वाचक होता है, उसे 'सहोक्ति' कहते हैं। सहभावस्य (साहित्यस्य) उक्तिः 'सहोक्तिः'—यह अन्वर्थक (सार्थक) संज्ञा है। हेमचन्द्र ने 'अलंकारचूडामणि' के छठे अध्याय में कहा भी है कि—'सहभावस्य उक्तिः' सहोक्तिः। यहाँ पर 'सह, शब्द का अर्थ 'साहित्य' है। वह साहित्य एकजातीय और एककालिक क्रिया से अन्वित रहता है। अर्थात् जिन वस्तुओं का 'सहभाव' (साहित्य) बताया जाता है—उनमें से एक 'प्रधान' और दूसरा 'अप्रधान' रहता है।

'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार 'अप्रधान' में 'तृतीया' और 'प्रधान' में 'प्रथमा' विभक्ति की जाती है। जैसे—'पुत्रेण सह आगतः पिता'। यहाँ 'पिता' प्रधान है और 'पुत्र' अप्रधान है। अतः 'पुत्र' शब्द में 'पुत्रेण' यह 'तृतीया विभक्ति की गई है और 'पितृ' शब्द में 'पिता' यह 'प्रथमा विभक्ति' की गई है।

'आगतः' क्रिया का कर्ता 'पिता' ही है, उसकारण 'आगतः' क्रिया का 'पिता' के साथ ही साक्षात् अन्वय होता है, 'पुत्रेण' के साथ नहीं। इसलिए 'आगतः'—यह 'क्रियापद' 'एकार्थसम्बद्ध' एकार्थाभिधायी है। तथापि 'सह' शब्द के सामर्थ्य से 'पुत्र' पद के साथ उसका 'गौण सम्बन्ध है। उसकारण 'सह' शब्द 'द्विवाचक' हो जाता है। एवंच 'सह' शब्द का प्रयोग करने पर जब काव्योचित विशेष चमत्कार प्रकट होता है, तब वहाँ 'सहोक्ति अलंकार' कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि 'आगतः' पद पिता-पुत्ररूपोभयान्वयी होकर 'आगमन' का बोधक है। 'पुत्रप्रतियोगिकसाहित्यवान् पिता, आगतः' इस प्रकार अर्थ समझ में आता है। अतः 'पुत्रप्रवृत्यागमनसमानकालिकसमानदेशागमनवान् पिता' यह मानसबोध होता है। यहाँ पर तृतीयान्तपद, विशेषण होने से उसमें 'गुणत्व' है, और प्रथमान्तपद, विशेष्य होने से उसमें 'प्रधानत्व' है। तथा च प्रथमान्त के साथ 'आगमन' का अन्वय 'शाब्द' है और तृतीयान्त के साथ 'सह' शब्द के अर्थसामर्थ्य से आगमन का अन्वय होने से वह 'आर्थ' है। एवंच 'यत्र गुण-प्रधानभावावच्छिन्नयोः शाब्दार्थमर्यादया एकधर्मसम्बन्धः तत्रायमलंकारः', वक्ष्यमाणे समुच्चये तु उभयत्र प्राधान्यं शाब्द एव च एकान्वय इति ततो भेदः।' 'चैत्रमैत्रौ सह गच्छतः' यहाँ भी उसी तरह है, अतः यहाँ भी 'सहोक्ति' अलंकार नहीं है। 'चैत्रमैत्रौ गच्छतः' यहाँ पर 'शब्दशक्ति' से ही दोनों को बताया गया है, इसलिए यहाँ भी 'सहोक्ति' अलंकार नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ पर 'सहयुक्तेऽप्रधाने'—(२।३।१९) इस पाणिनि सूत्र से विहित सहार्थ का योग होने पर अप्रधान में तृतीया होती है, वहीं पर यह अलंकार होता है। क्योंकि गुण-प्रधानभावावच्छिन्न हुए दोनों का एकधर्मसम्बन्ध, शब्दार्थमर्यादा से वहीं स्थित रहता है। इसकारण—

'शशिना च निशा निशया च शशी शशिना निशया च विभाति नभः।
पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः॥'

यहाँ पर 'सहोक्ति अलंकार' नहीं है। क्योंकि 'शशिना' इत्यादि में 'हेतौ'—(२।३।२३) इस पाणिनि सूत्र से 'हेत्वर्थ' में तृतीया की गई है, 'पुण्येन दृष्टो हरिः' की तरह। अतः यहाँ पर 'अन्योऽन्यालंकार' ही है। अतएव कुवलयानन्द में अन्योन्यालंकार के उदाहरण के रूप में 'त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया' को दिया गया है। 'पुत्रेण सह आगतः पिता'— इस कथन में अथवा 'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु'—(रघुवंश ६।५७) इस उदाहरण में 'सहार्थ' के बल पर 'द्विवाचकत्व' रहने पर भी 'सहोक्ति अलंकार नहीं है, क्योंकि अलंकार का मूलभूत 'चमत्कार' यहाँ नहीं है। तथा 'सह' शब्द का प्रयोग करने पर भी दो धर्मियों में यदि 'गुण-प्रधानभाव'

सह दिअहणिसाहिँ दीहरा सासदण्डा
सह मणिवलयेहिँ वाप्पधारा गलन्ति ।
तुह सुहअ विओए तीश उव्वग्गिरीए
सह अ तणुलदाए दुब्वला जीविदासा ॥ ४९५ ॥
(सह दिवसनिशाभिर्दीर्घाः श्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्बाष्पधारा गलन्ति ।
तव सुभगवियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ॥ ४९५ ॥)

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दम्, दिवसनिशादिगतं तु सहार्थसामर्थ्यात्प्रतिपद्यते ।

न रहे तो उनका केवल समानधर्म के साथ अन्वय करने मात्र से 'सहोक्ति' नहीं कही जायगी । जैसे—

'अनुकूलभावमथवा पराङ्मुखत्वं सहैव नरलोके ।
अन्योन्यबिहितमन्त्रैः विधि-दिल्लीवल्लभौ वहतः ॥' (पण्डितराज)

यहाँ पर 'विधि' और 'दिल्लीवल्लभ' इन दोनों धर्मियों का 'वहतः' क्रिया से स्वतंत्र अन्वय होने से उनमें 'गुणप्रधानभाव' नहीं है, इसकारण यहाँ 'सहोक्ति' नहीं है। 'सह' शब्द का प्रयोग न करने पर भी 'सहार्थक-तृतीया' के द्वारा पाणिनिप्रयुक्त 'वृद्धो यूना....' (सू० १।२।६५) 'दो धर्मियों' में यदि गुण-प्रधानभाव सूचित होता हो तो वहाँ पर 'सहोक्ति' मानने में कोई अड़चन नहीं है, किन्तु ऐसी जगह पर 'सहोक्ति' को 'आर्थी' कहा जायगा । 'शाब्दी' नहीं । जैसे 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग न रहने पर 'उत्प्रेक्षा' को 'आर्थी' कहा जाता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए ।

सहोक्ति का उदाहरण—

सह दि अहेति । हे सुभग ! अर्थात् हे सुन्दर ! तुम्हारे वियोग में उद्विग्न रहने वाली उस नायिका के दण्डाकार (लम्बे-लम्बे) श्वास, ग्रीष्मकालीन दिनों तथा शीतकालीन रात्रियों के आने के साथ-साथ दीर्घ हो रहे हैं, अर्थात् दिन और रात जैसे बदलते हैं, वैसे श्वास बढ़ते हैं । आँसुओं की धाराएँ रत्नजटित कंकणों के साथ गिर रही हैं । अर्थात् शरीर की क्षीणता के कारण हाथों से कंकण जैसे गिरते हैं, वैसे बाष्प (आँसु) गिरते हैं, और तनुरूपी लता के साथ जीने की आशा दुर्बल होती जा रही है । अर्थात् जैसे तनु (शरीर) दुर्बल हो रहा है, वैसे ही जीने की आशा भी दुर्बल हो रही है ॥४९५॥

श्वासदण्डादीति । यहाँ पर 'श्वासदण्डादि' प्रथमान्तों में 'दीर्घत्वादि' का अन्वय साक्षात् हो रहा है । अतः यह 'शाब्द' है और 'दिवानिशादि' में तो 'सह' शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से अन्वय हो रहा है, इसलिए यहाँ 'सहोक्ति' अलंकार है ।

(२७ विनोक्तिरलंकारः)

(१७१) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

क्वचिदशोभनः क्वचिच्छोभनः ।

(२७ विनोक्ति अलंकार)

(सू० १७१) विनोक्तिरिति । विनोक्ति अलंकार का लक्षण दो प्रकार का है । जहाँ 'अन्य' के बिना 'अन्य' अर्थ शोभा नहीं देता (सत् न स्यात्) अथवा जहाँ 'अन्य' के बिना अन्य (अर्थ) अशोभन (असुन्दर) नहीं है—अर्थात् शोभा देता है, ऐसी दो प्रकार की 'विनोक्ति' होती है ।

अभिप्राय यह है कि कहीं अशोभन (सत् न स्यात्) और कहीं 'शोभन' हो, अर्थात् 'इतरः अशोभनः न किन्तु शोभनः' हो । 'केनचित् विना कस्यचित् अशोभनत्वं शोभनत्वं वा प्रतिपाद्यते स विनोक्तिनामालंकारः' इति । 'विनाभावस्य (विनाशब्दार्थस्य) उक्तिः विनोक्तिः'–यह अन्वर्थक संज्ञा है । यहाँ पर 'विना' शब्द का 'अर्थ' ही विवक्षित है । उस कारण 'नञ्-निर्-वि-अन्तरेण-ऋते-रहित-विकल' इत्यादि प्रयोग में भी यही 'विनोक्ति' समझनी चाहिए । अतः—

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥

यहाँ पर 'तुहिनांशुदर्शन' के बिना नलिनीजन्म का अशोभनत्व प्रतीत होने से 'विनोक्ति' अलंकार ही है । सूत्रकार के द्वारा प्रयुक्त 'सन् न' की व्याख्या वृत्तिकार ने की है—'अशोभनः' और 'नेतरः' की व्याख्या 'शोभनः' की है ।

विवरणकार का कहना है कि 'शोभनः' कथन का औचित्य रहने पर भी 'अशोभनो न'—यह अभावमुखेन कथन करने का अभिप्राय यह है कि वर्णनीय वस्तु का जो अशोभनत्व प्रतीत हो रहा है, वह 'परसन्निधिदोषविजृम्भित' ही है, वर्णनीय वस्तु का 'शोभनत्व' तो स्वाभाविक ही है—यह दर्पणकार का अभिप्राय है । यह अलंकार 'सहोक्ति' का प्रतिद्वन्द्वी है, अर्थात् सहोक्ति की प्रकृति के विरुद्ध प्रकृति का है । इसकी निष्पत्ति दो प्रकार से होती है—(१) 'यत्र अन्येन विना अन्यः न सन् (= अशोभनः)'—अर्थात् किसी एक विशिष्ट पदार्थ की संगति के बिना, दूसरा विशिष्ट पदार्थ, सुशोभित हुआ नहीं दिखाई देता । (२) 'यत्र अन्येन विना अन्यः न इतरः (= न असन् = न अशोभनः = शोभनः)'—अर्थात् एक विशिष्ट पदार्थ के अभाव में दूसरा विशिष्ट पदार्थ, सुन्दर (सुशोभित) दिखाई देता है । अभिप्राय यह है कि किसी एक पदार्थ का वियोग, किसी अन्य पदार्थ को कुरूपता अथवा सुरूपता का कारण जहाँ होता है, वहाँ 'विनोक्ति' अलंकार होता है ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ अशोभनबोधको विनोक्तिरलंकारः)

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥ ४९६ ॥

(२ शोभनबोधको विनोक्तिरलंकारः)

मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रगल्भः ।
अमृद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥ ४९७ ॥

रुय्यक, जगन्नाथ आदि आलंकारिकों का कहना है कि 'विनोक्ति' में 'बिना' शब्द का प्रयोग न करने पर भी उसका अभिप्राय (अर्थ) 'नञ्, निर्, वि, अन्तरेण, ऋते, रहित, विकल आदि' तदर्थक अन्य शब्दों से भी प्रकट किया जा सकता है ।

(१) क्रमेणेति । 'अशोभनत्व' का उदाहरण बता रहे हैं—

अरुचिरिति । 'निशा' (रात्रि) के बिना (दिन में) 'शशी' (चन्द्रमा) अशोभन है, अर्थात् कान्तिहीन हो जाता है और चन्द्रमा के बिना वह (रात्रि) भी अत्यन्त अन्धकारमयी रहती है, और उन दोनों (निशा और शशी) के बिना कामुकजनों के काम का विलास स्फुरित नहीं हो पाता है, अर्थात् प्रेमी और प्रेमिका की प्रणयलीला सुशोभित नहीं हो पाती ॥ ४९६ ॥

इस पद्य के द्वारा रात्रि के बिना चन्द्रमा और चन्द्रमा के बिना रात्रि की अशोभनीयता को बताया गया है । अतः अशोभनत्व बोधक विनोक्ति का यह उदाहरण है । उक्त उदाहरण में प्रयुक्त 'कामिनोः' पद में 'कामिनी च कामी च कामिनौ' में 'पुमान् स्त्रिया'—(सू० १।२।६७) सूत्र से 'एकशेष' हुआ है ।

शंका—यहाँ पर 'शशिसहिता एव निशा रमणीया' इस प्रकार 'सहोक्ति ध्वनि' को ही मानना उचित है, क्योंकि तत्कृत चमत्कार की ही प्रतीति होती है ।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान सरल है कि वाच्यार्थ कृत 'चमत्कार' का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

शोभनत्व का उदाहरण दे रहे हैं—

(२) मृगेति । यह राजकुमार, मृगलोचना के चिन्तन में (चक्कर में) सब-कुछ भूल जाता है । परन्तु उस मृगलोचना के न होने पर नानाविध व्यावहारिक प्रतिभा से युक्त हो जाता है । इसी प्रकार किसी दुष्ट मित्र के साथ महान् दुष्ट बन जाता है, परन्तु उस दुष्ट मित्र के न होने पर चन्द्रमा के समान निर्मल शुद्ध हृदय हो जाता है ॥ ४९५ ॥

(२८ परिवृत्तिरलंकारः)

(१७२) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः ॥११३॥

परिवृत्तिरलङ्कारः ।

उदाहरणम्—

इस पद्य में मृगलोचना तथा दुष्ट मित्र के न होने पर राजकुमार के शोभनत्व को बताया गया है । अतः शोभनत्व बोधक विनोक्ति का यह उदाहरण है ।

'बिना' शब्द के अभाव में अन्य पद की सहायता से भी 'विनोक्ति' हो सकती है । रुय्यक ने उसका उदाहरण भी दिया है—

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव न येन दृष्टा नलिनी प्रबुद्धा ॥'

पण्डितराज का कहना है कि इस उदाहरण में 'विनोक्ति' न होकर उसका ध्वनि है । क्योंकि इसमें 'बिना' का अर्थ, या 'अशोभनत्व' का बोध कराने वाला कोई शब्द नहीं है ।

'विना' रहित विनोक्ति का उदाहरण पण्डितराज ने दिया है—

'निर्गुणः शोभते नैव विपुलाडम्बरोऽपि ना ।
आपातरम्यपुष्पश्रीशोभितः शाल्मलिर्यथा' ॥

(२८ परिवृत्ति अलंकार)

(सू० १७२) परिवृत्तिरिति । समान अर्थों का समान अर्थों से असमान अर्थों का असमान अर्थों से जो विनिमय है (आदान-प्रदान है) उसे 'परिवृत्ति' अलंकार कहते हैं ॥ ११३ ॥

कारिकाकार ने 'परिवृत्ति' और 'विनिमय'—इन पर्याय शब्दों का एक साथ प्रयोग किया है, अतः 'पुनरुक्ति' जैसी प्रतीति होती है, उसके निरसनार्थ अथवा इन दोनों में कौन-सा 'लक्ष्य' शब्द है और कौन-सा 'लक्षण' शब्द है—इस सन्देह के निवारणार्थ 'परिवृत्तिरलंकारः' कहा गया है । एवं च 'परिवृत्तिः' यह 'लक्ष्य' है, और 'विनिमयः' पद, उस 'लक्ष्य' का 'लक्षण' है ।

'परिवृत्ति' अलंकार का उदाहरण—

(१ समेन समस्य, उत्तमेन न्यूनस्य च परिवर्तनम्)

लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं
मतं लास्यं दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम् ।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥ ४९८ ॥

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य ।

(२ न्यूनेनोत्तमस्य परिवर्त्तनम्)

नानाविधप्रहरणैर्नृप ! सम्प्रहारे
स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान् ।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं
निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥ ४९९ ॥

(१ सम से सम का और उत्तम से न्यून तक का विनिमय)

लतानामिति । यह पवन, पुष्पों से समृद्ध हुई लताओं को तो उनके अभीष्ट लास्य वर्धन की उन्हें शिक्षा (उपदेश) दे रहा है, और उसके बदले में उसकी अनुपम सुगन्ध को जी-भरकर (भृशं) उनसे ले रहा है । और ये लताएँ, विरही पथिकों की दृष्टि को सहसा अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं, और उसके बदले में उन पथिकों को मानसिकव्यथा (आधि) तथा शारीरिकव्यथा (व्याधि) चक्कर आना, रोना और मोह का सम्पर्क कराती है ॥४९८॥

अत्रेति । यहाँ पर पूर्वार्ध में 'समान' से 'समान' का और उत्तरार्ध में 'उत्तम' से 'न्यून' का विनिमय है । क्योंकि पूर्वार्ध में लताओं को 'लास्य' प्रिय रहने से उपादेय है और वायु को आमोद (सुगन्ध) प्रिय होने से उपादेय है, उसकारण 'सम' से 'सम' का विनिमय है । उत्तरार्ध में 'दृष्टि' अर्थात् आकर्षण तो उत्तम और प्रिय भी है, किन्तु उसके बदले में आधि-व्याधि आदि अप्रिय का अर्थात् 'न्यून' का विनिमय किया है । यह उत्तम से हीन चूर्ण के विनिमय का उदाहरण है ।

(२ अब न्यून से उत्तम के विनिमय का उदाहरण)

नानाविधेति । हे राजन् ! अखर्व दर्प से भरे हुए वीर शत्रु-सैनिकों ने तो आपसे जो पाया है, वह है—संग्राम में आपके भाषण-गर्जन करनेवाले अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार, और उन प्रहारों के बदले में उन्होंने आपको जो दिया है, वह है—'वियोगरहित प्रगाढ-आलिंगन करनेवाली यह वसुंधरा ॥४९९॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य ।

अत्रेति । यहाँ पर 'न्यून' (प्रहारों) से 'उत्तम' (वसुन्धरा) का विनिमय किया गया है । 'परि+वृद्+क्तिन्=करने पर परिवृत्ति शब्द निष्पन्न होता है । इसका अर्थ 'विनिमय' लेन-देन, अर्थात् एक 'वस्तु' देकर दूसरी वस्तु लेना । लेन-देन की वस्तु के 'तोल' को (सापेक्ष मूल्य को) ध्यान में रखकर उसके तीन भेदों की कल्पना की गई है । तथाहि—(१) 'दी हुई वस्तु' के बराबर 'ली हुई वस्तु' का मूल्य होना । (२) 'ली हुई बस्तु' से 'दी हुई वस्तु' का हलका रहना (कम मूल्य होना ।) (३) 'ली हुई वस्तु' से 'दी हुई वस्तु' का श्रेष्ठ रहना ।

उक्त तीन प्रकारों (भेदों) का नामकरण 'रुय्यक' ने क्रमशः 'समपरिवृत्ति' 'न्यून-परिवृत्ति', 'अधिकपरिवृत्ति' शब्दों से किया है । विनिमय करने में ग्राह्य बस्तु के वाचक शब्द में तृतीया से किया जाता है । तदनुसार ही कारिकाकार ने 'अर्थानां समासमैः विनिमयः' कहा है ।

प्रस्तुत उदाहरण के पूर्वार्धं में 'समपरिवृत्ति' है, क्योंकि उत्कृष्ट का उत्कष्ट से विनिमय है । उसी तरह निकृष्ट का निकृष्ट से भी विनिमय हो सकता है । इसका उदाहरण (अर्थात् समपरिवृत्ति) पण्डितराज ने दिया है—

'अस्थिमालामयीं दत्वा मुण्डमालामयीं तनुम् ।
गृह्णतां त्वपुरःस्थानां को लाभः स्मरभासन ॥'

उग्रतर तप करके अपने शरीर को अस्थिचर्मस्थिति में पहुँचाकर शिवस्वरूप प्राप्ति करने वाले योगियों का चमत्कारपूर्ण वर्णन है ।

सत्यव्रत सिंह ने अपनी हिन्दी व्याख्या में लिखा है कि 'जो विनिमय है, वह त्याग और आदान से सम्बद्ध वस्तुओं में परस्पर औपम्य का अवगमक है ।'––(पृ० ४०३) अपने उक्त कथन के समर्थन में साहित्यदर्पण की अपनी व्याख्या में 'जयरथ' के मत का सहारा लिया है ।

किन्तु प्रस्तुत अलंकार के संदर्भ में जयरथ के कथन को देखने पर स्पष्ट होता है कि उसने 'त्यज्यमान-आदीयमान' वस्तुओं में जो औपम्य बताया है, वह केवल 'सम-परिवृत्ति' में ही बताया है, 'विषमपरिवृत्ति' में नहीं । 'विषमपरिवृत्ति' में औपम्य के प्रतिकूल परिस्थिति रहती है । क्योंकि उसमें 'त्यज्यमान-आदीयमान' वस्तुओं में से एक उत्कृष्ट तो दूसरी निकृष्ट रहा करती है ।

मम्मट के उदाहरणों को ध्यान से देखने पर श्रीसत्यव्रत सिंह जी जैसा 'भ्रम' किसी को नहीं हुआ । क्योंकि 'दृष्टि' और 'आधि-व्याधि', 'प्रहार' और 'पृथ्वी' इनमें कौन-सा 'औपम्य' प्रतीत हो रहा है ? जयरथ के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझने में श्रीसत्यव्रत सिंह जी सफल नहीं हुए हैं ।

(२९ भाविकाऽलंकारः)

(१७३) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद्भाविकम् ।

(२९ भाविक अलंकार)

(सू० १७३) प्रत्यक्षा इवेति । भूताः पूर्वकालिकाः, भाविनः उत्तरकालिकाश्च, भावाः पदार्थाः (वस्तूनि) कविना यत् प्रत्यक्षा इव क्रियन्ते प्रत्यक्षतया अभिधीयन्ते, अलौकिकप्रत्यक्षविषया अपि लौकिकप्रत्यक्षविषयतया अभिधीयन्ते इत्यर्थः ।

अर्थात् अतीत (भूत=बीते हुए ऐतिहासिक) और भावी (भविष्यत् काल में होने वाले) भावों (वस्तुओं) को भी जब 'भावक (भावनाधीन) कवि' के द्वारा प्रत्यक्षवत् कराने का प्रयत्न किया जाता है, तब उसे 'भाविक अलंकार' कहते हैं। अर्थात् भूत अतीत) और भावी (भविष्यत्) काल में होनेवाले भावों (वस्तुओं) को ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष के द्वारा जानने योग्य रहने पर भी लौकिक प्रत्यक्ष की तरह कर देता है, अर्थात् अलौकिक प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष)के विषयों (पदार्थों) को लौकिक प्रत्यक्ष के विषय के रूप में कविजन जब कहते हैं, तब वहाँ 'भाविक अलंकार' माना जाता है ।

कारिकाकार के द्वारा प्रयुक्त 'भूतभाविनः' पद में 'भूताश्च ते भाविनश्च' ऐसा 'द्वन्द्व' समास है, 'कर्मधारयसमास' नहीं है ।

'भाव' अर्थात् भूत-भविष्यत् को भी प्रत्यक्ष की तरह दिखाने का कवि का अभिप्राय जहाँ हो वहाँ उसे भाविक अलंकार के नाम से कहते हैं ।

इस अलंकार के दो प्रकार हैं । (१) भूतकालिक पदार्थ को प्रत्यक्ष पदार्थ के रूप में बताना । (२) भावी (आगे होनेवाले भविष्यत्कालिक) पदार्थ का वर्णन वर्तमानकालिक प्रत्यक्षविषयीभूत पदार्थ के रूप में करना ।

'भाव' का अर्थ—कवि का अभिप्राय होने से इसे 'भाविक' नाम से कहा जाता है । अर्थात् कवि, 'भूत' एवं 'भावी' पदार्थों को वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के रूप में कहना चाहता है । इसे 'भ्रम' नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उत्तरक्षण में उसका 'बोध' नहीं हो रहा है । 'भूतपदार्थ'—भूतपदार्थ के रूप में (अपने रूप में) ही है । इसे 'स्वभावोक्ति' भी नहीं कह सकते । क्योंकि 'स्वभावोक्ति' में वस्तुस्वभाव के अनुगत क्रिया एवं रूप तथा अवयवसंस्थान का वर्णन रहता है, किन्तु यहाँ भाविक अलंकार में कविनिबद्धवक्ता की 'इच्छा' ही प्रधान होती है । यहाँ वस्तुस्वभाव की अधीनता नहीं है ।

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः। भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम्।
उदाहरणम्—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥ ५०० ॥

आद्ये भूतस्य द्वितीये भाविनो दर्शनम्।

अभिप्राय यह है कि भूत अथवा भावी वस्तुओं का प्रत्यक्ष स्वयं कवि को अथवा कविनिबद्ध (कविनिर्मित) व्यक्ति को हुआ करता है, और उनके द्वारा उनसे समरस होनेवाले काव्यरसिक को भी अन्ततोगत्वा उस पदार्थ का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष वस्तु के प्रत्यक्ष होने में कवि का रसिकव्यक्ति में संक्रान्त होनेवाले 'भाव' को ही कारण मानना होगा। अतएव प्रस्तुत अलंकार को 'भाविक'—यह संज्ञा दी गई है। 'भाव' शब्द से यहाँ 'कवि' का अभिप्राय (विशेष्य उद्देश) समझना चाहिए। 'अप्रत्यक्ष पदार्थ' का भी 'प्रत्यक्षवत्' प्रतीत होना ही प्रस्तुत अलंकार का 'प्राण' है।

प्रस्तुत अलंकार का उदाहरण, अनलंकृत-प्रिया को उद्देश कर उसका प्रियतम उसे कह रहा है—

आसीदञ्जनमिति। तेरे नेत्रों का काजल इस समय मिट गया है, तो भी तेरे नेत्र, काजल लगे हुए (कजरारे) ही मुझे प्रतीत हो रहे हैं, और तुमने अभी अपने शरीर को आभूषणों से विभूषित नहीं किया है, फिर भी आभूषणों को पहिनी हुई-सी प्रतीत हो रही हो। हाल ही नहाकर आई हुई, आभूषण से बिना सजी-धजी किसी रमणी का यह वर्णन है।

'आद्ये' इति। इस पद्य के पूर्वार्ध में आँखों (नेत्रों) में पहिले लगाये हुए काजल (अंजन) जो अब मिट गया है अर्थात् भूतकालीन काजल (अंजन) का द्वितीये इति। और उत्तरार्ध में शरीर पर धारण किये जानेवाले अर्थात् भविष्यकालीन आभूषणों का प्रत्यक्ष दर्शन मानो वक्ता को हो रहा हो—ऐसा वर्णन करने के कारण इसे भाविक अलंकार कहा जाता है। भाविक अलंकार के प्रत्येक उदाहरण में भूत और भावी दोनों वस्तुओं का परामर्श करना आवश्यक नहीं है। प्रस्तुत उदाहृत श्लोक में संक्षेप की दृष्टि से 'भाविक' के दोनों प्रकारों को बताया गया है। भाविक के अगले उदाहरण में केवल भूतकालीन पदार्थ का प्रत्यक्षवत् वर्णन दृष्टिगोचर हो रहा है—'भाविकं भूत-भाव्यर्थ साक्षात्कारस्य वर्णनम्' कहा गया है। 'अहं विलोकयेऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः'—(कुवलयानन्द)। 'आसीदञ्जनः' यह उदाहरण उद्भट के दिये गये अगले उदाहरण पर आधारित है—

करोषि पीडां प्रीतिं च निरञ्जनविलोचना ।
मूर्त्यानया समुद्वीक्ष्य नानाभरणशोभया ॥—(उद्भट) ।

'भाविक' के विषय में अलंकारशास्त्रियों के अनेक मतभेद है। भामह[1] और दण्डी[2] ने 'भाविक' अलंकार को न मानकर उसे 'प्रबन्धगुण' माना है। तथा 'भट्टी ने' भी अपने 'रावणवध' काव्य के 'प्रसन्नकाण्ड' से संबंधित सम्पूर्ण बारहवें सर्ग की रचना 'भाविक' के उदाहरण रूप में की है। और 'भाविक' को 'प्रबन्धगुण' के रूप में ही माना है। उसके आगे होने वाले आलंकारिकों ने 'भाविक' को 'प्रबन्धगुण' न मानकर उसे 'अलंकार' माना है।

'भाविक' अलंकार की अन्य अलंकारों से भिन्नता—

यह 'भाविक' अलंकार, 'अतिशयोक्ति' अलंकार से भिन्न है। क्योंकि अतिशयोक्ति की तरह 'एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में अध्यवसान (निश्चय), इसमें नहीं रहता।

उसी तरह 'भाविक' अलंकार 'उत्प्रेक्षा' से भी भिन्न है। क्योंकि वह, गम्य (उत्प्रेक्षा) नहीं है, अर्थात् 'इव' आदि 'उत्प्रेक्षा' वाचक शब्द इसमें नहीं रहते।

'भाविक' में अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष के रूप में 'अध्यवसान' नहीं है। काव्यार्थ जानने वालों की 'भावना' के बल पर अप्रत्यक्ष अर्थ प्रत्यक्षतया अनुभूत होता है।

'भाविक' अलंकार 'स्वभावोक्ति' से भी भिन्न है। क्योंकि स्वभावोक्ति में सर्वलोक-परिचित वस्तु के 'सूक्ष्म' धर्मों का वर्णन रहता है। रत्नाकर ने कहा है—

'सूक्ष्मस्वभावकथनेन विनापि साक्षादर्थप्रतीतिरिह केवलभाविकांगम् ।
शुद्धः समग्रजनतानुभवप्रसिद्धसम्यक् स्वभावभणितौ तु भवेत् स्वभावः ॥'

स्वभावोक्ति में कवि और श्रोता दोनों के 'हृदयसंवाद' की संभावना रहती है। 'हृदय-संवाद'—कवि के द्वारा किये गये विशिष्ट वस्तुवर्णन को पढ़ने पर उसकी सत्यता की

१. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता ।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥ (भामह—३।५३, ५४)

२. तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धिसंस्थितः ॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तु पर्वणाम् ।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गंभीरस्यापि वस्तुनः ।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः ॥

(३० काव्यलिङ्गारऽलंकारः)

(१७४) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ ११४ ॥

प्रतीति होना है। जैसे 'पश्चादङ्घ्री प्रसार्य'—इस अश्वबर्णन को पढ़ने पर बाचक के मन में यह प्रतीति होती है कि 'अश्व' सचमुच ऐसे ही क्रिया करता है। शोभाकर ने इस 'प्रतीति' को 'वस्तुसंवाद के नाम से कहा है। यह परिस्थिति 'भाविक' में नहीं है। क्योंकि उसमें लोकोत्तर, अत्यद्‌भुत वस्तु का वर्णन रहता है, उसकारण रसिक को उस वस्तु का प्रत्यक्ष, कवि के चक्षु से ही करना पड़ता है।

'भाविक' में शब्दों की अनाकुलता रहने पर भी उसे (भाविक को) 'प्रसादगुण' नहीं कह सकते। 'प्रसादगुण' का कार्य—'अर्थ' की तत्काल प्रतीति करा देने का है, वह अर्थ, चाहे 'स्फुट' हो या 'अस्फुट' हो। किन्तु 'भाविक' में उसके विपरीत स्थिति है, इसमें तो 'अर्थ' की प्रतीति 'स्फुट' हो रहती है। इसकारण 'भाविक' को 'प्रसाद-गुण' से भिन्न माना जाता है।

(३० काव्यलिङ्ग अलङ्कार)

(सू० १७४) काव्यलिङ्गमिति। वाक्यार्थ अथवा पदार्थ के रूप में 'हेतु' को जहाँ बताया जाता है, वहाँ 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है।

व्याकरण शास्त्र ने 'हेतु' को बताने के लिए 'हेतौ' सूत्र से 'तृतीया विभक्ति' का अथवा 'पञ्चमी विभक्ति' का अथवा 'हेतु' आदि पदों का अथवा 'यत्', 'तत्' आदि अव्ययों का प्रयोग करने के लिए कहा है। इसी प्रकार लोकव्यवहार में भी 'हेतु' का निर्देश करने के लिए अनेक विध संकेत किये जाते हैं। किन्तु काव्य में यह सब-कुछ न रहने पर भी केवल 'पदार्थ' या 'वाक्यार्थ' ही जब 'हेतु' के रूप में रहता है तब 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार निष्पन्न होता है। यहाँ पर 'हेतु', स्वतः अनुपपन्न होने वाले अर्थ का उपपादक होता है। इस प्रकार के 'हेतु' का कथन किया जाना ही 'काव्य-लिङ्ग' अलङ्कार है। 'वाक्यार्थत्वेन पदार्थत्वेन वा हेत्वभिधानं काव्यलिङ्गम्'। प्रदीप तथा उद्योत में भी कहा है—'अत्र विवक्षितविवेकेन हेतुवचनं काव्यलिङ्गम्'। 'पद' के भी दो भेद हैं—एक और अनेक। एवं च 'हेतोर्वाक्यार्थता', 'अनेकपदार्थता' और 'एकपदार्थता'—इस प्रकार से 'काव्यलिङ्ग' के तीन प्रकार कहे गये हैं।

निष्कर्ष यह है कि वाक्यार्थ के रूप में अनेक पदार्थों के रूप में, अथवा एक पदार्थ के रूप में 'हेतु' को जब निर्दिष्ट किया जाता है, तब काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि 'काव्याभिमतं लिङ्गं काव्यलिङ्गम्'। तर्कशास्त्राभिमत 'लिङ्ग' के व्यावर्तनार्थ 'काव्य' शब्द का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। 'लिङ्ग' = हेतु। महान् नैयायिक गोबर्धन ने कहा भी है—'न्यायोऽनुमानं हेतुश्च लिङ्गं युक्तिः समर्थकः'। अग्निपुराण में भी 'हेतु' का स्वरूप बताया गया है—

१"सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपदिश्यते ॥''

उपर्युक्त सूत्र में अलङ्कार का सामान्य लक्षण 'चमत्कृतिहेतुत्व' को गर्भित समझना ही चाहिए। उसके फलस्वरूप 'दण्डेन घटः' में चमत्कार न होने से उसे 'काव्यलिङ्ग' कहने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता। इस काव्यलिङ्ग अलङ्कार को ही 'हेत्वलङ्कार' भी कहते हैं। 'हेतुगर्भत्वात् काव्यलिङ्गस्यापि हेतुशब्देन व्यवहारो-भवति।' अतएव काव्यप्रकाशकार स्वयं ही 'कारणमालालङ्कार' की वृत्ति में कहेंगे—'पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः (हेत्वलङ्कारः)'' इति। तथा इसी को 'काव्यहेतु' शब्द से भी कहते हैं। इस 'काव्यहेतु' में 'कारकहेतु' को बताया जाता है। और 'अनुमानालङ्कार' में 'ज्ञापकहेतु' को बताया जाता है, यही दोनों में भेद है, यह कमलाकरभट्ट का कहना है। जो वस्तु, जिस वस्तु को उत्पन्न करती है, उसे 'कारक-हेतु' कहते है। जैसे 'मिट्टी' अथवा 'कुलाल', 'घट' के 'कारकहेतु' कहे जाते हैं। क्योंकि मिट्टी अथवा कुलाल के अभाव में 'घट' के अस्तित्व का सम्भव कदापि नहीं हो सकता। तथा अस्तित्व में रहने वाली वस्तु का ज्ञान जिस वस्तु से होता है, उसे 'ज्ञापकहेतु' कहते हैं। जैसे—किसी जगह से निकलते हुए 'धूम' को देखते ही वहाँ पर विद्यमान (स्थित) किन्तु प्रत्यक्षतया न दिखाई देने वाले 'अग्नि' का ज्ञान हो जाता है। अतः 'धूम' को अग्नि का ज्ञापकहेतु कहा जाता है। किन्तु धूम के द्वारा 'ज्ञाप्य' रहने वाला 'अग्नि', उस धूम का 'कारकहेतु' कहलाता है। तथापि प्रत्येक 'ज्ञापकहेतु', अपने 'ज्ञाप्य' का 'कार्य' ही हो,—यह नियम नहीं है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रुय्यक का अनुसरण कर 'हेतु' का तीसरा प्रकार भी बताया है और उसे 'समर्थकहेतु' का नाम दिया है। 'कारक (निष्पादक), ज्ञापक और समर्थक'—ये तीन हेतु, क्रम से 'काव्यलिङ्ग', 'अनुमान', 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कारों में हुआ करते हैं—यह विश्वनाथ का कहना है। समर्थक हेतु को 'कारक' तथा 'ज्ञापक' हेतुओं से भिन्न मानने का कारण यह है कि कारक-ज्ञापक हेतुओं के प्रयोजनों से समर्थकहेतु का प्रयोजन (फल) भिन्न है। अविद्यमान वस्तु को अस्तित्व में लाना 'कारकहेतु' का प्रयोजन (फल) है। अज्ञात रहने वाली विद्यमान वस्तु का ज्ञान करा देना 'ज्ञापकहेतु' का प्रयोजन (फल) है, और वस्तु के विद्यमान एवं ज्ञात रहने पर भी मन को दृढतया प्रभावित करा देना 'समर्थकहेतु' का प्रयोजन

१. अत्र "स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात्''—(सू० ८।३।६१) इति पाणिनिसूत्रेण 'अभ्यासणः परस्य स्तौतिण्यन्तयोरेव सस्य षत्वं भवति' इत्यर्थकेन ण्यन्तत्वात् षत्वम्। 'सिसाधयिषिते'ति तु अपपाठ एवेति बोध्यम्।

(प्रथमः प्रकारः)

वाक्यार्थता यथा—

वपुः प्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥ ५०१ ॥

(फल) है । अर्थात् 'असतः सत्त्वापादकः कारको हेतुः । सत एव अज्ञातस्य ज्ञातत्वापादको ज्ञापको हेतुः । सतः ज्ञातस्य च अप्ररूढस्य (अदृढस्य वा) प्ररूढत्वापादकः (दृढत्वापादको वा) समर्थको हेतुः' ।

'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार का अन्य अलङ्कारों से भेद—

साभिप्रायपदार्थविन्यासात्मक 'परिकर' अलङ्कार से 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार को भिन्न समझना चाहिए । क्योंकि 'परिकर' अलङ्कार में पदार्थ और वाक्यार्थ के बल पर प्रतीयमान अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ), 'वाच्योपकारक' (वाक्यार्थ हेतु) होता है । किन्तु 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार में 'पदार्थ' अथवा 'वाक्यार्थ' दोनों 'हेतु' होते हैं—यह सुधासागरकार ने बताया है । एवं च 'काव्यलिङ्गे पदार्थो वाक्यार्थो वा हेतुः, परिकरे तु पदार्थबलाद्वाक्यार्थबलाद् वा प्रतीयमानोऽर्थो हेतुरिति परस्परं भेदः' ।

'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार से भी 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार भिन्न है । क्योंकि यहाँ पर 'सामान्य' का विशेष से अथवा 'विशेष' का सामान्य से समर्थन किया जाता है । किन्तु 'काव्यलिङ्ग' में 'कारण' से कार्य का अथवा 'कार्य' से कारण का समर्थन किया जाता है । यही दोनों में भेद है । किञ्च अर्थान्तरन्यास में तटस्थतया (परस्पर अनन्वित) उपनिबद्ध का 'हेतु' में पर्यवसान होता है, किन्तु काव्यलिङ्ग में साक्षात् ही 'हेतु, विभक्ति, वच्छब्द' आदि से हेतुत्वेन (हेतु के रूप में) उपनिबद्ध किया जाता है ।

वाक्यार्थता यथेति । वाक्यार्थ रूप 'हेतु' के रहने पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार का शिखरिणी छन्द में उदाहरण बता रहे हैं, जैसे —

(१) प्रथम प्रकार—वपुरिति । हे देवाधिदेव महादेव ! त्रिपुरारे ! वपुःप्रादुर्भावात्—इस शरीर (देह) के उत्पन्न होने से यह अनुमान हो रहा है कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्रायः कभी प्रणाम नहीं किया, और अब इस वर्तमान जन्म में आपको प्रणाम करते-करते मैं 'मुक्त' हो जाऊँगा, उस कारण 'शरीर' के न रहने से आगे भी कभी आपको प्रणाम नहीं कर सकूँगा । अतः आप मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा करें ॥ ५०१ ॥

यहाँ पर द्वितीय और तृतीय चरण में वर्णित पूर्वजन्म तथा भाविजन्म का 'अवन्दन' (प्रणाम का न हो पाना) ही अपराध (पाप) का 'कारकहेतु' है। इस 'कारकहेतु' (कारण) को दो वाक्यों के द्वारा बताया गया है, इसलिए यहाँ 'वाक्यार्थगत काव्यलिंग अलंकार है।

उद्योतकार का कहना है कि प्रस्तुत पद्य के आरंभ में निर्दिष्ट 'वपुःप्रादुर्भावात्'— यह हेतु, पूर्वजन्म में न किये गये 'नमन' (अनमन) को बता रहा है। उसकारण यह पञ्चमीनिर्दिष्टहेतु 'ज्ञापकहेतु' है। अतः इस अंश में 'काव्यलिंग' अलंकार नहीं है। क्योंकि 'काव्यलिंग' में 'हेतु' को कारक एवं 'आर्थ' होना आवश्यक है। अतः इस अंश में 'अनुमान' अलंकार है। क्योंकि यहाँ पर 'अनुमान' के मुख्य अवयवों का— अर्थात् 'पक्ष' (अहम्), 'साध्य' (पूर्वजन्म में शिव को अनमन), और 'हेतु' (वपुः-प्रादुर्भाव)—का स्पष्टतया निर्देश किया गया है।

यहाँ पर 'अपराध' का अर्थ—'पातक' है। अन्यथा 'अनमन' और 'अपराध' में 'कार्य-कारणभाव' नही बन पायेगा। क्योंकि 'अनमन' ही तो वस्तुतः 'अपराध' है। यह 'अनमन' हेतु 'कारक' नहीं है। और काव्यलिंग में तो 'हेतु' कारक होना चाहिए, यह मम्मट का मत है।

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने 'काव्यलिंग' में भी 'ज्ञापकहेतु' को ही माना है। इनके मत के अनुसार 'अपराध' का अर्थ 'पातक' करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि 'अनमन' और 'अपराध' दोनों में 'व्याप्य-व्यापकभाव' है; अर्थात् जहाँ 'अनमन' रहता है, वहाँ 'अपराध' का रहना निश्चित ही है—इत्याकारक 'व्याप्ति' के रहने से 'अनमन' को 'अपराध' का 'ज्ञापकहेतु' मानने में कोई अड़चन नहीं है। क्योंकि 'अनमन' को अपराध मानने पर भी 'अपराध' का अर्थ 'अनमन' है—यह नहीं कहा जायगा। अपराध का संभव अनेक प्रकारों से हो सकता है। उनमें से 'अनमन' भी केवल एक प्रकार है।

उसकारण 'धूम और अग्नि' में 'व्याप्य-व्यापकभाव' होने से जिस प्रकार 'ज्ञाप्य-कार्यरूप अग्नि' का ज्ञापकहेतु 'धूम' माना जाता है, उसीप्रकार यहाँ पर भी 'ज्ञाप्य-अपराध' का ज्ञापकहेतु 'अनमन' को माना जा सकता है। इस पक्ष में 'काव्यलिंग' और 'अनुमान' इन दो अलंकारों में भेद इसप्रकार समझा जायगा कि 'काव्यलिंग' में 'हेतु' छिपा हुआ (आर्थ) रहता है, उसका 'साध्य' के साथ समन्वय करने का

(द्वितीयः प्रकारः)

अनेकपदार्थता यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥ ५०२ ॥

कार्य, कवि ने 'श्रोता' को सौंप दिया है। किन्तु 'अनुमान' में 'हेतु' और 'साम्य' की व्याप्ति का स्पष्टतया प्रतिपादन करते हुए उन दोनों का 'पक्ष' के साथ सम्बन्ध, कवि स्वयं प्रदर्शित करता है। अर्थात् कवि स्वयं को हुई 'अनुमिति' को काव्य में पक्ष, साध्यहेतु के रूप में रखकर श्रोताओं को बताता है। किन्तु काव्यलिंग में कवि के द्वारा छिपाये हुए (गुप्त) हेतु की अनुमिति श्रोता स्वयं कर लेता है। अर्थात् काव्यलिंग में श्रोता को 'स्वार्थाऽनुमिति' होती है।[1] किन्तु 'अनुमान' में श्रोता की अनुमिति, 'पदार्थानुमिति' हुआ करती है।[2]

(२) द्वितीय प्रकार—अनेक पदार्थरूपहेतु होने पर 'काव्यलिंग' का उदाहरण दे

---

१. अनुमानं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथाहि—स्वयमेव भूयोदर्शनेन 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः' इति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः, तद्गते च अग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति "यत्र धूमः, तत्र अग्निः" इति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव 'लिंगपरामर्शः' इत्युच्यते। तस्मात् 'पर्वतः वह्निमान्' इति ज्ञानम्—अनुमितिः—उत्पद्यते। तदेतत् स्वार्थानुमानम्।

२. यत्तु स्वयं धूमात् अग्निम् अनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते, तत् परार्थानुमानम्। यथा—पर्वतः वह्निमान्, धूमवत्त्वात्। यो यो धूमवान् स-स वह्निमान्, यथा महानसः। तथा (=धूमवान्) च अयम् (=पर्वतः)। तस्मात् तथा (=वह्निमान्) इति।' इस पदार्थानुमान के जिन 'पाँच अवयवों' का उल्लेख हुआ है, वे 'प्रतिज्ञा (पर्वतः वह्निमान्), हेतु (धूमवत्त्वात्), उदाहरण (यो-यो धूमवान्…महानसः), उपनय (तथा च अयम्), निगमन (तस्मात् तथा)—ये हैं। इनमें से अन्तिम दो अवयव, क्रमशः हेतु और प्रतिज्ञारूप अवयवों में गर्भित रहने से कुछ लोग पदार्थानुमान में तीन अवयवों को ही मानते हैं।

(तृतीयः प्रकारः)

एकपदार्थता यथा—

रहे हैं। 'मालतीमाधव' नामक नाटक के पाँचवे अंक का 'नर्कुटक' (नर्दटक) छन्द में रचित पद्य है। चण्डी के सामने बली चढ़ाने हेतु मालती का बध करने के लिए उद्यत हुए अघोरघण्ट से 'माधव' कह रहा है—

प्रणयीति। मालती पर हृदय से प्रेम करनेवाली प्रेम में बिभोर हुई सहेलियों (सखियों) के द्वारा सविलास परिहास-रस में अर्थात् हंसी-मजाक-दिल्लगी में प्रक्षिप्त सुकुमार शिरीषपुष्प (मनोहर कपीतन पुष्प) के आघात से भी जो म्लान (व्याकुल) हो जाती है, उस मालती के शरीर पर उसके वधार्थ शस्त्र उठानेवाले तेरे शिर पर अकालमृत्यु के विधायक यमदण्ड के तुल्य यह मेरा भुजदण्ड (हाथ) अचानक गिरे ॥ ५०२ ॥

यहाँ पर 'वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतः'—ये अनेक पद, 'भुजपात' में 'हेतु' हैं। इनमें मुख्य क्रिया का अभाव है, उसकारण इस पदसमुदाय को 'वाक्य' नहीं कह सकते तथा 'एक पद' भी नहीं कह सकते। अतः इसे अनेकपद अथवा 'खण्डवाक्य' कह सकते हैं। इसी 'खण्डवाक्य' के लिए यहाँ पर 'अनेकपदार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिप्राय यह है कि 'एकतिङ्वाक्यम्'—इस वैयाकरणों के मत के अनुसार 'वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः'—उसका वध करने के लिए शस्त्र का उपक्षेपण करनेवाले—यह 'पदसमुदाय' केवल विशेषणीभूत अर्थ का उपस्थापक है और 'तव'—इस विशेष्य के प्रति साकांक्ष है। इसलिए इसे 'वाक्य' नहीं कह सकते।

दूसरा मत है—'पदसमूहो वाक्यम्'। इस मत के अनुसार इसे हेतु की वाक्यार्थता का उदाहरण होना चाहिए था, किन्तु ग्रन्थकार मम्मट के मतानुसार यह पूर्ण वाक्य नहीं है। क्योंकि पूर्णवाक्य वही कहलाता है, जहाँ अर्थ की समाप्ति होती है। 'पदसमूहो वाक्यं स्याद् यत्र चार्थसमाप्तितः'। मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने भी यही कहा है—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्।' अतः यहाँ पर 'अर्थ' की पूर्णता (समाप्ति) न होने से इसे वाक्य नहीं कह सकते। यह तो अनेकपदार्थरूप 'हेतु' का उदाहरण है। हेतु की वाक्यरूपता का उदाहरण (श्लो० सं० ४०१) पूर्व दे चुके हैं।

(३) तृतीयप्रकार—एकपदार्थतेति। 'हेतु' जब एकपदार्थरूप हो (अर्थात् जहाँ एक ही पदार्थ 'हेतु' हो) तब 'काव्यलिंग' का उदाहरण भगवान् शिव के अनुग्रह से हुए तत्त्वज्ञानी की यह उक्ति है। यथेति। जैसे—

भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभं
हा सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालंकृतिम् ।
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे विधीयामहे ॥ ५०३ ॥

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनम्, भुजपाते शस्त्रोपक्षेपः महामोहे सुखालोकोच्छेदित्वं च यथाक्रममुक्तरूपो हेतुः ।

भस्मोद्धूलनेति । भस्म से किये गये हे विलेपन ! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्षमाले ! तुम्हें सुख प्राप्त हो, पार्वतीपति शिव के आलय की शोभाभूत सीढ़ियों ! हाय ! आज तुम भी मुझसे हमेशा के लिए छूटी जा रही हो, क्योंकि हमारी आराधना से प्रसन्न हुए भगवान् शिवजी आज हमको आप सबकी (तुम्हारी) सेवा से जनित आनन्द के अनुभव रूप प्रकाश को नष्ट कर देनेवाले 'मोक्ष' नामक महान् अन्धकार (महामोह) में डाल रहे हैं । उसकारण हम इस समय आप सभी से बिदा (अनुज्ञा) माँग रहे हैं ॥ ५०३ ॥

यहाँ पर 'मोक्ष' को 'महामोह' कहने में 'कारण' (हेतु) यह है कि 'सपर्या-सुखालोकोच्छेदिनि'—इस समस्त पद को प्रयुक्त कर यह सूचित किया है कि प्रकाश और अंधकार—ये दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव के पदार्थ हैं । उसकारण 'सपर्यासुख' को 'प्रकाश' कहने पर, उससे वंचित करनेवाले 'मोक्ष' को 'महामोह' (निबिड अंधकार) कहना उचित ही है ।

प्रस्तुत उदाहरण में 'सपर्यापदविधि' (२।४।१) इस नियम के अनुसार 'युष्मत्सपर्या-सुखलोकोच्छेदिनि' इस एक ही समस्त पद के अर्थ के द्वारा 'हेतु' को बताया गया है । इसलिए यहाँ 'एकपदार्थगत' काव्यलिंग अलंकार है ।

उक्त पद्य में प्रस्तुत अलंकार के अतिरिक्त 'परम्परितरूपक अलंकार' भी दिखाई दे रहा है । क्योंकि 'सुख-आलोक'—इस रूपक पर 'मोक्ष-महामोह'—यह रूपक आधारित है । आश्चर्य की बात तो यह है कि यह 'रूपक' यहाँ पर 'काव्यलिंग' के साथ 'समव्याप्त' है, अर्थात् जिस संदर्भ में 'काव्यलिंग' है, उसी संदर्भ में 'रूपक' है । तथापि इन दोनों में से कोई भी अलंकार एक-दूसरे पर अवलम्बित नहीं है । उसकारण इन दोनों की यहाँ पर 'संसृष्टि' कही जाय या 'संकर' कहा जाय—यह निर्णय नहीं हो पा रहा है । इस चर्चा से 'एकपदार्थगत काव्यलिंग'—इस प्रकार विशेष में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होने की संभावना नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत चर्चा का विषय 'विशिष्ट उदाहरण' तक ही सीमित है, अलंकार प्रकार के विषय में इसका कोई संबंध नहीं है ।

क्योंकि विश्वनाथ के दिये हुए एक पदार्थगत काव्यलिंग के उदाहरण में प्रस्तुत चर्चा की उपस्थिति नहीं हो रही है।

भामह ने 'काव्यलिंग' न कहकर उसे 'हेतु' शब्द से कहा है। अर्थात् 'काव्यलिंग' अलंकार उसे स्वीकार नहीं है। दण्डी ने 'हेतु' के नाम से 'काव्यलिंग' का सविस्तर विवेचन किया है। दण्डी का 'कारकहेतु' प्रतिपादक 'हेतु' अलंकार ही मम्मट का 'काव्यलिंग' अलंकार है।

उद्भट ने 'काव्यलिंग' अलंकार बताया है—

'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते ॥' (उद्भट ६।७)।

इसके लक्षण से प्रतीत होता है कि उत्तरकालिक आलंकारिकों ने उक्त अलंकार को 'अनुमान' अलंकार के रूप में स्वीकार किया हो। काव्यलिंग और 'अनुमान' इन दोनों अलंकारों को प्रथमतः मम्मट और रुय्यक ने ही बताया है। शोभाकर ने भी उक्त दोनों अलङ्कारों को बताया है। विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित ने 'काव्यलिङ्ग, अनुमान, हेतु'—इन तीनों अलङ्कारों को बताया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'काव्यलिङ्ग, अनुमान' इन दो को ही बताया है। तथापि काव्यलिङ्ग के विवेचन के अन्त में उन्होंने कहा कि 'दो पदार्थों के कार्य-कारणभाव' के कथन में कोई चमत्कार न होने से 'काव्यलिङ्ग' नामक कोई अलङ्कार ही नहीं है। आलङ्कारिक लोग जिसे 'काव्यलिङ्ग' कहा करते हैं, वह वस्तुतः 'निर्हेतुत्व' नामक 'दोष' का अभाव मात्र है—किसी सन्दर्भ में निर्दिष्ट घटना के वर्णन में 'कारण' की अपेक्षा रहने पर भी यदि उसे निर्दिष्ट न किया जाय तो 'निर्हेतु' दोष समझा जाता है। इस दोष का प्रतिपादन मम्मट भट्ट ने सप्तम उल्लास में किया है।

उक्त उदाहरण के 'भद्रमस्तु भवते' में 'भवते' यह चतुर्थी 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः'—(पा० सू० २।३।७३) सूत्र से की गई है। 'हा सोपानपरम्पराम्' में 'हा' शब्द के योग में षष्ठ्यर्थ (सम्बन्ध) में द्वितीया विभक्ति 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि'—वार्तिक से की गई है।

उक्त उदाहरण की व्याख्या सुधासागरकार भीमसेन ने इस प्रकार की है—"सोपानपरम्परां हा धिक् सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य अविद्याकल्पितत्वादिति भावः। अद्य आराधनतोषितेन विभुना शिवेन आत्माऽभिन्नेनेति भावः। पुष्पत्सपर्यासुखालोकोच्छेदिनि भवत्सेवानन्दानुभवस्योच्छेदकारिणि मोक्षनामनि अखण्डानन्दैकरसे महामोहे नानात्वज्ञानवर्जिते निधौ यामहे निपात्यामहे। नेदानीं किञ्चिदभिलषितमुर्वरितमस्तीति भावः।"

(३१ पर्यायोक्ताऽलंकारः)

(१७५) पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः ।

वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात्पर्यायोक्तम् ।

(३१ पर्यायोक्त अलंकार)

(सू० १७५) वाच्य-वाचकभाव के बिना अर्थात् व्यञ्जना व्यापार के द्वारा प्रकारान्तर से वाच्यार्थं को बताना ही 'पर्यायोक्त' अलङ्कार कहा जाता है ।

वाच्य-वाचकभावेति । वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यञ्जनारूप बोधन व्यापार के द्वारा जो वाच्यार्थ का प्रतिपादन, उसका 'पर्याय' से अर्थात् प्रकारान्तर से कथन करने के कारण उसे 'पर्यायोक्त' अलङ्कार कहा गया है ।

'पर्यायोक्त' का अर्थ है —'पर्याय' से अर्थात् भिन्न प्रकार से (भङ्गी = प्रकार) 'उक्त' = कथन । भिन्न प्रकार से (पर्याय से) कहने का अभिप्राय यह है कि वाच्य-वाचकभाव (अभिधा) से भिन्न ढंग, (व्यञ्जनारूप ढंग) । निष्कर्ष यह है कि अपने अभिप्राय को हमेशा की तरह न कहकर (अभिधा से न कहकर) व्यञ्जना का अवलम्ब करके (व्यञ्जना के द्वारा) बताना 'अमुक महोदय घोड़े पर से गिर गये'— यह कहने की जगह 'अमुक महोदय घोड़े पर से नीचे आ गये'—यह कहना, 'पर्यायोक्त' ही कहा जायगा ।

इन दो प्रकारों में से पहिला प्रकार—'साक्षात् अभिधा' के द्वारा अपने अभिप्राय को स्पष्ट करना है । और दूसरा प्रकार 'उसी अभिप्राय' को 'द्राविड़ प्राणायाम (व्यञ्जना) के द्वारा अभिव्यक्त करना है । दोनों प्रकारों से ज्ञात होने वाला अर्थ (अभिप्राय) एक ही है—'अमुक महोदय का सम्बन्ध 'घोड़े' से छूट कर भूमि से हो गया' । इसी प्रकार अपने किसी अभिप्राय को 'अभिधा' से प्रकट न करके 'व्यञ्जना' के द्वारा प्रकट करना ही 'पर्यायोक्त' है । इस पद्धति को अपनाने से अनिष्ट घटनाओं का 'अप्रिय शब्दों' से कहने का प्रसङ्ग टल जाता है, दूसरे को गौरन्वित किया जाता है, बात बताने में चमत्कृति का अनुभव दूसरे को होता है । जैसे—'भगवान् के यहाँ जाना' = मरना, भूमाता को साष्टांग प्रणाम करना = गिरना, घर में अपनी चरण रज को झाड़ देने की कृपा करें = घर आइये, जीभ में हड्डी का न होना = अवाच्य भाषण करना, यमराज के यहाँ का बुलावा आया है = आसन्न मरण की अवस्था में रहना, ये सब व्यवहारोक्तियाँ 'पर्यायोक्त' ही समझनी चाहिए । पर्यायोक्त में 'लक्षणा' नहीं हुआ करती अर्थात् यहाँ 'वाच्यार्थं' का बाध नहीं होता, उस कारण अन्य ढंग से (प्रकारान्तर से) किये जाने वाले सभी भाषण (कथन) 'पर्यायोक्त'

उदाहरणम्—

यं प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥ ५०४ ॥

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम् यथा तु व्यङ्ग्यं तन्न तथोच्यते तथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे गौः शुक्लश्चलति इति विकल्पः यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति न तु यथा दृष्टं तथा यतोऽभिन्नासंसृष्टत्वेन दृष्टं भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति।

के अन्तर्गत नहीं होते हैं। जैसे—'करे कराये पर पानी फेर दिया' इस प्रकार के कथन 'पर्यायोक्त' नहीं कहे जायेंगे, क्योंकि इसमें 'वाच्यार्थं' का 'बाध' हो रहा है।

पर्यायोक्त अलङ्कार का उदाहरण—

काश्मीरिक मेण्ठकवि प्रणीत 'हयग्रीववध' नाटक का यह पद्य है।

यं प्रेक्ष्येति। जिस हयग्रीव को देखकर मद ने ऐरावत के मुख पर और अभिमान ने इन्द्र (हरि) के हृदय में दीर्घकाल से निवास करने की प्रीति को त्याग दिया ॥ ५०४ ॥

अत्रेति। यहाँ पर 'ऐरावत और इन्द्र' दोनों 'मद, मान' से शून्य (रहित) हो गये अर्थात् ऐरावत का मद और इन्द्र का अभिमान नष्ट हो गया इस 'व्यङ्ग्य अर्थ' को भी भङ्ग्यन्तर से कहने के कारण (अभिधा से प्रतिपादन करने के कारण) अर्थात् 'मद ने' ऐरावत के मुख में और अभिमान ने इन्द्र के हृदय में रहने के पुराने प्रेम को त्याग दिया है—इस प्रकार प्रकारान्तर से अर्थात् शब्द के द्वारा 'वाच्य' रूप से कह दिया है। इस कारण जो यहाँ शब्द के द्वारा 'वाच्य रूप' से कहा जा रहा है, वही 'व्यङ्ग्य' है। किन्तु अन्तर यही है कि जिस रूप में 'व्यङ्ग्य' है, उस रूप में उसे नहीं कहा जा रहा है, अर्थात् व्यङ्ग्य से भिन्न रूप में कहा जा रहा है, क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थ तो यह है कि—"ऐरावत" का मद और 'इन्द्र' का अभिमान नष्ट हो गया, अर्थात् वे दोनों 'मद' और 'मान' से मुक्त हो गये। परन्तु 'वाच्यार्थ' का रूप, उससे भिन्न यह है कि—'मद ने' ऐरावत के मुख में रहने का और मान (अभिमान) ने इन्द्र के हृदय में रहने का पुराना प्रेम त्याग दिया।

शंका—सर्वत्र 'वाच्यार्थं' और 'व्यङ्ग्यार्थं' परस्पर भिन्न ही रहा करते हैं, अर्थात् जो 'वाच्य' है वह 'व्यङ्ग्य' नहीं हो सकता और जो 'व्यङ्ग्य' है, वह 'वाच्य' नहीं हो सकता, अतः एक ही पद्य में 'एक ही अर्थ' को वाच्य बताना तथा उसे ही पुनः 'व्यङ्ग्य' बताना असंगत प्रतीत हो रहा है।

समा०—ग्रन्थकार मम्मट ने पूर्वोक्त शंका का समाधान निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान का उदाहरण देते हुए किया है। वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के समान ही निर्विकल्प तथा सविकल्प ज्ञान भी परस्पर विपरीत ही प्रतीत होते हैं। जो सविकल्पक है, वह निर्विकल्पक नहीं और जो निर्विकल्पक है वह सविकल्पक नहीं। तथापि 'एक ही विषय' प्रकारभेद से 'सविकल्पक तथा निर्विकल्पक' के रूप में प्रतीत होता है। दोनों का विषय एक ही होता है, केवल 'प्रकार' में भेद रहता है। एक ही 'घट', सविकल्पज्ञान का भी विषय होता है और निर्विकल्पक ज्ञान का भी विषय हुआ करता है। एवंच जो 'घट' निर्विकल्पकज्ञान से गृहीत होता है, वही 'घट' सविकल्पक ज्ञान से भी गृहीत होता है। तथापि जिस रूप में निर्विकल्पकज्ञान से गृहीत होता है, उस रूप से सविकल्पकज्ञान में वह गृहीत नहीं होता है। दोनों ज्ञानों का विषय एक होते हुए भी 'प्रकार' में भिन्नता है। इसी प्रकार यहाँ पर जो अर्थ 'शब्द' (अभिधा) के द्वारा 'वाच्यरूप' में कहा जा रहा है, उसी को प्रकारान्तर से 'व्यंग्यरूप' में भी कहा जा सकता है। इसी आशय को ग्रन्थकार मम्मटभट स्वयं बता रहे हैं—यथा गवि शुक्ले चलतीति। 'गाय' का निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान होने के पश्चात् चलती हुई सफेद गाय को 'सफेद गाय' चल रही है'—यह सविकल्पकज्ञान होता है। जिस वस्तु को 'निर्विकल्पक' रूप में देखा, उसीका सविकल्पकज्ञान होता है। किन्तु जिस रूप में (निर्विकल्पकज्ञान के समय) देखा उस रूप में सविकल्पकज्ञान नहीं होता। क्योंकि बौद्धों के मत के अनुसार निर्विकल्पकज्ञान के समय 'भेद'-रहित अर्थात् 'अतद्व्यावृत्ति-रहित' और अन्यदर्शनों के मतानुसार 'विशेष्य-विशेषणभाव' अथवा 'नामजात्यादिरूप संसर्गरहित रूप में निर्विकल्पकज्ञान के समय देखा जाता है और बौद्धमत के अनुसार भेद (अतद्व्यावृत्ति) तथा अन्य मतों में नामजात्यादि के संसर्ग से युक्त रूप में सविकल्पकज्ञान का विषय होती है। इसकारण एक ही वस्तु के वाच्य और प्रकारान्तर से व्यङ्ग्य होने में कोई अड़चन नहीं है।

'प्रत्यक्ष' की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक निर्विकल्पक और दूसरी सविकल्पक। उनमें से 'सविकल्पक' अवस्था का अनुभव सभी को हुआ करता है। निर्विकल्पक अवस्था की सिद्धि 'अनुमान' से होती है। 'दण्डी देवदत्तः' यहाँ पर 'दण्डी' का ज्ञान होने के पूर्व 'दण्ड' का ज्ञान होना आवश्यक है। उसी प्रकार 'घट' का ज्ञान होने के पूर्व 'घटत्व' का ज्ञान होना चाहिए। अर्थात् 'विशिष्ट' ज्ञान तभी हो पाता है, जब विशेषण का ज्ञान, पूर्व में हो। क्योंकि 'विशिष्टज्ञान' विशेषण के ज्ञान का कार्य है। अर्थात् 'कार्य' के पूर्व ही 'कारण' रहा करता है। अन्यथा दो वस्तुओं का 'कार्य-कारण-भाव' ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतएव यह न्याय बना हुआ है कि 'नाऽगृहीतविशेषणा बुद्धिः विशेष्यमुपसंक्रामति'। उपर्युक्त 'दण्डी' तथा 'घट' के ज्ञान में क्रमशः 'दण्ड' और

'घटत्व' विशेषण हैं। उसीप्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सविकल्पक प्रत्यक्ष के पूर्व रहना आवश्यक है—यह सिद्ध होता है। 'निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष में 'विकल्प' नहीं है और 'सविकल्प प्रत्यक्ष' में 'विकल्प' रहता है। 'विकल्प' का अर्थ है—'प्रकार' अर्थात् 'भेद प्रतीत करानेवाला धर्म' = 'विशेष' अथवा 'संसर्ग' (विशेषों का अपने आश्रय से = आश्रयभूत वस्तु से सम्बन्ध)। 'निर्विकल्पक' और 'सविकल्पक' इन नामों में 'विकल्प' शब्द के दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं। अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप 'निष्प्रकारक, संसर्गानवगाही ज्ञान' अर्थात् विषयभूत वस्तु का 'विशेषधर्मरहित' अथवा 'विशेषधर्मसंबंधरहित' होनेवाला ज्ञान। और सविकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप 'सप्रकारक संसर्गावगाहिज्ञान' अर्थात् विषयभूत वस्तु का 'विशेषधर्मयुक्त' अथवा 'विशेषधर्मसंबंध युक्त' ज्ञान बताया जाता है।

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि जब कोई वस्तु, दृष्टि का विषय होती है, तब उसकी प्रतीति केवल 'एक वस्तु' के रूप में सामान्यतया होती है। यही 'निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष 'Sensation' है। इस समय उस वस्तु के धर्मों की प्रतीति भी होती हो, तो भी वे उस वस्तु से सम्बद्ध होकर प्रतीत नहीं होते हैं। अग्रिम क्षण में वे धर्म, उस वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर प्रतीत होते ही उस वस्तु का विशेषज्ञान होता है। इसीको सविकल्पक प्रत्यक्ष Perception कहते हैं। उपर्युक्त विवेचन चाक्षुष प्रत्यक्ष के समान ही अन्य ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्ष में भी उत्पन्न होता है।

नीलकण्ठ आदि नैयायिकों के मतानुसार 'निर्विकल्पकज्ञान' को प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि किसी भी ज्ञान की कक्षा में नहीं रख सकते, क्योंकि इन दोनों के विभिन्न स्वरूप 'विकल्प' भेद पर ही आधारित हैं। किञ्च— प्रमा' (यथार्थज्ञान) और 'अप्रमा' (अयथार्थज्ञान) से भी भिन्न यह निर्विकल्पकज्ञान, एक 'विलक्षणज्ञान' है। क्योंकि केवल 'सविकल्पकज्ञान' ही 'प्रमा' या 'अप्रमा' के रूप में निर्धारित हो सकता है।

बौद्धों के मत के अनुसार 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' ही वास्तविक प्रत्यक्ष है। क्योंकि तथाकथित 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष से सम्बद्ध 'जाति-गुण' आदि धर्म, कल्पित होने से अयथार्थ हैं।

नैयायिकों के मतानुसार 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' ही अनुभवगोचर और समस्त व्यवहार का मूल होने से मुख्य प्रत्यक्ष है। अद्वैतवेदान्त और विशिष्टाद्वैतवेदान्त में 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' और 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' के विषय में की गई कल्पना कुछ भिन्न है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जो 'वस्तु' (केवल 'एक वस्तु') प्रतीत होती है (यदेव दृष्टम्), (वही 'वस्तु') सविकल्पक प्रत्यक्ष के समय (जाति, गुण, नाम आदि)

(३२ उदात्ताऽलंकारः)

(१७६) उदात्तं वस्तुनः सम्पत्—

सम्पत्समृद्धियोगः यथा—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥ ५०५ ॥

विशेषों से सम्बद्ध हुई, उसी वस्तु को जानता है (तदेव विकल्पयति)। निर्विकल्पक में जो प्रतीत हुआ है, वही सविकल्पक में यद्यपि प्रतीत होता है, तो भी 'निर्विकल्पक' जैसा प्रतीत हुआ है, वैसा ही वह 'सविकल्पक' में प्रतीत नहीं होता (न तु यथा दृष्टं तथा), क्योंकि जो 'वस्तु' निर्विकल्पक में प्रतीत होती है, वह 'अन्यवस्तुभेदरहित' (अभिन्न) और 'विशेषधर्मसम्बन्धरहित' (असंसृष्ट) रूप से प्रतीत होती है। वही वस्तु 'सविकल्पक' में अन्यवस्तु से भिन्न और स्वयं के (अपने) धर्मों से सम्बद्ध हुई प्रतीत होती है (भेदसंसर्गाभ्यां विकल्पयति)। एवंच विषय एक (समान) होने पर भी उसका प्रतीयमान स्वरूप भिन्न-भिन्न रहने से 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' के सम्पन्न होने पर भी 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' के लिए अवसर रहता है। उसी प्रकार 'पर्यायोक्त' अलंकार में भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों तात्पर्यतः एक ही रहने पर भी स्वरूपतः भिन्न होने के कारण वाच्यार्थ प्रतीति के अनन्तर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए अवसर प्राप्त होता है।

पर्यायोक्त अलंकार की विशेषता यही है कि 'वाच्यार्थ' का 'व्यंग्यार्थ' में पर्यवसान होना। तथापि इस अलंकार के 'वाच्यार्थ' में ही चमत्कार रहता है। अतः इसे अलंकार ही कहना होगा, 'ध्वनि' नहीं। क्योंकि 'ध्वनि' में 'व्यंग्य' की 'अतिशयिता' हुआ करती है। अतएव 'मम्मट' को ध्वनिकार आनन्दवर्धन का अनुयायी कहा जाता है। एवंच इस पर्यायोक्त अलंकार को 'गुणीभूतव्यंग्य' काव्य के 'वाच्यसिद्धांग' के प्रकार में माना जाता है, यह पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है। 'समासोक्ति' अप्रस्तुत-प्रशंसा' आदि अलंकारों को 'गुणीभूतव्यंग्य' के प्रकारों में ही उन्होंने माना है।

(३२ उदात्त अलंकार)

(सू० १७६) उदात्तमिति। किसी वस्तु (पदार्थ) की समृद्धि का वर्णन जहाँ किया जाता है, उसे 'उदात्त' अलंकार कहते हैं। यथेति। जैसे—

कोई कवि राजा भोज की स्तुति कर रहा है—

मुक्ता इति। विद्वानों के भवनों में सुरतक्रीडा के समय मोती पिरोये हुए मुक्तहार के

(उदात्तस्य अन्यः प्रकारः)

(१७७)—महतां चोपलक्षणम् ॥ ११५ ॥

उपलक्षणमङ्गभावः अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे । उदाहरणम्—

सूत्र के टूट जाने पर सूत्र-रहित हार से जो मोती नीचे बिखर जाते हैं, अतएव प्रातःकाल के समय मन्दगति से चलने वाली बालाओं के पैरों में लगी हुई महावर (लाक्षारस) के सम्पर्क से जो लाल दिखाई देते हैं, उन्हें दासियों के द्वारा झाड़ू (सम्मार्जनी) से बुहार दिया जाता है, जो दूर से स्पष्ट न दिखाई देने के कारण 'ये अनार के दाने हैं'—यह भ्रम, विद्वद्भवनों के क्रीडाशुकों को हो जाता है, उस कारण वे उन्हें चोंच से अपनी ओर खींचते हैं। यह सब राजा भोज के दान की महिमा (लीला) है ॥ ५०५ ॥

इस पद्य में कवि के द्वारा विद्वानों के भवनों में उत्कृष्टतर सम्पत्ति का वर्णन किया गया है, उस कारण यहाँ 'उदात्त' अलंकार है।

उदात्तालंकार के 'एक प्रकार' को बताकर अब उसी के दूसरे प्रकार को बता रहे हैं--

(सू० १७७) महतामिति । 'वर्णनीयम् अर्थं प्रति महतां यः अंगभावः, तत् अन्यत् उदात्तम्' अर्थात् जो किसी प्रधान वर्णनीय अर्थ में महापुरुषों का उसके प्रति अंगभाव (गौणत्व) का होना—यह उदात्त अलंकार का दूसरा प्रकार है।

उपलक्षणमिति । सूत्रगत 'उपलक्षण' शब्द का अर्थ—'अंगभाव', गौणत्व है । अर्थात् वर्णनीय प्रधान अर्थ में (उपलक्षणीय अर्थ में) रामादि सदृश महापुरुषों के अंगभाव (अङ्गत्व = गौणत्व) का वर्णन करने से भी 'उदात्त' अलङ्कार होता है। 'अंगिनि (वर्णनीयेऽर्थे) महताम् उदारचरितानां (रामादिवीराणां) यत् उपलक्षणम् अङ्गत्वम् उपनिबध्यते (वर्ण्यते) तच्चोदात्तसंज्ञमित्यर्थः । एवं च वर्णनीयस्य अर्थस्य विशेषणतया महतः उपादाने अपरमुदात्तमितिभावः । सूत्रगत 'उपलक्षणम्'—यह निर्देश 'भावप्रधान' है । जैसे 'स्त्रियाम्' (४।१।३) = स्त्रीत्वे द्योत्ये—इस पाणिनि सूत्र के समान अथवा "सलघ्वादिधर्मैः = लघुत्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्" (सां० सू० १।१२८) इस सांख्यसूत्र के समान ही वृत्तिकार ने 'उपलक्षणमङ्गभावः', अङ्गत्वम् कहा है। यह 'अंगत्व' कहाँ पर ? यह प्रश्न करने पर कहा है कि 'अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे' अर्थात्—'अङ्गिनि = वर्णनीयेऽर्थे'—यह समझना चाहिए।

द्वितीय प्रकार के 'उदात्त अलंकार' का उदाहरण, जैसे—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥ ५०६ ॥

न चात्र वीररसः तस्येहाङ्गत्वात् ।

लंका से वापस जाते समय पुष्पक विमान में बैठे हुए लक्ष्मण जी दण्डकारण्य वन को दिखाते हुए अंगद से कह रहे हैं—

तदिदमिति । हे अंगद ! यह वह बन है जिसमें निवास करते हुए, और अपने पिता का नाश दशरथ की आज्ञा पालन का व्रत लिये हुए श्री राम ने अकेले ही राक्षसों किया था ॥ ५०६ ॥

इस पद्य में वर्णनीय दण्डकारण्य का उत्कर्ष प्रकट करने के लिए उसे प्रधानता दी गयी है और श्रीराम को अंगरूप में दिखाया गया है ।

शंका—इस पद्य में तो राम के निज भुजबल से ही (सैन्य के बल से नहीं) किये हुए पराक्रम का वर्णन किया गया है । उस कारण यह उदाहरण से तो 'बीररस' प्रतीत हो रहा है । और रस वर्णन तो 'ध्वनि' काव्य में परिगणित किया जाता है । तब उपर्युक्त पद्य को अलंकार का उदाहरण कैसे कहा जा रहा है ?

समा०—यद्यपि यहाँ श्रीराम के पराक्रम का वर्णन है, तथापि वह, अरण्य वर्णन के प्रति 'अङ्गभूत' है, इसलिए यहाँ पर 'बीररस' का प्रधानतया परिपोष नहीं हो रहा है ।

उद्योतकार के कथनानुसार 'रामबिषयक' 'रति' भाव का भी परिपोष न होने से यहाँ पर 'रसरूप' अथवा 'भावरूप' ध्वनि भी नहीं माना जा सकेगा । अपितु पञ्चम उल्लास में 'अपरांगव्यङ्ग्य' नामक जो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का प्रकार बताया है, उसी को कतिपय आलङ्कारिक 'रसवत्' आदि अलङ्कार के रूप में पहिचानते हैं । उसी में उदात्त के इस द्वितीय प्रकार का अन्तर्भाव होगा ।

एवं च जहाँ पर प्रकृत वस्तु की 'समृद्धि' का वर्णन साक्षात् किया जाता है, वहाँ पर 'पहिला उदात्त' होता है, और प्रकृत वस्तु की समृद्धि, अङ्गभूत वस्तु की समृद्धि से सूचित की जाती है, वहाँ 'दूसरा उदात्त' होता है ।

'न चात्र बीररसः तस्येहाङ्गत्वात्' । इस ग्रन्थ का रहस्य यही है कि उदाहृत पद्य में 'बीररस' को व्यङ्ग्य मानकर इसे 'रसध्वनि' का उदाहरण क्यों नहीं कहा ? उदात्तालङ्कार का उदाहरण क्यों कहा ? इसी आशंका के समाधानार्थ 'न चात्र वीररसः तस्येहाङ्गत्वात्' कहा गया है । अर्थात् बीररस (रसध्वनि) नहीं है । अपितु बर्णनीय दण्डकारण्य के प्रति वह बीररस 'अंगभूत' हो गया है । किञ्च—एकमात्र बाहुओं के बल से समस्त राक्षसों का क्षय करना रूप 'अनुभाव' से

(३३ समुच्चयाऽलङ्कारः)

(१७८) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ,

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सम्भवन्ति स समुच्चयः । उदाहरणम्—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्म्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथन्नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥ ५०७ ॥

अभिव्यक्त हुआ 'उत्साह' ही यहाँ चमत्कारी है । अतः यहाँ 'वीररस' को ही क्यों न माना जाय ? किन्तु यह शंका उचित प्रतीत नहीं हो रही है, क्योंकि 'वह उत्साह' तो वहाँ 'अंगभूत' है, अतः यहाँ वीररस नहीं माना जा सकता ।

(३३ समुच्चयालङ्कार)

(सू० १७८) तत्सिद्धिहेताविति । कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधक हो जाता है वहाँ 'समुच्चय' नाम का अलंकार होता है ।

तस्य प्रस्तुतस्येति । उस प्रस्तुत कार्य का साधक 'एक हेतु' रहने पर भी जहाँ अन्य साधक हेतुओं का भी सम्भव रहता है, वहाँ 'समुच्चय' अलङ्कार होता है ।

उदाहरणमिति । मयूर कवि के पुत्र शंकुक का यह पद्य है । अपने प्रति अथवा विधि (दैव) के प्रति किसी विरहिणी की उक्ति है ।

(१) दुर्वारा इति । कामदेव के बाणों से अपने को बचाना ही कठिन है तब सखी कहती है कि कठिन क्यों होगा ? प्रियतम मेलजोल कर लो । तब नायिका कहती है कि अरी सखि ! 'पति' दूर परदेश गये हैं तब सखी कहती हैं— थोड़ा सबर (धैर्य) रखो । तब नायिका कहती है कैसे सबर करूँ ? 'मन' सुरत-क्रीड़ा के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, इसके सिवाय 'प्रेम' इतना अधिक बढ़ चुका है कि कुछ कहा नहीं जा सकता । और नया (नवीन) यौवन (युवावस्था) है, प्राण त्यागना भी कठिन है, वे निकलने वाले नहीं हैं । और मेरा 'कुल' निर्मल है, उस कारण किसी अन्य के समान स्वैर विहार करना भी सम्भव नहीं है । अतः स्वच्छन्द आचरण कर नहीं सकती । तब सखी कहती है–धैर्य धारण करके बैठी रहो ।

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्वादि उपात्तम् ।

(समुच्चयमतान्तरं तत्खण्डनञ्च)

एष एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते, तथाहि-

कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजन् ! त एव तवांकुशाः ॥ ५०८ ॥

उसपर नायिका कहती है—धीरज रखना भी संभव नहीं है, क्योंकि अबलात्व (स्त्रीत्व) 'धैर्य' का विरोधी है । यदि धैर्य रखने का कुछ उपाय भी करूँ तो वह भी संभव नहीं है, क्योंकि कामदेव का घनिष्ठ मित्र यह 'वसन्त' का समय है जो 'काम' को उत्तेजित कर रहा है, इस समय धैर्य कैसे रखा जाय । तब सखी कहती है—यदि यह परिस्थिति है तो यमराज से ही प्रार्थना करो कि इस संसार से मुझे छुड़ाओ । लेकिन संसार को कैसे छोड़ूँ ? संसार से छुड़ानेवाला वह कृतान्त (यमराज) छुड़ाने में असमर्थ है । उसपर सखी कहती है—कोई अन्य उपाय करो । तब नायिका कहती है—मैं स्वयं क्या उपाय करूँ । सखियाँ उपाय कर सकती हैं, किन्तु वे भी चतुर नहीं हैं । ऐसी स्थिति में इस दुष्ट 'विरह' को कैसे सहन किया जाय,समझ में नहीं आ रहा है॥५०७॥

अत्रेति । यहाँ पर 'विरह' को असह्य बनाने में 'काम बाण' ही कारण हैं । और फिर 'प्रियवियोग' आदि को भी कारणान्तर के रूप में बताया गया है । उसकारण यहाँ जो अलंकार है, वह 'समुच्चय ' अलंकार है ।

एष एवेति । यही समुच्चय अलंकार (१) 'सत् पदार्थ' के योग में, (२) असत् (अशोभन) के योग में, और (३) शोभन-अशोभन दोनों के योग में होता है, अर्थात् इसके तीन (३) भेद होते हैं । रुद्रट आदि आलंकारिकों ने 'सद्योग-असद्योग और सदसद्योगसमुच्चय' को पृथक् लक्षित किया है । किन्तु मम्मट का कहना है कि उनको पृथक् लक्षित करना उचित नहीं है । क्योंकि उक्तलक्षणलक्षित प्रस्तुत समुच्चय ही उनमें पर्यवसित होता है । उसकारण मम्मट ने पृथक्तया उन्हें लक्षित नहीं किया है । मम्मट का कहना है कि 'समुच्चय' ही 'सद्योग', 'असद्योग' एवं 'सदसद्योग' में पर्यवसित हो जाता है । 'सद्योगे'=सतां शोभनानां (समीचीनानां) योगे (संबंधे), असताम् अशोभनानाम् असमीचीनानां योगे, सदसतां शोभनाऽशोभनात्मनाम् समीचीनाऽसमीचीन-रूपाणाम् अनेकेषां योगे इत्यर्थः । इह सदसत्त्वम् उपादेयाऽनुपादेयतया वक्तुरभिप्रेतत्वम् । यह तत्तत् उदाहरणों से स्पष्ट होगा ।

(२) 'सद्योग' में होनेवाले 'समुच्चय' का उदाहरण—

कुलमिति । आपका 'कुल' (वंश) निर्मल, 'मूर्ति' सुन्दर, 'मति' श्रुति आदि

अत्र सतां योगः। उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥ ५०९ ॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः।

शास्त्रों से सम्पन्न, भुजबल भी पर्याप्त, लक्ष्मी की समृद्धि अपार है तथा प्रभुत्व अखण्डित है, ये सभी पदार्थ स्वाभाविक सुन्दर हैं। इनके कारण यह साधारण लौकिक आदमी अभिमान से भर जाता है। परन्तु हे राजन्! आपके लिये ये ही पदार्थ, अभिमान से निवृत्त करने के लिए अंकुश के समान हैं। अर्थात् अविनय से रोकनेवाले हैं। यह महान् आश्चर्य है ॥५०८॥

अत्रेति। इस पद्य में सभी उत्तम पदार्थों का (सत् = शोभन पदार्थों का) योग है, अर्थात् कुलादि समीचीन (शोभन) पदार्थों का ही योग (संबंध) है। एवं दर्प तथा दर्पाभाव के हेतुभूत 'निर्मल कुलरूप एक ही के रहते हुए 'भद्रमूर्ति' आदि अनेक हेतुओं को बताया गया है, अतः यहाँ 'समुच्चय' है। उक्तोदाहरणे इति। पूर्वोक्त उदाहरण (श्लो० सं० ५०७) में अशोभन (असत्) पदार्थों का योग था।

(३) 'सदसद्योग' में—भर्तृहरि के 'नीतिशतक' में स्थित पद्य को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं—(१) दिन में चन्द्रमा का निस्तेज (धूसर) होना ही कष्टदायक शल्य था ही, उस पर भी (२) यौवनरहित कामिनी का होना, (३) सरोवरों का कमलों से रहित रहना,(४) सुन्दर आकृतिवाले मनुष्य का मुख, विद्याहीन रहना (५) धनलोभी राजा का होना, सर्वदा कष्ट भोगनेवाले सज्जन का होना, ७ राजा के कृपापात्र दुष्ट (दुर्जन) पुरुषों का होना—ये 'सात' मेरे मन में शल्य के समान (काँटे के समान) चुभते रहते हैं ॥ ५०९ ॥

अत्रेति। यहाँ चन्द्रमा का धूसर (कान्तिहीन) हो जाना एक 'शल्य' था ही, उस पर कामिनी का गलितयौवना होना आदि अन्य शल्यों (कष्टकारक अन्य कारण) का भी इकट्ठा हो जाना—यही 'समुच्चय' कहलाता है। इस प्रकार यहाँ शोभन (सत्) और अशोभन (असत्) का योग प्रदर्शित किया गया है। यहाँ 'शशी' आदि स्वभावतः 'सत्' (शोभन) हैं, और 'धूसर' आदि 'असत्' (अशोभन) हैं। अतः सत् और असत् के उदाहरण का यह पद्य है।

'शोभनाऽशोभन' में 'कर्मधारय' समास है–'शोभनं च तत् अशोभनं च शोभनाऽशोभनम्'।

यहां 'द्वन्द्व' समास नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनका यहाँ 'समुच्चय' बताया गया है, उनमें से प्रत्येक अंशतः 'सत्' और अंशतः 'असत्' है।

प्रदीपकार ने 'शोभनाशोभनम्' में 'द्वन्द्व' समास मानकर 'शशी' आदि छह पदार्थों को 'सत्' बता कर 'नृपाङ्गणगतः खलः'—इस साँतवे पदार्थ को 'असत्' बताया है।

किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि छह शोभन और एक 'अशोभन'—इन सातों को कैसे 'शल्य' समझा जायगा ? क्योंकि 'शोभन' वस्तु को किसी ने भी 'शल्य' के रूप में अनुभव नहीं किया है।

इस पर प्रदीपकार ने यह आक्षेप किया है कि 'दुर्वाराः स्मरमार्गणाः'—इस उदाहरण में 'प्रियतम' के दूरस्थित होने से उसे जैसे 'असत्' समझा जाता है, वैसे ही यहाँ पर 'शशी' को भी 'धूसर' होने से 'असत्' कहा जा सकता है। अतः 'शशी दिवसधूसरः०'—यह उदाहरण भी 'असद्योग' का ही होना चाहिये, 'सदसद्योग' का नहीं।

किन्तु उद्योतकार और प्रभाव्याख्याकार ने कहा है कि 'सदसत्' में 'कर्मधारय' समास है। उद्योतकार ने यह भी कहा है कि प्रदीपकार के कथनानुसार इस श्लोक में 'सत् और असत्' का योग मानने पर साँतवे पदार्थ को विजातीय कहने के कारण 'सहचरभिन्नता' अथवा प्रथमतः 'विशेष्य' को शोभन और 'विशेषण' को अशोभन कहने के पश्चात् सांतवे में उसके विरुद्ध अर्थात् 'खल' रूप विशेष्य को 'अशोभन' और 'नृपाङ्गणगतत्व' रूप विशेषण को 'शोभन' कहने से 'भग्नप्रक्रमता' रूप दोष हो जायगा।

प्रभाकार ने एक सम्भाव्य आक्षेप का भी निरसन किया है। वह आक्षेप यह है—'शशी दिवसधूसरः'—में प्रत्येक पदार्थ, यदि 'सदसत्' हो तो 'दुर्वाराः स्मरमार्गणाः' इस उदाहरण को उससे भिन्न कैसे कहा जायगा ? क्योंकि 'दुर्वाराः' आदि उदाहरणों में भी 'प्रियतम' तो 'सत्' पदार्थ ही है, उसके 'दूरस्थितत्व' को ही केवल 'असत्' कहा जा सकता है।

इस आक्षेप का समाधान प्रभाकार ने यह दिया है कि 'दुर्वाराः स्मरमार्गणाः'—इस उदाहरण में 'प्रियतम' का 'सत्त्व' तो विवक्षित ही नहीं है। क्योंकि वहां 'विरह' को 'असह्यता' विवक्षित है। और 'शशी दिवसधूसरः'—इस उदाहरण में 'शशी' स्वभावतः शोभन (सत्) होकर भी 'धूसरत्व' के कारण वह अशोभन भी है, यह विवक्षा की जा रही है, जो 'मनसि सप्त शल्यानि मे'—इस प्रकार उपसंहार करने से स्पष्ट हो रही है।

(समुच्चयस्य अन्यः प्रकारः)

(१७९) स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः ॥ ११६ ॥

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः । क्रमेणोदाहरणम्—

क्योंकि 'उपसंहार' से यह सूचित हो रहा है कि 'शशी' अपनी सुन्दरता के कारण उसने 'मन' को लुभाया तो सही, किन्तु 'धूसरत्व' के कारण उसके प्रति मन का आकर्षण स्थिर नहीं हो सका।

पहले प्रकार के 'समुच्चय' का 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार से भेद यह है कि 'काव्य-लिङ्ग' में केवल 'हेतु' को बताया जाता है, और 'समुच्चय' में अनेक हेतुओं को 'गुण-प्रधानभाव' से बताया जाता है।

(२) 'समुच्चय' का दूसरा प्रकार—

(१) 'दो गुण', अथवा (२) दो क्रिया, अथवा (३) एक अथवा अधिक गुण और एक अथवा अधिक क्रियाओं का एक ही समय में (युगपत्) एक अथवा भिन्न स्थानों में रहना—यह दूसरे समुच्चय का स्वरूप है। यहाँ पर संख्याविशेष की विवक्षा नहीं है। अत एव—

प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिनं बभूव नभः।
रक्तं च पथिकहृदयं कपोलपाली मृगीदृशः पाण्डुः ॥

यहाँ पर 'अनेक गुणों' का भी समुच्चय हुआ दिखाई दे रहा है—तथा

'उदितं मण्डलमिन्दोरुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन ॥

यहाँ पर बहुत सी क्रियाओं का भी समुच्चय हुआ दिखाई दे रहा है।

उपर्युक्त तीनों भेदों को मम्मट ने कारिकागत 'गुणक्रियाः' इस एक ही शब्द में समाविष्ट कर दिया है। 'गुणौ च क्रिये च'—गुणक्रियाः (द्वन्द्वसमा०)—'गुणक्रियाः च गुणक्रिये च'—गुणक्रियाः (एक शेष)। अतः गुणों का यौगपद्य, क्रियाओं का यौगपद्य एवं 'गुण तथा क्रियाओं का सम्मिलित तुल्यकालत्व—ये तीन भेद होते हैं।

'दीपक अलंकार' में भी यद्यपि अनेक क्रियाओं को बताया जाता है, किन्तु 'समुच्चय' के समान वे क्रियाएँ एक-कालिक नहीं हुआ करतीं, वे क्रमशः हुआ करती हैं। अर्थात् कालभेद से होती हैं। अतः 'दीपक' का दूसरा प्रकार और 'दूसरे समुच्चय का दूसरा भेद' भिन्न-भिन्न है, एक नहीं है।

दो गुणों के यौगपद्य में 'समुच्चय' का उदाहरण—

(१ गुणयोर्यौगपद्ये 'समुच्चयः')

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप ! मलिनानि च तानि जातानि ॥ ५१० ॥

(२ क्रिययोर्यौगपद्ये 'समुच्चयः')

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यः ॥ ५११ ॥

विदलितेति । हे महाराज ! अखिल शत्रुओं का नाश करने वाली आपकी यह सेना जैसे शीघ्र निर्मल (विमल) हुई, वैसे ही प्रकृष्ट खलों के अर्थात् बड़े-बड़े दुष्टों के मुख मलिन (उदास) हो गए ॥५१०॥

इस पद्य में 'विमलत्व' तथा 'मलिनत्व'—इन दो गुणों का एक साथ होना, दो बार 'च' कार के प्रयोग से सूचित हो रहा है । एवं च विमलत्व-और मलिनत्व इन दो गुणों का यौगपद्य (एककालिकत्व) चकारद्वय से बोध्य होने के कारण यह 'समुच्चय' अलंकार है ।

(२) दो क्रियाओं के यौगपद्य में समुच्चय का उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में पुरूरवा की उक्ति है—अयमिति । प्रेयसी उर्वशी का यह अत्यन्त असह्य वियोग जैसे ही अकस्मात् प्राप्त हुआ वैसे ही नये-नये वारिधर मेघों के उदित होने से वर्षा के सुहावने दिन भी आ धमके ॥५११॥

यहाँ पर 'उपनतः' और 'भवितव्यम्'—इन एककालिक क्रियाओं का समुच्चय 'च' कारद्वय से गम्य है । कवि ने—'चोपनतः' कहा है, किन्तु 'उपनत' शब्द के अनन्तर 'च' शब्द को रखना उचित है । 'प्रियया चोपनतः" इस प्रकार 'च' शब्द का प्रयोग, 'अक्रमत्व' दोष से युक्त होने के कारण दुष्ट ही कहा जायगा । क्योंकि "चादीनां समुच्चेयादनन्तरमेव प्रयोगः"-यह नियम है । अतएव 'कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी'—में 'अक्रमत्व' दोष बताजा गया है । एवं च 'च' आदि शब्द, स्व-अव्यवहित पूर्व पदार्थगत समुच्चय के द्योतक हुआ करते हैं । तथा च पूर्व उदाहरण में दो क्रियाओं का अथवा गुण और क्रिया का समुच्चय और इस उदाहरण में 'रम्यत्वरूप गुण' और 'उपनतरूप क्रिया' का अर्थात् गुण और क्रिया का समुच्चय क्यों नहीं है ? — यह शंका निरस्त हो जाती है । क्योंकि तत्-तत्, गुण, क्रिया आदि के उत्तर ही 'च' कार का विन्यास करने से 'तदव्यवहित पूर्वपदार्थगत समुच्चय ही, विवक्षित है—यह समझ में आ जाता है ।

यद्यपि एक 'चकार' भी 'समुच्चय' का द्योतक हो सकता है । जैसे-"चार्थे द्वन्द्वः" (पा० सू० २।२।२९) । अतएव वैयाकरणों ने 'परस्परनिरपेक्षस्य अनेकस्य एकधर्मी-

(३ गुण क्रिययौंगपद्ये 'समुच्चयः')

कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥ ५१२ ॥

वच्छिन्ने अन्वयः समुच्चयः'—यह समुच्चय का लक्षण किया है। समुच्चय में 'च' शब्द से 'स्व-समभिव्याहृत पदार्थ में इतरपदार्थसापेक्षत्व बोधित होता है, तदसमभिव्याहृते तु न । यहाँ 'स्व' शब्द से 'च' शब्द को गृहीत करना है। अतएव समुचय में 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व'—यहाँ एक ही 'च' शब्द प्रयुक्त किया गया है। अतएव 'प्रादुर्भवति पयोदे' में एक 'च' कार के होने पर भी रसगंगाधरकार पण्डितराज ने 'समुच्चयालंकार' माना है। एक 'च' कार से ही स्व-समभिव्याहृत पदार्थ में पदार्थान्तर-साहित्य का बोधन हो जाने से 'च' कारान्तर की आवश्यकता नहीं है। तथापि 'द्वौ' इत्यादि स्थलों में द्विवचन आदि के समान 'च' कारान्तर का वैयर्थ्य नहीं है। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्याय से झटिति विवक्षित पदार्थगत समुच्चय का द्योतन हो जाना ही उसका उपयोग समझना चाहिए।

(३) गुण और क्रिया के यौगपद्य में समुच्चय का उदाहरण—

कलुषमिति। हे राजन् ! श्वेत कमल जैसे आपके नेत्र अपने शत्रुवर्ग की ओर जैसे ही कलुषित (क्रोध से आरक्त) हुए, त्योंही शत्रुओं के शरीर पर आपत्तियों (विपत्तियों) के कटाक्ष स्पष्टतया पड़ने लगे ॥५१२॥

यहाँ पर 'कलुषत्व' गुण और 'पतन' क्रिया का यौगपद्य 'च' कारद्वय से प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ समुच्चयालंकार है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने समुच्चयालंकार के लक्षण में काव्यालंकारकार रुद्रट तथा अलंकारसर्वस्वकार रुय्यककृत लक्षणों की समालोचना की है। समुच्चय के पहले स्वरूप में रुद्रट ने 'सद्योग', 'असद्योग', और 'सदसद्योग'—ये तीन भेद किये हैं। किन्तु काव्यप्रकाशकार का कहना है कि 'समुच्चय' का पर्यवसान तो स्वयं ही इन तीनों में से किसी-न-किसी रूप में हो ही जाता है, उसकारण पृथक्तया उसका लक्षण करना अनावश्यक है।

समुच्चय के 'युगपद् या गुणक्रियाः' रूप दूसरे भेद के सम्बन्ध में रुय्यक का कहना है कि 'युगपद् होने वाले गुण, क्रिया आदि एक ही अधिकरण में न होकर भिन्न-भिन्न अधिकरणों में (व्यधिकरणों) में होने चाहिये, तभी समुचयालङ्कार होता है। उन्होंने समुच्चय के दूसरे भेद का लक्षण करते हुए लिखा है—

'व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात् तदन्योऽसो' ॥

—रुद्रट का० लंकार (७,२७)

(परमतनिराकरणम्)

"धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्" इत्यादेः,

"कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये"।

इत्यादेश्च दर्शनाद् व्यधिकरणे इति एकस्मिन्देशे इति च न वाच्यम्।

(३४ पर्यायाऽलंकार)

(१८०) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः।

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः।

अर्थात् युगपत् होनेवाले गुण-क्रिया आदि-'एक-देश, एक-काल' में और 'भिन्न-भिन्न अधिकरणों में (आश्रयभूत व्यक्तियों में) होने चाहिये तब दूसरा समुच्चय होता है।

किन्तु मम्मट को रुद्रट के निर्मित लक्षणगत 'व्यधिकरणे' (भिन्न-भिन्न आश्रय में) और 'एकस्मिन् देशे' (एक स्थल में)—ये दोनों शर्तें मान्य नहीं हैं। क्योंकि—"धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्" इसमें राजा तलवार को चलाता है, और उसके साथ ही अपनी कीर्ति का विस्तार करता है—इस 'समुच्चय' के उदाहरण में 'धुनोति' और 'तनुते'—इन एककालिक क्रियाओं की आश्रयभूत व्यक्ति 'एक' ही दृष्टिगोचर हो रही है। तब समुच्चयगत गुण-क्रियाओं का आश्रय भिन्न-भिन्न कैसे कहा जा सकेगा ? उसी तरह 'कृपाणपणिश्च भवान्'—इस समुच्चय के उदाहरण में 'कृपाण-पणित्व' (वर्णनीय राजा के आश्रय से रहने वाला) गुण, समरभूमि में, और उसी के समकालिक रहने वाला 'ससाधुवादत्व गुण' (देवताओं के आश्रय से रहने वाला) 'स्वर्ग' में। इस प्रकार ये गुण, भिन्न-भिन्न देश में उत्पन्न हुए दृष्टिगोचर होते हैं। तब 'समुच्चय' गत गुण-क्रियाओं को एक ही देश में होने का आग्रह कैसे किया जा सकता है ? अतः 'व्यधिकरणे' और 'एकस्मिन् देशे'—इन दो शर्तों को दूसरे समुच्चय के लक्षण में सन्निविष्ट करने पर उपर्युक्त उदाहरणों का संग्रह उसमें नहीं हो सकेगा। उसकारण रुद्रट के विचार प्रस्तुत सन्दर्भ में स्वीकारार्ह नहीं हैं॥

(३४ पर्याय अलंकार)

(सू० १८०) एकमिति। एक वस्तु क्रम से अनेक में होती है अथवा की जाती है, तब उसे 'पर्याय' अलंकार कहते हैं।

एकं वस्तु क्रमेणेति। एक वस्तु जब क्रम से अनेक में हो अथवा की जाय, तब वहाँ 'पर्याय' अलंकार होता है। यह 'पर्याय' अलंकार, 'पर्यायोक्त' अलंकार से भिन्न है। 'पर्यायोक्त' अलंकार में 'वाच्यार्थ' को हीं प्रकारान्तर से अर्थात् 'व्यञ्जना' से बताया जाता है।

क्रमेणोदाहरणम्—

नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट !
केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ
कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥ ५१३ ॥

(न केवलमयं वास्तविके एकत्वे, किन्त्वारोपितेऽपि पर्यायालंकारो भवति)

यथा वा—

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।
अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! लक्ष्यते ॥ ५१४ ॥

क्रमेणोदाहरणमिति । पर्याय' अलंकार के क्रमशः 'भवति' तथा 'क्रियते'—इन दोनों भेदों के उदाहरणों को दे रहे हैं—एक वस्तु 'अनेकत्र रहने के उदाहरण में भल्लाटक कविकृत भल्लटशतक के चतुर्थ पद्य को दे रहे हैं—

(१) नन्वाश्रयस्थितिरिति । हे कालकूट विष ! अर्थात् उत्कट विष ! उत्तरोत्तर विशिष्ट पदवाले आश्रय में रहने की शिक्षा तुमको किसने दी है ? पहिले तुम समुद्र के भीतर रहते थे, उसके बाद तुम भगवान् शिवजी के कण्ठ में रहने लगे, और अब तुम दुष्टों की वाणी में रहते हो ॥५१३॥

यहाँ पर 'एक कालकूट विष' के अनेक स्थानों में निवास करने का कोई प्रयोजक नहीं बताया है, अतः ऐसे निवासों की प्राप्ति उसे स्वतः ही हुई है, अर्थात् एक कालकूट अनेक स्थानों में स्वयं गया है, उसकारण यह 'भवति' का उदाहरण है । इस सन्दर्भ में प्रदीप एवं उद्योत में कहा है कि 'अत्र आधारभेदात् भिन्न आधेय एकत्वेन अध्यवसितः' और उदाहरणचन्द्रिका में भी 'अत्र एकस्यैव कालकूटस्य क्रमेण अनेकत्र स्थितिः'—कहकर इस अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट किया है । यह केवल वास्तविक 'एकत्व' में ही नहीं, कहीं-कहीं आरोपित 'एकत्व' में भी यह अलंकार (पर्याय) हो सकता है । उसे बताने के लिए अन्य उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं—

(२) बिम्बोष्ठ एवेति । हे कृशोदरि ! पहिले किसी समय तो केवल कुन्दुरु के समान लाल-लाल ओष्ठ में ही 'राग' दृष्टिगोचर होता था, किन्तु हे मृगशावाक्षि ! अर्थात् मृगशावक के समान चञ्चल नयनों वाली ! अब तो वह राग तुम्हारे हृदय में भी दिखाई देने लगा है ॥५१४॥

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमवाणेण ॥ ५१५ ॥

(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाभरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥)

पद्मगुप्तप्रणीत नवसाहसांकचरित (६।६०) के इस पद्य में 'राग' प्रथमतः सुन्दरी कृशांगी के बिम्ब फल के तुल्य चटकीले लाल ओठों पर तदनन्तर उसके हृदय में राग के निवास का वर्णन किया गया है । ओठों पर स्थित रहने वाला 'राग' (रक्तिमा), हृदय में स्थित रहने वाले 'राग' (प्रेम) से भिन्न है, तब 'एकं क्रमेण अनेकस्मिन्'—स्वरूप वाले 'पर्याय' का रहना यहाँ कैसे संभव हो सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं 'रागस्येति'। यहाँ पर 'दो राग' वस्तुतः यद्यपि भिन्न हैं, तो भी उन दोनों का वाचक जो एक ही 'राग' शब्द है, उसी के आधार पर (अनुरोध से) उन दोनों के 'अभेद' की यहाँ कल्पना की गई है, और उस अभेद पर ही यहाँ के 'पर्याय' की स्थिति है । अर्थात् 'पर्याय' में अनेकत्र रहनेवाली वस्तु का 'एकत्व' काल्पनिक रहने पर भी 'पर्याय' के स्वरूप में कोई बाधा पहुँचने की संभावना नहीं है । किं बहुना इस प्रकार कल्पना जहाँ नहीं होगी वहाँ अलंकार का अलंकारत्व ही नहीं रहेगा—यह पण्डितराज का कहना है। यहाँ पर एक ही राग अनेक स्थानों पर दिखाई देता है, उसका कोई प्रयोजक नहीं दिखाया गया है, इसलिए यह 'भवति' का उदाहरण है। इस राग में वस्तुतः भेद है क्योंकि अधरोष्ठराग का अर्थ है 'लाली' और हृदयस्थ राग का अभिप्राय है—'प्रेम' । किन्तु एक पदोपात्त श्लेष के कारण एकत्वेन अध्यवसाय किया गया है। अतः एक कहने में कोई विरोध नहीं है। एवं च एक ही राग क्रम से अनेकत्र ओष्ठ और हृदय में होने से 'पर्याय' अलंकार है ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में क्रमशः 'एक आश्रय में स्थिति' तथा 'राग' स्वयं अनेक में गये हैं, उनका प्रयोजक कोई दूसरा (अन्य) नहीं है। इसकारण वे दोनों 'एक मनेकस्मिन् भवति'—इस रूप में पर्याय अलंकार के उदाहरण माने गये हैं। अब जो उदाहरण (तं ताण०) दे रहे हैं, उसमें अन्य प्रयोजक के द्वारा 'एकमनेकस्मिन् क्रियते' दिखा रहे हैं ! यह उदाहरण ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनकृत 'विषमबाणलीला' नामक काव्य से दे रहे हैं ।

(३) तं ताणेति । उन राक्षसों का चित्त, जो पहिले श्री के सहोदर कौस्तुभरत्न को आभरण (आभूषण) बनाने वाले भगवान् विष्णु के विषय में एकरस (तन्मय) था, उसको कामदेव ने अब प्रियाओं के बिम्बाधर में आसक्त कर दिया ॥५१५॥

(अन्यप्रकारकः पर्यायः)

(१८१) अन्यस्ततोऽन्यथा ।

अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

यहाँ पर असुरों का मन, जो विष्णु भगवान् के स्वरूप में आसक्त था, वही मन अब प्रिया मोहिनी के बिम्बाधर में आसक्त हो गया, जिसका प्रवर्तक (प्रयोजक) कामदेव है। उसकारश यह 'एकमनेकस्मिन् क्रियते' वाले पर्यायालंकार का उदाहरण है। एक अन्य उदाहरण 'श्रोणीबन्धः' भी कतिपय पुस्तकों में दिया गया है, जिसे सुधासागरकार ने प्रक्षिप्त बताया है। उसे भी हम छात्रों के ज्ञानलाभार्थ यहाँ दे रहे हैं—

श्रोणीबन्धस्त्यजति तनुतां सेवते मध्यभागः,
पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम् ।
धत्ते वक्षः कुचसचिवतामद्वितीयं च वक्त्रं,
तद्गात्राणां गुणविनिमयः कल्पितो यौवनेन ॥

जिस 'तनुता' को 'नितम्ब' छोड़ता है, उसका सेवन 'मध्यभाग' करता है। अर्थात् बाल्यावस्था में नायिकाओं के जो नितम्ब क्षीण रहते हैं, वे नितम्ब युवावस्था में मोटे हो जाते हैं और कमर पतली हो जाती है। जिस चञ्चल गति को पैरों ने त्याग दिया उसका आश्रय 'नयनों' ने कर लिया। वक्षःस्थल 'कुचों' की सचिवता (सहितता) को धारण करता है, और मुख 'अद्वितीयता' को अर्थात् निरुपमत्व को धारण करता है। इस रीति से 'यौवन' ने नायिका के गात्रों की क्षीणता का 'पीनता' में, चञ्चलता का 'स्थिरता' में और एकता का 'अद्वितीयता' रूप गुणों में विनिमय कर दिया।

अब अन्य प्रकार के पर्यायालंकार को बता रहे हैं—

अन्य इति। पूर्वोक्त 'पर्याय' से अन्यथा प्रकारवाला अर्थात् पूर्वोक्त 'पर्याय' से वैपरीत्य जिसमें हो, वह 'पर्याय' अन्य (दूसरा) कहलाता है।

इसी सूत्रोक्त अर्थ को वृत्तिकार बता रहे हैं—अनेकमिति। अनेक वस्तुएँ जहाँ एक ही अधिकरण (आधार) में क्रम से (कालभेद से) हुआ करती हैं, अथवा की जाती हैं, वहाँ यह प्रस्तुत 'अन्य पर्याय' (दूसरे प्रकार का पर्याय) होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि "अनेकस्य आधेयस्य एकस्मिन् आधारे क्रमेण सम्बन्धे द्वितीयः पर्यायालङ्कारो भवतीति यावत्। इस पर्याय अलंकार में भी पूर्वोक्त पर्याय अलङ्कार के समान ही 'भवति' तथा 'करोति' दोनों हुआ करते हैं। यहाँ भी 'क्रमेण' पद 'समुच्चय' का सूचक है। इनका क्रम से उदाहरण दे रहे हैं।

(१ अनेकं वस्तु एकस्मिन्नाधारे कालभेदेन (क्रमेण यद् भवति क्रियते वा सोऽन्यः पर्यायः)

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति।
अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालहलं विषं तदेव ॥ ५१६ ॥

(अनेकेषां वस्तूनामेकस्मिन्नाधारे क्रमेणावस्थितिसंपादकः पर्यायः)

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः॥ ५१७ ॥

'भवति' के अर्थ में उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—मधुरिमेति । दुष्ट (खल) पुरुषों का वचन पहिले तो अपने मधुरतर शब्दों से अमृत की वर्षा कर देता है, और सुनने वालों के 'मन' को हर लेता है, अर्थात् अपनी ओर आकर्षित कर अपने प्रति पूर्णतया विश्वास उनके मन में उत्पन्न करा देता है। किन्तु बाद में (पश्चात्) वे ही वचन, मूर्च्छित करदेनेवाले मन में छिपे हुए हलाहल उग्रविष को प्रकट करते हैं, अर्थात् खललोग पहिले अत्यन्त मधुर भाषण करके लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और बाद में उनका कण्ठ-कृन्तन करते हैं अर्थात् उनकी गर्दन को ही उड़ा देते हैं। कैसा आश्चर्य है ॥ ५१६ ॥

यहाँ पर 'अमृत' और 'विष'—ये दो वस्तुएँ, (अनेक अर्थ), 'दुष्टों के भाषण' रूप 'एक ही आश्रय' पर स्वाभाविक रूप से ही क्रम से प्रतीत होते हैं। उनका कोई 'प्रयोजक' हेतु, यहाँ बताया नहीं है। उस कारण 'अनेकम् एकस्मिन् भवति' का यह उदाहरण है।

'करोति' के अर्थ में ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत के पद्य को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं—

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की कृपा से अल्प-स्वल्प समय के भीतर ही दरिद्रता के गर्त से निकल कर वैभव के शिखर पर आरूढ हुए सुदामा ब्राह्मण के वैभव को देख कर कोई व्यक्ति कह रहा है—तद्गेहमिति । कहाँ, भग्न हुई भीतों वाला (दीवारों वाला) वह घर, और कहाँ आज यह गगनचुम्बी भवन ! कहाँ इसकी वह बुढिया गाय और कहाँ आज मेघों के समान काली-काली और ऊँची ये गज पङ्क्तियाँ ! कहाँ धान कूटते समय मूसल का वह क्षुद्र (कर्ण कठोर) शब्द, और कहाँ आज सुन्दरियों का सुनाई देने वाला यह मनोहर संगीत ! आश्चर्य है कि इन अल्प-स्वल्प दिनों में ही इस दरिद्र ब्राह्मण सुदामा को इतनी श्लाघनीय परिस्थिति हो गई ॥ ५१७ ॥

अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न परिवृत्तिः ।

इस पद्य में 'द्विज' रूप 'एक ही आश्रय' पर 'तद् गेहम्, सा······धेनुः, सः...···मुसलध्वनिः—इन शब्दों से बोधित होने वाली 'दरिद्रावस्था', और 'इदं······मन्दिरम्', 'एताः करिणां······घटाः', 'इदं······संगीतकम्'—इन शब्दों से बोधित होने वाली वैभवसम्पन्नावस्था—इनकी क्रमशः 'स्थिति' बताई गई है । अर्थात् 'एक ब्राह्मण रूप आश्रय' में 'तद्गेह-तन्मन्दिर आदि' अनेक पदार्थों का 'स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होने में 'दिवसैः'—यह 'प्रयोजक' बताया गया है, उसकारण यह 'क्रियते' का उदाहरण है । इसी अभिप्राय को चन्द्रिकाकार ने व्यक्त किया है—"अत्रैकस्मिन् द्विजे तद्गेहमन्दिरादीनामनेकेषां क्रमेण स्थितौ 'दिवसैरि'ति प्रयोजकनिर्देशः इति" ॥

अत्रेति । श्लोक संख्या ५१७ 'तद् गेहं नतमिति०' में 'पर्याय' अलंकार ही है । 'परिवृत्ति' अलङ्कार के होने की आशंका यहां नहीं करनी चाहिये । क्योंकि 'तद् गेहं नतमिति' (श्लो० सं० ५१७) इस उदाहृत पद्य में गेह, मन्दिर आदि वस्तुओं का कोई लेन-देन अभिप्रेत नहीं है । जहाँ एक ही व्यक्ति कुछ त्याग करे और उसके बदले में कुछ ग्रहण करे वहाँ परिवृत्ति' होती है । जैसे गेहूँ खरीदने वाले ने एक रुपिया दिया और गेहूँ लिया । किन्तु उपर्युक्त उदाहरण में वैसा नहीं है । अर्थात् यहां पर एक ही के दान एवं उपादान की विवक्षा के न होने से यहाँ 'परिवृत्ति' नहीं कह सकते । अभिप्राय यह है कि रुपिया देने वाला (हान करने वाला) और गेहूँ लेने वाला 'एक' ही है । तथा गेहूँ देने वाला (हान करने वाला) और रुपिया लेने वाला एक ही है—ऐसी विवक्षा जहाँ रहे वहाँ 'परिवृत्ति' हुआ करती है, जहाँ ऐसी विवक्षा न रहे वहां 'परिवृत्ति' नहीं होती ।

'एकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वात् न परिवृत्तिः'—ग्रन्थकार के इस कथन में 'एकस्य' जो कहा गया है, उसमें 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) सूत्र से 'कर्तरि षष्ठी होने से 'एकस्यैव कर्तुः' यह अर्थ है । 'हान' का अर्थ है 'स्वीयवस्तुसमर्पण' । 'उपादान' का अर्थ है 'परकीय वस्तु का ग्रहण । इससे निष्कर्ष यह निकला कि 'एक कर्तृक हानोपादान' जहाँ बताया जाय वहाँ 'परिवृत्ति' होती है, किन्तु यहाँ पर तो वैसा नहीं है । संकेत व्याख्या में मणिचन्द्र ने कहा है—

"अत्र गेहादि त्यज्यत एव न तु केनापि स्वीक्रियते ।
परिवृत्तौ तु यदेकेन त्यज्यते तदन्येन गृह्यते इत्युक्तम्" ।

"विनिमयाभावात् परिवृत्तेर्भेदः" इति तु साहित्यदर्पणे विश्वनाथः ॥

(३५ अनुमानालंकारः)

(१८२) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥११७॥

पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्, धर्मिणि अयोगव्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम् । यथा—

सू० १८२ (३५) अनुमानालङ्कार—

अनुमानमिति । साध्य-साधन के कथन को 'अनुमान' कहते हैं ॥११७॥

यह अनुमानालङ्कार का लक्षण, नैयायिकों के 'अनुमान' के आधार पर ही किया गया है ।

शंका—नैयायिकों के अनुसार पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त एवं निगमन के बोधक पञ्चावयवयुक्त वाक्य को अनुमान कहते हैं । तब ग्रन्थकार ने 'साध्य' एवं 'हेतु' के बोधक दो अवयवोंवाले वाक्य को ही 'अनुमान' कैसे मान लिया ?

समा०—पक्ष धर्मेति । पक्षधर्मत्व (पक्षसत्त्व), अन्वयित्व (सपक्षसत्त्व) तथा व्यतिरेकित्व (विपक्षव्यावृत्तत्व) इन तीन धर्मों से युक्त अर्थात् त्रिरूप (तीन रूपों वाला) हेतु को 'साधन' कहा जाता है ।

धर्मिणीति । धर्मी (पक्ष) में 'व्यापक' (अग्नि आदि) के अयोग (अभाव) का व्यवच्छेद अर्थात् निषेध (अयोगव्यवच्छेद अर्थात् अभाव का अभाव = निश्चित रूप से विद्यमान = सत्ता का होना) ही उस 'व्यापक' का साध्यत्व है ।

प्रस्तुत अनुमानालंकार का मूल 'अनुमान प्रमाण' में ही है । ज्ञान के साधन को 'प्रमाण' कहते हैं । अतः अनुमान प्रमाण का अर्थ हुआ—'अनुमिति' रूप ज्ञान का साधन' । जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्, यो यो धूमवान् स-स बह्निमान्, यथा महानसम्'—यहाँ पर धूम और वह्नि के अनुभूत नियत साहचर्य के आधार पर, पर्वत से निकलने वाले धूम को देखकर वहाँ के 'अदृष्ट अग्नि' का निश्चय किया जाता है । इस अनुमान में 'पर्वत'—पक्ष है, 'बह्निमत्त्व' साध्य है, 'धुम'—साधन = हेतु है (लिङ्ग है) ।

'यो-यो धूमवान्, स-स वह्निमान्'—धूम-वह्नि का 'महानस' आदि स्थलों में अनुभूयमान जो नियत साहचर्य है, उसी को 'व्याप्ति' कहते हैं ।

'साधन' (लिंग = हेतु) के सहारे 'साध्य' का निश्चय करने के लिए 'साधन' में तीन गुणों (त्रिरूपता) की आवश्यकता होती है—(१) पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व), (२) अन्वयित्व, (३) व्यतिरेकित्व । यदि इन तीन गुणों से रहित 'हेतु' हो तो उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं । 'साध्यभूत वस्तु' का जहाँ 'सन्देह' हो, उसे 'पक्ष' कहते हैं,

'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः'। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—इस उदाहरण में 'पर्वत'—पक्ष है। उस पक्षपर 'साधन' (धूम) का जो अस्तित्व है, उसे 'पक्षधर्मता' (पक्षवृत्तिता) कहते हैं। जब 'साधन' (हेतु), पक्ष (पर्वत) पर 'धर्म के रूप' में रहता है, तब 'पक्ष' को धर्मी कहा जाता है 'सपक्ष' पर हेतुका अस्तित्व रहना ही उसका 'अन्वयित्व' है। 'साध्य' का 'अस्तित्व' जिस पर निश्चित रूप से ज्ञात रहता है, उसे 'सपक्ष' कहते हैं।

जैसे 'महानस' (रसोई घर) में 'अग्नि' (साध्य) का अस्तित्व निश्चितरूप से ज्ञात रहता है। इसलिये उसे (महानस को) 'सपक्ष' कहा जाता है। उस सपक्ष में 'धूम' (साधन = हेतु) के उपलब्ध होने से 'धूम' और 'अग्नि' की व्याप्ति अर्थात् 'यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र अग्निः'—का ग्रहण किया जाता है। इसी को 'अन्वयव्याप्ति' कहते हैं।

उसी प्रकार 'व्यतिरेकित्व' अर्थात् विपक्ष में साधन(हेतु) का अभाव। जहाँ पर 'साध्य' का अभाव निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है, उसे 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—इस उपर्युक्त उदाहरण को ही लीजिये। सरोवर (ह्रद = तालाब) में 'अग्नि' कभी नहीं रहता है, अर्थात् 'अग्नि' (साध्य) का अभाव 'तालाब' में रहता है, यह सभी को अच्छी तरह से अवगत है। वहां पर 'धूम' (हेतु) की उपलब्धि न होने से 'धूम' और 'अग्नि' के अभावों' की 'व्याप्ति', 'यत्र अग्निः (वह्निः) नास्ति, तत्र 'धूमोऽपि' नास्ति)—समझी जाती है और इसी व्याप्ति का जो निश्चय किया जाता है इसी को 'व्यतिरेकव्याप्ति' कहते हैं। 'धूम' और 'अग्नि'—(वह्नि) में दोनों प्रकार की 'व्याप्ति' के 'उदाहरण' (दृष्टान्त) मिल जाते हैं। जैसे—'जहां-जहां 'धूम' होता है, वहां-वहां अग्नि (वह्नि) होता है—इन 'अन्वयव्याप्ति' में 'महानस' (रसोई घर) उदाहरण (दृष्टान्त) है, क्योंकि 'महानस' में 'धूम' तथा 'अग्नि' को साथ-साथ देखा जा सकता है। उस कारण 'अन्वयव्याप्ति' में 'महानस' को दृष्टान्त (उदाहरण) के रूप में दिया जाता है।

इसके विपरीत जहाँ-जहाँ 'अग्नि' (वह्नि) का अभाव होता है, वहाँ-वहाँ 'धूम' का भी अभाव होता है—इसे 'व्यतिरेकव्याप्ति' कहा गया है। इस 'व्यतिरेकव्याप्ति' में 'सरोवर, (तालाव) का उदाहरण (दृष्टान्त) उपलब्ध होता है। इस प्रकार 'धूम' (हेतु) को अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों के उदाहरण (दृष्टान्त) मिल जाते हैं। इसकारण यह 'धूमरूप हेतु'—'अन्वय-व्यतिरेकी हेतु' कहलाता है।

किन्तु कुछ 'हेतु' ऐसे भी होते हैं कि उनकी दोनों प्रकार की व्याप्ति में 'उदाहरण' (दृष्टान्त) नहीं उपलब्ध होता है। केवल किसी एक ही प्रकार की व्याप्ति में

'उदाहरण' दृष्टिगोचर हो पाता है। इन हेतुओं में से जिस 'हेतु' की केवल 'अन्वय व्याप्ति' का उदाहरण (दृष्टान्त) मिलता है, उस हेतु' को ,केवलान्वयी हेतु' कहा जाता है। और जिस 'हेतु' का केवल 'व्यतिरेकव्याप्ति' का उदाहरण मिलता है, उस हेतु को 'केवलव्यतिरेकी' हेतु कहा जाता है।

इन हेतुओं में से जो 'केवलव्यतिरेकी हेतु' होता है, उसके 'पक्षसत्त्व', 'सपक्षसत्त्व', 'विपक्षव्यावृत्तत्व', 'अबाधितविषयत्व' और 'असत्प्रतिपक्षत्व'–ये पाँच रूप हुआ करते हैं। इन पाँच रूपों में से यदि किसी एक रूप का भी उस हेतु में अभाव रहने पर उस हेतु को 'शुद्ध हेतु' (सद्धेतु) नहीं माना जाता, अपितु उसे 'हेत्वाभास' कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि शुद्ध हेतु (सद्धेतु) में 'पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, और विपक्षव्यावृत्तत्व'—इन तीनों धर्मों का रहना आवश्यक है। अन्य दो धर्म अर्थात् "अबाधितविषयत्व' और 'असत्प्रतिपक्षत्व' को उपर्युक्त तीन धर्मों में समाविष्ट किया जा सकता है। अतएव मम्मटभट्ट ने मूल में 'त्रिरूपो हेतुः, साधनम्' अर्थात् तीनों रूपों से युक्त रहनेवाला 'हेतु' ही साधन कहलाता है–कहा है। ये तीन रूप (धर्म) कौन से हैं ? यह प्रश्न करने पर उत्तर में यही कहा जायगा कि (१) 'पक्षधर्मत्व' (२) अन्वयित्व (३) व्यतिरेकित्व—ये तीन ही रूप (धर्म) हैं, अर्थात् 'हेतु' के ये तीन ही रूप हैं। इन्हीं तीन रूपों को न्यायशास्त्र में 'पक्षसत्त्व', 'सपक्षसत्त्व' और 'विपक्षव्यावृत्तत्व' शब्दों से कहा गया है। इन तीनों रूपों से युक्त 'हेतु' को ही यहाँ 'साधन' शब्द से कहा गया है। इस उल्लिखित रहस्य को ध्यान में रखकर ही मम्मट लिख रहे हैं–'पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेनत्रिरूपो हेतुः साधनम्'। अर्थात् पक्षधर्मत्व (पक्षसत्त्व), अन्वयित्व (सपक्षसत्त्व) और व्यतिरेकित्व (विपक्षव्यावृत्तत्व)—इन तीन धर्मों से युक्त अर्थात् 'त्रिरूप' हेतु को ही 'साधन' कहा गया है। 'पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन'—यहाँ पर 'द्वन्द्व' समास है। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते'—इस न्याय से 'द्वन्द्व' के आगे रहने वाले 'त्व' प्रत्यय का तीनों के साथ अन्वय है। एवं च 'पक्षधर्मत्वेन, अन्वयित्वेन, व्यतिरेकित्वेन च त्रिरूपो हेतुः, 'साधन' पदेन उच्यते। 'पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षाऽसत्त्व' येही वे तीन रूप हैं।

अथ 'साध्य' पदार्थ को बताते हैं—धर्मिणीति। धर्मिणि = हेतुमति अर्थात् हेतुमान् पर (पर्वतादि पक्ष पर) व्यापकस्य = हेतु की अपेक्षया न्यून देश में स्थित न रहने वाले वह्नि आदि का 'अयोगव्यवच्छेदः'=नियत सम्बन्ध रहना–यही 'साध्यत्व' है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'—यहाँ 'पर्वत' रूप पक्ष पर धूमरूप हेतु का वृत्तित्व है, एवं वह्निरूप साध्य का निश्चय जिसमें है, ऐसे महानस में भी धूमरूप हेतु का वृत्तित्व है, तथा वह्निरूप साध्य के अभाव का निश्चय जिसमें है, उस ह्रद (तालाब-सरोवर

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणा।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः॥ ५१८॥

आदि) में धूमरूप हेतु का वृत्तित्व नहीं है। इसलिए तीन-रूप वाले (त्रिरूप) धूमरूप हेतु से पर्वतरूप पक्ष पर वह्निरूप साध्य का अनुमान हो जाता है। तथापि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में कोई चमत्कार (विच्छित्ति) न होने से उसे 'अलंकार' नहीं कहा जाता। 'अनुमान' को अलंकार तभी कहा जाता है, जब उसमें कवि-प्रतिभा एवं कवि कल्पना भी रहे, उसके रहने पर ही 'चमत्कार' की अनुभूति होती है। अतएव यह कहा गया है कि—'कविप्रतिभाकल्पितं यत् एकस्मिन् धर्मिणि साधनेन साध्यस्य उन्नयनं तत् अनुमानम् (अलंकारः)।

'अनुमान' शब्द में, भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है। उससे होने वाली जो 'अनुमिति' है, वही यहाँ अलङ्कार कहलाती है। वह 'अनुमिति', 'मन्ये', 'शङ्के', 'अवैमि', 'जाने',—आदि वाचक शब्दों का उपादान करने पर 'वाच्या' कहलाती है। जहाँ लिङ्ग और लिङ्गी दोनों विद्यमान हों वहाँ उपर्युक्त शब्दों को 'अनुमिति-बोधक' समझना चाहिये। और जहाँ 'सादृश्यादि निमित्त' का सद्भाव हो वहाँ उन शब्दों को 'उत्प्रेक्षा'-बोधक समझना चाहिये और 'वक्ति', 'कथयति', आदि लक्षक शब्दों का उपादान करने पर उसे 'लक्ष्या' समझना चाहिये और दोनों का उपादान करने पर केवल साध्य-साधन दोनों से उसका आक्षेप किये जाने पर उसे 'प्रतीयमाना' समझना चाहिये।

यथेति। जैसे—यत्रैता इति। जल के तरङ्गों के सदृश अत्यधिक चञ्चल नयनों वाली ये युवतियाँ, जहाँ जिस युवक पर अपनी दृगूर्ध्वभागरूप भ्रुकुटि को चला देती हैं अर्थात् नेत्र-कटाक्ष से जिसे देख लेती हैं,उसी पर कामदेव के ये मर्मभेदी बाण निरन्तर बरसने लगते हैं। उससे ऐसा लगता है कि धनुष पर चढाये हुए और बाण के ऊपर ही हाथ रखे हुए और उन सुन्दरियों का आज्ञाकारी,उन प्रेमी युवकों पर क्रोध से भरा हुआ कामदेव, सचमुच सर्वदा उनके आगे-आगे दौड़ता ही रहता है। अर्थात् तरङ्ग के समान चञ्चल नेत्रों वाली सुन्दरियों की भौंहें जिधर भी तन जाती हैं, उधर ही कामदेव के ये मर्मान्तिक बाण, तत्काल ही छूटते दिखाई देने लगते हैं,॥ ५१८॥

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध में 'साधन' (हेतु), और उत्तरार्ध में 'साध्य' का निर्देश किया गया है। यहाँ पर 'रमणी'—पक्ष है, पूर्वार्ध में 'सन्ततनिपतन्मर्मभेदिबाण-कलसद्भ्रूव्यापारकस्थानकत्वरूप जो 'साधन' है, उसे 'पक्षवृत्तित्व' के रूप में बताया है। और उत्तरार्ध में 'अग्रतः तादृशमदनधावनरूप 'साध्य' को बताया गया है। 'यत्' और 'तत्' से 'व्याप्ति' को सूचित किया है। वस्तुतः यहाँ पर 'व्याप्ति' के न रहने पर भी उसे कविप्रौढोक्ति से बताया गया है।

साध्य-साधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्।

(३६ परिकरालंकारः)

(१८३) विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।

अब अनुमान-प्रयोग इस प्रकार किया जायगा—

एताः पक्षभूताः स्त्रियः,चक्रीकृतचापं सदा पुरोधाबदञ्चितशरत्वादिविशिष्टमनोभवाः, सन्ततनिपतन्मर्मभेदिबाणकलसद्भ्रूव्यापारकस्थानकत्वात्'।

शंका—साधन की तरह 'साध्य' को भी पहले कहा जा सकता है। जैसे—"मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्। अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते''—यहाँ पर पूर्वार्ध में 'साध्य' को बताया है और उत्तरार्ध में 'साधन' को बताया है। तथा 'अतिशयोक्ति' में—'हृदयमधितिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन। चरमं रमणीवल्लभलोचनविषयं त्वया भजता' ॥—(श्लोक ४५२)।—कार्य-कारण के पौर्वापर्यविपर्यय की तरह यहाँ भी साध्य-साधन का पौर्वापर्यविपर्यय भी हो सकता है। रुद्रट ने कहा भी है—'एवं चानया रीत्याऽनुमानालङ्कार का द्वैविध्य कहना भी उचित है, अतः यहाँ पर विभाग को क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर ग्रन्थकार मम्मट दे रहे हैं—'साध्यसाधनयोरिति'। 'साध्य' और 'साधन' के 'पौर्वापर्यविकल्प में अर्थात् आगे-पीछे परिवर्तन कर देने से (आगे-पीछे बदलने से) कोई विचित्रता (चमत्कार) नहीं होती है, उस कारण रुद्रट की तरह हमने उस प्रकार का भेद नहीं किया है।

'अतिशयोक्ति' में 'कार्य-कारण' का विपर्यय कर देने पर 'कारण' का 'कार्यकारित्व' विपर्ययनिर्देश के सामर्थ्य से झटिति प्रतीत होता है। यहां पर वैसा कुछ भी वैचित्र्य (चमत्कार) प्रतीत नहीं होता है। किन्तु "यत्रैता लहरीचलाचल०'' की तरह यहाँ पर साध्य-साधनवचनकृत वैचित्र्य ही प्रतीत हो रहा है, उस कारण विभाग नहीं किया है॥ 'अनुमान' को अलंकार में परिगणित करनेवाला प्रथम अलङ्कारशास्त्री 'रुद्रट' ही है।

काव्य का 'अनुमानालङ्कार', तार्किकों के 'अनुमान' से सर्वथा विलक्षण है। तार्किकों के अनुमान में 'प्रत्याय्य-प्रत्यायकभाव' हुआ करता है और अनुमान को काव्यालंकार बनाने में कवि की कल्पना काम करती है।

(३६ परिकर अलंकार)

(सू० १८३) विशेषणैरिति। अभिप्रायभरे (साभिप्राय = साकूत) विशेषणों के द्वारा किसी बात को जहाँ बताया जाता है, वहाँ 'परिकर' नाम का अलंकार होता है।

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥५१६॥

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्ये गणितः।

अर्थादिति । अर्थात् 'विशेष्य' का साभिप्राय विशेषणों से कथन करना 'परिकरालंकार' कहा जाता है । उदाहरण, जैसे—भारविकृत किरातार्जुनीयमहाकाव्य के प्रथम सर्ग में दुर्योधन का समाचार देता हुआ गुप्तचर युधिष्ठिर से कह रहा है—

महौजस इति । हे महाराज ! दुर्योधन के पक्ष में बड़े-बड़े ओजस्वी (तेजस्वी), सम्मान को ही अपना धन समझने वाले अर्थात् स्वाभिमानी और धनराशि अर्पण करके बार-बार सम्मानित किये हुए, एवं समरांगण में वीरोचित घोर युद्ध कर कीर्ति को प्राप्त किये हुए धनुर्धारी महारथी-अतिरथी योद्धागण, जो न तो संहत हैं, अर्थात् शत्रुओं के द्वारा अपने पक्ष में नहीं कर लिये गये हैं, और न भेदवृत्ति हैं अर्थात् आपस में लड़ने वाले नहीं हैं, अतः सभी एकमत हैं । ऐसे वे वीर, महावीर अपने प्राणों की बाजी लगाकर अपने मित्र दुर्योधन के अभीष्ट मनोरथों को सफल बनाना चाहते हैं । इस तरह दुर्योधन ने अपनी जड़ जमा ली है, अतः उसको उखाड़ना कठिन है । एवं च "दुर्योधन अब रूढमूल' होने से दुर्जय हो गया है"—यह व्यङ्ग्य है ॥

यहां पर 'धनुर्भृतः'—यह विशेष्यभूत अर्थ है, इसी को 'महौजसः' आदि विशेषणों के द्वारा इसलिये 'पुष्ट' किया जा रहा है, जिससे दुर्योधन के प्रबल प्रताप का उत्कर्ष'—स्पष्टतया समझ में आ सके । अभिप्राय यह है कि 'महौजसः'—आदि विशेषणों से 'धनुर्धारी'—इस 'विशेष्य' की पुष्टि की जा रही है । अर्थात् वे धनुर्धारीगण, 'दुर्योधन' के अनुयायी हैं, उस कारण दुर्योधन का 'अतिशय' प्रतीत हो रहा है । एवं च 'महौजसः' आदि विशेषणों के द्वारा 'दुर्योधन' के धनुर्धारी वीरगण 'अप्रधृष्य' हैं, महाशूर-वीर हैं—यह कवि को विवक्षित है ।

शंका— यद्यपीति । यदि 'अर्थ' की पुष्टि ही 'परिकर' है तब प्रस्तुत 'परिकर' को 'अपुष्टार्थत्व' रूप दोष का अभाव ही क्यों न कहें, जिससे 'परिकर' नामक एक नवीन अलंकार की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी । अर्थात् 'अपुष्टार्थ' को 'दोष' कहने से उसका निराकरण कर देने के कारण दोषाभावरूप 'पुष्टार्थ' को स्वीकार किया गया

है, अतः उसे 'अलंकार' कहना उचित नहीं है। जैसे अपराध न करना नागरिक का सामान्य कर्तव्य ही है, तदर्थ उसका सत्कार नहीं किया जाता। अतः उसे अलंकार कहना उचित नहीं है।

समाधान—तथापीति। यदि निरर्थक (निष्प्रयोजन) विशेषणों का उपन्यास (प्रयोग) हो तो 'अपुष्टार्थत्व'—यह अर्थदोष' हुआ करता है। जैसे—'खारे पानी से भरे हुए समुद्र को एक ही उडान में लांघ कर हनुमान् जी लंका चले गये'। यहाँ 'खारे पानी से भरा हुआ'—यह समुद्र का विशेषण 'अपुष्टार्थक' है अर्थात् प्रकृत अर्थ का पोषक (उपकारक) नहीं है। अतएव उसके न रखने पर भी प्रकृत अर्थ में किंचिन्मात्र भी न्यूनता नहीं आ पाती। समुद्र मीठे पानी का होता तो भी हनुमान् के प्रस्तुत अलौकिक पराक्रम में किंचिन्मात्र भी न्यूनता न हो पाती।

किन्तु 'हन्त क्षाराम्बुधिं प्राप्य सतृष्णाः पथिका हताः'—में 'क्षार'-यह विशेषण 'अपुष्टार्थ' नहीं है, क्योंकि 'सतृष्णाः··· ··· ···हताः'—इस कथन का वह पोषक है। किन्तु साभिप्राय विशेषणों के द्वारा उसका निराकरण करके 'पुष्टार्थत्व' को स्वीकार किया गया है तथापि एक विशेष्य में अनेक साभिप्राय विशेषणों को अन्वित करने से वाक्य में एक विशेष चमत्कार प्रतीत होने लगता है, उस कारण इसकी (परिकर की) अलंकारों में गणना की गई है।

चन्द्रालोककार जयदेव ने कहा है कि जब 'विशेष्यांश'—साभिप्राय रहता है, तब 'परिकराङ्कुर अलंकार' होता है। इस सन्दर्भ में सुधासागरकार का कहना है कि वहाँ भी 'विशेषणांश' की साभिप्रायता माननी चाहिये, क्योंकि 'साभिप्राय विशेषण' के बिना 'विशेष्यांश' में साभिप्रायता नहीं आ सकती। अतः 'परिकराङ्कुर' को अलग से स्वतन्त्र अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है।

प्रस्तुत अलंकार की 'परिकर' संज्ञा जो रखी गई है, वह सार्थक है, क्योंकि 'परिकरः परिकरणमुपस्करणम्, विशेषणव्यङ्ग्यार्थेन वाक्यार्थस्य उपस्करणात् परिकरः'। कुछ लोग कहते हैं कि 'परिकरोति प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तीति परिकरः, मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय किया गया है। 'परिकरः' में 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे'—(पा० सू० ६।१।१३७) सूत्र से 'सुडागम' नहीं होगा, क्योंकि भूषणार्थत्व नहीं है। यहाँ पर 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्'–इन न्याय से सभी विशेषण परस्पर निराकांक्ष रहने से उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता। उनमें प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिव्यङ्ग्यकत्व ही 'साभिप्रायत्व' है। एवंच 'सार्थक बहुविशेषणैरर्थस्य परिपोषणं परिकरः इति बोध्यम्'। सारबोधिनी में भी इसी प्रकार कहा है—"साभिप्रायानेकविशेषणद्वारा यत्र विशेष्यस्याऽतिशयप्रतीतिः स परिकरः"। सूत्र में प्रयुक्त 'विशेषणैः' पद, 'विशेष्य' का भी उपलक्षण है। अतः

विशेष्य के साभिप्राय रहने पर भी यह—'परिकर अलंकार' होता है। जैसे—चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः'—में 'चतुर्भुज'— यह विशेष्य, 'पुरुषार्थ-चतुष्टयदानसामर्थ्याभिप्राय' से गर्भित है। एवंच 'परिकर' अलंकार का अस्तित्व साभिप्राय 'विशेषणों' के बाहुल्य पर अवलम्बित है। यदि एक आध विशेषण ही साभिप्राय हो तो वहाँ परिकरालंकार नहीं हुआ करता। इसी अभिप्राय को 'विशेषणैः' इस बहुवचन से सूचित किया है।

बहुल घटकों पर ही आधारित रहनेवाले जैसे—'दीपक', 'तुल्ययोगिता', 'यथासंख्य', 'कारणमाला', 'उत्तर', 'एकावली' आदि अलंकार हैं, वैसे ही यह 'परिकर' अलंकार भी 'बहुघटक' है। पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि -परिकर' अलंकार में यद्यपि 'अनेक साभिप्राय विशेषणों' की योजना करने से व्यंग्यार्थ पुष्ट होकर चमत्कार की प्रतीति अधिक मात्रा में होती है—'विशेषणाधिक्याद् व्यङ्ग्याधिक्ये चमत्काराधिक्यम्'—यह सच है, तथापि 'विशेषणों' के बाहुल्य' को ही 'परिकरालंकार' का स्वरूप मान लेना उचित नहीं है, क्योंकि 'एक साभिप्राय विशेषण से भी काव्य में चमत्कार की प्रतीति का होना सर्वानुभव सिद्ध है। जैसे—

'मन्त्रैर्मीलितमौषधैर्मुकुलितं त्रस्तं सुराणां गणैः
स्रस्तं सान्द्रसुधारसैर्विदलितं गारुत्मतग्रावभिः।
वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोक-कल्लोलिनि
त्वं पापं तिरयाधुना भवभयव्यालावलीढात्मनः' ॥

कवि 'भगवती गंगाजी' की प्रार्थना कर रहा है—

मेरे ताप को दूर करने में मन्त्र–औषधियों ने (जड़ी–बूटियों ने) तो अपने हाथ टेक दिये। संसार-सर्प के दंश से विह्वल होनेवाले मेरे ताप का शमन, अब हे गंगे! तू ही कर।

इस पद्य में 'वीचिक्षालितकालियाहितपदे'—यही एकमात्र विशेषण 'साभि-प्राय' है। 'कालिया जैसे महान् भयंकर सर्प को कुचलदेनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का प्रक्षालन अपनी जलतरंगों से तुमने किया है। उस कारण विषनिवारण करने का सामर्थ्य तो तुम्हारा है ही, तब मेरे शरीर में सर्वत्र व्याप्त हुए संसारसर्प के विष को निवारण करना तुम्हारे लिये कोई कठिन नहीं है॥ उपर्युक्त विशेषणगत यह अभिप्राय किस सहृदय को सन्तुष्ट नहीं करेगा? एवं च 'साभिप्राय एक विशेषण' से भी 'परिकर' में चमत्कृतिजनकता आजाने से उसे 'अलङ्कार' कहने में कोई रुकावट नहीं है। प्रदीपकार ने कहा भी है—"वयं तु आलोचयामः—तादृशैक-विशेषणोपन्यासेऽपि अलंकारत्वमुचितम्। अपुष्टार्थत्वविरहस्य निर्विशेषणतयापि उपपत्तेः अर्थसिद्धत्वाभावात्, वैचित्र्यस्य च अनुभवसिद्धत्वात्"।

(३७ व्याजोक्तिऽलंकारः)

(१८४) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥११८॥

उद्योतकार अपने विवरण में बताते हैं कि 'सन्ध्यावन्दन' करना यह 'नित्य कर्म' है। अर्थात् उसके करने से कोई पुण्योत्पत्ति' नहीं होती, किन्तु न करने से 'पाप' की उत्पत्ति तो अवश्य ही होती है तथापि 'सांग सन्ध्यावन्दन' पुण्यप्रद ही माना जाता है, क्योंकि 'पापपरिहार' तो संक्षिप्त (स्वल्प) हैं, वह सन्ध्यावन्दन से भी हो सकता है, उसी प्रकार यहां भी है—

"यथा नित्ये सन्ध्यावन्दनादौ दोषाभावस्य अङ्गवैकल्येऽपि सिद्धौ साङ्गतत्करणं फलातिशयायैव" ॥

जयदेव आदि कतिपय आलंकारिकों ने 'साभिप्राय विशेष्य' से निष्पन्न होने वाले 'परिकरांकुर' को 'परिकर' से भिन्न बताया है। अप्पय दीक्षित ने उसका उदाहरण भी दिया है—

"फणीन्द्रस्ते गुणान् वक्तुं लिखितुं हैहयाधिपः।
द्रष्टुमाखण्डलः शक्तः क्वाहमेष क्व ते गुणाः" ॥

यहाँ पर पुराण-प्रसिद्ध 'फणीन्द्र' की सहस्रमुखता, 'हैहयाधिप' (सहस्रार्जुन) की सहस्रभुजता और 'आखण्डल' की (इन्द्र की) सहस्रनेत्रता में तात्पर्य है। उद्योतकार ने 'मम्मटोक्त 'परिकर' के लक्षणगत 'विशेषण' शब्द, अर्थविस्तार के द्वारा 'बिशेष्य' बोधक भी हो सकता हैं, कहकर 'परिकुरांकुर' का समावेश 'परिकर' में ही किया है।

निदर्शनकार के कथनानुसार 'यहीं तक मम्मट भट्ट की कृति है'। कहा भी है—
'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितःशेषो विधायाल्लटसूरिणा" ॥

इसके 'आगे का अंश' अल्लटाचार्य की कृति है। अर्थात् मम्मटकृत 'काव्य-प्रकाश' की पूर्णता (समाप्ति) यहीं पर हो जाती है॥

॥ श्री मम्मटभट्टविरचित-'काव्यप्रकाशः' समाप्तः ॥

अब इसके आगे का 'ग्रन्थ-भाग' अल्लटसूरि का है—यह समझा जाता है।

(३७ व्याजोक्ति अलङ्कार)

(सू० १८४) व्याजोक्तिरिति। उद्भिन्न अर्थात् सर्वसाधारण जनता में प्रकाशित हुई वस्तु के स्वरूप को किसी बहाने से (व्याजोक्ति से) जहाँ छिपाया जाता है (निगूहन किया जाता है) वहाँ 'व्याजोक्ति'—नाम का अलंकार होता है।

निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषाऽपह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्। उदाहरणम्—

निगूढमपीति। वस्तु का स्वरूप छिपा हुआ ही था, किन्तु किसी प्रकार से जनता में प्रकट हो जाय, फिर भी किसी बहाने से उसे छिपाने का जब प्रयत्न किया जाता है, तब यह 'व्याजोक्ति' नाम का अलंकार होता है ॥ 'अपह्नुति' अलङ्कार से 'व्याजोक्ति' का भेद दिखाते हैं—

न चैषेति। इस 'व्याजोक्ति' को 'अपह्नुति' अलङ्कार नहीं कह सकते। क्योंकि 'अपह्नुति' अलङ्कार में 'प्रकृत' और 'अप्रकृत' अर्थात् उपमेय और 'उपमान' का साम्य विवक्षित रहता है। उस साम्य के द्वारा ही 'उपमेय' का अपह्नव किया जाता है। किन्तु 'व्याजोक्ति' में 'प्रकृत' तथा 'अप्रकृत' का 'साम्य' नहीं होता है—साम्यमूलकापह्नवोऽपह्नुतिः', किन्तु यहाँ 'व्याजोक्ति' में तो 'साम्य' की विवक्षा नहीं होती, क्योंकि प्रकृत एवं अप्रकृतनिष्ठ साम्य का होना यहां सम्भव नहीं है—यही दोनों मे भेद है। अभिप्राय यह है कि 'अपह्नुति' में जैसे—'नेदं मुखम्, अयं चन्द्रः'—में छिपाई हुई प्रकृत वस्तु (मुख), और उसके स्थानापन्न की हुई 'अप्रकृत वस्तु' (चन्द्र), दोनों में 'साम्य' अर्थात् औपम्य (उपामान-उपमेयभाव = यह मुख, चन्द्र के सदृश है) अभीष्ट रहता है, किन्तु 'व्याजोक्ति में यह सम्भव नहीं है।

भामह, उद्भट, रुद्रट प्रभृति आलङ्कारिकों ने प्रस्तुत अलङ्कार को नहीं बताया है। वामन ने व्याजोक्ति' का निर्देश 'मायोक्ति' कह कर किया है, और उसे 'औपम्याधिष्ठित' माना है। क्योंकि 'उपमा' को छोड़कर वामन ने जो अट्ठाईस अलङ्कारों का उल्लेख किया है वह उपमा के प्रपञ्च के रूप में ही किया है। दण्डी ने 'व्याजोक्ति' को 'लेश' के नाम से कहा है 'लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्'—(२।२६५)। रुय्यक और विश्वनाथ ने 'व्याजोक्ति' का लक्षण प्रायः मम्मट के अनुसार ही किया है, किन्तु उन्होंने इस अलंकार को 'औपम्याधिष्ठित' माना है, किन्तु मम्मट ने वैसा नहीं माना है। व्याजोक्ति का उदाहरण, जैसे—शिव-पार्वती के विवाह प्रसङ्ग में घटित हुई एक मधुर घटना का यह वर्णन कवि ने किया है—शैलेन्द्रेति। जामाता भगवान् शिव, अपने वाहन नन्दी (बैल) के पीठ पर बैठे हुए ससुराल पधारे हैं। आने के पश्चात् सीमान्त-पूजन आदि प्राथमिक विधि हुई। विवाह में पौरोहित्य करने का कार्य सप्तर्षियों ने किया था। विवाह की धार्मिक विधि का प्रारम्भ हुआ, पाणिग्रहण का समय आ पहुँचा।

पुरोहित के द्वारा सूचना पाते ही 'हिमालय (पिता) ने अपनी कन्या का हाथ,

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥ ५२० ॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ सैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः ।

भगवान् शिव (जामाता) के हाथ में दिया । पार्वती के हाथ को अपने हाथ में लेते हुए भगवान् शिव को चिरकाल से अभीप्सित श्रेय और प्रेय के लाभ की अस्फुट जानकारी हुई और शिव के हृदय में प्रेम का समुद्र उमड़ पड़ा । इतनी जोर से उमड़ पड़ा कि शिवजी के अंग-अंग से वह फूट-फूट कर बाहर आने लगा । शिव के हाथ में कम्प होने लगा, शरीर पर रोमाञ्च उभर आये । उनके 'मन' में रहने वाली 'अमूर्त रति', सात्त्विक भावों के रूप में मूर्त हो उठी । धार्मिक विधि की ओर से शिव के मन का अवधान छूट गया । पुरोहितों के वचन भी उन्हें सुनाई नहीं पड़ रहे थे । सुनाई देने पर भी समझने में नहीं आ रहे थे । समझ में आ भी जाँय तो उनका पालन नहीं हो पा रहा था । अग्नि की प्रदक्षिणा करने के लिये कहने पर वे 'पार्वती' की ही प्रदक्षिणा करने लगे । पश्चिम की ओर मुख करने के लिये कहने पर वे पार्वती को ही 'पश्चिम' समझने लगे । ऐसी मनोरञ्जनपूर्ण क्रियाओं को देखकर शिव-पार्वती के चारों ओर खड़ी हुई अन्तःपुर की स्त्रियाँ, दोनों वधू-वरों की छोटी से छोटी हलचलों को भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देख लिया करतीं थीं और मन ही मन हँसतीं थीं, क्योंकि जोर से हसने पर जमाता का अपमान होगा । उनकी सस्मित मुखाकृतियों को देखकर शिवजी को लगा कि अपनी प्रणय-लीला को इन लोगों ने भाँप लिया है । तब तत्काल ही शिवजी ने अपने को सम्हाल लिया और कहने लगे कि—हिमालय के हाथ कितने ठण्डे (शीतलतर) हैं ! ठण्डक से मुझे कँप-कपी भर आई है । यह कह कर उन्होंने यह जताया कि मेरे हाथों में कंप और शरीर पर रोमाञ्च उभर आने का कारण अन्य कुछ न होकर हिमालय के शीतलतर हाथों का स्पर्श ही है । किन्तु चारों ओर घेर कर खड़ीं हुईं स्त्रियाँ अच्छी तरह से जान रही थीं कि शिवजी (जामाता) बात कैसी बना रहे हैं । शिवजी की उस बनावटी बात पर स्त्रियों का और भी मनोरञ्जन हुआ । शिवजी (जामाता) के मन की हल-चल को अच्छी तरह समझनेवाली शैलान्तःपुरस्थस्त्रियों के द्वारा तथा ब्राह्मी आदि मातृमण्डल और नन्दी आदि गणों के द्वारा हँसी—मनोविनोद के साथ देखे गये शिवजी तुम्हारी—हमारी सबकी रक्षा करें ॥५२०॥

अत्रेति । इस वर्णन में पार्वती विषयक शिव का प्रेम, कंप, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव के रूप में जब प्रकट हो गया तब हिमालय के हाथों की शीतलतरता का बहाना

(निमित्त) बताकर उन कंप-रोमाञ्चादि सात्त्विक भावों को कैसे छिपाया है—यह बताया गया है, इसलिये यह 'व्याजोक्ति' है ॥

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'सात्त्विक भावों' का अन्तर्भाव, रसप्रक्रियागत 'अनुभावों' में किया है। उनका परिगणन भरत मुनि ने इस प्रकार किया है—

'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरसादोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः' ॥
— (ना० शा० ७।९२, विश्वनाथ ३।१३५-३६)

'सत्त्व' अर्थात् मन की (उत्कट भावनाओं में) एकाग्रता ('सत्त्वं चित्तैकाग्र्यम्'—अभिनवगुप्तपाद।) के कारण उत्पन्न होने वाले विशिष्ट विकारों (परिणाम) को 'सात्त्विक भाव' कहते हैं। वे हर्ष-अमर्ष आदि विकार, अनेक कारणों से एक-एक करके अथवा सामूहिकरूप में उत्पन्न हुआ करते हैं, और उनका स्वरूप—'निश्चलता, धर्म (पसीना), रोमाञ्च, गला भरआना, शरीर में कम्प होना, रङ्ग का पलट जाना, आँसू आना, शरीर का सुन्न हो जाना आदि—बताया गया है।

प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट भट्ट ने व्याजोक्ति का 'विवरण' जो वृत्ति में किया है, उस पर अरुचि प्रदर्शित करते हुए प्रदीपकार ने भी कहा है कि 'वयं तु—पुलक-वेपथुभ्यां सात्त्विकाभ्यां प्रकाशिता गूढा रतिः तयोः शैत्यकारणताप्रकाशनेन अपह्नुता, इति व्याजोक्तिरियम्'[8]।

शंका—प्रस्तुत उदाहरण में 'शैत्य' का विधान करके शिव-पार्वतीविषयक प्रेमका अपलाप किया गया है, उसकारण प्रस्तुत उदाहरण को 'अपह्नुति-ध्वनि का अथवा आर्थी 'अपह्नुति' का क्यों न माना जाय ? यद्यपि यहाँ साक्षात् निषेधवाचक 'न' आदि पद नहीं है, अथवा अप्रत्यक्षतया निषेधबोधक 'व्याज, मिष' जैसा भी कोई पद नहीं है, तथापि 'पुलक-वेपथु' का कारण 'प्रेम' तो स्पष्ट ही है, किन्तु उसका कारण 'शैत्य' बताया जा रहा है, उससे परम्परया क्या 'प्रेम' का निषेध नहीं हो रहा है ? इस प्रकार के उदाहरणों का अन्तर्भाव आर्थी अथवा ध्वनिरूप अपह्नुति में किया जा सकता है। तब 'व्याजोक्ति' को पृथक्तया स्वतंत्र अलंकार मानने की क्या आवश्यकता ?

समाधान—उक्त आशंका का समाधान मम्मट ने यह दिया है कि यहाँ पर यद्यपि 'प्रेम' का अपलाप और उसके स्थानापन्न 'शैत्य' का विधान किया गया है, तथापि 'प्रेम' और 'शैत्य'—दोनों में 'उपमानोपमेयभाव' अभिप्रेत नहीं है। यहाँ पर 'प्रेम' का 'शैत्य' के साथ क्या हृद्य साधर्म्य है ? जिससे कवि 'अपह्नुति' के अभिप्राय से वह कह सकेगा कि 'पुलक-वेपथुकारणं न प्रेम, किन्तु शैत्यम्'। अपह्नुति में तो 'न इदं मुखम्, किन्तु चन्द्रः'—इस प्रकार के अपह्नुतिस्वरूप मुखविषयक विधान में मुख और

चन्द्र दोनों का विलक्षण साधर्म्य ही अभिप्रेत रहता है और उनका अनुभव भी होता है। उस कारण इसप्रकार के विधानगत वैचित्र्य का स्वरूप प्रस्तुत उदाहरण में प्रतीयमान वैचित्र्य के स्वरूप से बिलकुल ही भिन्न है। 'अपह्नुति' का सौन्दर्य, 'उक्तिवैचित्र्य' पर आधारित रहता है, और 'व्याजोक्ति' का सौन्दर्य 'प्रसंगवैचित्र्य' पर अवलम्बित रहता है।

रुय्यक आदि अलंकारशास्त्रियों ने 'व्याजोक्ति' अलंकार को औपम्याधिष्ठित माना है। उनका कहना है कि जहाँ पर दो पदार्थों में परस्पर सादृश्य-प्रतीति कराने के लिये उन दो पदार्थों में से 'प्रकृत-पदार्थ' के स्वरूप को छिपाया जाता है (सादृश्याय अपह्नवः), वहाँ पर 'अपह्नुति' अलंकार होता है, और जहाँ पर किसी वस्तु (पदार्थ) का स्वरूप छिपाने के लिये उस वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सादृश्य बताया जाता है (अपह्नवाय सादृश्यम्), वहाँ पर 'व्याजोक्ति' अलंकार होता है।

'व्याजोक्ति' अलंकार को न मानने वाले उद्भट के मत में ये दोनों पर्याय 'अपह्नुति' में ही समाविष्ट रहते हैं—इस बात को रुय्यक ने 'श्लेष' अलंकार का विवेचन करते समय उद्भट का नामग्रहण किये बिना, और 'व्याजोक्ति' का विवेचन करते हुए उससे नामग्राहपूर्वक कहा है। एवंच जहाँ 'अपह्नवाय सादृश्यम्' की स्थिति रहती है, तब जयदेवोक्त 'छेकापह्नुति' अलंकार, रुय्यक के मतानुसार 'व्याजोक्ति' अलंकार में समाविष्ट होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ में 'छेकापह्नुति'—इस नाम से तो नहीं, लेकिन 'अपह्नुति' के एक प्रकार के रूप में उसे बताया है और उसको 'व्याजोक्ति' से भिन्न बताया है। क्योंकि 'अपह्नुति' के इस प्रकार में छिपाई गई वस्तु की सूचना छिपाने वाले के द्वारा पहिले से ही दी हुई रहती है, किन्तु 'व्याजोक्ति' में पहिले से ही वैसी सूचना नहीं रहती है। लेकिन दोनों के ही विवेचन में उसने 'औपम्य' का नाम तक नहीं लिया है। मम्मट ने 'छेकापह्नुति' का कहीं उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु उद्योतकार आदि व्याख्याकारों ने उसका अन्तर्भाव 'अपह्नुति' अथवा 'व्याजोक्ति' में होता है—यह कहा है। 'अपह्नुति' और 'व्याजोक्ति' दोनों अलंकारों का वैशिष्ट्य 'छेकापह्नुति' में रहता है। मम्मट की दृष्टि से 'अपह्नुति' और 'व्याजोक्ति' में भेद है।

शोभाकर ने 'उद्भेद–प्रच्छादनं व्याजोक्तिः'—यह लक्षण 'व्याजोक्ति' का किया है। और उसके चार प्रकार बताये हैं—(१) उद्भेद (गोप्यस्फोट), (२) उत्पन्न अर्थात् प्रत्यक्षघटित होने वाला अथवा 'आशंक्यमान' अर्थात् उसके घटित होने की आशंका हो, तथा उसका 'प्रच्छादन' (छिपाना) कुछ बहाना बनाकर किया हो अथवा विना कुछ कहे 'कृति' से किया हो। 'उद्भेद' और 'प्रच्छादन, इन दोनों में से प्रत्येक के दो प्रकार परस्पर सम्बद्ध करने पर 'व्याजोक्ति' के चार प्रकार होते हैं—(१) उत्पन्न

(३८ परिसंख्याऽलंकारः)

(१८५) किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसङ्ख्या तु सा स्मृता ॥ ११२॥

उद्भेद (वचन से प्रच्छादन),(२) उत्पन्न उद्भेद (कृति से प्रच्छादन), (३) आशंक्यमान उद्भेद (वचन से प्रच्छादन), (४) आशंक्यमान उद्भेद (कृति से प्रच्छादन) । मम्मट का दिया हुआ उदाहरण (शैलेन्द्रप्रतिपाद्य), इन चारों में से 'पहिले प्रकार' में और 'आयान्तमालोक्य' उदाहरण, दूसरे प्रकार में आता है । अवशिष्ट प्रकारों की कल्पना—'गृहपते ! गतोऽस्माकं शरणं रक्षैतमित्यसती भणनशीला । सहसागतस्य त्वरितं पत्युरेव जारमर्पयति' ॥ अत्र आशङ्क्यस्य उद्भेदस्य आदौ एव शरणागतोक्त्या प्रच्छादनम् । इस उदाहरण से हो सकती है ।

पति गांव चला गया है—यह जानकर कोई कुलटा स्त्री अपने जारपति को क्रीडा के निमित्त निर्भय होकर(खुलेआम)घर ले आई,किन्तु उसका 'पति' किसी काम से अकस्मात् घर वापस आ गया, और उसने उस परपुरुष को देखा । तब अपनी गुप्त बात प्रकट हो जायगी, यह देखते ही उस 'अशिक्षितपटु' धूर्त स्त्री ने उस जार को पति के ही हवाले कर दिया और कहने लगी कि—'यह बेचारा विपत्तिग्रस्त आदमी, अपने यहाँ आश्रय पाने की इच्छा से आया है, इसे आप अवश्य बचायेंगे न ?'

व्याजोक्ति को बताने के बाद उद्योतकार ने 'गूढोक्ति, विवृतोक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, युक्ति, प्रौढोक्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसिति'—अप्पयदीक्षित के द्वारा बताये गये इन अलंकारों का 'ध्वनि' में अथवा मम्मटोक्त अलंकारों में समावेश किया है। इनमें से 'लोकोक्ति' को अलंकार न मानकर उन्होंने 'युक्ति' अलंकार को 'व्याजोक्ति' में समाविष्ट किया है । अप्पयदीक्षित ने 'युक्ति' अलंकार के सम्बन्ध में यह कहा है कि

> 'युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया मर्मगुप्तये ।
> त्वामालिखन्ती दृष्ट्वाऽन्यं धनुःपौष्पं करेऽलिखत्' ॥१५६॥

अत्र पुष्पचापलेखनक्रियया "मन्मथो मया लिखितः" इति भ्रान्त्युत्पादनेन स्वानुरागरूपमर्मगोपनाय परवञ्चनं विवक्षितम् ।

(३८ परिसंख्या अलंकार)

(सू० १८५) किञ्चिदिति । पूछने पर या बिना पूछे भी कही गयी बात, जो उसी प्रकार की दूसरी वस्तु के निषेध में यदि पर्यवसित होती है, तो उसे 'परिसंख्या' कहते हैं ॥११९॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या। अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं, तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथोभयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता-वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

'यत् किञ्चित् कथितं तादृगन्यव्यपोहाय प्रकल्पये सा 'परिसंख्या' स्मृतेतिशेषः। इतना भाग लक्षणात्मक है और 'पृष्टम् अपृष्टं वा'—यह अंश, प्रस्तुत अलंकार के प्रकार को बता रहा है। जब कोई एक वस्तु ऐसी है, जिसको किसी ने पूछा अथवा किसी ने नहीं भी पूछा, उसको यदि कोई कह दे, तो वह पृष्ट एवं अपृष्ट रहती हुई भी कथित वस्तु अपनी जैसी ही अन्य वस्तु का व्यपोहन करने के लिए जब समर्थ रहती है, तब प्रस्तुत 'परिसंख्या' अलंकार होता है। अर्थात् जब कोई बात, किसी विशिष्ट सन्दर्भ में कही जाय, और उस कथन से उसी संदर्भ में दूसरी किसी उस जैसी ही बात का परिहार हो जाय, तब यह अलंकार होता है।

प्रमाणान्तरेति। शास्त्र-पुराणादिरूप प्रमाण से ज्ञात हुई वस्तु को भी शब्द से कह दिया जाय, (अनूदित किया जाय) किन्तु उस कहने का कोई प्रयोजन दिखाई नहीं दे रहा है, तब शब्द से कथित वह वस्तु, अपनी जैसी अन्य वस्तु के व्यवच्छेद (व्यावर्तन) करने के लिए पर्यवसित होती है, क्योंकि स्वसदृशवस्त्वन्तर व्यवच्छेदरूप जो प्रयोजन, उसकी अपेक्षा प्रयोजनान्तर कोई नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रमाणान्तर से प्राप्त का अनुवाद व्यर्थ हो जायगा, अतः परिशेषात् अन्य की व्यावृत्ति करता है। इसी अभिप्राय को उद्योत में कहा गया है—"प्रयोजनाभावादिति"। अनुवादस्य प्रयोजन-साकांक्षतया अन्यव्यावृत्तिरेव प्रयोजनमित्यर्थः। 'अपपरीवर्जने (पा० १।४।८८) के अनुसार 'परिसंख्या' में 'परि' शब्द, वर्जनार्थक है। ["परेर्वर्जने"— (पा०सू० ८।१।५) वर्जनरूप अर्थ द्योत्य रहने पर 'परि' शब्द को दो बार (द्विर्वचन) कहा जाता है। जैसे—'परि-परि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः'—वङ्ग देश को छोड़कर—'वङ्गान् परिहृत्येत्यर्थः'] तथा 'संख्या' शब्द का अर्थ है—'बुद्धि'। गीता में कहा है—"यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते"। तथा 'धीरो मनीषीज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः'। निष्कर्ष यह निकला कि 'वर्जनबुद्धि' (परिहारज्ञान) को परिसंख्या शब्द से कहा जाता है। 'परिसंख्या' यह संज्ञा, अन्वर्थक है। एवंच प्रश्नपूर्विका और अप्रश्नपूर्विकाके भेद से द्विविधा परिसंख्या भी प्रतीयमान व्यवच्छेद्या और वाच्यव्यवच्छेद्या के भेद से उसके चार भेद हो जाते हैं। जहाँ कवि-प्रतिभा से कल्पित इतरव्यावृत्ति होती है, वहीं पर वह अलंकार का रूप धारण करती है। उसकारण 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादि शास्त्रीय परिसंख्या को अलंकार नहीं कहा जाता।

(प्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥ ५२१ ॥

अब प्रश्नपूर्विका प्रतीयमानव्यवच्छेद्या परिसंख्या का उदाहरण देरहें हैं—किमासेव्यमिति । 'मनुष्यों को किसका सेवन करना चाहिए ? यह प्रश्न है ।

इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—'गंगाजी के उत्तम तट का । अर्थात् अन्य नदियों के तट अथवा कामिनी के नितम्बादि का सेवन नहीं करना चाहिए तथा एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए ?

इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—कौस्तुभ धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण के चरणयुगल का ध्यान करना चाहिए, अन्य किसी स्त्री आदि का ध्यान नहीं करना चाहिए ।

किसकी अराधना करनी चाहिए ?

इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—पुण्य की अराधना करनी चाहिए, अर्थात् 'पाप' की नहीं ।

किसकी कामना करनी चाहिए ?

इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—करुणा की कामना करनी चाहिए अर्थात् अन्य हिंसा आदि की कामना नहीं करनी चाहिए ।

क्योंकि गंगा आदि महानदी में प्रेम (आसक्ति) करने से मनुष्य का चित्त सदा-सर्वदा के लिय मुक्ति को प्राप्त कर सकता है ॥५२१॥

यहाँ पर 'गंगातट' तथा श्रीकृष्ण के चरणयुगल आदि का सेव्यत्व तो पुराणादि में प्रसिद्ध ही है, इसलिए उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करना, इस पद्य का उद्देश्य (प्रयोजन) नहीं है, अपितु उनसे भिन्न स्त्री-नितम्ब आदि अन्य सांसारिक पदार्थों की सेव्यता (आसक्ति) का निषेध करने के लिए इस पद्य की रचना की गई है । इसलिए यह पद्य प्रश्नपूर्वक व्यंग्यव्यवच्छेद्य 'परिसंख्या' का उदाहरण है ।

२—प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण—किं भूषणमिति । इस संसार में चिरस्थायी रहनेवाला अलंकार कौन सा है ? यह प्रश्न है ।

उत्तर—'यश' ही चिरस्थायी रहनेवाला अलंकार है । 'रत्न' आदि धन,चिरस्थायी नहीं हैं ।

(२ प्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥ ५२२ ॥

(३ अप्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥ ५२३ ॥

प्रश्न—मनुष्य को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—सज्जनों द्वारा किया जानेवाला 'पुण्यकर्म' ही करने योग्य है । 'पापकर्म' नहीं करना चाहिए ।

प्रश्न —व्यवहित वस्तु को भी देखनेवाला वह कौन सा नेत्र है ? अर्थात् सर्वदर्शक नेत्र कौन सा है ?

उत्तर—बुद्धि ही सर्वदर्शक नेत्र है—चर्मचक्षुरूप नेत्र नहीं ।

इस प्रकार उत्तर देनेवाले के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर प्रश्न करनेवाला उत्तर देनेवाले की प्रशंसा करते हुए कहता है कि तुम्हारे सिवाय उत्कृष्ट-निकृष्ट (भले-बुरे) के भेद को पहिचाननेवाला अन्य कौन हो सकता है ॥५२२॥

इस पद्य की रचना का उद्देश्य यशः प्रभृति पदार्थों को भूषण बताना नहीं है । उनका भूषणत्व तो आगमादिकों से सर्वविदित ही है । इस पद्य रचना का उद्देश्य तो यशोभिन्न रत्न आदि की 'अभूषणता' अर्थात् चिरस्थायित्व का निषेध करना ही है । यह निषेध, प्रश्नपूर्वक किया गया है, और जिसका निषेध किया गया है, वह रत्न आदि भी यहाँ शब्दतः उपात्त (कथित) होने से 'वाच्य' हैं, इसलिये यह प्रश्नपूर्वक 'वाच्यव्यवच्छेद्य' परिसंख्या का उदाहरण है ।

३—प्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण—

कौटिल्यमिति । हे प्रिये ! तुम्हारे केशपाश में ही 'कुटिलता' (वक्रता = घुंघरालापन) निवास करती है, अर्थात् 'हृदय' में कुटिलता (कपट) नहीं हैं । तथा तुम्हारे कर (हाथ), चरण (पैर) और अधरों (अधरोष्ठ) में ही राग (लालिमा=रक्तिमा) है, अर्थात् 'पर-पुरुष' में राग (प्रेम) नहीं है । तथा तुम्हारे कुचयुगल में ही कठोरता (काठिन्य) है, अर्थात् 'हृदय' में कठोरता (निर्दयता) नहीं है । तथा तुम्हारे नयनों में ही तरलता अर्थात् चञ्चलता निवास करती है, अर्थात् 'मन' में तरलता (अविचार्य-कारित्व) नहीं है ॥५२३॥

(अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेद्या परिसंख्या)

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥ ५२४ ॥

इस वर्णित अभिप्राय के कारण यह पद्य 'परिसंख्या' अलंकार का उदाहरण है। इसमें जिनका निषेध किया गया है, उनका शब्दतः ग्रहण नहीं किया है, और न प्रश्नोत्तर के रूप में कहा गया है। इसलिए यह अप्रश्नपूर्विका व्यङ्ग्यव्यवच्छेदिका परिसंख्या का उदाहरण है।

४—अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेदिका परिसंख्या का उदाहरण—

भक्तिरिति। प्रायः महापुरुषों की परमेश्वर में 'भक्ति' हुआ करती है, 'सम्पत्ति' में नहीं, महापुरुषों को शास्त्रों में रुचि (व्यसन) होती है, कामदेव के अस्त्ररूप युवतियों में रुचि (व्यसन) नहीं होती, महापुरुषों को 'यश' की ही चिन्ता रहा करती है, शरीर की चिन्ता नहीं ॥५२४॥

यहाँ पर जिनका निषेध किया गया हैं उन 'विभव' आदि का शब्दतः ग्रहण किया गया है और प्रश्न किये बिना ही बात बतायी जा रही है, इसलिए 'अप्रश्नपूर्विका वाच्यव्यवच्छेदिका 'परिसंख्या' का यह उदाहरण है।

एवंच मम्मट ने 'परिसंख्या' अलंकार के चार प्रकार बताये हैं—

परिसंख्या—(क) प्रश्नपूर्वक—१ (अ) प्रतीयमान (= आर्थी) व्यावृत्ति।
२ (आ) वाच्य (= शाब्दी) व्यावृत्ति।
(ख) प्रश्नरहित—३ (अ) प्रतीयमान (= आर्थी) व्यावृत्ति।
४ (आ) वाच्य (= शाब्दी) व्यावृत्ति।

परिसंख्या अलंकार के प्रश्नपूर्वक और प्रश्नरहित प्रकारों को रुद्रट ने भी बताया है। किन्तु अन्य वस्तु की व्यावृत्ति को साक्षात् शब्द के द्वारा किया जाना अथवा न किया जाना—इन दो भेदों में से प्रत्येक के दो अवान्तर भेदों को प्रथमतः मम्मट ने ही बताया है। मीमांसाशास्त्र में 'परिसंख्या' के 'श्रौती' और 'लाक्षणिकी' दो भेद किये जाते हैं, उसी आधार पर कदाचित् 'परिसंख्या' अलंकार के 'शाब्दी' और 'आर्थी'—इन अवान्तर भेदों की कल्पना की गई हो यह प्रतीत होता है। व्यावर्त्य वस्तु का उसके वाचक शब्द से उल्लेख करके निषेध यदि किया हो, अथवा विधेय वस्तु का 'एव' पद से निर्देश किया हो तो 'परिसंख्या' को 'शाब्दी कहा जाता है, और केवल विधेयमात्र का निर्देश हो तो परिसंख्या को 'आर्थी' कहा जाता है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'[1] इस वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट 'परिसंख्या' आर्थी है और मीमांसकों के मतानुसार 'लाक्षणिकी' है।

रुय्यक ने 'श्लेषसम्पृक्तत्वमस्या अत्यन्तचारुत्वनिबन्धनम्' कहकर 'श्लेषाश्रित परिसंख्या' को बताते हुए उसकी अत्यधिक सुन्दरता को भी बताया है।

मीमांसाशास्त्र में विधि के अनेक प्रकार बताये हैं। उन्हीं में प्रस्तुत अलंकार का मूल निहित है। मीमांसाशास्त्र में विधि (प्रवर्तक विधान) के तीन भेद बताये गये हैं—(१) अपूर्वविधि, (२) नियमविधि, (३) परिसंख्याविधि। इन्हीं को क्रमशः 'विधि, नियम, परिसंख्या' शब्द से भी कहा गया है। जैसे—'कोई क्रिया, किसी फल-विशेष की साधन है'—यह किसी प्रमाण के द्वारा नहीं कहा गया है, उस क्रिया को किसी फल-विशेष का साधन बताकर उस क्रिया को करने के लिए कहना—इसे ही 'अपूर्व-विधि' कहते है। जैसे—'स्वर्गकामो यजेत'—यह वेद का वाक्य है। स्वर्गफल की प्राप्ति का साधन 'याग' है। यह बात वेदवाक्य के सिवाय अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं बतायी गई है। अतः स्वर्ग के लिये 'याग' करने की प्रेरणा देनेवाला उपर्युक्त वेदवाक्य ही है। इसलिए उस वेदवाक्य को 'अपूर्वविधि' कहा गया है।

जब किसी फल की प्राप्ति अनेक उपायों (साधनों) से हो सकती है, तब अपने अभीष्ट उपाय को ही बतानेवाले वाक्य को 'नियमविधि' कहते हैं। जैसे 'समे देशे यजेत' यह नियमविधि है। क्योंकि जब वेदवाक्य ने 'याग' करने के लिये कहा, तब वह किसी न किसी देश (जमीन) पर ही किया जायगा—यह स्वाभाविक ही है। जमीन समतल या ऊँची-नीची भी हो सकती है। दोनों प्रकार की जमीन दिखाई देने पर कहा जाता है कि "याग समतल भूमि पर ही करो"—यही नियमविधि है। तथा चिकित्सक ने कहा 'पानी छानकर पीना', क्योंकि पानी पीने की प्रवृत्ति तो स्वाभाविक ही है, पानी पीनेवाला छानकर अथवा बिना छाने भी पी सकता है। किन्तु चिकित्सक ने पानी को छानकर पीने का बन्धन लगा दिया, उसकारण 'पानी छानकर पीओ'—यह वाक्य नियमविधि है।

जब एक ही समय में अनेक उपायों से कोई एक प्रयोजन सम्पन्न करना संभव हो तब किसी एक उपाय को अपनाकर अन्य अनेक उपायों का परिहार करना 'परिसंख्या-विधि' कहलाता है। जैसे—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'—(पाँच नखवाले पाँच प्राणी भक्षण करने योग्य हैं) मांसभक्षी की मांस के खाने में प्रवृत्ति स्वाभाविक ही रहती है। इसलिए इसे 'अपूर्वविधि' नहीं कह सकते। उसी तरह मांसभक्षी मनुष्य, शास्त्रनिर्दिष्ट पाँच पञ्चनख प्राणी तथा (शास्त्र) अनिर्दिष्ट पाँच पञ्चनख प्राणियों को भी खा सकता है। उसकारण इसे 'नियमविधि' भी नहीं कह सकते। इसलिए 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्य का अर्थ, यह किया जाता है—'निर्दिष्ट पञ्चनख प्राणियों के अतिरिक्त पञ्चनख प्राणियों (जैसे मनुष्य, बन्दर आदि) को न खाये। इस प्रकार अर्थ करने से निर्दिष्ट

पञ्चनख प्राणियों के अतिरिक्त अन्य पञ्चनख प्राणि को खाने का परिहार हो जाता है–उसकारण उपर्युक्त वाक्य को 'परिसंख्याविधि' कहा गया है। तथा 'सात्त्विक अन्न खाओ'—यह वाक्य भी 'परिसंख्याविधि' है, क्योंकि अन्न खाना तो स्वाभाविक ही है। खानेवाला सात्त्विक, राजस, तामस अन्न भी एक ही समय में खा सकता है। अतः 'सात्त्विक अन्न खाओ' इस वाक्य को अपूर्वविधि, या नियमविधि नहीं कह सकते। अतः उपर्युक्त वाक्य का अर्थ 'राजस-तामस अन्न मत खाओ'—यह किया जाता है। इसलिए यह परिसंख्याविधि है। उसी तरह 'सत्यं वद'—यह वाक्य भी परिसंख्याविधि ही है। मीमांसान्यायप्रकाश में तीनों प्रकार की विधियों का विवेचन आपदेवने अच्छी प्रकार से किया है 'साधनद्वयस्य पक्षप्राप्तौ अन्यतरस्य साधनस्य अप्राप्ततादशायां यः विधिः, सः नियमविधिः'। तन्त्रवार्तिक में भी (१।२।४)—

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥"

बताया गया है।

'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'–यह कथन केवल पञ्चनख प्राणियों के भक्ष्याभक्ष्य के सन्दर्भ में होने से 'अपञ्चनख प्राणियों को वहाँ प्राप्ति ही नहीं है, उसकारण उनका परिहार करने की कोई बात ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि इस वचन को अपञ्चनख प्राणियों के भक्षण का व्यावर्तक मानने पर अपञ्चनख कतिपय पशु-पक्षियों के मांस के भक्षण की अनुज्ञा स्मृति (मनु० ५।११।१८) ने दी है, उसकी गति किस तरह उपपन्न होगी ? वस्तु, स्थिति यह है कि भक्ष्याऽभक्ष्य का विवेचन करते समय मनुने 'पञ्चनख प्राणियों को न खाये'—यह सामान्य विधान किया है—

'न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा'॥—(मनु० ५।१७)

उसके अपवाद के रूप में प्रञ्चनख छह प्राणियों को भक्ष्य के रूप में बताया गया है—

'श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः'॥—(मनु० ५।१८)

याज्ञवल्क्य ने भी प्रायः इसीप्रकार कहा है–(याज्ञ० आचाराध्याय१७७)इससे स्पष्ट होता है कि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'–इस वाक्य से 'अपञ्चनख प्राणियों' की व्यावृत्ति न होकर 'पञ्चेतर पञ्चनख प्राणियों' के भक्षण को अर्थात् निर्दिष्ट पाँच पञ्चनख प्राणियों से अन्य पञ्चनख प्राणियों के भक्षण की व्यावृत्ति की जा रही है। अन्य कुछ ग्रन्थों में परिसंख्या का विवेचन करते समय 'पञ्चेतर पञ्चनख प्राणियों' की ही व्यावृत्ति कही गई है (न्यायकोश पृ० ४८६–८७)। अतः मीमांसान्याय प्रकाश की 'प्रभा' व्याख्या

में म०म० वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर महोदय ने उक्त वचन का तात्पर्य—'अपञ्चनखभक्षण की व्यावृत्ति'—जो बताया है,वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। सम्भव है कि 'पञ्च' शब्द की ओर उनका ध्यान नहीं पहुँच पाया हो। श्री झलकीकर जी ने भी टिप्पणी में उक्त उदाहरण का विवेचन करते हुए 'अपञ्चनख भक्षण' की ही व्यावृत्ति बताई है, किन्तु वह सब उपेक्षणीय ही समझनी चाहिये! इस प्रकार अपूर्व विधि, नियम विधि और परिसङ्ख्या विधि के क्षेत्र एक-दूसरे से पृथक् रहने पर भी अलङ्कारशास्त्र की दृष्टि से नियम और परिसङ्ख्या का भेद दुर्बोध्य होने के कारण अलङ्कारभूत 'परिसङ्ख्या' में 'नियम' का भी समावेश रुय्यक आदि आलङ्कारिकों ने स्वीकार कर लिया है। रुय्यक ने कहा है—'एकस्य अनेकप्राप्तौ एकत्र नियमनं परिसंख्या।··· ···अत्र च नियम परिसंख्ययोः वाक्यवित्प्रसिद्धं लक्षणं न आदरणीयम्, इति ख्यापनाय "नियमनं परिसंख्या" इति सामानाधिकरण्येन उक्तिः। अतएव पाक्षिकी अपि प्राप्तिः अत्र स्वीक्रियते, इति युगपत् सम्भावनं प्रायिकम्'—(रुय्यक)। इसी तरह पण्डितराज जगन्नाथ भी कहते हैं—'सामान्यः प्राप्तस्य अर्थस्य कस्माच्चित् विशेषात् व्यावृत्तिः परिसंख्या। नियमोऽपि अस्मिन् दर्शने निरुक्तलक्षणाक्रान्तत्वात् परिसंख्यैव। पाक्षिक प्राप्ति-युगपत्प्राप्तिरूपस्य अवान्तरविशेषस्य अविवक्षणात्। अतएव वैयाकरणानां मते परिसंख्यापि नियमशब्देन उच्यते'—(जगन्नाथ)।

शोभाकर ने 'विधि', 'नियम' 'परिसंख्या'—इन तीन अलंकारों को पृथक्-पृथक् बताया है। किसी प्रवर्तना (प्रेरणा) का कारण असम्भाव्य जहां रहता है, वहाँ उसके वाचक को 'विधि' कहते हैं। जैसे—

'पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत् त्रितये दिधीर्षां देवः करोति हरकार्मुकमाततव्यम् ॥'

सीता-स्वयंवर के समय जनक की शर्त (पण) पूर्ण करने के लिये भगवान् रघवेन्द्र रामचन्द्र ने शिव-धनुष्य को हाथ लगाया, तब उनके अतिमानुष कृत्य से भूमण्डल पर कुछ विलक्षण स्थिति हो जायगी, इस भय से कवि ने पृथ्वी को और उसके धारण करने वालों को सावधान रहने की सूचना दी है। यहाँ पर 'स्थिरा भव' इत्यादि प्रेरणाओं का कारणभूत जो 'हरकार्मुकसज्जीकरणजन्य पृथ्वी का चलन आदि का होना असम्भव है (सर्वथा कल्पित है)। अन्य प्रमाणों से अज्ञात (अप्राप्त) का अन्य-निषेधपर्यवसायी कथन करना 'नियम अलंकार' है। जैसे—

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं जानाति कस्त्वदपरः सदसद्-विवेकम्' ॥

यहां पर उक्त 'यशोभूषणत्व' आदि अप्राप्त हैं—यह शोभाकर का कहना है।

(३९ कारणमालाऽलंकारः)

(१८६) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात्,

'प्रमाणान्तर से ज्ञात का अन्य-निषेधपर्यंवसायी जो विधान उसे परिसंख्या' अलङ्कार कहा है । जैसे—

'विषमासु समरसीमासु येन त्यागैकरसिकहृदयेन ।
हस्तः प्रसारितो नूनं केवलं करवालग्रहणे' ॥

'अत्र खड्गग्रहणे करप्रसारणस्य नृपतेः ज्ञातस्य ज्ञापनं दैन्यादिसुलभत्वेन कर-प्रसारणनिषेधार्थम्'—(रत्नाकर) । शोभाकर ने 'प्रतिप्रसव', 'प्रसंग', 'तन्त्र'—इत्यादि शास्त्रीय-कल्पनाधिष्ठित अन्य अलङ्कारों को भी माना है । सभी अलङ्कारों के लिये 'चारुत्व' धर्म का होना आवश्यक है । उस कारण पञ्च पञ्चनाखाभक्षा:'—आदि वाक्यों में 'परिसंख्या' के रहने पर भी उन्हें 'परिसंख्या अलङ्कार' के उदाहरण नहीं माना जाता । तथापि काव्यगत 'परिसंख्या' को कवि-प्रतिभा-निर्मित रहने से उसे अलङ्कार में गिना जाता है । बाणभट्ट की कादम्बरी में श्लिष्ट-परिसंख्या को बहुत अच्छी तरह से बताया गया है । जैसे—'यस्मिश्च राजनि जितजगति परिपालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकराः, शास्त्रेषु चिन्ता स्वप्नेषु विप्रलम्भः, छत्रेषु कनकदण्डाः, ध्वजेषु प्रकम्पाः, गीतेषु रागविलसितानि, करिषु मदविकाराः, चापेषु गुणच्छेदाः, गवाक्षेषु जालमार्गाः, शशिकृपाणकवचेषु कलङ्काः, रतिकलहेषु दूतसम्प्रेषणानि, शार्यक्षेषु शून्यगृहाः, प्रजानामासन्'—(शूद्रकवर्णन) ।

(३९ कारणमाला अलङ्कार)

(सूत्र १८६) यथोत्तरमिति । जहाँ उत्तरोत्तरवर्ती (अगले-अगले) अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्ववर्ती (पहिले-पहिले) अर्थ, हेतु (कारण) रूप में बताये गये हों, वहाँ 'कारणमाला' संज्ञक अलङ्कार माना जाता है ।

यहाँ पर 'यथा' शब्द, 'वीप्सा' के अर्थ में है । अतः 'यथोत्तरम्' का अर्थ है—उत्तरोत्तर । इसलिये जब उत्तर-उत्तर अर्थ के प्रति, पूर्व-पूर्व अर्थ हेतु होता है तब कारणमाला होती है । तथा च यथोत्तरम् उत्तरमुत्तरमर्थं प्रति पूर्वस्य पूर्वस्य अर्थस्य हेतुता कारणत्वं चेत् पूर्वः पूर्वः अर्थः हेतुश्चेत् तदा 'कारणमाला' अलंकारः स्यात् इत्यर्थः । उद्योतकार कहते हैं कि यह उपलक्षण मात्र है । अतः 'यथापूर्वं परस्य परस्य कारणत्वे इत्यपि' बोध्यम् । जैसे—

'भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसम्भवम् ।
दारिद्र्यमप्रदानेन तस्माद् दानपरो भव' ॥

उत्तरमुत्तरम्प्रति यथोत्तरम् ।

उदाहरणम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥ ५२५ ॥

(हेत्वलंकारस्य मान्यतायाः खण्डनम्)

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतु' रिति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः । आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात् ।

यहाँ पर 'कथित-पदत्व' दोष की शंका नहीं करनी चाहिए । प्रत्युत पदान्तर के द्वारा उस अर्थ को बताने पर तत्व का प्रतिभान नहीं हो पाता है, उसकारण विवक्षित अर्थ की सिद्धि नहीं होती है ।

मालादीपक में उत्तरोत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ यद्यपि कारण (हेतु) है, तथापि सभी का अन्वय एक ही क्रिया से होता है, किन्तु कारणमाला में ऐसा नहीं है, उस कारण दोनों भिन्न-भिन्न अलंकार हैं ।

उत्तरमुत्तरम्प्रतीति । यहाँ 'उत्तरम् उत्तरम्प्रति' = अगले-अगले के प्रति—यह 'यथोत्तरम्' पद का समास (अव्ययीभाव) है तथा 'अर्थ' भी है । उदाहरण, जैसे—

जितेन्द्रियत्वमिति । इन्द्रियों के विजय से 'विनय' प्राप्त होता है, विनय से 'गुण-प्रकर्ष', गुणप्रकर्ष से 'जनता का अनुराग' और जनानुराग से 'सम्पत्ति' का लाभ होता है ॥५२५॥

यहाँ पर 'पूर्व-पूर्व' के प्रति 'उत्तर-उत्तर' की हेतुता (कारणता) वर्णित रहने पर भी 'कारणमाला' अलंकार ही माना गया है, क्योंकि 'उत्तर-उत्तर' के प्रति 'पूर्व-पूर्व' की हेतुता का होना—यह तो एक उपलक्षण है ।

यद्यपि यहाँ पर 'अनेक कार्यों' का वर्णन होने से 'कार्यमाला' कहनी चाहिए, किन्तु कवि की विवक्षा 'कारणों' को ही बताने की है, और शब्द एवं अर्थों की प्रतिपत्ति 'विवक्षा' पूर्वक ही हुआ करती है । इसकारण यहाँ पर इसे 'कारणमाला' के नाम से ही कहा गया है ।

प्रश्न—कारणमाला के प्रसंग में 'हेतु' अलंकार को भी कहना चाहिए था, उसे ग्रन्थकार ने क्यों नहीं कहा ? प्राचीन 'भट्टोद्भट' ने उस 'हेतु' अलंकार को भी कहा है । वह 'हेतु' अलंकार मम्मट के 'काव्यलिङ्ग' तथा 'कारणमाला' दोनों अलंकारों से भिन्न भी है । उसका लक्षण यह है—'अभेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमता सह'—जहाँ 'हेतु' और 'हेतुमान्' अर्थात् कारण तथा कार्य का अभेद वर्णित रहता है, वहाँ 'हेतु' अलंकार हुआ करता है ।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥ ५२६ ॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव सामाम्नासिपुनं पुनर्हेत्वलङ्कार-कल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः ।

उत्तर—काव्यप्रकाशकार मम्मट 'हेतु' को पृथक् अलंकार नहीं मानते । इसीलिए उन्होंने हेत्वलंकार का लक्षण नहीं लिखा। क्योंकि—

"आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया ।
घूसं वैरं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्" ॥

इनमें 'कार्य-कारण का अभेद' बताया गया है। किन्तु उसमें कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं हो रहा है, उसकारण उसे 'अलंकार' कहना उचित नहीं है। अतएव ग्रन्थकार ने उसका लक्षण नहीं किया है। उनका कहना है कि 'काव्यलिङ्ग' अलंकार का ही दूसरा नाम 'हेतु' अलंकार है—इसी को बता रहे हैं—हेतुमतेति । हेतुमान् (कार्य) के साथ हेतु (कारण) का वर्णन 'अभेद' से जहाँ किया जाता है, वहाँ 'हेतु' अलंकार होता है (उसी को तो हम 'काव्यलिङ्ग' कहते हैं) इस प्रकार से 'हेतु' का लक्षण, 'उद्भट आदि आचार्यों ने किया है। 'इति हेत्वलऽङ्कारो न लक्षितः' अर्थात् हमने (ग्रन्थकार ने) उद्भटादि आचार्यों के समान 'हेतु' अलंकार का पृथक् लक्षण नहीं किया है। 'आयुर्घृतमिति' । क्योंकि 'आयुर्घृतम्' (आयु के कारणभूत 'घी' को आयु कह देने के समान) कहना चमत्कारशून्य होने के कारण, वह कदाचिदपि अलंकार कहलाने योग्य नहीं है। काव्यप्रकाशकारमम्मट के मतानुसार 'काव्यलिंग' का ही दूसरा नाम 'हेतु अलंकार' है। यह कहने से रुद्रटोक्त 'हेतु' अलंकार जा निराकरण हो जाता है। प्रदीपकार ने मम्मट के उक्त कथन का समर्थन भी किया हैं—'तत् किं हेत्वलंकारः नास्त्येव ? कः एवम् आह ? कीदृशः तर्हि असौ ? इति चेत्'—"पूर्वोक्तं काव्यलिंगमेव इति" ।

प्रश्न—अविरलेति । यदि मम्मट 'हेतु' अलंकार को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, तो 'अविरलकमलविकासः' इस पद्य में काव्यत्व न होने से भामह आदि के साथ विरोध होगा। क्योंकि उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'अविरलकमलविकासः' को 'हेतु अलंकार' का उदाहरण माना है और भामह ने उसे काव्यरूप भी माना है।

उत्तर—अविरलेति । हे मित्र ! सम्प्रति यह रमणीय वसन्त का समय आ रहा है। इसमें कमलों का निरन्तर विकास हो रहा है। सम्पूर्ण भ्रमरकुल, मदोन्मत्त हो रहे हैं। कोयल आनन्दित होकर कूक रही हैं। युवकों को युवतियों के प्रति तथा युवतियों को युवकों के प्रति उत्कण्ठा हो रही है ॥५२६॥

इत्यत्रेति । 'कोमल अनुप्रास' के कारण ही भामह आदि आलंकारिकों ने

(४० अन्योन्यालंकारः)

(१८७) कियता तु परस्परम् ॥१२०॥

वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्,—

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामाऽलङ्कारः।

'अविरलकमलविकासः' को 'काव्य' संज्ञा दी है, न कि 'हेतु' अलंकार की कल्पना करके उसे 'काव्य' कहा है। अतः पूर्वोक्त 'काव्यलिंग' अलंकार को ही 'हेतु' अलंकार कहना उचित है। एवं च उद्भटोक्त 'हेतु' अलंकार को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है। वृत्ति में 'कोमलानुप्रासमहिम्नैव' कहते हुए 'एव' कार के प्रयोग से 'हेत्वलंकार' का तिरास कर दिया है।

शंका—यदि 'हेतु' को अलंकार नहीं मानेंगे तो प्राचीन उद्भट आदि आचार्यों के साथ विरोध होगा। उन्होंने 'अविरलकमलविकासः' को तो 'काव्य' की संज्ञा' दी है। हेत्वलंकार माननेवालों का अभिप्राय यह है कि जैसे 'गौणी सारोपा', 'रूपक' अलंकार की प्रयोजिका है, और 'गौणी साध्यवसाना', प्रथमाऽतिशयोक्ति की प्रयोजिका है, उसी तरह 'कार्य-कारणभावनिबन्धनरूपा शुद्धा सारोपा', 'हेत्वलंकार' की प्रयोजिका है। अतः 'शुद्धसारोपामूलक इस हेत्वलंकार' को अवश्य मानना चाहिए।

समा०—उक्त आशंका पर काव्यप्रकाशकार मम्मट का समाधान यह है कि शास्त्र की व्यवस्था 'विवक्षापरतन्त्र' हुआ करती है। अतः 'अविरलकमलविकासः' पद्य की 'काव्यरूपता' 'कोमल अनुप्रास' के 'माहात्म्य से ही' बताई गई है। हेत्वलंकार' की कल्पना करके उसकी काव्यरूपता नहीं कही गई है'

शंका—तब क्या 'हेत्वलंकार' है ही नहीं ?

समा०—मम्मट कहते हैं—'काव्यलिंग' ही हेत्वलंकार' है,वह उससे पृथक् नहीं है।

(४० अन्योन्य अलंकार)

(सू० १८७) क्रिययेति। क्रिया के द्वारा अर्थात् एक जातीय क्रियाजनन द्वारा दो पदार्थों का एक-दूसरे के उत्पादन में जो वैचित्र्य (चमत्कार) है, उसे 'अन्योन्य अलंकार' कहते हैं।

अर्थयोरिति। एक क्रिया के द्वारा दो पदार्थ परस्पर कारण होने पर 'अन्योन्य' संज्ञक अलंकार होता है।

'अन्योन्य अलंकार' का प्रथमतः उल्लेख रुद्रट ने किया है। उसी का अनुसरण मम्मट और रुय्यक ने किया है। इस अलंकार में तीन घटकों पर ध्यान रखना आवश्यक

उदाहरणम्—

हंसाणं सरेहिं सिरी सारिज्जइ अह सराण हंसेहिं।
अण्णोण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥ ५२७ ॥

(हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः।
अन्योन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥५२७॥)

है—(१) दो पदार्थ (वस्तु), (२) एक क्रिया, (३) उस क्रिया के द्वारा वे दो वस्तुएँ परस्पर एक-दूसरे को उत्पन्न कर रही है—यह कथन। निष्कर्ष यह है कि उक्त दो वस्तुओं को 'क' और 'ख' के नाम से पहिचानिये। निर्दिष्ट क्रिया के सम्बन्ध में (अ) 'क'—कारण और 'ख' कार्य, उसी तरह (आ) 'क' कार्य और 'ख' कारण—इस प्रकार से जो वर्णन किया जाता है, उसे 'अन्योन्य' अलंकार कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि ऐसी 'क्रिया' की जाय, जिसके द्वारा अन्य 'वस्तु' में कोई 'विशेष धर्म' उत्पन्न हो। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत अलंकार के लक्षण में 'जनन' और 'कारणत्व' शब्दों का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है। प्रदीपकार ने उसके अभिप्राय को स्पष्ट किया है कि "वस्तुनोः, परस्परं जन्य-जनकभावः असंभवी तस्य तं प्रत्येव पौर्वापर्ययोः द्वयोः असंभवात्, इत्यतः उक्तम् "क्रियया" इति एक क्रियाजननद्वारेण, इत्यर्थः। अविशिष्टं वस्तु तावत् अजातकल्पम्। तेन वैशिष्ट्यप्रयोजकक्रियाजनके जनकत्वोपचारः। तथा च मिथः तादृशैकक्रियाजनकत्वम् अन्योन्यालंकारः इति सारम्'—(प्रदीपः)।

अर्थात् उक्त अलंकार के लक्षण में जो कहा गया है कि 'दो वस्तुओं के द्वारा एक-दूसरे का परस्पर उत्पन्न करना'—इसे वास्तविक उत्पत्ति के अर्थ में नहीं समझना है, क्योंकि 'कारण' को हमेशा ही 'कार्य' के पूर्व रहना आवश्यक है। उसकारण एक वस्तु को दूसरी वस्तु का कारण कहने पर उस दूसरी वस्तु को पहली वस्तु का कारण कहना संभव नहीं हो सकेगा। इसलिए यहाँ पर कथित 'कार्यकारणभाव'को 'लाक्षणिक' ही समझना चाहिए। अर्थात् विशेष धर्मों से रहित वस्तु की प्रतीति न हो सकने के कारण उसकी उत्पत्ति का होना नहीं के ही बराबर है, उसकारण किसी एक वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु में किसी विशेष धर्म को उत्पन्न करना, दूसरी वस्तु को उत्पन्न करने के ही समान है। इस अभिप्राय से दो वस्तुओं में परस्पर कार्य कारणभाव का होना असंभव नहीं है। दो वस्तुओं में इस प्रकार का परस्पर कार्य-कारणभाव जैसे क्रिया के द्वारा हो सकता है, वैसे गुण के द्वारा भी हो सकेगा। इसी अभिप्राय से 'उद्योत्आर' ने 'क्रियया' इस प्रतीक पर 'इदं गुणस्यापि उपलक्षणम्' कहकर उसकी व्याख्या की है। उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं—

हंसाणमिति। (हंसानामिति)। इस पद्य में 'सारिज्जइ' = सार्यते अर्थात् 'सारीक्रियते' = उत्कृष्टा क्रियते। उसी तरह 'गरु अन्ति' गरयन्ति = गुरूकुर्वन्ति।

अत्रोभयेषामपि परस्परं जनकता मिथः श्रीसारतासम्पादनद्वारेण ।

(४१ उत्तराऽलंकारः)

(१८८) उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥१२१॥

असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

(उत्तरस्य प्रथमः प्रकारः)

प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते तदेकं तावदुत्तरम् ।

'णिच्' को इष्टवद्भाव होने से 'प्रियस्थिर' (पा० सू० ६।४।१५७) सूत्र से 'गुरु' शब्द को 'गरादेश' किया गया है। 'सार्यंते'—में 'सार' = उत्कृष्ट 'सारय'—नामधातु से कर्मणि, वर्तमानकाल (लट्लकार), प्रथमपुरुष एकवचन। तब 'सार्यंते' का अर्थ होगा—'सारीक्रियते'। उसी तरह 'गरयन्ति' में गुरु = श्रेष्ठ, 'गरय' नामधातु बनाकर उससे वर्तमानकाल में प्रथम पुरुष, बहुवचन का रूप बनाया गया है। तब गरयन्ति का अर्थ होगा—गुरूकुर्वन्ति। अत्रोभयेषामिति। 'हंसानां सरोभिः'—इस उदाहृत पद्य में 'हंस' और 'सरोवर' (अनेक सरोवर)—ये दोनों पदार्थ (वस्तुएँ) परस्पर शोभासारी-करणरूप उपकारजनक हैं, उसकारण यहाँ 'अन्योन्य' नाम का अलंकार माना गया है। अर्थात् हंस और सरोवर दोनों ही श्रीसारतासम्पादन द्वारा (शोभावर्धन' क्रिया के द्वारा) परस्पर कारणीभूत हो रहे हैं। अभिप्राय यह है कि एक ऐसी क्रिया के द्वारा एक-दूसरे में 'शोभा का उत्कर्ष' रूप धर्म उत्पन्न कर रहे हैं—इस अर्थ को यहाँ बताया गया है—इसीलिए यह 'अन्योन्य' नामका अलंकार हो गया है। उद्योतकार ने कहा है—"प्रकृते शोभाविशेषविशिष्टान् हंसान् प्रति सरसां कारणत्वम्, शोभाविशेषविशिष्टसरांसि प्रति हंसानां कारणत्वं, परस्परशोभाजननद्वारेणैव। परस्परक्रियया परस्परम् उपकार-जननज्ञानकृतः अत्र चमत्कारः'। 'शशिना च निशा निशया च शशी शशिना निशया च विभाति नभः' इसके पूर्वार्ध में अन्योन्य अलंकार ही है।

(४१—'उत्तर'—अलङ्कार)

(सूत्र—१८८) उत्तरश्रुतिमात्रत इति। 'उत्तर' के—श्रवणमात्र से जहाँ 'प्रश्न' की कल्पना की जाती है, उसे प्रथम 'उत्तरालंकार' कहते हैं।

'प्रश्नस्येति। अथवा 'प्रश्न' के होने पर अनेक बार जो 'असम्भाव्य उत्तर' दिया जाय, उसे दूसरे प्रकार का उत्तरालंकार कहते हैं।

(१) प्रतिवचनोपालम्भादिति। उत्तर को सुन कर ही जहाँ पूर्व वाक्य (प्रश्न) की कल्पना कर ली जाय, वहाँ एक (प्रथम) प्रकार का 'उत्तरालंकार' होता है।

उदाहरणम्—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्तीअ ।
जावलुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्ह ॥ ५२८ ॥

(बाणिजक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्चः ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥ ५२८ ॥)

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी ताः मूल्येन प्रयच्छेति क्रेतुर्वचनम् अमुना

उदाहरण, जैसे—

वाणि अऐति । (बणिजकेति ।) । हे बणिक् ! चञ्चल अलकों से सुन्दर मुख वाली यह पुत्रवधू जब तक घर में घूमती रहती है, तब तक हाथी-दांत और व्याघ्र-चर्म हमारे यहाँ कहाँ मिल सकते हैं ? यह कहने से व्यञ्जित होता है कि 'वधू' के प्रति अत्यन्त आसक्त रहने वाला मेरा पुत्र मृगया (शिकार) के लिये नहीं जाता है । अर्थात् मेरा पुत्र तो वधू को छोड़ कर बाहर जाता ही नहीं, तब कौन इन चीजों को लाये ? ॥ ५२८ ॥

उपर्युक्त पद्य में 'व्याध' ने 'वणिक्' (बनिये) को जो उत्तर (जवाब) दिया है, उसके श्रवण मात्र से बनिये ने (वणिक् ने) बहेलिये से (व्याध से) क्या पूछा है ? (क्या प्रश्न किया है) उसकी (उसके प्रश्न की) कल्पना सहजतया हो जाती है। अर्थात् व्याध (बहेलिये) के द्वारा दिये गये उत्तर (जवाब) से बनिये के (वणिक् के) द्वारा व्याध से पूछे गये प्रश्न का (अरे व्याध ! मुझे हाथी के दांत और व्याघ्र चर्म चाहिये, तुम मुल्य लेकर उनको दो—इस प्रश्न का) उन्नयन (अनुमान) हो जाता है । इसलिये उक्त पद्य में 'उत्तरालङ्कार' है ।

इस 'उत्तरालंकार' को प्रथमतः 'रुद्रट' ने बताया है। उसने इस उत्तरालंकार को 'वास्तव' और 'औपम्य' इन अलंकारवर्गों में परिगणित किया है। मम्मट ने उन दोनों का संग्रह यहाँ पर क्रमशः 'उत्तर अलंकार' का पहिला प्रकार और दूसरा प्रकार—इस रूप में किया है। कारिका में—'उत्तरश्रुति··· ···क्रियते'—यह अंश, अलंकार के प्रथम प्रकार को और 'तत्र वा सति··· ···असम्भाव्यमुत्तरम्'—यह अंश दूसरे प्रकार के स्वरूप को बता रहा है। उदाहृत पद्य—

"वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा" ॥

'उत्तरालंकार' के प्रथम प्रकार का है ।

प्रश्न—उत्तरालंकार के पहिले प्रकार के लक्षण तथा उदाहरण को देख कर प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अलंकार का अन्तर्भाव तो 'काव्यलिङ्ग अलंकार' में ही हो

वाक्येन समुन्नीयते। न चैतत् काव्यलिङ्गम् उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः। नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम् एकधर्मिनिष्ठतया साध्य-साधनयोरनिर्देशादित्यलंकारान्तरमेवोत्तरं साधीयः।

सकता है, तब इसे पृथक्तया क्यों बताया गया है? पदार्थरूप अथवा वाक्यार्थरूप हेतु से 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार बनता है। जैसे 'प्रणयिसखीसलीलपरिहारः'—(उदा० पद्य सं० ५०२ दश० उल्ला०) में जो 'शस्त्रोपक्षेप' है, वह 'भुजपात' के प्रति हेतुभूत हैं। उसी तरह प्रस्तुत अलंकार में भी 'व्याध' का दिया हुआ जो 'उत्तर' (जबाब), है वह मूलभूत 'प्रश्न' की कल्पना करने में 'हेतुभूत' है ही। अतः काव्यलिङ्ग में प्रस्तुत अलंकार का अन्तर्भाव करना उचित प्रतीत हो रहा है।

उत्तर—मम्मट ने उक्त आशंका का उत्तर यह दिया है कि—प्रस्तुत अलंकार में 'प्रश्न' के प्रति हेतुभूत वह 'उत्तर'—नहीं है, वह तो 'प्रश्न' के 'ज्ञान' के प्रति हेतुभूत है। अर्थात् जो 'उत्तर' (जवाब) है, वह 'प्रश्न' का जनक (कारक हेतु) नहीं है—'न हि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः'। वह तो 'ज्ञापक हेतु' है।

किन्तु 'काव्यलिङ्ग' में कारकहेतु' को विवक्षा रहती है, 'ज्ञापक हेतु' की नहीं। इसीलिये 'काव्यलिङ्ग अलंकार' में इस 'उत्तरालंकार' के प्रथम प्रकार को अन्तर्भूत करने की सलाह देना (मन्त्रणा देना) उचित नहीं है। अतएव ग्रन्थकार ने वृत्ति में कहा है—"उत्तरस्य ताद्रूप्यानुपपत्तेः"।

नापीदमनुमानमिति। 'व्याध' का उत्तर यहाँ वणिक् के प्रश्न का 'ज्ञापक हेतु' यदि हो, तो प्रस्तुत 'उत्तरालंकार के प्रथम प्रकार' का समावेश 'अनुमानालंकार' में हो सकेगा, क्योंकि अनुमानालंकार में 'ज्ञापक हेतु' हुआ करता है। किन्तु इस 'उत्तरा-लंकार', को 'अनुमानालंकार' के अन्तर्गत भी नहीं मान सकते।

एक धर्मिनिष्ठतयेति। क्योंकि यहाँ (उत्तरालंकार में) साध्य (प्रश्न) और साधन (उत्तर) दोनों का 'एक धर्मिनिष्ठ' के रूप में निर्देश नहीं किया गया है। 'अनुमानालंकार' में जिस पर्वतादिरूप धर्मी (पक्ष) में 'धूम' आदि साधन (हेतु), रहता है, उसी धर्मी में साध्य (वह्नि) भी रहता है।

किन्तु यहाँ उत्तरालंकार में वैसी स्थिति नहीं है। यहाँ तो साधनरूप 'प्रतिवचन' (उत्तर), 'व्याधनिष्ठ' है, और साध्यरूप 'प्रश्न', 'वणिक् निष्ठ' है। अत: भिन्ना-धिकरण होने के कारण इस उत्तरालंकार को कदापि 'अनुमानालंकार' के अन्तर्गत नहीं मान सकते। अतः 'उत्तरालंकार' को पृथक्तया ही मानना चाहिये।

यहाँ पर 'प्रश्न' का ज्ञापक हेतु यदि 'उत्तर' हो तो प्रस्तुत 'उत्तर अलंकार' के 'प्रथम प्रकार' का समावेश 'अनुमान' अलंकार में हुआ होता, क्योंकि अनुमानालंकार में 'हेतु' ज्ञापक हुआ करता है।

(उत्तरस्य द्वितीयः प्रकारः)

प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसंभाव्यरूपं प्रतिवचनं स्यात्तद परमुत्तरम् अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम् ।

उदाहरणम्—

का विसवा देव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ॥ ५२९ ॥
(का विषमा देवगति किंलब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं सुकलतं किं दुखं यायमो लोंकः ॥५२९॥)

किन्तु ऐसी बात नहीं है, केवल 'ज्ञापक हेतु' के होने मात्र से 'अनुमानालंकार' नहीं हुआ करता अनुमानालंकार तब होता है, जब 'हेतु' और उसका 'साध्य' दोनों एक ही धर्मी पर (पक्ष में) होने का वर्णन किया जाता है। उत्तरालंकार में ऐसा न होने से उसे (उत्तरालंकार को) 'अनुमानालंकार' के नाम से नहीं कहा जा सकता।

जिसमें केवल 'साधन' का निर्देश किया गया हो 'पक्ष' का या 'साध्य' का निर्देश न हो उसे अनुमान कैसे कहा जायगा ? 'अनुमानालंकार' में 'परार्थानुमान' रूप विधान आवश्यक होता है। यहाँ उत्तरालङ्कार के प्रस्तुत 'प्रथम प्रकार' में 'उत्तर' को सुन कर 'प्रश्न' का जो अनुमान होता है, वह 'स्वार्थानुमान' के आकार का होता है। इसमें 'पक्ष, साध्य' का निर्देश नहीं रहता। उस कारण 'काव्यलिङ्ग' में ज्ञापक हेतु मानने वालों के पक्ष में भी यह 'उत्तरालङ्कार', काव्यलिंग से भिन्न ही माना जाता है। प्रस्तुत उत्तरालङ्कार के 'स्वार्थामुभान' को 'परार्थानुमान' में परिणत करना हो तो, इस प्रकार करना होगा—

'इदं प्रतिवचनं यत्किञ्चित्प्रश्नपूर्वकम्, प्रतिवचनत्वात्, यत्-यत् प्रतिवचनं तत्-तत् प्रश्नपूर्वकम्, यथा नाटकादिनिबद्धप्रतिवचनम्'—इस अनुमान से सामान्यतया ज्ञात होने वाले 'प्रश्न' का तत्-तत् उदाहरणों के वर्णनों के आधार पर विशेषतया अनुमान किया जा सकता है—

'इदं वाणिजकं प्रति उद्दिष्टं प्रतिवचनं वाणिजक-कर्तृक-हस्ति-दन्तादि-विषयक-प्रश्नपूर्वकम्, वाणिजकं प्रति उद्दिष्टत्वे सति हस्तिदन्तादिपरामर्शकत्वात्, यत् प्रतिवचनं यं प्रति उद्दिष्टत्वे सति यद्वस्तुपरामर्शकं, तत्, तत्कर्तृक-तद्वस्तुविषयक-प्रश्नपूर्वकम्'। इन दोनों अनुमानों में प्रयुक्त केवल 'हेतु' को ही प्रस्तुत अलङ्कार में साक्षात् निबद्ध किया गया है। एवं च उपर्युक्त महत्वपूर्ण विवेचन को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत 'उत्तरालङ्कार' अर्थात् उसके 'प्रथम (पहिले) प्रकार' को 'काव्यलिङ्ग' अथवा अनुमानालङ्कार के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। इसलिये प्रस्तुत 'उत्तरालङ्कार' को दोनों से पृथक् ही मानना होगा।

ग्रन्थकार मम्मट ने 'अनुमानालंकार' से 'उत्तरालंकार' की भिन्नता बताने के लिए जो कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि 'साध्य-साधनों' का एक धर्मिनिष्ठरूप से निर्देश करना ही 'अनुमानालंकार' की बिशेषता है, यह बिशेषता 'उत्तरालंकार' में दृष्टिगोचर नहीं होती। अर्थात् 'एकधर्मिनिष्ठितया साध्य-साधनयोः अनिर्देशात् = एक धर्मिनिष्ठे इति स्वरूपेण साध्य-साधने अनुमानालंकारे निर्दिश्येते, तादृशनिर्देशस्य उत्तरालंकारे अभावात्'।

किन्तु कुछ व्याख्याकारों से कहा है कि उत्तरालंकार में 'साध्य और साधन' दोनों का निर्देश रहता है, उन दोनों का भिन्न धर्मी पर स्थित रहना ही उत्तरालंकार की 'अनुमानालंकार' से भिन्नता है जैसे—'प्रश्न'--'वाणिजकगत' है और उत्तर—व्याधगत है। और अनुमानालंकार में साध्म-साधन दोनों को एकधर्मिनिष्ठ होना आवश्यक होता है--यही दोनों में भेद है।

किन्तु इस प्रकार की गई व्याख्या, नितान्त प्रामादिक ही समझनी चाहिए। क्योंकि 'उत्तरालंकार' में 'साध्य' का (प्रश्न का) निर्देश ही नहीं रहता, उसकारण उत्तरालंकार में साध्य-साधन दोनों के निर्देश को गृहीत करना ही भ्रम पूर्ण है। तथा प्रश्नोत्तर के कर्ता, उत्तरालंकारगत अनुमान के 'पक्ष' स्वरूप भी नहीं हैं।

(उत्तरालंकार का द्वितीय (दूसरा) प्रकार)

प्रश्नादनन्तरमिति। प्रश्न करने के बाद जो अलौकिक असंभाव्य-सा उत्तर अनेक बार दिया जाता है, उसे उत्तरालंकार का 'दूसरा प्रकार' समझना चाहिए। इन दोनों को एक बार कहने पर चमत्कार की प्रतीति नहीं हो पाती। इसीलिए लक्षण में 'असकृत्' (अनेक बार) शब्द का प्रयोग किया गया है।

उदाहरण, जैसे—का विसमेति। (का बिषमेति। संस्कृत)—दुर्ज्ञेय क्या है? मह प्रश्न है। 'दैव (भाग्य) की गति, 'दुर्ज्ञेय' है—यह उत्तर है। प्राप्त करने के योग्य क्या है? यह प्रश्न है। 'गुणग्राही लोग प्राप्त करने के योग्य हैं'—यह उत्तर है। सुख क्या है? यह प्रश्न है। पतिपरायणा अच्छी पत्नी—यह उत्तर है। दुःख क्या है? यह प्रश्न है। 'दुष्ट (खल) आदमी' ॥५२९॥

'खं छिद्रं लाति' आदत्ते गृह्णाति इति खलः। इस उदाहृत 'गाथा' में चार प्रश्न और प्रत्येक के साथ-साथ ही चार उत्तर भी दिये गये हैं। इन उत्तरों को अनायास कोई सोच नहीं सकता, अतः उन्हें 'असंभाव्य' कहा जा सकता है। सर्वसाधारण लोगों को उक्त गाथा के प्रश्नों को सुनकर क्रमशः ये चार उत्तर-'दारिद्रय, धन, बिषयोपभोग, मृत्यु अयवा इनके जैसे ही अन्य उत्तर सूझ सकते हैं।

पीछे परिसंख्या के भेदों में 'प्रश्नपूर्विका परिसंख्या' बतायी थी और उसका

('परिसंख्या' प्रश्नपूर्णिका परिसंख्या) 'उत्तर' उत्तरस्य भेदयाः)

प्रश्नपरिसङ्ख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम् इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः।

उदाहरण भी इसी प्रकार का 'किन्न आसेव्यं पुंसाम्' प्रदर्शित किया था। अतः जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'प्रश्नपूर्विका परिसंख्या' और 'उत्तरालंकार' के दूसरे प्रकार में परस्पर भेद क्या है ? इसका उत्तर मम्मटभट्ट दे रहे हैं—

प्रश्नपरिसंख्यायामिति। 'प्रश्नपरिसंख्या' में (प्रश्नपूर्विका परिसंख्या में) अन्य का निषेध करने में ही 'तात्पर्य' होता है। और इहेति। उत्तरालंकार के दूसरे प्रकार में अन्य के निषेध में तात्पर्य न होकर 'वाच्यार्थ' में ही विश्रान्ति हो जाती है, यही इन दोनों में भेद हैं।

'उत्तरालंकार के दूसरे प्रकार में प्रश्न-उत्तर, प्रश्न-उत्तर की मालिका रहती है'– यह ग्रन्थकार मम्मट का कहना है। किन्तु यह कथन पण्डितराज जगन्नाथ को मान्य नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि जब प्रश्न या उत्तर किसी विशेष अभिप्राय से गर्भित रहते हैं, तब एक प्रश्न और उसका एक ही उत्तर, इतने मात्र से भी 'उत्तरालंकार' कहा जा सकता है। उद्योतकार ने कारिकागत 'असकृत्' पद की व्याख्या करते हुए इस मत का उल्लेख किया है। जैसे–"किमिति कृशासि कृशोदरि ?" 'किं तव परकीयवृत्तान्तैः ? 'कथय तथापि मुदे मम'—'कथयिष्यति याहि पान्थ तव जाया' (जगन्नाथ)। कोई प्रोषित भर्तृकां पतिव्रता स्त्री और एक पथिक दोनों का यह संवाद है। पथिक ने उस स्त्री से पहिला प्रश्न किया, जिसका अभिप्राय यह है कि 'तुम्हारी कृशता का कारण यदि मुझे ज्ञात हो जाय' तो मैं उसका निवारण करने के लिए तयार हूँ'। उसपर उसे पतिव्रता स्त्री ने जो उत्तर दिया, उसका अभिप्राय यह है– 'मुझ जैसी पतिव्रता स्त्री के द्वारा तुझ जैसे 'परपुरुष' को अपनी कृशता का कारण बताना उचित नहीं है। तथा तुम्हारे द्वारा उसका निवारण होना भी शक्य नहीं है।

उस पर पथिक ने जो कहा, उसका अभिप्राय यह है कि 'पातिव्रत्य' की बातें करना तो निरा पागलपन है। प्रत्येक को चाहिए कि स्वयं सुख का अनुभव करे तथा दूसरे को भी सुख का अनुभव करावे।' इस पर स्त्री ने जो उत्तर दिया, उसका अभिप्राय यह है—जो मेरी दशा हुई है, वही दशा तुम्हारी पत्नी की भी अवश्य हो रही होगी। अतः उसकी कृशता का निवारण करना छोड़कर, तुम दूसरों की पत्नियों की कृशता के निवारण की चिन्ता क्यों कर रहे हो ? अरे ! अपने स्वयं के घर को जलता छोड़कर दूसरे के घर की आग बुझाने के लिए दौड़ पड़ने में तुम्हारा हेतु, केवल परोपकार का भी हो, तो वैसा ही परोपकार यदि कोई अन्य पुरुष, तुम्हारी पत्नी पर करने के लिए उद्यत हो शाय तो क्या तुम सहन कर लोगे ?

इस उदाहरण की तरह प्रश्नोत्तरों में जो गर्भित व्यंग्य है वह वक्तृवैशिष्ट्य आदि निमित्तों से समझ में आ सकता है। ऐसी स्थिति में एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर रहने पर भी प्रस्तुत अलंकार सिद्ध हो सकता है—यह पण्डितराज जग्रन्नाथ का अभिप्राय है।

प्रश्न—उत्तरालंकार के दूसरे प्रकार में प्रश्नोत्तर—मालिकात्मक लक्षण तथा उदाहरणों को देखकर जिज्ञासा हो सकती है कि 'परिसंख्यालंकार के प्रश्नयुक्त प्रथम प्रकार से इस 'उत्तरालंकार' को अलग क्यों माना गया है? क्योंकि 'परिसंख्या-लंकार के प्रश्नात्मक प्रथम प्रकार' को देखकर प्रतीत होता है कि उसमें भी इसी प्रकार प्रश्नोत्तरों की मालिका रहती है। एवंच प्रश्नपूर्विका परिसंख्या और उत्तरा-लंकार के दूसरे प्रकार में परस्पर क्या भेद है?

उत्तर--उक्त प्रश्न के उत्तर में मम्मट बताते हैं कि 'परिसंखयालंकार' में दिये गये 'उत्तर' का पर्यवसान, निर्दिष्ट वस्तु' से भिन्न 'अन्य वस्तु' की व्यावृत्ति (व्यपोह) करने में होता है। और 'उत्तरालंकार' में प्रत्यक्ष शब्दों से निर्दिष्ट अर्थात् 'वाच्यार्थ' में ही कवि की विवक्षा की और श्रोता की जिज्ञासाकी पूर्ति होती है इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत 'उत्तरालंकार' की समानता, 'प्रश्नात्मक परिसंख्या' के केवल 'पहिले प्रकार' के साथ है, दूसरे प्रकार के साथ नहीं है--क्योंकि 'दूसरे प्रकार' में 'अन्यव्यावृत्ति' वाच्य रहती है, उस कारण वह प्रकार, प्रस्तुत 'उत्तरालंकार' से स्पष्टतया पृथक् है। किन्तु परिसंखया के पहिले प्रकार में मात्र 'अन्य व्यावृत्ति' वाच्य न होकर 'गम्य' रहती है। आपाततः दोनों में प्रश्नोत्तर की समान प्रतीति होती हैं, उसकारण परिसंखया और उत्तरालंकार दोनों एक-दूसरे से भिन्न किस प्रकार हैं?--यह उनके उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है। 'किमासेव्यं पुंसां' इस 'परिसंख्या' के उदाहरण में 'पहिले प्रश्न' के 'उत्तर' में कही हुई 'गंगासांनिध्य' की 'सेव्यता' प्रसिद्ध रहने से उसी को बताया गया हैं। उसकारण 'अज्ञात का ज्ञान करा देने के समान अन्य कोई प्रयोजन न होने से 'अन्य वस्तु की असेव्यता' रूप प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ती है।

किन्तु 'का विसमा' इत्यादि उदाहरण में 'देव्वगई'—यह 'उत्तर' ही अप्रसिद्ध (असंभाव्य) होने से स्वत एव चमत्कारपूर्ण है, उसकारण कवि की विवक्षा तथा श्रोता की जिज्ञासा की पूर्ति वाच्यार्थ से ही हो जाती है। अतः परिसंख्या और उत्तरालंकार दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

उत्तरालंकार के अनेक प्रकार हैं। उन अनेक प्रकारों के बीजों को पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रदर्शित किया है। उनमें से कुछ प्रकारों को उद्योतकार ने बताया है।

(सूक्ष्माऽलंकारः)

(१८९) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥१२२॥
धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः ।

जैसे—(१) एक प्रश्न के अनेक उत्तर—'किं स्वर्गादधिकसुखम् ? बन्धुसुहृत्पण्डितैः समं लक्ष्मीः । सौराज्यमदुर्भिक्षं सत्काव्यरसामृतास्वादः' ॥ (रुद्रट ७।९५)

(२) प्रश्न के वाचक पदों का ही अन्यप्रकार से पदच्छेद करके उन्हें उत्तर का वाचक बनाना । जैसे—'के दारपोषणरताः ? का शीतलवाहिनी गंगा । कं संजघान कृष्णः ? कं वलवन्तं न बाधते शीतम् ? इसमें किये गये प्रश्नों के उत्तर—'केदार= खेत, काशी, कंसं जघान, कम्बलवन्तं'—इस प्रकार पदों का ग्रहण करने से उसी में से उनके उत्तर मिल जाते हैं ।

(३) प्रश्न 'अनेक' और उनका उत्तर 'एक' । जैसे—'के खेटाः ? किं चलम् ? 'वयः' । खे आकाशे अटन्ति इति खेटाः' इसमें पहिले प्रश्न का उत्तर='वयः'=पक्षी ('वि' शब्द की प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है), दूसरे प्रश्न का उत्तार भी वही है—'वयः'=वय=उमर (अवस्था), (यहाँ 'वयस्' शब्द, नपुंसक लिंग प्रथमा विभक्ति का एक वचन है) । इति उत्तरालंकारः

(४२ सूक्ष्मालंकार)

(सू० १८९) कुतोऽपीति । दुर्बोध्य (सूक्ष्म) सहृदयैकवेद्य अर्थ को किसी प्रकार से ज्ञात कर लेने पर भी पुनः किसी स्मारक आकारादि धर्म से दूसरे के लिए प्रकाशित किया जाता है तब उसे 'सूक्ष्म' नाम का अलंकार कहते हैं ।

कारिका में प्रयुक्त 'कुतोऽपि' पदों की व्याख्या करते हैं—कुतोऽपीति । 'कुतोऽपि' पदों का अर्थ (अभिप्राय) है—आकार अथवा इङ्गित (चेष्टा), 'आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः' ॥ 'सूक्ष्म' का अर्थ (अभिप्राय) है— प्रखर (तीक्ष्ण) अर्थात् कुशाग्रबुद्धि मनुष्य के द्वारा जानने योग्य ।

'हेतु', 'सूक्ष्म' और 'लेश'—ये तीन अलंकार 'काव्य' के श्रेष्ठ आभूषण हैं—'वाचामुत्तमभूषणम्'—(दण्डी २।२३५) यह बताकर महाकवि दण्डी ने उनका सविस्तर निरूपण किया है । किन्तु भामह ने उक्त तीनों अलंकारों को नहीं माना है ।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने दण्डी का अनुसरण कर इन तीनों अलंकारों का निरूपण करते हुए उनमें से 'हेतु' का निर्देश 'काव्यलिंग', 'अनुमान' से' और 'लेश' का निर्देश, 'व्याजोक्ति' के नाम से किया है । रुद्रट के द्वारा बताया गया 'सूक्ष्म'

उदाहरणम्—

अलंकार बिलकुल पृथक् है। दण्डी आदि के द्वारा कथित 'सूक्ष्म' से उसका कोई भी साम्य नहीं है। रुद्रट ने प्रस्तुत अलंकार को 'भाव' के नाम से कहा है—यह उद्योतकार का कहना है। किन्तु प्रस्तुत 'सूक्ष्म' अलंकार के सम्पूर्ण अंश रुद्रट के 'भाव' में नहीं हैं। रुद्रटोक्त 'भावालंकार' के लक्षण तथा उदाहरणों को देखने से प्रतीत होता है कि मम्मट की व्यवस्था के अनुसार यह तथाकथित 'भाव' अलंकार व्यंग्यार्थ के गुण-प्रधानभाव के अनुसार 'ध्वनि' या 'गुणीभूत व्यंग्य'—इन दो काव्यभेदों में अन्तर्भूत हो सकेगा। इस अलंकार के दो उदाहरणों में से 'ग्रामतरुणं तरुण्या'—इस एक उदाहरण को मम्मट ने प्रथम उल्लास में गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के रूप में दिया है। रुद्रट ने दूसरे 'भाव' प्रकार का उदाहरण —

'एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ'॥ (रुद्रट७।४१)

इससे निर्दिष्ट प्रतीयमान तरुणी का संभोगाभिलाष व्यञ्जनागम्य ही है, उसकारण मम्मट की व्यवस्था के अनुसार उसका अर्थालंकारत्व सिद्ध होना कठिन है। रुय्यक ने 'सूक्ष्म' के लक्षण और उदाहरण मम्मट जैसे ही दिये हैं। प्रस्तुत अलंकार को 'सूक्ष्म' और 'पिहित'–इन दो अलंकारों के रूप में कुवलयानन्द में बताया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के प्रतिपादित सत्तर अलंकारों में 'सूक्ष्म' अलंकार दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

मम्मट के द्वारा प्रतिपादित अग्रिम अलंकार प्रायः रुद्रटोक्त ही हैं। 'सूक्ष्म' अलंकार में तीन अंश प्रतीत होते हैं—(१) जब कोई बात अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्ण हो, जिसे प्रखर-बुद्धि के लोग ही समझ सकते हों, (२) कुछ विशिष्ट गमकों से ही अर्थात् चर्या से (आकारात्) अथवा हाव-भावों से (इङ्गितात्), किसी के ध्यान में आनेवाली, (३) उस व्यक्ति के द्वारा वह बात किसी सूचक उपाय से (केनचित् धर्मेण) किसी अन्य व्यक्ति को जब बतायी जाय (अन्यस्मै प्रकाश्यते) तब उसे 'सूक्ष्म' नाम से कहा जाता है। प्रस्तुत सूक्ष्म अलंकार के उपरि निर्दिष्ट तीन अंशों में से पहिले दो अंशों को ही दण्डी ने 'सूक्ष्म' के लक्षण में बताया है—

इंगिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः'॥ (दण्डी २।२६०)

किन्तु मम्मट ने तीसरे अंश का भी उसमें समावेश करके सूक्ष्म अलंकार की अन्वर्थकता को दो प्रकार से बताया है। क्योंकि मम्मटोक्त 'सूक्ष्म' में लक्षित होनेवाली बात जैसी सूक्ष्म है, वैसे ही उसका प्रकाशन भी सूक्ष्म है। अन्यथा 'सूक्ष्म अर्थ' अमुक व्यक्ति ने जान लिया है,यह बात सूक्ष्म प्रकाशन के अभाव में काव्यश्रोता को कैसे अवगत होगा?

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धै-

दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या

स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥ ५३० ॥

उदाहरण के द्वारा ग्रन्थकार उसे स्पष्ट कर रहे हैं--'वक्त्रस्यन्दिस्वेदेति । कोई सुन्दरी कृशोदरी (तन्वी) प्रातः अपने शयनगृह से जब बाहर आयी, तब उसकी सहेली ने उसे कैसे देखा ? मुख (वक्त्र) से स्वेदधारा बहने के चिह्न दिखाई दे रहे थे, उस कारण गले पर लगी केशर की लेप घुल गई है—यह चिह्न अत्यन्त थकान का है, तथा गले पर लगी केशर की उबटन को धो डालनेवाली स्वेद (घाम) के बहाव की दिशा को देखकर उस सहेली ने समझ लिया कि इस सुन्दरी सहेली ने रति क्रीडा में पुरुष की भूमिका का (पुंस्त्वम् = पुरुषायितम्) अनुकरण किया होगा । यह ताडते ही वह सहेली स्मित करती हुई तत्क्षण ही नायिका के समीप पहुँच कर उसके दाहिने हथेली पर तलवार (खड्ग) की आकृति का चित्र उसने बना दिया, इस चतुराई से उसे सूचित कर दिया कि (व्यञ्जयन्ती), 'तुमने रतिक्रीडा के समय पुरुष की भूमिका को अपनाया है, मैंने जान लिया, क्यों सच है न ? प्रसिद्धरतौ उत्तानायाः नायिकायाः वक्त्रात् गलितस्य स्वेदस्य पृष्ठभागे एव गमनम्; कण्ठे तद्गमनन्तु विपरीतरतौ एव, इति "वक्त्रस्यन्दि"—इत्यादेः अभिप्रायः । (महेश्वर भट्टाचार्य—आदर्श व्याख्या) । अपना अभिप्राय अभिव्यक्त करने के लिये उसने खड्ग की आकृति का चित्र बना दिया—यह उचित ही किया । क्योंकि तलवार का पौरुष प्रदर्शन करना वस्तुतः पुरुष का ही काम है । अतः तलवार का प्रतीक 'पुरुष' का ही है । 'पुंसामेव कृपाण-पाणितायोग्यत्वात्'—यह वृत्तिकार का कथन, अर्थात् पुंभाव सूचित करने के लिये तलवार के चिह्न का समर्थन ही है । उस कारण उक्त कथन में 'कृपाणपाणिता' और 'योग्यत्वात्'—इन दो पदों को कुछ व्याख्याकारों ने स्वतन्त्र माना है किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है । क्योंकि यहां पर 'पुरुष की कृपाणपाणियोग्यता' रूप हेतु से हाथ पर 'खड्गाकृति का चित्र बनाकर पुरुषत्वसूचन'—इस उदाहरणोक्त घटना का समर्थन कराना है । 'योग्यत्व'—हेतु से 'पुरुषों के कृपाणपाणित्व' का समर्थन नहीं करना है क्योंकि वह अप्रस्तुत है । प्रस्तुत उदाहरण में अप्पय दीक्षित ने 'पिहित अलङ्कार' बताया है ।

प्रस्तुत उदाहरण में 'रमणी का रतिक्रीडा के समय पुरुषत्व' निर्विवाद 'सूक्ष्म' है —'असाक्षिको हि अयं व्यतिकरः' ।

अत्राकृतिमवलोक्य कयाऽपि वितर्कितं पुरुषायितं असिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतं पुंसामेव कृपाणपाणिता योग्यत्वात् ।

यथा वा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥ ५३१ ॥

'स्वेद-धाराओं' के बहने से गले पर लगी केशर की उबटन धुल गई' जिसे उसने रमणी की स्वरूपावस्था से ताड लिया। उसे उसने स्पष्टतया न कह कर चतुराई से (तलवार की आकृति बनाकर) अभिव्यक्त कर दिया। इस प्रकार 'सूक्ष्म' अलङ्कार के तीनों अंश, इस उदाहरण में स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'स्वेद बिन्दु'—रूप 'लिङ्ग' से 'रमणी का पुंस्त्व''—इस लिङ्गी का ज्ञान सहेली को हो गया—यह बताया गया है, उस कारण यहां 'स्वार्थानुमिति' स्वरूप का 'अनुमानालङ्कार' भी सिद्ध होता है। इस प्रकार का अनुमान 'सूक्ष्म' अलङ्कार के सभी उदाहरणों में दिखाई देगा। किन्तु उद्योतकार का कहना है कि लक्षित सूक्ष्म अर्थ का चतुराई से प्रकाशन का भाग अधिक चमत्कारजनक होने से यहाँ पर 'सूक्ष्म' अलङ्कार ही मुख्य है 'अनुमानालङ्कार'तो उसका अङ्गभूत है। यहाँ सम्भाव्यमान 'अनुमानालङ्कार' वाच्य, न होकर 'गम्य' ही समझना चाहिये। क्योंकि यह अलङ्कार 'परार्थानुमान' के स्वरूप का माना जाता है।

'वक्त्रस्यन्दि'—उदाहरण में रमणी के आकार को देखकर 'सूक्ष्म अर्थं' अवगत हुआ है अर्थात् 'आकार से लक्षित हुए भाव का प्रकाशन है।

यथावेति। अथवा 'संकेतकालमनसम्'—यह उदाहरण, इन्द्रिय से लक्षित होने वाले अर्थ के प्रकाशन का है।

संकेतकालमनसमिति। किसी रमणी का जार (विट), उससे मिलने का समय निश्चित करने के लिये, उसके यहां आया, और उसकी ओर साभिप्राय विकसित दृष्टि से देखते हुए उसके अगल–बगल घूमने लगा। क्योंकि प्रत्यक्षतया प्रश्न पूछने पर गोप्य के स्फोट होने का भय है। तब उस चतुर उपनायिका ने जार (विट = उपपति) को देखकर, यह जान लिया कि वह मिलन का काल पूछ रहा है। संकेतकाल की जिज्ञासा के लिये अपने 'भाव' को मन्द-मन्द नेत्रों से सूचित करने वाले जार को जिज्ञासु जानकर मनोविनोदार्थ हाथ में लिये हुए कमल की पंखुड़ियों को सिकोड़ लिया ॥ ५३१ ॥

अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः।

(४३ सारनामालंकारः)

(१९०) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥

परः पर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः।

अत्र जिज्ञासित इति। यहां जिज्ञासित संकेत काल को विदग्ध (चतुर) उपनायिका ने इशारे (संकेत) से समझ लिया और कमल को निमीलित (संकुचित) कर रात्रि समय की सूचना को सुन्दरता से प्रकाशित कर दिया। अतः यह 'सूक्ष्म' अलङ्कार का उदाहरण है।

प्रस्तुत उदाहरण 'इङ्गित' अर्थात् हाव-भाव से, क्रिया से अवगत होने वाले 'सूक्ष्म अर्थ' का है। प्रस्तुत श्लोक को ध्वन्यालोक में भी (२।२३) उद्घृत किया है, और बताया है कि लीलापद्मनिमीलन' के द्वारा होने वाला संकेत काल का सूचन, शब्दों के द्वारा कथित होने से 'ध्वनि' होने के योग्य नहीं है—यह कहा गया है।

यहाँ पर उपपति (जार) का अभिप्राय रूप जो 'सूक्ष्म अर्थ' है, उसे उसके 'इङ्गित' (विशेष भावभरी दृष्टि) से ताड कर, उसे मैंने समझ लिया है—यह सूचना और उसके प्रश्न का उत्तर—इन दोनों को उस उप-नायिका ने 'एक ही कृति' से दिया है—यही 'प्रकाशन' है। इस प्रकार 'इङ्गित' से लक्षित अर्थ का प्रकाशन इस पद्य के द्वारा किया गया है। 'अत्र नेत्रेङ्गितेन लक्षितः तीक्ष्णमतिवेद्यतया सूक्ष्मः कामिनः संकेतकालाभिलाषः कामिन्या निशासूचकेन पद्मनिमीलनेन बिटाय लीलया प्रकाशित इति सूक्ष्मालंकारः'। इसी को रुद्रट ने 'भावालंकार' के नाम से कहा है। नव्योक्त 'पिहितालङ्कार को इसी में अन्तर्भूत कर लिया गया है यह उद्योत में स्पष्ट है। इसी तरह चेष्टा आदि से अवगत होने वाले भावों के उदाहरणों को समझना चाहिये।

(४३—सार अलङ्कार)

(सूत्र—१९०) उत्तरोत्तरमिति। 'पर' का अर्थ है—पर्यन्तभाग और 'अवधि' का अर्थ है—सीमा। काव्य के पर्यन्तभाग तक उत्तरोत्तर वर्ध्यमान उत्कर्ष को 'सार' कहते हैं॥ १२३॥

पर इति। पर अर्थात् पराकाष्ठा, जिसकी अवधि है। क्योंकि क्रमशः बढ़ते हुए उसी पराकाष्ठा में उत्कर्ष की विश्रान्ति होती है।

मम्मट ने प्रस्तुत अलङ्कार का निरूपण और उदाहरण रुद्रट का अनुसरण करके ही दिया है।

अनेक वस्तुओं की मालिका में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर की उत्कृष्टता बताते-बताते अन्ततः परमावधि तक बताने को ही 'सार' कहते हैं। 'सार' का अर्थ है—उत्कृष्ट भाग, अर्क। अतः प्रस्तुत अलंकार की 'सार' संज्ञा सार्थक है।

उक्त लक्षण को देखने से 'सार' अलङ्कार के महत्त्वपूर्ण दो अंश स्पष्ट हो रहे हैं—(१) विवक्षित वर्णन परम्परा में अगला प्रत्येक वर्णन पिछले वर्णन की अपेक्षया उत्कर्ष-प्रतिपादक होना चाहिये। (२) वह उत्कर्ष-परम्परा परमावधि तक पहुँचनी चाहिये। इसमें से पहिला अंश, कारिकागत 'उत्तरोत्तरम् उत्कर्षः' से और वृत्तिगत 'धाराधिरोहितया' से स्पष्ट होता है। जैसे किसी जलप्रवाह के उद्गम की ओर चलने लगते हैं, तब पूर्व-भूमि की अपेक्षा अगली भूमि, ऊँची-ऊँची होती जाती है और अन्त में सर्वोच्च स्थानपर उस जल-प्रवाह का उद्गम दीखने पर वह प्रवाह-परम्परा वहाँ रुक जाती है, उसके आगे वह नहीं दिखाई देती।

उसी तरह प्रस्तुत अलंकार में पूर्ववर्णित वस्तु से आगे-आगे की अर्थात् उत्तरोत्तर वस्तु उत्कृष्ट प्रतीयमान होती जाती है, और अन्त में सर्वोत्कृष्ट वस्तु के दीखने पर वह वर्णन रुक जाता है।

तथा इस अलंकार का दूसरा अंश, 'परावधिः' पद और 'परः पर्यन्तभागः अवधिः यस्य'—इस वृत्ति के द्वारा स्पष्टतया बताया गया है।

'प्रदीपकार ने 'पर' अर्थात् 'पर्यन्तभाग' का अर्थ 'विवक्षित गद्यात्मक अथवा पद्यात्मक वर्णन का अन्तिम (आखिरी) भाग, और 'अवधि' का अर्थ उत्कर्षसीमा किया है। इससे अभिप्राय यह निकलता है—प्रस्तुत अलंकार में उत्कृष्टवस्तुपरम्परा की अन्तिम सीढी, विवक्षित गद्यात्मक या पद्यात्मक वर्णन के अन्तिम भाग में आनी चाहिए। किन्तु 'उत्तरोत्तर उत्कर्षवर्णन करने में अन्तिम सीढी, आरंभ में या मध्य में आकर बाद में उसके पूर्व की सीढ़ियाँ क्या कभी आ सकेंगी ?

यदि ऐसा हुआ तो क्या उत्तरोत्तर उत्कर्ष' की प्रतिज्ञा का भंग नहीं होगा ? अतः प्रदीपकार के द्वारा 'परावधिः' पद की व्याख्या जो की गई है, वह उपेक्षणीय ही प्रतीत हो रही है। 'परावधिः' पद का वास्तविक रहस्य यह है कि प्रस्तुत अलंकार में उत्तरोत्कर्ष की परम्परा, अन्तिम छोर तक पहुँचनी चाहिए।

इस अलंकार के प्रथम प्रतिपादक रुद्रट ने 'उत्कृष्टतम वस्तु तक' के अभिप्राय से ही 'परावधिः' पद का समावेश, लक्षण में किया है। (रुद्रट ७।९६)।

उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥ ५३२ ॥

रुद्रट के 'सार' लक्षण से मम्मट का 'सारलक्षण' कुछ भिन्न-सा है । रुद्रट के लक्षण से प्रतीत होता हैं कि अनेक वस्तुओं के समुदाय में से एक उत्कृष्ट वस्तु का, उस वस्तु के अनेक भागों में० से एक उत्कृष्ट भाग का— इस प्रकार से उत्कृष्टोत्कृष्ट वस्तुओं का 'निर्धारण' ही 'सार' अलंकार कहा गया है ।

'यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति ।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्' ॥—(रुद्रट ७।९६)

इसके अनुसार 'सार' अलंकार में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट सभी वस्तुएँ आखीर में एक ही बड़े समुदाय में अन्तर्गत हो जाती हैं ।

रुद्रट और मम्मट ने दिया हुआ 'राज्येसारं' उदाहरण भी इस निर्धारणात्मक 'सार' अलङ्कार में सुसंगत है, किन्तु रुद्रटकथित शर्त, मम्मट को स्वीकार नहीं है । उस कारण 'गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम् । जगदण्डादपि गुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः—यह उदाहरण रुद्रट के 'सार' लक्षण में नहीं बैठ रहा है । क्योंकि इसमें 'निर्धारण' नहीं है । तथापि मम्मट के सारलक्षण में उक्त उदाहरण ठीक बैठता है । रुद्रटोक्त और मम्मटोक्त 'सार' अलंकार के स्वरूप में भेद है । उसकी ओर ध्यान न देकर किसी व्याख्याकार ने जो कह दिया है कि 'मम्मट का सार निरूपण रुद्रट के सारनिरूपण पर अधिष्ठित है'—वह सर्वथा अनुचित है । उदाहरण—राज्ये सारमिति । राज्य में सारभूत 'वसुधा' है, वसुधा में 'पुर', पुर में 'राजमहल', महल में (सारभूत) 'पलंग', पलंग का भी (सारभूत) अनङ्ग की सर्वस्व 'वराङ्गना' है ॥५३१॥

प्रस्तुत अलङ्कार के प्रदर्शित उदाहरण में 'वसुधायां पुरं, पुरे सौधम्'—इस द्वितीय चरण में छन्दो भंग हुआ है, उस दोष के निवारणार्थ 'अपि' पद का प्रयोग कर 'वसुधायामपि' कहना चाहिये । इस उदाहरण में राज्य-भूमि-सौध-तल्प-वरांगना आदि वस्तुपरम्परा में उत्तरोत्तर वस्तु को पूर्व-पूर्व वस्तु से उत्कृष्टता बताते हुए उत्कर्ष परम्परा की परमावधि 'वरांगना' को बताया है ।

उक्त उदाहरण में वर्णित उत्कर्ष 'श्लाघ्यगुणोत्कर्ष के रूप में है, उसी तरह 'अश्लाघ्यगुणोत्कर्ष' के वर्णन से भी 'सार' अलङ्कार सिद्ध होता है—ऐसा उद्योतकार का कहना है । इस दूसरे प्रकार के 'सार' का उदाहरण—

'तृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचकः ।
वायुना किं न नीतोऽसौ ?–मामयं प्रार्थयिष्यते' ॥

(४४ असंगतिरलंकारः)

(१९१) भिन्नदेशतयाऽत्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः ॥१२४॥

इह यद्देशं करणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि । यत्र तु हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनं सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसंगतित्यागादसंगतिः ।

इस श्लोक का पूर्वार्ध ही उदाहरण के रूप में है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उपर्युक्त उदाहरणगत 'सार' को 'अनेकवस्तुविषयक' नाम से कहा है, साथ ही 'एकवस्तु विषयक' सार भी बताया है। जैसे—

जम्बीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ ।
नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते स्पर्धेते खलु कनकाचलेन सार्धम् ॥

इस पद्य में 'एक ही वस्तु' का, अवस्थाभेद से उत्तरोत्तर उत्कर्ष बताया है। रुय्यक ने 'सार अलंकार' को 'उदार' के नाम से कहा है॥ 'राज्ये सारं—इस उदाहरण में 'अन्यव्यपोहकृत चारुत्व' को देखकर किसी ने 'परिसंख्या' बताया है, किन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ 'सारता' में विश्रान्ति है, 'अन्यव्यपोह' में नहीं॥

(४४ असंगति अलङ्कार)

(सू० १९१) भिन्नदेशेति। कार्य-कारणभूत दो धर्मों की एक ही समय भिन्न-भिन्न देशों में और एक साथ (युगपत्) जहाँ प्रतीति हो उसे 'असंगति अलङ्कार' कहते हैं ॥१२४॥

इहयद्देशमिति। लोक में जिस जगह कारण रहता है वहीं पर कार्य को उत्पन्न होते हुए देखा गया है। जैसे 'धूम' रूप कार्य वहीं पर उत्पन्न होता है जहाँ उसका कारणभूत 'अग्नि' रहता है। परन्तु जहाँ कार्य-कारणभुत दो धर्मो की किसी विशेषता के कारण भिन्न देश में एक साथ प्रतीति होती है, अर्थात् उन दोनों की स्वाभाविक परस्पर संगति को जहाँ त्याग दिया जाता है, वहाँ 'असंगति' अलंकार होता है।

रह० बो०—मम्मट ने रुद्रट का अनुसरण करके ही इस अलंकार का विवेचन किया है। इस अलंकार के तीन घटक है—(१) परस्पर कार्य-कारणभाव से सम्बद्ध हुए 'दो धर्म', (२) स्वभावतः एक समय में एक ही जगह पर उपलब्ध हो सकें ऐसे अनुभव की अपेक्षा रहना, (३) एक समय में भिन्न जगह पर उनकी उपलब्धि बतायी जाना, तब 'असंगति' अलंकार होता है। इस अलंकार में 'कार्य और कारण' अपनी स्वाभाविक संगति (एक देश में स्थिति) को त्याग देते हैं। इसलिए इस अलंकार को 'असंगति' (संगति-विच्छेद) यह 'नाम' दिया गया है।

सर्वत्र प्रायः देखा गया है कि जिस जगह में कारण रहता है, उसी जगह में 'कार्य' दृष्टिगत होता है। 'अग्नि' (कारण) रसोईघर में है, तो उसका 'धूम' (कार्य) पर्वत पर नहीं दिखाई देगा। 'न हि महानसस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति'—(रुय्यक)। जब कोई कार्य उत्पन्न होता है, तब वह, कारण के स्थल से भिन्न स्थल पर नहीं दीखता। उत्पन्न हुए कार्य को उसके निमित्त कारण से अलग करके अन्यत्र ले जाना तो संभव है। जैसे रसोईघर में किये गये धूम को, किसी दूसरे रास्ते से अन्यत्र ले जाया जा सकता है। बहुधा इसी परिस्थिति की व्यावृत्ति करने के लिए मम्मट ने वृत्ति में 'उत्पद्यमानम्' पद का सन्निवेश किया होगा यह प्रतीत हो रहा है। यह तो द्रव्य-द्रव्य के कार्य-कारणभाव का उदाहरण बताया। जब 'धर्म-धर्म' में (धर्म = गुण, क्रिया) कार्य-कारणभाव हो, तब भी इसी प्रकार समझना चाहिए। जैसे—खुले छूटे हुए सिंह को देखकर जिसे भय लगता है, उसी को 'कम्प' होता है। ऐसा नहीं होता कि किसी को भय लगे, और 'कम्प' दूसरे किसी को हो। भोजन और तृप्ति का भी यही प्रकार है। अभिप्राय यह है कि भय-कम्प, भोजन-तृप्ति ये 'कार्य-कारण' एक ही जगह रहा करते हैं।

प्रश्न—ऊपर दिये गये ऊदाहरण में सिंह' और 'भय' दोनों में कार्य-कारणभाव है परन्तु ये दोनों एकदेशस्थित नहीं है। क्योंकि 'सिंह' रूप कारण कुछ दूरी पर (भूमि पर) है और उससे होनेवाला 'भय' रूप कार्य, उसे देखनेवाले के 'मन' में है। उसी तरह रसोई बनानेवाला आदमी, भोजन करनेवाले की 'तृप्ति' का 'कारण' है। दोनों भिन्न देश में स्थित हैं, तब 'कार्य-कारण' के एकदेशस्थितत्व' का नियम कहाँ रहा ?

उत्तर—'सिंह' और 'भय' दोनों में जो 'कार्य-कारणभाव' है वह 'ज्ञान' के क्षेत्र का है। ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञानकारणभूत 'विषय' और उससे होनेवाला 'ज्ञान'—इन दोनों का एकदेशस्थित रहने का कोई नियम नहीं है। ज्ञान का विषय जब दूसरा ज्ञान ही रहता है, तब 'कार्य-कारण' के एकदेशस्थितत्व का नियम लागू हो सकता है। सिंह का ज्ञान (दर्शन) और भय—इन दोनों में कार्य-कारणभाव है। सिंह के समीप रहते हुए भी उसके समीप रहने का ज्ञान यदि न हो तो 'भय' कभी नहीं होगा। एवंच सिंह का ज्ञान और भय—ये दोनों एकदेशस्थित हो हुआ करते हैं। रसोई करने-वाला व्यक्ति, भोजन करनेवाले की तृप्ति का कारण है, किन्तु रसोई अपने आप न होने के कारण उसका कारण उसके अन्तर्गत ही रहता है। ऐसे दूरान्वित कारणों को 'अन्यथासिद्ध' के नाम से कहा जाता है। ऐसे—अन्यथासिद्धों की कार्य-कारणभाव के क्षेत्र से व्यावृत्ति करने के लिए ही 'अन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'—यह लक्षण किया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भी उसी को समझना चाहिए।

तस्सेअ गणो वस्सेअ वेअणा भणइ तं अणो अलिअम् ।
दंतक्खअं कवोले वहूए वेअणा सयत्तीणम् ॥ ५३३ ॥

(यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम् ।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ॥५३३॥)

असंगति में कार्य-कारणों का भिन्न देश में रहने के बीज को मम्मट ने 'केनापि अतिशयेन' शब्द से बताया है। अतिशय का अर्थ होता है—कोई असाधारण, विलक्षण, गुणविशेष। उसके बल पर अथवा उसकी सहायता से कार्य-कारणों को भिन्नदेशता प्रदर्शित की जाती है।

रुय्यक ने कहा है कि किसी वस्तु के वास्तविक कार्य के साथ अन्य वस्तु के कार्य की अभिन्नता समझना, अर्थात् दो कार्यों का 'अतिशयोक्ति' स्वरूप अभेदाध्यवसान करना ही असंगति अलंकार का मूल है। 'केनापि अतिशयेन' शब्द से उपर्युक्त अभेदाध्यवसान ग्रन्थकार को भी अभिप्रेत होगा ऐसा प्रतीत हो रहा है। 'अत्यन्तम्' का अन्वय 'भिन्नदेशतया' के साथ मम्मट ने बताया है। क्योंकि मम्मट ने वृत्ति में 'केनापि अतिशयेन' के द्वारा कारिकागत 'अत्यन्तम्' पद की व्याख्या की है। अतएव 'अत्यन्तम्' का अन्वय, 'भिन्नदेशतया युगपत् ख्यातिः'—इस समग्र विधेय के साथ 'अतिशयवता प्रकारेण'—इस रूप में हो सकेगा।

तभी कार्य-कारणों का असाधारण वैशिष्ट्य सूचित हो सकेगा। प्रदीप तथा उद्योत में भी कहा है-"अत्रात्यन्तमिति देशभेदस्यैव उपकारकम्, न तु पृथगपि विवक्षितार्थम्। युगपदिति स्वरूपनिर्वचनम्, न तु व्यावर्तकम्, तेन कार्य-कारणभूतयोर्धर्मयोर्यत्र भिन्नदेशतया सम्प्रतिपादनं सा असंगतिः, हेतुफलयोरग्निधूमाद्योरिव प्रसिद्धायाः समानदेशत्वरूपायाः संगतेः परित्यागात्। तथा प्रतिपादनं च कारणान्तरेभ्यो वैलक्षण्यात्" इति प्रदीपः। लोक में तो कार्य-कारण की स्थिति एकत्र दिखाई देती है, किन्तु काव्य में सदा-सर्वदा वैसा देखने में नहीं आता। क्योंकि काव्य में कार्य-कारणभाव से स्थित धर्मों की स्थिति उत्कर्षविशेष के कारण भिन्न-भिन्न देशों में भी, एक समय में ही बताई जाती है। इसी को असंगति अलंकार के नाम से कहा जाता है।

असंगति का अभिप्राय ही यह है कि कार्य और कारण अपनी स्वाभाविक संगति (एक देश में उपस्थिति) का त्याग कर देते हैं। उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं, जैसे—

जस्सेएति। (यस्यैवेति) लोग जो कहा करते हैं कि 'जिसे घाव हो उसे ही पीड़ा का अनुभव होता है'—किन्तु लोगों का यह कथन मिथ्या है, क्योंकि दन्तक्षत (घाव) तो वधू के गाल (कपोल) पर है और पीड़ा हो रही है सपत्नियों को ॥५३३॥

(असंगतेविरोधाभासस्य भेदः)

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात् । विरोधे तु विरोधित्वमेकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवसितम् अपवाद-विषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः । तथा चैवं निर्दशितम् ।

एषाचेति। यह 'असङ्गति', 'विरोध' की बाधिका है, अर्थात् इस असंगति अलंकार को 'विरोधाभास' (विरोध) अलंकार के अन्तर्गत नहीं कह सकते, क्योंकि असंगति अलंकार 'विरोधाभास' नहीं, किन्तु विरोधाभास का वह बाधक है। क्योंकि यहाँ कारण (दन्तक्षत) और कार्य (वेदना) दोनों का विरोध भिन्नाधारतया (भिन्न-भिन्न स्थान पर) ही प्रतीत हो रहा है। अर्थात् असंगति अलंकार में जो अनुपपत्तिरूप विरोध, 'कार्य और कारण' में रहता है, उसकी प्रतीति उनके भिन्न-भिन्न देश (स्थान) में स्थित रहने पर ही होती है।

विरोधेत्विति। किन्तु 'विरोधाभास' में 'विरोध', 'कार्य-कारण' की अपनी स्वाभाविक संगति के परित्याग में ही नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न देशों में स्थित वस्तुओं की एकदेशवर्तिता में भी रहा करता है। क्योंकि 'विरोधाभास' तो एक उत्सर्गशास्त्र के समान है और 'असंगति', अपवादशास्त्र के समान है।

अतः 'प्रकल्प्य वाऽपवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते'—इस नियम के अनुसार 'विरोधाभास' की संभावना 'विरोधसामान्य के प्रसंगों में ही तब की जाती है, जब 'असंगति' की संभावना न रहे। क्योंकि 'असंगति' तो 'विरोध' का अपवाद (बाधक) है। निष्कर्ष यह है कि विरोध अलंकार में बिना कहे भी एकआश्रयनिष्ठ विरोधित्व ही रहता है, क्योंकि अपवाद के स्थल को छोड़कर सामान्यनियम (उत्सर्ग) ही सर्वत्र रहता है। 'तथा चैवं निर्दशितम्'—इसी अभिप्राय को विरोधाभास के निरूपण-प्रसंग में प्रदर्शित भी किया है। जहाँ भिन्नाधिकरणवाले धर्मों का एकअधिकरण में आने के कारण विरोध प्रतीत होना 'विरोधाभास' का विषय है, और जहाँ समानाधिकरण-वाले धर्मी की वैयधिकरण्येन प्रतीति के कारण विरोध का भाव होता है वहाँ 'असंगति' अलंकार ही होता है—यही दोनों में भेद है।

प्रश्न—इस अलंकार के उदाहृत पद्य में 'विरोधाभास' को ही क्यों नहीं मान लेते? क्योंकि 'अनुपपत्ति' का ही दूसरा नाम 'विरोध' है। यह 'अनुपपत्ति' जैसे भिन्न-भिन्न देशवालों की 'एक देश' में स्थिति होना विरुद्ध है, वैसे ही एक देशवालों की 'भिन्न देशों' में स्थिति होना भी विरुद्ध है।

उत्तर—यह 'कार्य' और 'कारण' की भिन्न-भिन्न देश में स्थिति के 'विरोध' को दबानेवाली है,स्वयं विरोध स्वरूप नहीं है। यहाँ केवल दो पदार्थों के आधार भिन्न-भिन्न

(४५ समाधिरऽलंकारः)

(१९२) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

होने से 'विरोध' प्रतीत होता है,किन्तु विरोध तो एक आधार में रहने पर भी बिना कहे ही प्रतीत हो जाता है । क्योंकि अपवाद के विषय को छोड़कर ही उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है । विरोध के इसी स्वरूप को ग्रन्थकार ने दिखाया भी है । प्रस्तुत उदाहृत गाथा के उत्तरार्ध में 'व्रण' शब्द के बजाय 'क्षत' शब्द का प्रयोग किये जाने से 'प्रक्रम भंग' दोष हो रहा है । निर्दिष्ट उत्सर्गापवादन्याय का उपयोग केवल शास्त्र में ही नहीं व्यवहार में भी उसका उपयोग किया जाता है । जैसे—'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्याय' यहाँ पर सामान्यतः प्राप्त होने वाले दधि का बाध 'तक्रं कौण्डिन्याय'– इस सपवादात्मक वचन से किया गया है । अतः सामान्यविधि का क्षेत्र 'कौण्डिन्येतर ब्राह्मण' है । इस उत्सर्गापवादन्याय का नामान्तर 'तक्रकौण्डिन्यन्याय भी है ।

'विरोस'–नामक तत्त्व (पदार्थ)भी है और एक विरोध अलंकार भी है । 'असंगति' के उदाहरण में 'विरोध' के रहने पर भी वह वहाँ अलंकार रूप नहीं है । एक 'विरोध' तत्त्व तो शुद्ध स्वरूप का होता है; जो कितने ही अलंकारों के मूल में रहता है, उसे विरोधालंकार से भिन्न ही समझना चाहिए । क्योंकि केवल 'विरोध' का रहना अलंकार नहीं हुआ करता । किन्तु 'विरोधाधिष्ठित वर्णन' को अलंकार कहा जाता है । अर्थात् 'विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, विरोध, असङ्गति' आदि अलंकार विरोधाधिष्ठित रहने पर भी अपनी-अपनी उक्तिविशेषता के कारण वे एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न कहे जाते हैं । विरोधतत्त्व और विरोधालंकार दोनों के भेद को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी स्पष्ट किया है । 'विरोधालंकार' में कारण-कार्यभाव की विवक्षा नहीं रहती, उस कारण उसे 'असंगति' से भिन्न माना जाता है । 'असंगति' में कार्य-कारणभाव का होना अनिवार्य नहीं है । एक जगह पर रहने वाली दो वस्तुओं को भिन्न-भिन्न जगहों पर प्रदर्शित करने पर भी असंगति कही जा सकती है । जैसे—'नेत्रं निरञ्जनं तस्याः शून्यास्तु वयमद्भुतम्'—इस पद्य में कार्य-कारणभाव के न रहने पर भी 'असंगति' है ।

उसके (सुन्दरी के) नेत्रों में अञ्जन (काजल) न रहने से शून्यत्व (अञ्जन-शून्यत्व) उसी के नेत्रों में होना चाहिये, परन्तु शून्य = शून्यमनस्क, बेचैन, खिन्न हो रहे हैं हम लोग ।

(४५ समाधि अलंकार)

(सूत्र १९२) समाधिरिति । जहाँ कारणान्तरयोगतः = अन्य कारण के उपस्थित हो जाने से 'कार्य' सुकर हो जाता है, वहाँ 'समाधि' अलङ्कार होता है ।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्टचेदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥ ५३४ ॥

साधनान्तरेति । पूर्व से ही सिद्ध (नियत) कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण से सहायता प्राप्त हो जाने पर जहाँ कर्ता प्रारम्भ किये हुए कार्य को अनायास (सरलता से) कर लेता है, वहाँ 'समाधि' अलंकार होता है ।

उदाहरण, जैसे—

मानमिति । जैसे ही मैं प्रियतमा का मान दूर करने के लिये उसके पैरों पर गिरने को उद्यत हुआ, उसी समय अकस्मात् भाग्य से मेरी सहायता के लिये मेघगर्जनारूप अन्य कारण भी उपस्थित हो गया, जिससे उसका मान तत्काल ही दूर हो गया ॥ ५३४ ॥

रह० बो०—वृत्तिकार ने कहा है—आरब्धं कार्यं साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा, अक्लेशेन यत् समाधीयते सम्यक् सुकरत्वेन आधीयते क्रियते । प्रदीपोद्योतकार ने भी इसी प्रकार कहा है—

'इष्टात् कारणादन्येन कारणेनोपकृतः कर्ता यदक्लेशेन कार्यं करोति स समाधिः'—इति प्रदीपः । तथा 'एककारणजन्यकार्यस्य आकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितं सौकर्यं समाधिरित्यर्थः । सौकर्यञ्च कार्यस्यानायासेन सिद्धया साङ्गसिद्धया च बोध्यम्'—इति उद्योतः ।

'सम्यक् आधिः आधानम् उत्पादनं—समाधिः, इस निरुक्ति से प्रस्तुत अलंकार की 'समाधि' संज्ञा अन्वर्थ (सार्थक) प्रतीत हो रही है ।

'साधनान्तरोपकृतेन' कहकर यह सूचित किया है कि जहाँ एक ही कारण प्रधानतया विवक्षित है और दूसरा कारण, सहकारितया रहता है, वहीं पर यह अलंकार होता है । किन्तु दोनों का प्राधान्य विवक्षित रहनेपर तो 'समुच्चय' ही कहलाता है । इसीलिये आलंकारिक कहा करते हैं—'इह काकतालीयन्यायेन कारणान्तरयोगतः, समुच्चये तु खलेकपोतिकान्यायेन समकक्षतयेतिभेदः ।

प्रस्तुत अलंकार को प्रथमतः दण्डी ने 'समाहित' के नाम से बताया है—(दण्डी, २।२९८–९९) प्रायः उसी का अनुसरण कर मम्मट ने इसे बताया है । 'मानमस्या निराकर्तुं'—यह उदाहरण भी मूलतः दण्डी का ही है । मम्मट के उत्तरवर्ती अलङ्कार शास्त्रियों ने भी इस अलङ्कार को 'समाधि' के नाम से ही माना है । भामह (३।१०) उद्भट (४।७), वामन (४।३।२९) के द्वारा बताये गये 'समाहित'

नाम के अलङ्कार एक-दूसरे से, दण्डी के 'समाहित' से तथा मम्मट के 'समाधि' से अलग ही दीखते हैं। भामह ने 'समाहित' का लक्षण नहीं बताया; केवल उदाहरण प्रदर्शित कर दिया है—

'समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम् ।
रामप्रसत्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारदः' ॥ (भाम० ३।१०)

उद्भटोक्त 'समाहित' का समावेश मम्मट ने अलङ्कार में नहीं किया है। किन्तु 'गुणीभूतव्यंग्य-काव्य' के 'अपरांग व्यंग्य' नामक प्रकार में किया है। वामनोक्त 'समाहित' अलङ्कार, नाटक के पताकास्थान के समीपवर्ती प्रतीत होता है। 'यत्सादृश्यं तत्सम्पत्तिः समाहितम्'—यथा··· ···पुरूरवसो लतायामुर्वश्याः सादृश्यं गृह्णतः सैव लता उर्वशी सम्पन्ना इति'। (वामन, ४।३।२१)

शोभाकर का कहना है कि किसी एक वस्तु से किसी अन्य वस्तु का उपोद्वलन (उपबृंहण ॥ आधिक्य) परिपोष जहाँ होता हो वहाँ यह 'समाधि अलंकार' होता है। शोभाकरोक्त 'समाधि' अलंकार का स्वरूप बहुत व्यापक प्रतीत होता है।

उसने इस अलंकार का उदाहरण भी दिखाया है—

'चञ्चत्कटाक्षभ्रमराभिरामरामामुखांभोजपरंपराभिः ।
इतस्ततो यत्र सरांसि शोभाधर्मप्रसादाद्द्विगुणामवापुः' ॥–(रत्नाकर)

इस पद्य के द्वारा मुखों से कमलों की शोभा का परिपोष बताया गया है। शोभाकर ने इस प्रकार के अनेक उदाहरणों को देकर मम्मटोक्त 'समाधि अलंकार' के लक्षण में अव्याप्ति दोष बताया है।

काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में दण्डी के दिये हुए उदाहरण 'मानमस्या निराकर्तुं' पद्य को ही मम्मट ने उदाहरण के रूप में दिया है। इसमें मानिनी नायिका के पैरों पर उसके मानापनोदनार्थ नायक का गिरना बताया है। मानिनी नायिकाओं के मान का स्वरूप अर्थात् 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासंगिनि प्रिये'—इस प्रकार का होता है। मानिनी नायिका के पैरों पर गिरना (पादपतन) भी माननिराकरण में कारण बताया गया है। कहा भी है—

'साम भेदं च दानं च नत्युपेक्षे रसान्तरम् ।
तद्भंगाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति क्रमात्' ॥

इस पद्य में पादपतनरूप कारण के द्वारा आरब्ध मानापगमरूप कार्य के साथ आकस्मिक घनगर्जितरूप कारणान्तर का सम्बन्ध होने से मानापगम का होना अनायास बताया गया है। उस कारण यहाँ 'समाधि' अलंकार बन गया है। क्योंकि घनगर्जित कामोद्दीपक रहता है और काम के उद्दीप्त होने से 'मान' का अपनोदन अपने आप (स्वतः) हो जाता है। इसलिए वह भी मान-निराकरण में सहायक रूप से कारण है ॥५३४॥

(४६ समसंज्ञकोऽलंकारः)

(१९३) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥१२५॥

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चेत्तदा समम्, तत्सद्योगेऽसद्योगे च ।

(४६ 'सम' नामका अलंकार)

(सू० १९३) सममिति । जहां 'क्वचिद् योगः'—कहीं दो विशेष अर्थात् सम वस्तुओं का सम्बन्ध यदि योग्यता से संभावित हो अर्थात् औचित्य के कारण लोकसम्मत हो, तब 'सम' नामका अलंकार होता है ॥१२५॥

इदमनयोरिति । इन दोनों विशेष वस्तुओं का 'यह' सम्बन्ध श्लाघ्य (प्रशंसनीय) है, इस प्रकार की योग्यता होने से नियतवस्तुविषयक सम्बन्ध का अध्यवसान (निश्चय) जहाँ होता है, वहाँ यह 'सम' अलंकार माना जाता है ।

तदिति । वह 'सम' अलंकार (१) 'सत्' (उत्तम) वस्तुओं के योग में, उसी तरह (२) 'असत्' वस्तुओं के योग में भी होता है । एवंच यह अलंकार दो प्रकार का होता है ।

रह० वो०-विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की दर्पण-व्याख्या में 'नियतविषयमध्यवसानं' की व्याख्या—"नियतं वर्णनीयं विषयीकृत्य यदध्यवसानम्' की है। अर्थात् 'वर्णनीयद्वयं विषयीकृत्य अनयोरिदं श्लाघ्यमिति ज्ञानं चेत् जायते तदा समाख्यमलंकरणम्' दो अनुरूप वस्तुओं का योग (सम्बन्ध) होना ही प्रशंसनीय माना जाता है। वह 'योग' दो सत् वस्तुओं की तरह दो असत् वस्तुओं का भी हो सकता है। यह योग (सम्बन्ध) 'संयोगरूप और 'कार्य-कारणभावरूप' भी हो सकता है। कारण के समान गुण रूप कार्य की उत्पत्ति होने से कार्य-कारणभावसंसर्ग की अनुरूपता हुआ करती है।

जैसे— 'मन्त्रार्पितहविर्दीप्तहुताशनतनूभुवः ।
शिखास्पर्शेन पाञ्चाल्याः स्थाने दग्धः सुयोधनः' ॥

तथा यादृशगुणकवस्तुसंसर्ग हो, तादृशगुणोत्पत्ति से भी 'सम' अलंकार होता है—

'वडवानलकालकूटलक्ष्मीगरलव्यालगणैः सहैधितः ।
रजनीरमणो भवेन्नृणां न कथं प्राणवियोगकारणम्' ॥

क्वचित् अभीष्टप्राप्ति के लिए प्रयुक्त किये गये कारण से उसकी प्राप्ति होने पर भी 'सम' अलङ्कार होता है—

'उच्चैर्गजैरटनमर्थयमान एव त्वामाश्रयन्निह चिरादुषितोऽस्मि राजन् ।
उच्चाटनं त्वमपि लम्भयसे तदेव मामद्य नैव विफला महतां हि सेवा' ॥

उदाहरणम्—

धातुः शिल्पातिशयनिकषस्थानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य ।
जातं दैवात्सदृशमनयोः संगतं यत्तदेत-
च्छृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥ ५३५ ॥

सत् वस्तुओं के योग में 'सम' अलङ्कार का उदाहरण—

(१) धातुरिति। यह मृगनयनी विधाता के निर्माणकौशल (शिल्प) के उत्कर्ष का निकषस्थान (परीक्षोपलरूप) है अर्थात् अतिसुन्दरी है। 'शाणस्तु निकषः कषः'—इत्यमरः। जैसे सुवर्ण की उत्तमता की परख के लिये 'कसौटी' होती है, वैसे ही यह सुन्दरी नायिका भी 'विधाता' (ब्रह्मा) की शिल्पकला-निपुणता' को परखने की कसौटी ही है।

तथा रूपसौन्दर्य में अनुपम (बेजोड़ = अद्वितीय) इस राजा ने (देव ने) भी रूपसौन्दर्य के विषय में 'कामदेव' को पत्र (चैलेंज, सामना करने का आह्वान पत्र) दे दिया है। यहां पर 'स्मरस्य'—यह षष्ठी 'चतुर्थी' के अर्थ में की गई हैं, जैसे 'उपदिशति कामिनीनां' में चतुर्थी के अर्थ में 'षष्ठी' की गई है। अतएव 'कामिनीनां' का अर्थ 'कामिनीभ्यः' किया गया है। 'दत्तपत्रः स्मरस्य'—जिसने कामदेव को 'अधिकार पत्र' दिया है, ऐसा राजा। कामदेव को भी अधिकारपत्र देनेवाला आदमी उससे भी सुन्दर होना चाहिये, अर्थात् 'अयं देवः अपि रूपे अनुपमः'—इस कथन का पुष्टिकारक 'दत्तपत्रः स्मरस्य'—यह विशेषण है। 'रूपे देवोऽप्यनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य'—की व्याख्या करते हुए कुछ व्याख्याकारों ने 'रूपे' का अन्वय 'स्मरस्य दत्तपत्रः' के साथ किया है। अर्थात् सौन्दर्य के विषय में जिसने काम को 'पत्र' का आधार दिया है-(रूपे स्मरस्य दत्तपत्रः, 'कृतपत्रावलम्बनः'—उद्योत)। चन्द्रिकाव्याख्याकार ने प्रस्तुत विशेषण का अर्थ किया है—'जिसने मदन को दिग्विजय प्राप्त करने का आदेश पत्र दिया है। सुधासागरकार ने प्रस्तुत विशेषण का अर्थ—'जिसकी मदन के रूप में नियुक्ति की गई है—ऐसा'—(उत्कृष्टतरनायकतया कामपदे स्थापितः) किया है। इस प्रकार मृगाक्षी और अनुपम राजा दोनों का एक-दूसरे के तुल्य (अनुरूप) समागम, बड़े भाग्य से ही हुआ है। दोनों का यह समागम (मेलन) का होना मानों श्रृङ्गाररस का अब तो एकच्छत्र राज्य हो गया है। यहाँ मृगनयनी और रूपवान् राजा दोनों सत् (शोभन) पदार्थों का संयोग बताया गया है। अतः सत्-योग में यह 'सम' अलंकार का उदाहरण बन गया है ॥५३५॥

असत् वस्तुओं के योग में 'सम' अलंकार का उदाहरण—

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः ॥ ५३६ ॥

---

(२) चित्रं चित्रमिति। कितनी विचित्रता है, कितना आश्चर्य है, कैसी अनोखी बात है कि दैवसंयोग से विधाता भी अब सृष्टि का निर्माण करने में 'औचित्य' का ध्यान रखने लगा है। उस विधाता ने नीम(पारिभद्र)-'पारिभद्रो निम्बतरुः'-इत्यमरः। के वृक्ष की परिपक्वा हुई निबोलियों के समृद्ध रस (स्फीति), को आस्वादनीय अर्थात् आस्वाद के योग्य बना दिया है, और उसके आस्वाद लेने की कला के कौशल से सम्पन्न (कोविद) काक समुदाय को निर्माण किया है ॥५३६॥

यहाँ पर निम्ब और काक दोनों निकृष्टों (असत् वस्तुओं) का उचित योग है, उस कारण यहाँ असद् योग में 'सम' अलंकार है।

काक और निंबोली दोनों की परस्पर अनुरूप जोड़ी है। निंबोलियों को प्रायः कोई चाव से खाता नहीं है, किन्तु काक बड़े चाव से उन्हें खाते हैं, दोनों तिरस्कृत हैं। इसलिए दोनों 'असत्' ही हैं।

रुय्यकादि अलंकारशास्त्रियों ने विषमालंकार के विपर्यय के रूप में 'सम' अलंकार को बताया है। फिर भी जिज्ञासा यह होती है कि 'बिषम' अलंकार के जो तीन भेद हैं, उन सभी के विपर्यय के रूप में 'सम' को त्रिविध मानना है, या 'बिषम' के एक ही प्रकार के विपर्यय को 'सम' समझना है?—इस विषय में भिन्न-भिन्न विचार उपलब्ध होते हैं।

दो वस्तुओं के अनुचित योगरूप 'बिषम' के 'तीन प्रकार' इस तरह से होते हैं—(१) कारण के गुणों के अननुरूप कार्य की उत्पत्ति। (मम्मट ने गुणों के बजाय क्रिया की कल्पना कर 'बिषम' का चौथा प्रकार भी बताया है।) (२) अभीष्ट साधनेवाले व्यक्ति की अभीष्ट हानि होकर उसे अनिष्ट की प्राप्ति होना। (३) बेजोड़ (अननुरूप) वस्तुओं की जोड़ी। 'बिषम' के तीन प्रकारों के बिपर्यय से 'सम' के तीन प्रकारों का होना संभव हो सकता है। जैसे—(१) कारणगुणानुरूप कार्य की उत्पत्ति, (२) इष्ट साधनेवाले को 'इष्ट' की प्राप्ति होना, (३) अनुरूप वस्तुओं की जोड़ी—इन तीन संभवनीय 'सम' के प्रकारों में से केवल तीसरे प्रकार को रुय्यक ने स्वीकार किया है। और शेष दो प्रकारों को 'चारुत्वहीन' कहकर अस्वीकृत कर दिया है। "तद्विपर्ययः समम्। यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं, तथापि तच्छब्देन संभवाद् अन्त्यो भेदः परामृश्यते। पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्य अनलंकारत्वात्। अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात् समाख्यः अलंकारः' (रुय्यक)। किन्तु इस पक्ष का पण्डितराज जगन्नाथ ने खण्डन कर दिया है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'सम' के उपर्युक्त प्रकारों के विषय में यद्यपि अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं, तथापि तत्कृत विवेचन तथा उदाहरणों को देखने से लगता है कि रुय्यक के अनुसार ही मम्मट के भी विचार हों। अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ दोनों ने संभवनीय तीनों प्रकारों को बताया है। पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि 'सम' का अर्थ है—अनुरूप संसर्ग (संबंध)। यह संसर्ग दो प्रकार का है—(१) उत्पत्तिस्वरूप और (२) संयोगादिस्वरूप। उनमें से 'उत्पत्तिस्वरूप संसर्ग की अनुरूपता' का अभिप्राय यह है कि कारण के गुणानुरूप कार्य की उत्पत्ति, सम्बद्ध वस्तु के गुणसदृश गुणों की उत्पत्ति, इष्ट प्राप्ति के लिए नियुक्त कारण से इष्टप्राप्ति। तथा संयोगादिस्वरूप संसर्ग का अभिप्राय यह है कि संबंधित वस्तुओं के गुणों का परस्पर उपकारक होना (जगन्नाथ)। उपर्युक्त तीन प्रकारों में से शोभाकर ने द्वितीय प्रकार (इष्टार्थी को इष्ट प्राप्ति) को त्यागकर 'सामग्रीसाकल्य' नामक एक प्रकार की कल्पनाकर 'सम' के तीन प्रकार बताये हैं किन्तु 'विषम' में 'सम' के प्रकारों के विपर्यय से होनेवाले तीन प्रकारों के साथ एक 'अनर्थोत्पत्ति' नाम के चतुर्थ प्रकार को उसने बताया है।

अन्य आलंकारिकों के दिये हुए 'सम' के अन्यान्य प्रकारों के उदाहरणों को देखने से उसके (सम के) तत्तत् प्रकारों का परिचय प्राप्त होता है, जिन प्रकारों को मम्मट ने नहीं बताया है।

"मन्त्रार्पितहविर्दीप्तहुताशनतनूभुवः ।
सिखास्पर्शेन पाञ्चाल्याः स्थाने दग्धः सुयोधनः" ॥—(जगन्नाथ)

द्रौपदी यज्ञकुण्ड से उत्पन्न हुई है अर्थात् अग्नि से उत्पन्न हुई है। उसने दुर्योधन को दग्ध कर दिया, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? क्योंकि वह तो अग्निकन्या ही है। द्रौपदी की उत्पत्ति में कारण जो 'दाहक अग्नि' है, उसके अनुरूप ही द्रौपदी का कार्य है। इसीलिए यह 'सम' का उदाहरण है।

२—'युक्तो वारणलाभोऽयं जातस्ते वारणार्थिनः' ।—(कुवलयानन्द)

एक याचक, राजा के यहाँ हाथी (वारण) माँगने गया, तो द्वारपालों ने उसे निकाल बाहर (वारण = निवारण) किया। उसी को उद्देश्य कर यह किसी ने कहा है—'वारण' चाहने वाले को 'वारण ही मिला। अर्थात् आपाततः ईप्सित वस्तु (इष्ट) की प्राप्ति ही हुई।

शोभाकर के कल्पित 'सामग्रीसाकल्य' रूप प्रकार वाले 'सम' का उदाहरण—

'क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे मग्नबालसहकारसुगन्धौ ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥'

—(माघ, १०।३)

(४७ विषमसंज्ञकोऽलङ्कारः)

(१९४) क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥१२६॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥१२७॥

इस पद्य के द्वारा मदिरा के विविध गुणों से पाँचों इन्द्रियों की तृप्ति का वर्णन किया गया है। (१) प्रियतम के मुख का प्रतिबिम्ब मद्य में दिखाई देने से 'चक्षुरिन्द्रिय' को आम्र की मञ्जरी (बौर) का सुगन्ध मद्य के मिश्रित रहने से 'घ्राणेन्द्रिय' को मद्य की मधुरता से 'रसनेन्द्रिय' को, मद्य के चारों ओर मंडरानेवाले भ्रमरों के गुञ्जन से 'श्रोत्रेंद्रिय' को, और मद्य की शीतलता से 'त्वगिन्द्रिय' को तृप्ति का लाभ हुआ । अतः यह 'सामग्री-साकल्य' का उदाहरण है ।

पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि मम्मट के द्वारा उक्त संयोगसम्बन्ध (संसर्ग) पर अधिष्ठित जो 'समका प्रकार' है, उसका पर्यवसान क्वचित् 'स्तुति' में, क्वचित् 'निन्दा' में होता है । मम्मट के द्वारा प्रदर्शित प्रथम उदाहरण 'स्तुतिपर्यवसायी' है, और दूसरा उदाहरण—'निन्दापर्यवसायी' है । अर्थात् मम्मटोक्त जो 'सद्योगमूलक सम' है, वह पण्डितराज जगन्नाथ का 'स्तुतिपर्यवसायी सम' है, तथा मम्मटोक्त जो 'असद्योगमूलक सम' है, यह पण्डितराज जगन्नाथ का 'निन्दापर्यवसायी सम' है । इस 'सम' अलङ्कार को मम्मट ने ही प्रथमतः बताया है ।

(४७—विषम अलङ्कार)

(सूत्र—१९४) (१) दो कारिकाओं के द्वारा 'विषम' अलङ्कार के चार प्रकारों को बता रहे हैं—क्वचिदिति । कहीं पर अत्यन्त वैधर्म्य के कारण, जब सम्बद्धरूप से विवक्षित दो पदार्थों का परस्पर (श्लेष) ही नहीं बनता हो, अर्थात् अनुपपन्न प्रतीत होता हो, यानी प्रशंसनीयरूप उपपत्ति को (घटना को) नहीं प्राप्त करता हो, तब एक 'विषम' होता है ।

(२) यच्चेति । कहीं पर किसी कर्ता को उसके द्वारा की जानेवाली क्रिया का फल प्राप्त न होकर उलटा अनर्थ रूप फल ही प्राप्त हो, वह दूसरे प्रकार का 'विषम' कहलाता है ।

(३) तथा सत्यपीति । कहीं पर 'कार्य' के गुण से 'कारण' का गुण, विरुद्ध रहे, वहाँ तृतीय प्रकार का 'विषम' होता है ।

(४) जहाँ 'कार्य' की क्रिया से 'कारण' की क्रिया विरुद्ध रहे, वहाँ चतुर्थ प्रकार का 'विषम' होता है । सर्वत्र "समता के विपर्यय से 'विषमत्व' को समझना चाहिये । अर्थात् 'समात् विपरीतं विषमम्'—यह अभिप्राय है । इसीलिये वृत्ति में

(४७ विषमसंज्ञकोऽलंकारः)

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यद् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते (१) यच्च किञ्चिदारभमाणः कर्त्ता क्रियायाः प्रणाशात् न केवलमभीष्टं यत्फलं न लभेत, याव दप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत् (२) तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत् तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परं विरुद्धतां व्रजतः (३, ४) स समविपर्यात्मा चतूरूपो विषमः।

क्रमेणोदाहरणम्।

मूलकार ने ही कह दिया है कि 'समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः'। एवं च 'समालङ्कारविपर्यासस्वरूपत्वम्' यही विषमालङ्कार का सामान्य लक्षण निष्पन्न होता है। अतएव रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने 'सम' और 'विषम' अलंकार का सामान्य लक्षण—'अनुरूपसंसर्गः समम्, तथा अननुरूपसंसर्गो विषमम्'—यही किया है। 'विरोधालङ्कार' में 'भिन्न-देशवालों' की 'एकदेशस्थता' और 'असङ्गति' में एक देशवालों की भिन्न-देशस्थता होती है। किन्तु प्रस्तुत 'विषम' अलंकार में 'कार्य' एवं 'कारण' के विरुद्ध 'गुण' एवं 'क्रियाओं' का 'योग' चमत्कारजनक होता है—यही तीनों में भेद है।

द्वयोरिति। (१) दो पदार्थों का संबंध, अत्यन्त विलक्षणता (अत्यन्त भिन्न होने) के कारण जहाँ अनुपपन्न प्रतीत होता है—वहाँ प्रथम प्रकार का 'विषम' अलंकार माना जाता है।

(२) यत्र किञ्चिदिति। जहाँ किसी कार्य को आरंभ करनेवाला कर्ता, अपने क्रियमाण व्यापार के नाश से न केवल अपने अभीष्ट फल से ही वंचित रहता है, प्रत्युत अवांछित अनर्थ को भी प्राप्त करता है,वहाँ द्वितीय प्रकार का 'विषमालंकार' होता है।

(३) तथा सत्यपीति। किञ्चेत्यर्थः। और कार्य, अपने 'कारण' के अनुरूप होने पर भी उन दोनों के अपने-अपने 'गुण' विरुद्ध हो जाँय, तो वहाँ तृतीय प्रकार का 'विषम' माना जाता है।

(४) और कार्य की 'क्रिया' यदि कारण की क्रिया से जहाँ विरुद्ध रहे, वहाँ यह 'विषम', जो 'सम अलङ्कार' के विपरीत स्वरूपवाला है, उसे चतुर्थ प्रकार का 'विषम' अलङ्कार कहते हैं। इस रीति से चार प्रकार का (चार रूपोंवाला) विषमालङ्कार हुआ करता है।

क्रमेणेति। 'विषम' के चारों प्रकारों के उदाहरणों को क्रमशः दे रहे हैं—

(१ प्रथमोविषमप्रकारः)

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ॥ ५३७ ॥

(२ द्वितीयोविषमप्रकारः)

सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः।
जग्रसे साश्रयं तत्र तन्मन्यः सिंहिकासुतः ॥ ५३८ ॥

(३ तृतीयोविषमप्रकारः)

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥ ५३९ ॥

(१—विषम—प्रकार)

शिरीषादपीति। शिरीषपुष्प से भी अधिक कोमल अङ्गोंवाली यह विशालनयना नायिका कहाँ ? और तुषाग्नि से भी अधिक असह्य यह कामाग्नि कहाँ ?

यहाँ पर नायिका और मदनानल (कामाग्नि) दोनों के अत्यन्त विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत हो रहा है, उस कारण यहाँ विषमालङ्कार है। पद्य में 'क्व' शब्द का दो बार प्रयोग होने से नायिका और मदनानल दोनों की अत्यन्त विलक्षणता के कारण उनके सम्बन्ध की अनुपपन्नता व्यङ्ग्य हो रही है।

(२—विषम—प्रकार)

सिंहिकेति। शेरनी (सिंही) के एक बच्चे से डर कर मृग, अपनी रक्षा के लिये चन्द्रमा (शीतांशु) की शरण मे गया किन्तु वहाँ भी उसकी रक्षा; न हो सकी, वहाँ भी उसको दूसरे सिंहिका (राहु की माता) के पुत्र (राहु) ने उसके आश्रयभूत चन्द्रमा के सहित उसे ग्रस लिया ॥ ५३८ ॥

यहां पर यह बताया जा रहा है कि शेर से बचने के लिये मृग ने चन्द्रमा की शरण ली, किन्तु उसे अपने अभीष्ट की प्राप्ति न हो सकी, प्रत्युत राहु ने उसके आश्रयसमेत उसे ग्रस लिया, उस कारण उसे अनर्थ की ही प्राप्ति हुई ॥

(३—विषम—प्रकार)

पद्मगुप्त-प्रणीत नवसाहसांकचरित के प्रथम सर्ग का ६२वाँ पद्य उदाहरण के रूप में दिया जा रहा है—

सद्य इति। आश्चर्य है कि प्रत्येक युद्ध में तमाल की तरह नीलेरंगवाली यह

(४ चतुर्थोविषमप्रकारः)

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।
बिरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥ ५४० ॥

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते ।

एवं—

तलवार जिसके हाथ (कर) के स्पर्श को प्राप्तकर तुरन्त ही त्रिलोकी के आभूषण रूप; शरद्ऋतु के चन्द्र के समान धवल (शुभ्र) वर्ण के यश (कीर्ति) को पैदा करती है ॥ ५३९ ॥

यहाँ पर कार्यभूत 'यश' और कारणभूत 'तलवार' दोनों के 'गुण'(श्वेत और नील) एक-दूसरे से विरुद्ध हैं । यह नियम है कि कारण के गुण, स्वसजातीय कार्य के गुणों को पैदा करते हैं । किन्तु यहाँ तमाल के सदृश 'तलवार' नीलवर्ण की है, उससे शरत्कालीन चन्द्रमा के समान श्वेत (धवल) यश की उत्पत्ति का होना बताया जा रहा है । इसलिए यह विषमालंकार के तीसरे प्रकार (भेद) का उदाहरण है ।

(४ विषम-प्रकार)

इसके उदाहरण के रूप में रुद्रटालंकार का पद्य दे रहे हैं—आनन्दमिति । हे कुवलयदल के समान नयनोंवाली नायिके ! अपने संयोग में कहाँ तो तुम इतना अधिक आनन्द मुझे देती हो, किन्तु तुमसे उत्पन्न हुआ विरह मेरे शरीर को अत्यन्त सन्तप्त कर देता है ॥५४०॥

यहाँ पर 'नायिका'–कारण और 'विरह'–कार्य, इन दोनों में परस्पर विरुद्ध 'आनन्ददान' और 'तापनक्रिया' है । अर्थात् नायिका की आनन्द देने की क्रिया, उसके विरह की 'सन्तप्त करनेकी क्रिया' से विरुद्ध है । इसलिये कारण तथा कार्य की क्रियाओं के विपरीत होने से यह विषमालंकार के चौथे भेद का उदाहरण है ।

यह विषमालंकार, 'विरोधालंकार' तथा 'असंगति अलंकार' से पृथक् हैं । प्रस्तुत विषमालंकार का 'विरोधालंकार' से 'भेद' इस बात में है कि विरोधालंकार में विरोधियों का सामानाधिकरण्य अपेक्षित रहता है, किन्तु विषमालंकार में विरोधियों का सामानाधिकरण्य अपेक्षित नहीं रहता । वे विरोधी, कार्य तथा कारणरूप भिन्न अधिकरणों में रहते हैं । उसी तरह यह विषमालंकार' 'असंगतिअलंकार'से भी भिन्न है, क्योंकि 'असंगति अलंकार' में 'कार्य-कारण' की भिन्नदेशता (वैयधिकरण्य) अपेक्षित होती है, किन्तु यहाँ विषमालंकार में 'कार्य-कारण' दोनों एक ही देश में रहते हैं, इसी से इसमें चमत्कारजनकता है ।

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥ ५४१ ॥

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

एवमिति । इसी प्रकार माघकाव्य के तेरहवें सर्ग का मंजुभाषिणी छन्द में यह पद्य है—विपुलेनेति । महाप्रलयकाल में क्षीर-समुद्र में शयन करने वाले भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) की विशाल कुक्षि (उदर) ने भुवनों (तीनों लोकों) का पान कर लिया था, अर्थात् जिन विष्णु भगवान् की विशाल कुक्षि में सम्पूर्ण लोक (१४ भुवन) विलीन हो जाते (समा जाते)हैं,उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान् को मदघूर्णित अर्धोन्मीलित नेत्रों वाली नगर की किसी एक ही स्त्री ने अपनी एक ही आँख से उन्हें पी लिया, अर्थात् आँख के भीतर भर लिया । यानी प्रेम से भरे हृदय में उन्हें रख लिया,सादर अवलोकन किया, यह तात्पर्य है ॥५४१॥

इत्यादावपीति । इत्यादि में भी यथायोग विषमालंकार समझना चाहिए । 'यथायोग विषमालंकार' समझना चाहिए, कहने का सार यह है कि विषमालंकार में जिन चार प्रकार के वैषम्यों का निर्देश किया है उनमें से कई प्रकार के वैषम्य यहाँ बन सकते हैं, उस कारण भिन्न प्रकार के वैषम्य को भी बताया जा सकता है । जैसे— यहीं पर जिस शरीर के कुक्षिरूप अवयव में समस्त चतुर्दशभुवनात्मक लोक समा जाता है उस संपूर्ण शरीररूप अवयवी को एक स्त्री ने एक हो अपूर्ण अधखुली दृष्टि से पान कर लिया । यह 'अवयव और अवयवी' का योग, अनुपपन्न है । इसी प्रकार एक जगह विष्णु की कुक्षि, लोगों का पान करनेवाली 'कर्ता' के रूप में है, और दूसरी जगह शरीर रूप होने से पान का विषय (कर्म) है—यह दूसरी अनुपपन्नता है । जगत् के आधारभूत जगदीश्वर को नेत्र के एक भाग से पान कर लेने का अत्यन्त वैलक्षण्य होने से तीसरे प्रकार की अनुपपन्नता है । अतः अनेक प्रकार का वैषम्य होने से यहाँ भी विषमालंकार है ।

प्रस्तुत 'विषम' अलंकार में किंचिन्मात्र परिवर्तन करके जयदेव आदि आलंकारिकों ने 'विषादन' संज्ञक अलंकार बताया है । इष्ट वस्तु के प्राप्त्यर्थं प्रत्यक्षतया प्रयत्न न करते हुए इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए केवल इच्छा करने पर अनिष्ट प्राप्ति को बताना ही 'विषादन' अलंकार है । जैसे—

'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार' ॥

उद्योतकार ने 'विषादन' का समावेश 'विषम' में किया है । किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों अलंकारों का भिन्न-भिन्न क्षेत्र उपलब्ध होने से उनकी भिन्नता का ही समर्थन किया है ।

'नवसाहसांक चरित' में से दिये हुए उदाहरण में कारणभूत खड्ग नीलवर्ण और उत्पन्न होनेवाला कार्यभूत 'यश' शुभ्र—इस प्रकार कार्य-कारणों के परस्पर विरुद्ध गुण प्रदर्शित किये गये हैं। 'यश की शुभ्रता'—यह एक कवि संकेत है। इनमें दिखाया हुआ 'कार्य-कारणगुणविरोध', समवायिकारण और निमित्तकारण के अभेद-निश्चय पर अधिष्ठित है। इनमें 'खड्ग' निमित्तकारण है—यह ध्यान में आते ही विरोध दूर हो जाता है। क्योंकि कार्य के गुण समान रहते हैं। वे समवायिकारण के गुणों से या निमित्तकारण के गुणों से नहीं, इसकारण यहाँ विरोधालंकार के होने की शंका नहीं होनी चाहिए। क्योंकि विरोधालंकार में कार्य-कारणभाव की विवक्षा नहीं हुआ करती। दूसरी बात यह है कि उसमें विरोध भासित होता है। वह विरोध, एक जगह न दिखाई देने वाली वस्तु, एक जगह रहने के कथन से भासित होता है। 'विरोध' अलग वस्तु है और विरोधालंकार अलग वस्तु है।

रुद्रट ने दिये हुए विषमालङ्कार के उदाहरण में 'नायिका' कारण है, और 'विरह'—कार्य है। 'कारण' तो आनन्ददायक है, किन्तु 'कार्य'—तापदायक है। इस प्रकार कारण और कार्य दोनों की क्रियाओं का परस्पर विरोध है। किन्तु यहाँ पूर्वोक्त ही कारण होने से विरोधालङ्कार की सम्भावना नहीं है। उसी प्रकार यहाँ असंगति अलङ्कार भी सम्भव नहीं है क्योंकि 'असंगति' में कार्य-कारण की स्थिति भिन्न-भिन्न देशों में होने से 'विरोध' उत्पन्न होता है, किन्तु विषम-अलङ्कार में 'विरोध', कार्य-कारणों की क्रिया परस्पर विरोधी रहने से होता है। विषम के प्रकार में ही किञ्चित् परिवर्तन करके रुय्यक आदि आलंकारिकों ने 'विचित्र' नाम का एक अलंकार बताया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसका लक्षण—'इष्टसिद्ध्यर्थम् इष्टैषिणा क्रियमाणम् इष्टविपरीताचरणं विचित्रम्' किया है। इसका उदाहरण—

'उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्व-द्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया।
प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद् विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः' ॥ (रुय्यक)

अर्थात् तृष्णा से अन्धा हुआ सेवक सभी बातें कैसी करता है—देखो, उन्नति के लिये धनिक के समक्ष लीन हो जाता है, समृद्ध भवनों से प्राप्ति की इच्छा कर उन भवनों के बाहर खड़ा रहता है, द्रव्य प्राप्ति की आशा से अपनी पुंजी (धन) को खर्च करता है, जीवित रहने की आशा से युद्ध में प्राणों की बाजी लगा देता है, सुख प्राप्ति के लिये कष्ट उठाता है ॥' उद्योतकार ने 'विचित्र' का समावेश 'विषम' में ही किया है। किन्तु 'विषम' के कार्य-कारणभावाश्रित प्रकारों में पुरुष-प्रयत्न की विवक्षा

नहीं हुआ करती, वह तो 'विचित्र' में हुआ करती है—इस भिन्नता को पण्डितराज जगन्नाथ ने बताया है।

पूर्व प्रदर्शित माघकाव्य(१३।४०) के उदाहरणभूत श्लोक का अन्वय—'सागरशयस्य यस्य विपुलेन कुक्षिणा युगक्षये भुवनानि पपिरे (पीतानि) सः पुनः एकतमया पुरस्त्रिया मदविभ्रमासकलया एकया दृशा पपे (पीतः)। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिये इन्द्रप्रस्थ नगरी मे आये हुए कृष्णरूप विष्णु को देखने के लिये नगर में स्त्रियाँ उमड़पड़ीं। उस प्रसंग के वर्णन में यह श्लोक है—प्रलयकाल में अपने उदर में चतुर्दशभुवनों को समा लेने वाले 'विष्णु' को चौदह भुवनों के विस्तार में एक अणुमात्र गिनी जानेवाली किसी पुरसुन्दरी ने अर्धोन्मीलित नेत्रों के द्वारा एक कटाक्ष से ही कैसे पी लिया ? यह चमत्कृतिपूर्ण वर्णन इसमें किया गया है—इसमें चौदह भुवनों को पी लेने वाला 'उदर' तो विष्णु का एक अवयव मात्र है। अर्थात् अवयवीभूत विष्णु, उस अवयवरूप उदर से और चौदह भुवनों से बहुत ही बड़ा होगा यह स्वत एव सिद्ध होता है। उसी तरह इन भुवनों का चौदहवाँ हिस्सा जो भूर्लोक है, उसका लक्षांश या कोट्यंशरूप इन्द्रप्रस्थ में लक्षांशभूत जो पुरसुन्दरो, वह तो विष्णु के उदर की अपेक्षया अर्थात् ही विष्णु से बहुत ही छोटी (लघु) है, यह निःसन्दिग्ध है।

ऐसी अतीव लघुभूत पुरसुन्दरी स्त्री ने मद से घुन्द होने के कारण अर्धोन्मीलित (पूर्णतया उन्मीलित भी नहीं) तथा शरीर के अतीवलघुभूत छोटे से अवयवरूप नेत्र के एक कटाक्ष से ही पीलिया (दीर्घकाल तक अवलोकन से भी नहीं) कैसी अद्भुत बात है। इस वर्णन में विष्णु के उदररूप अवयव को 'चतुर्दशभुवनपान' करने की क्रिया से अवयवीभूत विष्णु का पुरस्त्रीदृष्टिपानकर्मत्व अर्थात् पुरसुन्दरी की दृष्टि से पान किया जाना—यह गुण (धर्म) विरोधी है, तथा चतुर्दश भुवनरूप अवयवी का जो विष्णूदरकृतपानकर्मत्वरूप गुण (धर्म) है, उसके साथ उस अवयवी का, एक अत्यन्त सूक्ष्म अवयवभूत पुरस्त्रीदृष्टि का 'विष्णुपानकर्तृत्व' रूप क्रिया विरोधी है। अर्थात् इस वर्णन में अवयवावयवियों की गुण-क्रियाओं का अन्योन्य विरोध है। उसी तरह चतुर्दश भुवनों का एक अंशभूत समुद्र के एक भाग में सोने वाले शेषशायी विष्णु के एक अवयवभूत उदर से चौदह भुवनों का घूंट (पान कर) लेना—इस घटना में भी अन्योन्यविरोध हो सकता है।

वृत्तिगत वचन का अभिप्राय व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया है—(१) प्रदीपकार का कहना है कि 'विषम' के प्रतिपादित चार प्रकार केवल उपलक्षणपरक हैं (दिग्दर्शनपरक हैं), उसके अन्य प्रकार भी हो सकते हैं—यह मम्मट का अभिप्राय है। (२) तात्पर्यवृत्तिकार महेशचन्द्र ने 'विपुलेन०'—इत्यादि उदाहरण में 'उदर'

और 'कृष्णशरीर' इन दोनों का सम्बन्ध 'उपादानकारण और उसका कार्य' रूप है—यह कहकर प्रस्तुत उदाहरण चौथे प्रकार का प्रतीत होता है—यह ग्रन्थकार का आशय है।

(३) प्रस्तुत उदाहरण पूर्वोक्त प्रथम प्रकार का है—यह भी एक मत प्रदीपकार के नाम पर वामनी में बताया गया है किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रदीपकार ने प्रस्तुत उदाहरण को प्रथम प्रकार में नहीं माना है। वे प्रस्तुत उदाहरण को पाँचवें प्रकार में मानते हैं। (४) वस्तुतः प्रस्तुत उदाहरण पूर्वोक्त तीसरे या चौथे प्रकार में आ सकता है।

मम्मट स्पष्टवादी हैं, गोल-मोल बात वे नहीं करते। अतः प्रदीपकार का व्याख्यान अग्राह्य है। प्रदीपकार के अनुसार 'विषम' के अन्यान्य प्रकारों का होना भी सम्भाव्य है, यह यदि मम्मट को मान्य होता तो वे 'चतूरूपो विषमः'—ऐसा निश्चयात्मक कभी न कहते।

मल्लिनाथ ने शिशुपालवध की अपनी टीका में 'विपुलेन......' इस उदाहवण में 'अधिक' अलंकार बताया है। मम्मट के विचार से 'अधिक' अलंकार तब होता है, जब 'आश्रित' और 'आश्रय' इन दो वस्तुओं में से छोटी वस्तु,दूसरी वस्तु से अर्थापत्ति आदि किशी अन्य प्रमाण के द्वारा बड़ी प्रतीत होने के वर्णन को 'अधिक' अलंकार माना गया है। अतः मम्मट के अनुसार प्रस्तुत उदाहरण में 'अधिक' अलंकार दो प्रकार से हो सकता है—(१) आश्रित रहने वाला लघुभूत बिष्णुशरीर, उसके आश्रयभूत महान् सागर से भी बड़ा है, यह मानना होगा, क्योंकि वह प्रलयकाल में सागर समेत चौदह भुवनों को ग्रस लेता है अर्थात् अपने में रख लेता है।

(२) 'पुरस्त्रीदृष्टि' आश्रित है, वह अपने आश्रय से अर्यात् चौदह भुवनों से भी (वस्तुतः बह छोटी रहने पर भी) 'बड़ी' (महान्) उसे कहना होगा। क्योंकि चौदह भुवनों का ग्रास करनेवाले विष्णु के (कृष्ण के) शरीर को स्वयं में समा लेरही है—इस तरह यहाँ 'अधिक अलंकार' हो रहा है तथापि मम्मटनिर्दिष्ट 'विषम' अलंकार में कोई बाधा नहीं पहुँच रही है क्योंकि विषम अलंकार का क्षेत्र, 'अधिक' अलंकार के क्षेत्र से भिन्न है। यहाँ 'विषम' अलंकार जो सिद्ध हो रहा है, वह अवयव (उदर) और अवयवी (कृष्णशरीर) इनके धर्मों में अन्योन्यविरोध के कारण सिद्ध हो रहा है। प्रस्तुत उदाहरण में 'अधिक' अलंकार के होने में भी कोई रुकावट नहीं है। तथापि मल्लिनाथ ने 'अधिक अलंकार' के होने में जो कारण—'कुक्षिकोणनिबिष्टनिखिल विष्टपस्य हरेः महतः आधेयस्य अत्यल्पतरैककान्ताकटाक्षकोणाधारत्वोक्त्या चमत्कारात् अधिकालंकारः' (सल्लियाथ, शिशुपाल-सर्वंकषाव्याख्या), दिया है, वह इन दो अलंकारों

(४८ अधिकसंज्ञकोऽलंकारः)

(१९५) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम् आश्रयस्तदाधारः तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयाश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यद् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम ।

क्रमेणोदाहरणम्—

से संबंधित मम्मट के विचारों के अनुकूल नहीं है। मल्लिनाथ ने यहाँ पर जो अधिक अलंकार बताया है, वह काव्यप्रकाशोक्त अधिकलक्षण के अनुसार न होकर विद्यानाथकृत 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के आधार पर कहा है। विद्यानाथ के अधिकालंकार का लक्षण, रुय्यकोक्त अधिकलक्षण के अनुसार है, जो मम्मटोक्त अधिकलक्षण से किञ्चित् भिन्न है।

शोभाकरोक्त सामग्रीसाकल्यपर आधारित जो 'सम' का प्रकार है उसके प्रतिवादी के रूप में 'सामग्रीवैकल्य' पर आधारित रहनेवाले भी विषम के प्रकार को इसने बताया है। उसका उदाहरण—

'जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ निम्मलच्छाओ ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणी ओ जलणिही न किओ ॥

यह गाथा मम्मट ने 'समासोक्ति' और 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकारों के संकर के उदाहरण में दी है।

(४८ अधिक अलंकार)

(सूत्र १९५) महतोरिति। स्वभावतः महान् आधेय और आधार के क्रमशः उनके आधार और आधेय छोटे होने पर भी वर्णनीय वस्तु के उत्कर्ष को बताने के लिये महान् प्रदर्शित किये जाँय तो वह दो प्रकार का 'अधिक' अलंकार कहलाता है ॥१२८॥

आश्रितमिति। 'आश्रित' अर्थात् आधेय और आश्रय अर्थात् उसका आधार। उन दोनों के स्वरूपतः महान् होने पर भी उनकी अपेक्षया छोटे भी आधार तथा आधेय (अर्थात् बड़े आधेय की अपेक्षया छोटे आधार और बड़े आधार की अपेक्षया छोटे आधेय) प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष को बताने की इच्छा से जो अधिक बड़े करके वर्णन किये जाते हैं, वह दो प्रकार का अधिकनाम का अलंकार होता है।

क्रमेणेति। क्रमशः दोनों भेदों के उदाहरण, जैसे—

(१ आधार-महत्त्ववर्णनरूपोऽधिकः)

अहो विशाल भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥ ५४२॥

(२ आधेय-महत्त्ववर्णनरूपोऽधिकः)

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ ५४३ ॥

---

(१) अहो इति । हे राजन् ! आश्चर्य है, इस त्रिलोकी का (तीनों लोकों का) पेट (उदर) बहुत विशाल है,जिसमें आपका यश,अपरिमेय होने पर भी समा गया है॥५४२॥

यहाँ पर 'यशोराशि'–आधेय' है, उसकी अपेक्षया उसका आधार भुवनत्रितयोदर' छोटा है। परन्तु 'यशोराशि' के महत्व को बताने के लिये उस 'लघुतर आधार' की भी विशालता का वर्णन—'अहो विशाल भूपाल भुवनत्रितयोदरम्'—कहकर किया गया है। इसलिए 'अधिक' अलंकार का 'आश्रय (आधार) लाघव' रूप यह प्रथमभेद है।

अब आश्रित (आधेय) लाघवरूप द्वितीय भेद का उदाहरण—

(२) युगान्तकालेति । प्रलयकाल में यच्च-यावत् सम्पूर्ण प्राणियों का अपने भीतर लय करने वाले भगवान् बिष्णु (कृष्ण) के जिस शरीर में समस्त जगत् अपने विस्तार सहित समा जाता है, उस शरीर में तपोधन नारदमुनि के आने से उत्पन्न हुई प्रसन्नता (आनन्द) न समा सकी ॥५४३॥

यहाँ पर आधेय—'प्रसन्नता' है और आधार–'कृष्ण-शरीर' हैं। एवंच आधारभूत कृष्ण-शरीर की अपेक्षया आधेयभूत प्रसन्नता अल्प होने पर भी उसके उत्कर्ष को ख्यापित करने के लिए उसीके आधिक्य का बर्णन किया गया है। इसलिए यह 'अधिकअलंकार' के 'आधेय-लाघवरूप द्वितीय भेद का उदाहरण है।

र० बो०—सूत्र १९५ कारिका १२८ का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—'यत् महतोः आश्रिताश्रययोः क्रमात् आश्रयाश्रयिणौ तनुत्वे अपि महायांसौ स्याताम्, तत् तु अधिकम्'।

'अधिक' अलंकार दो प्रकार से साकार होता है। महतोरिति । महतोः बृहतोः, विशालयोः, आश्रिताश्रययोः आधाराधेययोः सतोः, आश्रयाश्रयिणौ, आधाराधेयौ तनुत्वेऽपि, अल्पत्वेऽपि क्रमात् क्रमेण यत् महीयांसौ स्याताम् महीयस्तया वर्ण्येते प्रतिपाद्येते—(वर्णनमत्र यथाकथञ्चित् प्रतिपादनम्, नत्वभिधानमेव, प्रथमोदाहरणे अभिधानसंभवेऽपि द्वितीयोदाहरणे तदसंभवात् ।)—तत् द्विविधम् अधिकमित्यर्थः । अयमभिप्रायः–महति बृहति बिशाले, आश्रिते, आधेये सति तदपेक्षया तनुरपि, अल्पोऽपि

आश्रयः, आधारः वर्णनीयोत्कर्षं बोधयितुं महीयान् स्यात् महीयस्तया वर्ण्यते तत् एकम् अधिकम् ।

महति बृहति विशाले, आश्रये, आधारे सति तदपेक्षया तनुरपि, अल्पोऽपि, आश्रितः आधेयः वर्णनीयोत्कर्षं बोधयितुं महीयान् स्यात् महीयस्तया वर्ण्यते तत् अपरम् अधिकमिति ।"यत्र आधाराधेययोरन्यतरस्य न्यूनत्वाधिकत्वे कविकल्पिते तत्रैवायमलंकारः" इति उद्योते स्पष्टम् ।

वृत्ति में उल्लिखित 'महतोरपि विषये' में 'विषये' की व्याख्या अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। जैसे—विषये 'संबंधे सति' इति शेषः इति विवरणकाराः। विषये संबंधे इति उद्योतकृतः। विषये प्रतिपाद्यते इति प्रभाकृतः। विषये स्थलविशेषे इति कमलाकरभट्टाः ।

आधार का महत्त्ववर्णनरूप पहिले 'अधिक' का उदाहरण—

अहो इति। यह उदाहृत पद्य, दण्डी के काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद का है और आधेय का महत्त्ववर्णनरूप द्वितीय अधिक का उदाहरण—युगान्तेति—यह उदाहृत पद्य माघकाव्य के प्रथमसर्ग में नारद का आगमन होने पर श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों को देखने से प्रतीत होता है कि 'आश्रय' से आश्रित का अथवा आश्रित से आश्रय का महत्त्व, वास्तविक न होकर कविकल्पित है। अतएव 'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः' इस उदाहरण में मल्लिनाथ को अतिशयोक्ति की प्रतीति हुई। आश्रय और आश्रित इन दोनों में से जो वस्तु बड़ी होगी, उसे छोटी सिद्ध करके दूसरी वस्तु को बड़ो सिद्ध करने का कवि का प्रयत्न 'अधिक' अलंकार के उदाहरण में दिखाई देगा, ऐसा जहाँ नहीं होगा वहाँ 'अधिक' अलंकार सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः 'आश्रय-आश्रित' स्वरूपवाले 'अधिक' का उदाहरण जो रुय्यक ने दिया है, उसमें 'असिद्ध' सिद्ध नहीं हो रहा है—यह जयरथ ने और जगन्नाथ ने कहा है। उनका दिया उदाहरण इस प्रकार है—

"द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रविततं पातालमत्र क्वचित्
क्वाप्यत्रैव धरा धराधरजलाधारावधिर्वर्तते ।
स्फीतस्फीतमहो नभः कियदिदं यस्येत्थमेवंविधै-
र्दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्तं गतम्" ॥

स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी इत्यादि असंख्य बड़ी-बड़ी वस्तुएँ आकाश में (अवकाश में, अन्तराल में) भरी हुई हैं, वे वस्तुएँ उस आकाश के एक कोने में समा गई हैं। उस कारण आकाश का पूर्णतया भरजाना तो दूर रहा, उनके अस्तित्व से आकाश के

(४९ 'प्रत्यनीक' संज्ञकोऽलंकारः)

(१९६) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १२९ ॥

'शून्य' (खाली) इस नाम तक को धक्का नहीं लगने पाया—कैसा यह आकाश का विस्तार ! यहाँ वर्णित आकाश का विस्तार वास्तविक ही है, कविकल्पित नहीं हैं। उस कारण उसके वर्णन को 'अलंकार' नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत 'अधिक' अलंकार का प्रतियोगी 'अल्प' नाम का एक अलंकार श्रीअप्पय-दीक्षित ने बताया है। जैसे—

"अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद् यदाधारस्य सूक्ष्मता ।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते" ॥
—(कुवलयानन्द)

रत्न जड़ा कर बनी अंगूठी (अंगुलीयकमूर्मिका इत्यमरः) किसी विरहकृश सुन्दरी के हाथ में जपमाला जैसी दिखाई देने का वर्णन किया गया है—

अंगूठी (आधेय = आश्रित) अंगुली के नाप की होने से 'हाथ' से छोटी है किन्तु 'हाथ' (आधार = आश्रय) उससे भी छोटा दिखाई देने लगा—यह सूचित होने से लक्षण के अनुसार 'अल्प' अलंकार भी सिद्ध हो रहा है। इस अलंकार का समावेश 'उद्योतकार' ने 'अधिक' अलंकार में किया है। उनका कहना है कि अधिक अलंकार के लक्षण में जो 'महत्' पद है, उसका अर्थ, अतिशय, अर्थात् किसी भी परिमाण का (सूक्ष्मता का भी) उत्कर्ष' भी किया जा सकता है। इसलिये 'अल्प' को पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं है। "अत्र सूत्रे महत्त्वशब्देन महत्परिमाणम् अतिशयश्च, तेन यत्र सूक्ष्मत्वातिशयवतः, आधारात् आधेयाद् वा तदन्य-तरस्यातिसूक्ष्मत्वं वर्ण्यते तत्राप्ययमलंकारः। अत्र मणिमालामयी ऊर्मिका अंगुली-मितत्वादतिसूक्ष्मा सापि विरहिण्याः करे कङ्कणवत् प्रवेशिता तस्मिन् जयमालावत् लम्बते, इत्युक्त्या ततोऽपि करस्य विरहकार्श्यादतिसूक्ष्मता दर्शिता। एतेन ईदृशे विषये अल्पं नाम पृथगलंकार इति कुवलयानन्दोक्तमपास्तमिति उद्योते स्पष्टम्।

(४९ प्रत्यनीक अलंकार)

(सूत्र १९६) प्रतिपक्षमिति। अपने प्रतिपक्षी (शत्रु) का अपकार कर सकने में असमर्थ व्यक्ति के द्वारा उस प्रतिपक्षी के किसी सम्बन्धित वस्तु का जो उसकी प्रशंसा में पर्यवसित होने वाली है, उसका तिरस्कार जहाँ किया जाता है, वहाँ 'प्रत्यनीक' अलंकार होता है ॥ १२९ ॥

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तदनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात्प्रत्यनीकमभिधीयते। यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः।

न्यक्कृतिपरमपीति। निरन्तर तिरस्कार (अपमान) करने वाले शत्रु का, साक्षात् अपकार करने में असमर्थ किसी व्यक्ति के द्वारा उस शत्रु के आश्रित का जो तिरस्कार है, जिससे उसी के शत्रु का उत्कर्ष हो जाता है, वह अनीक (सेना) के प्रतिनिधि के तुल्य होने से उस अलंकार को 'प्रत्यनीक' नाम दिया गया है। जैसे सैन्य पर आक्रमण करने के अवसर पर यदि कोई मूर्खतावश उसके प्रतिनिधिभूत दूसरे पर आक्रमण कर देता है, उसी प्रकार यहाँ प्रतिपक्षी (शत्रु) पर विजय प्राप्त करने के बजाय उससे सम्बन्धित किसी दूसरे पर विजय प्राप्त करता है, अर्थात् जिसे जीतना है, उसे न जीतकर किसी दूसरे को ही जीत लेता है, प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजयते इत्यर्थः। तदीयत्व दो प्रकार का हो सकता है—(१) साक्षात् सम्बन्ध से और (२) परम्परा सबन्ध से। इस कारण प्रस्तुत अलंकार को 'प्रत्यनीक' नाम से कहा जाता है।

र० बो०—'प्रतिपक्षं प्रतिकर्तुम् अशक्तेन तत्स्तुत्यै या तदीयस्य तिरस्क्रिया, तत् 'प्रत्यनीकम्' इत्युच्यते'। मान लीजिये कि किन्ही दो व्यक्तियों में शत्रुता है। उन दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति 'दुर्बल' है और दूसरा व्यक्ति 'बलवान्' है। बलवान् व्यक्ति ने दुर्बल व्यक्ति को पादाक्रान्त कर दिया है। तब दुर्बल व्यक्ति अपने मन ही मन सोचता रहता है कि 'इसका खूब अच्छी तरह से बदला लूँ', किन्तु क्या करे बेचारा? उस बलवान् शत्रु से सीधा (प्रत्यक्ष रूप से) बदला लेने की कुव्वत (ताकत, हिम्मत) तो दुर्बल के शरीर में है नहीं। तब दुर्बल व्यक्ति क्या करता है? वह दुर्बल व्यक्ति अपने बलवान् शत्रु के पक्ष में जो कमकुबत (कमजोर) व्यक्ति हो, उसे अकेले में पकड़कर पीड़ित करना (सताना) शुरु करता है और मुख्य शत्रु को अप्रत्यक्ष ही क्यों न हो 'मैंने भी उसे हाथ दिखा दिया'—यह सोचता हुआ अपना समाधान कर लेता है। तथापि अन्ततोगत्वा माना यही जाता है कि दुर्बल व्यक्ति कमजोर है और उसका प्रतिस्पर्धी शत्रु बलवान् है। क्योंकि वास्तविक प्रतिस्पर्धी शत्रु को दो हाथ दिखाने के बजाय उसके पक्ष के बेचारे किसी मामूली ऐरे गैरे पचकल्ले आदमी को सताता रहता है, इससे स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्धी से सीधे भिड़ने की इसमें हिम्मत नहीं है। एवं च इस प्रकार को कवि-प्रतिभानिर्मित परिस्थिति का जो वर्णन किया जाता है, उसीको 'प्रत्यनीक' अलंकार कहते हैं।

उदाहरणम्—

> त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
> पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥ ५४४ ॥

यथा वा—

इस अलंकार को 'प्रत्यनीक' नाम सहेतुक दिया गया है । "अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये''– इस मेदिनी कोष के अनुसार 'अनीक' (न० लि) सैन्य और 'प्रति'=प्रतिनिधि, "प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (पा० १।४।९२) ।

तथा च 'प्रत्यनीक' शब्द का अर्थ हुआ—'सैन्य का प्रतिनिधि । 'अनीकात् प्रति इति प्रत्यनीकम्'—(अव्ययीभा०) । जैसे लड़ना तो शत्रुसेना से उचित है, किन्तु हिम्मत न रहने से मूर्खतावश उस सेना के प्रतिनिधि (सम्बद्ध) किसी अन्य के साथ लड़ने लगना, वैसे ही प्रस्तुत अलंकार की स्थिति है । उसकारण इस अलंकार को 'सैन्यप्रतिनिधि'—यह नाम 'लक्षणा' से दिया गया है, अर्थात् यह नाम 'लाक्षणिक' है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इस नाम का विवरण इस प्रकार दिया है—"अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम् ।···लोके प्रतिपक्षस्य तिरस्काराय अनीकं प्रयुज्यते । तदशक्तौ प्रतिपक्ष-सम्बन्धिनः कस्यचित् तिरस्कारः क्रियते । स च अनीकसदृशतया प्रयुज्यमानत्वात् प्रत्यनीकम् उच्यते' । प्रत्यनीक और व्याजस्तुति दोनों पृथक्-पृथक् अलंकार हैं । यद्यपि दोनों से निन्दा और स्तुति की प्रतीति होती है, तथापि दोनों एक नहीं हैं । व्याजस्तुति में निन्दा और स्तुति दोनों का विषय एक ही रहता है, किन्तु प्रत्यनीक में निन्दा एक की, तो स्तुति दूसरे को रहती है । तथा व्याजस्तुति में निन्दा वाच्य रहने पर 'स्तुति' गम्य होती है । और स्तुति वाच्य रहने पर 'निन्दा' गम्य होती है,प्रत्यनीक और व्याज-स्तुति दोनों में यही अन्तर है । साक्षात् सम्बन्ध से तदीयत्व का उदाहरण—नायक के विरह से व्याकुल हुई नायिका की अवस्था का वर्णन उसकी कोई सखी नायक के समक्ष कर रही है, जैसे—त्वमिति । हे सुन्दर नायक ! कामदेव के सौन्दर्य को तुमने जीत लिया है और वह कामिनी तुम पर ही अनुरक्त है । अर्थात् वह तुम्हारी ही है ।

कामदेव तुम्हारा तो कुछ बिगाड़ नहीं पा रहा है । अतः तुम पर आसक्त रहने-वाली तुम्हारी नायिका को ही वह (कामदेव) द्वेषसे ही मानों पाँचों बाणों से एक साथ ही उसे अत्यन्त पीड़ित करता रहता है ॥५४४॥

यह उदाहरण 'साक्षात् सम्बन्धेन तदीयत्व के प्रत्यनीक का है । 'मवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापनुबन्धयोः' इति विश्वः । कमदेव के पांच बाण—'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः'॥ इत्यमरः । 'उन्मादनस्तापनश्च शोषणस्तंभनस्तथा । संमोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः ॥

यस्य किञ्चिदपकर्त्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥ ५४५ ॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ।

अत्र स्वरूपनिर्जयेन स्वशत्रुभूतं नायकं जेतुमशक्तेन कामेन तत्प्रतिनिधिभूतायाः, तदीयकामिन्याः पीडनात् प्रत्यनीकालंकारः । कामिन्याः कामिनश्च साक्षादेव स्व-स्वामिभावः सम्बन्धः । तदीयकामिन्याः पीडनात् तदुत्कर्षावगतिः । अत्र संभावनार्थ-केवशब्दसत्त्वेऽपि उत्प्रेक्षा न ।

अब परम्परा सम्बन्धेन तदीयत्व के प्रत्यनीक का माघकाव्य के चतुर्दश सर्ग के ७८वे पद्य को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं—युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर के पूछने पर पितामह भीष्म ने सविस्तर भाषण देने के पश्चात् अग्रपूजा के लिए सभी प्रकार से योग्य व्यक्ति के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण का निर्देश किया । इस सन्दर्भ में श्रीकृष्ण के अनेकानेक अद्भुत महान् कार्यों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण के पूर्वावतारों का परामर्श करते-करते भीष्मपितामह ने 'मोहिनी' अवतार का उल्लेख किया, उसीको प्रस्तुत पद्य से बताया है—

यस्य किञ्चिदिति । श्रीकृष्ण ने राहु का 'कायनिग्रह' किया अर्थात् उसका शिरश्च्छेद किया । उसकारण उनसे वैर (शत्रुता) रखनेवाला राहु, जिस श्रीकृष्ण का किञ्चित् मात्र भी बिगाड़ने में अपने को असमर्थ पाकर उस श्रीकृष्ण के सुन्दर मुख के समान आकृतिवाले चन्द्रमा को आज भी पीड़ित कर रहा है, और इसी से स्वयं को कृत-कृत्य मान रहा है ॥५४५॥

इन्दोरत्रेति । यहाँ पर कृष्ण के साक्षात् सम्बन्धी 'मुख' के साथ सम्बन्ध होने से 'चन्द्रमा' उस कृष्ण का परंपरया सम्बन्धी है । 'कायनिग्रहगृहीतविग्रहः'—कायस्य कायावयवस्य शिरसः निग्रहेण छेदनेन यद्वा कायस्य शरीरस्य यो निग्रहःशिरश्च्छेदः तेन गृहीतः अंगीकृतः विग्रहो विरुद्धज्ञानं वैरं विरोधो येन तथाविधः कृती विचक्षणः वैरनिर्यातने कुशलः राहुः अष्टमोग्रहः । "तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुंतुदः" इत्यमरः । यस्य श्रीकृष्णस्य किञ्चित् स्वल्पमपि अपकर्तुम् अपकारं कर्तुम्, अक्षमः असमर्थः सन् कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कान्तं कमनीयं यत् वक्त्रम् अर्थात् श्रीकृष्णस्य तेन सदृशी आकृतिर्यस्य तथाभूतम् इन्दुम् चन्द्रमसं अधुनापि बाधते, इदानीमपि ग्रसतीत्यर्थः । कृती इत्युपहासयुक्तं वचनम् । अमृतहरणे विष्णुः राहुशिरश्चिच्छेदेति पौराणिकी कथा । अत्र स्वकायनिग्रहेण स्वशत्रुभूतं श्रीकृष्णं जेतुमसमर्थेन राहुणा श्रीकृष्ण-सम्बन्धिनः इन्दोः पीडनात् प्रत्यनीकालंकारः । नन्वत्र इन्दोः कथं तदीयत्वं कृष्णसम्बन्धि-त्वम्, अतदीयत्वेच कथं प्रत्यनीकत्वम् ? तत्रोच्यते—'इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धि-

सम्बन्धात्'—तदीयता कृष्णसम्बन्धिता। सम्बन्धिनः श्रीकृष्णसम्बन्धिनः मुखस्य सम्बन्धात् सादृश्यात्मकसम्बन्धादित्यर्थः। तथा च साक्षात्सम्बन्धेन तदीयत्वविरहेऽपि परपदार्थस्य श्रीकृष्णस्य वक्त्रेण अवयवावयविभावः सम्बन्धः, वक्त्रस्य इन्दुना उपमानोपमेयभावः सम्बन्धः इति परंपरासम्बन्धेन तदीयत्वमिति भावः। अत्र श्रीकृष्णसम्बन्धिनः, इन्दोः पीडनात् श्रीकृष्णोत्कर्षावगतिः। नच भगद्वैरानुबन्धादिव भगवद्वक्त्रसदृशमिन्दुं राहुर्बाधते, इति प्रतीतेर्गम्योत्प्रेक्षैवात्रास्तु, आद्योदाहरणे तु शाब्दी अपि उत्प्रेक्षा इति किमनेन अलंकारेणेतिवाच्यम्, तदपकाराऽसमर्थस्तदीयं पीडयतीति प्रतीत्यैवात्रचमत्कारादित्युद्योते स्पष्टम्।

रुद्रट ने 'प्रत्यनीक' अलंकार को औपम्याधिष्ठित अलङ्कारों में समाविष्ट किया है। उसका कहना है कि 'उपमेय' का उत्कर्ष बताने के लिये उपमान को जब विजिगीषु प्रतिस्पर्धी के रूप में दिखाया जाता है तब 'प्रत्यनीक' अलंकार होता है—

'वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्'॥—(रुद्रट)
'यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेवं माम्'॥ (रुद्रट)

हे सितांशो! यदि तद्वदनं जिगीषोः तव कान्तिसर्वस्वं तया अहारि, तर्हि तत्र मम किम् आपतितम्, यत् माम् एवं तपसि? इससे यह स्पष्ट होता है कि 'प्रतिस्पर्धी के समक्ष कुछ न चल पाने से उसके सम्बन्धी व्यक्ति को सन्तप्त करना'—यह जो अलंकार का विशेषचमत्कृतिजनक अंश, मम्मट ने बताया है, उसका रुद्रटोक्त लक्षण में कहीं भी उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि रुद्रटाभिमत 'प्रत्यनीक' शब्द का अभिप्राय भी केवल 'विरोधी सैन्य अथवा पक्ष, अर्थात् प्रतिपक्ष' से है। निष्कर्ष यह है कि मम्मट के अभिमत 'प्रत्यनीक' से रुद्रटाभिमत 'प्रत्यनीक' बिलकुल ही भिन्न है, तथापि रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित उदाहरण 'यदि तव तया जिगीषोः' में यह अंश आ गया है, इस अंश के चमत्कृतिसामर्थ्य को देखकर मम्मट ने उसका 'प्रत्यनीक' के लक्षण में ही समावेश किया है और रुद्रट की दी हुई उपमानोपमेयभाव की शर्त को निकाल दिया है। अर्थात् 'प्रत्यनीक के विरोधी पक्षों में 'उपमानोपमेयभाव' नहीं रहना चाहिए—यह मम्मट का कहना नहीं है, क्योंकि 'त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः' में विरोधीपक्ष 'नायक और मदन' ये उपमानोपमेयभाव से ही परस्पर सम्बद्ध हैं। इसके विपरीत उदाहरण—'यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः' उदाहरण के विरोधी पक्षों में–विष्णु और राहु इनमें 'उपमानोपमेयभाव' बिलकुल ही नहीं है। मम्मट का अभिप्राय यह

है कि इस अलंकार में विरोधी पक्ष का 'उपमानोपमेयभाव' होना कोई आवश्यक नहीं है, यदि हो तो भी और न हो तो भी ठीक है। इससे प्रतीत होता है कि मम्मटोक्त 'प्रत्यनीक' अलंकार, रुद्रटोक्त प्रत्यनीक से बहुत कुछ अंशों में भिन्न ही है। पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार यह प्रत्यनीक अलंकार, 'हेतूत्प्रेक्षा' या 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के प्रकारों में अन्तर्भूत होने योग्य रहने से उसे पृथक् गिनने की आवश्यकता नहीं है।

हेतूत्प्रेक्षा के अन्य उदाहरणों से तथाकथित 'प्रत्यनीक' में कुछ वैशिष्ट्य रहने पर भी उसे 'हेतुत्प्रेक्षा' से अलग नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'प्रत्यनीक' का 'हेतूत्प्रेक्षा' से नियत साहचर्य है। 'न हि पृथिव्यवान्तरभेदाद् 'घटात्' पटो विलक्षणः, इति पृथिव्याः बहिर्भवति (जगन्नाथ)। प्रत्यनीक का 'हेतुत्प्रेक्षा' से नियत साहचर्य बताते हैं—

'त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः' (श्लो० सं० ५४४) में नायिका को मदन ने पीडित कर दिया है। पीडितकरदेने का कविकल्पित कारण अर्थात् 'मदन को सौन्दर्य में जीतनेवाले नायक पर उसका आसक्त रहना' है—यह 'उत्प्रेक्षा' का अंश है, और यह 'उत्प्रेक्षा' यहाँ पर 'इव' शब्द से साक्षात् वाच्य (उक्त) है और 'यस्य किञ्चिदपकर्तुं-भक्षमः' (श्लो० सं० ५४५) में 'पूर्वोक्त 'इव' जैसा 'उत्प्रेक्षा' वाचक शब्द यद्यपि नहीं है तथापि उसमें भी 'कान्तवक्त्रसदृशाकृतिम्'—इस विशेषण में 'हेतु' की ही संभावना प्रतीयमान है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। एवं च 'प्रत्यनीक' के किसी भी उदाहरण में 'हेतुत्प्रेक्षा' वाच्य (शाब्दी) अथवा प्रतीयमान (आर्थी) के रूप में अवश्य ही दिखाई देगी। उस कारण 'प्रत्यनीक अलंकार 'हेतुत्प्रेक्षा' से गतार्थ हो जाता है—यह एक मत है।

किन्तु उद्योतकार ने 'प्रत्यनीक' में 'उत्प्रेक्षा' का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी प्रस्तुत अलंकार (प्रत्यनीक) को पृथक् मानने का समर्थन किया है। क्योंकि इस अलङ्कार (प्रत्यनीक) में जो चमत्कार है, वह उत्प्रेक्षात्मक अंश पर अधिष्ठित न होकर 'प्रतिपक्षी से युद्ध करने में असमर्थ व्यक्ति के द्वारा प्रतिपक्षी के सम्बन्धी किसी कमजोर व्यक्ति को पकड़ कर उसे पीड़ित करते रहने की परिस्थिति की प्रतीतिपर है। औपम्याधिष्ठित अनेक अलङ्कारों की परस्पर पृथक्त्व कल्पना, अवान्तर पृथक् वैशिष्ट्य के आधार पर ही की जाती है। इस उत्प्रेक्षापक्ष को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी 'इत्यपि वदन्ति' कह कर दिया है।

(५० मीलितालंकारः)

(१९७) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षणं तद्द्वारेण यत्किंचित् केनचिद्वस्तु वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति ।

(५० मीलित अलङ्कार)

(सूत्र—१९७) जहाँ पर अपने (१) स्वाभाविक (वस्तुस्वभावसिद्ध) अथवा (२) आगन्तुक, (औपाधिक) अर्थात् निमित्तविशेषसम्पर्कजनित—ये दो वस्तु जब साधारण चिह्न से (धर्म से) (लक्ष्मणा) युक्त रहती है, उस परिस्थिति में उस चिह्न के कारण जब एक वस्तु, दूसरी वस्तु के स्वरूप का वास्तविक अपह्नव करती है (छिपाती है), अर्थात् कल्पना करके या बहाने से नहीं छिपाती (वस्तुस्थित्या एव), तब छिपानेवाली (अपह्नव करनेवाली) वस्तु में जो समान चिह्न रहता है वह, दूसरी वस्तु में रहने वाले चिह्न से प्रबल रहता है (बलीयस्तया) ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वेति । तिरोधीयमान तथा तिरोधायक का स्वाभाविक अथवा औपाधिक (आगन्तुक) जो साधारण (समान) चिह्न, उस चिह्न से जो किसी का किसी वस्तु के द्वारा प्रबल होने से अन्य वस्तु का वास्तविक तिरोधान कर देना 'मीलित' अलङ्कार कहलाता है ।

वह 'मीलित अलङ्कार'—सहज और आगन्तुक भेद से दो प्रकार का होता है ।

मीलितालंकारबोधकस्य सूत्रस्यायमभिप्रायः—निजेन वस्तुस्वभानसिद्धेन, आगन्तुना निमित्तविशेषसम्पर्कजनितेन वा समेन साधारणेन तिरोधीयमान-तिरोधायकयोः उभयोरपि अनुगतेन लक्ष्मणा चिह्नेन करणभूतेन 'केनचित्' कर्त्रा इति शेषः । वस्तु यत् किञ्चिद्वस्तु कर्म वस्तुना वस्तुगत्या स्वभावतः यत् निगूह्यते तिरोधीयते, अन्तर्धीयते तत् मीलितं स्मृतमित्यर्थः । मीलितमिति नपुंसके भावे क्तः । एवंच मीलनं मीलितमित्यन्वर्थेयं संज्ञेति फलितम् । लक्ष्मणः चिह्नस्य क्वचित्स्वभाविकत्वात् क्वचिदागन्तुकत्वाच्च द्विविधं मीलित मित्यर्थः । एवंच समानलक्षणयोरपि वस्तुनोरेकस्य स्वभावतः प्रबलतया तेन यदि अपरस्य तिरोधानम् अन्तर्धानम् अनुद्बोधः अप्रकाशः भवेत् तदा मीलितमिति । व्याजोक्तौ तिरोधानं न वस्तुस्वभावजनितं, किन्तु कथञ्चिदुद्भिन्नं वस्तु कश्चित् तिरोधातुं यतते इति विवक्षितम् । इह तु वस्तु नोद्भिन्नम्, तस्यापि च तिरोधानं वास्तविकतया विवक्षितमिति भेदः । न च अपह्नुतिव्याप्तिः, उपमानोपमेयभावाऽभावात् इति विस्तारित्ययामुक्तम् । वस्तुतस्तु अपह्नुतौ निषेधसहितं व्यवस्थापनम्, अत्र तु न तथेति ततो भेदः ।

नोट—११३७ से ११५२ तक को ११५३ से ११६८ पढ़िये ।

क्रमेणोदाहरणम्—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥ ५४६ ॥

इसी सन्दर्भ में उद्योतकार ने कहा है—"स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्यात् भिन्नत्वेन अगृह्यमाणानां वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणानुमापकत्वं मीलितम् । एवं च 'हेमाद्रि त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते' इत्यादावपि इदमेव (मीलितमेव) शीतेन तज्ज्ञानेऽपि यशःसाधारणलिङ्गैः श्वैत्यादिभिस्तदनुमानाभावात् शीतेन जानते, इत्यनेनापि मीलनस्यैव दाढर्यं न त्वन्येनेति प्रतीतेः । एतेन अत्रो-न्मीलितं पृथगलंकार इति कुवलयानन्दोक्तमपास्तम्" इति ।

प्रस्तुत अलंकार का 'मीलित' यह नाम, 'एक वस्तु के गुणों से दूसरी वस्तु का स्वरूप, दर्शनानर्ह-सा हो जाता है, इसलिये वह 'नाम' अन्वर्थक है, क्योंकि 'मील्'= मिटना अदृश्य-सा होना' ।

क्रमेणोदाहरणमिति । दोनों भेदों के क्रम से उदाहरण, जैसे—

(१) अपाङ्गतरले इति । नयन अपने कटाक्ष (प्रान्त) भाग में चञ्चल हो रहे हैं, वाणी; मधुर और वक्रोक्तिपूर्ण है अर्थात् गूढार्थ से भरी हुई है, गति, अत्यन्त विलासपूर्ण होने से मन्द (मन्थर) है, मुख, अति मनोहर (सुन्दर) हो रहा है, इस प्रकार मृगनयनी सुन्दरी के शरीर में विलास का उदय स्वयं ही हो रहा है । उस कारण इसमें अर्थात् मादक द्रव्य के सेवन से अथवा धनादि के कारण होने वाले 'मद' के उदय को कोई स्थान ही नहीं मिला दीखता है ॥ ५४६ ॥

इस उदाहृत पद्य में विलासिनी तरुण सुन्दरी के वर्णन में उसकी अपनी स्वाभाविक विलास-लीला से उस सुन्दरी के मद्यपानजन्य धुन्दी पर (नशे पर) (आच्छादन) डालना प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि 'बिलासलीला' और 'धुन्दी' (नशा) दोनों के चिह्न समान (एक से) हैं । वे चिह्न, बिलास-लीला के समय अधिक प्रबल रूप में हुआ करते हैं । नेत्र के प्रान्तभाग, सहजलीला से जैसे तरल (चञ्चल) हुआ करते है, उसी तरह वे, मद्य के नशे (धुन्दी) में भी चञ्चल (तरल) हुआ करते हैं । इसी तरह लड़खड़ाकर बोलना अर्थात् उलटा-सीधा बोलना, आदि अन्यान्य चिह्न भी हुआ करते हैं । यही चिह्न यदि किसी वृद्ध स्त्री में दिखाई दें तो निश्चितरूप से वे मद-निदर्शक ही कहलाते क्योंकि उन वृद्ध स्त्रियों में इन 'विलासचिह्नों' का स्वाभाविक होना कथमपि सम्भव नहीं है । एवं च स्वाभाविक चिह्नवाले

अत्र दृक्तरलतादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
　　स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं
　　तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥ ५४७ ॥

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात्तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयोस्ताद्रूप्यं समानता च भयेष्वपि तयोरुपलक्षितत्वात् ।

'मीलित' का यह उदाहरण है। सहजलीलाजन्य होने के कारण ये दृक्तरलतादिक अङ्गनिष्ठ चिह्न, उसके स्वाभाविक हैं। वे चिह्न, लीलाविलास और मद दोनों के समान (एक से) ही हुआ करते हैं। एवं च प्रसिद्ध होने से बलिष्ठ, लीलात्मक वस्तु रूप कर्ता के द्वारा अर्थात् स्वाभाविक साधारण दृक्तरलतादिरूप चिह्नरूप कर्ता के द्वारा मदात्मक वस्तुरूप कर्म को तिरोहित कर दिया गया है—इसलिये यहां मीलित अलङ्कार है। प्रदीप-उद्योत में भी यही कहा गया है—"अत्र दृक्तरलतादि, अङ्गस्य स्वाभाविकं लिङ्गं समानं च तिरोधेयेन मदेन तत्राप्येतदुपलम्भात्" इति प्रदीपः।

"अत्र स्वाभाविकेन दृक्तारल्यादिना निगूहनीय—मदसमानधर्मेण बलवता मदोऽभिभूयते" इत्युद्योतः। "अत्र मदसाधारणैः अङ्गस्य, स्वाभाविकैः अपांगतरलत्वादिचिह्नैः मदस्य गोपनात् मीलितालंकारः" इति चन्द्रिकायामुक्तम्।

(२) आगन्तुक चिह्न से उत्पन्न हुए 'मीलित' का उदाहरण—

ये कन्दरास्विति। इस उदाहृत पद्य में किसी राजा के पराक्रम का अर्थात् शत्रुओं पर हुए परिणाम का वर्णनकर रहे हैं–हे राजन्! तुम्हारे जो शत्रु हैं,वे तुम्हारे आक्रमण के भय की आशंका से सर्वदा हिमाचल की कन्दराओं (गुफा = गुहाओं) में रहते हैं। तुम्हारे भय के कारण उनके कांपते हुए और रोमाञ्चित शरीर धारण करने पर भी, उस कम्प और रोमाञ्च को हिमालय की अत्यधिक शीतलता के कारण हुए जानकर बुद्धिमान् व्यक्ति भी उन शत्रुओं के 'भय' को नहीं जान पा रहा है॥ ५४७ ॥

अत्रेति। यहाँ हिमालय की गुफाओं में रहने के कारण, उसके सामर्थ्य से 'शैत्य' के आगन्तुक धर्म समझ लेने के कारण उस 'शैत्य' से उत्पन्न हुए 'कम्प' और 'रोमांच' को भी उसी प्रकार के 'आगन्तुक धर्म' समझा जा रहा है। एवं उनकी, भय से होने वाले कम्प तथा रोमाञ्च के साथ 'समानता' भी है, क्योंकि भय होने पर भी कम्प और रोमाञ्च का होना देखा जाता है।

इस प्रकार हिमाचल के समीप होने से 'प्रबल शीतरूप वस्तु' (यही कर्ता है), आगन्तुक साधारण कम्पादि चिह्न के द्वारा 'भयरूपववस्तु' को तिरोहित कर रही है (छिपा रही है) । अर्थात् आगन्तुक चिह्न और भयजनित चिह्न (कम्प रोमांच)दोनों समान (साधारण) हैं । दोनों के चिह्न एक से (समान) होने के कारण 'प्रबल शीत' रूप वस्तु, 'भय' रूप वस्तु को तिरोहित कर रहा (छिपा रहा) है । अतः यह मीलित अलंकार है । इस उदाहरण में 'शैत्य' आगन्तुक (नैमित्तिक) होने से तज्जन्य कम्प तथा पुलक भी आगन्तुक (नैमित्तिक) हैं, और पूर्वोक्त उदाहरण में 'बिलास लीला' स्वाभाविक होने से तज्जन्य दृक्तरलता आदि भी स्वाभाविक ही हैं । यही दोनों में भेद है ।

जब 'मीलित' और 'अपह्नुति' दोनों अलंकारों में एक के द्वारा दूसरा छिपाया जा रहा है, तब दोनों अलङ्कारों में भेद क्या रहा ? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है । उस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार से करना चाहिये—अपह्नुति में भी यद्यपि एक वस्तु (उपमान), दूसरी वस्तु को (उपमेय को) छिपाती है, तथापि अपह्नुति में प्रकृत वस्तु का (उपमेय का) 'निषेध' किया रहता है, किन्तु मीलित में निषेध नहीं किया जाता । 'एक वस्तु, दूसरी वस्तु की सन्निधि में अलग से (पृथक्-त्वेन) पहिचानने में नहीं आती—यह मीलित में कहा जाता है । इस कथन में वस्तु के 'अस्तुत्व' का निषेध करना नहीं पाया जाता । किन्तु अपह्नुति में वस्तु के 'वस्तुत्व' का ही निषेध किया जाता है, और उस पर किसी दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता है ।

तब 'एक वस्तु, दूसरी वस्तु के अत्यन्त समान है'—यह प्रतीति होती है । मीलित में स्थिति यह रहती है कि दो वस्तुएँ विद्यमान रहती हुईं, थी उनकी प्रतीति उनके चिह्नों के द्वारा अनुमान से होती है, और उन दोनों के कार्यों की समानता होने से, उन दोवों बस्तुओं की सन्निधि में उनकी 'पृथक्त्वेन' प्रतीति नहीं हो पाती ।

श्रीअप्पय दीक्षित ने 'मीलित' के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में 'उन्मीलित' अलङ्कार को बताया है । मीलित में दो वस्तुजों के समान-चिह्नों से छिप जाने वाला भेद, किसी अन्य असमान चिह्न के कारण यदि प्रतीत हो पाया तो 'उन्मीलित' अलंकार होता है । जैसे—'हिमाद्रिं त्वद्यशोमग्नं सुराः शीतेन जानते' । (कुवलया०) हिमालय का और तुम्हारा सर्वत्र फैला हुआ यश —ये दोनों श्वेत वर्ण रहने से तुम्हारे अपार यशोराशि में प्रथमतः हिमालय को देवताओं ने अलग से पहिचान नहीं पाया, यह सच है, किन्तु बाद में हिमालय के समीप पहुँचने पर 'ठण्डक' का अनुभव होते ही 'यह हिमालय है, और अन्य जो था वह 'यश' है—यह भेद ध्यान में आवा । क्योंकि

(५१ 'एकावली' अलङ्कारः)

(१९८) स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापनं निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते ।

'यश' के शुभ्र रहने पर भी वह शीत नहीं होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'उन्मीलित' को अनुमानालंकार के अन्तर्गत माना हैं ।

रुद्रट ने ही इस 'मीलित' को स्वतन्त्र अलंकार के रूप में प्रथमतः माना है। उसी के लक्षण—उदाहरणों का प्रायः अनुवाद मम्मट और रुय्यक ने भी अपने मीलित के विवेचन में किया है। किन्तु उसका बीज, दण्डी के दिये हुए अतिशयोक्ति के उदाहरण में—

"मल्लिकाभारभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः" ॥ (दण्डी)

निहित है।

श्री सत्यव्रत सिंहजी ने मम्मट के मीलित अलंकार को ही रुद्रट का 'पिहित' अलंकार बताया है। (सत्य० सिं० पृ० ४३२)। किन्तु रुद्रट के 'पिहित' अलंकार को न समझ पाने से उन्हें यह भ्रम हो गया है। रुद्रट के पिहितालंकार का स्वरूप यह है—प्रबल गुण के द्वारा अपने समनाधिकरण किन्तु असमान स्वरूपवाले दूसरे किसी गुण को आच्छादित कर देना (रुद्रट ९।५०–५१)।

रुद्रटोक्त स्वरूपवाला 'पिहित' अलंकार, मम्मट के 'मीलित' और 'सामान्य' इन दोनों अलंकारों से भिन्न है, क्योंकि 'मीलित तथा सामान्य' दोनों में 'असमान गुणों का एक का दूसरे पर प्रभाव नहीं हुआ करता'।

शोभाकर ने 'मीलित' और 'सामान्य' को पृथक् न मान कर दोनों को एक ही अलंकार (मीलित) माना है।

५१ एकावली अलंकार—(१–२)

(सूत्र १९८) स्थाप्यत इति। जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु (१) विशेषणरूप से रखी जाय, अथवा (२) हटा दी जाँय तो वह दो प्रकार का एकावली अलंकार होता है ॥ १३१ ॥

पूर्वं पूर्वं प्रति इति। पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति, उत्तर-उत्तर वस्तु का वीप्सा अर्थात् अनेक बार (१) विशेषण रूप से कथन करना अथवा (२) निषेध करना जहां सम्भव रहता है वहाँ विद्वानों ने 'एकावली' नाम का अलंकार माना है, वह दो प्रकार का होता है।

इस 'एकावली' अलंकार को रुद्रट ने प्रथमतः बताया (रुद्रट ७।१०९-११), पश्चात् उसीका अनुकरण मम्मट और मम्मट के अनुसार रुय्यक ने भी किया। इस अलंकार को दो प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है।

(१) अनेक वस्तुओं का उल्लेख करते समय उत्तर-उत्तर वस्तु को पूर्व-पूर्व वस्तु के विशेषणरूप में बताना अर्थात् पूर्ववस्तु वर्णन के अंगरूप से अर्थात् 'अस्ति' कहकर स्वतन्त्रतया स्थापित करना—यह पहिला प्रकार है।

(२) अनेक वस्तुओं का उल्लेख करते समय उत्तर-उत्तर वस्तु को पूर्व-पूर्व वस्तु के विशेषणरूप में 'नास्ति' कह कर बताना यह प्रस्तुत अलंकार का दूसरा प्रकार है।

अभिप्राय यह है कि 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' अर्थात् विधि—निषेधात्मक कथन की आवृत्तिपर प्रस्तुत अलंकार की चमत्कृति का माधुर्य निर्भर रहता है। इसी को सूचित करने के लिये कारिका में तथा वृत्ति में 'यथापूर्वम्' = पूर्वं पूर्वं प्रति, 'परं परम्', 'वीप्सया' (बाहुल्येन) इत्यादि शब्दों का प्रयोग 'सहेतुक' किया गया है। निष्कर्ष यह है कि उत्तरवर्ति वस्तु (पदार्थ) को, पूर्ववर्ति वस्तु (पदार्थ) के 'विशेषण' रूप में एक ही बार (सकृत्) यदि बताया गया हो तो वहां 'एकावली' अलंकार नहीं कहा जायगा। मोतियों की माला को 'एकावली' कहा जाता है। जैसे एक सूत्र में अनेक मोती पिरोये जाते हैं उसी तरह विशेषणतारूपी सूत्र में 'अस्ति—नास्तिरूप अनेक विधानों को पिरोया जाता है, इसलिये इसे 'एकावली' नाम से कहते हैं।

'एकाचासौ आवली चेति' कर्मधारय समास है। एकयष्टिका, एकलतिका, (एकसरा) को 'एकावली' कहा गया है। 'एकावल्येकयष्टिका'—इत्यमरः। सूत्रकार ने 'स्थाप्यते—अपोह्यते' पदों का प्रयोग किया है। 'स्थापन' शब्द का अर्थ—'विधि' है और 'अपोह' शब्द का अर्थ—'निषेध' है। एवं च उत्तरोत्तर का विधि = सम्बन्ध बताना, उसी तरह निषेध = अभाव बताना इसमें आवश्यक है। उद्योतकार ने स्थापकत्व अपोहकत्व का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकत्वं स्थापकत्वम्, अपोहकत्वं च स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकव्यतिरेकबुद्धिजनकत्वम्। 'विशेषणतया' शब्द, 'विशेष्यतया' का भी उपलक्षक है। जैसे—

'धर्मेण बुद्धिस्तव देवशुद्धा बुद्धया निबद्धा सहसैव लक्ष्मीः।
लक्ष्म्या च तुष्टा भुवि सर्वलोका लोकैश्च नीता भुवनेषु कीर्तिः' ॥

इस पद्य में उत्तरोत्तर विशेषण, पूर्व-पूर्व के प्रति विशेष्य हैं। यदि पूर्व-पूर्व वस्तु, उत्तरोत्तर वस्तु के प्रति उपकारक रहे तो 'मलादीपक' हो जाता है।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ विशेषणरूपेण विधाने)

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥ ५४८ ॥

'एकावली'—'मालादीपक'—'कारणमाला'—इनमें से प्रस्तुत 'एकावली अलंकार[1], 'शृङ्खलात्मक रचना से ही सिद्ध होनेवाले मालादीपक और कारणमाला अलंकारों से भिन्न हैं ।

क्योंकि 'मालादीपक' में 'धर्मदीपक' के सामान्यतत्त्वरूप 'औपम्य' का रहना आवश्यक है, जो 'एकावली' में नहीं हुआ करता । अर्थात् 'मालादीपक' में अनेक वस्तुओं की परम्परा में दो-दो वस्तुओं की जोड़ियाँ रहती हैं, उन समस्त जोड़ियों का 'समानधर्मरूप विधेय' एक ही रहता है । इसके विपरीत 'एकावली' में 'प्रत्येक जोड़ी का 'विधेय' भिन्न-भिन्न हुआ करता है । इसके अतिरिक्त रुय्यक के मतानुसार 'मालादीपक' को अनेक वस्तुपरम्परा में पूर्व-पूर्व की वस्तु, अगली-अगली वस्तु के प्रति अंगभूत हुआ करती है, किन्तु एकावली में अगली-अगली वस्तु, पूर्व-पूर्व की वस्तु के प्रति अंगभूत होती है । किन्तु रुय्यकोक्त यह 'भेदहेतु' आपाततः है, मूलभूत नहीं है । जयरथ और जगन्नाथ के मतानुसार तथाकथित 'मालादीपक' तो 'एकावली' का ही एक भेद (प्रकार) है और 'कारणमाला' अलंकार 'कार्य-कारणभावाधिष्ठित' होता है, अर्थात् उसमें प्रदर्शित अनेक वस्तुपरम्परा से सम्बन्धित प्रत्येक जोड़ियों में स्थित वस्तु, एक-दूसरे से कार्य-कारण-भाव के रूप में सम्बद्ध होती है, यह स्थिति 'एकावली' में नहीं है । 'एकावली' में स्थित जोड़ियों की वस्तुएँ, एक-दूसरे से विशेषण-विशेष्यभाव के रूप में सम्बद्ध रहती हैं ।

शृङ्खलात्मक रचनावाले 'मालादीपक' और 'कारणमाला' को शोभाकर ने 'शृङ्खला' नामक अलङ्कार का ही एक प्रकार कहा है ।

क्रमेणोदाहरणम्—दोनों भेदों के क्रमशः उदाहरणों को बता रहे हैं । जैसे—(१) पुराणि यस्यामिति । पद्मगुप्तप्रणीत 'नवसाहसांकचरित' के प्रथम सर्ग में राजा विक्रमादित्य की राजधानी 'उज्जयिनी' का वर्णन इस पद्य में किया गया है—जिस उज्जयिनी नगरी में पुर = घर, वरांगनाओं से अर्थात् सजी-धजी सुन्दरियों से युक्त हैं, और उन सुन्दरियों के शरीर 'रूप' से युक्त हैं, 'रूप' से विलास (हाव-भाव) प्रकट हो रहे हैं और वे 'विलास', कामदेव के अस्त्र बन गये हैं ॥ ५४८ ॥

यद्यपि 'पुर' शब्द का लोकसाधारण अर्थ 'नगर' है, किन्तु वह अर्थ, प्रकृत प्रसंग में संगत नहीं होता है । अतः 'आगारे नगरे पुरम्' इस अमरकोश के अनुसार अथवा

(२ विशेषणरूपेण निषेधे)

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥५४९॥

'गृहोपरिगृहं पुरम्' इस धरणीकोश के अनुसार 'पुर' शब्द का अर्थ—'गृहोपरिभाग में स्थित कमरा' समझना चाहिये ।

उपर्युक्त उदाहृत पद्य में 'पुर' का विशेषण—'वरांगना' है । द्वितीय चरण में 'बरांगना' का विशेषण—'रूपपुरस्कृताङ्गयः' है । 'तीसरे' चरण में 'रूप' का विशेषण 'समुन्मीलितसद्विलासम्' है । चतुर्थ चरण में वरांगनाओं के 'विलासों' को कुसुमायुध (कामदेव) का अस्त्र बताया है ॥

निष्कर्ष यह है—इस पद्य में 'पुर' का विशेषण 'वरांगना' है, उसका विशेषण 'रूपसौन्दर्य', उसका विशेषण 'विलास' और उसका विशेषण 'अस्त्र'—इस प्रकार विशेषणों की स्थापना क्रमशः की गई है ।

इस रीति से उत्तर-उत्तर पदार्थ को पूर्व-पूर्व पदार्थ के प्रति विशेषण के रूप में रखने से यहाँ 'एकावली' का प्रथम प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा है ।

भट्टिकाव्य के द्वितीय सर्ग में उल्लिखित शरत्कालवर्णनपरक पद्य को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं—

(२) न तज्जलमिति । जिस जल में अर्थात् जलाशय में 'कमल' (पंकज-पुष्प) नहीं, वह जल अर्थात् जलाशय ही नहीं है । तथा जिस कमलपुष्प के भीतर भ्रमर (षट्पद) नहीं बैठता है, वह कमल ही नहीं है, अर्थात् 'कमलपुष्प' कहलाने के ही योग्य नहीं है । तथा जो मन को लुभाने वाली मनोहर गुञ्जार (गुञ्जन) नहीं करता, वह 'भ्रमर' ही नहीं है और जो 'मन' को हरण न कर सके, वह 'गुञ्जन' ही नहीं है, अर्थात् उसे 'गुञ्जन' कौन कहेगा ? ॥५४९॥

उत्तरत्र प्रतिषेधेऽपि एवं योज्यम् । द्वितीय पद्य में—'जल' में, 'पंकज' का 'पंकज' में—'षट्पदों' का, 'षट्पदों' में—'गुञ्जित' का, 'गुञ्जित' में भी—'मनोहारिता' का विशेषण के रूप में अच्छी तरह से (बाहुल्येन) निषेध किया गया है, उस कारण यह पद्य, एकावली के दूसरे प्रकार का उदाहरण है । 'अंगविशेषण-मुखेन' का अर्थ है—अङ्गस्य विशेषणभावद्वारा ।

शंका—'सुचारु पंकज के बिना, 'जल' रमणीय नहीं है'—इस प्रकार 'विनोक्ति' अलङ्कार ही ध्वनित हो रहा है—यह क्यों न माना जाय ? क्योंकि यहां पर चमत्कार, 'विनोक्ति' कृत ही प्रतीत हो रहा है ।

समा०—वाच्यार्थ से प्रतीयमान हो रहे चमत्कार का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः, तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम्, तस्य विलासाः, तेषामप्यस्त्रमित्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम् ।

(५२ स्मरणाऽलङ्कारः)

(१९९) यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।

रहस्यबोधिनी—पूर्वोक्त उज्जयिनी वर्णनपरक पद्य में 'पुर' (प्रासाद अथवा ऊपर के कमरे, किंवा 'नामग्रहणे नामैकदेशग्रहणम्'—न्यास से 'अन्तःपुर' शब्द का संक्षेप, 'पुर' कहकर किया गया हैं), 'वरांगना', 'रूप', 'विलास'—इस मालिका में 'वरांगना'—यह, 'पुर' का विशेषण है, 'रूप'—वरांगनाओं' का विशेषण है, और 'विलास'—यह, 'रूप' का विशेषण अर्थात् वर्णनांग के रूप में 'अस्ति' मुख से कहा गया है । इन में से 'रूप' यह, वरांगनाओं के अंगों (अवयवो) का विशेषण है, क्योंकि 'रूपपुरस्कृताङ्ग्यः' कहा है, 'रूपपुरस्कृताः' नहीं कहा है । तथापि वह परंपरया वरांगनाओं का विशेषण ही प्रतीत होता है । जैसे 'मुकुट' साक्षात् मस्तक का ही आभूषण होता है और उसके द्वारा (परंपरया) समस्त शरीर का आभूषण माना जाता है'—इसी आशय को वृत्तिकार ने 'तासाम् अंगविशेषणमुखेन रूपम्' कहते हुए सूचित किया है ।

निषेधात्मक एकावली का उदाहरण—'न तज्जलं यन्न सुचारु पंकजं'—भट्टिकाव्य के द्वितीय सर्ग का १९वाँ श्लोक है । शरदृतु का वर्णन करते हुए कवि ने इसे प्रस्तुत किया है । इसमें 'जल, पंकज, षट्पद, गुंजित'—इन चार वस्तुओं में 'पंकज'—जल का, 'षट्पद'—पंकज का और गुंजित'—षट्पद का विशेषण है, इस 'विशेष्य-विशेषणभाव' को 'नास्ति'शब्द से बताया है । किन्तु उक्त पद्य में प्रत्येक निवक्षित अर्थ को बताने के लिये 'न'कार का दो बार प्रयोग किया गया है, उसकारण उसका पर्यवसान अन्वयात्मक विधान में ही हो रहा है । अर्थात् 'न तज्जलं' यन्न सुचारु पंकजम् = तदेव जलं यत् सुचारु पंकजम्' । तथापि वर्णनात्मक कथन के बाह्यरूप को देखते हुए उसका समावेश निषेधात्मक एकावलि में किया गया है । भट्टिकाव्य में प्रस्तुत पद्य का तृतीय चरण 'न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम्'—उपलब्ध होता है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसे 'न षट्पदोऽसौ कलगुंजितो न यो' के रूप में परिवर्तित कर दिया है । यह परिवर्तन मम्मट ने हेतुपुरःसर ही किया प्रतीत हो रहा है । मूल पद्य के तृतीय-चतुर्थ चरण में चौथी वस्तु भिन्न शब्दों से (जुगुञ्ज, गुञ्जित) निर्दिष्ट है । किन्तु जहाँ पर उद्दिष्ट वस्तु का ही निर्देश करना हो तो एक से शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए, भिन्न शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

(५२ स्मरण अलंकार)

(सूत्र १९९) अर्थस्य तत्सदृशे (= अर्थसदृशे वस्तुनि) दृष्टे, यथानुभवं स्मृतिः स्मरणम् इत्यन्वयः ।

स्मरणम्—

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचिदनुभूतोऽभूत् स कालान्तरे स्मृतिप्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत्तथैव स्मर्यते तद्भवत्स्मरणम् ।

उदाहरणम्—

(अस्मिन् जन्मनि अनुभूतार्थस्मृतिवर्णने 'स्मरणालंकारः')

निम्ननाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥ ५५० ॥

यथानुभवमिति । पूर्व देखी हुई किसी वस्तु के समान दूसरी वस्तु को देखकर पूर्वानुभव के अनुसार वस्तु की स्मृति होने पर 'स्मरण' नाम का अलंकार होता है ।

यः पदार्थं इति । जो पदार्थ, किसी आकारविशेष से नियत (निश्चित) है । अर्थात् कभी उस पदार्थ (वस्तु) का उस रूप में अनुभव किया हो, तदनन्तर कुछ समय के पश्चात् संस्कारोद्बोधक उसी के समान वस्तु (पदार्थ) को देखने पर उस पूर्वानुभूत वस्तु की उसी रूप में जो स्मृति होती है (याद आती है) उसी को 'स्मरण' अलंकार कहा जाता है ।

उदाहरणम्, यथावेति । उदाहरण, जैसे—

कभी तो इसी जन्म के अनुभूत वस्तु की 'स्मृति' होती है, और कभी पूर्व जन्म में अनुभूत हुई वस्तु की स्मृति होती है । उसकारण प्रस्तुत अलंकार दो प्रकार का होता है । अतः यथाक्रम—प्रथमतः इस जन्म की अनुभूत वस्तु की 'स्मृति' का उदाहरण दे रहे हैं—

अधोलिखित पद्य में स्वर्गीय अप्सराओं की जलक्रीडा का वर्णन किया गया है ।

(१) निम्ननाभिकुहरेष्विति । चञ्चल नेत्रोंवाली अप्सरास्वरूप नायिकाओं की गंभीर (गहरी) नाभि के कुहरों (बिलों) में अथवा योनिरूप गर्तों में जल की लहरों ने जो जल फेंका (उत्फालन किया), उस उत्फालन से उत्पन्न हुई 'कुह-कुह' इस प्रकार की अनुकरणात्मक ध्वनि से अप्सराओं को सुरत-समय की अपनी कण्ठ ध्वनि की (रतिकूजित की) स्मृति (स्मरण, याद) हो आई ॥५५०॥

'रुतानाम्'—यहाँ पर "अधीगर्थदयेशां कर्मणि"-(पा० २।३।५२) सूत्र से 'कर्मणि षष्ठी' की गई है ।

उदाहृत पद्य में बताया गया है कि सुरतकालिककण्ठध्वनिसदृश कुहरुत (कुहध्वनि) के सुनने पर, पूर्वानुभूत सुरतकालिककण्ठरुत की स्मृति हो आई, उसकारण 'स्मरणा-

यथा वा—

(पूर्वजन्मानुभूतस्य वस्तुनःस्मृतिवर्णने स्मरणालंकारः)

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स।
संभरिअपञ्चजण्णस्स णमह कण्हस्स रोमाञ्चम् ॥ ५५१ ॥

(करयुगगृहीतयशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥५५१॥)

(५३ 'भ्रान्तिमान्' अलंकारः)

(२००) भ्रान्तिमानन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥ १३२ ॥

लंकार' यहाँ निष्पन्न हुआ है। 'तत्समाने वस्तुनि'—इन पदों से अलंकाररूप स्मृति का क्षेत्र निर्धारित किया गया है। अतः सदृशवस्तु के दर्शन से भिन्न अन्य किसी कारण से संस्कारोद्बोधन होकर उत्पन्न होनेवाली स्मृति को अलंकार में नहीं गिना जाता।

अब जन्मान्तरानुभूत अर्थ की स्मृति का उदाहरण दे रहे हैं—जैसे, करजुअगहीति। (करयुगगृहीतेति।) किसी भगवद्भक्तने बालकृष्ण का अत्यन्त सुचारु वर्णन किया है। भगवान् बालकृष्ण ने अपनी माता यशोदा के स्तन को दोनों हाथों से पकड़ कर उस पर अपने होठ लगाये। स्तनों का आकार 'शंख' के सदृश ही होता है, उसकारण बालकृष्ण को जन्मान्तरानुभूत (विष्णुरूप में अनुभव किये हुए) अपने 'पाञ्चजन्य' नामक शंख का स्मरण होने लगा। शंख का स्मरण होते ही बालकृष्ण के शरीर पर रोमाञ्च उभर आये, उन रोमांचों को तुम सब प्रणाम करो ॥५५१॥

'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यमरः। रोमांच हो आने के कारण यह हुआ कि युद्ध के आरंभ में बजाये हुए शंख का स्मरण हो आने से 'वीररस' का आविर्भाव हो गया। 'शंखो लक्ष्मीपतेः पांचजन्यः' इत्यमरः। यहाँ पर शंख के आकारवाले स्तन के देखते ही जन्मान्तरानुभूत 'पांचजन्य' नामक अपने शंख की स्मृति हो आयी, अतः यहाँ स्मरणालंकार है। प्रस्तुत पद्य में जन्मान्तरानुभूत वस्तु का स्मरण हो रहा है, और इसके पूर्व के पद्य में 'इहजन्मानुभूत वस्तु का स्मरण हुआ था—यही दोनों में भेद है।

(५३ भ्रान्तिमान् अलंकार)

(सू० २००) प्रस्तुत अलंकार की संज्ञा 'भ्रान्तिमान्' है। 'भ्रान्तिः अस्मिन् अस्ति' इति भ्रान्तिमान्—यह अन्वर्थक (सार्थक) संज्ञा है। इस अलंकार का लक्षण है—'अन्यसंविद्' और 'तत्तुल्यदर्शने'—यह हेतुनिर्देश है। 'तत्तुल्यदर्शने'—यहाँ पर 'तद्' पद से 'अन्य' पदबोध्य 'अप्राकरणिक' का परामर्श किया गया है। 'तेन तुल्यं तत्तुल्यम्'

तदिति अन्यत् अप्राकरणिकं निर्दिश्यते, तेन समानम् अर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते। तस्य तथाविधस्य दृष्टौ सत्यां यत् अप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान्। न चैष रूपकं प्रथमातिशयोक्तिर्वा तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात् इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात्।

यह समास है। तब सूत्र का अर्थ यह हुआ—तत्तुल्यस्य = अप्राकरणिकसदृशस्य अर्थात् प्राकरणिकस्य दर्शने सति या, अन्यसंवित् अन्यत्वेन अप्राकरणिकत्वेन संवित् ज्ञानं स भ्रान्तिमान् अलंकार इति सूत्रार्थः। एवं च प्राकरणिकार्थदर्शनोद्‌बुद्धसंस्कारजन्यस्मृत्युपनीताप्राकरणिकात्मतया प्राकरणिकज्ञानं भ्रान्तिमानिति भावः।

भ्रान्तिमानिति। सूत्रार्थ यह हुआ कि 'अन्य अप्राकरणिक वस्तु' के समान 'प्राकरणिक वस्तु' के दिखाई देने पर जो अन्य वस्तु का अर्थात् अप्राकरणिक वस्तु (अर्थ) का भान होता है वही भ्रान्तिमान् अलंकार है ॥१३२॥

तदिति। सूत्र (कारिका) में प्रयुक्त 'तत्' पद से 'अप्राकरणिक' का निर्देश किया गया है। 'तेन समानम्' कहकर 'प्राकरणिक' को बताया गया है। तथाविध अर्थात् अप्राकरणिक के समान 'प्राकरणिक' को देखने पर 'अप्राकरणिक' के रूप में जो उसका संवेदन (ज्ञान) होता है, उसे भ्रान्तिमान् कहते हैं। एवं च सादृश्यमूलक प्रकृतार्थविषयक जो अप्रकृत अर्थ का ज्ञान होता है, उसे 'भ्रान्तिमान्' कहा गया है।

न चैष इति। यह भ्रान्तिमान् अलंकार, न तो 'रूपक' है, और न यह 'प्रथमातिशयोक्ति' है, क्योंकि उनमें वस्तुतः भ्रम नहीं है। किन्तु प्रस्तुत अलंकार की जो 'भ्रान्तिमान्' संज्ञा है, वह अन्वर्थक है, क्योंकि अर्थ का अनुगमन करने से 'भ्रान्तिमान्' इस संज्ञा की प्रवृत्ति हुई है। इसलिये यह 'भ्रान्तिमान् अलंकार', 'रूपक' और 'प्रथमातिशयोक्ति' से नितान्त भिन्न है। यह अलंकार औपम्याधिष्ठित है। 'भ्रान्ति' का अर्थ है—अयथार्थज्ञान। यह अयथार्थज्ञान, कई कारणों से हो सकता है। सिर पर जोर से प्रहार होने पर आँखों के सामने तारें चमकने लगते हैं। यह तारों का चमकना 'भ्रान्ति' ही है, किन्तु वह सादृश्यमूलक नहीं है। प्रस्तुत अलंकार में तो 'भ्रान्ति', सादृश्यमूलक हुआ करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने चाणूरमल्ल की छाती पर बज्रतुल्य जोर से एक घूसा मारा, जिससे उसकी आँखों के सामने सैकड़ों चान्द दिखाई देने लगे—'दामोदरकराघातचूर्णिताशेषवक्षसा। दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम्'॥ (रुय्यक)। किन्तु यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं है, क्योंकि यहां पर 'भ्रान्ति', औपम्याधिष्ठित नहीं है। केवल औपम्याधिष्ठित (सादृश्यमूलक) रहने पर भी यदि वह भ्रान्ति, कविप्रतिभा से स्पृष्ट न हो तो उसका अलंकार में परिगणन नहीं होगा। अतः कविप्रतिभा का स्पर्श होना अत्यावश्यक है। अन्यथा 'रंगे रजतम्' यह 'भ्रान्ति' ही है, तथापि कविप्रतिभानिर्मित न होने से, उसे अलंकार नहीं माना जाता।

शंका—मुख को उद्देश्य कर यदि 'मुखं चन्द्रः' अथवा 'अयं चन्द्रः' इस प्रकार से प्रयोग किया जाय तो उसे भी भ्रान्तिमान् अलंकार कहना चाहिए, क्योंकि यह प्रयोग भी कविप्रतिभा निर्मित है, सादृश्याधिष्ठितभी है, तथा 'अन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने'—इस स्वरूप का भी है।

समाधान—यहाँ जो 'अन्यसंवित्' अर्थात् 'मुख' की 'चन्द्र' के रूप में प्रतीति, हो रही है, वह 'आहार्य' है अर्थात् बुद्धिपुरस्सर की गई है। इसलिए 'मुखं चन्द्रः' अथवा 'चन्द्रः'–इस प्रतीति को 'भ्रान्ति' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रतीति के होते समय, 'मुख' और 'चन्द्र' दोनों के 'भेद' की जानकारी रहती है। इस प्रकार की जानकारी 'भ्रान्ति' में नहीं रहती। 'रज्जु-सर्प' में भेद की प्रतीति न रहने से ही 'भ्रान्ति' होती है, आदमी भयभीत हो जाता है, किन्तु भेद की प्रतीति होते ही भ्रान्ति और भय समाप्त हो जाता है। भ्रान्तिमान् अलंकार में वास्तविक 'अन्यसंवित्' = अन्यथा ग्रहण का होना आवश्यक है। 'आहार्य' अन्यथा ग्रहण नहीं। अतः 'मुखं चन्द्रः'—इस रूपक अलंकार में तथा मुख को लक्षित करके 'अयं चन्द्रः'—इस अतिशयोक्ति अलंकार में प्रस्तुत अलंकार की अतिव्याप्ति नहीं हो रही है। इसी तरह 'मीलित' और भ्रान्तिमान् को भी पृथक्-पृथक् समझना चाहिए, ये दोनों 'एक' नहीं हैं। यद्यपि ये दोनों अलंकार 'सादृश्यमूलक' हैं,तथापि 'मीलित' अलंकार में सामने उपस्थित दो समान (एक सी) वस्तुओं में से 'एक' का ग्रहण नहीं होता है अर्थात् 'अग्रहण' रहता है, किन्तु 'भ्रान्तिमान्' में सामने उपस्थित दो समान वस्तुओं में से एक वस्तु का 'अन्यथा ग्रहण' हुआ करता है।

भ्रान्ति में होनेवाली 'वस्तु' की प्रतीति, वस्तुतः उस वस्तु की 'स्मृति' ही समझनी चाहिए। यह 'स्मृति' पूर्वकालिक वस्तु की न होकर वर्तमानकालिक वस्तु की हुआ करती है। किन्तु यथार्थ स्मृति में विषयभूत 'वस्तु' पूर्वकालिक रहती है। अतएव 'स्मरण' अलंकार से भ्रान्तिमान् की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है।

प्रस्तुत अलंकार का 'भ्रान्तिमान्' शब्द से नामकरण प्रथमतः रुद्रट ने किया है। किन्तु जयदेव आदि उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने प्रस्तुत अलंकार को केवल 'भ्रान्ति' नाम से ही संबोधित किया है। जयदेवादि आलंकारिकों का कहना है कि 'भ्रान्ति' तो वस्तुतः 'मन' का धर्म है। उसकारण 'भ्रान्तिमान्' शब्द वस्तुतः भ्रान्तियुक्त 'मन' का या भ्रान्ति से युक्त मनवाले चेतन जीव का बोधक हो सकेगा। भ्रान्तिमान् शब्द, किसी अलंकारविशेष का बोधन कैसे करेगा ? 'भ्रान्ति' तो 'मन' को या उसके द्वारा 'चेतन जीव' को ही हो सकती है। अचेतन 'अलंकार' को 'भ्रान्ति' कैसे हो सकेगी ? इसलिए 'अलंकार' को तो केवल 'भ्रान्ति' नाम से कहना ही उचित है। इसी प्रकार 'ससन्देह' को भी कतिपय अलंकारशास्त्रियों ने 'सन्देह' नाम से ही कहा है।

उदाहरणम्—

कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन
स्तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥ ५५२ ॥

(५४ 'प्रतीप' संज्ञकः अलङ्कारः)

(२०१) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ १३३ ॥

अब ग्रन्थकार 'भ्रान्तिमान्' का उदाहरण प्रदर्शित कर रहे हैं—

कपाले मार्जार इति । शार्ङ्गधरपद्धतिकार ने इस पद्य को महाकवि भास का बताया है । इस पद्य में चन्द्रमा की श्वेत-निर्मल चान्दनी के सौन्दर्य को 'भ्रान्तिमान्' अलंकार के द्वारा प्रदर्शित किया है ।

कपाले इति । कपाल (खप्पर) में छिटकी हुई चन्द्रमा की किरणों को 'दूध' समझकर बिल्ली (मार्जार) चाट रही है । और वृक्ष के पत्तों के बीच-बीच में से निकलती हुई किरणों को हाथी (गज) 'मृणालदण्ड' समझ रहा है और अपनी सूण्ड से उनको ग्रहण करने का प्रयत्न कर रहा है तथा वनिताएँ सुरतक्रीडा के बाद पलंग पर फैले हुए किरणों को शुभ्रवस्त्र' समझकर उसे उठा रही हैं । इस प्रकार अपनी प्रभा से उन्मत्त हुआ चन्द्रमा इस संसार को कैसे भ्रम में डाल रहा है । जब मनुष्यों की यह दशा है, तब पशुओं के बारे में क्या कहना है ? यह महान् आश्चर्य है ॥५५२॥

इस पद्य में शुभ्रता के कारण अप्रकृत दुग्ध आदि के तुल्य प्रकृत चन्द्रकिरणों को देखने पर मार्जार आदि पशुओं की अप्रकृत दुग्ध आदि के रूप से ज्ञान हो रहा है । एवंच सदृशदर्शन से उत्पद्यमान यह 'भ्रान्ति' अलंकार बन गई है ।

प्रदीपकार ने 'विप्लवयति' के स्थान पर 'विभ्रमयति' पाठ दिया है । जो मत्त रहते हैं, वे स्वयं भ्रान्त होते हैं,दूसरों को भ्रान्त नहीं करते हैं, किन्तु प्रभा से मत्त हुआ अर्थात् अपनी कान्ति के गर्व से उन्मत्त हुआ चन्द्र, तो इस सम्पूर्ण जगत् को भ्रम में डाल रहा है, अर्थात् इसने समस्त जगत् को भ्रान्त बना दिया, यही आश्चर्य है ।

५४—प्रतीप अलङ्कार—

(सूत्र २०१) 'उपमान' की सत्ता पर आक्षेप करना (उपमान को व्यर्थ बताना)—यह प्रथम प्रकार का 'प्रतीप' अलंकार है अथवा उस 'उपमान' का अनादर (तिरस्कार) सूचित करने के लिये यदि उसी उपमान को 'उपमेय' बना दिया जाता है, तो दूसरे प्रकार का वह प्रतीप कहलाता है ॥ १३३ ॥

(प्रतीपस्य द्वौ भेदौ)

अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यदुपमानमाक्षिप्यते यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयाऽनादरार्थमुपमेयभावः कल्प्यते तदुपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वादुभयरूपं प्रतीपम् ।

'उपमान का आक्षेप (उपमानस्य आक्षेपः)—यह एक 'प्रतीप' हुआ । 'आक्षेप' पद का अर्थ है—निन्दा अथवा निषेध ।

अथवा 'तस्यैव' उपमानस्यैव अर्थात् उपमान का ही 'तिरस्कारनिबन्धनम्' अनादर हेतुः, अनादर करने के लिये उसमें (उपमान में) उपमेयभाव (उपमेयता) की कल्पना करना—यह दूसरा 'प्रतीप' है । यदि 'तिरस्कारनिबन्धना' पाठ हो तो 'तिरस्कारः तिरस्कारप्रतीतिः निबन्धनं निमित्तं यस्याः सा'—ऐसा बहुव्रीहि समास होगा । तब 'तिरस्कारप्रतीति' रूप फल को भी निमित्तत्वेनरूपेण विवक्षा की गई है, यह समझना चाहिये । क्योंकि वैयाकरणों ने कहा है—"क्वचित् फलमपि हेतुत्वेन विवक्ष्यते, तस्यापि स्वज्ञानद्वारा जनकत्वात् । अतएव 'अध्ययनेन वसति' इत्यत्र हेतौतृतीया सिध्यति" इति ॥

अस्य धुरमिति । (१) उपमान की 'धुरा' (प्रयोजन) का निर्वाह करने के लिये तो 'उपमेय' ही सुतराम् (पूर्णरूप से) समर्थ (प्रौढ) है । अतः 'उपमान' की क्या आवश्यकता ? यह कहना ही 'उपमान' का 'आक्षेप' (निन्दा अथवा निषेध)है । उपमान के 'आक्षेप' का अर्थ यह है कि 'उपमान' का जो भी प्रयोजन हो, उसे 'उपमेय' के द्वारा ही सम्पन्नकर लेना,तब 'उपमान' की कोई आवश्यकता न रहने से वह (उपमान) निष्प्रयोजन ही है । इस प्रकार जहाँ उपमान की निन्दा या निषेधात्मक 'आक्षेप' का वर्णन रहता है, उसे 'प्रतीप' अलङ्कार का पहिला (प्रथम) प्रकार कहा जाता है ।

(२) 'प्रतीप' के दूसरे प्रकार में 'सम्बन्धविपर्यय' अर्थात् 'अप्रकृत' को 'उपमेय' के रूप में कल्पना की जाती है । इन दोनों प्रकारों का पर्यवसान, 'प्रकृत' का उत्कर्ष बताने के लिये 'अप्रकृत' के 'अपकर्ष प्रतिपादन' में रहता है । अभिप्राय यह है कि 'उपमा' में 'अप्रकृत' का उत्कर्ष प्रकृत के उत्कर्ष का पोषक हुआ करता है ।

प्रकृत के उत्कर्ष का पोषक, जो अप्रकृत का अपकर्ष है, वह उपर्युक्त द्विविध प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकारों से भी हो सकता हैं । इसे ग्रन्थकार आगे बता रहे हैं—

यदपीति । उपमान के रूप में प्रसिद्ध रहने वाले पदार्थ का तिरस्कार करने के लिये उपमेय के रूप में उसकी जो कल्पना की जाती है, वह भी प्रतिकूल होने से दोनों प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१ उपमेयस्य विद्यमानत्वेऽपि उपमानस्य वैफल्यप्रत्यायकः 'प्रतीपः')

लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव ! त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमदो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥ ५५३ ॥

पहिले प्रकार के प्रतीप अलङ्कार का उदाहरण—

(१) लावण्यौकसीति । लावण्य के समुद्र, तेजस्वियों के गौरवस्वरूप और दातृत्व-शक्ति-सम्पन्नों के अग्रणी, हे भूपाल ! भूमण्डल के भार को वहन करने योग्य भुजाओंवाले आपको उत्पन्न करने के पश्चात् ब्रह्मदेव ने चन्द्रमा को क्यों बनाया ? उसके कार्य को तो सौन्दर्य निधान होने से आप ही कर सकते थे । इस सूर्य को भी उसने क्यों बनाया ?

आपके तेज से ही उसका काम, पूर्ण हो सकता था । तथा उस चिन्तामणि रत्न को भी उसने क्यों उत्पन्न किया ? क्योंकि उस चिन्तामणिरत्न के कार्य को अर्थात् याचकों की तृप्ति को तो आप ही कर रहे हैं । व्यर्थ ही इन कुल पर्वतों की रचना भी उसने क्यों की है ? जबकि पृथ्वी के भार को धारण करने के लिये आपकी भुजाएँ ही विद्यमान हैं ॥ ५५३ ॥

इस पद्य में लावण्यादि गुणों से युक्त राजा के होने पर चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानों की व्यर्थता सूचित की गई है । उस कारण यह प्रथम प्रकार के 'प्रतीप' अलङ्कार का उदाहरण है ।

किसी हिन्दी कवि ने भी प्रथम प्रकार के प्रतीप का उदाहरण बहुत अच्छा दिया है—

"जहँ राधा आनन उदित निसि बासर आनन्द ।
तहाँ कहाँ अरबिन्द है कहाँ बापुरो चन्द" ॥

यहाँ पर उपमेयभूत राधाआनन के सामने, उपमानभूत अरविन्द तथा चन्द्र की व्यर्थता को प्रदर्शित कर उनका तिरस्कार किया गया है । इसलिये यह प्रतीप का उदाहरण है ।

(२ उपमानस्य तिरस्कारे 'प्रतीपः')

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जम्।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उअमिज्जइ जणेण ॥ ५५४ ॥
(अयि एहि तावत्सुन्दरि कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥ ५५४ ॥)

अत्र मुखेनोपनीयमानस्य शशिनः स्वल्पतरगुणत्वादुपमितत्वनिष्पत्त्या वअणिज्जमिति वचनीयपदाभिव्यङ्ग्यस्तिरस्कारः।

(उपमानस्य अन्य प्रकारेण तिरस्कारे 'प्रतीपः')

क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रियाऽनादरनिबन्धनम्।

यथा—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे !।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥ ५५५ ॥

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानामनादरः। अनयैव रीत्या यदसामान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पनायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम्।

---

(२) ए एहीति। हे सुन्दरि ! तनिक इधर आओ और कान लगा कर अपनी इस निन्दा को सुनो। हे कृशोदरि ! ये सारे लोग तुम्हारे मुख के साथ इस चन्द्रमा की उपमा देते हैं ॥ ५५४ ॥

अत्रेति। यहाँ उपमान के रूप में प्रसिद्ध 'चन्द्र' के तिरस्कार के लिये 'उपमेयत्व'की कल्पना करने के कारण 'प्रतीप' अलंकार बन गया है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'अधिक गुण वाला 'उपमान' होता है और न्यून गुण वाला 'उपमेय' होता है। किन्तु तुलना करते समय जब 'उपमेय' की अपेक्षा 'उपमान' न्यून गुण वाला ठहराया जाता है, तब 'उपमिति' क्रिया की निष्पत्ति नहीं होती है। अर्थात् 'उपमिनोमि सदृशोकरोमि'—यह सादृश्यीकरण की क्रिया सम्पन्न नहीं होती है। उसके न होने से यहां 'ए एहि दाव सुन्दरि' पद्य में "व अणिज्जम्" पद से 'तिरस्कार' व्यक्त होता है।

क्वचित्तु इति। क्वचित् स्थलों में तो निष्पन्न हुई 'उपमिति क्रिया ही अनादर का कारण बन जाती है। जैसे—(३) सर्वमसंवाह्यमिति। हे मुग्धे ! तुम अपने इन नयन युगलों पर इतना अखर्ब-गर्व क्यों कर रही हो ? ऐसे नीलकमल (इन्दीवर) तो जगह-जगह सरोवरों में पाये जाते हैं ॥ ५५५ ॥

इहेति। यहां उत्पलों को 'उपमेय' बना देना ही उनका अनादर (तिरस्कार) करना है। क्योंकि वे तो सर्वदा ही 'उपमान' के रूप में ही रहा करते हैं।

यथा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मास्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥ ५५५ ॥

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यमेवोपनिबद्धम्'।

(५५ सामान्याऽलङ्कारः)

(२०२) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

अनयैवेति । इसी प्रकार जो उपमेय मुख आदि, अपने असाधारण गुणों के कारण पहिले कभी 'उपमान' नहीं बने हैं (अर्थात् जो उपमान के रूप में प्रसिद्ध नहीं है), उनकी 'उपमान' के रूप में कल्पना होने पर भी 'प्रतीप अलङ्कार' माना जाता है । जैसे—(४) अहमेव गुरुरिति । हे तात ! हालाहल ! ऐसा अभिमान मत करो कि मैं ही अत्यन्त भयङ्कर लोगों का गुरु हूँ । इस समय संसार में आपके जैसे महान्-महान् भीषण दुर्जनों के बहुतेरे वाक्य पाये जाते हैं ॥ ५५६ ॥

अत्रेति । यहाँ 'हालाहल' में असंभाव्यमान उपमानभाव को दिखाया गया है,किन्तु वह प्रसिद्ध नहीं है । यहाँ दुर्जनों के वचनों के सामने केवल उसकी हीनता का प्रदर्शन कराने के लिये उसे 'उपमान' बनाया गया है ।

प्रतीप अलंकार को 'उपमा' और व्यतिरेक से भिन्न तथा अभिन्न माननेवालों के दो पक्ष हैं । मम्मट के अनुसार उन्हें इस प्रकार समझना होगा—(१) 'प्रतीप' के पहिले प्रकार में प्रसिद्ध उपमान की व्यर्थता बताई जाती है । उपमान का इस प्रकार निरर्थक रहना 'उपमा' के स्वरूप के विरुद्ध है । तथा व्यतिरेक में उपमान-उपमेय का वैधर्म्य दिखाना पड़ता है । किन्तु प्रतीप के प्रकार में उपमान के गुण के समान ही, किंवा उससे भी सरस गुणों को उपमेय में दिखाना पड़ता है । (२) प्रतीप के दूसरे प्रकार में प्रसिद्ध उपमान की अपेक्षा 'उपमेय' का उत्कर्ष बताया जाता है ।

किन्तु 'उपमा' में इसके विपरीत स्थिति है । अर्थात् 'उपमेय' से 'उपमान' की उत्कृष्टता प्रतीत होती है । 'व्यतिरेक' में भी उपमेय का 'उपमान' की अपेक्षा उत्कर्ष यद्यपि बताया जाता है, तथापि वह 'वैधर्म्य' का अवलंबकर के बताया जाता है ।

प्रस्तुत 'प्रतीप' के प्रकार में आधार (अवलंब) औपम्य का है,'वैधर्म्य' का नहीं है ।

(५४ सामान्यालंकार)

(सू० ३०२) प्रस्तुतस्येति । प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु का अन्येन अर्थात् अप्रस्तुत के साथ संबंध होने पर दोनों के गुणों की समानता बताने की इच्छा से दोनों के अभेद को बताना अर्थात् दोनों का ऐकात्म्य बताना ही 'सामान्यालंकार' कहा जाता है॥ १३४॥

अताद्दशमपि ताद्दशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन संपृक्तमपरित्यक्त-निजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत्समानगुणनिबन्धनात्सामान्यम् ।

उदाहरणम्—

मलयरजरसविलिप्तनवो नवहारलताविभूषिताः ।
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ॥ ५५६ ॥

शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः ।
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥ ५५७ ॥

तत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः अत एव पृथग्भावेन न तयोरुपलक्षणम् ।

अताद्दशमिति । वैसा अर्थाद् अप्रस्तुत पदार्थ (वस्तु) के समान होने पर भी 'ताद्दशतया विवक्षितुं'—वैसा (उस रूप में) कहने की इच्छा से जो अप्रस्तुत अर्थ के साथ संबद्ध होकर अपने गुण का त्याग किये बिना ही उस अप्रस्तुत के साथ अभिन्न रूप से बताया जाता है, अर्थात् दोनों (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) के गुण एक से (समान) होने के कारण वह प्रस्तुत और अप्रस्तुत ऐकात्म्य रूप से वर्णित किये जाते हैं । इसलिए प्रस्तुत अलंकार का 'सामान्य' नाम सार्थक ही है ।

उदाहरणमिति । जैसे—वामनसूत्रवृत्ति के तृतीयाध्याय के चतुर्थाधिकरण में जो पद्य है, उसी को उदाहरण के रूप में दे रहे हैं—

मलयजेति । चन्दन के रस का शरीर पर लेप की हुई नूतन मौक्तिकमालाओं से अलंकृत हुई, शुभ्रतर हस्तिदन्त के बने हुए ताटङ्क रूप कर्णाभूषणों के पहिनने से उज्ज्वल मुख कान्ति से सम्पन्न हुई, सुन्दर एवं निर्मल शुभ्रतर परिधान धारण की हुई अर्थात् शुभ्रतर साड़ी पहनी हुई अभिसारिकाएँ, रात में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना (चांदनी) सर्वत्र फैली रहने से सम्पूर्ण पृथ्वी ही शुभ्र (श्वेत = सफेद) हो गई थी, और शुभ्र अलंकार शुभ्र परिधान धारण करने के कारण ये अभिसारिकाएँ भी शुभ्र हो गई थी अतः चांदनी में ही मिल जाने से दोनों एक सी शुभ्र प्रतीत हो रही थीं, तब वे अलग से दिखाई नहीं देती थीं, उसकारण वे अभिसारिकाएँ भय-शंका आदि से रहित होकर अपने-अपने प्रियतम के घर जा रही हैं ॥'५५७॥

अत्रेति । यहाँ पर प्रस्तुत अभिसारिका और अप्रस्तुत चन्द्रमा, दोनों का एकसा (तुल्य, अन्यूनानतिरिक्त) वर्णित किया गया धवलत्व (शुभ्रता) ही उनकी एकात्मता (अभिन्नता) में कारण (हेतु) है । अतएव दोनों की अलग-अलग प्रतीति नहीं हो रही है । अभिसारिका का लक्षण—'कान्तार्थिनीतु या याति संकेतं साऽभिसारिका' इत्यमरः । इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण भी कहा गया है—

यथा वा—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि ।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥ ५५८ ॥

अत्र निमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्युदसितुमुत्सहते प्रतीतत्वात्तस्य प्रतीतेश्च बाधायोगात् ।

'या दूतिकागमनकालमपारयन्ती सोढुं स्मर-ज्वरभयार्तिपिपासितेव ।
निर्यातिवल्लभजनाधरपानलोभात् सा कथ्यते कविवरैरभिसारिकेति' ॥

प्रस्तुत-अप्रस्तुत क्रमशः अभिसारिका और चन्द्रिका दोनों का विवक्षित शुक्लगुण-साम्य होने से एकात्मता वर्णित की गई है, उसकारण यहाँ 'सामान्य' नाम का अलङ्कार है।

कमलाकरभट्ट ने भी कहा है—"अत्र नारी-चन्द्रिकयोश्चन्दनादेश्च शौक्ल्यात् अभेदः" । क्वचित् 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' दोनों के भेद की प्रतीति, बाद में होती है, उससे पूर्वकालिक ऐक्य (एकात्मता = अभिन्नता) की प्रतीति रहती है। ऐसी स्थिति में भी 'सामान्य' अलंकार के होने की सम्भावना हुआ करती है। उस कारण सामान्यालंकार का एक अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं। यथावेति । अथवा जैसे—

(२) वेत्रत्वचेति । वेतसवल्क (बेंत की छाल) जैसी कान्ति वाली अर्थात् अत्यन्त गोरवर्ण की वधुओं के कानों से गण्डस्थल तक (कपोलफलक तक) झूलती कर्णाभूषणरूप नवीन चम्पक पुष्पों की कलिकाओं (कलियों) को कोई कैसे पहचान पाता ? यदि 'भ्रमर' झूम-झूम कर न मँडराते ॥ ५५८ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'भ्रमर-पतन' रूप निमित्तान्तर से (अन्य कारण से) भेद प्रतीति के उत्पन्न होने पर भी 'भ्रमर-पतन' से पूर्व प्रतीत हुए 'अबेद' का निषेध करने में 'वह' समर्थ नहीं है, क्योंकि उसका (अभेद का) ज्ञान हो चुका है, और बता हुए का बाध नहीं हुआ करता। अतः गुणसारूप्य की विवक्षा से प्रस्तुत और अप्रस्तुत की अभेद प्रतीति होने से ही यहां 'सामान्य' अलंकार कहा गया है।

प्रस्तुत 'वेत्रत्वचा' इस उदाहृत पद्य में चम्पक पुष्प पर 'भ्रमर पतन' का बताना कवि संकेत (कवि समय) के विरुद्ध है—इस प्रकार का आक्षेप, लोग किया करते हैं, क्योंकि चम्पक पुष्प के प्रति भ्रमर आकृष्ट नहीं हुआ करते हैं—

"रूपसौरभसमृद्धिसमेतं चम्पकं प्रति ययुर्न मिलिन्दाः ।
कामिनस्तु जगृहुस्तदशेषा ग्राहका हि गुणिनां कति न स्युः" ॥

इसी तरह और भी कहा गया है—

"भ्राम्यन् वनान्ते नवमञ्जरीषु न षट्पदो गन्धीफलीमजिघ्रत् ।
सा किं न रम्या स च किं न रन्ता बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा" ॥

'गन्धफली' का अर्थ है—चम्पक-कलिका। "एतस्य कलिका गन्धफली स्यात्" इत्यमरः ।

किन्तु उपर्युक्त आक्षेप पर 'समाधान' यह दिया जाता है कि प्रस्तुत "वेत्रत्वचा" पद्य में वर्णित प्रकृत नायिकाएँ 'पद्मिनी' वर्ग की हैं। उस कारण उनके मुख सौरभ के सामने अर्थात् कमल पुष्प के गन्ध के तुल्य प्रभावशाली सुगन्ध के सामने 'चम्पक पुष्प' का सुगन्ध अभिभूत हो गया यानी दब गया। तब कमल जैसी सुरभि गन्ध से आकृष्ट हुए भ्रमर, 'चम्पक' पुष्प पर मण्डरावे (झूमने) लगे यह समझना चाहिये।

पद्मिनी स्त्री के मुख से उद्भूत सुगन्ध के प्रति भौंरे (भ्रमर) आकृष्ट हुआ करते हैं, यह प्रसिद्धि है। इसी दशम उल्लास में ही आगे चल कर—"वदनसौरभलोभ-परिभ्रमद् भ्रमरसम्भ्रमसंभृतशोभया" (माघ० स० ६, श्लोक १४)—के द्वारा (का० प्र० दश० उ० श्लो० ५६७) पद्मिनीमुखसौरभ की ओर भ्रमरों के आकृष्ट होने की बात बताई गई है। 'पद्मिनी' का लक्षण रतिमञ्जरीकार ने दिया है—

"भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्ररन्ध्रा
अविरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी ।
मृदुवचनसुशीला गीतावाद्यानुरक्ता
सकलतनुसुवेषा पद्मिनी पद्मगन्धा ॥"

प्रस्तुत 'वेत्रत्वचातुल्यरुचां' जैसे उदाहरण में श्रीअप्पय दीक्षित ने 'विशेषक' नाम का अलङ्कार बताया है, जो विशेष'—अलङ्कार से भिन्न है। श्रीअप्पय दीक्षित का कहना है कि 'विशेष' की प्रतीति न होने पर 'सामान्य' नाम का अलङ्कार होता है, किन्तु उस 'विशेष' की प्रतीति होने पर 'विशेषक' नाम का अलङ्कार होता है। जैसे—

'लक्षितान्युदिते चन्द्रे पद्मानि च मुखानि च'।—अर्थात् 'चन्द्र' के उदित होने पर 'कमलों' के संकुचित हो जाने से 'कमल' और 'मुखों' को अलग-अलग पहिचान पाना कठिन नहीं रहा। अर्थात् उन्हें अलग-अलग पहिचाना जा सका। अप्पय दीक्षित ने 'सामान्य' का उदाहरण—'पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्'— अर्थात् कमल सरोवर में प्रविष्ट हुईं सुन्दरियों के मुखों को अलग से पहिचान पाना कठिन हो गया।

(५६ 'विशेष' नामकः अलङ्कारः)

(२०३) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ १३५ ॥
अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ १३६ ॥

उद्योतकार ने 'विशेषक' अलङ्कार को 'सामान्य' अलङ्कार में ही मम्मटोक्त— 'अत्र निमित्तान्तरजनितापि··· ···प्रतीतेश्च बाधाऽयोगात्'—युक्तिवाद का आधार लेते हुए समाविष्ट कर लिया है। उसी तरह पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षितोक्त 'उन्मीलित' और विशेषक दोनों अलङ्कारों का 'समावेश' 'अनुमान' अलंकार में कर लिया है, किन्तु श्रीनागेश भट्ट ने उसका खण्डन किया है।

सामान्य अलङ्कार का 'अपह्नुति' से भेद इसलिये है कि 'अपह्नुति की तरह 'सामान्य' में 'प्रस्तुत' का निषेध और उसकी जगह अप्रस्तुत की स्थापना नहीं की जाती।

'सामान्य' का 'भ्रान्तिमान्' से भेद—'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार में प्रत्यक्ष होने वाली 'वस्तु' एक ही होती है, और उस पर पूर्वानुभूत स्मृत वस्तु का 'अध्यास' (आरोप) हुआ करता है। किन्तु 'सामान्य' में प्रत्यक्ष होने वाली 'दो वस्तुएँ' होती हैं, तथापि वे दोनों परस्पर 'भिन्न' प्रतीत नहीं हो पातीं, उस कारण एक ही वस्तु की प्रतीति होती है।

'सामान्य' की 'रूपक' और 'अतिशयोक्ति' से भिन्नता इसलिये है कि 'रूपक' में 'प्रस्तुत उपमेय' का 'अप्रस्तुत उपमान' के साथ जो 'अभेद' रहता है, उसे साक्षात् शब्द के द्वारा आरोप करके बताया जाता है तथा 'अतिशयोक्ति' में प्रस्तुत उपमेय का साक्षात् बाचक शब्द से निर्देश नहीं किया जाता। उक्त दोनों बातें 'सामान्य अलंकार' में नहीं होतीं, और रूपक तथा अतिशयोक्ति में 'उपमेय' की 'उपमान' के रूपे में प्रतीति होती है, किन्तु 'सामान्य' में प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों एकसे प्रतीत होते हैं।

(५६ विशेष अलंकार)

(सूत्र २०३) (१) विनेति। लोक प्रसिद्ध आधार के बिना किसी आधेय वस्तु की स्थिति का वर्णन किये जाने पर एक प्रकार का 'विशेष' अलंकार होता है।

(२) किसी एक वस्तु की अनेक वस्तुओं में एक ही समय एक ही रूपसे उपस्थिति को एक साथ बताने पर दूसरे प्रकार का 'विशेष अलंकार होता है।

(३) अन्यदिति। अन्य कार्य को करते हुए अनायास ही किसी अशक्य अन्य वस्तु का वर्णन करने पर तीसरे प्रकार का 'विशेष अलंकार' होता है। इस रीति से तीन प्रकार का 'विशेष अलंकार' माना गया है ॥१३६॥

('विशेषस्य' त्रयो भेदाः)

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यत् आधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः। यथा—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥ ५५९ ॥

सर्वप्रथम इस अलंकार को 'रुद्रट' ने बताया है। उसी का अनुसरण कर उत्तरवर्ती मम्मट आदि आलंकारिकों ने उसे बताया है। अतिशयोक्ति, और 'विषम' अलंकारों के समान प्रस्तुत 'विशेष' अलंकार का सामान्य लक्षण न बताते हुए उसका प्रकार मुख से ही मम्मट ने विवेचन किया है। ऐसा करने का कारण यह है कि उसके तीन प्रकारों में किसी प्रकार का कोई समान वैशिष्ट्य नहीं है। अतएव 'जयरथ' ने प्रस्तुत तीन प्रकार के 'विशेषों' को स्वतन्त्र तीन अलंकारों के रूप में ही बताया है।

(१) प्रसिद्धाधारपरिहारेणेति। लोकप्रसिद्ध आधार का परित्याग करके 'आधेय' की विशेष प्रकार की स्थिति का वर्णन जहाँ किया जाता है, वहाँ प्रथम प्रकार का 'विशेष अलंकार' माना जाता है। अर्थात् किसी वस्तु की स्थिति, किसी अन्य वस्तु के आश्रय से रहने की प्रसिद्धि रहने पर भी निराधार स्थिति में उसकी स्थिति को बताना—यह प्रथम प्रकार का 'विशेष' है। इसमें चमत्कार यही है कि 'आश्रित वस्तु, आश्रय के बिना भी रहती है। अर्थात् निराधार दिखाई जानेवाली वस्तु, वास्तव में अन्य किसी अप्रसिद्ध आधार के आश्रय से रहती है। जैसे कोई ऐन्द्रजालिक (जादूगर) हवा में चलने का प्रयोग दिखाता है किन्तु उसके पैर के नीचे, प्रसिद्ध आधारभूत भूमि, प्रेक्षकों को दृष्टिगोचर नहीं हो पाती तथापि उस जादूगर के द्वारा किसी 'अन्य आधार' की व्यवस्था पहले से की हुई रहती है, जो प्रेक्षकों को दिखाई नहीं देती। वही व्यवस्था 'विशेष' के प्रथम प्रकार में भी रहती है। यथा = जैसे—

दिवमपीति। दिवम् अपि उपयातानां येषां अनल्पगुणगणाः गिरः आकल्पं जगन्ति रमयन्ति, ते कवयः कथमिव न वन्द्याः इत्यन्वयः।

अर्थ—स्वर्गवास हो जाने पर भी अनेकानेक गुणों से (प्रचुर गुणों से) युक्त जिनकी काव्यरूप वाणी, प्रलय तक संसार को प्रसन्न करती रहती है, वे 'कविगण' वन्दन के योग्य क्यों न माने जांय ? ॥५५९॥

प्रस्तुत पद्य में कवियों की वाणी (काव्य), कवियों के आश्रय से रहती है, उस कवि के परलोक (स्वर्ग) जाने पर भी अर्थात् आधार छूटने पर भी (अर्थात् आश्रयहीन हो जाने पर भी) कवि-वाणी रूप वह काव्य, सहृदय लोगों का मनोरंजन करता ही रहता है।

एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्तते स द्वितीयः। यथा—

शंका—'शब्दगुणकमाकाशम्'—के अनुसार 'शब्द' को आकाश का गुण कहा गया है। तब शब्द (वाणी) का आधार (आकाश) तो नित्य ही स्थित है। अतः कविवाणी को निराधार कैसे कहा जायगा ?

समाधान—उक्त शंका का समाधान 'प्रदीपकार' ने यह दिया है कि सभी के शब्दों का शास्त्र-प्रसिद्ध आधार 'आकाश' है, तथापि लोक प्रसिद्ध अथवा कवि प्रसिद्ध 'आधार' कवि ही है।

इसी अभिप्राय से प्रस्तुत 'विशेष' के प्रथम प्रकार के लक्षण में 'प्रसिद्ध+आधार' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

एक अन्य समाधान यह भी है कि 'आकाश' के नित्य होने पर भी उसके औपाधिक (उपाधिजन्य) जन्म-नाश का होना असंभव नहीं है। जैसे—'घट' के साथ ही 'घटाकाश' का भी जन्म होता है और घट के फूटते ही 'घटाकाश' भी नष्ट हो जाता है। उसी तरह यहाँ भी कविशरीरावच्छिन्न आकाश ही 'कविवाणी' का आधार रहने से 'कविशरीर' के नष्ट हो जाने से 'कविवाणी' का निराधार हो जाना स्पष्ट है।

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगुणायेपाम्'—इस उदाहरण में प्रयुक्त 'आकल्प' शब्द का अर्थ भी स्पष्टतया समझना उचित होगा। 'कल्प' का अर्थ है—ब्रह्मदेव का एक दिन अथवा एक रात्रि। यह काल, एकसहस्र दैवयुगों से सम्पन्न होता है। दैवयुग का अर्थ है—'कृत+त्रेता+द्वापर+कलि=१२,०००मानुष वर्षों में सम्पन्न होता है। 'दैवे युगसहस्रे द्वे ब्राह्मः (अहोरात्रः) कल्पौ तु तौ नृणाम्'—इत्यमरः।

इसी तरह मनु ने भी कहा है—

"यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च" ॥—(मनु १।७१-७२)

'आकल्पम्=कल्पम् अभिव्याप्य अर्थात् कल्प तक। 'कल्प' का अर्थ, 'लक्षणा' से प्रलय भी होता है। (संवर्तः प्रलयः कल्पः—इत्यमरः) इस दृष्टि से 'आकल्पम्'= आकल्पात्=प्रलय पर्यन्त यह अर्थ भी होता है।

(२) एकमपीति। एक वस्तु का भी एक ही स्वरूप से एक साथ अनेक जगह वर्णन किये जाने को 'विशेषालंकार' का दूसरा प्रकार कहते हैं। यथा, जैसे—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअच्छीसु सा अ वअणेसु ।
अह्मारिसाण सुन्दर ओआसो कत्थ पावाणम् ॥ ५६० ॥

(सा वसति तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु ।
अस्मादृशीनां सुन्दर अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥ ५६० ॥)

यदपि किंचिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः ।

यथा—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम् ।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६१॥

सा वसइ इति । (सा वसतीति) । वह नायिका तुम्हारे हृदय में रहती है, वही तुम्हारी आँखों में बसी है, और वही तुम्हारे वचनों में रहती है, तब हे सुन्दर ! हमारी जैसी अभागिनियों के लिये तुम्हारे पास स्थान ही कहाँ हो सकता है ॥ ५६० ॥

उदाहृत पद्य में बताया गया है कि कोई नायिका, अपने प्रियतम का 'मन', किसी अन्य सुन्दरी पर पूर्णतया रमा हुआ है, यह जानकर वह नायिका, अत्यन्त विरक्तिपूर्ण वाक्यों को उसे (प्रियतम को) सुना रही है—तुम्हारी आँखें तो सर्वदा ही उसे देखने के लिये प्यासी रहती हैं, और तुम्हारी बातें भी हमेशा उसी को लेकर हुआ करती हैं । अतः तुमको अपने पर मुग्ध बना लेने वाली उस सुन्दरी के 'भाग्य' की तो सराहना ही करनी चाहिये । उसने तुमपर पूर्ण अधिकार जमा लिया है, तब मुझ जैसी अभागिनी को कहाँ अवसर मिलना है ? इस 'वर्णन' में अपनी प्रतिस्पर्धिनी 'रमणी' (सुन्दरी), एक ही समय में एकमात्र 'रमणी' के ही रूप से प्रियतम के हृदय (मन), आँखें, भाषण (बोलने) में अर्थात् सर्वत्र बसी हुई है,—यह उपर्युक्त नायिका का कहना है—अत्र एकस्याः सपत्नीरुपकामिन्याः एकरूपेण युगपदनेकत्र (हृदयादौ) स्थितिवर्णनमस्ति । उस कारण यह 'विशेष' का दूसरा प्रकार है ।

(३) यदपीति । किसी काम को प्रयत्नपूर्वक करने वाला व्यक्ति, उसी प्रयत्न से किसी अशक्य अन्य कार्य को भी जब करता है—तब 'विशेष' का तीसरा प्रकार माना जाता है । उदाहरण, जैसे—

स्फुरदिति । हे राजन् ! अनुपम सुन्दर, अत्यधिक तेजस्वी, और उत्कृष्ट विद्वान् के रूप में आपको निर्माण करते हुए ब्रह्मदेव ने उसी प्रयत्न से अनायास ही भूतल पर दूसरे नूतन कामदेव, अपर सूर्य, और दूसरे बृहस्पति को ही सचमुच बना दिया है ॥ ५६१ ॥

यथा वा—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ॥५६२॥

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात् अत एवोक्तम्—

यहाँ पर 'निर्माण' रूप एक कार्य को करते हुए ब्रह्मा ने, उसी प्रयत्न से दूसरे 'कामदेव', सूर्य, तथा बृहस्पतिरूप अशक्य कार्य का भी निर्माण कर दिया। इस प्रकार वर्णन करने से यह 'तीसरे प्रकार का विशेष' नामक अलङ्कार हो गया है।

इस प्रकार का एक और अन्य उदाहरण दे रहे हैं। इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का प्रयोजन, व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया है। कतिपय व्याख्याकारों ने कहा है कि पिछले श्लोक (५६१) में 'ससृजे' = 'उत्पन्न किया'—इस अर्थ को 'शब्दतः' कहा है। इसलिये वह 'वाच्य कार्यान्तर' का उदाहरण है।

तदनन्तर अग्रिम श्लोक (५६२) 'व्यङ्ग्यकार्यान्तर' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। चक्रवर्ती व्याख्याकार कहते हैं कि पहिला श्लोक (५६१) सृष्टिरूप कार्यान्तर का उदाहरण था, और दूसरा श्लोक 'गृहिणी सचिवः'—संहार रूप कार्यान्तर का उदाहरण है।

(४) गृहिणीति। हे प्रिये इन्दुमति ! तुम मेरी 'गृहिणी', 'मन्त्री', एकान्त की 'सखी' मनोहर कलाओं अथवा कामकला के विषय में 'प्रिय शिष्या' थी, अर्थात् सभी कुछ थी। उस करुणाहीन (निर्दय) मृत्यु ने तुम्हारा हरण करके बताओ, मेरा क्या नहीं हरण किया, अर्थात् मेरा सर्वस्व ही (सब कुछ ही) लूट लिया ॥ ५६२ ॥

शंका—बिना 'आधार' के 'आधेय' की स्थिति, तथा एक वस्तु की एक ही रूप से अनेकत्र युगपत् स्थिति, और 'अन्य कार्य' को करते हुए 'कार्यान्तर' की उत्पत्ति'—यह सब वस्तुतः सम्भव नहीं है, तब इन स्थितियों में 'विशेष' नामक अलङ्कार को कैसे माना जा सकता है ?

समा०—सर्वत्रेति। ऐसे स्थलों पर सर्वत्र उस अलङ्कार के प्राणरूप में 'अतिशयोक्ति' ही रहती है, क्योंकि उस अतिशयोक्ति के बिना 'अलङ्कार' ही नहीं बन पाता। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में कहा है—सैषेति। पूर्व वर्णित 'अतिशयोक्ति' ही सभी अलङ्कारों में 'सौन्दर्य' का आधान करती है। इसी अतिशयोक्ति रूप 'वक्रोक्ति' से ही 'अर्थ' को अलंकृत किया जाता है। इसके सिद्ध्यर्थ 'कवि' को प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योंकि इसके बिना कौन सा अलङ्कार हो सकता है ?

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ इति।

रह० बो०—कामदेव, सूर्य और वृहस्पति क्रमशः अपने लोकोत्तर 'सौन्दर्य', 'प्रताप', और 'वैदुष्य' के कारण सर्वत्र विख्यात हैं। उन्हीं के समान गुणों वाले 'राजा' को ब्रह्मदेव ने निर्माण किया, उस कारण, कामदेव, सूर्य और वृहस्पति की तत्तद् गुणों में जो अद्वितीयता थी, वह नष्ट हो गई—यह कवि का अभिप्राय है।

वस्तुतः ब्रह्मदेव का लक्ष्य तो अकेले 'राजा' को निर्माण करने का था। अपने लक्ष्यपूर्ति के लिये ब्रह्मा ने जो प्रयत्न किया, उसी से अकल्पित ही (अनायास ही) एक नवीन मदन (कामदेव), नवीन सूर्य, नवीन वृहस्पत्ति का भी निर्माण हो गया। यद्यपि इनके निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि मदन, सूर्य, वृहस्पति का अस्तित्व तो पहिले ही से था। प्रस्तुत श्लोक में उक्त अभिप्राय वर्णित होने से यह तीसरे प्रकार का 'विशेष' अलङ्कार है। प्रस्तुत श्लोक में 'विशेष' अलङ्कार के अतिरिक्त यथासङ्ख्य अलङ्कार भी है, क्योंकि इसके उत्तरार्ध में प्रयुक्त 'मनोभूः, सविता, वृहस्पतिः'—इन पदों का क्रम, अन्वय की दृष्टि से पूर्वार्धगत 'रूप, प्रताप, विद्या'—इनके क्रम का अनुसरण करता है किन्तु यह 'यथासङ्ख्य' अलङ्कार यहाँ पर 'गौण' है।

रघुवंश महाकाव्य में 'अजविलाप' के प्रसिद्ध श्लोक में 'मृत्यु' का उद्देश्य केवल अज की पत्नी इन्दुमती को ले जाने का था, किन्तु अकल्पित अनायास ही अजकी सचिव, सखी, प्रिय शिष्या' का भी अपहरण उसने किया, इनके अपहरणार्थ उसे अतिरिक्त प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, उस कारण यह 'विशेष' के तीसरे प्रकार का उदाहरण है। उक्त श्लोक में 'गृहिणी, सचिव, सखी, प्रियशिष्या—इन शब्दों का प्रयोग, एक इन्दुमती को लक्ष्य करके ही किया गया है।

प्रश्न—तीसरे प्रकार के 'विशेष' के दो उदाहरण क्यों दिये गये हैं ?

उत्तर—दो उदाहरण देने का औचित्य, व्याख्याकारों ने तीन प्रकार से बताया है—(१) पहिले उदाहरण (श्लोक ५६१) में 'कार्यान्तरकरण' (प्रकृत कार्य के अतिरिक्त अघटित कार्य करना), 'शाब्द' (शब्द के द्वारा बताया गया है)। और दूसरे उदाहरण (श्लोक ५६२) में 'कार्यान्तरकरण', व्यङ्ग्य (व्यंजना से गम्य) है। 'किं न मे हृतम्' इति सचिवादिसर्वहरणरूप कार्यकरणं व्यज्यते'—(प्रदीप)।

(२) पहिला उदाहरण 'सर्जन' = उत्पत्तिरूप कार्य का है, और दूसरा उदाहरण, 'संहार' = विनाशरूप सार्य का है—ऐसा चक्रवर्ती का कहना है।

(३) पहिले उदाहरण में 'यथासंख्य' नामका अन्य अलंकार भी प्रतीत हो रहा है। इसलिए दूसरा उदाहरण 'शुद्धविशेष' का दिया गया है—ऐसा 'माणिक्यचन्द्र' का कहना है।

वस्तुतः उपर्युक्त तीनों उपपत्तियाँ चिन्त्य हैं। क्योंकि 'किं न हृतम्'––इस प्रश्न का 'सर्वं हृतम्'––यह अर्थ, 'अर्थापत्ति' से ज्ञात हो जाता है, 'व्यञ्जना' से नहीं। क्योंकि ज्ञात रहनेवाली समस्त वस्तुओं का हरण हुए बिना 'किं न हृतम्'––यह प्रश्न पैदा होने का संभव ही नहीं है। इसलिए दूसरे उदाहरण में प्रतिपादित 'कार्यान्तरण' को 'आर्थ' भले ही कहा जा सकता है, 'व्यंग्य' नहीं, किन्तु उसकी 'आर्थता' भी असंदिग्ध नहीं है।

दूसरी उपपत्ति के अनुसार 'तीसरे विशेष' में 'उत्पत्ति' और 'विनाश' के आधार से यदि 'कार्यभेद' हो सकता है, तो 'दर्शन', 'ग्रहण' इत्यादि के 'आधार' से 'अन्यान्य कार्यभेदों' की भी कल्पना क्यों नहीं हो सकती? जैसे, 'तीसरे विशेष' के उदाहरण में–

'त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम्'।––(कुवलयानन्द)

यहाँपर 'दर्शन' रूप कार्य, न उत्पत्ति है और न विनाश ही है। इस तरह के 'भेदों' की कल्पना करनेलगे तो उनका कभी अन्त ही नहीं होगा। उसकारण 'चक्रवर्ती' ने बताई हुई 'उपपत्ति' ग्रन्थकार मम्मट को अभीष्ट होगी, यह नहीं कहा जा सकता। तीसरी माणिक्यचन्द्र की उपपत्ति भी उपेक्षणीय है,क्योंकि प्रकृत अलंकार के उदाहरणों में अन्य अलंकारों का भी होना तो साधारण सी बात है, जो कितने ही उदाहरणों में देखी गयी है, इस बात को मम्मट भी जानते हैं। अतएव उन्होंने पहिले कहा भी है, कि 'रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थः अलंकारान्तरं च सर्वत्र अव्यभिचारि, इति अगणयित्वैव तद् अलंकारा उदाहृताः' एवंच तीनों उपपत्तियाँ सदोष हैं। फिर भी एक जिज्ञासा होती है कि ग्रन्थकार ने 'तीसरे विशेष' का 'दूसरा उदाहरण' क्यों दिया? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि पहिले उदाहरण में उद्दिष्ट 'कार्य' का विषय—'वर्ण्य राजा' और अनुद्दिष्ट 'कार्यान्तर' का विषय––'मदन, सूर्य, बृहस्पति' हैं, इनमें 'उपमानोपमेय-भाव' स्पष्ट दिखाई देता है।

इसीलिए तो पृथक्-पृथक् 'उपमान' को लक्ष्य करते हुए पृथक्-पृथक् 'रूप, प्रताप, विद्या'—इन साधारण धर्मों का भी निर्देश किया गया है। इतना ही है कि यहाँ पर उपमावाचक 'प्रत्यक्ष शब्द' कोई नहीं है। इस पर यह कह सकते हैं कि यही यदि तीसरा 'विशेष' हो, तो उसका समावेश, आक्षिप्त 'उपमा' में क्यों नहीं करते? उसे स्वतन्त्र अलंकार मानने की क्या आवश्यकता? अथवा कोई कदाचित् यह न समझ ले कि यह 'तीसरा विशेष' हमेशा 'औपम्यपर' ही अधिष्ठित रहता है'––इन आशंकाओं

को करने का अवसर किसी को न मिल सके, इसलिए ग्रन्थकार ने 'गृहिणी सचिवः' यह उदाहरण, जो 'औपम्य' से सर्वथा अलिप्त है, उसे प्रदर्शित किया है। इस उदाहरण में प्रकृत कार्य का विषय--'इन्दुमती' और कार्यान्तर का विषय 'सचिव, सखी, प्रियशिष्या' है, इसमें 'औपम्य' अभिप्रेत न होकर 'सखी' आदिकों का 'कार्य' करने के कारण 'शुद्धा साध्यवसाना' लक्षणा से उन संज्ञाओं के द्वारा 'इन्दुमती' का ही परामर्श किया गया है अथवा 'गृहिणी, सचिव, सखी, प्रियशिष्या'--ये सभी उपाधियाँ उस 'इन्दुमती' की ही हैं,ये उसके 'उपमान' के रूप में नहीं हैं। जैसे एक ही देवदत्त, अपने 'पुत्र' का जन्मदाता होने से 'पिता', विद्यादाता होने से 'गुरु', हितोपदेशक होने से 'मित्र' कहा जा सकता है, उसी तरह प्रकृत में समझना चाहिए। 'पिता, गुरु, मित्र'—ये, देवदत्त के 'उपमान' नहीं हैं।

प्रश्न—'विशेष' अलंकार के लक्षणोदाहरणों को देखकर कोई पूछ सकता है कि 'आधार के बिना 'आधेय' का रहना', 'एक' का एक ही समय में अनेकत्र रहना, 'एक कार्य को करते हुए दूसरे अशक्य कार्य को भी कर लेना'--इस प्रकार के 'विशेष' को 'अनुभव विरुद्ध' होने से 'अलंकार' कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—उक्त प्रश्न का उद्धार देने के लिए ही ग्रन्थकार ने 'सर्वत्र एवंविधविषये अतिशयोक्तिरेव' इत्यादि वृत्ति को लिखा है। उत्तर के रूप में दिये गये वृत्तिग्रन्थ का आशय यह है कि निर्दिष्ट 'तीन विशेषों' में अनुभवविरोधी घटनाएँ, जो दृष्टिगत हो रही हैं उनका अपलाप नहीं किया जा सकता, किन्तु उन घटनाओं की कल्पना को 'अतिशयोक्ति' का अवलम्ब करके ही तो किया गया है। 'विशेष' में किसी प्रकार की तर्कदुष्टता नहीं है। क्योंकि कल्पनाधिष्ठित बात, 'अनुभव' तथा 'तर्क' से मिलान कैसे खासकेगी ? असंभव है। अतः मिलान की सपेक्षा करनी ही नहीं चाहिए।'अतिशयोक्ति' को केवल 'विशेष' अलंकार का ही आधार नहीं समझना चाहिए बल्कि वह तो सभी अलंकारों के लिए 'आधार' है। अर्थात् अनुभव विरुद्ध तथा तर्कविसंगत प्रतीत होनेवाली घटनाओं वाले अलंकारों की आधारभूत उसे समझना चाहिए क्योंकि उन अलंकारों को तो वह, प्राणरूप ही है। अलंकारों में अलंकारत्व का आधान करनेवाली एक प्रकार की 'शक्ति' के रूप में ही 'अतिशयोक्ति' को समझना चाहिए। अतएव 'भामह' आदि प्राचीन आलंकारिकों ने कहा है कि 'जिसमें 'अतिशयोक्ति' (वक्रोक्ति) नहीं, वह 'अलंकार' ही नहीं है। प्रदीपकार का कहना है कि 'सर्वत्र एवंविधे विषये अतिशयोक्तिरेव प्राणायिता'। तां विना प्रायशः अलंकारत्वाऽभावात्। अत एवाहुः"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना' ॥ (प्रदीप)।

(५७ 'तद्गुण' संज्ञकः अलंकारः)

(२०४) स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥१३७॥

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणतया स्वगुणसंपदोपरक्तं

प्रस्तुत 'वृत्तिग्रन्थ' का व्याख्यान जो 'प्रदीपकार' ने किया है, उसका विवरण करते हुए 'उद्योतकार' कहते हैं कि यहाँ पर समस्त अलंकारों का आधार 'अतिशयोक्ति' है—इस कथन में 'अतिशयोक्ति' शब्द का प्रयोग, 'अतिशयोक्ति' अलंकार के अभिप्राय से नहीं है, अपितु 'अतिशययुक्त' अर्थात् 'उत्कर्षयुक्त' कथन (वैचित्र्यपूर्ण कथन) के अभिप्राय से किया गया है। क्योंकि 'एक ही अलंकार प्रायः समस्त अलंकारों का प्राण है'—यह कहना सुसंगत नहीं है। प्रस्तुत 'विशेष' अलंकार के लिए ही विवक्षित हो तो इसके उदाहरण में दृष्टिगोचर होनेवाली आधुनिकों की वाणी का कवि की वाणी के रूप में निर्देश, हृदय, दृष्टि, वचन का विषय बनकर 'नायिका' का होना—यह निर्देश, उसी तरह 'राजा' का मदन, सूर्य, बृहस्पति के रूप में निर्देश आदि 'अतिशय-युक्त' कथन 'अतिशयेन उक्तिः' ही कहलायेगा, उसे 'अतिशयोक्ति' अलंकार नहीं कहा जायगा। आधुनिकोक्तेः अपि कव्युक्तित्वोपचारेण, हृदयादौ भावनादेव तत्त्वोपचारेण राज्ञः ताद्रूप्येण मनोभूस्त्वाद्युपचारेण च तथोक्तेः इति भावः। न तु अतिशयोक्त्यलंकारः अत्र विवक्षितः तस्य अत्र असंभवात्' —(उद्योत)। वस्तुस्थिति को छोड़कर किया गया केवल कल्पित किसी भी चमत्कारोत्पादक कथन को 'अतिशयोक्ति' के नाम से कहा जा सकेगा, और वह, अनेक अलंकारों का आधारभूत भी दिखाई देगा, किन्तु 'अतिशयोक्ति अलंकार का स्वरूप, मर्यादित होने से उसे अनेक अलंकारों का आधार कहना संगत नहीं होगा, तथा वस्तुस्थिति से शून्य भी होगा। उद्योतकार के इसी कथन का अनुवाद करते हुए झलकीकर ने अपनी वामनी में कहा है कि प्रस्तुत वृत्तिग्रन्थ में मम्मट के द्वारा प्रयुक्त 'अतिशयोक्ति' शब्द को यौगिक (व्युत्पत्ति पर अधिष्ठित) अर्थ परक ही समझना चाहिए, 'योगरुढ' अर्थ में नहीं, अर्थात् 'अतिशयोक्ति' अलंकार के अर्थ में नहीं।

(५७ तदगुण अलंकार)

(सूत्र २०४) स्वमुत्सृज्येति। जब न्यूनगुणवाली प्रस्तुत वस्तु, अत्यन्त उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वरूप या गुण को छोड़कर उस अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, तब 'तद्गुण' नामक अलंकार होता है ॥१३७॥

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपमिति। अपने रूप का तिरस्कार करनेवाली जो प्रस्तुत वस्तु, किसी समीपस्थित अप्रस्तुत वस्तु के उत्कृष्ट गुणसम्पत्ति से उपरक्त (सम्बद्ध)

तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्गुणः तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति ।

उदाहरणम्—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६३॥

होने के कारण जब उसी के जैसी प्रतीत होने लगती है, तब 'तद्गुण' अलंकार होता है। 'तस्य अप्रकृतस्य गुणः अत्र अस्ति'—इस व्युत्पत्ति से अर्थात् अप्रस्तुत का गुण, इस प्रस्तुत वस्तु में आ गया है इस व्युत्पत्ति के कारण इस अलंकार का 'तद्गुण' नाम सार्थक है। उदाहरण, जैसे—माघकाव्य के चौथे सर्ग में 'रैवतक' पर्वत के वर्णन के प्रस्ताव में सूर्य के घोड़ों का वर्णन करते हुए कवि बता रहा है—'विभिन्नवर्णा' इति। जिस 'रैवतक पर्वत' पर 'गरुड' के बड़े भाई 'अरुण' के द्वारा चारों तरफ चमकती हुई अपनी रक्तवर्ण की किरणों से विभिन्न वर्णवाले (लाल रंग के) कर दिये गये 'सूर्य' के घोड़ों ने उसी रैवतक पर्वत पर स्थित बाँस के अंकुरों के समान हरिद्वर्ण मरकत मणियों के अत्यन्त हरिद्वर्ण की चारों ओर फैलता हुई कान्ति से अपनी हरिद्वर्ण की कान्ति को पुनः प्राप्त कर लिया ॥५६३॥

यहाँ पर 'हरिन्मणिभिः परितः स्फुरन्त्या स्वकान्त्या पुनः स्वकीयां हरिद्वर्णताम् आनिन्यिरे प्रापिता इत्यर्थः। नयतेर्द्विकर्मकात् रथ्यात्मके प्रधाने कर्मणि लिट्—'प्रधान-कर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्', इति 'अकथितं च'—(१।४।५१) इति पाणिनि-सूत्रस्थमहाभाष्यवचनात्।

अत्र रवितुरगापेक्षयेति। यहाँ सूर्य के अश्वों (घोड़ों) की अपेक्षा सूर्य के सारथी गरुडाग्रज अरुण के वर्ण का उत्कर्ष बताया गया है, अर्थात् सूर्य के हरिद्वर्णवाले अश्वों का रंग बदलकर 'लाल रंग' हो गया था, किन्तु उसकी अपेक्षा रैवतकपर्वत पर स्थित 'हरिद्वर्ण' अर्थात् हरे रंग की मरकत मणियों के वर्ण को अधिक उत्कृष्टता बताई गई है, क्योंकि सूर्य के घोड़ों का 'अरुण' के सम्पर्क से जो रंग बदल गया था, अर्थात् लाल-लाल हो गया था, उस रंग को जब रैवतक पर्वत के पास सूर्य का रथ पहुँचा तब वहाँ की मरकतमणियों की कान्ति ने पुनः हरा-हरा कर दिया। इसलिए यहाँ 'तद्गुण' अलंकार है। हिन्दी के बिहारी कवि ने 'तद्गुण' अलंकार का बहुत सुन्दर उदाहरण दिया है—

"अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पटजोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष रंग होति॥

विभिन्नवर्णा'—इस उदाहृत पद्य में 'प्रस्तुत रवितुरगों को अप्रस्तुत गरुडाग्रज के वर्ण (लालवर्ण) की प्राप्ति और अप्रस्तुत नीलरत्नवर्ण की भी प्राप्ति होने से—'दो

तद्गुण अलंकार' हैं। इसी बात को प्रदीप-उद्योत में भी कहा गया है—'अत्र तद्गुण-द्वयम् रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य, तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रकृष्टगुणत्वात् तद्रूपतया प्रतीतेः। जो किसी ने यह कहा है कि 'स्वगुणत्यागानंतरं पुनस्तत्प्राप्तिः तद्गुणः'—वह उपेक्षणीय है।

सूत्र २०४, कारिका १३७ का 'अन्वय' इस प्रकार होगा—'यत् अत्युज्ज्वलगुणस्य योगात् वस्तु, स्वं गुणम् उत्सृज्य तद्गुणताम् एति, स तु तद्गुणः भण्यते'। 'योगात्'—'प्रकृत तथा अप्रकृत'—दोनों वस्तुओं का गुण अर्थात् 'रूप-रंग' समान नहीं है। मान लीजिये कि 'प्रकृत वस्तु' सफेद है और 'अप्रकृत वस्तु' नीली है। 'प्रकृतवस्तु' के 'गुण' (रूप-रंग) से 'अप्रकृतवस्तु' का गुण (रूप-रंग) अत्यधिक प्रभावशाली है। उस स्थिति में 'प्रकृतवस्तु' का गुण (रूप-रंग) अभिभूत हो जाता है और अप्रकृतवस्तु के गुण (रूप-रंग) का ग्रहण करने के लिये उसे विवश हो जाना पड़ता है (समीपगतेन गुण-सम्पदा उपरक्तम्), फलतः प्रकृतवस्तु, तब बिलकुल अप्रकृतवस्तु जैसी ही दीखने लगती है। (तद्गुणतामेति = तत्प्रतिभासमेव समासादयति)। इस प्रकार की घटना के वर्णन को ही 'तद्गुण' अलंकार के नाम से कहा जाता है।

'मीलित' और 'सामान्य' अलंकारों से 'तद्गुण' अलंकार की भिन्नता—

'तद्गुण' के लक्षण में प्रयुक्त 'तिरस्कृतनिजरूपम्' पद से उसकी अपनी भिन्नता स्पष्ट होती है। 'मीलित' अलंकार में एक वस्तु, 'दूसरी वस्तु' को ही तिरस्कृत करती है, इतना तिरस्कृत करती है, जिससे 'दूसरी वस्तु' का 'अस्तित्व' तक प्रतीत नहीं हो पाता।

किन्तु 'तद्गुण' में एक (अप्रकृत) वस्तु, दूसरी (प्रकृत) वस्तु के केवल एक 'गुण' को ही तिरस्कृत करती है। उस कारण दूसरी (प्रकृत) वस्तु के अस्तित्व की प्रतीति नहीं हो पाती।

'मीलित' में सम्बद्ध वस्तुएँ, समान चिह्नों से युक्त रहती हैं, और उनमें से एक प्रत्यक्षगम्य व दूसरी अनुमानगम्य हुआ करती है।

'तद्गुण' में सम्बद्ध वस्तुएँ, भिन्न भिन्न गुणों से युक्त रहती हैं और वे एक ही प्रमाण की विषय होती हैं। इन कारणों से 'मीलित' और 'तद्गुण' दोनों अलंकार बिलकुल पृथक्-पृथक् हैं—यह स्पष्ट हो जाता है।

'सामान्य' अलंकार में 'एक वस्तु', दूसरी वस्तु को या उसके 'गुण' को किसी को भी 'तिरस्कृत' नहीं करती अपितु 'सामान्य' अलंकार की 'सम्बद्ध वस्तुएँ' परस्पर समानगुण से अत्यधिक युक्त होने के कारण वे वस्तुएँ एक सी ही प्रतीत होती हैं, लेकिन 'तद्गुण' अलंकार की वस्तुएँ गुणों में परस्पर असमान रहती हैं, और 'अप्रकृत' के प्रबल गुण से

अत्र रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णना।

प्रकृत का दुर्बल गुण, प्रभावित रहता है। अतः 'तद्गुण' को 'सामान्य' अलंकार से पृथक् ही समझना चाहिए।

उसी तरह 'तद्गुण' अलंकार को 'भ्रान्तिमान्' अलंकार से भी भिन्न समझना चाहिए। क्योंकि 'तद्गुण' में 'प्रकृत' और 'अप्रकृत' दोनों का 'प्रत्यक्षज्ञान' होता है। किन्तु 'भ्रान्तिमान्' में 'प्रकृत वस्तु' का तो 'प्रत्यक्षज्ञान' होता है, और अप्रकृतवस्तु की 'स्मृति' होती है तथा 'भ्रान्तिमान्' में दोनों वस्तुएँ मूलतः एव समानगुणवाली होती हैं, और तद्गुण में 'प्रकृत-अप्रकृत वस्तुएँ मूलतः असमानगुणवाली होती हुई भी 'प्रकृतवस्तु' अपने 'गुण' को त्यागकर अप्रकृतवस्तु के गुण को ग्रहण करती है, उसकारण वे दोनों वस्तुएँ कुछ काल तक ही 'समानगुणवाली' हुआ करती हैं। जैसे—रैवतक पर्वत का वर्णन करते हुए बताया गया है कि रैवतक पर्वत की ऊँचाई ऐसी लगती थी कि मानों सूर्यमण्डल को स्पर्श कर रही हो तथा अगल-बगल की वस्तुओं के रंगों को परिवर्तित करदेनेवाले प्रभावशाली तेजस्वी पर्वतीय रत्नसमूह, इन दो विशेषताओं को कवि ने बताया है। सूर्य के रथ के घोड़े मूलतः हरे रंग के थे, किन्तु सूर्यसारथी अरुण की प्रभा के कारण वे 'लाल' रंग के दिखाई पड़ने लगे—यह एक 'तद्गुण' हुआ। ये लाल रंग के प्रतीत होनेवाले घोड़े, सूर्य के रथ को खींचते-खीचते जब रैवतक पर्वत के समीप आये, तब उस रैवतक के ऊंचे-ऊँचे शिखरों पर बिखरे हुए हरे-रहे मरकत मणियों की फैली हुई कान्ति से वे (घोड़े) भी हरे रंग के अर्थात् अपने निजी मूलभूत हरे रंग के दीखने लगे—यह दूसरा 'तद्गुण' हुआ।

इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में 'तद्गुण' अलंकार दो बार आया है। यहाँ पर 'प्रकृतवस्तु'—'सूर्य के घोड़े' हैं और 'अप्रकृतवस्तुएँ दो हैं–पहिले 'तद्गुण' में 'अरुण' और दूसरे तद्गुण में 'रैवतक पर बिखरे हुए 'मरकतमणि'। ये 'अप्रकृत वस्तुएँ'—क्रमशः लाल रंग और हरे रंग से समृद्ध हैं। उसकारण सूर्य के घोड़े, 'अरुण' के समीप जैसे ही आ पहुँचे, तो उन्होंने अपने मूलभूत 'हरे रंग' का त्यागकर 'लाल रंग' को स्वीकार कर लिया, तदनन्तर जब वे, रैवतक पर बिखरे पड़े मरकतमणियों के समीप आ पहुँचे, त्योंही पूर्वगृहीत लाल रंग को त्यागकर मूलभूत हरे रंग को ग्रहण कर लिया।

एवंच लक्षण में प्रयुक्त 'स्वं गुणम्' इन पदों का अभिप्राय, 'प्रकृतवस्तु' का जन्मजात (मूलभूत) गुण, नहीं समझना चाहिए अपितु 'प्रकृतवस्तु के परिवर्तित होने के पूर्वका गुण' समझना चाहिए। इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि अत्युज्ज्वल गुणवाले रैवतक पर्वत पर बिखरे हुए रत्न, अत्युज्ज्वल गुणवाले है, अर्थात् अरुण के उज्ज्वलगुण से भी अधिक उज्ज्वलगुणवाले हैं। 'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन'—इस पद्य में 'वंशकरीरनीलैः'—पद का प्रयोग कवि ने किया है, 'वंश' का अर्थ यहाँ 'बाँस' है। उसके

(५८ अतद्गुण संज्ञकः अलंकारः)

(२०५) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः ।

'अंकुरों' को 'करीर कहते हैं। 'वंशांकुरे करीरोऽस्त्री'—इत्यमरः। उसकारण यहाँ 'वंश' शब्द का प्रयोग निरर्थक प्रतीत हो रहा है, किन्तु उसका प्रयोग करने में कवि का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि यहाँ पर निर्दिष्ट 'वंशाकुर' वंश पर ही स्वाभाविक स्थिति में है। उसकारण उसका ताजापन प्रतीत हो रहा है। केवल 'करीर' शब्द का प्रयोग यदि किया जाता, तो उक्त अर्थ का बोध न हो पाता। क्योंकि बाँस का 'अंकुर' तोड़ दिया जाने पर भी 'करीर' की स्थिति में कोई हानि नहीं होती। इतना ही है कि वह सूख जाता है। इस प्रकार के विशेष अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये आलंकारशास्त्रियों ने 'पुनरुक्ति' को क्षम्य माना है। 'कर्णावतंसादि पदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः। सन्निधानादिबोधार्थम्·········' ॥(मम्मट—७।१०)।

'अवतंस' का अर्थ ही है—'कर्णभूषण'। उसकारण 'कर्णावतंस' पद के प्रयोग में 'पुनरुक्ति' है, तथापि इस प्रयोग में यह 'कर्णभूषण'—कान पर रखने की सूचना देना ही कवि को विवक्षित है। अर्थात् 'सन्दूक में उसे नहीं रखा है—यह विवक्षा कवि की है। किन्तु यह देखकर उसका कोई दुरुपयोग न करे—इस भय से आगे चलकर मम्मट ने कह दिया है कि '·········स्थितेष्वेतत् समर्थनम्'। यह केवल रूढप्रयोगों का ही समर्थन है। इसे देखकर आधुनिक कविलोग 'जघनकाञ्ची' आदि प्रयोग न करें।

इस 'तद्गुण' अलंकार का उल्लेख प्रथमतः 'रुद्रट' ने किया है, और उसके 'दो भेद' प्रदर्शित किये हैं—(रुद्रट ९।२२-२५)। 'पहिले भेद' को मम्मट ने 'सामान्य' अलंकार के नाम से और 'दूसरे भेद' को 'तद्गुण' के नाम से कहा है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने इन अलंकारों का निरूपण प्रायः मम्मट के अनुसार ही किया है।

प्रदीप और उद्योत में 'अत्र तद्गुणद्वयम् रवितुरगापेक्षया गरुडाग्रजस्य; तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रकृष्टगुणत्वात् तद्रूपतया प्रतीतेः'—कहा है, उसे देखकर किसी व्याख्याकार ने जो व्याख्या की है कि 'स्वगुणत्यागानंतरं पुनस्तत्प्राप्तिः तद्गुणः'—वह ठीक नहीं है, अतः उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। अन्यथा 'तस्य अप्रस्तुतस्य गुणोऽत्र अस्ति'—इस व्युत्पत्तिकथनपरक 'प्रकाश' के साथ विरोध होगा। जयदेव आदि कों ने एक 'अनुगुण' नामका अलंकार भी माना है। जैसे—'प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसंनिधेः। नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम्'—इन 'अनुगुण' और 'पूर्वरूप'—इन दोनों अलंकारों का समावेश मम्मट के 'तद्गुण' में ही उद्योतकार ने किया है।

(५८ 'अतद्गुण' अलंकार)

(सूत्र २०५) पूर्वसूत्र से 'योगादत्युज्ज्वलगुणस्य'—की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में की गई है। अनुवृत्ति करने पर प्रस्तुत सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा।

यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायामिदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात्तदा भवेदतद्गुणो नाम ।

उदाहरणम्—

धवलोसि जहवि सुन्दर तहवि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥५६४॥
(धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि ॥५६४॥)

('अतद्गुणस्य' अन्यप्रकारेणापि संभावनम्)

अत्रातिरक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः । किं च तदिति अप्रकृतम् अस्येति च प्रकृतमत्र निर्दिश्यते । तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तान्नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम् ।

तद्रूपेति । जहाँ प्रकृष्टगुणवाले 'प्रकृत' के संपर्क में आकर भी न्यूनगुणवाला 'अप्रकृत' उस 'प्रकृत' के गुण का ग्रहण (अनुहरण) न करता हो, तो 'अतद्गुण' अलंकार होता है । अत्युज्ज्वलगुणयोगेऽपि यदि न्यूनगुणोऽप्रकृतः प्रकृतस्य गुणं नानुहरति तदा अतद्गुणनामाऽलंकरः ।

यदि तु तदीयमिति । यदि योग्यता रहने पर भी अर्थात् गुणग्रहण करने के 'सामीप्यादि' उपायों के रहने पर भी न्यूनगुणवाला 'अप्रकृत' (अप्रस्तुत), उस 'प्रकृत' के (प्रस्तुत के) रूपादि गुण का अनुसरण (ग्रहण) न करे तो 'तद्गुण' के विपरीत 'अतद्गुण' नामका अलंकार होता है ।

उदाहरण, जैसे—

धवलोऽसीति । हे सुन्दर ! तुम धवल (श्वेतवर्ण = गौरवर्ण के) हो, फिर भी तुमने मेरे हृदय को 'रंग' दिया अर्थात् लाल कर दिया, यानी 'प्रेमविभोर' कर दिया । हे सुभग ! 'राग' से (लालिमा एवं अनुराग से) भरे हुए हृदय में मैंने तुम्हें रख लिया, फिर भी तुम लाल (अनुरक्त) नहीं हुए ॥५६४॥

उपर्युक्त पद्य में यह बताया है कि 'अत्यन्त अनुरक्त हृदय से संयुक्त होने पर भी 'नायक' अनुरक्त नहीं हो पाया'—इसकारण यहाँ 'अतद्गुण' अलंकार है ।

ग्रन्थकार ने उक्त कारिका की एक अन्य व्याख्या भी की है— किञ्च तदिति । और यहाँ पर 'तत्' शब्द से 'अप्रकृत' का तथा 'अस्य' पद से 'प्रकृत' का निर्देश किया गया है । एवंच जहाँ पर 'अप्रकृत' के 'रूप' को किसी भी कारण से 'प्रकृत' नहीं ग्रहण

यथा—

गाङ्गमम्बुसितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६५॥

करता हो वहाँ पर 'अतद्गुण' अलंकार समझना चाहिए—इसे अतद्गुण' का दूसरारूप समझना चाहिइ । जैसे—

गाङ्गमिति । 'गंगाजी' का जल 'श्वेत' है और 'यमुनाजी' का जल, काजल की तरह 'काला (नीला) है । किन्तु हे राजहंस ! दोनों में स्नान करने पर भी तुम्हारी श्वेतता (सफेदी) वैसी ही रहती है । अर्थात् गंगाजल में स्नान सरने से न तो बढ़ती है, और यमुना जल में स्नान करने से न कम होती है अर्थात् दोनों स्थिति में तुम एकरूप ही हो ॥५६५॥

'गाङ्गमम्बु:'—पद्य से यह बताया है कि मज्जन करने अर्थात् गुणग्रहण करने की योग्यता होने पर भी प्रकृत राजहंस के द्वारा, अप्रकृत 'गंगा' एवं 'यमुबा' के गुणों का ग्रहण न करने से यहाँ 'अतद्गुण' अलंकार है ।

हिन्दी के किसी कवि ने 'अतद्गुण' अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण दिया है—

'लाल बाल अनुराग सों रँगत रोज सब अंग ।
तऊ न छोड़त रावरो अंग साँबरो रंग' ॥

प्रश्न—'अतद्गुण' के लक्षण की दो व्याख्या करके उसके दो पृथक्-पृथक् उदाहरण क्यों दिये ?

उत्तर—जब एक बस्तु, दूसरी वस्तु के गुण का ग्रहण करती है, तब गुण ग्रहण करनेवाली 'न्यूनगुण' वाली है—यह अर्थात् सिद्ध होता है । और दूसरी बस्तु 'उज्ज्वल गुणबाली' समझी जाती है । किन्तु जब एक वस्तु किसी कारण से दूसरी बस्तु का ग्रहण नहीं करती तब 'दूसरी बस्तु' उज्ज्वलगुणसम्पन्न होगी ही-यह निश्चित नहीं कहा जा सकता । जो आदमी दूसरे को सहजतया धनवान् बना देता है, वह स्वयं धनवान् है—यह स्पष्ट है, किन्तु जो आदमी सहजतया (अकस्मात्) धनवान् नहीं बना पाता, वह स्वयं धनवान् हो भी सकता है या नहीं भी हो सकता है । उसकारण 'तद्गुण' में 'प्रकृत' और 'न्यूनगुण' का तथा 'अप्रकृत' और 'उज्ज्वलगुण' का समानाधिकरण्य-मानकर लक्षण के एक ही व्याख्यान से 'लक्ष्य' को व्याप्त कर लिया गया, किन्तु 'अतद्-गुण' में 'तद्गुण' का ध्यान रखकर 'न्यूनगुण' और 'उज्ज्वलगुण' के उद्देश्य से एक व्याख्या की गई, और उसके अन्तर्गत न आनेवाले उदाहरणों का संग्रह करने के लिये केवल 'प्रकृत' और 'अप्रकृत' की दृष्टि से दूसरी व्याख्या की गई है—यह बात 'सारबोधिनी' व्याख्या के अनुसार बताई गई है ।

(४९ 'व्याघात' संज्ञकोऽलंकारः)

(२०६) यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ १३८ ॥

किन्तु 'प्रदीपकार' के अनुसार 'अतद्गुण' की पहिली व्याख्या में 'तद्' शब्द से 'प्रकृत' और 'अस्य' शब्द से 'अप्रकृत' इन दोनों का अनुसरण करने पर 'अतद्गुण' का स्वरूप यह होगा कि—'अप्रकृत' के द्वारा 'प्रकृत' के 'गुण' का ग्रहण न करना। और दूसरी व्याख्या में—पहिली व्याख्या के बिलकुल विपरीत यानी 'तद्' शब्द से 'अप्रकृत' और 'अस्य' शब्द से 'प्रकृत' का अनुसरण कर 'अतद्गुण' का स्वरूप यह होगा कि 'प्रकृत' के द्वारा 'अप्रकृत' के 'गुण' का ग्रहण न करना।

इन दो व्याख्याओं में से 'दूसरी व्याख्या'—स्वयं मम्मट ने ही दी होने से उसके विषय में कोई वाद ही नहीं है किन्तु प्रदीपकार ने दूसरी व्याख्या के विपरीत जो पहिली व्याख्या की है, वह सन्तोषजनक प्रतीत नहीं हो रही है, क्योंकि मम्मट ने पहिली व्याख्या में कहीं पर भी 'प्रकृत' या 'अप्रकृत' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। किञ्च 'प्रदीपकार' की पहिली व्याख्या के अनुसार 'धवलोऽसिजहवि' (५६४ श्लोक) पद्य में 'शुभग' को 'अप्रकृत' और 'हृदय' को 'प्रकृत' अकारण ही मानना पड़ता है। प्रदीपकार ने जो कारण 'तत्र प्रकृतं हृदयम्, संबोध्यस्तु अप्रकृतः स्वहृदयवृत्तान्तनिवेदनस्यैव विवक्षितत्वात्'—दिया है, वह समाधानकारक नहीं है। किञ्च प्रदीपकार की अभीष्ट व्याख्या ही यदि मम्मट को सम्मत होती तो क्या वे 'तस्य प्रकृतस्य अप्रकृतस्य वा वर्णं यथाक्रमम् अप्रकृतं प्रकृतं वा न गृह्णीयात्……' इस प्रकार दोनों को एक ही उक्ति के द्वारा न कहते ?

शोभाकार ने 'अतद्गुण' अलंकार को स्वतन्त्र नहीं माना है। उसने इसका अन्तर्भाव 'विशेषोक्ति' में किया है। उनका कहना है कि—

'हेतौ सत्यपि नान्यस्य गुणानुहरणं यदि।
विशेषोक्तिरसाविष्टा न वाच्योऽपि ह्यतद्गुणः' ॥ (रत्नाकर)

किन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहते हैं कि उत्सर्गापवादन्याय से 'अतद्गुण' का क्षेत्र छोड़कर जो क्षेत्र बचेगा, उसे 'विशेषोक्ति' का क्षेत्र समझना चाहिए।

(५९ 'व्याघात' अलंकार)

(सूत्र २०६) यद्यथेति। किसी कर्ता के द्वारा जिस प्रकार से जिस उपाय से जो कुछ भी किया गया, उसे दूसरा कर्ता उसी प्रकार से और उसी उपाय से उससे उलटा करदे तो 'व्याघात' अलंकार होता है।

येनोपायेन यत् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः।

उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥५६६॥

येनोपायेनेति। जब एक के द्वारा किसी एक उपाय से सिद्ध किये गये कार्य को उसे जीतने की इच्छा से कोई दूसरा व्यक्ति उसी उपाय के प्रयोग से उसे उलटा (विपर्यस्त) कर देता है, तो वहाँ पूर्वसाधित वस्तु के विपर्यय में 'व्यघात' अलंकार होता है। मूल सूत्ररूप कारिका (यद् यथा साधितं) का अन्वय इस प्रकार होगा— 'यत् केनापि यथा साधितं, तत् अपरेण तथैव अन्यथा विधीयेत इति यत्, सः व्याघातः इति स्मृतः'।

अर्थात् कोई एक व्यक्ति-विशेष साधन का अवलंब करके किसी कार्य को निष्पन्न करे और दूसरा व्यक्ति स्पर्धा के वशीभूत होकर उसी साधन (उपाय) का अवलंब करके उस कार्य (परिणाम) को उलट दे अर्थात् सम्पूर्णतया नष्ट कर दे, तब 'व्याघात' नाम का अलंकार होता है। 'व्याघात' का अर्थ नष्ट करना, उखाड़ फेकना, बिगाड़ देना, निर्मूल करदेना होंता है। प्रस्तुत अलंकार में भी यही परिस्थिति है—सिद्ध किये गये कार्य को बिगाड़ देना'। अतः प्रस्तुत अलंकार का 'व्याघात' नाम सार्थक प्रतीत होता है। इस अलंकार में 'विरुद्ध कार्यों का आश्रय एक है, साधन भी एक है, किन्तु 'कर्ता' भिन्न-भिन्न हैं। इन तीन अंशों में से किसी एक को भी यदि धक्का लग जाय तो 'व्याघात' अलंकार की निष्पत्ति नहीं हो पाएगी। जैसे—

'पाण्डित्येन प्रचण्डेन येन माद्यन्ति दुर्जनाः।
तेनैव सज्जना रूढां यान्ति शान्तिमनुत्तमाम्' ॥ (जगन्नाथ)

यहाँ पर 'मद' और 'शान्ति' दोनों एक ही पाण्डित्य के कार्य हैं, तथापि उनका आश्रय एक नहीं है, उसकारण यहाँ पर 'व्याघात' नहीं है। 'व्याघात' का चमत्कार, एकसाधनकृत विरुद्ध कार्यों के एकाश्रयत्व से प्रतीयमान विरोध पर आधारित है।

उदाहरण, जैसे—'दृशा दग्धं मनसिजम्'। यह उदाहरण राजशेखरकृत 'विद्धशालभंजिका' से दिया गया है। इस श्लोक में भगवान् शिव से स्पर्धा रखनेवाली 'सुन्दरी' ने स्पर्धा में कैसा उत्कर्ष दिखाया है—यह वर्णन कवि ने बड़ी सुन्दरता से किया है। भगवान् शिव ने अपने तृतीय नेत्र से (नेत्र की अग्नि से) 'मदन' (कामदेव) को जलाकर भस्म कर दिया है—यह सर्वविदित ही है किन्तु सम्पूर्ण विश्व का अनुभव इस प्रकार है कि वामलोचना (शोभननेत्रा) सुलोचना, किसी 'पुरुष' पर केवल कटाक्ष-

पात भर करदे तो तत्काल ही पुरुष के मन में कामबासना का प्रादुर्भाव हो जाता हैं। यह कामबासना का जो प्रादुर्भाव है, वही भगवान् शिव के द्वारा भस्म किये हुए मदन (कामदेव) का 'पुनर्जन्म' है। एवंच 'दृष्टिपात' से भस्मसात् किये हुए 'मदन' को 'दृष्टिपात' (कटाक्ष पात) से ही जीवित कर देनेवाली 'सुन्दरी स्त्री' है। एवंच उसकी 'शक्ति' भगवान् शिव से भी 'अधिक' सिद्ध हो रही है। अतएव—

'दृशा दग्धं मनसिजं······। विरुपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः' ॥

कहकर कवि ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'शिव-विजेत्री सुन्दरी की स्तुति न कर, लोग 'शिव' की स्तुति क्यों करते हैं—यह समझ में नहीं आ रहा है।

उपर्युक्त पद्य में 'मदन-नाश'—यह मुख्य कार्य है, उसका कर्त्ता—'शिव' है, और नाश करने का साधन—'उसकी दृष्टि' है। उस 'शिव' पर विजय पाने की 'ईर्ष्या' से 'सुन्दरी स्त्री' उसी 'मदन' का पुनरुज्जीवन (मूल कार्य के विपरीत कार्य को), अपनी 'दृष्टि' रूप साधन से ही कर दिया करती है। अतः उक्त पद्य मे 'व्याघात' अलंकार है।

पूर्वोक्त 'विशेष' अलंकार के सन्दर्भ में मम्मट के कथनानुसार यह 'पद्य' अयिशयोक्ति से गर्भित है। क्योंकि वास्तव में शिव के द्वारा दग्ध किये गये 'मदन' से, सुन्दरी कामिनी के द्वारा उत्पन्न किया हुआ 'मदन' भिन्न है। तथा 'मदन' दग्ध करनेवाली 'दृष्टि' से भी 'मदन' को उत्पन्न करनेवाली 'दृष्टि' (कटाक्ष)से भिन्न है। इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं में 'अभेद' की कल्पना करके उसी के आधार पर 'व्याघात' को सिद्ध किया जा रहा है। इस अभेद कल्पना से प्रतीयमान जो निरोध है, यह, वस्तुओं का भेद समझ में आते ही दूर हो जाता है।

रुय्यक का कहना है कि प्रस्तुत उदाहरण में 'व्याघात' के अतिरिक्त 'व्यतिरेक' अलंकार भी है, जो 'व्याघात' पर ही अधिष्ठित है। यहाँ 'व्यतिरेक' के होने का प्रमाण 'जयिनीः' पद में स्पष्टतया, उसी तरह 'विरुपाक्ष' और 'वामलोचनाः' पदों में अस्पष्टतया उपलब्ध है (रुय्यक)। रुय्यक के कथन का विवरण करते हुए जयरथ ने कहा है कि प्रस्तुन 'व्याघात' अलंकार की निष्पत्ति, 'व्यतिरेक' अलंकार के बिना नहीं हो सकेगी, क्योंकि किसी के द्वारा बनाये गये कार्य को यदि कोई बिगाड़ दे तो बिगाड़नेबाला, 'वनानेवाले' से उत्कृष्ट ही समझा जायगा। 'व्यतिरेक' में भो यही बात है। उसमें भी 'उपमान' की अपेक्षा 'उपमेय' की उत्कृष्टता ही प्रदर्शित की जाती है।

पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि से प्रस्तुत उदाहरण में—'व्यतिरेक' अलङ्कार ही है। इससे प्रतीत होता है कि पण्डितराज ने प्राचीन आलङ्कारिकों के मत के प्रदर्शनार्थ ही 'व्याघात' का निरूपण किया है। उनका विचार तो 'व्यतिरेक' में ही 'व्याघात' का अन्तर्भाव करने का होगा, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों प्रकार के 'व्याघात'

का प्रयोजन—'व्यतिरेकसिद्धि' को ही उन्होंने बताया है। 'व्यतिरेक' के सिवाय 'व्याघात' के लिये कोई अन्य स्वतन्त्र क्षेत्र न होने से तथा व्यतिरेक के लिये किसी मूलभूत अलङ्कार के होने का नियम भी न रहने से 'दृशा दग्धं मनसिजम्'—इत्यादि उदाहरणों में उन्होंने 'व्यतिरेक' अलङ्कार का होना ही निश्चित किया है।

रुय्यक ने 'व्याघात' के दो प्रकार बताये हैं। मम्मट प्रतिपादित—'व्याघात' में निष्पन्न हुए विरुद्ध कार्यों को बताया गया है, किन्तु इस प्रकार के विरुद्ध कार्यों की निष्पत्ति का होना जब अभीष्ट हो, तब भी 'व्याघात' अलङ्कार का सम्भव हो सकता है। अतएव 'व्याघात' को उसने दो प्रकार का कहा है। इनमें से पहिले प्रकार का विवेचन तो उसने मम्मट के अनुसार ही किया है,किन्तु दूसरा प्रकार—'सौकर्येण कार्य-विरुद्धक्रिया च व्याघात इत्येव' (रुय्यक)—कह कर बताया है। जब कोई व्यक्ति किसी प्रकार का कारण बता कर अपने अभीष्ट कार्य का समर्थन करता है, उस समय उसी कारण को बता कर दूसरा व्यक्ति, उसके विरुद्ध कार्य का यदि समर्थन कर रहा हो, तब 'दूसरा व्याघात' अर्थात् व्याघात का दूसरा प्रकार होता है। जैसे—

'विमुञ्चसि यदि प्रिय प्रियतमेति मां मन्दिरे,
तदा सह नयस्व मां प्रणययन्त्रणायन्त्रितः।
अथ प्रकृतिभीरुरित्यखिलभीतिभङ्गक्षमा
व्रजातु भुजमण्डलादवहितो बहिर्भावय॥

—(जगन्नाथ)

जानकी को अयोध्या में छोड़कर दण्डकारण्य में जाने के इच्छुक रामचन्द्रजी से जानकी (सीताजी) कह रही हैं—जिस प्रयोजन (कारण) से रामचन्द्र, मुझ सीता को वन में ले जाना नहीं चाहते, वस्तुतः उसी प्रयोजनार्थ वे मुझे वन में अवश्य ले चलें। रुय्यक के इस दूसरे प्रकार के व्याघात को उत्तरवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों ने भी बहुशः मान्य किया है। मम्मट ने ही व्याघात अलङ्कार को प्रथमतः बताया है। रुद्रट ने भी 'व्याघात' अलंकार को बताया है, लेकिन उसका स्वरूप, मम्मटोक्त व्याघात से भिन्न है। रुद्रट का 'व्याघात'—

'अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादकं न कार्यस्य।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः'॥

जैसे—

'सुरतप्रदीपा निष्कज्जलवर्तयो महामणयः।
माल्यस्यापि न गम्या हृतवसनवधूविसृष्टस्य'॥

इसके देखने से 'विशेषोक्ति' से प्रायः यह भिन्न प्रतीत नहीं हो रहा है।

(६० -संसृष्टि'रलंकारः)

(२०७) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१३९॥

(संसृष्टेस्त्रयः प्रकाराः)

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव अर्थविषये एव उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः ।

६०—संसृष्टि अलङ्कार

(सूत्र—२०७) सेष्टेति । एतेषां समनन्तरमेव उक्तानाम् अलङ्काराणां भेदेन परस्परनिरपेक्षत्वेन इह एकत्र यत् स्थितिः या व्यवस्थितिः सा 'संसृष्टि.' इष्टा । पूर्व प्रतिपादित अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्षता रहने पर भी उनकी एकत्र स्थिति को 'संसृष्टि' अलङ्कार कहते हैं ।

एतेषामिति । 'संसृष्टि' का अर्थ है—'एकार्थसमवायः, उस —'एकार्थ समवाय" का—अर्थात् 'एक शब्द' अथवा 'अर्थ', अथवा 'शब्दार्थरूपकाव्य' में एक से अधिक अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष रहते हुए भी एकत्र स्थिति को 'संसृष्टि' अलङ्कार कहते हैं ॥ १३९ ॥

एतेषां समनन्तरमिति । इनकी अर्थात् नवम और दशम दो उल्लासों में प्रतिपादित शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों की यथासम्भव, यानी क्वचित् केवल शब्दालङ्कारों की, क्वचित् केवल अर्थालङ्कारों की क्वचित् दोनों की, जैसी जहाँ सम्भव हो सके—एक ही शब्द के भाग में अथवा अर्थ के भाग में अथवा दोनों जगह, परस्पर निरपेक्षतया एकार्थ में सम्बन्धरूप जो स्थिति है, उसे 'संसृष्टि' अलङ्कार कहते हैं ।

कुछ अलङ्कार शास्त्रियों ने आठ (८) प्रमाणालङ्कार बताये हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द, (५) ऐतिह्य, (६) अर्थापत्ति, (७) अनुपलब्धि, (८) सम्भव—ये आठ प्रमाणालङ्कार हैं । मम्मट ने भी 'भाविक' अलङ्कार में 'प्रत्यक्ष' का, 'अनुमान' मे 'अनुमान' का, 'उपमा' में 'उपमान' का अतिशयोक्ति, समासोक्ति, सहोक्ति, विनोक्ति आदि भिन्न-भिन्न उक्तियों के रूप में 'शब्द' का, 'उत्प्रेक्षा' में सम्भव का, 'विभावना' में 'अर्थापत्ति' का (प्रसिद्ध कारण से नहीं हुआ, अर्थात् अप्रसिद्ध कारण से हुआ इस रूप में, उपमान लुप्तोपमा, अनन्वय एवं प्रतीप के रूप में 'अनुपलब्धि' का, (यदि उपमान मिलता तो कहते, किन्तु मिलता ही नहीं है) इसी तरह 'ऐतिह्य' को भी समझलेना चाहिये ।

इस प्रकार उपमादि व्याघातान्त 'उनसठ' अलङ्कारों का निरूपण किया गया। अर्थात् ये सब 'शुद्ध अलंकार' हैं। किन्तु सर्वदा ही 'शुद्ध' रूप से ही काव्य में उनकी उपस्थिति नहीं होती, किन्तु कभी-कभी एक-दूसरे में मिश्रित होकर भी उपस्थित हुआ करते हैं। कुछ ऐसे भी काव्य हैं, जिनमें 'अङ्गद' (बाहुभूषण), 'ताटङ्क' (कर्णभूषण), 'हार' (वक्षस्थलभूषण), 'कंकण' (करभूषण), 'ग्रैवेयक' (कण्ठ-भूषण) एवं 'मुकुट' (शिरोभूषण) आदि में जैसे पद्मराग, पुखराज, हीरक, मरकतमणि एवं नीलमणि आदि के जड़ने से विलक्षण शोभा हो जाती है, उसी तरह इन कथित उनसठ अलङ्कारों में से किन्हीं दो या तीन या चार के मिश्रण से भी अधिक चमत्कार अनुभूत होता है। अतएव भामहादि आलङ्कारिकों ने 'संसृष्टि' की रत्नमाला से तुलना की है। अतः ये मिश्रित अलंकार'—एक दूसरे पर अवलम्बित होने पर या न होने पर उनके (संसृष्टि के) दो भेद किये हैं—(१) अङ्गांगि-भावात्मक और (२) समकक्षतात्मक। इसे प्रथमतः 'दण्डी' ने बताया है। उसी में 'संसृष्टि' से 'संकर' के भिन्न होने का 'बीज' निहित है (दण्डी—२।३५९-६०) उत्तरवर्ती आलङ्कारिकों ने 'दण्डी' के द्वारा उक्त इन दो 'संसृष्टियों' में से दूसरे को 'संसृष्टि' नाम से कहा गया और पहिले को 'संकर' के नाम से कहा गया। सर्वप्रथम 'उद्भट' ने 'संसृष्टि' और 'संकर' की स्वतन्त्र गणना करते हुए उनका स्पष्ट विवेचन सविस्तर किया है। 'संकर' के प्रकार बताने वाला यह 'उद्भट' ही प्रथम आलङ्कारिक है। 'वामन' का अलंकार निरूपण 'उपमा प्रपञ्च' तक ही मर्यादित है। उसने अपने ग्रन्थ में 'मिश्र' अलंकार के रूप में एक 'संसृष्टि' को ही बताया है और उसके 'उपमारूपक' तथा 'उत्प्रेक्षावयव' नामक दो प्रकार ही प्रदर्शित किये हैं। 'रुद्रट' ने 'संसृष्टि' और संकर दोनों को 'मिश्रअलंकारसंकर' इस एक ही नाम से बताया है,तथापि 'व्यक्तसंकर' (=संसृष्टि) और 'अव्यक्तसंकर' कहकर उसके पृथक्-पृथक् प्रकार बताये हैं। उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने अपने-अपने ग्रन्थों में 'संसृष्टि' और 'संकर' के भेद प्रदर्शनार्थ 'तिलतण्डुलन्याय' और 'नीर-क्षीरन्याय' (दुग्ध-जलन्याय) को प्रदर्शित किया है। इन न्यायों का उपयोग प्रथमतः रुद्रट ने ही किया है। तिल और चावल (तण्डुल) एक-दूसरे में (परस्पर) मिल जाने पर भी अलग से पहिचाने जाते हैं। इसी तरह अलंकारों का पस्पर मिश्रण रहने पर उसे 'संसृष्टि' कहा गया है किन्तु दूध और पानी यदि परस्पर मिल जाँय तो दूध से पानी को अलग से दिखाया नहीं जा सकता। इस तरह अलंकारों का मिश्रण यदि हो तो उसे 'संकर' शब्दसे कहा जाता है।

भोज ने 'मिश्र' अलंकारों का निरुपण दो तत्त्वों के आधार पर दो प्रकार से किया है। (१) मिश्र अलंकारों के घटक 'अलंकारों का अन्योन्यसम्बन्ध' रहना—यह 'एक तत्त्व' है और मिश्र अलंकारों की घटक 'अलंकारों की जाति' को 'दूसरा तत्त्व' बताया

है। पहिले तत्त्व के अनुसार होनेवाले 'मिश्रण' को 'संसृष्टि' के नाम से उसने बताया है, और दूसरे तत्त्व के अनुसार होनेवाले 'मिश्रण' को उसने 'संकर' के नाम से बताया है। भोजने 'संसृष्टि' के छह (६) प्रकार कहे हैं—(१) 'तिल-तण्डुलवत्', (२) छाया-दर्शवत्', (३) 'क्षीरजलवत्', (४) 'पांशुपानीयवत्', (५) 'नरसिंहवत्' और (६) चित्र-वर्णवत्'। इनमें से पहले दोनों के समूह की 'व्यक्त' संज्ञा, तदनन्तर अगले दोनों के समूह की 'अव्यक्त' संज्ञा और अन्तिम दोनों के समूह की 'व्यक्ताव्यक्त' संज्ञा की है—(सरस्वती० ४।८८-९०)। संकर अलंकार के भी उसने छह (६) प्रकार ही बताये हैं—(१) 'शब्दालंकार संकर', (२) 'अर्थालंकार संकर', (३) 'उभयालंकार संकर', (४) 'शब्दार्थालंकारसंकर', (५) 'शब्दार्थोभयालंकारसंकर' और (६) 'अर्थोभयालंकार संकर। इस द्विविध निरूपण की उपपत्ति उसने यह बताई हैकि 'स यद्यपि व्यक्ताव्यक्तोभयात्मतया तिलतण्डुलकादिभेदैः प्रधानाङ्गभावसमकक्षताभ्यां पुरस्तादुक्तः, तथापि तेषां गुणादिसंकरासाधरणत्वात् सम्प्रति साधारणः प्रकारः उच्यते'—(सरस्वती० पृ० ६१७-१८)। इससे प्रतीत होता है कि भोजने 'मिश्रस्वरूप के तत्त्व को अलंकारतक ही मर्यादित न मानकर 'रस' और 'गुण' को भी उसकी कक्षा में ही माना है। भोजने 'रस, गुण और अलंकारों' के मिश्रण को छह प्रकार से विभाजित किया है—(१) गुणसंकर, (२) अलंकार संकर, (३) गुणालंकार संकर, (४) रससंकर, (५) रसगुण संकर और (६) रसालंकार संकर—(सरस्वती० पृ० ६१४)। मिश्र अलंकारों के इस विवेचन परम्परा में मम्मटादि अलंकारिकों ने मुख्यतया उद्भट के विवेचन के अनुसार ही विवेचन किया है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट के समय तक 'संसृष्टि' और 'संकर' की कल्पना दृढमूल हो गई थी। इन कल्पनाओं का तात्त्विक दृष्टि से समर्थन अथवा अंशतः निराकरण करने की दृष्टि से 'रुय्यक,जयरथ,शोभाकर' आदि आलंकारिकों ने कुछ विचार किया है।

'संसृष्टि' और 'संकर' के भेद प्रदर्शनार्थ रुय्यक ने 'रुद्रट' के कहे दो न्यायों के साथ 'संयोगन्याय' और 'समवायन्याय' का भी निर्देश किया है। जिन अलंकारों के मिश्रण में अलंकारों की भिन्नता उत्कटतया प्रतीत होती है, वहाँ 'संयोगन्यास' और जहाँ उत्कटतया भेद की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ 'समवायन्याय' उपपन्न होता है। 'संयोग-न्यास' से होनेबाले मिश्रण को 'संसृष्टि' और 'समवायन्याय' से होनेवाले 'मिश्रण' को 'संकर' कहा गया है। स्वार्थवश किञ्चित्कालस्थायी सम्बन्ध को 'संयोग' कहते हैं, और 'समवाय' को नित्य सम्बन्ध कहते हैं। जैसे 'पुष्प' और उसके 'लाल' रंग का सम्बन्ध रहता है। यही 'संसृष्टि' और 'संकर' का भेद है। फिर भी एक जिज्ञासा होती है कि जब एक वाक्य में या एक पद्य में अनेक अलंकार उपस्थित होते हैं, तब उन्हें अलग-अलग मानना होगा, या सब को मिलाकर एक पृथक् 'स्वतन्त्र अलंकार' मानना होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि जिस प्रकार लोकव्यवहार में

सुवर्ण के तथा रत्नों के पृथक्-पृथक् बने हुए अलंकार अपना-अपना पृथक् सौन्दर्य ही प्रकट करते हैं, तथापि उनके मिश्रण से एक अलग विलक्षण सौन्दर्य की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अलंकारशास्त्र के अलंकारों की स्थिति है। उसकारण अलंकारों के मिश्रण से एक अलग अलंकार ही निर्मित होता है—यही मानना उचित प्रतीत होता है—यह 'रुय्यक' का कहना है। इस कथन का विवरण करते हुए जयरथ ने कहा है कि 'तण्डुल (चावल), जल (पानी) और अग्नि के संयोग से निर्मित 'भात' जैसे उपर्युक्त तीनों वस्तुओं से पृथक् ही समझा जाता है, अथवा 'इक्षुरस' इत्यादि पदार्थों का अलग-अलग माधुर्य रहने पर भी उनके संयोग से निर्मित हुआ 'मद्यरस', तत्तद् वस्तुओं के अलग-अलग रसों से भिन्न कहा जाता है, उसी प्रकार अनेक अलंकारों का मिश्रण भी उनके घटक अलंकारों से अलग ही मानना होगा।

चित्रकार अनेक रंगों का मिश्रण करके सुन्दर चित्र निकालता है। चित्र की सुन्दरता रंगों के मिश्रण पर ही निर्भर है। अतः स्पष्ट है कि रंगमिश्रण का सौन्दर्य, उसके घटक अन्यान्य रंगों के स्वतन्त्र सौन्दर्य से कुछ विलक्षण ही होता है। उसी तरह अलंकारों के मिश्रण का सौन्दर्य भी घटक अलंकारों की सुन्दरता की अपेक्षा विलक्षण ही रहता है—यह सर्वानुभव सिद्ध है।

इस पर जयरथ का कहना है कि 'मद्यरस तथा चित्रों में दिखाई देनेवाली 'रंग-संगति' इत्यादि उदाहरणों में घटक पदार्थों का ग्रहण एक ही इन्द्रिय से होता है। उसकारण उनके मिश्रण का ग्रहण भी समुच्चित रूप से एक ही इन्द्रिय से होता है। अतः यहाँ पर सामूहिक रूप से मिश्रित सौन्दर्य का ग्रहण हो पाना संभव हो सकता है। उसी तरह जब 'शब्दालंकारों' का 'शब्दालंकारों के साथ और अर्थालंकारों का अर्था-लंकारों के साथ मिश्रण हो, तब वहाँ भी इसी प्रकार समुदायजन्य सौन्दर्य को माना जा सकता हैं। किन्तु जब शब्दालंकारों का अर्थालंकारों के साथ मिश्रण हो, वहाँ घटक अलंकारों का ग्रहण भिन्न इन्द्रियों से होने के कारण समुदायजन्य सौन्दर्य को मानना कैसे संभव हो सकता है? इसका उत्तर जयरथ ने यह दिया है कि किसी भी विषय का ग्रहण करने में द्वारभूत (माध्यम) कोई भी इन्द्रिय हो, तो भी उस विषय का ज्ञान तो 'मन' को ही होता है। उसकारण शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को ग्रहण करने के द्वार भले ही भिन्न-भिन्न हों, तो भी उनका समुच्चित ज्ञान होने में कोई किसी प्रकार की भी अड़चन नहीं है। लोकव्यवहार में भी किसी पुष्प की रूपाकृति और उसका सुगंध दोनों की समुच्चित प्रतीति होने का अनुभव सभी को है, उसी प्रकार सजातीय अथवा विजातीय अलंकारों के 'मिश्रण' को एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में स्वीकार करने पर काव्य में सर्वत्र 'संसृष्टि' और 'संकर'—इन दो ही अलंकारों का स्थान रहेगा, स्वतन्त्र अलंकार के लिए कहीं स्थान ही नहीं रहेगा। तब शुद्ध अलंकारों

के विवेचन की आवश्यकता ही क्यों रहेगी ? इस आक्षेप का समाधान करते हुए जयरथ ने कहा है कि 'उपमा' अलंकार, अनेक अलंकारों का 'बीजरूप' होने से उसी के शुद्धस्वरूप का उदाहरण दिया गया है। 'उपमा' की अपेक्षा व्याप्यक्षेत्रवाले अन्य अलंकारों के सहस्रशः उदाहरण दिये जा सकते हैं, उनमें शुद्ध अलंकारों की विरलता रहने पर भी उतने क्षेत्र के लिये भी शुद्ध अलंकारों का निरूपण करना अनुचित नहीं कहा जा सकेगा।

उपर्युक्त विवेचन जो जयरथ ने किया है, वह 'शोभाकर' के खण्डनार्थ किया है। इस सन्दर्भ में शोभाकर का मत बिलकुल भिन्न है। शोभाकर 'संसृष्टि' को मानते ही नहीं हैं। वे तो केवल 'संकर' को मानते हैं और उसे भी 'त्रिविध' न मानकर 'एक विध' ही मानते हैं।

शोभाकर का कहना है कि कोई भी अलंकार कभी भी एकाकी (अकेला) उपस्थित नहीं हुआ करता। उसके साथ 'वाच्य', आर्थ अथवा व्यंग्य एक या अनेक अलंकार सर्वदैव मिश्रित रहते हैं। इस तथ्य को मम्मट ने भी 'रसादिलक्षणस्तु व्यंग्योऽर्थः अलंकारान्तरं च सर्वत्र अव्यभिचारि...' कहते हुए स्वीकार किया है। शुद्ध अलंकार यदि कहीं दृष्टिगोचर हो भी जाँय तो उसमें कहने योग्य सौन्दर्य की प्रतीति न हो पाने से उसे 'काव्य' नहीं कहा जाता। यदि कहीं शुद्ध अलंकार को काव्य शब्द से कहा भी हो तो ऐसा स्थल विरलतम ही होगा। ऐसी परिस्थिति में 'अलंकारों के समप्राधान्य मिश्रण' स्वरूपवाली 'संसृष्टि' को अलंकार मान लिया जाय तो प्रायः सभी काव्य, 'संसृष्टि' और 'संकर' इन दो अलंकारों से ही व्याप्त हो जाएँगे। तब उपमा आदि अलंकारों के विवेचन को व्यर्थ कहना होगा या प्रस्तुत दो अलंकारों के प्रकारों में से ही 'उपमा' आदि सब अलंकारों को कहना होगा। (रत्नाकर—पृ० १९४, १९६)। अतः शोभाकर का कहना है कि 'उपमा' आदि अलंकार जब 'अंगी' (प्रधान) के रूप में होते हैं, तब उन्हें 'उपमा' आदि के नाम से कहा जाता हैं, और जब वे किसी अलंकार के अंग (उपकारक) के रूप में रहते हैं तब उन्हें 'संकर' के नाम से कहा जाता है। कहा भी है—'एते अङ्गित्वे अलंकाराः।... ...अङ्गत्वे तु संकरः'। (रत्नाकर, सूत्र ११०, ११२)

शोभाकर का कहना है कि एक वाक्य या श्लोक में परस्पर निरपेक्ष (असम्बद्ध) अनेक अलंकारों का उपस्थित होना असम्भव ही है। एक वाक्य में अनेक अलंकारों के होने पर 'वाक्य' की एकार्थता (एक प्रयोजनता) ही नष्ट हो जायगी और उसे 'असम्बद्ध प्रलाप' ही कहा जायगा। इस दोष के निरसनार्थ एक जगह आने वाले अनेक अलंकारों को परस्पर सम्बद्ध ही कहना होगा।

परस्पर सम्बन्ध मानने पर उनमें गुण–प्रधानभाव (अङ्गाङ्गिभाव) अर्थात् ही स्वीकार करना होगा। क्योंकि प्रधानों का प्रधानों से अप्रधानों का अप्रधानों से सम्बन्ध नहीं हुआ करता। 'गुणप्रधानभाव सम्बन्ध' जहाँ हो, वहाँ 'संकर' की उपस्थिति अनिवार्य ही है (रत्नाकर पृ० १९७–१९८)। अतएव शोभाकर अपना सन्तोष व्यक्त कर रहा है—

'तस्मात् समस्तविषयप्रतिबन्धकारे संसृष्टिसंकरयुगे दलिते विदूरम् ।
प्राधान्यतः स्वविषयं सुविशालमाप्य सर्वोऽप्यलंकृतिगणो रमतां चिराय' ॥

—(रत्नाकर पृ० २०१)

ऊपर निर्दिष्ट किये गये शोभाकरीय विचारों से निष्कर्ष यही निकला कि 'प्रधान का प्रधान के साथ तथा अप्रधान (गौण) का अप्रधान (गौण) के साथ सम्बन्ध कभी नहीं होता है। इस गृहीत धारणा के अनुसार देखने पर अङ्गागिभाव से परस्पर सम्बद्ध न रहने वाले अलंकारों का समुदाय' बताना तो असम्बद्ध प्रलाप ही कहा जायगा, शोभाकर का यह निश्चित मत है।

किन्तु उसके ये विचार चिन्तनीय प्रतीत हो रहे हैं। यदि अप्रधान का अप्रधान के साथ सम्बन्ध होना अशक्य हो तो काव्यगत 'रस' की दृष्टि से अप्रधानभूत अलंकारों का परस्पर 'अङ्गांगिभाव' सम्बन्ध का होना भी कैसे कहा जा सकेगा ? और अङ्गांगिभावात्मक सम्बन्ध के बिना शोभाकर का अभीष्ट 'संकर' कैसे सिद्ध हो पायगा ?

किञ्च—'लक्ष्यानुसारेण लक्षणम्'—न्याय से विचार करने पर यदि एक वाक्य या श्लोक में अङ्गांगिभाव से असम्बद्ध अनेक अलंकारों की उपलब्धि होने पर 'उन्हें' 'संसृष्टि' के सिवाय और क्या कहा जायगा ?

तथा अंगांगिभाव से सम्बद्ध अलंकारों में से अङ्गभूत अलंकारों को शोभाकर ने 'संकर' के नाम से कहा है, किन्तु वह भी विचारणीय है, क्योंकि 'संकर' शब्द से सूचित होने वाला 'संकीर्णता' धर्म, अनेक वस्तुओं पर समुच्चित रूप से रहता है, एक ही वस्तु पर नहीं रहता। एवं च शोभाकर के कथन में ये दोष प्रतीत हो रहे हैं।

अभी तक नवम एवं दशम दो उल्लासों में ६ शब्दालङ्कार और ५९ अर्थालंकार बताये गये हैं। उनमें से 'दो' या 'अधिक'—अलंकार जब एक जगह अर्थात् एक वाक्य अथवा एक श्लोक में स्वतन्त्र रूप से (परस्पर अधारानपेक्ष होकर) रहते हैं, तब यह 'संसृष्टि' नाम का अलंकार होता है। इस अलंकार का एक जगह रहना तीन प्रकार से हो सकता है—(१) केवल शब्दों में, अर्थात् अनेक शब्दालंकारों की

तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा—

संसृष्टि, (२) केवल अर्थों में अर्थात् अनेक अर्थालंकारों की संसृष्टि, (३) शब्द और अर्थ दोनों में अर्थात् एक या अनेक शब्दालंकार और एक या अनेक अर्थालंकारों की 'संसृष्टि'—ये ही तीन प्रकार हैं। इन सभी प्रकारों के स्वतन्त्र उदाहरण भी क्रमशः दिये गये हैं।

एवं च एक जगह उपस्थित हुए अलंकारों को 'संसृष्टि' शब्द से कहना अनुचित नहीं है। एक अधिकरण (आधार) पर अनेक वस्तुओं का एकत्रित होना ही तो 'संसृष्टि' कहलाती है।

वृत्तिकार ने 'समनन्तरम्' कहा है, अर्थात् 'न विद्यते अन्तरं यस्मिन् कर्मणि तद् यया स्यात् तथा, अनन्तरम्। सम्यक् अनन्तरं समनन्तरम्।' 'अन्तर' न छोड़ते हुए यानी 'तत्काल' (सटाकर)। लोक व्यवहार में भी 'समनन्तर' शब्द का प्रयोग, तभी किया जाता है, जब कि कोई बात अव्यवहित पूर्वक्षण या अव्यविहृत उत्तरक्षण में होती हैं।

इसी तरह वृत्तिकार ने 'एकार्थसमवायस्वभावा' भी कहा है। यहाँ पर 'समवाय' का अर्थ—'एकत्रित होना' है। नैयायिकों के परिभाषिक अर्थ में 'समवाय' शब्द का प्रयोग, यहाँ पर नहीं है।

किञ्च—मुद्रित काव्यप्रकाश की प्रतियों में 'एकार्थसमवायस्वभावा' दिया गया है, किन्तु उसकी जगह 'एवार्थसमवायस्वभावा' यह पाठ हस्तलिखित पोथियों के अनुसार ही दिमा जाना उचित प्रतीत हो रहा है।

हस्तलिखित पोथी के अनुसार 'पाठ' लेने पर 'सा एव अर्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः' पढ़ा जायगा। 'एक'—पद का विवक्षित अभिप्राय, 'समवाय' पद में गर्भित है, इसलिये 'एक' पद के देने से 'पुनरुक्ति' भी होगी। 'समवाय' शब्द का प्रयोग यहाँ 'एकत्रित' होने के अर्थ में किया गया है। वृत्तिगत 'एकत्र' पद को कारिकागत 'इह' पद की व्याख्या के रूप में व्याख्याकारों ने बताया है। किन्तु 'इह' पद, यहाँ पर केवल 'काव्ये' इस सामान्य अर्थ में प्रयुक्त है। 'एकत्र' शब्द का प्रयोग 'संसृष्टि' शब्द के अर्थ के कारण किया गया है अर्थात् 'संमृष्टि' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये किया गया है।

तत्र (१) शब्दालंकार संसृष्टिर्यथेति।

(१) अब 'शब्दालंकारों की 'संसृष्टि' का उदाहरण—माघकाव्य के छठे सर्ग का चौदहवाँ श्लोक—प्रस्तुत कर रहे हैं।

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥५६७॥

अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि बर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ ५६८ ॥

पूर्वत्र परस्परानिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टिं प्रयोजयतः उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे ।

ऋतु वर्णन के प्रसंग में भ्रमर से व्याकुल हुई किसी नायिका की क्रिया का वर्णन, कवि ने किया है—वदनसौरभेति ।

पद्मिनी नायिका के मुख की अद्भुत सुगन्धि के लोभ से उसके मुख पर मण्डराने वाले भ्रमरों (भौंरों) के आतंक से आकुल-व्याकुल होने के कारण (घबड़ाकर) अधिक सुन्दर लगनेवाली भ्रमर के भय से इतस्ततः भागने लगी, भागने के कारण केशपाश मुख पर बिखर जाने से अधिक चंचल नयना वह नायिका जिधर भी चली उधर ही उसकी करधनी की मधुर ध्वनि होने लगी ॥५६७॥

यहाँ पर पूर्वार्ध में 'म' कार तथा तृतीय चरण में 'ल' कार का अनेक बार प्रयोग करने से 'अनुप्रास' अलंकार है, और चतुर्थ चरण में 'लकलोलकलो' की आवृत्ति होने से 'यमक' अलंकार है ।

ये दोनों शब्दालंकार' एक ही 'श्लोक' में परस्पर निरपेक्ष होकर विद्यमान हैं । इसलिए यहाँ 'शब्दालंकारों' की 'संसृष्टि' हुई है ।

(२) अर्थालंकारसंसृष्टिस्त्विति । अर्थालंकारों की 'संसृष्टि' तो अधोलिखित उदाहरण में बता रहे है—

लिम्पतीति । सर्वत्र घना अन्धकार छाया हुआ है । ऐसा लग रहा है कि मानों वह (अन्धकार) सम्पूर्ण शरीर पर अंगराग लगा रहा हो, आकाश ऐसा लग रहा है, मानों अंजन की वर्षा ही कर रहा हो, प्राणिमात्र की दृष्टि, दुर्जन की सेवा के समान व्यर्थ हो रही हो ॥५६८॥

पूर्वत्रेति । पूर्व के उदाहरण 'वदनशौरभ०' में जो 'संसृष्टि' अलंकार हैं, वह परस्पर निरपेक्ष 'अनुप्रास'—(जैसे–'म' और 'ल' की आवृत्ति में) और 'यमक'—(जैसे 'कल मेखलाकलकलोऽलकलोलदृशा' में 'कलोलकलोल' इस तरह निरर्थक वर्णों के पुनः श्रवण में)—दोनों शब्दालंकारों के (काव्य के शब्दात्मक भाग में) एकत्र अवस्थिति के कारण 'संसृष्टि' हो गई है ।

शब्दार्थालङ्कारयोस्तु संसृष्टिः—

सो णात्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णं ।
तरूणाण हिअअलूँडि परिसक्कन्तीं णिबारेइ ॥ ५६९ ॥

(स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्याम् ।
तरुणानां हृदयलुण्टाकीं परिष्वक्कमाणां निबारयति ॥ ५६९ ॥)

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात् ।

(६१ 'संकर' संज्ञकः अलङ्कारः)

(२०८) अविश्रान्तिजुषामात्मव्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः ।

उत्तरत्रेति । दूसरे में जो संसृष्टि' है, बह 'उपमा'—(जैसे—'असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्बिफलतां गता' में) और 'उत्प्रेक्षा'—(जैसे—'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' में) इन दोनों अर्थालंकारों के परस्पर निरपेक्ष रहते हुए भी यहाँ (काव्य के अर्थात्मक भाग में) उनकी एकत्र अवस्थिति के कारण 'संसृण्टि' हो गई है ।

(३) शब्दार्थालंकारयोस्तु संसृष्टिरिति । शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों की संसृण्टि' का उदाहरण, जैसे—

'सो णात्थि एत्थेति । (स नास्त्यत्रेति—संस्कृतम्) ।

इस गाँव में क्या कोई भी ऐसा युवक पुरुष नहीं है, जो निखरते हुए सौन्दर्य वाली और युवकों के हृदय को अपने वश में कर लेने वाली सुन्दरी को अनुरूप रमण के न मिलने के कारण इधर-उधर दौड़ने से रोक सके ॥ ५६९ ॥

अत्रानुप्रास इति । यहाँ पूर्वार्धं में—'णात्थि एत्थ'—'त्थ' का अनुप्रास रूप शब्दालंकार तथा उत्तरार्ध में 'हि अअलूँडि'—(हृदयलुण्ठाकी) में 'रूपक' अलंकार दोनों परस्पर निरपेक्ष होकर अवस्थित हैं। उनके एक वाक्य में अथवा वाक्यैकवाक्यतापन्न पद्य में एकत्रित होने से 'संसृष्टि' हो गई है ।

"संसर्गश्च तयोरेकत्र"— इस वृत्ति में 'संसर्ग' का अर्थ—'संसृष्टि' है । वृत्तिकार का अभिप्राय यह है—अब्दालंकार का मुख्य आश्रय यद्यपि 'शब्द' है और अर्थालंकार का मुख्य आश्रय 'अर्थ' है, किन्तु 'एक वाक्य' अथवा 'एक छन्द' (पद्य) रूप 'एक आश्रय' में दोनों की स्थिति रहने से शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की भी एकत्र 'संसृष्टि' हुआ करती है ।

(६१—'संकर'-अलंकार)

एक वाक्य में अनेक अलंकारों के रहने पर 'संसृष्टि' तथा 'संकर' दो अलंकार

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात्संकरः ।

उदाहरणम्—

(द्वयोरलङ्कारयोः 'संकरः')

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटंकपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन्गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥ ५७० ॥

हुआ करते हैं । जहाँ अनेक अलंकार परस्पर 'निरपेक्ष' रहते हैं, वहां 'संसृष्टि' अलंकार होता है तथा जहाँ पर अनेक अलंकार परस्पर 'सापेक्ष' रहते हैं, वहाँ 'संकर' अलंकार होता है । इस संकरालंकार के तीन भेद हैं—(१) अङ्गाङ्गिभावसंकर, (२) सन्देहसंकर, (३) एकाश्रयानुप्रवेशसंकर—इन तीनों के सोदाहरण लक्षण बतावेंगे । अब ग्रन्थकार मम्मट 'अंगागिभावसंकर' का लक्षण बता रहे हैं—

(सूत्र २०८) अविश्रान्तिजुषामिति । परस्पर निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र रूप से जो अलंकार न बनते हों—इसी आशय को ग्रन्थकार मम्मट ने कहा हैं कि 'अपने स्वरूपमात्र में जिनकी विश्रान्ति न होती हो, उनका 'अङ्गांगिभाव' होने पर प्रथम प्रकार का 'संकर' होता है, जिसे 'अङ्गांगिभाव' संकर कहा गया है ।

एते एवेति । ये पूर्वोक्त अलंकार ही जहाँ अपने स्वरूपमात्र में 'स्वतन्त्ररूप से नहीं होते हैं, और परस्पर 'अनुग्राह्य—अनुग्राहकभाव' को प्राप्त हो जाते हैं, वहाँ इनका स्वरूप, एक दूसरे के साथ संकीर्ण हो जाता है, तब 'संकर अलंकार' कहा जाता है ।

उदाहरणम्—जैसे—

(१) आत्ते सीमन्तरत्ने इति । हे राजन् ! आपके भय से शत्रुओं की अंगनाएँ (स्त्रियाँ) जब वनों में भाग गईं, तब उनके मरकतमणिजटित शिरोभूषणों को बनबासी भीलों ने छीन लिया, क्योंकि सर्वप्रथम उन्हें शिरोभूषण दिखाई दिया । उसके बाद सुवर्ण-निर्मित ताटंक पत्रों (कर्ण भूषणों) को निकाल लिया । तदनन्तर उनकी करधनियों को तोड़ लिया । तदनन्तर मणि जटित 'तुलाकोटियुग्म' अर्थात् रत्नघटित पादकटकद्वय यानी 'नूपुरों' को निकाल लिया । इस प्रकार सिर से पैर तक के समस्त आभूषणों को भीलों ने छीन लिया, किन्तु उन स्त्रियों के मुख नम्र होने के कारण कुन्दरु के तुल्य लाल-लाल (रक्तवर्ण) होठों की कान्ति से लाल-लाल हो रहे 'शुभ्र

अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतं तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमितमित्यनयोरङ्गाङ्गिभावः।

यथा वा—

('बहूनामप्यलङ्काराणां 'संकर')

जटाभाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः।
परिप्रेंखत्तारापरिकरकपालाङ्कितवले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥ ५७१ ॥

मोतियों' के हारों को 'गुञ्जाफलों'—(घुँघुचियों) की मालाएँ समझ कर उन्हें भीलों ने नहीं छीना ॥ ५७० ॥

अत्र तद्गुणमिति। यहाँ पर बिम्बोष्ठ की कान्ति से 'श्वेत मुक्ताहार' भी रक्त वर्ण का (लाल-लाल) प्रतीत हो रहा है—इसलिये यह 'तद्गुण' अलंकार है। उस 'तद्गुण' के कारण 'मुक्ताहारों' में गुञ्जा मालाओं की भ्रान्ति हो जाने से 'भ्रान्तिमान्' अलंकार भी हो गया है, उस कारण 'तद्गुण' अलंकार, सहृदय रसिकों के लिये अधिक चमत्कार-जनक हो गया है। अतः तद्गुण और भ्रान्तिमान् दोनों परस्पर उपकारक होने से उनका यहां पर "अंगांगिभावसंकर" है। यहां पर 'तद्गुण'—अंग है, और 'भ्रान्तिमान्' 'अंगी' है।

प्रदीप और उद्योत में भी यही आशय व्यक्त किया गया है। तथाहि—"अत्र बिम्बौष्ठकान्त्या शोणमिति तद्गुणमपेक्ष्य 'गुञ्जाफलानां स्रजः' इति भ्रान्तिमान् आत्मानं लभते, तद्गुणोऽप्यत्र न स्वातन्त्र्येण चमत्कार-विशेषं करोति, किन्तु भ्रान्तिमदपेक्षयैवेति परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावः"—इति प्रदीपः। आत्मानं लभते इति। अधरसान्निध्यासादितारुण्यविशिष्टमुक्ताफलानां दर्शनेन गुञ्जास्मरणात् भ्रान्तिर्भवतीति भावः। भ्रान्तिमदपेक्षयेति। तन्निर्वाहकत्वेनेति भावः। एतच्च प्रकृताभिप्रायेण, अन्यत्र तस्य स्वातन्त्र्येणापि चमत्कारित्वात् इति उद्योतः।

इस प्रकार से अभी तक दो अलंकारों के संकर का उदाहरण प्रदर्शित किया गया। अब अनेक अलंकारों के संकर का उदाहरण दे रहे हैं—

यथा वेति। अथवा बहुत से अलंकारों के संकर का उदाहरण, जैसे—

(२) जटाभिर्भाभिरिति। यहाँ 'इत्थंभूतलक्षणे'—(२।३।२१ पा० सू०) सूत्र से 'उपलक्षण' में तृतीया है। यहां पर चन्द्र में योगिधर्म का आरोप किया गया है। उक्त श्लोक में अन्वय इस प्रकार होगा—'शशी चन्द्रः पितृवने श्मशाने एव व्योम्नि

आकाशे चरति। कीदृशः चन्द्रः ? जटाभाभिः जटातुल्याभिः पिङ्गाभिः भाभिः कान्तिभिः उपलक्षितः चन्द्रः। योगियों की जटाओं के समान पीत या श्वेत वर्ण की किरणों (कर = किरण) से उपलक्षित, (इस अंश में उपमालंकार है) 'करधृतकलंकाक्षवलयः'—हाथ में (कर में) कलङ्करूप रुद्राक्ष माला को धारण किया हुआ (यहाँ कलंकरूप अक्षवलय में रूपकालंकार है) 'वियोगिव्यापत्तेः इव'—यहाँ उत्प्रेक्षालंकार है। वियोगियों के नाश के कारण कलित-वैराग्य-विशदः—जिसे वैराग्य हो गया है, अर्थात् विषयों के प्रति अनुराग (प्रेम—आसक्ति) नहीं है। चन्द्रमा का उदय होने के पश्चात् उदयकालीन लौहित्य के अभाव के कारण शुभ्र = श्वेत (सफेद), दूसरे पक्ष में निर्मल हृदय से युक्त हुआ सा—(इस अंश में श्लेषानुप्राणित उत्प्रेक्षालंकार है), 'परिप्रेंखत्तारापरिकरकपालांकिततले'—चञ्चल तारासमूहरूप कपालों से अर्थात् कपाल की अस्थियों (हड्डियों) से जिसका तल व्याप्त हो रहा है—इस प्रकार के श्मशानसदृश (पितृवनइव)—(इस अंश में उपमालंकार है), आकाश में भस्म के समान शुभ्र अथवा भस्म से धूसरित होने के कारण शुभ्र योगी जैसा कापालिकरूप चन्द्रमा घूम रहा है।

उक्त श्लोक (जटाभाभिर्भाभिः) का अर्थ—चन्द्र के पक्ष में तथा योगी के पक्ष में अर्थात् दोनों को बताता है।

इस श्लोक में अनेक अलंकारों का संकर दृष्टिगोचर हो रहा है। मुख्यतया इस पद्य में 'रूपकालंकार' का आश्रय लेकर रात्रि के आकाश मण्डल में घूमने वाले चन्द्रमा का वर्णन कवि ने किया है। यहां पर कवि ने चन्द्रमा को 'योगी' (कापालिक) का रूप देकर 'रूपकालंकार' का प्रयोग किया है। सांगरूपक के द्वारा यह वर्णन किया है। तथाहि—

(१) 'चन्द्रमा'—कापालिक अथवा योगी है।

(२) उसकी पीत या श्वेत वर्ण की किरणें योगी की जटाएँ हैं।

(३) चन्द्रमा का भस्म के समान जो शुभ्र वर्ण है, उससे यह लग रहा है मानों कापालिक या योगी, भस्म-धूसरित होने से 'शुभ्र' हो गया है।

(४) कापालिक या योगी, श्मशान में घूमा करता है, चन्द्रमा गगन (आकाश) में घूम रहा है, इसलिए आकाश को श्मशान के समान कहा गया है।

(५) श्मशान में कोयले, हड्डियां बिखरी रहती हैं, आकाश में भी बिखरे हुए तारे, अस्थि-समूह के समान दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

(६) कापालिक या योगी रुद्राक्ष की माला पहनता है, चन्द्रमा का कलङ्क ही रुद्राक्ष का वलय हैं।

उपमा रूपकम् उत्प्रेक्षा श्लेश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते । कलङ्क एवाक्षवलयमिति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलङ्करूपम् अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽवगम्यते तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः । श्लेषच्छायया तु कलंकस्य करधारणमसदेव प्रत्यासत्त्या उपचर्य योज्यते शशांकेन केवलं कलंकस्य मूर्त्यैव उद्वहनात् । कलङ्कोऽक्षवलयमिवेति तु उपमायां कलङ्कस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः । न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात् । एवं रूपश्च संकरः शब्दालङ्कारयोरपि परिदृश्यते ।

---

(७) योगी किसी अप्रिय घटना से विरक्त होकर योग साधना को अपनाता है, चन्द्रमा ने भी वियोगियों के कष्टों को देखकर वैराग्य अपना लिया है । इस प्रकार कवि ने चन्द्रमा को 'योगी' मानकर सांगरूपक द्वारा उसका सुचारुतया वर्णन किया है ।

यहाँ पर मुख्यतया तो 'रूपक अलंकार' है, और उसके साथ-साथ (१) 'वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः'—मानो वियोगियों के दुःख से वैराग्य को अपना लिया है, इस अंश में 'उत्प्रेक्षा' है ।

(२) 'पितृंवन इव व्योम्नि'—इस अंश में 'उपमा' है ।

(३) 'भस्मपाण्डुः', 'वैराग्यविशदः' के 'विशद' पद में श्लेषालंकार है।

एवंच 'रूपक', 'उत्प्रेक्षा', 'उपमा' और श्लेष—इन चारों का परस्पर 'अंगांगिभाव संकर है । अतः अनेक अलंकारों के संकर का यह उदाहरण है ।

विवरणकार का कहना है कि इस 'जटाभाभिर्भाभिः—(दश० उ० श्लो० ५७१) श्लोक में 'समासोक्ति' अलंकार 'प्रमुख' है, क्योंकि 'चन्द्रमा' में 'योगी' के व्यवहार की प्रतीति विशेषणों की समानता के कारण हो रही हैं । 'समासोक्ति' की प्रतीति उसकी स्पष्टता से ही हो जाती है, इसलिए ग्रन्थकार मम्मट ने उसका उल्लेख नहीं किया है ।

वस्तुतः 'व्योम्नि' और 'भाभिः' ये विशेषण 'योगी' में संभव न होने से यहाँ पर 'समासोक्ति' है ही नहीं ।

किञ्च 'करधृतकलंकाक्षवलयः' में 'रूपकालंकार' का स्वीकार सभी ने किया है।

शंका—किन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित हो सकता हैकि 'मयूरव्यंसकादयश्च' (पा० सू० २।१।७२) सूत्र से 'कलंक एव अक्षवलयः'—ऐसा समास करने पर 'रूपक' होता है । परन्तु यहाँ पर 'ऊपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे'—

(पा० सू० २।१।५६) उपमितं उपमेयं व्याघ्रादिभिः व्याघ्रादिगणपठितैः शब्दैः सह समस्येत सामान्यप्रयोगे साधारणधर्मस्य अप्रयोगे सति, इति सूत्रार्थः जैसे—'पुरुषो व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः'। उसीतरह 'कलंकः अक्षवलयइव इति कलंकाक्षवलयः'—ऐसा 'उपमित समास भी कर सकते हैं, तब यहाँ 'उपमालंकार' बन जायगा। एवंच 'उपमा' तथा 'रूपक' दोनों अलंकारों के रहने से यहाँ 'संदेह संकर' का स्वीकार किया जा सकता है। 'रूपक' की स्पष्टतया प्रतीति नहीं हो रही है। इसलिए यहाँ पर 'रूपक' को नहीं मान सकते।

समाधान—ग्रन्थकार मम्मट ने उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि जहाँ किसी विशेष अलंकार के पक्ष में कोई साधक अथवा बाधक हेतु उपलब्ध नहीं रहता, वहाँ पर ही 'संदेहअलंकार' होता है। प्रस्तुत में साधक-बाधक प्रमाणों का अभाव नहीं है, अपितु 'रूपकालंकार' के मानने में 'साधक प्रमाण' एवं उपमालंकार के न मानने में 'बाधक प्रमाण' उपलब्ध हो रहा है। अतः यहाँ रूपक-उपमा' का सन्देह संकर न मानकर 'रूपकालंकार' को ही निश्चित किया गया है।

कलंक एवाक्षवलयमिति। 'कलंक ही अक्षवलय'—में 'रूपक' को यदि स्वीकार करते हैं तो 'करधृतत्व' को ही उसका साधक प्रमाण कहना होगा, क्योंकि हाथ में ही 'अक्षवलय' को लिया जाता है। अतः 'कलंक एव अक्षवलयः' इस प्रकार रूपक मानने पर ही 'कलंक' को 'करधृत' कहा जा सकता है। 'उपमा' के मानने पर 'कलंक' को 'करधृत' नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए यहाँ पर 'रूपकालंकार' को मानना ही उचित है। 'कलंकाक्षवलय' को 'रूपक' मानने पर 'चन्द्रमा' के कलंकरूप को तिरोहित (दबा) कर 'करधृतत्व' के कारण 'अक्षवलय' की ही मुख्यरूप से प्रतीति होती है। तस्यैवेति।क्योंकि उस 'अक्षवलय' की ही हाथ (कर) में लेने की योग्यता सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'कलंक' को हाथ से पकड़ नहीं सकते। इसलिए 'कलंक' को हाथ (कर) से पकड़ना (धारण करना) वस्तुतः 'सत्' न होने पर भी 'कर' का दूसरा अर्थ 'किरण' भी होता है, उसकारण 'श्लेष' की सहायता (छाया) से 'कलंक' के आधारभूत 'चन्द्रमा' की उसकी अपनी 'किरणों' के साथ सम्बन्धरूप 'प्रत्यासत्ति' होने से 'उपचार' (गौणीवृत्ति) संगत हो जाता है, क्योंकि 'कलंक' को चन्द्रमा केवल अपने शरीर में धारण करता है, 'कर' से नहीं। यहाँ तक 'रूपक' की साधक युक्ति को बताया है।

अब 'उपमा' के बाधक हेतु (युक्ति) को बता रेहे हैं—कलंकः अक्षवलयमिवेति। कलंक अक्षवलय के समान' इस 'उपमित समास' के दृष्टिकोण से 'उपमा' को स्वीकार करने पर 'अक्षयवलय' की प्रतीति ,मुख्यतया' न होकर 'कलंक को ही मुख्यतया (उत्कटतया) प्रतीति होगी किन्तु उस 'कलंक' में वस्तुतः (तत्त्वतः) 'करधृतत्व' नहीं है, वह तो चन्द्रमा के शरीर में है। इसलिए 'कलंक' के 'करधृतत्व'

को सिद्ध करने के लिए अर्थात् प्रधान (मुख्य) में भी 'उपचार' (गौणीवृत्ति) की ही सहायता लेनी पड़ेगी। उसकारण 'उपमा' को यहाँ पर नहीं मान सकते।

उपर्युक्त विवेचन में ग्रन्थकार ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'कलंक एव अक्षवलयं'—इस 'रूपक' को स्वीकार करने पर 'अक्षवलय' की मुख्यतया प्रतीति होती है। उसके भीतर 'कलंक' गौण-सा होकर तिरोहित-सा हो जाता है। 'अक्षवलय' मुख्य 'विशेष्य' हो जाता है और 'करधृतत्व' उसका विशेषण हो जाता है। लक्षणा किये बिना ही 'अक्षवलय' में 'करधृतत्व' साक्षात् संगत हो जाता है और 'रूपक' मानने पर 'कलंक' रूप जो 'अप्रधान अर्थ' है,उसमें 'करधृतत्व' (हाथ में ग्रहण करना) साक्षात् संगत नहीं हो पाता। अतः 'कर' का अर्थ—'किरण' मानने पर उन 'किरणों' का 'कलंक' के आधारभूत 'चन्द्रमण्डल' के साथ सम्बन्ध बन जाता है। उसकारण उस प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) के द्वारा 'लक्षणा' से 'कलंक' में भी औपचारिक (लाक्षणिक) 'करधृतत्व' संगत हो जाता है—इस पक्ष में 'उपचार' का अभिप्राय 'अक्षवलय' रूप मुख्यार्थ में न होकर 'कलंक' रूप 'अमुख्यार्थ' में समझना चाहिए। क्योंकि 'अक्षवलय' रूप 'मुख्यार्थ' में 'करधृतत्व' रूप 'विशेषण' की संगति, बिना लक्षणा के ही उपपन्न हो जाती है। 'गुणेत्वन्याय्यकल्पना'—इस नियम के अनुसार अमुख्यार्थ में 'अन्याय्य-कल्पना' अर्थात् 'लक्षणा' का स्वीकार करने में दोष नहीं माना जाता, लेकिन 'मुख्यार्थ' में 'लक्षणा' की कल्पना करने पर, वह 'दोषाधायक' समझी जाती है।

उपमा के पक्ष में 'कलंकः अक्षवलयमिव इति कलंकाक्षवलयम्' कहने पर 'कलंक' मुख्यार्थ रहता है, उसमें 'करधृतत्व' की साक्षात् संगति नहीं बन पाती, अपितु 'लक्षणा' से ही 'करधृतत्व' की संगति हो पाती है। इसलिए अमुख्यार्थ में लक्षणा को न कर मुख्यार्थ में 'लक्षणा' रूप 'अन्याय्यकल्पना' का आश्रय करना पड़ता है, किन्तु मुख्यार्थ में लक्षणा करना उचित नहीं है—उसकारण 'उपमा' के मानने में बाधक युक्ति के होने से यहाँ पर 'उपमा' को नहीं मान सकते। किन्तु 'रूपक' के मानने में 'साधक युक्ति' उपलब्ध होती है, उसकारण यहाँ पर 'रूपक' मानना ही योग्य प्रतीत हो रहा है—यही मम्मट का अभिप्राय है।

'अलंकार-सर्वस्व' कार रुय्यक का कहना है कि 'शब्दालंकारों' में परस्पर 'उपकार्योपकारकभाव' नहीं बनता है, इसलिए दो या उससे अधिक शब्दालंकारों में 'अंगागिभाव संकर' नहीं होता है अपितु वहाँ 'संसृष्टि' ही होती है, किन्तु काव्य-प्रकाशकार मम्मट का कहना है कि 'दो या उससे अधिक शब्दालंकारों में भी 'उपकार्योपकारकभाव' का स्वीकार कर 'अंगांगिभावरूप संकर' होता है—इसी आशय को ग्रन्थकार मम्मट व्यक्त कर रहे हैं—

यथा—

राजति तटीयमभिहतदानवरासाऽतिपातिसारावनदा ।
गजता च यूथमविरतदानवरा साऽतिपाति सारा वनदा ॥ ५७२ ॥

अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे ।

'एवं रूपश्च संकर' इति । इस प्रकार का 'अंगांगिभावरूप संकर' दो या उससे अधिक 'शब्दालंकारों' में भी दृष्टिगोचर होता है । यथेति । जैसे—राजति तटीयमिति । इस उदाहरण में दो शब्दालंकारों का भी अंगांगिभावरूप संकर बताया गया है । यही वह 'तटी' = पर्वतभूमि है, जो 'अभिहतदानवरासा'—अभिहतः अभिघातं प्राप्तः, दानवानां दनुजानां दैत्यानां रासः क्रीडा सिंहनादशब्दो वा यस्यां सा = 'अभिहत दानवरासा'—दैत्यों की कीडा से अथवा सिंहनाद से प्रतिध्वनित, अथवा, 'अतिपातिसारावनदा'—अतिपाती शीघ्रगामी साराश्च, आरावेण शब्देन सहितश्च नदः अम्बुप्रवाहः यस्यां सा = 'अतिपातिसारावनदा'—चञ्चल तथा ध्वनिमुखर जल-प्रवाह से भरी है जिसमें, 'अविरतदानवरा'—अविरतेन सन्ततेन दानेन मदजलेन वरा श्रेष्ठा='अविरतदानवरा' = निरन्तर प्रवाहित होनेवाले मदजल से सुशोभित, 'सारा' = बलिष्ठा अर्थात् बलशाली, तथा 'वनदा'—वनं द्यति खण्डयतीति वनदा, वनखण्डिकेत्यर्थः । 'दो अवखण्डने' इति दैवादिको धातुः । वनों को तहस-नहस करनेवाली, ऐसी वह प्रसिद्ध गजता = गजसमूहः = हाथियों की टोलियाँ (यूथ), 'यूथम्' = अपने अपने टोलियों (झुण्डों) की, 'अतिपाति'—अतिशयं रक्षति = अत्यन्त सावधानी से रक्षा करती घूम रही है ॥५७२॥

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि रुय्यक प्राचीन है और मम्मट अर्वाचीन है, किन्तु इस भ्रम का निवारण, काव्यप्रकाश के चौथे उल्लास की कारिका—

'अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवोद्विधा' ॥

से हो जाता है, क्योंकि रुय्यक ने श्लेषालंकार का निरूपण करते हुए अपने ग्रन्थ 'अलंकारसर्वस्व' में उक्त कारिका को उद्धृत किया है । उपर्युक्त आर्यागीति 'राजति तटीयमभिहत' के द्वितीय एवं चतुर्थपाद में 'यमक' है और अक्षरों का 'अनुलोम' उच्चारण एवं प्रतिलोम उच्चारण से 'चित्रभेद' भी है । ये दोनों 'दो पादों' में हैं । तथा परस्पर सापेक्ष भी हैं । 'दा, न, व, रा, सा, ति, पा, ति, सा, रा, व, न, दा—इन अक्षरों को अनुलोम तथा प्रतिलोम पढ़ने पर 'यमक' भी बनता है और 'अनुलोम-प्रतिलोम' नामक 'चित्र' अलंकार भी बनता है । 'यमक' और 'चित्र' में परस्पर सापेक्षता का होना ही इसकी विशेषता है ।

('संकरस्य' द्वितीयः प्रकारः-'सन्देहरूपः' संकरः)

(२०९) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥१४०॥

द्वयोर्बहूनां वा अलंकाराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधान्न यत्र युगपदवस्थानम् न चैकतरस्य परिग्रहे साधकम् तदितरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति। येनैकतर एव परिगृह्येत स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः समुच्चयेन संकरस्यैवाक्षेपात् उदाहरणम्—

जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्मलच्छाओ।
तह किं विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिही ण किओ ॥ ५७३ ॥

(यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ॥ ५७३ ॥)

(२ सन्देह संकर)

(सूत्र २०९) एकस्य च ग्रहे इति। 'अनिश्चयात्मक संदेह संकर' में दो अलंकारों में से किसी एक अलंकार के मानने में कोई साधक प्रमाण (न्याय) या बाधक प्रमाण (दोष) नहीं है। इसलिए निश्चय नहीं हो पाता है कि कौन सा अलंकार माना जाय ? अतः इसे 'सन्देह संकर' कहा करते हैं ॥१४०॥

द्वयो र्बहूनां वेति। उपर्युक्त आशय को ही ग्रन्थकार मम्मट अब वृत्ति में बता रहें हैं—दो या बहुत से अलंकारों का एक जगह समावेश करने पर भी 'अहि-नकुल' या 'छाया-आतप' के समान उनका आपस में विरोध होने से उन अलंकारों का एक साथ रहना संभव नहीं हो सकता और न उनमें से किसी एक को स्वीकारने में साधक प्रमाण है, अथवा उनमें से किसी दूसरे को हटाने के लिए बाधक प्रमाण भी नहीं है। जिससे किसी एक अलंकार को ही स्वीकार किया जाय। इसे निश्चयाभावरूप 'सन्देह संकर' के नाम से दूसरे प्रकार का संकर बताया गया है। क्योंकि सूत्रगत समुच्चयार्थक 'च' शब्द से पूर्व सूत्र में स्थित 'संकर' की ही अनुवृत्ति होती है अर्थात् 'संकर' का ही आक्षेप होता है। और आक्षेप होने से ही अनिश्चय अर्थात् 'सन्देह संकर' नामका अलंकार हो जाता है। उसका उदाहरण, जैसे—

(१) जह गहिरोजह—(यथा गभीरो यथेति) 'समुद्र'—जैसा गम्भीर है, जैसा विपुल रत्नों से परिपूर्ण है, और जैसा निर्मल कन्ति से युक्त है, उस समुद्र को विधाता ने वैसा स्वादिष्ठ जलवाला क्यों नहीं बनाय ? ॥५७३॥

अत्रेति। यहाँ पर (१) 'समुद्र'—प्रस्तुत है। और 'पुरुष' अप्रस्तुत है। किन्तु दोनों के 'विशेषण' समान है। विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत 'पुरुष' रूप

अत्र समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः किमब्धेरप्रस्तुतस्य सुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति सन्देहः। यथा वा—

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः ॥ ५७४ ॥

अत्र किं कामस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम् उत वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः किं वा एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम् अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम् अथवा तुल्ययोगिता किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः आहोस्विन्मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा इति बहूनां सन्देहादयमेव संकरः।

'अर्थ' की भी प्रतीति हो रही है, अतः सन्देह होता है कि 'क्या यहाँ पर 'समासोक्ति' अलंकार है, या (२) अप्रस्तुत अर्थ-(समुद्र) के द्वारा समुद्र के समान गांभीर्यादि गुणों से युक्त किसी प्रस्तुत (पुरुष) की प्रतीति होने से यहाँ पर 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार है ? यह 'सन्देह संकर' है।

इस प्रकार दो अलंकारों के 'सन्देह संकर' का यह उदाहरण दिया गया है।

अब दो से अधिक अलंकारों के 'सन्देह संकर' का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यथा वेति। अथवा जैसे—

(२) नयनानन्ददायीति। नयनयोः आनन्दं ददातीति—नयनानन्ददायि अर्थात् नयनानन्दशील अर्थात् नेत्रों को सुख पहुँचानेवाला यह चन्द्रबिम्ब चमक (प्रकाशित) हो रहा है, किन्तु समस्त दिशाओं को आच्छादित करनेवाला (निरुद्धा आशा येन तत्-निरुद्धाशम्) 'इन्दं तमः'-यह अन्धकार अभी भी नष्ट (विशीर्ण) नहीं हो रहा है॥५७४॥

'मुख' के पक्ष में 'आशा' = अभिलाष और 'तम = बिरहजन्यकिंकर्तव्यमूढता—यह अर्थ समझना चाहिए।

अत्रेति। यहाँ पर (१) क्या यह कामोद्दीपक (कामवासना को उद्दीप्त करनेवाला) समय है ? अर्थात् 'कामोद्दीपकोऽयं कालः'—यह न कहकर उसे ही प्रकारान्तर से (अन्य ढंग से) अर्थात् 'अस्मिन् काले चन्द्रबिम्बं नयनानन्ददायि'-वाक्य से कह दिया। क्योंकि 'चन्द्रबिम्बवत्त्वं कामोद्दीपकत्वनियतम्' हुआ करता है। अतः दो में से किसी एक के कहने पर अन्यतर की प्रतीति हो जाती है। अभिप्राय यह है कि वह समय उपस्थित हो गया है, जिसमें 'काम' उत्तेजित हुआ करता है—इस व्यंग्यार्थ को वैचित्र्य पूर्वक कहा गया है। इसलिए अभिधा के द्वारा नयनानन्द इत्यादि भिन्न शैली से कहने पर क्या इसे 'पर्यायोक्त' अलंकार समझना चाहिए ?

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः। न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकुलता, तत्र—

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ॥ ५७५ ॥

---

(२) अथवा 'मुखरूपप्रकृत' का अप्रकृत चन्द्रबिम्ब के रूप में निश्चय करने के कारण यहाँ पर 'अतिशयोक्ति' अलंकार समझना चाहिए।

(३) अथवा 'एतत्'—इस सर्वनाम से 'मुख' (वक्त्र) रूप उपमेय का निर्देश करके उसपर चन्द्र (इन्दु) रूप उपमान का आरोप किया गया है, उसकारण क्या इसे 'रूपक' कहें ?

(४) अथवा 'एतत्' (मुख) और 'इन्दुबिम्ब' (चन्द्रबिम्ब) इन दोनों का 'समुच्चय' होने से 'क्रिया दीपक कहें ? परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों की एक साथ स्थिति (रहने) को 'समुच्चय' कहते हैं। जैसे—'इन्दुबिम्बं प्रसीदति, एतद् वक्त्रं च प्रसीदति'।

(५) अथवा 'मुख और चन्द्रबिम्ब' दोनों के प्रकृत अथवा अप्रकृत होने से औपम्य का आक्षेप होने पर 'तुल्ययोगित' कहें ?

(६) अथवा 'प्रदोष' का समय है, 'चन्द्र' प्रस्तुत है, और आनन्ददायकाबादि विशेषणों की समानता के कारण अप्रकृत 'मुख' की प्रतीति हो रही है, उसकारण क्या 'समासोक्ति' कहें ?

(७) अथवा (आहोस्वित्) प्रस्तुत 'मुख' की निर्मलता का वर्णन करते समय 'अप्रस्तुत चन्द्रबिम्ब' का कथन करने से क्या 'अप्रस्तुतप्रशंसा' कहें ? इस तरह अनेक अलंकारों का सन्देह होने से यह भी 'संदेह संकर' ही है।

यत्रत्विति। जहाँ किसी एक अलंकार का निश्चय करने में 'न्याय' (साधक प्रमाण) अथवा 'दोष' (बाधकप्रमाण) उपलब्ध होता है, वहाँ सन्देह (संशय) न होकर किसी एक अलंकार का निश्चय हो जाता है, उसकारण वहाँ पर 'संकर अलंकार' नहीं माना जाता। न्यायश्चेति। यहाँ पर सूत्रगत 'न्याय' शब्द 'साधकत्व (अनुकूलता) का और सूत्रगत 'दोष' शब्द—'बाधकत्व' (प्रतिकूलता) का बोधक है।

तत्रेति। उनमें से साधक प्रमाण के विद्यमान रहने पर 'सन्देह' नहीं रहता। अतः 'साधक प्रमाण' का उदाहरण दे रहे हैं—

'सौभाग्यं वितनोती'ति। चन्द्रिका (चांदनी), 'चन्द्रमा' की सुन्दरता को जैसे वृद्धिगत करती हैं (बढ़ाती है), वैसे ही 'हासद्युति', (हास शोभा) चन्द्रसदृश मुख के सौन्दर्य को बढ़ाती है ॥ ५७५ ॥

यहाँ 'सन्देह' का अभाव है अर्थात् कोई किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो रहा है।

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम् शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥ ५७६ ॥

इत्यत्र मुख्यतयेति। यहाँ पर विशेषणभूत 'हासद्युति' (हासशोभा) की प्रतीति 'मुख्यतया' (स्वरसतः) हो रही है, किसी 'उपचार' (लक्षणा) आदि से नहीं। अर्थात् यहां पर 'हासद्युति' मुख के ही अनुकूल है इसलिये वह 'वक्त्रं शशीव'—इस 'उपमा' की साधिका का है। अतः वह 'वक्त्रमेव शशी'—इस 'रूपक' की बाधिका नहीं है, क्योंकि 'चन्द्रमा' के प्रति उसकी (हासद्युति की) वैसी प्रतिकूलता नहीं है।

शंका०—जहां किसी एक पक्ष में साधक प्रमाण या बाधक प्रमाण उपलब्ध होता है, तो वह (एक ही प्रमाण) एक का साधक (अनुकूल) और दूसरे का बाधक (प्रतिकूल) हो सकता है। जो प्रमाण एक का बाधक है, वह स्वयं ही दूसरे का साधक हो जाता है, अथवा जो प्रमाण, किसी एक का साधक है, वह स्वयं ही दूसरे का बाधक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में दोनों को अलग-अलग कहने की और उनके उदाहरण देने की क्या आवश्यकता है ?

समा०—उक्त शंका का समाधान मम्मट ने यह किया है कि यद्यपि एक का साधक अर्थतः दूसरे का बाधक हो सकता है, अथवा एक का बाधक अर्थात् दूसरे का साधक हो सकता है, तथापि उन दोनों प्रमाणों के स्वरूप में भेद अवश्य हुआ करता है। साधक प्रमाण में साधक अंश की प्रधानता रहती है, और बाधक प्रमाण में बाधक अंश की प्रधानता रहती है। दूसरे कार्यं को ये गौण रूप से (अर्थापत्ति से) ही करते हैं। इसलिये उन दोनों के उदाहरणों को अलग-अलग बताया गया है।

उपर्युक्त श्लोक में 'हासद्युति' का समन्वय, 'मुख' के साथ जैसा अनुकूल बैठता है, वैसा चन्द्रमा के विपरीत नहीं बैठता है। उस कारण उसे 'मुख' का 'साधक प्रमाण' ही कहा जा सकता है।

उसे 'चन्द्रमा' का बाधक प्रमाण नहीं कह सकते। अतः 'हासद्युतिः'—यह पद, "वक्त्र शशिनः' पद में 'वक्त्रं शशीव'—इस उपमा का साधक है, 'वक्त्रमेव शशी'—इस रूपक का बाधक नहीं है। इसलिये इसे साधक प्रमाण का ही उदाहरण समझना चाहिये।

वक्त्रेन्दौ इति। तुम्हारे मुखचन्द्र के विद्यमान रहते यह जो दूसरा चन्द्रमा उदित हो रहा है; वह व्यर्थ ही है ॥ ५७६ ॥

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते न तूपमाया बाधकताम् ।

इत्यत्राऽपरत्वमिति । यहाँ पर 'अपरः' शब्द का प्रयोग 'चन्द्रमा' के अनुकूल है, अर्थात् 'वक्त्रमेव इन्दुः = वक्त्रेन्दुः'—इस प्रकार का 'मयूरव्यंसकादयश्च'—सूत्र से समास करके 'रूपक' मानने में साधक (अनुकूल) है तथापि 'उपमा' का बाधक नहीं है, अर्थात् 'वक्त्रम् इन्दुरिव'—इस प्रकार 'उपमित' समास करके 'उपमा' मानने में उतना प्रतिकूल नहीं है । इसलिये इसे 'रूपक' का साधक कहा गया है, 'उपमा' का बाधक नहीं बताया है ।

'रत्नावली' नाटिका ३।१३ के तीसरे चरण में 'राजा उदयन, 'वासवदन्ता' को सागरिका समझकर उसके मुख की सुन्दरता को बता रहा है—'तेरे मुखचन्द्र के रहते आकाशमण्डल में यह जो दूसरा चन्द्र उदित हो रहा है, क्या वह, तेरा मुखचन्द्र 'कमल' की शोभा को नष्ट नहीं कर पा रहा है, इसलिए उदित हो रहा है ? अथवा देखनेवालों के नेत्रों को सुख नहीं पहुँचा पा रहा है, इसलिए उदित हो रहा है ? अथवा तेरे मुख-चन्द्र को देखते ही दर्शक की प्रणयभावना को उद्दीप्त नहीं कर पा रहा है, इसलिए उदित हो रहा है ? अथवा अपने पास 'अमृत' रहने का गर्व नहीं कर पायेगा क्योंकि तेरे 'होठों' में ही अमृत है, उसकारण क्या वह उदिस हो रहा है ? राजा के कहने का अभिप्राय यह है कि आकाश के चन्द्र में जो गुण हैं, वे 'सभी गुण' पृथ्वीपर स्थित सागरिका के मुखचन्द्र में विद्यमान हैं । अतः आकाशीय चन्द्रमा की अब कोई आवश्यकता ही नहीं है ।

इस उदाहरण में जो 'अपरः' पद है, उसे 'शीतांशुः' का विशेषण बनाकर उसका प्रयोग किया गया है । उससे यह स्पष्ट होता है कि 'वक्त्रेन्दु'—यह समस्त पद 'रूपकगर्भ' है । किञ्च—एकचन्द्र, यदि पूर्वसिद्ध हो, तभी 'दूसराचन्द्र'—यह कथन करना सम्भवनीय हो सकता है । इसलिए 'एकचन्द्र' की पूर्वसिद्धि के लिए 'वक्त्रेन्दु' पद में 'चन्द्र' को प्राधाम्य देनेवाला 'रूपकसमास' करना ही उचित प्रतीत होता है ।

'वक्त्रेन्दु' पद में यदि 'उपमासमास' करेंगे तो प्रधानता (प्राधान्य) 'उपमेय' की होगी अर्थात् 'मुख' की होगी, किन्तु 'मुख' की दृष्टि से 'आकाशीय चन्द्र' को 'दूसरा चन्द्र' कहना सम्भव न हो सकने से 'अपरः' पद की विशेषणता उपपन्न नहीं हो सकेगी । अतः 'अपरः' पद, 'वक्त्रेन्दौ' पद में 'रूपक' का साधक है । 'वक्त्रेन्दु' पद में 'उपमा' का स्वीकार करने अथवा न करने में वह उदासीन है ।

इस प्रकार 'वक्त्रशशिनः' तथा 'वक्त्रेन्दौ'—पदों में जहाँ 'रूपक' तथा 'उपमा' का सन्देह हो सकता था, वहाँ क्रमशः पहिले में 'उपमा' का साधक 'हासद्युति' रूप

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥ ५७७ ॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्याऽसम्भवात् ।

प्रमाण और दूसरे में 'रूपक' का साधक 'अपरः' पद का प्रयोगरूप 'प्रमाण' उपलब्ध हो जाने से 'एक पक्ष' में निर्णय हो गया है। इसकारण ये दोनों 'साधक प्रमाण' के द्वारा एक पक्ष में निर्णय होने के उदाहरण हैं।

अब 'बाधक प्रमाणों' के आधार पर 'सन्देह' का निवारण प्रदर्शित कर निश्चय के उदाहरणों को बता रहे हैं—

राजनारायणमिति। आप राजारूप नारायण हैं (अर्थात् विष्णुरूप हैं, 'विष्णु-सदृश' नहीं), आपका आलिंगन,लक्ष्मी उत्कट अनुराग (प्रेम)से किया करती है॥५७७॥

यहाँ पर 'राजा एव नारायणः = राजनारायणः' इस प्रकार से 'रूपक' समास भी हो सकता है, और 'राजा नारायण इव = राजनारायणः'—इस प्रकार से 'उपमा समास' भी हो सकता है। इसलिए 'रूपक तथा उपमा' में से कौन सा अलंकार यहाँ माना जाय ? यह सन्देह होना सम्भव है। इस सन्देह का निवारण यहाँ 'उपमा' के 'बाधक प्रमाण' से किया गया है।

उक्त उदाहरण में 'आलिङ्गति' पद से स्पष्ट होता है कि 'राजनारायणम्' पद में उपमागर्भ समास नहीं है तब 'परिशेष' न्याय से 'रूपक' समास है। 'लक्ष्मी के द्वारा आलिङ्गन करना' ही 'उपमा' का बाधक प्रमाण है। 'लक्ष्मी' तो विष्णु (नारायण) की पत्नी है। यदि यहाँ पर 'उपमालंकार' माना जाय तो 'राजा', 'नारायण' के सदृश (समान) है—यह अर्थ होगा, तब राजा 'नारायण स्वरूप न होकर नारायण के सदृश कहा जायगा। उस स्थिति में उसका आलिङ्गन 'लक्ष्मी' नहीं कर सकेगी। क्योंकि कोई भी पतिव्रता स्त्री, 'पति' के सदृश व्यक्ति का आलिङ्गन नहीं करती। उसकारण यही 'उपमा' का बाधक प्रमाण है। एवं च 'राजनारायण' पद में उपमेय प्रधान उपमासमास 'राजा नारायणः इव' करेंगे तो 'आलिङ्गति' पद, अनुपपन्न हो जायगा। अतः उपमासमास यहाँ पर नहीं होगा, क्योंकि 'आलिङ्गति' पद, 'उपमा' के मानने में बाधक है। इसी आशय से ग्रन्थकार ने कहा है—इत्यत्रेति। यहाँ अर्थात् इस उदाहरण में 'लक्ष्मी' के द्वारा आलिङ्गन करना ही 'उपमा' का निराकरण कर रहा है, क्योंकि पति के सदृश दूसरे व्यक्ति का आलिङ्गन करना, कुलीन स्त्री के लिए कभी संभव नहीं है। इस प्रकार उपमा के बाधक प्रमाण का उदाहरण प्रदर्शित किया गया है।

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥ ५७८ ॥

अब 'रूपक' के न स्वीकारने में 'बाधकप्रमाण' का भी उदाहरण दे रहे हैं—भगवती पार्वती जी की स्तुतिपरक पञ्चस्तवी नामक काव्य, जो धर्माचार्य के द्वारा रचित हैं, उससे ग्रन्थकार मम्मट ने तृतीय स्तव के प्रथम पद्य को सम्पूर्णतया न लेकर केवल उत्तरार्ध को ही उदाहरण के रूप में लिया है। 'संकेत' नामक व्याख्या में सोमेश्वर ने उक्त पद्य को चन्द्रचूडचरित का बताया है, उसे झलकीकरजी ने 'तत्तु चिन्त्यमेव' कहा है। पादाम्बुजमिति। कीदृशं पदाम्बुधम् ? मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितम् 'नूपुर' शब्द में 'नू' संस्कृत शब्द है। 'नू'—शब्द 'नख' का पर्याय है। अतः 'नूपुर' में बहुव्रीहि समास है। 'नू' = नख है 'पुर' = निवासस्थान जिसका उस आभूषण को 'नूपुर' कहते हैं। उसकी सुमधुर ध्वनि से युक्त तथा देवराज इन्द्र ने प्रसन्न चित्त से मन्थरतया (क्रमशः) अर्पित किये हैं पुष्प जिस पर और धिव पदाम्बुज को हठात् (बलात्कार से) महिषासुर के मस्तक पर स्थापित किया (रख दिया) है, ऐसा पादाम्बुज। भगवती पार्वती का पादाम्बुज अर्थात् अम्बुज सदृश 'पाद' हमें विजय प्रदान करने वाला हो ॥ ५७८ ॥

उदाहरण में प्रदर्शित किया गया उत्तरार्ध जिस पद्य का है उस सम्पूर्ण पद्य को रुय्यक ने अपने ग्रन्थ में प्रदर्शित किया है—

'आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु-मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥५७८॥

इस वर्णन में 'पादाम्बुजम्'—को 'पादः अम्बुजम् इव'—इस प्रकार 'उपमा परक' कहें, या 'पादः एव अम्बुजम्'—इस प्रकार 'रूपकपरक' कहें ?—यह सन्देह होने पर उसका निरसन, 'मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितम्' (मञ्जु मञ्जीरशिञ्जितं यस्य तत्)—इस विशेषण से हो जाता है। 'पादाम्बुजम्' में रूपक समास (रूपकालङ्कार) करने पर 'अम्बुज' की विशेष्य रूप से (प्रधानतया) प्रतीति होती है। उसमें 'मञ्जीरशिञ्जित'—(नूपुरध्वनि) का साक्षात् अन्वय नहीं बन पाता है क्योंकि नूपुर का शिञ्जित अर्थात् छुम्-छुम् ध्वनि का कमल में होना सर्वथैव असम्भव हैं क्योंकि कमल का नूपुर पहनना नितान्त अप्रसिद्ध है। तब 'मञ्जीरशिञ्जित' को 'कमल' के साथ कैसे जोड़ा जाय ? यही विचारणीय है। कमल (उपमान) की प्रधानता बताने वाला रूपक समास तो मञ्जीरशिञ्जित और कमल को जोड़ नहीं सकता, अतः वह बाधित हो गया, परिशेषात् 'उपमा' समास ही स्थिर रहा, क्योंकि यही रूपक के स्वीकार करने में बाधक है।

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितं अम्बुजे प्रतिकूलम् असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम् न तु पादेऽनुकूलमित्युपमायाः साधकमभिधीयते विध्युपमर्दिनो बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः। एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम्।

विध्युपमर्दिन इति। यहां पर 'मञ्जीरशिञ्जितम्' कहना 'चरण' के लिये अनुकूल हैं। उसे 'उपमा' का साधक प्रमाण नहीं कह सकते। क्योंकि 'मञ्जीरशिञ्जितम्' के द्वारा 'पाद' में 'अम्बुज' के 'तादात्म्यारोप' (रूपक) का उत्कटतत्त्या जैसे निराकरण (उपमर्दन) किया जा रहा है, वैसे 'उपमा' का समर्थन नहीं किया जा रहा है।

शंका—'मञ्जीरशिञ्जित' को 'रूपक' का बाधक बताकर परिशेष न्याय से 'उपमा' को सिद्ध करने की अपेक्षा सीधे ही 'मञ्जीरशिञ्जित' को उपमा का साधक कह कर 'उपमा' का निर्धारण क्यों नहीं करते? क्योंकि उपमा के पक्ष में प्रधान उपमेय रूप 'पाद' के साथ 'मञ्जीरशिञ्जित' का अन्वय करना उचित भी है। अतः सरल मार्ग का त्याग कर वक्रमार्ग को अपनाने में कौन सा औचित्य है?

समा०—उक्त शङ्का का समाधान मम्मट इस प्रकार करते हैं कि यदि कोई प्रमाण, किसी का साधक और दूसरे का बाधक होता हो तो उसका 'बाधकत्व', साधकत्व की अपेक्षया अधिक महत्त्व रखता है।—'बाधकस्य तदपेक्षया उत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः।' क्योंकि 'बाधकप्रमाण' तभी प्रकट होता है, जब 'साधकत्व' को अर्थात् कर्तव्यता बोधक विधि वाक्य को पराभूत कर देता है (विध्युपमर्दिनः बाधकस्य)। अतः साधक की अपेक्षया 'बाधक' प्रबल रहता है। जैसे 'आरोग्य' प्राप्ति के लिये सकस अन्न अर्थात् दमदार पोषक, शक्तिवर्धक अन्न खाना चाहिये—यह विधि है किन्तु 'अजीर्ण' (अपचन) होने पर 'अन्न' भक्षण न करे—यह वचन उपर्युक्त अन्न भक्षण विधि का बाधक है। इस पर कोई पूछ सकता है कि यह 'बाधक वचन', 'अपचन के न होने पर अन्न खाये इस उक्ति का साधक है या नहीं?

इसका उत्तर यह होगा कि सामान्यतः (रागतः) प्राप्त 'अन्न भक्षण' विधि का प्रतिबन्ध करने के लिये 'बाधक' वचन, प्रवृत्त हुआ है, अतः उस बाधक वचन का मुख्य स्वरूप 'बाधकत्व' ही कहा जायगा। वह बाधक वचन 'अपचन' के न होने पर अन्न खावे'—का अप्रत्यक्षतया 'साधक' समझा जाता है। इसी तरह से अन्य उदाहरण भी प्रदर्शित किया जा सकता है, जैसे—बगीचे में या खेती में 'कीडा' लगने पर खेती या बगीचे के पौधे नष्ट हो जाते है, किन्तु कीटमारक औषधि का प्रयोग करने पर कीड़े मर जाते हैं, और खेती या पौधे सुरक्षित रहते हैं। ये औषधियां 'कीटनाशक' नाम से कही जाती हैं। 'खेती या पौधों की 'संरक्षक' के नाम से इनकी प्रसिद्धि नहीं है।

('संकरस्य' तृतीयः प्रकारः–एकपदप्रतिपाद्यरूपः संकरः)

(२१०) स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च,

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः ।

उदाहरणम्—

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि संचुकोच ॥५७९॥

खेती या पौधों की सुरक्षा होना तो एक आनुषङ्गिक फल है। उसी तरह जहाँ पर 'उपमा' और 'रूपक' दोनों का सम्भव हो। वहां 'रूपक' का बाध करने वाले प्रमाण का पर्यवसान अन्ततः 'उपमा' की सिद्धि में होता है। यह उपमा सिद्धि तो रूपक बाधक प्रमाण का आनुषङ्गिक फल (साक्षात् फल नहीं) है। अतः उस प्रमाण के स्वरूप का निश्चय उसके साक्षात् फल को देख कर ही निश्चित करना उचित है। इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरणों में भी विद्वानों को विचारपूर्वक समझ लेना चाहिये।

(३) संकर का तीसरा प्रकार—'एक पद-प्रतिपाद्य (एकाश्रयानुप्रवेश) संकर—

(सूत्र–२१०) 'एक पद' में अनुप्रवेश करने वाले तृतीय (तीसरे प्रकार के) 'संकर' का लक्षण बता रहे हैं। चतुर्थ उल्लास में इसी को 'एकव्यञ्जकानुप्रवेश' के नाम से भी कहा गया है। स्फुटमिति। जहां पर एक पद में 'शब्दालङ्कार' और 'अर्थालङ्कार' दोनों स्पष्ट रूप में (स्फुटतया) व्यवस्थित हों, वहीं पर यह 'तृतीय संकर' होता है।

सूत्रगत इसी आशय को ग्रन्थकार 'वृत्ति' में लिख रहे हैं—अभिन्ने एवेति। जहाँ अभिन्न अर्थात् एक ही पद में स्पष्टतया (स्फुटतया) अर्थात् असंदिग्ध शब्दालंकार और अर्थालंकार—दोनों व्यवस्थित (अलग-अलग) रहते हैं, वहीं पर यह 'एकपद-प्रतिपाद्य अर्थात् एकाश्रयानुप्रवेश'—नामका 'तीसरा संकर' हुआ करता है।

उदाहरणमिति। उदाहरण, जैसे—स्पष्टोल्लसदिति। रत्नाकरकवि-विरचित हरविजयकाव्य के उन्नीसवें सर्ग का यह पद्य है, जिसमें 'सन्ध्याकाल' का वर्णन किया गया है—सूर्यास्त के बाद 'दिवस' रूपी कमल संकुचित हो गया है, जिसमें किरणरूपी केसरों का उल्लास स्पष्ट है, ऐसा रविबिम्ब ही जिस दिवसरूपी कमल में बिस्तीर्ण

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

('संकरे' त्रैविध्यस्य स्पष्टीकरणम्)

(२११) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्त्तितः ॥१४१॥

कर्णिका रूप है,और जहाँ आठों दिशारूपी 'दलों' का कलाप परस्पर सम्बद्ध है,ऐसी रात्रि के आरंभ के सयय अन्धकाररूपी भ्रमरों ने जिसमें अपने को जमा लिया है ॥५७९॥

इस पद्य में कवि ने 'दिवस' को कमल मानकर उसके संकोच अर्थात् दिवस की समाप्तिरूप 'सन्ध्याकाल' का वर्णन किया है, उसकारण यहाँ 'रूपकालंकार' है। उस दिवसरूप कमल में किरणरूप केसर और सूर्यरूप कर्णिका अर्थात् कमल के बीचका (मध्यका) बीजकोष, आठों दिशाओं को दिवसरूप अरविन्द (कमल) के 'दल' के रूप में बताया है, और सन्ध्याकाल के अन्धकार को भ्रमरावलि मानकर 'सांगरूपक' का वर्णन किया है।

इसके तीन चरणों में, 'एक ही पद' में 'रूपक' तथा 'अनुप्रास'—दोनों अलंकार साथ-साथ उपलब्ध हो रहे हैं। जैसे—'किरणकेसर पद' में किरणों पर 'केसर' का आरोप होने से 'रूपक' और 'ककार' की आवृत्ति होने से 'अनुप्रास'—दोनों अलंकार स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। ये दोनों अलंकार 'एक ही पद' में (अभिन्न पद में) स्थित हैं, उसकारण यह 'एकाश्रयानुप्रवेशसंकर' का उदाहरण बन गया है।

इसी प्रकार 'सूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिक' में 'सूर्य' के ऊपर 'कर्णिका' अर्थात् 'बीज-कोष' का आरोप होने से 'रूपक' और 'र', 'ण' की आवृत्ति होने से 'अनुप्रास'—दोनों 'शब्दार्थालंकार', एकाश्रय में अनुप्रविष्ट हैं।

इसी प्रकार 'तीसरे चरण' में 'श्लिष्टाष्टदिग्दलकलाप' में 'दिक्' के ऊपर 'दल' का आरोप होने से 'रूपक' और 'ष्ट', 'दकार' तथा 'लकार' की आवृत्ति होने से 'अनुप्रास' दोनों 'शब्दार्थालंकारों' के विद्यमान होने से 'एकाश्रयानुप्रवेशसंकर' अलंकार बन गया है।

अत्रैकेति। इन तीनों चरणों में 'रूपक'—यह अर्थालंकार तथा 'अनुप्रास'—यह शब्दालंकार, दोनों 'एक ही पद' में अनुप्रविष्ट (समाये) हैं। इसकारण यह पद्य 'संकर के तृतीय भेद' का उदाहरण है।

(सूत्र २११) तेनासाविति। इसलिये वह 'संकरालंकार' त्रिरूप अर्थात् तीन प्रकार का बताया गया है ॥१४१॥

तदयमनुग्राह्यानुग्राहकतया सन्देहेन एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात्त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् आनन्त्यात् तत् प्रभेदानामिति प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलङ्काराः।

तदयमिति। इसलिये यह संकर (१) अनुग्राह्य-अनुग्राहकरूप से, (२) सन्देहरूप से और (३) एकपदप्रतिपाद्यरूप से व्यवस्थित होने के कारण तीन प्रकार का ही संकर बताया गया है। प्रत्येक अलंकार को नामतः बताकर अन्य अलंकारो के साथ उसका 'संकर' नहीं दिखाया जा सकता, अर्थात् उसे बताने का कोई अन्य प्रकार नहीं है। क्योंकि अलंकारों के भेद, उपभेद तथा प्रभेद अनन्त हैं। इसकारण संकर के तीन ही प्रकार माने गये हैं।

भामह का तो कहना है कि 'संकर' नामका कोई अलंकार हो नहीं है। यद्यपि काव्यादर्श में महाकवि दण्डी ने कहा है कि—

'नानालंकारसंसृष्टिः संकीर्णं तु निगद्यते'।
अंगांगिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ॥
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः' ॥–(का०दर्श० २।३५९-६०)

यहाँ 'संकीर्ण' शब्द का प्रयोग है, फिर भी संकर और संसृष्टि में कोई भिन्नता नहीं है। संसृष्टि से संकर का पृथक् उल्लेख सर्वप्रथम उद्भट ने काव्यालंकारसारसंग्रह में किया है।

उद्भट के व्याख्याकार 'इन्दुराज' ने 'संकर' के चार भेदों को नाम देकर बताया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उद्भट और इन्दुराज के द्वितीय संकरभेद को 'संसृष्टि' कहकर 'संकर' के तीन ही भेद माने हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में कुल ६१ अर्थालंकारों को बताया है। वे ६१ अलंकार यहीं पर समाप्त होने से 'अलंकारनिरूपण' का प्रकरण यहाँ समाप्त हो रहा है। इसके बाद दशम उल्लास का जो शेषभाग है, उसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार के भेद के आधार को बताया जायगा और अलंकारगत दोषों का अन्तर्भाव, पूर्वोक्त दोषों में ही कहा जायगा, अर्थात् अलंकारस्थित दोषों को अलग से मानने की अनावश्यकता बतायी जायगी।

अभी तो अलंकार निरूपण का उपसंहार करते हुए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के नियामक का निरूपण किया जायगा।

प्रतिपादिता इति। यहाँ पर शब्दगत, अर्थगत, उभयगत—तीन प्रकार के (त्रैविध्यजुषः) अलंकारों का प्रतिपादन समाप्त हुआ।

कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलङ्कारः शब्दस्य कश्चिदर्थस्य कश्चिच्चोभयस्येति चेत् ।

(अलङ्काराणां श्रेणी-विभागस्य आधारभूतः 'अन्वय-व्यतिरेकसिद्धान्तः')

उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायामन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात् । ततश्च योऽलङ्कारो

प्रश्न—कुतः पुनरेष इति । जबकी उक्त तीनों प्रकार के अलंकारों में शोभा बढ़ाने की शैली (सौन्दर्यवर्धन शैली) समान (तुल्य) है, तब कौनसा वह नियम है ? जिससे कोई अलंकार 'शब्द' का कोई अलंकार 'अर्थ' का और कोई अलंकार उन दोनों का कहा जाता है ।

उत्तर—उक्तमत्र यथेति । इस सम्बन्ध में पूर्व ही नवमउल्लास में अर्थात् 'श्लेष' प्रकरण में कह चुके हैं कि यहाँ (अत्र) काव्य में 'गुण, दोष तथा अलंकारों की शब्द-निष्ठता, अर्थनिष्ठता तथा उभयनिष्ठता की व्यवस्था में अन्य कोई निमित्त न होने से 'अन्वय-व्यतिरेक' ही उस व्यवस्था के करने में समर्थ (प्रभु) होता है । ततश्चेति । इसलिये जो अलंकार, जिस 'शब्द', 'अर्थ' या 'उभय' के साथ अन्वय एवं व्यतिरेक का अनुविधान (अनुसरण = अनुगमन) करता है, वह उसीका अलंकार कहा जाता है ।

इसीलिये ग्रन्थकार ने कह दिया है कि 'योऽलंकारो यदीयान्वय-व्यतिरेकौ अनुविधत्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यते' इति । 'अन्वय' का अर्थ है, 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्' और 'व्यतिरेक' का अर्थ है, 'तदभावे तदभावः' । 'शब्दालङ्कार' की पहचान यह है कि किसी 'शब्दविशेष' के विद्यमान (प्रयुक्त) रहने पर ही जो 'अलङ्कार' निष्पन्न हुआ करता है, अर्थात् उस प्रयुक्त शब्दविशेष को हटाकर उसके स्थान पर उसी के पर्याय शब्द को प्रयुक्त करने पर वह विवक्षित अलङ्कार निष्पन्न नहीं हो पाता है, क्योंकि वह विवक्षित अलङ्कार तो उसी 'शब्दविशेष पर' आश्रित रहता है, अर्थात् वह विवक्षित अलङ्कार उस शब्दविशेष के 'अन्वय-व्यतिरेक' का अनुसरण किया करता है । इसी कारण उस अलङ्कार को 'शब्दालङ्कार' कहा जाता है ।

और 'अर्थालंकार' की पहिचान यह है कि जहाँ पर शब्द को हटा कर उसके समानार्थक पर्याय शब्द को उसके स्थान पर प्रयुक्त करने पर भी जो अलङ्कार बना रहता है, (कायम रहता है), क्योंकि वह शब्द पर आश्रित न होकर 'अर्थ' पर आश्रित रहता है, यानी 'अर्थ' के 'अन्वय-व्यतिरेक' का अनुसरण करता है, इस कारण उस अलङ्कार को 'अर्थालङ्कार' कहा जाता है ।

तथा जो अलंकार; 'शब्द और अर्थ'—दोनों के 'अन्वय-व्यतिरेक' का अनुसरण करता हैं, उस अलङ्कार को 'उभयालङ्कार' कहा जाता है । अलङ्कारों की यही व्यवस्था की गई है ।

यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्तो स तदलङ्कारो व्यवस्थाप्यते इति, एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयाऽलङ्कारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः। अर्थस्य तु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासते इति वाच्यालङ्कारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः।

एवं च यथेति। इसके अनुसार जैसे 'पुनरुक्तवदाभास'—('तनुवपुरजघन्योऽसौ०'—३९१ नवम उल्लास), और 'परम्परितरूपक'—('विद्वन्मानसहंसवैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते०'—४२५ दश० उल्लास), ये दोनों शब्द तथा अर्थ दोनों के साथ 'भाव' एवं 'अभाव' का (अन्वय और व्यतिरेक का) अनुसरण करते हैं, उस कारण वे दोनों (पुनरुक्तवदाभास तथा परम्परितरूपक) उभयालंकार कहलाते हैं, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ उभयहेतुक अर्थान्तरन्यास' आदि को भी 'उभयालंकार' ही समझना चाहिये।

शंका—यदि अर्थान्तरन्याध प्रभृति अलंकार 'उभयालंकार हैं तो उभयालंकार के प्रकरण में उसे न बताकर अर्थमात्रालंकार के प्रकरण में क्यों बताया जा रहा है?

समाधान—अर्थस्य तु तत्रेति। अर्थान्तरन्यासादि उभयालंकार में अर्थ का चमत्कार उत्कटतया प्रतीत होता है, इस कारण वस्तुस्थिति की अर्थात् उनके उभयालंकारत्व की उपेक्षा करके उनको अर्थालंकारों में (वाच्यालंकारों में) बताया गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार के 'तनुवपुरजघन्योऽसौ०' इत्यादि (श्लो० ३९१ नवम उल्लास) में तनु, कुञ्जर, रक्त, धाम, हरि, विष्णु ये शब्द, परिवर्त्तन' को सहन नहीं कर पाते हैं। यानी उन शब्दों की जगह उनके पर्याय शब्दों को रख देने पर वह चमत्कार (अलंकार) नहीं रह पाता, इसके विपरीत उसी पद्य में प्रयुक्त 'वपु, करि, रुधिर, इन्द्र—शब्द परिवृत्तिसह हैं। अर्थात् यदि उनके स्थान पर समानार्थक अन्य पर्याय शब्दों के रख देने पर भी 'अलंकार' कायम ही (बना ही) रहता है। इसलिये यह 'पुनरुक्तवदाभास'—कुछ अंश में शब्द के और कुछ अंश में अर्थ के 'अन्वय-व्यतिरेक' का अनुसरण करता है। इसलिये इसे उभयालंकार माना जाता हैं।

इसी प्रकार परम्परित रूपक के 'विद्वन्मानसहंस'—आदि उदाहरण (श्लो० सं० ४२५) में 'मानस' आदि कुछ 'परिवृत्त्यसह' और 'हंस' आदि कुछ पद 'परिवृत्ति सह' हैं। अभिप्राय यह है कि 'मानस' आदि पदों को परिवर्तित कर देने पर 'अलंकार' का चमत्कार नहीं रहता, किन्तु 'हंस' आदि पदों को परिवर्तित

(अलङ्काराणां श्रेणी-विभागे आश्रयाश्रयिभाव-व्यवस्था)

योऽलङ्कारो यदाश्रितः स तदलङ्कार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यतिरेकावेव समाश्रयितव्यौ । तदाश्रयणमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाऽऽश्रयिभावस्या-

---

कर देने पर भी अलंकार की कोई हानि नहीं हो पाती। इसलिये वह भी कुछ अंशों में शब्द के और कुछ अंशों में अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है, उस कारण परम्परिक रूपक को भी उभयालंकार माना गया है।

शब्दहेतुक अर्थान्तर न्यास को भी 'उभयालंकार' मानना चाहिये। उदाहरण के रूप में यह पद्य दिया गया है—

'उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः।
ननु दाक्षिण्यसम्पन्नः सर्वस्य भवति प्रियः' ॥

यहां पर 'दाक्षिण्यसम्पन्नः सर्वस्य भवति प्रियः'––जो दाक्षिण्य से सम्पन्न रहता है, वह सभी का प्रिय होता है––इस 'सामान्य' को कह कर उसके द्वारा 'मलयमारुत' के प्रीतिभाजन होने का समर्थन किया गया है। उस कारण यहां पर 'अर्थान्तर-न्यास' अलंकार है। इस अलङ्कार का मूल यहाँ पर 'दाक्षिण्यसम्पन्नः' शब्द है। 'मलयमारुत'––दक्षिण दिशा से आता है, उस कारण वह 'दाक्षिण्यसम्पन्न' है। 'अनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः'––अनेक नायिकाओं के प्रति जिसका समान अनुराग रहता है, उस नायक को 'दक्षिण नायक' कहा जाता है। यह दाक्षिण्य सम्पन्न नायक जैसे सबको प्रिय लगता है वैसे ही 'दाक्षिण्यसम्पन्न' मलय-मारुत सबको आनन्दित करता है। इस प्रकार 'सामान्य' से 'विशेष' के समर्थनरूप इस अर्थान्तरन्यास का बीज (आधार) 'दाक्षिण्यसम्पन्नः' शब्द है। यदि इस शब्द की जगह तत्समानार्थक किसी अन्य शब्द को रख दिया जाय तो यह अलङ्कार निष्पन्न नहीं हो पायगा। उस कारण इस अंश में अर्थान्तरन्यास अलंकार, 'शब्द' के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण कर रहा है, यानी 'शब्दालङ्कार' है। इसलिये सामान्यतः अर्थालङ्कार में परिगणित होने पर भी कहीं-कहीं शब्द के अन्वय-व्यतिरेक का अनुगामी होने से शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास' को भी उभयालङ्कार मानना चाहिये––ऐसा अभिप्राय ग्रन्थकार का प्रतीत हो रहा है।

शब्दालंकार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार के 'भेदक हेतु' का विचार करते हुए रुय्यक ने कहा है––"योऽलंकारो यदाश्रितः स तदीयोऽलङ्कारः। तेनाश्रयाश्रयिभाव एव शब्दार्थोभयालङ्कारव्यवस्थायां बीजम्, न अन्वय-व्यतिरेकौ''।

अर्थात् अलङ्कारों की शब्दनिष्ठता अथवा अर्थनिष्ठता में नियामक 'अन्वय व्यतिरेक' नहीं है, अपितु 'आश्रयाश्रयिभाव' 'नियामक' है।

भावादित्यलङ्काराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान् ।

(अलंकारदोषास्तेषां च उक्तदोषेष्वन्तर्भावः)

(२१२) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥१४२॥

किन्तु उसे काव्यप्रकाशकार मम्मट ने स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि रुय्यक के द्वारा स्वीकृत 'आश्रयाश्रयिभाव' का निर्धारण 'अन्वय-व्यतिरेक' से ही हो पाता है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक को माने बिना आश्रयाश्रयिभाव का निर्णय ही नहीं हो सकता । अतः अलङ्कार की शब्दनिष्ठता आदि का नियामक 'अन्वय-व्यतिरेक' को ही मानना उचित प्रतीत होता है । इसी आशय को काव्यप्रकाशकार ने 'योऽलङ्कारो यदाश्रितः'--पङ्क्ति से अभिव्यक्त किया है—'योऽलंकार' इति । जो अलङ्कार 'शब्द और अर्थ' में से जिसके आश्रित रहता है, वह उसी का अलङ्कार कहलाता है । 'योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकारः'—यह कथन रुय्यक का है, किन्तु यह कथन भी 'अन्वय'-व्यतिरेक पर ही निर्भर है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक का स्वीकार किये बिना 'विशिष्ट' (किन्हीं दो पदार्थों) का 'आश्रयाश्रयिभाव' ही कैसे बन पायगा ? इत्यलंकाराणामिति । इसलिये अलंकारों का परस्पर भेद, (अर्थात् अमुक शब्दालंकार है, अमुक अर्थालंकार है, अमुक उभयालंकार है इस प्रकार का भेद) 'अन्वय-व्यतिरेक' रूप हेतु (कारण) के आधार पर ही मानना अधिक उचित है ।

सप्तम उल्लास में बताये गये काव्यदोषों में 'पददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष, रसदोष का विचार किया गया है, किन्तु वहाँ अलंकारदोषों' को नहीं बताया । अतः क्या यह समझा जाय कि अलंकारों में दोष का होना संभव ही नहीं है ? या अद्यपि अलंकारों के दोषों को बताना शेष है ? इस प्रश्न का समाधान निम्नलिखित कारिका के द्वारा किया जा रहा है—

(सूत्र २१२) एषामिति । इन अलंकारों के अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकारों के कतिचित् (कतिपय) दोषों का होना यद्यपि संभव है, तथापि सप्तमोल्लास में उक्त काव्यदोषों में ही उनका यथा संभव (यथायोगं) समावेश (अन्तर्भाव) हो जाता है । इसलिये ग्रन्थकार मम्मट ने उन्हें अलग से नहीं बताया है ॥१४२॥

यद्यपि भामह से लेकर रुद्रट तक सभी प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों के दोषों को बताया है, तथापि काव्यप्रकाशकार की दृष्टि में 'अलंकारदोष' कोई अतिरिक्त दोष नहीं हैं, उनका समावेश दोषजाति में ही किया जा सकता है । अतः अलंकारदोषों को

(अनुप्रासस्य दोषाणामुक्तेषु दोषेषु अन्तर्भावः)

तथा हि अनुप्रासस्य प्रसिद्ध्यभावो वैफल्यं वृत्तिविरोध इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम् अपुष्टार्थत्वं प्रतिकूलवर्णतां च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति तत्स्वभावत्वात् । क्रमेणोदाहरणम्—

चक्री चक्रारपङ्क्तिहरिरपि च हरीन् धूर्ध्वटिर्ध्वजाग्रान्
अक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः ।
रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनो वः ॥ ५८० ॥

अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः ।

काव्यप्रकाशकार ने दोषसामान्य में ही मान लिया है । एवंच अलंकार दोषों का अलग से निरूपण करना आवश्यक नहीं है ।

(१) तथाहीति । जैसे—'अनुप्रास' में (क) 'प्रसिद्धि' का अभाव, (ख) 'वैफल्य' (अर्थात् चमत्काराऽजनकत्व) और (ग) 'उपनागरिका' आदि 'वृत्तियों का विरोध'— ये तीनदोष, प्राचीन आचार्य सम्मत हैं । ये तीनों दोष, क्रमशः 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व', 'अपुष्टार्थत्व' और 'प्रतिकूलवर्णता' का अतिक्रमण नहीं कर रहे हैं । अर्थात् इन्हीं में उनका अन्तर्भाव है, क्योंकि 'तत्स्वभावत्वात्' अर्थात् उन दोषों का वही स्वभाव (स्वरूप) है । एवंच उन दोषों का अन्तर्भाव, 'पूर्वोक्त दोषों' में ही हो जाता है ।

क्रमेणोदाहरणमिति । क्रम से तीनों के उदाहरण, जैसे—(क) प्रसिद्धि के अभाव का 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' में अन्तर्भाव का उदाहरण चक्रीति । सूर्यभगवान् का वह रथ, हमारी, तुम्हारी तथा अन्य सभी की प्रतिदिन रक्षा करे, जो रथ, 'विश्व' का उपकार करने के लिये नित्यसन्नद्ध है । जिसके चक्रों में (पहियों में) लगे हुए 'आरों' की पंक्ति की (कीलक समूह की) स्तुति 'विष्णु' (चक्री) करते हैं, और रथ में जुते हुए 'घोड़ों' (हरि = घोड़ा) की स्तुति 'हरि' = इन्द्र किया करता है, और यानमुखरूपी 'धुरी' में लगी हुई 'ध्वजा' के अग्रभाग की स्तुति, धूर्जटी = शिवजी किया करते हैं, 'अक्ष' की अर्थात् पहिये (चक्रि) की नाभि में लगे हुए 'लोहदण्ड' की अथवा 'चक्र' की स्तुति 'चन्द्र' करता रहता है, और सूर्य के सारथी 'अरुण' की स्तुति 'वरुण' करता रहता है, और कूबराग्र (युगन्धर जुए) की स्तुति 'कुबेर' करता है, और रथ के 'रंह' = वेग की स्तुति, देवसमूह प्रतिदिन बड़ी प्रसन्नता से किया करते हैं ॥५८०॥

अत्रेति । यहाँ पर अनुप्रास के अनुरोध से ही अर्थात् अक्षरों के स्वरूप को अक्षरों से मिलाने के लिये ही 'कर्ता' और कर्म के प्रतिनियतरूप में अर्थात् 'चक्री'—चक्रार-

भण तरुणि ! रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ! ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत् किं त्वदीयम्मे ॥ ५८१ ॥

अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥ ५८२ ॥

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किंचिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थतैवानुप्रासस्य वैफल्यम् । 'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति । अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः ।

पंक्ति' आदि के रूप में सूर्य के रथ की स्तुति का वर्णन किया गया है । किन्तु पुराणों में तथा महाभारतादि इतिहास में उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्रसिद्धि (उल्लेख) नहीं है । उसकारण 'अनुप्रास' का यह 'प्रसिद्ध्यभावरूप दोष', पूर्वोक्त 'प्रसिद्धिविरुद्धता' के ही अन्तर्गत समझना चाहिए ।

'वैफल्य' का 'अपुष्टार्थत्व' में अन्तर्भाव का उदाहरण जैसे—

(ख) भण तरुणीति । आनन्दप्रद शारदीय सुन्दर चन्द्र के समान मुखवाली और चित्ताकर्षक हाव-भावों को प्रदर्शित करते हुए बात करनेवाली, हे तरुणि ! यदि तुम अपने रमण (प्रियतम) के मन्दिर (निवासस्थान) को जा रही हो, तो हे अरुण चरणतलोंवाली ! हे सुन्दरि ! अपनी पहनी हुई करधनी को जोर-जोर से बजाती हुई और नूपुर की ध्वनि निरन्तर करती हुई जो तुम्हारी गति (गमन) मुझे व्यर्थ ही क्यों पीड़ित कर रही है ? ॥५८१-५८२॥

दो छन्दों के द्वारा वाक्यार्थ की समाप्ति होने से यहाँ 'युग्मक' है । यहाँ पर 'अनुरणन्नमणिमेखलम्' और 'अविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्' ये दोनों 'परिसरण' (गमन) के विशेषण हैं । 'त्वदीयं परिसरणमकारणं (वृथा) रणरणकं कुरुते' इति वाच्यार्थस्य तेन व्यङ्ग्यार्थस्य भावविरहस्य च न किञ्चिदुपकारे वर्तते, केवलमनुप्रासार्थमेवतदुपात्तम् इति अपुष्टार्थत्वमेव अनुप्रासस्य वैफल्यमुच्यते । एवंच अनुप्रास का वैफल्य, 'अपुष्टार्थता' ही है ।

'अकुण्ठोत्कण्ठया' इति । यह पद्य सप्तमोल्लास का २०७वां उदाहरण के रूप में है । यहाँ शृङ्गाररस में परुष (कठोर) वर्णों की बहुलता, पूर्वोक्त अष्टमउल्लास में गुण विवेचन के प्रसंग में बताई गई रीति के विरुद्ध है । अतः परुषवर्णों का अनुप्रासरूप जो वृत्तिविरोध (अनुप्रास का दोष) है, वह प्रतिकूलवर्णतारूप 'पूर्वोक्त दोष' से अलग नहीं है ।

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'अनुप्रास' नामक शब्दालंकार में मुख्यतया तीन दोषों का संभव रहता है । (१) अनुप्रास में एक-दूसरे से की जानेवाली अर्थसंगति,

यदि अप्रसिद्ध हो तो 'दोष' माना जाता है। इस दोष का समावेश, सप्तमउल्लास में वर्णित 'प्रसिद्धिविरुद्धता' नामक अर्थदोष में हो जाता है। 'प्रसिद्धिरुद्धता'का मम्मटोक्त उदाहरण इस प्रकार है—

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तद् दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम्॥ (स० उ० श्लो० २६४)

इस पद्य में सुन्दरी के कलई में पहिना हुआ जो कङ्कण है, वह मानों कामदेव का चक्र है—यह कवि ने कल्पना की है, लेकिन जैसे 'विष्णु' की चक्रधारी के रूप में प्रसिद्धि है, वैसी मदन की 'चक्रधारी' के रूप में प्रसिद्धि नहीं है। उसकी प्रसिद्धि तो 'पुष्पधनुर्धारी' के रूप में प्रसिद्धि है।

(२) अनुप्रासयुक्त पदों में अर्थचमत्कृति का अभाव रहने पर उसका होना निष्फल है। इस प्रकार की निष्फलता को भी 'अनुप्रासदोष' ही माना जाता है। इस दोष का समावेश 'अपुष्टार्थता' नामक अर्थदोष में किया गया है-(का०प्र०स०उ०श्लो० २५५)। अर्थचमत्कृति के बल पर ही अर्थालंकार स्वतन्त्रतया रंजक हुआ करता है। अर्थचमत्कृति यदि न हो तो केवल शब्दालंकार स्वतन्त्रतया रंजक नहीं हो सकता।

(३) 'वृत्यनुप्रास' यह वर्णसाम्यात्मक अनुप्रास का दूसरा प्रकार है। यहाँ पर 'वृत्ति' शब्द का अर्थ— विशिष्टरस की अभिव्यक्ति में सहायक होनेवाला विशिष्ट वर्णों का व्यापार' (सामर्थ्य)—'वृत्तिः नियतवर्णगतः रसविषयो व्यापारः' (का०प्र० नव०उ० सू० १०५)। 'वृत्ति' तीन प्रकार की होती है—(१) उपनागरिका, (२) परुषा, (३) कोमला (ग्राम्या)। कुछ लोगों ने इन्हीं तीन वृत्तियों को क्रमशः 'वैदर्भीरीति, गौडीरीति, पांचालीरीति'— के नाम से भी बताया है-(का०प्र०नव०उ०सू० १११)।

ये वृत्तियाँ क्रमशः 'माधुर्यव्यञ्जक', 'ओजोव्यञ्जक' और अवशिष्ट त्रिविध वर्णों से सिद्ध होती हैं।

माधुर्यव्यंजकवर्ण—

'मूर्ध्निवर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा'॥(का०प्र०अ०उ०सू० ९९का० ७४)।

'टवर्ग' को छोड़कर अन्यवर्गीय अनुनासिकों के उन्हीं के वर्गों के अन्य व्यञ्जनों के साथ होनेवाले संयोग (यथा— ङ्ग, ञ्च, न्द इत्यादि), लघुस्वर से युक्त 'र् और ण्' वर्ण— इन वर्णों का और उनके साथ असमस्त शब्दों का अथवा छोटे (लघु) समासों का प्रयोग करने से 'माधुर्य' गुण की अभिव्यक्ति होती है। यह 'माधुर्य' गुण, 'शृङ्गार, करुण और शान्त' -रसों से सम्बद्ध रहता है।

ओजोव्यञ्जक वर्ण--

'योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि' ॥

—(का० प्र० अ० उ० सू० १०० का० ७५) ।

वर्गीय व्यञ्जनों में से पहिले का दूसरे से और तीसरे का चौथे से होनेवाला संयोग (यथा—च्छ, द्ध इत्यादि), 'र्' व्यञ्जन का किसी भी व्यञ्जन से संयोग (यथा—'प्र, र्त' इत्यादि), किसी भी व्यञ्जन का उसी व्यञ्जन के साथ संयोग (यथा—'त्त, ट्ट इत्यादि), 'ट्-ठ्-ड्-ढ्-श्-ष्' ये वर्ण—इन वर्णों का और इन्हीं के साथ दीर्घ समासों का तथा उद्धत रचना का प्रयोग करने से 'ओजो गुण' की अभिव्यक्ति होती है । यह 'ओजस् गुण' (ओजोगुण), वीर, बीभत्स, और रौद्र' रसों से सम्बद्ध रहता है ।

इस प्रकार के वृत्त्यनुप्रास के वर्ण, प्रकृत अर्थात् रसानुकूल वृत्ति के यदि विरोधी (प्रतिकूल) हों—(यथा—'शृङ्गार' प्रकृत रस रहने पर 'उपनागरिका' वृत्ति, अपेक्षित होती हैं) तब 'च्छ, ट्ट'—इत्यादि वर्णों की आवृत्ति करते हुए रचना करने पर 'वृत्ति-विरोध'—नामका दोष होता है, किन्तु इस दोष का अन्तर्भाव (समावेश) पूर्वोक्त 'प्रतिकूलवर्णता' (का० प्र० स० उ० सू० ७५) नामक वाक्यदोष में हो जाता है ।

प्रसिद्धभाव का 'प्रसिसिद्धिविरुद्धता' में अन्तर्भाव किये जाने का उदाहरण—

चक्रीति । इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार होगा—'जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य चक्रारपंक्ति प्रीतिप्रसन्नः चक्री अन्वहं स्तौति, अपि च हरीन् हरिः (स्तौति), धूर्ध्वजाग्रान् धूर्जटिः (स्तौति), नक्षत्रनाथः अक्षं (स्तौति), अरुणम् अपि वरुण;(स्तौति), कूवराग्रं कुवेरः (स्तौति), रहः सुराणां संघः (स्तौति), सः अहिमरुचेः स्यन्दनः वः अवतात्' ।

यहाँ पर 'प्रीतिप्रसन्नः'—यह विशेषण, 'चक्री, हरिः' इत्यादि सभी कर्तृवाचक पदों के साथ अन्वित होता है, तथा 'अन्वहम्'—यह क्रियाविशेषण बार-बार 'स्तौति'—इस क्रिया के साथ अन्वित होता है ।

सूर्य के रथ के वर्णन में कवि ने 'स्तौति' क्रिया के 'विष्णु', 'इन्द्र' आदि 'कर्ता' और 'चक्र' के 'अरे' और 'घोड़े' आदि कर्म—इनकी जोड़ियाँ बताई हैं । 'विष्णु' को 'कर्ता' बनाकर 'चक्र' के 'अरों' को 'कर्म'—यह पहली जोड़ी है । 'इन्द्र' और 'घोड़े'—यह दूसरी जोड़ी । इस प्रकार जोड़ियाँ केवल अनुप्रास पर दृष्टि रखकर बनाई गयीं हैं । 'विष्णु' चक्र की स्तुति क्यों करता है ? 'अश्वों' की स्तुति क्यों नहीं करता ? इसका समाधान कवि ने यह सोचा है कि 'विष्णु' का वाचक 'चक्री' शब्द का 'चक्रारपंक्ति' के साथ 'अनुप्रास' बन जाता है । इसी प्रकार अन्य जोड़ियों में भी समझना चाहिए ।

ये जोड़ियाँ कवि ने 'पुराण-इतिहास' आदि के आधार पर नहीं बनायी हैं। उतकारण प्रस्तुत पद्य में जो अनुप्रास हैं,वह 'प्रसिद्धिविरोध' (प्रसिद्ध अर्थ का अनुसरण न करना) नामक दोष से युक्त हो गया है।

'भण तरुणि !' और 'अनणुरणन्'—इन दोनों आर्याओं में 'क्रिया' एक ही है। उस कारण दोनों के द्वारा एक ही वाक्य पूर्ण हो पाया है। यह उदाहरण अनुप्रास की मधुरावृत्ति का रुद्रट ने दिया है। ऐसे अर्थात् एक क्रिया के द्वारा पूर्ण होने वाले वाक्यार्थप्रतिपादक दो पद्यों को 'युग्म' (युग्मक) कहते हैं—

'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्'' ॥

उक्त दोनों आर्याओं का अन्वय इस प्रकार होगा—'आनन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि सल्लीलोल्लापिनि अरुणचरणे तरुणि ! यदि रमणमन्दिरं गच्छसि, तद् अनणुरणन् मणिमेखलम् अविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरं त्वदीयं परिसरणं मे अकारणं रणरणकं किं कुरुते ?—भण।

अपने प्रियतम के घर जाती हुई किसी सुन्दर युवती को लक्ष्य कर किसी प्रेमोन्मत्त के ये उद्गार हैं—'तुम अपने प्रियतम के घर जा रही हो, तो मुझे उत्सुकता क्यों हो रही हैं ? (द० उ० ५८२ श्लोक) इस पद्य में कुछ अनुप्रासपूर्ण पद हैं, जिनके होने या न होने से उनके उक्त अभिप्राय के पोषण से कोई मतलब नहीं है, और उन अनुप्रासपूर्ण पदों के न होने से उक्त अभिप्राय में कोई न्यूनता भी नहीं है। सुन्दर चन्द्र को लक्षणा से 'आनन्दस्यन्दी' कहने से 'कौन सा अधिक लाभ होता है ? युवती सुन्दरी के 'सल्लीलोल्लापिनी' होने का उत्सुकता (रण-रणक) को उत्पत्ति से कौन सा सम्बन्ध है ?

कोई तरुण सुन्दरी चुपको साथ कर अपने प्रियतम के घर जाय, तो वक्ता को क्यों उत्सुकता होगी ? उसी तरह उसकी रत्नजटित घुंघरु लगी करधनी की मधुर ध्वनि, नूपुरों की छम्-छम् आवाज, पैरों पर लगा आलता आदि, वक्ता को उत्सुक बनाने में क्या आवश्यक हैं ? अर्थात् वक्ता के अभिप्राय से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। उस कारण यहाँ के अनुप्रासपूर्ण पद, अर्थ पोषण की दृष्टि से निष्फल ही प्रतीत हो रहे हैं—यही अनुप्रास की 'अपुष्टार्थता' है। अनुप्रास के साथ मेल बैठाने के लिये जहाँ अनुप्रास की रचना की जाती है, वहां यही अपुष्टार्थत्व दोष होता है। उद्योतकार ने कहा है—'शब्दानुरूपार्थविरहेण अनुप्रासस्त्वेपि न आस्वादोत्कर्षः। शब्दालंकाराणामपि अर्थातिशयाधानद्वारेणैव चमत्कारित्वात् शब्दानां परिवृत्यसहत्वमात्रेण शब्दालंकारव्यपदेशः'।

(यमकगतदोषाणां पूर्वोक्तसामान्यदोषेष्वन्तर्भावः)

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावकीर्णेव नदी सदम्भाः ।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥५८३॥

प्रस्तुत पद्य में प्रयुक्त "आनन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि" जो सामासिक पद है, उसमें 'आनन्दस्यन्दि' और 'सुन्दर'—ये 'इन्दु' के विशेषण हैं। कुछ व्याख्याकारों ने उन्हें 'मुख' का विशेषण बताया है, किन्तु वह उचित नहीं है। क्योंकि 'इन्दुमुखि'—इस समास में 'इव' पद के लुप्त रहने से 'मुख' पद को 'इन्दु' पद से अलग कर स्वतन्त्रतया अन्य विशेषणों के साथ अन्वित नहीं किया जा सकता।

(ग) अकुण्ठेति।

'अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर' ॥ १९२ ॥

(स० उ० श्लो० सं० २०८)

हे कलकण्ठि ! अकुण्ठोत्कण्ठया आकण्ठम् पूर्णं मां क्षणं कम्बुकण्ठ्याः कण्ठे कुरु, कण्ठार्तिम् उद्धर।-अपनी प्रेयसी की दूती को उद्देश्य करके किसी प्रेम-पीड़ित व्यक्ति का यह कथन है—दूती को लक्ष्य करके 'कलकण्ठि'—यह सम्बोधन है। इस पद्य में रस 'शृङ्गार' है। इसलिये 'उपनागरिका वृत्ति का अनुसरण कर माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों का अनुप्रास रहता तो उचित कहा जाता, लेकिन वैसा न कर उलटे 'परुषा' वृत्ति का अनुसरण करने वाले अनुप्रास की योजना की है, जो 'ओजस्' गुण की ओर उसके द्वारा 'वीर-बीभत्स रौद्र' रस की अभिव्यक्ति कर रहा है, जिससे इस पद्य में 'ठ' कार बाहुल्य से 'रसहानि' हो गई है, क्योंकि रस के अनुगुण ही वर्ण रचना होनी चाहिये, उसके विपरीत होने पर 'प्रतिकूलवर्णता' समझी जाती है।

(२) यमकस्येति। 'यमक' का उपनिबन्धन 'समपादों' में किया जाता है। या तो दो पादों में या चार पादों में। इस नियम का उल्लंघन कर यदि तीन पादों में वर्णों का यमन किया जाय तो 'अप्रयुक्तत्व' दोष होता है। यथेति। जैसे—भुजंगमस्येति।

ये कपटी खल-जन दम्भ से पूर्ण होते हैं। उन दम्भी कपटी पुरुषों के संसर्ग का परिणाम बुरा होगा, इस तथ्य को जानने वाले (दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः) पुरुषों के मन को भी सर्प की पानीदार मणि के समान अथवा नक्रादि जलचर हिंसक प्राणियों से भरी हुई निर्मल जलवाली नदी के समान कपटी दाम्भिक पुरुष हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं ॥ ५८३ ॥

(उपमादोषाणां पृथक् परिगणनमनावश्यकम्)

उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतं न्यूनत्वम् अधिकत्वं वा तादृशीमनुचितार्थत्वं दोषः। धर्मांश्रये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः। क्रमेणोदाहरणम्—

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥ ५८४ ॥

इस पद्य के केवल तीन चरणों में 'सदम्भा' पद की आवृत्ति की गई है। अतः यह पादत्रयगत 'यमक' का उदाहरण है। यमक की इस प्रकार की पादत्रयगत स्थिति को वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने 'अलंकारदोष' माना है, परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसका अन्भार्व पूर्वोक्त 'अप्रयुक्तत्व' दोष में कर लिया है, उस कारण उसे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है। एवं च 'यमक' को तीन चरणों में रखना 'अप्रयुक्तत्व' दोष माना गया है।

(३) उपमा-दोषों का अन्तर्भाव—(१) उपमायामिति।

(१) उपमालंकार में 'उपमान' की जातिगत अथवा परिमाणगत (प्रमाण = परिमाण) न्यूनता अथवा उसी प्रकार को जातिगत तथा परिमाणगत अधिकता, (जिसे वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने उपमा-दोषों में अलग से गिनाया है) वस्तुतः पूर्वोक्त अनुचितार्थत्वदोष' रूप ही हैं।

(२) धर्माश्रयेत्विति। साधारण धर्म में रहनेवाले 'न्यूनत्व' और 'अधिकत्व', क्रमशः 'हीनपदत्व' तथा 'अधिकपदत्व' रूप पूर्वोक्त दोषों से भिन्न नहीं हैं। क्रमेणोदाहरणमिति। क्रमशः उन सबके उदाहरण दिये जा रहे हैं। जैसे—

(१) उपमान का न्यूनाधिक्य

उपमान की जातिगत न्यूनता का अनुचितार्थता में अन्तर्भाव का उदाहरण—

(क) चण्डालैरिवेति। चाण्डालों के समान तुमलोगों ने अतिसाहस किया है। 'साहसं तु दम्भे दुष्कर्मणि अविमृश्यकृते धाष्ट्र्ये' इति हैमः॥

'सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः' के नियमानुसार किसी भी सम्बोध्य पुरुष को 'चाण्डाल' कहना उचित नहीं है। 'चण्डाल'—ही चाण्डाल कहा जाता है।

वामन ने अपनी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में 'चाण्डालैरिव युष्माभिः'—इस वाक्य को उपमान की जातिगत न्यूनता के उदाहरणरूप में दिया है, क्योंकि इस वाक्य में 'चण्डाल' को उपमान बनाया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट के मत से इसका अन्तर्भाव, 'अनुचितार्थत्व' दोष में ही हो जाता है।

वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥ ५८५ ॥

अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥ ५८६ ॥

पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥ ५८७ ॥

अत्र चण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कर्दर्थित इत्यनुचितार्थता ।

(ख) 'वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति' ॥५८५॥ अर्थात् यह सूर्य, अग्नि की चिनगारी (स्फुलिङ्ग) के समान सुशोभित हो रहा है ॥५८५॥

यहाँ पर सहस्रकिरणोंवाले सूर्य की अग्नि के एक कण (स्फुलिङ्ग) के साथ तुलना करना अनुचित है। इस (ख) चिह्नित वाक्य को वामन ने उपमान के परिमाणगत न्यूनत्वदोष का उदाहरण बताया है। क्योंकि इसमें 'भानु' (सूर्य) का उपमान 'वह्निस्फुलिङ्ग' (अग्नि का एक कण) को बनाया है, जो परिमाण में उपमेयभूत सूर्य से कहीं अधिक न्यून है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इसका भी अन्तर्भाव, पूर्वोक्त 'अनुचितार्थत्व' दोष में किया है। पहिले 'क' चह्नित उदाहरण में साहसीपुरुष' के लिए साहस की प्रशंसा न होकर 'निन्दा' ही अभिव्यक्त की गई है—और दूसरे 'ख' चिह्नित उदाहरण में 'सूर्य' की तुच्छता व्यक्त की गई है, अतः दोनों पद्यांश दूषित हैं।

प्रदीपकार का कहना है कि 'चण्डालत्वजातेर्न्यूनतया दुष्कर्मकारित्वव्यक्तेरनुचितार्थत्वम्'। उद्योतकार कहते हैं कि 'तद्व्यक्तिविवक्षायाम् अर्थात् दुष्कर्मकारित्वव्यञ्जनायां तु न दोषत्वम्'। भीमसेन ने सुधासागर में कहा है—"यदा साहसिकमात्रोपमानविवक्षया चण्डालादिपदम् उपादीयते तदैवेदमुदाहरणम्, न तु दुष्कर्मकारित्वविवक्षायामपि"। संकेतव्याख्याकार सोमेश्वर ने "अत्र वाच्यं साहसकारित्वमिव अस्पृश्यत्वाद्यपि व्यंग्यमिति आतिगतं न्यूनत्वम्"—कहा है।

(ग) अयं पद्मासनेति। कमलासन पर आसीन हुआ यह चक्रवाक ऐसा सुशोभित हो रहा है, मानों सृष्टि के आरम्भकाल में प्रजोत्पादन करने की इच्छा से कमलासन पर ब्रह्मा ही बैठा हो ॥५८६॥

यहाँ पर 'चक्रवाक'—उपमेय है और उसका उपमान 'ब्रह्मा' को बनाया है। वामन ने इसे 'उपमान के जातिगत आधिक्य' का उदाहरण कहा है।

किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस उदाहरण में भी 'अनुचितार्थता' ही मानी है।

(घ) पातालमिवेति। तुम्हारी 'नाभि', पाताल के समान (गहरी), 'स्तन', पर्वतों के समान ऊँचे और 'वेणीदण्ड' अर्थात् वेणीबन्ध यमुनाप्रवाह के समान कृष्णवर्ण है ॥५८७॥

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥ ५८८ ॥

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादित इति हीनपदत्वम् ।

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥ ५८९ ॥

वामन ने इसे 'उपमान के परिमाणगत आधिक्यदोष' का उदाहरण माना है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस उदाहरण में भी पूर्वोक्त 'अनुचितार्थतादोष' के ही अन्तर्गत स्वीकार किया है।

अत्रेति। इन उदाहरणों में 'चण्डाल' आदि उपमानों ने वर्णनीय अर्थ को अत्यधिक निकृष्ट (तिरस्कृत) बना दिया है। इसकारण इन सभी उदाहरणों में 'अनुचितार्थत्व' दोष है।

(२) साधारण धर्म की न्यूनाधिकता—साधारणधर्म की न्यूनता का 'हीनपदत्व' में अन्तर्भाव करके उसका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(क) स मुनिरिति। मूंज की मेखला (करधनी) और कृष्ण मृग के अजिन (चर्म) को धारण किये हुए वे नारदमुनि, नीलमेघ के खण्ड से आवृत सूर्य के समान सुशोभित हुए ॥५८८॥

अत्रोपमानस्येति। यहाँ पर उपमान का (सूर्य का) मूंज के स्थानापन्न 'विद्युत्' रूप धर्म को किसी शब्द के द्वारा नहीं बतावा है; उसकारण यहाँ 'हीनपदत्व' दोष है।

अभिप्राय यह है कि 'नारदमुनि'—उपमेय हैं, उनके साथ 'पीलेरंग की मूंज की मेखला' (करधनी) और कृष्णमृगचर्म'—इन दो धर्मों का सम्बन्ध है, दूसरी ओर 'सूर्य' को उपमान बनाया है। सूर्य के साथ कृष्णमृगचर्म की जगह 'नील मेघखण्ढ' का सम्बन्ध तो दिखाया है, किन्तु पीले रंग की मौंजीस्थानीय किसी धर्म का सम्बन्ध नहीं दिखाया है। इसकारण वामन ने इसे उपमानगत 'धर्मन्यूनता' का उदाहरण माना है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इसको पूर्वोक्त 'हीनपदत्व' का उदाहरण माना है।

उपमानगत धर्माधिक्य का उदाहरण—

(ख) स पीतवासा इति। भामह ने 'रामशर्मा' कवि के नाम से इस पद्य को उद्धृत किया है। इस पद्य का अर्थ, इस प्रकार है—पीताम्बरधारी और शृङ्गनिर्मित धनुष को धारण किये हुए भगवान् श्रीकृष्ण, विद्युत् एवं इन्द्रधनुष से युक्त और रात में चन्द्रमा के साथ मिलते हुए मेघ के समान सुन्दर एवं भयंकर एकसाथ ही दोनों रूपों को प्राप्त हुए ॥५८९॥

अत्रोपमेयस्य शङ्खादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम् । लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् । यथा—

अत्रोपमेयस्येति । इस पद्य में श्रीकृष्णरूप उपमेय के शंख-चक्रादि धर्म का कथन न करने से उपमानरूप मेघ में शंखतुल्य चन्द्रमा का ग्रहण अधिक हो गया है । इसलिए यहाँ पर धर्माधिक्य दोष हो गया है—यही 'अधिकपदत्व' दोष है ।

शंका—उपमानगत 'धर्मन्यूनता' और 'धर्माधिकता' के समान ही उपमेयगत 'धर्मन्यूनता' और 'धर्माधिकता' दोष हैं,या नहीं ? यदि हैं तो उन्हें क्यों नहीं बताया ?

समाधान —उपमानगत 'धर्मन्यूनत्व' ही उपमेयगत 'धर्माधिकत्व' है । उसीतरह उपमानगत 'धर्माधिकत्व' ही उपमेयगत 'धर्मन्यूनत्व' है । इसलिये उन्हें अलग से नहीं बताया ।

(३) लिङ्गभेद और वचन भेद—

वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने उपमान तथा उपमेय के लिङ्ग-भेद एवं वचन भेद को भी उपमालंकार का दोष माना है । काव्यप्रकाशकार मम्मट का कहना है कि जहाँ उपमान-उपमेय के लिङ्गभेद अथवा वचनभेद के कारण 'साधारण धर्म' में भी लिङ्ग या वचनभेद का अन्तर आ जाता है, वहीं पर उन्हें 'दोष' के रूप में समझा जाता है,फिर भी उनको पृथक् से 'दोष' न मानकर उनका अन्तर्भाव' 'भग्नप्रक्रम'दोष में ही कर दिया जाता है। लिङ्गभेद या वचनभेद में 'भग्नप्रक्रम' दोष इसलिए होता है कि उपमान-उपमेय में लिङ्ग भेद या वचनभेद होने पर 'साधारणधर्म' का एक जगह तो 'वाच्यरूप' में यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, परन्तु दूसरे के साथ लिग-विपर्यय की कल्पना करके प्रतीयमान धर्म के रूप में अन्वय करना होता है । किन्तु जहाँ पर उपमान-उपमेय में लिङ्ग या वचन का भेद रहने पर भी साधारणधर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता है, वहाँ दोनों के साथ यथाश्रुत ही उसका अन्वय कर दिया जाता है, वहाँ किसी प्रकार का दोष नहीं है । उसकारण लिङ्ग भेद तथा वचनभेद को अलग से 'उपमादोष' मानने की आवश्यकता नहीं है । इसी आशय को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

(३) लिङ्गवचनभेदोऽपीति । उपमान तथा उपमेय का लिंगभेद या वचनभेद, यदि 'साधारणधर्म' को परिवर्तित कर दे अर्थात् 'असाधारणधर्म' बना दे, यानी किसी एक ही के साथ अन्वित होने योग्य बना दे, तो उपमान या उपमेय में से किसी एक के ही साथ उस साधारण धर्म के अन्वय की प्रतीति होगी,उस कारण उसका उपमानत्व या

चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्मन्दभाग्यस्य मे ॥ ५९० ॥

सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥ ५९१ ॥

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद्दूषणावतारः उभयथापि अस्यानुगमक्षमस्वभावत्वात् ।

उपमेयत्व, साधारण धर्मरूप विशेषण से युक्त का ही होगा और दूसरी जगह प्रतीयमान धर्म से प्रतीत होगा। इसलिये प्रक्रान्त का स्पष्ट रूप से निर्वाह न होने के कारण भग्नप्रक्रमत्व दोष बन जाता है। यथा—जैसे (क) चिन्तारत्नमिवेति। हा, धिक्कार है, चिन्तित अर्थ को देने वाले चिन्तामणि के समान तुम मुझ मन्दभाग्य के हाथ से गिर गये ॥ ५९० ॥

यह 'लिंगभेद' का उदाहरण है। यहाँ पर 'चिन्तारत्न'—यह उपमान, नपुंसकलिंग में है और 'असि'—मध्यम पुरुष के एकवचन की क्रिया से 'त्वम्'--उपमेय पुलिङ्ग में है। इस पुंलिंगी उपमेय का ही अनुसरण करके 'च्युतः'—यह साधारण धर्मवाचक पद पुंलिङ्ग में प्रयुक्त किया गया है। एवं च 'च्युतः'-इस पुंलिङ्ग पद का 'चिन्तारत्नम्'-इस भिन्न लिङ्ग के (नपुंसकलिंग) उपमान के साथ शीघ्र अन्वय नहीं हो ककता। 'च्युतम्' पद को ही अध्याहृत कर गृहीत किया जाता है। उस कारण भग्न प्रक्रम दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि लिंगविपरिणाम आदि की कल्पना करने में विलम्ब लगता है, उस कारण प्रतीयमान रूप से ही साधारण धर्म का अन्वय किया जाता है, उस कारण 'भग्नप्रक्रमता' दोष हो जाता है। इस रीति से यह लिंगभेद का उदाहरण बताया गया।

(ख) सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५९१॥

यह 'वचनभेद' का उदाहरण है। हे राजन् ! कुलवधू के समान शुद्ध 'सतुए' को खाया ॥ ५९१ ॥

यहाँ पर 'शुद्धाः'—यह साधारण धर्मवाचक पद बहुवचन में हैं। अतः 'सक्तवः'—इस बहुवचनान्त उपमेय' के साथ ही उसका अन्वय होगा। 'कुलवधूः'—इस एकवचनान्त उपमान के साथ उसका अन्वय नहीं होगा। उस कारण यहां की 'उपमा' को संगत करने के लिये 'कुलवधूः'—इस उपमान के साथ संगत होने वाले साधारण धर्मवाचक 'शुद्धा'—इस परिवर्तित रूप को 'अध्याहृत' करना पड़ता है। उपर्युक्त वाक्य में 'सक्तु' शब्द 'पुंल्लिग' रहने से यह 'उपमेय', लिंग की दृष्टि से भी उपमान के साथ विसंगत है। किन्तु यह विसंगति यहां पर विवक्षित नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भ 'वचनभेद' का है। अर्थात् बहुवचनान्त 'शुद्धाः' पद का 'सक्तवः' के साथ तो वाच्य रूप में यथाश्रुत अन्वय हो जाता है, परन्तु एकवचनान्त उपमान-वाचक 'कुलवधूः' पद के साथ वचनविपरिणाम की कल्पना करके प्रतीयमान रूप में

ही उसका अन्वय किया जाता है। उस कारण एक जगह वाच्य और दूसरी जगह प्रतीयमान रूप से साधारण धर्म का अन्वय होने से 'भग्नप्रक्रमता' दोष हो जाता है। और वचनविपरिणाम करने में बिलम्ब होने के कारण 'उपमालंकार' की प्रतीति तत्काल नहीं हो पाती है, इसकारण भी भग्नप्रक्रमतादोष होता है ॥५९१॥

इसी अभिप्राय को प्रदीपकार ने भी व्यक्त किया है—'बहुत्वविशिष्टः शुद्धत्वरूपः साधारणो धर्मः, बहुत्वविशिष्टेषु सक्तुषु उपमेयेष्वेव अन्वेति, नत्वेकत्वविशिष्टे वधूरूपे उपमाने इति वाच्यधर्मविशिष्ट-प्रतीयमानधर्मविशिष्टयोरुपमेयोपमानत्वप्रतीतिर्भग्न-प्रक्रमत्वमेव। लिंगभेदोऽत्र विद्यमानोऽपि अप्रधानम्। उपमानस्य बहुत्वे लिंगभेदेऽपि उभयान्वयसंभवात्। एतेन 'लिंगभेदादपि उपमायोगः' इति कमलाकरभट्टोक्तमपास्तम्।

लिङ्गभेद की अदोषता—

शंका—यत्र तु नानात्वेपीति। जहाँ पर 'उपमान' तथा 'उपमेय' के लिङ्ग एवं वचन भिन्न भी हों, तो भी 'साधारणधर्मवाचक पद' के स्वरूप में परिवर्तन नहीं रहता, वहाँ पर 'साधारणधर्मवाचक पद' का दोनों के साथ अर्थात् उपमान और उपमेय के साथ उसीरूप से अन्वय किया जा सकता है। उसकारण वामनोक्त 'लिंग भेद' अथवा 'बचनभेद'रूप दोष का प्रसंग ही नहीं रहता है, क्योंकि 'उभयथापीति'। दोनों प्रकार से अनुगमन करने की क्षमता उसके स्वभाव में है। प्रदीपकार ने कहा भी है कि "यत्र तु लिंग-बचनयोर्भेदेऽपि सामान्याभिधायि पदम्, उपात्तरूपभेदं न आपद्यते किन्तु उपात्तेनैवरूपेण उभयत्र अन्वेति, तत्र दोषत्वमेव नास्ति, उभयत्रापि अस्य अनुगमयोग्यस्वभावत्वात्'। मम्मट ने 'लिंगभेद और बचनभेद' दोषों का समावेश भग्नप्रक्रम (प्रक्रमभंग) दोष में किया है। उपमान और उपमेय के 'लिंग' अथवा 'वचन' भिन्न-भिन्न रहने पर यह दोष हुआ करता है। जैसे—'हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवाऽमलं नभः' में उपमान 'हंसी'—'स्त्रीलिंग' है और उपमेय 'चन्द्र'—'पुंलिंग' है। उसीतरह 'सरांसि' यह 'उपमान'—बहुवचन में है और 'नभः'—यह 'उपमेय' एकवचन में है। इस प्रकार 'उपमान-उपमेयों' का लिंग-वचन भेद दोषास्पद क्यों माना जाता है?

समाधान—उक्त प्रश्न का उत्तर यह है—'उपमान-उपमेय' में लिंग-वचन का मेल न रहने पर प्रायः परिणाम यह होता है कि उनके 'साधारण धर्म' का वाचक पद, या तो 'उपमान' के या 'उपमेय' के लिंग-वचन का अनुसरण करता है। उसकारण वह केवल 'उपमान' से ही अन्वित होता है, अथवा केवल 'उपमेय' से ही अन्वित होता है। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में 'धवलः' और 'अमलम्'—इन 'साधारण धर्मवाचक पदों' का यथाक्रम केवल 'चन्द्र' और 'नभः'—इन 'उपमेयवाचक' पदों के

साथ ही अन्वय होता है, क्योंकि इन 'विशेषण-विशेष्यों के 'लिंग-वचन' परस्पर मिलते-जुलते हैं। 'धवलः' और 'हंसी' तथा 'अमलम्' और 'सरांसि'—इनमें 'विशेषण-विशेष्यभाव' नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'लिग-वचन' में उनका परस्पर मेल नहीं है। इसी प्रकार केवल 'उपमान' से अन्वित होनेवाले 'धर्मवाचक पदों के भी उदाहरण हैं, जैसे--'हंसीव धवला चन्द्रः सरींसीवामलानि खम्' में 'धवला' और 'अमलानि'—इन 'धर्मवाचक पदों' का अन्वय क्रमशः केवल 'हंसी' और 'सरांसि'—इन 'उपमानवाचक पदों' के साथ ही होगा। क्योंकि इनमें 'लिंगवचनों' का मेल है। उपमेयवाचक 'चन्द्रः' और 'खम्' इन पदों के साथ नहीं होगा। अर्थात् 'धवला चन्द्र, अमलानि खम्' नहीं कहा जायगा। क्योंकि इनमें 'लिंग-वचन' का मेल नहीं है।

'भग्नप्रक्रम' का मम्मट ने विवेचन इस प्रकार किया है कि 'भग्नप्रक्रम' (भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावः यत्र)—यह 'वाक्यदोष है। उसके क्षेत्र का विवरण सप्तम उल्लास में किया गया है। वहाँ पर उसने बताया है कि–'न एकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण'–(वामन—५।१।१) अर्थात् काव्य में प्रायः 'एक ही शब्द का दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि वैसा करने में कवि की दरिद्रता (शब्ददारिद्रय) झलकने लगती है यह सर्वसामान्य नियम है। 'एक बार निर्दिष्ट की हुई वस्तु' का पुनर्निर्देश यदि करना हो तो प्रथमनिर्देश में 'प्रयुक्त शब्द' का ही पुनर्निर्देश में प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् प्रथमनिर्देश में किसी 'विशिष्ट शब्द' का प्रयोग करने पर पुनर्निर्देश में उसके 'पर्याय शब्द' का प्रयोग करने पर दोनों निर्देशों की 'विषयभूत वस्तु' मूलतः एक रहने पर भी 'उस वस्तु की पृथक्ता का आभास' हो सकता है। उसकारण पुनर्निर्देश का प्रयोजन 'अंशतः बाधित' हो जाता है।

'उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तः विषयः एकपदप्रयोगनिषेधस्य तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः'–(मम्मट)। जैसे–

> 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
> सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता'॥

इस उदाहरण में 'ताम्र'–यह 'एक ही शब्द' दो बार प्रयुक्त हुआ है। उसके बदले यदि 'ताम्रः, रक्तः'—इन दो शब्दों का प्रयोग करते हैं, तो वस्तुतः वे दोनों शब्द, पर्याय (एकार्थक) रहने पर भी अलग-अलग धर्मों को बताने का भ्रम हो सकता है, जिससे 'सूर्य की उदयास्तकालीन एकरूपता' का बोध, मन में जैसा होना चाहिए वैसा हो नहीं पाता। ऐसी जगह पर 'एकबार प्रयुक्त हुए शब्द का पुनः प्रयोग करना' दोषावह नहीं समझा जाता। प्रत्युत 'दुबारा उसका प्रयोग न करने पर' दोष ही समझा जाता है। क्योंकि 'दुबारा प्रयोग न करने से प्रक्रान्त कार्य का

यथा—

गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥५९२॥

तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥ ५९३ ॥

(उद्दिष्ट प्रतीति का) 'अंशतः प्रतिबन्ध' ही होता है । इसी प्रकार 'उद्दिष्ट प्रतीति' का प्रतिबन्ध, उपमा में भी 'उपमान-उपमेय', भिन्न-भिन्न लिंग-वचन में रहने से 'साधारण धर्मवाचक शब्द' जहाँ परिवर्तित होता है, वहीं पर होता है । उसकारण लिंग-वचन-भेदरूप उपमादोष भी 'भग्नप्रक्रम' नामक वाक्यदोष के अन्तर्गत ही माना जाता है ।

यथा—(क) 'गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः' ॥५९२॥

अर्थात् बहुमूल्य रत्नों से जैसे 'समुद्र' प्रसिद्ध है, उसी प्रकार यह राजा 'अतिश्रेष्ठ गुणों' के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ॥५९२॥

यहाँ पर 'रत्नैः'–पद 'उपमान' है तथा 'गुणैः'–पद 'उपमेय' है । दोनों पदों के 'लिंग' भिन्न-भिन्न हैं, अतः यहाँ 'लिंग भेद' है । क्योंकि 'रत्न' पद 'नपुंसकलिंग' है और 'गुण' पद 'पुंलिंग' है दोनों में लिंगभेद के होते हुए भी 'तृतीयाविभक्ति' में उनके रूप एक से हो बनते हैं । इसलिए 'अनर्घ्यैः' इस 'साधारण धर्म' वाचक पद का, दोनों के साथ यथाश्रुत अन्वय हो जाता है । उसकारण यहाँ 'उपमान-उपमेय का लिंगभेद दोषावह नहीं माना जाता ।

वचन भेद की अदोषता—

इसी प्रकार 'वचनभेद' भी दोषावह नहीं होता है । जैसे—

(ख) 'तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः' ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥ ५९३ ॥

अर्थात् उस नायिका का मधुरता से भरा हुआ वेष उसके 'मधुरतापूर्ण हाव-भावों' के समान अन्य स्त्रियों से भिन्न होने के कारण अत्यधिक शोभा को धारण कर रहा था ॥ ५९३ ॥

तद्वेष इति । यहां पर 'तद्वेषः'—यह 'उपमेय' है तथा 'एक वचनान्त' है । उसी तरह 'विभ्रमाः'—यह 'उपमान' है तथा बहुवचनान्त है और असदृशः', 'मधुरताभृतः' और 'दधते'—ये तीनों पद 'साधारण धर्म' के वाचक हैं । साधारण-तया तीनों पदों के रूप एकवचन तथा बहुवचन दोनों में एक से ही होते हैं ।

उपर्युक्त उदाहृत श्लोक का अन्वय इस प्रकार होगा—

अन्याभिः स्त्रीभिः असदृशः मधुरताभृतः तद्वेषः तदीयाः विभ्रमाः इव परां शोभां दधते स्म ।

यहां पर एकवचनान्त 'उपमेय' (तद्वेषः), और बहुवचनान्त उपमान (विभ्रमाः) है। किन्तु उनके 'साधारणधर्मवाचक'—'असदृशः', 'मधुरताभृतः', परां शोभां दधते (स्म)—ये 'शब्दरूप' एकवचन तथा बहुवचन में भी एक से ही होते हैं। उस कारण उनको 'बाह्याकृति' में विना किसी परिवर्तन के उनका 'उपमान तथा उपमेय' दोनों के साथ अन्वय किया जा सकता है। तथाहि—
(१) उपमेय के पक्ष में--'असदृशः'—नञ् + सदृश (वि०) पुं०, प्रथमा एक वचन। मधुरताभृतः भृत √ भृ० (१ उ०) कर्मणि भूत, पुं, प्रथमा, एकवचन। भृत दधते—'डुधाञ् धारणपोषणयोः। धारण करना वर्त० प्र० पु० एकवचन।

(२) उपमान के पक्ष में—असदृशः–नञ् + सदृश (वि०), पुं० प्रथमा बहुवचन। मधुरताभृतः—मधुरतां बिभ्रति इति मधुरताभृतः। मूलशब्द—'मधुरताभृत्' है। 'भृतः'—यह उसकी प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है। 'दधते'—'धा' धातु (धारण करने के अर्थ में) आत्मनेपदी, वर्तमानकाल, प्रथम पुरुष बहुवचन है। एवं च 'साधारण धर्मवाचक तीनों पदों' के एकवचन और बहुवचन दोनों में एक से रूप निष्पन्न होने के कारण जब 'उपमानवाचक बहुवचनान्त' 'विभ्रमाः' के साथ उनका अन्वय होता है, तब उनके रूपों का बहुवचनान्त समझा जाता है और उपमेयवाचक एकवचनान्त 'तद्वेषः' के साथ उनका अन्वय किया जाता है, तब उन्हें एकवचनान्त समझा जाता है। इसलिये उपमान-उपमेय में 'वचनभेद' के रहने पर भी 'साधारणधर्मवाचक पदों के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः वहां कोई दोष नहीं आ पाता।

एकवचन तथा बहुवचन दोनों में 'असदृशः' ही रूप बनता है। 'समान इव पश्यति' इति सदृशः'—इस विग्रह में 'त्यदादिषुदृशोऽनालोचने कञ्च'—(३।२।६०) सूत्र में पठित 'समानान्ययोश्चेति वाच्यम्'—इस वार्तिक से 'समान' शब्द उपपद रहने पर 'दृश्' धातु से कर्ता में 'कञ्' प्रत्यय और 'दृग्दृश्वतुषु' (६।३।८९) सूत्र से 'समान' को 'स' आदेश होता है, तब 'सदृश' शब्द बनता है और उसका प्रथमा के एकवचन में 'सदृशः' रूप निष्पन्न होता है।

इसके विपरीत उसी 'समान इव पश्यति' विग्रह में 'क्विप् च'—(३।२।७६) सूत्र से 'क्विप्' प्रत्यय होता है तब 'सदृश्' शब्द बनता है। उसकी प्रथमा के बहुवचन में 'सदृशः' रूप बनता है। उसी प्रकार 'मधुरताभृतः' में 'भृतः' पद को 'क्त' प्रत्ययान्त

कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्तिमासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः। यथा—

माना जाय तो 'भृतः' यह प्रथमा के एकवचन का रूप होगा, और उसी को 'क्विप्' प्रत्ययान्त माना जाय तो 'भृतः यह प्रथमा के बहुवचन का रूप होगा। इसी प्रकार भ्वादिगण में पठित 'दध् धारणे' धातु से प्रथम पुरुष के एकवचन में 'दधते' रूप बनता है, और जुहोत्यादिगणपठित 'डुधाञ्-धारण-पोषणयोः' धातु से प्रथम पुरुष के बहुवचन में भी 'दधते' रूप निष्पन्न होता है।

'न लिंगवचने भिन्ने न न्यूनाधिकताऽपि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमतः'॥

महाकवि दण्डी ने अपने मत के समर्थन में उदाहरण भी दिये हैं—

'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयं वक्त्येषा स्त्री पुमानिव।
प्राणा इव प्रियोऽयं मे विद्या धनमिवार्जिता॥
भवानिव महीपाल देवराजो विराजिते।
बलमंशुमतः कक्षामारोढुं तेजसा नृपः'॥(दण्डी २।५२-५३)

देवराजः = इन्द्रः, अलम् = समर्थः, अंशुमतः = सूर्यस्य, कक्षाम् = पदवीम्—इन दो श्लोको के 'पहिले अर्ध' में 'लिंगभेद', 'दूसरे' में 'वचनभेद' और पुनः लिंगभेद, 'तीसरे' में उपमानन्यूनत्व और 'चौथे' में उपमानाधिकत्व है। ऐसे प्रयोग प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं,लेकिन उनसे आस्वाद में कोई कमी भी नहीं आती।

(४) कालभेद और पुरुषभेद--

काल-पुरुष-विध्यादिभेदेऽपीति। 'उपमा' में काल, पुरुष तथा विधि आदि का भेद रहने पर भी अर्थात् विधिलिङ्, लोट्, तव्य, अनीयर्-प्रत्ययों का 'अप्रवृत्त-प्रवर्तनरूप अर्थ' तथा 'आदि' पद से बोध्य 'आशीर्वाद' का भेद रहने पर भी, अस्खलित-रूप से उपमान-उपमेय की 'प्रतीति की समाप्ति' नहीं होती है। इसलिये यह 'काल, पुरुष, विधि आदि का भेद' 'भग्नप्रक्रमता' दोष से व्याप्त है।

वामन आदि आचार्यों ने जिस प्रकार 'उपमान-उपमेय' के लिंगभेद तथा वचन-भेद को 'उपमादोष' माना है उसी प्रकार 'उपमा' में कालभेद-पुरुषभेद-विधि आदि के भेद को उन्होंने भी (मम्मट ने भी) उपमा का दोष माना है।

परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट के मत में जैसे लिंगभेद, वचनभेद का 'अन्त-र्भाव' भग्नप्रक्रमता' दोष में हो जाता है, उसी प्रकार 'कालभेद, पुरुषभेद तथा विध्यादि भेद' का भी अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोष में हो जाता है। क्योंकि वहाँ

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ ५९४ ॥

भी 'काल', 'पुरुष' आदि के विपरिणाम के बिना 'उनका' उपमान-उपमेय-दोनों के साथ यथाश्रुतरूप में अन्वय नहीं हो सकता। इसलिए एक जगह वाच्यरूप से और दूसरी जगह विपरिणाम आदि के द्वारा प्रतीयमानरूप से उनका अन्वय होने के कारण 'भग्नप्रक्रमता' दोष हो जाता है,

यथेति । जैसे—

(क) अतिथिमिति । जैसे—बुद्धि (चेतना) रात्रि के अन्तिम प्रहर से 'प्रसाद' (निर्मलता) को प्राप्त करती है उसी प्रकार कुमुद्वती ने 'ककुत्स्थ के वंश' में उत्पन्न होनेवाले 'कुश' नामक राजा से 'अतिथि' नाम के पुत्र को प्राप्त किया ॥५९४॥

अत्रेति । चेतना (बुद्धि) प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में प्रतिदिन निर्मलता को प्राप्त करती है', इसलिए 'उपमान' के (चेतना के)साथ 'प्रसादं प्राप्नोति'-इस प्रकार वर्तमानकाल (लट्लकार) का प्रयोग करना चाहिए था, 'भूतकाल' का प्रयोग करना उचित नहीं है। कवि ने 'आप'=प्राप्त किया—इस प्रकार भूतकाल का अनुचित प्रयोग किया है। असकारण 'कालभेद' है।

कालभेद को वामन ने 'उपमादोष' माना है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'भग्नप्रक्रमता' दोष में ही इस 'कालभेद' दोष का अन्तर्भाव कर दिया है।

विवरण--रघुवंश के सत्रहवें सर्ग का प्रथम श्लोक 'अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रं प्राप कुमुद्वती। पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥ यह 'काकुत्स्थ', भगवान् रामचन्द्र का पुत्र है, जिसे 'कुश' कहते हैं। इस 'कुश' को 'अतिथि' नामक पुत्र होने का वर्णन है। 'कुश' के रानी का नाम 'कुमुद्वती' है। यहाँ पर 'काकुत्स्थ-कुमुद्वती-अतिथि'--यह वर्ग 'उपमेय' है और पश्चिमयाम, चेतना, प्रसाद'--यह 'उपमान वर्ग' है, 'प्राप्त होना'—यह 'साधारणधर्म' है, जिसे 'आप'-क्रिया से बताया गया है। 'कुमुदती' को 'राजाकुश'से 'अतिथि' नाम का पुत्र हुआ'-यह घटना 'भूतकाल' की होने से 'आप'-(< आप्-परोक्षभूत लिट्लकार प्र० पु० ए० व०)—यह भूतकालिक क्रिया, 'उपमेयवर्ग' के साथ पूर्णतया संगत हो जाती है, किन्तु 'रात्रि के पश्चिम प्रहर' में बुद्धि की निर्मलता का लाभ होना तो 'सार्वकालिक-सार्वदिक' है, क्योंकि 'ब्राह्मेकाले सर्वेषां बुद्धिवैशद्यं भवति'-- इति प्रसिद्धिः। वामन ने भी (१।३।२० में) कहा है—'रात्रियामस्तुरीयः काव्यकालः ......तद्वशाद् विषयोपरतं प्रसन्नं चित्तमवधत्ते'। माघकवि ने भी (सर्ग ११।६) में कहा है—'गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपा-

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः ॥

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५९५॥

अत्र लता बिभ्राजते न तु बिभ्राजसे इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात्पुरुषभेदः ।

श्चिन्तयन्त्यर्थजातम्' । अतः बुद्धिवैशद्य (निर्मलता) का निर्देश प्रतिदिन नियत सामयिक होने से वर्तमानकाल में करना आवश्यक हैं । तथाहि—'यथा पश्चिमात् यामिनीयामात् चेतना प्रसादम् आप्नोति तथा……' । यहाँ 'साधारणधर्मवाचक' 'आप' इस पद को उपमान के साथ अन्वित करते समय, 'काल' की ओर ध्यान देकर अर्थात् भूतकाल से वर्तमानकाल में अध्याहृत करना पड़ता है ।—यह 'भग्नप्रक्रम' दोष ही है ।

अब 'पुरुषभेद' का उदाहरण बता रहे हैं--

(ख) प्रत्यग्रमिति । तुरन्त (प्रत्यग्र) स्नान करने के कारण अच्छी तरह निर्मल-रूपवाली और कौसुंभरंग से लाल रंगी चमकती हुई मनोहर साड़ी पहनी हुई हे प्रिये ! तुम मकरकेतन कामदेव का पूजन करते समय ऐसी सुशोभित हो रही हो जैसे नूतन कोमल कोपलों (पल्लवों) वाले वृक्षसे पैदा हुई लता (बेल) सुशोभित होती हो ॥५९५॥

यहाँ पर उपमानवाचक पद 'लता' है, और 'त्वम्' पद--उपमेयवाचक है । 'लता विभ्राजते' और 'त्वं विभ्राजसे'--इस प्रकार 'प्रथम-मध्यमपुरुष का भेद' प्रतीत हो रहा है । 'विभ्राजित होना' यह 'साधारणधर्म' 'उपमान-उपमेय दोनों' का है, परन्तु 'लता' के पक्ष में 'विभ्राजते'—इस प्रथम पुरुष के 'एकवचन' में ही उसका अन्वय किया जा सकता है, और उपमेयरूप 'त्वम्' के साथ 'विभ्राजसे' का अन्वय यथाश्रुत हो जाता है । इसलिये भिन्न-भिन्न पुरुष (पुरुषभेद) के कारण एक जगह तो 'वाच्य' और दूसरी जगह 'साधारणधर्मरूप प्रतीयमान अर्थ' का अन्वय हो रहा है । उसकारण यहाँ 'पुरुषभेदरूप' उपमादोष हो रहा है—ऐसा वामन का कहना है, किन्तु काव्यप्रकाशकारमम्मट का कहना है कि यहाँ भी 'भग्नप्रक्रम' दोष ही माना जायगा । इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मट ने 'वृत्ति' में बताया है- 'अत्र लता 'विभ्राजते' न तु 'विभ्राजसे' इतीति । यहाँ पर 'विभ्राजते'—इस प्रथम पुरुष का प्रयोग करना चाहिए था, न कि मध्यमपुरुष—विभ्राजसे' का प्रयोग । इसलिये 'सम्बोध्यमाननिष्ठस्य' अर्थात् सम्बोध्यमान 'वासवदत्ता' विषयक 'विभ्राजसे' —पदके अन्तिम भाग का 'असम्बोध्यमानविषयकरूप' से परिवर्तन होने के कारण 'पुरुष-भेदरूप 'दोष' हो गया है । जिसे काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'भग्नप्रक्रम' दोष के ही अन्तर्गत माना है ।

गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ॥ ५९६ ॥

इत्यादौ च गङ्गा प्रवहति न तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः। एवंजातीयकस्य चान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवाद्विध्यादिभेदः।

जिसे लक्ष्य करके [सम्बोधन करके] राजा उदयन यह श्लोक कह रहे हैं, वह वासवदत्ता है, उससे सम्बन्धित 'विभ्राजसे' पद का 'परभाग' यानी 'अन्तिम भाग' अर्थात् 'प्रत्यांश' का परिवर्तन यानी असंबोध्यमान लतारूप उपमान के रूप में परिवर्तित हो जाने से (लता के पक्ष में 'बिभ्राजसे' की जगह 'विभ्राजते' ऐसा विपरिणाम (परिवर्तन) करना आवश्यक हो जाने से) वामन के मत से 'पुरुषभेद दोष' हो गया है। निष्कर्ष यह है कि यहाँ पर 'लता' सम्बोधनीय नहीं है (लता से नहीं कहा जा रहा है)। अतः उसका अन्वय, 'विभ्राजते' के साथ हो सकता है। 'विभ्राजसे' के साथ नहीं। उसकारण संबोध्यमान में रहनेवाले 'परभाग' अर्थात् 'विभ्राजसे' क्रिया के अगले भाग का यानी 'प्रत्यय' का व्यत्यास असम्बोध्यमान अचेतन लता से सम्बन्ध करने के लिये करना होगा। अर्थात् 'विभ्राजसे' की जगह 'विभ्राजते' कहना होगा। यानी मध्यमपुरुष के 'से' प्रत्यय को प्रथम पुरुष के 'ते' प्रत्यय में बदलना होगा। अर्थात् मध्यमपुरुष को प्रथमपुरुष में परिवर्तित करना होगा। अतः यह क्रियमाण 'पुरुषभेद' भी 'भग्नप्रक्रम' ही कहलायगा।

अब विधिभेद का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(ग) 'गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्तिः' ॥५९६॥

गंगा के समान तुम्हारी कीर्ति (यश) सर्वदा प्रवाहित होती रहे ॥५९६॥

इत्यादाविति। 'गंगा' तो सर्वदा ही बहती रहती है, उसके लिये 'बहे' (प्रवहतु) कहना ठीक नहीं है। इसलिये गङ्गा के पक्ष में—'प्रवहतु' की जगह 'प्रवहति' का अन्वय, 'गंगा' के साथ करना उचित है। अतः 'प्रवहतु' पद का प्रयोग जो कवि ने किया है, वह ठीक नहीं है। उसकारण अप्रवृत्तप्रवर्तनरूप विधि का प्रयोग करना 'विधिभेदरूप दोष' यहाँ हो गया है। क्योंकि यहाँ पर 'गंगा' पद, 'उपमानवाचक' है, और 'कीर्ति' पद, 'उपमेयवाचक' है तथा 'प्रवहतु' पद, 'साधारणधर्मवाचक' है। 'प्रवहतु' (< प्र + $\sqrt{}$वह) पद 'आज्ञा (विधि) के अर्थ में प्रथमपुरुष-एकवचन में है। वह बहने (प्रवाह) के 'विधि' को बता रहा है। अर्थात् जो बह नहीं रही है, उसे बहने के लिये प्रवृत्त (प्रेरित) कर रहा है। यह 'प्रवहतु' रूप 'विधि' 'कीर्ति' के साथ तो संगत हो सकेगा, क्योंकि उक्त वाक्योच्चारण के समय 'कीर्ति' का न बहना संभव है, किन्तु 'गंगा' का प्रवाहित रहना (बहना) तो अनादिकाल से है। ऐसी स्थिति में 'प्रवहतु'—इस विधि का प्रयोग कैसे उपपन्न हो सकेगा ? क्योंकि 'विधि' तो 'अप्रवृत्त

प्रवर्तनरूप' हुआ करता है। पहले से ही प्रवृत्त हुए को पुनः प्रवृत्त करना सम्भव नहीं है। उसकारण आज्ञार्थक (विध्यर्थक) 'तु' प्रत्यय से बताया जानेवाला 'विधि', 'उपमानरूप गंगा' के साथ उपपन्न न हो सकने के कारण 'प्रवहतु' पद का अन्वय 'गंगा' के साथ करते समय 'प्रवहति' के रूप में करना पड़ता है, अर्थात् 'यथा गंगा प्रवहति, तथा……कीर्तिः प्रवहतु' कहना पड़ता है। उसकारण यहाँ 'भग्नप्रक्रम' दोष उत्पन्न होता है।

'फलार्थी नृपतेर्लोकान् पालयेत् यत्नमास्थितः।
दान-मानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव' ॥

इस पद्य में 'पालयेत्' क्रिया को 'उपमान' के साथ अन्वित करने के लिये 'पालयति' के रूप में बदलना पड़ता है।

यहाँ पर भी 'पालयेत्' क्रिया विध्यर्थक ही है। अतः 'विधिभेद दोष' ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

आज्ञार्थक तथा विध्यर्थक प्रत्ययों का मुख्य अर्थ—'विधि' के रूप में ही प्रसिद्ध है। इन दो अर्थों में से सन्दर्भ के अनुसार 'प्रार्थना, आकांक्षा' आदि अर्थों की भी अभिव्यक्ति हुआ करती है। इसी प्रकार क्वचित् 'उपमा' में 'आशीर्वादार्थक, संकेतार्थक कोई शब्द हो तो उसे उपमेय के साथ अन्वित करने की आवश्यकता होने पर जो उसमें परिवर्तन करना पड़ता है, तब वहां भी 'भग्नप्रक्रम' दोष होता ही है।

शंका--(ग) गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्तिः'—में दोनों के साथ 'प्रवहतु' का अन्वय मान लेने में क्या हानि है ?

समा०—'विधि'—अप्रवृत्तप्रवर्तनरूप है। इसलिये गंगा के पक्ष में—'अप्रवृत्त-प्रवर्तनारूप विधि का सम्भव न रहने से 'प्रवहतु' पद का प्रयोग करना उचित नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह है कि लिङ् , लोट् , तव्यत् आदि प्रत्ययों को 'विधि-प्रत्यय' कहा जाता है। इन विधि-प्रत्ययों का काम, अप्रवृत्त को किसी विशेष कार्य में प्रवृत्त करना होता है। गंगानदी तो सर्वदा ही बहती रहती है, उसे बहने के लिये प्रवृत्त (प्रेरित) करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये गंगा के पक्ष में विधि प्रत्यय की सङ्गति नहीं लगती। अतः गंगा के पक्ष में 'प्रवहतु' पद का यथाश्रुत अन्वय करना सम्भव नहीं है, उस कारण 'गंगा' का 'प्रवहति'—इस वर्तमान-कालिक रूप में विपरिणाम करना आवश्यक हो जाता है। इसलिये वामन ने इसे अलग से 'उपमा दोष' माना है परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इसे भी 'भग्न प्रक्रमता' दोष के अन्तर्गत ही माना है।

एवंजातीयकस्येति। इसी प्रकार के 'चिरञ्जीवतु ते पुत्रो मार्कण्डेयो मुनिर्यथा'—इत्यादि 'आशीर्वादात्मक वाक्यों' में प्रयुक्त आशीर्वादरूप आदि अन्य अर्थों का भी (जैसे 'इन्द्रस्येव श्रियोवृद्धिस्तव सम्प्रार्थ्यते जनैः'—में प्रार्थ्यमान श्रीवृद्धि आदि अर्थ का) 'उपमान' में सम्भव न होने से क्योंकि उक्त वाक्य में उपमानभूत मार्कण्डेय मुनि तो समाप्त हो चुके हैं, उनके साथ 'जीवतु'—इस 'आशीर्वचन' की यथाश्रुत सङ्गति लगनी सम्भव न होने के कारण 'विधि' आदि का 'भेद' अर्थात् विपर्यास करना पड़ता है। इस विपर्यास को वामन ने विधिभेदरूप 'उपमा-दोष' बताया है किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस विधिभेदरूप दोष का अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोष में ही किया है।

कुछ विद्वानों ने उपमादोषों को दूर करने का एक उपाय बताया है—कालभेद, पुरुषभेद, विध्यादिभेद को वामन ने 'उपमा के दोष रूप में जैसे बताया है, उसी तरह काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी उनको दोष के रूप में तो स्वीकार किया है, किन्तु उन दोषों को पृथक् रूप में न मान कर सप्तमोल्लास में प्रतिपादित 'भग्न-प्रक्रमता' दोष के अन्तर्गत ही माना है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'कालभेदादि' को किसी भी रूप में 'दोष' मानना ठीक नहीं है। 'कालभेद' आदि को 'साधारण धर्म' न मान कर, 'उपमान-उपमेय' दोनों के साथ जिसका समान रूप से अन्वय किया जा सके उसे ही 'साधारण धर्म' के रूप में मान लेना चाहिये। वह 'धर्म' चाहे शब्दतः उपात्त हो (वाक्य में उच्चरित हो) अथवा प्रतीयमान हो।

कालभेद आदि दोष के 'प्रयोजक धर्म' के स्थान पर इस प्रकार के उच्चरित अथवा प्रतीयमान अन्य धर्म को मान लेने पर उक्त दोष के लिये अवसर ही नहीं मिल पाता। जैसे—'काम इव सुन्दरोऽयं राजा भाति' अथवा 'काम इवाऽयं राजा भाति--इन उदाहरणों में यदि 'भाति' को 'साधारण धर्म' मान लिया जाय तो उपमानभूत 'काम' के साथ, वर्तमान काल में उसके विद्यमान रहने से 'वर्तमान काल' की 'भाति' क्रिया का यथाश्रुत अन्वय सम्भव नहीं होगा, तब 'कालभेद दोष' होगा, परन्तु यदि 'भाति' के बजाय 'सुन्दरत्व' को 'साधारण धर्म' कहा जाय तो यह दोष नहीं होगा। यह सुन्दरत्वधर्म' 'काम इव सुन्दरोऽयं राजा भाति'—इस प्रथम वाक्य में शब्दतः उपात्त है, और 'काम इवाऽयं राजा भाति'—इस दूसरे वाक्य में शब्दतः उच्चरित (उपात्त) नहीं है, अपितु 'प्रतीयमान' है। इस प्रकार 'भाति' क्रिया का अन्वय तो केवल उपमेयभूत राजा के साथ ही होता है, उपमानभूत काम' के साथ उसका अन्वय नहीं है किन्तु 'सुन्दरत्व'—इस

ननु समानमुच्चारितं प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमायामुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धान्न कश्चित्कालादिभेदोऽस्ति, यत्राप्युपात्तेनैव

'साधारण धर्म' का सम्बन्ध दोनों के साथ समानरूप से हो सकता है,—ऐसी स्थिति में 'कालभेद' को दोष कैसे कहा जा सकेगा ?

इसी तरह 'पुरुषभेद' का जो उदाहरण—'बिभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती'—प्रदर्शित किया गया है, उसमें भी 'बिभ्राजसे' को 'साधारणधर्म' न मानकर (ख) प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्तिः' (श्लोक सं० ५९५) में प्रयुक्त 'विविक्तत्व' को साधारणधर्म यदि मान लें तो 'पुरुषभेद' नामक दोष का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता। उसकारण कालभेद, पुरुषभेद, विध्यादिभेद को न तो वामन के अनुसार अलग से उपमादोष मानने की तथा न काव्यप्रकाशकार 'मम्मट की रीति से भग्नप्रक्रमता दोष' में उसका अन्तर्भाव करने की आवश्यकता रहेगी। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मट बता रहे हैं—नन्विति। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'उच्चरित' (वाच्य) अथवा 'प्रतीयमान' (व्यङ्ग्य) रूप किसी अन्य साधारणधर्म के साथ 'उपमान' का समन्वय तथा 'उपमेय' का भी 'प्रकृतधर्म' के साथ समन्वय करने पर 'उपमा' का पर्यवसान हो जाता है, तब किसी तरह भी 'कालभेद' नहीं हो पाता।

अभिप्राय यह है कि यदि किसी उदाहरण में (१) 'प्रत्यक्ष-प्रयुक्त उपमान-उपमेय' के साथ अन्वित होने योग्य साधारणधर्म का वाचक कोई पद, उपलब्ध न हो, उसी तरह (२) 'किसी अन्य पद का अध्याहार करना भी जहां शक्य न हो', और (३) 'प्रत्यक्ष प्रयुक्त साधारणधर्म के बल पर ही उपमा की पूर्ति करना अनिवार्य हो' तब 'किसी प्रकारान्तर' से कालादिभेद के दोष को टालकर 'उपमा' की उपपत्ति लगाई जा सकती है। जैसे, 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति'—इस उदाहरण में 'युधिष्ठिर'—उपमान है और 'अयम्-उपमेय' है। यहाँ पर 'उपमानोपमेयभाव' को बताने वाला 'सत्यवदन' के अतिरिक्त अन्य कोई 'साधारणधर्म' उपलब्ध नहीं है, और न दूसरे किसी 'समर्पक धर्म' की कल्पना करना ही सम्भव है। अतः यहाँ पर आपाततः 'कालभेददोष' दिखाई दे सकता है क्योंकि 'सत्यं वदति'—इस 'साधारण-धर्मवाचक पद' को उपमानभूत युधिष्ठिर के साथ अन्वित करते समय 'सत्यम् अवदत्' के रूप में परिवर्तित करना होगा।

किन्तु यहां पर 'सत्यम् वदति' के द्वारा प्रतिपादित 'सत्यवादित्व धर्म' को यदि 'सत्यवादी' के रूप में अध्याहृत कर लें, और 'सत्यम् वदति' पद का अन्वय केवल उपमेय के साथ कर दें तो यहां भी कालभेद का प्रश्न उपस्थित नहीं होगा, अर्थात् अध्याहार करने पर प्रस्तुत उदाहरण का स्वरूप इस प्रकार होगा कि युधिष्ठिर 'इव

सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदती'ति तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे, सत्यवादी सत्यं वदतीति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् रैपोषं पुष्णातीतिवत् युधिष्ठिर इव सत्यवदनेन

सत्यवादी अयं सत्यं वदति'—इस वाक्य में 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयम्'—यहाँ तक के भाग में 'उपमा' पूर्ण हो जाती है, और शेष 'सत्यम् वदति'—इस भाग का अन्वय, केवल 'अयम्'—इस उपमेय के साथ होता है, तब यहां पर भी कालभेद का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। एवं च 'युधिष्ठिर इवाऽयं सत्यम् वदति' का अर्थ—'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' करने पर 'सत्यवदनशीलत्व' रूप 'स्वभाव' को उपमान-उपमेय का साधारण धर्म मानलेने से 'कालभेदादि दोष' को स्वतन्त्र रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती, और न 'भग्नप्रक्रमता' में 'उन दोषों' का अन्तर्भाव करने की आवश्यकता होती है।

शंका—इस पर पुनः प्रश्न हो सकता है कि 'युधिष्ठिर इव अयं सत्यं वदति'—इस प्रकार कहने पर हम ऐसा समझेंगे कि 'युधिष्ठिर इव सत्यवादी अयं सत्यं वदति' इस प्रकार से 'काल भेद' का दोष हट जाने पर भी 'पुनरुक्ति' का दोष उपस्थित होता है, क्योंकि 'सत्यवादी' और 'सत्यं वदति'—'दोनों का अभिप्राय' एक ही है।

समाधान—उपर्युक्त 'प्रश्न' का उत्तर यह है कि 'सत्यवादी अयं सत्यं वदति'—में जो पुनरुक्ति प्रतीत हो रही है, वह दोषास्पद नहीं है, क्योंकि इसके जैसे—'रैपोषं पुष्णाति' आदि 'कितने ही प्रयोग' प्रचलित हैं, और वे व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध भी हैं। 'रै' शब्द 'उपपद' रहने पर 'पुष्' धातु से 'स्वे पुषः'—(३।८।४०) सूत्र से 'णमुल्' प्रत्यय और 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः'—सूत्र से 'पुष्' धातु का अनुप्रयोग करने पर 'रैपोषं पुष्णाति' आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं, और वहाँ 'पुनरुक्ति नहीं' मानी जाती, उसी प्रकार 'सत्यवादी सत्यं वदति'-जैसे प्रयोगों में भी 'पुनरुक्ति' नहीं समझनी चाहिये।

निष्कर्ष—यह है कि वामन ने 'कालभेदादि' को 'उपमादोष' के रूप में माना है, और मम्मट ने उसका अन्तर्भाव 'भग्नप्रक्रमता' दोष में किया है, किन्तु ये दोनों बातें अनावश्यक ही हैं। जहां 'उपमान और उपमेय' में कालभेदादियुक्त पदों के द्वारा 'साधारण धर्म' की उपस्थिति होती है, वहाँ उसको छोड़कर 'शब्दतः उच्चरित' अथवा 'प्रतीयमान' किसी अन्य धर्म को 'साधारणधर्म' मान कर भी 'सादृश्य' (उपमा) का समन्वय किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'इन दोषों' के होने का कोई अवसर ही नहीं है।

सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात् । सत्यमेतत्, किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदन्तु सर्वथा निरवद्यम् प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम् । असादृश्यासम्भवावप्युपमायामनुचितार्थतायामेव पर्यवस्यतः । यथा—

इसी बात को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेण उपमा अवगम्यते'—से बताया है—जहाँ 'वाक्य' में 'उपात्त साधारणधर्म' के द्वारा ही 'उपमा' (सादृश्य) का बोध होता है—जैसे, युधिष्ठिर इवाऽयं सत्यं वदति' अर्थात् यह युधिष्ठिर की तरह सत्य बोलता है । यहाँ भी युधिष्ठिर के समान सत्यवादी स्वभाववाला यह सत्य बोलता है'—यह अर्थ लेंगे, तब 'सत्यं वदति' के बजाय 'सत्यवादित्व' अर्थात् 'स्वभाव' ही 'साधारण धर्म' कहलायगा । 'सत्यवादित्व' का अर्थ, यहां पर 'सत्य बोलने की क्रिया'–नहीं है, अपितु 'सत्य बोलने का स्वभाव' है, अतः 'कालभेद' का दोष नहीं होगा ।

'सत्यवादी सत्यं वदति' इति चेति । 'सत्यवादी सत्य बोलता है'—यह अर्थ मानने में 'पुनरुक्ति' की 'आशंका' भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' के समान, युधिष्ठिर की तरह सत्य बोलने के कारण 'यह सत्यवादी सत्य बोलता है' – इस 'अर्थ' की प्रतीति होती है, इस कारण यहां पुनरुक्ति की आशंका करना उचित नहीं है ।

मम्मट का समाधान—सत्यमेतदिति । यह सिद्धान्त बताया जा रहा है । सिद्धान्ती अर्थात् काव्यप्रकाशकार मम्मट कहते हैं—

पूर्वपक्षी का कहना ठीक है, किन्तु महाकवियों के काव्यों में उपलभ्यमान प्रयोगों के विषय में दिया गया समाधान तो ठीक है, तथापि वह सर्वथा निर्दोष नहीं है, क्योंकि 'कालभेद आदि के दोष' की प्रतीति होने पर प्रस्तुत वस्तु अर्थात् 'उपमा' की प्रतीति होने में बाधा उपस्थित होती है । उस कारण 'कालभेद' आदि दोषों को "भग्नप्रक्रमता' दोष के अन्तर्गत ही मानना चाहिये,—इस विषय में 'सहृदय विद्वज्जनों' को ही प्रमाण माना जा सकता हैं ।

(५) असादृश्याऽसम्भवाविति । वामन ने 'असादृश्य' और 'असम्भव' को भी 'उपमादोष' के रूप में माना है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उन 'दोनों' का 'अनुचितार्थत्व' दोष में 'अन्तर्भाव' कर दिया है । मम्मट कहते हैं कि उपमा के 'असादृश्य तथा असम्भवरूप दोष भी 'अनुचितार्थत्व' दोष में ही पर्यवसित होते हैं, इसलिये उनको पृथक्रूप से दोष में गिनना ठीक नहीं है । जैसे—

ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥ ५९७ ॥

अत्र काव्यस्य शशिना अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम् ।

निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥ ५९८ ॥

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति ।

(उत्प्रेक्षादोषाणां दोषसामान्येऽन्तर्भावः)

उत्प्रेक्षायमपि सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथाशब्दोऽपि केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् तस्य चास्यामविवक्षितत्वादिति तत्राशक्तिरस्यावाचकत्वं दोषः । यथा—

(क) ग्रथ्नामीति । 'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्'—अर्थात् बिखरी हुई अर्थरूप किरणों से विशिष्ट 'काव्यरूप चन्द्रमा' की रचना करता हूँ ॥५९७॥

अत्रेति । यहाँ पर 'काव्य' का 'शशी' के साथ और अर्थों का किरणों के साथ 'साधर्म्य' (सादृश्य) कहीं पर भी प्रतीत नहीं हो रहा हैं। अतः यहाँ वामनोक्त अनुचितार्थत्व 'असादृश्यदोष' रूप ही है। यह उपमागत असादृश्य का उदाहरण है ।

(ख) निपेतुरिति । धनुष के खींचने पर गोलाकार धनुष के बीच में स्थित उस राजा के मुख से दीप्त बाण ऐसे गिर रहे थे, जैसे मानों मध्याह्न के समय परिवेष (परिधि) युक्त सूर्य से जलती हुई जल की धारायें गिर रही हों ॥५९८॥

अत्रापीति । यहाँ भी जलती हुई जलधाराओं का सूर्य मण्डल से गिरना असंभव है। इसलिये उपमान के रूप में वर्णित यह अर्थ अनौचित्य का ही पोषक हैं ।

यहाँ तक वामन के द्वारा अलग से बताये गये 'उपमादोषों' का अन्तर्भाव पूर्वोक्त दोषों में ही हो जाने से उनको अलग दोष मानने की आवश्यकता नहीं है।

(ग) अब 'उत्प्रेक्षा' के दोषों का विवेचन करते हैं। 'उत्प्रेक्षा के दोषों का भी अन्तर्भाव 'पूर्वोक्त दोषों' में ही ग्रन्थकार ने बताया है—

(१) उत्प्रेक्षायामपीति । उत्प्रेक्षालङ्कार में भी, उसके मुख्यलक्षणरूप 'संभावना' को 'ध्रुवं', 'इव', 'वा' आदि शब्द ही बोधित कर सकने में समर्थ हैं। कहा भी है—

'मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येबवादयः ।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' ॥

उद्ययौ दीर्घिकागर्भान्मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्यशङ्कासंकुचितं यथा ॥ ५९९ ॥

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरूपाख्यप्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरन्यासोपादानं तत् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः । यथा—

किन्तु 'यथा' शब्द, उत्प्रेक्षा की हेतुभूत 'सम्भावना' को बताने में समर्थ नहीं है। 'यथा' शब्द तो केवल 'साधर्म्य' को ही बताने में समर्थ है, किन्तु उत्प्रेक्षा में 'साधर्म्य' की विवक्षा नहीं है। इसलिए 'संभावना' के विषम में 'यथा' शब्द की 'शक्ति' न होने से 'उत्प्रेक्षा' के स्थल में 'यथा' शब्द का उपादान करने पर 'अवाचकत्व' दोष होता हैं। जैसे—

उद्ययाविति। सुन्दरी नारी के नयनों का सौन्दर्य मुझसे अधिक है, इस शंका से 'भयभीत' होकर ही मानों नीलकमल 'कली' के रूप में बावडी (वापी सरोवर) से निकला हो अर्थात् शंका से भयभीत होकर 'कली' के रूपमें मानों संकुचित हो रहा हो ॥५९९॥

इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द के रूप में 'यथा' शब्द का प्रयोग किया गया है, परन्तु अकेला 'यथा' शब्द, केवल 'सादृश्य' का सूचक होता हैं, और उत्प्रेक्षा में 'सादृश्य' की कोई विवक्षा नहीं होती, अपितु 'सम्भावना' अथवा 'उत्कटैककोटिक सन्देह' ही विवक्षित रहता है, लेकिन उसका ज्ञान, केवल 'यथा शब्द' से नहीं हो पाता। उसकारण यहाँ पर 'उत्प्रेक्षावाचक शब्द' के रूप में 'यथा' शब्द का प्रयोग करने से 'अवाचकत्व' दोष हो गया है।

(२) उत्प्रेक्षितमपीति। उत्प्रेक्षालंकार में 'उत्प्रेक्षित अर्थ' भी 'वास्तविकरूप से रहित' (हीन) होने के कारण अर्थात् कल्पनामात्र होने के कारण 'वन्ध्यापुत्र', 'ख-पुष्प' आदि के समान 'असत्' जैसा ही होता है। उसके समर्थनार्थ जहाँ कहीं अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का आश्रय किया जाता है, वह भी 'समर्थनीय अर्थ' (वस्तु) से 'असत्' रहने से आकाश में बनाये (निराधार) चित्र के समान अत्यन्त अनुचित है। उसकारण 'उत्प्रेक्षित अर्थ' का 'निर्विषयत्व' (सर्वथा अनस्तित्व) भी 'अनुचितार्थत्व दोष' रूप ही है। जैसे—

दिवाकाराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवा भीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ॥ ६०० ॥

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात्त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम्, सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः।

(समासोक्तिदोषस्य दोषसामान्ये अंतर्भाव-समर्थनम्)

साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत्तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः। यथा—

(ख) दिवाकराद्रक्षतीति। जो हिमालय पर्वत दिन में सूर्य से डरकर हिमालय की गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार को सूर्य से मानों बचाता है, क्योंकि—ऊँचे सिर वाले अर्थात् महापुरुषों के मन में अपने शरण आये हुए क्षुद्र पुरुष के प्रति भी अत्यन्त ममत्व हो जाता है। उसकारण उन्नत शिरवाले हिमालय के द्वारा 'क्षुद्र अन्धकार' की सूर्य से रक्षा करना उचित ही है ॥६००॥

अत्रेति। यहाँ 'अचेतन अन्धकार' को दिवाकर (सूर्य) से 'त्रास' का होना असंभव ही हैं, तब त्रास के कारण 'हिमाद्रि' के द्वारा उस 'अन्धकार' का त्राण करना कैसे बन पायेगा? केवल कल्पनया प्रतीत होनेवाले 'भय' अथवा 'त्राण' रूप वाक्यार्थ में किसी प्रकार की कोई अनुपपत्ति न होने से उसके समर्थनार्थ अर्थान्तरन्यास के द्वारा प्रयत्न करना व्यर्थ ही है। एवंच 'उपमा' के तथा 'उत्प्रेक्षा' के और 'अर्थान्तरन्यास' के 'दोषों' को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

अब 'समासोक्ति' के दोषों पर विचार करते हैं—

(५) समासोक्ति के दोषों का अन्तर्भाव—

साधारणविशेषणवशादेवेति। उपमान-उपमेय दोनों के पक्षों में अन्वित होनेवाले 'साधारण विशेषणों' के द्वारा 'समासोक्ति' अलंकार भी 'उपमानविशेष' को प्रकाशित करता है। इसलिये यहाँ (समासोक्ति में) उस 'उपमानविशेष' का पुनः अलग से ग्रहण करना निष्प्रयोजन है। उसकारण, अर्थात् 'उपमान' को शब्दतः ग्रहण करने पर प्राचीन आचार्यों ने जिस 'अनुपादेयत्व' नामक 'समासोक्तिदोष' को माना है, उसे मम्मट ने प्रकृत में 'अनुपयुक्त' (=व्यर्थ) होने के कारण 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्ति' दोष के अन्तर्गत ही माना है। (प्रकारान्तर से प्रतीत अर्थ का शब्दतः पुनः कथन करना ही पुनरुक्ति कहलाती है।) जैसे—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितयेव विजृम्भिततापया।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयापि दिनश्रिया ॥ ६०१ ॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयितयेति स्वशब्दोपादानेन।

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः। यथा—

(क) स्पृशतीति। 'सूर्यरूप नायक' के करों (हाथों और किरणों) के द्वारा 'नायिका रूप दिशाओं' का स्पर्श करने पर ग्रीष्म दिनों की 'प्रौढा दिनश्रीरूप प्रतिनायिका' अत्यन्त सन्ताप मनःखेद तथा उष्णतातिशय) से भरी हुई और अत्यन्त मान को (अर्थात् दिनों की दीर्घता और नायिका के पक्ष में कोप) धारण करके 'दयितया इव'—प्रेमिका के समान देर तक सुन्दर लगती रही ॥६०१॥

अत्र तिग्मरुचेरिति। यहाँ दोनों पक्षों में अन्वित होसकने वाले 'साधारण विशेषणों' के द्वारा सूर्य तथा दिशाओं में क्रमशः पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंगरूप 'लिंग-विशेष' का ग्रहण होने से 'सूर्य' तथा 'दिशाओं' में क्रमशः 'नायक' तथा 'नायिकारूप' से प्रतीति स्वयं ही हो जाती है। उसीप्रकार ग्रीष्मकाल की 'दिनश्री' में प्रतिनायिका रूप से प्रतीति स्वयं ही हो जायगी। इसलिए उस 'प्रतिनायिकात्व' को 'दयितया'- इस 'उपमानवाचक' स्व-शब्द से प्रतिपादन करने से क्या लाभ? उसकारण इस उदाहरण में 'दयितया' पद का जो ग्रहण किया गया है, उसे प्राचीन अचार्यों ने 'समासोक्ति' का 'अनुपादेयत्व' नामक अलंकारदोष माना है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस 'दोष' को 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तत्व' दोषों में से किसी के भी अन्तर्गत मान लिया जा सकता है—कहा है।

शंका—स्पृशति तिग्मरुचौ'—इस पद्य में नायक, जैसे ही किसी 'नायिका' का स्व-करों से स्पर्श करता है, तब 'दूसरी नायिका' को डाह होता है, वैसे ही रवि, जब अपने किरणों से दिशाओं का 'स्पर्श' करता है, तो स्वभावतः दिन अत्यधिक गरम होता है अर्थात् ग्रीष्मकाल की दिनश्री को उग्र संताप होता है। इसप्रकार यहाँ 'समासोक्ति' नहीं है, अपितु 'उपमा' अलंकार है, और 'कर' 'ताप' आदि पदों में श्लेष होने से इसको 'श्लेषोपमा' का उदाहरण कहा जा सकता है।

समा०—श्लेषोपमायास्त्विति। 'श्लेषोपमा' वहीं पर मानी जाती है, जहाँ 'उपमान' को शब्द के द्वारा जब तक न बताया जाय, तब तक साधारण विशेषणों के द्वारा स्पष्टतया उसकी प्रतीति नहीं हो पाती।

यहां तो 'दयिता'—इस 'उपमानवाचक पद' के ग्रहण किये बिना भी 'साधारण विशेषणों के द्वारा ही 'ग्रीष्म की दिनश्री' में 'प्रतिनायिकात्व' की स्पष्टतया प्रतीति हो जाती है। उस कारण ऐसे उदाहरणों में 'श्लेषोपमा' नहीं होती, अपितु 'समासोक्ति' ही हुआ करती है। अन्यथा 'समासोक्ति' के सभी उदाहरणों में 'श्लेषोपमा' का सम्भव रहने से 'समासोक्ति का उदाहरण' ही दुर्लभ होगा। इसलिये 'श्लेषोपमा' और 'समासोक्ति' का विषय, भिन्न-भिन्न होना आवश्यक है। वह भिन्नता इस प्रकार है—जहाँ उपमानवाचक शब्द का ग्रहण किये बिना 'साधारण विशेषणों' के द्वारा 'उपमान' की स्पष्टतया प्रतीति न होती हो और उपमान को शब्दतः बताना भी आवश्यक रहता हो वहाँ 'श्लेषोपमा' हुआ करती है, किन्तु 'स्पृशति तिग्मरुचौ'—जैसे उदाहरणों में जहां साधारण विशेषणों से ही 'उपमान की प्रतीति' हो जाती है, वहाँ 'समासोक्ति' ही समझनी चाहिये, और वहाँ 'उपमानवाचक शब्द' का अलग से प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। इसी अभिप्राय को 'काव्यप्रकाश'कार मम्मट बता रहे हैं—श्लेषोपमास्त्विति'—श्लेषोपमा का 'विषय' वहीं होता है, जहां 'समान विशेषणों' के रहने पर भी 'उपमान विशेष' का ग्रहण किये बिना वैसी स्पष्टतया प्रतीति नहीं हो पाती है। यथेति। जैसे—

स्वयं चेति। वटुवेषधारी भगवान् शिव ने पार्वती का वर्णन इसमें किया है। इस पद्य में 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिनी' और 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा' ये दोनों विशेषण, सन्दर्भगम्य 'पार्वती' रूप उपमेय के साथ तथा 'प्रभातसन्ध्या' रूप उपमान के साथ 'श्लेष' के आधार पर अर्थ-भेद से उपपन्न हो रहे हैं। पार्वती के पक्ष में—'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—'पल्लवाः इव आताम्रौ (रक्तौ) पल्लवाताम्रौ, पल्लवाताम्रौ च भास्वन्तौ (तेजस्विनौ) च यौ करौ ताभ्यां विराजिता। तथा 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'—'सुखेन आप्यते इति स्वापम्'। न स्वापम्-अस्वापम्, अस्वापे फले लुब्धाय ईहितं (इष्टं) प्रयच्छति इति।

प्रभात-सन्ध्या के पक्षमें—'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता'—पल्लवाः इव आताम्राः पल्लवाताम्राः। भास्वतः (सूर्यस्य) कराः, भास्वत्कराः। पल्लवाताम्रैः भास्वत्करैः विराजिता। 'अस्वापफललुब्धे हितप्रदा'—न स्वापः (निद्रा), अस्वापः (जागृतिः), अस्वापः एव फलम् तस्मिन् लुब्धे। हितं प्रयच्छति इति हितप्रदा।

उपर्युक्त विवेचन से यह अवगत होता है कि उक्त पद्य में प्रयुक्त हुए "भास्वत्कर = सूर्यकिरण', 'अस्वापः = जागृतिः, 'हितप्रदा = कल्याणकारिणी'—इत्यादि अर्थ, जो उपमान के पक्ष में उपपन्न हो सकते हैं, 'उनका बोध', तब तक

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥ ६०२ ॥ इति

नहीं हो सकता, जब तक उपमानवाचक शब्द (पद) का प्रयोग न किया जाय। उस कारण यहाँ 'समासोक्ति' न होकर 'श्लेषोपमा' को मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति, 'स्पृशति तिग्मरुचौ' पद्य में नहीं है। अतः उसमें 'श्लेषोपमा' मानकर 'अपुष्टार्थता', या पुनरुक्तता' दोष का परिहार नहीं किया जा सकेगा।

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त 'स्वयं च पल्लवाताम्र०' श्लोक का अभिप्राय यह है— भगवान् शिव को पाने के लिये तप करती हुई पार्वती के समीप भगवान् शिव, बटुवेष धारण कर उसके मानसिक भाव को थाह लेने के लिये एक दिन आ पहुँचे, (क्योंकि स्त्रियों का भावपरीक्षण करना बहुत आवश्यक होता है।

'प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य बाटवीम्' ॥

और उससे कहने लगे कि इतने बड़े हिमालय के समृद्ध कुल में तुमने जन्म पाया, और तुम स्वयं भी असाधारण रूपादि गुणों से सम्पन्न हो, ऐसी स्थिति में तुम्हें कौन सी कमी (न्यूनता) है, जिसकी पूर्ति के लिये तुमने ऐसी कठोर तपश्चर्या करना आरम्भ किया है।

'स्वयं च पल्लवाताम्र०'—श्लोक का सरल अर्थ यह है—पार्वती, अपने सम्बन्धियों के महत्त्व के कारण ही नहीं, अपितु 'स्वयं' भी नवकिसलयों के समान आरक्त और कान्तिसम्पन्न हाथों से सुशोभित और मोक्ष जैसे अस्वाप = दुर्लभ फलके लोभी मुमुक्षुओं की कामना को भी प्रभात संध्या की तरह पूर्ण करनेवाली है।

प्रभात सन्ध्या के पक्ष में—नवीन कोमल कोपलों के समान रक्तवर्ण रवि-किरणों से शोभायमान और प्रातःकाल के समय 'अस्वाप'—जागरण के स्नान-संध्या आदि फल के लोभीजनों के अभीष्ट को देनेवाली प्रातः-संध्या हुआ करती है ॥६०२॥

इस पद्य में उपमानवाचक पद—'प्रभातसन्ध्या' है। यदि इस उपमानवाचक पद का प्रयोग, 'शब्दतः' न किया जाय तो केवल 'पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' और 'अस्वापफललुब्धेहितप्रदा'— इन विशेषणों से उसकी स्पष्टतया प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिये यहाँ समासोक्ति अलंकार नहीं है, अपितु 'श्लेषोपमा' ही है।

परन्तु 'स्पृशति तिग्मरुचौ०' इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'प्रतिनायिकारूप उपमान' की प्रतीति, 'दयितया' पद के ग्रहण किये बिना भी 'साधारणविशेषणों' के द्वारा ही हो जाती है। इसलिये इस 'स्पृशति०' पद्यरूप उदाहरण में 'श्लेषोपमा' का प्रसंग

(अप्रस्तुतप्रशंसाया दोषस्य दोष-सामान्ये अन्तर्भावः)

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम् । यथा—

आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवारिधि वा वसँस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥ ६०३ ॥

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम् ।

ही नहीं है । यहाँ तो 'समासोक्ति' ही मानना होगी । 'समासोक्ति' में उपमान-वाचक पद का 'पृथक् ग्रहण' करना अनुचित माना जाता है ।

(६) अप्रस्तुतप्रशंसायामपीति । 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के दोषों को बताते हैं—

उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' नामक अलंकार में 'साधारण विशेषणों' के द्वारा ही 'प्रस्तुत अर्थ' (उपमेय) की प्रतीति का होना बताया है । उसकारण उसका शब्दतः ज्ञान कराने पर 'अनुपादेयत्व' नामका अलङ्कारदोष माना है ।

परन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'उसे' भी 'अपुष्टार्थत्व' अथवा 'पुनरुक्तता' दोष के ही अन्तर्गत माना है—इसी 'आशय' को ग्रन्थकार स्वयं बता रहे हैं-अप्रस्तुत प्रशंसायामिति । 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलंकार में भी 'उपमेय' की (प्रस्तुतकी) प्रतीति (प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति), 'साधारण विशेषणों' के द्वारा ही (शब्दतः उसका ग्रहण किये बिना ही) हो जाती है, अतः पुनः शब्द के द्वारा कथन करके उसे दूषित नहीं करना चाहिए । यथेति । जैसे—

आहूतेष्विति । 'पक्षियों' को बुलाने पर आगे बढ़कर आनेवाले 'मच्छर' (मशक) को भी पक्षधारी होने से रोका नहीं जा सकता तथा 'समुद्र' के भीतर वृद्धिगत हुआ (रहनेवाला) तुच्छ 'तृणमणि' भी 'पद्मराग' आदि अनर्घ (बहुमूल्य) 'मणियों' की बराबरी करता है, तथा 'सूर्य-चन्द्रमा' आदि तेजस्वियों के साथ चलने में 'जुगनू' (खद्योत) को भी भय नहीं लगता । अर्थात् वह भी 'अपने' को 'तेजस्वी' समझता है । अतः इस 'साधारणता (समानता) को धिक्कार है, जो 'साधारणता' 'तत्त्वों' के अन्तर (भेद) का विचार न कर सकने वाले 'प्रभु' (राजा) की तरह 'अचेतन' (जड़) है ।

(अन्याऽलङ्कार-दोषाणामपि पृथक् गणनमनावश्यकम्)

तदेतेऽलङ्कारदोषाः यथासम्भविनोऽन्येऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोषजात्यान्तर्भाविताः न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ।

(आवसानिकं मङ्गलम्)

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥ १ ॥

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशमोल्लासः ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

अत्रेति । यहाँ पर अचेतन (जड़) 'प्रभु' (राजा) की अभिव्यक्ति 'भिन्न-भिन्न विशेषताओं' से युक्त 'अप्रस्तुत सामान्यों' के द्वारा हो ही जाती है । इसलिये पुनः उसका कथन करना उचित नहीं है । अतः यहाँ 'प्रभु' शब्द का 'उपादान' (ग्रहण) करने से, इसमें 'अनुपादेयत्व' दोष कहा जा सकता है ।

तदेतेऽलंकारदोषा इति । इस प्रकार बामन आदि प्राचीन आचार्यो के द्वारा स्वीकृत 'अलङ्कारदोष' तथा इसी प्रकार के अन्यान्य भी जो दोष सम्भव हो सकते हैं, उन सभी को 'पूर्वोक्त दोषों' के वर्ग (जाति) में ही समाविष्ट समझना चाहिए । उनको पृथक्तया बताने की आवश्यकता नहीं है ।

सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम् ॥ अर्थात् यह 'काव्यलक्षण'—'काव्यं लक्ष्यते स्वरूपतो विशेषतश्च ज्ञाप्यते अनेन इति प्रकृतग्रन्थरूपम्'—इस 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ के द्वारा काव्य के स्वरूप एवं उसके विशेष को अच्छी तरह से प्रतिपादन करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया गया है ।

इत्येषमार्गं इति । इस प्रकार से भामह, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन, कुन्तल आदि पुरातन विद्वानों का 'रस संप्रदाय, रीति सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय, आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीयमान यह 'काव्यमार्ग' (निरूपण) भी, जिसे प्रस्तुत काव्यप्रकाशनामक ग्रन्थ में समन्वित पद्धति से निरूपित करने के कारण अभिन्न-सा प्रतीत हो रहा है, यह कोई बिचित्र (आश्चर्यजनक) नहीं है, क्योंकि समन्वयात्मक भावना से ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई है ।

निष्कर्ष यह है कि भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तल आदि विद्वानों के बिचारों को निबद्ध करनेवाले प्रस्तुतग्रन्थ (काव्यप्रकाशग्रन्थ) में

प्रदर्शित काव्यमीमांसा का मार्ग, तद्-तद् विद्वानों के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न-सा प्रतीत होता हुआ भी वह भिन्न न होकर अभिन्न ही है, इसे देखकर किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं करना चाहिए क्योंकि इस ग्रन्थ में समस्त विद्वानों के विचारों का परस्पर समन्वय का प्रदर्शन बड़ी कुशलता से किया गया है। उसीकारण सभी के विचारों की एकरूपता प्रतीत हो रही है—यही मम्मटभट्ट का अभिप्राय है।

भरत-भामहादि पूर्वाचार्यों ने पृथक्-पृथक् पद्धति से काव्यविवेचन किया है, जो आधुनिक विद्यार्थी को आपाततः प्रतीत होता हैं कि इन समस्त आचार्यों के काव्य-विषयक विचार यरस्पर विभिन्नतथा कहीं-कहीं परस्पर विरुद्ध भी हैं। कोई आचार्य काव्य में 'रस' को प्रधान मान रहा है, और कोई आचार्य 'अलंकार' को प्रधान मान रहा है, कोई आचार्य 'रीति' को प्रधान बताता है, कोई आचार्य वक्रोक्ति को तो कोई आचार्य 'ध्वनि' को प्रधान कह रहा है। इसप्रकार प्रत्येक आचार्य काव्यस्वरूप का निवेचन स्वतन्त्ररूप से कर रहा है, और प्रत्येक का विवेचन सम्पूर्ण काव्य को स्पर्श भी कर रहा है।

वस्तुतः ये सभी बातें तथा अन्यान्य बातें भी काव्य के अंग के रूप में प्रतीत भी होती हैं, काव्य के विचार में इन सभी का एक विशिष्ट स्थान भी है। इन सभी का प्रस्तुत ग्रन्थ के काव्यविचार में समावेश किया गया है। उसकारण विभिन्न आचार्यों के द्वारा किये गये काव्यविचार का अविरोधपूर्वक ज्ञान एक ही जगह इस ग्रन्थ में प्राप्त हो रहा है। इन विविध काव्यांगों में से किसी भी अंग को ग्रन्थकार ने नवीन कल्पना नहीं की है।

ग्रन्थकार मम्मट ने सप्रमाण समस्त् अंगों का समग्रतया ग्रन्थन केवल एक जगह कर दिया है।

'इत्येष मार्गः'—में 'एष मार्गः' = ध्वनिमार्गः समझना चाहिए, क्योंकि मम्मट, 'आनन्दवर्धन' के काव्यविचार से प्रभावित हैं। उसकारण काव्य की मीमांसा करने में आनन्दवर्धन के ही वे अनुयायी हैं—यह स्पष्ट है।

आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में काव्य के समग्र अंगों का परामर्श नहीं किया है। नवीन उपस्थापित किये गये ध्वनितत्त्व का ही प्रमुखतया प्रतिपादन करते हुए प्रसंगतः प्राप्त हुए अन्य अंगों पर भी विचार कर लिया है।

उसकारण काव्य के अन्य अंगों के सम्बन्ध में ध्वनितत्त्व के पुरस्कर्ताओं के क्या विचार हैं—इसे बताना आवश्यक हो गया तथा ध्वन्यालोक की रचना के बाद ध्वनितत्त्व पर कुछ लोगों ने जो आक्षेप किये उनका परामर्श करते हुए ध्वनितत्त्व को दृढ़तया चिरस्थायी बनाने की आवश्यकता हुई। उस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए

ही 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की रचना की गई। इस ग्रन्थ में 'ध्वनितत्त्व' की दृष्टि से काव्य के 'समस्त अंगोपांगों' का सिचार किया गया है।

काव्यविवेचन के विकास की दृष्टि से पूर्वकालीन काव्यविचार से 'ध्वनिमार्ग' का पृथक्त्व प्रतीयमान होने पर भी उसका अवलम्ब करने से सम्पूर्ण काव्यांगों की उपपत्ति लग जाती है। इसलिए उसे (ध्वनिमार्ग को) पूर्वाचार्योक्त काव्यांगों का समावेशक ही समझना चाहिए। अतः यह ध्वनिमार्ग पूर्वाचार्यों के मार्ग से पृथक् नहीं है।

विनयसहित 'सर्वांग सुन्दर समन्वय' का 'श्रेय' मम्मट ने स्वीकार भी किया है। रुय्यक की संकेत व्याख्या में भी इसी प्रकार प्रस्तुत श्लोक का व्याख्यान किया गया है। उसी का अनुवाद निदर्शनकार ने किया है। मूलभूत संकेत व्याख्या में इस प्रकार कहा गया है—'विदुषां ध्वनिकृत्प्रभृतीनां य एष मार्गः स्वसिद्धान्तः तत्तद्ग्रन्थगतत्वेन पृथक्-पृथक् अवस्थितोऽपि एकरूपतया प्रतिभाति, तत्र संघटनैव निमित्तम्। विवक्षितस्य सुखावबोधाय एकत्र संग्रहणं सा संघटना, तद्वशात् एकात्मतयैव प्रतिभासात्'।

कितने ही विद्वानों की यह धारणा है कि काव्यप्रकाश में 'परिकर' अलंकार तक ही मम्मट की रचना है, और अवशिष्ट भाग की पूर्णता 'अल्लट' (या अलक) ने की है। इसी कथन के आधार पर माणिक्यचन्द्रादि व्याख्याकारों ने कहा है कि प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'एष मार्गः' और 'विभिन्नः'—ये दोनों शब्द 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की 'उभयकर्तृकता' को सूचित कर रहे हैं। इस सन्दर्भ के समर्थन में निदर्शनकार आनन्द कवि ने परम्परागत दो श्लोक भी उद्धृत किये हैं—

(१) 'कृतः　श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः　परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लट (लक) सूरिणा'॥

(२) 'काव्यप्रकाश इह कोऽपि अथवा (काव्यप्रकाशदशकेऽपि)
निबन्धकृद्भ्यां द्वाभ्यां कृतेऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।
लोकेऽस्ति　विश्रुतमिदं　नितरां　रसालं,
बन्धप्रकाररचितस्य　तरोः　फलं　यत्'॥

अर्थात् 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ को दो निबन्धकारों की रचना मानने पर भी उस ग्रन्थ की मधुरता का अनुपम रसास्वाद सहृदय-सरस जनों को उपलब्ध होता है। कलमी आम्र का तथा बनारसी लंगड़े आम का स्वाद कुछ अलग ही रहता है। 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ उभयकर्तृक मानने पर भी 'एककर्तृक-सा' ही प्रतीत होता है।

अन्तिम श्लोक 'इत्येष मार्गो विदुषां' में 'विदुषां' पद का एक अन्य अर्थभी प्रतीत होता है। तथाहि–'मार्गः' और 'प्रतिभासते'—इन दोनों के साथ 'विदुषाम्' का अन्वय किया जा सकता है, तब 'मार्गः' से उसका अन्वय करने पर ध्वनितत्त्व के

समर्थक भरत-भामह आदि आलंकारिकों के तथा काव्यप्रकाशकार **मम्मटभट्ट** के गौरव की ध्वनि अभिव्यक्त होती है, और 'प्रतिभासते' के साथ अन्वय करने पर काव्यमीमांसा के विद्यार्थियों के गौरव की ध्वनि अभिव्यक्त होती है। ये दोनों ध्वनियाँ उचित ही हैं। क्योंकि बड़े-बड़े काव्यमीमांसकों की कुशाग्र प्रतिभा का परिपाक रूप यह 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ है तथा उसकी व्याख्याकरनेवाले महान् विद्वानों के विद्याव्यासंग का निकषरूप यह ग्रन्थ है। उसकारण इस काव्यप्रकाशनामक ग्रन्थ को काव्यशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये तो अनर्घ वरदानरूप ही समझना चाहिए ॥

श्रीमन्महामाहेश्वर-राजानक-वाग्देवतावतार **श्रीमम्मटभट्टविरचित-**
काव्यप्रकाश की वैद्य-मुसलगाँवकरोपनामक महामहोपाध्याय-
श्रीसदाशिवशास्त्रिसुत-पूर्वोत्तरमीमांसाभूषण श्रीगजानन
शास्त्रिणाविरचित 'विवरणापरपर्याय-रहस्यबोधिनी' व्याख्या में
'अर्थालङ्कारनिर्णय' नामका दशम-उल्लास सम्पूर्ण हुआ।

ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकन्तु प्रकृतिमधुरस्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षोऽयमात्मा ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु